* ओ३म् *

अथ सत्यार्थप्रकाश:

वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य-
महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः
(सर्वथा राजनियमे नियोजितः)

प्रकाशक :
वैदिक पुस्तकालय
दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर

प्रकाशक : **वैदिक पुस्तकालय**
दयानन्दाश्रम, अजमेर

संस्करण : ३९वीं आवृत्तिः
सृष्टिसंवत् १९६०८५३१०६
दयानन्द जन्माब्द १८१
विक्रमी सम्वत् २०६२
ईस्वी सन् २००५

ISBN 81-88834-27-0

मूल्य : **१२०.०० रुपये (पुस्तकालय संस्करण)**

शब्द संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,**
कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१
चलभाष : ०९२११३-६२७३३, ०९२५५९-३५२८९

मुद्रक : **राधा प्रेस**
कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१
दूरभाष : ०११-२२०८३१०७

प्रकाशकीय

परोपकारिणी सभा, महर्षि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी सभा है। महर्षि जी ने अपना धन, वस्त्र, पुस्तक, यन्त्रालय आदि सभा को सौंपे थे। इस सभा की स्थापना करते हुए उन्होंने सभा के तीन उद्देश्य रखे थे। १. आर्ष साहित्य का प्रकाशन द्वारा प्रसार, २. विश्व में वैदिक धर्म का प्रचार तथा ३. आर्यावर्त्तीय दीन अनाथ जनों की रक्षा। स्वामी जी महाराज जब स्वर्गवासी हुए तभी से सभा उनके उद्देश्यों को पूर्ण करने में संलग्न है।

सभा का पहला प्रयास स्वामी जी के साहित्य एवं सामग्री को सुरक्षित करने का रहा है। भारत सरकार के माध्यम से उनकी निजी वस्तुओं की रासायनिक पद्धति से सुरक्षा कराई है। पटलीकरण, माइक्रोफिल्म तथा छायाचित्र आदि के माध्यम से पाण्डुलिपियाँ कागज-पत्र आदि पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित कर लिये हैं।

महर्षि जी द्वारा लिखित एवं प्रकाशित समग्र साहित्य सभा ने प्रकाशित किया है। सभा का विचार है ऋषि के सम्पूर्ण साहित्य का मानक संस्करण प्रकाशित हो, यह प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी गई है। सत्यार्थप्रकाश का यह संस्करण इसी प्रक्रिया की एक कड़ी है।

इस संस्करण को शुद्ध, सुन्दर और प्रामाणिक बनाने के लिए आर्य जगत् के शोध विद्वान्, पंजाब विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र के पूर्व विभागाध्यक्ष, ऋषि में अनन्य निष्ठा रखनेवाले डॉ० रामप्रकाश जी तथा आर्ष साहित्य और ऋषि कार्य के लिए समर्पित योग्य विद्वान् श्री विरजानन्द जी दैवकरणि ने जो परिश्रम किया है, उसका मूल्यांकन परिश्रमी विद्वान् ही कर सकता है। आप दोनों ने छह मास से अधिक समय लगाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ का दोनों पाण्डुलिपियों और सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण से मिलान करने का कठिन कार्य सम्पन्न किया है। साथ ही आर्यजगत् के प्रसिद्ध शोध विद्वान् डॉ० सुरेन्द्रकुमार के परामर्श एवं सुझाव इस कार्य में पर्याप्त सहायक रहे हैं। सभा आप सबका आभार मानती है और ईश्वर से आपके उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घायुष्य की कामना करती है।

पते रहित प्रमाणों के पते उपयोगिता की दृष्टि से [ ] इस कोष्ठक में यथावत् रक्खे गये हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि पाठकों को यह प्रयास लाभान्वित करेगा।

अजमेर — **धर्मवीर**

१७.१०.२००५ मन्त्री, परोपकारिणी सभा

इस संस्करण के सम्बन्ध में

परोपकारिणी सभा अजमेर में महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रायः सभी ग्रन्थों की मूल प्रतियाँ हैं। इनमें से सत्यार्थप्रकाश की दो प्रतियाँ हैं। इनके नाम 'मूलप्रति' तथा 'मुद्रणप्रति' रक्खे हुए हैं। मूलप्रति से मुद्रणप्रति तैयार की गई थी। मुद्रणप्रति (प्रेस कापी) के आधार पर सन् १८८४ ईसवी में सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण छपा था। इतने लम्बे अन्तराल में विभिन्न संशोधकों के हाथों इतने संशोधन, परिवर्त्तन तथा परिवर्द्धन हो गए कि मूलपाठ का निश्चय करना कठिन होने लग गया था। मूलप्रति से मुद्रणप्रति लिखनेवाले महर्षि के लेखक तथा प्रतिलिपिकर्त्ता ने सर्वप्रथम यह फेर बदल की थी। महर्षि अन्य लोकोपकारक कार्यों में व्यस्त रहने से तथा लेखक पर विश्वास करने से मुद्रणप्रति को मूलप्रति से अक्षरशः नहीं मिला सके। परिणामतः लेखक ने प्रतिलिपि करते समय अनेक स्थलों पर मूल पंक्तियाँ छोड़कर उनके आशय के आधार पर अपने शब्दों में महर्षि का भाव अभिव्यक्त कर दिया। अनेक स्थानों पर भूल से भी पंक्तियाँ छूट गईं तथा अनेक पंक्तियाँ दुबारा भी लिखी गईं। अनेकत्र मूल शब्द के स्थान पर पर्यायवाची शब्द भी लिख दिये थे। मुंशी समर्थदान ने भी पुनरावृत्ति समझकर १३वें-१४वें समुल्लास की अनेक आयतें और समीक्षायें काट दीं। यह सब करना महर्षि दयानन्द सरस्वती के अभिप्राय से विरुद्ध होता चला गया।

परोपकारिणी सभा से अतिरिक्त अन्य प्रकाशकों के पास यह सुविधा कभी नहीं रही कि वे मूलप्रति से मिलान करके महर्षि के सभी ग्रन्थों का शुद्धतम पाठ प्रकाशित कर सकें। परोपकारिणी सभा की ओर से भी कभी-कभी एक मुद्रणप्रति (प्रेस कापी) से ही मिलान करके प्रकाशन किया जाता रहा। मूलप्रति की ओर विशेष दृष्टिपात नहीं किया गया, किन्तु किसी-किसी ने कहीं-कहीं पाठ देखकर सामान्य परिवर्तन किये हैं और न कभी यह सन्देह ही हुआ कि दोनों प्रतियों में कोई मूलभूत पर्याप्त अन्तर भी हो सकता है।

गत अनेक शताब्दियों में ऋषिमुनिकृत ग्रन्थों में विभिन्न मतावलम्बियों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के पुष्टियुक्त वचन बना-बनाकर प्रक्षिप्त कर दिये हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुस्मृति, ब्राह्मणग्रन्थ, रामायण, महाभारत, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थों में वेदादि शास्त्रों की मान्यताओं के विपरीत भी

लेख देखने को मिलते हैं। इसी सम्भावना का भय महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होने लगा था। इस भय के निवारणार्थ परोपकारिणी सभा ने निश्चय किया कि महर्षि के हस्तलेखों से मिलान करके सत्यार्थप्रकाश आदि सभी ग्रन्थों का शुद्ध संस्करण निकाला जाए। इसलिए अनेक विद्वानों के सहयोग और सत्परामर्श के पश्चात् इस संस्करण में निम्नलिखित मानदण्ड अपनाये गये हैं—

१. **मूले मूलाभावादमूलं मूलम्** (सांख्य १.६७) कारण का कारण और मूल का मूल नहीं हुआ करता, इसीलिए सबका मूलकारण होने से सत्यार्थप्रकाश की मूलप्रति स्वत: प्रमाण है।

२. मुद्रणप्रति जहाँ तक मूलप्रति के अनुकूल है, वहीं तक पाठ मान्य किया है। प्रतिलिपिकर्त्ता द्वारा श्रद्धा अथवा भावुकतावश बढ़ाये गये अनावश्यक और अनार्ष वाक्यों को अमान्य किया है।

३. मुद्रणप्रति में महर्षि दयानन्द जी ने जहाँ-जहाँ स्वहस्त से परिवर्तन-परिवर्द्धन किये हैं, वे सभी स्वीकार किये हैं।

४. सन् १८८३ से १८८४ तक प्रकाशित हुए सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में प्रूफ देखते समय मुद्रणप्रति के पाठ से हटकर जो परिवर्तन-परिवर्द्धन किये गये थे, वे भी प्राय: सभी अपनाये हैं।

कुछ विद्वान् महर्षि की भाषा में वर्तमान समयानुकूल परिवर्त्तन करने का तथा भाव को स्पष्ट करने के लिए कुछ शब्द बढ़ा देने का व्यर्थ आग्रह किया करते हैं यह अनुचित है, अत: इस संस्करण में ऐसा कुछ नहीं किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ को शुद्धतम प्रकाशित करने के लिये विशेष यत्न किया गया है, पुनरपि मानवसुलभस्वभाव अथवा अनवधानतावश कोई त्रुटि रह गई हो तो आगामी आवृत्ति में उसे शुद्ध कर दिया जायेगा। क्योंकि ऐसे कार्यों में दुराग्रह और अभिमान के छोड़ने से ही सत्यमत गृहीत हो सकता है, इसी में विद्वत्ता की शोभा भी है।

गुरुकुल झज्जर
हरयाणा
१७ अक्तूबर, २००५

विद्वदनुचर
विरजानन्द दैवकरणि
(सम्पादक)

अथ सत्यार्थप्रकाशस्य सूचीपत्रम्

॥ इति ॥

॥ ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः ॥

भूमिका

सत्यार्थप्रकाश को दूसरी वार शुद्ध कर छपवाया है, क्योंकि जिस समय यह ग्रन्थ बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करना, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने का अभ्यास और जन्मभूमि की भाषा गुजराती थी, इत्यादि कारणों से मुझ को इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था। अब इसको अच्छे प्रकार भाषा के व्याकरणानुसार जानकर अभ्यास भी कर लिया है, इसलिए इस समय इसकी भाषा पूर्व से उत्तम हुई है। कहीं-कहीं शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है, वह करना उचित था, क्योंकि उसके भेद किए विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी, परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह-वह निकाल शोधकर ठीक-ठीक कर दी गई है।

यह ग्रन्थ १४ समुल्लास, अर्थात् चौदह विभागों में रचित हुआ है। इसमें १० दश समुल्लास पूर्वार्द्ध और चार उत्तरार्द्ध में बने हैं, परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे, अब वे भी छपवा दिए हैं।

१. प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओङ्कारा ऽऽदि नामों की व्याख्या।

२. द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा।

३. तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य, पठन-पाठनव्यवस्था, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम और पढ़ने-पढ़ाने की रीति।

४. चतुर्थ समुल्लास में विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार।

५. पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि।

६. छठे समुल्लास में राजधर्म।

७. सप्तम समुल्लास में वेदेश्वर विषय।

८. अष्टम समुल्लास में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय।

९. नवम समुल्लास में विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या।

१०. दशवें समुल्लास में आचार, अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य विषय।

११. एकादश समुल्लास में आर्य्यावर्त्तीय मतमतान्तर का खण्डन-मण्डन विषय।

१२. द्वादश समुल्लास में चारवाक, बौद्ध और जैनमत का विषय।

१३. त्रयोदश समुल्लास में ईसाई मत का विषय।

१४. चौदहवें सुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय। और चौदह समुल्लासों के अन्त में आर्यों के सनातन वेदविहित मत की विशेषतः व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथावत् मानता हूँ।

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादित करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाए। किन्तु जो जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना, सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत-वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त रहता है, इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर देना, पश्चात् मनुष्य लोग स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके, सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेहारा है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़, असत्य पर झुक जाता है। इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्याऽसत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें। विना सत्योपदेश के अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

और जो कहीं-कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाए, उसको जानने जनाने पर, जैसा वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जाएगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा, उस पर ध्यान न दिया जाएगा। हाँ, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा, उसको सत्य-सत्य समझने पर, उसका मत संगृहीत होगा।

यदपि आजकाल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल, सबमें सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें-वर्त्तावें, तो जगत् का पूर्ण हित होवे, क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर, अनेकविधि दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है। इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर, अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु—

'सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः'

सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। इस दृढ़ निश्चय के आलम्ब से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी नहीं सत्यार्थप्रकाश करने से हटते। यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि—

''यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्''

—यह गीता का वचन है।

इसका अभिप्राय यह है कि जो-जो विद्या और धर्मप्राप्ति के कर्म हैं, वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं। ऐसी बातों को चित्त में धर के इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देख के, इस ग्रन्थ का सत्य-सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें।

इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं, वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से, उनका स्वीकार करके, जो-जो मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन-उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि सब मतमतान्तरों की गुप्त वा प्रगट बुरी बातों का प्रकाश कर, विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सबसे सबका विचार होकर, परस्पर प्रेमी हो के, एक मतस्थ होवें।

यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और वसता हूँ, तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तर की झूठी बातों का पक्षपात न कर, यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही दूसरे देश वा मत-वालों के साथ भी वैसा ही वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है। क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकाल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बहिः हैं। क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दु;ख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं, तो वे मनुष्य स्वभावयुक्त नहीं, किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही मनुष्य कहाता है। और जो स्वार्थवश होकर परहानि मात्र करता रहता है, वह पशुओं का बड़ा भाई है।

अब आर्य्यावर्त्त के विषय में विशेषकर ग्यारहवें समुल्लास तक लिखा है। इन समुल्लासों में जो सत्यमत प्रकाशित किया है, वह वेदोक्त होने से मुझको सर्वथा मन्तव्य और जो नवीन पुराण तन्त्रादि ग्रन्थोक्त बातों का खण्डन किया है, वे त्यक्तव्य हैं।

यदपि जो १२वें समुल्लास में चारवाक का मत लिखा है वह इस समय क्षीणाऽस्त-सा है, और यह चारवाक बौद्ध जैन से बहुत सम्बन्ध अनीश्वरवादादि में रखता है। यह चारवाक सबसे बड़ा नास्तिक है, उसकी चेष्टा का रोकना अवश्य है। क्योंकि जो मिथ्या बात न रोकी जाय, तो संसार में बहुत-से अनर्थ प्रवृत्त हो जायें। चारवाक का जो मत है वह बौद्ध और जैन का मत है, वह भी १२वें समुल्लास में संक्षेप से लिखा गया है। और बौद्धों और जैनियों का भी चारवाक के मत के साथ मेल है और कुछ थोड़ा-सा विरोध भी है। और जैन भी बहुत-से अंशों में चारवाक और बौद्धों के साथ मेल रखता है और थोड़ी-सी बातों में भेद है। इसलिए जैनों की भिन्न शाखा गिनी जाती है। वह भेद १२वें समुल्लास में लिख दिया है, यथायोग्य वहीं समझ लेना। जो इसका भिन्न है, सो बारहवें समुल्लास में दिखलाया है। बौद्धमत और जैनमत का विषय भी लिखा है।

इनमें से बौद्धों के दीपवंशादि प्राचीन ग्रन्थों में बौद्धमत संग्रह 'सर्वदर्शनसंग्रह' में दिखलाया है, उसमें से यहाँ लिखा है। और जैनियों के निम्नलिखित सिद्धान्तों के पुस्तक हैं, उनमें से—

४ (चार) मूल सूत्र—१. आवश्यक सूत्र, २. विशेष आवश्यक सूत्र, ३. दशवैकालिक सूत्र, और ४. पाक्षिक सूत्र।

११ (ग्यारह) अङ्ग—१. आचाराङ्ग सूत्र, २. सुयगडाङ्ग सूत्र, ३. ठाणाङ्ग सूत्र, ४. समवायाङ्ग सूत्र, ५. भगवती सूत्र, ६. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, ७. उपासकदशा सूत्र, ८. अन्तगड़दशा सूत्र, ९. अनुत्तरोववाई सूत्र, १०. विपाक सूत्र और ११. प्रश्नव्याकरण सूत्र।

१२ (बारह) उपाङ्ग—१. उववाईय सूत्र, २. रायपसेनी सूत्र, ३. जीवाभिगम सूत्र, ४. पन्नगणा सूत्र, ५. जम्बूद्वीपपण्णति सूत्र, ६. चन्दपन्नति सूत्र, ७. सूरियपण्णति सूत्र, ८. निरीयावलिका सूत्र, ९. कप्पिया सूत्र, १०. कपवड़ीसया सूत्र, ११. पुप्पिया सूत्र और १२. पुप्पचूलिया सूत्र।

५ (पाँच) कल्प सूत्र—१. उत्तराध्ययन सूत्र, २. निशीथ सूत्र, ३. कल्पसूत्र, ४. व्यवहार सूत्र और ५. जीतकल्प सूत्र।

६ (छह) छेद—१. महानिशीथबृहद्वाचना सूत्र, २. महानिशीथलघुवाचना सूत्र, ३. मध्यमवाचना सूत्र, ४. पिण्डनिरुक्ति सूत्र, ५. औघनिरुक्ति सूत्र, ६. पर्य्यूषणा सूत्र।

१० (दश) पयन्ना सूत्र—१. चतुस्सरण सूत्र, २. पञ्चखाण सूत्र, ३. तदुलवैयालिक सूत्र, ४. भक्तिपरिज्ञान सूत्र, ५. महाप्रत्याख्यान सूत्र, ६. चन्दाविजय सूत्र, ७. गणीविजय सूत्र, ८. मरणसमाधि सूत्र, ९. देवेन्द्रस्तवन सूत्र, और १०. संसार सूत्र। तथा नन्दी सूत्र, अनुयोगोद्धार सूत्र भी प्रामाणिक मानते हैं।

५ पञ्चाङ्ग—१. पूर्व सब ग्रन्थों की टीका, २. निरुक्ति, ३. चरणी, ४. भाष्य, ये चार अवयव और ये सब मूल मिल के पञ्चाङ्ग कहाते हैं।

इनमें ढूंढिया अवयवों को नहीं मानते। और इनसे भिन्न भी अनेक ग्रन्थ हैं कि जिनको जैनी लोग मानते हैं। इनका विशेष मत पर विचार बारहवें समुल्लास में देख लीजिए।

जैनियों के ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्त दोष हैं और इनमें यह भी स्वभाव है कि जो अपना ग्रन्थ दूसरे मत-वाले के हाथ में हो, वा छपा हो, तो कोई-कोई उस ग्रन्थ को अप्रमाण कहते हैं, यह बात उनकी मिथ्या है, क्योंकि जिसको कोई माने, कोई न माने, इससे वह ग्रन्थ जैनमत से बाहर नहीं हो सकता। हाँ, जिसको कोई न माने और न कभी किसी जैनी ने माना हो, तब तो अग्राह्य हो सकता है, परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है कि जिसको कोई भी जैनी न मानता हो। इसलिए जो जिस ग्रन्थ को मानता होगा, उस ग्रन्थस्थ विषयक खण्डन-मण्डन भी उसी के लिए समझा जाता है, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं कि उस ग्रन्थ को मानते-जानते हों, तो भी सभा वा संवाद में बदल जाते हैं। इसी हेतु से जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते हैं। दूसरे मतस्थ को न देते, न सुनाते, न पढ़ाते, इसलिए कि उनमें ऐसी-ऐसी असम्भव बातें भरी हैं, जिनका कोई भी उत्तर जैनियों में से नहीं दे सकता। झूठ बात का छोड़ देना ही उत्तर है।

१३वें समुल्लास में ईसाइयों का मत लिखा है। ये लोग बायबिल को अपना धर्मपुस्तक मानते हैं। इनका विशेष समाचार उसी तेरहवें समुल्लास में देखिए। और चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मतविषय में लिखा है। ये लोग कुरान को अपने मत का मूल पुस्तक मानते हैं। इनका भी विशेष व्यवहार १४वें समुल्लास में देखिए। और इसके आगे वैदिकमतविषय में लिखा है।

जो कोई इस ग्रन्थ को कर्त्ता के तात्पर्य से विरुद्ध मनसा से देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा। क्योंकि वाक्यार्थबोध में चार कारण होते हैं—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब तक इन चारों बातों पर ध्यान देकर, जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है, उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है।

'आकांक्षा' किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थ पदों की आकांक्षा परस्पर होती है।

'योग्यता' वह कहाती है कि जिससे जो हो सके, जैसे जल से सींचना।

'आसत्ति' जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसी के समीप पद का बोलना वा लिखना।

'तात्पर्य' जिसके लिए वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना।

बहुत-से हठी-दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेष कर मत-वाले लोग, क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फसके नष्ट हो जाती है। इसलिए जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर, उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है।

इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किए हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्याऽसत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें। क्योंकि एक मनुष्य जाति में बहकाकर, विरुद्ध बुद्धि कराके, एक-दूसरे को शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है। यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे, तथापि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे, इसलिए मैं अपने परिश्रम को सफल समझता हूँ और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूँ। इसको देख-दिखला के, मेरे श्रम को सफल करें। और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मुझ वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है।

सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे।

॥ अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु ॥

॥ इति भूमिका ॥

दयानन्दसरस्वती

स्थान महाराणाजी का उदयपुर
भाद्रपद, शुक्लपक्ष, सम्वत् १९३९

(स्वामी) दयानन्द सरस्वती

ओ३म्

अथ सत्यार्थप्रकाशः

श्रीयुक्तदयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः

दयाया आनन्दो विलसति परस्स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा,
सको दान्तः शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः॥ १ ॥
सत्यार्थप्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः।
वेदादिसत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः॥ २ ॥
विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्त्विकीम्।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः॥ ३ ॥
न ततः फलमस्ति हितं विदुषो,
ह्यधिकं परमं सुलभन्नु पदम्।
लभते सुयतो भवतीह सुखी,
कपटी सुसुखी भविता न सदा॥ ४॥
धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्या वरो-
ऽधर्मेणैव हतो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः।
येनाऽसौ विधिवाक्यमानमननात् पाखण्डखण्डः कृत-
स्सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितन्धन्योऽस्तु तादृग्घि सः॥ ५ ॥[१]

१. ये श्लोक सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण की मूलप्रति में विषयसूची के पश्चात् लिखे हुये हैं। महर्षि दयानन्द के ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार श्लोक लिखने की शैली मिलती है। ये श्लोक प्रथम और द्वितीय संस्करण में प्रकाशित होने से रह गये थे, इसीलिये यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं। —**सम्पादक**



सत्यार्थप्रकाश के लेखक

महर्षि दयानन्द सरस्वती

(विक्रमसंवत् १८८१-१९४०)

॥ ओ३म् ॥

अथ सत्यार्थप्रकाशः

ओ३म् शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शन्नो॑ भवत्वर्य॒मा।
शन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः ॥
नमो॒ ब्रह्म॑णे॒ नम॑स्ते वायो॒ त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑सि। त्वामे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्म॑ वदिष्यामि ऋ॒तं व॑दिष्यामि स॒त्यं व॑दिष्यामि तन्माम॑वतु तद्व॒क्तार॑मवतु। अव॑तु माम्। अव॑तु व॒क्तार॑म्।
ओ३म् शान्ति॒श्शान्ति॒श्शान्ति॑ः ॥ १ ॥

—[तुलना—तै०आ०प्रपा० ७। अनु० १]

अर्थ—(ओ३म्) जो यह ओङ्कार शब्द है, वह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर हैं वे मिलके एक 'ओ३म्' समुदाय हुआ है। इस एक से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे—अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि क्यों नहीं? ब्रह्माण्ड, पृथिव्यादि भूत, मनुष्य, विद्वान् और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठ्यादि ओषधियों के भी ये नाम लिखे हैं।

उत्तर—हैं, परन्तु परमात्मा के भी हैं।

प्रश्न—केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो वा नहीं?

उत्तर—आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है?

प्रश्न—देव सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं, इससे मैं उनका ग्रहण करता हूँ।

उत्तर—क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध और उसके तुल्य कोई नहीं, तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा? इससे आपका यह कहना सत्य नहीं। क्योंकि इस आपके कहने में बहुत-से दोष भी आते हैं, जैसे—'**उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः**' किसी ने किसी के लिए भोजन का पदार्थ रख के कहा कि आप भोजन कीजिए और वह जो उसको छोड़के अप्राप्त भोजन के लिए जहाँ-तहाँ भ्रमण करे, उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिए, क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए श्रम करता है। इसीसे जैसा वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं, वैसा ही आपका कथन हुआ। क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाणसिद्ध परमेश्वर और ब्रह्माण्डादि उपस्थित अर्थों का परित्याग करके असम्भव और अनुपस्थित देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं, इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं। जो आप ऐसा कहें कि 'जहाँ जिसका प्रकरण है वहाँ उसी का ग्रहण करना योग्य है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि '**हे भृत्य! त्वं सैन्धवमानय**' तू सैन्धव को ले आ। तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है। क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है; एक घोड़े और दूसरा लवण का। जो गमन का समय हो तो घोड़े और भोजन का काल हो तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमनसमय में लवण और भोजनसमय में घोड़े को ले आवे, तो उसका स्वामी उसपर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमनसमय में लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था? तू प्रकरणवित् नहीं है, नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिए था, उसी को लाता। जो तुझको प्रकरण का विचार करना आवश्यक था, वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास से चला जा।' इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ जिसका ग्रहण करना उचित हो, वहाँ उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिये तो ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिए।

अथ मन्त्रार्थः

ओं खं ब्रह्म॥ १ ॥ —यजुर्वेद अध्याय ४०। मन्त्र १७॥

देखिए, वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में 'ओम्' आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत॥ २ ॥

—छान्दोग्य उपनिषत्। [प्रपा० १। खण्ड १। मन्त्र १]

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥ ३ ॥

—माण्डूक्य[१]।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ ४॥

—कठोपनिषदि [वल्ली २ मन्त्र १५]

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ ५ ॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ ६ ॥

—मनुस्मृति अध्याय १२। श्लोक [१२२]। १२३।

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः॥ ७ ॥

—कैवल्य उपनिषत्॥ [खण्ड १। मन्त्र ८]

इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यस्स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥ ८ ॥

—ऋग्वेदे मण्डले १। सूक्त १६४। मन्त्र ४६॥

भूर॑सि॒ भूमि॑र॒स्यदि॑तिरसि वि॒श्वधा॑या॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य ध॒र्त्री।
पृथि॒वीं य॑च्छ पृथि॒वीं दृꣳ॑ह पृथि॒वीं मा हिꣳ॑सीः पुरुषञ्जगत्॥ ९ ॥

—यजुर्वेद अध्याय [१३]। मन्त्र [१८]॥

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्य्यमरोचयत्।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः॥ १० ॥

—सामवेद [उ०] प्रपाठक ७। त्रिक ८। मन्त्र २॥ [मन्त्र १८५८]

प्रा॒णाय॒ नमो॒ यस्य॒ सर्व॑मि॒दं वशे॑।
यो भू॒तः सर्व॑स्येश्व॒रो यस्मि॒न्त्सर्वं॒ प्रति॑ष्ठितम्॥ ११ ॥

—अथर्ववेदे का० ११। प्रपा० २४। अ० २। मं० [१]॥[११.४.१]

अर्थ—यहाँ इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य वही है कि जो, ऐसे-ऐसे प्रकरणों में ओङ्कारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है, लिख आये। तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं।

'ओम्' आदि नाम सार्थक हैं—जैसे (ओं खं०) **'अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म'** रक्षा करने से 'ओम्', आकाशवत् व्यापक होने से 'खम्', सबसे बड़ा होने से ईश्वर का नाम 'ब्रह्म' है॥ १॥

(ओमित्येत०) **ओ३म्** जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं॥ २॥

(ओमित्येत०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम **ओ३म्** को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं॥ ३॥

(सर्वे वेदा०) क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण, जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम **'ओम्'** है॥ ४॥

(प्रशासिता०) जो सबको शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको **परम पुरुष** जानना चाहिए॥ ५॥

और स्वप्रकाश होने से **'अग्नि'**, विज्ञानस्वरूप होने से **'मनु'** और सबका पालन करने से **'प्रजापति'**, परमैश्वर्यवाला होने से **'इन्द्र'**, सबका जीवनमूल होने से **'प्राण'** और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम **'ब्रह्म'** है॥ ६॥

(स ब्रह्मा स विष्णु०) सब जगत् के बनाने से **'ब्रह्मा'**, सर्वत्र व्यापक होने से **'विष्णु'**, दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से **'रुद्र'**, मङ्गलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने से **'शिव'**, **'यः सर्वमश्नुते न क्षरति न**

विनश्यति तदक्षरम्'।१। 'यः स्वयं राजते स स्वराट्'।२। 'योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्ता स कालाग्निरीश्वरः'।३। (**अक्षर**) जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी, (**स्वराट्**) स्वयं प्रकाशस्वरूप और (**कालाग्नि**) प्रलय में सबका काल और काल का भी काल है, इसलिए परमेश्वर का नाम **कालाग्नि** है॥७॥

(इन्द्रं मित्रं) जो एक, अद्वितीय, सत्य ब्रह्म वस्तु है, उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। **'द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः', 'शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य सः सुपर्णः', 'यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्', 'यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा',** (दिव्य) जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त, (सुपर्ण) जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं, (गरुत्मान्) जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, (मातरिश्वा) जो वायु के समान अनन्त बलवान् है, इसलिए परमात्मा के **'दिव्य', 'सुपर्ण', 'गरुत्मान्'** और **'मातरिश्वा'** ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे॥८॥

(भूमिरसि०) **'भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः'** जिसमें सब भूत प्राणी होते हैं, इसलिए ईश्वर का नाम **'भूमि'** है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे॥९॥

(इन्द्रो मह्ना०) इसमें **'इन्द्र'** परमेश्वर ही का नाम है, इसलिए यह प्रमाण लिखा है॥१०॥

(प्राणाय) जैसे **प्राण** के वश सब शरीर, इन्द्रियाँ होती हैं वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है॥११॥

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि 'ओ३म्' और 'अग्न्यादि' नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। जैसाकि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है, वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है, परन्तु 'ओ३म्' यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन, सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो॑ विराड॑जायत विराजो॒ अधि॒ पूरु॑षः। [यजुः ३१।५]॥
श्रोत्रा॑द्वायुश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत। [यजुः ३१।१२]॥
तस्माद् देवा अजायन्त॥ प॒श्चाद् भू॒मि॒मथो॑ पु॒रः॥
[यजुः ३१।९] [यजुः ३१।५]॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् [वल्ली २। अनुवाक १] का वचन है।

ऐसे प्रकरणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं, क्योंकि जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहाँ-वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं, इसी से यहाँ विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके, संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किन्तु जहाँ-जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों, वहीं-वहीं परमात्मा और जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए। क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता, इससे विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं।

अब जिस प्रकार विराट् आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाणे जानो।

अथ ओङ्कारार्थः

'वि' उपसर्गपूर्वक (राजृ दीप्तौ) इस धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विराट्' शब्द सिद्ध होता है। **'यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्राजयति प्रकाशयति स विराट्'** विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के जगत् को

प्रकाशित करे, इससे '**विराट्**' नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

(अञ्चु गतिपूजनयोः) (अग, अगि, इण् गत्यर्थक) धातु हैं, इनसे 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। '**गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति, पूजनं नाम सत्कारः।**' '**योऽञ्चति, अच्यतेऽगत्यङ्गतीति वा सोऽयमग्निः**' जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्ति होने और पूजा करने योग्य है, इससे परमेश्वर का नाम '**अग्नि**' है।

(विश प्रवेशने) इस धातु से 'विश्व' शब्द सिद्ध होता है। '**विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः**' जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**विश्व**' है, इत्यादि नामों का ग्रहण **अकारमात्रा** से होता है।

'**ज्योतिर्वै हिरण्यं, तेजो वै हिरण्यम्**' –इत्यैतरेयशतपथब्राह्मणे'

'**यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः**' जिसमें सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवासस्थान है, इससे '**हिरण्यगर्भ**' नाम परमेश्वर का है। इसमें यजुर्वेद के मन्त्र का प्रमाण—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

[यजुः० १३।४]॥

इत्यादि स्थलों में 'हिरण्यगर्भ' से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

(वा गतिगन्धनयोः) इस धातु से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। **(गन्धनं हिंसनम्)** '**यो वाति चराऽचरञ्जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः**' जो चराऽचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करे और सब बलवानों से बलवान् है, इससे ईश्वर का नाम '**वायु**' है।

(तिज निशाने) इस धातु से 'तेजः' और इससे तद्धित करने से 'तैजस' शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयं प्रकाश और सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम '**तैजस**' है।

इत्यादि नामार्थ **उकार** से ग्रहण होते हैं।

(ईश ऐश्वर्ये) इस धातु से 'ईश्वर' शब्द सिद्ध होता है। '**य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः**' जिसका सत्य विचार, शील, ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम '**ईश्वर**' है।

(दो अवखण्डने='**अवखण्डनं नाम विनाशः**') इस धातु से 'अदिति' और इससे तद्धित करने से 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। '**न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः**' जिसका विनाश कभी न हो वही '**आदित्य**' संज्ञा ईश्वर की है।

(ज्ञा अवबोधने) 'प्र' पूर्वक इस धातु से 'प्रज्ञ' और इससे तद्धित करने से 'प्राज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। '**यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः**' जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त, सब चराऽचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है, इससे '**प्राज्ञ**' ईश्वर का नाम है। इत्यादि नामार्थ **मकार** से गृहीत होते हैं। जैसे एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ यहाँ व्याख्यात किये हैं, वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओङ्कार से जाने जाते हैं।

जो (शन्नो मित्रः शं व०) इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं वे भी परमेश्वर के हैं, क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की किई जाती है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो अपने गुण, कर्म्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ, उसको परमेश्वर कहते हैं, जिसके तुल्य न कोई हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़ वा जीव पदार्थ के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य ही होते हैं। इसलिए सब मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य-दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके, उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सबको करना योग्य

है। इसका विशेष विचार उपासना और मुक्ति के विषय में किया जाएगा।

प्रश्न—मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए।

उत्तर—यहाँ उनका ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिए परमात्मा ही का ग्रहण यहाँ होता है। हाँ, गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है।

(ञिमिदा स्नेहने) **'अस्माद् धातोरौणादिकः क्त्रः प्रत्ययः।'** इस धातु से औणादिक 'क्त्र' प्रत्यय के होने से 'मित्र' शब्द सिद्ध होता है। **'मेदते मिद्यते, स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः'** जो सबसे स्नेह करे और सबको प्रीति करने योग्य है, वह परमेश्वर सबका सच्चा **'मित्र'** है, इससे परमेश्वर का नाम **'मित्र'** है।

(वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि 'उनन्' प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः'** जो आप्तयोगी, विद्वान्, मुक्ति की इच्छा करनेवाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकारकर्त्ता, अथवा जो शिष्ट, मुमुक्षु, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह 'वरुण' नामयुक्त ईश्वर है। अथवा **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'** जिसलिए सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए **'वरुण'** परमेश्वर का नाम है।

(ॠ गतिप्रापणयोः) इस धातु से 'यत्' प्रत्यय करने से 'अर्य्य' शब्द सिद्ध होता है और 'अर्य्य' पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होने से 'अर्य्यमा' शब्द सिद्ध होता है। **'योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा'** जो सत्य न्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य और पाप तथा पुण्य करनेवालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से परमेश्वर

का नाम **'अर्यमा'** है।

(इदि परमैश्वर्ये) इस धातु से 'रन्' प्रत्यय करने से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः'** जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इससे परमात्मा का नाम **'इन्द्र'** है।

'बृहत्' शब्दपूर्वक (पा रक्षणे) इस धातु से 'डति' प्रत्यय, बृहत् के तकार का लोप और सुडागम होने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः'** जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे परमेश्वर का नाम **'बृहस्पति'** है।

(विष्लृ व्याप्तौ) इस धातु से 'नु' प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः परमात्मा'** चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम **'विष्णु'** है।

'उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' अनन्त पराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम **'उरुक्रम'** है।

जो परमात्मा (उरुक्रमः) महापराक्रमयुक्त (मित्रः) सबका सुहृत् अविरोधी है, वह (शम्) सुखकारक, वह (वरुणः) सर्वोत्तम (शम्) सुखस्वरूप, वह (अर्यमा) (शम्) सुखप्रचारक, वह (इन्द्रः) (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक, वह (बृहस्पतिः) सबका अधिष्ठाता (शम्) विद्याप्रद और (विष्णुः) जो सबमें व्यापक परमेश्वर है, वह (नः) हमारा कल्याणकारक (भवतु) हो।

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) 'बृह बृहि वृद्धौ' इन धातुओं से 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध हुआ है। जो सब के ऊपर विराजमान, सबसे बड़ा, अनन्त-बलयुक्त परमात्मा है, उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर! **(त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि)** आप ही अन्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो **(त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)** मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके, सबको नित्य ही प्राप्त हैं **(ऋतं वदिष्यामि)** जो आपकी वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है, उसी को मैं सबके लिए उपदेश और आचरण भी करूँगा **(सत्यं वदिष्यामि)** सत्य बोलूँ, सत्य मानूँ और सत्य ही करूँगा, **(तन्मामवतु)** सो आप

मेरी रक्षा कीजिए। **(तद्वक्तारमवतु)** सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए कि जिससे आपकी आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर, विरुद्ध कभी न हो। क्योंकि जो आपकी आज्ञा है, वही धर्म और जो उससे विरुद्ध, वही अधर्म है। **(अवतु मामवतु वक्तारम्)** यह दूसरी वार पाठ अधिकार्थ के लिए है। जैसे '**कश्चित् कञ्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ**' इसमें दो वार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा, ऐसा सिद्ध होता है। ऐसे ही यहाँ कि आप मेरी रक्षा अर्थात् धर्म में सुनिश्चित और अधर्म से घृणा सदा करूँ, ऐसी कृपा मुझपर कीजिए। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगा **(ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः)** इसमें तीन वार शान्तिपाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविधताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—

एक '**आध्यात्मिक**' जो आत्मा, शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वरपीडादि से होता है।

दूसरा '**आधिभौतिक**' जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है।

तीसरा '**आधिदैविक**' अर्थात् जो अतिवृष्टि, अवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता, मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है।

इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिए। क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप, सब संसार के कल्याणकर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याण के दाता हैं। इसलिए आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिए कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण, और अधर्म को छोड़के परमानन्द को प्राप्त और दुःखों से पृथक् रहैं।

'**सूर्य्य॑ऽआ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च**' [यजुः १३।४६]

इस यजुर्वेद के वचन से जो जगत् नाम प्राणी, चेतन और जङ्गम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, '**तस्थुषः**' अप्राणी जो स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं, उन सबके आत्मा होने और स्वप्रकाशरूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम '**सूर्य्य**' है।

(अत सातत्यगमने) इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध हुआ है।

'**योऽतति व्याप्नोति स आत्मा**' जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है। '**परश्चासावात्मा च य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा**' जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट और जीव, प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर का नाम '**परमात्मा**' है।

सामर्थ्यवाले का नाम ईश्वर है। '**य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः**' जो ईश्वरों अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो, उसका नाम '**परमेश्वर**' है।

(षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने) इन धातुओं से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। '**अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः**' जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**सविता**' है।

(दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (क्रीडा) जो शुद्ध, जगत् को क्रीड़ा कराने, (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त, (व्यवहार) सब को चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता, (द्युति) स्वयं प्रकाशस्वरूप, सबका प्रकाशक (स्तुति) प्रशंसा के योग्य, (मोद) आप आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द देनेहारा, (मद) मदोन्मत्तों का ताडनेहारा, (स्वप्न) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा, (कान्ति) कामना के योग्य, और (गति) ज्ञानस्वरूप है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**देव**' है।

अथवा '**यो दीव्यति क्रीडति स देवः**' जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीडा करे अथवा किसी के सहाय के विना क्रीडावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता वा सब क्रीडाओं का आधार है। '**विजिगीषते स देवः**' जो सबका जीतनेहारा, स्वयं अजेय अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके। '**व्यवहारयति स देवः**' जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारों का जनाने [हारा] और उपदेष्टा। '**यश्चराचरं जगत् द्योतयति**' जो सबका प्रकाशक। '**यः स्तूयते स देवः**' जो सब मनुष्यों को प्रशंसा

के योग्य, और निन्दा के योग्य न हो। **'यो मोदयति स देवः'** जो स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो। **'यो माद्यति स देवः'** जो सदा हर्षित, शोक से रहित और दूसरों को हर्षित करने और दुःख से पृथक् रखनेवाला। **'यः स्वापयति स देवः'** जो प्रलय समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता। **'यः कामयते काम्यते वा स देवः'** जिसके सब सत्य काम और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं। **'यो गच्छति गम्यते वा स देवः'** जो सब में प्राप्त और जानने के योग्य है, इससे परमेश्वर का नाम **'देव'** है।

(कुबि आच्छादने) इस धातु से 'कुबेर' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वं कुम्बति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः'** जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, उससे परमेश्वर का नाम **'कुबेर'** है।

(पृथु विस्तारे) इस धातु से 'पृथिवी' शब्द सिद्ध होता है। **'यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति तस्मात् स पृथिवी'** जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करनेवाला है, इसलिये ईश्वर का नाम **'पृथिवी'** है।

(जल घातने) इस धातु से 'जल' शब्द सिद्ध होता है, **'जलति घातयति दुष्टान् सङ्घातयति-अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्'** जो दुष्टों का ताडन और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग वा वियोग करता है, वह परमात्मा **'जल'** संज्ञक कहाता है। यद्वा **'यज्जनयति लाति सकलं [ज]गत् तद् ब्रह्म जलम्'** अथवा जो सबका जनक और सब सुखों का देनेवाला है, इसलिये भी परमात्मा का नाम **जल** है।

(काशृ दीप्तौ) इस धातु से 'आकाश' शब्द सिद्ध होता है, **'यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः'** जो सब ओर से सब जगत् का प्रकाशक है, इसलिए परमात्मा का नाम **'आकाश'** है।

(अद् भक्षणे) इस धातु से 'अन्न' शब्द सिद्ध होता है।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। [तै० उ० २।२]

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्।
अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषत् [३।१०] का वचन है।

अत्ता चराऽचरग्रहणात्॥

यह व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र है। [वे० सू० १।२।९]॥

जो सबको भीतर रखने, सबको ग्रहण करने योग्य, चराचर जगत् का ग्रहण करनेवाला है, इससे ईश्वर के **'अन्न'**, **'अन्नाद'** और **'अत्ता'** नाम हैं। और जो इसमें तीन वार पाठ है, सो आदर के लिए है।

जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके, उसी में रहते हैं और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है।

(वस निवासे) इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वसन्ति भूतानि यस्मिन्नथवा यः सर्वेषु भूतेषु वसति स वसुरीश्वरः'** जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं और जो सबमें वास कर रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'वसु'** है।

(रुदिर् अश्रुविमोचने) **रुदेर्णिलोपश्च** इस णिजन्त धातु से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है। **'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः'** जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते॥

यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है।
[तुलना—श० कां० १४। प्रपा० ६। ब्रा० २। कं० ७]

जीव जिसका मन से ध्यान करता, उसको कहता; जिसको कहता, उसी को करता; जिसको करता, उसी को प्राप्त होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करनेवाले ईश्वर की व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते, तब रोते हैं और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

—यह मनुस्मृति [अ० १।१०] का श्लोक है।

जल, प्राण और जीवों का नाम नार है। वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका, इसलिए सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम **'नारायण'** है।

(चदि आह्लादे) इस धातु से '**चन्द्र**' शब्द सिद्ध होता है। '**यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः**' जो आनन्दस्वरूप और सबको आनन्द देनेवाला है, इसलिए ईश्वर का नाम '**चन्द्र**' है।

(मगि गत्यर्थक) धातु से '**मङ्गेरलच्**' [उणा० सू० ५।७०] इस सूत्र से 'मङ्गल' शब्द सिद्ध होता है। '**यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः**' जो आप मङ्गलस्वरूप और सब जीवों के मङ्गल का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम '**मङ्गल**' है।

(बुध अवगमने) इस धातु से 'बुध' शब्द सिद्ध होता है। '**यो बुध्यते बोध्यते वा स बुधः**' जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**बुध**' है।

'**बृहस्पति**' शब्द का अर्थ कर दिया।

(ईशुचिर् पूतीभावे) इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः**' जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है, इसलिए ईश्वर का नाम '**शुक्र**' है।

(चर गतिभक्षणयोः) इस धातु से 'शनैस्' अव्यय उपपद धर के 'शनैश्चर' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः शनैश्चरति स शनैश्चरः**' जो सबमें सहज से प्राप्त धैर्यवान् है, इससे परमेश्वर का नाम '**शनैश्चर**' है।

(रह त्यागे) इस धातु से 'राहु' शब्द सिद्ध होता है। '**यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति स राहुरीश्वरः**' जो एकान्तस्वरूप, जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम '**राहु**' है।

(कित निवासे रोगापनयने च) इस धातु से 'केतु' शब्द सिद्ध होता है। '**यश्चिकेतति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः**' जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्ति समय में सब रोगों से छुड़ाता है, इसलिए परमात्मा का नाम '**केतु**' है।

(यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है।

'**यज्ञो वै विष्णुः**' यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है।

[श०ब्रा० १।१।२।१३, गो०ब्रा०उत्तरभाग प्रपा० ४। कं० ६]

'**यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः**' जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है और होगा, इससे परमात्मा का नाम '**यज्ञ**' है, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है।

(हु दानाऽदनयोः, आदाने चेत्येके) इस धातु से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यो जुहोति स होता**' जो सब जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और ग्रहण करने योग्य है, इससे ईश्वर का नाम '**होता**' है।

(बन्ध बन्धने) इससे 'बन्धु' शब्द बना है। '**यः स्वस्मिन् चराचरं जगद् बध्नाति बन्धुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्तते स बन्धुः**' जिसने अपने में सब लोकलोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खे और सहोदर के समान सहायक है, इसी से अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लङ्घन नहीं कर सकते। जैसे भ्राता भाइयों का सहायकारी होता है, वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण और सुख देने से '**बन्धु**' संज्ञक है।

(पा रक्षणे) इस धातु से 'पिता' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः पाति सर्वान् स पिता**' जो सबका रक्षक, जैसा पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है, वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है, इससे ईश्वर का नाम '**पिता**' है।

'**यः पितॄणां पिता स पितामहः**' जो पिताओं का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**पितामह**' है।

'**यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः**' जो पिताओं के पितरों का पिता है, इससे परमेश्वर का नाम '**प्रपितामह**' है।

(माङ् माने शब्दे च) इससे माता शब्द बनता है। '**यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता**' जैसे पूर्णकृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है, वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है, इससे परमेश्वर का नाम '**माता**' है।

(चर गतिभक्षणयोः) आङ्पूर्वक इस धातु से 'आचार्य्य' शब्द सिद्ध होता है। '**य आचारं ग्राहयति, सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः**' जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा और सब विद्याओं की

प्राप्ति का हेतु होके, सब विद्या प्राप्त कराता है, इससे परमेश्वर का नाम **'आचार्य'** है।

(गॄ शब्दे) इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। **'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः'।**

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'

—यह योगशास्त्र का सूत्र [१।२६] है।

जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता है, जो कि सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिए परब्रह्म का नाम **'गुरु'** है।

(अज गतिक्षेपणयोः, जनी प्रादुर्भावे) इन धातुओं से 'अज' शब्द बना है। **'योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति जनयति कदाचिन्न जायते सोऽजः'** जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता, इससे ईश्वर का नाम **'अज'** है।

(बृह बृहि वृद्धौ) इन धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता है। **'योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति वर्द्धयति स ब्रह्मा'** जो सम्पूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'ब्रह्मा'** है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् [२।१] का वचन है।

'सन्तीति सन्तस्तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्। यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्। न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्। सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म' जो पदार्थ हों, उनको सत् कहते हैं, उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम **'सत्य'** है। जो सबका जाननेवाला है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'ज्ञान'** है। जिसका अन्त, अवधि, मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा-चौड़ा, छोटा वा बड़ा है, ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'अनन्त'** है। जो सबसे बड़ा है। इसलिए परमेश्वर के सत्य, ज्ञान और अनन्त नाम हैं।

(डुदाञ् दाने) आङ्पूर्वक इस धातु से 'आदि' शब्द और नञ्पूर्वक 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है। **'यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते।' 'न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः'** जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको आदि कहते हैं, जिसका आदिकारण कोई भी नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'अनादि'** है।

(टुनदि समृद्धौ) आङ्पूर्वक इस धातु से 'आनन्द' शब्द बनता है। **'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन् यद्वा यः सर्वाञ्जीवानानन्दयति स आनन्दः'** जो आनन्दस्वरूप, जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम **'आनन्द'** है।

(अस भुवि) इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। **'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म'** जो सदा वर्त्तमान और भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो, उस परमेश्वर को **'सत्'** कहते हैं।

(चिती संज्ञाने) इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित्परं ब्रह्म'** जो चेतनस्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्याऽसत्य का जनानेहारा है, इसलिए परमात्मा का नाम **'चित्'** है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर का नाम **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** कहते हैं।

नित्य—**'यो ध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः'।** जो निश्चल अविनाशी है, सो **'नित्य'** शब्दवाच्य ईश्वर है।

(शुन्ध शुद्धौ) इससे 'शुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। **'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः'** जो स्वयं पवित्र, सब अशुद्धियों से पृथक् और सबको शुद्ध करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम **'शुद्ध'** है।

(बुध अवगमने) इस धातु से 'क्त' प्रत्यय होने से 'बुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः'** जो सदा सबको जाननेहारा है, इससे ईश्वर का नाम **'बुद्ध'** है।

(मुच्लृ मोचने) इस धातु से 'मुक्त' शब्द सिद्ध होता है। **'यो**

मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः' जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है, इसलिए परमात्मा का नाम '**मुक्त**' है।

'**अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः**' इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है।

निर् और आङ्पूर्वक (डुकृञ् करणे) इस धातु से 'निराकार' शब्द सिद्ध होता है। '**निर्गत आकारात्स निराकारः**' जिसका आकार कोई भी नहीं और न कभी शरीर का धारण करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**निराकार**' है।

(अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु) इस धातु से 'अञ्जन' शब्द बना है और निर् उपसर्ग के योग से 'निरञ्जन' शब्द सिद्ध होता है। '**अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद्यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः**' जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्लेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है, इससे ईश्वर का नाम '**निरञ्जन**' है।

(गण संख्याने) इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता है, इसके आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति शब्द' सिद्ध होते हैं। '**ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा**' जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे ईश्वर का नाम '**गणेश**' वा '**गणपति**' है।

'**यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः**' जो संसार का अधिष्ठाता है, उस परमेश्वर का नाम '**विश्वेश्वर**' है।

'**यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः**' जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होके भी, किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे परमेश्वर का नाम '**कूटस्थ**' है।

जितने 'देव' शब्द के अर्थ लिखे हैं उतने ही 'देवी' शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं, जैसे—'**ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति**'। जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव', जब चिति का होगा तब 'देवी', इससे ईश्वर का नाम '**देवी**' है।

(शक्लृ शक्तौ) इस धातु से 'शक्ति' शब्द बनता है। '**यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः**' जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**शक्ति**' है।

(श्रिञ् सेवायाम्) इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है। '**यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः**' जिसका सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम '**श्री**' है।

(लक्ष दर्शनाङ्कनयोः) इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। '**यो लक्षयति पश्यत्यङ्क्ते चिह्नयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः**' जो सब चराचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र, नासिकादि और वृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल, पृथिवी, जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र-सूर्यादि चिह्न बनाता, तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा है और जो वेदादिशास्त्र, धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**लक्ष्मी**' है।

(सृ गतौ) इस धातु से 'सरस्', उससे मतुप् और ङीप् प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। '**सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती**' जिसको विविध विज्ञान, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम '**सरस्वती**' है।

'**सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः**' जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा लेशमात्र भी नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से, अपने सब काम पूरा करता है, इसलिए परमात्मा का नाम '**सर्वशक्तिमान्**' है।

(णीञ् प्रापणे) इस धातु से 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है।

'**प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः**' —यह वचन न्यायसूत्रों के ऊपर

वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य का है। [वा० भा० १।१।१]

'पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः' जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो, जो पक्षपातरहित आचरण धर्मरूप, न्याय कहाता है। **'न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः'** जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है, इससे ईश्वर का नाम **'न्यायकारी'** है।

(दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु) इस धातु से 'दया' शब्द सिद्ध होता है। **'दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः'** जो अभय का दाता, सत्याऽसत्य सर्व विद्याओं का जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देनेवाला है, इससे परमात्मा का नाम **'दयालु'** है।

'द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता द्वीतं वा सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम्।' अर्थात् **'सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्यं ब्रह्म'**—दो का होना, दोनों से युक्त होना वह द्विता, वा द्वीत अथवा द्वैत, अर्थात् जो इनसे रहित है। सजातीय जैसा मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जातिवाले वृक्ष, पाषाणादि। स्वगत अर्थात् जैसे शरीर में आँख, नाक, कान आदि अवयवों का भेद है, वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर, विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है, इससे परमात्मा का नाम **'अद्वैत'** है।

'गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गुणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः' जितने सत्त्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण, अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं, उनसे जो पृथक् है। इसमें **'अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययम्'** [कठोप० १।३।१५] इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम **'निर्गुण'** है।

'यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः' जो सबका ज्ञान, सर्वसुख,

पवित्रता, अनन्त बलादि गुणों से युक्त है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'सगुण'** है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से 'सगुण' और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण' और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' है, अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सगुण और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से, जड़ पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण, वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से, जीव निर्गुण और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से सगुण। ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिए।

'अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी' जो सब प्राणी और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक होके, सबका नियम करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'अन्तर्यामी'** है।

'यो धर्म्मे राजते स धर्मराजः' जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित, धर्म ही का प्रकाश करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'धर्म्मराज'** है।

(यमु उपरमे) इस धातु से 'यम' शब्द बना है। **'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'** जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'यम'** है।

(भज सेवायाम्) इस धातु से 'भग', इससे मतुप् होने से 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता है। **'भगः सकलैश्वर्य्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्'** जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त वा भजने के योग्य है, इसीलिए ईश्वर का नाम **'भगवान्'** है।

(मन ज्ञाने) इस धातु से 'मनु' शब्द बनता है। **'यो मन्यते स मनुः'** जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है, इसलिए ईश्वर का नाम **'मनु'** है।

(पॄ पालनपूरणयोः) इस धातु से 'पुरुष' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स पुरुषः'** जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'पुरुष'** है।

(डुभृञ् धारणपोषणयोः) 'विश्व' पूर्वक इस धातु से 'विश्वम्भर' शब्द सिद्ध होता है। **'यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः'** जो जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'विश्वम्भर'** है।

(कल संख्याने) इस धातु से 'काल' शब्द बना है। **'कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः'** जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'काल'** है।

(शिष्लृ विशेषणे) इस धातु से 'शेष' शब्द [सिद्ध] होता है। **'यः शिष्यते स शेषः'** जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बाकी रहता है, इसलिए परमात्मा का नाम **'शेष'** है।

(आप्लृ व्याप्तौ) इस धातु से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः'** जो सत्योपदेशक, सकल विद्यायुक्त, सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता है और धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य, छल-कपटादि से रहित है, इसलिए परमात्मा का नाम **'आप्त'** है।

(डुकृञ् करणे) 'शम्' पूर्वक इस धातु से 'शङ्कर' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शं कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः'** जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे **'शङ्कर'** नाम ईश्वर का है।

'महत्' शब्द पूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' शब्द सिद्ध होता है। **'यो महतां देवः स महादेवः'** जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिए परमात्मा का नाम **'महादेव'** है।

(प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च) इस धातु से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है। **'यः प्रीणाति प्रीयते वा स प्रियः'** जो सब धर्मात्माओं, मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता और सबको कामना के योग्य है, इसलिए ईश्वर का नाम **'प्रिय'** है।

(भू सत्तायाम्) 'स्वयं' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। **'यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः'** जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे परमात्मा का नाम **'स्वयम्भू'**

है।

(कु शब्दे) इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। **'यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः'** जो वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'कवि'** है।

(शिवु कल्याणे) इस धातु से 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'** [धातुपाठे चुरादिगणे] इससे शिवु धातु माना जाता है, जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है, इसलिए परमात्मा का नाम **'शिव'** है।

ये शत नाम परमेश्वर के लिखे हैं। परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम हैं। उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है। यह मेरा लिखना समुद्र के सामने विन्दुवत् है। क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण, कर्म, स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके पढ़ने-पढ़ाने से बोध हो सकता है। और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा होता है, जो वेदादिशास्त्रों को पढ़ते हैं।

(प्रश्न) जैसा अन्य ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं, वैसे आपने कुछ भी न लिखा, न किया?

(उत्तर) ऐसा हमको करना योग्य नहीं। क्योंकि जो आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा तो उसके ग्रन्थ में आदि मध्य और मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा। इसलिए—

'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति'

—यह सांख्यशास्त्र [अ० ५। सू० १] का वचन है।

इसका यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है, उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना मङ्गलाचरण कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से ले के समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही मङ्गलाचरण है, न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिए, महाशय महर्षियों के लेख को—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् [१।११] का वचन है।

हे सन्तानो! जो '**अनवद्य**' अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं, वे ही तुमको करने योग्य हैं, अधर्मयुक्त नहीं।

इसलिए जो आधुनिक ग्रन्थ वा टीकाकारकों के '**श्रीगणेशाय नमः**', '**सीतारामाभ्यां नमः**', '**राधाकृष्णाभ्यां नमः**', '**श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः**', '**हनुमते नमः**', **दुर्गायै नमः**', **वटुकाय नमः**', '**भैरवाय नमः**', '**शिवाय नमः**', '**सरस्वत्यै नमः**', '**नारायणाय नमः**' इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं। क्योंकि वेद और ऋषि मुनियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता और आर्ष ग्रन्थों में 'ओ३म्' तथा 'अथ' शब्द तो देखने में आता है। देखो—

'अथ शब्दानुशासनम्'। अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते।

—यह व्याकरणमहाभाष्य [पस्पशाह्निक]

'अथातो धर्मजिज्ञासा'। अथेत्यानन्तर्ये वेदाध्ययनानन्तरम्।

—यह पूर्वमीमांसा।

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'।

अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः।

—यह वैशेषिकदर्शन।

'अथ योगानुशासनम्'। अथेत्ययमधिकारार्थः।

—यह योगशास्त्र।

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः'। सांसारिकविषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्त्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः।

—यह सांख्यशास्त्र।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'।

चतुष्टयसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्।

—यह वेदान्तसूत्र है।

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'।

—यह छान्दोग्योपनिषद् [१।१।१] का वचन है।

'ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्'।

—यह माण्डूक्योपनिषद् के आरम्भ का वचन है।

ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में 'ओम्' और 'अथ' शब्द लिखे हैं, वैसे ही **(अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिषप्ताः परियन्ति)** ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं। '**श्रीगणेशाय नमः**' इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में '**हरिः ओम्**' लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। केवल ओङ्कार का पाठ तो ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में देखने में आता है, '**हरि**' शब्द आदि में कहीं नहीं। इसलिए '**ओ३म्**' वा '**अथ**' शब्द ही ग्रन्थ की आदि में लिखना चाहिए।

यह किञ्चिन्मात्र ईश्वर के विषय में लिखा, अब इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जाएगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित ईश्वरनामविषये
प्रथमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १॥

अथ द्वितीयसमुल्लासारम्भः

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।

—यह शतपथब्राह्मण का वचन है।

[तुलना-शतपथ ब्राह्मण का० १४। प्रपा० ५। ब्रा० ८। कं० २॥ तथा छा० उ० प्रपा० ६। खं० १४]॥

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्! जिसके माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं कर सकता। इसीलिए (मातृमान्) अर्थात् **प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।** धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सुशीलता का उपदेश करे।

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक नशादि पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें कि जिससे रज-वीर्य्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तमगुणयुक्त हों। जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पाँचवें दिवस से ले के सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है, उन में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं, रहे १२ दिन, उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़ के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है। और रजोदर्शन के दिन से ले के १६वीं रात्रि के पश्चात् समागम न करना। पुनः जब तक

ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तब तक और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों कि जब दोनों का शरीर आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो। जैसा चरक और सुश्रुत में भोजन-छादन का विधान और मनुस्मृति में स्त्री-पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है, उसी प्रकार करें और वर्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन-छादन करना चाहिए। पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त स्त्री पुरुष का सङ्ग न करे। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे कि जब तक सन्तान का जन्म न हो।

जब जन्म हो, तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान, नाड़ीछेदन करके, सुगन्धियुक्त घृतादि का होम* और स्त्री को भी स्नान, भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाए। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों। प्रसूता का दूध छः दिन तक बालक को पिलावे। तदनन्तर धायी पिलाया करे। परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता करावें। जो कोई दरिद्र हो, धायी को न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जो कि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करानेहारी हों, उनको शुद्ध जल में भिजा, औटा, छान के दूध के समान जल मिला के बालक को पिलावें। जन्मे पश्चात् बालक और बालक की माता को दूसरे स्थान जहाँ का वायु शुद्ध हो वहाँ रक्खें, सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें, और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहाँ का वायु शुद्ध हो। और जहाँ धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके, वहाँ जैसे उचित समझें, वैसा करें। क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव समय निर्बल हो जाती है, उस समय उसके दूध में भी बल कम होता है, इसलिए प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे, जिससे दूध स्रवित न

* बालक के जन्मसमय में 'जातकर्म संस्कार' होता है, उसमें हवनादि वेदोक्त कर्म होते हैं, वे श्री स्वामी जी ने संस्कारविधि में सविस्तर लिख दिये हैं।

हो। ऐसे करने से द्वितीय महीने में पुनरपि युवति हो जाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रक्खे। इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल, पराक्रम की वृद्धि ही होती रहेगी कि जिससे सब सन्तान, उत्तम बल-पराक्रमयुक्त, दीर्घायु, धार्मिक हों। स्त्री योनिसङ्कोच, शोधन और पुरुष वीर्य्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे वे भी सब उत्तम होंगे।

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगें, तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके, वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे '**प**' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न कि दोनों ओष्ठों को मिला कर बोलना, इसके विना शुद्धोच्चारण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक नहीं बोल सकता। मधुर, गम्भीर, सुस्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न-भिन्न श्रवण होवे। जब वह कुछ-कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें कि जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो के, सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्सङ्ग में रुचि करता हो, वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श विना निमित्त न करें, क्योंकि इसके स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता, हस्त में दुर्गन्ध भी होता है। सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें। जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्त्तना, इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहिकाने

में न आवें। और जो-जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूत, प्रेत आदि मिथ्या बातों पर विश्वास न हो।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥

—यह मनुस्मृति [अ० ५।श्लो० ६५] का श्लोक है॥

अर्थ—जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतकशरीर जिसका नाम '**प्रेत**' है, उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है। और जब उस शरीर का दाह हो चुका, तब उसका नाम '**भूत**' होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों, वर्त्तमान में आ के न रहें, वे भूतस्थ होने से उनका नाम **भूत** है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु जिसको शङ्का, कुसङ्ग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।

देखो! जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर, परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीर और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं। उनका औषधसेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके, उन धूर्त्त, पाखण्डी, महामूर्ख अनाचारी, स्वार्थी, भङ्गी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोङ्ग, छल-कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बाँधते-बँधवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ा कर दुःख देते रहते हैं।

जब आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे, उन दुर्बुद्धि-पापी-स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि 'महाराज! इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है?' तब वे अन्धे बोलते हैं कि ''इसके शरीर में बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गई है, जब तक

तुम इसका उपाय न करोगे, तब तक ये न छूटेंगे और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो, तो हम मन्त्र जप पुरश्चरण से झाड़ के इनको निकाल दें।'' तब वे अन्धे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि ''महाराज! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ, परन्तु इनको अच्छा कर दीजिए।'' तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त कहते हैं ''अच्छा लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता की भेट और ग्रहदान कराओ।'' झांझ, मृदङ्ग, ढोल, थाली लेके, उसके सामने बजाते-गाते हैं और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूद के कहता है कि मैं इसका प्राण ही ले लूँगा। तब वे अन्धे उस भङ्गी, चमार आदि के भी पगों में पड़ के कहते हैं ''आप चाहें सो लीजिए, इसको बचाइए।'' तब वह धूर्त्त बोलता है ''मैं हनुमान् हूँ, लाओ मिठाई, तैल, सिन्दूर, सवामन का रोट और लाल लङ्गोट।'' ''मैं देवी वा भैरव हूँ, लाओ पाँच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पाँच बकरे, मिठाई और वस्त्र।'' जब वे कहते हैं कि ''जो चाहो सो लो''। तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उसकी भेट पाँच जूता, दण्डा वा चपेटा, लात मारे तो उसका हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं, क्योंकि वह उनका, केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है।

और जब किसी ग्रहग्रस्त, ग्रहरूप, ज्योतिर्विदाभास के पास जाके कहते हैं—''हे महाराज! इसको क्या है?'' तब वे कहते हैं कि ''इसपर सूर्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्ति, पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख हो जाए, नहीं तो बहुत पीड़ित और मर जाए तो भी आश्चर्य नहीं।''

उत्तर—कहिए ज्योतिर्वित्! जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं, जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?

प्रश्न—क्या जो यह संसार में राजा-प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है?

उत्तर—नहीं, ये सब पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्योतिष शास्त्र झूठा है?

उत्तर—नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखागणित विद्या है, वह सब सच्ची, जो फल की लीला है, वह सब झूठी है।

प्रश्न—क्या जो यह जन्मपत्र है, सो निष्फल है?

उत्तर—हाँ, वह जन्मपत्र नहीं, किन्तु उसका नाम '**शोकपत्र**' रखना चाहिए। क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है। परन्तु तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुने। जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है तब उसके माता-पिता पुरोहित से कहते हैं ''महाराज! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइए'' जो धनाढ्य हो तो बहुत सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है। तब उसके मा-बाप ज्योतिषीजी के सामने बैठके कहते हैं ''इसका जन्मपत्र अच्छा तो है?'' ज्योतिषी कहता है ''जो है सो सुना देता हूँ, इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी अच्छे हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्, जिस सभा में जा बैठेगा, तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्य और राज्यमान भी होगा।'' इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं ''वाह-वाह ज्योतिषीजी! आप बहुत अच्छे हो।'' ज्योतिषीजी समझते हैं इन बातों से कार्य सिद्ध नहीं होता, तब ज्योतिषी बोलता है कि ''ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं अर्थात् फलाने-फलाने ग्रह के योग से ८वें वर्ष में इसका मृत्युयोग है।'' इसको सुन के माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़के शोकसागर में डूबकर, ज्योतिषीजी से कहते हैं कि ''महाराजजी! अब हम क्या करें?'' तब ज्योतिषीजी कहते हैं ''उपाय करो।'' गृहस्थ पूछे ''क्या उपाय करें?'' ज्योतिषीजी कहते हैं कि ''ऐसा-ऐसा दान करो, ग्रह के मन्त्र का जप कराओ और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे, तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जाएँ।'' अनुमान शब्द इसलिए है कि जो मर जाएगा तो कहेंगे, हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है, हमने तो बहुत-सा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाए तो कहते हैं कि देखो—हमारे मन्त्र, देवता

और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है! तुम्हारे लड़के को बचा दिया।

यहाँ यह बात होनी चाहिए कि जो इनके जप, पाठ से कुछ न हो तो दूने-तिगुणे रुपये उन धूर्त्तों से ले-लेने चाहिएँ और बच जाए तो भी ले-लेने चाहियें, क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि ''इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं'', वैसे गृहस्थ भी कहें कि ''यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं''। और तीसरे गुरु आदि भी पुण्य-दान कराके आप ले-लेते हैं, तो उनको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था।

अब रह गई शीतला और मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोङ्ग मचाते हैं। कोई कहता है कि ''जो हम मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें, तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र-यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते।'' उनसे वही उत्तर देना चाहिए कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं और क्या तुम मरण से बच सकोगे? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहाँ हमारी दाल नहीं गलेगी।

इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता, निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ाने वाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना, जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोड़ना चाहिए। और जितनी लीला, रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं, उनको भी महापामर समझ लेना चाहिए। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़ के दुःख न पावें। और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिए। जैसे ''देखो! जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण की यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का सङ्ग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर

उत्तम शिक्षा, पूर्ण विद्या को प्राप्त करते हैं, वैसे तुम भी रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होना। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम सुशिक्षा, विद्या के ग्रहण और वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करने वाले जीते हैं, तभी तक तुमको विद्या ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिए।''

इस प्रकार की अन्य-अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें, इसीलिए '**मातृमान् पितृमान्**' शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है। अर्थात् जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठे वर्ष से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करें और ९मे वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों, वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें। और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना, विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाडन कभी नहीं करते, किन्तु ताडना ही करते रहते हैं। इसमें व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥ [८।१।८]॥

अर्थ—जो माता, पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताडन करते हैं, वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं, और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाडन करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाडन से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताडना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्य लोग भी ताडना से प्रसन्न और लाडन से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताडन न करें, किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें।

जैसे अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादकद्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें। क्योंकि जिस पुरुष ने जिनके सामने एक वार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उनके सामने मृत्युपर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा-मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उसके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिए, अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'मैं तुमको वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूँगा वा मिलना अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूँगा' इसको वैसे ही पूरी करे, नहीं तो उसकी प्रतीति कोई भी न करेगा। इसलिए सदा सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिए।

किसी को अभिमान करना योग्य नहीं, क्योंकि—

'अभिमानः श्रियं हन्ति' —यह [किसी कवि] का वचन है॥

जो अभिमान अर्थात् अहङ्कार है, वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है, इस वास्ते अभिमान करना न चाहिए।

छल, कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरे की क्या कथा कहनी? छल और कपट उसको कहते हैं, जो भीतर और, बाहर और, दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर, स्वप्रयोजन सिद्ध करना। 'कृतघ्नता' उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिए उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उठकर, जा के, उच्चासन पर बैठावे, प्रथम 'नमस्ते' कहे। उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान में बैठे, जैसी अपनी योग्यता हो और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। प्रसन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का सङ्ग और दुष्टों का त्याग, अपने माता, पिता और आचार्य की तन, मन से सेवा करे।

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् [१।११] का वचन है॥

इसका यह अभिप्राय है कि माता, पिता, आचार्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन-उन का ग्रहण करो और जो-जो दुष्ट कर्म हों, उन-उन का त्याग कर दिया करो। जो-जो सत्य जाने, उस-उस का प्रकाश और प्रचार करे। किसी पाखण्डी, दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करे और जिस-जिस उत्तम कर्म के लिए माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें, उस-उस का पालन करे। जैसे माता-पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक, 'निघण्टु', 'निरुक्त', 'अष्टाध्यायी' अथवा अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों, उन-उन का पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें। जैसे प्रथम समुल्लास में परमेश्वर का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार मानके, उसकी उपासना करें। जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन, छादन और व्यवहार करें-करावें अर्थात् जितनी क्षुधा हो, उससे कुछ न्यून भोजन करे। मद्य, मांसादि के सेवन से अलग रहें। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें, क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख और जो तरना न जाने तो डूब ही जा सकता है।

'नाविज्ञाते जलाशये' —यह मनुस्मृति [४।१२९] का वचन है॥

अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥

—यह मनुस्मृति [६।४६] का वचन है॥

अर्थ—नीचे दृष्टि कर, ऊँचे-नीचे स्थान को देख के चले, वस्त्र से छान के जल पिये, सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

—यह किसी कवि का वचन है [चा० नी० २।११]॥

वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण शत्रु हैं कि जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत

और कुशोभित होते हैं कि जैसे हंसों के बीच में बगुला। यही माता-पिता का कर्त्तव्यकर्म, परमधर्म और कीर्त्ति का काम है कि जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना।

यह बालशिक्षा में थोड़ा-सा लिखा, इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते बालशिक्षाविषये
द्वितीयः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ २ ॥

अथ तृतीयसमुल्लासारम्भः

अथाऽध्ययनाऽध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः ॥

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखेंगे। सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चाँदी, हीरा, माणिक, मोती, मूँगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः,
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता; सुन्दरशील-स्वभावयुक्त; सत्यभाषणादिनियमपालनयुक्त; और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित, अन्य की मलिनता के नाशक; सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी-जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित; वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं। विना इसके किसी को शोभा प्राप्त नहीं होती।

इसलिए आठ वर्ष के हों तभी, लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की शाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके, यथोक्त

आचार्य्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें। विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोश एक-दूसरे से दूर होनी चाहिएँ। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा नौकर-चाकर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और लड़कों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग, इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील स्वभाव, शरीर और आत्मा के बलयुक्त हो के, आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोश दूर ग्राम वा नगर रहै। सबको तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसन दिये जाएँ, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों। सब को तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर, केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जायें, तब उनके साथ अध्यापक रहैं, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥

—यह मनुस्मृति [७।१५२] का श्लोक है॥

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़के, लड़कियों को घर में न रखके, पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे, वह दण्डनीय हो। प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो। पिता, माता वा अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थसहित गायत्रीमन्त्र का उपदेश कर दें। वह मन्त्र—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ —[यजुः० ३६।३]

इस मन्त्र में जो प्रथम ओङ्कार है, उसका अर्थ प्रथमसमुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं—**'भूरिति वै प्राणः'** **'यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः'** जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है, उस प्राण का वाचक होके **'भूः'** परमेश्वर का नाम है। **'भुवरित्यपानः'** **'यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः'** जो सब दुःखों से रहित, जिसके संग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए परमेश्वर का नाम **'भुवः'** है। **'स्वरिति व्यानः'** **'यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः'** जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण कर रहा है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'स्वः'** है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक [प्रपा० ७। अनु० ५] के हैं।

(सवितुः) **'यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य'** जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है (देवस्य) **'यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः'** जो सर्वसुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) **'वर्तुमर्हम्'** स्वीकार करने योग्य, अतिश्रेष्ठ (भर्गः) **'शुद्धस्वरूपम्'** शुद्धस्वरूप और पवित्र करनेवाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हमलोग (धीमहि) **'धरेमहि'** धारण करें। किस प्रयोजन के लिए कि (यः) जो सविता देव परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

'हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव! हे कृपानिधे न्यायकारिन्! हे अज निरञ्जन निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे सर्वाधार सर्वजगत्पितः सकलजगदुत्पादक! हे अनादे विश्वम्भर सर्वव्यापिन्! हे करुणामृतवारिधे! सवितुर्देवस्य तव यदों भूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि दधीमहि धरेमहि ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—हे भगवन्! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात्, स एवास्माकं पूज्य

उपासनीय इष्टदेवो भवतु। नातोऽन्यद्वस्तु भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे।'

हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ; सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप; नित्यशुद्ध-नित्यबुद्ध-नित्यमुक्तस्वभाव वाला; कृपासागर; ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा; जन्ममरणादि क्लेशरहित, आकार-विकार रहित; सबके घट-घट का जानने वाला; सबका धर्त्ता, पिता, उत्पादक; अनादि, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सर्वव्यापक; सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिए कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्म्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार, सत्य मार्ग में चलावे। उसको छोड़कर, दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें, क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

इस प्रकार गायत्रीमन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया है, सिखलावें। प्रथम स्नान इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि. आरोग्य आदि होते हैं।

इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

—यह मनुस्मृति [५।१०९] का श्लोक है॥

जल से शरीर के बाहर के अवयव; सत्याचरण से मन; विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सह के, धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा; ज्ञान, अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि, अर्थात् दृढ़निश्चय पवित्र होता है। इससे स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना चाहिये।

दूसरा प्राणायाम, इसमें प्रमाण—

प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥

—यह योगशास्त्र [२।२८] का सूत्र है॥

जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

—यह मनुस्मृति [६।७१] का श्लोक है॥

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।

प्राणायाम का विधि—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

—यह योगशास्त्र [१।३४] का सूत्र है॥

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच के, वायु को बाहर फेंक दे। जब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे, तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही करता जाए, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की, पवित्रता और स्थिरता होती है।

एक 'बाह्यविषय' अर्थात् बाहर ही प्राण को अधिक रोकना। दूसरा 'आभ्यन्तर' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाए, उतना रोके। तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एकदम जहाँ-का-तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध, उसको न निकलने देने के लिए, बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर, रोकता जाए। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से, मन और इन्द्रियें भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप

हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे। भोजन-छादन, बैठने-उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

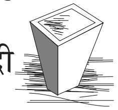
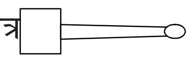
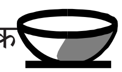
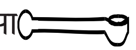
सन्ध्योपासन, जिसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। '**आचमन**' उतने जल को हथेली में ले के, पञ्चा के मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगा के करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है। पश्चात् '**मार्जन**' अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के, उससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे। पुनः समन्त्रक प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान। पीछे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावे। पश्चात् '**अघमर्षण**' अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे। यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥

—यह मनुस्मृति [२।१०४] का श्लोक है॥

जङ्गल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान हो के, जल के समीप स्थित हो के, नित्य कर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्रीमन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपनी चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।

दूसरा **देवयज्ञ**—जो अग्निहोत्र, विद्वानों का संग सेवादि से होता है। सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करे। दो ही रात-दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं। न्यून-से-न्यून एक घण्टा पर्य्यन्त ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे। दूसरा अग्निहोत्र कर्म—दोनों सन्धिवेला अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र

करने का समय है। एक किसी धातु वा मट्टी की, ऊपर १२ वा १६ अंगुल चौकोण, उतनी ही गहिरी और नीचे ३ वा ४ अंगुल परिमाण से वेदी  इस प्रकार बनावे अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो, उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहै, उसमें चन्दन, पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े-छोटे करके उसमें रक्खे, उसके मध्य अग्नि रख के पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त इंधन रख दे। एक प्रोक्षणीपात्र  ऐसा, और तीसरा प्रणीतापात्र  इस प्रकार का, और एक  इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र, और एक चमसा  ऐसा सोने, चाँदी वा काष्ठ का बनवा के, प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रख के, घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिए है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है। पश्चात् उस घी को अच्छी प्रकार देख ले, देख के—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा।
स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः
प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥

[तै० उ० १।५ के आशय पर]।

अग्निहोत्र के इन प्रत्येक मन्त्र से एक-एक आहुति देवे और जो अधिक आहुति देना हो तो—

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व॥

[यजुः ३०।३]।

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्रीमन्त्र से आहुति देवे।

'ओं' 'भूः' और 'प्राण' आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा

में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिए।

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है?

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख, और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य, और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—चन्दनादि घिस के किसी को लगावे, वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना, बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर—जो तुम पदार्थविद्या जानते, तो कभी ऐसी बात न कहते। क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो! जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैल के, वायु के साथ दूर देश में जाकर, दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न—जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा।

उत्तर—उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकालकर, शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक-शक्ति नहीं है। और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके, बाहर निकाल कर, पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है।

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़ के होम करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जायें और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें। वेदपुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है?

उत्तर—हाँ! क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो के वायु और जल को बिगाड़ कर, रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से, प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उसी मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ, उतना सुगन्ध वा उससे अधिक; वायु वा जल में फैलाना चाहिए। और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुखविशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके। इससे अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिए, परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है, इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे और एक-एक आहुति का कितना परिमाण है?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य सोलह-सोलह आहुति और छह-छह माशे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून-से-न्यून चाहिए, और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसीलिए आर्यवरशिरोमणि महाशय, ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, जो अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाय। ये दो यज्ञ अर्थात् एक 'ब्रह्मयज्ञ' जो पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना। दूसरा 'देवयज्ञ' जो अग्नीहोत्र से ले के अश्वमेध पर्य्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना। परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति। राजन्यो द्वयस्य। वैश्यो वैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीत-मध्यापयेदित्येके॥ —यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय [श्लोक ५] का वचन है॥

ब्राह्मण तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य; क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे,

शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्य्यों का है। इस विधि के पश्चात् पाँचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और कन्या कन्याओं की पाठशाला में जावें और निम्नलिखित नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें।

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥

—यह मनुस्मृति [३।१] का श्लोक है॥

अर्थ—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्य्यन्त, अर्थात् एक-एक वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिल के छत्तीस और आठ मिल के चवालीस, अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिल के छब्बीस, वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूर्ण ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति॥ १॥

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ २॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳसवनं चतुश्चत्वारिꣳ शदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनꣳसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसर्वꣳरोदयन्ति॥ ३॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳरुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳ शदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते॥ ५॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ६॥

—यह छान्दोग्योपनिषद् [३।१६।१-६] का वचन है॥

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। उनमें से कनिष्ठ—जो यह पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करनेवाला जीवात्मा; यज्ञ अर्थात् अतीव शुभगुणों से सङ्गत और सत्कर्त्तव्य है। इसको अवश्य है कि २४ वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे। और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास करानेवाले होते हैं॥ १॥

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक-ठीक ब्रह्मचर्य से रहूँगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य, बलवान् हो के, शुभगुणों को वसानेवाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूँ। २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूँगा तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूँगा और आयु भी मेरा ७० वा ८० वर्ष तक रहेगा॥ २॥

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त हो के, सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं॥ ३॥

जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं, कुछ तपश्चर्या करूँ, तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूँ और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूँ। जैसाकि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो॥ ४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्य्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे ४८ अक्षर की जगती, वैसे जो ४८ वर्ष पर्य्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता

है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं॥५॥

जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप-ही-आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्य्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥६॥

चतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति। आषोडशाद्वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता। ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति॥

[तुलना—सु० १।३५।२९]

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्॥

—यह सुश्रुत के सूत्रस्थान का वचन है [सु० १।३५।१३]॥

इस शरीर की चार अवस्था हैं। एक वृद्धि जो जन्म से लेकर १६वें वर्ष पर्यन्त, दूसरा यौवन १६में वर्ष से लेके २५वें वर्ष पर्य्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। तीसरी सम्पूर्णता, जो पच्चीसवें वर्ष से ले के चालीसवें वर्ष पर्य्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। चौथी किञ्चित्परिहाणि, जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तदन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न, प्रस्वेदादि द्वार से बाहर निकल जाता है। वही ४०वां वर्ष उत्तम समय विवाह का है, अर्थात् उत्तमोत्तम तो अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना।

प्रश्न—क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है?

उत्तर—नहीं, जो २५ वर्ष पर्य्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे, तो १६ सोलह वर्षपर्यन्त कन्या। जो पुरुष तीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहै, तो स्त्री १७ वर्ष, जो पुरुष छत्तीस वर्ष रहै, तो स्त्री १८ वर्ष, जो पुरुष ४० वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे, तो स्त्री २० वर्ष, जो पुरुष ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे, तो स्त्री २२ वर्ष, जो पुरुष ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य करे, तो स्त्री २४ चौबीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन रक्खे, अर्थात् ४८वें वर्ष से आगे पुरुष और २४वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिए, परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है। और जो विवाह करना ही न चाहैं वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों, तो भले ही रहैं, परन्तु यह काम पूर्ण विद्या वाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभ के, इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् [शिक्षावल्ली, अनुवाक ९] का वचन है।

ये पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम हैं। (ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें, (सत्यं०) सत्याचार से सत्यविद्या को पढ़ें वा पढ़ावें, (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें, (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायें, (शमः०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटाके पढ़ते-पढ़ाते जायें, (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जान के पढ़ते-पढ़ाते जायें, और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें, (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, (मानुषं०) मनुष्यसम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करके पढ़ते और पढ़ाते रहें, (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें, (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें, (प्रजातिः०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

—यह मनुस्मृति [४।२०४] का श्लोक है॥

यम पाँच प्रकार के होते हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥

—यह योगदर्शन [२।३०] का वचन है।

अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग, (सत्य) सत्य ही मानना, सत्य ही बोलना और सत्य ही करना, (अस्तेय) अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरी त्याग, (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता स्वत्वाभिमानरहित होना, इन पाँच **यमों** का सेवन सदा करें।

नियम—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

—यह योगशास्त्र [२।३२] का वचन है।

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना, (तपः) अर्थात् कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना, (ईश्वरप्रणिधान) ईश्वर की भक्तिविशेष से आत्मा को अर्पित रखना, ये पाँच **नियम** कहाते हैं।

यमों के विना, केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़ के, केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

—मनुस्मृति [२।२]॥

अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें। इसलिए—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

—यह मनुस्मृति [२।२८] का श्लोक है।

(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (व्रत) ब्रह्मचर्य्य सत्यभाषणादि नियम पालने, (होम) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना ज्ञान विद्या के ग्रहण, (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने, (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंचमहायज्ञ और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्याविज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को 'ब्राह्मी' अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर बनाना है। इतने साधनों से विना ब्राह्मणशरीर नहीं बन सकता।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

—मनु० [२।८८]॥

जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे। क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

—मनु० [२।९३]॥

जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है; और जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है, तभी सिद्धि को प्राप्त होता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

—मनु० [२।९७]॥

जो दुष्टाचारी, अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ १ ॥
नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ २ ॥

—मनु० [२।१०५-१०६]॥

वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममन्त्रों में अनध्याय और निरोध अर्थात् अननुष्ठान (रुकावट) नहीं होती, क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता॥ १ ॥

जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बन्ध नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिए, न किसी दिन छोड़ना, क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है॥ २ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥

—मनु० [२।१२१]॥

जो सदा नम्र, सुशील, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है, उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल; ये चार सदा बढ़ते रहते हैं। और जो ऐसा नहीं करते, उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ १ ॥
यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥ २ ॥

—मनु० [२।१५९-१६०]॥

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़ के सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश करें; और उपदेष्टा सदा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोले। जो धर्म की उन्नति चाहै, वह सदा सत्य में चले और सत्य ही का उपदेश करे॥ १ ॥

जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं; वही सब वेदान्त=सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है॥ २ ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

—मनु० [२।१६२]॥

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है, जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है; और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः॥

—मनु० [२।१६४]॥

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

—मनु० [२।१६८]

जो वेद को न पढ़ के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्रसहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ १ ॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम्॥ २ ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ ३ ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥ ४ ॥

—मनु० [२।१७७-१८०]॥

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा॥ १ ॥

अङ्गों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष और नाच, गान, बाजा बजाना॥ २॥

द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें॥ ३॥

सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्य्य स्खलित कभी न करे। जो कामना से वीर्य्य स्खलित कर दे, तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य्य-व्रत का नाश कर दिया॥ ४॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥ देवपितृ-कार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव॥ आचार्य्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्य-स्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि॥ २॥ नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। [अथाभ्या-ख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन्। तथा तेषु वर्त्तेथाः॥] एष आदेश एष उपदेश एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपा-सितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् [१।११] का वचन है।

आचार्य्य अन्तेवासी, अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचार कर, प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं के ग्रहण और आचार्य्य

के लिए प्रिय धन देकर, विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, [प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़], प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़। देव, विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं, उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण, उनको कभी मत कर। जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो; तो जो वे समदर्शी पक्षपातरहित, योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करनेवाले धर्मात्मा जन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्त्तें, वैसे तू उसमें वर्त्ता कर। यही आदेश आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्त्तना और अपनी चाल-चलन सुधारना चाहिए।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

—मनु० [२।४]॥

मनुष्य को निश्चय करना चाहिए कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच-विकास होना भी सर्वथा असम्भव है, इससे यह सिद्ध होता है कि जो जो-कुछ भी करता है, वह-वह चेष्टा कामना के विना नहीं है।

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्त्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥ १॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥ २॥

—मनु० [१।१०८-१०९]॥

कहने, सुनने, सुनाने, पढ़ने, पढ़ाने का फल यही है कि वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिए धर्माचार में सदा युक्त रहै॥ १॥

क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है, वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़ के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है॥ २॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

—मनु० [२।११]॥

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पङ्क्ति और देश बाह्य कर देना चाहिए, क्योंकि—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

—मनु० [२।१२]॥

श्रुति=वेद; स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र; सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वरोक्त-प्रतिपादित कर्म्म; और अपने आत्मा में प्रिय, अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्यभाषण; ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्म्माधर्म्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है, उसी का नाम '**धर्म**' और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को '**अधर्म**' कहते हैं।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनु० [२।१३]॥

जो पुरुष (अर्थ) सुवर्णादि रत्न और (काम) स्त्रीसेवनादि में नहीं फसे हैं, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय

विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता।

इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे। और विशेषकर राजा, इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं, वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें, तो विद्या, धर्म, राज्य और धन की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण छल-कपट में फस के, विद्याभ्यास धर्म को छोड़ पाखण्ड ही में फस जाते हैं। और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते।

और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते-कराते हैं। इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहैं तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं, वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते, इसलिए वे विद्या व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते। और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी, तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि ही होते हैं। इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पाँच प्रकार से होती है—

एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो, वह-वह 'सत्य' और उससे विरुद्ध 'असत्य' है।

दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह 'सत्य' और जो-जो विरुद्ध है, वह सब 'असत्य' है। जो कोई कहे—''विना माता-पिता

के योग से लड़का उत्पन्न हुआ'', वह सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से असत्य है।

तीसरी—''आप्त'' अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग, उपदेश के अनुकूल है, वह-वह 'ग्राह्य' और जो-जो विरुद्ध है, वह-वह 'अग्राह्य' है।

चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या के अनुकूल, अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दु:ख अप्रिय है, वैसे सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दु:ख वा सुख दूँगा, तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।

और **पाँचवीं**—आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। इनमें से प्रत्यक्ष के लक्षणादि में जो-जो नीचे सूत्र लिखेंगे, वे-वे सब न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥

—न्याय० ॥ अध्याय १ ॥ आह्निक १ ॥ सूत्र ४ ॥

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि ''तू जल ले-आ'' वह लाके, उसके पास धरके, बोला कि ''यह जल है''। परन्तु वहाँ 'जल' इस दो अक्षरों की संज्ञा, न लाने, न मंगवाने वाला देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम 'जल' है, वही प्रत्यक्ष होता है। और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्दप्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देख के, पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा, तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर, स्तम्भज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है।'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू देख के कहा कि ''वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ

है''?''वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त''? जब तक एक निश्चय न हो, तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान है, उसी को '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं।

दूसरा **अनुमान—**

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च॥

—न्याय० ॥ अ० १। आ० १। सू० ५ ॥

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को '**अनुमान**' कहते हैं। जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देख के अग्नि, जगत् में सुख-दु:ख देख के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक '**पूर्ववत्**' जैसे बद्दलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देख के विद्या होने का निश्चय होता है—इत्यादि। जहाँ-जहाँ कारण को देख के कार्य का ज्ञान हो वह 'पूर्ववत्'। दूसरा '**शेषवत्**' अर्थात् जहाँ कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देख के ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देख के पिता का, सृष्टि को देख के अनादि कारण का, सृष्टि में रचनाविशेष देखके कर्त्ता ईश्वर का, दु:ख-सुख देख के पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान होता है, इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा '**सामान्यतोदृष्ट**' जो कोई किसी का कार्य कारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता, वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना; विना गमन के कभी नहीं हो सकता। अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि अनु अर्थात् '**प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्**' जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो, जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे विना, अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

तीसरा **उपमान—**

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्॥

—न्याय० ॥ अ० १ ॥ आ० १ ॥ सू० ६ ॥

जो प्रसिद्ध=प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको '**उपमान**' कहते हैं। '**उपमीयते येन तदुपमानम्**' जैसे किसी ने किसी भृत्य से कहा कि "तू देवदत्त के सदृश विष्णुमित्र को बुला ला' वह बोला कि "मैंने उसको कभी नहीं देखा"। उसके स्वामी ने उससे कहा कि "जैसा यह देवदत्त है, वैसा ही विष्णुमित्र है;" वा "जैसी यह गाय है, वैसा ही गवय अर्थात् रोजा (नीलगाय) होता है"। जब वह वहाँ गया और देवदत्त के सदृश देखा, निश्चय जान लिया कि यही विष्णुमित्र है, उसको ले-आया। अथवा किसी जङ्गल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा, उसको जान लिया कि इसी का नाम गवय है।

चौथा **शब्दप्रमाण**—

आप्तोपदेशः शब्दः॥ —न्याय०। अ० १। आ० १। सू० ७॥

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो। अर्थात् जितने पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है, जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को '**शब्दप्रमाण**' जानो।

पाँचवाँ **ऐतिह्य**—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्॥

—न्याय०। अ० २। आ० २। सू० १॥

जो इति ह अर्थात् इस प्रकार का था; उसने इस प्रकार किया। अर्थात् किसी के जीवन-चरित्र का नाम '**ऐतिह्य**' है।

छठा **अर्थापत्ति**—

'**अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः**' केनचिदुच्यते—'**सत्सु घनेषु वृष्टिः, सति कारणे कार्य्यं भवतीति**' किमत्र प्रसज्यते—'**असत्सु घनेषु वृष्टिरसति कारणे च कार्य्यं न भवतीति**' जैसे किसी ने किसी से कहा कि "बद्दल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य्य उत्पन्न होता है"। इससे, विना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि "विना

बद्दल वर्षा और विना कारण कार्य्य कभी नहीं हो सकता।"

सातवाँ **सम्भव**—

'**सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः**' कोई कहे कि "माता-पिता के सङ्ग के विना सन्तानोत्पत्ति, किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे और वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया" इत्यादि सब असम्भव हैं। क्योंकि ये सब बात सृष्टिक्रम के विरुद्ध हैं। और जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वही '**सम्भव**' है।

आठवाँ **अभाव**—

'**न भवति यस्मिन् सोऽभावः**' जैसे किसी ने किसी से कहा कि "हाथी ले आ" उसने वहाँ हाथी का अभाव देखकर, जहाँ हाथी था, वहाँ से ले आया।

ये आठ प्रमाण। इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव की गणना करें, तो चार प्रमाण रह जाते हैं। इस पाँच प्रकार की परीक्षा से सत्यासत्य का निश्चय मनुष्य कर सकता है, अन्यथा नहीं।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्॥

—वै० अ० १। आ० १। सू० ४॥

जब मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर '**साधर्म्य**' अर्थात् जो तुल्य धर्म जैसा पृथिवी जड़ और जल भी जड़; '**वैधर्म्य**' अर्थात् पृथिवी कठोर और जल कोमल; इसी प्रकार से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञान से '**निःश्रेयसम्**' मोक्ष को प्राप्त होता है।

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

—वै० अ० १। आ० १। सू० ५।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव **द्रव्य** हैं।

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्॥

—वै०। अ० १। आ० १। सू० १५॥

'क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिँस्तत् क्रियागुणवत्' जिसमें क्रिया, गुण और केवल गुण भी रहैं, उसको **'द्रव्य'** कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं। तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन गुणवाले तो हैं, किन्तु क्रिया-वाले नहीं। (समवायि) **'समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि, प्राग्वृत्तित्वं कारणं, समवायि च तत्कारणं च समवायिकारणम्' 'लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्'** जो मिलने के स्वभावयुक्त, कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो, जिससे क्रियागुणयुक्त हो, उसको **द्रव्य** कहते हैं। जिससे लक्ष्य जाना जाय, जैसा आँख से रूप जाना जाता है, उसको **लक्षण** कहते हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी॥

—वै०। अ० २। आ० १। सू० १॥

जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है वह **'पृथिवी'** कहाती है।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः॥ –वै०। अ० २। आ० २। सू० २॥

पृथिवी में **गन्ध** गुण स्वाभाविक है। रूप, रस और स्पर्श अग्नि, जल और वायु के योग से हैं। जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द स्वाभाविक है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः॥

—वै०। अ० २। आ० १। सू० २॥

रूप, रस और स्पर्शवान्, द्रवीभूत और कोमल है, सो **'जल'** कहाता है। परन्तु स्वाभाविक गुण, जल का **रस** है, तथा रूप-स्पर्श, अग्नि और वायु के योग से है।

अप्सु शीतता॥ —वै०। अ० २। आ० २। सू० ५॥

और जल में **शीतलत्व** भी गुण स्वाभाविक है।

तेजो रूपस्पर्शवत्॥ —वै०। अ० २। आ० १। सू० ३॥

जो रूप और स्पर्शवाला है, वह **'तेज'** है। परन्तु इसमें रूप स्वाभाविक और स्पर्श वायु के योग से है।

स्पर्शवान् वायुः॥ —वै०। अ० २। आ० १। सू० ४॥

स्पर्श गुणवाला **'वायु'** है। परन्तु इसमें भी उष्णता शीतता, तेज और जल के योग से है।

त आकाशे न विद्यन्ते॥ —वै०। अ० २। आ० १। सू० ५॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आकाश में नहीं हैं। किन्तु **'शब्द'** ही **आकाश** का गुण है।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्॥

—वै०। अ० २। आ० १। सू० २०॥

जिसमें प्रवेश और निकलना होता है, वह 'आकाश' का लिङ्ग है।

कार्य्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः॥

—वै०। अ० २। आ० १। सू० २५।

अन्य पृथिवी आदि कार्यों से प्रकट न होने से शब्द; स्पर्शगुणवाले भूमि आदि का गुण नहीं है। किन्तु शब्द आकाश ही का गुण है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि॥

—वै०। अ० २। आ० २। सू० ६॥

जिसमें अपर, पर, (युगपत्) एक वार, (चिरम्) विलम्ब, (क्षिप्रम्) शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं, उसको **'काल'** कहते हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति॥

—वै०। अ० २। आ० २। सू० ९॥

जो नित्य पदार्थों में न हो और अनित्यों में हो, इसीलिए कारण में ही काल संज्ञा है।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्॥

—वै०। अ० २। आ० २। सू० १०॥

यहाँ से यह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे, जिसमें यह व्यवहार होता है, उसी को **'दिशा'** कहते हैं।

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची॥

—वै० अ० २। आ० २। सू० १४।

जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ, है, होगा, उसको 'पूर्व' दिशा कहते हैं। और जहाँ अस्त हो, उसको 'पश्चिम', पूर्वाभिमुख मनुष्य के दाहिनी ओर 'दक्षिण' और बांई ओर 'उत्तर' दिशा कहाती है।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि॥

—वै० अ० २। आ० २। सू० १६॥

इससे जो पूर्व-दक्षिण के बीच दिशा है उसको 'आग्नेयी', दक्षिण-पश्चिम के बीच को 'नैर्ऋति', पश्चिम-उत्तर के बीच को 'वायवी' और उत्तर-पूर्व के बीच को 'ऐशानी' दिशा कहते हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥

—न्याय० अ० १। आ० १। सू० १०॥

जिसमें (इच्छा) राग, (द्वेष) वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ; सुख; दुःख; (ज्ञान) जानना गुण हों, वह जीवात्मा। वैशेषिक में इतना विशेष है—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥

—वै० अ० ३। आ० २। सू० ४॥

(प्राण) भीतर से वायु को निकालना, (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना, (निमेष) आँख को नीचे ढांकना, (उन्मेष) आँख को ऊपर उठाना, (जीवन) प्राण का धारण करना, (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान, (गति) यथेष्ट गमन करना, (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना, (अन्तर्विकार) क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीडा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब **आत्मा** के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण हैं।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥

—न्याय०। अ० १। आ० १। सू० १६॥

जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण, ज्ञान नहीं होता, उसको '**मन**' कहते हैं।

यह द्रव्य का स्वरूप और लक्षण कहा। अब **गुण** कहते हैं—

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः॥

—वै०। अ० १। आ० १। सू० ६॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये २४ **गुण** कहाते हैं।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्॥ —वै०। अ० १। आ० १। सू० १६॥

गुण उसको कहते हैं कि जो द्रव्य के आश्रय रहै, अन्य गुण का धारण न करे, संयोग और विभागों में कारण न हो, (अनपेक्ष) अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा न करे, उनका नाम '**गुण**' है।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः॥ —महाभाष्य [१।१।२।२]॥

जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति हो वह **शब्द,** और जिसका बुद्धि से ग्रहण हो वह **शब्द,** और जो प्रयोग से प्रकाशित हो वह **शब्द,** और आकाश जिसका देश हो, वह भी '**शब्द**' कहाता है।

नेत्र से जिसका ग्रहण हो वह 'रूप', जीभ से जिस मिष्टादि अनेक प्रकार का ग्रहण होता है वह 'रस', नासिका से जिसका ग्रहण हो वह 'गन्ध', त्वचा से जिसका ग्रहण होता है वह 'स्पर्श', एक-द्वि इत्यादि संख्या=जिससे पदार्थों की गणना होती है, (परिमाण) जिससे तोल अर्थात् हल्का वा भारी विदित होता है, (पृथक्त्व) एक दूसरे से अलग, (संयोग) एक दूसरे के साथ मिलना, (विभाग) एक मिले हुए के अनेक टुकड़े होना, (परत्व) इससे यह परे है, (अपर) उससे यह उरे है, (बुद्धि) ज्ञान, (सुख) आनन्द, (दुःख) क्लेश, (इच्छा) राग, (द्वेष) विरोध, वैर, (प्रयत्न) अनेक प्रकार का बल पुरुषार्थ, (गुरुत्व) भारीपन, (द्रवत्व) पिघल जाना, (स्नेह) प्रीति और चिकनापन, (संस्कार) दूसरे के योग से वासना का होना, (धर्म) न्यायाचरण और कठिनत्वादि, (अधर्म) अन्यायाचरण और कठिनता से विरुद्ध कोमलता, ये २४ चौबीस **गुण** हैं।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि॥

—वै० अ० १। आ० १। सू० ७॥

(उत्क्षेपण) ऊपर को चेष्टा करना, (अवक्षेपण) नीचे को चेष्टा करना, (आकुञ्चन) सङ्कोच करना, (प्रसारण) फैलाना, (गमन) समभाग में गति करना अर्थात् चलना, आना-जाना, घूमना आदि होते हैं, इनको **कर्म** कहते हैं। इनका लक्षण—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्॥ —वै० अ० १। आ० १। सू० १७॥

'एकं द्रव्यमाश्रय आधारो यस्य तदेकद्रव्यम्, न विद्यते गुणो यस्य यस्मिंस्तदगुणम्, संयोगेषु विभागेषु चाऽपेक्षारहितं कारणं तत्कर्मलक्षणम्' अथवा **'यत् क्रियते तत्कर्म, लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्, कर्मणो लक्षणं कर्मलक्षणम्'** एक द्रव्य के आश्रित, गुणों से रहित, संयोग और विभाग होने में अपेक्षारहित कारण हो, उसको '**कर्म**' कहते हैं।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्॥

—वै० अ० १। आ० १। सू० १८॥

जो कार्य-द्रव्य, गुण और कर्म का कारण द्रव्य है, वह सामान्य द्रव्य है।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्य्यं सामान्यम्॥

—वै० अ० १। आ० १। सू० २३॥

जो द्रव्यों का कार्यद्रव्य है, वह कार्यपन से सब कार्यों में सामान्य है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च॥

—वै० अ० १। आ० २। सू० ५॥

द्रव्यों में द्रव्यपन, गुणों में गुणपन, कर्मों में कर्मपन ये सब 'सामान्य' और 'विशेष' कहाते हैं। क्योंकि द्रव्यों में द्रव्यत्व सामान्य, और गुणत्व कर्मत्व से द्रव्यत्व विशेष है, इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्॥

—वै० अ० १। आ० २। सू० ३॥

सामान्य और विशेष, बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। जैसे— मनुष्य व्यक्तियों में मनुष्यत्व सामान्य और पशुत्वादि से विशेष तथा स्त्रीत्व और पुरुषत्व, इनमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व भी विशेष हैं। ब्राह्मण व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व सामान्य और क्षत्रियादि से विशेष है, इसी प्रकार सर्वत्र जानो।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः॥

—वै० अ० ७। आ० २। सू० २६॥

इसमें यह, जैसे द्रव्य में क्रिया, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति,

अवयवों में अवयवी, कार्यों में कारण अर्थात् क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति, कार्य-कारण, अवयव-अवयवी, इनका नित्य सम्बन्ध होने से '**समवाय**' कहाता है। और जो दूसरा द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह संयोग अर्थात् अनित्य सम्बन्ध है।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्॥

—वै० अ० १। आ० १। सू० ९॥

जो समानजातीयक द्रव्य और गुण के कार्य्य का आरम्भ होता है, उसको '**साधर्म्य**' कहते हैं। जैसे पृथिवी में जड़त्व धर्म और घटादि कार्योत्पादकत्व स्वसदृश धर्म है, वैसे जल में भी जड़त्व और हैम आदि स्वसदृश कार्य का आरम्भ, पृथिवी के साथ जल का और जल के साथ पृथिवी का तुल्य धर्म है। अर्थात् **'द्रव्यगुणयोर्विजातीयारम्भकत्वं वैधर्म्यम्'** यह विदित हुआ कि जो द्रव्य और गुण का विरुद्ध धर्म और कार्य का आरम्भ है, उसको '**वैधर्म्य**' कहते हैं, जैसे पृथिवी में कठिनत्व, शुष्कत्व और गन्धवत्त्व धर्म जल से विरुद्ध और जल का द्रवत्व, कोमलता और रसगुणयुक्तपन पृथिवी से विरुद्ध है।

कारणाऽभावात्कार्याऽभावः॥

—वै० अ० १। आ० २। सू० १॥

कारण के न होने से, कार्य कभी नहीं होता।

कारणभावात्कार्यभावः॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० ३॥

कारण के होने ही से कार्य्य होता है।

न तु कार्याभावात्कारणाभावः॥

—वै० अ० १। आ० २। सू० २॥

कार्य के अभाव से, कारण का अभाव नहीं होता।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः॥

—वै० अ० २। आ० १। सू० २४॥

जैसे कारण में गुण होते हैं, वैसे ही कार्य में होते हैं।

परिमाण दो प्रकार का है—

अणुमहदिति तस्मिन्विशेषभावाद्विशेषाभावाच्च॥

—वै० अ० ७। आ० १। सू० ११॥

(अणु) सूक्ष्म, (महत्) बड़ा, सापेक्ष है। जैसे त्रसरेणु लिक्षा से छोटा और द्व्यणुक से बड़ा है, तथा पहाड़ पृथिवी से छोटे, वृक्षों से बड़े हैं।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता॥

—वै० अ० १। आ० २। सू० ७॥

जो द्रव्य, गुण और कर्मों में सत् शब्द अन्वित रहता है, अर्थात् (सद् द्रव्यम्—सन् गुणः—सत्कर्म) सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् कर्म अर्थात् वर्त्तमान कालवाची शब्द का अन्वय सबके साथ रहता है।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव॥

—वै०अ० १। आ० २। सू० ४॥

जो सबके साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है, सो '**महासामान्य**' कहाता है। यह क्रम भावरूप द्रव्यों का है। और जो **अभाव** है, वह पाँच प्रकार का होता है।

क्रियागुणव्यपदेशाभावात्प्रागसत्॥

—वै० अ० ९। आ० १। सू० १॥

क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के अभाव से प्राक् अर्थात् पूर्व (असत्) न था। जैसे घट, वस्त्रादि उत्पत्ति के पूर्व नहीं थे, इसका नाम '**प्रागभाव**'। दूसरा—

सदसत्॥ —वै० अ० ९। आ० १। सू० २॥

जो होके न रहै। जैसे घट उत्पन्न होके नष्ट हो जाय, यह 'प्रध्वंसाभाव' कहाता है। तीसरा—

सच्चासत्॥ —वै० अ० ९। आ० १। सू० ४॥

जो होवे और न होवे। जैसे '**अगौरश्वोऽनश्वो गौः**' यह घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं। अर्थात् घोड़े में गाय का और गाय में घोड़े का अभाव और गाय में गाय, घोड़े में घोड़े का भाव है। यह '**अन्योऽन्याभाव**' कहाता है। चौथा—

यच्चान्यदसदतस्तदसत्॥

—वै० अ० ९। आ० १। सू० ५॥

जो पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न है, उसको '**अत्यन्ताभाव**' कहते हैं। जैसे—'नरशृङ्ग' अर्थात् मनुष्य का सींग, 'खपुष्प' आकाश का फूल और बन्ध्या का पुत्र, इत्यादि। पाँचवाँ—

नास्ति घटो गेह इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः॥

—वै० अ० ९। आ० १। सूत्र १०॥

घर में घड़ा नहीं अर्थात् अन्यत्र है, घर के साथ घड़े का सम्बन्ध नहीं है। ये पाँच **अभाव** कहाते हैं।

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या॥

—वै०अ० ९। आ० २। सू० १०॥

इन्द्रियों के और संस्कार के दोष से **अविद्या** उत्पन्न होती है।

तद्दुष्टं ज्ञानम्॥ —वै० अ० ९। आ० २। सू० ११॥

जो दुष्ट ज्ञान है अर्थात् विपरीत ज्ञान है, उसको '**अविद्या**' कहते हैं।

अदुष्टं विद्या॥ —वै० अ० ९। आ० २। सू० १२॥

जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको '**विद्या**' कहते हैं।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च॥

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम्॥

—वै० अ० ७। आ० १। सू० २-३॥

जो कार्यरूप पृथिव्यादि पदार्थ और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण हैं, ये सब द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य हैं। और जो इससे कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों में गन्धादि गुण हैं, वे नित्य हैं।

सदकारणवन्नित्यम्॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० १॥

जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो, वह **नित्य** है अर्थात्—'**सत्कारणवदनित्यम्**' जो कारण वाले कार्यरूप द्रव्य गुण हैं, वे '**अनित्य**' कहाते हैं।

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्॥

—वै० अ० ९। आ० २। सू० १॥

इसका यह, कार्य वा कारण है, इत्यादि समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि और विरोधि यह चार प्रकार का लैङ्गिक अर्थात् लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध से ज्ञान होता है। 'समवायि' जैसे आकाश परिमाण वाला है, 'संयोगि' जैसे शरीर त्वचा वाला है, इत्यादि का नित्य संयोग है, 'एकार्थसमवायि' एक अर्थ में दो का रहना, जैसे कार्यरूप—स्पर्श

कार्य का लिङ्ग अर्थात् जनाने वाला है, 'विरोधि'—जैसे हुई भई वृष्टि होने वाली वृष्टि का विरोधी लिङ्ग है।

'व्याप्ति'—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः॥
निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः॥
आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः॥

—सांख्यशास्त्र २९, ३१, ३२॥

जो दोनों साध्य साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाए, उन दोनों अथवा एक, साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है, उसी को '**व्याप्ति**' कहते हैं। जैसे धूम और अग्नि का सहचार है॥ २९॥

तथा व्याप्य जो धूम उसकी निज शक्ति से उत्पन्न होता है अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है, तब विना अग्नि के योग के भी धूम स्वयं रहता है, उसी का नाम व्याप्ति है, अर्थात् अग्नि के छेदन, भेदन, सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है॥ ३१॥

जैसे महत्तत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता, बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है, जैसे शक्ति आधेयरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है॥ ३२॥

इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें। अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें, उस-उसकी पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो सत्य ठहरे, वह-वह ग्रन्थ पढ़ावें। जो-जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें, न पढ़ावें। क्योंकि—

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः॥

लक्षण जैसा कि '**गन्धवती पृथिवी**' [न्याय० वा० भा० ३।१।२८] जो पृथिवी है, वह गन्धवाली है। ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण, इनसे सब सत्याऽसत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है। इसके विना कुछ भी नहीं होता।

अथ पठनपाठनविधिः

अब पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं—प्रथम पाणिनिमुनिकृतशिक्षा जो कि सूत्ररूप है, उसकी रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है। जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करनी 'करण' कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता, पिता, आचार्य सिखलावें। तदनन्तर व्याकरण अर्थात् प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ, जैसे '**वृद्धिरादैच्**' [अष्टा० अ० १। पा० १। सू० १] फिर पदच्छेद जैसे 'वृद्धिः, आत्, ऐच्', पश्चात् समास '**आच्च ऐच्च आदैच्**', फिर अर्थ—'**आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते**' आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा है। '**तः परो यस्मात्स तपरस्तादपि परस्तपरः**'। तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो, वह तपर कहाता है। इससे सिद्ध हुआ जो आकार से परे त् और त्कार से परे ऐच् दोनों तपर हैं। तपर का प्रयोजन यह है कि ह्रस्व और प्लुत की वृद्धि संज्ञा न हुई।

उदाहरण '**भागः**' यहाँ 'भज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के परे 'घ्, ञ्' की इत्संज्ञा, लोप, भकारस्थ अकार के स्थान में ''आ'' वृद्धि हुई तो 'भाज्'। पुनः 'ज्' को ग् हो, अकार के साथ मिलके 'भागः' ऐसा प्रयोग हुआ।

'**अध्यायः**' यहाँ अधिपूर्वक 'इङ्' धातु के ह्रस्व इकार के स्थान में 'घञ्' प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि हो, 'आय्' हो, मिलके 'अध्यायः'।

'**नायकः**' यहाँ 'नीञ्' धातु के दीर्घ ईकार के स्थान में 'ण्वुल्' प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि हो, 'आय्' मिलके 'नायकः'।

और '**स्तावकः**' यहाँ 'स्तु' धातु से 'ण्वुल्', ह्रस्व उकार को 'औ' वृद्धि, 'आव्' आदेश होकर अकार में मिल गया, तो 'स्तावकः'।

'**कृञ्**' धातु से आगे 'ण्वुल्' प्रत्यय, उसके 'ण्, ल्' की इत्संज्ञा होके लोप, 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश और ऋकार के स्थान में 'आर्' वृद्धि होकर 'कारकः' सिद्ध हुआ। और जो-जो सूत्र आगे-पीछे के, प्रयोग में लगें, उनका कार्य सब बतलाता जाय और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर दिखला-दिखला के कच्चारूप धरके, जैसे

'भज+घञ्+सु'। प्रथम धातु के अकार का लोप, पश्चात् घ्कार और ञ् का लोप होकर 'भज्+अ+सु' ऐसा रहा, फिर 'भाग्+अ+सु', 'भाग+सु' फिर 'भागरूँ', फिर 'भागर्', पुनः 'भागः'। जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होना है, उस-उस को पढ़के, लिख-लिखवा के कार्य्य करता-कराता जाय। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने से बहुत दृढ़ बोध होता है।

एक वार इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ाके धातुपाठ, अर्थ और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रियासहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्यसूत्र जैसे—'**कर्मण्यण्**' [अष्टा० ३।२।१] कर्म उपपद लगा हो तो सब धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो, जैसे 'कुम्भकारः'। पश्चात् अपवाद सूत्र जैसे '**आतोऽनुपसर्गे कः**' [अष्टा० ३।२।३] उपसर्गभिन्न कर्म उपपद लगा हो तो आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होवे। अर्थात् जो बहुव्यापक जैसा कि कर्मोपपद लगा हो तो सब धातुओं से 'अण्' प्राप्त होता है, उससे विशेष अर्थात् अल्प विषय उसी पूर्व सूत्र के विषय में से आकारान्त धातु को 'क' प्रत्यय ने ग्रहण कर लिया। जैसे उत्सर्ग के विषय में अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति होती है, वैसे अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे चक्रवर्त्ति राजा के राज्य में माण्डलिक और भूमिदारों की प्रवृत्ति होती है, वैसे माण्डलिक राजादि के राज्य में चक्रवर्त्ति की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में अखिल शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की विद्या प्रतिपादित कर दी है।

धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ा के, पुनः दूसरी वार शङ्का, समाधान, वार्त्तिक, कारिका, परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीयानुवृत्ति पढ़ावें। तदनन्तर महाभाष्य पढ़ावें। अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहनेवाले नित्य प्रति पढ़ें-पढ़ावें, तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़ के तीन वर्ष में पूर्ण वैय्याकरण होकर, वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध होकर, पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता। और जितना बोध

इनके पढ़ने से तीन वर्ष में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है! महर्षि लोगों का आशय, जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है। और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने, वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना। और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना।

व्याकरण को पढ़ के यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें। तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीनों में सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं। और वृत्तरत्नाकर आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवें। तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तम सभ्यताप्राप्ति हो, वैसे काव्यरीति अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य, विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें और विद्यार्थी लोग जानते जायें। इनको एक वर्ष के भीतर पढ़ लें।

तदनन्तर पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त अर्थात् जहाँ तक बन सके, वहाँ तक ऋषिकृत व्याख्यासहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल-व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें। परन्तु वेदान्त सूत्रों के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेयी, तैत्तिरेयी, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़के छः शास्त्रों के भाष्य वृत्तिसहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें

और पढ़ लेवें।

पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथब्राह्मणों के सहित चारों वेदों को स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रियासहित पढ़ना योग्य है।

इसमें प्रमाण—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

—यह निरुक्त [१।१८] में मन्त्र है।

जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष—डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु—धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठानेवाला है। और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

—ऋ० मं० १०। सू० ७१। मं० ४॥

जो अविद्वान् हैं, वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्या वाणी के रहस्य को नहीं जान सकते। किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का जाननेवाला है, उसके लिए—जैसे सुन्दर वस्त्र, आभूषण धारती, अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपना शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या विद्वान् के लिए अपना स्वरूप प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिए नहीं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

—ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ३९॥

जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी, सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं, कि जिसमें सब वेदों का मुख्य

तात्पर्य है, उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है? नहीं-नहीं, किन्तु जो वेदों को पढ़के धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके, मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसलिए जो कुछ पढ़ना वा पढ़ाना हो, वह अर्थज्ञानसहित चाहिए। इस प्रकार सब वेदों को पढ़के, 'आयुर्वेद' अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि-मुनि-प्रणीत वैद्यक शास्त्र है, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र-छेदन-भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शारीर, देश, काल और वस्तु के गुण-ज्ञानपूर्वक ४ चार वर्ष के भीतर पढ़ें-पढ़ावें।

तदनन्तर 'धनुर्वेद' अर्थात् जो राज्यसम्बन्धी काम करना है, इसके दो भेद—एक निज राजपुरुषसम्बन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सब सभा, सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्रविद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल 'क़वायद' कहते हैं जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें। और जो-जो प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीखके, न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें, दुष्टों को यथायोग्य दण्ड और श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें।

इस राजविद्या को २ दो वर्ष में सीखकर 'गान्धर्ववेद' कि जिसको गानविद्या कहते हैं उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें, परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और नारदसंहिता आदि जो-जो आर्ष ग्रन्थ हैं, उनको पढ़ें, परन्तु भड़ुवे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभ शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।

अर्थवेद कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं उसको पदार्थ गुण-विज्ञान-क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाशपर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखके, अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला है, उस विद्या को सीख के, दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, उसको यथावत् सीखें।

तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें,

परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझके कभी न पढें और न पढ़ावें।

ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ानेवाले करें कि जिससे बीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या, उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहैं। जितनी विद्या इस रीति से बीस वा इक्कीस वर्षों में हो सकती है, उतनी अन्य प्रकार से शतवर्ष में भी नहीं हो सकती।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्य, गोतममुनिकृत न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्तिसहित पढ़ें-पढ़ावें। इत्यादि सूत्रों को कल्प अङ्ग में भी गिनना चाहिए।

जैसे ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं, वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु-निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदों के अङ्ग, मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपाङ्ग; आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि-मुनि के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस-उस को छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है। वेद की विशेष व्याख्या 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में देख लीजिए और इस ग्रन्थ में भी आगे लिखेंगे।

अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे, वह-वह जालग्रन्थ समझना चाहिए। व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि। कोश में अमरकोशादि। छन्दोग्रन्थों में वृत्तरत्नाकरादि। शिक्षा में '**अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा**' इत्यादि। ज्योतिष में शीघ्रबोध, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि। काव्य में नायिकाभेद कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। मीमांसा में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि। वैशेषिक में तर्कसंग्रहादि। न्याय में जागदीशी आदि। योग में हठप्रदीपिकादि। सांख्य में सांख्यतत्त्वकौमुद्यादि। वेदान्त में योगवासिष्ठ, पञ्चदश्यादि। वैद्यक में शार्ङ्गधरादि। स्मृतियों में एक मनुस्मृति इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़, अन्य सब स्मृति, सब तन्त्र ग्रन्थ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषारामायण, रुक्मिणीमङ्गलादि और सर्वभाषाग्रन्थ—ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है। इससे '**विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः**' जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से, छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या आप पुराण, इतिहास को नहीं मानते?

उत्तर—हाँ मानते हैं, परन्तु सत्य को मानते हैं, मिथ्या को नहीं।

प्रश्न—कौन सत्य और कौन मिथ्या है?

उत्तर—**ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति॥** यह गृह्यसूत्रादि का वचन है।

[तुलना—आश्व० गृ० सू० अ० ३। कं० ३। मं० १-२; तै० आ० प्रपा० २। अनु० ९]

जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आये उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पाँच नाम हैं, श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते?

उत्तर—जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि सत्य शास्त्रों का है और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्य शास्त्रों के स्वीकार में सब

सत्य का ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे, तो मिथ्या भी उनके गले लिपट जाए। इसलिए '**असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति**' असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे छोड़ देना चाहिए जैसे विषयुक्त अन्न को।

प्रश्न—तुम्हारा मत क्या है?

उत्तर—वेद अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उसको हम यथावत् करना, छोड़ना मानते हैं। जिसलिए वेद हमको मान्य है, इसलिए हमारा मत वेद है। ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को, विशेष आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिए।

प्रश्न—जैसा सत्यासत्य और एक-दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है, वैसे अन्य शास्त्रों में भी है। जैसा सृष्टिविषय में छः शास्त्रों का विरोध है—मीमांसा कर्म, वैशेषिक काल, न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्तशास्त्र ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है, क्या यह विरोध नहीं है?

उत्तर—नहीं, प्रथम तो विना सांख्य और वेदान्त के, दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी और इनमें विरोध भी नहीं, क्योंकि तुमको विरोधाविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि विरोध किस स्थल में होता है? क्या एक विषय में अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में?

प्रश्न—एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो, उसको विरोध कहते हैं। यहाँ भी सृष्टि एक ही विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है वा दो? एक है। जो एक है, तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों है? जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का, एक-दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही सृष्टिविद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मट्टी, विचार, संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्भार कारण है, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है, उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादानकारण की व्याख्या न्याय में,

पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्तकारण जो परमेश्वर है, उसकी व्याख्या वेदान्तशास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यकशास्त्र में निदान, चिकित्सा, ओषध-दान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं, परन्तु सबका सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने कही है। इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टिप्रकरण में कहेंगे।

जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं, उनको छोड़ देवें। जैसा कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग, दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीस वर्षों से पूर्व पुरुष और सोहलवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना; पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना; राजा, माता, पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना; अतिभोजन, अति जागरण करना; पढ़ने-पढ़ाने; परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना; सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना; ब्रह्मचर्य से वीर्य बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना; ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्त्ति के दर्शन-पूजन में व्यर्थ काल खोना; माता, पिता, अतिथि और आचार्य, विद्वान् इन सत्यमूर्त्तिमानों की सेवा और सत्संग न करना; वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कंठी, मालाधारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना; काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होने का विश्वास; पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के विना, मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना; लोभ से धनादि में प्रवृत्ति होकर विद्या में प्रीति न रखना; इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फसके ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या-सत्संग से हठा और अपने जाल में फसाके उनका तन, मन, धन

नष्ट कर देते हैं, और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जाएँगे, तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर, हमारा अपमान करेंगे इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके, अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है, जैसा यह निषेध है—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः। [वेदान्तदर्शनशांकरभाष्य २.३.४]

स्त्री और शूद्र न पढ़ें—यह श्रुति है।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। और तुम कुआ में पड़ो। और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

[यजुः अ० २६।२]॥

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए, (इमाम्) इस, (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी, (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का, (आवदानि) उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है; स्त्री और शूद्रादि का नहीं।

उत्तर—(ब्रह्मराजन्याभ्यां) इत्यादि। देखो! परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य, (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है; अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके, अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी

बातों को त्याग करके दुःखों से छूटकर, आनन्द को प्राप्त हों। कहिए! अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह नास्तिक कहावेगा, क्योंकि **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** वेदों का निन्दक और न माननेवाला नास्तिक कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र-इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं। और जहाँ कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है। और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो! वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्य्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्॥

—अथर्व०॥ अनु० ३। प्र० २४। कां० ११। मं० १८

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य-सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त, युवती होके, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय, विद्वान् (युवानम्) और पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे, इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न—क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें?

उत्तर—अवश्य; देखो! श्रौतसूत्रादि में—

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्।

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी

होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं—यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला! जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर-संग्राम घर में मचा रहे, फिर सुख कहाँ? इसलिए जो स्त्री न पढ़ें, तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि; गृहाश्रम का कार्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना; घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना, इत्यादि काम विना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो! आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं, क्योंकि जो न जानती होती, तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकती और युद्ध कर सकती? इसलिए ब्राह्मणी को सब विद्या, क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्याविशेष, वैश्या को व्यवहारविद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। जैसे पुरुषों को भी व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या कम-से-कम अवश्य पढ़नी चाहिए। वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे विना सत्याऽसत्य का निर्णय; पत्यादि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना-कराना, वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्न-पान बना और बनवाना नहीं कर सकती। जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहैं। शिल्पविद्या के जाने विना घर का बनवाना, वस्त्र-आभूषण आदि का बनाना-बनवाना, गणितविद्या के विना सब का हिसाब समझना-समझाना, वेदादि शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जानके, अधर्म से कभी नहीं बच सके।

इसलिए वे ही धन्य और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को

बढ़ावें। जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्टमित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें। यही कोश अक्षय है। इसको जितना व्यय करे, उतना ही बढ़ता जाए। अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निज भाग ले लेते हैं और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश का, रक्षा और वृद्धि करनेवाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥

—मनु० [७।१५२]॥

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो उसके माता-पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य्यकुल में रहैं। जब तक समावर्त्तन का समय न आवे, तब तक विवाह न होने पावे।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥

—मनु० [४।२३३]॥

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिए जिससे जितना बन सके उतना प्रयत्न, और धन का विद्या की वृद्धि में व्यय किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।

यह ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गई। इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जाएगी।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते शिक्षाविषये
तृतीयः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ३॥

अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः

अथ समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ १ ॥

—मनु० [३।२]

जब यथावत् ब्रह्मचर्य आचार्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों वेद, तीन, दो वा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे॥ १ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा॥ २ ॥

—मनु० [३।३]

जो यथावत् स्वधर्म अर्थात् जो आचार्य और शिष्य का है, उससे युक्त पिता, जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण, माला का धारण करनेवाला, अपने पलङ्ग में बैठे हुए आचार्य को प्रथम गोदान से सत्कार करे। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गो देके सत्कृत करे॥ २ ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ ३ ॥

—मनु० [३।४]

गुरु की आज्ञा ले, स्नान कर, गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे॥ ३ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ४ ॥

—मनु० [३।५]

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है॥ ४ ॥

इसका यह प्रयोजन है कि—

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥

—शतपथ० [-तु०-श० ब्रा० ६।१।१।२; गो० ब्रा० पू० १।१]

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है, वैसी प्रत्यक्ष में नहीं। जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है, जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए।

निकट [में दोष] और दूर विवाह करने में गुण ये हैं—

(१) एक—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते, परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) दूसरा—जैसे पानी में पानी मिलाने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) तीसरा—जैसे दूध में मिश्री वा शुंठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न गोत्र पितृ मातृकुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

(४) चौथा—जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूर-देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) पाँचवें—निकट सम्बन्ध करने में एक-दूसरे के निकट होने में सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूर-देशस्थों में नहीं। और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाह में नहीं।

(६) छठे—दूर-दूर देश के वर्त्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं। इसीलिए—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता भवतीति॥

निरुक्त [३।४] में लिखा है कि कन्या का नाम 'दुहिता' इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट करने में नहीं।

(७) सातवें—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब-तब इसको कुछ-न-कुछ देना ही होगा।

(८) आठवें—कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने-अपने पितृकुल से सहाय का घमण्ड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जाएगी। एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी; क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है, इत्यादि कारणों से पिता के एक गोत्र, माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ १॥

—मनु० [३।६]

चाहे कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों, तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे॥ १॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥ २॥

—मनु० [३।७]

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम, अथवा बवासीर, क्षयी, दम, खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह न होना चाहिए, क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले

के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिए उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिए॥ २॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटान्न पिङ्गलाम्॥ ३॥

—मनु० [३।८]

न पीले वर्णवाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी-चौड़ी अधिक बलवाली, न रोगयुक्त, न लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करनेहारी और न भूरे नेत्रवाली॥ ३॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ ४॥

—मनु० [३।९]

न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणी आदि नक्षत्र नामवाली; पीपल, बड़ आदि वृक्ष नामवाली; गङ्गा, जमुना आदि नदी नामवाली; चाण्डाली आदि अन्त्य नामवाली; विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नामवाली; काकी, श्येनी आदि पक्षी नामवाली; नागी, भुजङ्गा आदि सर्प नामवाली; दासी आदि प्रेष्य नामवाली और भीमा, भयङ्करी, काली, चण्डी आदि भीषण नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिए, क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं॥ ४॥ किन्तु—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥ ५॥

—मनु० [३।१०]

जिसके सरल सूधे अङ्ग हों, विरुद्ध न हों; जिसका नाम सुन्दर हो अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि; हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो; सूक्ष्म लोम, केश और दाँतयुक्त और जिसके सब अङ्ग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए॥ ५॥

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौन-सा अच्छा है?

उत्तर—सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय

उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो 'निकृष्ट', अठारह-बीस की स्त्री, तीस-पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का 'मध्यम', चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह 'उत्तम' है जिस देश में इसी प्रकार विवाह का विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्याग्रहणरहित, बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

प्रश्न— **अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी ।**
दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

—ये श्लोक पाराशरी [७।६८] और शीघ्रबोध [१।५४,६५] में लिखे हैं।

अर्थ—कन्या की आठवें वर्ष गौरी, नवें वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा हो जाती है॥ १ ॥

दशवें वर्ष तक विवाह न करके, रजस्वला कन्या को माता, पिता और उसका बड़ा भाई ये तीनों देखके नरक में गिरते हैं॥ २ ॥

उत्तर— **ब्रह्मोवाच**

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयन्तु रोहिणी।
त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला॥ १ ॥
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ २ ॥

—यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है।

अर्थ—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे, उतने समय को क्षण कहते हैं। जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे क्षण में रोहिणी, तीसरे में कन्या और चौथे में रजस्वला हो जाती है॥ १ ॥

उस रजस्वला को देख के उसके माता, पिता, भाई, मामा और बहन सब नरक को जाते हैं॥ २ ॥

प्रश्न—ये श्लोक प्रमाण नहीं।

उत्तर—क्यों प्रमाण नहीं? जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं, तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते।

प्रश्न—वाह-वाह! पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते।

उत्तर—वाह जी वाह! क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते, पराशर काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं है? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते, तो हम भी पराशर काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते।

प्रश्न—तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं, क्योंकि सहस्रों क्षण जन्म समय ही में बीत जाते हैं, तो विवाह कैसे हो सकता है? और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

उत्तर—जो हमारे श्लोक असम्भव हैं, तो तुम्हारे भी असम्भव हैं। क्योंकि आठ, नौ और दसवें वर्ष विवाह करना निष्फल है, क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्षपर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं*। जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है, वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी

---

* उचित समय से न्यून आयुवाले स्त्री पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरि जी सुश्रुत में निषेध करते हैं—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ १ ॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ २ ॥

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में, पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता॥ १ ॥

अथवा उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो। इस कारण से अतिबाल्यावस्थावाली स्त्री में गर्भ स्थापित न करे॥ २ ॥

ऐसे-ऐसे शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं, वे दुःखभागी होते हैं।

अयुक्त है। यदि गौरी कन्या न हो, किन्तु काली हो, तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है। और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वसुदेव की स्त्री थी, उसको तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो, तो फिर उनसे विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है? इसलिए तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं। क्योंकि जैसा हमने 'ब्रह्मोवाच' करके श्लोक बना लिये हैं, वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से अपने मतलब-सिन्धु लोगों ने श्लोक बना लिये हैं। इसलिए इन सबका प्रमाण छोड़ के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो। देखो! मनु में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ —मनु० [९।१०]

कन्या रजस्वला होते हुए पीछे तीन वर्षपर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला होते हुए, पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं।

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ —मनु० [९।८९]

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहैं, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम, वा असदृशों का विवाह न होना योग्य है।

प्रश्न—विवाह करना माता-पिता के आधीन होना चाहिए वा लड़का-लड़की के आधीन रहै?

उत्तर—लड़का-लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिए। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर कन्या का है, माता-पिता का नहीं। क्योंकि जो उनमें परस्पर

प्रसन्नता रहे, तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है। और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ —मनु० [२।६०]

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्त्ति निवास करती है, और जहाँ विरोध, कलह होता है, वहाँ दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिए जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहैं, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिए। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ १॥
—ऋ० मं० ३। सू० ८। मं० ४

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ २॥
—ऋ० मं० ३। सू० ५५। मं० १६

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः॥ ३॥
—ऋ० मं० १। सू० १७९। मं० १

जो पुरुष (परिवीतः) सब ओर से यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्य्य सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त, (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ ब्रह्मचर्य्ययुक्त, (युवा) पूर्ण ज्वान होके विद्याग्रहण कर गृहाश्रम में, (आगात्) आता है, (सः) वही दूसरे विद्याजन्म में, (जायमानः) प्रसिद्ध होकर, (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी, (भवति) होता है, (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त, (मनसा) विज्ञान से, (देवयन्तः) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त, (धीरासः) धैर्ययुक्त, (कवयः) विद्वान् लोग, (तम्) उसी पुरुष को, (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते

हैं। और जो ब्रह्मचर्य्यधारण, विद्या, उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, वे स्त्री-पुरुष नष्ट-भ्रष्ट होकर विद्वानों में अप्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं॥ १ ॥

जो (अप्रदुग्धाः) किसी ने दुही न हों, उन (धेनवः) गौओं के समान, (अशिश्वीः) बाल्यावस्था से रहित, (सबर्दुघाः) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेहारी, (शशयाः) कुमारावस्था को उल्लङ्घन करनेहारी, (नव्यानव्याः) नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण, (भवन्तीः) वर्त्तमान, (युवतयः) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियाँ, (देवानाम्) ब्रह्मचर्य्य सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के, (एकम्) अद्वितीय, (महत्) बड़े, (असुरत्वम्) प्रज्ञाशास्त्रशिक्षायुक्त, प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई, जवान पतियों को प्राप्त होके, (आधुनयन्ताम्) गर्भधारण करें। कभी भूल के भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें, क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश, उससे अधिक स्त्री का नाश होता है॥ २ ॥

जैसे (नु) शीघ्र, (शश्रमाणाः) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष, (पत्नीः) युवावस्थास्थ, हृदय को प्रिय स्त्रियों को, (जगम्युः) प्राप्त होकर, पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक आयु को आनन्द से भोगते और पुत्र-पौत्रादि से संयुक्त रहते रहैं, वैसे स्त्री-पुरुष सदा वर्त्तें, जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरद् ऋतुओं, और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को प्राप्त करानेवाली, (उषसः) प्रातःकाल की वेलाओं को, (दोषाः) रात्री, और (वस्तोः) दिन, (तनूनाम्) शरीरों की, (श्रियम्) शोभा को, (जरिमा) अतिशय वृद्धपन, बल और शोभा को (मिनाति) दूर कर देता है, वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष, (उ) अच्छे प्रकार, (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य्य से विद्या, शिक्षा, शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त हो ही के, विवाह करूँ, इससे विरुद्ध करना, वेदविरुद्ध होने से, सुखदायक विवाह कभी नहीं होता॥ ३ ॥

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा आर्य्य-

लोग ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़ ही के, स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती जाती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्य्यावर्त्त देश की हानि ही होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के, सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था गुण कर्म के आधीन होनी चाहिए।

प्रश्न—क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मणी-ब्राह्मण होते हैं और जिसके माता-पिता अन्यवर्णस्थ हों, वह कभी ब्राह्मण हो सकता है?

उत्तर—हाँ, बहुत से हो गये, होते हैं और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाववाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है, और वैसा ही आगे भी होगा।

प्रश्न—भला जो रज-वीर्य्य से शरीर हुआ है, वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है?

उत्तर—रज-वीर्य्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता। किन्तु—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ —मनु० [२।२८]

इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं और यहाँ भी संक्षेप से करते हैं—(स्वाध्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने, (जपैः) विचार करने-कराने, (होमैः) नानाविध होम के अनुष्ठान, (त्रैविद्येन) सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने, (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, (सुतैः) पूर्वोक्त विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ, (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादियज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के, दुष्टाचार छोड़, श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का

(क्रियते) किया जाता है।

क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते?

मानते हैं।

फिर क्यों रज-वीर्य्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो?

मैं अकेला नहीं मानता, किन्तु बहुत लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे?

उत्तर—नहीं, परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मान के, खण्डन भी करते हैं।

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पाँच-सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त को परम्परा मानते हैं। देखो! जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ अथवा दुष्ट देखने में आते हैं। इसलिए तुम लोग भ्रम में पड़े हो। देखो! मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ —मनु० [४।१७८]

अर्थ—जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान भी चलें परन्तु (सताम्) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उन के मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों, तो उन के मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि सत्पुरुष, धर्मात्मा पुरुषाओं के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता, इसको तुम मानते हो वा नहीं?

हाँ-हाँ मानते हैं।

और देखो! जो परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और उससे विरुद्ध है, वह सनातन कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिए वा नहीं?

अवश्य चाहिए।

जो ऐसा न माने, उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और

उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र आँखों को फोड़ डाले? जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भी कुकर्म ही करे? नहीं-नहीं, किन्तु जो-जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उनका सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सबको अत्यावश्यक है।

जो कोई रज-वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम माने और गुणकर्मों के योग से न माने, तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो, उसको ब्राह्मण क्यों नहीं गिनते? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिए वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाववाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।

प्रश्न— ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत॥

—यह यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वाँ मन्त्र है।

इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जैसे मुख न बाहू आदि, और बाहू आदि न मुख होते हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते।

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया, वह ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ पुरुष अर्थात् निराकार, व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति आती है। जब वह निराकार है, तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते, जो मुखादि अङ्गवाला हो, वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं, वह सर्वशक्तिमान्, जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य-पापों को जानके व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता। इसलिए इसका यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सबमें मुख्य उत्तम हो, वह (ब्राह्मण) ब्राह्मण (बाहू)—

'बाहुर्वै बलं बाहुर्वै वीर्यम्'

—शतपथब्राह्मण [तुलना—६।२।३।३३; १३।१।११।५; ५।३।३।१७]

बल वीर्य का नाम बाहू है, वह जिसमें अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय (ऊरू) कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम है, जो सब पदार्थों, सब देशों में ऊरू के बल से जावे-आवे, प्रवेश करे, वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के, नीच [नीचे] अङ्ग के सदृश, मूर्खतादि गुणवाला हो, वह शूद्र है। अन्यत्र शतपथ ब्राह्मणादि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे—

'यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त।' —इत्यादि।

[तुलना—श० ब्रा० ६।१।१।१०; तै० सं० ७।१।१।४]

जिससे ये मुख्य हैं, इससे मुख से उत्पन्न हुए, ऐसा कथन संगत होता है। अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम ब्राह्मण कहाते हैं। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं, तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है। जैसाकि बन्ध्या स्त्री के पुत्र का विवाह होना! और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते, तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसे मुख का आकार गोलमाल है, वैसे ही उनके शरीर भी गोलमाल होने चाहियें। क्षत्रियों के शरीर भुजाओं के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकारवाले होते। ऐसे नहीं हैं। और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि जो-जो मुखादि से उत्पन्न हुए थे, उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो, परन्तु तुम्हारी नहीं, क्योंकि जैसे सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो, इसलिए तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हमने अर्थ किया है, वह सच्चा है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है, जैसा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ —मनु० [१०।६५]

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के सदृश

गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो, तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाये। वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के कुल में उत्पन्न हुये शूद्र के सदृश हों, तो शूद्र हो जायें। वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से, ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाते हैं। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ १॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ २॥

—यह आपस्तम्ब का सूत्र है [प्रश्न २। प० ५। क० ११। सूत्र १०-११]

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे॥ १॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व-पूर्व अर्थात् उत्तम-उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचेवाले वर्णों को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे॥ २॥

जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिए। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं, अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं। वर्णसंकरता प्राप्त न होगी। इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाए तो उसके मा-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायगा, इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये?

उत्तर—न किसी की सेवा का भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान, विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिये कुछ भी अव्यवस्था नहीं होगी। यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए,

तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी। इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण ये हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥

—मनु० [१।८८]

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥ २॥

—भगवद्गीता [१८।४२]

ब्राह्मण के पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, ये छः कर्म हैं, परन्तु '**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः**'—मनु० [१०.१०९], दान लेना नीच कर्म है॥ १॥

(शम) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी और उसको अधर्म्म में कभी प्रवृत्त न होने देना, (दम) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोक कर धर्म्म में चलाना, (तपः) सदा ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना। (शौच)—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

—मनु० [५।५०९]

जल से बाहर के अङ्ग, मन सत्याचार से, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा और बुद्धि ज्ञान से पवित्र होती है। भीतर रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना, अर्थात् सत्याऽसत्य के विवेकपूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय, पवित्र होता है। (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, हानि-लाभ, मानापमान आदि में हर्ष-शोक छोड़ के, धर्म्म में दृढ़ निश्चित रहना, (आर्जव) कोमलता निरभिमान सरलस्वभाव रखना, कुटिलतादि दोष छोड़ देना, (ज्ञानम्) सब वेदादि शास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़के पढ़ाने का सामर्थ्य, विवेक सत्यासत्य का निर्णय, जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़, चेतन को चेतन जानना और मानना, (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य

उपयोग लेना, (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व-परजन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता, पिता, आचार्य्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना, ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मणवर्ण मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें॥ २॥ क्षत्रिय—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ १॥

—मनु० [१।८९]

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ २॥

—गीता [१८।४३]

न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़ के, श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सब का पालन, (दान) विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना, (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़वाना, और (विषयेष्वप्रसक्ति) विषयों में न फस कर, जितेन्द्रिय रह के, सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना॥ १॥

(शौर्य्य) अकेला सैंकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने में भय न होना, (तेजः) सदा तेजस्वी दीनतारहित प्रगल्भ दृढ़ रहना, (धृति) धैर्यवान् होना, (दाक्ष्य) राज और प्रजासम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना, (युद्धे) युद्ध में भी दृढ़ निःशङ्क रह के, उससे कभी न हटना, न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे, आप बचे, जो भागने से, शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो, तो ऐसा ही करना, (दान) दानशीलता रखना, (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सबके साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचारके, देके प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भङ्ग होने न देना, ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं॥ २॥ वैश्य—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ १॥

—मनु० [१।९०]

(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन, वर्द्धन करना, (दान) विद्या, धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिये धनादि का व्यय करना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना, (कुसीद) एक सैंकड़े में चार आना, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना, (कृषि) खेती करना, ये वैश्य के गुण कर्म हैं। शूद्र—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

—मनु० [१।९१]

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ के, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन करना, यही एक शूद्र का कर्म, गुण है।

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण कर्म हों, उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहैंगे कि जो हम उत्तम चालचलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना, क्योंकि वे पूर्णविद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से, कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं हो सकता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है कि वह विद्यारहित, मूर्ख होने से, विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में

प्रवृत्त करना राजादि का काम है।

विवाह का लक्षण

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

—मनु० [३।२१]

आठ प्रकार का विवाह होता है। एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पांचवा आसुर, छठा गान्धर्व, सातवाँ राक्षस, आठवां पैशाच। इनमें से ब्राह्मविवाह वह है कि—वर कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्वान्, धार्मिक और सुशील हों, उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना, '**ब्राह्म**' कहाता है। विस्तृतयज्ञ करके, ऋत्विक् के कर्म करते हुए जामाता को अलङ्कारयुक्त कन्या का देना '**दैव**'। वर से कुछ लेके, विवाह होना '**आर्ष**'। दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना '**प्राजापत्य**'। वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना '**आसुर**'। अनियम, असमय किसी कारण से दोनों की इच्छापूर्वक वर कन्या का परस्पर संयोग होना '**गान्धर्व**'। लड़ाई करके बलात्कार अर्थात् छीन, झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना '**राक्षस**'। शयन वा नशा पी हुई पागल कन्या से बलात्कार संयोग करना '**पैशाच**'। इन सब विवाहों में ब्राह्मविवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव [और प्राजापत्य] **मध्यम,** आर्ष, आसुर, और गान्धर्व **निकृष्ट,** राक्षस, अधम और पैशाच **महाभ्रष्ट** हैं। इसलिए यही निश्चय रखना चाहिए कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए, क्योंकि युवावस्था में स्त्री पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है।

परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहैं, तब उन कन्या, और उन कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको 'फोटोग्राफ' कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की और लड़कों के अध्यापकों के पास लड़कियों की प्रतिकृति भेज देवें। जिनके रूप मिल जायें, उस-उस के इतिहास अर्थात् जो जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो, उनको अध्यापक

लोग मंगवा के देखें। जब दोनों के गुण-कर्म स्वसदृश हों, तब जिस-जिस के साथ जिस-जिस का विवाह होना योग्य समझें, उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो, हमको विदित कर देना। जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय, तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहैं, तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके, एक-दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें। जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाय, तब से उनके खान-पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए कि जिससे उनका शरीर जो पूर्व ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है, वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़ के, पुष्ट थोड़े ही दिनों में हो जाए।

पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो, तब वेदी और मण्डप रचके, अनेक सुगन्ध्यादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन 'संस्कारविधिस्थ' विवाह विधि के अनुसार सब कर्म करके, मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके, एकान्तसेवन करें। पुरुष जो वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण का विधि है उसी के अनुसार दोनों करें। जहाँ तक बने, वहाँ तक ब्रह्मचर्य के वीर्य्य को व्यर्थ न जाने दें, क्योंकि उस वीर्य्य-रज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो, उस समय स्त्री पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्न रहैं, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य्यप्राप्तिसमय अपान वायु को ऊपर खेंच, योनि को ऊपर संकोच

कर, वीर्य्य का ऊपर आकर्षण कर के, गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।*

गर्भ स्थित होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय हो जाता है, परन्तु इस का निश्चय महीनाभर के पश्चात् रजस्वला न होने पर, सबको हो जाता है। सोंठ, केशर, असगन्ध, सफेद इलायची और सालममिश्री डाल के गर्म करके, प्रथम ही रक्खे हुए ठण्डे दूध को यथारुचि दोनों पी के, अलग-अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें। यही विधि जब-जब गर्भाधान-क्रिया करें, तब-तब करना उचित है।

जब महीने भर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय हो जाय, तब से एक वर्ष पर्य्यन्त स्त्री पुरुष का समागम कभी न होना चाहिये। क्योंकि ऐसे न होने से सन्तान उत्तम और दूसरा सन्तान भी श्रेष्ठ नहीं होता, वीर्य्य व्यर्थ जाता, दोनों का आयु घट जाता और अनेक प्रकार के रोग होते हैं। परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त-व्यवहार अवश्य रखना चाहिये। पुरुष वीर्य्य की स्थिति, और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन इस प्रकार का करे कि जिससे पुरुष का वीर्य स्वप्न में भी नष्ट न हो और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम रूप, लावण्य, पुष्टि, बल, पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से आगे करनी चाहिये। कभी गर्भवती स्त्री रेचक, रुक्ष, मादकद्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे। किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूँ, मूंग, उर्द आदि अन्न, पान और देशकाल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे। गर्भ में दो संस्कार एक चौथे महीने में पुंसवन और दूसरा आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन विधि के अनुकूल करे।

जब सन्तान का जन्म हो, तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे। अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्यशुण्ठीपाक प्रथम ही बनवा रक्खे। उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल, जो कि किञ्चित् उष्ण रहा हो, उसी से स्त्री स्नान करे और बालक को भी स्नान करावे।

* यह बात रहस्य की है इसलिए इतने ही से समग्र बातें समझ लेनी चाहिए, विशेष लिखना उचित नहीं। [दयानन्द सरस्वती]

तत्पश्चात् नाड़ीछेदन—बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बांध, चार अंगुल छोड़ के, ऊपर से काट डाले। उसको ऐसा बांधे कि जिससे शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे। पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके उसके द्वार के भीतर सुगन्धादियुक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता '**वेदोऽसीति**' अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर सोने की शलाका से घी और सहत को लेके, सन्तान के जीभ पर 'ओ३म्' अक्षर लिख कर, मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे। पश्चात् उसकी माता को दे देवे। जो दूध पीना चाहै, तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता के दूध न हो, तो किसी और स्त्री की परीक्षा करके, उसका दूध पिलवावे। पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठड़ी वा कमरे में कि जहाँ का वायु शुद्ध हो, उसमें सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायं किया करे और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे। छः दिन तक माता का दूध पिये और स्त्री भी अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे और योनिसंकोचादि भी करे।

छठे दिन स्त्री बाहर निकले और सन्तान के दूध पीने के लिये कोई धायी रक्खे। उसको खान-पान अच्छा करावे। वह सन्तान को दूध पिलाया करे और पालन भी करे। परन्तु उसकी माता लड़के पर पूर्ण दृष्टि रक्खे कि किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार उसके पालन में न हो। स्त्री दूध बन्ध करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिससे दूध स्रवित न हो। उसी प्रकार खान-पान का व्यवहार भी यथायोग्य रक्खे। पश्चात् नामकरणादि 'संस्कारविधि' की रीति से यथाकाल करता जाय। पश्चात् जब दूसरे महीने में रजस्वला हो, तब शुद्धि होने पर उसी प्रकार ऋतुदान देवे।

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा॥

—मनु० [३।४५]

ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ —मनु० [३।५०]

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ १॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते॥ २॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥ ३॥

—मनु० [३।६०-६२]

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहाँ कलह होता है, वहाँ दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है॥ १॥

जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती, तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता॥ २॥

जिस स्त्री की प्रसन्नता से सब कुल प्रसन्न होता और उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है॥ ३॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ १॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥ २॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥ ३॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥ ४॥

—मनु० [३।५५-५७,५९]

पिता, भाई, पति और देवर इनको सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें, जिनको बहुत कल्याण की इच्छा हो, वे ऐसा करें॥ १॥

जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धरा के, आनन्द से क्रीडा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सब क्रिया निष्फल हो जाती हैं॥ २॥

जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह

कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग आनन्द से, उत्साह और प्रसन्नता से भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है॥ ३॥

इसलिये ऐश्वर्य की कामना करनेहारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समयों में भूषण, वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें॥ ४॥

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूजा' का अर्थ सत्कार है और दिन-रात में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों, तब-तब प्रीतिपूर्वक 'नमस्ते' एक दूसरे से करें।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ —मनु० [५।१५०]

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराईयुक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार, घर की शुद्धि, और व्यय में अत्यन्त उदार सदा [न] रहै अर्थात् सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार का बनावे वा बनवावे जो औषधरूप होकर घर, शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके, पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे। घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥
—मनु० [२।२४०]

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठभाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब मनुष्य सब देश और मनुष्यों से ग्रहण करें।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ १॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह॥ २॥
—मनु० [४।१३८-१३९]

सदा प्रिय सत्य, दूसरे का हितकारक बोले, अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले, झूठ अर्थात् दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ, न बोले॥ १॥

सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे। शुष्कवैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे॥ २॥

जो-जो दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने, तथापि कहे विना न रहै।

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥
—महाभारत उद्योगपर्व—विदुरनीति [अ० ३७। श्लोक १४]

विदुरजी कहते हैं कि हे धृतराष्ट्र! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिए प्रिय बोलने वाले खुशामदी लोग बहुत हैं, परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करने वाला वचन हो, उसको कहने और सुनने वाला पुरुष दुर्लभ है। क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता वा कहने वाला नहीं कहता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर, गुणी नहीं होता।

कभी किसी की निन्दा न करे। जैसे—

'**गुणेषु दोषारोपणमसूया**' अर्थात् '**दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया**', '**गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः**' गुणों में दोष और दोषों में गुण लगाना निन्दा, और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना स्तुति कहाती है। अर्थात् मिथ्याभाषण का नाम 'निन्दा' और सत्यभाषण का नाम 'स्तुति' है।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ १॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ २॥
—मनु० [४।१९-२०]

जो बुद्धि, धन और हित की शीघ्र वृद्धि करनेहारे शास्त्र और वेद हैं, उनको नित्य सुनें और सुनावें, ब्रह्मचर्याश्रम में पढ़े हों, उनको स्त्री पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें॥ १॥

क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है, वैसे-वैसे उस का विज्ञान बढ़ता जाता और उसी में रुचि भी बढ़ती रहती है॥ २॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ १॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्प्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ २॥

—मनु० [३।७०]

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ ३॥

—मनु० [३।८१]

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य में लिख आये—वे अर्थात् **एक** [ब्रह्मयज्ञ] वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास। **दूसरा देवयज्ञ**—विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति करना है। ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करने होते हैं।

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता॥ १॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनस्य दाता॥ २॥

—अ० कां० १९। अनु० ७। मं० ३, ४॥ [—१९।५५।३-४]

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत।

[तुलना—षड्विंश ब्राह्मण प्रपा० ४ खं० ५]

उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्॥ ३॥

[तै० आ० प्रपा० २। अनु० २]॥ ब्राह्मणे॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ ४॥

—मनु० [२।१०३]

जो सन्ध्या-सन्ध्या काल में होम होता है, वह हुत द्रव्य प्रातःकाल

तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है॥ १॥

जो अग्नि में प्रातः-प्रातःकाल में होम किया जाता है, वह हुत द्रव्य सायंकाल पर्यन्त वायु के शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्यकारक होता है॥ २॥

इसीलिये दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये॥ ३॥

और जो ये दोनों काम सायं और प्रातःकाल में न करे, उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें, अर्थात् उस को शूद्रवत् समझें॥ ४॥

प्रश्न—त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना?

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती, प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या करना माने, वह मध्यरात्रि में भी क्यों न करे? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहै, तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल और क्षण-क्षण की सन्धि में सन्ध्योपासन किया करे। जो ऐसा भी चाहै, तो हो ही नहीं सकता। और किसी शास्त्र का मध्याह्नसन्ध्या में प्रमाण भी नहीं, इसलिये दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना, तीसरे काल में नहीं। और जो तीन काल होते हैं, वे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के भेद से हैं। सन्ध्योपासन के भेद से नहीं।

तीसरा 'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ानेहारे, पितर जो माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों की सेवा करनी। पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक 'श्राद्ध' और दूसरा 'तर्पण'। श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है, '**श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्**' जिस से सत्य का ग्रहण किया जाय, उसको 'श्रद्धा' और जो-जो श्रद्धा से सेवारूप कर्म किये जायें, उसका नाम 'श्राद्ध' है। '**तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्**' जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान मातादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायें, उसका नाम 'तर्पण' परन्तु यह कर्म जीवतों के लिए

है, मृतकों के लिये नहीं।

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्।

[पारस्कर और आश्वलायन गृह्यसूत्र]

इति देवतर्पणम्

'विद्वाꣳसो हि देवाः'

—यह शतपथ ब्राह्मण [३।५।६।१०] का वचन है।

जो विद्वान् हैं, उन्हीं को 'देव' कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जानने वाले हों, उनका नाम 'ब्रह्मा' और जो उनसे न्यून पढ़े हों, उनका नाम भी 'देव' अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश विदुषी उनकी स्त्री 'ब्रह्माणी' और 'देवी', उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों, उनकी सेवा करना है, उसका नाम 'श्राद्ध' और 'तर्पण' है।

अथर्षितर्पणम्

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम्॥

इति ऋषितर्पणम्।

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियाँ, कन्याओं को विद्यादान देवें, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान उनके सेवक हों, उनका सेवन-सत्कार करना 'ऋषितर्पण' है।

अथ पितृतर्पणम्

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्। आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम्। यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि। पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि। पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि। प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि। मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि। पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि। प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्प्पयामि। स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि। सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि। सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्राँस्तर्पयामि॥

इति पितृतर्पणम्॥

(सोमसदः) **'ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः'** जो परमात्मा और पदार्थ-विद्या में निपुण हों। **'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः'** जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों। **'ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः'** जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों। **'ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः'** जो ऐश्वर्य के रक्षक और महौषधि रस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक औषधों को देके रोगनाशक हों, वे 'सोमपा'। **'ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः'** जो मादक, हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़ के, भोजन करनेहारे हों, वे 'हविर्भुजः'। **'य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति ते'** जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत-दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों, वे 'आज्यपा'। **'शोभनः कालो विद्यते येषान्ते सुकालिनः'** जिनका अच्छे धर्म के करने और सुखरूप समय हो। **'ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः'** जो न्यायकारी-दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे हों। **'यः पाति सः पिता'** जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक, जनक हो। **'पितुः पिता पितामहः पितामहस्य पिता प्रपितामहः'** जो पिता का पिता हो, वह 'पितामह' और जो पितामह का पिता हो, वह 'प्रपितामह'। **'या मानयति सा माता'** जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे। **'या पितुर्माता पितामही, पितामहस्य च माता प्रपितामही'** जो पिता की माता हो, वह 'पितामही' और पितामह की माता हो, वह

'प्रपितामही'। अपनी स्त्री तथा भगिनी, सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहै, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी, वह 'श्राद्ध' और 'तर्पण' कहाता है॥

चौथा वैश्वदेव—अर्थात् जब भोजन तय्यार हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़के घृत-मिष्ट‌युक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि लेकर अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति और भाग करे।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥

—मनु० [३।८४]

जो पाकशाला में भोजनार्थ अन्न सिद्ध हो, उसका दिव्य गुणों के अर्थ, उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे।

होम के मन्त्र

ओं अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा। कुह्वै स्वाहा। अनुमत्यै स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते स्वाहा॥ [मनु० ३।८५-८६ के आधार पर]

एक-एक मन्त्र पढ़के एक-एक आहुति देवे। भाग अर्थात् थाली में वा भूमि में पूर्वादि दिशा के अनुक्रम से भाग रखना।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः। सानुगाय वरुणाय नमः। सानुगाय सोमाय नमः। मरुद्भ्यो नमः। अद्भ्यो नमः। वनस्पतिभ्यो नमः। श्रियै नमः। भद्रकाल्यै नमः। ब्रह्मपतये नमः। वास्तुपतये नमः। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। सर्वात्मभूतये नमः॥

[मनु० ३।८७-९१ के आधार पर]

एक-एक मन्त्र से पन्द्रह भाग रखना, फिर लवणान्न को भूमि में

रखना।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥

—मनु० [३।९२]

एक कुत्ते, दूसरे पापी, तीसरा चांडाल, चौथा पाप रोगी, पांचवें कौवे, छठे कृमि का भाग धरके, कुत्ते आदि को देवे और उन पन्द्रह भागों को किसी अतिथि को देवे अथवा जो उस समय अतिथि उपस्थित न हो, तो अग्नि में रख देवे। यह मनुस्मृति आदि की विधि है। और भोजन के घर का वायु शुद्ध, और जो उसमें अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार होता है।

पांचवी अतिथिसेवा—अतिथि-धार्मिक, सत्योपदेशक, सबके उपकारक, पूर्ण विद्वान्, सर्वत्र घूमने वाले, संन्यासी अतिथि होते हैं। उनका आसन, खान-पान, नम्रतादि से सत्कार करके, उनसे सत्सङ्ग कर, अपूर्व विद्याओं को जाने। समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथि हो सकते हैं। परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

—मनु० [४।३०]

(पाषण्डी) वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता, मिथ्याभाषणादियुक्त, जैसे विडाला छिपके, स्थिर रह ताक, कूद, झपटके, मूषे आदि प्राणियों को मार, अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम 'वैडालवृत्ति', (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी, आप जानें नहीं और दूसरे का माने नहीं, (हैतुक) कुतर्की व्यर्थ बकने वाले जैसे कि आज-कल के वेदान्ती "हम ब्रह्म हैं, जगत् मिथ्या है, वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है" इत्यादि बकवाद करने वाले, (बकवृत्ति) जैसे बगुला मच्छी के प्राण लेकर अपने पेट भरने के लिये ध्यानावस्थित होता है, वैसे वर्त्तमान जटाजूट वैरागी आदि हों, उनका वाणीमात्र से भी सत्कार न करे। क्योंकि इनका सत्कार करने से वे बढ़ के सब संसार को अधर्मयुक्त कर देते हैं।

इन पाँच महायज्ञों का फल—ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता की वृद्धि होती है।

'अग्निहोत्र' से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर, औषधियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध वायु का श्वासास्पर्श, खान-पान से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के धर्मार्थ, काम, मोक्ष का अनुष्ठान निर्विघ्नता से पूरा होता है। इसीलिये इसको 'देवयज्ञ' कहते हैं कि यह वायु आदि पदार्थों को दिव्य कर देता है।

'पितृयज्ञ' का फल—जब वह माता-पिता और ज्ञानियों की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग करके, सुखी रहेगा। दूसरा कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है, उसका बदला देना उचित ही है।

बलिवैश्वदेव का भी फल जो पूर्व कह आये, वही है।

जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने, सत्योपदेश करने से, पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देहनिवृत्ति नहीं होती। इसके छूटे विना, दृढ़ निश्चय भी नहीं होता, निश्चय के विना सुख कहां!

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥

—मनु० [४।९२]

चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करे। कभी अधर्म का आचरण न करे। क्योंकि—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥ —मनु० [४।१७२]

किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता, परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं होता, इसलिये अज्ञानी लोग

अधर्माचरण से नहीं डरते। परन्तु निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।

इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥ —मनु० [४।१७४]

जब मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़—जैसे तालाबबन्ध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे अधर्मात्मा भी मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है, पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है। जैसे जड़ काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिये—

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्याँश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥

—मनु० [४।१७५]

वेदोक्त 'सत्य धर्म' अर्थात् पक्षपातरहित होकर सत्य का ग्रहण और असत्य के परित्याग न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि; 'आर्य' अर्थात् उत्तम पुरुषों के गुण, कर्म, स्वभाव; और पवित्रता ही में सदा रमण करे। वाणी, बाहू, उदर आदि अंगों का संयम अर्थात् धर्म में चलाता हुआ, धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करे।

ऋत्विक् पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १ ॥
मातापितृभ्यां यामिभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥ २ ॥

—मनु० [४।१७९-१८०]

(ऋत्विक्) यज्ञ का करनेहारा, (पुरोहित) सदा उत्तम चालचलन की शिक्षाकर्त्ता, (आचार्य) विद्या पढ़ानेहारा, (मातुल) मामा, (अतिथि) अर्थात् जिसकी कोई आने-जाने की निश्चित तिथि न हो, (संश्रित)

अपने आश्रित, (बाल) बालक, (वृद्ध) बुड्ढे, (आतुर) पीडित, (वैद्य) आयुर्वेद का ज्ञाता, (ज्ञाति) स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ, (सम्बन्धी) सासु, श्वशुर आदि, (बान्धव) मित्र॥ १॥

(माता), (पिता), (यामि) बहिन, (भ्राता), (पुत्र) (भार्या) स्त्री, (दुहिता) कन्या और सेवक लोगों से विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करे॥ २॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति॥ —मनु० [४।१९०]

एक (अतपाः) ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषणादि तपरहित, दूसरा (अनधीयानः) विना पढ़ा हुआ, तीसरा (प्रतिग्रहरुचिः) अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेनेवाला, ये तीनों जैसे पत्थर की नौका से समुद्र में तरने के समान, अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःख-सागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं, परन्तु दाताओं को भी साथ डुबा लेते हैं—

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च॥ —मनु० [४।१९३]

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का, इन तीनों को देना है, वह दान-दाता का नाश इसी जन्म और लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है।

जो वे ऐसे हों तो क्या होय—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ॥ —मनु० [४।१९४]

जैसे पत्थर की नौका में बैठ के जल में तरने वाला डूब जाता है, वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं।

पाखण्डियों के लक्षण

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः॥ १॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः॥ २॥
—मनु० [४।१९५-१९६]

(धर्मध्वजी) धर्म कुछ भी न करे, परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, (सदालुब्धः) सर्वदा लोभ से युक्त, (छाद्मिकः) कपटी, (लोकदम्भकः) संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे, (हिंस्रः) प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला, (सर्वाभिसन्धकः) सब अच्छे और बुरों से भी मेल रक्खे, उसको वैडालव्रतिक अर्थात् विडाले के समान धूर्त्त, नीच समझो॥ १॥

(अधोदृष्टिः) कीर्त्ति के लिये नीचे दृष्टि रक्खे, (नैष्कृतिकः) ईर्ष्यक किसी ने उसका पैसाभर अपराध किया हो, तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहै, (स्वार्थसाधनतत्परः) चाहै कपट, अधर्म विश्वासघात क्यों न हो, अपना प्रयोजन साधने में चतुर, (शठः) चाहै अपनी बात झूठी क्यों न हो, परन्तु हठ कभी न छोड़े, (मिथ्याविनीतः) झूठ-मूठ ऊपर से शील, सन्तोष और साधुता दिखलावे, उसको (बकव्रत०) बगुले के समान नीच समझो। ऐसे-ऐसे लक्षण वाले पाखण्डी होते हैं, उनका विश्वास वा सेवा कभी न करें॥ २॥

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वलोकान्यपीडयन्॥ १॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ २॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एको नु भुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ ३॥
[मनु० ४।२३८।२४०]

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते॥ ४॥
[महाभारत उद्योगपर्व प्रजागरपर्व १, अ० ३३, श्लोक ४१]

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥ ५॥
—मनु० [४।२४१]

स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक, वल्मीक अर्थात् बांबी को बनाती है, वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर, परलोक

अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय करे॥ १॥

क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है॥ २॥

देखिये! अकेला ही जीव जन्म पाता, मरण को प्राप्त होता, एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म के दुःखरूप फल को भोगता है॥ ३॥

यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है, और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है, भोगनेवाले दोषभागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है॥ ४॥

जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको लकड़े, मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे, बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं, कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है॥ ५॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥ १॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्॥ २॥

—मनु० [४।२४२-२४३]

उस हेतु से परलोक, अर्थात् परमसुख और परजन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे करता जाय; क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है॥ १॥

किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता, जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य [= सम्भावित] पाप दूर हो गया, उसको प्रकाशस्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है, उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को, धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है॥ २॥ इसलिये—

दृढ़कारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः॥ १॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ २॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ ३॥

—मनु० [४।२४६, २५६, १५६]

सदा दृढ़कारी, कोमलस्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक-क्रूर-दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा धर्मात्मा मन को जीत और विद्यादि दान से, सुख को प्राप्त होवे॥ १॥

परन्तु यह भी ध्यान में रक्खे कि जिस वाणी में सब अर्थ, अर्थात् व्यवहार निश्चित, वाणी ही उनका मूल, और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं; उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला है॥ २॥

इसलिये मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़, जिस धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु, और धर्माचार से उत्तम प्रजा; धर्माचार से अक्षय धन को प्राप्त होता और जो धर्माचार दुष्ट-लक्षणों का नाश करता है, उसके आचरण को सदा किया करे॥ ३॥

क्योंकि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

—मनु० [४।१५७]

जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त, निरन्तर दुःख का भोगनेहारा और अनेक प्रकार के रोगों से अल्पायु होकर शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करे—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत्सेवेत यत्नतः॥ १॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ २॥

—मनु० [४।१५९, १६०]

जो-जो पराधीन कर्म हो, उस-उस का प्रयत्न से त्याग; और जो-जो स्वाधीन कर्म हो, उस-उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे॥ १॥

क्योंकि जो-जो पराधीनता है, वह-वह सब दुःख और जो-जो

स्वाधीनता है, वह-वह सब सुख; यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिये॥ २॥

परन्तु जो एक-दूसरे के आधीन काम है, वह-वह आधीनता से ही करना चाहिये, जैसा कि स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के आधीन व्यवहार। अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण, अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना। पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और बाहर के काम पुरुष के आधीन रहना। दुष्ट व्यसन में फसने से एक दूसरे को रोकना, अर्थात् यही निश्चय जानना—जब विवाह होवे तब स्त्री के हाथ पुरुष और पुरुष के हाथ स्त्री बिक चुकी, अर्थात् स्त्री और पुरुष के साथ हाव, भाव, नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं, वह वीर्यादि एक दूसरे के आधीन हो जाता है। स्त्री वा पुरुष की प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें। इनमें बड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्यापरपुरुषगमनादि काम हैं, इनको दोनों छोड़ के, अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहैं। स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।

जो ब्राह्मणवर्णस्थ हों, तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे और सुशिक्षा करें तथा लड़कियों को स्त्री पढ़ावे। नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें। जब तक गुरुकुल में रहैं, तब तक माता-पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिका कैसे होने चाहियें—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम्॥ २॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥ ३॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥ ४॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥ ५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः॥ ६॥

—ये सब महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर [अध्याय ३३] के श्लोक हैं।

अर्थ—जिसको आत्मज्ञान; सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा आलसी कभी न रहे; सुख, दुःख, हानि, लाभ, मानापमान, निन्दा, स्तुति में हर्ष, शोक कभी न करे; धर्म ही में नित्य निश्चित रहै; जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषय-सम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें, वही पण्डित कहाता है॥ १॥

उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म—सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन; अधर्मयुक्त कामों का त्याग; ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेहारा; ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो; यही पण्डित का कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म है॥ २॥

वह कैसा हो—जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके; बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे; जो कुछ जाने उसको परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिये कोई काम न करे; विना पूछे वा विना योग्य समय के, विना जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे; वही प्रथम प्रज्ञान पण्डित को होना चाहिये॥ ३॥

वह कैसा हो—जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे; नष्ट हुये पदार्थ पर शोक न करे; आपत्काल में मोह को [प्राप्त न हो] अर्थात् व्याकुल न हो; वही बुद्धिमान् पण्डित है॥ ४॥

उसकी रीति कैसी होनी चाहिये—जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तर करने में अतिनिपुण; विचित्र शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता; यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्; ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो; वही पण्डित कहाता है॥ ५॥

जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो; जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की

मर्यादा का छेदन न करे, वही पण्डितसंज्ञा को प्राप्त होवे॥ ६॥

जहाँ ऐसे-ऐसे सज्जन स्त्री-पुरुष पढ़ानेवाले होते हैं, वहाँ विद्या, धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर, प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है।

पढ़ाने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षण

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥ १॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ २॥

—ये श्लोक भी महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर [अध्याय ३३] के हैं।

अर्थ—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा, न सुना; और अतीव घमण्डी, दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेहारा; विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करने वाला हो; उसी को बुद्धिमान् लोग 'मूढ़' कहते हैं॥ १॥

जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो, उच्च आसन पर बैठना चाहे, विना पूछे सभा में बहुत-सा बके; विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे, वही 'मूढ़' और सब मनुष्यों में 'नीच मनुष्य' कहाता है॥ २॥

जहां ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं, वहां अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ता जाता है।

अब विद्यार्थियों के लक्षण

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः॥ १॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥ २॥

—ये भी विदुरप्रजागर [अध्याय ४०] के श्लोक हैं।

(आलस्य) शरीर और बुद्धि में जड़ता; नशा-मोह=किसी वस्तु में फसावट; चपलता; और इधर-उधर की व्यर्थ कथा करना-सुनना; पढ़ते-

पढ़ाते रुक जाना; अभिमानी; अत्यागी होना; ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं॥ १॥

जो ऐसे हैं उनको विद्या कभी नहीं आती।

सुख भोगने की इच्छा करने वाले को विद्या कहां? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहां? क्योंकि विषयसुखार्थी विद्या को और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दें॥ २॥

ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती।

और ऐसे को विद्या होती है—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम्॥ १॥

[महाभारत अनुशासन पर्व अ० ७५, श्लोक ३८]

जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय और जिनका वीर्य अधःस्खलित कभी न हो, उन्हीं का ब्रह्मचर्य सच्चा और वे ही विद्वान् होते हैं॥ १॥

इसलिये शुभलक्षणयुक्त अध्यापक और विद्यार्थियों को होना चाहिये। अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें, जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्य, जितेन्द्रिय, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त, शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढ़ाके समग्र वेदादि शास्त्रों में विद्वान् हों, सदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने और विद्या पढ़ाने में चेष्टा किया करें और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़ानेहारों में प्रेमी, विचारशील, परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, पूर्ण धर्मात्मता और पुरुषार्थ करना आ जाय, इत्यादि ब्राह्मण-वर्ण के काम हैं।

क्षत्रियों का कर्म्म राजधर्म में कहेंगे।

जो वैश्य हों, वे ब्रह्मचर्यादि से वेदादि विद्या पढ़, विवाह करके, नाना देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, बेचना, खरीदना, द्वीप-द्वीपान्तरों में लाभार्थ जाना-आना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन को बढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना, सब

वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी, जिससे कोई नष्ट न होने पावे।

शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे। और द्विज-लोग इसके खान, पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो, सब कुछ देवें, अथवा मासिक कर देवें। चारों वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख, दुःख, हानि, लाभ में ऐकमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन, मन, धन व्यय करते रहें।

स्त्री और पुरुष का वियोग कभी न होना चाहिये। क्योंकि—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥ १॥

[मनु० ९।१३]

मद्य, भाँग आदि मादक द्रव्यों का पीना; दुष्ट पुरुषों का सङ्ग; पति से वियोग; अकेली जहां-तहां व्यर्थ पाखण्डी आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना और पराये घर में शयन वा वास करना; ये छः स्त्री को दूषित करनेवाले दुर्गुण हैं। और ये पुरुषों के भी हैं। पति और स्त्री का वियोग दो प्रकार का होता है—कहीं कार्यार्थ देशान्तर में जाना और दूसरा मृत्यु से वियोग होना। इनमें से प्रथम का उपाय यही है कि दूर देश में यात्रार्थ जावे तो स्त्री को भी साथ रक्खे। इसका प्रयोजन यह है कि बहुत समय तक वियोग न रहना चाहिये।

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का बहुविवाह होना योग्य है वा नहीं?

उत्तर—युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं।

प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह भी होना चाहिये?

उत्तर—हां, जैसे—

या स्त्री त्वक्षतयोनिःस्याद् गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ १॥ [मनु० ९।१७६]

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग [न हुआ हो] अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो तो उस स्त्री वा पुरुष का अन्य पुरुष वा स्त्री से पुनर्विवाह होना चाहिये। और शूद्रवर्ण में भी चाहे कैसा ही हो पुनर्विवाह हो सकता है। किन्तु ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री, क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिये।

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष है?

उत्तर—(पहिला) स्त्री पुरुष में प्रेम न्यून होना। क्योंकि जब चाहै तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर, दूसरे के साथ सम्बन्ध कर ले।

(दूसरा) जब स्त्री वा पुरुष, पति [वा] स्त्री [के] मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें, तब पूर्व पति वा प्रथम स्त्री के पदार्थों को उड़ा ले जाना अच्छा समझेंगे और उनके कुटुम्ब वाले उससे झगड़ा करेंगे।

(तीसरा) बहुत-से भद्रकुल का नाम वा चिह्न भी न रह कर, उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना।

(चौथा) पातिव्रत्य और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना, इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिये।

प्रश्न—जब वंशच्छेदन हो जाये, तब भी उसका कुल नष्ट हो जाएगा और स्त्री पुरुष व्याभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत-से दुष्ट कर्म करेंगे, इसलिये पुनर्विवाह का होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थित रहना चाहैं, तो कोई भी उपद्रव न होगा। और जो कुल की परम्परा रखने के लिये किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे, उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा। और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।

प्रश्न—पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है?

उत्तर—(पहिला) जैसे विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है और पिता से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। और विधवा स्त्री उसी विवाहित पति के घर में रहती है।

(दूसरा) उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं। और विधवा स्त्री के लड़के वीर्यदाता के न पुत्र कहलाते, न उसका गोत्र होता और [न] उसका स्वत्व उन लड़कों पर

रहता, किन्तु वे मृतपति के पुत्र बजते, उसी का गोत्र रहता और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी घर में रहते हैं।

(तीसरा) विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है, और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

(चौथा) विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता है और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कार्यसिद्धि के पश्चात् छूट जाता है।

(पांचवां) विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते हैं और नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के काम किया करते हैं।

प्रश्न—विवाह और नियोग के नियम एकसे हैं, वा पृथक्-पृथक्?

उत्तर—कुछ थोड़ा-सा भेद है, जितने पूर्व कह आये और दूसरा यह कि विवाहित स्त्री-पुरुष एक पति और एक ही स्त्री मिलके दश सन्तान तक उत्पन्न कर सकते हैं और नियुक्त स्त्री-पुरुष दो वा चार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते। अर्थात् जैसा कुमार-कुमारी ही का विवाह होता है, वैसा जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है, उन्हीं का नियोग होता है, कुमार-कुमारी का नहीं। जैसे विवाहित स्त्री-पुरुष सदा सङ्ग में रहते हैं, वैसे नियुक्त स्त्री-पुरुष का व्यवहार नहीं, किन्तु विना ऋतुदान समय के एकत्र न हों। जो स्त्री अपने लिये नियोग करे, तो जब दूसरा गर्भ रहै, उसी दिन से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध छूट जाय। और जो पुरुष अपने लिये करे तो भी दूसरे गर्भ रहने से सम्बन्ध छूट जाय। परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्ष पर्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिये और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिये सन्तान कर सकती और एक मृतस्त्री[क] पुरुष भी दो अपने लिये और दो-दो अन्य-अन्य चार विधवाओं के लिये पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दश-दश सन्तानोत्पति की आज्ञा वेद में है। जैसे—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥

—ऋ०। मं० १०। सू० ८५। मं० ४५॥

हे (मीढ्व, इन्द्र) वीर्यसेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठपुत्र और सौभाग्युक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्रि! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवाँ पति को समझ।

इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें। क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत-से दुःख पाते हैं।

प्रश्न—यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है।

उत्तर—जैसे विना विवाहितों का व्यभिचार होता है, वैसे विना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होने पर व्यभिचार नहीं कहाता, तो नियमपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की लड़की और दूसरे के लड़के का शास्त्रोक्त विधि से विवाहपूर्वक समागम में व्यभिचार वा पाप, लज्जा नहीं होता, वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार, पाप, लज्जा न मानना चाहिये।

प्रश्न—है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष वा कोई नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने, दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती, वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिये। क्या जो व्यभिचारी पुरुष वा स्त्री होती हैं, वह विवाह होने पर भी कुकर्म से बचते हैं?

प्रश्न—हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है।

उत्तर—जो नियोग की बात में पाप मानते हो तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते? पाप तो नियोग के रोकने में है। क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकते, सिवाय वैराग्यवान्, पूर्णविद्वान् योगियों के। क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या

और विधवा स्त्री और मृतस्त्री[क] पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो? क्योंकि जबतक वे युवावस्था में हैं, मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होनेवालों को किसी राजव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से, गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं। इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है। परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिये। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है, और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों को सन्ताप और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं, इसलिये नियोग करना चाहिये।

प्रश्न—नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिये?

उत्तर—जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जैसे विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या वर की प्रसन्नता होती है, वैसे नियोग में भी। अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो, तब अपने कुटुम्ब में पुरुषस्त्रियों के सामने [कहें कि] हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिये करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा, तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें, तो पापी और जाति वा राज के दण्डनीय हों। महीने-महीने में एकवार गर्भाधान का कर्म करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष दिन तक पृथक् रहेंगे।

प्रश्न—नियोग अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्णस्थ के साथ भी?

उत्तर—अपने वर्ण में वा अपने से उत्तमवर्णस्थ पुरुष के साथ। अर्थात् वैश्या स्त्री वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का चाहिये, अपने से नीचे के वर्ण का नहीं। स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि

धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना।

प्रश्न—पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वह दूसरा विवाह करेगा।

उत्तर—हम लिख आये हैं, द्विजों में स्त्री और पुरुष का एकवार ही विवाह होना वेदादि शास्त्रों में लिखा है, द्वितीयवार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय और विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्री[क] पुरुष का विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ पुरुष विवाह नहीं किया चाहता, वैसे ही विवाह और स्त्री से समागम किये हुए पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न करेगी। जब विवाह किये हुए पुरुष को कोई कुमारी कन्या, और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा, तब पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी। और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे का ही सम्बन्ध होना चाहिये।

प्रश्न—जैसे विवाह में वेदादि-शास्त्रों का प्रमाण है, वैसे नियोग में प्रमाण है वा नहीं?

उत्तर—इस विषय में बहुत प्रमाण हैं, देखो और सुनो—

कुहं स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ १॥

—ऋ० मं० १०। सू० ४०। मं० २॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ २॥

—ऋ० मं० १०। सू० १८। मं० ८॥

हे (अश्विना) स्त्री-पुरुषो! जैसे (देवरं विधवेव) देवर को विधवा और (योषा मर्यन्न) विवाहिता स्त्री अपने पति को (सधस्थे) समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानोत्पत्ति को (आ कृणुते) सब प्रकार से उत्पन्न करती है, वैसे तुम दोनों स्त्री पुरुष (कुहस्विद्दोषा) कहां रात्रि और (कुह वस्तः) कहां दिन में वसे थे? (कुहाभिपित्वम्) कहां पदार्थों की प्राप्ति (करतः) की? और (कुहोषतुः) किस समय कहां वास

करते थे? (को वां शयुत्रा) तुम्हारा शयनस्थान कहां है? तथा कौन वा किस देश के रहने वाले हो? इससे यह सिद्ध हुआ कि देश-विदेश में स्त्री-पुरुष सङ्ग ही में रहें। और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।

प्रश्न—यदि किसी का छोटा भाई ही न हो तो विधवा नियोग किसके साथ करे?

उत्तर—देवर के साथ। परन्तु देवर शब्द का अर्थ जैसा तुम समझे हो, वैसा नहीं। देखो! निरुक्त में—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥

—निरु० ॥ अ० ३। खण्ड १५॥

देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई, अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो, जिससे नियोग करे, उसी का नाम 'देवर' है॥ १॥

हे (नारि) विधवे! तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के (शेषे) बाकी पुरुषों में से (अभिजीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिये नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा; ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम् बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे॥ २॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥

—अथर्व०। कां० १४। [प्रपा० २९] अनु० २। मं० १८॥

हे (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि) पति और देवर को दुःख न देने वाली स्त्रि! तू (इह) इस गृहाश्रम में, (पशुभ्यः) पशुओं के लिये, (शिवा) कल्याण करनेहारी, (सुयमा) अच्छे प्रकार धर्म नियम में चलने, (सुवर्चाः) रूप और सर्वशास्त्रविद्यायुक्त, (प्रजावती) उत्तम-पुत्र पौत्रादि से सहित, (वीरसूः) शूरवीर पुत्रों को जनने, (देवृकामा) देवर की कामना करने, (स्योना) और सुख देनेहारी, पति वा देवर को, (एधि) प्राप्त होके, (इमम्) इस, (गार्हपत्यम्) गृहस्थसम्बन्धी, (अग्निम्) अग्निहोत्र को, (सपर्य) सेवन किया कर।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ —मनु० [९।६९]

जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाय, तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है।

प्रश्न—एक स्त्री वा पुरुष कितने नियोग कर सकते हैं? और विवाहित नियुक्त पतियों का नाम क्या होता है?

उत्तर— **सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।**
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

—ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४०॥

हे स्त्रि! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहिला विवाहित (पतिः) पति तुझ को (विविदे) प्राप्त होता है, उसका नाम (सोमः) सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से 'सोम'; जो दूसरा नियोग होने से (विविदे) वह (गन्धर्वः) एक स्त्री से सम्भोग करने से 'गन्धर्व'; जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है, वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से 'अग्नि' संज्ञक; और जो (ते) तेरे (तुरीयः) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं, वे (मनुष्यजाः) 'मनुष्य' नाम से कहाते हैं। जैसा (इमां त्वमिन्द्र०) इस मन्त्र में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है।

प्रश्न—'एकादश' शब्द से दश पुत्र और ग्यारहवें पति को क्यों न गिनें?

उत्तर—जो ऐसा अर्थ करोगे तो '**विधवेव देवरम्**' '**देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते**' '**अदेवृघ्नि**' और '**गन्धर्वो विविद उत्तरः**' इत्यादि वेदप्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा। क्योंकि तुम्हारे अर्थ से दूसरा भी पति प्राप्त नहीं हो सकता।

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ १॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्य्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥ २॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव०॥ ३॥ —मनु० [९।५९, ५८, १५९]

इत्यादि मनुजी ने लिखा है कि (सपिण्ड), अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिये। परन्तु जो वह मृतस्त्री[क]-पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो, तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो, तब नियोग होवे॥ १॥

जो आपत्काल, अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में, बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी, पुनः वे नियुक्त आपस में समागम करें, तो पतित हो जायें अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है, इसके पश्चात् समागम न करें॥२॥

और जो दोनों के लिये नियोग हुआ हो, तो चौथे गर्भ तक, अर्थात् पूर्वोक्त रीति से दस सन्तान तक हो सकते हैं। पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है, इससे वे पतित गिने जाते हैं। और जो विवाहित स्त्री पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें, तो कामी और निन्दित होते हैं। अर्थात् विवाह वा नियोग सन्तानों ही के अर्थ किये जाते हैं, पशुवत् कामक्रीड़ा के लिये नहीं।

प्रश्न—नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी?

उत्तर—जीते भी होता है—

अ॒न्यमि॑च्छस्व सुभगे॒ पतिं॒ मत्॥ —ऋ०। मं० १०। सू० १०॥

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे, परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहै। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे,

तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी! आप मुझसे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा छोड़ के, किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिये। जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया। और जैसा व्यासजी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मर जाने पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की, इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥ १॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजाः।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ २॥
—मनु० [९।७६, ८१]

विवाहित स्त्री; जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो, तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिये गया हो तो छः, और धनादि कामना के लिये गया हो, तो तीन वर्ष तक वाट देख के, पश्चात् नियोग करके, सन्तानोत्पत्ति कर ले। जब विवाहित पति आवे, तब नियुक्त पुरुष छूट जावे॥ १॥

वैसे ही पुरुष के लिये भी नियम है, जब विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ भी न रहै, वन्ध्या हो, तो आठवें, सन्तान होकर मर जायें तो दशवें, जब-जब हो तब-तब कन्या, पुत्र न होवे तो ग्यारहवें, और जो स्त्री अप्रिय बोलने वाली होवे, तो तुरन्त उस को छोड़ के, दूसरी स्त्री से नियोग करके, सन्तानोत्पत्ति कर लेवे॥ २॥

वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो तो स्त्री को उचित है कि तुरन्त उसको छोड़के दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करके, उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान कर लेवे। इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने-अपने कुल की उन्नति करे।

जैसा 'औरस' अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र, पिता के पदार्थों का स्वामी होता है, वैसे ही 'क्षेत्रज' अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए

पुत्र भी मृतपिता के दायभागी होते हैं।

अब इस पर स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को परस्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में खोते हैं, वे महामूर्ख कहाते हैं। क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी, अपने खेत वा वाटिका के विना, अन्यत्र बीज नहीं बोते। जो कि साधारण बीज का और मूर्ख का यह वर्त्तमान है, तो जो सर्वोत्तम मनुष्यशरीररूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है, वह महामूर्ख कहाता है, क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता। और **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** यह ब्राह्मणग्रन्थों [तुलना—शत० कां० १४। प्रपा० ७। ब्रा० ५। कं० २६] का वचन है—

अङ्गा॑दङ्गात्सम्भ॑वसि हृद॒या॒दधि॑ जायसे।
आ॒त्मासि॑ पु॒त्र मा॒ मृथाः॒ स जी॑व श॒रदः॑ श॒तम्॥ १॥

—यह सामवेद [के ब्राह्मण] का मन्त्र है॥
[साम० ब्रा० मन्त्रपर्व प्रपा० १। खं० ५। कं० १७ का पूर्वार्द्ध और १८ का उत्तरार्द्ध]

हे पुत्र! तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से उत्पन्न और हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिये तू मेरा आत्मा है, मुझ से पूर्व मत मरे, किन्तु सौ वर्ष तक जी। जिससे ऐसे-ऐसे महात्मा महाशयों का शरीर उत्पन्न होता है, उसको वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना, वा दुष्टबीज अच्छे क्षेत्र में बुवाना, महापाप का काम है।

प्रश्न—विवाह क्यों करना? क्योंकि इससे स्त्री और पुरुष को बन्धन में पड़के बहुत संकोच करना और दुःख भोगना पड़ता है, इसलिये जिसके साथ जिसकी प्रीति हो तब तक वे मिले रहैं, जब प्रीति छूट जाय तो छोड़ देवें।

उत्तर—यह पशु-पक्षियों का व्यवहार है, मनुष्यों का नहीं। जो मनुष्यों में विवाह का नियम न रहै, तो गृहाश्रम के अच्छे व्यवहार सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। कोई किसी से भय वा लज्जा न करे। वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें। कोई किसी के पदार्थ

का स्वामी वा दायभागी न हो सके और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल-पर्यन्त स्वत्व रहे। इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह अवश्य होना चाहिये।

प्रश्न—जब एक विवाह होगा, एक पुरुष को एक स्त्री और एक स्त्री का एक पुरुष रहेगा, तब स्त्री गर्भवती होवे, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो और दोनों की युवावस्था हो; उनसे न रहा जाय, तो फिर क्या करें?

उत्तर—इसका प्रत्युत्तर नियोग विषय में दे चुके हैं। और जब गर्भवती स्त्री से एक वर्ष पर्यन्त समागम न करने के समय में पुरुष से न रहा जाय, तो किसी विधवा से नियोग कर, उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दें, परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक, अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि और बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार में किया करें। सब प्रकार के, अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने-अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साह, प्रयत्न, तन, मन, धन से किया करें। अपने माता, पिता, सासु, श्वशुर की अत्यन्त शुश्रूषा किया करें। मित्र, पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रखे। और दुष्टों से उपेक्षा रखके, उनके सुधारने में प्रयत्न किया करें। जहां तक बने, वहां तक, प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने-कराने में धनादि को लगावें। धर्म से सब व्यवहार करके मोक्ष का साधन भी किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द होवे। ऐसे श्लोकों को न मानें—

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी॥ १॥

[तुलना—भाषा पाराशरी अ० ८। श्लो० ३३
पराशरस्मृति अ० ८। श्लो० ३२]

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥ २॥

[तुलना—पारस्कर गृ० सू० कां० १। कं० ३ के गदाधर भाष्य में उद्धृत श्लोक से]

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ ३॥

[भाषा पाराशरी अ० ४। श्लो० ३०]

—ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक हैं।

जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ, और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानें तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक कौनसा होगा! क्या दूध देने वाली वा न देने वाली गाय गोपालों को पालनीय होती है, वैसे कुम्हार आदि को गधही पालनीय नहीं होती? और यह दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्य जाति, गाय और गधही भिन्न जाति हैं। कथञ्चित् पशु जाति से दृष्टान्त का एकदेश दार्ष्टान्त में मिल भी जावे, तो भी इसका आशय अयुक्त होने से यह श्लोक विद्वानों के माननीय कभी नहीं हो सकता॥ १॥

जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मारके अथवा गाय को मार के होम करना वेदविहित नहीं है, तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाय, तो त्रेता आदि में विधि आ जाय। तो इससे ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठ युग में होना सर्वथा असंभव है और संन्यास का वेदादि में विधि है, उसका निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है तो सर्वदा ही निषेध है। जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करनी वेदों में लिखी है तो यह श्लोककर्ता क्यों भूंषता है?॥ २॥

यदि (नष्टे) अर्थात् पति किसी देश-देशान्तर को चला गया हो, घर में स्त्री नियोग कर लेवे, उसी समय विवाहित पति आ जाय, तो वह किसकी स्त्री हो? कोई कहे कि विवाहित पति की। हमने माना, परन्तु ऐसी व्यवस्था पाराशरी में तो नहीं लिखी। क्या स्त्री के पांच ही आपत्समय हैं? रोगी पड़ा हो, लड़ाई हो गई हो, इत्यादि आपत्काल पाँच से भी अधिक हैं इसलिये ऐसे-ऐसे श्लोकों को कभी न मानना चाहिये॥ ३॥

प्रश्न—क्योंजी! तुम पराशर मुनि के वचन को भी नहीं मानते?

उत्तर—चाहे किसी का वचन हो, परन्तु वेद के विरुद्ध होने से नहीं मानते। और यह पराशर का वचन भी नहीं है। क्योंकि जैसे

'ब्रह्मोवाच, वसिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, देव्युवाच' इत्यादि श्रेष्ठों का नाम लिख के, ग्रन्थरचना इसलिये करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे और हमारी पुष्कल जीविका होवे। कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़के मनुस्मृति ही वेदानुकूल है, अन्य स्मृति नहीं। ऐसे ही अन्य जालग्रन्थों की भी व्यस्था समझ लो।

प्रश्न—गृहाश्रम सबसे छोटा, वा बड़ा है?

उत्तर—अपने कर्म में सब बड़े हैं। परन्तु—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ १॥

—मनु० [६।९०]

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ २॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ ३॥
स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ४॥

—मनु० [३।७७-७९]

अर्थ—जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं, विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता॥ १॥

[जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह होता है॥ २॥]

जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है [॥ ३॥]

इसलिये जो अक्षय मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो,

वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे, जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने अयोग्य है, उसको अच्छे प्रकार धारण करे॥ ४॥

इसलिए जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय है, और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है कि जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिए गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

यह संक्षेप से समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जाएगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविषये चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ४॥

अथ पञ्चमसमुल्लासारम्भः

अथ वानप्रस्थसंन्यासविधिं वक्ष्यामः

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥ —शत० कां० १४॥

[तुलना—जाबालोपनिषद् खण्ड ४]

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त करके गृहस्थ, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥ १॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ २॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥ ३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ४॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥ ५॥

—मनु० [६।१-५]

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्य्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहर कर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में वसे॥ १॥

परन्तु जब गृहस्थ शिर के श्वेत केश और त्वाचा ढीली हो जाय, और लड़के का लड़का भी होवे, तब वन में वसे॥ २॥

ग्राम के आहार, वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़, पुत्रों के

पास स्त्री को रख, वा अपने साथ लेके वन में निवसे॥ ३॥

साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेके ग्राम से निकल, दृढ़ेन्द्रिय होकर, अरण्य में जाके वसे॥ ४॥

नाना प्रकार के सामा आदि अन्न, सुन्दर शाक, मूल, फल, कन्दादि से पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञों को करे और उसी से अतिथिसेवा और आप भी निर्वाह करे॥ ५॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ १॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ २॥ —मनु० [६।८, २६]

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त, जितात्मा, सबका मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा और सबपर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे, इस प्रकार सदा वर्त्तमान करे॥ १॥

शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे किन्तु ब्रह्मचारी रहे अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे, भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में वसे॥ २॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति,
यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ १॥

—मुण्ड० १। खं० २। मं० ११

जो शान्त, विद्वान् लोग वन में तप, धर्म्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में वसते हैं, जहाँ नाशरहित पूर्ण पुरुष हानि-लाभ रहित परमात्मा है, वहाँ वे निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं॥ १॥

अ॒भ्याद॑धामि स॒मिध॒मग्ने॑ व्रतपते॒ त्वयि॑।
व्र॒तञ्च॑ श्र॒द्धां चोपै॑मी॒न्धे त्वा॑ दीक्षि॒तो अ॒हम्॥ १॥

—यजुर्वेदे॥ अध्याये २०। मं० २४॥

वानप्रस्थ को उचित है कि—मैं अग्नि में होम करके दीक्षित होकर व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं—ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ होवे, नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्सङ्ग, योगाभ्यास और सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे। पश्चात् जब संन्यास के ग्रहण की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे, फिर संन्यास ग्रहण करे॥ १॥

इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः

अथ संन्यासविधिः

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ १॥

—मनु० [६।३३]

इस प्रकार वनों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके, आयु के चौथे भाग में सङ्गों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे।

प्रश्न—गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके, संन्यासाश्रम करे, उसको पाप होता है, वा नहीं?

उत्तर—होता है, और नहीं भी होता।

प्रश्न—यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो?

उत्तर—दो प्रकार की नहीं। क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फसे वह महापापी, और जो न फसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है।

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्॥ –ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं।

[तुलना—अथर्ववेदीयजाबालोपनिषत् खं० ४]

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे। पहिला पक्ष क्रमसंन्यास का कहा। और [यह द्वितीय पक्ष] इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे और तृतीय पक्ष यह है कि जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय, विषय-भोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह

ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे।

और वेदों में भी—

यतयः [ऋ० ८।६।१८]

ब्राह्मणस्य [ऋ० १०।१०९।४]

विजानतः [यजुः० ४०।७]

इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है, परन्तु—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

—कठ० वल्ली २। मं० २३

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शान्त नहीं है, वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता। इससे—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

—कठ० वल्ली ३। मं० १३॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान और आत्मा में लगावें, और उस ज्ञान स्वात्मा को परमात्मा में लगावें और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ —मुण्ड० [१] खंड २। मं० १२॥

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे। क्योंकि 'अकृत' अर्थात् न किया हुआ परमात्मा, 'कृत' अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता, इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में लेके वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले उस गुरु के पास विज्ञान के लिये जावे, जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे। परन्तु सदा इनका संग छोड़ देवे कि—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ १॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ २॥

—मुण्ड० [१] खण्ड २। मं० ८-९॥

जो अविद्या के भीतर खेल रहे हैं अपने को धीर और पंडित मानते और नीच गति को जानेहारे जैसे अंधे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, इससे मूढ दुःखों को प्राप्त होते हैं॥ १॥

जो बहुधा अविद्या में रमण करने वाले बाल बुद्धि ''हम कृतार्थ हैं'' वैसे मानते हैं, जिनको केवल कर्मकाण्डी-लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होके जन्ममरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं॥ २॥ इसलिये—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः, संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले, परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥

—मुण्ड० ३ खण्ड २। मं० ६॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्ति-सुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहाँ से छूट कर संसार में आते हैं। मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता। क्योंकि—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥ —छान्दो० [प्रपा० ८। खं० १२। प्रवाक १]

जो देहधारी है, वह सुख-दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ, शुद्ध होकर रहता है, तब उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता। इसलिये—

लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति॥ [तुलना]—शत० कां० १४ [प्रपा० ५। ब्रा० २। कं० १]॥

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग होके, संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में

तत्पर रहते हैं।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्॥ १ ॥

—यजुर्वेदब्राह्मणे [न्याय सू० ४।१।६२ पर वात्स्यायन भाष्य]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ २ ॥
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ३ ॥

—मनु० [६।३८-३९]

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़, आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे॥ १-२॥

जो सब भूत=प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वरप्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है॥ ३ ॥

प्रश्न—संन्यासियों का क्या धर्म है?

उत्तर—धर्म तो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञापालन, परोपकार, सत्यभाषणादि-लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है, परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ १ ॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ २ ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ३ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ ४ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ५ ॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥ ६ ॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥ ७ ॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ ८ ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ ९ ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ १० ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः॥ ११ ॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम्॥ १२ ॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ १३ ॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ १४ ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ १५ ॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ १६ ॥

—मनु० अ० ६। [श्लोक ४६, ४८, ४९, ५२, ६०, ६६, ६७, ७०-७३, ७५, ८०, ९१, ९२, ८१]

जब संन्यासी मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देख कर, नीचे पृथिवी पर दृष्टि रख के चले। सदा वस्त्र से छान के जल पिये, निरन्तर सत्य ही बोले, सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे॥ १ ॥

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे, उस पर कभी क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याण का उपदेश करे। मुख के दो नासिका के, दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को, किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले॥ २॥

अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्यमांसादि वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता रहे॥ ३॥

केश, नख, डाढ़ी, मूंछ को छेदन करवावे, सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा, सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे॥ ४॥

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर, मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे॥ ५॥

कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर, स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न धारण धर्म का कारण नहीं है, सब मनुष्यादि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है॥ ६॥

क्योंकि—यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीसके गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि विना डाले उसके नामकथन वा श्रवणमात्र से उसका जल शुद्ध नहीं होता॥ ७॥

इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओङ्कारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो, उतने करे, परन्तु तीन से न्यून कभी न करे, यही संन्यासी का परमतप है॥ ८॥

क्योंकि—जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातु के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राण के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं॥ ९॥

इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष; धारणाओं से पाप; प्रत्याहार से संगदोष; ध्यान से

अनीश्वर के गुणों को अर्थात् हर्ष, शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें॥ १०॥

इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों के दुःख से जानने योग्य, छोटे-बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति को और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे॥ ११॥

सब भूतों से निर्वैर, इन्द्रियों के दुष्ट विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्रतपश्चरण से इस संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य कोई नहीं॥ १२॥

जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है॥ १३॥

इसलिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दशलक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन नित्य करें॥ १४॥

एक—(धृति) अर्थात् सदा धैर्य रखना। दूसरा—(क्षमा) जोकि निन्दा-स्तुति, मानाऽपमान, हानि-लाभ, आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर, अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(अस्तेय) चोरीत्याग अर्थात् विना आज्ञा वा छल, कपट, विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना 'चोरी' और इसको छोड़ देना 'साहूकारी' कहाती है। पांचवां—(शौच) रागद्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर, और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा—(इन्द्रियनिग्रह) अर्थात् अधर्माचरणों से रोक के, इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना। सातवाँ—(धीः) मादकद्रव्य बुद्धिनाशक अन्य-पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़ के, श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास, धर्माचरण, ब्रह्मचर्य आदि शुभकर्मों से बुद्धि का बढ़ाना। आठवाँ—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना, इससे विपरीत अविद्या है। नववाँ—(सत्य) जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी [में], जैसा वाणी में वैसा कर्म में

वर्त्तना सत्य, जैसा जो पदार्थ हो उसको वैसा ही समझना, बोलना, करना। तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि, गुण ग्रहण करना, दशवां लक्षण धर्म का है। इस दशलक्षणयुक्त पक्षपातरहित न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रम वाले करें और इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना संन्यासियों का और दूसरों को समझा कर चलाना विशेष धर्म है॥ १५॥

इसी प्रकार से धीरे-धीरे सब संगदोषों को छोड़, हर्ष-शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर, संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है॥ १६॥

संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, अधर्म व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर, सत्यधर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें॥

प्रश्न—संन्यासग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है, वा क्षत्रियादि का भी?

उत्तर—ब्राह्मण ही को अधिकार है। क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का 'ब्राह्मण' नाम है। विना पूर्णविद्या, धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास-ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसीलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं। यह मनु का प्रमाण भी है कि—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत॥ —मनु० [६।९७]

यह मनुजी कहते हैं कि हे ऋषियो! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, [गृहस्थ], वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहां वर्त्तमान में पुण्यस्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है, इसके आगे राजाओं का धर्म तुम मुझसे सुनो। इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यासग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है, और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्याश्रम है।

प्रश्न—संन्यासग्रहण की आवश्यकता क्या है?

उत्तर—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे आश्रमों में संन्यास की आवश्यकता है। क्योंकि इसके विना विद्या, धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार कर सकता है, वैसा अन्य आश्रम नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को जितना अवकाश सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का मिलता है, उतना अन्य आश्रम को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्यशिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है, क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है। जब गृहाश्रम नहीं करेगा तो उससे सन्तान ही न होंगे। जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है और सब मनुष्य करें तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जाये।

उत्तर—अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते, अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करने वाला हुआ। जो तुम कहो कि—

'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः'

—यह किसी कवि का वचन है। [पञ्चतन्त्र, मित्रभेद कथा ४, श्लोक २१७]

जो यत्न करने से भी कार्य्य सिद्ध न हो तो इसमें कोई भी दोष नहीं, तो हम तुम से पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत से सन्तान होकर, आपस में विरुद्धाचरण कर, लड़ मरें तो हानि कितनी बड़ी होती है? समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है। जब संन्यासी एक वेदोक्तधर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पादन करावेगा तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा। सहस्रों गृहस्थ के तुल्य मनुष्यों की बढ़ती करेगा। सब मनुष्य संन्यासग्रहण कर ही नहीं सकते, क्योंकि सब की विषयासक्ति कभी नहीं छूट सकेगी। जो-जो संन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होंगे, वे सब जानो संन्यासी के पुत्र-तुल्य हैं।

प्रश्न—संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं। अन्न-

वस्त्र लेकर आनन्द में रहना, अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना। अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना, कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि तू भी ब्रह्म है। तुझको पाप-पुण्य नहीं लगता, क्योंकि शीतोष्ण शरीर, क्षुधा-तृषा प्राण, और सुख-दुःख मन का धर्म है। जगत् मिथ्या है और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं, इसलिये इनमें फसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप-पुण्य होता है, वह देह और इन्द्रियों का धर्म है, आत्मा का नहीं, इत्यादि उपदेश करते हैं। और आपने और ही संन्यास का धर्म कहा। अब हम किसको सच्चा मानें?

उत्तर—क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं? देखो! '**वैदिकैश्चैव कर्मभिः**' मनु० [६।७५] मनुजी ने '**वैदिक कर्म**' जो कि धर्मयुक्त सत्य-कर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन-छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जब ये कर्म नहीं छुटते तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित नहीं होंगे? जब गृहस्थों से अन्न-वस्त्रादि लेते हैं और उनका उपकार नहीं करते तो क्या वे महापापी नहीं होंगे? जैसे आंख से देखना, कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है, वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि-सत्यशास्त्रों का विचार-प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं। और जो अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वैसे उपदेश करने वाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म्म किये जाते हैं; वे सब आत्मा ही के और उनका फल भोगने वाला भी आत्मा है। जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं, वे अविद्यानिद्रा में सोते हैं। क्योंकि 'जीव' अल्प, अल्पज्ञ और 'ब्रह्म' सर्वव्यापक, सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-मुक्तस्वभावयुक्त है, और जीव कभी बद्ध, कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं होती, और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रह्म जन्ममरण दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता और जीव प्राप्त होता है, इसलिये वह उनका उपदेश मिथ्या है।

प्रश्न—''**संन्यासी सर्वकर्म्मविनाशी**'' और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते। यह बात सच्ची है वा नहीं?

उत्तर—नहीं। ''**सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी**'' जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित और जिससे दुष्ट-कर्मों का त्याग किया जाय, वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो, वह '**संन्यासी**' कहाता है। इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट-कर्मों का विनाश करने वाला 'संन्यासी' कहाता है।

प्रश्न—अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं, पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें, परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है, उतनी गृहस्थों को नहीं। हां, जो ब्राह्मण हैं, उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश और पढ़ाया करें। जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है, उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी ही होता है। इसलिये संन्यास का होना उचित है।

प्रश्न—'**एकरात्रिं वसेद् ग्रामे**'

[तुलना—नारदपरिव्राजकोपनिषद् उपदेश ४।१४]

इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र एक रात्रिमात्र रहना; अधिक निवास न करना चाहिये।

उत्तर—यह बात थोड़े-से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है, राग-द्वेष भी अधिक होता है, परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे। जैसे जनक राजा के यहां चार-चार महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आजकल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर, अधिक न बढ़ सकेगा।

प्रश्न— **यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्।**
चौराणामभयं दद्यात्स नरो नरकं व्रजेत्॥

[तुलना—लघु पराशर स्मृति अ० १। श्लोक ५१]

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे तो दाता को नरक प्राप्त होवे।

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी, सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धु-वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे। और जब भिक्षादि-व्यवहार हमारे आधीन रहेगा तो डरते रहेंगे। जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता। देखो—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्॥

—मनु० [तुलना—अ० ११। श्लोक ६]

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन (विविक्त) अर्थात् संन्यासियों को देवे।

और वह श्लोक भी अनर्थक है। क्योंकि संन्यासी को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायगा।

प्रश्न—यह पण्डितजी इसका पाठ बोलते भूल गया। यह ऐसा है कि "**यतिहस्ते धनं दद्यात्**" अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है, वह नरक में जाता है।

उत्तर—यह भी वचन अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है। क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाय, तो पग पर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा। इसलिये ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हां, यह बात तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा तो चोरादि से पीडित और मोहित भी हो जायगा। परन्तु जो विद्वान् है, वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फसेगा, क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है। और जो ब्रह्मचर्य से होता है, वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी कहीं नहीं फसता।

प्रश्न—लोग कहते हैं कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा जिमावे तो

उसके पितर भाग जायें और नरक में गिरें।

उत्तर—प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुँचना ही असम्भव, वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे? जब अपने पाप-पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी, पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। हां, यह तो ठीक है कि जहां संन्यासी जायेंगे, वहां यह मृतक-श्राद्ध करना वेदादि-शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जायगा।

प्रश्न—जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यास लेवेगा, उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है, इसलिये गृहाश्रम, वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाय, तभी संन्यास लेना अच्छा है।

उत्तर—जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य्य से संन्यास न लेवे; परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्यसंरक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं हो सकता, और उसका वीर्य्य विचाराग्नि का ईन्धनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिये है, नीरोगों के लिये नहीं। वैसे जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या, धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे। जैसे पञ्चशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं। इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों के लिये अच्छा है। और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा, औरों को भी डुबावेगा। जैसे 'सम्राट्' सर्वोपरि चक्रवर्ती राजा होता है, वैसे ही 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा सम्बन्धियों में सत्कार पाता है, और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है।

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ १॥

—यह चाणक्यशतक का श्लोक है।

विद्वान् और राजा कभी तुल्य नहीं होते। क्योंकि राजा अपने ही

देश में मान पाता है और विद्वान् सर्वत्र प्रतिष्ठा पाता है॥ १॥

इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य; सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ; विचार, ध्यान और ज्ञान बढ़ाने और तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ; और वेदादि-सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म-व्यवहार का ग्रहण और दुष्टव्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको नि:संदेह करने आदि के लिये संन्यास आश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य-धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि सदा सत्योपदेश, शङ्कासमाधान, वेदादि-सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।

प्रश्न—जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं आदि हैं, वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे, वा नहीं?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें संन्यास का लक्षण नहीं। वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से [अधिक] अपने सम्प्रदाय के आचार्य्यों के वचन मानते और अपने ही मत की प्रशंसा करते, मिथ्या-प्रपञ्च में फसकर अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को अपने-अपने मत में फसाते हैं। सुधार करना तो दूर रहा, उसके बदले संसार को बहका कर अधोगति को प्राप्त कराते और अपना प्रयोजन साधते हैं, इसलिये इनको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते। किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं।

संन्यासी आप धर्म में चलें और सब संसार को चलाते रहैं, जिससे आप और सब संसार इस लोक अर्थात् इस जन्म, परलोक अर्थात् परजन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग किया करें।

यह संन्यास की शिक्षा संक्षेप से लिखी और इसके आगे राजप्रजाधर्म लिखेंगे।

**इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामीकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते वानप्रस्थसंन्यासाश्रमविषये
पञ्चमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ५॥**

अथ षष्ठसमुल्लासारम्भः

अथ राजप्रजाधर्मान् व्याख्यास्यामः

**राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥ १॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्॥ २॥**

—मनु० [७।१-२]॥

अब मनुजी ऋषियों से कहते हैं कि चारो वर्ण और चार आश्रमों के व्यवहार-कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे, कि जिस प्रकार का राजा होना चाहिये, और जैसे इसके होने का सम्भव और जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे, वह प्रकार सब कहते हैं॥ १॥

कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे॥ २॥

कैसे कर सकता है—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि॥

—ऋ० मं० ३। सू० ३८। मं० ६॥

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदथे) सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार में (त्रीणि सदांसि) तीन सभा अर्थात् विद्यार्य्यसभा, धर्मार्य्यसभा और राजार्य्यसभा नियत करके (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजासम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।

तं सभा च समितिश्च सेना च॥ १॥

—अथर्व० कां० १५। अनु० २। व० ९। मं० २॥

सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥ २॥

—अथर्व० कां० १९। अनु० ७। व० ५५। मं० ६॥

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समितिश्च) संग्रामादि की व्यवस्था, और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें॥ १॥

सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा दे कि—हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद्! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था की (पाहि) रक्षाकर, और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद् हैं, वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें॥ २॥

इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए किन्तु राजा जो सभापति तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन, और प्रजा राजसभा के आधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे तो:—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति॥ १॥

—शत०। का० १३। [प्रपा०] २। ब्रा० ३। [कं० ७-८]॥

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राजपुरुष (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें। जिसलिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ा करता) है, इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। जैसे—सिंह वा मांसाहारी पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे (राष्ट्री विशमत्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है, अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता। श्रीमान् को लूट, खूँच, अन्याय से दण्ड देके अपना प्रयोजन पूरा करेगा। इसलिए—

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्योऽभवेह॥ १॥

—अथर्व० कां० ६। अनु० १०। व० ९८। मं० १॥

हे मनुष्यो! जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम

ऐश्वर्य का कर्त्ता, शत्रुओं को (जयाति) जीत सके (न पराजयातै) जो शत्रुओं से पराजित न हो (राजसु) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो (चर्कृत्यः) सभापति होने को अत्यन्त योग्य (ईड्यः) प्रशंसनीय गुणकर्मस्वभावयुक्त (वन्द्यः) सत्करणीय (चोपसद्यः) समीप जाने और शरण लेने योग्य (नमस्यः) सबका माननीय (भव) होवे, उसी को सभापति राजा करें।

इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय
महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय०॥ १॥

—यजुः० अ० ९। मं० ४०॥

हे (देवाः) विद्वानो! राजप्रजाजनो! तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े चक्रवर्त्तिराज्य (महते ज्यैष्ठ्याय) सबसे बड़े होने (महते जानराज्याय) बड़े-बड़े विद्वानों से युक्त राज्य पालने, और (इन्द्रस्येन्द्रियाय) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिए (असपत्नꣳसुवध्वम्) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्णविद्या-विनययुक्त सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल को शत्रुरहित करो। और—

स्थिराः वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ १॥

—ऋ० मं० १। सू० ३९। मं० २॥

ईश्वर उपदेश करता है कि हे राजपुरुषो! (वः) तुम्हारे (आयुधा) आग्नेयादि अस्त्र 'शतघ्नी' तोप, 'भुशुण्डी' बन्दूक, धनुष-बाण, 'असि' तलवार आदि शस्त्र; शत्रुओं के (पराणुदे) पराजय करने (उत प्रतिष्कभे) और रोकने के लिए (वीळू) प्रशंसित और (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) हों (युष्माकम्) और तुम्हारी (तविषी) सेना (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे कि जिससे तुम सदा विजयी होओ, परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो निन्दित अन्यायरूप काम करता है, उसके लिये पूर्व चीजें मत हों।

अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानों को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभा के अधिष्ठाता

और प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और सब के बीच में जो उत्तम पुरुष हो, उसको राजा सभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें, सब के हितकारक कामों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में जो-जो निज के काम हैं, उन-उन में स्वतन्त्र रहैं।

पुनः उस सभापति के गुण कैसे हों—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ १॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥ २॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ ३॥

— मनु० [७।४,६-७]॥

वह सभेश राजा 'इन्द्र' विद्युत् के तुल्य शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, 'वायु' के समान सब के प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा, 'यम' पक्षपातरहित-न्यायाधीश के समान वर्त्तनेवाला, 'सूर्य्य' के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या-अन्याय का निरोधक, 'अग्नि' के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, 'वरुण' अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधने वाला 'चन्द्र' के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, 'धनाध्यक्ष' के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापति होवे॥ १॥

जो सूर्यवत् प्रतापी सबके बाह्य और भीतर मनों को अपने तेज से तपानेहारा, जिसको पृथिवी में करड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो॥ २॥

और जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे, वही 'सभाध्यक्ष' 'सभेश' होवे॥ ३॥

सच्चा राजा कौन है

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ १॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ २॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ ३॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥ ४॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥ ५॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥ ६॥
तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते॥ ७॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ ८॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च॥ ९॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥ १०॥

—मनु० अ० ७। [१७-१९, २४-२८, ३०-३१]॥

जो दण्ड है वही पुरुष राजा, वही न्याय का प्रचारकर्त्ता, और सबका शासनकर्त्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का 'प्रतिभू' अर्थात् जामिन है॥ १॥

वही प्रजा का शासनकर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक, सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है, इसीलिये बुद्धिमान् लोग दण्ड ही को 'धर्म' कहते हैं॥ २॥

जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाय तो वह सब

प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो विना विचारे चलाया जाय तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है॥ ३॥

विना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जायें। दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे॥ ४॥

जहाँ कृष्णवर्ण रक्तनेत्र भयङ्कर पुरुष के समान पापों का नाश करनेहारा दण्ड विचरता है, वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है, परन्तु जो दण्ड का चलानेवाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो॥ ५॥

जो उस दण्ड का चलानेवाला सत्यवादी; विचार के करनेहारा; बुद्धिमान्; धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है; उसी को उस दण्ड का चलानेहारा विद्वान् लोग कहते हैं॥ ६॥

जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है; वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि से बढ़ता है; और जो विषय में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा, क्षुद्र, नीचबुद्धि न्यायाधीश, राजा होता है; वह दण्ड से ही मारा जाता है॥ ७॥

जब दण्ड बड़ा तेजोमय है, उसको अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, तब वह दण्ड धर्म से रहित कुटुम्बसहित राजा ही का नाश कर देता है॥ ८॥

क्योंकि जो आप्त पुरुषों के सहाय, विद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है; वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता॥ ९॥

और जो पवित्र आत्मा, सत्याचार और सत्पुरुषों का सङ्गी, यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् है, वही न्यायरूपी दण्ड को चलाने में समर्थ होता है॥ १०॥ इसलिये—

सैन्यापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ १॥
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥ २॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥ ३॥

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥ ४॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ ५॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ ६॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥ ७॥

—मनु० [१२।१००, ११०-११५]॥

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, और सबके ऊपर वर्त्तमान सर्वाधीश राजाधिकार, इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्यावाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये। अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें॥ १॥

न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे, उस 'धर्म' अर्थात् व्यवस्था का उल्लङ्घन कोई भी न करे॥ २॥

इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों तब वह सभा कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहियें॥ ३॥

और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के जानने वाले तीन सभासद् होके व्यवस्था करें, उस सभा की की हुई व्यवस्था को भी कोई उल्लङ्घन न करे॥ ४॥

यदि एक अकेला सब वेदों का जाननेहारा द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिये॥ ५॥

जो ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि-व्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित,

जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्त्तमान हैं उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती॥ ६॥

अविद्यायुक्त मूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिये। क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं तो उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं॥ ७॥

इसलिये तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करें। किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करे। और सब लोग ऐसे—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भाँश्च लोकतः॥ १॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥ २॥
दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥ ३॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥ ४॥
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥ ५॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ ६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥ ७॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥ ८॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥ ९॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद् व्यसनमात्मवान्॥ १०॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः॥ ११॥

—मनु० [७।४३-५३]॥

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब चारों वेदों की कर्मोपासना-ज्ञान-विद्याओं के जानने वालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव-स्वरूप को यथावत् जाननेरूप ब्रह्मविद्या और लोक से वार्ताओं का आरम्भ कहना और पूछना सीखकर सभासद् वा सभापति हो सकें॥ १॥

सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों के जीतने अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हठे-हठाये रहें। इसलिये रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें। क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (मन, प्राण और शरीर प्रजा है, इस) को जीते विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता॥ २॥

दृढ़ोत्साही होकर जो काम से दश और क्रोध से आठ दुष्ट व्यसन कि जिनमें फसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके, उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे॥ ३॥

क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फसता है, वह अर्थ अर्थात् राज्य, धनादि और धर्म से रहित हो जाता है। और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फसता है, वह शरीर से भी रहित हो जाता है॥ ४॥

काम से उत्पन्न हुए व्यसन—मृगया करना; चौपड़ खेलना, (द्यूत) अर्थात् जुवा करना; दिन में सोना; कामकथा वा दूसरे की निन्दा किया करना; स्त्रियों का अति सङ्ग; मादकद्रव्य मद्य, अफीम, भाँग, गांजा आदि का सेवन; गाना, बजाना, नाचना, नाच करना वा करवाना वा सुनना, देखना; वृथा इधर-उधर घूमते फिरना ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं॥ ५॥

क्रोध से उत्पन्न व्यसन—'पैशुन्यम्' अर्थात् चुग़ली करना; विना

विचारे बलात्कार किसी की स्त्री से बुरा काम करना; द्रोह रखना; 'ईर्ष्या' अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देख-सुन जला करना; 'असूया' दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना; 'अर्थदूषण' अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि का व्यय करना; कठोर वचन बोलना और विना अपराध करड़ा वा अधिक दण्ड देना; ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं॥ ६ ॥

जिसे सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े॥ ७ ॥

काम व्यसनों में बड़े दुर्गुण एक मद्यादि मादक द्रव्यों का सेवन, दूसरा पासों आदि से खेलना, तीसरा स्त्रियों का विशेष सङ्ग, चौथा मृगया करना, ये चार महादुष्ट व्यसन हैं और कामजों में अत्यन्त दुःखदायक दोष हैं॥ ८ ॥

विना अपराध दण्ड का निपातन, कठोर वचन बोलना और धनादि का अन्याय में खर्च करना, ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं॥ ९ ॥

जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में से गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जुआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा भारी दुष्ट व्यसन है॥ १० ॥

इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फसने से मर जाना अच्छा है। क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह अधिक जियेगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायगा और जो किसी व्यसन में नहीं फसा, वह मर भी जायगा तो भी सुख को प्राप्त होता है। इसलिये विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फसें और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर, धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्त्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें॥ ११ ॥

राजसभासद् और मन्त्री कैसे होने चाहियें—

मौलान्शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्ष्यान्कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥ १ ॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्॥ २ ॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ ३ ॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥ ४ ॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान्॥ ५ ॥
निवर्त्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान्॥ ६ ॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने॥ ७ ॥
दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥ ८ ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥ ९ ॥

—मनु० ७। [५४-५७, ६०-६४]॥

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जाननेहारे, शूरवीर, जिनों का लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, और कुलीन, अच्छे प्रकार परीक्षित, सात वा आठ उत्तम धार्मिक चतुर 'सचिवान्' अर्थात् मन्त्री करे॥ १ ॥

क्योंकि विशेषकर सहाय के विना जो सुगम कर्म है, वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है, जब ऐसा है तो महान् राज्यकर्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिये एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है॥ २ ॥

इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल

विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से (सन्धि) मित्रता, किसी से (विग्रह) विरोध, (स्थान) स्थिति समय को देखके चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना, (समुदयम्) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, (गुप्तिम्) मूल राज, सेना, कोश आदि की रक्षा, (लब्धप्रशमनानि) जो-जो देश प्राप्त हो, उस-उसमें शान्तिस्थापन उपद्रवरहित करना, इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे॥ ३॥

विचार ऐसे करना कि उन सभासदों का पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को सुनकर बहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो, वह करने लगना॥ ४॥

अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे॥ ५॥

जितने मनुष्यों से राज्यकार्य्य सिद्ध होसके, उतने आलस्यरहित, बलवान् और बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर रक्खे॥ ६॥

इनके आधीन शूरवीर, बलवान्, कुलोत्पन्न, पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में नियुक्त करे और भीरु डरपुकनों को भीतर के कर्मों में नियुक्त करे॥ ७॥

प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय, और भविष्यत् में होने वाली बात को जाननेहारा, सब शास्त्रों में विशारद चतुर दूत को भी रक्खे॥ ८॥

वह ऐसा हो—राजकाम में अत्यन्त उत्साह-प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्त्ता, सुन्दररूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो, वही राजा का 'दूत' होने में प्रशस्त है॥ ९॥

किस-किस को क्या-क्या अधिकार देना योग्य है—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ॥ १॥

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः॥ २॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत्॥ ३॥
धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥ ४॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्त्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते॥ ५॥
तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च॥ ६॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्त्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम्॥ ७॥
तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्॥ ८॥
पुरोहितं प्रकुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम्।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्य्युर्वैतानिकानि च॥ ९॥

—मनु० [७।६५-६६, ६८, ७०, ७४-७८]॥

अमात्य को दण्डाधिकार, दण्ड में विनय-क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे, राजा के आधीन कोश और राजकार्य्य तथा सभा के आधीन सब कार्य्य और दूत के आधीन किसी से मेल वा विरोध करना अधिकार देवे॥ १॥

दूत उसको कहते हैं जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे। दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओं में फूट पड़े॥ २॥

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानके वैसा प्रयत्न करें कि जिससे अपने को पीडा न हो॥ ३॥

इसकेलिये सुन्दर जङ्गल धन-धान्ययुक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन (महीदुर्गम्) मट्टी से किया हुआ (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन (नृदुर्गम्) चारों ओर सेना

रहे (गिरिदुर्गम्) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इसके मध्य में नगर बनावे॥ ४॥

और नगर के चारों ओर (प्राकार) प्रकोट बनावे, क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी शस्त्रयुक्त पुरुष सौ के साथ, और सौ दश हजार के साथ युद्ध कर सकते हैं, इसलिये दुर्ग का बनाना उत्तम है॥ ५॥

वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण जो पढ़ानेहारे उपदेशक हों (शिल्पी) कारीगर, यन्त्र, नाना प्रकार की कला, (यवसेन) चारा घास और जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो॥ ६॥

उसके मध्य में जल वृक्ष पुष्पादियुक्त, सब प्रकार से रक्षित, सब ऋतुओं में सुखकारक, श्वेतवर्ण अपने लिये घर जिसमें सब राजकार्य्य का निर्वाह हो, वैसा बनवावे॥ ७॥

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के, यहाँ तक राजकाम करके, रूप गुण सौन्दर्य युक्त, हृदय को प्रिय, बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न, सुन्दर लक्षणयुक्त, अपने क्षत्रियकुल की कन्या जोकि अपने सदृश विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में हो, उस एक ही स्त्री से विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझ कर दृष्टि से भी न देखे॥ ८॥

पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिये करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्म किया करें, और आप सर्वदा राजकार्य में रहे अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है, जो रात-दिन राजकार्य्य में प्रवृत्त रहना और कोई राजकाम बिगड़ने न देना॥ ९॥

साँवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु॥ १॥
अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात् तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम्॥ २॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मो विधीयते॥ ३॥
समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ ४॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥ ५॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥ ६॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥ ७॥
नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्॥ ८॥
यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः।
भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥ ९॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥ १०॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥ ११॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम्॥ १२॥

—मनु० [७।८०-८२, ८७, ८९, ९१-९७]

प्रजा से वार्षिक कर आप्तपुरुषों के द्वारा ग्रहण करे और जो सभापतिरूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं वे सब, सभा वेदानुकूल होकर, प्रजा के साथ पिता के समान वर्तें॥ १॥

उस राज्यकार्य्य में विविध प्रकार के विद्वान् अध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही काम है कि जितने-जितने जिस-जिस काम में राजपुरुष हों, वे नियमानुसार वर्त्त कर, यथावत् काम करते हैं वा नहीं; जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड किया करें॥ २॥

सदा जो राजाओं का वेदप्रचाररूप अक्षय-कोश है, इसके प्रचार के लिये जो कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवें, उसका सत्कार राजसभा यथावत् करें, और उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें॥ ३॥

इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है॥

जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके, संग्राम से कभी निवृत्त न हो। अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपना विजय हो॥४॥

जब संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग; जितना अपना सामर्थ्य हो विना डर, पीठ न दिखा, युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं, इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने से छिप जाना उचित है, क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके, वैसे काम करें, जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें॥५॥

युद्ध समय में न इधर-उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, न बैठे हुए, न ''मैं तेरे शरण में हू'' ऐसे को॥६॥ न सोए, न मूर्च्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखनेवालों, युद्ध न करते हुए, न शत्रु के साथी॥७॥ न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए और न पलायन करते हुए पुरुषों को सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें; किन्तु उनको पकड़ कर जो अच्छे हों बन्धीगृह में रखे और भोजन-आच्छादन यथावत् देवे, और जो घायल हुए हों, उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिड़ावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इसपर ध्यान रक्खे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़केबालों को अपने सन्तानों के सदृश पाले और स्त्रियों को भी पाले। उनको स्वसन्तान, मा, बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाय और जिसमें पुनः युद्ध करने की शङ्का न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे

और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको सदा कारागार में भी रक्खे॥८॥

और जो पलायन अर्थात् भागा और डरा हुआ भृत्य शत्रुओं से मारा जाय; वह उसके स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे॥९॥

और जो उसकी प्रतिष्ठा है, जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था; उसको उसका स्वामी प्राप्त होवे जो भागा हुआ मारा जाय, उसका सब पुण्यफल उसके स्वामी को प्राप्त होता है और भागे हुये की जो प्रतिष्ठा वह सब नष्ट हो जाय। और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो, जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो॥१०॥

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस सैनिक ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, अन्न, गाय आदि पशु और स्त्रियां तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तैल आदि के कुप्पे जीते हों, वही उसका ग्रहण करे॥११॥

परन्तु सेनास्थजन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवां भाग राजा को देवें और राजा भी योद्धाओं को उस धन में से जो कि सबने मिलकर जीता हो, सोलहवां भाग सेनास्थ पुरुषों को अवश्य देवे। और जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जायें तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की रक्षा, वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्द-वृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लङ्घन कभी न करे॥१२॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥१॥
एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः॥२॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं दानेन निःक्षिपेत्॥३॥
अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः॥४॥

नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात्परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः॥ ५॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥ ६॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः॥ ७॥
[यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैताँश्छनकैर्वशमानयेत्॥ ८॥]
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः॥ ९॥
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥ १०॥
शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥ ११॥
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥ १२॥
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्य्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्॥ १३॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥ १४॥
ग्रामदोषान्त्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम्॥ १५॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम्॥ १६॥
तेषां ग्राम्याणि कार्य्याणि पृथक्कार्य्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥ १७॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥ १८॥

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥ १९॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥ २०॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥ २१॥

—मनु० ७। [९९-[१००], १०१, १०४-१०७-[१०८], ११०-११७, १२०-१२४]॥

राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे; रक्षित को बढ़ावे और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे॥ १॥

इस चार प्रकार के 'पुरुषार्थ' के प्रयोजन को जाने और आलस्य छोड़कर इसका भलीभाँति नित्य अनुष्ठान करे॥ २॥

दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, रक्षित को वृद्धि अर्थात् ब्याजादि से बढ़ावे और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त मार्ग में नित्य व्यय करे॥ ३॥

कदापि किसी के साथ छल से न वर्ते किन्तु निष्कपट होकर सबसे वर्त्ताव रक्खे और नित्यप्रति अपनी रक्षा करके, शत्रु के किये हुए छल को जानके निवृत्त करे॥ ४॥

कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके और स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे, जैसे कछुआ अपने अङ्गों को गुप्त रखता है, वैसे शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रक्खे॥ ५॥

जैसे बगुला मच्छी पकड़ने को ध्यानावस्थित होकर ताकता है, वैसे अर्थसंग्रह का विचार किया करे, जिस प्रकार द्रव्य और बल की वृद्धि हो। शत्रु को जीतने के लिये सिंह के समान पराक्रम करे, चीता के समान छिप कर शत्रुओं को पकड़े और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से सस्सा के समान दूर भाग जाय और पश्चात् उनको छल से पकड़े॥ ६॥

इस प्रकार विजय करनेवाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी

अर्थात् डाकू-लुटेरे हों, उनको (साम) अर्थात् मिला लेना, (दाम) कुछ देकर (भेद) फोड़-तोड़ करके वश में करे॥ ७॥

और जो इनसे वश में न हो तो अतिकठिन दण्ड से वश में करे॥ ८॥

जैसे धान्य का निकालने वाला छिलकों को अलगकर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है, वैसे राजा, डाकू-चोरों को मारे और राज्य की रक्षा करे॥ ९॥

जो राजा मोह से, अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है, वह राज्य और अपने बन्धुसहित जीवने से शीघ्र भ्रष्ट हो जाता है॥ १०॥

जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृश करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे प्रजा को दुर्बल करने से राजाओं के 'प्राण' अर्थात् बलादि, बन्धुसहित नष्ट हो जाते हैं॥ ११॥

इसलिये राजा और राजसभा राजकार्य्य की सिद्धि के लिये ऐसा यत्न करें जिससे राजकार्य्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्यपालन में तत्पर रहता है, उसको सुख सदा बढ़ता जाता है॥ १२॥

इसलिये दो तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज-स्थान रक्खे, जिसमें यथायोग्य भृत्य और कामदार रखके सब राज्य के कार्य पूरे करे॥ १३॥

एक-एक ग्राम में एक-एक पुरुष रक्खे, उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां पुरुष रक्खे। अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना और उन दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पांचों थानों पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक ज़िला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है॥ १४॥

इसी प्रकार प्रबन्ध करके आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों, उनको गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्त्तमान नित्यप्रति जना देवे॥ १५॥

और बीस ग्रामों के अधिपति बीस ग्रामों के वर्त्तमान को

शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करें, वैसे ही सौ ग्रामों के पति सौ-सौ ग्रामों के वर्त्तमान को आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्राम के स्वामी को प्रतिदिन जनाया करें। और दस-दस ग्राम के दोनों अधिपति बीस ग्राम के स्वामी को और बीस-बीस ग्राम के पांच अधिपति सौ ग्राम के अध्यक्ष को सौ-सौ ग्राम के दश अधिपति सहस्रग्रामों के अधिष्ठाता को दिन-दिन का वर्त्तमान जनावें और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दशसहस्र के अधिपति को और वे दश-दश हजार के दश अधिपति लक्षग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्त्तमान जनाया करें और वे सब राजसभा महाराजसभा अर्थात् सार्वभौमचक्रवर्त्ति-महाराजसभा में सब भूगोल का वर्त्तमान जनाया करें॥ १६॥

और एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो-दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष बनावे कि वे आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहैं॥ १७॥

बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा घर एक-एक बनावें, उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें॥ १८॥

जो नित्य घूमनेवाला सभापति हो, उसके आधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे जो राजपुरुष और प्रजापुरुषों के साथ नित्य सम्बन्ध रखते हों और वे भिन्न-भिन्न जाति के रहैं, उनसे सब राज और प्रजापुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे, जिसका अपराध हो, उनको दण्ड और जिनका गुण हो, उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे॥ १९॥

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान्, कुलीन हों, उनके आधीन प्रायः शठ और परपदार्थ हरनेवाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रख के, उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिये राज के नौकर करके, उन्हीं की रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके, उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे॥ २०॥

जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे, उनका सर्वस्वहरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि पुनः वे और इस बात को देख-सुन के दूसरे राजपुरुष भी इस दुष्ट काम से बचे रहैं। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाये तो उसको देख के अन्य लोग भी ऐसे दुष्ट कर्म करने लग जायें। परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भलीभाँति हों और जिससे वे धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज की ओर से मासिक वा एक वार मिला करे और जब वृद्ध हों, उनको भी आधा मिला करे परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहै, पश्चात् नहीं, परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक असमर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उस के निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य, पालन के लिये धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले, ऐसी नीति राजा बराबर रक्खे॥ २१ ॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान्॥ १॥
यथाऽल्पाऽल्पमदन्त्याद्यं वार्य्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥ २॥
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं ताँश्च पीडयेत्॥ ३॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥ ४॥
एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥ ५॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥ ६॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥ ७॥

—मनु० अ० ७। [१२८-१२-, १३९-१४०, १४२-१४४]॥

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष वा प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त होवे, वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में 'कर' स्थापन करे॥ १ ॥

जैसे जोंक, बछड़ा और भमरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे॥ २ ॥

अतिलोभ से अपने वा दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे क्योंकि जो व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है, वह अपने और उनको पीड़ा ही देता है॥ ३ ॥

जो महीपति कार्य्य को देख कर तीक्ष्ण और कोमल भी होवे, वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से राजा अतिमाननीय होता है॥ ४ ॥

इस प्रकार सब राज्य का प्रबन्ध करके सदा इस में युक्त और प्रमादरहित होकर अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे॥ ५ ॥

जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के राज्य से डाकू लोग रोती विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं, वह जानो भृत्य, अमात्यसहित मृतक है जीता नहीं, और महादुःख को पानेवाला है॥ ६ ॥

इसलिये राजाओं का प्रजा का पालन ही करना परमधर्म है। और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में 'कर' लेना लिखा है और जैसा सभा नियत करे, उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है॥ ७ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणाँश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्॥ १॥
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः॥ २॥
गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः॥ ३॥
यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥ ४॥

—मनु० अ० ७ [१४५-१४८]॥

जब पिछली प्रहर रात्रि रहै तब उठ शौच और सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान, अग्निहोत्र, धार्मिक विद्वानों का सत्कार और घूम, भोजन करके भीतर सभा में प्रवेश करे॥ १ ॥

वहाँ खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों, उनको मान्य दे, छोड़कर, मुख्यमन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे ॥ २ ॥

पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाय, पर्वत के शिखर अथवा एकान्त घर वा जङ्गल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थान (मैदान) में बैठकर विरुद्ध भावना को छोड़ मंत्री के साथ विचार करे॥ ३ ॥

जिस राजा के गूढ़ विचार को अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते अर्थात् जिसका विचार गम्भीर शुद्ध परोपकारार्थ सदा गुप्त रहै, वह धनहीन भी राजा सब पृथिवी का राज्य करने में समर्थ होता है, इसलिये अपने मन से एक भी काम न करे कि जब तक सभासदों की अनुमति न हो॥ ४ ॥

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च॥ १ ॥
सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ २ ॥
समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तथा त्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥ ३ ॥
स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥ ४ ॥
एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥ ५ ॥
क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ ६ ॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥ ७ ॥
अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ ८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत्॥ ९ ॥
यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्॥ १० ॥
यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥ ११ ॥
यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्॥ १२ ॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्य्यमात्मनः॥ १३ ॥
यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ १४ ॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा॥ १५ ॥
यदि तत्रापि सम्पश्येद् दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशङ्कः समाचरेत्॥ १६ ॥

—मनु० [७।१६१-१७६]॥

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है—जो (आसन) स्थिरता, (यान) शत्रु से लड़ने के लिये जाना, (सन्धि) उनसे मेल कर लेना, (विग्रह) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, (द्वैध०) दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना, (संश्रय) और निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म यथायोग्य कार्य्य को विचार कर उसमें युक्त करना चाहिये॥ १ ॥

राजा जो सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय दो-दो प्रकार के होते है, उनको यथावत् जाने॥ २ ॥

जब (सन्धि) अर्थात् शत्रु से मेल करना हो तब उसके तुल्य सवारी कर्म करे अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्त्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय, यह दो प्रकार का **मेल** कहाता है॥ ३ ॥

(विग्रह) कार्य्य सिद्धि के लिये उचित समय वा अनुचित समय में स्वयं किया वा मित्र के अपराध करने वाले शत्रु के साथ, विरोध दो प्रकार से करना चाहिये ॥ ४ ॥

(यान) अकस्मात् कोई कार्य्य प्राप्त होने में एकाकी वा मित्र के साथ मिल के शत्रु की ओर जाना, यह दो प्रकार का **'गमन'** कहाता है ॥ ५ ॥

स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण होजाय अर्थात् निर्बल हो जाय, अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठ रहना, यह दो प्रकार का **'आसन'** कहाता है ॥ ६ ॥

कार्यसिद्धि के लिये सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना, दो प्रकार का **'द्वैध'** कहाता है ॥ ७ ॥

एक किसी अर्थ की सिद्धि के लिये किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा का शरण लेना, जिससे शत्रु से पीडित न हो, इसलिये दो प्रकार का **आश्रय** लेना कहाता है ॥ ८ ॥

जब यह जान ले कि इस समय युद्ध करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी, और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगा, तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे ॥ ९ ॥

जब अपनी सब प्रजा वा सेना अत्यन्त प्रसन्न उन्नतिशील, और श्रेष्ठ जाने, वैसे अपने को भी समझे, तभी शत्रु से विग्रह=युद्ध कर लेवे ॥ १० ॥

जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्न भाव से जाने, और शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे, तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिये जावे ॥ ११ ॥

जब सेना बल वाहन से क्षीण हो जाय तब शत्रुओं को धीरे-धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ अपने स्थान में बैठा रहै ॥ १२ ॥

जब राजा शत्रु को अत्यन्त बलवान् जाने तब द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके अपना कार्य सिद्ध करे ॥ १३ ॥

जब आप समझ लेवे कि अब शीघ्र शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी, तभी किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥ १४ ॥

जो प्रजा और अपनी सेना और शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् रोके, उसकी सेवा सब यत्नों से गुरु के सदृश नित्य किया करे ॥ १५ ॥

जिसका आश्रय लेवे, उस सेवित पुरुष के कर्मों में दोष देखे तो वहां भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशङ्क होकर करे ॥ १६ ॥

जो धार्मिक राजा हो, उससे विरोध कभी न करे किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और जो दुष्ट प्रबल हो, उसी के जीतने के लिये ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है।

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥ १ ॥
आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥ २ ॥
आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्य्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते॥ ३ ॥
यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः॥ ४॥

—मनु० ७। [१७७-१८०] ॥

नीति का जानने वाला पृथिवीपति राजा जिस प्रकार इसके मित्र उदासीन और शत्रु अधिक न हों, ऐसे सब उपायों से वर्ते ॥ १ ॥

सब कार्य्यों का वर्त्तमान में कर्त्तव्य, और भविष्यत् में जो-जो करना चाहिये, और जो काम कर चुके उन सब के यथार्थता से गुण-दोषों को विचारे ॥ २ ॥

पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे। जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करने वाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता, वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्त्ता, और किये हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है, वह शत्रुओं से पराजय को प्राप्त कभी नहीं होता ॥ ३ ॥

सब प्रकार से राजपुरुष, विशेष सभापति राजा ऐसा प्रयत्न करे कि जिस प्रकार राजादि जनों के मित्र, उदासीन और शत्रु वश में करके अन्यथा न करावे, ऐसे मोह में कभी न फसे, यही संक्षेप से 'विनय' अर्थात् राजनीति कहाती है ॥ ४ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च॥ १ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥ २॥
शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥ ३॥
दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥ ४॥
यतश्च भयमाशङ्केत् ततो विस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥ ५॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥ ६॥
गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः।
स्थाने युद्धे कुशलानभीरूनविकारिणः॥ ७॥
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्॥ ८॥
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥ ९॥
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य ताँश्च सम्यक् परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि॥ १०॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥ ११॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥ १२॥
प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥ १३॥
आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते॥ १४॥

—मनु० ७ [१८४, १९२, १९४-१९६, २०३-२०४]॥

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे तब अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध और यात्रा की सब सामग्री यथाविधि करके, सब सेना,

यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर, सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देने वाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके, शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे॥ १॥

तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक स्थल (भूमि) में, दूसरा जल समुद्र वा नदियों में, तीसरा आकाशमार्गों को शुद्ध बनाकर; भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी; जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों से जावे। और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र, अस्त्र और खानपानादि सामग्री को यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे॥ २॥

जो भीतर से शत्रु से मिला हो, और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खे क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिये॥ ३॥

सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे और आप सीखे, तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे। जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़-लड़ा जानते हैं। जब शिक्षा करे तब (दण्डव्यूह) दण्डा के समान सेना को चलावे, (शकट०) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, (वराह०) जैसे सूअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते और कभी-कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं, वैसे (मकर०) जैसे मगर पानी में चलते हैं, वैसे सेना को बनावे, (सूचीव्यूह) जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे, और जैसे नीलकण्ठ ऊपर नीचे झपट मारता है, इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे॥ ४॥

जिधर से भय विदित हो उसी ओर सेना को फैलावे, सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके (पद्मव्यूह) अर्थात् पद्म के आकार चारों ओर से सेनाओं को रखके मध्य में आप रहै॥ ५॥

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा का देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ानेवाले वीरों को आठों दिशाओं में रक्खे। जिस ओर से शत्रु से लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख करावे, परन्तु दूसरी

ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे। नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव है॥ ६॥

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य युद्धविद्या से सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित, और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको चारों ओर रक्खे॥ ७॥

जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावें और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला दे। जब नगर दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब 'सूचीव्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह' जैसा दुधारा खड्ग, दोनों ओर युद्ध करते जायँ और प्रविष्ट भी होते चलें वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावें। जो सामने शतघ्नी तोप, वा (भुशुण्डी) बन्दूकें छूट रही हों तो 'सर्पव्यूह' अर्थात् सर्प के तुल्य सोते-सोते चले जायें, जब तोपों के पास पहुंचें तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रुओं की ओर फेर उन्हीं तोपों और बन्दूकों से उन को मारें अथवा वृद्ध पुरुषों को तोप के मुख के सामने घोड़े पर सवार करा दौड़ावें और बीच में अच्छे सवार रहैं। एक वार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें॥ ८॥

जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से, और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका; और थोड़े जल में हाथियों पर; वृक्ष और झाड़ी में बाण; तथा स्थल बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें॥ ९॥

जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़नेवालों को उत्साहित और हर्षित करें। और जब युद्ध बन्ध हो जाय तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो, वैसे वक्तृत्वों से सब के चित्त को बढ़ावे। अपने से भी अधिक लड़ने वालों को खान-पान, अस्त्र-शस्त्र-सहाय और औषधादि से प्रसन्न रक्खें। व्यूह से विना लड़ाई न करे, न करावे, लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है, वा कपट रखती है॥ १०॥

किसी समय उचित समझे तो शत्रु को चारों ओर से घेर कर रोक रक्खे और इसके राज्य को पीडित करे, शत्रु के चारा, अन्न, जल, और इन्धन को दूषित, नष्ट कर दे॥ ११॥

शत्रु के तालाब, नगर के प्रकोट और खाई को तोड़-फोड़ दे, रात्रि में उनको (त्रास) भय देकर जीतने का उपाय करे॥ १२॥

जीत कर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा करदे और उससे लिखवा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उनके अनुसार चल के न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसे उपदेश करे और ऐसे पुरुष उनके पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। और जो हार जाय उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको कैद करे तो भी उस राजा का सत्कार यथायोग्य रक्खे। जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे॥ १३॥

क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है। और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न ठट्ठा करे, न उसके सामने "हमने तुझको पराजित किया है" ऐसा कहै। किन्तु "आप हमारे भाई हैं" इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा रक्खे॥ १४॥

हिरण्यभूभिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥ १॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते॥ २॥
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः॥ ३॥
आर्य्यता पुरुषज्ञानं शौर्य्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः॥ ४॥

—मनु० [७।२०८-२११]

मित्र का लक्षण—राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से वैसे नहीं बढ़ता कि जैसे निश्चल प्रेमयुक्त भविष्यत् की बातों को सोचने और कार्य सिद्ध

करनेवाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को भी प्राप्त होके बढ़ता है॥ १॥

धर्म को जानने, 'कृतज्ञ' किये हुए उपकार को सदा मानने वाले, प्रसन्नस्वभाव, अनुरागी, स्थिरारम्भी, लघु छोटे भी मित्र को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है॥ २॥

सदा इस बात को दृढ़ रक्खे कि बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता, किये हुए को जाननेहारे और धैर्यवान् पुरुष को शत्रु कभी न बनावे; क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा, वह दु:ख पावेगा॥ ३॥

उदासीन का लक्षण—जिसमें प्रशंसित गुणयुक्त, अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और करुणा भी; स्थूललक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे, वह 'उदासीन' कहाता है॥ ४॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्॥ १॥

मनु० [७।२१६]॥

पूर्वोक्त प्रात:काल समय उठ, शौचादि सन्ध्योपासन अग्निहोत्र कर वा करा, सब मन्त्रियों से विचार कर, सेना में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायद कर करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि [का] स्थान, शस्त्र और अस्त्र का कोश तथा वैद्यालय, धन के कोशों को देख, सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हो उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके, भोजन के लिये 'अन्त:पुर' अर्थात् पत्नी आदि के निवासस्थान में प्रवेश करे। और भोजन सुपरीक्षित, बुद्धिबलपराक्रमवर्द्धक, रोगविनाशक, अनेक प्रकार के अन्न-व्यञ्जन पान आदि सुगन्धित मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे कि जिससे सदा सुखी रहै। इस प्रकार सब राज्य के कार्यों की उन्नति किया करे।

प्रजा से कर लेने का प्रकार—

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥

—मनु० अ० ७। [१३०]

व्यापार करनेवाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना

लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल आदि अन्नों में छठा, आठवां वा बारहवां भाग लिया करे और जो धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दु:ख न पावे। क्योंकि प्रजा के धनाढ्य, आरोग्य, खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता के सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने। यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका? और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए काम में प्रीति से परतन्त्र रहैं। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों, राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले, यह राजा का राजकीय निज काम अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते हैं, संक्षेप से कह दिया।

जो विशेष देखना चाहै, वह वेद और मनुस्मृति आदि शास्त्रों में देख कर निश्चय करे। और जो प्रजा का न्याय करना है, वह व्यवहार मनुस्मृति के अष्टम और नवमाध्याय आदि की रीति से करना चाहिये। परन्तु यहां भी संक्षेप से लिखते हैं—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक्॥ १॥
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥ २॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ ३॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च॥ ४॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ ५॥
तेषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम्॥ ६॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ ७॥
सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी॥ ८॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ ९॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥ १०॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥ ११॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ १२॥
पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥ १३॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥ १४॥

—मनु० ८। [३-८, १२-१९]॥

सभा राजा और राजपुरुष सब लोग देशाचार और शास्त्रव्यवहार हेतुओं से निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें। और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होने की आवश्यकता जानें तो उत्तमोत्तम नियम बांधें कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो॥ १॥

अठारह मार्ग ये हैं—उनमें से १—(ऋणादान) किसी से ऋण लेने-देने में विवाद। २—(निक्षेप) धरावट अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और मांगे पर न देना। ३—(अस्वामिविक्रयः) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेंच लेवे।४—(संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिला के किसी पर अत्याचार करना। ५—(दत्तस्यानपकर्म च) दिये हुए पदार्थ का न देना॥ २॥

६—(वेतनस्यैव चादानम्) वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से

ले लेना वा कम देना अथवा न देना। ७—(संविदश्च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्त्तना। ८—(क्रयविक्रयानुशय) अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना। ९—[(विवादः स्वामिपालयोः)] पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा॥ ३॥

१०—सीमा का विवाद। ११—किसी को कठोर दण्ड देना। १२—कठोर वाणी का बोलना। १३—चोरी वा डाका मारना। १४—किसी काम को बलात्कार से करना। १५—किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना॥ ४॥

१६—स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना। १७—(विभाग) अर्थात् दायभाग में वाद उठना। १८—द्यूत अर्थात् जड़पदार्थ और समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धर के जुआ खेलना। ये अठारह प्रकार के परस्पर विरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं॥ ५॥

इन व्यवहारों में बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के न्याय को सनातनधर्म के आश्रय करके किया करे, अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे॥ ६॥

जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है; जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलङ्क अधर्म का छेदन नहीं करते, अर्थात् धर्मी को मान, अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता, उस सभा में जितने सभासद् हैं, वे सब घायल के समान समझे जाते हैं॥ ७॥

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे, और जो प्रवेश किया हो तो सत्य ही बोले; जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे, अथवा सत्य न्याय के विरुद्ध बोले, वह महापापी होता है॥ ८॥

जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य; सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं, जानो उनमें कोई भी नहीं जीता॥ ९॥

मरा हुआ धर्म मारनेवाले का नाश, और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है; इसलिये धर्म का हनन कभी न करना, इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी भी हमको न मार डाले॥ १०॥

जो सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों की वर्षा करने वाला धर्म है, उसका लोप करता है; उसी को विद्वान् लोग 'वृषल' अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं, इसलिये किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं॥ ११ ॥

इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है; और सब पदार्थ वा संगी, शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं, अर्थात् सबका संग छूट जाता है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता॥ १२ ॥

जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी; तीसरा सभासदों और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है॥ १३ ॥

जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं, पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है॥ १४॥

अब साक्षी कैसे करने चाहियें—

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्य्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत्॥ १ ॥
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः॥ २ ॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसङ्ग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः॥ ३ ॥
बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्॥ ४॥
समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥ ५ ॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्य्यसंसदि।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते॥ ६ ॥

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम्॥ ७ ॥
सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन्॥ ८ ॥
यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिँश्चेष्टितं मिथः।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥ ९ ॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥ १० ॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः॥ ११ ॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्॥ १२ ॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः॥ १३ ॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ १४॥

—मनु० [८।६३, ६८, ७२-७५, ७८-८१, ८३-८४, ९६, ९१]

सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, सब प्रकार धर्म को जाननेवाले, लोभरहित, सत्यवादियों को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे, इनसे विपरीतों को कभी न करे॥ १ ॥

स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज; शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों॥ २ ॥

जितने बलात्कार काम, चोरी, व्यभिचार; कठोर वचन, दण्डनिपातन रूप अपराध हैं, उन में साक्षी की विशेष परीक्षा न करे। और अत्यावश्यक भी न समझे, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं॥ ३ ॥

दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार, तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल, और दोनों के साक्षी उत्तम गुणी और तुल्य हों तो 'द्विजोत्तम' अर्थात् ऋषि, महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे॥ ४॥

दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है—एक साक्षात् देखने और दूसरा सुनने से; जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें और जो साक्षी मिथ्या बोलें, वे यथायोग्य दण्डनीय हों॥ ५॥

जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले; तो वह (अवाङ्नरक) अर्थात् जिह्वा के छेदन से दु:खरूप नरक को वर्त्तमान समय में प्राप्त होवे, और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाय॥ ६॥

साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव ही से उस व्यवहार-सम्बन्धी वचन बोले; इससे भिन्न सिखाये हुए जो-जो वचन बोले, उसको न्यायाधीश व्यर्थ समझे॥ ७॥

अर्थी (वादी) और प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को शान्तिपूर्वक न्यायाधीश और प्राड्विवाक अर्थात् वकील वा बैरिस्टर इस प्रकार से पूछें॥ ८॥

—हे साक्षिलोगो! इस कार्य्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो; उसको सत्य के साथ बोलो, क्योंकि तुम्हारी इस कार्य्य में साक्षिता है॥ ९॥

क्योंकि जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है; इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है, क्योंकि जो यह वाणी है, वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है॥ १०॥

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता, और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है; इससे सब वर्णों में साक्षियों को, सत्य ही बोलना योग्य है॥ ११॥

आत्मा का साक्षी आत्मा, और आत्मा की गति आत्मा है; इसको जान के हे पुरुष! तू सब मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर अर्थात् यही सत्यभाषण है कि जो तेरे आत्मा, मन, और वाणी में एक सी बात है, वह सत्य और जो इससे विपरीत है वह मिथ्याभाषण है॥ १२॥

जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् शरीर का जाननेहारा आत्मा भीतर भीतर शङ्का को प्राप्त नहीं होता; उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते॥ १३॥

हे कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुष! जो तू ''मैं अकेला हूं'' इस प्रकार अपने आत्मा को समझता है, सो ठीक नहीं है; किन्तु जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामीरूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है, उस से डरकर सदा सत्य बोला कर॥ १४॥

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥ १॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषाँस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥ २॥
लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वन्तु साहसम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥ ३॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु॥ ४॥
उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥ ५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥ ६॥
अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ७॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ ८॥
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्य्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥ ९॥

—मनु० ८। [११८-१२१, १२५-१२९]॥

जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी कहे वह सभी मिथ्या समझा जावे॥ १॥

इन से भिन्न स्थान में साक्षी झूठ बोले उसको वक्ष्यमाण अनेकविध

दण्ड किया करे॥ २॥

जो लोभ से झूठी साक्षी देवे तो उससे १५ ॥=) (पन्द्रह रुपये दस आने) दण्ड लेवे, और मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) (तीन रुपये दो आने) दण्ड लेवे, जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे ६।) (सवा छः रुपये) दण्ड लेवे, जो मित्रता से झूठी साक्षी देवे उससे १२॥) (साढ़े बारह रुपये) दण्ड लेवे॥ ३॥

जो कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे २५) (पच्चीस रुपये) दण्ड लेवे और जो क्रोध से मिथ्या साक्षी दे तो उससे ४६॥।=) (छयालीस रुपये चौदह आने) दण्ड लेवे, अज्ञान से मिथ्या साक्षी देवे तो उससे ६।) (सवा छः रुपये) दण्ड लेवे और बालकपन से मिथ्या साक्षी देवे तो १॥-) (एक रुपया नौ आने) दण्ड लेवे॥ ४॥

दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आंख, नाक, कान, धन और देह ये दश स्थान हैं कि जिन पर दण्ड दिया जाता है॥ ५॥

परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुपये दस आने दण्ड लिखा है परन्तु जो वह अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम और जो धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे। अर्थात् जैसा देश, जैसा काल, जैसा पुरुष हो, उसका जैसा अपराध हो, वैसा ही दण्ड करे॥ ६॥

क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है, वह पूर्व प्रतिष्ठा, वर्त्तमान और भविष्यत् में होने वाली कीर्ति का नाश करनेहारा है; और परजन्म में भी दुःखदायक होता है, इसलिये अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे॥ ७॥

जो राजा दण्डनीयों को न दण्ड और अदण्डनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता है; वह जीता हुआ बड़ी निन्दा को और मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है, इसलिए जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे॥ ८॥

प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा', दूसरा 'धिक्' अर्थात् तुझको धिक्कार है कि तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया? तीसरा 'धनदण्ड' अर्थात् उससे 'धन लेना' और 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा वा बेंत

से मारना वा शिर काट देना॥ ९॥

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचष्टेते।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ १॥
पिताचार्य्यः सुहृन्माता भार्य्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ २॥
कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ ३॥
अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च॥ ४॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः॥ ५॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम्॥ ६॥
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः॥ ७॥
साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति॥ ८॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत् साहसिकान्सर्वभूतभयावहान्॥ ९॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ १०॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥ ११॥
यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥ १२॥

—मनु० [८।३३४-३३८, ३४४-३४७, ३५०-३५१, ३८६]

चोर जिस प्रकार जिस-जिस अङ्ग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है; उस-उस अङ्ग को सबकी शिक्षा के लिये राजा हरण अर्थात् छेदन कर दे॥ १॥

चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो; जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता, वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता। अर्थात् जब वह न्यायासन पर बैठ न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथायोग्य दण्ड देवे॥ २॥

जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो; उसी अपराध में राजा पर सहस्र पैसा दण्ड होवे। अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा पर सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिये। दीवान अर्थात् राजा के मन्त्री को आठ सौ गुणा, उससे न्योक को सात सौ गुणा और उससे न्यून को छः सौ गुणा, वैसे ही उतरते-उतरते एक चपरासी अर्थात् भृत्य जो कि छोटे से छोटा राजपुरुष हो, उसको आठ-गुणे से कम दण्ड न होना चाहिये। क्योंकि यदि प्रजापुरुष से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े-से ही दण्ड से वश में आ जाती है, इसलिये राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्य तक राजपुरुषों को अपराध में प्रजा से अधिक दण्ड होना चाहिये॥ ३॥

वैसे ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे, उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा॥ ४॥

ब्राह्मण को चौंसठ गुणा वा सौ गुणा अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्ड होना चाहिये। अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिये॥ ५॥

राज्य के अधिकारी, धर्म्म और ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाला राजा बलात्कार-काम करने वाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे॥ ६॥

साहसिक पुरुष के लक्षण—

दुष्ट वचन बोलने, चोरी करने, विना अपराध से दण्ड देने वाले से भी साहस बलात्कार-काम करने वाला अतीव पापी दुष्ट है॥ ७॥

जो राजा साहस में वर्त्तमान पुरुष को न दण्ड देकर सहन करता है, वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है और राज्य में द्वेष उठता है॥ ८॥

न मित्रता, न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी, राजा सब प्राणियों को

दुःख देने वाले साहसिक मनुष्य को बंधन-छेदन किये विना कभी छोड़े॥ ९॥

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो; जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्त्तमान दूसरे को विना अपराध मारनेवाले हैं, उनको विना विचारे मार डालना, अर्थात् मार के पश्चात् विचार करना चाहिये॥ १०॥

दुष्ट पुरुषों के मारने में हन्ता को पाप नहीं होता; चाहे प्रसिद्ध मारे चाहे अप्रसिद्ध, क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है॥ ११॥

जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलनेहारा, न साहसिक डाकू, और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भङ्ग करने वाला नहीं है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है॥ १२॥

भर्त्तारं लङ्घयेद्या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥ १॥
पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥ २॥
दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥ ३॥
अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोषमेव च॥ ४॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन्।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ५॥

—मनु० [८।३७१-३७२, ४०६, ४१९-४२०]॥

जो स्त्री अपनी जाति गुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे, उसको बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से राजा कटवा कर मरवा डाले॥ १॥

उसी प्रकार अपनी स्त्री को छोड़ के परस्त्री वा वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के पर्यङ्क (पलंग) को अग्नि से तपा, लाल सुर्ख कर उस पर सुला के, जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर

देवे॥ २॥

प्रश्न—जो राजा वा राणी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्याभिचारादि कुकर्म करे तो उनको कौन दण्ड देवे?

उत्तर—सभा। अर्थात् उनको प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये।

प्रश्न—राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे?

उत्तर—राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह दण्ड ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहैं तो अकेला राजा क्या कर सकता है! जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबा के सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जायें। अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है, जो उसका लोप करता है, उससे नीच दूसरा कौन होगा!

प्रश्न—ऐसा करड़ा दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनानेहारा और जिलानेवाला नहीं है, इसलिये ऐसा दण्ड न देना चाहिये?

उत्तर—जो इसको करड़ा दण्ड जानते हैं, वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्म मार्ग में स्थित रहेंगे। इससे सच पूछो तो यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सब के भाग में न आवेगा। और जो सुगम दण्ड दिया जाय तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है, क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा। अर्थात् जैसे एक को मनभर दण्ड हुआ और दूसरे को पाव-पावभर तो पावभर अधिक, एक मन दण्ड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आधपाव बीससेर दण्ड होता है, सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं? जैसे एक को एक

मन और १००० (सहस्र) मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो ६। सवा छः मन मनुष्य जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही करड़ा, तथा वह मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।

लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियां वा नदी तथा बड़े नदों में जितना लम्बा देश हो, उतना 'कर' स्थापन करे और महासमुद्र में निश्चित 'कर' स्थापन नहीं हो सकता किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलानेवाले दोनों लाभयुक्त हों, वैसी व्यवस्था करे। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि जो कहते हैं कि प्रथम जहाज नहीं चलते थे, वे झूठे हैं। और देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तरों में नौका से जानेवाले अपने प्रजास्थ पुरुषों की सर्वत्र रक्षा कर उनको किसी प्रकार का दु:ख न होने देवे॥ ३॥

[राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी-घोड़े आदि वाहनों को, नियत आय और व्यय (आकर) रत्नादिकों की खानें और (कोष) खजाने को देखा करे॥ ४॥]

राजा इस प्रकार सब व्यवहारों की यथावत् समाप्ति करता-कराता हुआ सब पापों को छुड़ा के परमगति मोक्ष को प्राप्त होता है॥ ५॥

प्रश्न—संस्कृत में पूरी राजनीति है वा अधूरी?

उत्तर—पूरी है। क्योंकि जो-जो भूगोल में राजनीति चली और चलेगी वह-वह सब संस्कृत विद्या से ली है। और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है, उनके लिये—

प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः॥

—मनु० [८।३]॥

जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करे। परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खे जहां तक बन सके, वहां तक बाल्यावस्था में और दोनों की प्रसन्नता के विना विवाह न करना, न कराना, न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथायोग्य सेवन करना-कराना। व्यभिचार और बहुविवाह को बन्ध करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या ज्ञान बढ़ाये जायें और

शरीर का बल नहीं तो एक शरीर से बली सैकड़ों विद्वानों को जीत सकता है। और जो शरीर ही का बल बढ़ाया जाय, आत्मा का नहीं, तो भी राज्य की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट, विरोध और लड़ाई करके नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। इसलिये शरीर और आत्मा के बल को सदा बढ़ाते रहना चाहिये। जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अतिविषयासक्ति है, वैसा और कोई भी नहीं। विशेषकर क्षत्रियों को दृढ़ाङ्ग और बलयुक्त होना चाहिये। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे तो राजधर्म नष्ट ही हो जायगा।

और इसपर भी ध्यान रक्खें कि '**यथा राजा तथा प्रजाः**' [चाणक्यनीति १३.८] जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। इसलिये राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म न्याय से वर्त्तकर सब के सुधार का दृष्टान्त बनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहां किया गया है। विशेष वेद, मनुस्मृति के सप्तम-अष्टम और नवम अध्याय, शुक्रनीति, विदुरप्रजागर और महाभारत शान्तिपर्व के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण कर माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्त्ति राज्य करें। और यही समझें कि—

वयं प्रजापतेः प्रजाऽअभूम

—यह यजुर्वेद [१८।२९] का वचन है।

हम 'प्रजापति' अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा और हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हम को राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य-न्याय की प्रवृत्ति करावे। अब आगे ईश्वर और वेदविषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामीकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते राजधर्मविषये
षष्ठः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ६॥

अथ सप्तमसमुल्लासारम्भः

[अथेश्वरवेदविषयं व्याख्यास्यामः]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ १॥

—ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ३९॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ २॥

—यजुः० अ० ४०। मं० १॥

अहम्भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥ ३॥

—ऋ० मं० १०। सू० ४८। मं० १॥

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदा चन। सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥ ४॥

—ऋ० मं० १०। सू० ४८। मं० ५॥

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्। अहं भुवं यजमानस्य चोदिताऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे॥ ५॥

—ऋ० मं० १०। सू० ४९। मं० १॥

(ऋचो अक्षरे०) इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मचर्य्याश्रम की शिक्षा में लिख चुके हैं अर्थात् जो सब दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव-विद्यायुक्त और जिसमें पृथिवी सूर्य्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक, सब देवों का देव परमेश्वर है; उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और न उसका ध्यान करते, वे नास्तिक और दुःखी होते हैं। इसलिये उसी को जानकर मनुष्य सुखी होते हैं।

प्रश्न—वेद में ईश्वर अनेक हैं, इस बात को तुम मानते हो वा नहीं?

उत्तर—नहीं मानते। क्योंकि चारों वेदों में कहीं यह नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों। किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।

प्रश्न—वेद में जो अनेक देवता लिखे हैं, उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'देवता' दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं जैसी कि पृथिवी, परन्तु कहीं इसको ईश्वर वा उपासनीय नहीं माना है। देखो! इसी मन्त्र में कि 'जिसमें सब देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है।' यह उनकी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से 'महादेव' इसीलिये कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्त्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है। जो '**त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशता०**' [तु०—यजुः १४।३१] इत्यादि वेद में प्रमाण है, इसकी व्याख्या शतपथ [कां० १४। प्रपा० ५। ब्रा० ७। कं० ४] में की है कि तेंतीस देव अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से आठ 'वसु'। प्राण, अपान, व्यान, [उदान], समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह 'रुद्र' इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन करानेवाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने बारह 'आदित्य' इसलिये हैं कि ये सब केआयु को लेते जाते हैं। बिजुली का नाम 'इन्द्र' इस हेतु से है कि जो परम ऐश्वर्य्य का हेतु है। यज्ञ को 'प्रजापति' कहने का कारण यह है कि जिससे वायु, वृष्टि, जल, ओषधी की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है। ये तेंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से 'देव' कहाते हैं। इनका स्वामी और सब से बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्यदेव शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है। जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर माननेरूप भ्रमजाल में गिरकर झूठा क्यों बकते?॥ १ ॥

हे मनुष्य! जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सब में व्याप्त होकर नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है; उससे डर कर तू अन्याय से किसी के

धन की आकांक्षा मत कर, उस अन्याय के त्याग और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग॥ २ ॥

ईश्वर सबको उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! मैं ईश्वर सबके पूर्व विद्यमान, सब जगत् का पति हूँ, मैं सनातन जगत्कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूँ; मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे पुकारें, मैं सबको सुख देनेहारे जगत् के लिये नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिये करता हूँ॥ ३ ॥

मैं परमैश्वर्य्यवान् सूर्य के समान सब जगत् का प्रकाशक हूँ, कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूँ, मैं ही जगत् रूप धन का निर्माता हूँ, सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले मुझ ही को जानो; हे जीवो! ऐश्वर्य्यप्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझसे मांगो और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत हो॥ ४ ॥

हे मनुष्यो! मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूं, मैं ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा और मुझको वह वेद यथावत् कहता, उससे सब के ज्ञान को मैं बढ़ाता; मैं सत्पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता और इस विश्व में जो कुछ है, उस सब कार्य्य का बनाने और धारण करने वाला हूं, इसलिये तुम लोग मुझ को छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो॥ ५ ॥

हिरण्यगर्भः सर्मवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६ ॥

—यह यजुर्वेद [१३।४] का मन्त्र है॥

हे मनुष्यो! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्य्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति-स्थान, आधार और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा, उसका स्वामी था, है और रहेगा; वह पृथिवी से लेके सूर्य्यलोक-पर्य्यन्त सृष्टि को बना के धारण कर रहा है, उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो॥ ६ ॥

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो, उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो?

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण कभी नहीं घट सकता।

उत्तर—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥

—यह गौतमकृत न्यायदर्शन [१।१।४] का सूत्र है।

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो।

अब विचारना चाहिये कि इन्द्रिय और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि, ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।

और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता अथवा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव के इच्छा-ज्ञानादि, उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कर्मों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।

और जब जीवात्मा शुद्ध होके शुद्धान्तःकरण से युक्त योगी समाधिस्थ होकर आत्मा और परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, तब उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य्य को देख के कारण का, नियमों को देखके नियन्ता का, सृष्टि को देखकर स्रष्टा का अनुमान होता है।

प्रश्न—ईश्वर व्यापक है, वा किसी देश विशेष में रहता है?

उत्तर—व्यापक है। क्योंकि जो एकदेश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सब का स्रष्टा, सब का धर्त्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं

हो सकता। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का [होना] असम्भव है।

प्रश्न—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है, वा नहीं?

उत्तर—है।

प्रश्न—ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं कि जो कर्त्ता के कर्मों के अनुसार न अधिक, न न्यून सुख-दुःख पहुंचाना। और 'दया' उसको कहते हैं जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर—न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है। क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध होकर दुःखों को प्राप्त न हों। वही दया कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना। और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया, वह ठीक नहीं। क्योंकि जिसने जैसा, जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना वैसा ही दण्ड देना 'न्याय', और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, वह दया किस प्रकार हो सकती है? 'दया' वही है कि उस डाकू को कैद कर पाप करने से बचाना डाकू पर दया और उस डाकू को मार सकने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

प्रश्न—फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए? क्योंकि जब दोनों का अर्थ एक ही है तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है, कोई एक शब्द रहता तो अच्छा होता। इसलिये दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं।

उत्तर—क्या एक अर्थ के अनेक नाम और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते?

प्रश्न—होते हैं।

उत्तर—फिर तुमको शङ्का क्यों हुई?

प्रश्न—संसार में सुनते हैं, इसलिये।

उत्तर—संसार में सच्चा और झूठा दोनों सुने जाते हैं, उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है। ईश्वर की दया पूरी यह है कि जिसने

सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के सब पदार्थ जगत् में उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं, उससे बड़ी दया दूसरी कौनसी है? न्याय का फल जगत् में सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक-न्यूनता से दिखला रही है। इन दोनों का इतना ही भेद है जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है, [वह 'दया'] और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथायोग्य दण्ड देना 'न्याय' कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् करना।

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार?

उत्तर—निराकार। क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न हो सकता। जब व्यापक न होता, तो सर्वज्ञादि गुण भी न हो सकते। क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यह निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। और जो साकार होता, तो उसके आकार बनाने वाला दूसरा होना चाहिये। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य चाहिये। जो कोई कहै कि ईश्वर ने अपना शरीर बना लिया, तो वही सिद्ध हुआ कि शरीर के बनने के पूर्व निराकार था। इसलिये वह परमात्मा न शरीर धारण करता, निराकार होकर सब जगत् को सूक्ष्म आकार से स्थूलाकार बनाता है।

प्रश्न—ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वा नहीं?

उत्तर—है। परन्तु 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ इतना ही है कि ईश्वर को अपने पालन [आदि] काम करने में दूसरे के सामर्थ्य का सहाय नहीं लेना पड़ता किन्तु स्वसामर्थ्य ही से सब अपना काम पूरा कर लेता है।

प्रश्न—हम तो ऐसा जानते हैं कि ईश्वर जो चाहै सो करे।

उत्तर—वह क्या और कैसा चाहता है? जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है तो हम तुम से पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान्, चोरी आदि पाप कर और दुःखी भी हो सकता है? जैसे ये काम ईश्वर के गुण-कर्म्म-

स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना "वह सब कुछ कर सकता है" यह कभी नहीं घट सकता। इसलिये सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है।

प्रश्न—परमेश्वर सादि है, वा अनादि?

उत्तर—अनादि। अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो, उसको 'अनादि' कहते हैं, इत्यादि सब अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, देख लीजिये।

प्रश्न—परमेश्वर क्या चाहता है?

उत्तर—सबकी भलाई और सबके लिये सुख चाहता है, परन्तु स्वतन्त्रता के साथ। किसी को विना पाप किये पराधीन नहीं करता।

प्रश्न—परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये, वा नहीं?

उत्तर—करनी चाहिये।

प्रश्न—क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति, प्रार्थना करने वाले का पाप छुड़ा देगा?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो फिर स्तुति, प्रार्थना क्यों करना?

उत्तर—उनके करने का फल अन्य ही है।

प्रश्न—क्या है?

उत्तर—स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधरना; प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना; उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

प्रश्न—इनको स्पष्ट करके समझाओ।

उत्तर—जैसे—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ १॥ —यजुः अ० ४०। मं० ८॥

ईश्वर की स्तुति—वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और

अनन्त बलवान् जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध, परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है, यह 'सगुण-स्तुति' अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण और (अकाय) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता और जो नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस-जिस राग द्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह 'निर्गुण-स्तुति' कहाती है। इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण-कर्म-स्वभाव अपना भी करना। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे। और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर के गुणकीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

प्रार्थना—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ १॥

—यजुः अ० ३२। मं० १४॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ २॥

—यजुः० अ० १९। मं० ९॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ५॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ७॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ८॥

—यजुः अ० ३४। मं० १-६॥

हे 'अग्ने' स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप स्वकृपा से जिस बुद्धि की विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग उपासना करते हैं—उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्त्तमान समय में बुद्धिमान् कीजिये॥ १॥

आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझ में भी प्रकाश स्थापन कीजिये। आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं, मुझ में कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम को धरिये। आप अनन्त बलयुक्त हैं, इसलिये मुझ में भी बल धारण कीजिये। आप अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं, मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिये। आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिये। आप निन्दा, स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करनेवाले हैं, कृपा से मुझको भी वैसा ही कीजिये॥ २॥

हे दयानिधे! आपकी कृपा से—'जो मेरा मन जागते हुए का दूर-दूर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है, और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह' मेरा मन 'शिवसङ्कल्प' अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करनेहारा होवे। किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे॥ ३॥

हे सर्वान्तर्यामी! जिससे कर्म करनेहारे धैर्य्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं; जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहनेवाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे॥ ४॥

जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा निश्चयात्मकवृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है; जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुभ गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहै॥ ५॥

हे जगदीश्वर! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल के सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से अलग रहै॥ ६ ॥

हे परमविद्वन् परमेश्वर! आप की कृपा से जिस मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है; और जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहै॥ ७ ॥

हे सर्वनियन्तः ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़े के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथि के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है; जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है, वह मेरा मन सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे, ऐसी कृपा मुझपर कीजिये॥ ८ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥ १ ॥

—यजुः अ० ४०। मं० १६॥

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये; और जो हम में कुटिल पापाचरणरूप मार्ग है, उससे पृथक् कीजिये, इसीलिये हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें। और—

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥ १ ॥

—यजुः० अ० १६। मं० १५॥

हे 'रुद्र' दुष्टों को पाप के दुःखरूप फल को देके रुलानेवाले परमेश्वर! आप हमारे छोटे बड़े जन, गर्भ, माता, पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा

शरीरों का हनन करने के लिये प्रेरित मत कीजिये, ऐसे मार्ग से हमको चलाइये कि जिससे हम आपके दण्डनीय न हों॥ १ ॥

असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति॥ —यह शतपथ ब्राह्मण [१४.३.१.३०] का वचन है॥

हे परमगुरो परमात्मन्! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये। अविद्यान्धकार को छुड़ा के विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिये और मृत्युरोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिये।

अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर को पृथक् मान के अपने को भी अलग करने के लिए प्रार्थना की जाती है वह विधि-निषेधमुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना। जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके, उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है। ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसका स्वीकार करता है जैसे—'हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सब से बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जायँ' इत्यादि। क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहै जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जावे, तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—''हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बना कर खिलाइये, मकान में झाड़ू लगाइये, कपड़े धोइये और खेती बाड़ी भी कीजिये''। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठते हैं, वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा, वह सुख कभी न पावेगा॥ जैसे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥ २ ॥

—यजुः० अ० ४०। मं० २॥

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्य्यन्त अर्थात् जब तक जीवे, तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।

देखो! सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं, वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी का सहाय परमेश्वर भी करता है। जैसे काम करने वाले को भृत्य रखते हैं, अन्य को नहीं। देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते है, अन्धे को नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई ''गुड़ मीठा है'' कहता रहै, उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता, और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।

अब तीसरी उपासना—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ १॥

—यह [मैत्रायणी] उपनिषद् [४।४।९] का वचन है॥

जिस पुरुष का समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गया है, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है; वह वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है। 'उपासना' शब्द का अर्थ समीप होना है। अष्टाङ्गयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है, वह-वह सब करना चाहिये। अर्थात्—

तत्र—अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः॥

—इत्यादि सूत्र पातञ्जल-योगशास्त्र [साधनपाद। सू० ३०] के हैं॥

जो उपासना का आरम्भ करना चाहै, उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा प्रीति करे। सत्य बोले, मिथ्या न

बोले। चोरी न करे, सत्यव्यवहार करे। जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो। और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे। ये पांच प्रकार के 'यम' मिल के उपासनायोग का प्रथम अङ्ग है।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

—योगसूत्र [साधनपाद। सू० ३२]॥

राग-द्वेष छोड़ भीतर, और जलादि से बाहर पवित्र रहै। धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे। प्रसन्न होकर, आलस्य छोड़, सदा पुरुषार्थ किया करे। सदा दुःख-सुखों का सहन और धर्म ही का अनुष्ठान करे, अधर्म का नहीं। सदा सत्यशास्त्रों को पढे-पढ़ावे, सत्पुरुषों का संग करे। और 'ओङ्कार' का जप और अर्थ विचार किया करे। अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पांच प्रकार के 'नियमों' को मिला के उपासनायोग का दूसरा अङ्ग कहाता है।

इसके आगे छः अङ्ग योगशास्त्र वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देख लेवें।[1]

जब उपासना करना चाहें, तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभि, हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा, पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर, अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके, परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवें।

जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से भरपूर हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है। वहां सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी 'सगुण' और द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान, अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना 'निर्गुणोपासना' कहाती है।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में इनका वर्णन है।

इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष, दु:ख छूट कर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वाभाव पवित्र हो जाते है। इसलिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका फल पृथक् होगा, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा [कि] वह पर्वत के समान दु:ख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सब को सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है? और जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रक्खे हैं, उसका गुण-भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना 'कृतघ्नता' और 'मूर्खता' से कम नहीं है।

प्रश्न—जब परमेश्वर के श्रोत्र, नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है?

उत्तर—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

—यह [श्वेताश्वतर] उपनिषत् [३।१९] का वचन है।

परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सब का रचन, ग्रहण करता; पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्; चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सब को यथावत् देखता; श्रोत्र नहीं, तथापि सब की बातें सुनता; अन्त:करण नहीं, परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधिसहित जाननेवाला कोई भी नहीं; उसी को सनातन, सबसे श्रेष्ठ, सबमें पूर्ण होने से 'पुरुष' कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्त:करण के विना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है।

प्रश्न—उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं?

उत्तर— न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

—यह [श्वेताश्वतर] उपनिषद् [६।८] का वचन है।

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य्य और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तमशक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता, इसलिये वह 'विभू' तथापि 'चेतन' होने से उसमें क्रिया भी है।

प्रश्न—जब वह क्रिया करता होगा तब अन्त वाली क्रिया होती है, वा अनन्त?

उत्तर—जितने देश, काल में क्रिया करनी उचित समझता है उतने ही देश, काल में क्रिया करता है, न अधिक न न्यून, क्योंकि वह विद्वान् है।

प्रश्न—परमेश्वर अपना अन्त जानता है वा नहीं? जानता है तो अनन्त और जो नहीं जानता तो पूर्ण ज्ञानी नहीं?

उत्तर—परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। क्योंकि ज्ञान उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों का त्यों पदार्थ जाना जाय। जब परमेश्वर अनन्त है तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान, और अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना अज्ञान अर्थात् 'भ्रम' कहाता है। '**यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति**' [तुलना—भ० गी० १३।११] जो जैसा पदार्थ है, उस को वैसा ही जानना 'ज्ञान', उससे उलटा 'अज्ञान' है। इसलिये—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥

—योग सू० [समाधिपाद सू० २४]॥

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से विशेष 'ईश्वर' कहाता है।

प्रश्न—चेतन एक है, वा अनेक?

उत्तर—ईश्वर चेतन एक। और जीव चेतन अनेक।

प्रश्न— **ईश्वरासिद्धेः ॥ १ ॥** [सां० सू० १।९२]
प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ २ ॥ [सां० सू० ५।१०]
सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ ३ ॥ [सां० सू० ५।११]
—ये सांख्यशास्त्र के सूत्र हैं॥

प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥ १ ॥

क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमानादि प्रमाण नहीं घट सकते ॥ २ ॥

और व्याप्ति-सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता। पुनः प्रत्यक्षानुमान के न होने से शब्द-प्रमाण भी नहीं घट सकता ॥ ३ ॥

उत्तर—यहाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। और पुरुष से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम 'पुरुष' और शरीर में शयन करने से जीव का भी नाम 'पुरुष' है। क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः ॥ १ ॥
सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्य्यम् ॥ २ ॥
श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य ॥ ३ ॥
—सांख्य सू० [५।८-९, १२]

यदि पुरुष को प्रधानशक्ति का योग हो तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाय। अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है, वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण है ॥ १ ॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है, वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिये, सो नहीं है। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण है ॥ २ ॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान को ही जगत् का उपादान कारण कहती है ॥ ३ ॥ जैसे—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ॥ —यह श्वेताश्वतर उप० [अ० ४। मं० ५] का वचन है।

जो जन्मरहित सत्त्व, रज, तमोगुणरूप प्रकृति है वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है। अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है। और प्रकृति सृष्टि में सविकार और प्रलय में निर्विकार रहती है।

इसलिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य्य नहीं। तथा मीमांसा का धर्म-धर्मी से ईश्वर। वैशेषिक और न्याय भी 'आत्म' शब्द से अनीश्वरवादी नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और '**अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा**' जो सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सर्वत्र व्यापक सब जीवों का आत्मा है, उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय 'ईश्वर' मानते हैं।

प्रश्न—ईश्वर अवतार लेता है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं, क्योंकि—

'अ॒ज एक॑पात्' ॥ 'सपर्य्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम्'
—ये दोनों यजुर्वेद [३४।५३ और ४०।८] के वचन है।

इत्यादि वचनों से परमेश्वर न जन्म लेता और न कभी शरीरवाला होता है।

प्रश्न— **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
—भगवद् गीता [४।७]॥

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि जब-जब धर्म का लोप होता है तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ।

उत्तर—यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो कुछ दोष नहीं। क्योंकि '**परोपकाराय सतां विभूतयः**' परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है, तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।

प्रश्न—जो ऐसा है तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं,

और इनको अवतार क्यों मानते हैं?

उत्तर—वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने और अपने आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फसते हैं और मानते हैं।

प्रश्न—जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कंस-रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके?

उत्तर—प्रथम तो जो जन्मा है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस-रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है, जब चाहै उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। इस अनन्त-गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिये जन्म-मरणयुक्त कहना महामूर्खता का काम है।

और जो कोई कहे कि भक्तों के उद्धार के लिये जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् का बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से पुत्रोत्पत्ति, कंस-रावणादि का वध और गोवर्धनादि उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो '**न भूतो न भविष्यति**' ईश्वर के सदृश न कोई हुआ, न है और न होगा।

और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई अनन्त आकाश को कहै कि गर्भ में आया वा मूठी में धर लिया, यह सच कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश सब में व्यापक है। न वह बाहर आता, न भीतर जाता, वैसे परमेश्वर के सर्वव्यापक होने से उसका आना-जाना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जाना वा आना वहां हो सकता है, जब वहां वह न हो। और आना भी वहां हो सकता है, जहाँ परमेश्वर न हो। क्या वह गर्भ में व्यापक नहीं था, जो कहीं से आया? और बाहर नहीं है, जो भीतर से बाहर निकले? इसलिये परमेश्वर का जन्म कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'ईसा' के भी ईश्वर का जन्म न होना समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि उनको पाप करने में उत्साह और निर्भयता हो। जैसे कोई राजा अपराधियों के पाप की क्षमा करे तो वे अधिक-अधिक अपराध पाप करने लगें। और जो अपराध नहीं करता है, वह भी अपराध करने से न डरेगा। इसलिये सब कर्मों का यथावत् फल देना ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र?

उत्तर—अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है।

'स्वतन्त्रः कर्त्ता'

—यह पाणिनीय व्याकरण [अष्टा० १।४।५४] का सूत्र है॥

जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है।

प्रश्न—स्वतन्त्र किसको कहते हैं?

उत्तर—जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों, वह स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी; और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा से अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों, तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। स्वर्ग-नरक अर्थात् सुख-दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारनेवाला पकड़ा जाता है, दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

प्रश्न—जो परमेश्वर जीव को न बनाता, सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ न कर सकता। इसलिये परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है।

उत्तर—जीव उत्पन्न कभी न हुआ; अनादि है। जैसा ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य है। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोक्ता है, ईश्वर नहीं। जैसे किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उसकी दुकान से लोहार ने ले तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ली, उससे किसी को मार डाला। अब यहां जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनानेवाले और तलवार को पकड़ कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा, वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव भोक्ता होता है। और जो परमेश्वर कर्म कराता होता तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिये जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों में स्वतन्त्र हैं, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कामों में स्वतन्त्र है।

प्रश्न—जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर—दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सब को नियम में रखना, जीवों का पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे और बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं। और जीव के—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥

—न्याय सू० [१।१।१०]॥

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥

—वैशेषिक सू० [३।२।४। द्र० चन्द्रानन्दवृत्ति सूत्रपाठ॥]

दोनों सूत्रों में—(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, (द्वेष) दुःखादि की अनिच्छा, वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल, (सुख) आनन्द, (दुःख) विलाप, अप्रसन्नता, (ज्ञान) विवेक, पहिचानना ये तुल्य हैं। परन्तु वैशेषिक में (प्राण) प्राण को बाहर निकालना, (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना, (निमेष) आंख मीचना, (उन्मेष) आंख का खोलना, (जीवन) प्राण का धारण करना, (मन) निश्चय, स्मरण और अहङ्कार करना, (गति) चलना, (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना, (अन्तर्विकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादि का होना। ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है।

जब तक आत्मा देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। और जब शरीर छोड़, चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों, और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्य्यादि के होने से प्रकाशादि का होना, और न होने से न होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है।

प्रश्न—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता है। वह अपने ज्ञान से जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं। और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

उत्तर—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होके न रहै, वह 'भूतकाल' और न होके होवे, वह 'भविष्यत्काल' कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्त्तमान रहता है। भूत, भविष्यत् जीवों के लिये हैं। हां, जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से कर्म जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्त्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र

है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है, वैसा ही उसके दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उस के सत्य हैं। क्या 'कर्मज्ञान' सच्चा और 'दण्डज्ञान' मिथ्या कभी हो सकता है? इसलिये इसमें कोई भी दोष नहीं आता।

प्रश्न—जीव शरीर में भिन्न विभु है, वा परिच्छिन्न?

उत्तर—परिच्छिन्न। जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर का अति सूक्ष्म, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापकस्वरूप है। इसलिये जीव और परमेश्वर का 'व्याप्य-व्यापक' सम्बन्ध है।

प्रश्न—जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिये जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक नहीं।

उत्तर—यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं, वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर-जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसा यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव-ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्व-स्वामी, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध हैं।

प्रश्न—ब्रह्म और जीव जुदे हैं वा एक?

उत्तर—अलग-अलग हैं।

प्रश्न—जो पृथक्-पृथक् हैं तो—

प्रज्ञानं ब्रह्म॥ १॥ [ऐतरेय उप० ३।५।३]

अहं ब्रह्मास्मि॥ २॥ [बृ० आ० उ १।४।१०; शत० ४।३।२।२१]

तत्त्वमसि॥ ३॥ [छां० उप० ६।८।७]

और **अयमात्मा ब्रह्म॥ ४॥**

[माण्डूक्योप० २; शत० ब्रा० १४।४।५।१४]

वेदों के इन 'महावाक्यों' का अर्थ क्या है?

उत्तर—ये वेदवाक्य ही नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों के वचन हैं, और इनका नाम 'महावाक्य' कहीं सत्यशास्त्रों में नहीं लिखा।

अर्थ—अर्थात् ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप है॥ १॥

(अहम्) मैं (ब्रह्म) अर्थात् ब्रह्मस्थ (अस्मि) हूँ। यहां 'तात्स्थ्योपाधि' है, जैसे '**मञ्चाः क्रोशन्ति**' मचान पुकारते हैं। मचान जड़ हैं, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं, इसलिये मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं। इसी प्रकार यहां भी जानना। कोई कहै कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं, पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है? इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं, परन्तु जैसा साधर्म्ययुक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं। और जीव को ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है, इसलिये जीव का ब्रह्म के साथ 'तात्स्थ्य' वा 'तत्सहचरितोपाधि' अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं। जैसे कोई किसी से कहै कि मैं और यह एक हैं अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ, परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है॥ २॥

प्रश्न—अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे (तत्) ब्रह्म (त्वं) तू जीव (असि) है। हे जीव! (त्वम्) तू (तत्) वह ब्रह्म (असि) है।

उत्तरपक्ष—तुम 'तत्' शब्द से क्या लेते हो?

पूर्वपक्ष—'ब्रह्म'।

उत्तरपक्ष—ब्रह्म पद की अनुवृत्ति कहां से लाये?

पूर्वपक्ष—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म॥'

इस पूर्व वाक्य से।

उत्तरपक्ष—तुमने इस छान्दोग्य उपनिषद् का दर्शन भी नहीं किया, जो वह देखी होती तो ऐसा झूठ क्यों कहते? वहां 'ब्रह्म' शब्द का पाठ ही नहीं है। किन्तु छान्दोग्य में तो—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥

ऐसा पाठ है, वहां 'ब्रह्म' शब्द नहीं।

प्रश्न—तो आप तच्छब्द से क्या लेते हैं?

उत्तर—स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति॥ —छान्दो० [६।८।७]॥

वह परमात्मा जानने योग्य है, जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो! प्रिय पुत्र! '**तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि**' उस परमात्मा अन्तर्य्यामी से तू युक्त है। यही सब अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है। क्योंकि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
य आत्मानमन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः॥

—यह बृहदारण्यक का वचन है [शत० ब्रा० १४।५।५।३०॥
तुलना—काण्व बृ० आ० उप० ३।७।२२]॥

महर्षि याज्ञवल्क्य उद्दालक से कहते हैं कि "हे उद्दालक! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है, वैसे जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीव को देकर नियम में रखता है, वही अविनाशीस्वरूप तेरा भी अन्तर्य्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान"। इत्यादि वचनों का क्या कोई अन्यथा अर्थ कर सकता है?॥ ३॥

'**अयमात्मा ब्रह्म**' अर्थात् समाधिदशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि "यह जो मेरे में व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है"। इसलिये जो आजकल के वेदान्ती जीव-ब्रह्म की एकता करते हैं, वे वेदान्तशास्त्र को नहीं जानते।

प्रश्न—

अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि॥ १॥

—छान्दोग्य० [उप० ६।३।२]

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्॥ –तैत्तिरीय० [ब्रह्मान० अनु० ६]॥

परमेश्वर कहता है कि मैं जगत् और शरीर को रच कर जगत् में व्यापक और जीवरूप होके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ नाम और रूप की व्याख्या करूं॥ १॥

परमेश्वर ने उस जगत् और शरीर को बना कर, उसमें वही प्रविष्ट हुआ। इत्यादि श्रुतियों का अर्थ दूसरा कैसे कर सकोगे॥ २॥

उत्तर—जो तुम पद, पदार्थ और वाक्यार्थ जानते तो ऐसा अनर्थ कभी न करते। क्योंकि यहां ऐसा समझो—एक 'प्रवेश' और दूसरा 'अनुप्रवेश' अर्थात् पश्चात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नामरूपादि की विद्या को प्रकट करता है। और शरीर में जीव को प्रवेश करा, आप जीव के भीतर अनुप्रविष्ट हो रहा है। जो तुम 'अनु' शब्द का अर्थ जानते, तो वैसा विपरीत अर्थ कभी न करते।

प्रश्न—'**सोऽयं देवदत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः, स इदानीं प्रावृट्समये मथुरायां दृश्यते**' अर्थात् जो देवदत्त मैंने उष्णकाल में काशी में देखा था, उसको वर्षा समय में मथुरा में देखता हूं। यहां वह काशी देश उष्णकाल, यह मथुरा देश और वर्षाकाल को छोड़ कर शरीरमात्र में लक्ष्य करने से ही देवदत्त लक्षित होता है, वैसे इस भागत्यागलक्षणा से ईश्वर का परोक्ष देश, काल, माया, उपाधि और जीव का यह देश, काल, अविद्या और अल्पज्ञता उपाधि छोड़ चेतनमात्र में लक्ष्य देने से एक ही ब्रह्म वस्तु दोनों में लक्षित होता है। इस 'भागत्यागलक्षणा' अर्थात् कुछ ग्रहण करना और कुछ छोड़ देना—जैसा सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव का छोड़ कर चेतनमात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने से 'अद्वैत' सिद्धि होती है, यहां क्या कह सकोगे?

उत्तर—प्रथम तुम जीव और ईश्वर को नित्य मानते हो, वा अनित्य।

प्रश्न—इन दोनों को उपाधिजन्य कल्पित होने से अनित्य मानते हैं।

उत्तर—उस उपाधि को नित्य मानते हो, वा अनित्य?

प्रश्न—हमारे मत में—

जीवेशौ च विशुद्धाचिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥ १ ॥

[विद्यारण्य विरचित 'अनुभूतिप्रकाश' अ० १। श्लो० ६१]

कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्य्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ २ ॥

—ये 'संक्षेपशारीरक' और 'शारीरकभाष्य' में कारिका हैं।

[अप्पयदीक्षित रचित नारायणयन्त्र-कलकत्तामुद्रित-सिद्धान्तलेशसंग्रह]

हम वेदान्ती छः पदार्थों अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पाँचवां अविद्या अज्ञान, और छठा अविद्या और चेतन का योग इनको अनादि मानते हैं। परन्तु एक ब्रह्म अनादि, अनन्त और अन्य पांच अनादि सान्त हैं, जैसाकि प्रागभाव होता है। जब तक अज्ञान रहता है, तब तक ये पाँच रहते हैं। और इन पाँच की आदि विदित नहीं होती, इसलिये 'अनादि' और ज्ञान होने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं, इसलिये 'सान्त' अर्थात् नाशवाले कहाते हैं।

उत्तर—यह तुम्हारे दोनों श्लोक शुद्ध नहीं, क्योंकि अविद्या के योग के विना जीव और माया के योग के विना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता। इससे '**तच्चितोर्योगः**' जो छठा पदार्थ तुमने गिना है, वह नहीं रहा। क्योंकि वह अविद्या माया जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया और ब्रह्म तथा माया और अविद्या के योग के विना ईश्वर नहीं बनता, फिर ईश्वर को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है। इसलिये दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकते हैं, छः नहीं॥ १ ॥

तथा आपका प्रथम कार्योपाधि और कारणोपाधि से जीव और ईश्वर का सिद्ध करना तब हो सकता कि जब अनन्त, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध करें। जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे तो सब ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता। और जब एक देश में अज्ञान मानोगे

तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता-जाता रहेगा। जहां-जहां जायेगा, वहां-वहां का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ता जायेगा, उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे और जो अज्ञान की सीमा में ब्रह्म है, वह अज्ञान को जानेगा। बाहर और भीतर के ब्रह्म के टुकड़े हो जायेंगे।

जो कहो कि टुकड़ा हो जाओ ब्रह्म की क्या हानि? तो अखण्ड नहीं। और जो अखण्ड है तो अज्ञानी नहीं। तथा ज्ञान के अभाव वा विपरीत ज्ञान भी गुण होने से किसी द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध से रहेगा। यदि ऐसा है तो समवायसम्बन्ध होने से अनित्य कभी नहीं हो सकता। और जैसे शरीर के एक देश में फोड़ा होने से सर्वत्र दुःख फैल जाता है, वैसे ही एक देश में अज्ञान, सुख-दुःख, क्लेशों की उपलब्धि होने से सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभवयुक्त होगा और सब ब्रह्म को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे ही 'कार्योपाधि' अर्थात् अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानोगे, तो हम पूछते हैं कि ब्रह्म व्यापक है, वा परिच्छिन्न? जो कहो व्यापक और उपाधि 'परिच्छिन्न' है अर्थात् एकदेशी और पृथक्-पृथक् है, तो अन्तःकरण चलता-फिरता है, वा नहीं?

उत्तर—चलता-फिरता है।

प्रश्न—अन्तःकरण के साथ ब्रह्म भी चलता-फिरता है, वा स्थिर रहता है?

उत्तर—स्थिर रहता है।

प्रश्न—जब अन्तःकरण जिस-जिस देश को छोड़ता है, उस-उस देश का ब्रह्म अज्ञानरहित और जिस-जिस देश को प्राप्त होता है उस-उस देश का शुद्ध ब्रह्म अज्ञानी होता होगा। वैसे क्षण में ज्ञानी और अज्ञानी ब्रह्म होता रहेगा। इससे मोक्ष और बन्ध भी क्षणभङ्ग होगा। और जैसे अन्य के देखे का अन्य स्मरण नहीं कर सकता, वैसे कल की देखी-सुनी हुई वस्तु वा बात का ज्ञान नहीं रह सकता। क्योंकि जिस समय देखा-सुना था, वह दूसरा देश और दूसरा काल, जिस समय स्मरण करता है, वह दूसरा देश और काल है। जो कहो कि ब्रह्म एक

है। तो सर्वज्ञ क्यों नहीं? जो कहो कि अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं, इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा। तो वह जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं हो सकता। जो कहो कि न केवल ब्रह्म और न केवल अन्तःकरण को ज्ञान होता है, किन्तु अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है। तो भी चेतन ही को अन्तःकरण द्वारा ज्ञान हुआ, तो वह नेत्रद्वारा अल्प अल्पज्ञ क्यों है? इसलिये कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से ब्रह्म, जीव और ईश्वर नहीं बना सकोगे। किन्तु 'ईश्वर' नाम ब्रह्म का है और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम जीव है। जो तुम कहो कि जीव 'चिदाभास' का नाम है, तो वह क्षणभङ्ग होने से वही 'प्रत्यभिज्ञा' का भङ्ग दोष आया और 'अनिर्मोक्षापत्ति' भी आती है, क्योंकि जीव उत्पन्न होने से नष्ट हो जायगा, तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा? इसलिये ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी एक न हुआ, न है और न होगा॥ २॥

प्रश्न—तो '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**'॥

—छान्दोग्य० ॥

अद्वैतसिद्धि कैसे होगी? हमारे मत में तो ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय, विजातीय वस्तु और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जब जीव दूसरा है तो अद्वैतसिद्धि कैसे हो सकती है?

उत्तर—इस भ्रम में पड़ क्यों डरते हो? विशेष्य-विशेषण विद्या का विचार करो कि उसका क्या फल है। जो कहो कि '**व्यावर्त्तकं विशेषणं**' विशेषण भेदकारक होता है, तो इतना और भी मानो कि '**प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति**' विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक धर्मवाला भी होता है। तो कहिये कि अद्वैत विशेषण ब्रह्म का है। इसमें व्यावर्त्तक धर्म यह है कि 'द्वैत वस्तु' अर्थात् जैसे अनेक जीव और तत्त्व हैं, उनसे ब्रह्म को पृथक् करता है और विशेषण का प्रवर्त्तक और प्रकाशक धर्म यह है कि ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति कराता और प्रकाशक है। जैसे "**अस्मिन्नगरेऽद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः, अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरो विक्रमसिंहः।**" किसी ने किसी से कहा

कि "इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त और इस सेना में अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है।" इससे क्या सिद्ध हुआ कि देवदत्त के सदृश इस नगर में दूसरा धनाढ्य और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा शूरवीर नहीं है। न्यून तो हैं। और पृथिवी आदि जड़ पदार्थ, पश्वादि और वृक्षादि भी हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता। वैसे ही ब्रह्म के सदृश जीव वा प्रकृति नहीं है, किन्तु न्यून तो हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व का सिद्ध करनेहारा 'अद्वैत' वा 'अद्वितीय' विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति का और कार्य्यरूप जगत् का अभाव और निषेध नहीं हो सकता किन्तु ये सब हैं, परन्तु ब्रह्म के तुल्य नहीं। इससे न अद्वैतसिद्धि और न द्वैतसिद्धि की हानि होती है। घबड़ाहट में मत पड़ो, सोचो और समझो।

प्रश्न—ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द और जीव के अस्ति, भाति, प्रियरूप से एकता होती है। फिर क्यों खण्डन करते हो?

उत्तर—किञ्चित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़, दृश्य है, वैसे जल और अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं, इतने से एकता नहीं होती। इनमें वैधर्म्य भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म जैसे गन्ध, रूक्षता, काठिन्य आदि गुण पृथिवी, और रस, द्रवत्व, कोमलत्वादि धर्म जल, और रूप, दाहकत्वादि धर्म अग्नि के होने से एकता नहीं। जैसे मनुष्य और कीड़ी आंख से देखते, मुख से खाते, पग से चलते हैं तथापि मनुष्य की जाति, आकृति, दो पग और कीड़ी की जाति, आकृति, अनेक पग आदि भिन्न होने से एकता नहीं होती, वैसे परमेश्वर के अनन्त ज्ञान, आनन्द, बल, क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, अल्पस्वरूप, सभ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं, क्योंकि इनका स्वरूप भी, परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से, भिन्न है।

प्रश्न—अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति।

—यह बृहदारण्यक का वचन है [तु०—तै० उप० ब्र० व० अनु० ७]

द्वितीयाद्वै भयं भवति॥

—यह बृहदारण्यक [उप० १।४।२] का वचन है।

जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा भी भेद करता है, उसको भय प्राप्त होता है, क्योंकि दूसरे ही से भय होता है।

उत्तर—इसका अर्थ यह नहीं है। किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध वा किसी एक देश-काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने, वा उसकी आज्ञा और गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध होवे, अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे, उसको भय प्राप्त होता है, क्योंकि 'द्वितीय बुद्धि' अर्थात् ईश्वर से मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं, तथा किसी मनुष्य से कहे कि "तुझको मैं कुछ भी नहीं समझता, तू मेरा कुछ भी नहीं कर सकता", वा किसी की हानि करता और दुःख देता जाय, तो उसको उनसे भय होता है। और सब प्रकार अविरोध हो तो वे एक कहाते हैं। जैसा संसार में कहते हैं कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं, अर्थात् अविरुद्ध हैं अर्थात् विरोध न रहने से सुख और विरोध से दुःख प्राप्त होता है।

प्रश्न—ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है, वा कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं, वा नहीं?

उत्तर—अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है, परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है। जैसे आकाश से मूर्त द्रव्य जड़त्व होने से और कभी पृथक् न रहने से एकता और आकाश के विभु, सूक्ष्म, अरूप, अनन्त आदि गुण और मूर्त्त के परिच्छिन्न, दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है, अर्थात् जैसे पृथिव्यादि-द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते। क्योंकि 'अन्वय' अर्थात् अवकाश के विना मूर्त्त-द्रव्य कभी नहीं ठहर सकता और 'व्यतिरेक' अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते और स्वरूप से एक भी नहीं होते। जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मट्टी, लकड़ी, लोहा आकाश ही में रहते हैं, जब घर बन गया तब भी आकाश में हैं और जब वह नष्ट हो गया अर्थात् उसके सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गये, तब भी

आकाश में हैं। अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, [न] हैं और [न] होंगे। इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में न भिन्न और स्वरूप से भिन्न होने से एक भी कभी नहीं होते। आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़ के व्यतिरेकभाव से छूट विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुणनिर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य और विशेष्य-विशेषण भाव न हो।

प्रश्न—परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण?

उत्तर—दोनों प्रकार है।

प्रश्न—भला एक मियान में दो तलवार कभी रह सकती हैं! एक पदार्थ में सगुण और निर्गुणता कैसे रह सकती हैं?

उत्तर—जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं। इसलिये **'यद्गुणैस्सह वर्त्तमानं तत्सगुणम्' 'गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्'** जो गुणों से सहित वह 'सगुण' और जो गुणों से रहित वह 'निर्गुण' कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो, किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्तज्ञान-बलादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण' कहाता है।

प्रश्न—संसार में निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहते हैं। अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता, तब 'निर्गुण' और जब अवतार लेता है, तब 'सगुण' कहाता है?

उत्तर—यह कल्पना केवल अज्ञानियों की है। जिनको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बर्ड़ाया करते हैं। जैसे सन्निपात-ज्वरयुक्त मनुष्य अण्डबण्ड बकता है, वैसे ही अविद्वानों के कहे वा

लेख को व्यर्थ समझना चाहिये।

प्रश्न—परमेश्वर रागी है, वा विरक्त?

उत्तर—दोनों नहीं। क्योंकि राग अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है, सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है, इसलिये उसमें 'राग' का सम्भव नहीं। और जो प्राप्त को छोड़ देवे, उसको 'विरक्त' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ नहीं सकता, इसलिये विरक्त भी नहीं है।

प्रश्न—ईश्वर में इच्छा है, वा नहीं?

उत्तर—वैसी इच्छा नहीं। क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष होवे, तो ईश्वर में इच्छा हो सके। न उससे कोई अप्राप्त पदार्थ, न कोई उससे उत्तम, और पूर्ण सुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी नहीं है। इसलिये ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु 'ईक्षण' अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है, वह ईक्षण है। इत्यादि संक्षिप्त विषय ही से सज्जन लोग बहुत विस्तरण कर लेंगे।

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर वेद का विषय लिखते हैं—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भन्तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

—अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २०

जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं, वह कौन-सा देव है?

इसका **उत्तर**—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है।

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० अ० ४०। मं० ८॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

प्रश्न—परमेश्वर को आप निराकार मानते हो वा साकार?

उत्तर—निराकार मानते हैं।

प्रश्न—जब निराकार है तो वेदविद्या का उपदेश विना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादि स्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये।

उत्तर—परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी विद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि मुख-जिह्वा से उच्चारण दूसरे भिन्न मनुष्य के लिये किया जाता है, अपने लिये नहीं। विना मुख और जिह्वा के मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूंद देखो, सुनो कि विना मुख-जिह्वा-ताल्वादि स्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं, वैसे जीवों को अन्तर्यामीरूप से उपदेश किया है। किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिये उच्चारण किया जाता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तो अपनी विद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है, इसलिये यहां दोष नहीं आता।

प्रश्न—किनके आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया?

उत्तर—अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥

—शत० [तुलना—११।४।२।३]॥

प्रथम अर्थात् सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा ऋषियों के आत्माओं में एक-एक वेद का प्रकाश किया।

प्रश्न—यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥ —यह उपनिषद् का वचन है [तु०—श्वे० उप० ६।१८]॥

इस वचन से ब्रह्माजी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है। फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्माओं में क्यों कहा?

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया। देखो! मनु में क्या लिखा है?

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ —मनु० [१।२३]

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों ऋषियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और [तु अर्थात्] अङ्गिरा से ऋग् यजुः, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।

प्रश्न—उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया, अन्य में नहीं। इससे ईश्वर पक्षपाती होता है।

उत्तर—वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे। अन्य उनके सदृश नहीं थे। इसलिये पवित्र विद्या का उन्हीं में प्रकाश किया।

प्रश्न—किसी देश-भाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया?

उत्तर—जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती होता, क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता, उनको सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने की होती। इसलिये संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं, और अन्य सब देशभाषाओं का कारण है, उसी में वेदों का प्रकाश किया। जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देशवालों के लिये एकसी और सब शिल्पविद्या का कारण है, वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एकसी होनी चाहिये कि सब देशवालों को पढ़ने-पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता। और सब भाषाओं का कारण भी है।

प्रश्न—वेद ईश्वरकृत हैं, अन्यकृत नहीं, इसमें क्या प्रमाण?

उत्तर—(१) जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्धगुणकर्म-स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वह ईश्वरकृत; अन्य नहीं।

(२) और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो, वह ईश्वरोक्त।

(३) जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो, वह ईश्वरोक्त।

(४) जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है वैसा ही ईश्वर, सृष्टि, कार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, वह

परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है।

(५) और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण-विषयों से अविरुद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो।

इस प्रकार के वेद ही हैं, अन्य बायबिल, कुरान आदि नहीं। इसकी स्पष्ट व्याख्या बायबिल और कुरान के तेरहवें और चौदहवें समुल्लास में की जायगी।

प्रश्न—वेद की ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।

उत्तर—कभी नहीं बना सकते। क्योंकि विना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जङ्गली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाये तो विद्वान् हो जाते हैं और अब भी किसी से पढ़े विना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता और वे अन्य को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त, अविद्वानों वा पशुओं में रख देवे तो वह जैसा संग है, वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जङ्गली भील आदि हैं।

जबतक आर्यावर्त्त से शिक्षा नहीं गई थी, तबतक मिश्र, यवन (यूनान) और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी। और इंग्लैण्ड के कुलुम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं गये थे, तब तक वे भी सहस्रों, लाखों, क्रोड़ों वर्षों से मूर्ख थे। अब शिक्षा पाने से विद्वान् हो गये हैं। वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या-शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

—यह योग सूत्र [समाधिपाद सू० २६] है॥

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ के ही विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का 'गुरु' अर्थात् पढ़ानेहारा है। क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है। इसलिये यह निश्चित जानना चाहिये कि विना निमित्त से

नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता।

प्रश्न—वेद संस्कृतभाषा में प्रकाशित हुए और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृतभाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना?

उत्तर—परमेश्वर ने जनाया। और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थप्रकाश हुआ, तब ऋषि-मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि-मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये। उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् 'ब्रह्म' जो वेद उसका व्याख्यानग्रन्थ होने से 'ब्राह्मण' नाम हुआ। और—

ऋषयो मन्त्रदृष्टयः मन्त्रान्सम्प्रादुः।

निरु० [तुलना—अ० ७। खं० ३]; [अ० १। खं० २०]॥

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा लिखाया आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावे, उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं।

प्रश्न—वेद किन ग्रन्थों का नाम है?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का, अन्य का नहीं।

प्रश्न—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्॥

[—कात्यायनपरिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र १।१]

इत्यादि कात्यायनादिकृत प्रतिज्ञासूत्रादि का अर्थ क्या करोगे?

उत्तर—देखो! संहिता पुस्तक के आरम्भ, अध्याय की समाप्ति में वेद शब्द सनातन से लिखा आता है और ब्राह्मण पुस्तकों के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में कहीं नहीं लिखा। और निरुक्त में—

इत्यपि निगमो भवति॥ [निरु० ५।३] **इति ब्राह्मणम्॥**

[तु०-निरु० ५।४]

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि॥

—यह पाणिनीय सूत्र है [अष्टा० ४।२।६५]

इससे भी स्पष्ट विदित होता है कि 'वेद' मन्त्रभाग और 'ब्राह्मण' व्याख्याभाग है। इसमें जो विशेष देखना चाहो तो मेरी बनाई 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में देख लीजिये। वहां अनेकशः प्रमाणों से, विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन माननीय नहीं हो सकता है। क्योंकि जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें। क्योंकि ब्राह्मण-पुस्तकों में बहुत से ऋषि, महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उनके जन्मे पश्चात् होता है ऐसा सिद्ध हो जावे। वेदों में किसी का इतिहास नहीं; किन्तु जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है। किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं।

प्रश्न—वेदों की कितनी शाखा हैं?

उत्तर—एक हजार एक सौ सत्ताईस।

प्रश्न—शाखा क्या कहाती हैं?

उत्तर—व्याख्यान को 'शाखा' कहते हैं।

प्रश्न—संसार में विद्वान् लोग वेद के अवयवभूत विभाग को शाखा मानते हैं?

उत्तर—तनिक-सा विचार करो तो ठीक, क्योंकि जितनी शाखा हैं वे आश्वलायन आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और मन्त्रसंहिता परमेश्वर के नाम से प्रख्यात हैं। जैसे चारों वेदों को परमेश्वरकृत मानते हैं, वैसे आश्वलायनी आदि शाखाओं को उस-उस ऋषिकृत मानते हैं और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धर के व्याख्या करते हैं। जैसे तैत्तिरीय शाखा में '**इषे त्वोर्जे त्वा**' **इति,** इत्यादि प्रतीकें धर के व्याख्यान किया है और वेदसंहिताओं में किसी की प्रतीक नहीं धरी। इसलिये परमेश्वरकृत चारों वेद मूल-वृक्ष और आश्वलायनादि सब शाखा ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं। इसकी विशेष व्याख्या देखना चाहै, वह 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में देख लेवे। जैसे माता-पिता अपने

सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है। जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूटकर विद्या विज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहैं और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें।

प्रश्न—वेद नित्य हैं, वा अनित्य?

उत्तर—'नित्य' हैं। क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के 'अनित्य' होते हैं।

प्रश्न—क्या यह पुस्तक भी नित्य है?

उत्तर—नहीं। क्योंकि पुस्तक तो कागज और स्याही का बना है, वह नित्य कैसे हो सकता है? किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे नित्य हैं।

प्रश्न—ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे?

उत्तर—ज्ञान ज्ञेय के विना नहीं होता। गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों का निर्माण करना, विना सर्वज्ञ के किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार का सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सके। हाँ, वेद को पढने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे, तो कोई कुछ भी न बना सके। इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं। इसी के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा मत क्या है? तो यही उत्तर देना कि हमारा मत 'वेद' अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उस सब को मानते हैं।

इसके आगे सृष्टि के विषय में लिखेंगे। यह संक्षेप से ईश्वर और वेदविषय में व्याख्यान किया है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामीकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित ईश्वरवेदविषये
सप्तमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥७॥

अथाष्टमसमुल्लासारम्भः

अथ सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयान् व्याख्यास्यामः

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ १॥

—ऋ०। म० १०। सू० १२९। मं० ७॥

तम आसीत्तमसा गूहळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ २॥

—ऋ०। मं० [१०]। सू० [१२९]। मं० [३]॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

—ऋ०। म० १०। सू० १२१। मं० १॥

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ ४॥

—यजुः० अ० ३१। मं० २॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति॥ ५॥

—तैत्तिरीयोपनि० [भृगुवल्ली। अनु० १]॥

हे (अङ्ग) मनुष्य! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलयकर्त्ता है, जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है, उसको तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान॥ १॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत्, तथा 'तुच्छ' अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सामने एकदेशी आच्छादित था, पश्चात् परमेश्वर ने अपने महिमा (सामर्थ्य) से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया है॥ २॥

हे मनुष्यो! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ था, है और होगा, उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था, और जिसने पृथिवी से लेके सूर्य्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की प्रेम से भक्ति किया करें॥ ३ ॥

हे मनुष्यो! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी, जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है॥ ४ ॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह 'ब्रह्म' है, उसके जानने की इच्छा करो॥ ५ ॥

जन्माद्यस्य यतः॥ —शारीरक सू० अ० १। [पा० १]। सू० २॥

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही 'ब्रह्म' जानने के योग्य है।

प्रश्न—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, वा अन्य से?

उत्तर—निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, परन्तु इसका उपादान कारण प्रकृति है।

प्रश्न—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की?

उत्तर—नहीं। वह अनादि है।

प्रश्न—अनादि किसको कहते और कितने पदार्थ अनादि हैं?

उत्तर—ईश्वर, जीव और जगत् का कारण, ये तीन 'अनादि' हैं?

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ १॥

—ऋ०। म० १। सू० १६४। मं० २०॥

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥ —यजुः० अ० ४०। मं ८॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से कुछ सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त, सनातन अनादि हैं; और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ; इन तीनों के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि हैं। इन (तयोरन्यः) जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न-स्वरूप, तीनों '**अनादि**' हैं॥ १ ॥

(शाश्वती०) अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है॥ २ ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां,
बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते,
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—उपनि० [श्वे० उप०। अ० ४। मं० ५]॥

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों 'अज' अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता, कभी ये जन्म नहीं लेते, अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फसता है और उसमें परमात्मा न फसता और न उसका भोग करता है।

ईश्वर और जीव का लक्षण ईश्वर-विषय में कह आये। अब प्रकृति का लक्षण लिखते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥

—यह सांख्यसूत्र है [अ० १। सू० ६१]

(सत्त्व) शुद्ध, (रजः) मध्य, (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है, उसका नाम 'प्रकृति' है। उससे 'महत्तत्व'

बुद्धि, उससे 'अहङ्कार', अहंकार से पांच 'तन्मात्रा', सूक्ष्म-भूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत, ये चौबीस और पच्चीसवां 'पुरुष' अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी; और महत्तत्व, अहङ्कार तथा पांच सूक्ष्म-भूत प्रकृति का कार्य्य और इन्द्रियां मन तथा स्थूल-भूतों का कारण हैं। और पुरुष न किसी की प्रकृति, उपादानकारण और न किसी का कार्य्य है।

प्रश्न—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्॥ १॥

[छां० उप०। प्र० ६। खं० २]

असद्वा इदमग्र आसीत्॥ २॥

[तै० उप०। ब्र० वल्ली। अनु० ७]

आत्मा वा इदमग्र आसीत्॥ ३॥

[तु०—बृ० उप०। अ० १। ब्रा० ४। कं० १]

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्॥ ४॥

—ये उपनिषदों के वचन हैं [शत० ११।१।११।१]॥

हे श्वेतकेतो! यह जगत् सृष्टि के पूर्व—

सत्॥ १॥ असत्॥ २॥ आत्मा॥ ३॥ और ब्रह्मरूप था॥ ४॥ पश्चात्—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति॥ १॥

[छां० उप० प्र० ६। खं० २। मं० ३]

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति॥ २॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् [ब्र० वल्ली। अनु० ६] का वचन है॥

वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है॥ १-२॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन॥

—यह उपनिषद् का वचन है॥

जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है। उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं किन्तु सब ब्रह्मरूप है।

उत्तर—क्यों इन वचनों का अनर्थ करते हो? क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में—

सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिस्सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥

—छान्दोग्य उपनि० [प्र० प्र० ६। खं० ८। मं० ४]॥

हे श्वेतकेतो! अन्नरूप पृथिवी कार्य्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है। यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था।

और जो (**सर्वं खलु०**) यह वचन '**कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुड़वां जोड़ा**' ऐसी लीला का है। क्योंकि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत॥

—छान्दोग्य० [प्र० ३। खं० १४। मं० १]

और—

नेह नानास्ति किंचन॥ —कठवल्ली का वचन है॥

जैसे शरीर के अङ्ग जब तक शरीर के साथ रहते हैं, तब तक काम के और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक और प्रकरण से अलग करने वा किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थक हो जाते हैं। सुनो! इसका अर्थ यह है—

हे जीव! तू उस ब्रह्म की उपासना कर, जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है; जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है, वा ब्रह्म से सहचरित है, उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी। इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्मस्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है, किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं।

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं?

उत्तर—तीन। एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। 'निमित्त कारण' उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न

बनाने से न बने, आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा 'उपादान कारण' उसको कहते हैं जिसके विना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा 'साधारण कारण' उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।

निमित्त कारण दो हैं। एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखनेवाला 'मुख्य निमित्त कारण' **परमात्मा**। दूसरा—परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्य्यान्तर बनानेवाला 'साधारण निमित्त कारण' **जीव**।

उपादानकारण—'प्रकृति' 'परमाणु' जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आपसे आप न बन और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और दूसरे के बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है, जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है।

जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के औजार और दिशा, काल और आकाश 'साधारण कारण'। जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त, मिट्टी उपादान; और दण्ड, चक्र आदि सामान्य निमित्त; दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आंख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि निमित्त साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के विना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती।

प्रश्न—नवीन वेदान्ती केवल परमेश्वर ही को जगत् का 'अभिन्न-निमित्तोपादानकारण' मानते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।

—यह [मुण्डक] उपनिषद् का वचन है [मु० १। ख० १। मं० ७]

जैसे मकरी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है, वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना, आप जगदाकार बन, आप ही क्रीडा कर रहा है। सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि मैं 'बहुरूप' अर्थात् जगदाकार हो जाऊं। सङ्कल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया। क्योंकि—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा॥

—यह माण्डूक्योनिषद् पर कारिका है [गौड़पादीयकारिका वैतथ्याख्य प्रकरण २।६, अलातशान्ताख्य प्रकरण ४।३१]

जो प्रथम न हो, अन्त में न रहै, वह वर्त्तमान में भी नहीं है। किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था, ब्रह्म था। प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा, ब्रह्म रहेगा तो वर्त्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं?

उत्तर—जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त विकारी होजावे। और उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में भी आते हैं—

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः॥

—वैशेषिक सू० [अ० २। आ० १। सू० २४]॥

उपादानकारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं। तो ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप; जगत् कार्य्यरूप से असत्, जड़ और आनन्दरहित; ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है, ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है, जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य्य उत्पन्न होवे तो पृथिव्यादि कार्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें। अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं, वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय और जैसा परमेश्वर चेतन है, वैसा पृथिव्यादि कार्य्य भी चेतन होना चाहिये। और जो मकरी का दृष्टान्त दिया, वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है क्योंकि वह जड़रूप-शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्तकारण है। और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव तन्तु नहीं निकाल सकता। वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणुकारण से स्थूल जगत् को बना कर, बाहर स्थूलरूप कर, आप उसी में व्यापक रहके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है।

और जो परमात्मा ने 'ईक्षण' अर्थात् दर्शन, विचार और कामना

की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊं, अर्थात् जब जगत् उत्पन्न होता है तभी जीवों के विचार, ज्ञान, ध्यान, उपदेश श्रवण में परमेश्वर प्रसिद्ध और बहुत स्थूल पदार्थों से सह वर्त्तमान होता है। जब प्रलय होता है तब परमेश्वर और मुक्तजीवों को छोड़के उसको कोई नहीं जानता। और जो वह कारिका है वह भ्रममूलक है। क्योंकि सृष्टि की आदि अर्थात् प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी वार सृष्टि न होगी तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है। क्योंकि—

तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑॥ १ ॥

—ऋग्वेद [म० १०। सू० १२९। मं० ३] का वचन है।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ २॥ —मनु० [१।५]॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले प्रलय में अन्धकार से आवृत्त आच्छादित था और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है। उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था, और न होगा, किन्तु वर्त्तमान में जाना जाता है और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है॥ १-२॥

पुनः उस कारिकाकार ने वर्त्तमान में भी जगत् का अभाव लिखा सो सर्वथा अप्रमाण है, क्योंकि जिसको प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है?

प्रश्न—जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख-दुःख प्राप्त न होता।

उत्तर—यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है? जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुना अधिक होता और बहुत-से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी

प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं, वैसे रहते हैं और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्योंकर भोग सकते? जो तुमसे कोई पूछे कि आँख के होने में क्या प्रयोजन है? तुम यही कहोगे कि देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है, उसका क्या प्रयोजन? विना जगत् की उत्पत्ति करने के दूसरा कुछ भी न कह सकोगे। और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं कि जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसा नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसा परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

प्रश्न—बीज पहले है वा वृक्ष?

उत्तर—बीज। क्योंकि बीज, हेतु, निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं। कारण का नाम बीज होने से कार्य के प्रथम ही होता है।

प्रश्न—जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता?

उत्तर—सर्वशक्तिमान् शब्दार्थ पूर्व लिख आये हैं। परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके? जो असम्भव बात अर्थात् जैसा कारण के विना कार्य्य को कर सकता है तो विना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है, वा नहीं? जो स्वाभाविक नियम, अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता। जैसे आप जड़ नहीं हो सकता, वैसे जड़ को चेतन भी नहीं कर सकता। और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं इसलिये परिवर्त्तन नहीं कर सकता। इसलिये 'सर्वशक्तिमान्' का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा

विना किसी के सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है।

प्रश्न—ईश्वर साकार है वा निराकार? जो निराकार है तो विना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा और जो साकार है तो कोई दोष नहीं आता।

उत्तर—ईश्वर निराकार है। जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है, वह ईश्वर ही नहीं। क्योंकि वह परिच्छिन्न, परिमित शक्तियुक्त, देश काल वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा, तृषा, छेदन, भेदन, शीतोष्ण, ज्वर, पीडादि सहित होवे। उसमें सिवाय जीव के, ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम 'साकार' अर्थात् शरीरधारी हैं, इससे त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते और न उन सूक्ष्म पदार्थों को पकड़ कर स्थूल बना सकते हैं, वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता। जो परमेश्वर भौतिक—इन्द्रियगोलक हस्त-पादादि अवयवों से रहित है, परन्तु उसकी अनन्त शक्ति बल पराक्रम हैं, उनसे सब काम करता है, जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें व्यापक है, तभी उनको पकड़ कर जगदाकार कर देता है। और सर्वगत होने से सबका धारण और प्रलय भी कर सकता है।

प्रश्न—जैसे मनुष्यादि के मा-बाप साकार हैं, उनका सन्तान भी साकार होता है, जो ये निराकार होते, तो इनके लड़के भी निराकार होते, वैसे परमेश्वर निराकार हो, तो उसका बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिये।

उत्तर—यह तुम्हारा प्रश्न अविद्या के=लड़के के समान है। क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है। और जो स्थूल होता है, वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादानकारण है। और वे सर्वथा निराकार नहीं, किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।

प्रश्न—क्या कारण के विना परमेश्वर कार्य्य को नहीं कर सकता?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जिसका 'अभाव' अर्थात् जो वर्त्तमान नहीं है, उसका 'भाव' वर्त्तमान होना सर्वथा असम्भव है। जैसा कोई गपोड़ा

हाँक दे कि "मैंने वन्ध्या के पुत्र और वन्ध्या की पुत्री का विवाह देखा, वह नरशृङ्ग का धनुष् और वे दोनों खपुष्प की माला पहिरे हुए थे, मृगतृष्णिका के जल में स्नान करते और गन्धर्वनगर में रहते थे, वहां बद्दल के विना वर्षा, पृथिवी के विना सब अन्नों की उत्पत्ति आदि होती थी।" वैसा ही कारण के विना कार्य्य का होना असम्भव है। जैसे कोई कहे कि—

"**मम मातापितरौ न स्तोऽहमेवमेव जातः। मम मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च**" अर्थात् मेरे माता-पिता न थे, ऐसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूं। मेरे मुख में जीभ नहीं है, परन्तु बोलता हूँ। "बाम्बी में सर्प न था, निकल आया।" "मैं कहीं नहीं था, ये भी कहीं नहीं थे और हम सब जने आये हैं।" ऐसी असम्भव बात प्रमत्तगीत अर्थात् पागल लोगों की है।

प्रश्न—जो कारण के विना कार्य्य नहीं होता तो कारण का कारण कौन है?

उत्तर—जो केवल कारणरूप ही हैं, वे कार्य्य किसी के नहीं होते। और जो किसी का कारण और किसी का कार्य्य होता है, वह दूसरा कहाता है। जैसे पृथिवी घट और घर आदि का कारण और जल आदि का कार्य्य होता है। परन्तु जो आदिकारण प्रकृति है, वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्॥

—सांख्य सू० [अ० १। सू० ६७]॥

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता। इससे अकारण सब कार्य्यों का कारण होता है। क्योंकि किसी कार्य्य के आरम्भ समय के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं। जैसे कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रूई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्त्तमान होने से वस्त्र बनता है, वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इन में से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।

अत्र नास्तिका आहुः—

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य॥ १॥

—सांख्य सू० [अ० १। सू० ४४]॥

अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ २ ॥
ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ ३ ॥
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥ ४ ॥
सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ ५ ॥
सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ ६ ॥
सर्वं पृथग् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ७ ॥
सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ८ ॥
[न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्] ॥ ९ ॥

—न्याय सू० ॥ अ० ४। आह्नि० १ [सू० १४, १९, २२, २५, २९, ३४, ३७, ३९] ॥

यहां नास्तिक लोग ऐसा कहते हैं कि—'शून्य' ही एक पदार्थ है। सृष्टि के पूर्व शून्य था, अन्त में शून्य होगा। क्योंकि जो 'भाव' है अर्थात् वर्त्तमान पदार्थ है, उसका अभाव होकर शून्य हो जायगा।

उत्तर—शून्य आकाश, अदृश्य, अवकाश और बिन्दु को भी कहते हैं। शून्य जड़ पदार्थ, इस शून्य में सब पदार्थ अदृश्य रहते हैं। जैसे एक बिन्दु से रेखा, रेखाओं से वर्तुलाकार करने से भूमि-पर्वतादि ईश्वर की रचना से बनते हैं। और शून्य का जानने वाला शून्य नहीं होता ॥ १ ॥

दूसरा नास्तिक—अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। जैसे बीज का मर्दन किये विना अंकुर उत्पन्न नहीं होता और बीज को तोड़ कर देखें तो अंकुर का अभाव है। जब प्रथम अंकुर नहीं दीखता था तो अभाव से उत्पत्ति हुई।

उत्तर—जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही बीज में था। जो न होता तो उत्पन्न कभी नहीं होता ॥ २ ॥

तीसरा नास्तिक कहता है—कि कर्मों का फल पुरुष के कर्म करने से नहीं प्राप्त होता। कितने ही कर्म निष्फल दीखने में आते हैं। इसलिये अनुमान किया जाता है कि कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के अधीन है। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहै, देता है। जिस कर्म का फल देना नहीं चाहता, नहीं देता। इस बात से कर्मफल ईश्वराधीन है।

उत्तर—जो कर्म का फल ईश्वराधीन हो तो विना कर्म किये ईश्वर फल क्यों नहीं देता? इसलिये जैसा कर्म मनुष्य करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है। इससे ईश्वर स्वतन्त्र पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता। किन्तु जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है ॥ ३ ॥

चौथा नास्तिक कहता है कि—विना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जैसा बबूल आदि वृक्षों के काँटे तीक्ष्ण अणिवाले देखने में आते हैं। इससे विदित होता है कि जब-जब सृष्टि का आरम्भ होता है, तब-तब शरीरादि पदार्थ विना निमित्त के होते हैं।

उत्तर—जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है, वही उसका निमित्त है। विना बीज, कण्टकी वृक्ष के काँटे उत्पन्न क्यों नहीं होते? ॥ ४ ॥

पांचवा नास्तिक कहता है कि—सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाशवाले हैं, इसलिये सब अनित्य हैं।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

—यह किसी ग्रन्थ का श्लोक है ॥

नवीन वेदान्ती लोग पांचवें नास्तिक की कोटि में हैं, क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि क्रोड़ों ग्रन्थों का यह सिद्धान्त है—"ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं।"

उत्तर—जो सबकी नित्यता नित्य है तो सब अनित्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—सबकी नित्यता भी अनित्य है, जैसे अग्नि काष्ठों को नष्टकर आप भी नष्ट हो जाता है।

उत्तर—जो यथावत् उपलब्ध होता है, उसका वर्त्तमान में अनित्यत्व और परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता। जो वेदान्ती लोग ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तो ब्रह्म के सत्य होने से, उसका कार्य्य असत्य कभी नहीं हो सकता। जो स्वप्न, रज्जू-सर्प्पादिवत् कल्पित कहें तो भी ठीक नहीं बन सकता। क्योंकि कल्पना गुण है, गुण से द्रव्य कभी नहीं, और गुण द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकता। जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिये, नहीं तो उसको भी अनित्य मानो। जैसे स्वप्न विना देखे-सुने कभी नहीं आता। जो जागृत अर्थात् वर्त्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं, उनके साक्षात्

सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर 'संस्कार' अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे सुषप्ति होने से बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं, वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्त्तमान रहता है। जो संस्कार के विना स्वप्न होवे, तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे। इसलिये वहां उनका ज्ञानमात्र है और बाहर सब पदार्थ वर्त्तमान हैं।

प्रश्न—जैसे जागृत के पदार्थ स्वप्न और दोनों के सुषुप्ति में अनित्य हो जाते हैं, वैसे जागृत के पदार्थों को भी स्वप्न के तुल्य मानना चाहिये।

उत्तर—ऐसा कभी नहीं मान सकते। क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञानमात्र होता है, अभाव नहीं। जैसे किसी के पीछे की ओर बहुत-से पदार्थ अदृष्ट रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति की बात है। इसलिये जो पूर्व कह आये कि ब्रह्म, जीव और जगत्-कारण अनादि नित्य हैं, वही सत्य है॥ ५॥

छठा नास्तिक कहता है कि—पांच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।

उत्तर—यह बात सत्य नहीं। क्योंकि जिन पदार्थों का उत्पत्ति और विनाश का कारण देखने में आता है वे सब नित्य हों तो सब स्थूल जगत् तथा शरीर घटपटादि पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट होते देखते ही हैं, इससे कार्य को नित्य नहीं मान सकते॥ ६॥

सातवां नास्तिक कहता है कि—सब पृथक्-पृथक् हैं, कोई एक पदार्थ नहीं है, जिस-जिस पदार्थ को हम देखते हैं कि उनमें दूसरा एक पदार्थ कोई भी नहीं दीखता।

उत्तर—अवयवों में अवयवी, वर्त्तमानकाल, आकाश, परमात्मा और जाति पृथक्-पृथक् पदार्थ-समूहों में एक-एक हैं उनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इसलिये सब पृथक् पदार्थ नहीं, किन्तु स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं और पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है॥ ७॥

आठवां नास्तिक कहता है कि—सब पदार्थों में इतरेतराभाव की सिद्धि होने से सब अभावरूप हैं। जैसे '**अनश्वो गौः। अगौरश्वः**' गाय घोड़ा नहीं और घोड़ा गाय नहीं, इसलिये सबको अभावरूप मानना चाहिये।

उत्तर—सब पदार्थों में इतरेतराभाव का योग हो, परन्तु '**गवि गौरश्वेऽश्वो भावरूपो वर्तत एव**' गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का भाव ही है, अभाव कभी नहीं हो सकता। जो पदार्थ का भाव न हो, तो 'इतरेतराभाव' भी किस में कहा जावे?॥ ८॥

नववां नास्तिक कहता है कि—स्वभाव से सब जगत् की उत्पत्ति होती है। जैसे पानी, अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं और बीज पृथिवी जल मिलने से घास वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र वायु के योग से तरङ्ग; और तरङ्गों से समुद्रफेन; हल्दी, चूना और नींबू के रस मिलने से रोरी बनती है, वैसे सब जगत् तत्त्वों के स्वभाव गुणों से उत्पन्न हुआ है। इसका बनानेवाला कोई भी नहीं।

उत्तर—जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे। और जो विनाश भी स्वभाव से मानो, तो उत्पत्ति न होगी। और जो दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों में मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी। और जो निमित्त के होने से उत्पत्ति और नाश मानोगे तो 'निमित्त' से उत्पत्ति और विनाश होने वाले द्रव्यों से पृथक् मानना पड़ेगा। जो स्वभाव से उत्पत्ति और विनाश होता तो एक समय ही में उत्पत्ति और विनाश का होना सम्भव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो, तो इस भूगोल के निकट में दूसरा भूगोल, चन्द्र-सूर्य्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते? और जिस-जिस के योग से जो-जो उत्पन्न होता है, वह-वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज, अन्न-जलादि के संयोग से घास-वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं, विना उनके नहीं। जैसे हल्दी, चूना और नींबू का रस दूर-दूर देश से आकर आप नहीं मिलते, किसी के मिलाने से मिलते हैं, उसमें भी यथायोग्य मिलाने से रोरी होती है, अधिक, न्यून वा अन्यथा करने से रोरी नहीं होती; वैसे ही प्रकृति, परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये विना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिये विशेष पदार्थ नहीं बन सकते। इसलिये स्वभावादि से सृष्टि नहीं होती, किन्तु परमेश्वर की

रचना से होती है॥ ९॥

प्रश्न—इस जगत् का कर्ता न था, न है और न होगा किन्तु अनादि काल से यह जैसा का वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई, न कभी विनाश होगा।

उत्तर—विना कर्त्ता के कोई भी क्रिया वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते। और जो संयोग से बनता है, वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता। जो तुम इसको न मानो तो कठिन से कठिन पाषाण, हीरा और फोलाद आदि तोड़ के, टुकड़े कर, गला वा भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं वा नहीं? जो मिले हैं तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं॥ १०॥

प्रश्न—अनादि ईश्वर कोई नहीं किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञादिगुणयुक्त केवल-ज्ञानी होता है, वही जीव 'ईश्वर' 'परमेश्वर' कहाता है।

उत्तर—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो, तो साधनों से सिद्ध होने वाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत्, शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते? इनके विना जीव साधन ही न कर सकता। जब साधन न होते, तो सिद्ध कहां से होता? जीव चाहै जैसा साधन कर सिद्ध होवे, तो भी 'ईश्वर' के—जो कि स्वयं सनातन अनादि सिद्ध है, जिसमें अनन्त सिद्धि हैं,—उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े, तो भी परिमित ज्ञान और सामर्थ्यवाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्यवाला कभी नहीं हो सकता। देखो! कोई भी योगी आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलनेहारा नहीं हुआ है, और न होगा। जैसा अनादि-सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है, इसको कोई भी योगी बदल नहीं सका है। जीव 'ईश्वर' कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—कल्प-कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण-विलक्षण बनाता है, अथवा एकसी जैसी कि अब है, वैसी पहले थी और आगे होगी, भेद नहीं करता?

उत्तर—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ १॥

—ऋ० म० १०। सू० १९०। मं० ३॥

(धाता) परमेश्वर [ने] जैसे पूर्व-कल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, आदित्य बनाये थे, वैसे ही अब बनाये हैं और आगे भी वैसे ही बनावेगा॥ १॥

इसलिये परमेश्वर के काम विना भूल-चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है, उसी के काम में भूल-चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं।

प्रश्न—सृष्टि-विषय में वेदादि-शास्त्रों का अविरोध है, वा विरोध?

उत्तर—अविरोध है।

प्रश्न—जो अविरोध है तो—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥

—यह तैत्तिरीय उपनिषद् [ब्र० व०। अनु० १] का वचन है॥

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश 'अवकाश' अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न-सा होता है, वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य्य, वीर्य्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।

यहां आकाशादि क्रम से, और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलादि क्रम से सृष्टि हुई। वेदों में कहीं पुरुष, कहीं हिरण्यगर्भ आदि से, मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ,

सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें?

उत्तर—इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है। क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है अग्न्यादि क्रम से, और जब विद्युत् अग्नि का भी प्रलय (नाश) नहीं होता तब जलादि क्रम से सृष्टि होती है, अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पति होती है। पुरुष और हिरण्यगर्भादि वे सब नाम परमेश्वर ही के हैं, प्रथम समुल्लास में लिख भी आये हैं।

शास्त्रों के अविरोध के विषय में पूर्व लिख भी आये हैं। परन्तु विरोध उसको कहते हैं कि एक-कार्य्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है—

मीमांसा में—ऐसा कोई भी कार्य्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाय।

वैशेषिक में—समय न लगे विना, बने ही नहीं।

न्याय में—उपादानकारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता।

योग में—विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय, तो नहीं बन सकता।

सांख्य में—तत्त्वों का मेल न होने से, नहीं बन सकता।

और वेदान्त में—बनाने वाला न बनावे, तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न हो न सके।

इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठा कर भित्तियों पर धरें वैसे ही सृष्टिरूप कार्य्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।

परन्तु जैसे पांच अन्धे और एक मन्ददृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है? उनमें से एक ने कहा—खम्भे, दूसरे ने कहा—सूप, तीसरे ने कहा—मूसल, चौथे ने

कहा—झाड़ू, पांचवें ने कहा—चौतरा और छठे ने कहा—काला-काला चार खम्भों के ऊपर कुछ भैंसा-सा आकारवाला है। इसी प्रकार आज कल के अनार्ष, नवीन ग्रन्थों के पढ़ने और प्राकृत भाषावालों ने ऋषिप्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर, नवीन क्षुद्रबुद्धिकल्पित संस्कृत और भाषाओं के ग्रन्थ पढ़ कर, एक दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है। इनका कथन बुद्धिमानों के वा अन्य के मानने योग्य नहीं। क्योंकि जो अन्धों के पीछे अन्धे चलें तो दुःख क्यों न पावें? वैसे ही आज-कल के अल्प-विद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करनेवाली है।

प्रश्न—जब कारण के विना कार्य्य नहीं होता तो कारण का कारण क्यों नहीं?

उत्तर—अरे भोले भाइयो! कुछ अपनी बुद्धि को काम में क्यों नहीं लाते? देखो! संसार में दो ही पदार्थ होते हैं, एक कारण दूसरा कार्य्य। जो कारण है, वह कार्य्य नहीं, और जो जिस समय कार्य्य है, वह कारण नहीं। जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता, तब-तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता—

नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोग-विशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिरुच्यते॥

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् वर्तमान तत्त्वावयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, और संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते-बनाते विचित्ररूप बनी है, इसी से यह संसर्ग होने से 'सृष्टि' कहाती है।

भला जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलाने वाला पदार्थ है, जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता, उसको 'कारण' और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता, वह 'कार्य्य' कहाता है। जो उस कारण का कारण, कार्य्य का कार्य्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन और साध्य का साध्य

कहता है, वह देखता अन्धा, सुनता बहिरा और जानता हुआ मूढ़ है। क्या आँख की आँख, दीपक का दीपक और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है? जो जिससे उत्पन्न होता है वह '**कारण**', और जो उत्पन्न होता है वह '**कार्य्य**', और जो कारण को कार्यरूप बनानेहारा है, वह '**कर्त्ता**' कहाता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

—भगवद्गीता [अ० २। श्लो० १७]॥

कभी 'असत्' का भाव वर्त्तमान और 'सत्' का अभाव अवर्त्तमान नहीं होता, इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने जाना है अन्य पक्षपाती, आग्रही, मलीनात्मा, अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं? क्योंकि जो मनुष्य विद्वान्, सत्सङ्गी होकर पूरा विचार नहीं करता, वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। धन्य वे पुरुष हैं कि सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जानने के लिये परिश्रम करते हैं, जानकर अन्यों को निष्कपटता से जनाते हैं। इससे जो कोई कारण के विना सृष्टि मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता।

जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है, उसका नाम महत्तत्त्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहङ्कार, और अहङ्कार से भिन्न-भिन्न पांच सूक्ष्मभूत; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्म इन्द्रिय हैं और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत जिनको हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियां, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी सृष्टि नहीं होती। क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बना कर, उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।

देखो! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों

का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत्, फेफड़ा, पंखा कला का स्थापन, रुधिरशोधन, प्रचालन, विद्युत् का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूलरचन, लोम नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिये स्थानविशेषों का निर्माण, सब धातु का विभागकरण, कला-कौशल-स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन कर सकता है? इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के रत्न धातु से जड़ित भूमि, विविध प्रकार वटवृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्मरचना, असंख्य रक्त, हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण, चित्र, मध्यरूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, मूल निर्माण, मिष्ट, क्षार, कटुक, कषाय, तिक्त, अम्लादि विविध रस, सुगन्धादियुक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द, मूलादि-रचन, अनेकानेक क्रोड़ों भूगोल, सूर्य, चन्द्रादि लोकनिर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के विना कोई भी नहीं कर सकता। जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। एक जैसा वह पदार्थ और दूसरा उसमें रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान है। जैसे किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जंगल में पाया, देखा तो विदित हुआ कि यह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार सृष्टि में विविध रचना, बनानेवाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई, वा पृथिवी आदि की?

उत्तर—पृथिवी आदि की। क्योंकि पृथिव्यादि के विना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।

प्रश्न—सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे, वा क्या?

उत्तर—अनेक। क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता है। क्योंकि—

'मनुष्या ऋषयश्च ये'॥

[तु०—यजुः अ० ३१, मुंडकोप० ९, मुं० २।७।१]

'ततो मनुष्या अजायन्त'

—यह यजुर्वेद [के शत० ब्रा० कां० १४। प्रपा० ३। ब्रा० २। कं० ५] में लिखा है।

इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए। और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक मा-बाप के सन्तान हैं।

प्रश्न—आदि सृष्टि में मनुष्य आदि की बाल्य, युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी, अथवा तीनों में?

उत्तर—युवावस्था में। क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता, तो उनके पालन के लिये दूसरे मनुष्य आवश्यक होते। जो वृद्धावस्था में बनाता, तो मैथुनी-सृष्टि न होती। इसलिये युवावस्था में सृष्टि की है।

प्रश्न—कभी सृष्टि का प्रारम्भ है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसकी आदि वा अन्त नहीं। किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि-अन्त होता रहता है क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता, कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं, इसी प्रकार उसके कर्तव्य-कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं।

प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हिरण, गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं, इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

उत्तर—पक्षपात नहीं आता, क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। जो कर्म के विना जन्म देता तो पक्षपात आता।

प्रश्न—मनुष्यों की आदि-सृष्टि किस स्थल में हुई?

उत्तर—'त्रिविष्टप' अर्थात् जिसको 'तिब्बत' कहते हैं।

प्रश्न—आदि सृष्टि में एक जाति थी, वा अनेक?

उत्तर—एक मनुष्यजाति थी। पश्चात्—

विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवः।

—यह ऋग्वेद [१।५१।८] का वचन है॥

श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के 'दस्यु' अर्थात् डाकू, मूर्ख और अनाड़ी नाम होने से 'आर्य्य' और 'दस्यु' दो नाम हुए।

'उत शूद्र उतार्ये' —अथर्ववेद [१९.६२.१] का वचन है।

आर्य्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम 'आर्य्य' और मूर्खों का नाम 'शूद्र' और 'अनार्य' अर्थात् 'अनाड़ी' हुआ।

प्रश्न—फिर वे यहां कैसे आये?

उत्तर—जब आर्य्य और दस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव, अविद्वान् जो असुर, उनमें सदा लड़ाई-बखेड़ा हुआ किया। जब बहुत उपद्रव होने लगा, तब आर्य्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे। इसी से इस देश का नाम '**आर्यावर्त्त**' हुआ।

प्रश्न—आर्यावर्त्त की अवधि कहां तक है?

उत्तर—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ १॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशमार्य्यावर्त्तं प्रचक्षते॥ २॥

—मनु० [२।२२; तु०—२२।१७]॥

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र॥ १॥

तथा सरस्वती पश्चिम में 'अटक' नदी, जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में मिली है। और पूर्व में 'दृषद्वती' जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल के, बङ्गाले के, आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है जिसको 'ब्रह्मपुत्र' कहते हैं। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको **आर्य्यावर्त्त** कहते हैं। यह देश देवनिर्मित आर्यावर्त्त इसलिये कहाता है कि 'देव' नाम विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से '**आर्यावर्त्त**' कहाया है॥ २॥

प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था और इसमें कौन बसते थे?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्य्यों के पूर्व इस देश में बसते थे। क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे।

प्रश्न—कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आये। इसी से इन लोगों का नाम 'आर्य' हुआ है। इनके पूर्व यहां जंगली लोग बसते थे कि जिनको असुर' और 'राक्षस' कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे और उनका जब संग्राम हुआ, उसका नाम 'देवासुरसंग्राम' कथाओं में ठहराया।

उत्तर—यह बात सर्वथा झूठ है। क्योंकि—

वि जा॑नी॒ह्यार्या॑न् ये च॒ दस्य॑वो ब॒र्हिष्म॑ते रन्धया॒ शास॑दव्र॒तान्॥

—ऋ० म० १। सू० ५१। मं० ८॥

उ॒त शू॒द्र उ॒तार्ये॑॥

—यह भी अथर्ववेद [कां० १९। सू० ६२। मं० १] का प्रमाण है॥

हम लिख चुके हैं कि 'आर्य' नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम 'दस्यु' अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजों का नाम 'आर्य्य' और शूद्र का नाम 'अनार्य्य' अर्थात् 'अनाड़ी' है। जब वेद यह कहता है तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं

मान सकते। और देवासुर-संग्राम में आर्य्यावर्त्तीय अर्जुन तथा महाराजे दशरथ आदि जो कि हिमालय पहाड़ में आर्य विद्वान् और दस्यु, म्लेच्छ असुरों का जो युद्ध हुआ था, उसमें 'देव' अर्थात् आर्य्यों की रक्षा और असुरों के पराजय करने को सहायक हुए थे। इससे यही सिद्ध होता है कि आर्य्यावर्त्त [के] बाहर चारों ओर जो हिमालय के पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान देश में मनुष्य रहते हैं उन्हीं का नाम 'असुर' सिद्ध होता है। क्योंकि जब-जब हिमालय-प्रदेशस्थ आर्य्यों पर लड़ने को चढ़ाई करते थे, तब-तब यहां के राजे महाराजे लोग उन्हीं उत्तर आदि देशों में आर्य्यों के सहायक होते थे। और जो श्रीरामचन्द्रजी से दक्षिण में युद्ध हुआ है, उसका नाम 'देवासुर संग्राम' नहीं है, किन्तु उसको राम-रावण अथवा आर्य्य और राक्षसों का संग्राम कहते हैं। किसी संस्कृत ग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य्य लोग ईरान से आये और यहां के जङ्गलियों को लड़ कर, जय पाके, निकाल के, इस देश के राजा हुए, पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है? और—

आर्यवाचो म्लेच्छवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ १॥

—मनु० [तु०—१०।४५]॥

म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥ २॥ —मनु० [२।२३]॥

जो आर्य्यावर्त्त देश से भिन्न देश हैं, वे 'दस्युदेश' और 'म्लेच्छदेश' कहाते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आर्य्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईशान, उत्तर, वायव्य और पश्चिम देशों में रहने वालों का नाम 'दस्यु' और 'म्लेच्छ' तथा 'असुर' है। और नैर्ऋत, दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्य्यावर्त्त देश से भिन्न रहने वाले मनुष्यों का नाम 'राक्षस' है।

अब भी देख लो! हबशी लोगों का स्वरूप भयङ्कर जैसाकि राक्षसों का वर्णन किया है, वैसा ही दीख पड़ता है। और आर्य्यावर्त्त की सूध पर नीचे रहने वालों का नाम 'नाग' और उस देश का नाम 'पाताल' इसलिये कहते हैं कि वह देश आर्य्यावर्त्तीय मनुष्यों के 'पाद' अर्थात् पग के तले में है। और उनको 'नागवंशी', अर्थात् नाग नाम वाले पुरुष के वंश के

राजा होते थे। उसी की उलोपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था, अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव तक सर्व-भूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार आर्य्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहता था। इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश, इनके स्वायंभवादि सात राजा और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्य्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए, जिन्होंने यह आर्य्यावर्त्त बसाया है।

अब अभाग्योदय से और आर्य्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्य्यावर्त्त में भी आर्य्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक दु:ख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।

परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है, विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिये जो कुछ वेदादिशास्त्रों में व्यवस्था वा इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है।

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ?

उत्तर—एक अर्ब, छानवें क्रोड़, कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई 'भूमिका'[१] में लिखा है, देख लीजिये।

इत्यादि प्रकार सृष्टि के बनाने और बनने में है और यह भी है कि

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषय को देखो।

सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता, उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, इसको इंगलिशभाषा में 'एटम' कहते हैं, दो अणु का एक द्व्यणुक जो कि स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पाँच द्व्यणुक की पृथिवी अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलाकर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये हैं।

प्रश्न—इसका धारण कौन करता है? कोई कहता है—'शेष' अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प्प के शिर पर पृथिवी है। दूसरा कहता है कि—बैल के सींग पर। तीसरा कहता है कि किसी पर नहीं। चौथा कहता है कि वायु के आधार। पाँचवाँ कहता है कि सूर्य के आकर्षण से खैंची हुई अपने ठिकाने पर स्थित। छठा कहता है कि—पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है, इत्यादि में किस बात को सत्य मानें?

उत्तर—जो "शेष सर्प्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित है" कहता है, उसको पूछना चाहिये कि सर्प्प और बैल के मा-बाप के जन्म समय किस पर थी तथा सर्प्प और बैल आदि किस पर हैं? बैलवाले मुसलमान तो चुप ही कर जायेंगे, परन्तु सर्प्प वाले कहेंगे कि सर्प्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर और वायु आकाश में ठहरा है। उनसे पूछना चाहिये कि सब किस पर हैं? तो अवश्य कहेंगे कि परमेश्वर पर। जब उनसे कोई पूछेगा कि शेष और बैल किसका बच्चा है? तो कहेंगे कि कश्यप कद्रू और बैल गाय का। कश्यप मरीची, मरीची मनु, मनु विराट् और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म न हुआ था, उसके पहले पाँच पीढ़ी हो चुकी हैं, तब किसने धारण किया था? अर्थात् कश्यप के जन्म-समय में पृथिवी किस पर थी? तो 'तेरी चुप मेरी भी चुप' और लड़ने लग जायेंगे। अर्थात् इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि जो 'बाकी' रहता है, उसको 'शेष' कहते हैं। सो किसी कवि ने **'शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्'** पृथिवी 'शेष के आधार है' ऐसा कहा—दूसरे ने उसके

अभिप्राय को न समझकर सर्प्प की मिथ्या कल्पना कर ली। परन्तु जिसलिये परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से बाकी अर्थात् पृथक् रहता है, इसी से उसको 'शेष' कहते हैं और उसी के आधार पृथिवी है—

सत्येनोत्तंभिता भूमिः॥

—यह ऋग्वेद [१०।८५।१] के मन्त्र का भाग है।

(सत्य) अर्थात् जो त्रैकाल्याबाध्य, जिसका कभी नाश नहीं होता, उस परमेश्वर ने भूमि आदि सब लोकों का धारण किया है।

उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्॥

—यह भी ऋग्वेद का वचन है

[तुलना—ऋ० १०।३१।८; अथर्व० ४।११।१]॥

इसी 'उक्षा' शब्द को देखकर किसी ने बैल का ग्रहण किया होगा, क्योंकि उक्षा बैल का भी नाम है। परन्तु उस मूढ़ को यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहां से आवेगा! इसलिये 'उक्षा' वर्षा द्वारा भूगोल के सेचन करने से 'सूर्य्य' का नाम है। उसने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है। परन्तु सूर्य्यादि का धारण करनेवाला विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है।

प्रश्न—इतने-इतने बड़े भूगोलों को परमेश्वर कैसे धारण कर सकता होगा?

उत्तर—जैसे अनन्त आकाश के सामने बड़े-बड़े भूगोल कुछ भी अर्थात् समुद्र के आगे जल के छोटे कणके के तुल्य भी नहीं, वैसे अनन्त परमेश्वर के सामने असंख्यात लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कह सकते। वह बाहर-भीतर सर्वत्र व्यापक अर्थात्—

विभुः प्रजासु —यह यजुर्वेद [३२.८] का वचन है।

वह परमात्मा सब प्रजाओं में व्यापक होकर सबका धारण कर रहा है। जो वह ईसाई, मुसलमान, पुराणियों के कथनानुसार विभु न होता तो इस सब सृष्टि का धारण कभी न कर सकता। क्योंकि विना प्राप्ति के किसी को कोई धारण नहीं कर सकता। कोई कहे कि ये सब लोक परस्पर आकर्षण से धारण होंगे, पुनः परमेश्वर के धारण करने की क्या अपेक्षा है? उनको यह उत्तर देना चाहिये कि यह सृष्टि अनन्त है, वा सान्त? जो अनन्त कहैं तो आकारवाला वस्तु अनन्त कभी नहीं हो सकता और जो सान्त कहैं तो उनके पर-भाग 'सीमा' अर्थात् जिसके परे कोई भी दूसरा लोक नहीं है, वहां किसके आकर्षण से धारण होगा? जैसे समष्टि और व्यष्टि अर्थात् जब सब समुदाय का नाम वन रखते हैं तो 'समष्टि' कहाता है और एक-एक वृक्षादि को भिन्न-भिन्न गणना करें, तो 'व्यष्टि' कहाता है, वैसे सब भूगोलों को समष्टि गिन कर जगत् कहैं, तो सब जगत् का धारण और आकर्षण का कर्त्ता विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं। इसलिये जो सब जगत् को रचता है, वही—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्॥

—यह यजुर्वेद [१३।४] का वचन है।

पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोक-लोकान्तर और पदार्थ तथा सूर्य्यादि प्रकाशसहित लोक और पदार्थों का रचन-धारण वही परमात्मा करता है जो सबमें व्यापक हो रहा है।

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक घूमते हैं, वा स्थिर हैं?

उत्तर—घूमते हैं।

प्रश्न—कितने ही लोग कहते हैं कि सूर्य्य घूमता है और पृथिवी नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि पृथिवी घूमती है, सूर्य्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाय?

उत्तर—ये दोनों आधे झूठे हैं। क्योंकि वेद में लिखा है कि-

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

—यजुः० अ० ३। मं० ६॥

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य्य के चारों ओर आकाश में घूमता जाता है, अर्थात् सूर्य के चारों ओर भूमि घूमा करती है—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजुः०। अ० ३३। मं० ४३॥

जो 'सविता' अर्थात् सूर्य, वर्षादि का कर्त्ता, प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्त्तमान, सब प्राणि-अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा और सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को

दिखलाता हुआ, सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्त्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है, किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता। वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य प्रकाशक और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं, जैसे—

दिवि सोमो अधि श्रितः॥

—अथर्व० कां० १४। अनु० १। मं० १॥

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है, वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश ही से प्रकाशित होते हैं। परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं, क्योंकि पृथिव्यादि लोक घूम कर जितना भाग सूर्य के सामने आता जाता है, उतने में दिन और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता है, उतने में रात। अर्थात् उदय, अस्त, संध्या, मध्याह्न, मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं, वे देशदेशान्तरों में सदा वर्त्तमान रहते हैं। अर्थात् जब आर्य्यावर्त्त में सूर्योदय होता है, उसी समय 'पाताल' अर्थात् 'अमेरिका' में अस्त होता है और जब आर्य्यावर्त्त में अस्त होता है, तब पाताल-देश में उदय होता है। जब आर्य्यावर्त्त में मध्य दिन वा मध्य रात है, उसी समय पाताल-देश में मध्य रात और मध्य दिन रहता है।

जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता और पृथिवी नहीं घूमती, वे सब अज्ञ हैं, क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्र वर्ष के दिन और रात होते। अर्थात् सूर्य का नाम (ब्रध्नः) पृथिवी से लाखों गुना बड़ा और क्रोड़ों कोश दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता, वैसे ही पृथिवी के घूमने से यथायोग्य रात-दिन होते हैं, सूर्य के घूमने से नहीं। और जो सूर्य को स्थिर कहते हैं, वे भी ज्योतिर्विद्यावित् नहीं। क्योंकि यदि सूर्य न घूमता होता तो एक राशि स्थान से दूसरी 'राशि' अर्थात् स्थान को प्राप्त न होता। और गुरु पदार्थ विना घूमे आकाश में नियत स्थान पर कभी नहीं रह सकता। और जो जैन आदि कहते हैं कि पृथिवी घूमती नहीं, किन्तु नीचे चली जाती है और दो सूर्य और दो चन्द्र केवल जम्बूद्वीप में बतलाते हैं, वे तो बारह लोटा गहरी भांग के नशे में निमग्न हैं। क्योंकि जो नीचे-नीचे चलती जाती तो चारों ओर वायु के चक्र न बनने से

पृथिवी छिन्न-भिन्न होती और निम्न-स्थल पृथिवी में रहनेवालों को वायु का स्पर्श न होता, नीचेवालों को अधिक होता और एक-सी वायु की गति होती। दो सूर्य चन्द्र होते, तो रात और कृष्णपक्ष का होना ही नष्ट-भ्रष्ट होता। इसलिये एक भूमि के पास एक चन्द्र और अनेक चन्द्र, अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है।

प्रश्न—सूर्य, चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है, वा नहीं?

उत्तर—ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं, क्योंकि—

एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥

—शत० कां० १४ [प्रपा० ६। ब्रा० ७। कं० ४]

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका वसु नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं और ये ही सबको वसाते हैं। जिसलिये वास के, निवास करने के घर हैं, इसलिये इनका नाम '**वसु**' है। जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है, तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता, तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो, तो सफल कभी हो सकता है? इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है।

प्रश्न—जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति अवयव है, वैसे ही अन्य लोकों में होंगे वा विपरीत?

उत्तर—कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है, जैसे इस देश में चीने, हबशी और आर्य्यावर्त्त, यूरोप में अवयव और रङ्ग-रूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है, वैसी जाति ही की सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अङ्ग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी

जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं। क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

—ऋ०। म० १०। सू० १९० [मं० ३]॥

'धाता' परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि, अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुख विशेष पदार्थ पूर्वकल्प में रचे थे, वैसे ही इस कल्प अर्थात् इस सृष्टि में रचे हैं, तथा सब लोक-लोकान्तरों में भी बनाये हैं। भेद किंचित्-मात्र नहीं होता।

प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं वेदों का उन लोकों में भी प्रकाश है, वा नहीं?

उत्तर—उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था, नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक-सी है।

प्रश्न—जब ये जीव और प्रकृतिस्थ तत्त्व अनादि और ईश्वर के बनाये नहीं हैं, तो ईश्वर का अधिकार भी इन पर न होना चाहिये, क्योंकि सब स्वतन्त्र हुए?

उत्तर—जैसे राजा और प्रजा समकाल में होते हैं और राजा के आधीन प्रजा होती है, वैसे ही परमेश्वर के आधीन जीव और जड़ पदार्थ हैं। जब परमेश्वर सब सृष्टि का बनाने, जीवों के कर्मफलों के देने, सबका यथावत् रक्षक और अनन्त सामर्थ्य वाला है, तो अल्प सामर्थ्य [जीव] भी और जड़ पदार्थ उसके आधीन क्यों न हो? इसलिये जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र हैं, वैसे ही सर्वशक्तिमान् सृष्टि, संहार और पालन सब विश्व का कर रहा है।

इसके आगे विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष-विषय में लिखा जायगा। यह आठवां समुल्लास पूरा हुआ।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलय-विषयेऽष्टमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥८॥

अथ नवमसमुल्लासारम्भः

अथ विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषयान् व्याख्यास्यामः

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

—यजुः० अ० ४०। मं० १४॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह '**अविद्या**' अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके '**विद्या**' अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। अविद्या का लक्षण—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥

—यह योगसूत्र का वचन है [यो० द० साधनपाद सू० ५]

जो 'अनित्य' संसार और देहादि में, नित्य—अर्थात् जो कार्य जगत् देखा-सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है—वैसी विपरीत बुद्धि होना, अविद्या का प्रथमभाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि-दूसरा। अत्यन्त विषयसेवनरूप 'दुःख' में सुखबुद्धि आदि तीसरा। 'अनात्मा' में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। इस चार प्रकार के विपरीत ज्ञान को 'अविद्या' कहते हैं। इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र और दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना 'विद्या' है। अर्थात् **'वेत्ति यथावत् तत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति साऽविद्या'** जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह 'विद्या' और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह 'अविद्या' कहाती है। अर्थात् कर्म और उपासना 'अविद्या' इसलिये है कि यह बाह्य और

अन्तर् क्रियाविशेष नाम है, ज्ञानविशेष नहीं। इसी से मन्त्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता। अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म, पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये धर्मयुक्त सत्य-भाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना मुक्ति का साधन है।

प्रश्न—मुक्ति किसको प्राप्त नहीं होती?

उत्तर—जो बद्ध है!

प्रश्न—बद्ध कौन है?

उत्तर—जो अधर्म अज्ञान में फसा हुआ जीव है।

प्रश्न—बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है, वा निमित्त से?

उत्तर—निमित्त से। क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।

प्रश्न— **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।**
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥

— यह माण्डूक्योपनिषद् पर श्लोक है
[गौडपादीयकारिका। प्रकरण २। कां० ३२]॥

जीव ब्रह्म होने से वस्तुतः जीव का 'निरोध' अर्थात् न कभी आवरण में आया, न जन्म लेता, न बन्धा है और न 'साधक' अर्थात् न कुछ साधना करनेहारा है, न छूटने की इच्छा करता और न इसकी कभी मुक्ति है। क्योंकि जब परमार्थ से बन्ध ही नहीं हुआ तो मुक्ति क्या?

उत्तर—यह नवीन वेदान्तियों का कहना सत्य नहीं। क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रगट होनेरूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल-भोगरूप बन्धन में फसता, उसके छुड़ाने का साधन करता, दुःख से छूटने की इच्छा करता और दुःखों से छूट कर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

प्रश्न—ये सब धर्म देह और अन्तःकरण के हैं, जीव के नहीं। क्योंकि जीव तो पाप-पुण्य से रहित साक्षीमात्र है। शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म हैं, क्षुधा-तृषा प्राण का और हर्ष-शोक मन का धर्म्म है, आत्मा निर्लेप है।

उत्तर—देह और अन्तःकरण जड़ हैं, उनको शीतोष्ण की प्राप्ति और भोग नहीं है, जैसे पत्थर को शीत और उष्ण का भान वा भोग नहीं है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करता है, उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ हैं, न उनको भूख और न पिपासा, किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा-तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है, न उसको हर्ष और न शोक हो सकता है, किन्तु मन से हर्ष-शोक, सुख-दुःख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है, वैसे ही 'अन्तःकरण' अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार से सङ्कल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करनेवाला जीव है। जैसे तलवार आदि किसी शस्त्र से किसी को मारने वा रक्षा करने वाला दण्ड और मान्य का भागी कर्म का कर्त्ता होता है, तलवार नहीं होती, वैसे ही देहेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता होता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किन्तु कर्त्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक परमात्मा है। जो कर्म का करने वाला जीव है, वही कर्मों में लिप्त होता है; वह ईश्वर साक्षी नहीं।

प्रश्न—जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्प्पण के टूटने-फूटने से बिम्ब की कुछ हानि नहीं होती, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव तब तक है कि जब तक वह अन्तःकरणोपाधि है। जब अन्तःकरण नष्ट हो गया, तब वह जीव मुक्त है।

उत्तर—यह बालकपन की बात है। क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्प्पण आकारवाले हैं और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हो, तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार, सर्वव्यापक होने से, उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।

प्रश्न—देखो! गम्भीर स्वच्छ स्थिर जल में निराकार और व्यापक

आकाश का आभास पड़ता है। इसी प्रकार स्वच्छ अन्त:करण में परमात्मा का आभास है। इसलिये इसको 'चिदाभास' कहते हैं।

उत्तर—यह बालबुद्धि का मिथ्या प्रलाप है, क्योंकि आकाश दृश्य नहीं, तो उसको आंख से कोई भी नहीं देख सकता। जब आकाश से स्थूल वायु को आँख से नहीं देख सकता, तो आकाश को क्यों कर देख सकेगा?

प्रश्न—यह जो ऊपर को नीला और धूंधला दीखता है वह आकाश नीला दीखता है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो वह क्या है?

उत्तर—अलग-अलग पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उसमें जो नीलता दीखती है वह अधिक जल, जो वर्षता है सो वही नील, जो धूंधला दीखता है वह पृथिवी से धूली उड़ कर वायु में घूमती है वह दीखती, और उसी का प्रतिबिम्ब जल वा दर्प्पण में दीखता है; आकाश का कभी नहीं।

प्रश्न—जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश के भेद व्यवहार में होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के ब्रह्माण्ड और अन्त:करण उपाधि के भेद से ईश्वर और जीव नाम होता है। जब घटादि नष्ट हो जाते हैं, तब महाकाश ही कहाता है।

उत्तर—यह भी बात अविद्वानों की है। क्योंकि आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी 'घड़ा लाओ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, कोई नहीं कहता कि घड़े का आकाश लाओ। इसलिये यह बात ठीक नहीं।

प्रश्न—जैसे समुद्र के बीच में मच्छी, कीड़े और आकाश के बीच में पक्षी आदि घूमते हैं, वैसे ही चिदाकाश ब्रह्म में सब अन्त:करण घूमते हैं। वे स्वयं तो जड़ हैं, परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से जैसाकि अग्नि से लोहा, वैसे चेतन हो रहे हैं। जैसे वे चलते-फिरते और आकाश तथा ब्रह्म स्थिर है, वैसे जीव को ब्रह्म मानने में कोई भी दोष नहीं आता।

उत्तर—यह भी तुम्हारा दृष्टान्त सत्य नहीं, क्योंकि जो सर्वव्यापी ब्रह्म सब अन्त:करणों में प्रकाशमान होकर जीव होता है, तो सर्वज्ञादि गुण उसमें होते हैं वा नहीं? जो कहो कि आवरण होने से सर्वज्ञता नहीं होती, तो कहो कि ब्रह्म आवृत और खण्डित है वा अखण्डित? जो कहोगे कि अखण्डित है, तो बीच में कोई भी पड़दा नहीं हो सकता। जब पड़दा नहीं, तो सर्वज्ञता क्यों नहीं? जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्त:करण में ब्रह्म फस गया है, तो ब्रह्म नित्य मुक्त नहीं। और ब्रह्म अन्त:करण के साथ चलता है वा नहीं? तो यही कहोगे कि नहीं। जब स्वयं नहीं चलता, तो अन्त:करण जितना-जितना पूर्व प्राप्त देश छोड़ता और आगे-आगे जहां-जहां सरकता जायगा, वहां-वहां का ब्रह्म भ्रान्त, अज्ञानी हो जायगा और जितना-जितना छूटता जायगा, वहां-वहां का ज्ञानी, पवित्र और मुक्त होता जायगा। इसी प्रकार सर्वत्र सृष्टि के ब्रह्म को अन्त:करण बिगाड़ा करेंगे और बन्ध-मुक्ति भी क्षण-क्षण में हुआ करेगी। तुम्हारे कहे प्रमाणे जो वैसा होता, तो किसी जीव को पूर्व देखे-सुने का स्मरण न होता। क्योंकि जिस ब्रह्म ने देखा वह पृथक् रहा और दूसरे देश में दूसरे ब्रह्म का सम्बन्ध होता है। जैसे लोहे में अग्नि ही का दाह प्रकाश है लोहे का नहीं, वैसे चेतनता अन्त:करण में ब्रह्म की है अपनी नहीं, तो ब्रह्म ही कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त हो जायगा। इसलिये जीव सब पृथक्-पृथक् हैं। ब्रह्म जीव वा जीव ब्रह्म एक कभी नहीं होता, सदा पृथक्-पृथक् हैं।

प्रश्न—यह सब अध्यारोपमात्र है। अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का स्थापन करना 'अध्यारोप' कहाता है, वैसे ही ब्रह्म वस्तु में सब जगत् और इसके व्यवहार का अध्यारोप करने से जिज्ञासु को बोध कराना होता है, वास्तव में सब ब्रह्म ही है।

[प्रति] प्रश्न—अध्यारोप का करने वाला कौन है?

उत्तर—जीव।

प्रश्न—जीव किसको कहते हैं?

उत्तर—अन्त:करणावच्छिन्न चेतन को।

प्रश्न—अन्त:करणावच्छिन्न चेतन से दूसरा है, वा वही ब्रह्म है?

उत्तर—वही ब्रह्म है।

प्रश्न—तो क्या ब्रह्म ही ने अपने में जगत् की झूठी कल्पना कर ली?

उत्तर—हो, ब्रह्म की इससे क्या हानि?

प्रश्न—जो मिथ्या कल्पना करता है, क्या वह झूठा नहीं होता?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो मन, वाणी से कल्पित वा कथित है, वह सब झूठा है।

प्रश्न—फिर मन, वाणी से झूठी कल्पना करने और मिथ्या बोलनेवाला ब्रह्म कल्पित और मिथ्यावादी हुआ वा नहीं?

उत्तर—हो, हमको इष्टापत्ति है।

वाह रे झूठे वेदान्तियो! तुमने सत्यस्वरूप, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प परमात्मा को भी मिथ्याचारी कर दिया। क्या यह तुम्हारी दुर्गति का कारण नहीं है? किस उपनिषद्, सूत्र वा वेद में लिखा है कि परमेश्वर मिथ्यासङ्कल्प और मिथ्यावादी है? क्योंकि जैसे किसी चोर ने कोतवाल को दण्ड दिया अर्थात् '**उलटि चोर कोतवाल को दण्डे**' इस कहानी के सदृश तुह्मारी बात हुई। यह तो बात उचित है कि कोतवाल चोर को दण्डे। परन्तु यह बात विपरीत है कि चोर कोतवाल को दण्ड देवे। वैसे ही तुम मिथ्यासङ्कल्प और मिथ्यावादी होकर वही अपना दोष ब्रह्म में व्यर्थ लगाते हो। जो ब्रह्म मिथ्याज्ञानी, मिथ्यावादी, मिथ्याकारी होवे तो सब अनन्त ब्रह्म वैसा ही हो जाय, क्योंकि वह एकरस है, सत्यस्वरूप, सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकारी है। ये सब दोष तुम्हारे हैं, ब्रह्म के नहीं। जिसको तुम विद्या कहते हो वह अविद्या और झूठा अध्यारोप है, क्योंकि आप ब्रह्म न होकर अपने को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव मानना यह अविद्या और मिथ्याज्ञान नहीं तो क्या है? जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न, अज्ञान और बन्ध में कभी नहीं गिरता, क्योंकि अज्ञान परिच्छिन्न, एकदेशी, अल्प, अल्पज्ञ जीव में होता है, सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म में नहीं।

अब मुक्ति बन्ध का वर्णन करते हैं—

प्रश्न—मुक्ति किसको कहते हैं?

उत्तर—'**मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः**' जिसमें छूट जाना हो, उसका नाम मुक्ति है।

प्रश्न—किससे छूट जाना?

उत्तर—जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं।

प्रश्न—किससे छूटने की इच्छा करते हैं?

उत्तर—जिससे छूटना चाहते हैं।

प्रश्न—किससे छूटना चाहते हैं?

उत्तर—दुःख से।

प्रश्न—छूट कर किसको प्राप्त होते और कहां रहते हैं?

उत्तर—सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति और बन्ध किन-किन बातों से होता है?

उत्तर—परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म्म, अविद्या, कुसङ्ग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय-धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और 'उपासना' अर्थात् योगाभ्यास करने; विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने; सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से '**मुक्ति**' और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभङ्ग करने आदि काम से '**बन्ध**' होता है।

प्रश्न—मुक्ति में जीव का लय होता है, वा विद्यमान रहता है?

उत्तर—विद्यमान रहता है।

प्रश्न—कहां रहता है?

उत्तर—ब्रह्म में।

प्रश्न—ब्रह्म कहां है और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है, वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है?

उत्तर—जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में मुक्त जीव 'अव्याहतगति' अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।

प्रश्न—मुक्त जीव का स्थूल शरीर रहता है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं रहता।

प्रश्न—फिर वह सुख और आनन्द भोग कैसे करता है?

उत्तर—उसके सत्य-सङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण-सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिकसङ्ग नहीं रहता। जैसे—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयँश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति॥ [तुलना]—शतपथ कां० १४। [३।२।१७]॥

[—छां० उप० प्रपा० ८। खं० १२। प्रवाक ४-५]

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिये घ्राण, सङ्कल्प-विकल्प करने समय मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहङ्कार करने में अहङ्काररूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और सङ्कल्प इच्छामात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।

प्रश्न—उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है?

उत्तर—मुख्य एक प्रकार की शक्ति है। परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है। जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव का लय मानते हैं, वे जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं। क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में

रहना। देखो वेदान्त शारीरक सूत्रों में—

अभावं बादरिराह ह्येवम्।

[वे० द० अ० ४। पा० ४। सू० १०]

जो बादरि व्यास जी का पिता है, वह मुक्ति में जीव और उसके साथ मन का भाव मानता है। अर्थात् जीव और मन का लय पराशरजी नहीं मानते हैं, वैसे ही—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥

[वेदान्त० अ० ४। पा० ४। सू० ११]॥

और जैमिनि आचार्य्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण आदि को भी विद्यमान मानते हैं, अभाव नहीं।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥

[वेदान्त० अ० ४। पा० ४। सू० १२]॥

व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों मानते हैं। अर्थात् दोष अविद्यादि क्लेशादि का अभाव और जीव, अन्तःकरण, आनन्द, प्राण, इन्द्रियों का शुद्ध भाव रहता है अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है। अपवित्रता, पापाचरण, दुःख, अज्ञानादि का अभाव मानते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

—यह [कठ] उपनिषद् का श्लोक है [अ० २। वल्ली० ६। मं० १०]

जब शुद्ध मनयुक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको 'परमगति' अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति॥ [छां० उप० प्रपा० ८। खं० ७। प्रवाक १]॥

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥

[छां० उप० प्रपा० ८। खं० १२। प्रवाक ५]

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषांꣳ

सर्वे च लोका आप्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति॥

[छां० उप० प्रपा० ८। खं० १२। प्रवाक ६]॥

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याऽशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥

—छान्दो० [उप० प्रपा० ८। खं० १२। प्रवाक १]॥

जो परमात्मा अपहतपाप्मा, सर्वपाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है, उसकी खोज और उसी की जानने की इच्छा करनी चाहिये। जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है, जो परमात्मा को जानके मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है॥

सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है॥

जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा का जोकि सब का अन्तर्यामी आत्मा है, उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करनेवाले विद्वान् लोग करते हैं, उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं, वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़ कर सङ्कल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं। क्योंकि जो शरीरवाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते॥

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि—हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे, वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है। सो शरीर इस 'मरण और शरीर-रहित' जीवात्मा का निवासस्थान है। इसीलिये यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीरसहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता-अप्रसन्नता की निवृत्ति नहीं होती और जो शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी

नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है।

प्रश्न—जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरणरूप दुःख में कभी आते हैं, वा नहीं? क्योंकि—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति॥

—उपनिषद्वचनम् [छां० उप० प्र० ८। खं० १५]॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥

—शारीरक सूत्र [वे० द० अ० ४। पा० ४। सू० २२]॥

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

—भगवद्गीता [अ० १५। श्लो० ६]॥

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता।

उत्तर—यह बात ठीक नहीं। क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ १॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ २॥

—ऋ० म० १। सू० २४। मं० १-२॥

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः॥ ३॥

—सांख्यसूत्र [अ० १। सू० १५९]॥

प्रश्न—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है?॥ १॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाशस्वरूप, अनादि, सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा इस प्रकार मुक्ति की व्यवस्था करता और सबका स्वामी है॥ २॥

जैसे इस समय बन्ध मुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं। अत्यन्त विच्छेद बन्ध वा मुक्ति का कभी नहीं होता, किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती॥ ३॥

प्रश्न—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।

[न्याय सू० अ० १। आ० १। सू० २२]

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥

—न्यायसूत्र [अ० १। आ० १। सू० २]॥

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है, वही '**मुक्ति**' कहाती है।

क्योंकि जब मिथ्या ज्ञान, अविद्या, लोभादि दोष, विषय, दुष्ट-व्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तर-उत्तर के छूटने से पूर्व-पूर्व के निवृत्त होने ही से '**मोक्ष**' है, जो कि सदा बना रहता है।

उत्तर—यह आवश्यक नहीं है कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे। जैसे '**अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते**' बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत दुःख वा सुख है। इसी प्रकार यहां भी '**अत्यन्त**' शब्द का अर्थ जानना चाहिये।

प्रश्न—जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहता है?

उत्तर—**ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।**

—यह मुण्डक उपनिषद् का वचन है [तुलना—तैत्ति० आरण्यक प्रपा० १०। अनुवाक १०। प्रवाक ३। ऋचा २२; मुण्डकोप० मुं० ३। खं० २। मं० ६]॥

वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि—तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक '**चतुर्युगी**', दो सहस्र चतुर्युगियों का एक '**अहोरात्र**', ऐसे तीस अहोरात्रों का एक '**महीना**', ऐसे बारह महीनों का एक '**वर्ष**', ऐसे शत-वर्षों का

'**परान्तकाल**' होता है। इसको गणित की रीति से यथावत् समझ लीजिये। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

प्रश्न—सब संसार और ग्रन्थकारों का यही मत है कि जिससे पुनः जन्म-मरण में कभी न आवें।

उत्तर—यह बात कभी नहीं हो सकती। क्योंकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीव में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकता। जिनके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे, तो संसार का '**उच्छेद**' अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें।

प्रश्न—ईश्वर, जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है, इसलिये निश्शेष नहीं होते।

उत्तर—जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जायें। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है। फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट हो जायेंगे। मुक्ति अनित्य हो गई। और मुक्ति के स्थान में बहुत-सा भीड़-भड़क्का हो जायगा। क्योंकि वहां आगम अधिक और व्यय कुछ भी नहीं होने से बढ़ती का पारावार न रहेगा।

और दुःख के अनुभव के विना, सुख कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे कटु न हो, तो मधुर क्या। जो मधुर न हो, तो कटु क्या कहावे? क्योंकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है। जैसे कोई मनुष्य मीठा मधुर ही खाता-पीता जाय, उसको वैसा सुख नहीं होता, जैसा सब प्रकार के रसों के भोगनेवाले को होता है।

और जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय। जो जितना भार उठा सके, उतना उसपर धरना, बुद्धिमानों का काम है। जैसे एक मनभर उठानेवाले के शिर पर दस मन धरने से भार धरनेवाले की निन्दा होती है, वैसे अल्पज्ञ अल्प-सामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना, ईश्वर के लिये ठीक नहीं।

और जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है, तो जिस कारण से

उत्पन्न होते हैं, वह चुक जायगा। क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोश हो, परन्तु जिसमें व्यय है और आय नहीं, उसका कभी न कभी दिवाला निकल ही जाता है। इसलिये यही व्यवस्था ठीक है कि मुक्ति में जाना, वहां से आना ही अच्छा है। क्या थोड़े कारागार से 'जन्म-कैद' वा 'कालेपानी' अथवा 'फांसी' को कोई अच्छा मानता है? जब वहां से आना ही न हो, तो 'जन्म-कारागार' से इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती। और ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।

प्रश्न—जैसे परमेश्वर नित्यमुक्त, पूर्ण-सुखी है, वैसे ही जीव भी नित्यमुक्त और सुखी रहेगा तो कोई भी दोष न आवेगा।

उत्तर—परमेश्वर अनन्त स्वरूप, सामर्थ्य, गुण, कर्म, स्वभाववाला है इसलिये वह कभी अविद्या और दुःख बन्धन में नहीं गिर सकता। जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण-कर्म-स्वभाववाला रहता है, परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।

प्रश्न—जब ऐसा; तो मुक्ति भी जन्म-मरण के सदृश हुई। इसके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है।

उत्तर—मुक्ति जन्म-मरण के सदृश नहीं। क्योंकि जब-तक ३६००० (छत्तीस सहस्र) वार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख का न होना, क्या छोटी बात है? जब आज खाते-पीते हो, कल भूख लगनेवाली है, पुनः इसका उपाय क्यों करते हो? जब क्षुधा, तृषा, क्षुद्र धन, राज्य, प्रतिष्ठा, स्त्री, सन्तान आदि के लिये उपाय करना आवश्यक है, तो मुक्ति के लिये क्यों न करना? जैसे मरना अवश्य है, तो भी जीवन का उपाय किया जाता है, वैसे ही मुक्ति से लौट कर जन्म में आना है, तथापि उसका उपाय करना अत्यावश्यक है?

प्रश्न—मुक्ति के क्या-क्या साधन हैं?

उत्तर—कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं परन्तु विशेष उपाय ये हैं—जो मुक्ति चाहै वह 'जीवन्मुक्त' अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पाप-कर्मों का फल दुःख है, उनको छोड़ सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। जो कोई दुःख को छुड़ाना और

सुख को प्राप्त होना चाहै, वह अधर्म को छोड़, धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है।

सत्पुरुषों के संग से '**विवेक**' अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करें, पृथक्-पृथक् जानें और 'शरीर' अर्थात् जीव पंचकोशों का विवेचन करें। **एक**—'**अन्नमय**' जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। **दूसरा**—'**प्राणमय**' जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता, 'अपान' जो बाहर से भीतर आता, 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, 'उदान' जिससे कंठस्थ अन्न-पान खैंचा जाता और बल-पराक्रम होता है, 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। **तीसरा**—'**मनोमय**' जिसमें मन के साथ अहङ्कार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पांच कर्म इन्द्रियाँ हैं। **चौथा**—'**विज्ञानमय**' जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञान इन्द्रियाँ, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। **पाँचवाँ**—'**आनन्दमयकोश**' जिसमें प्रीति-प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द, आनन्द और साधारण कारणरूप प्रकृति है, ये 'पांच कोष' कहाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है। **तीन अवस्था**—एक '**जागृत**' दूसरी '**स्वप्न**' और तीसरी '**सुषुप्ति**' अवस्था कहाती है। **तीन शरीर** हैं—**एक** '**स्थूल**' जो यह दीखता है। **दूसरा**—**पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्म-भूत** और **मन** तथा **बुद्धि** इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय '**सूक्ष्मशरीर**' कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके **दो भेद** हैं—**एक** '**भौतिक**' अर्थात् जो सूक्ष्म-भूतों के अंशों से बना है। **दूसरा** '**स्वाभाविक**' जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप हैं। यह दूसरा 'अभौतिक' शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। **तीसरा कारण**—जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक है। **चौथा** '**तुरीय**' शरीर वह कहाता है—जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दरूप में मग्न जीव होते हैं। इसी समाधि संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत्

सहायक रहता है। इन सब कोष, अवस्थाओं से जीव पृथक् है। क्योंकि जब मृत्यु होता, तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया। यही जीव सबका प्रेरक, सबका धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है। क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं इनको सुख-दु:ख का भोग वा पाप-पुण्य-कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हां, इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दु:खों का भोक्ता है। जब इन्द्रियां अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वह मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है। और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्धजन्य दु:ख भोगता है।

दूसरा साधन—‘**वैराग्य**’ अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो, उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना। विवेक यह है—जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव से जानकर—उसकी आज्ञा-पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना विवेक कहाता है।

तत्पश्चात् **तीसरा साधन**—‘**षट्क सम्पत्ति**’ अर्थात् छ: प्रकार के कर्म करना। **एक**—‘**शम**’ जिससे अपने आत्मा और अन्त:करण को अधर्माचरण से हटाकर, धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना। **दूसरा**—‘**दम**’ जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर, जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। **तीसरा**—‘**उपरति**’ जिससे दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना। **चौथा**—‘**तितिक्षा**’ चाहे निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़, मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना। **पाँचवाँ**—‘**श्रद्धा**’ जो वेदादि सत्य-शास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों

के वचनों पर विश्वास करना। **छठा**—‘**समाधान**’ चित्त की एकाग्रता; ये छ: मिल कर एक साधन तीसरा कहाता है।

चौथा—‘**मुमुक्षुत्व**’ अर्थात् जैसे क्षुधा-तृषातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के, दूसरे में प्रीति न होना; ये चार साधन। और **चार** ‘**अनुबन्ध**’ अर्थात् साधनों के पश्चात् ये कर्म करने होते हैं—इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वही मोक्ष का ‘**अधिकारी**’ होता है। दूसरा—‘**सम्बन्ध**’ ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादि-शास्त्र-प्रतिपादक को यथावत् समझ कर अन्वित करना। तीसरा—‘**विषयी**’ सब शास्त्रों का प्रतिपादन-विषय ब्रह्म उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम विषयी है। चौथा—‘**प्रयोजन**’ सब दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति-सुख का होना, ये चार ‘**अनुबन्ध**’ कहाते हैं।

तदन्तर ‘**श्रवणचतुष्टयम्**’

एक ‘**श्रवण**’ जब कोई विद्वान् उपदेश करे तब शान्त, ध्यान देकर सुनना, विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये कि यह सब विद्याओं में से सूक्ष्म विद्या है। सुनकर दूसरा—‘**मनन**’ एकान्त देश में बैठके सुने हुए का विचार करना, जिस बात में शङ्का हो पुन: पूछना और सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना। तीसरा—‘**निदिध्यासन**’ जब सुनने और मनन करने से नि:सन्देह हो जाय तब समाधिस्थ होकर उस बात को ध्यान योग से देखना-समझना कि वह जैसा सुना था, विचारा था, वैसा है वा नहीं। चौथा—‘**साक्षात्कार**’ अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप, गुण और स्वभाव हो, वैसा यथातथ्य जान लेना,—‘**श्रवणचतुष्टय**’ कहाता है।

सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध, मलिनता, आलस्य, प्रमाद, आदि; रजोगुण अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके सत्त्व अर्थात् शान्त प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि गुणों को धारण करे। (मैत्री) सुखी जनों में मित्रता, (करुणा) दु:खी

जनों पर दया, (मुदिता) पुण्यात्माओं से हर्षित होना, (उपेक्षा) दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना।

नित्यप्रति न्यून से न्यून दो घण्टा-पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों। देखो! अपने चेतनस्वरूप हैं, इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं। क्योंकि जब मन शान्त, चञ्चल, आनन्दित वा विषादयुक्त होता है, उस को यथावत् देखते हैं। वैसे ही इन्द्रियां-प्राण आदि का ज्ञाता, पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता, धारणाकर्षणकर्त्ता और सबसे पृथक् हैं। जो पृथक् न होते तो स्वतन्त्र, कर्त्ता, इनका प्रेरक, अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

—योगशास्त्रे पाद २। सू० ३॥

इनमें से '**अविद्या**' का स्वरूप कह आये। पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना '**अस्मिता**'। सुख में प्रीति '**राग**'। दुःख में अप्रीति '**द्वेष**'। और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूं, मरूं नहीं। मृत्यु दुःख से त्रास '**अभिनिवेश**' कहाता है। इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास, विज्ञान से छुड़ा देने पर ब्रह्म को प्राप्त होके, मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये।

प्रश्न—जैसी मुक्ति आप मानते हैं, वैसी अन्य कोई नहीं मानता। देखो! जैनी लोग मोक्षशिला और शिवपुर में जाके चुप-चाप बैठे रहना; ईसाई चौथा आसमान, जिसमें विवाह लड़ाई बाजे-गाजे वस्त्रादि-धारण से आनन्द भोगना; वैसे ही मुसलमान सातवें आसमान; वाममार्गी श्रीपुर; शैव कैलाश; वैकुण्ठ और गोकुलिये गोसाई गोलोक आदि में जाकर उत्तम स्त्री, अन्न, पान, वस्त्र, स्थान आदि को प्राप्त होकर आनन्द में रहने को मुक्ति मानते हैं। पौराणिक लोग **(सालोक्य)** ईश्वर के लोक में निवास, **(सानुज्य)** छोटे भाई के सदृश ईश्वर के साथ रहना, (सारूप्य) जैसी उपासनीय देव की आकृति है, वैसा बन जाना, **(सामीप्य)** सेवक के समान ईश्वर के समीप रहना, **(सायुज्य)** ईश्वर से संयुक्त हो जाना; ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं।

वेदान्ती लोग ब्रह्म में लय होने को मोक्ष समझते हैं।

उत्तर—जैनी (१२) बारहवें, ईसाई (१३) तेरहवें और (१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों की मुक्ति आदि विषय विशेषकर लिखेंगे। जो वाममार्गी श्रीपुर में जाकर लक्ष्मी के सदृश स्त्रियाँ, मद्य-मांसादि खाना-पीना, रंग-राग भोग करना मानते हैं, वह यहाँ से कुछ विशेष नहीं। वैसे ही महादेव और विष्णु के सदृश आकृति वाले पार्वती और लक्ष्मी के सदृश स्त्रीयुक्त होकर आनन्द भोगना, यहां के धनाढ्य राजाओं से अधिक, इतना ही लिखते हैं कि "वहां रोग न होंगे और युवावस्था रहेगी," यह उनकी बात मिथ्या है। क्योंकि जहां भोग, वहां रोग, जहां रोग वहाँ वृद्धावस्था अवश्य होती है। और पौराणिकों से पूछना चाहिये कि जैसी तुम्हारी चार प्रकार की मुक्ति है, वैसी तो कृमि-कीट-पतङ्ग-पश्वादिकों की भी स्वतःसिद्ध प्राप्त है, क्योंकि ये जितने लोक हैं वे सब ईश्वर के हैं, इन्हीं में सब जीव रहते हैं, इसलिये '**सालोक्य**' मुक्ति अनायास प्राप्त है। **सामीप्य**—ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिये 'सामीप्य' मुक्ति स्वतःसिद्ध है। जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वतः बन्धुवत् है, इससे '**सानुज्य**' मुक्ति भी विना प्रयत्न के सिद्ध है। और सब जीव सर्वव्यापक परमात्मा में व्याप्य होने से संयुक्त हैं, इससे '**सायुज्य**' मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है। और जो अन्य साधारण नास्तिक लोग मरने से तत्वों में तत्त्व मिल कर मुक्ति मानते हैं, वह तो कुत्ते, गधे आदि को भी प्राप्त है।

ये मुक्तियां नहीं है किन्तु एक प्रकार का बन्धन है। क्योंकि ये लोग शिवपुर, मोक्षशिला, चौथे आसमान, सातवें आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक को एकदेश में स्थान-विशेष मानते हैं। जो वे उन स्थानों से पृथक् हों, तो मुक्ति छूट जाय। इसीलिये जैसे १२ पत्थर के भीतर दृष्टिबन्ध होते हैं, उसके समान बन्धन में होंगे। मुक्ति तो यही है कि जहां इच्छा हो वहां विचरे, कहीं अटके नहीं। न भय, न शङ्का, न दुःख होता है। जो जन्म है वह 'उत्पत्ति' और मरना 'प्रलय' कहा है। समय पर जन्म लेते हैं।

प्रश्न—जन्म एक है वा अनेक?

उत्तर—अनेक।

प्रश्न—जो अनेक हों, तो पूर्व जन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं?

उत्तर—जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिये स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं, उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और जागृत वा स्वप्न में बहुत सा व्यवहार प्रत्यक्ष करके जब 'सुषुप्ति' अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, तब जागृतादि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और तुम से कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पाँचवें महीने के नवमें दिन दस बजे पर पहिली मिनट में तुमने क्या किया था? तुम्हारा मुख, हाथ, कान, शरीर किस ओर किस प्रकार का था? और मन में क्या विचार था? जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्व-जन्म की बातों के स्मरण में शङ्का करनी केवल लड़केपन की बात है। और जो स्मरण नहीं होता है, इसी से जीव सुखी है, नहीं तो सब जन्मों के दु:खों को देख-देखकर दु:खित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहै, तो भी नहीं जान सकता, क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।

प्रश्न—जब जीव को पूर्व का ज्ञान नहीं और ईश्वर इसको दण्ड देता है, तो जीव का सुधार नहीं हो सकता। क्योंकि जब उनके पापकर्मों को जनाकर दण्ड देवे अर्थात् उनको ज्ञान हो कि हमने अमुक काम किया था, उसी का यह फल है, तभी वे जीव उन बुरे कर्मों से बच सकें?

उत्तर—तुम ज्ञान कै प्रकार का मानते हो?

प्रश्न —प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का।

उत्तर —तो जब तुम जन्म से लेकर समय-समय में राज, धन,

बुद्धि, विद्या, दारिद्र्य, निर्बुद्धि, मूर्खता आदि सुख-दु:ख संसार में देख कर पूर्व-जन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते? जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो, उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता और अविद्वान् नहीं जान सकता। उसने वैद्यकविद्या पढ़ी है और दूसरे ने नहीं। परन्तु ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझ से कोई कुपथ्य हो गया है, जिससे मुझे यह रोग हुआ है। वैसे ही जगत् में विचित्र सुख-दु:ख आदि की घटती-बढ़ती देख के पूर्वजन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते? और जो पूर्वजन्म को न मानोगे, तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है। क्योंकि विना पाप के दारिद्र्यादि दु:ख और विना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और बुद्धि उसको क्यों दी? और पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दु:ख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।

प्रश्न—एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है। जैसे सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय। जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता, किसी को काटता, उखाड़ता और किसी की रक्षा करता, बढ़ाता है। जिसकी जो वस्तु है, उसको वह चाहै जैसे रक्खे। उसके ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करने वाला नहीं, जो उसको दण्ड दे सके, वा ईश्वर किसी से डरे।

उत्तर—परमात्मा जिसलिये न्याय चाहता करता, अन्याय कभी नहीं करता, इसीलिये वह पूजनीय और बड़ा है। जो न्यायविरुद्ध करे, वह ईश्वर ही नहीं। जैसे माली युक्ति के विना, सड़क में अथवा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है, इसी प्रकार विना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे। परमेश्वर के ऊपर न्याययुक्त काम करना अवश्य है, क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायाधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् में विना योग्यता के, उत्तम काम किये प्रतिष्ठा और दुष्ट काम किये विना दण्ड देने वाला निन्दनीय अप्रतिष्ठित नहीं होता? इसलिये ईश्वर अन्याय नहीं करता, इसी से किसी से नहीं डरता।

प्रश्न—परमात्मा ने प्रथम ही से जिसके लिये जितना देना विचारा है, उतना देता और जितना कम करना है, उतना कम करता है।

उत्तर—उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं। जो अन्यथा हो, तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे।

प्रश्न—बड़े छोटों को एक सा ही सुख-दु:ख है। बड़ों को बड़ी चिन्ता और छोटों को छोटी। जैसे—किसी साहूकार का विवाद राजघर में लाख रुपये का हो, तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर कचहरी में उष्णकाल में जाता हो। बाजार में होके उसको जाता देखकर अज्ञानी लोग कहते हैं कि—"देखो पूर्वजन्म के पुण्य और पाप का प्रत्यक्ष फल यही है कि एक पालकी में आनन्दपूर्वक बैठा है और दूसरे विना जूते पहिरे ऊपर-नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठा कर ले जाते हैं।" परन्तु बुद्धिमान् लोग इसमें यह जानते हैं कि जैसे-जैसे कचहरी निकट आती जाती है, वैसे-वैसे साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता और कहारों को आनन्द होता है। जब कचहरी में पहुंचते हैं तब सेठजी इधर-उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक् (वकील) के पास जाऊं वा सरिश्तेदार के पास। आज हारूंगा वा जीतूंगा, न जाने क्या होगा? और कहार लोग तमाखू पीते, और प्रसन्न होकर आनन्द में सोते हैं। जो वह जीत जाय तो कुछ सुख और जो हार जाय तो सेठजी दु:खसागर में डूब जाय, कहार जैसे के वैसे रहते हैं। इसी प्रकार जब राजा सुन्दर कोमल बिछौने में सोता है तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती और मजूर कङ्कर, पत्थर और मट्टी, ऊंचे-नीचे स्थल पर सोता है, उसको झट निद्रा आती है। वैसे सर्वत्र समझ लो।

उत्तर—यह समझ अज्ञानियों की है। क्या किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा और कहार से कहें कि तू साहूकार बन जा, तो साहूकार कभी कहार बनता नहीं और कहार साहूकार बनना चाहते हैं। जो सुख-दु:ख बराबर होता तो अपनी-अपनी अवस्था छोड़ नीच और ऊँच बनना दोनों न चाहते। देखो! एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब

प्रकार दु:ख मिलता है। एक जब जन्मता है, तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ी-छेदन, दुग्धपानादि यथायोग्य प्राप्त होते हैं। जब वह दूध पीना चाहता तो उसके साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिये नौकर-चाकर, खिलौना, सवारी उत्तम स्थानों में लाड़ से आनन्द होता है। दूसरे का जन्म जङ्गल में होता, स्नान के लिये जल भी नहीं मिलता, जब दूध पीना चाहता, तब दूध के बदले में घुरकाया और घूंसा-थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यन्त आर्तस्वर से रोता है, कोई नहीं पूछता, इत्यादि जीवों को विना पुण्य-पाप के सुख-दु:ख होने से परमेश्वर पर दोष आता है।

दूसरा जैसे विना किये कर्मों के सुख-दु:ख मिलते हैं, तो आगे नरक-स्वर्ग भी न होना चाहिये। क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय विना कर्मों के सुख-दु:ख दिया है, वैसे मरे पीछे भी जिसको चाहेगा उसको स्वर्ग में और जिसको चाहे नरक में भेज देगा। पुन: सब जीव अधर्मयुक्त हो जायेंगे, धर्म क्यों करें? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है। परमेश्वर के हाथ है। जैसी उसकी प्रसन्नता होगी, वैसा करेगा तो पाप-कर्मों में भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जायगा। इसलिये पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एक सा है, वा भिन्न-भिन्न जाति के?

उत्तर—जीव एक से हैं। परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य का जीव पश्वादि और पश्वादि का जीव मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के, पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता-आता है, वा नहीं?

उत्तर—हां! जाता-आता है।

प्रश्न—किस प्रकार जाता-आता है?

उत्तर—जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता

है तब 'देव' अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता और जब पुण्य-पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लेता है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता और पुण्य के फल भोग कर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।

जब शरीर से निकलता है उसी का नाम 'मृत्यु ' और शरीर के साथ संयोग होने का नाम 'जन्म' है। जब शरीर छोड़ता तब 'यमालय' अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है। क्योंकि '**यमेन** [ऋ० १०।१४।८] **वायुना**' [अथर्व० २०।१४१।२] वेद में लिखा है कि 'यम' नाम वायु का है, गरुड़पुराण का कल्पित यम नहीं। इसका विशेष खण्डन-मण्डन ग्यारहवें समुल्लास में लिखेंगे। पश्चात् 'धर्मराज' अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है।

वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य्य में जा, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण कर, बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री, और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों, तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। और नपुंसक गर्भ की स्थिति समय स्त्री-पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रज-वीर्य के बराबर होने से होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब-तक जीव पड़ा रहता है कि जब-तक उत्तम कर्मोपासना-ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता। क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्प पर्यन्त जन्म-मरण-दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।

प्रश्न—मुक्ति एक जन्म में होती है, वा अनेक जन्मों में?

उत्तर—अनेक जन्मों में। क्योंकि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे॥ १॥

—मुण्डक [२। खं० २। मं० ८]॥

जब इस जीव के हृदय की अविद्या-अज्ञानरूपी गांठ कट जाती, सब संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, तभी उस परमात्मा जोकि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है।

प्रश्न—मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है, वा पृथक् रहता है?

उत्तर—पृथक् रहता है। क्योंकि जो मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें। वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिये। जब जीव परमेश्वर की आज्ञापालन, उत्तम कर्म, सत्सङ्ग, योगाभ्यास, पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

—तैत्तिरी० [उपनि० ब्रह्मा० वल्ली०। अनु० १]॥

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके उस '**विपश्चित्**' अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है। यही '**मुक्ति**' कहाती है।

प्रश्न—जैसे शरीर के विना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में विना शरीर आनन्द कैसे भोग सकेगा?

उत्तर—इसका समाधान पूर्व कर आये हैं और इतना अधिक सुनो— जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टिविद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सबमें घूमता है। वह सब पदार्थों को—जो कि उसके ज्ञान के सामने हैं—सबको देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको

उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही सुखविशेष **स्वर्ग** और विषय-तृष्णा में फस कर दु:खविशेष भोग करना **नरक** कहाता है। '**स्व:**' सुख का नाम है। '**स्व: सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्ग:**' '**अतो विपरीतो दु:खभोगो नरक इति**' जो सांसारिक सुख है, वह '**सामान्य स्वर्ग**' और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही '**विशेष स्वर्ग**' कहाता है। सब जीव स्वभाव से सुखप्राप्ति की इच्छा और दु:ख का वियोग होना चाहते हैं, परन्तु जब-तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते, तब-तक उनको सुख का मिलना और दु:ख का छूटना न होगा। क्योंकि जिसका 'कारण' अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—

छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति तथा पापे क्षीणे दु:खं नश्यति।

जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है, वैसे पाप को छोड़ने से दु:ख नष्ट होता है। देखो! मनुस्मृति में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गति—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम् ।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ १ ॥
शरीरजै: कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर: ।
वाचिकै: पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ २ ॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ ३ ॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रज:स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपु: ॥ ४ ॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ ५ ॥
यत्तु दु:खसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मन: ।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ॥ ६ ॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ७ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां य: फलोदय:।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषत: ॥ ८ ॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रह: ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ९ ॥
आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्यपरिग्रह: ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ १० ॥
लोभ: स्वप्नोऽधृति: क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ११ ॥
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ १२ ॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ १३ ॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ १४ ॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्म: श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ १५ ॥

—मनु० अ० १२ [श्लो० ८-९, २५-३३, ३५-३८]॥

मनुष्य इस प्रकार अपने श्रेष्ठ, मध्य और निकृष्ट स्वभाव को जानकर उत्तम स्वभाव का ग्रहण; मध्य और निकृष्ट का त्याग करे और यह भी निश्चय जानें कि जो जीव मन से शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन से, वाणी से किये को वाणी और शरीर से किये को शरीर से सुख-दु:ख को भोगता है॥ १ ॥

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म, वाणी से किये पाप कर्मों से पक्षी और मृगादि, तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है॥ २ ॥

जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर देता है॥ ३ ॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब 'सत्त्व', जब अज्ञान रहे तब 'तम',

और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब 'रजोगुण' जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं॥ ४॥

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिये कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्त्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान है॥ ५॥

जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त, प्रसन्नतारहित, विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान; सत्त्वगुण और तमोगुण अप्रधान है॥ ६॥

जब 'मोह' अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहै, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क-रहित, जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं॥ ७॥

अब जो इन तीनों गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है, उसको पूर्णभाव से कहते हैं॥ ८॥

जब सत्त्वगुण का उदय होता है, तब वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म-क्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है॥ ९॥

जब रजोगुण का उदय; सत्त्व और तमोगुण का अस्तभाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझमें वर्त्त रहा है॥ १०॥

जब तमोगुण का उदय; और दोनों का आन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त 'लोभ' अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य्य का नाश, क्रूरता का होना, 'नास्तिक्य' अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, जिस किसी से 'याचना' अर्थात् मांगना, 'प्रमाद' अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट व्यसनों में फसना होवे, तब समझना कि तमोगुण मुझ में बढ़ कर वर्त्तता है॥ ११॥

यह सब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है कि जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शङ्का और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझ में प्रवृद्ध तमोगुण है॥ १२॥

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने पर भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता तब, समझना कि मुझमें रजोगुण प्रबल है॥ १३॥

और जब मनुष्य का आत्मा सब से जानने को चाहै, गुण ग्रहण करता जाय, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे और जिस कर्म्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण ही में रुचि रहे, तब समझना कि मुझमें सत्त्वगुण प्रबल है॥ १४॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-संग्रह की इच्छा और सत्त्वगुण का लक्षण धर्मसेवा करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है॥ १५॥

अब जिस-जिस गुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, सो-सो आगे लिखते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ १ ॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च कच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ २ ॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ३ ॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४ ॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ५ ॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ६ ॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ७ ॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ८ ॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ९ ॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्म्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ११ ॥

[मनु० अ० १२। श्लो० ४०, ४२-५०, ५२]

जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे 'देव' अर्थात् विद्वान्; जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य; और जो तमोगुणयुक्त होते हैं, वे नीच गति को प्राप्त होते हैं॥ १ ॥

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीड़े, मत्स्य, सर्प्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं॥ २ ॥

जो मध्यम तमोगुणी हैं वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित काम करने वाले, सिंह, व्याघ्र, 'वराह' अर्थात् सुअर के जन्म को प्राप्त होते हैं॥ ३ ॥

जो उत्तम तमोगुणी हैं वे 'चारण' जो कवित्त दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं, सुन्दर पक्षी और 'दांभिक' पुरुष अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा करनेहारे, 'राक्षस' जो हिंसक, 'पिशाच' और अनाचारी अर्थात् मद्यादि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं, वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है॥ ४ ॥

'झल्ला' अर्थात् कुद्दाले आदि से तलाब आदि के खोदनेहारे, 'मल्ला' अर्थात् नौका आदि के चलाने वाले, 'नट' जो बांस आदि पर कला कूदना-चढ़ना-उतारना आदि करते हैं, शस्त्रधारी भृत्य, द्यूत, और मद्यपान में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल है॥ ५ ॥

जो मध्यम रजोगुणी होते हैं वे राजा, क्षत्रियवर्णस्थ राजाओं के

पुरोहित, वादविवाद करनेवाले, दूत, प्राड्विवाक (वकील, वारिष्टर), युद्ध-विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं॥ ६ ॥

जो उत्तम रजोगुणी हैं वे (गन्धर्व) गानेवाले, (गुह्यक) वादित्र बजानेहारे, (यक्ष) धनाढ्य, विद्वानों के सेवक और 'अप्सरा' अर्थात् उत्तम रूपवाली स्त्री का जन्म पाते हैं॥ ७ ॥

जो तपस्वी, यति-संन्यासी, वेदपाठी, विमान के चलानेवाले, ज्योतिषी और 'दैत्य' अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं, उनको प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो॥ ८ ॥

जो मध्यम सत्त्वगुण युक्त होकर कर्म करते हैं वे जीव यज्ञकर्त्ता, वेदार्थवित्, विद्वान्, वेद, विद्युत् आदि, और काल-विद्या के ज्ञाता, रक्षक, ज्ञानी और 'साध्य' कार्यसिद्धि के लिये सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं॥ ९ ॥

जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त होके उत्तम कर्म्म करते हैं वे 'ब्रह्मा' सब वेदों का वेत्ता, 'विश्वसृज्' सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनानेहारे, धार्मिक, सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं॥ १० ॥

जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करनेहारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में 'नीच-जन्म' बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं॥ ११ ॥

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुणयुक्त वेग से जिस-जिस प्रकार का कर्म जीव करता है, उस-उस को उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है।

जो मुक्त होते हैं, वे 'गुणातीत' अर्थात् सब गुणों के स्वभावों में न फसकर, महायोगी होके मुक्ति का साधन करें। क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १ ॥ —योगशास्त्र [समाधिपाद सू० १]॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ २ ॥ [समाधिपाद सू० ३]

मनुष्य रजोगुण-तमोगुण-युक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर 'एकाग्र' अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त का ठहरा रखना, 'निरुद्ध'

अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना॥ १॥

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके 'द्रष्टा' ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है [॥ २ ॥]

इत्यादि साधन मुक्ति के लिये करे। और—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥

—सांख्यसूत्र [अ० १। सू० १]॥

जो 'आध्यात्मिक' अर्थात् शरीर-सम्बन्धी पीडा, 'जो आधिभौतिक' दूसरे प्राणियों से दुःखित होना, 'आधिदैविक' जो अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, मन इन्द्रियों की चञ्चलता से होता है, इस 'त्रिविध दुःख' को छुड़ा कर मुक्ति पाना 'अत्यन्त' पुरुषार्थ' है।

इसके आगे आचार, अनाचार और भक्ष्याऽभक्ष्य का विषय लिखेंगे॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषये नवमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ९॥

अथ दशमसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

अब जो धर्मयुक्त कर्मों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का सङ्ग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि 'आचार' और इनसे विपरीत 'अनाचार' कहाता है, उसको लिखते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥ १॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ २॥
सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥ ३॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ ४॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ ५॥
सर्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥ ६॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ ७॥
[श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥ ८॥]
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ९॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ १०॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ ११॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ १२॥
केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ १३॥

—मनु० अ० २। [श्लो० १-४, ६, ८, ९, [१०], ११-१३, २६, ६५]॥

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिसका सेवन राग-द्वेष रहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको 'हृदय' अर्थात् आत्मा से सत्य-कर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय समझें॥ १॥

क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थ-ज्ञान और वेदोक्त-कर्म ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं॥ २॥

जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूं, वा हो जाऊं तो वह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि सब 'काम' अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि-व्रत, यम, नियमरूपी धर्म सब संकल्प ही से बनते हैं॥ ३॥

क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं, वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो, तो आंख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता॥ ४॥

इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपने आत्मा प्रसन्न रहें अर्थात् भय, शङ्का, लज्जा जिसमें न हो, उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई मनुष्य मिथ्याभाषण, चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसके आत्मा में भय, शङ्का, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है, इसलिये वह कर्म करने योग्य नहीं॥ ५॥

मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों के आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञाननेत्र करके श्रुति-प्रमाण से

स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे॥ ६॥

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्त्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है॥ ७॥

'श्रुति' वेद और 'स्मृति' धर्मशास्त्र को कहते हैं, इनसे सब कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये॥ ८॥

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थ का अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें। क्योंकि जो **वेद** की निन्दा करता है, वही '**नास्तिक**' कहाता है॥ ९॥

इसलिये वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण, ये चार धर्म के 'लक्षण' अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है॥ १०॥

परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और 'काम' अर्थात् विषयसेवा में फसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें, उनके लिये वेद ही परम प्रमाण है॥ ११॥

इसीसे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें, जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करनेवाला है॥ १२॥

ब्राह्मण वर्ण के सोलहवें, क्षत्रिय का बाईसवें और वैश्य का चौबीसवें वर्ष में 'केशान्त-कर्म' और मुण्डन हो जाना चाहिये अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी, मूंछ और शिर के बाल सदा मुँडवाते रहना चाहिये अर्थात् पुनः कभी न रखना। और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे पंचकेश रक्खे। और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा-सहित भी छेदन करा देना चाहिये, क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी-मूंछ रखने से भोजन-पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है॥ १३॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥ १॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥ २॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ ३॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ ४॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥ ५॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ ६॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ७॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ ८॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ ९॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ १०॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ ११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १३॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ १४॥

—मनु० अ० २। [श्लो० ८८, ९३, ९४, ९७, १००, ९८। ११०, १३६, १५३-१५७, १५९]॥

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण

करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे। जैसे घोड़ों को सारथि रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटाके धर्ममार्ग में सदा चलाया करे॥ १॥

क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है। और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है॥ २॥

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है, इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिये॥ ३॥

जो अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसको '**विप्रदुष्ट**' कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब जितेन्द्रिय, धार्मिकजन को सिद्ध होते हैं॥ ४॥

इसलिये पांच कर्म, पांच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहारविहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे॥ ५॥

'**जितेन्द्रिय**' उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुनके हर्ष और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देखके प्रसन्न और दुष्टरूप देखके अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता॥ ६॥

कभी विना पूछे वा अन्याय से पूछनेवाले को कि जो कपट से पूछता हो, उसको उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहे। हां, जो निष्कपट और जिज्ञासु हों, उनको विना पूछे भी उपदेश करे॥ ७॥

एक धन, दूसरे बन्धु कुटुम्ब कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म और पांचवीं श्रेष्ठ विद्या, ये पांच मान्य के स्थान हैं। परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म और कर्म

से पवित्र विद्यावाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं॥ ८॥

क्योंकि चाहै सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या, विज्ञानरहित है, वह बालक और विद्या, विज्ञान का दाता है, उस बालक को भी वृद्ध मानना चाहिये। क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् अज्ञानी को 'बालक' और ज्ञानी को 'पिता' कहते हैं॥ ९॥

अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से और बड़े कुटुम्ब से वृद्ध नहीं होता, किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या, विज्ञान में अधिक है, वही 'वृद्ध' पुरुष कहाता है॥ १०॥

ब्राह्मण ज्ञान, क्षत्रिय बल, वैश्य धनधान्य और शूद्र 'जन्म' से अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है॥ ११॥

शिर के बाल श्वेत होने से बुड्ढा नहीं होता, किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं॥ १२॥

और जो विद्या नहीं पढ़ा है, वह जैसा लकड़े का हाथी, चमड़े का मृग होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है॥ १३॥

इसलिये विद्या पढ़ विद्वान्, धर्मात्मा होकर, निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे। उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं॥ १४॥

नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रक्खे। क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल-दुर्गन्ध दूर हो जाय।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च॥

—मनु० [१।१०८]॥

जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ '**आचार**' है।

मा [नो] वधीः पितरं मोत मातरम्॥

[यजुः अ० १६। मं० १५]

आचार्य्य उपनयमानो....ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

[देखिये—अथर्व० कां० ११। सू० ५। मं० ३;
अथर्व० कां० ११। सू० ५। मं० १७]॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य्यदेवो भव।
अतिथिदेवो भव॥ —तैत्तिरी० [आरण्यक प्र० ७। अनु० ११;
तै० उप० शि० व० अनु० ११]॥

माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि की सेवा करना '**देवपूजा**' कहाती है और जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्म है। कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, चोर, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग न करे। '**आप्त**' जो सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय जन हैं, उनका सङ्ग करना '**श्रेष्ठाचार**' है।

प्रश्न—आर्यावर्त्तवासियों का आर्यावर्त्त से भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है, वा नहीं?

उत्तर—यह बात मिथ्या है। क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है, वह जहां कहीं करेगा, आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा। और जो आर्य्यावर्त्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा, वही धर्म[-भ्रष्ट] और आचारभ्रष्ट कहावेगा। जो ऐसा होता तो—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैव समागम्य भारतं वर्षमासदत्॥ १॥
स दृष्ट्वा विविधान् देशान् चीनहूणनिषेवितान्॥ २॥

—यह महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म में व्यास-शुकसंवाद का वचन है
[तु०—महाभारत, कलकत्ता मिशन प्रेस संस्करण सन् १८३९,
अ० ३२७। श्लोक० १४-१५]॥

अर्थात् एक समय में व्यासजी अपने पुत्र शुक और शिष्य-सहित 'पाताल' अर्थात् जिसको इस समय 'अमेरिका' कहते हैं, उसमें निवास करते थे। शुकाचार्य्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि आत्मविद्या इतनी ही है वा अधिक? व्यासजी ने जानकर उस का उत्तर न दिया, क्योंकि

पूर्व उस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे की साक्षी के लिये अपने पुत्र शुक से कहा कि—''तू मिथिला में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर। वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा।'' पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य्य पाताल से 'मिथिला' की ओर चले। प्रथम 'मेरु' अर्थात् हिमालय से ईशान, उत्तर और वायव्य दिशा में जो देश बसते हैं, उनका नाम हरिवर्ष था। अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को, उस देश के मनुष्य अब भी '**रक्तमुख**' बन्दर के कुछ-कुछ समान भूरे नेत्रयुक्त होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय 'यूरोप' है, उन्हीं को संस्कृत में 'हरिवर्ष' कहते थे। उन देशों को देखते हुए और जिनको 'हूण' यहूदी भी कहते हैं, उन देशों को देखकर 'चीन' में आये। चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये।

और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में 'अश्वतरी' अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं, [उस पर] बैठ के पाताल में जाके महाराजे युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह 'गान्धार' जिसको 'कंधार' कहते हैं वहां की राजपुत्री से हुआ। माद्री जो कि पाण्डु की स्त्री थी 'ईरान' के राजा की कन्या थी और अर्जुन का विवाह पाताल में जिसको 'अमेरिका' कहते हैं वहां के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देशदेशान्तर, द्वीपद्वीपान्तर में न जाते होते, तो ये सब बातें क्योंकर हो सकतीं? मनुस्मृति में जो समुद्र में जाने वाली नौका पर 'कर' लेना लिखा है, वह भी आर्य्यावर्त्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है। और जब महाराजे युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ किया था, उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमन्त्रण देने के लिये भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे। जो दोष मानते होते तो कभी न जाते। सो प्रथम आर्य्य लोग व्यापार, राजकार्य्य और भ्रमण के लिये सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शङ्का है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्य देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जाने-आने में शङ्का नहीं करते, वे देश-देशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम, रीति-भाँति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर

होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके, बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट, धर्महीन नहीं होते, किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानना केवल मूर्खता की बात है।

हाँ, इतना कारण तो है कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं उनके शरीर और वीर्य्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं, इसलिये उनके सङ्ग करने से आर्य्यों को भी ये कुलक्षण न लग जायें, यह तो बात ठीक है। परन्तु इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष नहीं है, किन्तु इनके मद्यपानादि दोषों को छोड़, गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं। जब इनके स्पर्श और देखने में भी मूर्ख-जन पाप गिनते हैं, इसी से उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते; क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है।

सज्जन लोगों को राग, द्वेष, अन्याय, मिथ्याभाषणादि छोड़; निर्वैर, प्रीति, परोपकार, सज्जनतादि का धारण करना उत्तम आचार है। और यह भी समझ लें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हाँ, इतना अवश्य चाहिये कि वेदोक्त-धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य सीख लें, जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके। क्या देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये विना स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो सिवाय दारिद्र्य और दु:ख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता। पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे, देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देंगे, तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका का नाश करेंगे। इसीलिये भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें। हां, इतना अवश्य चाहिये कि मद्य-मांस का ग्रहण न करें।

क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्ध समय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है। इसी मूढ़ता से ये लोग चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर बैठे हैं। इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पका कर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब देश भर में चौका लगाके सर्वथा नाश कर दिया है। हां, जहां भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूड़ा-कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये, न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना।

प्रश्न—सखरी निखरी क्या है?

उत्तर—**'सखरी'** जो जल आदि में अन्न पकाये जाते; और जो घी-दूध में पकाते हैं, वह **'निखरी'**। अर्थात् यह भी इन धूर्तों का पाखण्ड है, क्योंकि जिसमें घी दूध अधिक लगे, उसको खाने में उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे इसीलिये यह प्रपञ्च रचा है। नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ 'पक्का', और न पका हुआ 'कच्चा' है। जो पक्के का खाना और कच्चा न खाना है, यह भी सर्वत्र ठीक नहीं। क्योंकि चणे आदि कच्चे भी खाये जाते हैं।

प्रश्न—द्विज अपने हाथ से रसोई बना के खावें, वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें?

उत्तर—शूद्र के हाथ की बनाई खावें, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यवर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्यपालने और पशुपालन, खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहें और शूद्र के पात्र [में] तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के विना न खावें। सुनो प्रमाण—

आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः।

—यह आपस्तम्ब का सूत्र है [आपस्तम्ब धर्मसूत्र। प्रश्न २। पटल २। खण्ड ३। सूत्र ४]॥

आर्यों के घर में 'शूद्र' अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादिसेवा करें परन्तु वे शरीर, वस्त्र आदि से पवित्र रहें। आर्यों के घर में जब रसोई बनावें तब मुख बांध के बनावें। क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वासा[दि] भी अन्न में न पड़े, आठवें दिन क्षौर नखच्छेदन करावें। स्नान करके पाक बनाया करें। आर्यों को खिलाके आप खावें।

प्रश्न—शूद्र के छुए हुए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं?

उत्तर—यह बात कपोलकल्पित झूठी है। क्योंकि जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिसान, शाक, फल, मूल खाया उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। क्योंकि जब शूद्र, चमार, भङ्गी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते, छीलते, पीलकर रस निकालते हैं, तब मल-मूत्रोत्सर्ग कर, उन्हीं विना धोये हाथों से छूते, उठाते, धरते, आधा सांठा चूंस, रस पीके, आधा उसी में डाल देते और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं। जब चीनी बनाते हैं, तब पुराने जूते कि जिसके तले में विष्ठा, मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती है, उन जूतों से रगड़ते हैं। दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी में घृतादि रखते और आटे पीसने समय भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते और पसीना भी आटे में टपकता है। शाक, फल, फूल, कन्द में भी ऐसी ही लीला होती है। जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सबके हाथ का खा लिया।

प्रश्न—रस, फल, फूल, कन्द मूल और अदृष्ट में दोष नहीं मानते।

उत्तर—वाहजी वाह! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूड़-राख खाते? गुड़-शक्कर मीठी लगती, दूध-घी पुष्टि करता है, इसीलिये यह मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है? अच्छा जो अदृष्ट में दोष नहीं, तो भङ्गी वा मुसलमान अपने हाथों से दूसरे स्थान में बनाकर तुमको आके देवे तो खा लोगे वा नहीं? जो कहो कि नहीं, तो अदृष्ट में भी दोष है। हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्य-मांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है, परन्तु आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष

नहीं दीखता। जब-तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दु:ख परस्पर न मानें, तब-तक उन्नति होना बहुत कठिन है। परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जब-तक बुरी बातें नहीं छोड़ते और अच्छी बातें नहीं करते, तब-तक बढ़ती के बदले हानि होती है।

विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण—आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़नी-पढ़ानी, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष के पहले हुई थीं, उनको भी भूल गये? देखो! महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयङ्कर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दु:खसागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक, नीच के दुष्ट-मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दु:ख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह महाराजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय। भक्ष्याऽभक्ष्य दो प्रकार के होते हैं। एक धर्मशास्त्रोक्त, दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त। जैसे धर्मशास्त्र में—

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥

—मनु० [५।५]॥

'**द्विज**' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य; और शूद्रों को मलीन, विष्ठा-मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक, फल, मूलादि न खाना।

वर्जयेन्मधु मांसं च॥ —मनु० [२।१७७]

जैसे अनेक प्रकार के मद्य, गाँजा, भाँग, अफीम आदि जो-जो—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते॥

[शार्ङ्गधर प्रथम खण्ड। अ० ४। श्लो० २१]॥

बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें

और जितने अन्न सड़े, बिगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उनके हाथ का न खावें। जिसमें उपकारक प्राणियों की हिंसा अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल, गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में कुछ कम चार लाख मनुष्यों को सुख पहुँचता है, वैसे पशुओं को न मारें, न मारने दें।

जैसे किसी गाय से बीस सेर और किसी से दो सेर दूध प्रतिदिन होवे, उसका मध्यभाग ग्यारह सेर प्रत्येक गाय से दूध होता है। कोई गाय अठारह और कोई छ: महीने तक दूध देती है, उसका मध्य भाग बारह महीने हुए। अब प्रत्येक गाय के जन्म भर के दूध से २४९६० (चौबीस सहस्र नौ सौ साठ) मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। उसके छ: बछियाँ छ: बछड़े होते हैं, उनमें से दो मर जायें, तो भी दश रहे। उनमें से पांच बछड़ियों के जन्म भर के दूध को मिलाकर १२४८०० (एक लाख चौबीस सहस्र आठ सौ) मनुष्य तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पांच बैल, वे जन्म भर में ५००० (पाँच सहस्र) मन अन्न न्यून से न्यून उत्पन्न करते हैं। उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य के भोजनार्थ ६० रुपये भर [=६० तोले]= तीन पाव अन्न खाने का भाग देने से २५०००० (अढ़ाई लाख) मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिला ३७४८०० (तीन लाख चौहत्तर सहस्र आठ सौ) मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्या मिला के एक गाय की एक पीढ़ी में ३९९७६० (तीन लाख निन्यानवे सहस्र सात सौ साठ) मनुष्य एक वार पालित होते हैं और पीढ़ी-परपीढ़ी बढ़ा कर लेखा करें तो असंख्य मनुष्यों का पालन होता है। इससे भिन्न [बैल] गाड़ी, सवारी, भार उठाने आदि कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं। तथा भैंसें गाय से दूध [की मात्रा] में अधिक उपकारक होती हैं, परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं, वैसे भैंसे भी हैं। परन्तु गाय के दूध-घी से जितने बुद्धिवृद्धि से लाभ होते हैं, उतने भैंस के दूध से नहीं। इससे मुख्य उपकारक आर्यों ने गाय को गिना है। और जो कोई अन्य विद्वान् होगा, वह भी इसी प्रकार समझेगा।

बकरी के दूध से २५९२० (पच्चीस सहस्र नौ सौ बीस) आदमियों

का पालन होता है, वैसे हाथी, घोड़े, ऊंट, भेड़, गदहे आदि से भी बड़े उपकार होते हैं। इन पशुओं को मारनेवालों को सब मनुष्यों की हत्या करनेवाले जानियेगा।

देखो! जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तब आर्य्यावर्त्त वा अन्य भूगोल-देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे। क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न, रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गो आदि पशुओं के मारनेवाले मद्याहारी राज्याऽधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्य्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है। क्योंकि—

नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्।

[चाणक्यनीति अ० १०। श्लो० १३]॥

जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय तो फल-फूल कहाँ से हों?

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जायें तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जायें कि सब गाय आदि पशुओं को मार खायें। तुम्हारा पुरुषार्थ व्यर्थ कर दें।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों, उनको दण्ड देवें और प्राण भी वियुक्त कर दें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक देंवे?

उत्तर—चाहें फेंक दें, चाहें कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें, वा जला देवें। चाहे कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह '**अभक्ष्य**' और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना '**भक्ष्य**' है। जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि, बल, पराक्रम और आयु की वृद्धि होवे, उन तण्डुल, गोधूम, फूल, मूल, कन्द, दूध, घी, मिष्टादि का सेवन, उन पदार्थों का यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब '**भक्ष्य**' कहाता है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध विकार

करनेवाले हैं, जिस-जिस के लिये जो-जो पदार्थ वैद्यकशास्त्र में वर्जित किये हैं, उन-उन का त्याग और जो-जो जिस-जिसके लिये विहित हैं, उन-उन का ग्रहण करना '**भक्ष्य**' है।

प्रश्न—एक साथ खाने में कुछ दोष है, वा नहीं?

उत्तर—दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव नहीं मिलता। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं। इसलिए—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥

—मनु० [२।५६]॥

न किसी को अपना उच्छिष्ट दे और न किसी के भोजन के बीच में आप खावे, न अधिक भोजन करे और न उच्छिष्ट अर्थात् भोजन किये पश्चात् मुख-हाथ धोये विना कहीं इधर-उधर जाय।

प्रश्न—'**गुरोरुच्छिष्टभोजनम्**' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन के पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना, अर्थात् प्रथम गुरु को भोजन कराके पश्चात् शिष्य भोजन करे।

प्रश्न—जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध और एक ग्रास लेने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, इनको भी न खाना चाहिये।

उत्तर—सहत कहने मात्र उच्छिष्ट है। वह बहुत ओषधियों का सार ग्राह्य, बछड़ा बाहिर का दूध पीता है, भीतर के दूध को नहीं छू सकता, इसलिये उच्छिष्ट नहीं, परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी मा के स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिए और अपना उच्छिष्ट, अपने को विकारकारक नहीं होता। और देखो! स्वभाव से यह बात सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे, जैसे अपने मुख, नाक, कान, आँख, उपस्थ और गुह्य इन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती, वैसे किसी दूसरे के मल-मूत्र के स्पर्श में होती है।

इसलिये सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत नहीं है, इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे।

प्रश्न—क्या स्त्री-पुरुष भी साथ और उच्छिष्ट न खावें?

उत्तर—नहीं। क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

प्रश्न—चाहे ब्राह्मण वा चाण्डाल हो, सब के हाथ चमड़े के हैं और जैसा रुधिरादि ब्राह्मण के शरीर में होते हैं, वैसा ही चाण्डाल के; पुनः भंगी के हाथ के खाने में क्या दोष है?

उत्तर—दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खान-पान से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि रहित शुद्धरज वीर्य होता है, वैसा चाण्डाल, चाण्डाली के शरीर में नहीं। क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि का नहीं। इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और भंगी का नहीं। जब तुमसे कोई पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधू का है, वैसा ही अपनी स्त्री का है, तो क्या माता आदि के साथ भी स्वस्त्री के समान वर्तोगे? जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है, वैसे दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है तो क्या मल भी खाओगे? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है?

प्रश्न—जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो, तो अपने गोबर से क्यों नहीं लगाते? और गोबर के चौके में जाने से चौका अशुद्ध क्यों नहीं होता?

उत्तर—गाय के गोबर से वैसा दुर्गन्ध नहीं होता जैसा कि मनुष्य के मल से [गोबर] चिकना होने से शीघ्र नहीं उखड़ता, न कपड़ा बिगड़ता, न मलीन होता है। जैसा मिट्टी से मैल चढ़ता है, वैसा सूखे गोबर से नहीं होता। मट्टी और गोबर से जिस स्थान को लेपन करते हैं, वह देखने में अतिसुन्दर होता है। और जहां रसोई बनती है वहां भोजनादि करने से घी, मिष्ट और उच्छिष्ट भी गिरता है, उससे मक्खी, कीड़ी आदि बहुत आते हैं। जब उसको झाड़ू लगा के लेपन कर दिया जाये वा पक्का मकान हो तो धो दिया जाता है तो वे दोष नहीं रहते, जैसा मियाँजी के चौके में कहीं कोयले, कहीं राख, कहीं लकड़ी और कहीं फूटी हाँडी

के टुकड़े, कहीं जूंठे पत्तल, कहीं हाड़-गोड़ पड़े रहने से देखने में बुरा लगता और सहस्रों मक्खी और कीड़ियों से भरा हुआ होता है। यदि गोबर से अशुद्ध मानते हो तो जब चूल्हे में छाने (कंडे) रखने, उसीकी आगी से तमाखू पीने, घर की भीत्ति पर लेपन करने आदि से मियाँजी का भी चौका भ्रष्ट हो जाता होगा?

प्रश्न—चौके में खाना अच्छा, वा बाहर?

उत्तर—जहाँ अच्छा दीखे, वहां भोजन करना चाहिये, परन्तु आवश्यक युद्धादि कर्मों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठे वा खड़े-खड़े भी खाना अत्यन्त उचित है।

प्रश्न—क्या अपने ही हाथ का खाना, दूसरे के हाथ का नहीं?

उत्तर—जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे तो बराबर सब आर्यों के साथ खाने में कुछ हानि नहीं। क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री-पुरुष रसोई बनाने, चौका देने, बर्तन-मांजने आदि बखेड़ों में पड़े रहैं तो विद्यादि शुभगुणों की वृद्धि कभी न हो। देखो! महाराजे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा, ऋषि-महर्षि आये थे। एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे। जब से ईसाई मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले, आपस में वैर-विरोध हुआ, उन्होंने मद्य गोमांसादि का खाना स्वीकार किया, उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया। देखो! क़ाबुल, कन्धार, ईरान, अमेरिका, यूरोप आदि के देशों के राजाओं की कन्या गान्धारी, माद्री, उलोपी आदि के साथ आर्य्यावर्त्तदेशीय राजा-लोग विवाह करते थे। शकुनि आदि कौरव-पाण्डवों के साथ खाते-पीते थे, कुछ विरोध नहीं करते थे, क्योंकि उस समय सर्व-भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी और एक दूसरे का सुख-दुःख हानि-लाभ आपस में अपने समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अब तो बहुत मत वाले होने से बहुत-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य-मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचारकर विरोध छोड़ के अविरुद्धमत के स्वीकार से सब जने मिलकर सब के आनन्द को बढ़ावें।

यह थोड़ा-सा आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य विषय में लिखा। इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध इसी दशमे समुल्लास पर्यन्त पूरा हो गया। इन समुल्लासों में विशेष खण्डन-मण्डन इसलिये नहीं लिखा कि जब-तक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते, तब-तक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ सकते। इसलिये प्रथम सबको सत्य-शिक्षा का उपदेश करके अब 'उत्तरार्द्ध' अर्थात् जिसमें चार समुल्लास हैं, उसमें विशेष खण्डन-मण्डन लिखेंगे।

इन चारों में से प्रथम समुल्लास में आर्य्यावर्त्तीय मतमतान्तर, दूसरे में जैनियों के, तीसरे में ईसाइयों और चौथे में मुसलमानों के मतमतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे। और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखलाया जायगा। जो कोई विशेष खण्डन-मण्डन देखना चाहें, वे इन चारों समुल्लासों में देखें। परन्तु सामान्य करके कहीं-कहीं दश समुल्लासों में भी कुछ थोड़ा-सा खण्डन-मण्डन किया है। इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात छोड़ न्यायदृष्टि से देखेगा, उसके आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा। और जो हठ, दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे-सुनेगा, उसको इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है। इसलिये जो कोई इसको यथावत् विचारेगा वह इस ग्रन्थ को सुभूषित, और न विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा। विद्वानों का यही काम है कि सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामीकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषित आचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्य-विषये दशमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १०॥

समाप्तोऽयम्पूर्वार्द्धः॥

उत्तरार्द्धः
अनुभूमिका (१)

यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्त्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था, क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से अविद्याऽन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया, वैसा मत चलाया।

उन सब मतों में ४ चार मत अर्थात् जो वेदविरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी, और कुरानी सभी मतों के मूल हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा तीसरा चौथा चला है। अब इन चारों की शाखा एक सहस्र से कम नहीं हैं। इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्याऽसत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये यह ग्रन्थ बनाया है। जो-जो इसमें सत्य-मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है, वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है, उसको सबके आगे निवेदित कर देना मैंने उत्तम समझा है, क्योंकि विज्ञान गुप्त हुए का पुनर्मिलना सहज नहीं है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्याऽसत्य मत सबको विदित हो जायगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा। इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तररूप मत आर्य्यावर्त्त देश में चले हैं, उनका संक्षेप से गुण-दोष इस ११वें समुल्लास में दिखाया जाता है।

इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्याऽसत्य का निर्णय करने-कराने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना अति उचित है। मनुष्य-जन्म का होना सत्याऽसत्य के निर्णय करने-कराने के लिये है, न कि वादविवाद, विरोध करने-कराने के

लिये।

इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब-तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब-तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्याद्वेष छोड़ सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहैं तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है।

यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहैं तो अभी ऐक्यमत हो जायें। इसके होने की युक्ति इस ग्रन्थ की पूर्त्ति में लिखेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे।

॥ अलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वरशिरोमणिषु॥

अथैकादशसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽर्य्यावर्त्तीयमतखण्डनमण्डने विधास्यामः

अब आर्य्य लोगों के जो कि आर्य्यावर्त्त देश में वसनेवाले हैं, उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करेंगे।

यह आर्य्यावर्त्त देश ऐसा देश है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिये इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसीलिये सृष्टि की आदि में आर्य्य लोग इसी देश में आकर वसे। इसलिये हम सृष्टिविषय में कह आये हैं कि आर्य्य नाम उत्तम पुरुषों का है और आर्य्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम दस्यु है। जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं। पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्य्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही 'सुवर्ण' अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनु० [२।२०]॥

सृष्टि से ले के पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का 'सार्वभौम चक्रवर्ती' अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में 'माण्डलिक' अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहां के राजा और राजशासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चलते थे, क्योंकि यह मनुस्मृति जो सृष्टि की आदि में हुई है, उसका प्रमाण है—'इसी आर्य्यावर्त्त में उत्पन्न हुए 'ब्राह्मण' अर्थात् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि अपने-अपने अनुकूल विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें। और महाराजे युधिष्ठिरजी के राजसूय-यज्ञ और

महाभारतयुद्धपर्यन्त यहां के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! चीन का 'भगदत्त', अमेरिका का 'बब्रुवाहन', यूरोप के 'विडालाक्ष' अर्थात् मार्जार के सदृश आँखवाले, 'यवन' जिसको यूनान कह आये और ईरान का 'शल्य' आदि सब राजा राजसूय-यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञाऽनुसार आये थे। जब रघुगण राजा थे, तब रावण भी यहां के आधीन था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया, तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया।

स्वायंभुव राजा से लेकर पाण्डवपर्यन्त आर्य्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये। क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या-द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन देश में बढ़ जाते हैं, जैसे कि मद्य-मांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं। और जब युद्धविभाग में युद्धविद्या का कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला भूगोल में दूसरा न हो, तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़ कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे। जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने 'शिवाजी', 'गोविन्दसिंहजी' ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्त्तिनः केचित् सुद्युम्न-भूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्ववद्ध्र्यश्वाश्वपतिशशविन्दु-हरिश्चन्द्राऽम्बरीषननक्तुशर्यातिययात्यनरण्याक्षसेनादयः। अथ मरुत्तभरतप्रभृतयो राजानः॥ —मैत्र्युपनि० [प्रपा० १। खं० ४]

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारतपर्यन्त चक्रवर्त्ती सार्वभौम राजा आर्य्यकुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों

का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं। जैसे यहां सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलायाश्व, यौवनाश्व, वद्ध्र्यश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, शर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त और भरत 'सार्वभौम' सब भूमि में प्रसिद्ध चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम लिखे हैं, वैसे स्वायम्भुवादि चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति, महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे हैं। इसको मिथ्या करना अज्ञानी और पक्षपातियों का काम है।

प्रश्न—जो आग्नेयास्त्र आदि विद्या लिखी हैं, सो सत्य हैं वा नहीं? और तोप तथा बन्दूक उस समय में थीं, वा नहीं?

उत्तर—यह बात सच्ची है, ये शस्त्र भी थे। क्योंकि पदार्थविद्या से इन सब बातों का सम्भव है।

प्रश्न—क्या ये देवताओं के मन्त्रों से सिद्ध होते थे?

उत्तर—नहीं। ये सब अस्त्र पदार्थों से सिद्ध करते थे। वे 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सिद्ध करते और चलाते थे। 'मन्त्र' शब्दमय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। और जो कोई कहे कि मन्त्र से अग्नि उत्पन्न होता है तो वह मन्त्र के जप करने वाले के हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवे। 'मारने जाय शत्रु को और मर रहे आप'। इसलिये 'मन्त्र' नाम है विचार का, जैसा 'राजमन्त्री' अर्थात् राजकर्मों का विचार करने वाला कहाता है, वैसा 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सब सृष्टि के पदार्थों का प्रथम ज्ञान और पश्चात् क्रिया करने से अनेक प्रकार के पदार्थ और क्रियाकौशल उत्पन्न होते हैं।

जैसे कोई एक लोहे का बाण वा गोला बनाकर उसमें ऐसे पदार्थ रक्खे कि जो अग्नि के लगाने से वायु में धुआं फैलने और सूर्य की किरण वा वायु के स्पर्श होने से अग्नि जल उठे, इसी का नाम 'आग्नेयास्त्र' है। जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे तो उसी पर 'वारुणास्त्र' छोड़ दे। अर्थात् जैसे शत्रु ने शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र छोड़कर नष्ट करना चाहा, वैसे ही अपनी सेना के रक्षार्थ सेनापति वारुणास्त्र से आग्नेयास्त्र का निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से होता है जिसका धुआं वायु के स्पर्श होते ही बद्दल होके झट बर्षने लग जावे, अग्नि को

बुझा देवे। ऐसे ही 'नागपाश' अर्थात् जो शत्रु पर छोड़ने से उसके अङ्गों को जकड़ के बांध लेता है। वैसे ही एक 'मोहनास्त्र' अर्थात् जिसमें नशे की चीज डालने से जिसके धुएँ के लगने से, सब शत्रु की सेना 'निद्रास्थ' अर्थात् मूर्छित हो जाय। इसी प्रकार सब शस्त्रास्त्र होते थे। और एक तार से, वा शीशे से अथवा किसी और पदार्थ से विद्युत् उत्पन्न करके शत्रुओं का नाश करते थे, उसको भी 'आग्नेयास्त्र' तथा 'पाशुपतास्त्र' कहते हैं। 'तोप' और 'बन्दूक' नाम अन्य देश का है, यह संस्कृत और आर्य्यावर्त्तीय भाषा के नहीं। किन्तु जिसको विदेशी लोग तोप कहते हैं, संस्कृत और भाषा में उसका नाम 'शतघ्नी', और जिसको बन्दूक कहते हैं, उसका नाम संस्कृत और आर्य्यभाषा में 'भुशुण्डी' कहते हैं। जो संस्कृत विद्या को नहीं पढ़े और इस देश की भाषा को भी ठीक-ठीक नहीं जानते, वे भ्रम में पड़ कर कुछ का कुछ लिखते और कुछ का कुछ बकते हैं। उसका बुद्धिमान् लोग प्रमाण नहीं कर सकते।

और जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्य्यावर्त्त देश से मिश्रवालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि में फैली है। अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्य्यावर्त्त देश में है उतना किसी अन्य देश में नहीं। जो लोग कहते हैं कि जर्मनदेश में संस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है और जितना संस्कृत मोक्षमूलर साहब पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहनेमात्र है। क्योंकि '**यस्मिन्देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते**' अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता, उस देश में एरण्ड ही को बड़ा वृक्ष मान लेते हैं। वैसे ही यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने थोड़ा-सा पढ़ा, वही उस देश के लिए अधिक है। परन्तु आर्य्यावर्त्त देश की ओर देखें, तो उनकी बहूत न्यून गणना है। क्योंकि मैंने जर्मन देशनिवासी के—एक 'प्रिन्सिपल' के पत्र से जाना कि जर्मन देश में संस्कृत-चिट्ठी का अर्थ करनेवाले भी बहुत कम हैं। और मोक्षमूलर साहेब के संस्कृत-साहित्य और थोड़ी-सी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब ने इधर-उधर आर्य्यावर्त्तीय लोगों की की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ

यथा-तथा लिखा है। जैसा कि—

'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि॥'

इस मन्त्र का अर्थ 'घोड़ा' किया है। इससे तो जो सायणाचार्य्य ने 'सूर्य्य' अर्थ किया है सो अच्छा है। परन्तु इसका ठीक अर्थ 'परमात्मा' है, सो मेरी बनाई 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में देख लीजिये। उसमें इस मन्त्र का अर्थ यथार्थ किया है। इतने से जान लीजिये कि जर्मन देश और मोक्षमूलर साहब में संस्कृत-विद्या का कितना पाण्डित्य है।

यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्य्यावर्त्त देश ही से प्रचरित हुए हैं। देखो! एक जैकालियट साहब पैरस अर्थात् फ्रांस देश निवासी अपनी 'बायबिल इन इण्डिया' में लिखते हैं कि—''सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्य्यावर्त्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं'' और परमात्मा की प्रार्थना करते हैं कि ''हे परमेश्वर! जैसी उन्नति आर्य्यावर्त्त देश की पूर्व काल में थी, वैसी ही हमारे देश की कीजिये'', सो उस ग्रन्थ में देख लो। तथा 'दाराशिकोह' बादशाह ने भी यही निश्चय किया था कि जैसी पूरी विद्या संस्कृत में है, वैसी किसी भाषा में नहीं। वे ऐसा उपनिषदों के भाषान्तर में लिखते हैं कि—''मैंने अरबी आदि बहुत सी भाषा पढ़ीं, परन्तु मेरे मन का सन्देह छूट कर आनन्द न हुआ। जब संस्कृत देखा और सुना तब निःसन्देह होकर मुझको बड़ा आनन्द हुआ है।'' देखो, काशी के 'मानमन्दिर' में शशिमालचक्र को कि जिसकी पूरी रक्षा भी नहीं रही है, तो भी कितना उत्तम है कि जिसमें अब तक भी खगोल का बहुत सा वृत्तान्त विदित होता है। जो 'सवाई जयपुराधीश' उसकी सम्भाल और फूटे-टूटे को बनवाया करेंगे तो बहुत अच्छा होगा। परन्तु ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक भी यह अपनी पूर्व दशा में नहीं आया। क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे तो नाश होने में क्या सन्देह?

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः॥

[चाणक्यनीतिदर्पण अ० १६। श्लो० ५]॥

यह किसी कवि का वचन है कि—जब नाश होने का समय निकट आता है तब उल्टी बुद्धि होकर उल्टे काम करते हैं। कोई उनको सूधा समझावे तो उल्टा मानें और उल्टी समझावें उसको सूधी मानें। जब बड़े-बड़े विद्वान्, राजे, महाराजे, ऋषि, महर्षि लोग महाभारत युद्ध में बहुत से मारे गये और बहुत से मर गये, तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आपस में करने लगे। जो बलवान् हुआ वह देश को दाब कर राजा बन बैठा। वैसे ही सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में खण्ड-बण्ड राज्य हो गया। पुनः द्वीप-द्वीपान्तर के राज्य की व्यवस्था कौन करे?

जब ब्राह्मण लोग विद्याहीन हुए तब क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अविद्वान् होने में कथा ही क्या कहनी? जो परम्परा से वेदादि शास्त्रों का अर्थसहित पढ़ने का प्रचार था, वह भी छूट गया। केवल जीविकार्थ पाठमात्र ब्राह्मण लोग पढ़ते रहे, सो पाठमात्र भी क्षत्रिय आदि को न पढ़ाया। क्योंकि जब अविद्वान् हुए गुरु बन गये, तब छल, कपट, अधर्म भी उनमें बढ़ता चला। ब्राह्मणों ने विचारा कि अपनी जीविका का प्रबन्ध बाँधना चाहिये। सम्मति करके यही निश्चय कर क्षत्रिय आदि को उपदेश करने लगे कि हम ही तुम्हारे पूज्यदेव हैं। विना हमारी सेवा किये तुमको स्वर्ग वा मुक्ति न मिलेगी। किन्तु जो तुम हमारी सेवा न करोगे, तो घोर नरक में पड़ोगे। जो-जो पूर्ण विद्यावाले धार्मिकों का नाम ब्राह्मण और पूजनीय वेद और ऋषि-मुनियों के शास्त्र में लिखा था, उनको अपने मूर्ख, विषयी, कपटी, लम्पट, अधर्मियों पर घटा बैठे। भला वे आप्त विद्वानों के लक्षण इन मूर्खों में कब घट सकते हैं? परन्तु जब क्षत्रियादि यजमान संस्कृत-विद्या से अत्यन्त रहित हुए, तब उनके सामने जो-जो गप्प मारे, सो-सो बिचारों ने सब मान लिये। जब मान लिये, तब इन नाममात्र ब्राह्मणों की बन पड़ी। सबको अपने वचन-जाल में बाँध कर वशीभूत कर लिये और कहने लगे कि—

ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः॥

अर्थात् जो ब्राह्मणों के मुख में से वचन निकलता है, वह जानो साक्षात् भगवान् के मुख से निकला है। जब क्षत्रियादि वर्ण '**आंख के**

अन्धे और गांठ के पूरे' अर्थात् भीतर विद्या की आँख फूटी हुई और जिनके पास धन पुष्कल है, ऐसे-ऐसे चेले मिले, फिर इन व्यर्थ ब्राह्मण नाम वालों को विषयानन्द का उपवन मिल गया। यह भी उन लोगों ने प्रसिद्ध किया कि जो कुछ पृथिवी में उत्तम पदार्थ हैं, वे सब ब्राह्मणों के लिये हैं। अर्थात् जो गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था थी, उसको नष्ट कर जन्म पर रखी और मृतक तथा स्त्री पर्यन्त का भी दान यजमानों से लेने लगे। जैसी अपनी इच्छा हुई वैसा करते चले। यहां तक किया कि 'हम भूदेव हैं' हमारी सेवा के विना देवलोक किसी को नहीं मिल सकता। इनसे पूछना चाहिये कि तुम किस लोक में पधारोगे? तुम्हारे काम तो घोर नरक भोगने के हैं; कृमि, कीट बनोगे। तब तो बड़े क्रोधित होकर कहते हैं—''हम 'शाप' देंगे, तुम्हारा नाश हो जाएगा, क्योंकि लिखा है '**ब्रह्मद्वेषी विनश्यति**' ब्राह्मणों से द्वेष करने वाला नष्ट हो जाता है।'' हाँ, यह बात तो सच्ची है कि सम्पूर्ण वेद, और परमात्मा को जाननेवाले, धर्मात्मा, सब जगत् के उपकारक पुरुषों से जो कोई द्वेष करेगा, वह अवश्य नष्ट होगा। परन्तु जो ब्राह्मण नहीं हों, उनका न ब्राह्मण नाम और न उनकी सेवा करनी योग्य है। परन्तु तुम तो ब्राह्मण नहीं हो।

प्रश्न—तो हम कौन हैं?

उत्तर—तुम 'पोप' हो।

प्रश्न—'पोप' किसको कहते हैं?

उत्तर—असल इसकी [=वास्तव में] रूमन् भाषा में तो बड़ा और पिता का नाम 'पोप' है, परन्तु अब छल-कपट से दूसरे को ठग कर अपना प्रयोजन साधनेवाले को 'पोप' कहते हैं।

प्रश्न—हम तो ब्राह्मण और साधु हैं। क्योंकि हमारा पिता ब्राह्मण और माता ब्राह्मणी तथा हम अमुक साधु के चेले हैं।

उत्तर—यह सच है, परन्तु सुनो भाई! मा-बाप ब्राह्मणी-ब्राह्मण होने से और किसी साधु के शिष्य होने पर ब्राह्मण वा साधु नहीं हो सकते, किन्तु ब्राह्मण और साधु अपने उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से होते हैं, जो कि परोपकारी हों।

सुना है कि जैसे रूम के 'पोप' अपने चेलों को कहते थे कि तुम

अपने पाप हमारे सामने कहोगे, तो हम क्षमा कर देंगे। विना हमारी सेवा और आज्ञा के कोई भी स्वर्ग में नहीं जा सकता। जो तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो हमारे पास जितने रुपये जमा करोगे उतनी ही सामग्री स्वर्ग में तुमको मिलेगी। जब कोई लाख रुपया स्वर्ग की इच्छा करके 'पोपजी' को देता था, तब वह 'पोपजी' ईसा और मरियम की मूर्त्ति के सामने हुण्डी लिखकर ऐसी देता था—

''हे खुदावन्द ईसामसी! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर लाख रुपये स्वर्ग में आने के लिये हमारे पास जमा कर दिये हैं। जब वह स्वर्ग में आवे तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य में पच्चीस सहस्र रुपयों में बाग-बगीचे, मकान; पच्चीस सहस्र में सवारी, नौकर-चाकर; पच्चीस सहस्र में खाने-पीने, कपड़ा, सोने-बैठने का सब सराजाम और पच्चीस सहस्र इसके इष्ट मित्रों की जियाफ़त (=खातरी) आदि के वास्ते दिला देना। वैसे हुंडी सिकार देना।'' —सही पोपजी की।

फिर उस हुण्डी के नीचे पोप जी आप सही करके हुण्डी उसको देकर कहते थे कि—जब तू मरे तब यह हुण्डी भी कबर में अपने सिराने गाड़ने के लिये अपने कुटुम्ब को कह रखना। जब फरिश्ते आवेंगे तब तुझको और हुण्डी को ले जायेंगे और लिखे प्रमाणे चीजें तुझे दिला लेंगे।

जानो स्वर्ग के ठेकेदार पोपजी ही हैं। जब-तक यूरोप में मूर्खता थी, तब तक वहां पोपलीला चलती थी। अब विद्या के होने से झूठी लीला बहुत करके नहीं चलती, किन्तु निर्मूल भी नहीं हुई।

वैसे ही आर्य्यावर्त्त देश में भी पोपजी जानो लाखों अवतार लेकर लीला फैला रहे हैं अर्थात् राजा और प्रजा को विद्या न पढ़ने, अच्छे पुरुषों का सत्सङ्ग होने न देने, रात-दिन बहकाने के सिवाय दूसरा कुछ भी काम नहीं करते। परन्तु यह ध्यान में रखना कि जो-जो कपट छल की लीला करते हैं, वे ही पोप कहाते हैं। जो उनमें भी धार्मिक विद्वान् परोपकारी हैं, वे सच्चे ब्राह्मण और साधु हैं। अब उन्हीं पोपों अर्थात् छली-कपटी स्वार्थी लोगों, ''मनुष्यों को ठग कर अपने प्रयोजन सिद्ध करने वालों'', ही का ग्रहण '**पोप**' शब्द से करना और '**ब्राह्मण**' तथा

'साधु' नाम से उत्तम पुरुषों का स्वीकार करना योग्य है।

देखो! जो कोई भी उत्तम ब्राह्मण वा साधु न होता, तो वेदादिशास्त्रों के पुस्तक स्वरसहित का पठन-पाठन, जैन, मुसलमान और ईसाई आदि से बचाकर आर्यों को वेदादि शास्त्र में प्रीतियुक्त और वर्णाश्रम में रखना कौन कर सकता?

'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्।' —मनु० [२।२३९]॥

विष से भी अमृत के ग्रहण करने के समान पोपलीला से बहकाने में से भी आर्यों का जैन आदि मतों से बच रहना विष में अमृत के समान गुण समझना चाहिये।

जब यजमान विद्याहीन हुए और आप कुछ पाठ-पूजा पढ़ कर, अभिमान में आके, सब लोगों ने सम्मति करके राजा आदि से कहा कि ब्राह्मण और साधु अदण्ड्य हैं, देखो! **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'साधुर्न हन्तव्यः'** ऐसे-ऐसे वचन जो कि सच्चे ब्राह्मण और सच्चे साधुओं के विषय में थे, सो पोपों ने अपने पर घटा लिये। और बहुत से झूठे-झूठे वचनयुक्त ग्रन्थ बना कर उनमें ऋषि-मुनियों के नाम धर के, उन्हीं के नाम से सुनाते रहे। उन प्रतिष्ठित ऋषि-महर्षियों के नाम से अविद्वान् लोग मानने लगे। पश्चात् जब अपने पर से दण्ड की व्यवस्था उठवा दी, पुनः यथेष्टाचार करने लगे, अर्थात् ऐसे कड़े नियम चलाये कि उन पोपों की आज्ञा के विना सोना, आना, जाना आदि भी नहीं कर सकते थे। राजाओं को ऐसा निश्चय कराया कि पोपसंज्ञक कहनेमात्र के ब्राह्मण साधु चाहे सो करें, कभी दण्ड न देना अर्थात् उन पर मन में दण्ड देने की इच्छा न करनी चाहिये। जब ऐसी मूर्खता हुई, तब जैसी पोपों की इच्छा हुई, वैसा करने लगे। अर्थात् इस बिगाड़ के मूल महाभारत युद्ध से पूर्व एक सहस्र वर्ष से प्रवृत्त हुए थे। क्योंकि उस समय में ऋषि-मुनि भी थे तथापि कुछ-कुछ आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेष के अंकुर उगे थे, वे बढ़ते-बढ़ते वृक्ष हो गये। जब सच्चा उपदेश न रहा तब आर्य्यावर्त्त में अविद्या फैलकर आपस में लड़ने लगे। क्योंकि—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः॥ इतरथान्धपरम्परा॥

—सांख्यसूत्र [अ० ३। सू० ७९, ८१] है॥

जब उत्तम-उत्तम उपदेशक होते हैं तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते तब अन्धपरम्परा चलती है। फिर भी जब सत्पुरुष होकर सत्योपदेश होता है, तभी अन्धपरम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है। पुनः वे पोप लोग अपनी, अपने चरणों की पूजा कराने लगे और कहने लगे कि इसी में तुम्हारा कल्याण है। जब ये लोग इनके वश में हो गये, तब प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर गड़रिये के समान झूठे गुरु और चेले फसे। विद्या, बल, बुद्धि, पराक्रम, शूरवीरतादि शुभगुण सब नष्ट होते चले। पश्चात् एक वाममार्ग खड़ा किया। **'शिव उवाच' 'पार्वत्युवाच' 'भैरव उवाच'** इत्यादि नाम लिखकर उनका तन्त्र नाम धरा। उनमें ऐसी-ऐसी बातें लिखीं कि—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे॥ १॥

[—महानिर्वाणतन्त्र पञ्चमोल्लास; कालीतन्त्रादि]॥

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक्-पृथक्॥ २॥

[कुलार्णव तन्त्र ८।९६]॥

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ ३॥

[—कुलार्णव तन्त्र ७।१००]॥

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु॥ ४॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव॥ ५॥

[—ज्ञानसंकलनी तन्त्र; हठयोग प्रदीपिका उपदेश ४।३५]॥

देखो इन गवर्गण्ड पोपों की लीला कि जो वेदविरुद्ध महा अधर्म के काम हैं उन्हीं को श्रेष्ठ, वाममार्गियों ने माना। मद्य, मांस, मीन अर्थात् मच्छी, मुद्रा पूरी, बड़े, रोटा आदि चर्वण, योनि और पात्राधार मुद्रा और पांचवां मैथुन अर्थात् पुरुष सब शिव और स्त्री सब पार्वती के समान मान कर—

अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु सङ्गमः ॥

[—कुलार्णवतन्त्र उल्लास ८।९७, १०२]॥

चाहे कोई पुरुष वा स्त्री हो इस ऊट-पटांग वचन को पढ़ के समागम करने में वे वाममार्गी दोष नहीं मानते। अर्थात् जिन नीच स्त्रियों को छूना नहीं, उनको अतिपवित्र उन्होंने माना है। जैसे शास्त्रों में रजस्वला आदि स्त्रियों के स्पर्श का निषेध है, उनको वाममार्गियों ने अतिपवित्र माना है। सुनो! इनका श्लोक खण्ड बण्ड—

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी
चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता।
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता॥ —इत्यादि [—रुद्रयामल तन्त्र]॥

रजस्वला के साथ समागम करने से जानो पुष्कर का स्नान, चाण्डाली से समागम में काशी की यात्रा, चमारी से समागम करने से मानो प्रयागस्नान, धोबी की स्त्री के साथ मेल में मथुरायात्रा और कंजरी के साथ लीला करने से मानो अयोध्या-तीर्थ कर आये। मद्य का नाम 'तीर्थ', मांस का नाम 'शुद्धि' और 'पुष्प', मच्छी का नाम 'तृतीया' और 'जलतुम्बिका', मुद्रा का नाम 'चतुर्थी', मैथुन का नाम 'पञ्चमी'। इसलिये ये नाम रक्खे हैं कि जिससे दूसरा न समझ सके। अपने नाम कौल, आर्द्र, वीर, शाम्भव और गण आदि रक्खे हैं। और जो वाममार्ग मत में नहीं हैं, उनका 'कण्टक', 'विमुख', 'शुष्कपशु' आदि नाम धरा है॥ १॥

और कहते हैं कि जब भैरवीचक्र हो तब उसमें ब्राह्मण से लेकर चाण्डालपर्यन्त का नाम द्विज हो जाता है और जब भैरवी चक्र से अलग हों तो, तब सब अपने-अपने वर्णस्थ हो जायें। भैरवीचक्र में वाममार्गी लोग भूमि वा पट्टे पर एक बिन्दु, त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्त्तुलाकार बनाकर उसपर मद्य का घड़ा रखके उसकी पूजा करते हैं, फिर ऐसा मन्त्र पढ़ते हैं—

'ब्रह्मशापं विमोचय'

हे मद्य! तू ब्रह्मा आदि के शाप से रहित हो। एक गुप्त स्थान में कि जहां सिवाय वाममार्गी के दूसरे को नहीं आने देते, वहां स्त्री और पुरुष इकट्ठे होते हैं। एक स्त्री को नङ्गी कर पूजते और स्त्री लोग किसी पुरुष को नङ्गा कर पूजती हैं। पुनः कोई किसी की स्त्री, कोई अपनी वा दूसरे

की कन्या, कोई किसी की वा अपनी माता, भगिनी, पुत्रवधू आदि आती हैं। पश्चात् एक पात्र में मद्य भरके मांस और बड़े आदि एक स्थाली में धर रखते हैं। उस मद्य के प्याले को जो कि उनका आचार्य्य होता है, हाथ में लेकर '**भैरवोऽहम्**' '**शिवोऽहम्**' 'मैं भैरव वा शिव हूँ' बोल के पीता है। उसी जूंठे पात्र से सब पीते हैं। और जब किसी की स्त्री वा वेश्या नङ्गी कर अथवा किसी पुरुष को नङ्गा कर हाथ में तलवार दे के उसका नाम देवी और पुरुष का नाम महादेव धरते हैं, उनके उपस्थ इन्द्रिय की पूजा करते हैं, तब उस देवी वा शिव को मद्य का प्याला पिलाकर, उसी जूंठे पात्र से सब लोग एक-एक प्याला पीते। फिर उसी प्रकार क्रम से पी-पी उन्मत्त होकर, चाहे कोई किसी की बहिन, कन्या वा माता हो, जिसके साथ जिसकी इच्छा हो, कुकर्म करते हैं। कभी-कभी बहुत नशा चढ़ने से जूते, लात, मुष्टा-मुष्टि, केशा-केशि आपस में लड़ते हैं। किसी-किसी को वहीं वमन होता है। उनमें जो पहुँचा हुआ 'अघोरी' अर्थात् सब में सिद्ध गिना जाता है, वह वमन हुई चीज को भी खा लेता है। अर्थात् इनके सबसे बड़े सिद्ध की ये बातें हैं कि—

हालां पिबति दीक्षितस्य मन्दिरे, सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु।
विराजते कौलवचक्रवर्ती॥ [—कुलार्णवतन्त्र, उल्लास ९]॥

जो 'दीक्षित' अर्थात् कलार के घर में जाके बोतल पर बोतल चढ़ावे। रण्डियों के घर में जाके उनसे कुकर्म करके सोवे, जो इत्यादि कर्म निर्लज्ज, निःशङ्क होकर करे, वही वाममार्गियों में सर्वोपरि मुख्य चक्रवर्ती राजा के समान माना जाता है। अर्थात् जो बड़ा कुकर्मी वही उनमें बड़ा, और जो अच्छे काम करे और बुरे कामों से डरे वही छोटा। क्योंकि—

पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदा शिवः॥

[—ज्ञानसंकलनी तन्त्र, श्लो० ४३]॥

ऐसा तन्त्र में कहते हैं कि जो लोकलज्जा, शास्त्रलज्जा, कुललज्जा, देशलज्जा आदि पाशों में बँधा है वह 'जीव', और जो निर्लज्ज होकर बुरे काम करे, वही सदा 'शिव' है॥ २॥

'उड्डीस' तन्त्र आदि में एक प्रयोग लिखा है कि एक घर में चारों ओर आलय हों। उनमें मद्य के बोतल भरके धर देवे। इस आलय से

एक बोतल पीके, दूसरे आलय पर जावे। उसमें से पी तीसरे और तीसरे में से पीके, चौथे आलय में जावे। खड़ा-खड़ा तब तक मद्य पीवे कि जब तक लकड़ी के तुल्य पृथिवी में न गिर पड़े। फिर जब नशा उतरे तब उसी प्रकार पीके, गिर पड़े। और पुनः तीसरी वार इसी प्रकार पीके, गिरके उठे, तो उसका पुनर्जन्म न हो, अर्थात् सच तो यह है कि ऐसे मनुष्यों का पुनः मनुष्यजन्म होना ही कठिन है, किन्तु नीच योनि में बहुकालपर्यन्त पड़ा रहेगा॥ ३॥

वामियों के तन्त्र-ग्रन्थों में यह नियम है कि एक माता को छोड़ के किसी स्त्री को न छोड़ना चाहिये अर्थात् चाहे कन्या हो वा भगिनी आदि क्यों न हो, सबके साथ संगम करना चाहिये। इन वाममार्गियों में दश महाविद्या प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक मातङ्गी विद्यावाला कहता है कि **'मातरमपि न त्यजेत्'** अर्थात् माता को भी समागम किये विना न छोड़ना चाहिये। और स्त्री पुरुष के समागम समय में मन्त्र जपते हैं कि हमको सिद्धि प्राप्त हो जायें। ऐसे पागल मनुष्य भी संसार में बहुत न्यून होंगे॥ ४॥

जो मनुष्य झूठ चलाना चाहता है, वह सत्य की निन्दा अवश्य ही करता है। देखो! ये वाममार्गी क्या कहते हैं? वेद शास्त्र, और पुराण ये सब सामान्य वेश्याओं के तुल्य हैं और जो यह शाम्भवी वाममार्ग की मुद्रा है, वह गुप्त कुल की स्त्री के तुल्य है॥ ५॥

इसीलिये इन लोगों ने सर्वथा वेदविरुद्ध मत खड़ा किया है। पश्चात् इन लोगों का मत बहुत चला। तब धूर्त्तता करके वेदों के नाम से भी वाममार्ग की लीला थोड़ी-थोड़ी चलाई। अर्थात्—

सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्।
[तु० शत० ब्रा० कां० १२।३।५।२ तथा ब० ४। कं० ५]॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्। [मनु० ५।२७]॥

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति॥ १॥ [तुलना—मनु० ५।४४]॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ २॥ —मनु० [५।५६]

'सौत्रामणी' यज्ञ में मद्य पीवे, इसका अर्थ तो यह है कि सौत्रामणी यज्ञ में 'सोमरस' अर्थात् सोमवल्ली का रस पीये।

'प्रोक्षित' अर्थात् यज्ञ में मांस खाने में दोष नहीं, ऐसी पामरपन की बातें वाममार्गियों ने चलाई हैं।

उनसे पूछना चाहिये कि जो वैदिकी हिंसा हिंसा न हो तो तुझ और तेरे कुटुम्ब को मार के होम कर डालें तो क्या चिन्ता है?॥ १॥

मांसभक्षण करने, मद्य पीने, परस्त्रीगमन करने आदि में दोष नहीं है, यह कहना छोकरपन है। क्योंकि विना प्राणियों को पीड़ा दिये मांस प्राप्त ही नहीं होता, और विना अपराध के पीड़ा देना धर्म का काम नहीं। मद्यपान का तो सर्वथा निषेध ही है, क्योंकि अब तक वाममार्गियों के विना किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा, किन्तु सर्वत्र निषेध है। और विना विवाह के मैथुन में भी दोष है, इसको निर्दोष कहनेवाला सदोष है॥ २॥

ऐसे-ऐसे वचन भी ऋषियों के ग्रन्थ में भी डालके कितने ही ऋषि-मुनियों के नाम से ग्रन्थ बनाकर 'गोमेध', 'अश्वमेध' नाम के यज्ञ भी कराने लगे थे। अर्थात् 'इन पशुओं को मारके होम करने से यजमान और पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है' ऐसी प्रसिद्धि की। निश्चय तो यह है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्द हैं, उनका ठीक-ठीक अर्थ नहीं जाना है। क्योंकि जो जानते तो ऐसा अनर्थ क्यों करते?

प्रश्न—अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्दों का अर्थ क्या है?

उत्तर—इसका अर्थ यह है कि—

राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ [१३।१।६।३]॥
अन्नꣳहि गौः॥ [४।३।१।२५]॥
अग्निर्वा अश्वः॥ [३।५।१।५]॥
आज्यं मेधः॥ —शतपथब्राह्मणे [तु०—१३।२।११।२]॥

घोड़े, गाय आदि पशु तथा मनुष्य मारके होम करना कहीं नहीं लिखा। किन्तु यह भी बात वाममार्गियों ने चलाई और जहां-जहां लेख है, वह-वह भी वाममार्गियों ने प्रक्षेप किया है। देखो! राजा न्याय धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादि का देनेहारा यजमान और अग्नि में घी आदि का होम करना 'अश्वमेध'; अन्न, इन्द्रियाँ, किरण, पृथिवी आदि को पवित्र रखना 'गोमेध'; जब मनुष्य मर जाय, तब उनके शरीर का

विधिपूर्वक दाह करना 'नरमेध' कहाता है।

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी; तथा होम करके फिर पशु को जीता करते थे, यह बात सच्ची है वा नहीं?

उत्तर—नहीं! जो स्वर्ग को जाते हों तो ऐसी बात कहनेवाले को मार, होमकर, स्वर्ग में पहुँचाना चाहिये वा उसके प्रिय माता, पिता, स्त्री और पुत्रादि को मार होमकर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचाते? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिलाते?

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं तब वेदों के मन्त्र पढ़ते हैं। जो वेद में न होता तो कहां से पढ़ते?

उत्तर—मन्त्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता, क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उनका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मारके होम करना। जैसे '**अग्नये स्वाहा**' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ-'अग्नि में हवि, पुष्ट्यादिकारक घृतादि उत्तम पदार्थों के होम करने से वायु, वृष्टि, जल शुद्ध होकर जगत् को सुखकारक होते हैं', परन्तु इन सत्य अर्थों को वे मूढ़ नहीं समझते थे। क्योंकि जो स्वार्थबुद्धि होते हैं, वे अपने स्वार्थ करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं जानते, मानते। जब इन पोपों का ऐसा अनाचार देखा और दूसरा मरे का तर्पण, श्राद्धादि करने को देखकर एक महाभयङ्कर वेदादि-शास्त्रनिन्दक, बौद्ध और जैन मत प्रचलित हुआ है। सुनते हैं कि इसी देश में गोरखपुर का राजा था, उससे पोपों ने यज्ञ कराया। उसकी प्रिय राणी का समागम घोड़े के साथ कराने से मरने पर, वैराग्यवान् होकर अपने पुत्र को राज्य दे, साधु हो, पोपों की पोल निकालने लगा। इसी की शाखारूप 'चारवाक' और 'आभाणक' मत भी हुआ था। उन्होंने इस प्रकार श्लोक बनाये हैं—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कथं न हिंस्यते॥
मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्॥

[सर्वदर्शनसंग्रह—चारवाक दर्शन, श्लो० ४-५]॥

जो मारकर अग्नि में होम करने से पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने पिता आदि को मारके स्वर्ग में क्यों नहीं भेजता॥ १॥

जो मरे हुए मनुष्यों की तृप्ति के लिये श्राद्ध और तर्प्पण होता है तो विदेश में जानेवाले मनुष्य को मार्ग का खर्च खाने-पीने के लिये बाँधना व्यर्थ है। क्योंकि जब मृतक को श्राद्ध-तर्पण से अन्न-जल पहुंचता है, तो जीते हुए परदेश में रहनेवाले वा मार्ग में चलनेहारों को घर में रसोई बनी हुई का पत्तल परोस, लोटा भरके उसके नाम पर रखने से क्यों नहीं पहुंचता? जो जीते हुए दूर देश अथवा दश हाथ पर दूर बैठे हुये को दिया हुआ नहीं पहुंचता तो मरे हुए के पास किसी प्रकार नहीं पहुँच सकता॥ २॥

उनके ऐसे युक्तिसिद्ध उपदेशों को मानने लगे और उनका मत बढ़ने लगा। जब बहुत से राजा रईस उनके मत में हुए, तब पोपजी भी उनकी ओर झुके, क्योंकि इनको जिधर गप्फा अच्छा मिले, वहीं चले जायें। झट जैन बनते चले। जैन में भी और प्रकार की पोपलीला बहुत है, सो १२वें समुल्लास में लिखेंगे। बहुतों ने इनका मत स्वीकार किया परन्तु कितनेक ही जो पर्वत, काशी, कन्नौज, पश्चिम, दक्षिण देशवाले थे, उन्होंने जैनों का मत स्वीकार नहीं किया था। वे जैनी वेद का अर्थ न जानकर बाहर की पोपलीला को भ्रान्ति से वेद पर मानकर, वेदों की भी निन्दा करने लगे। उसके पठनपाठन, यज्ञोपवीतादि और ब्रह्मचर्य्यादि नियमों को भी नाश किया। जहाँ जितने पुस्तक वेदादि के पाये, नष्ट किये। आर्य्यों पर बहुत-सी राजसत्ता भी चलाई, दुःख दिया। जब उनको भय, शङ्का न रही, तब अपने मतवाले गृहस्थ और साधुओं की प्रतिष्ठा और वेदमार्गियों का अपमान और पक्षपात से दण्ड भी देने लगे। और आप ऐश-आराम और घमण्ड में आ, फूलकर फिरने लगे। ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्यन्त अपने तीर्थङ्करों की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ बनाकर पूजा करने लगे अर्थात् पाषाणादि मूर्त्तिपूजा की जड़ जैनियों से चली। परमेश्वर का मानना न्यून हुआ, पाषाणादि मूर्तिपूजा में लगे। ऐसा तीन सौ वर्ष पर्यन्त आर्यावर्त्त में जैनों का राज रहा। प्रायः आर्य लोग उनमें मिलकर शूद्रप्राय वेदार्थ-ज्ञान से शून्य हो गये थे। इस बात को अनुमान

से कोई अढ़ाई सहस्र वर्ष व्यतीत हुए होंगे।

बाइस सौ वर्ष हुए कि एक 'शङ्कराचार्य' द्रविणदेशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़ कर सोचने लगे कि अहह! सत्य आस्तिक वेद मत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना, बड़ी ही हानि की बात हुई है, इनको हठाना चाहिये। शङ्कराचार्य्य शास्त्र तो पढ़े ही थे। परन्तु जैन मत के भी पुस्तक पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी। उन्होंने विचारा कि इनको किस प्रकार हठावें? निश्चय हुआ कि उपदेश और शास्त्रार्थ करने से ये लोग हठेंगे। ऐसा विचार कर उज्जैन में आये। वहाँ उस समय 'सुधन्वा' राजा था, जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ जाकर वेद का उपदेश करने लगे और राजा से मिलकर कहा कि आप संस्कृत और जैनियों के भी ग्रन्थों को पढ़े हो, जैन मत को मानते हो, इसलिये मैं आपको कहता हूँ कि जैनियों के पण्डितों के साथ मेरा शास्त्रार्थ कराइये, इस प्रतिज्ञा पर—'जो हारे सो जीतनेवाले का मत स्वीकार करले और आप भी जीतनेवाले का मत स्वीकार कीजियेगा।'

यद्यपि सुधन्वा जैन मत में थे तथापि संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने से उनकी आँख कुछ खुली थी। इससे उनके मन में अत्यन्त पशुता नहीं छाई थी क्योंकि जो विद्वान् होता है, वह सत्य और असत्य की परीक्षा करके, सत्य को मानता और असत्य को छोड़ देता है। जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था, तब तक सन्देह में थे कि इनमें कौन-सा सत्य और कौन-सा असत्य है? जब शङ्कराचार्य्य की यह बात सुनी, बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ कराके सत्याऽसत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे। जैनियों के पण्डितों को दूर-दूर से बुलाकर सभा कराई। उसमें शङ्कराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था। अर्थात् शङ्कराचार्य्य का पक्ष वेदमत का स्थापन और जैनियों का खण्डन; जैनियों का अपने मत का स्थापन और वेद का खण्डन पक्ष था। शास्त्रार्थ कई दिनों तक हुआ। जैनियों का मत यह था कि—'सृष्टि का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं; यह जगत् और जीव अनादि हैं, इन दोनों की उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होता।' इससे विरुद्ध शङ्कराचार्य्य

का मत था कि—'अनादि सिद्ध परमात्मा ही जगत् का कर्त्ता है; यह जगत् और जीव झूठा है; क्योंकि उसी परमेश्वर ने अपनी माया से जगत् बनाया; वही धारण और प्रलयकर्त्ता है; और यह जीव और प्रपञ्च स्वप्नवत् हैं; परमेश्वर आप ही सब रूप होकर लीला कर रहा है।'

बहुत दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। परन्तु अन्त में युक्ति और प्रमाण से जैनियों का मत खण्डित और शङ्कराचार्य्य का मत अखण्डित रहा। तब उन जैनियों के पण्डित और सुधन्वा राजा ने वेदमत का स्वीकार कर लिया, जैनमत को छोड़ दिया। पुनः बड़ा हल्ला हुआ और सुधन्वा ने अपने मित्र राजाओं को लिखकर शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ कराया। परन्तु जैन का पराजय समय होने से पराजित होते गये।

पश्चात् शङ्कराचार्य्य के सर्वत्र आर्यावर्त्त में घूमने का प्रबन्ध सुधन्वादि राजाओं ने कर दिया और उनकी रक्षा के लिये साथ नौकर-चाकर भी रख दिये। उसी समय से सबके यज्ञोपवीत होने लगे और वेदों का पठनपाठन भी चला। दस वर्ष के भीतर सर्वत्र आर्यावर्त्त में घूमकर जैनियों का खण्डन और वेदों का मण्डन किया। परन्तु शंकराचर्य्य के समय में 'जैन-विध्वंस' अर्थात् जितनी मूर्त्तियाँ जैनियों की टूटी हुई निकलती हैं, वे शङ्कराचार्य्य के समय में टूटी थीं। और जो विना टूटी निकलती हैं, वे जैनियों ने भूमि में गाड़ दी थीं कि तोड़ी न जायें। वे अब तक कहीं भूमि में से निकलती हैं।

शङ्कराचार्य्य के पूर्व शैवमत भी थोड़ा सा था, उसका भी खण्डन किया। वाममार्गी का खण्डन किया। उस समय इस देश में धन बहुत था और स्वदेशभक्ति भी थी। जैनियों के मन्दिर शङ्कराचार्य्य और सुधन्वा ने नहीं तुड़वाये थे क्योंकि उनमें वेदादि की पाठशाला करने की इच्छा थी। जब वेदमत का स्थापन हो चुका, और विद्या-प्रचार करने का विचार करते ही थे, उतने में दो जैन ऊपर से वेदमत और भीतर से कट्टर जैन थे, अर्थात् कपटमुनि थे, शंकराचार्य्य उन पर अति प्रसन्न थे, उन दोनों ने अवसर पाकर शंकराचार्य्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उनकी भूख मन्द हो गई। पश्चात् शरीर में बहुत-से फोड़े-फुन्सी होकर छः महीने के भीतर शरीर छूट गया। तब सब निरुत्साहित हो गये और

जो विद्या का प्रचार होनेवाला था, वह भी न होने पाया।

जो-जो उन्होंने शारीरक-भाष्यादि बनाये थे, उनका प्रचार शंकराचार्य्य के शिष्य करने लगे। अर्थात् जो जैनियों के खण्डन के लिये 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म की एकता' कथन की थी, उसका उपदेश करने लगे। दक्षिण में शृङ्गेरी, पूर्व में भूगोवर्धन, उत्तर में जोशी और द्वारिका में सारदामठ बाँध कर शंकराचार्य के शिष्य महान्त बन कर और श्रीमान् होकर आनन्द करने लगे, क्योंकि शंकराचार्य के पश्चात् उनके शिष्यों की बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी।

अब इसमें विचार करना चाहिए कि जो 'जीव ब्रह्म की एकता, जगत् मिथ्या' शङ्कराचार्य्य का निज मत था, तो वह अच्छा मत नहीं। और जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत का स्वीकार किया हो, तो कुछ अच्छा है।

नवीन वेदान्तियों का मत ऐसा है—

प्रश्न—जगत् स्वप्नवत्, रज्जू में सर्प, सीप में चाँदी, मृगतृष्णिका में जल, गन्धर्वनगर, इन्द्रजालवत् यह संसार झूठा है। एक ब्रह्म ही सच्चा है।

सिद्धान्ती—'झूठा' तुम किसको कहते हो?

नवीन वेदान्ती—जो वस्तु न हो और प्रतीत होवे।

सिद्धान्ती—जो वस्तु ही नहीं, उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है?

नवीन०—अध्यारोप से।

सिद्धान्ती—अध्यारोप किसको कहते हो?

नवीन०—'**वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः**'

[तु०—सदानन्दविरचित वेदान्तसार खण्ड ६]

'**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते**'।

[विद्यारण्यविरचित अनुभूतिप्रकाश अ० १। श्लो० १८]

पदार्थ कुछ और हो, उसमें अन्य वस्तु का आरोपण करना अध्यास, अध्यारोप; और उसका निराकरण करना अपवाद कहाता है। इन दोनों से प्रपञ्चरहित ब्रह्म में प्रपञ्चरूप जगत् विस्तार करते हैं।

सिद्धान्ती—तुम रज्जू को वस्तु और सर्प को अवस्तु मान कर इस भ्रमजाल में पड़े हो। क्या सर्प वस्तु नहीं है? जो कहो कि रज्जू में नहीं

तो देशान्तर में और उसका संस्कारमात्र हृदय में है। फिर वह सर्प भी अवस्तु नहीं रहा। वैसे ही स्थाणु में पुरुष, सीप में चांदी आदि की व्यवस्था समझ लेना। और स्वप्न में भी जिनका भान होता है, वे देशान्तर में हैं और उनके संस्कार आत्मा में भी हैं। इसलिये वह स्वप्न भी वस्तु में अवस्तु के आरोपण के समान नहीं।

नवीन०—जो कभी न देखा, न सुना, जैसा कि अपना शिर कटा है और आप रोता है, जल की धारा ऊपर चली जाती है, जो कभी नहीं हुआ था, देखा जाता है, वह सत्य क्योंकर हो सके?

सिद्धान्ती—यह भी दृष्टान्त तुम्हारे पक्ष को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि विना देखे सुने संस्कार नहीं होता। संस्कार के विना स्मृति और स्मृति के विना साक्षात् अनुभव नहीं होता। जब किसी से सुना वा देखा कि अमुक का शिर कटा और उसके भाई वा बाप आदि को लड़ाई में प्रत्यक्ष रोते देखा और फौहारे का जल ऊपर चढ़ते देखा वा सुना उसका संस्कार उसी के आत्मा में होता है। जब यह जागृत के पदार्थ से अलग होके देखता है तब अपने आत्मा में उन्हीं पदार्थों को, जिनको देखा वा सुना होता, देखता है। जब अपने ही में देखता है तब जानो अपना शिर कटा, आप रोता और ऊपर जाती जल की धारा को देखता है। यह भी वस्तु में अवस्तु के आरोपण के सदृश नहीं, किन्तु जैसे नक़्शा निकालनेवाले पूर्व दृष्ट, श्रुत वा किये हुओं को आत्मा में से निकालकर कागज पर लिख देते हैं अथवा प्रतिबिम्ब का उतारनेवाला बिम्ब को देख, आत्मा में आकृति को धर, बराबर लिख देता है।

हां! इतना है कि कभी-कभी स्वप्न में स्मरणयुक्त प्रतीति जैसा कि अपने अध्यापक को देखता है और कभी बहुत काल देखने और सुनने में अतीत ज्ञान को साक्षात्कार करता है, तब स्मरण नहीं रहता कि जो मैंने उस समय देखा, सुना वा किया था उसीको देखता, सुनता वा करता हूं। जैसा जागृत में स्मरण करता है, वैसा स्वप्न में नियमपूर्वक नहीं होता। देखो! जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं आता। इसलिये तुम्हारा अध्यास और आरोप का लक्षण झूठा है। और जो वेदान्ती लोग 'विवर्त्तवाद' अर्थात् रज्जू में सर्पादि के भान होने का दृष्टान्त, ब्रह्म में

जगत् के भान होने में देते हैं, वह भी ठीक नहीं।

नवीन०—अधिष्ठान के विना अध्यस्त प्रतीत नहीं होता। जैसे रज्जू न हो तो सर्प का भी भान नहीं हो सकता। जैसे रज्जू में सर्प्प तीन काल में नहीं है परन्तु अन्धकार और कुछ प्रकाश के मेल में अकस्मात् रज्जू को देखने से सर्प का भ्रम होकर भय से कँपता है। जब उसको दीप आदि से देख लेता है, उसी समय भ्रम और भय निवृत्त हो जाता है। वैसे ब्रह्म में जो जगत् की मिथ्या प्रतीति हुई है, उस की निवृत्ति और ब्रह्म की प्रतीति, जैसी कि सर्प की निवृत्ति और रज्जू की प्रतीति होती है।

सिद्धान्ती—इन वेदान्तियों से पूछना चाहिये कि ब्रह्म में जगत् का भान किसको हुआ?

नवीन०—जीव को।

सिद्धान्ती—जीव कहाँ से हुआ?

नवीन०—अज्ञान से।

सिद्धान्ती—अज्ञान कहां से हुआ और कहां रहता है?

नवीन०—अज्ञान अनादि और ब्रह्म में रहता है।

सिद्धान्ती—ब्रह्म में ब्रह्म का अज्ञान हुआ वा किसी अन्य का? और वह अज्ञान किसको हुआ?

नवीन०—चिदाभास को।

सिद्धान्ती—चिदाभास का स्वरूप क्या है?

नवीन०—ब्रह्म। ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को आप ही भूल जाता है।

सिद्धान्ती—उसके भूलने में निमित्त क्या है?

नवीन०—अविद्या।

सिद्धान्ती—अविद्या सर्वव्यापी सर्वज्ञ का गुण है, वा अल्पज्ञ का?

नवीन०—अल्पज्ञ का।

सिद्धान्ती—तो तुम्हारे मत में विना एक अनन्त सर्वज्ञ चेतन के दूसरा कोई चेतन है वा नहीं? और अल्पज्ञ कहां से आया? हां, जो अल्पज्ञ चेतन ब्रह्म से भिन्न मानो तो ठीक है। जब एक ठिकाने ब्रह्म को अपने स्वरूप का अज्ञान हो तो सर्वत्र अज्ञान फैल जाये। जैसे शरीर में

फोड़े की पीड़ा सब शरीर के अवयवों को निकम्मा कर देती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी एकदेश में अज्ञानी और क्लेशयुक्त हो तो सब ब्रह्म अज्ञानी और पीडा के अनुभवयुक्त हो जाय।

नवीन०—यह सब उपाधि का धर्म है, ब्रह्म का नहीं।

सिद्धान्ती—उपाधि जड़ है वा चेतन? और सत्य है वा असत्य?

नवीन०—अनिर्वचनीय है। अर्थात् जिसको जड़ वा चेतन, सत्य वा असत्य नहीं कह सकते।

सिद्धान्ती—यह तुम्हारा कहना **'वदतो व्याघातः'** के तुल्य है क्योंकि कहते हो अविद्या है जिसको जड़, चेतन, सत्, असत् नहीं कह सकते। यह ऐसी बात है कि जैसे सोने में पीतल मिला हो, उसको सर्राफ के पास परीक्षा करावे कि यह सोना है वा पीतल। तब यही कहेगा कि इसको हम न सोना न पीतल कह सकते हैं किन्तु इसमें दोनों धातु मिली हैं।

नवीन०—देखो! जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाशोपाधि अर्थात् घड़ा, घर और मेघ के होने से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, वास्तव में महदाकाश ही है; ऐसे ही माया, अविद्या, समष्टि, व्यष्टि और अन्तःकरणों की उपाधियों से ब्रह्म अज्ञानियों को पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है; वास्तव में एक ही है। देखो! अग्रिम प्रमाण में क्या कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

[कठ उ० वल्ली ५। मं० ९]॥

जैसे अग्नि लम्बे, चौड़े, गोल, छोटे, बड़े सब आकृतिवाले पदार्थों में व्यापक होकर तदाकार दीखता है और उनसे पृथक् है, वैसे सर्वव्यापक परमात्मा अन्तःकरणों में व्यापक होके अन्तःकरणाऽऽकार हो रहा है, परन्तु उनसे अलग है।

सिद्धान्ती—यह भी तुम्हारा कहना व्यर्थ है। क्योंकि जैसे घट, मठ, मेघों और आकाश को भिन्न मानते हो, वैसे कारणकार्य्यरूप जगत् और जीव को ब्रह्म से और ब्रह्म को इनसे भिन्न मान लो।

नवीन०—जैसा अग्नि सब में प्रविष्ट होकर देखने में तदाकार दीखता है, इसी प्रकार परमात्मा जड़ और जीव में व्यापक होकर जड़ और जीवाकारयुक्त अज्ञानियों को दीखता है। वास्तव में ब्रह्म न जड़ और न जीव है। जैसे सहस्र जल के कूंडे धरे हों, उनमें सूर्य्य के सहस्र प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वस्तुतः सूर्य्य एक है। कूंडों के नष्ट होने से, जल के चलने वा फैलने से सूर्य्य न नष्ट होता, न चलता और न फैलता; इसी प्रकार अन्तःकरणों में ब्रह्म का आभास जिसको चिदाभास कहते हैं, पड़ा है। जब तक अन्तःकरण है, तभी तक जीव है। जब अन्तःकरण ज्ञान से नष्ट होता है, तब जीव ब्रह्मस्वरूप है, इस चिदाभास को अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान-कर्त्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, जन्म-मरण अपने में आरोपित करता है, तब-तक संसार के बन्धनों से नहीं छूटता।

सिद्धान्ती—यह दृष्टान्त तुम्हारा व्यर्थ है। क्योंकि सूर्य आकारवाला, जल-कूंडे भी आकारवाले हैं। सूर्य्य जल-कूंडे से भिन्न और सूर्य से जल-कूंडे भिन्न हैं, तभी प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि निराकार होते तो उनका प्रतिबिम्ब कभी न होता। और जैसे परमेश्वर निराकार, सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने से ब्रह्म से कोई पदार्थ वा पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नहीं हो सकता और व्याप्यव्यापक सम्बन्ध से एक भी नहीं हो सकते। अर्थात् अन्वयव्यतिरेकभाव से देखने से व्याप्यव्यापक मिले हुए और सदा पृथक् रहते हैं। जो एक हो तो अपने में व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध कभी नहीं घट सकता। सो बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण [अ० ३। ब्रा० ७। कं० ३-२३] में स्पष्ट लिखा है। और ब्रह्म का आभास भी नहीं पड़ सकता, क्योंकि विना आकार के आभास का होना असम्भव है।

जो अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म को जीव मानते हो, सो तुम्हारी बात बालक के समान है, क्योंकि अन्तःकरण चलायमान, खण्ड-खण्ड और ब्रह्म अचल और अखण्ड है। यदि तुम ब्रह्म और जीव को पृथक्-पृथक् न मानोगे तो इसका उत्तर दीजिये कि जहाँ-जहाँ अन्तःकरण चलता जायेगा, वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ेगा, वहाँ के ब्रह्म को ज्ञानी कर देवेगा वा नहीं? जैसे छाता प्रकाश के बीच में जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ के प्रकाश को आवरणयुक्त और जहाँ-जहाँ से हठता है वहाँ-वहाँ का प्रकाश आवरणरहित कर देता है, वैसे ही अन्तःकरण ब्रह्म को क्षण-क्षण में ज्ञानी, अज्ञानी, बद्ध और मुक्त करता जायगा। अखण्ड ब्रह्म के एकदेश में आवरण का प्रभाव सर्वदेश में होने से सब ब्रह्म आज्ञानी हो जायगा, क्योंकि वह चेतन है।

और मथुरा में अन्तःकरणस्थ जिस ब्रह्म ने जो वस्तु देखी उसका स्मरण उसी अन्तःकरणस्थ से काशी में नहीं हो सकता। क्योंकि—

'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति न्यायात्'।

[योगदर्शन विभूतिपाद सूत्र १४ व्यासभाष्य]

और के देखे का स्मरण और को नहीं होता। जिस चिदाभास ने मथुरा में देखा वही चिदाभास काशी में नहीं रहता, किन्तु जो मथुरास्थ अन्तःकरण का प्रकाशक है, वह काशीस्थ ब्रह्म नहीं होता। जो ब्रह्म ही जीव है, पृथक् नहीं; तो सब जीव को सर्वज्ञ होना चाहिये। यदि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पृथक् है तो 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् पूर्व दृष्ट, श्रुत का ज्ञान किसी को नहीं हो सकेगा। जो कहो कि ब्रह्म एक है इसलिये स्मरण होता है तो एक ठिकाने अज्ञान वा दुःख होने से सब ब्रह्म को अज्ञान वा दुःख हो जाना चाहिये। और ऐसे दृष्टान्तों से नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म को तुमने अशुद्ध, अज्ञानी और बद्ध कर दिया है, और अखण्ड को खण्ड-खण्ड कर दिया।

नवीन०—निराकार का भी आभास होता है, जैसा कि दर्पण वा जलादि में आकाश का आभास पड़ता है। वह नीला वा किसी अन्य प्रकार गम्भीर गहरा दीखता है, वैसे ब्रह्म का भी सब अन्तःकरणों में आभास पड़ता है।

सिद्धान्ती—जब आकाश में रूप ही नहीं है तो उसको आँख से कोई भी नहीं देख सकता। जो पदार्थ दीखता ही नहीं, वह दर्पण और जलादि में कैसे दीखेगा? गहरा वा छिदरा साकार वस्तु दीखता है, निराकार नहीं।

नवीन०—तो फिर जो यह ऊपर नीला सा दीखता है, वही आदर्श वा जल में भान होता है, वह क्या पदार्थ है?

सिद्धान्ती—वह पृथिवी से उड़कर जल, पृथिवी और अग्नि के त्रसरेणु हैं। जहाँ से वर्षा होती है, वहाँ जल न हो तो वर्षा कहाँ से होवे? इसलिये जो दूर-दूर तम्बू के समान दीखता है, वह जल का चक्र है। जैसे कुहिर दूर से घनाकार दीखता है और निकट से छिदिरा और डेरे के समान भी दीखता है, वैसा आकाश में जल दीखता है।

नवीन०—क्या हमारे रज्जु, सर्प और स्वप्नादि के दृष्टान्त मिथ्या हैं?

सिद्धान्ती—नहीं। तुम्हारी समझ मिथ्या है, सो हमने पूर्व लिख दिया। भला यह तो कहो कि प्रथम अज्ञान किसको होता है?

नवीन०—ब्रह्म को।

सिद्धान्ती—ब्रह्म अल्पज्ञ है वा सर्वज्ञ?

नवीन०—न सर्वज्ञ और न अल्पज्ञ। क्योंकि सर्वज्ञता और अल्पज्ञता उपाधिसहित में होती है।

सिद्धान्ती—उपाधि से सहित कौन है?

नवीन०—ब्रह्म।

सिद्धान्ती—तो ब्रह्म ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हुआ। तो तुमने सर्वज्ञ और अल्पज्ञ का निषेध क्यों किया था? जो कहो कि उपाधि कल्पित अर्थात् मिथ्या है तो 'कल्पक' अर्थात् कल्पना करने वाला कौन है?

नवीन०—जीव ब्रह्म है, वा अन्य?

सिद्धान्ती—अन्य है। क्योंकि जो ब्रह्मस्वरूप है तो जिसने मिथ्या कल्पना की, वह ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जिसकी कल्पना मिथ्या है, वह सच्चा कब हो सकता है?

नवीन०—हम सत्य और असत्य को झूठ मानते हैं और वाणी से बोलना भी मिथ्या है।

सिद्धान्ती—जब तुम झूठ कहने और माननेवाले हो, तो झूठे क्यों नहीं?

नवीन०—रहो। झूठ और सच हमारे ही में कल्पित है और हम दोनों के साक्षी अधिष्ठान हैं।

सिद्धान्ती—जब तुम सत्य और झूठ के आधार हुए तो साहूकार और चोर के सदृश तुम्हीं हुए। इससे तुम प्रामाणिक भी नहीं रहे। क्योंकि प्रामाणिक वह होता है, जो सर्वदा सत्य माने, सत्य बोले, सत्य करे; झूठ न माने, झूठ न बोले, झूठ न करे। जब तुम अपनी बात को आप ही झूठ करते हो तो तुम अनाप्त मिथ्यावादी हो।

नवीन०—अनादि माया जो कि ब्रह्म के आश्रय और ब्रह्म ही का आवरण करती है, उसको मानते हो, वा नहीं?

सिद्धान्ती—नहीं मानते। क्योंकि तुम माया का अर्थ ऐसा करते हो कि जो वस्तु न हो और भासे है, तो इस बात को वह मानेगा जिसके हृदय की आँख फूट गई हो। क्योंकि जो वस्तु नहीं, उसका भासमान होना सर्वथा असम्भव है, जैसा वन्ध्या के पुत्र का प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता। और यह '**सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः**' [प्रपा० ६। खं० ८। प्रवाक ४] इत्यादि छान्दोग्य उपनिषद् के वचनों से विरुद्ध कहते हो।

नवीन०—क्या तुम वसिष्ठ, शङ्कराचार्य आदि और निश्चलदास पर्य्यन्त से अधिक पण्डित हो? उनने जो लिखा है, सो विचार करके लिखा है, वे तुम से बड़े पण्डित थे।

सिद्धान्ती—तुमको क्या दीखता है?

नवीन०—हमको तो वसिष्ठ, शङ्कराचार्य और निश्चलदास आदि अधिक दीखते हैं।

सिद्धान्ती—तुम विद्वान् हो वा अविद्वान्?

नवीन०—हम भी कुछ विद्वान् हैं।

सिद्धान्ती—अच्छा तो आओ वसिष्ठ, शङ्कराचार्य आदि और निश्चलदास के पक्ष का हमारे सामने स्थापन करो, हम खण्डन करते हैं। जिसका पक्ष सिद्ध हो, वही बड़ा है। जो उनकी और तुम्हारी बात अखण्डनीय होती तो तुम उनकी युक्तियाँ लेकर हमारी बात को खण्डन क्यों न कर सकते? तब तुम्हारी और उनकी बात माननीय होवे। अनुमान है कि शङ्कराचार्य आदि ने तो जैनमत का खण्डन करने ही के लिये यह मत स्वीकार किया हो, क्योंकि देश-काल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये बहुत से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं। और जो इन बातों को अर्थात् जीव ईश्वर की

एकता, जगत् मिथ्या आदि व्यवहार सच्चा ही मानते थे, तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।

और निश्चलदास का पाण्डित्य देखो ऐसा है **'जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात्'** उन्होंने 'वृत्तिप्रभाकर' [२।९] में जीव ब्रह्म की एकता के लिये अनुमान लिखा है कि 'चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है'। यह बहुत कम समझ पुरुष की बात के सदृश बात है। क्योंकि साधर्म्यमात्र से एक दूसरे के साथ एकता नहीं होती, वैधर्म्य भेदक होता है। जैसे कोई कहे कि **'पृथिवी जलाऽभिन्ना जडत्वात्'** 'जड़ के होने से पृथिवी जल से अभिन्न है।' जैसे यह वाक्य सङ्गत कभी नहीं हो सकता, वैसे निश्चलदासजी का भी लक्षण व्यर्थ है। क्योंकि जो अल्प, अल्पज्ञता और भ्रान्तिमत्त्वादि धर्म्म जीव में ब्रह्म से और सर्वगत, सर्वज्ञता और निर्भ्रान्तित्वादि वैधर्म्य ब्रह्म में जीव से विरुद्ध है, इससे जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं। जैसे गन्धवत्त्व, कठिनत्व आदि भूमि के धर्म, रसवत्त्व, द्रवत्वादि जल के धर्म से विरुद्ध होने से पृथिवी और जल एक नहीं, वैसे जीव और ब्रह्म के वैधर्म्य होने से जीव और ब्रह्म एक न कभी थे, न हैं और न कभी होंगे। इतने ही से निश्चलदासादि को समझ लीजिये कि उनमें कितना पाण्डित्य था।

और जिसने योगवासिष्ठ बनाया है, वह कोई आधुनिक वेदान्ती था; न वाल्मीकि, वसिष्ठजी, और न रामचन्द्र का बनाया वा कहा सुना है। क्योंकि वे सब वेदानुयायी थे, वेद से विरुद्ध न बना सकते और न कह सुन सकते थे।

प्रश्न—व्यासजी ने जो शारीरकसूत्र बनाये हैं, उनमें भी जीव ब्रह्म की एकता दीखती है? देखो—

सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात्॥ १॥
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः॥ २॥
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः॥ ३॥
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः॥ ४॥
अत एव चानन्याधिपतिः॥ ५॥

[वेदान्त अ० ४। पा० ५। सू० १, ५-७, ९]॥

अर्थ—जीव अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त होकर प्रकट होता है जोकि पूर्व ब्रह्मस्वरूप था, क्योंकि 'स्व' शब्द से अपने ब्रह्मस्वरूप का ग्रहण होता है॥ १॥

'अयमात्मा अपहतपाप्मा' [तुलना छां० उप० ८।७।१] इत्यादि 'उपन्यास' ऐश्वर्यप्राप्ति पर्य्यन्त हेतुओं से जीव स्थित होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य्य का मत है॥ २॥

और औडुलोमि आचार्य्य तदात्मकस्वरूप-निरूपणादि बृहदारण्यक [३।७।३-२३; ४।५।१३] के हेतुरूप के वचनों से चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव मुक्ति में स्थित रहता है॥ ३॥

व्यासजी इन्हीं पूर्वोक्त उपन्यासादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप हेतुओं से जीव का ब्रह्मस्वरूप होने में अविरोध मानते हैं॥ ४॥

योगी ऐश्वर्यसहित अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होकर 'अन्य अधिपति से रहित' अर्थात् स्वयं आप अपना और सबका अधिपतिरूप ब्रह्मस्वरूप से मुक्ति में स्थित रहता है॥ ५॥

उत्तर—इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार का नहीं, किन्तु इनका यथार्थ यह है, सुनिये! जब तक जीव अपने स्वकीय शुद्धस्वरूप को प्राप्त, सब मलों से रहित होकर पवित्र नहीं होता, तब तक योग से ऐश्वर्य को प्राप्त होकर अपने अन्तर्यामी ब्रह्म को प्राप्त होके आनन्द में स्थित नहीं हो सकता॥ १॥

इसी प्रकार जब पापादिरहित ऐश्वर्ययुक्त योगी होता है तभी ब्रह्म के साथ मुक्ति के आनन्द को भोग सकता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है॥ २॥

जब अविद्यादि दोषों से छूट शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव स्थिर होता है, तभी 'तदात्मकत्व' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है [ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है।]॥ ३॥

जब ब्रह्म के साथ ऐश्वर्य और शुद्ध विज्ञान को जीते ही जीवन्मुक्त होता है, तब अपने निर्मलज पूर्व स्वरूप को प्राप्त होकर आनन्दित होता है ऐसा व्यासमुनि का मत है॥ ४॥

जब योगी का सत्य संकल्प होता है, तब स्वयं परमेश्वर को प्राप्त

होकर मुक्तिसुख को पाता है। वहाँ स्वाधीन स्वतन्त्र रहता है। जैसा संसार में एक प्रधान, दूसरा अप्रधान होता है, वैसा मुक्ति में नही। किन्तु सब मुक्त जीव एक से रहते हैं॥५॥

जो ऐसा न हो तो—

नेतरोनुपपत्तेः॥ १॥ [१।१।१६]
भेदव्यपदेशाच्च॥ २॥ [१।१।१७]
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ॥ ३॥ [१।२।२२]
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति॥ ४॥ [१।१।१९]
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्॥ ५॥ [१।१।२०]
भेदव्यपदेशाच्चान्यः॥ ६॥ [१।१।२१]
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्॥ ७॥ [१।२।११]
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः॥ ८॥ [१।२।३]
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥ ९॥ [१।२।१८]
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥ १०॥

—वेदान्तसूत्र [१।२।२०]॥

अर्थ—ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है। क्योंकि इस अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्यवाले जीव में सृष्टिकर्तृत्व नहीं घट सकता, इससे जीव ब्रह्म नहीं॥१॥

'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' [तैत्तिरीय उप० ब्र० वल्ली अनु० ७] यह उपनिषद् का वचन है।

जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है। जो ऐसा न होता तो 'रस' अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है, यह प्राप्तिविषय ब्रह्म और प्राप्त होनेवाले जीव का निरूपण नहीं घट सकता, इसलिये जीव और ब्रह्म एक नहीं॥२॥

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

—मुण्डक उप० [२।१।२]

'दिव्य' शुद्ध, मूर्त्तिमत्त्वरहित, सबमें पूर्ण, बाहर-भीतर निरन्तर व्यापक, 'अज' जन्म-मरण-शरीरधारणादि रहित, श्वास-प्रश्वास, शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि परमात्मा के विशेषण; और 'अक्षर' नाशरहित प्रकृति से परे अर्थात् सूक्ष्म जीव, उससे भी परमेश्वर परे अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है। प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादनरूप हेतुओं से प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है॥३॥

इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग वा जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है॥४॥

इस ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है, क्योंकि व्याप्यव्यापक सम्बन्ध भी भेद में संघटित होता है॥५॥

जैसे परमात्मा जीव से भिन्नस्वरूप है, वैसे इन्द्रिय, अन्तःकरण, पृथिवी आदि भूत, दिशा, वायु, सूर्यादि दिव्यगुणों के योग से देवतावाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है॥६॥

'गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके' [तुलना—कठोप० अ० १।३।१] इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं। वैसा ही उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखलाया है॥७॥

'शरीरे भवः शारीरः' शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म के गुण कर्म, स्वभाव जीव में नहीं घटते॥८॥

(अधिदैव) सब दिव्य मन आदि इन्द्रियादि पदार्थों (अधिभूत) पृथिव्यादि भूत (अध्यात्म) सब जीवों में परमात्मा अन्तर्यामीरूप से स्थित है, क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदों में व्याख्यात हैं॥९॥

शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है॥१०॥

इत्यादि शारीरक सूत्रों से भी स्वरूप से ब्रह्म और जीव का भेद सिद्ध है।

वैसे ही वेदान्तियों का उपक्रम और उपसंहार भी नहीं घट सकता, क्योंकि 'उपक्रम' अर्थात् आरम्भ ब्रह्म से और 'उपसंहार' अर्थात् प्रलय भी ब्रह्म ही में करते हैं। जब दूसरा कोई वस्तु नहीं मानते तो उत्पत्ति

और प्रलय भी ब्रह्म के धर्म हो जाते हैं। और उत्पत्ति विनाशरहित ब्रह्म का प्रतिपादन वेदादि सत्यशास्त्रों में किया है, वह नवीन वेदान्तियों पर कोप करेगा। क्योंकि निर्विकार, अपरिणामी, शुद्ध, सनातन, निर्भ्रान्तत्वादि विशेषणयुक्त ब्रह्म में विकार, उत्पत्ति और अज्ञान आदि का सम्भव किसी प्रकार नहीं हो सकता। तथा उपसंहार (प्रलय) के होने पर भी ब्रह्म, कारणात्मक जड़ और जीव बराबर बने रहते हैं। इसलिये उपक्रम और उपसंहार भी इन वेदान्तियों का ठीक नहीं है। इसी प्रकार की इन नवीन वेदान्तियों की कल्पना झूठी है। ऐसी अन्य बहुत सी अशुद्ध बातें हैं कि जो शास्त्र और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध हैं।

इसके पश्चात् कुछ जैनियों और कुछ शङ्कराचार्य्य के अनुयायी लोगों के उपदेश के संस्कार आर्यावर्त्त में फैले थे और आपस में खण्डन-मण्डन भी चलता था। शङ्कराचार्य्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ, जिसने सब राजाओं के मध्य प्रवृत्त हुई लड़ाई को मिटा कर शान्ति स्थापन की। तत्पश्चात् भर्तृहरि राजा काव्यादि-शास्त्र और अन्य में भी कुछ-कुछ विद्वान् हुआ, उसने वैराग्यवान् होकर राज्य को छोड़ दिया। विक्रमादित्य के पांच सौ वर्ष के पश्चात् राजा भोज हुआ। उसने थोड़ा सा व्याकरण और काव्यालङ्कारादि का इतना प्रचार किया कि जिसके राज्य में कालिदास बकरी चरानेवाला भी 'रघुवंश' काव्य का कर्त्ता हुआ। राजा 'भोज' के पास जो कोई अच्छा श्लोक बना कर ले जाता था उसको बहुत-सा धन देते और प्रतिष्ठा करते थे। उसके पश्चात् राजाओं और श्रीमानों ने पढ़ना ही छोड़ दिया।

यद्यपि शङ्कराचार्यजी के पूर्व, वाममार्गियों के पश्चात् शैव आदि सम्प्रदायस्थ मतवादी भी हुए थे, परन्तु उनका बहुत-सा बल नहीं हुआ था। महाराजे विक्रमादित्य से लेके शैवों का बल बढ़ता आया। शैवों में पाशुपतादि बहुत सी शाखा हुई थीं, जैसे वाममार्गियों में दश महाविद्यादि की शाखा हैं। लोगों ने शङ्कराचार्य को शिव का अवतार ठहराया। उनके अनुयायी संन्यासी भी शैवमत में प्रवृत्त हो गये और वाममार्गियों को भी मिलते रहे। वाममार्गी—'देवी' जो शिव की पत्नी है उसके उपासक,

और शैव 'महादेव' के उपासक हुए। ये दोनों रुद्राक्ष और भस्म अद्यावधि धारण करते हैं, परन्तु जितने वाममार्गी वेदविरोधी हैं, उतने शैव वेदविरोधी नहीं है। इन लोगों ने—

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम्॥ १॥
रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान्मस्तके विंशती द्वे,
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलगतान् द्वादशान्द्वादशैव।
बाह्वोरिन्दोः कलाभिः पृथगिति गदितमेकमेवं शिखायाम्,
वक्षस्यष्टाऽधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः॥ २॥

[तुलना शिवपुराण विद्येश्वर संहिता १। अ० २५। श्लो० ३७-३८]॥

इत्यादि बहुत प्रकार के श्लोक बनाये और कहने लगे कि जिसके कपाल में भस्म और कण्ठ में रुद्राक्ष नहीं है, उसको धिक्कार है। '**तं त्यजेदन्त्यजं यथा**' [तुलना शिवपुराण विद्येश्वर संहिता १। अ० २३। श्लो० १३] उसको चाण्डाल के तुल्य त्याग करना चाहिये॥ १॥

जो कण्ठ में ३२, शिर में ४०, छः-छः कानों में, कर में बारह-बारह, भुजा में सोलह-सोलह, शिखा में एक और हृदय में एक सौ आठ रुद्राक्ष धारण करता है, वह साक्षात् महादेव के सदृश है॥ २॥ ऐसा ही शाक्त भी मानते हैं।

पश्चात् इन वाममार्गी और शैवों ने सम्मति करके भग-लिङ्ग का स्थापन किया, जिसको जलाधारी और लिङ्ग कहते हैं और उसकी पूजा करने लगे। उन निर्लज्जों को लज्जा भी न आई कि यह पामरपन का काम हम क्यों करते हैं? किसी कवि ने कहा है कि '**स्वार्थी दोषं न पश्यति**' [चाणक्यनीति ६।८] स्वार्थी लोग अपने काम-सिद्धि करने में दुष्ट कामों को भी श्रेष्ठ मान, दोष को नहीं देखते हैं। उसी पाषाणादि मूर्त्ति और भग-लिङ्ग की पूजा ही में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानने लगे।

जब राजा भोज के पश्चात् जैनी लोग अपने-अपने मन्दिरों में मूर्त्तिस्थापन करने और दर्शन को आने-जाने लगे, तब तो इन पोपों के चेले भी जैनमन्दिर में जाने-आने लगे और उधर पश्चिम में कुछ दूसरों

के मत और यवन लोग भी आर्य्यावर्त्त में आने-जाने लगे। तब पोपों ने यह श्लोक बनाया—

न वदेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

[तुलना—भविष्यपुराण प्रतिसर्ग पर्व ३। खं० ३। अध्याय २८। श्लो० ५३]

चाहे कितना ही दुःख हो, प्राण कण्ठगत अर्थात् मृत्यु का भी समय आवे, तो भी म्लेच्छ अर्थात् यवनों की भाषा मुख से न बोलनी और उन्मत्त हाथी मारने को दौड़ा आता हो, जैन के मन्दिर में जाने से बचता हो तो भी जैन के मन्दिर में प्रवेश न करे। किन्तु जैन मन्दिर में प्रवेश कर बचने से, हाथी के सामने जाकर मरना उससे अच्छा है।

ऐसे-ऐसे अपने चेलों को उपदेश करने लगे। जब उनसे कोई प्रमाण पूछता था कि तुम्हारे मत में किसी माननीय ग्रन्थ का भी प्रमाण है? तो कहते थे कि हाँ है। जब वे पूछते थे कि दिखलाओ? तब मार्कण्डेय पुराणादि के वचन पढ सुनाते थे जैसा कि दुर्गापाठ में देवी का वर्णन लिखा है।

राजा भोज के राज्य में व्यासजी के नाम से मार्कण्डेय और शिवपुराण किसी ने बना कर खड़ा किया था, उसका समाचार राजा भोज को होने से उन पण्डितों को हस्तच्छेदनादि दण्ड दिया और उनसे कहा कि जो कोई काव्यादि ग्रन्थ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि-मुनियों के नाम से नहीं। यह बात '**राजा भोज का बनाया संजीवनी नामक इतिहास**' में लिखी है कि जो ग्वालियर राज्य के 'भिंड' नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है जिसको लखुना के रावसाहेब और उनके गुमाश्ते रामदयाल चौबेजी ने अपनी आँख से देखा है, उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यासजी ने चार सहस्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पांच सहस्र छः सौ अर्थात् दस सहस्र श्लोकों के प्रमाण 'भारत' बनाया था। वह महाराजे विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिता के समय में पच्चीस और मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त 'महाभारत' का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता

चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊंट का बोझ हो जायगा और ऋषि-मुनियों के नाम से पुराणादि ग्रन्थ बनावेंगे तो आर्यावर्त्तीय लोग भ्रमजाल में पड़ के वैदिकधर्मविहीन होकर भ्रष्ट हो जायेंगे। इससे विदित होता है कि राजा भोज को कुछ-कुछ वेदों का संस्कार था। इनके भोजप्रबन्ध में लिखा है कि—

घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वः सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं विना मनुष्येण चलत्यजस्रम्॥

राजा भोज के राज्य में और पास ऐसे शिल्पीलोग थे कि जिन्होंने घोड़े के आकार एक यान कलायन्त्रयुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोश और एक घण्टे में साढ़े सत्ताईस कोश जाता था। वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था। और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था कि विना मनुष्य के चलाये कलायन्त्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था। जो ये दोनों पदार्थ आज तक बने रहते तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते।

जब पोपजी अपने चेलों को जैनियों से रोकने लगे तो भी मन्दिरों में जाने से न रुक सके और जैनियों की कथा में भी लोग जाने लगे। जैनियों के पोप इन पुराणी पोपों के चेलों को बहकाने लगे। तब पुराणी पोपों ने विचारा कि इसका कोई उपाय करना चाहिये, नहीं तो अपने चेले जैनी हो जायेंगे। पश्चात् पोपों ने यही सम्मति की कि जैनियों के सदृश अपने भी अवतार, मन्दिर, मूर्त्ति और कथा के पुस्तक बनावें। इन लोगों ने जैनियों के चौबीस तीर्थङ्करों के सदृश चौबीस अवतार, मन्दिर और मूर्त्तियाँ बनाईं और जैसे जैनियों के आदि और उत्तर-पुराणादि हैं वैसे अठारह पुराण बनाने लगे।

राजा भोज के डेढ़ सौ वर्ष के पश्चात् वैष्णवमत का आरम्भ हुआ। एक शठकोप नामक कञ्जरवर्ण में उत्पन्न हुआ था, उससे थोड़ा सा चला। उसके पश्चात् मुनिवाहन भंगी कुलोत्पन्न और तीसरा यावनाचार्य्य यवनकुलोत्पन्न आचार्य्य हुआ। तत्पश्चात् ब्राह्मण कुलज चौथा रामानुज हुआ, उनने अपना मत फैलाया।

शैवों ने शिवपुराणादि, शाक्तों ने देवीभागवतादि, वैष्णवों ने

विष्णुपुराणादि बनाये। उनमें अपना नाम इसलिये नहीं धरा कि हमारे नाम से बनेंगे तो कोई प्रमाण न करेगा। इसलिये व्यास आदि ऋषि-मुनियों के नाम धरके पुराण बनाये। नाम भी इनका वास्तव में नवीन रखना चाहिये था, परन्तु जैसे कोई दरिद्र अपने बेटे का नाम महाराजाधिराज और आधुनिक पदार्थ का नाम सनातन रख दे तो क्या आश्चर्य है? अब इनके आपस के जैसे झगड़े हैं, वैसे ही पुराणों में भी धरे हैं।

देखो! देवीभागवत में 'श्री' नामा एक देवी स्त्री जो श्रीपुर की स्वामिनी लिखी है, उसी ने सब जगत् को बनाया और ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को भी उसी ने रचा है। जब उस देवी की इच्छा हुई तब उसने अपना हाथ घिसा। उससे हाथ में छाला हुआ। उसमें से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। उससे देवी ने कहा कि तू मुझसे विवाह कर। ब्रह्मा ने कहा कि तू मेरी माता लगती है, मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। माता को क्रोध चढ़ा, लड़के को भस्म कर दिया और फिर हाथ घिसके उसी प्रकार दूसरा लड़का उत्पन्न करके उसका नाम विष्णु रक्खा। उससे भी उसी प्रकार कहा। उसने न माना, उसको भी भस्म कर दिया। पुनः उसी प्रकार तीसरे लड़के को उत्पन्न करा। उसका नाम महादेव रक्खा और उससे कहा कि तू मुझ से विवाह कर। महादेव बोला कि मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता, तू दूसरा स्त्री का शरीर धारण कर। वैसा ही देवी ने किया। तब महादेव बोला कि यह दो ठिकाने राख क्या पड़ी है? देवी ने कहा कि ये दोनों तेरे भाई हैं, इन्होंने मेरी आज्ञा न मानी, इसलिये भस्म कर दिये। महादेव ने कहा कि मैं अकेला क्या करूँगा, इनको जिला दे और दो स्त्री और उत्पन्न कर, तीनों का विवाह तीनों से होगा। ऐसा ही देवी ने किया। फिर तीनों का तीनों के साथ विवाह हुआ, वाहरे! माता से विवाह न किया और बहिन से कर लिया! क्या इसी को उचित समझना चाहिये?

पश्चात् इन्द्रादि को उत्पन्न किया। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र इनको पालकी के उठानेवाले कहार बनाया, इत्यादि गपोड़े लम्बे-चौड़े मनमाने लिखे हैं। कोई उनसे पूछे कि उस देवी का शरीर और उस श्रीपुर का बनानेवाला और देवी का पिता-माता कौन थे? जो कहो कि

देवी अनादि है तो जो संयोगजन्य वस्तु है, वह अनादि कभी नहीं हो सकता। जो माता-पुत्र के विवाह करने में डरे तो भाई-बहिन के विवाह में कौन सी अच्छी बात निकलती है? जैसी इस देवीभागवत में महादेव, विष्णु और ब्रह्मादि की क्षुद्रता और देवी की बड़ाई लिखी है, इसी प्रकार शिवपुराण में देवी आदि की बहुत क्षुद्रता लिखी है। अर्थात् ये सब महादेव के दास और महादेव सब का ईश्वर है। जो 'रुद्राक्ष' अर्थात् एक वृक्ष के फल की गोठली और राख धारण करने से मुक्ति मानते हैं, तो राख में लोटनेहारे गदहा आदि पशु और घुंघुंची आदि के धारण करने वाले भील, कञ्जर आदि मुक्ति को जावें और सूअर, कुत्ते, गधा आदि पशु राख में लोटनेवालों की मुक्ति क्यों नहीं होती?

प्रश्न—कालाग्निरुद्रोपनिषद् में भस्म लगाने का विधान लिखा है। वह क्या झूठा है? और **'त्र्यायुषं जमदग्ने०'** —यजुर्वेद [३।६२] इत्यादि वेदमन्त्रों से भी भस्म धारण का विधान और पुराणों में रुद्र की आँख के अश्रुपात से जो वृक्ष हुआ उसी का नाम रुद्राक्ष है। इसीलिये उसके धारण में पुण्य लिखा है। एक भी रुद्राक्ष धारण करे, तो सब पापों से छूट स्वर्ग को जाय। यमराज और नरक का डर न रहै।

उत्तर—कालाग्निरुद्रोपनिषद् किसी 'रखोड़िया' मनुष्य अर्थात् राख धारण करने वाले ने बनाई है। क्योंकि **'यास्य प्रथमा रेखा सा भूर्लोकः'** इत्यादि वचन उसमें अनर्थक हैं। जो प्रतिदिन हाथ से बनाई रेखा है, वह भूलोक वा इसका वाचक कैसे हो सकती हैं? और जो—

त्र्यायुषं जमदग्नेः। —यजुः [३।६२]

इत्यादि मन्त्र हैं, वे भस्म वा त्रिपुण्ड्र धारण के वाची नहीं किन्तु

चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः

—शतपथ [८।१।२।३]

हे परमेश्वर! मेरे नेत्र की ज्योति (त्र्यायुषम्) तिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष पर्यन्त रहै और मैं भी ऐसे धर्म के काम करूं कि जिससे दृष्टि-नाश न हो।

भला यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात है कि आँख के अश्रुपात से कभी वृक्ष उत्पन्न होता है? क्या परमेश्वर के सृष्टिक्रम को कोई

अन्यथा कर सकता है? जैसा जिस वृक्ष का बीज परमात्मा ने रचा है, उसी से वह वृक्ष उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। इससे जितना रुद्राक्ष, भस्म, तुलसी, कमलाक्ष, घास, चन्दन आदि को कण्ठ में धारण करना है, वह सब जंगली पशुवत् मनुष्य का काम है। ऐसे वाममार्गी और शैव बहुत मिथ्याचारी, विरोधी और कर्त्तव्य कर्म के त्यागी होते हैं। उनमें जो कोई श्रेष्ठ पुरुष है, वह इन बातों का विश्वास न करके, अच्छे कर्म करता है। जो रुद्राक्ष भस्म-धारण से यमराज के दूत डरते हैं, तो पुलिस के सिपाही भी डरते होंगे! जब रुद्राक्ष भस्म-धारण करने वालों से कुत्ता, सिंह, सर्प्प, बिच्छू, मक्खी और मच्छर आदि भी नहीं डरते, तो न्यायाधीश के गण क्यों डरेंगे?

प्रश्न—वाममार्गी और शैव तो अच्छे नहीं, परन्तु वैष्णव तो अच्छे हैं?

उत्तर—ये भी वेदविरोधी होने से उनसे भी अधिक बुरे हैं।

प्रश्न—'नम॑स्ते रुद्र म॒न्यवे॑' [यजुः १६।१], **'शिवाय च शिवतराय च'** [यजुः १६।४१], **'वैष्ण॒वम॑सि'** [यजुः ५।२१], **'वाम॒नाय॑ च॒'** [यजुः १६।३०], **'ग॒णाना॑न्त्वा ग॒णप॑तिꣳ हवामहे'** [यजुः १६।१९], **'भग॑वती॒ भूयाः'** [अथर्व० ९।१०।२०] **'सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च'** [यजुः १३।४६]॥

इत्यादि वेद प्रमाणों से शैवादि मत सिद्ध होते हैं, पुनः क्यों खण्डन करते हो?

उत्तर—इन वचनों से शैवादि सम्प्रदाय सिद्ध नहीं होते, क्योंकि 'रुद्र' परमेश्वर, प्राणादि वायु, जीव, अग्नि आदि का नाम है। जो क्रोधकर्त्ता रुद्र अर्थात् दुष्टों को रुलानेवाले परमात्मा को नमस्कार करना, प्राण और जाठराग्नि को अन्न देना।

नम इति अन्ननाम। —निघण्टु [२।७]

जो मङ्गलकारी सब संसार का अत्यन्त कल्याण करनेवाला है, उस परमात्मा को नमस्कार करना चाहिये। **'शिवस्य परमेश्वरस्यायं भक्तः शैवः'**। **'विष्णोः परमात्मनोऽयं भक्तो वैष्णवः'**। **'गणपतेः सकलजगत्स्वामिनोऽयं सेवको गाणपतः'**। **'भगवत्या वाण्या अयं सेवको भागवतः'**। **'सूर्यस्य चराचरात्मनोऽयं सेवकः सौरः'** ये सब रुद्र, शिव, विष्णु, गणपति, सूर्यादि परमेश्वर के और भगवती सत्यभाषणयुक्त वाणी का नाम है। इसमें विना समझे ऐसा झगड़ा मचाया है, जैसे—

एक किसी वैरागी के दो चेले थे। वे गुरु के पग दाबा करते थे। एक ने दक्षिण पग और दूसरे ने बायें पग की सेवा करना बाँट लिया था। एक दिन एक चेला कहीं गया था और एक अपने सेव्य पग की सेवा कर रहा था। इतने में गुरु ने करवट फेरा, तो उसके पग पर दूसरे गुरुभाई का सेव्य पग पड़ा। उसने ले डण्डा पग पर धर मारा। गुरु ने कहा कि अरे दुष्ट! यह क्या किया? चेला बोला—मेरे पग के ऊपर यह पग क्यों चढ़ा? इतने में दूसरा चेला आया। वह भी सेवा करने लगा। देखा कि यह पग सूज गया। गुरु से पूछा कि यह मेरे सेव्य पग में क्या हुआ? गुरु ने सब वृत्तान्त सुना दिया। वह भी मूर्ख न बोला न चाला। चुपचाप डण्डा उठा कर बड़े बल से दूसरे पग में मारा। गुरु पुकारता रहा। फिर दोनों चेले डण्डे लेके गुरु के पग को पीटने लगे। बड़ी पुकार मची। तब किसी बुद्धिमान् पुरुष ने आके छुड़ाया। उन दोनों मूर्खों को उपदेश किया ''देखो! ये दोनों पग तुम्हारे गुरु के हैं। दोनों की सेवा करने से उसी को सुख और दुःख देने से उसी एक को दुःख होता है।''

जैसे एक गुरु की सेवा में चेलाओं ने लीला की, वैसे हीन, पामर, महामूर्ख, सम्प्रदायी लोगों ने—परमेश्वर के विष्णु रुद्रादि सब नाम हैं, जैसा कि प्रथम समुल्लास में लिख आये हैं, उनको न जानकर शाक्त, शैव और वैष्णवादि परस्पर एक दूसरे के नाम की निन्दा करते है।

अब देखिये चक्राङ्कित वैष्णवों की अद्भुत माया—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रस्तथैव च।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तहेतवः॥ १॥

[भरद्वाज संहिता परिशिष्ट, अ० २।२॥ रामानुजपटलपद्धति]

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते। इति श्रुतेः॥

ऋ० ९.८३.१

अर्थात् (तापः) शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्नों को अग्नि में तपा, भुजा के मूल में दाग देकर, दूध के पात्र में बुझाते हैं, फिर कोई-कोई उस दूध को भी पी लेते हैं, अर्थात् उसमें कुछ मनुष्य के शरीर के मांस का भी अंश आता होगा। ऐसे कर्मों से परमेश्वर को प्राप्त होने की आशा करते हैं और कहते हैं कि विना शंख, चक्रादि से शरीर तपाये जीव परमेश्वर को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह (आमः) अर्थात् कच्चा है। और जैसे राज्य के चपरास आदि चिह्न के होने से राजपुरुष जान, उससे सब लोग डरते हैं, वैसे ही विष्णु के चक्रादि आयुधों के चिह्न देखकर यम और यम के गण डरते हैं, और कहते हैं कि—

दोहा— **बाना बड़ा दयाल का, तिलक छाप अरु माल।**
यम डरपै कालू कहे, भय माने भूपाल॥

[भक्तमाल निष्ठा ६]

भगवान् का बाना बड़ा है। तिलक, छाप और माला धारण करना बड़ा है। जिससे यमराज और राजा भी डरता है। (पुण्ड्रम्) त्रिशूल के सदृश ललाट में चित्र निकालना, (नाम) नारायणदास, विष्णुदास दासशब्दान्त नाम, कमलगट्टे आदि की माला और पांचवा (मन्त्र) अर्थात्—

ओं नमो नारायणाय॥ १॥

[पद्मपुराण भाग ६। उत्तर खण्ड अ० ७२। श्लोक० ११७]

यह इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिये। दूसरा—

श्रीमन्नारायणचरणं शरणं प्रपद्ये॥ २॥

श्रीमते नारायणाय नमः॥ ३॥ [भक्तमाल]

इत्यादि मन्त्र धनाढ्य और माननीयों के लिये। क्योंकि यह भी एक दुकान ठहरी! जैसा मुख वैसा तिलक! इन पाँच संस्कारों को चक्राङ्कित मुक्ति के हेतु मानते हैं।

इन मन्त्रों का अर्थ—मैं नारायण को नमस्कार करता हूं॥ १॥

और मैं लक्ष्मीयुक्त नारायण के चरणारविन्द के शरण को प्राप्त होता हूं॥ २॥

और श्रीयुत नारायण को नमस्कार करता हूं अर्थात् जो शोभायुक्त नारायण है, उसको मेरा नमस्कार होवे॥ ३॥

जैसे वाममार्गी पाँच मकार मानते हैं, वैसे चक्राङ्कित पाँच संस्कार मानते हैं जो वेद का वचन लिखा है, उसका इस प्रकार का पाठ और अर्थ है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत॥ १॥
तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे॥ २॥

—ऋ० म० ९। सू० ८३। मन्त्र १, २॥

हे ब्रह्माण्ड और वेदों के पालन करने वाले प्रभु सर्वसामर्थ्ययुक्त सर्वशक्तिमान्! आपने अपनी व्याप्ति से संसार के सब अवयवों को व्याप्त कर रक्खा है। उस आपका जो व्यापक पवित्र स्वरूप है उसको ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रिय, सत्सङ्गादि तपश्चर्य्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा अन्तःकरणयुक्त है, वह उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध हैं, वे ही इस का आचरण करते हुए, उस तेरे शुद्धस्वरूप को अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं॥ १॥

जो प्रकाशरूप परमेश्वर की सृष्टि में विस्तृत पवित्राचरण रूप तप करते हैं, वे ही परमात्मा को प्राप्त होने में योग्य होते हैं॥ २॥

अब विचार कीजिये कि रामानुजीयादि लोग इस मन्त्र से 'चक्राङ्कित' होना क्योंकर निकालते हैं? वे विद्वान् थे वा अविद्वान्? जो विद्वान् होते तो ऐसा असम्भावित अर्थ इस मन्त्र का क्यों करते? क्योंकि इस मन्त्र में '**अतप्ततनूः**' शब्द है किन्तु '**अतप्तभुजैकदेशः**' शब्द नहीं। जो '**अतप्ततनूः**' यह नखशिखाग्रपर्यंत समुदाय अर्थ है, इस प्रमाण करके अग्नि ही से तपाना चक्राङ्कित लोग स्वीकार करें, तो अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंकके सब शरीर को जला लेवें, तो भी इस मन्त्र के अर्थ से विरुद्ध है, क्योंकि इस मन्त्र में सत्यभाषणादि पवित्र कर्म करना तप लिया है।

ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः॥

—तैत्तिरीय० [शिक्षावल्ली अनु० ९। तैत्ति० आरण्यक १०।८]

इत्यादि तप कहाता है। अर्थात् (ऋतं तपः) यथार्थ शुद्धभाव, सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरण में जाने से रोक रखना अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से शुभ कर्मों का आचरण करना, वेदादि सत्य विद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम '**तप**' है। धातु को तपाके चमड़ी को जलाना तप नहीं कहाता।

देखो! चक्राङ्कित लोग अपने को बड़े वैष्णव मानते हैं, परन्तु अपनी परम्परा और कुकर्म की ओर ध्यान नहीं देते कि प्रथम इनका मूलपुरुष 'शठकोप' हुआ कि जो चक्राङ्कितों ही के ग्रन्थों में और भक्तमाल ग्रन्थ जो नाभा डूम ने बनाया है, उनमें—

विक्रीय शूर्पं विचचार योगी॥ [दिव्यसूरिचरितकाव्य सर्ग २]

इत्यादि वचन लिखे हैं। अर्थात् शठकोप योगी सूप को बना, बेचकर, विचरता था अर्थात् कंजर जाति में उत्पन्न हुआ था। जब उसने ब्राह्मणों से पढ़ना वा सुनना चाहा होगा, तब ब्राह्मणों ने तिरस्कार किया होगा। उसने ब्राह्मणों के विरुद्ध सम्प्रदाय तिलक, चक्राङ्क आदि चलाये होंगे। उसका चेला 'मुनिवाहन' जो कि चाण्डाल वर्ण में उत्पन्न हुआ था। उसका 'यावनाचार्य' जो यवनकुलोत्पन्न था, जिसको नाम बदला के कोई-कोई 'यामुनाचार्य' भी कहते हैं।

उनके पश्चात् 'रामानुज' ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर चक्राङ्कित हुआ। उसके पूर्व कुछ भाषा के ग्रन्थ बनाते थे। रामानुज ने कुछ संस्कृत पढ़के संस्कृत में श्लोकबद्ध ग्रन्थ और शारीरकसूत्र और उपनिषदों की टीका शङ्कराचार्य की टीका से विरुद्ध बनाये और शङ्कराचार्य की बहुत सी निन्दा की। जैसा शङ्कराचार्य का मत जीव ब्रह्म की एकता, जगत् प्रपञ्च, सब मिथ्या मायारूप अनित्य है। इससे विरुद्ध रामानुज का—जीव और ब्रह्म और माया तीनों नित्य हैं। शङ्कराचार्य का अद्वैत अर्थात् जीव ब्रह्म एक, ब्रह्म एक ही है, दूसरा कोई वस्तु वास्तविक नहीं है। यहाँ शङ्कराचार्य का मत ब्रह्म से अतिरिक्त जीव और कारण वस्तु का न मानना, अच्छा नहीं। रामानुज का इस अंश में, जो कि विशिष्टाद्वैत-जीव और मायासहित परमेश्वर एक है। भला, तीन का मानना और

अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है। जीव को सर्वथा ईश्वर के आधीन परतन्त्र मानना, कण्ठी, तिलक, माला मूर्त्तिपूजादि पाखण्ड-मत चलाने आदि बुरी बातें चक्राङ्कित आदि में हैं। जैसे चक्राङ्कित आदि वेदविरोध करते हैं, वैसे शङ्कराचार्य के मत के नहीं।

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा कहाँ से चली?

उत्तर—जैनियों से।

प्रश्न—जैनियों ने कहाँ से चलाई?

उत्तर—अपनी मूर्खता से।

प्रश्न—जैनी लोग कहते हैं कि शान्त ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्त्ति देखके अपने जीव का भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है।

उत्तर—जीव चेतन, मूर्त्ति जड़। क्या मूर्त्ति के सदृश जीव भी जड़ हो जायगा? यह मूर्त्तिपूजा केवल पाखण्ड मत है, जैनियों ने चलाई है। इसलिये इनका खण्डन १२वें समुल्लास में करेंगे।

प्रश्न—शाक्त आदि ने मूर्त्तियों में जैनियों का अनुकरण नहीं किया है, क्योंकि जैनियों की मूर्त्तियों के सदृश वैष्णवादि की मूर्त्तियाँ नहीं हैं।

उत्तर—हाँ, यह ठीक है। जो जैनियों के तुल्य बनाते तो जैनमत में मिल जाते। इसलिये जैन की मूर्त्तियों से विरुद्ध बनाईं, क्योंकि जैन से विरोध करना इनका और इनसे विरोध करना जैनियों का मुख्य काम था। जैसे जैनियों की मूर्त्ति नंगी, ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं। वैष्णवादि ने खूब शृङ्गारित, खड़ी, स्त्री के सहित रङ्ग राग भोग विषयासक्ति सहिताकार मूर्त्तियां बनाई हैं। जैनी लोग बहुत से शंख, घंटा घड़ियार नहीं बजाते। ये लोग बड़े कोलाहल करते हैं। तब तो इन वैष्णवादि पोपों के चेले जैनियों से बचे और बहुतों ने व्यासादि के नाम से बहुतेरे ग्रन्थ बनाये। उनका नाम 'पुराण' रखके कथा भी सुनाने लगे। और मूर्त्तियों को बना, कहीं पहाड़, जंगल में धर आये वा भूमि में गाड़ आये। और अपने चेलों से प्रसिद्धि की कि—''मुझको स्वप्न में महादेव, पार्वती, राधा, कृष्ण, सीता, राम वा लक्ष्मी, नारायण, भैरव, हनुमान् आदि ने कहा कि हम फलाने ठिकाने हैं। हमको वहाँ से ला, मन्दिर में स्थापन कर, तू ही पुजारी होवे तो हम मनोवाञ्छित फल

देवें।'' जब **आँख के अन्धे गाँठ के पूरे** लोगों ने सुनकर सच माना और उनसे कहा कि ऐसी वह मूर्त्ति कहाँ है? वह उनको ले जाके दिखलाई। तब तो वे मूर्ख उस धूर्त्त के पग में गिरे और कहा कि ''तेरे पर इस देवता की बड़ी कृपा है। चलो हम मन्दिर बनवा देंगे। और उसमें इस देवता की पूजा तू किया करना। और हम लोग इस के दर्शन करके मनोवाञ्छित फल पावेंगे।''

इसी प्रकार जब एक ने किया, पुनः सब पोप-लोगों ने अपने-अपने जीविकार्थ इसी प्रकार कपट-छल से मूर्त्तियाँ स्थापन कीं।

प्रश्न—परमेश्वर निराकार है, वह ध्यान में नहीं आ सकता, इसलिये मूर्त्ति का होना अवश्य है। भला कुछ भी नहीं करे तो मूर्त्ति के सामने जाते हैं तब कुछ परमेश्वर का स्मरण करते और नाम लेते हैं।

उत्तर—जब परमेश्वर निराकार है, तब उसकी मूर्त्ति ही नहीं बन सकती। जो मूर्त्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होवे तो परमेश्वर की बनाई पृथिवी, जल, अग्नि, वनस्पति आदि रचनायुक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वर-रचित महामूर्त्तियाँ कि जिन पहाड़ आदि से ये मनुष्यकृत मूर्त्तियाँ बनती हैं, देखकर परमेश्वर स्मरण क्या नहीं आ सकता? जो किसी दूसरे को देख दूसरे का स्मरण करे, तो जब वह सामने न रहै, तब परमेश्वर को भी भूल जायें और जब परमेश्वर को मनुष्य भूल जाता है, तभी वह एकान्त पाकर अन्याय कर लेता है कि यहाँ मुझको कोई नहीं देखता।

जो मूर्त्ति को न मान परमेश्वर को व्यापक माने तो वह उसके डर से कि मुझ को परमेश्वर देखता है, पाप न करे। नामस्मरण मात्र से कुछ भी फल नहीं होता। जैसा कि मिश्री कहने से मुख न मीठा और नीम कहने से कडुवा नहीं होता, किन्तु उनको जीभ से चाखने से मीठा वा कडुवा होता है।

प्रश्न— क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है, जो सर्वत्र पुराणों में नामस्मरण का बड़ा माहात्म्य लिखा है?

उत्तर— नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं। जिस प्रकार तुम नाम स्मरण करते हो, वह रीति झूठी है।

प्रश्न— हमारी कैसी रीति है?

उत्तर—वेदविरुद्ध।

प्रश्न—भला अब आप हमको वेदोक्त नामस्मरण की रीति बतलाइये?

उत्तर—नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिये—जैसे 'न्यायकारी' ईश्वर का नाम है कि जैसे पक्षपातरहित होकर परमात्मा सब का यथावत् न्याय करता है, वैसे उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना, अन्याय कभी न करना।

प्रश्न—हम भी जानते हैं कि परमेश्वर निराकार है, परन्तु उसने शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य, देवी आदि के शरीर धारण करके राम, कृष्णादि अवतार लेने से उसकी मूर्त्ति बनती है, क्या यह भी बात झूठी है?

उत्तर—हाँ-हाँ झूठी। क्योंकि—

'अज एकपात्' [ऋ० ७।३५।१३]

'अकायम्' [यजुः ४०।८]

इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म और शरीरधारणरहित वेद में कहा है, तथा युक्ति से भी परमेश्वर का अवतार कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक, अनन्त और सुख, दुःख, दृश्यादि गुणरहित है, वह एक छोटे से वीर्य्य, गर्भाशय और शरीर में क्योंकर आ सकता है? आता-जाता वह है कि जो एकदेशी हो। जो अचल, अदृश्य, जिसके विना एक परमाणु भी खाली नहीं है, उसका अवतार कहना जानो बन्ध्या के पुत्र का विवाह कर, उसके पौत्र के दर्शन करने की बात कहना है।

प्रश्न—जब परमेश्वर व्यापक है तो मूर्त्ति में भी है। पुनः चाहे किसी पदार्थ में भावना करके पूजा करना अच्छा क्यों नहीं? देखो—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥

[तुलना—गरुड़पुराण, ध० कां० प्रेतखण्ड ३८।१३॥
चाणक्य० ८।११]

परमेश्वर देव न काष्ठ, न पाषाण, न मृत्तिका के बनाये पदार्थों में है

किन्तु परमेश्वर तो भाव में विद्यमान है। जहाँ भाव करें, वहीं परमेश्वर प्रसिद्ध होता है।

उत्तर—जब व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ाके एक छोटी सी कुटी का स्वामी मानना देखो यह कितना बड़ा अपमान है! वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो। जब व्यापक मानते हो तो वाटिका में से पुष्प-पत्र तोड़ ला के क्यों चढ़ाते? चन्दन को घिस क्यों लगाते? धूप को जला, क्यों देते? घण्टा, घरियाल, झाँज, पखाजों को लट्ठ आदि से क्यों ठोकते? तुम्हारे हाथ में है, क्यों जोड़ते? शिर में है, क्यों नमाते? अन्न-जलादि में है, क्यों नैवेद्य धरते? जल में है, स्नान क्यों कराते? क्योंकि उन सब में व्यापक परमात्मा है। और तुम व्यापक की पूजा करते हो वा व्याप्य की? जो व्यापक की करते हो तो पाषाण, लकड़ी आदि पर चन्दन पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो? और जो व्याप्य की करते हो तो 'हम परमेश्वर की पूजा करते हैं', ऐसा झूठ क्यों बोलते हो? 'हम पाषाणादि के पुजारी हैं', ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते?

'भाव' सच्चा है वा झूठा? जो कहो सच्चा है, तो तुम्हारे भाव के आधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जायगा। और तुम मट्टी में सुवर्ण, पाषाण में हीरा-पन्ना, समुद्रफेन में मोती, जल में घी-दूध, बर्फ में दही आदि, धूल में मैदा शक्कर की भावना करके उनको वैसे क्यों नहीं बना लेते हो? दुःख की भावना कोई नहीं करते, फिर दुःख क्यों होता है? और सुख की भावना करते हो, वह क्यों नहीं होता? अन्धा नेत्र की भावना करके क्यों नहीं देखता? मरने की भावना नहीं है, क्यों मर जाते हो? इसलिये तुम्हारी भावना सच्ची नहीं। क्योंकि '**भावना**' जैसे में वैसा भाव करने को कहते हैं, जैसे अग्नि में अग्नि, जल में जल जानना। और जल में अग्नि, अग्नि में जल समझना अभावना है। क्योंकि जैसे को वैसा जानना '**ज्ञान**' और अन्यथा जानना '**अज्ञान**' है। इसलिये तुम अभावना को भावना और भावना को अभावना कहते हो।

प्रश्न—अजी! जब तक वेदमन्त्रों से आवाहन नहीं करते, देवता

नहीं आता और आवाहन करने से झट आता और विसर्जन करने से चला जाता है।

उत्तर—जो मन्त्र के आवाहन करने से परमेश्वर आ जाता है तो मूर्त्ति चेतन क्यों नहीं होती? और विसर्जन करने से चला जाता है तो वह कहाँ से आता और कहाँ जाता है?

सुनो अन्धो! पूर्ण परमात्मा न आता, न जाता है। जो तुम मन्त्र से परमेश्वर को बुला लेते हो, तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव को क्यों नहीं बुला लेते? और शत्रु के जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सकते?

सुनो भाई! भोले लोगो! यह पोपजी तुमको ठगकर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्त्तिपूजा और परमेश्वर के आवाहन-विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।

प्रश्न— **प्राणा इहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।**
आत्मेहागच्छतु सुखं चिरं तिष्ठतु स्वाहा।
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा॥

[प्रतिष्ठामयूख ग्रन्थ, तन्त्रग्रन्थ]

इत्यादि वेद के मन्त्र हैं, क्यों कहते हो नहीं है?

प्रश्न—अरे भाई! बुद्धि को थोड़ी सी तो अपने काम में लाओ। ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों के वेदविरुद्ध तन्त्रग्रन्थों की पोपरचित पंक्तियाँ हैं, वेदवचन नहीं।

प्रश्न—क्या तन्त्र झूठा है?

उत्तर—हां! सर्वथा झूठा है। जैसे आवाहन, प्राणप्रतिष्ठादि, पाषाण मूर्त्तिविषयक वेदों में एक मन्त्र भी नहीं, वैसे '**स्नानं समर्पयामि**' इत्यादि वचन भी नहीं। अर्थात् इतना भी नहीं है कि '**पाषाणादिमूर्त्तिं रचयित्वा मन्दिरेषु संस्थाप्य गन्धादिभिरर्चयेत्**' पाषाण की मूर्त्ति बना, मन्दिरों में स्थापन कर चन्दन-अक्षतादि से पूजे, ऐसा लेशमात्र भी नहीं।

प्रश्न—जो वेदों में विधि नहीं तो खण्डन भी नहीं है। और जो खण्डन है तो '**प्राप्तौ सत्यां निषेधः**' मूर्त्ति के होने ही से खण्डन संगत हो सकता है।

उत्तर—विधि तो नहीं, परन्तु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानना और सर्वथा निषेध किया है। क्या अपूर्वविधि नहीं होता? सुनो! यह है—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः॥[१॥]

—यजुः० अ० ४०। मं० ९॥

न तस्यं प्रतिमाऽअस्ति॥[२॥] —यजुः० अ० ३२। मं० ३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ १॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ २॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यन्ति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ३॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ४॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

—केनोपनि० [खं० १। मं० ४-८]॥

जो 'असम्भूति' अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण की, ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःखसागर में डूबते हैं। और 'सम्भूति' जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं, वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःखरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं॥ १॥

जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है॥ २॥

जो वाणी का '**इदंता**' अर्थात् यह जल है लीजिये, वैसा विषय नहीं। और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म

जान और उपासना कर। और जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं॥ १॥

जो मन से '**इयत्ता**' करके मनन में नहीं आता, जो मन को जानता है, उसी ब्रह्म को तू जान और उसी की उपासना कर। जो उससे भिन्न जीव और अन्तःकरण है, उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान में मत कर॥ २॥

जो आँख से नहीं दीख पड़ता और जिससे सब आँखें देखती हैं उसी को तू ब्रह्म जान और उसीकी उपासना कर। और जो उससे भिन्न सूर्य, विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, उनकी उपासना मत कर॥ ३॥

जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता और जिससे श्रोत्र सुनता है, उसीको तू ब्रह्म जान और उसीकी उपासना कर। उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर॥ ४॥

जो प्राणों से चलायमान नहीं होता, जिससे प्राण गमन को प्राप्त होता है, उसी ब्रह्म को तू जान और उसीकी उपासना कर। जो यह उससे भिन्न वायु है, उसकी उपासना मत कर॥ ५॥ इत्यादि बहुत से निषेध हैं।

निषेध प्राप्त और अप्राप्त का भी होता है। 'प्राप्त' का—जैसे कोई कहीं बैठा हो, उसको वहाँ से उठा देना। 'अप्राप्त' का—जैसे हे पुत्र! तू चोरी कभी मत करना, कुवे में मत गिरना, दुष्टों का सङ्ग मत करना, विद्याहीन मत रहना, इत्यादि अप्राप्त का भी निषेध होता है। सो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त, परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त का निषेध किया है। इसलिये पाषाणादि मूर्त्तिपूजा अत्यन्त निषिद्ध है।

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा में पुण्य नहीं तो पाप तो नहीं है?

उत्तर—कर्म दो ही प्रकार के होते हैं—विहित—जो कर्त्तव्यता से वेद में सत्यभाषणादि प्रतिपादित हैं। दूसरा निषिद्ध—जो अकर्त्तव्यता से मिथ्याभाषणादि वेद में निषिद्ध हैं। जैसे विहित का अनुष्ठान करना वह धर्म, उसका न करना अधर्म है, वैसे ही निषिद्ध कर्म का करना अधर्म और न करना धर्म है। जब वेद से निषिद्ध मूर्त्तिपूजादि कर्म तुम करते हो, तो पापी क्यों नहीं?

प्रश्न—देखो! वेद अनादि हैं। उस समय मूर्त्ति का क्या काम था? क्योंकि पहिले तो देवता प्रत्यक्ष थे। यह रीति तो पीछे से तन्त्र और

पुराणों से चली है। जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून हो गया, परमेश्वर को ध्यान में नहीं ला सकते, मूर्त्ति का ध्यान कर सकते हैं, इस कारण अज्ञानियों के लिये मूर्त्तिपूजा है। क्योंकि सीढ़ी-सीढ़ी से चढ़े तो भवन पर पहुँच जाय। पहिली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे तो नहीं जा सकता, इसलिये मूर्त्ति प्रथम सीढ़ी है। इसको पूजता-पूजता जब ज्ञानी होगा और अन्त:करण पवित्र होगा, तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा। जैसे लक्ष्य के मारनेवाला प्रथम स्थूल लक्ष्य में तीर, गोली वा गोला मारता-मारता पश्चात् सूक्ष्म निशाना भी मार सकता है, वैसे स्थूल मूर्त्ति की पूजा करता-करता सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है। जैसे लड़कियाँ गुड़ियों का खेल तबतक करती हैं, जबतक सच्चे पति को प्राप्त नहीं होतीं, इत्यादि प्रकार से मूर्त्तिपूजा करना दुष्ट काम नहीं।

उत्तर—जब वेदविहित धर्म और वेदविरुद्धाचरण में अधर्म है तो तुम्हारे कहने से भी मूर्त्तिपूजा अधर्म ठहरी। जो ग्रन्थ वेद से विरुद्ध हैं, उनका प्रमाण करना जानो नास्तिक होना है। सुनो—

नास्तिको वेदनिन्दकः॥ १॥ [मनु० २।११]॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥ २॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ ३॥

—मनु० अ० १२ [श्लो० ९५-९६]॥

मनुजी कहते हैं जो वेदों की 'निन्दा' अर्थात् अपमान, त्याग, विरुद्धाचरण करता है, वह 'नास्तिक' कहाता है॥ १॥

जो ग्रन्थ वेदबाह्य, कुत्सित पुरुषों के बनाये, संसार को दु:खसागर में डुबानेवाले हैं, वे सब निष्फल, असत्य, अन्धकाररूप, इस लोक और परलोक में दु:खदायक हैं॥ २॥

जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं, वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उनका मानना निष्फल और झूठा है॥ ३॥

इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त का मत है कि वेदविरुद्ध को न मानना, किन्तु वेदानुकूल ही का आचरण करना धर्म है। क्योंकि वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक है, इससे विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं, वे वेदविरुद्ध होने से झूठे हैं, वे वेद से विरुद्ध चलते हैं। उनमें कही हुई मूर्त्तिपूजा भी अधर्मरूप है। मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता किन्तु जो कुछ ज्ञान है, सो भी नष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानियों की सेवा-सङ्ग से ज्ञान बढ़ता है, पाषाणादि से नहीं। क्या पाषाणादि मूर्त्तिपूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है? नहीं-नहीं। मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है। उस खाई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसी में मर जाता है। हां, छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगी के संग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियाँ हैं, जैसी कि ऊपर घर में जाने की नि:श्रेणी होती है। किन्तु मूर्त्तिपूजा करते-करते ज्ञानी तो कोई न हुआ, प्रत्युत सब मूर्त्तिपूजक अज्ञानी रहकर, मनुष्यजन्म व्यर्थ खोके, बहुत मर गए और जो अब हैं वा होंगे, वे भी मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्तिरूप फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे। मूर्त्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं, किन्तु धार्मिक विद्वान् और सृष्टिविद्या है। इसको बढ़ाता-बढ़ाता ब्रह्म को भी पाता है। और मूर्त्ति गुड़िया के खेलवत् नहीं, किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना, गुड़िया के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। सुनिये! जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा, तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायगा।

प्रश्न—साकार में मन स्थिर होता और निराकार में स्थिर होना कठिन है, इसलिये मूर्त्तिपूजा रहनी चाहिये।

उत्तर—साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता। क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसीके एक-एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है। और निराकार अनन्त परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है, तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चञ्चल भी नहीं रहता किन्तु उसीके गुण-कर्म-स्वभाव का विचार करता-करता आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है। और जो साकार में स्थिर होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता, क्योंकि जगत् में मनुष्य,

स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि साकार में फसा रहता है, परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता, जबतक निराकार में न लगावे, क्योंकि वह निरवयव होने से उसमें मन स्थिर हो जाता है। इसलिये मूर्त्तिपूजा करना अधर्म है।

दूसरा—उसमें क्रोड़ों रुपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होजाते हैं और उसमें प्रमाद होता है।

तीसरा—स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई-बखेड़ा और रोग उत्पन्न होते हैं।

चौथा—उसीको धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थरहित होकर मनुष्यजन्म व्यर्थ गमाता है।

पाँचवाँ—नाना प्रकार की विरुद्धस्वरूप-नाम-चरित्रयुक्त मूर्त्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होके, विरुद्धमत में चलकर, आपस में फूट बढ़ाके, देश का नाश करते हैं।

छ:ठा—उसीके भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय मान, बैठे रहते हैं। उसका पराजय होकर राज्य, स्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होते हैं। आप पराधीन भठियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहा के तुल्य शत्रुओं के वश में होकर अनेकविध दु:ख पाते हैं।

सातवाँ—जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन वा नाम पर पत्थर धरें तो जैसे वह उन पर क्रोधित होकर मारता है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्त्तियाँ धरते हैं, उन का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे?

आठवाँ—भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर देश-देशान्तर में घूमते-घूमते दु:ख पाते, धर्म, संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोर आदि से पीडित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं।

नववाँ—दुष्ट पूजारियों को धन देते हैं, वे उस धन को वेश्या, परस्त्रीगमन, मद्य, मांसाहार, लड़ाई-बखेड़ों में व्यय करते हैं, जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दु:ख होता है।

दशवाँ—माता-पिता आदि माननीयों का अपमान और पाषाणादि

मूर्त्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं।

ग्यारहवाँ—उन मूर्त्तियों को कोई तोड़ डालता वा चोर ले जाता है तब हा-हा करके रोते रहते हैं।

बारहवाँ—पूजारी परस्त्रियों के सङ्ग और पूजारिन् परपुरुषों के सङ्ग से प्राय: दूषित होकर स्त्री-पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं।

तेरहवाँ—स्वामी-सेवक की आज्ञा पालन यथावत् न होने से, आपस में विरुद्ध होकर, नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

चौदहवाँ—जड़ का ध्यान करनेवाले का आत्मा भी जड़बुद्धि होता है, क्योंकि ध्येय का जड़त्व धर्म अन्त:करण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है।

पन्द्रहवाँ—परमेश्वर ने पुष्पादि सुगन्ध, वायु-जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिये बनाये हैं, उनको पूजारी तोड़ कर नष्ट कर देते हैं। पूर्ण सुगन्ध के समय तक उसका सुगन्ध होता है, उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिल-सड़कर उल्टा दुर्गन्ध उत्पन्न करता है। इसलिये मूर्त्तिपूजा करने में पाप होता है। इत्यादि पापों का मूलकारण पाषाणादि मूर्त्तिपूजा भी है।

ऐसे-ऐसे अनेक मूर्त्तिपूजा के करने में दोष आते हैं। इसलिए सर्वथा पाषाणादि मूर्त्तिपूजा सभी लोगों को त्यक्तव्य है। और जिन्होंने पाषाणमय मूर्त्ति की पूजा की है, करते हैं और करेंगे, वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।

प्रश्न—किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा करनी वा नहीं और जो अपने आर्य्यावर्त्त में 'पञ्चदेवपूजा' शब्द प्राचीन चला आता है, उसका यही 'पञ्चायतनपूजा'—जो कि शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश और सूर्य्य की मूर्त्ति बना कर पूजते हैं—यही पञ्चायतनपूजा है वा नहीं?

उत्तर—किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा न करना, किन्तु 'मूर्त्तिमान्' जो नीचे कहेंगे, उनकी 'पूजा' अर्थात् सत्कार करना चाहिये। वह पञ्चदेवपूजा, पञ्चायतनपूजा शब्द बहुत अच्छे अर्थवाला था, परन्तु मूढ़ों ने उस सदर्थ को छोड़कर, असत्य अर्थ पकड़ लिया। जो आजकल

शिवादि पाँचों की मूर्त्तियाँ बनाकर पूजते हैं, उनका खण्डन तो अभी कर चुके हैं। यह सच्ची 'पञ्चायतन' वेदोक्त और वेदानुकूलोक्त देवपूजा और मूर्त्तिपूजा है, सुनो—

मा [नो] वधीः पितरं मोत मातरम्॥ १ ॥ —यजुः० [१६।१५]

आचार्य उपनयमानो....... [अथर्व० ११।५।३]

ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ २ ॥ [अथर्व० ११।५।१७]

अतिथिर्गृहानुपगच्छेत्॥ ३ ॥ —अथर्व० [तुलना—१५।१२।१]

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत॥ ४॥ —ऋग्वेद [८।६९।८]

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि॥ ५॥

—तैत्तिरीयोपनि० [१।१]

कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते॥ ६॥

—शतपथ० [कां० १४] प्रपाठक ५। ब्राह्मण ७। कण्डिका १०॥

मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव॥ ७॥ —तैत्तिरीयोप० [शिक्षावल्ली। अनु० ११]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ ८॥

—मनु० [३।५५]

पूज्यो देववत्पतिः॥ ९॥ —मनुस्मृति [तुलना—५।१५४]

प्रथम '**माता**' मूर्त्तिमती पूजनीय देवता अर्थात् सन्तानों से, तन-मन-धन से, वा सेवा करके माता को प्रसन्न रखना, हिंसा अर्थात् ताडना कभी न करना। दूसरा '**पिता**' सत्कर्त्तव्य देव। उसकी भी माता के समान सेवा करनी॥ १॥

तीसरा '**आचार्य**' जो विद्या का देनेवाला है, उसकी तन-मन से सेवा करनी॥ २॥

चौथा '**अतिथि**' जो विद्वान् धार्मिक, निष्कपटी, सबकी उन्नति चाहनेवाला, जगत् में भ्रमण करता हुआ, सत्य उपदेश से सबको सुखी करता रहै, उसकी सेवा करें॥ ३॥

पाँचवाँ—स्त्री के लिये **पति** और पुरुष के लिये **स्वपत्नी** पूजनीय है॥ ९॥

ये पाँच मूर्त्तिमान् देव जिनके सङ्ग से मनुष्यदेह की उत्पत्ति, पालन, सत्यशिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर की प्राप्ति होने की सीढ़ियाँ है। इनकी सेवा न करके जो पाषाणादि मूर्त्ति पूजते हैं, वे अतीव पामर, नरकगामी हैं।

प्रश्न—माता-पिता आदि की सेवा करें और मूर्त्तिपूजा भी करें, तब तो कोई दोष नहीं?

उत्तर—पाषाणादि मूर्त्तिपूजा तो सर्वथा छोड़ने और मातादि मूर्त्तिमानों की सेवा करने ही में कल्याण है। बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक देवों को छोड़ के अदेव पाषाणादि में शिर मारना स्वीकार किया। इसको मूढों ने इसीलिये स्वीकार किया है कि जो माता-पितादि के सामने नैवेद्य वा भेट-पूजा धरेंगे तो वे स्वयं खा लेंगे और भेट पूजा ले लेंगे। हमारे मुख वा हाथ में न पड़ेगा। इससे पाषाणादि की मूर्त्ति बना, उसके आगे नैवेद्य धर, टंटन घंटा, पूँ पूँ शंख बजा, अंगूठा दिखला '**त्वमङ्गुष्ठं गृहाण, भोजनं पदार्थं वाऽहं ग्रहीष्यामि**' जैसे कोई किसी को छले वा चिड़ावे कि तू घंटा ले और अंगूठा दिखलावे, उसके आगे से सब पदार्थ ले आप भोगे, वैसी ही लीला इन 'पूजारियों' अर्थात् पूजा नाम सत्कर्म के शत्रुओं की है। मूढों को चटक-मटक, चलक-झलक दिखा, मूर्त्तियों को बना-ठना, आप वेश्या, भडुआ वा ठगों के तुल्य बन-ठन के बिचारे निर्बुद्धि अनाथों का माल मारके मौज करते हैं। जो कोई धार्मिक राजा होता तो इन पाषाणप्रियों को पत्थर तोड़ने, बनाने और घर रचने आदि कामों में लगाके खाने-पीने को देता, निर्वाह कराता।

प्रश्न—जैसे स्त्री आदि की पाषाणादि मूर्त्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे वीतराग शान्त की मूर्त्ति देखने से वैराग्य और शान्ति की प्राप्ति क्यों न होगी?

उत्तर—नहीं हो सकती। क्योंकि वह मूर्त्ति के जड़त्व धर्म आत्मा में आने से विचारशक्ति घट जाती है। विवेक के विना न वैराग्य, और वैराग्य के विना विज्ञान, विज्ञान के विना शान्ति नहीं होती। और जो कुछ होता है सो उनके सङ्ग, उपदेश और उनके इतिहासादि के देखने से

होता है, क्योंकि जिसका गुण वा दोष न जानके उसकी मूर्त्तिमात्र देखने से प्रीति ही नहीं होती। प्रीति होने का कारण गुणज्ञान है। ऐसे मूर्त्तिपूजा आदि बुरे कारणों ही से आर्य्यावर्त्त में निकम्मे, पूजारि, भिक्षुक, आलसी पुरुषार्थरहित क्रोड़ों मनुष्य हुए हैं। वे मूढ होने से सब संसार में मूढ़ता उन्हींने फैलाई है। झूठ-छल भी बहुत सा फैलता है।

प्रश्न—देखो! काशी में 'अवरङ्गज़ेब' बादशाह को 'लाटभैरव' आदि ने बड़े चमत्कार दिखलाये थे। जब मुसलमान उनको तोड़ने गये, तोप का गोला मारा, तब बड़े-बड़े भमरे निकलकर, सब फौज को व्याकुल कर, भगा दिया।

उत्तर—यह पाषाण का चमत्कार नहीं। किन्तु वहाँ भमरे के छत्ते लग रहे होंगे। उनका स्वभाव है, जब कोई उनको छेड़े, तो काटने दौड़ते हैं। और जो दूध की धारा का चमत्कार होता था, वह पूजारी की लीला थी।

प्रश्न—देखो! महादेव म्लेच्छ को दर्शन न देने के लिये कूप में और वेणीमाधव एक ब्राह्मण के घर में जा छिपे। क्या यह भी चमत्कार नहीं है?

उत्तर—भला जिसके कोटवाल कालभैरव, लाटभैरव आदि भूत-प्रेत और गरुड़ आदि गणों ने मुसलमानों को लड़ के क्यों न हठाये? जब महादेव और विष्णु की पुराणों में कथा है कि अनेक त्रिपुरासुर आदि बड़े भयंकर दुष्टों को भस्म कर दिया तो मुसलमानों को भस्म क्यों न किया? इससे यह सिद्ध होता है कि वे बिचारे पाषाण क्या लड़ते-लड़ाते? जब मुसलमान मन्दिर और मूर्त्तियों को तोड़ते-फोड़ते हुए काशी के पास आए, तब पूजारियों ने उस पाषाण के लिङ्ग को कूप में डाल और वेणीमाधव को ब्राह्मण के घर में छिपा दिया। जब काशी में कालभैरव के डर के मारे यमदूत नहीं जाते, प्रलय में भी काशी का नाश होने नहीं देते, तो म्लेच्छों के दूत क्यों न डराये? और अपने राजा के मन्दिर का क्यों नाश होने दिया? यह सब पोपलीला है।

प्रश्न—गया में श्राद्ध करने से पितरों का पाप छूटकर वहाँ के श्राद्ध के पुण्यप्रभाव से पितर स्वर्ग में जाते और पितर अपना हाथ

निकालकर पिण्ड लेते हैं, क्या यह भी बात झूठ है?

उत्तर—सर्वथा झूठ। जो वहां पिण्ड देने का वही प्रभाव है तो जिन पण्डों को पितरों के सुख के लिये लाखों रुपये देते हैं, उनका व्यय गयावाले वेश्यागमनादि पाप में करते हैं, वह पाप क्यों नहीं छूटता? और हाथ निकलता आजकल कहीं नहीं दीखता, विना पण्डों के हाथों के। यहाँ यह कि कभी किसी धूर्त्त ने पृथिवी में गुफा खोद उसमें एक मनुष्य बैठाया। उसके मुख पर कुश बिछा, पिण्ड दिया हो। उस मनुष्य ने उठा लिया होगा। किसी **आँख के अन्धे गाँठ के पूरे** को ठगा हो तो आश्चर्य नहीं। वैसे ही वैजनाथ को रावण लाया था, यह भी मिथ्या बात है।

प्रश्न—देखो! कलकत्ते की 'काली' और 'कामाक्षा' आदि देवी को लाखों मनुष्य मानते हैं, क्या यह चमत्कार नहीं है?

उत्तर—कुछ भी नहीं। ये अन्धे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे दूसरे चलते हैं, कूप-खाड़े में गिरते हैं, हट नहीं सकते। वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चलकर मूर्त्तिपूजा रूप गढ़े में फसकर दुःख पाते हैं।

प्रश्न—भला यह तो जाने दो, परन्तु 'जगन्नाथ' में प्रत्यक्ष चमत्कार है। एक कलेवर बदलने के समय चन्दन का लकड़ा समुद्र में से स्वयमेव आता है। चूल्हे पर ऊपर-ऊपर सात हण्डे धरने से ऊपर-ऊपर के पहिले-पहिले पकते। जो कोई वहाँ जगन्नाथ की परसादी न खावे तो कुष्ठी हो जाता है और रथ आप से आप चलता, पापी को दर्शन नहीं होता। 'इन्द्रदमन' के राज्य में देवताओं ने मन्दिर बनाया है। कलेवर बदलने के समय एक राजा, एक पण्डा, एक बढ़ई मर जाने आदि चमत्कारों को तुम झूठ न कर सकोगे।

उत्तर—जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी, वह विरक्त होकर मथुरा में आया था, मुझसे मिला था। मैंने इन बातों का उत्तर पूछा था, उन्होंने ये सब बात झूठ बतलाईं। किन्तु विचार से निश्चय यह है, जब कलेवर बदलने का समय आता है, तब नौका में चन्दन की लकड़ी ले समुद्र में डालते हैं। वह समुद्र की लहरियों से किनारे लग जाती है। उसको ले सुतार लोग मूर्त्तियाँ बनाते हैं। जब

रसोई बनती है, तब किवाड़ी बन्ध करके विना रसोइयों के, अन्य किसी को न जाने, न देखने देते हैं। भूमि पर चारों ओर छः और बीच में एक, चक्राकार चूल्हे बनाते हैं। उन हण्डों के नीचे घी, मट्टी और राख लगा, छः चूल्हों पर चावल चुड़ा (=पका), उनके तले माँज कर, उस बीच के हण्डे में उसी समय चावल डाल, छः चूल्हों के मुख लोहे के तवों से बन्ध कर, दर्शन करनेवालों को जो कि धनाढ्य हों, बुलाके दिखलाते हैं। ऊपर-ऊपर के हण्डों से चावल निकाल, चुड़े हुए चावलों को दिखला, नीचे के कच्चे चावल निकाल, दिखाके, उनसे कहते हैं कि "कुछ हण्डे के लिये धरो।" '**आँख के अन्धे गाँठ के पूरे**' रुपये-अशर्फी धरते और कोई-कोई मासिक भी बांध देते हैं।

शूद्र नीच लोग मन्दिर में नैवेद्य लाते हैं। जब नैवेद्य हो चुकता है तब वे शूद्र लोग झूंठा कर देते हैं। पश्चात् जो कोई रुपया देकर हण्डा लेवे, उसके घर पहुँचाते और गरीब गृहस्थ और साधु सन्तों को लेके शूद्र और अन्त्यज पर्य्यन्त एक पङ्क्ति में बैठ, झूंठा भोजन करते हैं। जब वह पङ्क्ति उठती है, तब उन्हीं पत्तलों पर दूसरों को बैठाते जाते हैं। महा अनाचार है। और बहुत से मनुष्य वहां जाकर उनका झूंठा न खाके, अपने हाथ बना खाकर चले आते हैं, बहुत से परसादी नहीं खाते, उनको भी कुछ भी कुष्ठादि रोग नहीं होते। और उस जगन्नाथपुरी में भी बहुत से कुष्ठी हैं, नित्यप्रति झूंठ खाने से भी रोग नहीं छूटता।

और यह जगन्नाथ में वाममार्गियों ने भैरवीचक्र बनाया है, क्योंकि 'सुभद्रा' श्रीकृष्ण और बलदेव की बहिन लगती है। उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान बैठाई है। जो भैरवीचक्र न होता तो यह बात कभी न होती।

और रथ के पहियों के साथ कला बनाई हैं। जब उनको सूधी घुमाते हैं वह सूधी घूमती हैं, तब रथ चलता है। जब मेले के बीच में पहुंचता है तभी उसकी कील को उलटी घुमा देने से रथ खड़ा रह जाता है। पुजारी लोग पुकारते हैं—"दान दो, पुण्य करो, जिससे जगन्नाथ प्रसन्न होकर रथ चलावें, अपना धर्म रहै।" जबतक भेंट आती जाती है तबतक ऐसे ही पुकारते जाते हैं। जब आ चुकती है, तब एक व्रजवासी

अच्छे कपड़े दुसाला ओढ़कर आगे खड़ा रहके हाथ जोड़ स्तुति करता है कि हे जगन्नाथ स्वामिन्! आप कृपा करके रथ को चलाइये, हमारा धर्म रक्खो" इत्यादि बोलके साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर रथ पर चढ़ता है। उसी समय कील को सूधा घुमा देते हैं और जय-जय शब्द बोल, सहस्रों मनुष्य रस्सा खींचते हैं, रथ चलता है।

जब बहुत-से लोग दर्शन को जाते हैं, तब इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अन्धेरा रहता और दीप जलाना पड़ता है। उन मूर्त्तियों के आगे, खैंच कर लगाने के पड़दे, दोनों ओर रहते हैं। पण्डे-पुजारी भीतर खड़े रहते हैं। जब बगल वाले ने पर्दे को खींचा, झट मूर्त्ति आड़ में आ जाती है। तब सब पण्डे और पुजारी पुकारते हैं कि "तुम भेंट धरो, तुम्हारे पाप छूट जायेंगे, तब दर्शन होगा। शीघ्र करो।" वे बिचारे भोले मनुष्य धूर्त्तों के हाथ लूटे जाते हैं। और झट पर्दा दूसरा खैंच लेता है, तभी दर्शन होता है। तब जय शब्द बोल के, प्रसन्न होकर, धक्के खाके, तिरस्कृत हो, चले आते हैं।

'इन्द्रदमन' वही है कि जिसके कुल के अब तक कलकत्ते में हैं। वह धनाढ्य राजा और देवी का उपासक था। उसने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर बनवाया था। इसलिये कि आर्यावर्त्त के भोजन का बखेड़ा इस रीत से छुड़ावें। परन्तु वे मूर्ख कब छोड़ते हैं? 'देव' मानो तो उन्हीं कारीगरों को मानो कि जिन शिल्पियों ने मन्दिर बनाया।

राजा, पण्डा और बढ़ई उस समय नहीं मरते, परन्तु वे तीनों वहां प्रधान रहते हैं। छोटों को दुःख देते होंगे। उन्होंने सम्मति करके उसी समय अर्थात् कलेवर बदलने के समय वे तीनों उपस्थित रहते हैं, मूर्त्ति का हृदय पोला रक्खा है, उसमें सोने के सम्पुट में एक सालगराम रखते हैं कि जिसको प्रतिदिन धो के चरणामृत बनाते हैं, उस पर रात्रि की शयन आरती में उन लोगों ने विष का तेजाब लपेट दिया होगा। उसको धो के उन्हीं तीनों को पिलाया होगा कि जिससे वे कभी मर गये होंगे। मरे इस प्रकार और भोजनभट्टों ने प्रसिद्ध किया होगा कि जगन्नाथजी अपने शरीर बदलने के समय तीनों भक्तों को भी साथ ले गये। ऐसी झूठी बातें पराये धन ठगने के लिये बहुत-सी हुआ करती हैं।

प्रश्न—जो रामेश्वर में गङ्गोत्तरी के जल चढ़ाने समय लिङ्ग बढ़ जाता है, क्या यह भी बात झूठी है?

उत्तर—झूठी। क्योंकि उस मन्दिर में भी दिन में अन्धेरा रहता है। दीप रात-दिन जला करता है। जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजुली के समान दीप का प्रतिबिम्ब चलकता है, और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे, न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बिचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।

प्रश्न—रामेश्वर को रामचन्द्र ने स्थापन किया है। जो मूर्त्तिपूजा वेदविरुद्ध होती तो 'रामचन्द्र' मूर्त्तिस्थापन क्यों करते और वाल्मीकिजी रामायण में क्यों लिखते?

उत्तर—रामचन्द्र के समय में उस लिङ्ग वा मन्दिर का नाम निशान भी नहीं था, किन्तु यह ठीक है कि दक्षिण देशस्थ 'राम' राजा ने मन्दिर बनवा, लिङ्ग का नाम 'रामेश्वर' धर दिया है। जब रामचन्द्र सीताजी को ले हनुमान् आदि के साथ लङ्का से चले, आकाश मार्ग में विमान पर बैठ अध्योध्या को आते थे, तब सीताजी से कहा है कि—

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः।।
सेतुबन्ध इति विख्यातम्॥

—वाल्मीकि, लंका काण्ड [युद्धकाण्ड सर्ग १२३। श्लो० २०-२१]॥

हे सीते! तेरे वियोग से हम व्याकुल होकर घूमते थे और इसी स्थान में चातुर्मास किया था और परमेश्वर की उपासना ध्यान भी करते थे। वही जो सर्वत्र विभु व्यापक महान् देवों का देव 'महादेव' परमात्मा है, उसकी कृपा से हमको सब सामग्री यहाँ प्राप्त हुई। और देख! यह सेतु हमने बाँधकर लङ्का में आके, उस रावण को मार, तुझको ले आये। इसके सिवाय वहाँ वाल्मीकि ने अन्य कुछ भी नहीं लिखा।

प्रश्न—'रङ्ग है कालियाकन्त को। जिसने हुक्का पिलाया सन्त को'।।

दक्षिण में एक कालियाकन्त की मूर्त्ति है। वह अब तक हुक्का पिया करती है। जो मूर्त्तिपूजा झूठी होती तो यह चमत्कार भी झूठा होवे।

उत्तर—झूठा-झूठा-झूठा। यह सब पोपलीला है। क्योंकि वह, मूर्त्ति का मुख पोला होगा। उसका छिद्र पृष्ठ में निकाल के, भित्ती के पार, दूसरे मकान में नल लगा होगा। जब पुजारी हुक्का भरवा, पेंचवान् लगा, मुख में नली जमाके, पड़दे डाल, निकल आता होगा, तभी पीछेवाला आदमी मुख से खींचता होगा तो इधर हुक्का गड़-गड़ बोलता होगा। दूसरा छिद्र नाक और मुख के साथ लगा होगा। जब पीछे फूकें मार देता होगा तब नाक और मुख के छिद्रों से धुआँ निकलता होगा। उस समय बहुतेरे मूढ़ों को धनादि पदार्थों से लूट कर धन रहित करते होंगे।

प्रश्न—देखो! डाकोरजी की मूर्त्ति द्वारिका से भगत के साथ चली आई। एक सवा रत्ती सोने में कई मन की मूर्त्ति तुल गई। क्या यह भी चमत्कार नहीं?

उत्तर—नहीं। वह भक्त मूर्त्ति को चोर ले आया होगा और सवा रत्ती के बराबर मूर्त्ति का तुलना, किसी भङ्गड़ आदमी ने गप्प मारा होगा।

प्रश्न—देखो! सोमनाथजी पृथिवी से ऊपर रहता था और बड़ा चमत्कार था, क्या यह भी मिथ्या बात है?

उत्तर—हाँ मिथ्या बात है। क्योंकि वह लोहे की पोली मूर्ति थी। नीचे ऊपर चुम्बक पाषाण लगा रक्खे थे। उसके आकर्षण से वह मूर्ति अधर खड़ी थी। जब महमूद-गजनी आकर लड़ा, तब यह चमत्कार हुआ कि उसका मन्दिर तोड़ा गया और पूजारी भक्तों की दुर्दशा हो गई, और लाखों फौज दश सहस्र फौज से भाग गई। जो पोप-पूजारी पूजा, पुरश्चरण, स्तुति, प्रार्थना करते थे कि "महादेव! इस म्लेच्छ को तू मार डाल, हमारी रक्षा कर", अपने चेले राजाओं को समझाते थे कि, "आप निश्चिन्त रहिये। महादेवजी भैरव अथवा वीरभद्र को भेज देंगे। वे सब म्लेच्छों को मार डालेंगे वा अन्धा कर देंगे। अभी हमारा देवता प्रसिद्ध होता है। हनुमान्, दुर्गा और भैरव ने स्वप्न दिया है कि हम सब काम कर देंगे।" वे बिचारे भोले राजा और क्षत्रिय पोपों के बहकाने से विश्वास में रहे।

कितने ही ज्योतिषी पोपों ने कहा कि अभी तुम्हारी चढ़ाई का मुहूर्त्त नहीं है। एक ने आठवाँ चन्द्रमा बतलाया। दूसरे ने योगिनी सामने दिखलाई, इत्यादि बहकावट में रहे।

जब म्लेच्छों की फौज ने आकर घेर लिया, तब दुर्दशा से भागे। कितने ही पोप-पूजारी और उनके चेले पकड़े गये। पूजारियों ने यह भी हाथ जोड़ कहा कि तीन क्रोड़ रुपया ले लो, मन्दिर और मूर्ति मत तोड़ो। मुसलमानों ने कहा कि "हम 'बुतपरस्त' नहीं किन्तु 'बुतशिकन्' अर्थात् मूर्त्तिपूजक नहीं, किन्तु मूर्त्तिभंजक हैं।" जाके मन्दिर तोड़ दिया। जब ऊपर की छत टूटी, तब चुम्बक पाषाण पृथक् होने से मूर्त्ति गिर पड़ी। जब मूर्त्ति तोड़ी तब सुनते हैं कि अठारह करोड़ के रत्न निकले। जब पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े, तब रोने लगे। कहा, कि कोष बतलाओ। मार के मारे झट बतला दिया। वे ले लिवा लूट मार कर, पोप और पोप के चेलों को 'गुलाम' बिगारी बना, पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मल-मूत्रादि उठवाया और चना खाने को दिये।

हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? क्यों परमेश्वर की भक्ति न की, जो म्लेच्छों के दाँत तोड़ डालते और अपना विजय करते। देखो! जितनी मूर्तियाँ हैं, उतने शूरवीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती इनकी। पूजारियों ने इतनी भक्ति पाषाणों की की, परन्तु मूर्ति एक भी उनके शिर पर उड़के न लगी। जो किसी एक शूरवीर पुरुष की भी मूर्त्ति के सदृश सेवा करते, तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।

प्रश्न—द्वारिकाजी के 'रणछोड़जी' कि जिसने 'नर्सीमहिता' के पास हुण्डी भेज दी और उसका ऋण चुका दिया, इत्यादि बात भी क्या झूठ है?

उत्तर—किसी साहूकार ने रुपये दे दिये होंगे। किसी ने झूठा नाम उड़ा दिया होगा कि श्रीकृष्ण ने भेजे। जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर-मूर्त्तियां अङ्गरेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्त्ति कहाँ गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश

कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला, यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाय, उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें?

प्रश्न—ज्वालामुखी तो प्रत्यक्ष देवी है, सबको खा जाती है और प्रसाद देवे तो आधा खा जाती और आधा छोड़ देती है। मुसलमान बादशाहों ने उस पर जल की नहर छुड़वाई और लोहे के तवे जड़वाये थे तो भी ज्वाला नहीं बुझी, न रुकी। वैसे हिंगलाज भी आधी रात को सवारी कर पहाड़ पर दिखाई देती, पहाड़ को गर्जना कराती है। चन्द्रकूप बोलता है और योनियन्त्र से निकलने से पुनर्जन्म नहीं होता। ठूमरा बाँधने से पूरा महापुरुष कहाता। जबतक हिंगलाज न हो आवे, तबतक आधा महापुरुष बजता है, इत्यादि सब बातें क्या मानने योग्य नहीं?

उत्तर—नहीं। क्योंकि वह ज्वालामुखी पहाड़ में से आगी निकलती है। उसमें पुजारी पोपों की विचित्र लीला है। जैसे बघार के घी के चमचे में ज्वाला आ जाती, अलग करने से वा फूंक मारने से बुझ जाती, थोड़ा-सा घी को खा जाती, शेष छोड़ जाती, उसी के समान वहाँ भी है। जैसी चूल्हे की ज्वाला में जो डाला जाय, सब भस्म होता, जङ्गल वा घर में लग जाने से सबको खा जाती है, इससे वहाँ क्या विशेष है विना एक मन्दिर, कुण्ड और इधर-उधर नल रचना के? हिंगलाज में न कोई सवारी होती और जो कुछ होता है, वह सब पोप-पूजारियों की लीला से दूसरा कुछ भी नहीं। एक जल और दलदल का कुण्ड बना रक्खा है, जिसके नीचे से बुद्बुदे उठते हैं, उसको सुफल यात्रा होना मूढ़ मानते हैं। योनि का यन्त्र पोपजी ने धन हरने के लिए बनवा रक्खा है और ठुमरे भी उसी प्रकार पोपलीला के हैं। उससे महापुरुष हो तो एक पशु पर ठुमरे का बोझा लाद दें, तो क्या महापुरुष हो जायगा? **महापुरुष तो बड़े उत्तम धर्मयुक्त पुरुषार्थ से होता है।**

प्रश्न—अमृतसर का तलाब अमृतरूप, एक मुरेठी का फल आधा मीठा, एक भित्ती नमती और गिरती नहीं, रेवालसर में बेड़े तरते, अमरनाथ में आप से आप लिङ्ग बन जाते, हिमालय से कबूतर के जोड़े आके, सबको दर्शन देकर चले जाते, क्या यह भी मानने योग्य नहीं?

उत्तर—नहीं। उस तलाब का नाममात्र अमृतसर है। जब कभी

जङ्गल होगा, तब उसका जल अच्छा होगा। इससे उसका नाम अमृतसर धरा होगा। जो अमृत होता तो पुराणियों के मानने के तुल्य कोई क्यों मरता? भित्ती की कुछ बनावट वैसी होगी जिससे नमती होगी और गिरती न होगी। रीठे कलम के पैमदी होंगे अथवा गपोड़ा होगा। रेवालसर में बेड़ा तरने में कुछ कारीगरी होगी। अमरनाथ में बर्फ के पहाड़ बनते हैं तो जल जमके छोटे लिंग का बनना कौन आश्चर्य है? और कबूतर के जोड़े पालित होंगे, पहाड़ की आड़ में से पोपजी छोड़ते होंगे। दिखलाकर टका हरते होंगे।

प्रश्न—'हरद्वार' स्वर्ग का द्वार, 'हर की पीढी' में स्नान करे तो पाप छूट जाते, 'तपोवन' में रहने से तपस्वी होता। 'देवप्रयाग', गङ्गोत्तरी में 'गोमुख', उत्तरकाशी में 'गुप्तकाशी', 'त्रियुगीनारायण' के दर्शन होते हैं। 'केदार' और 'बद्रीनारायण' की पूजा छः महींने तक मनुष्य और छः महीने तक देवता करते हैं। महादेव का मुख नैपाल में पशुपति; चूतड़ केदार और तुङ्गनाथ में; जानु और पग अमरनाथ में। इनके दर्शन-पर्शन-स्नान करने से मुक्ति हो जाती है। वहाँ केदार और बद्री से स्वर्ग जाना चाहै तो जा सकता है, इत्यादि बातें कैसी हैं?

उत्तर—हरद्वार उत्तर पहाड़ों में जाने का एक मार्ग का आरम्भ है। 'हर की पीढी'' एक स्नान के लिये कुण्ड की सीढ़ियों को बनाया है। सच पूछो तो 'हाड़पीढ़ी' है, क्योंकि देशदेशान्तर के मृतकों के हाड़ उसमें पड़ा करते हैं। पाप कभी कहीं नहीं छूट सकता विना भोगे, अथवा नहीं कटते। 'तपोवन' जब होगा तब होगा, अब तो 'भिक्षुकवन' है। 'तपोवन' में जाने, रहने से तप नहीं होता, किन्तु तप तो करने से होता है, क्योंकि वहाँ बहुत से दुकानदार झूठ बोलनेवाले भी रहते हैं। '**हिमवतः प्रभवति गङ्गा**' पहाड़ के ऊपर से जल गिरता है। गोमुख का आकार पोपलीला से बनाया होगा और वही पहाड़ पोप का स्वर्ग है। वहाँ उत्तरकाशी आदि स्थान ध्यानियों के लिए अच्छा है, परन्तु दुकानदारों के लिए वहाँ भी दुकानदारी है। देवप्रयाग पुराण के गपोड़ों की लीला है, अर्थात् जहाँ अलखनन्दा और गङ्गा मिली है, इसलिए वहाँ देवता वसते हैं, ऐसे गपोड़े न मारें तो वहाँ कौन जाय और टका कौन देवे? गुप्तकाशी तो नहीं है, वह तो प्रसिद्ध

काशी है। तीन युग की धूनी तो नहीं दिखती परन्तु पोपों की दश-बीस पीढ़ी की होगी, जैसी खाखियों की धूनी और पार्सियों की अग्यारी सदैव जलती रहती है। तप्तकुण्ड भी पहाड़ों के भीतर उष्मा गर्मी होती है, उसमें तपकर जल आता है। उसके पास दूसरे कुण्ड में ऊपर का जल वा जहाँ गर्मी नहीं, वहाँ का आता है, इससे ठण्डा है। केदार का स्थान—वह भूमि बहुत अच्छी है, परन्तु वहाँ भी एक जमे हुए पत्थर पर पोप वा पोप के चेलों ने मन्दिर बना रक्खा है। वहाँ महन्त पुजारी पण्डे '**आँख के अन्धे गाँठ के पूरों**' से माल लेकर विषयानन्द करते हैं। वैसे ही 'बद्रीनारायण' में ठग-विद्यावाले बहुत से बैठे हैं। रावलजी वहाँ के मुख्य हैं। एक स्त्री छोड़ अनेक रख बैठे हैं। पशुपति एक मन्दिर और पञ्चमुखी मूर्त्ति का नाम धर रक्खा है। जब कोई न पूछे तभी पोपलीला बलवती होती है। परन्तु जैसे तीर्थ के धूर्त धनहरे होते हैं, वैसे पहाड़ी लोग नहीं होते। भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है।

प्रश्न—विन्ध्याचल में 'विन्ध्येश्वरी काली अष्टभुजा' प्रत्यक्ष सत्य है। विन्ध्येश्वरी तीन समय में तीन रूप बदलती है और उसके बाड़े में मक्खी एक भी नहीं होती। प्रयाग तीर्थराज वहाँ मुंड मुण्डाये सिद्ध, गङ्गा-जमुना के सङ्गम में स्नान करने से इच्छासिद्धि होती है। वैसे ही अयोध्या कई वार उड़कर सब वस्ती सहित स्वर्ग में चली गई। मथुरा सब तीर्थों से अधिक, वृन्दावन लीलास्थान और गोवर्द्धन व्रजयात्रा बड़े भाग्य से होती है। सूर्यग्रहण में कुरुक्षेत्र में लाखों मनुष्य जाते आते हैं, क्या ये सब बातें अन्यथा हैं।

उत्तर—प्रत्यक्ष तो आँखों से तीनों मूर्त्तियाँ दीखती हैं, पाषाण की मूर्त्तियाँ हैं। और तीन काल में तीन प्रकार के रूप होने का कारण पुजारी लोगों के वस्त्र आभूषण पहिराने की चतुराई है और मक्खियाँ सहस्रों-लाखों होती हैं, मैंने अपनी आँख से देखा है। प्रयाग में कोई नापित श्लोक बनानेहारा अथवा पोपजी को कुछ देके मुण्डाने का माहात्म्य बनाया वा बनवाया होगा। प्रयाग में स्नान करके स्वर्ग को जाता तो, घर में आता कोई भी नहीं दीखता, किन्तु घर को आते हुए दीखते हैं। अथवा जो कोई वहाँ डूब मरता और उसका जीव भी आकाश में वायु

के साथ घूम कर जन्म लेता होगा। तीर्थराज भी नाम पोपों ने धरा है। जड़ में राजाप्रजाभाव कभी नहीं हो सकता। यह बड़ी असम्भव बात है कि अयोध्या नगरी वस्ती, कुत्ते, गधे, भङ्गी, जाजरू सहित तीन वार स्वर्ग में गई। स्वर्ग में तो नहीं गई, वहीं की वहीं है, परन्तु पोपजी के मुख-गपोड़ों में अयोध्या स्वर्ग को उड़ गई। यह गपोड़ा शब्दरूप उड़ता फिरता है। ऐसे ही नैमिषारण्य आदि की भी पोपलीला जाननी। '**मथुरा तीन लोक से न्यारी**' तो नहीं परन्तु उसमें तीन जन्तु बड़े लीलाधारी हैं कि जिनके मारे जल, स्थल और अन्तरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है। एक चौबे जो कोई स्नान करने जाय, अपना कर लेने को खड़े रहकर बकता रहता है "लाओ यजमान! भांग-मर्ची पीवें और लड्डू खावें।" दूसरे जल में कछुवे काट ही खाते हैं, जिनके मारे स्नान करना भी घाट पर कठिन पड़ता है। तीसरे आकाश के ऊपर लाल मुख के बन्दर पगड़ी, टोपी, गहने, जूते तक भी न छोड़ें, काट खावें, धक्के दे गिरा मार डालें, और ये तीनों पोप और पोपजी के चेलों के पूजनीय हैं। मनों चना आदि अन्न कछुए, और बन्दरों को चना गुड़ आदि और चौबों की दक्षिणा और लड्डुओं से उनके सेवक सेवा किया करते हैं। वृन्दावन जब था तब था, अब तो वेश्यावनवत् लल्ला-लल्ली और गुरु-चेली आदि की लीला फैल रही है। वैसे ही दीपमालिका का मेला, गोवर्द्धन और व्रजयात्रा में भी पोपों की बन पड़ती है। कुरुक्षेत्र में भी वही जीविका की लीला समझ लो। इनमें जो कोई धार्मिक, परोपकारी पुरुष है, इस पोपलीला से पृथक् हो जाता है।

प्रश्न—यह मूर्त्तिपूजा और तीर्थ सनातन से चले आते हैं, झूठे क्योंकर हो सकते हैं?

उत्तर—तुम सनातन किसको कहते हो? जो सदा से चला आता है। जो यह सदा से होता तो वेद और ब्राह्मणादि ऋषिमुनिकृत पुस्तकों में इनका नाम क्यों नहीं? यह मूर्त्तिपूजा अढ़ाई-तीन सहस्र वर्ष के इधर-इधर वाममार्गी और जैनियों से चली है। प्रथम आर्यावर्त्त में नहीं थी। और यह तीर्थ भी नहीं थे। जब जैनियों ने गिरनार, पालिटाना, शिखर, शत्रुञ्जय और आबू आदि तीर्थ बनाये, उनके अनुकूल इन

लोगों ने भी बना लिए। जो कोई इनके आरम्भ की परीक्षा करना चाहै, वे पण्डों की पुरानी से पुरानी बही, तांबे के पत्र लेख आदि देखें, तो निश्चय हो जाएगा कि ये सब तीर्थ पाँच सौ अथवा एक सहस्र वर्ष से इधर ही बने हैं। सहस्र वर्ष के उधर का लेख किसी के पास नहीं निकलता, इससे आधुनिक हैं।

प्रश्न—जो-जो तीर्थ वा नाम का माहात्म्य अर्थात् जैसे '**अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति**' [काशीमाहात्म्य, काशीखण्ड] इत्यादि बातें सच्ची हैं वा नहीं?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो पाप छूट जाते हों तो दरिद्रों को धन, राज; अन्धों को आँख मिलती! कोढ़ियों का कोढ़ आदि रोग छूट जाता; ऐसा नहीं होता। इसलिए पाप वा पुण्य किसी का नहीं छूटता।

प्रश्न— **गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।**
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥ १॥
[ब्रह्मपुराण अ० १७५। श्लो० ८२; पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २३। २]
हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम्॥ २॥
[पद्मपुराण उ० ख० ७२। १२]
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा निशिपापं विनश्यति।
आजन्मकृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम्॥ ३॥
—ये पोपपुराण के श्लोक हैं। [तीर्थदर्पण पण्डाअर्पण-परिच्छेद २]

जो सैंकड़ों-सहस्रों कोश दूर से भी गङ्गा-गङ्गा कहे, उसके सब पाप नष्ट होकर वह विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ को जाता है॥ १॥

'हरि' इस दो अक्षर के नामोच्चारण से सब पाप को हर लेता है, वैसे ही राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि नामों का माहात्म्य है॥ २॥

और जो मनुष्य प्रातःकाल में 'शिव' अर्थात् लिङ्ग वा उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ, मध्याह्न में दर्शन से जन्म भर का, सायङ्काल में दर्शन करने से सात जन्मों के पाप छूट जाते हैं॥ ३॥ यह दर्शनमाहात्म्य क्या झूठा हो जाएगा?

उत्तर—मिथ्या होने में क्या शङ्का? क्योंकि गङ्गा वा हरे, राम, कृष्ण, नारायण, शिव और भगवती नामस्मरण से पाप कभी नहीं छूटता।

जो छूटे तो दु:खी कोई न रहै। और पाप करने से कोई भी न डरे, जैसे आजकल पोपलीला में पाप बढ़ कर हो रहे हैं। क्योंकि मूढ़ों को विश्वास है कि हम पाप कर, नामस्मरण वा तीर्थयात्रा करेंगे तो पापों की निवृत्ति हो जायगी। इसी विश्वास पर पाप करके इस लोक और परलोक का नाश करते हैं। और किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है।

प्रश्न—तो कोई तीर्थ नामस्मरण सत्य है वा नहीं?

उत्तर—है। वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग; परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट, सत्यभाषण, सत्य मानना, सत्य करना; ब्रह्मचर्य्य; आचार्य्य, अतिथि, माता, पिता की सेवा; परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना; शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्तपुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभगुण-कर्म दु:खों से तारनेवाले होने से **तीर्थ** हैं। और जो जल-स्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते। क्योंकि '**जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि**' मनुष्य जिन करके दु:खों से तरें उनका नाम '**तीर्थ**' है। जल-स्थल तरानेवाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम '**तीर्थ**' हो सकता है, क्योंकि उनसे भी समुद्र आदि को तरते हैं।

समानतीर्थे वासी॥ १॥ —अष्टा० [४।४।१०७]

नमस्तीर्थ्याय च॥ २॥ —यजु:० अ० १६ [मं० ४२]

जो ब्रह्मचारी एक आचार्य्य [से] और एक शास्त्र को साथ-साथ पढ़ते हों, वे सब 'सतीर्थ्य' अर्थात् समानतीर्थसेवी होते हैं॥ १॥

जो वेदादिशास्त्र और सत्यभाषणादि धर्म-लक्षणों में साधु हो, उसको अन्नादि पदार्थ देना और उनसे विद्या लेनी इत्यादि '**तीर्थ**' कहाते हैं॥ २॥

'**नामस्मरण**' इसको कहते हैं कि—**यस्य नाम महद्यश:**॥

—यजु:० [३२।३]

परमेश्वर का नाम बड़े 'यश' अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है। जैसे ब्रह्म, परमेश्वर, ईश्वर, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से हैं। जैसे 'ब्रह्म' सबसे बड़ा, 'परमेश्वर' ईश्वरों का ईश्वर, 'ईश्वर' सामर्थ्ययुक्त, 'न्यायकारी' कभी अन्याय नहीं करता, 'दयालु' सब पर कृपादृष्टि रखता, 'सर्वशक्तिमान्' अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता, सहाय किसी का नहीं लेता, 'ब्रह्मा' विविध जगत् के पदार्थों का बनानेहारा, 'विष्णु' सबमें व्यापक होकर रक्षा करता, 'महादेव' सब देवों का देव, 'रुद्र' प्रलय करनेहारा आदि नामों के अर्थों को अपने में धारण करे। अर्थात् बड़े कामों से बड़ा हो, समर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों को बढ़ाता जाय, अधर्म कभी न करे, सब पर दया रक्खे, सब प्रकार के साधनों को समर्थ करे, शिल्पविद्या से नाना प्रकार के पदार्थों को बनावे, सब संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख-दु:ख समझे, सबकी रक्षा करे, विद्वानों में विद्वान् होवे, दुष्ट कर्म का प्रलय और दुष्ट कर्म करनेवालों को प्रयत्न से दण्ड और सज्जनों की रक्षा करे। इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का **नामस्मरण** है।

प्रश्न— **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वर:।**
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम:॥

[गुरुगीता गुरुमाहात्म्य प्रकरण श्लोक १९]

इत्यादि गुरुमाहात्म्य तो सच्चा है? गुरु के पग धोके पीना, जैसी आज्ञा करे वैसा करना, गुरु लोभी हो तो वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के सदृश, मोही हो तो राम के तुल्य और कामी हो तो कृष्ण के समान गुरु को जानना। चाहै गुरुजी कैसा ही पाप करे तो भी अश्रद्धा न करनी, सन्त वा गुरु के दर्शन को जाने में पग-पग में अश्वमेध का फल होता है, यह बात ठीक है वा नहीं?

उत्तर—ठीक नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। उसके तुल्य गुरु कभी नहीं हो सकता। यह गुरुमाहात्म्य गुरुगीता भी एक बड़ी पोपलीला है। गुरु तो माता, पिता, आचार्य और अतिथि होते हैं। उनकी सेवा करनी, उनसे विद्या-शिक्षा लेना-देना, शिष्य और गुरु का काम है। परन्तु जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो, तो उसको सर्वथा छोड़ देना, शिक्षा करनी, सहज शिक्षा से न माने तो 'अर्घ्यपाद्य' अर्थात् ताडना दण्ड प्राणहरण तक भी करने में कुछ भी दोष नहीं। जो विद्यादि सद्गुणों में गुरुत्व नहीं है, झूठ-मूठ

कण्ठी, तिलक, वेदविरुद्ध मन्त्रोपदेश करनेवाले हैं, वे गुरु ही नहीं किन्तु गडरिये जैसे हैं। जैसे गडरिये अपनी भेड़-बकरियों से दूध आदि से प्रयोजन सिद्ध करते हैं, वैसे ही शिष्यों के, चेले-चेलियों के धन हरके अपना प्रयोजन करते हैं। वे—

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव।
भवसागर में डूबते, बैठ पत्थर की नाव॥

गुरु समझें कि चेले-चेली कुछ न कुछ देवेहीगा और चेला समझे कि चलो गुरु झूठे सौगंध खाने, पाप छुड़ाने आदि लालच से, दोनों कपटमुनि भवसागर के दुःख में डूबते हैं, जैसे पत्थर की नौका में बैठनेवाले समुद्र में डूब मरते हैं। ऐसे गुरु और चेलों के मुख पर धूड़-राख पड़े। उसके पास कोई भी खड़ा न रहै, जो रहै वह दुःखसागर में पड़ेगा। जैसी पोपलीला पुजारी-पुराणियों ने चलाई है, वैसी इन गडरिये गुरुओं ने भी लीला मचाई है। यह सब काम स्वार्थी लोगों का है। जो परमार्थी लोग हैं, वे आप दुःख पावें तो भी जगत् का उपकार करना नहीं छोड़ते। और गुरुमाहात्म्य तथा गुरुगीता आदि भी इन्हीं लोभी, कुकर्मी गुरुओं ने बनाई है।

प्रश्न—अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः॥ १॥ [रेवाखण्ड]
इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्॥ २॥
—महाभारत [आदिपर्व १।२६७]
पुराणानि खिलानि च॥ ३॥ —मनु० [३।२३२]
इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः॥ ४॥
—छान्दोग्य० [७।१।४]
दशमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत॥ ५॥
[तुलना—शतपथ १३।३।१।१३]
पुराणविद्या वेदः॥ ६॥ सूत्रम् [तु०—शतपथ १३।३।१।१३]

अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी हैं। व्यासवचन का प्रमाण अवश्य करना चाहिये॥ १॥

इतिहास महाभारत, अठारह पुराणों से वेदों का अर्थ पढ़ें-पढ़ावें, क्योंकि इतिहास और पुराण वेदों ही के अर्थ और अनुकूल हैं॥ २॥

पितृकर्म में पुराण और 'खिल' अर्थात् हरिवंश की कथा सुनें॥ ३॥

इतिहास और पुराण पञ्चमवेद कहाते हैं॥ ४॥

अश्वमेध की समाप्ति में दशमें दिन थोड़ी-सी पुराण की कथा सुनें॥ ५॥

पुराणविद्या वेदार्थ के जनाने ही से वेद हैं॥ ६॥

इत्यादि प्रमाणों से पुराणों का प्रमाण और इनके प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का भी प्रमाण है, क्योंकि पुराणों में मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का विधान है।

उत्तर—जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते। क्योंकि शारीरकसूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यासजी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते। और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी परस्पर विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें व्यासजी के गुणों का लेश भी नहीं था। और वेदशास्त्रविरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यासजी सदृश विद्वानों का काम नहीं, किन्तु यह काम विरोधी, स्वार्थी, अविद्वान् पामरों का है। इतिहास और पुराण शिवपुराणादि का नाम नहीं, किन्तु—

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरिति॥
—यह ब्राह्मण और सूत्रों का वचन है॥
[तैत्ति० आरण्यक २।९; आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।३।१]

ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों ही के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच नाम हैं। (**इतिहास**) जैसे जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद। (**पुराण**) जगदुत्पत्ति आदि का वर्णन आख्यान। (**कल्प**) वेद शब्दों के सामर्थ्य का वर्णन, अर्थ निरूपण करना। (**गाथा**) किसी का दृष्टान्त दार्ष्टान्तरूप कथा प्रसङ्ग कहना। (**नाराशंसी**) मनुष्यों के प्रशंसनीय वा अप्रशंसनीय कर्मों का कथन करना। इनही से वेदार्थ का बोध होता है।

'**पितृकर्म**' अर्थात् ज्ञानियों के प्रसंग में कुछ सुनना, अश्वमेध के अन्त में भी इन्हीं का सुनना लिखा है। क्योंकि जो व्यासकृत ग्रन्थ हैं,

उनका सुनना-सुनाना व्यासजी के जन्म के पश्चात् हो सकता है, पूर्व नहीं। जब व्यासजी का जन्म भी नहीं था तब वेदार्थ को पढ़ते-पढ़ाते सुनते-सुनाते थे। इसीलिये सब से प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों ही में यह सब घटना हो सकती हैं, इन श्रीमद्भागवत, शिवपुराणादि मिथ्यावाद दूषित ग्रन्थों में नहीं घट सकती। जब व्यासजी ने वेद पढ़े और पढ़ाकर वेदार्थ फैलाया, इसीलिये उनका नाम 'वेदव्यास' हुआ। क्योंकि व्यास कहते हैं वार-पार की मध्य रेखा को; अर्थात् ऋग्वेद के आरम्भ से लेकर अथर्ववेद के पार पर्यन्त चारों वेद पढ़े थे और शुकदेव तथा जैमिनि आदि शिष्यों को पढ़ाये भी थे। नहीं तो उनका जन्म का नाम 'कृष्णद्वैपायन' था। जो कोई यह कहते हैं कि "वेदों को व्यासजी ने इकट्ठे किये" यह बात झूठी है। क्योंकि व्यासजी के पिता, पितामह, प्रपितामह; पराशर, शक्ति, और वशिष्ठ; और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे, यह बात क्योंकर घट सके?

प्रश्न—पुराणों में सब बातें झूठी हैं, वा कोई सच्ची भी है?

उत्तर—बहुत सी बातें झूठी हैं और कोई 'घुणाक्षरन्याय' से सच्ची भी है। जो सच्ची हैं वह वेदादि सत्यशास्त्रों की और जो झूठी हैं, वे इन पोपों के पुराणरूप घर की हैं। जैसे शिवपुराण में शैवों ने शिव को परमेश्वर मानके विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश और सूर्य्यादि को उनके दास ठहराये। वैष्णवों ने विष्णुपुराण आदि में विष्णु को परमात्मा माना और शिव आदि को विष्णु के दास। देवीभागवत में देवी परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदि उसके किङ्कर बनाये। 'गणेशखण्ड' में गणेश को ईश्वर और शेष सबको दास बनाये। भला यह बात इन सम्प्रदायी पोपों की नहीं तो किनकी है? एक मनुष्य के बनाने में ऐसी परस्पर विरुद्ध बात नहीं होती, तो विद्वान् के बनाये में कभी नहीं आ सकती। इसमें एक बात को सच्ची मानें, तो दूसरी झूठी और जो दूसरी को सच्ची मानें, तो अन्य सब झूठी होती हैं। शिवपुराणवाले शिव से, विष्णुपुराणवालों ने विष्णु से, देवीपुराणवाले ने देवी से, गणेशखण्डवाले ने गणेश से सूर्य्यपुराणवाले ने सूर्य्य से और वायुपुराणवाले ने वायु से सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय लिखके पुनः एक-एक से एक-एक जो जगत् के कारण

लिखे, उनकी उत्पत्ति एक-एक से लिखी। कोई पूछे कि जो जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करनेवाला है, वह उत्पन्न और जो उत्पन्न होता है, वह सृष्टि का कारण कभी हो सकता है वा नहीं? तो सिवाय चुप रहने के कुछ भी नहीं कह सकते। और इन सबके शरीर की उत्पत्ति भी इसी से हुई होगी, फिर वे आप सृष्टि-पदार्थ और परिच्छिन्न होकर संसार की उत्पत्ति के कर्त्ता क्योंकर हो सकते हैं? और उत्पत्ति भी विलक्षण-विलक्षण प्रकार से मानी है जो कि सर्वथा असम्भव है। जैसे—

'शिवपुराण' में शिव ने इच्छा की, मैं सृष्टि करूँ, तो एक 'नारायण' जलाशय को उत्पन्न कर उसकी नाभि से कमल, कमल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उसने देखा कि सब जलमय है। जल की अञ्जलि उठा, देख, जल में पटक दिया। उससे एक बुद्बुदा और बुद्बुदा में से एक पुरुष हुआ। उसने ब्रह्मा से कहा कि 'हे पुत्र! सृष्टि कर।' ब्रह्मा ने उससे कहा कि "मैं तेरा पुत्र नहीं किन्तु तू मेरा पुत्र है।" उनमें विवाद हुआ और दिव्यसहस्र-वर्षपर्यन्त दोनों जल पर लड़ते रहे। तब महादेव ने विचार किया कि जिनको सृष्टि करने के लिये भेजा था, वे दोनों आपस में लड़ रहे हैं। तब उन दोनों के बीच में से एक तेजोमय लिङ्ग उत्पन्न हुआ और वह शीघ्र आकाश में चला गया। उसको देखके दोनों साश्चर्य हो गये। विचारा कि इसका आदि-अन्त लेना चाहिये। जो आदि-अन्त लेके शीघ्र आवे वह पिता और जो पीछे वा थाह लेके न आवे वह पुत्र कहावे। विष्णु कूर्म का स्वरूप धरके नीचे को चला और ब्रह्मा हंस का शरीर धारण करके ऊपर को उड़ा। दोनों मनोवेग से चले। दिव्यसहस्र-वर्षपर्य्यन्त दोनों चलते रहे तो भी उसका अन्त न पाया। तब नीचे से ऊपर विष्णु और ऊपर से नीचे ब्रह्मा चला। ब्रह्मा ने विचारा कि जो वह छेड़ा ले आया होगा तो पुत्र बनना पड़ेगा। ऐसा सोच रहा था कि उसी समय एक गाय और एक केतकी का वृक्ष ऊपर से उतर आया। उनसे ब्रह्मा ने पूछा "कि तुम कहाँ से आये?" उन्होंने कहा "हम सहस्र वर्षों से इस लिङ्ग के आधार से चले आते हैं।" ब्रह्मा ने पूछा कि "इस लिङ्ग का थाह है वा नहीं?" उन्होंने कहा कि "नहीं"। ब्रह्मा ने उनसे कहा

कि "तुम हमारे साथ चलो और ऐसी साक्षी दो कि मैं इस लिङ्ग के शिर पर दूध की धारा वर्षाती थी और वृक्ष कहे कि मैं फूल वर्षाता था, ऐसी साक्षी देओ तो मैं तुमको ठिकाने पर ले चलूं।" उन्होंने कहा कि "हम झूठी साक्षी नहीं देंगे।" तब ब्रह्मा कुपित होकर बोला—"जो साक्षी न दोगे तो मैं तुमको अभी भस्म कर देता हूँ।" तब दोनों ने डरके कहा—"हम जैसी तुम कहते हो, वैसी साक्षी देवेंगे।" तब तीनों नीचे की ओर चले। विष्णु पहले ही आ गये थे, ब्रह्मा भी पहुँचा। विष्णु से पूछा कि "तू थाह ले आया वा नहीं?" तब विष्णु बोला "मुझको इसका थाह नहीं मिला।" ब्रह्मा ने कहा "मैं ले आया।" विष्णु ने कहा "कोई साक्षी दो।" तब गाय और वृक्ष ने साक्षी दी—"हम दोनों लिङ्ग के शिर पर थे।" तब लिङ्ग में से शब्द निकला और शाप दिया जिससे "तू झूठ बोला, इसलिये तेरा फूल मुझ वा अन्य देवता पर जगत् में कहीं नहीं चढ़ेगा और जो कोई चढ़ावेगा उसका सत्यानाश होगा।" गाय को शाप दिया कि "जिस मुख से तू झूठ बोली, उसी से विष्ठा खाया करेगी। तेरे मुख की पूजा कोई न करेगा, किन्तु पूंछ की करेंगे।" और विष्णु को वर दिया "जिससे तू सत्य बोला, इससे तेरी पूजा सर्वत्र होगी।" और ब्रह्मा को श्राप दिया कि जिससे "तू मिथ्या बोला, इससे तेरी पूजा संसार में कहीं न होगी।" पुनः दोनों ने लिङ्ग की स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर उस लिङ्ग में से एक जटाजूट मूर्त्ति निकल आई और कहा कि "तुमको मैंने सृष्टि करने के लिये भेजा था, झगड़े में क्यों लग रहे?" ब्रह्मा और विष्णु ने कहा कि "हम विना सामग्री सृष्टि कहाँ से करें।" तब महादेव ने अपनी जटा में से भस्म का गोला निकाल कर दिया कि "जाओ, इसमें से सब सृष्टि बनाओ" इत्यादि।

कोई इन पुराणों के बनानेवाले पोपों से पूछे कि जब सृष्टितत्त्व और पञ्चमहाभूत भी नहीं थे तो ब्रह्मा, विष्णु, महादेव के शरीर, जल, कमल, लिङ्ग, गाय और केतकी का वृक्ष और भस्म तुम्हारे बाबा के घर में से आ गिरे?

वैसे ही 'भागवत' में विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा के दहिने पग के अंगूठे से स्वायंभुव और बायें अंगूठे से

सत्यरूपा राणी, ललाट से रुद्र और मरीचि आदि दश पुत्र, उनसे दक्ष प्रजापति, उनकी तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से, उनमें से दिति से दैत्य, दनु से दानव, अदिति से आदित्य, विनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा से कुत्ते, स्याल आदि और अन्य स्त्रियों से हाथी, घोड़े, ऊँट, गधा, भैंसा, घास, फूस और बबूर का वृक्ष काँटे सहित उत्पन्न हो गया।

वाह रे! भागवत के बनानेवाले लालभुजक्कड़? तुम को ऐसी मिथ्या बातें लिखने में लज्जा शर्म न आई। भला! स्त्री-पुरुष के रजवीर्य से मनुष्य तो बनते ही हैं परन्तु परमेश्वर की सृष्टिक्रम के विरुद्ध पक्षी, सर्प कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। हाथी, ऊँट, सिंह के स्थित होने का अवकाश स्त्री के गर्भाशय में हो सकता है? और सिंह आदि उत्पन्न होकर अपने मा-बाप को क्यों न खा गये? इत्यादि झूठ बातों को वे अन्धे पोप और भीतर-बाहर की आँख फूटे हुए उनके चेले सुनते-मानते हैं। ये मनुष्य हैं वा अन्य हैं? इन भागवतादि पुराणों के बनानेवाले जन्मते नहीं, गर्भ में ही नष्ट हो जाते वा जन्म कर उसी समय मर जाते। क्योंकि इन पापों से बचते, तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता।

प्रश्न—इन बातों में विरोध नहीं आ सकता। क्योंकि '**जिसका विवाह उसी के गीत**'। जब विष्णु की स्तुति करने लगे, तब विष्णु को परमेश्वर अन्य को दास, जब शिव के गुण गाने लगे, तब शिव को परमात्मा, अन्य को किङ्कर बनाया। और पमरेश्वर की माया में सब बन सकता है। मनुष्य से पशु आदि और पशु आदि से मनुष्यादि की उत्पत्ति परमेश्वर कर सकता है। देखो! विना कारण अपनी माया से सब सृष्टि खड़ी कर दी है। उसमें कौनसी बात अघटित है? जो करना चाहै, सो सब कर सकता है।

उत्तर—अरे भोले! विवाह में जिसके गीत गाते हैं, उसको सबसे बड़ा और दूसरों को छोटा वा निन्दा अथवा उसको सबका बाप तो नहीं बनाते? कहो पोपजी! तुम भाट और खुशामदी चारणों से बढ़कर गप्पी हो अथवा नहीं? कि जिसके पीछे लगो; उसी को सबसे बड़ा बनाओ और जिससे विरोध करो, उसको सबसे नीच ठहराओ। तुमको सत्य और धर्म से क्या प्रयोजन, किन्तु तुमको तो अपने स्वार्थ ही से काम है।

माया मनुष्य में हो सकती है, जो कि छली-कपटी हैं, उन्हीं को '**मायावी**' कहते हैं। परमेश्वर में छल-कपटादि दोष न होने से, उसको मायावी नहीं कह सकते। जो आदि सृष्टि में कश्यप और कश्यप की स्त्रियों से पशु, पक्षी, सर्प्प, वृक्षादि हुए होते तो आजकल भी वैसे सन्तान क्यों नहीं होते? सृष्टिक्रम जो पहिले लिख आये वही ठीक है। और अनुमान है कि पोपजी यहीं से धोखा खाकर बके होंगे—

तस्मात् काश्यप्य इमाः प्रजाः॥ [तुलना—शत० ७।४।१।५]

शतपथ में यह लिखा है कि यह सब सृष्टि 'कश्यप' की बनाई हुई है।

कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति॥

—निरु० [अ० २।खं० १; तुलना—तै० आ० १।८]

सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का नाम 'कश्यप' इसलिये है कि 'पश्यक' अर्थात् '**पश्यतीति पश्यः, पश्य एव पश्यकः**' जो निर्भ्रम होकर चराचर जगत्, सब जीव और इनके कर्म, सकल विद्याओं को यथावत् देखता है और '**आद्यन्तविपर्ययश्च**' इस महाभाष्य [३।१।२३] के वचन से आदि का अक्षर अन्त और अन्त का वर्ण आदि में आने से 'पश्यक' से 'कश्यप' बन गया है। इसका अर्थ न जान के भांग के लोटे चढ़ा, अपना जन्म सृष्टिविरुद्ध कथन करने में नष्ट किया।

जैसे 'मार्कण्डेयपुराण' के दुर्गापाठ में देवों के शरीरों से तेज निकल के एक देवी बनी, उसने 'महिषासुर' को मारा। 'रक्तबीज' के शरीर से एक बिन्दु भूमि पर पड़ने से उसके सदृश रक्तबीज के उत्पन्न होने से सब जगत् में रक्तबीज भर जाना, रुधिर की नदियाँ चलनी आदि गपोड़े बहुत से लिख रक्खे हैं। जब रक्तबीज से सब जगत् भर गया था तो देवी का सिंह और देवी कहां ठहरी थी? जो कहो कि देवी से दूर-दूर रक्तबीज थे तो सब जगत् रक्तबीज से नहीं भरा था? और सब जंगली पशु, समुद्र की मच्छियाँ, पक्षी, वृक्ष आदि कहाँ रहे थे? यहाँ यही निश्चित जानना कि दुर्गापाठ बनानेवाले के घर में स्थित होंगे। देखिये! क्या ही असम्भव कथा का गपोड़ा भङ्ग की लहरी में उड़ाया, जिनका ठौर न ठिकाना।

जिसको 'श्रीमद्भागवत' कहते हैं, उसकी लीला सुनो। ब्रह्माजी को नारायण ने चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश किया है—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥

—भागवत [स्कं० २।९।३०]

हे ब्रह्माजी! तू मेरा परमगुह्य ज्ञान जो विज्ञान और रहस्ययुक्त और धर्मार्थ, काम, मोक्ष का अङ्ग साधन है, उसीका मुझ से ग्रहण कर। जब विज्ञानयुक्त ज्ञान कहा तो 'परम' अर्थात् ज्ञान का विशेषण रखना व्यर्थ है और गुह्य विशेषण से रहस्य भी पुनरुक्त है। जब मूल श्लोक अनर्थक हैं तो ग्रन्थ अनर्थक क्यों नहीं? जब भागवत का मूल ही झूठा तो उसका वृक्ष झूठा क्यों नहीं होगा? ब्रह्माजी को वर दिया कि—

भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

—भागव० [स्कं० २।९] श्लोक [३६]

आप 'कल्प' सृष्टि और विकल्प 'प्रलय' में मोह को प्राप्त कभी नहीं होंगे, ऐसा लिखके पुनः दशमस्कन्ध में मोहित होके वत्सहरण किया। इन दोनों में से एक बात सच्ची, दूसरी झूठी। ऐसा होकर दोनों बात झूठी। जब वैकुण्ठ में राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, दुःख नहीं है तो सनकादिकों को वैकुण्ठ के द्वार में क्रोध क्यों हुआ? जो क्रोध हुआ तो वह स्वर्ग ही नहीं। जब जय, विजय द्वारपाल थे, स्वामी की आज्ञा पालनी अवश्य थी। उन्होंने सनकादिकों को रोका, तो क्या अपराध हुआ? इस पर विना अपराध शाप ही नहीं लग सकता। जब शाप लगा कि तुम पृथिवी में गिर पड़ो, इसके कहने से यह सिद्ध होता है कि वहां पृथिवी न होगी। आकाश, वायु, अग्नि और जल होगा। जो ऐसा, तो द्वार, मन्दिर और जल किसके आधार थे? पुनः जय, विजय ने सनकादिकों की स्तुति की 'महाराज! पुनः हम वैकुण्ठ में कब आवेंगे?'' उन्होंने उनसे कहा कि ''जो प्रेम से नारायण की भक्ति करोगे तो सातवें जन्म और जो विरोध से भक्ति करोगे तो तीसरे जन्म वैकुण्ठ को प्राप्त होगे।'' इसमें विचारना चाहिये कि जय, विजय नारायण के नौकर थे। उनकी रक्षा और सहाय करना नारायण का कर्तव्य काम था। जो अपने

नौकरों को विना अपराध दु:ख देवें, उनको उनका स्वामी दण्ड न देवे तो उसके नौकरों की दुर्दशा कोई कर डाले। नारायण को उचित था कि जय, विजय का सत्कार और सनकादिकों को खूब दण्ड देते, क्योंकि उन्होंने भीतर आने के लिये हठ क्यों किया? और नौकरों से लड़े, क्यों शाप दिया? उनके बदले सनकादिकों को पृथिवी में डाल देना नारायण का न्याय था। जब इतना अन्धेर नारायण के घर में है, तो उसके सेवक जोकि वैष्णव कहाते हैं, उनकी जितनी दुर्दशा हो, उतनी थोड़ी है।

पुन: वे 'हिरण्याक्ष' और 'हिरण्यकशिपु' उत्पन्न हुए। उनमें से हिरण्याक्ष को वराह ने मारा। उसकी कथा इस प्रकार से लिखी है कि वह पृथिवी को चटाई के समान लपेट, शिराने धर सो गया। विष्णु [ने] वराह का स्वरूप धारण करके, उसके शिर के नीचे से पृथिवी को मुख में धर लिया। वह उठा। दोनों की लड़ाई हुई। वराह ने हिरण्याक्ष को मार डाला।

इन पोपों से कोई पूछे कि पृथिवी गोल है वा चटाई के तुल्य? तो कुछ न कह सकेंगे, क्योंकि पौराणिक लोग भूगोलविद्या के शत्रु हैं। भला, जब लपेटकर शिराने धरली, आप किस पर सोया? और वराहजी किस पर पग धर दौड़ आये? और फिर पृथिवी को तो वराहजी ने मुख में रक्खी फिर दोनों किस पर खड़े होकर लड़े? वहाँ और कोई ठहरने की जगह नहीं थी। किन्तु भागवतादि पुराण बनानेवाले पोपजी की छाती पर ठड़े होके लड़े होंगे? और फिर उस समय पोपजी किस पर सोया होगा? यह बात—**'गप्पी के घर गप्पी आये, बोलो गप्पीजी'** जब मिथ्यावादियों के घरों में दूसरे गप्पी लोग आते हैं, फिर गप्प मारने में क्या कमती, इस प्रकार ही है।

अब रहा हिरण्यकशिपु, उसका लड़का जो 'प्रह्लाद' था वह भक्त हुआ था। उसका पिता पढ़ने को भेजता था। तब वह अध्यापकों से कहता था ''मेरी पट्टी में राम-राम लिख देओ।'' जब उसके बाप ने सुना, उससे कहा ''तू हमारे शत्रु का भजन क्यों करता है?'' छोकरे ने न माना। तब उसके बाप ने उसको बाँध के पहाड़ से गिराया, कूप में डाला, परन्तु उसको कुछ न हुआ। तब उसने एक लोहे का खम्भा आगी

में तपाके उससे बोला जो तेरा इष्टदेव 'राम' सच्चा हो तो तू इसको पकड़ने से न जलेगा। प्रह्लाद पकड़ने को चला। मन में शङ्का हुई जलने से बचूंगा वा नहीं? नारायण ने उस खम्भे पर छोटी-छोटी चीटियों की पंक्ति चलाई। उसको निश्चय हुआ, झट खम्भे को जा पकड़ा। वह फट गया, उसमें से नृसिंह निकला। उसके बाप को पकड़ चीर मार डाला। और तब प्रह्लाद को चाटने लगा। प्रह्लाद से कहा ''वर माँग।'' उसने अपने पिता की सद्गति होनी मांगी। नृसिंह ने वर दिया ''तेरे इक्कीस पुरुषे सद्गति को गये।''

देखिये! यह भी दूसरे गपोड़े का भाई गपोड़ा। किसी भागवत बाँचने वा सुननेवाले को पकड़ के ऊपर पहाड़ से गिरावे तो कोई न बचावे, किन्तु चकनाचूर होकर मर जावे। प्रह्लाद को उसका पिता पढ़ने के लिये भेजता था, क्या बुरा काम किया था? और वह प्रह्लाद ऐसा मूर्ख, पढ़ना छोड़ वैरागी होना चाहता था। जो जलते हुए खम्भे से कीड़ी और प्रह्लाद न जला, इस बात को जो सच्ची माने उसको भी खम्भे के साथ लगा देना चाहिये। जो यह न जले तो जानो वह भी न जला होगा। और नृसिंह भी क्यों न जला? प्रथम तीसरे जन्म में वैकुण्ठ में आने का वर सनकादिक का था। क्या उसको तुम्हारा नारायण भूल गया? भागवत की रीति से ब्रह्मा, प्रजापति, कश्यप, हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु चौथी पीढ़ी में होता है। इक्कीस पीढ़ी प्रह्लाद की हुई ही नहीं, पुन: ''इक्कीस पुरुषे सद्गति को गये'' कहना कितना प्रमाद है! और फिर वे ही हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, रावण-कुम्भकरण, पुन: शिशुपाल-दन्तवक्त्र उत्पन्न हुए तो नृसिंह का वर कहाँ उड़ गया? ऐसी प्रमाद की बातें प्रमादी करते, सुनते और मानते हैं, विद्वान् नहीं।

पूतना और अक्रूरजी के विषय में देखो —

रथेन वायुवेगेन [भा० स्कं० १०। पूर्वार्द्ध ३९।३८]
जगाम गोकुलं प्रति॥ [भा० स्कं० १०।३८।१]

अक्रूरजी कंस के भेजने से वायु के समान दौड़नेवाले घोड़ों के रथ में बैठके सूर्योदय से चले और चार मील गोकुल में सूर्यास्त समय पहुँचे। सायत घोड़े भागवत बनानेवाले की परिक्रमा करते रहे होंगे? वा

मार्ग भूलकर भागवत बनानेवाले के घर में घोड़े हाकनेवाले और अक्रूरजी सो गए होंगे?

पूतना का शरीर छः कोश चौड़ा और बहुत सा लम्बा लिखा है। मथुरा और गोकुल के बीच में उसको मारकर श्रीकृष्ण ने डाल दिया। जो ऐसा होता तो मथुरा और गोकुल दोनों दबकर इस पोपजी का घर भी दब गया होगा।

'अजामेल' की कथा ऊटपटाँग लिखी है—उसने नारद के कहने से अपने लड़के का नाम 'नारायण' रक्खा था। मरते समय अपने पुत्र को पुकारा। बीच में नारायण कूद पड़े। क्या नारायण उसके अन्तःकरण के भाव को नहीं जानते थे कि वह अपने पुत्र को पुकारता है, मुझको नहीं। जो ऐसा ही नाम माहात्म्य है तो आजकल भी नारायण के स्मरण करनेवालों के दुःख छुड़ाने को क्यों नहीं आता? यदि यह बात सच्ची हो, तो क़ैदी लोग नारायण-नारायण करके क्यों नहीं छूट जाते।

ऐसा ही ज्योतिष शास्त्र से विरुद्ध सुमेरु का परिमाण लिखा है, प्रियव्रत के रथ के चक्र की लीक से समुद्र हुए। उनञ्चास कोटि योजन पृथिवी है, इत्यादि मिथ्या बातों का भागवत में कुछ पारावार नहीं।

और यह भागवत 'बोबदेव' का बनाया है, जिसके भाई 'जयदेव' ने 'गीतगोविन्द' बनाया है। उसने देखो ये श्लोक अपने बनाये 'हिमाद्रि' में लिखे हैं कि 'श्रीमद्भागवत' मैंने बनाया है, उस लेख के तीन पत्र हमारे पास थे। उनमें से एक पत्र खो गया है। उस पत्र में श्लोकों का जो आशय था उस आशय के हमने दो श्लोक बना के नीचे लिखे हैं, जिसको देखना हो, वह हिमाद्रि ग्रन्थ में देख लेवे। श्लोक—

हिमाद्रेः सचिवस्यार्थे सूचना क्रियतेऽधुना।
स्कन्धाऽध्यायकथानां च यत्प्रमाणं समासतः॥ १॥
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्।
विदुषा बोबदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम्॥ २॥

इसी प्रकार के नष्टपत्र में श्लोक थे। अर्थात् राजा के सचिव हिमाद्रि ने बोबदेव पण्डित से कहा कि "मुझको तुम्हारे बनाये श्रीमद्भागवत के सम्पूर्ण सुनने का अवकाश नहीं है, इसलिये तुम संक्षेप से श्लोकबद्ध

सूचीपत्र बनाओ, जिसको देखके मैं श्रीमद्भागवत की कथा को संक्षेप से जान लूं।" सो नीचे लिखा हुआ सूचीपत्र उस बोबदेव ने बनाया। उसमें से उस नष्टपत्र में दश १० श्लोक खो गये हैं, ग्यारहवें श्लोक से लिखते हैं। ये नीचे लिखे श्लोक सब बोबदेव के बनाए हैं। वे श्लोक—

बोधयन्तीति हि प्राहुः श्रीमद्भागवतं पुनः।
पञ्च प्रश्नाः शौनकस्य सूतस्यात्रोत्तरं त्रिषु॥ ११॥
प्रश्नावतारयोश्चैव व्यासस्य निर्वृतिः कृतात्।
नारदस्यात्र हेतूक्तिः प्रतीत्यर्थं स्वजन्म च॥ १२॥
सुप्तघ्न द्रोण्यभिभवस्तदस्त्रात्पाण्डवा वनम्।
भीष्मस्य स्वपदप्राप्तिः कृष्णस्य द्वारकागमः॥ १३॥
श्रोतुः परीक्षितो जन्म धृतराष्ट्रस्य निर्गमः।
कृष्णमर्त्यत्यागसूचा ततः पार्थमहापथः॥ १४॥
इत्यष्टादशभिः पादैरध्यायार्थः क्रमात् स्मृतः।
स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः॥ १५॥
इति वै राज्ञो दार्ढ्योक्तौ प्रोक्ता द्रौणिजयादयः।
इति प्रथमः स्कन्धः॥ १॥

इत्यादि बारह स्कन्धों का सूचीपत्र इसी प्रकार बोबदेव पण्डित ने बनाकर हिमाद्रि सचिव को दिया। जो विस्तार देखना है, वह बोबदेव के बनाये हिमाद्रि ग्रन्थ में देख लेवे। इसी प्रकार अन्य पुराणों की लीला भी उन्नीस-बीस—इक्कीस एक-दूसरे से बढ़कर है।

देखो! श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव, चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम किया हो, ऐसा नहीं लिखा। और भागवत में दूध, दही, मक्खन की चोरी, कुब्जादासी से समागम, परस्त्रियों से रासमण्डल, क्रीडा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्ण में लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा सुन-सुनाके अन्य मतवाले श्रीकृष्ण की बहुतसी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्णजी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों होती?

शिवपुराण में बारह ज्योतिर्लिङ्ग लिखे हैं। उनकी कथा सर्वथा

असम्भव है। नाम धरा है ज्योतिर्लिङ्ग और जिनमें प्रकाश का लेश भी नहीं। रात्रि को विना दीप किये लिङ्ग भी अन्धेरे में नहीं दीखते, ये सब लीला पोपजी की है।

प्रश्न—जब वेद पढ़ने का सामर्थ्य नहीं रहा तब स्मृति, जब स्मृति के पढ़ने की बुद्धि नहीं रही तब शास्त्र, जब शास्त्र पढ़ने का सामर्थ्य न रहा तब पुराण बनाये केवल स्त्री-शूद्रों के लिये, क्योंकि इनको वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार नहीं।

उत्तर—यह बात मिथ्या है। क्योंकि सामर्थ्य पढ़ने-पढ़ाने ही से होता है और वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार सबको है। देखो! गार्गी आदि स्त्रियाँ और छान्दोग्य [प्रपाठक ४। खं० २। प्रवाक २] में जानश्रुति शूद्र ने भी वेद 'रैक्यमुनि' के पास पढ़ा था। और यजुर्वेद के २६वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का अधिकार मनुष्यमात्र को है। पुनः जो ऐसे-ऐसे मिथ्याग्रन्थ बना, लोगों को सत्यग्रन्थों से विमुख रख, जाल में फसा, अपने प्रयोजन को साधते हैं, वे महापापी क्यों नहीं?

देखो! ग्रहों का चक्र कैसा चलाया है कि जिसने विद्याहीन मनुष्यों को ग्रसित कर लिया है।

'आ कृष्णेन रजसा०'॥ १॥ [यजुः ३३। ४३]
—सूर्य्य का मन्त्र।
'इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वम्०'॥ २॥ [यजुः ९। ४०]
—चन्द्र।
'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः०'॥ ३॥ [यजुः ३। १२]—मङ्गल।
'उद्बुध्यस्वाग्ने०'॥ ४॥ [यजुः १५। ५४]—बुध।
'बृहस्पते अतियदर्यो०'॥ ५॥ [यजुः २६। ३]—बृहस्पति।
'शुक्रमन्धसः'॥ ६॥ [यजुः १९। ७२]—शुक्र।
'शन्नो देवीरभिष्टय०'॥ ७॥ [यजुः ३६। १२]—शनि।
'कया नश्चित्र आ भुव०'॥ ८॥ [यजुः २७। ३९]—राहु। और
'केतुं कृण्वन्नकेतवे०'॥ ९॥ [यजुः २९। ३७]
—केतु की कण्डिका कहते हैं।

(आ कृष्णे०) यह सूर्य्य और भूमि का आकर्षण॥ १॥
दूसरा—राजगुण विधायक॥ २॥
तीसरा—अग्नि॥ ३॥
और चौथा—यजमान॥ ४॥
पाँचवाँ—विद्वान्॥ ५॥
छठा—वीर्य्य, अन्न॥ ६॥
सातवाँ—जल, प्राण और परमेश्वर॥ ७॥
आठवाँ—मित्र॥ ८॥
नववाँ—ज्ञानग्रहण के विधायक मन्त्र हैं॥ ९॥
ग्रहों के वाचक नहीं। अर्थ न जानने से भ्रमजाल में पड़े हैं।

प्रश्न—ग्रहों का फल होता है, वा नहीं?

उत्तर—जैसा पोपलीला का है, वैसा नहीं। किन्तु जैसा सूर्य्य-चन्द्रमा की किरण द्वारा उष्णता-शीतता अथवा ऋतुवत्कालचक्र के सम्बन्धमात्र से अपनी प्रकृति के अनुकूल-प्रतिकूल सुख-दुःख के निमित्त होते हैं। परन्तु जो पोपलीलावाले कहते हैं "सुनो महाराज! सेठजी! यजमानो! तुम्हारे आज आठवाँ चन्द्र-सूर्य्यादि क्रूर घर में आये हैं। अढ़ाई वर्ष का शनैश्चर पग में आया है। तुमको बड़ा विघ्न होगा। घर-द्वार छुड़ाकर परदेश में घुमावेगा। परन्तु जो तुम ग्रहों का दान, जप, पाठ, पूजा कराओगे तो दुःख से बचोगे।" इनसे कहना चाहिये कि "सुनो पोपजी! तुम्हारा और ग्रहों का क्या सम्बन्ध है? ग्रह क्या वस्तु है।"

पोपजी— दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम्॥

देखो! कैसा प्रमाण है। देवताओं के आधीन सब जगत्, मन्त्रों के आधीन सब देवता और वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं, इसलिये ब्राह्मण 'देवता' कहाते हैं। क्योंकि चाहैं उस देवता को मन्त्र के बल से बुला, प्रसन्न कर, काम सिद्धि कराने का हमारा ही अधिकार है जो हममें मन्त्रशक्ति न होती तो तुम्हारे से नास्तिक हमको संसार में रहने ही न देते।

सत्यवादी—जो चोर, डाकू, कुकर्मी लोग हैं, वे भी तुम्हारे देवताओं के आधीन होंगे? देवता ही उनसे दुष्ट काम कराते होंगे? जो वैसा है तो तुम्हारे देवता और राक्षसों में कुछ भेद न रहेगा। जो तुम्हारे आधीन मन्त्र हैं, उनसे तुम चाहो सो करा सकते हो, उन मन्त्रों से देवताओं को वश कर राजाओं के कोष उठवाकर, अपने घर में भरकर, बैठ के आनन्द क्यों नहीं भोगते? घर-घर में शनैश्चरादि के तैल आदि का छायादान लेने को मारे-मारे क्यों फिरते हो? और जिसको तुम कुबेर मानते हो उसको वश में करके चाहो जितना धन लिया करो। बिचारे गरीबों को क्यों लूटते हो?

तुम को दान देने से ग्रह प्रसन्न, न देने से अप्रसन्न होते हों, तो हमको सूर्य्यादि ग्रहों की प्रसन्नता-अप्रसन्नता प्रत्यक्ष दिखलाओ। जिसको ८वाँ सूर्य चन्द्र और दूसरे को तीसरा हो, उन दोनों को ज्येष्ठ महीने में विना जूते पहिने हुये तपी हुई भूमि पर चलाओ। जिस पर प्रसन्न हैं उसके पग शरीर न जलें और जिस पर क्रोधित हैं उसके जल जाने चाहियें। तथा पौष-माघ में दोनों को नंगे कर पौर्णमासी की रात्रिभर मैदान में रक्खें। एक को शीत लगे, दूसरे को नहीं तो जानो कि ग्रह क्रूर और सौम्य दृष्टिवाले होते हैं। और क्या तुम्हारे ग्रह सम्बन्धी हैं? और तुम्हारी डाक वा तार उनके पास आता-जाता है? अथवा तुम उनके वा वे तुम्हारे पास आते-जाते हैं?

जो तुममें मन्त्रशक्ति हो तो तुम स्वयं राजा वा धनाढ्य क्यों नहीं बन जाओ? वा शत्रुओं को अपने वश में क्यों नहीं कर लेते हो? **नास्तिक** वह होता है, जो वेद ईश्वर की आज्ञा, वेदविरुद्ध पोपलीला चलावे। जब तुमको ग्रहदान न देवे जिस पर ग्रह है, वही ग्रहदान को भोगे तो क्या चिन्ता है? जो तुम कहो कि नहीं, हम ही को देने से वे प्रसन्न होते हैं, अन्य को देने से नहीं तो क्या तुमने ग्रहों का ठेका ले लिया है? जो ठेका लिया हो तो सूर्य्यादि को अपने घर में बुलाके जल मरो।

सच तो यह है कि सूर्य्यादि लोक जड़ हैं। वे न किसी को दुःख और न सुख देने की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु जितने तुम ग्रहदानोपजीवी हो, वे सब तुम ग्रहों की मूर्त्तियाँ हो, क्योंकि 'ग्रह' शब्द का अर्थ भी

तुममें ही घटित होता है। **'ये गृह्णन्ति ते ग्रहाः'** जो ग्रहण करते हैं, उनका नाम **'ग्रह'** है। जबतक तुम्हारे चरण राजा, रईस, सेठ, साहूकार और दरिद्रों के पास नहीं पहुँचते, तबतक किसी को ग्रह का स्मरण भी नहीं होता। जब तुम साक्षात् सूर्य-शनैश्चरादि मूर्त्तिमान् क्रूर रूप धर उनपर जा चढ़ते हो, तब विना ग्रहण किये उनको कभी नहीं छोड़ते और जो कोई तुम्हारे ग्रास में न आवे, उसकी निन्दा नास्तिकादि शब्दों से करते-फिरते हो।

पोपजी—देखो! ज्योतिष का प्रत्यक्ष फल। आकाश में रहनेवाले सूर्य, चन्द्र, राहु, केतु का संयोगरूप 'ग्रहण' को पहिले ही कह देते हैं। जैसा यह प्रत्यक्ष होता है, वैसा ग्रहों का फल भी प्रत्यक्ष हो जाता है। देखो! धनाढ्य, दरिद्र, राजा, रङ्क, सुखी, दुःखी ग्रहों ही से होते हैं।

सत्यवादी—जो यह ग्रहणरूप प्रत्यक्ष फल है सो गणितविद्या का है, फलित का नहीं। जो गणितविद्या है वह सच्ची और फलितविद्या स्वाभाविक सम्बन्धजन्य को छोड़ के झूठी है। जैसे अनुलोम-प्रतिलोम घूमनेवाले पृथिवी और चन्द्र के गणित से स्पष्ट विदित होता है कि अमुक समय, अमुक देश, अमुक अवयव में सूर्य्य वा चन्द्र ग्रहण होगा। जैसे—

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः।

[ग्रहलाघव चन्द्रगहणाधिकार ४।४]

यह [ग्रहलाघव?] का वचन और इसी प्रकार 'सूर्यसिद्धान्तादि' में भी है। अर्थात् जब सूर्य-भूमि के मध्य में चन्द्रमा आता है तब **'सूर्यग्रहण'** और जब सूर्य्य और चन्द्र के बीच में भूमि आती है तब **'चन्द्रग्रहण'** होता है। अर्थात् चन्द्र की छाया भूमि पर और भूमि की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। सूर्य प्रकाशरूप होने से उसके सम्मुख छाया किसी की नहीं पड़ती किन्तु जैसे प्रकाशमान सूर्य्य वा दीप से देहादि की छाया उल्टी जाती है, वैसे ही ग्रहण में समझो।

जो धनाढ्य, दरिद्र, राजा, रङ्क होते हैं, वे अपने कर्मों से होते हैं, ग्रहों से नहीं। बहुत से ज्योतिषी लोग अपने लड़का-लड़की का विवाह ग्रहों के गणित के अनुसार करते हैं, पुनः उनमें विरोध वा विधवा

अथवा मृतस्त्री-पुरुष हो जाता है। जो फल सच्चा होता तो ऐसा क्यों होता? इसलिये कर्म की गति सच्ची और ग्रहों की गति सुख-दु:ख भोग में कारण नहीं। भला, ग्रह आकाश में और पृथिवी भी आकाश में बहुत दूर पर हैं, इनका सम्बन्ध कर्त्ता और कर्मों के साथ साक्षात् नहीं। कर्म्म और कर्म्म के फल का कर्त्ता-भोक्ता जीव, और कर्मों के फल भोगानेहारा परमात्मा है। जो तुम ग्रहों का फल मानो तो इसका उत्तर देओ कि जिस क्षण में एक मनुष्य का जन्म होता है जिसको तुम 'ध्रुवात्रुटि' मानकर जन्मपत्र बनाते हो, उसी समय में भूगोल पर दूसरे का जन्म होता है वा नहीं? जो कहो नहीं, तो झूठ और जो कहो होता है तो एक चक्रवर्त्ती के सदृश भूगोल में दूसरा चक्रवर्त्ती राजा क्यों नहीं होता? हाँ, इतना तुम कह सकते हो कि यह लीला हमारे उदर भरने की है तो कोई मान भी लेवे।

प्रश्न—क्या गरुड़पुराण भी झूठा है?

उत्तर—हाँ, असत्य है।

प्रश्न—फिर मरे हुए जीव की क्या गति होती है?

उत्तर—जैसे उसके कर्म हैं।

प्रश्न—जो यमराज राजा, चित्रगुप्त मन्त्री, उसके बड़े भयङ्कर गण कज्जल के पर्वत के तुल्य शरीरवाले जीव को पकड़ कर ले जाते हैं, पाप-पुण्य के अनुसार नरक-स्वर्ग में डालते हैं। उसके लिये दान, पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, गोदानादि वैतरणी नदी तरने के लिये करते हैं। ये सब बात झूठ क्योंकर हो सकती हैं।

उत्तर—ये सब बातें पोपलीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहाँ जाते हैं, उनका धर्मराज, चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिये कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं? और मरनेवाले जीव को लेने में छोटे द्वार में उनकी एक अङ्गुली भी नहीं जा सकती और सड़क-गली में क्यों नहीं रुक जाते। जो कहो कि वे सूक्ष्म देह भी धारण कर लेते हैं तो प्रथम पर्वतवत् शरीर के बड़े-बड़े हाड़ पोपजी विना अपने घर के कहां धरेंगे? जब जङ्गल में

आगी लगती है तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिये असंख्य यम के गण आवें तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिये और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकरें खा जायेंगे तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथिवी पर गिरते हैं, वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव गरुड़पुराण के बाँचने-सुनने वालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे? श्राद्ध, तर्पण, पिण्डप्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के घर, उदर और हाथ में पहुँचता है। जो वैतरणी के लिये गोदान लेते हैं, वह तो पोपजी के घर में अथवा कसाई आदि के घर में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती, पुन: किसकी पूँछ पकड़ कर तरेगा? और हाथ तो यहीं जलाया वा गाड़ दिया गया, पूँछ को कैसे पकड़ेगा? यहां एक जाट का दृष्टान्त इस बात में उपयुक्त है—

एक जाट था। उसके घर में गाय बीस सेर दूध देनेवाली थी। दूध बड़ा स्वादिष्ट होता था। कभी-कभी पोपजी के मुख में भी पड़ता था। उसका पुरोहित यही ध्यान कर रहा था कि जब जाट का बुड्ढा बाप मरने लगेगा तब इस गाय का सङ्कल्प करा लेंगे। दैवयोग से उसके बाप का मरण समय आया। जीभ बन्द हो गई और खाट से नीचे उतार सुवाया। बहुत से जाट के सम्बन्धी उपस्थित थे। उस समय पोपजी पुकारा—"लो यजमान! इसके हाथ से गोदान कराओ।" जाट ने दश रुपया निकाल, पिता के हाथ में रखकर बोला—"पढ़ो सङ्कल्प!" पोपजी बोले—"वाह! बाप वारम्वार मरता है? साक्षात् गाय लाओ, वह दूध भी देती हो, बुड्ढी न हो और सब प्रकार उत्तम हो।"

जाट—एक गाय हमारे है, उसके विना हमारे लड़के-बालों का निर्वाह नहीं हो सकता, उसको न दूंगा। लो ये बीस रुपये का सङ्कल्प। तुम दूसरी गाय ले लेना।

पोपजी—वाहजी वाह! तुम अपने बाप से भी गाय को अधिक समझते हो? अपने पिता को वैतरणी में डुबा, दु:ख देना चाहते हो? तुम अच्छे सुपुत्र हुए! तब तो पोपजी की ओर सब कुटुम्बी हो गये,

क्योंकि उन सबको पहिले ही से पोपजी ने बहका रक्खा था और उस समय भी इशारा कर दिया। सबने मिलकर हठ से उसी गाय का दान उसी पोपजी को दिला दिया। उस समय जाट कुछ भी न बोला। उसका पिता मर गया। पोपजी गाय, बछड़ा और दूध दोहने की बटलोही लेकर, घर में जा, गाय-बछड़े को बांध, बटलोही को धर, यजमान के घर आया, श्मशान में ले जा, दाह किया। वहाँ भी कुछ-कुछ पोपलीला चलाई। पश्चात् दशगात्र सपिण्डी कराने आदि में भी उसको मूंडा। महाब्राह्मणों ने भी लूटा, भुक्खड़ों ने भी बहुत-सा माल पेट में भरा। जब सब हो चुका, तब जाट ने जिस-किसी के घर से दूध माँग-मूंग निर्वाह किया। चौदहवें दिन प्रात:काल पोपजी के घर पहुँचा। देखा तो गाय को दुह, बटलोई भर, पोपजी की उठने की तैयारी थी। इतने ही में जाटजी पहुँचे। पोपजी ने कहा आइये बैठिये!

जाटजी—तुम भी इधर आओ।

पोपजी—अच्छा दूध धर आऊँ।

जाटजी—नहीं, दूध की बटलोई इधर लाओ। पोपजी जा, बटलोई सामने धर, बैठे।

जाटजी—तुम बड़े झूठे हो।

पोपजी—क्या झूठ किया?

जाटजी—गाय किसलिये ली थी?

पोपजी—तुम्हारे बाप के वैतरणी तरने के लिये।

जाटजी—फिर तुमने वैतरणी के किनारे क्यों न पहुँचाई? हम तुम्हारे भरोसे पर रहे। न जाने मेरे बाप ने वैतरणी में कितने गोते खाये होंगे?

पोपजी—नहीं-नहीं, वहाँ इस दान के पुण्य के प्रभाव से दूसरी गाय बन गई। तुम्हारे बाप को पार उतार दिया।

जाटजी—वैतरणी नदी यहाँ से कितनी दूर और किधर की ओर है?

पोपजी—अनुमान तीस क्रोड़ कोश दूर है। क्योंकि उनञ्चास कोटि योजन पृथिवी है और दक्षिण नैर्ऋत दिशा में वैतरणी नदी है।

जाटजी—इतनी दूर से तुम्हारी चिट्ठी वा तार का समाचार गया हो, उसका उत्तर आया हो कि वहां पुण्य की गाय बन गई, अमुक के पिता को पार उतार दिया, दिखलाओ?

पोपजी—हमारे पास 'गरुड़पुराण' के लेख के विना डाक वा तारवर्की दूसरी कोई नहीं।

जाटजी—इस गरुड़पुराण को हम सच्चा कैसे मानें?

पोपजी—जैसे सब मानते हैं।

जाटजी—यह पुस्तक तुम्हारे पुरुषाओं ने तुम्हारी जीविका के लिये बनाया है। क्योंकि पिता को विना अपने पुत्रों के कोई प्रिय नहीं। जब मेरा पिता मेरे पास चिट्ठी-पत्री वा तार भेजेगा तभी मैं वैतरणी के किनारे गाय पहुँचा दूंगा और उनको पार उतार, पुन: गाय को घर में ले आ, दूध को मैं और मेरे लड़के-बाले पिया करेंगे, लाओ! दूध की भरी हुई बटलोही, गाय, बछड़ा लेकर जाटजी अपने घर को चला।

पोपजी—तुम दान देकर लेते हो, तुम्हारा सत्यानाश हो जायगा।

जाटजी—चुप रहो! नहीं तो तेरह दिन तक दूध के विना जितना दु:ख हमने पाया है, सब कसर निकाल दूंगा। तब पोपजी चुप रहे और जाटजी गाय-बछड़ा ले, अपने घर पहुँचे।

जब ऐसे ही जाटजी के से पुरुष हों तो पोपलीला संसार में न चले।

जो ये लोग कहते हैं कि दशगात्र के पिण्डों से दश अङ्ग, सपिण्डी करने से शरीर के साथ जीव का मेल होके, अङ्गुष्ठमात्र शरीर बनके, पश्चात् यमलोक को जाता है तो मरती समय यमदूतों का आना व्यर्थ होता है। त्रयोदशाह के पश्चात् आना चाहिये। जो शरीर बन जाता हो तो अपनी स्त्री, सन्तान और मित्रों के मोह से क्यों नहीं आ जाता?

प्रश्न—स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता, जो दान किया जाता है, वही वहाँ मिलता है। इसलिये सब दान करने चाहियें।

उत्तर—उस तुम्हारे स्वर्ग से यही लोक अच्छा, जिसमें धर्मशाला है, लोग दान देते हैं, इष्ट-मित्र और जाति में खूब निमन्त्रण होते हैं, अच्छे-अच्छे वस्त्र मिलते हैं, तुम्हारे कहने प्रमाणे स्वर्ग में कुछ भी नहीं

मिलता है। ऐसे निर्दय, कृपण, कंगले स्वर्ग में पोपजी जाके खराब होवें, वहां भले मनुष्यों का क्या काम?

प्रश्न—जब तुम्हारे कहने से यमलोक और यम नहीं हैं तो मरकर जीव कहाँ जाता और इनका न्याय कौन करता है?

उत्तर—तुम्हारे गरुड़पुराण का कहा तो अप्रमाण है। परन्तु जो वेदोक्त है कि—

यमेन॥ [ऋ० १०।१४।८; १।१६३।२; अथर्व० १८।२।११,२१]

वायुना॥ [अथर्व० ४।३९।४; २०।१४१।२]

सत्यराजन्॥ [यजु: २०।४; तुलना—ऋ० १०।१४।४]

इत्यादि वेदवचनों से निश्चय है कि '**यम**' नाम वायु का है; शरीर छोड़ 'वायु' के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं; और जो सत्यकर्त्ता पक्षपातरहित परमात्मा '**धर्म्मराज**' है, वही सबका न्यायकर्त्ता है।

प्रश्न—तुम्हारे कहने से गोदानादि दान किसी को न देना, और न कुछ दानपुण्य करना, ऐसा सिद्ध होता है।

उत्तर—यह तुम्हारा कहना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि सुपात्रों को, परोपकारियों को परोपकारार्थ सोना, चाँदी, हीरा, मोती, माणिक, अन्न, जल, स्थान, वस्त्र, गाय आदि दान अवश्य करना उचित है किन्तु कुपात्रों को कभी न देना चाहिये।

प्रश्न—**कुपात्र** और **सुपात्र** का लक्षण क्या है?

उत्तर—जो छली, कपटी, स्वार्थी, विषयी, काम, क्रोध, लोभ, मोह से युक्त, परहानि करनेवाले, लम्पट, मिथ्यावादी, अविद्वान्, कुसङ्गी, आलसी, जो कोई दाता हो उसके पास वारम्वार माँगना, धरना देना, नाँ किये पर भी हठ से माँगते जाना, सन्तोष न होना, जो न दे उसकी निन्दा, शाप, गालि-प्रदानादि देना, अनेक वार जो सेवा करे और एक वार न करे तो उसके शत्रु बन जाना, ऊपर से साधु वेश बना लोगों को बहकाकर ठगना और अपने पास पदार्थ हो, तो भी 'मेरे पास कुछ भी नहीं है' कहना, सब की खुशामद करना, रात-दिन भीख माँगने ही में प्रवृत्त रहना, निमन्त्रण दिये पर खूब भांग आदि मादक द्रव्य पीकर

बहुत खाना, मस्त होकर पागल वा प्रमादी होना, सत्य-मार्ग का विरोध और झूठ-मार्ग अपने प्रयोजनार्थ चलाना, अपने चेलों को अपनी ही सेवा का उपदेश करना, अन्य योग्य पुरुषों की सेवा का नहीं। विद्यादि प्रवृत्ति के विरोधी, जगत् के व्यवहार अर्थात् स्त्री, पुरुष, माता, पिता, सन्तान, राजा, प्रजा, इष्टमित्रों में अप्रीति कराना कि ये सब असत्य हैं, जगत् भी मिथ्या है, इत्यादि दुष्ट उपदेश करना आदि '**कुपात्रों**' के लक्षण हैं।

और जो ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, वेदादिविद्यापठनपाठनशील, सत्यवादी, परोपकारप्रिय, पुरुषार्थी, उदार, विद्या-धर्म में निरन्तर उन्नति करनेहारे, धर्मात्मा, शान्त, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोकरहित, निर्भय, उत्साही, योगी, ज्ञानी, सृष्टिक्रम-वेदाज्ञा-ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभावानुकूल वर्त्तमान करनेहारे, न्याय की रीतियुक्त, पक्षपातरहित, सत्योपदेश और सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ानेहारों के परीक्षक, किसी की खुशामद न करें, प्रश्नों के ठीक-ठीक समाधानकर्त्ता, अपने आत्मा के तुल्य अन्य का भी सुख-दु:ख, हानि-लाभ समझनेवाले, अविद्यादि क्लेश-हठ-दुराग्रहाऽभिमानरहित, अमृत के तुल्य अपमान और मान को विष के तुल्य समझनेवाले, सन्तोषी, जो कोई प्रीति से जितना देवे उतने ही से प्रसन्न, एक वार आपत्काल में माँगे भी, न देने वा वर्जने पर भी दु:ख वा बुरी चेष्टा न करना, वहाँ से झट हट जाना, उसकी निन्दा न करना, सुखी के साथ मित्रता, दु:खी पर करुणा, पुण्यात्माओं से आनन्द और पापियों से 'उपेक्षा' अर्थात् प्रीति-द्वेषरहित रहना, सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, निष्कपट, ईर्ष्या-द्वेषरहित, गम्भीराशय, सत्पुरुष, धर्म से युक्त और सर्वथा दुष्टाचार से रहित, अपने तन-मन-धन को परोपकार में लगानेवाले, पराए सुख के लिये अपने प्राणों को भी समर्पितकर्त्ता इत्यादि शुभलक्षणयुक्त '**सुपात्र**' होते हैं। परन्तु दुर्भिक्षादि आपत्काल में अन्न, जल, वस्त्र और औषध, पथ्य, स्थान के अधिकारी सब प्राणिमात्र होते हैं।

प्रश्न—दाता कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—तीन प्रकार के—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। '**उत्तम दाता**'

उसको कहते हैं जो देश, काल और पात्र को जानकर, सत्यविद्या धर्म की उन्नतिरूप परोपकारार्थ दान देवे। '**मध्यम**' वह है जो कीर्त्ति वा स्वार्थ के लिये दान करे। '**नीच**' वह है कि अपना वा पराया कुछ उपकार न कर सके, किन्तु वेश्यागमनादि वा भांड-भाटों आदि को देवे, देते समय तिरस्कार अपमानादि भी करे, पात्र-कुपात्र का कुछ भी भेद न जाने, किन्तु '**सब अन्न बारह पसेरी**' बेचनेवालों के तुल्य विवाद-लड़ाई, दूसरे धर्मात्मा को दु:ख देकर सुखी होने के लिए दिया करे, वह '**अधम**' दाता है। अर्थात् जो परीक्षापूर्वक विद्वान् धर्मात्माओं का सत्कार करे, वह '**उत्तम**' और कुछ परीक्षा करे वा न करे परन्तु जिसमें अपनी प्रशंसा हो उसको करे, वह '**मध्यम**' और जो अन्धाधुन्ध परीक्षारहित निष्फल दान दिया करे, वह 'नीच' दाता कहाता है।

प्रश्न—दान के फल यहाँ होते हैं, वा परलोक में?

उत्तर—सर्वत्र होते हैं।

प्रश्न—स्वयं होते हैं, वा कोई फल देनेवाला है?

उत्तर—फल देनेवाला ईश्वर है। जैसे कोई चोर-डाकू स्वयं बन्दीघर में जाना नहीं चाहता। राजा उसको अवश्य भेजता है। धर्मात्माओं के सुख की रक्षा करता, भुगाता, डाकू आदि से बचाकर उनको सुख में रखता है, वैसे ही परमात्मा सबको पाप-पुण्य के दु:ख और सुखरूप फलों को यथावत् भुगाता है।

प्रश्न—जो ये गरुड़पुराणादि ग्रन्थ हैं, 'वेदार्थ' वा 'वेद' की पुष्टि करनेवाले हैं, वा नहीं?

उत्तर—नहीं, किन्तु वेद के विरोधी और उलटे चलते हैं, तथा तन्त्र भी वैसे ही हैं। जैसे कोई मनुष्य एक का मित्र, सब संसार का शत्रु हो, वैसा ही पुराण और तन्त्र का माननेवाला पुरुष होता है, क्योंकि एक दूसरे से विरोध करानेवाले ये ग्रन्थ हैं। इनका मानना किसी मनुष्य का काम नहीं, किन्तु इनको मानना पशुता है। देखो! शिवपुराण में त्रयोदशी, सोमवार; आदित्यपुराण में रवि; चन्द्रखण्ड में सोमग्रहवाले मङ्गल, बुध, बृहस्पति; शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु के; वैष्णव एकादशी; वामन की द्वादशी; नृसिंह वा अनन्त की चतुर्दशी; चन्द्रमा की पौर्णमासी; दिक्पालों की दशमी; दुर्गा की नौमी; वसुओं की अष्टमी, मुनियों की सप्तमी; कार्त्तिकस्वामी की षष्ठी; नाग की पञ्चमी; गणेश की चतुर्थी; गौरी की तृतीया; अश्विनीकुमार की द्वितीया; आद्यादेवी की प्रतिपदा और पितरों की अमावास्या; पुराणरीति से उपवास करने के दिन हैं। और सर्वत्र यही लिखा है कि जो मनुष्य इन वार और तिथियों में अन्न-पान ग्रहण करेगा वह नरकगामी होगा। अब पोप और पोपजी के चेलों को चाहिये कि किसी वार अथवा किसी तिथि में भोजन न करें क्योंकि जो भोजन वा पान किया तो नरकगामी होंगे।

अब 'निर्णयसिन्धु' 'धर्मसिन्धु' 'व्रतार्क' आदि ग्रन्थ जो कि प्रमादी लोगों के बनाये हैं, उन्होंने एक-एक व्रत की ऐसी दुर्दशा की है कि जैसे एकादशी को शैव दशमीविद्धा, कोई द्वादशी में एकादशी व्रत करते हैं अर्थात् क्या बड़ी विचित्र पोपलीला है कि भूखे मरने में भी वाद-विवाद ही करते हैं। जिसने एकादशी का व्रत चलाया है, उसमें अपना स्वार्थपन ही है और दया कुछ भी नहीं। कहते हैं—

एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति॥

[पद्मपुराण ब्रह्मखण्ड अ० १५ श्लो० ११ तथा एकादशी माहात्म्य]

जितने पाप हैं, सब एकादशी के दिन अन्न में वसते हैं। इस पोपजी से पूछना चाहिये कि किसके पाप उसमें वसते हैं? तेरे वा तेरे पिता आदि के? जो सबके के सब पाप एकादशी में जा वसें तो एकादशी के दिन किसी को दु:ख न रहना चाहिये। ऐसा तो नहीं होता किन्तु उल्टा क्षुधा आदि से दु:ख होता है। दु:ख पाप का फल है। इससे भूखे मरना पाप है। इसका बड़ा माहात्म्य बनाया है, जिसकी कथा बाँच के बहुत ठगे जाते हैं। उसमें एक गाथा है कि—

ब्रह्मलोक में एक वेश्या थी। उसने कुछ अपराध किया। उसको शाप हुआ—"वह पृथिवी पर गिरे।" उसने स्तुति की, मैं पुन: स्वर्ग में क्योंकर आ सकूँगी? उसने कहा "जब कभी एकादशी के व्रत का फल तुझे कोई देगा तभी तू स्वर्ग में आ जायेगी।" वह विमान सहित किसी नगर में गिर पड़ी। वहाँ के राजा ने उससे पूछा कि "तू कौन है?" तब उसने सब वृत्तान्त कह सुनाया और कहा कि "जो कोई

मुझको एकादशी का फल अर्पण करे तो फिर भी स्वर्ग को जा सकती हूँ।'' राजा ने नगर में खोज कराया। कोई भी एकादशी का व्रत करनेवाला न मिला। किन्तु एक दिन किसी शूद्र स्त्री-पुरुष में लड़ाई हुई थी। क्रोध से स्त्री दिन-रात भूखी रही थी। दैवयोग से उस दिन एकादशी ही थी। उसने कहा कि ''मैंने एकादशी जानकर तो नहीं की, अकस्मात् उस दिन भूखी रह गई थी।'' ऐसा राजा के सिपाहियों से कहा। तब तो सिपाही उसको राजा के सामने ले आये। उससे राजा ने कहा कि ''तू इस विमान को छू।'' उसने छुआ तो उसी समय विमान ऊपर को उड़ गया। यह तो विना जाने एकादशी के व्रत का फल है, जो जान के करे तो उसके फल का क्या पारावार है!!!

वाह रे आँख के अन्धे लोगो! जो यह बात सच्ची हो तो हम एक पान की बीड़ी जो कि स्वर्ग में नहीं होती, भेजना चाहते हैं। सब एकादशीवाले अपना फल दे दो। जो एक पानबीड़ा ऊपर को चला जाएगा तो पुनः लाखों-क्रोड़ों पान वहाँ भेजेंगे और हम भी एकादशी किया करेंगे और जो ऐसा न होगा तो तुम लोगों को इस भूखे मरनेरूप आपत्काल से बचावेंगे।

इन चौबीस एकादशियों का नाम पृथक्-पृथक् रक्खा है। किसी का 'धनदा', किसी का 'कामदा', किसी का 'पुत्रदा' और किसी का 'निर्जला'। बहुत से दरिद्र, बहुत से कामी और बहुत से निर्वंशी लोग एकादशी करके बूढ़े हो गये और मर भी गये परन्तु धन, कामना और पुत्र प्राप्त न हुआ। और ज्येष्ठ महीने के शुक्लपक्ष में कि जिस समय एक घड़ी भर जल न पावे तो मनुष्य व्याकुल हो जाता है, व्रत करनेवालों को महादुःख प्राप्त होता है। विशेषकर बङ्गाले में सब विधवा स्त्रियों की एकादशी के दिन बड़ी दुर्दशा होती है। इस निर्दयी कसाई को लिखते समय कुछ भी मन में दया नहीं आई, नहीं तो 'निर्जला' का नाम 'सजला' और पौष महीने की एकादशी का नाम 'निर्जला' रख देता तो भी कुछ अच्छा होता। परन्तु इस पोप को दया से क्या काम? '**कोई जीवो वा मरो पोपजी का पेट पूरा भरो।**' भला! गर्भवती वा सद्योविवाहिता स्त्री, लड़के वा युवा पुरुषों को तो कभी उपवास न करना चाहिए। परन्तु किसी को करना भी हो तो जिस दिन अजीर्ण हो, क्षुधा न लगे, उस दिन शर्बत वा दूध पीकर रह जाना चाहिए। जो भूख में नहीं खाते और विना भूख के भोजन करते हैं, वे दोनों रोगसागर में गोते खा दुःख पाते हैं। इन प्रमादियों के कहने-लिखने का प्रमाण कोई भी न करे।

अब **गुरुशिष्यमन्त्रोपदेश** और **मतमतान्तर के चरित्रों** का वर्त्तमान कहते है।

मूर्त्तिपूजक सम्प्रदायी लोग प्रश्न करते हैं कि वेद अनन्त हैं। ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखा हैं। इनमें से थोड़ी सी शाखा मिलती है, शेष लोप हो गई हैं। उन्हीं में पूजा और तीर्थों का प्रमाण होगा। जो न होता तो पुराणों में कहाँ से आता? जब कार्य देखकर कारण का अनुमान होता है, तब पुराणों को देखकर मूर्त्तिपूजा में क्या शङ्का है?

उत्तर—जैसे शाखा जिस वृक्ष की होती है उसके सदृश हुआ करती है, विरुद्ध नहीं। चाहैं शाखा छोटी-बड़ी हों परन्तु उनमें विरोध नहीं हो सकता। वैसे ही जितनी शाखा मिलती हैं, जब इनमें पाषाणादि-मूर्त्ति और जल-स्थल-विशेष तीर्थों का प्रमाण नहीं मिलता तो उन लुप्त शाखाओं में भी नहीं था। और जो चार वेद पूर्ण मिलते हैं, उनसे विरुद्ध शाखा कभी नहीं हो सकतीं और जो विरुद्ध हैं, उनको शाखा कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। जब यह बात है तो 'पुराण' वेदों की शाखा नहीं किन्तु सम्प्रदायी लोगों ने परस्पर विरुद्धरूप ग्रन्थ बना रक्खे हैं।

वेदों को तुम परमेश्वरकृत मानते हो वा मनुष्यकृत?

परमेश्वरकृत।

जब परमेश्वरकृत मानते हो तो 'आश्वालायनादि' ऋषि-मुनियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों को वेद क्यों मानते हो? जैसे डाली और पत्तों के देखने से पीपल, बड़ और आम्र आदि वृक्षों की पहिचान होती है, वैसे ही ऋषि-मुनियों के किये वेदाङ्ग, चारों ब्राह्मण, अङ्ग, उपाङ्ग और उपवेद आदि से वेदार्थ पहिचाना जाता है, इसीलिये इन ग्रन्थों को शाखा माना है। जो वेदों से विरुद्ध है, उसका प्रमाण और अनुकूल का

अप्रमाण नहीं हो सकता।

जो तुम अदृश्य शाखाओं में मूर्त्ति आदि के प्रमाण की कल्पना करोगे तो जब कोई ऐसा पक्ष करेगा कि लुप्त शाखाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था उलटी अर्थात् अन्त्यज और शूद्र का नाम ब्राह्मणादि और ब्राह्मणादि का नाम शूद्र अन्त्यजादि, अगमनीया-गमन, अकर्त्तव्य कर्त्तव्य, मिथ्याभाषणादि धर्म, सत्यभाषणादि अधर्म आदि लिखा होगा तो तुम उसको वही उत्तर दोगे जो कि हमने दिया, अर्थात् वेद और प्रसिद्ध शाखाओं में जैसा ब्राह्मणादि का नाम ब्राह्मणादि और शूद्रादि का नाम शूद्रादि लिखा है, वैसा ही अदृष्ट शाखाओं में भी मानना चाहिये, नहीं तो वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सब अन्यथा हो जायेंगे।

भला जैमिनि, व्यास और पतञ्जलि के समय पर्य्यन्त तो सब शाखा विद्यमान थी वा नहीं? यदि थीं तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे और जो कहो कि नहीं थीं तो फिर शाखाओं के होने का क्या प्रमाण है? देखो! जैमिनि ने मीमांसा में सब '**कर्मकाण्ड**', पतञ्जलि मुनि ने योगशास्त्र में सब '**उपासनाकाण्ड**' और व्यासमुनि ने शारीरक-सूत्रों में सब '**ज्ञानकाण्ड**' वेदानुकूल लिखा है। उनमें पाषाणादि-पूर्त्तिपूजा वा प्रयागादि तीर्थों का नाम तक भी नहीं लिखा। लिखें कहाँ से? कहीं वेदों में होता तो लिखे विना कभी नहीं छोड़ते। इसलिए लुप्त शाखाओं में भी इन मूर्त्तिपूजादि का प्रमाण नहीं था।

ये सब शाखा वेद नहीं है, क्योंकि इनमें ईश्वरकृत वेदों की प्रतीक धरके व्याख्या और संसारी जनों के इतिहासादि लिखे हैं, इसलिए ये वेद में कभी नहीं हो सकते। वेदों में तो केवल मनुष्यों को विद्या का उपदेश किया है। किसी मनुष्य का नाममात्र भी नहीं। इसलिए मूर्त्तिपूजा का सर्वथा खण्डन है।

देखो! मूर्तिपूजा से श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, नारायण और शिवादि की बड़ी निन्दा और उपहास होता है। सब कोई जानते हैं कि वे बड़े महाराजाधिराज और उनकी स्त्री सीता, तथा रुक्मिणी, लक्ष्मी और पार्वती आदि महाराणी थीं, परन्तु जब उनकी मूर्त्तियाँ मन्दिर आदि में रखके पुजारी लोग उनके नाम से भीख माँगते हैं अर्थात् उनको भिखारी

बनाते हैं कि "आओ महाराज! राजाजी! सेठ-साहूकारो! दर्शन कीजिए, बैठिये, चरणामृत लीजिए, कुछ भेंट चढाइये, महाराज! सीता-राम, कृष्ण-रुक्मिणी वा राधाकृष्ण, लक्ष्मी-नारायण और महादेव-पार्वतीजी को तीन दिन से 'बालभोग वा 'राजभोग' अर्थात् जलपान वा खानपान भी नहीं मिला है। आज इनके पास कुछ भी नहीं है। सीता आदि को नथुनी आदि राणीजी वा सेठानीजी! बनवा दीजिये। अन्न आदि भेजो तो रामकृष्णादि को भोग लगावें। वस्त्र सब फट गये हैं। मन्दिर के कोने सब गिर पड़े हैं। ऊपर से चूता है और दुष्ट चोर जो कुछ था, उठा ले गये। कुछ ऊंदरों ने काट-कूट डाले। देखिए! एक दिन ऊँदरों ने ऐसा अनर्थ किया कि इनकी आँख भी निकाल के भाग गये। अब हम चाँदी की आँख न बना सके इसलिये कौड़ी की लगा दी है।"

रामलीला और रासमण्डल भी करवाते हैं, सीता-राम, राधा-कृष्ण नाच रहे हैं, राजा और महन्त आदि उनके सेवक आनन्द में बैठे हैं! मन्दिर में सीता, रामादि खड़े और पूजारी वा महन्तजी आसन अथवा गद्दी तकिया लगा बैठते हैं। महागरमी में भी ताला लगा भीतर बन्ध कर देते हैं और आप सुन्दर वायु में पलङ्ग बिछा सोते हैं। बहुतसे पूजारी अपने नारायण को डब्बी में बन्ध कर ऊपर से कपड़े आदि बाँध गले में लटका लेते हैं जैसे कि वानरी अपने बच्चे को गले में लटका लेती है, वैसे पूजारियों के गले में भी लटकते हैं। जब कोई मूर्त्ति को तोड़ता है तब हाय-हाय कर छाती पीट बकते हैं कि सीता-रामजी, राधा-कृष्णजी और शिव-पार्वती को दुष्टों ने तोड़ डाला! अब दूसरी मूर्त्ति मँगवाकर जो कि अच्छे शिल्पी ने संगमरमर की बनाई हो, स्थापन कर पूजनी चाहिए। नारायण को घी के विना भोग नहीं लगता। बहुत नहीं तो थोड़ा-सा अवश्य भेज देना। इत्यादि बातें इन पर ठहराते हैं। और रासमण्डल वा रामलीला के अन्त में सीता-राम वा राधा-कृष्ण से भीख मँगवाते हैं। जहाँ मेला-ठेला होता है, वहाँ छोकरे पर मुकुट धर कन्हैया बना मार्ग में बैठाकर भीख मंगवाते हैं। इत्यादि बातों को आप लोग विचार लीजिए कि कितने बड़े शोक की बात है! भला, कहो तो, सीतारामादि ऐसे दरिद्र और भिक्षुक थे? यह उनका उपहास और निन्दा

नहीं तो क्या है? इससे बड़ी अपने माननीय पुरुषों की निन्दा होती है।

भला, जिस समय ये विद्यमान थे, उस समय सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी, पार्वती को सड़क पर वा किसी मकान में खड़ी कर पुजारी कहते कि "आओ इनका दर्शन करो और कुछ भेंट पूजा धरो" तो सीतादि इन मूर्खों के कहने से ऐसा काम कभी न करते और न करने देते। जो कोई ऐसा उपहास उनका करता, उसको विना दण्ड दिये कभी छोड़ते? हाँ, जब उन्हों से दण्ड न पाया तो इनके कर्मों ने पूजारियों को बहुत-सी मूर्त्तिविरोधियों से प्रसादी दिलादी और अब भी मिलती है और जबतक इस कर्म को न छोड़ेंगे तबतक मिलेगी भी। इसमें क्या संदेह है कि जो आर्य्यावर्त्त की प्रतिदिन महाहानि, पाषाणादि-मूर्त्तिपूजकों का पराजय इन्हीं कर्मों से होता है, क्योंकि पाप का फल दु:ख है। इन्हीं पाषाणादि-मूर्त्तियों के विश्वास से बहुत-सी हानि हो गई। जो न छोड़ेंगे तो प्रतिदिन अधिक-अधिक होती जायगी।

इनमें से वाममार्गी बड़े भारी अपराधी हैं। जब वे चेला करते हैं तब साधारण को—

दं दुर्गायै नमः। भं भैरवाय नमः। ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे॥

इत्यादि मन्त्रों का उपदेश कर देते हैं और बङ्गाले में विशेष करके एकाक्षरी मन्त्रोपदेश करते हैं, जैसा— **ह्रीं, श्रीं, क्लीं॥**

[ऊह्य-श्रीकण्ठशिवपण्डितरचित शावरतन्त्र बं० प्रकी० प्र० ४४]

इत्यादि। और धनाढ्यों का पूर्णाभिषेक करते हैं।

ऐसे ही दश महाविद्याओं के मन्त्र—

ह्रां ह्रीं ह्रूं वगलामुख्यै फट् स्वाहा॥ [ऊह्य—शावरतन्त्र ४१]

कहीं-कहीं—**ह्रूं फट् स्वाहा॥**

[ऊह्य—कामरत्न तन्त्र, बीजमन्त्र ४]

और मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण, आदि प्रयोग करते हैं। सो मन्त्र से तो कुछ भी नहीं होता किन्तु क्रिया से सब कुछ करते हैं। जब किसी को मारने का प्रयोग करते हैं तब इधर करानेवाले से धन लेके आटे वा मट्टी का पूतला जिसको मारना चाहते हैं, उसका बनाते हैं। उसकी छाती, नाभि, कण्ठ में छुरे प्रवेश कर देते हैं। आँख,

हाथ, पग में कीलें ठोकते हैं। उसके ऊपर भैरव वा दुर्गा की मूर्त्ति बना, हाथ में त्रिशूल दे, उसके हृदय पर लगाते हैं। एक वेदी बनाकर मांस आदि का होम करने लगते हैं और उधर दूत आदि भेज के उसको विष आदि से मारने का उपाय करते हैं। जो अपने पुरश्चरण के बीच में उसको मार डाला तो अपने को भैरव देवी की सिद्धिवाले बतलाते हैं। '**भैरवो भूतनाथश्च**' इत्यादि का पाठ करते हैं।

मारय-मारय, उच्चाटय-उच्चाटय, विद्वेषय-विद्वेषय, छिन्धि-छिन्धि, भिन्धि-भिन्धि, वशीकुरु-वशीकुरु, खादय-खादय, भक्षय-भक्षय, त्रोटय-त्रोटय, नाशय-नाशय, मम शत्रून् वशीकुरु, मम शत्रून् वशीकुरु, हुं फट् स्वाहा॥

[ऊह्य—कामरत्नतन्त्र, उच्चाटन प्रकरण, मं० ५-७]

इत्यादि मन्त्र जपते, मद्य भांग खूब पीते, मांसादि खाते, भृकुटी के बीच में सिन्दूर रेखा देते, कभी-कभी काली आदि के लिये किसी आदमी को पकड़ मार होमकर कुछ-कुछ उसका मांस खाते भी हैं। जो कोई भैरवीचक्र में जावे, मद्य-मांस न पीवे, न खावे तो उसको मार होम कर देते हैं। उनमें से जो 'अघोरी' होता है, वह मृतमनुष्य का भी मांस खाता है, अजरी-बजरी करनेवाले विष्ठामूत्र भी खाते-पीते हैं।

एक 'चोली मार्ग' और 'बीजमार्गी' भी होते हैं। 'चोलीमार्गवाले' एक गुप्त स्थान वा भूमि में एक स्थान बनाते हैं। वहाँ सबकी स्त्रियाँ, पुरुष, लड़का, लड़की, बहिन, माता, पुत्रवधू आदि सब इकट्ठे हो सब लोग मिल-मिलाकर मांस खाते, मद्य पीते, एक स्त्री को नङ्गी कर, उसके गुप्त इन्द्रिय की पूजा सब पुरुष करते, उसका नाम दुर्गादेवी धरते हैं। एक पुरुष को नङ्गा कर उसके उपस्थ इन्द्रिय की पूजा सब स्त्रियाँ करती हैं। जब मद्य पी-पी के उन्मत्त हो जाते हैं तब सब स्त्रियों की छाती का वस्त्र जिसको 'चोली' कहते हैं, एक बड़ी मट्टी-की नाँद में सब वस्त्र मिलाकर रखके एक-एक पुरुष उसमें हाथ डालके जिसके हाथ में जिसका वस्त्र आवे—वह माता, बहिन, कन्या और पुत्रवधू क्यों न हो उस समय के लिए वह उसकी स्त्री हो जाती है! आपस में कुकर्म करने और बहुत नशा चढ़ने से जूते आदि से लड़ते हैं। जब प्रात:काल

कुछ अन्धेरे अपने-अपने घर को चले जाते हैं तब माता माता, कन्या कन्या, बहिन बहिन, और पुत्रवधू पुत्रवधू हो जाती है। और '**बीजमार्गी**' स्त्री-पुरुष के समागम कर जल में वीर्य डाल, मिलाकर पीते हैं। ये पामर ऐसे कर्मों को मुक्ति के साधन मानते हैं। विद्या, विचार, सज्जनतादि रहित होते हैं।

प्रश्न—शैव तो अच्छा होता है?

उत्तर—अच्छा कहाँ से होता है? '**जैसा प्रेतनाथ वैसा भूतनाथ**'। जैसे वाममार्गी मन्त्रोपदेशादि से उनका धन हरते हैं, वैसे शैव भी '**ओं नमः शिवाय**' इत्यादि पञ्चाक्षरादि मन्त्रों का उपदेश करते, रुद्राक्ष भस्म धारण करते, मट्टी के और पाषाणादि के लिङ्ग बनाकर पूजते, '**हर-हर**', '**बं-बं**' और बकरे के शब्द के समान '**बड़-बड़-बड़**' मुख से शब्द करते हैं। उसका कारण यह कहते हैं कि ताली बजाने और **बं-बं** शब्द बोलने से पार्वती प्रसन्न और महादेव अप्रसन्न होता है। क्योंकि जब भस्मासुर के आगे से महादेव भागे थे तब **बं-बं** और ठट्ठे की तालियाँ बजी थीं और गाल बजाने से पार्वती अप्रसन्न और महादेव प्रसन्न होते हैं क्योंकि पार्वती के पिता दक्षप्रजापति का शिर काट आगी में डाल उसके धड़ पर बकरे का शिर लगा दिया था। उसी की नकल बकरे के शब्द के तुल्य गाल बजाना मानते हैं। शिवरात्री प्रदोष का व्रत करते हैं, इत्यादि से मुक्ति मानते हैं। इसीलिये जैसे वाममार्गी भ्रान्त हैं, वैसे शैव भी। इनमें विशेषकर कनफटे, नाथ, गिरी, पुरी, वन, आरण्य, पर्वत और सागर तथा गृहस्थ भी शैव होते हैं। कोई-कोई '**दोनों घोड़ों पर चढ़ते** हैं' अर्थात् वाम और शैव दोनों मतों को मानते हैं और कितने ही वैष्णव भी रहते हैं। उनका—

अन्तः शाक्ता बहिश्शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्तीह महीतले॥

—यह तन्त्र का श्लोक है।

[ऊह्य—कौलोपनिषत् तथा कुलार्णवतन्त्र एकादश उल्लास]

भीतर 'शाक्त' अर्थात् वाममार्गी, बाहर 'शैव' अर्थात् रुद्राक्ष भस्म धारण करते हैं, सभा में 'वैष्णव' कहते हैं कि हम विष्णु के उपासक

हैं। ऐसे नाना प्रकार के रूप धारण करके वाममार्गी लोग पृथिवी में विचर रहे हैं।

प्रश्न—वैष्णव तो अच्छे हैं?

उत्तर—क्या धूड़ अच्छे हैं। जैसे वे, वैसे ये हैं। देख लो वैष्णवों की लीला! अपने को विष्णु का दास मानते हैं। उनमें से श्री वैष्णव जोकि चक्राङ्कित होते हैं, वे अपने को सर्वोपरि मानते हैं। सो कुछ भी नहीं हैं।

प्रश्न—क्यों कुछ भी नहीं? सब कुछ हैं। देखो! ललाट में नारायण के चरणारविन्द के सदृश तिलक और बीच में पीली रेखा 'श्री' होती है, इसी वास्ते हम 'श्रीवैष्णव' कहाते हैं। एक नारायण को छोड़ दूसरे किसी को नहीं मानते। महादेव के लिङ्ग का दर्शन भी नहीं करते क्योंकि हमारे ललाट में श्री विराजमान है, वह लज्जित होती है। आलमन्दारादि स्तोत्रों के पाठ करते हैं। नारायण की मन्त्र पूर्वक पूजा करते हैं, मांस नहीं खाते, मद्य नही पीते, फिर अच्छे क्यों नहीं?

उत्तर—इस तिलक को '**हरिपदाकृति**', इस पीली रेखा को '**श्री**' मानना व्यर्थ है, क्योंकि यह तो तुम्हारे हाथ की कारीगरी और ललाट का चित्र है, जैसा हाथी का ललाट चित्र-विचित्र करते हैं। तुम्हारे ललाट में विष्णु के पद का चिह्न कहाँ से आया? क्या कोई वैकुण्ठ में जाकर विष्णु के पग का चिह्न ललाट में करा आया है?

विवेकी—और श्री जड़ है वा चेतन?

वैष्णव—चेतन है।

विवेकी—तो यह रेखा जड़ होने से 'श्री' नहीं है। हम पूछते हैं कि श्री बनाई हुई है वा विना बनाई? जो विना बनाई है तो यह श्री नहीं, क्योंकि इसको तो तुम नित्य अपने हाथ से बनाते हो फिर श्री नहीं हो सकती। जो तुम्हारे ललाट में श्री हो तो कितने ही वैष्णवों का बुरा मुख अर्थात् शोभारहित क्यों दीखता है? ललाट में श्री और घर-घर भीख माँगते और सदावर्त्त लेकर पेट भरते क्यों फिरते हो? यह बात सिरड़ी और निर्लज्जों की है कि कपाल में श्री और महादरिद्रों के काम करते हैं।

इनमें एक 'परिकाल' नामक वैष्णव भक्त था। वह चोरी-डाका

मार, छल-कपट कर, पराया धन हर, वैष्णवों के पास धर प्रसन्न होता था। एक समय उसको चोरी में पदार्थ कोई नहीं मिला कि जिसको लूटे। व्याकुल होकर फिरता था। नारायण ने समझा कि हमारा भक्त दुःख पाता है। सेठजी का स्वरूप धर, अंगूठी आदि आभूषण पहिन, रथ में बैठ, सामने आये। तब तो परिकाल रथ के पास गया। सेठ से कहा सब वस्तु शीघ्र उतार दो, नहीं तो मार डालूंगा। उतारते-उतारते अंगूठी उतारने में देर लगी। परिकाल ने नारायण की अंगुली काट अंगूठी ले ली। नारायण बड़े प्रसन्न हो चतुर्भुज शरीर बना दर्शन दिया। कहा कि ''तू मेरा बड़ा प्रिय भक्त है, क्योंकि सब धन मार-लूट-चोरी कर वैष्णवों की सेवा करता है इसलिये तू धन्य है।'' फिर उसने जाकर वैष्णवों के पास सब गहने धर दिये।

एक समय परिकाल को कोई साहूकार नौकर कर जहाज में बैठाके देशान्तर में ले गया। वहाँ से जहाज में सुपारी भरी। परिकाल ने एक सुपारी तोड़ आधा टुकड़ा कर बनिये से कहा ''यह मेरी आधी सुपारी जहाज में धर दो और लिख दो कि जहाज में आधी सुपारी परिकाल की है।'' बनिये ने कहा कि ''चाहे तुम हजार सुपारी ले लेना।'' परिकाल ने कहा, ''नहीं। हम अधर्मी नहीं हैं, जो हम झूठ-मूठ लें। हमको तो आधी चाहिये।'' बनिया भोला था, लिख दिया। जब अपने देश में बन्दर पर जहाज आया, सुपारी उतारने की तैयारी हुई, तब परिकाल ने कहा ''हमारी आधी सुपारी दे दो।'' बनिया वही आधी सुपारी देने लगा। तब परिकाल झगड़ने लगा ''मेरी तो जहाज में आधी सुपारी है, आधा बांट लूंगा।'' राजपुरुषों तक झगड़ा गया। परिकाल ने बनिये का लेख दिखलाया कि इसने आधी सुपारी देनी लिखी है। बनिया बहुत-सा कहता रहा परन्तु उसने न माना। आधी सुपारी लेकर वैष्णवों के अर्पण करदी। तब तो वैष्णव बड़े प्रसन्न हुए। अबतक उस डाकू चोर परिकाल की मूर्त्ति मन्दिरों में रखते हैं। यह कथा भक्तमाल में लिखी है। बुद्धिमान् देख लें कि वैष्णव, उनके सेवक और नारायण तीनों चोरमण्डली हैं वा नहीं? यद्यपि मतमतान्तरों में कोई थोड़ा अच्छा भी होता है, तथापि उस मत में रहकर सर्वथा अच्छा नहीं हो सकता।

अब जैसा वैष्णवों में फूट-टूट भिन्न-भिन्न तिलक कण्ठी धारण करते हैं। रामानन्दी बगल में गोपीचन्दन बीच में लाल, नीमावत दोनों पतली रेखा बीच में काला बिन्दु, माधव काली रेखा और गौड़ बङ्गाली कटारी के तुल्य और रामप्रसादवाले दोनों चांदला रेखा के बीच में एक सफेद गोल टीका, इत्यादि इनका कथन विलक्षण-विलक्षण है। रामानन्दी लाल रेखा को लक्ष्मी का चिह्न, और नारायण के हृदय में श्री, कृष्णचन्द्रजी [के] हृदय में राधा विराजमान है, इत्यादि कथन करते हैं।

एक कथा भक्तमाल में लिखी है। कोई एक मनुष्य वृक्ष के नीचे सोता था। सोता-सोता मर गया। ऊपर से काक ने विष्ठा कर दी। वह ललाट पर तिलकाकार हो गई थी। वहां यम के दूत उसको लेने आये। इतने में विष्णु के दूत भी पहुँच गये। दोनों विवाद करते थे कि यह हमारे स्वामी की आज्ञा है, हम यमलोक में ले जायेंगे। विष्णु के दूतों ने कहा कि ''हमारे स्वामी की आज्ञा है वैकुण्ठ में ले जाने की। देखो! इसके ललाट में वैष्णवी तिलक है। तुम कैसे ले जाओगे?'' तब तो यम के दूत चुप होकर चले गये। विष्णु के दूत सुख से उसको वैकुण्ठ में ले गये। नारायण ने उसको वैकुण्ठ में रक्खा। देखो! जब अकस्मात् तिलक बन जाने का ऐसा माहात्म्य है तो जो अपनी प्रीति से हाथ से तिलक करते हैं, वे नरक से छूट वैकुण्ठ में जावें तो इसमें क्या आश्चर्य है!! हम पूछते हैं कि जब छोटे से तिलक के करने से वैकुण्ठ में जावें तो सब मुख के ऊपर लेपन करने वा कालामुख करने वा शरीर पर लेपन करने से वैकुण्ठ से आगे सिधार जाते हैं, वा नहीं? इससे ये बातें सब व्यर्थ हैं।

अब इनमें बहुत से खाखी लकड़े की लङ्गोली लगा धूनी तापते, जटा बढ़ाते, सिद्ध का वेश कर लेते हैं। बगुले के समान ध्यानावस्थित होते हैं। गांजा, भाँग, चरस के दम लगाते, लाल सुर्ख नेत्र कर रखते; सबसे चुटकी-चुटकी अन्न, पिसान, कौड़ी, पैसे माँगते, गृहस्थों के लड़कों को बहकाकर चेले बना लेते हैं। बहुत करके मजूर लोग उनमें होते हैं। कोई विद्या को पढ़ता हो तो उसको पढ़ने नहीं देते, कहते हैं कि—

पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्?

सन्तों को विद्या पढ़ने से क्या काम? क्योंकि विद्या पढ़नेवाले भी मर जाते हैं, फिर दन्त-कटाकट क्यों करना? साधुओं को चार धाम फिर आना, सन्तों की सेवा करनी, रामजी का भजन करना।

जो किसी ने मूर्ख, अविद्या की मूर्ति न देखी हो तो खाखीजी का दर्शन कर आवे। उनके पास जो कोई जाता है, उनको बच्चा-बच्ची कहते हैं, चाहे वे खाखीजी के बाप-मा के समान हों। जैसे खाखीजी हैं, वैसे ही रूँखड़-सूँखड़, गोदड़िये और जमातवाले सुतरेसाई और अकाली, कानफटे, जोगी, औघड़ आदि सब एक से हैं।

एक खाखी का चेला '**श्रीगणेशाय नमः**' घोखता-घोखता कुवे पर जल भरने को गया। वहाँ पण्डित बैठा था। वह '**स्त्रीगनेसाजनमें**' घोखता था, पण्डित जी बोले "अरे साधु! अशुद्ध घोखता है '**श्री गणेशाय नमः**' ऐसा घोख।" उसने झट लोटा भर गुरुजी के पास जा कहा कि "ए बम्मन मेरे घोखने को असुद्ध कहत है।" ऐसा सुनकर झट खाखीजी उठा, कूवे पर गया, पण्डित से कहा, 'तू मेरे चेले को बहकाता है? तूं गुरु की लंडी क्या पढ़ा है? देख तूं एक प्रकार का पाठ जानता है, हम तीन प्रकार का जानते हैं—'**स्त्रीगनेसाजन्नमें**' '**स्त्रीगनेसायन्नमें**' '**श्रीगनेसाय नमें।**''

पण्डित—सुनो साधुजी! विद्या की बात बहुत कठिन है, विना पढ़े नहीं आती।

खाखी—चल बे, सब विद्वान् को हमने रगड़ मारे, जो भांग में घोट एक दम सब उड़ा दिये। सन्तों का घर बड़ा है। तू बाबूड़ा क्या जाने?

पण्डित—देखो! जो तुमने विद्या पढ़ी होती तो ऐसे अपशब्द क्यों बोलते? सब प्रकार का तुमको ज्ञान होता।

खाखी—अबे! तू हमारा गुरू बनता है? तेरा उपदेश हम नहीं सुनते।

पण्डित—सुनो कहाँ से? बुद्धि ही नहीं है। उपदेश सुनने-समझने के लिये विद्या चाहिए।

खाखी—जो सब वेद-शास्त्र पढ़े, सन्तों को न माने तो जानो कि

वह कुछ भी नहीं पढ़ा।

पण्डित—हां, हम सन्तों की सेवा करते हैं परन्तु तुम्हारे से हुर्दङ्गों की नहीं करते। क्योंकि '**सन्त**' सज्जन, विद्वान्, धार्मिक, परोपकारी पुरुषों को कहते हैं।

खाखी—देख! हम रात दिन नंगे रहते, धूनी तापते, गांजा-चरस के सैकड़ों दम लगाते, तीन-तीन लोटा भांग पीते, गांजे-भांग-धतूरा की पत्ती की भाजी बना खाते, संखिया और अफीम भी चट निगल जाते, नशा में गर्क रात-दिन बे-ग़म रहते, दुनियाँ को कुछ नहीं समझते, भीख मांगकर टिक्कड़ बना खाते, रात भर ऐसी खांसी उठती, जो पास में सोवे उसको भी निद्रा कभी न आवे, इत्यादि सिद्धियाँ और साधूपन हम में है, फिर तू हमारी निन्दा क्यों करता? चेत बाबूड़े! जो हमको दिक्क करेगा, हम तुमको भसम कर डालेगा।

पण्डित—ये सब लक्षण असाधु, मूर्ख और गवर्गण्डों के हैं, साधुओं के नहीं। सुनो! '**साध्नोति पराणि धर्मकार्याणि स साधुः**' जो धर्मयुक्त उत्तम काम करे, सदा परोपकार में प्रवृत्त हो, कोई दुर्गुण जिसमें न हो, विद्वान्, सत्योपदेश से सबका उपकार करे, उसको '**साधु**' कहते हैं।

खाखी—चल बे! तू साधु के कर्म क्या जाने? सन्तों का घर बड़ा है। किसी सन्त से अटकना नहीं। नहीं तो देख! एक चीमटा उठाकर मारेगा, कपाल फुड़वा लेगा।

पण्डित—अच्छा खाखी! जाओ अपने आसन पर, हमसे बहुत गुस्से मत हो। जानते हो राज्य कैसा है? किसी को मारोगे तो पकड़े जाओगे, कारावास भोगोगे, बेंत खाओगे वा कोई तुमको भी मार बैठेगा, क्या करोगे? यह साधु का लक्षण नहीं।

खाखी—चल बे चेले! किस राक्षस का मुख दिखलाया।

पण्डित—तुमने कभी किसी महात्मा का सङ्ग नहीं किया है, नहीं तो ऐसे जड़ मूर्ख न रहते।

खाखी—हम आप ही महात्मा हैं। हमको किसी दूसरे की गर्ज नहीं।

पण्डित—जिनके भाग्य नष्ट होते हैं, उनकी तुम्हारी-सी बुद्धि और अभिमान होता है।

खाखी चला गया आसन पर, और पण्डित घर को। जब सन्ध्या आर्ती हो गई तब उस खाखी को बुड्ढा समझ बहुत से खाखी '**डण्डोत-डण्डोत**' कहते साष्टाङ्ग करके बैठे। उस खाखी ने पूछा, ''अबे रामदासिया! तू क्या पढ़ा है?''

रामदास—महाराज! मैंने '**वेस्नुसहसरनाम**' पढ़ा है।

खाखीजी—''अबे गोविन्ददासिये! तू क्या पढ़ा है?''

गोविन्ददास—मैं '**रामसतवराज**' पढ़ा हूँ, अमुक खाखीजी के पास से। तब रामदास बोला कि ''महाराज! आप क्या पढ़े हैं?''

खाखी—हम गीता पढ़े हैं?

रामदास—किसके पास?

खाखीजी—चल्बे छोकरे! हम किसी को गुरु नहीं करते। देख! हम '**परागराज**' में रहते थे। हमको अक्खर नहीं आता था। जब किसी लम्बी धोतीवाले पण्डित को देखता था तब गीता के गोटके में पूछता था कि इस कलङ्गीवाले अक्खर का क्या नाम है? ऐसे पूछता-पूछता अठारा अध्याय गीता रगड़ मारी। गुरू एक भी नहीं किया।

भला, ऐसे विद्या के शत्रुओं को अविद्या घर करके ठहरे नहीं, तो कहाँ जाये? ये लोग विना नशा, प्रमाद, लड़ना, खाना, सोना, झांझ पीटना, घण्टा-घड़ियाल-शंख बजाना, धूनी चिता रखनी, नहाना, धोना, सब दिशाओं में व्यर्थ घूमते फिरने के, अन्य कुछ भी अच्छा काम नहीं करते। जो कोई पत्थर को भी पिघला लेवे, परन्तु इन खाखियों के आत्माओं को बोध कराना कठिन है। क्योंकि बहुधा वे शूद्रवर्ण, मजूर, किसान, कहार आदि अपनी मजूरी छोड़, खाख रमा के वैरागी, खाखी आदि हो जाते हैं, उनको विद्या वा सत्सङ्ग आदि का माहात्म्य नहीं जान पड़ सकता। इनमें से नाथों का मन्त्र '**नमः शिवाय**'। खाखियों का '**नृसिंहाय नमः**'। रामावतों का '**श्रीरामचन्द्राय नमः**' अथवा '**सीतारामाभ्यां नमः**'। कृष्णोपासकों का '**श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः**' '**नमो भगवते वासुदेवाय**' और बङ्गालियों का '**गोविन्दाय नमः**'। इन मन्त्रों को कान में पढ़ने-मात्र से शिष्य कर लेते हैं और ऐसी-ऐसी शिक्षा करते हैं, बच्चे! तूम्बे का मन्त्र पढ़ ले—

जल पवितर सथल पवितर और पवितर कुआ।
शिव कहे सुन पार्वती तूम्बा पवितर हुआ॥

[ऊह्य—रामस्नेहधर्मप्रकाश ३९० तूं बामन्त्र, रामपटल पृ० ३]

भला, ऐसे की योग्यता साधु वा विद्वान् होने अथवा जगत् के उपकार करने की कभी हो सकती है? खाखी रात-दिन लक्कड़, छाने जलाया करते हैं। एक महीने में कई रुपये की लकड़ी फूँक देते हैं। जो एक महीने की लकड़ी के मूल्य से कम्बलादि वस्त्र लेलें तो शतांश धन से आनन्द में रहैं। उनको इतनी बुद्धि कहां से आवे? और अपना नाम उसी धूनी में तपने ही से तपस्वी धर रक्खा है। जो इस प्रकार तपस्वी हो सकें तो जङ्गली मनुष्य इनसे भी अधिक तपस्वी हो जावें। जो जटा बढ़ाने, राख लगाने, तिलक करने से तपस्वी हो जाये तो सब कोई कर सके। ये ऊपर के त्यागस्वरूप और भीतर के महासंग्रही होते हैं।

प्रश्न—कबीरपन्थी तो अच्छे हैं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्यों अच्छे नहीं? पाषाणादि मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हैं। कबीर साहब फूलों से उत्पन्न हुए और अन्त में भी फूल हो गये। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव का जन्म जब नहीं था, तब भी कबीर साहब थे। बड़े सिद्ध, जिस बात को वेद पुराण भी नहीं जान सकता, उसको कबीर जानता है। सच्चा रस्ता है, सो कबीर ही ने दिखलाया है। इनका मन्त्र '**सत्यनाम कबीर**' आदि है।

उत्तर—पाषाणादि को छोड़ पलङ्ग, गद्दी-तकिये, खड़ाऊँ, ज्योति अर्थात् दीप आदि का पूजना पाषाणमूर्त्ति [पूजने] से न्यून नहीं। क्या कबीर साहब भुनुगा था वा कलियाँ था, जो फूलों से उत्पन्न हुआ और अन्त में फूल हो गया?

यहाँ जो यह बात सुनी जाती है, वही सच्ची होगी कि कोई जुलाहा काशी में रहता था। उसके लड़का-बाला नहीं था। एक समय थोड़ी-सी रात्रि थी। एक गली में चला जाता था तो देखा सड़क के किनारे में एक टोकनी में फूलों के बीच में उसी रात का जन्मा बालक था। वह उसको उठा ले गया। अपनी स्त्री को दिया उसने पालन किया। जब

वह बड़ा हुआ तब जुलाहे का काम करता था। किसी पण्डित के पास संस्कृत पढ़ने के लिये गया। उसने उसका अपमान किया। कहा कि—"हम जुलाहे को नहीं पढ़ाते।" इसी प्रकार कई पण्डितों के पास फिरा परन्तु किसी ने न पढ़ाया। तब ऊटपटांग भाषा बनाकर जुलाहे आदि नीच लोगों को समझाने लगा। तंबूरे लेकर गाता था, भजन बनाता था। विशेष—पण्डित, शास्त्र, वेदों की निन्दा किया करता था। कुछ मूर्ख लोग उसके जाल में फस गये। जब मर गया, तब लोगों ने उसको सिद्ध बना लिया। जो-जो उसने जीते-जी बनाया था, उसको उसके चेले पढ़ते रहे। कान को मूंदके जो शब्द सुना जाता है उसको अनहत शब्द सिद्धान्त ठहराया। मन की वृत्ति को 'सुरति' कहते हैं। उसको उस शब्द सुनने में लगाना, उसी को सन्त और परमेश्वर का ध्यान बतलाते हैं। वहाँ काल नहीं पहुँचता। बर्छी के तुल्य तिलक और चन्दनादि लकड़े की कण्ठी बाँधते हैं। भला विचार देखो कि इसमें आत्मा की उन्नति और ज्ञान क्या बढ़ सकता है? यह मत लड़कों के खेल के तुल्य लीला है।

प्रश्न—पञ्जाब देश में 'नानकजी' ने एक मार्ग चलाया है। क्योंकि वे भी मूर्त्ति का खण्डन करते थे। मुसलमान होने से बचाये। वे साधु भी नहीं हुए, किन्तु गृहस्थ बने रहे। देखो! उन्होंने यह मन्त्र उपदेश किया है, इसी से विदित होता है कि उनका आशय अच्छा था—

ओं सत्यनाम कर्त्ता पुरुष निर्भो निर्वैर अकालमूर्त अजोनि सहभं गुरु प्रसाद जप, आदि सच, जुगादि सच, है भी सच, नानक होसी भी सच॥ [जपजी पौड़ी १]

(ओ३म्) जिसका सत्य नाम है, वह कर्त्ता, पुरुष, भय और वैररहित 'अकालमूर्त्ति' जो काल में और जोनि में नहीं आता, प्रकाशमान है, उसी का जप गुरु की कृपा से कर। वह परमात्मा आदि में सच था, जुगों की आदि में सच, वर्त्तमान में सच और होगा भी सच।

उत्तर—नानकजी का आशय तो अच्छा था, परन्तु विद्या कुछ भी नहीं थी। हां भाषा उस देश की जो कि ग्रामों की है, जानते थे। वेदादि शास्त्र और संस्कृत कुछ भी नहीं जानते थे। जो जानते होते तो 'निर्भय' शब्द को 'निर्भो' न लिखते और इसका दृष्टान्त उनका बनाया 'संस्कृती

स्तोत्र' है। चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी "पग अड़ाऊँ', परन्तु विना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है? हाँ, उन ग्रामीणों के सामने कि जिन्होंने संस्कृत कभी सुना भी नहीं था 'संस्कृती' बना कर संस्कृत के भी पण्डित बन गये होंगे। भला यह बात अपने मान, प्रतिष्ठा और अपनी प्रख्याति की इच्छा के विना कभी न करते। उनको अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा अवश्य थी, नहीं तो जैसी भाषा जानते थे, कहते रहते और यह भी कह देते कि मैं संस्कृत नहीं पढ़ा। जब कुछ अभिमान था तो मान-प्रतिष्ठा के लिये कुछ दम्भ भी किया होगा, इसीलिये उनके ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ वेदों की निन्दा और स्तुति भी है, क्योंकि जो ऐसा न करते तो उनसे भी कोई वेद का अर्थ पूछता, जब न आता तब प्रतिष्ठा नष्ट होती, इसलिये पहिले ही अपने शिष्यों के सामने कहीं-कहीं वेदों के विरुद्ध बोलते थे और कहीं-कहीं वेद के लिये अच्छा भी कहा है। क्योंकि जो कहीं अच्छा न कहते तो लोग उनको नास्तिक बनाते। जैसे—

वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानि।
सन्त की महिमा वेद न जानी।

[ऊह्य०—सुखमनी अष्टपदी ७, पद ८]

ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर॥ [ऊह्य०—सु० अष्ट० ८, पद ६]

क्या वेद पढ़नेवाले मर गये और नानकजी आदि अपने को अमर समझते थे? क्या वे नहीं मर गये? वेद तो सब विद्याओं का भण्डार है, परन्तु जो चारों वेदों को कहानी कहे, उसकी सब बातें कहानी हैं। जो मूर्खों का नाम सन्त होता है, वे बिचारे वेदों का महिमा कभी नहीं जान सकते। जो नानकजी वेदों ही का मान करते तो उनका सम्प्रदाय न चलता, न वे गुरु बन सकते थे, क्योंकि संस्कृत-विद्या तो पढ़े ही नहीं थे तो दूसरे को पढ़ाकर शिष्य कैसे बना सकते थे?

यह सच है कि जिस समय नानकजी पञ्जाब में हुए थे, उस समय पञ्जाब संस्कृत-विद्या से सर्वथा रहित, मुसलमानों से पीड़ित था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को बचाया। नानकजी के सामने कुछ उनका सम्प्रदाय वा बहुत से शिष्य नहीं हुए थे। क्योंकि अविद्वानों में यह चाल है कि मरे पीछे उनको सिद्ध बना लेते हैं, पश्चात् बहुत सा

माहात्म्य करके ईश्वर के समान मान लेते हैं।

हां, नानकजी बड़े धनाढ्य, रईस भी नहीं थे परन्तु उनके चेलों ने 'नानकचन्द्रोदय' और 'जन्मसाखी' आदि में बड़े सिद्ध और बड़े ऐश्वर्यवाले थे, लिखा है। नानकजी ब्रह्मा आदि से मिले, बड़ी बातचीत की, सबने इनका मान्य किया। नानकजी के विवाह में बहुत से घोड़े, रथ, हाथी सोने-चाँदी, मोती रत्नों से सजे हुए और अमूल्य रत्नों का पारावार न था, लिखा है। भला, ये गपोड़े नहीं तो क्या हैं? इसमें इनके चेलों का दोष है, नानकजी का नहीं।

दूसरा—उनके पीछे उनके लड़के से उदासी चले, और रामदास आदि से निर्मले। कितने ही गद्दीवालों ने भाषा बनाकर ग्रन्थ में रक्खी है। अर्थात् इनका गुरु गोविन्दसिंहजी दशमा हुआ। उनके पीछे उस ग्रन्थ में किसी की भाषा नहीं मिलाई गई किन्तु वहाँ तक के जितने छोटे-छोटे पुस्तक थे, उन सबको इकट्ठे करके जिल्द बँधवा दी। इन लोगों ने भी नानकजी के पीछे बहुत-सी भाषा बनाई। कितनों ही ने नाना प्रकार की पुराणों की मिथ्या कथा के तुल्य बना दिये। परन्तु 'ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर' बनके उस पर कर्म, उपासना छोड़कर इनके शिष्य झुकते आये, इसने बहुत बिगाड़ कर दिया। नहीं, जो नानकजी ने कुछ भक्ति-विशेष ईश्वर की लिखी थी उसे करते आते तो अच्छा था।

अब उदासी कहते हैं "हम बड़े", निर्मले कहते हैं "हम बड़े", अकाली तथा सुतरेसाई कहते हैं कि "सर्वोपरि हम हैं।"

इनमें गोविन्दसिंहजी शूरवीर हुए। जो मुसलमानों ने उनके पुरुषाओं को बहुत-सा दुःख दिया था, उनसे वैर लेना चाहते थे, परन्तु इनके पास कुछ सामग्री न थी और उधर मुसलमानों की बादशाही प्रज्वलित हो रही थी। इन्होंने एक पुरश्चरण करवाया। प्रसिद्धि की कि "मुझको देवी ने वर और खड्ग दिया है कि तुम मुसलमानों से लड़ो, तुम्हारा विजय होगा"। बहुत लोग उनके साथी हो गये और उन्होंने, जैसे वाममार्गियों ने 'पञ्च मकार', चक्राङ्कितों ने 'पञ्च संस्कार' चलाये थे, वैसे 'पञ्च ककार' अर्थात् इनके पञ्च ककार युद्ध के उपयोगी थे।

एक '**केश**' अर्थात् जिसके रखने से लड़ाई में लकड़ी और तलवार से कुछ बचावट हो।

दूसरा '**कंगण**' जो शिर के ऊपर पगड़ी में अकाली लोग रखते हैं और हाथ में '**कड़ा**' जिससे हाथ और शिर बच सकें।

तीसरा '**काछ**' अर्थात् जानु के ऊपर एक जांघिया कि जो दौड़ने, कूदने में अच्छा होता है। बहुत करके अखाड़मल्ल और नट भी इसको इसीलिये धारण करते हैं कि जिससे शरीर का मर्मस्थान ढका रहै और अटकाव न हो।

चौथा '**कंगा**' कि जिससे केश सुधरते हैं।

पाँचवाँ **काचू** कि जिससे शत्रु से भेंट-भड़क्का होने से लड़ाई में काम आवे।

इसीलिये यह रीति गोविन्दसिंहजी ने अपनी बुद्धिमत्ता से उस समय के लिये की थी। अब इस समय में उनका रखना कुछ उपयोगी नहीं है। परन्तु अब जो युद्ध के प्रयोजन के लिये बातें कर्त्तव्य थीं, उनको धर्म के साथ मान ली हैं।

मूर्त्तिपूजा तो नहीं करते परन्तु उससे विशेष ग्रन्थ की पूजा करते हैं, क्या यह मूर्त्तिपूजा नहीं है? किसी जड़ पदार्थ के सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करनी सब मूर्त्तिपूजा है। जैसे मूर्त्तिवालों ने अपनी दुकान जमाकर जीविका ठाड़ी की है, वैसे इन लोगों ने भी कर ली है। जैसे पूजारी लोग मूर्त्ति का दर्शन कराते, भेट चढ़वाते हैं, वैसे नानकपन्थी लोग ग्रन्थ की पूजा करते-कराते, भेंट भी चढ़वाते हैं। अर्थात् मूर्त्तिपूजावाले जितना वेद का मान्य करते हैं, उतना भी ये लोग ग्रन्थसाहबवाले नहीं करते। हां, यह कहा जा सकता है कि इन्होंने वेदों को न सुना न देखा, क्या करें? जो सुनने और देखने में आवें तो बुद्धिमान् लोग जो कि हठी-दुराग्रही नहीं हैं, सब सम्प्रदायवाले वेदमत में आ जाते हैं। परन्तु इन सबने भोजन का बखेड़ा बहुत-सा हटा दिया है। जैसे इसको हटाया, वैसे विषयासक्ति और दुरभिमान को भी हटाकर वेदमत की उन्नति करें तो बहुत अच्छी बात है।

प्रश्न—दादूपन्थी का मार्ग तो अच्छा है?

उत्तर—अच्छा तो वेदमार्ग है, जो पकड़ा जाय तो पकड़ो, नहीं तो

सदा गोते खाते रहोगे। इनके मत में दादूजी का जन्म गुजरात में हुआ था। पुन: जयपुर के पास 'आमेर' में रहते थे। तेली का काम करते थे। ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादूजी भी पुजाने लग गये। अब वेदादि शास्त्रों की सब बातें छोड़ कर 'दादूराम-दादूराम' में ही मुक्ति मानली है। जब सत्योपदेशक नहीं होता तब ऐसे-ऐसे ही बखेड़े चला करते हैं।

थोड़े दिन हुए कि एक 'रामस्नेही' मत शाहपुरे से चला है। वे सब वेदोक्त धर्म छोड़ 'राम-राम' पुकार रहे हैं। उसी में ज्ञान, ध्यान, मुक्ति मानते हैं। परन्तु जब भूख लगती है, तब 'रामनाम' में से रोटी नहीं निकलती, क्योंकि खानपान आदि तो गृहस्थों के घर ही में मिलते हैं। वे भी मूर्त्तिपूजा को धिक्कारते हैं परन्तु आप स्वयं मूर्त्ति बन रहे हैं। स्त्रियों के सङ्ग में बहुत रहते हैं, क्योंकि रामजी-रामकी के विना आनन्द ही नहीं मिल सकता।

अब थोड़ा-सा विशेष रामस्नेही के मत विषय में लिखते हैं—

एक 'रामचरण' नामक साधु हुआ है, जिसका मत मुख्यकर 'शाहपुरा' स्थान मेवाड़ से चला है। वे 'राम-राम' करने ही को परममन्त्र और इसी को सिद्धान्त मानते हैं। उनका एक ग्रन्थ कि जिसमें सन्तदासजी आदि की वाणी हैं, ऐसा लिखते हैं—

उनका वचन—

भरम रोग तब ही मिट्या, रट्या निरंजन राइ।
तब जम का कागज फट्या, कट्या करम तब जाइ॥ १॥

[ऊह्य—सुमरण को अङ्ग १७]

अब बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि 'राम-राम' करने से भ्रम जोकि अज्ञान है, वा यमराज का पापानुकूल शासन अथवा किये हुए कर्म कभी छूट सकते हैं, वा नहीं? यह केवल मनुष्यों को पापों में फसाना और मनुष्य जन्म को नष्ट कर देना है।

अब इनका जो मुख्य गुरु हुआ है 'रामचरण', उसका वचन—

महमा नांव प्रताप की, सुणौ सरवण चित लाइ।
रामचरण रसना रटौ, क्रम सकल झड़ जाइ॥ १॥
जिन जिन सुमिरया नांव कूं, सो सब उतरया पार।
रांमचरण जो बीसरया, सो ही जम के द्वार॥ २॥

रांम विना सब झूठ बतायो॥
रांम भजत छूट्या सब क्रम्मा। चंद अरु सूर देइ परकम्मा॥
रांम कहे तिन कूं भै नाहीं। तीन लोक में कीरतिं गाहीं॥
रांम रटत जम जोर न लागै॥
रांम नाम लिष पथर तराई। भगति हेति औतार ही धरही॥
ऊंच नीच कुल भेद बिचारै। सो तो जनम आपणो हारै॥
सन्तां कै कुल दीसै नाहीं। रांम रांम कह रांम सम्हांहीं॥
ऐसो कुण जो कीरति गावै। हरि हरिजन कौ पार न पावै॥
रांम संतां का अन्त न आवै। आप आपकी बुद्धि सम गावै॥

[ऊह्य—नामप्रताप]

इनका खण्डन—

प्रथम तो रामचरण आदि के ग्रन्थ देखने से विदित होता है कि यह ग्रामीण एक सादा सीधा मनुष्य था। न वह कुछ पढ़ा था, नहीं तो ऐसी गपड़चौथ क्यों लिखता? यह केवल इनको भ्रम है कि राम-राम कहने से कर्म छूट जाँय। केवल ये अपना और दूसरों का जन्म खोते हैं।

जम का भय तो बड़ा भारी है परन्तु राजसिपाही, चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प, बीछू और मच्छर आदि का भय कभी नहीं छूटता। चाहे रात-दिन राम-राम किया करे, कुछ भी नहीं होगा। जैसे सक्कर-सक्कर कहने से मुख मीठा नहीं होता, वैसे सत्यभाषणादि धर्म किये विना 'राम-राम' करने से कुछ भी नहीं होगा और यदि राम-राम करना इनका राम नहीं सुनता तो जन्म-भर कहने से भी नहीं सुनेगा और जो सुनता है तो दूसरी वार भी राम-राम कहना व्यर्थ है। इन लोगों ने अपना पेट भरने और दूसरों का भी जन्म नष्ट करने के लिये एक पाखण्ड खड़ा किया है। सो यह बड़ा आश्चर्य हम सुनते और देखते हैं कि नाम तो धरा 'रामस्नेही' और काम करते हैं 'राँडस्नेही का। जहाँ देखो वहाँ रांड ही रांड सन्तों को घेर रही हैं। यदि ऐसे-ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्य्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती? ये लोग अपने चेलों को जूंठ खिलाते, स्त्रियाँ भी लम्बी पड़के दण्डवत् प्रणाम करती हैं। एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की लीला होती रहती है।

अब दूसरी इनकी शाखा 'खेड़ापा' ग्राम मारवाड़ देश से चली है। उसका इतिहास—एक रामदास नामक जाति का ढेढ़ बड़ा चालाक था। उसके दो स्त्रियाँ थी। वह प्रथम बहुत दिन तक औघड़ होकर कुत्तों के साथ खाता रहा। पीछे वामी कूण्डापन्थी। पीछे 'रामदेव' का 'कामड़िया[1]' बना। अपनी दोनों स्त्रियों के साथ गाता था। ऐसे घूमता-घूमता 'सीथल[2]' में ढेढ़ों का गुरु 'रामदास' था, उससे मिला। उसने उसको 'रामदेव' का पन्थ बताके अपना चेला बनाया। उस रामदास ने खेड़ापा ग्राम में जगह बनाई और इसका इधर मत चला, उधर शाहपुरे में रामचरण का।

उसका भी इतिहास ऐसा सुना है कि वह जयपुर का बनिया था। उसने 'दांतड़ा' ग्राम में एक साधु से वेष लिया और उसको गुरु किया और शाहपुरे में आके टिक्की जमाई। भोले मनुष्यों में पाखण्ड की जड़ शीघ्र जम जाती है, जम गई। इन सबमें ऊपर के रामचरण के वचनों के प्रमाण से चेला करके ऊँच-नीच का कुछ भेद नहीं। ब्राह्मण से अन्त्यज पर्यन्त इनमें चेले बनते हैं। अब भी कूँडापन्थी से ही हैं, क्योंकि मिट्टी के कूँडों में ही खाते हैं और साधुओं की झूंठन खाते हैं, वेदधर्म से, माता, पिता, संसार के व्यवहार से बहकाकर छुड़ा देते और चेला बना लेते हैं और राम नाम को महामन्त्र मानते हैं; और इसी को 'छुच्छम[3]' वेद भी कहते हैं। राम-राम कहने से अनन्त जन्मों के पाप छूट जाते हैं, इसके विना मुक्ति किसी की नहीं होती।

जो श्वास और प्रश्वास के साथ राम-राम करना बतावे, उसको 'सत्यगुरु' कहते हैं और सत्यगुरु को परमेश्वर से भी बड़ा मानते हैं और उसकी मूर्त्ति का ध्यान करते हैं। साधुओं के चरण धोके पीते हैं। जब गुरु से चेला दूर जावे तो गुरु के नख और डाढ़ी के बाल अपने पास रख लेवे। उसका चरणामृत नित्य लेवे। रामदास और हररामदास

१. राजपूताने में ''चमार'' लोग भगवें वस्त्र रंग कर ''रामदेव'' आदि के गीत जिनको वे ''शब्द'' कहते हैं, चमारों और अन्य जातियों को सुनाते हैं, वे ''कामड़िये'' कहलाते हैं।

२. ''सीथल'' जोधपुर के राज्य में एक बड़ा ग्राम है।

३. छुच्छम अर्थात् सूक्ष्म

के वाणी के पुस्तक को वेद से अधिक मानते हैं। उसकी परिक्रमा और आठ दण्डवत् प्रणाम करते हैं और जो गुरु समीप हो तो गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर लेते हैं। स्त्री वा पुरुष को 'राम-राम' एक-सा ही उपदेश करते हैं, नामस्मरण से कल्याण मानते हैं, और पढ़ने में पाप समझते हैं। उनकी साखी—

पंडताइ पाने पड़ी, ओ पूरब लो पाप।
राम-राम सुमर्‍यां विना, रइग्यौ रीतो आप॥ १ ॥
वेद पुराण पढ़े पढ़ गीता, रांमभजन बिन रइ गए रीता॥

ऐसे-ऐसे पुस्तक बनाये हैं। स्त्री को पति की सेवा में पाप और गुरु-साधु की सेवा में धर्म बतलाते हैं। वर्णाश्रम को नहीं मानते। जो ब्राह्मण रामस्नेही न हो तो उसको नीच, और चाण्डाल रामस्नेही हो तो उसको उत्तम जानते हैं।

अब, ईश्वर का अवतार नहीं मानते और रामचरण का वचन जो ऊपर लिख आये कि—**भगति हेति औतार ही धरही॥**

सन्तों के हित अवतार को भी मानते हैं, इत्यादि पाखण्ड-प्रपञ्च इनका जितना है, सो सब आर्यावर्त्त देश का अहितकारक है। इतने ही से बुद्धिमान् बहुत-सा समझ लेंगे।

प्रश्न—गोकुलिये गुसाइयों का मत बहुत अच्छा है। देखो! कैसा ऐश्वर्य भोगते हैं। क्या यह ऐश्वर्य्य लीला के विना ऐसा हो सकता है?

उत्तर—यह ऐश्वर्य गृहस्थ लोगों का है, गुसाइयों का कुछ नहीं।

प्रश्न—वाह-वाह! गुसाइयों के प्रताप से है। क्योंकि ऐसा ऐश्वर्य दूसरों को क्यों नहीं मिलता?

उत्तर—दूसरे भी इसी प्रकार का छल-प्रपञ्च रचें तो ऐश्वर्य्य मिलने में क्या सन्देह है? और जो इनसे अधिक धूर्त्तता करे तो अधिक ऐश्वर्य्य भी हो सकता है।

प्रश्न—वाह वाह! धूर्त्तता क्या है? सब गोलोक की लीला है।

उत्तर—गोलोक की लीला नहीं किन्तु गुसाइयों की लीला है। जो गोलोक की लीला है तो गोलोक भी ऐसा ही होगा।

यह मत 'तैलङ्ग' देश से चला है। क्योंकि एक तैलङ्गी लक्ष्मणभट्ट

नामक ब्राह्मण विवाह कर किसी कारण से माता, पिता, स्त्री को छोड़ काशी में जाके उसने संन्यास ले लिया था और झूठ बोला था कि मेरा विवाह नहीं हुआ। दैवयोग से उसके माता, पिता और स्त्री ने सुना कि काशी में संन्यासी हो गया। उसके माता-पिता और स्त्री काशी में पहुँच कर जिसने उसको संन्यास दिया था, उससे कहा कि ''इसको संन्यासी क्यों किया? देखो! इसकी यह युवति स्त्री है।'' और स्त्री ने कहा कि ''यदि आप मेरे पति को मेरे साथ न करें तो मुझको भी संन्यास दे दीजिये।'' तब तो उसको बुलाके कहा कि तू बड़ा मिथ्यावादी है। संन्यास छोड़ गृहाश्रम कर; क्योंकि तूने झूठ बोलकर संन्यास लिया है।'' उसने वैसा ही किया। संन्यास छोड़ उसके साथ हो लिया।

देखो! इस मत का मूल ही झूठ-कपट से चला। जब तैलङ्ग देश में गये, उसको जाति में किसी ने न लिया। वहाँ से निकलकर घूमने लगे। 'चरणार्गढ' जो काशी के पास है, उसके पास 'चम्पारण्य' जङ्गल में चले जाते थे। वहाँ कोई एक लड़के को जङ्गल में छोड़ चारों ओर दूर-दूर आगी जलाकर चला गया था। क्योंकि छोड़नेवाले ने यह समझा था—जो आगी न जलाऊंगा तो अभी कोई जानवर मार डालेगा। लक्ष्मणभट्ट और उसकी स्त्री ने लड़के को लेकर अपना पुत्र बना लिया। फिर काशी में जा रहे। जब वह लड़का बड़ा हुआ तब उसके मा-बाप का शरीर छूट गया। काशी में बाल्यावस्था से युवावस्था तक कुछ पढ़ता भी रहा, फिर एक विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हो गया। वहाँ से कभी कुछ खटपट होने से काशी को चला गया और संन्यास ले लिया। फिर कोई वैसा ही जातिबहिष्कृत ब्राह्मण काशी में रहता था। उसकी लड़की युवति थी। उसने इससे कहा कि ''तू संन्यास छोड़ मेरी लड़की से विवाह कर ले।'' वैसा ही हुआ। जिसके बाप ने जैसी लीला की थी वैसी पुत्र क्यों न करे? उस स्त्री को लेकर वहीं चला गया कि जहाँ प्रथम विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हुआ था। विवाह करने से उनको वहाँ से निकाल दिया। फिर ब्रजदेश में कि जहाँ अविद्या ने घर कर रक्खा है, जाकर, अपना प्रपञ्च अनेक प्रकार की छल-युक्तियों से फैलाने लगा और कहने लगा कि मुझसे कृष्ण ने कहा है कि ''जो

गोलोक से 'दैवीजीव' मर्त्यलोक में आये हैं, उनको ब्रह्मसम्बन्ध आदि से पवित्र करके गोलोक में भेजो।'' इत्यादि प्रलोभन की बातें कह के थोड़े से लोगों को अर्थात् ८४ चौरासी वैष्णव बनाये और —

श्रीकृष्णः शरणं मम॥ १॥

दूसरा—**क्लीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा॥ २॥**

[गोपालसहस्रनाम तथा पद्मपुराण (६) उत्तर खण्ड ७२।१२२]

ये दोनों साधारण मन्त्र हैं, परन्तु यह निम्नोक्त ब्रह्मसम्बन्ध और समर्पण का मन्त्र कहाता है—

श्रीकृष्णः शरणं मम सहस्त्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराण्यात्मना सह समर्प्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि॥

इस मन्त्र का उपदेश करके शिष्यों को समर्पण कराते हैं। '**क्लीं कृष्णायेति**'—यह '**क्लीं**' तन्त्र ग्रन्थ का है। इससे विदित होता है कि यह वल्लभमत भी वाममार्गियों का भेद है। इसी से स्त्री सङ्ग गुसाईं लोग बहुत करते हैं। '**गोपीवल्लभेति**'—क्या कृष्ण गोपियों ही को प्रिय थे, अन्य को नहीं? स्त्रियों को प्रिय वह होता है जो '**स्त्रैण**' अर्थात् स्त्रीभोग में फसा हो। क्या कृष्ण ऐसे थे?

अब '**सहस्त्रपरिवत्सरेति**'—सहस्त्र वर्षों की गणना व्यर्थ है, क्योंकि वल्लभ और उसके शिष्य सर्वज्ञ नहीं हैं। कृष्ण का वियोग सहस्त्रों वर्षों से हुआ और आज लों अर्थात् जब लों वल्लभ का मत न था, न वल्लभ जन्मा था, उसके पूर्व अपने दैवी जीवों के उद्धार करने को क्यों न आया?

'ताप' और 'क्लेश' पर्यायवाची हैं। इनमें से एक का ग्रहण करना उचित था, दो का नहीं। 'अनन्त' शब्द का पाठ करना व्यर्थ है, क्योंकि जो 'अनन्त' शब्द है तो 'सहस्त्र' का पाठ न करना चाहिये। और जो सहस्त्र शब्द का पाठ रक्खो तो अनन्त शब्द का पाठ रखना सर्वथा व्यर्थ है। और जो अनन्तकाल लों 'तिरोहित' अर्थात् आच्छादित रहै, उसकी मुक्ति के लिये वल्लभ का होना व्यर्थ है, क्योंकि अनन्त का अन्त नहीं होता।

भला! देहेन्द्रिय, प्राणान्तःकरण और उसके धर्म स्त्री, स्थान, पुत्र,

प्राप्त-धन का अर्पण कृष्ण को क्यों करना? क्योंकि कृष्ण पूर्णकाम होने से किसी के देहादि की इच्छा नहीं कर सकते और देहादि का अर्पण करना भी नहीं हो सकता, क्योंकि देह के अर्पण से नखशिखाग्रपर्यन्त देह कहाता है। उनमें जो कुछ अच्छी-बुरी वस्तु है, मल-मूत्रादि का भी अर्पण कैसे कर सकोगे? और जो पाप-पुण्यरूप कर्म होते हैं, उनको कृष्णार्पण करने से उनका फलभागी भी कृष्ण ही होवे अर्थात् नाम तो कृष्ण का लेते हैं और अर्पण अपने से कराते हैं। जो कुछ शरीर में मलमूत्रादि होता है, वह भी गोसाईंजी के अर्पण क्यों नहीं होता? '**क्या मीठा-मीठा गड़प्प और कड़ुवा कड़ुवा थू**'? और यह भी लिखा है कि गोसाईंजी के अर्पण करना, अन्य मत वाले के नहीं। यह सब स्वार्थ-सिन्धुपन और पराये धनादि पदार्थ हरने, वेदोक्त धर्म-नाश करने की लीला है। देखो! यह वल्लभ की लीला—

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन॥ ३॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्ज्जनमाचरेत्॥ ४॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्प्पणम्॥ ५॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्प्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति॥ ७॥
तथा कार्य्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
गङ्गात्वे गुणदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम्॥ ८॥

ये श्लोक गोसाइयों के '**सिद्धान्तरहस्यादि**' ग्रन्थों में लिखे हैं।

यही गोसाईं के मत का मूल तत्त्व है। भला, कोई पूछे कि श्रीकृष्ण के देहान्त हुए कुछ कम पाँच सहस्र वर्ष बीते। वह वल्लभ को श्रावण मास की आधी रात को कैसे मिल सके?॥ १॥

जो गोसाईं का चेला होता है और उसको सब पदार्थों का समर्पण करता है, उसके शरीर और जीव के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है। यही वल्लभ का प्रपञ्च मूर्खों को बहकाकर अपने मत में लाने का है। जो गोसाईं के चेले-चेलियों के सब दोष निवृत्त हो जावें तो रोग-दारिद्र्यादि से पीड़ित क्यों रहैं? और वे दोष पाँच प्रकार के होते हैं॥ २॥

एक—सहजदोष अर्थात् जो 'स्वाभाविक' काम-क्रोधादि से उत्पन्न होते हैं। **दूसरे**—किसी देश, काल में नाना प्रकार के पाप किये जायें।

तीसरे—लोक में जिनको भक्ष्याभक्ष्य कहते और वेदोक्त जोकि मिथ्याभाषणादि हैं।

चौथे—'संयोगज' जो बुरे सङ्ग अर्थात् चोरी, जारी, माता, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू, गुरुपत्नी आदि से संयोग करना।

पाँचवें—'स्पर्शज' अस्पर्शनीयों को स्पर्श करना। इन पाँच दोषों को गोसाइयों के मतवाले कभी न मानें अर्थात् यथेष्टाचार करें॥ ३॥

'अन्य कोई प्रकार दोषों की निवृत्ति के लिए नहीं हैं, विना गोसाईं के मत के। इसलिए विना समर्पण किये पदार्थ को गोसाइयों के चेले न भोगें।' इसीलिये इनके चेले अपनी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू और धनादि पदार्थों को भी समर्पित करते हैं। परन्तु समर्पण का नियम यह है कि जब लों गोसाईं जी की चरणसेवा में समर्पित न हो, तब लों उसका स्वामी स्वस्त्री का स्पर्श न करे॥ ४॥

इससे गोसाइयों के चेले समर्पण करके अपना-अपना भोग करें, क्योंकि स्वामी के भोग के पश्चात् समर्पण नहीं हो सकता॥ ५॥

इससे प्रथम सब कामों में सब वस्तुओं का समर्पण करें। प्रथम गोसाईंजी को भार्यादि समर्पण करके पश्चात् ग्रहण करें, वैसे ही हरि के सम्पूर्ण पदार्थ समर्पण करके ग्रहण करें॥ ६॥

गोसाईं के मत से भिन्न-मार्ग के वाक्य को गोसाईं के शिष्य कभी न सुनें, न ग्रहण करें, यही उनके शिष्यों का व्यवहार प्रसिद्ध है॥ ७॥

वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सबके बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। उसके पश्चात् जैसे गङ्गा में अन्य जल मिलकर गङ्गारूप हो जाते हैं, वैसे ही अपने मत में गुण और दूसरे मत में दोष का वर्णन किया करें॥ ८॥

अब लीजिए कि गोसाइयों का मत सब मतों से अधिक अपना प्रयोजन सिद्ध करनेहारा है। भला इन गोसाइयों को पूछे कि ब्रह्म का एक लक्षण भी तुम नहीं जानते तो शिष्यों का ब्रह्मसम्बन्ध कैसे कर सकोगे? जो कहो कि हम ही ब्रह्म हैं, हमारे साथ सम्बन्ध होने से ब्रह्मसम्बन्ध होता है। तो तुम में ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव एक भी नहीं है, पुनः क्या तुम केवल भोग-विलास के लिए ब्रह्म बने हो?

भला, शिष्य और शिष्याओं को तो तुम अपने साथ समर्पित करके शुद्ध करते हो और तुम और तुम्हारी भार्या, कन्या, पुत्रवधू तथा पुत्रादि असमर्पित रहने से अशुद्ध रह गये वा नहीं? जो असमर्पित वस्तु को अशुद्ध मानते हो तो तुम अशुद्ध क्यों नहीं? इसलिये तुम और तुम्हारी भार्या और पुत्रादि अन्य के साथ समर्पित होना चाहिये वा नहीं? जो कहो कि नहीं तो अन्य को अपने साथ समर्पित क्यों करते हो? इसलिये तुमको उचित है कि वेदमत को मानो और मिथ्या प्रपञ्चादि बुराइयों को छोड़ो, जिससे इस लोक और परलोक की शुद्धि होकर आनन्द पाओ।

ये अपने सम्प्रदाय को 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं अर्थात् खाना-पीना, पुष्ट होना, सब स्त्रियों से यथेष्ट भोग-विलास करना। परन्तु जब भगन्दरादि रोग हो जाते हैं तो यही मत साक्षात् नरक मार्ग हो जाता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे-ऐसे पशुवत् क्रीडा करने वालों का भी मत संसार में चल जाता है। कहाँ तक लिखें इनकी सब लीला ऐसी ही शास्त्रविरुद्ध पापवर्द्धक है।

इसी प्रकार मिथ्याजाल रच के बिचारे भोले मनुष्यों को जाल में फसाया और अपने आपको श्रीकृष्ण मानकर सबके स्वामी मानते हैं। यह कहते हैं कि "जितने दैवी जीव गोलोक से आये हैं, उनके उद्धार करने के लिए हम लीला पुरुषोत्तम जन्मे हैं। जब तक हमारा उपदेश न

ले तब तक गोलोक की प्राप्ति नहीं होती। वहाँ एक श्रीकृष्ण पुरुष और सब स्त्रियाँ हैं।"

वाह जी वाह! अच्छा मत है!! गोसाइयों के जितने चेले हैं, वे सब गोपियाँ बन जावेंगी। भला जिस एक पुरुष की दो स्त्री हैं, उसकी बड़ी दुर्दशा होती है तो जहाँ एक पुरुष और क्रोड़ों स्त्री एक के पीछे लगी हैं, उसके दुःख का पार नहीं। जो कहो कि श्रीकृष्ण में बड़ा सामर्थ्य है, सबको प्रसन्न करते हैं तो जो उसकी स्त्री जिसको स्वामिनीजी कहते हैं, उसमें भी श्रीकृष्ण के तुल्य सामर्थ्य होगा क्योंकि वह उनकी अर्द्धांगी है। जैसे यहाँ स्त्री पुरुष की कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुष से स्त्री की अधिक होती है तो गोलोक में क्यों नहीं? जब ऐसा है तो अन्य स्त्रियों और स्वामिनीजी की अत्यन्त लड़ाई भी होती होगी, क्योंकि सपत्नीभाव बहुत बुरा होता है। पुनः गोलोक स्वर्ग के बदले नरकवत् हो गया होगा। अथवा जैसे बहुत स्त्रीगामी पुरुष भगन्दरादि रोगों से पीडित रहता है, वैसा गोलोक में भी होगा। ऐसे गोलोक से मर्त्यलोक ही अच्छा है।

देखो! जैसे यहाँ गोसाईं लोग अपने को कृष्ण मानते हैं, बहुत स्त्रियों के संग से भगन्दर प्रमेहादि रोगों से पीडित हैं तो अब जिनका स्वरूप 'गोसाईं' पीडित होते हैं तो गोलोक का स्वामी श्रीकृष्ण इन रोगों से पीडित क्यों नहीं होगा? और जो नहीं है तो उनका स्वरूप गोसाईं पीडित क्यों होते हैं?

प्रश्न—मर्त्यलोक में लीलावतार धारण करने से रोग-दोष होता है, गोलोक में नहीं, क्योंकि वहाँ रोग-दोष नहीं।

उत्तर—'**भोगे रोगभयम्**' [भर्तृहरि वैराग्यशतक, श्लोक ३३] जहाँ भोग है, वहाँ रोग अवश्य होता है। और श्रीकृष्ण के क्रोड़ान्-क्रोड़ स्त्रियों से सन्तान होते हैं, वा नहीं? जो होते हैं तो लड़के-लड़के होते हैं वा लड़की-लड़की? अथवा दोनों? जो लड़कियां होती हैं तो उनका विवाह किनके साथ होता होगा? क्योंकि वहाँ दूसरा कोई पुरुष नहीं। जो दूसरा है तो तुम्हारी प्रतिज्ञा-हानि हुई और लड़कों का विवाह कहाँ होता है? अथवा घर ही में वर्त लेते हैं? अन्य के लड़के हैं तो भी

तुम्हारी प्रतिज्ञा '**गोलोक में एक ही श्रीकृष्ण पुरुष**' नष्ट हो जाएगी और जो सन्तान होते ही नहीं तो कृष्ण अथवा उनकी स्त्रियों के शरीर में वीर्यहीनता वा बन्ध्यापन दोष होगा। यह गोलोक क्या है, जानो दिल्ली के बादशाह की बीबियों की सेना!

और गुसाईं लोग तन-मन धन अपने अर्पण शिष्यशिष्याओं का करा लेते हैं। जो शरीर है वह विवाहित स्त्री और पति के समर्पण हो जाता है और मन भी फिर दूसरे पुरुष के समर्पण नहीं हो सकता, जो हो सकता है तो वह स्त्री दो पति वाली होकर व्यभिचारिणी कहावेगी। और जो नखशिखाग्रशरीर गुसाईंजी के अर्पण है तो उसमें उत्पन्न हुये धातु, मल, मूत्रादि भी गुसाईंजी के अर्पित हो चुके और धन का अर्पण इसलिये कराते हैं कि कमावें चेले और भोगें गुसांई। जितने गुसाईं हैं, वे अब तक तैलङ्ग की जाति में नहीं हैं। जो कोई इनको लड़की देता है, वह भी जातिबाह्य होकर भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि ये जाति से पतित किए गये और विद्याहीन रात-दिन प्रमाद में रहते हैं।

और देखो! जब कोई उनकी पधरावनी करता है तब जाकर चुपचाप काठ की पुतली-सा बैठा रहता है, न कुछ बोलता न चालता। क्योंकि बोले तो तब जो मूर्ख न हो। '**मूर्खाणां बलं मौनम्**' मूर्खों का बल मौन में है। जो बोले तो उसकी पोल निकल जाय, परन्तु स्त्रियों की ओर खूब ताकता रहता है जिसकी ओर गुसाईंजी देखें वह स्त्री, उसके पति, भाई, बन्धु, माता, पिता बड़े प्रसन्न होते हैं। सब स्त्रियाँ पग छूती हैं। जिस पर गुसाईं का मन लगे उसका हाथ पग के अँगूठे से दाब देता है। वह स्त्री और उसके सम्बन्धी अपना धन्य भाग्य समझते हैं उसके पति आदि उस स्त्री से कहते हैं कि तू गुसाईंजी की चरणसेवा में जा। और जहाँ कहीं उसके पति आदि प्रसन्न नहीं होते, वहाँ दूती और कुटनियों से काम सिद्ध करते हैं। सच पूछो तो ऐसे काम करने-करानेवाले उनके मन्दिर और उनके पास भडुवापन करनेवाले बहुत हैं।

अब इनकी दक्षिणा की लीला अर्थात् इस प्रकार माँगते हैं, भेट गुसाईंजी की, बहूजी की, लालजी की, बेटीजी की, मुखिया बाहरियाजी की, गवैयाजी की, ठाकुरजी की भेट लाओ, इन सात दुकानों से खूब

माल मारते हैं। जब कोई उनका सेवक मरने लगता है तब उसकी छाती में पग छुवा, जो कुछ मिलता है, गुसाईंजी ले लेते हैं। क्या यह महाब्राह्मण, कर्टिया का, मुर्दावली का दान नहीं है? कोई-कोई विवाह में भी गुसाईंजी को बुलाते हैं और लड़का-लड़की का पाणिग्रहण कराते हैं, कोई-कोई सेवक जब '**केशरिया स्नान**' अर्थात् गुसाईंजी के शरीर पर स्त्री-लोग केशर का उबटना करके एक बड़े पात्र में पट्टा डालके गुसाईंजी को स्त्री-पुरुष स्नान कराते हैं परन्तु विशेष स्त्री स्नान कराती हैं। पुन: जब गुसाईंजी पीताम्बर पहिर, खड़ाऊँ पर पग धर बाहर निकल आते हैं और धोती उसी में पटक देते हैं। उस जल का आचमन उसके सेवक करते हैं और अच्छे मसालेदार पान-बीड़ी गुसाईंजी को देते हैं। वह चाबकर कुछ निगल जाते हैं, शेष एक चाँदी के कटोरे में जिसको उनका सेवक मुख के आगे कर देता है उसमें पीक उगल देते हैं। उसकी भी प्रसादी बटती है जिसको '**खास प्रसादी**' कहते हैं।

अब विचारिये कि ये लोग किस प्रकार के मनुष्य हैं? जो मूढ़ता और अनाचार होगा तो इतना ही होगा! बहुत से समर्पण लेते हैं। उनमें से कितने ही वैष्णवों के हाथ का खाते हैं, अन्य का नहीं। कितने अपने ही हाथ का बनाया खाते हैं, लकड़े तक को धो लेते हैं परन्तु आटा, गुड़, चीनी, घी आदि धोये विना उनका अस्पर्श बिगड़ जाता है। क्या करें बिचारे! जो इनको धोवें तो पदार्थ ही हाथ से खोवें। वे कहते हैं कि हम ठाकुरजी के रङ्ग, राग, भोग में बहुत सा धन लगा देते हैं। रङ्ग, राग, भोग आप करते हैं और सच पूछो तो बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं अर्थात् होली के समय पिचकारियाँ भरकर स्त्रियों के अस्पर्शनीय अवयवों पर मारते हैं और रसविक्रय ब्राह्मण के लिये निषिद्ध है, सो भी करते हैं।

प्रश्न—गुसाईंजी रोटी, दाल, कढ़ी, भात, मठरी, लड्डू आदि को प्रत्यक्ष हाट में बैठ के तो नहीं बेचते, किन्तु अपने नौकर-चाकरों को पत्तल बाँट देते हैं, वे लोग बेचते हैं, गुसाईंजी नहीं।

उत्तर—जो गोसाईंजी उनको मासिक रुपये दें तो वे पत्तल क्यों लेवें? गुसाईंजी अपने नौकरों के हाथ दाल-भात आदि नौकरी के बदले बेचते और वे बाहर बेचते हैं। जो गुसाईंजी बाहर बेचते तो नौकर जो

ब्राह्मणादि हैं, वे तो रसविक्रय दोष से बचते, अकेले गुसाईंजी ही रसविक्रय के पाप में फसते। प्रथम आप फसे और अन्यों को फसा दिये। कहीं-कहीं नाथद्वारे आदि में गुसाईंजी भी बेचते हैं। रसविक्रय करना नीचों का काम है, उत्तमों का नहीं। ऐसे-ऐसे लोगों ने आर्य्यावर्त्त की अधोगति कर दी।

प्रश्न—''स्वामीनारायण'' का मत कैसा है?

उत्तर—'यादृशी शीतला देवी, तादृशो वाहनः खरः' जैसी धनहरणादि में गुसाईं लीला है, वैसी ही स्वामीनारायण की भी है।

जो 'सहजानन्द' अयोध्या के पास एक ग्राम का जन्मा हुआ था, वह ब्रह्मचारी होकर गुजरात, काठियावाड़, कच्छभुज आदि में फिरता था। उसने देखा कि यह देश मूर्ख और भोला है, चाहें वैसे इनको मत में झुका लेंवे। उसने दो चार शिष्य बनाये। उन ने आपस में सम्मति कर प्रसिद्ध किया कि सहजानन्द नारायण का अवतार बड़ा सिद्ध है और चतुर्भुज होकर दर्शन भी देता है।

एक वार काठियावाड़ में किसी 'काठी' अर्थात् जिसका नाम 'दादाखाचर' था, गढड़े का भूमिया (जिमीदार) था। उसको शिष्यों ने कहा कि ''तुम चतुर्भुज नारायण का दर्शन करना चाहो तो हम सहजानन्दजी से प्रार्थना करें?'' उसने कहा—''बहुत अच्छी बात है।'' वह भोला आदमी था। एक कोठरी में सहजाननद मुकुट धारणकर शंख-चक्र अपने हाथ में ऊपर को धारण किया और एक दूसरा आदमी उसके पीछे खड़ा रहकर गदा-पद्म अपने हाथ में लेकर सहजानन्द की बगल में से आगे को हाथ निकाल चतुर्भुज के तुल्य बन-ठन गये। दादाखाचर से उनके चेलों ने कहा कि ''एक वार आँख उठा, देखके आँख मींच लेना और झट इधर को चले आना। जो बहुत देखोगे तो नारायण कोप करेंगे।'' अर्थात् चेलों के मन में तो यह था कि हमारे कपट की परीक्षा न कर लेवे। उसको ले गये। वह सहजानन्द कलाबत्तू और चलकते हुए रेशमी कपड़े धारण कर रहा था, अंधेरी कोठरी में खड़ा था, उसके चेलों ने एक दम लालटेन से कोठरी की ओर उजाला किया। दादाखाचर ने देखा तो चतुर्भुज मूर्त्ति देखी, फिर झट दीपक को

आड़ में कर दिया। वे सब नीचे गिर, नमस्कार कर दूसरी ओर चले आये और उसी समय बीच में बातें कीं ''तुम्हारा धन्य भाग्य है। अब तुम महाराज के चेले हो जाओ''। उसने कहा—''बहुत अच्छी बात।'' जब तक फिर के दूसरे स्थान में गये तो वस्त्र बदल के सहजानन्द गद्दी पर बैठा था। तब चेलों ने कहा कि ''देखो! अब दूसरा स्वरूप धारण करके यहाँ बैठे हैं।''

वह दादाखाचर इनके जाल में फस गया। वहीं से उनके मत की जड़ जम गई क्योंकि वह एक बड़ा भूमिया था। वहीं अपनी जड़ जमा ली। पुनः इधर-उधर घूमता रहा, सबको उपदेश करता था, बहुतों को साधु भी बनाता था। कभी-कभी साधु की कण्ठ की नाड़ी को मलकर मूर्छित भी कर देता था और सबसे कहता था कि हमने इनको समाधि चढ़ा दी है। ऐसी-ऐसी धूर्त्तता में काठियावाड़ के भोले लोग उसके पेच में फस गये। जब वह मर गया तब उसके चेलों ने बहुत-सा पाखण्ड फैलाया।

इसमें यह दृष्टान्त उचित होगा कि जैसे कोई एक चोरी करता पकड़ा गया था। न्यायाधीश ने उसका नाक काट डालने का दण्ड किया। जब उसकी नाक काटी गई तब वह धूर्त्त नाचने, गाने और हँसने लगा। लोगों ने पूछा कि ''तू क्यों हँसता है।'' उसने कहा—''कुछ कहने की बात नहीं है।'' लोगों ने पूछा, ''ऐसी कौनसी बात है?'' उसने कहा—''बड़ी भारी आश्चर्य की बात है, हमने ऐसी कभी नहीं देखी!'' लोगों ने कहा—''कह! क्या बात है?'' उसने कहा कि ''मेरे सामने साक्षात् चतुर्भुज नारायण खड़े हैं। मैं देखकर बड़ा प्रसन्न होकर नाचता-गाता अपने भाग्य को धन्यवाद देता हूं कि मैं नारायण का साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ।'' लोगों ने कहा—''हमको दर्शन क्यों नहीं होता?'' वह बोला—''नाक की आड़ हो रही है। जो नाक कटवालो तो नारायण दीखे, नहीं तो नहीं।'' उनमें से किसी मूर्ख ने चाहा कि नाक जाय तो जाय परन्तु नारायण का दर्शन अवश्य करना चाहिये। उसने कहा कि ''मेरी भी नाक काटो, नारायण को दिखलाओ।'' उसने उसका नाक काटकर कान में कहा कि ''तू भी ऐसा ही कर, नहीं तो मेरा और तेरा उपहास

होगा।'' उसने भी समझा कि अब नाक आती नहीं, ऐसा ही करना ठीक है, वह भी वैसे ही नाचने, कूदने, गाने, हँसने और कहने लगा कि ''मुझको भी नारायण दीखता है।'' वैसे होते-होते एक सहस्र मनुष्यों का झुण्ड होगया, बड़ा कोलाहल हुआ, अपने सम्प्रदाय का नाम 'नारायणदर्शी' रक्खा। किसी मूर्ख राजा ने सुना उनको बुलाया। जब राजा उनके पास गया तब वे बहुत नाचने, कूदने, हँसने लगे। तब राजा ने पूछा कि ''यह क्या बात है।'' उन्होंने कहा कि ''साक्षात् नारायण हमको दीखता है।''

राजा—हमको क्यों नहीं दीखता?

नारायणदर्शी—जब तक नाक है तब तक नहीं दीखेगा और जब नाक कटवा लोगे, नारायण प्रत्यक्ष दीखेंगे। राजा ने विचारा ठीक है। ज्योतिषीजी! मुहूर्त्त देखिये। ''जो हुकम! दशमी के दिन प्रातःकाल आठ बजे तक नाक कटवाने और नारायण के दर्शन करने का बड़ा मुहूर्त्त है।''

वाह रे पोप जी! अपनी पोथी में नाक काटने-कटवाने का भी मुहूर्त्त लिख दिया।

जब राजा की इच्छा हुई और उन सहस्र के सीधे बाँध दिये तब तो वे बड़े ही प्रसन्न होकर नाचने, कूदने गाने लगे। यह बात राजा के दीवान आदि कुछ-कुछ बुद्धिवालों को अच्छी न लगी। राजा के एक चार पीढ़ी का बूढा ९० वर्ष का दीवान था। उसको जाकर उसके अपने परपोते ने, जो कि उस समय दीवान था, वह बात सुनाई। तब उस वृद्ध ने कहा कि ''वे धूर्त्त हैं। तू मुझको राजा के पास ले चल।'' वह ले गया। बैठते समय राजा ने बड़े हर्षित होके उन नाककटों की बातें सुनाईं। दीवान ने कहा कि ''सुनिये महाराज! ऐसी शीघ्रता न करनी चाहिये। विना परीक्षा किये पश्चात्ताप होता है।''

राजा—क्या ये सहस्र पुरुष झूठ बोलते होंगे?

दीवान—झूठ बोलो वा सच, विना परीक्षा के सच-झूठ कैसे कह सकते हैं?

राजा—परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिये?

दीवान—विद्या, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

राजा—जो पढ़ा न हो, वह परीक्षा कैसे करे?

दीवान—विद्वानों के सङ्ग से ज्ञान की वृद्धि करके।

राजा—जो विद्वान् न मिले तो?

दीवान—पुरुषार्थी को कोई बात दुर्लभ नहीं है।

राजा—तो आप कहिये, कैसा किया जाय?

दीवान—मैं बुड्ढा और घर में बैठा रहता हूँ थोड़े दिन जीवोंगा। मैं प्रथम परीक्षा कर लेऊँ, तत्पश्चात् जैसा उचित समझें वैसा कीजियेगा।

राजा—बहुत अच्छी बात है। ज्योतिषीजी! दीवान का मुहूर्त्त देखो।

ज्योतिषी—जो महाराज की आज्ञा। यही शुक्ल पञ्चमी १० बजे का मुहूर्त्त अच्छा है। जब पञ्चमी आई तब राजाजी के पास आ आठ बजे बुड्ढे दीवान ने राजा से कहा कि ''सहस्र दो सहस्र सेना लेके चलना चाहिये।''

राजा—वहाँ सेना का क्या काम है?

दीवान—आपको राज्यव्यवहार की जानकारी नहीं है। जैसा मैं कहता हूँ, वैसा कीजिये।

राजा—अच्छा, जाओ भाई! सेना को तैयार करो। साढ़े नौ बजे सवारी करके राजा सबको लेकर गया। उनको देखकर वे नाचने, गाने लगे। जाकर बैठे। उनके महन्त जिसने यह सम्प्रदाय चलाया था, जिसकी प्रथम नाक कटी थी, उसको बुलाकर कहा कि ''आज हमारे दीवानजी को नारायण का दर्शन कराओ।'' उसने कहा—''अच्छा।''

दश बजे का समय आया तब एक थाली मनुष्य ने नाक के नीचे पकड़ रक्खी। उसने पैना चक्कू ले नाक काट थाली में फेंक दी और रुधिर गिरने लगा। दीवानजी का मुख बिगड़ गया। उस धूर्त्त ने दीवानजी के कान में मन्त्रोपदेश किया कि ''आप भी हँसकर सबसे कहिये कि मुझको नारायण दीखता है। नाक कटा हुआ नहीं आवेगा। जो ऐसा न कहोगे तो तुम्हारा बहुत-सा ठट्ठा होगा।'' वह कह कर अलग हुआ। दीवानजी ने अंगोछा हाथ में ले नाक की आड़ में लगा दिया। जब दीवानजी से राजा ने पूछा ''कहिये! नारायण दीखता है वा नहीं?

दीवान ने राजा जी के कान में कहा ''कुछ भी नहीं दीखता, वृथा इस धूर्त्त ने सहस्र मनुष्यों को खराब किया।'' राजा ने दीवान से कहा—''अब क्या करना चाहिये?'' दीवान ने कहा—''इनको पकड़ के कठोर दण्ड देना चाहिये। जब तक जीवें तब तक बन्दीघर में रखना और इस दुष्ट को कि जिसने इन सबको खराब किया है, गधे पर चढ़ा बड़ी दुर्दशा से मारना चाहिये।'' जब राजा और दीवान कान में बातें करने लगे तब उन्होंने डरके भागने की तैयारी की, परन्तु चारों ओर फौज ने घेरा दे रक्खा था, न भाग सके। राजा ने आज्ञा दी ''सबको पकड़ बेड़ियाँ डाल दो और इस दुष्ट का काला मुख कर, गधे पर चढ़ा, इसके कण्ठ में फटे जूतों का हार पहिना, सर्वत्र घुमा, छोकरों से धूड़-राख इसपर डलवा, चौक-चौक में जूतों से पिटवा, कुत्तों से लुँचवा, मरवा डाला जावे। जो ऐसा न होवे तो पुनः दूसरा भी ऐसा काम करता न डरेगा।''

जब ऐसा हुआ तब नाककटे का सम्प्रदाय बन्द हुआ। इसी प्रकार वेदविरोधी सब सम्प्रदायों की लीला है।

ये स्वामिनारायण वाले धनहरे दूसरों के धन हरने में बड़े चतुर हैं, छल-कपटयुक्त काम करते हैं। कितने ही मूर्खों के बहकाने के लिये मरते समय कहते हैं कि ''सफेद घोड़े पर बैठ सहजानन्दजी मुझको बुलाने आये हैं नित्य इस मन्दिर में आते हैं।''

जब मेला होता है तब मन्दिर में पुजारी रहते हैं और नीचे दुकान हैं। मन्दिर से दुकान में छिद्र रखते हैं। जो किसी ने नारियल चढ़ाया, वही दुकान में फेंक दिया, अर्थात् इसी प्रकार एक नारियल दिन में सहस्र वार बिकता है। ऐसे ही सब पदार्थों को बेचते हैं।

जिस जाति का साधु हो, उनसे वही काम कराते हैं। जैसे नापित हो उससे नापित का, कुम्हार से कुम्हार का, शिल्पी से शिल्पी का, बनिये से बनिये का काम लेते हैं। अपने चेलों पर अनेक प्रकार के टिक्कस(=कर) बाँध रक्खे हैं। लाखों-क्रोड़ों रुपये ठगके एकत्र कर लिये और करते जाते हैं। जो गद्दी पर बैठता है, वह गृहस्थ विवाह करता है, आभूषणादि पहनता है। जहाँ कहीं पधरावनी होती है, वहाँ गोकुलिये के समान गुसाईंजी, बहूजी आदि के नाम से भेट पूजा लेते हैं। अपने

को 'सत्सङ्गी' और दूसरे मत-वालों को 'कुसङ्गी' कहते हैं। अपने सिवाय दूसरा कैसा ही उत्तम धार्मिक पुरुष हो, उसका मान्य सेवा नहीं करते, अन्य की सेवा में पाप गिनते हैं।

प्रसिद्धि में उनके साधु स्त्री का मुख नहीं देखते, परन्तु गुप्त क्या लीला होती होगी, इसकी प्रसिद्धि सर्वत्र न्यून हुई है। कहीं-कहीं साधुओं की परस्त्रीगमनादि लीला प्रसिद्ध हो गई है और उनमें जो बड़े-बड़े हैं, वे जब मरते हैं तब उनको गुप्त कुवे में फेंक देकर प्रसिद्धि करते हैं कि अमुक महाराज सदेह वैकुण्ठ में गये। सहजानन्दजी आके ले गये। हमने बहुत प्रार्थना करी कि ''महाराज! इनको न ले जाइये, क्योंकि इस महात्मा के यहाँ रहने से अच्छा है। सहजानन्दजी ने कहा कि ''नहीं। अब इनकी वैकुण्ठ में बहुत आवश्यकता है, इसलिये ले जाते हैं।'' हमने अपनी आँख से सहजानन्दजी को और विमान को देखा तथा जो मरनेवाले थे उनको विमान में बैठा दिया, ऊपर को उड़वाये, पुष्प की वर्षा करते गये।

और जब कोई साधु बीमार पड़ता है, बचने की आशा नहीं होती, तब कहता है कि ''मैं कल रात को वैकुण्ठ में जाऊंगा।'' सुना है कि उस रात में जो उसके प्राण न छूटे, मूर्च्छित हो गया हो, तो भी कुवें फेंक देते हैं, क्योंकि जो उस रात को न फेंक दें तो झूठे पड़ें, इसलिये ऐसा काम करते होंगे।

ऐसे ही जब गोकुलिया गोसाईं मरता है तब उनके चेले कहते हैं कि ''गुसाईंजी लीला विस्तार कर गए।'' जो इन गोसाईं, स्वामी नारायणवालों का उपदेश करने का मन्त्र एक ही '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' है, इसका अर्थ ऐसा करते हैं ''श्रीकृष्ण मेरा शरण है, अर्थात् मैं श्रीकृष्ण के शरणागत हूँ।'' परन्तु इसका अर्थ 'श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त अर्थात् मेरे शरणागत हों' ऐसा भी हो सकता है। ये सब जितने मत हैं, वे विद्याहीन होने से ऊटपटांग शास्त्रविरुद्ध वाक्यरचना करते हैं। क्योंकि उनको विद्या के नियम की जानकारी नहीं।

प्रश्न—माध्वमत तो अच्छा है?

उत्तर—जैसे अन्य हैं, वैसा यह भी है, क्योंकि ये भी चक्राङ्कित

होते हैं। इनमें चक्राङ्कितों से इतना विशेष है कि रामानुजीय एक वार चक्राङ्कित होते हैं और माध्व वर्ष-वर्ष में फिर-फिर चक्राङ्कित होते जाते हैं। चक्राङ्कित कपाल में पीली रेखा और माध्व काली लगाते हैं। एक माध्व पण्डित से किसी एक महात्मा का संवाद हुआ था।

महात्मा—तुमने यह काली रेखा और चाँदला क्यों किया?

शास्त्री—इसके करने से हम वैकुण्ठ को जायेंगे और श्रीकृष्ण का स्वरूप भी श्याम था, इसलिए हम काला तिलक करते हैं।

महात्मा—जो काली रेखा और चाँदले से वैकुण्ठ में जाते हों तो सब मुख काला कर लो तो कहाँ जाओगे? क्या वैकुण्ठ के भी पार उतर जाओगे? और जैसा श्रीकृष्ण का सब शरीर काला था, वैसा तुम भी सब शरीर काला कर लिया करो, तब श्रीकृष्ण का सादृश्य हो सकता है। इसलिए यह भी पूर्वों के सदृश है।

प्रश्न—लिङ्गाङ्कित का मत कैसा है?

उत्तर—जैसा चक्राङ्कित का। वे भी लिङ्गाङ्कित होते हैं। विना महादेव के किसी को नहीं मानते, जैसे चक्राङ्कित नारायण के अतिरिक्त दूसरे को नहीं मानते। इनमें विशेष यह है कि लिङ्गाङ्कित पाषाण का एक लिङ्ग सोने, चाँदी में मढ़वा गले में डाल रखते हैं। जब पानी भी पीते हैं तब उसको दिखलाकर पीते हैं, उनका भी मन्त्र शैव के तुल्य रहता है।

अब ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के गुणदोष कथन—

प्रश्न—'ब्राह्मसमाज' और 'प्रार्थनासमाज' तो अच्छा है, वा नहीं?

उत्तर—कुछ बातें अच्छी और बहुत सी बुरी हैं।

प्रश्न—'ब्राह्म' और 'प्रार्थनासमाज' सबसे अच्छा है, क्योंकि इसके नियम बहुत अच्छे हैं।

उत्तर—नियम सर्वांश में अच्छे नहीं। क्योंकि वेदविद्याहीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्योंकर हो सकती है? जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाये, कुछ मूर्त्तिपूजा को हटाया, अन्य ग्रन्थों के जालों से भी कुछ बचाये, इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु—

१. इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से ले लिये हैं। खानपान, विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं।

२. अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा पेट भर करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते, प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि विना अंग्रेजों के, सृष्टि से आज पर्यन्त कोई भी विद्वान् नहीं हुआ। आर्य्यावर्त्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई।

३. वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधु की संख्या में 'ईसा' 'मूसा' 'मुहम्मद' 'नानक' और 'चैतन्य' लिखे हैं। किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा। इससे जाना जाता है कि ये लोग, जिनका नाम लिखा है, उन्हीं के मतानुसारी मत-वाले हैं।

भला, जब आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं आर्यावर्त देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते-पीते हैं, अपने माता, पिता, पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत-विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त हुए मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है?

४. अंगरेज, यवन, अन्त्यजादि से भी खाने-पीने का भेद नहीं रक्खा। इन्होंने यही समझा होगा कि खाने-पीने और जातिभेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा, परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ है? उलटा बिगाड़ होता है।

५. **प्रश्न**—जातिभेद ईश्वरकृत है, वा मनुष्यकृत?

उत्तर—ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी जातिभेद है।

प्रश्न—कौन से ईश्वरकृत और कौन से मनुष्यकृत?

उत्तर—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जलजन्तु आदि जातियाँ परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति आदि जातियाँ; वृक्षों

में पीपल, वट, आम्र आदि; पक्षियों में हंस, काक, वकादि; जलजन्तुओं में मत्स्य, मकरादि जातिभेद हैं, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं। परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में नहीं किन्तु सामान्य-विशेषात्मक जाति में गिनते हैं। जैसे पूर्व वर्णाश्रमव्यवस्था में लिख आये, वैसे ही गुण, कर्म, स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है। इसमें मनुष्यकृतत्व उनके गुण, कर्म, स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की व्यवस्था परीक्षापूर्वक करनी राजा और विद्वानों का काम है।

भोजनभेद भी ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी है। जैसे सिंह मांसाहारी और अर्णा भैंसा घासादि का आहार करते हैं, यह ईश्वरकृत; और देश-काल-वस्तु-भेद से भोजनभेद मनुष्यकृत है।

प्रश्न—देखो! यूरोपियन लोग मुंडे जूते, कोट-पतलून पहरते, होटल में सबके हाथ का खाते हैं, इसीलिये अपनी बढ़ती करते जाते हैं।

उत्तर—यह तुम्हारी भूल है। क्योंकि मुसलमान, अन्त्यज लोग सबके हाथ का खाते हैं, पुन: उनकी उन्नति क्यों नहीं होती? जो यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना, लड़का-लड़की को विद्या सुशिक्षा करना-कराना, स्वयम्वर विवाह होना, बुरे-बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता, वे विद्वान् होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फसते, जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं, अपनी स्वजाति की उन्नति के लिये तन-मन-धन व्यय करते हैं, आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं। देखो! अपने देश के बने हुए जूते को आफिस (=कार्यालय) और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लो कि अपने देश के बने जूतों की भी कितनी प्रतिष्ठा करते हैं, उतनी अन्य-देशस्थ मनुष्यों की भी नहीं करते। देखो! कुछ अधिक सौ वर्ष से उपर यूरोपियन को आये इस देश में बीते, परन्तु आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहरते हैं जैसा कि देश में पहिरते थे, उनको नहीं छोड़ा। और तुम में से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया, इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना बुद्धिमानों का काम नहीं। और जो जिस काम पर रहता है, उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देशवालों को व्यापार आदि में सहाय देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है। मुंडे जूते, कोट, पतलून, होटल में खाने आदि साधारण और बुरे कामों से नहीं बढ़े हैं।

और इनमें जातिभेद भी है। देखो! जब कोई यूरोपियन चाहै कितने बड़े अधिकार पर और प्रतिष्ठित हो, किसी अन्य देश, अन्य-मत वालों की लड़की वा यूरोपियन लड़की अन्य-देशवाले से विवाह कर लेती है, उसी समय उसका निमन्त्रण, साथ बैठकर खाने और विवाह आदि अन्य लोग बंध कर देते हैं। यह जातिभेद नहीं तो क्या? और तुम भोलों को कहते हैं कि हममें जातिभेद नहीं। तुम अपनी मूर्खता से मान भी लेते हो। इसलिये जो कुछ करना, वह सोच-विचार के करना चाहिये, जिसमें पुन: पश्चात्ताप करना न पड़े।

देखो! वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगी के लिये है, नीरोग के लिये नहीं। विद्यावान् नीरोग और विद्यारहित अविद्यारोग से ग्रसित रहता है। उस रोग के छुड़ाने के लिये सत्यविद्या और सत्योपदेश है। उनको अविद्या से यह रोग है कि खाने-पीने ही में धर्म्म रहता और जाता है। जब किसी को खाने-पीने में अनाचार करता देखते हैं तब कहते और जानते हैं कि वह धर्म्मभ्रष्ट हो गया, उसकी बात न सुननी और न उसके पास बैठते, न उसको अपने पास बैठने देते। अब कहिये कि तुम्हारी विद्या स्वार्थ के लिये है, अथवा परमार्थ के लिये? परमार्थ तो तभी होता कि जब तुम्हारी विद्या से उन अज्ञानियों को लाभ पहुँचता। जो कहो कि वे नहीं लेते, हम क्या करें? यह तुम्हारा दोष है, उनका नहीं। क्योंकि तुम जो अपना आचरण अच्छा रखते तो तुमसे प्रेम कर वे उपकृत होते, सो तुमने सहस्रों का उपकार नाश करके अपना ही सुख किया, सो यह तुमको बड़ा अपराध लगा। क्योंकि परोपकार करना धर्म्म और परहानि करना अधर्म्म कहाता है। इसलिये विद्वान् को यथायोग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दु:खसागर से तारने के लिये नौकारूप होने चाहियें। सर्वथा मूर्खों के सदृश कर्म न करने चाहियें, किन्तु जिसमें उनकी और अपनी उन्नति हो, वैसे कर्म करने उचित हैं।

प्रश्न—हम कोई पुस्तक ईश्वरप्रणीत वा सर्वांश सत्य नहीं मानते क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि निर्भ्रान्त नहीं होती, इससे उनके बनाये ग्रन्थ सब भ्रान्त होते हैं। इसलिये हम सबसे 'सत्य' ग्रहण करते और 'असत्य' को छोड़ देते हैं। चाहे सत्य वेद में, बाइबिल में, कुरान में और अन्य किसी ग्रन्थ में हो, हमको ग्राह्य है, असत्य किसी का नहीं।

उत्तर—जिस बात से तुम सत्यग्राही होना चाहते हो, उसी बात से असत्यग्राही भी ठहरते हो, क्योंकि जब सब मनुष्य भ्रान्तिरहित नहीं हो सकते तो तुम भी मनुष्य होने से भ्रान्तिसहित हो। जब भ्रान्तिसहित का वचन प्रमाण सर्वांश में नहीं होता तो तुम्हारे वचन का भी नहीं होगा। फिर तुम्हारे वचन पर भी सर्वथा विश्वास न करना चाहिये। जब ऐसा है तो विषयुक्त अन्न के समान त्याग के योग्य हैं। फिर तुम्हारे व्याख्यान-पुस्तक बनाये का प्रमाण किसी को न करना चाहिये। '**चले तो चौबेजी छब्बे बनने को, गाँठ के दो खोकर दूबे बन गये।**'

तुम सर्वज्ञ नहीं, जैसे कि अन्य मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हैं। कदाचित् भ्रम से असत्य को ग्रहणकर सत्य को छोड़ भी देते होगे। इसलिये सर्वज्ञ के वचन का सहाय हम अल्पज्ञों को अवश्य होना चाहिये। जैसा कि वेद के व्याख्यान में लिख आये हैं, वैसा तुमको मानना चाहिये। नहीं तो **यतो भ्रष्टः** और **ततो भ्रष्टः** हो जाना है।

जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, उनका ग्रहण करने में शङ्का करनी अपनी और पराई हानिमात्र कर लेनी है। इसी बात से तुमको आर्य्यावर्त्तीय लोग अपने नहीं समझते और तुम आर्यावर्त्त की उन्नति के कारण भी नहीं हो सके, क्योंकि तुम 'सब घर के भिक्षुक' ठहरे हो। तुमने समझा है कि इस बात से हम लोग अपना और पराया उपकार कर सकेंगे, सो न कर सकोगे। जैसे किसी के दो ही माता-पिता सब संसार के लड़कों का पालन करने लगें, सबका पालन करना तो असम्भव है किन्तु उस बात से अपने लड़कों को भी नष्ट कर बैठें, वैसे ही आप लोगों की गति है।

भला, वेदादिक को माने विना तुम अपने वचनों की सत्यता-असत्यता की परीक्षा और आर्य्यावर्त्त की उन्नति भी कभी कर सकते

हो? जिस देश को रोग हुआ है, उसकी ओषधि तुम्हारे पास नहीं। और यूरोपियन लोग तुम्हारी अपेक्षा नहीं करते और आर्य्य लोग तुमको अन्य-मतियों के सदृश समझते हैं। अब भी समझकर वेदादि के मान्य से देशोन्नति करने लगो तो भी अच्छा है।

जो तुम यह कहते हो कि सब सत्य परमेश्वर से प्रकाशित होता है, पुनः ऋषियों के आत्माओं में ईश्वर से प्रकाशित हुए सत्यार्थ वेदों को क्यों नहीं मानते? हाँ, यही कारण है कि तुम लोग वेद नहीं पढ़े और न पढ़ने की इच्छा करते हो। क्योंकर तुमको वेदोक्त ज्ञान हो सकेगा?

६. दूसरा जगत् के उपादान कारण के विना जगत् की उत्पत्ति और जीव को भी उत्पन्न मानते हो, जैसा ईसाई और मुसलमान आदि मानते हैं। इसका उत्तर सृष्ट्युत्पत्ति और जीवेश्वर की व्याख्या में देख लीजिये। कारण के विना कार्य का होना सर्वथा असम्भव और उत्पन्न वस्तु का नाश न होना भी वैसा ही असम्भव है।

७. एक यह भी तुम्हारा दोष है, जो पश्चात्ताप और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति मानते हो। इसी बात से जगत् में बहुत से पाप बढ़ गये हैं। क्योंकि पुराणी लोग तीर्थादि यात्रा से; जैनी लोग भी नवकार मन्त्र, जप और तीर्थादि से; ईसाई लोग ईसा के विश्वास से; मुसलमान लोग 'तोबा:' करने से पाप का छूट जाना विना भोग के मानते हैं। इससे पापों से भय न होकर पाप में प्रवृत्ति बहुत हो गई है। इस बात में ब्राह्म और प्रार्थनासमाजी भी पुराणी आदि के समान हैं। जो वेदों को मानते तो विना भोग के पाप-पुण्य की निवृत्ति न होने से पापों से डरते और धर्म में सदा प्रवृत्त रहते। जो भोग के विना निवृत्ति माने तो ईश्वर अन्यायकारी होता है।

८. जो तुम जीव की अनन्त उन्नति मानते हो, सो कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ससीम जीव के गुण-कर्म-स्वभाव का फल भी ससीम होना अवश्य है।

प्रश्न—परमेश्वर दयालु है, ससीम कर्मों का फल अनन्त दे देगा।

उत्तर—ऐसा करे तो परमेश्वर का न्याय नष्ट हो जाये और सत्कर्मों की उन्नति भी कोई न करेगा, क्योंकि थोड़े से भी सत्कर्मों का अनन्त

फल परमेश्वर दे देगा। और पश्चात्ताप वा प्रार्थना से पाप चाहें जितने हों छूट जायेंगे, ऐसी बातों से धर्म की हानि और पाप-कर्मों की वृद्धि होती है।

प्रश्न—हम 'स्वाभाविक' ज्ञान को वेद से भी बड़ा मानते हैं, 'नैमित्तिक' को नहीं। क्योंकि जो स्वाभाविक ज्ञान परमेश्वरदत्त हममें न होता तो वेदों को भी कैसे पढ़-पढ़ा, समझ-समझा सकते। इसलिए हम लोगों का मत बहुत अच्छा है।

उत्तर—यह तुम्हारी बात निरर्थक है। क्योंकि जो किसी का दिया हुआ ज्ञान होता है, वह स्वाभाविक नहीं होता। जो स्वाभाविक है, वह 'सहज ज्ञान' होता है और न वह बढ़-घट सकता। उससे उन्नति कोई भी नहीं कर सकता। क्योंकि जङ्गली मनुष्यों में भी स्वाभाविक ज्ञान है, क्यों वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते? और जो नैमित्तिक ज्ञान है, वही उन्नति का कारण है। देखो! तुम हम बाल्यावस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म कुछ भी ठीक-ठीक नहीं जानते थे। जब हम विद्वानों से पढ़े, तभी कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्म्माधर्म को समझने लगे। इसलिये स्वाभाविक ज्ञान को सर्वोपरि मानना ठीक नहीं।

९. जो आप लोगों ने पूर्व और पुनर्जन्म नहीं माना है, वह ईसाई-मुसलमानों से लिया होगा। इसका भी उत्तर पुनर्जन्म की व्याख्या से समझ लेना। परन्तु इतना समझो कि जीव 'शाश्वत' अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाहरूप से नित्य हैं। कर्म और कर्मवान् का नित्य सम्बन्ध होता है। क्या वह जीव कहीं निकम्मा बैठा रहा था? वा रहेगा? और परमेश्वर भी निकम्मा तुम्हारे कहने से होता है। पूर्वापर जन्म न मानने से '**कृतहानि**' और '**अकृताभ्यागम**' '**नैर्घृण्य**' और '**वैषम्य**' दोष भी ईश्वर में आते हैं, क्योंकि जन्म न हो तो पाप-पुण्य के फल-भोग की हानि हो जाये। क्योंकि जिस प्रकार दूसरे को सुख-दुःख, हानि-लाभ पहुँचाया होता है, वैसा उसका फल विना शरीर धारण किये नहीं होता। दूसरा—पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना दुःख-सुख की प्राप्ति इस जन्म में क्योंकर होवे? जो पूर्वजन्म के पाप-पुण्यानुसार न होवे तो परमेश्वर अन्यायकारी और विना भोग किये नाश के समान

कर्म का फल हो जावे, इसलिए यह भी बात आप लोगों की अच्छी नहीं।

१०. और एक यह कि ईश्वर के विना दिव्यगुणवाले पदार्थों और विद्वानों को भी देव न मानना ठीक नहीं। क्योंकि परमेश्वर महादेव, और जो देव न होता तो सब देवों का स्वामी होने से 'महादेव' क्यों कहाता?

११. एक अग्निहोत्रादि परोपकारक कर्मों को कर्त्तव्य न समझना अच्छा नहीं।

१२. ऋषि-महर्षियों के किये उपकारों को न मानकर ईसा आदि के पीछे झुक पड़ना अच्छा नहीं।

१३. और विना कारणविद्या वेदों के अन्य कार्यविद्याओं की प्रवृत्ति मानना सर्वथा असम्भव है।

१४. और जो विद्या का चिह्न 'यज्ञोपवीत' और 'शिखा' को छोड़ मुसलमान-ईसाइयों के सदृश बन बैठना व्यर्थ है। जब पतलून आदि वस्त्र पहिरते हो और 'तमगों' की इच्छा करते हो तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था?

१५. और ब्रह्मा से लेकर पीछे-पीछे आर्य्यावर्त्त में बहुत से विद्वान् हो गये हैं, उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियन ही की स्तुति में उतर पड़ना, पक्षपात और खुशामद के विना क्या कहा जाय?

१६. और बीजाङ्कुर के समान जड़-चेतन के योग से जीवोत्पत्ति मानना, उत्पत्ति के पूर्व जीवतत्त्व का न मानना और उत्पन्न का नाश न मानना पूर्वापर विरुद्ध है। जो उत्पत्ति के पूर्व चेतन और जड़ वस्तु न था तो जीव कहाँ से आये और संयोग किनका हुआ? जो इन दोनों को सनातन मानते हो तो ठीक है परन्तु सृष्टि के पूर्व ईश्वर के विना दूसरे किसी तत्त्व को न मानना, यह आपका पक्ष व्यर्थ हो जायगा।

इसलिये जो उन्नति करना चाहो तो 'आर्य्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिये जैसा

आर्य्यसमाज आर्य्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को यथावत् उन्नति देवें तो बहुत अच्छी बात है, क्योंकि **समाज का सौभाग्य बढ़ाना समुदाय का काम है, एक का नहीं।**

प्रश्न—आप सबका खण्डन करते ही आते हो परन्तु अपने-अपने धर्म में सब अच्छे हैं। खण्डन किसी का न करना चाहिए। और जो करते हो तो आप इनसे विशेष क्या बतलाते हो? जो बतलाते हो तो क्या आप से अधिक वा तुल्य कोई पुरुष न था? और न है? ऐसा अभिमान करना आपको उचित नहीं, क्योंकि परमात्मा की सृष्टि में एक-एक से अधिक, तुल्य और न्यून बहुत हैं। किसी को घमण्ड करना उचित नहीं।

उत्तर—धर्म एक होता है वा अनेक? जो कहो अनेक होते हैं तो एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? जो कहो विरुद्ध होते हैं तो एक के विना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुद्ध हैं तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इसलिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, अनेक नहीं। यही हम विशेष कहते हैं कि जैसे सब सम्प्रदायों के उपदेशकों को कोई राजा इकट्ठा करे तो एक सहस्र से कम नहीं होते, परन्तु इनका मुख्य भाग देखो तो पुरानी, किरानी, जैनी और कुरानी चार ही हैं, क्योंकि इन चारों में सब सम्प्रदाय आ जाते हैं। कोई राजा उनकी सभा करके कोई जिज्ञासु होकर प्रथम वाममार्गी से पूछे—''हे महाराज! मैंने आज तक न कोई गुरु और न किसी धर्म का ग्रहण किया है, कहिये! सब धर्मों में से उत्तम धर्म किसका है? जिसको मैं ग्रहण करूं?''

वाममार्गी—हमारा है।

जिज्ञासु—ये नौसौ निन्न्यानवे कैसे हैं?

वाममार्गी—सब झूठे और नरकगामी हैं, क्योंकि '**कौलात्परतरं नहि**' [कुलार्णव २।८] हमारे धर्म से परे कोई धर्म नहीं है।

जिज्ञासु—आपका धर्म क्या है?

वाममार्गी—भगवती का मानना, मद्य-मांसादि पञ्च मकारों का सेवन, रुद्रयामल आदि चौंसठ तन्त्रों का मानना इत्यादि। जो तू मुक्ति की इच्छा करता है तो हमारा चेला हो जा।

जिज्ञासु—अच्छा मैं औरों का भी दर्शन कर और पूछ आऊँगा। पश्चात् जिसको चाहूँगा उसका चेला हो जाऊँगा।

वाममार्गी—अरे! क्यों भ्रान्ति में पड़ा है। ये लोग तुझको बहकाकर अपने जाल में फसा देंगे। किसी के पास मत जावे। हमारा चेला हो जा, नहीं तो पछतावेगा।

जिज्ञासु—अच्छा, देख तो आऊँ। आगे चलकर शैव से पूछा उसने भी ऐसा ही उत्तर दिया। इतना विशेष कहा कि—''विना शिव, रुद्राक्ष, भस्मधारण और लिङ्गार्चन के मुक्ति कभी नहीं होती।'' वह उसको छोड़ नवीन वेदान्तियों के पास गया।

जिज्ञासु—कहो महाराज! आपका धर्म क्या है?

वेदान्ती—हम धर्माऽधर्म कुछ भी नहीं मानते। हम साक्षात् ब्रह्म हैं। हममें धर्माऽधर्म कहाँ हैं? यह जगत् सब मिथ्या है। और जो ज्ञानी शुद्ध चेतन हुआ चाहै तो तू भी अपने को ब्रह्म मान, जीवभाव को छोड़। नित्य मुक्त हो जायगा।

जिज्ञासु—जो तुम ब्रह्म नित्यमुक्त हो तो ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव तुममें क्यों नहीं? और शरीर में क्यों बंधे हो?

वेदान्ती—तुझको शरीर दीखता है, इसीसे तू भ्रान्त है। हमको कुछ नहीं दीखता विना ब्रह्म के।

जिज्ञासु—तुम देखने वाले कौन, और किसको दिखते हो?

वेदान्ती—देखनेवाला ब्रह्म, और ब्रह्म को ब्रह्म देखता है।

जिज्ञासु—क्या दो ब्रह्म हैं?

वेदान्ती—नहीं, अपने आपको देखता है।

जिज्ञासु—क्या कोई अपने कँधे पर आप चढ़ सकता है? तुम्हारी बात कुछ नहीं, यह पागलपने की बातें हैं।

उसने आगे चलकर जैनियों के पास जाके पूछा। उन्होंने भी वैसा ही कहा परन्तु इतना विशेष कहा कि—''जिणधर्म के विना सब धर्म खोटा, जगत् का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं, जगत् अनादि काल से जैसा का वैसा बना है और बना रहेगा। आ, तू हमारा चेला हो जा, क्योंकि हम 'सम्यक्त्वी' अर्थात् सब प्रकार से अच्छे हैं, उत्तम बातों को

मानते हैं। जैनमार्ग से भिन्न सब मिथ्यात्वी हैं।''

आगे चलके ईसाई से पूछा। उसने वाममार्गी के तुल्य सब जवाब-सवाल किये। इतना विशेष बतलाया—''सब मनुष्य पापी हैं, अपने सामर्थ्य से पाप नहीं छूटता। विना ईसा पर विश्वास के पवित्र होकर मुक्ति को नहीं पा सकता। ईसा ने सबके प्रायश्चित्त के लिये अपने प्राण देकर दया प्रकाशित की है। तू हमारा ही चेला हो जा।''

जिज्ञासु सुनकर मौलवी साहब के पास गया। उनसे भी ऐसे ही जवाब-सवाल हुए। इतना विशेष कहा—''लाशरीक ख़ुदा, उसका पैग़म्बर और कुरानशरीफ़ के विना माने कोई निजात नहीं पा सकता। जो इस मजहब को नहीं मानता, वह दोज़ख़ी और काफ़िर है, वाजिबुल्क़त्ल है।''

जिज्ञासु सुनकर वैष्णव के पास गया। वैसे ही संवाद हुआ। इतना विशेष कहा कि ''हमारे तिलक छाप देखकर यमराज डर जाता है।'' जिज्ञासु ने मन में समझा कि जब मच्छर, मक्खी, पुलिस के सिपाही, चोर, डाकू और शत्रु नहीं डरते तो यमराज के गण क्यों डरेंगे?

फिर आगे चला तो सब मत वालों ने अपने-अपने को सच्चा कहा। कोई हमारा कबीर सच्चा, कोई नानक, कोई दादू, कोई बल्लभ, कोई सहजानन्द, कोई माध्व आदि को बड़ा और अवतार बतलाते सुना। सहस्र से पूछ, उनके परस्पर विरोध देख, विशेष निश्चय किया, इनमें कोई गुरु करने योग्य नहीं। क्योंकि एक-एक झूठ में नौसौ निन्न्यानवे गवाह हो गये। जैसे झूठे दुकानदार वा वेश्या और भड़ुआ आदि अपनी-अपनी वस्तु की बड़ाई, दूसरे की बुराई करते हैं, वैसे ही ये हैं। ऐसा जान—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ २॥

—मुण्डक [१।२।१२-१३]

उस सत्य के विज्ञानार्थ वह '**समित्पाणि**' अर्थात् हाथ जोड़

अरिक्तहस्त होकर वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ परमात्मा को जाननेहारे गुरु के पास जाये। इन पाखण्डियों के जाल में न गिरे॥ १॥

जब ऐसा जिज्ञासु विद्वान् के पास जाय, उस शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, समीप-प्राप्त जिज्ञासु को यथार्थ ब्रह्मविद्या परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का उपदेश करे और जिस-जिस साधन से वह श्रोता धर्मार्थ, काम, मोक्ष और परमात्मा को जान सके, वैसी शिक्षा किया करे॥ २॥

जब वह ऐसे पुरुष के पास जाकर बोला कि महाराज! अब इन सम्प्रदायों के बखेड़ों से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया, क्योंकि जो मैं इनमें से किसी एक का चेला होऊँगा तो नौसौ निन्न्यानवे से विरोधी होना पड़ेगा। जिसके नौसौ निन्न्यानवे शत्रु और एक मित्र है, उसको सुख कभी नहीं हो सकता। इसलिये आप मुझको उपदेश कीजिये, जिसको मैं ग्रहण करूं।

आप्तविद्वान्—ये सब मत अविद्याजन्य विद्याविरोधी हैं। मूर्ख, पामर और जङ्गली मनुष्यों को बहकाकर अपने जाल में फसा के अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे बिचारे अपने मनुष्यजन्म के फल से रहित होकर अपना मनुष्यजन्म व्यर्थ गमाते हैं। देख! जिस बात में ये सहस्र एकमत हों, वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो, वह कल्पित, झूठा, अधर्म, अग्राह्य है।

जिज्ञासु—इसकी परीक्षा कैसे हो?

आप्त—तू जाकर इन-इन बातों को पूछ। सबकी एक सम्मति हो जायगी। तब वह उन हजार की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि ''सुनो सब लोगो! सत्यभाषण में धर्म है वा मिथ्या में?'' सब एकस्वर होकर बोले कि ''सत्यभाषण में धर्म और मिथ्याभाषण में अधर्म है।'' ''वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्सङ्ग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म; और अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसङ्ग, आलस्य, असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा, परहानि करने आदि कर्मों में?'' सबने एकमत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि तुम इसी प्रकार सब

जने एकमत हो सत्यधर्म की उन्नति और मिथ्यामार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो? वे सब बोले—''जो हम ऐसा करें तो हमको कौन पूछे? हमारे चेले हमारी आज्ञा में न रहैं, जीविका नष्ट हो जाय, फिर जो हम आनन्द कर रहे हैं, सो सब हाथ से जाय। इसलिये हम जानते हैं तो भी अपने-अपने मत का उपदेश और आग्रह करते ही जाते हैं। क्योंकि **'रोटी खाइये शक्कर से और दुनिया ठगिये मक्कर से'** ऐसी बात है। देखो! संसार में सूधे-सच्चे मनुष्य को कोई नहीं पूछता। जो कुछ ढोंग, धूर्त्तता करता है, वही पदार्थ पाता है।''

जिज्ञासु—जो तुम ऐसा पाखण्ड चलाकर अन्य मनुष्यों को ठगते हो, तुमको राजा दण्ड क्यों नहीं देता?

मत-वाले—हमने राजा को भी अपना चेला बना लिया है। हमने पक्का प्रबन्ध किया है, छूटेगा नहीं।

जिज्ञासु—जब तुम छल से अन्य मनुष्यों को ठग, उनकी हानि करते हो, परमेश्वर के सामने क्या उत्तर दोगे? और घोर नरक में पड़ोगे। थोड़े जीवन के लिये इतना बड़ा अपराध करना क्यों नहीं छोड़ते?

मत-वाले—देखा जायगा। नरक और परमेश्वर का दण्ड जब होगा तब होगा, अब तो आनन्द करते हैं। हमको प्रसन्नता से धन देते हैं, बलात्कार से नहीं लेते, फिर राजा दण्ड क्यों देवे?

जिज्ञासु—जैसे कोई छोटे बालक को फुसला के धनादि पदार्थ ले लेता है, जैसे उसको दण्ड मिलता है, वैसे तुमको क्यों नहीं मिलता? क्योंकि—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः॥

—मनुस्मृति [२।१५३]

जो ज्ञानरहित होता है, वह 'बालक' और जो ज्ञान का देनेवाला है, वह 'पिता' और 'वृद्ध' कहाता है। जो बुद्धिमान् विद्वान् है, वह तो तुम्हारी बातों में नहीं फसता, किन्तु अज्ञानी जो बालक के सदृश हैं, उनको ठगने में तुमको राजदण्ड अवश्य होना चाहिये।

मत-वाले—जब राजा-प्रजा सब हमारे मत में हैं तो हमको दण्ड कौन देनेवाला है? जब ऐसी व्यवस्था होगी तब इन बातों को छोड़कर

दूसरी व्यवस्था करेंगे।

जिज्ञासु—जो तुम बैठे-बैठे व्यर्थ माल मारते हो, जो विद्याभ्यास कर गृहस्थों के लड़के-लड़कियों को पढाओ तो तुम्हारा और गृहस्थों का कल्याण हो जाय।

मत-वाले—जब हम बाल्यावस्था से लेकर मरण तक के सुखों को छोड़ें, बाल्यावस्था से युवावस्था तक विद्या पढ़ने में, पश्चात् पढ़ाने में और उपदेश करने में जन्मभर परिश्रम करें, हमको क्या प्रयोजन? हमको ऐसे ही लाखों रुपये मिलते हैं, चैन उड़ाते हैं, उसको क्यों छोड़ें?

जिज्ञासु—इसका परिणाम तो बुरा है, देखो! तुमको बड़े रोग होते हैं, शीघ्र मर जाते हो, बुद्धिमानों में निन्दित होते हो, फिर भी क्यों नहीं समझते?

मत-वाले—अरे भाई!

टका धर्मष्टका कर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा! टकां टकटकायते॥ १॥
आना अंशकलाः प्रोक्ता रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम्।
अतस्तं सर्व इच्छन्ति रूप्यं हि गुणवत्तमम्॥ २॥

तू लड़का है, संसार की बातें नहीं जानता। देख! टका के विना धर्म, टका के विना कर्म, टका के विना परमपद नहीं होता। जिसके घर में टका नहीं है, वह हाय! टका-टका करता-करता उत्तम पदार्थों को टक-टक देखता रहता है कि हाय! मेरे पास टका होता तो उस उत्तम पदार्थ को मैं भोगता॥ १॥

क्योंकि सब कोई सोलह कलायुक्त अदृश्य भगवान् का कथन-श्रवण करते हैं, सो तो नहीं दीखता, परन्तु सोलह आने और पैसे-कौड़ीरूप अंश कलायुक्त जो रुपैया है, वही साक्षात् भगवान् है। इसीलिये सब कोई रुपयों की खोज में लगे हैं, क्योंकि सब काम रुपयों से सिद्ध होते हैं॥ २॥

जिज्ञासु—ठीक है, तुम्हारी भीतर की लीला बाहर आ गई। तुमने जितना यह पाखण्ड खड़ा किया है, वह सब अपने सुख के लिये किया है परन्तु इसमें जगत् का नाश होता है। क्योंकि जैसा सत्योपदेश से

संसार को लाभ पहुँचता है, वैसी ही असत्योपदेश से हानि होती है। जब तुमको धन ही का प्रयोजन था तो नौकरी, व्यापार करके धन क्यों नहीं कमाते?

मत-वाले—उसमें परिश्रम और हानि भी होती है, परन्तु इस में हानि कभी नहीं, लाभ ही लाभ होता है। देखो! तुलसी चरणामृत दें, कण्ठी बांधें, चेला मूंडने से जन्मभर का पशु हो जाता है, चाहें वैसे बोझा लादो।

जिज्ञासु—ये लोग तुमको बहुत धन किसलिये देते हैं?

मत-वाले—धर्म, स्वर्ग और मुक्ति के अर्थ।

जिज्ञासु—जब तुम ही मुक्त नहीं, न मुक्ति का स्वरूप वा साधन जानते हो तो तुम्हारी सेवा करनेवालों को क्या मिलेगा?

मत-वाले—क्या इस लोक में मिलता है? नहीं। किन्तु परलोक में मिलता है। जितना हमको ये लोग देते वा सेवा करते हैं, वह सब मरे पीछे इन लोगों को मिल जाता है।

जिज्ञासु—इनको तो दिया हुआ मिल जाता है वा नहीं, तुम लेनेवालों को क्या मिलेगा? नरक वा अन्य कुछ?

मत-वाले—हम भजन करते हैं, इसका सुख हमको मिलेगा।

जिज्ञासु—तुम्हारा भजन तो टका ही के लिये है। वे सब टके यहीं पड़े रहेंगे, जिस मांसपिण्ड को यहाँ पालते हो, वह भस्म हो जायगा। जो तुम परमेश्वर का भजन करते होते तो तुम्हारा आत्मा भी पवित्र होता।

मत-वाले—क्या हम अशुद्ध हैं?

जिज्ञासु—भीतर के बड़े मैले हो।

मत-वाले—तुमने कैसे जाना?

जिज्ञासु—तुम्हारी चाल-चलन से।

मत-वाले—महात्माओं का व्यवहार हाथी के दाँत के तुल्य होता है। जैसे हाथी के दाँत खाने के भिन्न, दिखलाने के पृथक् होते हैं, वैसे ही भीतर से हम पवित्र हैं और बाहर से लीलामात्र करते हैं।

जिज्ञासु—जो तुम भीतर से शुद्ध होते तो तुम्हारे बाहर के काम भी

शुद्ध होते, इसलिये भीतर भी मैले हो।

मत-वाले—हम चाहे जैसे हों परन्तु हमारे चेले तो अच्छे हैं।

जिज्ञासु—जैसे तुम गुरु हो, वैसे तुम्हारे चेले भी होंगे।

मत-वाले—एक मत कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं।

जिज्ञासु—जो बाल्यावस्था में एक सी शिक्षा हो, सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्याभाषणादि अधर्म का त्याग करें तो एकमत अवश्य हो जाय। और दो मत अर्थात् धर्मात्मा और अधर्मात्मा सदा रहते हैं, वे तो रहैं। परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है और जब अधर्मी अधिक होते हैं तब दुःख। जब सब विद्वान् एक-सा उपदेश करें तो एकमत होने में कुछ भी विलम्ब न हो।

मत-वाले—आजकल 'कलियुग' है, सत-युग की बात मत चाहो।

जिज्ञासु—'कलियुग' नाम काल का है। काल निष्क्रिय होने से कुछ धर्माधर्म के करने में साधक-बाधक नहीं, किन्तु तुम ही कलियुग की मूर्त्तियाँ बन रहे हो। जो मनुष्य ही सत्ययुग-कलियुग न होता तो कोई भी संसार में धर्मात्मा न होता। ये सब सङ्ग के गुण-दोष हैं, स्वाभाविक नहीं।

इतना कहकर आप्त के पास गया। उनसे कहा कि महाराज! तुमने मेरा उद्धार किया, नहीं तो मैं भी किसी के जाल में फसकर नष्ट हो जाता। अब मैं भी इन पाखण्डियों का खण्डन और वेदोक्त सत्य-मत का मण्डन किया करूँगा।

आप्त—यही सब मनुष्यों का, विशेष विद्वान् और संन्यासियों का काम है कि सब मनुष्यों को सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन पढ़ा-सुनाके सत्योपदेश से उपकार पहुँचाना चाहिये।

प्रश्न—'ब्रह्मचारी', 'संन्यासी' तो ठीक हैं?

उत्तर—ये आश्रम तो ठीक हैं। परन्तु आजकल इनमें भी बहुत सी गड़बड़ है। कितने ही नाम 'ब्रह्मचारी' रखते, जटा बढ़ाकर झूठ-मूठ सिद्धाई करते, जप-पुरश्चरण में फसे रहते, विद्या पढ़ने का नाम नहीं

लेते कि जिस हेतु से 'ब्रह्मचारी' नाम होता है,उस 'ब्रह्म' अर्थात् वेद पढ़ने में परिश्रम कुछ भी नहीं करते। वे 'ब्रह्मचारी' बकरी के गले के स्तन के सदृश निरर्थक हैं। और जो वैसे 'संन्यासी' —विद्याहीन, दण्ड ले, भिक्षा करते-फिरते हैं, जो कुछ भी वेदमार्ग की उन्नति नहीं करते, छोटी अवस्था में संन्यास लेकर घूमा करते, विद्याभ्यास को छोड़ देते हैं, ऐसे ब्रह्मचारी और संन्यासी इधर-उधर जल, स्थल, पाषाणादि मूर्त्तियों का दर्शन-पूजन करते-फिरते, विद्या जानकर भी मौन हो रहते, एकान्त देश में यथेष्ट खा कर सोते पड़े रहते, ईर्ष्या-द्वेष में फसकर निन्दा-कुचेष्टा करके निर्वाह करते, काषाय वस्त्र और दण्ड-ग्रहणमात्र से अपने को कृतकृत्य समझते, अपने को सर्वोत्कृष्ट जान उत्तम काम नहीं करते, वैसे 'संन्यासी'—भी जगत् में व्यर्थ वास करते हैं। और जो सब जगत् का हित साधते हैं, वे ठीक हैं।

प्रश्न—गिरी, पुरी, आदि गुसाईं लोग तो अच्छे हैं। क्योंकि मण्डलियाँ बाँधकर इधर-उधर घूमते, सैकड़ों साधुओं को आनन्द कराते, सर्वत्र अद्वैत मत का उपदेश करते हैं, और कुछ पढ़ते-पढ़ाते भी हैं, इसलिये वे अच्छे होंगे।

उत्तर—ये सब दश नाम पीछे से कल्पित किये हैं, सनातन नहीं। उनकी मण्डलियाँ भोजनार्थ हैं। बहुत से साधु भोजन ही के लिये मण्डलियों में रहते हैं। दम्भी भी हैं, क्योंकि एक को महन्त बना, सायंकाल में एक महन्त जो कि उनमें प्रधान होता है, वह गद्दी पर बैठ जाता है। सब ब्राह्मण और साधु खड़े होकर हाथ में पुष्प ले—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तम्॥ [ऊह्य—पुष्पाञ्जलि]

इत्यादि श्लोक पढ़के हर-हर बोल, उनके ऊपर पुष्प वर्षाकर साष्टाङ्ग नमस्कार करते हैं। जो कोई ऐसा न करे, उसको वहाँ रहना कठिन है। यह दम्भ संसार को दिखलाने के लिये करते हैं, जिससे जगत् में प्रतिष्ठा होकर माल मिले।

कितने ही मठधारी गृहस्थ होकर भी संन्यास का अभिमान मात्र करते हैं, कर्म कुछ नहीं। संन्यास का वही कर्म है, जो पाँचवें समुल्लास

में लिख आये, उसको न करके व्यर्थ समय खोते हैं। जो कोई अच्छा उपदेश करे, उसके भी विरोधी होते हैं। बहुधा ये लोग भस्म रुद्राक्ष धारण करते और कोई-कोई शैव तथा वैष्णव सम्प्रदाय का अभिमान रखते हैं और जब कभी शास्त्रार्थ करते हैं तो अपने मत अर्थात् शङ्कराचार्योक्त का स्थापन और चक्राङ्कित आदि के खण्डन में प्रवृत्त रहते हैं। वेदमार्ग की उन्नति और यावत्पाखण्ड मार्ग हैं तावत् के खण्डन में प्रवृत्त नहीं होते। ये संन्यासी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको खण्डन-मण्डन से क्या प्रयोजन? हम तो महात्मा हैं, ऐसे लोग भी संसार में भाररूप हैं।

जब ऐसे हैं, तभी तो वेदमार्गविरोधी वाममार्गादि सम्प्रदायी, ईसाई, मुसलमान, जैनी आदि बढ़ गये, अब भी बढ़ते जाते हैं और इनका नाश होता जाता है तो भी इनकी आँख नहीं खुलती। खुले कहाँ से? जो कुछ उनके मन में परोपकार-बुद्धि और कर्त्तव्यकर्म करने में उत्साह होवे! किन्तु ये लोग अपनी प्रतिष्ठा खाने-पीने के सामने अन्य अधिक कुछ भी नहीं समझते और संसार की निन्दा से बहुत डरते हैं। पुनः (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा, (वित्तैषणा) धन बढ़ाने में तत्पर होकर विषयभोग, (पुत्रैषणा) पुत्रवत् शिष्यों पर मोहित होना, इन तीन एषणाओं का त्याग करना उचित है। जब एषणा ही नहीं छूटी, पुनः संन्यास क्योंकर हो सकता है? अर्थात् पक्षपातरहित वेदमार्गोपदेश से जगत् के कल्याण करने में अहर्निश प्रवृत्त रहना संन्यासियों का मुख्य काम है। जब अपने-अपने अधिकार के कर्मों को नहीं करते, पुनः संन्यासादि नाम धराना व्यर्थ है। नहीं तो जैसे गृहस्थ व्यवहार, स्वार्थ में परिश्रम करते हैं, संन्यासी भी हुये किन्तु जो उनसे अधिक परिश्रम, परोपकार करने में तत्पर रहैं, तभी सब आश्रम उन्नति पर रहैं।

देखो! तुम्हारे सामने पाखण्ड-मत बढ़ते जाते हैं। ईसाई, मुसलमान तक हो रहे हैं। तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों को मिलाना नहीं बन सकता। बने तो तब, जब तुम करना भी चाहो! जब तक वर्त्तमान और भविष्यत् में संन्यासी उन्नतिशील नहीं होते, तब तक आर्यावर्त्त और अन्य-देशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती। जब वृद्धि के कारण

वेदादि शास्त्रों का पठनपाठन, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान, सत्योपदेश होते हैं, तभी देशोन्नति होती है।

चेत रक्खो! बहुत-सी पाखण्ड की बातें तुमको सचमुच दीख पड़ती हैं। जैसे कोई साधु वा दुकानदार पुत्र देने की सिद्धि बतलाता है तब उसके पास बहुत स्त्री जाती हैं, सब पुत्र माँगती हैं, और बाबाजी सबको पुत्र होने का आशीर्वाद देता है। उसमें से जिस-जिस को पुत्र होता है, वह-वह समझती है कि बाबाजी के वचन से हुआ। जब उससे कोई पूछे कि सुवर आदि पशु और मुर्गे आदि पक्षियों के कच्चे-बच्चे किस बाबाजी के वर से होते हैं? तो कुछ भी उत्तर न दे सकेगी। जो कोई कहे कि मैं लड़के को जीता रख सकता हूँ तो आप ही क्यों मर जाता है?

कितने ही धूर्त्त लोग ऐसी माया रचते हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी धोखा खा जाते हैं, जैसे धनसारी के ठग। ये लोग पाँच-सात मिलके दूर-दूर देश में जाते हैं। जो शरीर से डौलडाल में अच्छा होता है, उसको सिद्ध बनाते हैं। जिस नगर वा ग्राम में धनाढ्य होते हैं, उसके समीप जङ्गल में उस सिद्ध को बैठाते हैं। उसके साधक नगर में जाके अजान बनके जिस किसी को पूछते हैं —

तुमने ऐसे महात्मा को यहाँ कहीं देखा? वह महात्मा कौन और कैसा है?

साधक—बड़ा सिद्ध पुरुष है। मन की बातें बतला देता है। जो मुख से कहता है, वह हो जाता है। बड़ा योगिराज है। उसके दर्शन के लिये हम अपने घर-द्वार छोड़कर देखते-फिरते हैं। मैंने किसी से सुना था वह महात्मा इधर की ओर आये हैं।

गृहस्थ—जब वह महात्मा तुमको मिलें तो हमसे कहना, दर्शन करेंगे और मन की बातें पूछेंगे।

इसी प्रकार दिनभर नगर में फिरते और प्रत्येक को उस सिद्ध की बात कहकर रात्रि को इकट्ठे सिद्ध-साधक होकर खाते-पीते, सो रहते हैं। फिर भी प्रात:काल नगर वा ग्राम में जाके उसी प्रकार दो-तीन दिन कहकर फिर चारों साधक किसी एक-एक धनाढ्य से बोलते हैं कि

वह महात्मा मिल गये। तुमको दर्शन करना हो तो चलो। वे जब तैयार हो जाते हैं तब साधक उनसे पूछते हैं कि तुम क्या बात पूछना चाहते हो? हमसे कहो। कोई पुत्र की इच्छा करता, कोई धन, कोई रोग निवारण और कोई शत्रु जीतने की। उनको वे साधक ले जाते हैं।

सिद्ध-साधकों ने जैसा सङ्केत किया होता है अर्थात् जिसको धन की इच्छा हो उसको दाहिनी ओर, जिसको पुत्र की इच्छा हो उसको सम्मुख, जिसको रोग निवारण की इच्छा हो उसको बाईं ओर, और जिसको शत्रु जीतने की इच्छा हो उसको पीछे से ले जाके सामनेवाले के बीच में बैठाते हैं। जब नमस्कार करते हैं, उसी समय वह सिद्ध उनसे बोलता है कि हमारे पास पुत्र नहीं रक्खा है, जो तू पुत्र की इच्छा करके हमारे पास आया है। इसी प्रकार धन वाले से बोलता है "तू धन की इच्छा करके आया है। 'फकीरों' के पास धन कहाँ धरा है?" रोगवाले से—"तू रोग छुड़ाने की इच्छा करके आया है? हम वैद्य नहीं, जा किसी वैद्य के पास।"

परन्तु जब उसका पिता रोगी है तो उसका साधक अंगूठा, जो माता रोगी है तो तर्जनी, जो भाई रोगी है तो मध्यमा, जो स्त्री रोगी है तो अनामिका जो कन्या रोगी है तो कनिष्ठिका अंगुली को चला देता है। उसको देख वह सिद्ध कहता है कि तेरा पिता रोगी है, तेरी माता, तेरा भाई, तेरी स्त्री और तेरी कन्या रोगी है। तब तो वे चारों बड़े मोहित हो जाते हैं। साधक लोग उनसे कहते हैं, देखो! जैसा हमने कहा था, वैसे हैं कि नहीं?

गृहस्थ बोलते हैं—हाँ, जैसा तुमने कहा था, वैसे ही हैं। तुमने बड़ा उपकार किया और हमारा बड़ा भाग्य था, जो ऐसे महात्मा का दर्शन हुआ।

साधक लोग कहते हैं कि ये महात्मा बहुत दिन रहनेवाले नहीं हैं। जो कुछ इनसे आशीर्वाद लेना हो तो खूब सेवा करो।

वे गृहस्थ प्रशंसा करते घर की ओर चलते हैं। साधक भी उनके साथ-साथ जाते हैं, क्योंकि मार्ग में कोई उनका पाखण्ड खोल न देवे। उन धनाढ्यों का जो कोई मित्र मिला, उन सबसे प्रशंसा करते रहे।

इसी प्रकार जो-जो साधकों के साथ जाते हैं उन-उन का वृत्तान्त सब कह देते हैं।

जब नगर में हल्ला होता है तब बहुत मनुष्यों का मेला जाकर बहुत ने पूछा कि महाराज! मेरे मन का वृत्तान्त कहिए। तब सिद्धजी चुपचाप हो जाता है और कहने लगता है कि हमको बहुत दिक मत करो। उनके साधक भी सबसे कहने लगते हैं—''जो तुम बहुत दिक करोगे तो चले जायेंगे।'' उनमें से जो कोई बड़ा आदमी होता है, वह उसके साधक को बुला लेता है और कहता है कि हमारे मन की बात कहला दो तो हम मानें। साधक ने पूछा कि क्या बात है? धनाढ्य ने कहा। उसको उसी प्रकार संकेत से लेजाके बैठाया। उसने झट कह दिया। बात सब मेला भर ने समझ लिया कि अहो! बड़े सिद्ध पुरुष हैं। कोई मिठाई, कोई पैसा, कोई रुपया, कोई अशर्फी, कोई कपड़ा और कोई सीधा-सामग्री धरने लगे। फिर जब तक मान्ता बहुत रही तब तक लूटते रहै और किसी **आँख के अन्धे गाँठ के पूरे** से पुत्र होने के लिए आशीर्वाद दिया और सहस्र रुपये लेकर कहा कि तेरी सच्ची भक्ति होगी तो पुत्र होगा।

इस प्रकार के बहुत से ठग होते हैं, जिनकी विद्वान् ही परीक्षा कर सकता है और कोई नहीं। इसलिये वेदादि विद्या का पढ़ना, सत्सङ्ग करना होता है, जिससे कोई उसको ठगाई में न फसा सके, औरों को भी बचा सके। क्योंकि **मनुष्य का नेत्र विद्या ही है।** विना विद्या-शिक्षा के ज्ञान नहीं होता। जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाता है, वही मनुष्य और विद्वान् होता है। जिनको कुसङ्ग है, वे दुष्ट, पापी, महामूर्ख होकर बड़े दु:ख पाते हैं। इसलिये ज्ञान को विशेष कहा है कि जो जानता है, वही मानता है।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

—यह किसी कवि का श्लोक है [चाणक्य० ११।८]

जो जिसका गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे जङ्गली भील गजमुक्ताओं को छोड़के गुञ्जा का हार पहिन लेता है, वैसे ही जो पुरुष विद्वान्, ज्ञानी, धार्मिक, सत्पुरुषों का सङ्गी, योगी,

पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय, सुशील होता है, वही धर्मार्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त होकर इस जन्म और परजन्म में सदा आनन्द में रहता है।

यह आर्यावर्त्तनिवासी लोगों के मत विषय में संक्षेप से लिखा। इसके आगे जो थोड़ा सा आर्य-राजाओं का इतिहास मिला है, इसको सब सज्जनों को जनाने के लिये प्रकाशित किया जाता है।

अब थोड़ा-सा आर्यावर्त्तदेशीय राजवंश कि जिसमें श्रीमान् महाराजे 'युधिष्ठिर' से लेके महाराजे 'यशपाल' तक का इतिहास लिखते हैं। और श्रीमान् महाराजे 'स्वायम्भुव मनुजी' से लेके महाराज 'युधिष्ठिर' तक का इतिहास महाभारतादि में लिखा ही है और इससे सज्जन लोगों को इधर के कुछ इतिहास का वर्त्तमान विदित होगा।

यद्यपि यह विषय ''विद्यार्थी सम्मिलित 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' और 'मोहनचन्द्रिका'' जो कि पाक्षिकपत्र 'श्रीनाथद्वारे' से निकलता था' जो राजपूताना देश मेवाड़ राज उदयपुर चित्तौड़गढ सबको विदित है यह उससे हमने अनुवाद किया है। यदि ऐसे ही हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या-पुस्तकों का खोज कर प्रकाश करेंगे तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा। उस पत्र-सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक जो कि संवत् विक्रम के १७८२ (सत्रह सौ बयासी) का लिखा हुआ था, उससे उक्त पत्र के सम्पादक महाशय ने ग्रहण कर अपने संवत् १९३९ मार्गशीर्ष शुक्ल और कृष्ण पक्ष १९-२० किरण अर्थात् दो पाक्षिक पत्रों में छापा है' सो निम्न लिखे प्रमाणे जानिये—

आर्य्यावर्त्तदेशीय राजवंशावली

इन्द्रप्रस्थ में आर्य लोगों ने श्रीमन्महाराज 'यशपाल' पर्यन्त राज्य किया। जिनमें श्रीमन्महाराजे 'युधिष्ठिर' से महाराजे 'यशपाल' तक वंश अर्थात् पीढ़ी अनुमान १२४ (एक सौ चौबीस राजा), वर्ष ४१५७, मास ९, दिन १४, समय में हुए हैं। इनका व्यौरा—

राजा	शक	वर्ष	मास	दिन
आर्यराजा	१२४	४१५७	९	१४

श्रीमन्महाराजे युधिष्ठिरादि वंश अनुमान पीढ़ी ३०, वर्ष १७७०, मास ११, दिन २२ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	राजा युधिष्ठिर	३६	८	२५
२	राजा परिक्षित	६०	०	०
३	राजा जनमेजय	८४	७	२३
४	राजा अश्वमेध	८२	८	२२
५	द्वितीयराम	८८	२	८
६	छत्रमल	८१	११	२७
७	चित्ररथ	७५	३	१८
८	दुष्टशैल्य	७५	१०	२४
९	राजा उग्रसेन	७८	७	२१
१०	राजा शूरसेन	७८	७	२१
११	भुवनपति	६९	५	५
१२	रणजीत	६५	१०	४
१३	ऋक्षक	६४	७	४
१४	सुखदेव	६२	०	२४
१५	नरहरिदेव	५१	१०	२
१६	सुचिरथ	४२	११	२
१७	शूरसेन (दूसरा)	५८	१०	८
१८	पर्वतसेन	५५	८	१०
१९	मेधावी	५२	१०	१०
२०	सोनचीर	५०	८	२१
२१	भीमदेव	४७	९	२०
२२	नृहरिदेव	४५	११	२३
२३	पूर्णमल	४४	८	७
२४	करदवी	४४	१०	८
२५	अलंमिक	५०	११	८
२६	उदयपाल	३८	९	०
२७	दुवनमल	४०	१०	२६
२८	दमात	३२	०	०
२९	भीमपाल	५८	५	८
३०	क्षेमक	४८	११	२१

राजा क्षेमक के प्रधान विश्रवा ने क्षेमक राजा को मारकर राज्य किया। पीढ़ी १४, वर्ष ५००, मास ३, दिन १७ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	विश्रवा	१७	३	२९
२	पुरसेनी	४२	८	२१
३	वीरसेनी	५२	१०	७
४	अनङ्गशायी	४७	८	२३
५	हरिजित	३५	९	१७
६	परमसेनी	४४	२	२३
७	सुखपाताल	३०	२	२१
८	कद्रुत	४२	९	२४
९	सज्ज	३२	२	१४
१०	अमरचूड़	२७	३	१६
११	अमीपाल	२२	११	२५
१२	दशरथ	२५	४	१२
१३	वीरसाल	३१	८	११
१४	वीरसालसेन	४७	०	१४

राजा वीरसालसेन को वीरमहा प्रधान ने मारकर राज्य किया। वंश १६, वर्ष ४४५, मास ५, दिन ३ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	राजा वीरमहा	३५	१०	८
२	अजितसिंह	२७	७	१९
३	सर्वदत्त	२८	३	१०
४	भुवनपति	१५	४	१०
५	वीरसेन	२१	२	१३
६	महीपाल	४०	८	७
७	शत्रुसाल	२६	४	३

८	संघराज	१७	२	१०
९	तेजपाल	२८	११	१०
१०	माणिकचन्द	३७	७	२१
११	कामसेनी	४२	५	१०
१२	शत्रुमर्दन	८	११	१३
१३	जीवनलोक	२८	९	१७
१४	हरिराव	२६	१०	२९
१५	वीरसेन (दूसरा)	३५	२	२०
१६	आदित्यकेतु	२३	११	१३

राजा आदित्यकेतु मगधदेश के राजा को 'धन्धर' नामक राजा प्रयाग के ने मारकर राज्य किया। वंशपीढ़ी ९, वर्ष ३७४, मास ११, दिन २६ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**
१	राजा धन्धर	४२	७	२४
२	महर्षी	४१	२	२९
३	सनरच्ची	५०	१०	१९
४	महायुद्ध	२०	३	८
५	दुरनाथ	२८	५	२५
६	जीवनराज	४५	२	५
७	रुद्रसेन	४७	४	२८
८	आरीलक	५२	१०	८
९	राजपाल	३६	०	०

राजा राजपाल को सामन्त महानपाल ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १, वर्ष १४, मास ०, दिन ० इनका विस्तार नहीं है।

राजा महानपाल के राज्य पर राजा विक्रमादित्य ने 'अवन्तिका' (उज्जैन) से चढ़ाई करके राजा महानपाल को मारके राज्य किया। पीढ़ी १, वर्ष ९३, मास ०, दिन ० इनका विस्तार नहीं है।

राजा विक्रमादित्य को शालिवाहन का उमराव समुद्रपाल योगी पैठण के ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १६, वर्ष ३७२, मास ४, दिन

२७ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**
१	समुद्रपाल	५४	२	२०
२	चन्द्रपाल	३६	५	४
३	सहायपाल	११	४	११
४	देवपाल	२७	१	२८
५	नरसिंहपाल	१८	०	२०
६	सामपाल	२७	१	१७
७	रघुपाल	२२	३	२५
८	गोविन्दपाल	२७	१	१७
९	अमृतपाल	३६	१०	१३
१०	बलीपाल	१२	५	२७
११	महीपाल	१३	८	४
१२	हरीपाल	१४	८	४
१३	सीसपाल*	११	१०	१३
१४	मदनपाल	१७	१०	१९
१५	कर्मपाल	१६	२	२
१६	विक्रमपाल	२४	११	१३

राजा विक्रमपाल ने पश्चिम दिशा का राजा (मलुखचन्द बोहरा था) इन पर चढाई करके मैदान में लड़ाई की, इस लड़ाई में मलुखचन्द ने विक्रमपाल को मारकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया। पीढ़ी १०, वर्ष १९१, मास १, दिन १६ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**
१	मलुखचन्द	५४	२	१०
२	विक्रमचन्द	१२	७	१२
३	अमीनचन्द**	१०	०	५

* किसी इतिहास में भीमपाल भी लिखा है।

** इनका नाम कहीं मानकचन्द भी लिखा है।

४	रामचन्द	१३	११	८
५	हरीचन्द	१४	९	२४
६	कल्याणचन्द	१०	५	४
७	भीमचन्द	१६	२	९
८	लोवचन्द	२६	३	२२
९	गोविन्दचन्द	३१	७	१२
१०	रानी पद्मावती*	१	०	०

रानी पद्मावती मर गई। इसके पुत्र भी कोई नहीं था। इसलिये सब मुत्सद्दियों ने सलाह करके हरिप्रेम वैरागी को गद्दी पर बैठा के मुत्सद्दी राज्य करने लगे। पीढ़ी ४, वर्ष ५०, मास ०, दिन २१। हरिप्रेम का विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	हरिप्रेम	७	५	१६
२	गोविन्दप्रेम	२०	२	८
३	गोपालप्रेम	१५	७	२८
४	महाबाहु	६	८	२९

राजा महाबाहु राज्य छोड़के वन में तपश्चर्या करने गये, यह बङ्गाल के राजा आधीसेन ने सुनके इन्द्रप्रस्थ में आके आप राज्य करने लगे। पीढी १२, वर्ष १५१, मास ११, दिन २ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	राजा आधीसेन	१८	५	२१
२	विलावलसेन	१२	४	२
३	केशवसेन	१५	७	१२
४	माधसेन	१२	४	२
५	मयूरसेन	२०	११	२७
६	भीमसेन	५	१०	९
७	कल्याणसेन	४	८	२१
८	हरीसेन	१२	०	२५

* यह पद्मावती गोविन्दचन्द की रानी थी।

९	क्षेमसेन	८	११	१५
१०	नारायणसेन	२	२	२९
११	लक्ष्मीसेन	२६	१०	०
१२	दामोदरसेन	११	५	१९

राजा दामोदरसेन ने अपने उमराव को बहुत दु:ख दिया, इसलिये राजा के उमराव दीपसिंह ने सेना मिलाके राजा के साथ लड़ाई की, उस लड़ाई में राजा को मारकर दीपसिंह आप राज्य करने लगे। पीढी ६, वर्ष १०७, मास ६, दिन २२ इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	दीपसिंह	१७	१	२६
२	राजसिंह	१४	५	०
३	रणसिंह	९	८	११
४	नरसिंह	४५	०	१५
५	हरिसिंह	१३	२	२९
६	जीवनसिंह	८	०	१

राजा जीवनसिंह ने कुछ कारण के लिये अपनी सब सेना उत्तर दिशा को भेज दी। यह खबर पृथ्वीराज चह्वाण वैराट के राजा सुनकर जीवनसिंह के ऊपर चढाई करके आये और लड़ाई में जीवनसिंह को मारकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया।* पीढी ५, वर्ष ८६, मास ०, दिन २० इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	पृथिवीराज	१२	२	१९
२	अभयपाल	१४	५	१७

* इसके आगे और इतिहासों में इस प्रकार है कि महाराज पृथ्वीराज के ऊपर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी चढ़कर आया और कई बार हारकर लौट गया। अन्त में संवत् १२४९ में आपस की फूट के कारण महाराज पृथ्वीराज को जीत, अन्धा कर अपने देश को ले गया। पश्चात् दिल्ली (इन्द्रप्रस्थ) का राज्य आप करने लगा—मुसलमानों का राज्य पीढ़ी ४५, वर्ष ६१३ रहा।
—पण्डित लेखराम आर्यपथिक द्वारा पञ्चम संस्करण में लिखित टिप्पणी।

३	दुर्जनपाल	११	४	१४
४	उदयपाल	११	७	३
५	यशपाल	३६	४	२७

राजा यशपाल के ऊपर सुलतान शाहाबुद्दीन गौरी गढ़ ग़जनी से चढाई करके आया और राजा यशपाल को प्रयाग के किले में संवत् १२४९ साल में पकड़कर क़ैद किया। पश्चात् 'इन्द्रप्रस्थ' अर्थात् दिल्ली का राज्य आप (सुलतान शहाबुद्दीन) करने लगा। पीढ़ी ५३, वर्ष, ७४५, मास १, दिन १७। इनका विस्तार बहुत इतिहास पुस्तकों में लिखा है, इसलिये यहाँ नहीं लिखा।

इसके आगे बौद्ध-जैनमत विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषित आर्य्यावर्त्तीयमतखण्डनमण्डनविषय एकादशः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ११॥

ओ३म्

अनुभूमिका (२)

जब आर्य्यावर्त्तस्थ मनुष्यों में सत्याऽसत्य का यथावत् निर्णय कारक वेदविद्या छूटकर अविद्या फैलके मतमतान्तर खड़े हुए, यही जैन आदि के विद्याविरुद्धमतप्रचार का निमित्त हुआ। क्योंकि 'वाल्मीकीय' और 'महाभारतादि' में जैनियों का नाममात्र भी नहीं लिखा और जैनियों के ग्रन्थों में 'वाल्मीकीय' और भारत में कथित 'राम-कृष्णादि' की गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मत इनके पीछे चला, क्योंकि जैसा अपने मत को बहुत प्राचीन जैनी लोग लिखते हैं, वैसा होता तो वाल्मीकीय आदि ग्रन्थों में उनकी कथा अवश्य होती, इसलिये जैनमत इन ग्रन्थों के पीछे चला है।

कोई कहे कि जैनियों के ग्रन्थों में से कथाओं को लेकर वाल्मीकीय आदि ग्रन्थ बने होंगे तो उनसे पूछना चाहिये कि वाल्मीकि आदि में तुम्हारे ग्रन्थों का नाम लेख भी क्यों नहीं? और तुम्हारे ग्रन्थों में क्यों है? क्या पिता के जन्म का दर्शन पुत्र कर सकता है? कभी नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन-बौद्ध मत; शैव-शाक्तादि मतों के पीछे चला है।

अब इस १२ बारहवें समुल्लास में जो-जो जैनियों के मतविषयक लिखा गया है, सो-सो उनके ग्रन्थों के पतेपूर्वक लिखा है। इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिये, क्योंकि जो-जो हमने इनके मतविषय में लिखा है, वह केवल सत्याऽसत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ। इस लेख को जब जैनी, बौद्ध वा अन्य लोग देखेंगे तब सबको सत्याऽसत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा। जबतक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय तबतक सत्याऽसत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्याऽसत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दु:ख उठाना पड़ता है,

इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ सुहृदता से वाद वा लेख करना हम मनुष्य जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न होवे।

और यह बौद्ध-जैन मत का विषय विना इनके अन्य-मतवालों को अपूर्व लाभ और बोध करनेवाला होगा, क्योंकि ये लोग अपने पुस्तकों को किसी अन्य मतवाले को देखने, पढ़ने वा लिखने को भी नहीं देते। बड़े परिश्रम से मेरे और विशेष आर्यसमाज मुम्बई के मन्त्री 'सेठ सेवकलाल कृष्णदास' के पुरुषार्थ से ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। तथा काशीस्थ 'जैनप्रभाकर' यन्त्रालय में छपने और मुम्बई में 'प्रकरणरत्नाकर' ग्रन्थ के छपने से भी सब लोगों को जैनियों का मत देखना सहज हुआ है।

भला, यह किन विद्वानों की बात है कि अपने मत के पुस्तक आप ही देखना और दूसरों को न दिखलाना? इसी से विदित होता है कि इन ग्रन्थों के बनानेवालों को प्रथम ही शङ्का थी कि इन ग्रन्थों में असम्भव बातें हैं, जो दूसरे मतवाले देखेंगे तो खण्डन करेंगे और हमारे मतवाले दूसरों केग्रन्थ देखेंगे तो इस मत में श्रद्धा न रहेगी।

अस्तु, जो हो परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं, कि जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरों के दोष देखने में अति उद्युक्त रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं, क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकालके पश्चात् दूसरे के दोषों में दृष्टि देके निकालें।

अब इन बौद्ध-जैनियों के मत का विषय सब सज्जनों के सम्मुख धरता हूँ, जैसा है, वैसा विचारें।

किमधिकलेखेन बुद्धिमद्वर्य्येषु

अथ द्वादशसमुल्लासारम्भः

अथ नास्तिकमतान्तर्गतचारवाकबौद्धजैनमत-खण्डनमण्डनविषयान् व्याख्यास्यामः

कोई एक 'बृहस्पति' नामा पुरुष हुआ था जो वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था। देखिये! उनका मत—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

[सर्वदर्शनसंग्रह चारवाकदर्शन]

कोई मनुष्यादि प्राणी मृत्यु के अगोचर नहीं है अर्थात् सबको मरना है, इसलिये जबतक शरीर में जीव रहै, तबतक सुख से रहै। जो कोई कहे कि "धर्माचरण से कष्ट होता है, जो धर्म को छोड़ें तो पुनर्जन्म में बड़ा दुःख पावें।" उसको 'चारवाक' उत्तर देता है कि अरे भोले भाई! जो मरे के पश्चात् शरीर भस्म हो जाता है कि जिसने खाया-पीया है, वह पुनः संसार में न आवेगा। इसलिये जैसे हो सके वैसे आनन्द में रहो, लोक में नीति से चलो, ऐश्वर्य्य को बढ़ाओ और उससे इच्छित भोग करो। यही लोक समझो, परलोक कुछ नहीं।

देखो! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है, इसमें इनके योग से चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे मादक द्रव्य खाने-पीने से नशा उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ आप भी नष्ट हो जाता है, फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा?

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्॥ [चारवाक दर्शन]

इस शरीर में चारों भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हीं के वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। हम एक प्रत्यक्ष ही को मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष के

विना अनुमानादि होते ही नहीं। इसलिए मुख्य प्रत्यक्ष के सामने अनुमानादि गौण होने से उनका ग्रहण नहीं करते। सुन्दर स्त्री के आलिङ्गन से आनन्द का करना पुरुषार्थ का फल है।

उत्तर—ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं, उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे अब माता-पिता के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आदि सृष्टि में मनुष्यादि शरीरों की आकृति परमेश्वर कर्त्ता के विना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, क्योंकि मद चेतन को होता है, जड़ को नहीं। पदार्थ 'नष्ट' अर्थात् अदृष्ट होते हैं परन्तु अभाव किसी का नहीं होता, इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिये। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसकी प्रकटता होती है। जब शरीर को छोड़ देता है, तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, वह जैसा चेतनयुक्त पूर्व था, वैसा नहीं हो सकता। यही बात बृहदारण्यक में कही है—

नाहं मोहं ब्रवीमि अनुच्छित्तिधर्मायमात्मेति ॥

[तुलना—अ० ४। ब्रा० ५। कं० १४]

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ''हे मैत्रेयि! मैं मोह से बात नहीं करता किन्तु आत्मा अविनाशी है, जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है।'' जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जो देह से पृथक् आत्मा न हो, तो जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है वह देह से पृथक् है। जैसे आँख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करनेवाला अपने ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे अपनी आँख से सब घट-पटादि पदार्थ देखता है, वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो द्रष्टा है वह द्रष्टा ही रहता है, दृश्य कभी नहीं होता। जैसे विना आधार आधेय, कारण के विना कार्य्य, अवयवी के विना अवयव और कर्त्ता के विना कर्म नहीं रह सकते, वैसे कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

जो सुन्दर स्त्री के साथ समागम करने ही को पुरुषार्थ का फल मानो तो क्षणिक सुख और उससे दुःख भी होता है, वह भी पुरुषार्थ ही

का फल होगा। जब ऐसा है तो स्वर्ग की हानि होने से दुःख भोगना पड़ेगा। जो कहो दुःख के छुड़ाने और सुख के बढ़ाने में यत्न करना चाहिये तो मुक्ति-सुख की हानि हो जाती है, इसलिये वह पुरुषार्थ का फल नहीं।

चारवाक—जो दुःख-संयुक्त सुख का त्याग करते हैं, वे मूर्ख हैं। जैसे धान्यार्थी धान्य का ग्रहण और बुस का त्याग करता है, वैसे इस संसार में बुद्धिमान् सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करें। क्योंकि इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़के अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की इच्छा कर धूर्तकथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान परलोक के लिये करते हैं, वे अज्ञानी हैं। जो परलोक है ही नहीं, तो उसकी आशा करना मूर्खता का काम है। क्योंकि—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥ [चारवाकदर्शन]

चारवाकमतप्रचारक 'बृहस्पति' कहता है कि—''अग्निहोत्र, तीन वेद, तीन दण्ड और भस्म का लगाना बुद्धि और पुरुषार्थरहित पुरुषों ने जीविका बना ली है।'' किन्तु काँटे लगने आदि से उत्पन्न हुए दुःख का नाम 'नरक', लोकसिद्ध राजा 'परमेश्वर' और देह का नाश होना 'मोक्ष', अन्य कुछ भी नहीं है।

उत्तर—विषयरूपी सुखमात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषयदुःख-निवारणमात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है। अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना, उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है, उसको न जानकर वेद, ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है। जो त्रिदण्ड और भस्मधारण का खण्डन है, सो ठीक है।

यदि कण्टकादि से उत्पन्न ही दुःख का नाम नरक हो तो उससे अधिक महारोगादि नरक क्यों नहीं? यद्यपि राजा को ऐश्वर्यवान् और प्रजापालन में समर्थ होने से श्रेष्ठ मानें, तो ठीक है परन्तु जो अन्यायकारी पापी राजा हो, जो उसको भी परमेश्वरवत् मानते हो, तो तुम्हारे जैसा कोई भी मूर्ख नहीं। शरीर का विच्छेद होना मात्र मोक्ष है, तो गदहे, कुत्ते

आदि और तुममें क्या भेद रहा, किन्तु आकृति ही मात्र भिन्न रही। चारवाक—

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥ १॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ २॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ ३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्॥ ४॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते॥ ५॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ ६॥
यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥ ७॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥ ८॥
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥ ९॥
अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्त्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम्॥ १०॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्॥ ११॥

[चारवाकदर्शन, श्लोक १-२। श्लोक २-१०]

'चारवाक', 'आभाणक', 'बौद्ध' और 'जैन' भी जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं। जो-जो स्वाभाविक गुण हैं, उस-उससे द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं, कोई जगत् का कर्त्ता नहीं॥ १॥

परन्तु इनमें से चारवाक ऐसा मानता है। किन्तु परलोक और जीवात्मा बौद्ध-जैन मानते हैं, चारवाक नहीं। शेष इन तीनों का मत कोई-कोई

बात छोड़के एक सा है।

न कोई स्वर्ग, न कोई नरक और न कोई परलोक में जानेवाला आत्मा है और न वर्णाश्रम की क्रिया फलदायक है॥ २॥

जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो, तो यजमान अपने पिता आदि को मार यज्ञ में होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता?॥ ३॥

जो मरे हुए जीवों को श्राद्ध और तर्पण तृप्तिकारक होता है तो परदेश में जानेवाले मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न, वस्त्र, धन को क्यों ले जाते? क्योंकि जैसे मृतक के नाम से अर्पण किया हुआ स्वर्ग में पहुँचता है, तो परदेश में जानेवालों के लिए उनके सम्बन्धी भी घर में अर्पण कर देशान्तर में पहुँचा देवें। जो यह नहीं पहुँचता, तो स्वर्ग में क्योंकर पहुँच सकता है?॥ ४॥

जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं, तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता?॥ ५॥

इसलिए जबतक जीवे, तबतक सुख से जीवे। जो घर में पदार्थ न हो तो ऋण करके आनन्द करे, ऋण देना नहीं पड़ेगा। क्योंकि जिस शरीर में जीव ने खाया-पिया है, उन दोनों का पुनरागमन न होगा, फिर किससे कौन माँगे और देवेगा?॥ ६॥

जो लोग कहते हैं कि मृत्युसमय जीव शरीर से निकलके परलोक को जाता है, यह बात मिथ्या है, क्योंकि जो ऐसा होता, तो कुटुम्ब के मोह से बद्ध होकर पुनः घर में क्यों नहीं आ जाता?॥ ७॥

इसलिए यह सब ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का उपाय किया है। जो दशगात्रादि मृतकक्रिया करते हैं, यह सब उनकी जीविका की लीला है॥ ८॥

वेद के करनेहारे भांड, धूर्त्त और राक्षस, ये तीन हैं। 'जर्फरी' 'तुर्फरी' इत्यादि पण्डितों के धूर्त्ततायुक्त वचन हैं॥ ९॥

देखो धूर्त्तों की रचना! ''घोड़े के लिङ्ग को स्त्री ग्रहण करे।'' उसके साथ समागम यजमान की स्त्री से कराना, कन्या से ठट्ठा आदि लिखना, धूर्त्तों के विना नहीं हो सकता॥ १०॥

और जो मांस का खाना लिखा है, वह वेदभाग राक्षस का बनाया है॥ ११ ॥

उत्तर—विना चेतन परमेश्वर के निर्माण किये जड़ पदार्थ आपस में स्वभाव से नियमपूर्वक मिलकर उत्पन्न नहीं हो सकते। इस वास्ते सृष्टि का कर्त्ता अवश्य होना चाहिये। जो स्वभाव से हों तो द्वितीय पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आप से आप क्यों नहीं होते॥ १ ॥

'स्वर्ग' सुखभोग और 'नरक' दु:खभोग का नाम है। जो जीवात्मा न होता, तो सुख-दु:ख का भोक्ता कौन हो सके? जैसे इस समय सुख-दु:ख का भोक्ता जीव है, वैसे परजन्म में भी होता है। क्या सत्यभाषणादि दया आदि क्रिया भी वर्णाश्रमियों की निष्फल होंगी? कभी नहीं॥ २ ॥

पशु मारके होम करना वेद में कहीं नहीं है, इसलिये यह खण्डन अखण्डनीय है और मृतकों का श्राद्ध भी कपोलकल्पित होने से वेदविरुद्ध पुराण मत-वालों का मत है॥ ३, ४, ५ ॥

जो वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। तो विद्यमान जीव का अभाव कभी नहीं हो सकता। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। जीव तो दूसरे शरीर में जाता है, इसलिए जो कोई ऋणादि से सुख भोग करेगा, वह दूसरे जन्म में अवश्य भोगेगा॥ ६ ॥

देह से निकलके जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है, उसको पूर्वजन्म का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता, इसलिए पुनश्च कुटुम्ब में नहीं आता॥ ७ ॥

हाँ ब्राह्मणों ने प्रेत का कर्म जीविका के लिये किया है, वेदोक्त नहीं॥ ८ ॥

जो चारवाक आदि ने असल वेद देखे होते, तो वेद की निन्दा कभी न करते। भाँड, धूर्त्त और निशाचरवत् पुरुष टीकाकार हुए हैं, उन्हीं की धूर्त्तता है, वेद की नहीं। परन्तु शोक है चारवाक, आभाणक, बौद्ध और जैनियों पर कि इन्होंने मूल वेद भी न सुने, न देखे और न किसी विद्वान् से पढ़े, इसीलिए भ्रष्ट टीका और वाममार्गियों की लीला देखके वेदों से विरोध करके, नष्ट-भ्रष्ट बुद्धि होकर वेदों की निन्दा करने लगे हैं। यही वाममार्गियों की दुष्ट चेष्टा चारवाक, बौद्ध और जैनों

के होने का कारण है, क्योंकि चारवाक आदि भी वेदों का सत्य अर्थ [नहीं जान सके]॥ ९ ॥

भला! विचार करना चाहिए कि स्त्री से अश्व के उपस्थ ग्रहण आदि लीला, उससे समागम कराना और यजमान की कन्या से हाँसी-ठठ्ठा आदि कराना और मांस का खाना आदि टीकाकारों की धूर्तता है, वेद की नहीं। सिवाय वाममार्गी लोगों के अन्य भ्रष्ट, वेदार्थ से विपरीत, अशुद्ध व्याख्यान कौन करता? ॥ १०। ११ ॥

यही चारवाक बौद्धों के होने का कारण है, क्योंकि बौद्ध लोगों ने चारवाकों में से बहुत-सा चारवाकों का मत और थोड़ा-सा अपना भी गाँठ का लगाया है, इसी से बौद्धों की शाखा पृथक् चली है।

अब जो चारवाकादिकों में भेद है, सो लिखते हैं —

ये चारवाकादि बहुत सी बातों में एक हैं परन्तु चारवाक देह की उत्पत्ति के साथ जीवोत्पत्ति और उसके नाश के साथ ही जीवन का भी नाश मानता है। पुनर्जन्म और परलोक को नहीं मानता। एक प्रत्यक्ष प्रमाण के विना अनुमानादि प्रमाणों को भी नहीं मानता। चारवाक का अर्थ — जो बोलने में **प्रगल्भ** और विशेषार्थ **वैतण्डिक** होता है। और बौद्ध-जैन प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण, अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं। इतना ही चारवाक से बौद्ध और जैनियों का भेद है परन्तु नास्तिकता, वेद ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष, छः यतना और जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, इत्यादि बातों में सब एक ही हैं। यह चारवाक का मत संक्षेप से दर्शा दिया है।

अब बौद्धमत के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

कार्य्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्तरदर्शनात्॥

[सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्शन]

'कार्य्यकारणभाव' अर्थात् कार्य्य के दर्शन से कारण और कारण के दर्शन से कार्य्यादि का साक्षात्कार प्रत्यक्ष से शेष में अनुमान होता है, इसके विना प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार पूर्ण नहीं हो सकते, इत्यादि लक्षण से अनुमान को अधिक मानकर चारवाक से भिन्न शाखा बौद्धों

की हुई, अन्य बहुत-सी बातें चारवाकों की ली हैं। बौद्ध चार प्रकार के होते हैं—

एक 'माध्यमिक', दूसरा 'योगाचार', तीसरा 'सौत्रान्तिक' और चौथा 'वैभाषिक'। '**बुद्ध्या निर्वर्त्तते स: बौद्धः**' जो बुद्धि से सिद्ध हो अर्थात् जो-जो बात अपनी बुद्धि में आवे उस-उस को माने और जो न आवे उसको नहीं मानते।

इनमें से 'माध्यमिक' सर्वशून्य मानता है। अर्थात् जितने पदार्थ हैं, वे सब 'शून्य' हैं अर्थात् आदि में नहीं होते, अन्त में नहीं रहते, मध्य में जो प्रतीत होता है वह भी प्रतीत समय में है, पश्चात् शून्य हो जाता है। जैसे उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था, प्रध्वंस के पश्चात् नहीं रहता और घटज्ञान समय में भासता और पदार्थान्तर में ज्ञान जाने से घटज्ञान नहीं रहता, इसलिए शून्य ही एक तत्त्व है, ऐसा मानता है।

दूसरा 'योगाचार' जो बाह्य शून्य मानता है। अर्थात् पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते हैं, बाहर नहीं। जैसे घट का ज्ञान आत्मा में है तभी मनुष्य कहता है कि "यह घट है", जो भीतर ज्ञान न हो तो नहीं कह सकता, ऐसा मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक' जो बाहर अर्थ का अनुमान मानता है, क्योंकि बाहर कोई पदार्थ साङ्गोपाङ्ग प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु एकदेश प्रत्यक्ष होने से शेष में अनुमान किया जाता है, इसका ऐसा मत है।

चौथा 'वैभाषिक' है, उसका मत बाहर पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, भीतर नहीं। जैसे '**अयं नीलो घटः**' इस प्रतीति में नीलयुक्त घटाकृति बाहर प्रतीत होती है, यह ऐसा मानता है। यद्यपि इनका आचार्य्य बुद्ध उपदेष्टा जनानेवाला एक था तथापि सुननेवाले पुरुषों और शिष्यों के बुद्धिभेद से चार प्रकार शाखा हो गई है। जैसे सूर्य के अस्त होने में जार पुरुष जारकर्म, चोर चौरीकर्म और पूर्ण विद्वान् सत्य आचरण करते हैं। समय एक और अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टा करते हैं।

अब इन पूर्वोक्त चारों में 'माध्यमिक'—सबको क्षणिक मानता है। अर्थात् क्षण-क्षण में बुद्धि का परिणाम होने से जो पूर्व क्षण में ज्ञात वस्तु था, वैसा ही दूसरे क्षण में नहीं रहता, इसलिए सबको क्षणिक

मानना चाहिए, ऐसे मानता है।

दूसरा 'योगाचार' जो-जो प्रवृत्ति है सो-सो सब दु:खरूप है, क्योंकि प्राप्ति में संतुष्ट कोई भी नहीं होता। एक की प्राप्ति में दूसरे अप्राप्तों की इच्छा बनी ही रहती है, इस प्रकार मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक'—सब पदार्थ अपने-अपने लक्षणों से लक्षित होते हैं, जैसे गाय के चिह्नों से गाय और घोड़े के चिह्नों से घोड़ा ज्ञात होता है, वैसे लक्षण लक्ष्य में सदा रहते हैं, ऐसा कहता है।

चौथा 'वैभाषिक'—शून्य को एक पदार्थ मानता है। प्रथम माध्यमिक सबको शून्य मानता था, उसी का पक्ष वैभाषिक का भी है, इत्यादि बौद्धों में बहुत-से विवाद पक्ष हैं। इस प्रकार चार प्रकार की भावना मानते हैं।

उत्तर—जो सब शून्य हो तो शून्य का जाननेवाला शून्य नहीं हो सकता और जो सब शून्य होवे तो शून्य को शून्य नहीं जान सके, इसलिए शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय शून्य दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।

और जो योगाचार बाह्य-शून्यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होना चाहिये। जो कहे कि पर्वत भीतर है तो उसके हृदय में पर्वत के समान अवकाश कहाँ है? इसलिए बाहर पर्वत है और पर्वतज्ञान आत्मा में रहता है।

सौत्रान्तिक किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानता, तो वह आप स्वयं और उसका वचन भी अनुमेय होना चाहिये, प्रत्यक्ष नहीं। जो प्रत्यक्ष न हो तो '**अयं घटः**' यह प्रयोग न होना चाहिये, किन्तु '**अयं घटैकदेशः**' यह घड़ा का एक देश है और एक देश का नाम घड़ा नहीं, किन्तु समुदाय का नाम घट है। 'यह घड़ा है' वह प्रत्यक्ष है, अनुमेय नहीं, क्योंकि सब अवयवों में अवयवी एक है, उसके प्रत्यक्ष होने से सब घट के अवयव भी प्रत्यक्ष होते हैं, अर्थात् सावयव घट प्रत्यक्ष होता है।

चौथा वैभाषिक जो बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानता है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जहाँ ज्ञाता और ज्ञान होता है, वहीं प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् आत्मा में सबका प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय बाहर

होता है, तदाकार ज्ञान आत्मा को होता है। वैसे जो क्षणिक पदार्थ और उसका ज्ञान क्षणिक हो तो 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् 'मैंने वह बात की थी' अथवा 'वह चीज देखी थी' स्मरण न होना चाहिये, परन्तु पूर्व दृष्ट-श्रुत का स्मरण होता है, इसलिये क्षणिकवाद भी ठीक नहीं।

जो सब दु:ख ही हो और सुख न हो तो सुख की अपेक्षा के विना दु:ख सिद्ध नहीं हो सकता, जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है, इसलिये सबको दु:ख मानना ठीक नहीं।

जो स्वलक्षण ही मानें तो नेत्र रूप का लक्षण है और रूप लक्ष्य है जैसे घट का रूप। घट के रूप का लक्षण चक्षु, लक्ष्य से भिन्न है और गन्ध पृथिवी से अभिन्न है, इसी प्रकार भिन्नाऽभिन्न लक्ष्य लक्षण मानना चाहिये।

शून्य का उत्तर जो पूर्व दिया है वही अर्थात् शून्य का जाननेवाला शून्य से भिन्न होता है।

सर्वस्य संसारस्य दु:खात्मकत्वं सर्वतीर्थङ्करसंम्मतम्॥

[बौद्धदर्शन]

[सब संसार दु:खमय है, यह सब तीर्थंकरों का मत है।] जिनको बौद्ध तीर्थंकर मानते हैं, उन्हीं को जैन भी मानते हैं, इसीलिये ये दोनों एक हैं। और पूर्वोक्त 'भावनाचतुष्टय' अर्थात् चार भावनाओं से सकल वासनाओं की निवृत्ति से शून्यरूप 'निर्वाण' अर्थात् मुक्ति मानते हैं। अपने शिष्यों को 'योग' और 'आचार' का उपदेश करते हैं—गुरु के वचन का प्रमाण करना, अनादि बुद्धि में वासना होने से बुद्धि ही अनेकाकार भासती है। और चित्तचैत्तात्मक स्कन्ध पांच प्रकार का मानते हैं—**रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकः॥** [बौद्धदर्शन]

उनमें से प्रथम स्कन्ध—जो इन्द्रियों से रूपादि विषय ग्रहण किया जाता है, वह 'रूपस्कन्ध'। (दूसरा) आलयविज्ञान, प्रवृत्ति अर्थात् जिसमें रूपादि विषय हैं उनका विज्ञान-प्रवृत्ति का जाननारूप व्यवहार को 'विज्ञानस्कन्ध'। (तीसरा) रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध से उत्पन्न हुआ सुख-दु:ख आदि प्रतीतिरूप व्यवहार को 'वेदनास्कन्ध'। (चौथा) गौ आदि संज्ञा का सम्बन्ध नामी के साथ मानने रूप को 'संज्ञास्कन्ध'।

(पाँचवाँ) वेदनास्कन्ध से रागद्वेषादि क्लेश और क्षुधा-तृषादि उपक्लेश, मद, प्रमाद, अभिमान, धर्म और अधर्मरूप व्यवहार को 'संस्कारस्कन्ध' मानते हैं। सब संसार को दु:खरूप, दु:ख का घर और दु:ख का साधनरूप भावना करके संसार से छूटना, चारवाकों से अधिक मुक्ति, अनुमान और जीव को मानना, बौद्ध मानते हैं।

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः किल॥ १॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाऽभिन्ना शून्यता द्वयलक्षणा॥ २॥
द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धा मन्यन्ते—
अर्थानुपाद्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः॥ ३॥
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः॥ ४॥ [बौद्धदर्शन]

अर्थ—जो ज्ञानी, विरक्त **जीवन्मुक्त** लोकों के नाथ, बुद्ध आदि तीर्थंकरों के पदार्थों के स्वरूप जाननेवाला उपदेशक जो कि भिन्न-भिन्न पदार्थों का है, जिसको बहुत से भेद, बहुत से उपायों से कहा है, उसको मानना॥ १॥

बड़े गम्भीर और प्रसिद्ध भेद से कहीं-कहीं गुप्त और प्रकटता से भिन्न-भिन्न गुरुओं के उपदेश जो कि शून्य लक्षणयुक्त पूर्व कह आये, उनको मानना॥ २॥

जो द्वादशायतन पूजा है, वही मोक्ष करने वाली है—उस पूजा के लिये बहुत से द्रव्यादि पदार्थों को प्राप्त होके 'द्वादशायतन' अर्थात् बारह प्रकार के स्थान विशेष बनाके सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये, अन्य की पूजा करने से क्या प्रयोजन?॥ ३॥

द्वादशायतन पूजा यह है:—पाँच 'ज्ञानेन्द्रिय' अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका; पाँच 'कर्मेन्द्रिय' अर्थात् वाक्, हस्त, पग, उपस्थ और गुह्य, मन और बुद्धि इन ही का 'सत्कार' अर्थात् इनको आनन्द में प्रवृत्त रखना बौद्धों का मत है॥ ४॥

उत्तर—जो सब संसार दु:खरूप होता तो किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिये। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये सब संसार दु:खरूप नहीं हो सकता किन्तु इसमें सुख-दु:ख दोनों हैं। और जो बौद्ध लोग ऐसा ही सिद्धान्त मानते हैं तो खानपानादि और शरीररक्षण करने में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते हैं? जो कहें कि हम प्रवृत्त तो होते हैं परन्तु इसको दु:ख ही मानते हैं तो यह कथन ही सम्भव नहीं। क्योंकि जीव सुख जानकर प्रवृत्त और दु:ख जानके निवृत्त होता है। संसार में धर्मक्रिया, विद्या, सत्सङ्गादि सब व्यवहार सुखकारक हैं।

जो पाँच स्कन्ध कहे हैं, वे भी अपूर्ण हैं। क्योंकि ऐसे जो स्कन्ध विचारने लगें तो एक-एक के अनेक भेद हो सकते हैं।

जिन तीर्थङ्करों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं, अनादि ईश्वर को नहीं मानते तो उन्होंने उपदेश कहाँ से पाया? जो कहो कि स्वयं प्राप्त हुए तो कारण के विना कार्य्य नहीं हो सकता। न इस समय उपदेश के विना किसी को ज्ञान हो सकता है और जो होता है तो तुम और अन्य को भी हो जायगा। उपदेशक बुद्ध आदि की क्या आवश्यकता है॥ १॥

जो शून्यरूप ही अद्वैत उपदेश बौद्धों का है तो विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं होता; हां, सूक्ष्म कारणरूप तो हो जाता है।

जो द्रव्यों के उपार्जन से पूर्वोक्त द्वादशायतनपूजा मोक्ष का साधन कहा तो दश प्राण और ग्यारहवें जीव की पूजा क्यों नहीं करते? और जब इन्द्रिय और अन्त:करण की पूजा मोक्षप्रद है तो विषयीजन और बौद्धों में क्या भेद रहा? फिर मुक्ति कहाँ?

पूर्व सब में दु:खरूप भावना की और फिर द्वादशायतनपूजा लगाई। इसलिये इनका मत सर्वांश सत्य नहीं।

'विवेकविलास' ग्रन्थ में बौद्धों का मत इस प्रकार कहा है—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।
आर्य्यसत्त्वाख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात्॥ १॥
दु:खमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥ २॥

दु:खं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्त्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥ ३॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु॥ ४॥
रागादीनां गणो यस्मात् समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः॥ ५॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते॥ ६॥
प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा।
चतु:प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः॥ ७॥
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः॥ ८॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः॥ ९॥
रागादिज्ञानसन्तानवासनाच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता॥ १०॥
कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्।
संघो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः॥ ११॥

[बौद्धदर्शन श्लोक ५-१३। श्लोक १-२]

अर्थ—बौद्धों का सुगतदेव बुद्ध भगवान् पूजनीय देव और जगत् क्षणभंगुर, आर्य्य पुरुष और आर्य्या स्त्री तथा तत्त्वों की 'आख्या' संज्ञादि प्रसिद्धि ये चार तत्त्व बौद्धों में मन्तव्य पदार्थ हैं॥ १॥

इस विश्व को 'दु:ख' का घर जाने, तदनन्तर 'समुदय' अर्थात् उन्नति होती है। और 'मार्ग', इनकी व्याख्या क्रम से सुनो॥ २॥

संसार में दु:ख ही है, जो पञ्चस्कन्ध पूर्व कह आये हैं उनको जानना॥ ३॥

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके शब्दादि विषय पाँच और मन-बुद्धि-अन्त:करण, धर्म का स्थान ये द्वादश हैं॥ ४॥

जो मनुष्यों के हृदय में रागद्वेषादि समूह की उत्पत्ति होती है वह

'समुदय' और जो आत्मा, आत्मा के सम्बन्धी और स्वभाव है वह 'आख्या', इन्हीं से फिर समुदय होता है॥ ५ ॥

सब संस्कार क्षणिक हैं जो यह वासना स्थिर होना, वह बौद्धों का 'मार्ग' है और वही शून्य तत्त्व शून्यरूप हो जाना 'मोक्ष' है॥ ६ ॥

बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। चार प्रकार के इनके भेद हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक॥ ७ ॥

इनमें से 'वैभाषिक' ज्ञान में जो अर्थ है, उसीको विद्यमान मानता है। क्योंकि जो ज्ञान में नहीं है, उसका होना वह सिद्ध पुरुष नहीं मान सकता। और 'सौत्रान्तिक' भीतर को प्रत्यक्ष पदार्थ मानता है, बाहर नहीं॥ ८ ॥

'योगाचार' आकारसहित विज्ञानयुक्त बुद्धि को मानता है और 'माध्यमिक' केवल अपने में पदार्थों का ज्ञानमात्र मानता है, पदार्थ को नहीं मानता॥ ९ ॥

और रागादि-ज्ञान के प्रवाह की वासना के नाश से उत्पन्न हुई मुक्ति चारों बौद्धों की है॥ १० ॥

मृगादि का चमड़ा, कमण्डलु, मूंड मुंडाये, वल्कल वस्त्र धारण, पूर्वाह्ण अर्थात् नव बजे से पूर्व भोजन, अकेला न रहै, रक्त वस्त्र का धारण, यह बौद्धों के साधुओं का वेश है॥ ११ ॥

उत्तर—जो बौद्धों का सुगत बुद्ध ही देव है, तो उसका गुरु कौन था? जो विश्व क्षणभङ्ग हो, तो चिरदृष्ट पदार्थ का 'यह वही है' ऐसा स्मरण न होना चाहिये। जो क्षणभङ्ग होता, तो वह पदार्थ ही नहीं रहता, पुनः स्मरण किसका होवे?॥ १ ॥

जो क्षणिकवाद ही बौद्धों का मार्ग है तो इनका मोक्ष भी क्षणभङ्ग होगा।। जो ज्ञान से युक्त अर्थ द्रव्य हो तो जड़ द्रव्य में भी ज्ञान होना चाहिये, इसलिये ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब सा रहता है। जो भीतर ज्ञान में द्रव्य होवे तो बाहर न होना चाहिये और वह चलनादि क्रिया किस पर करता है? बाहर दीखता है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है? जो आकार से सहित बुद्धि होवे तो दृश्य होना चाहिये। जो केवल ज्ञान ही हृदय में आत्मस्थ होवे, बाह्यज्ञेय पदार्थों को केवल ज्ञान ही माना जाय, तो ज्ञेय

के विना ज्ञान ही नहीं हो सकता।। जो वासनाच्छेद ही मुक्ति है, तो सुषुप्ति में भी मुक्ति माननी चाहिये। यह संक्षेप से बौद्ध मत का विषय लिखा है।

यहाँ से आगे जैनमत का वर्णन है, इसको जैन लोग मानते हैं।

प्रकरणरत्नाकर १ भाग, नयचक्रसार में निम्नलिखित बातें लिखी हैं—

बौद्ध लोग समय-समय में नवीनपन से (१) आकाश, (२) काल, (३) जीव, (४) पुद्गल, ये चार द्रव्य मानते हैं और जैनी लोग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल ये छः द्रव्य मानते हैं। इनमें काल की अस्तिकायता नहीं और ऐसा भी मानते हैं कि काल उपचार से द्रव्य है, वस्तुतः नहीं।

उनमें से 'धर्मास्तिकाय' जो गतिपरिणामीपन से परिणाम को प्राप्त हुआ जीव और पुद्गल, इनकी गति के समीप से स्तम्भन करने का हेतु है वह धर्मास्तिकाय, और वह असंख्य प्रदेश परिमाण और लोक में व्यापक है।

और दूसरा 'अधर्मास्तिकाय' यह है कि जो स्थिरता से परिणामी हुए जीव तथा पुद्गल की स्थिति के आश्रय का हेतु है।

तीसरा 'आकाशास्तिकाय' उसको कहते हैं कि जो सब द्रव्यों का आधार जिसमें अवगाहन, प्रवेश, निर्गम आदि क्रिया करनेवाले जीव तथा पुद्गलों को अवगाहन का जो हेतु और सर्वव्यापी है।

चौथा 'पुद्गलास्तिकाय' यह है कि जो कारणरूप सूक्ष्म, नित्य, एकरस, वर्ण, गंध, स्पर्श, कार्य का लिङ्ग, पूरने और गलने के स्वभाववाला होता है।

पाँचवाँ 'जीवास्तिकाय' यह है कि जो चेतनालक्षण ज्ञान-दर्शन में उपयुक्त, अनन्त पर्यायों से परिणामी होनेवाला कर्त्ता भोक्ता है।

और छठा 'काल' यह है कि जो पूर्वोक्त पंचास्तिकायों का परत्व-अपरत्व, नवीन-प्राचीनता का चिह्नरूप प्रसिद्धि वर्त्तमानरूप पर्यायों से युक्त है, वह काल कहाता है।

समीक्षक—जो बौद्धों ने चार द्रव्य प्रतिसमय में नवीन-नवीन माने हैं, वे झूठे हैं, क्योंकि आकाश, काल, जीव और परमाणु, नये पुराने कभी नहीं हो सकते। क्योंकि ये अनादि और कारणरूप से अविनाशी हैं, पुनः नया और पुरानापन कैसे घट सकता है? और जैनियों का मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि धर्माऽधर्म द्रव्य नहीं हो सकते किन्तु जीव के गुण हैं, ये दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं; इसलिये आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था।

और जो नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं वे ठीक हैं, क्योंकि पृथिव्यादि पांच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव पृथक्-पृथक् पदार्थ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना, जैन-बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।

अब जो बौद्ध और जैनी लोग सप्तभङ्गी न्याय, स्याद्वाद मानते हैं, वह यह है। देखो **प्रथम भंग**—

'**सन् घटः**' इसको प्रथम भङ्ग कहते हैं, क्योंकि घट अपनी वर्त्तमानता से युक्त अर्थात् घड़ा है, इसने अभाव का विरोध किया है।

दूसरा भङ्ग—'**असन् घटः**' घड़ा नहीं है, प्रथम घट के भाव से, यह घड़ा के असद्भाव से दूसरा भङ्ग है।

तीसरा भङ्ग यह है कि '**सन्नसन् घटः**' अर्थात् यह घड़ा तो है परन्तु यह पट नहीं, क्योंकि उन दोनों से पृथक् हो गया।

और '**घटोऽघटः**' यह **चौथा भङ्ग** कहाता है। जैसे '**अघटः पटः**' दूसरे पट के अभाव की अपेक्षा अपने में होने से घट अघट कहाता है, युगपत् उसकी दो संज्ञा अर्थात् घट और अघट भी है।

पाँचवाँ भङ्ग यह है कि जो घट को घट कहने को योग्य अर्थात् घट को पट कहने के अयोग्य। उसमें घटपन वक्तव्य है। और पटपन अवक्तव्य है।

छठा भङ्ग यह है कि जो कुम्भ नहीं है, वह कहने योग्य भी नहीं और जो है वह कहने के योग्य भी है।

और **सातवाँ भङ्ग** यह है कि जो कहने को इष्ट है परन्तु वह नहीं है और कहने के योग्य भी घट नहीं, यह सप्तम भङ्ग कहाता है। इसी

प्रकार—

स्यादस्ति जीवोऽयं प्रथमो भङ्गः ॥ १ ॥
स्यान्नास्ति जीवो द्वितीयो भङ्गः ॥ २ ॥
स्यादवक्तव्यो जीवस्तृतीयो भङ्गः ॥ ३ ॥
स्यादस्ति नास्तिरूपो जीवश्चतुर्थो भङ्गः ॥ ४ ॥
स्यादस्ति अवक्तव्यो जीवः पञ्चमो भङ्गः ॥ ५ ॥
स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीवः षष्ठो भङ्गः ॥ ६ ॥
स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जीव इति सप्तमो भङ्गः ॥ ७ ॥

[तुलना—प्रकरण रत्नाकर भाग-१; सर्वदर्शनसंग्रह आर्हतदर्शन]

अर्थ—"है जीव" ऐसा प्रकथन होवे तो जीव के विरोधी जड़ पदार्थों का जीव में अभावरूप भङ्ग प्रथम कहाता है।

दूसरा भङ्ग यह है कि "नहीं है जीव जड़ में" ऐसा कथन भी होता है, इससे यह दूसरा भङ्ग कहाता है।

"जीव कहने के योग्य नहीं" यह तीसरा भङ्ग।

"जब जीव शरीर धारण करता है तब प्रसिद्ध और जब शरीर से पृथक् होता है तब अप्रसिद्ध रहता है" ऐसा कथन होवे, उसको चतुर्थ भङ्ग कहते हैं।

"जीव है परन्तु कहने के योग्य नहीं" जो ऐसा कथन है, उसको पञ्चम भङ्ग कहते हैं।

"जीव प्रत्यक्ष प्रमाण से कहने में नहीं आता, इसलिए चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है" जो ऐसा व्यवहार है, उसको छठा भङ्ग कहते हैं।

"एक काल में जीव का अनुमान से होना और दृश्यपन में न होना और एक-सा न रहना किन्तु क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होना, अस्ति-नास्ति न होवे और नास्ति-अस्ति न होवे," यह सातवाँ भङ्ग कहाता है।

इसी प्रकार नित्यत्व सप्तभङ्गी, अनित्यत्व सप्तभङ्गी तथा सामान्य धर्म, विशेष धर्म, गुण और पर्य्यायों की प्रत्येक वस्तु में सप्तभङ्गी होती है। वैसे द्रव्य, गुण, स्वभाव और पर्य्यायों के अनन्त होने से सप्तभङ्गी भी अनन्त होती है। ऐसा बौद्धों और जैनियों का 'स्याद्वाद' और 'सप्तभङ्गी

न्याय' कहाता है।

समीक्षक—यह कथन एक अन्योऽन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरण को छोड़कर कठिन जाल-रचना केवल अज्ञानियों के फसाने के लिए होती है। देखो! जीव का अजीव में और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ के वर्त्तमान होने से साधर्म्य और चेतन तथा जड़ होने से वैधर्म्य अर्थात् जीव में चेतनत्व (अस्ति) है और जड़त्व (नास्ति) नहीं है। इसी प्रकार जड़ में जड़त्व है और चेतनत्व नहीं है। इससे गुण-कर्म-स्वभाव के समानधर्म, और विरुद्धधर्म के विचार से सब इनका सप्तभङ्गी और स्याद्वाद सहजता से समझ में आता है, फिर इतना प्रपञ्च बढ़ाना किस काम का है? इसमें बौद्ध और जैनों का एक मत है। थोड़ा सा ही पृथक् होने से भिन्नभाव भी हो जाता है।

इसके आगे केवल जैनमत का वर्णन है—

चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः॥ १॥
हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्य्यमविवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्॥ २॥ [आर्हतदर्शन]

जैन लोग 'चित्' और 'अचित्' अर्थात् चेतन और जड़ दो ही परतत्त्व मानते हैं। उन दोनों के विवेचन का नाम 'विवेक'। जो-जो ग्रहण के योग्य है, उस-उसका ग्रहण और जो-जो त्याग करने योग्य है, उस-उसका त्याग करनेवाले को 'विवेकी' कहते हैं॥ १॥

जगत् का कर्त्ता और रागादि तथा ईश्वर ने जगत् किया है, इस अविवेकी मत का त्याग और योग से लक्षित परमज्योतिस्वरूप जो जीव है, उसका ग्रहण करना उत्तम है॥ २॥

अर्थात् जीव के विना दूसरा चेतनतत्त्व ईश्वर को नहीं मानते। 'कोई भी अनादि सिद्ध ईश्वर नहीं', ऐसा बौद्ध-जैन लोग मानते हैं।

इसमें राजा शिवप्रसाद जी 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ में लिखते हैं कि ''इनके दो नाम हैं, एक जैन और दूसरा बौद्ध। ये पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु बौद्धों में वाममार्गी मद्यमांसाहारी बौद्ध हैं, उनके साथ

जैनियों का विरोध है। परन्तु जो महावीर और गौतम गणधर हैं, उनका नाम बौद्धों ने बुद्ध रक्खा है और जैनियों ने गणधर और जिनवर।'' इसमें जिनकी परम्परा जैनमत है उन राजा शिवप्रसादजी ने अपने 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड [मैडिकल हॉल, बनारस मुद्रित प्रथम संस्करण सन् १८७३, पृष्ठ १०९] में लिखा है कि ''स्वामी शङ्कराचार्य्य से पहले जिनको हुए कुल हजार वर्ष के लगभग गुजरे हैं सारे भारतवर्ष में बौद्ध अथवा जैनधर्म फैला हुआ था।'' इस पर नोट—''.....बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है, जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय तक वेदविरुद्ध सारे भारतवर्ष में फैला रहा और जिसको 'अशोक' और 'सम्प्रति' महाराज ने माना, उससे जैन बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते।...जिन, जिससे जैन निकला और बुद्ध, जिससे बौद्ध निकला दोनों पर्याय शब्द हैं। कोश में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है और गौतम को दोनों मानते हैं। वरन् दीपवंश इत्यादि पुराने बौद्ध ग्रन्थों में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध को अकसर महावीर ही के नाम से लिखा है। पस उसके समय में एक ही उनका मत रहा होगा।... हमने जो जैन न लिखकर गौतम के मत वालों को बौद्ध लिखा, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि उनको दूसरे देशवालों ने बौद्ध ही के नाम से लिखा है...''।

ऐसा ही अमरकोश में भी लिखा है—

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः॥ १॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।
मुनीन्द्रः श्रीधनः शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु यः॥ २॥
स शाक्यसिंहः सर्वार्थः सिद्धश्शौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥ ३॥

—अमरकोश कां० १। वर्ग १। श्लोक ८ से १० तक॥

अब देखो! 'बुद्ध' 'जिन' और 'बौद्ध तथा जैन' एक के नाम हैं वा नहीं? क्या अमरसिंह भी 'बुद्ध' 'जिन' के एक लिखने में भूल गया है?

जो अविद्वान् जैन हैं, वे न तो अपना जानते और न दूसरे का, केवल हठमात्र से बर्ड़ाया करते हैं, परन्तु जो जैनों में विद्वान् हैं, वे सब जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' तथा 'बौद्ध' और 'जैन' पर्यायवाची हैं।

उन्हीं बौद्धों और जैनियों का नाममात्र भेद है, परन्तु जो मांसाहारी बौद्ध हैं, उनसे जैन भिन्न हैं। और चारवाकों का मत लेके जैनमत प्रवृत्त हुआ है। और कुछ विरोध भी हैं अर्थात् जैसे चारवाक और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते और जगत् को अनादिकाल से स्वभाव से सिद्ध तथा प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते हैं।

जैनी लोग जीव को अनादि और क्षणिकवाद से विरुद्ध मानते हैं। जीव कर्म का कर्त्ता, स्वयंफल भोक्ता है। फलप्रदाता और जगत् का कर्त्ता कोई नहीं। कर्मक्षय से मुक्ति, दया, क्षमा को धर्म मानते हैं। और अपने तीर्थंङ्करों ही को केवली मुक्तिप्राप्त और परमेश्वर मानते हैं, अनादि परमेश्वर कोई नहीं। सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, तीर्थकृत, जिन ये छः नास्तिकों के देवताओं के नाम हैं।

अनादि देव का स्वरूप चन्द्रसूरि ने 'आप्तनिश्चयालङ्कार' ग्रन्थ में लिखा है—

सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथा स्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥ १॥

[आर्हतदर्शन]

तथा चोक्तं तौतातितैः—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥ २॥
न चाऽऽगमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्प्यते॥ ३॥
न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवादितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः॥ ४॥
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते॥ ५॥

अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योऽन्याश्रययोस्तयोः॥ ६॥
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते॥ ७॥
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तस्तद्वाक्योक्तं न जानते॥ ८॥
सर्वज्ञसदृशं किञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्॥ ९॥
उपदेशोऽपि बुद्धस्य धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सर्वज्ञं यदि नाभवत्॥ १०॥

[आर्हतदर्शन]

अर्थ—जो रागादि दोषों को जीतनेहारा सर्वज्ञ सबका ज्ञाता, तीन लोक में पूजित, यथार्थवादी अर्हत्देव है वही परमेश्वर है॥ १॥

जो सर्वज्ञ अनादि ईश्वर होता, तो उसको हम लोग देखते नहीं हैं, इसलिये ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं और उसका एक देश वा चिह्न को भी हम लोग नहीं देखते हैं, जिससे अनुमान किया जाय॥ २॥

और सर्वज्ञ का बोध करानेवाला कोई आगम अर्थात् किसी शास्त्र का विधि भी नहीं है, इसलिए ईश्वर में शब्दप्रमाण भी नहीं। और उसमें अर्थवाद भी नहीं घटता, क्योंकि जो कोई वस्तु हो उसके गुण-दोष जानकर स्तुति वा निन्दा होवे, तो अर्थापत्ति भी ईश्वर को सिद्ध करे॥ ३॥

इसलिए अर्थापत्ति से भी ईश्वर सिद्ध नहीं होता॥

और न अन्यार्थ प्रधान लिङ्गों से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसा कि रचना देखकर रचनावाले का अनुमान करते हैं। ईश्वर का अनुवाद भी कोई नहीं कर सकता, क्योंकि जो पूर्व कथित ईश्वर होता, तो उसका अनुवाद हो सकता॥ ४॥

और जो सर्वज्ञ आदिमान् है वह अनादि शास्त्र का वा जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता, जो कृत्रिम असत्य जगत् है, उससे अकृत्रिम सत्य ईश्वर सिद्ध क्योंकर हो सकता है॥ ५॥

जो कोई कहे कि उसी के वचनों से अन्य जीव लोग ईश्वर को

जानते हैं तो 'ईश्वर के वचन से ईश्वर की सिद्धि और ईश्वर से वचन की' यह अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि सर्वज्ञोक्तवचन से वाक्य सत्य और उससे ईश्वर अस्तित्व सिद्ध करना है, यह दोनों एक दूसरे की सिद्धि में अपेक्षा रखते हैं, उसके विना एक-दूसरे की सिद्धि नहीं होती॥ ६-७॥

जो मूलवर्जित असर्वज्ञप्रणीतवचन से सर्वज्ञ को जानते हैं, वे उसके वाक्योक्तधर्म को नहीं जानते॥ ८॥

जो हम इस समय किसी को सर्वज्ञ के तुल्य देखें तो उपमान से सर्वज्ञ को मान सकें और उपदेश भी बुद्ध अर्थात् जानकार का धर्माधर्म लक्षणस्वरूप हो सकता है। अन्यथा अर्थात् बुद्धि के विना सर्वज्ञ नहीं हो सकता जो सर्वज्ञ हमको उपदेष्टा प्रत्यक्ष न हो तो हम धर्माधर्म नहीं जान सकें, इसलिए सर्वज्ञ तीर्थंकरों का वचन मानना 'अनादि ईश्वर कोई नहीं है'॥ ९-१०॥

इसका खण्डन—

उत्तर—यह सब प्रपञ्च की बात है। क्योंकि जो प्रथम रागादि दोषयुक्त है, वह सदा के लिए कभी नहीं छूट सकता, क्योंकि जो नैमित्तिक दोष हैं तो फिर भी निमित्त होने से हो जायेंगे और जो स्वाभाविक हैं, तो कभी न छूटेंगे। जो देशकाल से परिच्छिन्न वस्तु होता है, वह एकदेशी, और जो एकदेशी होता है, वह सर्वज्ञ नहीं। क्योंकि जो वस्तु अल्प है, उसके गुण, कर्म, स्वाभाव भी अल्प होते हैं, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। किन्तु जो सर्वव्यापक अनादि परमात्मा है, वही सनातन ईश्वर है॥ १॥

क्या जो वस्तु तुमको प्रत्यक्ष न हो, वह नहीं होता और जो प्रत्यक्ष है वही होता है, ऐसा नियम है? तुम प्रत्यक्ष छ: प्रकार का मानते हो। एक श्रावण, दूसरा त्वाच, तीसरा चाक्षुष, चौथा रासन, पाँचवाँ घ्राण और छठा मानस। जैसे पृथिवी के गन्धादि गुण कठिनत्वादि स्वभाव को देख के पृथिवी प्रत्यक्ष होती है, वैसे ही परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और नियम सृष्टि में रचना आदि गुण, कर्म और स्वभाव कार्यनियम देखकर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अनादि ईश्वर का प्रत्यक्ष करना

चाहिए। और जब जीवात्मा किसी दुष्ट वा श्रेष्ठ काम का ध्यान करता है, उस समय वह तदाकार उसके अभिमुख होता है। उसी समय उसके भीतर से दूसरी प्रेरणा अर्थात् पाप में भय, शङ्का, लज्जा और पुण्य में निर्भय, उत्साह और प्रसन्नता की रहने वाली बुद्धि होती है, वह ईश्वर की ओर से है। वहां गुण-गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध है, इसलिये परमात्मा प्रत्यक्ष है। जैसे किसी कृत्रिम पदार्थ को देखकर, उसमें रचनाविशेष लिङ्ग को देखकर, अदृष्ट कर्त्ता को निश्चित जानना होता है। क्या यह ईश्वर में अनुमान का लिङ्ग नहीं॥ २॥

आगम अर्थात् आप्त के कहे का प्रमाण मानना चाहिये। तुम्हारे पुस्तकों में अनादि ईश्वर का निरूपण नहीं किया, सो भूल है। जो नित्य सर्वज्ञ न हो तो सादि ज्ञानयुक्त पुरुष का शरीर पालने के पदार्थ कहाँ से हो सकें? क्योंकि शरीर का आदि अन्त होता है, इसका कर्त्ता जीव नहीं हो सकता। जो शरीरादि का कर्त्ता होता, तो शारीरिक क्रिया भी जानता कि इस आँख में कितनी नाड़ी आदि पदार्थों के संयोग-वियोग हैं, उसको जानता। जैसे सांचे में किसी धातु को ढालते हैं, तादृश पात्र बन जाता है। अथवा बीज में जैसी रचना करता है, वैसा ही अंकुर, मूल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल उत्पन्न होता है, यह सामर्थ्य जीव का, जड़ का नहीं है क्योंकि जीव को जब शरीर प्राप्त होता है, तभी कुछ कर सकता और ज्ञान का सामर्थ्य बढा सकता है अन्यथा नहीं। तो जो अनादि ईश्वर जीव के शरीर वा बीज आदि का योग न करता, तो जगत् में कुछ भी न हो सकता। देखलो! कितना ही कोई विद्वान् वा योगी हो, जब सुषुप्ति को प्राप्त होते हैं, तब कुछ भी भान नहीं रहता।

दूसरा—जब दु:ख प्राप्त होता है, तब ज्ञान न्यून हो जाता है। जीव वा जड परमाणुओं से स्वत: भी रचनाविशेष नहीं हो सकती और यथार्थवाद भी ईश्वर में यथावत् घटता है, क्योंकि जगत् में अनन्त विद्या के यथावत् रचित कार्यों को देखने से ईश्वर प्रशंसनीय होता है। जब अन्तर्यामी ईश्वर अपने गुण, कर्म और स्वभाव का प्रकाश जीवात्मा में करे, पुनः दूसरे के सामने परमेश्वर का अनुवाद करना भी सहज है। अन्योऽन्याश्रय दोष अनित्य पदार्थ में आता है नित्य में नहीं। क्योंकि

जो साधनसाध्य हो उसी में अनवस्था आती है, नित्य में नहीं। जैसे सूर्य और प्रदीप का प्रकाशक और प्रकाश्य सूर्य और दीप होता है, दूसरा नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर का वचन और परमेश्वर नित्य और स्वयं प्रकाश होने से अनवस्था नहीं आसकती। वैसे उपमान से भी ईश्वर सिद्ध होता है। क्योंकि परमेश्वर के सदृश परमेश्वर है वा एकदेश अथवा एक गुण, कर्म, स्वभाव तुल्य, दूसरा आकाश, न्यायाधीश आदि होते हैं, उसकी उपमा से भी ईश्वर सिद्ध होता है। इसलिये जो तीर्थंकरों को परमेश्वर मानते हो तो उनके माता पिता को उत्पन्न किसने किया था? जो कहो कि वे स्वभाव से हुये थे, तो अब भी स्वभाव से मनुष्य क्यों नहीं होते?॥ ३-१०॥

आस्तिक और नास्तिक का संवाद

इसके आगे प्रकरण रत्नाकर दूसरे भाग से जिसको बड़े-बड़े जैनियों ने अपनी सम्मति के साथ माना और मुम्बई में छपवाया है जैनियों के ईश्वरखण्डन में आस्तिक नास्तिक संवाद के प्रश्नोत्तर यहाँ लिखते हैं।

नास्तिक—ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता है, जो कुछ होता है, वह कर्म से।

आस्तिक—कर्म से जो होता है, तो कर्म किससे होता है? जो कहो जीव आदि से, तो उन्हीं के फल भोगना जीव की इच्छानुकूल है। परन्तु पाप के फल दु:ख को जीव अपनी इच्छा से नहीं भोगता, ईश्वर के भोगाने से भोगता है। जैसे चोर सुख अपनी इच्छा से भोगता है और दु:ख राजा की व्यवस्था से।

नास्तिक—ईश्वर अक्रिय है, क्योंकि जो कर्म कर्त्ता होता, तो कर्म का फल भी भोगना पड़ता।

आस्तिक—ईश्वर अक्रिय नहीं, क्योंकि चेतन और सृष्टिकर्त्ता है। जैसा तुम्हारा कृत्रिम बनावट का ईश्वर जैसा कि तुमने तीर्थङ्करों को जीव से ईश्वर बने हुये माना है, वैसे कदाचित् होने वाले इस प्रकार के ईश्वर को कोई विद्वान् नहीं मान सकता। क्योंकि जो निमित्तों से ईश्वर बने तो अनित्य हो जाय। क्योंकि ईश्वर बने के पहले जीव था, पश्चात् किसी निमित्त से ईश्वर बना हो, वह फिर भी जीव हो जायगा। क्योंकि

यह अनादि काल से जीव था, अनन्त काल तक रहेगा। फिर बीच में ईश्वर बना, वह भी अन्त में पुन: जीव हो जायगा। इसलिये इस अनादि सिद्ध ईश्वर को मानना योग्य है। परमेश्वर पाप कभी नहीं करता। जैसे स्वाभाविक चेष्टा होती है, उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है, इसलिये जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। स्वभाव से जगत् बनता है, तो जगत् के कारण का स्वभाव जडत्व है, वह ज्ञानपूर्वक श्रेष्ठ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें यथायोग्य बनने का ज्ञान ही नहीं। जैसा मट्टी में घट और रूई में कपड़े बनने का स्वत: सामर्थ्य नहीं। दूसरे ज्ञान वाले के बनाने से घड़ा तथा वस्त्र बनता है।

नास्तिक—ईश्वर व्यापक नहीं है। जो व्यापक होता तो सब चेतन होता और बराबर चेतनता क्यों नहीं? ब्राह्मणादि में उत्तम, मध्यम, निकृष्टता क्यों हुई? क्योंकि सबमें ईश्वर एक-सा व्यापक है तो छोटाई बड़ाई क्यों हुई?

आस्तिक—व्याप्य और व्यापक एक नहीं, किन्तु दो होते हैं। जैसे आकाश सब में व्यापक है और सब आकाश के सदृश नहीं होता। वैसे परमेश्वर के चेतन होने से सब जडवस्तु चेतन नहीं होता। जैसे आकाश सब में बराबर है, पृथ्वी आदि के अवयव बराबर नहीं, वैसे परमेश्वर के बराबर कोई नहीं। जैसे विद्वान् अविद्वान्, धर्मात्मा अधर्मात्मा बराबर नहीं होते, वैसे विद्यादि सद्‌गुण और सत्यभाषणादि कर्म तथा सुशीलतादि स्वभाव के अधिक न्यून होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज बड़े-छोटे माने जाते हैं। वर्णों की व्याख्या जैसी चतुर्थसमुल्लास में लिख आये हैं, वहाँ देख लो।

नास्तिक—ईश्वर ने जगत् का अधिपतित्व और जगत्‌रूप ऐश्वर्य किस कारण स्वीकार किया?

आस्तिक—ईश्वर ने कभी अधिपतित्व न छोड़ा था, न ग्रहण किया है, किन्तु अधिपतित्व और जगत्‌रूप ऐश्वर्य ईश्वर ही में है। न कभी उससे अलग हो सकता है तो ग्रहण क्या करेगा? क्योंकि अप्राप्त का ग्रहण होता है। व्याप्य से व्यापक और व्यापक से व्याप्य पृथक् कभी नहीं हो सकता। इसलिये सदैव स्वामित्व और अनन्त ऐश्वर्य

अनादि काल से ईश्वर में है। इसका ग्रहण और त्याग जीवों में घट सकता है, ईश्वर में नहीं।

नास्तिक—जो ईश्वर की रचना से सृष्टि होती है, तो माता पितादि का क्या काम? जब परमात्मा शाश्वत, अनादि, चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप है तो जगत् के प्रपञ्च और दु:खरूप में क्यों पड़ा? ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी आनन्द को छोड़, दु:ख को ग्रहण नहीं करता, तो ईश्वर ने क्यों किया?

आस्तिक—ईश्वर की सृष्टि भिन्न और मानुषी सृष्टि भिन्न होती है। इसलिये माता-पिता की आवश्यकता है। जैसे परमात्मा अनादि प्रकृति परमाणुरूप कारण से सृष्टि करता है, वैसे परमात्मा ने माता-पितारूप निमित्त कारण से उत्पत्ति का प्रबन्ध किया है। इसमें कोई दोष नहीं।

परमात्मा किसी प्रपञ्च और दु:ख में नहीं गिरता, न अपने आनन्द को छोड़ता है, क्योंकि प्रपञ्च और दु:ख में गिरना जो एकदेशी हो उसका हो सकता है; सर्वदेशी का नहीं। जो अनादि, चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे तो अन्य कौन बना सके? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड़ में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणु रूप कारण से सृष्टि करता है वैसे माता पितारूप निमित्तकारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध-नियम उसी ने किया है।

नास्तिक—ईश्वर मुक्तिपद को छोड़ जगत् में अनेकरूप पदार्थों की सृष्टिधारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पडा?

आस्तिक—ईश्वर सदा मुक्त है। तुम्हारे तीर्थङ्करों के सदृश बन्धपूर्वक मुक्ति का होना ईश्वर में नहीं। जगत् को बनाता, धर्ता, पालनकर्त्ता और प्रलय करके भी बन्ध में नहीं पड़ता, क्योंकि बन्ध और मुक्त सापेक्ष है। जो बन्ध न हो, तो मुक्ति नहीं और मुक्ति हो, तो बन्ध नहीं। परमेश्वर में बन्ध-मोक्ष नहीं घट सकता, किन्तु सदा मुक्त है। और जो एकदेशी जीव हैं, वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते हैं। अनन्त सर्वदेशी, सर्वव्यापक, ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में, जैसे कि

तुम्हारे तीर्थंकर हैं, कभी नहीं पड़ता।

नास्तिक—पी हुई भांग के नशे के समान जीव अपने-अपने कर्मों के फलों को प्राप्त होता है, इसमें ईश्वर का कुछ काम नहीं।

आस्तिक—विना राजा के डाकू, चोर आदि दुष्ट मनुष्य स्वयं फांसी नहीं चढते और न कारागार में जाते, किन्तु राजा उनके कर्मों का फल देता है, वैसे ईश्वर की न्याय व्यवस्था के विना कर्मों का फल कोई भी नहीं भोग सकते, इसलिये ईश्वर का न्यायाधीश होना अवश्य है।

नास्तिक—जगत् में एक ईश्वर नहीं, किन्तु अनेक मुक्त जीव ईश्वररूप हैं।

आस्तिक—यह कहना व्यर्थ है। क्योंकि जो प्रथम बद्ध होकर मुक्त हो, तो पुनः अवश्य बन्ध में पड़ेगा, जैसे कि तुम्हारे तीर्थङ्कर। और जो सदा मुक्त है, वह कभी बन्ध में न गिरेगा। और जब बहुत से ईश्वर हैं, तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते भिड़ते फिरते हैं, वैसे ईश्वर भी लड़ा-भिड़ा करेंगे।

नास्तिक—हे मूढ! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, किन्तु जगत् स्वयंसिद्ध है।

आस्तिक—कर्त्ता के विना कोई कर्म और कर्म के विना कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिये ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। जो जगत् स्वयं सिद्ध होता तो तुम्हारे खेत के गेहूं स्वयं पिसान, रोटी बन, तुम्हारे पास आकर, मुख में घुसकर, पेट में चली जाय तो विना ईश्वर के किये जगत् भी स्वयं बन जाय।

नास्तिक—ईश्वर विरक्त है वा मोहित? जो विरक्त हो तो जगत् के प्रपञ्च में क्यों पड़े? जो मोहित हो तो जगत् बनाने का सामर्थ्य ही नहीं होगा।

आस्तिक—परमेश्वर में वैराग्य वा मोह नहीं घट सकता। क्योंकि वह सर्वव्यापक, सर्वोत्तम होने से किसी से पृथक् वा किसी से राग नहीं कर सकता। ईश्वर से उत्तम वा उसको अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये किसी में मोह भी नहीं होता। वैराग्य और मोह का होना जीव

में घटता है; ईश्वर में नहीं।

नास्तिक—जो जगत् का कर्त्ता, कर्मों के फलों का दाता ईश्वर को मानोगे, तो ईश्वर प्रपञ्ची होकर दु:खी हो जायगा।

आस्तिक—दु:ख अज्ञान और अधर्माचरण से होता है। परमेश्वर में ये दोनों नहीं। इसलिए परमेश्वर प्रपञ्ची नहीं। प्रपञ्ची-अप्रपञ्ची जीव होते हैं इत्यादि विचार से ईश्वर की सिद्धि होती है। जो कोई इसको नहीं मानता, वह मूढमत है। हां! तुम अपने और अपने तीर्थंकरों के समान परमेश्वर को भी अपने अज्ञान से समझते हो, सो तुम्हारी अविद्या की लीला है। जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो, तो वेदादि सत्य शास्त्रों का आश्रय लेओ। क्यों भ्रम में पड़े-पड़े ठोकरें खाते हो?

अब जैनी लोग जीव को अनादि, अनन्त मानते हैं सो ठीक है, परन्तु जो जो विरुद्ध है, उस-उस को दिखलाकर खण्डन किया जायेगा। छः द्रव्यों में एक जीवद्रव्य भी जैनी लोग मानते हैं अर्थात् जगत् में जीव और अजीव दो ही पदार्थ हैं, तीसरा नहीं। ऐसा उनके केवली आचार्य तीर्थङ्कर का वचन है।

मूल—सामि अणाई अणन्ते, चउगई संसारघोरकान्तारे।
मोहाइ कम्मगुरुठिइ, विवागवसउ भमइ जीवो॥

—प्रकरणरत्नाकर भाग दूसरा (२)। षष्ठीशतक। सूत्र २॥

यह प्रकरणरत्नाकर नामक ग्रन्थ के सम्यक्त्वप्रकाश प्रकरण में गौतम और महावीर का संवाद है। इसका संक्षेप से उपयोगी यह अर्थ है कि यह संसार अनादि अनन्त है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई, न कभी विनाश होता है अर्थात् किसी का बनाया जगत् नहीं। सो ही आस्तिक-नास्तिक के संवाद में—हे मूढ! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं; न कभी बना और न कभी नाश होगा।

समीक्षक—अब विचारना चाहिये कि जीव अल्प और अल्पज्ञ है। जगत् का कार्य और कारण जड़ हैं। जो तीसरा अनन्त शक्तियुक्त परमात्मा न हो तो जगत् का उत्पादन, धारण आदि कर्मों को न कर सके। अब पृथिव्यादि भूत और भूगोलों को भी जैनी लोग जीव के शरीर मानते हैं। क्योंकि काची मिट्टी सजीव है, क्षार मट्टी अजीव है, इसलिये उसमें वनस्पति नहीं उगती। वाह रे जैनी लोगो! और धन्य हैं तुम्हारे केवली तीर्थङ्कर जिनको पदार्थ विद्या में बहुत ही भ्रम था। जो पृथिव्यादि किसी एक जीव का शरीर हो तो जैसे बड़ी-बड़ी तिमिङ्गिल मच्छी जिधर चाहती, उधर जाती-आती है, वैसे पृथिवी आदि क्यों नहीं स्वेच्छित चाल चलते हैं? क्या मिठीली मट्टी में वनस्पति उगता और क्षार मट्टी में नहीं उगता? हाँ! यह तो बात है कि मीठी मट्टी के वनस्पति आदि खारी मट्टी में, खारी मट्टी के वृक्ष आदि मीठी मट्टी में नहीं होते होंगे। किन्तु अपने-अपने ठिकाने सब होते हैं।

जो संयोग से उत्पन्न होता है वह अनादि और अनन्त कभी नहीं हो सकता। और उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता। जगत् में जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब 'संयोगज' उत्पत्ति-विनाशवाले देखे जाते हैं। पुन: जगत् उत्पन्न और विनाश वाला क्यों नहीं? इसलिये तुम्हारे तीर्थंकरों को सम्यग्बोध नहीं था। जो उनको सम्यग्ज्ञान होता तो ऐसी असम्भव बातें क्यों लिखते? जैसे तुम्हारे गुरु हैं, वैसे तुम शिष्य भी हो। तुम्हारी बातें सुनने वाले को पदार्थज्ञान कभी नहीं हो सकता।

भला! जो प्रत्यक्ष संयुक्त पदार्थ दीखता है उसकी उत्पत्ति और विनाश क्योंकर नहीं मानते? अर्थात् इनके आचार्य वा जैनियों को भूगोल खगोल विद्या भी नहीं आती थी और न अब यह विद्या इनमें है।

प्रश्न—जीव का आकार शरीर के सदृश होता है, जैसे घट में जल का आकार बनता है।

उत्तर—जो यह बात सत्य हो तो हाथी का जीव कीड़ी और कीड़ी का जीव हाथी में न समा सके। इसलिये यह बात झूठी है। यह भी एक मूर्खता की बात है! क्योंकि जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है परन्तु उसकी शक्तियां शरीर में प्राण, बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं, उनसे सब शरीर का वर्त्तमान जानता है। अच्छे सङ्ग से अच्छा और बुरे सङ्ग से बुरा हो जाता है।

जिनदत्त सूरि ने इस प्रकार कहा—

जिनो देवो गुरुः सम्यक् तत्त्वज्ञानोपदेशकः।
ज्ञानदर्शनचारित्र्याण्यपवर्गस्य वर्तिनी॥ १॥

स्याद् द्वादश्यप्रमाणे द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च।
नित्यानित्यात्मकं सर्वं नवतत्त्वानि सप्त वा॥ २॥
जीवाजीवौ पुण्यपापे चास्त्रवः संवरोऽपि च।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याऽधुनोच्यते॥ ३॥
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कर्म पुद्‌गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥ ४॥
आस्त्रवः कर्मणां बन्धो निर्जरणं द्वियोजनम्।
अष्टकर्मक्षयान् मोक्षाथान्तरभावश्च कश्चन॥ ५॥
सरजोहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्द्धजाः।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसंगा जैनसाधवः॥ ६॥
लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीया स्युर्जिनर्षयः॥ ७॥
भुङ्‌क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥ ८॥ —इति [आर्हतदर्शन]

अर्थ—जिन देव अर्थात् तीर्थङ्कर तत्त्व ज्ञान का उपदेशक, ज्ञान, दर्शन और चरित्र ये तीन रत्न अपवर्ग मोक्ष के मार्ग की प्राप्ति में स्याद्वाद के प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण, नित्य और अनित्यस्वरूप सब जगत् जैनमत में नव वा सात तत्त्व हैं॥ १-२॥

एक जीव, दूसरा अजीव, तीसरा पुण्य, चौथा पाप, पांचवां आस्त्रव, छठा संवर, सातवां बन्ध, आठवां निर्जरण और नववां मुक्तितत्त्व मानते हैं। इन नव तत्त्वों की यह व्याख्या है॥ ३॥

जो चेतन है वह **जीव**, जो जड़ है वह **अजीव**, जो सत्कर्म के पुद्‌गल हैं वह **[पुण्य] कर्म** और पाप का पुद्‌गल **पाप**, कर्मों का योग **आस्त्रव**, बन्ध का छुड़ाना **निर्जर** और ज्ञानावर्णी आदि आठ कर्मों का क्षय होना **मुक्ति** कहाती है॥४-५॥

अब जैनी के साधुओं के लक्षण—रंगे हुये वस्त्र पहरें, भिक्षान्न भोजन करें, सिर आदि के बाल लूँच डालें, एक श्वेताम्बर शुक्लवस्त्र धारण करनेहारे, क्षमायुक्त, संगदोष से रहित, दूसरे लुञ्चित केश, पिच्छिका

हाथ में रक्खें, तीसरे दिगम्बर वस्त्र धारण न करें, पाणिपात्र हाथ ही पात्र, गृहस्थ के घर में भोजन के पश्चात् भोजन करें और ऋषिसंज्ञक भी साधु होते हैं॥ ६-७॥

एक के घर में भोजन नहीं करते, स्त्री का संग नहीं करते, वह दिगम्बर मुक्ति को प्राप्त होता है। यही दिगम्बर और श्वेताम्बरों में भेद है अर्थात् दिगम्बर पहले के हैं और श्वेताम्बर पीछे हुए हैं॥ ८॥

जैनी—हमारे धर्म अधर्म भी द्रव्य हैं।

विवेकी—धर्म, अधर्म गुण हैं, द्रव्य कभी नहीं हो सकते। जो धर्माधर्म को द्रव्य मानते हो तो रूप, स्पर्श आदि को भी द्रव्य मानो।

प्रश्न—जैनीलोक जगत्, जीव, जीव के कर्म और बन्ध अनादि मानते हैं।

उत्तर—यहाँ भी जैनियों के तीर्थंकर भूल गये हैं, क्योंकि संयुक्त जगत् का कार्य कारण अनादिरूप और कार्य प्रवाहरूप से अनादि हो सकता है। जैसा तुम इस स्थूल जगत् को अनादि मानते हो, सो नहीं बन सकता, क्योंकि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व संयुक्तावस्था में नहीं होता, किन्तु वियोगावस्था में होता है। जो जीव को अनादिकाल बन्ध है, वह कभी न छूट सकेगा और जो अनादि का भी छूटना मानोगे तो जितने अनादि द्रव्य तुम्हारे मत में हैं, वे सब अनित्य हो जायेंगे। और मुक्ति सब कर्मों के छूटने से तुम मानते हो, तो सब कर्मों के छूटने रूप निमित्त से मुक्ति होने से नैमित्तिक हुई, जो निमित्त से होता है वह सदा नहीं रह सकता। और कर्म, कर्त्ता का नित्य सम्बन्ध होने से कर्म भी कभी न छूटेंगे। इसलिए तुम्हारे मत में जो-जो तीर्थंकर आदि मुक्ति में गये होंगे, वे सब फिर आवेंगे। पुनः तुम्हारे मत में मुक्ति अनित्य हो गई।

प्रश्न—जैसे मैल लगने के कारणों से वस्त्र में मैल लगता है और धोने से छूट जाता है, पुनः मैल लग जाता है, वैसे मिथ्यात्वादि हेतुओं से रागद्वेषादि के आश्रय से जीव को कर्मरूप मल लगता है।

उत्तर—जो मिथ्यात्वादि हेतुओं से जीव मलीन होता है, तो उन निमित्तों के पूर्व जीव को निर्मल मानना पड़ेगा और जो निर्मल को मल

लगा, तो अनिर्मोक्षापत्ति तुम्हारे मत में आवेगी। क्योंकि मुक्ति में जीव को तुम निर्मल मानते हो और मल लगने के कारणों से मलों का लगना मानते हो, तो मुक्त जीव संसारी और संसारीजीव मुक्त होता है, ऐसा अवश्य ही मानना पड़ेगा।

प्रश्न—जीव अनादि काल से कर्मसहित है। कर्म छूटे पीछे, नहीं लगते।

उत्तर—जो अनादि से कर्म सहित है, उसका छूटना असम्भव है और विना छूटे मुक्ति कहाँ? इसलिए जीवों के कर्म और मुक्ति को प्रवाह रूप से अनादि मानो। अनादि अनन्तता से नहीं।

प्रश्न—जीव निर्मल कभी नहीं था।

उत्तर—जो कभी निर्मल नहीं था, तो कभी भी निर्मल नहीं हो सकेगा। जैसे वस्त्र का पीछे से लगा मैल धोने से छूट जाता है, पुन: मैल लग जाता है। परन्तु उसका श्वेतपन कभी नहीं छूट सकता।

प्रश्न—जीव पूर्वोपार्जित कर्मों ही से स्वयं शरीर धारण कर लेता है। ईश्वर का मानना व्यर्थ है।

उत्तर—जो केवल कर्म ही जन्म धारण करने में कारण हो, तो वह जीव बुरा जन्म जहाँ कि दु:ख हो उसको धारण न करे, किन्तु अच्छे-अच्छे जन्म धारण करे। जो कहो कर्म प्रतिबन्धक है, तो भी कर्म के जड़ होने से निरोधक वा प्रवर्त्तक नहीं हो सकते। इसलिए कर्म का फल प्रदाता परमेश्वर को मानना तुमको उचित है। जो कहो कि नशा के समान कर्म स्वयं परिणाम को प्राप्त होता है, तो विना किया हुआ कर्म परिणाम को प्राप्त क्यों नहीं होता? जो कहो कि जिसका जैसा स्वभाव है, वह वैसा ही होता है, तो विष विना खाये क्यों नहीं किसी को मारता? क्योंकि उसका परिणामी स्वभाव है। जो कहो संयोग के विना कर्म-परिणाम प्राप्त नहीं होता, तो जीव और कर्म को संयुक्त करनेवाला कोई तीसरा मानना पड़ेगा। जो न मानोगे, तो जड़ का संयोग स्वत: नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि विना ईश्वर के कर्मफल व्यवस्था नहीं हो सकती।

प्रश्न—जो कर्म से मुक्त होता है, वह ईश्वर कहाता है।

उत्तर—जब अनादि काल से जीव के साथ कर्म लगे हैं तो मुक्त कैसे हो सकता है? और जिसको कर्म लगता है, वह ईश्वर ही नहीं। और कर्म, कर्त्ता का 'समवाय' अर्थात् नित्य सम्बन्ध होता है, यह कभी नहीं छूटता; इसलिये जैसा ९वें समुल्लास में लिख आये हैं, वैसा ही मानना ठीक है। जीव चाहै जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे, तो भी उसमें परिमितज्ञान और समीम सामर्थ्य रहेगा। ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। हाँ जितना सामर्थ्य बढ़ना उचित है, उतना योग से बढ़ा सकता है।

प्रश्न—कर्म का बन्ध सादि है।

उत्तर—जो सादि है तो संयोग की आदि से पूर्व जीव निष्कर्म था। जब निष्कर्म को कर्म लग गया, तो जितने तुम्हारे निष्कर्म मुक्त जीव हैं, उनको भी कर्म लगके संसार में गिरेंगे।

प्रश्न—जो पशुओं को मार यज्ञ में होम करने से पशु स्वर्ग में जाय, तो यजमानादि स्वयं अग्नि में अपने शरीर का होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं जावें?

उत्तर—यह बात वेदों की नहीं। अर्थात् पशु मारके होम करना आदि विधि वाममार्गियों ने बनाया है। परन्तु इसको कोई सज्जन नहीं मानता। परन्तु उन्हीं चारवाक के मत की यह बात है। इसलिए जैनी लोग भी कुछ-कुछ चारवाक के मत से भी मिलते हैं।

प्रश्न—जैसे तूम्बी में से मट्टी थोड़ी निकलने से वह ऊपर आती है, वैसे जीव के कर्मबन्धन कम-कम होने से जीव की ऊर्ध्वगति होकर सिद्धशिला में जाते हैं।

उत्तर—जैनियों ने ऊपर नीचे की बातें गमारूपन की समझ रक्खी हैं, जो विद्या होती, तो ऐसी निर्मूल बात क्योंकर मानते! देखो! जिसको हम ऊपर कहते हैं, उसी को उससे परे वाले लोग नीचा कहते हैं और जिसको हम नीचा कहते हैं, उसी को उससे नीचे रहने वाले ऊँचा कहते हैं। ऐसे ही अलग-बगल में रहने वालों की बात है। इसलिए सिद्धशिला और शिवपुर को मुक्ति स्थान मानना अविद्या की बात है।

प्रश्न—हमारे मत में साधुओं को रागद्वेष नहीं।

उत्तर—देखो! तुम्हारे मूल आवश्यक सूत्र में क्या लिखा है—

अरिहन्ते सुयरागो सारीसुवं भयारीसु —इत्यादि

अर्थात् अशुभ के छोड़ने में द्वेष, श्रेष्ठ और शुभ कामों में राग करना अच्छा। यह रागद्वेष किसी का नहीं छूटता। अर्थात् बुरे कामों पर द्वेष और अच्छे कामों में प्रीति करना बहुत अच्छी बात है।

अब प्रकरणरत्नाकर के पहिले भाग में जो देवचन्द्रजी कृत नयचक्र-सार है, उसी की बातें लिखते हैं। जिसको सब जैन लोग मानते हैं।

तत्र द्रव्यभेदा यथा जीवा अनन्ताः, तत्रैकस्मिन् द्रव्ये प्रतिप्रदेशे स्वरूप एककार्य्यकरणसामर्थ्यरूपा अनन्ता अविभागरूपपर्याया एव गुणा अप्यनन्ताः प्रतिगुणं प्रतिदेशं पर्याया अप्यनन्ताः प्रति वस्तूनि अनन्तास्ततोऽनन्तगुणसामर्थ्यपर्यायाः॥

—प्रकरणरत्नाकर भाग १

उत्तर—जीव अनन्त हैं, उनका ज्ञान किसी जीव का सामर्थ्य नहीं, केवल अटकरपच्चासी की बात है। अनन्त के स्थान में असंख्य कहता तो ठीक बात थी। क्योंकि हम जीव लोग जीवों की गणना नहीं कर सकते। अब एक-एक द्रव्य में अपने-अपने एक कार्यकरण सामर्थ्य को अविभाग पर्यायों से अनन्त मानना केवल अविद्या की बात है। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य की सीमा है, तो उसमें अनन्त अविभाग रूप पर्याय कैसे रह सकते हैं। और एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण और एक-एक गुण और प्रदेश से अविभागरूप अनन्त पर्याय का मानना केवल बालकों की बातें हैं। और एक-एक वस्तु पर्याय भी अनन्त मानना केवल अविद्या की बात है। क्योंकि जिसके अधिकरण का अन्त है, उसमें अनन्त कभी नहीं रह सकता। जैसे जैनी कहते हैं कि छोटे से कन्द में अनन्त जीव हैं। जब कन्द का अन्त है तो जीवों का अन्त क्यों नहीं? जितनी विद्याशून्य मिथ्या बातें जैन के ग्रन्थों में है, उतनी अन्यत्र नहीं, और जहाँ कहीं हैं, उनका मूल जैनमार्ग है।

एक उनका नवकार मन्त्र है। उसका स्वरूप—

नमो अरिहन्ताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उबज्झायाणं नमो लोए सब्बसाहूणं। एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो, मंगलाचरणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलम्॥

इस मन्त्र का अर्थ यह है—

(नमो अरिहन्ताणं) सब तीर्थंकरों को नमस्कार। **(नमो सिद्धाणं)** जैनमत के सब सिद्धों को नमस्कार। **(नमो आयरियाणं)** जैन मत के सब आचार्यों को नमस्कार। **(नमो उवज्झायाणं)** जैनमत के सब उपाध्यायों को नमस्कार। **(नमो लोए सब्बसाहूणं)** जितने जैनमत के साधु इस लोक में हैं, उन सबको नमस्कार है।

यद्यपि मन्त्र में जैनपद नहीं है तथापि जैनियों के अनेक ग्रन्थों में सिवाय जैनमत के अन्य किसी को नमस्कार भी न करना लिखा है। इसलिए यही अर्थ ठीक है।

इसका ऐसा माहात्म्य धरा है कि तन्त्र, पुराण और भाटों की कथा को भी मात कर दिया है। अर्थात् इस मन्त्र के जप से सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्राद्धदिनकृत्य और आत्मनिन्दाभावना में इसका ऐसा फल लिखा है—

नमुक्कारं तउ पढे॥ ९॥

तउ कब्बं मन्ताणमंतो परमो इमुत्ति धेयाणधेयं परमं इमुत्ति।

तत्ताणतत्तं परमं पवित्तं संसार सत्ताण दुहाइयाणं॥ १०॥

ताणं अंनंतु नो अत्थि जीवाणं भवसायरे।

बुडुं ताणं इमं मुत्तुं नमुक्कारं सुपोययम्॥ ११॥

कब्बं अणेगजम्मं तरसं चिआणं दुहाणं सारीरिअमाणुसाणु साणं।

कत्तोय भब्बाणभविज्जनासो।

न जावपत्तो नवकारमंतो॥ १२॥

सब मन्त्रों में यह पवित्र और परम मन्त्र है। ध्येयों के मध्य में परम ध्येय, तत्त्वों में परम तत्त्व, दुःख से पीड़ित संसारी जीवों का यह नवकार मन्त्र जैसी समुद्र के पार उतारने की नौका होती है उस नौका के समान है। संसार में डूबने वाले जीवों का एक यही रक्षक है। अनेक जन्मान्तर शरीर और मन सम्बन्धी दुःख भव्यजीवों के नहीं नष्ट होते, जब तक

नवकार मन्त्र का ग्रहण न करे। भवसागर से तर जाते हैं॥ ९-१२॥

अग्निप्रमुख आठ महाभय नहीं होते। जैसे महारत्न वैडूर्य नामक मणि ग्रहण करने में आवे अथवा शत्रुभय में अमोघ शस्त्र ग्रहण करने में आवे, वैसे श्रुतकेवली का ग्रहण करे। और सब द्वादशाङ्गी का नवकार मन्त्र रहस्य है। [—श्रा०दि०कृ०पृ० ३, सूत्र १३]

समीक्षक—यह गपोड़ा नहीं तो क्या है? जो संसार में पाषाणादि मूर्तिपूजा चली है, वह सब बौद्ध और जैनियों से चली है कि जिसने सब जगत् को भरमाया है।

देखलो! श्राद्धदिनकृत्य के पहिले पृष्ठ में लिखा है कि—

सन्ध्या समय के भोजन में जिनबिम्ब अर्थात् उनकी मूर्तियों का पूजना, द्वारपूजा में बड़े-बड़े बखेड़े और नियम, मन्दिर बनाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने से मुक्ति हो जाती है।

यह बीसवें पृष्ठ में और तेईसवें पृष्ठ में—

मन्दिर में इस प्रकार जावे, जाकर बैठे, बड़े भाव, प्रीति से पूजा करे। "**नमो जिनेन्द्रेभ्यः**" इत्यादि मन्त्रों से स्नानादि करावे, जल, चन्दनादि चढावे।

वैसे ही रत्नसारभाग के बारहवें पृष्ठ में मूर्त्तिपूजा का फल—पुजारी को राजा और प्रजा कोई न रोक सके।

तेरहवें पृष्ठ में—मूर्त्तिपूजा से रोग, पीड़ा, महादोष छूट जाय। पांच कौड़ी का फूल चढाया, उसने १८ देश का राज पाया, उसका नाम कुमारपाल हुआ था, इत्यादि।

समीक्षक—जो ये बातें सच्ची हों, तो जैनी लोगों में से राजा और प्रजा का दण्ड, रोग, पीड़ा कौन भोगते? और महादोषों में क्यों फस रहे हैं। जो मूर्त्तिपूजा से भवसागर से छूट जाय तो ज्ञान, सम्यग्दर्शन और चरित्र की प्राप्ति क्यों करना? वाह! पांच कौड़ी के फूल चढाने से १८ देश का राज मिल जाये, तो सौ रुपये के फूल चढाने से क्या मिल जाय अर्थात् ब्रह्माण्ड में सब लोक-लोकान्तर का भी राजा होता है?

और गोतम का अंगूठा धोके पीये तो अमृत का फल पावे। यह बारहवें पृष्ठ में लिखा है।

तो जैनी लोग गोतम का अंगूठा धोकर पीके अमर क्यों नहीं हो जाते?

अब इनकी मुक्ति का थोड़ा-सा वर्णन करते हैं—

उसी रत्नसारभाग के २३वें पृष्ठ में [लिखा है] सिद्धशिला अर्थात् जिस पर सिद्धपुरुष रहते हैं, वह पैंतालीस लाख योजन लम्बी, पोली और आठ योजन चौड़ी है। एक करोड़, अस्सी लाख कोश लम्बी और पोली है और बत्तीस कोश चौड़ी है। वह सिद्ध शिला चौदहवें लोक की शिखा पर है।

समीक्षक—यह बात महावीर तीर्थङ्कर के मुख की है और यहीं शिवपुर का भी वर्णन किया है। भला! यह बात किसी बुद्धिमान् के मन में आ सकती है? जो यही मुक्ति का स्थान हो तो बन्धन हो जाय। क्योंकि इसके ऊपर और चारों ओर आकाश ही होगा। फिर उस धाम से बाहर जाने में डरते होंगे। और इतनी लम्बी चौड़ी एक शिला जैनी के तीर्थङ्कर नाप और देख के कहने को आये होंगे। जो ऐसा ही हो तो अब क्यों नहीं कहने को आते? यह जैनी भी मुक्तिविषय में भ्रम से फसे हैं। यह सच है कि विना वेदों के यथार्थ अर्थबोध के मुक्ति के स्वरूप को कभी नहीं जान सकते।

उसी रत्नसार पृष्ठ २९ में आबू, गिरनार, शत्रुञ्जय, शम्मेत शिखर आदि तीर्थ करें, वे धन्य हैं। और कर्म का क्षय मुक्ति पर्यन्त माना है।

समीक्षक—यह भी बुद्धिमानों की समझ से सब प्रकार विरुद्ध है।

और देखो! बड़ा पक्षपात और अन्धाधुन्ध लेख विवेकसार के ५५ पृष्ठ में—गंगादि तीर्थ और काशी आदि क्षेत्रों के सेवने से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता।

समीक्षक—वाह रे जैनी लोगो! अपने जल, स्थल, पाषाणरूप मूर्त्ति आदि की सेवा से सब पाप क्षय और मुक्तिपर्यन्त फल मानो और दूसरे के जल, स्थल, पाषाणमूर्त्ति का खण्डन करो, यह अपनी मूर्खता, छल, झूठ, मतलबसिन्धु की बात नहीं तो क्या है? सच तो यह है कि तुम दोनों झूठे हो। जल, स्थल और पाषाणादि मूर्त्तियों से पापक्षय और

मुक्ति कभी नहीं होती।

यह इनका श्लोक है, जल, चन्दनादि चढाने का—

जलचन्दनधूपनैरथदीपाक्षतकैर्निवेद्यवस्त्रैः।
उपचारवरैर्वयं जिनेन्द्रान् रुचिरैरद्य यजामहे॥ १॥

[विवेकसार पृ० ५२]

अर्थात् जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, वस्त्र, अतिरुचिकारक उत्तम उपचार से आनन्दपूर्वक जिनेन्द्रों अर्थात् तीर्थङ्कर की मूर्त्तियों की पूजा करते हैं॥ १॥

समीक्षक—जितना यह पूजा का आडम्बर चला है, वह सब जैनों के घर से चला है। यह श्लोक विवेकसार के ५२ पृष्ठ में लिखा है।

पृष्ठ १३६ विवेकसार में दशार्ण राजा चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के दर्शन करने को गया। वहाँ कुछ अभिमान किया तो वहां महावीर के दर्शन को १६,७७,७२,१६००० इतने इन्द्र के स्वरूप और १३,३७,०५,७२, ८०,००००००० इतनी इन्द्राणी आई थीं। देखकर राजा आश्चर्य [में] हो गया।

समीक्षक—अब विचारना चाहिये कि इन्द्र और इन्द्राणियों के खड़े रहने के लिए ऐसे-ऐसे कई भूगोल हों तो भी नहीं समा सकें। परन्तु इसमें ऐसा होगा कि कितने ही ग्रन्थकार के घर में बैठे होंगे। कितने ही उनके चेलों के घर में और कितने उनके कन्धों पर बैठे होंगे और कितने ही पुकारते होंगे।

अब इनके पक्षपात की बातें देखो! अपने तीर्थंकरों का जिन्होंने गृहाश्रम किया, पुत्रोत्पत्ति की, संसार भोगा, पश्चात् साधु हुये, उनका मान करते हैं।

और विवेकसार १०३ पृष्ठ में श्री स्थूलभद्र स्वामी की कथा।

रत्नसारभाग, पृष्ठ ११० में—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव स्त्री के गुलाम बताये हैं। रत्नसारभाग, पृष्ठ १११ में—कृष्णादि नव वासुदेव और प्रह्लादादि प्रतिवासुदेव नरक में गये।

रत्नसारभाग, पृष्ठ २०—ब्रह्मा, विष्णु, नारायण आदि सब कामी हैं, इसलिये इनको छोड़ने योग्य कहा है।

समीक्षक—और जिन ऋषभदेव आदि ने विवाह कर गृहाश्रम भोगा, वे त्यक्तव्य क्यों नहीं? जो ये त्यक्तव्य नहीं तो नारायण आदि अच्छे क्यों नहीं? ऋषभदेव संसारदुःख के तरने के लिये काष्ठ की नौका के समान तारने वाले और महादेव, विष्णु आदि पत्थर की नौका के समान डुबाने वाले हैं। भला! यह झूठ, पक्षपात की बात जैसे कूंजरी अपने खट्टे बेरों को मीठे बतलाती है, वैसी यह क्या नहीं है?

विवेकसार पृष्ठ २१—जिनमन्दिर में मोह नहीं आता। भवसागर के पार उतारने वाला है।

विवेकसार पृष्ठ ५१ और ५२—मूर्त्तिपूजा से मुक्ति होती है और जैनमन्दिर में जाने से सद्गुण आते हैं। जो जल चन्दनादि से जिनमूर्त्तियों की पूजा करे वह नरक से छूट स्वर्ग को जाय।

विवेकसार पृष्ठ ५५ में—जिनमन्दिर में ऋषभदेव आदि की मूर्त्तियों के पूजने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सिद्ध होता है।

विवेकसार पृष्ठ ६१ में—जिनमूर्त्तियों की पूजा से सब पाप छूट जाते हैं।

पृष्ठ ६७ में—जिनमूर्त्तियों की पूजा करें तो जगत् के क्लेश छूट जायें।

पृष्ठ ८१ में—श्री जिन की पूजा से सब पाप छूट जाते हैं।

इत्यादि बड़े-बड़े विचित्र, असम्भव बातों के गपोड़े उड़ाये हैं।

और यह भी विवेकसार के तीसरे पृष्ठ में लिखा है कि—

जो 'जिन' की मूर्त्ति स्थापन करते हैं, उन आचार्यों ने अपनी और अपने कुटुम्ब की आजीविका चलाई है, ऐसा खण्डन भी करते हैं।

और उसी ग्रन्थ के २२५ पृष्ठ में शिव, विष्णु आदि मूर्त्ति की पूजा करनी बहुत बुरी है अर्थात् नरक का साधन है।

समीक्षक—भला! इनके पत्थर और जैनियों के पत्थरों में कुछ भेद है? जो कहै कि हमारी मूर्त्तियां त्यागी और शान्त हैं। भला! हम इनसे पूछते हैं कि तुम्हारी मूर्त्ति तो लाखों रुपये के मन्दिरों में रहतीं और चन्दन, पुष्पादि चढता है, इससे तो अधिक त्यागी और तपस्वी पहाड़ है। और तुम्हारी मूर्त्तियां नंगी मनुष्यों के बीच में लज्जाकारक हैं। भला! वे तो ऐब ढांक रखते हैं। इससे तुम दोनों मूर्त्तिपूजा छोड़ दो।

सब मतों की मूर्त्तिपूजा व्यर्थ है।

अब और देखिये लड़केपन की बातें। विवेकसार पृष्ठ १०१ में—एक नन्दीषेण ने दश पूर्व तक भोग किया। एक मुनि वेश्या के घर में रहा, भोग किया, फिर मुनि की दीक्षा ले, स्वर्ग को गया। और स्थूलभद्र मुनि भी ऐसा ही काम करके स्वर्ग को गया।

विवेकसार पृष्ठ २२८ में—एक पुरुष ने कोशा वेश्या का भोग किया, पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग को गया।

विवेकसार पृष्ठ १०१ में—अर्णकमुनि चरित्र से चूक, कई वर्ष दत्त सेठ के घर में भोग किया, पश्चात् देवलोक को गया।

विवेकसार पृष्ठ १०६ में—श्रीकृष्ण तीसरे नरक में गये।

विवेकसार पृष्ठ १४५ में—धन्वन्तरि वैद्य नरक को गया।

और देखो विचित्र लीला! विवेकसार पृष्ठ १०६ में—श्री कृष्ण के पुत्र ढण्ढण मुनि को स्यालिया उठा लेगया और खा गया, पश्चात् देवता हुआ।

जैनियों के सर्व तीर्थङ्कर और उनके गण तथा उनके शिष्य और जैनमतस्थ मनुष्य क्रोडान् क्रोड कोई शिवपुर, कोई सिद्धशिला, कोई देवलोक और कोई स्वर्ग में गये, परन्तु श्रीकृष्णादि और अन्य भी अनेक नरक को गये और जायेंगे।

समीक्षक—भला! अब विचारिये कि ये बातें! क्या जैनियों के ही हाथ में स्वर्ग-नरक की कुंजी है? इनको ऐसा महाझूठ लिखते बोलते लज्जा भी नहीं आई कि श्रीकृष्णादि महात्मा नरक में गये और इनके रण्डीबाज भी स्वर्ग और मुक्ति को चले गये। हम जानते हैं कि जितने झूठे, महामूर्ख, हठी और पक्षपाती जैनी लोगों में थे और हैं, वैसे अन्य लोगों में नहीं। भला! इन जैनियों के ऋषभदेवादि तीर्थङ्कर नरक में गये, महापापी थे और सब उनके चेले भी वैसे थे और हैं, ऐसा कोई लिखे वा कहे तो उनको कितना बुरा लगेगा। वैसा ही दूसरे का भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि इन महाहठी, दुराग्रही, मूर्खों के संग से

* जो उत्तम जन होगा वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा। [दयानन्द सरस्वती]

सिवाय बुराइयों के, अन्य कुछ भी पल्ले न पड़ेगा। हां! जो जैनियों में उत्तमजन* हैं, उनसे सत्संगादि करने में कुछ भी दोष नहीं।

और भी इनकी धर्म से उल्टी बातें सुनो। विवेकसार पृष्ठ ७ में—जो शुद्ध जिनवचन यथास्थितक है, उसी को सुगुरु अर्थात् अन्य को कुगुरु मानते हैं।

विवेकसार पृष्ठ ४८ में—योगी, जंगम, काजी, मुल्ला कितने ही अज्ञान से तप कष्ट करके कुगति को पाते हैं। रत्नसार भा० १ पृष्ठ १७०-१७१ में लिखा है कि नव वासुदेव अर्थात् त्रिपृष्ठ वासुदेव, द्विपृष्ठ वासुदेव, स्वयंभू वासुदेव, पुरुषोत्तम वासुदेव, सिंहपुरुष वासुदेव, पुरुषपुण्डरीक वासुदेव, दत्त वासुदेव, लक्ष्मण वासुदेव और ९ श्रीकृष्ण वासुदेव ये सब ग्यारहवें, बारहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, अठारहवें, बीसवें और बाईसवें तीर्थकरों के समय नरक को गये। और नव प्रतिवासुदेव अर्थात् अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव, तारक प्रतिवासुदेव, मोदक प्रतिवासुदेव, मधु प्रतिवासुदेव, निशुम्भ प्रतिवासुदेव, बली प्रतिवासुदेव, प्रह्लाद प्रतिवासुदेव, रावण प्रतिवासुदेव और जरासन्ध प्रतिवासुदेव ये भी सब नरक को गये।

विवेकसार पृष्ठ १५४ में—**अदेवा गुरवो धर्मेषु या देवगुरुधर्मधीः।**

यह श्री हेमचन्द्र सूरि ने लिखा है। अर्थात् ब्रह्मादि अदेव, जैन से भिन्न मार्ग के उपदेशक अगुरु और जैनधर्म से भिन्न सब अधर्म, इनमें देवगुरु धर्मबुद्धि करना मिथ्यादृष्टि, चौथे गुण ठाणे वाले, असंयति, अविरति, रजोहरणादि साधुवेश रहित जीवों को सम्यग् दृष्टि कहते हैं तो रजोहरणादि भगवान् का वेश तथा शुद्ध धर्म, जैनमार्ग का उपदेशक सम्यग् दृष्टि क्यों कहाता है?

विवेकसार पृष्ठ १५६ में—लिङ्गधारी अर्थात् वेशधारी मात्र का भी सत्कार श्रावक लोग करें। चाहे वे शुद्ध चरित्र हों वा अशुद्ध चरित्र।

विवेकसार पृष्ठ १६८ में—जैन साधु चरित्रहीन भी हो तो भी अन्य साधुओं से श्रेष्ठ ही है।

विवेकसार पृष्ठ १७१ में—श्रावक लोग जैन के साधुओं को धर्मरहित भ्रष्ट देखकर भी निस्नेह न होने चाहियें।

विवेकसार पृष्ठ १९४ में—जिन मत में स्थित होना सार, शेष सब

संसार के मत असार।

विवेकसार पृष्ठ १९६ में—अन्य मत की अभिलाषा जैनी को न करनी चाहिए। उनकी बात सुनने में भी दोष है।

विवेकसार पृष्ठ २१६ में—एक चोर ने पांच मूठी लोच के चारित्र ग्रहण किया। बड़ा कष्ट और पश्चात्ताप किया। छठे महीने में केवलज्ञान पाके सिद्ध हो गया।

विवेकसार पृष्ठ २२१ में—अन्य मत वाले को खाने-पीने की चीज़ भी न देनी चाहिये।

विवेकसार पृष्ठ २२१ में—१. 'परमती की स्तुति' अर्थात् उनका गुण कीर्तन, २. 'नमस्कार' उनको वन्दना, ३. 'आलपन' अर्थात् उनसे थोड़ा बोलना, ४. 'संलपन' अर्थात् उनसे वार-वार बोलना, ५. 'अन्नादिदान' अर्थात् उनको खाने-पीने की चीज देना, ६. 'गन्धपुष्पादिदान' अर्थात् परमती की प्रतिमा के पूजने के लिये गन्ध, पुष्प देना। ये छः यतना अर्थात् इन छः कर्मों को जैनी लोगों को नहीं करना चाहिये।

ऐसे इनके सब ग्रन्थों में लिखा है।

समीक्षक—अब बुद्धिमानों को यहां विचार करना चाहिये कि जैसे जैनमती दूसरे मत के विरोधी, निन्दक, हानिकारक हैं, वैसे दूसरे मत के नहीं हैं। जहां देखो, वहां बहुधा अपने मत की प्रशंसा स्तुति और दूसरे मतवालों की निन्दाओं से इनके ग्रन्थों का खजाना भरा है। सच है जो ऐसा जाल न रचते, तो ऐसे विद्याविरुद्ध अज्ञानियों के मत में फसकर बन्धन में फसे क्योंकर रहते। इसीलिये जैनीलोग कुत्ते आदि को तो लड्डू लप्सी खिलावें, परन्तु दूसरे मत के मनुष्यों में प्रीति करने वाला करोड़ों में एक आध है।

अब देखिये! इनका साधु कैसा ही भ्रष्ट-नष्ट हो तो भी उत्तम, और दूसरा चाहे कितना भी श्रेष्ठ हो, तो कुछ नहीं समझते। यद्यपि विवेकसार पृष्ठ २१७ में—अनुकम्पा अर्थात् दुःखियों का निष्कारण दुःख दूर करने की इच्छा अर्थात् कुछ प्रयोजन न विचारना कि मुझको स्वर्ग, देवलोक वा मुक्ति होगी, ऐसे ही इच्छा करनी। यह कहने मात्र

है वा कोई कभी जैनमत में आग्रह न होगा वा किसी के दबाव से करता होगा, वह जानो नहीं करने के समान है। क्योंकि—

'प्रयोजनमननुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते' इति न्यायात्।

अर्थात् प्रयोजन के विना किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती है।

विवेकसार पृष्ठ १०८ में लिखा है कि मथुरा के राजा के नमुची नामक दीवान को जैनमतियों ने अपना विरोधी समझकर मार डाला और आलोयणा करके शुद्ध हो गये।

यह भी दया और क्षमा का नाशक कर्म है। जब अन्य मतवालों पर प्राण लेने पर्यन्त वैर बुद्धि रखते हैं तो इनको दयालु के स्थान पर हिंसक कहना ही सार्थक है।

और भी देखो इनकी मिथ्या बातें! जिन तीर्थंकरों को जैन लोग सम्यग्ज्ञानी और परमेश्वर मानते हैं, उनकी मिथ्या बातों के ये नमूने हैं—रत्नसार भाग १ के पृष्ठ १४५—इस ग्रन्थ को जैन लोग मानते हैं, और यह ईसवी सन् १८७९ अप्रैल तारीख २८ में बनारस जैनप्रभाकर प्रेस में नानकचन्द जती ने छपवा कर प्रसिद्ध किया है, उसके पूर्वोक्त पृष्ठ [एवं पृष्ठ १४६-१४७] में काल की इस प्रकार व्याख्या की है—

'समय' का नाम सूक्ष्मकाल है। असंख्यात समयों को 'आवलि' कहते हैं। एक क्रोड़, सड़सठ लाख, सतत्तर सहस्र, दो सौ सोलह आवलियों का एक 'मुहूर्त्त' होता है। तीस मुहूर्त्तों का एक 'दिवस', वैसे पन्द्रह दिवसों का एक 'पक्ष', वैसे दो पक्षों का एक 'महीना', वैसे बारह महीनों का एक 'वर्ष' होता है। सत्तर लाख क्रोड़ और छप्पन सहस्र क्रोड़ वर्षों का एक 'पूर्व', असंख्यात पूर्वों का एक 'पल्योपम' काल।

असंख्यात इसको कहते हैं कि—एक चार कोश का चौरस और गहिरा भी चार कोश के खाढे में जुगुलिये मनुष्य के शरीर के निम्नलिखित बालों के टुकड़ों से भरना। अर्थात् वर्त्तमान मनुष्य के शरीर के बालों से जुगुलिये मनुष्य के बाल चार हजार छानवें भाग सूक्ष्म हैं। अर्थात् जुगुलिये मनुष्यों के चार सहस्र छानवें बालों को इकट्ठे करने से मनुष्यों का एक बाल होता है। ऐसे जुगुलिये मनुष्यों के एक बाल का एक अङ्गुल

टुकड़ा सात वार करना, फिर उसके आठ-आठ टुकड़े करना, तो २०९७१५२ अर्थात् बीस लाख, सत्तानवें सहस्र, एक सौ बावन एक बाल के इतने टुकड़े होते हैं। ऐसे टुकड़ों से वह कुआ भरना, सौ वर्ष के अन्तरे एक एक टुकड़ा निकालना, जब सब टुकड़े निकल जावें और कुआ खाली हो जाय, वह भी संख्यात काल है। और एक-एक टुकड़े का असंख्यात टुकड़ा करना, टुकड़ा करके, उसी कुए को ऐसा ठस भरना कि ऊपर से चक्रवर्त्ती राजा की सेना चली जाय, तो भी दबे नहीं। उन टुकड़ों में से एक सौ वर्ष में एक टुकड़ा निकालना, जब वह कुआ खाली हो जाय, तब उसका नाम असंख्यात। असंख्यात पूर्व पड़ें, तब एक 'पल्योपम'। वह पल्योपम कुआ के दृष्टान्त से जानना।

जब दशक्रोड़ान्क्रोड़ पल्योपम काल बीत जायें, तब एक 'सागरोपम' होता है। जब दशक्रोड़ान्क्रोड़ सागरोपम काल व्यतीत हो जायें, तब एक 'उत्सर्प्पिणी' काल हो। जब दश क्रोडान्क्रोड उत्सर्पिणीकाल व्यतीत हो जायें तब एक अवसर्पिणी काल हो। एक उत्सर्प्पिणी और अवसर्प्पिणी काल व्यतीत हो जाय तब एक 'कालचक्र' हो। अनन्त कालचक्र व्यतीत होंवे तब एक 'पुद्गलपरावर्त्त' होता है।

अब अनन्तकाल किसको कहते हैं कि जो सिद्धान्त पुस्तकों में नव दृष्टान्तों से काल की संख्या कही है, उससे उपरान्त 'अनन्तकाल' कहाता है। वैसे अनन्त पुद्गलपरावर्त्त काल जीव को भ्रमते हुए बीते हैं।

सुनो भाई! गणितविद्यावाले लोगो! जैनियों के ग्रन्थों की कालसंख्या कर सकोगे वा नहीं? और तुम इसको सच भी मान सकोगे वा नहीं? देखो! इन तीर्थंकरों ने ऐसी गणितविद्या पढ़ी थी। ऐसे-ऐसे तो इनके मत में गुरु और शिष्य हैं, जिनकी अविद्या का कुछ पारावार नहीं। और भी इनका अन्धेर सुनो—

रत्नसार भाग १ पृष्ठ १३४ से लेके जो कुछ 'बूट्टाबोल' अर्थात् जैनियों के सिद्धान्तग्रन्थ जो कि उनके 'तीर्थंकर' अर्थात् ऋषभदेव से लेके महावीर पर्य्यन्त चौबीस हुए हैं, उनके वचनों का सारसंग्रह है, ऐसा रत्नसारभाग पृ. १४८ में लिखा है कि—पृथिवीकाय के जीव मट्टी

पाषाणादि पृथिवी के भेद जानना। उनमें रहनेवाले जीवों के शरीर का परिमाण एक अङ्गुल का असंख्यातवाँ भाग समझना, अर्थात् अतीव सूक्ष्म होते हैं। उनका आयुमान अर्थात् वे अधिक से अधिक २२ सहस्र वर्ष पर्यन्त जीते हैं।

रत्नसार पृष्ठ १४९—वनस्पति के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, वे साधारण वनस्पति कहाती हैं। जो कि कन्दमूलप्रमुख और अनन्तकायप्रमुख होते हैं, उनको साधारण वनस्पति के जीव कहने चाहिएँ। उनका आयुमान अन्तर्मुहूर्त्त होता है परन्तु यहाँ पूर्वोक्त इनका मुहूर्त्त समझना चाहिए।

और एक शरीर में जो 'एकेन्द्रिय' अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय इनमें है और उसमें एक जीव रहता है, उसको प्रत्येक-वनस्पति कहते हैं। उसका देहमान एक सहस्र योजन अर्थात् पुराणियों का योजन ४ कोश का परन्तु जैनियों का योजन १०००० दश सहस्र कोशों का होता है, ऐसे चार सहस्र कोश का शरीर होता है, उसका आयुमान अधिक से अधिक दश सहस्र वर्ष का होता है।

अब दो इन्द्रियवाले जीव अर्थात् एक उनका शरीर और एकमुख जो शङ्ख, कौड़ी और जूं आदि होते हैं, उनका देहमान अधिक से अधिक अड़तालीस कोश का स्थूल शरीर होता है और उनका आयुमान अधिक से अधिक बारह वर्ष का होता है।

यहाँ बहुत ही भूल गया क्योंकि इतने बड़े शरीर का आयु अधिक लिखता, और अड़तालीस कोश की स्थूल जूं जैनियों के शरीर में पड़ती होगी और उन्हींने देखी भी होगी, और का भाग्य ऐसा कहाँ, जो इतनी बड़ी जूं को देखे!!!

रत्नसार भाग १ पृष्ठ १५०—और देखो इनका अन्धाधुन्ध! बीछू, बगाई, कसारी और मक्खी एक योजन के शरीरवाले होते हैं। इनका आयुमान अधिक से अधिक छः महीने का है।

देखो भाई! चार-चार कोश का बीछू अन्य किसी ने देखा न होगा। जो आठ मील तक का शरीरवाला बीछू और मक्खी भी जैनियों के मत में होती है। ऐसे बीछू और मक्खी उन्हींके घर में रहते होंगे और उन्हींने

देखे होंगे, अन्य किसी ने संसार में नहीं देखे होंगे। कभी ऐसे बीछू किसी जैनी को काटें तो उसका क्या होता होगा?

जलचर मच्छी आदि के शरीर का मान एक सहस्र योजन अर्थात् १०००० कोश के योजन के हिसाब से १,००,००,००० एक करोड़ कोश का शरीर होता है और एक करोड़ पूर्व वर्षों का इनका आयु होता है।

वैसा स्थूल जलचर सिवाय जैनियों के अन्य किसी ने न देखा होगा।

और चतुष्पात् हाथी आदि का देहमान दो कोश से नव कोशपर्य्यन्त और आयुमान चौरासी सहस्र वर्षों का इत्यादि।

ऐसे बड़े-बड़े शरीरवाले जीव भी जैनी लोगों ने देखे होंगे और मानते हैं। और कोई बुद्धिमान् नहीं मान सकता।

रत्नसार भाग १ पृष्ठ १५१—जलचर गर्भज जीवों का देहमान उत्कृष्ट एक सहस्र योजन अर्थात् १०००००००० एक क्रोड़ कोशों का और आयुमान एक क्रोड़ पूर्व वर्षों का होता है।

इतने बड़े शरीर और आयुवाले जीवों को भी इन्हीं के आचार्यों ने स्वप्न में देखे होंगे! क्या यह महा झूठ बात नहीं कि जिसका कदापि सम्भव न हो सके?

अब सुनिये भूमि के परिमाण को रत्नसार भाग १ पृष्ठ १५२—इस तिरछे लोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। इन असंख्यात का प्रमाण अर्थात् अढ़ाई सागरोपम काल में जितना समय हो, उतने द्वीप तथा समुद्र जानना। अब इस पृथिवी में एक 'जम्बूद्वीप' प्रथम सब द्वीपों के बीच में है। इसका प्रमाण एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोश का है और उसके चारों ओर 'लवण' समुद्र है, उसका प्रमाण दो लाख योजन का है अर्थात् आठ लाख कोश का। इस जम्बूद्वीप के चारों ओर जो 'धातकीखण्ड' नाम द्वीप है, उसका चार लाख योजन अर्थात् सोलह लाख कोश का प्रमाण है और उसके पीछे 'कालोदधि' समुद्र है, उसका आठ लाख [योजन] अर्थात् बत्तीस लाख कोश का प्रमाण है। उसके पीछे 'पुष्करावर्त्त' द्वीप है, उसका प्रमाण सोलह लाख कोश का है। उस द्वीप के भीतर की कोरें हैं। उस द्वीप के आधे में मनुष्य बसते

हैं और उसके उपरान्त असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, उनमें तिर्यग् योनि के जीव रहते हैं।

रत्नसार भाग १ पृष्ठ १५३—जम्बूद्वीप में एक हिमवन्त, एक ऐरण्यवन्त, एक हरिवर्ष, एक रम्यक्, एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु ये छः क्षेत्र हैं।

समीक्षक—सुनो भाई! भूगोलविद्या के जाननेवाले लोगो! भूगोल के परिमाण करने में तुम भूले वा जैन? जो जैन भूल गये हों तो तुम उनको समझाओ और जो तुम भूले हो, तो उनसे समझ लेओ। थोड़ा सा विचार कर देखो, तो यही निश्चय होता है कि जैनियों के आचार्य्य और शिष्यों ने भूगोल, खगोल और गणितविद्या कुछ भी नहीं पढ़ी थी। जो पढ़े होते, तो महा असम्भव गपोड़ा क्यों मारते?

भला ऐसे अविद्वान् पुरुष जगत् को अकर्तृक और ईश्वर को न मानें इसमें क्या आश्चर्य है? इसलिये जैनी लोग अपने पुस्तकों को किसी विद्वान्, अन्य मतस्थों को नहीं देते। क्योंकि जिनको ये लोग प्रामाणिक तीर्थङ्करों के बनाये हुए सिद्धान्तग्रन्थ मानते हैं, उनमें इसी प्रकार की अविद्यायुक्त बातें भरी पड़ी हैं, इसलिये नहीं देखने देते। जो देवें तो पोल खुल जाय। इनके विना जो कोई मनुष्य कुछ भी बुद्धि रखता होगा, वह कदापि इस गपोड़ाध्याय को सत्य नहीं मान सकेगा।

यह सब प्रपञ्च जैनियों ने जगत् को अनादि मानने के लिये खड़ा किया है परन्तु यह निरा झूठ है। हां, जगत् का कारण अनादि है, क्योंकि वह परमाणु आदितत्त्वस्वरूप अकर्तृक हैं, परन्तु उनमें नियमपूर्वक बनने वा बिगड़ने का सामर्थ्य कुछ भी नहीं। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य किसी का नाम है और स्वभाव से पृथक्-पृथक्-रूप और जड़ हैं, वे अपने आप यथायोग्य नहीं बन सकते। इसलिये इनका बनानेवाला चेतन अवश्य है और वह बनानेवाला ज्ञानस्वरूप है। देखो! पृथिवी सूर्यादि सब लोकों को नियम में रखना अनन्त, अनादि, चेतन परमात्मा का काम है। जिसमें संयोगरचना विशेष दीखता है, वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता। जो कार्य जगत् को नित्य मानोगे, तो उसका कारण कोई न होगा, किन्तु वही कार्य कारणरूप हो जायगा। जो

ऐसा कहोगे तो अपना कार्य्य और कारण आप ही होने से **अन्योऽन्याश्रय** और '**आत्माश्रय**' दोष आवेगा, जैसे अपने कन्धे पर आप चढ़ना और अपना पिता पुत्र आप नहीं हो सकता, इसलिये जगत् का कर्त्ता अवश्य ही मानना है।

प्रश्न—जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हो, तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है?

उत्तर—कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण कोई भी नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम कर्त्ता और कारण के होने से ही कार्य्य होता है। जिसमें संयोग-वियोग नहीं होता, जो प्रथम संयोग-वियोग का कारण है, उसका कर्त्ता वा कारण किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसकी विशेष व्याख्या आठवें समुल्लास, सृष्टि की व्याख्या में लिखी है, देख लेना।

अब 'जीव' और 'अजीव' इन दो पदार्थों के विषय में जैनियों का निश्चय ऐसा है—

चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥

यह 'जिनदत्तसूरि' का वचन है। और यही प्रकरणरत्नाकर भाग पहिले में नयचक्रसार में भी लिखा है कि चेतनालक्षण 'जीव' और चेतनारहित 'अजीव' अर्थात् जड़ है। सत्कर्मरूप पुद्गल पुण्य और पापकर्मरूप पुद्गल पाप कराते हैं।

समीक्षक—जीव और जड़ का लक्षण तो ठीक है, परन्तु जो जड़रूप पुद्गल हैं, वे पापपुण्ययुक्त कभी नहीं हो सकते। क्योंकि पाप-पुण्य करने का स्वभाव चेतन में होता है। देखो! ये जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब पाप-पुण्य से रहित हैं। जो जीवों को अनादि मानते हैं, यह तो ठीक है। परन्तु उसी अल्प और अल्पज्ञ जीव को मुक्ति दशा में सर्वज्ञ मानना झूठ है। क्योंकि जो अल्प और अल्पज्ञ है, उसका सामर्थ्य भी सर्वदा ससीम रहेगा।

प्रश्न—जैसे धान्य का छिकला उतारने वा अग्नि के संयोग होने से बीज पुनः नहीं ऊगता, इसी प्रकार मुक्ति में गया हुआ जीव पुनः जन्ममरणरूप संसार में नहीं आता।

उत्तर—जीव और कर्म का सम्बन्ध छिकले और बीज के समान नहीं है, किन्तु इनका समवायसम्बन्ध है, इससे अनादि काल से जीव और उसमें कर्म और कर्तृत्वशक्ति का सम्बन्ध है। जो उसमें कर्म करने की शक्ति का भी अभाव मानोगे, तो सब जीव पाषाणवत् हो जायेंगे और मुक्ति को भोगने का भी सामर्थ्य नहीं रहेगा। जैसे अनादि काल का कर्मबन्धन छूटकर जीव मुक्त होता है, तो तुम्हारी नित्य मुक्ति से भी छूटके बन्धन में पड़ेगा। साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य कभी नहीं हो सकता और जो साधन-सिद्ध के विना मुक्ति मानोगे, तो कर्मों के विना ही बन्ध प्राप्त हो सकेगा।

अब सम्यक्त्व दर्शनादि के लक्षण 'आर्हत प्रवचन-संग्रह' 'परमागमसार' में कथित हैं। सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये चार मोक्ष मार्ग के साधन हैं। इनकी व्याख्या योगदेव ने की है। जिस रूप से जीवादि द्रव्य अवस्थित हैं, उसी रूप से जिनप्रतिपादित ग्रन्थानुसार विपरीत अभिनिवेशादिरहित जो 'श्रद्धा' अर्थात् जिनमत में प्रीति है, सो 'सम्यक् श्रद्धान' और 'सम्यग् दर्शन' है।

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते। [आर्हतदर्शन]

जिनोक्त तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिए, अर्थात् अन्यत्र कहीं नहीं।

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥ [आर्हतदर्शन]

जिस प्रकार के जीवादि तत्त्व हैं, उनका संक्षेप वा विस्तार से जो बोध होता है, उसीको 'सम्यग् ज्ञान' बुद्धिमान् कहते हैं।

सर्वथाऽनवद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते।
कीर्त्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः॥ [आर्हतदर्शन]

सब प्रकार से निन्दनीय अन्य मतसम्बन्ध का त्याग 'चारित्र' कहाता है और अहिंसादि भेद से पाँच प्रकार का व्रत है। एक (अहिंसा) अर्थात् किसी प्राणिमात्र को न मारना। दूसरा (सूनृता) प्रिय वाणी बोलना। तीसरा (अस्तेय) अर्थात् चोरी न करना। चौथा (ब्रह्मचर्य्य)

अर्थात् उपस्थ इन्द्रिय का संयमन। और पाँचवाँ (अपरिग्रह) सब वस्तुओं का त्याग करना।

इनमें बहुत-सी अच्छी बातें हैं, अर्थात् अहिंसा और चोरी आदि निन्दनीय कर्मों का त्याग अच्छी बात है परन्तु ये सब अन्य मत की निन्दा करनी आदि दोषों से सब अच्छी बातें भी दोषयुक्त हो गई हैं। जैसे प्रथम सूत्र में लिखी है—'अन्य हरि हरादि का धर्म संसार से उद्धार करनेवाला नहीं।' क्या यह छोटी निन्दा है कि जिनके ग्रन्थ देखने से ही पूर्ण विद्या और धार्मिकता पाई जाती है, उसको बुरा कहना? और अपने महा असम्भव जैसा कि पूर्व लिख आये, वैसी बातों के कहनेवाले अपने तीर्थंकरों की स्तुति करना, केवल हठ और मूर्खता की बातें हैं। ऐसे कथन करनेवाले मनुष्यों को भ्रान्त और बालबुद्धि न कहा जाय तो क्या कहें? इसमें यही विदित होता है कि इनके आचार्य बड़े स्वार्थी थे, पूर्ण विद्वान् नहीं। क्योंकि जो सबकी निन्दा न करते तो ऐसी झूठी बातों में कोई न फसता, न उनका प्रयोजन सिद्ध होता। देखो! यह तो सिद्ध होता है कि जैनियों का मत डुबानेवाला और वेदमत सबका उद्धार करनेहारा है।

प्रकरणरत्नाकर और जैनियों के सिद्धान्तग्रन्थों से किया संग्रह

प्रकरणरत्नाकर भाग दूसरा, पत्र ६२७ में लिखा है कि—

चाहे कुछ भी न कर सके, एक अर्हन्तदेव को माने अर्थात् जैनमत ही को माने, क्योंकि जैनियों के वीतराग का कहा धर्म, वही धर्म तारनेहारा है, दूसरा कोई नहीं। जो जैनी के देव, वे ही देव हैं, अन्य हरिहरादि कुदेव हैं।

समीक्षक—हरिहरादि देव 'सुदेव' और इनके ऋषभदेवादि सब 'कुदेव' दूसरे लोग कहैं, तो क्या वैसा ही उनको बुरा न लगेगा।

प्रकरणरत्नाकर पृष्ठ ६२० में—

जिनमत के सिवाय न कोई तरा, न कोई सुनने में आया और न आवेगा।

[समीक्षक—] वाह! वाह!! क्या कहना!!!

प्रकरणरत्नाकर, दूसरा भाग, षष्ठीशतक मूलसूत्र—

जइ न कुणसि तव चरणं, न पढसि न गुणेसि देसि नो दाणम्।
ता इत्तियं न सक्किसि जं देवो इक्क अरिहन्तो॥ २॥

हे मनुष्य! जो तू तप चारित्र नहीं कर सकता, न सूत्र पढ़ सकता, न प्रकरणादि का विचार कर सकता और सुपात्रादि को दान नहीं दे सकता तो भी जो तू देवता एक अरिहन्त ही हमारे आराधना के योग्य सुगुरु, सुधर्म जैन-मत में श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धार का कारण है॥ २॥

समीक्षक—भला, जो जैनी कुछ चारित्र न कर सके, न पढ़ सके, न दान देने का सामर्थ्य हो, तो भी 'जैन मत सच्चा है', क्या इतना कहने ही से वह उत्तम हो जाए? और अन्य मत वाले श्रेष्ठ भी अश्रेष्ठ हो जायें? २॥

रे जीव भव दुहाइं, इक्कं चिय हरइ जिणमयं धम्मं।
इयराणं परमन्तो, सुह कय्ये मूढ मुसिओसि॥ ३॥

—प्रकरणरत्नाकर भाग २। षष्टीशतक ६१। सूत्राङ्क ३॥

संक्षेप से अर्थ—रे जीव! एक ही जिनमत श्रीवीतरागभाषित धर्म संसार-सम्बन्धी जन्म-जरा-मरणादि दुःखों का हरणकर्त्ता है। इसी प्रकार सुदेव और सुगुरु भी जैन मत-वाले को जानना। इतर जो वीतराग ऋषभदेव से लेके महावीर पर्य्यन्त वीतराग देवों से भिन्न अन्य हरि, हर, ब्रह्मादि कुदेव हैं, उनकी अपने कल्याणार्थ जो जीव पूजा करते हैं, वे सब मनुष्य ठगाये गये हैं। इसका यह भावार्थ है कि जैनमत के सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म को छोड़ के अन्य कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म को सेवने से कुछ भी कल्याण नहीं होता॥ ३॥

समीक्षक—अब विद्वानों को विचारना चाहिये कि कैसे निन्दायुक्त इनके धर्म के पुस्तक हैं॥ ३॥

मूल— अरिहं देवो सुगुरु, सुद्धं धम्मं च पंच नवकारो।
धन्नाणं कयच्छाणं, निरंतरं वसइ हिययम्मि॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० ६१। सू० १॥

जो अरिहन् देवेन्द्रकृत पूजादिकन के योग्य, दूसरा पदार्थ उत्तम कोई नहीं, ऐसा जो देवों का देव शोभायमान अरिहन्त देव-ज्ञान क्रियावान्,

शास्त्रों का उपदेष्टा; शुद्ध कषायमलरहित सम्यक्त्व विनय दयामूल श्रीजिनभाषित जो धर्म है, वही दुर्गति में पड़नेवाले प्राणियों का उद्धार करनेवाला है और अन्य हरि-हरादि का धर्म संसार से उद्धार करनेवाला नहीं; और पञ्च अरिहन्तादिक परमेष्ठी तत्सम्बन्धी उनको नमस्कार; ये चार पदार्थ धन्य हैं, अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अर्थात् दया, क्षमा, सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह जैनों का धर्म है॥ १॥

समीक्षक—जब मनुष्यमात्र पर दया नहीं वह दया न क्षमा, ज्ञान के बदले अज्ञान, दर्शन अन्धेर और चारित्र के बदले भूखे मरना कौन-सी अच्छी बात है। यह केवल मूर्खों को प्रलोभन देकर अपने मत में फसाने की बातें हैं, अर्थात् जो इनके आचार्य ऐसा न लिखें तो उनके मत में कौन फसे और जो न फसे तो उनका प्रयोजन सिद्ध न हो। जैनियों के वीतरागोक्त दया, क्षमा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र यही हैं। इसमें **दया** का नाश, क्षुद्र जीव और अपने मत वालों के अतिरिक्त दूसरे किसी को न मानना, निन्दा करना, सुख न देना दया कहाँ? और **क्षमाशील** होते तो दूसरे की निन्दा और अपने मुख अपनी बड़ाई क्यों करते। तीसरा **ज्ञान** जो कि उनके जीव, अजीवादि नव तत्त्व हैं, उनका जानना सो भी ठीक-ठीक नहीं है। **सम्यक् दर्शन** उनके तीर्थंकरों को होता, तो सहस्रों प्रकार की असम्भव बातें क्यों लिखते? **चारित्र**—उपवास करना, स्नान न करना इत्यादि से भी क्या हो सकता है। इसलिए जो इतनी ही बातों का नाम धर्म मानकर फूले-फूले फिरना बेसमझ का काम है। तारनेवाला इनका धर्म नहीं, किन्तु डुबानेवाला है। देखो! हरि, हरादि श्रेष्ठ पुरुषों को कुदेव कहना और अपने मलीनों को देव कहना, अपने मत वालों के विना संसार से कोई भी नहीं तरा। यह केवल असम्भव और झूठी बात है।

यद्यपि दया और क्षमा अच्छी वस्तु है, तथापि पक्षपात में फँसने से दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाती है। इसका प्रयोजन यह है कि किसी जीव को दुःख न देना; यह बात सर्वथा सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि दुष्टों को दण्ड देना भी दया में गणनीय है। जो एक दुष्ट को दण्ड न दिया जाय तो सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त हो, इसलिये

वह दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाय। यह तो ठीक है कि सब प्राणियों के दुःखनाश और सुख की प्राप्ति का उपाय करना दया कहाती है। केवल जल छान के पीना, क्षुद्र जन्तुओं को बचाना ही दया नहीं कहाती, किन्तु इस प्रकार की दया जैनियों के कथनमात्र ही है, क्योंकि वैसा वर्त्तते नहीं। क्या मनुष्यादि पर चाहे किसी मत में क्यों न हो, दया करके उसका अन्नपानादि से सत्कार करना और दूसरे मत के विद्वानों का मान्य और सेवा करना दया नहीं है?॥ १॥

और भी इनके आचार्य और माननेवालों की भूल देख लो।

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, षष्ठीशतक, मूलसूत्र—

जिणवर आणा भंगं, उमग्ग उस्सुत्त लेसदेसणउ।
आणा भंगे पावंता जिणमय दुक्करं धम्मम्॥ ११॥

संक्षेप से अर्थ—जैन के धर्म को मिथ्यात्वी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि बड़ा कठिन है। जिस प्रकार जिनाज्ञा का भङ्ग न हो, उस प्रकार करना चाहिए। जो जैन मार्ग से उलटा चलना, उसका नाम उन्मार्ग, जिन वचनों से उलटा बोलना उत्सूत्र, जिन आज्ञारहित जो धर्म हैं, वे सब पापफल के देनेवाले हैं और वे सब मिथ्यात्वी कहाते हैं॥ ११॥

समीक्षक—जो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा और अपने धर्म को बड़ा कहना और दूसरे की निन्दा करनी है, वह मूर्खता की बात है। क्योंकि प्रशंसा उसीकी ठीक है जिसकी दूसरे विद्वान् करें। अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं, तो क्या वे प्रशंसनीय हो सकते हैं? इसी प्रकार की इनकी बातें हैं॥ ११॥

बहुगुणविज्झा निलओ, उस्सुत्त भासी तहावि मुत्तवो।
जह वरमणिजुत्तो विहु, विग्घकरो विसहरो लोए॥ १८॥

जैसे विषधर सर्प में मणि त्यागने योग्य है, वैसे उत्सूत्रभाषी, द्रव्यलिंगी अर्थात् अन्यमार्गी जो जैनमत में नहीं है, वह कितना बड़ा पण्डित हो, उसका त्याग कर देना ही जैनियों को उचित है॥ १८॥

समीक्षक—देखो! कितनी मूढ़ता की बात है कि अपने मत का कैसा भी दुराचारी हो, उसको मानना, अन्य मत का कितना ही श्रेष्ठ विद्वान् हो उसको जैन लोग कभी न मानें। इससे बड़ी मूर्खता और

पक्षपात की बात कौन होगी? क्या सुवर्ण को मल वा धूड़ में पड़े को कोई त्यागता है?॥ १८॥

इसी प्रकार बहुत से सूत्र रत्नसार भाग २, षष्ठीशतक में लिखे हैं। अर्थात् २९वें सूत्र में —

मूल—अइसय पाविय पावा, धम्मिअ पब्बेसु तोवि पावरया।
न चलंति सुद्ध धम्मा, धन्ना किविपाव पव्वेसु॥ २९॥

प्रकर० भाग २ । षष्टी० सू० २९ [पृ० ६३९ पं० २४-२५]

अन्य दर्शनी कुलिङ्गी अर्थात् जैनमत विरोधी अन्यमार्गी अर्थात् जो जैनी न हो, उसका दर्शन भी न करना॥ २९॥

समीक्षक—यह बात कितने पामरपन की है। क्योंकि जो दूसरे का दर्शन करे, तो इनकी पोल निकल जाय॥ २९॥

और उसी के सत्ताईसवें सूत्र में—

मूल—नामंपि तस्स असुहं, जेण निदिट्ठाई मिच्छ पव्वाइ।
जेसिं अणुसंगाउ, धम्मीणवि होई पाव मइ॥ २७॥

जैन धर्म से विरुद्ध सब धर्म मनुष्यों को पापी करनेवाले हैं, इसलिए किसी के धर्म को न मानना॥ २७॥

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है—सबको डुबोनेवाला जैन मार्ग है। क्योंकि सबकी सब प्रकार निन्दा करते हैं। इसलिए जिन्होंने ऐसा लिखा है वे ही महा अधर्मी थे। हाँ! ऐसा लिखते कि—सबकी सच्ची बातें मान लें और अपनी झूठी बातें छोड़ दें, तो धर्मात्मा गिने जाते॥ २७॥

और ३५वें सूत्र में—

मूल— हा हा गुरुअ अकज्झं, सामी न हु अच्छि कस्स पुक्करिमो।
कह जिण वयण कह सुगुरु, सावया कह इय अकज्झं॥३५॥

सर्वज्ञभाषित जिनवचन जैन सुगुरु कहाँ? और कहाँ उनसे विरुद्ध कुगुरु अर्थात् अन्य मार्गी के भाषित और उपदेशक अर्थात् हमारी सब बातें अच्छी, अन्य की सब बुरी॥ ३५॥

समीक्षक—हाँ! कूंजरी भी अपने बेर को खट्टे नहीं कहती। अर्थात् अपने मार्ग से भिन्न मार्गी की सेवा में बड़ा अकार्य्य अर्थात् पाप गिनते हैं॥ ३५॥

और देखो! प्रकरणरत्नाकर भाग २, मूल सूत्र—

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताइ देइ मरणाइ।
तो वरिसप्पं गहियुं, मा कुगुरुसेवणं भद्दम्॥ ३७॥

इस सूत्र में लिखा है कि जैन भिन्न कुगुरु सर्प्प से भी बुरे हैं। उनकी सेवा पूजा करना कभी न चाहिये। जो अन्यमार्गी की कुछ भी सेवा करेगा तो बहुत दुःख में पड़ेगा॥ ३७॥

समीक्षक—देखिये! कितने दुराग्रही हैं कि इनके सदृश कठोर, भ्रान्त, निन्दक, मूर्ख दूसरे मत वाले नहीं हैं। यह सब स्वार्थ की बातें हैं कि हमारा मान्य, हमारी सेवा और हमारी ही प्रतिष्ठा हो, अन्य किसी की न हो। तभी इनके चेले महामूढता में फसे हैं कि किसी अच्छे महात्मा पुरुष की सेवा, न दर्शन और संग भी नहीं करते। यह इनके दौर्भाग्य की बात है। जो सब मतवालों में योग्य पुरुषों की सेवा करते, उनके मार्ग की बातें सुनते और अपनी कहते तो उनके गुण [ग्रहण] और अपनी भूल को छोड़ कर, सत्यमार्ग जानकर अपने मनुष्य जन्म के फल को प्राप्त होते॥ ३७॥

प्रकरणरत्नाकर भाग २, मूल सूत्र—

किं भणिमो किं करिमो, ताण हयासाण धिट्ठ दुट्ठाणं।
जे दंसिऊण लिंगं, खिवंति न रयम्मि मुद्धजणम्॥ ४०॥

सं० अर्थ—अन्य मार्गी के कुगुरु मुनि का वेष धारण करके लोगों के लिये ऐसे हैं कि जैसे अन्धे सिंह की आँख खोलने को जाय, तो सिंह उसी को खाय। वैसे उन अन्य मार्गी कुगुरुओं का उपकार करना अपना नाश कर लेना है। इसलिये उनका उपकार कभी न करना चाहिये॥ ४०॥

समीक्षक—जैसे जैन लोग विचारते हैं, वैसे दूसरे मत वाले भी विचारें तो जैनियों की कितनी दुर्दशा हो? और उनका कोई किसी प्रकार का उपकार न करे तो उनके बहुत से काम नष्ट होकर कितना दुःख प्राप्त हो, वैसा अन्य के लिये जैनी लोग क्यों नहीं विचारते?॥ ४०॥

प्रकरत्नाकर भाग २, मूलसूत्र—

जह जह तुट्टइ धम्मो, जह जह दुट्ठाण होइ अइ उदउ।
समद्दिट्ठि जियाणं, तह तह उल्लसइ समत्तं॥ ४२॥

सं० अर्थ—जैसे-जैसे अन्य दर्शनी, त्रिदण्डी, परिव्राजक और विप्रादि दुष्टलोगों का अति उदय होता है, वैसे-वैसे जैनधर्म के सम्यक् दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व विशेष प्रकाशित होता है॥ ४२॥

समीक्षक—यह बड़ा आश्चर्य है अर्थात् जैन के साधु भी आपस में लड़ मरते हैं। अब देखो! इन जैनों से अधिक ईर्ष्याद्वेषयुक्त, निन्दक दूसरा कौन होगा? और द्वेष ही पाप का मूल है, इसलिये जैनियों में पापाचर क्यों न हो? ॥ ४२॥

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, शतक ६०, मूलसूत्र—

संगोवि जाण अहिउ, तेसिं धम्माइजे पकुव्वन्ति।
मुत्तूण चोरसंगं, करंति ते चोरियं पावा॥ ७५॥

इसका मुख्य आशय इतना है कि जैसे मूढजन चोर के संग से नासिका छेदादि दण्ड से भय नहीं करते, वैसे जैन भिन्न चोरधर्मों में स्थित जन भय नहीं करते॥ ७५॥

समीक्षक—यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि जो स्वयं चोरधर्म वाले हैं, दूसरों के साथ अतीव ईर्ष्या, द्वेष आदि दुष्टता से युक्त जैसा जैनमत है, वैसा अन्य नहीं॥ ७५॥

जच्छ पसुमहिसलरका, पव्वं होमंति पाव नवमीए।
पुअंति तंपि सढ्डा, हा हीला वीयरायस्स॥ ७६॥

समीक्षक—देखो नौमी का नाम पापनौमी और गणेश चतुर्थी आदि व्रतों की निन्दा करना और अपने पञ्चखाण आदि व्रतों को श्रेष्ठ कहना मूढपुरुषों का काम है। क्या जैनियों के पजूसण आदि व्रत बुरे नहीं हैं, जिनसे महाकष्ट होता है? ये दोनों के झूठे और जो सत्यभाषणादि व्रत हैं, वे दोनों के सच्चे॥ ७६॥

प्रकरणरत्नाकर भाग २, शतक ६०—

किं सोपि जणणि जाओ जाणो जणणीइं किं अगो विद्धिं।
जइं मिच्छरओ जाओ, गुणेसु तह मच्छरं वहइ॥ ८१॥

वेसाण बंदियाणय, माहण डुंबाण जरकसिरकाणं।
भत्ता भरकट्ठाणं, वियाणं जंति दूरेणं॥ ८२॥

सं० अर्थ—जैनमत विरोधी सब मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्या धर्म वाले हैं। वे क्यों जन्मे और जो जन्मे तो बढे क्यों? अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते तो अच्छा होता॥ ८१॥

इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि जो वेश्या, चारण, भाटादि लोगों, ब्राह्मण, यक्ष, गणेशादिक मिथ्यादृष्टि देवी आदि देवताओं का भक्त है, जो इनके माननेवाले हैं, वे सब डूबने और डुबानेवाले हैं। जो देव देवी आदि को मानते हैं वे दु:ख देते हैं। क्योंकि उन्हीं के पास वे सब वस्तुएँ माँगते और बलिदान मांगते हैं। वीतरागियों के पास नहीं जाते॥ ८२॥

समीक्षक—देखो! जैनमत की दया की लहरें कि अपने मत से भिन्न मनुष्यों का जन्म होना और बढना अच्छा नहीं मानते, किन्तु उनका नाश ही होना अच्छा मानते हैं, तो दया और क्षमा कहाँ रही। जब अन्य के देव-देवियों को नहीं मानते, तो अपनी शासनदेवी आदि हिंसक जिसने थप्पड़ मारके मनुष्य की आँख निकाल दी, उसके बदले बकरे की आँख निकालकर उस मनुष्य के लगादी, उसको क्यों मानते हैं? क्या यह दुर्गा और काली की छोटी बहिन नहीं है?॥ ८१-८२॥

रत्नसार भाग १ पृष्ठ ६७ में देखो क्या लिखा है—मरुतदेवी पथिकों को पत्थर की मूर्ति होकर सहाय करती थी।

इसको भी सच न मानना चाहिये।

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, षष्ठीशतक, मूलसूत्र—

सुद्धे मग्गे जाया, सुहेण गच्छन्ति सुद्ध मग्गंमि।
जे पुण अमग्गजाया, मग्गे गच्छन्ति ते चुय्यं॥ ८३॥

सं० अर्थ—जो जैन कुल में जन्म लेकर मुक्ति को जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु जैनभिन्न कुल में जन्मे हुये मिथ्यात्वी अन्यमार्गी मुक्ति को प्राप्त होवे, इसमें बड़ा आश्चर्य है। अर्थात् मुक्ति ही नहीं होती। और कुमार्ग अर्थात् जैनभिन्न सम्प्रदाय में उत्पन्न होकर अर्थात् चेले चांटी होकर सुमार्ग में चले, यह बड़ा आश्चर्य है। क्योंकि जो उन्मार्गी अर्थात् जैनभिन्न मार्ग में हैं, वे सब नरक में पड़ेंगे जो ऐसा

जानके भी जैनमत में नहीं आवे॥ ८३॥

समीक्षक—क्या जैनकुल में कोई दुष्ट नहीं होता और सभी मुक्ति को जायेंगे? और अन्य कुलों में कोई भी श्रेष्ठ नहीं और मुक्ति को न जायेगा? क्या पागलपन की बातें हैं? महामूढमनुष्यों के विना और कौन मान सकता है? ॥ ८३॥

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, शतक ६०—

तिच्छयराणं पूआ, सम्मत्त गुणाणकारिणी भणिया।
साविय मिच्छत्तयरी, जिण समये देसिया पूआ॥ ९०॥

सं० अर्थ—जिन मूर्तियों की पूजा सार, इससे भिन्न अन्य मार्गियों की मूर्तिपूजा असार है। जो जिन आज्ञा को पालता है, वह तत्त्वज्ञानी, और जो नहीं पालता है, वह तत्त्वज्ञानी नहीं॥ ९०॥

समीक्षक—वाह! क्या कहना!! तुम्हारी मूर्त्ति पाषाणादि जड़ पदार्थों की नहीं? जैसी वैष्णवादि की हैं, वैसी ही तुम्हारी पाषाणादिपूजा है। जैसी तुम्हारी मिथ्या है, वैसी ही वैष्णवादिकों की भी मिथ्या है। जैसे तुम जैनी तत्त्वज्ञानी बनते हो और अन्य को अतत्त्वज्ञानी बनाते हो। इससे विदित होता है कि तुम्हारे मत में तत्त्वज्ञान नहीं है॥ ९०॥

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, शतक ६०, मूलसूत्र—

जिण आणाए धम्मो, आणारहि आण फुडं अहमुत्ति।
इय मुणिऊणय तत्तं, जिण आणाए कुणहु धम्मं॥ ९२॥

सं० अर्थ—जिनदेव की आज्ञा, क्षमा, दयादि रूप धर्म हैं, अन्य सब अधर्म॥ ९२॥

समीक्षक—क्या जैनमत से भिन्न पुरुष सत्य आज्ञा करे, वह धर्म न मानना चाहिये। हां! जो जैनमतस्थ पुरुषों के मुख-जिह्वा चमड़े-हाड की न होंगी औरों के चमड़े-हाड की होंगी। इससे उन्हीं के मुख के वचन की बड़ाई करना, जानो भांडों के बड़े भाई की बातें हैं॥ ९२॥

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, शतक ६०, मूलसूत्र—

वन्नेमि नारयाउवि, जेसिं दुरकाइ सम्भरं ताणम्।
भव्वाण जणइ हरिहर, रिद्धि समिद्धी वि उद्धोसं॥ ९५॥
[इअराण ठक्कुराणवि, आणाभंगेण होइ मरण दुहं।]

किं पुण तिलोअ पहुणों, जिणिंद देवाइ देवस्स॥ ९८॥

इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि जो हरि हरादि की विभूति है, वह नरक का हेतु है, उसको देखके जैनियों के रोमांच खड़े हो जाते हैं। जैसे राजाज्ञा भंग करने से मरण तक दु:ख पाता है जिनेन्द्र आज्ञाभङ्ग से क्यों न जन्म मरण दु:ख पावेगा॥ ९५, ९८॥

समीक्षक—देखिए! जैन लोग दूसरे की उन्नति नहीं देख सकते। देखकर भीतर जलते हैं अर्थात् चाहते होंगे कि यह विभूति हमको मिल जाय। बहुधा वैसे व्यवहार भी करते होंगे। यह फोकट राजाज्ञाभंग के दृष्टान्त से मूर्खों को भय दिखलाकर मूंडने की बातें हैं और राजाज्ञा का दृष्टान्त इसलिये देते हैं कि ये जैन लोग राज्य के बड़े खुशामदी, झूठे और डरपुकने हैं। क्या झूठी बात भी राजा की मान लेनी चाहिये? जो ईर्ष्याद्वेषी हो, तो जैनियों से बढ़के दूसरा कोई भी न होगा॥ ९५, ९८॥

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, शतक ६०, मूलसूत्र—

जो देइ सुद्ध धम्मं, सो परमप्पा जयम्मि न हु अन्नो।
किं कप्पद्दुम सरिसो, इयर तरू होइ कइयावि॥ १०१॥

सं० अर्थ—मूर्ख लोग वे हैं जो जैनधर्म से विरुद्ध हैं और जो जिनेन्द्रभाषितधर्मोपदेष्टा हैं, वे तीर्थंकरों के तुल्य हैं। उनके तुल्य दूसरा कोई भी नहीं॥ १०१॥

समीक्षक—क्यों न हो, जो जैनी लोग छोकरबुद्धि न होते तो ऐसी बातें क्यों मानते और क्यों करते? जैसे जैनमार्ग के उपदेष्टा को अच्छा मानते हो, वैसे दूसरे को क्यों नहीं मानते? यह सब तुम्हारा अज्ञान का माहात्म्य है॥ १०१॥

प्रकरणरत्नाकर, भाग २, शतक ६०, मूल सूत्र—

मूल—जे अमुणिअ गुणदोषा ते कहअ वुहाण हंतिम झच्छा।
अहते विहुमझच्छा ता विस अमिआण तुल्लत्तं॥१०२॥
मूल— मूल जिणिदं देवो, तव्वयणं गुरुजणं महासयाणं।
सेसं पावट्ठाणं, परमप्पाणं च वज्जेमि॥ १०३॥

सं० अर्थ—जिनेन्द्र देव, तदुक्त सिद्धान्त और उपदेष्टा ग्राह्य और सब अन्य मत के वचन, सिद्धान्त और उपदेष्टाओं का त्याग करना

चाहिये॥ १०२, १०३॥

समीक्षक—यह तुम्हारा हठ, पक्षपात और अविद्या का फल है। क्योंकि तुम्हारी थोड़ी-सी बात छोड़कर सब बातें त्यक्तव्य हैं। जिसको थोड़ी-सी बुद्धि होगी वह जैनियों के देव, सिद्धान्तग्रन्थ और उपदेष्टाओं को देखे, सुने, विचारे, तो उसी समय निःसन्देह छोड़ देगा॥ १०२,१०३॥

मूल— वयणे वि सुगुरु जिणवल्लहस्स केसिं न उल्लसइ सम्मं।
अह कह दिणमणि तेयं, उलुआणं हरइ अंधत्तं॥ १०८

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १०८॥

सं० अ०—जो जिनवचन के अनुकूल चलते हैं, वे पूजनीय और जो विरुद्ध चलते हैं, वे अपूज्य हैं। जैन गुरुओं को मानना अर्थात् अन्यमार्गियों को न मानना॥ १०८॥

समीक्षक—भला, जो जैन लोग अन्य अज्ञानियों को पशुवत् चेले करके न बाँधते तो उनके जाल में से छूटकर, अपनी मुक्ति के साधन कर, जन्म सफल कर लेते। भला जो कोई तुमको कुमार्गी, कुगुरु, मिथ्यात्वी और कूपदेष्टा कहैं, तो तुमको कितना दुःख लगे? वैसे ही जो तुम दूसरे को दुःखदायक हो, इसीलिये तुम्हारे मत में असार बातें बहुत-सी भरी हैं॥ १०८॥

मूल— जे रज्ज धणाईणं कारणभूया हवंति वावारा।
तेवि हु अइपावजुया, धन्ना छड्डंति भवभीया॥ ११९

—प्रक० भा० २। षष्टी० ११९॥

सं० अर्थ—जो मृत्युपर्यन्त दुःख हो तो भी कृषि-व्यापारादि कर्म जैनी लोग न करें, क्योंकि ये कर्म नरक में लेजाने वाले हैं॥ ११९॥

समीक्षक—अब कोई जैनियों से पूछे कि तुम व्यापारादि कर्म क्यों करते हो? इन कर्मों को क्यों नहीं छोड़ देते? और जो छोड़ देओ तो तुम्हारे शरीर का पालन-पोषण भी न हो सके और जो तुम्हारे कहने से सब लोग छोड़ दें, तो तुम क्या पत्थर खाके जीओगे? ऐसा अत्याचार का उपदेश करना सर्वथा व्यर्थ है। क्या करें बिचारे! विद्या, सत्सङ्ग के विना जो मन में आया, सो बक दिया॥ ११९॥

मूल— तइया हमाण अहमा, कारणरहिया अनाणगव्वेण।

जे जपंति उस्सुत्तं, तेसिं धिद्धिच्छ पंडिच्चं॥ १२१॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १२१॥

सं० अर्थ—जो जैनागम से विरुद्ध शास्त्रों के माननेवाले हैं, वे अधमाऽधम हैं। चाहें कोई प्रयोजन भी सिद्ध होता हो, तो भी जैनमत से विरुद्ध न बोले, न माने। चाहें कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, तो भी अन्य मत का त्याग कर दे॥ १२१॥

समीक्षक—तुम्हारे मूलपुरुषा से लेके आजतक जितने हो गये और होंगे, उन्होंने विना दूसरे मत को गालिप्रदान के अन्य कुछ भी दूसरी बात न की और न करेंगे। भला, जहाँ-जहाँ जैनी लोग अपना प्रयोजन सिद्ध होना देखते हैं, वहाँ चेलों के भी चेले बन जाते हैं, तो ऐसी मिथ्या लम्बी-चौड़ी बातों के हाँकने में तनिक भी लज्जा नहीं आती, यह बड़े शोक की बात है॥ १२१॥

मूल— जं वीरजिणस्स जिओ, मिरई उस्सुत्त लेसदेसणओ।
सागर कोडाकोडिं, हिंडइ अइ भीमभवरणे॥ १२२॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १२२॥

सं० अर्थ—जो कोई ऐसा कहे कि जैन साधुओं में धर्म है, हमारे और अन्य में भी धर्म है, तो वह मनुष्य क्रोड़ान्क्रोड़ वर्ष तक नरक में रहकर फिर भी नीच जन्म पाता है॥ १२२॥

समीक्षक—वाह रे! वाह!! विद्या के शत्रुओ! तुमने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनों का कोई खण्डन न करे, इसीलिए यह भयङ्कर वचन लिखा है, सो असम्भव है। अब कहां तक तुमको समझावें? तुमने तो झूठ, निन्दा और अन्य मतों से वैर-विरोध करने पर ही कमर बांध अपना प्रयोजन सिद्ध करना, मोहनभोग के समान समझ लिया है॥ १२२॥

मूल— दूरे करणं दूरम्मि, साहणं तह पभावणा दूरे।
जिण धम्म सद्दहाणं, पि तिरकदुरकाइ निट्ठवइ॥१२७॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १२७॥

सं० अर्थ—जिस मनुष्य से जैन धर्म का कुछ भी अनुष्ठान न हो सके तो भी जो **'जैन धर्म सच्चा है, अन्य कोई नहीं'** इतनी श्रद्धामात्र

ही से दु:खों से तर जाता है॥ १२७॥

समीक्षक—भला! इससे अधिक मूर्खों को अपने मतजाल में फसाने की दूसरी कौनसी बात होगी? क्योंकि कुछ कर्म करना न पड़े और मुक्ति हो ही जाए, ऐसा भूंदू मत कौनसा होगा?॥ १२७॥

मूल— कइया होही दिवसो, जइया सुगुरूण पायमूलम्मि।
उस्सुत्त लेसविसलव, रहिओ निसुणेसु जिणधम्मं॥ १२८॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १२८॥

सं० अर्थ—मनुष्य 'जिनागम' अर्थात् **'जैनों के शास्त्रों को सुनूँगा, उत्सूत्र अर्थात् अन्य मत के ग्रन्थों को कभी न सुनूँगा'** इतनी इच्छामात्र ही से दु:खसागर से तर जाता है॥ १२८॥

समीक्षक—यह भी बात मूर्खों को फसाने के लिए है। क्योंकि इस पूर्वोक्त इच्छा से यहाँ के दु:खसागर से भी नहीं तरता और पूर्वजन्म के भी सञ्चित पापों के दु:खरूपी फल भोगे विना नहीं छूट सकता। जो ऐसी-ऐसी झूठ अर्थात् विद्याविरुद्ध बात न लिखते तो इनके अविद्यारूप ग्रन्थों को वेदादिशास्त्र देख-सुन सत्याऽसत्य जानकर इनके पोकल ग्रन्थों को छोड़ देते। परन्तु ऐसा जकड़कर इन अविद्वानों को बांधा है कि इस जाल से कोई एक बुद्धिमान् सत्संगी चाहें छूट सके तो सम्भव है, परन्तु अन्य जड़बुद्धियों का छूटना तो अति कठिन है॥ १२८॥

मूल— जह्मा जेणहिं भणियं, सुय ववहारं विसोहियं तस्स।
जायइ विसुद्ध बोही, जिणआणा राहगत्ताओ॥ १३८॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १३८॥

सं० अर्थ—जो जिनाचार्यों ने कहे सूत्र, निरुक्ति, वृत्ति, भाष्य, चूर्णी मानते हैं, वे ही शुभ व्यवहार और दु:सह व्यवहार के करने से चारित्रयुक्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं, अन्य मत के ग्रन्थ देखने से नहीं॥ १३८॥

समीक्षक—क्या अत्यन्त भूखे मरने आदि कष्ट सहने को 'चारित्र' कहते हैं? जो भूखा-प्यासा मरना आदि ही चारित्र है तो बहुत से मनुष्य अकाल वा जिनको अन्नादि नहीं मिलते, भूखे मरते हैं, वे शुद्ध होकर शुभ फलों को प्राप्त होने चाहिएँ। सो न ये शुद्ध होवें और न तुम, किन्तु

पित्तादि के प्रकोप से रोगी होकर सुख के बदले दु:ख को प्राप्त होते हैं।

'धर्म' तो न्यायाचरण, ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषणादि है और असत्यभाषण अन्यायाचरणादि 'पाप' है। और सबसे प्रीतिपूर्वक परोपकारार्थ वर्त्तना 'शुभ चरित्र' कहाता है, जैनमतस्थों का भूखा-प्यासा रहना आदि धर्म नहीं। इन सूत्रादि को मानने से थोड़ा सा सत्य और अधिक झूठ को प्राप्त होकर दु:खसागर में डूबते हैं॥ १३८॥

[मूल— जंचिअ लोओ मन्नइ, तंचिअ मन्नंति सयल लोआवि।
जं मन्नइ जिणनाहो, तंचिअ मन्नंति किवि विरला॥ १४६॥]
[मूल—साहंमि आउ अहिओ, बंधसुआईसु जाण अणुराओ।
तेसिं नहु सम्मत्तं, विन्नेयं समयनीईये॥१४७॥]
मूल— जइ जाणिसि जिण नाहो, लोयायारा विपरकए भूओ।
ता तं तं मन्नंतो, कह मन्नसि लोअ आयारं॥ १४८॥
[मूल—जे मन्नेवि जिणिदं, पुणोवि पणमन्ति इअर देवाणं।
मिच्छत्त सन्निवायग, गच्छाणं ताण कोविज्जो॥१४९॥]

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू०[१४६-१४७ पृ०६९१]
१४८ [१४९ पृ० ६९२]॥

सं० अर्थ—जो उत्तम प्रारब्धवान् मनुष्य होते हैं, वे ही जिन-धर्म का ग्रहण करते हैं। अर्थात् जो जिनधर्म का ग्रहण नहीं करते, उनका प्रारब्ध नष्ट है। [१४६]

समीक्षक—क्या यह बात मूर्खता की और झूठ नहीं है? क्या अन्य मत में श्रेष्ठ-प्रारब्धी और जैनमत में नष्ट-प्रारब्धी कोई भी नहीं है?

और जो यह कहा ''कि 'साधर्मी' अर्थात् जैन धर्मवाले आपस में क्लेश न करें किन्तु प्रीतिपूर्वक वर्त्तें,'' इससे यह बात सिद्ध होती है कि दूसरे के साथ कलह करने में बुराई जैन लोग नहीं मानते होंगे। यह भी इनकी बात अयुक्त है, क्योंकि सज्जन पुरुष सज्जनों के साथ प्रेम और दुष्टों को शिक्षा देकर सुशिक्षित करते हैं। [१४७]

और जो यह लिखा कि ''ब्राह्मण, 'त्रिदण्डी, 'परिव्राजकाचार्य' अर्थात् संन्यासी और 'तापसादि' अर्थात् वैरागी आदि सब जैनमत के

शत्रु हैं।'' अब देखिये कि सबको शत्रुभाव से देखते और निन्दा करते हैं तो जैनियों की दया और क्षमारूप धर्म कहां रहा? क्योंकि जब दूसरे पर द्वेष रखना, दया क्षमा का नाश और इसके समान कोई दूसरा हिंसारूप दोष नहीं। जैसे द्वेषमूर्त्तियाँ जैनी लोग हैं, वैसे दूसरे थोड़े ही होंगे॥ १४८॥

ऋषभदेव से लेके महावीरपर्यन्त २४ तीर्थंकरों को रागी, द्वेषी, मिथ्यात्वी कहैं और जैनमत माननेवालों को सन्निपातज्वर से फसे हुए मानें और उनका धर्म नरक और विष के समान समझें, तो जैनियों को कितना बुरा लगेगा? [१४९]

इसलिये जैनी लोग निन्दा और परमतद्वेषरूप नरक में डूबकर महाक्लेश भोग रहे हैं, इस बात को छोड़ दें, तो बहुत अच्छा होवे।

मूल— एगो अगुरू एगो वि सावगो चेईआणि विवहाणि।
तच्छयजं जिणदव्वं, परुप्परं तं न विच्चंति॥ १५०॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १५०॥

सं० अर्थ—सब श्रावकों के देव गुरु धर्म एक हैं 'चैत्यवन्दन' अर्थात् जिन-प्रतिबिम्ब मूर्त्ति देवल और जिन-द्रव्य की रक्षा और मूर्त्ति की पूजा करना धर्म है॥ १५०॥

समीक्षक—अब देखो! जितना मूर्त्तिपूजा का झगड़ा चला है, वह सब जैनियों के घर से। और पाखण्डों का मूल भी जैनमत है॥ १५०॥

[सन् १८७६ में बनारस जैनप्रभाकर प्रेस में मुद्रित] श्राद्धदिनकृत्य पृष्ठ १ में मूर्त्तिपूजा के प्रमाण—

नवकारेण विवोहो॥ १॥ अणुसरणं सावउ॥ २॥ वयाइं इमे॥ ३॥ जोगो॥ ४॥ चिय वन्दणगो॥ ५॥ यच्चरखाणं तु विहि पुब्वं॥ ६॥ इत्यादि—

श्रावकों को पहिले द्वार में नवकार का जप कर जागना॥ १॥

दूसरा नवकार जपे पीछे ''मैं श्रावक हूँ'' स्मरण करना॥ २॥

तीसरे 'अणुव्रतादिक' हमारे कितने हैं॥ ३॥

चौथे द्वारे चार वर्ग में अग्रगामी मोक्ष है, उसका कारण ज्ञानादिक है सो 'योग', उसका सब अतीचार निर्मल करने से छः आवश्यक कारण सो भी उपचार से योग कहाता है, सो योग कहेंगे॥ ४॥

पाँचवें 'चैत्यवन्दन' अर्थात् मूर्त्ति को नमस्कार द्रव्यभाव पूजा कहेंगे॥ ५॥

छठा प्रत्याख्यान द्वार नवकारसीप्रमुख विधिपूर्वक कहूंगा, इत्यादि॥ ६॥

तत्त्वविवेक पृष्ठ १६९—जो मनुष्य लकड़ी-पत्थर को देवबुद्धि कर पूजता है, वह अच्छे फलों को प्राप्त होता है।

समीक्षक—जो ऐसा हो तो सब कोई दर्शन करके सुखरूप फलों को प्राप्त क्यों नहीं होते?

रत्नसार भाग १ पृष्ठ १०—पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं।

कल्पभाष्य पृष्ठ ५१ में लिखा है कि—''सवालाख मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया'' इत्यादि मूर्त्तिपूजाविषय में इनका बहुत सा लेख है, इसी से समझा जाता है कि मूर्त्तिपूजा का मूलकारण जैनमत है।

और कल्पभाष्य में लिखा है कि—''ऋषभदेव से लेके महावीर पर्य्यन्त २४ तीर्थङ्कर सब मोक्ष को प्राप्त हुए।''

अब और थोड़ी सी असम्भव बातें इनकी सुनो—

विवेकसार पृष्ठ ७८—एक करोड़ साठ लाख कलशों से महावीर को जन्म समय में स्नान कराया।

श्राद्धनिकृत्य आत्मनिन्दा भावना पृष्ठ ३१ में लिखा है कि—बावड़ी, कुआ और तालाब न बनवाना चाहिये।

समीक्षक—भला, जो सब मनुष्य जैनमत में हो जायें और कुआ, तालाब, बावड़ी आदि कोई भी न बनवावें, तो सब लोग जल कहाँ से पियें?

प्रश्न—तालाब आदि बनवाने से जीव पड़ते हैं, उससे बनवानेवाले को पाप लगता है, इसलिये हम जैनी लोग इस काम को नहीं करते।

उत्तर—तुम्हारी बुद्धि नष्ट क्यों हो गई? क्योंकि जैसे क्षुद्र-क्षुद्र जीवों के मरने से पाप गिनते हो, तो बड़े-बड़े गाय आदि पशु और मनुष्यादि प्राणियों के जल पीने आदि से महापुण्य होगा, उसको क्यों नहीं गिनते?

तत्त्वविवेक पृष्ठ १९६—इस नगरी में एक नन्द मणिकार सेठ ने बावड़ी बनवाई, उससे धर्मभ्रष्ट होकर सोलह महारोग हुए, मरके उसी बावड़ी में मेडूका हुआ, महावीर के दर्शन से उसको जातिस्मरण हो गया। महावीर कहते हैं कि मेरा आना सुनकर वह पूर्व जन्म के धर्माचार्य्य जान वन्दना को आने लगा। मार्ग में श्रेणिक के घोड़े की टाप से मरकर शुभ ध्यान के योग से दर्दुराङ्क नाम महर्द्धिक देवता हुआ। अवधिज्ञान से मुझको यहाँ आया जान वन्दनापूर्वक ऋद्धि दिखाके गया।

समीक्षक—इत्यादि विद्याविरुद्ध असम्भव मिथ्या बात के कहनेवाले महावीर को सर्वोत्तम मानना महाभ्रान्ति की बात है।

श्राद्धदिनकृत्य० पृष्ठ ३६ में लिखा है कि—मृतकवस्त्र साधु ले लेवें।

समीक्षक—देखिये! इनके साधु भी महाब्राह्मण के समान हो गये। वस्त्र तो साधु लेवें, परन्तु मृतक के आभूषण कौन लेवे? बहुमूल्य होने से घर में रख लेते होंगे, तो आप कौन हुए?

रत्नसार पृष्ठ १०५—भूंजना, कूटना, पीसना, अन्न पकाने आदि में पाप होता है।

समीक्षक—अब देखिये इनकी विद्याहीनता! भला ये कर्म न किये जायें, तो मनुष्यादि प्राणी कैसे जी सकें? और जैनी लोग भी पीड़ित होकर मर जायें।

रत्नसार पृष्ठ १०४—बगीचा लगाने से एक लक्ष पाप माली को लगता है।

समीक्षक—जो माली को लक्ष पाप लगता है, तो अनेक जीव पुष्प, फल और छाया से आनन्दित होते हैं, तो करोड़ों गुणा पुण्य भी होता ही है। इस पर कुछ ध्यान भी न दिया, यह कितना अन्धेर है?

तत्त्वविवेक पृष्ठ २०२—एक दिन लब्धि साधु भूल से वेश्या के घर में चला गया और धर्म से भिक्षा मांगी। वेश्या बोली कि यहां धर्म का काम नहीं, किन्तु अर्थ का काम है, तो उस लब्धि साधु ने साढ़े बारह लाख अशर्फी-वर्षा, उसके घर में कर दी।

समीक्षक—इस बात को सत्य विना नष्टबुद्धि पुरुष के कौन मानेगा?

रत्नसार भाग १ पृष्ठ ६७ में लिखा है कि—एक पाषाण की मूर्त्ति घोड़े पर चढ़ी हुई, उसका जहाँ स्मरण करे, वहां उपस्थित होकर रक्षा करती है।

समीक्षक—कहो जैनीजी! आजकल तुम्हारे यहां चोरी, डाका आदि और शत्रु से भय होता ही है तो तुम उसका स्मरण करके अपनी रक्षा क्यों नहीं करा लेते हो? क्यों जहाँ-तहाँ पुलिस आदि राज-स्थानों में मारे-मारे फिरते हो?

कल्पसूत्रभाष्य पृष्ठ १०८—केशलुञ्चन करे, गौ के बालों के तुल्य रक्खे।

समीक्षक—अब कहिये जैन लोगो! तुम्हारा दया धर्म कहाँ रहा? क्या यह हिंसा अर्थात् चाहें अपने हाथ से लुञ्चन करे, उसका गुरु करे वा अन्य कोई, परन्तु कितना बड़ा कष्ट उस जीव को होता होगा? जीव को कष्ट देना ही हिंसा कहाती है।

विवेकसार पृष्ठ ७—संवत् १६३३ के साल में श्वेताम्बरों में से ढूँढिया और ढूँढियों में से तेरहपन्थी आदि ढोंगी निकले हैं। ढूंढिये लोग पाषाणादि मूर्त्ति को नहीं मानते और वे भोजन-स्नान को छोड़ सर्वदा मुख पर पट्टी बांधे रहते हैं। और जती आदि भी जब पुस्तक बाँचते हैं, तभी मुख पर पट्टी बांधते हैं, अन्य समय नहीं।

प्रश्न—मुख पट्टी अवश्य बांधना चाहिए, क्योंकि 'वायुकाय' अर्थात् जो वायु में सूक्ष्म शरीरवाले जीव रहते हैं, वे मुख के बाफ की उष्णता से मरते हैं और उसका पाप मुख पर पट्टी न बांधनेवाले पर होता है, इसलिये हम लोग मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा समझते हैं।

उत्तर—यह बात विद्या और प्रत्यक्षादि प्रमाणादि की रीति से अयुक्त है। क्योंकि जीव अजर-अमर हैं, फिर वे मुख की बाफ से कभी नहीं मर सकते। इनको तुम भी अजर-अमर मानते हो।

प्रश्न—जीव तो नहीं मरता, परन्तु जो मुखके उष्ण वायु से उनको पीड़ा पहुँचती है, उस पीड़ा पहुँचानेवाले को पाप होता है, इसलिए मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा है।

उत्तर—यह भी तुम्हारी बात सर्वथा असम्भव है। क्योंकि पीड़ा

दिए विना, किसी जीव का किञ्चित् भी निर्वाह नहीं हो सकता। जब मुखके वायु से तुम्हारे मत में जीवों को पीड़ा पहुँचती है, तो चलने, फिरने, बैठने, हाथ उठाने और नेत्रादि के चलाने में भी पीड़ा अवश्य पहुँचती होगी, इसलिए तुम भी जीवों को पीड़ा पहुँचाने से पृथक् नहीं रह सकते।

प्रश्न—हाँ, जब तक बन सके, वहाँ तक जीवों की रक्षा करनी चाहिए और जहाँ हम नहीं बचा सकते, वहाँ अशक्त हैं। क्योंकि सब वायु आदि पदार्थों में जीव भरे हुए हैं। जो हम मुख पर कपड़ा न बाँधें तो बहुत जीव मरें। कपड़ा बाँधने से कम मरते हैं।

उत्तर—यह भी तुम्हारा कथन युक्तिशून्य है। क्योंकि कपड़ा बाँधने से जीवों को अधिक दु:ख पहुँचता है। जब कोई मुख पर कपड़ा बाँधे, तो उसका मुख का वायु रुक के, नीचे वा पार्श्व और मौन समय में नासिका द्वारा इकट्ठा होकर वेग से निकलता है, उससे उष्णता अधिक होकर जीवों को विशेष पीड़ा तुम्हारे मताऽनुसार पहुँचती होगी। देखो! जैसे घर वा कोठरी के सब दरवाजे बंध किये वा पड़दे डाले जायें तो उसमें उष्णता विशेष होती है, खुला रखने से उतनी नहीं होती, वैसे मुख पर कपड़ा बाँधने से उष्णता अधिक होती है और खुला रखने से न्यून। वैसे तुम अपने मतानुसार जीवों को अधिक दु:खदायक हो। और जब मुख बंध किया जाता है, तब नासिका के छिद्रों से वायु रुक, इकट्ठा होकर वेग से निकलता हुआ, जीवों को अधिक धक्का और पीड़ा करता होगा।

देखो! जैसे कोई मनुष्य अग्नि को मुख से फूँकता और कोई नली से, तो मुख का वायु फैलने से कम बल और नली का वायु इकट्ठा होने से अधिक बल से अग्नि में लगता है, वैसे ही मुख पर पट्टी बाँधकर वायु को रोकने से नासिका द्वारा अति वेग से निकलकर जीवों को अधिक दु:ख देता है। इससे मुख-पट्टी बाँधनेवालों से नहीं बाँधनेवाले धर्मात्मा हैं।

और मुख पर पट्टी बाँधने से अक्षरों का यथायोग्य स्थान-प्रयत्न के साथ उच्चारण भी नहीं होता। निरनुनासिक अक्षरों को सानुनासिक

बोलने से तुमको दोष लगता है। तथा मुख पट्टी बाँधने से दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है, क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध भरा है। शरीर से जितना वायु निकलता है, वह दुर्गन्धयुक्त प्रत्यक्ष है। जो वह रोका जाय तो दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ जाय, जैसा कि बंध 'जाजरूर' अधिक दुर्गन्धयुक्त और खुला हुआ न्यून दुर्गन्धयुक्त होता है, वैसे ही मुख-पट्टी बाँधने, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन, स्नान, अच्छे प्रकार वस्त्र न धोने से तुम्हारे शरीरों से अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होकर संसार में बहुत रोग करके जीवों को जितनी पीड़ा पहुँचाते हैं, उतना पाप तुमको अधिक होता है।

जैसे मेला आदि में अधिक दुर्गन्ध होने से विसूचिका अर्थात् हैजा आदि बहुत प्रकार के रोग उत्पन्न होकर जीवों को दु:खदायक होते हैं, और न्यून दुर्गन्ध होने से रोग भी न्यून होकर जीवों को बहुत दु:ख नहीं पहुँचता। इससे तुम अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने में अधिक अपराधी; और जो मुख-पट्टी नहीं बाँधते, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन, स्नान करके स्थान-वस्त्रों को शुद्ध रखते हैं, वे तुमसे बहुत अच्छे हैं। जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से निर्मल बुद्धि नहीं होती, वैसे तुम और तुम्हारे संगियों की बुद्धि नहीं बढ़ती। जैसे रोग से और बुद्धि स्वल्प होने से धर्माऽनुष्ठान की बाधा होती है, वैसे ही दुर्गन्धयुक्त तुम्हारा और तुम्हारे संगियों का भी वर्त्तमान होता होगा।

प्रश्न—जैसे बन्ध मकान में जलाये हुए अग्नि की ज्वाला बाहर निकलके बाहर के जीवों को दु:ख नहीं पहुँचा सकती, वैसे हम मुखपट्टी बाँध के वायु को रोककर बाहर के जीवों को न्यून दु:ख पहुँचानेवाले हैं। मुखपट्टी बाँधने से बाहर के वायु के जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचती। और जैसे सामने अग्नि जलाता है, उसको आड़ा हाथ देने से आँच कम लगती है। और वायु के जीव शरीरवाले होने से उनको पीड़ा अवश्य पहुँचती है।

उत्तर—यह तुम्हारी बात लड़केपन की है। प्रथम तो देखो, जहाँ छिद्र और भीतर के वायु का योग बाहर के वायु के साथ न हो तो वहाँ अग्नि जल ही नहीं सकता। जो इसको प्रत्यक्ष देखना चाहो तो किसी फानूस में दीप जलाकर सब छिद्र बंध करके देखो तो दीप उसी समय

बुझ जायगा। जैसे पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्यादि प्राणी बाहिर के वायु के योग के विना नहीं जी सकते, वैसे अग्नि भी नहीं जल सकता। जब एक ओर से अग्नि का वेग रोका जाय, तो दूसरी ओर अधिक वेग से निकलेगा और हाथ की आड़ करने से मुख पर आँच न्यून लगती है, परन्तु वह आँच हाथ पर अधिक लग रही है, इसलिए तुम्हारी बात ठीक नहीं।

प्रश्न—इसको सब कोई जानता है कि जब किसी बड़े मनुष्य से छोटा मनुष्य कान में वा निकट होकर बात कहता है तब मुख पर पल्ला वा हाथ लगाता है, इसलिए कि मुख से थूक उड़कर वा दुर्गन्ध उसको न लगे और जब पुस्तक बाँचता है, तब अवश्य थूक उड़कर उस पर गिरने से उच्छिष्ट होकर वह बिगड़ जाता है, इसलिए मुख-पट्टी बाँधना अच्छा है।

उत्तर—इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवरक्षार्थ मुखपट्टी बाँधना व्यर्थ है। और जब कोई बड़े मनुष्य से बात करता है, तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिए रखता है कि उस गुप्त बात को दूसरा कोई न सुन लेवे। क्योंकि जब कोई प्रसिद्ध बात करता है, तब कोई भी मुख पर हाथ वा पल्ला नहीं धरता। इससे क्या विदित होता है कि गुप्त बात के लिए यह बात है। दन्तधावनादि न करने से तुम्हारे मुखादि अवयवों से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलता है और जब तुम किसी के पास वा कोई तुम्हारे पास बैठता होगा, तो विना दुर्गन्ध के अन्य क्या आता होगा, इत्यादि।

मुख के आड़ा हाथ वा पल्ला देने के प्रयोजन अन्य बहुत हैं। जैसे बहुत मनुष्यों के सामने गुप्त बात करने में जो हाथ वा पल्ला न लगाया जाय तो दूसरों की ओर वायु के फैलने से बात भी फैल जाय। जब वे दोनों एकान्त में बात करते हैं, तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिए नहीं लगाते कि यहाँ तीसरा कोई सुननेवाला नहीं।

जो बड़ों ही के ऊपर थूक न गिरे, इससे क्या छोटों के ऊपर थूक गिराना चाहिए? और उस थूक से बच भी नहीं सकता। क्योंकि हम दूरस्थ बात करें और वायु हमारी ओर से दूसरे की ओर जाता हो तो सूक्ष्म होकर उसके शरीर पर वायु के साथ त्रसरेणु अवश्य गिरेंगे, उसका

दोष गिनना अविद्या की बात है।

क्योंकि जो मुख की उष्णता से जीव मरते वा उनको पीड़ा पहुँचती हो, तो वैशाख वा ज्येष्ठ महीने में सूर्य्य की महा उष्णता से वायुकाय के जीवों में से मरे विना एक भी न बच सके। सो उस उष्णता से भी वे जीव नहीं मर सकते, इसलिये यह तुम्हारा सिद्धान्त झूठा है। क्योंकि जो तुम्हारे तीर्थङ्कर भी पूर्ण विद्वान् होते, तो ऐसी व्यर्थ बातें क्यों करते?

देखो! पीड़ा उसी जीव को पहुँचती है, जिसकी वृत्ति सब अवयवों के साथ विद्यमान हो। इसमें प्रमाण—

पञ्चावयवयोगात्सुखसंवित्तिः॥

—यह सांख्यशास्त्र [५। २७] का सूत्र है॥

जब पाँचों इन्द्रियों का पाँच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है तभी सुख वा दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प्प-व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चला जाना, शून्य बहिरीवाले को स्पर्श, पिन्नस रोगवाले को गन्ध और शून्य जिह्वावाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।

देखो! जब मनुष्य का जीव सुषुप्ति दशा में रहता है तब उसको सुख वा दुःख की प्राप्ति कुछ भी नहीं होती, क्योंकि वह शरीर के भीतर तो है, परन्तु उसका बाहर के अवयवों के साथ उस समय सम्बन्ध न रहने से सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

और जैसे वैद्य वा आजकाल के डाक्तर लोग नशा की चीज खिला वा सुंघा के रोगी पुरुष के शरीर के अवयवों को काटते वा चीरते हैं, उसको उस समय कुछ भी दुःख विदित नहीं होता, वैसे वायुकाय अथवा अन्य स्थावर शरीरवाले जीवों को सुख वा दुःख प्राप्त कभी नहीं हो सकता।

जैसे मूर्च्छित प्राणी सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे वे वायुकायादि के जीव भी अत्यन्त मूर्च्छित होने से सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकते, फिर इनको पीड़ा से बचाने की बात सिद्ध कैसे हो

सकती है? जब उनको सुख-दु:ख की प्राप्ति ही प्रत्यक्ष नहीं होती, तो अनुमानादि यहाँ कैसे युक्त हो सकते हैं।

प्रश्न—जब वे जीव हैं तो उनको सुख-दु:ख क्यों नहीं होता होगा?

उत्तर—सुनो भोले भाइयो! जब तुम सुषुप्ति में होते हो तब तुमको सुख-दु:ख प्राप्त क्यों नहीं होते? सुख-दु:ख की प्राप्ति के हेतु प्रसिद्ध सम्बन्ध है। अभी हम इसका उत्तर दे आये हैं कि नशा सुंघा के डाक्तर लोग अङ्गों को चीरते-फाड़ते और काटते हैं, जैसे उनको दु:ख विदित नहीं होता, उसी प्रकार अतिमूर्च्छित जीवों को सुख-दु:ख क्योंकर प्राप्त होवे? क्योंकि वहाँ प्राप्ति होने का साधन कोई भी नहीं।

प्रश्न—देखो! 'निलोति' अर्थात् जितने हरे शाक, पात और कन्दमूल हैं, उनको हम लोग नहीं खाते, क्योंकि निलोति में बहुत और कन्दमूल में अनन्त जीव हैं। जो हम उनको खावें तो उन जीवों को मारने और पीड़ा पहुँचने से हम लोग पापी हो जायें।

उत्तर—यह तुम्हारी बड़ी अविद्या की बात है। क्योंकि हरित शाक के खाने में जीव का मरना, उनको पीड़ा पहुँचनी क्योंकर मानते हो? भला, जब तुमको पीड़ा प्राप्त होती प्रत्यक्ष नहीं दीखती, और जो दीखती है तो हमको भी दिखलाओ। तुम कभी न प्रत्यक्ष देख वा हमको दिखा सकोगे। जब प्रत्यक्ष नहीं, तो अनुमान, उपमान और शब्दप्रमाण भी कभी नहीं घट सकता।

फिर जो हम ऊपर उत्तर दे आये हैं, वह इस बात का भी उत्तर है। क्योंकि जो अत्यन्त अन्धकार, महासुषुप्ति और महा नशा में जीव हैं, इनको सुख-दु:ख की प्राप्ति मानना तुम्हारे तीर्थंकरों की भी भूल विदित होती है, जिन्होंने तुमको ऐसी युक्ति और विद्याविरुद्ध उपदेश किया है। भला, जब घर का अन्त है तो उसमें रहनेवाले अनन्त क्योंकर हो सकते हैं? जब कन्द का अन्त हम देखते हैं, तो उसमें रहनेवाले जीवों का अन्त क्यों नहीं? इससे यह तुम्हारी बात बड़ी भूल की है।

प्रश्न—देखो! तुम लोग विना उष्ण किए कच्चा पानी पीते हो, वह बड़ा पाप करते हो। जैसे हम उष्ण पानी पीते हैं, वैसे तुम लोग भी पिया

करो।

उत्तर—यह भी तुम्हारी बात भ्रमजाल की है। क्योंकि जब तुम पानी को उष्ण करते हो, तब पानी के जीव सब मरते होंगे और उनका शरीर भी जल में रंधकर वह पानी सोंफ के अर्क के तुल्य होने से जानो तुम उनके शरीरों का 'तेजाब' पीते हो, इसमें तुम बड़े पापी हो। और जो ठंढा जल पीते हैं वे नहीं, क्योंकि जब ठंढा पानी पियेंगे, तब उदर में जाने से किञ्चित् उष्णता पाकर श्वास के साथ वे जीव बाहर निकल जायेंगे। जलकाय जीवों को सुख-दु:ख प्राप्त पूर्वोक्त रीति से नहीं हो सकता, पुन: इसमें पाप किसी को नहीं होगा।

प्रश्न—जैसे जाठराग्नि की उष्णता पाके श्वास के साथ जीव बाहर निकल जाते हैं, वैसे अग्नि की उष्णता पाके जल से बाहर जीव क्यों न निकल जायेंगे?

उत्तर—हाँ निकल तो जाते, परन्तु जब तुम मुख के वायु की उष्णता से जीव का मरना मानते हो, तो जल उष्ण करने से तुम्हारे मताऽनुसार जीव मर जावेंगे वा अधिक पीड़ा पाकर निकलेंगे और उनके शरीर उस जल में रंध जायेंगे, इससे तुम अधिक पापी होगे वा नहीं?

प्रश्न—हम अपने हाथ से उष्ण जल नहीं करते और न किसी गृहस्थ को उष्ण जल करने की आज्ञा देते हैं, इसलिए हमको पाप नहीं।

उत्तर—जो तुम उष्ण जल न लेते, न पीते, तो गृहस्थ उष्ण क्यों करते? इसलिए उस पाप के भागी तुम ही हो, प्रत्युत अधिक पापी हो। क्योंकि जो तुम किसी एक गृहस्थ को उष्ण करने को कहते, तो एक ही ठिकाने उष्ण होता। जब वे गृहस्थ इस भ्रम में रहते हैं कि न जाने साधुजी किसके घर को आवेंगे, इसलिए प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घरों में उष्ण जल कर रखते हैं, इसके पाप के भागी मुख्य तुम ही हो।

दूसरा—अधिक काष्ठ और अग्नि के जलने-जलाने से भी ऊपर लिखे प्रमाणे रसोई, खेती और व्यापारादि में अधिक पापी और नरकगामी होते हो। फिर जब तुम उष्ण जल कराने के मुख्य निमित्त और तुम उष्ण जल के पीने और ठंढे के न पीने के उपदेश करने से तुम ही मुख्य पाप

के भागी हो। और जो तुम्हारा उपदेश मानकर ऐसी बातें करते हैं, वे भी पापी हैं।

अब देखो! कि तुम बड़ी अविद्या में होते हो, वा नहीं? कि—छोटे-छोटे जीवों पर दया करनी और अन्य मत वालों की निन्दा, अनुपकार करना क्या थोड़ा पाप है? जो तुम्हारे तीर्थंकरों का मत सच्चा होता, तो सृष्टि में इतनी वर्षा, नदियों का चलना और इतना जल क्यों उत्पन्न ईश्वर ने किया? और सूर्य्य को भी उत्पन्न न करता, क्योंकि इनमें क्रोड़ान्क्रोड़ जीव तुम्हारे मताऽनुसार मरते ही होंगे। जब वे विद्यमान थे और तुम जिनको ईश्वर मानते हो, उन्होंने दया कर सूर्य्य का ताप और मेघ को बंध क्यों न किया? और पूर्वोक्त प्रकार से विना विद्यमान साधनों के प्राणियों को दु:ख-सुख की प्राप्ति, कन्दमूलादि पदार्थों में रहनेवाले जीवों को नहीं होती।

सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दु:ख का कारण होता है। क्योंकि जो तुम्हारे मताऽनुसार सब मनुष्य हो जावें, चोर-डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवे तो कितना बड़ा पाप खड़ा हो जाय? इसलिए दुष्टों को यथावत् दण्ड देने और श्रेष्ठों के पालन करने में दया और इससे विपरीत करने में दया क्षमारूप धर्म का नाश है।

कितनेक जैनी लोग दुकान करते, उन व्यवहारों में झूठ बोलते, पराया धन मारते और गरीबों को छलने आदि कुकर्म करते हैं, उनके निवारण में विशेष उपदेश क्यों नहीं करते और मुखपट्टी बाँधने आदि ढोंग में क्यों रहते हो?

जब तुम चेला-चेली करते हो। तब केशलुञ्चन और बहुत दिवस भूखे रहने में पराये वा अपने आत्मा को पीड़ा दे और पीड़ा को प्राप्त होके, दूसरों को दु:ख देते और 'आत्महत्या' अर्थात् आत्मा को दु:ख देनेवाले होकर हिंसक क्यों बनते हो? जब हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट पर चढ़ने, मनुष्यों को मजूरी कराने में पाप, जैनी लोग क्यों नहीं गिनते? जब तुम्हारे चेले ऊटपटांग बातों को सत्य नहीं कर सकते, तो तुम्हारे तीर्थङ्कर भी सत्य नहीं कर सकते। जब तुम कथा बांचते हो, तब मार्ग में श्रोताओं के और तुम्हारे मतानुसार जीव मरते ही होंगे, इसलिए तुम

इस पाप के मुख्य कारण क्यों होते हो? इस थोड़े कथन से बहुत समझ लेना कि उन जल, स्थल, वायु के स्थावर शरीरवाले अत्यन्त मूर्च्छित जीवों को दु:ख वा सुख कभी नहीं पहुँच सकता।

अब जैनियों की और भी थोड़ी सी असम्भव कथा लिखते हैं, सुनना चाहिए। और यह भी ध्यान में रखना कि अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का धनुष होता है और काल की संख्या जैसी पूर्व लिख आये हैं, वैसी ही समझना। रत्नसार भाग १, पृष्ठ १६६-१६७ तक में लिखा है—

(१) ऋषभदेव का शरीर ५०० पाँच सौ धनुष् लम्बा और ८४००००० (चौरासी लाख) पूर्व का आयु।

(२) अजितनाथ का ४५० धनुष् परिमाण का शरीर और ७२००००० (बहत्तर लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(३) संभवनाथ का ४०० चार सौ धनुष् परिमाण शरीर और ६०००००० (साठ लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(४) अभिनन्दन का ३५० साढ़े तीन सौ धनुष् का शरीर और ५०००००० (पचास लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(५) सुमतिनाथ का ३०० धनुष् परिमाण का शरीर और ४०००००० (चालीस लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(६) पद्मप्रभ का १४० धनुष् का शरीर और ३०००००० (तीस लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(७) सुपार्श्वनाथ का २०० धनुष् का शरीर और २०००००० (बीस लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(८) चन्द्रप्रभ का १५० धनुष् परिमाण का शरीर और १०००००० (दश लाख) पूर्व वर्षों का आयु।

(९) सुविधिनाथ का १०० सौ धनुष् का शरीर और २००००० (दो लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(१०) शीतलनाथ का ९० नब्बे धनुष् का शरीर और १००००० (एक लाख) पूर्व वर्ष का आयु।

(११) श्रेयांसनाथ का ८० धनुष् का शरीर और ८४००००० (चौरासी लाख) वर्ष का आयु।

(१२) वासुपूज्य स्वामी का ७० धनुष् का शरीर और ७२०००००० (बहत्तर लाख) वर्ष का आयु।

(१३) विमलनाथ का ६० धनुष् का शरीर और ६०००००० (साठ लाख) वर्षों का आयु।

(१४) अनन्तनाथ का ५० धनुष् का शरीर और ३०००००० (तीस लाख) वर्षों का आयु।

(१५) धर्मनाथ का ४५ धनुषों का शरीर और १०००००० (दश लाख) वर्षों का आयु।

(१६) शान्तिनाथ का ४० धनुषों का शरीर और १००००० (एक लाख) वर्ष का आयु।

(१७) कुन्थुनाथ का ३५ धनुष् का शरीर और ९५००० (पच्चानवे सहस्र) वर्षों का आयु।

(१८) अमरनाथ का ३० धनुषों का शरीर और ८४००० (चौरासी सहस्र) वर्षों का आयु।

(१९) मल्लीनाथ का २५ धनुषों का शरीर और ५५००० (पचपन सहस्र) वर्षों का आयु।

(२०) मुनि सुव्रत का २० धनुषों का शरीर और ३०००० (तीस सहस्र) वर्षों का आयु।

(२१) नमिनाथ का १४ धनुषों का शरीर और १०००० (दशसहस्र) वर्षों का आयु।

(२२) नेमिनाथ का १० धनुषों का शरीर और १००० (एक सहस्र) वर्ष का आयु।

(२३) पार्श्वनाथ का ९ हाथ का शरीर और १०० (सौ) वर्ष का आयु।

(२४) महावीर स्वामी का ७ हाथ का शरीर और ७२ वर्षों का आयु।

ये चौबीस तीर्थंकर जैनियों के मत चालनेवाले आचार्य और गुरु हैं, इन्हीं को जैनी लोग परमेश्वर मानते है और ये सब मोक्ष को गये हैं। इसमें बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि इतने बड़े शरीर और इतना आयु

मनुष्यदेह का होना कभी सम्भव है? इस भूगोल में बहुत ही थोड़े मनुष्य वस सकते हैं। इन्हीं जैनियों के गपोड़े लेकर जो पुराणियों ने एक लाख, दश सहस्र और एक सहस्र वर्ष का आयु लिखा सो भी सम्भव नहीं हो सकता, तो जैनियों का कथन सम्भव कैसे हो सकता है?

अब और भी सुनो—**कल्पभाष्य पृष्ठ ४**—नागकेत ने ग्राम की बराबर एक शिला अंगुली पर धर ली!

कल्पभाष्य पृष्ठ ३५—महावीर ने अंगूठे से पृथिवी को दबाई, उससे शेषनाग कंप गया!

कल्पभाष्य पृष्ठ ४६—महावीर को सर्प ने काटा, रुधिर के बदले दूध निकला। और वह सर्प ८वें स्वर्ग को गया।

कल्पभाष्य पृष्ठ ४७—महावीर के पग पर खीर पकाई और पग न जले।

कल्पभाष्य पृष्ठ १६—छोटे से पात्र में ऊँट बुलाया।

रत्नसार भाग १, पृष्ठ १४—शरीर के मैल को न उतारें और न खुजलावें।

विवेकसार भाग १, पृष्ठ १५—जैनियों के एक दमसार साधु ने क्रोधित होकर उद्वेगजनक सूत्र पढ़कर एक शहर में आग लगा दी और महावीर तीर्थङ्कर का अति प्रिय था।

विवेकसार भाग १, पृष्ठ १२७—राजा की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये।

विवेकसार पृष्ठ २२७—एक कोशा वेश्या ने थाली में सरसों की ढेरी लगा उसके ऊपर फूलों से ढकी हुई सुई खड़ी कर उसपर अच्छे प्रकार नाच किया, परन्तु सुई पग में गड़ने न पाई और सरसों की ढेरी बिखरी नहीं।

तत्त्वविवेक पृष्ठ २२८—इसी कोशा वेश्या के साथ एक स्थूलमुनि ने १२ वर्ष तक भोग किया और पश्चात् दीक्षा लेकर सद्गति को गया और कोशा वेश्या भी जैनधर्म को पालती हुई सद्गति को गई।

विवेकसार भाग १, पृष्ठ १८४—एक सिद्ध की कन्था जो गले में पहनी जाती है, वह ५०० अशर्फी एक वैश्य को नित्य देती रही।

विवेकसार भाग १, पृष्ठ २२८—बलवान् पुरुष की आज्ञा; देव की आज्ञा; घोर वन में कष्ट से निर्वाह; गुरु के रोकने, माता, पिता, कुलाचार्य्य, ज्ञातीय लोग और धर्मोपदेष्टा इन छः के रोकने से धर्म में न्यूनता होने से धर्म की हानि नहीं होती।

समीक्षक—अब देखिये इनकी मिथ्या बातें! एक मनुष्य ग्राम के बराबर पाषाण की शिला को अंगुली पर कभी धर सकता है?॥ १ ॥

और पृथिवी के ऊपर अंगूठे से दाबने से पृथिवी कभी दब सकती है? और जब शेषनाग ही नहीं तो कंपेगा कौन?॥ २ ॥

भला, शरीर के काटने से दूध निकलना किसी ने नहीं देखा, सिवाय इन्द्रजाल के दूसरी बात नहीं। उसको काटनेवाला सर्प तो स्वर्ग में गया और महात्मा श्रीकृष्ण आदि तीसरे नरक को गये, यह कितनी मिथ्या बात है?॥ ३ ॥

जब महावीर के पग पर खीर पकाई तब उसके पग जल क्यों न गये?॥ ४ ॥

भला, छोटे से पात्र में कभी ऊंट आ सकता है?॥ ५ ॥

जो शरीर का मैल नहीं उतारते और न खुजलाते होंगे, वे दुर्गन्धरूप महा नरक भोगते होंगे॥ ६ ॥

जिस साधु ने नगर जलाया उसकी दया और क्षमा कहाँ गई? जब महावीर के संग से भी उसका पवित्र आत्मा न हुआ, तो अब महावीर के मरे पीछे, उसके आश्रय से जैन लोग कभी पवित्र न होंगे॥ ७ ॥

राजा की आज्ञा माननी चाहिये परन्तु जैन लोग बनिये हैं, इसलिये राजा से डरकर यह बात लिख दी होगी॥ ८ ॥

कोशा वेश्या चाहे उसका शरीर कितना ही हल्का हो तो भी सरसों की ढेरी पर सुई खड़ी करके उसके ऊपर नाचना, सुई का न छिदना और सरसों का न बिखरना, अतीव झूठ नहीं तो क्या है॥ ९-१० ॥

भला, कन्था वस्त्र का होता है वह नित्यप्रति ५०० अशर्फी किस प्रकार दे सकता है?॥ ११ ॥

धर्म्म किसी को किसी अवस्था में भी न छोड़ना चाहिये, चाहे कुछ भी हो जाय?॥ १२ ॥

अब ऐसी-ऐसी असम्भव कहानी इनकी लिखें तो जैनियों के थोथे पोथों के सदृश बहुत बढ़ जाय, इसलिये अधिक नहीं लिखते। अर्थात् थोड़ी सी इन जैनियों की बातें छोड़के शेष सब मिथ्या-जाल भरा है। देखिये—

दो ससि दो रवि पढमे। दुगुणा लवणंमि धायई संमे॥
बारस ससि बारस रवि। तप्पमि इ निदिट्ठ ससि रविणो॥ ७७॥
तिगुणा पुब्बिल्ल जुया। अणंतराणंतरं मिखित्तंमि॥
कालो ए बायाला। बिसत्तरी पुस्कर द्वंमि॥ ७८॥

—प्रकरणरत्नाकर भा० ४। संग्रहणी सूत्र ७७-७८॥

जो जम्बूद्वीप लाख योजन अर्थात् ४ चार लाख कोश का लिखा है, उनमें यह पहिला द्वीप कहाता है। इसमें दो चन्द्र और दो सूर्य्य हैं और वैसे ही लवण समुद्र में उससे दुगुणे अर्थात् ४ चन्द्रमा और ४ सूर्य हैं तथा धातकीखण्ड में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य्य हैं॥ ७७॥

और इनको तिगुणा करने से छत्तीस होते हैं। उनके साथ दो जम्बूद्वीप के और चार लवण समुद्र के मिलकर ब्यालीस चन्द्रमा और ब्यालीस सूर्य्य कालोदधि समुद्र में हैं। इसी प्रकार अगले-अगले द्वीप और समुद्रों में पूर्वोक्त ब्यालीस को तिगुणा करें तो एक सौ छब्बीस होते हैं। उनमें धातकीखण्ड के बारह, लवण समुद्र के ४ चार और जम्बूद्वीप के दो इस रीति से मिला कर १४४ एक सौ चवालीस चन्द्र, १४४ सूर्य्य पुष्करद्वीप में हैं। यह भी आधे मनुष्यक्षेत्र की गणना है। परन्तु जहां मनुष्य नहीं रहते हैं, वहां बहुत से सूर्य्य और बहुत से चन्द्र हैं। और जो पिछले अर्ध पुष्करद्वीप में बहुत चन्द्र और बहुत सूर्य्य हैं, वे स्थिर हैं। पूर्वोक्त एक सौ चवालीस को तिगुणा करने से ४३२ और उनमें पूर्वोक्त जम्बूद्वीप के दो चन्द्रमा, दो सूर्य्य, चार-चार लवण समुद्र के और बारह-बारह धातकीखण्ड के और ब्यालीस कालोदधि के मिलाने से ४९२ चन्द्रमा तथा ४९२ सूर्य पुष्कर समुद्र में हैं॥ ७८॥

ये सब बातें श्रीजिनभद्रगणीक्षमाश्रमण ने बड़ी 'सङ्घयणी' में तथा 'योतिष्करण्डकपयन्ना मध्ये' और 'चंदपन्नति' तथा 'सूरपन्नति' प्रमुख सिद्धान्तग्रन्थों में इसी प्रकार कही हैं।

समीक्षक—अब सुनिये भूगोल-खगोल के जाननेवालो! इस एक भूगोल में एक प्रकार ४९२ चार सौ बानवे और दूसरी प्रकार असंख्य चन्द्र और सूर्य जैनी लोग मानते हैं! आप लोगों का बड़ा भाग्य है कि वेदमतानुयायी सूर्य्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों के अध्ययन से ठीक-ठीक भूगोल-खगोल विदित हुए। जो कहीं जैन के महा अन्धेर मत में होते तो जन्मभर अन्धेर में रहते, जैसे कि जैनी लोग आजकाल हैं। इन अविद्वानों को यह शङ्का हुई कि जम्बूद्वीप में एक सूर्य और एक चन्द्र से काम नहीं चलता, क्योंकि इतनी बड़ी पृथिवी को तीस घड़ी में दूसरे भाग में चन्द्र-सूर्य कैसे आ सकें? क्योंकि पृथिवी को ये लोग सूर्यादि से भी बड़ी और स्थिर मानते हैं, यही इनकी बड़ी भूल है।

दो ससि दो रवि पंती, एगंतरिया छसठि संखाया॥
मेरुं पयाहिणंता। माणुसखित्ते परिअडंति॥ ७९॥

—संग्रहणी सूत्र ७९॥

अर्थ—मनुष्यलोक में चन्द्रमा और सूर्य की पङ्क्ति की संख्या करते हैं। दो चन्द्रमा और दो सूर्य की पङ्क्ति (श्रेणी) हैं, वे एक-एक लाख-लाख योजन अर्थात् चार-चार लाख कोश के आन्तरे चलते हैं। जैसे एक सूर्य की पङ्क्ति के आन्तरे एक पङ्क्ति चन्द्रमा की है इसी प्रकार चन्द्रमा की पङ्क्ति के आन्तरे सूर्य की पङ्क्ति है, इसी रीति से चार पङ्क्ति हैं। वे एक-एक चन्द्र पङ्क्ति में ६६ चन्द्रमा और एक-एक सूर्य की पङ्क्ति में ६६ सूर्य हैं। वे चारों पङ्क्ति जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करती हुई मनुष्यक्षेत्र में परिभ्रमण करती हैं। अर्थात् जिस समय जम्बूद्वीप के मेरु से एक सूर्य दक्षिण दिशा में विहरता, उस समय दूसरा सूर्य उत्तर दिशा में फिरता है। वैसे ही लवण समुद्र की एक-एक दिशा में दो-दो चलते-फिरते, धातकीखण्ड के ६, कालोदधि के २१, पुष्कराद्ध के ३६, इस प्रकार सब मिलकर ६६ सूर्य दक्षिण दिशा और ६६ सूर्य उत्तर दिशा में अपने-अपने क्रम से फिरते हैं। और जब इन दोनों दिशाओं के सब सूर्य मिलाये जायें तो १३२ सूर्य, ऐसे ही छासठ-छासठ चन्द्रमा की दोनों दिशाओं की पङ्क्तियाँ मिलाई जायें, तो १३२ चन्द्रमा मनुष्यलोक में चाल चलते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा के साथ नक्षत्रादि की भी पङ्क्तियाँ बहुत सी जाननी॥ ७९॥

समीक्षक—अब देखो भाई! इस भूगोल में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे! भला जो तपते होंगे तो वे जीते कैसे हैं? और रात्रि में भी शीत के मारे जैनी लोग जकड़ जाते होंगे? ऐसी असम्भव बात में भूगोल-खगोल के न जाननेवाले फसते हैं, अन्य नहीं। जब एक सूर्य इस भूगोल के सदृश अन्य अनेक भूगोलों को प्रकाशता है तो इस छोटे से भूगोल की क्या कथा कहनी? और जो पृथिवी न घूमे और सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमे तो कै एक वर्षों का दिन और रात होवे। और सुमेरु विना हिमालय के दूसरा कोई भी नहीं। यह सूर्य के सामने एक घड़े के सामने तिल के बराबर भी नहीं है। इन बातों को जैनी लोग, जब-तक उसी मत में रहेंगे, तबतक नहीं जान सकते, किन्तु सदा अन्धेर में रहेंगे॥ ७९॥

सम्मत्तचरण सहिया। सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं।
सत्तय च उदसभाए। पंचय सुय देस विरईए॥ १३५॥

—संग्रहणी सूत्र १३५॥

अर्थ—सम्यक्चारित्र सहित जो केवली, वे केवल समुद्घात अवस्था से सर्व चौदह राज्य-लोक अपने आत्मप्रदेश करके फिरेंगे॥ १३५॥

समीक्षक—जैनी लोग १४ चौदह राज्य मानते हैं, उनमें से चौदहवें की शिखा पर सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर थोड़े दूर पर सिद्धशिला तथा दिव्य आकाश को शिवपुर कहते हैं। उसमें 'केवली' अर्थात् जिनको केवलज्ञान, सर्वज्ञता, पूर्ण पवित्रता प्राप्त हुई है, वे उस लोक में जाते हैं और अपने आत्मप्रदेश से सर्वज्ञ रहते हैं। जिसका प्रदेश होता है वह विभु नहीं, जो विभु नहीं, वह सर्वज्ञ केवलज्ञानी कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिसका आत्मा एकदेशी है, वही जाता-आता है और बद्ध, मुक्त, ज्ञानी, अज्ञानी होता है। सर्वव्यापी सर्वज्ञ वैसा कभी नहीं हो सकता। जो जैनियों के तीर्थंकर जीवरूप अल्प-अल्पज्ञ होकर स्थित थे, वे सर्वव्यापक-सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकते। किन्तु जो परमात्मा अनाद्यनन्त, सर्वव्यापक, पवित्र, ज्ञानस्वरूप है, उसको जैनी लोग नहीं

मानते कि जिसमें सर्वज्ञतादि गुण यथातथ्य घटते हैं॥ १३५॥

गब्भनर ति पलियाऊ। तिगाउ उक्कोस ते जहन्नेणं।
मुच्छिम दुहावि अंत मुहु। अंगुल असंख भागतणू॥ २४१॥

—संग्रहणी २४१॥

अर्थ—यहाँ मनुष्य दो प्रकार के हैं। एक गर्भज, दूसरे जो गर्भ के विना उत्पन्न हुए। उनमें गर्भज मनुष्य का उत्कृष्ट तीन पल्योपम का आयुष जानना और तीन कोश का शरीर॥ २४१॥

समीक्षक—भला, तीन पल्योपम का आयु और तीन कोश के शरीरवाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े समा सकें और फिर तीन पल्योपम कि जैसी पूर्व लिख आये हैं, उतने समय तक जीयें तो वैसे ही उनके सन्तान भी तीन-तीन कोश के शरीरवाले होने चाहियें, जैसे मुम्बई में दो-एक और कलकत्ते में तीन वा चार मनुष्य निवास कर सकते हैं। जो ऐसा है तो जैनियों ने एक नगर में लाखों मनुष्य लिखे हैं तो उनके रहने का नगर भी लाखों कोशों का चाहिये, तो सब भूगोल में वैसा एक नगर भी न बस सके॥ २४१॥

पणयाल लरकजोयण। विरकंभा सिद्धिसिल फलिह विमला।
तदुवरिगजोयणंते। लोगंतो तच्छ सिद्धठिई॥ २५८॥

अर्थ—जो सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर १२ योजन सिद्धशिला है, वह वाटला और लम्बेपन और पोलपन में ४५ पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है, वह सब धवला अर्जुन सुवर्णमय स्फटिक के समान निर्मल सिद्धशिला की सिद्धभूमि है। इसको कोई 'ईषत्' 'प्राग्भारा' ऐसा नाम कहते हैं। यह सर्वार्थसिद्धशिला विमान से १२ योजन अलोक भी है। यह परमार्थ केवली बहुश्रुत जानता है। यह शिद्धशिला सर्वथा मध्य भाग में ८ योजन स्थूल है। वहाँ से ४ दिशा और ४ उपदिशा में घटती-घटती मक्खी की पाँख के सदृश पतली उत्तानछत्र और आकार करके सिद्धशिला की स्थापना है, उस शिला से ऊपर १ एक योजन के आँतरे लोकान्त है, वहाँ सिद्धों की स्थिति अर्थात् निवास होता है॥ २५८॥

समीक्षक—अब विचारना चाहिए कि जैनियों के मुक्ति का स्थान सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा के ऊपर पैंतालीस लाख योजन की

शिला अर्थात् चाहे ऐसी अच्छी और निर्मल हो तथापि उसमें रहनेवाले मुक्त जीव एक प्रकार के बद्ध हैं, क्योंकि उस शिला से बाहर निकलने से मुक्ति के सुख से छूट जाते होंगे। और जो भीतर रहते होंगे तो उनको वायु भी न लगता होगा। यह केवल कल्पनामात्र अविद्वानों को फसाने के लिए भ्रमजाल है॥ २५८॥

[जोयणसहस्स महियं। एगिंदियदेह मुक्कोसं॥ २६६॥]
वि ति चउरिंदिय सरीरं। बारस जोयण तिकोस चउकोसं।
जोयण सहस पणिंदिय। उहे वुच्छं विसेसंतु॥ २६७॥

—संग्रह सू० २६६-२६७॥

सामान्यपन से एकेन्द्रिय का शरीर १ सहस्र योजन के शरीरवाला उत्कृष्ट जानना। और दो इन्द्रियवाले शंखादि का शरीर १२ योजन का जानना। वैसे ही कीड़ी-मकोड़ादि का ३ तीन कोश का जानना। और चतुरिन्द्रिय भ्रमरादि का शरीर ४ कोश का और पञ्चेन्द्रिय एक सहस्र योजन अर्थात् ४ सहस्र कोश के शरीरवाले जानना॥ २६६-२६७॥

समीक्षक—चार-चार सहस्र कोश के प्रमाणवाले शरीरवाले हों तो भूगोल में तो बहुत थोड़े मनुष्य अर्थात् सैकड़ों मनुष्यों से भूगोल ठस भर जाय, किसी को चलने की जगह भी न रहे। फिर वे जैनियों से रहने का ठिकाना और मार्ग पूछें। और जो इन्होंने लिखा है, तो अपने घर में रख लें। परन्तु चार सहस्र कोश के शरीरवाले को निवासार्थ कोई एक के लिए ३२ सहस्र कोश का घर तो चाहिए। ऐसे एक घर के बनाने में जैनियों का सब धन चुक जाय, तो भी घर न बन सके। इतने बड़े आठ सहस्र कोश की छत्त बनाने के लिए लट्ठे कहाँ से लावेंगे? और जो उसमें खंभा लगावें तो वह भीतर प्रवेश भी नहीं कर सकता। इसलिए ऐसी बातें मिथ्या हुआ करती हैं॥ २६६-२६७॥

ते थूला पल्ले विहु। संखिज्जाचेवहुंति सव्वेवि।
ते इक्किक्क असंखे। सुहुमे खंडे पकप्पेह॥ ४॥

—प्रकरण० भा० ४। लघुक्षेत्रसमासप्रकरण ४॥

अर्थ—पूर्वोक्त एक अंगुल लोम के खण्डों से ४ कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुआ हो, अंगुल प्रमाण लोम का खण्ड सब

मिलके बीस लाख सत्तावन सहस्र एक सौ बावन होते हैं और अधिक से अधिक (३३०७६२१०४, २४६५६२५, ४२१९९६०, ९७५३६००, ००००००००) तैंतीस क्रोड़ा क्रोड़ी, सात लाख बासठ हजार एक सौ चार क्रोड़ाक्रोड़ी, चौबीस लाख पैंसठ हजार छ: सौ पच्चीस इतने क्रोड़ाक्रोड़ी तथा ब्यालीस लाख उन्नीस हज़ार नौ सौ साठ इतनी क्रोड़ाक्रोड़ी तथा सत्तानवे लाख त्रेपन हजार और छ: सौ क्रोड़ाक्रोड़ी, इतनी वाटला घन जोजन पल्योपम में सर्व स्थूल रोम खण्ड की संख्या होवे, यह भी संख्यातकाल होता है। पूर्वोक्त एक लोम खण्ड के असंख्यात खंड मन में कल्पे तब असंख्यात सूक्ष्म रोमाणु होवें॥ ४॥

समीक्षक—अब देखिये इनकी गिनती की रीति! एक अंगुल प्रमाण लोम के कितने खंड किये! यह कभी किसी की गिनती में आ सकते हैं? और उसके उपरान्त मन से असंख्य खंड कल्पते हैं, इससे पूर्वोक्त खंड जैनियों ने हाथों से किये होंगे, ऐसा विदित होता है। यह बात कभी सम्भव नहीं॥ ४॥

जंबूद्वीपपमाणं गुलजोयणलरक वट्ट विरकंभो।
लवणाई यासेसा। वलयाभा दुगुण दुगुणाय॥ १२॥

—प्र० भा० ४ लघुक्षेत्रस० १२॥

प्रथम जम्बूद्वीप का लाख योजन का प्रमाण और पोला है। और बाकी लवणादि सात समुद्र तथा सात द्वीप, जम्बूद्वीप के प्रमाण से दुगुणे-दुगुणे हैं। इस एक पृथिवी में जम्बूद्वीपादि सात द्वीप और सात समुद्र हैं, जैसे कि पूर्व लिख आये हैं॥ १२॥

समीक्षक—अब जम्बूद्वीप से दूसरा द्वीप दो लाख योजन, तीसरा चार लाख योजन, चौथा आठ लाख योजन, पाँचवाँ सोलह लाख योजन, छठा बत्तीस लाख योजन और सातवाँ चौसठ लाख योजन और उतने प्रमाण वा उनसे अधिक समुद्र के प्रमाण से इस पन्द्रह सहस्र कोश परिधिवाले भूगोल में क्योंकर समा सकते हैं? इससे यह बात केवल मिथ्या है॥ १२॥

कुरु नइ चुलसी सहसा। छच्चेवंतरनईउ पइ विजयं।
दो दो महा नईउ। चउ दस सहसाउ पत्तेयं॥ ६३॥

प्रकरणरत्ना० भा० ४, लघुक्षेत्रस० ६३॥

कुरुक्षेत्र में ८४ चौरासी सहस्र नदी हैं॥ ६३॥

समीक्षक—भला, कुरुक्षेत्र बहुत छोटा देश है, उसको न देखकर एक मिथ्या बात लिखने में इनको लज्जा भी न आई॥ ६३॥

जामुत्तराउ ताउ। इगेगसिंहासणाउ अइपुव्वं।
चउसुवि तासु नियासण, दिसि भवजिण मज्जणं होई॥ ११९॥

—प्र० भा० ४। लघुक्षेत्रस० सू० ११९॥

उस शिला के विशेष दक्षिण और उत्तर दिशा में एक-एक सिंहासन जानना चाहिये। उन शिलाओं के नाम दक्षिण दिशा में अति-पाण्डु-कम्बला, उत्तर दिशा में अति-रक्त-कम्बला शिला है। उन सिंहासनों पर तीर्थङ्कर बैठते हैं॥ ११९॥

समीक्षक—देखिये इनके तीर्थङ्करों के जन्मोत्सवादि करने की शिला को! ऐसी ही मुक्ति की सिद्धशिला है। ऐसी इनकी बातें गोलमाल पोलपाल बहुत-सी हैं, कहाँ तक लिखें?॥ ११९॥

किन्तु जल छान के पीना, और सूक्ष्म जीवों पर नाममात्र दया करना, रात्रि को भोजन न करना ये तीन बातें अच्छी हैं। बाकी जितना इनका कथन है, सब असम्भवग्रस्त है।

इतने ही लेख से बुद्धिमान् लोग बहुत सा जान लेंगे, यह थोड़ा सा दृष्टान्तमात्र लिखा है। जो इनकी असम्भव सब बातें लिखें तो इतने पुस्तक हो जायें कि एक पुरुष आयुभर में पाठ भी न कर सके।

इसलिये एक हण्डे में चुड़ते चावलों में से एक चावल की परीक्षा से कच्चे वा पक्के हैं, सब चावल विदित हो जाते हैं। ऐसे ही इस थोड़े से लेख से सज्जन लोग बहुत सी बातें समझ लेंगे। बुद्धिमानों के सामने बहुत लिखना आवश्यक नहीं। क्योंकि दिग्दर्शनवत् सम्पूर्ण आशय को बुद्धिमान् लोग जान ही लेते हैं।

इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते नास्तिकमतान्तर्गतचार्वाक-बौद्धजैनमतखण्डनमण्डनविषये
द्वादशः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १२॥

ओ३म्
अनुभूमिका (३)

जो यह बायबिल का मत है, वह केवल ईसाइयों का है सो नहीं, किन्तु इससे यहूदी आदि भी गृहीत होते हैं। जो यहाँ (१३) तेरहवें समुल्लास में ईसाई मत के विषय में लिखा है, इसका यही अभिप्राय है कि आजकल बायबिल के मत में ईसाई मुख्य हो रहे हैं और यहूदी आदि गौण हैं। मुख्य के ग्रहण से गौण का ग्रहण हो जाता है, इससे यहूदियों का भी ग्रहण समझ लीजिये।

इनका जो विषय यहां लिखा है सो केवल बायबिल में से कि जिसको ईसाई और यहूदी आदि सब मानते हैं और इसी पुस्तक को अपने धर्म का मूलकारण समझते हैं। इस पुस्तक के भाषान्तर बहुत से हुए हैं, जो कि इनके मत में बड़े-बड़े पादरी हैं, उन्हीं ने किये हैं। उनमें से देवनागरी वा संस्कृत भाषान्तर देखकर मुझको बायबिल में बहुत सी शङ्का हुई हैं, उनमें से कुछ थोड़ी सी इस १३ तेरहवें समुल्लास में सबके विचारार्थ लिखी हैं। यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ है। इसका अभिप्राय उत्तर लेख में सब कोई समझ लेंगे कि यह पुस्तक कैसा है और इनका मत भी कैसा है?

इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्यमात्र को देखना, सुनना, लिखना आदि करना सहज होगा और पक्षी-प्रतिपक्षी होके विचार कर ईसाई मत का आन्दोलन सब कोई कर सकेंगे। इससे एक यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्मविषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्याऽसत्य मत और कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य कर्मसम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्त्तव्य कर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्त्तव्य कर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा।

सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मतविषयक पुस्तकों को देख

समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें। क्योंकि जैसे पढ़ने से 'पण्डित' होता है, वैसे सुनने से 'बहुश्रुत' होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके, तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है। जो कोई पक्षपातरूप यानारूढ़ होके देखते हैं, उनको न अपने, न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।

मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्याऽसत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित वा श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वाले के विषयों को जानें और अन्य न जानें तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाड़े में गिर जाते हैं। ऐसा न हो इसलिए इस ग्रंथ में प्रचरित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने ही से शेष विषयों में अनुमान कर सकता है कि वे सच्चे हैं वा झूठे?

जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं, वे तो सबमें एक से हैं। झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और दूसरा झूठा हो, तो भी कुछ थोड़ा-सा विवाद चलता है। यदि वादी-प्रतिवादी सत्याऽसत्य निश्चय के लिये वाद-प्रतिवाद करें, तो अवश्य निश्चय हो जाय।

अब मैं इस १३वें समुल्लास में ईसाई मत विषयक थोड़ा-सा लिखकर सबके सम्मुख स्थापित करता हूँ, विचारिये कि कैसा है?

अलमतिलेखेन विचक्षणवरेषु॥

दयानन्दसरस्वती

अथ त्रयोदशसमुल्लासारम्भः

अथ कृश्चीनाख्यमतविषयं व्याख्यास्यामः

अब इसके आगे ईसाइयों के मत-विषय में लिखते हैं, जिससे सबको विदित हो जायगा कि इनका मत निर्दोष और इनका बायबिल पुस्तक ईश्वरकृत है वा नहीं? प्रथम बायबिल के तौरेत का विषय लिखा जायगा। उसमें से प्रथम उत्पत्ति के विषय में कुछ-कुछ विषय दिखलाया जाता है—

मूल—१. आरंभ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा॥ और पृथिवी बेडौल और सूनी थी और गहिराव पर अंधियारा था और ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था॥ [इलाहाबाद मिशन प्रेस से सन् १८६६ में मुद्रित, पुराने नियम का पहला भाग अर्थात् तौरेत की पुस्तक, उत्पत्ति] —पर्व १। आयत १। २॥ [पृष्ठ १]

समीक्षक—आरम्भ किसको कहते हो?

ईसाई—सृष्टि के प्रथमोत्पत्ति को।

समीक्षक—क्या यही सृष्टि प्रथम हुई, इसके पूर्व कभी नहीं हुई थी?

ईसाई—हम नहीं जानते, थी वा नहीं, ईश्वर जाने।

समीक्षक—जब नहीं जानते तो तुमने इस पुस्तक पर विश्वास क्यों किया क्योंकि जिससे सन्देह का निवारण नहीं हो सकता। और इसी के भरोसे लोगों को उपदेश कर इस सन्देह के भरे हुए मत में क्यों फसाते हो? और जो निःसन्देह सर्वशङ्कानिवारक वेदमत का स्वीकार क्यों नहीं करते? जब तुम ईश्वर की सृष्टि का हाल नहीं जानते हो, तो ईश्वर को कैसे जानते होगे?

आकाश किसको मानते हो?

ईसाई—पोल और ऊपर को।

समीक्षक—पोल की उत्पत्ति किस प्रकार हुई! क्योंकि यह विभु पदार्थ और अति सूक्ष्म है और ऊपर-नीचे एक-सा है। जब आकाश नहीं

सृजा था तब पोल और अवकाश था वा नहीं? जो नहीं था तो ईश्वर, जगत् का कारण और जीव कहाँ रहते थे? विना अवकाश के कोई पदार्थ स्थित नहीं हो सकता, इसलिए तुम्हारी बायबिल का कथन युक्त नहीं। ईश्वर बेडौल, उसका ज्ञान-कर्म बेडौल होता है वा सब डौलवाला?

ईसाई—डौलवाले होते हैं।

समीक्षक—तो यहाँ ईश्वर की बनाई पृथिवी बैडौल थी, ऐसा क्यों लिखा?

ईसाई—बेडौल का अर्थ ऊँची-नीची थी, बराबर न थी।

समीक्षक—फिर बराबर किसने की? और क्या अब भी नीची-ऊँची नहीं है? इसलिए ईश्वर का काम बेडौल नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। उसके काम में भूल चूक कभी नहीं होती है। और बायबिल में ईश्वर की सृष्टि बेडौल लिखी, इसलिए यह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता।

प्रथम ईश्वर का आत्मा क्या पदार्थ है?

ईसाई—चेतन।

समीक्षक—वह साकार है वा निराकार तथा व्यापक है वा एकदेशी।

ईसाई—निराकार, चेतन और व्यापक है। परन्तु किसी एक 'सनाई पर्वत', 'चौथा आसमान' आदि में विशेष करके रहता है।

समीक्षक—जो निराकार है तो उसको किसने देखा? और व्यापक का जल पर डोलना कभी नहीं हो सकता। भला, जब ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, तब ईश्वर कहाँ था? इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर का शरीर कहीं अन्यत्र स्थित होगा अथवा अपने कुछ आत्मा के एक टुकड़े को जल पर डुलाया होगा। जो ऐसा है तो विभु और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। जो विभु नहीं तो जगत् की रचना, धारण, पालन और जीवों के कर्मों की व्यवस्था वा प्रलय कभी नहीं कर सकता। क्योंकि जिस पदार्थ का स्वरूप एकदेशी है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी एकदेशी होते हैं। जो ऐसा है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक, अनन्त गुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, अनादि, अनन्तादि लक्षणयुक्त वेदों में कहा

है, उसी को मानो तभी तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा नहीं॥ १ ॥

२. और ईश्वर ने कहा कि उंजियाला होवे और उंजियाला हो गया॥ और ईश्वर ने उंजियाले को देखा कि अच्छा है.... ॥

—पर्व० १। आ० ३।४॥

समीक्षक—क्या ईश्वर की बात जड़स्वरूप उजियाले ने सुन ली? जो सुनी हो, तो इस समय भी सूर्य्य और दीप अग्नि का प्रकाश हमारी तुम्हारी बात क्यों नहीं सुनता? प्रकाश जड़ होता है, वह कभी किसी की बात नहीं सुन सकता। क्या जब ईश्वर ने उजियाले को देखा तभी जाना कि उजियाला अच्छा है? पहिले नहीं जानता था? जो जानता होता, तो देखकर अच्छा क्यों कहता? जो नहीं जानता था, तो वह ईश्वर ही नहीं। इसीलिए तुम्हारी बायबिल ईश्वरोक्त और उसमें कहा हुआ ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है॥ २ ॥

३. और ईश्वर ने कहा कि पानियों के मध्य में आकाश होवे और पानियों को पानियों से विभाग करे॥ तब ईश्वर ने आकाश को बनाया और आकाश के नीचे के पानियों को आकाश के ऊपर के पानियों से विभाग किया और ऐसा हो गया॥ और ईश्वर ने आकाश को स्वर्ग कहा और सांझ और बिहान दूसरा दिन हुआ॥—पर्व० १। आ० ६।७।८॥

समीक्षक—क्या आकाश और जल ने भी ईश्वर की बात सुन ली? और जो जल के बीच में आकाश न होता तो जल रहता ही कहाँ? प्रथम आयत में आकाश को सृजा था, पुनः आकाश का बनाना व्यर्थ हुआ। जो आकाश को स्वर्ग कहा तो वह सर्वव्यापक है इसलिए सर्वत्र स्वर्ग हुआ, फिर ऊपर को स्वर्ग है, यह कहना व्यर्थ है। जब सूर्य्य उत्पन्न ही नहीं हुआ था तो पुनः दिन और रात कहां से हो गई? ऐसी ही असम्भव बातें आगे की आयतों में भरी हैं॥ ३ ॥

४. तब ईश्वर ने कहा कि हम आदम को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें.... ॥ तब ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में उत्पन्न किया, उसने उसे ईश्वर के स्वरूप में उत्पन्न किया, उसने उन्हें नर और नारी बनाया॥ और ईश्वर ने उन्हें आशीष दिया.... ॥

—पर्व० १। आ० २६।२७।२८॥

समीक्षक—यदि आदम को ईश्वर ने अपने स्वरूप में बनाया तो ईश्वर का स्वरूप पवित्र, ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय आदि लक्षणयुक्त है, उसके सदृश आदम क्यों नहीं हुआ? जो नहीं हुआ तो उसके स्वरूप में नहीं बना। और आदम को उत्पन्न किया तो ईश्वर ने अपने स्वरूप ही को उत्पत्तिवाला किया, पुनः वह अनित्य क्यों नहीं और आदम को उत्पन्न कहाँ से किया?

ईसाई—मट्टी से बनाया।

समीक्षक—मट्टी कहां से बनाई?

ईसाई—अपनी 'कुदरत' अर्थात् सामर्थ्य से।

समीक्षक—ईश्वर का सामर्थ्य अनादि है वा नवीन?

ईसाई—अनादि है।

समीक्षक—जब अनादि है तो जगत् का कारण सनातन हुआ, फिर अभाव से भाव क्यों मानते हो?

ईसाई—सृष्टि के पूर्व ईश्वर के विना कोई वस्तु नहीं था।

समीक्षक—जो नहीं था तो यह जगत् कहाँ से बना? और ईश्वर का सामर्थ्य गुण है वा द्रव्य? जो द्रव्य है तो ईश्वर से भिन्न दूसरा पदार्थ था और गुण है तो गुण से द्रव्य कभी नहीं बन सकता जैसे रूप से अग्नि और रस से जल नहीं बन सकता। और जो ईश्वर से जगत् बना होता तो ईश्वर के सदृश गुण, कर्म, स्वभाववाला होता। उसके गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश न होने से यही निश्चय है कि ईश्वर से नहीं बना, किन्तु जगत् के कारण अर्थात् परमाणु आदि नामवाले जड़ से बना है।

जैसी कि जगत् की उत्पत्ति वेदादि शास्त्रों में लिखी है, वैसी ही मान लो, जिससे ईश्वर जगत् को बनाता है। जो आदम का भीतर का स्वरूप जीव और बाहर का मनुष्य के सदृश है तो वैसा ईश्वर का स्वरूप क्यों नहीं? क्योंकि जब आदम ईश्वर के सदृश बना तो ईश्वर आदम के सदृश अवश्य होना चाहिये॥ ४॥

५. तब परमेश्वर ईश्वर ने भूमि की धूल से आदम को बनाया और उसके नथुनों में जीवन का श्वास फूंका और आदम जीवता प्राण हुआ॥ और परमेश्वर ईश्वर ने अदन में पूर्व की ओर एक बारी लगाई

और उस आदम को जिसे उसने पहिले बनाया था, उसमें रक्खा॥ और उस बारी के मध्य में जीवन का पेड़ और भले बुरे के ज्ञान का पेड़ भूमि से उगाया॥ —तौरेत उत्पत्ति की पुस्तक, पर्व० २। आ० ७।८।९॥

समीक्षक—जब ईश्वर ने अदन में बारी बनाकर उसमें आदम को रक्खा तब ईश्वर नहीं जानता था कि इसको पुन: निकालना पड़ेगा? और जब ईश्वर ने आदम को धूली से बनाया तो ईश्वर के स्वरूप नहीं हुआ, और जो है तो ईश्वर भी धूली से बना होगा? जब उसके नथुनों में ईश्वर ने श्वास फूंका तो वह श्वास ईश्वर का स्वरूप था वा भिन्न? जो भिन्न था तो आदम ईश्वर के स्वरूप में नहीं बना। जो एक है तो आदम और ईश्वर एक से हुए। और जो एक से हैं तो आदम के सदृश जन्म, मरण, वृद्धि, क्षय, तृषा आदि दोष ईश्वर में आये फिर वह ईश्वर क्योंकर हो सकता है? इसलिए यह तौरेत की बात ठीक नहीं विदित होती और यह पुस्तक भी ईश्वरकृत नहीं है॥५॥

६. और परमेश्वर ईश्वर ने आदम को बड़ी नींद में डाला और वह सो गया तब उसने उसकी पसलियों में से एक निकाली और उसकी संति मांस भर दिया॥ और परमेश्वर ईश्वर ने उस पसली से एक नारी बनाई और उसे आदम पास लाया॥ —पर्व० २। आ० २१।२२॥

समीक्षक—जो ईश्वर ने आदम को धूली से बनाया तो उसकी स्त्री को धूली से क्यों नहीं बनाया? और जो नारी को हड्डी से बनाया तो आदम को हड्डी से क्यों नहीं बनाया? और जैसे नर से निकलने से नारी नाम हुआ तो नारी से निकलकर नर भी होना चाहिए। और उनमें परस्पर प्रेम भी रहै, जैसे स्त्री के साथ पुरुष प्रेम करे, वैसे ही स्त्री भी पुरुष के साथ प्रेम करे।

देखो विद्वान् लोगो! ईश्वर की कैसी पदार्थविद्या अर्थात् 'फिलासफ़ी' चलकती है! जो आदम की एक पसली निकालकर नारी बनाई तो सब मनुष्यों की एक पसली कम क्यों नहीं होती? और स्त्री के शरीर में एक पसली होनी चाहिये, क्योंकि वह एक पसली से बनी है। क्या जिस सामग्री से सब जगत् बनाया, उस सामग्री से स्त्री का शरीर नहीं बन सकता था? इसलिए यह बायबिल का सृष्टिक्रम सृष्टिविद्या से विरुद्ध है॥६॥

७. अब सर्प्प भूमि के हर एक पशु से जिसे परमेश्वर ईश्वर ने बनाया था, धूर्त था और उसने स्त्री से कहा, क्या निश्चय ईश्वर ने कहा है कि तुम इस बारी के हर एक पेड़ से न खाना॥ और स्त्री ने सर्प्प से कहा कि हम तो इस बारी के पेड़ों का फल खाते हैं॥ परन्तु उस पेड़ का फल जो बारी के बीच में है, ईश्वर ने कहा है कि तुम उस्से न खाना और न छूना, न हो कि मर जाओ॥ तब सर्प्प ने स्त्री से कहा कि तुम निश्चय न मरोगे॥ क्योंकि ईश्वर जानता है कि जिस दिन तुम उस्से खाओगे, तुम्हारी आँखे खुल जायेंगी और तुम भले और बुरे की पहिचान में ईश्वर के समान हो जाओगे॥ और जब स्त्री ने देखा वह पेड़ खाने में सुस्वाद और दृष्टि में सुन्दर और बुद्धि देने के योग्य है तो उसके फल में से लिया और खाया और अपने पति को भी दिया और उसने खाया॥ तब उन दोनों की आँखें खुल गईं और वे जान गये कि हम नङ्गे हैं सो उन्होंने गूलर के पत्तों को मिला के सिआ और अपने लिये ओढ़ना बनाया॥

तब परमेश्वर ईश्वर ने सर्प्प से कहा कि जो तू ने यह किया है इस कारण तू सारे ढोर और हर एक वन के पशुन से अधिक स्रापित होगा, तू अपने पेट के बल चलेगा और अपने जीवन भर धूल खाया करेगा॥ और मैं तुझमें और स्त्री में और तेरे वंश और उसके वंश में वैर डालूंगा, वह तेरे शिर को कुचलेगा और तू उसकी एड़ी को काटेगा॥ और उसने स्त्री को कहा कि मैं तेरी पीड़ा और गर्भधारण को बहुत बढ़ाऊँगा, तू पीड़ा से बालक जनेगी और तेरी इच्छा तेरे पति पर होगी और वह तुझपर प्रभुता करेगा॥ और उसने आदम से कहा कि तूने जो अपनी पत्नी का शब्द माना है और जिस पेड़ का [फल] मैंने तुझे खाने से वर्जा था तूने खाया है, इस कारण भूमि तेरे लिए स्रापित है, अपने जीवनभर तू उस्से पीड़ा के साथ खायेगा।। और वह काँटे और ऊँटकटारे तेरे लिये उगायेगी और तू खेत का साग पात खायेगा॥

—तौरेत उत्पत्ति० पर्व० ३। आ० १।२।३।४।५।६।७।१४।१५।१६।१७।१८॥

समीक्षक—जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो इस 'धूर्त सर्प्प' अर्थात् शैतान को क्यों बनाता? और जो बनाया तो वही ईश्वर अपराध का भागी है, क्योंकि जो वह उसको दुष्ट न बनाता तो वह दुष्टता क्यों करता? और वह पूर्वजन्म नहीं मानता तो विना अपराध उसको पापी क्यों बनाया? और सच पूछो तो वह सर्प्प नहीं था किन्तु मनुष्य था। क्योंकि जो मनुष्य न होता तो मनुष्य की भाषा क्योंकर बोल सकता?

और जो आप झूठा और दूसरे को झूठ में चलावे, उसीको शैतान कहना चाहिए। सो यहां शैतान सत्यवादी और इससे उसने उस स्त्री को नहीं बहकाया किन्तु सच कहा और ईश्वर ने आदम और हव्वा से झूठ कहा कि इसके खाने से तुम मर जाओगे। जब वह पेड़ ज्ञानदाता और अमर करनेवाला था तो उसके फल खाने से क्यों वर्जा? और जो वर्जा तो वह ईश्वर झूठा और बहकानेवाला ठहरा। क्योंकि उस वृक्ष के फल मनुष्यों को ज्ञान और सुखकारक थे, अज्ञान और मृत्युकारक नहीं।

जब ईश्वर ने फल खाने से वर्जा तो उन वृक्षों की उत्पत्ति किसलिए की थी? जो अपने लिए की; तो क्या आप अज्ञानी और मृत्युधर्मवाला था? और जो दूसरों के लिये बनाया तो फल खाने में अपराध कुछ भी न हुआ। और आजकल कोई भी वृक्ष ज्ञानकारक और मृत्युनिवारक देखने में नहीं आता, क्या ईश्वर ने उसका बीज भी नष्ट कर दिया? ऐसी बातों से मनुष्य छली-कपटी होता है तो ईश्वर वैसा क्यों नहीं हुआ? क्योंकि जो कोई दूसरे से छल-कपट करेगा, वह छली-कपटी क्यों न होगा? और जो इन तीनों को शाप दिया, वह विना अपराध से है, पुन: वह ईश्वर अन्यायकारी भी हुआ और यह शाप ईश्वर को होना चाहिये, क्योंकि वह झूठ बोला और उनको बहकाया। यह 'फिलासफी' देखो! क्या विना पीड़ा के गर्भधारण और बालक का जन्म हो सकता था? और विना श्रम के कोई अपनी जीविका कर सकता है? क्या प्रथम काँटे आदि के वृक्ष न थे? और जब शाक-पात खाना सब मनुष्यों को ईश्वर के कहने से उचित हुआ तो जो उत्तर में मांस का खाना बायबिल में लिखा, वह झूठा क्यों नहीं? और जो वह सच्चा हो, तो यह झूठा है।

जब आदम का कुछ भी अपराध सिद्ध नहीं होता तो ईसाई लोग सब मनुष्यों को आदम के अपराध से सन्तान होने पर अपराधी क्यों कहते हैं? भला ऐसा पुस्तक और ऐसा ईश्वर कभी बुद्धिमानों के मानने योग्य हो सकता है?॥ ७॥

८. और परमेश्वर ईश्वर ने कहा कि देखो! आदम भले बुरे के जानने में हममें से एक की नाईं हुआ और अब ऐसा न होवे कि वह अपना हाथ डाले और जीवन के पेड़ में से भी लेकर खावे, और अमर हो जाय।। सो उसने आदम को निकाल दिया और अदन की बारी की पूर्व ओर करोबीम ठहराये। चमकते हुए खड्ग को जो चारों ओर घूमता था; जिसतें जीवन के पेड़ के मार्ग की रखवाली करें॥

—पर्व० ३। आ० २२। २४॥

समीक्षक—भला! ईश्वर को ऐसी ईर्ष्या और भ्रम क्यों हुआ कि ज्ञान में हमारे तुल्य हुआ? क्या यह बुरी बात हुई? यह शङ्का ही क्यों पड़ी? क्योंकि ईश्वर के तुल्य कभी कोई नहीं हो सकता। परन्तु इस लेख से यह भी सिद्ध हो सकता है कि वह ईश्वर नहीं था किन्तु एक मनुष्यविशेष था। बायबिल में जहाँ कहीं ईश्वर की बात आती है वहां मनुष्य के तुल्य ही लिखी आती है।

अब देखो! आदम के ज्ञान की बढ़ती में ईश्वर कितना दु:खी हुआ और फिर अमर-वृक्ष के फल खाने में कितनी ईर्ष्या की, और प्रथम जब उसको बारी में रक्खा तब उसको भविष्यत् का ज्ञान नहीं था कि इसको पुन: निकालना पड़ेगा, इसलिए ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं था। और चमकते खड्ग का पहिरा रक्खा यह भी मनुष्य का काम है, ईश्वर का नहीं। हमको बड़ा आश्चर्य होता है कि ऐसे गुणवाले को ईसाई लोग ईश्वर क्यों मानते हैं? क्योंकि ये बातें सब मनुष्य के स्वभाव में घट सकती हैं, ईश्वर में नही॥ ८॥

९. और कितने दिनों के पीछे यों हुआ कि क़ाइन भूमि के फलों में से परमेश्वर के लिए भेंट लाया॥ और हाबील भी अपनी [भेड-बकरियों के] झुण्ड में से पहिलौंठी और मोटी-मोटी लाया और परमेश्वर ने हाबील का और उसकी भेंट का आदर किया॥ परन्तु क़ाइन का और उसकी भेंट का आदर न किया, इसलिए क़ाइन अति कुपित हुआ और

अपना मुख फुलाया॥ तब परमेश्वर ने क़ाइन से कहा कि तू क्यों क्रुद्ध है और तेरा मुंह क्यों फूल गया॥ —तौरे० पर्व ४। आ० ३।४।५।६॥

समीक्षक—यदि ईश्वर माँसाहारी न होता तो भेड़ की भेंट और हाबिल का सत्कार और क़ाइन तथा उसकी भेंट का तिरस्कार क्यों करता? और ऐसा झगड़ा लगाने और हाबील के मत्यु का कारण भी ईश्वर ही हुआ। और जैसे आपस में मनुष्य लोग एक दूसरे से बातें करते हैं, वैसी ही ईसाइयों के ईश्वर की बातें हैं। बगीचे में आना-जाना, उसका बनाना भी मनुष्यों का कर्म है। इससे विदित होता है कि यह बायबिल मनुष्यों की बनाई है, ईश्वर की नहीं॥ ९॥

१०. तब परमेश्वर ने क़ाइन से कहा—तेरा भाई हाबिल कहाँ है और वह बोला मैं नहीं जानता, क्या मैं अपने भाई का रखवाला हूँ॥ तब उसने कहा, तूने क्या किया? तेरे भाई के लोहू का शब्द भूमि से मुझे पुकारता है॥ और अब तू पृथिवी से स्रापित है....॥

—तौरेत पर्व० ४। आ० ९।१०।११॥

समीक्षक—क्या ईश्वर क़ाइन से पूछे विना हाबिल का हाल नहीं जानता था और लोहू का शब्द भूमि से किसी को कभी पुकार सकता है? ये सब बातें अविद्वानों की हैं, इसीलिए यह पुस्तक न ईश्वर और न विद्वान् का बनाया हो सकता है॥ १०॥

११. और हनूक मतूसिलह की उत्पत्ति के पीछे तीन सौ वर्ष लों ईश्वर के साथ-साथ चलता था....॥ —तौरेत पर्व० ५। आ० २२॥

समीक्षक—भला! ईसाइयों का ईश्वर मनुष्य न होता, तो हनूक के साथ-साथ क्यों चलता? इससे जो वेदोक्त, निराकार, व्यापक ईश्वर है, उसी को ईसाई लोग मानें, तो उनका कल्याण होवे॥ ११॥

१२. और यों हुआ कि जब आदमी पृथिवी पर बढ़ने लगे और उनसे बेटियाँ उत्पन्न हुई॥ तो ईश्वर के पुत्रों ने आदम की पुत्रियों को देखा कि वे सुन्दरी हैं और उनमें से जिन्हें उन्होंने चाहा उन्हें ब्याहा।। और उन दिनों में पृथिवी पर दानव थे और उसके पीछे भी जब ईश्वर के पुत्र आदम की पुत्रियों से मिले तो उनसे बालक उत्पन्न हुए जो बलवान् हुए, जो आगे से नामी थे॥ और ईश्वर ने देखा कि आदम की

दुष्टता पृथिवी पर बहुत हुई और उनके मन की चिन्ता और भावना प्रतिदिन केवल बुरी होती है। तब आदमी को पृथिवी पर उत्पन्न करने से परमेश्वर पछताया और उसे अति शोक हुआ॥ तब परमेश्वर ने कहा कि आदमी को जिसे मैंने उत्पन्न किया, आदमी से लेके पशुन लों और रेंगवैयों को और आकाश के पक्षियों को पृथिवी पर से नष्ट करूँगा क्योंकि उन्हें बनाने से मैं पछताता हूँ॥

—तौरेत पर्व० ६। आ० १।२।४।७॥

समीक्षक—ईसाइयों से पूछना चाहिए कि ईश्वर के बेटे कौन हैं? और ईश्वर की स्त्री, सास, श्वसुर, साला और सम्बन्धी कौन हैं? क्योंकि अब तो आदम की बेटियों के साथ विवाह होने से ईश्वर इनका सम्बन्धी हुआ, और जो उनसे उत्पन्न होते हैं, वे पुत्र और प्रपौत्र हुए। क्या ऐसी बात ईश्वर और ईश्वर के पुस्तक की हो सकती है? किन्तु यह सिद्ध होता है कि उन जङ्गली मनुष्यों ने यह पुस्तक बनाया है।

वह ईश्वर ही नहीं, जो सर्वज्ञ न हो, न भविष्यत् की बात जाने। वह जीव है। क्या जब सृष्टि की थी तब 'आगे मनुष्य दुष्ट होंगे' ऐसा नहीं जानता था? और पछताना, अति शोकादि होना, भूल से काम करके पीछे पश्चात्ताप करना आदि ईसाइयों के ईश्वर में घट सकता है, वेदोक्त ईश्वर में नहीं। और इससे यह भी सिद्ध हो सकता है कि ईसाइयों का ईश्वर पूर्ण विद्वान् योगी भी नहीं था, नहीं तो शान्ति और विज्ञान से अति शोकादि से पृथक् हो सकता था।

भला, पशु-पक्षी भी दुष्ट हो गये! यदि वह ईश्वर सर्वज्ञ होता तो ऐसा विषादी क्यों होता? इसलिये न यह ईश्वर और न यह ईश्वरकृत पुस्तक हो सकता है। जैसे वेदोक्त परमेश्वर सब पाप, क्लेश, दुःख, शोकादि से रहित 'सच्चिदानन्दस्वरूप' है, उसको ईसाई लोग मानते वा अब भी मानें तो अपने मनुष्यजन्म को सफल कर सकें॥ १२॥

१३. उस नाव की लम्बाई तीन सौ हाथ और चौड़ाई पचास हाथ और ऊँचाई तीस हाथ की होवे....॥ तू नाव में जाना, तू और तेरे बेटे और तेरी पत्नी और तेरे बेटों की पत्नियाँ तेरे साथ॥ और सारे शरीरों में से जीवता जन्तु दो-दो अपने साथ नाव में लेना जिससे वे तेरे साथ

जीते रहें, वे नर और नारी होंवे॥ पंछी में से उसके भाँति-भाँति के और ढोर में से उसके भाँति-भाँति के और पृथिवी के हर एक रेंगवैये में से भाँति-भाँति के हर एक में से दो-दो तुझ पास आवें जिसतें जीते रहें॥ और तू अपने खाने के लिए सब सामग्री अपने पास इकट्ठा कर, वह तुम्हारे और उनके लिए भोजन होगा, सो ईश्वर की सारी आज्ञा के समान नूह ने किया॥

—तौरेत पर्व० ६। आ० १५।१८।१९।२०।२१।२२॥

समीक्षक—भला कोई भी विद्वान् ऐसी विद्या से विरुद्ध असम्भव बात के वक्ता को ईश्वर मान सकता है? क्योंकि इतनी बड़ी, चौड़ी, ऊँची नाव में हाथी-हथनी, ऊँट-ऊँटनी आदि क्रोड़ों जन्तु और उनके खाने-पीने की चीजें, वे सब कुटुम्ब के भी, समा सकते हैं? यह इसीलिये मनुष्यकृत पुस्तक है। जिसने यह लेख किया है, वह विद्वान् भी नहीं था॥ १३॥

१४. और नूह ने परमेश्वर के लिये एक वेदी बनाई और सारे पवित्र पशु और हर एक पवित्र पंछियों में से लिये और होम की भेंट उस वेदी पर चढ़ाई॥ और परमेश्वर ने सुगंध सूंघा और परमेश्वर ने अपने मन में कहा कि आदमी के लिए मैं पृथिवी को फिर कभी स्राप न दूंगा, इस कारण कि आदमी के मन की भावना उसकी लड़काई से बुरी है, और जिस रीति से मैंने सारे जीवधारियों को मारा, फिर कभी न मारूंगा॥ —तौरेत पर्व० ८। आ० २०।२१॥

समीक्षक—वेदी के बनाने, होम के करने के लेख से यही सिद्ध होता है कि ये बातें वेदों से बायबिल में गई हैं। क्या परमेश्वर के नाक भी है कि जिससे सुगन्ध सूंघा? क्या यह ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् अल्पज्ञ नहीं है कि कभी स्राप देता है और कभी पछताता है? कभी कहता है स्राप न दूंगा, पहिले दिया था और फिर भी देगा। प्रथम सबको मार डाला और अब कहता है कि कभी न मारूंगा। ये बातें सब लड़केपन की हैं, ईश्वर की नहीं और न किसी विद्वान् की। क्योंकि विद्वान् की भी बात और प्रतिज्ञा स्थिर होती है॥ १४॥

१५. और ईश्वर ने नूह को और उसके बेटों को आशीष दिया और

उन्हें कहा कि....॥ हर एक जीता चलता जन्तु तुम्हारे भोजन के लिए होगा, मैंने हरी तरकारी के समान सारी वस्तु तुम्हें दिईं॥ केवल माँस उसके जीव अर्थात् उसके लोहू समेत मत खाना॥

—तौरेत उत्प० पर्व० ९। आ० १।३।४॥

समीक्षक—क्या एक को प्राणकष्ट देकर दूसरों को आनन्द कराने से दयाहीन ईसाइयों का ईश्वर नहीं है? जो माता-पिता एक लड़के को मरवाकर दूसरे को खिलावें तो महापापी नहीं हों? इसी प्रकार यह बात है, क्योंकि ईश्वर के सब प्राणी पुत्रवत् हैं। ऐसा न होने से इनका ईश्वर कसाईवत् काम करता है और सब मनुष्यों को हिंसक भी इसी ने बनाये हैं। इसलिये ईसाइयों का ईश्वर निर्दय होने से पापी क्यों नहीं॥ १५॥

१६. और सारी पृथिवी पर एक ही बोली और एक ही भाषा थी॥ फिर उन्होंने कहा कि आओ हम एक नगर और एक गुम्मट जिसकी चोटी स्वर्ग लों पहुँचे अपने लिये बनावें और अपना नाम करें, न हो कि हम सारी पृथिवी पर छिन्न भिन्न हो जायें॥ तब ईश्वर उस नगर और उस गुम्मट को जिसे आदम के सन्तान बनाते थे, देखने को उतरा॥ तब परमेश्वर ने कहा कि देखो ये लोग एक ही हैं और उन सबकी एक ही बोली है, अब वे ऐसा-ऐसा कुछ करने लगे सो वे जिस पर मन लगावेंगे उससे अलग न किये जायेंगे। आओ हम उतरें। वहाँ उनकी भाषा को गड़बड़ावें जिसतें एक दूसरे की बोली न समझें॥ तब परमेश्वर ने उन्हें वहाँ से सारी पृथिवी पर छिन्न-भिन्न किया और वे उस नगर के बनाने से अलग रहे॥ —तौ० पर्व० ११। आ० १।४।५।६।७।८॥

समीक्षक—जब सारी पृथिवी पर एक भाषा और बोली होगी, उस समय सब मनुष्यों को परस्पर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ होगा। परन्तु क्या किया जाय? यह ईसाई के ईर्ष्यक ईश्वर ने सबकी भाषा गड़बड़ाके सबका सत्यानाश किया। उसने यह बड़ा अपराध किया। क्या यह शैतान के काम से भी बुरा काम नहीं है? और इससे यह भी विदित होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सनाई आदि पहाड़ पर रहता था और जीवों की उन्नति भी नहीं चाहता था। यह विना एक अविद्वान् के ईश्वर की बात और यह ईश्वरोक्त पुस्तक क्योंकर हो सकता है?॥ १६॥

१७. ....तब उसने अपनी पत्नी सरी से कहा कि देख मैं जानता हूँ कि तू देखने में सुन्दर स्त्री है॥ इसलिये यों होगा कि जब मिस्री तुझे देखेंगे तब वे कहेंगे कि यह उसकी पत्नी है और मुझे मार डालेंगे परन्तु तुझे जीती रखेंगे॥ तू कहियो कि मैं उसकी बहिन हूँ, जिसतें तेरे कारण मेरा भला होय और मेरा प्राण तेरे हेतु से जीता रहे॥

—तौ० पर्व० १२। आ० ११।१२।१३॥

समीक्षक—अब देखिये! जो अबिरहाम बड़ा पैग़म्बर ईसाई और मुसलमानों का बजता है और उसके कर्म मिथ्याभाषणादि बुरे हैं, और अपनी स्त्री का पातिव्रत्य धर्म भङ्ग कराके व्यभिचारिणी बनाता है। भला! जिसके ऐसे पैग़म्बर हों, उनको विद्या वा कल्याण का मार्ग कैसे मिल सके?॥ १७॥

१८. और ईश्वर ने अबिरहाम से कहा तू और तेरे पीछे तेरा वंश उनकी पीढियों में मेरे नियम को माने॥ तुम मेरा नियम जो मुस्से और तुमसे और तेरे पीछे तेरे वंश से है जिसे तुम मानोगे सो यह है कि तुममें से हर एक पुरुष का खतन: किया जाय॥ और तुम अपने शरीर की खलड़ी काटो और तुम्हारे मध्य में नियम का चिह्न होगा॥ और तुम्हारी पीढ़ियों में हर एक आठ दिन के पुरुष का खतन: किया जाय, जो घर में उत्पन्न होय अथवा जो किसी परदेशी से जो तेरे वंश का न हो, रूपे से मोल लिया जाय॥ जो तेरे घर में उत्पन्न हुआ हो और जो तेरे रूपे से मोल लिया गया हो, अवश्य उसका खतन: किया जाय और मेरा नियम तुम्हारे माँस में सर्वदा नियम के लिये होगा॥ और जो अखतन: बालक जिसकी खलड़ी का ख़तन: न हुआ हो, सो प्राणी अपने लोग से कट जाय कि उसने मेरा नियम तोड़ा है॥

—तौ० पर्व० १७। आ० ९।१०।११।१२।१३।१४॥

समीक्षक—अब देखिये! ईश्वर की अन्यथा आज्ञा, कि जो यह ख़तन: करना ईश्वर को इष्ट होता तो उस चमड़े को आदि-सृष्टि में नहीं बनाता, और जो यह बनाया गया है वह रक्षार्थ है, जैसा आँख के ऊपर का चमड़ा। क्योंकि वह गुप्तस्थान अति कोमल है, जो उस पर चमड़ा न हो तो एक कीड़ी के भी काटने और थोड़ी-सी चोट लगने से बहुत-सा दु:ख होवे और लघुशङ्का के पश्चात् कुछ मूत्रांश कपड़ों में न लगे, इत्यादि के लिए इसका काटना बुरा है और अब ईसाई लोग इस आज्ञा को क्यों नहीं करते? यह आज्ञा सदा के लिये है, इसके न करने से ईसा की गवाही जो कि 'व्यवस्था के पुस्तक का एक बिन्दु भी झूठा नहीं है,' मिथ्या हो गई। इसका शोच-विचार ईसाई कुछ भी नहीं करते॥ १८॥

१९. तब उस्से बात करने से रह गया और अबिरहाम के पास से ईश्वर ऊपर जाता रहा॥ —तौ० पर्व० १७। आ० २२॥

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर मनुष्य वा पक्षिवत् था जो ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर आता-जाता रहता था। यह कोई इन्द्रजाली पुरुषवत् विदित होता है॥ १९॥

२०. फिर ईश्वर उसे ममरे के बलूतों में दिखाई दिया और वुह दिन को घाम के समय में अपने तम्बू के द्वार पर बैठा था॥ और उसने अपनी आँखें उठाईं और देखा और देखो कि तीन मनुष्य उसके पास खड़े हैं और उन्हें देखके वुह तम्बू के द्वार पर से उनकी भेंट को दौड़ा और भूमि लों दंडवत् की॥ और कहा हे मेरे स्वामी! यदि मैंने अब आपकी दृष्टि में अनुग्रह पाया है तो मैं आपकी विनती करता हूँ कि अपने दास के पास से चले न जाइये॥ इच्छा होय तो थोड़ा जल लाया जाय और अपने चरण धोइये और पेड़ तले विश्राम कीजिए॥ और मैं एक कौर रोटी लाऊँ और आप तृप्त हूजिये, उसके पीछे आगे बढ़िये क्योंकि आप इसीलिये अपने दास के पास आये हैं, तब वे बोले कि जैसा तू ने कहा तैसा कर॥ और अबिरहाम तंबू में सर: पास उतावली से गया और उसे कहा कि फुरती कर और तीन नपुआ चोखा पिसान लेके गूंध और उसके फुलके पका॥ और अबिरहाम झुंड की ओर दौड़ा गया और एक अच्छा कोमल बछड़ा लेके दास को दिया, उसने भी उसे सिद्ध करने में चटक किया॥ और उसने मक्खन और दूध और वुह बछड़ा जो पकाया था, लिया और उनके आगे धरा और आप उनके पास पेड़ तले खड़ा रहा और उन्होंने खाया॥

—तौ० पर्व० १८। आ० १।२।३।४।५।६।७।८॥

समीक्षक—अब देखिये सज्जन लोगो! जिनका ईश्वर बछड़े का

मांस खावे, उसके उपासक गाय-बछड़े आदि को क्यों छोड़ें? जिसको कुछ दया नहीं, मांस के खाने में आतुर रहे, वह विना हिंसक मनुष्य के ईश्वर कभी हो सकता है? और ईश्वर के साथ दो मनुष्य न जाने कौन थे? इससे विदित होता है कि जङ्गली मनुष्यों की एक मण्डली थी, उनका जो प्रधान मनुष्य था, उसका नाम बायबिल में ईश्वर रक्खा होगा। इन्हीं बातों से बुद्धिमान् लोग इनके पुस्तक को ईश्वरकृत नहीं मान सकते और न ऐसे को ईश्वर समझते हैं॥ २०॥

२१. और परमेश्वर ने अबिरहाम से कहा कि सरः क्यों यह कहके मुस्कुराई कि मैं जो बुढ़िया हूँ सचमुच बालक जनूंगी॥ क्या परमेश्वर के लिये कोई बात असाध्य है?॥ —तौ० पर्व० १८। आ० १३। १४॥

समीक्षक—अब देखिये कि क्या-क्या ईसाइयों के ईश्वर की लीला! कि जो लड़के वा स्त्रियों के समान चिड़ता और ताना मारता है॥ २१॥

२२. तब परमेश्वर ने सदूम, अमूरः पर गंधक और आग परमेश्वर की ओर से स्वर्ग से वर्षाया॥ और उन नगरों को, सारे चौगान को और नगरों के सारे निवासियों को और जो कुछ भूमि पर उगता था उलट दिया॥ —तौ० उत्प० पर्व० १९। आ० २४। २५॥

समीक्षक—अब यह भी लीला बायबिल के ईश्वर की देखिये कि जिसको बालक आदि पर भी कुछ दया न आई! क्या सब वे अपराधी थे, सबको भूमि उलटा के दबा मारा? यह न्याय, दया और विवेक से विरुद्ध है। जिनका ईश्वर ऐसा काम करे, उनके उपासक क्यों न करें?॥ २२॥

२३. आओ हम अपने पिता को दाख रस पिलावें और हम उनके साथ शयन करें कि हम अपने पिता से वंश जुगावें॥ तब उन्होंने उस रात अपने पिता को दाख रस पिलाया और पहिलोठी गई और अपने पिता के साथ शयन किया....॥ हम उसे आज रात भी दाखरस पिलावें, तू जाके शयन कर....॥ सो लूत की दोनों बेटियाँ अपने पिता से गर्भिणी हुईं....॥ —तौ० उत्प० पर्व० १९। आ० ३२। ३३। ३४। ३६॥

समीक्षक—देखिये! जब पिता-पुत्री भी जिस मद्यपान के नशे में

कुकर्म से न बच सके, ऐसे दुष्ट मद्य को जो ईसाई आदि पीते हैं, उनकी बुराई का क्या पारावार है? इसलिये सज्जन लोगों को मद्य के पीने का नाम भी न लेना चाहिये॥ २३॥

२४. और अपने कहने के समान परमेश्वर ने सरः से भेंट किया और अपने वचन के समान परमेश्वर ने सरः के विषय में किया॥ और सरः गर्भिणी हुई....॥ —तौ० उत्प० पर्व० २१। आ० १। २॥

समीक्षक—अब विचारिये कि सरः से भेंट कर गर्भवती की, यह काम कैसे हुआ? क्या विना परमेश्वर और सरः से तीसरा कोई गर्भस्थापना का कारण दीखता है? ऐसा विदित होता है कि सरः परमेश्वर की कृपा से गर्भवती हुई॥ २४॥

२५. तब अबिरहाम ने बड़े तड़के उठके रोटी और एक पखाल में जल लिया और हाजिरः के कन्धे पर धर दिया और लड़के को भी उसे सौंपके उसे विदा किया....॥ उसने उस लड़के को एक झाड़ी के तले डाल दिया॥ और वह उसके सम्मुख बैठके चिल्ला-चिल्ला रोई॥ तब ईश्वर ने उस बालक का शब्द सुना॥

—तौ० उत्प० पर्व० २१। आ० १४। १५। १६। १७॥

समीक्षक—अब देखिये! ईसाइयों के ईश्वर की लीला, कि प्रथम तो सरः का पक्षपात करके हाजिरः को वहाँ से निकलवा दी, और चिल्ला-चिल्ला रोई हाजिरः, और शब्द सुना लड़के का, यह कैसी अद्‌भुत बात है? यह ऐसा हुआ होगा कि ईश्वर को भ्रम हुआ होगा कि यह बालक ही रोता है। भला, यह ईश्वर और ईश्वर के पुस्तक की बात कभी हो सकती है विना साधारण मनुष्य के वचन के? इस पुस्तक में थोड़ी सी बात सत्य के, सब असार भरा है॥ २५॥

२६. और इन बातों के पीछे यों हुआ कि ईश्वर ने अबिरहाम की परीक्षा किई और उसे कहा हे अबिरहाम....॥ तू अपने बेटे को अपने इकलौते इज़हाक को जिसे तू प्यार करता है ले....उसे होम की भेंट के लिये चढ़ा॥ और अपने बेटे इज़हाक को बाँधके उस वेदी में लकड़ियों पर धरा॥ और अबिरहाम ने छुरी लेके अपने बेटे को घात करने के लिये हाथ बढ़ाया॥ तब परमेश्वर के दूत ने स्वर्ग पर से उसी को पुकारा

कि हे अबिरहाम-अबिरहाम!.... ॥....अपना हाथ लड़के पर मत बढ़ा और उसे कुछ मत कर क्योंकि अब मैं जानता हूं कि तू ईश्वर से डरता है.... ॥ —तौ० उत्प० पर्व० २२। आ० १।२।९।१०।११।१२॥

समीक्षक—अब स्पष्ट हो गया कि यह बायबिल का ईश्वर अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ नहीं। और अबिरहाम भी एक भोला मनुष्य था, नहीं तो ऐसी चेष्टा क्यों करता? ईश्वर सर्वज्ञ होता तो क्यों कराता और उसकी भविष्यत् श्रद्धा को भी सर्वज्ञता से क्यों न जान लेता?॥ २६॥

२७. ....सो आप हमारी समाधिन में से चुनके एक में अपने मृतक को गाड़िये....जिसतें आप अपने मृतक को गाड़ें॥

—तौ० उत्प० पर्व० २३। आ० ६॥

समीक्षक—मुर्दों के गाड़ने से संसार की बड़ी हानि होती है, क्योंकि वह सड़के वायु को दुर्गन्धमय कर रोग फैला देता है।

प्रश्न—देखो! जिससे प्रीति हो उसको जलाना अच्छी बात नहीं। और गाड़ना जैसा कि उसको सुला देना है, इसलिये गाड़ना अच्छा है।

उत्तर—जो मृतक से प्रीति करते हो तो अपने घर में क्यों नहीं रखते? और गाड़ते भी क्यों हो? जिस जीवात्मा से प्रीति थी वह निकल गया, अब दुर्गन्धमय मट्टी से क्या प्रीति? और जो प्रीति करते हो तो उसको पृथिवी में क्यों गाड़ते हो, क्योंकि किसी से कोई कहे कि तुझको भूमि में गाड़ देवें तो वह सुनकर प्रसन्न कभी नहीं होता। उसके मुख, आँख, और शरीर पर धूल, पत्थर, ईंट, चूना डालना, छाती पर पत्थर रखना कौन सा प्रीति का काम है?

और सन्दूक में डालके गाड़ने से बहुत दुर्गन्ध होकर पृथिवी से निकल वायु को बिगाड़ कर दारुण रोगोत्पत्ति करता है।

दूसरा एक मुर्दे के लिये कम से कम ६ हाथ लम्बी और ४ हाथ चौड़ी भूमि चाहिये। इसी हिसाब से सौ, हजार वा लाख अथवा क्रोड़ों मनुष्यों के लिये कितनी भूमि व्यर्थ रुक जाती है। न वह खेत, न बाग़ीचा और न वसने के काम की रहती है, इसलिये सबसे बुरा गाड़ना है।

उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना, क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर फाड़ खा लेते हैं परन्तु जो कुछ हाड़ वा मल जल में रहेगा वह सड़ कर जगत् को दु:खदायक होगा।

उससे कुछ एक थोड़ा बुरा जङ्गल में छोड़ना है। क्योंकि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी लूंच खायेंगे तथापि जो उसके हाड़, हाड़ की मज्जा और मल सड़कर जितना दुर्गन्ध करेगा, उतना जगत् का अनुपकार होगा।

और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है, क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जायेंगे।

प्रश्न—क्या मुर्दे के धुंआ में दुर्गन्ध नहीं होता?

उत्तर—हाँ! जो अविधि से जलावे तो थोड़ा सा होता है, परन्तु गाड़ने आदि से बहुत कम होता है।

और जो विधिपूर्वक जैसा कि वेद में लिखा है—वेदी मुर्दे के तीन हाथ गहिरी, साढ़े तीन हाथ चौड़ी, पांच हाथ लम्बी, तले में डेढ़ बीता अर्थात् चढ़ा उतार खोदकर शरीर के बराबर घी, उसमें एक सेर में रत्तीभर कस्तूरी, मासाभर केशर डाल न्यून से न्यून आध मन चन्दन, अधिक चाहें जितना लें, अगर, तगर, कपूर आदि और पलाश आदि की लकड़ियों को वेदी में जमा, उस पर मुर्दा रखके पुन: चारों ओर ऊपर वेदी के मुख से एक बीता तक भरके उस घी की आहुति देकर जलाना लिखा है, उस प्रकार से दाह करें तो कुछ भी दुर्गन्ध न हो, किन्तु इसी का नाम अन्त्येष्टि, नरमेध, पुरुषमेध यज्ञ है। और जो दरिद्र हो तो बीस सेर से कम घी चिता में न डाले, चाहें वह भीख मांगने वा जातिवाले के देने अथवा राज से मिलने से प्राप्त हो, परन्तु उसी प्रकार दाह करे। और जो घृतादि किसी प्रकार न मिल सके तथापि गाढने आदि से केवल लकड़ी से भी मृतक का जलाना उत्तम है, क्योंकि एक विश्वाभर भूमि में अथवा एक वेदी में लाखों-क्रोड़ों मृतक जल सकते हैं। भूमि भी गाढने के समान अधिक नहीं बिगड़ती और कबर के देखने से भय भी होता है, इससे गाड़ना आदि सर्वथा निषिद्ध है॥ २७॥

२८. ....परमेश्वर मेरे स्वामी अबिरहाम का ईश्वर धन्य है जिसने मेरे स्वामी को अपनी दया और अपनी सच्चाई विना न छोड़ा, मार्ग में

परमेश्वर ने मेरे स्वामी के भाइयों के घर की ओर मेरी अगुआई किई॥
—तौ० उत्प० पर्व० २४। आ० २७॥

समीक्षक—क्या वह अबिरहाम ही का ईश्वर था? और जैसे आजकल बिगारी वा अगवे लोग अगुआई अर्थात् आगे-आगे चलकर मार्ग दिखलाते हैं तथा ईश्वर ने भी किया तो आजकल मार्ग क्यों नहीं दिखलाता? और मनुष्यों से बातें क्यों नहीं करता? इसलिये ऐसी बातें ईश्वर वा ईश्वर के पुस्तक की कभी नहीं हो सकतीं, किन्तु जङ्गली पुरुष की हैं॥ २८॥

२९. इसमअऐल के बेटों के नाम ये हैं—इसमअऐल का पहिलौठा नबीत और क़ीदार और अदबिएल और मिबसाम और मिसमाअ और दूम: और मस्सा हदर और तैमा, इतूर, नफीस और क़िदिम:॥
—तौ० उत्प० पर्व० २५ आ० १३। १४। १५॥

समीक्षक—यह इसमअऐल अबिरहाम से उसकी हाजिर: दासी का पुत्र हुआ था, इसी का वंश मुसलमान हुये हैं। तभी दासीपुत्र होने से मुसलमान लोग बहुत से खुशामदी होते हैं॥ २९॥

३०. ....मैं तेरे पिता की रुचि के समान स्वादित भोजन बनाऊंगी॥ और तू अपने पिता के पास ले जाइयो जिसतें वह खाय और अपने मरने से आगे तुझे आशीष देवे॥ और रिबक: ने घर में से अपने जेठे बेटे एसौ का अच्छा पहिरावा लिया और अपने छोटे बेटे यअक़ूब को पहिनाया।। और बकरी के मेम्नों का चमड़ा उसके हाथों और गले की चिकनाई पर लपेटा॥ तब यअकूब अपने पिता से बोला कि मैं आपका पहिलौठा एसौ हूं, आपके कहने के समान मैंने किया है, उठ बैठिये और मेरे अहेर के मांस में से खाइये, जिसतें आपका प्राण मुझे आशीष दे॥
—तौ० उत्प० पर्व० २७ आ० ९। १०। १५। १६। १९॥

समीक्षक—देखिये! ऐसे झूठ-कपट से आशीर्वाद लेके पश्चात् सिद्ध और पैग़म्बर बनते हैं, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? और ऐसे ईसाइयों के अगुआ हुए हैं, पुन: इनके मत की गड़बड़ में क्या न्यूनता हो॥ ३०॥

३१. और यअक़ूब बिहान को तड़के उठा और उस पत्थर को

जिसे उसने अपना उसीसा किया था खंभा खड़ा किया और उस पर तेल डाला॥ और उस स्थान का नाम बैतएल रक्खा....॥ और यह पत्थर जो मैंने खंभा सा खड़ा किया, ईश्वर का घर होगा....॥
—तौ० उत्प० पर्व० २८। आ० १८। १९। २२॥

समीक्षक—अब देखिए जङ्गलियों के काम! इन्होंने पत्थर पूजे और पुजवाए और इसको मुसलमान लोग 'बैतएलमुकद्दस' कहते हैं। क्या यही पत्थर ईश्वर का घर और उसी पत्थरमात्र में ईश्वर रहता था? वाह-वाह! क्या कहना है ईसाई लोगो! महाबुत्परस्त तो तुमही हो॥ ३१॥

३२. और ईश्वर ने राख़िल को स्मरण किया और ईश्वर ने उसकी सुनी और उसकी कोख को खोला॥ और वुह गर्भिणी हुई और बेटा जनी।
—तौ० उत्प० पर्व० ३०। आ० २२। २३॥

समीक्षक—वाह-वाह ईसाइयों का ईश्वर! क्या बड़ा डाक्तर है! स्त्रियों की कोख खोलने को कौन से शस्त्र वा औषध थे जिनसे खोली, ये सब बातें अन्धाधुन्ध की हैं॥ ३२॥

३३. परन्तु ईश्वर अरामी लाबन कने स्वप्न में रात को आया और उसे कहा कि चौकस रह, तू यअक़ूब को भला बुरा मत कहना....॥ क्योंकि तू अपने पिता के घर का निपट अभिलाषी है, तूने किसलिए मेरे देवों को चुराया है॥
—तौ० उत्प० पर्व० ३१। आ० २४। ३०॥

समीक्षक—यह हम नमूना लिखते हैं, हजारों मनुष्यों को स्वप्न में आया, बातें की; जागृत साक्षात् मिला; खाया-पिया, आया-गया आदि बायबिल में लिखा है परन्तु अब न जाने वह है वा नहीं? क्योंकि अब किसी को स्वप्न वा जागृत में भी ईश्वर नहीं मिलता और यह भी विदित हुआ कि ये जङ्गली लोग पाषाणादि मूर्तियों को देव मानकर पूजते थे। परन्तु ईसाइयों का ईश्वर भी पत्थर ही को देव मानता है, नहीं तो देवों का चुराना कैसे घटे?॥ ३३॥

३४. और यअक़ूब अपने मार्ग चला गया और ईश्वर के दूत उसे आ मिले॥ और यअक़ूब ने उन्हें देखके कहा कि यह ईश्वर की सेना है....॥
—तौ० उत्प० पर्व० ३२। आ० १। २॥

समीक्षक—अब ईसाइयों का ईश्वर मनुष्य होने में कुछ भी संदिग्ध

नहीं रहा। क्योंकि ईश्वर के पास सेना भी है। और सब शस्त्र होंगे तथा किसी से लड़ाई बखेड़े भी होते होंगे; नहीं तो सेना रखने का क्या प्रयोजन है?॥ ३४॥

३५. और यअक़ूब अकेला रह गया और वहाँ पौ फटे लों एक जन उससे युद्ध करता रहा॥ और जब उसने देखा कि वुह प्रबल न हुआ तो उसकी जांघ को भीतर से छूआ, तब यअक़ूब के जांघ की नस उसके संग मल्लयुद्ध करने में चढ़ गई॥ तब वह बोला कि मुझे जाने दे क्योंकि पौ फटती है और वुह बोला मैं तुझे जाने न देऊंगा जब लों तू मुझे आशीष न देवे॥ तब उसने उसे कहा कि तेरा नाम क्या? और वुह बोला कि यअक़ूब।। तब उसने कहा कि तेरा नाम आगे को यअक़ूब न होगा परन्तु इसराएल, क्योंकि तूने ईश्वर के और मनुष्यों के आगे राजा की नाईं मल्लयुद्ध किया और जीता॥ तब यअक़ूब ने उस्से पूछा कि अपना नाम बताइये और वुह बोला कि तू मेरा नाम क्यों पूछता है और उसने उसे वहाँ आशीष दिया॥ और यअक़ूब ने उस स्थान का नाम फ़नूएल रक्खा, क्योंकि मैंने ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा और मेरा प्राण बचा है॥ और जब वह फ़नुएल से पार चला तो सूर्य्य की ज्योति उस पर पड़ी और वुह अपनी जांघ से लंगड़ाता था॥ इसलिए इसराएल के वंश उस जांघ की नस को जो चढ़ गई थी आज लों नहीं खाते क्योंकि उसने यअक़ूब के जांघ की नस को, जो चढ़ गई थी, छूआ था॥

—तौ० उत्प० पर्व० ३२। आ० २४।२५।२६।२७।
२८।२९।३०।३१।३२॥

समीक्षक—जब ईसाइयों का ईश्वर अखाड़मल्ल है तभी तो सर: और राखल पर पुत्र होने की कृपा की। भला यह कभी ईश्वर हो सकता है? केवल लड़केपन की लीला है। और देखो लीला! कि एक जना नाम पूछे तो दूसरा अपना नाम ही न बतलावे? और ईश्वर ने उसकी नाड़ी को चढ़ा तो दी और जीत गया परन्तु जो डाक्तर होता तो जांघ की नाड़ी को अच्छी भी करता। और ऐसे ईश्वर की भक्ति से जैसा कि यअक़ूब लंगड़ाता रहा तो अन्य भक्त भी लंगड़ाते होंगे। जब ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा और मल्लयुद्ध किया, यह बात विना शरीरवाले के कैसे हो

सकती है? यह केवल लड़केपन की लीला है॥ ३५॥

३६. ईश्वर का मुंह देखा....॥

—तौ० उत्प० पर्व० ३३। आ० १०॥

समीक्षक—जब ईश्वर के मुँह है तो और भी सब अवयव होंगे और वह जन्म-मरणवाला भी होगा॥ ३६॥

३७. और यहूदाह का पहिलौंठा एर परमेश्वर की दृष्टि में दुष्ट था सो परमेश्वर ने उसे मार डाला॥ तब यहूदाह ने ओनान को कहा कि अपने भाई की पत्नी पास जा और उससे ब्याह कर और अपने भाई के लिए वंश चला॥ और ओनान ने कहा कि यह वंश मेरा न होगा और यों हुआ कि जब वुह अपनी भाई की पत्नी पास गया तो वीर्य्य को भूमि पर गिरा दिया....॥ और उसका वुह कार्य परमेश्वर की दृष्टि में बुरा था इसलिए उसने उसे भी मार डाला॥

—तौ० उत्प० पर्व० ३८। आ० ७।८।९।१०॥

समीक्षक—अब देख लीजिए! ये मनुष्यों के काम हैं कि ईश्वर के? जब उसके साथ नियोग हुआ तो उसको क्यों मार डाला? उसकी बुद्धि शुद्ध क्यों न कर दी? और वेदोक्त नियोग भी प्रथम सर्वत्र चलता था। यह निश्चय हुआ कि नियोग की बातें सर्वत्र चलती थीं॥ ३७॥

तौरेत यात्रा की पुस्तक

३८. ... जब मूसा सयाना हुआ ... और अपने भाइयों में से एक इबरानी को देखा कि मिस्री उसे मार रहा है॥ तब उसने इधर उधर दृष्टि की और देखा कि कोई नहीं तब उसने उस मिस्री को मार डाला और बालू में उसे छिपा दिया॥ जब वुह दूसरे दिन बाहर गया तो देखो कि दो इबरानी आपुस में झगड़ रहे है तब उसने उस अंधेरी को कहा कि तू अपने परौसी को क्यों मारता है॥ तब उसने कहा कि किसने तुझे हम पर अध्यक्ष अथवा न्यायी ठहराया, क्या तू चाहता है कि जिस रीति से तूने मिस्री को मार डाला, मुझे भी मार डाले, तब मूसा डरा और कहा कि निश्चय यह बात खुल गई॥ जब फ़िरऊन ने यह बात सुनी तो चाहा कि मूसा को मार डाले। परन्तु मूसा फ़िरऊन आगे से भाग निकला॥

—तौ० या० प० २। आ० ११, १२, १३-१५॥

समीक्षक—अब देखिये! ऐसे कर्मों का करनेहारा मूसा पैगम्बर बन गया॥ जो बाइबल का मुख्य सिद्धकर्त्ता मत का आचार्य मूसा कि जिसका चरित्र क्रोधादि गुणों से युक्त, मनुष्य की हत्या करने वाला और चौरवत् राजदण्ड से बचनेहारा अर्थात् जब बात को छिपाता था तो झूठ बोलने वाला भी अवश्य होगा, ऐसे को भी जो ईश्वर मिला, वह पैगम्बर बना, उसने यहूदी आदि का मत चलाया, वह भी मूसा ही के सदृश हुआ। इसलिए ईसाइयों के जो मूल पुरुषा हुए है, वे सब मूसा आदि से ले करके जंगली अवस्था में थे, विद्या-वस्था में नहीं, इत्यादि ॥३८॥

३९. तब परमेश्वर ने देखा कि वुह देखने को एक अलंग फिरा तो ईश्वर ने उसे झाड़ी के मध्य में से उसे पुकारके कहा कि हे मूसा! हे मूसा! तब वुह बोला मैं यहां हूँ॥ तब उसने कहा कि इधर पास मत आ, अपने पाऊँ से जूता उतार क्योंकि यह स्थान जिसपर तू खड़ा है पवित्र भूमि है॥ —या० पु० ३। आ० ४।५॥

समीक्षक—देखिये ऐसे मनुष्य! जो कि मनुष्य को मार के बालू में गाड़ने वाले से इनके ईश्वर की मित्रता और उसको पैग़म्बर मानते हैं। और देखो जब तुम्हारे ईश्वर ने मूसा से कहा कि पवित्र स्थान में जूती न ले जानी चाहिए, तुम ईसाई इस आज्ञा से विरुद्ध क्यों चलते हो?॥

प्रश्न—हम जूती के स्थान में टोपी उतार लेते हैं।

उत्तर—यह दूसरा अपराध तुमने किया, क्योंकि टोपी उतारना न ईश्वर ने कहा, न तुम्हारे पुस्तक में लिखा है। और उतारने योग्य को नहीं उतारते, जो नहीं उतारना चाहिए उसको उतारते हो, यह दोनों प्रकार तुम्हारे पुस्तक से विरुद्ध हैं।

प्रश्न—हमारे यूरोप देश में शीत अधिक है, इसलिये हम लोग जूती नहीं उतारते।

उत्तर—क्या शिर में शीत नहीं लगता? जो यही है तो जब यूरोप देश में जाओ तब ऐसा ही करना। परन्तु जब हमारे घर में वा बिछौने में आया करो तब तो जूती उतार दिया करो और जो न उतारोगे तो तुम अपने बायबिल पुस्तक के विरुद्ध चलते हो, ऐसा तुमको न करना चाहिये॥ ३९॥

४०. तब परमेश्वर ने उसे कहा कि तेरे हाथ में यह क्या है और वुह बोला कि छड़ी॥ तब उसने कहा कि उसे भूमि पर डाल दे और उसने उसे भूमि पर डाल दिया और वुह सर्प्प बन गई और मूसा उसके आगे से भागा॥ तब परमेश्वर ने मूसा से कहा कि अपना हाथ बढ़ा और उसकी पूंछ पकड़ ले, तब उसने अपना हाथ बढ़ाया और उसे पकड़ लिया और वुह उसके हाथ में छड़ी हो गई॥ तब परमेश्वर ने उसे कहा कि फिर तू अपना हाथ अपनी गोद में कर और उसने अपना हाथ अपनी गोद में किया, जब उसने उसे निकाला तो देखो कि उसका हाथ हिम के समान कोढ़ी था॥ और उसने कहा कि अपना हाथ फिर अपनी गोदी में कर, उसने फिर अपने हाथ को अपनी गोद में किया और अपनी गोद से उसे निकाला तो देखा कि जैसी उसकी सारी देह थी वुह वैसा फिर हो गया॥ तू नील नदी का जल लेके सूखी पर डालियो और वुह जो जल तू नदी से निकालेगा सो सूखी पर लोहू हो जायगा॥

—या० प० ४। आ० २।३।४।६।७।९॥

समीक्षक—अब देखिये! कैसे बाजीगर का खेल, खिलाड़ी ईश्वर, उसका सेवक मूसा और इन बातों को माननेहारे कैसे हैं? क्या आजकल बाजीगर लोग इससे कम करामात करते हैं? यह ईश्वर क्या, यह तो बड़ा खिलाड़ी है! इन बातों को विद्वान् क्योंकर मानेंगे? और हर एक वार मैं परमेश्वर हूँ और मैं अबिरहाम, इजहाक और याक़ूब का ईश्वर हूँ इत्यादि हर एक से अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता-फिरता है, यह [बात] उत्तम जन की नहीं हो सकती, किन्तु किसी दंभी मनुष्य की हो सकती है॥ ४०॥

४१. ....और फसह मेम्ना मारो॥ और एक मूठी जूफा लेओ और उसे उस लोहू में जो बासन में है बोर के, ऊपर की चौखट के और द्वार की दोनों ओर उस्से छापो और तुममें से कोई बिहान लों अपने घर के द्वार से बाहर न जावे॥ क्योंकि परमेश्वर मिस्र के मारने के लिये आर-पार जायगा और जब वुह ऊपर की चौखट पर और द्वार की दोनों ओर लोहू को देखे तब परमेश्वर द्वार से बीत जायगा और नाशक तुम्हारे घरों में न जाने देगा कि मारे॥ —तौ० या० प० १२। आ० २१।२२।२३॥

समीक्षक—भला, यह जो टोने-टामन करने वाले के समान है, वह ईश्वर सर्वज्ञ कभी हो सकता है? जब लोहू का छापा देखे तभी इसराइल कुल का घर जाने, अन्यथा नहीं। यह काम क्षुद्रबुद्धिमनुष्य के सदृश है। इससे विदित होता है कि ये बातें किसी जङ्गली मनुष्य की लिखी हैं॥ ४१ ॥

४२. और यों हुआ कि परमेश्वर ने आधी रात को मिस्र के देश में सारे पहिलौठे को फ़िरऊन के पहिलौठे से लेके जो अपने सिंहासन पर बैठता था उस बंधुआ के पहिलौठे लों जो बंदीगृह में था पशुन के पहिलौठे समेत नाश किये।। और रात को फ़िरऊन उठा, वह और उसके सब सेवक और सारे मिस्री उठे और मिस्र में बड़ा विलाप था क्योंकि कोई घर न रहा जिसमें एक न मरा।

—तौ० या० प० १२। आ० २९।३०॥

समीक्षक—वाह! अच्छा आधी रात को डाकू के समान निर्दयी होकर ईसाइयों के ईश्वर ने लड़के, बाले, वृद्ध और पशु तक भी विना अपराध मार दिये और कुछ भी दया न आयी और मिस्र में बड़ा विलाप होता रहा तो भी ईसाइयों के ईश्वर के चित्त से निष्ठुरता नष्ट न हुई! ऐसा काम ईश्वर के तो क्या किन्तु किसी भले मनुष्य के भी करने का नहीं है। यह आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह लिखा है कि '**मांसाहारिणः कुतो दया**' जब ईसाइयों का ईश्वर मांसाहारी है तो उसको दया का क्या काम है?॥ ४२ ॥

४३. परमेश्वर तुम्हारे लिये युद्ध करेगा.... ॥ इसराएल के संतान से कह कि वे आगे बढ़ें॥ परन्तु तू अपनी छड़ी उठा और समुद्र पर अपना हाथ बढ़ा और उसे दो भाग कर और इसराएल के सन्तान समुद्र के बीचों बीच में से सूखी भूमि में होकर चले जायेंगे॥

—तौ० या० पर्व० १४। आ० १४।१५।१६॥

समीक्षक—क्योंजी! आगे तो ईश्वर भेड़ों के पीछे गड़रिये के समान इस्रायेल कुल के पीछे-पीछे डोला करता था, अब न जाने कहाँ गया? नहीं तो समुद्र के बीच में से चारों ओर की रेलगाड़ियों की सड़क बनवा लेते, जिससे सब संसार का उपकार होता और नाव आदि बनाने

का श्रम छूट जाता। परन्तु क्या किया जाय, ईसाइयों का ईश्वर न जाने कहाँ छिप रहा है? इत्यादि बहुत-सी मूसा के साथ असम्भव लीला ईश्वर ने की है। परन्तु यह विदित हुआ कि ऐसा ईश्वर, ऐसे उसके सेवक और ऐसा ईश्वरकृत पुस्तक हम लोगों से दूर रहै॥ ४३ ॥

४४. ....क्योंकि मैं परमेश्वर तेरा ईश्वर ज्वलित सर्वशक्तिमान् हूँ, पितरों के अपराध का दण्ड उनके पुत्रों को जो मेरा वैर रखते हैं उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ी लों देवैया हूँ॥

—तौ० या० पर्व० २०। आ० ५॥

समीक्षक—भला यह किस घर का न्याय है कि जो पिता के अपराध से चार पीढ़ी तक दण्ड देना अच्छा मानना। क्या अच्छे पिता के दुष्ट और दुष्ट के श्रेष्ठ सन्तान नहीं होते? जो ऐसा तो चौथी पीढ़ी तक दण्ड कैसे दे सकेगा? और जो पाँचवीं पीढ़ी से आगे दुष्ट होगा उसको दण्ड न दे सकेगा। विना अपराध दण्ड देना अन्यायकारी की बात है॥ ४४॥

४५. विश्राम के दिन को उसे पवित्र रखने के लिए स्मरण कर॥ छः दिन लों तू परिश्रम कर.... ॥ और सातवां दिन परमेश्वर तेरे ईश्वर का विश्राम है.... ॥....परमेश्वर ने विश्राम दिन को आशीष दिई.... ॥

—तौ० या० प० २०। आ० ८।९।१०।११॥

समीक्षक—क्या रविवार एक ही पवित्र और छः दिन अपवित्र हैं? और क्या परमेश्वर ने छः दिन तक बड़ा परिश्रम किया था कि जिससे थक के सातवें दिन सो गया? और जो रविवार को आशीर्वाद दिया तो सोमवार आदि छः दिनों को क्या दिया? अर्थात् स्राप दिया होगा। ऐसा काम विद्वान् का भी नहीं तो ईश्वर का क्योंकर हो सकता है? भला रविवार ने क्या गुण और सोमवार आदि ने क्या दोष किया था कि जिससे एक को पवित्र तथा वर दिया और अन्यों को ऐसे ही अपवित्र कर दिये!॥ ४५ ॥

४६. अपने परोसी पर झूठी साक्षी मत दे॥ ....अपने परोसी की स्त्री और उसके दास, उसकी दासी और उसके बैल और उसके गदहे और किसी वस्तु का जो तेरे परोसी की है, लालच मत कर॥

—तौ० या० प० २०। आ० १६।१७॥

समीक्षक—वाह! तभी तो ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुकते हैं कि जानो प्यासा जल पर, भूखा अन्न पर। जैसी यह केवल मतलबसिन्धु और पक्षपात की बात है, ऐसा ही ईसाइयों का ईश्वर भी है। यदि कोई कहे कि हम सब मनुष्यमात्र को परोसी मानते हैं तो सिवाय मनुष्यों के अन्य कौन स्त्री और दासी आदि वाले हैं कि जिनको अपरोसी गिनें? इसलिए यह बातें स्वार्थी मनुष्यों की हैं, ईश्वर की नहीं॥ ४६ ॥

४७. जो कोई किसी मनुष्य को मारे और वुह मर जाय, वह निश्चय घात किया जाय॥ और यदि वुह मनुष्य घात में न लगा हो परन्तु ईश्वर ने उसके हाथ में सौंप दिया हो तब मैं तुझे भागने का स्थान बता दूँगा॥

—तौ० या० प० २१। आ०। १२। १३॥

समीक्षक—जो यह ईश्वर का न्याय सच्चा है तो मूसा एक आदमी को मार गाड़कर भाग गया था, उसको यह दण्ड क्यों न हुआ? जो कहो ईश्वर ने मूसा को मारने के अर्थ सौंपा था तो ईश्वर पक्षपाती हुआ, क्योंकि उस मूसा का राजा से न्याय क्यों न होने दिया?॥ ४७ ॥

४८. ....और कुशल का बलिदान बैलों से परमेश्वर के लिए चढ़ाया॥ और मूसा ने आधा लोहू लेके पात्रों में रक्खा और आधा लोहू वेदी पर छिड़का.... ॥ और मूसा ने उस लोहू को लेके लोगों पर छिड़का और कहा कि यह लोहू उस नियम का है जिसे परमेश्वर ने इन बातों के कारण तुम्हारे साथ किया है। और परमेश्वर ने मूसा से कहा कि पहाड़ पर मुझ पास आ और वहाँ रह और मैं तुझे पत्थर की पटियाँ और व्यवस्था और आज्ञा जो मैंने लिखी है, दूंगा॥

—तौ० या० प० २४। आ० ५।६।८।१२॥

समीक्षक—अब देखिये! ये सब जङ्गली लोगों की बातें हैं वा नहीं और परमेश्वर बैलों का बलिदान लेता और वेदी पर लोहू छिड़कना यह कैसी जङ्गलीपन और असभ्यता की बात है? जब ईसाइयों का खुदा भी बैलों का बलिदान लेवे तो उसके भक्त बैल-गाय के बलिदान की प्रसादी से पेट क्यों न भरें और जगत् की हानि क्यों न करें? ऐसी-ऐसी बुरी बातें बाइबल में भरी हैं। इसी के कुसंस्कारों से वेदों में भी ऐसा झूठा दोष लगाना चाहते हैं परन्तु वेदों में ऐसी बातों का नाम भी नहीं।

और यह भी निश्चय हुआ कि ईसाइयों का ईश्वर एक पहाड़ी मनुष्य था, पहाड़ पर रहता था। जब वह खुदा स्याही, लेखनी, काग़ज नहीं बना जानता और न उसको प्राप्त था, इसीलिये पत्थर की पटियों पर लिख-लिख देता था और इन्हीं जङ्गलियों के सामने ईश्वर भी बन बैठा॥ ४८ ॥

४९. और बोला कि तू मेरा रूप नहीं देख सकता क्योंकि मुझे देखके कोई मनुष्य न जीयेगा॥ और परमेश्वर ने कहा कि देख एक स्थान मेरे पास है और तू उस टीले पर खड़ा रह॥ और यों होगा कि जब मेरा विभव चल निकलेगा तो मैं तुझे पहाड़ के दरार में रक्खूंगा और जब लों जा निकलूं तूझे अपने हाथ से ढांपूंगा॥ और अपना हाथ उठा लूंगा और तू मेरा पीछा देखेगा परन्तु मेरा रूप दिखाई न देगा॥

—तौ० या० पर्व० ३३। आ० २०।२१।२२।२३॥

समीक्षक—अब देखिये! ईसाइयों का ईश्वर केवल मनुष्यवत् शरीरधारी और मूसा से कैसा प्रपञ्च रचके आप स्वयं ईश्वर बन गया। जो पीछा देखेगा, रूप न देखेगा तो हाथ से उसको ढांप दिया भी होगा। जब खुदा ने अपने हाथ से मूसा को ढांपा होगा तब क्या उसके हाथ का रूप उसने न देखा होगा?॥ ४९ ॥

लैव्य व्यवस्था की पुस्तक, तौ०।

५०. और परमेश्वर ने मूसा को बुलाया और मंडली के तम्बू में से यह वचन उसे कहा।। कि इसराएल के सन्तानों से बोल और उन्हें कह यदि कोई तुम्में से परमेश्वर के लिये भेंट लावे तो तुम ढोर में से अर्थात् गाय बैल और भेड़ बकरी में से अपनी भेंट लाओ॥

—तौ० लैव्य व्यवस्था की पुस्तक, प० १। आ० १।२॥

समीक्षक—अब विचारिये! ईसाइयों का परमेश्वर गाय, बैल आदि की भेंट लेनेवाला, जो कि अपने लिये बलिदान कराने के लिये उपदेश करता है वह बैल गाय आदि पशुओं के लोहू-मांस का प्यासा-भूखा है वा नहीं? इसी से वह अहिंसक और ईश्वर कोटि में गिना कभी नहीं जा सकता किन्तु मांसाहारी प्रपञ्ची मनुष्य के सदृश है॥ ५० ॥

५१. और वुह उस बैल को परमेश्वर के आगे बलि करे और

हारून के बेटे याजक लोहू को निकट लावें और लोहू को यज्ञवेदी के चारों ओर जो मंडली के तंबू के द्वार पर है छिड़कें॥ तब वुह उस भेंट के बलिदान की खाल निकाले और उसे टुकड़ा टुकड़ा करे॥ और हारून के बेटे याजक यज्ञवेदी पर आग रक्खें और उसपर लकड़ी चुनें॥ और हारून के बेटे याजक उसके टुकड़ों को और शिर और चिकनाई को उन लकड़ियों पर जो यज्ञवेदी की आग पर हैं विधि से धरें॥ ....जिसतें बलिदान की भेंट होवे, जो आग से परमेश्वर के सुगंध के लिये भेंट किया गया॥

—तौ० लै० व्यवस्था की पुस्तक, प० १। आ० ५।६।७।८।९॥

समीक्षक—तनिक विचारिये! कि बैल को परमेश्वर के आगे उसके भक्त मारें और वह मरवावे और लोहू को चारों और छिड़कें, अग्नि में होम करें, ईश्वर सुगन्ध लेवे, भला, यह कसाई के घर से कुछ कमती लीला है? इसी से न बायबिल ईश्वरकृत, और न, वह जङ्गली मनुष्य के सदृश लीलाधारी, ईश्वर हो सकता है॥५१॥

५२. फिर परमेश्वर मूसा से यह कहके बोला॥ कि यदि वुह अभिषेक किया हुआ याजक लोगों के पाप के समान पाप करे, तो वह अपने पाप के कारण जो उसने किया है, अपने पाप की भेंट के लिए निष्खोट एक बछिया परमेश्वर के लिये लावे॥ ....और बछिया के शिर पर अपना हाथ रक्खे और बछिया को परमेश्वर के आगे बलि करे॥

—तौ० लै० व्य० प० ४। आ० १।३।४॥

समीक्षक—अब देखिये पापों के छुड़ाने के प्रायश्चित्त! स्वयं पाप करे, गाय आदि उत्तम पशुओं की हत्या करे और परमेश्वर करवावे। धन्य है ईसाई लोग! कि ऐसी बातों के करने-करानेहारे को भी ईश्वर मानकर अपनी मुक्ति आदि की आशा करते हैं॥५२॥

५३. जब कोई अध्यक्ष पाप करे.... ॥....तब वुह बकरी का निष्खोट नर मेम्ना अपनी भेंट के लिये लावे॥ और....उसे....परमेश्वर के आगे बलि करे॥ यह पाप की भेंट है।

—तौ० लै० प० ४। आ ० २२।२३।२४॥

समीक्षक—वाहजी! वाह! यदि ऐसा है तो इनके अध्यक्ष अर्थात्

न्यायाधीश तथा सेनापति आदि पाप करने से क्यों डरते होंगे? आप तो यथेष्ट पाप करें और प्रायश्चित के बदले में गाय, बछिया, बकरे आदि के प्राण लेवें, तभी तो ईसाई लोग किसी पशु वा पक्षी के प्राण लेने में शङ्कित नहीं होते। सुनो ईसाई लोगो! अब तो इस जङ्गली मत को छोड़के सुसभ्य धर्ममय वेदमत को स्वीकार करो कि जिससे तुम्हारा कल्याण हो॥५३॥

५४. और यदि उसे भेड़ लाने की पूँजी न हो तो वह अपने किये हुए अपराध के लिये दो पिण्डुकियां और कपोत के दो बच्चे परमेश्वर के लिये लावे॥ और उसका सिर उसके गले के पास से मरोड़ डाले परन्तु अलग न करे॥ ....उसके किये हुए पाप का प्रायश्चित करे और उसके लिये क्षमा किया जायगा॥ पर यदि उसे दो पिण्डुकियां और कपोत के दो बच्चे लाने की पूंजी न हो तो ....सेर भर चोखा पिसान पाप की भेंट के लिये लावे,* उस पर तैल न डाले.... ॥ ....और वुह क्षमा किया जायगा॥ —तौ० लै० प० ५। आ० ७।८।१०।११।१३॥

समीक्षक—अब सुनिये! ईसाइयों में पाप करने से कोई धनाढ्य न डरता होगा और न दरिद्र भी; क्योंकि इनके ईश्वर ने पापों का प्रायश्चित करना सहज कर रक्खा है। एक यह बात ईसाइयों की बायबिल में बड़ी अद्‌भुत है कि विना कष्ट किये पाप से पाप छूट जाय। क्योंकि एक तो पाप किया और दूसरे जीवों की हिंसा की और खूब आनन्द से मांस

* इस ईश्वर को धन्य है कि जिसने बछड़ा, भेड़ी और बकरी का बच्चा, कपोत और पिसान (आटे) तक लेने का नियम किया। अद्‌भुत बात तो यह है कि कपोत के बच्चे 'गरदन मरोड़वा के' लेता था अर्थात् गर्दन तोड़ने का परिश्रम न करना पड़े। इन सब बातों के देखने से विदित होता है कि जङ्गलियों में कोई चतुर पुरुष था, वह पहाड़ पर जा बैठा और अपने को ईश्वर प्रसिद्ध किया। जङ्गली अज्ञानी थे, उन्होंने उसी को ईश्वर स्वीकार कर लिया। अपनी युक्तियों से वह पहाड़ पर ही खाने के लिए पशु, पक्षी और अन्नादि मँगा लिया करता था और मौज करता था। उसके दूत=फरिश्ते काम किया करते थे। सज्जन लोग विचारें कि कहाँ तो बाइबल में बछड़ा, भेड़ी, बकरी का बच्चा, कपोत और 'अच्छे' पिसान का खानेवाला ईश्वर और कहाँ सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी इत्यादि उत्तम गुणयुक्त वेदोक्त ईश्वर?

खाया और पाप भी छूट गया।

भला कपोत के बच्चे का गला मरोड़ने से वह बहुत देर तक तड़फता होगा तब भी ईसाइयों को दया नहीं आती। दया क्योंकर आवे? इनके ईश्वर का उपदेश ही हिंसा करने का है। और जब सब पापों का ऐसा प्रायश्चित्त है तो ईसा के विश्वास से पाप छूट जाता है, यह बड़ा आडम्बर क्यों करते हैं?॥५४॥

५५. ....सो उसी बलिदान की खाल उसी याजक की होगी, जिसने उसे चढ़ाया॥ और समस्त भोजन की भेंट जो तन्दूर में पकाई जावें और सब जो कड़ाही में अथवा तवे पर, सो उसी याजक की होगी॥

—तौ० लै० प० ७। आ० ८।९॥

समीक्षक—हम जानते थे कि यहां देवी के भोपे और मन्दिरों के पुजारियों की पोपलीला विचित्र है, परन्तु ईसाइयों के ईश्वर और उसके पुजारियों की पोपलीला इससे सहस्रगुणी बढ़ कर है। क्योंकि चाम के दाम और भोजन के पदार्थ खाने को आवें फिर ईसाइयों के याजकों ने खूब मौज उड़ाई होगी? और अब भी उड़ाते होंगे? भला, कोई मनुष्य एक लड़के को मरवावे और दूसरे लड़के को उसका मांस खिलावे, ऐसा कभी हो सकता है? वैसे ही ईश्वर के सब मनुष्य और पशु, पक्षी आदि सब जीव पुत्रवत् हैं। परमेश्वर ऐसा काम कभी नहीं कर सकता। इसी से यह बायबिल ईश्वरकृत और इसमें लिखा ईश्वर और इसके माननेवाले धर्मज्ञ कभी नहीं हो सकते। ऐसी ही सब बातें लैव्य व्यवस्था आदि पुस्तकों में भरी है, कहां तक गिनावें?॥५५॥

गिनती की पुस्तक

५६. सो गदही ने परमेश्वर के दूत को अपने हाथ में तलवार खींचे हुए मार्ग में खड़े देखा, तब गदही मार्ग से अलग खेत में फिर गई, उसे मार्ग में फिरने के लिये बलआम ने गदही को लाठी से मारा॥ तब परमेश्वर ने गदही का मुंह खोला और उसने बलआम से कहा कि मैंने तेरा क्या किया है कि तूने मुझे अब तीन वार मारा॥

—तौ० गि० प० २२। आ० २३।२८॥

समीक्षक—प्रथम तो गदहे तक ईश्वर के दूतों को देखते थे और

आजकल बिशप पादरी आदि श्रेष्ठ वा अश्रेष्ठ मनुष्यों को भी खुदा वा उसके दूत नहीं दीखते हैं। क्या आजकल परमेश्वर और उसके दूत हैं वा नहीं! यदि हैं तो क्या बड़ी नींद में सोते हैं? वा रोगी अथवा किसी अन्य भूगोल में चले गये? वा किसी अन्य धन्धे में लग गये? वा अब ईसाइयों से रुष्ट हो गये? अथवा मर गये? विदित नहीं होता कि क्या हुआ? अनुमान तो ऐसा होता है कि जो अब नहीं हैं, नहीं दीखते, तो तब भी नहीं थे और नहीं दीखते होंगे, किन्तु ये केवल मनमाने गपोड़े उड़ाये हैं॥५६॥

५७. सो अब लड़कों में से हर एक बेटे को और हर एक स्त्री को जो पुरुष से संयुक्त हुई हो प्राण से मारो॥ परन्तु वे बेटियां जो पुरुष से संयुक्त नहीं हुई हैं, उन्हें अपने लिये जीती रक्खो॥

—तौ० गिनती० प० ३१। आ० १७।१८॥

समीक्षक—वाहजी! मूसा पैग़म्बर और तुम्हारा ईश्वर धन्य है कि जो स्त्री, बाल, वृद्ध और पशु हत्या करने से भी अलग न रहे और इससे स्पष्ट निश्चित होता है कि मूसा विषयी था क्योंकि जो विषयी न होता तो 'अक्षतयोनि' अर्थात् पुरुषों से समागम न की हुई कन्याओं को अपने लिये क्यों मँगाता वा उनको ऐसी निर्दय वा विषयीपन की आज्ञा क्यों देता?॥५७॥

समुएल की दूसरी पुस्तक

५८. और उसी रात ऐसा हुआ कि परमेश्वर का वचन यह कहके नातन को पहुंचा॥ कि जा और मेरे सेवक दाऊद से कह कि परमेश्वर यों कहता है कि क्या मेरे निवास के लिये तू एक घर बनावेगा॥ क्योंकि जब से इसराएल के सन्तान को मिस्र से निकाल लाया, मैंने तो आज के दिन लों घर में वास न किया परन्तु तंबू में और डेरे में फिरा किया॥

—तौ० समुएल की दूसरी पु० प० ७। आ० ४।५।६॥

समीक्षक—अब कुछ सन्देह न रहा कि ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् देहधारी है। और उलहना देता है कि मैंने बहुत परिश्रम किया, इधर-उधर डोलता फिरा, अब दाऊद घर बनादे तो उसमें आराम करूं। क्यों ईसाइयों को ऐसे ईश्वर और ऐसे पुस्तक को मानने में लज्जा भी नहीं आती? परन्तु क्या करें बिचारे फस गये तो फस ही गये। अब

निकलने के लिये बड़ा पुरुषार्थ करना उचित है॥ ५८॥

राजाओं का पुस्तक

५९. और बाबुल के राजा नबूख़ुदनज़र के राज्य के उन्नीसवें बरस के पाँचवें मास सातवीं तिथि में बाबुल के राजा का एक सेवक नबूसरअद्दान जो निज सेना का प्रधान अध्यक्ष था, यरूसलम में आया।। और उसने परमेश्वर का मन्दिर और राजा का भुवन और यरूसलम के सारे घर और हर एक बड़े घर को जला दिया॥ और कसदियों की सारी सेना ने जो उस निज सेना के अध्यक्ष के साथ थीं, यरूसलम की भीतों को चारों ओर से ढा दिया॥ —तौ० रा० प० २५। आ० ८।९।१०॥

समीक्षक—क्या किया जाय, ईसाइयों के ईश्वर ने तो अपने आराम के लिये दाऊद आदि से घर बनवाया था, उसमें आराम करता होगा, परन्तु नबूसरअद्दान ने ईश्वर के घर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और ईश्वर वा उसके दूतों की सेना कुछ भी न कर सकी।

प्रथम तो इनका ईश्वर बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ मारता था और विजयी होता था परन्तु अब अपना घर जला तुड़वा बैठा। न जाने चुपचाप क्यों बैठा रहा? और न जाने उस के दूत किधर भाग गये? ऐसे समय पर कोई भी काम न आया और ईश्वर का पराक्रम भी न जाने कहाँ उड़ गया? यदि यह बात सच्ची हो तो जो-जो विजय की बातें प्रथम लिखीं सो-सो सब व्यर्थ हो गईं। क्या मिस्र के लड़का-लड़कियों के मारने ही में शूरवीर बना था? अब शूरवीरों के सामने चुपचाप हो बैठा? यह तो ईसाइयों के ईश्वर ने अपनी निन्दा और अप्रतिष्ठा करा ली। ऐसे ही हज़ारों इस पुस्तक में निकम्मी कहानियाँ भरी हैं॥ ५९॥

ज़बूर दूसरा भाग

काल के समाचार की पहली पुस्तक

६०. सो परमेश्वर मेरे ईश्वर ने इसराएल पर मरी भेजी और इसराएल में से सत्तर सहस्र पुरुष गिर गये॥ —काल० प० २१। आ० १४॥

समीक्षक—अब देखिये इसरायल के ईसाइयों के ईश्वर की लीला! जिस इसराएल कुल को बहुत से वर दिये थे और रात दिन जिनके पालन में डोलता था, अब झट क्रोधित होकर मरी डालके ७००००—

सत्तर सहस्र मनुष्यों को मार डाला। जो यह किसी कवि ने लिखा है, सत्य है कि—

क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टो रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे।
अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः॥

जैसे कोई मनुष्य क्षण में प्रसन्न, क्षण में अप्रसन्न होता है अर्थात् क्षण-क्षण में प्रसन्न-अप्रसन्न होवे, उसकी प्रसन्नता भी भयदायक होती है, वैसी लीला ईसाइयों के ईश्वर की है॥ ६०॥

ऐयूब की पुस्तक

६१. और एक दिन ऐसा हुआ कि परमेश्वर के आगे ईश्वर के पुत्र आ खड़े हुए और शैतान भी उनके मध्य में परमेश्वर के आगे आ खड़ा हुआ॥ और परमेश्वर ने शैतान से कहा कि तू कहां से आता है? तब शैतान ने उत्तर देके परमेश्वर से कहा कि पृथिवी पर घूमते और इधर-उधर से फिरते चला आता हूं॥ तब परमेश्वर ने शैतान से पूछा कि तूने मेरे दास ऐयूब को जांचा है कि उसके समान पृथिवी में कोई नहीं है, वुह सिद्ध और खरा जन ईश्वर से डरता और पाप से अलग रहता है और अब लों अपनी सच्चाई को धर रक्खा है और तूने मुझे उसे अकारण नाश करने को उभारा है॥ तब शैतान ने उत्तर देके परमेश्वर से कहा कि चाम के लिये चाम, हां जो मनुष्य का है सो अपने प्राण के लिये देगा॥ परन्तु अब अपना हाथ बढ़ा और उसके हाड़ माँस को छू, तब वुह नि:सन्देह तुझे तेरे सामने त्यागेगा॥ तब परमेश्वर ने शैतान से कहा कि देख, वुह तेरे हाथ में है, केवल उसके प्राण को बचा॥ तब शैतान परमेश्वर के आगे से चला गया और ऐयूब को सिर से तलवे लों बुरे फोड़ों से मारा॥ —जबूर ऐयू० प० २। आ० १।२।३।४।५।६।७॥

समीक्षक—अब देखिये ईसाइयों के ईश्वर का सामर्थ्य! कि शैतान उसके सामने उसके भक्तों को दु:ख देता है। न शैतान को दण्ड, न अपने भक्तों को बचा सकता और न उसके दूतों में से कोई उसका सामना कर सकता है। एक शैतान ने सबको भयभीत कर रक्खा है। और ईसाइयों का ईश्वर भी सर्वज्ञ नहीं। जो सर्वज्ञ होता तो ऐयूब की परीक्षा शैतान से क्यों कराता?॥ ६१॥

उपदेश की पुस्तक

६२. हां मेरे अन्त:करण ने बुद्धि और ज्ञान बहुत देखा है॥ और मैंने बुद्धि और बौड़ाहपन और मूढ़ता जान्ने को मन लगाया, मैंने जान लिया कि यह भी मन का झ्रंझट है॥ क्योंकि अधिक बुद्धि में बड़ा शोक है और जो ज्ञान में बढ़ता है सो दु:ख में बढ़ता है॥

—ज० उ० प० १। आ० १५।१६।१७॥

समीक्षक—अब देखिये! जो बुद्धि और ज्ञान पर्यायवाची हैं, उनको दो मानते हैं। और बुद्धि की वृद्धि में शोक और दु:ख मानना, विना अविद्वान् के ऐसा लेख कौन कर सकता है? इसलिये यह बायबिल ईश्वर की बनाई तो क्या किसी विद्वान् की भी बनाई नहीं है॥ ६२॥

यह थोड़ा-सा तौरेत, जबूर के विषय में लिखा। इसके आगे थोड़ा-सा मत्ती रचित आदि इञ्जील के विषय में लिखा जायगा। अब जिसको ईसाई लोग बहुत प्रमाणभूत मानते हैं, जिसका नाम, इञ्जील रक्खा है, उसकी परीक्षा थोड़ी सी लिखते हैं कि यह कैसी है।

मत्ती रचित इंजील

६३. यीशु ख्रीष्ट का जन्म इस रीति से हुआ, उसकी मां मरियम की यूसफ से मंगनी हुई थी परन्तु उनके इकट्ठे होने के पहिले वह देख पड़ी कि पवित्र आत्मा से गर्भवती है। ....देखो परमेश्वर के एक दूत ने स्वप्न में उसे दर्शन दे कहा—हे दाऊद के सन्तान यूसफ तू अपनी स्त्री मरियम को यहां लाने से मत डर क्योंकि उसको जो गर्भ रहा है सो पवित्र आत्मा से है॥ —इंजील मत्तीरचित प० १। आ० १८।२०॥

समीक्षक—इन बातों को कोई विद्वान् नहीं मान सकता कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाण और सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं। इन बातों का मानना मूर्ख मनुष्य जंगलियों का काम है, सभ्य विद्वानों का नहीं। भला! जो परमेश्वर का नियम है उसको कोई तोड़ नहीं सकता और जो परमेश्वर भी अपने नियम को उलटा-पलटा करे तो उसकी आज्ञा को कोई न माने और वह भी सर्वज्ञ और निर्भ्रम न रहै। ऐसे तो जिस-जिस कुमारिका के गर्भ रह जाय, तब सब कोई ऐसे कह सकते हैं कि इसमें गर्भ का रहना ईश्वर की ओर से है। और झूठ-मूठ कह दे कि परमेश्वर के दूत ने मुझको

स्वप्न में कह दिया है कि यह गर्भ परमात्मा की ओर से है। जैसा यह असम्भव प्रपञ्च रचा है, वैसा ही सूर्य्य से कुन्ती का गर्भवती होना भी पुराणों में असम्भव लिखा है। ऐसी-ऐसी बातों को **'आँख के अन्धे गाँठ के पूरे'** लोग मान कर भ्रमजाल में गिरते हैं। यह ऐसी बात हुई होगी कि किसी पुरुष के साथ समागम होने से गर्भवती मरियम हुई होगी, उसने वा किसी दूसरे ने ऐसी असम्भव बात उड़ा दी होगी कि इसमें गर्भ ईश्वर की ओर से है॥ ६३॥

६४. तब आत्मा यीशु को जंगल में ले गया कि शैतान से उसकी परीक्षा की जाय।। वह चालीस दिन और चालीस रात उपवास करके पीछे भूखा हुआ॥ तब परीक्षा करनेहारे ने कहा कि जो तू ईश्वर का पुत्र है तो कह दे कि ये पत्थर रोटियां बन जावें॥

—म० इं० प० ४। आ० १।२।३॥

समीक्षक—इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं। क्योंकि जो सर्वज्ञ होता तो उसकी परीक्षा शैतान से क्यों कराता? स्वयं जान लेता। भला किसी ईसाई को आजकल चालीस रात दिन भूखा रक्खें तो कभी बच सकेगा? और इससे यह भी सिद्ध हुआ कि न वह ईश्वर का बेटा और न कुछ उसमें करामात अर्थात् सिद्धि थी, नहीं तो शैतान के सामने पत्थर की रोटियां क्यों न बना देता? और आप भूखा क्यों रहता?

और सिद्धान्त यह है कि जो परमेश्वर ने पत्थर बनाये हैं, उनको रोटी कोई भी नहीं बना सकता और ईश्वर भी पूर्वकृत नियम को उलटा नहीं कर सकता क्योंकि वह सर्वज्ञ और उसके सब काम विना भूल-चूक के हैं॥ ६४॥

६५. जब यीशु ने सुना कि योहन बन्दीगृह में डाला॥

—इं० म० प० ४। आ० १२॥

समीक्षक—जब सुनकर योहन का बन्दीगृह में पड़ना जाना, तो सर्वज्ञ नहीं। क्योंकि सुनके जानना असर्वज्ञ जीवों का काम है। यह सुनके जानना, जानके भूलना ईश्वर का स्वभाव नहीं, किन्तु जीव का स्वभाव है॥ ६५॥

६६. यीशु बपतिस्मा लेके तुरन्त जल से ऊपर आया और देखो! उसके लिये स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नांईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा॥

—इं० म० प० ४, आ० १६। १७॥

समीक्षक—भला! ईश्वर का आत्मा आंख से कभी दीख सकता है? और व्यापक ईश्वर कपोत की नांईं न कभी उतरता, न चढता है। और जो चढता उतरता है, वह ईश्वर ही नहीं होता॥ ६६॥

६७. उसने उनसे कहा तुम मेरे पीछे आओ, मैं तुमको मनुष्यों के मछुवे बनाऊंगा॥ वे तुरन्त जालों को छोड़के उसके पीछे हो लिये॥

—इं० मत्ती० प० ४। आ० १९। २०॥

समीक्षक—विदित होता है कि इसी पाप अर्थात् जो तौरेत में दश आज्ञाओं में लिखा है कि 'सन्तान लोग अपने माता पिता की सेवा और मान्य करें जिससे उनकी उमर बढ़े' और ईसा ने न अपने माता-पिता की सेवा की और दूसरों को भी माता-पिता की सेवा से छुड़ाये, इसी अपराध से चिरंजीवी न रहा। और यह भी विदित हुआ कि ईसा ने मनुष्यों के फसाने के लिये एक मत चलाया है कि जाल में मच्छी के समान मनुष्यों को स्वमत जाल में फसाकर अपना प्रयोजन साधें।

जब ईसा ही ऐसा था तो आजकल के पादरी लोग अपने जाल में मनुष्यों को फसावें तो क्या आश्चर्य है? क्योंकि जैसे बड़ी-बड़ी और बहुत मच्छियों को जाल में फसानेवाले की प्रतिष्ठा और जीविका अच्छी होती है, इसीसे जो बहुतों को अपने मत में फसा ले, उसकी अधिक प्रतिष्ठा और जीविका होती है। इसीसे ये लोग जिन्होंने वेद और शास्त्रों को न पढ़ा, न सुना, उन बिचारे भोले मनुष्यों को अपने जाल में फसाके, उसके मा-बाप, कुटुम्ब आदि से पृथक् कर देते हैं, इससे सब विद्वान् आर्यों को उचित है कि आप इनके भ्रमजाल से बचें और अन्य भोले-भाले अपने भाइयों को भी बचावें॥ ६७॥

६८. तब यीशु सारे गालील देश में उनकी सभाओं में उपदेश करता हुआ और राज्य का सुसमाचार प्रचार करता हुआ और लोगों में हर एक रोग और हर एक व्याधि को चंगा करता हुआ फिरा किया॥....सब

रोगियों को जो नाना प्रकार के रोगों और पीड़ाओं से दु:खी थे और भूतग्रस्तों और मृगीवाले और अर्द्धाङ्गियों को उस पास लाये और उसने उन्हें चंगा किया॥ —इं० मत्ती० प० ४। आ० २३। २४॥

समीक्षक—जैसे आजकल पोपलीला, भूत निकालने के मन्त्र, पुरश्चरण, आशीर्वाद, ताबीज और भस्म की चुटुकी देने से भूतों को निकालना, रोगों को छुड़ाना सच्चा हो, तो वह इंजील की बात भी सच्ची होवे। इसलिये भोले मनुष्यों को भ्रम में फसाने के लिये ये बातें हैं। जो ईसाई लोग ईसा की बातों को मानते हैं, तो यहाँ के देवी-भोपों की बातें क्यों नहीं मानते, क्योंकि वे बातें इन्हीं के सदृश हैं॥ ६८॥

६९. धन्य वे जो मन में दीन हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है॥ —इं० मत्ती० प० ५। आ० ३॥

समीक्षक—जो स्वर्ग एक है तो राजा भी एक होना चाहिये। इसलिये जितने दीन हैं, वे सब स्वर्ग को जावेंगे, तो स्वर्ग में राज्य का अधिकार किसको होगा? अर्थात् परस्पर लड़ाई-भिड़ाई करेंगे और राज्यव्यवस्था खण्ड-बण्ड हो जायगी। और दीन के कहने से जो कंगले लोगे, तब तो ठीक नहीं। जो निरभिमानी लोगे, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि दीन और निरभिमान का एकार्थ नहीं। किन्तु जो मन में दीन होता है, उसको सन्तोष कभी नहीं होता, इसलिये यह बात ठीक नहीं॥ ६९॥

७०. क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जब लों आकाश और पृथिवी टल न जायें, तब लों व्यवस्था से एक मात्रा अथवा एक बिन्दु विना पूरा हुए नहीं टलेगा॥ इसलिये इन अति छोटी आज्ञाओं में से एक को लोप करे और लोगों को वैसे ही सिखावे, वह स्वर्ग के राज्य में सबसे छोटा कहावेगा॥ —इं० म० प० ५, आ० १८। १९॥

समीक्षक—जब आकाश पृथिवी टल जायें तब व्यवस्था भी टल जायेगी ऐसी अनित्य व्यवस्था मनुष्यों की होती है; सर्वज्ञ ईश्वर की नहीं। और यह एक प्रलोभन और भयमात्र दिया है कि जो इन आज्ञाओं को न मानेगा वह स्वर्ग में सबसे छोटा गिना जायेगा॥ जब यह ईसा की साक्षी है तो तौरेत और जबूर के लेख को भी ईसाई लोगों को अवश्य

मानना होगा। यद्यपि उन पुस्तकों में जो बातें अच्छी हैं, वे वेदोक्त होने से खण्डनीय नहीं हो सकतीं, किन्तु मन्तव्य हैं। परन्तु उनमें जितने दोष हैं, उनका उत्तर देना ईसाइयों पर निर्भर रखता है। उस पुस्तक में बहुतांश तो इतिहास ही भरा है और बहुत-सी असम्भव भी हैं। ऐसी पुस्तक के सत्य होने में ईसा की साक्षी देना ईसा को अविद्वान् कर देती है॥ ७० ॥

७१. मैं तुमसे कहता हूं यदि तुम्हारा धर्म अध्यापकों और फरीसियों के धर्म से अधिक न होवे, तो तुम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने न पाओगे॥

समीक्षक—जब धर्माचरण ही से स्वर्ग प्राप्त है, तो चाहे वहां, चाहे उस समय में, चाहे कोई मनुष्य धर्मात्मा होगा, स्वर्ग पावेगा। ईसा के मानने की आवश्यकता नहीं॥ ७१ ॥

७२. सो जैसा तुम्हारा स्वर्गवासी पिता सिद्ध है तैसे तुम भी सिद्ध होओ॥ —इं० म० प० ५, आ० ४८॥

समीक्षक—जब सब का पिता परमेश्वर है, तो ईसाई लोग केवल ईसा का पिता परमेश्वर कहते हैं, यह इनकी बड़ी भूल की बात है॥ ७२ ॥

७३. हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे। अपने लिये पृथिवी पर धन का संचय मत करो....॥ —इं० म० ६। आ० ११। १९॥

समीक्षक—इससे विदित होता है कि जिस समय ईसा का जन्म हुआ है, उस समय लोग जंगली और दरिद्र थे तथा ईसा भी वैसा ही दरिद्र था। इसीसे तो दिन भर की रोटी की प्राप्ति के लिये ईश्वर की प्रार्थना करता और सिखलाता है॥ जब ऐसा है तो ईसाई लोग धन संचय क्यों करते हैं? उनको चाहिये कि ईसा के वचन से विरुद्ध न चलकर सब दान-पुण्य करके दीन हो जायें॥ ७३ ॥

७४. हर एक जो मुझसे हे प्रभु! हे प्रभु! कहता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं करेगा....॥ —इं० म० ७। आ० २१॥

समीक्षक—अब विचारिये। बड़े-बड़े पादरी बिशप साहेब और कृश्चीन लोग जो यह ईसा का वचन सत्य है, ऐसा समझें, तो ईसा को प्रभु अर्थात् ईश्वर कभी न कहें, यदि इस बात को न मानेंगे, तो पाप से कभी नहीं बच सकेंगे॥ ७४ ॥

७५. उस दिन में बहुतेरे मुझसे कहेंगे....॥ तब मैं उनसे खोलके कहूँगा—मैंने तुमको कभी नहीं जाना है। कुकर्म्म करनेहारो मुझसे दूर होओ॥ —इं० म० प० ७। आ० २२। २३॥

समीक्षक—देखिये! ईसा जङ्गली मनुष्यों को विश्वास कराने के लिए स्वर्ग में न्यायाधीश बनना चाहता है। यह केवल भोले मनुष्यों को प्रलोभन देने की बात है॥ ७५ ॥

७६. और देखो एक कोढी ने आ उसको प्रणाम कर कहा हे प्रभु! जो आप चाहें तो मुझे शुद्ध कर सकते हैं।। यीशु ने हाथ बढ़ा उसे छूके कहा—मैं तो चाहता हूँ शुद्ध होजा, और उसका कोढ़ तुरन्त शुद्ध हो गया॥ —इं० म० प० ८। आ० २। ३॥

समीक्षक—ये सब बातें भोले मनुष्यों के फसाने की हैं। क्योंकि जब ईसाई लोग इन विद्या-सृष्टिक्रमविरुद्ध बातों को सत्य मानते हैं तो शुक्राचार्य्य, धन्वन्तरि, कश्यप आदि की बात पुराण और भारत में अनेक दैत्यों की मरी हुई सेना को जिला दिये; बृहस्पति के पुत्र कच को टुकड़ा-टुकड़ा कर जानवर और मच्छियों को खिला दिया, फिर भी शुक्राचार्य्य ने जीता कर दिया, पश्चात् कच को मारकर शुक्राचार्य्य को खिला दिया, फिर उसको पेट में जीता कर बाहर निकाला, आप मर गया, उसको कच ने जीता किया, कश्यप ऋषि ने मनुष्यसहित वृक्ष को तक्षक से भस्म हुए पीछे, पुन: वृक्ष और मनुष्य को जिला दिया, धन्वन्तरि ने लाखों मुर्दे जिलाये, लाखों कोढ़ी आदि रोगियों को चंगा किया, लाखों अन्धा और बहिरों को आँख और कान दिए, आदि कथा को मिथ्या क्यों कहते हैं?

जो यह बात मिथ्या है, तो ईसा की बातें मिथ्या क्यों नहीं? जो दूसरे की बातों को मिथ्या और अपनी झूठी को सच्ची कहते हैं, तो हठी क्यों नहीं? इसलिये ईसाइयों की बातें केवल हठ और लड़कों के समान है॥ ७६ ॥

७७. .... तब दो भूतग्रस्त मनुष्य कबरस्थान से निकलकर उससे आ मिले जो यहाँ लों अतिप्रचंड थे कि उस मार्ग से कोई नहीं जा सकता था॥ और देखो, उन्होंने चिल्ला के कहा हे यीशु ईश्वर के पुत्र!

आपको हमसे क्या काम, क्या आप समय के आगे हमें पीड़ा देने को यहाँ आये हैं॥ सो भूतों ने उससे विनति कर कहा जो आप हमको निकालते हैं तो सूअर के झुंड में पैठने दीजिये॥ उसने उनसे कहा जाओ और वे निकल के सूअरों के झुण्ड में पैठे और देखो सूअरों का सारा झुण्ड कड़ाड़े पर से समुद्र में दौड़ के गया और पानी में डूब मरा॥

—इं० म० प० ८। आ० २८।२९।३१।३२॥

समीक्षक—भला! यहाँ तनिक विचार करें तो ये बातें सब झूठी हैं, क्योंकि मरा हुआ मनुष्य कबरस्थान से कभी नहीं निकल सकता। किसी पर न जाते, न संवाद करते हैं, ये सब बातें अज्ञानी लोगों की हैं। जोकि महाजङ्गली हैं; वे ऐसी बातों पर विश्वास लाते हैं। और उन सूअरों की हत्या कराई। सूअरवालों की हानि करने का पाप ईसा को हुआ होगा। और ईसाई लोग ईसा को पाप क्षमा और पवित्र करनेवाला मानते हैं, तो उन भूतों को पवित्र क्यों न कर सका? और सूअरवालों की हानि क्यों न भर दी? क्या आजकल के सुशिक्षित ईसाई अङ्गरेज लोग इन गपोड़ों को भी मानते होंगे? यदि मानते हैं, तो भ्रमजाल में पड़े हैं॥७७॥

७८. देखो! लोग एक अर्द्धांगी को खाट पर पड़े हुए उस पास लाये और यीशु ने उनका विश्वास देख के कहा— हे पुत्र! ढाढस कर, तेरे पाप क्षमा किये गये हैं। —इं० म० प० ९। आ० २॥

समीक्षक—यह भी बात वैसी ही असम्भव है, जैसी पूर्व लिख आये हैं और जो पाप क्षमा करने की बात है, वह केवल भोले लोगों को प्रलोभन देकर फसाना है। जैसे दूसरे के पिये मद्य, भांग और अफीम खाये का नशा दूसरे को नहीं प्राप्त हो सकता, वैसे ही किसी का किया हुआ पाप किसी के पास नहीं जाता, किन्तु जो करता है वही भोगता है, यही ईश्वर का न्याय है। यदि दूसरे का किया पाप-पुण्य दूसरे को प्राप्त होवे अथवा न्यायाधीश स्वयं ले लेवें वा कर्त्ताओं ही को यथायोग्य फल ईश्वर न देवे, वह अन्यायकारी हो जावे॥७८॥

७९. क्योंकि मैं धर्मियों को नहीं, परन्तु पापियों को पश्चात्ताप के लिये बुलाने को आया हूँ॥ —इं० प० ९। आ० १३॥

समीक्षक—अब विचारिये कि धर्मात्माओं को ईसाई होना कुछ आवश्यक नहीं, क्योंकि वे तो धर्म ही से मुक्ति को जायेंगे और इससे यह सिद्ध हुआ कि धर्मादि आचरण ही मुक्ति के साधन हैं, ईसा नहीं। क्योंकि ईसाई भी जब तक धर्म न करेंगे, तब तक उनकी भी सद्गति नहीं होगी॥७९॥

८०. यीशु ने अपने बारह शिष्यों को अपने पास बुलाके अशुद्ध भूतों पर अधिकार दिया कि उन्हें निकालें और हर एक रोग और हर एक व्याधि को चंगा करें॥ —इं० म० प० १०। आ० १॥

समीक्षक—ये वे ही शिष्य हैं, जिनमें से एक ३०) रुपये के लोभ पर ईसा को पकड़ावेगा और अन्य बदलकर अलग-अलग भागेंगे। भला! जब ये बातें विद्या ही से विरुद्ध हैं कि भूतों का आना वा निकालना, विना ओषधि वा पथ्य के व्याधियों का छूटना सृष्टिक्रम से असम्भव है, इसलिये ऐसी-ऐसी बातों का मानना अज्ञानियों का काम है॥८०॥

८१. बोलनेहारे तो तुम नहीं हो, परन्तु तुम्हारे पिता का आत्मा तुममें बोलता है। —इं० म० प० १०। आ० २०॥

समीक्षक—जब परमेश्वर का आत्मा ही सबमें बोलता है तो वही मिथ्याभाषाणादि पापों से लिप्त होकर दु:खरूपी नरक में पड़ेगा। जो ऐसा है, तो मूसा से दश आज्ञा विषय में उपदेश किया कि मिथ्या मत बोलो, यह उपदेश क्यों किया। इसलिये जीवों के व्यवहार में जीव ही बोलते हैं, ईश्वर नहीं॥८१॥

८२. मत समझो कि मैं पृथिवी पर मिलाप करवाने को आया हूँ मैं मिलाप कराने नहीं, परन्तु खड्ग चलवाने को आया हूँ। मैं मनुष्य को उसके पिता से, बेटी को उसकी माँ से और पतोहू को उसकी सास से अलग करने आया हूँ। मनुष्य के घर ही के लोग उसके वैरी होंगे॥

—इं० म० प० १०। आ० ३४।३५।३६॥

समीक्षक—ऐसी फूट कराके, लड़ाई झगड़ा मचा के, मनुष्यों को दु:ख देनेहारा और खड्ग चलाने, पिता-पुत्र, माँ-बेटी, पतोहू-सास आदि से फूट करा, परस्पर वैर बढ़ानेहारे मनुष्य के लिये बहुत बुरा काम है। विदित होता है कि इसी उपदेश को ईसाई लोगों ने अधिक

प्रचार में लाया है। जहाँ ये लोग जाते हैं, वहीं भरपूर फूट हो जाती है। मेल का नाम-निशान भी नहीं रहता। इसी से अपने पड़ोसियों का, आपस में उनको लड़ाकर, माल मारना, किसी के लड़के को बहकाकर माता-पिता से अलग कर नष्ट कर देना सिखलाया है। यह केवल दोष है। इसको तर्क कर देना बहुत अच्छी बात है॥ ८२॥

८३. यीशु लोगों से बात करता ही था कि देखो उसकी माता और उसके भाई बाहर खड़े हुए इससे बोलने चाहते थे। तब किसी ने उससे कहा देखिये! आपकी माता और आपके भाई बाहर खड़े हुए आपसे बोलने चाहते हैं। उसने कहनेहारे को उत्तर दिया कि मेरी माता कौन है और मेरे भाई कौन हैं? —इं० म० प० १२। आ० ४६।४७।४८॥

समीक्षक—देखिये! प्रथम तो तौरेत और जबूर की ईसा साक्षी देता है कि उसका एक बिन्दु भी झूठा नहीं। और उसमें अपने माता, पिता का मान करना लिखा है। और यहाँ माता आदि का अपमान करता है। यह केवल हठ की बात है। और इसी से उसने आयुविशेष न पाई। क्योंकि जो ईसा अपने माता-पिता की सेवा करता तो उसका आयु भी बढता। और यह पूर्वापर विरुद्ध बात होने से ईसा कुछ विद्वान् भी नहीं था। हाँ! उन जङ्गली मनुष्यों में कुछ अच्छा था॥ ८३॥

८४. तब यीशु ने उनसे कहा तुम्हारे पास कितनी रोटियाँ हैं, उन्होंने कहा सात और छोटी मछलियाँ॥ तब उसने लोगों को भूमि पर बैठने की आज्ञा दी॥ तब उसने उन सात रोटियों को और मछलियों को धन्य मानके तोड़ा और अपने शिष्यों को दिया और शिष्यों ने लोगों को दिया॥ सो सब खाके तृप्त हुए और जो टुकड़े बच रहे, उनके सात टोकरे भरे उठाये॥ जिन्होंने खाया सो स्त्रियों और बालकों को छोड़ चार सहस्र पुरुष थे॥ —इं० म० प० १५। आ० ३४।३५।३६।३७।३८॥

समीक्षक—अब देखिये! क्या यह आजकल के झूठे सिद्धों और इन्द्रजाली आदि के समान छल की बात नहीं है? उन रोटियों में अन्य रोटियाँ कहां से आ गईं? यदि ईसा में ऐसी सिद्धियाँ होतीं तो आप भूखा हुआ गूलर के फल खाने को क्यों भटका करता था? अपने लिये मिट्टी, पानी और पत्थर आदि से मोहनभोग रोटियाँ क्यों न बना लीं?

ये सब बातें लड़कों के खेलपन की हैं। जैसे कितने ही साधु, वैरागी ऐसी छल की बातें करके भोले मनुष्यों को ठगते हैं, वैसे ही ये भी हैं॥ ८४॥

८५. ....और तब वह हर एक-एक मनुष्य को उसके कार्य्य के अनुसार फल देगा॥ —इं० म० प० १६। आ० २७॥

समीक्षक—जब कर्मानुसार फल दिया जाएगा तो ईसाइयों का पाप क्षमा होने का उपदेश करना व्यर्थ है और वह सच्चा हो, तो यह झूठा होवे। यदि कोई कहे कि क्षमा करने के योग्य क्षमा किये जाते और क्षमा न करने योग्य माफ नहीं किये जाते हैं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सब कर्मों के फल यथायोग्य देने ही से न्याय और दया पूरी होती है॥ ८५॥

८६. ....हे अविश्वासी और हठीले लोगो....॥ मैं तुमसे सत्य कहता हूँ यदि तुमको राई के एक दाने के तुल्य विश्वास हो, तो तुम पहाड़ से जो कहोगे कि यहाँ से वहां चला जा, वह चला जायगा और कोई काम तुम से असाध्य नहीं होगा। —इं० म० प० १७ आ० १७।२०॥

समीक्षक—अब जो ईसाई लोग उपदेश करते-फिरते हैं कि 'आओ हमारे मत में पाप क्षमा कराओ मुक्ति पाओ' आदि, वह सब मिथ्या है। क्योंकि जो ईसा में पाप छुड़ाने, विश्वास जमाने और पवित्र करने का सामर्थ्य होता, तो अपने शिष्यों के आत्माओं को निष्पाप, विश्वासी, पवित्र क्यों न कर देता? जो ईसा के साथ-साथ घूमते थे, जब उन्हीं को शुद्ध, विश्वासी और कल्याण न कर सका, तो वह मरे पर न जाने कहाँ है? इस समय किसी को पवित्र नहीं कर सकेगा।

जब ईसा के चेले राई भर विश्वास से रहित थे और उन्हीं ने यह इन्जील पुस्तक बनाई है, तब इसका प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि जो अविश्वासी, अपवित्रात्मा, अधर्मी मनुष्यों का लेख होता है, उस पर विश्वास करना कल्याण की इच्छा करनेवाले मनुष्यों का काम नहीं। और इसीसे यह भी सिद्ध हो सकता है कि जो ईसा का यह वचन सच्चा है, तो किसी ईसाई में एक राई के दाने के समान 'विश्वास' अर्थात् ईमान नहीं है। जो कोई कहे कि हम में पूरा वा थोड़ा विश्वास है, तो उससे कहना कि आप इस पहाड़ को मार्ग में से हठा देवें, यदि

उनके हठाने से हठ जाय, तो भी पूरा विश्वास नहीं, किन्तु एक राई के दाने के बराबर है और जो न हठा सके तो समझो एक छींटा भी विश्वास 'ईमान' अर्थात् धर्म का ईसाइयों में नहीं है। यदि कोई कहे कि यहाँ अभिमान आदि दोषों का नाम पहाड़ है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ऐसा हो तो मुर्दे, अन्धे, कोढ़ी, भूतग्रस्तों को चङ्गा करना भी आलसी, अज्ञानी, विषयी और भ्रान्तों को बोध करके सचेत, कुशल किया होगा। जो ऐसा मानें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ऐसा होता, तो स्वशिष्यों को ऐसा क्यों न कर सकता? इसलिये ऐसी असम्भव बात कहना ईसा की अज्ञानता का प्रकाश करता है।

भला! जो कुछ भी ईसा में विद्या होती, तो ऐसी अटाटूट जङ्गलीपन की बात क्यों कह देता? तथापि—

'यत्र देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते'

जिस देश में कोई भी वृक्ष न हो, तो उस देश में एरण्ड का ही वृक्ष सबसे बड़ा और अच्छा गिना जाता है। वैसे महाजङ्गली देश में ईसा का भी होना ठीक था। आजकल ईसा की क्या गणना हो सकती है?॥ ८६ ॥

८७. ....मैं तुम्हें सच कहता हूँ कि जो तुम मन न फिरावो और बालकों के समान न हो जावो, तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करने पाओगे॥ —इं० म० प० १८। आ० ३॥

समीक्षक—जब अपनी ही इच्छा से मन का फिराना स्वर्ग का कारण और न फिराना नरक का कारण है, तो किसी का पाप-पुण्य कभी नहीं ले सकता, ऐसा सिद्ध होता है। और बालक के समान होने के लेख से यह विदित होता है कि ईसा की बातें विद्या और सृष्टिक्रम से बहुत सी विरुद्ध थीं और यह भी उसके मन में था कि लोग मेरी बातों को बालक के समान मान लेंगे, पूछें-गाछें कुछ भी नहीं, आँख मीच के मान लेवें। बहुत से ईसाइयों की बालबुद्धिवत् चेष्टा है, नहीं तो ऐसे युक्ति, विद्या से विरुद्ध बातों को क्यों मानते? और यह भी सिद्ध हुआ, जो ईसा आप विद्याहीन बालबुद्धि न होता, तो अन्य को बालवत् बनने का उपदेश क्यों करता? क्योंकि जो जैसा होता है, वह

दूसरे को भी अपने सदृश होना चाहता ही है॥ ८७॥

८८. ....मैं तुमसे सच कहता हूं कि धनवानों को स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना कठिन होगा॥ फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि ईश्वर के राज्य में धनवान् के प्रवेश करने से ऊंट का सूई के नाके में से जाना सहज है॥ —इं० म० प० १९। आ० २३। २४॥

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि ईसा दरिद्र था। धनवान् लोग उस की प्रतिष्ठा नहीं करते होंगे इसलिये यह लिखा होगा। परन्तु यह बात सच नहीं, क्योंकि धनाढ्यों और दरिद्रों में अच्छे-बुरे होते हैं। जो कोई अच्छा काम करेगा, सुख पावेगा। और इससे यह भी सिद्ध होता है कि ईसा ईश्वर का राज्य किसी एक देश में मानता था, सर्वत्र नहीं। जब ऐसा है, तो वह ईश्वर ही नहीं। जो ईश्वर है उसका राज्य सर्वत्र है; पुनः उसमें प्रवेश करेगा वा न करेगा, यह कहना केवल अविद्या की वात है। और इससे यह भी आया कि जितने ईसाई धनाढ्य हैं, क्या वे सब नरक ही में जायेंगे? और दरिद्र सब स्वर्ग में जायेंगे? भला तनिक सा विचार तो ईसामसीह करते कि जितनी सामग्री धनाढ्यों के पास होती है, उतनी दरिद्रों के पास नहीं। यदि धनाढ्य लोग विवेक से धर्ममार्ग में व्यय करें, तो दरिद्र नीच गति में पड़े रहें और धनाढ्य उत्तम गति को प्राप्त हो सकते हैं॥ ८८॥

८९. यीशु ने उनसे कहा मैं तुमसे सच कहता हूं कि नई सृष्टि में जब मनुष्य का पुत्र अपने ऐश्वर्य के सिंहासन पर बैठेगा, तब तुम भी जो मेरे पीछे हो लिये हो, बारह सिंहासनों पर बैठ के ईस्रायेल के बारह कुलों का न्याय करोगे॥ जिस किसी ने मेरे नाम के लिये घरों वा भाइयों वा बहिनों वा पिता वा माता वा स्त्री वा लड़कों वा भूमि को त्यागा है, सो सौ गुणा पावेगा और अनन्त जीवन का अधिकारी होगा॥ —इं० म० प० १९। आ० २८। २९॥

समीक्षक—अब देखिये ईसा के भीतर की लीला! कि मेरे जाल से मरे पीछे भी लोग न निकल जायें और जिसने ३०) रुपये के लोभ से अपने गुरु को पकड़ा मरवाया, वैसे पापी भी उसके पास सिंहासन पर बैठेंगे और ईस्रायेल के कुल का पक्षपात से न्याय ही न किया

जायगा, किन्तु उनके सब गुना: माफ और अन्य कुलों का न्याय करेंगे। अनुमान होता है इसी से ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर 'किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी कर' छोड़ देते हैं। ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा और इससे बड़ा दोष आता है क्योंकि एक सृष्टि की आदि में मरा और एक 'क़यामत' के रात के निकट मरा। एक तो आदि से अन्त तक आशा ही में पड़ा रहा कि कब न्याय होगा और दूसरे का उसी समय न्याय हो गया, यह कितना बड़ा अन्याय है। और जो नरक में जायगा, सो अनन्तकाल तक नरक भोगे और जो स्वर्ग में जायगा, वह सदा स्वर्ग भोगेगा, यह भी बड़ा अन्याय है। क्योंकि अन्तवाले साधन और कर्मों का फल भी अन्तवाला होना चाहिये। और तुल्य पाप वा पुण्य दो जीवों का भी नहीं हो सकता, इसलिये तारतम्य से अधिक-न्यून सुख-दु:खवाले अनेक स्वर्ग और नरक हों, तभी सुख-दु:ख भोग सकते हैं, सो ईसाइयों के पुस्तक में कहीं व्यवस्था नहीं, इसलिये यह पुस्तक ईश्वरकृत वा ईसा ईश्वर का बेटा कभी नहीं हो सकता। यह बड़े अनर्थ की बात है कि कदापि किसी के मा बाप सौ-सौ नहीं हो सकते किंतु एक की एक मा और एक ही बाप होता है। अनुमान है कि मुसलमानों ने 'एक को ७२ स्त्रियाँ बहिश्त में मिलती हैं, लिखा है', सो यहीं से लिया होगा॥ ८९॥

९०. भोर को जब वह नगर को फिर जाता था तब उसको भूख लगी॥ और मार्ग में एक गूलर का वृक्ष देखके वह उस पास आया, परन्तु उसमें और कुछ न पाया केवल पत्ते, और उसको कहा तुझमें फिर कभी फल न लगें, इस पर गूलर का वृक्ष तुरन्त सूख गया॥

—इं० म० २१। आ० १८। १९॥

समीक्षक—सब पादरी लोग ईसाई कहते हैं कि वह बड़ा शान्त, क्षमान्वित, क्रोधादि दोषरहित था। परन्तु इस बात को देख क्रोधी, ऋतु का ज्ञानरहित ईसा था और वह जङ्गली मनुष्यपन के स्वभावयुक्त वर्त्तता था। भला! वृक्ष जड़ पदार्थ है, उसका क्या अपराध था कि उसको स्राप दिया और वह सूख गया? इसके स्राप से तो न सूखा होगा, किन्तु कोई ऐसी औषधी डालने से सूख गया हो, तो आश्चर्य नहीं॥ ९०॥

९१. उन दिनों के क्लेश के पीछे तुरन्त सूर्य अन्धियारा हो जायगा और चांद अपनी ज्योति न देगा, तारे आकाश से गिर पड़ेंगे और आकाश की सेना डिग जायगी॥ —इं० म० प० २४। आ० २९॥

समीक्षक—वाह जी ईसा! तारों को किस विद्या से गिर पड़ना आपने जाना और आकाश की सेना कौनसी है, जो डिग जायगी? जो कभी ईसा थोड़ी भी विद्या पढ़ता, तो अवश्य जान लेता कि ये तारे सब भूगोल हैं, क्योंकर गिरेंगे। इससे विदित होता है कि वह ईसा बढ़ई के कुल में उत्पन्न हुआ, सदा लकड़े चीरना, छीलना, काटना और जोड़ना करता रहा होगा। जब तरङ्ग उठा कि मैं भी इस जंगली देश में पैगम्बर हो सकूँगा, बातें करने लगा। कितनी बातें उसके मुख से अच्छी भी निकलीं और बहुत सी बुरी। वहां के लोग जंगली थे, मान बैठे। जैसा आजकल यूरोप उन्नतियुक्त है, वैसा पूर्व होता तो ईसा की सिद्धाई कुछ भी न चलती। अब कुछ विद्या हुए पश्चात् भी व्यवहार के पेच और हठ से इस पोकल मत को न छोड़कर सर्वथा सत्य वेदमार्ग की ओर नहीं झुकते, यही इनमें कमती है॥ ९१॥

९२. आकाश और पृथिवी टल जायेंगे, परन्तु मेरी बातें कभी न टलेंगी॥ —इं० म० प० २४। आ० ३५॥

समीक्षक—यह भी बात अविद्या और मूर्खता की है। भला! आकाश हिलकर कहाँ जायगा? जब आकाश अतिसूक्ष्म होने से नेत्र से दीखता ही नहीं तो इसका हिलना कौन देख सकता है? और अपने मुख से अपनी बड़ाई करना अच्छे मनुष्यों का काम नहीं॥ ९२॥

९३. तब वह उनसे जो बाईं ओर हैं कहेगा हे स्रापित लोगो! मेरे पास से उस अनन्त आग में जाओ जो शैतान और उसके दूतों के लिये तैयार की गई है॥ —इं० म० प० २५। आ० ४१॥

समीक्षक—भला, यह कितनी बड़ी पक्षपात की बात है! जो अपने शिष्य हैं, उनको स्वर्ग और जो दूसरे हैं, उनको अनन्त आग में गिराना। परन्तु जब 'आकाश ही न रहेगा' लिखा तो अनन्त आग नरक-बहिश्त कहां रहेगी? जो शैतान और उसके दूतों को ईश्वर न बनाता, तो

इतनी नरक की तैयारी क्यों करनी पड़ती? और एक शैतान ही ईश्वर के भय से न डरा तो वह ईश्वर ही क्या है? क्योंकि उसी का दूत होकर बागी हो गया और ईश्वर उसको प्रथम ही पकड़कर बन्दीगृह में न डाल सका, न मार सका, पुनः उसकी ईश्वरता क्या? जिसने ईसा को भी चालीस दिन दुःख दिया, ईसा भी उसका कुछ न कर सका, तो ईश्वर का बेटा होना व्यर्थ हुआ। इसलिये ईसा ईश्वर का न बेटा और बायबिल का ईश्वर न ईश्वर हो सकता है॥ ९३॥

९४. तब बारह शिष्यों में से एक यिहूदा इस्करियोती नाम एक शिष्य प्रधान याजकों के पास गया॥ और कहा जो मैं यीशु को आप लोगों के हाथ पकड़वाऊँ तो आप लोग मुझे क्या देंगे? उन्होंने उसे तीस रुपये देने को ठहराया॥ —इं० म० प० २६। आ० १४। १५॥

समीक्षक—अब देखिये! ईसा की सब करामात और ईश्वरता यहाँ खुल गई। क्योंकि जो उसका प्रधान शिष्य था, वह भी उसके साक्षात् संग से पवित्रात्मा न हुआ, तो औरों को वह मरे पीछे पवित्रात्मा क्या कर सकेगा? और उसके विश्वासी लोग उसके भरोसे में कितने ठगाये जाते हैं, क्योंकि जिसने साक्षात् सम्बन्ध में शिष्य का कुछ कल्याण न किया, वह मरे पीछे किसी का कल्याण क्या कर सकेगा॥ ९४॥

९५. जब वे खाते थे तब यीशु ने रोटी लेके धन्यवाद किया और उसे तोड़के शिष्यों को दिया और कहा लेओ खाओ यह मेरा देह है॥ और उसने कटोरा लेके धन्यवाद माना और उनको देके कहा तुम सब इससे पीओ॥ क्योंकि यह मेरा लोहू अर्थात् नये नियम का लोहू है....॥

—इं० म० प० २६। आ० २६। २७। २८॥

समीक्षक—भला, यह ऐसी बात कोई भी सभ्य करेगा? विना अविद्वान् जङ्गली मनुष्य के शिष्यों से खाने की चीज को अपने माँस और पीने की चीजों को लोहू नहीं कह सकता। और इसी बात को आजकल के ईसाई लोग प्रभु भोजन कहते हैं। अर्थात् खाने-पीने की चीजों में ईसा के मांस और लोहू की भावना कर खाते-पीते हैं, यह कितनी बुरी बात है? जिन्होंने अपने गुरु के मांस-लोहू को भी खाने-पीने की भावना से न छोड़ा तो और का कैसे छोड़ सकते हैं॥ ९५॥

९६. और वह पितर को और जबदी के दोनों पुत्रों को अपने संग ले गया और शोक करने और बहुत उदास होने लगा॥ तब उसने उनसे कहा कि मेरा मन यहाँ लों अति उदास है कि मैं मरने पर हूं....॥ और थोड़ा आगे बढ़के वह मुंह के बल गिरा और प्रार्थना की हे मेरे पिता! जो हो सके तो यह कटोरा मेरे पास से टल जाय॥

—इं० म० प० २६। आ० ३७। ३८। ३९॥

समीक्षक—देखो! जो वह केवल मनुष्य न होता, ईश्वर का बेटा और त्रिकालदर्शी और विद्वान् होता तो ऐसी अयोग्य चेष्टा न करता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रपञ्च ईसा ने अथवा उनके चेलों ने झूठमूठ बनाया है कि वह ईश्वर का बेटा, भूत भविष्यत् का वेत्ता और पापक्षमा का कर्त्ता है। इससे समझना चाहिये यह केवल साधारण सूधा, सच्चा, अविद्वान् था। न विद्वान्, न योगी, न सिद्ध था॥ ९६॥

९७. वह बोलता ही था कि देखो यिहूदाह जो बारह शिष्यों में से एक था, आ पहुंचा और लोगों के प्रधान याजकों और प्राचीनों की ओर से बहुत लोग खड्ग और लाठियाँ लिये उसके संग॥ यीशु के पकड़वानेहारे ने उन्हें यह पता दिया था जिसको मैं चूमूं, उसको पकड़ो॥ और वह तुरन्त यीशु पास आ बोला, हे गुरु प्रणाम और उसको चूमा॥ ....तब उन्होंने यीशु पर हाथ डालके उसे पकड़ा॥ ....तब सब शिष्य उसे छोड़के भागे॥ अन्त में दो झूठे साक्षी आके बोले, इसने कहा कि मैं ईश्वर का मन्दिर ढा सकता, उसे तीन दिन में फिर बना सकता हूं॥ तब महायाजक खड़ा हो यीशु से कहा क्या तू कुछ उत्तर नहीं देता है, ये लोग तेरे विरुद्ध क्या साक्षी देते हैं॥ परन्तु यीशु चुप रहा, इसपर महायाजक ने उससे कहा मैं तुझे जीवते ईश्वर की किरिया देता हूं, हमोंसे कह तू ईश्वर का पुत्र ख्रीष्ट है कि नहीं॥ यीशु उससे बोला तू तो कह चुका॥ तब महायाजक ने अपने वस्त्र फाड़के कहा यह ईश्वर की निन्दा कर चुका है, अब हमें साक्षियों का और क्या प्रयोजन? देखो तुमने अभी उसके मुख से ईश्वर की निन्दा सुनी है॥ अब क्या विचार करते हो? तब उन्होंने उत्तर दिया वह वध के योग्य है॥ तब उन्होंने उसके मुंह पर थूंका और उसे घूंसे मारे।। औरों ने थपेड़े मारके कहा, हे ख्रीष्ट! हमसे

भविष्यद्वाणी बोल किसने तुझे मारा॥ पितरस बाहर अंगने में बैठा था और एक दासी उस पास आके बोली, तू भी यीशु गालीली के संग था॥ उसने सभों के सामने मुकरके कहा मैं नहीं जानता तू क्या कहती है॥ जब वह बाहर डेवढ़ी में गया तो दूसरी दासी ने उसे देखके, जो लोग वहां थे, उनसे कहा 'यह भी यीशु नासरी के संग था'॥ उसने किरिया खाके फिर मुकरा कि मैं उस मनुष्य को नहीं जानता हूं॥ तब वह धिक्कार देने और किरिया खाने लगा कि मैं उस मनुष्य को नहीं जानता हूं....॥ —इं० म० प० २६। आ० ४७।४८।४९।५०।६१।६२।६३।६४।६५।६६।६७।६८।६९।७०।७१।७२।७४॥

समीक्षक—अब देख लीजिये कि जिसका इतना भी सामर्थ्य वा प्रताप नहीं था कि अपने चेले को भी दृढ़ विश्वास करा सके और वे चेले भी चाहे प्राण भी क्यों न जाते, तो भी अपने गुरु को लोभ से न पकड़ाते, न मुकरते, न मिथ्याभाषण करते, न झूठी किरिया खाते। और ईसा भी कुछ करामाती नहीं था। नहीं तो तौरेत में लिखा है कि—लूत के घर पर पाहुनों को बहुत से मारने को चढ़ आये थे, वहाँ ईश्वर के दो दूत थे, उन्होंने उन्हीं को अन्धा कर दिया। यद्यपि वह भी बात असंभव है तथापि ईसा में तो इतना भी सामर्थ्य न था। और आजकल कितना भडम्बा उसके नाम पर ईसाइयों ने बढ़ा रक्खा है। भला! ऐसी दुर्दशा से मरने से आप स्वयं झूझ वा समाधि चढ़ा अथवा किसी प्रकार से प्राण छोड़ता तो अच्छा था परन्तु वह बुद्धि विना विद्या के कहाँ से उपस्थित हो?॥ ९७॥

वह ईसा यह भी कहता है कि—

९८. मैं अभी अपने पिता से विनति नहीं करता हूँ और वह मेरे पास स्वर्गदूतों की बारह सेनाओं से अधिक पहुँचा न देगा?॥

—इं० म० प० २६। आ० ५३॥

समीक्षक—धमकाता जाता, अपनी और अपने पिता की बड़ाई भी करता जाता, और इसका कुछ भी नहीं कर सकता। देखो आश्चर्य की बात! जब महायाजक ने पूछा था कि 'ये लोग तेरे विरुद्ध साक्षी देते हैं, इसका उत्तर दे' तो ईसा चुप रहा। यह भी ईसा ने अच्छा न किया; क्योंकि जो सच था, वह वहाँ अवश्य कह देता तो भी अच्छा होता। बहुत-सी अपने घमण्ड की बातें करनी उचित न थीं। और जिन्होंने ईसा पर झूंठ-फरेब डालकर बुरे हवालकर मारा, उनको भी उचित न था। क्योंकि ईसा का उस प्रकार का अपराध नहीं था, जैसा उसके विषय में उन्होंने किया। परन्तु वे भी तो जङ्गली थे। न्याय की बातों को क्या समझें? यदि ईसा झूठ-मूठ ईश्वर का बेटा न बनता और वे उसके साथ ऐसी बुराई न वर्त्तते, तो दोनों के लिये उत्तम काम था। परन्तु इतनी विद्या, धर्म्मात्मता और न्यायशीलता कहाँ से लावें?॥ ९८॥

९९. यीशु अध्यक्ष आगे खड़ा हुआ और अध्यक्ष ने उससे पूछा क्या तू यहूदियों का राजा है, यीशु ने उससे कहा आप ही तो कहते हैं॥ जब प्रधान याजक और प्राचीन लोग उसपर दोष लगाते थे, तब उसने कुछ उत्तर नहीं दिया॥ तब पिलात ने उससे कहा क्या तू नहीं सुनता कि ये लोग तेरे विरुद्ध कितनी साक्षी देते हैं॥ परन्तु उसने एक वार भी उसको उत्तर न दिया, यहाँ लों कि अध्यक्ष ने बहुत अचम्भा किया॥ पिलात ने उनसे कहा तो मैं यीशु से जो ख्रीष्ट कहावता है क्या करूँ, सभों ने उससे कहा वह क्रूश पर चढ़ाया जाय....॥ और यीशु को कोड़े मारके क्रूश पर चढ़ाये जाने को सौंप दिया॥ तब अध्यक्ष के योद्धाओं ने यीशु को अध्यक्ष भुवन में ले जाके सारी पलटन उस पास इकट्ठी की॥ और उन्होंने उसका वस्त्र उतार के उसे लाल बागा पहिराया॥ और कांटों का मुकुट गूंथके उसके सिर पर रक्खा और उसके दाहिने हाथ में नर्कट दिया और उसके आगे घुटने टेकके यह कहके उससे ठट्ठा किया हे यहूदियों के राजा प्रणाम॥ और उन्होंने उसपर थूंका और उस नर्कट को ले उसके शिर पर मारा॥ जब वे उससे ठट्ठा कर चुके तब उससे वह बागा उतारके मसीह का वस्त्र पहिराके उसे क्रूश पर चढ़ाने को ले गये॥

जब वे एक स्थान पर जो गलगथा अर्थात् खोपड़ी का स्थान कहाता है पहुंचे॥ तब उन्होंने सिरके में पित्त मिलाके उसे पीने को दिया परन्तु उसने चीख के पीना न चाहा॥ तब उन्होंने उसे क्रूश पर चढ़ाया....॥ और उन्होंने उसका दोषपत्र उसके ऊपर लगाया....। तब दो डाकू एक दाहिनी ओर और दूसरा बाईं ओर उसके सङ्ग क्रूशों पर चढ़ाये गये॥

जो लोग उधर से आते जाते थे उन्होंने अपने सिर हिलाके और यह कहके उसकी निन्दा की॥ हे मन्दिर के ढानेहारे अपने को बचा, जो तू ईश्वर का पुत्र है तो क्रूश पर से उतर आ॥ इसी रीति से प्रधान याजकों ने भी अध्यापकों और प्राचीनों के संगियों ने ठट्ठा कर कहा॥ उसने और को बचाया अपने को बचा नहीं सकता है, जो वह इस्राएल का राजा है तो क्रूश पर से अब उतर आवे और हम उसका विश्वास करेंगे॥ वह ईश्वर पर भरोसा रखता है, यदि ईश्वर उसको चाहता है, तो उसको अब बचावे। क्योंकि उसने कहा मैं ईश्वर का पुत्र हूँ॥ जो डाकू उसके संग चढ़ाये गये, उन्होंने भी इसी रीति से उसकी निन्दा की॥

दो पहर से तीसरे पहर लों सारे देश में अंधकार हो गया॥ तीसरे पहर के निकट यीशु ने बड़े शब्द से पुकारके कहा एली एली लामा सबक्तनी अर्थात् हे मेरे ईश्वर! हे मेरे ईश्वर! तूने क्यों मुझे त्यागा है॥ जो लोग वहाँ खड़े थे उनमें से कितनों ने यह सुन के कहा, वह एलियाह को बुलाता है॥ उनमें से एक ने तुरन्त दौड़के इस्पंज लेके सिरके में भिगाया और नल पर रख के उसे पीने को दिया॥ तब यीशु ने फिर बड़े शब्द से पुकार के प्राण त्यागा॥ —इं० म० प० २७। आ० ११-१४। २१-२३। २६-३१। ३३-३५। ३७-४८। ५०॥

समीक्षक—सर्वथा यीशु के साथ उन दुष्टों ने बुरा काम किया। परन्तु यीशु का भी दोष है, क्योंकि ईश्वर का न कोई पुत्र न वह किसी का बाप है। क्योंकि जो वह किसी का बाप होवे, तो किसी का श्वसुर, साला, सम्बन्धी आदि भी होवे। और जब अध्यक्ष ने पूछा था, तब जैसा सच था, उत्तर देना था। और यह ठीक है कि जो-जो आश्चर्यकर्म्म प्रथम किये हुए सच्चे होते, तो अब भी क्रूश पर से उतर आ, सबको अपने शिष्य बना लेता। और जो वह ईश्वर का पुत्र होता तो ईश्वर भी उसको बचा लेता। जो वह त्रिकालदर्शी होता, तो सिर्के में पित्त मिले हुए को चीख के क्यों छोड़ता। वह पहिले ही से जानता होता। और जो वह करामाती हो, तो पुकार-पुकार के प्राण क्यों त्यागता? अर्थात् चाहे कितने ही कोई चतुराई करे, परन्तु अन्त में सच-सच और झूठ झूठ हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यीशु एक उस समय के जङ्गली

मनुष्यों में से कुछ अच्छा था। न वह करामाती, न ईश्वर का पुत्र और न विद्वान् था, क्योंकि जो ऐसा होता, तो वह दु:ख क्यों भोगता?॥ ९९॥

१००. और देखो, बड़ा भुईंडोल हुआ कि परमेश्वर का एक दूत उतरा और आके कबर के द्वार पर से पत्थर लुढ़काके उसपर बैठा॥ वह यहाँ नहीं है, जैसे उसने कहा वैसे जी उठा है॥ जब वे उसके शिष्यों को सन्देश देने जाती थीं, देखो यीशु उनसे आ मिला, कहा कल्याण हो और उन्होंने निकट आ उसके पांव पकड़के उसको प्रणाम किया॥ तब यीशु ने कहा मत डरो, जाके मेरे भाइयों से कह दो, वे गालील को जावें और वहाँ वे मुझे देखेंगे॥

ग्यारह शिष्य गालील में उस पर्वत में गये जो यीशु ने उन्हें बताया था॥ और उन्होंने उसे देखके उसको प्रणाम किया, पर कितनों को सन्देह हुआ॥ यीशु ने उन पास आ उनसे कहा, स्वर्ग में और पृथिवी पर समस्त अधिकार मुझको दिया गया है॥ ....और देखो मैं जगत् के अन्त लों सब दिन तुम्हारे संग हूँ॥

—इं० म० प० २८। आ० २। ६। ९। १०। १६। १७। १८। २०॥

समीक्षक—यह बात भी मानने योग्य नहीं, क्योंकि सृष्टिक्रम और विद्याविरुद्ध है। प्रथम ईश्वर के पास दूतों का होना, उनको जहाँ-तहाँ भेजना, ऊपर से उतरना, क्या तहसीलदारी, कलेक्टरी के समान ईश्वर को बना दिया? क्या उसी शरीर से स्वर्ग को गया और जी उठा? क्योंकि उन स्त्रियों ने उसके पग पकड़के प्रणाम किया तो क्या वही शरीर था? और वह तीन दिन लों सड़ क्यों न गया? और अपने मुख से सबका अधिकारी बनना केवल दम्भ की बात है। शिष्यों से मिलना और उनसे सब बातें करनी असंभव हैं। क्योंकि जो ये बातें सच हों, तो आजकल भी कोई क्यों नहीं जी उठते? और उसी शरीर से स्वर्ग को क्यों नहीं जाते॥ १००॥

यह मत्तीरचित्त इञ्जील का विषय हो चुका। अब मार्क रचित इञ्जील के विषय में लिखा जाता है।

मार्क रचित इञ्जील

१०१. यह क्या बढ़ई नहीं है....॥

—मार्क इं० म० प० ६। आ० ३॥

समीक्षक—असल में यूसफ बढ़ई था, इसलिए ईसा भी बढ़ई था। कितने ही वर्ष तक बढ़ई का काम करता था। पश्चात् पैगम्बर बनता-बनता ईश्वर का बेटा ही बन गया और जङ्गली लोगों ने बना लिया, तभी बड़ी कारीगरी चलाई। काट-कूट फूट-फाट करना उसका काम है॥ १०१॥

लूत रचित इञ्जील

१०२. यीशु ने उससे कहा तू मुझे उत्तम क्यों कहता है, कोई उत्तम नहीं, एक अर्थात् ईश्वर॥ —लू० प० १८। आ० १९॥

समीक्षक—जब ईसा ही एक अद्वितीय ईश्वर कहता है तो ईसाइयों ने पवित्रात्मा, पिता और पुत्र तीन कहाँ से बना लिये?॥ १०२॥

१०३. तब उसे हेरोद के पास भेजा॥ हेरोद यीशु को देखके अति आनन्दित हुआ क्योंकि वह उसको बहुत दिन से देखने चाहता था, इसलिये कि उसके विषय में बहुत सी बातें सुनी थीं और उसका कुछ आश्चर्य कर्म्म देखने की उसको आशा हुई॥ उसने उससे बहुत बातें पूछीं, परन्तु उसने उसे कुछ उत्तर न दिया॥

—लूक० प० २३। आ० ७।८।९॥

समीक्षक—यह बात मत्तीरचित में नहीं है।। इसलिये ये साक्षी बिगड़ गये, क्योंकि साक्षी एक से होने चाहियें और जो ईसा चतुर और करामाती होता तो हेरोद को उत्तर देता और करामात भी दिखलाता, इससे विदित होता है कि ईसा में विद्या और करामात कुछ भी न थी॥ १०३॥

योहन रचित सुसमाचार

१०४. आदि में वचन था और वचन ईश्वर के संग था और वचन ईश्वर था॥ वह आदि में ईश्वर के संग था॥ सब कुछ उसके द्वारा सृजा गया और जो सृजा गया है, कुछ भी उस विना नहीं सृजा गया॥ उसमें जीवन था और वह जीवन मनुष्यों का उजियाला था॥

—प० १। आ० १।२।३।४॥

समीक्षक—आदि में वचन विना वक्ता के नहीं हो सकता और जो वचन ईश्वर के संग था, तो 'आदि में वचन ईश्वर के संग था' यह कहना व्यर्थ हुआ। और वचन ईश्वर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जब वह आदि में ईश्वर के संग था, तो पूर्व वचन वा ईश्वर था, यह

नहीं घट सकता। वचन के द्वारा सृष्टि कभी नहीं हो सकती, जबतक उसका कारण न हो। और वचन के विना भी चुपचाप रहकर कर्त्ता सृष्टि कर सकता है। जीवन किस में वा क्या था, इस वचन से जीव अनादि मानोगे, जो अनादि हैं तो आदम के नथुनों में श्वास फूंकना झूठा हुआ और क्या जीवन मनुष्यों ही का उजियाला है, पश्वादि का नहीं?॥ १०४॥

१०५. और बियारी के समय में जब शैतान शिमोन के पुत्र यिहूदा इस्करियोती के मन में उसे पकड़वाने का मत डाल चुका था॥

—यो० प० १३। आ० २॥

समीक्षक—यह बात सच नहीं, क्योंकि जब कोई ईसाइयों से पूछेगा कि शैतान सबको बहकाता है, तो शैतान को कौन बहकाता है? जो कहो शैतान आप से आप बहकता है, तो मनुष्य भी आप से आप बहक सकते हैं, पुनः शैतान का क्या काम? और यदि शैतान का बनाने और बहकानेवाला परमेश्वर है, तो वही शैतान का शैतान ईसाइयों का ईश्वर ठहरा। परमेश्वर ही ने सबको उसके द्वारा बहकाया। भला, ऐसे काम ईश्वर के हो सकते हैं? सच तो यही है कि यह पुस्तक ईसाइयों का और ईसा ईश्वर का बेटा जिन्होंने बनाये वे शैतान हों, तो हों, किन्तु न यह ईश्वरकृत पुस्तक, न इसमें कहा ईश्वर और न ईसा ईश्वर का बेटा हो सकता है॥ १०५॥

१०६. तुम्हारा मन व्याकुल न होवे, ईश्वर पर विश्वास करो और मुझपर विश्वास करो॥ मेरे पिता के घर में बहुत से रहने के स्थान हैं, नहीं तो मैं तुमसे कहता हूं, मैं तुम्हारे लिये स्थान तैयार करने जाता हूं॥ और जो मैं जाके तुम्हारे लिये स्थान तैयार करूं, तो फिर आके तुम्हें अपने यहां ले जाऊंगा कि जहां मैं रहूं वहां तुम भी रहो॥ यीशु ने उससे कहा, मैं ही मार्ग और सत्य और जीवन हूं, विना मेरे द्वारा से कोई पिता पास नहीं पहुंचता है॥ जो तुम मुझे जानते, तो मेरे पिता को भी जानते....॥

—यो० प० १४। आ० १।२।३।६।७॥

समीक्षक—अब देखिये! यह वचन ईसा के क्या पोपलीला से कमती हैं? जो ऐसा प्रपञ्च न रचता, तो उसके मत में कौन फसता? क्या ईसा ने अपने पिता को इजारे (ठेके में) ले लिया है? और जो वह

ईसा के वश्य है, तो पराधीन होने से वह ईश्वर ही नहीं, क्योंकि ईश्वर किसी की सिफारिश नहीं सुनता। क्या ईसा के पहले कोई भी ईश्वर को प्राप्त न हुआ होगा? कैसा स्थान आदि का प्रलोभन देता और जो अपने मुख से आप मार्ग, सत्य और जीवन बनता है, वह सब प्रकार से दम्भी कहाता है, इससे यह बात सत्य कभी नहीं हो सकती॥ १०६॥

१०७. मैं तुमसे सच सच कहता हूं जो मुझपर विश्वास करे, जो काम मैं करता हूं उन्हें वह भी करेगा और इनसे बड़े काम भी करेगा तो वह सब आश्चर्य कर्म करेगा॥ —यो० प० १४। आ० १२॥

समीक्षक—अब देखिये! जो ईसाई लोग ईसा पर पूरा विश्वास रखते हैं, वैसे ही मुर्दे जिलाने आदि काम क्यों नहीं कर सकते? और जो विश्वास से भी आश्चर्य काम नहीं कर सकते, तो ईसा ने भी आश्चर्य कर्म नहीं किये थे, ऐसा निश्चित जानना चाहिये। क्योंकि स्वयं ईसा ही कहता है कि तुम भी आश्चर्य काम करोगे, तो भी इस समय ईसाई कोई एक भी नहीं कर सकता, तो किसकी हिये की आँख फूट गई है, वह ईसा को मुर्दे जिलाने आदि का कर्त्ता मान लेवे॥ १०७॥

१०८. ....जो अद्वैत सत्य ईश्वर है....॥

—यो० प० १७। आ० ३॥

समीक्षक—जब अद्वैत एक ईश्वर है, तो ईसाइयों का तीन कहना सर्वथा मिथ्या है॥ १०८॥

इसी प्रकार बहुत ठिकाने इञ्जील में अन्यथा बातें भरी हैं॥

योहन के प्रकाशित वाक्य

अब योहन की अद्‌भुत बातें सुनो—

१०९. ....और अपने अपने शिर पर ७ सोने के मुकुट दिये हुए थे॥ ....और सात अग्निदीपक सिंहासन के आगे जलते हैं जो ईश्वर के सातों आत्मा हैं॥ और सिंहासन के आगे कांच का समुद्र है ....और सिंहासन के आस पास चार प्राणी हैं जो आगे और पीछे नेत्रों से भरे हैं॥

—यो० प्र० प० आ० ४।५।६॥

समीक्षक—अब देखिये! एक नगर के तुल्य ईसाइयों का स्वर्ग है। और इनका ईश्वर भी दीपक के समान अग्नि है। और सोने का

मुकुटादि आभूषण धारण करना और आगे-पीछे नेत्रों का होना असम्भावित है। इन बातों को कौन मान सकता है? और वहां सिंहादि चार पशु भी लिखे हैं॥ १०९॥

११०. और मैंने सिंहासन पर बैठनेहारे के दहिने हाथ में एक पुस्तक देखा जो भीतर और पीठ पर लिखा हुआ और सात छापों से उसपर छाप दी हुई थी॥ ....यह पुस्तक खोलने और छाप तोड़ने के योग्य कौन है॥ और न स्वर्ग में और न पृथिवी के नीचे कोई वह पुस्तक खोलने अथवा उसे देखने सकता था॥ और मैं बहुत रोने लगा इसलिये कि पुस्तक खोलने और पढ़ने अथवा उसे देखने के योग्य कोई नहीं मिला॥ —यो० प्र० पर्व ५। आ० १।२।३।४॥

समीक्षक—अब देखिये! ईसाइयों के स्वर्ग में सिंहासनों और मनुष्यों के ठाठ; और पुस्तक कई छापों से बंध किया हुआ जिसको खोलने आदि कर्म करनेवाला स्वर्ग और पृथिवी पर कोई नहीं मिला। योहन का रोना और पश्चात् एक प्राचीन ने कहा कि वही ईसा खोलनेवाला है। प्रयोजन '**जिसका विवाह उसका गीत**'। देखो! ईसा ही के ऊपर सब माहात्म्य झुकाते जाते हैं, परन्तु ये बातें केवल कथन मात्र हैं॥ ११०॥

१११. और मैंने दृष्टि की और देखो सिंहासन के और चारों प्राणियों के बीच में और प्राचीनों के बीच में एक मेम्ना जैसा वध किया हुआ खड़ा है, जिसके सात सींग और सात नेत्र हैं, जो सारी पृथिवी में भेजे हुए ईश्वर के सातों आत्मा हैं॥ —यो० प्र० प० ५। आ० ६॥

समीक्षक—अब देखिये इस योहन के स्वप्न का मनोव्यापार! उस स्वर्ग के बीच में सब ईसाई और चार पशु तथा ईसा भी है और कोई नहीं! यह बड़ी अद्‌भुत बात हुई कि यहां तो ईसा के दो नेत्र थे और सींग का नाम भी न था और स्वर्ग में जाके सात सींग और सात आंखवाला हुआ! और वे सातों ईश्वर के आत्मा ईसा के सींग और नेत्र बन गये थे! हाय! ऐसी बातों को ईसाइयों ने क्यों मान लिया? भला कुछ तो बुद्धि काम में लाते॥ १११॥

११२. और जब उसने पुस्तक लिया तब चारों प्राणी और चौबीसों प्राचीन मेम्ने के आगे गिर पड़े और हर एक के पास बीण थी और धूप

से भरे हुए सोने के पियाले पवित्र लोगों की प्रार्थनाएँ हैं॥

—यो० प्र० म० ५। आ० ८॥

समीक्षक—भला जब ईसा स्वर्ग में न होगा तब ये बिचारे धूप, दीप, नैवेद्य, आर्ति आदि पूजा किसकी करते होंगे? और यहा प्रोटस्टेंट ईसाई लोग बुतपरस्ती (मूर्त्तिपूजा) का तो खण्डन करते हैं और इनका स्वर्ग बुत्परस्ती का घर बन रहा है॥ ११२॥

११३. और जब मेम्ने ने छापों में से एक को खोला तब मैंने दृष्टि की, चारों प्राणियों में से एक को जैसे मेघ के गर्जन के शब्द को यह कहते सुना कि आ और देख! और मैंने दृष्टि की और देखो एक श्वेत घोड़ा है और जो उसपर बैठा है उस पास धनुष और उसे मुकुट दिया गया और वह जय करता हुआ और जय करने को निकला॥

और जब उसने दूसरी छाप खोली....॥ ....दूसरा घोड़ा जो लाल था निकला उसको यह दिया गया कि पृथिवी पर से मेल उठा देवे....॥

और जब उसने तीसरी छाप खोली ....देखो काला घोड़ा है....॥

और जब उसने चौथी छाप खोली....॥ ....और देखो एक पीला सा घोड़ा और जो उसपर बैठा है उसका नाम मृत्यु है, इत्यादि॥

—यो० प्र० प० ६। आ० १।२।३।४।५।७।८॥

समीक्षक—अब देखिये यह पुराणों से भी अधिक मिथ्या लीला है, वा नहीं? भला! पुस्तकों के बन्धनों के छापे के भीतर घोड़ा सवार क्योंकर रह सके होंगे? यह स्वप्ने का बर्ड़ाना जिन्होंने इसको भी सत्य माना है, उनमें अविद्या जितनी थोड़ी कहें, उतनी ही थोड़ी है॥ ११३॥

११४. और वे बड़े शब्द से पुकारते थे कि हे स्वामी पवित्र और सत्य! कब लों तू न्याय नहीं करता है और पृथिवी के निवासियों से हमारे लोहू का पलटा नहीं लेता है॥ और हर एक को उजला वस्त्र दिया गया और उनसे कहा गया कि जब लों तुम्हारे सङ्गी दास भी और तुम्हारे भाई तुम्हारे नाईं वध किये जाने पर हैं, पूरे न हों, तब लों और थोड़ी देर विश्राम करो॥ —यो० प्र० प० ६। आ० १०।११॥

समीक्षक—जो कोई ईसाई होंगे, वे दौड़े सुपुर्द होकर ऐसे न्याय कराने के लिये रोया करेंगे, जो वेदमार्ग का स्वीकार करेगा, उसके

न्याय होने में कुछ भी देर न होगी। ईसाइयों से पूछना चाहिये—"क्या ईश्वर की कचहरी आजकल बन्ध है? और न्याय का काम भी नहीं होता? न्यायाधीश निकम्मे बैठे हैं?" तो कुछ भी ठीक-ठीक उत्तर न दे सकेंगे।

और ईश्वर को भी बहका कर और इनका ईश्वर बहक भी जाता है क्योंकि इनके कहने से झट इनके शत्रुओं से पलटा लेने लगता है। और दंशिले स्वभाववाले हैं कि मरे पीछे स्ववैर लिया करते हैं, शान्ति कुछ भी नहीं। और जहां शान्ति नहीं, वहां दु:ख का क्या पारावार होगा॥ ११४॥

११५. और जैसे बड़ी बयार से हिलाये जाने पर गूलर के वृक्ष से उसके कच्चे गूलर झड़ते हैं, तैसे आकाश के तारे पृथिवी पर पड़े॥ और आकाश पत्र की नाईं जो लपेटा जाता है, अलग हो गया....॥

—यो० प्र० प० ६। आ० १३।१४॥

समीक्षक—अब देखिये योहन भविष्यद्वक्ता! जब विद्या नहीं है तभी तो ऐसी अण्ड-बण्ड कथा गाई। भला तारे सब भूगोल हैं एक पृथिवी पर कैसे गिर सकते हैं? और सूर्यादि का आकर्षण उनको इधर-उधर क्यों आने-जाने देगा? और क्या आकाश को चटाई के समान समझता है? यह आकाश साकार पदार्थ नहीं है, जिसको कोई लपेटे वा इकट्ठा कर सके। इसलिए योहन आदि सब जाङ्गल मनुष्य थे, उनको इन बातों की क्या खबर?॥ ११५॥

११६. ....मैंने उनकी संख्या सुनी, इस्राऐल के संतानों के समस्त कुल में से एक लाख चवालीस सहस्र पर छाप दी गई॥ यिहूदा के कुल में से बारह सहस्र पर छाप दी गई॥ —यो० प्र० प० ७। आ० ४।५॥

समीक्षक—क्या जो बायबिल में ईश्वर लिखा है, वह इस्राएल आदि कुलों का स्वामी है, वा सब संसार का? जो ऐसा न होता तो उन्हीं जङ्गलियों का साथ क्यों देता और उन्हीं का सहाय करता था, दूसरे का नाम-निशान भी नहीं लेता, इससे वह ईश्वर नहीं। और इस्राएल कुलादि के मनुष्यों पर छाप लगाना अल्पज्ञता अथवा योहन की मिथ्या कल्पना है॥ ११६॥

११७. इस कारण वे ईश्वर के सिंहासन के आगे हैं और उस मन्दिर में रात-दिन उसकी सेवा करते हैं.... ॥

—यो० प्र० प० ७। आ० १५॥

समीक्षक—क्या यह महाबुत्परस्ती नहीं है? अथवा उनका ईश्वर देहधारी मनुष्य तुल्य एकदेशी नहीं है? और ईसाइयों का ईश्वर रात में सोता भी नहीं है, यदि सोता है, तो रात में पूजा क्योंकर करते होंगे? तथा उसकी नींद भी उड़ जाती होगी और जो रात दिन जागता होगा तो विक्षिप्त वा अति रोगी होगा॥ ११७॥

११८. और दूसरा दूत आके वेदी के निकट खड़ा हुआ जिस पास सोने की धूपदानी थी और उसको बहुत धूप दिया गया.... ॥ और धूप का धूंआ पवित्र लोगों की प्रार्थनाओं के सङ्ग दूत के हाथ में से ईश्वर के आगे चढ़ गया॥ और दूत ने वह धूपदानी लेके उसमें वेदी की आग भरके उसे पृथिवी पर डाला और शब्द और गर्जन और बिजलियाँ और भुईंडोल हुए॥ —यो० प्र० प० ८। आ० ३।४।५॥

समीक्षक—अब देखिये! स्वर्ग तक वेदी, धूप, दीप, नैवेद्य, तुरही के शब्द होते हैं, क्या वैरागियों के मन्दिर से ईसाइयों का स्वर्ग कमती है? कुछ धूम-धाम अधिक ही है॥ ११८॥

११९. पहिले दूत ने तुरही फूंकी और लोहू से मिले हुए ओले और आग हुए वे पृथिवी पर डाले और पृथिवी की एक तिहाई जल गई.... ॥

—यो० प्र० प० ८। आ० ७॥

समीक्षक—वाह रे ईसाइयों के भविष्यद्वक्ता! ईश्वर, ईश्वर के दूत, तुरही का शब्द और प्रलय की लीला केवल लड़कों ही का खेल दीखता है॥ ११९॥

१२०. और पाँचवें दूत ने तुरही फूंकी और मैंने एक तारे को देखा जो स्वर्ग में से पृथिवी पर गिरा हुआ था और अथाह कुंड के कूप की कुंजी उसको दी गई॥ और उसने अथाह कुंड का कूप खोला और कूप में से भट्ठी के धूएँ की नाईं धूंआ उठा.... ॥ और उस कुए में से टिड्डियां पृथिवी पर निकल गईं और जैसा पृथिवी के बीछुओं को अधिकार होता है तैसा उन्हें दिया गया॥ और उनसे कहा गया कि उन मनुष्यों की जिनके माथे पर ईश्वर की छाप नहीं है॥ ....पाँच मास उन्हें पीड़ा दी जाय॥ —यो० प्र० प० ९। आ० १।२।३।४।५॥

समीक्षक—क्या तुरही का शब्द सुनकर तारे उन्हीं दूतों पर और उसी स्वर्ग में गिरे होंगे? यहाँ तो नहीं गिरे। भला! वह कूप और टिड्डियां भी प्रलय के लिए ईश्वर ने पाली होंगी और छाप को देख बांच भी लेती होंगी कि छापवालों को मत काटो? यह केवल भोले मनुष्यों को डराके ईसाई कर लेने का धोखा देना है कि जो तुम ईसाई न होगे, तो तुमको टिड्डियां काटेंगी। परन्तु ऐसी बातें विद्याहीन देश में चल सकती हैं, आर्य्यावर्त्त में नहीं। क्या वह प्रलय की बात हो सकती है?॥ १२०॥

१२१. और घुड़चढ़ों की सेनाओं की संख्या बीस करोड़ थी....

—यो० प्र० प० ९। आ० १६॥

समीक्षक—भला! इतने घोड़े स्वर्ग में कहां ठहरते, कहाँ चरते और कहाँ रहते और कितनी लीद करते थे? उसका दुर्गन्ध भी स्वर्ग में कितना हुआ होगा? बस ऐसे स्वर्ग, ऐसे ईश्वर और ऐसे मत के लिये हम सब आर्य्यों ने तिलाञ्जलि दे दी है। ऐसा बखेड़ा ईसाइयों के शिर पर से भी सर्वशक्तिमान् की कृपा से दूर हो जाय, तो बहुत अच्छा हो॥ १२१॥

१२२. और मैंने दूसरे पराक्रमी दूत को स्वर्ग से उतरते देखा जो मेघ को ओढ़े था और उसके शिर पर मेघधनुष था और उसका मुख सूर्य्य की नाईं और उसके पांव आग के खम्भे ऐसे थे॥ ....और उसने अपना दहिना पांव समुद्र पर और बायां पृथिवी पर रक्खा॥

—यो० प्र० प० १०। आ० १।२॥

समीक्षक—अब देखिये इन दूतों की कथा! जो पुराणों वा भाट की कथाओं से भी बढ़कर है॥ १२२॥

१२३. और लग्गी के समान एक नर्कट मुझे दिया गया और कहा गया कि उठ! ईश्वर के मन्दिर को और वेदी को और उसमें के भजन करनेहारों को नाप॥ —यो० प्र० प० ११। आ० १॥

समीक्षक—यहां तो क्या परन्तु ईसाइयों के तो स्वर्ग में भी मन्दिर बनाये और नापे जाते हैं। अच्छा है, उनका जैसा स्वर्ग है, वैसी ही बातें

हैं। इसीलिये यहां प्रभुभोजन में ईसा के शरीरावयव मांस लोहू की भावना करके खाते-पीते हैं, और गिर्जा में भी क्रूश आदि का आकार बनाना आदि भी बुतपरस्ती है॥ १२३॥

१२४. और स्वर्ग में ईश्वर का मन्दिर खोला गया और उसके नियम का सन्दूक उसके मन्दिर में दिखाई दिया....॥

—यो० प्र० प० ११। आ० १९॥

समीक्षक—स्वर्ग में जो मन्दिर है सो हर समय बन्द रहता होगा, कभी-कभी खोला जाता होगा। क्या परमेश्वर का भी मन्दिर हो सकता है? जो वेदोक्त परमात्मा सर्वव्यापक है, उसका कोई भी मन्दिर नहीं हो सकता। हां, ईसाइयों का जो परमेश्वर आकारवाला है, उसका चाहे स्वर्ग में हो चाहे भूमि में। और जैसी लीला टं टन् पूँ पूँ की यहां होती है, वैसी ही ईसाइयों के स्वर्ग में भी। और नियम का संदूक भी कभी-कभी ईसाई लोग देखते होंगे, उससे न जाने क्या प्रयोजन सिद्ध करते हैं? सच तो यह है कि ये सब बातें मनुष्यों को भुलाने की हैं॥ १२४॥

१२५. एक बड़ा आश्चर्य स्वर्ग में दिखाई दिया अर्थात् एक स्त्री जो सूर्य पहिने है और चाँद उसके पांवों तले है और उसके सिर पर बारह तारों का मुकुट है॥ और वह गर्भवती होके चिल्लाती है क्योंकि प्रसव की पीड़ उसे लगी है और वह जन्मे को पीड़ित है॥ और दूसरा आश्चर्य स्वर्ग में दिखाई दिया है देखो एक बड़ा लाल अजगर है, जिसके सात शिर और दश सींग हैं और उसके शिरों पर सात राजमुकुट हैं॥ और उसकी पूंछ ने आकाश के तारों की एक तिहाई को खींचके उन्हें पृथिवी पर डाला....॥ —यो० प्र० प० १२। आ० १। २। ३। ४॥

समीक्षक—अब देखिये लम्बे-चौड़े गपोड़े! इनके स्वर्ग में भी बिचारी स्त्री चिल्लाती है, उसका दुःख कोई नहीं सुनता, न मिटा सकता है। और उस अजगर का पूंछ कितना बड़ा था, जिसने तारों के एक तिहाई पृथिवी पर डाले? भला! पृथिवी तो छोटी है और तारे बड़े-बड़े भी लोक हैं, इस पृथिवी पर एक भी नहीं समा सकता। किन्तु यहाँ यही अनुमान करना चाहिये कि ये तारों की तिहाई इस बात के लिखनेवाले के घर पर गिरे होगें और जिस अजगर की पूंछ इतनी बड़ी थी जिससे

सब तारों की तिहाई लपेटकर भूमि पर गिरा दी, वह अजगर भी उसी के घर में रहता होगा॥ १२५॥

१२६. और स्वर्ग में युद्ध हुआ, मीखायेल और उसके दूत अजगर से लड़े और अजगर और उसके दूत लड़े॥

—यो० प्र० प० १२। आ० ७॥

समीक्षक—जो कोई ईसाइयों के स्वर्ग में जाता होगा, वह भी लड़ाई में दुःख पाता होगा। ऐसे स्वर्ग की यहीं से आश छोड़, हाथ-जोड़ बैठ रहो। जहां शान्तिभङ्ग और उपद्रव मचा रहे, वह ईसाइयों के योग्य है॥ १२६॥

१२७. और वह बड़ा अजगर गिराया गया, हां वह प्राचीन सांप जो दियाबल और शैतान कहाता है, जो सारे संसार का भरमानेहारा है....॥

—यो० प्र० प० १२। आ० ९॥

समीक्षक—क्या जब वह शैतान स्वर्ग में था तब लोगों को नहीं भरमाता था? और उसको जन्मभर बंदीगृह में अथवा मार क्यों न डाला? उसको पृथिवी पर क्यों डाल दिया? जो सब संसार का भर्मानेवाला शैतान है, तो शैतान को भर्मानेहारा कौन है? यदि शैतान स्वयं भर्मा है, तो शैतान के विना भर्मनेहारे भर्मेंगे और जो उसको भर्मानेहारा परमेश्वर है, तो वह ईश्वर ही नहीं ठहरा।

विदित तो यह होता है कि ईसाइयों का ईश्वर भी शैतान से डरता होगा? क्योंकि जो शैतान से प्रबल होता तो ईश्वर ने उसको अपराध करने समय ही दण्ड क्यों न दिया? जगत् में शैतान का जितना राज है उसके सामने सहस्रांश भी ईसाइयों के ईश्वर का राज्य नहीं। इसीलिये ईसाइयों का ईश्वर उसको हरा नहीं सकता होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा इस समय के राज्याधिकारी ईसाई डाकू-चोर आदि को शीघ्र दण्ड देते हैं, वैसा भी ईसाइयों का ईश्वर नहीं। पुनः कौन ऐसा निर्बुद्धि मनुष्य है कि जो वैदिकमत को छोड़ पोकल ईसाईमत का स्वीकार करे?॥ १२७॥

१२८. हाय पृथिवी और समुद्र के निवासियो! क्योंकि शैतान तुम पास उतरा है....॥ —यो० प्र० प० १२। आ० १२॥

समीक्षक—क्या वह ईश्वर वहीं का रक्षक और स्वामी है? पृथिवी के मनुष्यादि प्राणियों का रक्षक और स्वामी नहीं है? यदि भूमि का भी राजा है, तो शैतान को क्यों न मार सका? ईश्वर देखता रहता है और शैतान बहकाता फिरता है, तो भी उसको वर्जता नहीं। विदित तो यह होता है कि एक अच्छा ईश्वर और एक समर्थ दुष्ट दूसरा ईश्वर हो रहा है॥ १२८॥

१२९. ....और बयालीस मास लों युद्ध करने का अधिकार उसे दिया गया॥ और उसने ईश्वर के विरुद्ध निन्दा करने को अपना मुंह खोला कि उसके नाम की और उसके तम्बू और स्वर्ग में वास करनेहारों की निन्दा करे॥ और उसको यह दिया गया, कि पवित्र लोगों से युद्ध करे और उनपर जय करे और हर एक कुल और भाषा और देश पर उसको अधिकार दिया गया॥ —यो० प्र० प० १३। आ० ५।६।७॥

समीक्षक—भला! जो पृथिवी के लोगों को बहकाने के लिये शैतान और पशु आदि को भेजे और पवित्र मनुष्यों से युद्ध करावे, वह काम डाकुओं के सरदार के समान है ऐसा काम ईश्वर वा ईश्वर के भक्तों का नहीं॥ १२९॥

१३०. और मैंने दृष्टि की और देखो मेम्ना सियोन पर्वत पर खड़ा है और उसके सङ्ग एक लाख चवालीस सहस्र जन, जिनके माथे पर उसका नाम और उसके पिता का नाम लिखा है॥

—यो० प्र० प० १४। आ० १॥

समीक्षक—अब देखिये! जहाँ ईसा का बाप रहता था, वहीं उसी सियोन पहाड़ पर उसका लड़का भी रहता है। परन्तु एक लाख चवालीस सहस्र मनुष्यों की गणना क्योंकर की? एक लाख चवालीस सहस्र ही स्वर्गवासी हुए, शेष करोड़ों ईसाइयों के शिर पर न मोहर लगी, क्या ये सब नरक में गये? ईसाइयों को चाहिये कि सियोन पर्वत पर जाके देखें कि ईसा का उक्त बाप और उनकी सेना वहां है, वा नहीं? जो हों तो यह लेख ठीक है, नहीं तो मिथ्या। यदि कहीं से वहां आया, तो कहां से आया? जो कहो स्वर्ग से तो क्या वे पक्षी हैं कि इतनी बड़ी सेना और आप ऊपर नीचे उड़कर आया जाया करें? यदि वह आया जाया करता है,

तो एक जिले के न्यायाधीश के समान हुआ। और वह एक दो वा तीन हो, तो नहीं बन सकेगा, किन्तु न्यून से न्यून एक-एक भूगोल में एक-एक ईश्वर चाहिये, क्योंकि एक, दो, तीन अनेक ब्रह्माण्डों का न्याय करने और सर्वत्र युगपत् घूमने में समर्थ कभी नहीं हो सकते॥ १३०॥

१३१. ....आत्मा कहता है हां कि वे अपने परिश्रम से विश्राम करेंगे परन्तु उनके कार्य्य उनके संग हो लेते हैं॥

—यो० प्र० प० १४। आ० १३॥

समीक्षक—देखिये! ईसाइयों का ईश्वर तो कहता है 'उनके कर्म उनके संग रहेंगे' अर्थात् कर्मानुसार फल सबको दिये जायेंगे और ये लोग कहते हैं कि ईसा पापों को ले लेगा और क्षमा भी किये जायेंगे। यहां बुद्धिमान् विचारें कि ईश्वर का वचन सच्चा वा ईसाइयों का? एक बात में दोनों तो सच्चा हो ही नहीं सकते? इनमें से एक झूठा अवश्य होगा। हमको क्या? चाहे ईसाइयों का ईश्वर झूठा हो, वा ईसाई लोग॥ १३१॥

१३२. ....और उसे ईश्वर के कोप के बड़े रस के कुण्ड में डाला॥ और रस के कुंड का रौंदन नगर के बाहर किया गया और रस के कुण्ड में से घोड़ों की लगाम तक लोहू एक सौ कोश तक बह निकला॥

—यो० प्र० प० १४। आ० १९।२०॥

समीक्षक—अब देखिये! इनके गपोड़े पुराणों से भी बढ़कर हैं, वा नहीं? ईसाइयों का ईश्वर कोप करते समय बहुत दुःखित हो जाता होगा और जो उसके कोप के कुण्ड भरे हैं, क्या उसका कोप जल है वा अन्य द्रवित पदार्थ है कि जिससे कुण्ड भरे हैं, और सौ कोश तक रुधिर का बहना असम्भव है, क्योंकि रुधिर वायु लगने से झट जम जाता है, पुनः क्योंकर बह सकता है? इसलिए ऐसी बातें मिथ्या होती हैं॥ १३२॥

१३३. ....और देखो स्वर्ग में साक्षी के मन्दिर का तम्बू खोला गया॥ —यो० प्र० प० १५। आ० ५॥

समीक्षक—जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो साक्षियों का क्या काम? क्योंकि वह स्वयं सब कुछ जानता होता। इससे सर्वथा यही निश्चय होता है कि इनका ईश्वर सर्वज्ञ नहीं, किन्तु मनुष्यवत् अल्पज्ञ है।

वह ईश्वरता क्या कर सकता है? नहि नहि नहि। और इसी प्रकरण में दूतों की बड़ी-बड़ी असम्भव बातें लिखी हैं, उनको सत्य कोई नहीं मान सकता। कहाँ तक लिखें, इस प्रकरण में सर्वथा ऐसी ही बातें भरी हैं॥ १३३॥

१३४. ....और ईश्वर ने उसके कुकर्मों को स्मरण किया है॥ जैसा तुम्हें उसने दिया है तैसा उसको भर देओ और उसके कर्मों के अनुसार दूना उसे दे देओ....॥ —यो० प्र० प० १८। आ० ५।६॥

समीक्षक—देखो! प्रत्यक्ष ईसाइयों का ईश्वर अन्यायकारी है। क्योंकि न्याय उसी को कहते हैं कि जिसने जैसा वा जितना कर्म किया, उसको वैसा और उतना ही फल देना, उससे अधिक-न्यून देना अन्याय है। जो अन्यायकारी की उपासना करते हैं, वे अन्यायकारी क्यों न हों॥ १३४॥

१३५. ....क्योंकि मेम्ने का विवाह आ पहुँचा है और उसकी स्त्री ने अपने को तैयार किया है॥ —यो० प्र० प० १९। आ० ७॥

समीक्षक—अब सुनिये! ईसाइयों के स्वर्ग में विवाह भी होते हैं। क्योंकि ईसा का विवाह ईश्वर ने वहीं किया। पूछना चाहिये कि उसका ससुर, सासू, शालादि कौन थे और लड़के-बाले कितने हुए? और वीर्य के नाश होने से बल, बुद्धि, पराक्रम, आयु आदि भी कटके अब तक ईसा ने वहां शरीर त्याग किया होगा, क्योंकि संयोगजन्य पदार्थ का वियोग अवश्य होता है। अबतक ईसाइयों ने उसके विश्वास में धोखा खाया और न जाने कबतक धोखे में रहेंगे॥ १३५॥

१३६. ....और उसने अजगर को अर्थात् प्राचीन सांपको जो दियाबल और शैतान है, पकड़के उसे सहस्र वर्ष लों बाँध रक्खा॥ और उसको अथाह कुंड में डाला और बन्द ऊपर करके उसके छाप दी जिसतें वह जब लों सहस्र वर्ष पूरे न हों, तब लों फिर देशों के लोगों को न भरमावे॥ —यो० प्र० प० २०। आ० २।३॥

समीक्षक—देखो! मरूँ मरूँ करके शैतान को पकड़ा और सहस्र वर्ष तक बन्ध किया; फिर भी छूटेगा। क्या फिर न भरमावेगा? ऐसे दुष्ट को तो बन्दीगृह में सदा रखना वा मारे विना छोड़ना ही नहीं। परन्तु यह शैतान का होना ईसाइयों का भ्रममात्र है, वास्तव में कुछ भी नहीं। केवल लोगों को डराके अपने जाल में लाने का उपाय रचा है। जैसे किसी धूर्त्त ने किन्हीं भोले मनुष्यों से कहा कि 'चलो! तुमको देवता का दर्शन कराऊँ,' किसी एकान्त देश में लेजाके एक मनुष्य को चतुर्भुज बनाकर रक्खा। झाड़ी में खड़ा करके कहा कि 'आँख बींच लो। जब मैं कहूँ तब खोलना और फिर जब कहूँ तभी बींच लो। जो न बींचेगा वह अन्धा हो जायगा।'

जब वह सामने आया तब कहा—'देखो!' पुन: शीघ्र कहा कि बींच लो। जब फिर झाड़ी में छिप गया, तब कहा 'खोलो! देखा नारायण को? सबने दर्शन किया'। वैसी लीला इन मज़हबियों की है कि जो हमारे मजहब को न मानेगा, वह शैतान का बहकाया हुआ है। ऐसे उसको फसा लेते हैं। इसलिये इनकी माया में किसी को न फसना चाहिये॥ १३६॥

१३७. ....जिसके सम्मुख से पृथिवी और आकाश भाग गये और उनके लिये जगह न मिली॥ और मैंने क्या छोटे क्या बड़े सब मृतकों को ईश्वर के आगे खड़े देखा और पुस्तक खोले गये और दूसरा पुस्तक अर्थात् जीवन का पुस्तक खोला गया और पुस्तकों में लिखी हुई बातों से मृतकों का विचार उनके कर्म्मों के अनुसार किया गया॥

—यो० प्र० प० २०। आ० ११।१२॥

समीक्षक—यह देखो लड़केपन की बात! भला; पृथिवी और आकाश कैसे भाग सकेंगे? और वे किस पर ठहरेंगे, जिनके सामने से भगे। और उसका सिंहासन और वह कहाँ ठहरा था? और मुर्दे परमेश्वर के सामने खड़े किये गये तो परमेश्वर भी बैठा वा खड़ा होगा? क्या यहां की कचहरी और दूकान के समान ईश्वर का व्यवहार है जो कि पुस्तक लेखानुसार होता है? और सब जीवों का हाल ईश्वर ने लिखा वा उसके गुमाश्तों ने? ऐसी-ऐसी बातों से अनीश्वर को ईश्वर और ईश्वर को अनीश्वर ईसाई आदि मत वालों ने बना दिया॥ १३७॥

१३८. ....उनमें से एक मेरे पास आया और मेरे संग बोला कि आ मैं दुल्हिन को अर्थात् मेम्ने की स्त्री को तुझे दिखाऊँगा॥

—यो० प्र० प० २१। आ० ९॥

समीक्षक—भला! ईसा ने स्वर्ग में 'दुल्हीन' अर्थात् स्त्री अच्छी पाई, मौज करता होगा। जो-जो ईसाई वहाँ जाते होंगे, उनको भी स्त्रियाँ मिलती होंगी लड़के-बाले होते होंगे और बहुत भीड़ के हो जाने से रोगोत्पत्ति होकर मरते भी होंगे। ऐसे स्वर्ग को दूर से हाथ ही जोड़ना अच्छा है॥ १३८ ॥

१३९. ....और उसने उस नल से नगर को नापा कि साढ़े सात सौ कोश का है, उसकी लंबाई और चौड़ाई और ऊंचाई एक समान हैं॥ और उसने उसकी भीत को मनुष्य के अर्थात् दूत के नाप से नापा कि एक सौ चवालीस हाथ की हैं।। और उसकी भीत की जोड़ाई सूर्य्यकान्त की थी और नगर निर्मल सोने का था जो निर्मल कांच के समान था॥ और नगर की भीत की नेवें हर एक बहुमूल्य पत्थर से सँवारी हुई थीं; पहिली नेव सूर्य्यकान्त की थी, दूसरी नीलमणि की, तीसरी लालड़ी की, चौथी मरकत की॥ पांचवीं गोमेदक की, छठवीं माणिक्य की, सातवीं पीतमणि की, आठवीं पेरोज की, नवीं पुखराज की, दशवीं लहसनिये की, एग्यारहवीं धूम्रकान्त की, बारहवीं मर्टीष की॥ और बारह फाटक बारह मोती थे, एक-एक मोती से एक-एक फाटक बना था और नगर की सड़क स्वच्छ कांच के ऐसे निर्मल सोने की थी॥

—यो० प्र० प० २१। आ० १६।१७।१८।१९।२०।२१॥

समीक्षक—सुनो ईसाइयों के स्वर्ग का वर्णन! यदि ईसाई मरते जाते और जन्मते जाते हैं तो इतने बड़े शहर में कैसे समा सकेंगे? क्योंकि उसमें मनुष्यों का आगम होता है और उससे निकलते नहीं। और जो यह बहुमूल्य रत्नों की बनी हुई नगरी मानी है, और सर्व सोने की है, इत्यादि लेख केवल भोले-भाले मनुष्यों को बहकाकर फसाने की लीला है। भला लंबाई-चौड़ाई तो उस नगर की लिखी सो हो सकती है, परन्तु ऊंचाई साढ़े सात सौ कोश क्योंकर हो सकती है? यह सर्वथा मिथ्या कपोलकल्पना की बात है। और इतने बड़े मोती कहाँ से आये होंगे? इस लेख के लिखने वाले के घर के घड़े में से। यह गपोड़ा पुराण का भी बाप है॥ १३९ ॥

१४०. और कोई अपवित्र वस्तु अथवा घिनित कर्म्म करनेहारा

अथवा झूठ पर चलनेहारा उसमें किसी रीति से प्रवेश न करेगा.... ॥

—यो० प्र० प० २१। आ० २७॥

समीक्षक—जो ऐसी बात है, तो ईसाई लोग क्यों कहते हैं कि पापी लोग भी स्वर्ग में ईसाई होने से जा सकते हैं। यह झूठ बात है। यदि ऐसा है, तो योहन्ना स्वप्ने की मिथ्या बातों का कहनेहारा स्वर्ग में प्रवेश कभी न कर सका होगा, और ईसा भी स्वर्ग में न गया होगा। क्योंकि जब अकेला पापी स्वर्ग को प्राप्त नहीं हो सकता, तो जो अनेक पापियों के पापभारयुक्त क्योंकर स्वर्गवासी हो सकता है॥ १४० ॥

१४१. और अब कोई श्राप न होगा और ईश्वर का और मेम्ने का सिंहासन उसमें होगा और उसके दास उसकी सेवा करेंगे॥ और उसका मुंह देखेंगे और उसका नाम उनके माथे पर होगा॥ और वहां रात न होगी और उन्हें दीपक का अथवा सूर्य की ज्योति का प्रयोजन नहीं, क्योंकि परमेश्वर ईश्वर उन्हें ज्योति देगा वे सदा सर्वदा राज्य करेंगे॥

—यो० प्र० प० २२। आ० ३।४।५॥

समीक्षक—देखिये यही ईसाइयों का स्वर्गवास! क्या ईश्वर और ईसा सिंहासन पर निरन्तर बैठे रहेंगे? और उनके दास उनके सामने सदा मुंह देखा करेंगे? अब यह तो कहिये तुम्हारे ईश्वर का मुंह यूरोपियन के सदृश गोरा वा अफ्रीकावालों के सदृश काला अथवा अन्य देशवालों के समान है? यह तुम्हारा स्वर्ग भी बन्धन है, क्योंकि जहाँ छोटाई-बड़ाई है और उसी एक नगर में रहना अवश्य है तो वहाँ दुःख क्यों न होता होगा? जो मुखवाला है, वह ईश्वर सर्वज्ञ सर्वेश्वर कभी नहीं हो सकता॥ १४१ ॥

१४२. देख, मैं शीघ्र आता हूँ और मेरा प्रतिफल मेरे साथ है जिसतें हर एक को जैसा उसका कार्य्य ठहरेगा वैसा देऊं॥

—यो० प्र० प० २२। आ० १२॥

समीक्षक—जब यही बात है कि कर्मानुसार फल पाते हैं, तो पापों की क्षमा कभी नहीं होती। और जो क्षमा होती है, तो इञ्जील की बातें झूठी। यदि कोई कहे कि क्षमा करना भी इञ्जील में लिखा है तो 'पूर्वापरविरुद्ध' अर्थात् 'हल्फ़दरोगी' हुई, तो झूठ है, इसका मानना

छोड़ देओ॥ १४२॥

अब कहाँ तक लिखें, इनकी बायबिल में लाखों बातें खण्डनीय हैं। यह तो थोड़ा-सा चिह्नमात्र ईसाइयों की बायबिल पुस्तक का दिखलाया है, इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत-सा समझ लेंगे। थोड़ी सी बातों को छोड़ शेष सब झूठ भरा है। जैसे झूठ के संग से सत्य भी शुद्ध नहीं रहता, वैसा ही बायबिल पुस्तक भी माननीय नहीं हो सकता किन्तु वह सत्य तो वेदों के स्वीकार में गृहीत होता ही है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते कृश्चीनाख्यमतविषये त्रयोदशः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १३॥

अनुभूमिका (४)

जो यह १४ चौदहवां समुल्लास मुसलमानों के मतविषय में लिखा है सो केवल क़ुरान के अभिप्राय से; अन्य ग्रन्थ के मत से नहीं; क्योंकि मुसलमान क़ुरान पर ही पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं। यद्यपि फ़िरके होने का कारण किसी शब्द, अर्थ आदि विषय में विरुद्ध बात है तथाऽपि क़ुरान पर सब ऐकमत्य हैं।

जो क़ुरान अर्बी भाषा में है, उस पर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है। उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य्यभाषान्तर कराके पश्चात् अर्बी के बड़े-बड़े विद्वानों से शुद्ध करवाके लिखा गया है। यदि कोई कहे कि यह अर्थ ठीक नहीं है, तो उसको उचित है कि मौलवी साहबों के तर्जुमाओं का पहिले खण्डन करे, पश्चात् इस विषय पर लिखे। क्योंकि यह लेख केवल मुनष्यों की उन्नति, सत्याऽसत्य के निर्णय के लिये है अर्थात् सब मत के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है किन्तु जो-जो भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है, वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके। और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह न माने, वा माने, किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता।

और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर, गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ दुराग्रह न्यून करें-करावें। क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं। सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभङ्ग जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है।

इसमें जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो, उसको सज्जन लोग विदित कर देंगे। तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जायगा, क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ। क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना, हमारा मुख्य कर्म है। अब यह १४ चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों का मतविषय सब सज्जनों के सामने निवेदन करता हूँ। विचार कर, इष्ट का ग्रहण, अनिष्ट का परित्याग कीजिये।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु।
इत्यनुभूमिका॥

अथ चतुर्दशसमुल्लासारम्भः

अथ यवनमतविषयं व्याख्यास्यामः

इसके आगे मुसलमानों के मत-विषय में लिखेंगे—

१. आरंभ साथ नाम अल्लाह के। क्षमा करने वाला दयालु॥

—मंजिल १। सिपारा १। सूरत १॥

समीक्षक—मुसलमान लोग ऐसा कहते हैं कि 'यह क़ुरान* ख़ुदा का कहा है', परन्तु इस वचन से विदित होता है कि इसका बनानेवाला कोई दूसरा है, क्योंकि जो परमेश्वर का बनाया होता तो "आरम्भ साथ नाम अल्लाह के" ऐसा न कहता किन्तु "आरम्भ वास्ते उपदेश मनुष्यों के" ऐसा कहता। यदि मनुष्यों को शिक्षा करता है कि तुम ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे पाप का आरम्भ भी ख़ुदा के नाम से होकर उसका नाम भी दूषित हो जायगा।

जो वह क्षमा और दया करनेहारा है तो अपनी सृष्टि में मनुष्यों के सुख़ार्थ अन्य प्राणियों को मार, दारुण पीड़ा दिलाकर, मरवाके माँस खाने की आज्ञा क्यों दी? क्या वे प्राणी अनपराधी और परमेश्वर के बनाये हुए नहीं हैं?

और यह भी कहना था कि "मैं परमेश्वर के नाम पर अच्छी बातों का आरम्भ करता हूँ, बुरी बातों का नहीं"। इस कथन में गोलमाल है। क्या चोरी, जारी, मिथ्या-भाषणादि, अधर्म का भी आरम्भ परमेश्वर के नाम पर किया जाय? इसी से देख लो, कसाई आदि मुसलमान, गाय आदि के गले काटने में भी 'बिस्मिल्लाह' इस वचन को पढ़ते हैं; जो यही इसका पूर्वोक्त अर्थ है तो बुराइयों का आरम्भ भी परमेश्वर के नाम पर मुसलमान करते हैं और मुसलमानों का 'ख़ुदा' दयालु भी न रहेगा, क्योंकि उसकी दया उन पशुओं पर न रही। और जो मुसलमान लोग

* वास्तव में यह शब्द 'कुरआन' है, परन्तु भाषा में लोगों के बोलने में कुरान आता है, इसलिए ऐसा ही लिखा है।

इसका अर्थ नहीं जानते तो इस वचन का प्रकट होना व्यर्थ है। यदि मुसलमान लोग इसका अर्थ उलटा करते हैं तो सूधा अर्थ क्या है? इत्यादि॥ १॥

२. सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते है जो परवरदिगार अर्थात् पालन करनेहारा है सब संसार का॥ क्षमा करने वाला दयालु है॥

—मं० १। सि० १। सूरतुल्फातिहा आयत १। २॥

समीक्षक—जो क़ुरान का ख़ुदा संसार का पालनेहारा होता और सबपर क्षमा और दया करता होता, तो अन्य मत वाले और पशु आदि को भी मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता। जो क्षमा करनेहारा है तो क्या पापियों पर भी क्षमा करेगा? और जो वैसा है तो आगे लिखेंगे कि ''काफ़िरों का क़तल करो'' अर्थात् जो क़ुरान और पैग़म्बर को न मानें वे काफ़िर हैं, ऐसा क्यों कहता? इसलिये क़ुरान ईश्वरकृत नहीं दीखता॥ २॥

३. मालिक दिन न्याय का॥ तुझ ही की हम भक्ति करते हैं और तुझ ही से सहाय चाहते हैं॥ दिखा हमको सीधा रास्ता॥

—मं० १। सि० १। सू० १। आ० ३। ४। ५॥

समीक्षक—क्या ख़ुदा नित्य न्याय नहीं करता? किसी एक दिन न्याय करता है? इससे तो अँधेर विदित होता है। उसी की भक्ति करना और उसी से सहाय चाहना तो ठीक है, परन्तु क्या बुरी बात का भी सहाय चाहना? और सूधा मार्ग एक मुसलमानों ही का है वा दूसरे के भी? सूधामार्ग को मुसलमान ग्रहण क्यों नहीं करते? क्या सीधा रास्ता बुराई की ओर का तो नहीं चाहते? यदि भलाई सबकी एक है, तो फिर मुसलमानों ही में विशेष कुछ भी न रहा और जो दूसरों की भलाई नहीं मानते, तो पक्षपाती हैं॥ ३॥

४. उन लोगों का रास्ता कि जिनपर तूने निआमत की॥ और उनका मार्ग मत दिखा कि जिनके ऊपर तूने गज़ब अर्थात् अत्यन्त क्रोध की दृष्टि की और न गुमराहों का मार्ग हमको दिखा॥

—मं० १। सि० १। सू० १। आ० ६। ७॥

समीक्षक—जब मुसलमान लोग पूर्वजन्म और पूर्वकृत पाप-

पुण्य नहीं मानते तो किन्हीं को दोनों लोकों के ऐश्वर्य देने और किन्हीं को न देने से ख़ुदा पक्षपाती हो जायगा, क्योंकि विना पाप-पुण्य के सुख-दुःख देना केवल अन्याय की बात है। और विना कारण किसी पर दया और किसी पर क्रोधदृष्टि करना भी ख़ुदा के स्वभाव से बहिः है। क्योंकि विना भलाई-बुराई के वह दया अथवा क्रोध नहीं कर सकता और जब उनके पूर्व सञ्चित पुण्य-पाप ही नहीं, तो किसी पर दया और किसी पर क्रोध करना नहीं हो सकता॥

और जो 'गुमराह' शब्द का अर्थ नोट में काफिर, बेदीन (जो मुसलमान नहीं है) यह लिखा है तो वह ख़ुदा केवल मुसलमानों ही का पक्षपाती होगा, अन्य का नहीं। क्योंकि जो सब मत-मतान्तरों में धर्मात्मा और पापात्मा होते हैं, तो धर्मात्मा भी इस लेख से काफ़िर हो सकते हैं और जो मुसलमानों में बुरे काम करते हैं, क्या वे काफ़िर नहीं हैं? और जो काफ़िर हैं, वे सब मतों में बुरे हैं और जो धर्मात्मा हैं, वे सब मतों में उत्तम हैं, तो मुसलमानों से भिन्न मनुष्यों को काफ़िर कहना अविद्या की बात है।

और इस सिपारे और इस सूरे की टिप्पन पर—''यह सूरः अल्लाह साहेब ने मनुष्यों के मुख से कहलाई कि सदा इस प्रकार से कहा करें'', जो यह बात है तो 'अलिफ़, बे' आदि अक्षर भी ख़ुदा ही ने पढ़ाये होंगे। जो कहो कि नहीं, तो विना अक्षरज्ञान के इस सूरः को कैसे पढ़ सके? क्या कण्ठ ही से बुलाए और बोलते गये? जो ऐसा है तो सब क़ुरान ही कण्ठ से पढ़ाया होगा।

इससे ऐसा समझना चाहिये कि जिस पुस्तक में पक्षपात की बातें पाई जायें, वह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता। जैसा कि अरबी भाषा में उतारने से अरबवालों को तो इसका पढ़ना सुगम, अन्य भाषाओं को बोलने वालों को कठिन होता है, इसी से ख़ुदा में पक्षपात आता है। और जैसे परमेश्वर ने सृष्टिस्थ सब देशस्थ मनुष्यों पर न्यायदृष्टि से सब देशभाषाओं से विलक्षण संस्कृत-भाषा कि जो सब देशवालों के लिये एक से परिश्रम से विदित होती है, उसी में वेदों का प्रकाश किया है, करता तो कुछ भी दोष न होता॥ ४॥

५. यह पुस्तक कि जिसमें सन्देह नहीं, परहेज़गारों को मार्ग दिखलाती है॥ जो कि ईमान लाते, नमाज़ पढ़ते, और उस वस्तु से जो हमने उनको दी, खर्च करते हैं और वे लोग जो उस किताब पर ईमान लाते हैं जो तेरी ओर वा तुझसे पहिले उतारी गई, और विश्वास क़यामत पर रखते हैं॥ ये लोग अपने मालिक की शिक्षा पर हैं और ये ही छुटकारा पानेवाले हैं॥ निश्चय जो काफ़िर हुए और उन पर तेरा डराना, न डराना समान है, वे कभी ईमान न लावेंगे॥ अल्लाह ने उनके दिलों, कानों पर मोहर कर दी और उनकी आंखों पर पर्दा है और उनके वास्ते बड़ा अज़ाब है॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० २।३।४।५।६।७॥

समीक्षक—क्या अपने ही मुख से अपनी किताब की प्रशंसा करना ख़ुदा की दम्भ की बात नहीं? जब 'परहेज़गार' अर्थात् धार्मिक लोग हैं वे तो स्वत: सच्चे मार्ग में हैं, और जो झूठे मार्ग पर हैं, उनको यह क़ुरान मार्ग ही नहीं दिखला सकता, फिर किस काम का रहा?

क्या पाप पुण्य और पुरुषार्थ के विना ख़ुदा अपने ही ख़जाने से खर्च करने को देता है? जो देता है तो सबको क्यों नहीं देता? और मुसलमान लोग परिश्रम क्यों करते हैं?

और जो बायबिल इञ्जील आदि पर विश्वास करना योग्य है तो मुसलमान इञ्जील आदि पर ईमान जैसा क़ुरान पर है, वैसा क्यों नहीं लाते? और जो लाते हैं तो क़ुरान का होना किसलिये? जो कहें कि क़ुरान में अधिक बातें हैं, तो पहिली किताब में लिखना ख़ुदा भूल गया होगा! और जो नहीं भूला तो क़ुरान का बनाना निष्प्रयोजन है। और हम देखते हैं तो बायबिल और क़ुरान की बातें कोई-कोई न मिलती होंगी, नहीं तो सब मिलती हैं। एक ही पुस्तक जैसा कि वेद है क्यों न बनाया? क्या क़यामत पर ही विश्वास रखना चाहिये अन्य पर नहीं?॥

क्या ईसाई और मुसलमान ही ख़ुदा की शिक्षा पर हैं, उनमें कोई भी पापी नहीं हैं? क्या जो ईसाई और मुसलमान अधर्मी हैं, वे भी छुटकारा पावें और दूसरे धर्मात्मा भी न पावें, तो बड़े अन्याय, अन्धेर की बात है॥

और क्या जो लोग मुसलमानी मत को न मानें, उन्हीं को क़ाफिर

कहना वह एकतर्फ़ी डिगरी नहीं है?॥

जो परमेश्वर ही ने उनके अन्त:करण और कानों पर मोहर लगाई और उसी से वे पाप करते हैं, तो उनका कुछ भी दोष नहीं। यह दोष ख़ुदा ही का है, फिर उन पर सुख-दु:ख वा पाप-पुण्य नहीं हो सकता, पुन: उनको सज़ा जज़ा क्यों करता है? क्योंकि उन्होंने पाप वा पुण्य स्वतन्त्रता से नहीं किया॥ ५॥

६. वे अल्लाह और ईमानदारों को फरेब देते हैं।। उनके दिलों में रोग है, अल्लाह ने उनको रोग बढ़ा दिया॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ९।१०॥

समीक्षक—क्या ईश्वर से किसी का कपट, छल अज्ञात रहता है? यदि रहता है तो वह खुदा ही नहीं। इससे ऐसा लिखना ही व्यर्थ है। भला परमेश्वर को कौन भरमा सकता है और जो भ्रमाने से बहक जाता है, वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। क्यों विना अपराध खुदा ने उनको रोग बढ़ाया, दया न आई, उन बिचारों को बड़ा दु:ख हुआ होगा! क्या यह शैतान से बढ़कर शैतानपन का काम नहीं है? किसी के मन पर ताला लगाना, किसी को रोग बढ़ाना, खुदा का काम नहीं हो सकता। क्योंकि रोग का बढ़ना अपने पापों से है॥ ६॥

७. उनसे अल्लाह ठट्ठा करता है॥ जिसने तुम्हारे वास्ते पृथिवी बिछौना और आसमान की छत को बनाया॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० १४।२१॥

समीक्षक—जब किसी का ठट्ठा करना, उत्तम पुरुष का काम नहीं, तो खुदा को ठट्ठा करना योग्य कभी नहीं हो सकता, और जो ठट्ठेबाज़ है, वह खुदा ही नहीं।। भला, आसमान छत किसी की हो सकती है? यह अविद्या की बात है। आकाश को छत के समान मानना हांसी की बात है। यदि किसी प्रकार की पृथिवी को आसमान मानते हों तो उनकी घर की बात है॥ ७॥

८. जो तुम उस वस्तु से सन्देह में हो जो हमने पैग़म्बर के ऊपर उतारी, तो उस कैसी एक सूरत ले आओ और अपने को पुकारो, अल्लाह के विना जो तुम सच्चे हो॥ जो तुम और कभी न करोगे, तो

उस आग से डरो कि जिसका इन्धन मनुष्य है और काफ़िर के वास्ते पत्थर तैयार किये गये हैं॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० २३, २४॥

समीक्षक—भला, यह कोई बात है कि उसके सदृश कोई सूरत न बने? क्या अकबर बादशाह के समय में मौलवी फ़ैजी ने विना नुक़्ता का क़ुरान नहीं बना लिया था?

और वह कौन सी आग जो दोजख की है? क्या इस आग से न डरना चाहिए? इसका भी इन्धन जो कुछ पड़े सब है। क्या जैसे क़ुरान में लिखा है कि काफ़िरों के वास्ते पत्थर तैयार किये गये हैं, तो पुराणों में लिखा है म्लेच्छों के लिए घोर नरक बना है! अब कहिये किसकी बात सच्ची मानी जाय?

अपने-अपने वचन से दोनों स्वर्गगामी और दूसरे के मत से दोनों नरकगामी होते हैं, इसलिए यह सबका झगड़ा झूठा है, किन्तु जो धार्मिक हैं, वे सुख और जो पापी हैं, वे सब मतों में दुःख पावेंगे॥ ८॥

९. और तू ईमानवालों को आनन्द का सन्देसा दे कि उनके वास्ते बहिश्तें हैं जिन में चलती हैं नहरें, जब उसमें से मेवों के भोजन दिये जावेंगे तब कहेंगे कि यह वो वस्तु हैं जो हम पहिले इससे दिये गये थे; निश्चय और उनके लिए पवित्र बीवियाँ हैं, सदैव वहाँ रहने वाली हैं॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० २५॥

समीक्षक—भला! यह क़ुरान का बहिश्त संसार से कौन सी उत्तम बातवाला है? क्योंकि जो पदार्थ संसार में हैं, वे ही मुसलमानों के स्वर्ग में हैं। और इतना विशेष है कि यहाँ जैसे पुरुष जन्मते-मरते और आते-जाते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग में नहीं। किन्तु यहाँ की स्त्रियाँ सदा नहीं रहतीं और वहाँ 'बीवियाँ' अर्थात् उत्तम स्त्रियाँ सदा काल रहती हैं तो जबतक कयामत की रात न आवेगी, तबतक उन बिचारियों के दिन कैसे कटते होंगे?

हाँ, जो खुदा की उन पर कृपा होती होगी! और खुदा ही के आश्रय समय काटती होंगी तो ठीक है! क्योंकि यह मुसलमानों का स्वर्ग गोकुलिये गुसांइयों के गोलोक और मन्दिर के सदृश दीखता है। क्योंकि वहाँ स्त्रियों का मान्य बहुत, पुरुषों का नहीं, वैसे ही खुदा के घर में भी स्त्रियों का

मान्य अधिक और उनपर खुदा का प्रेम भी बहुत है, उतना पुरुषों पर नहीं। क्योंकि बीवियों को खुदा ने बहिश्त में सदा रक्खा और पुरुषों को नहीं, वे बीवियाँ विना ख़ुदा की मर्ज़ी स्वर्ग में कैसे ठहर सकतीं? जो यह बात ऐसी ही हो, तो ख़ुदा स्त्रियों में फस जाय॥ ९॥

१०. आदम को सारे नाम सिखाये, फिर फ़रिश्तों के सामने करके कहा—जो तुम सच्चे हो मुझे उनके नाम बताओ॥ फिर कहा हे आदम! उनको उनके नाम बता दे, तब उसने बता दिये, तो खुदा ने फ़रिश्तों से कहा कि क्या मैंने तुमसे नहीं कहा था कि निश्चय मैं पृथिवी और आसमान की छिपी वस्तुओं को और प्रकट-छिपे कर्मों को जानता हूँ॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३१। ३३॥

समीक्षक—भला, ऐसे फ़रिश्तों को धोखा देकर अपनी बड़ाई करना खुदा का काम हो सकता है? यह तो एक दम्भ की बात है, इसको कोई विद्वान् नहीं मान सकता और न ऐसा अभिमान करता। क्या ऐसी बातों से ही खुदा अपनी सिद्धाई जमाना चाहता है? हां जङ्गली लोगों में कोई कैसा ही पाखण्ड चला लेवे, चल सकता है। सभ्यजनों में नहीं॥ १०॥

११. जब हमने फ़रिश्तों से कहा कि बाबा आदम को दण्डवत् करो, परन्तु शैतान ने न माना और अभिमान किया क्योंकि वो भी एक काफ़िर था॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३४॥

समीक्षक—इससे ख़ुदा सर्वज्ञ नहीं। अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान की पूरी बातें नहीं जानता। जो जानता हो तो शैतान को पैदा ही क्यों किया? और ख़ुदा में कुछ तेज भी नहीं है, क्योंकि शैतान ने ख़ुदा का हुक्म ही न माना और ख़ुदा उसका कुछ भी न कर सका। और देखिए! एक शैतान काफ़िर ने ख़ुदा का भी छक्का छुड़ा दिया, तो मुसलमानों के कथनानुसार भिन्न जहाँ क्रोडों काफ़िर हैं, वहाँ मुसलमानों के ख़ुदा और मुसलमानों की क्या चल सकती है?

कभी-कभी ख़ुदा भी किसी का रोग बढ़ा देता, किसी को गुमराह कर देता है ख़ुदा ने ये बातें शैतान से सीखी होंगी और शैतान ने ख़ुदा से; क्योंकि विना ख़ुदा के फरिश्तों का उस्ताद और कोई नहीं हो सकता॥ ११॥

१२. हमने कहा कि ओ आदम! तू और तेरी जोरू बहिश्त में रहकर आनन्द से जहाँ चाहो खाओ परन्तु मत समीप जाओ उस वृक्ष के कि पापी हो जाओगे॥ शैतान ने उनको डिगाया और उनको बहिश्त के आनन्द से खो दिया तब हमने कहा कि उतरो तुम्हारे में कोई शत्रु है। तुम्हारा ठिकाना पृथिवी है और एक समय तक लाभ है॥ आदम अपने मालिक की कुछ बातें सीखकर पृथिवी पर आ गया॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३५।३६।३७॥

समीक्षक—अब देखिये ख़ुदा की अल्पज्ञता! अभी तो स्वर्ग में रहने का आशीर्वाद दिया और पुनः थोड़ी देर में कहा कि निकलो। जो भविष्यत् बातों को जानता होता तो वर ही क्यों देता? और बहकानेवाले शैतान को दण्ड देने से असमर्थ भी दीख पड़ता है। और वह वृक्ष किस के लिए उत्पन्न किया था? क्या अपने लिए वा दूसरे के लिए? जो अपने लिए किया तो उसको क्या जरूरत थी? और जो दूसरे के लिए, तो क्यों रोका? इसलिए ऐसी बातें न ख़ुदा की और न उसके बनाये पुस्तक में हो सकती हैं। आदम साहेब ख़ुदा से कितनी बातें सीख आये? और जब पृथिवी पर आदम साहेब आये तब किस प्रकार आये? क्या वह बहिश्त पहाड़ पर है वा आकाश पर? उससे कैसे उतर आये? अथवा पक्षी के तुल्य आये अथवा जैसे ऊपर से पत्थर गिर पड़े? इसमें यह विदित होता है कि जब आदम साहेब मट्टी से बनाये गये, तो इनके स्वर्ग में भी मट्टी होगी। और जितने वहां और हैं वे भी वैसे ही फ़रिश्ते आदि होंगे, क्योंकि मट्टी के शरीर विना इन्द्रिय भोग नहीं हो सकता। जब पार्थिव शरीर है, तो मृत्यु भी अवश्य होना चाहिए। यदि मृत्यु होता है, तो वे वहां से कहां जाते हैं? और मृत्यु नहीं होता, तो उनका जन्म भी हुआ। जब जन्म है, तो मृत्यु अवश्य ही है। यदि ऐसा है, तो जो क़ुरान में लिखा है कि बीबियाँ सदैव बिहिश्त में रहती हैं, सो झूठा हो जायगा, क्योंकि उनका भी मृत्यु अवश्य होगा। जब ऐसा है तो बिहिश्त में जानेवालों का भी मृत्यु निश्चित होगा॥ १२॥

१३. उस दिन से डरो कि जब कोई जीव किसी जीव से कुछ भरोसा न रक्खेगा, न उसकी सिफ़ारिश स्वीकार की जावेगी, न उससे

बदला लिया जावेगा और न वे सहाय पावेंगे॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ४८॥

समीक्षक—क्या वर्त्तमान दिनों में न डरें? बुराई करने में सब दिन डरना चाहिए। जब सिफ़ारिश न मानी जावेगी, तो फिर पैग़म्बर की गवाही वा सिफ़ारिश से ख़ुदा स्वर्ग देगा, यह बात क्योंकर सच हो सकेगी? क्या खुदा बहिश्तवालों ही का सहायक है, दोज़ख़वालों का नहीं? यदि ऐसा है, तो ख़ुदा पक्षपाती है॥ १३॥

१४. हमने मूसा को किताब और मौज़िजे दिये॥ हमने उनको कहा कि तुम निन्दित बन्दर हो जाओ॥ यह एक भय दिया जो उनके सामने और पीछे थे उनको, और शिक्षा ईमानदारों को॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ५३॥ ६५।६६॥

समीक्षक—जो मूसा को किताब दी तो क़ुरान का होना निरर्थक है। और उसको आश्चर्यशक्ति दी यह बाइबल और क़ुरान में भी लिखा है, परन्तु यह बात मानने योग्य नहीं, क्योंकि जो ऐसा होता तो अब भी होता, जो अब नहीं, तो पहिले भी न था। जैसे स्वार्थी लोग आजकल भी अविद्वानों के सामने सिद्ध बन जाते हैं, वैसे उस समय भी कपट किया होगा, क्योंकि खुदा और उसके सेवक अब भी विद्यमान हैं, पुनः इस समय खुदा आश्चर्यकर्म क्यों नहीं देता और नहीं कर सकते? जो मूसा को किताब दी थी, तो पुनः क़ुरान का देना क्या आवश्यक था? क्योंकि जो भलाई बुराई करने न करने का उपदेश सर्वत्र एक-सा होता है, पुनः भिन्न-भिन्न पुस्तक करने से पुनरुक्त दोष होता है। क्या मूसाजी को दी हुई पुस्तक में खुदा भूल गया था। जो ख़ुदा ने निन्दित बन्दर हो जाना केवल भय देने के लिए कहा था, तो उसका कहना मिथ्या हुआ वा छल किया। जो ऐसी बातें करता और जिसमें ऐसी बातें हैं, वह न ख़ुदा और न यह पुस्तक ख़ुदा का बनायी हो सकती है॥ १४॥

१५. इस तरह मुर्दों को अल्लाह जिलाता है और तुम को अपनी निशानियाँ दिखलाता है कि तुम समझो॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ५०॥

समीक्षक—क्या मुर्दों को ख़ुदा जिलाता था तो अब क्यों नहीं

जिलाता? क्या क़यामत की रात तक क़बरों में पड़े रहेंगे? आजकल दौड़ासुपुर्द हैं? क्या इतनी ही ईश्वर की निशानियाँ हैं? पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि निशानियाँ नहीं हैं? क्या जगत् में जो विविध रचनाविशेष प्रत्यक्ष दीखती हैं यह निशानियाँ कम हैं?॥ १५॥

१६. वे सदैव काल बहिश्त अर्थात् वैकुण्ठ में वास करेंगे॥ किन्तु बुराई कमायें और उसे उसका अपराध घेर लेवे, ये लोग सदैव आग में वास करेंगे। —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८२॥

समीक्षक—कोई भी जीव अनन्त पाप पुण्य करने का सामर्थ्य नहीं रखता इसलिये सदैव स्वर्ग नरक में नहीं रह सकते। और जो ख़ुदा ऐसा करे तो वह अन्यायकारी और अविद्वान् हो जावे। क़यामत की रात न्याय होगा तो मनुष्यों के पाप पुण्य बराबर होना उचित है, जो अनन्त नहीं है उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है? और सृष्टि हुए सात आठ हज़ार वर्षों से इधर ही बतलाते हैं क्या इसके पूर्व ख़ुदा निकम्मा बैठा था? और क़यामत के पीछे भी निकम्मा रहेगा? ये बातें सब लड़कों के समान हैं, क्योंकि परमेश्वर के काम सदैव वर्त्तमान रहते हैं और जितने जिसके पाप पुण्य हैं, उतना ही उनको फल देता है, इसलिये क़ुरान की यह बात सच्ची नहीं॥ १६॥

१७. जब हमने तुमसे प्रतिज्ञा कराई न बहाना लोहू अपने आपस के और किसी अपने आपस को घरों से न निकालना, इसके तुम ही साक्षी हो॥ फिर तुम वे लोग हो कि अपने आपस को मार डालते हो, एक फ़िरके को घरों से निकाल देते हो।

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८४। ८५॥

समीक्षक—भला! प्रतिज्ञा करानी और करनी अल्पज्ञों की बात है वा परमात्मा की? जब परमेश्वर सर्वज्ञ है तो ऐसा कड़ाकूट संसारी मनुष्य के समान क्यों करेगा? भला यह कौन सी भली बात है कि आपस का लोहू न बहाना, अपने मत वालों को घर से न निकालना, अर्थात् दूसरे मत वालों का लोहू बहाना और घर से निकाल देना मिथ्या, मूर्खता और पक्षपात की बात नहीं है क्या? क्या परमेश्वर प्रथम ही से नहीं जानता था कि ये प्रतिज्ञा से विरुद्ध करेंगे? इससे विदित होता है

कि मुसलमानों का ख़ुदा भी ईसाइयों की बहुत सी उपमा रखता है और यह क़ुरान स्वतन्त्र पुस्तक नहीं बन सकता क्योंकि इसमें से थोड़ी सी बातों को छोड़कर बाकी सब बातें बायबिल की हैं॥ १७॥

१८. ये वे लोग हैं कि जिन्होंने आखरत के बदले जिन्दगी यहां की मोल ले ली, उनसे पाप कभी हलका न किया जावेगा और न उनको सहायता दी जावेगी॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८६॥

समीक्षक—भला! ऐसी ईर्ष्या द्वेष की बातें कभी ईश्वर की हो सकती हैं? दूसरों की कहानी दूसरों से कहनी, किसी का पक्ष करना ख़ुदा की बात हो सकती है? किन्तु किसी मतावलम्बी मनुष्य की ओर से है। जिन लोगों के पाप हलके किये जायेंगे वा जिनको सहायता दी जावेगी वे कौन हैं? यदि वे पापी हैं और पापों का दण्ड दिये विना हलके किये जावेंगे तो अन्याय होगा। जो सजा देकर हलके किये जावेंगे, तो जिनका बयान इस आयत में है, ये भी सजा पाके हलके हो सकते हैं। और दण्ड देकर भी हलके न किये जावेंगे, तो भी अन्याय होगा। जो पापों से हलके किये जाने वालों से प्रयोजन धर्मात्माओं का है, तो उनके पाप तो आप ही हलके हैं; खुदा क्या करेगा? इससे यह लेख विद्वान् का नहीं। और वास्तव में धर्मात्माओं को सुख और अधर्म्मियों को दुःख, उनके कर्म्मों के अनुसार सदैव देना चाहिये॥ १८॥

१९. निश्चय हमने मूसा को किताब दी और उसके पीछे हम पैगम्बर को लाये और मरियम के पुत्र ईसा को प्रकट मौज़िजे अर्थात् दैवीशक्ति और सामर्थ्य दिये उसको साथ रूहुल्‌कुद्‌स* के, जब तुम्हारे पास उस वस्तुसहित पैग़म्बर आया कि जिसको तुम्हारा जी चाहता नहीं, फिर तुमने अभिमान किया, एक मत को झुठलाया और मार डालते हो॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८७॥

समीक्षक—जब क़ुरान में साक्षी है कि मूसा को किताब दी, तो उसका मानना मुसलमानों को आवश्यक हुआ और जो-जो उस पुस्तक में दोष हैं वे भी मुसलमानों के मत में आ गिरे। और 'मौज़िजे' अर्थात्

* रूहल्‌कुद्‌स कहते हैं जबरईल को जो कि हरदम मसीह के साथ रहता था।

दैवीशक्ति की बातें सब अन्यथा हैं, भोले भाले मनुष्यों को बहकाने के लिए लोगों ने झूठ-मूठ चला ली हैं, क्योंकि सृष्टिक्रम और विद्या से विरुद्ध सब बातें झूठी ही होती हैं। जो उस समय 'मौज़िजे' थे, तो इस समय क्यों नहीं? जो इस समय नहीं, तो उस समय भी न थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं॥ १९॥

२०. और इससे पहिले काफ़िरों पर विजय चाहते थे, जो कुछ पहिचाना था, जब उनके पास वह आया, झट काफ़िर हो गये, काफ़िरों पर लानत है अल्लाह की॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८९॥

समीक्षक—क्या जैसे तुम अन्य मत वालों को काफ़िर कहते हो, वैसे वे तुमको काफ़िर कहते हैं? और उनके मत के ईश्वर की ओर से धिक्कार देते हैं? फिर कहो कौन सच्चा और कौन झूठा? जो विचार कर देखते हैं तो सब मत वालों में झूठ पाया जाता है और जो सच है सो सबमें एक सा है, ये सब लड़ाइयाँ मूर्खता की हैं॥ २०॥

२१. आनन्द का सन्देशा ईमानदारों को॥ जो अल्लाह फ़रिश्तों, पैग़म्बरों, ज़िबरईल और मिकाईल का शत्रु है अल्लाह भी ऐसे काफ़िरों का शत्रु है॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ९७।९८॥

समीक्षक—जब मुसलमान कहते हैं कि 'ख़ुदा लाशरीक' है फिर यह फौज की फौज 'शरीक' कहां से कर दी? क्या जो शैतान का शत्रु वह परमेश्वर का भी शत्रु है? क्या वह ख़ुदा की आज्ञा से विरुद्ध नहीं चलता? इससे ख़ुदा पक्षपाती होता है॥ २१॥

२२. और कहो कि क्षमा मांगते हैं हम क्षमा करेंगे तुम्हारे पाप और निश्चय भलाई करने वालों के॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८५॥

समीक्षक—भला, यह खुदा का उपदेश सबको पापी बनानेवाला है वा नहीं? क्योंकि जब पाप क्षमा होने का आश्रय मनुष्यों को मिलता है तभी पापों से कोई भी नहीं डरता, इसलिए ऐसा कहनेवाला ख़ुदा और यह ख़ुदा का बनाया हुआ पुस्तक नहीं हो सकता। क्योंकि वह न्यायकारी है, अन्याय कभी नहीं करता और पाप क्षमा करने में अन्यायकारी हो ही जाता है; किन्तु यथापराध दण्ड ही देने में न्यायकारी हो सकता है॥ १५॥

२३. जब मूसा ने अपनी कौम के लिए पानी माँगा हमने कहा कि

अपना असा पत्थर पर मार। उसमें से बारह चश्मे बह निकले॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ६०॥

समीक्षक—अब देखिये! इन गपोड़ों के तुल्य दूसरा कोई होगा? भला! एक पत्थर की शिला में डंडा मारने से बारह झरने निकालना सर्वथा असम्भव है। जो उस पत्थर को भीतर से पोला कर, उसमें पानी भर, बारह छिद्र करने से सम्भव है, अन्यथा नहीं॥ १६॥

२४. और अल्लाह ख़ास करता है जिसको चाहता है दया करता है॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० १०५॥

समीक्षक—क्या जो मुख्य करने योग्य न हो, न दया करने योग्य हो, उसको भी प्रधान और उस पर दया करता है? जो ऐसा है तो ख़ुदा बड़ा गड़बड़िया है क्योंकि फिर अच्छा काम कौन करे? और बुरे कर्म को कौन छोड़ेगा? क्योंकि ख़ुदा की प्रसन्नता पर सब बातें निर्भर करती हैं, कर्मफल पर नहीं। इससे सबको अनास्था होकर धर्मोच्छेदप्रसङ्ग होगा॥ २४॥

२५. ऐसा न हो कि काफ़िर लोग ईर्ष्या करके तुमको ईमान से फेर देवें, क्योंकि उनमें से ईमानवालों के बहुत से दोस्त हैं॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० १०९॥

समीक्षक—अब देखिये! ख़ुदा ही उनको चिताता है कि तुम्हारे ईमान को काफ़िर लोग न डिगा देवें। क्या वह सर्वज्ञ नहीं है? ऐसी बातें ख़ुदा की नहीं हो सकती हैं॥ २५॥

२६. तुम जिधर मुँह करो, उधर ही मुँह अल्लाह का है॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० ११६॥

समीक्षक—जो यह बात सच्ची है तो मुसलमान 'क़िबले' की ओर मुंह क्यों करते हैं? जो कहें हमको किबले की ओर मुंह फेरने का हुक्म है, तो यह भी हुक्म है कि चाहे जिधर की ओर मुख करो, क्या एक बात सच्ची और दूसरी झूठी होगी? और जो अल्लाह का मुख है, तो वह सब ओर हो ही नहीं सकता, क्योंकि एक मुख एक ओर रहेगा, सब ओर क्योंकर रह सकेगा? इसलिए यह संगत नहीं॥ २६॥

२७. वो आसमान और भूमि का उत्पन्न करने वाला है, जब वो

कुछ करना चाहता है यह नहीं कि उसको करना पड़ता है किन्तु उसे कहता है कि हो जा! बस हो जाता है॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० ११७॥

समीक्षक—भला ख़ुदा ने हुक्म दिया कि होजा, तो हुक्म किसने सुना? और किसको सुनाया? और कौन बन गया? किस कारण से बनाया? जब यह लिखते हैं कि सृष्टि के पूर्व सिवाय ख़ुदा के कोई भी दूसरा वस्तु न था, तो यह संसार कहां से आया? विना कारण के कोई भी कार्य्य नहीं होता, तो इतना बड़ा जगत् कारण के विना कहां से हुआ? यह बात केवल लड़केपन की है।

पूर्वपक्षी—ख़ुदा की इच्छा से।

उत्तरपक्षी—क्या तुम्हारी इच्छा से एक मक्खी की टांग भी बन जा सकती है? जो कहते हो कि ख़ुदा की इच्छा से यह सब कुछ जगत् बन गया।

पूर्वपक्षी—ख़ुदा सर्वशक्तिमान् है इसलिए जो चाहे सो कर लेता है।

उत्तरपक्षी—सर्वशक्तिमान् शब्द का क्या अर्थ है?

पूर्वपक्षी—जो चाहे सो कर सके।

उत्तरपक्षी—क्या ख़ुदा दूसरा ख़ुदा भी बना सकता, अपने आप मर सकता, मूर्ख, रोगी और अज्ञानी भी बन सकता है?

पूर्वपक्षी—ऐसा कभी नहीं बन सकता।

उत्तरपक्षी—इसलिए परमेश्वर अपने और दूसरों के गुण, कर्म स्वभाव के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे संसार में किसी वस्तु के बनने बनाने में तीन पदार्थ प्रथम अवश्य होते हैं—एक बनाने वाला जैसा कुम्हार, दूसरी घड़ा बनने वाली मिट्टी और तीसरा उनके साधन जिससे घड़ा बनाया जाता है। जैसे कुम्हार, मिट्टी और साधन से घड़ा बनता है और बनने वाले घड़े के पूर्व कुम्हार, मिट्टी और साधन होते हैं, वैसे ही जगत् के बनने से पूर्व परमेश्वर, जगत् का कारण प्रकृति और उनके गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं इसलिए यह क़ुरान की बात सर्वथा मिथ्या है॥ २७॥

२८. जब हमने लोगों के लिए काबे को पवित्र स्थान सुख देने वाला उपद्रव रहित बनाया, तुम नमाज़ के लिए इबराहीम के स्थान को पकड़ो॥ —मं० १। सि० १। सू० २। आ० १२५॥

समीक्षक—क्या क़िबले के पहले पवित्र स्थान ख़ुदा ने कोई भी बनाया था वा नहीं? जो बनाया था तो किबले के बनाने की कुछ आवश्यकता नहीं, जो नहीं बनाया था, तो बिचारे पूर्वोत्पन्नों को पवित्र स्थान के विना ही रक्खा था। जब कुरान बनाई थी, तब ईश्वर को पवित्र स्थान बनाने का स्मरण न हुआ होगा॥ २८॥

२९. वो कौन मनुष्य है जो इबराहीम के दीन से फिर जावे परन्तु जिसने अपनी जान को मूर्ख बनाया और निश्चय हमने दुनियां में उसी को पसन्द किया। और निश्चय आख़रत में वो ही नेक हैं॥

—मं० १। सि० १। सू० २। आ० १३०॥

समीक्षक—क्या मुसलमान लोग इबराहीम के मजहब से बहुत नहीं फिर गये हैं? क्या यह खुदा की बात है कि जो उसको मूर्ख प्रसन्न होंवें, विद्वान् नहीं? यह बात अविद्वत्ता की है अर्थात् जब इस पुस्तक के बनाने वाले ने समझा कि मैं अविद्वान् हूं और विद्वान् लोग मेरी बात को काटेंगे, मैं उत्तर न दे सकूंगा, इसलिए धर्मविषय में मूर्ख के समान होकर जो कुछ अण्ड-बण्ड कहै, सब कुछ मान लेना चाहिए। जो ऐसा न करता तो लोग उसके मजहब में न आते, आ के न स्थिर रहते और न उसका प्रयोजन सिद्ध होता। हां! यह तो ठीक है कि जो धर्मात्मा है, वही ईश्वर को प्रिय होता है, अधर्मी नहीं॥ २९॥

३०. निश्चय हम तेरे मुख को आसमान में फिरता देखते हैं अवश्य हम तुझे उस क़िबले को फेरेंगे कि पसन्द करे उसको, बस अपना मुख मस्जिदुल्हराम की ओर फेर, जहां कहीं तुम हो अपना मुख उसकी ओर फेर लो॥ —मं० १। सि० २। सू० २। आ० १४४॥

समीक्षक—क्या यह छोटी बुतपरस्ती है? नहीं, किन्तु बड़ी।

प्रश्न—हम मुसलमान लोग बुतपरस्त नहीं हैं किन्तु बुतिशकन अर्थात् बुतों के तोड़नेहारे हैं, क्योंकि हम क़िबले को ख़ुदा नहीं समझते।

उत्तर—तो क्या जिन को तुम बुतपरस्त समझते हो, वे भी उस-

उस मूर्त्ति को ईश्वर नहीं समझते? किन्तु उसके सामने परमेश्वर की भक्ति करते हैं। यदि बुतों के तोड़नेहारे हो तो उस मस्जिद क़िबले बड़े बुत को क्यों न तोड़ा?

प्रश्न—वाह जी! हमारा तो क़िबले की ओर मुख फेरने का क़ुरान में हुक्म है और इनको वेद में हुक्म नहीं है फिर वे बुतपरस्त क्यों नहीं? और हम क्यों? क्योंकि हम को ख़ुदा का हुक्म बजाना अवश्य है।

उत्तर—जैसे तुम्हारे लिये क़ुरान में हुक्म है वैसे इनके लिये पुराण में आज्ञा है। जैसे तुम क़ुरान को ख़ुदा का कलाम समझते हो वैसे पुराणी भी पुराणों को ख़ुदा के अवतार व्यासजी का वचन समझते हैं। तुम में और इन में बुतपरस्ती का कुछ भिन्न भाव नहीं है प्रत्युत तुम बड़े बुतपरस्त और ये छोटे हैं। क्योंकि जब तक कोई मनुष्य अपने घर में से प्रविष्ट हुई बिल्ली को निकालने लगे, तब तक उसके घर में ऊंट प्रविष्ट हो जाय, वैसे ही मुहम्मद साहेब ने छोटे बुत को मुसलमानों के मन से निकाला, परन्तु बड़ा बुत जो कि पहाड़ के सदृश मक्के की मस्जिद है, वह सब मुसलमानों के मन में प्रविष्ट करा दिई, क्या यह छोटी बुतपरस्ती है? हां, जो हम लोग वैदिक हैं वैसे ही तुम भी वैदिक हो जाओ, तो बुतपरस्ती आदि बुराइयों से बच सको, अन्यथा नहीं। तुमको 'जब तक अपनी बड़ी बुतपरस्ती को न निकाल देओ तब तक' दूसरे छोटे बुतपरस्तों के खण्डन से लज्जित होके, निवृत्त रहना चाहिये और अपने को बुतपरस्ती से पृथक् करके पवित्र करना चाहिये॥ ३०॥

३१. जो लोग अल्लाह के मार्ग में मारे जाते हैं उनके लिए यह मत कहो कि ये मृतक हैं किन्तु वे जीवित हैं॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० १५४॥

समीक्षक—भला ईश्वर के मार्ग में मरने मारने की क्या आवश्यकता है? यह क्यों नहीं कहते हो कि यह बात अपने मतलब सिद्ध करने के लिये है कि यह लोभ देंगे तो लोग खूब लड़ेंगे, अपना विजय होगा, मरने से न डरेंगे, लूट मार करने से ऐश्वर्य प्राप्त होगा, पश्चात् विषयानन्द करेंगे इत्यादि स्वप्रयोजन के लिये यह विपरीत व्यवहार किया है॥ ३१॥

३२. इन* लोगों पर इनके मालिक की ओर से दया और दरुद हैं और ये ही मार्ग पाने वाले हैं। —मं० १। सि० २। सू० २। आ० १५३॥

समीक्षक—अब देखिये! यह काम भी एक प्रकार की बुतपरस्ती है। भला! मुर्दों पर आयतें पढ़ने से क्या होता है? क्योंकि उसका जीवात्मा तो पहले ही चला गया, पुन: पाठ कौन सुनेगा? इसलिये यह व्यर्थ कर्म है। इत्यादि से यह ईश्वरकृत वा विद्वत्कृत भी नहीं है॥ ३२॥

३३. जो लोग छिपाते हैं उसको जो कि हमने प्रमाणों और शिक्षा से उतारा। उसके बीच में जो कुछ है अल्लाह की और धिक् देने वालों की धिक्कार है। परन्तु जिन्होंने तोबा: और भलाई करी, उनके ऊपर फिर दया करता हूं और करूंगा। जो लोग काफिर हुए, फिर मर गये, और काफिर ही रहे, उन पर खुदा फरिश्तों और सब आदमियों पर धिक्कार है। सदैव उसी में रहेंगे। उनसे पाप हलका न किया जायगा और न वे ढील दिये जायेंगे। तुम्हारा एक ही मालिक है और कोई नहीं। वह क्षमा करने वाला दयालु है॥

—मं० १। सि० २। आ० १५५। १५६। १५७॥

समीक्षक—यह बात जो कि पहले पैगम्बरों के सामने जैसा कि इबराहीम साहेब के सामने खतन: आदि के नियम बांधे थे, उनको जो नहीं करते और शहर मक्के में सफा और मुरब्ब: दो पहाड़ हैं, अरब के लोग इबाराहीम के समय से सदैव हज करते रहे, परन्तु मुसलमानों ने किसी कारण से छोड़ दी थी, उस पर यह आयत उतरी, उन्हीं को धिक्कार दिया जाता है और जो मुसलमान तोबा: करले तो माफ हो जाय, परन्तु जो काफिर अर्थात् मुसलमान के मजहब में नहीं हैं, उन पर ख़ुदा बड़ा खार खाता है। भला! ऐसी बातें कभी ख़ुदा की हो सकती हैं? और जो पक्षपाती है, वह ईश्वर कभी नहीं हो सकता। क्या मुसलमानों पर क्षमा करने वाला दयालु है, अन्य पर दयाकर्त्ता दयाहीन कहा जावे? इसी से न यह ईश्वरकृत पुस्तक और न इसमें कहा हुआ

* यह वाक्य आशीर्वाद में नहीं समझा जाता है। इसका प्रचार मुसलमानों ही में है। कबरवासियों पर पढ़ते हैं, दरुद और फात:॥

ईश्वर हो सकता है॥ ३३॥

३४. और यह कि अल्लाह कठोर दु:ख देने वाला है।। शैतान का पक्ष मत करो निश्चय वो तुम्हारा प्रत्यक्ष शत्रु है।। उसके विना और कोई नहीं जो बुराई और निर्लज्जता की आज्ञा दे तुम कहो अल्लाह पर जो नहीं जानते॥ —मं० १ सि० २। सू० २। आ० १६५। १६८। १६९॥

समीक्षक—क्या कठोर दु:ख देने वाला दयालु ख़ुदा सब पापियों पुण्यात्माओं के ऊपर है अथवा मुसलमानों पर दयालु और अन्य पर दयाहीन है? जो ऐसा है, तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। और पक्षपाती नहीं है तो जो मनुष्य जहां कहीं धर्म करेगा, उस पर ईश्वर दयालु और जो अधर्म करेगा, उस पर दण्डदाता होगा, तो फिर बीच में मुहम्मद साहेब और क़ुरान को मानना आवश्यक न रहा। और जो सब को बुराई कराने वाला मनुष्यमात्र का शत्रु शैतान है, उसको खुदा ने उत्पन्न ही क्यों किया? क्या वह भविष्यत् की बात नहीं जानता था? जो कहो कि जानता था, परन्तु परीक्षा के लिये बनाया, तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि परीक्षा करना अल्पज्ञ का काम है, सर्वज्ञ तो सब जीवों के अच्छे बुरे कर्मों को सदा से ठीक-ठीक जानता है। और शैतान सब को बहकाता है, तो शैतान को किसने बहकाया? जो कहो कि शैतान आप से आप बहका, तो अन्य भी आप से आप बहकेंगे, बीच में शैतान का क्या काम? और जो ख़ुदा ही ने शैतान को बहकाया, तो ख़ुदा शैतान का भी शैतान ठहरेगा। ऐसी बात ईश्वर की नहीं हो सकती। और जो कोई बहकता है, वह कुसंग तथा अविद्या से भ्रमित होता है॥ ३४॥

३५. तुम को पर मुर्दार, लोहू और गोश्त सूअर का हराम है और अल्लाह के विना जिस पर कुछ पुकारा जावे॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० १७३॥

समीक्षक—यहां विचारना चाहिये कि मुर्दा चाहे आप से आप मरे वा किसी के मारने से, दोनों बराबर हैं, हां इनमें कुछ भेद भी है तथापि मृतकपन में कुछ भेद नहीं। जो लोहू हराम है, तो मरे पीछे लोहू शरीर ही में जम कर मांस हो जाता है, फिर मांस खाना मुसलमानों के लिये सर्वथा हराम रहा और जब एक सूअर का निषेध किया, तो क्या मनुष्य का मांस

खाना उचित है? क्या यह बात अच्छी हो सकती है कि परमेश्वर के नाम पर पशु आदि को अत्यन्त दु:ख दे के प्राणहत्या करनी? इससे ईश्वर का नाम कलंकित हो जाता है। हां ईश्वर ने विना पूर्वजन्म के अपराध के मुसलमानों के हाथ से दारुण दु:ख क्यों दिलाया? क्या उन पर दयालु नहीं हैं? उनको पुत्रवत् नहीं मानता? जिस वस्तु से अधिक उपकार होवे, उन गाय आदि के मारने का निषेध न करना, जानो हत्या कराकर खुदा जगत् का हानिकारक, हिंसारूप पाप से कलंकित भी हो जाता है। ऐसी बातें खुदा और खुदा की पुस्तक की कभी नहीं हो सकतीं॥ ३५॥

३६. रोज़े की रात तुम्हारे लिये हलाल की गई कि मदनोत्सव करना अपनी बीबियों से, वे तुम्हारे वास्ते पर्दा हैं और तुम उनके लिये पर्दा हो, अल्लाह ने जाना कि तुम चोरी करते हो अर्थात् व्यभिचार बस फिर अल्लाह ने क्षमा किया तुम को, बस उनसे मिलो और ढूंढो जो अल्लाह ने तुम्हारे लिये लिख दिया है अर्थात् सन्तान, खाओ पीयो यहां तक कि प्रकट हो तुम्हारे लिये काले तागे से सुफेद तागा वा रात से जब दिन निकले॥ —मं० १। सि० २। सू० २। आ० १८७॥

समीक्षक—यहाँ यह निश्चित होता है कि जब मुसलमानों का मत चला वा उसके पहिले किसी ने पौराणिक को पूछा होगा कि चान्द्रायण व्रत जो एक महीने भर का होता है उसका विधि क्या? वह शास्त्रविधि जो कि चन्द्र की कला घटने बढ़ने के अनुसार ग्रासों को घटाना बढ़ाना और मध्याह्न दिन में खाना लिखा है उसको न जान कर कहा होगा कि चन्द्रमा का दर्शन करके खाना, उसको इन मुसलमान लोगों ने इस प्रकार का कर लिया। परन्तु व्रत में स्त्री समागम का त्याग है वह एक बात खुदा ने बढ़ कर कह दी कि तुम स्त्रियों का भी समागम भले ही किया करो और रात में चाहें अनेक वार खाओ। भला यह व्रत क्या हुआ? दिन में न खाया, रात को खाते रहे, परन्तु यह सृष्टिक्रम से विपरीत है कि दिन में न खाना और रात में खाना॥ ३६॥

३७. अल्लाह के मार्ग में लड़ो उन से जो तुम से लड़ते हैं। मार डालो तुम उनको जहां पाओ, क़तल से कुफ्र बुरा है। यहां तक उन से लड़ो कि कुफ्र न रहे और होवे दीन अल्लाह का॥ उन्होंने जितनी

ज़ियादती करी. उतनी ही उन के साथ करो॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० १९०।१९१।१९३।१९४॥

समीक्षक—जो क़ुरान में ऐसी बातें न होती, तो मुसलमान लोग इतना बड़ा अपराध जो कि अन्य मत वालों पर किया है न करते, और विना अपराधियों को मारना उन पर बड़ा पाप है। जो मुसलमान के मत का ग्रहण न करे, उसको कुफ्र कहते हैं अर्थात् कुफ्र से क़तल को मुसलमान लोग अच्छा मानते हैं। अर्थात् जो हमारे दीन को न मानेगा उसको हम क़तल करेंगे सो करते ही आये, मज़हब पर लड़ते-लड़ते आप ही राज्य आदि से नष्ट हो गये और उनका मन अन्य मत वालों पर अति कठोर रहता है। क्या चोरी का बदला चोरी है? कि जितना हमारा अपराध चोर आदि चोरी करें क्या हम भी चोरी करें? यह सर्वथा अन्याय की बात है। क्या कोई अज्ञानी हमको गालियां दे, क्या हम भी उसको गाली देवें? यह बात न ईश्वर, न ईश्वर के भक्त विद्वान् की और न ईश्वरोक्त पुस्तक की हो सकती है। यह तो केवल स्वार्थी अज्ञानी मनुष्य की है॥ ३७॥

३८. अल्लाह झगड़ा करने वालों को मित्र नहीं करता॥ ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो इसलाम में प्रवेश करो॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० २०५।२०८॥

समीक्षक—जो झगड़ा को ख़ुदा मित्र नहीं समझता तो क्यों आप ही मुसलमानों को झगड़ा करने में प्रेरणा करता? और झगड़ालू मुसलमानों से मित्रता क्यों करता है? क्या मुसलमान के मत में मिलने ही में ख़ुदा राज़ी है? तो वह मुसलमानों ही का पक्षपाती है सब संसार का ईश्वर नहीं। इससे यहां यह विदित होता है कि न क़ुरान ईश्वरकृत और इसमें कहा हुआ ईश्वर भी नहीं हो सकता है॥ ३८॥

३९. ख़ुदा जिसको चाहे अनन्त आनन्द देवे॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० २१२॥

समीक्षक—क्या विना पाप पुण्य के ख़ुदा ऐसे ही आनन्द देता है? फिर भलाई बुराई का करना एक सा ही हुआ, क्योंकि सुख दु:ख प्राप्त होना उसकी इच्छा पर है। इससे धर्म से विमुख होकर मुसलमान लोग यथेष्टाचार करते हैं और कोई-कोई इस क़ुरानोक्त पर विश्वास न करके धर्मात्मा भी होते हैं॥ ३९॥

४०. प्रश्न करते हैं तुझ से रजस्वला को कह वो अपवित्र हैं, पृथक् रहो, ऋतु समय में उन के समीप मत जाओ, जब तक कि वे पवित्र न हों, जब नहा लेवें, उन के पास उस स्थान से जाओ ख़ुदा ने आज्ञा दी॥ तुम्हारी बीवियां तुम्हारे लिये खेतियां हैं, बस जाओ जिस तरह चाहो अपने खेत में॥ तुम को अल्लाह लग़ब (बेकार, व्यर्थ) शपथ के तोड़ने में नहीं पकड़ता॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० २२२।२२३।२२५॥

समीक्षक—जो यह रजस्वला का स्पर्श, संग न करना लिखा है, वह अच्छी बात है। परन्तु जो यह स्त्रियों को खेती के तुल्य लिखना और जैसा जिस ओर से चाहो उनसे बर्तो यह विषयी और पुंसि मैथुन का भी कारण हो सकता है। जो ख़ुदा बेकार शपथ पर नहीं पकड़ता, तो सब झूठ बोलेंगे शपथ तोड़ेंगे। इससे ख़ुदा झूठ का प्रवर्त्तक होगा॥ ४०॥

४१. वो कौन मनुष्य है जो अल्लाह को उधार देवे, अच्छा बस अल्लाह द्विगुण करे उसके वास्ते॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० २४५॥

समीक्षक—अब देखिये यह क़ुरान बनाने वा बनवाने वाले की मतलबसिन्धु की बात! कि ईश्वर के नाम से लोगों से धन ठग के स्वप्रयोजन सिद्ध करना चाहता है। क्या ईश्वर उसको धन नहीं दे सकता था और क्या उस का ख़जाना खाली हो गया था? तथा क्या वह हुंडी, पुड़िया व्यापारादि में मग्न होने से तोटा में फंस गया था जो उधार* लेने लगा? और एक का दो-दो देना स्वीकार करता है, क्या यह साहूकारों

* इसी आयत के भाष्य में तफ़सीरहुसैनी में लिखा है कि एक मनुष्य मुहम्मद साहब के पास आया। उसने कहा कि ऐ रसूलल्लाह खुदा कर्ज़ क्यों माँगता है? उन्होंने उत्तर दिया कि तुमको बहिश्त में ले जाने के लिए। उसने कहा कि जो आप ज़मानत लें, तो मैं दूँ। मुहम्मद साहेब ने उसकी ज़मानत ले ली। खुदा का भरोसा न हुआ, उसके दूत का हुआ। भला खुदा को कर्ज उधार लने से क्या प्रयोजन? जिसने सारे संसार को बनाया, वह मनुष्य से कर्जा लेता है? कदापि नहीं। ऐसा तो विना समझे कहा जा सकता है।

का काम है? किन्तु ऐसा काम तो दिवालिये वा जिनके ख़र्च अधिक और आय न्यून होने वालों को करना पड़ता है, ईश्वर को नहीं॥ ४१॥

४२. उनमें से कोई ईमान लाया और कोई काफ़िर हुआ जो अल्लाह चाहता न लड़ते, जो चाहता है अल्लाह करता है॥

—मं० १। सि० २। सू० २। आ० २५३॥

समीक्षक—क्या जितनी लड़ाई होती है वह ईश्वर ही की इच्छा से? क्या वह अधर्म करना चाहे, तो कर सकता है? जो ऐसी बात है, तो वह ख़ुदा ही नहीं, क्योंकि भले मनुष्यों का यह कर्म नहीं कि शान्तिभंग करके लड़ाई करावें। इसीसे विदित होता है कि यह क़ुरान न ईश्वर की बनाई और न किसी धार्मिक विद्वान् की रचित है॥ ४२॥

४३. जो कुछ आसमान और पृथिवी पर है सब उसी के लिये है, चाहे उसकी कुरसी में आसमान और पृथिवी को समा लेवे॥

—मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २५५॥

समीक्षक—जो आकाश और भूमि में पदार्थ हैं वे सब जीवों के लिये परमात्मा ने उत्पन्न किये हैं, अपने लिये नहीं, क्योंकि वह पूर्णकाम है, उसको किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं। जब उसकी कुर्सी है, तो वह एकदेशी है। जो एकदेशी होता है, वह ईश्वर नहीं कहाता, क्योंकि ईश्वर तो व्यापक है॥ ४३॥

४४. मेरा मालिक सूर्य्य को पूर्व से लाता है बस तू पश्चिम से ले आ, जो क़ाफिर था हैरान हुआ, निश्चय अल्लाह पापियों को मार्ग नहीं दिखलाता॥ —मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २५८॥

समीक्षक—देखिये यह अविद्या की बात! भला सूर्य्य न पूर्व से पश्चिम और न पश्चिम से पूर्व कभी आता जाता है, वह तो अपनी परिधि में घूमता रहता है। इससे निश्चित जाना जाता है कि क़ुरान के कर्त्ता को खगोल और भूगोल विद्या न आती थी। जो पापियों को मार्ग नहीं बतलाता तो पुण्यात्माओं के लिये भी मुसलमानों के ख़ुदा की आवश्यकता नहीं, क्योंकि धर्मात्मा तो धर्म मार्ग में ही होते हैं, मार्ग तो धर्म से भूले हुए मनुष्यों को बतलाना होता है, सो कर्त्तव्य के न करने से क़ुरान के कर्त्ता की बड़ी भूल है॥ ४४॥

४५. कहा चार जानवरों से ले उनकी सूरत पहिचान रख, फिर हर पहाड़ पर उन में से एक-एक टुकड़ा रख दे, फिर उन को बुला दौड़ते तेरे पास चले आवेंगे॥ —मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २६०॥

समीक्षक—वाह-वाह देखो जी! मुसलमानों का ख़ुदा भानमती के समान खेल कर रहा है! क्या ऐसी ही बातों से ख़ुदा की ख़ुदाई है? तो बुद्धिमान् लोग ऐसे ख़ुदा को तिलाञ्जलि देके दूर रहेंगे और मूर्ख लोग फसेंगे। इससे ख़ुदा की बड़ाई के बदले बुराई उसके पल्ले पड़ेगी॥ ४५॥

४६. जिस को चाहे नीति देता है॥

—मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २६९॥

समीक्षक—जब जिसको चाहता नीति देता है, तो जिसको नहीं चाहता है उसको अनीति देता होगा, यह बात ईश्वरता की नहीं। किन्तु जो पक्षपात छोड़ सब को नीति का उपदेश करता है, वही ईश्वर और आप्त हो सकता है, अन्य नहीं॥ ४६॥

४७. जो लोग ब्याज खाते हैं वे कबरों से नहीं खड़े होंगे॥

—मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २७५॥

समीक्षक—क्या वे कबरों ही में पड़े रहेंगे? और जो पड़े रहेंगे, तो कब तक? ऐसी असम्भव बात ईश्वर के पुस्तक की तो नहीं हो सकती है, किन्तु बालबुद्धियों की तो हो सकती है॥ ४७॥

४८. वह कि जिसको चाहे क्षमा करेगा, जिसको चाहे पापी बनावेगा, क्योंकि वह सब वस्तु पर बलवान् है॥

—मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २८४॥

समीक्षक—क्या क्षमा के योग्य पर क्षमा न करना, अयोग्य पर क्षमा करना गवरगंड राजा के तुल्य यह कर्म नहीं है? यदि ईश्वर जिसको चाहता पापी वा पुण्यात्मा बनाता है तो जीव को पाप पुण्य न लगना चाहिये, क्योंकि जब ईश्वर ही ने उसको वैसा किया तो जीवों को दुःख-सुख न होना चाहिये। जैसे सेनापति की आज्ञा से किसी भृत्य ने किसी को मारा वा रक्षा की उसका फलभागी वह नहीं होता वैसे वे भी नहीं॥ ४८॥

४९. कह इससे अच्छी और क्या परहेज़गारों को खबर दें कि अल्लाह की ओर से बहिश्तें हैं जिन में नहरें चलती हैं उसी में सदैव रहने वाली शुद्ध अर्थात् गोरी-गोरी बीवियाँ अल्लाह की प्रसन्नता से, अल्लाह उनको देखने वाला है॥ —मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० १४॥

समीक्षक—भला यह स्वर्ग है किंवा वेश्यावन? इसको ईश्वर कहना वा स्त्रैण अर्थात् स्त्रियों में प्रसक्त? कोई भी बुद्धिमान्, ऐसी बातें जिस में हों, उसको परमेश्वर का किया पुस्तक कभी नहीं मान सकते। यह पक्षपात क्यों करता है? जो बीवियां बहिश्त में सदा रहती हैं, वे यहां जन्म पाके वहां गई हैं वा वहीं उत्पन्न हुई हैं। यदि यहां जन्म पाकर वहां गई हैं, क़यामत की रात से पहिले ही वहां बीवियों को बुला ली और उनके खाविन्दों को क्यों न बुला लिये? और क़यामत की रात में सब न्याय होगा, इस नियम को क्यों तोड़ा? यदि वहीं जन्मीं हैं, तो क़यामत तक वे क्योंकर निर्वाह करती हैं? यदि फरिश्तों से निर्वाह करती हैं, तो यहाँ से बहिश्त में जाने वाले मुसलमानों को ख़ुदा बीवियां कहां से देगा? क्या क्षतयोनि ही उनको देगा और जैसे बीवियां बहिश्त में सदा रहनेवाली बनाई, वैसे पुरुषों को वहां सदा रहने वाले क्यों नहीं बनाया? इसलिये मुसलमानों का ख़ुदा अन्यायकारी, बेसमझ है॥ ४९ ॥

५०. निश्चय अल्लाह की ओर से दीन इसलाम है और नहीं॥

—मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० १८॥

समीक्षक—क्या अल्लाह मुसलमानों ही का है अन्यों का नहीं? क्या तेरह सौ वर्षों से पूर्व ईश्वरीय मत था ही नहीं? इसी से यह क़ुरान ईश्वर का बनाया तो नहीं, किन्तु किसी पक्षपाती का बनाया है॥ ५० ॥

५१. प्रत्येक जीव को पूरा दिया जावेगा जो कुछ उसने कमाया और वे न अन्याय किये जावेंगे॥ कह या अल्लाह तू ही मुल्क का मालिक है जिसको चाहे देता है जिससे चाहे छीनता है जिसको चाहे प्रतिष्ठा देता है जिसको चाहे अप्रतिष्ठा देता है, सब कुछ तेरे ही हाथ में है, प्रत्येक वस्तु पर तू ही बलवान् है॥ रात को दिन में और दिन को रात में पैठाता है और मृतक को जीवित से जीवित को मृतक से निकालता है और जिसको चाहे अत्यन्त अन्न देता है॥ मुसलमानों को उचित है कि

काफिरों को मित्र न बनावें सिवाय मुसलमानों के, जो कोई यह करे, बस वह अल्लाह की ओर से नहीं॥ कह जो तुम चाहते हो अल्लाह को, तो पक्ष करो मेरा, अल्लाह चाहेगा तुमको और तुम्हारे पाप क्षमा करेगा, निश्चय करुणामय है॥

—मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० २४। २५। २६। २७। ३०॥

समीक्षक—जब प्रत्येक जीव को कर्मों का पूरा-पूरा फल दिया जावेगा तो क्षमा न किया जायगा, और जो क्षमा किया जायगा तो पूरा फल न दिया जायगा और अन्याय होगा। जब विना उत्तम कर्मों के राज्य प्रतिष्ठा देगा, तो भी ईश्वर अन्यायी हो जायगा और विना पाप के राज्य और प्रतिष्ठा छीन लेगा, तो भी अन्याकारी हो जायगा। भला! रात में दिन, दिन में रात और जीवित से मृतक और मृतक से जीवित कभी हो सकता है? क्योंकि ईश्वर की व्यवस्था अछेद्य अभेद्य है, कभी अदल-बदल नहीं हो सकती। अब देखिये। पक्षपात की बातें! कि जो मुसलमान के मज़हब में नहीं हैं उनको काफिर ठहराना, उनमें श्रेष्ठों से भी मित्रता न रखने और मुसलमानों में दुष्टों से भी मित्रता रखने के उपदेश करना ईश्वर को ईश्वरता से बहिः कर देता है। इससे यह क़ुरान, क़ुरान का ख़ुदा और मुसलमान लोग केवल पक्षपात, अविद्या के भरे हुए हैं। इसलिये मुसलमान लोग अन्धेरे में हैं। और देखिये मुहम्मद साहेब की लीला! कि जो तुम मेरा पक्ष करोगे तो ख़ुदा तुम्हारा पक्ष करेगा और जो तुम पक्षपातरूप पाप करोगे उसकी क्षमा भी करेगा। इससे सिद्ध होता है कि मुहम्मद साहेब का अन्तःकरण शुद्ध नहीं था। इसीलिये अपने मतलब सिद्ध करने के लिये मुहम्मद साहेब ने क़ुरान बनाया वा बनवाया ऐसा विदित होता है॥ ५१ ॥

५२. जिस समय कहा फरिश्तों ने कि ऐ मर्य्यम तुझ को अल्लाह ने पसन्द किया और पवित्र किया ऊपर जगत् की स्त्रियों के॥

—मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० ४१॥

समीक्षक—भला! जब आजकल ख़ुदा के फ़रिश्ते और ख़ुदा किसी से बातें करने को नहीं आते, तो प्रथम भी नहीं आया होगा। जो कहो कि पहिले के मनुष्य पुण्यात्मा थे, अब के नहीं, तो यह बात

मिथ्या है। किन्तु जिस समय ईसाई और मुसलमानों का मत चला था, उस समय उन देशों में जङ्गली और विद्याहीन मनुष्य अधिक थे, इसीलिये ऐसे विद्याविरुद्ध मत चल गये। अब विद्वान् अधिक हैं, इसलिये नहीं चल सकता। किन्तु जो-जो ऐसे पोकल मज़हब हैं, वे भी अस्त होते जाते हैं, वृद्धि की तो कथा ही क्या है!॥ ५२ ॥

५३. उसको कहता है कि हो, बस हो जाता है॥ काफ़िरों ने धोखा दिया, ईश्वर ने धोखा दिया, ईश्वर बहुत मकर करने वाला है॥

—मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० ४६।५३॥

समीक्षक—जब मुसलमान लोग ख़ुदा के सिवाय दूसरी चीज़ नहीं मानते तो ख़ुदा ने किससे कहा? और उसके कहने से कौन हो गया? इसका उत्तर मुसलमान सात जन्म में भी न दे सकेंगे, क्योंकि विना उपादान कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता। विना कारण के कार्य्य कहना जानो अपने माँ-बाप के विना मेरा शरीर हो गया ऐसी बात है। जो धोखा खाता और मकर अर्थात् छल और दम्भ करता है वह ईश्वर तो कभी नहीं हो सकता, किन्तु उत्तम मनुष्य भी ऐसा काम नहीं करता॥ ५३ ॥

५४. मत मरो, परन्तु मुसलमान हो।। क्या तुम को यह बहुत न होगा कि अल्लाह तुम को तीन हज़ार फ़रिश्तों के साथ सहाय देवे॥

—मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० ९३।१२३॥

समीक्षक—देखिये! इससे यह ठीक सिद्ध होता है कि मुसलमान न होगे, तो हम तुमको मार डालेंगे। यह केवल अधर्म की बात है। जो मुसलमानों को तीन हज़ार फ़रिश्तों के साथ सहाय देता था, तो अब मुसलमानों की बादशाही बहुत सी नष्ट हो गई और होती जाती है क्यों सहाय नहीं देता? इसलिये यह केवल लोभ देके मूर्खों को फसाने के लिये महा अन्याय की बात है॥ ५४॥

५५. और काफ़िरों पर हम को सहाय कर॥ अल्लाह तुम्हारा सहायक और कारसाज है॥ जो तुम अल्लाह के मार्ग में मारे जाओ वा मर जाओ, अल्लाह की दया बहुत अच्छी है॥

—मं० १। सि० ४। सू० ३। आ० १४६।१४९।१५६॥

समीक्षक—देखिये मुसलमानों की मूर्खता! कि जो अपने मत से भिन्न हैं उनके मारने के लिये ख़ुदा की प्रार्थना करते हैं। क्या परमेश्वर भोला है जो इनकी बात मान लेवे? यदि मुसलमानों का कारसाज़ अल्लाह ही है, तो फिर मुसलमानों के कार्य्य नष्ट क्यों होते हैं? और ख़ुदा भी मुसलमानों के साथ मोह से फसा हुआ दीख पड़ता है। जो ऐसा पक्षपाती ख़ुदा है, तो धर्मात्मा पुरुषों का उपासनीय कभी नहीं हो सकता॥ ५५ ॥

५६. यह लड़ाई इसलिये कि अल्लाह तुम्हारी परीक्षा लेवे।

—मं० १। सि० ४। सू० ३। आ०॥

समीक्षक—जो लड़ाई के विना परीक्षा नहीं कर सकता, तो वह सर्वज्ञ नहीं। इससे वह ईश्वर क्योंकर हो सके॥ ५६ ॥

५७. और अल्लाह तुम को सर्वज्ञ नहीं करता परन्तु अपने पैग़म्बरों में से जिसको चाहे पसन्द करे, बस अल्लाह और उसके रसूल के साथ ईमान लाओ॥ —मं० १। सि० ४। सू० ३। आ० १७९॥

समीक्षक—क्या किसी पैग़म्बर को ख़ुदा अपने सदृश कर सकता है? जो कर सकता है, तो दूसरा ख़ुदा शरीकख़ुदा हुआ। जो नहीं कर सकता तो इस आयत के झूंठ होने से ख़ुदा झूंठ बोला। जिसकी बात झूंठ हो, वह स्वयं झूंठा हुआ। जब मुसलमान लोग सिवाय ख़ुदा के न किसी के साथ ईमान लाते, न किसी को ख़ुदा का साझी मानते हैं तो ईमान में ख़ुदा के साथ पैग़म्बर साहेब को शरीक क्यों किया? अल्लाह ने पैगम्बर के साथ ईमान लाना लिखा, इसी से पैग़म्बर भी शरीक हो गया, पुनः लाशरीक कहना झूंठा हुआ॥ ५७॥

५८. ऐ ईमानवालो! परस्पर थामे रक्खो और लड़ाई में लगे रहो, अल्लाह से डरो कि तुम छुटकारा पाओ॥

—मं० १। सि० ४। सू० ३। आ० २००॥

समीक्षक—यह क़ुरान का ख़ुदा और पैग़म्बर दोनों लड़ाईबाज़ थे। जो लड़ाई की आज्ञा देता है वह शान्तिभंग करनेवाला होता है। क्या नाम मात्र ख़ुदा से डरने से छुटकारा पाया जाता है? वा अधर्मयुक्त लड़ाई आदि से डरने से? जो प्रथम पक्ष है तो डरना, न डरना बराबर,

और जो द्वितीय पक्ष है, तो ठीक है॥ ५८॥

५९. यह अल्लाह की हद्दें हैं, जो अल्लाह और उसके रसूल का कहा मानेगा वह बहिश्त में पहुँचेगा जिनमें नहरें चलती हैं और यही बड़ा प्रयोजन है॥ जो अल्लाह की और उसके रसूल की आज्ञा भंग करेगा और उसकी हद्दों से बाहर हो जायगा वो दोज़ख़ की आग में जलाया जावेगा और उसके लिये ख़राब करने वाला काफ़िर है॥

—मं० १। सि० ४। सू० ४। आ० १३।१४॥

समीक्षक—जब ख़ुदा ही ने मुहम्मद साहेब पैग़म्बर को अपना शरीक कर लिया है और खुद क़ुरान ही में लिखा है तो मुसलमानों का लाशरीक ख़ुदा को कहना व्यर्थ है। और देखो! ख़ुदा पैग़म्बर साहेब के साथ कैसा फंसा है कि जिसने बहिश्त में रसूल का साझा कर दिया है। इस एक बात में भी स्वतन्त्र न रहा। ऐसी-ऐसी बातें ईश्वरोक्त पुस्तक में नहीं हो सकतीं॥ ५९॥

६०. और एक परमाणु की बराबर भी वह अन्याय नहीं करता और जो भलाई होवे उसको दुगुणा करे॥ इच्छा करो अपने हाथ मुख से पूछलो निश्चय अल्लाह क्षमा करने वाला है॥

—मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ४०।५६॥

समीक्षक—जो एक अणु भी अन्याय ख़ुदा नहीं करता तो पुण्य को दुगुणा क्यों देता और मुसलमान का पक्षपात क्यों करता, जीव को आप ही पापी क्यों बनाता, फिर दुःख क्यों देता है? क्योंकि अधिक न्यून करने से अधिष्ठाता को भलाई-बुराई का फल मिलता है, आधीन को नहीं। जैसे सेना की लड़ाई में राजा को जय-पराजय रूप फल होता है, भृत्यों को नहीं। वैसे द्विगुण वा न्यून फल कर्मों का देवे तो ख़ुदा अधर्मी हो जावे॥ ६०॥

६१. अवश्य बहिश्त में भेजेंगे, जिनमें नहरें चलती हैं और उनके लिये पवित्र बीबियां हैं तथा सायेदार वृक्ष हैं, उसमें सदा रहेंगे॥

—मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ५७॥

समीक्षक—यह केवल अज्ञानियों को लोभ देकर मुहम्मद साहब ने फसाये हैं और आप भी स्त्रियों में आसक्त होंगे, नहीं तो ऐसी बातें

क्यों कहते?॥ ६१॥

६२. बस उनको चाहिये ख़ुदा के मार्ग में लड़ें।। जो लोग ईमान लाये ख़ुदा के मार्ग में लड़ते हैं, जो काफिर हैं वे बुतों के मार्ग में लड़ते हैं। बस शैतान के मित्रों से लड़ो, निश्चय उसका धोखा निर्बल है, जो उनको भलाई पहुंचती है, तो कहते हैं कि यह अल्लाह की ओर से है और बुराई को तेरी ओर से बतलाते हैं, कह सब अल्लाह की ओर से है॥

—मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ७५।७७॥

समीक्षक—भला! ईश्वर के मार्ग में लड़ाई का क्या काम? और जो बुतपरस्त काफिर हैं, तो मुसलमान बड़े बुतपरस्त होने से बड़े काफिर होते हैं। क्योंकि ये बुत्परस्त लोग छोटी-छोटी मूर्तियों के सम्मुख नमते और भक्ति करते हैं। वैसे ही मुसलमान लोग मक्का की जो एक बड़ी मस्जिद है, उसके सामने नमते हैं। जो कहें कि हम मस्जिद को ख़ुदा नहीं समझते और क़ुरान की आज्ञा है, इससे उधर को मुखमात्र करके ख़ुदा की बन्दगी करते हैं, अच्छा तो ये लोग भी पत्थर को ईश्वर नहीं समझते, किन्तु पत्थर में ईश्वर की भावना करके भक्ति करते हैं और इनको भी पुराण में वैसी आज्ञा व्यासजी जिनको लोग ईश्वरावतार मानते हैं उनकी है, कि तुम मूर्त्ति पूजो।

इसलिये बड़ी मस्जिद को ईश्वर की भक्ति में सामने रखने वाले मुसलमान बड़े बुत्परस्त और ये लोग छोटे बुतपरस्त हैं। जैसे कोई मनुष्य अपने घर में से बिल्ली को जब लों निकाले, तब लों उसके घर में ऊंट प्रविष्ट हो जाय, वैसी ही दशा मुहम्मद साहेब आदि मुसलमानों की है। क्योंकि बिल्ली के समान छोटी-छोटी पाषाणादि की मूर्त्तियों को तो फोड़-तोड़ के अपने घर में से निकाल दी, परन्तु ऊंट के समान मस्जिद हृदयरूपी घर में प्रविष्ट हो गई। इससे मुसलमान लोग बड़ी हानि को प्राप्त हो गये। जब ये बड़े बुतपरस्त हैं तो किस मुख से दूसरे छोटे बुतपरस्तों का खण्डन कर सकते हैं। हां! पहिले आप बुतपरस्ती को छोड़ें, तो अन्य का खण्डन कर सकें॥ ६२॥

६३. जब तेरे पास से निकलते हैं तो तेरे विरुद्ध सोचते हैं, अल्लाह उनकी बात को लिखता है।। अल्लाह ने उनकी कमाई वस्तु के कारण

से उनको उलटा किया, क्या तुम चाहते हो कि अल्लाह गुमराह किये हुये को मार्ग पर लावे, बस जिसको वह गुमराह करे उसको कदाचिदपि मार्ग न पावेगा॥ —मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ८०।८७॥

समीक्षक—जो अल्लाह बातों को लिख बहीखाता बनाता जाता है, तो सर्वज्ञ नहीं। और जो सर्वज्ञ है तो लिखने का क्या काम? और जो मुसलमान कहते हैं कि शैतान ही सब को बहकाने से दुष्ट हुआ है तो जब ख़ुदा ही जीवों को गुमराह करता है, तो ख़ुदा और शैतान में क्या भेद रहा? हां, इतना भेद कह सकते हैं कि ख़ुदा बड़ा शैतान, वह फरिश्ता छोटा शैतान, क्योंकि मुलसमानों का यही क़ौल है कि जो बहकाता है वही शैतान है, तो इस प्रतिज्ञा से ख़ुदा को भी शैतान बना दिया॥ ६३॥

६४. और अपने हाथों को न रोकें, तो उनको पकड़ लो और जहाँ पाओ मार डालो॥ मुसलमानों को मुसलमान का मारना योग्य नहीं, जो कोई अनजान से मार डाले बस एक गर्दन मुसलमान का छोड़ना है और खून बहा उन लोगों की ओर साई हुई जो उस क़ौम से होवें, तुम्हारे लिए दान कर देंगे, जो दुश्मन की क़ौम से हैं। और जो कोई मुसलमान को जान कर मार डाले वह सदैव काल दोज़ख़ में रहेगा उस पर अल्लाह का क्रोध और लानत है॥

—मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ९१।९२।९३॥

समीक्षक—अब देखिये महा पक्षपात की बात! कि जो मुसलमान न हो, जहाँ पाओ मार डालना और मुसलमानों को न मारना। भूल से मुसलमानों के मारने में प्रायश्चित्त और अन्य को मारने से बहिश्त मिलेगा ऐसे उपदेश को कुए में डालना चाहिए। ऐसे-ऐसे पुस्तक, ऐसे पैग़म्बर, ऐसा ख़ुदा और ऐसे मत से सिवाय हानि के लाभ कुछ भी नहीं। ऐसों का न होना अच्छा और ऐसे प्रामादिक मतों से बुद्धिमानों को अलग रह कर वेदोक्त सब बातों को मानना चाहिए क्योंकि उसमें असत्य किञ्चिन्मात्र भी नहीं है। और जो मुसलमान को मारे उसको दोज़ख़ मिले और दूसरे मतवाले कहते हैं कि मुसलमान को मारे तो स्वर्ग मिले, लिखा है। अब कहो इन दोनों मतों में से किसको मानें

किसको छोड़ें? किन्तु ऐसे मूढ़ प्रकल्पित मतों को छोड़ कर वेदोक्त मत स्वीकार करने योग्य सब मनुष्यों के लिये है कि जिसमें आर्य्य मार्ग अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग में चलना और दस्यु अर्थात् दुष्टों के मार्ग से अलग रहना लिखा है सर्वोत्तम है॥ ६४॥

६५. और शिक्षा प्रकट होने के पीछे जिसने रसूल से विरोध किया और मुसलमानों से विरुद्ध पक्ष किया, अवश्य हम उनको दोज़ख़ में भेजेंगे॥ —मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ११५॥

समीक्षक—अब देखिये ख़ुदा और रसूल की पक्षपात की बातें! मुहम्मद साहेब आदि समझते थे कि जो ख़ुदा के नाम से ऐसी हम न लिखेंगे तो अपना मज़हब न बढ़ेगा और पदार्थ न मिलेंगे, आनन्द भोग न होगा। इसी से विदित होता है कि वे अपने मतलब करने में पूरे थे और अन्य के प्रयोजन बिगाड़ने में। इससे ये अनाप्त थे! इनकी बात का प्रमाण आप्त विद्वानों के सामने कभी नहीं हो सकता॥ ६५॥

६६. जो अल्लाह रसूलों, फरिश्तों, किताबों के साथ कुफ्र करे निश्चय वह गुमराह है॥ निश्चय जो लोग काफ़िर थे और ईमान लाये पुनः फिर गये और कुफ्र में अधिक बढ़े, अल्लाह उन को कभी क्षमा न करेगा और न मार्ग दिखलावेगा॥

—मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० १३६।१३७॥

समीक्षक—क्या अब भी ख़ुदा लाशरीक रह सकता है? क्या लाशरीक कहते जाना और उसके साथ बहुत से शरीक भी मानते जाना यह परस्पर विरुद्ध बात नहीं है? क्या तीन वार क्षमा के पश्चात् ख़ुदा क्षमा नहीं करता? और तीन वार कुफ्र करने पर रास्ता दिखलाता है? वा चौथी वार से आगे नहीं दिखलाता? यदि चार-चार वार भी कुफ्र सब लोग करें, तो कुफ्र बहुत ही बढ़ जावे॥ ६६॥

६७. निश्चय अल्लाह बुरे लोगों को और काफ़िरों को जमा करेगा दोज़ख़ में॥ निश्चय बुरे लोग धोखा देते हैं अल्लाह को और उनको वह धोखा देता है॥ ऐ ईमान वालो! मुसलमानों को छोड़ काफ़िरों को मित्र मत बनाओ॥ —मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० १४०।१४२।१४४॥

समीक्षक—मुसलमानों के बहिश्त और अन्य लोगों के दोज़ख़ में

जाने का क्या प्रमाण? वाह जी वाह! जो बुरे लोगों के धोखे में आता और अन्य को धोखा देता है ऐसा ख़ुदा हम से अलग रहे, किन्तु जो धोखेबाज़ हैं उनसे जाकर मेल करे और वे उससे मेल करें। क्योंकि—

''यादृशी शीतला देवी तादृशः खरवाहनः''

जैसे को तैसा मिले तभी निर्वाह होता है।

जिसका ख़ुदा धोखेबाज़ है उसके उपासक मुसलमान लोग धोखेबाज़ क्यों न हों? तभी तो मुसलमान लोग धोखा देने में तत्पर रहते होंगे। क्या दुष्ट मुसलमान हो उससे मित्रता और अन्य श्रेष्ठ, मुसलमान भिन्न से शत्रुता करना, किसी को उचित हो सकता है?॥ ६७॥

६८. ऐ लोगो! निश्चय तुम्हारे पास सत्य के साथ ख़ुदा की ओर से पैग़म्बर आया, बस तुम उन पर ईमान लाओ॥ अल्लाह माबूद अकेला है॥ —मं० १। सि० ६। सू० ४। आ० १७०।१७१॥

समीक्षक—क्या जब पैग़म्बरों पर ईमान लाना लिखा, तो ईमान में पैग़म्बर ख़ुदा का शरीक अर्थात् साझी हुआ वा नहीं? जब अल्लाह एकदेशी है, व्यापक नहीं, इसी से उसके पास से पैग़म्बर आते जाते हैं, तो वह ईश्वर भी नहीं हो सकता। कहीं सर्वदेशी लिखते हैं, कहीं एकदेशी। इससे विदित होता है कि क़ुरान एक का बनाया नहीं, किन्तु बहुतों ने मिलके बनाया है॥ ६८॥

६९. तुम पर हराम किया गया मुर्दार, लोहू, सूअर का मांस जिस पर अल्लाह के विना कुछ और पढ़ा जावे, गला घोटे, लाठी मारे, ऊपर से गिर पड़े, सींग मारे और गोश्ते खाने वाले॥

—मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० ३॥

समीक्षक—क्या इतने ही पदार्थ हराम हैं? अन्य बहुत से पशु तथा तिर्य्यक् जीव कीड़ी आदि मुसलमानों को हलाल होंगे? इसलिये यह मनुष्यों की कल्पना है, ईश्वर की नहीं। इससे इसका प्रमाण भी नहीं॥ ६९॥

७०. और अल्लाह को उधार दो अवश्य मैं तुम्हारी बुराई दूर करूंगा और तुम्हें बहिश्त में भेजूंगा॥

—मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० १२॥

समीक्षक—वाह जी! मुसलमानों के खुदा के घर में कुछ भी धन विशेष नहीं रहा होगा, जो विशेष होता तो उधार क्यों मांगता? और उनको क्यों बहकाता कि तुम्हारी बुराई छुड़ा के तुम को स्वर्ग में भेजूंगा? यहां विदित होता है कि खुदा के नाम से मुहम्मद साहेब ने अपना मतलब साधा है॥ ७०॥

७१. जिसको चाहता है पुण्यात्मा बनाता है जिसको चाहे पापात्मा बना देता है।। जो कुछ किसी को भी न दिया वह तुम्हें दिया॥

—मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० १८।२०॥

समीक्षक—जैसे शैतान जिसको चाहता पापी बनाता वैसे मुसलमानों का ख़ुदा भी शैतान का काम करता है? जो ऐसा है, तो फिर बहिश्त और दोज़ख़ में ख़ुदा जावे क्योंकि वह पाप पुण्य करने वाला हुआ; जीव पराधीन है। जैसी सेना सेनापति के आधीन रक्षा करती और किसी को मारती है, उसकी भलाई बुराई सेनापति को होती है, सेना पर नहीं॥ ७१॥

७२. काफिरों पर गम मत खा।

—मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० २५॥

समीक्षक—क्या अधर्म और पक्षपात की बात है कि जो मुसलमान न हो उस पर गम न खाना और मुसलमानों पर गम खाना केवल अधर्म की बात है॥ ७२॥

७३. सेवा करो अल्लाह की और रसूल की, और रसूल का कहा मानो॥ —मं० २। सि० ७। सू० ५। आ० ९२॥

समीक्षक—देखिये! यह बात ख़ुदा के शरीक होने की है, फिर ख़ुदा को 'लाशरीक' मानना व्यर्थ है॥ ७३॥

७४. अल्लाह ने माफ़ किया जो हो चुका, और जो कोई फिर करेगा अल्लाह उससे बदला लेगा॥

—मं० २। सि० ७। सू० ५। आ० ९५॥

समीक्षक—किये हुए पापों का क्षमा करना जानो पापों को करने की आज्ञा देके बढ़ाना है। पाप क्षमा करने की बात जिस पुस्तक में हो, वह न ईश्वर और न किसी विद्वान् का बनाया है, किन्तु पापवर्द्धक है।

हां, आगामी पाप छुड़वाने के लिये किसी से प्रार्थना और स्वयं छोड़ने के लिये पुरुषार्थ, पश्चात्ताप करना उचित है परन्तु केवल पश्चात्ताप करते रहे, छोड़े नहीं, तो भी कुछ नहीं हो सकता॥ ७४॥

७५. और उस मनुष्य से अधिक पापी कौन है जो अल्लाह पर झूठ बांध लेता है और कहता है कि मेरी ओर वही की गई और जो कहता है कि मैं भी उतारूंगा॥ —मं० २। सि० ७। सू० ६। आ० ९४॥

समीक्षक—इस बात से सिद्ध होता है कि जब मुहम्मद साहेब कहते थे कि मेरे पास ख़ुदा की ओर से आयतें आती हैं तब किसी दूसरे ने भी मुहम्मद साहेब के तुल्य लीला रची होगी कि मेरे पास भी आयतें उतरती हैं, मुझको भी पैगम्बर मानो। इसको हटाने के और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये मुहम्मद साहेब ने यह उपाय किया होगा॥ ७५॥

७६. अवश्य हमने तुमको उत्पन्न किया, फिर तुम्हारी सूरतें बनाई, फ़रिश्तों से कहा कि आदम को सिजदा करो, बस उन्होंने सिजदा किया परन्तु शैतान सिजदा करने वालों में से न हुआ॥ कहा जब मैंने तुझे आज्ञा दी फिर किसने रोका कि तूने सिजदा न किया, कहा मैं उससे अच्छा हूं, तूने मुझको आग से और उसको मिट्टी से उत्पन्न किया॥ कहा बस उसमें से उतर, यह तेरे योग्य नहीं है कि तू उसमें अभिमान करे॥ कहा उस दिन तक ढील दे कि क़बरों से उठाये जावें॥ कहा निश्चय तू ढील दिये गयों से है॥ कहा बस इसकी कसम है कि तूने मुझको गुमराह किया, अवश्य मैं उनके लिये तेरे सीधे मार्ग पर बैठूंगा॥ और प्राय: तू उनको धन्यवाद करने वाला न पावेगा॥ कहा उससे दुर्दशा के साथ निकल, अवश्य जो कोई उनमें से तेरा पक्ष करेगा तुम सबसे दोज़ख़ को भरूंगा॥ —मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ११। १२। १३। १४। १५। १६। १७। १८॥

समीक्षक—अब ध्यान देकर सुनो ख़ुदा और शैतान के झगड़े को! एक फ़रिश्ता जैसा कि चपरासी हो, था, वह भी ख़ुदा से न दबा और ख़ुदा उसके अत्मा को पवित्र भी न कर सका, फिर ऐसे बागी, जो पापी बना कर ग़दर करने वाला था उसको ख़ुदा ने छोड़ दिया। यह ख़ुदा की बड़ी भूल है। शैतान तो सब को बहकाने वाला और ख़ुदा

शैतान को बहकाने वाला होने से यह सिद्ध होता है कि शैतान का भी शैतान ख़ुदा है। क्योंकि शैतान प्रत्यक्ष कहता है कि तूने मुझे गुमराह किया। इससे ख़ुदा में पवित्रता भी नहीं पाई जाती और सब बुराइयों का चलाने वाला मूल कारण ख़ुदा हुआ। ऐसा ख़ुदा मुसलमानों ही का ख़ुदा हो सकता है,अन्य श्रेष्ठ विद्वानों का नहीं। और फ़रिश्तों से मनुष्यवत् वार्त्तालाप करने से देहधारी, अल्पज्ञ, न्यायरहित मुसलमानों का ख़ुदा है, इसी से बुद्धिमान् लोग इसलाम के मज़हब को प्रसन्न नहीं करते॥ ७६॥

७७. निश्चय तुम्हारा मालिक अल्लाह है जिसने आसमानों और पृथिवी को छः दिन में उत्पन्न किया, फिर करार पकड़ा अर्श पर॥ दीनता से अपने मालिक को पुकारो॥

—मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ५५। ५४॥

समीक्षक—भला! जो छः दिन में जगत् को बनावे, अर्श अर्थात् ऊपर के आकाश में सिंहासन पर आराम करे, वह ईश्वर सर्वशक्तिमान् और व्यापक कभी नहीं हो सकता। इनके न होने से वह ख़ुदा भी नहीं कहा सकता। क्या तुम्हारा ख़ुदा बधिर है जो पुकारने से सुनता है? ये सब बातें अनीश्वरकृत हैं, इससे क़ुरान ईश्वरकृत नहीं हो सकता। यदि छः दिनों में जगत् बनाया, सातवें दिन अर्श पर आराम किया तो थक भी गया होगा और अब तक सोता है वा जागा है? यदि जागता है तो अब कुछ काम करता है वा निकम्मा सैल सपट्टा करता, ऐश करता फिरता है॥ ७७॥

७८. मत फिरो पृथिवी पर झगड़ा करते॥

—मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ७४॥

समीक्षक—यह बात तो अच्छी है परन्तु इस से विरुद्ध जिहाद करना और काफ़िरों को मारना भी लिखा है, अब कहो यह पूर्वापर विरुद्ध नहीं है? इससे यह विदित होता है कि जब मुहम्मद साहेब निर्बल हुए होंगे तब यह उपाय रचा होगा और जब सबल हुए होंगे, झगड़ा मचाया होगा। इन्हीं से ये बातें झूठी हैं॥ ७८॥

७९. बस एक ही वार अपना असा डाल दिया और वह अजगर था प्रत्यक्ष॥ —मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १०७॥

समीक्षक—अब इसके लिखने से विदित होता है कि ऐसी झूठी बातों को ख़ुदा और मुहम्मद साहेब भी मानते थे। जो ऐसा है तो ये दोनों विद्वान् नहीं थे, क्योंकि जैसे आँख से देखने और कान से सुनने को अन्यथा कोई नहीं कर सकता! इसी से ये इन्द्रजाल की बातें हैं॥ ७९ ॥

८०. अवश्य हम क़तल करेंगे बेटों उनके को और जीती रक्खेंगे बीबियों उनकी को।। बस हमने उन पर मेह का तूफ़ान भेजा, टीढ़ी, चिचड़ी और मैंढक और लोहू॥ बस उनसे हम ने बदला लिया और उन को डुबो दिया दरिया में॥ और हमने बनी इसराईल को दरियाव से पार उतार दिया॥ निश्चय वह दीन झूठा है कि जिसमें वे हैं और उनका कार्य्य भी झूठा है॥ —मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १२४। १३०। १३३। १३६। १३८॥

समीक्षक—भला! जो लड़काओं को क़तल करे और स्त्रियों को जीता रक्खे, उससे निर्दय, राक्षस स्वभावयुक्त, विषयासक्त मनुष्य और दुष्टमत दूसरा कोई भी नहीं होगा। और देखिये जैसा कोई पाखंडी किसी को डरावे कि हम तेरे पर सर्पों को काटने के लिये भेज देंगे, ऐसी ही यह भी बात है। भला! जो ऐसा पक्षपाती कि एक जाति को डुबा दे और दूसरी को पार उतारे यह पक्षपाती, मतलबी के समान ख़ुदा क्यों नहीं? जो दूसरे मत को कि जिसमें हज़ारों क्रोड़ों मनुष्य हों, झूठा बतलावे और अपने को सच्चा, उससे परे झूठा दूसरा मत कौन हो सकता है? क्योंकि किसी मत में सब मनुष्य बुरे और भले नहीं हो सकते। यह इक्तर्फी डिगरी करना महामूर्खों का काम है। क्या तौरेत ज़बूर का दीन, जो कि उनका था, क्योंकर अपने किये को ख़ुदा ने झूठा किया? वा उनका कोई अन्य मज़हब था कि जिसको झूठा कहा और जो वह अन्य मज़हब था, तो कौन सा था, कहो कि जिसका नाम क़ुरान में हो॥ ८०॥

८१. बस तू मुझ को अवश्य देख सकेगा, जब प्रकाश किया उसके मालिक ने पहाड़ की ओर उसको परमाणु-परमाणु किया, गिर पड़ा मूसा बेहोश॥ —मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १४३॥

समीक्षक—जो देखने में आता है वह व्यापक नहीं हो सकता।

और ऐसे चमत्कार करता फिरता था तो ख़ुदा इस समय ऐसा चमत्कार किसी को क्यों नहीं दिखलाता? सर्वथा विद्या विरुद्ध होने से यह बात मानने योग्य नहीं॥ ८१॥

८२. यह कि मार सात असा अपने के पत्थर को, बस फूट निकले बारह चश्मे॥ —मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १५९॥

समीक्षक—अब देखिये! बढकर भानुमती के सी ख़ुदा की ख़ुदाई, पैग़म्बर की पैग़म्बराई। इसको कोई भी बुद्धिमान् लोग सच नहीं मान सकते, सिवाय जंगली मनुष्यों के॥ ८२॥

८३. और अपने मालिक को दीनता, डर से मन में याद कर, हल्के धीमे शब्द के वाज़ से सुबह को और शाम को॥ —मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० २०४॥

समीक्षक—कहीं-कहीं क़ुरान में लिखा है कि बड़े वाज़ से अपने मालिक को पुकार, कहीं-कहीं धीरे-धीरे मन में ईश्वर का स्मरण कर। अब कहिये! कौन-सी बात सच्ची और कौन-सी झूठी? जो एक दूसरी बात से विरोध करती है वह बात प्रमत्त गीत के समान होती है। यदि कोई बात भ्रम से विरुद्ध निकल जाय, उसको मान ले, तो कुछ चिन्ता नहीं॥ ८३॥

८४. प्रश्न करते हैं तुझको लूटों से कहें लूटें वास्ते अल्लाह के और रसूल के और डरो अल्लाह से डरो थप्पड़ लात से॥ —मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० १॥

समीक्षक—जो लूट मचावें, डाकू के कर्म करें, करावें और ख़ुदा तथा पैग़म्बर और ईमानदार भी बनें, यह बड़े आश्चर्य की बात है और अल्लाह का डर बतलाते और डाकादि बुरे काम भी करते जायें और 'उत्तम मत हमारा है' कहते लज्जा भी नहीं। हठ छोड़ के सत्य वेदमत का ग्रहण न करें इससे अधिक बुराई दूसरी कौन-सी होगी?॥ ८४॥

८५. और काटें जड़ काफिरों की॥ मैं तुमको सहाय दूंगा। साथ सहस्र फ़रिश्तों के पीछे-पीछे आने वाले॥ अवश्य मैं काफ़िरों के दिलों में भय डालूंगा, बस मारो ऊपर गर्दनों के, मारो उन में से हर पोरी पर॥ —मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० ७। ९। १२॥

समीक्षक—वाह जी वाह! कैसा ख़ुदा और कैसे पैग़म्बर दयाहीन। जो मुसलमानी मत से भिन्न काफ़िरों की जड़ कटवावे। और ख़ुदा आज्ञा देवे उनको गर्दन मारो और पग की नस को काटने का सहाय और सम्मति देवे। भला! ऐसा ख़ुदा लंकेश से क्या कुछ कम है? यह सब प्रपञ्च क़ुरानकर्त्ता का है, ख़ुदा का नहीं। यदि ख़ुदा का हो, तो ऐसा ख़ुदा हम से दूर और हम उससे दूर रहें॥ ८५ ॥

८६. अल्लाह मुसलमानों के साथ है॥ ऐ लोगो जो ईमान लाये हो पुकारना स्वीकार करो वास्ते अल्लाह के और वास्ते रसूल के॥ ऐ लोगो जो ईमान लाये हो मत चोरी करो अल्लाह की रसूल की और मत चोरी करो अमानत अपनी को॥ और मकर करता था अल्लाह और अल्लाह भला मकर करने वालों का है॥

—मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० १९।२४।२७।३०॥

समीक्षक—क्या अल्लाह मुसलमानों का पक्षपाती है? जो ऐसा है तो अधर्म करता है। नहीं तो ईश्वर सब सृष्टि भर का है। क्या ख़ुदा विना पुकारे नहीं सुन सकता? बधिर है? और उसके साथ रसूल को शरीक करना बहुत बुरी बात नहीं है? क्या अल्लाह का कौन सा खज़ाना भरा है जो चोरी करेगा कोई? क्या रसूल और अपनी अमानत की चोरी छोड़ कर अन्य सब की चोरी किया करे? ऐसा उपदेश अविद्वान् और अधर्मियों का हो सकता है। भला! जो मकर करता और जो मकर करने वालों का संगी है, वह ख़ुदा कपटी छली और अधर्मी क्यों नहीं? इसीलिये यह क़ुरान ख़ुदा का बनाया हुआ नहीं है, किसी कपटी छली का बनाया होगा, नहीं तो ऐसी अन्यथा बातें लिखित क्यों होतीं?॥ ८६ ॥

८७. और लड़ो उनसे यहां तक कि न रहे फितना अर्थात् बल काफ़िरों का और होवे दीन तमाम वास्ते अल्लाह के।। और जानो तुम यह कि जो कुछ तुम लूटो किसी वस्तु से निश्चय वास्ते अल्लाह के है पांचवां हिस्सा उसका और वास्ते रसूल के निश्चय मैं तुम्हारा पक्षी हूँ॥

—मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० ३९।४१।४८॥

समीक्षक—ऐसा अन्याय से लड़ाका और लड़ने-लड़ानेवाला मुसलमानों के ख़ुदा से शान्तिभङ्गकर्त्ता दूसरा कौन होगा? अब देखिये यह मज़हब कि अल्लाह और रसूल के लिये सब जगत् को लूटना लुटवाना लुटेरों का सा काम नहीं है? और लूट के माल में ख़ुदा का हिस्सेदार बनना जानो डाकू बनना है और ऐसे लुटेरों का पक्षपाती बनना ख़ुदा अपनी ख़ुदाई में बट्टा लगाता है। बड़े आश्चर्य की बात है ऐसा पुस्तक, और ऐसे ख़ुदा, ऐसे ख़ुदा की ओर के पैग़म्बर और ऐसा उपाधिखोर मजहब संसार में महाशान्तिभङ्ग करके दुःखदायी कहां से हुआ? जो ऐसे-ऐसे मत जगत् में प्रचलित न होते तो सब जगत् आनन्द में बना रहता॥ ८७॥

८८. और कभी देखे जब काफ़िरों को फ़रिश्ते कब्ज करते हैं मारते हैं मुख उनके और पीठें उनकी और कहते चखो अज़ाब जलने का॥ हमने उनके पाप से उनको मारा और हमने फ़िराओन की क़ौम को डुबा दिया॥ और तैयारी करो वास्ते उनके जो कुछ तुम कर सको॥

—मं० २। सि० १०। सू० ८। आ० ५०।५४।६०॥

समीक्षक—क्योंजी! आजकल रूस ने रूम आदि और इङ्गलेण्ड ने मिश्र की दुर्दशा कर डाली, फ़रिश्ते कहां सो गये? और अपने सेवकों के शत्रुओं को ख़ुदा पूर्व मारता डुबाता था, यह बात सच्ची हो, तो आज कल भी ऐसा करे, जिससे ऐसा नहीं होता इसलिये यह बात मानने योग्य नहीं।। अब देखिये! यह कैसी बुरी आज्ञा है कि जो कुछ तुम कर सको वह भिन्न मत वालों के लिये दुःखदायक कर्म करो, ऐसी आज्ञा विद्वान् और धार्मिक दयालु की नहीं हो सकती। फिर लिखते हैं कि ख़ुदा दयालु और न्यायकारी है। ऐसी बातों से मुसलमानों के ख़ुदा से न्याय और दयादि सद्गुण दूर बसते हैं॥ ८८ ॥

८९. ऐ नबी किफ़ायत है तुझ को अल्लाह और उनको जिन्होंने मुसलमानों से तेरा पक्ष किया॥ ऐ नबी रग़बत अर्थात् चाह चस्का दे मुसलमानों को ऊपर लड़ाई के, जो हों तुम में से २० आदमी सन्तोष करने वाले तो पराजय करें दो सौ का॥ बस खाओ उस वस्तु से कि लूटा है तुमने हलाल पवित्र और डरो अल्लाह से वह क्षमा करने वाला दयालु है॥　　—मं० २। सि० १०। सू० ८। आ० ६४।६५।६९॥

समीक्षक—भला! यह कौनसी न्याय, विद्वत्ता और धर्मात्मता की

बात है कि जो अपना पक्ष करे और चाहे अन्याय भी करे उसी का पक्ष और लाभ ख़ुदा पहुंचावे? और जो प्रजा में शान्तिभंग करके लड़ाई करे करावे और लूट मार के पदार्थों को हलाल बतलावे और फिर उसी का नाम क्षमावान् दयालु लिखे, यह बात ख़ुदा की तो कभी नहीं हो सकती। किन्तु किसी भले आदमी की भी नहीं हो सकती। ऐसी-ऐसी बातों से क़ुरान ईश्वरवाक्य कभी नहीं हो सकता॥ ८९॥

९०. सदा रहेंगे बीच उसके अल्लाह समीप है उसके पुण्य बड़ा॥ ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो मत पकड़ो बापों अपने को और भाइयों अपने को मित्र जो दोस्त रक्खें कुफ्र को ऊपर ईमान के॥ फिर उतारी अल्लाह ने तसल्ली अपनी ऊपर रसूल अपने के और ऊपर मुसलमानों के और उतारे लश्कर नहीं देखा तुमने उनको और अज़ाब किया उन लोगों को और यही सजा है काफ़िरों को।। फिर-फिर आवेगा अल्लाह पीछे उसके ऊपर और लड़ाई करो उन लोगों से जो ईमान नहीं लाते॥

—मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० २२। २३। २६। २७। २९॥

समीक्षक—भला! जो बहिश्तवालों के समीप अल्लाह रहता है तो सर्वव्यापक नहीं हो सकता? जो सर्वव्यापक नहीं तो सृष्टिकर्त्ता और न्यायाधीश नहीं हो सकता। और अपने मा, बाप, भाई और मित्र को छुड़वाना केवल अन्याय की बात है, हां जो वे बुरा उपदेश करें, न मानना परन्तु उनकी सेवा सदा करना चाहिये। जो पहिले ख़ुदा मुसलमानों पर सन्तोषी था और उसके सहाय के लिये लश्कर उतारता था, सच हो, तो अब ऐसा क्यों नहीं करता? और जो प्रथम काफ़िरों को दण्ड देता और पुनः पुनः उसके ऊपर आता था, तो अब कहां गया? क्या विना लड़ाई के ईमान को ख़ुदा नहीं बना सकता? ऐसे ख़ुदा को हमारी ओर से सदा तिलांजलि है, ख़ुदा क्या है, एक खिलाड़ी है?॥ ९०॥

९१. बस मत अन्याय करो बीच उसके आपस में और लड़ो मुशरिकों से इकट्ठे जैसा लड़ते हैं।। और हम बाट देखने वाले हैं वास्ते तुम्हारे यह कि पहुंचावे तुम को अल्लाह अज़ाब अपने पास से वा हमारे हाथों से॥ —मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० ३६। ५२॥

समीक्षक—क्या मुसलमान लोग आपस में न्याय और दूसरों में अन्याय करना धर्म समझते हैं। और ऐसा है, तो मुसलमान लोग अन्याय की मूर्तियाँ हैं। क्या मुसलमान ही ईश्वर की पुलिस बन गई है कि अपने हाथ वा मुसलमानों के हाथ से अन्य किसी मत वालों को दण्ड देता है? क्या दूसरे क्रोड़ों मनुष्य ईश्वर को अप्रिय हैं? मुसलमानों में पापी भी प्रिय है? इसलिये **अन्धेर नगरी गवरगण्ड राजा** की सी व्यवस्था दीखती है। आश्चर्य है कि जो बुद्धिमान् मुसलमान हैं, वे भी इस निर्मूल अयुक्त मत को मानते हैं॥ ९१॥

९२. प्रतिज्ञा की है अल्लाह ने ईमान वालों से और ईमानवालियों से बहिश्तें चलती हैं नीचे उनके से नहरें सदैव रहने वाली बीच उसके और घर पवित्र बहिश्तों अदन के और प्रसन्नता अल्लाह की ओर बड़ी है और यह कि वह है मुराद खाना बड़ा॥ बस ठट्ठा करते हैं उनसे, ठट्ठा किया है अल्लाह ने उन से॥

—मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० ७२। ७९॥

समीक्षक—यह ख़ुदा की और से स्त्री पुरुषों का लोभ देना है अपने मतलब के लिये। क्योंकि जो ऐसा प्रलोभन न देते तो कोई मुहम्मद साहेब के जाल में न फसता, ऐसे ही अन्य मत वाले भी किया करते हैं। भला! मनुष्य लोग तो आपस में ठट्ठा किया ही करते हैं, परन्तु ख़ुदा को किसी से ठट्ठा करना उचित नहीं है। यह क़ुरान ग्रन्थ क्या है, बड़ा खेल है॥ ९२॥

९३. परन्तु रसूल और जो लोग कि साथ उसके ईमान लाये जिहाद किया उन्होंने साथ धन अपने के तथा जान अपनी के और इन्हीं लोगों के लिये भलाई है॥ और मोहर रक्खी अल्लाह ने ऊपर दिलों उनके के, बस वे नहीं जानते॥ —मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० ८८। ९३॥

समीक्षक—अब देखिये मतलबसिन्धु की बात! कि वे ही भले हैं जो मुहम्मद साहेब के साथ ईमान लाये और जो नहीं लाते, वे बुरे हैं! क्या यह बात पक्षपात और अविद्या से भरी हुई नहीं है? जब ख़ुदा ने मोहर ही लगा दी, तो उनका अपराध पाप करने में कोई भी नहीं, किन्तु ख़ुदा ही का अपराध है, क्योंकि उन बिचारों को भलाई से दिलों पर मोहर लगा के रोक दिये, यह कितना बड़ा अन्याय है!॥ ९३॥

९४. ले माल उनके से खैरात कि पवित्र करे तू उनको और शुद्ध करे तू उनको साथ उसके अर्थात् गुप्त में॥ निश्चय अल्लाह ने मोल ली हैं मुसलमानों से जानें उनकी और धन उनके बदले; कि वास्ते उनके बहिश्त है, लड़ेंगे बीच मार्ग अल्लाह के बस मारेंगे और मर जावेंगे॥

—मं० २। सि० ११। सू० ९। आ० १०३। १११॥

समीक्षक—वाह जी वाह मुहम्मद साहेब! आपने तो गोकुलिये गुसाइयों की बराबरी कर ली क्योंकि उनका माल लेना और उनको गुप्त में पवित्र करना यही बात तो गुसाइयों की है। वाह ख़ुदा जी! आपने अच्छी सौदागरी की लगाई कि मुसलमानों के हाथ से अन्य गरीबों के प्राण लेना ही लाभ समझा और उन अनाथों को मरवा कर उन निर्दयी मनुष्यों को स्वर्ग देने से, दया और न्याय से मुसलमानों का ख़ुदा हाथ धो बैठा और अपनी खुदाई में बट्टा लगा के बुद्धिमान् धार्मिकों में घृणित हो गया॥ ९४॥

९५. ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो लड़ो उन लोगों से कि पास तुम्हारे हैं काफ़िरों से और चाहिए कि पावें बीच तुम्हारे शक्ति॥ क्या नहीं देखते यह कि वे बलाओं में डाले जाते हैं बीच हर वर्ष के एक वार वा दो वार, फिर वे नहीं तोबा करते और न वे शिक्षा पकड़ते हैं॥

—मं० २। सि० ११। सू० ९। आ० १२३। १२६॥

समीक्षक—देखिये! यह भी एक विश्वासघात की बातें ख़ुदा मुसलमानों को सिखलाता है कि चाहे पड़ोसी हों वा किसी के नौकर हों, जब अवसर पावें, तभी लड़ाई वा घात करें। ऐसी बातें मुसलमानों से बहुत बन गई हैं इसी क़ुरान के लेख से। अब तो मुसलमान समझ के इन क़ुरानोक्त बुराइयों को छोड़ दें, तो बहुत अच्छा है॥ ९५॥

९६. निश्चय परवरदिगार तुम्हारा अल्लाह है जिसने पैदा किया आसमानों और पृथिवी को बीच छः दिन के फिर क़रार पकड़ा अर्श के तदबीर करता है काम की॥ —मं० ३। सि० ११। सू० १०। आ० ३॥

समीक्षक—क्या अल्लाह तुम्हारी नित्य सेवा करता है? आसमान आकाश एक और विना बनाया हुआ अनादि है। उसका बनाना लिखने से निश्चय हुआ कि वह क़ुरान का कर्त्ता पदार्थ विद्या को नहीं जानता

था? क्या परमेश्वर के सामने छः दिन तक बनाना पड़ता है? तो जो "हो मेरे हुक्म से और हो गया" जब क़ुरान में ऐसा लिखा है फिर छः दिन कभी नहीं लग सकते। और छः दिन लगना झूठ है। जो वह व्यापक होता, तो ऊपर अर्श के क्यों ठहरता? और जब तदबीर करता है काम की तो ठीक तुम्हारा ख़ुदा मनुष्य के समान है, क्योंकि जो सर्वज्ञ है, वह बैठा-बैठा तदबीर क्या करेगा? इससे विदित होता है कि ईश्वर को न जाननेवाले जंगली लोगों ने यह पुस्तक बनाया होगा॥ ९६॥

९७. शिक्षा और दया वास्ते मुसलमानों के॥

—मं० ३। सि० ११। सू० १०। आ० ५७॥

समीक्षक—क्या यह ख़ुदा मुसलमानों ही का है? दूसरों का नहीं? और पक्षपाती है जो मुसलमानों पर ही दया करे, अन्य मनुष्यों पर नहीं। यदि मुसलमान ईमानदारों को कहते हैं, तो उनके लिये शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं और मुसलमानों से भिन्नों को उपदेश नहीं करता, तो ख़ुदा की विद्या ही व्यर्थ है॥ ९७॥

९८. और था अर्श अर्थात् सिंहासन ऊपर पानी के तो कि परीक्षा लेवे तुम को, कौन तुम में से अच्छा है कर्मों में, जो कहे तू, अवश्य उठाये जाओगे तुम पीछे मृत्यु के॥

—मं० ३। सि० ११। सू० ११। आ० ७॥

समीक्षक—जब पानी पर ख़ुदा का सिंहासन है, तो वह एकदेशी होने से ख़ुदा ही नहीं बन सकता और जब कर्मों की परीक्षा करता है, तो सर्वज्ञ ही नहीं। और जो मृत्यु पीछे उठाता है, तो दौड़ासुपुर्द रखता है और अपने नियम जोकि 'मरे हुए न जीवें', तोड़ता है। यह ख़ुदा को बट्टा लगता है॥ ९८॥

९९. और कहा गया ऐ पृथिवी अपना पानी निगल जा और ऐ आसमान बस कर और पानी सूख गया॥ और ऐ क़ौम मेरे, यह है निशानी ऊंटनी अल्लाह की वास्ते तुम्हारे, बस छोड़ दो उसको बीच पृथिवी अल्लाह के खाती फिरे॥

—मं० ३। सि० ११। सू० ११। आ० ४४। ६४॥

समीक्षक—क्या लड़केपन की बात है! पृथिवी और आकाश

कभी बात सुन सकते हैं? वाहजी वाह! ख़ुदा के ऊंटनी भी है, तो ऊंट भी होगा? तो हाथी, घोड़ा, गधा आदि भी होंगे? और ख़ुदा का ऊंटनी से खेत खिलाना क्या अच्छी बात है? क्या ऊंटनी पर चढ़ता भी है? जो ऐसी बातें हैं तो नवाबी की सी घसड़-पसड़ ख़ुदा के घर में भी हुई॥ ९९ ॥

१००. और सदैव रहने वाले बीच उसके जब तक कि रहें आसमान और पृथिवी॥ और जो लोग सुभागी हुए बस बहिश्त के सदा रहने वाले हैं जब तक रहें आसमान और पृथिवी॥

—मं० ३। सि० १२। सू० १२। आ० १०८। १०९॥

समीक्षक—जब दोज़ख और बहिश्त में कयामत के पश्चात् सब लोग जायेंगे फिर आसमान और पृथिवी किसलिये रहेगी? और तब दोज़ख और बहिश्त के, आसमान पृथिवी के रहने तक अवधि हुई तो 'सदा रहेंगे बहिश्त वा दोज़ख़ में,' यह बात झूठी हुई। ऐसा कथन अविद्वानों का होता है, ईश्वर वा विद्वानों का नहीं॥ १०० ॥

१०१. जब यूसुफ़ ने अपने बाप से कहा कि ऐ बाप मेरे! मैंने एक स्वप्न देखा॥ —मं० ३। सि० १२। सू० १२। आ० ४ से ५७ तक॥

समीक्षक—इस प्रकरण में पिता पुत्र का संवादरूप किस्सा कहानी भरी है, इसलिये क़ुरान ईश्वर का बनाया नहीं। किसी मनुष्य ने मनुष्यों का इतिहास लिख दिया है॥ १०१ ॥

१०२. अल्लाह वह है जिसने खड़ा किया आसमानों को विना खंभे के देखते हो तुम उसको, फिर आराम किया ऊपर अर्श के अर्थात् स्वर्ग में, आज्ञा वर्तने वाला किया सूरज और चांद को॥ और वही है जिसने बिछाया पृथिवी को।। उतारा आसमान से पानी बस बहे नाले साथ अन्दाजे के॥ अल्लाह खोलता है भोजन को वास्ते जिसको चाहे और तंग करता है॥

—मं० ३। सि० १३। सू० १३। आ० २। ३। १७। २६॥

समीक्षक—मुसलमानों का ख़ुदा पदार्थविद्या कुछ भी नहीं जानता था। जो जानता तो आसमान को खंभा लगाने की कथा कहनी, गुरुत्व न होने से, कुछ भी आवश्यकता न थी। यदि ख़ुदा स्वर्गरूप एक स्थान में रहता है, तो वह सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक नहीं हो सकता। और

जो ख़ुदा मेघविद्या जानता तो 'आकाश से पानी उतारा' लिखा, पुनः यह क्यों न लिखा कि 'पृथिवी से पानी ऊपर चढ़ाया'। इससे निश्चय हुआ कि क़ुरान का बनाने वाला मेघ की विद्या को भी नहीं जानता था। और जो विना अच्छे बुरे कामों के सुख दुःख देता है, तो पक्षपाती अन्यायकारी निरक्षर भट्ट है॥ १०२॥

१०३. कह निश्चय अल्लाह गुमराह करता है जिसको चाहता है और मार्ग दिखलाता है तर्फ अपनी उस मनुष्य को रुजू करता है॥

—मं० ३। सि० १३। सू० १३। आ० २७॥

समीक्षक—जब अल्लाह गुमराह करता है, तो ख़ुदा और शैतान में क्या भेद हुआ? जब कि शैतान दूसरों को गुमराह अर्थात् बहकाने से बुरा कहाता है तो ख़ुदा भी वैसे ही काम करने से बुरा शैतान क्यों नहीं? और बहकाने के पाप से दोज़खी क्यों नहीं होना चाहिये?॥ १०३ ॥

१०४. इसी प्रकार उतारा हमने इस क़ुरान को अर्बी में जो पक्ष करेगा तू उनकी इच्छा का पीछे इसके आई तेरे पास विद्या से॥ बस सिवाय इसके नहीं कि ऊपर तेरे पैग़ाम पहुंचाना है और ऊपर हमारे है हिसाब लेना॥ —मं० ३। सि० १३। सू० १३। आ० ३७। ४०॥

समीक्षक—क़ुरान किधर की ओर से उतारा? क्या ख़ुदा ऊपर रहता है? जो यह बात सच्च है तो वह एकदेशी होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर सब ठिकाने एकरस व्यापक है। पैग़ाम पहुँचाना हल्कारे का काम है और हल्कारा की आवश्यकता उसी को होती है, जो मनुष्यवत् एकदेशी हो। और हिसाब लेना देना भी मनुष्य का काम है, ईश्वर का नहीं, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। यह निश्चय होता है कि किसी अल्पज्ञ मनुष्य का बनाया क़ुरान है॥ १०४॥

१०५. और किया सूर्य चन्द्र को सदैव फिरने वाले॥ निश्चय आदमी अवश्य अन्याय और पाप करने वाला है॥

—मं० ३। सि० १३। सू० १४। आ० ३३। ३४॥

समीक्षक—क्या चन्द्र सूर्य सदा फिरते और पृथिवी नहीं फिरती? जो पृथिवी नहीं फिरे तो कई वर्षों का दिन रात होवे। और जो मनुष्य निश्चय अन्याय और पाप करने वाला है तो क़ुरान से शिक्षा करनी व्यर्थ

है। क्योंकि जिनका स्वभाव पाप ही करने का है, तो उनमें पुण्यात्मता कभी न होगी और संसार में पुण्यात्मा और पापात्मा सदा दीखते हैं, इसलिये ऐसी बात ईश्वरकृत पुस्तक की नहीं हो सकती। और निश्चय, अवश्य ये दोनों शब्द एकार्थ होने से पुनरुक्त हैं। पुनरुक्त प्रमत्त वाक्य होता है॥ १०५॥

१०६. ये आयतें हैं किताब की और क़ुरान कहने वाले की और अवश्य निश्चय किये हमने बीच आसमान में बुर्जें॥ बस जब ठीक करूँ मैं उसको और फूंक दूं बीच उसके रूह अपनी से, बस गिर पड़ा वास्ते उसके सिजदा करते हुए॥ कहा ऐ रब मेरे, इस कारण कि गुमराह किया तूने मुझ को, अवश्य जीनत दूंगा मैं बीच पृथिवी के, और गुमराह करूंगा॥ —मं० ३। सि० १४। सू० १५। आ० २९। ३९ से ४६ तक॥

समीक्षक—जो ख़ुदा ने अपनी रूह आदम साहेब में डाली, तो वह भी ख़ुदा हुआ और जो वह ख़ुदा न था, तो सिजदा अर्थात् नमस्कारादि भक्ति करने में अपना शरीक क्यों किया? जब शैतान को गुमराह करने वाला ख़ुदा ही है, तो वह शैतान का भी शैतान बड़ा भाई, गुरु क्यों नहीं? क्योंकि तुम लोग बहकाने वाले को शैतान मानते हो, तो ख़ुदा ने भी शैतान को बहकाया और प्रत्यक्ष शैतान ने कहा कि मैं बहकाऊंगा फिर भी उस को दण्ड देकर क़ैद क्यों न किया? और मार क्यों न डाला?॥ १०६॥

१०७. उत्पन्न किया आदमी को शुक्र से बस एक ही वार और निश्चय भेजे हमने बीच हर उम्मत के पैग़म्बर॥ जब चाहते हैं हम उसको, यह कहते हैं हम उसको, हो। बस हो जाती है॥

—मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० ३६। ४०॥

समीक्षक—इससे एक जन्म सिद्ध होता है, परन्तु इसमें बड़ी भारी भूल है, क्योंकि जन्म अनेक होते हैं। जब जीव अनादि हैं तो उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि हैं, उसका फल भोग भी अनादि से चला आता है, पश्चात् एक जन्म का मानना व्यर्थ है इसका विशेष संवाद नवम समुल्लास में देख लेना। जो सब क़ौमों पर पैग़म्बर भेजे हैं, तो सब लोग जो कि पैग़म्बर की राय पर चलते हैं, वे काफ़िर क्यों? क्या दूसरे पैग़म्बर का मान्य नहीं सिवाय तुम्हारे पैग़म्बर के? यह सर्वथा पक्षपात की बात है। जो सब देश में पैग़म्बर भेजे, तो आर्य्यावर्त में कौन सा भेजा? इसलिए यह बात मानने योग्य नहीं। जब ख़ुदा चाहता है और कहता है कि पृथिवी हो जा। वह जड़ कभी नहीं सुन सकता, ख़ुदा का हुक्म क्योंकर बजा सकेगा? और सिवाय ख़ुदा के दूसरी चीज नहीं मानते तो सुना किसने? और हो कौन गया? ये सब अविद्या की बातें हैं, ऐसी बातों को मूढ लोग मानते हैं॥ १०७॥

१०८. और नियत करते हैं वास्ते अल्लाह के बेटियां, पवित्रता है उसको, और वास्ते उनके हैं जो कुछ चाहें॥ क़सम अल्लाह की अवश्य भेजा हमने पैग़म्बर॥ —मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० ५७। ६३॥

समीक्षक—अल्लाह बेटियों से क्या करेगा? बेटियां तो किसी मनुष्य को चाहिए, क्यों बेटे नियत नहीं किये जाते और बेटियां नियत की जाती हैं? इसका क्या कारण? बताइये? क़सम खाना झूठों का काम है, ख़ुदा की बात नहीं। क्योंकि बहुधा संसार में ऐसा दीखने में आता है जो झूठा होता है वही क़सम खाता है, सच्चा सौगन्ध क्यों खावे?॥ १०८॥

१०९. ये लोग वे हैं कि मोहर रक्खी अल्लाह ने ऊपर दिलों उनके और कानों उनके और आँखों उनकी के और ये लोग वे हैं बेख़बर॥ और पूरा दिया जावेगा हर जीव को जो कुछ किया है और वे अन्याय न किये जावेंगे॥ —मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० १०८। १११॥

समीक्षक—जब ख़ुदा ही ने मोहर लगा दी तो वे बिचारे विना अपराध मारे गये क्योंकि उनको पराधीन कर दिये, यह कितना बड़ा अपराध है? और फिर कहते हैं कि जिसने जितना किया है उतना ही उनको दिया जायेगा, न्यूनाधिक नहीं। भला! उन्होंने स्वतन्त्रता से पाप किये ही नहीं किन्तु ख़ुदा के कराने से किये, पुन: उनका अपराध ही न हुआ, उनको फल न मिलना चाहिये। इसका फल ख़ुदा को मिलना उचित है और जो पूरा दिया जाता है, तो क्षमा किस बात की की जाती है? और जो क्षमा की जाती है, तो न्याय उड़ जाता है। ऐसा गड़बड़ाध्याय की बात ईश्वर की कभी नहीं हो सकती, किन्तु निर्बुद्धि छोकरों की

होती है॥ १०९॥

११०. और किया हमने दोज़ख को वास्ते काफ़िरों के घेरने वाला स्थान॥ और हर आदमी को लगा दिया हमने उसको अमलनामा उसका बीच गर्दन उसकी के, और निकालेंगे हम वास्ते उसके दिन क़यामत के एक किताब कि देखेगा उसको खुला हुआ॥ और बहुत मारे हमने क़ुरनून से पीछे नूह के॥

—मं० ४। सि० १५। सू० १७। आ० ८।१३।१७॥

समीक्षक—यदि काफ़िर वे ही हैं कि जो क़ुरान, पैग़म्बर और क़ुरान के कहे ख़ुदा, सातवें आसमान और निवाज़ आदि को न मानने वाले, उन्हीं के लिये दोज़ख होवे, तो यह बात केवल पक्षपात की ठहरे। क्योंकि क्या क़ुरान ही के मानने वाले सब अच्छे और अन्य के मानने वाले बुरे हो सकते हैं? यह बड़ी लड़कपन की बात है कि उसके गर्दन पर कर्म की लेख खुदा ने लिख दी। यह बात सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि गर्दन की नाडी-नाडी और हाड़-हाड़ देखने से भी कुछ भी कहीं लिखा नहीं पाता, और क़यामत की रात को किताब निकालेगा ख़ुदा तो आजकल वह किताब कहां है? क्या साहूकार की बही समान लिखता रहता है? हां! यहां यह विचारना चाहिये कि जो पूर्व जन्म नहीं, तो जीवों के कर्म ही नहीं हो सकते, तो फिर कर्म की रेखा क्या लिखी? और जो विना कर्म के लिखा तो उन पर अन्याय किया, क्योंकि विना अच्छे बुरे कर्मों के उनको दुःख सुख क्यों दिया? जो कहो कि ख़ुदा की मरजी, तो भी उसने अन्याय किया। अन्याय उसीको कहते हैं कि विना बुरे भले कर्म किये दुःख सुखरूप फल न्यूनाधिक देना। और उस समय ख़ुदा ही किताब बांचेगा वा कोई सरिश्तेदार सुनावेगा? जो ख़ुदा ही ने दीर्घकाल सम्बन्धी जीवों को विना अपराध मारा तो वह अन्यायकारी हो गया। जो अन्यायकारी होता है वह ख़ुदा ही नहीं हो सकता॥ ११०॥

१११. और दिया हमने समूद को ऊंटनी प्रमाण॥ और बहका जिसको बहका सके॥ जिस दिन बुलावेंगे हम उन लोगों के साथ पेशवाओं उनके के बस जो कोई दिया गया अमलनामा उसका बीच

दहिने हाथ उसके के॥

—मं० ४। सि० १५। सू० १७। आ० ५९।६४।७१॥

समीक्षक—वाह! जितनी ख़ुदा की निशानी आश्चर्य हैं, उन में से एक ऊंटनी भी ख़ुदा के होने में प्रमाण अथवा परीक्षा में साधक है। यदि ख़ुदा ने शैतान को बहकाने का हुक्म दिया, तो ख़ुदा ही शैतान का सरदार और सब पाप कराने वाला ठहरा, ऐसे को ख़ुदा कहना केवल कम समझ की बात है। जब क़यामत की अर्थात् प्रलय ही में न्याय करने कराने के लिए पैग़म्बर और उनके उपदेश मानने वालों को ख़ुदा बुलावेगा, तो जब तक प्रलय न होगा, तब तक सब दौड़ा सुपुर्द रहे और दौड़ा सुपुर्द सब को दुःखदायक है, जब तक न्याय न किया जाय। इसलिये शीघ्र न्याय करना न्यायाधीश का उत्तम काम है। यह तो **पोपाँबाई का न्याय** ठहरा। जैसे कोई न्यायाधीश कहे कि जब तक पचास वर्ष तक के चोर और साहूकार इकट्ठे न हों, तब तक उन को दण्ड वा प्रतिष्ठा न करनी चाहिए, वैसा ही यह हुआ कि एक तो पचास वर्ष तक दौड़ा सुपुर्द रहा और एक आज ही पकड़ा गया, ऐसा न्याय का काम नहीं हो सकता। न्याय तो वेद और मनुस्मृति का देखो जिसमें क्षण मात्र भी विलम्ब नहीं होता और अपने-अपने कर्मानुसार दण्ड वा प्रतिष्ठा सदा पाते रहते हैं। दूसरा पैग़म्बरों को गवाही के तुल्य रखने से ईश्वर की सर्वज्ञता की हानि है। भला! ऐसा पुस्तक ईश्वरकृत और ऐसे पुस्तक का उपदेश करनेवाला ईश्वर कभी हो सकता है? कभी नहीं॥ १११॥

११२. ये लोग वास्ते उनके हैं बाग़ हमेशह रहने के, चलती हैं नीचे उनके से नहरें, गहना पहिनाये जावेंगे बीच उसके कंगन सोने के से और पोशाक पहिनेंगे वस्त्र हरित लाही की से और ताफ़ते की से तकिये किये हुए बीच उसके ऊपर तख़्तों के, अच्छा है पुण्य और अच्छी है बहिश्त लाभ उठाने की॥ —मं० ४। सि० १५। सू० १८। आ० ३१॥

समीक्षक—वाह जी वाह! क्या क़ुरान का स्वर्ग है जिसमें बाग़, गहने, कपड़े, गद्दी, तकिये आनन्द के लिये हैं। भला! कोई बुद्धिमान् यहां विचार करे, तो यहां से वहां मुसलमानों के बहिश्त में अधिक कुछ भी नहीं है सिवाय अन्याय के। वह यह कि कर्म उनके अन्त वाले और

फल उनके अनन्त और जो मीठा नित्य खावे, तो थोड़े दिन में विष के समान प्रतीत होता है। जब सदा वे सुख भोगेंगे, तो उनको सुख ही दु:ख रूप हो जायगा, इसलिये महाकल्प पर्यन्त मुक्तिसुख भोग के पुनर्जन्म पाना ही सत्य सिद्धान्त है॥ ११२॥

११३. और यह बस्तियां हैं कि मारा हमने उनको जब अन्याय किया उन्होंने, और हमने उनके मारने की प्रतिज्ञा स्थापन की॥

—मं० ४। सि० १५। सू० १८। आ० ५९॥

समीक्षक—भला! सब बस्ती भर पापी कभी हो सकती है? और पीछे से प्रतिज्ञा करने से ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहा, क्योंकि जब उनका अन्याय देखा तब प्रतिज्ञा की, पहिले नहीं जानता था, इससे दयाहीन भी ठहरा॥ ११३॥

११४. और वह जो लड़का, बस थे मा बाप उसके ईमान वाले, बस डरे हम यह कि पकड़ें उनको सरकशी में और कुफ्र में॥ यहां तक कि पहुंचा जगह डूबने सूर्य्य की, पाया उसको डूबता था बीच चश्मे कीचड़ के॥ कहा ऐ‌ज़ुलक़रनैन निश्चय याजूज माजूज फ़िसाद करने वाले हैं बीच पृथिवी के॥

—मं० ४। सि० १६। सू० १८। आ० ८०।८६।९४॥

समीक्षक—भला! यह ख़ुदा की कितनी बेसमझ है। शङ्का से डरा कि यह लड़का अपने मा बाप को शायद मेरे मार्ग से बहका कर उल्लंघन कर देवे। यह कभी ईश्वर की बात नहीं हो सकती। अब आगे की अविद्या की बात देखिये कि इस किताब का बनाने वाला सूर्य्य को एक झील में रात्रि को डूबा जानता है, फिर प्रात:काल निकलता है। भला! सूर्य्य तो पृथिवी से बहुत बड़ा है, वह नदी वा झील वा समुद्र में कैसे डूब सकेगा! इससे यह विदित हुआ कि क़ुरान के बनाने वाले को भूगोल खगोल की विद्या नहीं थी। जो होती तो ऐसी विद्याविरुद्ध बात क्यों लिख देते हैं? और इस पुस्तक के मानने वालों को भी विद्या नहीं है। जो होती तो ऐसी मिथ्या बातों से युक्त पुस्तक को क्यों मानते? अब देखिये ख़ुदा का अन्याय! आप ही पृथिवी का बनाने वाला राजा न्यायाधीश है और याजूज माजूज को पृथिवी में फ़साद भी करने देता

है। यह ईश्वरता की बात से विरुद्ध है। इससे ऐसी पुस्तक को जङ्गली लोग माना करते हैं, विद्वान् नहीं॥ ११४॥

११५. और याद करो बीच किताब के मर्यम को, जब जा पड़ी लोगों अपने से मकान पूर्वी में॥ बस पड़ा उनसे इधर पर्दा, बस भेजा हमने रूह अपनी को अर्थात् फ़रिश्ता, बस सूरत पकड़ी वास्ते उसके आदमी पुष्ट की॥ कहने लगी निश्चय मैं शरण पकड़ती हूं रहमान की तुझ से, जो है तू परहेजगार॥ कहने लगा सिवाय इसके नहीं कि मैं भेजा हुआ हूँ मालिक तेरे के से, तो कि दे जाऊं मैं तुझ को लड़का पवित्र॥ कहा कैसे होगा वास्ते मेरे लड़का नहीं हाथ लगाया मुझको आदमी ने, नहीं मैं बुरा काम करने वाली॥ बस गर्भित हो गई साथ उसके और जा पड़ी साथ उसके मकान दूर अर्थात् जंगल में॥

—मं० ४। सि० १६। सू० १९। आ० १६।१७।१८।
१९।२०।२२॥

समीक्षक—अब बुद्धिमान् विचार लें कि फ़रिश्ते सब खुदा की रूह हैं, तो खुदा से अलग पदार्थ नहीं हो सकते। और शैतान भी नापाक रूह खुदा ही की हुई, तो खुदा ही नापाक हुआ। यदि ऐसा है तो ऐसे नापाक खुदा के भक्त पाक कैसे हो सकेंगे? दूसरा यह अन्याय कि वह मर्यम कुमारी के लड़का होना, किसी का संग करना नहीं चाहती थी, परन्तु खुदा के हुक्म से फ़रिश्ते ने उसको बलात्कार गर्भवती किया, यह न्याय से विरुद्ध बात है। यहाँ अन्य भी असभ्यता की बातें बहुत लिखी हैं उनको लिखना उचित नहीं समझा॥ ११५॥

११६. क्या नहीं देखा तू ने यह कि भेजा हमने शैतानों को ऊपर काफ़िरों के बहकाते हैं उनको बहकाने कर॥

—मं० ४। सि० १६। सू० १९। आ० ८३॥

समीक्षक—जब खुदा ही शैतानों को बहकाने के लिये भेजता है तो बहकने वालों का कुछ दोष नहीं हो सकता और न उनको दण्ड हो सकता और न शैतानों को, क्योंकि यह खुदा के हुक्म से सब होता है, इसका फल खुदा को होना चाहिये। जो सच्चा न्यायकारी है, तो उसका फल दोज़ख़ आप ही भोगे और जो न्याय को छोड़ के अन्याय को करे,

तो अन्यायकारी हुआ। अन्यायकारी ही पापी कहाता है॥ ११६ ॥

११७. और निश्चय क्षमा करने वाला हूं वास्ते उस मनुष्य के तोबाः की और ईमान लाया और कर्म किये अच्छे, फिर मार्ग पाया॥

—मं० ४। सि० १६। सू० २०। आ० ८२॥

समीक्षक—जो तोबाः से पाप क्षमा करने की बात क़ुरान में है, यह सब को पापी कराने वाली है। क्योंकि पापियों को इससे पाप करने का साहस बहुत बढ़ जाता है। इस से यह पुस्तक और इस का बनाने वाला पापियों को पाप कराने में होंसला बढ़ाने वाले हैं। इस से यह पुस्तक परमेश्वरकृत और इस में कहा हुआ परमेश्वर भी नहीं हो सकता॥ ११७ ॥

११८. और जिसको चाहा मारा हमने हद्द से निकलने वालों को॥ बस पवित्रता है अल्लाह मालिक अर्श के को॥ और किये हमने बीच पृथिवी के पहाड़ ऐसा न हो कि हिल जावे॥

—मं० ४। सि० १७। सू० २१। आ० ९। २१। ३१॥

समीक्षक—देखिये गदर लूटमार! कि जिसको [चाहा] उसने मारा और जिसको चाहा उसको बचाया। भले-बुरे कर्म की अपेक्षा कुछ नहीं करता। जब सातवें आसमान पर तख्त का निवासी अल्लाह है, वह सब जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, ज्ञाता कभी नहीं हो सकता। यदि क़ुरान का बनाने वाला पृथिवी का घूमना आदि जानता, तो यह बात कभी नहीं कहता कि पहाड़ों के धरने से पृथिवी नहीं हिलती। शंका हुई कि जो पहाड़ न धरता, तो हिल जाती! इतने कहने पर भी भूकम्प में क्यों डिग जाती है?॥ ११८ ॥

११९. और शिक्षा दी हमने उस औरत को और रक्षा की उसने अपने गुह्य अङ्गों की, बस फूंक दिया हमने बीच उसके रूह अपनी को॥ —मं० ४। सि० १७। सू० २१। आ० ९१॥

समीक्षक—ऐसी अश्लील बातें ख़ुदा की पुस्तक, ख़ुदा की और सभ्य मनुष्य की भी नहीं होती। जब कि मनुष्यों में ऐसी-ऐसी बातों का लिखना अच्छा नहीं, तो परमेश्वर के सामने क्योंकर अच्छा हो सकता है? ऐसी बातों से क़ुरान दूषित होता है। यदि अच्छी बातें होती, तो अति प्रशंसा होती, जैसे वेदों की॥ ११९ ॥

१२०. क्या नहीं देखा तूने यह कि अल्लाह को सिज़दा करते हैं जो कोई आसमानों और पृथिवी के, हैं सूर्य्य और चन्द्र तारे और पहाड़, वृक्ष और जानवर॥ पहिनाये जावेंगे बीच उसके कंगन सोने और मोती के और पहिनावा उनका बीच उसके रेशमी हैं॥ और पवित्र रख घर मेरे को वास्ते गिर्द फिरने वालों के और खड़े रहने वालों के॥ फ़िर चाहिये कि दूर करें मैल अपने और पूरी करें भेटें अपनी और चारों ओर फिरें घर क़दीम के॥ तो कि नाम अल्लाह का याद करें॥

—मं० ४। सि० १७। सू० २२। आ० १८। २३। २६। २९। ३४॥

समीक्षक—भला! जो जड़ वस्तु हैं, वे परमेश्वर को जान ही नहीं सकते, फिर वे उस की भक्ति क्योंकर कर सकते हैं? इस से यह पुस्तक ईश्वरकृत तो कभी नहीं हो सकता, किन्तु किसी भ्रान्त ने बनाया हुआ दीखता है। वाह! बड़ा अच्छा स्वर्ग है, जहां सोने, मोती के गहने और रेशमी कपड़ा पहिरने को मिलें। यह बहिश्त यहाँ के राजाओं के घर से अधिक नहीं दीख पड़ता। और जब परमेश्वर का घर है, तो वह उसी घर में रहता भी होगा, फिर बुतपरस्ती क्यों न हुई? और दूसरे बुतपरस्तों का खण्डन क्यों करते हैं? जब ख़ुदा भेंट लेता, अपने घर की परिक्रमा करने की आज्ञा देता है और पशुओं को मरवा के खिलाता है, तो यह ख़ुदा मन्दिरवाले और भैरव, दुर्गा के सदृश हुआ और महाबुतपरस्ती का चलाने वाला हुआ। क्योंकि मूर्त्तियों से मस्जिद बड़ा बुत है। इस से ख़ुदा और मुसलमान बड़े बुतपरस्त और पुराणी तथा जैनी छोटे बुतपरस्त हैं॥ १२० ॥

१२१. फिर निश्चय तुम दिन क़यामत के उठाये जाओगे॥

—मं० ४। सि० १८। सू० २३। आ० १६॥

समीक्षक—क़यामत तक मुर्दे क़बरों में रहेंगे वा किसी अन्य जगह? जो उन्हीं में रहेंगे तो सड़े हुए दुर्गन्धरूप शरीर में रहकर पुण्यात्मा भी दुःख भोग करेंगे? यह न्याय अन्याय है। और दुर्गन्ध अधिक होकर रोगोत्पत्ति करने से ख़ुदा और मुसलमान पापभागी होंगे॥ १२१ ॥

१२२. उस दिन की गवाही देवेंगे ऊपर उनके ज़बानें उनकी और

हाथ उनके और पांव उनके साथ उस वस्तु के कि थे करते॥ अल्लाह नूर है आसमानों का और पृथिवी का, नूर उसके कि मानिन्द ताक़ की है बीच उसके दीप हो, और दीप बीच कंदील शीशे के हैं, वह कंदील मानो कि तारा है चमकता, रोशन किया जाता है दीपक वृक्ष मुबारिक जैतून के से, न पूर्व की ओर है न पश्चिम की, समीप है तैल उस का रोशन हो जावे जो न लगे ऊपर रोशनी के, मार्ग दिखाता है अल्लाह नूर अपने के जिसको चाहता है॥

—मं० ४। सि० १८। सू० २४। आ० २४।३५॥

समीक्षक—हाथ पग आदि जड़ होने से गवाही कभी नहीं दे सकते यह बात सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या है। क्या ख़ुदा आगी बिजुली है? जैसा कि दृष्टान्त देते हैं ऐसा दृष्टान्त ईश्वर में नहीं घट सकता। हां, किसी साकार वस्तु में घट सकता है॥ १२२॥

१२३. और अल्लाह ने उत्पन्न किया हर जानवर को पानी से बस कोई उनमें से वह है कि जो चलता है पेट अपने के॥ और जो कोई सेवा करे अल्लाह की रसूल उसके की॥ कह सेवा करो खुदा की रसूल उसके की और सेवा करो रसूल की ताकि दया किये जाओ॥

—मं० ४। सि० १८। सू० २४। आ० ४४।५२।५४।५६॥

समीक्षक—यह कौन सी फ़िलासफ़ी है कि जिन जानवरों के शरीर में सब तत्त्व दीखते हैं और कहना कि केवल पानी से उत्पन्न किये? यह केवल अविद्या की बात है। जब अल्लाह के साथ पैग़म्बर की सेवा करनी होती है, तो खुदा का शरीक हो गया वा नहीं? यदि ऐसा है, तो खुदा को लाशरीक क्यों क़ुरान में लिखा और कहते हो?॥ १२३॥

१२४. और जिस दिन कि फट जावेगा आसमान साथ बदली के, और उतारे जावेंगे फ़रिश्ते॥ बस मत कहा मान काफ़िरों का, और झगड़ा कर उनसे साथ झगड़ा बड़ा॥ और बदल डालता है अल्लाह बुराइयों उनकी को भलाइयों से॥ और जो कोई तोबाः करे और कर्म करे अच्छे बस निश्चय आता है तरफ़ अल्लाह की॥

—मं० ४। सि० १९। सू० २५। आ० २६।५२।७०।७१॥

समीक्षक—यह बात कभी सच नहीं हो सकती है कि आकाश बद्दलों के साथ फट जावे। यदि आकाश कोई मूर्त्तिमान् पदार्थ हो तो फट सकता है। यह मुसलमानों का क़ुरान और खुदा शान्तिभङ्ग कर गदर झगड़ा मचाने वाला है, इसीलिये धार्मिक विद्वान् लोग इस को नहीं मानते। यह भी अच्छा न्याय है कि जो पाप और पुण्य का अदला बदला हो जाय! क्या यह तिल और उड़द की सी बात है, जो पलटा हो जावे? जो तोबाः करने से पाप छूटे और ईश्वर मिले, तो कोई भी पाप करने से न डरे, इसलिये ये सब बातें विद्या से विरुद्ध हैं॥ १२४॥

१२५. वही की हमने तरफ़ मूसा की यह कि ले चला रात को बन्दों मेरे को, निश्चय तुम पीछा किये जाओगे॥ बस भेजे लोग फ़िरोन ने बीच नगरों के जमा करने वाले॥ और वह पुरुष कि जिस ने पैदा किया मुझ को, बस वही मार्ग दिखलाता है॥ और वह जो खिलाता है मुझको पिलाता है मुझको॥ और वह पुरुष कि आशा रखता हूं मैं यह कि क्षमा करे वास्ते मेरे, अपराध मेरा दिन क़यामत के॥

—मं० ५। सि० १९। सू० २६। आ० ५२।५३।७८।७९।८२॥

समीक्षक—जब ख़ुदा ने मूसा की ओर वही भेजी पुनः दाऊद, ईसा और मुहम्मद साहेब की ओर किताब क्यों भेजी? क्योंकि परमेश्वर की बात सदा एक सी और बेभूल होती है। और उसके पीछे क़ुरान तक पुस्तकों का भेजना पहिली पुस्तक को अपूर्ण, भूलयुक्त माना जायगा। यदि ये तीन पुस्तक सच्चे हैं, तो यह क़ुरान झूठी होगी। चारों का जो कि परस्पर प्रायः विरोध रखते हैं, उन का सर्वथा सत्य होना नहीं हो सकता। यदि ख़ुदा ने रूह अर्थात् जीव पैदा किये हैं, तो वे मर भी जायेंगे अर्थात् उनका कभी न कभी अभाव भी होगा। जो परमेश्वर ही मनुष्यादि प्राणियों को खिलाता पिलाता है, तो किसी को रोग न होना चाहिये और सबको तुल्य भोजन देना चाहिये। पक्षपात से एक को उत्तम और दूसरे को निकृष्ट जैसा कि राजा और कंगले को, श्रेष्ठ निकृष्ट भोजन मिलता है न होना चाहिये। जब परमेश्वर ही खिलाने पिलाने और पथ्य कराने वाला है, तो रोग ही न होने चाहियें। परन्तु मुसलमान आदि को भी रोग होते हैं। यदि ख़ुदा ही रोग छुड़ा कर आराम करने वाला है, तो मुसलमानों

के शरीरों में रोग न रहना चाहिये। यदि रहता है तो ख़ुदा पूरा वैद्य नहीं है। यदि पूरा वैद्य है, तो मुसलमानों के शरीर में रोग क्यों रहते हैं? वही मारता और जिलाता है, तो उसी ख़ुदा को पाप पुण्य लगता होगा। यदि जन्म जन्मान्तर के कर्मानुसार व्यवस्था करता है, तो उसको कुछ भी अपराध नहीं। वह पाप क्षमा और न्याय क़यामत की रात में करता है, तो ख़ुदा पाप बढ़ाने वाला होकर पापयुक्त होगा। यदि क्षमा नहीं करता, तो यह क़ुरान की बात झूठी है॥ १२५॥

१२६. नहीं तू परन्तु आदमी मानिन्द हमारी, बस ले आ कुछ निशानी जो है तू सच्चों से॥ कहा यह ऊंटनी है वास्ते उस के पानी पाना है एक वार॥ —मं० ५। सि० १९। सू० २६। आ० १५४। १५५॥

समीक्षक—यह ख़ुदा को शंका और अभिमान क्यों हुआ कि तू हमारे तुल्य नहीं है और ऊंटनी की निशानी देनी केवल जंगली व्यवहार है, ईश्वरकृत नहीं! यदि यह किताब ईश्वरकृत होती तो ऐसी व्यर्थ बातें इस में न होतीं॥ १२६॥

१२७. ऐ मूसा बात यह है कि निश्चय मैं अल्लाह हूं ग़ालिब॥ और डाल दे असा अपना, बस जब कि देखा उसको हिलता था मानो कि वह सांप है,....ऐ मूसा मत डर, निश्चय नहीं डरते समीप मेरे पैग़म्बर॥ अल्लाह नहीं कोई माबूद परन्तु वह मालिक अर्श बड़े का॥ यह कि मत सरकशी करो ऊपर मेरे और चले आओ मेरे पास मुसलमान होकर॥ —मं० ५। सि० १९। सू० २७। आ० ९। १०। २६। ३१॥

समीक्षक—और भी देखिये! अपने मुख से आप अल्लाह बड़ा ज़बरदस्त बनता है। अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना श्रेष्ठ पुरुष का भी काम नहीं, ख़ुदा का क्योंकर हो सकता है? तभी तो इन्द्रजाल का लटका दिखला, जंगली मनुष्यों को वश कर, आप जंगलस्थ ख़ुदा बन बैठा। ऐसी बात ईश्वर के पुस्तक की कभी नहीं हो सकती। यदि वह बड़े अर्श अर्थात् सातवें आसमान का मालिक है तो वह एकदेशी होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता है। यदि सरकशी करना बुरा है, तो ख़ुदा ने, मुहम्मद साहेब और फरिश्तों ने ईमान लाने, सेवा करने में साथ क्यों मिलाया, इससे सरकशी हुई वा नहीं? इससे यह क़ुरान पुनरुक्त और पूर्वापर विरुद्ध बातों से भरा हुआ है॥ १२७॥

१२८. और देखेगा तू पहाड़ों को अनुमान करता है तू उनको जमे हुए और वे चले जाते हैं मानिन्द चलने बादलों की, कारीगरी अल्लाह की जिसने दृढ़ किया हर वस्तु को, निश्चय वह ख़बरदार है उस वस्तु के कि करते हो॥ —मं० ५। सि० २०। सू० २७। आ० ८८॥

समीक्षक—भला! बद्दलों के समान पहाड़ का चलना क़ुरान बनाने वालों के देश में होता होगा, अन्यत्र नहीं। और ख़ुदा की ख़बरदारी तो शैतान बागी को न पकड़ने और न दंड देने से ही विदित होती है कि जिसने एक बाग़ी को भी अब तक न पकड़ पाया, न दंड दिया। इस से अधिक असावधानीता क्या होगी॥ १२८॥

१२९. बस मुष्ट मारा उस को मूसा ने, बस पूरी की आयु उसकी॥ कहा ऐ रब मेरे! निश्चय मैंने अन्याय किया जान अपनी को, बस क्षमा कर मुझ को, बस क्षमा कर दिया उसको, निश्चय वह क्षमा करने वाला दयालु है॥ और मालिक तेरा उत्पन्न करता है, जो कुछ चाहता है और पसन्द करता है॥ —मं० ५। सि० २०। सू० २८। आ० १५। १६। ६८॥

समीक्षक—अब अन्य भी देखिये! मुसलमान और ईसाइयों के पैग़म्बर और ख़ुदा कि मूसा पैग़म्बर मनुष्य की हत्या किया करे और ख़ुदा क्षमा किया करे, ये दोनों अन्यायकारी हैं वा नहीं? क्या अपनी इच्छा ही से जैसा चाहता है वैसी उत्पत्ति करता है? क्या उसने अपनी इच्छा ही से एक को राजा, दूसरे को कङ्गाल और एक को विद्वान् और दूसरे को मूर्खादि किया है? यदि ऐसा है तो यह अन्यायकारी होने से क़ुरान सत्य और यह ख़ुदा ही नहीं हो सकता है॥ १२९॥

१३०. और आज्ञा दी हम ने साथ मा बाप के भलाई करना और जो झगड़ा करें तुझ से दोनों यह कि शरीक लावे तू साथ मेरे उस वस्तु को, कि नहीं वास्ते तेरे साथ उस के ज्ञान, बस मत कहा मान उन दोनों का, तर्फ़ मेरी है॥ और अवश्य भेजा हमने नूह को तर्फ क़ौम उसके कि बस रहा बीच उनके हजार वर्ष परन्तु पचास वर्ष कम उस दिन ढांक लेगा उसको अजाब ऊपर उनके से॥

—मं० ५। सि० २०-२१। सू० २९। आ० ८। १४॥

समीक्षक—माता पिता की सेवा करनी तो अच्छी ही है। जो ख़ुदा के साथ शरीक करने के लिये कहे, तो उनका कहा न मानना, यह भी ठीक है, परन्तु यदि माता-पिता मिथ्याभाषणादि करने की आज्ञा देवें, तो क्या मान लेना चाहिये, इसलिये यह बात आधी अच्छी और आधी बुरी है। क्या नूह आदि पैग़म्बर ही को ख़ुदा संसार में भेजता है, तो अन्य जीवों को कौन भेजता है? यदि सब को वही भेजता है, तो सभी पैग़म्बर क्यों नहीं? और जो प्रथम मनुष्यों की हज़ार वर्ष की आयु होती थी, तो अब क्यों नहीं होती? इसलिये यह बात ठीक नहीं। यदि ख़ुदा के न्यायघर में भी नीचे शिर, ऊपर पग बांधकर दंड दिया जाता है, तो उससे आजकल ही का राज अच्छा है। आजकल दण्ड तो दिया जाता है, परन्तु पग नीचे और शिर ऊपर ही रक्खा जाता है। यदि ऐसा ही दण्ड हो, तो भी मनुष्यों में संघटित हो सकता है॥ १३०॥

१३१. अल्लाह पहिली वार करता है उत्पत्ति फिर दूसरी वार करेगा उस को, फिर उसी की ओर फेरे जाओगे॥ जिस दिन बरपा अर्थात् खड़ी होगी क़यामत निराश होंगे पापी॥ बस जो लोग कि ईमान लाये और काम किये अच्छे बस वे बीच बाग़ के सिंगार किये जावेंगे॥ और जो भेज दें हम ए बाव बस देखें उस खेती को पीली हुई॥ इस प्रकार मोहर रखता है अल्लाह ऊपर दिलों उन लोगों के कि नहीं जानते॥

—मं० ५। सि० २१। सू० ३०। आ० ११।१२।१५।५१।५९॥

समीक्षक—यदि अल्लाह दो वार उत्पत्ति करता है, तीसरी वार नहीं, तो उत्पत्ति की आदि और दूसरी वार के अन्त में निकम्मा बैठा रहता होगा? और एक तथा दो वार उत्पत्ति के पश्चात् उसका सामर्थ्य निकम्मा और व्यर्थ हो जायगा। यदि न्याय करने के लिये दिन न रख कर, रात रक्खी जाय तो गवर्गण्ड-सी लीला हो जाय। न्याय तो दिन ही में करना सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीलिये यह मुसलमान और मुसलमानों के ख़ुदा की उल्टी बात है। यदि बगीचे में रखना और शृंगार पहिराना ही मुसलमानों का स्वर्ग है, तो इस संसार के तुल्य हुआ और वहां माली और सुनार भी होंगे अथवा ख़ुदा ही माली और सुनार आदि का काम करता होगा। यदि किसी को कम गहना मिलता होगा, तो चोरी भी होती

होगी और बहिश्त से चोरी करने वालों को दोज़ख में भी डालता होगा। यदि ऐसा होता होगा, तो 'सदा बहिश्त में रहेंगे' यह बात झूठी हो जायगी। जो किसानों की खेती पर भी ख़ुदा की दृष्टि है, यह विद्या खेती करने के अनुभव ही से होती है और यदि माना जाय कि ख़ुदा ने अपनी विद्या से सब बात जान ली है तो ऐसा भय देना अपना घमण्ड प्रसिद्ध करना है। यदि अल्लाह ने जीवों के दिलों पर मोहर लगा पाप कराया, तो उस पाप का भागी वही होवे, जीव नहीं हो सकते। जैसे जय पराजय सेनाधीश का होता है, वैसे यह सब पाप ख़ुदा ही को प्राप्त होवे॥ १३१॥

१३२. ये आयतें हैं किताब हिक्मत वाले की॥ उत्पन्न किया आसमानों को विना सुतून अर्थात् खम्भे के देखते हो तुम उस को और डाले बीच पृथिवी के पहाड़ ऐसा न हो कि हिल जावे॥ क्या नहीं देखा तूने यह कि अल्लाह प्रवेश कराता है रात को बीच दिन के और प्रवेश कराता है दिन को बीच रात के॥ क्या नहीं देखा कि किश्तियां चलती हैं बीच दर्य्या के साथ निआमतों अल्लाह के, तो कि दिखलावे तुम को निशानियां अपनी॥

—मं० ५। सि० २१। सू० ३१। आ० २।१०।२९।३१॥

समीक्षक—वाह जी! हिक्मतवाली किताब! कि जिस में सर्वथा विद्या से विरुद्ध आकाश की उत्पत्ति और उस में खम्भे लगाने की शंका और पृथिवी को स्थिर रखने के लिये पहाड़ रखना! थोड़ी सी विद्या वाला भी ऐसा लेख कभी नहीं करता और न मानता। और हिक्मत देखो कि जहाँ दिन है वहां रात नहीं और जहां रात है वहां दिन नहीं, उसको एक दूसरे में प्रवेश कराना लिखता है, यह बड़े अविद्वानों की बात है, इसलिये यह कुरान विद्या की पुस्तक नहीं हो सकती। क्या यह विद्याविरुद्ध बात नहीं है कि नौका, मनुष्य और क्रियाकौशलादि से चलती हैं वा ख़ुदा की कृपा से? यदि लोहे वा पत्थरों की नौका बना कर समुद्र में चलावें तो ख़ुदा की निशानी डूब जाय वा नहीं? इसलिये यह पुस्तक न विद्वान् और न ईश्वर की बनाई हुई हो सकती है॥ १३२॥

१३३. तदबीर करता है काम की आसमान से तर्फ़ पृथिवी की फिर चढ़ जाता है तर्फ़ उस की बीच एक दिन के कि है अवधि उस की सहस्र वर्ष उन वर्षों से कि गिनते हो तुम॥ यह है जानने वाला गैब का

और प्रत्यक्ष का दयालु॥ फिर पुष्ट किया उस को और फूंका बीच उस के रूह अपनी से॥ यह क़ब्ज करेगा तुम को फ़रिश्ता मौत का वह जो नियत किया गया है साथ तुम्हारे॥ और जो चाहते हम अवश्य देते हम हर एक जीव को शिक्षा उस की, परन्तु सिद्ध हुई बात मेरी ओर से कि अवश्य भरूंगा मैं दोज़ख़ को जिनों से और आदमियों से इकट्ठे॥

—मं० ५। सि० २१। सू० ३२। आ० ५।६।९।११।१३॥

समीक्षक—अब ठीक सिद्ध हो गया कि मुसलमानों का ख़ुदा मनुष्यवत् एकदेशी है। क्योंकि जो व्यापक होता तो एकदेश से प्रबन्ध करना और उतरना चढ़ना नहीं हो सकता। यदि ख़ुदा फ़रिश्ते को भेजता है तो भी आप एकदेशी हो गया। आप आसमान पर टंगा बैठा है और फ़रिश्तों को दौड़ाता है। यदि फ़रिश्ते रिश्वत लेकर कोई मामला बिगाड़ दें वा किसी मुर्दे को छोड़ जायें, तो ख़ुदा को क्या मालूम हो सकता है? मालूम तो उसको हो कि जो सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक हो, सो तो है ही नहीं; होता तो फ़रिश्तों के भेजने तथा कई लोगों की कई प्रकार से परीक्षा लेने का क्या काम था? और एक हजार वर्षों में प्रबन्ध करने से सर्वशक्तिमान् भी नहीं। यदि मौत का फ़रिश्ता है, तो उस फ़रिश्ते का मारने वाला कौन सा मृत्यु है? यदि वह नित्य है, तो अमरपन में ख़ुदा के बराबर शरीक हुआ। एक फ़रिश्ता एक समय में यदि दोज़ख़ भरने के लिये जीवों को शिक्षा नहीं करता और उन को विना पाप किये अपनी मर्ज़ी से दोज़ख़ भर के उन को दुःख देकर तमाशा देखता है, तो वह ख़ुदा पापी अन्यायकारी और दयाहीन है। ऐसी बातें जिस पुस्तक में हों, न वह विद्वान् और ईश्वरकृत, और जो दया न्यायहीन है वह ईश्वर भी कभी नहीं हो सकता॥ १३३॥

१३४. कह कि कभी न लाभ देगा भागना तुम को जो भागो तुम मृत्यु वा क़त्ल से॥ ऐ बीबियो नबी की! जो कोई आवे तुम में से निर्लज्जता प्रत्यक्ष के, दुगुणा किया जायेगा वास्ते उस के अज़ाब, और है यह ऊपर अल्लाह के सहल॥

—मं० ५। सि० २१। सू० ३३। आ० १६।३०॥

समीक्षक—यह मुहम्मद साहेब ने इसलिये लिखा लिखवाया होगा कि लड़ाई में कोई न भागे, हमारा विजय होवे, मरने से भी न डरे, ऐश्वर्य बढ़े मज़हब बढ़ा लेवें? और यदि बीबी निर्लज्जता से पैग़म्बर के सामने न आवे, तो क्या पैग़म्बर साहेब निर्लज्ज हो कर उनके सामने जावें? और पैग़म्बर साहेब पर अज़ाब न होवे, यह किस घर का न्याय है?॥ १३४॥

१३५. और अटकी रहो बीच घरों अपने के,....और आज्ञा पालन करो अल्लाह और रसूल की, सिवाय इस के नहीं॥ बस जब अदा कर ली जैद ने हाज़त उस से ब्याह दिया हम ने तुझ से उस को तौकि न होवे ऊपर ईमान वालों के तंगी बीच बीबियों लेपालकों उनके के, जब अदा कर लें उन से हाज़त और है आज्ञा ख़ुदा की की गई॥ नहीं है ऊपर नबी के कुछ तंगी बीच उस वस्तु के॥ नहीं है मुहम्मद बाप किसी मर्दों का॥ और हलाल की स्त्री ईमानवाली जो देवे विना महर के जान अपनी वास्ते नबी के॥ ढील देवे तू जिस को चाहे उन में से और जगह देवे तर्फ़ अपनी जिस को चाहे, नहीं पाप ऊपर तेरे॥ ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो मत प्रवेश करो घरों में पैग़म्बर के॥

—मं० ५। सि० २२। सू० ३३। आ० ३३।
३७।३८।४०।५०।५१।५३॥

समीक्षक—यह बड़े अन्याय की बात है कि स्त्री घर में क़ैद के समान रहे और पुरुष खुल्ले रहें। क्या स्त्रियों का चित्त शुद्ध वायु, शुद्ध देश में भ्रमण करना, सृष्टि के अनेक पदार्थ देखना नहीं चाहता होगा? इसी अपराध से मुसलमानों के लड़के विशेष कर सैलानी और विषयी होते हैं। अल्लाह और रसूल की एक अविरुद्ध आज्ञा है वा भिन्न-भिन्न विरुद्ध? यदि एक है तो दोनों की आज्ञा पालन करो कहना व्यर्थ है और जो भिन्न-भिन्न विरुद्ध है तो एक सच्ची और दूसरी झूठी? एक ख़ुदा, दूसरा शैतान हो जायगा। और शरीक भी होगा? वाह क़ुरान का ख़ुदा और पैग़म्बर तथा क़ुरान को! जिस को दूसरे का मतलब नष्ट कर अपना मतलब सिद्ध करना इष्ट हो ऐसी लीला अवश्य रचता है। इस से यह भी सिद्ध हुआ कि मुहम्मद साहेब बड़े विषयी थे। यदि न होते तो लेपालक की स्त्री को जो पुत्र की स्त्री थी अपनी स्त्री क्यों कर लेते? और फिर

ऐसी बातें करने वाले का ख़ुदा भी पक्षपाती बना और अन्याय को न्याय ठहराया। भला, कोई भी मनुष्यों में से जो जङ्गली भी होगा, वह भी बेटे की स्त्री को छोड़ता है। और यह कितनी बड़ी अन्याय की बात है कि नबी को विषयासक्ति की लीला करने में कुछ भी अटकाव नहीं होना! यदि नबी किसी का बाप न था तो ज़ैदको (लेपालक) बेटा किस का था? और क्यों लिखा? यह उसी मतलब की बात है कि जिस से बेटे की स्त्री को भी घर में डालने से पैग़म्बर साहेब न बचे, अन्य से क्योंकर बचे होंगे? ऐसी चतुराई से भी बुरी बात में निन्दा होनी कभी नहीं छूट सकती। क्या जो कोई पराई स्त्री भी नबी से प्रसन्न हो कर विवाह करना चाहे, तो भी हलाल है? और यह महा अधर्म की बात है कि नबी तो जिस स्त्री को चाहे छोड़ देवे और मुहम्मद साहेब की स्त्रीलोग यदि पैग़म्बर अपराधी भी हो, तो कभी न छोड़ सकें! जैसे पैग़म्बर के घरों में अन्य कोई व्यभिचार दृष्टि से प्रवेश न करें, तो वैसे पैग़म्बर साहेब भी किसी के घर में प्रवेश न करें। क्या नबी जिस किसी के घर में चाहें निश्शङ्क प्रवेश करें और माननीय भी रहें? भला! कौन ऐसा हृदय का अन्धा है कि जो इस क़ुरान को ईश्वरकृत और मुहम्मद साहेब को पैग़म्बर और कुरानोक्त ईश्वर को परमेश्वर मान सके। बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे युक्तिशून्य धर्मविरुद्ध बातों को अर्बदेशनिवासी आदि मनुष्यों ने इस मत को क्योंकर मान लिया!॥ १३५॥

१३६. नहीं योग्य वास्ते तुम्हारे यह कि दुःख दो रसूल को, यह कि निकाह करो बीबियों उस की को पीछे उस के कभी, निश्चय यह है समीप अल्लाह के बड़ा पाप॥ निश्चय जो लोग कि दु;ख देते हैं अल्लाह को और रसूल उस के को, लानत की है उन को अल्लाह ने॥ और वे लोग कि दुःख देते हैं मुसलमानों को और मुसलमान औरतों को विना इसके बुरा किया है उन्होंने, बस निश्चय उठाया उन्होंने बोहतान अर्थात् झूठ और प्रत्यक्ष पाप॥ लानत, मारे जावें जहां पाये जावें, पकड़े जावें और मारे जावें खूब मारा जाना॥ ऐ रब हमारे, दे उन को द्विगुणा अज़ाब से, और लानत से बड़ी लानत कर॥

—मं० ५। सि० २२। सू० ३३। आ० ५३।५७।५८।६१।६८॥

समीक्षक—वाह! क्या ख़ुदा अपनी खुदाई को धर्म के साथ दिखला रहा है? जैसे रसूल को दुःख देने का निषेध करना तो ठीक है परन्तु दूसरे को दुःख देने में रसूल को भी रोकना योग्य था, क्यों न रोका? क्या किसी के दुःख देने से अल्लाह भी दुःखी हो जाता है? यदि ऐसा है तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। क्या अल्लाह और रसूल को दुःख देने का निषेध करने से यह नहीं सिद्ध होता कि अल्लाह और रसूल जिस को चाहें दुःख देवें? जैसा मुसलमानों और मुसलमानों की स्त्रियों को दुःख देना बुरा है तो इन से अन्य मनुष्यों को दुःख देना भी अवश्य बुरा है।। क्या अन्य सबको दुःख देना चाहिये? जो ऐसा माने, तो उस की यह बात भी पक्षपात की है। वाह ग़दर मचाने वाले ख़ुदा और नबी! जैसे ये निर्दयी हैं वैसे निर्दयी संसार में बहुत थोड़े होंगे। जैसा यह कि 'अन्य लोग जहां पाये जावें, मारे जावें, पकड़े जावें', लिखा है वैसा ही मुसलमानों पर कोई ऐसी ही आज्ञा देवे तो मुसलमानों को यह बात बुरी लगेगी वा नहीं? वाह क्या हिंस्र पैग़म्बर आदि हैं कि जो परमेश्वर से प्रार्थना करके अपने से दूसरों को दुगुणा दुःख देने के लिये प्रार्थना करना लिखा है। यह भी पक्षपात मतलबसिन्धुपन और महा अधर्म की बात है। इसी से अब तक भी मुसलमान लोगों में से बहुत से शठ लोग ऐसा ही कर्म करने में नहीं डरते। यह ठीक है कि सुशिक्षा के विना मनुष्य पशु के समान रहता है॥ १३६॥

१३७. और अल्लाह वह पुरुष है कि भेजता है हवाओं को बस उठाती हैं बादलों को, बस हांक लेते हैं तर्फ़ शहर मुर्दे की, बस जीवित किया हम ने साथ उसके पृथिवी को पीछे मृत्यु उस की के, इसी प्रकार क़बरों में से निकलना है॥ जिसने उतारा बीच घर सदा रहने के दया अपनी से, नहीं लगती हम को बीच उसके मेहनत और नहीं लगती बीच उस के मांदगी॥ —मं० ५। सि० २। सू० ३५। आ० ९।३५॥

समीक्षक—वाह क्या फ़िलासफ़ी ख़ुदा की है। भेजता है वायु को, वह उठाता फिरता है बद्दलों को! और ख़ुदा उससे मुर्दों को जिलाता फिरता है! यह बात ईश्वर सम्बन्धी कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर का काम निरन्तर एक सा होता रहता है। जो घर होंगे वे विना

बनावट के नहीं हो सकते और जो बनावट का है वह सदा नहीं रह सकता। जिस के शरीर है वह परिश्रम के विना दु:खी होता और शरीर वाला रोगी हुए विना कभी नहीं बचता। जो एक स्त्री से समागम करता है, वह विना रोग के नहीं बचता, तो जो बहुत स्त्रियों से विषयभोग करता है, उस की क्या ही दुर्दशा होती होगी? इसलिये मुसलमानों का बहिश्त भी सुखदायक सदा नहीं हो सकता॥ १३७॥

१३८. क़सम है क़ुरान दृढ़ की॥ निश्चय तू भेजे हुओं से है॥ ऊपर मार्ग सीधे के॥ उतारा है ग़ालिब दयालु ने॥

—मं० ५। सि० २३। सू० ३६। आ० २।३।४।५॥

समीक्षक—अब देखिये! यह क़ुरान ख़ुदा की बनाई होती तो वह इस की सौगंध क्यों खाता? यदि नबी ख़ुदा का भेजा होता, तो लेपालक बेटे की स्त्री पर मोहित क्यों होता? यह कथनमात्र है कि क़ुरान के मानने वाले सीधे मार्ग पर हैं। क्योंकि सीधा मार्ग वही होता है जिस में सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना; पक्षपात रहित न्याय धर्म्म का आचरण करना आदि हैं और इनसे विपरीत का त्याग करना। सो न क़ुरान में, न मुसलमानों में और न इनके ख़ुदा में ऐसा स्वभाव है। यदि सब पर प्रबल पैग़म्बर मुहम्मद साहेब होते, तो सबसे अधिक विद्यावान् और शुभगुणयुक्त क्यों न होते? इसलिये जैसी कूंजड़ी अपने बेरों को खट्टा नहीं बतलाती, वैसी यह बात भी है॥ १३८॥

१३९. और फूंका जावेगा बीच सूर के बस नागहां वह कबरों में से तर्फ़ मालिक अपने की दौड़ेंगे॥ और गवाही देंगे पांव उनके साथ उस वस्तु के कमाते थे॥ सिवाय इसके नहीं कि आज्ञा उसकी जब चाहे उत्पन्न करना किसी वस्तु का यह कि कहता वास्ते उसके कि हो जा, बस हो जाता है॥ —मं० ५। सि० २३। सू० ३६। आ० ५१।६५।८२॥

समीक्षक—अब सुनिये ऊटपटांग बातें! पग कभी गवाही दे सकते हैं? ख़ुदा के सिवाय उस समय कौन था जिस को आज्ञा दी? किसने सुनी? और कौन बन गया? यदि न थी तो यह बात झूठी और जो थी तो वह बात—जो सिवाय ख़ुदा के कुछ चीज़ नहीं थी और ख़ुदा ने सब कुछ बना दिया—वह झूठी॥ १३९॥

१४०. फिराया जावेगा उनके ऊपर पियाला शराब शुद्ध का॥ सपैद मज़ा देने वाली वास्ते पीने वालों के॥ समीप उनके बैठी होंगी नीचे आंख रखने वालियां सुन्दर आंखों वालियां॥ मानो कि वे अण्डे हैं छिपाये हुए॥ क्या बस हम नहीं मरेंगे॥ और अवश्य लूत निश्चय पैग़म्बरों से था॥ जब कि मुक्ति दी हमने उसको और लोगों उसके को सब को॥ परन्तु एक बुढ़िया पीछे रहने वालों में है॥ फिर मारा हम ने औरों को॥

—मं० ६। सि० २३। सू० ३७। आ० ४३।४५।४६।४८।४९।
५८।१३३।१३४।१३५।१३६॥

समीक्षक—क्योंजी यहां तो मुसलमान लोग शराब को बुरा बतलाते हैं परन्तु इनके स्वर्ग में तो नदियों की नदियां बहती हैं। इतना अच्छा है कि यहां तो किसी प्रकार मद्य पीना तो छुड़ाया है, परन्तु यहां के बदले वहां उनके स्वर्ग में बड़ी खराबी है! मारे स्त्रियों के वहां किसी का चित्त स्थिर नहीं रहता होगा! और बड़े-बड़े रोग भी होते होंगे! यदि शरीर वाले होंगे तो अवश्य मरेंगे और जो शरीर वाले न होंगे, तो भोग विलास ही न कर सकेंगे। फिर उनके स्वर्ग में जाना व्यर्थ है। यदि लूत को पैग़म्बर मानते हैं तो जो बायबिल में लिखा है कि उससे उसकी लड़कियों ने समागम करके दो लड़के पैदा किये, इस बात को भी मानते हो वा नहीं? जो मानते हो, तो ऐसे को पैग़म्बर मानना व्यर्थ है। और जो ऐसे और ऐसे के सङ्गियों को खुदा मुक्ति देता है, तो वह ख़ुदा भी वैसा ही है। क्योंकि बुढ़िया की कहानी कहने वाला और पक्षपात से दूसरों को मारने वाला ख़ुदा कभी नहीं हो सकता। ऐसा ख़ुदा मुसलमानों ही के घर में रह सकता है, अन्यत्र नहीं॥ १४०॥

१४१. बहिश्तें हैं सदा रहने की खुले हुए हैं दर उनके वास्ते उनके॥ तकिये किये हुए बीच उनके मंगावेंगे बीच इसके मेवे और पीने की वस्तु॥ और समीप होंगी उनके, नीचे रखने वालियां दृष्टि और दूसरों से समायु॥ बस सिज़दा किया फ़रिश्तों ने सबने॥ परन्तु शैतान ने न माना, अभिमान किया और था काफ़िरों से॥ ऐ शैतान किस वस्तु ने रोका तुझको यह कि सिज़दा करे वास्ते उस वस्तु के कि बनाया मैंने साथ दोनों हाथ अपने के, क्या अभिमान किया तूने वा था तू बड़े अधिकार

वालों से ॥ कहा कि मैं अच्छा हूँ उस वस्तु से, उत्पन्न किया तूने मुझको आग से, उसको मिट्टी से ॥ कहा बस निकल इन आसमानों में से, बस निश्चय तू चलाया गया है ॥ निश्चय तेरे लानत है मेरी दिन जज़ा तक ॥ कहा ऐ मालिक मेरे, ढील दे उस दिन तक कि उठाये जावेंगे मुर्दे ॥ कहा कि बस निश्चय तू ढील दिये गयों से है ॥ उस दिन समय ज्ञात तक ॥ कहा कि बस क़सम है प्रतिष्ठा तेरी की, अवश्य गुमराह करूंगा उनको मैं इकट्ठे ॥ —मं० ६। सि० २३। सू० ३८। आ० ५०।५१।५२।७३।
७४।७५।७६।७७।७८।७९।८०।८१।८२॥

समीक्षक—यदि वहां जैसे कि क़ुरान में बाग़ बगीचे नहरें मकानादि ये लिखा हैं वैसे हैं तो वे न सदा से थे, न सदा रह सकते हैं क्योंकि जो संयोग से पदार्थ होता है वह संयोग के पूर्व न था, अवश्यम्भावी वियोग के अन्त में न रहेगा। जब वह बहिश्त ही न रहेगा तो उसमें रहने वाले सदा क्योंकर रह सकते हैं? क्योंकि 'गादी, तकिये, मेवे और पीने के पदार्थ वहां मिलेंगे' लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस समय मुसलमानों का मज़हब चला, उस समय अर्बदेश विशेष धनाढ्य न था, इसीलिये मुहम्मद साहेब ने तकिये आदि की कथा सुनाकर ग़रीबों को अपने मत में फसा लिये और जहां स्त्रियां हैं वहां निरन्तर सुख कहां? वे स्त्रियां वहां कहां से आई हैं? अथवा बहिश्त की रहीस हैं? यदि आई हैं तो जावेंगी और जो वहीं की रहीस हैं तो क़यामत के पूर्व क्या करती थीं? क्या निकम्मी अपनी उमर को बहा रही थीं? अब देखिये खुदा का तेज! कि जिसका हुक्म अन्य सब फ़रिश्तों ने माना और आदम साहेब को नमस्कार किया और शैतान ने न माना! खुदा ने शैतान से पूछा कहा कि मैंने तुझ को अपने दोनों हाथों से बनाया, तू अभिमान न कर। इससे यह सिद्ध हुआ कि क़ुरान का ख़ुदा दो हाथ वाला मनुष्य था। इसलिये वह व्यापक वा सर्वशक्तिमान् कभी नहीं हो सकता। और शैतान ने सत्य कहा कि मैं आदम से उत्तम हूं, इस पर खुदा ने गुस्सा क्यों किया? क्या आसमान ही खुदा का घर है पृथिवी में नहीं? तो क़ाबे को ख़ुदा का घर प्रथम क्यों लिखा? भला परमेश्वर अपने में से वा सृष्टि में से अलग कैसे निकाल सकता है? और वह सृष्टि सब

परमेश्वर की है इससे स्पष्ट विदित हुआ कि क़ुरान का खुदा बहिश्त का ज़िम्मेदार था। खुदा ने उसको लानत धिक्कार दिया और कैद कर लिया, शैतान ने कहा कि हे मालिक! मुझ को क़यामत तक छोड़ दे। खुदा ने खुशामद से छोड़ दिया क़यामत के दिन तक। जब शैतान छूटा तो खुदा से कहता है कि अब मैं खूब बहकाऊंगा और ग़दर मचाऊंगा। तब खुदा ने कहा कि मैं, जितने को तू बहकावेगा, दोज़ख में डाल दूंगा और तुझ को भी। अब सज्जन लोगो विचारिये! कि शैतान को बहकाने वाला खुदा है वा आप से वह बहका? यदि खुदा ने बहकाया, तो वह शैतान का शैतान ठहरा। यदि शैतान स्वयं बहका, तो अन्य जीव भी स्वयं बहकेंगे, शैतान की जरूरत नहीं! और जिससे इस शैतान बाग़ी को खुदा ने खुला छोड़ दिया, इससे विदित हुआ कि वह भी शैतान का शरीक़, अधर्म कराने में हुआ। यदि स्वयं चोरी कराके दण्ड देवे, तो उसके अन्याय का कुछ भी पारावार नहीं॥ १४१॥

१४२. अल्लाह क्षमा करता है पाप सारे, निश्चय वह है क्षमा करने वाला दयालु॥ और पृथिवी सारी मूठी में है उसकी दिन क़यामत के और आसमान लपेटे हुए हैं बीच दाहिने हाथ उसके के॥ और चमक जावेगी पृथिवी साथ प्रकाश मालिक अपने के और रक्खे जावेंगे कर्मपत्र और लाया जावेगा पैग़म्बरों को और गवाहों को और फैसला किया जावेगा॥ —मं० ६। सि० २४। सू० ३९। आ० ५३।६७।६९॥

समीक्षक—यदि समग्र पापों को खुदा क्षमा करता है तो जानो सब संसार को पापी बनाता और दयाहीन है, क्योंकि एक दुष्ट पर दया और क्षमा करने से वह अधिक दुष्टता करेगा और बहुत धर्मात्माओं को दुःख पहुँचावेगा। यदि किञ्चित् भी अपराध क्षमा किया जावे, तो अपराध ही अपराध जगत् में छा जावे। क्या परमेश्वर अग्निवत् प्रकाश वाला है? और कर्मपत्र कहां जमा रहते हैं और कौन लिखता है? यदि पैगम्बरों और गवाहों के भरोसे ख़ुदा न्याय करता है, तो वह असर्वज्ञ और असमर्थ है। यदि वह अन्याय नहीं करता, न्याय ही करता है, तो कर्मों के अनुसार करता होगा। वे कर्म पूर्वापर वर्त्तमान जन्मों के हो सकते हैं, तो फिर क्षमा करता, दिलों पर ताला लगाता और शिक्षा न

करनी, शैतान से बहकवाना, दौरा सुपुर्द रखना केवल अन्याय है॥ १४२॥

१४३. उतारना किताब का अल्लाह ग़ालिब जानने वाले की ओर से है॥ क्षमा करने वाला पापों का और स्वीकार करने वाला तोबा: का॥

—मं० ६। सि० २४। सू० ४०। आ० २।३॥

समीक्षक—यह बात इसलिये है कि भोले लोग अल्लाह के नाम से इस पुस्तक को मान लेवें कि जिसमें थोड़ा सा सत्य छोड़ असत्य भरा है और वह सत्य भी असत्य के साथ मिलकर बिगड़ा सा है। इसीलिये क़ुरान और कुरान का ख़ुदा और इस को मानने वाले पाप बढ़ानेहारे और पाप करने-कराने वाले हैं, क्योंकि 'पाप की क्षमा करनी' अत्यन्त अधर्म है। किन्तु इसी से मुसलमान लोग पाप और उपद्रव करने में कम डरते हैं॥ १४३॥

१४४. बस नियत किया उनको सात आसमान बीच दो दिन के, और डाल दिया हमने बीच उसके काम उसका॥ यहाँ तक कि जब जावेंगे उसके पास साक्षी देंगे ऊपर उनके कान उनके और आंखें उनकी और चमड़े उनके, उनके कर्म से॥ और कहेंगे वास्ते चमड़े अपने के क्यों साक्षी दी तूने ऊपर हमारे, कहेंगे कि बुलाया है हम को अल्लाह ने जिसने बुलाया हर वस्तु को॥ अवश्य जिलाने वाला है मुर्दों को॥

—मं० ६। सि० २४। सू० ४१। आ० १२।२०।२१।३९॥

समीक्षक—वाह जी वाह मुसलमानो! तुम्हारा ख़ुदा जिस को तुम सर्वशक्तिमान् मानते हो, तो वह सात आसमानों को दो दिन में बना सका? और जो सर्वशक्तिमान् है वह क्षणमात्र में सब को बना सकता है। भला कान, आंख और चमड़े को ईश्वर ने जड़ बनाया है वे साक्षी कैसे दे सकेंगे? यदि साक्षी दिलावे, तो उसने प्रथम जड़ क्यों बनाया? और अपना पूर्वापर नियमविरुद्ध क्यों किया? एक इससे भी बढ़के मिथ्या बात यह कि जब जीवों पर साक्षी दी, तब वे जीव अपने-अपने चमड़े से पूछने लगे कि तूने हमारे पर साक्षी क्यों दी? चमड़ा बोला कि खुदा ने दिलायी, मैं क्या करूं! भला यह बात कभी हो सकती है? जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र का मुख मैंने देखा, यदि पुत्र है तो बन्ध्या क्यों? जो बन्ध्या है, तो उसके पुत्र ही होना असम्भव है। इसी प्रकार

की यह भी मिथ्या बात है। यदि वह मुर्दों को जिलाता है, तो प्रथम मारा ही क्यों? क्या आप भी मुर्दा हो सकता है वा नहीं? यदि नहीं हो सकता, तो मुर्देपन को बुरा क्यों समझता है? और क़यामत की रात तक मृतक जीव किस मुसलमान के घर में रहे? और दौरासुपुर्द खुदा ने विना अपराध क्यों रक्खा? शीघ्र न्याय क्यों न किया? ऐसी-ऐसी बातों से ईश्वरता में बट्टा लगता है॥ १४४॥

१४५. वास्ते उस के कुंजियां हैं आसमानों की और पृथिवी की, खोलता है भोजन जिस के वास्ते चाहता है और तंग करता है॥ उत्पन्न करता है जो कुछ चाहता है और देता है जिस को चाहे बेटियां और जिसको चाहे बेटे॥ वा मिला देता है उनको बेटे बेटियां और जिसको चाहे बांझ॥ और नहीं है शक्ति किसी आदमी को कि बात करे उससे अल्लाह परन्तु जी में डालने कर वा पीछे परदे* के से वा भेजे फ़रिश्ते पैग़ाम लाने वाला॥

—मं० ६। सि० २५। सू० ४२। आ० १२।४९।५०।५१॥

समीक्षक—खुदा के पास कुंजियों का भण्डार भरा होगा। क्योंकि सब ठिकाने के ताले खोलने होते होंगे! यह लड़कपन की बात है। क्या जिसको चाहता है उसको विना पुण्य कर्म के ऐश्वर्य्य देता है और तंग करता है? यदि ऐसा है तो वह बड़ा अन्यायकारी है। अब देखिये क़ुरान बनाने वाले की चतुराई! कि जिस से स्त्रीजन भी मोहित होके फसें। यदि जो कुछ चाहता है उत्पन्न करता है, तो दूसरे ख़ुदा को उत्पन्न कर सकता है वा नहीं? यदि नहीं कर सकता, तो सर्वशक्तिमत्ता यहां पर अटक गई। भला मनुष्यों को तो जिन को चाहे बेटे बेटियां ख़ुदा देता है

* इस आयत के भाष्य 'तफ़सीरहुसैनी' में लिखा है कि "मुहम्मद साहेब दो परदों में थे और खुदा की आवाज सुनी। एक पर्दा ज़री का था दूसरा श्वेत मोतियों का और दोनों परदों के बीच में सत्तर वर्ष चलने योग्य मार्ग था?" बुद्धिमान् लोग इस बात को विचारें कि यह खुदा है वा परदे की ओट बात करनेवाली स्त्री? इन लोगों ने तो ईश्वर ही की दुर्दशा कर डाली। कहाँ वेद तथा उपनिषदादि सद्ग्रन्थों में प्रतिपादित शुद्ध परमात्मा और कहाँ कुरानोक्त परदे की ओट से बात करनेवाला खुदा! सच तो यह है कि अरब के अविद्वान् लोग थे, उत्तम बात लाते किसके घर से?

परन्तु मुरगे, मच्छी, सूअर आदि जिन के बहुत बेटा बेटियां होती हैं, कौन देता है? और स्त्री-पुरुष के समागम विना क्यों नहीं देता? किसी को अपनी इच्छा से बांझ रख के दुःख क्यों देता है? वाह! क्या खुदा तेजस्वी है कि उस के सामने कोई बात ही नहीं कर सकता! परन्तु उसने पहिले कहा है कि पर्दा डाल के बात कर सकता है वा फ़रिश्ते लोग ख़ुदा से बात करते हैं अथवा पैग़म्बर। जो ऐसी बात है, तो फ़रिश्ते और पैग़म्बर खूब अपना मतलब करते होंगे! यदि कोई कहे ख़ुदा सर्वज्ञ सर्वव्यापक है, तो 'परदे से बात करना अथवा डाक के तुल्य खबर मंगा के जानना' लिखना व्यर्थ है। और जो ऐसा ही है, तो वह ख़ुदा ही नहीं, किन्तु कोई चालाक मनुष्य होगा। इसीलिये यह क़ुरान ईश्वरकृत कभी नहीं हो सकता॥ १४५॥

१४६. और जब आया ईसा साथ प्रमाण प्रत्यक्ष के॥

—मं० ६। सि० २५। सू० ४३। आ० ६३॥

समीक्षक—यदि ईसा भी भेजा हुआ ख़ुदा का है तो उस के उपदेश से विरुद्ध क़ुरान ख़ुदा ने क्यों बनाई? और क़ुरान से विरुद्ध अञ्जील क्यों की? इसीलिये ये किताबें ईश्वरकृत नहीं हैं॥ १४६॥

१४७. पकड़ो उस को बस घसीटो उस को बीचों बीच दोज़ख़ के॥ इसी प्रकार रहेंगे और ब्याह देंगे उन को साथ गोरियों अच्छी आंख वालियों के॥ —मं० ६। सि० २५। सू० ४४। आ० ४७।५४॥

समीक्षक—वाह! क्या ख़ुदा न्यायकारी होकर पकड़ाता और घसीटवाता है प्राणियों को? जब मुसलमानों का ख़ुदा ही ऐसा है तो उसके उपासक मुसलमान अनाथ निर्बलों को पकड़ें घसीटें तो इस में क्या आश्चर्य है?।। और वह संसारी मनुष्यों के समान विवाह भी कराता है, जानो कि मुसलमानों का पुरोहित ही है॥ १४७॥

१४८. बस जब तुम मिलो उन लोगों से कि काफ़िर हुए बस मारो गर्दनें उनकी यहां तक कि जब चूर कर दो उन को बस कठिन है क़ैद करना॥ और बहुत बस्तियां हैं कि वे बहुत कठिन थीं शक्ति में बस्ती तेरी से, जिस ने निकाल दिया तुझ को मारा हम ने उन को, बस न कोई हुआ सहाय देने वाला उन का॥ तारीफ़ उस बहिश्त की कि प्रतिज्ञा

किये गये हैं परहेज़गार, बीच उस के नहरें हैं बिन बिगड़े पानी की, और नहरें हैं दूध की कि नहीं बदला मज़ा उन का, और नहरें हैं शराब की मज़ा देने वाली पीने वालों को, और नहरें हैं शहद साफ़ किये गये की, और वास्ते उन के बीच उस के मेवे हैं प्रत्येक प्रकार से दान मालिक उन के से॥ —मं० ६। सि० २६। सू० ४७। आ० ४।१३।१५॥

समीक्षक—इसी से यह क़ुरान, ख़ुदा और मुसलमान गदर मचाने, सब को दुःख देने, अपना मतलब साधने वाले दयाहीन हैं। जैसा यहां लिखा है वैसा ही दूसरा, कोई दूसरे मत वाला मुसलमानों पर करे तो मुसलमानों को वैसा ही दुःख जैसा कि अन्य को दुःख देते हैं, हो वा नहीं? और बड़ा पक्षपाती है कि जिन्होंने मुहम्मद साहेब को निकाल दिया, उन को ख़ुदा ने मारा। भला! जिस में शुद्ध पानी, दूध, मद्य और शहद की नहरें हैं वह संसार से अधिक नहीं हो सकता। और दूध की नहरें कभी नहीं हो सकती, क्योंकि वह थोड़े समय में बिगड़ जाता है। इसीलिये बुद्धिमान् लोग क़ुरान के मत को नहीं मानते॥ १४८॥

१४९. जब कि हिलाई जावेगी पृथिवी हिलाये जाने कर॥ उड़ाये जावेंगे पहाड़ उड़ाये जाने कर॥ बस हो जावेंगे भुनुगे॥ बस साहब दाहिने ओर वाले क्या हैं साहब दाहिनी ओर के॥ और बामी ओर वाले क्या हैं, बामी ओर वाले॥ ऊपर पलङ्ग सोने के तारों से बुने हुए हैं। तकिये किये हुए हैं ऊपर उनके आमने सामने॥ और फिरेंगे ऊपर उन के लड़के सदा रहने वाले॥ साथ आबखोरों के और आफ़ताबों के और प्यालों के शराब साफ़ से॥ नहीं माथा दुखाये जावेंगे उस से और न विरुद्ध बोलेंगे॥ और मेवे उस क़िस्म से कि पसन्द करें। और गोश्त ज़ानवर पक्षियों के उस क़िस्म से कि पसन्द करें॥ और वास्ते उनके औरतें हैं अच्छी आंखों वाली॥ मानिन्द मोतियों छिपाये हुओं की॥ और बिछौने बड़े॥ निश्चय हम ने उत्पन्न किया है औरतों को कुमारी एक प्रकार का उत्पन्न करना।। सुहागवालियां बराबर अवस्था वालियां॥ बस भरने वाले हो उस से पेटों को॥ बस क़सम खाता हूं मैं साथ गिरने तारों के॥ —मं० ७। सि० २७। सू० ५६। आ० ४।५।६।८।९।१५।

१६।१७।१८।१९।२०।२१।२२।२३।३४।३५।३६।३७।५३।७५॥

समीक्षक—अब देखिये क़ुरान बनाने वाले की लीला को! भला पृथिवी तो हिलती ही रहती है उस समय भी हिलती रहेगी। इस से यह सिद्ध होता है कि क़ुरान बनाने वाला पृथिवी को स्थिर जानता था! भला पहाड़ों को क्या पक्षीवत् उड़ा देगा? यदि भुनुगे हो जावेंगे तो भी सूक्ष्म शरीरधारी रहेंगे तो फिर उनका दूसरा जन्म क्यों नहीं? वाह जी! जो ख़ुदा शरीरधारी न होता तो उसके दाहिनी ओर और बाईं ओर कैसे खड़े हो सकते? जब वहां पलङ्ग सोने के तोरों से बुने हुए हैं तो बढ़ई सुनार भी वहां रहते होंगे और खटमल काटते होंगे जो उनको रात्रि में सोने भी नहीं देते होंगे। क्या वे तक़िये लगाकर निकम्मे बहिश्त में बैठे ही रहते हैं वा कुछ काम किया करते हैं? यदि बैठे ही रहते होंगे, तो उनको अन्न के पचन न होने से वे रोगी होकर शीघ्र मर भी जाते होंगे? और जो काम किया करते होंगे, तो जैसे मेहनत मज़दूरी यहां करते हैं, वैसे ही वहां मेहनत परिश्रम करके निर्वाह करते होंगे फिर यहां से वहां बहिश्त में विशेष क्या है? कुछ भी नहीं। यदि वहां लड़के सदा रहते हैं तो उन के मा बाप भी रहते होंगे और सासु श्वशुर भी रहते होंगे तब तो बड़ा भारी शहर बसता होगा फिर मल मूत्रादि के बढ़ने से रोग भी बहुत से होते होंगे क्योंकि जब मेवे खावेंगे, गिलासों में पानी पीवेंगे, और प्यालों से मद्य पीवेंगे न उन का सिर दूखेगा और न कोई विरुद्ध बोलेगा। यथेष्ट मेवा खावेंगे और जानवरों तथा पक्षियों के मांस भी खावेंगे, तो अनेक प्रकार के दु:ख, पक्षी, जानवर वहाँ होंगे, हत्या होगी और हाड़ जहां तहां बिखरे रहेंगे और कसाइयों की दुकानें भी होंगी। वाह क्या कहना इनके बहिश्त की प्रशंसा! कि वह अरब देश से भी बढ़ कर दीखती है। और जो मद्य मांस पी खाके उन्मत्त होते हैं, इसीलिये अच्छी-अच्छी स्त्रियां और लौंडे भी वहां अवश्य रहने चाहिये, नहीं तो ऐसे नशेबाजों के शिर में गरमी चढ़के प्रमत्त हो जावेंगे। अवश्य बहुत स्त्री पुरुषों के बैठने सोने के लिये बिछौने बड़े-बड़े चाहियें। जब ख़ुदा कुमारी बहिश्त में उत्पन्न करता है, तभी कुमारे लड़कों को उत्पन्न करता है। भला! कुमारियों का तो विवाह जो यहां से उम्मेदवार होकर गये हैं, उनके साथ ख़ुदा ने कराया, परन्तु उन सदा रहने वाले लड़कों का किन्हीं कुमारियों के साथ

विवाह न लिखा, तो क्या वे भी उन्हीं उम्मेदवारों के साथ कुमारीवत् दे दिये? इसकी व्यवस्था कुछ भी न लिखी। यह ख़ुदा में बड़ी भूल क्यों हुई? यदि बराबर अवस्थावाली सुहागिन स्त्रियां पतियों को पाके बहिश्त में रहती हैं, तो ठीक नहीं हुआ, क्योंकि स्त्रियों से पुरुष का आयु दूना, ढ़ाई गुना चाहिये। यह तो मुसलमानों के बहिश्त की कथा है! और नरक वाले सिंहोड़ अर्थात् थोर के वृक्षों को खा के पेट भरेंगे तो कण्टक वृक्ष भी दोज़ख़ में होंगे तो कांटे भी लगते होंगे, गर्म पानी पियेंगे इत्यादि दु:ख दोज़ख़ में पावेंगे। क़सम का खाना प्राय: झूठे का काम है, सच्चों का नहीं। यदि ख़ुदा ही कसम खाता है तो वह भी झूठ से अलग नहीं हो सकता॥ १४९॥

१५०. वही है जिसने उत्पन्न किया आसमानों को और पृथिवी को बीच छ: दिनों के फिर करार पकड़ा ऊपर अर्श के।। ईमान लाओ साथ अल्लाह के और रसूल उसके के।। कौन मनुष्य है कि उधार देवे अल्लाह को उधार अच्छा बस दुगुना करे उसको वास्ते उसके॥

—मं० ७। सि० २७। सू० ५७। आ० ४।७।११॥

समीक्षक—यदि छ: दिनों में पृथिवी और आकाश को बनाकर आकाश में आराम किया तो वह शरीरधारी, एकदेशी, असमर्थ और थकनेवाला होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता। यदि ईमान में पैग़म्बर भी शरीक है तो ख़ुदा का शरीक हुआ वा नहीं और मुसलमानों के मत में ख़ुदा के सिवाय पर भी ईमान रखना आवश्यक होने से लाशरीक ख़ुदा को कहना व्यर्थ है। क्या खुदा के खजाने में टोटा पड़ गया वा कोई लूट गया अथवा खुदा ने फैल फतूरी में नाश कर दिया कि जिस किसी से उधार मांगता है और दूना देना स्वीकार करता है। भला! ऐसी-ऐसी बातें ईश्वर और ईश्वरकृत पुस्तक की कभी हो सकती हैं॥ १५०॥

१५१. अल्लाह ने क्रोध किया ऊपर काफिरों के और विशेष यहूदियों पर गालिब आया उनके शैतान बस भुला दी उनको याद ख़ुदा की ये लोग समुदाय शैतान के हैं॥

—मं० ७। सि० २८। सू० ५८। आ० १५।१९॥

समीक्षक—यदि मुसलमानी मजहब को न मानें और वे अच्छे

हों, उन पर ख़ुदा क्रोध करेगा तो अन्यायी होगा वा नहीं? और जो मुसलमानों में दुष्ट हों, उनसे प्रेम करेगा तो भी पक्षपाती होकर पापी होगा। यदि ख़ुदा की सृष्टि में शैतान प्रबल होता है और उसको ख़ुदा न पकड़, न दण्ड और न मार सकता है, इसीलिये ख़ुदा सर्वशक्तिमान् न्यायकारी भी नहीं है॥ १५१॥

१५२. वह पृथिवी अल्लाह ने लूट की प्रकार से न बटवाई, हजरत के अखत्यार में रक्खी।। यह ही भेद रक्खा लूट में और फी में जो माल लड़ाई से हाथ लगा वह लूट पांचवां भाग अल्लाह की भेंट और चार भाग लश्कर को बांटने॥ —मं० ७। सि० २८। सू० ५९। आ० २।६॥

समीक्षक—क्या कहना है! तभी तो मुसलमान लोग लूट-मार और फिसाद करने में नहीं डरते कि जिनके ख़ुदा और पैगम्बर ने लूट की पृथिवी आदि का भी स्वीकार कर लिया। क्योंकि उस लूट के माल में से पांचवां भाग अल्लाह का भी है। क्या यह ख़ुदा वा पैग़म्बर लूट के कराने वाले नहीं हुए। ऐसा ख़ुदा और पैग़म्बर को कोई बुद्धिमान् न मान सकेगा। और क्या ऐसे की बात का प्रमाण हो सकता है?॥ १५२॥

१५३. निश्चय अल्लाह मित्र रखता है उन लोगों को कि लड़ते हैं बीच मार्ग उसके के॥ —मं० ७। सि० २८। सू० ५९। आ० ४॥

समीक्षक—वाह ठीक है! ऐसी-ऐसी बातों का उपदेश करके बिचारे अरब देश वासियों को सब से लड़ा के शत्रु बना कर दुःख परस्पर दिलाया और मज़हब का झंडा खड़ा करके लड़ाई फैलाई, ऐसे को ईश्वर, बुद्धिमान् कभी नहीं मान सकते। जो मनुष्य जाति में विरोध बढ़ावे वही सब को दुःखदाता होता है॥ १५३॥

१५४. यदि कर्ज दो तुम अल्लाह को कर्ज अच्छा दुगुणा करेगा उसको वास्ते तुम्हारे क्षमा करेगा वास्ते तुम्हारे पाप॥

—मं० ७। सि० २८। सू० ६४। आ० १७॥

समीक्षक—यह कर्ज का लेना-देना सब मुहम्मद साहेब के मतलब की बात है। जैसे मूर्तिपूजक मूर्ति के नाम से लोगों से धन लेकर स्वकार्य सिद्ध करते हैं, ऐसी ही मुहम्मद साहेब की लीला है। क्योंकि ईश्वर को कर्ज लेने का कोई भी प्रयोजन नहीं॥ १५४॥

नोट—हजरत ने एक बीबी अपनी मैकूफ कर दी खातर से और बीबियों से। हजरत की मर्यम नामी एक बांदी से प्रीति बहुत थी। और इस बात को उनकी एक बीबी ने जानकर रोका। हजरत ने खफा होकर उसको तलाक दे दी। ये आयत हजरत की औरतों की तरफ है। किसी दिन कोई बीबी रूस गई होगी, उस बात पर यह आयत उतरी कि ऐ नबी की स्त्रियो! यह घमंड मत करो कि पैग़म्बर के लिये हम ही हैं, नहीं सिवाय तुम्हारे और भी बीबियां बदल सकते हैं।

१५५. ऐ नबी क्यों हराम करता है उस वस्तु को कि हलाल किया है ख़ुदा ने तेरे लिये, चाहता है तू प्रसन्नता बीबियों अपनी की, और अल्लाह क्षमा करने वाला दयालु है॥ जल्दी है मालिक उस का जो वह तुम को छोड़ देते तो यह है कि उस को तुम से अच्छी मुसलमान और ईमान वालियाँ बीबियाँ बदल दे सेवा करने वालियाँ तोबाः करने वालियाँ भक्ति करने वालियाँ रोज़ा रखने वालियाँ पुरुष देखी हुई और बिन देखी हुई॥ —मं० ७। सि० २८। सू० ६६। आ० १।५॥

समीक्षक—ध्यान देकर देखना चाहिये कि ख़ुदा क्या हुआ मुहम्मद साहेब के घर का भीतरी और बाहरी प्रबन्ध करने वाला भृत्य ठहरा!!

प्रथम आयत पर दो कहानियाँ हैं—एक तो यह कि मुहम्मद साहेब को शहद का शर्बत प्रिय था। उनकी कई बीबियाँ थीं उनमें से एक के घर पीने में देर लगी तो दूसरियों को असह्य प्रतीत हुआ, उनके कहने सुनने के पीछे मुहम्मद साहेब सौगन्ध खा गये कि हम न पीवेंगे।

दूसरी यह कि उनकी कई बीबियों में से एक की बारी थी। उसके यहाँ रात्री को गये तो वह न थी; अपने बाप के यहाँ गई थी। मुहम्मद साहेब ने एक लौंडी अर्थात् दासी को बुला कर पवित्र किया। जब बीबी को इसकी ख़बर मिली तो अप्रसन्न हो गई। तब मुहम्मद साहेब ने सौगन्ध खाई कि मैं ऐसा न करूँगा। और बीबी से भी कह दिया कि तुम किसी से यह बात मत कहना। बीबी ने स्वीकार किया कि न कहूँगी। फिर उन्होंने दूसरी बीबी से जा कहा। इस पर यह आयत ख़ुदा ने उतारी "जिस वस्तु को हमने तेरे पर हलाल किया उसको तू हराम क्यों करता है?"

बुद्धिमान् लोग विचारें कि भला कहीं ख़ुदा भी किसी के घर का निमटेरा करता फिरता है? और मुहम्मद साहेब के तो आचरण इन बातों से प्रकट ही हैं, कहने की क्या बात है।

और दूसरी आयत से प्रतीत होता है कि मुहम्मद साहेब से उनकी कोई बीबी अप्रसन्न हो गई होगी, उसपर खुदा ने यह आयत उतारकर उसको धमकाया होगा कि यदि तू गड़बड़ करेगी और मुहम्मद साहेब तुझे छोड़ देंगे तो उनका खुदा तुझसे अच्छी बीबियाँ देगा कि जो पुरुष से न मिली हों।

जिस मनुष्य को तनिक-सी बुद्धि है वह विचार ले सकता है कि ये खुदा-वुदा के काम हैं वा अपने प्रयोजन सिद्धि के! ऐसी-ऐसी बातों से ठीक सिद्ध है कि खुदा कोई नहीं कहता था, केवल देश-काल देखकर अपने प्रयोजन के सिद्ध होने के लिए खुदा की तर्फ़ से मुहम्मद साहेब कह देते थे। जो लोग खुदा ही की तर्फ़ लगाते हैं उनको हम क्या सब बुद्धिमान् यही कहेंगे कि खुदा क्या ठहरा मानो मुहम्मद साहेब के लिए बीबियाँ लानेवाला नाई ठहरा!!!॥

भला! जो अनेक स्त्रियों को रक्खे वह ईश्वर का भक्त वा पैग़म्बर कैसे हो सके? और जो एक स्त्री का पक्षपात से अपमान करे और दूसरी का मान्य करे, वह पक्षपाती होकर अधर्मी क्यों नहीं और जो बहुत सी स्त्रियों से भी सन्तुष्ट न होकर, बांदियों के साथ फसे, उन को लज्जा, भय और धर्म कहां से रहे? किसी ने कहा है कि—

कामातुराणां न भयं न लज्जा

जो कामी मनुष्य हैं उन को अधर्म से भय वा लज्जा नहीं होती।

और इन का ख़ुदा भी मुहम्मद साहेब की स्त्रियों और पैग़म्बर के झगड़े को फैसला करने में जानो सरपञ्च बना है। अब बुद्धिमान् लोग विचार लें कि यह क़ुरान किसी विद्वान् वा ईश्वरकृत है वा किसी अविद्वान् मतलबसिन्धु की बनाई? स्पष्ट विदित हो जायगा॥ १५५॥

१५६. ऐ नबी! झगड़ा कर काफिरों और गुप्त शत्रुओं से और सख़्ती कर ऊपर उनके॥ —मं० ७। सि० २८। सू० ६६। आ० ९॥

समीक्षक—और देखिये मुसलमानों के ख़ुदा की लीला! अन्य मत वालों से लड़ने के लिये पैग़म्बर और मुसलमानों को उचकाता है इसीलिये आज तक मुसलमान लोग उपद्रव करने में प्रवृत्त रहते हैं। परमात्मा मुसलमानों पर कृपादृष्टि करे, जिस से ये लोग उपद्रव करना छोड़ के, सब से मित्रता से वर्त्तें॥ १५६॥

१५७. फट जावेगा आसमान, बस वह उस दिन सुस्त होगा॥ और फ़रिश्ते होंगे ऊपर किनारों उसके के, और उठावेंगे तख़्त मालिक तेरे का ऊपर अपने उस दिन आठ जन॥ उस दिन सामने लाये जाओगे तुम, न छिपी रहेगी कोई बात छिपी हुई॥ बस जो कोई दिया गया कर्मपत्र अपना बीच दाहिने हाथ अपने के, बस कहेगा लो पढ़ो कर्मपत्र मेरा॥ और जो कोई दिया गया कर्मपत्र बीच बांये हाथ अपने के, बस कहेगा हाय न दिया गया होता मैं कर्मपत्र अपना॥

—मं० ७। सि० २९। सू० ६९। आ० १६। १७। १८। १९। २५॥

समीक्षक—वाह क्या फ़िलासफ़ी और न्याय की बात है! भला आकाश भी कभी फट सकता है? क्या वह वस्त्र के समान है जो फट जावे? यदि ऊपर के लोक को आसमान कहते हैं तो यह बात विद्या से विरुद्ध है। अब क़ुरान का ख़ुदा शरीरधारी होने में कुछ संदिग्ध न रहा, क्योंकि तख़्त पर बैठना, आठ कहारों से उठवाना, विना मूर्त्तिमान् के कुछ भी नहीं हो सकता? और सामने वा पीछे भी आना जाना मूर्त्तिमान् ही का हो सकता है। जब वह मूर्त्तिमान् है, तो एकदेशी होने से सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता और सब जीवों के सब कर्मों को कभी नहीं जान सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पुण्यात्माओं के दाहिने हाथ में पत्र देना, बँचवाना, बहिश्त में भेजना और पापात्माओं के बांये हाथ में कर्मपत्र का देना, नरक में भेजना, कर्मपत्र बाँच के न्याय करना सर्वज्ञ का काम नहीं। यह सब लीला लड़केपन की है॥ १५७॥

१५८. पढ़ते हैं फ़रिश्ते और रूह तर्फ़ उस की वह अज़ाब होगा बीच उस दिन के कि है परिमाण उसका पचास हज़ार वर्ष॥ जब कि निकलेंगे क़बरों में से दौड़ते हुए मानो कि वे बुतों के स्थानों की ओर दौड़ते हैं॥ —मं० ७। सि० २९। सू० ७०। आ० ४। ४३॥

समीक्षक—जब फ़रिश्ते पढ़ते हैं तब ख़ुदा क्या करता है? सुनता है? क्या पढ़ नहीं सकता? आलसी है? यदि पचास हज़ार वर्ष की रात्रि का परिमाण है, तो पचास हज़ार वर्ष का दिन क्यों नहीं किया? यदि उतना बड़ा दिन नहीं है, तो उतनी बड़ी रात कभी नहीं हो सकती। रात्रि में न्याय करना अच्छा नहीं, किन्तु दिन ही न्याय के लिये है। क्या पचास हज़ार वर्षों तक ख़ुदा फ़रिश्ते और कर्मपत्र वाले खड़े-खड़े वा बैठे अथवा जागते ही रहेंगे? यदि ऐसा है, तो सब रोगी हो कर पुनः मर ही जायेंगे। क्या क़बरों से निकल कर ख़ुदा की कचहरी की ओर दौड़ेंगे? उन के पास सम्मन क़बरों में क्योंकर पहुंचा? और उन बिचारों को जो कि पुण्यात्मा, पापात्मा हैं इतने समय तक सभी को दौरे सुपुर्द क़बरों में कैद क्यों रक्खा? और आजकल ख़ुदा की कचहरी बन्ध होगी और ख़ुदा तथा फ़रिश्ते निकम्मे बैठे होंगे? अथवा क्या काम करते हैं? अपने-अपने स्थानों में बैठे इधर-उधर घूमते, सोते, नाच-तमाशा देखते वा ऐश-आराम कर रहे होंगे। ऐसा अन्धेर किसी के राज्य में न होगा। ऐसी-ऐसी बातों को सिवाय जंगलियों के दूसरा कौन मानेगा?॥ १५८॥

१५९. निश्चय उत्पन्न किया है तुम को कई प्रकार से॥ क्या नहीं देखा तुमने कैसे उत्पन्न किया अल्लाह ने आसमानों को ऊपर तले॥ और किया चांद को बीच उन के प्रकाशक और किया सूर्य्य को दीपक॥
—मं० ७। सि० २९। सू० ७१। आ० १४। १५। १६॥

समीक्षक—यदि जीवों को ख़ुदा ने उत्पन्न किया है तो वे नित्य, अमर कभी नहीं रह सकते? फिर बहिश्त में सदा क्योंकर रह सकेंगे? जो उत्पन्न होता है, वह वस्तु अवश्य नष्ट हो जाता है। आसमान को ऊपर तले कैसे बना सकता है? क्योंकि वह निराकार और विभु पदार्थ है। यदि दूसरी चीज़ का नाम आकाश रखते हो तो, भी उस का आकाश नाम रखना व्यर्थ है। यदि ऊपर तले आसमानों को बनाया है, तो उन सब के बीच में चाँद सूर्य्य कभी नहीं रह सकते। जो बीच में रक्खा जाय, तो एक ऊपर और एक नीचे का पदार्थ प्रकाशित हो। दूसरे से ले कर सब में अन्धकार रहना चाहिये। ऐसा नहीं दीखता, इसलिये यह बात सर्वथा मिथ्या है॥ १५९॥

१६०. और यह कि मसजिदें वास्ते अल्लाह के हैं, बस मत पुकारो साथ अल्लाह के किसी को॥ —मं० ७। सि० २९। सू० ७२। आ० १८॥

समीक्षक—यदि यह बात सत्य है तो मुसलमान लोग **'लाइलाह इल्लिलाः मुहम्मदर्रसूलल्लाः'** इस कलमे में ख़ुदा के साथ मुहम्मद साहेब को क्यों पुकारते हैं? यह बात क़ुरान से विरुद्ध है और जो विरुद्ध नहीं करते, तो इस क़ुरान की बात को झूठ करते हैं। जब मसजिदें ख़ुदा के घर हैं, तो मुसलमान महाबुतपरस्त हुए। क्योंकि जैसे पुराणी, जैनी छोटी सी मूर्त्ति को ईश्वर का घर मानने से बुतपरस्त ठहरते हैं, ये लोग क्यों नहीं?॥ १६०॥

१६१. इकट्ठा किया जावेगा सूर्य और चाँद॥
—मं० ७। सि० २९। सू० ७५। आ० ९॥

समीक्षक—भला सूर्य्य चाँद कभी इकट्ठे हो सकते हैं? देखिये! यह कितनी बेसमझ की बात है। और सूर्य चन्द्र ही के इकट्ठे करने में क्या प्रयोजन तथा अन्य सब लोकों को इकट्ठे न करने में क्या युक्ति है? ऐसी-ऐसी असम्भव बातें परमेश्वरकृत कभी हो सकती हैं? विना अविद्वानों के अन्य किसी विद्वान् की भी नहीं होतीं॥ १६१॥

१६२. और फिरेंगे ऊपर उन के लड़के सदा रहने वाले, जब देखेगा तू उन को, अनुमान करेगा तू उन को मोती बिखरे हुए॥ और पहनाये जावेंगे कंगन चांदी के और पिलावेगा उन को रब उनका शराब तहूरा॥ —मं० ७। सि० २९। सू० ७६। आ० १९। २१॥

समीक्षक—क्योंजी मोती के वर्ण से लड़के किस लिये वहां रक्खे जाते हैं? क्या जवान लोग सेवा वा स्त्रीजन उन को तृप्त नहीं कर सकतीं? क्या आश्चर्य है कि जो यह महा बुरा कर्म लड़कों के साथ दुष्टजन करते हैं उस का मूल यही क़ुरान का वचन हो! और बहिश्त में स्वामी सेवकभाव होने से स्वामी को आनन्द और सेवक को परिश्रम होने से स्वर्ग में दुःख तथा पक्षपात क्यों होता है? और जब ख़ुदा ही उन को मद्य पिलावेगा तो वह भी उन का सेवकवत् ठहरेगा, फिर ख़ुदा की बड़ाई क्योंकर रह सकेगी? और वहां बहिश्त में स्त्री पुरुष का समागम

और गर्भस्थिति और लड़के-बाले भी होते हैं वा नहीं? यदि नहीं होते तो उन का विषयसेवन करना व्यर्थ हुआ और जो होते हैं तो वे जीव कहां से आये? और विना ख़ुदा की सेवा के बहिश्त में क्यों जन्मे? यदि जन्मे तो उन बिचारों को विना ईमान लाने और ख़ुदा की भक्ति करने से बहिश्त उनको मुफ्त मिल गया। किन्हीं को तो ईमान लाने और किन्हीं को विना धर्म के सुख मिल जाने से दूसरा बड़ा अन्याय कौन सा होगा?॥ १६२॥

१६३. बदला दिये जावेंगे कर्मानुसार॥ और प्याले हैं भरे हुए॥ जिस दिन खड़े होंगे रूह और फ़रिश्ते सफ़ बांध कर॥

—मं० ७। सि० ३०। सू० ७८। आ० २६।३४।३८॥

समीक्षक—यदि कर्मानुसार फल दिया जाता है तो सदा बहिश्त में रहने वाले हूरें, फ़रिश्ते और मोती के सदृश लड़कों को कौन कर्म के अनुसार सदा के लिये बहिश्त मिला? जब प्याले भर-भर शराब पीयेंगे तो मस्त होकर क्यों न लड़ेंगे? और रूह निराकार होने से वहां खड़ी क्योंकर हो सकेगी? और ख़ुदा उस समय खड़ा होगा वा बैठा?॥ १६३॥

१६४. जब कि सूर्य लपेटा जावे॥ और जब कि तारे गदले हो जावें॥ और जब कि पहाड़ चलाये जावें।। और जब आसमान की खाल उतारी जावे॥ —मं० ७। सि० ३०। सू० ८१। आ० १।२।३।११॥

समीक्षक—यह बड़ी बेसमझ की बात है कि गोल सूर्यलोक कैसे लपेटा जावेगा? और तारे गदले क्योंकर हो सकेंगे? और पहाड़ जड़ होने से चलेंगे कैसे? और आकाश को क्या पशु समझा कि उस की खाल निकाली जावेगी? यह बड़ी ही मूर्खता और जंगलीपन की बात है॥ १६४॥

१६५. और जब कि आसमान फट जावे॥ और जब तारे उड़ जावें॥ और जब दर्या चीरे जावें और जब क़बरें जिला कर उठाई जावें॥

—मं० ७। सि० ३०। सू० ८२। आ० १।२।३।४॥

समीक्षक—वाह जी क़ुरान के बनाने वाले फ़िलासफ़र! आकाश को क्योंकर फाड़ सकेगा? और तारों को कैसे उड़ा सकेगा? और दर्या क्या लकड़ी है जो चीर डालेगा? और क़ब्रें क्या मुर्दे हैं जो जिला सकेगा? ये सब बातें लड़के के सदृश हैं॥ १६५॥

१६६. क़सम है आसमान बुर्जों वाले की॥ किन्तु वह क़ुरान है बड़ा॥ बीच लौह रक्षा के॥

—मं० ७। सि० ३०। सू० ८५। आ० १।२१।२२॥

समीक्षक—इस क़ुरान के बनाने वाले ने भूगोल खगोल भी नहीं पढ़ा था, नहीं तो आकाश को क़िले के समान बुर्जों वाला क्यों कहता! यदि मेषादि राशियों को बुर्ज कहते हैं, तो अन्य बुर्ज क्यों नहीं? इसलिये यह बुर्ज नहीं हैं, किन्तु सब तारे लोक हैं। क्या वह क़ुरान ख़ुदा के पास है? यदि यह क़ुरान उस का किया है, तो वह भी इससे अधिक विद्या और युक्ति से विरुद्ध होकर अविद्या से भरा होगा॥ १६६॥

१६७. निश्चय वे मकर करते हैं एक मकर॥ और मैं भी मकर करता हूं एक मकर॥ —मं० ७। सि० ३०। सू० ८६। आ० १५।१६॥

समीक्षक—मकर कहते हैं ठगपन को, क्या ख़ुदा भी ठग है? और क्या चोरी का जवाब चोरी और झूठ का जवाब झूठ है? क्या कोई चोर भले आदमी के घर में चोरी करे, तो क्या भले आदमी को चाहिये कि उस के घर में जा के चोरी करे?॥ १६७॥

१६८. और जब आवेगा मालिक तेरा और फ़रिश्ते पंक्ति बांध के॥ और लाया जावेगा उस दिन दोज़ख़ को॥

—मं० ७। सि० ३०। सू० ८९। आ० २२।२३॥

समीक्षक—कहो जी! जैसे कोटवाल वा सेनाध्यक्ष अपनी सेना को लेकर पंक्ति बांध फिरा करे वैसा ही इन का ख़ुदा है। क्या दोज़ख़ घड़ा सा है कि जिस को उठाके जहाँ चाहे वहाँ ले जावें। यदि इतना छोटा है तो असंख्य क़ैदी उस में कैसे समा सकेंगे?॥ १६८॥

१६९. बस कहा था वास्ते उन के पैग़म्बर ख़ुदा के ने, रक्षा करो ऊंटनी ख़ुदा की को, और पानी पिलाना उसके को। बस झुठलाया उस को, बस पांव काटे उस के, बस मरी डाली ऊपर उन के, रब उनके ने॥

—मं० ७। सि० ३०। सू० ९१। आ० १३।१४॥

समीक्षक—क्या ख़ुदा भी ऊंटनी पर चढ़ के सैल किया करता

है? नहीं तो किसलिये रक्खी और विना क़यामत के अपना नियम तोड़ उन पर मरी रोग क्यों डाला? यदि डाला तो उन को दण्ड किया, फिर कयामत की रात में न्याय और उस रात का होना झूठ समझा जायगा? इस ऊंटनी के लेख से यह अनुमान होता है कि अरब देश में ऊंट, ऊंटनी के सिवाय दूसरी कोई सवारी नहीं होती हैं। इसीलिये किसी अरब देशी ने क़ुरान बनाया है॥ १६९॥

१७०. यों जो न रुकेगा अवश्य घसीटेंगे साथ बालों माथे के॥ वह माथा, कि झूठा है और अपराधी॥ हम बुलावेंगे फ़रिश्ते दोज़ख़ को॥

—मं० ७। सि० ३०। सू० ९६। [आ० १५। १६। १८॥]

समीक्षक—यह नीच, चपरासियों का काम घसीटने से भी ख़ुदा न बचा। भला माथा भी कभी झूठा और अपराधी हो सकता है? सिवाय जीव के, भला यह भी कभी ख़ुदा हो सकता है कि जैसे जेलखाने के दरोगा को जिले का हाक़िम बुलावा भेजे॥ १७०॥

१७१. निश्चय उतारा हम ने बीच रात क़दर के॥ और क्या जाने तू क्या है रात क़दर की?॥ उतरते हैं फ़रिश्ते और पवित्र आत्मा बीच उस के, साथ आज्ञा मालिक अपने के, वास्ते हर काम के॥

—मं० ७। सि० ३०। सू० ९८। आ० १। २। ४॥

समीक्षक—यदि एक ही रात में क़ुरान उतारा तो वह आयत अर्थात् उस समय में उतरी और धीरे-धीरे उतारा यह बात सत्य क्योंकर हो सकेगी? और रात्री अन्धेरी है इस में क्या पूछना है? वहाँ लिख आये हैं ऊपर नीचे कुछ भी नहीं हो सकता और यहां लिखते हैं कि फ़रिश्ते और पवित्रात्मा ख़ुदा के हुक्म से संसार का प्रबंध करने के लिये आते हैं। इस से स्पष्ट हुआ कि ख़ुदा मनुष्यवत् एकदेशी है। अब तक देखा था कि खुदा फ़रिश्ते और पैग़म्बर तीन की कथा है, अब एक पवित्रात्मा चौथा निकल पड़ा? अब न जाने यह चौथा पवित्रात्मा क्या है? यह तो ईसाइयों के मत अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्रात्मा तीन के मानने से चौथा भी बढ़ गया। यदि कहे कि हम इन तीनों को ख़ुदा नहीं मानते, ऐसा भी हो, परन्तु जब पवित्रात्मा पृथक् है तो ख़ुदा फ़रिश्ते और पैग़म्बर को पवित्रात्मा कहना चाहिए वा नहीं? यदि पवित्रात्मा हैं, तो एक ही का नाम पवित्रात्मा क्यों? और घोड़े आदि जानवर, रात दिन और क़ुरान आदि की ख़ुदा क़समें खाता है, क़समें खाना भले लोगों का काम नहीं॥ १७१॥

अब यह क़ुरान के विषय को लिख के बुद्धिमानों के सम्मुख स्थापित करता हूं कि यह पुस्तक कैसा है? मुझ से पूछो तो यह किताब न ईश्वर, न विद्वान् और न विद्या की हो सकती है। यह तो बहुत थोड़ा सा दोष प्रकट किया, इसलिये कि लोग धोखे में पड़ कर अपना जन्म व्यर्थ न गमावें। जो कुछ थोड़ा सा इसमें सत्य है वह वेदादि विद्या पुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे मुझ को ग्राह्य है, वैसे अन्य भी मज़हब के हठ और पक्षपात रहित विद्वानों और बुद्धिमानों को ग्राह्य है। इस के विना जो कुछ इस में है वह सब अविद्या भ्रमजाल और मनुष्य के आत्मा को पशुवत् बना कर, शान्तिभङ्ग करा के, उपद्रव मचा, मनुष्यों में विद्रोह फैला, परस्पर दुःखोन्नति करने वाला विषय है। और पुनरुक्त दोष का तो क़ुरान जानो भंडार ही है। परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सब की प्रीति, परस्पर मेल और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मतमतान्तरों का दोष पक्षपात रहित हो कर प्रकाशित करता हूं, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल हो कर आनन्द में ऐक्य मत हो के, सत्य की प्राप्ति सिद्ध न हो। यह थोड़ा क़ुरान के विषय में लिखा, इस को बुद्धिमान् धार्मिक लोग ग्रन्थकार के अभिप्राय को समझ लाभ लेवें। यदि कहीं भ्रम से अन्यथा लिख गया हो तो उस को शुद्ध कर लेवें।

अब एक बात यह शेष है कि बहुत से मुसलमान ऐसा कहा करते और लिखा वा छपवाया करते हैं "हमारे मज़हब की बात अथर्ववेद में लिखी हैं।" इस का यह उत्तर है कि अथर्ववेद में इस बात का नाम निशान भी नहीं है।

प्रश्न—क्या तुमने सब अथर्ववेद देखा है? यदि देखा होता तो अल्लोपनिषद् देखो! यह साक्षात् उस में लिखी है; क्यों कहते हो कि अथर्ववेद में मुसलमानों का नाम निशान भी नहीं है।

अथाल्लोपनिषदं व्याख्यास्यामः

अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते।
इल्लल्ले वरुणो राजा पुनर्द्दुः।
हया मित्रो इल्लां इल्लल्ले इल्लां वरुणो मित्रस्तेजस्कामः॥ १॥
होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्र महासुरिन्द्राः।
अल्लो ज्येष्ठं श्रेष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्माणं अल्लाम्॥ २॥
अल्लोरसूलमहामदरकबरस्य अल्लो अल्लाम्॥ ३॥
आदल्लाबूकमेककम्॥ अल्लाबूक निखातकम्॥ ४॥
अल्लो यज्ञेन हुतहुत्वा। अल्ला सूर्य्यचन्द्रसर्वनक्षत्राः॥ ५॥
अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्यां इन्द्राय पूर्वं माया परममन्तरिक्षाः॥ ६॥
अल्लः पृथिव्या अन्तरिक्षं विश्वरूपम्॥ ७॥
इल्लां कबर इल्लां कबर इल्लां इल्लल्लेति इल्लल्लाः॥ ८॥
ओम् अल्लाइल्लल्ला अनादिस्वरूपाय अथर्वणाश्यामा हुं ह्रीं जनानपशूनसिद्धान् जलचरान् अदृष्टं कुरु कुरु फट्॥ ९॥
असुरसंहारिणी हुं ह्रीं अल्लोरसूलमहमदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् इल्लल्लेति इल्लल्लाः॥ १०॥

इत्यल्लोपनिषत् समाप्ता॥

जो इस में प्रत्यक्ष मुहम्मद साहब रसूल लिखा है इस से सिद्ध होता है कि मुसलमानों का मत वेदमूलक है।

उत्तर—यदि तुमने अथर्ववेद न देखा हो, तो हमारे पास आओ! आदि से पूर्त्ति तक देखो। अथवा जिस किसी अथर्ववेदी के पास बीस काण्डयुक्त मन्त्रसंहिता अथर्ववेद को देख लो। कहीं तुम्हारे पैग़म्बर साहब का नाम वा मत का निशान न देखोगे! और जो यह अल्लोपनिषद् है वह न अथर्ववेद में, न उस के गोपथ ब्राह्मण में है वा किसी शाखा में है। यह तो अकबरशाह के समय में अनुमान है कि किसी ने बनाई है। इस का बनाने वाला कुछ अर्बी और कुछ संस्कृत भी पढ़ा हुआ दीखता है क्योंकि इस में अरबी और संस्कृत के पद लिखे हुए दीखते हैं। देखो! **अस्मल्लां इल्ले मित्रा वरुणा दिव्यानि धत्ते** इत्यादि में जो कि दश अङ्क में लिखा है जैसे—इस में **अस्मल्लां** और **इल्ले** अर्बी

और **मित्रा वरुणा दिव्यानि धत्ते** यह संस्कृत पद लिखे हैं वैसे ही सर्वत्र देखने में आने से किसी संस्कृत, अर्बी के पढ़े हुए ने बनाई है। यदि इस का अर्थ देखा जाता है तो भी यह कृत्रिम, अयुक्त, वेद और व्याकरण-रीति से विरुद्ध सिद्ध होती है। जैसी यह उपनिषद् बनाई है, वैसी बहुत सी उपनिषदें मतमतान्तरवाले पक्षपातियों ने बना ली हैं। जैसी स्वरूपोपनिषद्, नृसिंहतापनी, रामतापनी, गोपालतापनी बहुत सी बना ली हैं।

प्रश्न—आज तक किसी ने ऐसा नहीं कहा, अब तुम कहते हो, हम तुम्हारी बात सच कैसे मानें?

उत्तर—तुम्हारे मानने वा न मानने से हमारी बात झूठ नहीं हो सकती। हां! जिस प्रकार से मैंने इसको अयुक्त ठहराई है, उसी प्रकार से जब तुम अथर्ववेद, गोपथ वा इस की शाखाओं के प्राचीन लिखित पुस्तकों में जैसा का तैसा लेख दिखलाओ और अर्थसंगति से भी शुद्ध करो, तब तो सप्रमाण हो सकती है।

प्रश्न—देखो! हमारा मत कैसा अच्छा है कि जिस में सब प्रकार का सुख और अन्त में मुक्ति होती है।

उत्तर—ऐसे ही अपने-अपने मत वाले सब कहते हैं कि हमारा ही मत अच्छा है, बाक़ी सब बुरे। विना हमारे मत के दूसरे मत से मुक्ति नहीं हो सकती। अब हम तुम्हारी बात को सच्ची मानें वा उनकी? हम तो यही मानते हैं कि सत्यभाषण, अहिंसा, दया आदि शुभगुण सब मतों में अच्छे हैं और बाक़ी वाद, विवाद, ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्य मत ग्रहण की इच्छा हो, तो वैदिक मत को ग्रहण करो।

इस के आगे स्वमन्तव्याऽमन्तव्य का प्रकाश संक्षेप से लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते यवनमतविषये
चतुर्दशःसमुल्लासः सम्पूर्णः॥ १४॥

ओ३म्

अथ स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिस को सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिये इस को सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिस का विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए उस को अन्यथा जानें वा मानें, उस का स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु जिस को आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वही सब को मन्तव्य और जिस को नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से उसका प्रमाण नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्य्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ जिन को कि मैं मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में एक सा सब के सामने मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझ को अभीष्ट है यदि मैं पक्षपात करता तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो-जो आर्य्यावर्त्त वा इन देशों में अधर्मयुक्त चाल चलन है उस का स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उन का त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न

डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं—कि चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित हों—उन की रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उस का नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उस को कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इस में श्रीमान् महाराजे भर्तृहरि, व्यास जी और मनु ने श्लोक लिखे हैं, उन का लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूँ—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ १॥

—भर्तृहरिशतक [नीतिशतक ८५]

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ २॥

—महाभारत [उद्योगपर्व-प्रजागरपर्व अ० ४०। श्लोक ११-१२]

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ ३॥

—मनु० [८।१७]

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ४॥

—मुण्डकोपनिषद् [३।१।६]

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥ ५॥ —उपनिषदि॥

[तुलना—मनु० ८।१२]

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय से अनुकूल निश्चय रखना सबको योग्य है।

अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूँ उन-उन का वर्णन संक्षेप से यहाँ करता हूँ कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है। इन में से प्रथम—

१. '**ईश्वर**' कि जिसको ब्रह्म, परमात्मादि नामों से कहते हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त परमेश्वर है उसी को मानता हूँ।

२. चारों '**वेदों**' को विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्रभाग को निर्भ्रान्त स्वत:प्रमाण मानता हूँ अर्थात् जो स्वयं प्रमाणरूप हैं, कि जिस के प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा न हो जैसे सूर्य्य वा प्रदीप स्वयं अपने स्वरूप के स्वत: प्रकाशक और पृथिव्यादि के प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं। और चारों वेदों के ब्राह्मण, छ: अङ्ग, छ: उपाङ्ग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं उन को परत:प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेदविरुद्ध वचन हैं उन का अप्रमाण करता हूँ।

३. जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उस को '**धर्म**' और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभङ्ग वेदविरुद्ध है उस को '**अधर्म**' मानता हूँ।

४. जो इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को '**जीव**' मानता हूँ।

५. जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्रवत् आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ।

६. '**अनादि पदार्थ**' तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरी

प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उन के गुण, कर्म स्वभाव भी नित्य हैं।

७. '**प्रवाह से अनादि**' जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिस से प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उन में अनादि है, और उस से पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीन [को] प्रवाह से अनादि मानता हूँ।

८. '**सृष्टि**' उस को कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल हो कर नानारूप बनना।

९. '**सृष्टि का प्रयोजन**' यही है कि जिस में ईश्वर के सृष्टिनिमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं? उस ने कहा देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी।

१०. '**सृष्टि सकर्तृक**' है। इस का कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने, जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का '**कर्त्ता**' अवश्य है।

११. '**बन्ध**' सनिमित्तक अर्थात् अविद्यादि निमित्त से है। जो-जो पाप कर्म ईश्वरभिन्नोपासना, अज्ञानादि ये सब दु:ख फल करने वाले हैं। इसी लिये यह '**बन्ध**' है कि जिस की इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

१२. '**मुक्ति**' अर्थात् सब दु:खों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उस की सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुन: संसार में आना।

१३. '**मुक्ति के साधन**' ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

१४. '**अर्थ**' जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय। और जो अधर्म से सिद्ध होता है उस को '**अनर्थ**' कहते हैं।

१५. '**काम**' वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

१६. '**वर्णाश्रम**' गुण कर्मों के योग से मानता हूँ।

१७. **'राजा'** उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजा में पितृवत् वर्त्ते और उन को पुत्रवत् मान के उन की उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

१८. **'प्रजा'** उस को कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण कर के पक्षपातरहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोहरहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते।

१९. जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सब का सुख चाहे, उस को **'न्यायकारी'** मानता हूँ।

२०. **'देव'** विद्वानों को, और अविद्वानों को **'असुर'**, पापियों को **'राक्षस'**, अनाचारियों को **'पिशाच'** मानता हूँ।

२१. उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री, स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना **'देवपूजा'** कहाती है, इस से विपरीत अदेवपूजा। इन मूर्त्तियों की पूजा कर्त्तव्य, इन मूर्त्तियों से इतर जड़ पाषाणादि मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ।

२२. **'शिक्षा'** जिस से विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और इनसे अविद्यादि दोष छूटें, उस को शिक्षा कहते हैं।

२३. **'पुराण'** जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवतादि को नहीं।

२४. **'तीर्थ'** जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि योगाभ्यास, पुरुषार्थ विद्यादानादि शुभ कर्म है उसी को तीर्थ समझता हूँ, इतर जलस्थलादि को नहीं।

२५. **'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'** इसलिये है कि जिस से संचित प्रारब्ध बनते जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

२६. **'मनुष्य'** को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि,

लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूँ।

२७. **'संस्कार'** उसे कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है। इसको कर्त्तव्य समझता हूँ और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये।

२८. **'यज्ञ'** उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधी की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना, उसको उत्तम समझता हूँ।

२९. जैसे **'आर्य्य'** श्रेष्ठ और **'दस्यु'** दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूँ।

३०. **'आर्य्यावर्त्त'** देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि जिस में आदि सृष्टि से पश्चात् आर्य्य लोग निवास करते हैं परन्तु इस की अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है उसी को **'आर्य्यावर्त्त'** कहते और जो इस में सदा रहते हैं उन को भी आर्य्य कहते हैं।

३१. जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह **'आचार्य'** कहाता है।

३२. **शिष्य**—उस को कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है।

३३. **गुरु**—माता, पिता। और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी **'गुरु'** कहाता है।

३४. **पुरोहित**—जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।

३५. **उपाध्याय**—जो वेदों का एकदेश वा अङ्गों को पढ़ाता हो।

३६. **शिष्टाचार**—जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार, और जो इसको करता है

वह '**शिष्ट**' कहाता है।

३७. प्रत्यक्षादि आठ '**प्रमाणों**' को भी मानता हूँ।

३८. '**आप्त**' कि जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को '**आप्त**' कहता हूँ।

३९. '**परीक्षा**' पाँच प्रकारी है। इस में से प्रथम जो ईश्वर उसके गुण कर्म स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवीं अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या, इन पाँच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिये।

४०. '**परोपकार**' जिससे सब मनुष्यों के दुराचार, दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें, उसके करने को परोपकार कहता हूँ।

४१, '**स्वतन्त्र**' '**परतन्त्र**'—जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार काम करने में स्वतन्त्र है।

४२. **स्वर्ग**—नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४३ **नरक**—जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है।

४४. **जन्म**—जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार के मानता हूँ।

४५. शरीर के संयोग का नाम '**जन्म**' और वियोग मात्र को '**मृत्यु**' कहते हैं।

४६. **विवाह**—जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना '**विवाह**' कहाता है।

४७. **नियोग**—विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा पुरुष आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष [वा स्त्री के] साथ नियोग कर सन्तानोत्पत्ति कर लेवें।

४८. **स्तुति**—गुणकीर्त्तन, श्रवण और ज्ञान होना, इसका फल प्रीति

आदि होते हैं।

४९. **प्रार्थना**—अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिये ईश्वर से याचना करनी और इसका फल निरभिमान आदि होता है।

५०. '**उपासना**'—जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्य जान के, ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, वैसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना, उपासना कहाती है, इस का फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१, '**सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना**'—जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो-जो गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुण स्तुति कहाती है और शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना सगुणनिर्गुणप्रार्थना और सब दोषों से रहित, सब गुणों से सहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना निर्गुणसगुणोपासना कहाती है।

ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी '**सत्यार्थप्रकाश**' के प्रकरण-प्रकरण में है तथा भूमिका आदि ग्रन्थों में भी लिखी है। अर्थात् जो-जो बात सबके सामने माननीय है, उसको मानता अर्थात् जैसा कि सत्य बोलना सबके सामने अच्छा, और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ। और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सब को ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़प्रीतियुक्त करा के, सब से सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे और जिससे सब

लोग सहज से धर्म्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके, सदा उन्नत और आनन्दित होते रहैं, [यही] मेरा मुख्य प्रयोजन है।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु।

ओ३म्। शन्नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्य्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः। शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

[तैत्तिरीय आरण्यक ७।१२]

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां
श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितः
स्वमन्तव्यामन्तव्यसिद्धान्तसमन्वितः
सुप्रमाणयुक्तः सुभाषाविभूषितः
सत्यार्थप्रकाशोऽयं ग्रन्थः सम्पूर्तिमगमत्॥

सत्यार्थप्रकाशस्थ प्रमाणसूची

ओ३म्

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विता।

प्रकाशक :

वैदिक पुस्तकालय

दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर

प्रकाशक : **वैदिक पुस्तकालय**
दयानन्दाश्रम, अजमेर

संस्करण : त्रयोदश वार (११०० प्रतियाँ)
सृष्टिसंवत् १९६०८५३१०९
दयानन्द जन्माब्द १८४
विक्रमी सम्वत् २०६५
ईस्वी सन् २००८

मूल्य : **१००.०० रुपये**

शब्द संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१
चलभाष : ०९२११३-६२७३३, ०९२५५९-३५२८९

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१
दूरभाष : ०११-२२०८३१०७

॥ ओ३म्॥

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-विषयसूचीपत्रम्

ओ३म्

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ १॥ तैत्तिरीय आरण्यके। नवमप्रपाठके। प्रथमानुवाके॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं,
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥ १॥

कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया॥ २॥

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमनना
ऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः॥ ३॥

मनुष्येभ्यो[1] हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते॥ ४॥

संस्कृतप्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया॥ ५॥

आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा॥ ६॥

येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः।
दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः॥ ७॥

सत्यार्थश्च[2] प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम्॥ ८॥

---

१. **मनुष्याणामिति** .....एक हस्तलेख में यह पाठ है।
२. **सत्यश्चार्थः** .... एक हस्तलेख में यह पाठ है।

भाषार्थ—(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करें, (सह नौ भु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिल के सबसे उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्त्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें, (सह वी०) हे कृपानिधे! आपके सहाय से हम लोग एक-दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देने वाले परमेश्वर! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें, किन्तु एक-दूसरे के मित्र होके सदा वर्तें। (ओं शान्तिः०) हे भगवन्! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप—एक 'आध्यात्मिक' जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा 'आधिभौतिक' जो दूसरे प्राणियों से होता है, और तीसरा 'आधिदैविक' जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये, जिससे हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें। यही आपसे चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये॥ १॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिसकी वेदविद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूँ॥ १॥[1]

---

१. एक हस्तलिखित प्रति में इन श्लोकों का अर्थ निम्नरूप से लिखा है—(ब्रह्मनन्तेति०) जो (ब्रह्म) सबसे बड़ा (अनन्त) जिसके गुण सामर्थ्य और स्वरूप का अन्त कोई भी नहीं ले सकता (अनादि) सबका आदि कारण, जिससे आदि प्रथम वस्तु कोई नहीं है, जिसका कारण कोई नहीं है (विश्वकृत्) जो सब विश्व को करता है (अजम्) जिसका माता पिता और जन्म कोई नहीं है (सत्यम्) जो सत्यस्वरूप, अविनाशी, सत्यप्रिय, सत्यकारक, भक्तों को सुख देने वाला है। (परम्) सबसे उत्तम और सब दुःखों से परे है (शाश्वतम्) जो सब में व्यापक सब दिन निर्विकार सनातन है (विद्या यस्येति) जिसकी सनातन विद्या विरुद्धधर्म के नाश करने वाली, निगम वेद को धारण करने वाली किं वा जो वेद को धारण और उत्पन्न करने वाली है, नित्यस्वरूप विद्या जिसकी है, जिस

(कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है॥ २॥

(दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है। हे अनघाः हे निष्पाप सज्जन लोगो! आप इस बात को जानो॥ ३॥

(मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूँ॥ ४॥[1]

(संस्कृतप्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है—एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूँ॥ ५॥[2]

(आर्य्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से लेके व्यास पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उन की जो व्याख्यारीति है उससे युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायगा॥ ६॥[3]

(येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायंगे। उनकी निवृत्ति करने से वेदों का

विद्या का नाम वेद है, जिसमें मल दोष लेश मात्र भी नहीं है, सब जगत् के हित करने वाली, सब मनुष्यों को सौभाग्य प्राप्ति कराने वाली जिसकी अनन्त विद्या है, उस ब्रह्म परमात्मा को आत्मा, मन, शरीर और धन आदि से अत्यन्त प्रेमभाव, सत्यक्रिया से नमस्कार करके अत्यन्त प्रेमभाव से उसका आश्रय लेके वेदभाष्य का आरम्भ मैं करता हूँ॥ १॥

१. (मनुष्याणामिति) सब मनुष्यों के हित के लिये सत्य शास्त्र, प्रमाण और युक्ति से सत्यार्थयुक्त, ईश्वर के अनुग्रह से यह वेदभाष्य अच्छे प्रकार विस्तृत किया जाता है॥ ४॥

२. एक संस्कृतभाषा और दूसरी प्राकृतभाषा से युक्त शुभ कल्याण सुखकारक लक्षणसहित इस भाष्य में मन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूँ, सो यह भाष्य सुख कामना का पूर्ण करने वाला है॥ ५॥

३. (आर्याणां) जो आर्य अनुत्तमगुणयुक्त, आर्यावर्त देशवासी, परमविद्वान्, आप्त, सत्यवादी मुनि और ऋषि उनकी सनातन जो व्याख्यारीति है, उसके अनुसार उसके वचन प्रमाणों के लेख का आशयपूर्वक वेदमन्त्रों के अर्थों का विधान इस भाष्य में मैं करूँगा, अन्यथा नहीं॥ ६॥

सत्यार्थराज्य संसार में प्रकाशित होगा॥ ७॥

(सत्यार्थश्च०) और इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूँ, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो, यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है॥ ८॥[1]

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव।

यद् भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व॥ १ ॥ यजुर्वेदे। अध्याये ३०। मन्त्रः ३॥

भाष्यम्—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे परमकारुणिक! हे अनन्तविद्य! हे विद्याविज्ञानप्रद! (देव)! हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्या-प्रकाशक! हे सर्वानन्दप्रद! (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय, (यद्भद्रं) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्य-विद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयस्सुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यं (आसुव) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय।

अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन्! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं

१. (सत्य०) इस भाष्य से वेदों का जो ईश्वराभिप्रेत और ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहा जो सनातन सत्य अर्थ है सो यथावत् सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित होय। इस इच्छा को स्वीकार अपने आत्मा में करके मैंने वेदभाष्य का आरम्भ किया है, सो यह जो मेरा प्रयत्न है, सो ईश्वर के सहाय से सिद्ध हो क्योंकि यह बड़ा महान् कृत्य है, इसको स्वबल से सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है, परन्तु सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा बल से यह कार्य सिद्ध होना कुछ भी कठिन नहीं, सर्वान्तर्यामी सब मनुष्यों के आत्माओं को भी कृपा से इस भाष्य में प्रीति और सहायकरणयुक्त करे, जिससे इस भाष्य के करने का प्रयोजन जो सब मनुष्यों को सत्य सुख का होना सो यथावत् सिद्ध हो। मेरी इस प्रार्थना को सर्वथा परमेश्वर स्वीकार करे, यही मेरी जगत्स्वामी परमेश्वर से प्रार्थना है, इसको सर्वात्मा सर्वाध्यक्ष अवश्य सिद्ध करेगा॥ ८॥

भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि। तदिदं सर्व-मनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत्। अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्यो३म्॥ १ ॥

भाषार्थ—हे सत्यस्वरूप! हे विज्ञानमय! हे सदानन्दस्वरूप! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त! हे परमकृपालो! हे अनन्तविद्यामय! हे विज्ञानविद्याप्रद! (देव) हे परमेश्वर! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हैं तथा सब आनन्दों के देने वाले हैं, (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन्! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं, (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उनको और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये, अर्थात् हमसे उनको और हमको उनसे सदा दूर रखिये, (यद्भद्रं) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उसको हमारे लिए सब दिनों में प्राप्त कीजिये। सो सुख दो प्रकार का है—एक जो सत्य विद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्तिराज्य इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना, और दूसरा जो निःश्रेयस् सुख है कि जिसको मोक्ष कहते हैं और जिसमें ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं (तन्न आ सुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये।

और आपकी कृपा के सहाय से सब विघ्न हमसे दूर रहें कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो। इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे। इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हमको दीजिये, जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्य विद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं उनके यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें। सो यह वेदभाष्य आपकी कृपा से सम्पूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला हो, और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धा सहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में हम लोगों का जो बड़ा प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो। इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर सर्वदा कृपादृष्टि करते रहें, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें॥ १ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ १॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३४॥

अथर्ववेदसंहितायाम्। काण्डे १०। प्रपाठके २३। अनुवाके ४।
मं० १, ३२, ३३, ३४॥

भाष्यम्—(यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति। (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः॥ १॥

(यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै०॥ २॥

(यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनःपुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै०॥ ३॥

(यस्य वातः०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) 'अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चना इति' निरुक्ते अ० ३। खं० १७॥ **प्रकाशकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु॥ ४॥**

भाषार्थ—(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत

हो गया है, (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्तमान है, (भव्यं च) और तीसरा जो होने वाला भविष्यत् कहलाता है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचना, पालन, लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, (स्वर्यस्य च केवलं) जिस का सुखरूप ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उसको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो॥ १॥

(यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त हैं, तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि से दिव अर्थात् प्रकाश करने वाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सबको धारण कर रहा है, (तस्मै) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो॥ २॥

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प-कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारम्वार नये-नये रचता है, (अग्निं यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है, (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो॥ ३॥

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करने वाली किरण हैं वे चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाली बनाई हैं, ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त

परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो॥ ४॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

—यजुः० अ० २५। मं० १३॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ ६॥

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥

—यजुः० अ० ३६। मं० १७, २२॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २४॥

—यजुः० अ० ३४। मं० ५॥

भाष्यम्—(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्यच्छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्याच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोऽस्ति, (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये 'प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेति'। शतपथब्राह्मणे। काण्डे ७ अ० ३॥ **सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि॥ ५॥**

(द्यौ० शान्तिः) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्षं, पृथिवी जलमोषधयो वनस्पतयो विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्म वेदः, सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदाऽस्तु। अनुकूलं भवतु नः। येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि। हे भगवन्! एतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं जगच्च॥ ६॥

(यतो य०) हे परमेश्वर! यतो यतो देशात्त्वं समीहसे जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम। (शन्नः कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु, एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शंकुरु, धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः सम्पादय॥ ७॥

(यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे! यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति (यस्मिँश्चि०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति। कस्यां क इव ? रथनाभौ अरा इव। तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसङ्कल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत। हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित्! मदुपरि कृपां विधेहि, यया निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि। यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम। ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान्। एतदर्थं प्रार्थ्यते। अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु। यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत्॥ ८॥

भाषार्थ—(य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति करानेवाला है, जिसकी उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं, और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है उसको अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिसका आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही जन्ममरणरूप दुःखों को देने वाली है, अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं, उनको नहीं मानना, और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है, उस पर ईश्वर की अकृपा होती है, वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है, (कस्मै०) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो॥ ५॥

(द्यौ० शा०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन्! आपकी भक्ति और कृपा से ही 'द्यौः' जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुखदायक हो, तथा जो आकाश पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देने वाले हमको सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेद-भाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें। हे भगवन्! इस सब शान्ति से हमको विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये॥ ६॥

(यतो य०) हे परमेश्वर! आप जिस-जिस देश में जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस-उस देश से हम लोगों को भय से रहित करिये, अर्थात् किसी देश से हमको किञ्चित् भी भय न हो, (शन्नः कुरु) वैसे ही सब दिशाओं में जो आपकी प्रजा और पशु हैं उनसे भी हमको भयरहित करें, तथा हमसे उनको सुख हो, और उनको भी हमसे भय न हो, तथा आपकी प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं, उन सबसे जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थ हैं उनको आपके अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों, जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं वे सुख से सिद्ध हों॥ ७॥

(यस्मिन्नृचः) हे भगवन् कृपानिधे! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूँꣳषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी, ये सब जिसमें स्थित होते हैं, तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिँश्चि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त जो स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं, और जैसे रथ के पहिये के बीच भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं, ऐसा जो मेरा मन है सो आपकी कृपा से शुद्ध हो, तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्यधर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है, इससे युक्त सदा हो। जिस मन से हम लोगों को आपके किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो॥ ८॥

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर! हम पर आप कृपा धारण करें जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें, और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को सम्पूर्ण बना के आपके बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उसको जगत् में सदा के लिये बढ़ावें, और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों। इसलिये हम लोग आपकी प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सब का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो॥

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः॥

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ १॥

यजुः० अ० ३१। मं० ७॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २०॥

भाष्यम्—(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद् यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः, (छन्दांꣳसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः। यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः। जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम्। तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम्। वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्।

यज्ञो वै विष्णुः श० कां० १। अ० १। ब्रा० २ कं० १३।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। यजुर्वेदे अ० ५, मन्त्र १५
इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते, नान्यत्र। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः॥ १॥

(यस्मादृचो०) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति, यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः (अपाकषन्) प्रादुर्भूतोऽस्ति, तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः, एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः। यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोऽस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः ? अस्योत्तरम्—(स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात्स्कम्भात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम्॥ २॥

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इत्यादि।

श० कां० १४। अ० ५। ब्रा० ४। कं० १०॥

अस्यायमभिप्रायः। याज्ञवल्क्योऽभिवदति—हे मैत्रेयि! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम्। यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद् वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः॥ ३॥

भाषार्थ—प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है, कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं। (तस्मात् यज्ञात्स०) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख देने वाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद, (यजुः) यजुर्वेद, (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। इसीलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें। 'जज्ञिरे' और 'अजायत' इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है। वैसे ही 'तस्मात्' इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिए कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर 'छन्दांसि' इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्द से 'विष्णु' का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत्

की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है, अन्यत्र नहीं॥ १॥

(यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद, (यजुः) यजुर्वेद, (सामानि) सामवेद, (आङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है। (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौन सा देव हैं, उसको तुम मुझसे कहो? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—(स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो, और यह भी जानो कि उसको छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है। क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे॥ २॥

(एवं वा अरेऽस्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं, वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आके फिर भीतर को जाता है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है, और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कुरवत्। जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप होके फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इससे इसको नित्य ही जानना॥ ३॥

अत्र केचिदाहुः—निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येतेति?

अत्र ब्रूमः। न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते। कुतः? मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात्। अन्यच्च, यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेऽपि मन्यताम्। योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति। यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं

सामर्थ्यं नास्ति; न चैवमीश्वरे। यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति? कुतः, वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः।

भाषार्थ—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है, उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

इसका यह उत्तर है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आ सकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं।

और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं, तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिए। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते, वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता?

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति?

अत्रोच्यते—ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा। नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा—कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्य्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किञ्चिदपि

यथार्थं ज्ञानं न भवति। यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति। तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा?

भाषार्थ—प्रश्न—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरणादि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है?

उत्तर—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं, उनको पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है। उसके पढ़ने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुन के और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है, अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रख के उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो, तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है? इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं।

मैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति, तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति?

एवं प्राप्ते वदामहे—नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्? कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति? तस्मात् किमागतम्? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं

गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षाऽवश्यं भवति। किञ्च न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत्। मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च।

यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि, तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्; चक्षुर्वत्। यथा चक्षुर्मनःसाहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति, तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति।

भाषार्थ—प्रश्न—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी, तब मनुष्य लोग विद्यापुस्तकों को भी रच लेंगे, पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी?

उत्तर—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था, क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है, उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों को पढने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते, वैसे ही सृष्टि के आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थविद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़े विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं, वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी, तथा विद्या का कोई भी ग्रन्थ नहीं था। उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता? क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है। और स्वाभाविक ज्ञानमात्र

से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसीलिए ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है।

और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं देख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है, तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान, धर्म, अर्थ और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता।

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम्।

उच्यते—वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद् वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत। ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा? अस्ति। सा किमर्थास्ति? स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम्? करोति तेन किम्? तेनेदमस्ति, विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात्।

यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता सम्पादिता। परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत्। यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्। यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कन्दमूलफलतृणादिकं रचितम्, स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत्? किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः।

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था?(२)

उत्तर—मैं तुमसे पूछता हूँ कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जानते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उसकी उत्पत्ति वा

अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है। जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग सुनें।

प्रश्न—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं?

उत्तर—है।

प्रश्न—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है?

उत्तर—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है।

प्रश्न—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं?

उत्तर—ईश्वर परोपकारी है। इससे क्या आया? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है, क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना।

जो परमेश्वर अपनी विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उसका नहीं रहे। इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का माता-पिता के समान है। हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है, इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं, सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करने वाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता? क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहमें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ जो वेद है, उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता? इससे निश्चय करके

यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि?

अत्रोच्यते—अह ह ह! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः, सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं मा शङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा ईश्वरेणादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि? ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम्? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति। मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन्। कुतः? जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्र कार्यासम्भवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति। तद्यथा कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति। अत्र प्रमाणम्—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥ श० कां० ११। अ० ५। ब्रा० २ कं० ३॥

एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः। सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं, ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते?

मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम्? वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम्? ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति? निश्चयकरणार्था।

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों के रचने और वेदपुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी, स्याही और दवात आदि साधन कहाँ से लिये, क्योंकि उस समय में कागज़ आदि पदार्थ तो बने ही न थे?

उत्तर—वाह वाह वाह जी! आपने बड़ी शङ्का करी, आपकी बुद्धि की क्या स्तुति करें। अच्छा आपसे मैं पूछता हूँ कि हाथ, पग आदि अङ्गों तथा काष्ठ, लोह आदि सामग्री साधनों के विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है? जैसे हाथ आदि अवयवों के विना सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इससे ऐसी शङ्का उसमें आपको करनी योग्य नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि के आदि

में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे।

प्रश्न—तो किस प्रकार से किये थे?

उत्तर—ज्ञान के बीच में।

प्रश्न—किनके ज्ञान में?

उत्तर—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के।

प्रश्न—वे तो जड़ पदार्थ हैं?

उत्तर—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि के आदि में मनुष्यदेहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है, और जहाँ-जहाँ असम्भव होता है वहाँ-वहाँ लक्षणा होती है। जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मँचान पुकारते हैं, इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मँचान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहाँ भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। इसमें '**तेभ्यः०**' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था।

प्रश्न—सत्य बात है कि ईश्वर ने उनको ज्ञान दिया होगा और उन्होंने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा?

उत्तर—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार का दिया था?

उत्तर—उनको वेदरूप ज्ञान दिया था।

प्रश्न—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका?

उत्तर—वह ज्ञान ईश्वर का ही है।

प्रश्न—फिर आपसे मैं पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके?

उत्तर—जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया।

प्रश्न—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी?

उत्तर—निश्चय करने और कराने के लिये।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती? न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति?

अत्राह—अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ्न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः? न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम्—तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्त्तुं योग्योऽस्ति।

किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम्?

अत्र ब्रूमः—सर्वे जीवाः स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्म्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति। एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते।

भाषार्थ—प्रश्न—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती?

उत्तर—न्यायकारी। प्रश्न—जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सबके हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया, क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है?

उत्तर—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उसको वैसा ही फल दिया जाय। अब जानना चाहिए कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया।

प्रश्न—वे चार पुरुष तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनका पूर्वपुण्य कहाँ से आया?

उत्तर—जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारणजगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्य्यजगत् प्रवाह से अनादि हैं। इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे लिखी जाएगी।

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम्?

इयं कुतः शङ्काभूत्? किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति? अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात्। अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति।

चतुर्मुखेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम्?

मैवं वाच्यम्। ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात्। 'आप्तोपदेशः शब्दः॥' न्यायशास्त्रे अ० १। सू० ७॥ **इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात्। 'शब्द ऐतिह्यमि' त्यादि च॥ अस्यैवोपरि 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा,**

यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करण-मर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः' इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः। अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य। यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात्। एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्। नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापत्तेश्चेति।

भाषार्थ—प्रश्न—क्या गायत्र्यादि छन्दों का रचन ईश्वर ने ही किया है?

उत्तर—यह शङ्का आपको कहाँ से हुई?

प्रश्न—मैं तुमसे पूछता हूँ क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है?

उत्तर—ईश्वर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आपकी यह शङ्का भी निर्मूल है।

प्रश्न—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा, ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं।

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है। (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उसको शब्दप्रमाण में गिनते हैं, ऐसा न्यायदर्शन में गोतमाचार्य ने लिखा है, तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है, अन्य नहीं। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है कि—जो साक्षात् सब पदार्थविद्याओं का जाननेवाला कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है, जिसको पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है, उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है, और जो पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्त्तना, इस का नाम आप्ति है, इस आप्ति से जो युक्त हो उसको 'आप्त' कहते हैं। उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के

मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता। इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है, इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिए। जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं। और जो सत्यग्रन्थ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात्?

मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०' इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य विद्यमानत्वात्। एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्। तद्यथा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्। १। अ० १॥
अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। अ० २।

इति मनुसाक्ष्यत्वात्।

अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा!

भाषार्थ—प्रश्न—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, उन्होंने ही वेद रचे हों ऐसा क्यों नहीं माना जाय?

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है। सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि—'जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं।' इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है। क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्त्तमान था। इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि—'पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था।' जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है।

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति?

अर्थवशात्। (विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे, (विद) विचारणे, एतेभ्यो 'हलश्च' इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। तथा (श्रु) श्रवणे, इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते। विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते 'वेदाः'। तथाऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा 'श्रुतिः'। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः? निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्। तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धम्? अग्निवायुरव्यङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्।

भाषार्थ—प्रश्न—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं?

उत्तर—अर्थभेद से। क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद) सत्तार्थ है, तीसरे (विद्लृ) का लाभ अर्थ है, चौथे (विद) का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है, इससे करणकारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का 'वेद' नाम है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है। क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं, और उनको सुनते-सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं। तथा अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली

की चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था, क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इसमें यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि?

अत्रोच्यते—एको वृन्दः षण्णवतिः कोट्योऽष्टौ लक्षाणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि। सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम्। एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमानकल्पसृष्टेश्चेति।

कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति?

अत्राह—अस्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति। तद्यथा—स्वायम्भवः, स्वारोचिषः, औत्तमिस्तामसो, रैवतश्चाक्षुषो, वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति। तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति। ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति। एकसहस्रं १००० चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति। ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम्। सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति। अस्मिन्ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते। तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारिसहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते। यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति। अत्र विषये प्रमाणम्—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥ १॥
चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥ २॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ३॥

यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ४॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥ ५॥
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ६॥
यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥ ७॥
मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥ ८॥

मनु० अध्याये १ [श्लोकाः ६८-७३, ७९, ८०]॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते। यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत्। मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते। अत्रैवं संख्यातव्यम्—

एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च॥ १॥
वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः।
अन्त्यं मध्यं पराद्धर्यं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम्॥ २॥

इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते।

अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्य्येति।

स॒हस्र॑स्य प्र॒मासि॑ स॒हस्र॑स्य प्रति॒मासि॑॥

य० अ० १५। मं० ६५॥

सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि॥　　श० कां० ७। अ० ५।

सर्वस्य जगतः सर्वमिति[1] नामास्ति। कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति। मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति। एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम्। ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभि-

१. यहां सर्वं के स्थान पर सहस्रं पाठ होना चाहिये। —सम्पादक

हिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यन्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्य्यते ज्ञायते च। अतः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्त्तुं योग्यास्ति नान्येति निश्चयः। कुतो ह्यार्यैर्नित्यम् 'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च' इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्- सर्वत्रैकरसत्वादशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम्। अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम्।

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं?

उत्तर—एक वृन्द छानवे करोड़ आठ लाख बावन हज़ार नव सौ छहत्तर अर्थात् (१,९६,०८,५२,९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् सतहत्तरवाँ वर्त्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं।

उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं और ७ सातवाँ वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि ७ मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ मन्वन्तर होते हैं। और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है। (१२९६०००) बारह लाख छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता, (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है। तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तियालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है, और ऐसे-ऐसे छह मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१,८४,०३,२०,०००) एक अरब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस

हज़ार वर्ष हुए, और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार, नव सौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४,२७,०२४) चार लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पाँच लाख, बत्तीस हज़ार, नव सौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सतासी हज़ार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवाँ है, जिसको आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवाँ संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम 'ब्राह्मदिन' रक्खा है, और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उसका नाम 'ब्राह्मरात्रि' रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अरब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नव सौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए हैं, और (२,३३,३२,२७,०२४) दो अरब, तैतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवाँ वर्ष भोग रहा है। आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिए, जैसे आज पर्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं।

ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्त्तमान और प्रलय की संज्ञा की है इसीलिए इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं सो देख लेना। इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है, अर्थात् चारों युगों के बारह हज़ार (१२०००) वर्षों की 'दैवयुग' संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक वार सृष्टि हो चुकी है और अनेक वार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा

ऐसे ही करेगा। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें, इसीलिए यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी है। और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रति मन्वन्तर में बदलता जाता है इसीलिए मन्वन्तर संज्ञा बांधी है। वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसंज्ञा और प्रलय की विकल्पसंज्ञा की है।

और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करनी चाहिए कि (एकं दशशतं चैव०) एक (१), दश (१०), शत (१००), हज़ार (१०००) दश हज़ार (१००००), एक लाख (१०००००) नियुत (१००००००), करोड़ (१०००००००), अबुर्द (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), सागर (१००००००००००००००), अन्त्य (१०००००००००००००००), मध्य (१००००००००००००००००) और परार्द्ध्य (१०००००००००००००००००), और दश-दश गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त और ज्योतिष ग्रन्थों में गिनती की है।*

(सहस्रस्य प्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्र संज्ञा की जाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है। सो हे परमेश्वर! आप इस हज़ार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो। इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन-दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणित विद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं, अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि आर्य्य लोग नित्यप्रति 'ओं तत् सत्' परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्य्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं, और बही खाते की नाईं लिखते-लिखाते पढ़ते-पढ़ाते चले आये

* कहीं-कहीं इसी संख्या को १९ उन्नीस अङ्क पर्यन्त गिनते हैं सो यहाँ भी जान लेना। [दयानन्द सरस्वती]

हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं, इसीलिए यह लेख है—(श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०)।

यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इसके भोग में यह (२८) अट्ठाईसवाँ कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, नक्षत्र, मुहूर्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं, अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हमने लिखी है, इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्य्यन्त करते और जानते चले आए हैं। जैसे बहीखाते में मिती डालते हैं वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं। और यही इतिहास आज पर्यन्त सब आर्यावर्त्त देश में एक सा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिए इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मिती वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक-ठीक आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है। और इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य्य लोग ही बड़े-बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं।

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया, और जो पुस्तक ज्योतिषशास्त्र के बच गये हैं उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इनमें भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिए है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो, सो यह बड़ा उत्तम काम है। इसको सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु

इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है, यह शोक की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा, नष्ट न होने दिया, यह बड़े हर्ष की बात है। जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट बढ़ संख्या क्यों हुई, इसकी व्याख्या आगे करेंगे, वहाँ देख लेना चाहिए, यहाँ इसका प्रसंग नहीं है, इसलिए नहीं लिखा।

एतवता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्य-खण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्। तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः

भाषार्थ—इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि—वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हज़ार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उनकी यह भी बात झूठी है। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्प पठनविद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उनको नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिए कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है, और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन-जिन ने अपनी-अपनी देश भाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है, उन-उन का भी व्याख्यान मिथ्या है। क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तक पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे।

इति वेदोत्पत्तिविचारः॥

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्।

भाषार्थ—अब वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है। सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

अत्र केचिदाहुः—न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात्। घटवत्। यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्य्यम्।

मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्य्याश्च। कुतः ? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तस्तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं नैव घटते।

भाषार्थ—प्रश्न—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता, इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहले नहीं थे और प्रलय में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है।

उत्तर—ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है—एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

किं च भोः! सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्य्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं

स्वीक्रियते?

अत्रोच्यते—इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत्क्रियापक्षे च, नेतरस्मिन्। अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे। किं च, न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते। तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात्। यथास्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसंबन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च। कुतः, ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च। अत एवेदमुक्तमृग्वेदे—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् इति।

अस्यायमर्थः—सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं, यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्तथैव तेनास्मिन्कल्पेऽपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते। कुतः ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात्। एवं वेदेष्वपि स्वीकार्य्यं, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात्।

भाषार्थ—प्रश्न—जब सब जगत् के परमाणु अलग-अलग होके कारणरूप हो जाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव हो जाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव हो जाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो?

उत्तर—यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती, क्योंकि वेद तो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध स्वरूप ही हैं, मसी, कागज, पत्र, पुस्तक और अक्षरों की बनावटस्वरूप नहीं है। यह जो मसी आदि द्रव्य और लेखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है। और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना-पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे बीजांकुर न्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं। सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं।

जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है। उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता

अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती। इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिए।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः—

'नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति। तथा—

'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।'

इदम् 'अइउण्' सूत्रभाष्ये चोक्तमिति। अस्यायमर्थः—

वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति। कुतः? शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः। अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम्, उपजन आगमः, विकार आदेशः एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः।

भाषार्थ—यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इसमें व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं। इनमें से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है। उसके बनानेवाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं। उनका ऐसा मत है कि—'सब शब्द नित्य हैं' क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उनका अभाव वा आगम कभी नहीं होता।' तथा कान से सुनके जिसका ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं और जिनका निवास का स्थान आकाश है, उनको शब्द कहते हैं। इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं, वे भी सब नित्य ही होते हैं क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं, तथा इनमें लोप आगम और विकार नहीं बन सकते, इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं सङ्गच्छते? इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः—

'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ १॥

'दाधा घ्वदाप्' [अष्टाध्यायी १.१.१९] **इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्य-वचनम्। अस्यायमर्थः—**

सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति। अर्थाच्छब्द-संघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते। तद्यथा—वेदपार। गम्। ड। सुँ। भू। शप्। तिप्। इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवदितीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते। अस्मिन् प्रयुक्तसमुदाये 'गम् ड सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् 'अम् ड् उँ श् प् इ प्' इत्येतेऽपयन्तीति केषांचिद् बुद्धिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति। कुतः? शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्। नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारे सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः। तथैवाडागमे, भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं सङ्गतिः कार्येति।

(श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्यः, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यः, यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते, स शब्दो भवतीति बोध्यम्। अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते। कथम्? उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षण-प्रध्वंसित्वात्। 'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' इति महाभाष्यप्रामाण्यात्। प्रतिवर्णं वाक्क्रिया परिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति।

भाषार्थ—प्रश्न—गणपाठ, अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम और विकार आदि कहे हैं, फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि—शब्दों के समुदायों के स्थान में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है। जैसे 'वेदपार गम् ड सुँ भू शप् तिप्' इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में 'वेदपारगोऽभवत्' इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है। इसमें किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ड् उँ श् प् इ प् इनकी निवृत्ति हो जाती है, सो उनकी बुद्धि भ्रममात्र है, क्योकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं। सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनि जी का है, जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ

बनाये हैं। सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं। क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है उसके क्षणभंग होने से अनित्य गिनी जाती है, इससे शब्द अनित्य नहीं होते, क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है, वही वर्ण वर्ण के प्रति अन्य अन्य होती है। परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

ननु च भोः! शब्दोऽप्युपरतागतो भवति। उच्चारित उपागच्छति, अनुच्चारितोऽनागतो भवति, वाक्क्रियावत्। पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत्।

अत्रोच्यते—नाकाशवत् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावाद-भिव्यक्तिर्भवति, किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रिययाभिव्यक्तिश्च। तद्यथा गौरित्यत्र यावद्वाग् गकारेऽस्ति न तावदौकारे, यावदौकारे न ताव-द्विसर्जनीये। एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः, न च शब्द-स्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात्। यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः। अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति, किमुत वैदिकानामिति।

भाषार्थ—प्रश्न—शब्द जो उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट हो जाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उच्चारण क्रिया अनित्य है, वैसे ही शब्द भी अनित्य हो सकता है। फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो?

उत्तर—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती, तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं, तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं। जैसे 'गौः' इसके उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारण क्रिया गकार में रहती है, तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है, शब्दों का नहीं। किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती, तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं। जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो

वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं।

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम्—

'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्'॥

पूर्वमीमांसा अ० १। पा० १। सू० १८॥

अस्यायमर्थः—'तु' शब्देनानित्यशङ्का निवार्यते। विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति, कस्मात्? दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति। अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति। नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत् सङ्गतं स्यात्। अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते। पुनः पुनस्तमेव चेति। एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः।

भाषार्थ—इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने शब्द को नित्य माना है—(नित्यस्तु०) शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है, उसका 'तु' शब्द से निवारण किया है। शब्द नित्य ही हैं, अर्थात् नाशरहित हैं, क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ के जानने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है, फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता, क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा, फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं, इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य है। जो श्ब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्॥' वैशेषिके अ० १। सू० ३॥

अस्यायमर्थः—तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं

सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार वैशेषिक शास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है—(तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्यविद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन है, इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है, इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥'

अ० २। आ० १। सू० ६७।

अस्यायमर्थः—तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम्। कुतः? आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः। किंवत्? मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्। यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति, यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्।

एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम्—

''द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति। नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम्।''

अस्यायमभिप्रायः—यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद्वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम्। अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक्।

भाषार्थ—वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं, (मन्त्रायु०) वेदों को नित्य ही मानना चाहिए, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं, वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं। उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना

चाहिये। क्योंकि आप्त लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता। उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को बनाया है। जैसे आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं, कि जिनका अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो, उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता।

(मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनानेवाले हैं। जो-जो उस मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के बनानेवाले हैं। जैसे उनका कथन आयुर्वेद में सत्य है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है, ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है, वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सबका गुरु परमेश्वर है, उसके किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह—

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥'

पातञ्जलयोगशास्त्रे अ० १। पा० १। सू० २६॥

यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानींतनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः। स च सर्वदा नित्योऽस्ति, तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्य इति।

भाषार्थ—इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं, (स एष०) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हमसे आगे जो होनेवाले हैं, इन सबका गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है, और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है, उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्योऽप्यत्राह—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्॥ सू० ५१॥

अस्यायमर्थः—वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतः प्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्ये इति।

भाषार्थ—इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं—(निज०) परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्याशक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतःप्रामाण्य सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह—

शास्त्रयोनित्वात्॥ अ० १। पा० १। सू० ३॥

अस्यायमर्थः—'ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि-पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमितीदं वचनं शङ्कराचार्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम्। अतः किमागतं, सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति।

अन्यच्च तस्मिन्नेवाध्याये—

अत एव च नित्यत्वम्॥ पा० ३। सू० २९॥

अस्यायमर्थः—अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम्। न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते। किंत्वेतत्साक्षिवद्विज्ञेयम्। वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात् सूर्यवत्। यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान्महतोऽल्पाँश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान्पदार्थान्प्रकाशयति तथा वेदोऽपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यास जी ने भी लिखा है, (शास्त्र०) इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि—ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं। उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीव-विशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का सम्भव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक-एक देश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं, उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है। किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने, विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा शङ्कराचार्य ने भी कहा है। इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य लोगों की साक्षी है। और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उसके किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं। अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता।

(अत एव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं, और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है। तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये, क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश

में सूर्य का ही प्रमाण है, अन्य का नहीं, और जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है, वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अत एव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ य० अ० ४०। मं० ८॥

अस्यायमभिप्रायः—य पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषगुणयुक्त ईश्वरोऽस्ति, (स पर्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान् नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति, (शुक्रं) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्त्तृवीर्यवदनन्तबलवदस्ति, (अकायं) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, (अव्रणं) नैवैतस्मिंश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अत एव छेदरहितत्वादक्षतम् (अस्नाविरं) तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद् बन्धनावरणविमुक्तम्, (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्तमानम् (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्भवति, (कविः) सर्वज्ञः (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति, (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता, न ह्यस्य कश्चित् जनकः, स्वसामर्थ्येन सहैव सदा वर्तमानोऽस्ति, य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ (शाश्वतीभ्यः) स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यो (याथातथ्यतः) यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवान्, अर्थाद् यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अत एव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम्, तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात्।

भाषार्थ—ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतः प्रमाण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं—

(स पर्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उसके किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो परमेश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब

जगत् में परिपूर्ण हो रहा है, उसकी व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म (शुक्रं) सब जगत् का करनेवाला और अनन्तविद्यादि बल से युक्त है, (अकायं) जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता, (अव्रणं) जिसमें एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसी से वह सर्वथा छेदरहित है, (अस्नाविरं) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है, ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धं) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है, (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करनेवाला कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (कविः) जो सबका जाननेवाला है, (मनीषी) जो सबका अन्तर्यामी है, और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है, (परिभूः) जो सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं किन्तु वही सबका कारण, अनादि और अनन्त है, इससे वही सबका माता-पिता है, और अपने ही सब सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है, इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है (शाश्वतीभ्यः०) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को, जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है, उसके सब सुखों के लिये (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब-जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है, तब-तब प्रजा के हित के लिये सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है, और जब-जब सृष्टि का प्रलय होता है तब-तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये।

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति, तथा युक्त्यापि। तद्यथा—

'नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति' इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम्। कुतः ? यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः सम्भवितुमर्हन्ति, वन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत्। पुत्रो भवेच्चेत्तदा वन्ध्यात्वं न सिध्येत्, स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः। एवमेवात्रापि विचारणीयम्। यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत् कथमुपदिशेत् ? स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासम्बन्धो दर्शनं च स्याताम्, निर्मूलस्य प्रोरोहाभावात्। नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद् दृश्यते।

यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते— यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो नान्यथेति। तद्यथा—येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति, नाऽन्यस्याः। येन देशभाषाऽधीयते तस्या एव संस्कारो भवति, नातोऽन्यस्याः। एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कुतः स्मरणम् ? न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोऽपि कस्यचिद् भवितुमर्हति।

भाषार्थ—जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं, वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि 'असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता। जो सत् है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है, और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती।' इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है। क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है, उसकी डाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा, यह उसकी बात असम्भव है, क्योंकि जो उसका पुत्र होता तो वह वन्ध्या ही क्यों होती, और जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं ? वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है। और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता, और वह जगत् को भी कैसे रच सकता ? जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या, जो यथार्थ ज्ञान है, सो कभी नहीं होता, क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है। इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है।

इसमें और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और ज्ञान होता है, उसी का दृष्टान्त देते हैं—देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। जो संस्कृत

भाषा को पढ़ता है उसके मन में उसी का संस्कार होता है, अन्य भाषा का नहीं, और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उसको देशभाषा का संस्कार होता है, अन्य का नहीं। इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन पढ़के और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज-पर्यन्त होता चला आया है, अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

किं च भोः! मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुख-दुःखानुभवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्वराद्वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति?

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एतद्वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्, तत्रैष निर्णयः—यथा नेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति, तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन विना कस्यापि विद्या ज्ञानोन्नतिर्भवेत्, अशिक्षितबालकवनस्थवत्। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषाविज्ञाने अपि भवतः, पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा? तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्त्वात्।

यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य नित्यत्वात्। नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात्। यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति। नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भवितुमर्हति। उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद् भवति, तेषामुत्पन्नानां कार्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात्। अदर्शनं च विनाशः। ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति। अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

'सदकारणवन्नित्यम्॥ १॥ वैशेषिके अ० ४। आ० सू० १॥

अस्यायमर्थः—यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति, तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात्। यत्तु कस्यापि कार्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपेण तिष्ठति, तन्नित्यं कथ्यते।

यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति। कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योऽन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत्। एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः। यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं, नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात्। यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति, स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोऽग्निवत्। यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात्तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च। तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्त्तुमर्हति, न चान्यथा। यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति, तथेश्वरेऽपि भवेत्।

अन्यच्च—यतः संयोगवियोगारम्भो भवति स तस्मात् पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारम्भस्यादिकारणत्वात्। आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च। एवं भूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात्सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम्।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

भाषार्थ—प्रश्न—मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है, उसमें सुख और दुःख का अनुभव भी होता है, उससे उत्तर-उत्तर काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे, फिर ईश्वर ने वेद रचे, ऐसा क्यों मानना?

उत्तर—इसका समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है। वहां यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता और इस के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। इसमें अशिक्षित बालक और वनवासियों का दृष्टान्त दिया था, कि जैसे उस बालक और वन में रहनेवाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता, तथा अच्छे प्रकार उपदेश के विना उनको लोक व्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता, फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। इससे

क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है, क्योंकि उसके सभी गुण सत्य हैं। इससे उसकी विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है।

जो नित्य वस्तु है उसके नाम, गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं, क्योंकि उनका आधार नित्य है। और विना आधार से नाम, गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते, क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं। जो अनित्य वस्तु है, उसके नाम गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं। सो नित्य किसको कहना? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है। तथा उत्पत्ति क्या कहाती है? कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना। और जब वे पृथक्-पृथक् होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उनकी परमाणुरूप अवस्था होती है, उसको विनाश कहते हैं। और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं। फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है, तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते, इसका नाम नाश है। क्योंकि अदर्शन को ही 'नाश' कहते हैं। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है, उसी को कार्य और अनित्य कहते हैं। और जो संयोग वियोग से अलग है उसकी न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है, क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको 'नित्य' कहते हैं। इसमें कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—

(सदकार०) जो किसी का कार्य है कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है उसको अनित्य कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा होके वह नष्ट भी हो जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य के कारण से सब जगत् उत्पन्न होके विद्यमान होता है, फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो, उसको 'नित्य' कहते हैं।

क्योंकि जो-जो संयोग से उत्पन्न होता है सो-सो बनानेवाले की अपेक्षा अवश्य रखता है। जैसे कर्म, नियम और कार्य ये सब कर्त्ता, नियन्ता और कारण को ही सदा जनाते हैं। और जो कोई ऐसा कहे कर्त्ता

को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ता के कर्त्ता को किसने बनाया है? इसी प्रकार यह अनवस्था प्रसंग अर्थात् मर्यादा रहित होता है। जिसकी मर्यादा नहीं है, वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सब अवयवों में व्याप्त होता है, और जैसे जल पृथ्वी में प्रविष्ट होके उसके कणों के संयोग से पिंड करने में हेतु होता है तथा उसका छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक् सबमें व्यापक, प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है, इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उनसे स्थूल होता तो उनका ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थों के नियम करने में समर्थ नहीं होते। जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है, वह उसके संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता।

तथा जिस वस्तु से संयोग और वियोग का आरम्भ होता है वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग ही होता है, क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का कर्त्ता और आदिकारण होता है, तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप, अज, अनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्तविद्यावाला ईश्वर है, उसकी विद्या से वेदों के प्रकट होने और उसके ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः॥

अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः ? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। अत्र प्रमाणानि—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।

कठोपनि० वल्ली २ मं० १५॥

तस्य वाचकः प्रणवः॥ योगशास्त्रे अ० १। पा० १। सू० २७॥

ओ३म् खं ब्रह्म॥ यजु० अ० ४०॥

ओमिति ब्रह्म॥ तैत्तिरीयारण्यके। प्र० ७। अनु० ८॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ १॥

यत्तदद्रृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ २॥

मुण्ड १। खण्डके १। मं० ५-६॥

एषामर्थः—(सर्वे वेदाः०) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवौङ्कारवाच्यमस्ति। (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओङ्कारो वाचकोऽस्ति वाच्यश्चेश्वरः। (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति मुख्यतया प्रतिपादयन्ति, (तपांसि०) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति, (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं, ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति। यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च। हे नचिकेतः! अहं यमो

यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि॥ १॥

(तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारणग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ—अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन-कौन विषय किस-किस प्रकार के हैं, इसका विचार किया जाता है। वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें ये चार मुख्य हैं—(१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा कर्म, (३) तीसरा उपासना और (४) चौथा ज्ञान है। 'विज्ञान' उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना, इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना, अर्थात् ईश्वर ने कौन-कौन पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है।

इसमें आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं—(सर्वे वेदा०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त, सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम (ओं) आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इसमें योगसूत्र का भी प्रमाण है—(तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है। (ओं खं०) तथा (ओमिति०) ओम् और खम् ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं। और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं, तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान, जिनको तप कहते हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं वे भी

पमरेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेतः! जो अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूँ। और यहाँ यह भी जानना उचित है कि अलङ्काररूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिये।

(तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं—अपरा, दूसरी परा। इनमें से **अपरा** यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है और दूसरी **परा** कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

अन्यच्च—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ १॥ ऋग्वेदे अष्टके १। अध्याये २। वर्गे ७। मन्त्रः ५॥

अस्यायमर्थः—यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं (पदं) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं तत् (सूरयः) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत्? (आततम्) आसमन्तात्ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्त्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति।

एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोऽप्याह—

'तत्तु समन्वयात्॥' अ०१। पा० १। सू० ४॥

अस्यायमर्थः—तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित्साक्षात् क्वचित् परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्—

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ ३६॥ य० अ० ८। सं० ३६॥

एतस्यार्थः—(यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात् (य आविवेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवानस्ति (सꣳरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (त्रीणि ज्योतीꣳषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति (सः) अतः स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥

इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति॥

अस्यायमर्थः—ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्। यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्। किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति। 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्यय' इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात्। एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति। अतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्तव्यमिति।

भाषार्थ—और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०) विष्णु अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका (परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं। वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है और उसमें देश काल और वस्तु

का भेद नहीं है, अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं, तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है, और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिए चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।

इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—**तत्तु समन्वयात्।** सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं-कहीं साक्षात्‌रूप और कहीं-कहीं परम्परा से। इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।

तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि—(यस्मान्न जा०)। जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है (य आविवेश भु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है (प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है, जिसने (त्रीणि ज्योतींꣳषि) अग्नि, सूर्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये (सचते) रचके संयुक्त किया है, और जिसका नाम (षोडशी) है अर्थात् (१) ईक्षण जो यथार्थ विचार, (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करने वाला, (३) श्रद्धा=सत्य में विश्वास, (४) आकाश, (५) वायु, (६) अग्नि, (७) जल, (८) पृथिवी, (९) इन्द्रिय, (१०) मन अर्थात् ज्ञान, (११) अन्न, (१२) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम, (१३) तप अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार, (१४) मन्त्र अर्थात् वेदविद्या, (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा, (१६) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहलाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं, इससे उसको षोडशी कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है।

इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है। और इन दोनों में से प्रधान का ही

ग्रहण होता है। इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही की प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः ? बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परं तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः—एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते।

स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते। अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्। यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति। अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात्।

स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते, स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्येव भवति। यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति।

भाषार्थ—उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है, सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है। वह अनेक प्रकार का है, परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं—एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार। अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है। प्रथम जो परम पुरुषार्थरूप कहा उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्तन उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी, (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी

सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना। सो उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिए। तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है। 'न्यायाचरण' उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना। इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है। और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करनेवाले साधनों की प्राप्ति होती है।

सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दु:खों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना, यही निष्काम मार्ग कहाता है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती। इसी कारण से इसका फल अक्षय है। और जिसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं, उसको सकाम कहते हैं; इस हेतु से इसका फल नाशवान् होता है, क्योंकि सकाम कर्म करके=इन्द्रिय भोगों को प्राप्त होके जन्म मरण से नहीं छूट सकता।

अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है—एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं, और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इससे सब जगत् को सुख होता है। और जिसको भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं, वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है।

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्—

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्॥

अ० ४। पा० ३। सू० १॥

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्॥

अ० ४। पा० ३। सू० ८॥

अनयोरर्थः—द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन् सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति, तेन पुष्टि[दो] रुचिकरश्च भवति, तथैव यज्ञाद्यो वाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अतश्चोक्तम्—

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति॥

ऐ०ब्रा०पं० १। अ० २॥

जनानां समूहो जनता, तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः? तस्य परार्थत्वात्। यज्ञः परोपकारायैव भवति। अत एव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति। तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति।

भाषार्थ—इसमें पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है—(द्रव्य०) एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार, और तीसरा उनका यथावत् उपयोग करना, ये तीनों बातें यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करनी चाहिये। सो पूर्वोक्त सुगन्धियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उनमें छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ानेवाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है, इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है।

इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—(यज्ञोऽपि त०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है, उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है, और संस्कार किये द्रव्यों का होम करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार

करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा। इसलिये यज्ञ का अर्थवाद[१] यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है। परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करनेवाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये। सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्ता को, अन्यथा नहीं।

अत्र प्रमाणम्—

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति॥ श० कां ५, अ० ३ [ब्रा० ५, कं० १७]॥

अस्यायमभिप्रायः—अग्नेः सकाशाद् धूमवाष्पौ जायेते। यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान्प्रविश्य तान्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति, पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्याकाशं गच्छन्ति। तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति। यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोऽस्ति। अत एवोभयभागयुक्तो धूम इत्युपचर्यते। पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति। तस्मादभ्रं घना जायन्ते। तेभ्यो वायुजलेभ्यो वृष्टिर्जायते। अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्याच्छरीराणि भवन्तीति।

भाषार्थ—इसमें शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि—(अग्ने०) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धूंआ और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न-भिन्न कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं, उनमें जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है, और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिलके बादल होके उनसे वृष्टि, वृष्टि से औषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है।

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम्—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः,

१. इस शब्द का अर्थ आगे वेद संज्ञा प्रकरण में लिखा जायेगा। [दयानन्द सरस्वती]

वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ आनन्दवल्ल्यां प्रथमेऽनुवाके॥

स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥ भृगुवल्ल्यां द्वितीयेऽनुवाके॥

अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते, जीवनस्य बृहद्धेतुवात्। शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोऽन्यथेति।

भाषार्थ—इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि—(तस्माद्वा०) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं और उनमें ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं। यहाँ ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है, क्योंकि जिसका जो कार्य है वह उसी में मिलता है। वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं, और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है, इससे अन्न को ब्रह्म कहते हैं। जब होम से वायु, जल और औषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सबको दुःख होता है। इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च। ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च। स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति। तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्। तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति। तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्यपराक्रमधैर्यशौर्यादयोऽपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते। कुतः? यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्यं भवतीति दर्शनात्। अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति। कुतः? दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात्। यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति, यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति, तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति, तामपि य उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भषति।

भाषार्थ—सो उनकी शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है—एक

तो ईश्वर का किया हुआ, और दूसरा जीव का। उनमें से ईश्वर का किया यह है कि उसने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध का निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि, अन्न, वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुण वाले हो जाते हैं और उनके योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं, क्योंकि जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि से जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है, मिथ्या भाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है, वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है, इसको जो नहीं करता, वह भी पापी होके दुःख का भागी होता है।

कुतः ? सर्वोपकाराकरणात्। यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गंधसमुदायो जायते न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति। कुतः ? तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात्। यत्तु खलु मनुष्या स्वसुखाय हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते। एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति।

भाषार्थ—क्योंकि सबके उपकार करनेवाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहाँ जितने मनुष्य आदि के समुदाय होते हैं, वहाँ उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि हस्ती आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है। इससे क्या आया कि जब वायु और

वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है, तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है।

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति। मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते। परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणु-संयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात्। अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये। अस्मात्-कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव।

भाषार्थ—क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उनमें से मनुष्य ही उत्तम हैं, इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिसके होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उन्नति होती है। इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सबके उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किं च भोः! कस्तूर्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात् कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति। किन्त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते, पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ?

अत्रोच्यते—नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति। विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते। परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ?, अष्टविधं चेति। किं च तत् ? अत्राहुर्गोतमाचार्या न्यायशास्त्रे—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्य-वसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ १ ॥

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च॥ २ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्॥ ३ ॥

आप्तोपदेशः शब्दः॥ ४॥ अ० १। आह्निकम् १। सू० ४-७॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं मया मन्यत इति। तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम्। सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योऽयं नान्य इत्याद्युदाहरणम्॥ १॥

यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम्। पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम्॥ २॥

उपमानं सादृश्यज्ञानम्। यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोऽप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशतीत्याद्युदाहरणम्॥ ३॥

शब्द्यते प्रत्यायते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः। ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम्॥ ४॥

भाषार्थ०—प्रश्न—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने से उनका नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे उत्तम-उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है, फिर यज्ञ करना किसलिये चाहिये?

उत्तर—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता, केवल वियोग मात्र होता है। परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं?

उत्तर—जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े, उसको हम विनाश कहते हैं।

प्रश्न—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं?

उत्तर—आठ प्रकार का।

प्रश्न—कौन-कौन से?

उत्तर—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं।

(इन्द्रियार्थ०) इनमें से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो। जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और, फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं, इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं॥ १॥

(अथ तत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ

का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है। जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता-पिता आदि हैं, वा अवश्य थे, इत्यादि उसके उदाहरण हैं॥ २॥

(प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिससे किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्म वाले का ज्ञान हो। जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है, उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उसके पास जाके इस काम को कर लो। इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है, उसको उपमान कहते हैं॥ ३॥

(आप्तोप०) चौथा शब्द प्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है। जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है, यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है॥ ४॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्॥ ५॥

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः॥ ६॥ अ० २। आ० २। सू० १,२॥

न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोऽर्थः क्रियते—

(ऐतिह्यम्) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम्।

देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादि॥ ५॥

(अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः। केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति। किमत्र प्रसज्यते? असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम्॥ ६॥

(सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः। केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते सम्भवोऽस्तीति वाच्यम्। परन्तु कश्चिद् ब्रूयात्कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते, इत्याद्युदाहरणम्॥ ७॥

(अभावः) कोऽपि ब्रूयाद् घटमानयेति, स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते॥ ८॥ [५-६]

इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोऽर्थः। एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते। सत्यमेवमेतत्। नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम्।

भाषार्थ—(ऐतिह्यम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है। जैसा 'देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे' जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्यग्रन्थों में लिखा है, उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। यह पांचवां प्रमाण है॥ ५॥

और छठा (अर्थापत्तिः) जो एक बात किसी ने कही हो उससे विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे। जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है, दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार के प्रमाणों से जो ज्ञान होता है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं॥ ६॥

सातवां (संभवः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है, तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो सम्भव है। परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उसकी नाक १६ कोस पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी, उसकी यह बात मिथ्या समझी जाएगी, क्योंकि ऐसी बात का संभव नहीं हो सकता॥ ७॥

और आठवां (अभावः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ और जब उसने वहाँ नहीं पाया, तब वह जहाँ पर घड़ा था वहाँ से ले आया॥ ८॥

इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूँ। यहाँ इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है[१]—

यह बात सत्य है कि इनके विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता। इससे इन आठों को हम लोग भी मानते हैं।

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशे प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते। चक्षुषा दर्शनाभावात्। 'णश अदर्शने' अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति। अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति। किंच यदा परमाणवः पृथक्-पृथक् भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं

१. कहीं कहीं शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति संभव और अभाव को मानने से (४) चार प्रमाण रहते हैं। [दयानन्द सरस्वती]

दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्। यद्द्रव्यं विभक्तं विभक्तमन्ते विभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः। ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव।

भाषार्थ—नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे, फिर जैसे वे छोटे-छोटे कण आंख से नहीं दीखते। क्योंकि (णश) धातु का अदर्शन ही अर्थ है। जब अणु अलग-अलग हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है। और जब परमाणु के संयोग से द्रव्य स्थूल अर्थात् बड़ा होता है, तब वह देखने में आता है। और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके। परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है। जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है, उसका भी टुकड़ा हो सकता है। यहाँ तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा।

तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव। न हि तस्याभावः कदाचित् भवति। एवं यद् दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादिद्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति। तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान् ह्युपकारो भवति सुखं च। अतःकारणाद् यज्ञः कर्त्तव्य एवेति।

किं च भोः! वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत्सेत्स्यति, पुनः किमर्थ-मेतावानाडम्बरः ?

नैवं शक्यम्। नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात्। तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात्। तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति।

भाषार्थ—वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग होके आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करनेवाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है।

इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये।

प्रश्न—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करना मात्र ही प्रयोजन है, तो इसकी सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना?

उत्तर—यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिलके रहता है, उसको छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता, और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उसमें हलकापन नहीं होता। उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते, तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्याकाशं गच्छति। तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति। तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते।

भाषार्थ—और जब अग्नि उस वायु को वहाँ से हलका करके निकाल देता है, तब वहाँ शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है। इसी कारण से यह फल यज्ञ से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के, उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके, रोगों का नाश करनेवाला होता, और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त कराता है।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्ट्याधिक्यमपि करोति। तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते। एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति। तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम्।

भाषार्थ—जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता और उससे वृष्टि भी अधिक होती है, क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति

अधिक-अधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इससे होम का करना अवश्य है।

अन्यच्च दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते, तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव। अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति। तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति, पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति। परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तैर्न विज्ञायते। अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति।

भाषार्थ—और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहाँ सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है, और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त सूक्ष्म होके आता-जाता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है, तब उसके नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उसको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इनसे अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं, उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे।

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति, तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति, पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते?

अत्र ब्रूमः—एतस्यान्यदेव फलमस्ति। किम्? यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचा स्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च। अन्यच्च, सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः। यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम्।

भाषार्थ—प्रश्न—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम

से ही सिद्ध होता है फिर वहाँ वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है?

उत्तर—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है।

प्रश्न—वह क्या है?

उत्तर—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं। क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है। तथा होम से जो-जो फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं, और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है। वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

कश्चिदत्राह—वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति?

अत्रोच्यते—नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति। कुतः? ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद् बहिरिति च।

अत्रार्थे मनुराह—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥

अ० १। श्लो० ३॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥ २॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥ ३॥

अ० १२ श्लो० ६७, ९९॥

भाषार्थ—प्रश्न—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करें तो क्या दोष है?

उत्तर—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर

के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं। और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है, उसका भी वचन सत्य ही होता है। और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक नहीं हो सकता। इससे यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहाँ-वहाँ वेदों में से ही फैला है, और जो-जो मिथ्या है सो-सो वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है। क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि—

(त्वमे०) मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है, उसके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं॥ १॥

(चातु०) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं॥ २॥ क्योंकि—

(बिभर्ति०) यह जो सनातन वेदशास्त्र है, सो सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये। क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है॥ ३॥

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः प्रणीतादीनि पात्राणि कुशतृणं यज्ञशाला ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति?

अत्र ब्रूमः—यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं नेतरत्। तद्यथा—भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति। तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोण-गोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यते। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते। एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव। परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति यदुच्यते, तत्र पापनिमित्ताभावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति। किन्तु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तत्तदेव ग्राह्यम्। कुतः?

तैर्विना तदसिद्धेः।

भाषार्थ—प्रश्न—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन,प्रणीता, प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना, यह सब करना ही चाहिये?

उत्तर—करना तो चाहिये, परन्तु जो युक्ति सिद्ध हैं, सो सो ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बना के उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न-भिन्न परमाणुरूप हो के वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर-उधर बिखरने से रोकने के लिय वेदि अवश्य रचनी चाहिये। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणितविद्या भी जानी जाती है कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो। तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है उससे गणितविद्या भी समझी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो, तो उसमें इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी, इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन हैं। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रखे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं। और कुश इसलिए रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो, और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावें। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिससे अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे, और वेदि में कोई पक्षी किंवा उनकी बीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये। इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहिये। परन्तु इस प्रकार से प्राणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है, इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है। किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य अच्छा बने, वही करना आवश्यक है, अन्य नहीं।

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते?

याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा

देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥

यजु:० अ० १४। मं० २०॥

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम्। गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते। तेषां कर्मकाण्डादि-विधेर्द्योतकत्वात्। यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते। एवमेव वातः सूर्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते। तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च।

भाषार्थ—प्रश्न—यज्ञ में देवता शब्द से किसका ग्रहण होता है?

उत्तर—जो-जो वेद में कहे हैं, उन्हीं का ग्रहण होता है, इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि—(अग्निर्देव०) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं। और इन वेदमन्त्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है। इसमें यह कारण है कि जिन-जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का और उन-उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है। मन्त्रों का देवता नाम इसलिए है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है।

अत्राह यास्काचार्यो निरुक्ते—

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे॥ निरु० अ० १ खं० १॥

अथातो दैवतम्। तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च॥

नि० अ० ७। खं० १॥

अस्यार्थः—(कर्म सं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च सम्पत्तिः सम्पन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते। तथा च कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यः।

अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते, यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां

क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते। यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति। तद्यथा—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुपब्रुवे।
देवाँ२ ॥ऽआ सादयादिह॥ यजु:० अ० २२। मं० १७॥

अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति। अत: किं विज्ञेयं, यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छब्दोऽस्ति तदेव दैवतमिति बोध्यम्। सा- एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता, आगामिनी चास्ति। अत्रोच्यते—

ऋषिरीश्वर: सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्काम:, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति। किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते। देवताभिधा ऋचो याभिर्विद्वांस: सर्वा: सत्यविद्या: स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति, ऋच स्तुताविति धात्वर्थयोगात्। ता: श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारका: सन्ति—परोक्षकृता: प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति। यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोऽस्ति ता: परोक्षकृता:। यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ता: प्रत्यक्षकृता ऋचो देवता:। आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति। एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्था: सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ—(कर्म सं०) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती, और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्यन्त सुख मिलता है, इसी हेतु से उनका नाम **देवता** है।

(अथातो०) दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो-जो संज्ञा जिन-जिन मन्त्रों में जिस-जिस अर्थ की होती है उन-उन मन्त्रों का नाम वही देवता है। जैसे 'अग्निं दूतं' इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहाँ इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये। ऐसे ही जहाँ-जहाँ मन्त्रों में जिस-जिस शब्द का लेख है, वहाँ-वहाँ उस-उस मन्त्र को ही देवता समझना होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना

चाहिये। सो देवता शब्द से जिस-जिस गुण से जो-जो अर्थ लिये जाते हैं, सो-सो निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है।

इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस-जिस अर्थ को जिस-जिस नाम से वेदों में उपदेश किया है, उस-उस नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है। सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं। उनमें से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के, और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य कारण के प्रतिपादन करनेवाले हैं। इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं, उनके विधान करनेवाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण से इनका नाम देवता है।

तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवत: स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका:, नाराशंसा इति नैरुक्ता: अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा, अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं याज्ञदैवतो मन्त्र इति॥ निरु० अ० ७।

(तद्येऽनादि०) तत्तस्माद्ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थाद् विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते, तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते—यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्या: परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैव विकल्पोऽस्ति—नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति। तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं कर्म, मातृदेवत्यं, विद्वद्देवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चैतेऽपि पूज्या: सत्कर्त्तव्या: सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद् याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते।

भाषार्थ—जिन-जिन मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहाँ-जहाँ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता, वहाँ-वहाँ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है। (अग्निमीळे०) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्यन्त जगत् का रचनरूप तथा

शिल्पविद्या, और तीसरा सत्संग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें। तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है, वे भी उन यज्ञों के देवता हैं। और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं उनका प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है। तथा जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं, उनके मनुष्य देवता हैं। इसमें बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य देव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

अत्र परिगणनम्। गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन् प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।

भाषार्थ—जो-जो गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उनके अंग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य ये अपने दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है।

अन्यच्च—

देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा॥

निरु० अ० ७। खं० १५॥

मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्॥ निरु० अ० ७। खं० ११॥

अस्यार्थः—(देवो दानात्) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति (दीपनात्) दीपनं प्रकाशनम्, द्योतनमुपदेशादिकं च। अत्र दानशब्देनेश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति। दीपनात्सूर्यादयो द्योतनान्मातृपित्राचार्यातिथयश्च। तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः। प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेयम्। अत्र प्रमाणम्—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽय-मग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

कठ० वल्ली ५। मं० १५॥

तत्र नैव परमेश्वरे सूर्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति। किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनु पश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति। नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशोऽस्तीति। अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्।

भाषार्थ—(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना। दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को, इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रखे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देनेवाले होने से देव कहाते हैं। (दीपन) अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम भी देव है। तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथि भी पालन, विद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं। वैसे ही सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं। इसमें कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि—

सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सबका प्रकाश करनेवाला एक वही है क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है। इसमें यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करनेवाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है।

नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्॥ य० अ० ४०। मं० ४॥

अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः। यो देवः सा देवता, 'देवात्तल्' इत्यनेन सूत्रेण स्वार्थे 'तल्' विधानात्। स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति। यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते। तद्यथा अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोऽपि न त्रुट्यतीत्यादि गुणकथनमतो विपरीतोऽसिर्नैव तत् कर्त्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया।

भाषार्थ—(नैनद्देवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है। जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन, ये छः देव कहाते

हैं। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है। और देव शब्द से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है। जो-जो गुण जिस-जिस पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं, उन-उन गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्य सृष्टि के गुण दोषों का भी लेख आदि करना इसको 'स्तुति' कहते हैं। क्योंकि जितना-जितना जिस-जिसमें गुण है उतना-उतना उसमें देवपन है। इससे वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इसकी धार बहुत तेज है, और यह धनुष् के समान नमाने से भी नहीं टूटती, इत्यादि तलवार के गुण कथन को स्तुति कहते हैं।

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम्। परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति। उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति। कस्मात्? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते। यश्च तस्य सकामो भागोऽस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते। अतः कारणाद्भेदो भवति। परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोऽस्ति।

भाषार्थ—इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना। इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सबका इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है। क्योंकि गुण वे कहाते हैं, जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता, क्योंकि कार्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

अत्र प्रमाणम्—

माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्येदेवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥

निरु० अ० ७। खं० ४॥

(माहाभाग्याद्देव०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति। कुतः? आत्मनो माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात्। न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः? सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्र

व्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च, ते सर्व एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देशे प्रकाशिताः सन्ति। ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति। अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वा गमनहेतवः। स आयुधं विजयावहमिषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति। तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति। अर्थात्सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मङ्गलकारी वर्त्तते। नातः परं किञ्चिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्।

भाषार्थ—इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया गया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका जन्म, कर्म से और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। और इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्वा अर्थात् शीघ्र सुख-प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्टगुणों का छेदन करनेवाला शस्त्र है, सो एक परमेश्वर ही है। क्योंकि परमेश्वर ने जिस-जिसमें जितना-जितना दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है, अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सबका उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

अत्रान्यदपि प्रमाणम्—

ये त्रि॒ंशति॒ त्रय॑स्प॒रो दे॒वासो॑ ब॒र्हिरास॑दन्। वि॒दन्नह॑ द्वि॒तास॑नन्॥ १॥

ऋ० अ० ६। अ० २। व० ३५। मं० १॥

त्रय॑स्त्रिꣳशतास्तुवत भू॒तान्य॑शाम्यन् प्र॒जाप॑तिः पर॒मे॒ष्ठ्यधि॑पतिरासीत्॥ २॥

य० अ० १४ मं० ३१॥

यस्य॒ त्रय॑स्त्रिंशद्दे॒वा नि॒धिं रक्ष॑न्ति सर्व॒दा।
नि॒धिं तम॒द्य को वे॑द॒ यं दे॑वा अ॒भिरक्ष॑थ॥ ३॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ ४॥

अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २३, २७॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंꣳशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंꣳशाविति॥ ५॥

कतमे वसव इति? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ६॥

कतमे रुद्रा इति? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति॥ ७॥

कतम आदित्या इति? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः। एते हीदꣳसर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदꣳसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥ ८॥

कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति। कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। कतमो यज्ञ इति? पशव इति॥ ९॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति। कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति। कतमोऽध्यर्ध इति? योऽयं पवत इति॥ १०॥

तदाहुः। यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति? यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति। कतम एको देव इति? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते॥ ११॥ श० कां० १४। अ० ६॥

अथैषामर्थः—वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम्। शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः। त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति। अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः। इन्द्रः प्रजापतिश्चेति।

तत्र (वसवः)—अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च—एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति। आदित्यः सूर्यलोकस्तस्य प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा।

अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव। कुत एते वसव इति यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति। किंच सर्वेषां वासाधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति। हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात्कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम्।

(एकादश रुद्राः)—ये पुरुषेऽस्मिन्देहे प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च। इमे दश प्राणाः, एकादशम आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति। कुत एते रुद्रा इत्यत्राह—यदा यस्मिन्कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति। यतो जना रुदन्ति, तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

(द्वादशादित्याः) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा आदित्या विज्ञेयाः। कुतः? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्थादासमन्ताद् गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति।

इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात्स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति। प्रजापतिर्यज्ञः पशव इति। प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति। एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति। देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम्।

त्रयो लोकास्त्रयो देवाः, के त इत्यत्राह निरुक्तकारः—

धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानीति।

निरु० अ० ९। खं० २८॥

त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः॥ श० कां० १४। अ० ४॥

एतेऽपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः। द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति। अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देवः। किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह—

नैव,किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्त्तृ सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं सर्वाधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणमनादिसच्चिदानन्दस्वरूपमजं न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो

वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्। ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। अस्माद्भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः।

अत्र प्रमाणम्—

आत्मेत्येवोपासीत स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति। योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्॥

श० कां० १४। अ० ४॥

अनेनार्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्य्या ह्यासन्निति।

भाषार्थ—अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं, जैसा ब्राह्मणग्रन्थों में वेदमन्त्रों का व्याख्यान लिखा है। (त्रयस्त्रिंशत्०) अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं, (८) आठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति।

उनमें से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र। इनका वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं।

(११) ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं—जो शरीर में दश प्राण हैं, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा है। क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उसके सब सम्बन्धी लोग रोते हैं। वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे इनका नाम रुद्र है।

इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इनका नाम आदित्य है।

ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है। तथा पशुओं की

यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है। ये सब मिलके अपने दिव्यगुणों से तेंतीस देव कहाते हैं। और तीन देव—स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव—अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सबका धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है, उसको अध्यर्धदेव कहते हैं।

प्रश्न—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं?

उत्तर—इनमें से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं, और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है—(स ब्रह्म०) जो सब जगत् का कर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सबका इष्ट, सबको उपासना के योग्य, सबका धारण करनेवाला, सबमें व्यापक और सबका कारण है, जिसका आदि अन्त नहीं, और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता, और जो कभी अन्याय नहीं करता, इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है, उसी को इष्टदेव मानना चाहिये और जो कोई इससे भिन्न को इष्ट देव मानता है, उसको अनार्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये। क्योंकि—

(आत्मेत्ये०) इसमें आर्यों का इतिहास शतपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सबका आत्मा है, सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है। इसमें जो कोई कहे कि परमेश्वर को छोड़ के दूसरे में भी ईश्वरबुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चहिए तो उससे कहे कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा, क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है। जो दूसरे में ईश्वरबुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

अतः फलितार्थोऽयं जातः। देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते सङ्गता भवन्तीति। तद्यथा—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहारः, द्युतिः, स्तुतिः, मोदः, मदः, स्वप्नः, कान्तिः, गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति। स च स्वयंप्रकाशोऽस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा। दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा। व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः। स्वप्नो निद्रा। मदो ग्लेपनं दीनता, एते मुख्यतया

लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वत्रानुषङ्गितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं स्थापनं च, मोदो हर्षः प्रसन्नता, कान्तिः शोभा, गतिर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्सङ्गच्छन्ते। अतोऽन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते।

भाषार्थ—इससे यह सिद्ध हुआ कि 'दिवु' धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं, क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इनमें इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही सबका पूज्यदेव है। और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि—एक क्रीड़ा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पाँचवां मद। ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में घटते हैं, क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इसमें भी सर्वथा नहीं होता, क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं। क्योंकि भिन्न अर्थों में जितने-जितने जिन जिनमें गुण हैं उतना-उतना ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं, इससे पूज्यदेव एक वही है।

अत्र केचिदाहुः—वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद्वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते?

अत्रोच्यते—मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान् नेत्रेण सूर्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति। तथा पूजनं पूजा सत्कारः प्रियाचरणमनुकूलाचरणं चेत्यादयः

पर्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोऽपि सर्वैर्जनैः क्रियत एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति तावद्देवतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित्क्षतिरस्ति। कुतः? वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

भाषार्थ—प्रश्न—इस विषय में कोई-कोई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें जड़ और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है।

उत्तर—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रखे हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रखा है तो उससे दीखता है, यह लोक व्यवहार है। इसमें कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है, जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है, वैसे ही पूजा-विषय में भी जानना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल काम करना है, इसी का नाम पूजा है सो सब मनुष्यों को करनी उचित है। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना-जितना अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है, उतना-उतना उन में देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहाँ-जहाँ उपासनाव्यवहार लिया जाता है, वहाँ-वहाँ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्।

अन्यच्च—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥ प्रपा० ७। अनु० ११॥

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि॥

प्रपा० ७। अनु० १॥

इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः। यथात्र मातापितरावाचार्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति। एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति।

भाषार्थ—इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है। एक मूर्त्तिमान्

और दूसरा अमूर्त्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्तिमान् हैं और पांचवां परब्रह्म अमूर्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है। इस प्रकार से पांच देव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनः-षष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौमन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्त इति। एवं सशरीर-निश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते। इत्थमेव मातृपित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च। परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगि-त्वेनैवोपास्योऽस्ति। नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्तिमान् देव हैं। और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्तिरहित देव हैं। तथा पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं।[१] इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये। इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में, तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है। परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य एक परमेश्वर ही देव है।

अत इदानीन्तनाः केचिदार्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिक-देवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकतरमस्ति। तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव एवं वदन्ति—पुरा ह्यार्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन्, पुनस्ताः सम्पूज्य सम्पूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं

१. इन्द्रियों की शक्तिरूपद्रव्य अमूर्तिमान् और गोलक मूर्तिमान् तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो-जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये। [दयानन्द सरस्वती]

विदुरिति, तदप्यसत्। तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादि-भिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात्।

भाषार्थ—प्रश्न—कितने ही आजकल के आर्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंग्रेज आदि लोग इसमें ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहले आर्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते-पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था।

उ०—यह उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त इन्द्र वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उनमें से थोड़े से यहाँ भी लिखते हैं—

अत्र प्रमाणानि—

(अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि 'इन्द्रं मित्रम्०' ऋग्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरि 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्' इत्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्। तथा 'तदेवाग्निस्तदादित्य०' इति यजुर्मन्त्रश्च।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥ १॥

ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥ ३॥
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ ४॥
परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ ५॥

य० अ० ३२। मं० ९-११॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ६॥

य० अ० ३१। मं० १८॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ७॥

य० अ० ४०। मं० ५॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमित्यादि च। [यजुः ४०.८]

यऽइमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः। सऽआशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२ ॥ऽआविवेश॥ ८॥

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत्। यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ ९॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देवऽएकः॥ १०॥

य० अ० १७। मं० १७-१९॥

इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति॥

तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११—

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥ ११॥
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥ १२॥

इत्यादयश्च।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १३॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ १४॥

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १७। मं० १, ७॥

इत्यन्ताः सप्त मन्त्रा ऋग्वेदे॥

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव॥ १५॥
यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता। यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १६॥

अथर्व० कां० १०। अनु० ४। मं० ८, १२॥

इत्यादयोऽथर्ववेदेऽपि बहवो मन्त्राः सन्ति।

एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषांचिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः केषांचिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ १॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ २॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ ३॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ ४॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ ५॥ इति कठवल्ल्युपनिषदि

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ ६॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥ ७॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम-व्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ ८॥ इति माण्डूक्योपनिषदि।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्। परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति॥ ९॥

इति तैत्तिरीयोपनिषदि

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्य-द्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि॥ इति छान्दोग्योपनिषदि

वेदोक्तेशानादिविशेषणप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्त-विशेषणप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति, स एवाऽऽर्यैः सृष्टिमारभ्या-द्यपर्यन्तं यथावद् विदित्वोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम्। एवं परब्रह्मविषय-प्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु यद्भट्टमोक्षमूलरैरुक्तमार्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत्पुनः क्रमाज्जातमिति न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः।

भाषार्थ—(इन्द्रं मित्रम्०) इसमें चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और '**अणोरणीयान्**' इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है, उसी की उपासना आर्य लोग सदा से करते आये हैं। इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है, उनका आगे वेदभाष्य में किया जायेगा। और कोई-कोई आर्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहने वाले अंगरेज कहते हैं कि प्राचीन आर्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे, यह उनका कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य लोग करते थे। इससे पूर्वोक्त शङ्का किसी प्रकार से नहीं आ सकती।

भाष्यम्—किंच 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पति०' एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति छन्दस इति शारमण्य-

देशोत्पन्नैर्भट्टमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं तन्न सङ्गच्छते। यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो द्वितीयो मन्त्रश्च तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणाजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं यथाह्यज्ञानिनो मुखादकस्मान्निस्सरेदीदृशं यद्वचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकादधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि—'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इत्यादीनि ज्ञातव्यानि।

तदिदमप्यन्यथास्ति। कुतः ? हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात्।

अत्र प्रमाणानि—

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳहिरण्यम्॥

श० कां० ६। अ०। ७॥

केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान्भवति। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा। केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ निरु० अ० १२। अ० २५ [२६]॥

यशो वै हिरण्यम्। ऐ० पं० ७। अ० ३॥

ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः॥ श० कां० १४। अ० ७॥

ज्योतिरिन्द्राग्नी॥ श० कां० १० अ० ४॥

एषामर्थः—ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं मोक्षो ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशका लोकाश्च, यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः।

अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद्वेदानामुत्तमत्वं सनातनत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च। अस्मात्कारणाद्यत्तैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगा-न्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनवत्वे किमपि प्रमाणं नोपलभामह इति तद् भ्रममूलमेव विज्ञेयम्। यच्चोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे 'अग्निः पूर्वेभि' रित्यादिकारणं तदपि तादृशमेव। कुतः ? ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन्कालान् जानाति। भूत-भविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षि-भिरहमेवेड्यो बभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्वेदमुक्तमित्यदोषः।

अन्यच्च ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः ये चाधीयते ते नवीनाः। तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यतश्च।

भाषार्थ—इसी विषय में डॉक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में लिखा है कि आर्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था, और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उनके नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इसमें एक तो 'हिरण्यगर्भ' शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है, और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं, एक छन्द और दूसरा मन्त्र है। उनमें से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है, और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती, और उसमें कथन इस प्रकार का है, जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो। उसकी उत्पत्ति में (३१००) इकतीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) उनतीस सौ वर्ष हुए हैं। उसमें (अग्निः पूर्वेभिः०) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है।

सो उनका यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०) और (अग्निःपूर्वेभिः०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है। तथा मालूम होता है कि उनको 'हिरण्यगर्भ' शब्द नवीन जान पड़ा होगा, इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा और प्रजा के प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह बात भी उनकी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि—ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिसके और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक जिसके गर्भ में हैं तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है, तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति=इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिसके सामर्थ्य में हैं, ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इससे उनका नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता। इससे डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन

होने के विषय में है सो सत्य नहीं है। और जो उन्होंने (अग्निः पूर्वेभि०) इसका प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है, सो भी अन्यथा है, क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं, वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें। तथा ऋषि नाम, मन्त्र, प्राण और तर्क का भी है, इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है। इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं।

भाष्यम्—अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम्—

तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति॥ नि० अ० १३। खं० १२॥

अस्यार्थः—(तत्प्रकृति०) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षर-समुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति। कोऽयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यती-त्यभ्यूहो बुद्ध्यावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः। नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक्-पृथक् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः। किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति। न यावद्वा पारोवर्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति।

अत्रेतिहासमाह—पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृ-षूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये

ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः। कथंभूतं तं तर्कम्? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्, मन्त्रार्थविज्ञानकारकम्। अतः किं सिद्धम्? यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादर्तव्यमिति। कुतः? तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति।

अतः पूर्वेभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्ति। नैवास्माद्भिन्नः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यः स्तोतव्य उपास्योऽस्तीति निश्चयः। एवमग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसङ्गतेर्नैव वेदेष्वर्वाचीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति।

भाषार्थ—इसमें विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उनके अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उनमें जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करनेवाले हैं। और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रखा है, क्योंकि उनके शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा—(तत्प्रकृतीत०) इत्यादि। वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदांगों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शास्त्रान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके संग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखें, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिये ऋषि है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी-अपनी देश-भाषाओं में व्याख्यान

करते हैं, वे ठीक-ठीक नहीं हैं, और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। 'तर्क' का नाम ऋषि होने से सब आर्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है, वही उपासना करने के योग्य है।

भाष्यम्—अन्यच्च—प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः॥

ऐ० पं० २। अ० ४॥

पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ—जगत् के कारण=प्रकृति में जो प्राण हैं, उनको प्राचीन, और उसके कार्य में जो प्राण हैं, उनको नवीन कहते हैं। इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्नि नामक पमरेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना है।

भाष्यम्—यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति, तदप्यसङ्गतम्। कुतः? छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्। तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति। वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामर्य्यादीनां च वाचकम्। क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि। अत्राहुर्यास्काचार्याः—

मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम सम्मितमृचा॥ निरु० अ० ७। खं० १२॥

अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः। तथा 'चन्देरादेश्च छः' इत्यौणादिकं सूत्रम्। 'चदि आह्लादने दीप्तौ च' त्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति। वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः।

छन्दाꣳसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम्॥

श० कां० ८। अ० २॥

एता वै देवताश्छन्दाꣳसि॥ श० कां० ८। अ० ३॥

अस्यायमभिप्रायः—'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' अस्माद् 'हलश्च' इति सूत्रेण 'घञ्-प्रत्यये' कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते। गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स मन्त्रो वेदः। तदवयवानामनेकार्थानामपि मंत्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात्। तथा 'मन ज्ञाने' अस्माद्धातोः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इत्युणादिसूत्रेण ष्ट्रन् प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते। मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन्वा स मन्त्रो वेदः। तदवयवा 'अग्निमीळे पुरोहित' मित्यादयो मन्त्राः गृह्यन्ते। यानि गायत्र्यादीनिच्छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद्देवताशब्देन गृह्यन्ते। अतश्च छन्दांस्येव देवाः। वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्यानिबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम्। येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति, तस्माच्छन्दांसि वेदा मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ।

एवं श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः इति मनुस्मृतौ।

इत्यपि निगमो भवति इति निरुक्ते।

श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्यायौ स्तः। श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः। तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

भाषार्थ—जैसे 'छन्द' और 'मन्त्र' ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही 'निगम' और 'श्रुति' भी वेदों के नाम हैं। भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है। वेदों का नाम 'छन्द' इसलिये रखा है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं तथा उनका 'मन्त्र' नाम इसलिये है कि उनसे सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है और 'श्रुति' इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्य विद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं। ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उसको 'निगम' कहते हैं। इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये।

भाष्यम्—तथा व्याकरणेऽपि—

मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृचकृगमिजनिभ्यो लेः॥ १॥

अष्टाध्याय्याम् अ० २। पा० ४। सू० ८०॥

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः॥ २॥ अ० ३। पा० ४। सू० ६॥

वा षपूर्वस्य निगमे॥ ३॥ अ० ६। पा० ४। सू० ६॥

अत्रापि च्छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते।

भाषार्थ—वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

इति वेदविषयविचारः॥

अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोऽयं वेदो नाम? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किञ्च 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति?

मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः? पुराणे-तिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायन-भिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति।

भाषार्थ—प्रश्न—वेद किनका नाम है?

उत्तर—मन्त्रसंहिताओं का। प्रश्न—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि 'मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद है,' फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं?

उत्तर—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है। और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती। और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिए है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल है।

भाष्यम्—यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मन्त्रभागे। किंच भोः!

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥

यजुः० अ० ३। मं० ६२॥

इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते। अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते, पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते?

मैवं भ्रमि। नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी

स्तः। अत्र प्रमाणम्—

चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षु-र्जमदग्निर्ऋषिः॥ श० कां० ८। अ० १।

कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः। श० कां० ७। अ० ५।

अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति। शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः।

अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा—हे जगदीश्वर! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च (त्र्यायुषम्) त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु। चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां, प्राणो मनआदीनां च। (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम्—

विद्वाꣳसो हि देवाः॥ श० कां० ३। अ० ७।

अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति देवेषु विद्वत्सु यावद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत्। येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि। अनेनान्यदप्युपदिश्यते। ब्रह्मचर्यादिसुनियमै-र्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते।

अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते। अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ—प्रश्न—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही (त्र्यायुषं जमदग्ने०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं। इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं। फिर ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो?

उत्तर—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि-'चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है।' इस कारण से यहां प्राण से अन्त:करण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिए अर्थात् जिन से जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं।

(त्र्यायुषं ज०) सो इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि-हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे। (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है, (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो। तथा (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी बनाई टीकाओं में वेदों में जहाँ-तहाँ इतिहास वर्णन किया है, वे सब मिथ्या हैं।

भाष्यम्—तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते।

किंच भोः! ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद् ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी' रित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते, एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति—

स बृहतीं दिशमनुव्य॑चलत्॥ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य॑चलन्॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ अथर्व० कां० १५। प्रपा० ३०। अनु० १। मं० ४॥

अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते?

मैवं वाचि। एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, न श्रीमद्-भागवतादीनामिति। कुतः? ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात्। तत्र-

देवासुराः संयत्ता आसन्।

इत्यादय इतिहासा ग्राह्याः।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥

छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६॥

आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्॥

इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १। खं० १।

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास॥ श० का० ११। अ० १॥

इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्॥

इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि।

कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः। तद्यथा—इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह। सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः॥

श० कां०। अ० ७।

इत्यादयो ग्राह्याः।

गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति।

नाराशंस्यश्च, अत्राहुर्यास्काचार्याः—

नराशंसो यज्ञ इति काथक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूर्णिर्नरैः प्रशस्यो भवति॥ निरु० अ० ८। खं० ६।

नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्या नातोऽन्या इति।

किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति। तद्यथा—ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति।

भाषार्थ—और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं।

प्रश्न—जहाँ-जहाँ ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में (यद्ब्राह्मण०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास, पुराणादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भागवत, महाभारतादि का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो?

उत्तर—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने-

अपने मत के अनुसार लोगों ने लिख रखी है। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इनका ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

जो ब्राह्मणग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् 'देव' विद्वान् और 'असुर' मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे, इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है।

(सदेव सो०) अर्थात् जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है।

(इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन है, उनका नाम 'कल्प' है।

इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम 'गाथा' है।

और जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं।

(ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में 'ब्राह्मणानि' संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो-जो जैसी-जैसी कथा लिखी हैं, उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

भाष्यम्—अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये—

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्॥ १ ॥ अ० २। आ० १। सू० ६०।

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—

प्रमाणं शब्दो यथा लोके, विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः।

अयमभिप्रायः—ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते—

सूत्रम्—विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्॥ २ ॥

अ० २। आ० २। सू० ६१॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—

त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि, विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति। तत्र—

सूत्रम्—विधिर्विधायकः॥ ३ ॥ अ० २। आ० २। सू० ६२॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—

यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि। ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः।

सूत्रम्—स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः॥ ४॥

अ० २। आ० २। सू० ६३॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्तिका च फलश्रवणात्प्रवर्त्तते सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येमवादि। अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थं निन्दितं न समाचरेदिति। स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमे [वै] तज्जीर्यते वा इत्येवमादि। अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्। तदु ह चरकाध्वर्य्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति। अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि। ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति। तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिः पवमानं साम स्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञं प्रतनवामहा इत्येवमादि। कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति। स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति।

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण हैं—जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों में भी हैं। उनमें से एक—विधिवाक्य है, जैसे—'**देवदत्तो ग्रामं गच्छेत्सुखार्थम्**' सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय, इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी है—'**अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः**' जिसको सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे। दूसरा—अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है। एक—**स्तुति** अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण करने में ही हो। दूसरी—**निन्दा** अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना, जिससे उनको कोई न करे। तीसरा—**परकृति** जैसे इस चोर ने बुरा काम किया, इससे उसको दण्ड मिला और

साहूकार ने अच्छा काम किया, इससे उसकी प्रतिष्ठा और उन्नति हुई। चौथा—**पुराकल्प** अर्थात् जो बात पहले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

भाष्यम्—सूत्रम्—विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः॥ ५॥

अ० २। आ० १। सू० ६४॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः।

सूत्रम्—न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात्॥ ६॥

अ० २। आ०२। सू० १॥

अस्योपरि वात्स्यानभाष्यम्—न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि, ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्।

अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति।

भाषार्थ—इसका तीसरा भाग अनुवाद है, अर्थात् जिसका पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है—शब्द का, और दूसरा—अर्थ का। जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है। विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है इसको अर्थानुवाद कहते हैं।

जिसकी प्रतिज्ञा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन को घटना हो। जैसे परमेश्वर नित्य है, यह प्रतिज्ञा है। विनाश रहित होने से, यह हेतु है। आकाश के समान है, इसको उदाहरण कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है, इसको उपनय कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को निगमन कहते हैं। जैसे—परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से, आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी।

इसमें समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी वार उच्चारण और विचार हो इसको अनुवाद कहते हैं। सो ब्राह्मणपुस्तकों में यथावत् लिखा है। इस हेतु से भी ब्राह्मणपुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक-ठीक लिखी हैं और भागवतादि को

इतिहासादि नहीं जानना चाहिये, क्योंकि उनमें मिथ्या कथा बहुत सी लिखी हैं।

भाष्यम्—अन्यच्च—ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः? 'इषे त्वोर्जे त्वेति' श० कां० १। अ० ७॥ **इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।**

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि (इषे त्वोर्जे त्वेति०) इस प्रकार से उनमें मन्त्रों की प्रतीक धर-धर के वेदों का व्याख्यान किया है और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मणग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती। इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं, वे ही वेद हैं, ब्राह्मणग्रन्थ नहीं।

भाष्यम्—अन्यच्च महाभाष्येऽपि—केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीळे पुरोतिम्। अग्न आ याहि वीतय इति॥

यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात्। अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि। किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते। कुतः? तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात्।

द्वितीया ब्राह्मणे॥ १॥ अ० २। पा० ३। सू० ६०॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥ २॥ अ० २। पा० ३। सू० ६२॥

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु॥ ३॥

अ० ४। पा० ३। सू० १०५। इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि॥

अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम्। तद्यथा—पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति। अत एवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति। यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। कुतः? 'द्वितीया ब्राह्मण' इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात्। अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति। अतः किं सिद्धम्? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति। अत्र प्रमाणम्—

ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳराजन्यः॥ श० कां० १३। अ० १।

समानार्थावेतौ [वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च] ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मण-शब्दश्च॥ इति व्याकरणमहाभाष्ये अ० ५। पा० १। आ० १॥

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि।

अन्यच्च—कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते। एवमपि न सम्यगस्ति। कुतः? एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्। अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति। इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम्।

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिसमें लोक और वेदों के भिन्न-भिन्न उदाहरण दिये हैं। जैसे—'गौरश्वः०' इत्यादि लोक के और 'शन्नो देवीरभिष्टय' इत्यादि वेदों के हैं। किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और 'गौरश्वः' इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं, वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं क्योंकि उनमें ऐसा ही पाठ है। इसी कारण से ब्राह्मणपुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है, सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो, तो भी नहीं बन सकता। क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'उस लकड़ी को भोजन करा दो, और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि इसमें अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म' नाम ब्राह्मण का है, सो ब्रह्मादि जो वेदों के जाननेवाले महर्षि लोग थे, उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं। इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।

भाष्यम्—किञ्च भोः! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहो-स्विन्नेति?

अत्र ब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति। कुतः? ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतःप्रमाणयोग्यान्येवेति।

भाषार्थ—प्रश्न—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं?

उत्तर—ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं[1]॥

इति वेदसंज्ञाविचारः॥

१. इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उसका प्रमाण करना किसी को न चाहिये, और ब्राह्मणग्रन्थों से विरोध आवे तो भी वेदों का प्रमाण होता है। [दयानन्द सरस्वती]

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति?

अत्रोच्यते। सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः। तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते—

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियंजि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥ १ ॥

ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५॥

तद्विष्णो॑ः पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रय॑ः।
दि॒वी॑व॒ चक्षु॒राத॑तम्॥ २ ॥ ऋ० अ० १। अ० २। व० ७। मं० ५॥

अनयोरर्थः—(तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता (जगतस्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी (धियंजिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्) रक्षकोऽप्यस्तु। एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु॥ १ ॥

तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः॥ २ ॥

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं?

उत्तर—सब हैं। क्योंकि जितनी सत्यविद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं। उनमें से पहले ब्रह्मविद्या संक्षेप से लिखते हैं—

(तमीशानं) जो सब जगत् का बनाने वाला है (जगतस्तस्थुषस्पतिं) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़ इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करनेवाला है (धियंजिन्वम्), जो मनुष्यों को बुद्धि

और आनन्द से तृप्ति करने वाला है, उसकी (अवसे हूमहे वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं (पूषा नः) क्योंकि वह हमको सब सुखों से पुष्ट करने वाला है (यथा वेदसामसद्वृधे) हे परमेश्वर! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसे ही (रक्षिता) सबकी रक्षा भी करें (पायुरदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक हैं, वैसे ही सब सुख भी दीजिये॥ १॥

(तद्विष्णोः०) इस मन्त्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहाँ देख लेना॥ २॥

प॒री॒त्य॑ भू॒तानि॑ प॒रीत्य॑ लो॒कान् प॒रीत्य॒ सर्वा॑ः प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च। उ॒प॒स्थाय॑ प्रथम॒जामृ॒तस्या॒त्मना॒त्मान॑म॒भि सं वि॑वेश॥

य० अ० ३२। मं० ११॥

भाष्यम्—(परीत्य भू०)) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोऽभिव्याप्य सूर्यादींल्लोकान् परीत्य पूर्वादिदिशः परीत्य आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वत इत्वा प्राप्य विदित्वा च (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा विदित्वा चाभि संविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति॥ ३ ॥

भाषार्थ—(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वा०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिसकी व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है (प्रथमजां) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करनेवाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है वही उसको प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्षसुख को भोगता है॥ ३॥

म॒हद्य॒क्षं भुव॑नस्य॒ मध्ये॒ तप॑सि क्रा॒न्तं स॑लि॒लस्य॑ पृ॒ष्ठे। तस्मि॑ञ्छ्रयन्ते॒ य उ॒ के च॑ दे॒वा वृ॒क्षस्य॒ स्कन्धः॑ प॒रित॑ इ॒व शाखा॑ः॥ ४॥ अथर्व० कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० ३८॥

भाष्यम्—(महद्यक्षं) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम् (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णं (तपसि क्रान्तं) विज्ञाने वृद्धं (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयान्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम् (तस्मिञ्छ्रय०) तस्मिन्ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद्वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति कस्य का इव ? (वृक्षस्य स्कन्धः०) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव॥ ४॥

भाषार्थ—(महद्यक्षं) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सब से बड़ा और सब का पूज्य है (भुवनस्य मध्ये) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है (तपसि क्रान्तं) जो विज्ञानादि गुणों में सब से बड़ा है (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, उसका भी आधार और उसमें व्यापक तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहनेवाला है (तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः) जिसके आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं (वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अंकुर निकल के और वही स्थूल हो के सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है॥ ४॥

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते॥ ५॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥ ६॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते॥ ७॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव॥ ८॥
सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति॥ ९॥

अथर्व० कां० १३। अनु० ४। मं० १६-१८, २०, २१॥

भाष्यम्—(न द्वितीयो०) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति। नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः॥ ५॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः॥ ६॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते॥ ७॥

यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद्भिन्नेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते। सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन् जडं

चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति नास्य कश्चिद् द्रष्टास्ति। न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति।

येनेदं जगद् व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतं) निश्चितं प्राप्तमस्ति व्यापकाद् व्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात्। (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात्स एवैष सहोऽस्ति। स खल्वेक एव वर्त्तते। न कश्चिद् द्वितीयस्तदधिकस्तत्तुल्यो वास्ति। एकशब्दस्य त्रिग्रहणात्। अतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात्। कस्मादेकवृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत्। एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते। पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात्॥ ८॥

अस्मिन्सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भवन्त्यर्थात्प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति॥ ९॥

एवंविधाश्चान्येऽपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमि'त्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति। ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते। किन्तु यत्र-यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति, तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति।

भाषार्थ—(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि पमरेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा, न कोई चौथा परमेश्वर है॥ ५॥

(न पञ्चमो न०) न पांचवां, न छठा, और न कोई सातवां ईश्वर है॥ ६॥

(नाष्टमो न०) न आठवां, न नवमा, और न कोई दशमा ईश्वर है॥ ७॥

(तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है। उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं।

इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है, सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अंक ही है। इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और नव वार गणने

से २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ नव अंक बनते हैं और एक पर शून्य देने से १० का अंक होता है। उनसे एक ईश्वर का निश्चय कराके वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है अर्थात् उसके एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं। किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके पृथिवी आदि सब लोकों को रच के अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है॥ ८॥

(सर्वे अस्मिन्०) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उसके सामर्थ्य में लय होके उसी में बने रहते हैं॥ ९॥

इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहाँ उन सबके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि जहाँ-जहाँ वे मन्त्र आवेंगे, वहाँ-वहाँ उनका अर्थ कर दिया जायगा।

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः॥

अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

सं ग॑च्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम्।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजाना॒ना उ॒पास॑ते॥ १॥

ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० २॥

भाष्यम्—(सङ्गच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्याः! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं सङ्गच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं सङ्गता भवत येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत् (सं वद०) सङ्गता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादिविरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत, यतो युष्मासु सम्यक् सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन् (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुत, अर्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्। युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते—(देवाभागं यथा०) यथा पूर्वे संजानाना ये सम्यग् ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन्, युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते, किंवा ये मृतास्ते यथा भागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते। तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत्॥ १॥

भाषार्थ—अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है—(संगच्छध्वं) देखो, परमेश्वर हम सभी के लिये धर्म का उपदेश करता है, कि हे मनुष्य लोगो! जो पक्षपातरहित न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो (संवदध्वं०) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर

अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना-पढ़ाना, प्रश्न उत्तर सहित संवाद करो, जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे (सं वो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे, जिससे तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं (देवा भागं य०) जैसे पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो। क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा, और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं॥ १॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ २॥

ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० ३॥

भाष्यम्—(समानो मन्त्रः) हे मानवाः! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति, तद्यथा राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः, सोऽपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहित एव भवतु। यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्‌गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत। यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत। तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, अर्थाद्या न्यायप्रचाराढ्या सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्याह्लादिता परमार्थव्यवहारशोधिका बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्येति (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि, शुभगुणान्प्रति संकल्पः, अशुभगुणान्प्रति

विकल्पश्च रक्षणीयः। एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु। यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्यम् (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् (एषां) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि। इत्थमेव सर्वैः कर्तव्यमिति, येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत्। (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्यम्। तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि। अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति॥ २॥

भाषार्थ—(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है, वह समान हो, उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो और जब-जब तुम लोग मिलके विचार करो, तब-तब सबके वचनों को अलग-अलग सुन के, जो-जो धर्मयुक्त और जिसमें सबका हित हो सो-सो सबमें से अलग करके, उसी का प्रचार करो, जिससे तुम सभी का बराबर सुख बढ़ता जाय। (समितिः समानी) और जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे-अच्छे काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी जो उत्तम मर्यादा है, सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो, जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायें। (समानं मनः सह चित्तं) हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थ वाला हो। शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को 'संकल्प' और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को 'विकल्प' कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम 'मन' है। उससे सदा पुरुषार्थ करो। जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा 'चित्त' उसको कहते हैं, कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह भी तुम्हारा एक-सा हो। (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त

हैं ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें। (एषां) इस प्रकार से जो मनुष्य सबका उपकार करने और सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूँ। (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उनके लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूँ कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें, जिससे उनका सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो! जब-जब कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब-तब धर्म से युक्त ही करो। उससे विरुद्ध व्यवहार को मत करो और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूँ। इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इससे भिन्न को धर्म कभी मत मानो॥ २॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ३॥

ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० ४।

भाष्यम्—अस्यायमभिप्रायः—हे मानवाः! वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति।

(समानी व०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु। यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्यम्। (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु। (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम्— कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति॥

श० कां० १४। अ० ४॥

मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा 'कामः', तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा 'संकल्पः'। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो 'विचिकित्सा'। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः 'श्रद्धा'। अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा। सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं 'धृतिः'। अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्यमित्यधैर्य'मधृतिः'। सत्यधर्मानाचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा 'ह्रीः'। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्ति 'र्धीः'। असत्याचरणादीश्वराज्ञाभङ्गात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादिवृत्ति 'र्भीः'—एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः। सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आह्लादः कार्यः। नैव कञ्चिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम्, किन्तु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्थुस्तथैव सर्वैः कार्यमिति॥ ३॥

भाषार्थ—(समानी व आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है, उसको धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो। निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को 'आकूति' कहते हैं। हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो, जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें। (समानमस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक वार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायं—(कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इसका नाम **काम** है! (संकल्पः)—जो सुख और विद्यादि शुभगुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उसको **संकल्प** कहते हैं। (विचिकित्सा) जो-जो काम करना हो उस उसको प्रथम शङ्का कर करके ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम **विचिकित्सा** है। (श्रद्धा)—जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको **श्रद्धा** जानना। (अश्रद्धा)—अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम **अश्रद्धा** समझना चाहिये। (धृतिः) जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उसका नाम **धृति** है। (अधृतिः)—बुरे कामों में दृढ़ न होने को **अधृति** कहते हैं। (ह्रीः)—अर्थात् जो झूठे आचरण करने

और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको **ह्री** कहते हैं। (धी:)—जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उसको **धी** कहते हैं। (भी:)—जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है, ऐसा जानकर उससे सदा डरना कि जो मैं पाप करूँगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा, [इसको **भी** कहते हैं] इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम **'मन'** है। इसको सब प्रकार से सबके सुख के लिये युक्त करो (यथा व: सुसहासति) हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े, ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दु:खी देख के अपने मन में सुख मत मानो, किन्तु सबको सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें, वैसा ही यत्न करते रहो॥ ३॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥ ४॥

य० अ० १९। मं० ७७॥

भाष्यम्—(दृष्ट्वा०) अस्यायमभिप्राय:—प्रजापति: परमेश्वरो धर्ममुपदिशति—सर्वैर्मनुष्यै: सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति। (प्रजापति:) परमेश्वर: (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति। कथमित्यत्राह—(अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति, तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये प्रत्यक्षादिभि: प्रमाणै: परीक्षिते पक्षपातरहिते न्याय्ये धर्मे प्रजापति: सर्वज्ञ ईश्वर: श्रद्धां चादधात्। एवं सर्वैर्मनुष्यै: परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्यमिति॥ ४॥

भाषार्थ—(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है, वह सब मनुष्यों

के लिये धर्म का उपदेश करता है, कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं।

(प्रजापति:) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिनके प्रगट और गुप्त लक्षण हैं[१] (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। सो इस प्रकार से हैं कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धाꣳस०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में सब दिन प्रीति रखो और जो-जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, उस उसमें अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो॥ ४॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ ५॥

य० अ० ३६। मं० १८॥

भाष्यम्—(दृते दृꣳह०) अस्यायमभिप्राय:—सर्वे मनुष्या: सर्वथा सर्वदा सर्वै: सह सौहार्द्येनैव वर्त्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्म: स्वीकार्य ईश्वर: प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा—

हे (दृते) सर्वदु:खविनाशकेश्वर! मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम्। पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु। इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह सत्यसुखै: शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय (मित्रस्याहं) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योऽन्यं समीक्षामहे सुखसम्पादनार्थं सदा वर्त्तामहे।

---

१. जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है, वह प्रकट, और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है॥ [दयानन्द सरस्वती]

इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः॥ ५॥

भाषार्थ—(दृते दृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है, उसी को ग्रहण करें और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें, कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो।

(दृते०) हे सब दुःखों के नाश करनेवाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक-दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्त्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूँ (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिल के सदा मित्र भाव रखें, और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है, वही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है॥ ५॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ ६॥ य० अ० १। मं० ५॥

भाष्यम्—(अग्ने व्र०) अस्याभिप्रायः—सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति। नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्तिश्च भवतः।

हे अग्ने व्रतपते! सत्यपते! (व्रतं) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि।

अत्र प्रमाणम्—

सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। श० कां० १। अ० १।

सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति, अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति (तच्छकेयम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम् (तन्मे राध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम्। किंच तद् व्रतमित्यत्राह— (इदमहमनृतात्सत्यमुपै०) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणा-

दधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति। अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वर-प्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम्। नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोऽनुगृह्णाति। यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च, एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति। कुतः? जीवे तत्सिद्धिं कर्त्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात्, तदुपयोगकरणाच्च। येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्येति॥ ६॥

भाषार्थ—(अग्ने व्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें क्योंकि उसके सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उसका अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता।

हे सत्यपते परमेश्वर! (व्रतं) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूँ, उसकी सिद्धि आप की कृपा से ही हो सकती है। इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि—'जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उनको मनुष्य कहते हैं।' इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूँ (तच्छकेयं) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूँ (तन्मे राध्यतां) उस अनुष्ठान की सिद्धि करनेवाले एक आप ही हो। सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये। (इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूँ। उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूँ।

परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रखा है, उतना पुरुषार्थ अवश्य करें। उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये। जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अंधे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रखे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है, तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता

है, अन्य पर नहीं। क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं॥ ६॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ ७॥

य० अ० १९। मं० ३०॥

भाष्यम्—(व्रतेन दी०) अस्याभिप्रायः—यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम्, नासत्ये चेति।

यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति, तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति। (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दक्षिणा भवति, तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति। (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्या-दिसत्यव्रतैः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति, तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति। कुतः? सत्याचरणमेव सत्कारकमस्त्यतः (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत, तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते, नान्यथेति। अतः किमागतं, सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः॥ ७॥

भाषार्थ—(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं।

(व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तमगुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्यव्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार करानेवाला है (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या

सिद्ध हुआ, कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो॥ ७॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता॥ ८॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता॥ ९॥

अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० १। २॥

भाष्यम्—(श्रमेण तपसा०) अभिप्रायः—श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्त इति।

श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि। तपो धर्मानुष्ठानम्, तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः। अतः (ब्रह्मणा०) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः।(ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु॥ ८॥

(सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेना-व्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु। (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टतया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु। (यशसा०) उत्कृष्टगुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतो वृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः॥ ९॥

भाषार्थ—(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को श्रमेणेत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न करना, और (तपः०) जो धर्म का आचरण करना है, इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है, इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने-अपने ज्ञान को बढ़ावें (ऋते श्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्यविद्या, और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें॥ ८॥

(सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्त्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होके, शोभारूप श्री को सिद्ध करके,

उसको चारों ओर पहिन के शोभित हो, (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये॥ ९॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्॥ १०॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥ ११॥ अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० ३।७॥

भाष्यम्—(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थ-शुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति, तया सत्योपरि दृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु (दीक्षया गुप्ता) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः। (यज्ञे प्रतिष्ठिता) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु। (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः॥ १०॥

अन्यच्च—(ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः (तेजश्च) प्रगल्भता धृष्टता निर्भयता निर्दीनता सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम् (बलं च) ब्रह्मचर्य्यादिसुनियमाचरणे शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं दृढाङ्गता-निश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति (इन्द्रियं च) मनआदीनि वागभिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रि-याणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि (श्रीश्च) सम्राड्राज्यश्रीः परम-पुरुषार्थेन कार्य्येति (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्याय्यः पक्षपातरहितः सत्याचरणयुक्त सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः। अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम्॥ ११॥

भाषार्थ—(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें। इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल स्वरूप है, असत्य कभी नहीं (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हों और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परम पुरुषार्थ करो (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो, तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है॥१०॥

(ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना (सहश्च) सुख-दुःख हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना (इन्द्रियं च) जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं, उनको पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्त्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त होके, पक्षपात को छोड़ के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सबका उपकार करनेवाला और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को 'धर्म' और उससे उलटा करने को 'अधर्म' कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो (संगच्छध्वं०) इस मन्त्र से लेके 'यतोऽभ्युदय०' इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं॥ ११॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥ १२॥

आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च॒ चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑ च॥ १३॥

पय॑श्च॒ रस॑श्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च॒र्तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च॥ १४॥

अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० ८। ९-१०॥

भाष्यम्—इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति।

(ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं तच्च सदैव वर्धयितव्यम् (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्यशौर्यधैर्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम् (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्यम् (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसम्पादनेन व्यापाराद्धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्यम् (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति (यशश्च) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्यम् (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्या प्राप्तस्य संरक्षणं रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः। एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्ये॥ १२॥

(आयुश्च) वीर्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्यम् (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम् (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्या यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात् (कीर्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं स्वसत्कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्यम् (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्ये शरीराद् बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः, बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिः शारीरबलं च संपादनीयम् (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं श्रौत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्यम्॥ १३॥

(पयश्च रसश्च) पयो जलादिकं रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम् (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयम्, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्त्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्येति (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्याः। बहुभिश्चकारैरन्येऽपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः॥ १४॥

भाषार्थ—(ब्रह्म च) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करनेवालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उनसे विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ानेवाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुण सहित होके सब कर्मों को सदा सिद्ध करना चाहिये (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने-आने का प्रबन्ध करना और उनकी अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिससे धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिए (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खर्च यथावत् करना चाहिये। इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ॥ १२॥

(आयुश्च) वीर्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्रादि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ (रूपं च) अत्यन्त विषय-सेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्रादि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिससे तुम्हारा भी यश बढ़े (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है उसको 'प्राण' और जो बाहर से भीतर जाता है, उसको 'अपान' कहते हैं। योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ (चक्षुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो॥ १३ ॥

(पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध, जल आदि, और जो रस अर्थात् शक्कर, ओषधि और घी आदि हैं, इनको वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो। (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यकशास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है, उसी की सदा उपासना करनी। जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये (इष्टं च पूर्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देनेवाला है, उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्ति और जिस-जिस उत्तम कर्म के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो-जो अवश्य हो सो-सो सामग्री पूर्ण करनी चाहिये (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें, और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में अनेक चकारों का यह भी प्रयोजन है कि सब मनुष्य लोग धर्म के अन्य भी शुभ लक्षणों का ग्रहण करें॥ १४॥

भाष्यम्—अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम्—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च

स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ १ ॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥ २॥

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। [३॥] ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ताः, आयुक्ताः, अलूक्षाः, धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ताः, आयुक्ताः, अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्त्तेरन्, तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥ तैत्तिरीय आरण्यके प्रपा० ७॥ अनु० ९। ११॥

भाष्यम्—(एतेषामभिप्रायः)—सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति।

(ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानम् (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम् (दमश्च०) अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्या (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्येति (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च

पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम् (अग्निहोत्रं च०) नित्य-होममारभ्याश्वमेधपर्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसम्पादनं कार्यम् (अतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां सङ्गसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्यम् (मानुषं च) मनुष्यसम्बन्धि-राज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम् (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्या (प्रजनश्च०) वीर्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम् (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम् (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्यायस्य मतमस्ति (तप इति०) यदृतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टेराचार्यस्य मतमस्ति। परन्तु नाकमौद्गल्यस्येदं मतमस्ति—स्वाध्यायो वेदविद्याद्यध्ययनं प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोऽस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद् विद्यत इति॥ १ ॥

(वेदमनूच्या०) आचार्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति—हे शिष्य! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः। शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये। आचार्य्य सेवा प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलतैश्वर्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये। देवा विद्वांसः, पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं तेषां सेवनं च सदैव कार्यमेवं मातृपित्राचार्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं सम्प्रीत्या कर्त्तव्यम्। नैतत्कदापि प्रमादात्त्याज्यमिति। वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः—भोः पुत्राः! यान्युत्तमानि कर्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि। यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि। [२ ॥]

येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्सङ्गस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम्। मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम्। अर्थात् प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करमिति। भोः शिष्य! तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत् [॥ ३ ॥] तदा ब्रह्मविदां, पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां, विद्यादिगुणैः स्निग्धानां, धर्मकामानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च। यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम्। अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यत इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति। ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम्। ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति। [४ ॥]

भाषार्थ—तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं—(ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें। उसके साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना भी बराबर करते जायं। (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो, वैसा ही बोलो और उसी को मानो। उसके साथ पढ़ना-पढ़ाना भी कभी न छोड़ो। (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो। (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ। (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रखो। (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो। (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो। (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान्, सबका सुख चाहने वाले हो, उन सत्पुरुषों के संग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो। (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक-ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के, रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो। (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो। (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उसको 'पुत्रेष्टि' कहते हैं, उसमें श्रेष्ठ भोजन और ओषध सेवन सदा करते रहो तथा ठीक-ठीक गर्भ की रक्षा भी करो। (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो।

ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं, उन

सबके साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है, सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं, वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्यविद्या को पढ़ें, और तभी सदा सुख में रहेंगे क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है। इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है। सो इनका त्याग करना कभी न चाहिये। (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो। (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करना, अर्थात् विद्या का जो पढ़ना पढ़ाना है, वही सबसे उत्तम तप है॥ १॥

(वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देनेवाला है, वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो! तुम सदा सत्य ही बोला करो। और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो। इसमें आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो। और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो तथा सत्यधर्म को कभी मत छोड़ो। कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके, भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो।

(देवपितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और संग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता, पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करनेवाले विद्वान् पुरुष हैं, उनकी सेवा में आलस्य कभी मत करो ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो। माता, पिता और आचार्य आदि अपने संतानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं, तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। [२]॥

जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उनको प्रीति वा अप्रीति से, श्री वा लज्जा से, भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुमको किसी बात में संदेह हो। [३]॥ तब

पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस-जिस प्रकार से जिस-जिस धर्म काम में चलते होवें, वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उसके स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो। [४]॥

ऋतं तपः सत्यं तपःश्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥

तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १०। अनु० ८॥

भाष्यम्—इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते—(ऋतं०) यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं च (सत्यं) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च (शान्तं०) अधर्मात्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्तनमधर्मान्निवर्त्तनं च (शमस्त०) मनसोऽपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च (दानं त०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम् (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति। अन्यच्च (भूर्भु०) हे मनुष्य! सर्वलोकव्यापकं यद् ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति॥

भाषार्थ—(ऋतं तपः०) तप इसको कहते हैं कि जो ऋत अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने श्रुत अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, शान्त अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो तथा पूर्वोक्त दम, शम दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है, उसको भी तप कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है॥

सत्यं परं परꣳसत्यꣳसत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताꣳहि सत्यं, तस्मात्सत्ये रमन्ते। तप इति तपो नानशनात्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं तद्दुराधर्षं तस्मात्तपसि रमन्ते। दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे रमन्ते। शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे रमन्ते। दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति दानान्नातिदुष्करं तस्माद्दाने रमन्ते। धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं धर्मान्नातिदुश्चरं तस्माद्धर्मे रमन्ते। प्रजन इति भूयाꣳसस्तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजनने

रमन्ते। अग्नय इत्याह, तस्मादग्नय आधातव्याः। अग्निहोत्रमित्याह, तस्मादग्निहोत्रे रमन्ते। यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवङ्गतास्तस्माद्यज्ञे रमन्ते। मानसमिति विद्वाꣳसस्तस्माद्विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते। न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि, न्यास एवात्यरेचयत्। य एवं वेदेत्युपनिषत्।

प्राजापत्यो हाऽऽरुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार, किं भगवन्तः परमं वदन्तीति, तस्मै प्रोवाच—सत्येन वायुरावाति, सत्येनाऽऽदित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति। तपसा देवा देवतामग्र आयन् तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्तपः परमं वदन्ति। दमेन दान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दमं परमं वदन्ति। शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छ्रमं परमं वदन्ति। दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारꣳसर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं परमं वदन्ति। धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति। प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृणामनृणो भवति, तदेव तस्य अनृणं, तस्मात्प्रजननं परमं वदन्ति।

अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गार्हपत्य ऋक् पृथिवी-रथन्तरमन्वाहार्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम सुवर्गो लोको बृहत्तस्मादग्नीन्परमं वदन्ति। अग्निहोत्रꣳसायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्टꣳसुहुतं, यज्ञक्रतूनां प्रायणꣳ सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति। यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवङ्गताः, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति। मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति।

तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १०। अनु० ६२, ६३॥

भाष्यम्—(सत्यं प०) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचिन्नास्त्येव। कुतः ? सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य

पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति। सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति। तस्मात्कारणात्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति। तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम्। एवं सम्यग्ब्रह्मचर्यसेवनेन विद्या-ग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते। एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्या। विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः। एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति। सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति। सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति। मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति॥

भाषार्थ—(सत्यं परं०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिसका ऋत भी नाम है। सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है, क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिए सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये। (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण न करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है। इससे तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। (दम इति०) जितेन्द्रिय होके जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है, उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये। (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं, और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इससे दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये।

(धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं और जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये। (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिसमें बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं। (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मानसमिति०) जो विचार करनेवाले मनुष्य हैं, वे ही विद्वान् होते हैं।

इससे विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं, क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं। इससे मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति०) ब्रह्मा बन के, अर्थात् चारों वेद को जान के, संसारी व्यवहारों को छोड़ के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके, जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है।

(सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उससे सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति का सुख भी मिलता है, तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के, पापों से छूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इससे तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन करके विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिससे मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इससे धर्म का यह भी लक्षण है। (धर्मो वि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सबसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं०) जिससे मनुष्यों को जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थत् बदले का पूरा करना होता है, इससे प्रजनन भी धर्म का हेतु है, क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति ही नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो।

(अग्नयो वै०) अर्थात् जिससे तुम लोग सांगोपांग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञान-मार्ग को प्राप्त होके पृथिवी, आकाश और स्वर्ग ये तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं, इससे इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अग्निहोत्रं) प्रात:काल और संध्या काल में वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ाके सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को

स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (यज्ञ इति०) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं, इससे विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जानके नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य-ज्ञान होता है, और उसमें जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनसे पमरेश्वर और जीव लोग भी अपनी-अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से सब संसार की और मनुष्यों के गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है, यह भी धर्म का उत्तम लक्षण और साधन है। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इनमें से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्त:शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ १॥
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ २॥

मुण्डकोनिषदि मु० ३। खं०१। मं० ५, ६॥

भाष्यम्—अनयोरर्थः—(सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १॥

(सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति। अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते। तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति, नान्यथेति। अत एव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति॥

भाषार्थ—(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान, ठीक-ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं, इन्हीं शुभगुणों से सबका आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सबके आत्माओं का भी आत्मा,

प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञापालन करना सब मनुष्यों को चाहिये॥ १॥

(सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है, वह सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है, और जो मिथ्याचरण अर्थात् झूठे कामों का करने वाला है वह सदा पराजय और दु:ख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है, सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है। जिस मार्ग से आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चलके सत्यसुख को प्राप्त होते हैं, जहाँ ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है॥ २॥

भाष्यम्—अन्यच्च—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥ १॥

पू०मी० अ० १। पा० १। सू० २॥

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥ २॥

वैशेषिके अ० १। पा० १। सू० २॥

अनयोरर्थः—(चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते। योऽनर्थादधर्माचरणाद् बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति॥ १॥

(यतोऽभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च। स एव धर्मो विज्ञेयः अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च। इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति।

इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिभिर्धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्त्येक एवायं सर्वेषां धर्मोऽस्ति, नैव चास्माद् द्वितीयोऽस्तीति वेदितव्यम्॥ २॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः।

भाषार्थ—(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन है॥ १॥

(यतोऽभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस् अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है॥ २॥

इत्यादि अनेक मन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि-मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः॥

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १ ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥२ ॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३ ॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४ ॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥५ ॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ ६ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ७ ॥

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १७॥

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायार्थः—यदिदं सकलं जगद् दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग् रचयित्वा, संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते। पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति।

(नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः ? तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् (नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन्काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत। (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन् (नो व्योमा परो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोऽपि नो आसीत्। किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत। (किमावरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्यावर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति, यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति, नदीप्रवाहादिकं च चलति, अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ? नेत्याह। किंत्वावरीवः, आवरकमाच्छादकं भवति। नैव कदाचित् तस्यातीवाल्पत्वात्, तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि। किं गहनं गभीरमधिकं भवति ? नेत्याह। अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति। कुतः ? जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च॥ १ ॥

न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि॥ [२-६]

(इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति। तां स एव दधे धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति। योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी (परमे व्योमन्) तस्मिन्परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद्व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते। प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति (सोऽध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति (अङ्ग वेद) हे अङ्ग मित्र जीव! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति। यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति॥ ७ ॥

भाषार्थ—(नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय असत् शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता, सो भी नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। (नो सदासीत्तदानीं) उस काल में (सत्) अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहलाता है, वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था। (किमा०) जो यह वर्त्तमान जगत् है, वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता, और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता, और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है, सो ईश्वर

की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है॥ १॥

(न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो, पुनः उसका और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे।

'न मृत्यु०' इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे। [२-६॥]

(इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है। हे मित्र लोगो! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है। और जब प्रलय होता है, तब भी सब जगत् कारण रूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है, और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है॥ ७॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ १॥

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १॥

भाष्यम्—(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति। तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति॥ १॥

भाषार्थ—(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है। इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं॥ १॥

स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात्।
स भूमि॑ꣳ स॒र्वत॑ स्पृ॒त्वात्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम्॥ १॥

य० अ० ३१। मं० १॥

भाष्यम्—(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च। अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि—

पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्॥ निरु० अ० १। खं० १३॥

(पुरि०) पुरि संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते स पुरुषः परमेश्वरः।

पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण सर्वम्॥
इत्यपि निगमो निगमो भवति॥ निरु० अ० २। खं० ३॥

(पुरुषः०) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः। (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः। तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति।

(यस्मात्परं०) यस्मात् पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव पूर्वं वा (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा किंचिदपि वस्तु नास्त्येव। तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा किंचिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम्। य स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोऽस्ति। क इव? (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमेश्वरोऽभिव्याप्य स्थितोऽस्तीति। यश्चैकोऽद्वितीयोऽस्ति, नास्य कश्चित्सजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्तीति तेन पुरिषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते। इत्ययं मन्त्रो निगमो निगमनं परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम्।

सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वस्य दातासीत्यादि॥ श० कां० ७। अ० ५॥

(सर्वं०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम्।

(सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि स सहस्रशीर्षा पुरुषः (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीणि यस्मिन् एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्

वर्त्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च। (स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो भूमिरिति भूतानामुपलक्षणम्, ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणं भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य वर्त्तते। (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदयोरुपलक्षणम्। अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति। पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति। अन्यच्च, पञ्च प्राणाः सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं दशमो जीवश्च। एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते। एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत्। एतस्मात्त्रयाद् बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः। अर्थाद् बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम्। [।१॥]

भाषार्थ—(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं। 'पुरुष' उसको कहते हैं जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को, उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना।

सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है, सो जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आंख और पग ठहर रहे हैं, उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। (अत्यतिष्ठद्द०) दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयववाची है। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं। तथा पांच प्राण, मन बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदयदेश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक हो के इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह पुरुष कहाता है। क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है, वही सब जगत्

का बनाने वाला है॥ १॥

पुरुष एवेदꣳसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥

भाष्यम्—(पुरुष एवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः (यद्भूतं) यज्जगदुत्पन्नमभूत्, यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं चकाराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति। नैवैतद्दाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति। पुरुषो यद्यस्मादन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति तस्मात्स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्य्यं जगदुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति। किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम्॥ २॥

भाषार्थ—(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है। उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशानः) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। (अमृत०) जो मोक्ष है, उसका देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं। सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इससे अलग भी है। क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं है और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता॥ २॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥

भाष्यम्—(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति, तावान्महिमा वेदितव्यः। एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते? अत्र ब्रूते—(ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति। किं तर्हि? अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते। अत्राह—(पादोऽस्य) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवी-

पर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्ष-सुखमस्ति, तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति। प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति। स्वयं च मोक्ष-स्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोऽस्ति॥ ३॥

भाषार्थ—(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है, सो सब इस पुरुष का ही महिमा है।

प्रश्न—जब उसके महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा?

उत्तर—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनन्त महिमा है क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, सो इस पुरुष के एकदेश में वसता है। (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है, सो उससे तिगुना है। तथा मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है, और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है॥ ३॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥ ४॥

भाष्यम्—(त्रिपादू०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः। एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत्, व्यतिरिक्त एवास्ति। स च त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति। अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्त्तते पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति। तत्रापि स पुरुषोऽ-विद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते। किंच तत्? (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादि सहितं जगत्, द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते, तदुभयं तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद् द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति॥ ४॥

भाषार्थ—(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है, सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है। तथा सदा प्रकाशस्वरूप,सब के भीतर व्यापक और सबसे अलग भी है। (पादोस्येहाभवत्पुनः) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किंचित् मात्र देश में है। और जो इस संसार के चार पाद होते हैं, वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है, और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है—एक चेतन, जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है, और दूसरा अनशन, अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है, क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है, कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इसका बनानेवाला, संसार में व्यापक होके, धारण करके देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है॥ ४॥

ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः।
स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ ५॥

भाष्यम्—(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्य्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो हि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थै राजमानः सन् विराट् अजायतोत्पन्नोऽस्ति (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः, सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः पृथक्-पृथक् अजायतोत्पन्नोऽभूत् (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति। परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोऽपि देहं धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति॥ ५॥

भाषार्थ—(ततो विराडजायत) विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूलप्रकृति कहते हैं, इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है, सो विराट् कहाता है। वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है। (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् हुआ है। जिसमें सब जीव वास करते हैं, और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट्, परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है। (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) पुनः भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है॥ ५॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ ६॥

भाष्यम्—(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः। तस्मात् परमेश्वरात् (सम्भृतं पृषदाज्यम्) 'पृषु सेचने' धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत्पृषत्, आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च। पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम्*, आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्। यावद्वस्तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वर-सामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम्। तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं स्वल्पं जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति। अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति। (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति। स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे। चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति॥ ६॥

भाषार्थ—(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है। पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सबका जीवन भी होता है। इससे सब मनुष्य लोगों को उचित है कि

* पृषदिति क्वचिदन्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति॥ [दयानन्द सरस्वती]

उसको छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें। (पशूँस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट, पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं॥ ६॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ७॥

भाष्यम्—अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे॥ ७॥

भाषार्थ—(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है॥ ७॥

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः॥ ८॥

भाष्यम्—(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त। ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुण-वत्त्वप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः। (ये के चोभयादतः) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त। (गावो ह ज०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम्॥ ८॥

भाषार्थ—(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं (ये के चोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं, उन पशुओं को **'उभयदत'** कहते हैं, वे ऊंट, गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं॥ ८॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये॥ ९॥

भाष्यम्—(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः,

साध्या ज्ञानिनः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः॥ ९॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं बर्हि०) जो सबसे प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को, जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिए है। (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान् (साध्याः) जो ज्ञानी लोग (ऋषयश्च ये) ऋषि जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले, और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुखी होते हैं। क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं॥ ९॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ऽउच्येते॥ १०॥

भाष्यम्—(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। (मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किं बाहू) बलवीर्य्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत्? (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते! अस्योत्तरमाह॥ १०॥

भाषार्थ—(यत्पुरुषं०) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है। (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उसमें चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं। (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है? (किं बाहू) बल, वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है? (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है? (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है? इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि॥ १०॥

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यः कृ॒तः।
ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्याꣳ शू॒द्रोऽअ॑जायत॥ ११॥

भाष्यम्—(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति। (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति। (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्। (पद्भ्याꣳ शूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियवन्नीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्। अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते।

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अष्टाध्या० अ० ३। पा० ४। सू० ६॥

इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते॥ ११॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरू तदस्य०) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्याꣳ शूद्रो०) जैसे पग सबसे नीच अङ्ग हैं, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है। इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे॥ ११॥

च॒न्द्रमा॒ मन॑सो जा॒तश्चक्षोः॒ सूर्यो॑ऽअजायत।
श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत॥ १२॥

भाष्यम्—(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति, तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्य्यो

अजायत उत्पन्नोऽस्ति, (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्रावकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति, वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोऽस्ति प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति। मुखान्मुख्यज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति॥ १२॥

भाषार्थ—(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा, और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सब इन्द्रियां भी अपने-अपने कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है॥ १२॥

नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२॥ऽअकल्पयन्॥ १३॥

भाष्यम्—(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत्। एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते, (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति, जलं च, (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति, (तथा लोकाँ २॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्यादन्यान्सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवानस्ति॥ १३॥

भाषार्थ—(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोलापन है, सो भी उत्पन्न हुआ है, नियत किया हुआ है। (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं। (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है, तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है। (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है। (तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उनमें बसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है॥ १३॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः॥ १४॥

भाष्यम्—(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद् यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते—(वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति॥ १४॥

भाषार्थ—(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं, उनको भी ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है, इसमें वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्म ऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़ इन्धन है। श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु। आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु। मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है, यह इस यज्ञ में आहुति है। सो यहाँ रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये॥ १४॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन् पुरुषं पशुम्॥ १५॥

भाष्यम्—(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति। परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः। अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति—समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः, मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः, वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः, अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः, सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च। एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः। (त्रिः सप्त समिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति। प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्। दशेन्द्रियाणि—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, नासिका,

वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति। एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि। एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम्। (देवा य०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति। तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति, नैव कुर्वन्तीत्यर्थः॥ १५॥

भाषार्थ—(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि ऊपर-ऊपर रची हैं। जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है, उसको परिधि कहते हैं। सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं, ईश्वर ने उन एक-एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाये। एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पांचमा वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातमा सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं। (त्रि सप्त समिधः०) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री (२१) इक्कीस प्रकार की कहाती है। जिसमें से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, दूसरा श्रोत्र, तीसरी त्वचा, चौथा नेत्र, पांचमी जिह्वा, छठी नासिका, सातमी वाक्, आठमा पग, नवमा हाथ, दशमी गुदा, ग्यारहमा उपस्थ, जिसको लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं, बारहमा शब्द, तेरहमा स्पर्श, चौदहमा रूप, पन्द्रहमा रस, सोलहमा गन्ध, सत्रहमी पृथिवी, अठारहमा जल, उन्नीसमा अग्नि, बीसमा वायु, इक्कीसमा आकाश, ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, सब का देखने वाला और पूज्य है, उसको विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं। उसको छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं॥ १५॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्। ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑ः सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥ १६॥

भाष्यम्—(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं यज्ञेन तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन तमेवायजन्त यजन्ते यक्ष्यन्ति च। तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन्। न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका हेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं मोक्षं च महिमानः पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति। कीदृशं तत्? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति। न तस्माद् ब्रह्मणश्शत-वर्षसंख्यातात् कालात् [पुरा] कदाचित्पुनरावर्तन्त इति, किन्तु तमेव समसेवन्त।

अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः, द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः॥

निरु० अ० १२। खं० ४१॥

अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त। अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त। सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा। साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वं भूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति। तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति। द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः। यद्वा सूर्य्यप्राणस्थानाः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति॥ १६॥

भाषार्थ—(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं, और सब के पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं। इसमें सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो-जो ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं, वे वे सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहाँ विद्वान् लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं, उसी को मोक्ष कहते हैं, क्योंकि उससे

निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं, उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता॥ १६॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
अस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ १७॥

भाष्यम्—(अद्भ्यः संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः सङ्गृह्य तेन पृथिवी रचिता। एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः। अग्निश्च वायोः सकाशाद्, वायुराकाशादुत्पादितः, आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च। विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा, तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत्। तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति। तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद्विदधत्। पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति। तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति। (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान् वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय—धर्मयुक्तेनैव सकामेन कर्मणा कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति॥ १७॥

भाषार्थ—(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जल से सारांश रस को ग्रहण करके, पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है। वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है। इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम विश्वकर्मा है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था। (तस्य०) जब जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है, तब तब कार्य्यजगत् रूपगुणवाला होके स्थूल बन के देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य

देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्य शरीर आदि को रचा है, तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं, तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है, वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, वह उत्तम देव होता है॥ १७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १८॥

भाष्यम्—(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते, तदुत्तरमाह—यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं सर्वेभ्यो महान्तं वृद्धतममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं तमसोऽज्ञानाविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति, नैवातोऽन्यथेति। एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः॥ १८॥

भाषार्थ—(वेदाहमेतं) प्रश्न—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है?

उत्तर—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक ठीक ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं। जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूँ। उसको जाने विना

कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता। क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है। उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोक्ष का देने वाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है। इसमें यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है, क्योंकि इसके विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता॥ १८॥

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ १९॥

भाष्यम्—(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन्नित्यं चरति। तत्सामर्थ्यादिदेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते (तस्मिन्ह तस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे। हेति निश्चयार्थे, तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः॥ १९॥

भाषार्थ—(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं (तस्मिन्ह त०) जिसमें ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं॥ १९॥

यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ २०॥

भाष्यम्—(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति नान्येभ्यश्च। यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु। यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्तमानोऽस्ति, तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु॥ २०॥

भाषार्थ—(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है अर्थात् उनके आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उनका पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करने वाला है, इससे ये फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के, सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते हैं॥ २०॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे॥ २१॥

भाष्यम्—(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च (यस्त्वैवं०) यस्त्वैवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात् (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति॥ २१॥

भाषार्थ—(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है, वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उनको आनन्दित कर

देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है, उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं॥ २१ ॥

श्रीश्च॑ ते लक्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्। इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ऽइषाण सर्वलो॒कं म॑ऽइषाण॥ २२॥

य० अध्याय ३१

भाष्यम्—(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः। तथाहोरात्रे द्वे ते तव पार्श्वे पार्श्ववत्स्तः। ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तेते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव (व्यात्तम्) विकाशितं मुखमिव वर्त्तेते। तथैव यत्किंचित्सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः। हे विराडधिकरणेश्वर! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ स्वराज्यं सिद्धं कुरु। एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण हे भगवन्! पुरुष! पूर्णपरमेश्वर! सर्वशक्तिमन्! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि। दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय। सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान्करोत्विति। अत्र प्रमाणानि—

श्रीर्हि पशवः॥ श० कां० १। अ० ८॥

श्रीर्वै सोमः॥ श० कां० ४। अ० १॥

श्रीर्वै राष्ट्रं॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥ श० कां० १३। अ० २॥

लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्यनाद्वा लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः शिप्रे इत्युपरिष्टाद्-व्याख्यास्यामः॥ निरु० अ० ४। खं० १०॥

अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसङ्गतिरस्तीति बोध्यम्॥ २२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता।

भाषार्थ—(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर! जो आपकी अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है, वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है, इसी प्रकार आपकी सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है। परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं, तथा सूर्य्य और चन्द्रमा भी आपके बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं और जितने ये नक्षत्र हैं, वे आपके रूपस्थानी है और द्यौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली, ये दोनों मुखस्थानी हैं तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है, इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है, सो मुख के सदृश है। (इष्णन्०) हे परमेश्वर! आपकी दया से (अमुं) परलोक जो मोक्षसुख है, उसको हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो। तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊँ, वैसी कृपा और इस जगत् में मुझको सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आपसे हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये॥ २२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्यासमाप्ता॥

यत्प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम्। किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त्तद्-ब॑भूव॥ १॥ अथर्व० कां० १०। अनु० ४। मं० ८॥

दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वाप्स॒रस॑श्च॒ ये।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञि॒रे सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रित॑ः॥ २॥

अथर्व० कां० ११। प्रपा० २४। अनु० ४। मं० २७॥

भाष्यम्—(यत्परमं) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत् यच्च (अवमं) निष्कृष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च, तत्त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति। योऽस्य जगतो

विविधं रूपं सृष्टवानस्ति (कियता०) एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वरे (यन्न०) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद् बभूव। तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति॥ १॥

(देवाः०) देवा विद्वांसः सूर्य्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः सूर्य्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते, ते सर्व उच्छिष्टात्सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति। ये (दिवि देवा दिविश्रितः) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोका ये च दिविश्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेऽपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति॥ २॥

इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति।

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः॥

भाषार्थ—(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है, उस सबको परमेश्वर ने ही रचा है। और इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं, वे भी कुछ-कुछ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं। वह परमेश्वर सबको रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता॥ १॥

(देवाः०) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्यलोक भी (पितरः) अर्थात् यथार्थ विद्या को जानने वाले (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्य्यादि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सबकी स्त्रियाँ, ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक और (दिविश्रितः) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं॥ २॥

वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय, इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है॥

इति सृष्टिविद्याविषयः॥

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति। अत्रोच्यते—वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव। तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम्—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ १॥ य० अ० ३। मं० ६॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—'आयं गौ'रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम्।

(आयं गौः) अयं गौः पृथिवीगोलः, सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा, पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति तथान्येऽपि। तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती तथा (स्वः) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्सन् सूर्य्यस्य परितो याति। एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम्। अत्र प्रमाणानि—

गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं, यास्ककृते निघण्टौ। तथा च—

स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते।

गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति॥ निरु० अ० २। खं० ५॥

गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति॥
निरु० अ० २। खं० १४॥

सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः
इत्यपि निगमो भवति सोऽपि गौरुच्यते॥
निरु० अ० २। खं० ६॥

स्वरादित्यो भवति॥ निरु० अ० २। खं० १४॥

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी। अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि। यस्माद् यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति, तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते। यद् दूरं गता, दूरंदूरं सूर्य्याद् गच्छतीति विज्ञेयम्। एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः॥ १॥

भाषार्थ—अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है। इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं। इस विषय में यह प्रमाण है—

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का। वे सब अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उनके प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार से सब लोक अपनी अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं।

इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उसको देख लेना। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है। तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है॥ १॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः। सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥ २॥

भाष्यम्—(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती, पर्य्येति विवस्वते[1] ऽर्थात्सूर्यस्य परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति। (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गम्? तत्तद्गमनार्थ-

१. 'विवस्वतः' इति प्राप्ते 'सुपां सुलुगिति' सूत्रेण विवस्वते-इति पदं जायते॥

मीश्वरेण निष्कृतं निष्पादितम्। (पयो दुहाना०) अवरतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती तथा (व्रतनीः) व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति। किं कुर्वती? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति॥ २॥

भाषार्थ—(या गौर्व०) जिस जिस का नाम 'गौ' कह आये हैं, सो सो लोक अपने अपने मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है। अर्थात् परमेश्वर ने जिस जिस के घूमने के लिए जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है, उस उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है तथा अपने अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी सूर्य्य, वायु और चन्द्रमादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है॥ २॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ। तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ३॥

ऋ० अ० ६। अ० ४। व० १३। मं० ३॥

भाष्यम्—(त्वं सोम०) अस्याभिप्रायः—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति।

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति। कदाचित्सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि।

तथा 'द्यावापृथिवी एजेते' इति मन्त्रवर्णार्थो द्यौः सूर्य्यः पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः। अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम्॥ ३॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः।

भाषार्थ—(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे।

तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं॥ ३॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः॥

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ १०॥

ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ३॥

भाष्यम्—(यदा ते०) अस्याभिप्रायः—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति।

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य्य! यदा यस्मिन्काले ते हरी आकर्षण-प्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा (हर्य्यता) हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च (ते) तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति। अतः कारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति॥ १॥

भाषार्थ—(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है।

(यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर! आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आपके ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी अपनी कक्षा और स्थान से इधर उधर चलायमान नहीं होते।

दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े गुण हैं। उनसे सब लोकों का दिन दिन और क्षण क्षण के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते॥२॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ २॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ४॥

भाष्यम्—(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रायः—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति।

हे पूर्वोक्तेन्द्र! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते। तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे। आकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सन्ति। अत एव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च॥ २॥

भाषार्थ—(यदा ते मारुती०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है। हे परमेश्वर! आपकी जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आपके गुण नियम में रखते हैं, तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूमते और स्थान में वस रहे हैं॥२॥

यदा सूर्य्यमुमुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ ३॥ ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ५॥

भाष्यम्—(यदा सूर्य०)। अभिप्रायः—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति। यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि।(आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद् यदा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति॥ ३॥

भाषार्थ—(यदा सूर्य्य०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है। हे परमेश्वर! जब उन सूर्य्यादि लोकों को आपने रचा और आपके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उनका धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं। इन सूर्य्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि

परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है॥ ३॥

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः। वि चर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम्॥ ४॥ ऋ० अ० ४। अ० ५। व० १०। मं० ३॥

भाष्यम्—(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्रायः—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वांल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति।

हे परमेश्वर! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात्स्तम्भितवानस्ति। अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति। अद्भुत आश्चर्य्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति। वावत्तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत्। विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति। कस्मिन्निव? चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतं? वृष्ण्यं वीर्यवद्विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति। सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति॥ ४॥

भाषार्थ—(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! आपके प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने अपने आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं और आपका सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं। इस हेतु से इनसे नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है, वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर से भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण हो रहा है॥ ४॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ ५॥

य० अ० ३३। मं० ४३॥

भाष्यम्—(आकृष्णेन०)। अभिप्रायः—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति। सविता परमात्मा सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽस्ति। कथंभूतेन गुणेन? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन। पुनः कथंभूतेन? रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन। किं कुर्वन् सन्? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन्। तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षम् ओषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्य्यो वर्त्तमानोऽस्ति। स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति। तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः।

अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात्सर्वांल्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते। एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव। तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेऽस्तीति मन्तव्यम्।

रजो लोकानां नामास्ति। अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—

लोका रजांस्युच्यन्ते॥ निरु० अ० ४। खं० १९॥

रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा, रसतेर्वा॥ निरु० अ० ९। खं० ११॥

विश्वानरस्यादित्यस्य॥ निरु० अ० १२। खं० २१॥

अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते। इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम्॥ ५॥

इति धारणाकर्षणविद्याविषयः संक्षेपतः।

भाषार्थ—(आकृष्णेन०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है। सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्य लोक हैं, वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं। सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान

और तेज से युक्त है। इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता, और सब लोकों को व्यवस्था से अपने अपने स्थान में रखता है। वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता, और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सबको जनाता है तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है।

इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (द्युभिरक्तुभिः) इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना अपना आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहाँ लोकों का नाम रज है और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं, इस कारण से कि जिससे रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको रथ कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है, सो देख लेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं॥५॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः।

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥२॥

अथर्व० कां० १४। अनु० १। मं० १, २॥

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किंस्विद्धिमस्य भेषजं किं वा वपनं महत्॥३॥
सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥४॥

य० अ० २३। मं० ९, १०॥

भाष्यम्—(सत्येनो०) एषामभिप्रायः—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति।

इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च। (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः। (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति। अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति, सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम्॥१॥

(सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात्। तद्यथा, यावति अन्तरिक्षदेशे सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति। तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात्ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति। सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्योषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति। अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्तत इति विज्ञेयम्॥२॥

(कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति? कः पुनः प्रकाशितो जायते? हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति? तथा बीजारोपणार्थं महत्क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः॥३॥

एषां क्रमेणोत्तराणि—(सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति। तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति। अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति। भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति॥४॥

वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति।

इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः।

भाषार्थ—(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं—एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं।

अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों को धारण और प्रकाश किया है तथा ऋत अर्थात् काल, सूर्य और वायु ने भी यथायोग्य महिने, किरण और सूक्ष्म, स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है। (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसमें जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं॥१॥

(सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके उससे उलट कर भूमि को प्राप्त होके बलवाली होती हैं, तभी वे

शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस जिस देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है, उस उस देश में शीत भी अधिक होता है। जिस जिस देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है, उस उस देश में गर्मी भी कमती होती है। फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उनको जमने से पुष्टि होती है और जब उनके बीच में सूर्य्य की तेज रूप किरण पड़ती है, तब उनमें से भाफ उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियाँ भी पुष्ट होती हैं और उनसे पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्रलोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है॥ २॥

(कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उनके बीच में से पहिला प्रश्न—कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है? दूसरा—कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है? तीसरा—शीत का ओषध क्या है? और चौथा—कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है॥३॥

इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं—(सूर्य एकाकी०) (१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है, तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है। (४) और चौथा यह है—पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है।

वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं। उनमें से यहाँ एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आ जावेंगे॥ ४॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः॥

अथ गणितविद्याविषयः

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽ एकविꣳशतिश्च मऽएकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मऽएकत्रिꣳशच्च मऽएकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ १॥

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २॥ य० अ० १८। मं० २४। २५॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीज-रेखागणितं प्रकाशितमिति। (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१), सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२), यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्व-वाचिका (३)॥१॥

द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४), एवं तिसृभिस्त्रित्व संख्यायुक्ता षट् (६), एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादि-क्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिध्यति। अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां

पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम्।

सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते। परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते। इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते।

ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थस्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते। तदपि विधानमेका चेति।

२ ३
अ—क इत्यादिसंकेतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम्॥२॥

२ ३ १ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २ २र २र
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि
२ १ २
बर्हिषि॥ साम० छं० प्र० १। खं० १।

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेति न्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्। एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोऽप्यत्रोच्यते।

भाषार्थ—(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उनमें से प्रथम अङ्क (१) जो संख्या है, सो दो वार गिणने से दो की वाचक होती है। जैसे १+१=२। ऐसे ही एक के आगे एक तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४) तथा तीन के आगे एक और दो (३१२), ऐसे दो को दो के साथ गुणने से चार (४), तीन (३) को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६) अथवा तीन को तीन से गुणने से ३×३=९ हुए॥ १॥

इसी प्रकार चार के साथ चार (४४), पांच के साथ पांच (५५), छः के साथ छः (६६), सात के साथ सात (७७)आठ के साथ आठ (८८) इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५) वैसे ही पांच पांच छः छः (५५६६) तथा तीन के साथ तीन तथा नव के साथ नव (३३९९)इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों की आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती

है। क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक चकारों के प्रयोग से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये।

और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है, उसमें भी इसी प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है, वह निश्चित और संख्यात पदार्थों में युक्त होती है। और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये बीजगणित होता है, सो भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है। जैसे (अ+क) (अ—क) (अ%क) इत्यादि संकेत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषि-मुनियों ने निकाला है। (अग्न आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है॥२॥

और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है।

इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयꣳसोमो वृष्णोऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥ ३॥

य० अ० २३। मं० ६२॥

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥ ४॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १८। मं० ३॥

भाष्यम्—(इयं वेदिः०) अभिप्रायः—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाश्यत इति।

इयं या वेदिस्त्रिकोणा चतुरस्रा श्येनाकारा वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते। एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात् सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते। यश्चायं यज्ञो हि सङ्गमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोऽयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति। (अयꣳ सो०) सोमलोकोप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति। (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति। (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम्। (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः

स्थितमस्ति॥ ३॥

(कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत्? सर्वस्येति शेषः। एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा यया परिमाणं क्रियते सा कासीत्? एवमेवास्य (निदानम्) कारणं किमस्ति? (आज्यम्०) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत् सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च? (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं (क आसीत्) गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते स परिधिरित्युच्यते। (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) (प्रउगं०) ग्रहोक्थं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः। एषामुत्तराणि—(यद्देवा दे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त पूजयन्ति पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परिमाणकर्ता एवमेवाग्रेऽपि पूर्वोक्तोऽर्थो योजनीयः।

अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते। सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति। एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति॥

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः।

भाषार्थ—(इयं वेदिः०) अभिप्राय—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है। क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, श्येनपक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है, सो आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था। क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है, उसको परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उसको व्यास कहते हैं। इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं॥ ३॥

(कासीत्प्र०) अर्थात् यथार्थ ज्ञान क्या है? (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है? (निदानम्) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह क्या चीज है? (आज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं? (छन्दः०) स्वतन्त्र वस्तु क्या है? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य

क्या है? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है (यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं, वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है।

इन मन्त्रों में भी प्रमा और परिधि आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है। सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः॥

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासना-विद्याविषयः

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्तो वक्ष्यते च। अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ १ ॥ य० अ० १९। मं० ९॥

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकः सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः॥ २ ॥

य० अ० २। मं० १०॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ ३ ॥

य० अ० ३२। मं० १४॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—तेजोऽसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुति-प्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम्।

(तेजोऽसि०) हे परमेश्वर! त्वं तेजोऽस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोऽसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि। (वीर्य्यमसि०) हे परमेश्वर! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धि-शौर्य्यस्फूर्त्यादिवीर्य्यं पराक्रमं स्थिरं निधेहि। (बलम०) हे महाबलेश्वर! त्वमनन्तबलमसि, मय्यप्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय। (ओजो०) हे परमेश्वर! त्वमोजोऽसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि। (मन्युरसि०) हे परमेश्वर! त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि। (सहोऽसि०) हे सहनशीलेश्वर! त्वं सहोसि, मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि। एवं कृपयैतदादिशुभान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः॥ १॥

(मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु तथाऽस्मांश्च पोषयतु अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च। (अस्मान् रायो०) तथा नोऽस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु। (सचन्ताम्) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु। तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति (अस्माकः स०) तथा हे भगवन्! त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु। मा काश्चिदस्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः॥२॥

(याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या धिया बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु। का मेधेत्युच्यते—(देवगणाः) विद्वत्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते (तया०) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु सम्पादय (स्वाहा)—अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः—

स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति॥

निरु० अ० ८। खं० २०॥

स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम्। (स्वा वागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम्। (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं, न परपदार्थं प्रति चेति (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठु रीत्या संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः॥३॥

भाषार्थ—अब गणितविद्याविषय के पश्चात् 'तेजोऽसी'त्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना, याचना, समर्पण और उपासना विषय है, सो आगे लिखा जाता है। परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो 'यो भूतं च०' इत्यादि मन्त्रों में कुछ कुछ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे। यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं—

(तेजोऽसि०) अर्थात् हे परमेश्वर! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये (वीर्यमसि०) हे जगदीश्वर! आप

अनन्त पराक्रम वाले हैं, मुझको भी पूर्ण पराक्रम दीजिये (बलमसि०) हे अनन्त बलवाले महेश्वर! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन्! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी दीजिये। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करनेहारे! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये (सहोऽसि०) हे सबके सहन करनेहारे ईश्वर! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं, वैसे ही सुख, दुःख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझको भी कीजिये अर्थात् सब शुभ गुण मुझको देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये॥१॥

(मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाववाले मन को मुझमें स्थिर कीजिये अर्थात् हमको उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये। (अस्मान् रा०) हे परमधनवाले ईश्वर! आप उत्तम राज्य आदि धन वाले हमको सदा के लिये कीजिये। (सचन्तां०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳ स०) हे भगवन्! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहें, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े बड़े काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये॥ २॥

(याम्मेधां०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि—हे परमात्मन्! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उससे युक्त हम लोगों को कीजिये कि जिसके प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आपकी उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनि जी ने अनेक प्रकार से कहा है, सो लिखते हैं कि—

(सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये, कि जैसी बात उनके ज्ञान

के बीच में वर्त्तमान हो, जीभ से भी वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं अर्थात् जितना जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने में ही सदा सन्तोष करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें और 'स्वाहा' शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये॥३॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ४॥

ऋ० अ० १। अ० ३। व० १८। मं० २॥

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय॥ ५॥

य० अ० ३८। मं० १४॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

य० अ० ३४। मं० १॥

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे०

[यजुः अ० १८]

भाष्यम्—(स्थिरा वः) अभिप्रायः—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्—

हे मनुष्या वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणास्यादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) मदनुग्रहेण स्थिराणि सन्तु। (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च। (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया च पराजयकरणाय सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्याद्

दुष्टकर्मकारिणं युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत् (मा मर्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठायिभ्यो हि ददामि, किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु। अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद्ददामीत्यभिप्रायः॥ ४॥

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन्! इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् त्वं पिन्वस्व स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु। (ऊर्जे) तथोर्जे परमपराक्रमाय (पिन्वस्व) दृढप्रयत्नान् कुरुष्व वेदविद्याविज्ञान-ग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व दृढोत्साहयुक्तानस्मान् कुरु। (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीरवतः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्त्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्य्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः तथैव कलाकौशल-यानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु। (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर! त्वं धर्मासि न्यायकार्यसि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु। (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर! यथा त्वममेनिर्निर्वैरोऽसि तथाऽस्मानपि सर्वमित्रा-न्निर्वैरान् कुरु। तथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्य-सुनियमसुरत्नादीनि धारय, एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय (विशं०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय। अर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्। तस्मात् सर्वा-मस्मदिच्छां सम्पूर्णां सम्पादयेति॥ ५॥

(यज्जाग्रतो दू०) यन् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्तमानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति (दैवम्) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं (तदु०) तत् उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्ततां चैति तथा (दूरङ्गमम्) अर्थाद् दूरगमन-शीलमस्ति (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकम्, (एकम्) असहायं यन्मनोऽस्ति, हे ईश्वर! भवत्कृपया (तन्मे०) तन्मे मम मनो मननशीलं सत् शिवसङ्कल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु॥ ६॥

एवमेव 'वाजश्च म' इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं

परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम्। अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्ष-मारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वराद्याचितव्यमिति सिद्धम्।

भाषार्थ—(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि—हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में उत्तम बल वाले हो। किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और (शतघ्नी) तोप, (भुशुण्डी) बन्दूक, धनुषबाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें (उत प्रतिष्कभे) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों तथा (युष्माकमस्तु) हे मनुष्यो! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो। जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्त्तिराज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य है उसके लिये नहीं, किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा। इसलिये तुम लोग सदा धर्म कार्यों ही को करते रहो॥४॥

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन्! (इषे०) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये (ऊर्जे०) अर्थात् अपनी कृपा से हमको सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हमको अत्यन्त समर्थ कीजिये अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों को करके ब्राह्मणवर्ण हों (क्षत्राय०) हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हमको कीजिये (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कला कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हमको उत्तम सुखसहित कीजिये कि जिससे हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्यायकरनेहारे ईश्वर! आप न्यायकारी हैं, वैसे हमको भी न्यायकारी कीजिये (अमे०) हे भगवन्! जैसे आप निर्वैर होके

सबसे वर्त्तते हो, वैसे ही सबसे वैररहित हमको भी कीजिये (अस्मे) हे परमकारुणिक! हमारे लिये (नृम्णानि०) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये। (ब्रह्म०) हे परमेश्वर! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्या युक्त कीजिये (क्षत्रं०) हमको अत्यन्त चतुर, शूरवीर, और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये (विशं०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये कि जिससे हम शुभ गुणवाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों॥ ५॥

(यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर! जैसे जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर दूर घूमने वाला, सब इन्द्रियों का स्वामी, तथा (दैवं०) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है, वैसे ही (तदु सु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे। (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला, और एक है, (तन्मे०) हे परमेश्वर! ऐसा जो मेरा मन है सो आपकी कृपा से (शिवसं०) कल्याण करने वाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधर्म कामों में कभी प्रवृत्त न हो॥६॥

इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में ईश्वर के अर्थ समर्पण करने के ही विधान में हैं अर्थात् सबसे उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न, जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳫँश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳫँस्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा॥ ७॥ य० अ० १८। मं० २९॥

भाष्यम्—(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञो वै विष्णुः श० १। १। २। १३। **वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः। हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति। यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां परमेश्वराय समर्पितं भवतु। एवमेव (प्राणः),**

(चक्षुः), श्रोत्रं, (वाक्) वाणी, (मनः) मननं ज्ञानम्, (आत्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, (धर्मः) न्यायः, (स्वः) सुखं, (पृष्ठं) भूम्याद्यधिकरणं, (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम्, (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम्, (साम) सामवेदाध्ययनं चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धि-फलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु येन वयं कृतज्ञाः स्याम। एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्। येन वयं (स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः (अमृताः०) परमानन्दं मोक्षं (अगन्म) सर्वदा प्राप्ताः भवेम। तथा (प्रजापतेः प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति। एवं जाते (वेट् स्वाहा०) सदा वयं सत्यं वदामो भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम। मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तेमहि॥ ७॥

भाषार्थ—(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है। उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये। इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें। (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ कर देवें। (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, (श्रोत्रं०) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, (वाक्०) वाणी, (मनो०) मन और विज्ञान, (आत्मा०) जीव, (ब्रह्मा०) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वर्य०) जो सब सुख, (पृष्ठं०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान, (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है। (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह, (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, (चकारात्०) चकार से अथर्ववेद, (बृहच्च) बड़े बड़े सब पदार्थ, और (रथन्तरं च) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो जो फल अपने आधीन हों, वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं।

इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है, उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें संदेह नहीं। (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके तथा संसार के बीच में कीर्तिमान् होकर हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म) सब दिन के लिये प्राप्त हों (प्रजापतेः) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें, क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सबके पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं। (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करनी उचित है कि हे कृपानिधे! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों, किन्तु आप और सबके साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्त्तें॥ ७॥

[इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः ॥]

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ १॥ ऋ० अ० ४। अ० ४। व० २४। मं० १॥

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ २॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥ ३॥
युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ४॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ ५॥

य० अ० ११। मं० १, २, ३, ५॥

भाष्यम्—(युञ्जते०) अस्याभिप्रायः—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते।

(विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः (होत्राः) योगिनो मनुष्याः (विप्रस्य) सर्वज्ञस्य (बृहतः) अनन्तस्य (विपश्चितः) सर्वविद्यायुक्तस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति (उत) अपि (धियो) बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते। कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित् (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति। तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या। कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतीत्यर्थः। एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति॥ १॥

(युञ्जानः) योगं कुर्वाणः सन् (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय (प्रथमं) मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते। (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य ज्योतिः प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावत् निश्चित्य (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्। इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम्॥ २॥

सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः—(स्वर्ग्याय) मोक्षसुखाय (शक्त्या) योगबलोन्नत्या (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्य्ये (युक्तेन मनसा०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति॥ ३॥

एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति॥ ४॥

उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते—(ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते, तदा तद् ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति—(श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वां) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु। कस्य केव ? (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति। ते (विश्वे०) सर्वे (वां) उपासनोपदेष्टुपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु। इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं (युजे) कृपया समवेतो भवामीति॥ ५॥

भाषार्थ—अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उसमें से कुछ संक्षेप से यहां भी लिखा जाता है—(युञ्जते मन०)

इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें।

और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े बड़े बुद्धिमान् (होत्राः) उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सबको जाननेवाला (बृहतः) सबसे बड़ा (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में (मनः युञ्जते) अपने मन को ठीक ठीक युक्त करते हैं तथा (उत) (धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे) धारण और विधान करता है (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सवितुः) सबकी रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है कि (मही) सबसे बड़ी अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती॥ १॥

(युञ्जानः) योग को करनेवाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, (प्रथमं) (मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है॥ २॥

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों॥ ३॥

इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को देके (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में

(बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और (सविता) जो सब जगत् का पिता है वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा॥ ४॥

उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुमको आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्ति (वां) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो। किसके समान? (पथ्येव सूरेः) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है, इसी प्रकार तुमको सत्यसेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सबको उपदेश करता हूँ कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो! (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आ ये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें सन्देह मत करो। इसीलिये (युजे) मैं तुमको उपासनायोग में युक्त करता हूँ॥ ५॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया॥ ६॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ ७॥

य० अ० १२। मं० ६७, ६८॥

भाष्यम्—(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति, ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं (युञ्जन्ति) प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ६॥

हे योगिनो यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत। एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वं) विस्तारयत तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्मणि योजयत। एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारण आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त) युङ्क्त युक्ता भवत। किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोऽतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु। कथंभूतं फलम्? (पक्वं) शुद्धानन्दसिद्धम् (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्। (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति। इदिति निश्चयार्थे। पुनः कथंभूतास्ताः? (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टा एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम्। अत्र प्रमाणम्—

श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति॥ निरु० अ० ६। खं० १२।

द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च॥ निरु० अ० १३। खं० ५॥

भाषार्थ—(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करनेवाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति) (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं (युगा) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं, (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं॥ ६॥

हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं) विस्तार करो। इस प्रकार से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञान (बीजं) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें और (नो नेदीयः) हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही (असत्) प्राप्त हो। कैसा वह फल है? कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त करने वाला है (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी

है कि सब क्लेशों को नाश करनेवाली और (सभरा:) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासनायोग वृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो॥ ७॥

अ॒ष्टा॒विं॒शानि॑ शि॒वानि॑ श॒ग्मानि स॒ह योगं॑ भजन्तु मे। योगं॒ प्र प॑द्ये॒ क्षेमं॑ च॒ क्षेमं॒ प्र प॑द्ये॒ योगं॑ च॒ नमो॑ऽहोरा॒त्राभ्या॑मस्तु॥ ८॥

अथर्व० कां० १९। अनु० १। व० ८। मं० २॥

इमे वक्ष्यमाणा मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम्—

भूया॒नरा॑त्याः शच्या॒ः पति॒स्त्वमि॑न्द्रासि वि॒भूः प्र॒भूरि॑ति त्वोपा॑स्महे व॒यम्॥९॥

नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत॥ १०॥

अ॒न्नाद्ये॑न॒ यशसा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒से॑न॥ ११॥

भाष्यम्—(अष्टाविंशानि) हे परमेश्वर! भवत्कृपयाऽष्टाविंशानि (शिवानि) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद्दशेन्द्रियाणि, दश प्राणाः, मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति। (शग्मानि सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्यां) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्ताम्। तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्रपद्ये) प्राप्य (क्षेमं च प्रपद्ये) क्षेमं प्राप्य योगं च प्रपद्ये। यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेदेतदर्थं सततं नमोऽस्तु ते॥ ८॥

(इन्द्रा०) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि (भूयान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन बहुरसि तथा (अरात्याः) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद् भूयान्निवारकोऽसि (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्चासि। (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां वयं सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्महे इति॥ ९॥

अत्र प्रमाणम्—

वाचो नामसु शचीति पठितम्॥ निघंटु अ० १। खं० ११॥ **तथा— कर्मणां नामसु शचीति पठितम्॥** निघं० अ० २। खं० १॥ **तथा— प्रजानामसु शचीति पठितम्॥** निघं० अ० ३। खं० ९॥

ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत। उपासक एवं जानीयाद्वदेच्च—हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोऽस्तु भवतु॥ १०॥

(अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनायान्नादिराज्यैश्वर्य्येण (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानोद्भूतसत्यकीर्त्त्या (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येण च (ब्राह्मवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर! त्वं कृपया सदैव (पश्य) सम्प्रेक्षस्वैतदर्थं वयं त्वां सर्वदोपास्महे॥११॥

भाषार्थ—(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर! आपकी कृपा से मुझको उपासनायोग प्राप्त हो तथा उससे मुझको सुख भी मिले। इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये अट्ठाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें तथा हम भी (योगं०) उस योग के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं। इसलिये हम लोग रात दिन आपको नमस्कार करते हैं॥ ८॥

(भूयानरात्याः०) हे जगदीश्वर! आप (शच्या) सब प्रजा, वाणी, कर्म इन तीनों के पति हैं तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं। जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्टप्रजा, मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं तथा आपको (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूः) सब सामर्थ्यवाले जान के हम लोग आपकी उपासना करते हैं॥ ९॥

(नमस्ते अस्तु०) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—हे उपासक लोगो! तुम मुझको प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो। फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हमको सदा देखिये। इसलिये हम लोग आपको सदा नमस्कार करते हैं॥ १०॥ कि—

(अन्नाद्येन) अर्थात् अन्न आदि ऐश्वर्य्य (यशसा) सबसे उत्तम कीर्ति (तेजसा) भय से रहित (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये। इसलिये हम लोग सदा आपकी उपासना

करते हैं॥ ११॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्॥ १२॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्॥ १३॥
उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम्॥ १४॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्॥ १५॥

अथर्व० कां० १३। अनु० ४। मं० ४७-५३॥

भाष्यम्—(हे ब्रह्मन्) (अम्भः) व्यापकं शान्तस्वरूपं जलवत् प्राणस्यापि प्राणम्, आप्लृधातोरसुन्प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः (अमः) ज्ञानस्वरूपम् (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरं (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण वयं सततमुपास्महे॥ १२॥

(अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः, अस्यार्थ उक्तः। (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम् (रजतम्) रागविषयमानन्दस्वरूपम् (रजः) सर्वलोकैश्वर्यसहितम् (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योऽर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति॥ १३॥

(उरुः) सर्वशक्तिमान् (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद्भुवः (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वा) त्वां (उपास्महे वयम्)॥ १४॥

बहुनामसु उरुरिति प्रत्यक्षमस्ति॥ निघण्टु अ० ३। खं० १॥

(प्रथः) सर्वजगत्प्रसारकः (वरः) श्रेष्ठः (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति (लोकः) लोक्यते सर्वैर्जनैर्लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे॥ १५॥

भाषार्थ—(अम्भः) हे भगवन्! आप सबमें व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देनेवाले हैं (महः) सब के पूज्य, सब से बड़े और (सहः) सबके सहन करनेवाले हैं (इति) इस प्रकार का (त्वा) आपको जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं॥ १२॥

(अम्भः) दूसरी वार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है। (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करनेवाले तथा (रजतम्)

प्रीति के परम हेतु आनन्दस्वरूप (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य से युक्त (सहः) (इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है) और सहनशक्ति वाले हैं। इसलिये हम लोग आपकी उपासना निरन्तर करते हैं॥ १३॥

(उरु०) आप सब बलवाले (पृथुः) अर्थात् आदि अन्त रहित तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्त्तमान और (भुवः) अवकाशस्वरूप से सबके निवासस्थान हैं। इस कारण हम लोग उपासना करके आपके ही आश्रित रहते हैं॥ १४॥

(प्रथो वरो०) हे परमात्मन्! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं, (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करनेवाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं॥ १५॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥ १६॥ ऋ० अ० १। अ० १। व० ११। मं० १॥

भाष्यम्—(युञ्जन्ति०) ये योगिनो विद्वांसः (परितस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा (चरन्तं) ज्ञातारं सर्वज्ञम् (अरुषं) अहिंसकं करुणामयम् 'रुष हिंसायाम्' (ब्रध्नं) विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते। इति प्रथमोऽर्थः।

अथ द्वितीयः—(परि त०) चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः सर्वे पदार्थाश्च (युञ्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति। एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे रोचनाः रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते। इति द्वितीयोऽर्थः।

अथ तृतीयः—य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो (युञ्जन्ति) युक्तं कुर्वन्ति, अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरं (रोचन्ते) सदैव प्रकाशन्ते॥ १६॥

अत्र प्रमाणानि—

मनुष्यनामसु तस्थुषः पञ्चजनाः इति पठितम्॥

निघं० अ० २। खं० ३॥

महत्, ब्रध्न, महन्नामसु पठितम्॥ निघं० अ० ३। खं० ३॥

तथा युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति। असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै॥

श० कां० १३। अ० २॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः॥ १॥ प्रश्नोपनि० प्रश्न १। मं० ५॥

परमेश्वरात् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमेऽर्थे योजनीयनाम्। तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति। एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च। क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते। परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधादेकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च।

एवं सति भट्टमोक्षमूलरैर्ऋग्वेदस्येङ्गलेण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद् भ्रान्तिमूलमेवास्ति। सायणाचार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यगस्ति। परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायमर्थ आकाशाद्वा पातालाद् [वा] गृहीतः। अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति॥ १६॥

भाषार्थ—(युञ्जन्ति०) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है, इसीलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सब का जाननेवाला (अरुषं) हिंसादि दोषरहित कृपा का समुद्र (ब्रध्नं) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है। इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा, सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूट के (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं। इति प्रथमोऽर्थः।

अब दूसरा अर्थ करते हैं कि—(परितस्थुषः) जो सूर्य्यलोक, अपनी किरणों से सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नं) सबसे बड़ा और (अरुषं) रक्तगुणयुक्त है और जिसके आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं, (रोचनाः) जिसके प्रकाश से सब पदार्थ

प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान् लोग उसी को सब लोकों के आकर्षणयुक्त जानते हैं। इति द्वितीयोऽर्थः।

(युञ्जन्ति०) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि—सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं सो देख लेना॥ १६॥

इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है, सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफेसर मोक्षमूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की है।

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते—तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चैकाग्रीकृत्य सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य तत्रात्मानं नियोज्य च तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः पुनः स्वात्मानं संलगयेत्। अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः। तद्यथा—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १॥ अ० १। पा० १। सू० २॥

उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति॥१॥

निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ २॥ अ० १। पा० १। सू० ३॥

यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते, तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते॥ २॥

यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसाकारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते, तदा सांसारिजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ३॥ अ० १। पा० १। सू० ४॥

इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता

धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति। नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति॥ ३॥

कति वृत्तयः सन्ति, कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥ ४॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ ५॥

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ६॥

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ७॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ८॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ ९॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः॥ १०॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ ११॥

अ० १। पा० १। सू० ५-१२॥

उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ १२॥ अ० १। पा० १। सू० २३॥

भाष्यम्—प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति॥ १२॥

भाषार्थ—अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—

जब जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षणवाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगा कर, सम्यक् चिन्तन करके, उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके, अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनि जी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं—

(योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के, शुभ

गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फस के उससे दूर हो जाना॥ १॥

प्रश्न—जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती है?

इसका उत्तर यह है कि—(तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बाँध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है॥ २॥

और दूसरा यह है कि—(वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की [वृत्ति] तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फसती जाती है॥ ३॥

(वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त; परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित, और जो पूर्वोक्त उपासक हैं, उनकी क्लेशरहित शान्त होती है॥ ४॥

वे पांच वृत्ति ये हैं—पहिली (प्रमाण), दूसरी (विपर्य्यय), तीसरी (विकल्प), चौथी (निद्रा) और पांचमी (स्मृति)॥ ५॥

उनके विभाग और लक्षण ये हैं—(तत्र प्रत्यक्षा०) इसकी व्याख्या वेदविषय के होमप्रकरण में लिख दी है॥ ६॥

(विपर्य्ययो०) दूसरी विपर्य्यय कि जिससे मिथ्याज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको **विपर्य्यय** कहते हैं॥ ७॥

तीसरी विकल्पवृत्ति (शब्दज्ञाना०) जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन

के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींगवाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को **विकल्प** कहते हैं। सो झूठी बात है अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम **विकल्प** है॥ ८॥

चौथी (निद्रा) अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फसी हो, उस वृत्ति का नाम **निद्रा** है॥ ९॥

पांचमी (स्मृति) (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता और उस विषय को (अप्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को **स्मृति** कहते हैं॥ १०॥

इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि—(अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना॥ ११॥

तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०) ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है॥ १२॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥ १३॥

अ० १। पा० १। सू० २४॥

भाष्यम्—अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयाः, ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किं निमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तमेतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति॥ १३॥

किं च—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥१४॥ अ० १। पा० १। सू० २५॥

भाष्यम्—यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पंबह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्—ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्—आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति॥१४॥

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ १५॥

अ० १। पा० १। सू० २६॥

भाष्यम्—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते। यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः॥ १५॥

तस्य वाचकः प्रणवः॥ १६॥ अ० १। पा० १। सू० २७॥

भाष्यम्—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति? स्थितोऽस्य वाच्यस्य

वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते—अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते॥ १६॥

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ १७॥ अ० १। पा० १। सू० २८॥

भाष्यम्—प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ १७॥ इति

भाषार्थ—अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो वासना, इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं। फिर वह कैसा है? जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनन्दज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं॥ १३॥

क्योंकि (तत्र निरति०) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें॥ १४॥

अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—(तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है॥ १६॥

इसलिये (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता,

प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय॥

फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि—

किं चास्य भवति—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ १८॥

अ० १। पा० १। सू० २९॥

भाष्यम्—ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति॥ १८॥

अथ केऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपकाः। के पुनस्ते कियन्तो वेति—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ १९॥

अ० १। पा० १। सू० ३०॥

भाष्यम्—नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति। पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानम्, स्यादिदम् एवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्य्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमलाः, योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते॥ १९॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ २०॥

अ० १। पा० १। सू० ३१॥

भाष्यम्—दुःखमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्। दौर्मनस्यम्—इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति

स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहित-चित्तस्यैते न भवन्ति॥ २०॥

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः, ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥२१॥ अ० १। पा० १। सू० २३॥

भाष्यम्—विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत्। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं, तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तं यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः, तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृश-प्रत्ययप्रवाही वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायरेन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत्। अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्। कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति। किंच स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति। कथम्, यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि, यच्चास्पार्क्षं तत्पश्यामीति। अहमिति प्रत्ययः [सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः। एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माहमिति प्रत्ययः] कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्? स्वानुभवग्राह्यश्चायम- भेदात्मा अहमिति प्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभि-भूयते। प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थ-मवस्थितं च चित्तम्॥ २१॥

य [स्य चित्तस्यावस्थित] स्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्—

भाषार्थ—इस मनुष्य को क्या होता है? (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति, और (अन्तराय) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है॥ १८॥

वे विघ्न नव प्रकार के हैं—(व्याधि) एक व्याधि अर्थात् धातुओं

की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना। (दूसरा) (स्त्यान) अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति। (तीसरा) (संशय) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न होना। (चौथा) (प्रमाद) अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना। पांचवां (आलस्य) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना। (छठा) (अविरति) अर्थात् विषय सेवा में तृष्णा का होना। (सातवां) (भ्रान्ति-दर्शन) अर्थात् उलटे ज्ञान का होना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना। (आठवां) (अलब्धभूमिकत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना और (नववां) (अनवस्थितत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना। ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं॥ १९॥

अब इनके फल लिखते हैं—(दुःखदौर्म०) अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कंपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्तवाले को नहीं॥ २०॥

और उनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि—(तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश करने का वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायें॥ २१॥

आगे जिस भावना से उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम्॥ २२॥ अ० १। पा० १। सू० ३३॥

भाष्यम्—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते॥ २२॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ २३॥

अ० १। पा० १। सू० ३४॥

भाष्यम्—कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनं विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्। छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया॥ २३॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २४॥

अ० १। पा० १। सू० २८।

एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति॥ २४॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा-वङ्गानि॥ २५॥ अ० १। पा० २। सू० २९॥

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ २६॥

अ० १। पा० २। सू० ३०॥

भाष्यम्—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकारणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेत्, इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रकृतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनर-स्पृहाख्यमस्तेयमिति।

ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरक्षणक्षय-सङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते।

भाषार्थ—(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना। इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है॥ २२॥

(प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है। इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये॥ २३॥

(योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है॥ २४॥

(यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पांचवाँ (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवां (ध्यान) और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है॥ २५॥

(तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला **यम** है। सो पांच प्रकार का है एक (अहिंसा०) अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्त्तना। दूसरा (सत्य)—अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तीसरा (अस्तेय)—अर्थात् पदार्थवाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरी त्याग कहते हैं। चौथा (ब्रह्मचर्य्य)—अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह करना, परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना,

सदा ऋतुगामी होना; विद्या को ठीक ठीक पढ़ के सदा पढ़ाते रहना; और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। पांचवां (अपरिग्रह)—अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना। इन पांचों का ठीक ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है॥ २६॥

दूसरा अङ्ग उपासना का **नियम** है जो कि पांच प्रकार का है—

ते तु—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ २७॥

अ० १। पा० २। सू० ३२॥

शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम्। सन्तोषो धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया। तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्। [स्वाध्यायः] वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणमित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम्॥ २७॥

अथाहिंसाधर्मस्य फलम्—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ २८॥

अथ सत्याचरणस्य फलम्—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ २९॥

अथ चौरीत्यागफलम्—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ ३०॥

अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते, तदुच्यते—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३१॥

अथापरिग्रहफलमुच्यते—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः॥ ३२॥

अथ शौचानुष्ठानफलम्—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ३३॥

किं च—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ३४॥

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥ ३५॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ३६॥

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः॥ ३७॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ ३८॥

योग० अ० १। पा० २। सू० ३५-४५॥

भाषार्थ—(पहिला) (शौच)—अर्थात् पवित्रता करनी सो भी दो प्रकार की है—एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (दूसरा) (सन्तोष)—जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (तीसरा) (तपः)—जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। (चौथा) (स्वाध्याय)—अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और (पांचवां) (ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना। ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग हैं॥ २७॥

अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं—(अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है किन्तु उसके सामने वा उसके सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है॥ २८॥

(सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे वे सब सफल हो जाते हैं॥ २९॥

चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज

को कपट से वा छिपाकर ले लेना॥ ३०॥

(ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है॥ ३१॥

(अपरिग्रहस्थ०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ और मुझको क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पाँच यम कहाते हैं। इनका ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये॥ ३२॥

परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अङ्ग कहाता है, और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उनमें से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है—

(शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं, इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है॥ ३३॥

और उसका फल यह है कि (किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है॥ ३४॥

तदनन्तर (सन्तोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त सन्तोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं॥ ३५॥

(कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहते हैं॥ ३६॥

तथा (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है फिर परमेश्वर के अनुग्रह का

सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है॥ ३७॥

तथा (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है॥ ३८॥ तथा—

तत्र स्थिरसुखमासनम्॥ ३९॥ अ० १। पा० २। सू० ४६॥

भाष्यम्—तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्य्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्येवमादीनि। पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्य्यात्॥ ३९॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ ४०॥ अ० १। पा० २। सू० ४८॥

भाष्यम्—शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते॥ ४०॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ ४१॥
अ० १। पा० २। सू० ४९॥

भाष्यम्—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कोष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः।

आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलय वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः॥ ४१॥

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ-सूक्ष्मः॥ ४२॥ अ० १। पा० २। सू० ५०॥

भाष्यम्—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वास-पूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति।

बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति। किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु, बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः। तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तःप्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः। एवं बाह्याभ्यन्तराभ्या-

मनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्सम्रोधो यः क्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः॥ ४२॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ४३॥

अ० १। पा० २। सू० ५१॥

भाष्यम्—देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाऽऽभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्त उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति।

यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते। तद्यथा यदोदराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते तं संलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः। पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्त-माभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः। एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते स चतुर्थः प्राणायामः। यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः। यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः॥ ४३॥

भाषार्थ—(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको **आसन** कहते हैं अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे॥ ३९॥

(ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है॥ ४०॥

(तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है, उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने आने को विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को **प्राणायाम** कहते हैं॥ ४१॥

और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है—(स तु बाह्या०) अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति॥ ४२॥

और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय है। वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे, इसको **प्रथम प्राणायाम** कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके, उतना भीतर ही रोक दे, इसको **दूसरा प्राणायाम** कहते हैं। **तीसरा स्तम्भवृत्ति** है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उसको जहाँ का तहाँ, ज्यों का त्यों एकदम रोक दे और **चौथा** यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे, तब उसको भीतर ही थोड़ा रोकता रहे, इसको **बाह्याभ्यन्तराक्षेपी** कहते हैं और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे॥ ४३॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥४४॥ अ० १। पा० २। सू० ५२॥

भाष्यम्—एवं प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सत्य-विवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति, तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति॥ ४४॥

किंच—धारणासु च योग्यता मनसः॥ ४५॥

अ० १। पा० २। सू० ५३॥

भाष्यम्—प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति॥ ४५॥

अथ कः प्रत्याहारः-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ ४६॥ अ० १। पा० २। सू० ५४॥

भाष्यम्—यदा चित्तं जितं भवति, परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति, तदेन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यपि, अर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम्॥ ४६॥

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ४७॥ अ० १। पा० २। सू० ५५॥

भाष्यम्—ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषया-न्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद्विजयो जायते। स उपासको

यदा यदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते, तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोतीति॥ ४७॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ ४८॥ अ० १। पा० ३। सू० १॥

भाष्यम्—नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति। बन्धो धारणा बाह्यविषयेऽर्थादोंकारे बिन्दौ वा॥ ४८॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ ४९॥ अ० १। पा० ३। सू० १॥

भाष्यम्—तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेण परामृष्टो ध्यानम्॥ ४९॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ ५०॥

अ० १। पा० ३। सू० ३॥

भाष्यम्—ध्यानसमाध्योरयं भेदः, ध्याने मनसो ध्यातृध्यान-ध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति। समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति॥ ५०॥

त्रयमेकत्र संयमः॥ ५१॥ अ० १। पा० ३। सू० ४॥

भाष्यम्—तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एक-विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति। संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम्॥ ५१॥

भाषार्थ—(ततः) इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण=ढांपनेवाला जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है॥ ४४॥

उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि—(किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता है। उसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना॥ ४५॥

(स्वविषया०) **प्रत्याहार** उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलानेवाला है॥ ४६॥

(ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं॥ ४७॥

(देशबं०) जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। **'धारणा'** उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना॥ ४८॥

तथा (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम **ध्यान** है॥ ४९॥

इन सात अङ्गों का फल समाधि है—(तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को **समाधि** कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करनेवाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है॥ ५०॥

(त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को **संयम** कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है॥ ५१॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ १॥

कठोपनि० वल्ली० २। मं० २४॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ २॥

मुण्ड० १। खं० २। मं० ११॥

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा-काशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥ ३॥

तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डीरकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥ ४॥

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्या-चन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति॥ ५॥

तं चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वंꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति॥ ६॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति, न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति॥ ७॥

छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८। मं० १-५॥

अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते।

भाषार्थ—यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर, अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की

प्राप्ति कभी नहीं हो सकती॥ १॥

(तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सबसे सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके, सदा आनन्द में रहते हैं॥ २॥

जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि—(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर से ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है॥ ३॥

और कदाचित् कोई पूछे कि—(तं चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है, जिसकी खोजना की जाय?॥ ४॥

तो उसका उत्तर यह है कि—(स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्रलोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखनेवाले और नहीं दीखनेवाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं॥ ५॥

(तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं, उस हृदयदेश में वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उसके बीच में क्या बाकी रह जाता है कि

जिसको तुम खोजने को कहते हो॥ ६॥

तो उसका उत्तर यह है कि (स ब्रूयात्०) सुनो भाई! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है, उसको न तो कभी वृद्धावस्था होती है, और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिसमें सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह (अपहतपाप्मा) अर्थात् सब पापों से रहित, शुद्धस्वभाव, (विजरः) जरा अवस्थारहित, (विशोकः) शोकरहित, (विजिघत्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिसके सब काम सत्य हैं, (सत्यसङ्कल्पः) जिसके सब संकल्प भी सत्य हैं। उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना के उपासक लोग जिस जिस काम की, जिस जिस देश की, जिस जिस क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं, उन सबको वे यथावत् प्राप्त होते हैं॥ ७॥

सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति—एका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति। तद्यथा—(स पर्य्यागच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रं शुद्धमिति सगुणोपासनम्। अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च। तथा—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ १॥

एको देव इत्यादि सगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्। तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा—परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात्परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्। तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, अव्रणः छेदरहितः, निराकार आकाररहितः, अकायःशरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम्।

अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति, सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति। तस्मात्सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम्।

भाषार्थ—सो उपासना दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से (स पर्य्यगा०) इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचनेवाला, वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है। तथा (एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण, और (निर्गुणश्च) इसके कहने से निर्गुण समझा जाता है तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सब का आधार, मङ्गलमय, सब की उत्पत्ति करनेवाला और सब का स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा चौड़ा हलका भारी कभी नहीं होता, इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव के विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये। किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्॥

अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञान-धर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति। अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि। तद्यथा—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥ १॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥ २॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ ३॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ ४॥

सुखानुशयी रागः॥ ५॥

दुःखानुशयी द्वेषः॥ ६॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ ७॥

अ० १। पा० २। सू० ३-९॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्॥ ८॥

अ० १। पा० २। सू० २५॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ९॥

अ० १। पा० ३। सू० ५०॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति॥ १०॥

अ० १। पा० ३। सू० ५५॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ ११॥

अ० १। पा० ४। सू० २६॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ १२॥ अ० १। पा० ४। सू० ३४॥

अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥ १॥

बाधनालक्षणं दुःखमिति॥ २॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ ३॥

न्यायद० अ० १। आह्निक १। सू० २। २१, २२॥

भाषार्थ—इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त होता है। अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं। पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से, नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं—

(अविद्या०) एक (अविद्या), दूसरा (अस्मिता), तीसरा (राग), चौथा (द्वेष) और पांचवां (अभिनिवेश)॥ १॥

(अविद्याक्षेत्र०) उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं॥ २॥

अविद्या के लक्षण ये हैं—(अनित्या०)अनित्य अर्थात् कार्य्य जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर में नित्यबुद्धि; तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्यबुद्धि का होना, यह **अविद्या का प्रथम भाग** है।

तथा (अशुचि) मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना, तथा तलाब, बावरी, कुण्ड, कूंआ और नदी आदि में तीर्थ पर पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना; एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना; स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह **अविद्या का दूसरा भाग** है।

तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःख रूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना, यह **अविद्या का तीसरा भाग** है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभावना और चेतन में जड़भावना करना, **अविद्या का चतुर्थ भाग** है।

यह **चार प्रकार की अविद्या** संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है।

परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मा बुद्धि करना यह **चार प्रकार की विद्या** है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बंधन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है॥ ३॥

(दृग्दर्शन०) दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना; अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को **अस्मिता** जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है॥ ४॥

तीसरा (सुखानु०) राग, अर्थात् जो जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम **राग** है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोगवियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है॥ ५॥

(दुःखानु०) चौथा **द्वेष** कहाता है अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है॥ ६॥

(स्वरसवा०) पांचवां (अभिनिवेश) क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्व जन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्व जन्म भी

सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे छोटे कृमि चिंवटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को **अभिनिवेश** कहते हैं। जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है॥ ७॥

(तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है॥ ८॥

(तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके अब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उनके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता॥ ९॥

तथा (सत्त्वपुरुष०) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं॥ १०॥

(तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्ष धर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण होता जाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है, तबतक उसको मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है॥ ११॥

कैवल्यमोक्ष का लक्षण यह है कि—(पुरुषार्थ०) अर्थात् कारण के सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण और उनके सब कार्य्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके, स्वरूपप्रतिष्ठा अर्थात् जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप, विज्ञान, प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्यमोक्ष कहते हैं॥१२॥

अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं—

(दुःखजन्म०) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे (प्रवृत्ति) अर्थात् अधर्म,

अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है। उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता। उसके न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है। इसी का नाम **मोक्ष** है॥ १॥

(बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है॥ २॥

(तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है, उसी सुख का नाम मोक्ष है॥ ३॥

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि—

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ १॥
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ २॥
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥ ३॥

अ० ४। पा० ४। सू० १०-१२॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ १॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ २॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ ३॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥ ४॥

कठो०। वल्ली ६। मं० १०, ११, १४, १५॥

दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ ५॥

य एते ब्रह्मलोके, तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः, स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच॥ ६॥

यदान्तरापस्तद् ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा, प्रजापतेः सभां वेश्म

प्रपद्ये, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि, स हाहं यशसां यशः०॥ ७॥

छान्दो० प्रपा० ८॥

अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳस्पृष्टो [अनु] वित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः॥ ८॥
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च॥ ९॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन॥ १०॥

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।
मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्॥ ११॥
विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥ १२॥

श० कां० १४। अ० ७॥

भाषार्थ—अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखे हैं, सो आगे लिखते हैं—

(अभावं०) व्यास जी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे, उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि—जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है॥ १॥

तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यास जी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि—जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में **'स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति'** इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्त जीव संकल्पमात्र से ही दिव्य शरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है॥ २॥

(द्वादशाह०) इस मुक्तिविषय में बादरायण जो व्यास जी थे, उनका ऐसा मत है कि—मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं अर्थात्

क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इसमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है, उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है। इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है।

अब मुक्तिविषय में उपनिषत्कारों का जो मत है, सो भी आगे लिखते हैं कि—

(यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं, और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं॥१॥

(तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है, तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करने वाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है। इसलिये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है॥ २॥

(यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है।

प्रश्न—क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थ विशेष है? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में?

उत्तर—नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है और मुक्तपुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥३॥

तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं, तभी वह मुक्ति को प्राप्त होते हैं॥ ४॥

प्रश्न—जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता है?

उत्तर—(दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोक्ता होकर उसमें सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियाँ प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं॥ ५॥

प्रश्न—वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है।

उत्तर—(य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं, वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मारूप परमेश्वर की उपासना करते हुए, उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उनका जाना आना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उनके लिये कहीं रुकावट नहीं रहती और उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम खंडित वा अपूर्ण नहीं रहता। इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सबका आत्मा जान के, उसकी उपासना करता है, वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है॥ ६॥

पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये।

(यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है। और जैसे वह सबका अन्तर्यामी है, वैसे उसका अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आप ही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं। और इस संसार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं, उनके बीच में (यशः) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं तथा (राज्ञां) क्षत्रियों (विशां) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच में यशस्वी होऊं। हे परमेश्वर! मैं कीर्तियों का भी कीर्तिरूप होके आपको प्राप्त हुआ चाहता हूँ। आप भी कृपा करके मुझको सदा अपने समीप रखिये॥ ७॥

अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं—(अणुःपन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है, सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है। (विततः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुँच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है, वह प्राचीन है, दूसरा कोई नहीं। मुझ को (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीराः)

अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित् वेदविद्या और परमेश्वर के जानने वाले जीव, (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लंघन करके (स्वर्गं लोकम्) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं॥ ८॥

(तस्मिञ्छुक्ल०) अर्थात् उसी मोक्षपद में शुक्ल=श्वेत, (नीलम्) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गलम्) किंचित् पीला और श्वेत, (हरितम्) हरा और (लोहितम्) लाल ये सब गुण वाले लोक-लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला, तथा (तैजसः) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं॥ ९॥

(प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न, और मन का मन है, जो विद्वान् उसको जानते हैं और उसी का यथावत् निश्चय करते हैं वे पुरातन और सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होके, प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं। (नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है॥ १०॥

(मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है, वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्ममरण को प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक होके सब में स्थिर है उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है॥ ११॥

(विरजः पर आ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परम सूक्ष्म, (अजः०) अर्थात् जन्म रहित, और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है। ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल करें। और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है॥ १२॥

स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वमह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कंचन न तदश्नोति कश्चन॥ १३॥

श० कां० १४। अ० ६। क० ८१॥

इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदा सुखी भवतीति बोध्यम्।

अथ वैदिकप्रमाणम्—

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ १॥

ऋ० अ० ८। अ० २। व० १। मं० १॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ २॥

य० अ० ३२। मं०१०॥

भाष्यम्—अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम्। एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते।

भाषार्थ—(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, दीर्घ, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, वाक्, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकास, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोषों और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता, और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण, सबसे अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है। उसको प्राप्त होने वाला [बाह्य साधन] कोई नहीं हो सकता जैसे द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है। क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है॥ १३॥

तथा (ये यज्ञेन०) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं। (इन्द्रस्य०) जो परमेश्वर के सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। (अङ्गिरसः) अर्थात् उनके जो प्राण हैं, वे (सुमेधसः) उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं। और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से

एक-दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं॥ १॥

(स नो बन्धुः०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, (जनिता०) सब सुखों को उत्पन्न और पालन करने वाला है तथा वही सब कामों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं॥ २॥

इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया और कुछ आगे भी कहीं कहीं करेंगे, सो जान लेना। जैसे 'वेदाहमेतं' इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः॥

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः॥१॥
तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः॥२॥

ऋ० अ० १। अ० ८। व० ८। मं० ३, ४॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—तुग्रो हेत्यादिषु शिल्पविद्या विधीयत इति।

(तुग्रो ह) 'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु' अस्माद्धतोरौणादिके 'रक्' प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते। यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत्, स (रयिम्) धनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमयं धनादिपदार्थ-भोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात्। स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठलोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽ-ग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत्। एवं कुर्वन् (न कश्चित् ममृवान्) योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः? तस्य कृतपुरुषार्थत्वात्। अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्य्यात्। कौ साधयित्वा? (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया। अश्विनौ युवां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः। पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः। कथंभूतैर्यानैः—(नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतु-रूपाभिः, (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः, स्वात्मीयस्थिताभिर्वा। राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः। तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि। एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्य्यं सम्यक्

प्रापणीयम्। पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः—(अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सच्चिक्कनास्ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात्। तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति। अत्र प्रमाणम्—

अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके॥ निरु० अ० १२। खंड १॥

तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरी भर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ॥ उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे॥ निरु० अ० १३। खं० ५॥

एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति॥ १॥

(तिस्रः क्षपस्त्रिरहा०) कथंभूतैर्नावादिभिः—तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, अतिव्रजद्भिः अत्यन्तवेगवद्भिः। पुनः कथम्भूतैः—(पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभी रथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत्ताद्दशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि, तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः। तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह—(नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम्। अत एवोक्तं 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ'। तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात्। अत्र प्रमाणम्—

व्यत्ययो बहुलम्॥ अष्टाध्याय्याम् अ० ३। पा० १। [८५]॥

अत्राह महाभाष्यकारः—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

इति महाभाष्यप्रामाण्यात्।

तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहतः, इत्यत्र सामान्यकाले लिङ्विधानात्, ऊहथुरित्युक्तम्। तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः। एवं कुर्वन्तो भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति॥ २॥

भाषार्थ—अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है—

(तुग्रो ह०) तुजिधातु से 'रक्' प्रत्यय करने से तुग्र शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करनेवाला और स्थानवाला है। क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ में वर्त्तमान हैं। जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस जिस स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे, उन सभों का नाम 'तुग्र' है। (रयिं) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है, उसका जिनसे पालन और भोग होता है, उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे। (अश्विना) जो कोई सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के, उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के, व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि में (अवाहाः) आवे जावे, तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है, वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता।

वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं—अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं, वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं। वेदोक्तयुक्ति से सिद्ध किये हुए नाव, विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशान्तर में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से 'ऊहतुः' इसके स्थान में 'ऊहथुः' ऐसा प्रयोग किया गया है।

उनसे किस किस प्रकार की सवारी सिद्ध होती है, सो लिखते हैं—(नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं, (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में

जावें आवें। तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें, जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहले कह आये और जो आगे कहेंगे, उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना, उसका अर्थ यह है—

(अथातो द्युस्थाना दे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त होके व्याप्त हो रहा है। 'अश्वैः' अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो, वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें, यह और्णवाभ आचार्य्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि 'अहोरात्रौ' अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इनसे भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्प विद्या जाननेवाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि **'सूर्य्याचन्द्रमसौ'** सूर्य्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग वियोग, वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा 'जर्भरी' और 'तुर्फरीतू' ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। जर्भरी अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और तुर्फरीतू अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं, वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। 'उदन्यजे' अर्थात् वायु, अग्नि और

जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है॥१॥

(तिस्रः क्षपस्त्रि०)। (नासत्या०) जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं, वे (भुज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिनके वेग से तीन दिन रात में (समुद्र०) सागर (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजद्भि०) सूखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं। (त्रिभी रथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये। तथा (षडश्वैः) छः अश्व अर्थात् उनमें अग्नि और जल से छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतङ्गैः) जिनसे तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है॥२॥

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे। यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥ ३॥

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति। तद्वां दात्रं महि कीर्त्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः॥४॥

ऋ० अष्ट० १। अ० ८। व० ८, ९। मं० ५, १२॥

भाष्यम्—हे मनुष्याः! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (अनारम्भणे) आलम्बरहिते (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे, अन्तरिक्षे वा, कार्य्यसिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति। अश्विना ऊहथुर्भुज्युमिति पूर्ववद् विज्ञेयम्। तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तं) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति। कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत्? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम्। एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम्। तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भन-साधनं च रचनीयमिति। तद्यानैः कथम्भूतं (भुज्युं) भोगं प्राप्नुवन्ति? (तस्थिवांसं) स्थितिमन्तमित्यर्थः॥३॥

यद्यस्मादेवं भोगो जायते, तस्मादेव सर्वमनुष्यैः प्रत्यनः कर्त्तव्यः (यमश्विना) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वम् (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय, शिल्पविद्याविदो मनुष्याः

प्राप्नुवन्ति, तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति। (शश्वत्०) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति। तद्यानसिद्धिं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति। (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः। तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते, तत् कीदृशम्? (दात्रं) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम्, (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम्। कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वन इति 'केन्य'प्रत्ययः। अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकं (भूत्) अभूत् भवतीति। अत्र लडर्थे लुङ् विहित इति वेद्यम्। स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति।

पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी॥ निघ० अ० १। खं० १४॥

(सदमित्) यः सदं वेगं इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योऽस्ति। (अर्यः) तमश्वमर्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात्। 'अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः' इति पाणिनिसूत्रात्, अर्य्यो वैश्य-स्वामिवाचीति॥ ४॥

त्रयः॑ प॒वयो॑ मधु॒वाह॑ने॒ रथे॒ सोम॑स्य वे॒नामनु॒ विश्व॒ इद्वि॑दुः। त्रयः॑ स्क॒म्भासः॑ स्कभि॒तास॑ आ॒रभे॒ त्रिर्नक्तं॒ या॒थस्त्रिर्व॑श्विना॒ दिवा॑॥ ५॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। वर्ग ४। मं० २॥

भाष्यम्—(मधुवाहने०) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः। तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः (स्कभितासः) किमर्थाः, सर्वकलानां स्थापनार्थाः (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनां) कमनीयां कामनासिद्धिं (विदुः) जानन्त्येव। अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः। कुतः? तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति। तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तं, त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम्॥ ५॥

भाषार्थ—(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्य्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो। (तद्वीरयेथाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते हैं। (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और

समुद्र में विना आलम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई भी नहीं मिल सकता, (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है, उनमें किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें। (यदश्विनौ ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है, वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है। क्योंकि (अस्तं) जो उनसे चलाया जाता है, वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्य्यों को सिद्ध करता है। (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने, उनके थांभने और वायु विघ्नों से रक्षा के लिये लोहे आदि के लंगर भी रखना चाहिये, जिनसे जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे। इसी प्रकार उनमें सैकड़ह कलबन्धन और थांभने के साधन रखने चाहियें। इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं॥ ३॥

(यमश्विना०) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं, उनके संयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देनेवाला होता है। जिससे कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं, जिस वेग की हानि नहीं हो सकती, उसको जितना बढ़ाना चाहे उतना बढ़ सकता है। (शश्वदित्स्वस्ति) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है। (ददथुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है, उसको मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें। (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त पदार्थों ही में है। (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) अर्थात् बड़े बड़े शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों का उपकार करनेवाला (भूत्) है। क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलानेवाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है। (हव्यः) वह ग्रहण और दान के योग्य है। (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इसको अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना आना कठिन है॥ ४॥

यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०)

जिसमें तीन पहिये हों, जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय, और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे। (त्रयः स्कम्भासः) उनमें तीन तीन थम्भे ऐसे बनाने चाहियें कि जिनके आधार सब कलायन्त्र लगे रहें। तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें, (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है, उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पिविद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उसके आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं। (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं॥ ५॥

त्रिर्नो॑ अश्विना यज॒ता दि॒वेदि॑वे॒ परि॑ त्रिधा॒तु पृ॑थि॒वी-म॑शायतम्। ति॒स्रो ना॑सत्या रथ्या परा॒वत॑ आ॒त्मेव॒ वात॒ः स्वस॑राणि गच्छतम्॥ ६॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ५। मं० १॥

अ॒रि॒त्रं वां दि॒वस्पृ॒थु ती॒र्थे सिन्धू॑नां॒ रथ॑ः। धि॒या यु॑युज्र इन्द॑वः॥ ७॥ ऋ० अ० १। अ० ३। व० ३४। म० ३॥

वि ये भ्राज॑न्ते॒ सुम॑खास ऋ॒ष्टिभि॑ः प्रच्या॒वय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा। म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा वृष॑व्रातास॒ः पृष॑ती॒र-युग्ध्वम्॥ ८॥ ऋ० अ० १। अ० ६। व० ९। म० ४॥

भाष्यम्—यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं, तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह—(परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम्। इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह—(आत्मेव वातः०) आगमनागमने यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति, तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः॥६॥

तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह—(अरित्रं) स्तम्भनार्थं साधनयुक्तं, (पृथु) अतिविस्तीर्णम्। ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम्। (धियो यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि, येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति।

इन्दवः इति जलनामसु॥ निघण्टौ खण्डे १२ पठितम्।

उन्देरिच्चादेः॥ उणादौ प्रथमे पादे सूत्रम्॥ ७॥

हे मनुष्याः! (मनोजुवः) मनोवद् गतयो वायवो यन्त्रकला-चालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत। कथम्भूता अग्निवाय्वादयः? (आ वृषव्रातासः) जलसेचनयुक्ताः। येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते॥ ८॥

भाषार्थ—फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिये कि (त्रिर्नोअश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है, (परि त्रिधातु०) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं। और जैसे (रथ्या परावतः) नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना आना बनता है। वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र शीघ्र जाना आना होता है। (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें। जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें॥ ६॥

(अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुँचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, जो मनुष्य उन रथों में यन्त्र सिद्ध करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धियो युयुज्रे) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उसमें जलसेचन करना चाहिये, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलनेवाला यान सिद्ध हो॥ ७॥

(वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है, वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो। (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ और (आ वृषव्रातासः) उनके योग में जलों का भी स्थापन करो। (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं, वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके

सवारी सिद्ध करते हैं, वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले सब भोगों से युक्त होते हैं, (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं। क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टिभिः) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है। इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें॥ ८॥

आ नो नावा मतीनां यात पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम्॥ ९॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० १॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥१०॥
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥ ११॥ ऋ० अष्ट० २। अ० ३। व० २३। मं० १, २॥

भाष्यम्—समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि। (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति, तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत्। (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते, तथास्माभिरपि योजनीये भवतः। एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः। मेधाविनामसु, निघण्टौ [तृतीयेऽध्याये] १५ खण्डे **मतय इति पठितम्॥ ९॥**

हे मनुष्याः! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः (अपो वसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति, ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः॥ १०॥

(द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां

धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः। (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्। (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि रचनीयानि। तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः। (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हा अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि। तस्मिन्याने, एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम्। (क उ तच्चिकेत) इत्येतत्कृत्यं को विजानाति? (न) न हि सर्वे॥ ११॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते।

भाषार्थ—हे मनुष्यो! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय०) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है, वैसे ही (आ, युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो। (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको। (नः) हे मनुष्यो! आओ, आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें, जिनसे सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने॥ ९॥

(कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त कृष्ण अर्थात् खैंचनेवाला जो (नियानं) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुणरूप, (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन करानेवाले, जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपो वसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं। (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं, तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देनेवाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है, तब उससे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं॥ १०॥

(द्वादश प्रधयः) इन यानों में बारह थम्भे रचने चाहियें, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं। (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। (त्रीणि नभ्यानि) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें, कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें, और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उसमें तीन तीनसौ (शङ्कवः०) बड़ी बड़ी कीलें अर्थात् पेंच

लगाने चाहिये कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायं, और उनके निकालने से सब अलग अलग हो जायं। (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहिये, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें। अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो, तब भापघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिये, और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिये, और जो पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहिये। इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। (न) उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये। (क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं॥११॥

इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः॥

अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥१॥

ऋ० अष्ट० १। अ० ८। व० २१। मं० ५।

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति।

हे मनुष्याः! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारं) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतं) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, (अभिद्युं) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरं) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यम्, (शर्य्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम्? कस्मै प्रयोजनाय? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय। पुनः कथम्भूतं? (स्पृधां) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम्। पुनः कथम्भूतं? (चर्षणीसहम्) मनुष्यसेनायां कार्यसहनशीलम्। पुनः कथम्भूतं? (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम्। (युवं) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन। पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम्॥ १॥

भाषार्थ—(युवं पेदवे०) अभिप्राय—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि (द्यावापृथिव्योरित्येके) इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये।

(पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करनेवाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिये तारविद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेत०) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये। (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना

चाहिये (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रकाश होता और उल्लंघन करना अशक्य है। (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये, विद्युत् की उत्पत्ति करके उसको ताड़ना चाहिये। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है, उसको सिद्ध करके, प्रीति से सेवन करो। किस प्रयोजन के लिये? (पेदवे) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये, तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये। (चर्षणीसहं०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों के सहन करनेवाला है। (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है, वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों से ही सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है, अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये॥१॥

इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः॥

अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु।
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१॥

य० अ० ६। मं० २२॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति।

हे परमवैद्येश्वर! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया) अत्र इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम् इति वार्त्तिकेन 'जसः' स्थाने 'डियाच्' इत्यादेशः। सुमित्राः सुखप्रदा रोग-नाशकाः सन्तु, यथावद्विज्ञाताश्च। तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु। यथा (योऽस्मान्द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः (तस्मै०) दुर्मित्रियाः दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु। अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति। तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति॥ १॥

एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः।

भाषार्थ—(सुमित्रिया न०) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि, (नः) हमारे लिये, (सुमित्रियाः सन्तु) सुखकारक हों। तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं, उनके लिये विरोधिनी हों। क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं, उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं, उनके लिये सदा दुःख देने वाले होते हैं।

इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं।

इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः॥

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥१॥
पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः ॥२॥

ऋ० अ० ८। अ० १। व० २३। मं० १, २॥

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायः—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति।

(असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ। हे असुनीते ईश्वर! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम। (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तः-करणस्योपलक्षणम्। पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि। एवं हे भगवन्! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि। यतो वयं सर्वेषु (उच्चरन्तं सूर्यं) श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय। भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते॥ १॥

(पुनर्नो०) हे भगवन्! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यम् (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्ददातु) तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पूनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्यां) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान्॥ २॥

भाषार्थ—(असुनीते) हे सुखदायक परमेश्वर! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये। तथा (पुनः प्राणं) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये। (इह नो धेहि भोगं) हे जगदीश्वर! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम उत्तम भोगों को प्राप्त हों तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन्! आपकी कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आपको विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें। (अनुमते मृडया नः स्वस्तिः) हे अनुमते=सबको मान देनेहारे! सब जन्मों में हम लोगों को (मृडय) सुखी रखिये, जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो॥१॥

(पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन्! आपके अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को, और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे। तथा (पुनः पूषा०) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हमको सब दुःख निवारण करनेवाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे॥२॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥ ३॥ यजु० अ० ४। मं० १५॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥ ४॥

अथर्व० कां० ७। अनु० ६। व० ६७। मं० १॥

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथमः आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥ ५॥

अथर्व० कां ५। अनु० १। व० १। मं० २॥

भाष्यम्—(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर! भवदनुग्रहेण विद्यादि-श्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च (मे) मह्यमागन्पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात् (पुनरात्मा०) पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात् (पुनश्चक्षुः०) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात् (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्ता (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः

(अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पात दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम॥ ३॥

(पुनर्मै०) हे भगवन्! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात्सर्वाणीन्द्रियाणि, आत्मा प्राणधारको बलाख्यः, (द्रविणं) विद्यादिश्रेष्ठधनम्, (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वम्, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणम्, (मैतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु। (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणावत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम, तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्य्यकरणे समर्था भवेम। येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद्विकला भवेम॥ ४॥

(आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि, (धर्म्माणि) यादृशानि धर्मकार्य्याणि, (आससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वपूंषि०) तस्माद् धर्मकरणाद् बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि (कृणुषे) धारयति। एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते। इदमेव मन्त्रार्थेनेश्वरो ज्ञापयति (धास्युर्योनिं०) धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीम् आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति, स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते। तद्विपरीताचरणस्तिर्य्यग्देहं धृत्वा दुःखभोगी भवतीति विज्ञेयम्॥ ५॥

भाषार्थ—(पुनर्मनः पुनरात्मा०) हे सर्वज्ञ ईश्वर! जब जब हम जन्म लेवें, तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे। (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करनेवाले आप हमको (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें॥ ३॥

(पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर! आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त

होता रहे। (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करनेहारा सामर्थ्य मुझ को प्राप्त होता रहे। जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें। (द्रविणं) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें। (ब्राह्मणं च) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यानसहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे। (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें। (धिष्णया यथास्थाम) हे जगदीश्वर! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे, वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों। ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुझको यथावत् प्राप्त हों। (इहैव) जिनसे हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें। जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो॥ ४॥

(आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता, और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्वशरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है, पुनः जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है। और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है॥ ५॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ ६॥

य० अ० १९। मं० ४७

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥ १॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥ २॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः॥ ७॥

निरु० अ० १३। खं० १९॥

भाष्यम्—(द्वे सृती०) अस्मिन्संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च, द्वितीयः (मर्त्त्यानां) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम्। तयोरेकः पितृयानो द्वितीयो देवयानश्चेति। यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति, सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति। तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति। तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च। द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेति। अहमेवम्भूते द्वे सृती (अश्रृणवं) श्रुतवानस्मि। (ताभ्यामिदं विश्वं) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत्समेति) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति। (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति, तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम्॥ ६॥

अत्र 'मृतश्चाहं पुनर्जात' इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम्॥ ७॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽभिरूढोऽभिनिवेशः॥ ८॥

पात० पा० २। सू० ९॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः॥ ९॥ न्या० अ० १। आ० १। सू० १९॥

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः। या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते। कुतः? जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति। तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतः। जीवेनानेकानि शरीराणि धार्यन्ते। यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत्तर्हि तत्संस्कारोऽपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति, स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत? कुतः? प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात्पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम्॥ ८॥

(पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः। यत्पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम्। प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः॥ ९॥

भाषार्थ—(द्वे सृती) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते हैं। एक मनुष्यशरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इनमें मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं—एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना। इनमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्य वालों का होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है। (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने अपने पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर को छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना, वारंवार होता है॥

जैसा वेदों में पूर्वापरजन्म के धारण करने का विधान किया है, वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है—

जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक ठीक जानता है कि (मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारह गर्भाशयों का सेवन किया॥ १॥

(आहारा वि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा॥२॥

(अवाङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये। परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा, नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना

कभी नहीं हो सकता।

तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है—(स्वरस०)। (सर्वस्य प्रा०) हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूँ। मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं) अर्थात् मैं न होऊं। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह '**अभिनिवेश**' क्लेश कहलाता है, जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है॥ ८॥

तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सूत्र, और उसी के वात्स्यायन भाष्य में भी कहा है कि जो उत्पन्न अर्थात् शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के, पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को '**प्रेत्यभाव**' कहते हैं॥ ९॥

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति—यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीति?

अत्र ब्रूमः-भोः! ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्य्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च, तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्म-वृत्तस्मरणस्य तु का कथा!

प्रश्नः—यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः दुःख-सुखफले हीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति, तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभा-वात्सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति?

अत्र ब्रूमः—द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं, द्वितीयमानुमानिकं च। यथा कस्यचिद्वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च। परन्तु वैद्यकविद्यारहितस्यापि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतमिति जानाति, विना कारणेन कार्य्यं नैव भवतीति दर्शनात्। तथैव न्यायकारीश्वरोऽपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् दुःखं सुखं च दातुं शक्नोति। संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति।

अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि। किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति, ते ह्युद्देश्य-मात्रेणाधिकं जानन्ति। ग्रन्थोऽपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते।

भाषार्थ—इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है, तो हमको उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता?

उत्तर—आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो जो सुख दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्य्यन्त पाये हैं, उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते हैं, उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता। जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है?

तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उनका फल दुःख वा सुख देता है, इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता।

उत्तर—ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमानादि से। जैसे ऐ वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इसका पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य्य जो ज्वर है, वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है, अन्यथा नहीं। इसमें इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक ठीक रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक ठीक जानता है, परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं।

इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें। मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता।

इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः॥

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ १॥
इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ २॥

ऋ० अ० ८। अ० ३। व० २७, २८। मं० १, २॥

भाष्यम्—अनयोरभिप्रायः—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति।

हे कुमारि युवते कन्ये! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादि-प्रयोजनसिद्धये (ते हस्तं) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह। हे स्त्रि! (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः) (आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम्। एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्य्यावहि (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः, (अर्य्यमा) न्याय-व्यवस्थाकर्त्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान्। तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति यद्यावां प्रतिज्ञोल्लङ्घनं कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति॥ १॥

विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थ-मीश्वर आज्ञां ददाति।(इहैव स्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ! युवां द्वाविहास्मिँल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा वस्तं निवासं कुर्याताम् (मा वियौष्टं) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम्। एवं मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम्। पुनः (स्वे गृहे) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम्॥ २॥

इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रियाः एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति। अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति। सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात्।

एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ—(गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं०) हे स्त्रि! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूँ और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो काम तुझको अप्रिय होगा, उसको मैं कभी न करूंगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा, उसको मैं भी कभी न करूंगी। और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा। (भगः) जो ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देने वाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देने वाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर है, वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझको तेरे लिये और तुझको मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्तेंगे। सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे, और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे, इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक ठीक पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। (देवाः) हे विद्वान् लोगो! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूँगी। तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूँगा॥ १॥

(इहैव स्तं) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो। (मा वियौष्टं) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो, और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो। ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री

का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना, इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ १०० वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो। (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो। इसके विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो ॥२॥

इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं, वहां देख लेना।

इति संक्षेपतो विवाहविषयः॥

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ १॥ ऋ० अ० ७। अ० ८। प० १८। मं० २॥

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥२॥

अथर्व० कां० १८। अनु० ३। व० ३। मं० १॥

उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ ३॥

ऋ० मं० १०। सू० १८। मं० ८॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति।

(कुहस्विद्दोषा०) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ! युवां (कुह) कस्मिन्-स्थाने (दोषा) रात्रौ वसथः (कुह वसतोः अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः (कुहाभि०) क्वाभिपित्वं प्राप्तिं (करतः) कुरुथः। (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजस्थानवासोऽस्ति। (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति। इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च। द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद्वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते। (विधवेव देवरं) कं केव? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव। अत्र प्रमाणम्—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥ निरु० अ० ३। खं० १५॥

विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह। विधवा स्त्री मृतस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च। अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्। पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्विजेषु

द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्। नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह—

(मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कुणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहित-स्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम्॥ १ ॥

(इयं नारी) इयं विधवा नारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य! (त्वा०) त्वामुपनिपद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा ? (धर्मं पुराणं०) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्म्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगने पतिं वृणुते, त्वमपीमां वृणु (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणं) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि अर्थाद् गर्भाधानं कुरु॥ २ ॥

(उदीर्ष्व ना०) हे विधवे नारि! (एतं गतासुं) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकं) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे सङ्गृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्। यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवेत्। (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) सन्तानं भवति। हे विधवे! विगतविवाहित-स्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपति-मरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ। तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव॥ ३ ॥

भाषार्थ—नियोग उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष, ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मर जाय, अथवा उनमें किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाय, वा नपुसंक वन्ध्यादोष पड़ जाय, और उनकी युवावस्था हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो, तो उस अवस्था में उनका नियोग होना अवश्य चाहिये। इसका नियम आगे लिखते हैं—

(कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां बसे थे? (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है? (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो?

वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये, अधिक नहीं। और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये।

(विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो। विधवा का जो दूसरा पति होता है, उसको देवर कहते हैं। इससे यह नियम होना चाहिये के द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में दो दो सन्तानों के लिये नियोग होना, और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्य्यन्त के लिये होना चाहिये। परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय। और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्र कुल में रख दिया जाय॥ १ ॥

(इयं नारी पतिलोक०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पति सुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे, तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मर जाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। (उपत्वा मर्त्य०) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करनेवाली स्त्री है, उसके संतानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर, जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द से रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाय और वह संतानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त कर दे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो॥ २ ॥

(उदीर्ष्व नारी) हे स्त्री! अपने मृतक पति को छोड़ के (अभि जीवलोकं) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो। नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो, तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्त ग्रहण करनेवाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया कर। वह तेरी सेवा किया करे। और उसका नाम 'दिधिषु' है। (तवेदं) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो, और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो, तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो, तो वह संतान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो॥ ३॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥ ४॥
सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ५॥

ऋ० अष्ट० ८। अ० ३। व० २८, २७। मं० ४, ५॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥६॥

अथर्व० कां० १४। अनु० २। मं० १८॥

भाष्यम्—इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते—कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति, तद्यथा—(इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते! (मीढ्वः०) हे वीर्य्यदान-कर्तस्त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु। तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगां) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु। (दशास्यां०) अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति। ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम्। तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्यन्तं नियोगं कुरु। अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकै-

कस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात्। तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम्॥ ४॥

अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते—(सोमः प्रथमः०) हे स्त्रि! यस्त्वां प्रथमः (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुण-युक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति। (गन्धर्वो वि०) यस्तु उत्तरः, द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते। कुतः? तस्य भोगाभिज्ञत्वात्। (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते। कुतः? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारण-बलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम्। तथैव स्त्रीणामपि सोम्या, गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद् गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति॥ ५॥

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि देवरसेविके! हे अपतिघ्नि विवाहितपतिसेविके स्त्रि? त्वं (शिवा) कल्याणगुणयुक्ता, (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यं) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय। अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यमिति॥ ६॥

भाषार्थ—(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है, कि हे इन्द्र! पते! ऐश्वर्ययुक्त! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। हे वीर्यप्रद! (दशास्यां पुत्रानाधेहि) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर, अधिक नहीं। (पतिमेकादशं कृधि) तथा हे स्त्री! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर। अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दश पर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं।

इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे। तथा

दूसरे के भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले। इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है। परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे। दूसरा नहीं। इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मर जाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है। और जब वह भी रोगी हो वा मर जाय, तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग कर लेवे॥४॥

अब पतियों की संज्ञा कहते हैं—(सोमः प्रथमो विविदे) उनमें जो विवाहित पति होता है, उसकी सोमसंज्ञा है। क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है। (गन्धर्वो विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है, सो गन्धर्व संज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (तृतीयो अग्निष्टे पतिः) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से ले के दशमपर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं। क्योंकि वे मध्यम होते हैं॥ ५॥

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नीः) हे विधवा स्त्रि! तू देवर और विवाहित पति को सुख देनेवाली हो, किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर, और वे भी तेरा अप्रिय न करें। (एधि शिवा) इसी प्रकार मंगलकार्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा। (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो, बड़े बड़े वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करनेवाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय, तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पति कर। (स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर।

इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो और उत्तम उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या वा व्याभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही कर लो, यही व्यवस्था सब से उत्तम है॥ ६॥

इति नियोगविषयः संक्षेपतः॥

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वाँ अपि वायुकेशान्॥१॥

ऋ० अ० ३। अ० २। व० २४। मं० १॥

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि।
मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः॥ २॥ य० अ० २०। मं० १॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं यज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ ३॥

य० अ० २०। मं० २५॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति।

यथा सूर्य्यचन्द्रौ (राजानौ) सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ (त्रीणि सदांसि भूषथः) भूषतोऽलङ्कुरुतः। (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति। तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति।

इदमत्र बोध्यम्—एका राजार्य्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः। द्वितीयाऽऽर्य्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्य्ये भवतः। तृतीयाऽऽर्य्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या। परन्त्वेतास्तिस्त्रस्सभाः सामान्ये कार्य्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति। यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति। यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः। (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम्। ईश्वरोऽभिवदति—यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति। (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान्, स राजसभामर्हति नेतरश्च।

(गर्न्धवान्) पूर्वोक्तासु सभासु, गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद्दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात्। केशास्सूर्य्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्, सर्वहितं चिकीर्षून्, धर्मात्मनः सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति॥ १॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर! त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि। तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु। (मा त्वा हिंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोपि जनस्त्वां मा हिंसीदर्थाद्भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु। तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्य्याः। यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम॥ २॥

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा, ब्राह्मणो, ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म तथा क्षत्रं शौर्य्यधैर्य्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) (तं लोकं) तं देशं (पुण्यं) पुण्ययुक्तं (यज्ञेषं) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः। (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते, तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम्॥ ३॥

भाषार्थ—सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है और सब संसार उसकी प्रजा है। इसमें यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९ वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है—(वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम) अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है।

(त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक 'आर्य्यराजसभा', कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी 'आर्यविद्यासभा' कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी 'आर्य्यधर्मसभा' कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परिविश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये॥ १॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देनेवाले परमेश्वर! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं। (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं, तथा क्षत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है। (मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः) हे जगदीश्वर! सब प्रजा आपको छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने, और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये। किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें॥ २॥

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा, और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग, ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है। (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है॥ ३॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि।
इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि॥ ४॥
कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा।
सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्॥ ५॥
शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ ६॥

य० अ० २०। मं० ३-५॥

भाष्यम्—(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनोर्बाहुभ्यां) सूर्य्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां, बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां, (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि। तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वां, (यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभि

षिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥४॥

(कोऽसि) हे परमात्मन्! त्वं सुखस्वरूपोऽसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु। (कतमोऽसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोऽसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान्सम्पादय।(कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः। तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे।(सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाश सत्यराज्यप्रदेश्वर! अस्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे ॥५ ॥

सभाध्यक्ष एवं मन्येत—(शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवदस्ति। (यशो मुखं) उत्तमकीर्तिर्मुखवदस्ति। (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवदस्ति। (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवदस्ति।(अमृतꣳ सम्राट्) मोक्षाख्यं सुखं, ब्रह्म, वेदश्च, सम्राट् चक्रवर्तिराजवदस्ति।(चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वदस्ति। एवं सभासदोऽपि मन्येरन्। एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उसका हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि—हे सभाध्यक्ष! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करने वाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्य चन्द्रमा के बल और वीर्य्य से, (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करने वाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्तिरूप हाथों से, आपको सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं। (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ ओषधियों और शुद्ध वायु इन से दिन रात में सब रोगों से तुझको निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य्य और विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूँ कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है। इससे सब मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें॥ ४॥

हे महाराजेश्वर! आप (कोऽसि कतमोऽसि) सुखस्वरूप, अत्यन्त

आनन्दकारक हैं, हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करने वाले जगदीश्वर! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले! हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं। (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आपका शरण लिया है, क्योंकि इसी से हमको पूर्ण राज्य और सुख निस्सन्देह होगा॥ ५॥

सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि—(शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी, (यशो मुखं) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (अमृतꣳ सम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है, वही मेरा चक्रवर्ती राजा, तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है, वही मेरी आंख है॥ ६॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्य्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम॥ ७॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥ ८॥

य० अ० २०। मं० ७। ८॥

भाष्यम्—(बाहू मे बलं) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति (इन्द्रियꣳ हस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवदस्ति (कर्म वीर्य्यं) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवदस्ति (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवदस्ति॥ ७॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवदस्ति (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवदस्ति (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषणं पुरुषार्थिकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवदस्ति। (ऊरू अरत्नी) ये अरत्नी रमणसाधने वर्त्तेते ते ममोरूवत्स्तः (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवदस्ति। एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति।

यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति॥ ८॥

भाषार्थ—(बाहू मे बलं) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रियꣳ हस्तौ०) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है, वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य्य, धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है, यही सब मेरे आत्मा के समान है॥७॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रं) जो उत्तम राज्य है, सो मेरी पीठ के समतुल्य, (उदरमꣳसौ) जो राज्य-सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है, सो ही अरत्नी और उरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना, यह मेरी जानु के समान है। (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करने हैं, ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं॥ ८॥

[नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥ ९॥][1]

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे॥ १०॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ हवेहवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम्। ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥ ११॥

य० अ० २०। मं० ९, १०, ५०॥

[भाष्यम्—(नाभिर्मे०) यच्चित्तं सदा ज्ञानरूपमस्ति तन्मम नाभिरङ्गवदस्ति (विज्ञानं पायुर्मे०) यद् विज्ञानं तन्मम पायुर्गुह्येन्द्रियवदस्ति (अपचितिर्भसत्) याऽपचितिः पूजा सत्कारोऽस्ति तत् स्त्रियाः

1. यह मन्त्र, इसका संस्कृत भाष्य और भाषानुवाद मूल हस्तलेख में है

प्रजननेन्द्रियवदस्ति, अर्थात् परमेश्वरपूजाऽऽत्मन्येव कार्या (आनन्दनन्दावाण्डौ मे) ये आनन्दसमृद्धी ते मम वृषणाङ्गवत् स्तः (भगः सौभाग्यं पसः) यन्ममैश्वर्यं सौभाग्यमुत्तमं सुखमस्ति तन्मम पसो लिङ्गेन्द्रियवदस्ति (जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्) एवमहं जङ्घाभ्यां पद्भ्यां युक्तो भूत्वा धर्मात्माऽस्मि (विशि राजा प्रति०) यो विशि प्रजायाम् सर्वहितकरणादिगुणैः प्रतिष्ठितो भवति सोऽस्माकं राजा सभाध्यक्षो भवितुमर्हति॥ ९॥]

(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि विद्याधर्मप्रचारिते देशे च। (प्रत्यश्वेषु) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि। (प्रत्यङ्गेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रति तिष्ठामि, तथा चात्मानमात्मानं प्रति तिष्ठामि। (प्रति प्राणे) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रति तिष्ठामि। (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति, पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि। (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति। मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः। एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति॥ १०॥

(त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्य्यवन्तं, (सुहवꣳशूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रं) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, (पुरुहूतं) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रꣳ हवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थम् इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्य्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति धातु निरन्तरं विजयसुखं दधातु॥ ११॥

[भाषार्थ—(नाभिर्मेचित्तम्) मेरी नाभि विद्या का तथा (विज्ञानं पायुर्मे) गुह्येन्द्रिय अर्थात् अपानवायु विज्ञान का निमित्त हो (अपचितिर्भसत्) स्त्री का प्रजननेन्द्रिय उत्तम प्रजा को उत्पन्न करनेवाला हो, इसी प्रकार (भगः सौभाग्यं पसः) मेरा उपस्थेन्द्रिय पुत्रादि सौभाग्य को बढ़ाने वाला और वीर्य के समतुल्य हो, (जंघाभ्यां पद्भ्यां०) जंघा और पद से युक्त होकर श्रेष्ठ पुरुषार्थ से मैं धर्मात्मा हूँ॥ ९॥]

(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों

की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं, उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि-हे मनुष्यो! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं, मैं उनके क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूँ, और वे सदा मेरे समीप रहते हैं। (प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु) उनकी सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूँ। (प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अङ्गों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूँ। (प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूँ। (प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं, इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूँ। इस प्रकार से तुम लोग मुझको सब स्थानों में परिपूर्ण देखो। जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है, उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है॥ १०॥

(त्रातारमिन्द्रं) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, (अवितार०) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है, (सुहवꣳशूरमिन्द्रꣳहवे हवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम युद्ध कराने वाला, शूरवीर और हमारा राजा है, (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देने वाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता॥ ११॥

इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा॥ १२॥

य० अ० ९। मं० ४०॥

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै। चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्योऽभवेह॥ १३॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्। त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु॥ १४॥

अथर्व० कां० ६। अनु० १०। व० ९८ मं० १, २॥

भाष्यम्—(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमम्) (असपत्नꣳ सुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्य्यसहितं कुरुत। यूयमप्येवं जानीत—(सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु। हे सभासदः! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान्प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या—(एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च ससभासत्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति। एतदर्थं वयं (इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति॥ १२॥

(इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु। (न पराजयातै) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति। (भवेह) हे महाराजेश्वर! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव। भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम॥ १३॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि, श्रव इवाचरतीति, सर्वस्य श्रोता च स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु। (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन्! त्वं भूः सदा भवसि।

यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु। (त्वं दैवीर्विश०) हे जगदीश्वर! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना (विराजाः) विविधोत्तमराजपालिताः इमाः प्रत्यक्षविषयाः (विशः) प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु। (आयुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर! तव यदिदमायुष्मत्सनातनं (क्षत्रं) राजधर्मयुक्तं (अजरं) नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्तु, इति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भूगोलस्य राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु॥ १४॥

भाषार्थ—(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि—हे विद्वान् लोगो! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो, कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय। (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्ति राज्य, श्रेष्ठकीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक ठीक राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वं) अच्छे अच्छे राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध करो, कि जिनसे सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय॥ १२॥

(इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो! जो परमात्मा अपने लोगों को विजय कराने वाला, (न पराजयातै) जो हमको दूसरों से कभी हारने नहीं देता, (अधिराजः) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हम को भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है, (चर्कृत्यः) जो आनन्दरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करनेहारा, तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वन्दना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सब को शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय करनेवाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है। इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये। और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर, आपके राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें॥ १३॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले, (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा पालन करते हैं, उनको वह आशीर्वाद देता है कि—मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो॥ १४॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ १५॥

ऋ० अ० १। अ० ३। व० १८। मं० २॥

तं सभा च समितिश्च सेना च॥ १६॥

अर्थव० कां० १५। अनु० २। व० ९। मं० २॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा॥ १७॥

अथर्व० कां० ६। अनु० १०। व० ९७। मं० ३॥

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः
त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्य शिनवम्॥ १८॥

अथर्व० कां० १९। अनु० ७। व० ५५। मं० ६॥

भाष्यम्—(स्थिरा वः) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः॥ १५॥

(तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत। (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम् (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्याक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात्॥ १६॥

ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युपदिशति—(सखायः) हे सखायः! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रं) शत्रूणां हन्तारं युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रतिराजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनु हर्षध्वं) सर्वे यूयमनुमोदयध्वम्, एवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां समूहा जिताः (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं

च जितं (वज्रबाहुं) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य (जयन्तं) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तम् (अज्म वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर! मे मम सभां यथावत् पालय। म इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति (ये च सभ्याः सभासदः) सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति, तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद् रक्षन्तु (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन्! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासद इद्गा इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति (विश्वमायु-र्व्यशनवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादिविषय में कर दिया है॥ १५॥

(तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के, सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें। (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें। तथा (सेना च) जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं, वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें॥ १६॥

ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—(सखायः) हे बन्धु लोगो! (इमं वीरं) हे शूरवीर लोगो! न्याय और दृढ़भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके, (अनु हर्षध्वं) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो। (उग्रमिन्द्रं) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक समिति होकर (अनुसंरभध्वं) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो। (ग्रामजितं) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितं) सबके मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है (वज्रबाहुं) प्राण जिसके बाहु और (जयन्तं) जो हम सबको जिताने वाला है, (अज्म) उसी को इष्ट जान के हम लोग अपना राजा मानें। (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हमको सुख देता है॥ १७॥

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये। (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो

सभा के सभासद् हैं, सो आपकी कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें। (त्वयेद्गाः पुरुहूत०) हे सब के उपास्यदेव! (विश्वमायुर्व्यशनवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आपकी आज्ञा को पालन करते रहें, जिससे सम्पूर्ण आयु को सुख से भोगें॥ १८॥

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेय-शतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते। तद्यथा—

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥ १ ॥

बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्द्धय यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद् बृहत्पृष्ठं भवति ॥२ ॥

ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्, ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥ ३ ॥

ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेन-मोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति। तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥ ४ ॥ ऐ० पं० ८। अ० १। कं० २, ३॥

तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥ ५ ॥

नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति। ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥

ऐ० पञ्चि० ८। अ० २ कं० ६, ९॥

भाष्यम्—(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः, श्रेष्ठप्रकृतीन्मनुष्यान्प्रति सदा सुखदास्सोम्या भवेयुः। तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति। कुतो यद्राजकर्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद्, द्वितीयमुग्रवदर्थात्क्वचिद्देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद्विपर्य्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चै-तत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति। तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्म-कारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थ-सामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥ १ ॥

(बृहत्पृष्ठं०) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति। तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति। एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म वर्द्धयति। नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति। तस्मात्क्षत्रं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति। तथा सर्वस्य संसारस्य निष्केवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति, तस्मात्तत्क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति॥ २॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति। नैव कदाचित्सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः। तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति। नैवास्माद्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतः। तस्माद्विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति॥ ३॥

(ओजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयानि अर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम्। कुत ''ओज एव क्षत्रं, वीर्य्यमेव राजन्य'' इत्युक्तत्वात्। तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोति। इदमेव भारद्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्महत्कर्मास्तीति॥ ४॥

(तानहमनुराज्याय०) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः—परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (अतिष्ठायां०) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा प्रतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च (रोहामि) वर्धमानो भवामीति॥ ५॥

(नमो ब्रह्मणे) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्य्यात्। यत् क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति, तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति। तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते, नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः॥ ६॥

भाषार्थ—इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके। इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं, उनकी साक्षी भी यहां लिखते हैं—

(जनिष्ठा उग्रः०) राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों वे सब दुष्टों पर अत्यन्त उग्र अर्थात् तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, दुःख सुख के सहन करनेवाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों। क्योंकि दुष्टों पर उग्रस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना, यही क्षत्र का स्वरूप है। (मन्द्र ओजिष्ठ०) मन्द्र अर्थात् आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना क्षत्र का स्वरूप है॥ १॥

क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है। इसमें शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छे प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये॥२॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है, वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है। इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है॥ ३॥

उत्तम विद्या और न्याययुक्तराज्य का नाम **ओज** है। जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम **क्षत्र** है और पराक्रम का नाम **राजन्य** है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तभी संसार की उन्नति होती है॥ ४॥

इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठिराज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राजों का अधिपतिरूप राज्य, और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम उत्तम सुख बढ़ते हैं॥ ५॥

इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं॥ ६॥

सप्रजापतिका, अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव॥ ७॥

सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं

वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति।

ऐत० पं० ८। अ० ३। कं० १२, १४॥

स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौराज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिँल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति॥ ९॥ ऐत० पं० ८। अ० ४। कं० १९॥

भाष्यम्—(सप्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः। सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित् सुखहानिपराजयौ स्याताम्। यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति। वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः। तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः॥ ७॥

(सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यं) सार्वभौमराज्यं, (भोजं) उत्तमभोगसाधकं, (भोजपितरं) उत्तमभोगानां रक्षकं, (स्वराजं) राजकर्मसु प्रकाशमानं सद्विद्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यं) स्वकीयराज्यपालनं (विराजं) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं, (वैराज्यं) विविधराज्यप्राप्तिकरं (राजानं) श्रेष्ठैश्वर्य्येण प्रकाशमानं, (राजपितरं) राज्ञां रक्षकं, (परमेष्ठिनं) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यं) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे। एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं (क्षत्रमजनि) प्रादुर्भवतीति। अजनीति 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट' इति वर्त्तमानकाले लुङ्। (क्षत्रियोऽजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः, (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः (पुरां भे०) शत्रुनगराणां

विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोऽजनि प्रादुर्भवतीति। (स परमेष्ठी प्रा०) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः०) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः। न तद्भिन्नोऽर्थः केनचिन् मनुष्येणेष्टः कर्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः॥ ८॥

यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रणे०) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्य्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः, (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्वा०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमाँल्लोकाँश्च विन्दति प्राप्नोति। सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तामतिष्ठां, या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा परमता सभा, तां वा गच्छति प्राप्नोति। तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं माहाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति। तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि (स्वयम्भूः) स्वाधीनः, (स्वराट्) स्वप्रकाशः, (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन्सर्वान्कामानाप्नोति। (आप्त्वामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति। (यमेतेनैन्द्रेण०) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं (महाभिषे०) अभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति। तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम्॥ ९॥

भाषार्थ—जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है। (सप्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं। क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है। तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सब से उत्तम है। वही हमको सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त करानेवाला है। उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं। तथा जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्य्ययुक्त है। वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्ती राजा और वही हमको भी चक्रवर्ति राज्य देनेवाला है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करनेवाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं

प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है। तथा जो विराट् अर्थात् सबका प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं। क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया, अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ। तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूँ॥ ८॥

जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है, वही सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महा ऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है, वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है॥ ९॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत्॥ क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम॥ १०॥

श० कां० १२। अ० ८। ब्रा० ३॥

ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳ राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति। युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम्॥ ११॥

श० का० १३। अ० १। ब्रा० ५॥

राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ १२॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ६॥

राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे॥ १३॥ श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ९॥

भाष्यम्—(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद्राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत्प्रजा-पालनं क्रियते, तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्त्तृ च भवति। (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति॥ १०॥

(ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति। (क्षत्रꣳ०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति, स राजन्यो भवितुमर्हति। (तदस्य

ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणै राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति। नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः। (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यम्—युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति। नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित्प्राप्तिर्भवति। कुतः ? निघण्टौ (अ० २। खं० १७) **सङ्ग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात्। महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः सङ्ग्रामो नास्माद्विना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः॥ ११॥**

(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति। नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति॥ १२॥

(राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति, तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति। तस्मात्कारणाद् राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति। यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो (जज्ञे) जातोऽस्ति, नैव कदाचित्तस्मिन्भयदुःखे सम्भवतः॥ १३॥

भाषार्थ—(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है, वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला होता है। (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करनेवाला है, [साम्राज्यं०] वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है॥ १०॥

(ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है, वही ब्राह्मण होने के योग्य है। (क्षत्रꣳ०) जो इन्द्रियों का जीतनेवाला, पण्डित, शूरतादिगुणयुक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है, वही उसका बल होता है। उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम 'महाधन' है। सो उसको **महाधन** इसलिए कहते हैं कि उससे बड़े बड़े उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि विना संग्राम

के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता॥ ११॥

[राष्ट्रं०] और जो न्याय से राज्य का पालन करना है, वही क्षत्रियों का '**अश्वमेध**' कहाता है। किन्तु घोड़े को मार के उसके अङ्गों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है॥ १२॥

(राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है, तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, निर्भय, शस्त्र-अस्त्र चलाने में अतिचतुर और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आनेवाला हो, ऐसा राजा होता है, वहां भय और दुःख नहीं होते।

श्रीर्वै राष्ट्रम्॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्॥ विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥ विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति॥ १४॥

शत० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९॥

भाष्यम्—(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति। (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति।(विड्वै गभः) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धिकर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति, (तस्माद्राष्ट्री वि०) यस्मात् सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति, तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यः, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति, तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्तुं शक्योऽस्ति। (विशमेव राष्ट्राया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति। यस्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्पदार्थान् गृह्णन् सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति, (न पुष्टं पशु म०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति, तथैको राजा 'न मत्तः कश्चिदधिको भवेत्', इतीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते। तस्मात्सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रम्। इत्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा बहवः सन्तीति॥ १४॥

भाषार्थ—(श्रीर्वै राष्ट्रं) श्री जो है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है। तथा राज्य का जो रक्षण करना है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है। राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं, वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है। इसी से किसी की उन्नति नहीं होती॥ १४॥

इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिरपर्य्यन्त बराबर चला आया है। इस बात की साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है। उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उसको छोड़ के बाकी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है। और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था। और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब आर्यों का सिद्धान्त है। अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः॥

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्युक्तस्तदर्थश्च। तस्यायं शेषः-

वर्णो वृणोतेः॥ १॥ निरु० अ० २। खं ३॥

ब्रह्म हि ब्राह्मणः क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः॥ २॥

श० कां० ५। अ० १। ब्रा० १॥

बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद् बाहू, वीर्य्यं वा एतदपाꣳ रसः॥ श० कां० ५। अ० ४। ब्रा० १॥

इषवो वै दिद्यवः॥ ३॥ श० कां० ५। अ० ४। ब्रा० २॥

भाष्यम्—वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः॥ १॥

(ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति। तथैव (क्षत्रꣳ हीन्द्रः) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः, (राजन्यः) [स] क्षत्रियो भवितुमर्हति॥२॥

(मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता, (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम्, (वा) अथवा (वीर्यं) पराक्रमो बलं चैतदुभयं (राजन्यस्य) क्षत्रियस्य बाहू भवतः, (अपां) प्राणानां यो (रसः) आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते, तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत्, (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः॥ ३॥

भाषार्थ—अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है। इसमें यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम जाति सब की एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण सृष्टिविषय में लिख दिया है। तथा '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' यह मन्त्र सृष्टिविषय में लिख चुके हैं। वर्णों के प्रतिपादन करने वाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी

है, वह कुछ यहां भी लिखते हैं—

मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य्य और दूसरा दस्यु। इस विषय में यह प्रमाण है कि '**विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो०**' अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है, कि हे जीव! तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले। तथा '**उत शूद्रे उत आर्य्ये**' इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं, ये दो भेद जाने गये हैं। तथा '**असुर्या नाम ते लोका०**' इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं।

(वर्णो०) इनका नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिसके गुण कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये। (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण होता है। (क्षत्रꣳ हि०) परम ऐश्वर्य (बाहू०) बल वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं॥ १-३॥

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति—ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात्। ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या। गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या। वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम्। संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि, चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया। एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः।

अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ १॥

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ २॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ३ ॥　　अथर्व० कां० ११। अनु० ३। व० ५। मं० ३-५।

भाष्यम्—(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति। तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्ति, अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति, पठनस्य च रीतिमुपदिशति। यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते, तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया मान्यं कुर्वन्ति। अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति॥ १ ॥

(इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान्सर्वान्प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति। (समिधा) अग्निहोत्रादिना (मेखलया) ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च (श्रमेण) परिश्रमेण, (तपसा) धर्मानुष्ठानाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान्प्रसन्नान्करोति॥ २ ॥

(पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, (घर्मं वासनः) अत्यन्तं तपश्चरन् ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति। तस्मात्कारणात् (ब्रह्म ज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्म ज्येष्ठम्, (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणं) ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति॥ ३ ॥

भाषार्थ—अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं। इनमें से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। इसके विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता

है। चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चारों आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इनमें से प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उनमें से कुछ यहां भी लिखते हैं—

(आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहाता है। और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता। इसलिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं, तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य्य तीन रात्रिपर्य्यन्त गर्भ में रखता है। अर्थात् ईश्वर की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य मुख्य बातें हैं, वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं॥ १ ॥

(इयं समित्०) फिर उस दिन होम करके प्रतिज्ञा कराते हैं, कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है, सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है॥ २ ॥

(पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़ के ब्राह्मण होता है, वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है (ब्रह्म ज्येष्ठं०) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को, जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है, देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य

मुहुराचरिक्रत्॥ ४॥

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह॥ ५॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ ६॥

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति॥ ७॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत्॥ ८॥

अथर्व० कां० ११। अनु० ३। मं० ६, ७, १७-१९॥

भाष्यम्—(ब्रह्माचार्य्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णं) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्य्यन्तं केशश्मश्रूणि धारतानि येन सः, (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति। तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात्समुद्रात् (उत्तरं) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति एवं निवासयोग्यान् सर्वान् (लोकान्सं०) सङ्गृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति॥ ४॥

(ब्रह्मचारी) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन्, (अपः) प्राणान्, (लोकं) दर्शनं, (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं (विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन्, (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान्पाषण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति। यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान्मेघान् रात्रिं च निवारयति, तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति॥ ५॥

(ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति। आचार्य्योपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्यान्नान्यथेति॥ ६॥ अत्र प्रमाणम्—

आचार्य्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा॥ निरु० अ० १। खं० ४॥

(ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा। अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनाम्। ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति। अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः॥ ७॥

(ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा। ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन, हेति किलार्थे, यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्धारयति, तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति। अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते। अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः। किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धाः भवन्त्येवेति॥ ८॥

भाषार्थ—(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है, वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े बड़े केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है। तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उतर के उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है॥ ४॥

(ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जान के प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सबसे बड़ा और सबका प्रकाशक है, उसका जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्ययुक्त हो के असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है॥ ५॥

(ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है। **आचार्य्य** उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है॥ ६॥

(ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्य्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके, तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे। इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों। क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय, तो अत्यन्त बलवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है॥ ७॥

(ब्रह्मचर्य्येण त०) ब्रह्मचर्य्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य्य से प्रकाशित हो के सब को प्रकाशित कर देता है। इससे ब्रह्मचर्य्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है॥ ८॥

इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषयः संक्षेपतः॥

अथ गृहाश्रमविषयः—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥ ९॥
देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥ १०॥
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥ ११।
येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः॥ १२॥
उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽअजावयः।
अथोऽअन्नस्य कीलालऽउपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳशग्मꣳशंयोःशंयोः॥ १३॥

य० अ० ३। मं० ४५, ५०, ४१-४३॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति।

(यद् ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्ष-प्राप्त्यर्थमस्तु। यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं, तत्सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः॥ ९॥

(देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति, हे जीव! त्वमेवं वद—मे मह्यं देहि, मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि। मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे। तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि। स्वाहेति सत्यभाषणं, सत्यमानं, सत्याचरणं, सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः॥ १०॥

(गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत। गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत। तथा (मा वेपध्वं) मा कम्पध्वम्। (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) उर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः, पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत। (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत्सन्, (सुमनाः) शुद्धमनाः, सुमेधा उत्तम-बुद्धियुक्तः, (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः, (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि॥ ११॥

(येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति, तत्र प्रवसन् येषां यान्पदार्थान्सुखकारकान्स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्य्यादीन्निमन्त्रयामहे। (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान्, युवावस्था-स्थान्स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति॥ १२॥

(उपहूता इह०) हे परमेश्वर! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे गावः पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाह्लादादयः उपहूता अर्थात्सम्यक् प्राप्ता भवन्तु। तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु। (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्य-

पदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु। (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोऽस्ति, तान्-पूर्वोक्तान्प्रत्यक्षान्पदार्थान् क्षेमाय रक्षणाय शान्त्यै सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि। तत्प्राप्त्या (शिवं) निश्श्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मं) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम्। शंयोः शमिति निघण्टौ पदनामास्ति। परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः॥ १३॥

भाषार्थ—(यद् ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके, तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें, जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं। परन्तु उनसे जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं—गृहस्थ स्त्री पुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो जो काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये, (यदिन्द्रिये) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये, सो सो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें॥ ९॥

परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें, सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। (निहारं च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा, इस को भी यथावत् पूरा करें। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है॥ १०॥

(गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो और उससे डरो व कंपो मत। किन्तु उससे बल, पराक्रम

करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं॥ ११॥

(येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उनमें वे मनुष्य अपने सम्बन्धी मित्र बन्धु और आचार्य्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उनसे यह इच्छा करते हैं कि ये सब हमको युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक ठीक प्रतिज्ञा करने वाले जानें अर्थात् हमारे साक्षी हों॥ १२॥

(उपहू०) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। (वः) यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है। हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले। 'शंयोः' यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है॥ १३॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः।

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति॥ छान्दोग्य० प्र० २। खं० २३॥

भाष्यम्—(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनं, यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च। तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपः सुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति। द्वितीयो गृहाश्रमी। तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्, स वानप्रस्थाश्रमी। एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते नान्यथेति॥

भाषार्थ—(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं— एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना। तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के

अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्य्यकुल में बस के विद्या पढ़ना, और तीसरा परमेश्वर का ठीक ठीक विचार करके सब विद्याओं को जान लेना। इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है॥

[अथ संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः]

ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान्निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य संन्यासी भवेत्। अर्थात्—

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्—इत्येकः पक्षः।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा

अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृह्णीयात्—इति द्वितीयः पक्षः।

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्

सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृह्णीयात्—इति तृतीयः पक्षः।

सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः, परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति। कुतः ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः।

तथा संन्यासाश्रम के **तीन पक्ष** हैं—उन में **एक** यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे। **दूसरा** '**यदहरेव प्र०**' जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक ठीक सत्यमार्ग में निश्चित हो जाय, उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है, और **तीसरा** जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे, तो ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर ले।

ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति॥ छान्दो० प्रपा० २। खं० २३॥

तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति। ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति॥ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं

चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषण या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः॥ श० कां० १४। अ० ७। ब्रा० २॥

भाष्यम्—(ब्रह्मसꣳस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) (एति) प्राप्नोति॥

(तमेतं वेदा०) सर्व आश्रमिणो विशेषतः संन्यासिनस्तमेतं परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति। (ब्रह्मचर्येण०) ब्रह्मचर्य्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति। प्रव्राजिनः संन्यासिन एतं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति। (एतद् ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निशङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः। येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति।

एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) संन्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति। यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते। तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणावित्तैषणे भवतः। यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति, तस्यैतातिस्त्रो निवर्त्तन्ते। नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति। सर्वान्मनुष्याननुगृणन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति॥ २॥

भाषार्थ—(ब्रह्मसꣳस्थः०) अर्थात् संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं॥ १॥ (तमेतं०) और वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, तथा (ब्रह्मच०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं, वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये

संन्यास लेते हैं। जो उनमें उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं, वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं। और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं, उन्हीं को सब से उत्तम मानकर (पुत्रैषणा) अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लोभ, (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिक्षाचरण करते हैं अर्थात् सर्वगुरु सब के अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ा के सत्य विद्या के उपदेश रूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेद्॥ ३॥

इति शतपथे श्रुत्यक्षराणि॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥ ४॥

मुण्डकोपनि० मुण्डके ३। खं० १। मं० १०॥

भाष्यम्—**(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वर-देवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चत्य, तस्यां (सर्ववेदसं०) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन् प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति।**

परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धिनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति। तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम्। किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद्बाह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न। सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः। देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्। विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः। ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः। सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यतासत्योपदेशकरणेन सर्व-मनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः। एवं लक्षणाः पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम्। परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्व-शक्तिमदादिविशेषगुणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः॥ ३॥

(विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा) ध्यानेन संविभाति इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, (तं तं लोकं तांश्च कामान्) (जयते) प्राप्नोति। तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्य्यकामो मनुष्यः (आत्मज्ञं) आत्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात्। तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति। तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान्पाषण्डिनः कोऽपि नैवार्चयेत्। कुतः? तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद् दुःखफलत्वाच्चेति॥ ४॥

भाषार्थ—(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखा सूत्रादि का होम करके, गृहस्थ आश्रम को छोड़ के, विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें॥

(यं यं लोक०) वह शुद्ध मन से जिस जिस लोक और कामना की इच्छा करता है, वे सब उसकी सिद्ध हो जाती हैं इसलिये जिसको ऐश्वर्य की इच्छा हो, वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे॥

ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं। क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें। तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें। फिर उनके सब सन्देहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। क्योंकि इसके विना सम्पूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है।

इति वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः॥

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति, तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः—साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः।

अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ १॥ य० अ० ३। मं० १॥

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुपब्रुवे।
देवाँ२ ॥ऽआ सादयादिह॥ २॥ य० अ० २२। मं० १७॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ ३॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥ ४॥

अथर्व० कां० १९॥ अनु० ७। ३, ४॥

भाष्यम्—(समिधाग्निं०) हे मनुष्या वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय, (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत। (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत॥ १॥

(अग्निं दूतं) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरो दधे) सम्मुखतः स्थापये। कथम्भूतमग्निम्? (हव्यवाहम्) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट्, तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून्प्रत्युपदिशानि (देवां २॥०) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन्संसार आसादयादासमन्तात्प्रापयति।

यद्वा

हे परमेश्वर! (दूतं) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्निं) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये। तथा (हव्यवाहं) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं, तद् वहति प्रापयतीति तं त्वा (उपब्रुवे) उपदिशानि। स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु॥ २॥

[सायं सायं०]—(नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः०) गृहात्मपालकः प्रातःसायं परिचरितः सूपासितश्च (सौमनसस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति। तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति। अत एव परमेश्वरः 'वसुदानः' इति नाम्नाख्यायते। हे परमेश्वरैवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर! एवं त्वा त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः॥ ३॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। अत्र विशेषस्त्वयम्—एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः, (शतहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि। एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः॥ ४॥

अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च सङ्गृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातः-सायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात्।

भाषार्थ—अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें, उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिसमें अङ्गों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा

सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इनमें पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन-पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं, वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं, वैसा जान लेना।

अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं—(समिधाग्निं०) हे मनुष्यो! तुम लोग वायु, औषधी और वर्षाजल की शुद्धि से सबके उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड़, केशर, कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं, उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सबका उपकार करो॥ १॥

(अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करने वाले पदार्थों को पवन और मेघमंडल में पहुँचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापना करता हूँ। क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुँचानेवाला है। इसी से उसका नाम **'हव्यवाट्'** है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें, उनको मैं उपदेश करता हूँ कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवां २॥ ०) श्रेष्ठ गुणों को पहुँचाता है।

दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आपको उपासना करने के योग्य मानता हूँ। ऐसी कृपा करो कि आपको जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं आपका शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुँचावें॥ २॥

(सायंसायं०) प्रतिदिन प्रातःसायं श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, (सौमनसस्य दाता) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। यहां भौतिक अग्नि

भी ग्रहण करने के योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों॥ ३॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त, अर्थात् सौ वर्ष तक, धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों॥ ४॥

अग्निहोत्र करने के लिये, ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ, चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायङ्काल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें।

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा॥ १॥
सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥ २॥
ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥ ३॥
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥ ४॥

इति प्रातःकालमन्त्राः॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥ १॥
अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥ २॥
अग्निर्ज्योतिरितिमन्त्रं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया॥ ३॥
सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा॥ ४॥ य० अ० ३। मं० ९-१०॥

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्य्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः॥ १॥

(सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां

वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

(ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै० ॥ ४ ॥

इमाश्चतस्त्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति।

अथ सायङ्कालाहुतयः—(अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ १ ॥

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया। तदर्थश्च पूर्ववत्॥ ३ ॥

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोऽग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु, तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत्॥ ४ ॥

एताभिः सांयकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति। एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा।

भाषार्थ—(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सूर्य्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं॥ १ ॥

(सूर्यो वर्च्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों को सब विद्याओं को देने वाला और हम से उनका प्रचार कराने वाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं॥ २ ॥

(ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं॥ ३ ॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर

हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे॥ ४॥

इन चारों आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं।

अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं—(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है, उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे, जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो॥ १ ॥

(अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला, और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है। इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति है॥ २ ॥

तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी॥ ३ ॥

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्योदि लोकों में व्याप्त वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हमको विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे॥ ४॥

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः—

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ १ ॥

ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ २ ॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ ३ ॥

ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥ ४ ॥

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा॥ ५ ॥

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥ ६ ॥

इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः॥

तथैतेरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा 'भूर्भुवः स्वरोम्' इत्यादयो दर्शिताः॥

भाष्यम्—एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि। एषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः।

(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते

तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते।

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं दानं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्। ईश्वराज्ञापालनार्थं वा। सुगन्धि-पुष्टि-मिष्ट-बुद्धिवृद्धि-शौर्य्य-धैर्य्य-बल-रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होम-करणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या, पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्ध-वायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव। अतस्तत्कर्मकर्त्तॄणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्नि-होत्रकरणम्।

भाषार्थ—इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं, वे सब ईश्वर के ही जानो। गायत्री मन्त्र के अर्थ में इनके अर्थ कर दिये हैं।

इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की इच्छा हो तो, 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे।

जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे **'अग्निहोत्र'** कहते हैं। जो जो केशर कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक, और रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परमसुख होता है। इस कारण अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है, और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है। ऐसे ऐसे लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः।

अथ तृतीयः पितृयज्ञः—

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम्। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघटयते। नैव मृतकेषु। कुतः? तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्व-

मेतत्कर्तुं शक्यत इति। तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च। तत्र देवेषु प्रमाणम्—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥ १॥

य० अ० १९॥ मं० ३९॥

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्सत्यं वदति॥

श० कां० १। अ० १। ब्रा० १॥

विद्वाꣳसो हि देवाः॥ श० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ३॥

अथर्षिप्रमाणम्—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ १॥

य० अ० ३१। मं० ९॥

अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः॥ २॥

श० कां० १। अ० ७। ब्रा० ५॥

अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते॥ ३॥

श० कां० १। अ० ४। ब्रा० २। कं० २, ३॥

भाष्यम्—(जातवेदः) हे परमेश्वर! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठा, भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु। तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसार-स्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु॥ १॥

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवो मनुष्यश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः (सत्यमेव०)

यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति। तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति। अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति स देवः परिगण्यते। यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति, स मनुष्यश्च। अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्य्याच्च। यः सत्यव्रतो देवोऽस्ति, स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च॥ २॥

तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति॥ ३॥

(तं० यज्ञम्०) इति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः॥ १॥

अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति, तदृषिकृत्यं विज्ञायते। तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते। यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति। यः सर्वविद्याविद् भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः॥ २॥

(अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते। य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्य्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति। तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम्॥ ३॥

भाषार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। उनमें से जिस कर्म करके विद्वान्‌रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो '**तर्पण**' कहाता है। तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को '**श्राद्ध**' जानना चाहिये। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं। क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती। तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम '**तर्पण**' और '**श्राद्ध**' वेदों में कहा है। क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करनेवाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं। सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर। देवों में प्रमाण—

(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि

विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। और आप के दिये विशेष ज्ञान वा आपके विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें॥ १॥

(द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं, अर्थात् एक **देव** और दूसरी **मनुष्य**! उनमें भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव०) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे **देव**, तथा जो झूठ बोलते, झूठ मानते और झूठ कर्म करते हैं, वे **मनुष्य** कहाते हैं। इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सबको उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं, वे तो कीर्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं। परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं॥ २॥

[विद्वा०] इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं॥ ३॥

(तं यज्ञं०) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है॥ १॥

(अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाना है, यह **ऋषिकर्म** कहाता है। और उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो, उस सबकी निवृत्ति उनकी सेवा करने से होती है। इससे जो नित्य विद्यादान, ग्रहण और सेवाकर्म करना है, वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप) अर्थात् विद्याकोश का रक्षक है॥ २॥

(अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इससे आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें॥ ३॥

अथ पितृषु प्रमाणम्—

ऊर्जं वह॑न्तीर॒मृतं॑ घृ॒तं पयः॑ की॒लाल॑ं परि॒स्रुत॑म्।
स्व॒धा स्थ॑ त॒र्पय॑त मे पि॒तॄन्॥ १॥ य० अ० २। मं० ३४॥

**आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ २॥**

य० अ० १९। मं० ५८॥

भाष्यम्—(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्य्यादींश्च सर्वे यूयं (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह—(ऊर्जं०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (अमृतं) अमृतात्मकमनेकविधं रसं, (घृतं) आज्यं, (पयः) दुग्धं, (कीलालं) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नम्, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात॥१॥

ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः, (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते (पितरो) विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति। (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु। वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम। (पथिभिर्दे०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय, हे पितरो! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्य्याम। (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो०) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु॥ २॥

भाषार्थ—(ऊर्ज्जं वह०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि—(तर्पयत मे०) जो जो हमारे मान्य पिता पितामहादि, माता मातामहादि और आचार्य तथा इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं, तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम उत्तम जल (अमृतं) रोग नाश करनेवाले उत्तम अन्न, (परिस्रुतं) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो, कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगो को सदा विद्या देते रहें। क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (स्वधा स्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये और हम लोग जो जो पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें, उन उन की आज्ञा किया कीजिये। हम लोग मन, वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं, आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये। क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे ही हमको भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो॥ १॥

(आयन्तु नः०) 'पितृ' शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है। क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है, वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इसीलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं, उनको **'पितर'** कहते हैं। उनके सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है, कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठके प्रीतिपूर्वक कहें कि—आइये! बैठिये! कुछ जलपान कीजिये और खाने पीने की आज्ञा दीजिये। पश्चात् जो जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं, सो सो प्रीतिपूर्वक समझाइये, कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें।

और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शीलस्वभाव और सबको सुख देनेवाले विद्वान् लोग (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुणवाले भौतिक अग्नि की अलग अलग करनेवाली विद्युत्रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं, वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें। तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब जब वे आवें वा जावें, तब तब उनको उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें। तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्यव्यवहार रक्खें (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं- एक देवयान और दूसरा पितृयान। अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह

देवयान, और जो कर्मोपासना मार्ग है वह **पितृयान** कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहैं॥ २॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत॥ ३॥

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः॥ ४॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसत्॥ ५॥ य० अ० २, मं० ३१-३३॥

भाष्यम्—**(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वास्मान् विद्याविज्ञानदानेनान्दयुक्तान् कुरुत। (यथाभागम्) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वं) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन्सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत। (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत॥ ३॥**

(नमो वः०) हे पितरः! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः०) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः०) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय, क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोऽस्तु। (गृहान्नः०) हे पितरो गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान्नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त। (सतो वः०) हे पितरो! येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति, तान् वयं वो युष्मभ्यं (द्वेष्म) दद्मो यतो वयं कदाचिद्भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम। (एतद्वः पितरः०) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतद्यूयं प्रीत्या गृह्णीत॥४॥

(आधत्त पितरो०) हे पितरो! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत।

तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिणं (कुमारं) ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत। (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षा-युक्तः पुरुषोऽसत्स्यात्। येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम्॥ ५॥

भाषार्थ—(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो! आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये। (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये। (अमीमदन्त पितरः०) आप यहां विद्या के प्रचार से सबको आनन्दयुक्त कीजिये। (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर, अपनी प्रसन्नता से हम को भी आनन्दित कीजिये॥ ३॥

(नमो वः०) हे पितर लोगो! हम लोग आपको नमस्कार करते हैं, इसलिये कि आपके द्वारा हमको **रस** अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जल-विद्या का यथावत् ज्ञान हो। तथा (नमो वः०) **शोष** अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे औषधि और जल सूख जाते हैं, उसके बोध होने के लिये भी हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितर लोगो! आप की सत्य शिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उमर को भोगें। इसलिए हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो! अमृतरूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आपकी सेवा करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हम आप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो जो विद्या अवश्य हैं, सो सो सब आप लोग हम को देवें। (सतो वः०) हे पितर लोगो! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देनेवाले हैं, इसलिये हम लोग आपको उत्तम उत्तम पदार्थ देते हैं, इनको आप प्रीति से लीजिये। तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम उत्तम वस्त्र भी देते हैं, इनको आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके सब के सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये॥ ४॥

(आधत्त पितरो०) हे विद्या के देनेवाले पितर लोगो! इस कुमार

ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये, कि जिससे वह विद्वान् होके (पुष्करस्त्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण करके मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्‌गुणों से उत्तम कीर्त्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके, वैसा ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये। यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इसका पालन सदा करते रहैं॥ ५॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषाꣳश्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳसमाः॥ ६॥

य० अ० १९। मं० ४६॥

उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं यऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ७॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयꣳसुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ८॥

य० अ० १९। मं० ४९, ५०॥

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥ ९॥

य० अ० १९। मं० ४५॥

भाष्यम्—(ये समानाः०) ये (मामकाः) मदीया आचार्य्यादयः, (जीवाः) विद्यमानजीवनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहित-करणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः, (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादि-दोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, (अस्मिंल्लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं, (कल्पतां) स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम॥ ६॥

(उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः

(उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः०) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो (हवेषु) देयग्राह्यव्यवहारेषु विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु। तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया नैव मृताश्चेति। कुतः? तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात् सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च॥ ७॥

(अङ्गिरसो नः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः, शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) वयं तेषां यज्ञियानां यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन् (स्याम) अर्थाद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम॥ ८॥

(ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः, ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः०) यो न्यायदर्शनं (स्वधा) अमृतात्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये (कल्पतां) समर्थतां प्रसिद्धो भवतु। य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति, तेभ्यो (नमः) नमोऽस्तु। अर्थाद्ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु॥ ९॥

भाषार्थ—(ये समाना०) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए, (समनसः) धर्म, ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत (समानाः) सत्यविद्यादि शुभ गुणों के प्रचार में ठीक ठीक विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्वविद्यादान के लिये छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करने वाले विद्वान् हैं, (तेषां०) उनकी जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है, सो मेरे लिये (अस्मिंल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० सौ वर्ष पर्य्यन्त स्थिर रहें, जिससे हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें॥ ६॥

(उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ, (उन्मध्यमाः) मध्यम

और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द कराने वाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय, पक्षपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जानने वाले (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उनकी विद्या देके हमारी रक्षा करें॥ ७॥

(अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले (नवग्वाः) नवीन नवीन विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, इसमें निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११। खं० १९ निरुक्त में लिखा है—**'अङ्गिरसो नवगतयो'** इत्यादि वहां देख लेना। (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी, (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तिस्वरूप, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करने वाले (पितरः) जो पितर हैं, तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उनकी सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे)मन की शुद्धि होती है, उसमें (अपि स्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त होके सदा आनन्दित रहें॥ ८॥

(ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग (यमराज्ये) अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश होके न्याय करनेवाले और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा) जिनका लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त होके सुखी रहता है, (नमः) उनको हम लोग नमस्कार करते हैं। क्योंकि वे पक्षपात रहित होके, सत्य व्यवस्था में चल के, अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलानेवाले हैं। (यज्ञो देवेषु कल्पताम्) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है, सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे॥ ९॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ १०॥

बर्हिषदः पितरऽऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
तऽआ गतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात॥ ११॥
आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तऽइहागमिष्ठाः॥ १२॥ य० अ० १९। मं० ५१, ५५, ५६॥

भाष्यम्—(ये सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (वसिष्ठाः) सर्वविद्याद्युत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, (सोमपीथम्) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे) पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (सꣳरराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति। किं कुर्वन्? (हवीꣳषि) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन्। अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान्प्राप्नोतु॥१०॥

(बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः, (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु। आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्रूमहे—हे विद्वांसः! यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा०) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वं) सम्प्रीत्या सेवध्यम्। हे पितरः! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन (वो) युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्य्याम। (अथा नः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात। किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्वा (अरपः) निष्पापतां दधात। येन वयमपि निष्पापा भवेमेति॥११॥

(आहं पितॄन्सुविदत्राँ०) ये बर्हिषदः (स्वधया) अन्नेन (सुतस्य) सोमवल्ल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु। य ईदृशाः पितरः सन्ति, तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद्वेद्मि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च। तान् विदित्वा सङ्गम्य च, (विष्णोः) सर्वत्र व्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं

च) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि। यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते। तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति। तस्मात्सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति॥ १२॥

भाषार्थ—(ये नः पूर्वे पितरः०) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा, तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्याओं में रमण करने वाले हैं, (तेभिर्यमः सꣳर०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है। (हविः) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करनेवाले तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है। हे मनुष्य लोगो! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो॥ १०॥

(बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थिर पितर लोग हैं, वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें, और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब जब आप हमारे वा हम आपके पास आवें जावें, तब तब (इमा वो हव्या०) हम लोग उत्तम उत्तम पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें, और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें। (अर्वा०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से और आप लोग (शंत०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से, (अथा नः शंयोः) इसके पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः०) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें, ऐसी बातों का धारण कराइये॥ ११॥

(आहं पितॄन्०) मैं जानता हूँ कि पितर लोग अपनी विद्या और अपने उपदेश से सुख देनेवाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी(आ अवित्सि) ठीक ठीक जानता हूँ। (बर्हिषदो ये) यह ज्ञान मुझको उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है, जिनको **देवायान** कहते हैं। और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता। तथा जिसमें पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों

को भी मैं विद्वानों के ही संग से जानता हूँ। (स्वध०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं तथा उसमें आप भी (पित्वः) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देने वाले होते हैं, वे सर्व हितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥ १२॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
तऽआ गमन्तु तऽइह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ १३॥
अग्निष्वात्ताः पितरऽएह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवीꣳषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳसर्ववीरं दधा-तन॥ १४॥
येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ १५॥

य० अ० १९। मं० ५७, ५९, ६०॥

भाष्यम्—(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु। (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु। श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु। एवं विद्यादानेन व्यवहारो-पदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदास्मान् रक्षन्तु॥ १३॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत। आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदःसदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत। (अत्ता हवीꣳषि) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत। (बर्हिष्यथा) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिꣳसर्व-वीरं०) सर्वैर्वीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन। यतोऽस्मासु बुद्धि-शरीरबलयुक्ता वीराः स्थिरा भवेयुः, सत्यविद्याकोशश्च॥ १४॥

(ये अग्निष्वात्ताः) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः, (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य

सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा, अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति, (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम। (यथावशं) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु परतन्त्राः प्रत्येकप्रियेषु च स्वतन्त्रा भवन्तु। यतः (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, (तन्वं कल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु निष्पादयतु। यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः॥ १५॥

भाषार्थ—(उपहूताः पितरः०) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं, कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु०) उत्तम आसनों पर बैठकर, जो कि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हों, हमको उपदेश करें। (त आगमन्तु) जब वे पितर आवें, तब सब लोग उनका इस प्रकार से सम्मान करें कि—आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, (अधिब्रुवन्तु०) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये॥ १३॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जाननेवाले पितर लोगो! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये। फिर वे पितर लोग कैसे होने चाहियें कि—(सुप्रणीतयः) उत्तम उत्तम गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य सत्य न्याय करनेहारे हों। तथा (हवि०) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण करानेवाले हों। (रयिꣳ सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है, कि जिससे वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है, उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश देश और घर घर में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें॥ १४॥

(ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जाननेवाले, तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, (तेभ्यः स्वाराडसु०) उनके हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है, वह असुनीति अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिये हम

प्रार्थना करते हैं, कि (यथावशं तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर! आप अपनी कृपा से उनके शरीर सदा सुखी, तेजस्वी और रोगरहित रखिये, कि जिससे हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे॥ १५॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं यऽआशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥ १६॥
ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२ ॥ऽउ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतं जुषस्व॥ १७॥
इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽउपरासऽईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳसुवृजनासु विक्षु॥ ८८॥

य० अ० १९। मं० ६१। ६७, ६८

भाष्यम्—(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्या! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद्यथासमयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान् (हवामहे) आह्वयामहे, तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम्। (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान् (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु। (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां सङ्गेन (वयꣳ स्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम॥ १६॥

(ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्त्यर्थाद्देशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (यां २॥ उ च न०) दूरदेशस्थित्या यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे (जातवेदः) परमेश्वर! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादयतु। (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नादिभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व। येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयस्करं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत्। (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति, तानस्मान्प्रापय॥ १७॥

(इदं पितृभ्यः) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः०) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये

पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ता) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये वा नूनꣳ सु०) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासु सभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणेऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मान् (ईयुः) प्राप्नुयुः। इत्थंभूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं नमोऽस्तु॥१८॥

भाषार्थ—(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समय विद्या के जानने वाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं, वैसे ही तुम लोग भी उनके पास जाते और उनको अपने पास सदा बुलाते रहो, जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहै। (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करने वाले हैं, उनसे हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों। (ते नो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हमको सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहैं (वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्) जिससे कि हम लोग सुविद्या से चकवर्त्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त, तथा उनकी रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों॥ १६॥

(ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, (याँश्च विद्म) जिनको समीप होने से हम लोग जानते, और (याँ २॥ उ च न प्रविद्म) जिनको दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते०) जो इस संसार के बीच में वर्त्तमान हैं, (त्वं वेत्थ) उन सबको आप यथावत् जानते हैं, कृपा करके उनका और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये (स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं०) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये, कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहैं॥ १७॥

(इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं, (अद्य पूर्वासो य उ परास ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं। अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं। तथा (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जानने वाले हैं। तथा (ये वा नूनꣳ सु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं, उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं, इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें॥ १८॥

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशतऽआवह पितॄन्हविषेऽअत्तवे॥ १९॥

य० अ० १९। मं० ७०

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः। पितरः शुन्धध्वम्॥ २०॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥ २१॥

य० अ० १९। मं० ३६। ३७॥

भाष्यम्—(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर! वयं त्वां कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे सदा स्थापयामः। (उशन्तः समिधीमहि) हे जगदीश्वर! त्वां शृण्वन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—(हविषे अत्तवे) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय॥ १९॥

(पितृभ्यः०) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो जनकेभ्यश्च, (स्वधा०) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः। ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंज्ञकाः। (पितामहेभ्यः०) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः, (प्रपितामहेभ्यः०) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः, (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु। (अक्षन् पितरः०) हे पितरो! भवन्तोऽक्षन्नत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन्। 'अमीमदन्त पितर इति पूर्वं व्याख्यातम्।' (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता

भूत्वा तृप्ता भवत। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत॥ २०॥

(पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः! पितामहाः! प्रपितामहाश्च! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु। केन पुनन्त्वित्याह—(पवित्रेण) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु। अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम्। येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम्। अत्र 'पुरुषो वाव यज्ञः' इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः॥ २१॥

भाषार्थ—(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आपका ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन्! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये, कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उनकी सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहें॥ १९॥

(पितृभ्यः स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़ के सबको पढ़ाते हैं, उन पितरों को हमारा नमस्कार है। (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सबके उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं, (प्रपितामहेभ्यः०) जो अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ के, हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देख के दिखलाते, और जो सबके सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, उनका मान भी सब लोगों को करना उचित है।

पिताओं का नाम **वसु** है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं। ऐसे ही पितामहों का नाम **रुद्र** है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बल वाले होते हैं, तथा प्रपितामहों का नाम **आदित्य** है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य्य के समान प्रकाशमान होके, सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम **वसु, रुद्र** और **आदित्य** इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते। इसमें **'पुरुषो वाव यज्ञः'** यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है, सो देख

लेना।

(अक्षन् पितरः) हे पितर लोगो! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो। तथा (अमीमदन्त पितरः) हमारी सेवा से प्रसन्न रहो। (अतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हमको भी आनन्दित और तृप्त करते रहो। तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो, अथवा हम आपकी सेवा में भूलें, तो आप लोग हमको शिक्षा करो। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो! आप हमको धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें, जिससे हम लोग आपके साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें॥ २०॥

(पुनन्तु मा पितरः०) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। (पुनन्तु मा पितामहाः०) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें। इसलिये कि उनकी शिक्षा को सुन के ब्रह्मचर्य्य धारण करने से सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्द युक्त उमर होती रहै। इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है॥ २१॥

इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभों का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। तथा जहां कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है, वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उनकी सेवा न बन सके, तो महीने महीने अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है उसमें उन लोगों को बुलाके अवश्य सत्कार करें।

इति पितृयज्ञः समाप्तः।

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते—

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ १॥

मनुस्मृतौ अ० ३। श्लोकः ८४॥

अत्र बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ १॥

अथर्व कां० १९। अनु० ७। मं० ७॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा स्वाहा[१] ॥२॥

य० अ० १९। मं० ३९॥

भाष्यम्—(अग्ने) हे परमेश्वर! (ते) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं (इत्) एव (तिष्ठतेऽश्वाय घासं) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः, तथैव (इव) (अहरहः) नित्यं प्रति (बलिं हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया, (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं (अग्ने) हे परमात्मन्! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान्प्राणिनः (मा रिषाम) मा पीडयेम। किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु। सर्वेषां च वयं सखाय स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्य्याम॥१॥

(पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः॥ २॥

भाषार्थ—(अग्ने०) हे परमेश्वर! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये, (अहरहः०) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते और अतिथियों को (बलि०) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन्! (प्रतिवेशाः) आपकी आज्ञा से उलटे होके आपके उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें। किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहैं। ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहें॥१॥

(पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है॥२॥

ओमग्नये स्वाहा॥ १॥ ओं सोमाय स्वाहा॥ २॥
ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ ३॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ४
ओं धन्वन्तरये स्वाहा॥ ५॥ ओं कुह्वै स्वाहा॥ ६॥
ओमनुमत्यै स्वाहा॥ ७॥ ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ८॥
ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥ ९॥

१. 'स्वाहा' यह पद मन्त्र का भाग नहीं है।

ओं स्विष्टकृते स्वाहा॥ १०॥

भाष्यम्—(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः॥ १॥

(ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः॥ २॥

(ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः॥ ३॥

(ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा॥ ४॥

(ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते॥ ५॥

(ओं कु०) दर्शेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा॥ ६॥

(ओम०) पौर्णमास्येष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै॥ ७॥

(ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः॥ ८॥

(ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः, एतदर्थोऽयमारम्भः॥ ९॥

(ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः॥१०॥

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्य्यात्—

भाषार्थ—(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं॥ १॥

(ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट करने और सुख देनेवाला॥ २॥

(ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान॥ ३॥

(ओं वि०) संसार के प्रकाश करनेवाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग॥ ४॥

(ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा॥ ५॥

(ओं कु०) अमावास्येष्टि का करना॥ ६॥

(ओम०) पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति॥ ७॥

(ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर॥ ८॥

(ओं सु०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य, और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण॥ ९॥

(ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर॥ १०॥

इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना। अब आगे बलिप्रदान के मन्त्र लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः॥ १॥ ओं सानुगाय यमाय नमः॥ २॥
ओं सानुगाय वरुणाय नमः॥ ३॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः॥ ४॥
ओं मरुद्भ्यो नमः॥ ५॥ ओमद्भ्यो नमः॥ ६॥
ओं वनस्पतिभ्यो नमः॥ ७॥ ओं श्रियै नमः॥ ८॥
ओं भद्रकाल्यै नमः॥ ९॥ ओं ब्रह्मपतये नमः॥ १०॥
ओं वास्तुपतये नमः॥ ११॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः॥ १२॥
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः॥१३॥
ओं नक्तंचारिभ्यो नमः॥ १४॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः॥ १५॥
ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः॥ १६॥

इति नित्यश्राद्धम्॥

भाष्यम्—(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्य्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते॥ १॥

(ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः॥ २॥

(ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः॥ ३॥

(ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः॥ ४॥

(ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः॥ ५॥

(ओम०) अस्यार्थः 'शन्नो देवी'रित्यत्रोक्तः॥ ६॥

(ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरः। बहुवचनमादरार्थम्। ईश्वरोत्पादिता वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः। यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम्॥ ७॥

(ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैंजनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात्। यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च॥ ८॥

(ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः॥ ९॥

(ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य देवस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः॥ १०॥

(ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं, तत्पतिरीश्वरः॥ ११॥

(ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः॥ १२॥

(ओं दिवा०)॥ १३॥ (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोयमारम्भः॥ १४॥

(ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोऽत्र ग्राह्यः॥ १५॥

(ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः॥ १६॥

भाषार्थ—(ओं सानु०) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुण॥ १॥

(ओं सा०) सत्य न्याय करनेवाला और उसकी सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद्।॥ २॥

(ओं सा०) सब से उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्तजन॥ ३॥

(ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग॥ ४॥

(ओं मरुत०) अर्थात् प्राण, जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना॥ ५॥

(ओमद्भ्यो०) इसका अर्थ 'शन्नोदेवी' इस मन्त्र में लिख दिया है॥ ६॥

(ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब पदार्थ, तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उन [वृक्षों] की रक्षा करनी॥ ७॥

(ओं श्रि०) सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री

की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना॥ ८॥

(ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना॥ ९॥

(ओं ब्र०) वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना॥ १०॥

(ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर॥ ११॥

(ओं ब्रह्म०) वेद शास्त्र का रक्षक जगदीश्वर [१०]॥

(ओं वि०) इसका अर्थ कह दिया है॥ १२॥

(ओं दि०) जो दिन में और

(ओं नक्तं०) रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं, उनसे उपकार लेना और उनको सुख देना॥ १३,१४॥

(सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना॥ १५॥

(ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि की प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना॥ १६॥

'नमः' शब्द का अर्थ यह है—आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना॥

इस के पीछे ये छः भाग करना चाहिये—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात्। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत्।

भाषार्थ—कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग अलग बांट के दे देना और उनकी प्रसन्नता करना। अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये। यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ।

इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते—

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति। अथ के अतिथयः? ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति। अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वा वात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥ २॥

अथ० कां० १५। अनु० २। व० ११। मं० १, २॥

भाष्यम्—(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किन्तु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च॥ १॥

स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत्। ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत्—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम! त्वं कुत्र निवासं कृतवान्। (व्रात्योदकं) हे अतिथे! जलमेतद् गृहाण (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्प्पयन्ति, तथाऽस्मदीया भवन्तं च [तर्प्पयन्तु] (व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम। यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम। (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम॥ २॥

भाषार्थ—अब पांचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है, उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते

रहते हैं, उनको '**अतिथि**' कहते हैं। इसमें वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उनमें से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त (व्रात्य०) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसकी यथावत् सेवा करें और '**अतिथि**' वह कहाता है कि जिसके आने जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो॥ १ ॥

(स्वयेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से उठके नमस्कार कर के, उत्तम आसन पर बैठावें। पश्चात् पूछें कि आपको जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें, तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य! अर्थात् उत्तम पुरुष, आपने कल के दिन कहां वास किया था? (व्रात्योदकं) हे अतिथे! यह जल लीजिये और (व्रात्य तर्पयन्तु) हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये, कि जिससे हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें। (व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो, हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिये। और (व्रात्य यथा०) जैसे आपकी कामना पूर्ण हो, वैसी सेवा की जाय कि जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥२ ॥

इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः ॥

अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितै रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यै-र्विद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते—

य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति, ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च। ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतः-प्रमाणम्। कुतः ? तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्व-विद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च। तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत्। यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते, नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति। वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च।

ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्त-द्भिन्नास्तद् व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति। तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति। एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि। तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं चत्वार उपवेदा अपि। तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः। धनुर्वेदस्य ग्रन्थाः प्रायेण लुप्ताः सन्ति। परन्तु तस्य सर्वविद्या-क्रियावयवैः सिद्धत्त्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति। अङ्गिरःप्रभृति-भिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति। गान्धर्ववेदश्च सामगान-विद्यादिसिद्धः। अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृ[देवज्ञ]मयकृतश्चतसृ-संहिताख्यो ग्राह्यः।

भाषार्थ—जो जो ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य

लोगों ने 'स्वत: प्रमाण' अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, 'परत:प्रमाण' अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं, जिनको जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है, उनको आगे कहते हैं—

इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि—ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं, वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परत:प्रमाण के योग्य होते हैं। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं, और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। और जीवों के बनाए ग्रन्थ स्वत:प्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे सर्वविद्या और सर्वशक्ति से रहित होते हैं। इसलिये उनका सब कहना स्वत:प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता।

ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि—वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके, सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं, वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते। क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं।

इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परत:प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है, वे सब स्वत:प्रमाण कहे जाते हैं। और उनसे भिन्न ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, वे परत:प्रमाण के योग्य हैं। तथा ग्यारह सौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा भी वेदों के व्याख्यान होने से परत:प्रमाण हैं।

तथा (आयुर्वेद:) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है। (धनुर्वेद:) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि

ऋषियों के बनाये ग्रन्थ, जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं, जिनसे राजविद्या सिद्ध होती है। परन्तु वे ग्रन्थ प्राय: लुप्त से हो गये हैं, जो पुरुषार्थ से इसको सिद्ध किया चाहै तो वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। (गान्धर्ववेद:) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं। (अर्थवेद:) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता। कल्पो मानवकल्पसूत्रादि:। व्याकरण-मष्टाध्यायीमहाभाष्यधातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम्। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्द: पिङ्गला-चार्य्यकृतसूत्रभाष्यम्। ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति।

तथा षडुपाङ्गानि—तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम्। द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्य-सहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्। तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्। चतुर्थं यत्त्रिभिर्मी-मांसावैशेषिकन्यायशास्त्रै: सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनि-कृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम्। तथा पञ्चमं तत्त्व-परिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्य-शास्त्रम्। षष्ठं बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्त-शास्त्रम्। तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेय-छान्दोग्यबृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्राह्याणि।

एवं चत्वारो वेदा: सशाखा व्याख्यानसहिताश्चत्वार उपवेदा:, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति। एतैरेव चतुर्दश-विद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादि-कृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ, और पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण। तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु, वसिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्य्यसिद्धान्त आदि,

और (छन्द:) पिङ्गलाचार्य्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छ: अङ्ग भी परत:प्रमाण के योग्य हैं।

और ऐसे ही वेदों के छ: उपाङ्ग अर्थात् जिन का नाम षट्शास्त्र है—उनमें से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्य सहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्मधर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है। दूसरा—वैशेषिक शास्त्र जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित। तीसरा—न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहित। चौथा—योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृतभाष्यसहित। पांचवां—सांख्यशास्त्र जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत-भाष्यसहित। और छठा—वेदान्तशास्त्र जो कि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र है, ये छ: वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं।

इस का अभिप्राय है कि जो शाखा-शाखान्तर व्याख्यासहित चार वेद, चार उपवेद, छ: अंग और उपांग हैं, ये सब मिल के चौदह-विद्या के ग्रन्थ हैं।

एतासां पठनाद्यथार्थं विदितत्वान्मानसबाह्यज्ञानक्रियाकाण्ड-साक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम्। एत ईश्वरोक्ता वेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूला: सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीया: सन्ति। नैवैतेभ्यो भिन्ना: पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्था: केनापि कदाचिदङ्गीकार्य्या इति।

ते च संक्षेपत: परिगण्यन्ते—रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्था:। ब्रह्म-वैवर्त्तादीनि पुराणान्युपपुराणानि च। प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृते-र्व्यतिरिक्ता: स्मृतय:। सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभास-ग्रन्था:। मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्था:। वैशेषिक-न्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसङ्ग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासा ग्रन्था:। योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्था:। सांख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादय:। वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशी-योगवासिष्ठादयो ग्रन्था:। ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो

मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्था:।

तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्था:। मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरण-स्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्य-विधायका: सर्वे ग्रन्था:। तथैव पाषण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च। ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीना: सन्त्यत: शिष्टैरग्राह्या भवन्ति।

भाषार्थ—इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वत: परत: प्रमाण करना, सुनना और पढ़ना सब को उचित है। इनसे भिन्नों का नहीं। क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं, उन को स्वीकार करना योग्य नहीं।

आगे उन में से मुख्य मुख्य मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं—जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ। ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण। सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ। धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि। तथा वैशेषिक न्यायशास्त्रविरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ। हठदीपिका आदि ग्रन्थ, जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं। तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ। वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ। ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मूहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक।

ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर, गङ्गादि जल, यात्रा माहात्म्यविधायक पुस्तक, तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तिपूजा करने से मुक्तिविधायक ग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेदविरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ। तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश, ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

प्रश्न—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित्सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्?

उत्तरम्—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति, तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः ? तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति।

अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते, तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति तेषां मतम्, यत्रेमे श्लोकाः सन्ति—

मद्यं मासं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्च मकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे॥ १॥
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ २॥
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक्॥ ३॥
मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु।
लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः॥ ४॥
मातरमपि न त्यजेत्॥ ५॥

इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिहितयुक्तिप्रमाण-रहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु, नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत्सुगमं प्रसिद्धं च।

एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते। तत्रैवमेका कथा लिखिता—

'प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति।' सा मिथ्यैवास्ति। कुतः ? अस्याः कथाया अलङ्काराभि-प्रायत्वात्। तद्यथा—

भाषार्थ—कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि—इन असत्य ग्रन्थों में भी जो जो सत्य बात हैं, उनका ग्रहण करना चाहिये ?

तो इसका उत्तर यह है कि —जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो, तो उसको छोड़ देते हैं, क्योंकि उनसे सत्यग्रहण की आशा करने से

सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है। इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये। क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां, विना ज्ञान के उन्नति कैसी ? और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं।

अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक् पृथक् दोष भी दिखलाये जाते हैं। देखो, तन्त्रग्रन्थों में ऐसे ऐसे श्लोक लिखे हुए हैं कि—

(मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना। इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होना॥ १॥

(पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धर के, एक कोने से खड़े खड़े मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहां तक कि जब पर्य्यन्त पीते पीते बेहोश हो कर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े, तब तक बराबर पीते ही चले जाना। इस प्रकार वारंवार पीके अनेक वार उठ उठ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्म-मरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है॥ २॥

(प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब उनमें ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यन्त सब स्त्री पुरुष आते हैं। फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उसकी योनि की पूजा करते हैं। सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी कभी पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके, उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं। फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक खाते चले जाते हैं। यहाँ तक कि जब तक उन्मत्त न हो जायं तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं, तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग अलग वर्णवाले हो गये॥ ३॥

(मातृयोनिं०) उनके किसी किसी श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि

माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इसमें कुछ दोष नहीं। और (मातरमपि न त्यजेत्) किसी किसी का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना। तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है॥४॥

इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र, युक्ति प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान का नाश और दु:खरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।

इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यास जी के नाम से सम्प्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उनको नवीन कहना उचित है।

अब उनकी मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहां भी लिखते हैं—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत्॥ ऐ० पं० ३। कण्डि० ३३, ३४॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता॥

शत० कां० १०। अ० २। ब्रा० २। कं० ४॥

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः॥

निरु० अ० ४। खं० २१॥

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३ र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ १॥

ऋ० मं० १॥ सू० १६४। मं० ३३॥

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्य्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ २॥

ऋ० मं० ३। सू० ३१। मं० १॥

भाष्यम्—सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति। तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स

तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः। स च पिता तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च। कुतः! तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्। यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किंचित्सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योषा इति संज्ञा। तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः। यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम्।

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत्। कुतः? पर्जन्याददद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः। अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति। स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति। तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते। अयमपि रूपकालङ्कारः॥ [१-३]॥

अत्र वेदप्रमाणम्—

(द्यौर्मे पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः। अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात्। तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री। द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः। अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात्, आ सामन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः॥ १॥

(शासद्वह्नि०) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति। वह्निशब्देन सूर्य्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव। स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्रमजनयदिति॥ २॥

अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति।

भाषार्थ—नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है, जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी—(प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा। क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका ही संतान कहाता है। इसलिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है, वह सूर्य्य की किरण से उत्पन्न होने के

कारण उसकी कन्या कहाती है। उन में से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है, वही वीर्य्यस्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है॥

'प्रजापति' और 'सविता' ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं॥

तथा निरुक्त में भी रूपकालङ्कार की कथा लिखी है कि—पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है, उसकी पृथिवीरूप दुहिता अर्थात् कन्या है। क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है। जब वह उस कन्या में वृष्टि द्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है, तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं॥

इस कथा का मूल ऋग्वेद में इस प्रकार है कि—

(द्यौर्मे पिता०) द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है, सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। (उत्तान०) जैसे ऊपर-नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं, अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं, इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी, अर्थात् उपर की चांदनी के सामन सूर्य्य, और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है। तथा जैसे दो सेना आमने-सामने खड़ी हों, इसी प्रकार सब लोकों का परस्पर सम्बन्ध है। इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी, और गर्भस्थापन करनेवाला पति के समान मेघ है। वह अपने बिन्दुरूप वीर्य्य के स्थापन से उसको गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है, कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है॥ १॥

(शासद्वह्नि०) सब का वहन अर्थात् प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानबुद्धि के लिये रूपकालङ्कार कथाओं का उपदेश किया है। तथा वही (ऋतस्य०) जल के धारण करनेवाला, (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्रपौत्रादि का पालन और उपदेश करता है। (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य्य स्थापन करता है, जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जान लेना। जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उनके सम्बन्ध रचे हैं, उसको हम नमस्कार करते हैं॥ २॥

जो यह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या

ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है। तथा ऐसी ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

तथा च—'कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजः स्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति।'

तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः ? आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति।.....गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमोदयिषति॥

शत० कां० ३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १८॥

रेतः सोमः॥ श० कां० ३। अ० ३। ब्रा० २। कं० १॥

रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते॥ निरु० अ० १२। खं० ११॥

सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते॥ निरु० अ० २। खं० ६॥

जार आ भगम्। जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता॥ निरु० अ० ३। खं० १६।

एष एवेन्द्रो य एष तपति॥

श० कां० १। अ० ६। ब्रा० ४। कं० १८॥

भाष्यम्—इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति, भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री। तस्य गोतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। रात्रिरहल्या। कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति।

अत्र स सूर्य्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः ? अयं रात्रेर्जरयिता। 'जृष् वयोहाना'विति धात्वर्थोऽ-

भिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम्॥

एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां, या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या, ह्येतादृश्योऽन्याश्चापि।

भाषार्थ—अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है, कि जिसको मूढ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है। सो उसको ऐसा मान रक्खा है कि—

'देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था। वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था। एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया, तब इस प्रकार शाप दिया कि—हे इन्द्र! तू हजार भगवाला हो जा। तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप हो जा। परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा, तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायँ, और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे, उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजावेगी।'

इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है। सत्य ग्रन्थों में ऐसे नहीं है। तद्यथा—

(इन्द्रागच्छेति०) अर्थात् उन में इस रीति से है कि—सूर्य्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या, तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहाँ रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री-पुरुष के समान रूपकालङ्कार है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है। अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है। और जार अर्थात् यह सूर्य्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़नेवाला है। इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालङ्कार बांधा है, कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ-साथ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम 'गोतम' इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है। और रात्रि को 'अहल्या' इसलिये कहते हैं कि उसमें दिन लय हो जाता है। तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिए वह उसका 'जार' कहाता है।

इस उत्तम रूपकालङ्कारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिये सब सज्जन लोग

पुराणोक्त मिथ्या कथाओं का मूल से ही त्याग कर दें।

'एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः। विष्णुरुपायं वर्णितवान्—मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति।'

ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा—

इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ १॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्य्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥ २॥

ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १, २॥

भाष्यम्—(इन्द्रस्य) सूर्य्यस्य परमेश्वरस्य वा तानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, नु इति वितर्के, वज्री चकार। वज्री वज्रः प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति।

वीर्य्यं वै वज्रः॥ श० कां० ७। अ० ३॥

स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनु पश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्, तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यस्ता नद्यः? पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः, यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम्॥१॥

अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते—(त्वष्टा) सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान्। कथं हतवानित्यत्राह—(अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्य्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यं विद्युत् प्रक्षिपति। येन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति। पुनर्भूमिगतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति। ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति। कथम्भूता आपः? (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः। का इव? वाश्रा वत्समिच्छवो गाव इव। आप

इव वृत्रासुरस्य शरीरम्। यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं, तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति॥ २॥

भाषार्थ—तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है। इस को भी पुराणवालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है। देखो कि—

'त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया। तब सब देवता लोग बड़े भय युक्त होकर विष्णु के समीप में गये, और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बतलाया कि—मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा। तुम लोग, उस फेन को उठाकर वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा।'

यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है। श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें। देखो, सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि—

(इन्द्रस्य नु०) यहां सूर्य्य का इन्द्र* नाम है। उसके किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं, जो कि परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है। वह अपनी किरणों से 'वृत्र' अर्थात् मेघ को मारता है। जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है, तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है। फिर उससे अनेक बड़ी बड़ी नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं। कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिये होती हैं। जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है॥ १॥

फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है। जिसको सूर्य्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छील के सूक्ष्म कर देता है, वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु करके पृथिवी में गिरा देता है और उसके शरीररूप जल सिमट सिमट कर नदियों के द्वारा समुद्र को प्राप्त होते हैं, कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़ के मिलती हैं॥ २॥

* इन्द्र नाम परमेश्वर का भी है जो कि अपने अनन्तबलरूप वज्र को दुष्टों पर चलाता रहता है। (दयानन्द सरस्वती)

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः॥ ३॥
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्र मास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः॥ ४॥

ऋ० मण्ड० १। सू० ३२। मं० [५, ७]॥

अहिरिति मेघनामसु पठितम्॥ निघं० अ० १। खं० १०॥

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः॥ वृत्रं जघ्निवानपववार तद्। वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा। यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते॥

निरु० अ० २। खं० १७॥

भाष्यम्—(इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात्तथा (अहन्) हतवान्। स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) विविधछेदनसाधनेन वज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) पृथिव्याः कृतसम्बन्धातनूरिव यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेघोऽपि (अशयत), 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट' इति सामान्यकाले लङ्॥ ३॥

[अपाद०] पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति॥ ४॥

निघण्टौ अ० १। खं० १०—**वृत्र इति मेघस्य नाम। इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः। त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः। कुतः? सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति। तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात्। पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति। स च भूमिं प्रविशति, नदीर्गच्छति, तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति, पुनश्चोपरि गच्छति। तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान्। वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः। मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम्॥**

भाषार्थ—जब सूर्य्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट काट कर गिराता है, तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करनेवाला हो जाता है॥ ३,४॥

'निघण्टु' में मेघ का नाम वृत्र है (इन्द्रशत्रु०)—वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य्य है, सूर्य्य का नाम त्वष्टा है, उसका संतान मेघ है, क्योंकि सूर्य्य की किरणों के द्वारा जल कण कण होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है। तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि **वृत्रो वृणोतेः०**—वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। वृत्रस्य
निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥ ५॥
नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये॥ ६॥

ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १०, १३॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति।

वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोभिप्रसुस्राव। सर्वत इव ह्ययꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्सांचक्रिरे। ता उपर्य्युपर्य्यतिपुप्रुविरे त इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु सꣳसृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यामपहन्त्यव मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति॥

श० कां० १। अ० १। ब्रा० ३। कण्डि० ४, ५॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्य्यो द्युस्थान इति॥ निरु० अ० ७। खं० ५॥

भाष्यम्—(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति। अत एवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत्, आ समन्ताच्छेते॥५॥

(नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत्तन्यतुश्चास्मै सूर्य्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति। अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्य्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते। यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति। यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति। परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति। अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति॥ ६॥

(वृत्रो ह वा इति०)—स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति, तस्माद् वृत्रो नाम। तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्य्यो जघान हतवान्। स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति। स पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति। अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति। अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति। इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्रुविरे गच्छन्ति, ततोऽभिवर्षन्ति च। ताभ्य एवेमे दर्भाद्यौषधिसमूहा जायन्ते। यौ वाय्विन्द्रौ सूर्य्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः॥

एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति।

भाषार्थ—(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी बड़ी नदियां उत्पन्न हो के अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं, और जितना जल तलाब वा कूप आदि में रह जाता है वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है॥ ५॥

(नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं, अर्थात् जब मेघ बढ़ता है, तब तो वह सूर्य्य के प्रकाश को हटाता है, और जब सूर्य्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य्य ही का विजय होता है॥ ६॥

(वृत्रो ह वा०)—जब जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है, तब तब उसको सूर्य्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं कहीं दुर्गन्धरूप

भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समुद्र का जल देखने में भयङ्कर मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार वारम्वार मेघ वर्षता रहता है। (उपर्य्युपर्य्यति०)—अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ उड़ कर आकाश में बढ़ता है। वहां इकट्ठा होकर फिर फिर वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उसी मेघ को 'वृत्रासुर' के नाम से बोलते हैं।

वायु और सूर्य्य का नाम 'इन्द्र' है। वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित हैं। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य्य का विजय निःसन्देह होता है।

इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसङ्ग्रामकथा अन्यथैव सन्ति।

ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः। कुतः? तासामप्यलङ्कारयोगात्। तद्यथा—

देवासुराः संयत्ता आसन्॥ १॥

श० कां० १३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १॥

असुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरता स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वापि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वं विज्ञायते॥ २॥ निरु० अ० ३। खं० ८॥

देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम्॥ ३॥

निरु० अ० १०। खं० ३४॥

सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त। स आस्येनैव देवानसृजत। ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तदेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास। अथ योऽयमवाङ्प्राणः तेनासुरानसृजत। त इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय तम इवास॥ सोऽवेत्। पाप्मानं वा असृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति। तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरम्। यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्, ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवन्निति॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्।

न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति॥

स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय, दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताꣳरात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः॥ ४॥ श० कां० ११। अ० १। ब्रा० ६। कं० ७-१२॥

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दाय-मुपेयुः॥ ५॥ श० कां० १। अ० ७। ब्रा० २। कं० २२॥

द्वया ह प्राजापत्याः, देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः॥ यदेवेदमप्रतिरूपं वदति[1] स एव स पाप्मा॥ ६॥ श० कां० १४। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १, ३॥

ऊर्गिति देवा मायेत्यसुराः॥ ७॥

शं० कां० १०। अ० ५। ब्रा० २। कं० २०॥

प्राणा देवाः॥ ८॥ शं० कां० अ० ३। ब्रा० ६। कं० १५॥

प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया॥ ९॥

शं० कां० ६। अ० ६। ब्रा० २। कं० ६॥

भाष्यम्—(देवासुराः०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः। के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते—

विद्वाꣳसो हि देवाः॥ श० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ३। कं० १०॥

हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः। ये देवास्ते विद्यावत्त्वात्प्रकाशवन्तो भवन्ति। ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाज् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति। एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसङ्ग्रामः।

द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा

१. वदति के स्थान पर जिघ्रति पाठ भी मिलता है। —सम्पादक

अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥ स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ मनो ह वै देवा मनुष्यस्य॥ श० कां० १। अ० १। ब्रा० १। कं० ४, ५, ७॥

ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः। ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव। तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव। मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुराः, एतयोरपि विरोधो भवति। मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते॥ १॥

प्रकाशाख्यात्सोर्देवान्मनः षष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत। अतस्ते प्रकाशकारकाः। असोरन्धकाराख्यात्पृथिव्यादेरसुरान्पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत। एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन सङ्ग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम्॥ २-३॥

(सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्नि-परमाणुमयात्कारणात्, सूर्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त। तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते।

अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योऽयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति। ते पृथिवीमभि-पद्यौषध्यादीन्पदार्थानसृज्यन्त। ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहिता-स्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योऽन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते। तस्मादिदमपि दैवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम्। तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च। एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि 'देवासुरसङ्ग्रामो'ऽस्तीति विज्ञेयम्। एवमेव दिनं देवो रात्रिरसुरः। एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते॥ ४॥

त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते। अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति। तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्तिः। वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात् प्राणानां तन्मयत्वाच्च। तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति, पुनर्विद्वांसश्च। तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च, तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च

कनिष्ठाः। एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च। ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम्। एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम्॥ ५-६॥

ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः। ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः। एतयोरपि परस्परं विरोधात्सङ्ग्राम इव भवति। इत्यादिप्रकारकं दैवासुरं युद्धमिति बोध्यम्॥ ७-९॥

एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञानार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैवैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति।

भाषार्थ—जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालङ्कार की है, इस को भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है। जैसे—

एक दैत्यों की सेना थी कि जिन का शुक्राचार्य पुरोहित था, और वे दक्षिण देश में रहते थे। तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिनका राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि, और पुरोहित बृहस्पति था। उन देवों के विजय कराने के लिये आर्य्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे। असुर लोग तप करके ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे। और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे।

यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना। और सत्य ग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं, उनका ग्रहण करना सबको उचित है। तद्यथा—

(देवासुराः सं०) देव और असुर अपने अपने बाने में सज कर सब दिन युद्ध किया करते हैं। तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये, सो भी देवासुरसंग्राम रूप जानो। क्योंकि सूर्य्य की किरण '**देव**' संज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल '**असुर**' संज्ञक हैं। उन का परस्पर युद्धवर्णन पूर्व कर दिया है।

निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें। जैसे—जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करनेवाले हैं, वे तो '**देव**', और जो अविद्वान्, झूठ बोलने,

झूठ मानने और मिथ्याचार करनेवाले हैं, वे '**असुर**' कहाते हैं। उन का परस्पर नित्य विरोध होना, यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी **देव** कहाते हैं, उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम **असुर** है, उन में राजा प्राण और अपानादि सेना है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है॥ १॥

(सोर्दे०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य्य आदि को ईश्वर रचता है और (असो०) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है, जो कि प्रकाशरहित होने से **असुर** कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इनकी भी **संग्राम** संज्ञा मानी है॥२-३॥

तथा पुण्यात्मा मनुष्य '**देव**' और पापात्मा दुष्ट लोग '**असुर**' कहाते हैं। उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम '**देव**' और रात्रि का नाम '**असुर**' है। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है।

तथा शुक्लपक्ष का नाम '**देव**' और कृष्णपक्ष का नाम '**असुर**' है। तथा उत्तरायण की '**देव**' संज्ञा और दक्षिणायन की '**असुर**' संज्ञा है। इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां जहां ऐसे लक्षण घट सकें, वहां वहां देवासुर संग्राम का रूपकालङ्कार जान लेना॥ ४॥

ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं, और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं। इनमें से जो जो असुर अर्थात् प्राण आदि हैं, वे ज्येष्ठ कहाते हैं। क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं। तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं। तथा सूर्य्य, ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं॥ ५-६॥

उन में से जो जो मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करनेवाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं वे '**असुर**' और जो लोग परोपकार परदु:खभंजन तथा धर्मात्मा हैं, वे '**देव**' कहाते हैं॥ ७-९॥

इस सत्य विद्या के प्रकाश करनेवाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण

करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग कर देना सब को उचित है।

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ता: सन्ति। तद्यथा—

'मरीचिपुत्र: कश्यप ऋषिरासीत्तस्मै त्रयोदशकन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ता:। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्या अदितेरादित्या: दनोर्दानवा:, एवमेव कद्रुवा: सर्पा:, विनताया: पक्षिण:, तथान्यासां सकाशाद्वानरर्च्छवृक्षघासादय उत्पन्ना:।' इत्याद्या अन्धकारमय्य: प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ता: कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्। तद्यथा—

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापति: प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्म्म:, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहु: सर्वा: प्रजा: काश्यप्य इति॥ श० कां० ७। अ० ५। ब्रा० १। कं० ५॥

भाष्यम्—(स यत्कूर्म्म:) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात्तस्य 'कूर्म्म' इति संज्ञा। 'कश्यपो वै कूर्म्म' इत्यनेन परमेश्वरस्यैव 'कश्यप' इति नामास्ति। तेनैवेमा: सर्वा: प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमा: प्रजा: काश्यप्य इत्युच्यन्ते। कश्यप: कस्मात्पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्य:, सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्य:, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवात: पश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययाद्धिंसे: सिंह: कृतेस्तर्कुरित्यादिवत्कश्यप इति 'हयवरट्' इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति। अत: सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्य: प्रजा इति।

भाषार्थ—जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के प्रसिद्ध की हैं। जैसे देखो कि—

'मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे। उन को दक्षप्रजापति ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई। अर्थात् दिति से दैत्य; अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर, ऋच्छ, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं।' इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असम्भव कथा लिख रक्खी हैं। उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं। देखिये, ये ही कथा सत्य शास्त्रों

में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं।

(स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से '**कूर्म्म**' तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण परमेश्वर को '**कश्यप**' भी कहते हैं। 'कश्यप' यह शब्द 'पश्यक' इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्य्यय से बनता है॥

इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सब का कल्याण हो। अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को—

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीयः। इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता॥ सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम॥

श० कां० १४। अ० ८। ब्रा० १५। कं० १५॥

गय इत्यपत्यनामसु पठितम्॥ निघं० अ० २। खं० २॥

तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति। तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति॥

श० कां० १२। अ० २। ब्रा० ५। कं० १, ५,॥

अहिꣳसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः॥ इति छान्दोग्योपनि०॥

समानतीर्थे वासी॥ इत्यष्टाध्याय्याम्, अ० ४। पा० ४। सू० १०८॥ **सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम्॥**

त्रयः स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति। यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते [स विद्यास्नातकः। यो व्रतं समाप्य विद्यामसमाप्य समावर्तते] स व्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे॥

नमस्तीर्थ्याय च॥

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः॥

इति शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् अ० १६॥ मं० ४२, ९१॥

एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते। तद्यथा—प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः। तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितम्। तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात्। गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं गयामाह। प्राणानां गयेति संज्ञा प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात्। तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम्, अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्धविधानम्। गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते।

एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति। अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम्। गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया। मातुः पितुराचार्य्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते। तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति। अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते।

अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितं, तस्य स्थलस्य गयेति च। तद् व्यर्थमेव। कुतः ? विष्णुपदं मोक्षपदस्य नामास्ति [गयपदं] प्राणगृहप्रजानां च। अतोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम्। अत्र प्रमाणम्—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा॥ यजु० अ० ५। मं० १५॥

यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम्। त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा॥ निरु० अ० १२। खं० १९॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता। तद्यथा—विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य विष्णुरिति नाम। अत्राह निरुक्तकारः—

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति—इदं विष्णुरित्यृक्॥

निरु० अ० १२। खं० १८॥

भाष्यम्—वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोऽस्ति, चराचरं जगत् व्यश्नुते

व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोऽस्ति। एतदर्थवाचिकेयमृक्।

इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान्। 'क्रमु पादविक्षेपे' पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु निधत्ते निदधे स्थापितवान्। अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम्। यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे। यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमये व्यवहारेऽग्नौ वेति विज्ञेयम्। एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान्। सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम्। तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम्।

अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः। यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान्। (त्रिधा निदधे पदं) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव। तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते। यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति। कुतः ? व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात्। पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते। ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते। अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते। इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम्।

तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति। यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि 'तीर्थानि' मतानि। यानि च भ्रान्तैः रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि, तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम्। तद्यथा—

(तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य

स्नानं क्रियते, तदेव तीर्थमिति वेद्यम्। येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति। तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धिसर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात्तारकत्वात्तीर्थमिति मन्तव्यम्॥

एवमेव (अहिंसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत। परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः। तद्यथा—यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव। ये पाषण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव। अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति। तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात्तरन्त्येव। तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः।

तथैव (समानतीर्थे वासी) इत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः, समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति। मातापित्रतिथीनां सम्यक् सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखात्तारकत्वादेव मन्तव्यानि। एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति।

(त्रयः स्ना०) त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति। तद्यथा—यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स शुद्धो भवति। यस्तु खलु द्वितीयः, यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समावर्तते स व्रतस्नातको भवति। यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते, सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा यथावच्छुद्धात्मा शुद्धान्तःकरणः सत्यधर्माचारी परमविद्वान् सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम्।

(नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः सः तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु। ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति, व्यवहरन्ति ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां ते, (निषङ्गिणः) निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते, सत्योपदेष्टारः। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति' ब्राह्मणवाक्यात्, उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः। अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति। सर्वेषां तारकाणां तीर्थनामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात् परमेश्वर एवास्ति।

एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि।

प्रश्नः—यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति ?

अत्रोच्यते—नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात्, करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च। जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति। तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि। यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्य्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात्। तस्माद्वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति। किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति।

ननु—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया कथं न मन्यते ?

अत्रोच्यते—मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति। ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति। ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति, तावत्तासां मान्यं करोमि। न च पापनाशकत्वं दुःखात्तारकत्वं च। कुतः ? जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात्। इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते, नान्यत्रेति।

अन्यच्च, इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति। तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव। तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्। एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात्।

एवमेव—सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवुत्पतन्ति० एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति। 'सङ्गथे' इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति।

तन्न सङ्गच्छते। कुतः ? नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति गच्छन्ति किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः। अत्रापि 'सित'शब्देनेडायाः, 'असित'शब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम्। यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो

मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं, न च तयोः। अत्र प्रमाणम्—

सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम्॥

निरु० अ० ९। खं० २॥

सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः। तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति, तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव।

भाषार्थ—छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रखा है—'लोगों ने, मगध देश में एक स्थान है, वहां फल्गु नदी के तीर, पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बना के उसका 'विष्णुपद' नाम रख दिया है। और यह बात प्रसिद्ध कर दी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है।' जो लोग **आंख के अन्धे गांठ के पूरे** उन के जाल में जा फसते हैं, उनकी गयावाले उलटे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं। इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं। वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूंठ ही की गठरी है। जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रकट हो जावेगा—

(प्राणो वै बलं) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गयासंज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है, और उसका प्रतिपादन करने वाला गायत्री मन्त्र है कि जिसको '**गया**' कहते हैं। किसलिये कि उसका अर्थ जान के श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम '**गया**' है, उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करनेवाला है। इसलिये ईश्वर का नाम '**गायत्री**' और गायत्री का नाम '**गया**' है।

तथा निघण्टु में घर, सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी '**गया**' है। मनुष्यों को इन में अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिये। इसी प्रकार माता,

पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है, उसका नाम '**गयाश्राद्ध**' है।

तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी, इसका नाम भी '**गयाश्राद्ध**' है।

तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना, और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना, ये सब मिलकर अथवा पृथक् पृथक् भी 'गयाश्राद्ध' कहाते हैं।

इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है, उस को कभी न मानना।

और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम '**विष्णुपद**' रक्खा है, सो सब मूल से ही मिथ्या है। क्योंकि व्यापक परमेश्वर, जो सब जगत् का करनेवाला है, उसी का नाम '**विष्णु**' है।

देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पूषेत्यथ०)—'विष्लृ' धातु का अर्थ व्यापक होने, अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में स्थापन कर लेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम '**विष्णु**' है।

'क्रमु पादविक्षेपे' यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना, इस अर्थ को बतलाता है, इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान् सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में। इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है। सो यह केवल परमेश्वर ही का महिमा है कि जिसने ऐसे ऐसे अद्‌भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है।

(यदिदं किंच०)—इस 'विष्णुपद' के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर (त्रिधा) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे

मोक्षपद को प्राप्त होते हैं वह '**समारोहण**' कहाता है। सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है, उस को मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके, प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उस में से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है, सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता। किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है, और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे परमात्मा को '**विष्णुपद**' कहते हैं।

इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम विष्णुपद रख छोड़ा है, सो सब मिथ्या बातें हैं॥

तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जान के अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है। सो ठीक नहीं, क्योंकि जो जो सत्य तीर्थ हैं, वे सब नीचे लिखे जाते हैं—

देखो '**तीर्थ**' नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो जो वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं, तथा जिनका आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दुःखों से छुड़ा के उनके सुखों के साधन हैं, उनही को '**तीर्थ**' कहते हैं।

वेदोक्त तीर्थ ये हैं—(तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है, उसको '**तीर्थ**' कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करनेवाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है।

तथा (अहिꣳसन्०) सब मनुष्यों को इस '**तीर्थ**' का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैर-भाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना, और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना। परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः) जो जो व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं, उनके करने में दण्ड का होना अवश्य है। अर्थात् जो जो मनुष्य अपराधी, पाखण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु, अपने सुख में प्रवृत्त,

और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं, वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम **तीर्थ** है, कि जिनके पढ़ने-पढ़ाने और उनमें कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दु:खसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं।

(समानतीर्थे०) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य्य है उसका, वेदादिशास्त्रों, तथा माता पिता और अतिथि का भी नाम **'तीर्थ'** है। क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दु:खों से पार होजाता है। इससे इन का भी **तीर्थ** नाम है॥

(त्रयः स्नातका०) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं—एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेदविद्या को पढ़ के, ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा करके ज्ञानरूपी **'तीर्थ'** में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। दूसरा जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है, वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य **'तीर्थ'** में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके, समावर्त्तन अर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम **'तीर्थ'** में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्त:करण, श्रेष्ठविद्या, बल और परोपकार को प्राप्त होता है।

(नमस्तीर्थ्याय०) उक्त तीर्थों से प्राप्त होनेवाला परमेश्वर भी **'तीर्थ'** ही है, उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है। जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना और सत्यकथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं, तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन करते हैं, वे बड़े बलवाले होकर **'रुद्र'** कहाते हैं। (सृकाहस्ता०) जिनके सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग=संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है, वे सत्य के उपदेशक भी **'रुद्र'** कहाते हैं तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ, उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है, उसको **'परमतीर्थ'** कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दु:खों से तर जाते हैं।

प्रश्न—जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं, अर्थात् जल और स्थान विशेष, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं। और तीर्थ

शब्द करणकारकयुक्त लिया जाता है। जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं, उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं। इससे जल वा स्थल तारनेवाले कभी नहीं हो सकते। किसलिए कि जो जल में हाथ वा पग न चलावे, वा नौका आदि पर न बैठे तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं, उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं।

प्रश्न—(इमं मे गङ्गे०) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करनेवाला है, फिर इनको तीर्थ क्यों नहीं मानते?

उत्तर—हम लोग उनको नदी मानते हैं, और उन के जल में जो जो गुण हैं, उन को भी मानते हैं। परन्तु पाप छुड़ाना और दु:खों से तारना, यह उनका सामर्थ्य नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मन्त्र में **'गङ्गा'** आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के नाम हैं। उन में योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दु:खों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है।

(सितासिते०)—सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां मिली हैं, उसको **'सुषुम्णा'** कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि—'सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं।' इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति, तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुतः? वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवृत्यते। तद्यथा—

न तस्य॑ प्रति॒माऽअ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑। हि॒र॒ण्य॒गर्भ॒ऽइत्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒तऽइत्ये॒षः॥ १॥

यजु:० अ० ३२। मं० ३॥

भाष्यम्—(यस्य) पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य महद्यशः यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः) यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्, यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदित्येषा प्रार्थना कार्या, (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाशात्कदाचिदुत्पन्नो नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति, नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं परिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति। परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वादपरिमेयत्वान्निराकारत्वात्सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च॥ १॥

इत्यनेन प्रमाणेन मूर्तिपूजननिषेधः।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥ य० अ० ४०। मं० ८॥

भाष्यम्—यः (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) सर्वसाक्षी, (परिभूः) सर्वोपरि विराजमानः, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूपः परमेश्वरः (शाश्वतीभ्यः) नित्याभ्यः, (समाभ्यः) प्रजाभ्यो, वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्) विहितवानस्ति, (स पर्य्यगात्) सर्वव्यापकोऽस्ति। यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम्, (अकायम्) मूर्तिजन्मधारणरहितम् (अव्रणम्) छेदभेदरहितम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात्पृथग्भूतम्। यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम्॥ २॥

इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते। तस्मादयं नैव केनापि मूर्तिपूजने योजयितुं शक्य इति।

प्रश्नः—वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा?

उत्तरम्—अस्ति।

प्रश्नः—पुनः किमर्थो निषेधः?

उत्तरम्—नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते। किं तर्हि, परिमाणार्था गृह्यन्ते।

अत्र प्रमाणानि—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ १॥

अथर्व० कां० ३। व० १०। मं० ३॥

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्त्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः॥ २॥

श० कां० १०। प्र० ३। ब्रा० २। कं० २०॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ३॥

सामवेदीय तवलकारोपनिषदि, खंड १। मं० ४॥

भाष्यम्—इत्यादिमन्त्रपञ्चकं मूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम्। विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते, वयमपि त्वां तामेवोपास्महे। अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां 'प्रतिमा' संज्ञेति। यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां (संसृज) सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति॥ १॥

(मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्त्राण्यष्टौशतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्ताः सन्ति, तेऽपि 'प्रतिमा' शब्दार्था विज्ञेयाः॥ २॥

(यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, तद् ब्रह्म हे मनुष्य! त्वं विद्धि। यत् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवेतद् ब्रह्मास्ति। किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति॥ ३॥

प्रश्नः—किञ्च भोः! मनुस्मृतौ—'प्रतिमानां च भेदकः;' 'दैवतान्यभिगच्छेत्तु;' 'देवताऽभ्यर्चनं चैव;' 'देवतानां च कुत्सनम्;' 'देवतायतनानि च;' 'देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः;' 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ;' 'देवतागारभेदकान्'—उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति?

उत्तरम्—अत्र 'प्रतिमा' शब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते। तद्यथा—

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम्॥

मनु० अ० ८। श्लोक: ४०३॥

इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलन-साधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम्। अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः। विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि 'दैवतानि' इत्युच्यन्ते। देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि 'दैवतानि देवतायतनानि च' सन्तीति बोध्यम्। विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्तव्यमिति। नैवेतेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः। किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं न्यायप्रापणं दक्षिणपाश्र्वे स्थापनं स्वेषां वामपाश्र्वे स्थितिश्च कार्य्येति।

एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति, तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः। ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति। एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः।

भाषार्थ—अब इस के आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उन में पत्थर आदि की मूर्तिपूजा तथा नाना प्रकार के नामस्मरण, अर्थात् राम राम, कृष्ण कृष्ण, काष्ठादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके, उन को अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति, पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जाननी चाहिये। क्योंकि, वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उन का निषेध ही किया है। जैसे—

(न तस्य०)। पूर्ण—जो किसी प्रकार से कम नहीं, (अज)जो जन्म नहीं लेता, और निराकार—जिस की किसी प्रकार की मूर्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिस की आज्ञा का ठीक ठीक पालन और उत्तम कीर्त्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही जिस का **'नामस्मरण'** कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है। जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि—(मा मा हिꣳसी०) हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये। कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये, तो उत्तर यह है कि (यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की **'प्रतिमा'** अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश, अर्थात् जिस को तसवीर कहते हैं, सो

किसी प्रकार नहीं है। क्योंकि वह मूर्त्तिरहित, अनन्त, सीमारहित, और सब में व्यापक है। इस से निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये॥ १॥

कदाचित् कोई शङ्का करे कि—शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है? तो यह बात समझना चाहिये कि—जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा, और फिर वह वृद्ध होकर मर जायगा, तब किस की पूजा करोगे। इस प्रकार मूर्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध हो गया।

तथा—(स पर्य्यगाच्छु०) जो परमेश्वर (कविः) सब का जाननेवाला, (मनीषी) सब के मन का साक्षी, (परिभूः) सब के ऊपर विराजमान, और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, जो अपनी नित्यस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रं) अत्यन्त पराक्रमवाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणं) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा, इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है, वही सबको उपासना के योग्य है, ऐसा ही सब को मानना चाहिये॥ २॥

क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया, इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्त्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।

(संवत्सरस्य) विद्वान् लोग संवत्सर की जिस (प्रतिमां०) क्षण आदि काल में विभाग करनेवाली रात्रि की उपासना करते हैं, हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं, इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी **'प्रतिमा'** संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक सम्पूर्ण आयुयुक्त संतानों को उत्पन्न करें॥ १॥

इसी मन्त्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि—(मुहूर्त्ता०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी **'प्रतिमा'** शब्द के अर्थ में समझने चाहिये। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है॥ २॥

(यद्वाचा०) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की वाणियों को जानता है। हे मनुष्यो! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो, और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जो कि उस के रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियम करनेवाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो। यह उपनिषत्कारक ऋषियों का मत है॥ ३॥

प्रश्न—क्यों जी! मनुस्मृति में जो **'प्रतिमानां०'** इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उस को राजा दण्ड देवे। तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना, और उनकी परिक्रमा करना, इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है, फिर आप कैसे नहीं मानते हैं?

उत्तर—क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ, और आंख खोल कर देखो कि 'प्रतिमा' शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो, सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके (तुलामानं०) रत्ति, छटांक, पाउ, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है। क्योंकि 'तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे छठे मास अर्थात् छः छः महीने में एक वार किया करें, कि जिससे उन में कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सकें। और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।

फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम **'देव'** कहा है। अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं, उन स्थानों को **'दैवत'** कहते हैं। वहां जाना, बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहिये। (देवतानां च कुत्सनं) उन विद्वानों की निन्दा, उन का अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ वा उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करना चाहिये। किन्तु (दैवतान्यभि०) उन को मान्य के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना। क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है।

ऐसे ही अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के

स्थानों का वर्णन हो, इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समझ लेना चाहिये। यहाँ सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता।

एवमेव सूर्य्यादिग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादि-संज्ञा गृह्यन्ते। अयमेषां भ्रम एवास्तीति। कुतः? तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। (तद्यथा) तत्र 'आकृष्णेन रजसा' इतिमन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षण-प्रकरण उक्तः। 'इमं देवा असपत्नम्' इत्यस्य राजधर्मविषये चेति।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्।
अपाᳪ रेताᳪसि जिन्वति॥ ३॥ य० अ० ३। मं० १२॥

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳪ सृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥ ४॥ य० अ० १५। मं० ५४॥

भाष्यम्—(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयिताऽस्ति। 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः। (अपाᳪ रेताᳪसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति। एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति॥ ३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे अग्ने परमेश्वरास्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु। (त्वमिष्टापूर्त्ते०) हे भगवन् अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं सृजेत् समुत्पादयेत्। त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः। एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्था-भ्यामिष्टापूर्त्ते संतुष्टे भवेताम् (अस्मिन्त्सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम्। यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति। 'व्यत्ययो बहुलम्' इत्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः॥ ४॥

भाषार्थ—इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने **आकृष्णेन रजसा०** इत्यादि मन्त्रों का सूर्यादिग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये ग्रहण किया है सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है। मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं। क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना यह अर्थ ही नहीं है। **(आकृष्णेन०)** इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा (**इमं देवा०**) इसका अर्थ राजधर्मविषय में लिख दिया है॥

(अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है वह (दिवः) प्रकाश वाले और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला तथा (मूर्द्धा) सब पर विराजमान और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है **व्यत्ययो बहुलम्** इस सूत्र से ककुभ् शब्द के दकार को तकारादेश हो गया है (अपाᳬरेताᳬसि जिन्वति) वही जगदीशवर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्य रूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है॥ ३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिए (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकार रूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिए कि—जिससे (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन्! मनुष्यदेह धारण करनेवाला जो जीव है, जैसे वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके, वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये। (अस्मिन् सधस्थे) इस लोक और इस शरीर तथा (अध्युत्तरस्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान, अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करनेवाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें, कि जिससे हम लोग विद्यायुक्त होते रहें। **'व्यत्ययो बहुलम्'** इस सूत्र से **'संसृजेथाम्' 'सीदत'** इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यमपुरुष हुआ है॥ ४॥

बृह॑स्पते॒ऽअति॒ यद॒र्योऽअर्हा॑द् द्यु॒मद्वि॒भाति॒ क्रतु॑म॒ज्जने॑षु। यद्दी॒दय॒च्छव॑सऽ ऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम्॥ ५॥

य० अ० २६। मं० ३॥

अन्ना॑त्परि॒स्रुतो॒ रसं॒ ब्रह्म॑णा॒ व्य॒पिबत् क्ष॒त्रं पयः॒ सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः। ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳬशु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्ये॒न्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑॥ ६॥ यजु० अ० १९। मं० ७५॥

भाष्यम्—(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक! (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं, शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन्, अर्य्यः स्वामी राजा, वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रं) यद्धनमद्भुतम् (तदस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते॥ ५॥

(क्षत्रं) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा, (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह, (पयः) अमृतात्मकं, (सोमं) सोमाद्योषधिसम्पादितं, (रसं) बुद्ध्यानन्दशौर्य्यधैर्य्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं, (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन, (सत्यं) धर्मं राजव्यवहारं च, (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानं) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रं) आशुसुखकरं, (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं, (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं, (अमृतं) मोक्षसाधकं, (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया, (इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदं) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति। (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति—यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्यात्। (अन्नात्परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्भोज्यात् पदार्थात्परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्य्यः। यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम्॥ ६॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक! (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर! आप, (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रं) अद्‌भुत धन है सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये। कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोकलोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिससे बहुत से यज्ञ किये जायं, (द्युमत्) जिस से सत्य

व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रक्षा करनेवाला, और (दीदयत्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करनेवाला, तथा (यदर्य्यो०) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है, उस सम्पूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये। ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है॥ ५॥

(क्षत्रं) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है, वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे। इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप, (सोमं) सोमलता आदि ओषधियों का सार, तथा (रसं) जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ानेवाला है, उन को (व्यपिबत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जान के (सत्यं) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानं) यथावत् प्रजा का रक्षण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करनेहारा, (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त, (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (अमृतं) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदं) उन सबसे परिपूर्ण होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से, (इन्द्रियं) विज्ञान को प्राप्त होते हैं। (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके, धर्म से प्रजा का पालन किया करो। (अन्नात्परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो, कि जिससे प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो॥ ६॥

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भिस्र॑वन्तु नः॥ ७॥ —य० अ० ३६। मं० १२॥

कया॑ नश्चि॒त्रऽआ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः सखा॑।
कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता॥ ८॥ य० अ० २७। मं० ३९॥

के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒ पेशो॑ मर्याऽअपे॒शसे॑।
समु॒षद्भि॑रजायथाः॥ ९॥ य० अ० २९। मं० ३७॥

भाष्यम्—'आप्लृ व्याप्तौ' अस्माद्धातोरप्छब्दः सिध्यति, स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। 'दिवु' क्रीडाद्यर्थः। (देवीः) देव्यः आपः सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः सर्वव्यापक ईश्वरः (अभीष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शं) कल्याणकारिका भवन्तु, स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरो नोऽस्माकमुपरि (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु॥ ७॥

अत्र प्रमाणम्—

यत्र॑ लो॒कांश्च॒ कोशां॒श्चापो॒ ब्रह्म॒ जना॑ वि॒दुः। अस॑च्च॒ यत्र॒ सच्चा॒न्तः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥
अथर्व० कां० १०। अ० ४। व० २२। मं० १०॥

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते। तद्यथा—

(आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति। (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्य्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति। (स्कम्भं तं ब्रूहि कतम स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति, विद्वंस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते। (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितो-ऽस्तीति भवन्तो जानन्तु।

(कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठान-प्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) अस्माकं, (सखा) मित्रः, (आ भुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत्, तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति॥ ८॥

हे (मर्य्या) मनुष्याः! (उषद्भिः) परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां

वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव, (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय, (केतुं) प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्र्यविनाशाय, (पेशः) चक्रवर्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च (कृण्वन्) कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम्॥ ९॥

भाषार्थ—(शन्नो देवी०)। 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से 'अप्' शब्द सिद्ध होता है। सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। तथा जिस 'दिवु' धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे 'देवी' शब्द सिद्ध होता है। (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाशक और सब को आनन्द देनेवाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (अभिष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, (नः) हमको सुखी होने के लिये, (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे॥ ७॥

इस मन्त्र में 'आपः' शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि—

(आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि **'आपः'** परमात्मा का नाम है।

प्रश्न—(यत्र लोकांश्च कोशांश्च) सुनो जी! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (असच्च यत्र सच्च) तथा जिस में अनित्य कार्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण, ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) वह सब लोकों को धारण करनेवाला कौन पदार्थ और कहां है?

उतर—(अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है। ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो।

(कया) जो किस उपासनारीति (शचिष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद् सहित, (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान, (कया) सुखरूप वृत्तिसहित सभा से प्रकाशित, (चित्रः) अद्भुतस्वरूप (सदावृधः) आनन्दस्वरूप और आनन्द बढ़ानेवाला परमेश्वर है, वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो। (ऊती) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि

(उषद्भिः समजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर! आप की आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं, उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं। और उन्हीं धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो॥ ८॥

हे विज्ञानस्वरूप! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन्! आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये। तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ (पेशः) विज्ञान धन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये, कि जिससे (मर्याः) जो आपके उपासक लोग हैं, वे कभी दुःख को न प्राप्त हों॥ ९॥

इति ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः॥

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति ?

सर्वेषामस्ति। वेदानामीश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च। यद्यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति, तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः। अत्र प्रमाणम्—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥ १॥ य० अ० २६। मन्त्र २॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—परमेश्वरः, सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति। तद्यथा—(यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय (आवदानि) आसमन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति।

अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात्—जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात्?

नैवं शक्यम्—उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात्। तद्यथा—कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोऽस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते—

(ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, (स्वाय) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च, सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति। (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय, सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः, दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति। यथायं (मे) मम कामः समृध्यते, तथैवैवं कुर्वतां भवतां (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम्। यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति, (उपमादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति।

मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम्। यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता, तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या। नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति। कुतः ? यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति। अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति। कुतः ? 'बृहस्पते अतियदर्य' इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात्॥

भाषार्थ—प्रश्न—वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं?

उत्तर—सबका है। क्योंकि, जो ईश्वर की सृष्टि है, उसमें किसी का अनधिकार नहीं हो सकता। देखिये कि जो-जो पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं, सो-सो सबके उपकारार्थ हैं।

प्रश्न—वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है। और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है।

उत्तर—यह बात सब मिथ्या है। इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं। वहाँ यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम **शूद्र** और अतिमूर्ख का नाम **अतिशूद्र** है। उनके पढ़ने पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है।

प्रश्न—परन्तु क्या सब स्त्री पुरुषों का वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का अधिकार है?

उत्तर—सबको है। देखो! इसमें यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं—

(यथेमां वाचं कल्याणीं०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है, और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि—हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह चारों

वेदरूप वाणी सबकी कल्याण करनेवाली है। तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूँ, वैसे ही सदा तुम भी किया करो।

प्रश्न—'जनेभ्यः' इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जहां कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है, वहाँ केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता, तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है—

(ब्रह्मराजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, अर्य=वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है। क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है, वह सबका हितकारक है। और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उसका जानना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है, किसी वर्णविशेष के लिये नहीं। (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा, तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासं) जैसे दानी वा शीलमान् पुरुष को प्रिय होता हूँ, वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदविद्या को सुना कर सबको प्रिय हो। (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है, इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो, कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। (उप मादो नमतु) जैसे मुझमें अनन्त विद्या से सब सुख हैं, वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा, उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा।

यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है। क्योंकि, इससे अगले मन्त्र (बृहस्पते अति यदर्य०) में भी परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। इससे सबके लिये वेदाधिकार है॥ १॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ १॥

भाष्यम्—शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणभावं प्राप्नोति, योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्र-गुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव॥ १॥

एवमेवापस्तम्बसूत्रेऽप्यस्ति—

धर्यचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ॥ १॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ॥ २॥ प्रश्न २। पटल ५। खं० ११। सू० १०, ११॥

भाष्यम्—सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति॥ १॥

एवमेवासत्यलक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत्। अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति। एवमेवा-धर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति॥ २॥

यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभि-प्रायः—शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद्विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वा-त्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति।

भाषार्थ—वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है। इसमें मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि—(शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो, तो ब्राह्मण रहता है, तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो, तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो, तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना।

जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता, तो वह ब्राह्मण,

क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता? इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक-ठीक होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती रहती है। इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है।

तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है—(धर्मचर्यया०) अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं, किन्तु जिस-जिस वर्ण को जिन-जिन कर्मों का अधिकार है, उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं॥ १॥

(अधर्मचर्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व पूर्व वर्ण नीचे नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है॥ २॥

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः॥

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः। येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात्। तद्यथा—'प' इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्यम्। अस्योष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम्। एवमेव सर्वत्र।

अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ १॥

महाभा० अ० १। पा० १। आ० १॥

भाष्यम्—नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति। यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्याच्चेत्स तस्यैवापराधो भवेत्, तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम्। अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति। यथावदुच्चारण-मुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते—त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति। नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह। तद्यथा—

सकलम् शकलम्, सकृत् शकृदिति। सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची। शकल इति खण्डवाची च। एवं सकृदित्येकवारार्थवाची। शकृदति मलार्थवाची च। अत्र सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेदेवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते। स वाग्वज्रो भवति। यमर्थं मत्वोच्चारणं क्रियते, स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति। तद् वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति। यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधा-द्विपरीतफलो जातः। तद्यथा—

इन्द्रः सूर्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः। अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति। अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्ययोर्वर्णनं कृतमिति,

ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति। तत्र यस्येच्छा सूर्यस्य ग्रहणेऽस्ति, तेनेन्द्रशत्रु-शब्दः तत्पुरुषसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः। यस्य च मेघस्य, तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति। अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते। अतः कारणात्स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति॥ १॥

भाषार्थ—पठनपाठन की आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगें। जैसे 'प' इस के उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये, एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक-ठीक मिला ही के पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है। और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो, तो उसको भी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है। इसका सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है।

फिर इस विषय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि—स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है, अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती। किन्तु गान का करनेवाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे, तो वह अपराध उसी का समझा जाता है। इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये। और जो उलटा उच्चारण किया जाता है, वह (दुष्टः शब्दः) दुःख करनेवाला और झूठ समझा जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाय, तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है। और विद्वान् लोग बोलने वाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया। इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता।

जैसे 'सकल' और 'शकल' में देख लो। अर्थात् 'सकल' शब्द सम्पूर्ण का बोधक, और जो उसमें तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय, तो वही फिर खण्ड का वाचक हो जाता है। ऐसे ही 'सकृत्' और 'शकृत्' में दन्त्य सकार के उच्चारण से प्रथम 'एक वार क्रिया' का बोध और उसी को तालव्य उच्चारण करने से दूसरी वार 'विष्ठा' का बोध होता है। इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक-ठीक अर्थ का बोध होता है। क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है। सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है।

जैसे—'इन्द्रशत्रुः' यहाँ इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है, तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है। सूर्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है। इसके सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है। जो इन्द्र अर्थात् सूर्य की उत्तमता चाहे, वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे, और जो मेघ की वृद्धि चाहे, वह आद्युदात्त उच्चारण करे। इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये॥ १॥

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थ-योजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव। अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति। परन्तु यो न पठति तस्मात्त्वयं पाठमात्रकार्यप्युत्तमो भवति। यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः। यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः। अत्र प्रमाणानि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ २॥

ऋ० मण्डल १। सू० १६४। मं० ३९॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ ३॥

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ ४॥

निरु० अ० १। खं० १८॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ५ ॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥

ऋ० मण्डल १०। सू० ७१। मं० ४, ५॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति।

(ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि चत्वारो वेदाः पर्यवसितार्थाः सन्ति। ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम्। तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह—यस्मिन् विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो मनुष्याः, इन्द्रियाणि च, सूर्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद् ब्रह्म विज्ञेयम्। (यस्तं न वेद०) यः खलु तं न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति। नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैवं तद् ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति। तस्मात् सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम्॥ २॥

(स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद्भवति, अर्थाजडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च। यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते। योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम्। (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता, वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद् भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव, (सकलं) सम्पूर्णं, (भद्रं) भजनीयं सुखं (अश्नुते) प्राप्नोति। पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति। तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम्॥ ३॥

(यद् गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं

क्रियते, किं तु (निगदेनैव) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते। कस्मिन् किमिव ?, (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सम्प्राप्तं प्रज्वलननिमित्तमिन्धनमिव। यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनाप्यग्निदाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति॥ ४॥

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति। (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति। यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति, तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम्। (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति, तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति। कस्मै का किं कुर्वतीव ? (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः॥ ५॥

(सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि, (उत त्वं) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं, (स्थिरपीतं) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं, (आहुः) वदन्ति। (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति। तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात्। इत्यनेन मन्त्रपूर्वाऽर्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते।

अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह—(अधेन्वा चरति) यतो यो ह्यविद्वान् (ह्यपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलां) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं (शुश्रुवान्) श्रुतवान्, तयाऽर्थज्ञानसुशिक्षारहितया भ्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति, नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति। तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति॥ ६॥

भाषार्थ—ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये। क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढ़नेवाले से तो पाठमात्र जाननेवाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों को अर्थ सहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है, वही सबसे उत्तम होता है।

इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं—जैसे (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०)। यहाँ इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है।

प्रश्न—जिसका विनाश कभी नहीं होता, और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सबमें रहनेवाला परमेश्वर है, जिसमें अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है, वह ब्रह्म क्या वस्तु है?

उत्तर—(यस्मिन्देवा०) जिसमें सम्पूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियां, सब मनुष्य और सब सूर्यादि लोक स्थित हैं, वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़ के ईश्वर को न जाने, तो क्या वेदार्थ जानने का फल उसको प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं। इसलिये जैसा वेद विषय में लिख आये हैं, वैसा व्यवहार करनेवाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें, सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें॥ २॥

(स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उनके अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल-फूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं। किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़नेवाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं, परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दरूप फल को नहीं भोग सकते। (योऽर्थज्ञः) और जो अर्थ का जाननेवाला है, वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म मरणरूप दुःख का त्याग करके सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।

क्योंकि, जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है, वह (नाकमेति) सर्वदुःख रहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादि शास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये।

(यद् गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अन्धकार रूप होता है। (अनग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता॥ ४॥

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है, कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो, वह मूर्ख अर्थात् **अविद्वान्** है। (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले, वह पूर्ण **विद्वान्** कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है, वैसे ही अर्थ जानने वाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है॥ ५॥

(उत त्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं, वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है, उसको अच्छी प्रकार सुख दे, कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। **विद्वान्** नाम उसका है जो कि अर्थ सहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे, कि जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को **'स्थिरपीत'** कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है, वह संसार को सुख देनेवाला होता है। (नैनं हि०) उसको कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता। क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप सूर्य प्रकाशित हो रहा है, उसको दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है, उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उसको सब दिन दुःख ही देते रहते हैं।

क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है॥ ६॥

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम्। ततो मीमांसावैशेषिकन्याय-योगसांख्यवेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्। तत ऐतरेय-शतपथसामगोपथब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा एतत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति।

कुतः ? नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति। यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति, स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः ? सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित्सत्यविद्या-प्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः ? यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधि-कृतमस्ति। तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।

भाषार्थ—मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना सहित व्याकरण अष्टाध्यायी धातुपाठ उणादिगण गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टुनिरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग। मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपाङ्ग, अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़ के, अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़ के जो सत्य सत्य वेद व्याख्यान किये हों, उनको देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें।

क्योंकि, (नावेदवित्) वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता। और जो-जो जहाँ-जहाँ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा, वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो-जो सत्य विज्ञान है सो-सो ईश्वर ने वेदों में धर रखा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों में

भी प्रकाश होता है। और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है। इससे सम्पूर्ण विद्या के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहिये।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः॥

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

प्रश्नः—किञ्च भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते। यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते, तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति?

उत्तरम्—पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा—यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां सङ्ग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।

प्रश्नः—किमनेन फलं भविष्यतीति?

उत्तरम्—यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेणेंगलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति। टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च।

परन्त्ववकाशाभावात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते। तद्यथा—यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्ती' त्युक्तम्।

तदन्यथास्ति। कुतः? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति। एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम्।

(इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः। तद्यथा—तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु

विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति, विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा—

'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि०॥' निरु० अ० ७। खं० १८॥

स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्।

तथा च—'तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, यथा राज्ञः पुरोहितः तदभीष्टं सम्पादयति, यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थित' मित्युक्तम्।

इदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति तद्यथा—सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधकं आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः। तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव।

कोऽपि ब्रूयात्—सायणाचार्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः, इत्युक्तत्वाददोष इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते, तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता। तद्यथा—'अज एकपात्', 'स पर्यगाच्छुक्रमकाय' मित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसदस्ति।

एवमेव सायणाचार्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति। अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति।

भाषार्थ—प्रश्न—क्योंजी! जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो, सो पूर्व आचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो, वा नवीन। जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है, तब तो बनाना व्यर्थ है। क्योंकि वे तो पहले ही से

बने बनाये हैं। और जो नया बनाते हो, तो उसको कोई भी न मानेगा। क्योंकि, जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है, यह बात कब ठीक हो सकती है?

उत्तर—यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इसमें अपूर्वता है। क्योंकि जो-जो प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन आये हैं, वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) वेदों की शाखा भी उनके व्याख्यान ही हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है।

और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो-जो भाष्य उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं।

जैसे देखो—सायणाचार्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि 'सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं।'

यह उनकी बात मिथ्या है। इसके उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं, सो देख लेना।

ऐसे ही (इन्द्रं मित्रं०) सायणााचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है। क्योंकि उन ने इस मन्त्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर, इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उसके विशेषण ठहराये हैं। यह उनको बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उसके ही विशेषण हैं। इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे-दूसरे विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं, वहाँ-वहाँ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों वार उच्चारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो वार उच्चारण किया, और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य ने नहीं जानी। इससे उनकी यह भ्रान्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है—(इममेवाग्निं०)। यहाँ अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद्वस्तु ब्रह्म ही के हैं। क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

ऐसे ही सायणाचार्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं। तथा उनने—'सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रखा है। जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है, अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है, उसी रूप से ईश्वर स्थित है।'

यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं, तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं, उस को किस लिये ग्रहण किया है?

और कदाचित् कोई कहे कि—जो इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो, तो उससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता।

इसका उत्तर यह है कि—जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है, तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न-भिन्न व्यक्तिवाला कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर का **एक अज** और **अकाय** अर्थात् शरीरसम्बन्धरहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस-जिस मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है, सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा।

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवरणं कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते—

भाषार्थ—इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त

विरुद्ध व्याख्यान किया है। उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं—

गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳहवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ १॥ यजुः० २३। मं० १९॥

भाष्यम्—अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तम्—अस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह—हे अश्व! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि,आकृष्य क्षिपामि। त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि॥

भाषार्थ—(गणानां त्वा०) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि—गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है। सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि 'सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे, और सोती हुई घोड़े से कहे कि, हे अश्व! जिससे गर्भधारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उसको मैं खैंच के अपनी योनि में डालूँ, तथा तूं उस वीर्य्य को मुझमें स्थापन करनेवाला है॥ १॥

अथ सत्योऽर्थः—गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं, ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति॥ ऐत०पं० १ । कं० २१॥

प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः॥ क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः॥ क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्। ज्योतिर्वै हिरण्यम् ॥

श० कां० १३। अ० २ । ब्रा० २। कं० १४, १५, १७, १६॥

न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥ श० कां० १३। अ० २ । ब्रा० ३। कं० १।

राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति॥ अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० २। कं० १६, १५, १७, १९॥

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत

एवास्मा एतदतोऽन्येवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति, त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते, त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते॥ अप वा एतेभ्य प्राणाः क्रामन्ति, ये यज्ञे धुवनं तन्वते, नवकृत्वः परियन्ति, नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मन्दधते, नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमा-त्वमजासि गर्भधमिति, प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते॥ १॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ८। कं० ४, ५॥

भाष्यम्—(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः। तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत्। एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत्। वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे वसो, परमेश्वर! त्वं सर्वान् कार्याख्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्ये गर्भवद्धातीति स गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि, सर्वथा जानीयाम्। (आ त्वमजासि) हे भगवन्! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि। पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृति-परमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे। नैवातो भिन्नः कश्चिद्गर्भधारकोऽस्तीति।

एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः—(ब्राह्मण-स्पत्यं०) अस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः। ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात्। तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति। आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति। यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च, प्रकृत्या-काशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथस्तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति।

प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन, 'जमदग्निसंज्ञो'ऽस्ति।

अत्र प्रमाणम्—

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति॥ निरु० अ० ७। खं० २४॥

भाष्यम्—इमे सूर्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति। तैः सूर्यादिभिः कार्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति। यः स जमदग्निः परमेश्वरः

(सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः।

अथापरः—क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशव इत्यादि। यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति। तस्य राज्यस्य, तद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति। यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते।

नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सहजतया* स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद, किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति।

अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः॥

श० कां० १३। अ० ३। ब्रा० ३। कं० ५॥

अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः। इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति।

अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति। तद्राष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति। तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति। तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां करोति। अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति। तस्य यद्धिरण्यमेतदेव रूपं भवति। तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यक् वर्धते, न च प्रजा। सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति। अतो यत्रैको राजा भवति, तत्र प्रजा पीडिता जायते। तस्मात्प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य इति।

(गणानां०) स्त्रियोऽप्येनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः। प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति। अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति, तानप्यन्ये च दूरीकुर्युः। एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्युः। एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः। ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति, नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति। तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत्। (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम्। यश्च पशूनां प्रजानां

* एक हस्तलेख में ''अञ्जसा'' पाठ भी लिखा है। प्रथम संस्करण में ''सरलतया'' पाठ छपा है। —सम्पादक

मध्ये विज्ञानवान् भवति, स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अतति सर्वत्र व्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तत इति धारयति॥ १॥

इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः। अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ—(गणानां त्वां०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है। जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूपदुःखों से छुड़ा देता है। जो कि—'प्रथ' अर्थात् विस्तृत, सबमें व्याप्त, और 'सप्रथ' अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे ही शतपथ ब्रह्मण में भी—राज्य पालन का नाम '**अश्वमेध**', राजा का नाम '**अश्व**' और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न '**पशु**' रखा है। राज्य की शोभा **धन** है, और ज्योति का नाम **हिरण्य** है।

तथा '**अश्व**' नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता, किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है, वही उनके लिये स्वर्गसुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं, उन को सब स्वर्गसुख देता है।

तथा (राष्ट्रमश्वमेध०) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम, और उसी सभा का नाम राजा है। वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है। क्योंकि राजा ही से राज्य, और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है।

(गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त हो के भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं, उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते। और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं, अन्य लोग उनको बांध कर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इस की रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम '**गर्भ**' है उस के समतुल्य वह

सभा, प्रजा और प्रजा के पशुओं को अपने आत्मा में धारण करे। अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे, वैसे ही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहें॥ १॥

(गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने हारा है, (त्वा) उस को (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं। (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति, तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है, उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जान के ग्रहण करते हैं। (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है, उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक हो के सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है, इस कारण से उस को **'वसु'** कहते हैं। हे वसु परमेश्वर! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भ धारण करते हैं, अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं, इसी हेतु से आप का नाम **'गर्भध'** है। (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं। (आ त्व०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं, वैसे ही मुझ को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये। (गर्भधं) दूसरी वेर 'गर्भध' शब्द का पाठ इसलिये है कि जो जो प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं, उन में भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करने वाला कोई भी नहीं है॥ १॥

यही अर्थ ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है, जैसे यह दोष खण्डित हुआ, वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी।

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके
प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु॥ २॥

य० अ० २३। मं० २०॥

महीधरस्यार्थः—अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति। महिषी

स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे॥ २॥'

सत्योऽर्थः—ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳसंज्ञपयन्ति। तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ८। कं० ५॥

भाष्यम्—आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि, सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय। येन सर्वान्प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि। यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति, सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति। तस्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दधात्वित्याहायं मन्त्रः॥ २॥

भाषार्थ—(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिये? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये। जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें, और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहनेवाला 'ता उभौ०' यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है॥ २॥

यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥ ३॥

य० अ० २३। २२॥

महीधरो वदति—अध्वर्यादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते। अङ्गुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो

लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, [पसः] पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः। यदा भगे शिश्नमागच्छति, तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः, (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्यं क्षरति, यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति॥ ३॥

यकासकौ०॥ ४॥ य० अ० २३। २३॥

कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह। अङ्गुल्या लिङ्गप्रदेशयन्त्याह। अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते॥ ४॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अंगुली से योनि को दिखला के हंसते हैं। (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी चलती हैं, तब उनकी योनि में हलहला शब्द, और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता, और योनि और लिङ्ग से वीर्य झरता है॥ ३॥

(यकोसकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है, सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है॥ ४॥

अथ सत्योऽर्थः—**यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिकाहलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति। विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥** श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ६॥

भाष्यम्—(विड् वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी[१] निर्बला भवति, तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति। (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चेयन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। (आहन्ति०) विशो गर्भसंज्ञा भवति, पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति। यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात्कारणोदेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः। किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान्स प्रजाभी राजा मन्तव्यः। अस्मादपि

१. हस्तलेखों में 'अल्पक्षिणी' लिखा है। —सम्पादक

सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम्॥ ३-४॥

भाषार्थ—(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है, कि जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आहलगिति०) जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है। (आहन्ति गभे पसो०) तथा प्रजा का नाम '**गभ**' और राज्य का नाम '**पस**' है। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये।

(यकासकौ०) इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है॥ ३-४॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयत्॥ ५॥

य० अ० २३। २४॥

महीधरस्यार्थः—ब्रह्मा महिषीमाह—महिषि हये हये महिषि! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता, यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः, तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत्तंसयति प्रक्षिपति। एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम्। लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः॥ ५॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला, तब तेरी उत्पत्ति हुई। उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है, इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है॥ ५॥

अथ सत्योऽर्थः—**माता च ते पिता च त इति। इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ, श्रियमेवैनꣳराष्ट्रस्याग्रं गमयति। प्रतिलामिति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयदिति। विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति,**

तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ ५ ॥

शं० का० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ७॥

भाष्यम्—(माता च ते०) हे मनुष्य! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति। ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात्। असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति। सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात्। विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्ग सुखरूपं लोकं गमयति। (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीर्विद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः, सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति। सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद्राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्यं सुखं च। (प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्यप्रदा, (राष्ट्रं मुष्टीः०) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति, तथैवैको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव। यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति। अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात्स नैव केनापि मन्तव्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—सत्य अर्थ—(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य करानेवाली, और सूर्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान है। क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सबका पालन करनेवाला है। इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं। (अग्रं वृक्षस्य०) श्री जो लक्ष्मी है, सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है। क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामिति०) फिर प्रजा का नाम '**गभ**' अर्थात् ऐश्वर्य की देनेवाली और राज्य का नाम '**मुष्टि**' है। क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहाँ अकेला मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो-जो प्रजा की श्रेष्ठ सुख देनेवाली लक्ष्मी है, उसको ले-लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की

आज्ञा ही में रहना चाहिये। इस अर्थ से भी महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है॥ ५॥

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳहरन्निव।
अथास्यै मध्यमेधताꣳशीते वाते पुनन्निव॥ ६ ॥

य० अ० २३। २६॥

महीधरस्यार्थः—यथा अस्यै अस्या वावाताया मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात् यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—यथा शीतले वायौ वाति पुनन्धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः ॥ ६ ॥

यदस्या अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव॥ ७॥

य० अ० २३। मं० २८॥

[महीधरस्यार्थः—] यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपागच्छत्, योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते। लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद् वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते' ॥ ७॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंच के बढ़ा लेवें। (यदस्या अꣳहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य निकल जाता है, जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उसकी योनि में डाला जाता है, तब योनि के ऊपर दोनों अंडकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इस में महीधर दृष्टान्त देता है कि—जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करनेवाला मनुष्य अन्न और भुस अलग-अलग करने कि लिये चलते वायु में एक पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता है, वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं॥ ६-७॥

अथ सत्योऽर्थः—ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः

श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति॥ गिरौ भारꣳहरन्निवेति। श्रीवैंराष्ट्रस्य भारः, श्रियमेवास्मै राष्ट्रꣳसंनह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति॥ अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳश्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति॥ शीते वाते पुनन्निवेति। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति''॥ ६-७॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० २-५॥

भाष्यम्—(ऊर्ध्वामेना०) हे नर! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय, सेव्यामुत्कृष्टां कुरु। एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम्। (गिरौभारꣳ हर०) कस्मिन्किमिव, गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव। कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार' इति। सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्य्यात्। अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः। (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति। कस्मिन् किं कुर्वन्निव, शीते वाते पुनन्निवेति राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्यात्। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति॥ ६-७॥

भाषार्थ—श्री नाम **विद्या** और **धन** का तथा **राष्ट्रपालन** का नाम **'अश्वमेध'** है। ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं। (गिरौ भारꣳहरन्निव) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसी से राज्य की वृद्धि होती है। इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है। इसमें दृष्टान्त यह है कि (शीते वाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम **'शीत'** है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उसकी उन्नति होती है।

प्रश्न—राज्य का भार कौन है?

उत्तर—(श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः०) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता पहुंचाती है। (अथो०) इसके अनन्तर उक्त

प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सबमें स्थापन कर देते हैं।

प्रश्न—(अथास्यै०) उस राज्य का मध्य क्या है?

उत्तर—प्रजा की ठीक-ठीक रक्षा, अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना, यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारꣳहरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है॥ ६-७॥

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः।

सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥ २९॥

य० अ० २३। मं० २९॥

महीधरस्यार्थः—(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवा होत्रादय ऋत्विजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्र आविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति, ललामेति सुखनाम, ललामं सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललामं पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गं योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं (विष्टीमिनम्) शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति, तदा नारी (सक्थ्ना) ऊरुणा ऊरुभ्यां (देदिश्यते) निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते इयं नारीतीत्यर्थः॥ ८॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं, तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है, और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं, और जब लिङ्ग खड़ा होता है, तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री पुरुष का समागम होता है, तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है॥ ८॥

अथ सत्योऽर्थः—(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनं) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुं) सुखप्रापकं विद्यानन्दं (प्राविशुः) प्रकृष्टतया समन्ताद् व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते। यथा नारी

वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते, तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति॥ ८॥

भाषार्थ—जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अंगों को वस्त्रों से सदा ढाप (दबा) रखती है, इसी प्रकार अपने सत्योपदेश, विद्या, धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें॥ ८॥

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति॥ ९॥

य० अ० २३। मं० ३०॥

भाष्यम्—महीधरस्यार्थः—क्षत्ता पालागलीमाह—शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री यदा अर्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते, पुष्टिं न इच्छति, मद्भार्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः।(यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह—यत् यदा शूद्रः अर्यायै अर्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः॥ ९॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि—जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार करने से पुष्ट हो गई, किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई। (यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि—जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया, इस बात को विचार के क्लेश मानता है॥ ९॥

अथ सत्योऽर्थः—यद्धरिणो यवमत्तीति। विड् वै यवो राष्ट्रꣳहरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति। तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९॥ कं० ८॥

भाष्यम्—(यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति। राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति। यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति, तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति। अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति। यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते, तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन् मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छा सदैव रक्षति। तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति। यथा च यदा शूद्रा अर्यजारा भवति, तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति। तस्मात्कारणाद्वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः। अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधर-कृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति॥ ९॥

भाषार्थ—(यद्धरिणो०) यहाँ **प्रजा** का **यव** और **राष्ट्र** का नाम **हरिण** है, क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में जवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है। अथवा (न पुष्टं पशु मन्यते०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मारके उसका मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है। क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिए किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है॥ ९॥

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।
य स्त्रीणां जीवभोजनः॥ १०॥ य० अ० २३। मं० २१॥

महीधरस्यार्थः—यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते। हे वृषन्! सेक्तः अश्व! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि, वीर्यं धारय। कथम्? तदाह अञ्जिं लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय योऽञ्जिः

स्त्रीणां जीवभोजनः। यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय॥ १०॥

भाषार्थ—(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि—यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अश्व! तू मेरी स्त्री की जंघा ऊपर को करके उसकी गुदा के ऊपर वीर्य डाल दे, अर्थात् उसकी योनि में लिङ्ग चला दे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है, उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है, और उसी से वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे॥ १०॥

अथ सत्योऽर्थः—(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक ससभाध्यक्षविद्वन्! त्वमस्यां प्रजायामञ्जिं ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय। (य स्त्रीणां जीवभोजनः) [यः] कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति, तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति, तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय॥ १०॥

भाषार्थ—(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करनेवाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो! तुम सब एक सम्मति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना, इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा॥ १०॥

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य 'वेददीपा'ख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति। यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते, तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येऽपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते। यदि ह्यार्यदेश-निवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति, तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्याना-नामनर्थगतेस्तु का कथा! एवं जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया

यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति, इति सज्जनैर्विचारणीयम्।

नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते। तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च। तस्मात्तद्-व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या। किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित्तेषु मिथ्यात्वमस्ति। तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति, यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति। एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम्॥

आगे कहाँ तक लिखें, इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लेवें। परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायेंगे, और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं, तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं, उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है! तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसारी व्याख्यान किये हैं! इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है।

परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्या पुस्तक वेद का परमेश्वर रचित होना भूगोलभर में विदित हो जावेगा, और यह भी प्रकट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है। ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी। इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना।

इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानविषयः समाप्तः॥

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।

तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते। कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रदिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः। एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि। कुतः? अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः। एवं काण्डत्रयेण बोधान्निष्पत्त्युपकारौ गृह्येते, तच्च विज्ञानकाण्डम्। परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति। स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोऽर्थो ग्रहीतव्यः। कुतः? मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः।

एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च। तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते। एवं पिङ्गलसूत्रच्छन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम्।

'स्वराः' षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः॥ १॥

पिंगलशास्त्रे, अ० ३। सू० ९४॥

इति पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते। कुतः? इदानीं यच्छन्दोऽन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः। एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः। तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते। एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति।

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते। यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र

तत्र लेखिष्यते। येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम्। संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः। तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति। यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते।

अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः? निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च। यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन्कार्याऽर्थसम्बन्धात्सोप्यर्थ आगच्छतीति।

भाषार्थ—इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहाँ-जहाँ जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहिये, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जाएगा। क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है। इसलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।

ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना। परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानूकुल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिए। क्योंकि जो-जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं, सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं, और जो-जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं, वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो

नहीं।

ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिंगल सूत्र से छन्दों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये। जैसे **'अ॒ग्निमी॑ळे०'** यहाँ **अ॒**कार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, **'ग्नि'** उदात्त है, इसलिये उस पर चिह्न नहीं लगाया गया है, **'मी॑'** के ऊपर स्वरित का चिह्न है, **'ळे'** में प्रचय और एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना। इसी प्रकार जो-जो व्याकरणादि के विषय में लिखने के योग्य होंगे, वे सब संक्षेप से आगे लिखे जायेंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है। इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायेंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके।

इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जायेगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं, उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायेगा। तथा जो-जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेजी वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये गये वा किये जाते हैं, तथा जो-जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुँचेगा। क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये। इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।

इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः॥

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

प्रश्नः—अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति?

उत्तरम्—भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय।

प्रश्न—कास्ताः?

उत्तरम्—त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात्। यावता कालेन ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते, ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः, प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति। अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोऽस्ति। तद्यथा—'ऋग्भिस्स्तुवन्ति। यजुर्भिर्यजन्ति। सामभिर्गायन्ति।' ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति, तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः। एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः। एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति।

प्रश्नः—वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति?

उत्तरम्—यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम्।

प्रश्नः—वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्ति? इत्यत्र ब्रूमः—

उत्तरम्—अत्राष्टकादीनां विधानमेदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनं, मन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति।

प्रश्नः—किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्यया क्रमेण परिगणिताः सन्ति? इत्यत्रोच्यते—

उत्तरम्—न यावद् गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति, नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च, न चाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना

सुखाभावश्चेति। एतद्विद्याविधायकत्वादृग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति। एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्यं भवति, यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद् द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम्। तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुर्महति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधाय-कत्वात्तृतीयो गण्यत इति। एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेष-रक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति।

अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्त्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति।

'ऋच स्तुतौ', 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु', 'साम सान्त्वने', 'षो अन्तकर्मणि', थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः॥

निरु० अ० ११। खं० १८॥

'चर संशये', अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते। एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम्।

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं?

उत्तर—भिन्न-भिन्न विद्या जनाने के लिये। अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि—उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना, जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चरण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है। दूसरी—मध्यमवृत्ति, जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है। तीसरी—विलम्बितवृत्ति है, जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है, जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में। फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है। परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है, इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं।

तथा कहीं-कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे। तथा प्रकरणभेद से कुछ-कुछ अर्थभेद भी होता है, इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है।

ऐसे ही 'ऋग्भिस्तु०' ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश

किया है, जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके। क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता, और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है।

तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है, सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है। क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक-ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है। जिनसे लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले। क्योंकि जब तक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाय, तब तक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये, तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी की शोभा होती है।

तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है, एक—आत्मा और दूसरा—शरीर का। अर्थात् विद्यादान से आत्मा, और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिनसे मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जान लेवें। तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति, और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है, इसलिये इनके चार विभाग किये हैं।

प्रश्न—प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं?

उत्तर—जब तक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता तब पर्यन्त उनमें प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और इसके विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था, इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति हो सके। क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है, वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके, इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है। ऐसे ही ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहाँ तक होना चाहिये, इसका विधान सामवेद में लिखा है, इसलिये उसको तीसरा गिना है। ऐसे ही तीन वेदों

में जो-जो विद्या है, उन सबके शेष भाग की पूर्त्तिविधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है।

सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान, इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जान लेना। अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है। क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासगंतिकरणदानेषु) (षो अन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा०) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रखी हैं। तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।

प्रश्न—वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जान ली जाय, इत्यादि प्रयोजन संहिताओं के करने में है।

प्रश्न—अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल, सूक्त, षट्क, काण्ड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रखे हैं, ये किसलिये हैं?

उत्तर—इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन-पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता के जान ली जाय, तथा सब विद्याओं के पृथक्-पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्याव्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं।

प्रश्नः—प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्था लिख्यन्ते?

उत्तरम्—यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः? तैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य

प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः। अत्र प्रमाणम्—

'यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिद-मभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानाम प्राधान्येनेदमिति। तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्॥ निरु० अ० १। खं० २०॥

भाष्यम्—(यो वाचं०) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति।

प्रश्नः—वाचो वाण्याः किं फलं भवति? इत्यत्राह—

उत्तरम्—विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम्।

य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति। कीदृशास्ते? साक्षात्कृतधर्माणः। यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्ते-ऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान्सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः। कस्मै प्रयोजनाय? उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय। ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः। येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः। ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थ-स्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्था-देकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम्। यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते, तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया। यच्च मन्त्राद्भिन्नार्थस्यैव संकेतः प्रकाश्यते, तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति॥ १॥

अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञयेम्। एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति,

स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्। एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम्। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति, तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम्।

भाषार्थ—प्रश्न—प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं?

उत्तर—ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ, जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस उसका नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है, इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।

इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं—

(यो वाचं०) जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं, उनका सब परिश्रम निष्फल होता है।

प्रश्न—वाणी का फल क्या है?

उत्तर—अर्थ को ठीक-ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् **ऋषि** कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था, वे ही ऋषि हुए थे। जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है।

प्रश्न—किस प्रयोजन के लिये?

उत्तर—वेदार्थ प्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिये। तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिनके सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदांगों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य

अर्थों का प्रकाश करें। '**निघण्टु**' उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्मवाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ के अनेक नाम तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है। और '**निरुक्त**' उसका नाम है कि जिसमें वेदमन्त्रों की व्याख्या है॥ १॥

और जिन-जिन मन्त्रों में जिन-जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिये। अर्थात् जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाय। इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।

ऐसे ही जिस-जिस मन्त्र का जो-जो छन्द है, सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन-कौन सा छन्द किस-किस स्वर में गाना चाहिये, इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं। जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान विद्या में भी प्रवीण हों। इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्र के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं।

प्रश्नः—वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्ति?

उत्तरम्—पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थम्, विद्यासङ्ग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति। तद्यथा—अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति, यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं ग्रहणं कृतमस्ति, तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते। यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात्तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति, तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति। यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति, तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते। एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति।

अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे

जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्ति, एतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोऽस्ति। एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च। इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति। एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते।

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों में क्रम वार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किसलिये किया है?

उत्तर—पूर्वापर विद्याओं के जनाने के लिये, अर्थात् जिस-जिस विद्या में जो-जो मुख्य और गौण हेतु हैं, उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है। क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके। फिर इसी अग्नि शब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है, वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है।

तथा ईश्वर के सबको धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायु शब्द का ग्रहण किया गया है। तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्तद्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है, इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है। तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्‌भुत् अद्‌भुत् कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक-ठीक जान पड़ती है।

तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो। क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं। अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं, वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं। इसलिये अश्विशब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे

स्थान में किया है। तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है कि जिससे उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है, तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्त विद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

भाष्यम्—प्रश्नः—वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति। यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोऽस्ति?

उत्तरम्—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना लण्' इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति। कुतः? वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात्। तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति। ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते, तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति। तयोर्मध्यात्कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्काया व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति। एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति। अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्तासम्भवास्ति। अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः। यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति।

परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम्। तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते। कुतः? ईश्वरोऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम्। एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिताः, इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते। तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति, सा सा तस्य तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते।

भाषार्थ—प्रश्न—वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि

प्रसिद्ध है, उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये। और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहां जहां होना चाहिये था, वहां वहां उसी का ग्रहण करते कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता। अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था?

उत्तर—यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद पद का अर्थ खोल दिया गया है, तब उनके देखने से सब संदेह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद-पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं रह सकता। और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी-किसी की ईश्वर संज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते, तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का सम्भव था। परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़-पढ़ा सकते। इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करने वाली विद्याओं का प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें।

इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं, उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं। इस प्रकार चारों वेदों में जो जो विद्या हैं, उनमें से कोई-कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है। शेष सब इसके आगे मन्त्रभाष्य में जिस-जिस मन्त्र में जिस-जिस विद्या का उपदेश है, सो-सो उसी उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे।

इति प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः॥

अथ वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह—

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।

अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते। तद्यथा—सर्वे मन्त्रास्त्रि-विधानामर्थानां वाचका भवन्ति। केचित्परोक्षाणां, केचित्प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः। तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च। तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः। यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति। यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुष प्रयोगो भवतीति।

अस्यायमभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति।

इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।

भाषार्थ—अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं—जो-जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं, वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं—(तास्त्रिविधा ऋचः०) वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को, और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को। उनमें से परोक्ष अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में प्रथम

पुरुष, अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले जो 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहनेवालों में मध्यमपुरुष अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द और उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष, अर्थात् 'मैं' 'हम' आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया आती है। तथा जहाँ स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों, वहाँ भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है।

यहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिये कि—व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी-अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं। सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ निरुक्ताकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है।

परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हीं के बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो वह उनकी भूल है। और इसी से वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

इति वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः॥

अथ संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विधाः, उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते—

''स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्-युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता खस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैः[1]कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः[2]कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। त्रैस्वर्येणा-धीमहे, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्त-गुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। त एते तन्त्रे तरनिर्देशे[3] सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः॥''

अ० १। पा० २। **'उच्चैरुदात्तः' इत्याद्युपरि॥**

तथा षड्जादयः सप्त—षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवत-निषादाः॥ पिङ्गलसूत्रे अ० ३। सू० ६४॥

एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या। अत्र तु ग्रन्थ-भूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या।

भाषार्थ—अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था

१. उदात्तविधायकानीति यावत्।
२. अनुदात्तविधायकानीति यावत्।
३. अतिशयार्थद्योतके तरप्प्रत्ययस्य निर्देशे।

कहते हैं—जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं। अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि। उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाये हैं, उनको कहते हैं—

(स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं, वे स्वर कहाते हैं। (आयामः) अंगों का रोकना, (दारुण्यं) वाणी को रूखा करना, अर्थात् ऊँचे स्वर से बोलना, और (अणुता) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सब यत्न शब्द के **उदात्त** विधान करनेवाले होते हैं। अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है। तथा (अन्वव०) गात्रों का ढीलापन, (मार्दव०) स्वर की कोमलता, (उरुता) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के **अनुदात्त** करनेवाले हैं। (त्रैस्वर्येणा०) हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं। अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त, अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रंग अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रंग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाखी वा आसमानी। इसी प्रकार यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको **स्वरित** कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखानेवाले 'तरप्' प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं। अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति॥

उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये।

अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं, जो कि गानविद्या के भेद हैं—(स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गन्धर्व वेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको देख लेना चाहिये। यहाँ ग्रन्थ बढ़ जाने के कारण नहीं लिखते।

इति स्वरव्यवस्थाविषयः संक्षेपतः॥

अथ व्याकरणनियमविषयः

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा—

वृद्धिरादैच्॥ १॥ अष्टाध्यायी १। १। १॥

'उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते। तद्यथा—

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति' इति भाष्यवचनम्। अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र॥ १॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ॥ २॥ अ० १।१।५६॥

'प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या' इति भाष्यम्। अनेनार्थप्राधान्यं भवति, न विभक्तेरिति बोध्यम्॥ २॥

न वेति विभाषा॥ ३॥ अ० १। १। ४४॥

'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' इति भाष्यसूत्रम्। लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः॥ ३॥

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्॥ ४॥ अ० १। २। ४५॥

'बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा—अक्षाः, पादाः, माषाः,' सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः। यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च॥ ४॥

ते प्राग्धातोः॥ ५॥ अ० १। ४। ८०॥

'छन्दसि परव्यवहितवचनं च।'

अनेन वार्त्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति। यथा आयातमुपनिष्कृतम्, उपप्रयोभिरागतम्॥ ५॥

भाषार्थ—अब चारों वेद में व्याकरण के जो-जो सामान्य नियम हैं, उनको यहाँ लिखते हैं—(उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में 'भ' तथा 'पद' ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे 'ऋक्वता' इस शब्द में पद संज्ञा के होने

से चकार के स्थान में ककार हुआ है, और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ॥ १॥

(प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो-जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सबके बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों, उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना, यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्र मूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो, उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये॥ २॥

क्योंकि—(अर्थग०) वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक-ठीक जान के उनसे लाभ उठावें। जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें? इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है॥ ३॥

(बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते, और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है। जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची, और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं। अर्थात् इस प्रकार के एक-एक शब्द कई कई अर्थों के वाची हैं॥ ४॥

(छन्दसि०) व्याकरण में जो-जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं, वे वेद में क्रिया के आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं। जैसे 'उप प्रयोभिरागतम्' यहाँ 'आगतम्' क्रिया के साथ 'उप' लगता तथा 'आयातमुप०' यहाँ 'उप' 'आयातम्' क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि। इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं॥ ५॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥ ६॥ अ० २। ३। ६२॥

षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या।

या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति, तस्या इति प्राप्ते।'

एवमन्यत्रापि। अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः। महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि। अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतवाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात्॥ ६॥

बहुलं छन्दसि॥ ७॥ अ० २। ४। ३९॥

अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति। घस्तान्नूनम्। सग्धिश्च मे। अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्। इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम्॥ ७॥

बहुलं छन्दसि॥ ८॥ अ० २। ४। ७३॥

वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति। वृत्रं हनति, अहिः शयते। अन्येभ्यश्च भवति—त्राध्वं नो देवाः॥ ८॥

बहुलं छन्दसि॥ ९॥ अ० २। ४। ७६॥

वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति। दाति प्रियाणिः, धाति प्रियाणि। अन्येभ्यश्च भवति—पूर्णां विवष्टिः, जनिमा विवक्ति, इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम्॥ ९॥

भाषार्थ—(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठी विभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं। इसमें ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मान के, अर्थात् इनमें जो व्याकरण के कार्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर 'चतुर्थ्यर्थे०' इस सूत्र में 'छन्दः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय॥ ६॥

(बहुलं०) इस सूत्र से 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है॥ ७॥

(बहुलं०) वेदों में 'शप्' प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है, और कहीं नहीं भी होता। जैसे 'वृत्रं हनति' यहाँ 'शप्' का लुक् प्राप्त था, सो भी न हुआ, तथा 'त्राध्वं०' यहाँ त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था, परन्तु हो गया। महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना॥ ८॥

(बहुलं) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है, अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे 'दाति०' यहाँ शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ, और 'विवष्टि' यहाँ प्राप्त नहीं, फिर हो गया॥

सिब्बहुलं लेटि॥ १०॥ अ० ३। १। ३४॥

'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः।'

सविता धर्म साविषत्, प्र ण आयूंषि तारिषत्। अयं लेटि विशिष्टो

नियमः ॥ १० ॥

छन्दसि शायजपि ॥ ११ ॥ अ० ३। १। ८४॥

'शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम्।'

क्व सर्वत्र? हौ चाहौ च। किं प्रयोजनम्? महीः अस्कभायत्, यो अस्कभायत्, उद्ग्भायत्, उन्मथायतेत्येवमर्थम्। अयं लोटि मध्यम-पुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥ ११ ॥

व्यत्ययो बहुलम् ॥ १२ ॥ अ० ३। १। ८५॥

सुप्तिङुपग्रह *लिङ्गनराणां कालहलच् ** स्वरकर्त्तृयङां च।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥ १ ॥

व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। अनेन विकरणव्यत्ययः।

[१]सुपां व्यत्ययः, [२]तिङां व्यत्ययः, [३]वर्णव्यत्ययः, [४]लिङ्गव्यत्ययः, [५]पुरुषव्यत्ययः, [६]कालव्यत्ययः, [७]आत्मनेपदव्यत्ययः, [८]परस्मैपदव्यत्ययः, [९]स्वरव्यत्ययः, [१०]कर्त्तृव्यत्ययः, [११]यङ्व्यत्ययश्च।

एषां क्रमेणोदाहरणानि—

[१]युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः, दक्षिणायामिति प्राप्ते।

[२]चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते।

[३]त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, शुधितमिति प्राप्ते।

[४]मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते।

[५]अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः, वियूयादिति प्राप्ते।

[६]श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन, आधाता यष्टेति प्राप्ते।

[७]ब्रह्मचारिणमिच्छते इच्छतीति प्राप्ते।

[८]प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति, युध्यत इति [प्राप्ते]।

आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ।

---

* उपग्रहशब्देनात्रात्मनेपदपरस्मैपदे गृह्येते।

** अच्— उपगायन्तु मां पत्न्यो गर्भिणयः, गर्भिण्य इति प्राप्ते।

९ **स्वरव्यत्ययः**—अश्वावतीमित्यत्र 'अन्तोऽवत्याः' इति सूत्रेणान्तोदात्तत्वं प्राप्नोति। तेनेहापिस्यात्-अश्वावती। परमत्र 'अश्व' शब्दस्याद्युदात्तत्वात् प्रकृतिस्वर एव भवति, नान्तोदात्तत्वम्।

१० **कर्त्तृ(कारक)व्यत्ययः**—आसादयद्भिरुभयोर्वेदाः, आसादयद्भ्य इति प्राप्ते।

व्यत्ययो भवति स्यादीनामित्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥ १२ ॥

बहुलं छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३। २। ८८॥

अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते। मातृहा, मातृघातः इत्यादीनि ॥ १३ ॥

छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३। २। १०५॥

वेदेषु सामान्यभूते लिङ् विधीयते। अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ १४ ॥

लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ अ० ३। २। १०६॥

वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति। अग्निं चिक्यानः, अहं सूर्यमुभयतो ददर्श। प्रकृतेऽपि लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति ॥ १५ ॥

क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३। २। १०७॥

वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति। पपिवान्, जग्मिवान्। न च भवति—अहं सूर्यमुभयतो ददर्श ॥ १६ ॥

क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ अ० ३। २। १७०॥

क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकार-प्रत्ययो भवति। मित्रयुः, संस्वेदयुः, सुम्नयुः। 'निरनुबन्धकग्रहणे सानु-बन्धकस्यापि ग्रहणं भवति' इत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है, वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है, कि जिससे वृद्धि आदि कार्य हो सकें। जैसे—'साविषत्' यहाँ सिप् को णित् मान के वृद्धि हुई है। यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है ॥ १० ॥

(शायच्छन्दसि०) वेद में 'हि' प्रत्यय के परे रहने पर 'श्ना' प्रत्यय के स्थान में जो 'शायच्' आदेश विधान किया है, वह 'हि' से अन्यत्र भी होता है ॥ ११ ॥

---

११ **यङ्व्यत्ययः**—आण्डा शुष्मस्य भेदति, भिनत्तीति प्राप्ते। यङ्ग्रहणेनात्र 'सार्वधातुके यक्' (अष्टाध्यायी ३.१.६७) इति **य**कारादारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' (३.१.८६) इति सूत्रस्थ**ङ्**कारपर्यन्तं **यङ्**प्रत्याहारो गृह्यते। —सम्पादकः

(व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है, वह भाष्यकार पतञ्जलि जी ने नव प्रकार से माना है। वे सुप् आदि ये हैं—सुप्, तिङ्, वर्ण, लिङ्ग—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, पुरुष—प्रथम, मध्यम और उत्तम, काल—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, आत्मनेपद और परस्मैपद, वर्ण—वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान अच् के आदेश हो जाते हैं। स्वर—उदात्तादि का व्यत्यय, कर्त्ता का व्यत्यय, और यङ् का व्यत्यय होते हैं। इन सबके उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं, वहाँ देख लेना॥ १२॥

(बहुलम्०) इससे क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है॥ १३॥

(छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है॥ १४॥

(लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है। इसके 'आततान' इत्यादि उदाहरण बनते हैं। 'छन्दसि०' इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती, फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि '**परोक्षे लिट्**' इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश हो जावे॥ १५॥

(क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है॥ १६॥

(क्या०) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से 'उ' प्रत्यय हो जाता है॥ १७॥

कृत्यल्युटो बहुलम्॥ १८॥ अ० ३। ३। ११३॥

कृल्ल्युट इति वक्तव्यम्। कृतो बहुलमिति वा, पादहारकाद्यर्थम्॥

पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः। अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः। अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम्॥ १८॥

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः॥ १९॥ अ० ३। ३। १२९॥

ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति। उदाहरणम्—सूपसदनोऽग्निः॥ १९॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते॥ २०॥ अ० ३। ३। १३०॥

अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच्प्रत्ययो दृश्यते। उदाहरणम्—

सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम्॥ २०॥

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः॥ २१॥ अ० ३।४।६॥

वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति। उदाहरणम्—लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः। लङ्—अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः। लिट्—अद्या ममार॥ २१॥

लिङ्र्थे लेट्॥ २२॥ अ० ३। ४। ७॥

यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते, तत्र वेदेष्वेव लेट् लकारो वा भवति। उदाहरणम्—जीवाति शरदः शतम्, इत्यादीनि॥ २२॥

उपसंवादाशङ्कयोश्च॥ २३॥ अ० ३। ४। ८॥

उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति। उदाहरणम्—उपसंवादे—अहमेव पशूनामीशै। आशङ्कायाम्—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम। मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते॥ २३॥

लेटोऽडाटौ॥ २४॥ अ० ३। ४। ९४॥

लेटः पर्यायेण अट् आट् आगमौ भवतः॥ २४॥

आत ऐ॥ २५॥ अ० ३। ४। ९५॥

छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति। उदाहरणम्—मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे॥ २५॥

वैतोऽन्यत्र॥ २६॥ अ० ३।४।९६॥

'आत ऐ' इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति। उदाहरणम्—अहमेव पशूनामीशै ईशे वा॥ २६॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु॥ २७॥ अ० ३। ४। ९७॥

लेटः स्थान आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति। उदाहरणम्—तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरसि, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि तारिषाम्। एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम्॥ २७॥

स उत्तमस्य। २८॥ अ० ३। ४।९८॥

लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति। करवाव, करवावः, करवाम, करवामः॥ २८॥

भाषार्थ—(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर, सु ये पूर्वपद लगे हों, तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है॥ १९॥

(अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है, जैसे 'सुदोहनं' यहाँ सुपूर्वक 'दुह' धातु से युच् प्रत्यय हुआ है॥ २०॥

(छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं, वे वेदों में लुङ् लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं॥ २१॥

(लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्य सूत्र हैं, उनको यहाँ लिखते हैं। यह लेट्लकार वेदों में ही होता है। सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं, उनमें तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है॥ २२-२३॥

(लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं, अर्थात् जहां अट् होता है, वहाँ आट् नहीं होता, जहाँ आट् होता है वहाँ अट् नहीं होता॥ २४॥

(आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के 'आताम्' के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है। जैसे **मन्त्रयैते** यहां **आ** के स्थान में **ऐ** हो गया है॥ २५॥

(वैतोऽन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो **ए**कार होता है, उसके स्थान में **ऐ**कार आदेश हो जाता है॥ २६॥

(इतश्च०) यहाँ लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है॥ २७॥

(स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस, मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है॥ २८॥

यह लेट् का विषय थोड़ा-सा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़ के जान सकता है, अन्यथा नहीं।

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्कसेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्-तवैतवेङ्तवेनः॥ २९॥ अ० ३।४।९॥

धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति। 'कृन्मेजन्त' इति सर्वेषामव्ययत्वम्। सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः। ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः, ङकारोऽपि। शकारः शिदर्थः। से—वक्षे रायः। सेन्—तावामेषे रथानाम्। असे असेन्—क्रत्वे दक्षाय जीवसे। कसे कसेन्—[प्रेषे], श्रियसे। अध्यै अध्यैन्—कर्मण्युपाचरध्यै। कध्यै—इन्द्राग्नी आहुवध्यै। कध्यैन्—श्रियध्यै। शध्यै शध्यैन्—पिबध्यै, सहमादयध्यै। अत्र शित्वात् पिबादेशः। तवै—सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्—दशमे मासि सूतवे। तवेन्—स्वर्देवेषु गन्तवे॥ २९॥

शकि णमुल्कमुलौ॥ ३०॥ अ० ३।४।१२॥

शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः। लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः॥ ३०।

ईश्वरे तोसुन्कसुनौ॥ ३१॥ अ० ३।४।१३॥

ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः। ईश्वरोऽभिचरितोः। कसुन्—ईश्वरो विलिखः॥ ३१॥

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः॥ ३२॥ अ० ३।४।१४॥

कृत्यानां मुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्हादयश्च। तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तवै—परिधातवै। केन्—नावगाहे। केन्य—दिदृक्षेण्यः, शुश्रूषेण्यः। त्वन्—कर्त्वं हविः॥ ३२॥

भाषार्थ—(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में 'से' इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं॥ २९॥

(शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो, तो धातुमात्र से 'णमुल्' 'कमुल्' ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं। इसके होने से 'विभाजम्' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं॥ ३०॥

(ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से 'तोसुन्' 'कसुन्' ये प्रत्यय होते हैं॥ ३१॥

(कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक 'तवै' 'केन्' 'केन्य' 'त्वन्' ये प्रत्यय होते हैं। इससे '**परिधातवै**' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते

हैं॥ ३२॥

नित्यं संज्ञाछन्दसोः॥ ३३॥ अ० ४। १। २९॥

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति। गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी॥ ३३॥

नित्यं छन्दसि ॥ ३४॥ अ० ४। १। ४६॥

बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वीषु हित्वा प्रपिबन्॥ ३४॥

भवे छन्दसि ॥ ३५॥ अ० ४ । ४। ११०॥

सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति। अयमणादीनां यादीनां चापवादः। सति दर्शने तेऽपि भवन्ति। मेध्याय च विद्युत्याय च नमः॥ ३५॥

इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र-यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति तत्र-तत्र तानि लेखिष्यामः।

बहुलं छन्दसि॥ ३६॥ अ० ५। २। १२२॥

वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद् भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते। तद्यथा भूमादयः—

तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्॥ ३७॥ अ० ५। २। ९४॥

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।

सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम्। (बहुलं०) अस्मिन् सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः॥ ३६-३७॥

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि॥ ३८॥ अ० ५। ४। १०३॥

'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम्। ब्रह्मसामं, ब्रह्मसामः देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः॥ ३८॥

सन्यङोः॥ ३९॥ अ० ६। १। ९॥

'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथा—वपिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते, केशान्वपति। ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः, ईरणे चापि वर्त्तते। अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति। करोति-रयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते, पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणेऽपि वर्त्तते, कटे कुरु, घटे कुरु। अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते।' एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति। त्रयाणामुपलक्षण-मात्रस्य दर्शितत्वात्॥ ३९॥

शेश्छन्दसि बहुलम्॥ ४०॥ अ० ६। १। ७०॥

वेदेषु नपुंसके वर्त्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति। यथा—विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानि भवति॥ ४०॥

बहुलं छन्दसि॥ ४१॥ अ० ६। १। ३४॥

अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते। यथा—हूमहे इत्यादिषु॥ ४१॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च॥ ४२॥ अ० ६। १। १२७॥

'ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम्।'

ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः॥ ४२॥

देवताद्वन्द्वे च॥ ४३॥ अ० ६.३.२६॥

देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते। ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति। उदाहरणम्—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि।

अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्त्तिके स्तः। तद्यथा—

'देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः॥' अग्निवायू, वायवग्नी।

'ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च॥' ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्द-विशाखौ। सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते। सार्वत्रिको नियमः॥ ४३॥

बहुलं छन्दसि॥ ४४॥ अ० ७। १। ८॥

अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते। उदाहरणम्—देवा अदुह्र॥ ४४॥

बहुलं छन्दसि॥ ४५॥ अ० ७। १। १०॥

अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते। यथा—देवेभिर्मानुषे जने॥ ४५॥

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः॥ ४६॥

अ० ७। १। ३९॥

'सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्॥

तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्॥'

इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्'॥

इया—दार्विया परिज्मन्। डियाच्—सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया, सुगातुया। ईकार—दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।

'आङ्याजयारां चोपसंख्यानम्'॥

आङ्—प्रबाहवा। अयाच्—स्वप्नया वाव सेचनम्। अयार्—स नः सिन्धुमिव नावया।

सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्ययारन्ता षोडशादेशा विधीयन्ते। तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः। सुप्—ऋजवः सन्तु पन्थाः, पन्थान इति प्राप्ते। लुक्—परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते। पूर्वसवर्ण—धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते। आत्—उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते। शे—न युष्मे वाजबन्धवः, यूयमिति प्राप्ते। या—उरुया, उरुणा इति प्राप्ते। डा—नाभा पृथिव्याः, नाभौ इति प्राप्ते। ड्या—अनुष्ट्या, अनुष्टुभा इति प्राप्ते। याच्—साधुया, साधु इति प्राप्ते। आल्—वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते॥ ४६॥

आज्जसेरसुक्॥ ४७॥ अ० ७। १। ५०॥

अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वमसुक् इत्ययमागमो विहितः। उदाहरणम्—विश्वे देवास आगतः, विश्वेदेवा इति प्राप्ते। एवं दैव्यासः। तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि॥ ४७॥

भाषार्थ—(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है॥ ३३॥

(नित्यं) इस सूत्र से बह्वादि प्रातिपादिकों से वेदों में ङीष् प्रत्यय नित्य होता है॥ ३४॥

(भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है॥ ३५॥

इस सूत्र से आगे पादपर्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहाँ इसलिये नहीं लिखे कि वे एक-एक बात के विशेष हैं, सो जिस-जिस मन्त्र में विषय आवेंगे, वहाँ-वहाँ लिखे जायंगे।

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुल करके होता है। इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं इसलिये नहीं लिखे॥ ३६-३७॥

(अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में [अनन्त और असन्त से] समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है॥ ३८॥

(बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं, उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे 'ईड' धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये॥ ३९॥

(शेश्छ०) इससे प्रथमा विभक्ति जो जस् [और शस्] के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में 'शि' आदेश होता है, इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है॥ ४०॥

(बहुलं०) इससे धातुओं को अप्राप्त सम्प्रसारण होता है॥ ४१॥

(ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है॥ ४२॥

(देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। जैसे '**सूर्याचन्द्रमसौ०**' यहाँ सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है। और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है, उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्त्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं। जैसे—'इन्द्रवायू' यहाँ इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है॥ ४३॥

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय को 'रुट्' का आगम होता है॥ ४४॥

(बहुलं०) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव बहुल करके होता है॥ ४५॥

(सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में 'सुप्' आदि १६ आदेश होते हैं॥ ४६॥

(आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन जो जस् है, उसको असुक् का आगम होता है, जैसे—**'दैव्याः'** ऐसा होना चाहिये, वहाँ **'दैव्यासः'** ऐसा हो जाता है। इत्यादि जान लेना चाहिये॥ ४७॥

बहुलं छन्दसि॥ ४८॥ अ० ७। ३। ९७॥

वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम्॥ ४८॥

बहुलं छन्दसि॥ ४९॥ अ० ७। ४। ७८॥

अनेनाभ्यासस्य [भृञादीनाम्] इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते॥ ४९॥

छन्दसीरः॥ ५०॥ अ० ८। २। १५॥

अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्त्वं विधीयते। उदाहरणम्—रेवान् इत्यादि॥ ५०॥

कृपो रो लः॥ ५१॥ अ० ८। २। १८॥

संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम्॥

कपिलकाः, कपिरका इत्यादीनि॥ ५१॥

धि च॥ ५२॥ अ० ८। २। २५॥

घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत्।

छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे॥ १॥

उदाहरणम्—[इष्कर्त्तारमध्वरस्य,] निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते। अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यते। अप्राप्तविभाषेयम्॥ ५२॥

दादेर्धातोर्घः॥ ५३॥ अ० ८। २। ३२॥

'हृग्रहोश्छन्दसि' हस्य भत्वं वक्तव्यम्।

उदाहरणम्—गर्दभेन संभरति, मरुदस्य गृभ्णाति॥ ५३॥

मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि॥ ५४॥ अ० ८। ३। १॥

वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति। गोमः, हरिवः, मीढ्वः॥ ५४॥

वा शरि॥ ५५॥ अ० ८। ३। ३६॥

वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः। वृक्षा स्थातारः, वृक्षाः स्थातारः। अनेन 'वायव स्थ' इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते। अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः॥ ५५॥

भाषार्थ—(बहुलं) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है॥ ४८॥

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है॥ ४९॥

(छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है॥ ५०॥

(संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है॥ ५१॥

(घसि०) इससे वेदों में किसी-किसी अक्षर का कहीं-कहीं लोप हो जाता है॥ ५२॥

(हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रहधातु के हकार को भकार हो जाता है॥ ५३॥

(मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है॥ ५४॥

(वा शरि) खर् परे है जिससे ऐसे शर् परे रहने पर विसर्जनीय का विकल्प से लोप हो जाता है॥ ५५॥

उणादयो बहुलम्॥ ५६॥ अ० ३। ३। १॥

बहुलवचनं किमर्थम्? 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः'—तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते। 'प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्'—प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः। 'कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्'—कार्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि। किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यः। किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिताः न सर्वे समुच्चिताः। किञ्च कारणं कार्याणि सशेषाणि कृतानि, न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि? ''नैगमरूढिभवं हि सुसाधु'' [॥ १॥] नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः।

''नाम च धातुजमाह निरुक्ते''—नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः। ''व्याकरणे शकटस्य च तोकम्''—वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति। अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम्?

''यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्'' [२]—
प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥ ३॥

(बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि भवन्ति। एवं प्रत्यया अपि न सर्व एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति, यथा फिडफिड्डौ भवतः। तथा सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति। यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति। एतदपि बाहुलकादेव।

(किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः? अत्रोच्यते—

(नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः। एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति। (नाम०) संज्ञा-शब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात्।

(यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्यय-विधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः। एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह—संज्ञाशब्देषु धातु-रूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः। (कार्याद्वि०) कार्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कार्यमुणादिषु बोध्यम्॥ ५६॥

भाषार्थ—(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि—(बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े-से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है, सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पढ़े हैं, इनसे अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये। जैसे '**ऋफिडः**' इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं, उनमें जितने कार्य सूत्रों करके होने चाहिये वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है।

(किं पुनः०) इसमें जो कोई ऐसी शङ्का करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं, उनसे अधिक क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञा शब्द हैं, ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं। जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारह शब्द सिद्ध होते हैं।

(नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहिये, तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं, उनमें से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है, और इनसे भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं।

अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहाँ क्या करना चाहिये? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं, इनमें से जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी। और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी। इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी। जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उसमें 'ञ्' अथवा 'न्' अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हों, उनके अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये।

ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इसकी थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुँच जाते, तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्मजन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता। इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय॥ ५६॥

इति व्याकरणनियमविषयः॥

अथालङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते। तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते—पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति।

अस्योदाहरणम्—स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव॥ १ ॥

उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा।

तत्र—वाचकलुप्तोदाहरणम्—भीम इव बली भीमबली॥ १ ॥

धर्मलुप्तोदाहरणम्—कमलनेत्रः॥ २ ॥

धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम्—व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः॥ ३ ॥

वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम्—विद्यया पण्डितायन्ते॥ ४॥

उपमानलुप्ता॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता॥ ६ ॥

धर्मोपमानलुप्ता॥ ७॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता॥ ८ ॥

आसामुदाहरणम्—काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः। एवमष्टविधा॥ १ ॥

अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः। स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः। स च षड्धा। तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते। पूर्णविद्य इति शेषः॥ १ ॥

न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना॥ २ ॥

अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम्—ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम्॥ ३ ॥

अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यनन्देन किं तदा॥ ४॥

न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता॥ ५ ॥

अनुभयाताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—अयं घनावृतात्सूर्य्याद्विद्यासूर्य्यो विभाज्यते॥ ६ ॥

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः। स च त्रिविधः—प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च। तत्र—प्रकृतविषयस्योदाहरणम्—यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः। अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः। यथा च श्वेतो धावति। अलम्बुसानां यातेति। तथैव अग्निमीडे इत्यादि। अप्रकृतविषयस्योदाहरणम्—हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना। अथ—प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम्—उच्चरन्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः।

एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति। ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते।

भाषार्थ—अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से पहले उपमालङ्कार के आठ भेद हैं—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेयलुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७, और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ८॥ इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिसमें ये सब बने रहते हैं। उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है, एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म। इनमें से '**उपमान**' उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। '**उपमेय**' वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। '**उपमावाचक**' उसको कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। '**साधारणधर्म**' वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है। इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा और इनमें से एक-एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि—'**स नः पितेव०**'। जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर भी सबका पिता अर्थात् पालन करनेवाला है।

इसके आगे दूसरे रूपकालङ्कार के छः भेद हैं—अधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्रूप्यरूपक ४, न्यूनताद्रूप्यरूपक ५, और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६॥

इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उसमें भेद नहीं रखना। जैसे—'यह मनुष्य साक्षात् सूर्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है' इत्यादि।

तीसरा श्लेषालङ्कार कहता है। उसके तीन भेद हैं—१ प्रकृत, २ अप्रकृत और ३ प्रकृताप्रकृतविषय।

जिसका लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें, वह **श्लेष** कहाता है। जैसे **'नवकम्बल'** इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव हैं कम्बल जिसके, दूसरा नवीन है कम्बल जिसका।

इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई-कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालङ्कार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलङ्कार हैं, सो जहाँ-जहाँ वेदभाष्य में आवेंगे वहाँ-वहाँ लिखे जायंगे।

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्॥ १॥

ऋ० मं० १। सू० ८९। मं० १०॥

भाष्यम्—अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति, तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते। नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्।

भाषार्थ—(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं, वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायेंगे। इस मन्त्र को वारंवार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायंगे। वे अर्थ ये हैं—द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पञ्चजना, जात और जनित्व।

इत्यलङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः।

अथ ग्रन्थसङ्केतविषयः

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः—

ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—ऋ० १। १। १॥

यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—य० १। १॥

सामवेदस्य साम० पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—साम० पू० १। १। १॥ **पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु—साम० उ०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। अत्रायं विशेषोऽस्ति। उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—**साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १॥ **अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीयोकारेण उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव।**

अथर्ववेदे—अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—अथर्व० १। १। १॥

भाषार्थ—अब वेदभाष्य में चारों वेद के जहाँ-जहाँ प्रमाण लिखे जावेंगे उनके संकेत दिखलाते हैं।

देखो ऋग्वेद का जहाँ प्रमाण लिखेंगे वहाँ ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १ सूक्त १ मन्त्र १ इनका पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये। जैसे ऋ० १। १। १॥

इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अंक अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—य० १। १॥

सामवेद का नियम है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का, दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये। जैसे—साम० पू० १। १। १॥ यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं, अर्द्धप्रपाठक पर्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के अंक के आगे पू० वा उ० धरा जायेगा। उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १॥

इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—अथर्व० १। १। १॥

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ०, प्रथमाङ्कः पञ्चिकायाः, द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा—ऐ० १। १॥

शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य, तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—श० १। १। १। १॥

एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति, तेषां मध्याद् यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—छां० १। १। १॥

एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य। यथा—गो० १। १॥

एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्, तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—मी० १। १।१॥

द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं, तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—वै० १। १। १॥

तृतीयं न्यायशास्त्रं, तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्।

चतुर्थं योगशास्त्रं तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—यो० १। १॥

पञ्चमं सांख्यशास्त्रं, तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—सां० १। १॥

षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाख्यं तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य—वे० १। १। १॥

तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणं, तत्राष्टाध्यायी, तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—अ० १। १। १॥ **एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः। यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते।**

तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य। निघण्टौ १। १॥, निरुक्ते १। १॥ **खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ।**

तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य—तै० १। १॥

इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम्। यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम्॥

भाषार्थ—इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का ऐ०, पहिला अंक पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का—ऐ० १। १॥

शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का—श० १। १। १। १॥

सामब्राह्मण बहुत हैं, उनमें से जिस-जिसका प्रमाण जहाँ लिखेंगे उस उसका ठिकाना वहाँ धर देंगे। जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का। जैसे—छां० १। १। १॥

चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है उसका गो०, पहला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का। जैसे—गो० १। १॥ इस प्रकार का सङ्केत चारों ब्राह्मणों में जानना होगा।

ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र, उसका मी०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अंक क्रम से जानो। जैसे—मी० १। १। १॥

दूसरा वैशेषिक का वै०, पहला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूत्र का। जैसे—वै० १। १। १॥

तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो।

चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का—यो० १। १॥

पांचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो। जैसे—सां० १। १॥

छठे वेदान्त का वे०, अध्याय, पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से—वे० १। १। १॥

तथा अङ्गों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अ०, अध्याय, पाद, सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो। जैसे—अ० १। १। १॥

इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिखके महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे। उसी से उसका पता जान लेना चाहिये।

तथा निघण्टु और निरुक्त में दो-दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे।

तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अङ्क लिखेंगे।

ये सङ्केत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चल जाय, जिस किसी को देखना पड़े, वह उन ग्रन्थों में देख ले। और जिन ग्रन्थों के संकेत यहाँ नहीं लिखे, उनके प्रमाणों का जहाँ कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायेगा। परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सबको योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े।

इति ग्रन्थसङ्केतविषयः।

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः।
संक्षेपाद् भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता।
सम्पूर्णाकार्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः।
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥ १॥
मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥ २॥

भाषार्थ—यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उनमें क्या-क्या विषय हैं, इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति करानेवाली है। इसको जो लोग ठीक-ठीक परिश्रम से पढ़ेंगे

और विचारेंगे, उनका व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् खजाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है, इसको मैंने संक्षेप से पूर्ण किया। अब इसके आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति, उस में अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूँ॥ १॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय, अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है। इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है॥ २॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव।
यद्भ॒द्रं तन्न॒ आसु॑व॥ १॥ य० ३०। ३॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तर्ग्वेदादि-चतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत्॥

—०—

३

भागवत-खण्डनम्

भागवत-खण्डनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यदयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितम्

श्रीपण्डितयुधिष्ठिरमीमांसकविहिताऽऽर्यभाषानुवादसहितम्

प्राक्कथन

श्री दयानन्द सरस्वती ने गुरुवर श्री दण्डी विरजानन्द सरस्वती से लगभग तीन वर्ष (सं० १९१७-१९२०) पर्यन्त अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि आर्षग्रन्थों का अध्ययन करके सं० १९२० वैशाख मास में आगरा में पदार्पण किया। आगरा में लगभग दो वर्ष (१९२०-१९२१) पर्यन्त स्थिति की। इस काल में ऋषि दयानन्द ने दो लघु ग्रन्थ लिखे। एक **सन्ध्या** और दूसरा **भागवतखण्डन**। सन्ध्या की पुस्तक सं० १९२० के अन्त में छपवाई और भागवतखण्डन सम्भवतः सं० १९२१ के उत्तरार्ध में लिखी।

श्रीमद् भागवत वैष्णव सम्प्रदाय का प्रधान ग्रन्थ है। अतः इसका दूसरा नाम **'वैष्णवमतखण्डन'** भी है। श्री पं० लेखराम जी ने ऋषि के जीवनचरित में इसका उल्लेख **भड़वा-भागवत** और **पाखण्डखण्डन** नाम से किया है। पं० लेखरामजी द्वारा सङ्कलित जीवनचरित पृष्ठ ७९० (प्रथम-संस्करण) पर इस पुस्तक के विषय में निम्न परिचय उपलब्ध होता है—

''**पाखण्ड-खण्डन**—यह पुस्तक सात पृष्ठ की संस्कृत-भाषा में स्वामी जी ने भागवत-खण्डन विषय पर लिखी है। सं० १९२१ व १९२२ में जब वह दूसरी बार आगरा में रहे, उसी समय का मालूम होता है। सब से पुरानी हस्तलिखित कापी इसकी ज्येष्ठ द्वितीय तिथि ९ बृहस्पतिवार सं० १९२३ तदनुसार ७ जून १८६६ में लिखी हुई पं० छगनलाल जी शास्त्री किशनगढ़ के पास विद्यमान है। अजमेर से लौट कर सं० १९२३ के अन्त में आगरा आके ज्वालाप्रकाश प्रेस में ज्वालाप्रसाद भार्गव[१] के प्रबन्ध से इसकी कई हजार कापियां छपवायीं, और प्रथम वैशाख[२] सं० १९२४ तदनुसार १२ अप्रैल सन् १८६७ में मेला हरिद्वार पर इसे बिना मूल्य वितीर्ण किया। यह बहुत समयोचित ट्रैक्ट उत्तम संस्कृत भाषा में

१. इसी ज्वालाप्रसाद भार्गव ने सं० १९४० (सन् १८८३) में वेदभाष्य भी छापना आरम्भ किया था। देखो—म० मुंशीराम द्वारा सम्पादित पत्रव्यवहार पृष्ठ १९२। यह किसका रचा हुआ था, यह पत्र से विदित नहीं होता।

२. अर्थात् सौर वर्ष के वैशाख मास की प्रथम तिथि (वैशाखी)।

है। यह दूसरी बार नहीं छपा।''

इस उद्धरण में सं० १९२१ व १९२२ में दूसरी बार आगरा आने का उल्लेख है, यह हमारी समझ में अशुद्ध है। क्योंकि स्वामी जी महाराज का आगरा में द्वितीय बार आगमन सं० १९२३ के उत्तरार्ध में हुआ था।

श्री पं० छगनलालजी शास्त्री की प्रति पर जो लेखन काल लिखा है, उस समय ऋषि दयानन्द राजस्थान के अजमेर आदि नगरों में भ्रमण कर रहे थे। हमारे विचार में पं० छगनलालजी की प्रति पर जो लेखन काल लिखा था, वह ऋषि दयानन्द की हस्तलिखित प्रति से प्रतिलिपि करने का काल है; न कि मूल ग्रन्थ के लिखे जाने का। पुस्तक लिखे जाने का वास्तविक काल अज्ञात है।

अजमेर (सं० १९२३) के वर्णन में बाबू देवेन्द्रनाथ संकलित जीवनचरित में लिखा है—'ब्राह्मणों ने कहा कि आप भागवत का खण्डन करते हैं। उसकी अशुद्धियां लिखकर दीजिए। स्वामी जी ने तीन-चार पत्रों पर उसकी अशुद्धियां संस्कृत में लिखकर दी थीं। भाग १, पृष्ठ ९३ द्वि० सं०।

सम्भव है यह पत्रे प्रस्तुत 'भागवत-खण्डन' के ही रहे होंगे; अथवा उसके प्रारूप के होंगे। छगनलाल शास्त्री के पास वर्तमान पुस्तक पर अङ्कित तिथि से भी इसकी पुष्टि होती है। यदि हमारा अनुमान ठीक हो, तो इस पुस्तक की रचना का श्रेय अजमेर नगर को ही है। और इसका रचना काल वही है, जो छगनलाल शास्त्री की पुस्तक पर अङ्कित है।

यह पुस्तक १८×२२ अठपेजी आकार के ७ पृष्ठों में छपी थी। इसकी एक प्रति ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त और उनके शतशः पत्रों के अन्वेषक **श्री मामराजसिंहजी** खतौली (मुजफ्फर नगर) निवासी फर्रुखाबाद से बड़े परिश्रम से ढूंढ कर लाए थे। उन्होंने यह प्रति ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन के संग्राहक और सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्त जी को दी थी। यह प्रति विगत देशविभाजन काल (सं० २००४) में उनके अद्‌भुत संग्रह के साथ ही उनके गृह माडल टाउन लाहौर में रह गई। इस पुस्तक के आद्यन्त के पाठों का निर्देश श्री पं० भगवद्दत्तजी ने '**ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञानपन**' ग्रन्थ की भूमिका में किया है। हमारे ज्ञान में अब यह पुस्तक कहीं पर भी विद्यमान नहीं है। यही दशा ऋषि दयानन्द के दो ग्रन्थ आद्य **सन्ध्या** तथा **अद्वैतमतखण्डन** की है। मैं इन

तीनों ग्रन्थों की उपलब्धि के लिए १०, १२ वर्ष से प्रयत्नशील रहा हूँ, परन्तु इनकी उपलब्धि में अकृतकार्य रहा।

संवत् २०१८ वैशाख मास में अपने '**संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**' ग्रन्थ के द्वितीय भाग के मुद्रण की व्यवस्था के लिए मेरा काशी जाना हुआ। मैं वहाँ एक दिन 'रामलाल कपूर निक्षेपनिधि' के पुस्तकालय की पुरानी पुस्तकें टटोल रहा था। उसी समय दैवात् एक पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर दृष्टि गई, उसका नाम है=''पाषंडि मुखमर्दन''। यह पुस्तक इन्द्रप्रस्थ निवासी श्री विश्वेश्वरनाथ गोस्वामी नाम के किसी पण्डित की लिखी और मुरादाबाद के सुदर्शन यन्त्रालय में लीथो की छपी हुई है। इस में २०×२६ अठपेजी आकार के ६२ पृष्ठ हैं। इस पर मुद्रण अथवा लेखन काल का निर्देश नहीं है। इस पुस्तक के लेखक ने ऋषि दयानन्द विरचित 'भागवत-खण्डन' को अक्षरशः उद्‌धृत करके उसका खण्डन किया है। इसलिए इस पुस्तक में सम्पूर्ण 'भागवत-खण्डन' पुस्तक सुरक्षित उपलब्ध हो गई। उसी में से निकाल कर 'भागवत-खण्डन' को पृथक् प्रकाशित कर रहा हूँ। मूल पुस्तक संस्कृत-भाषा में है। संस्कृत-भाषा से अनभिज्ञ पाठकों के लिए मैं उसका भाषानुवाद भी साथ में दे रहा हूँ।

एक बात विशेष ध्यान में रखने योग्य है। इस पुस्तक में केवल कृष्ण भागवत पुराण का ही खण्डन है। उस समय तक ऋषि दयानन्द शेष पुराणों को परम्परानुसार प्रामाणिक मानते थे। इस पुस्तक का महत्त्व केवल दो विषयों के लिए है—एक तो इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द इस समय तक मूर्तिपूजा का खण्डन करने लग गए थे। और दूसरा है ऋषि की उपलब्ध कृतियों में इसका सबसे प्रथम कृति होना।

इस पुस्तक की रचना के कुछ काल पश्चात् ही संभवतः ऋषि दयानन्द को यह अनुभव हो गया कि मूर्तिपूजा का आश्रय वर्तमान पुराण ही है। अतः उन्हें सभी पुराणों का पूर्णतया परित्याग और खण्डन करना पड़ा। सं० १९२६ आषाढ़ मास में ऋषि दयानन्द ने कानपुर में एक प्रामाणिक पुस्तकों की सूची संस्कृत में छपवाई थी (देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १)। इस सूची में किसी भी पुराण का नाम उल्लिखित नहीं है। इतना ही नहीं, 'मनुष्यकृताः सर्वे ब्रह्मवैवर्तपुराणादयो ग्रन्थाः प्रथमं गप्पम्' पंक्ति द्वारा समस्त पुराणों को त्याज्य कहा है। इस सूची से इतना स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द सं० १९२६ से पूर्व ही वर्तमान

पुराणों को वेद-विरुद्ध मानने लग गए थे, और उनके खण्डन में प्रवृत्त हो गए थे।

इस पुस्तिका में कृष्ण भागवत के जिन अंशों का खण्डन ऋषि दयानन्द ने किया है, उनमें से कतिपय अंशों का खण्डन 'सत्यार्थप्रकाश' के (प्रथम और द्वितीय दोनों संस्करणों के) १२ वें समुल्लास में भी मिलता है। 'सत्यार्थप्रकाश' के दोनों संस्करणों के उन अंशों के साथ तुलना के लिए हम उन्हें परिशिष्ट में दे रहे हैं।

इस दुर्लभ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तिका की उपलब्धि से पूर्व ही ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त श्री माननीय मामराज सिंह जी का स्वर्गवास हो गया। यदि यह पुस्तिका उनके जीवनकाल में ही उपलब्ध हो जाती, तो उन्हें अपने द्वारा बड़े प्रयत्न से ढूंढी गई और दुर्दैव से नष्ट हुई अनुपम निधि को पुनः प्राप्त करके जितनी प्रसन्नता होती, उसकी कल्पना वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका उनके साथ गहरा सहवास रहा हो।

मुझे ऋषि दयानन्द के लुप्त हुए इस ग्रन्थ का उद्धार करने की महती प्रसन्नता है। यदि इसी प्रकार ऋषि की लुप्त हुई आद्य 'सन्ध्या' और 'अद्वैतमत-खण्डन' दोनों पुस्तिकाएं भी उपलब्ध हो जाएं, तो बड़े सौभाग्य का विषय होगा।

इस पुस्तक के सम्पादन में मुझे श्री पं० रमाशंकर भट्टाचार्य व्याकरणाचार्य, एम०ए० से पर्याप्त सहायता मिली है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
२४/२१२ रामगंज, अजमेर

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

॥ ओ३म् ॥

भागवत-खण्डनम्

श्रीमद्भागवतं पुराणं नाम किमस्ति? कुतः सन्देहः? द्वे भागवते श्रूयेते—एकं देवीभागवतं द्वितीयं कृष्णभागवतं चेति। अतो जायते सन्देहः, अनयोः किमस्ति व्यासकृतमिति? देवीभागवतं श्रीमद्भागवत-मस्ति व्यासकृतं च, नान्यत्। कुत एतत्? शुद्धत्वाद् वेदादिभ्योऽ-विरुद्धत्वाच्च। अत एव देवीभागवतस्य श्रीमद्भागवतसंज्ञा, नान्यस्य च भागवतस्य। कुत एतत्? अशुद्धत्वात् प्रमत्तगीतत्वाच्च।

किञ्च तत्—

''जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्''।

इत्यादिनिर्मितं यत्। कुत एतदशुद्धम्? वेदादिभ्यो विरोधात्। कोऽस्ति विरोधः? सर्वमेव विरुद्धम्। कथम्?

''न नानार्थं न भिन्नार्थं नासंहृतं न चाधिकम्।
न न्यूनं कष्टशब्दं च व्युत्क्रमाभिहितं न च॥

भाषार्थ—श्रीमद्भागवत नाम का पुराण कौन-सा है? यह सन्देह क्यों हुआ? दो भागवत नाम के पुराण सुनाई देते हैं—एक देवीभागवत और दूसरा कृष्णभागवत। इसलिए सन्देह होता है कि इनमें कौन-सा व्यासकृत है? देवीभागवत ही श्रीमद्भागवत है, और वही व्यासकृत है, अन्य नहीं। यह क्यों? शुद्ध होने से और वेदादि से अविरुद्ध होने से। इसीलिए देवीभागवत की ही श्रीमद्भागवत संज्ञा है, अन्य भागवत की नहीं। यह क्यों? अशुद्ध होने से, और प्रमत्तगीत (=प्रमादी पुरुष का कहा) होने से।

वह (=अशुद्ध और प्रमत्तगीत) क्या है? जन्माद्यस्य०—इत्यादि निर्मित जो [कुछ है, वह सभी अशुद्ध] है। यह अशुद्ध क्यों है? वेदादि से विरोध होने के कारण। कौन-सा विरोध है? सब कुछ ही विरुद्ध है। कैसे? 'अनेक अर्थों वाला, भिन्न अर्थ वाला, संक्षिप्त, अधिक, न्यून, क्लिष्ट शब्द उलटे क्रम से कथित, असत्य, अतिसत्य, सूक्ष्म सत्य प्रयोजन वाला, इन

नासत्यमतिसत्यं वा सूक्ष्मं सत्यप्रयोजनम्।

एतद् दशदोषरहितं वाक्यमुच्चार्यं लेखनीयं च''॥

इत्युक्तं मार्कण्डेयपुराणे। एतद्दोषवदस्ति प्रमत्तगीतं भागवतम्, अतोऽकथनीयमश्रवणीयं च।

कथं तर्हि शुक उक्तवान् इदं भागवतं परीक्षितं प्रति **इति ? नोक्तवान्। कुतो नोक्तवान् ? शुकस्तु युद्धात् पुरा मोक्षं प्राप्तवान् इति महाभारते शान्तिपर्वणि लिखितम्। अतोऽशुद्धमेव—'शुकः परीक्षितं प्रत्युक्तवान्' इति। तर्हि छायाशुकेन प्रोक्तमिति ? स तु गृहस्थो न नग्नः। व्यास-प्रोक्तमस्ति न वा, नैवाम्बरीषशुकप्रोक्तम्।**

''नित्यं भागवतं शृणु हयग्रीव शुकप्रोक्तम्''।

'नित्यं भागवतं शृणु' इति सर्वं कथनमशुद्धमेव।

अन्येऽपि दोषा सन्ति न वा ? सन्ति बहवो दोषाः। एकदोषवतोऽपि ग्रन्थस्य प्रामाण्यं न भवति, कुतो बहुदोषवतश्च। तस्मात् स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रमादस्तावद् द्रष्टव्यः—

दश दोषों से रहित वाक्य ही उच्चारण करना और लिखना चाहिए' ऐसा मार्कण्डेय पुराण में कहा है। इन दोषों से युक्त है, प्रमादी पुरुष का कहा हुआ भागवत। इसलिए यह कथा करने और सुनने योग्य नहीं है।

[यदि इन दोषों से युक्त भागवत है] तो कैसे 'शुक (=व्यासपुत्र) ने इस भागवत को परीक्षित के प्रति कहा' ऐसा कहा जाता है ? [शुक ने परीक्षित के लिए] नहीं कहा। क्यों नहीं कहा ? शुक तो [भारत] युद्ध से पूर्व ही मोक्ष को प्राप्त हो गया था, ऐसा महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है। इसलिए अशुद्ध ही है कि—'शुक ने परीक्षित के लिए [भागवत] कहा'। तो छायाशुक ने कहा [होगा] ? वह तो गृहस्थ था, संन्यासी नहीं। व्यासप्रोक्त है नहीं, न ही अम्बरीषशुक का कहा है।

नित्यं भागवतं शृणु०—इत्यादि श्लोक में 'नित्य भागवत को सुनो' कहना सारा ही अशुद्ध है।

अन्य भी दोष हैं वा नहीं ? बहुत से दोष हैं। एक दोष से युक्त ग्रन्थ का भी प्रामाण्य नहीं होता, बहुत दोष वाले का कहाँ से होगा ? इसलिए स्थालीपुलाक न्याय से प्रमाद देखने योग्य है—

''ज्ञानं परमं गुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।

सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया''॥

परमं गुह्यं यदस्ति ज्ञानं तद्विज्ञानमेव भवति, पुनर्विज्ञानसमन्वित-मितीदं व्यर्थमेव। एवं च चतुश्श्लोक्यशुद्धाऽस्ति।

''जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादि०''

यतः कुत इति प्रष्टव्यः ? कर्मणो वा कालाद्, आहोस्विद् ईश्वराद् वा कामाद् आहोस्वित्प्रकृतेर्वा ब्रह्मणः। किञ्चिदपि पूर्वं प्रकृतं न दृश्यते। अत एव सर्वमशुद्धं कथनम्।

''भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव''।

वसिस्सम्प्रसारणी **इति महाभाष्यम्।**[1]

संवत्सरोषितो भिक्षुः,

प्राप्य पुण्य-कृताँल्लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः[2] **इत्युदाहरणाद् 'विप्रवसित' इत्यशुद्धमेव।**

''कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः''।

ज्ञानं परमं गुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्०—यहाँ जो परम गुह्य ज्ञान होता है, वह विज्ञान ही होता है। अतः पुनः 'विज्ञानसमन्वितम्' (=विज्ञान से युक्त) यह कथन व्यर्थ है। इसी प्रकार चतुःश्लोकी (=चारों श्लोक) अशुद्ध है।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्०—यहां 'यतः' (=जिससे) पद का अभिप्राय प्रष्टव्य है—कर्म से अथवा काल से, अथवा ईश्वर से वा काम से, अथवा प्रकृति से वा ब्रह्म से ? इस से पूर्व कुछ भी प्रकृत (=प्रकरण निर्दिष्ट) नहीं है। इसलिए यह सब कथन अशुद्ध है।

भिक्षुभिर्विप्रवसिते०—'वस' [निवासे] धातु सम्प्रसारण कार्य वाली है, ऐसा महाभाष्य में कहा है। संवत्सरोषितः०; प्राप्य....... उषित्वा० आदि उदाहरणों [में 'उषित' पद का प्रयोग होने] से 'विप्रवसितः' पद अशुद्ध ही है ['विप्रोषितः' प्रयोग होना चाहिये]।

कथितो वंशविस्तारो—प्रथने वावशब्दे इस [पाणिनीय नियम

---

१. ७.२.१०॥ २. गीता ६.४१॥ ३. भागवत १०.१.१॥

प्रथने वावशब्दे[४] **शब्दोपाधौ विस्तरः, अन्यत्र विस्तार एव। कोऽस्ति शब्दोपाधिः ? कथनश्रवणे।**

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन, भूयः कथय०;[५]

विभूतेर्विस्तरो मया;[६]

नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे;[७]

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु;[८]

निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम।

एवं सति 'कथितो वंशविस्तारो भवता' **इत्यशुद्धमेव।**

''निगमकल्पतरोर्गलितम्''[९] इत्यादि।

अत्र वेदनिन्दा कृता हि। पतितम्, **इति वक्तव्ये** 'गलितम्' **इत्यशुद्धम्। एका षष्ठी, द्वे पञ्चम्यौ वाऽत्राशुद्धमेव।** 'शृणुत' **इति वक्तव्ये** 'पिबत' **इत्यप्यशुद्धमेव।**

''नेमं विरञ्चिर्न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप मुक्तिदात्''॥[१०]

से] शब्द अभिधेय होने पर ''विस्तर'', और अन्यत्र ''विस्तार'' [शब्द ही साधु होता है]। यहाँ कौन-सी शब्दोपाधि है ? कथन और श्रवण [यहाँ सोमसूर्यवंश का कथन और श्रवण इष्ट है, अतः विस्तार शब्द का प्रयोग अशुद्ध है]। विस्तरेणात्मनो०; विभूतेर्विस्तरो मया; नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे; दैवो विस्तरशः प्रोक्त०; निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्० [आदि गीता के श्लोकों में ''विस्तर'' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, इसलिए] ऐसा प्रयोग होने से 'कथितो वंशविस्तारो०' [में ''विस्तार'' शब्द का प्रयोग] अशुद्ध ही है।

निगमकल्पतरो०—इस श्लोक में वेद की निन्दा की है। पतितम् (=गिरा हुआ) ऐसा कहने के स्थान में गलितम् (=गला हुआ) कहना अशुद्ध है। एक षष्ठी [=निगमकल्पतरोः' में] अथवा दो पञ्चमी [=निगमकल्परोः शुकमुखात्] का प्रयोग अशुद्ध है। 'शृणुत' (=सुनो) ऐसा कहने के स्थान में 'पिबत' (=पीओ) का प्रयोग भी अशुद्ध है।

नेमं विरञ्चिर्न०—इसमें एक नकार सार्थक है, और दो अनर्थक हैं।

४. अष्टा० ३.३.३३॥ ५. गीता १०.१८ ६. गीता १०.४०॥ ७. गीता १०.१९
८. गीता १६.६॥ ९. भागवत १.१.३॥ १०. भागवत १०.९.२०॥

अत्रैको नकारो सार्थकः, द्वावनर्थकौ स्तः। निन्दा च कृता ब्रह्मादीनां देवक्यादीनां च।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दमुखाच्छ्वापदं वरिष्ठम्।[११]

अत्र ब्राह्मणनिन्दा कृता। 'अव्यक्तं व्यक्तमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय'[१२] **अस्माद् विरुद्धत्वादशुद्धोऽपि।**

''क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।[१३]**''**

अत्र वेदविहितकर्मकर्तॄणां निन्दा कृता, अर्थाद् वेदानामपि। नास्तिको वेदनिन्दकः[१४] **इत्युक्तं मनुना। अत एवायं भागवतस्यास्य कर्त्ता नास्तिकः।**

''यद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि''।[१५]

असम्बद्धोऽयं श्लोकः।

व्यासनारदसंवादे व्यासस्यापि निन्दा कृता—व्यासः शोकातुरोऽ-

तथा इस में ब्रह्मादि देवों और देवकी आदि की निन्दा की है।

विप्राद् द्विषड्गुणयुताद्०—इस में ब्राह्मणों की निन्दा की है। तथा 'मूर्ख लोग मुझ अव्यक्त को व्यक्त (=प्रकट) हुआ मानते हैं,' इस [गीता के वचन से] विरुद्ध होने से अशुद्ध भी है।

क उत्तमश्लोक०—इस श्लोक में वेदविहित कर्मों के करने वालों की निन्दा की है। अर्थापत्ति से वेद की भी निन्दा है। 'वेदनिन्दक नास्तिक होता है', यह मनु ने कहा है। इसलिए यह इस भागवत का कर्ता नास्तिक है।

यद्वाग्विसर्गो०—यह श्लोक असम्बद्ध है।

व्यास और नारद के संवाद में व्यास की भी निन्दा की है कि—**व्यासजी शोकातुर हो गये थे, वहाँ नारद मुनि पहुँचे और उन्होंने**

११. भागवत ७.९.१०॥ १२. गीता ७.२४॥
१३. भागवत १०.१.४॥ १४. मनुस्मृति २.११॥
१५. भागवत १-५.११॥

भूत्,[१६] तत्र नारद आगतः, पुनर्नारदेन बोधित[१७] इति। **व्यासस्तु नारायणावतारस्तस्य कथं शोकः सम्भवेत्?**

भस्मासुरकथायां[१८] शिवस्यापि निन्दा कृता—'भस्मासुरभयाच्छिवः कैलाशं विहाय वनं गतवान्, पुनर्विष्णुना रक्षितः' **इति। कस्मादपि त्रैलोक्ये भयं न भवति शिवस्य। यदि कश्चिद् ब्रूयाद् दत्तवराय भस्मासुराय दण्डं न दत्तवान्, तर्हि रावणाय दत्तवराय शिवेन दण्डः कथं दत्तः? यस्य क्रोधलेशेन सर्वं पञ्चभूतात्मकं जगद् भस्मीभूतं भवति, तस्य भयं कर्त्तुं कः समर्थः पुमान् भवेत्?**

बाणासुरकथायामपि[१९] शङ्करस्य निन्दा कृता—'कृष्णेन शङ्करः पराजितः' **इति। कोऽपि शङ्करं पराजेतुं समर्थो नास्ति।**

गृहस्थानामपि निन्दाकृता कपोतगुरुकरणकथायाम्[२०]—गृहस्थाश्रमोऽश्रेष्ठ' इति।

व्यासजी का सन्देह दूर किया। व्यासजी नारायण के अवतार [कहे गये हैं, तब] उन्हें शोक कैसे हो सकता है?

भस्मासुर कथा में शिव की भी निन्दा की है कि—**भस्मासुर के भय से शिव कैलाश छोड़ कर वन चले गये, फिर विष्णु ने उनकी रक्षा की।** शिव को किसी से तीनों लोकों में भय नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि भस्मासुर को वर देने के कारण शिव ने दण्ड नहीं दिया, तो वर दिए हुए रावण को शिव ने क्यों दण्ड दिया? जिस शिव के तनिक क्रोध से सारा पञ्चभूतात्मक जगत् भस्म (=प्रलय को प्राप्त) हो जाता है, उसको भयभीत करने में कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है?

बाणासुर की कथा में भी शङ्कर की निन्दा की है कि—'**कृष्ण ने शङ्कर को हरा दिया।**' कोई भी शङ्कर को पराजित करने में समर्थ नहीं है।

गृहस्थियों की भी कपोत-गुरुकरण (=कबूतर को गुरु बनाना) कथा में निन्दा की है कि—'**गृहस्थाश्रम बुरा है।**' किन्तु—

---

१६. भागवत १.४.३२॥ १७. भागवत १.५ अ० ६॥
१८. भागवत १०-८८ अ०॥ १९. भागवत १०.६३ अध्याय॥
२०. भागवत १०.७.३३॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥[२१]

श्रेष्ठ एव गृहाश्रमो व्यवहारे। अतोऽश्रेष्ठ इति कथनं यत् तत्प्रमत्तगीतमेव।

कृष्णस्यापि निन्दा कृता रासमण्डलचीरलीलाकथायाम्[२२]—'परस्त्रीभिर्लीलां कृतवान्, नग्नदारा दृष्टवांश्चेति'।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शरीरं त्रिविधं स्मृतम्॥[२३]
पापमिति शेषः।
नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।[२४]

इत्याह भगवान् मनुः। अस्माद्विरोधाल्लोकविरोधाच्च प्रमत्तगीतमेतत्।

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतन्नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥[२५]

'जैसे छोटी बड़ी नदियाँ समुद्र में पहुँच कर स्थिर हो जाती हैं, वैसे ही सब आश्रमी (=ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी) **गृहस्थ में ही आश्रय को प्राप्त होते हैं'** [मनु के वचन के अनुसार] व्यवहार में गृहाश्रम श्रेष्ठ है, उसे बुरा बताना प्रमादी पुरुष का कथन है।

कृष्ण की भी रासमण्डल और चीरहरण लीला में निन्दा की है कि—**'पराई स्त्रियों के साथ लीला की, और नङ्गी स्त्रियों को देखा।'**

किन्तु 'विना दिए पदार्थों को ग्रहण करना, विधान के विना हिंसा करना, पराई स्त्रियों का सेवन करना, तीन प्रकार का शारीरिक पाप कहा गया है।' और—**'मुख से अग्नि को न फूँके, नङ्गी स्त्रियों को न देखे'** ऐसा मनु ने कहा है। [मनुस्मृति के साथ] विरोध होने से तथा लोक से विरुद्ध होने से [उक्त कथायें] प्रमादी पुरुष की कही हुई हैं।

आप्तकामो यदुपतिः०—इस श्लोक में भी कृष्ण की निन्दा की है।

---

२१. मनुस्मृति ६.९०॥ २२. भागवत १०.२९-३३ अ०॥
२३. मनुस्मृति १२.७॥ २४. मनुस्मृति ४.५३॥ २५. भागवत १०.२३.२९

अत्राऽपि कृष्णस्य निन्दा कृता। सर्वज्ञः कृष्णः कदाचिज्जुगुप्सितं, कर्म न कुर्यात्।

सुभद्राहरणकथायां कृष्णार्जुनसुभद्राणां निन्दैव कृता[२६]—'कृष्णः कपटरूपिणमर्जुनं महात्मास्तीति कथितवान्' **इति**; अर्जुनः कपटरूपं कृतवान् इति; सुभद्राऽपि निन्दितं कर्म कृतवती' **इति।**

इन्द्रस्यापि गोवर्धनोद्धरणकथायां निन्दा कृता[२७]—इन्द्रो लज्जितो बभूव **इति।**

अष्टाशीतिसहस्त्राणामृषीणां महात्मनां निन्दैव कृता सप्ताहोत्स्थान-कथायाम्[२८]—'तेषां मध्ये एकोऽपि परीक्षितं समाधातुं समर्थो नेति।'

ब्रह्मणोऽपि वत्सहरणहंसावतरणकथायां[२९] **निन्दैव कृता**—'अज्ञानी ब्रह्मा' **इति।**

ततः पुष्करतः सृष्टस्सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः।
ब्रह्मा वेदमयः साक्षात् प्रजापतिरनुत्तमः॥

सर्वज्ञ कृष्ण कभी निन्दित कर्म नहीं कर सकता।

सुभद्राहरण कथा में कृष्ण, अर्जुन और सुभद्रा की निन्दा की है कि—**'कृष्ण ने कपट रूपधारी अर्जुन को महात्मा बताया, अर्जुन ने कपट रूप धारण किया, और सुभद्रा ने भी निन्दित कर्म किया।'**

गोवर्धन-उद्धरण कथा में इन्द्र की भी निन्दा की है कि—**'इन्द्र लज्जित हो गया।'**

सप्ताहोत्स्थान कथा में अठासी सहस्र ऋषि-महात्माओं की निन्दा की है कि—**'उनमें से एक भी परीक्षित की शङ्का का समाधान करने में समर्थ नहीं हुआ'।**

वत्सहरण और हंसावतरण कथा में ब्रह्मा की भी निन्दा की—**'अज्ञानी ब्रह्मा'** ऐसा कहा। [किन्तु यह महाभारत के] 'पश्चात् कमलरूपा पृथिवी के निष्पादन के अनन्तर उत्पन्न किया सर्वज्ञ शरीरधारी प्रभु ब्रह्मा को, जो साक्षात् वेदमय और श्रेष्ठतम प्रजापति था' इस वचन से विरुद्ध होने से [भागवत का ब्रह्मा को अज्ञानी कहना] प्रमादी पुरुष का कथन है।

---

२६. भागवत १०.८६.५,३,७॥ २७. भागवत १०.२५, २४॥
२८. भागवतमहात्म्य ५.४१॥ २९. भागवत १०.१३-१४, ११.१३.१९॥

इति महाभारतविरोधात् प्रमत्तगीतमेतत्।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्॥[३०]

महाभारताद् विरुद्धं यत्तन्न व्यासप्रोक्तमिति महाभारते। इदं तु भागवतं महाभारताद् विरुद्धमेवास्ति तस्मात् प्रमत्तगीतमेव।

''वन्दे महापुरुषचरणारविन्दम्''[३१]

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति
खं वै नाभिं सोमसूर्यौ च नेत्रे।
दिशः श्रोत्रे यस्य पादौ क्षितिश्च
ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा॥ १॥[३२]
यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ २॥[३३]

'धर्म अर्थ काम और मोक्ष के विषय में हे भरतर्षभ! जो यहाँ (=महाभारत में कहा गया) है, वही अन्यत्र (=अन्य ग्रन्थों में) है, जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है'। [इस वचन के अनुसार] महाभारत से जो विरुद्ध है, वह व्यास जी का कहा नहीं है, ऐसा महाभारत में [कहा है]। वह भागवत महाभारत से विरुद्ध ही है इसलिए प्रमत्तगीत है।

'वन्दे महापुरुष०—'प्रणाम करता हूँ हे महापुरुष! तुम्हारे चरणार-विन्दों को' यह कथन भी—

द्यां मूर्धानम्०—द्युलोक को जिसका शिर विप्र लोग कहते हैं, आकाश को नाभि, चन्द्र-सूर्य को दोनों नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र, और जिसके पैर पृथिवी [कहे जाते हैं], जो ध्यान करने योग्य है, वह सब भूतों का अन्तरात्मा है।

यद्वाचा०—जो वाणी से कहा नहीं जा सकता, जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसी को ब्रह्म तू जान। यह ब्रह्म नहीं है जिसकी तू उपासना करता है।

---

३०. महाभारतआदिपर्व ६२.५३॥ ३१. भागवत ११.५.३३,३४॥
३२. वायुपुराण ९.१२०॥ ३३. केनोपनिषद् १-४॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ३ ॥[३५]

इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्यो विरुद्धं चरणारविन्दवन्दनादिकमेव। अतोऽकथनीयमश्रवणीयं चेदं प्रमत्तगीतं भागवतम्।

पूर्वापरविरुद्धमप्यस्ति—

नृसिंहेन प्रह्लादाय वरो दत्तः—‘एकविंशतिपित्राद्यास्तव मोक्षं गच्छन्तु।’[३५] **पुनरुक्तं प्रमत्तेन—**‘तावेव रावणकुम्भकर्णौ बभूवतुः,[३६] पुनस्तावेव शिशुपालदन्तवक्रौ बभूवतुः’’[३७] **इति च विरुद्धमेव।**

भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्।[३८]

इति ब्रह्मणे वरो दत्तो नारायणेन। पुनरुक्तम्—‘ब्रह्मा मोहितो भूत्वा वत्सहरणं कृतवान्’[३९] इति विरुद्धमेव।

‘कृष्णो नग्नां बाणासुरमातरं न दृष्टवान्’[४०] **पुनरुक्तं प्रमत्तेन—चीरलीलां कृतवान्**[४१] **इति विरुद्धमेव।**

यन्मनसा०—जो मन से विचारा नहीं जा सकता, जिससे मनन शक्ति को प्राप्त कर मन विचारता है, उसी को ब्रह्म तू जान। ब्रह्म यह नहीं है जिसकी तू उपासना करता है।

इत्यादि श्रुतियों से विरुद्ध ही है, चरणारविन्द का वन्दन आदि। इसलिए यह प्रमत्तगीत भागवत कहने और सुनने योग्य नहीं है।

पूर्वापर विरुद्ध भी है—

नृसिंह ने प्रह्लाद को वर दिया—**‘तेरे २१ इक्कीस पितादि मोक्ष को प्राप्त हों’।** प्रमादी ने फिर कहा—**‘वे [हिरण्याक्ष-हिरण्यकश्यप] ही रावण और कुम्भकर्ण हुए, और पुनः वे ही शिशुपाल और दन्तवक्र हुए’** यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है।

भवान् कल्प०—‘आप कल्प=सृष्टि और विकल्प=प्रलय में कभी मोह को प्राप्त नहीं होते’। नारायण ने ब्रह्मा को ऐसा वर दिया। पुनः कहा—**‘ब्रह्मा ने मोहित होकर [गोपों की गौवों के] बछड़ों का हरण किया’** यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है।

३४. केनोपनिषद् १-५॥ ३५. भागवत ७.१०.१८॥ ३६. भागवत ७.१०.३६

३७. भागवत ७.१७.३८॥ ३८. भागवत २.९.३६॥

३९. भागवत १०.१४.१०॥ ४०. भागवत १०.६३.२०,२१

भस्मासुरकथायां शिवस्य निन्दां[४२] **कृत्वा पुनर्विषपानकथायां** ‘भवानेव विष्ण्वादीनामीश्वरः’[४३] **इति विरुद्धमेव।**

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः **इति श्रुतेः;** नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते[४४] **इति स्मृतेश्च। एवं सति** ‘भक्तिरेव मोक्षदात्री’[४५] **इति वेदादिभ्यो विरुद्धमेव।**

अतः कुग्रन्थस्य भागवताख्यस्यास्य कर्ता मूर्ख एव। अस्मात् कारणात् सुखेप्सुभिः कदाचिदिदं प्रमत्तगीतं न कथनीयं न श्रोतव्यं चेति सिद्धान्तः। ये तु लोभाच्छ्रावयन्ति मूर्खत्वाच्छृण्वन्ति ते वै नरके पतिष्यन्ति। ये प्रमत्तगीतमिदं भागवतं श्रावयन्ति शृण्वन्ति च, ते सर्वे पाषण्डिनः अतएव महापातकिनः सन्ति। यश्च कथितवान् वोपदेवः, सोऽपि पाषण्डी महापातकी चास्ति। अत एव प्रमत्तगीतस्यास्य

‘कृष्ण ने बाणासुर की नङ्गी माता को नहीं देखा’। पुनः कहा प्रमादी ने—**‘चीरहरण लीला की’** (उसमें स्नान करती हुई स्त्रियों के वस्त्र उठा लिए और वस्त्र लेने के लिए उनको नङ्गी बाहर आने पर बाध्य किया)। यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है।

भस्मासुर की कथा में शिव की निन्दा करके पुनः विषपान कथा में—**‘आप ही विष्णु आदि के ईश्वर हैं’,** [ऐसा कहा]। यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है।

‘विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती’ यह श्रुति का [वचन है]। और **‘इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र नहीं है’** यह स्मृति (=गीता) का [वचन है]। ऐसा होने पर **‘भक्ति ही मोक्षदायिनी है’** यह कथन वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध ही है।

इसलिए भागवत नाम के इस कुग्रन्थ का कर्ता मूर्ख ही है। इस कारण सुख चाहने वालों को कभी इस प्रमत्तगीत भागवत की कथा कहना और श्रवण नहीं करना चाहिये, यही सिद्धान्त है। जो लोग लोभ से सुनाते हैं, और जो मूर्ख होने से सुनते हैं, वे निश्चय ही नरक में पड़ेंगे। जो इस प्रमत्तगीत भागवत को सुनाते और सुनते हैं, वे सब पाखण्डी हैं, इसलिए

४१. भागवत १०.२२.१७-२०॥ ४२. भागवत १०.८८ अध्याय॥

४३. भागवत ८.७.२१-३७॥ ४४. गीता ४.३८॥ ४५. भाग० ११.१४.१८-२५॥

भागवतस्याध्ययनमध्यापनं श्रवणं च नरकगमनमेव। किं बहुना लेखेन, एतावतैव वेदितव्यं युष्माभिः। एवमेव—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरश्च[४६]

इत्यादिश्लोकैर्निर्मितमिदं भागवतं सर्वमशुद्धमिति।

कथं तर्हि श्रीधरादिभिरशुद्धस्योपरि टीका कृता? अज्ञानात्। कुत एतदज्ञानत्वं तेषु श्रीधरादिषु? न ज्ञातमशुद्धं तैः अतोऽज्ञानत्वमेव।

'सत्यं परं धीमहि' इत्यत्र शिष्याभिप्रायं बहुवचनम् **इत्युक्तवान् प्रमत्तः श्रीधर इति। शिष्यास्तु युष्मदि वर्तन्ते, कुतोऽभिप्रायस्तत्रायातः? एकोऽपि ब्रूयादेव** 'अहं ब्रवीमि', 'वयं ब्रूमो' **वा अस्मदो द्वयोश्च**[४७] **इति व्याकरणसूत्रात्। अतोऽशुद्धमेतत् 'शिष्याभिप्रायं बहुवचनम्' इति।**

अन्यकृतमिति न शङ्कनीयम् **इत्युक्तं श्रीधरेण।** 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः'

वे महापातकी हैं। जिस वोपदेव ने इस भागवत को कहा (=रचा) वह भी पाखण्डी और महापातकी है। इसलिए इस प्रमत्तगीत भागवत का अध्ययन, अध्यापन, कथन, श्रवण करना नरक-गमन का कारण है। बहुत लिखने से क्या, इतने से ही आप लोगों को जान लेना चाहिये। इसी प्रकार **'जन्माद्यस्य०'** आदि श्लोकों से बनाया गया यह भागवत सारा ही अशुद्ध है।

तो श्रीधर ने इस अशुद्ध [भागवत] पर कैसे टीका लिखी? अज्ञान से। उन श्रीधरादि में यह अज्ञान कैसे [जाना जाए?] यह अशुद्ध है, ऐसा उन्होंने नहीं जाना, इससे अज्ञान ही है।

'सत्यं परं धीमहि'—इसमें **'शिष्यों के अभिप्राय से बहुवचन है'** ऐसा प्रमादी श्रीधर ने कहा है। शिष्यों का निर्देश 'युष्मद्' से होता है, [इसलिए] उनका अभिप्राय कहाँ से आया? [अर्थात् उनके अभिप्राय से 'धीमहि' में बहुवचन कैसे हो सकता है?] एक व्यक्ति भी कह सकता है—'मैं कहता हूँ' अथवा 'हम कहते हैं' **अस्मदो द्वयोश्च** (=अस्मद् शब्द से दो और एक में बहुवचन का प्रयोग होता है), इस व्याकरण-सूत्र के नियम से। इसलिए 'शिष्यों के अभिप्राय से बहुवचन है' कहना अशुद्ध ही है।

'यह भागवत अन्यकृत है (व्यासकृत नहीं है), ऐसी शङ्का नहीं

---

४६. भागवत १.१.१॥ ४७. अष्टाध्यायी १.२.५९॥

अतोऽन्यकृतमेव।

नायं श्रीधरनामा। कस्तर्हि? दरिद्राधरनामैवास्ति। कुतः? मूर्ख-त्वात्। किं बहुना लेखेन। श्रीधरादीनां ज्ञानमेव नास्ति वेदादिषु इति स्थालीपुलाकन्यायवल्लेखनं कृतमस्माभिः। तद् युष्माभिर्वेदितव्यम्—सर्वं भागवतमशुद्धमिति।

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णाः, ब्रह्मचारिगृहिवनिसंन्यासिन आश्रमाश्च ज्ञातव्याः। एषां वेदेषु मनुस्मृतौ च धर्मा उक्ताः। एभ्यो ये विरोधिनस्ते पाषण्डिन एव। किंलक्षणास्ते? चक्राद्यङ्कनकेवलोर्ध्व-पुण्ड्रकाष्ठमालाधारिणः। तप्तमुद्रोर्ध्वपुण्ड्रे द्वे नरकवाससाधने। तस्मात् त्याज्यमनघैर्द्विजैर्नरकभीरुभिरिति जाबालिः—

विभूतिधारणं त्यक्त्वा त्यक्त्वा रुद्राक्षधारणम्।
मां मा पूजय विश्वेशं शिवलिङ्गरूपिणम्॥

इत्याह विष्णुपुराणे।

करनी चाहिए' ऐसा श्रीधर ने लिखा है। **'प्राप्ति होने पर ही निषेध किया जाता है'** इस न्याय से अन्यकृत ही [भागवत है, ऐसा जानना चाहिए]।

यह [भागवत का टीकाकार] **श्रीधर** (=लक्ष्मी=विद्या का धारण करने वाला) नाम वाला भी नहीं है, अपितु दरिद्राधर (=दारिद्र्य=मौर्ख्य का धारण करने वाला) नाम वाला ही है। क्यों? मूर्ख होने से। बहुत लिखने से क्या? श्रीधरादि को वेदादि के विषय में ज्ञान ही नहीं है, यह हमने स्थालीपुलाक न्याय से लिखा है। इसलिए आप लोगों को जानना चाहिए कि सारा भागवत ही अशुद्ध है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार आश्रम जानने चाहियें। इनके धर्म वेदों तथा मनुस्मृति में कहे हैं। उनके जो विपरीत हैं वे पाखण्डी ही हैं। उनके क्या लक्षण हैं? चक्र आदि से शरीर के दागने, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक और काठ (=तुलसी आदि) की माला धारण करने वाले। गरम चक्र आदि से मुद्रा करना (दागना) और ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाना नरक-गमन के साधन हैं। इसलिए नरक से डरने वाले श्रेष्ठजनों द्वारा ये त्याज्य हैं। ऐसा जाबालि ने—'विभूति का धारण छोड़कर तथा रुद्राक्ष का धारण छोड़कर मुझ

'यज्ञो वै विष्णुः'[४८] **इति श्रुतेर्यज्ञकर्ता वैष्णवो नान्यः।**

बृहन्नारदीये पुराणे धर्मभगीरथसंवादे भगीरथं प्रति धर्मराज-वाक्यम्—

यस्तु संतप्तप्रशङ्खादिलिङ्गाङ्कितनतुर्नरः।
स सर्वयातनाभागी चाण्डालः कोटिजन्मसु॥

एतल्लक्षणाः पाषण्डिनः ये तु पाषण्डिमतविश्वासिनस्तेऽपि पाषण्डिनः।

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥[४९]

इत्याह मनुः। अत एव वाङ्मात्रेणापि पाषण्डिभिस्सह व्यवहारो न कर्तव्यः।

पाषाणादिमूर्तिपूजनं पाषण्डिमतमेव। कुत एतत्? वेदादिभ्यो

शिवलिङ्ग रूपी विश्वेश की पूजा कर' ऐसा विष्णुपुराण में कहा है।

'यज्ञ ही विष्णु है' ऐसा श्रुति का कथन होने से यज्ञ करने वाला ही वैष्णव (=विष्णुभक्त) है, अन्य नहीं।

बृहन्नारदीय पुराण में धर्म-भगीरथ के संवाद में भगीरथ के प्रति धर्मराज का वाक्य है—**जो अत्यन्त तपाए हुए शंख आदि से अङ्कित शरीर वाला मनुष्य है, वह सर्व दुःखों का भागी करोड़ों जन्म तक चाण्डाल होता है।** इसलिए इस प्रकार के चिह्नों वाले पाखण्डी हैं। और जो पाखण्डियों के मत के विश्वासी हैं, वे भी पाखण्डी हैं।

'पाखण्डियों, बुरे कर्म करने वालों, बैडालव्रतवालों, शठों, कुतर्कियों और बगुलाभक्तों का वाणीमात्र से भी सत्कार न करे' ऐसा मनु ने कहा है। इसलिए वाणीमात्र से भी पाखण्डियों के साथ व्यवहार नहीं रखना चाहिए।

पाषाणादि मूर्तियों का पूजन पाखण्डी मत ही है। क्यों? वेदादि से विरुद्ध होने से।

'जो वाणी से नहीं कहा जाता, जिससे वाणी बोलने में समर्थ होती है, उसे ही तू ब्रह्म जान। जिसकी उपासना करता है यह नहीं

---

४८. शतपथ १३.१.८.८॥ ४९. मनुस्मृति ४.३०॥

विरोधात्।

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ [१]
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव०॥ २॥[५०]
यत्प्राणेन न प्राणते येन प्राणः प्रणीयते। तदेव०॥ ३॥[५१]

इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एव पाषाणादिकृत्रिममूर्तिपूजनं वृथैव।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।[५२]

इति भगवद्गीतावचनात्।

किं बहुना लेखेन, एतावतैव सज्जनैर्वेदितव्यं विदित्वाऽऽ-चरणीयमेव।

दयानन्दसरस्वत्याख्येन स्वामिना निर्मितमिदं पत्रं वेदितव्यं विद्वद्भिरिति। शुभं भवतु वक्तृभ्यश्श्रोतृभ्यश्च।

है।'

'जो मन से नहीं विचारा जाता, जिससे मन विचारने में समर्थ होता है, उसे ही [तू ब्रह्म जान]।

'जो प्राणवायु से जीवित नहीं होता, जिससे प्राण गति करता है, उसे ही [तू ब्रह्म जान]।

इत्यादि श्रुतियों से [विरुद्ध है]। इसलिए पाषाण आदि की कृत्रिम मूर्तियों की पूजा व्यर्थ है।

'मूर्ख लोग अव्यक्त' (—अप्रकट रहने वाले) मुझको व्यक्त (प्रकट—हुआ—शरीर-धारण किया हुआ) मानते हैं' इस भगवद्गीता के वचन [के विरोध] से भी।

बहुत लिखने से क्या? इतने से ही सज्जनों को जान लेना चाहिए और जानकर [उनके अनुसार] आचरण करना चाहिए।

दयानन्द सरस्वती नाम के स्वामी ने यह [विज्ञापन] पत्र बनाया है, ऐसा विद्वानों को जानना चाहिए। वक्ताओं और श्रोताओं के लिए

---

५०. केनोपनिषद् १.४५॥ ५१. केनोपनिषद् १.१॥
५२. गीता ७.२४॥

वेदोपवेदवेदाङ्गमनुस्मृतिमहाभारतहरिवंशपुराणानां वाल्मीकि-निर्मितस्य रामायणस्य चाध्यापनमध्ययनं कर्तव्यं कारयितव्यं च। एतेषामेव श्रवणं कर्तव्यमिति।

—०—

कल्याण हो।

वेद, उपवेद, वेदाङ्ग, मनुस्मृति, महाभारत, हरिवंशपुराण आदि और वाल्मीकि-निर्मित रामायण का पठन-पाठन करना-कराना चाहिए, और इन्हीं का श्रवण करना चाहिये।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितस्य भागवतखण्डनस्य युधिष्ठिरमीमांसकविहित आर्यभाषानुवादः समाप्तः ॥

४

पञ्चमहायज्ञविधिः

अथ पञ्चमहायज्ञविधिः

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितः

वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषार्थसहितः।

**सन्ध्योपासनाग्निहोत्रपितृसेवाबलिवैश्वदेवातिथिपूजा-
नित्यकर्मानुष्ठानाय संशोध्य यन्त्रयितः॥**

छन्दः शिखरिणी

**दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रकटसुगुणा वेदशरणा-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः॥**

ग्रन्थ परिचय

इस पुस्तक में प्रत्येक मनुष्य के लिए नित्य-प्रति करने योग्य आवश्यक कर्मों की विधि बताई गई है। ये नित्यकर्म हैं—

१. **ब्रह्मयज्ञ** अर्थात् सन्ध्या
२. **देवयज्ञ** अर्थात् यज्ञ या हवन
३. **पितृयज्ञ**
४. **भूतयज्ञ** या **बलिवैश्वदेव यज्ञ**
५. **नृयज्ञ** या **अतिथि यज्ञ**

इन्हीं का दूसरा नाम '**पञ्चमहायज्ञ**' है।

इस ग्रन्थ में मूल संस्कृत मन्त्रों के साथ उनके संस्कृत भाषा में भाष्य तथा हिन्दी में भावार्थ दिये गये हैं। **महर्षि ने विक्रमी संवत् १९३४, भाद्रपद मास की पूर्णिमा के दिन** इसका लेखन पूर्ण किया। यह संस्करण महर्षि द्वारा अन्तिम बार संशोधित है। अतः यही सर्वाधिक प्रामाणिक है। इससे पूर्व वाले संस्करण नहीं। (सम्पादक)

अथ सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः

यह पुसतक नित्यकर्मविधि का है। इसमें पञ्चमहायज्ञ का विधान है, जिनके ये नाम हैं कि—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। उनके मन्त्र, मन्त्रों के अर्थ और जो-जो करने का विधान लिखा है, सो-सो यथावत् करना चाहिये। एकान्त देश में अपने आत्मा, मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके, उस-उस कर्म में चित्त लगा के, तत्पर होना चाहिये। इन नित्यकर्मों के फल ये हैं कि—ज्ञानप्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से, शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ कार्य्यों की सिद्धि होना। उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सिद्ध होते हैं। इनको प्राप्त होकर मनुष्यों को सुखी होना उचित है।

अथ तेषां प्रकारः। तत्रादौ ब्रह्मयज्ञान्तर्गतसन्ध्याविधानं प्रोच्यते। तत्र सन्ध्याशब्दार्थः—'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'। तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्य्याः।

आदौ शरीरशुद्धिः कर्त्तव्या—

सा बाह्या जलादिना, आभ्यन्तरा रागद्वेषासत्यादित्यागेन।

अत्र प्रमाणम्—

**अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनःसत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥**

इत्याह मनुः—अ० ५। श्लो० १०९॥

शरीरशुद्धेस्सकाशादात्मान्तःकरणशुद्धिरवश्यं सर्वैस्सम्पादनीया। तस्यास्सर्वोत्कृष्टत्वात् परब्रह्मप्राप्त्येकसाधनत्वाच्च।

ततो मार्जनं कुर्यात्—

नैवेश्वरध्यानादावालस्यं भवेदेतदर्थं शिरोनेत्राद्युपरि जलप्रक्षेपणं कर्त्तव्यम्। नो चेन्न।

भाषार्थ—अब सन्ध्योपासनादि पाँच महायज्ञों की विधि लिखी जाती है। और उसमें के मन्त्रों का अर्थ भी लिखा जाता है। पहिले '**सन्ध्या**'

शब्द का अर्थ यह है कि—(सन्ध्यायन्ति०) भली भाँति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें, वह '**सन्ध्या**'। सो रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

पहिले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग-द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि मनुजी ने अध्याय ५ के १०६ श्लोक (अद्भिर्गात्राणि इत्यादि) में यह लिखा है कि शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। परन्तु शरीरशुद्धि की अपेक्षा अन्त:करण की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का एक साधन है।

तब कुशा वा हाथ से **मार्जन** करे। अर्थात् परमेश्वर का ध्यान आदि करने के समय किसी प्रकार का आलस्य न आवे, इसलिये शिर और नेत्र आदि पर जल प्रक्षेप करे। यदि आलस्य न हो तो न करना।

पुनर्न्यूनान्न्यूनांस्त्रीन् प्राणायामान् कुर्य्यात्—

आभ्यन्तरस्थं वायुं नासिकापुटाभ्यां बलेन बहिर्निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भयेत्। पुनः शनैश्शनैर्गृहीत्वा किञ्चित् तमवरुध्य पुनस्तथैव बहिर्न्निस्सारयेदवरोधयेच्च। एवं त्रिवारं न्यूनातिन्यूनं कुर्य्यात्। अनेनात्ममनसोः स्थितिं सम्पादयेत्।

ततो गायत्रीमन्त्रेण शिखां बद्ध्वा रक्षाञ्च कुर्य्यात्—

इतस्ततः केशा न पतेयुरेतदर्थं शिखाबन्धनम्। प्रार्थितस्सन्नीश्वरस्सत्कर्मसु सर्वत्र सर्वदा रक्षेन्नः, एतदर्थं रक्षाकरणम्।

भाषार्थ—फिर कम से कम तीन प्राणायाम करे। अर्थात् भीतर के वायु को बल से निकाल कर यथाशक्ति बाहर ही रोक दे। फिर शनैः शनैः ग्रहण करके कुछ चिर भीतर ही रोक के बाहर निकाल दे, और वहाँ भी कुछ रोके। इस प्रकार कम से कम तीन वार करे। इससे आत्मा और मन की स्थिति सम्पादन करे।

इसके अनन्तर गायत्री से शिखा को बाँध के रक्षा करे। इसका प्रयोजन यह है कि इधर-उधर केश न गिरें, सो यदि केशादि पतन न हो तो न करे और रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर प्रार्थित होकर सब भले कामों में सदा सब जगह में हमारी रक्षा करे।

अथाचमनमन्त्रः—

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः॥ १॥ —यजु:० ३६।१२

भाष्यम्—'आप्लृ व्याप्तौ' अस्माद्धातोरप्शब्दः सिध्यति। अप्शब्दो नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। 'दिवु क्रीडाद्यर्थः'। (शन्नो दे०) देव्य आपः सर्वप्रकाशकस्सर्वानन्दप्रदस्सर्वव्यापक ईश्वरः, (अभिष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शम्) कल्याणं, (भवन्तु) अर्थात् भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरः (नः) अस्मभ्यं, (शंयोः) शम् (अभि स्रवन्तु) अर्थात् सुखस्याभितः सर्वतो वृष्टिं करोतु।

अप्शब्देनेश्वरस्य ग्रहणम्। अत्र **प्रमाणम्**—

यत्र॑ लो॒कांश्च॒ कोशां॒श्चापो॒ ब्रह्म॒ जना॑ वि॒दुः।
अस॑च्च॒ यत्र॒ सच्चा॒न्तः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥
अथ० कां० १०। सू० ७। मं० १०॥

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्शब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणं क्रियते॥

एवमनेन मन्त्रेणेश्वरं प्रार्थयित्वा त्रिराचामेत्। जलाभावश्चेन्नैव कुर्यात्। आचमनमप्यालस्यकण्ठस्थकफस्य निवारणार्थम्।

भाषार्थ—अब आचमन करने का मन्त्र लिखते हैं—(ओं शन्नोदेवी इत्यादि)। इसका अर्थ यह है कि—'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है। वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। 'दिवु' धातु अर्थात् जिसके क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे देवी शब्द सिद्ध होता है। (देव्यः आपः) सबका प्रकाशक, सबको आनन्द देने वाला और सर्वव्यापक ईश्वर, (अभिष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द के लिये, और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, (नः) हमको (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो, अर्थात् हमारा कल्याण करे। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) सर्वथा वृष्टि करे।

यहाँ 'अप्' शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण—(यत्र लोकांश्च०) जिसमें सब लोक-लोकान्तर, कोश अर्थात् सब जगत् का कारणरूप खजाना, जिसमें असत् अदृश्यरूप आकाशादि और सत् स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थित हैं, उसी का नाम अप् है। और वह नाम ब्रह्म का है, तथा उसी को स्कम्भ कहते हैं। वह कौनसा देव और कहाँ है? इसका उत्तर है कि

जो (अन्तः) सबके भीतर व्यापक होके परिपूर्ण हो रहा है, उसी को तुम उपास्य, पूज्य और इष्टदेव जानो। इस वेदमन्त्र के प्रमाण से अप् नाम ब्रह्म का है।

इस प्रकार इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे, यदि जल न हो तो न करे। आचमन से गले के कफादि की निवृत्ति होना प्रयोजन है।

अथेन्द्रियस्पर्शः—

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतलकरपृष्ठे॥

भाष्यम्—एभिः सर्वत्रेश्वरप्रार्थनया स्पर्शः कार्य्यः। सर्वदेश्वरकृपयेन्द्रियाणि बलवन्ति तिष्ठन्त्वित्यभिप्रायः॥

अथेश्वरप्रार्थनापूर्वकमार्जनमन्त्राः—

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

भाष्यम्—ओमित्यस्य, भूर्भुवः स्वरित्येतासां चार्था गायत्रीमन्त्रार्थे द्रष्टव्याः। महरर्थात् सर्वेभ्यो महान्, सर्वैः पूज्यश्च। सर्वेषां जनकत्वाज्जनः परमेश्वरः। दुष्टानां संतापकारकत्वात् स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वात्, 'यस्य ज्ञानमयं तपः'[१] इति वचनस्य प्रामाण्यात् तप ईश्वरः। यदविनाशि यस्य कदाचिद् विनाशो न भवेत् तत्सत्यम्। ब्रह्म व्यापकमिति बोध्यम्॥

इतीश्वरनामभिर्मार्जनं कुर्य्यात्।

अथ प्राणायाममन्त्राः—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्॥ इति प्राणायाममन्त्राः। तैत्ति० आ० प्रंप० १०। अनु० २७॥

भाष्यम्—एतेषामुच्चारणार्थविचारपुरस्सरं पूर्वोक्तप्रकारेण प्राणायामान् कुर्यात्॥

१. मुण्डको० १। १। ९॥

भाषार्थ—अथेन्द्रियस्पर्शः—(ओं वाक् वागित्यादि)। इस प्रकार से ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करे। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रिय बलवान् रहें।

अब ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक **मार्जन के मन्त्र** लिखे जाते हैं—(ओं भूः पुनातु शिरसीत्यादि)। ओंकार, भूः, भुवः और स्वः इनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देख लेना। (महः) सबसे बड़ा और सबका पूज्य होने से परमेश्वर को मह कहते हैं। (जनः) सब जगत् के उत्पादक होने से परमेश्वर का जन नाम है। (तपः) दुष्टों को सन्तापकारी और ज्ञानस्वरूप होने से ईश्वर को तप कहते हैं, क्योंकि 'यस्येत्यादि' उपनिषद् का वाक्य इसमें प्रमाण है। (सत्यम्) अविनाशी होने से परमेश्वर का सत्य नाम है। और व्यापक होने से ब्रह्म नाम परमेश्वर का है। अर्थात् पूर्व मन्त्रोक्त सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

इस प्रकार ईश्वर के नामों के अर्थों का स्मरण करते हुए मार्जन करें।

अब **प्राणायाम के मन्त्र** लिखते हैं—(ओं भूरित्यादि)। इनके उच्चारण और अर्थ विचारपूर्वक पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार प्राणायामों को करे।

इस प्रकार प्राणायाम करके, अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के, यथाशक्ति बाहर ही रोक के, पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके, पुनः बल से बाहर फेंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके, आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामीरूप से ज्ञान और आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके, अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसा गोताखोर जल में डुबकी मारके शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे ही सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्ध, ज्ञान, आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें।

अथाघमर्षणमन्त्राः—

अथेश्वरस्य जगदुत्पादनद्वारा स्तुत्याऽघमर्षणमन्त्रा अर्थात् पापदूरीकरणार्थाः—

ओ३म् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽअर्णवः॥ १॥
ओं समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽअजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥

ओं सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥

ऋ० अ० १०। व० ४८। मं० १-३॥

भाष्यम्—(धाता) दधाति सकलं जगत् पोषयति वा स धातेश्वरः, (वशी) वशं कर्तुं शीलमस्य सः, (यथापूर्वम्) यथा तस्य सर्वज्ञे विज्ञाने जगद्रचनज्ञानमासीत्, पूर्वकल्पसृष्टौ यथा रचनं कृतमासीत्तथैव जीवानां पुण्यपापानुसारतः प्राणिदेहानकल्पयत्। (सूर्याचन्द्रमसौ) यौ प्रत्यक्षविषयौ सूर्यचन्द्रलोकौ (दिवम्) सर्वोत्तमं स्वप्रकाशमग्न्याख्यम् (पृथिवीं) प्रत्यक्षविषयां (अन्तरिक्षम्) अर्थाद् द्वयोर्लोकयोर्मध्यमाकाशं तत्रस्थाँल्लोकांश्च (स्वः) मध्यस्थं लोकम् (अकल्पयत्) यथापूर्वं रचितवान्। ईश्वरज्ञानस्यापरिणामित्वात्, पूर्णत्वादनन्तत्वात्, सर्वदैकरसत्वाच्च नैव तस्य वृद्धिक्षयव्यभिचाराश्च कदाचिद् भवन्ति। अत एव 'यथापूर्वमकल्पयद्' इत्युक्तम्।

स एव वशीश्वरः (विश्वस्य मिषतः) सहजस्वभावेन (अहोरात्राणि) रात्रेर्दिवसस्य च विभागं यथापूर्वं (विदधत्) विधानं कृतवान्। तस्य धातुर्वशिनः परमेश्वरस्यैव (अभीद्धात्) अभितः सर्वतः इद्धात् दीप्तात् ज्ञानमयात् (तपसः) अर्थादनन्तसामर्थ्यात् (ऋतम्) यथार्थं सर्वविद्याधिकरणं वेदशास्त्रं, (सत्यम्) त्रिगुणमयं प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणं च (अध्यजायत) यथापूर्वमुत्पन्नम्।

(ततो रात्री) या तस्मादेव सामर्थ्यात् प्रलयानन्तरं भवति सा रात्रिः, (अजायत) यथापूर्वमुत्पन्नासीत्। ''तम आसीत्तमसा गूढमग्रे ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १७। मं० ३॥'' **अग्रे सृष्टेः प्राक् तमोऽन्धकार एवासीत् तेन तमसा सकलं जगदिदमुत्पत्तेः प्राग् गूढं गुप्तमर्थाददृश्यमासीत्।**

(ततः समु०) तस्मादेव सामर्थ्यात् पृथिवीस्थोऽन्तरिक्षस्थश्च महान् समुद्रः (अजायत) यथापूर्वमुत्पन्न आसीत्। (समुद्रादर्णवात्) पश्चात् (संवत्सरः) क्षणादिलक्षणः कालोऽध्यजायत। यावज्जगत् तावत् सर्वं परमेश्वरस्य सामर्थ्यादेवोत्पन्नमित्यवधार्य्यम्॥ १-३॥

एवमुक्तगुणं परमेश्वरं संस्मृत्य पापाद्भीत्वा ततो दूरे सर्वैर्जनैः स्थातव्यम्। नैव कदाचित् केनचित् स्वल्पमपि पापं कर्त्तव्यमितीश्वराज्ञास्तीति निश्चेतव्यम्। अनेनाघमर्षणं कुर्य्यादर्थात्पापानुष्ठानं सर्वथा परित्यजेत्।

भाषार्थ—अब अघमर्षण—अर्थात् हे ईश्वर! तू जगदुत्पादक है, इत्यादि स्तुति करके पाप से दूर रहने के उपदेश के मन्त्र लिखते हैं—

(ओं ऋतञ्च सत्यमित्यादि)। इनका अर्थ यह है कि—

(धाता) सब जगत् का धारण और पोषण करने वाला और (वशी) सब को वश करने वाला परमेश्वर, (यथापूर्वम्) जैसा कि उस के सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था, और जिस प्रकार पूर्वकल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी, और जैसे जीवों के पुण्य-पाप थे, उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं। (सूर्याचन्द्रमसौ) जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र लोक रचे थे, वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं (दिवम्) जैसा पूर्व सृष्टि में सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था, वैसा ही इस कल्प में भी रचा है। तथा (पृथिवीम्) जैसी प्रत्यक्ष दीखती है, (अन्तरिक्षम्) जैसा पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में पोलापन है, (स्वः) जितने आकाश के बीच में लोक हैं, उनको (अकल्पयत्) ईश्वर ने रचा है। जैसे अनादिकाल से लोक-लोकान्तर को जगदीश्वर बनाया करता है, वैसे ही अब भी बनाये हैं और आगे भी बनावेगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एकरस ही रहता है, उसमें वृद्धि, क्षय और उलटापन कभी नहीं होता। इसी कारण से 'यथापूर्वमकल्पयत्' इस पद का ग्रहण किया है।

(विश्वस्य मिषतः) उसी ईश्वर ने सहजस्वभाव से जगत् के रात्रि, दिवस, घटिका, पल और क्षण आदि को जैसे पूर्व थे वैसे ही (विदधत्) रचे हैं। इसमें कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर ने किस वस्तु से जगत् को रचा है? उसका उत्तर यह है कि (अभीद्धात् तपसः) ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है। (ऋतम्) उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्या का खजाना वेदशास्त्र को प्रकाशित किया, जैसा कि पूर्व सृष्टि में प्रकाशित था। और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार से वेदों का प्रकाश करेगा। (सत्यम्) जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त है, जिसके नाम अव्यक्त, अव्याकृत सत्, प्रधान प्रकृति हैं, जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है, सो भी (अध्यजायत) अर्थात् कार्यरूप होके पूर्व कल्प के समान उत्पन्न हुआ है। (ततो रात्र्यजायत) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से जो प्रलय के पीछे हजार चतुर्युगी के प्रमाण से रात्रि कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इसमें ऋग्वेद का प्रमाण है

कि—''जब जब विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकाररूप रहता है, और उसी अन्धकार में सब जगत् के पदार्थ और सब जीव ढके हुए रहते हैं, उसी का नाम महारात्रि है।'' (ततः समुद्रो अर्णवः) तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और मेघमण्डल में जो महासमुद्र है, सो पूर्व सृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है।

(समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत) उसी समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर अर्थात् क्षण, मुहूर्त, प्रहर आदि काल भी पूर्व सृष्टि के समान उत्पन्न हुआ है। वेद से लेके पृथिवीपर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है। और ईश्वर सबको उत्पन्न करके, सब में व्यापक होके अन्तर्यामीरूप से सबके पाप-पुण्यों को देखता हुआ पक्षपात छोड़ के सत्य न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है॥ १-३॥

ऐसा निश्चत जान के ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन, कर्म और वचन से पापकर्मों को कभी न करें। इसी का नाम अघमर्षण है, अर्थात् ईश्वर सबके अन्तःकरण के कर्मों को देख रहा है इससे पापकर्मों का आचरण मनुष्य लोग सर्वथा छोड़ देवें।

'शन्नो देवी'रिति पुनराचामेत्। ततो गायत्र्यादिमन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत्। पुनः परमेश्वरेणैव सूर्यादिकं सकलं जगद्रचितमिति परमार्थ-स्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा परं ब्रह्म प्रार्थयेत्।

भाषार्थ—'शन्नो देवीरिति' इस मन्त्र से **तीन आचमन** करे। तदनन्तर गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति, अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर, पश्चात् प्रार्थना करे। अर्थात् सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय चाहे, और सदा पश्चात्ताप करे कि मनुष्यशरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता। जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सब का उपकार करें। इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे कि जिससे हम लोग सबको सदा सुख देते रहें।

तदनन्तर ईश्वर की उपासना करे, सो दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी, सब का उत्पादक, धारण करनेहारा, मङ्गलमय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों का

देनेवाला, सब का पिता, माता, बन्धु, मित्र, राजा और न्यायाधीश है। इत्यादि ईश्वर के गुण-विचारपूर्वक उपासना करने का नाम **सगुणोपासना** है। तथा निर्गुणोपासना इस प्रकार से करनी चाहिये कि ईश्वर अनादि, अनन्त है, जिसका आदि और अन्त नहीं। अजन्मा, अमृत्यु, जिसका जन्म और मरण नहीं। निराकार, निर्विकार जिसका आकार और जिसमें कोई विकार नहीं। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, अन्याय, अधर्म, रोग, दोष, अज्ञान और मलीनता नहीं है। जिसका परिमाण, छेदन, बन्धन, इन्द्रियों से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नहीं होता। जो ह्रस्व, दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं होता। जिसको भूख, प्यास, शीतोष्ण, हर्ष और शोक कभी नहीं होते। जो उलटा काम कभी नहीं करता, इत्यादि जो जगत् के गुणों से ईश्वर को अलग जान के ध्यान करना, वह **निर्गुणोपासना** कहाती है।

अथ मनसापरिक्रमा-मन्त्राः—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ४॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो

नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ६॥

अथर्व० कां० ३। अ० ६। सू० २७। मं० १-६॥

भाष्यम्—(प्राची दि०) सर्वासु दिक्षु व्यापकमीश्वरं संध्यायामग्न्यादिभिर्नामभिः प्रार्थयेत्। यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची दिक् तथा यस्यां सूर्य उदेति सापि प्राची दिगस्ति। तस्या अधिपतिरग्निरर्थात् ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः, (असितः) बन्धनरहितोऽस्माकं सदा रक्षिता भवतु। यस्यादित्याः प्राणाः किरणाश्चेषवो यैः सर्वं जगद् रक्षति, तेभ्य इन्द्रियाधिपतिभ्यश्शरीररक्षितृभ्य इषुरूपेभ्यः प्राणेभ्यो वारं वारं नमोऽस्तु। कस्मै प्रयोजनाय? यः कश्चिदस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं (वः) तेषां प्राणानां (जम्भे) अर्थाद्वशे दध्मः। यतस्सोऽनर्थान्निवर्त्य स्वमित्रं भवेत्। वयं च तस्य मित्राणि भवेम॥ १॥

(दक्षिणा०) दक्षिणस्या दिश इन्द्रः परमैश्वर्य्ययुक्तः परमेश्वरोऽधिपतिरस्ति, स एव कृपयाऽस्माकं रक्षिता भवतु। अग्रे पूर्ववदन्वयः कर्त्तव्यः॥ २॥

तथा (प्रतीची दिग्०) अस्या वरुणः सर्वोत्तमोऽधिपतिः परमेश्वरोऽस्माकं रक्षिता भवेदिति पूर्ववत्॥ ३॥

(उदीची०) सोमः सर्वजगदुत्पादकोऽधिपतिरीश्वरोऽस्माकं रक्षिता स्यादिति॥ ४॥

(ध्रुवा दिक्) अर्थादधो दिक्, अस्या विष्णुर्व्यापक ईश्वरोऽधिपतिः, सोऽस्यामस्मान् रक्षेत्। अन्यत् पूर्ववत्॥ ५॥

(ऊर्ध्वा दिक्०) अस्या बृहस्पतिरर्थाद् बृहत्या वाचो, बृहतो वेदशास्त्रस्य, बृहतामाकाशादीनां च पतिर्बृहस्पतिर्यः सर्वजगतोऽधिपतिः सर्वतोऽस्मान् रक्षेत्। अग्रे पूर्ववद्योजनीयम्। सर्वे मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं सर्वगुरुं न्यायकारिणं दयालुं पितृवत्पालकं सर्वासु दिक्षु सर्वत्र रक्षकं परमेश्वरमेव मन्येरन्नित्यभिप्रायः॥ ६॥

भाषार्थ—(प्राची दिगग्निरधिपतिः) जो प्राची दिक् अर्थात् जिस ओर अपना मुख हो [तथा जिस ओर सूर्य उदय हो,] उस ओर अग्नि जो ज्ञानस्वरूप अधिपति, जो सब जगत् का स्वामी, (असितः) बन्धनरहित, (रक्षिता) सब प्रकार से रक्षा करने वाला, (आदित्या इषवः) जिसके बाण आदित्य की किरण हैं। उन सब गुणों के अधिपति ईश्वर के गुणों को हम लोग वारम्वार नमस्कार करते हैं। (रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु)

जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करनेवाले हैं, और पापियों को बाणों के समान पीड़ा देनेवाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिए कि जो प्राणी अज्ञान से हमसे द्वेष करता है, और जिस अज्ञान से धार्मिक पुरुष से तथा पापी पुरुष से हम लोग द्वेष करते हैं, उन सब की बुराई को उन बाणरूप किरण मुखरूप के बीच में दग्ध कर देते हैं कि जिससे किसी से हम लोग वैर न करें, और कोई भी प्राणी हमसे वैर न करे, किन्तु हम सब लोग परस्पर मित्रभाव से वर्त्तें॥ १॥

(दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) जो हमारे दाहिनी ओर दक्षिण दिशा है, उसका अधिपति इन्द्र अर्थात् जो पूर्ण ऐश्वर्यवाला है। (तिरश्चिराजी रक्षिता) जो जीव कीट, पतङ्ग, वृश्चिक आदि तिर्य्यक् कहाते हैं, उनकी राजी जो पंक्ति है, उनसे रक्षा करनेवाला एक परमेश्वर है। (पितर इषवः) जिसकी सृष्टि में ज्ञानी लोग बाण के समान हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे का अर्थ पूर्व के समान जान लेना॥ २॥

(प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः) जो पश्चिम दिशा अर्थात् अपने पृष्ठ भाग में है, उसमें वरुण जो सबसे उत्तम सबका राजा परमेश्वर है, (पृदाकू रक्षितान्नमिषवः) जो बड़े-बड़े अजगर सर्पादि विषधारी प्राणियों से रक्षा करनेवाला है। जिसके अन्न अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ बाणों के समान हैं, श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के निमित्त हैं। (तेभ्यो नमो०) इसका अर्थ पूर्व मन्त्र के समान जान लेना॥ ३॥

(उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः) जो अपनी बाईं ओर उत्तर दिशा है, उसमें सोम नाम से अर्थात् शान्त्यादि गुणों से आनन्द करनेवाले जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिये। (स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः) जो अच्छी प्रकार अजन्मा और रक्षा करनेवाला है। जिसके बाण विद्युत् हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ४॥

(ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः) ध्रुव दिशा अर्थात् जो अपने नीचे की ओर है, उसमें विष्णु अर्थात् व्यापक नाम से परमात्मा का ध्यान करना। (कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः) जिसके हरित रङ्गवाले वृक्षादि ग्रीवा के समान हैं। जिसके बाण के समान सब वृक्ष हैं, उनसे अधोदिशा में हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ५॥

(ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः) जो अपने ऊपर दिशा है, उसमें बृहस्पति जो कि वाणी का स्वामी परमेश्वर है, उसको अपना रक्षक जानें। जिसके

बाण के समान वर्षा के बिन्दु हैं, उनसे हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ६॥

अथोपस्थानमन्त्राः—

ओम् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ १॥

यजुः० अ० ३५। मं० १४

भाष्यम्—हे परमात्मन्! (सूर्यम्) चराचरात्मानं त्वां, (पश्यन्तः) प्रेक्षमाणास्सन्तो वयम्, (उदगन्म) अर्थात् उत्कृष्टश्रद्धावन्तो भूत्वा वयं भवन्तं प्राप्नुयाम। कथंभूतं त्वाम्? (ज्योतिः) स्वप्रकाशम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम्, (देवत्रा) सर्वेषु दिव्यगुणवत्सु पदार्थेषु ह्यनन्तदिव्यगुणैर्युक्तं (देवम्) धर्मात्मनां मुमुक्षूणां मुक्तानां च सर्वानन्दस्य दातारं मोदयितारं च, (उत्तरम्) जगत्प्रलयानन्तरं नित्यस्वरूपत्वाद् विराजमानं, (स्वः) सर्वानन्दस्वरूपं (तमसस्परि) अज्ञानान्धकारात् पृथग्भूतं भवन्तं प्राप्तुं वयं नित्यं प्रार्थयामहे। भवान् स्वकृपया सद्यः प्राप्नोतु न इति॥ १॥

भाषार्थ—अब उपस्थान के मन्त्रों का अर्थ करते हैं जिनसे परमेश्वर की स्तुति और प्रार्थना की जाती है—

हे परमेश्वर! (तमसस्परि स्वः) सब अन्धकार से अलग प्रकाशस्वरूप, (उत्तरम्) प्रलय के पीछे सदा वर्त्तमान (देवं देवत्रा) देवों में भी देव अर्थात् प्रकाश करनेवालों में प्रकाशक, (सूर्यम्) चराचर के आत्मा (ज्योतिरुत्तमम्) ज्ञानस्वरूप और सबसे उत्तम आप को जान के (वयम् उदगन्म) हम लोग सत्य से प्राप्त हुए हैं। हमारी रक्षा करनी आपके हाथ है, क्योंकि हम लोग आपके शरण हैं॥ १॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ २॥ —यजुः० अ० ३३। मं० ३१॥

भाष्यम्—(केतवः) किरणा विविधजगतः पृथक् पृथग्रचनादिनियामका ज्ञापकाः प्रकाशका ईश्वरस्य गुणाः, (दृशे विश्वाय) विश्वं द्रष्टुं (त्यम्) तं पूर्वोक्तं (देवं सूर्यम्) चराचरात्मानं परमेश्वरम् (उद्वहन्ति) उत्कृष्टतया प्रापयन्ति ज्ञापयन्ति प्रकाशयन्ति वै। (उ) इति वितर्के, नैव पृथक् विविधनियमान् दृष्ट्वा नास्तिका अपीश्वरं त्यक्तुं समर्था भवन्तीत्यभिप्रायः। कथं भूतं देवम्? (जातवेदसम्) जाता ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदा सर्वज्ञानप्रदा यस्मात्, तथा जातानि प्रकृत्यादीनि भूतान्यसंख्यातानि विन्दति।

यद्वा जातं सकलं जगद्वेत्ति जानाति यः स जातवेदाः, तं जातवेदसं सर्वे मनुष्यास्तमेवैकं प्राप्तुमुपासितुमिच्छन्त्वित्यभिप्रायः॥

भाषार्थ—(उदु त्यं०)। (जातवेदसं) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हैं, और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् का उत्पादक है, सो परमेश्वर जातवेदा नाम से प्रसिद्ध है। (देवम्) जो सब देवों का देव, और (सूर्यम्) सब जीवादि जगत् का प्रकाशक है (त्वम्) उस परमात्मा को (दृशे विश्वाय) विश्वविद्या की प्राप्ति के लिये हम लोग उपासना करते हैं। (उद्वहन्ति केतवः) 'केतवः' अर्थात् वेद की श्रुति और जगत् के पृथक् पृथक् रचनादि नियामक गुण उसी परमेश्वर को जनाते और प्राप्त कराते हैं। उस विश्व के आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर ही की हम उपासना सदा करें, अन्य किसी की नहीं॥ २॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥ ३॥

—यजुः० अ० ७। मं० ४२॥

भाष्यम्—स एव देवः सूर्य्यः (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य च (आत्मा) अतति नैरन्तर्य्येण सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा। तथा (आप्रा०) द्यौः पृथिवी अन्तरिक्षं चैतदादि सर्वं जगद् रचयित्वा आसमन्ताद् धारयन् सन् रक्षति। (चक्षुः) एष एवैतेषां प्रकाशकत्वाद् बाह्याभ्यन्तरयोश्चक्षुः प्रकाशको विज्ञानमयो विज्ञापकश्चास्ति। अत एव (मित्रस्य) सर्वेषु द्रोहरहितस्य सूर्य्यलोकस्य प्राणस्य वा, (वरुणस्य) वरेषु श्रेष्ठेषु कर्मसु गुणेषु वर्त्तमानस्य च, (अग्नेः) शिल्पविद्याहेतो रूपगुणदाहप्रकाशकस्य विद्युतो भ्राजमानस्यापि चक्षुः सर्वसत्योपदेष्टा प्रकाशकश्च (देवानाम्) स दिव्यगुणवतां विदुषामेव हृदये (उदगात्) उत्कृष्टतया प्राप्तोऽस्ति प्रकाशको वा। तदेव ब्रह्म (चित्रम्) अद्भुतस्वरूपम्। अत्र प्रमाणम्—''आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ कठोपनि० वल्ली २॥'' **आश्चर्य्यस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः। तदेव ब्रह्म सर्वेषां चास्माकं (अनीकम्) सर्वदुःखनाशार्थं कामक्रोधादिशत्रुविनाशार्थं बलमस्ति। तद्विहाय मनुष्याणां सर्वसुखकरं शरणमन्यन्नास्त्येवेति वेद्यम्।**

(स्वाहा) अथात्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणम् निरुक्तकारा आहुः— ''स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा, तासामेषा भवति। निरु० अ० ८। खं० २०॥'' **स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं**

कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम्। (स्वा वागाहेति वा) या स्वकीया वाग् ज्ञानमध्ये वर्त्तते, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम्। (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यम्, न परपदार्थं प्रति चेति। (स्वाहुतं ह०) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः। स्वमेव पदार्थं प्रत्याह वयं सर्वदा सत्यं वदाम इति, न कदाचित् परपदार्थं प्रति मिथ्या वदेमेति॥ ३॥

भाषार्थ—(चित्रं देवाना०)। (सूर्य्य आत्मा०) प्राणी और जड़ जगत् का जो आत्मा है, उसको सूर्य कहते हैं। (आप्रा द्या०) जो सूर्य और अन्य सब लोकों को बनाके धारण और रक्षण करनेवाला है, (चक्षुर्मित्रस्य) जो मित्र अर्थात् रागद्वेषरहित मनुष्य तथा सूर्यलोक और प्राण का चक्षु प्रकाश करनेवाला है, (वरुणस्या०) सब उत्तम कामों में जो वर्त्तमान मनुष्य प्राण अपान और अग्नि का प्रकाश करनेवाला है, (चित्रं देवानां) जो अद्‌भुतस्वरूप विद्वानों के हृदय में सदा प्रकाशित रहता है, (अनीकम्) जो सकल मनुष्यों के सब दुःख नाश करने के लिये परम उत्तम बल है, वह परमेश्वर (उदगात्) हमारे हृदयों में यथावत् प्रकाशित रहे॥ ३॥

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ ४॥

यजुः० अ० ३६। मं० २४॥

भाष्यम्—(चक्षुः) यत् सर्वदृक् (देवहितम्) देवेभ्यो हितं दिव्यगुणवतां धर्मात्मनां विदुषां स्वसेवकानां च हितकारि वर्त्तते यत् (पुरस्तात) सृष्टेः प्राक् (शुक्रम्) सर्वजगत्कर्तृ शुद्धमासीद्, इदानीमपि तादृशमेव चास्ति। तदेव (उच्चरत्) अर्थात् उत्कृष्टतया सर्वत्र व्याप्तं विज्ञानस्वरूपं (उद्) प्रलयादूर्ध्वं सर्वसामर्थ्यं स्थास्यति। (तत्) ब्रह्म (पश्येम शरदः शतम्) वयं शतं वर्षाणि तस्यैव प्रेक्षणं कुर्महे। तत्कृपया (जीवेम शरदः शतम्) शतं वर्षाणि प्राणान् धारयेमहि। (शृणुयाम शरदः शतम्) तस्य गुणेषु श्रद्धाविश्वासवन्तो वयं तमेव शृणुयाम। तथा च तद् ब्रह्म तद्‌गुणांश्च (प्रब्रवाम श०) अन्येभ्यो मनुष्येभ्यो नित्यमुपदिशेम। (अदीनाः स्याम श०) एवं च तदुपासनेन, तद्विश्वासेन, तत्कृपया च शतवर्षपर्यन्तमदीनाः स्याम भवेम। मा कदाचित्कस्यापि समीपे दीनता कर्त्तव्या भवेन्नो दारिद्र्यं च। सर्वदा सर्वथा ब्रह्मकृपया स्वतन्त्रा वयं भवेम। तथा (भूयश्च श०) वयं तस्यैवानुग्रहेण भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं पश्येम; जीवेम,

शृणुयाम, प्रब्राम, अदीनाः स्याम चेत्यन्वयः। अर्थान्नैव मनुष्यास्तमतिकृपालुं परमेश्वरं त्यक्त्वाऽन्यमुपासीरन् याचेरन्नित्यभिप्रायः। ''योऽन्यां देवतामुपास्ते पशुरेवꣳस देवानाम्॥ श० कां० १४। अ० ४। २। २२॥'' सर्वे मनुष्याः परमेश्वरमेवोपासीरन्। यस्तस्मादन्यस्योपासनां करोति, स इन्द्रियारामो गर्द-भवत्सर्वैश्शिष्टैर्विज्ञेय इति निश्चयः॥ ४॥

कृताञ्जलिरत्यन्तश्रद्धालुर्भूत्वैतैर्मन्त्रैः स्तुवन् सर्वकालसिद्‌ध्यर्थं परमेश्वरं प्रार्थयेत्।

भाषार्थ—(तच्चक्षुर्देवहितम्) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा, धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक, तथा (पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्) सृष्टि के पूर्व,पश्चात् और मध्य में सत्यरूप से वर्त्तमान रहता, और सब जगत् का करनेवाला है। (पश्येम शरदः शतम्) उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्य्यन्त देखें, (जीवेम शरदः शतम्) जीवें, (शृणुयाम शरदः शतम्) सुनें (प्रब्रवाम शरदः०) उसी ब्रह्म का उपदेश करें, (अदीनाः स्याम०) और उसकी कृपा से किसी के अधीन न रहें। (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें। अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्ध मन और आनन्द सहित हमारा आत्मा सदा रहे। यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्यदेव है। जो मनुष्य इसको छोड़ के दूसरे की उपासना करता है, वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है॥ ४॥

इसलिये प्रेम में अत्यन्त मग्न होके, अपने आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़ के, इन मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें।

अथ गुरुमन्त्रः—

ओ३म्, (यजु० अ० ४०। मं० १७) **भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥**

यजुः० अ० ३६। मं० ३॥ ऋ० मं० ३। सू० ६२। मं० १०॥

एवं त्रिषु वेदेषु समानो मन्त्रः॥

भाष्यम्—अस्य सर्वोत्कृष्टस्य गायत्रीमन्त्रस्य संक्षेपेणार्थ उच्यते—'अ उ म्' एतत्त्रयं मिलित्वा 'ओम्' इत्यक्षरं भवति। यथाह मनुः—

''अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥''

मनु० अ० २। श्लोक ७६॥

एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं परब्रह्मणो नामास्ति। एतेनैकेनैव नाम्ना परमेश्वरस्यानेकानि नामान्यागच्छन्तीति वेद्यम्। तद्यथा—

अकारेण विराडग्निविश्वादीनि—(विराट्) विविधं चराचरं जगद् राजयते प्रकाशयते स विराट् सर्वात्मेश्वरः।(अग्निः) अच्यते प्राप्यते सत्क्रियते वा वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेत्यग्निः परमेश्वरः। (विश्वः) विष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् स विश्वः। यद्वा विष्टोस्ति प्रकृत्यादिषु यः स विश्वः। एतदाद्यर्था अकारेण विज्ञेयाः।

उकारेण हिरण्यगर्भवायुतैजसादीनि। तद्यथा—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यानि सूर्य्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य, तथा सूर्य्यादीनां तेजसां यो गर्भोऽधिष्ठानं स हिरण्यगर्भः। अत्र प्रमाणम्—'ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳहिरण्यम्॥ श०का० ६।अ० ७।ब्रा० १।कं० २॥ यशो वै हिरण्यम्॥ ऐ०पं० ७। खं० १८॥' (वायुः) यो वाति जानाति धारयत्यनन्तबलत्वात् सर्वं जगत् स वायुः। स चेश्वर एव भवितुमर्हति नान्यः।'तद्वायुः'[१] इति मन्त्रवर्णनादर्थाद् ब्रह्मणो वायुसंज्ञास्ति।(तैजसः) सूर्य्यादीनां प्रकाशकत्वात्स्वयंप्रकाशत्वात् तैजस ईश्वरः।एतदाद्यर्था उकाराद् विज्ञातव्याः।

मकारेणेश्वरादित्यप्राज्ञादीनि नामानि बोध्यानि। तद्यथा—(ईश्वरः) ईष्टेऽसौ सर्वशक्तिमान् न्यायकारीश्वरः।(आदित्यः) अविनाशित्वादादित्यः परमात्मा। (प्राज्ञः) प्रजानाति सकलं जगदिति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञश्च परमात्मैवेति। एतदाद्यर्था मकारेण निश्चेतव्या ध्येयाश्चेति।

अथ महाव्याहृत्यर्थाः संक्षेपतः—''भूरिति वै प्राणः। भुवरित्यपानः। स्वरिति व्यानः॥ इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्। प्रपा० ७। अनु० ६॥''(भूः) प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः, प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव। अयमर्थो भूशब्दस्य ज्ञेयः। (भुवः) यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वं दुःखमपानयति दूरीकरोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति। अयं भुवःशब्दार्थोऽस्तीति बोध्यम्। (स्वः) यदभिव्याप्य व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः, सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति। खल्वयं स्वःशब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम्। एतदाद्यर्था महाव्याहृतीनां ज्ञातव्याः।

(सवितुः) सुनोति सूयते सुवति वोत्पादयति सृजति सकलं जगत् स सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्यः 'सवितुः प्रसवे' इति मन्त्रपदार्थादुत्पत्तेः कर्त्ता योऽर्थोऽस्ति स सवितेत्युच्यत इति मन्तव्यम्।(वरेण्यम्) यद्वरं वर्त्तुमर्हमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम् (भर्गः) यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद्भर्गः।(देवस्य) यो दीव्यति प्रकाशयति खल्वानन्दयति सर्वं विश्वं स देवः, तस्य देवस्य (धीमहि) तमेव परमात्मानं वयं नित्यमुपासीमहि। कस्मै प्रयोजनाय ? तस्य धारणेन विज्ञानादिबलेनैव वयं पुष्टा दृढा सुखिनश्च भवेमेत्यस्मै प्रयोजनाय। तथा च (यः) परमेश्वरः (नः) अस्माकं (धियः) धारणवतीर्बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयेत्।

१. यजुः ३२.१॥

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अज, हे निराकार, सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे करुणामृतवारिधे! सवितुर्देवस्य तव यद्वरेण्यं भर्गस्तद्वयं धीमहि। कस्मै प्रयोजनाय ? यः सविता देवः परमेश्वरः स नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात्। यो हि सम्यग्ध्यातः प्रार्थितः सर्वेष्टदेवः परमेश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण स्वशक्त्या च ब्रह्मचर्यविद्याविज्ञानसद्धर्मजितेन्द्रियत्वपरब्रह्मानन्दप्राप्तिमतीरस्माकं धीः कुर्य्यादस्मै प्रयोजनाय। तत्परमात्मस्वरूपं वयं धीमहीति संक्षेपतो गायत्र्यर्थो विज्ञेयः॥

एवं प्रातः सायं द्वयोः सन्ध्योरेकान्तदेशं गत्वा शान्तो भूत्वा यतात्मा सन् परमेश्वरं प्रतिदिनं ध्यायेत्।

भाषार्थ—अथ गुरुमन्त्रः—(ओम् भूर्भुवः स्वः)। अकार, उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता-पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है।

जैसे अकार से—(विराट्) जो विविध जगत् का प्रकाश करनेवाला है। (अग्निः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। (विश्वः) जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है, और जो सर्वत्र प्रविष्ट है। इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिये।

उकार से—(हिरण्यगर्भः) जिसके गर्भ में प्रकाश करनेवाले सूर्य्यादि लोक हैं, और जो प्रकाश करनेहारे सूर्य्यादिलोकों का अधिष्ठान है। इससे ईश्वर को '**हिरण्यगर्भ**' कहते हैं। हिरण्य के नाम ज्योति, अमृत और कीर्त्ति हैं। (वायुः) जो अनन्त बलवाला सब जगत् का धारण करनेहारा है। (तैजसः) जो प्रकाशस्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है। इत्यादि अर्थ उकारमात्रा से जानना चाहिये।

तथा मकार से —(ईश्वरः) जो सब जगत् का उत्पादक, सर्वशक्तिमान्

स्वामी और न्यायकारी है। (आदित्यः) जो नाशरहित है। (प्राज्ञः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है। इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना। यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया।

अब संक्षेप से महाव्याहृतियों का अर्थ लिखते हैं—(भूरिति वै प्राणः) जो सब जगत् के जीने का हेतु, और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है। (भुवरित्यपानः) जो मुक्ति की इच्छा करने वालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को, सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिए परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक होके सब को नियम में रखता, और सबका ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। यह व्याहृतियों का संक्षेप से अर्थ लिख दिया।

अब गायत्री मन्त्र का अर्थ लिखते हैं—(सवितुः) जो सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा, और ऐश्वर्य्य का देनेवाला है, (देवस्य) जो सबके आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है, उसका (वरेण्यम्) जो अत्यन्त ग्रहण करने के योग्य, (भर्गः) शुद्ध विज्ञान स्वरूप है, (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। किस प्रयोजन के लिये? कि (यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है, वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

इसलिये सब लोगों को चाहिये कि सत्, चित्, आनन्दस्वरूप, नित्यज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, व्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करनेहारे परमेश्वर ही की सदा उपासना करें, कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो मनुष्यदेहरूप वृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा सब मनुष्यों को प्राप्त हों। यह गायत्री मन्त्र का अर्थ संक्षेप से हो चुका॥

अथ समर्पणम्—

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः॥

तत ईश्वरं नमस्कुर्यात्—

भाषार्थ—इस प्रकार से सब मन्त्रों के अर्थों से परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके आगे समर्पण करे—कि हे ईश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके अर्पण हैं। जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म—जो सत्य न्याय का आचरण करना है, अर्थ—जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम—जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है, और मोक्ष—जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है, इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो॥

इसके पीछे ईश्वर को नमस्कार करे—

ओं नमः॑ शम्भ॒वाय॑ च मयोभ॒वाय॑ च॒ नमः॑ शङ्क॒राय॑ च मयस्क॒राय॑ च॒ नमः॑ शि॒वाय॑ च शि॒वत॑राय च॥

यजुः० अ० १६। मं० ४१॥

भाष्यम्—(नमः शम्भवाय च) यः सुखस्वरूपः परमेश्वरोऽस्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (मयोभवाय च) यः संसारे सर्वोत्तमसौख्यप्रदातास्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (नमः शङ्कराय च) यः कल्याणकारकः सन् धर्मयुक्तानि कार्य्याण्येव करोति, तं वयं नमस्कुर्महे। (मयस्कराय च) यः स्वभक्तान् सुखकारकत्वाद् धर्मकार्य्येषु युनक्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (नमः शिवाय च शिवतराय च) योऽत्यन्तमङ्गलस्वरूपः सन् धार्मिकमनुष्येभ्यो मोक्षसुख-प्रदातास्ति, तस्मै परमेश्वरायास्माकमनेकधा नमोऽस्तु॥

भाषार्थ—(नमः शम्भवाय च) जो सुखस्वरूप, (मयोभवाय च) संसार के उत्तम सुखों का देनेवाला, (नमः शङ्कराय च) कल्याण का कर्त्ता, मोक्षस्वरूप, धर्मयुक्त कामों को ही करने वाला, (मयस्कराय च) अपने भक्तों को सुख देने वाला और धर्म्म कामों में युक्त करने वाला, (नमः शिवाय च शिवतराय च) अत्यन्त मङ्गलस्वरूप और धार्मिक मनुष्यों को मोक्ष सुख देनेहारा है, उसको हमारा वारम्वार नमस्कार हो॥

इति सन्ध्योपासनविधिः

अथाग्निहोत्रसन्ध्योपासनयोः प्रमाणानि

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ १॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोवसुदान एधीन्धानास्त्वा शतहिमा ऋधेम॥ २॥

अथर्व० कां० १९। सू० ५५। मं० ३, ४॥

तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते। स ज्योतिष्याऽज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः सा सन्ध्या। तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम्॥ ३॥

षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४। खं० ५॥

उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥ ४॥ तैत्तिरीय आ० २। प्रपा० २। अनु० २॥

[पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥ ५॥]
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ ६॥

मनु० अ० २। श्लो० [१०१,] १०३॥

भाष्यम्—अयं (नः) अस्माकं (गृहपतिः०) गृहात्मपालकोऽग्निः भौतिकः परमेश्वरश्च (प्रातः-प्रातः) तथा (सायं-सायं) च परिचरित-स्सूपासितः सन् (सौमनसस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दाता भवति। तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च। अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) वसुप्रदातास्ति। हे परमेश्वर! एवंभूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं) हे परमेश्वर! एवं (त्वाम्) त्वा (इन्धानाः) प्रकाशयितारस्सन्तो वयं (तन्वम्) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्येम॥ १॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। परन्त्वयं विशेषः—वयमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्द्धेमहि। एवं कृतेन कर्म्मणा नोऽस्माकं नैव कदाचिद्धानिर्भवेदितीच्छामः॥ २॥

भाषार्थ—(सायंसायं०) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनसस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्द का देने वाला है उसी प्रकार उत्तम से उत्तम वस्तु का देने वाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देने वाला प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! इस प्रकार आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में प्रकाशित रहिये। तथा इस मन्त्र में अग्निहोत्र आदि करने के लिये भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर! पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको प्रकाश करते हुए अपने शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें। इसी प्रकार भौतिक अग्नि को प्रज्ज्वलित करते हुए सब संसार की पुष्टि करके पुष्ट हों॥ १॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु यह विशेष है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु बीत जायं जिन वर्षों में, अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त (ऋधेम) धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते रहें। और पूर्वोक्त प्रकार से अग्निहोत्रादि कर्म करके हमारी हानि कभी न हो, ऐसी इच्छा करते हैं॥ २॥

(तस्माद् ब्राह्मणो०) ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अप्रकाश का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना। और उस समय में जो सन्ध्योपासन की ध्यानक्रिया करनी होती है, वही सन्ध्या है। और जो एक ईश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना न करनी तथा सन्ध्योपासन कभी न छोड़ देना, इसी को सन्ध्योपासना कहते हैं॥ ३॥

(उद्यन्तमस्तं यान्तं) जब सूर्य्य के उदय और अस्त का समय आवे, उसमें नित्य प्रकाशस्वरूप आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ, ब्रह्मोपासक ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि दो समय में परमेश्वर की नित्य उपासना किया करें॥ ४॥

इसमें **मनुस्मृति** की भी साक्षी है कि दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्य्योदय पर्य्यन्त प्रातःसन्ध्या, और सूर्य्यास्त से लेकर तारों के दर्शन पर्य्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्र के अर्थ-विचारपूर्वक नित्य करें॥ ५॥

(न तिष्ठति तु०) जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासन को नहीं करता, उसको शूद्र के समान समझ कर द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिये। वह सेवाकर्म किया करे, और उसके विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत भी न रहना चाहिये। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि सब कामों से इस काम को मुख्य जानकर पूर्वोक्त दो समयों में जगदीश्वर की उपासना नित्य करते रहें॥ ६॥

इत्यग्निहोत्रसन्ध्योपासनप्रमाणानि॥

इति प्रथमो ब्रह्मयज्ञः समाप्तः॥

अथ द्वितीयोऽग्निहोत्रो देवयज्ञः प्रोच्यते

उसका आचरण इस प्रकार से करना चाहिये कि सन्ध्योपासन करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। उसके लिये, सोना, चांदी, तांबा, लोहा वा मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिये, जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौड़ा, सोलह अंगुल गहिरा और उसका तला चार अंगुल का लम्बा चौड़ा रहे। एक चमसा जिसकी डंडी सोलह अंगुल और उसके अग्रभाग में अंगूठा की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा चौड़ा आचमनी के समान बनवा लेवे, सो भी सोना, चांदी वा पलाशादि लकड़ी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना, चांदी वा पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलाशादि की लकड़ी समिधा के लिये रख लेवे।

पुनः घृत को गर्म कर छान लेवे। और एक सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर पीस के मिलाकर उक्त पात्र के तुल्य दूसरे पात्र में रख छोड़े। जब अग्निहोत्र करे तब शुद्ध स्थान में बैठ के पूर्वोक्त सामग्री पास रख लेवे। जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटांक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो, उतने शोधे हुए घी को निकाल कर अग्नि में तपा के सामने रख लेवे। तथा चमसे को भी रख लेवे। पुनः उन्हीं पलाशादि वा चन्दनादि लकड़ियों को वेदी में रखकर, उनमें आगी धरके पंखे से प्रदीप्त कर नीचे लिखे मन्त्रों में से एक एक मन्त्र से एक एक आहुति देता जाय, प्रातःकाल वा सायंकाल में। अथवा एक समय में करे, तो सब मन्त्रों से सब आहुति किया करे।

अथाग्निहोत्रहोमकरणार्थाः मन्त्राः—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा॥ १॥

ओं सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा॥ २॥

ओं ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा॥ ३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या।
जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा॥ ४॥

एते चत्वारो मन्त्राः प्रातःकालस्य सन्तीति बोध्यम्।

ओमग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥ १॥

ओमग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा॥ २॥

'अग्निर्ज्योतिः०'॥ ३॥ इति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या।

जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा॥ ४॥ य० अ० ३। मं० ९,१०॥

एते सायंकालस्य मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम्।

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थास्समाना मन्त्राः—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ १॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ २॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ ३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥४॥

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा॥ ५॥

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥ ६॥

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानामपि ज्योतिः प्रकाशकः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनार्थं सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः॥ १॥

(सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविद् यो ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानामपि वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै०॥ २॥

(ज्योतिः सूर्य्यः०) यः स्वयंप्रकाशः, सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै०॥ ३॥

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै०॥ ४॥

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्तु।

अथ सायंकालाहुतयः—(अग्नि०) योऽग्निर्ज्ञानस्वरूपो ज्ञानप्रदश्च, ज्योतिषां ज्योतिः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै०॥ १॥

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निरनन्तविद्यः, आत्मप्रकाशकः सर्वपदार्थप्रकाशकश्च सूर्यादिद्योतकोऽस्ति, तस्मै०॥ २॥

(अग्निर्ज्योतिः) इत्येनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत्॥ ३॥

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति। यश्चेन्द्रवत्या वायुश्चन्द्रवत्या रात्र्या सह सजूर्वर्त्तते, सोऽग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखया स्वकृपया कामयतु। तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत्॥ ४॥

एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति। एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा।

(ओं भूर०) एतानि सर्वाणीश्वरनामान्येव वेद्यानि। एतेषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः॥ १-५॥

(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते, भवत्कृपया परोपकारायालं भवत्विति। एतदर्थमेतत्कर्म्म तुभ्यं समर्प्यते॥ ६॥

एवं प्रातःसायं सन्ध्योपासनकरणानन्तरमेतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽग्रे यावदिच्छा तावद् गायत्रीमन्त्रेण स्वाहान्तेन होमं कुर्यात्।

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते 'तदग्निहोत्रम्'। सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्य्यधैर्य्यबलकरै रोगनाशकैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगादत्यन्तोत्तमतया सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव। अतस्तत्कर्मकर्तॄणां जनानां तदुपकारतयाऽत्यन्तसुखलाभो भवतीश्वरप्रसन्नता चेत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम्।

भाषार्थ—(सूर्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्यादिप्रकाशक लोकों का भी प्रकाशक है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं॥ १॥

(सूर्यो व०) जो सूर्य परमेश्वर हमको सब विद्याओं का देनेवाला, और हम लोगों से उनका प्रचार कराने वाला है, उसी के अनुग्रह के लिये हम लोग अग्निहोत्र करते हैं॥ २॥

(ज्योतिः सूर्य्यः०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करने वाला, सूर्य्य अर्थात् सब संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं॥ ३॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्यापक, वायु और

दिन के साथ परिपूर्ण, सब पर प्रीति करने वाला, और सबके अङ्ग अङ्ग में व्याप्त है। वह अग्नि परमेश्वर हमको विदित हो। उसके अर्थ हम होम करते हैं॥ ४॥

इन चार आहुतियों को प्रात:काल अग्निहोत्र में करना चाहिये।

(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो परमेश्वर ज्योति:स्वरूप है, उसकी आज्ञा से हम परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ जो यह भौतिकाग्नि है, जिसमें द्रव्य डालते हैं सो इसलिये है कि उन द्रव्यों को परमाणु करके जल और वायु वृष्टि के साथ मिलाके उनको शुद्ध करदे। जिससे सब संसार सुखी होके पुरुषार्थी हो॥ १॥

(अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि जो परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देने वाला, तथा भौतिक अग्नि आरोग्य और बुद्धि बढ़ाने का हेतु है। इसलिये हम लोग होम करके परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति हुई॥ २॥

तीसरी आहुति प्रथम मन्त्र से मौन करके करनी चाहिये॥ ३॥

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर प्राणादि वायु में व्यापक, वायु और रात्रि के साथ पूर्ण, सब पर प्रीति करने वाला और सब के अङ्ग अङ्ग में व्याप्त है, वह अग्नि परमेश्वर हमको प्राप्त हो। जिसके लिये हम होम करते हैं॥ ४॥

अब जिन मन्त्रों से दोनों समय में होम किया जाता है, उनको लिखते हैं—(ओं भू०) इन मन्त्रों में जो जो नाम हैं, वे सब ईश्वर के ही जानो। उनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देखने योग्य हैं॥ १-४॥

और (आपो०) 'आप:' जो प्राण परमेश्वर के प्रकाश को प्राप्त होके रस अर्थात् नित्यानन्द मोक्षस्वरूप है, उस ब्रह्म को प्राप्त होकर तीनों लोकों में हम लोग आनन्द से विचरें॥ ५॥

[(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर! हम परोपकार के लिये जिस कर्म को करते हैं, वह कर्म आपकी कृपा से परोपकार के लिये समर्थ हो। इसलिये यह कर्म आप के समर्पण है॥ ६॥][१]

इस प्रकार प्रात: और सायंकाल सन्ध्योपासना के पीछे इन पूर्वोक्त

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है॥ सम्पादक

मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की जहाँ तक इच्छा हो वहाँ तक 'स्वाहा' अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करें॥

अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि, वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे **'अग्निहोत्र'** कहते हैं। केशर, कस्तूरी आदि सुगन्ध; घृत, दुग्ध आदि पुष्ट; गुड़, शर्करा आदि मिष्ट तथा सोमलतादि ओषधि **रोगनाशक**, जो ये चार प्रकार के बुद्धिवृद्धि, शूरता, धीरता, बल और आरोग्य करने वाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमत्ता होती है, उससे सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र कर्म्म करने वाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से अन्यन्त सुख का लाभ होता है तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ऐसे-ऐसे प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का करना अत्यन्त उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः॥

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् 'तर्पणम्' तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तदेतत् कर्म विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव घटते, नैव मृतकेषु। कुतः, तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवनाशक्यत्वात्। मृतकोद्देशेन यत्क्रियते, नैव तेभ्यस्तत् प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति।

तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च। तत्र देवेषु प्रमाणम्—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥ २॥

यजु० अ० १९। मं० ३९॥

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्धि वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यं, तस्मात् ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ २॥

शत० कां० १। अ० १। ब्रा० १। कं० ४, ५॥

विद्वाꣳसो हि देवाः॥ ३॥ शत० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ६। कं० १०॥

भाष्यम्—हे (जातवेदः) परमेश्वर! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठा भवदाज्ञापलिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु। तथा (पुनन्तु मनसा धियः) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयध्यानेन वा नो बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया पवित्राणि सुखानन्दयुक्तानि भवन्तु॥ १॥

(द्वयां वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवाः, मनुष्याश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः। (सत्यमेव०) यत् सत्यवचनं सत्यमानं सत्यं कर्मैतद्देवानां लक्षणं भवति। तथैतदनृतं वचनमनृतं मानमनृतं कर्म चेति मनुष्याणाम्। योऽनृतात् पृथग्भूत्वा सत्यमुपेयात्, स

देवजातौ परिगण्यते। यश्च सत्यात् पृथग्भूत्वाऽनृतमुपेयात्, स मनुष्यसंज्ञां लभेत। तस्मात्सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च। यत् सत्यं व्रतमस्ति, तदेव देवा आचरन्ति। स यशस्विनां मध्ये यशस्वीति देवो भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च॥ २॥

तस्मादत्र विद्वांस एव देवास्सन्तीति॥ ३॥

भाषार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध। 'तर्पण' उसे कहते हैं, जिस कर्म से विद्वान्‌रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो 'श्राद्ध' कहाता है। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं। क्योंकि उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिये मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा असम्भव है। इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से तर्पण और श्राद्ध वेद में कहा है। सेवा करने योग्य और सेवा करनेवाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है।

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर। उनमें से देवों में प्रमाण—

(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझको पवित्र करें। जिनका चित्त आप में है, तथा जो आपकी आज्ञा पालते हैं, वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष भी विद्यादान से मुझ को पवित्र करें। उसी प्रकार आपका दिया जो विशेष ज्ञान वा आपके विषय का ध्यान उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो। (पुनन्तु विश्वा भूतानि) और संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र और आनन्दयुक्त हों॥ १॥

(द्वयं वा०) दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य। वहाँ सत्य और झूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव०) जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे '**देव**', और वैसे ही झूठ बोलने, झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले '**मनुष्य**' कहाते हैं। जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें, वे देवजाति में गिने जाते हैं। और जो सत्य से अलग होके झूठ को प्राप्त हों, वे **मनुष्य, असुर** और **राक्षस** कहे हैं। इससे सब काल में सत्य ही कहे, माने और करे। सत्यव्रत

का आचरण करने वाला मनुष्य यशस्वियों में यशस्वी होने से **देव** और उससे उलटे कर्म करने वाला **असुर** होता है॥ २॥

[(विद्वांo)] इस कारण से यहाँ विद्वान् ही देव हैं॥ ३॥

अथर्षिषु प्रमाणम्—

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः।
तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये॥ १॥

य० अ० ३१। मं० ९॥

अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः॥ २॥

शत० कां० १। अ० ७। कं० ३॥

अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति, तस्मादार्षेयं प्रवृणीते॥ ३॥

शत० कां० १। प्रपा० ३। अ० ४। कं० ३॥

भाष्यम्—(तं यज्ञम्०) इति मन्त्रः सृष्टिविद्याविषये[१] व्याख्यातः॥ १॥

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं यत् सर्वविद्यां पठित्वानुवचनमध्यापनं कर्मास्ति, तदृषिकृत्यमस्ति। तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणर्षिभ्यो देयमृणं जायते। यत् तेषामृषीणां सेवनं करोति, तदेतेभ्य एव सुखकारी भवति। यः सर्वविद्याविद् भूत्वाध्यापयति तमनूचानमृषिमाहुः॥ २॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) यो मनुष्यः पठित्वा पाठनाख्यं कर्म प्रवृणीते, तदार्षेयं कर्मास्ति। य एवं कुर्वन् तेभ्य ऋषिभ्यो देवेभ्यश्चैतत् प्रियकरं वस्तु सेवनं च निवेदयति, सोऽयं विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति। ते चैनं विद्यार्थिनं विद्वांसं कुर्युः यश्च विद्वानस्ति यश्चापि विद्यां गृह्णाति, स ऋषिसंज्ञां लभते। तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम्॥ ३॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं०) इस मन्त्र का अर्थ भूमिका[२] के सृष्टिविद्या विषय में कह दिया है॥ १॥

(अथ यदेवा०) अब इसके अनन्तर सब विद्याओं को पढ़ के जो पढ़ाना है, वह 'ऋषिकर्म' कहाता है। उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है। और

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः सृष्टिविद्याविषये-इतिभावः।
२. यहां भूमिका शब्द से 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' अभिप्रेत है॥ सम्पादक

जो इन ऋषियों की सेवा करता है, वह उनको सुख करने वाला होता है। यही व्यवहार अर्थात् विद्या कोश की रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याओं को जान के सबको पढ़ाता है, उसको '**ऋषि**' कहते हैं॥ २॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) जो पढ़ के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है, सो **आर्षेय** अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है। जो उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिये प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अतिपराक्रमी हो के विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका '**ऋषि**' नाम होता है। इस कारण से इस आर्षेय कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें॥ ३॥

अथ पितृषु प्रमाणम्—

ऊर्ज॒ वह॑न्तीर॒मृतं॑ घृ॒तं पयः॑ की॒लाल॑ परि॒स्रुत॑म्।
स्व॒धा स्थ॑ त॒र्पय॑त मे पि॒तॄन्॥ १॥ य० अ० २। मं० ३४॥

भाष्यम्—ईश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञां ददाति—सर्वे मनुष्या एवं जानीयुर्वदेयुश्चाज्ञापयेयुरिति—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीन् आचार्यादींश्च यूयं सर्वे मनुष्याः (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुत। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन केन पदार्थेन ते सेवनीया इत्याह—(ऊर्जं वहन्तीः) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिता हृद्या अपस्तेभ्यो नित्यं दद्युः। (अमृतम्) अमृतात्मकानेकविधरसं (घृतम्) आज्यं (पयः) दुग्धं (कीलालम्) अनेकविधसंस्कारैः सम्पादितमन्नं माक्षिकं मधु च (परिस्रुतम्) कालपक्वं फलादिकं च दत्वा पितॄन् प्रसन्नान् कुर्युः॥ १॥

भाषार्थ—(ऊर्जं वहन्ती०) [ईश्वर सब को आज्ञा देता है कि] पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री वा नौकरों को सब दिन के लिये आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत मे पितॄन्) जो मेरे पिता पितामहादि, माता मातामहादि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सब के आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्जं वहन्ती०) जो उत्तम उत्तम जल, (अमृतम्) अनेकविधरस, (घृतम्) घी, (पयः) दूध, (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम उत्तम अन्न [और मधु], (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो। जिससे उनका

आत्मा प्रसन्न होके तुम लोगों को आशीर्वाद देता रहे कि उससे तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहो। (स्वधा स्थ०) हे पूर्वोक्त पितृलोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो। और जिस जिस पदार्थ की तुम को अपने लिये इच्छा हो, जो हम लोग कर सकें, उस उस की आज्ञा सदा करते रहो। हम लोग मन, वचन, कर्म से तुम्हारे सुख करने में स्थित हैं। तुम लोग किसी प्रकार का दुःख मत पाओ। जैसे तुम लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, जिससे हमको कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो॥ १॥

अथ पितॄणां परिगणनम्—

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च, ते क्रमशो लिख्यन्ते—

१-सोमसदः। २-अग्निष्वात्ताः। ३-बर्हिषदः। ४-सोमपाः। ५-हविर्भुजः। ६-आज्यपाः। ७-सुकालिनः। ८-यमराजाश्चेति॥

भाष्यम्—(सो०) सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति, ये सोमगुणाश्च ते 'सोमसदः' (अ०) अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते 'अग्निष्वात्ताः'। यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवीजलव्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते। (ब०) बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति ते 'बर्हिषदः'। (सो०) यज्ञेनोत्तम-मौषधिरसं पिबन्तिं पाययन्ति वा ते 'सोमपाः'॥ १-४॥

(ह०) हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां ते 'हविर्भुजः'। (आ०) आज्यं घृतम्, यद्वा 'अज गतिक्षेपणयोः' धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम् तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांसस्ते 'आज्यपाः'। (सु०) ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषां ते 'सुकालिनः'। (य०) ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारस्सन्ति ते 'यमराजाः'॥ ५-८॥

भाषार्थ—(सो०) जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण, और जो शान्त्यादिगुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं। (अ०) अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक उनके गुण ज्ञात करके जिनने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्ताः' कहते हैं। (ब०) जो सब से उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम-दम-सत्य-विद्यादि उत्तम गुणों में वर्त्तमान हैं, उनको

'बर्हिषद्' कहते हैं। (सो०) जो यज्ञ करके सोमलतादि उत्तम ओषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपाः' कहते हैं॥ १-४॥

(ह०) जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते, और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुजः' कहते हैं। (आ०) आज्य कहते हैं घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को, जो उसके दान से रक्षा करने वाले हैं, उनको 'आज्यपाः' कहते हैं। (सु०) मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय, और जो सदा उपदेश में ही वर्त्तमान हैं उनको 'सुकालिनः' कहते हैं। (य०) जो पक्षपात को छोड़ के सदा सत्य न्याय व्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं॥ ५-८॥

९-पितृपितामहप्रपितामहाः। १०-मातृपितामहीप्रपितामह्यः। ११-सगोत्राः। १२-[आचार्यादि] सम्बन्धिनः॥

भाष्यम्—(पि०) ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तस्तत्र वसन्तश्च, विज्ञानाद्यनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च चतुर्विंशति-वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितरो वसवो विज्ञेया ईश्वरोऽपि। (पिता०) ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तश्च-तुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासास्ते रुद्राः स्वे पितामहाश्च ग्राह्यास्तथा रुद्र ईश्वरोऽपि। (प्रपि०) आदित्यवदुत्तमगुण-प्रकाशका विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशद्वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्यासम्पन्नाः सूर्यवद्विद्याप्रकाशकाः [त आदित्याः] स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्यास्तथाऽऽ-दित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते। (मा०) पित्रादिसदृश्यो मात्रादयः सेव्याः॥ ९-१०॥

ये (स०) स्वसमीपं प्राप्ताः पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः (आ० सं०) ये गुर्वादिसख्यन्तास्सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः॥ ११-१२॥

भाषार्थ—(पि०) जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे, और चौबीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम '**पिता**' और '**वसु**' है। (पिता०) जो पिता का पिता हो, और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त [ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपात रहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम '**पितामह**' और '**रुद्र**' है। (प्रपितामहः)

जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त][1] ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़ के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' और 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

(मा०) पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये॥ ९-१०॥

(सगो०) जो समीपवर्त्ती ज्ञाति के योग्य पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं॥

(आचार्य्यादिसं०) जो पूर्ण विद्या के पढ़ाने वाले, श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये॥ ११-१२॥

एतेषां विद्यमानानां सोमसदादीनां सुखार्थं प्रीत्या यत् सेवनं क्रियते तत् तर्पणम्, श्रद्धया यत् सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धम्। ये सत्यविज्ञानदानेन जनान् पान्ति रक्षन्ति ते पितरो विज्ञेयाः।

अत्र प्रमाणानि—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः'[2] इत्यादीनि यजुर्वेदस्यैकोनविंशतितमेऽध्याये सप्तसु सोमसदादिषु पितृषु द्रष्टव्यानि। तथा ये उ समानाः समनसः पितरो यमराज्य[3] इत्यादीनि यमराजेषु। 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः'[4] इत्यादीनि पितृपितामहप्रपितामहादिषु। एवं 'नमो वः पितरो रसाय'[5] इत्यादीनि पितॄणां सत्कारे च। इति ऋग्यजुरादिवचनानि सन्तीति बोध्यम्। अन्यच्च—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥

मनु० अ० ३। श्लो० २८४॥

भाषार्थ—जो सोमसदादि पितर विद्यमान अर्थात् जीवते हों, उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना '**तर्पण**' और श्रद्धा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवन करना है, सो '**श्राद्ध**' कहाता है। जो सत्य विज्ञानदान से जनों को

१. यह पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है। सम्पादक
२. यजुः १९। ५१॥ ऋ० १०। १५। ८॥ ३. यजुः १९। ४५॥
४. यजुः १९। ३६॥ ५. यजुः २। ३२॥ सं०

पालन करते हैं वे 'पितर' हैं। इस विषय में प्रमाण—

'**ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः**'[1] इत्यादि मन्त्र सोमसदादि सातों पितरों में प्रमाण हैं। '**ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये**'[2] इत्यादि मन्त्र यमराजों, '**पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः**'[3] इत्यादि मन्त्र पिता की पितामह प्रपितामहादिकों तथा '**नमो वः पितरो रसाय**'[4] इत्यादि मन्त्र पितरों की सेवा और सत्कार में प्रमाण हैं। ये ऋग्-यजुर्वेद आदि के वचन हैं।

और मनुजी ने भी कहा है—'पितरों को **वसु,** पितामहों को **रुद्र** और प्रपितामहों को **आदित्य** कहते हैं, यह सनातन श्रुति है।'

मनु० अ० ३। श्लो० २८४॥

इति पितृयज्ञविधिः समाप्तः॥

१. यजुः १९। ५१॥ ऋ० १०। १५। ८॥ २. यजुः १९। ४५॥
३. यजुः १९। ३६॥ ४. यजुः २। ३२॥ सं०

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भोजनार्थं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥

मनु० अ० ३। श्लो० ४८॥

भाषार्थ—[अब चौथे बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़कर घृतमिष्टयुक्त अन्न जो कुछ पाकशाला में सिद्ध हो, उसको दिव्यगुणों के अर्थ पाकाग्नि में विधिपूर्वक नित्य होम करे।][1]

अथ बलिवैश्वदेवकर्म्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ १॥

अथर्व० कां० १९। सू० ५५। म० ७१॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥ २॥

यजु० अ० १९। मं० ३९॥

भाष्यम्—हे (अग्ने) परमेश्वर! ये (अहरहर्बलि०) भवदाज्ञया बलिवैश्वदेवं नित्यं कुर्वन्तो मनुष्यास्ते (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्य-लक्ष्म्या घृतदुग्धादिपुष्टिकारकपदार्थप्राप्त्या च सम्यक् शुद्धेच्छया (मदन्तः) नित्यानन्दप्राप्ताः सन्तः, मातुः पितुराचार्य्यादीनां चोत्तमपदार्थैः प्रीतिपूर्विकां सेवां नित्यं कुर्युः। (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) यथाऽश्वस्य सन्मुखे तद्भक्ष्यं तृणवीरुधादि वा तत्पानार्थं जलादि पुष्कलं स्थाप्यते, तथा सर्वेषां सेवनाय बहून्युत्तमानि वस्तूनि दद्युर्यतस्ते प्रसन्ना भवेयुः। (मा ते अग्ने प्रतिवेशा

१. यह कोष्ठकान्तर्गत पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है। सम्पादक

रिषाम) हे परमगुरो अग्ने परमेश्वर! भवदाज्ञातो ये विरुद्धव्यवहारास्तेषु वयं कदाचिन्न प्रविशेम। अन्यायेन कदाचित्प्राणिनः पीडां न दद्याम। किन्तु सर्वान् स्वमित्राणीव स्वयं सर्वेषां मित्रमिवेति ज्ञात्वा परस्परमुपकारं कुर्य्यामितीश्वराज्ञास्ति॥ १॥

(पुनन्तु०) अस्यार्थो देवप्रकरणे[1] उक्तः॥ २॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर! आपकी आज्ञा से (अहरहर्बलि०) नित्यप्रति बलिवैश्वदेव कर्म करते हुए लोग (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी, घृतदुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों की प्राप्ति और सम्यक् शुद्ध इच्छा से (मदन्तः) नित्य आनन्द में रहें तथा माता, पिता, आचार्य्य आदि की उत्तम पदार्थों से नित्य प्रीतिपूर्वक सेवा करते रहें (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) जैसे घोड़े के सामने बहुत से खाने वा पीने के पदार्थ धर दिये जाते हैं, वैसे सबकी सेवा के लिये बहुत से उत्तम-उत्तम पदार्थ देवें। जिनसे वे प्रसन्न होके हम पर नित्य प्रसन्न रहें। (मा ते अग्ने प्रतिवेषा रिषाम) हे परमगुरु अग्नि परमेश्वर! आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध व्यवहारों में हम लोग कभी प्रवेश न करें, और अन्याय से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचावें, किन्तु सबको अपना मित्र और अपने को सबका मित्र समझ के परस्पर उपकार करते रहें॥ १॥

(पुनन्तु०) इसका अर्थ देवतर्पणविषय में कर दिया है॥ २॥

अथ होममन्त्राः—

ओमग्नये स्वाहा॥ १॥ ओं सोमाय स्वाहा॥ २॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ ३॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ४॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा॥ ५॥ ओं कुह्वै स्वाहा॥ ६॥ ओमनुमत्यै स्वाहा॥ ७॥ ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ८॥ ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥ ९॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा॥ १०॥

भाष्यम्—(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः। (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः। [(ओमग्नी०) प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः[2]।][3] (ओं वि०) विश्वेदेवा विश्वप्रकाशका

१. पितृयज्ञान्तर्गते। २. महाव्याहृत्यर्थे

३. यह पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। किन्तु इन मन्त्रों का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऐसा ही किया है॥ सम्पादक

ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा। (ओं धन्व०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते। (ओं कु०) दर्शेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः। अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा॥ १-६ ॥

(ओम०) पौर्णमासेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः सा चितिरनुमतिर्वा।(ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः। (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादितयोः पुष्टिकरणाय। (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः॥ ७-१० ॥

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिदानं कुर्य्यात्—

भाषार्थ—(ओम०) अग्नि शब्दार्थ कह आये हैं। (ओं सो०) जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सुख देनेहारा है, उसको '**सोम**' कहते हैं। (ओमग्नी०) जो प्राण सब प्राणियों के जीवन का हेतु, और अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है, इन दोनों को '**अग्नीषोम**' कहते हैं। (ओं वि०) यहाँ संसार को प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण, अथवा विद्वान् लोगों का '**विश्वेदेव**' शब्द से ग्रहण होता है। (ओं वा०) जो जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेहारा परमात्मा है वह '**धन्वन्तरि**' कहाता है। (ओं कु०) जो अमावास्येष्टि का करना है॥ १-६ ॥

(ओम०) जो पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चिति शक्ति है यहाँ उसका ग्रहण है। (ओं प्र०) जो सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर है, वह 'प्रजापति' कहाता है। (ओं स०) ईश्वर से उत्पादित अग्नि और पृथिवी की पुष्टि करने के लिये। (ओं स्वि०) जो इष्ट सुख करनेहारा परमेश्वर है, वही 'स्विष्टकृत्' कहाता है। ये दश अर्थ दश मन्त्रों के हैं॥ ७-१० ॥

अब बलिदान के मन्त्रों को लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः॥ ओं सानुगाय यमाय नमः॥ ओं सानुगाय वरुणाय नमः॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः॥ ओं मरुद्भ्यो नमः॥ ओम् अद्भ्यो नमः॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः॥ ओं श्रियै नमः॥ ओं भद्रकाल्यै नमः॥ ओं ब्रह्मपतये नमः॥ ओं वास्तुपतये नमः॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः॥ ओं नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः॥ १-१६ ॥

भाष्यम्—(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सर-विचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैस्सह वर्त्तमानः परमैश्वर्य्यवानीश्वरोऽत्रेन्द्रशब्देन गृह्यते। (ओं० सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्मात्र यमशब्दार्थेन वेद्यः। (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र वरुणशब्देन ग्रहीतव्यः।(ओं सानुगाय सो०) अस्यार्थ उक्तः॥

(ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति ते अत्र मरुतो गृह्यन्ते। (ओं अद्भ्य०) अस्यार्थः 'शन्नोदेवी'रित्यत्रोक्तः। (ओं व०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरगुणाः परमेश्वरो वा। बहुवचनमत्रादरार्थम्। यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चेति बोध्यम्।(ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सः श्रीरीश्वरस्सर्वसुखशोभावत्वाद् गृह्यते। यद्वा तेनोत्पादिता विश्वशोभा च। (ओं० भ०) भद्रं कल्याणं सुखं कालयितुं शीलमस्याः सा भद्रकालीश्वरशक्तिः।

(ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः। (ओं० वा०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः। (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः। (ओं दि०) (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेद् दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च, तान्यस्मासु विघ्नं मा कुर्वन्तु। तैः सहास्माकमविरोधोऽस्तु। एतदर्थोऽयमारम्भः। (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरो नान्यः। (ओं पि०) अस्यार्थः पितृतर्पणे प्रोक्तः। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः। परस्योत्कृष्टतया मान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः॥ १-१६ ॥

भाषार्थ—(ओं सा०) जो सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और जो उसके गुण हैं, वे '**सानुग इन्द्र**' शब्द से ग्रहण होते हैं, (ओं सा०) जो सत्य न्याय करने वाला ईश्वर और सृष्टि में सत्य न्याय के करने वाले सभासद् हैं, वे '**सानुग यम**' शब्दार्थ से ग्रहण होते हैं। (ओं सा०) जो सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्त हैं, वे '**सानुग वरुण**' शब्दार्थ से जानने चाहियें। (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्दित करने वाला और जो पुण्यात्मा लोग हैं, वे '**सानुग सोम**' शब्द से ग्रहण किये हैं।

(ओं मरु०) जो प्राण अर्थात् जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनको '**मरुत्**' कहते हैं। इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। (ओं अद्भ्यो०) इसका अर्थ '**शन्नोदेवी**' इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है। (ओं व०) जिनसे वर्षा अधिक होती और जिनके फलादि से

जगत् का उपकार होता है, उनकी भी रक्षा करनी योग्य है। (ओं श्रि०) जो सब के सेवा करने योग्य परमात्मा है, उसकी सेवा से राज्यश्री की प्राप्ति के लिये सदा उद्योग करना चाहिये। (ओं भ०) जो कल्याण करने वाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना चाहिये। १-९॥

(ओं ब्र०) जो वेद का स्वामी ईश्वर है, उसकी प्रार्थना और उद्योग विद्या-प्रचार के लिये अवश्य करना चाहिये। (ओं वा०) जो वास्तुपति गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेहारा मनुष्य अथवा ईश्वर है, इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिये। (ओं वि०) इसका अर्थ कह दिया है। (ओं दि०) जो दिन में विचरने वाले प्राणियों से उपकार लेना और उनको सुख देना है, सो मनुष्यजाति का ही काम है। (ओं नक्तं०) जो रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं, उनसे भी उपकार लेना और जो उनको सुख देना है, इसलिये यह प्रयोग है। (ओं सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिये। (ओं पि०) माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजनादि करना चाहिये। '**स्वाहा**' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है। और '**नमः**' शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होके दूसरे का मान्य करना॥ १०-१६॥

इसके पीछे छः भागों को लिखते हैं—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥[1]

अनेन षड् भागान् भूमौ दद्यात्। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत्।

भाषार्थ—कुत्तों, कङ्गालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिए छः भाग अलग-अलग बाँट के दे देना और उनकी प्रसन्नता सदा करना।

यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव की विधि लिखी॥

इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः।

१. मनु० ३। ९२॥ सं०

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते, तत्रैव कल्याणं भवति। ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्सन्ति तानतिथीन् कथयन्ति। अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्रास्सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वा∫वात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथाऽस्त्विति॥ २॥

अथर्व० कां० १५। सू० ११। मं० १-२॥

भाष्यम्—(तद्य०) यस्य गृहे पूर्वोक्तविशेषयुक्तो विद्वान् (व्रात्यो०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियततिथिः न यस्य काचिन्नियता तिथिर्भवति, किन्तु स्वेच्छयाऽकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च, स यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात्॥ १॥

(स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत्। तदनन्तरं पृच्छेद् भवतां जलादेरन्यस्य वा वस्तुन इच्छास्ति चेत्तद् ब्रूहि। सेवां कृत्वा तत्प्रसन्नतां सम्पाद्य स्वस्थचित्तस्सन्नेवं पृच्छेत्—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य पुरुषोत्तम! त्वमितः पूर्वं क्व अवात्सीः कुत्र निवासं कृतवान्। (व्रात्योदकम्) हे अतिथे! जलमेतद् गृहाण। (व्रात्य तर्पयन्तु) भवान् स्वकीयसत्योपदेशेनास्मांश्च तर्पयतु, प्रीणयतु, तथा भवत्सत्योपदेशेन तत्सर्वाणि मम मित्राणि भवन्तं तर्पयित्वा विज्ञानवन्तो भवन्तु। (व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्याम। यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु। (व्रात्य यथा ते०) हे अतिथे! यथेच्छतु भवान् तदनुकूलानस्मान् भवत्सेवाकरणे निश्चिनोतु। (व्रात्य यथा ते०) यथा भवदिच्छापूर्तिस्स्यात् तथा भवत्सेवां वयं कुर्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदानन्दे तिष्ठेम।

भाषार्थ—अब जो पाँचवाँ अतिथियज्ञ कहाता है, उसको लिखते हैं—जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है। जो पूर्ण विद्वान्,

परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट-रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं। इसमें अनेक वैदिक मन्त्र प्रमाण हैं। परन्तु यहाँ संक्षेप के लिये दो ही मन्त्र लिखते हैं—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिनके घर में पूर्वोक्त गुणयुक्त विद्वान् (व्रात्यो०) उत्तम गुणविशिष्टसेवा करने के योग्य अतिथि, अर्थात् जिसकी आने जाने की कोई भी निश्चित तिथि नहीं हो, जो अकस्मात् आवे और जावे, जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो॥ १॥

(स्वयमेनम०) तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठाके, पश्चात् पूछे कि आपको कुछ जल वा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछे कि—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य उत्तम पुरुष! आपने यहाँ आने के पूर्व कहाँ वास किया था? (व्रात्योदकम्) हे अतिथि! यह जल लीजिये। (व्रात्य तर्पयन्तु) और हम लोग अपने सत्य प्रेम से आपको तृप्त करते हैं, और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आपके उपदेश से विज्ञानयुक्त होके सदा प्रसन्न हों। (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् व्रात्य! जिस प्रकार से आपकी प्रसन्नता हो वैसा ही हम लोग काम करें, और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिये। (व्रात्य यथा०) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें। जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहें॥ २॥

इति संक्षेपतोऽतिथियज्ञः॥

**श्रीयुतविक्रमादित्यमहाराजस्य चतुस्त्रिंशोत्तरे
एकोनविंशे संवत्सरे भाद्रपौर्णिमायां समापितः
इति पञ्चमहायज्ञविधिः समाप्तः॥**

५

वेदभाष्य के नमूने का अंक

ग्रन्थ परिचय

महर्षि ने वेदभाष्य करने का संकल्प **संवत् १९२९ के अन्त** या **संवत् १९३० के आदि** में किया और उसके लिए प्रयत्न तभी से आरम्भ कर दिया। वेदभाष्य लिखने से पूर्व महर्षि ने उसका स्वरूप जनता में प्रकट करने के लिए दो बार '**वेदभाष्य के नमूने**' प्रकाशित करवाये थे।

पहले नमूने में **ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र** (ओम् अग्निमीळे पुरोहितम्) अथवा **प्रथम पूरे सूक्त का भाष्य** प्रकाशित किया गया था। इसमें संस्कृत के साथ गुजराती और मराठी अनुवाद भी था। पहले मन्त्र के दो प्रकार के अर्थ किये थे—**भौतिक** और **पारमार्थिक**। महर्षि ने इसकी भूमिका में लिखा था कि सारे वेदों का इसी शैली में अनुवाद करूँगा। श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी के अनुसार, इस नमूने में ऋग्वेद के प्रथम पूरे सूक्त का भाष्य था, जबकि पं० लेखराम जी के अनुसार केवल प्रथम मन्त्र का भाष्य था। प्रमाणों के अनुसार पं० देवेन्द्रनाथ जी की बात सत्य सिद्ध होती है।

दूसरे नमूने में **ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त** और **द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र** के संस्कृत भाष्य का कुछ अंश छपा था। इसमें प्रत्येक मन्त्र के दोनों प्रकार के (भौतिक और पारमार्थिक) अर्थ दर्शाये गये थे। सायण, महीधर, उव्वट आदि के गलत भाष्यों से वेदों के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ फैल चुकी थीं। अतः **वेदभाष्य के इस भावी स्वरूप को नमूने के तौर पर प्रस्तुत करके महर्षि लोगों के अनुकूल और प्रतिकूल दृष्टिकोण को जानना चाहते थे।** उन्होंने प्रथम नमूना काशी के पण्डित बालशास्त्री व स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती को तथा कलकत्ता के श्री के०एम० बनर्जी (बालीगंज), श्री राजेन्द्रलाल मित्र (माणिकटोला) तथा अमृतसर के श्री दयालसिंह मजीठिया एवं अन्य स्थानीय पण्डितों को भी सन् १८७५ में राजा जयकृष्णदास के द्वारा भिजवाया था, तीनों ने अपनी सम्मति क्रमशः १० दिसम्बर, ११ सितम्बर और २६ दिसम्बर १८७५ को राजा जयकृष्णदास, मुरादाबाद के पास भेज दी थी।

स्वामी विशुद्धानन्द आदि उपर्युक्त पण्डितों ने तो विरोध नहीं किया था, परन्तु द्वितीय नमूने पर कलकत्ता संस्कृत कालेज के स्थानापन्न **प्रिंसिपल श्री पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न** और **पं० गोविन्दराय ने आक्षेप किये** और इस विषयक पुस्तकें भी छपवाई थीं। पं० शिवनारायण अग्निहोत्री ने भी इसके खण्डन में '**दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य का रिव्यू**' नामक पुस्तक छपवाई थी और '**रिसाले हिन्द**' में भी कुछ लेख छपवाये थे।

वेदभाष्य के ये दोनों नमूने क्रमशः **कार्तिक संवत् १९३१** में तथा **संवत् १९३३** में छापे गये थे। (सम्पादक)

वेदभाष्य के नमूने का अंक

॥ वेदभाष्यम् ॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितम्।

॥ संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्वितम् ॥

अस्यैकैकांकस्य प्रतिमासमूल्यं भारतवर्षान्तर्गतदेशान्तर-प्रापणमूल्येन सहितं ।=) एतद् द्वादशमासानां मिलित्वा वार्षिकं ४॥) एतावद् भवति॥

इस ग्रन्थ के प्रतिमास एक-एक नम्बर का मूल्य भारतखण्ड के भीतर डाक महसूल सहित ।=) और वार्षिक ४॥)

अस्य ग्रन्थस्य ग्रहणेच्छा यस्य भवेत् स काश्यां लाजरसकम्पन्याख्यस्य वा दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः समीपं वार्षिकं मूल्यं प्रेषयेत् स प्रतिमासमेकं प्राप्स्यति

इदं भाष्यं काश्यां लाजरसकम्पन्याख्यस्य यन्त्रालये मुद्रितम्

संवत् १९३३

अस्य ग्रन्थस्याधिकारो भाष्यकर्त्रा मया सर्वथा स्वाधीन एव रक्षितः॥

॥ ओ३म् ॥

॥ ऋग्वेदः ॥

अष्टक १। अध्याय १। वर्ग १॥

अस्याग्नेयसूक्तस्य

मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्रीच्छन्दः। षड्जः स्वरः॥

मूलमन्त्रः– **ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।**

होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

पदपाठः–**अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारम्। रत्नधातमम्॥ १॥**

॥ अथ वेदभाष्यम्॥

अथात्र प्रथमत ईश्वर एवार्थोऽग्निशब्देन गृह्यते॥ अत्र प्रमाणानि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद अष्टक २। अध्याय ३। वर्ग २२। मन्त्र ६॥

अस्यायमर्थः—एकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम्॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्स प्रजापतिः॥

यजुर्वेद अध्याय ३२। मन्त्र १॥

यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवाग्न्यादिनामवाच्यमत्र बोध्यम्॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत्॥

ऋ० अ० १। अ० १। वर्ग १, मन्त्र ५॥

कविः सर्वज्ञः, सत्यः सर्वदा विनाशरहितः, अत्यन्ताश्चर्य्यश्रवणश्चेत्यादिविशेषणयुक्तो मुख्यतया परमेश्वरो भवितुमर्हति नान्यः॥

ब्रह्म ह्यग्निः॥ शतपथ कांड १। अध्याय ५॥

आत्मा वा अग्निः॥ श० कां० ७। अ० २॥

अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च॥ शं० कां० ९। अ० १॥

संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः॥ श० कां० ६। अ० ६॥

अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः॥ श० कां० १। अ० १॥

अग्निर्ब्रह्मात्मनोरत्र वाचकोस्ति। प्रजाशब्देन भौतिकोग्निः प्रजापतिशब्देनात्रेश्वरो ग्राह्यः। देवानां विदुषां व्रतम्।

एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्॥ श० कां० १। अ० १॥

सत्याचारनियमपालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः॥

एष वै देवो ननु विद्वान् यदग्निः॥ श० कां० १। अ० ५॥

तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवाऽमृत आस॥ श० कां० २। अ० २॥

विद्यासम्भव ईश्वरोऽस्ति नैव च भौतिके तथामृतत्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति॥

प्राणोग्निः परमात्मेति॥ मैत्र्युपनिषदि प्रपाठकः ६। खण्डः ९॥

एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः। प्रजापतिर्विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति। य एष तपत्यग्निरिवाग्निनापि हितः सहस्राक्षेण हिरणमयेनाण्डेन एष वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वेत्यादि॥ मैत्र्युपनिषदि प्र० ५। खं० ८॥

प्राणाग्न्यात्मेशानादीनीश्वरस्य नामान्यत्र सन्तीति बोध्यम्॥

अग्निर्वै सर्वा देवता इत्याद्यैतरेयब्राह्मणे पंचिका १। अध्यायः १॥ यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः। आत्मैव देवताः सर्वाः। **सर्वमात्मन्यवस्थितम**िति मनुनोक्तत्वात् १२ अध्याये॥

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेंऽगं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति, त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीःपरस्तस्यैषा भवतीति॥

निरुक्ते अध्यायः ७। खण्डः १४॥

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनादीश्वरस्यात्र ग्रहणम्। दग्धादिति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च। अग्निः सर्वा देवता इति निर्वचनाय। **इन्द्रं मित्रं वरु०, एकं सद्विप्रा ब०, इममेवाग्निं महान्त-**

मात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यञ्च गरुत्मन्तं, दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोग्निर्निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते। नि० अ० ७। ख० १८॥

अनेनोभयोर्ज्ञानप्रकाशवतोर्ज्योतिषोरीश्वरभौतिकाग्न्योर्ग्रहणमित्युभयार्थ-ग्रहणस्येदं प्रमाणम्।

अग्निः पवित्रमुच्यते अग्निः पवित्रं स मां पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते माम्पुनन्त्वित्यपि निगमो भवति। नि० अ० ५। खं० ६॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ १॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ २॥ इति मनुस्मृतिः, अ० १२। श्लोक १२२-१२३॥

पवित्रः पवित्रकर्त्ता परमात्मास्तीत्यतः पवित्रशब्देन परमेश्वरस्यैव ग्रहणम्॥ तथापरः पुरुषोऽग्न्यादीनि च परमेश्वरस्यैवात्र नामानि सन्तीति बोध्यम्॥ इत्यादिभिः प्रमाणैरग्निशब्देन परमात्मनोत्र ग्रहणमिति सिद्धम्।

(अग्निमीळे) सर्वज्ञस्सर्वशक्तिमान् न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तः परमेश्वरोग्निः पितृवत् पुत्रान् प्रत्युपदिशति स्म। हे जीव मनुष्यदेहधारिन्! अहं अग्निं परमात्मानं ईले स्तौमीति वदेति पूर्वान्वयः। ततो जीवोऽभिवदति सर्वज्ञं शुद्धं सनातनमजमनाद्यनन्तं सर्वव्यापकं जगदादिकारणं स्वप्रकाशं परमेश्वरमग्निमहमीले स्तौमि। तस्मादन्यमीश्वरत्वेन लेशमात्रमपि नाश्रये, कस्मै प्रयोजनाय? धर्मार्थकाममोक्षसिद्धय इति निश्चयः।

अञ्चु गतिपूजनयोः। णीञ् प्रापणे। अगि गत्यर्थः। इण् गतौ, इत्यादि धातुभ्योऽग्निशब्दः सिध्यति॥ अञ्चति, अच्यते, जानाति, ज्ञायते, गच्छति, गम्यते, प्राप्नोति, प्राप्यते, सत्करोति, पूजयति, सत्क्रियते, पूज्यते, नयति, प्राप्नोति, नीयते, प्राप्यते, धर्मात्मा जनो विद्वान् तथा विद्वद्भिर्धर्मात्मभिर्मुमुक्षभिश्चेत्यादिव्याकरणनिरुक्तप्रमाणैरप्यग्निशब्देन परमेश्वरग्रहणे सुष्ठूक्तिर्गम्यते॥

कथंभूतः सोग्निः **(पुरोहितः)** सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरारम्भात् पूर्वमेव सकलपदार्थोत्पादनेन विज्ञानादिदानेन चैनं जीवं दधाति

स पुरोहितः परमात्माग्निः। **डुधाञ् धारणपोषणयोः। अस्मात्पुरः पूर्वात् क्तप्रत्ययान्तात्पुरोहितशब्दः सिध्यति, अतएव सर्वाधारकस्सर्वपोषकश्चेश्वर एव नान्यः॥**

अत्राह निरुक्तकारः—पुरोहितः पुर एनं दधति होत्राय वृतः कृपायमाणोन्वध्यायद्देवश्रुत देवा एनं शृण्वन्ति वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं रराण रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् सोस्मै वाचमयच्छद् बृहदुपव्याख्यातमिति॥ नि० अ० २। खं० १२॥

(यज्ञस्य देवम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। अस्माद्धातोर्नङ्प्रत्ययान्ताद्यज्ञशब्दः साध्यते। अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य क्रियासमूहजन्यस्य सर्वजगदुपकारकस्य यज्ञस्य। यद्वा परमेश्वरस्य सामर्थ्यात्सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरुत्पन्नासीत्तत् प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तकार्यकारणसंगत्योत्पन्नस्यास्य जगतो यज्ञस्य। अथवा सत्संगतिकरणोत्पन्नस्य विद्यादिविज्ञानयोगादेर्यज्ञस्य।

यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा॥ निरुक्त अ० ३। खं० १७॥

देवं दातारं सुखानां द्योतकं सर्वस्य जगतः प्रकाशकं सर्वैर्विद्वद्भिः कमनीयम्। स्वभक्तानां मोदकं हर्षकरम्। शत्रूणां मनुष्याणां कामक्रोधादीनां वा विजिगीषकम्। विजेतुमिच्छन्तं देवम्।

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। अस्माद्धातोरचिप्रत्यये कृते देवशब्दः सिध्यति॥

(ऋत्विजम्) कृल्ल्युटो बहुलमिति वार्त्तिकम्। **कृत्यल्युटो बहुलमि**त्यस्य भाष्येस्त्यतः कर्म्मण्यपि क्विन्। सर्वेषु ऋतुषु यजनीयं पूजार्हं यथाकालं जगद्रचकं ज्ञानादियज्ञसाधकमृत्विजम्। ऋतूपपदात् क्विन् प्रत्ययान्ताद्यजधातोरयं प्रयोगः॥

(होतारम्) सर्वजगते सर्वपदार्थानां दातारम्। मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारम्। वर्त्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम्॥ हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके। अस्माद्धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते। अदनं भक्षणं न किन्तु चराचरस्य जगतो ग्रहणं तत्कर्त्ता परमेश्वरोऽत्तेत्युच्यते॥

अत्र प्रमाणम्—**अत्ता चराचरग्रहणात्॥** इति वेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम्। अ० १। पा० २। सू० ९॥

(**रत्नधातमम्**) रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमस्तं रत्नधातमम्। रत्नोपपदात् क्विबन्ताड् डुधाञ्-धातोस्तमबन्तः प्रयोगः॥

इमं मन्त्रं यास्को निरुक्तकार एवं समाचष्टे।

अग्निमीलेग्निं याचामीलिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता, होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां दातृतमम्। तस्यैषापरा भवतीति॥ नि० अ० ७। खं० १५॥

अथास्य मन्त्रस्यान्वयो लिख्यते॥ पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमं परमात्मानमग्निमहमीले स्तौमि याचामि तस्यैवाप्यन्वेषणं कुर्व इत्यन्वयः॥

॥ अथ संस्कृतभाष्यस्य प्राकृतभाषयार्थो लिख्यते॥

(**अग्निमीळे**) इस मंत्र का ईश्वराभिप्राय से जो अर्थ है सो प्रथम किया जाता है॥ इस मंत्र में अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है। इस के ग्रहण में ''**इन्द्रं मित्रं वरुण**'' इत्यादि यथालिखित प्रमाण का आधार है। सब जगत् को उत्पन्न करके, संसारस्थ पदार्थों का और परमात्मा का जिससे यथार्थ ज्ञान होता है, उस सनातन अपनी विद्या का सब जीवों के लिये आदि सृष्टि में परमात्मा ने उपदेश किया है। जैसे अपने सन्तानों को पिता उपदेश करता है, वैसे ही परम कृपालु पिता जो परमेश्वर है उसने हम सब जीवों के हित के लिए सुगमता से वेदों का उपदेश किया है। जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सब पदार्थों का विज्ञान और उनसे यथावत् उपकार लेवें, इसलिये अत्यन्त हित से हम लोगों को उपदेश किया है। सो हम लोग भी अत्यन्त प्रेम से इनको स्वीकार करें। अब जैसा उपदेश परमात्मा को करना है सो सब जीवों की ओर से परमेश्वर करता है कि जीव लोग जब इस वेद को पढ़ें, पढ़ावें और पाठ करें और विचारेंगे तब यथावत् कर्त्ता, क्रिया और कर्म का सम्बन्ध हो जायगा। जो सब का जाननेवाला, शुद्ध, सब विकारों से रहित, सनातन, जो सब काल में एकरस

बना रहता है, जो अज है, जिसका कभी जन्म नहीं होता, जो अनादि है, जिसका आदिकारण कोई नहीं, जो अनन्त है जिसका अन्त कोई नहीं ले सकता, जगत् में जो परिपूर्ण हो रहा है, सब जगत् का आदिकारण और जो स्वप्रकाशस्वरूप है, ऐसा जो परमेश्वर जिसका नाम अग्नि है उसकी मैं स्तुति करता हूँ। इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं है, और उसको छोड़ के दूसरे का लेशमात्र भी आश्रय मैं कभी नहीं करता। किस प्रयोजन के लिये? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी सिद्ध के लिये।

अञ्चु गतिपूजनयोः इत्यादि धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। **अञ्चतीत्यादि॰** जो सब को जानता है, जो सब वेदादिक शास्त्रों से जाना जाता है, जो सब में गत नाम प्राप्त हो रहा है, जो सर्वत्र प्राप्त होता है, जो सब धर्मात्माओं का सत्कार करता है, जिसका सत्कार सब विद्वान् लोग करते हैं, इस प्रकार व्याकरण निरुक्त आदि के प्रमाणों से **अग्नि** शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कोई भी विवाद नहीं है।

पूर्वोक्त अग्नि कैसा है कि (**पुरोहितः**) सब देहधारियों की उत्पत्ति से प्रथम ही सब जगत् और स्वभक्त धर्मात्माओं के लिये सब पदार्थों की उत्पत्ति जिसने की है और विज्ञानादि दान से जो जीवादि सब संसार का धारण और पोषण करता है इससे परमात्मा का नाम **पुरोहित** है। **पुरः**पूर्वक **क्त** प्रत्ययान्त **डुधाञ्** धातु से पुरोहित शब्द सिद्ध हुआ है। इसी से सब का धारण और पोषण करने वाला एक परमात्मा ही है। अन्य कोई भी नहीं। इस पुरोहित शब्द में पुर एनं॰ इत्यादि निरुक्त का भी प्रमाण है।

(**यज्ञस्य देवम्**) यज धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त विविध क्रियाओं से जो सिद्ध होता है, जो वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देनेवाला है उसका नाम **यज्ञ** है। अथवा परमेश्वर के सामर्थ्य से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों का जो एक अवस्थारूप कार्य उत्पन्न हुआ है जिसका प्रकृति, अव्यक्त और अव्याकृतादि नामों से वेदादि शास्त्रों में कथन किया है, उससे लेके पृथिवीपर्यन्त कार्यकारण संगति से उत्पन्न हुआ जो जगत्रूप यज्ञ है अथवा सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण सत्पुरुषों के संग से जो उत्पन्न होता है, जिसका नाम विद्या, ज्ञान और योग है, उसका भी नाम यज्ञ है। इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो देव है, जो सब सुखों का देने वाला, जो सब जगत् का प्रकाश करनेवाला, जो सब भक्तों को

आनन्द कराने वाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का और काम क्रोधादि शत्रुओं का विजिगीषक नाम जीतने की इच्छा पूर्ण करने वाला है, इससे ईश्वर का नाम **देव** है।

(ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने योग्य है। जो सब जगत् को रचने वाला और ज्ञानादि यज्ञ की सिद्धि को करने वाला है, इससे ईश्वर का नाम **ऋत्विज्** है। **ऋतु** शब्दपूर्वक **क्विन्** प्रत्ययान्त **यज** धातु से ऋत्विज् शब्द सिद्ध होता है॥

(होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों को देनेवाला है। जो मोक्ष समय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण करने वाला है। तथा जो वर्त्तमान और प्रलय में सब जगत् का ग्रहण और धारण करनेवाला है, इससे परमात्मा का **होता** नाम है। **हु दानादनयोः आदाने चेत्येके।** इस धातु से **तृच्** प्रत्यय करने से होता शब्द सिद्ध हुआ है।

(रत्नधातमम्) जिनमें रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवी-पर्यन्त रत्न यथा विज्ञान हीरादि जो रत्न और सुवर्णादि जो रत्न हैं, जिनके यथावत् उपयोग करने से आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों को दान के लिये जो धारण करता है, वह **रत्नधा** कहाता है और जो अतिशय से पूर्वोक्त रत्नों का धारण करने वाला है, इससे परमेश्वर का नाम **रत्नधातम** है। **रत्न**शब्दपूर्वक **क्विप्** प्रत्ययान्त **डुधाञ्** धातु से **तमप्** प्रत्यय करने से यह शब्द सिद्ध हुआ है।

इस मन्त्र की निरुक्तकार यास्कमुनि ने जिस प्रकार की व्याख्या की है सो संस्कृत में लिखी है उसको वहीं देख लेना॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्निमीळे) अत्राग्निशब्देन भौतिकोऽग्निर्गृह्यते। रूपगुणं दाहक-मूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निमहमीडे। तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे। कीदृशगुणोग्नि-स्तीत्याह। कलाकौशलयानचालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारण-मस्ति। विनाग्निनेदृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति। अतएव सर्वैर्विद्वद्भिः शिल्पि-भिरग्नेः स्वभावगुणा यथावदध्यन्वेषणीयाः॥ पुरा ह्यार्यैर्याश्वविद्या शीघ्रगमनहेतुः सम्यक् सम्पादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत्॥ अत्र प्रमाणानि—

ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयँस्तस्याभयेनाष्ट्रे-निवातेग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्स

पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति तस्याभयेनाष्ट्रेनिवातेऽग्निर्जायत इति॥

शु० कां० २। अ० १॥

वृषो अग्निरिति॥ श० कां० १। अ० ४॥

अग्निर्वा अश्वः॥ श० कां० ३। अ० ६॥

अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति॥

शं० कां० १। अ० ४॥

तूर्णिर्हव्यवाडिति॥ श० कां० १। अ० ४॥

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्येति॥ श० कां० १। अ० ६॥

इत्याद्यनेकप्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोग्निरेवात्र गृह्यते। आशुगमनहेतुत्वा-दश्वोऽग्निर्विज्ञेयः। अयमेवाग्निर्वज्रः सर्वपदार्थोच्छेदकत्वात्स्वयमच्छे-द्यत्वाच्चाश्ववद्विमानादियानानां शीघ्रं गमयितेति विज्ञायते। वृषवद्यानानां वोढाग्निरिति च। तथाश्ववदपि। एषोऽग्निरश्वो भूत्वा देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यः शिल्पविद्यासंगतं विमानादियानाख्यं यज्ञमेषोऽ-ग्निरेव वहति प्रापयतीति शेषः। अतएव तूर्णिः शीघ्रगमनहेतुः। हव्यवाड् दातुं ग्रहीतुं योग्यं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वहति प्रापयतीत्यर्थः। इत्थं शिल्पविद्या-समूहभूतस्य यज्ञस्याग्निरेव योनिः कारणं बीजं निदानमिति शेषः॥

(पुरोहितम्) अतएव सोग्निः पुरोहितः पुरस्तात् विमानकलाकौशल-क्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितः॥ (यज्ञस्य देवं) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य, देवः व्यावहारिक-विद्याप्रकाशकस्तम्॥ (ऋत्विजम्) सर्वशिल्पादिव्यवहारविद्याद्योतनमर्हम्॥ (होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमादातारं च। अतएव (रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्। तद्विद्याऽऽधारकं वा॥ अस्यान्वयस्तु पूर्ववद्वेदितव्यः॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजयात॥

शुक्ल य० अ० ३१। मं० १२॥

तथा—**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निरिति०** तैत्तिरीयोपनिषदि अनुवाक १॥ इत्यादिभिः। प्रमाणैर्भौति-कोग्निरेवात्र ग्राह्यः। कुतः। उत्पत्तिस्थितिप्रलयवतां पदार्थानां संसारान्तर्गत-भावात्। परमेश्वरस्त्वेतेभ्यो विलक्षण एवातः। भौतिकाग्न्यादीनि जन्मादि-

धर्मवन्ति सन्ति कार्यत्वात्। परमेश्वरस्य जन्मादयो धर्मा न विद्यन्ते सर्वस्यादिकारणत्वात्। इति द्वितीयोर्थः॥

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यादीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्माभिरपि स्वीक्रियन्ते। गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात्। तेषां ये दोषाः सन्ति तेऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते। रावणोवटसायणमाधवमहीधराणां दोषवद्भाष्यखण्डन-विषये यत्र यत्र समानं भाष्यं तत्र तत्रैकस्य खण्डनेनेतरेषामपि भाष्यस्य खण्डनं वेद्यम्। यत्र यत्र च विशेषस्तत्र तत्र पृथक् पृथक् खण्डनं विधास्यामि। तेनैवार्येङ्गलण्डभाषादिनिर्मितस्य व्याख्यानस्यापि खण्डनं बोध्यम्। सायणा-चार्यादिभिरग्निशब्देनात्र भौतिकोऽग्निर्गृहीतः। तद्यथा। तथाग्निरपि यज्ञ-स्यापेक्षितं होमं सम्पादयति। यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभाग आहवनीय-रूपेणावस्थितम्। यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादि-रूपेणावस्थानादविरोधः। इत्युक्तत्वात्। इदमसमञ्जसं मुख्येश्वरार्थस्य त्यागात्। इन्द्रादिरूपधारणमपीश्वरो नैव करोति। स पर्यगाच्छुक्रमकायम्। अज एकपात् इति मन्त्रार्थविरोधात्। इन्द्रं मित्रमित्यादि प्रमाणैः सिद्धस्य परमेश्वरार्थस्य त्यागः शिष्टसम्मतो नास्ति। भौतिकाग्न्यर्थस्य विषयस्याप्यल्पोक्तत्वात्। तस्मादयमर्थोपि निर्दोषो नास्ति। इन्द्रादीनि परमेश्वरस्य सूर्यादीनां च नामानि सन्ति। तान्यैतरेयशतपथादि-ब्राह्मणनिरुक्तव्याकरणादिषु व्याख्यातानि तथा वेदेष्वपि तेषां मध्यादस्मिन् मन्त्रभाष्येपि कानिचिदिन्द्रादीनि नामानि प्रकाशि-तानि। अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रार्थस्य विषय आगमिष्यति तत्र तत्र खण्डनं मयोदाहरिष्यते। सायणाचार्येण तथा प्रतिपादनं नैव कृतमतस्तद्भाष्यं दोषवदस्तीति बोध्यम्। एतत्खण्डनाभ्यन्तरे डाक्तरविलसनाख्यवेदार्थयत्ना-दीनामपि खण्डनमागतमिति विज्ञेयम्।

कश्चिद् ब्रूयात्—सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रामाण्युक्तं भाष्यं विहितम्। कथं दोषवदिति॥ अत्रोच्यते। निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि। परन्तु तानि तद्वचनाद्विरुध्यन्त एव। तद्यथा। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवतीत्यादि। अग्रणीः सर्वोत्तमः। अग्रं सर्वोत्तमं नयतीत्यनेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवितुमर्हति नान्यस्य। कुतः, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः। इति व्याकरणन्यायेन परमेश्वरादग्रणीर्मुख्यः कश्चिदपि नास्तीत्यतो विरोध एव तद्भाष्येऽस्ति। अन्येऽपि बहवो दोषास्तत्र सन्ति, ग्रन्थभूयस्त्वान्नोल्लिख्यन्ते। एतावतैवेदृशानि पूर्वजकृतानि भाष्याण्यासन्। यानि भवन्ति भविष्यन्ति च तेषां खण्डनं तावतैव बोध्यम्। अग्रेऽग्रे यद्यदत्यन्तविरुद्धं भाष्यमस्ति तत्तदेव खण्डयिष्यामि

नान्यदिति च॥ १॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्निमीळे) अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के अभिप्राय से प्रमाण के सहित किया जाता है। इस अर्थ से अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि जो यह जलाने और ऊपर चलनेवाला है तथा सब पदार्थों का अलग-अलग करने और बल देनेवाला तथा जिसका रूपगुण है और मूर्तिमान् द्रव्यों का जो प्रकाशक है, ज्वालारूप उसका ग्रहण किया जाता है। मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ। उसके गुण का अन्वेषण अर्थात् खोज करता हूँ। अग्नि में कौन गुण हैं और किस-किस विद्या की सिद्धि होती है? जो-जो कलाकौशल सवारी चालनादि पदार्थविद्याओं की सिद्धि करने के उत्तम गुण हैं सो-सो अग्नि से ही प्राप्त होते हैं। इससे अग्नि ही शिल्पविद्या का मुख्य कारण है। क्योंकि विना अग्नि से कोई भी उत्तम गुणवाली पदार्थविद्या सिद्ध नहीं हो सकती। इसी से पदार्थविद्या में जो विद्वान् लोग हो गये, होते हैं और होंगे, उन सबों ने पदार्थविद्या में अग्नि को ही मुख्य साधन माना है, मानते हैं और मानेंगे। इस समय में भी जो पदार्थविद्याओं को किया चाहे सो भी अग्नि के गुणों का खोज करे।

पहिले आर्य्यों ने अश्वविद्या नाम से जो विमानादि शिल्पविद्या सिद्ध की थी वह अग्निविद्या ही थी। अश्वविद्या जो अग्न्यादि पदार्थों से रसायनविद्या होती है सो शिल्पविद्या ही है। इसमें अनेक प्रमाण हैं। ''**ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदश्वमित्यादि**'' शतपथादि ग्रन्थों का यथालिखित प्रमाण देख लेना। उनमें अश्व जो अग्नि है उसी का ग्रहण किया है। इस प्रकार के अनेक प्रमाणों से अश्वादिक नामों से इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया जाता है। आशु नाम शीघ्र चलाने का जो हेतु है इससे अग्नि को ही **अश्व** जानना। शिल्पविद्या यज्ञ का अग्नि ही देव है। इसी अग्नि का वज्र नाम है क्योंकि सब पदार्थों का अलग-अलग करने और प्रकाशनेवाला अग्नि ही है और वह किसी से छेदन में नहीं आता, इससे अग्नि का नाम **वज्र** है।

वृषः। वृषवत् बैल की नाईं सवारियों को चलाने वाला अग्नि ही है। तथा घोड़े की नाईं भी सवारियों को दौड़ानेवाला अग्नि ही है। तथा **तूर्णिः।** अग्नि को ही अत्यन्त वेगवाला सवारियों के चलाने में जानना। तथा **हव्यवाट्।** शिल्पविद्यारूप यज्ञ की प्राप्ति कराने वाला भी अग्नि

ही है॥

(पुरोहितं) इसीसे इस अग्नि को पुरोहित जानना। विमान, कला, कौशल, क्रिया चालनादि गुणों का धारण करनेवाला है। और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम **पुरोहित** है। **(यज्ञस्य देवं)** यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो शिल्पविद्या बनती है उस विद्या का जो प्रकाश करनेवाला है सो **देव** है। **(ऋत्विजम्)** जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करनेवाला है। **(होतारम्)** जो उस विद्या के दिव्य गुणों को देने और धारण करनेवाला है। **(रत्नधातमम्)** जो उस शिल्पविद्या के जानने वाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त सुख देनेवाला है। उसी को हम लोग शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करें।

चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है, इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद तथा तैत्तिरीयोपनिषदादि प्रमाणों से व्यवहारविद्या में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि जिन पदार्थों की उत्पत्ति और वर्त्तमान हो के पुनः प्रलय हो, उन सब पदार्थों को संसार में ही जानना चाहिये, इससे भौतिक अग्नि को ही इस अर्थ में जानना। परमेश्वर तो इन जन्मादि धर्मवाले पदार्थों से सदा अलग ही है और सब का आदिकारण है।

पूर्व जो सायणाचार्य आदि वेदभाष्य के करनेवाले हैं और जो उनके भाष्य में दोष हैं उनका खण्डन संक्षेप में दिखाया जाता है। जो रावण, उवट, सायण और महीधर वेदों के व्याख्या करनेवाले हैं इनमें से एक के खण्डन से इस प्रकार के अन्य का भी खण्डन सर्वत्र जान लेना। और जहाँ-जहाँ उनमें बड़ा दोष है उस-उस का अलग-अलग खण्डन किया जायगा। वैसे ही आर्यभाषा किंवा अन्य भाषा तथा दक्षिणभाषा अंग्रेजी भाषा में किये व्याख्यान का भी खण्डन जानना। उनका दोष संक्षेप से लिखते हैं।

इस मन्त्र के अर्थ में सायणाचार्य आदि ने भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है; जिसमें होम करते हैं। इस अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण नहीं किया है। इसका खण्डन संस्कृत में लिखा है वहाँ समझ लेना। अन्यथा भाष्य बनाने वाले जितने पहले हो गये, इस समय जितने हैं वा आगे जितने होंगे, इन सब का भाष्य खण्डन के योग्य अवश्य है। क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि विद्या विचार बल और पराक्रमादि अधिक न्यून होते ही रहते हैं। इससे विना विचार किये ग्रन्थ का प्रमाण सर्वदा नहीं रहता इसमें कुछ

आश्चर्य नहीं॥ १॥

॥ अथ द्वितीयामृचमाह॥

मूलमन्त्र– **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।**
स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

पदपाठः—अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत। सः। देवान्। आ। इह। वक्षति॥ २॥

॥ भाष्यम्॥

(अग्निः) अयमग्निः परमेश्वरः। (पूर्वेभिः) पूर्वैस्तथा। (नूतनैरुत) नवीनैरपि (ऋषिभिरीड्यः) मन्त्रद्रष्टृभिर्ऋषिभिस्तर्कैः प्राणैश्च सदैवेड्यः स्तुत्यो वन्द्योऽन्वेषणीयः पूज्यश्चास्ति। स जगदीश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण (देवान्) देवान् दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यर्त्तून् दिव्यभोगाँश्च। (एह वक्षति) इहास्मिन् संसारे जन्मन्यात्मनि च। आवक्षति। आवहतु। आसमन्तात्प्रापयतु न इति शेषः( ) अत्र प्रमाणानि।

प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः॥ ऐत० पं० २। अ० ४॥

प्राणा ऋषयः। ऋतवो वै देवाः॥ श० का० ७। अ० २॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥ १॥

अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति। स न मन्येतायमेवाऽग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते॥ नि० अ० ७। खं० १६॥

पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् इति॥
नि० अ० १३। खं० १२॥

अयमर्थः। पूर्वेभिर्जगत्कारणस्थैर्नूतनैः कार्यशरीरस्थैर्ऋषिभिः प्राणैः सह मनुष्यैरीड्य इत्यर्थः। (अग्निर्य०) योऽग्निः परमेश्वरो भौतिको वास्ति सोऽत्र ग्राह्यः। कुतः ? स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते इत्युक्तत्वात्। परमेश्वरो विद्युदादिदिव्यश्चैतावग्नी उत्तरे ज्योतिषी अत्र ग्रहीतुं योग्ये स्तः। एवमेव तर्कैर्वेदशास्त्रादिस्थैः पूर्वेभिरस्मदादिभिरिदानीन्तनैर्नवतरैश्चैवेश्वरः स्तुत्या वन्दनेन वेद्योऽस्ति नान्यथा। **'अविज्ञाततत्त्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'** इति गोतमाचार्येण न्याय-

शास्त्रे प्रतिपादितत्वात् मनुष्याणां तर्कैर्विना यथार्थज्ञानं नैव कदाचिद्भवत्यत उक्तमृषिभिस्तर्कैरिति॥ तथेश्वरस्य त्रिकालज्ञत्वात्। नवीनापेक्षया प्राचीनैः प्राचीनापेक्षया नवीनैश्च विद्वद्भिरीड्य इत्युक्ते सति न दोषो भवति देवस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात्। प्रथम-मन्त्रभाष्ये निरुक्तव्याकरणादिरीत्या देवशब्दार्थ उक्तः सोऽत्र द्रष्टव्यः।

एतन्मन्त्रार्थः सायणाचार्यादिभिरन्यथोक्तः। तद्यथा—पुरातनैर्भृग्वंगिरः प्रभृतिभिः। नूतनैरुतेदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। देवान् हविर्भुज आवक्षतीत्यन्यथेदं व्याख्यानमस्ति, तद्वद्यूरोपखण्डस्थैरत्रस्थैश्च कृतमिंगलैंडभाषायां वेदार्थयत्नादिषु च व्याख्यानमप्यसमञ्जसम्। कुतः ? ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदृशं व्याख्यानं क्षुद्राशयं गम्यते, तथा निरुक्तशतपथादिग्रन्थाशयविरुद्धं चातः॥ २॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्निः) अग्नि जो परमेश्वर (पूर्वेभिर्ऋ०) प्राचीन और नवीन ऋषि जो प्राण, मन्त्रार्थ जानने वाले जो विद्वान् और तर्क हैं। अर्थात् स्थूल जगत् का कारण जो ईश्वर की सामर्थ्य प्रकृति और परमाणु रूप है, इनमें जो सूक्ष्म प्राण हैं उनका नाम **प्राचीन** है और जो प्राण सदैव निर्विकार बने रहते हैं, जो ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले हैं उनका 'पूर्वेभिः' इस पद से ग्रहण होता है। और कार्य जो स्थूल जगत् तथा शरीर में जो प्राण हैं तथा पहिले और वर्तमान में जो विद्वान् हैं उन पूर्व हो गए विद्वानों के जो तर्क थे और आत्मा में जो तर्क हैं उनको भी 'पूर्वेभिः' तथा 'नूतनैः' इन पदों से ग्रहण करते हैं। क्योंकि ये सब शरीर के साथ ही उत्पत्ति वृद्धि और क्षय को प्राप्त होते हैं। इन दोनों प्राणों के साथ अभ्यास करने से इनके बीच ही परमेश्वर प्राप्त होता है। तथा मन्त्रार्थ जानने वाले प्राचीन और नवीन ऋषियों को भी स्तुति करने के योग्य परमेश्वर ही है। सो जगदीश्वर अपनी कृपा-कटाक्ष से शुद्ध सद्विद्यादि गुण, श्रेष्ठ इन्द्रिय, उत्तम ऋतु और सब प्रकार के जो उत्तम भोग हैं कि जिन गुणों से परमानन्द मोक्ष प्राप्त होता है, जिन इन्द्रियों से धर्माचरण, विद्या और उत्तम सुख होता है, दिव्यऋतु=जिनमें परमार्थ और व्यवहार के दोनों सुख बढ़ें। दिव्यभोग जो मोक्ष और व्यवहार में भी होते हैं, (स देवानेह वक्षति) इस संसार, इस जन्म और हमारे आत्मा में आप हम लोगों को सब प्रकार से उन सुखों को प्राप्त करो।

प्राण, तर्क और मन्त्रार्थ के जानने वाले विद्वानों को ऋषि कहते हैं। सद्विद्यादि जो दिव्यगुण और ऋतु आदि को देव कहते हैं। इसमें शतपथादि ग्रन्थों का लेख संस्कृत में लिखा है सो देख लेना।

इस मन्त्र का सायणाचार्य आदि लोगों ने अन्यथा अर्थ वर्णन किया है। इसका खण्डन भी संस्कृत में देख लेना। तद्वत् डाक्तर विलसन साहेब कृत और 'वेदार्थयत्न' में भी इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है। 'वेदार्थयत्न' वाले ने जो यह बात लिखी है कि यह मन्त्र लक्ष्य में रखने के योग्य है अर्थात् वेद ईश्वरकृत सनातन नहीं है। उनका ऐसा अभिप्राय देखने में आता है। सो उनकी बुद्धि के अनुसार ही है यह प्रमाणयुक्त नहीं है॥ २॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः॥

प्राक्तनैर्नवीनैः प्राणैः शिल्पविद्याविद्भिस्तर्क्कैः पूर्वोक्तैर्ऋषिभिरयमेवाग्निरन्वेष्टव्यगुणोस्ति। कुतः ? सोऽयमग्निरिह पदार्थविद्यायां कलाकौशलस्य विमानादीनां यानानां दिव्यगुणानावक्षति। आवहत्वित्याकांक्ष्येत चेति॥ २॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्निः) शिल्पविद्या के जानने तथा शिल्पविद्या को सिद्ध करने की इच्छा रखने वाले, उसको पढ़ाने और पढ़नेवाले जो ऋषि अर्थात् कारीगर लोग हैं वे अग्नि के गुणों के सुतर्कपूर्वक खोज से पदार्थविद्या को सिद्ध करते हैं और करें। क्योंकि पदार्थविद्या में कला-कौशल विमान आदि सवारियों के परमोत्तम गुणों की प्राप्ति अग्नि से ही होती है। इससे अग्नि के गुणों के खोजने में सब लोग सदा प्रयत्न करें॥२॥

॥ अथ तृतीयमन्त्रमाह॥

मूलमन्त्रः—**अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे।**
यशसं वीरवत्तमम्॥ ३॥

पदपाठः—**अग्निना। रयिम्। अश्नवत्। पोषम्। एव। दिवेऽदिवे। यशसम्। वीरवत्तमम्॥ ३॥**

॥ भाष्यम्॥

(अग्निना) विज्ञानानन्दस्वरूपेण दयालुना सद्धर्मानुष्ठानयोगाभ्यासपरमप्रीत्युपासनोपासितेनैवाग्निनेश्वरेण, विद्याधर्मयुक्तः सन् जीवः (रयिं) धर्ममोक्ष-

विद्याचक्रवर्त्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं धनम्। (अश्नवत्) प्राप्नुयात् वा नान्यथेति निश्चयः। कथं भूतं तद्धनम्? आत्ममनःशरीरेद्रियाणां (दिवेदिवे) प्रतिदिनं नित्यम्। (पोषमेव) पुष्टिकरमेव भवति, तथा (यशसं) यशः सत्कीर्त्तिवर्धकं शिष्टाचारादिकीर्त्तिमच्च। तथा (वीरवत्तमम्) प्रतिदिनं बुद्धिबलवीर्यशौर्य्य-धैर्य्यादिगुणयुक्ताः पुत्रबन्धुमित्रभृत्यादयो वीरा भवन्ति यस्मिन्धने तद्वीरवत्, अतिशयेन वीरवत् इति वीरवत्तमम्।

अयमाशयः—परमेश्वरोपासनेन विना स्थिरं नित्यं च सुखं कदा-चित्कस्यापि नैव भवतीति। रयिरिति धननामास्ति निघण्टौ॥

सायणाचार्येण यज्ञहोमसम्बन्धमात्रेणैवेयमृग्व्याख्याता। अत्रेश्वरान्य-पदार्थविद्यात्यागात्तद्व्याख्यानं सम्यङ् नास्तीति विज्ञेयम्। तथा वेदार्थयत्न-कर्तृडाक्तरविलसनाख्यकृतमपि च तादृशमेवास्ति। अस्य स्वल्पविषयत्वात्। मुख्यार्थस्येश्वरस्य त्यागादस्पष्टार्थत्वाच्च विदुषामाह्लादकरमीदृशं व्याख्यानं नैव भवतीति दिक्॥ ३॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्निना) अग्नि जो विज्ञान और आनन्दस्वरूप है और दया करने वाला है, सत्य धर्म का आचरण, योगाभ्यास जो समाधि का करना, परमेश्वर से अत्यन्त प्रीति और विज्ञान से जो दृढ़ विश्वास का यथावत् होना, इस प्रकार की उपासना से जो प्रसन्न होता है, उस अग्नि ईश्वर की कृपादृष्टि से सत्यविद्या और सत्यधर्माचरण से युक्त जो जीव, सो (रयिम्) जो धर्म मोक्षविद्या और चक्रवर्ति राज्यादि का होना इस धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता है। इससे दूसरे प्रकार से नहीं। वह धन कैसा है? (पोषमेव दिवेदिवे) आत्मा, मन, शरीर और इन्द्रिय इन को नित्य पुष्टि और आनन्द कराने वाला है, तथा (यशसम्) अर्थात् दिन दिन को [नित्य] प्रति सत्कीर्ति का बढ़ाने वाला और जिस धन से शिष्टाचार और सब मनुष्यों का उपकार हो। तथा (वीरवत्तमम्) बुद्धि, बल, शरीर, पराक्रम, शूरता, धीरज आदि गुण-वाले जो हैं वे पुत्र, भाई, मित्र और भृत्यादि वीरपुरुष प्राप्त हों जिस धन से, उस धन को वीरवत् कहते हैं। और जो पूर्वोक्त गुणों से अत्यन्त युक्त हो उस धन को वीरवत्तम कहते हैं।

इसका यह अभिप्राय है कि विना परमेश्वर की उपासना से संसार में स्थिर जो सुख और मोक्ष में जो नित्य सुख उस को कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता॥

सायणाचार्य ने अग्निमीळे आदि मन्त्रों का अग्नि में आहुति डालनामात्र प्रयोजन लिखा है। इस अर्थ में ईश्वर और होम से भिन्न अन्य पदार्थविद्या के त्याग से वह व्याख्यान अच्छा नहीं है। तथा वेदार्थयत्न में और डाक्तर विलसन साहेब का किया व्याख्यान भी वैसा ही है। तथा सायणाचार्य के व्याख्यान से इन का व्याख्यान बहुत अल्पार्थ है। क्योंकि ये सब व्याख्यान मुख्य अर्थ जो ईश्वर उन के त्याग और निश्चितार्थ नहीं होने से विद्वानों को प्रिय और साधारण को भी यथावत् उपकारक नहीं हो सकता॥ ३॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः॥

भौतिकाग्निनिमित्तेन शिल्पविद्याचिकीर्षुः पुरुषः सुवर्णरत्नादि राज्यादि च पूर्वोक्तविशेषणयुक्तं रयिं धनमश्नवत् प्राप्नोतु प्राप्तुमिच्छेत्। शिल्पविद्या-यामग्नेरेव मुख्यसाधनत्वात्॥ ३॥

॥ भाषार्थ॥

प्रत्यक्ष जो यह अग्नि इस के विना उत्तम कारीगरी सिद्ध नहीं हो सकती। कारीगरी के विना धन और राज्य के जो उत्तम व्यवहार तथा पदार्थ हैं वे सब मनुष्यों को यथावत् प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि उत्तम कारीगरी के होने में अग्नि मुख्य साधन है। इस अग्नि से बिजुली आदि पदार्थों को सिद्ध करके विमानादि विद्या रच लेनी चाहिए। इससे पृथिवी, जल और आकाशमार्ग में चलने के लिए विमान आदि विद्या रचनी सब मनुष्यों को उचित है॥ ३॥

॥ अथ चतुर्थो मन्त्रः॥

मूलमन्त्रः—**अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वत॑ः परि॒भूरसि॑।**
स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति॥ ४॥

पदपाठः—**अग्ने॑। यम्। य॒ज्ञम्। अ॒ध्व॒रम्। वि॒श्वत॑ः। परि॒ऽभूः। असि॑। सः। इत्। दे॒वेषु॑। ग॒च्छ॒ति॒॥ ४॥**

॥ भाष्यम्॥

(अग्ने) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्नग्ने! त्वं **(विश्वतः)** सर्वतः। **(परिभूरसि)** व्याप्तः सन्। **(यम्)** यज्ञम् **(अध्वरम्)** अहिंसनीयमर्थात्सर्वथा रक्षयितव्यं जगद्रूपम्। **(यज्ञम्)** किं वा अग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तं यज्ञं तथा भवत्स्तुतिप्रार्थनोपासनाख्यं च, त्वमेव पालितवानसि स एव यज्ञः परिपूर्णः

सन्निष्टफलप्रापको भवति। अस्य यज्ञस्यानुष्ठातुर्जनस्य भवानेव रक्षकोऽस्ति। **(सः)** तस्मात् स मनुष्यः। **(देवेषु)** विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु वा प्रवर्त्तमानः सन्। **(इत्)** सुखेनैव। **(गच्छति)** परमानन्दं प्राप्नोति नान्यथेति॥

(इत्) अत्र निश्चयार्थोस्ति। अयमपि मन्त्रः सायणाचार्यादिभिरन्यथा व्याख्यातः। भौतिकाग्नेर्जडत्वाद्यज्ञरक्षणं न सम्भवति सर्वव्यापकत्वं चातः॥ विश्वतः परिभूरसीत्यग्नेरीश्वरस्यैव विशेषणत्वात्। एवमेव डाक्तरविलसनाख्यकृतं वेदार्थयत्नाख्यं च व्याख्यानमस्य मन्त्रस्य सम्यङ् नास्तीति गम्यते॥ ४॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने! (विश्वतः परिभूरसि) सब संसार में परिपूर्ण होके (यं यज्ञमध्वरम्) रक्षा करने के योग्य यह जगत्‌रूप जो यज्ञ, अथवा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो यज्ञ, तथा आप की स्तुति प्रार्थना और उपासना का यथावत् करना जो यज्ञ, इन तीन प्रकार के यज्ञ का रक्षण आप ही कर रहे हो। इस कारण से यज्ञ परिपूर्ण होके सुखरूप फल को सदा करता है। जो मनुष्य इस यज्ञ के अनुष्ठान करने वाला है उसकी भी रक्षा करने वाले आप ही हो। (स इद्देवेषु) सो मनुष्य विद्या मोक्षादि दिव्यगुणों में और श्रेष्ठ विद्वानों के संग करने में प्रवर्त्तमान होके सुखपूर्वक ही आनन्द को (गच्छति) प्राप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं॥

इस मन्त्र को भी सायणाचार्य और डाक्तर विलसन साहेब ने तथा वेदार्थयत्नादि में अन्यथा व्याख्यान किया है। क्योंकि जड़ पदार्थ को रक्षा करने का ज्ञान ही नहीं होता और वह सर्वत्र व्यापक भी नहीं हो सकता। इससे उनका व्याख्यान ठीक नहीं॥ ४॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः॥

(अग्ने) हे परमेश्वर! भवद्रचितगुणोयमग्निः, शिल्पक्रियामयं (यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभू०ः) सर्वतो व्याप्तवानस्ति, यः परितः सर्वेषां शिल्पविद्यासाधनानामुपरि विराजमानः सन् सर्वशिल्पविद्यायाः प्रधानसाधनं वर्त्तते तमग्निं त्वं रचितवानसि। एवं तेनाग्निना निमित्तभूतेन यो मनुष्यः शिल्पविद्यां गृह्णाति (स इद्वेषु) स एव पुरुषो दिव्येषु द्योतमानेषूत्तमेषु भोगेषु स्थिरः सन् परमानन्दं (गच्छति) प्राप्नोतीत्यर्थः॥ ४॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्ने) जो कारीगरी क्रिया का मुख्य हेतु है। जिससे विमान आदि

यान सिद्ध होते हैं जिनसे मार्ग में शीघ्र गमन कर सकें। हे परमात्मन्! उस अग्नि को अनेक गुणयुक्त आपने ही उत्पन्न किया है। इसी अग्नि के गुणों के ज्ञान से जो मनुष्य पदार्थ-विद्या को सिद्ध करता है वही दिव्यभोगों में स्थिर होके सदैव अत्यन्त सुखी रहता है॥ ४॥

॥ अथ पंचमी ऋक्॥

मूलमन्त्रः— **अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।**
देवो देवेभिरागमत्॥ ५॥

पदपाठः—**अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः। देवः। देवेभिः। आ गमत्॥ ५॥**

॥ भाष्यम्॥

(अग्निः) पूर्वोक्तविशेषणयुक्तः परमेश्वरोग्निः। (होता) सर्वोत्तमपदार्थानां दाता पृथिव्यादीनामादाता ग्रहीता यो धारणकर्त्तास्ति। (कविक्रतुः) कविश्चासौ क्रतुश्च स कविक्रतुः। कविः=सर्वज्ञः क्रान्तप्रज्ञः सर्वेषां जीवानां बुद्धेः क्रमिता तदग्रे न कस्यापि बुद्धिः क्रमते सर्वेषां बुद्धेः प्रभुत्वात्। क्रतुः=सर्वजगत्कर्त्ता। (सत्यः) अस्तीति सत्, सति साधुः सत्यः, सर्वदा विनाशरहितः (चित्रश्रवस्तमः) चित्रमाश्चर्यं श्रवः श्रवणं यस्य स चित्रश्रवाः। अतिशयेन चित्रश्रवाः इति चित्रश्रवस्तमः। इत्यत्रार्थप्रमाणम्—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृणवन्तोपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
कठोपनि० वल्ली २॥

इत्यनेनाश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति॥

(देवः) स जगदीश्वरः सर्वजगत्प्रकाशकः। (देवेभिरागमत्) दिव्यैः सर्वज्ञपरमानन्दादिभिर्गुणैः सह, अस्माकं हृदयेऽस्मिन्संसारे च प्रकाशमागमत्, आगच्छतु। स्वसामर्थ्येन कृपया च सर्वथा प्रकाशितो भवत्विति प्रार्थ्यतेऽस्माभिः।

कविसत्यशब्दार्थो यास्केनाप्येवं व्याख्यातः—

कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भद्रमित्यादि॥
नि० अ० १२ खं १३॥

कुङ् शब्दे, कु शब्दे, कवते, कौति वा सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रमुपदिशति

स कविरीश्वरः। प्रसुवति भद्रं भद्रैश्वर्योत्पादनदानाभ्याम्॥

सत्यं कस्मात्सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा इति॥

नि० अ० १२। ख० १३॥

सत्सु गुणेषु, भागेषु, पदार्थेषु वा सन्तानयति पालयति वा सर्वान् जनान् यः। सत्प्रभ०=सत्ता ज्ञानेन योगेन धर्मेण वेदैर्वा प्रभवः प्रकटता यस्य च॥ अतः स परमेश्वर एव सत्यो भवितुमर्हति नान्यः।

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्येण तथा तदनुसारिभिरध्यापकविलसनाख्यादिभिश्च न सम्यग्वर्णितः। कुतः ? अस्य मन्त्रस्यार्थो होममात्रसम्बन्धेनैव वर्णितस्तस्मात्। एवमेव प्राकृतभाषाकृतोऽप्यर्थोऽन्यथैवास्तीति बोध्यम्॥ ५॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्निः) पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जो परमेश्वर है। (होता) जो सत्यविद्यादि शुभगुण और चक्रवर्ति राज्य ऐश्वर्य का देने वाला है तथा जो पृथिव्यादि लोकों का धारण करने वाला है। (कविक्रतुः) और जो सब जानने वाला है और सब की बुद्धि का अध्यक्ष है उसको **कवि** कहते हैं। जिसके सामने सबकी बुद्धि अल्प हो जाती है। क्योंकि वह सबकी बुद्धियों का प्रभु है तथा क्रतुः=जो सब जगत् का करने वाला है। (सत्यः) जिसका नाश कभी नहीं होता। (चित्रश्रवस्तमः) जिसका कथन, श्रवण और स्वरूप अत्यन्त अद्‌भुत है। (देवो देवेभिरागमत्) उस परमेश्वर की सत्यभाव से हम लोग भक्ति करते हैं वही जगदीश्वर एक अद्वितीय देव है। क्योंकि प्रकाश करने वाले जो सूर्य आदि सब लोक हैं उनका भी प्रकाशक एक वही परमेश्वर है और उसका प्रकाश करने वाला दूसरा कोई नहीं किन्तु वह तो आप ही प्रकाशित है। वह परमेश्वर जो सर्वज्ञ और परमानन्दादि दिव्य उत्तम गुण हैं उनके सह वर्त्तमान हमारे हृदय और इस संसार में कृपा करके प्रकाश को प्राप्त हो। ऐसी प्रार्थना उसकी हम लोग करते हैं जिससे वह अपनी कृपा करके जगत् के बीच में सर्वदा प्रकाशित हो।

श्रवणाया०=जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं परन्तु उनमें से जो विद्वान् सत्याचरण करने वाले हैं वे ही परमेश्वर को सुन के प्राप्त होते हैं और जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर को सुन के भी प्राप्त नहीं होते। क्योंकि इस परमेश्वर का यथार्थ उपदेश करने वाले का मिलना कठिन है। तथा ब्रह्म के जानने वाले से परमेश्वर को सुन के जाननेवाला भी कठिन है, सो जो कुशल अत्यन्त चतुर है वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है। क्योंकि इसका जाननेवाला अत्यन्त अद्‌भुत है और इस कुशल पुरुष के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है वह भी इस जगत् में आश्चर्यरूप ही है इस कारण से परमेश्वर को चित्रश्रवस्तम इस मन्त्र में विशेषण दिया है।

तथा सत्सु ता०=जो सत्य गुण, सत्य भोग, सत्य पदार्थ और सत्य व्यवहार हैं, इन में ही जो मनुष्य वर्त्तमान हैं उनको जो सुख में विस्तृत करता है, किंवा उनका जो पालनकर्त्ता है इससे परमेश्वर का **सत्य** नाम है। तथा सत्यप्रभवं०=जो सत्य ज्ञान, सत्य योग, सत्य धर्म और जो वेद हैं, इनसे ही जिसकी प्रकटता होती है इसलिये परमेश्वर का नाम **सत्य** है।

इस मन्त्र का भी सायणाचार्यादि, विलसन साहेब ने और 'वेदार्थयत्न' में भी अच्छी रीति से व्याख्यान नहीं किया है॥ ५॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः॥

(अग्निर्होता) अग्निर्भौतिकोऽश्वः। होता सर्वशिल्पविद्यागुणधारकोऽस्ति। (कविः) शिल्पविद्यायाः क्रान्तदर्शनः क्रमप्रकाशकः। (क्रतुः) शिल्पविद्या क्रियते येन सोऽयं क्रतुः। (सत्यः) सति शिल्पविद्याव्यवहारे साधुर्यः स सत्योग्निः। (चित्रश्रवस्तमः) विद्युदादिस्थगुणानां चित्रमद्‌भुतं श्रवः श्रवणं यस्मिन्सः। अतिशयेन चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमः। (देवः) शिल्पविद्यादिगुणद्योतकः सोऽग्निः। (देवेभिः) शिल्पविद्याद्योतकैर्गुणैर्दिव्यैः सह वर्त्तमानो योऽग्निरस्ति सः। हे परमेश्वर! भवत्कृपया (आगमत्) अस्माभिर्ज्ञातो भवतु। येन सर्वां शिल्पविद्यां वयं लभेमहि॥५॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्निर्होता) जिस अग्नि का नाम अश्व है और जो सब शिल्पविद्या के गुणों का धारण करनेवाला है। (कविक्रतुः) कवि=जो शिल्पविद्या का प्रकाश करनेवाला और क्रतुः=कि शिल्पविद्या जिससे की जाती है। (सत्यः) कारीगरी में जो साधु उत्तम साधन है। (चित्रश्रवस्तमः) बिजुली आदि में अत्युत्तम जो वेगादि गुण हैं वे जिसमें सुनते हैं और जिसमें अत्यन्त अद्‌भुत सामर्थ्य ईश्वर ने रक्खा है। (देवो देवभिः०) जो अग्नि वेगादि गुणों का प्रकाश करनेवाला है सो हमारे शिल्पविद्यादिव्यवहार में अत्यन्त उपकार करनेवाला आपकी कृपा से हो। जिससे शिल्पविद्या में जो दिव्यगुण उनको

हम लोग यथावत् सिद्ध करके अत्यन्त सुखी हों॥ ५॥

इति प्रथमेऽध्याये प्रथमो वर्गः॥

॥ अथ षष्ठो मन्त्रः॥

मूलमन्त्रः—**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥ ६॥**

पदपाठः—**यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि। तव। इत्। तत्। सत्यम्। अङ्गिरः॥ ६॥**

॥ भाष्यम्॥

(यदंग) हे अग्ने प्रापणीयेश्वर! हे अङ्ग सर्वमित्र! तुभ्यं सर्वपदार्थदात्रे परमेश्वराय, यो मनुष्य आत्मप्राणाद्युत्तमपदार्थान्दत्तवानस्ति, तस्मै (दाशुषे) त्वय्यत्यन्तप्रेमकारिणे मनुष्याय। (भद्रं) भजनीयं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं कल्याणं सुखं च। (त्वमग्ने) त्वमेव। (करिष्यसि) करोषि। वेति निश्चयो नः। (तवेत्तत्स०) हे अङ्गिरः! प्राणानां रसभूतपरमेश्वरेदं सत्यं व्रतं शीलं तवैवास्ति न कस्यचिदन्यस्येति, त्वया यद्भद्रं क्रियते तदेव सत्यमविनाशिरूपमस्ति नान्यदीदृशमिति विजानीमः।

यास्काचार्येण भद्रशब्दार्थ एवं वर्णितः—

भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा इति॥ नि० अ० ४। खं० ९।

प्राणो वा अङ्गिरः॥ श० का० ६। अ० १॥

आङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः। प्राणो वा अङ्गानां रसः॥

श० कां० १४। अ० ४॥

यजमानो वै दाश्वान् इति॥ श० कां० ७। अ० ३॥

अयमर्थः। यत्र दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यन्मुक्त्याख्यं परमसुखं सत्यमस्ति तदत्र विज्ञेयम्। परमेश्वरं यजते स यजमानो विद्यादिदानशीलः स दाश्वान्। अङ्गानां पृथिव्यादीनां सारभूतोऽन्तर्यामी परमेश्वरः सर्वस्य प्राण-भूतत्वाद्रसोऽस्तीति बोध्यम्। अतः सायणाचार्येण वेदार्थयत्नकृताध्यापकविलसनादिभिश्चायं मन्त्रो यथावन्नैव व्याख्यात इति विज्ञायते॥ ६॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्ने) हे प्राप्ति होने के योग्य ईश्वर अग्ने! (अङ्ग) हे अंग, सब

के परममित्र! (दाशुषे) जो मनुष्य आपको प्राण और आत्मा आदि का समर्पण करता है जो आप में अत्यन्त प्रेम करने वाला है (भद्रं) परमानन्दस्वरूप जो मोक्ष का सुख, सो उस मनुष्य को आप ही देने वाले हो (अङ्गिरः) हे प्राणों का प्राण ईश्वर! जो प्राणवत् प्रिय सुख है सो आपकी कृपा से ही होता है। क्योंकि (तवेत्तत्सत्यम्) वह आप का ही स्वभाव है जो सत्य सुखों को ही देना, यह सामर्थ्य अन्य किसी का नहीं। जो आपका दिया सुख है वही एक नित्य है, इससे दूसरा कोई ऐसा सुख नहीं॥

इसकी व्याख्या निरुक्त और शतपथ के भाष्य में लिखी है सो देख लेना। इससे यह जानना कि सायणाचार्य, 'वेदार्थयत्न' तथा डाक्तर विलसन साहेब आदि के व्याख्यान में इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है॥६॥

॥ अथ सप्तमो मन्त्रः॥

मूलमन्त्रः— **उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।**
नमो भरन्त एमसि॥ ७॥

पदपाठः—**उप। त्वा। अग्ने। दिवेदिवे। दोषाऽवस्तः। धिया। वयम्। नमः। भरन्तः। आ। इमसि॥ ७॥**

॥ भाष्यम्॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने पूज्यतमेश्वर! (दिवेदिवे) प्रतिदिनं नित्यम् (धिया) बुद्ध्या। (त्वा) त्वाम्। वयं (उपैमसि) तव उप सामीप्यम् आ सर्वतः, इमः प्राप्नुमः। तथा (दोषावस्तः) अहर्निशं निरन्तरम् (भरन्तः) ज्ञानेन प्रेमभक्तिं धारयन्तः सन्तो, (वयं) त्वां (नमः) नमस्कुर्मः। यतो भवान् सद्योऽस्मान्प्राप्नुयात्। भवत्प्राप्त्या वयं सुखिनो नित्यं भवेम॥

अत्र मन्त्रव्याख्याने सायणाचार्याध्यापकविलसनादिभिर्भौतिकाग्निमात्रस्यैव गृहीतत्वात्तद्व्याख्यानमन्यथास्ति। कुतः? भौतिकाग्नेरनायासेन होममात्रे प्राप्तत्वान्नमस्करणीयाभावाच्चेति॥ ७॥

॥ भाषार्थ॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने ईश्वर! हमको एक पूज्य आप ही हो। हम लोग (धिया) बुद्धि जो ज्ञान है इससे। (दिवेदिवे) सब दिन के लिये, आपके समीप को (त्वामुपैमसि) शरणागति को प्राप्त होते हैं। (दोषावस्तः)

तथा दिन और रात्रि में, सत्य भक्तिपूर्वक आप को (वयम्) हम लोग नित्य ही (नमो भरन्तः) नमस्कार करते हैं, जिससे कृपा करके आप हमको शीघ्र प्राप्त हों। आपकी प्राप्ति से हम लोग निरन्तर सुखी हों॥

सायण, डाक्तर विलसन और वेदार्थयत्नादि के कर्त्ताओं ने इस अर्थ को जाना भी नहीं॥ ७॥

॥ अथ द्वितीयोऽर्थः ॥

(उप त्वाग्ने) हे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तेश्वराग्ने! भवन्तमुपगता नमस्कुर्वन्तः कथयन्तश्च भवन्तं नित्यं प्रार्थयामः। भवत्प्रार्थनया त्वद्रचितस्य भौतिकाग्नेः सकाशाद्वायुवृष्टिशुद्धिकरं यज्ञानुष्ठानं शिल्पविद्यामयं च प्राप्नुयाम। एतदर्थं निरन्तरं नमोऽस्तु ते॥७॥

॥ भाषार्थ॥

(उप त्वाग्ने) हे परमेश्वर अग्ने। हम लोग आपके शरणागत हैं। नित्य आपको नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि जो-जो आपने भौतिकाग्नि में गुण रक्खे हैं उन उन गुणों से हम लोग सुगन्धित आदि पदार्थों का होम करके वायु तथा वर्षा के जल की शुद्धि करें तथा शिल्पविद्या को भी प्राप्त हों। इसलिए और मोक्षादि सुख के लिये भी आपको निरन्तर नमस्कार करते हैं॥ ७॥

॥ अथाष्टमो मंत्रः ॥

मूलमन्त्रः– **राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्।**
वर्ध॑मान॒ं स्वे दमे॥ ८ ॥

पदपाठः–**राज॑न्तम्। अ॒ध्व॒राणा॑म्। गो॒पाम्। ऋ॒तस्य॑। दीदि॑विम्। वर्ध॑मानम्। स्वे। दमे॑॥ ८ ॥**

॥ भाष्यम्॥

एमसीत्यनुवर्त्तते॥ (अध्वराणाम्) अग्निष्टोमादियज्ञानां तत्कतृणां धर्मात्मनां मानवानां च। (गोपां) रक्षकम्। तथा (राजन्तम्) सूर्यादीनां लोकानां मध्ये योगिनामात्मनश्च मध्ये धारकान्तर्यामितया (राजन्तम्) सदा प्रकाशमानम्। (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यामयस्य वेदचतुष्टयस्य मोक्षस्य च, (दीदिविम्) सम्यक् प्रकाशकम्। तथा (स्वे) स्वकीये (दमे) परमोत्कृष्टे पदे। (वर्धमानम्) अत्यन्तवृद्धिमन्तम्। एवंभूतं परमेश्वरमग्निं त्वां वयं

सदैवोपैमसि। भवत्परमपदमोक्षप्राप्तये परमप्रेम्णा सर्वतः सदा भवन्तं जगदीश्वरमेवाप्नुमः। यतोऽस्मिन्नेव जन्मनि भवत्कृपयाऽस्माकं निश्चितो मोक्षो भवेदिति नित्यमिच्छामः॥ ८॥

॥ भाषार्थ॥

(अध्वराणां गोपाम्) अध्वर जो अग्निष्टोम आदि यज्ञ और इन यज्ञों के करने वाले जो धर्मात्मा मनुष्य हैं उनकी जो यथावत् रक्षा करनेवाला है। तथा **(राजन्तम्)** सूर्य आदि जो लोक उनके बीच में और योगियों के आत्मा के बीच में धारण करने वाला और अन्तर्यामी रूप से प्रकाशमान है। तथा **(ऋतस्य दीदिविम्)** सत्यविद्यास्वरूप जो चारों वेद हैं उनका और मोक्ष का जो प्रकाश करनेवाला है। **(वर्धमानं स्वे दमे)** स्वे=अपना जो **दमे**=परमपद है उसमें **वर्धमानम्**=सब सामर्थ्य से युक्त होके जो सदा विराजमान है, और जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं उनको अपने उस परमपद में विज्ञान और आनन्दादि गुणों से जो सदा बढ़ानेवाला है, उस परमात्मा को मोक्ष आदि सुखों की प्राप्ति के लिये **(उपैमसि)** हम लोग प्राप्त होते हैं। अर्थात् हे परमेश्वर! सत्य प्रेम भक्ति से हम लोग आपको सदा प्राप्त रहें कि आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध हम लोग कभी न हों। जिससे हम लोगों को आप की प्राप्ति से मोक्ष आदि सुख इसी जन्म में प्राप्त हों॥ ८॥

॥ अथ नवमो मन्त्रः ॥

मूलमन्त्रः– **स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व।**
सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑॥ ९ ॥

पदपाठः–**सः। न॒ः। पि॒ताऽइव॑। सू॒नवे॑। अग्ने॑। सु॒ऽउ॒पा॒य॒नः। भ॒व। सच॑स्व। न॒ः। स्व॒स्तये॑॥ ९ ॥**

॥ भाष्यम्॥

(सः) यः। अग्निमीडे पुरोहितमित्यादिमन्त्रेषु पुरोहितादिविशेषणैः प्रतिपादितोऽग्निसंज्ञः परमेश्वरः सोऽत्र गृह्यते। (अग्ने) हे परमात्मन्! (सूपायनः) स्वकृपया सुखेनैव प्राप्तस्त्वं भव। तथा हे परमेश्वराभिधाग्ने! (नः) (स्वस्तये) ऐहिकपारमार्थिकसुखायास्मान् स्वकृपया। (सचस्व) समवेतान् कुरु। अर्थात् तत्सुखेन सह वर्त्तमानानस्मान् सदा कुरु। एवं

तत्सुखस्य यथावत् सिध्द्यर्थं सचस्व त्वं नित्यं समवेतः कृपयानुकूलो भव। कस्मै क इव (पितेन सूनवे) यथा स्वसन्तानाय स्वप्रजायै अत्यन्तप्रेम्णानुकम्पयमानः सन्तानसुखाय प्रवर्त्तमानः पिता इव। कुतः ? भवानेवास्माकं पितास्त्यतः।

वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजलशुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्ति, परन्तु सूत्रब्राह्मणग्रन्थेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः सोऽप्यत्र तदुक्तरीत्या कार्यः॥ ९॥

॥ भाषार्थ॥

(सः) अग्निमीळे इत्यादि आठ मंत्रों में पुरोहित आदि जिन विशेषणों से जिस परमेश्वर का कथन किया है, उसी का 'सः' शब्द से ग्रहण होता है। (अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने! अपनी कृपा से ही (नः) हमको प्राप्त हो। तथा (सूपायनः) इस लोक और परलोक के सुख के लिये। (नः) हमको (सचस्व) संयुक्त कर। तथा आप भी हमारे सहायकारी नित्य रहो। तथा (स्वस्तये) सद्विद्यादि शुभगुणों में मोक्ष आदि सुख के लिये हमको सदा युक्त कर। जिससे स्वस्ति जो परम सुख सो सदा हमको प्राप्त हो। जैसे पिता अत्यन्त प्रेम से अपने सन्तानों को सुख देता है वैसे ही आप हमको पुरुषार्थ से आनन्दयुक्त करके नित्य पालन करो। क्योंकि आप ही हम लोगों के पिता हो। इससे हमको सुख देनेवाले एक आप ही हो॥ ९॥

इति प्रथमाष्टकस्य प्रथमेऽध्याये द्वितीयो वर्गः॥

प्रथमं सूक्तं समाप्तम्॥

६

वेदविरुद्धमत-खण्डनम्

अयं ग्रन्थः श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः
तच्छिष्यभीमसेनशर्म्मकृतभाषानुवादसहितः

तत्सुखस्य यथावत् सिध्द्यर्थं सचस्व त्वं नित्यं समवेतः कृपयानुकूलो भव। कस्मै क इव (पितेन सूनवे) यथा स्वसन्तानाय स्वप्रजायै अत्यन्तप्रेम्णानुकम्पयमानः सन्तानसुखाय प्रवर्त्तमानः पिता इव। कुतः ? भवानेवास्माकं पितास्त्यतः।

वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजलशुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्ति, परन्तु सूत्रब्राह्मणग्रन्थेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः सोऽप्यत्र तदुक्तरीत्या कार्यः॥ ९॥

॥ भाषार्थ॥

(सः) अग्निमीळे इत्यादि आठ मंत्रों में पुरोहित आदि जिन विशेषणों से जिस परमेश्वर का कथन किया है, उसी का 'सः' शब्द से ग्रहण होता है। (अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने! अपनी कृपा से ही (नः) हमको प्राप्त हो। तथा (सूपायनः) इस लोक और परलोक के सुख के लिये। (नः) हमको (सचस्व) संयुक्त कर। तथा आप भी हमारे सहायकारी नित्य रहो। तथा (स्वस्तये) सद्विद्यादि शुभगुणों में मोक्ष आदि सुख के लिये हमको सदा युक्त कर। जिससे स्वस्ति जो परम सुख सो सदा हमको प्राप्त हो। जैसे पिता अत्यन्त प्रेम से अपने सन्तानों को सुख देता है वैसे ही आप हमको पुरुषार्थ से आनन्दयुक्त करके नित्य पालन करो। क्योंकि आप ही हम लोगों के पिता हो। इससे हमको सुख देनेवाले एक आप ही हो॥ ९॥

इति प्रथमाष्टकस्य प्रथमेऽध्याये द्वितीयो वर्गः॥

प्रथमं सूक्तं समाप्तम्॥

६

वेदविरुद्धमत-खण्डनम्

अयं ग्रन्थः श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः तच्छिष्यभीमसेनशर्म्मकृतभाषानुवादसहितः

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ में **वल्लभ मत का खण्डन** किया गया है। इस पुस्तक का दूसरा नाम **'वल्लभाचार्य मत खण्डन'** भी है। इस मत में वल्लभ नामक पुरुष को गुरु मानकर उनके ग्रन्थों के आधार पर आचरण किया जाता था। **यह मत पूर्णतः वेदविरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादक था।** वल्लभ जो मृत हो चुके हैं, उनका आचार्य होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि जो शिष्य को कल्पसूत्र, वेदान्त सहित वेद पढ़ावे वही आचार्य हो सकता है और मरणोपरान्त पढ़ाना सम्भव नहीं। दूसरा, इस मत में **श्रीकृष्ण को भगवान् माना गया है, जो कि असत्य है।** इसी प्रकार की पाखण्ड युक्त बातें इस मत में फैलाई गई थीं। इस मत के सभी सिद्धान्तों व ग्रन्थों को लेकर उनमें से प्रश्न उठाकर उनका खण्डन किया।

'सिद्धान्त रहस्य', 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड', 'सत्सिद्धान्तमार्तण्ड', 'विद्वन्मण्डन', 'अणु भाष्य' 'रस भावना', आदि ग्रन्थ इस मत के माने जाते हैं। यह खण्डनात्मक ग्रन्थ **गुजराती, हिन्दी** और **संस्कृत** तीनों भाषाओं में है। संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद महर्षि के शिष्य भीमसेन शर्मा जी ने और गुजराती में अनुवाद महर्षि के प्रमुख शिष्य श्याम जी कृष्ण वर्मा ने किया। पहले तो स्वामी जी ने वल्लभमत के सभी सिद्धान्तों का वेद एवं युक्तियों के आधार पर विस्तार से खण्डन किया है। अन्त में उन्होंने लिखा है कि जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है, वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं। इस कथन से वेद के विरुद्ध सभी मतों व सम्प्रदायों का स्वतः खण्डन हो जाता है।

इसकी रचना संवत् १९३१, कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या, मंगलवार के दिन पूर्ण हो गई थी। महर्षि के जीवनचरित्र को पढ़ने से पता चलता है कि इस पुस्तक के जबरदस्त प्रभाव के कारण वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अनेक बार महर्षि के प्राण हरण का प्रयत्न किया। (सम्पादक)

॥ ओ३म् ॥

अथ वल्लभादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनं च

१—(प्रश्नः) कोऽयं वल्लभो नाम कश्चास्यार्थः ?

१—(प्रश्न) वल्लभनामक पुरुष कौन है और इस शब्द का अर्थ क्या है?

२—(उत्तरम्) वल्लभोऽस्मदाचार्यः, प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः।

२—(उत्तर) वल्लभ हमारा आचार्य्य है, इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है।

३—(प्रश्नः) किमाचार्यत्वं नाम, भवन्तश्च के ?

३—(उत्तर) आचार्यपन क्या है, और आप कौन हैं?

४—(प्र०) गुरुराचार्यः वयं वर्णाश्रमस्थाः।

४—(उत्तर) गुरु को आचार्य कहते हैं, और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं।

५—(प्रश्नः) किं गुरुत्वमस्ति ?

५—(प्रश्न) गुरुपन क्या वस्तु है?

६—(उत्तरम्) उपदेष्टृत्वमिति वदामः।

६—(उत्तर) उपदेश करना, इसको हम गुरुपन कहते हैं।

७—(प्रश्नः) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रियः, उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ?

७—(प्रश्न) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है?

८—(उत्तरम्) नाद्यः, कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्या-वत्त्वाभावात्, किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति। न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात्, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्। अन्यच्च, सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीतेरभावान्नै-

ष्फल्याच्च तत्र वल्लभवत्वमेव दुर्घटम्। मृतस्याचार्यत्वकरणासम्भवात्। "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठङ्गुरुं समुपगच्छेद्" **इति श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात्।**

"उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यम्प्रचक्षते"॥ [२.१४०]

इति मनुमतविरोधात्। मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसम्बन्धाभावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम्। तथा च मृतम्प्रति प्रीतिरशक्या निष्फला च। तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टवचनत्वमप्यसङ्गतं तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात्।

८—(उत्तर) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं हो सकता क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना सम्भव नहीं, किन्तु कोई वैसा है। द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उसमें मूर्खों की प्रीति होने से वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे क्योंकि अपने-अपने सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है, अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है। और भी देखो कि जीवतों में सबकी प्रीति होने, मरे हुओं में न होने, और मरों में प्रीति करना भी निष्फल होने उस पुरुष में 'वल्लभत्व' अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता, और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है। श्रुति में लिखा है कि—"**वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके जावे।**" इससे सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना असम्भव है। और—"**जो यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे, उसको आचार्य कहते हैं**", इस मानवधर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है। मरने पश्चात् पढ़ना-पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं, वे नहीं हो सकते क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत है। इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है। और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी असङ्गत है।

९—(प्रश्नः) किङ्गुरुत्वं, सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ?

९—(प्रश्न) गुरुपन क्या वस्तु है ? क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है ?

१०—(उत्तरम्) नादिमः, कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्त्वादस्ति चेन्न सङ्गच्छते, विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात्। "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" [२.१३] इति मनुसाक्ष्यविरोधाद् भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वात्, मरणसमयेऽपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन् पदार्थान् कश्चिद् गृह्णाति भवतां तेन तुल्यत्वाच्च।

नान्त्यः, असत्योपदेशस्यानभिधानाद् द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च। स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद् भवत्सु गुरुत्वस्य विरह एवेत्यवगन्तव्यम्।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥ [२.१४२]

इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति। भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमन्त्रोपदेशञ्च त्यजन्तु, नोचेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम्।

१०—(उत्तर) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो कि हैं, तो तुम्हारा कहना असङ्गत है क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है। धर्मशास्त्र में कहा है कि—"अर्थ और काम में, जो आसक्त नहीं, उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।" इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है। स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है, और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डालादि के तुल्य मृतक के वस्त्र, आभूषणादि पदार्थों को लेते हो, इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए।

और द्वितीय पक्ष, असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध, और दोनों गुरु

शिष्य दुःखफलभागी होते हैं। अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है। अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता। धर्मशास्त्र में कहा भी है—''जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है, वह ब्राह्मण गुरु कहाता है''। इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है। और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है, इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है। यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते? यदि करते हो तो पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी बाँधना, तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ। यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये।

११—(प्रश्नः) भवन्तो गुरवः शिष्या मध्यस्था वा?

११—(प्रश्न) आप लोग गुरु, शिष्य वा मध्यस्थ हो?

१२—(उत्तरम्) गुरवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान् वेदान् पाठशालाङ्कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति? शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति? मध्यस्थाश्चेद् ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्।

१२—(उत्तर) यदि गुरु हो, तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते? यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है, यह निश्चय जानना चाहिये।

१३—(प्रश्नः) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद्विरोधिनो वा?

१३—(प्रश्न) आप लोग वेदमतानुयायी हो, वा वेदमत के विरोधी हो?

१४—(उत्तरम्) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोलकल्पितं वल्लभसम्प्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यते?, वेदविरोधिनश्चेन्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते—''नास्तिको वेदनिन्दकः''।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ [२.१६८]

इति मनुसाक्ष्यविरोधात्। पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवानीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति? नो चेन्मन्दिरे जडमूर्तिस्थापनङ्कृत्वा घण्टादिनादञ्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन् पदार्थान् किमर्थमाहरन्ति?

१४—(उत्तर) यदि वेदमतानुयायी हो, तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य सम्प्रदाय को क्यों मानते हो? यदि वेदविरोधी हो, तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते? यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि—''वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है। और जो वेद को न पढ़के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है, वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता है''। इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो। फिर जन्मने-मरनेवाले श्रीकृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो? कहो कि हम श्री कृष्णादि को ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जडमूर्ति स्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो?

१५—(प्रश्नः) भवन्तः स्वस्मिन् कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम्?

१५—(प्रश्न) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं, वा मनुष्यपन की?

१६—(उत्तरम्) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न स्वीक्रियते?, तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते? कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च?, मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम्।

१६—(उत्तर) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते?, श्रीकृष्ण के सदृश पराक्रम आप लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता? श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त हो गये आप लोग कैसे जीवते बने हो? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ।

१७—(प्रश्नः) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये, वैष्णवाश्चेत् कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते?

१७—(प्रश्न) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य? यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो?

१८—(उत्तरम्) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यं, तस्येदम्-इति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो विशेषार्थग्रहणस्य नियमाभावात्। यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथा विष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावश्शिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या अतो भवत्कृतोऽर्थोनुचितः।

१८—(उत्तर) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण के '**तस्येदम्**' [अष्टाध्यायी ४.३.११९] इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है, भक्ति विशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं। जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया, वैसे कोई विष्णु शब्द के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है। इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता।

१९—(प्रश्नः) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ?

१९—(प्रश्न) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकर का समझा है?

२०—(उत्तरम्) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिर्वेति वदाम इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम्। चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत् सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम्। कुतः, संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति। संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलं नान्यथा। ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव—''स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्'' [यजु० ४०.८] **इत्यादिश्रुतिविरोधात्।**

२०—(उत्तर) यदि गोलोक वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति, देहधारी कहते हो, तो व्यापक होना छोड़ो। यदि चतुर्भुजादि आकृतिवाला मानते हो तो सावयव, उत्पत्ति धर्मवाला, अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो। क्योंकि संयोग के विना सावयव होना नहीं सिद्ध होता। और संयोग अनित्य है, इससे संयोग-वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है, अन्यथा नहीं। और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है। वेद में कहा है कि—''ईश्वर शरीर, छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निष्पाप, सर्वत्र व्यापक है।'' इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है।

२१—(प्रश्नः) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम्?

२१—(प्रश्न) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्ति के पूजने में पुण्य होता है, वा अपुण्य?

२२—(उत्तरम्) पुण्यं भवति, न च पापमिति ब्रूमः। स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यतां क्रियताञ्च। तत्र वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत, इति जल्पामः। वेदेषु तु खलु कण्ठीतिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते। अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव।

२२—(उत्तर) पुण्य होता है पाप नहीं, ऐसा कहते हो तो ठीक नहीं, क्योंकि यदि थोड़े कण्ठी तथा तिलक के धारण और मूर्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कंठियों का भार लादने, चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है, ऐसा मानो और करो। यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते तो वेदों में कंठी, तिलकधारण और पाषाणमूर्त्तिपूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है, इसलिये आपका कथन व्यर्थ है।

२३—(प्रश्नः) किं प्रतिष्ठात्वन्नाम?

२३—(प्रश्न) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है?

२४—(उत्तरम्) पाषाणादिमूर्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनामिति ब्रूम इति।

नैवं शक्यं वक्तुम्। कथं, प्राणादीनां तत्कर्मणां तत्रादर्शनात्। यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते? ताश्च कथं न कुर्वन्ति?, यदि प्राणादीनां यत्र-कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति?, भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति। किञ्च, पाषाणादिमूर्तीनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरवकाश एव नास्ति, न नाड्यश्छिद्राणि च। मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तत एव, प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रिया जनैः क्रियन्ते। यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यम्भविष्यति, तस्मात्छीघ्रमेवेदङ्कर्म कर्त्तव्य-

मिति निश्चेतव्यम्।

यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः। कुतः? ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम्। तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोऽस्ति। एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम्। ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति, तथा चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः।

ईश्वरः सर्वव्याप्यस्त्यतः पाषाणादिमूर्तिमध्येऽप्यस्ति, पुनस्तत्पूजने को दोषः, खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते! एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पत्रोटनञ्चन्दनघर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति? कुतः, सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात्। नो चेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनङ्किमर्थं न कुर्वन्ति? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति। तद्यथा चक्रवर्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद् ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमिताया भूमे राजास्तीति, तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति, तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम्।

२४—(उत्तर) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्त्तियों में वेदमन्त्रद्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापना करना प्रतिष्ठा है, तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्त्तियों में नहीं दीख पड़ती। जो उन मूर्त्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते? और वे मूर्त्तियाँ उन कामों को क्यों नहीं करती? यदि प्राणादिकों को जहाँ कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है, तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते? केवल इसी एक कर्म से तुमको बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी। और यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्त्तियों में तो प्राणादि के जाने-आने का अवकाश ही नहीं, न नाड़ी और इन्द्रियछिद्र हैं, और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश, नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है। केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं। सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थिर कर देओ, तब तो किसी का मरण ही न होवे, इससे बड़ा पुण्य होगा। इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये।

हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे, ऐसा मनुष्य न हुआ, न होगा, क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ, न होगा, यह निश्चय जानना चाहिये। जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है, अन्य इन्द्रिय से नहीं, यह ईश्वरकृत नियम है, इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये। ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं, वे कभी चेतन नहीं होते। वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते, यह निश्चय है।

यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, इससे पाषाणादि मूर्त्तियों में भी है तो पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजने में क्या दोष है और क्यों खण्डन करते हो तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चंदन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो? क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है। जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा, वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिस जाना भी सम्भव है। यदि नहीं मानते हो तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते?, जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटी सी मूर्त्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है। तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ती राजा से कोई कहे कि आप दश हाथ भूमि के राजा हैं, उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है, वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा, यह जानना चाहिये।

२५—(प्रश्नः) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्त्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम्?

२५—(प्रश्न) छोटी-छोटी बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है वा पाप?

२६—(उत्तरम्) नाद्यः, कुतः? किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्त्तिपूजने पुण्यम्भवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम्। अन्यच्च, वेदानभिहितपाषाणादिमूर्त्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वीक्रियातान्नो चेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम्। न चरमः, कुतः? पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात्। मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः। तत्पूजनम्मुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्त्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जडत्वाच्चेति।

२६—(उत्तर) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं, क्योंकि यदि छोटी-छोटी पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है, तो बड़ी-बड़ी पीतल आदि की घण्टादिरूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है, ऐसा जानो। और भी देखो कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप ही होता है ऐसा मानो, यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो। और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा, तो मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है। यदि कहो कि मूर्त्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है, तो ठीक नहीं, क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया और स्वयं जड़ है, तो अन्य को क्या मुक्ति दे सकेगी।

२७—(प्रश्नः) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानं का वा युक्तिः?

२७—(प्रश्न) ऐसे विशेष चिह्नरूप कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है?

२८—(उत्तरम्) हरिपदाकृतित्वम्। कृष्णललाटे राधया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं, ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः। हरिशब्देन कस्य ग्रहणम्? विष्णोरेवेति वदामः।

नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम्। अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादत एव पापजनकन्तिलकमिति वेद्यम्।

किञ्च तिलकत्वमिति?, त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः।

नैवं वक्तुमुचितम्। तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलस्तिलकं वेत्यर्थस्य जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम्।

२८—(उत्तर) श्रीकृष्ण के पग के आकार-तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मार थी और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं।

हरि शब्द से किसको लेते हो?

हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं।

यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है, उनका ग्रहण क्यों नहीं होता? वेदोक्त न होने से

तिलक लगाना अयुक्त है, इसी से पापकारी है, यह जानना चाहिये। तिलक क्या वस्तु है? यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये, यह सिद्ध है, तो इस प्रकार के लम्बीभूतचन्दनादि ललाट पर के लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है, यह निश्चय जानना चाहिये।

२९—(प्रश्नः) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम्?

२९—(प्रश्न) मूर्तिपूजनादि में पुण्य होता है वा पाप?

३०—(उत्तरम्) मूर्त्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति, कुतः, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्यतः।

३०—(उत्तर) मूर्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है, क्योंकि 'जिसकी भावना जैसी होती है, उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है'।

३१—(प्रश्नः) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या?

३१—(प्रश्न) भावना सत्य है वा मिथ्या?

३१—(उत्तरम्) न प्रथमः, कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च, पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या। न द्वितीयः, कथं विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवतीत्यतः। यदि भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभावनाङ्कृत्वोपर्य्यासीमहि, यावता कालेन यावद्देशान्तरं तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरं तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या नान्यथा।

पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनां जले दधिघृतदुग्धभावनां धूल्यां गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायां तण्डुलभावनां तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनां दरिद्रः स्वस्मिंश्चक्रवर्तिभावनाञ्चक्रवर्त्ती स्वस्मिन्दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम्।

तर्हि भावना का नाम?

भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति

यथार्थं ज्ञानमिति ब्रूमस्तस्मिंस्तद्बुद्धिरिति। तथा रोटिकायां पाषाण-भावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंतद्बुद्धिर्भ्रमो ह्यभावना चेति।

३२—(उत्तर) **पहिला पक्ष**—भावना का सत्य मानना ठीक नहीं क्योंकि दु:ख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं, फिर भी सबको सुख नहीं मिलता किन्तु दु:ख होता ही है, इससे भावना सत्य नहीं। **दूसरा पक्ष**—भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं क्योंकि भावना के विना विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है। यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आपके शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुँचती है, उतने समय में उतनी दूर आपका शरीर हमको पहुँचा देवे, तब तो भावना ठीक, नहीं तो मिथ्या।

फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध, दही, घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी-दरिद्र अपने में चक्रवर्त्ती राजा की और चक्रवर्त्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे और वह वैसी ही ठीक-ठीक सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिए।

तो फिर भावना किसका नाम है?

पत्थर में पत्थर, रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है। अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है। रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान, अन्य में अन्य बुद्धि, भ्रमरूप अभावना कहाती है।

३३—(प्रश्नः) प्रतिमाशब्देन किङ्गृह्यते?

३३—(प्रश्न) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो?

३४—(उत्तरम्) पूजनार्था चतुर्भुजादिमूर्त्तिरिति वदामः।

३४—(उत्तर) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्ति को लेते हैं।

३५—(प्रश्नः) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते?

३५—(प्रश्न) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो?

३६—(उत्तरम्) प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा। किञ्चाऽनया प्रतिमीयते?, ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः। किञ्च भोरनया पाषाणादिमूर्त्यैश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलङ्कृतं किमतोऽयमर्थः क्रियते?

तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम्।

षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेद्। [८.४०३]

इति मनुसाक्ष्यं बोध्यम्। प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानां पलसेटकादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः। ''न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः'' इति यजुस्संहिताया द्वात्रिंशेऽध्याये [मन्त्र ३]**। ईश्वरस्य प्रतिमातोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽतुलत्वात्। अत एव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम्।**

३६—(उत्तर) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है, ऐसा अर्थ करते हो तो किसका स्वरूप इससे जाना जाता है? यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है, तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं? धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि—''तराजू और प्रतिमान-बाट सब ठीक-ठीक रखने चाहियें, और छः-छः महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे।'' इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़, घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है। और यजुर्वेद के बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है क्योंकि ईश्वर अतुल है। इसी से आपका किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये।

३७—(प्रश्नः) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते?

३७—(प्रश्न) पुराण शब्द से क्या लेते हो?

३८—(उत्तरम्) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः। नैवं शक्यम्, पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थत्वात्। यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान् व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थांश्चेति। तद्यथा—केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं, पुराणो गुडः, पुराणी शाटी चेत्यर्थान्नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते, तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणा-

दीनाञ्च ग्रहणं भवति, न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति।

''**ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति**'' [आश्वलायनगृह्य० ३.३.१], ''**दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत**'' [शत० १३.४.३.१३], ''**पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः**''।

इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्त्यनन्तरं नवदिनपर्यन्तमृग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणं नान्यस्येति साक्ष्यात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति। परन्तु मतमस्माकं खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः। ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः। यथा शिवादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम्।

३८—(उत्तर) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते हो, सो ठीक नहीं, क्योंकि पुराण शब्द विशेषणवाचक होने से व्यावर्तक अर्थवाची होता है। जैसे पुराने प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते, वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं। जैसे किसी ने कहा कि पुराना घृत, पुराना गुड़, पुरानी साड़ी, इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई। इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं।

कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि—''ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं।'' ''अश्वमेध यज्ञ में दशमें दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने'' ''पुराणविद्यावेद का व्याख्यान दशमें दिन सुने,'' अर्थात् नव दिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें, इस प्रकरण में पुराण शब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य का नहीं, ऐसी साक्षी है। और वेद ही सबसे पुराने हैं। परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं, यही सिद्धान्त है। ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति करानेवाले बनाये हैं। जैसे शिव आदि के नाम के छल से तन्त्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं, वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो।

३९—(प्रश्नः) देवालयशब्देन भवद्भिः किं गृह्यते?

३९—(प्रश्न) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो?

४०—(उत्तरम्) मूर्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः।

नैवं शक्यम्, कुतः? अत्र वेदविधेरभावाद् भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति। यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते। कथं, होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात्—

अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ १॥ [३.७०]
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄञ्छ्राद्धैर्नॄनन्नैश्च भूतानि बलिकर्मणा॥ २॥'' [३.८१]

होमेनैव देवपूजनं भवतीति मनुनोक्तत्वाद् भवत्कृतोऽर्थोऽसंगत एवेति निश्चयः। अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः।

४०—(उत्तर) मूर्ति को स्थापन करने, पूजने के स्थान, जिनमें कि घण्टानाद, आरती आदि करते हैं, उनको देवालय कहते हो, तो ठीक नहीं क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रान्तियुक्त होने से। इससे जिसमें होम किया जाता, वही स्थान 'देवालय' शब्दवाच्य हो सकता है क्योंकि 'देवपूजा' शब्द से होम का ग्रहण है।

धर्मशास्त्र में लिखा है कि—''पढ़ाना-ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-पितृयज्ञ, होम-देवयज्ञ, वैश्वदेव-भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता, तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये।'' इससे सिद्ध हो गया कि होम से देवपूजा होती है। यह मनु की साक्षी है। इससे आपका किया अर्थ असंगत है, यही निश्चय जानो। इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेनी चाहिये।

४१—(प्रश्नः) देवशब्देन किं गृह्यते?

४१—(प्रश्न) देवशब्द से क्या लेते हो?

४२—(उत्तरम्) ब्रह्माविष्णुमहादेवादीनत्र पूजनार्थांस्तन्मूर्त्तींश्चेति गृह्णीमः।

नैवं योग्यम्—

''**यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्र**'' **इति निरुक्ते।**

''**मन्त्रमयी देवतेति**'' **पूर्वमीमांसायाम्।**

तथा 'मन्त्रमयी देवतेति' ब्राह्मणे।

''**आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति**'' मनुस्मृतौ।

''**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**'' इति तैत्तिरीयोपनिषदि। [१.११.२]

इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्डमन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाञ्च देवदेवताशब्दाभ्यां संग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीकाराद्भवत्कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः।

एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीन् देवताशब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योऽस्ति किन्तु पशुरेव च—

''**योऽन्यां देवतामुपासते स पशुरेव देवानाम्**''॥''**उत्तिष्ठत जाग्रत** [कठ० १.३.१४] **तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ**''॥ [मुण्डक० २.५]

चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम्।

४२—(उत्तर) पूजने के लिये ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उनकी मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो, सो ठीक नहीं क्योंकि—

''वेद में जहाँ-जहाँ देवता कहा है, वहाँ-वहाँ उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मन्त्र का ही नाम देवता है,'' यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है, और **पूर्वमीमांसा** और **ब्राह्मणभाग** में—''मन्त्रस्वरूप ही देवता माना है।'' **मनुस्मृति** में—''आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है, इसलिये आत्मा ही सब देवता है।'' **तैत्तिरीय आरण्यक** में—''माता, पिता, आचार्य, अतिथि को ही देवता माना है''। इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड में मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का ही स्वीकार है, इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है।

जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है, वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है। और उपनिषद् में यही कहा है कि—''जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है, वह

देवताओं में पशु ही है।'' ''इसलिये हे मनुष्यो! उठो जागो,''—''उस आत्मा को जानो, अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो।'' इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियाँ कदापि देवता नहीं हो सकतीं, यह निश्चय जानो।

४३—(प्रश्नः) देवलदेवलक शब्दाभ्यां किं गृह्यते?

४३—(प्रश्नः) मूर्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः। नैवमुचितं वक्तुम्। कथं—

''**यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः।**

अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षते॥'' [११.२०]

इति मनुसाक्ष्यविरोधात्। यज्ञशीलानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्यते, तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽयं देवलो निन्द्यः। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः। कुत्सितो देवलो देवलकः, 'कुत्सिते' इति सूत्रेण कप्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोऽर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम्।

४४—(उत्तर) यदि कहते हो कि मूर्ति पूजने और मूर्तिपूजा से जीविका करने वाले देवल और देवलक कहाते हैं, तो ठीक नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि—''जो यज्ञ करनेवालों का धन है वह देवस्व, और यज्ञ न करनेवालों का धन आसुर कहाता है।'' देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेनेवाला देवल निन्दित कहाता है। यहाँ व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह देवलक अतिनिन्दित कहाता है क्योंकि व्याकरण के '**कुत्सिते**' [अष्टाध्यायी ५.३.७४] सूत्र से निन्दित अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है, इससे आपका किया अर्थ मिथ्या है, यह जानना चाहिये।

४५—(प्रश्नः) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न?

४५—(प्रश्न) ईश्वर के जन्म-मरण होते हैं वा नहीं?

४६—(उत्तरम्) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो, नान्यथेति स्वीक्रियते। भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्म्मनिर्मूलनार्थञ्च।

नैव न्याय्यङ्कस्मात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति। सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति, स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन। यश्च शरीर-

धारणादिसहायेन कार्य्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत्। यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारं धर्मस्थानपनमधर्मदुष्टविनाशञ्च। यथा सर्वशक्तिमत्वमीश्वरे स्वीक्रियते तथा न्यायकारित्वादयोऽपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः। अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽजोऽविकारी च।

प्रकृत्याकाशादिकं सर्वञ्जगदीश्वरस्याऽपेक्षया स्वल्पं तुच्छं सान्तञ्चास्ति, पुनस्तस्य का शरीरसामग्री, यतो निवासार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः—

''**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्**''।
[यजु० ४०.८]

''**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**''। [यजु० ४०.५]

''**सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म**''। [तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली १]

''**दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषस्स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः**''। [मुण्डक० २.१.२]

''**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते**''॥
[कठ० १.३.१५]

''**अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्**''।
[कठ० १.२.२०]

''**वेदाहमेतम्पुरुषं महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**''
[यजु० ३१.१८]

इति यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः। ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः।

४६—(उत्तर) यदि यह कहते हो कि मनुष्यादि के जन्म-मरण से विलक्षण अप्राकृत दिव्य जन्म-मरण होते हैं अन्यथा नहीं, यह स्वीकार है। क्योंकि भक्तों के उद्धार, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है, तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक,

अनन्त और निश्चल, निष्कम्प है। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है, फिर जो शरीरधारणादि सहाय से कार्य कर सके, अन्यथा न कर सके, तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता। जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है, वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है। तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों का विनाश कर सकता है। जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो, वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य है। यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ हो जावे, तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त, अजन्मा और अविकारी है।

प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा, तुच्छ और अन्तवाला है। फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है, जिसमें वह समाय जावे। उससे बड़ा कोई भी नहीं, यह सब वेद-शास्त्र से सिद्ध है तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है?

वेद और उपनिषदों के प्रमाण—''वह सब में व्याप्त, प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अच्छेद्य, अभेद्य, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निर्मल, निष्पाप है।'' ''वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है।'' ''वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सबसे बड़ा अनन्त है।'' ''वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप, सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित, सबके बाहर-भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है।'' ''वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से परे निश्चल है। उसी को ठीक-ठीक जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है''। ''वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है। इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होनेवाला है।'' मनुष्य को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूँ कि जो सब से बड़ा, पूर्ण सत्य के तुल्य प्रकाशवाला, अन्धकार से परे है। क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है, अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है।'' इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्म-मरण नहीं होते, यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये।

४७—(प्रश्नः) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ?

४७—(प्रश्न) ईश्वर साकार है, वा निराकार?

४८—(उत्तरम्) निराकारश्चेति वदामः। निरकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जायेत, तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति। मैवं वाच्यङ्कुतः, सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति। तद्यथा—

''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः''।

[तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली १]

आत्माऽऽकाशौ निराकारौ, तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत, ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते, तथा च स्थूलमयस्कांतपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतंकृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितुं द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था इत्यतो निराकारादेव साकारञ्जगज्जायत इति निश्चयः।

''अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥''

[श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.१९]

इत्यादिश्रुतिभ्यः, हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात्। साकार ईश्वरस्साकारात्साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादिवाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवैत्यवगन्तव्यम्।

४८—(उत्तर) यदि कहो कि निराकार है, तो ठीक है। और जो निराकार होने में तुमको शङ्का है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके? और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके, सो यह ठीक नहीं क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं। इससे निराकार से ही साकार की उत्पत्ति हो सकती है। जैसे प्रमाण—

''उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है, सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहलाता है।'' इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार हैं। आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु, और त्रिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है, इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है। और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख-दिखा सकते हैं, इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है।

और—''विना हाथ-पग के शीघ्र ग्रहण करता, विना चक्षु के देखता, विना कान के सुनता, वह सब को जानता, उसका जाननेवाला कोई नहीं, उसको सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं,'' इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं। ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है, साकार से साकार की उत्पत्ति होती है, हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न ही नहीं कर सकता, इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों के प्रमाद से ही निश्चय होता है।

४९—(प्रश्नः) ईश्वरो मायावी न वेति ? मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?

४९—(प्रश्न) ईश्वर मायावी है, वा नहीं?, और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो?

५०—(उत्तरम्) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते। नैवं योग्यं भवितुम्, कथं छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्यापातात्। कश्चिद्वदेदयम्मायावीत्यनेन किङ्गम्यतेऽयं छली कपटी चेति। ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम्। ''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'' इति पतञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्।

५०—(उत्तर) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि छल, कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है। कोई कहे कि यह मायावी है, इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है। ईश्वर—माया और अविद्यादि दोषों से रहित है, इसी से निर्मल, निरञ्जन, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव ही है। ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है क्योंकि इसमें श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है—''अविद्या आदि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के

फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुलना से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है।''

५१—(प्रश्नः) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति, निर्गुणो वा ?

५१—(प्रश्न) ईश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

५२—(उत्तरम्) उभयमिति प्रतिजानीमः। तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोऽपि स एव। एवमीश्वरोऽपि सर्वज्ञानादिभिः स्वीकीयैर्गुणैस्सगुण एवञ्जडत्वजन्ममरणाज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः।

''एको देवस्सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥''

[श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.११]

इति साक्ष्याद् ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चयः। किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्त्रष्टा धारयिताऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम्।

५२—(उत्तर) ईश्वर सगुण-निर्गुण दोनों प्रकार से है, यह निश्चित है। जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण, और जन्ममरण, जड़पन, अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। उपनिषद् में कहा है कि—''एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है। सबका अन्तर्यामी, सबका अध्यक्ष, सब प्राणि-अप्राणि जगत् का निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतन, केवल एक और निर्गुण है।''

इस प्रमाण से ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं क्योंकि एक वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है। किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्त्रष्टा और धारणकर्त्ता, अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी और स्वामी, ब्रह्मादि को सेवने योग्य, उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है, ऐसा जानना चाहिये।

५३—(प्रश्नः) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ?

५३—(प्रश्न) आप लोग मुक्ति मानते हो, वा नहीं ?

५४—(उत्तरम्) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः।

चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते ?

ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोऽर्था गृह्यन्ते।

नैवं शक्यं विज्ञातुङ्कुतः, सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनामपि सा मुक्तिः सिद्धेति। सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा, सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात्। सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां स्वतस्सिद्धा। कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात्। सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां साधारणाऽस्ति। कुतः, ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्त्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति। सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम्।

का तर्हि मुक्तिरिति ?

वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते।

मैवं वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादत एव दुःखापत्तेश्चेति। वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति। तद्यथा, यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमम्ब्रह्मतत्त्वविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरिति। अतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः। ''सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्'' [४.१६०] **इति मनुसाक्ष्यात्।**

५४—(उत्तर) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं।

चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ?

एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति, इत्यादि अर्थ लेते हैं।

यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है। और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सबके समीप में वर्त्तमान है, इसमें सामीप्य मुक्ति भी स्वत:सिद्ध है। और

सानुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वत:सिद्ध ही है क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं। और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उसमें व्याप्य होने से व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्वत:सिद्ध ही है। इसलिये यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है।

यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं, यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं क्योंकि वहाँ पराधीन होने से ही दु:ख प्राप्त होगा, तो दु:ख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है, अन्य नहीं। जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दु:खों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति 'मुक्ति' कहाती है। इससे आपकी मानी मुक्ति मिथ्या ही है, यह निश्चय जानो। क्योंकि—''परवश होना सब दु:ख और स्वाधीन होना सुख है।'' तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है।

५५—(प्रश्नः) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता आहेस्वित्तद्विरोधिनः?

५५—(प्रश्न) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं, वा विरोधी?

५६—(उत्तरम्) न पूर्वः, चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात्। वेद-विरोधात्पाखण्डिन एव ते त्विति वेद्यम्—

''पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान्।

हैतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥'' [४.३०]

इति मनूक्तत्वात्। एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थार्हा एवेति। 'सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा' इति विवेकः। कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः।

५६—(उत्तर) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है। वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं, यह जानना चाहिये। धर्मशास्त्र में कहा है कि—''पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे, विडाल के स्वभाव से युक्त, शठ, स्वार्थी, बगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखनेवालों का वाणी से भी सत्कार न करे।'' ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं है, किन्तु 'सम्प्रदाह' अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं। 'अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया, ऐसे जन जिनमें हों, वे सम्प्रदाह कहाते हैं'। कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये।

५७—(प्रश्नः) 'श्रीकृष्णःशरणं मम'। अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति, मिथ्या वेति?

५७—(प्रश्न) 'श्रीकृष्णः शरणं मम' यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है, वा मिथ्या?

५८—(उत्तरम्) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्त्वान्मिथ्यैवेति। वेदोक्तगायत्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम्।

५८—(उत्तर) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है। वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आपको नास्तिकता और नरकप्राप्ति होगी।

५९—(प्रश्नः) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते?

५९—(प्रश्न) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो?

६०—(उत्तरम्) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति। नैवं शक्यं, कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिनस्त्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोऽयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्तव्य इत्यर्थः। एवमेव 'नमो नारायणाय', 'नमश्शिवाय' 'नमो भगवते वासुदेवाय' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादयोऽप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनै-र्मन्तव्याः।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्योपदेशोऽयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद् भ्रष्टसम्बन्धो-ऽक्षरसमुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः—''श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरि-

वत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेह पराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।'' सहस्त्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्त्रपरिगणनं व्यर्थम्। कुतः, वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात् प्रत्यक्षता च न विद्यते। सहस्त्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोगे परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात्।

६०—(उत्तर) श्री-लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं सो मेरे शरण हों, यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों, वा मेरे शरण को नष्ट करें, इत्यादि अर्थ भी सम्भव है। अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में ''प्राप्नोतु'' पद नहीं है, किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो। वैसे कोई ''हिनस्तु'' आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है। उसको तुम कैसे रोक सकोगे? इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक, अशुद्ध है। इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये। इसी प्रकार 'नमो नारायणाय।' 'नमः शिवायः।' 'नमो भगवते वासुदेवाय।' 'ऐं ह्रीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादि अक्षरसमुदायरूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें।

और वल्लभसम्प्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्टसम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझा चाहिये। जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र 'श्रीकृष्णः शरणं' इत्यादि है। इसका अर्थ यह है कि—''श्रीकृष्ण मेरे शरण हों। सहस्त्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग, उससे हुआ जो दुःख और क्लेश, उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त-धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूँ। और हे कृष्ण! मैं तुम्हारा दास हूँ।''

सहस्त्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं, कि सहस्त्र वर्ष से ही वियोग हुआ, ऐसा निश्चय कर सको। और न प्रत्यक्ष ही सहस्त्र वर्षों को जान सकते हो, कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए। इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है।

६१—(प्रश्नः) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते?

६१—(प्रश्न) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो?

६२—( ) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः।

नैतत्सत्यमस्ति कस्मात् जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात्। गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेप्यसभ्या विद्याहीना आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः। किञ्च अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लेर्गोलोकात्पृथक्कश्चिद् गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम्। तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम्।

'कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽह' मित्यादि, इदमशुद्धम्। कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च। पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः। कृष्णास्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्त्वाज्जन्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः। तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च।

समर्पणं भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात्। दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पापफलकमेव। कुतः, परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात्। तद्धर्मांश्चेतिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहपराणीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कुतो लिङ्गवैषम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च।

'आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मी' त्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः। एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव। दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति। 'शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्' [मनु० २.३१] **इति मनुसाक्ष्यदर्शनात्। अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रन्थेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः। तद्यथा—**

''श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते॥ १॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषान्देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन॥ ३॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनान्तस्माद् वर्जनमाचरेत्॥ ४॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम्॥ ५॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः॥ ६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति॥ ७॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम्॥ ८॥
गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।''

प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि। स इदानीं वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान्, किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति। किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः। 'साक्षाद्भगवता प्रोक्त' मिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति। तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च।

सर्वदोषनिवृत्तिरिति, दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम्? नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते, नान्यः कश्चिदिति। हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः। कुतः, 'स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति' न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थैवेति निश्चयः।

सहजा इत्यादि, सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत, कुतस्तेषां सहजत्वादग्निदाहवत्। सर्वसमर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानाम्भवताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात्। तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते? लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्नुषापरस्त्रीगमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादिसंयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्भवद्भिर्वल्लभसम्प्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम्?

इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते, भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते—

''योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥'' [२.११]

इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्।'अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चने' त्यादि रचनम्भङ्गपानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम्। कुतः, ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः।

अधर्मोपदेशोऽयमन्योऽपि वल्लभसम्प्रदायस्थानां श्रोतव्यः—'तस्मादादौ०' स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यं, विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगि वस्तु सपर्मणं कार्य्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः।

अथाऽस्य खण्डनम्—विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते? अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते, इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं

कारयन्ति ? तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

सिद्धान्तस्तु येन यया यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम्। तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य वल्लभसम्प्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः। ये विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलम्, कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात्।

६२—(उत्तर) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं, तो यह ठीक (सत्य) नहीं क्योंकि जन्म-मरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते। गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा, उसमें जो वसते हैं, वे अहीरों के तुल्य मूर्ख, विद्याहीन, असभ्य जानने चाहियें और विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये। उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहाँ जावेंगे, वे भी वैसे ही होते हैं, यह जानना चाहिये।

और जो कहा था कि 'अनन्त काल से कृष्ण के वियोग से हुए दुःख क्लेश से ढँपा हुआ मैं हूँ' इत्यादि, यह अशुद्ध है क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्तदोष है। फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश, काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं। काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरणवाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता। और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है क्योंकि शरीर इन्द्रियादि अपने-अपने साथ स्वाभाविक स्थित हैं, अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटाकर दूसरे को नहीं दिये जा सकते।

यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है, तो मलमूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे, और मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे, यही प्रकट न्याय है। और स्त्री, घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफलवाला ही है क्योंकि परस्त्री का परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है। तथा 'तद्धर्मान्' इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और 'वित्तेहपराणि' इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्यसम्बन्ध भी अशुद्ध

ही है क्योंकि पर शब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है।

'हे कृष्ण! मैं तुम्हारा दास हूं। आत्मा के साथ समर्पण करता हूँ' यहाँ पर्यन्त अक्षर समुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है। जब जीव और आत्मा एक ही वस्तु है, दो नहीं हैं, तो फिर आत्मा के साथ 'देह' और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूँ, यह कथन अशुद्ध, असम्बद्ध ही है। और 'दास' अर्थात् शूद्र हूँ, 'शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये', यह मनुस्मृति की साक्षी है। सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो। इस उक्त 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है—

''(श्रावणस्या०) श्रावण महीने के शुक्लपक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है, उसको ज्यों-का-त्यों कहते हैं। ब्रह्मसम्बन्धरूप मन्त्र के लेने से सबके जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है और दोष पाँच प्रकार के हैं—एक सहज स्वाभाविक, २—देश से हुए, ३—कालभेद से हुए, ४—लोक वा धर्मशास्त्र में कहे, और ५—वेद में कहे। ये पाँच प्रकार के दोष लग सकते हैं। इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूपमन्त्र से हो सकती है। परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होनेवाले दोषों को न मानना चाहिये, अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु समर्पण कर वैसे ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है। इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये। इससे गुसांइयों के चेले निवेदन करने की वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें, यही नियम है। देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसांई के चेले किसी वस्तु को भोगें, और समर्पण यही है कि स्वामी गुसांईजी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें। इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है। वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें। गुसांईजी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसांईजी के चेला-चेली कभी न सुनें। जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है, वैसा होना चाहिये वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सबके बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करे। जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं, वैसे अपने मत के

दोष भी गुणरूप समझने चाहियें।''

हमने पहिले से कई वार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते। जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पाँच हजार वर्ष व्यतीत हुए, सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप आकर कैसे कहा? किन्तु कदापि नहीं कहा, केवल बनावट ही है। किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है। 'साक्षात् भगवान् ने कहा' यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये। इसलिये उस 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक अक्षर समुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है।

और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहाँ जावेंगे? यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे, तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है, अन्य कोई नहीं। यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप-दोष हरि (कृष्ण) को प्राप्त हों, तो उसके दुःखरूप नरकफल भोगनेवाले हरि ही होवें, यह निश्चय है। क्योंकि 'स्वयं किये हुए पाप-पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है,' इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये।

सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति हो जावे, क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता, वैसे आत्मा भी न रहेगा। सबके समर्पण करने में भी आप तथा आपके शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख, दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती। इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं। और ब्रह्मसम्बन्ध से देश-काल के परिवर्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते? और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के माननेवाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्या नहीं मानने चाहियें?

इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि

भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म करनेहारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं। नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि—''जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।'' इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत होती है। और यह जो कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये विना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती, यह रचना भांग पीकर के ही की है, यह जानना चाहिये। क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है। इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये, यह निश्चय है।

और भी थोड़ा यह वल्लभसम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये—''जिस कारण सर्वस्व समर्पण के विना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये गुसाईंजी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहले ही सब वस्तुओं का 'सपर्मण' अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि का भी समर्पण करें। विवाह होने पश्चात् अपने भोगने के सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिये। समर्पण करके उन-उन वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहियें।''

इसका खण्डन—यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री-पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिए समर्पण करके ही पश्चात् अपने भोगसम्बन्धी काम करने चाहियें तो अपनी स्त्री, कन्या, भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते? यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं, इससे नहीं करते, तो अन्यों की स्त्री का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो? यदि कहो कि उनका हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नहीं करते?

सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिसका जिसके साथ विवाह हुआ,

उनका परस्पर समर्पण हो ही गया, अन्यथा नहीं हो सकता, यह जानो। इससे व्यभिचारमय उपदेशोंवाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये, यही निश्चय है। जो लोग विश्वास करते हैं, वा करेंगे, उनको नरक की प्राप्ति ही फल होना सम्भव है क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दु:ख ही होता है।

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोऽपि तादृश एव मिथ्या। पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था, उताऽधर्माचरणार्था ? नाद्यः, कुतो वल्लभादीनामिदानीन्तनान्तानां परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात्। अश्ववृषभवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते, नान्यथा। भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते।

अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह—

'वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा।

वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्यय इति।'

अतएव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति, कुतः, लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात्। तस्य सम्प्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात्।

यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा। तदनुष्ठानत्यागान्मूर्त्तिपूजनासक्तत्वाद् व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम्। पूजा नाम सत्कारस्सज्जनानां तस्या अरिर्नाम शत्रुरयम्पूजारिशब्दार्थो वेद्यः। आर्त्तिर्नाम दुःखन्ताङ्करोतीत्यार्तिकारः। गोशब्देन पशुगुणवान् साईंशब्देन यवनाऽऽचार्यः। अयं गोसांय्याख्यशब्दार्थोऽर्थाद्यस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्त्यागञ्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागञ्च वेदोक्तन्धर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति। वाजिशब्देनाऽश्वो वा गर्द्दभो मध्यस्थो वेति वावाजिशब्दार्थः। रागोऽस्यास्तीति रागी, वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः। दण्डेन तुल्यो दण्डवत् दण्डवन्नाम काष्ठवत्। हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्यादयोऽर्थाः। इत्यादि शब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता

वल्लभादिसम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है, यह भी वैसा ही मिथ्या है। पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है, वा अधर्माचरण के अर्थ ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि वल्लभ से लेके अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता है। घोड़े, बैल, वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है, अन्यथा नहीं। आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग, परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना, इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं।

इस विषय में वल्लभ कहता है कि—'लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है, इससे अन्य सब विपरीत है।

इसीसे वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई क्योंकि वल्लभ ने लौकिक-वैदिक विषय कपट में गिना है। वल्लभ के सम्प्रदायवाले सभी वेद विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें।

'विष्णु' शब्द का अर्थ यज्ञ एवं व्यापक होता है। यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये। 'पूजा' नाम सत्पुरुषों का सत्कार, उसका जो अरि नाम शत्रु, यह पूजारी शब्द का अर्थ है। 'आर्ति' नाम दु:ख को जो करे, वह आर्तिकर्त्ता कहाता है। 'गो' नामक पशुगुणयुक्त, 'सांई' शब्द से मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का विवेक न हो और त्याग भी न करे, धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे, वह गोसांई कहाता है। वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं, इसी से गोसांई कहाते हो। 'वाजी' नाम घोड़ा, दूसरे वा शब्द से घोड़े का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खिच्चर, यह ''वावाजी'' शब्द का अर्थ है। 'राग' जिसमें हो वह रागी, 'वै' नाम निश्चय कर जो रागी हो,

उसको 'वैरागी' कहते हैं। यही वैरागी शब्द का अर्थ है। 'दण्ड' नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड़ हो, उसको ''दण्डवत्'' कहते हैं, यह ''दण्डवत्'' शब्द का अर्थ है। काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि ''हिन्दू'' शब्द का अर्थ है। इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार, विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अब तक चली आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त है। यह अन्धपरम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है, यह निश्चित है।

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते—शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते? द्विधा इतं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतं कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव। यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं क्रीडाकरणार्थमिति च। नैवञ्छक्यं वक्तुं कुतः, अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव। यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद् ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते? तथा च जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च। तस्माद्वल्लभकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम्।

द्वीतमिति—

'द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा।
सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते।'

इति वल्लभप्रबुक्कनं द्रष्टव्यम्।

द्विधाकारणकार्यरूपेण परिणतञ्चेत्तर्ह्यज्ञानदुःखबन्धननरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः। पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः परिणामः। तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारञ्जातमनेन किमागतमिति श्रूयताम्—ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीडादयो दोषा अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृताः, अत एव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम्।

वल्लभेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन। तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यादिश्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः। कुतः, विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः। यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिह नाना पित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं

नास्ति, तथैव सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति। किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयमखण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद् ब्रह्मणश्चेति। यथाऽ'यमात्माब्रह्मेत्यत्रेदं शब्देनात्मनो ब्रह्मण एव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं, न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः सम्बन्धग्रहणञ्च, तथा 'तज्जलानिति' ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत। तस्माद् ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपासनीयमेव नान्यदित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्सम्प्रदायस्थानां भवतां तु का कथा?

''सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुरः।
सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत्॥ १॥
बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम्॥ २॥
साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च।
सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत्॥ ३॥
शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः॥ ४॥''

इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः।

कर्मधारयसमासोऽसंगतः। कुतः, कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात्। षष्ठीतत्पुरुषोऽप्यसङ्गतः, द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता। अवास्तवौ द्वौ चेन्कार्यकारणकथनं व्यर्थम्। शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोः स्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थान् मैथुनसमये द्वैतं, स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते। 'अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगमः' इत्यादि पतितकारकं वल्लभादीनां मतमिति निश्चयः। कुतः, लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः, स एव प्रथमतः श्ववद्वान्ताशी जातः, तत्पुत्रो वल्लभोऽपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद् गृही, तथानेकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः।

लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टङ्कर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते। येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासं कुर्वन्तीमान् गुरूँश्च मन्यन्ते तेऽपि तादृशा ऐवेति विज्ञातव्यम्। एतादृशस्य पापकर्म-

कर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति, नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः—

''गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यदेवाविचारयन्॥ १॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥ २॥''

[८.३५०-३५१]

इति धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मे प्रवर्त्तेत स आततायी विज्ञेयः।

अब शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन लिखते हैं—शुद्ध और अद्वैत शब्द का क्या अर्थ करते हो? दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता है जो द्वीत है वही द्वैत, और जो द्वैत न हो वह अद्वैत—कार्य-कारण का एक रूप होना है। अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री-पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ।

यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्रूप होना अयोग्य ही है। यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है, वह ब्रह्म ही है तो अनन्त विज्ञान, रचना, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें, इससे बन्ध, नरक, दुःख और विषयभोग भी ईश्वर को ही होवें। इससे वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये।

और द्वीत, द्वैत एक ही बात है, द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ''सर्वं खल्विदं०'' यह श्रुति है। यह वल्लभ का भूँकना है। कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है, तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवे। पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम कहाता है, वैसे ही आपके मत में ब्रह्म ही जगत्रूप बन गया। इससे क्या आया यह सुनो—जो जगत् में अविद्या, ज्वर, पीड़ा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये, इसी से आपका मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है, यह जानना चाहिये।

वल्लभ ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म०' इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना

क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है, उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है। जैसे किसी ने कहा कि सब यह सुवर्ण है, इसमें अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं है वैसे सच्चिदानन्दादि स्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं, किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है, ऐसा जानना चाहिये क्योंकि ब्रह्म एकरस अखण्ड और अभेद्य है। जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, इस वाक्य में 'इदम्' शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। 'तज्जलान् इति ब्रह्म', ''तज्ज'' नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ, ''तल्ल'' नाम उसी में सब लय होता, ''तदन्'' नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है, इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे। अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म-मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं। इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं। यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो कथा ही क्या है?

''यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है, यह पहले ही जताया है। 'सर्व' शब्द से जितना देखा-सुना यह जगत् है, वह सब जानना, इससे वह सब जगत् ब्रह्मरूप सनातन है। क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। वह ब्रह्म साकार, सर्वशक्तियुक्त, एक सर्वज्ञ और सबका रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी से यह जगत् हुआ है।'' इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं, यह निश्चय जानो।

शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण, जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्यकारण के एकस्वरूप एकात्मक गुणवाले न होने से असङ्गत है। षष्ठी-तत्पुरुष समास भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं, उनकी एकता क्योंकर हो सकती है? और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं, तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है, इससे शुद्धपुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है, अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। 'मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे' इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करनेवाला जानना चाहिये। क्योंकि इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मणभट्ट हुआ। उसने पहिले

संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया। इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहले कुत्ते के तुल्य 'वान्ताशी' अर्थात् उगले हुए को खानेवाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास किया। पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ। इसने भी पहले विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ, विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया, इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

इनके आदि पुरुष लक्ष्मणभट्ट से लेकर अब तक वल्लभसम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है, तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को गुरु मानते हैं, वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता, अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है, पाप नहीं। इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है—"गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों, तो राजा विना विचारे मार डाले। क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता। चाहे प्रसिद्धि में मारे वा अप्रसिद्धि में; सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है, किन्तु हिंसा नहीं कहाती"। धर्म को छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो, वह आततायी कहाता है।

(प्रश्नः)—शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत उताऽन्धकाररूपम्?

(प्रश्न)—शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है, वा स्वभाव से अन्धकाररूप?

(उत्तरम्)—नाद्यः, कुतः, स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थसूर्यापेक्षाभावात्। न चरमः, स्वभावतोऽन्धकारस्वरूपञ्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासम्भवात्। एवमेव तत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम्। अत एव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा?

एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम्। विट्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात्? किन्तु परस्त्रीगमनपरधनहरणव्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम्। तत्र दिङ्मात्रनिदर्शनं वर्ण्यते—'निजमुरलिकेति', मुरलिकानादेन तेनागता गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम्। प्रतिर्लक्षणे, युवतिं-युवतिं लक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव। कुतः, मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात्।

एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम्। तथा च शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव। तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते—राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या। तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः, अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति। अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति। पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीरान्निसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे।

तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञा कृता। प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति। 'प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः', इत्यादिश्रुतिषु वर्णितम्। तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोऽपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु का कथा? पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते, यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽवगन्तव्यः। यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसम्प्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक्॥

शशिरामाङ्कचन्द्रेब्दे कार्तिकस्यासिते दले।
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः॥

(उत्तर)—प्रकाशरूप होना, पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से मार्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे। सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके, सो सम्भव नहीं। स्वभाव से अन्धकारस्वरूप होना द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकारस्वरूप हो तो सूर्य से भी उस का प्रकाशित होना असम्भव हो जावे। इस प्रकार सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो। इस पूर्वोक्त प्रकार 'शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड' और 'सत्सिद्धान्तमार्तण्ड' इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है। ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है?

इसी प्रकार 'विद्वन्मण्डन' नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो। जब तुम्हारा आचार्य विट्ठल ही विद्वान् नहीं था, तो फिर विद्वानों का मण्डन

कैसे कर सकता है? किन्तु परस्त्रीगमन, पराया धन हरना और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था, अन्य किसी कार्य में नहीं। सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं—विट्ठलकृत विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ में 'निजमुरलिका०' इत्यादि लिखा है। अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द सुन के गोकुल की सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ आईं, कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया। अर्थात् युवति-युवति स्त्रियों को देखकर, जितनी गोपों की स्त्रियाँ थीं, उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया, इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से 'विद्वन्मण्डन' नाम अयोग्य ही है क्योंकि इस पुस्तक में मूर्खता, व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है।

इसी प्रकार 'अणुभाष्य' भी असङ्गत ही है। और ऐसे ही 'रस-भावना' आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं। इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं—'राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियाँ हैं। कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन-रात क्रीड़ा करते हैं। सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियाँ हैं, उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक-एक स्त्री को एक-एक पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं।'

और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है। प्रभु नाम ईश्वर का है। 'प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है' यह वेद में कहा। जब उस ईश्वर के तुल्य अब तक न कोई हुआ, न होगा, तो उससे अधिक कौन हो सकता है? फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से **नीच का नाम महाब्राह्मण** होता है, वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये। जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है, वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं। इति शुभम्।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामि-
निर्मितस्तच्छिष्यभीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितश्च
वेदविरुद्धमतखण्डनो ग्रन्थः समाप्तः ॥

७

वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

ग्रन्थ परिचय

‘**वेदान्तिध्वान्त निवारण**’ नामक ग्रन्थ भी नवीन वेदान्तियों अथवा अद्वैतवाद के खण्डन में लिखा था। ‘वेदान्तिध्वान्त निवारण’ की रचना महर्षि ने ‘**अद्वैतमतखण्डन**’ के लगभग साढ़े चार वर्ष बाद की थी।

यह ग्रन्थ **मार्गशीर्ष, संवत् १९३१** (सन् १८७४) में लिखा गया होगा, क्योंकि इसकी रचना महर्षि ने अपने प्रथम बम्बई निवास काल में की थी। उनका यह निवास काल कार्तिक कृष्णा १, सं० १९३१ से मार्गशीर्ष कृष्णा १२ (२० अक्तूबर से ५ दिसम्बर १८७४) तक रहा। वैसे इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में इसका मुद्रण काल सं० १९३२ वि० (सन् १८७६) छपा हुआ है। इसके अनुसार, **नवसंवत्सर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा १९३३** (२६ मार्च, सन् १८७६) से पूर्व यह ग्रन्थ छप चुका था।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण ‘**ओरिण्यटल प्रेस**’ बम्बई से छपा था। हाँ, इसका दूसरा व तीसरा संस्करण भी छपा था, जिसमें प्रथम संस्करण की हिन्दी भाषा की अशुद्धियों को दूर करने का प्रत्यन किया गया था। **द्वितीय संस्करण श्रावण, संवत् १९३९** में प्रकाशित हुआ।

यह ग्रन्थ संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में था। पं० देवेन्द्रनाथ जी द्वारा रचित महर्षि के जीवनचरित से इस पुस्तक के लेखन के विषय में दो विशेष बातें प्रकट होती हैं—

१. आश्चर्य की बात है कि अद्वैतवाद के खण्डन विषयक यह पुस्तक महर्षि ने **घोर अद्वैतवादी कृष्णराम इच्छाराम जी से लिखवाई।**

२. महर्षि ने इस पुस्तक का **लेखन दो ही दिनों में समाप्त** भी कर दिया था। (सम्पादक)

ओ३म्

वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

अर्थात्

आधुनिक वेदान्तियों के मत में वेदादि सत्यशास्त्रों के पठनपाठन छूटने से जो ध्वान्त अर्थात् अन्धकार फैल गया है उसका निवारण

जिसमें

श्रौतमार्गानुकूल वादानुवादसहित
वेदान्तमत का निरूपण

छन्दः शिखरिणी

दयापूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः,
गिरायानं जानन्त्यमतिमतविध्वंसविधिना।
स वेदान्तश्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः,
समुद्धर्त्तुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम्॥

ओ३म्

अथ वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

नवीनतर वेदान्ती लोग कपोलकल्पित अर्थ अनर्थरूप करके जगत् की हानिमात्र कर लेते हैं, तथा मनुष्यों को हठ, अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःखसागर में डुबा देते हैं। सो केवल अल्पज्ञानी लोग इन के उपदेशजाल में फँस के मत्स्यवत् मरण क्लेशयुक्त होके अधर्म्म, अनैश्वर्य और पराधीनतादि दुःखस्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं।

एक बात इनकी यह है कि—जीव को ब्रह्म मानना। दूसरी यह है कि—स्वयं पाप करें और कहें कि हम अकर्त्ता और अभोक्ता हैं। तीसरी बात यह है कि—जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं। [चौथी बात यह है कि]—मोक्ष में जीव का लय मानते हैं तथा न वास्तव मोक्ष और न बन्ध, इत्यादि अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं, परन्तु नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं:—

१—जीव को ब्रह्म मानने में प्रथम इस वाक्य का प्रमाण देते हैं कि—''**प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म**''। इसको ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं, परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है, किन्तु वेद का व्याख्यान जो ''**एतरेय ब्राह्मण**'' उस में यह वाक्य है, सो ऐसा पाठ है कि—''**प्रज्ञानं ब्रह्म**''। सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि—

''**प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्**''॥

(व्याख्या)—जिसमें प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है वह प्रज्ञान कहावे अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा। ''ब्रह्म'' जो सब से वृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ानेवाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्षसुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ानेवाला तथा व्यवहार में भी बृहत् (बड़े) सुख का देनेवाला, ऐसा परमात्मा का स्वभाव और स्वरूप है।

इस वाक्य का नाम ''**महावाक्य**'' नवीन वेदान्तियों ने रक्खा है, सो अप्रमाण है, क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इन का ''**महावाक्य**'' नाम नहीं लिखा है।

''**अहं ब्रह्मास्मि**'' इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था, सो अब मैंने जान लिया कि साक्षात् ब्रह्म हूँ।

यह अनर्थ इनका बिलकुल खोटा है, क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का सम्बन्ध देखे विना चोर की नाईं बीच में से एक टुकड़ा लेके अपना मतलबसिन्धु का अर्थ करके स्वार्थसिद्धि करते हैं। देखो, इस वचन का पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार है—शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १४। प्रपाठक ३। ब्राह्मण २। कण्डिका १८—

''**आत्मेत्येवोपासीत। अत्र ह्येते सर्वऽएकं भवन्ति॥**''

इत्युपक्रम्य—तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽअन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति॥ १९॥

तदाहुः। यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत् सर्वमभवदिति॥ २०॥

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथऽर्षीणां तथा मनुष्याणाम्॥ २१॥

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। अहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति। तदिदमृप्येत्तर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽअन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादियमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु। तस्मादेषां तन्न प्रियं तदेतन्मनुष्या विद्युः॥ २२॥

'**अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः**'। इस प्रकारण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं। क्योंकि

सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म वह सब से प्रियस्वरूप है, उसी को जानना। पुत्र, वित्त, धन तथा सब जगत् के सत्य पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है। तथा अन्तरतर आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा है, जो कि अपने सबों का आत्मा है। जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है उसके प्रति **(ब्रूयात्)** कहे कि परमात्मा से तू अन्य को प्रिय बतलाता है, सो तू दुःखसागर में गिर के सदा रोवेगा। और जो कोई परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना वा प्रीति करेगा सो सदा रोवेगा। जो पाषाणादि जड़ पदार्थों की उपासना करेगा सो सदैव रोवेगा। **(आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति)** और जो सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, निराकार, अज इत्यादि विशेषणयुक्त परमेश्वर की उपासना करता है, वह इस लोक इस जन्म तथा परलोक परजन्म तथा मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त होता है। और उसी ईश्वर की कृपा से **(ईश्वरो ह तथैव स्यात्)** मनुष्यों के बीच में परमैश्वर्य को प्राप्त हो के समर्थ सत्तावान् होता है अन्य नहीं। तथा **(न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति)** यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनन्द सुख 'प्रमायुक' नष्ट कभी नहीं होता, किन्तु उसको सदैव स्थिर सुख रहता है। क्योंकि **(अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति)** जिस ब्रह्मज्ञान में सब परस्पर प्रीतिमान् होके जैसा अपने को सुख वा दुःख, प्रिय और अप्रिय जान पड़ता है, वैसा ही सब प्राणीमात्र का सुख और दुःख तुल्य समझ के न्यायकारित्वादिगुणयुक्त और सब मनुष्यमात्र के सुख में एकीभूत होके एकीरूप सुखोन्नति करने में प्रयत्न सब करते हैं, क्योंकि जैसा अपना आत्मा है, वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है॥ १९॥

(तदाहुः इत्यादि) जो मनुष्य ब्रह्मविद्यायुक्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ और सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाला वही है, ऐसा ब्रह्मविद्या-वालों का निश्चय है। सब जगत् में **(तद् ब्रह्मावेत्)** व्याप्त होके सबकी रक्षा कर रहा है, **(किमु)** और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं॥ २०॥

(ब्रह्म वा इदमित्यादि) सृष्टि के आदि में एक सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्त्तमान था, सो अपने आत्मा को **(अहं ब्रह्मास्मीति तदेवावेत्)** स्वस्वरूप का विस्मरण उस को कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से जो ब्रह्म अविद्यानिद्रा

से उठके जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुखयुक्त होता है। तथा ऋषि और मनुष्य इनके बीच में जो अज्ञाननिद्रा से उठके ब्रह्मविद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होता है, सो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है॥ २१॥

(तद्वैतदित्यादि) इस ब्रह्म को वामदेव ऋषि देखता और प्राप्त हुआ मैं मनु और सूर्य्य नामक ऋषि देहधारी अथवा सूर्य्यलोकस्थ जन्मवाला हुआ था, ऐसा विज्ञान समाधिस्थ परमेश्वर के ध्यान में तत्पर जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था। सो यह विज्ञान जिसको इस प्रकार से होगा सो भी इस प्रकार जानेगा कि **(य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति)** मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् ब्रह्मस्थ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (भर रहा) है। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है, सो इस सब सुख को प्राप्त होता है, उसके सामने अनैश्वर्यवाले जो देव इन्द्रिय वा अन्य विद्वान् ऐश्वर्यवाले नहीं होते, किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक सो इन इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात् प्रियस्वरूप होता है।

जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं, और आकाश तथा घर एक भी नहीं किन्तु पृथक्-पृथक् दोनों हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सकता। सो इसी 'बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक, में स्पष्ट लिखा है, सो यह वचन है:—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥

(व्याख्या)—हे जीवात्मन्! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप उपास्य है, तेरे में व्यापक हो के भर रहा है, तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता, क्योंकि जिसका तू शरीर है, जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है, वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है, जो तेरे बीच में रह के तेरा नियन्ता है, उसी अन्तर्यामी को छोड़के दूसरे पदार्थों की उपासना मत कर।

जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा किसी देहधारी विद्वान् देव को ब्रह्म जाने अथवा उपासना करे वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूँ तथा वह मेरे से भिन्न है, उस से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, किंवा ईश्वर नहीं है, अथवा ऐसा कहता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, सो इन्द्रियों वा देहधारी विद्वानों का पशु

है, जैसा कि बैल वा गर्दभ वैसा वह मनुष्य है, जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता॥ २२॥

इत्यादि प्रकरण विचार के विना चार अक्षर को पकड़ के चोरवत् कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता है। ग्रन्थ-विस्तार भय से अधिक नहीं लिखते हैं। यह भी यजुर्वेद का वचन नहीं है किन्तु शतपथ ब्राह्मण का यह पूर्वोक्त वचन है।

वैसे ही ''**तत्त्वमसि**'' यह भी सामवेद का वचन नहीं है, किन्तु सामब्राह्मणान्तर्गत 'छान्दोग्य' उपनिषद् का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रक्खा है। उस में ऐसा प्रकरण है कि:—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्व्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति॥

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि—सो पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् का आत्मा है। सो कैसा है कि जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति, आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो! यही सब जगत् का अन्तर्यामी आधारभूत सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन, निर्विकार, सत्यस्वरूप, अविनश्वर है।

(प्रश्न)—जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् का आत्मा है, वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं?

(उत्तर)—(स आत्मा) परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उस का आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो! जो सर्वात्मा है, सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात्—''**तदन्तर्यामी तदधिष्ठान-स्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोऽर्थः**'' तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना।

यष्टिकां भोजय अर्थात् यष्टिकया सहचरितं ब्राह्मणं भोजयेति गम्यते, तथैव तद् ब्रह्म सहचरितंस्त्वमसीत्यवगन्तव्यम्। तथा, अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राहं ब्रह्मसहचरितो वा ब्रह्मस्थोऽस्मीति विज्ञेयोऽर्थः। तात्स्थ्योपाधिना यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः क्रोशन्तीति विज्ञायते, एवं यत्र यत्रासम्भव आगच्छेत्तत्र तत्रोपाधिनाऽर्थो वेदितव्यः। अत्र न्यायदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्थं चतुष्षष्टितमं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेपि तदुपचारः॥ एषु दशविधासम्भवेषु वाक्यार्थेषु दशोपाधयो भवन्तीति वेद्यम्॥

यहाँ भी सर्वशक्तिमत्व भ्रान्त्यादिदोषरहितत्वादि गुणवाले ब्रह्म का सम्भव जीव में कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्पशक्तिमत्त्व, भ्रान्त्यादि दोषसहितत्वादि गुणवाला जीव है। इससे ब्रह्म जीव की एकता मानना केवल भ्रान्ति है।

चौथा ''**अयमात्मा ब्रह्म**'' इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का तो वाक्य नहीं है किन्तु माण्डूक्योपनिषदादिकों का है। इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देखके कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही ब्रह्म है, अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है। अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक जीव के समझने के लिये यह वाक्य है।

तथा—''**योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्**'' यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का वाक्य है। जो आदित्य में अर्थात् प्राण में पुरुष है, वह मैं जीवात्मा हूँ। ''**आदित्यो वै प्राणः**'' शतपथब्रह्मणे। तथा—''**आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः**'' इति मुण्डकोपनिषदि। इस प्रमाण से जो प्राण में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक सो जीवात्मा पुरुष मैं हूँ।

''**यद्वा परमेश्वरोऽभिवदति—हे जीवाः! योऽसौआदित्ये बाह्ये सूर्ये किं वा अन्तर्गते प्राणे स असौ अहमेवास्मीति मां वित्त**''। हे जीवो! मुझको बाहर और भीतर तुम लोग जानो, कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हूँ। ऐसा तुम लोग मुझको जानो। क्योंकि इस मन्त्र के आगे ''**अग्ने नयेत्यादि**'' मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है, तथा ''**ओं खं ब्रह्म**'' **ओं** जिसका सर्वोत्तम नाम है, **खं** आकाश की नाईं व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है। ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत**'' यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। इसका अर्थ भी तात्स्थ्योपाधि से करना—''**इदं सर्वं जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थम्। यद्वा इदं यज्जगदधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्मैव, नात्र किञ्चिद्वस्त्वन्तरं मिलितमिति विज्ञेयम्, यथेदं सर्वं घृतमेव नेदं**

तैलादिभिमिश्रितमिति॥''

यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है, अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी जो चेतन सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली हुई नहीं, जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है, वैसे उस ब्रह्म की उपासना शान्त होके जीव अवश्य करे, और किसी की नहीं॥

(२) दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है, क्योंकि अन्य सब बुद्ध्यादि जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं। सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि 'बृहदारण्यकादि उपनिषद्' तथा 'व्याससूत्र' और 'वेदादिशास्त्रों' में यही सिद्धान्त है—''**श्रोत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्ध्या निश्चिनोति, मनसा सङ्कल्पयति**'' इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं। जैसे '**असिना छिनत्ति शिरः**' तलवार को लेके किसी का शिर काटता है, इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है, काटने का साधन तलवार है तथा काटने का कर्म शिर है, इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (जो मारने वाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप पुण्य का कर्त्ता भोक्ता जीव ही है, अन्य नहीं। यह 'गोतम मुनि' तथा 'व्यासादिकों' ने सिद्ध किया है कि—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥

ये छः (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान) आत्मनिष्ठ हैं।

''**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति**'' इसमें भी जीव सुख दुःख का भोक्ता और पाप पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है, इसमें कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम होके विषयभोगरूप स्वमतलब साधने के लिये यह बात बनाई है कि··· जीव अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप पुण्य से रहित है, यह बात नवीन वेदान्ती लोगों की मिथ्या ही है॥

(३) तीसरे इनकी यह बात है कि जगत् को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं। सो इनका केवल अविद्यान्धकार का माहात्म्य है। अन्य अधिक न हो इसलिये जगत् सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है:—

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है।

(अर्थ)—जिसका मूल सत्य है उसका वृक्ष मिथ्या कैसे होगा। तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत् का कारण है, सो नित्य है, क्योंकि परमात्मा नित्य है, तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है, उसी से यह जगत् हुआ। सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता।

जो ऐसा कहो कि—''**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा**''। सो यह बात अयुक्त है, क्योंकि जो पूर्व नहीं है सो फिर नहीं आ सकता, जिस कूप में जल नहीं है, उससे पात्र में जल नहीं आता। इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पूर्व था, सो इस समय है और आगे भी रहेगा।

कोई ऐसा कहे कि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं हो सकता, वियोगान्त में नहीं रहता, सो वर्त्तमान में भी नहीं, सो जानना चाहिये।

इसका यह उत्तर है कि—विद्यमान सत् पदार्थों का ही संयोग होता है, जो पदार्थ नहीं हों उनका संयोग भी नहीं होता, इससे वियोग के अन्त में भी पृथक्-पृथक् वे पदार्थ सदैव रहते हैं, कितना ही वियोग हो तो भी अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ, सो भी मान्य करने के योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्तमान में संयुक्त पदार्थ होके पृथिव्यादि जगत् बना है, सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के विना कभी नहीं मिल सकते, तथा वियोग होने के विना वियुक्त नहीं हो सकते। सो मिलना और पृथक् होना यह पदार्थों का गुण ही है। जैसे मिट्टी में मिलने का गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं, बालुका से नहीं, सो मिट्टी में मिलने और अलग होने का गुण ही है, सो गुण सहज स्वभाव से है, वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिससे यह जगत् बना है, उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (स्वाभाविक) ही है। इससे निश्चित हुआ कि जगत् का कारण जो ईश्वर का सामर्थ्य सो नित्य है। तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं। इससे जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, उनका कहना और सिद्धान्त मिथ्याभूत है, ऐसा निश्चित जानना॥

(४) चौथी इनकी यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्षसमय में मानते हैं, जैसे समुद्र में बहुत विंदु का मिलना। यह भी इनकी बात मिथ्या है। इसके मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रन्थविस्तार न हो इसीलिये संक्षेप से लिखते हैं—

'कठवल्ली' तथा 'बृहदारण्यकादि' उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

(अर्थ)—जब जीव का मोक्ष होता है, तब पाँच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान मन के साथ अर्थात् विज्ञान के साथ स्थिर हो जाता है, और बुद्धि जो निश्चयात्मक वृत्ति सो चेष्टा न करे, अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्दस्वरूपयुक्त होके सदा आनन्द में रहता है। उसीको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं॥

सो अन्यत्र भी कहा है कि:—

परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते॥

इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य॥

परम ज्योति जो परमात्मा उसको **(उपसम्पद्य)** अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त होके **(स्वेन रूपेण)** अर्थात् अविद्यादि दोषों से पृथक् होके शुद्ध युक्त, ज्ञानस्वरूप और स्वसामर्थ्यवाला जीव मुक्त हो जाता है॥

वही स्वरूप 'शारीरक सूत्रों' के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में निरूपण किया है कि:—

अभावं वादरिराह ह्येवम्॥

मोक्षसमय में मन को छोड़ के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है, औरों का अभाव होता है, यह निश्चय वादरि आचार्य्य का है॥

तथा—भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥

जैमिनि आचार्य्य का यह मत मोक्षविषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्तिस्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है। अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्ययुक्त जीव मोक्ष में भी रहता है॥

तथा वादरायण (व्यासजी) का मत ऐसा है कि:—

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः॥

जैसे मृत शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवाँ जो दिन सो सत्रयागरूप

माना है और भिन्न भी माना जाता है, उस दिन में यज्ञ के भाव और अभाव दोनों हैं, तद्वत् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्ममरणादि दुःखों से छूट से सदा आनन्द में युक्त जीव रहता है, यह वादरायण जो व्यासजी उनका मत है॥

और 'गोतम ऋषि' का भी ऐसा ही मत है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापाया-दपवर्गः॥ २॥

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ २२॥ —न्यायदर्शन अ० १। आ० १

मिथ्या ज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतनबुद्धि और चेतन में जड़बुद्धि, इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान है; उस की निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं, दोष की निवृत्ति होने से प्रवृत्ति जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्ति है, वह निवृत्त हो जाती है। प्रवृत्ति से छूटने से जन्म छूट जाता है, जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है, सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग जो मोक्ष वह यथावत् होता है॥२॥

बाधना—विविध प्रकार की पीड़ा अर्थात् जो दुःख हैं उनकी अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग जो मोक्ष ईश्वर के आधार में अत्यन्तानन्द वह सदा के लिये प्राप्त होता है, इसका नाम **अपवर्ग** अर्थात् मोक्ष है॥ २१-२२॥

इत्यादिक अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता, किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता है। एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति॥

तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्॥

जो जीव सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी की स्वबुद्धि, ज्ञान में निहित (स्थित) जानता एवं प्राप्त होता है, वह परम व्योम व्यापक स्वरूप जो परमात्मा उस में मोक्षसमय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जो ब्रह्म उस के साथ सब कामों को

प्राप्त होता है, अर्थात् सब दु:खों से छूटके परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है॥

जो लोग जीव का लय मानते हैं, उन के मत में अनिर्मोक्षप्रसङ्ग दोष आता है, तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था, वही अविद्याभ्रम अज्ञानोपाधि के साथ होने से बद्ध हो गया है। वैसे ही प्राप्त-मोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का सङ्ग हो जायगा इससे मोक्ष की नित्यता नहीं रही। तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं, उस मोक्ष को प्राप्त होनेवाले जीव का लय ही होना है, फिर सब साधन निष्फल हो जायेंगे, क्योंकि मुक्तिसुख का आनन्द भोगनेवाले जीव का नाम निशान भी नहीं रहता।

तथा जीव ब्रह्म की एकता माननेवालों के मत में ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था, वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होके दोषी हो गया। सो यह वेद उपनिषद् तथा वेदान्त शास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है—''**शुद्धमपापविद्धं कविः**'' इत्यादि यजुर्वेद संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध, पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त है, उस में अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते। क्योंकि देश काल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं, भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं, नान्यत्र।

(प्रश्न)—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि॥

ये तैत्तिरीयोपनिषदादि के वचन हैं॥

वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके फिर उसी में प्रविष्ट हुआ। इस में जीवात्मारूप अन्त:करण में प्रविष्ट होके नाम रूप का व्याकरण करूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है।

(उत्तर) यह आप लोगों का अनर्थकरण है। क्योंकि परिपूर्ण, एकरस, सब में जो भरा है, वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता, किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है, और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है, तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था। वा जब-जब जिस-जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब तब उस उस को अपने

आत्मा में ही होता है। इस से यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करनेवाला तथा जिस में प्रवेश करता है उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है।

तथा एक प्रवेश का करनेवाला और दूसरा अनुप्रवेश करनेवाला होता है, क्योंकि:—''**शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति गम्यते**''। इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है।

किंवा सहायार्थ में तृतीया विभक्ति है—

''अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरः नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः''। अत्र प्रमाणम्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते॥

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का विद्यमान होना और सङ्ग रहना प्रतिपादित है। इस से जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है, ऋषि मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं।

ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत् को बनाया है, इस में प्रमाण:—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम्॥ १॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १३। मंत्र १२॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर! आपने (स्वभूत्या) स्वसामर्थ्य तथा (ओजा) अनन्त पराक्रम से भूमि, जल, स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को बनाया है, रक्षण और धारण तथा प्रलय आप ही करते हो॥१॥

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥ २॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १४। मंत्र १४॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर! एक असहाय विश्व सब जगत् जो कि आप का अनुसङ्गी आपके रचन और धारण से विद्यमान हो रहा है, सो आपसे अलग ही है, आप का स्वरूपभूत नहीं। क्योंकि:—''**अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि**''। इस सब जगत् को आपने स्वरूप से अन्यत् भिन्न वस्तुभूत रचा है, आप जगत्रूप नहीं बने॥ २॥

तथा—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ ३॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ ४॥

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच में निहित (स्थित) है, परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमानशून्य, शोकादिदोषरहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है। और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्वशक्तिमत्त्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं॥ ३॥

इसमें भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है।

और जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत असङ्ख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में एक है, तथा जो पृथिव्यादि स्वर्ग-पर्यन्त पदार्थों का रचन किंवा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है, उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं॥ ४॥

इससे भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक व्याप्य, तथा अन्तर्यामी अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते। व्याससूत्र—

नेतरोऽनुपपत्तेः॥

ब्रह्म से इतर अन्य किसी जीव से जगत् रचना की चेष्टा नहीं हो सकती॥

भेदव्यपदेशाच्च॥

ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं॥

मुक्तोपसृत्य व्यपदेशात्॥

मुक्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होके आनन्दी होते हैं॥

प्राणभृच्च॥

प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ॥

विशेषण दिव्य और सर्वज्ञादि भेदव्यपदेश, जीव और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे है॥

इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं। जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते तो जगत् के कारण होने में निषेध न करते। और जो जीव ब्रह्म एक होते तो निषेध का सम्भव नहीं हो सकता। इत्यादि व्यास के शारीरक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग अलग हैं॥

तथा नवीन वेदान्ती लोगों ने पञ्चीकरण की कल्पना निकाली है, सो भी अयुक्त है। त्रिवृत्करण छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है, क्योंकि आकाश का पंचीकरण विभाग वा संयोग करना असम्भव है।

नवीन वेदान्ती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है क्योंकि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं, एक जगत् को मिथ्या मानना और दूसरा जीव ब्रह्म को एक मानना।

जगत् मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं कि यह जगत् स्वप्न के तुल्य है। सो यह उनका कहना मिथ्या है। जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है, उसको मिथ्या कहनेवाले का कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है। दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के विना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता।

जो जीव ब्रह्म हो तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता? इससे जगत् को मिथ्या और [जीव]-ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है। जगत् को मिथ्या मानने में जगत् की उन्नति परस्पर प्रीति और अविद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से जगत् के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है, क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्राप्ति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधनतत्परता, अन्याय का करना, पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फँसने से अत्यन्त

पामरता और पतितादिक दोषयुक्त होके अपने मनुष्य जन्म धारण करने के जो कर्त्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से, मूर्त्तिपूजनादि व्यवहारों के करने से उस जीव का जन्म निष्फल हो जाता है।

इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्विद्यादिक उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठनपाठन और नाना भाषाओं में वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्यार्थप्रकाश करना, एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कलाकौशलादि से स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना, हठ दुराग्रह दुष्टों के संगादि को छोड़ना, उत्तम-उत्तम पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना और सत्य व्यवहारों की उन्नति करना, इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्त्तव्य है। इन को सब विरोध छोड़ के सिद्ध करना, यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है, इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझ को पूर्ण आशा है।

सो इसकी सिद्धि के लिये सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता, माता, राजा, बन्धु जो परमात्मा उनसे मैं अत्यन्त नम्र हो के प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके असन्मार्ग से हटा के सन्मार्ग में चलावें, यही हमारा परम गुरु है॥

८

शिक्षापत्रीध्वान्त-निवारणम्

अर्थात्

स्वामिनारायणमतदोषदर्शनात्मकम्

लोकोपकाराय

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य-

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितम्

ग्रन्थ परिचय

यह ग्रन्थ **सहजानन्द द्वारा प्रतिपादित स्वामी नारायण मत का खण्डन करने के लिए** लिखा गया है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम **'स्वामी नारायणमत खण्डन'** भी है।

इस मत के अनुयायी लोग सहजानन्द को नारायण का अवतार मानते थे। गोलोक और वैकुण्ठ में रहने वाले चतुर्भुज, द्विभुज और लक्ष्मीपति ईश्वर को वे नारायण मानते हैं। सहजानन्द द्वारा रचित **शिक्षापत्री के अंशों को लेकर ही** स्वामी जी ने असत्य और वेद के विरुद्ध बातों का खण्डन किया है। यह ग्रन्थ मूलतः **संस्कृत भाषा में है,** उसका **गुजराती अनुवाद** स्वामी जी ने करवाया। उसी गुजराती से **हिन्दी भाषा** में भी अनुवाद किया गया है।

ग्रन्थ की रचना का समाप्ति काल **संवत् १९३१, पौष मास की कृष्ण पक्ष की एकादशी** (१३ जनवरी, सन् १८७५, रविवार) का दिन है। इसका गुजराती अनुवाद सहित प्रथम संस्करण **संवत् १९३३** के आरम्भ में **'ओरिण्टल प्रेस'** बम्बई से प्रकाशित हुआ था। इसका गुजराती अनुवाद महर्षि के प्रमुख शिष्य श्याम जी कृष्ण वर्मा ने किया था।

(सम्पादक)

॥ ओ३म् ॥

सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च

प्रश्नः—कोऽयं सहजानन्दो नाम?

उत्तरम्—नारायणावतारः स्वामी नारायणाख्याचार्य इति ब्रूमः।

प्रश्नः—कश्च नारायणः?

उत्तरम्—वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिरीश्वर इत्युच्यते।

प्रश्नः—स इदानीमस्ति न वा?

उत्तरम्—वर्तत एव, तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात्।

नैवं शक्यम्, **'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्[1]'** इत्यादिश्रुतिविरोधात्। ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात्। सावयवदेहधारिणः संयोगजन्यादिमतो नित्यत्वेश्वरत्वयोरसम्भवाच्च। यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स ईश्वर एव न भवति, तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा?

तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम्। कुतः मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात्—

'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्[2] ॥'

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सरहस्यं सकल्पञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते[3] ॥'

इति ब्राह्मणमनुसाक्ष्यस्य वर्तमानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात्।

तद्रचितस्य शिक्षाग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्टशिक्षाविद्याविरहत्व-

१. यजु० अ० ४०। मं० ८॥
२. मुण्डकोप० मुण्डक १। खण्ड २। कण्डिका १२॥
३. मनु० अ० २। श्लोक १४०॥ सं०

पाखण्डाचारा विज्ञायन्ते। तस्याः शिक्षापत्र्याः सहजानन्दरचिताया आदिमोऽयं श्लोकः—

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि।
वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये॥ १॥

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽध उपरि वा क्व स्थितेति प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दैःकस्यापि निश्चयो नास्ति, अत एव सहजानन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम्। वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते चेत्तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रतास्तीति स्वीक्रियताम्। कृष्णस्तु द्वारिकासन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते। इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति। वृन्दावने विहरन् कृष्णः केनापि न दृश्यते। किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र दृश्यन्ते, नैव कृष्णः। पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोषरहितं विहाय 'कृष्णं हृदि चिन्तय' इत्युक्तिर्व्यर्थैवेति॥ १॥

मुकुन्दानन्दमुख्याश्च नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः।
गृहस्थाश्च मयारामभट्टाद्या ये मदाश्रयाः॥ ४॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदेश्वरयोर्निष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमेवासङ्गतम्॥ ४॥

एवमेवाग्रस्थाः श्लोकाः प्रायशोऽशुद्धाः सन्त्यत उपेक्ष्यन्ते।

दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि।
प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात्॥ १३॥

पाषाणादिमूर्त्यागाराणां देवालयसंज्ञावचनात् 'तद्देवदर्शनं कार्यमादरादिति' प्रलापात् सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव दृश्यते॥ १३॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित्।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाखण्डकल्पितः॥ १४॥

वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मः सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः? कुतः, वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिपाखण्डानां प्रचारकरणात् सहजानन्दे वदतो व्याघातदोषस्समागतो वेदितव्यः॥ १४॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद् वा पतनं यस्य वाक्यतः।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः॥ १५॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोऽस्तीति कथनं व्यर्थमेव। कुतः, वेदे वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपादनस्याभावात्। अतः किं समागतम्? सहजानन्दस्य तत्सम्प्रदायस्थानाञ्च मुखात् कदाचित् केनचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः। स कृष्णः प्रभुरेव न, तस्य जन्ममरणादिस्वभाववत्त्वात्॥ १५॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या मुखात् कार्य्या न पूरुषैः।
न विवादः स्त्रिया कार्यो न राज्ञा न च तज्जनैः॥ ३४॥

गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद् याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुतत्वात्[1] सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या॥ ३४॥

कृष्णदीक्षा गुरोः प्राप्ते तुलसीमालिका गले।
धार्यो नित्यञ्चोर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः॥ ४१॥

कृष्णदीक्षातुलसीमालाधारणोर्ध्वपुण्ड्रधारणमित्युक्तिः सहजानन्दस्य व्यर्थैव। कुतः, वेदयुक्तिभ्यां विरोधात्। स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने च महत्पुण्यं भविष्यतीत्येवं क्रियताम्॥ ४१॥

इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्या एव वेदितव्याः।

त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां स्यात् स्वकुलागता।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा मदाश्रितैः॥ ४६॥
ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात्॥ ४७॥

एवञ्चेत् सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचिद् त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधारणं कृतमेवासीत्, पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितञ्च? मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति, तद्व्यर्थमेव। कुतः तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः॥ ४६॥

नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतं तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावात्। अतः सहजानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव॥ ४७॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य लेख्यार्चां तत आदरात्।
शक्त्या जपित्वा तन्मन्त्रं कर्त्तव्यं व्यावहारिकम्॥ ५४॥

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ, पुनश्च तयोर्लेख्यां

---

१ शत० कां० १४। अ० ६। ब्रा० ६। कं० १; १४।६।८।१-१३॥

मूर्तिं कर्तुं सामर्थ्यन्नैव भवेत्। अतस्तत्पूजाकर्त्तव्योक्तिः सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या॥ ५४॥

शैली वा धातुजा मूर्तिः शालिग्रामोऽर्च्य एव तैः॥
द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य जप्याऽथाष्टाक्षरो मनुः॥ ५६॥

अस्माच्छ्लोकाद् विज्ञायते सहजानन्दस्यापि जडबुद्धिरासीदिति। कुतः, वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य विधानात्। कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्तविरुद्धेन नास्तिकत्वसिद्धेश्च॥ ५६॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं भोज्यं प्रासादिकं ततः।
कृष्णसेवापरैः प्रीत्या भवितव्यं च तैः सदा॥ ५८॥

हरेरप्रत्यक्षत्वात् पाषाणादिजडमूर्त्तेर्भोजनकरणाभावात्, तन्नैवेद्यकरणं व्यर्थमेव। इदन्तु खलु छलमेवास्ति। कुतः, अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात्॥ ५८॥

आचार्येणैव दत्तं यद् यच्च तेन प्रतिष्ठितम्।
कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं वन्द्यमेवेतरत् तु यत्॥ ६२॥
भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम्।
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चै राधिकापतेः॥ ६३॥

पाषाणादिमूर्त्तिस्वरूपं यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च तत् कृष्णरूपमेव न, किन्तु तत् पाषाणादिस्वरूपमेव। तच्च कदाचित् केनचिदपि न सेव्यं न चैव वन्द्यम्। किन्तु यस्सर्वशक्तिमानजो न्यायकारी दयालुस्सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी निराकारो भगवान् परमात्मा, स एव सर्वैस्सेव्यो वन्द्यश्चातोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति निश्चयः॥ ६२॥

अत एवाभगवत्पाषाणादिमूर्त्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य, तच्च सायं सर्वैरन्वहं गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्तनं कार्यमिति मिथ्योपदेशं प्रबुक्कतस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चन्मात्रापि तस्य नासीद्। असदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते। अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारञ्चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च, तेषामपि सद्गतिर्न भूता, न भवति, न भविष्यति च। किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्टं न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादिलक्षणं धर्मञ्च यथावद् ये स्वीकरिष्यन्ति, सर्वशक्तिमन्न्यायकारिदयालुत्वादिलक्षणस्य निराकारपरमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावद् ये च [अकुर्वन् कुर्वन्ति] करिष्यन्ति

[च] तेषामेव सद्गतिरभूद् भवति भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम्॥ ६३॥

एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते।

एकादशीनां सर्वासां कर्त्तव्यं व्रतमादरात्।
कृष्णजन्मदिनानाञ्च शिवरात्रेश्च सोत्सवम्॥ ७९॥

एकादश्यादीनि व्रतादीनि वेदे क्वापि न विहितानि। किन्तु ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि। अत एवैकादश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः॥ ७९॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनः।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम्॥ ८१॥
कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि॥ ८२॥
कर्त्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि।
सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः॥ ८३॥
विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः।
एताः पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः॥ ८४॥
भूताद्युपद्रवे क्वापि वर्म नारायणात्मकम्।
जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो जप्यो न क्षुद्रदैवतः॥ ८५॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विट्ठलेशः परधनहरणं धर्मनाशनं व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवाँस्तत् कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति॥ ८१-८२॥

द्वारिकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते। कुतः, जडे पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात्। तद्यात्राकरणोपदेशो दुःखफलक एवास्ति। किञ्च—अहिंᳲसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः[१] इति छान्दोग्योपनिषदि, 'सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारि च' इत्यादिप्रमाणार्थव्यवहारस्य विद्यमानत्वाद् वेदेश्वरविज्ञानानामेव तीर्थसंज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः। यैरविद्याजन्ममरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति तानि तीर्थानीति निरुक्तेश्च॥ ८३॥

शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणां मृतानां वेदेषु पूजानभिधानाद्, रवेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला। परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पञ्चत्वाभावाद्

१. छान्दोग्योपनिषद् उ० प्रपाठक ८। कंडिका १॥

'एताः पूज्यतया मान्याः' इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसङ्गत एवास्तीति बोध्यम्॥ ८४॥

भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवचपाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति। अतस्तदुपदेशप्रमाणं व्यर्थमेव॥ ८५॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम्।
पुराणं भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम्॥ ९३॥
तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता।
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कन्दवैष्णवखण्डगम्॥ ९४॥
धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः।
एतान्यष्टौ ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि॥ ९५॥
स्वहितेच्छुभिरेतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि।
श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः॥ ९६॥
तत्राचारव्यवहृतिनिष्कृतानाञ्च निर्णये।
ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु स्मृतिः॥ ९७॥
श्रीमद्भागवतस्यैव तु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ।
सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये॥ ९८॥
दशमः पंचमः स्कन्धौ याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः॥
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे॥ ९९॥
शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम्।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम॥ १००॥
एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च।
अत्युत्कर्षपराणि स्युस्तथा भक्तिविरागयोः॥ १०१॥
मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येवेतरवाक्यतः।
धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्येति तद्रहः॥ १०२॥

वेदाश्चेत्यादयः श्लोका प्रायोऽशुद्धाः सन्ति। श्रीमद्भागवतादिपुराणानां भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां भगवद्गीतायाश्च स्वीकारादन्येषां तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्, वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ग्रहणादन्यस्याग्रहणात्, मिताक्षराटीकान्विताया याज्ञवल्क्यस्मृतेरेव ग्रहणात्, पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्वत्तैव दृश्यते सहजानन्दे। सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्याभूताधर्मकथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीकाराद् विषयासक्तो वेदनिन्दकोऽपि सहजानन्दोऽस्तीति विज्ञायते॥ ९३-९८॥

दशमस्कन्धे भक्तिशास्त्रस्य लेशोऽपि नास्ति। किन्तु, व्यभिचाराद्यधर्मप्रतिपादनं तत्रास्त्येव प्रसिद्धम्। पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्रप्रतिपादनं नास्ति। किन्तु, योगाभासप्रतिपादनं तु तत्रास्त्येव। श्रौतसूत्रमीमांसादेर्धर्मशास्त्रस्य तिरस्कारात् पिष्टपेषणवद् दूषिताया याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात् सहजानन्दस्य वेदोक्तानां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते॥ ९९॥

रामानुजकृतस्य शारीरकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकारादविवेकस्सहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते॥ १००॥

श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः, न च स्ववाक्यानाम्। अत एव सहजानन्देन 'अत्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युः' इत्युक्तत्वाद् भ्रान्त एव स मन्तव्यः॥ १०१॥

वेदवाक्यान्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्तनान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने, वेदेभ्योऽपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं प्रबुक्कन् सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति॥ १०२॥

हृदये जीववज्जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः।
ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः॥ १०७॥
स श्रीकृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥ १०८॥
स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि॥ १०९॥
ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः।
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च॥ ११०॥

जीववन्न कदाचिदीशो भवति, सर्वज्ञसर्वशक्त्यनन्तनिर्विकारत्वादिस्वभावत्वात्॥ १०७॥

जन्ममरणहर्षशोकाल्पशक्त्यादिवत्वात् कृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः कदाचिन्नैव सम्भवति। पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दादिस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय, जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दः

कथयति, स वेदपदार्थविद्याविहीन एव विज्ञेयः॥ १०८॥

राधा त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य। कृष्णस्य रुक्मिण्येव स्त्री। पुनस्तस्य लक्ष्मीनाराणसंज्ञैवायोग्येति वेदितव्यम्॥ १०९॥

'तत्तन्नामोच्यते स च' इति सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव। कुतः सर्वज्ञज्ञान-मन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तं जातमिति बोध्यम्॥ ११०॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि।
निःश्रेयसकरं किञ्चित्ततोऽयन्नेति दृश्यताम्॥ ११३॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्न वेति विदुषां सन्देहः। स च परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च। पुनस्तस्यैव सर्वैर्मनुष्यैर्भक्तिः कार्या ततोऽन्य-त्कल्याणकरं किञ्चिन्नास्त्येवेति वदन् सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत्॥ ११३॥

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत् परं फलम्।
कृष्णे भक्तिश्च तत्संगोऽन्यथा यान्ति विदोऽप्यधः॥ ११४॥

'गुणिनां गुणवत्ताया' इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोकास्सन्तिः बहवः शिक्षापत्र्याम्। अतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोज्ञानमपि यथावन्नासीदिति। कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या निष्फला वेदविरुद्धा चास्ति। विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति, विद्यायाः प्रकाशस्वरूपत्वात्। किञ्च अविद्वांस एव सहजानन्दसदृशा असद्गतिं गता इति विज्ञायते। कुतः, अविद्याया अधर्मा-चरणान्धकारवत्त्वात्॥ ११४॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणम्।
विभाव्य तेन कर्त्तव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा॥ ११५॥

निजात्मा जीवो ब्रह्मरूपश्चेद्, ब्रह्मणा तुल्यत्वं तस्मिन् कुतो न दृश्यते? तुल्यत्वं चेत्तर्हि ब्रह्मणा सकलञ्जगद्रचितं, जीवेन नवीनं जगत् किञ्चिन्मात्र-मपि कुतो न रच्यते? जीवब्रह्मणोरैक्यं चेत्तर्हि ब्रह्मैवाविद्याजन्ममरणहर्षशोक-शीतोष्णसुखदुःखज्वरपीडाबन्धादिदोषयुक्तं जातमेवेति स्वीक्रियताम्। जीवाद् ब्रह्म भिन्नञ्चेत् प्रतिज्ञाहानिः। कृष्णोऽपि ब्रह्मभक्तः, एवं सर्वैर्जीवैरपि ब्रह्म-भक्तैरेव भवितव्यम्। नैवान्यस्य कस्यचित् कृष्णादेर्जीवस्य चेति। एवं कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्येति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञातव्यम्॥ ११५॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥ १२१॥

चक्राङ्कितवत् सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम्। विशिष्टाद्वैतशब्द-

स्यैवमर्थः क्रियते—अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः। विशिष्टो नाम मिलितः। केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वीकुर्वन्ति। एवं चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव दुर्लभम्। द्वितीयेन विना विशिष्ट एव न भवति। विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टौ मायाऽविद्याभ्यां युक्तौ जीवेशौ तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्। द्वयोरद्वैतं कदाचिन्न सम्भवति। किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति। तद्यथा सजातीयं विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्ति, एवं स्वगतभेदोऽपि ब्रह्मणि नास्त्येव, संयोगवियोगाभावात्। अत एव एकमेकर-समद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति वेदयुक्तिसम्मतो ह्यद्वैतशब्दार्थो वेदितव्यः। एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम्। गवां पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात् सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति, स्वजाति-परत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्। गोलोक एव निवासत्वात् कृष्ण-सेवानिबन्धनत्वाच्च सैव मुक्तिरिति सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम्॥ १२१॥

मया प्रतिष्ठापितानां मन्दिरेषु महत्सु च।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि॥ १३०॥

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधनगतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणादिमूर्त्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदाचिन्नैव भवन्ति। वेदानभिहितानां पाषाणादिमूर्त्तीनां जडत्वाल्लक्ष्मीनारायणादीनां तदानी-ञ्चेतनत्वात् पाषाणादिमूर्त्तीनां यथाविधि खण्डनमेव कर्त्तव्यं, नैव च पूजनमिति॥ १३०॥

अथैतयोस्तु भार्याभ्यामाज्ञया पत्युरात्मनः।
कृष्णमन्त्रोपदेशश्च कर्त्तव्यः स्त्रीभ्य एव हि॥ १३३॥

सहजानन्देन विदितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योऽपि धनलाभ एव न भविष्यत्यत एवं कपटं प्रसारितम्। तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशं चोक्तवान्। अतः सहजानन्दो धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते॥ १३३॥

निजवृत्त्युद्यमप्राप्तधनधान्यादितश्च तैः॥
अर्प्यो दशांशः कृष्णाय विंशांशस्त्विह दुर्बलैः॥ १४७॥

परधनहरणार्थं निजसुखार्थञ्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्यमेव दृश्यते। विना परिश्रमेण दशांशं विंशांशं धनं गृहीत्वा पुष्कलं संसारस्थं विषयभोगं

वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः। पुनरन्यथा वदति कृष्णाय समर्प्यमिति। कृष्णस्तु मृतः, स दशांशं विंशाशं धनं ग्रहीतुं नैवागच्छति कदाचिन्नैतादृशं तस्य दारिद्र्यमासीत्। तस्मात् सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या, तथा गोकुलस्थानां वल्लभप्रभृतीनाञ्च। ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रभृत्यार्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाता। अतः सर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्तनीया। अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम्॥ १४७॥

एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निजशक्तितः।
उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्त्तव्यं चिंतितार्थदम्॥ १४८॥
कर्त्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा।
बिल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम्॥ १४९॥

इयमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति। यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति तर्ह्युद्यापनेन विना धनलाभोऽपि शिष्येभ्यो नैव भविष्यति। पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात् पाषाणादिमूर्त्तिपूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामह एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम्॥ १४८-१४९॥

देवताप्रतिमां हित्वा लेख्या काष्ठादिजापि वा।
न योषित्प्रतिमा स्पृश्या न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम्॥ १७७॥

स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्त्तिः किमर्था स्थापिता? सा स्त्री नासीत् किम्? पुनश्च 'वामे यस्य स्थिता राधा, श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि' इति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितोपदिष्टा च? ताश्च साध्वादिभिस्तच्छिष्यैबुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते? तासां राधादीनां च कथा किमर्था क्रियते? अत एव प्रमत्तगीतवत् प्रलापात् सहजानन्दादिषु वदतो व्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति वेद्यम्॥ १७७॥

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः।
न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित्॥ १८८॥
न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि धैर्यं त्याज्यं न कर्हिचित्।
न प्रवेशयितव्या च स्ववासे स्त्री कदाचन॥ १९०॥

साधुभिरेवेन्द्रियजयादिकं कर्तव्यमित्युपदिश्यते भवता। तर्हि भवानसाधुरस्ति किम्? गृहस्थेन जितेन्द्रियत्वादिकं नैव कर्त्तव्यं किम्?॥ १८८॥

कस्यचिन्न्यासस्थानं नैव रक्षणीयञ्चेद्, विद्याधर्मेश्वरप्रार्थनास्तुत्युपासना

नैव स्थाप्याः किम्? वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्थापनं किमर्थं क्रियते, सहजानन्देन च किमर्थं कृतम्? किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्त्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति॥ १९०॥

इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिता मया।
साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषां तु विस्तरः॥ २०३॥
सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी॥ २०४॥

'इति संक्षेपत' इति धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम्। किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते। वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोऽस्तीति तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य नास्ति। लिखितस्य धर्मस्य पुनर्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात्। सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदायिको ग्रन्थो वेद एवास्ति। पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम्। विस्तर इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम्। '**प्रथने वावशब्दे**' इति व्याकरणनियमात् [अष्टाध्यायी ३.३.३३]। कथनश्रवणोपाधावेव विस्तरेति भवितव्यं नान्यत्रेति निश्चयः॥ २०३॥

सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणां बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते। वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्त्तिपूजनङ्कण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादिमिथ्याप्रतिपादनादसारभूतेयम्पत्री लिखितेति विज्ञायते। 'अभीष्टफलदायिनी'ति प्रलोभनमात्रम्। सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति न च दुःखम्। तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखङ्कर्त्तुमनुभवविरुद्धमेव। ईदृक्कथनेन सहजानन्दे लोभादयो दोषा विज्ञायन्ते। प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति। तद्वृद्ध्या विना प्रतिष्ठा धनप्राप्तिश्च न भवति। पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते हीति सहजानन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम्॥ २०४॥

वर्त्तिष्यन्ते य इत्थं हि पुरुषा योषितस्तथा।
ते धर्मादिचतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम्॥ २०६॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च वर्त्तिष्यन्ते, ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिन्तु न प्राप्स्यन्ति। किन्त्वधर्मानर्थकुकामदृढबन्धसिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः॥ २०६॥

नेत्थं य आचरिष्यन्ति ते त्वस्मत्सम्प्रदायतः।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः साम्प्रदायिकैः॥ २०७॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनं कण्ठीतिलकादिपाखण्डचिह्नधारणं कदाचित्केनचिदपि नैव कर्त्तव्यम्, इतीत्थं ये वर्त्तन्ते ते धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव। वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं सत्यं पक्षपातरहितं न्यायं धर्मं हित्वा शिक्षादिकपोलकल्पितान्, पक्षपातपिष्टपेषणदोषवद्दूषितान्, सहजानन्दादिरचितान्, वेदपठनमार्गविरोधिनो ग्रन्थान् ये स्वीचक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तानेव नास्तिकत्वदोषयुक्तान् सत्यधर्मबहिर्भूताञ्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम्॥ २०७॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः।
कर्त्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्य्यमादरात्॥ २०८॥
वक्रभावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम्।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात्॥ २०९॥
युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयं तु पत्रिका।
आसुर्या सम्पदाढ्याय पुंसे देया न कर्हिचित्॥ २१०॥

वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादिकपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थे एवेति वेदितव्यम्॥ २०८॥

ईदृशस्य जडस्य व्यर्थपुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव। वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित्। पुनः परमादरान्मान्या तु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति। एतत्कथं सहजानन्दस्याज्ञानिनो बालान् भ्रामयित्वा कपटेन धनादिकं तेभ्यो हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः॥ २०९॥

यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहीष्यति, तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात्। यस्त्वविद्याद्यसुरसम्पद्युक्तः स एतां स्वीकरोति। तस्मिन् सम्प्रदाहशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात्। सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोऽयं सम्प्रदाहः। इदानीन्तनास्सम्प्रदाया वेदविरुद्धास्सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः॥ २१०॥

मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः, परमसुखश्च ददातीति मिथ्या प्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते स सत्यो वा मिथ्या?

मिथ्यैवेति निश्चयः। कथं, यो मृतः स आगन्तुं पूर्वदेहकार्यं कर्तुं च नैव समर्थो भवति। यदि समर्थः स्यात्तर्हि तत्सम्प्रदायस्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्थाः पुष्कलास्स्वाधीनाःकृतास्तद्भोगं कर्तुमप्यवश्यमागच्छेत्। भोगार्थञ्च न चैवागच्छति किमतो विज्ञायते छिन्ननासिकसम्प्रदायवदज्ञानिजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति। नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति।

स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनाञ्चिह्नानि रचयित्वाग्नौ प्रतप्य बाहूमूले च सजीवान् देहान् दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदायादिस्थाः अहो महत्पापमिति वेद्यम्। केचित्तु वकवृत्तिवत् साधवो जातास्ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शञ्च। तदाचार्य्यो गृहस्थोऽस्ति च, स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं हरति, ते च साधवो हारयन्ति, द्वौ विवाहावप्येकः कृतवानीदृगन्यथाव्यवहारो यस्मिन् सम्प्रदाये वर्त्तते तस्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य प्रत्याशा केनापि नैव कर्त्तव्येति सज्जनैर्वेदितव्यम्। इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितमधिकञ्च स्वबुद्ध्योहनीयमिति।

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान्।
भूयात्तमां सहायो नो न्यायकारी शुचिः प्रभुः॥ १॥
भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्याऽसिते दले।
एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागमत्॥ २॥

—०—

॥ ओ३म् ॥

स्वामिनारायण-मत-खण्डन

(गुजराती का भाषानुवाद)

सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न और उन मतों का खण्डन

प्रश्न—सहजानन्द नामक पुरुष कौन है?

उत्तर—सहजानन्द नारायण का अवतार और स्वामिनारायण नामक पन्थ का आचार्य्य है।

प्रश्न—नारायण कौन है?

उत्तर—गोलोक और वैकुण्ठ में रहनेवाला, चतुर्भुज, द्विभुज और लक्ष्मीपति ईश्वर है।

प्रश्न—वह अब भी (अभी) है कि नहीं?

उत्तर—ईश्वर नित्य है, इससे वह अब भी है।

खण्डन—ऐसा होना अशक्य है, क्योंकि वेद में कहा है कि—

''ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्य्यरूप, शरीर, छिद्र और नाड़ी से रहित, शुद्ध और पाप रहित है।''

सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म-मरण और देहधारण है ही नहीं, जिसका जन्म-मरण और शरीर धारण हो उसको ईश्वर कभी कह ही नहीं सकते। फिर आजकल के सहजानन्द का तो क्या कहना है?

प्रथम तो मुरदा के वास्ते आचार्य का नाम बिलकुल नहीं घटता, क्योंकि सहजानन्द मर गया और इसी से वह अभ्यास कराने को असमर्थ है। ब्राह्मण भाग में कहा है कि—

''अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो, उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिध् नामक लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये।''

और वही मनु भी साक्षी देता है कि—

''जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु, अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्म्मक्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कल्पसहित पढ़ावे तो ही उसको 'आचार्य' कहना चाहिये।''

सहजानन्द की बनाई हुई शिक्षा-पत्री, जिससे सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है। सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्नलिखित है—

''श्रीकृष्ण जिनकी बाईं ओर राधाजी खड़ी हैं और जिनकी छाती पर लक्ष्मीजी बैठी हैं और जो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हैं, उनका मैं हृदय से ध्यान धरता हूँ''॥ १॥

राधा वाम और दक्षिण, पश्चिम, आसपास और ऊपर नीचे कहाँ खड़ी हैं, सो प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी निश्चय होता नहीं। इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना करी सो व्यर्थ है। जबकि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी है तो कृष्ण के मुख में दरिद्रता बैठी है, ऐसा मानना पड़ेगा। महाभारत में कहा है कि ''कृष्ण द्वारिका की पड़ोस में मर गये''। अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहाँ है? कृष्ण तो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दावन में बहुपाखण्ड पाषाणादि की मूर्त्तियाँ दीखती हैं। निराकार, जन्म-मरण-रहित ईश्वर को छोड़ के कृष्ण का मैं हृदय में ध्यान धरता हूँ, ऐसा कहना मिथ्या है॥ १॥

''मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मायाराम आदि गृहस्थ मेरे आश्रित हैं''॥ ४॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर आस्था रक्खी नहीं, इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है॥ ४।

इसी प्रकार से इनके बहुत से आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और अशुद्ध हैं।

''रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आवें, उनको नमना और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये''॥ १३॥

पाषाण आदि मूर्त्ति के घर को देवालय नाम दिया इससे और उनका दर्शन करना इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिलकुल नहीं जानता था॥ १३॥

''अपने वर्ण आश्रम का जो धर्म उसका कोई पुरुष त्याग न करे, उसी प्रकार पाखण्डकल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिये''॥ १४॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम धर्म का त्याग किसलिये किया? जो कहो कि त्याग नहीं किया तो वेदविरुद्ध मूर्त्तिपूजन, कण्ठी, तिलकधारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया-कराया? यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने पैर में अपने आप ही कुठार मारा है, यहाँ तक अपने कथन को अपने आप ही धो डाला है॥ १४॥

''जिसके कहने से कृष्ण-भक्ति में भंग पड़े, उस पुरुष के मुख से कभी भगवान् की कथा-वार्ता सुननी नहीं चाहिये''॥ १५॥

'केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है'। इस प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है। क्योंकि वेद में जहाँ वर्णाश्रम धर्म प्रतिपादन प्रकरण चला है, वहाँ पर 'कृष्ण की भक्ति करनी यही स्वधर्म है,' ऐसा नहीं कहा। यह ऊपर से समझना चाहिये कि सहजानन्द और उसके सम्प्रदायवालों के मुख से कभी किसी को कथा-वार्ता नहीं सुननी चाहिये। कृष्ण को (मुरदा को) प्रभु नाम देना नहीं बन सकता, क्योंकि इनके जन्म-मरण आदि दोष हुए हैं॥ १५॥

''स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञानवार्ता मनुष्यों को सुननी नहीं चाहिये, इसी प्रकार स्त्री, राजा और राजपुरुषों के साथ वाद-विवाद नहीं करना चाहिये''॥ ३४॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी आदि स्त्रियों के साथ धर्म विषय पर विचार किया था, इससे सहजानन्द की कल्पना मान्य करने योग्य नहीं॥ ३४॥

''कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी हुई माला पहरनी और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये''॥ ४१॥

कृष्णदीक्षा, तुलसी-माला-धारण और ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि जो कहा, सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है, क्योंकि ऐसा करना वेदविरुद्ध और युक्तिरहित है। जो कण्ठी, थोड़ा सा तिलक धारण करने से पुण्य होता है तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, और जो ऐसा मानते हो तो यह काम जल्दी करो॥ ४१॥

सहजानन्द के ऐसे-ऐसे कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं।

''वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता हो तो उसको मेरा

आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिए। नारायण और केशव की एकात्मता (अभिन्नता) ही है, क्योंकि वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है''॥ ४६-४७॥

त्रिपुण्ड्र, रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना, सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किसलिये त्यागी और अपने सम्प्रदाय-वालों की किसलिये छुड़ाई? ''मेरे आश्रितों को'' ऐसा वचन सहजानन्द ने वार-वार लिखा है, सो मिथ्या है। क्योंकि जिसको जन्म-मरणादि दोष प्राप्त हुए, ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है।

नारायण और शिव दोनों एक ही हैं, ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है, सो मिथ्या है, क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं॥ ४६-४७॥

''इस प्रकार करने के बाद राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्त्ति का प्रेम से दर्शन करके यथाशक्ति उनका मन्त्र जप करना, उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये''॥ ५४॥

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं, फिर उनकी छवि अथवा मूर्त्ति कैसे हो? यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है, वह बिलकुल असत्य है॥ ५४॥

''पाषाण अथवा धातु आदि की बनाई हुई मूर्त्ति की यथाशक्ति फल-फूल आदि पदार्थों से पूजा करनी और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना''॥ ५६॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी, क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया है। वेदविरुद्ध कृष्ण मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम दिया जा सकता है॥ ५६॥

''हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाकी बची प्रसादी आप खानी चाहिये और कृष्ण सेवा में जिस प्रकार बन सके, उसी प्रकार तत्पर रहना''॥ ५८॥

हरि प्रत्यक्ष दीखता नहीं और मूर्त्तियों में भोजन करने की शक्ति नहीं, इस कारण से मूर्त्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है। यह बिलकुल छल-कपट है, क्योंकि जब ऐसा होता है, तभी अपने अंगूठे के दर्शन और टन् टन् पुँ पुँ करके भोजन करने में थोड़ा श्रम होता है॥ ५८॥

''अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो और जिस में प्राणप्रतिष्ठा कर दी हो उस ही की सिर्फ सेवा करनी और की सेवा नहीं करनी। हर रोज शाम को भगवत्-मन्दिर में जाना और वहाँ राधापति कृष्ण का ऊँची आवाज से कीर्त्तन करना''॥ ६२-६३॥

पाषाण आदि मूर्त्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो केवल पत्थर ही है। ऐसा पत्थर किसी को कभी सेवनीय नहीं। इसी प्रकार उसको नमना भी नहीं। जो सर्वशक्तिमान्, अवताररहित, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है, उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये।

शाम को सब मनुष्यों को भगवद्मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्त्तियों की, और जिसका जन्म-मरण हुआ, ऐसे राधापति कृष्ण नाम मुर्दा की पूजा करनी और उसका ऊँची आवाज से कीर्त्तन करना, ऐसा जो ऊपर कहा, सो सब मिथ्या उपदेश है। यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है। वह वेदविद्या बिलकुल नहीं जानता था। असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्गति भी नहीं हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है, उसकी सद्गति न तो हुई और न होती है और न होगी भी। जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपातरहित न्याय और वैरबुद्धित्यागादि स्वरूप धर्म का बोध कराता है, उसको और जो मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करता, और न्यायकारी दयालु, निराकार परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति बराबर करेगा, केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी॥ ६२-६३॥ इसी प्रकार आगे के श्लोक अशुद्ध हैं।

''एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों को रखना और कृष्ण के जन्म-दिवस और शिव-रात्रि को बड़ा उत्सव करना चाहिये''॥ ७९॥

एकादशी आदि व्रत वेद में कहीं लिखे नहीं, किन्तु वेद में ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखा है। अतः सिद्ध हुआ कि एकादशी आदि व्रतों का रखना व्यर्थ है॥ ७९॥

''सम्पूर्ण वैष्णवों के अधिपति जो वल्लभाचार्य उनके पुत्र विट्ठल ने जो-जो उत्सव निर्माण किये हैं, उन सब उत्सवों को विट्ठल के अनुसार करना चाहिये। जिस प्रकार विट्ठल ने कृष्ण की सेवा करी है, उसी प्रकार ग्रहण करनी। द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि करनी, और कंगाल मनुष्यों पर दया रखनी। मेरे आश्रितों को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पाँच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये। भूत-प्रेत उपद्रव करें तो नारायण कवच अथवा हनुमान् मन्त्र का जप करना। परन्तु किसी शूद्र देव का जप करना नहीं''॥ ८१-८५॥

सर्व वैष्णवराज वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठल ने परधनहरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है। इस प्रकार कर्म करनेवाले पुरुष के मत विषय में सहजानन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है, इससे सहजानन्द भी दुष्ट था, यह सिद्ध हुआ।

द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी, ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया, वह केवल भ्रान्ति से ही किया है, यह निश्चय कर जानना। जड़, पत्थर, पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश का सम्भव दीखता नहीं। इसलिये यह उपदेश अत्यन्त दुःखदायक है। छान्दोग्य उपनिषद् में तीर्थ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है, जिससे अविद्या, जन्ममरण, हर्ष-शोकादि दुःखों से तरे, उसी का नाम तीर्थ होता है।

शिव, विष्णु, गणपति, पार्वती आदि देहधारी मुर्दाओं की पूजा और सूर्य स्वतः जड़ है, इससे उसकी पूजा विषय में वेद में कहा नहीं। इसलिये एक परब्रह्म की पूजा करनी चाहिये, और इन पाँचों की पूजा करनी, यह जो सहजानन्द ने कहा है, वह मिथ्या है। भूत-प्रेतों के निवारण के लिये नारायण कवच अथवा हनुमान् मन्त्र का जप करना, ऐसा उपदेश करने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा॥ ८१-८५॥

''वेद, व्याससूत्र, भागवत, भारत में कहा हुआ विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्दपुराण और वैष्णवखण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य और याज्ञवल्क्यस्मृति आदि आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को जो कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य हैं, उनको इन आठ शास्त्रों को सुनना और पाठ करना और कराना चाहिये। इन आठ शास्त्रों में आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूँ। भागवत के पाँचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है, इससे वे दो स्कन्ध अवश्य जानना। भागवत के दशमस्कन्ध में भक्तिशास्त्र, पाँचवें में योगशास्त्र और याज्ञवल्क्यस्मृति में हमारा धर्मशास्त्र वर्णन किया है।

शारीरक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया है, वह हमारा अध्यात्मशास्त्र है। इन शास्त्रों के जिन-जिन वाक्यों में कृष्ण, धर्म, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया होय उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना, और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये''॥ ९३-१०२॥

ऊपर के सब श्लोक (प्रायः) अशुद्ध हैं। भागवत आदि पुराण और भारत में विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता आदि का ही केवल स्वीकार, दूसरे ग्रन्थों का त्याग, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका का ग्रहण, पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से और वासुदेव के माहात्म्य गिनने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द अविद्वान् था। सहजानन्द भागवत के भ्रष्ट, मिथ्या, भूत-प्रेत अधर्म्म कथा प्रतिपादक दशमस्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है। अतएव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक (नास्तिक) था।

दशमस्कन्ध में भक्ति लेशमात्र नहीं है, किन्तु व्यभिचार आदि अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है। पाँचवें स्कन्ध में योगशास्त्र का प्रतिपादन तो किया नहीं किन्तु योगाभास का प्रतिपादन किया है। श्रौतसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने से और दले हुए पदार्थ को फिर से दलने के समान 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का स्वीकार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सहजानन्द वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विषय में कुछ नहीं जानता था। शारीरक-सूत्र का रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था, यह सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण ने खुद ही वेदवाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है, फिर सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है, सो सहजानन्द को भ्रम हुआ होगा, ऐसा जान पड़ता है। वेदवाक्य सर्वोत्तम हैं, यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यह सहजानन्द का शरमा के डूब मरना जैसा है॥ ९३-१०२॥

जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है, उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामीपने से जीव में रहता है, व स्वतन्त्र और सबको उन-उन के कर्मों का फलदाता है, वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने योग्य इष्ट देव सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण (प्रसिद्ध करता) है, जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुकमिणी के साथ हो तब लक्ष्मीनारायण, अर्जुन के साथ होय तो तब नरनारायण, और जब बलभद्रादिकों से युक्त

होय तब उनको वही नाम देना चाहिए॥ १०७-११०॥

जीव के सदृश कभी ईश्वर बनता नहीं, क्योंकि सर्वशक्ति, सर्वज्ञता, निर्विकारत्व आदि गुणयुक्त स्वभाव ईश्वर का ही है। जन्म, मरण, हर्ष, शोक आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्म, भगवान्, पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं। एक सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द-स्वरूप, निर्दोष, निराकार, अवताररहित और वेदयुक्तिसिद्ध परमात्मा को छोड़ के जन्ममरणयुक्त कृष्ण की उपासना करनी—यह जो सहजानन्द ने कहा है, इससे मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को पदार्थज्ञान बिलकुल नहीं था। राधा तो 'अनय' नामक ग्वाले की स्त्री थी। कृष्ण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था। कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था, इससे उसको लक्ष्मीनारायण नाम देना अयोग्य है। इस प्रकार कथनकर सहजानन्द ने अपनी मूर्खता बतलाई है, क्योंकि सर्वज्ञता के विना सहजानन्द का कथन युक्तिरहित दिखाई पड़ता है॥ १०७-११०॥

''उन्हीं की ही (सिर्फ कृष्ण की ही) सब मनुष्यों को भक्ति करनी चाहिये, उनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं''॥ ११३॥

कृष्ण का खुद का ही कल्याण हुआ कि नहीं, इस विषय में विद्वानों को संशय उत्पन्न होता है। कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की भक्ति की है और वैसा ही करने का उपदेश किया है। फिर सहजानन्द ने जो ऊपर कहा है कि सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये, उनकी भक्ति करने के विना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है, यह कहकर उसने अपनी अविद्या बताई है॥ ११३॥

''गुणवान् पुरुषों को विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण की भक्ति और सत्सङ्ग करना। उसको छोड़ के जो कोई दूसरा कुछ करेगा, वह विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा''॥ ११४॥

इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द की छन्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी। कृष्ण मर गया, इसलिये अब उसकी भक्ति करनी अयोग्य और निष्फल है। विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं, किन्तु अविद्या, अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान् पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है, ऐसा दीख पड़ता है॥ ११४॥

''तीन प्रकार के शरीरों से विलक्षण जीव उन में ब्रह्मरूप की भावना करके श्रीकृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करनी''॥ ११५॥

जो जीव ब्रह्मरूप हो तो ब्रह्म की तुल्यता जीव में क्यों नहीं दीखती? जो जीव ब्रह्मतुल्य हो तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा, इसी प्रकार जीव थोड़ासा ही नवीन जगत् क्योंकर नहीं रच लेता? जो जीव ब्रह्म एक हो तो अविद्या जन्म मरण, हर्ष, शोक, ठंडी, ताप, सुख, दुःख, ताप [=ज्वर], पीड़ा और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में मानने पड़ेंगे। जो जीव से ब्रह्म भिन्न हो तो एक ब्रह्म की ही भक्ति करनी और कृष्णादि जीवों की भक्ति नहीं करनी चाहिये। एक कृष्ण की ही भक्ति करनी—यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा, उससे सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है॥ ११५॥

''मेरा मत विशिष्टाद्वैत और मेरा प्रिय स्थान गोलोक है, वहाँ ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी, यह मेरी मुक्ति जाननी''॥ १२१॥

सहजानन्द का मत चक्राङ्कित के समान है, ऐसा दीख पड़ता है। विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ सब मनुष्य इसी प्रकार करते हैं कि—अविद्यायुक्त जीव और मायायुक्त ईश्वर है। कुछ मनुष्य ईश्वर की माया एक मानते हैं। इस प्रकार तीन-चार पदार्थों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता। दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन ही नहीं सकता। दो पदार्थ अद्वैत नहीं हो सकते। किन्तु ब्रह्म तो अवश्य अद्वैत है। सजातीय, विजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग के विना सिद्ध नहीं हो सकता। वेद और युक्तिसिद्ध एकरसमात्र एक ही ब्रह्म है, यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना है अत: दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्द के मत भ्रष्ट हैं। गौ आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान है, इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही पशु बनता है। गोलोक में निवास करने से और एक कृष्णसेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो सहजानन्द ने बका है, सो मिथ्या है॥ १२१॥

''मैंने बड़े-बड़े मन्दिरों में लक्ष्मीनारायणादि मूर्त्तियों की प्राणप्रतिष्ठा करी है, उनकी यथाविधि सेवा करनी''॥ १३०॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी बिलकुल विद्याधर्मविरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े मन्दिरों में रहनेवाली पाषाणादिमूर्त्तियों को लक्ष्मीनारायण का नाम नहीं दे सकता, क्योंकि वेद में मूर्त्तिपूजाविषय में कुछ कहा नहीं इसलिये, और मूर्त्ति स्वत: जड़ है इस कारण से, तथा लक्ष्मीनारयण आदि तो चेतन थे, इस हेतु से मूर्त्ति का यथाविधि खण्डन करना चाहिये, न कि पूजन करना॥ १३०॥

''दो अमुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने-अपने पति की आज्ञा लेकर केवल स्त्रियों को ही कृष्णमन्त्र का उपदेश करना चाहिये''॥ १३३॥

सहजानन्द ने जाना कि उपदेश के सिवाय स्त्रियों से धनप्राप्ति कभी होय नहीं। अत: स्पष्ट रीति से दीख पड़ता है कि सहजानन्द ने एकदम छल-कपट फैला दिया है। परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर कृष्ण का अर्थात् मुर्दामन्त्र का उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और अज्ञानी ठहरता है॥ १३३॥

''अपने कमाये हुए धन-धान्य का दशमा भाग कृष्ण के अर्पण करें, और जो मनुष्य दुर्बल होवें बीसवाँ भाग कृष्ण को देवें''॥ १४७॥

परधन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल-भेद खुल्लमखुल्ले दीखता है। इस प्रकार करने में सहजानन्द का अभिप्राय यह था कि यत्किञ्चित् मेहनत कार्य के विना ही दसवाँ, बीसवाँ भाग लेकर अपने संसार का विषयसुख खूब भोगेंगे। ऊपर कहा है कि कृष्ण को अर्पण करना, तो कृष्ण खुद तो दसवाँ अथवा बीसवाँ भाग लेने को आ ही नहीं सकता, और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था। अत: सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ सम्प्रदायवालों की तरह खूब धूर्त्तता चलाई है।

ऐसे-ऐसे धूर्त्त सम्प्रदायों के फैल जाने से अपने आर्य्यावर्त्त देश को बहुत हानि उठानी पड़ी। इसलिये सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़-मूल से उखाड़ डालना चाहिये। जो कभी उखाड़ डालने में न आवे तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं॥ १४७॥

''एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र प्रमाण से उद्यापन करना। उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है। श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें-करावें''॥ १४८-१४९॥

इससे भी सहजानन्द की धूर्त्तता दीखती है। जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें तो शिष्यों से उद्यापन विना धनलाभ नहीं होय, श्रावण महीने में महादेव पूजन अर्थात् पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा विना, अपने को शिष्यों से धन-प्रतिष्ठा मिलेगी नहीं, ऐसे-ऐसे विचारों से सहजानन्द ने अपना कपट दिखाया है॥ १४८-१४९॥

''देव की मूर्त्ति के सिवाय लिखी [बनी] हुई अथवा लकड़ी आदि

की स्त्रियों की मूर्त्तियों का कभी स्पर्श न करें और उनकी तरफ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से देखें भी नहीं''॥ १७७॥

प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिर में राधा की मूर्त्ति की स्थापना क्यों करी? और 'जिनकी बाईं तरफ राधा है' इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने किसलिये मनुष्यों को उपदेश किया? सहजानन्द के शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किसलिये करते हैं? इस प्रकार के प्रमत्त गीत और बकवाद से सहजानन्द पर अनेक प्रकार के दोष लगते हैं॥ १७७॥

''सब इन्द्रियों को जीत लेना, उनमें से विशेष करके रसना इन्द्रिय को जीतना, किसी को द्रव्य का संग्रह करना नहीं, उसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना। किसी की स्थापना करनी नहीं, धैर्य का त्याग करना नहीं और अपने रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये''॥ १८८, १९०॥

सिर्फ साधु ही जितेन्द्रिय होवे, ऐसा जो तुम उपदेश देते हो, तो तुम क्या असाधु हो? तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें? ऊपर कहा कि किसी को स्थापन न करें, तो क्या विद्या, धर्म, ईश्वर, प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये? वेद, धर्म, ईश्वर, प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये? वेद, धर्म, युक्तिविरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये? और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किसलिये स्थापन किया? सब मनुष्यों को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्यधर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये॥ १८८-२०४॥

''इस प्रकार सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है, और इन धर्म्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से समझ लेना। मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकाल के मनुष्यों को इष्ट फल की देनेवाली यह शिक्षापत्री लिखी है''॥ २०३-२०४॥

धर्म का तो लेशमात्र प्रतिपादन किया नहीं, किन्तु अपनी कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है। वेदादि शास्त्रों में जो यथावत् धर्म्म लिखा है, उसका ज्ञान सहजानन्द को बिलकुल नहीं था। लिखे हुए धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से दले हुए को दलने के समान है। मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रन्थ वेद ही है, और शिक्षापत्री आदि ग्रन्थ सब मिथ्या हैं। ''विस्तर'' शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। ''विस्तर'' की जगह ''विस्तार'' शब्द लिखना चाहिये। कथन,

श्रवण, आदि अर्थों में ही विस्तर शब्द प्रयोग होता है।

सहजानन्द को सत्यशास्त्र का बोध तो था ही नहीं, तथा इसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था, क्योंकि इसने वेद और युक्तिविरुद्ध पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी, तिलक, धारण आदि भ्रष्ट कर्मों का प्रतिपादन किया है। शिक्षापत्री में सार की जगह असार वर्णन किया है। शिक्षापत्री लोभ विषय में तो इष्ट फलदायक है, परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुखप्राप्ति होती है, यह अनुभवरहित बात है। सहजानन्द के ऐसे-ऐसे वचनों से सहजानन्द लोभी ठहरता है। लोभ के विना सम्प्रदाय की वृद्धि होती नहीं, और वृद्धि न हो तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति भी न हो, और जो उसकी प्राप्ति न हो तो इष्ट विषय-सुख नहीं मिले। अतः समझना कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूप थी॥ २०३-२०४॥

''जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्ताव करेंगे, उनको अवश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होंगे''॥ २०५॥

जो मनुष्य पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन आदि पाखण्डों का आचरण करेगा, उसको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा, बल्कि अधर्म, अनर्थ, दुष्ट इच्छा, बन्ध, नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे॥ २०६॥

''शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करें, वे अपने सम्प्रदाय से बाहर हैं, इस प्रकार मेरे साम्प्रदायिक स्त्री-पुरुषों को समझना चाहिये''॥ २०७॥

पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी, तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्न कभी कोई न करें और जो पुरुष इन चिह्नों को नहीं करें सिर्फ उन्हीं पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होगी। वेदादि सत्यशास्त्रोक्त सनातन, सत्य, पक्षपातरहित, न्याय धर्म का त्याग करके सहजानन्द आदिकों के बनाये हुए शिक्षा की पत्री आदि भ्रष्ट और वेद-युक्तिविरुद्ध ग्रन्थों का जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया, करते हैं और करेंगे, श्रेष्ठ पुरुष उन सबको सद्धर्मरहित और नास्तिक नाम देवें॥ २०७॥

''मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का हर रोज पाठ करें, और जो विद्याहीन हों, वे प्रीति से उसका श्रवण करें, और जो श्रवण करना भी न बने तो इस शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से पूजा करें और इसको मेरी वाणी तथा मेरा रूप जानें। इस पत्री को दैवी मार्गी पुरुष को देवें किन्तु असुर को न देवें''॥ २०८-२१०॥

वेद का पढ़ना-सुनना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुए शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से अधिक पाप लगता है। इस जड़, व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में योग्यता मालूम पड़ती है। वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं। परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें, ऐसा जो सहजानन्द ने कहा, सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका का खण्डन करें। इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल मतलब अज्ञानी और बालकों को भ्रमा कर उनसे धनादि पदार्थों का छीन लेना है।

जो दैवी मार्गी होगा, वह तो शिक्षापत्री को हाथ में पकड़ेगा भी नहीं। जो मनुष्य विद्यारहित असुर सम्प्रदाय का है, वह स्वीकार करता है। उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को 'सम्प्रदाह' नाम देना चाहिये, क्योंकि सम्प्रदाय अन्धकाररूप है। जिसमें विद्या और विज्ञान का सत्यानाश हो जाय उसका नाम 'सम्प्रदाह' पड़ता है। वर्त्तमान में जितने वेद-विरुद्ध सम्प्रदाय हैं, उन सबको 'सम्प्रदाह' नाम देना चाहिये॥ २०८-२१०॥

प्रश्न—मरण समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड़ विमान पर चढ़ा के वैकुण्ठ ले जाता है, और परम सुख देता है, इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों के द्वारा सुना जाता है, वह सत्य है कि मिथ्या?

उत्तर—बिलकुल मिथ्या दीखता है, क्योंकि जो पुरुष मर गया, वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण कर ही नहीं सकता। जो कभी वैसे करने में समर्थ हो तो सम्प्रदायवालों ने छल-कपट से जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है, उसको भोगने के लिये भी अवश्य आना चाहिये। अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द आदि धूर्त; अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे-ऐसे कथन करते हैं।

अपने शिष्यों के हाथ पर लोह का खण्ड दाग कर चक्र आदि चिह्नों के करने से सहजानन्द के सम्प्रदायवालों को अत्यन्त पाप लगेगा। जो बगुलाभगत हैं, वे स्त्री-दर्शन और धातुस्पर्श नहीं करते, गृहस्थ आचार्य लोभ के हेतु से मन्दिर बाँध, कपट से द्रव्य आदि पदार्थों को छीन लेते हैं। **दो-दो विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों, उसमें कल्याण की आशा किसी सज्जन पुरुष को कभी नहीं रखनी चाहिये।**

॥ समाप्त ॥

१

आर्याभिविनयः

ग्रन्थ परिचय

महर्षि ने '**आर्याभिविनय**' नामक लघु ग्रन्थ द्वारा **ईश्वर के स्वरूप** का ज्ञान कराया है। वेदों के मूल मन्त्रों का हिन्दी भाषा में व्याख्यान करके ईश्वर के स्वरूप का बोध कराया है। ईश्वर के स्वरूप के साथ-साथ **परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना** तथा **धर्मादि विषयों** का भी वर्णन है।

इस ग्रन्थ में केवल दो वेदों **ऋग्वेद (५३ मन्त्र)** और **यजुर्वेद (५४ मन्त्र)** से ही मन्त्र लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त **एक मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक** का भी है। मन्त्रों का परमेश्वर सम्बन्धी एक प्रकार का ही अर्थ (वह भी संक्षेप में) किया है। अन्यथा ग्रन्थ का आकार बढ़ जाता। ऋषि दयानन्द के शब्दों में "**इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूप ज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहार शुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे, जिससे नास्तिक और पाखण्ड मतादि अधर्म में मनुष्य न फँसे।**" (आर्याभिविनय की उपक्रमणिका से उद्धृत)

इस ग्रन्थ में **दो अध्याय** हैं, जिनका नाम '**प्रकाश**' दिया गया है। पहले प्रकाश में **ऋग्वेद** से तथा द्वितीय प्रकाश में **यजुर्वेद** से मन्त्र लिये गये हैं। कुल १०८ मन्त्रों का व्याख्यान है। पहले प्रकाश में ५३ और द्वितीय प्रकाश में ५५ मन्त्रों की व्याख्या है।

विक्रमी संवत् १९३२, मिति चैत्र शुक्ला १०, गुरुवार के दिन महर्षि ने इस ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ किया था। महर्षि के एक पत्र (श्री गोपालराव हरि देशमुख को संवत् १९३२, चैत्र बदी ९, शनिवार को लिखे) से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे **इस पुस्तक के चार अध्याय और बनाना चाहते थे।** सम्भवत: इनमें सभी वेदों से मन्त्र लेते, परन्तु किसी कारणवश यह ग्रन्थ अपूर्ण रहा।

पुस्तक में मूल मन्त्रों के **अर्थ और व्याख्या हिन्दी भाषा** में है।

(सम्पादक)

ओ३म्

अथार्याभिविनयोपक्रमणिकाविचारः

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः।
भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान्॥ १॥
चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे चैत्रे मासि सिते दले।
दशम्यां गुरुवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया॥ २॥
[दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुद्रा सत्यनिलया।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रलसितगुणा वेदशरणा-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः॥ ३॥]
बहुभिः प्रार्थितः सम्यग् ग्रन्थारम्भः कृतोऽधुना।
हिताय सर्वलोकानां ज्ञानाय परमात्मनः॥ ४॥
वेदस्य मूलमन्त्राणां व्याख्यानं लोकभाषया।
क्रियते सुखबोधाय ब्रह्मज्ञानाय सम्प्रति॥ ५॥
स्तुत्युपासनयोः सम्यक् प्रार्थनायाश्च वर्णितः।
विषयो वेदमन्त्रैश्च सर्वेषां सुखवर्द्धनः॥ ६॥
विमलं सुखदं सततं सुहितं जगति प्रततं तदु वेदगतम्।
मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी स नरोऽस्ति सदेश्वरभागधिकः॥ ७॥
विशेषभागीह वृणोति यो हितं नरः परात्मानमतीव मानतः।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः॥ ८॥

व्याख्यान—जो परमात्मा, सबका आत्मा, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, अनन्त, अज, न्याय करने वाला, निर्मल, सदा पवित्र, दयालु, सब सामर्थ्यवाला हमारा इष्टदेव है, वह हमको सहाय नित्य देवे, जिससे महाकठिन काम भी हम लोग सहज से करने को समर्थ हों। हे कृपानिधे!

यह काम हमारा आप ही सिद्ध करनेवाले हो, हम आशा करते हैं कि आप अवश्य हमारी कामना सिद्ध करेंगे॥ १॥

संवत् १९३२ मिती चैत्र सुदी १०, गुरुवार के दिन इस ग्रन्थ का आरम्भ हमने किया॥ २॥

दयानन्द सरस्वती स्वामी का नाम इस श्लोक से निकलता है॥ ३॥

बहुत सज्जन लोग, सबके हितकारक, धर्मात्मा, विद्वान्, विचारशील जनों ने मुझसे प्रीति से कहा तब सब लोगों के हित और यथार्थ परमेश्वर का ज्ञान तथा प्रेमभक्ति यथावत् हो, इसलिए इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है॥ ४॥

इस ग्रन्थ में केवल चार वेदों के और ब्राह्मणग्रन्थों के[1] मूलमन्त्रों का प्राकृतभाषा में व्याख्यान किया है, जिससे सब लोगों को सुख से बोध हो और ब्रह्म का ज्ञान यथार्थ हो॥ ४॥

इस ग्रन्थ में परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना तथा धर्मादि विषय वर्णन किया है परन्तु मूलसंहिता मन्त्र और ब्राह्मण प्रमाण से ही, सब को सुख बढ़ाने वाला यह विषय है॥ ५॥

जो ब्रह्म विमल, सुखकारक, पूर्णकाम, तृप्त, जगत् में व्याप्त, वही सब वेदों से प्राप्य है, जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (यथार्थ विज्ञान) है, वही मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है और वही सबसे सदैव अधिक सुखी है। ऐसे मनुष्य को धन्य है॥ ७॥

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मता, विद्या, सत्सङ्ग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है, वही जन अतीव भाग्यशाली है, क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्यविद्या से सम्पूर्ण दु:ख से छूटके परमानन्द परमात्मा का नित्य संगरूप जो मोक्ष उसको प्राप्त होता है, फिर कभी जन्म मरण आदि दु:ख सागर को प्राप्त नहीं होता, परन्तु जो विषयलम्पट, विचाररहित, विद्या, धर्म, जितेन्द्रियता, सत्सङ्गरहित, छल, कपट, अभिमान, दुराग्रहादि दुष्टतायुक्त है, सो वह मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है॥ ८॥

१. महर्षि दयानन्द जी ने गोपालराव हरिदेशमुख को पत्र लिखा था—
आर्याभिविनय के दो अध्याय बन गये हैं, और चार आगे बनने हैं।

और वह मनुष्य जन्म-मरण, ज्वरादि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दु:खसागर में ही पड़ा रहता है।

इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध कभी नहीं हों, किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में तत्पर होके इस लोक (संसार-व्यवहार) और परलोक (जो पूर्वोक्त मोक्ष) इनकी सिद्धि यथावत् करें, यही सब मनुष्यों की कृतकृत्यता है।

इस आर्याभिविनय ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का परमेश्वर-सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप से किया है। दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता, इससे व्यवहार-विद्यासम्बन्धी अर्थ नहीं किया गया, परन्तु वेदों के भाष्य में यथावत् विस्तारपूर्वक परमार्थ और व्यवहारार्थ—ये दोनों अर्थ सप्रमाण किये जायेंगे—जैसे (**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुरित्यादि**[1] य० संहिता प्रमाण, **इन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि**[2] ऋ० सं० प्र०, **बृहस्पतिर्वै ब्रह्म**[3], **गणपतिर्वै ब्रह्म, प्राणो वै ब्रह्म**[4], **आपो वै ब्रह्म, ब्रह्म ह्यग्निरित्यादि**[5], शतपथ, ऐतरेय ब्राह्मणादि प्रमाण और **महान्तमेवात्मानमित्यादि**[6]) निरुक्तादि प्रमाणों से परब्रह्म ही अर्थ लिया जाता है तथा **मुखादग्निरजायतेत्यादि**[7], य० सं० प्र०, **वायोरग्निरित्यादि**[8] ब्राह्मण प्र० तथा **अग्निरग्रणीर्भवतीत्यादि**[9] निरुक्त प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष जो रूपगुणवाला दाह-प्रकाशयुक्त भौतिक अग्नि, वह लिया जाता है, इत्यादि दृढ़ प्रमाण, युक्ति और प्रत्यक्ष व्यवहार से दोनों अर्थ वेदभाष्य में लिखे जायेंगे, जिससे सायणादिकृत भाष्य-दोष और उनके अनुसार अंग्रेजी कृतार्थदोषरूप वेदों के कलङ्क निवृत्त हो जाएँगे और वेदों के सत्यार्थ का प्रकाश होने से, वेदों का महत्त्व तथा वेदों का अनन्तार्थ जानने से मनुष्यों को महालाभ और वेदों में यथावत्

१. यजुर्वेद ३२.१॥
२. ऋग्वेद १.१६४.४६॥
३. ऐतरेय ब्राह्मण १.१३, शतपथ ३.१.४.१५॥
४. शतपथ १४.६.१०.२॥
५. शतपथ १.५.१.११॥
६. निरुक्त १६.१॥
८. यजुर्वेद ३१.१२॥
८. तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१॥
९. निरुक्त ७.१४॥

सबकी प्रीति होगी।

इस ग्रन्थ से तो मनुष्यों को केवल ईश्वर का स्वरूपज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे, जिससे नास्तिक और पाखण्डमतादि अधर्म में मनुष्य लोग न फँसें। किञ्च सब प्रकार से मनुष्य अत्युत्तम हों और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा सब मनुष्यों पर हो, जिससे सब मनुष्य दुष्टता को छोड़के श्रेष्ठता को स्वीकार करें, यह मेरी परमात्मा से प्रार्थना है, सो परमेश्वर अवश्य पूरी करेगा।

॥ इत्युपक्रमणिका संक्षेपतः सम्पूर्णा ॥

ओ३म्

तत्सत्परब्रह्मणे नमः

अथार्याभिविनयप्रारम्भः

ओं शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः॒ शं नो॑ भवत्वर्य॒मा।
शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पतिः॒ शं नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः॥ १ ॥

*ऋ० अ० १। अ० ६। व० १८। मं० ४॥

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव! हे अद्वितीयानुपमजगदादिकारण! हे अज, निराकार, सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्! हे जगदीश, सर्वजगदुत्पादकाधार! हे सनातन, सर्वमङ्गलमय, सर्वस्वामिन्! हे करुणाकरास्मत्पितः, परमसहायक! हे सर्वानन्दप्रद, सकलदुःखविनाशक! हे अविद्यान्धकारनिर्मूलक, विद्यार्कप्रकाशक! हे परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक! हे अधमोद्धारक, पतितपावन, मान्यप्रद! हे विश्वविनोदक, विनयविधिप्रद! हे विश्वासविलासक! हे निरञ्जन, नायक, शर्मद, नरेश, निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन्, सदुपदेशक, मोक्षप्रद! हे सत्यगुणाकर, निर्मल, निरीह, निरामय, निरुपद्रव, दीनदयाकर, परमसुखदायक! हे दारिद्र्यविनाशक, निर्वैरविधायक, सुनीतिवर्धक! हे प्रीतिसाधक, राज्यविधायक, शत्रुविनाशक! हे सर्वबलदायक, निर्बलपालक! धर्मसुप्रापक! हे अर्थसुसाधक, सुकामवर्द्धक, ज्ञानप्रद! हे सन्ततिपालक, धर्मसुशिक्षक, रोगविनाशक! हे पुरुषार्थप्रापक, दुर्गुणनाशक, सिद्धिप्रद! हे सज्जनसुखद, दुष्टसुताडन, गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक! हे परमेश, परेश, परमात्मन्, परब्रह्मन्! हे जगदानन्दक, परमेश्वर, व्यापक, सूक्ष्माच्छेद्य! हे अजरामृताभयनिर्बन्धानादे! हे अप्रतिमप्रभाव, निर्गुणातुल, विश्वाद्य, विश्ववन्द्य, विद्वद्विलासक इत्याद्यनन्तविशेषणवाच्य! हे मङ्गलप्रदेश्वर! आप सर्वथा सबके निश्चित मित्र हो, हमको सत्यसुखदायक सर्वदा हो। हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर! आप वरुण, अर्थात् सबसे परमोत्तम हो, सो आप हमको परमसुखदायक

* यह संख्या इस भाग में सर्वत्र यथावत् जान लेना क्योंकि आगे केवल अङ्क संख्या लिखी जायगी। ऋ० १।६।१८।९॥ इनसे अष्टक, अध्याय, वर्ग, मन्त्र जान लेना। (दयानन्द सरस्वती)

हो। हे पक्षपातरहित, धर्मन्यायकारिन्! आप अर्यमा (यमराज) हो, हमारे लिए न्याययुक्त सुख देनेवाले आप ही हो। हे परमैश्वर्यवन्, इन्द्रेश्वर! आप हमको परमैश्वर्ययुक्त शीघ्र स्थिर सुख दीजिए। हे महाविद्य वाचोऽधिपते! बृहस्पते, परमात्मन्! हम लोगों को (बृहत्) सबसे बड़े सुख को देनेवाले आप ही हो। हे सर्वव्यापक, अनन्त-पराक्रमेश्वर, विष्णो! आप हमको अनन्त सुख देओ, जो कुछ माँगेंगे सो आपसे ही हम लोग माँगेंगे, सब सुखों का देनेवाला आपके विना कोई नहीं है। सर्वथा हम लोगों को आपका ही आश्रय है, अन्य किसी का नहीं, क्योंकि सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयामय सबसे बड़े पिता को छोड़के नीच का आश्रय हम लोग कभी न करेंगे। आपका तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते सो आप सदैव हमको सुख देंगे, यह हम लोगों को दृढ़ निश्चय है॥ १॥

मूलमन्त्र स्तुति विषयः

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ २॥ ऋ० १।१।१।१

व्याख्यान—हे वन्द्येश्वराग्ने! आप ज्ञानस्वरूप हो, आपकी मैं स्तुति करता हूँ। सब मनुष्यों के प्रति परमात्मा का यह उपदेश है—हे मनुष्यो! तुम लोग इस प्रकार से मेरी स्तुति-प्रार्थना और उपासनादि करो। जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य को शिक्षा करता है कि तुम पिता वा गुरु के विषय में इस प्रकार से स्तुति आदि का वर्त्तमान करना, वैसे सबके पिता और परम गुरु ईश्वर ने हमको अपनी कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है, जिससे हमको व्यवहार-ज्ञान और परमार्थ-ज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो। जैसे सबका आदिकारण ईश्वर है, वैसे परमविद्या वेद का भी आदिकारण ईश्वर है।

हे सर्वहितोपकारक! आप "**पुरोहितम्**" सब जगत् के हितसाधक हो। हे यज्ञदेव! सब मनुष्यों के पूज्यतम और ज्ञान-यज्ञादि के लिए कमनीयतम हो। "**ऋत्विजम्**" सब ऋतु—वसन्त आदि के रचक, अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिए, उस समय वैसे सुख के सम्पादक आप ही हो। "**होतारम्**" सब जगत् को समस्त योग और क्षेम के देनेवाले हो और प्रलय समय में कारण में सब जगत् का होम करनेवाले हो। "**रत्नधातमम्**" रत्न अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण, रचन करनेवाले तथा अपने

सेवकों के लिए रत्नों के धारण करनेवाले एक आप ही हो। हे सर्वशक्तिमन्! परमात्मन्! इसलिए मैं वारम्वार आपकी स्तुति करता हूँ, इसको आप स्वीकार कीजिए, जिससे हम लोग आपके कृपापात्र होके सदैव आनन्द में रहें॥ २॥

मूल प्रार्थना

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥ ३॥ ऋ० १।१।१।३

व्याख्यान—हे महादातः, ईश्वराग्ने! आपकी कृपा से स्तुति करनेवाला मनुष्य "**रयिम्**" उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है कि जो धन प्रतिदिन "**पोषमेव**" महापुष्टि करने और सत्कीर्ति को बढ़ानेवाला तथा जिससे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रमयुक्त और दृढ़ाङ्ग, धर्मात्मा, न्याययुक्त, अत्यन्त वीर पुरुष प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण-रत्नादि तथा चक्रवर्त्ती राज्य और विज्ञानस्वरूप धन को मैं प्राप्त होऊँ तथा आपकी कृपा से सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूँ॥ ३॥

मूल स्तुति

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥ ४॥ ऋ० १।१।१।२

व्याख्यान—हे सब मनुष्यों के स्तुति करने योग्य ईश्वराग्ने! "**पूर्वेभिः**" विद्या पढ़े हुए प्राचीन "**ऋषिभिः**" मन्त्रार्थ देखनेवाले विद्वान् तथा "**नूतनैः**" वेदार्थ पढ़नेवाले नवीन ब्रह्मचारियों से "**ईड्यः**" स्तुति के योग्य "**उत**" और जो हम लोग विद्वान् वा मूर्ख हैं, उनसे भी अवश्य आप ही स्तुति के योग्य हो, सो स्तुति को प्राप्त हुए आप हमारे और सब संसार के सुख के लिए दिव्य गुण, अर्थात् विद्यादि को कृपा से प्राप्त करो, आप ही सबके इष्टदेव हो॥ ४॥

मूल स्तुति

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥ ५॥ ऋ० १।१।१।५

व्याख्यान—हे सर्वदृक्! सबको देखनेवाले "**क्रतु:**" सब जगत् के जनक "**सत्य:**" अविनाशी, अर्थात्, कभी जिसका नाश नहीं होता, "**चित्रश्रवस्तम:**" आश्चर्यश्रवणादि, आश्चर्यगुण, आश्चर्यशक्ति, आश्चर्य-स्वरूपवान् और अत्यन्त उत्तम आप हो, जिन आपके तुल्य वा आपसे बड़ा कोई नहीं है। हे जगदीश! "**देवेभि:**" दिव्य गुणों के सह वर्त्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हों, सब जगत् में भी प्रकाशित हों, जिससे हम और हमारा राज्य दिव्यगुणयुक्त हो। वह राज्य आपका ही है, हम तो केवल आपके पुत्र तथा भृत्यवत् हैं॥५॥

मूल प्रार्थना

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥६॥ ऋ० १।१।२।१

व्याख्यान—हे "**अङ्ग**" मित्र! जो आपको आत्मादि दान करता है, उसको "**भद्रम्**" व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य देते हो। हे "**अङ्गिर:**" प्राणप्रिय! यह आपका सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना, यही आपका स्वभाव हमको अत्यन्त सुखकारक है, आप मुझको ऐहिक और पारमार्थिक—इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिए, जिससे सब दु:ख दूर हों। हमको सदा सुख ही रहे॥६॥

मूल स्तुति

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥७॥ ऋ० १।१।३।१

व्याख्यान—हे अनन्तबल परेश, वायो! दर्शनीय! आप अपनी कृपा से ही हमको प्राप्त हो। हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्यादि) ओषधियों का उत्तम रस सम्पादन किया है और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं, वे आपके लिए "**अरङ्कृताः**" अलङ्कृत, अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं वे सब आपके समर्पण किये गये हैं, उनको आप स्वीकार करो (सर्वात्मा से पान करो)। हम दीनों की पुकार सुनकर जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज़ समर्पण करता है, उसपर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हमपर प्रसन्न होओ॥७॥

मूल प्रार्थना

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥८॥ ऋ० १।१।६।४

व्याख्यान—हे वाक्पते! सर्वविद्यामय! हमको आपकी कृपा से "**सरस्वती**" सर्वशास्त्रविज्ञानयुक्त वाणी प्राप्त हो "**वाजेभि:**" तथा उत्कृष्ट अन्नादि के साथ वर्त्तमान "**वाजिनीवती**" सर्वोत्तम क्रियाविज्ञानयुक्त "**पावका**" पवित्रस्वरूप और पवित्र करनेवाली सदैव सत्यभाषणमय मङ्गलकारक वाणी आपकी प्रेरणा से प्राप्त होके आपके अनुग्रह से "**धियावसु:**" परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्त्तमान निधिस्वरूप यह वाणी "**यज्ञं वष्टु**" सर्वशास्त्रबोध और पूजनीयतम आपके विज्ञान की कामनायुक्त सदैव हो, जिससे हमारी सब मूर्खता नष्ट हो और हम महापाण्डित्ययुक्त हों॥८॥

मूल स्तुति

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते॥९॥ ऋ० १।१।९।२

व्याख्यान—हे परात्पर परमात्मन्! आप "**पुरूतमम्**" अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रुविनाशक हो तथा बहुविध जगत् के पदार्थों के "**ईशानम्**" स्वामी और उत्पादक हो, "**वार्य्याणाम्**", वर, वरणीय परमानन्दमोक्षादि पदार्थों के भी ईशान हो और "**सोमे**" उत्पत्तिस्थान संसार आपसे उत्पन्न होने से प्रीतिपूर्वक "**इन्द्रम्**" परमैश्वर्यवान् आपको (अभिप्रगायत*) हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, यथावत् स्तुति करें, जिससे आपकी कृपा से हम लोगों का भी परमैश्वर्य बढ़ता जाय और हम परमानन्द को प्राप्त हों॥९॥

मूल प्रार्थना

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥१०॥
ऋ० १।६।१५।५

व्याख्यान—हे सर्वाधिस्वामिन्! आप ही चर और अचर जगत् के

* इस शब्द की अनुवृत्ति मन्त्र १.१.९.१ से आई है। (दयानन्द सरस्वती)

''**ईशानम्**'' रचनेवाले हो, ''**धियंजिन्वम्**'' सर्वविद्यामय, विज्ञानस्वरूप बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले, सबको तृप्त करनेवाले प्रीणनीयस्वरूप ''**पूषा**'' सबके पोषक हो, उन आपका हम ''**नः, अवसे**'' अपनी रक्षा के लिए ''**हूमहे**'' आह्वान करते हैं। '**यथा**' जिस प्रकार से आप हमारे विद्यादि धनों की वृद्धि वा रक्षा के लिए ''**अदब्धः रक्षिता**'' निरालस रक्षा करने में तत्पर हो, वैसे ही कृपा करके आप ''**स्वस्तये**'' हमारी स्वस्थता के लिए ''**पायुः**'' निरन्तर रक्षक (विनाशनिवारक) हो, आपसे पालित हम लोग सदैव उत्तम कामों में उन्नति और आनन्द को प्राप्त हों॥ १०॥

मूल स्तुति

अतो॑ दे॒वा अ॑वन्तु नो॒ यतो॒ विष्णु॑र्विचक्र॒मे।
पृ॒थि॒व्याः स॒प्त धाम॑भिः॥ ११॥ ऋ० १।२।७।१

व्याख्यान—हे ''**देवाः**'' विद्वानो! ''**विष्णुः**'' सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने सब जीवों को पाप तथा पुण्य का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिए, पृथिवी से लेके सप्तविध ''**धामभिः**'' धाम, अर्थात् ऊँचे-नीचे सात प्रकार के लोकों को बनाया तथा गायत्र्यादि सात छन्दों से विस्तृत विद्यायुक्त वेद को भी बनाया, उन लोकों के साथ वर्त्तमान व्यापक ईश्वर ने ''**यतः**'' जिस सामर्थ्य से सब लोकों को रचा है, ''**अतः (सामर्थ्यात्)**'' उस सामर्थ्य से हम लोगों की रक्षा करे। हे विद्वानो! तुम लोग भी उसी विष्णु के उपदेश से हमारी रक्षा करो। कैसा है वह विष्णु? जिसने इस सब जगत् को ''**विचक्रमे**'' विविध प्रकार से रचा है, उसकी नित्य भक्ति करो॥ ११॥

मूल प्रार्थना

पा॒हि नो॑ अग्ने र॒क्षसः॑ पा॒हि धू॒र्तेररा॑व्णः।
पा॒हि रीष॑त उ॒त वा॒ जिघां॑सतो॒ बृह॑द्भानो॒ यवि॑ष्ठ्य॥ १२॥

ऋ० १।३।१०।५

व्याख्यान—हे सर्वशत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर! राक्षस, हिंसाशील, दुष्टस्वभाव देहधारियों से ''**नः**'' हमारी ''**पाहि**'' पालना और रक्षा करो। ''**धूर्त्तेरराव्णः**'' कृपण, जो धूर्त्त उस मनुष्य से भी हमारी रक्षा करो। जो हमको मारने लगे तथा जो मारने की इच्छा करता है, हे महातेज, बलवत्तम! उन सबसे हमारी रक्षा करो॥ १२॥

मूल स्तुति

त्वम॒स्य पा॒रे रज॑सो॒ व्यो॑मनः॒ स्वभू॑त्योजा॒ अव॑से धृषन्मनः।
च॒कृ॒षे भूमिं॑ प्रति॒मान॒मोज॑सो॒ऽपः स्वः॑ परि॒भूरे॒ष्या दिव॑म्॥ १३॥

ऋ० १।४।१४।२

व्याख्यान—हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! आकाशलोक के पार में तथा भीतर अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान होके दुष्टों के मन को धर्षण-तिरस्कार करते हुए सब जगत् तथा विशेष हम लोगों के ''**अवसे**'' सम्यक् रक्षण के लिए ''**त्वम्**'' आप सावधान हो रहे हो, इससे हम निर्भय होके आनन्द कर रहे हैं, किञ्च ''**दिवम्**'' परमाकाश ''**भूमिम्**'' भूमि तथा ''**स्वः**'' सुखविशेष मध्यस्थलोक इन सबों को अपने सामर्थ्य से ही रचके यथावत् धारण कर रहे हो, ''**परिभूः एषि**'' सब के ऊपर वर्त्तमान और सबको प्राप्त हो रहे हो, ''**आ दिवम्**'' द्योतनात्मक सूर्यादि लोक ''**अपः**'' अन्तरिक्षलोक और जल इन सबके प्रतिमान-(परिमाण)-कर्त्ता आप ही हो तथा आप अपरिमेय हो कृपा करके हमको अपना तथा सृष्टि का विज्ञान दीजिए॥ १३॥

मूल प्रार्थना

वि जा॑नी॒ह्यार्या॒न् ये च॒ दस्य॑वो ब॒र्हिष्म॑ते रन्धया॒ शास॑दव्र॒तान्।
शाकी॑ भव॒ यज॑मानस्य चोदि॒ता विश्वेत्ता ते॑ सध॒मादे॑षु चाकन॥ १४॥

ऋ० १।४।१०।३

व्याख्यान—हे यथायोग्य सबको जाननेवाले ईश्वर! आप ''**आर्यान्**'' विद्या, धर्मादि उत्कृष्ट स्वभावाचरणयुक्त आर्यों को जानो, ''**ये च दस्यवः**'' और जो नास्तिक, डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषयलम्पट, हिंसादि-दोषयुक्त, उत्तम कर्म में विघ्न करनेवाले, स्वार्थी स्वार्थसाधन में तत्पर, वेदविद्याविरोधी, अनार्य मनुष्य ''**बर्हिष्मते**'' सर्वोपकारक यज्ञ के ध्वंसक हैं—इन सब दुष्टों को आप ''**रन्धय**'' (समूलान् विनाशय) मूलसहित नष्ट कर दीजिए और ''**शासदव्रतान्**'' ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि धर्मानुष्ठानव्रतरहित, वेदमार्गोच्छेदक अनाचारियों को यथायोग्य शासन करो

(शीघ्र उनपर दण्ड निपातन करो), जिससे वे भी शिक्षायुक्त होके शिष्ट हों अथवा उनका प्राणान्त हो जाए, किंवा हमारे वश में ही रहें, ''**शाकी**'' तथा जीव को परम शक्तियुक्त शक्ति देने और उत्तम कामों में प्रेरणा करनेवाले हो, आप हमारे दुष्ट कामों से निरोधक हो। मैं भी ''**सधमादेषु**'' उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ ''**विश्ववेत्ता ते**'' तुम्हारी आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्मों की ''**चाकन**'' कामना करता हूँ, सो आप पूरी करें॥ १४॥

मूल स्तुति

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥ १५॥

ऋ० १।४।१४।४

व्याख्यान—हे परमैश्वर्ययुक्तेश्वर! आप इन्द्र हो। हे मनुष्यो! 'जिस परमात्मा का **अन्त**—इतना यह है', न हो, उसकी व्याप्ति का परिच्छेद (इयत्ता) परिमाण कोई नहीं कर सकता तथा दिन अर्थात् सूर्यादिलोक—सर्वोपरि आकाश तथा पृथिवी मध्य=निकृष्टलोक—ये कोई उसके आदि-अन्त को नहीं पाते, क्योंकि ''**अनुव्यचः**'' वह सबके बीच में अनुस्यूत (परिपूर्ण) हो रहा है तथा ''**न सिन्धवः**'' अन्तरिक्ष में जो दिव्य जल तथा सब लोक सो भी अन्त नहीं पा सकते ''**नोत स्ववृष्टिं मदे**'' वृष्टिप्रहार से युद्ध करता हुआ वृत्र (मेघ) तथा बिजुली-गर्जन आदि भी ईश्वर का पार नहीं पा सकते।[१] हे परमात्मन्! आपका पार कौन पा सके, क्योंकि ''**एकः**'' एक असहाय अपने से भिन्न स्वसामर्थ्य से ही ''**विश्वम्**'' सब जगत् को ''**आनुषक्**'' आनुषक्त, अर्थात् उसमें व्याप्त होते और ''**चकृषे**'' (कृतवान्) आपने ही उत्पन्न किया है, फिर जगत् के पदार्थ आपका पार कैसे पा सकें तथा ''**अन्यत्**'' आप जगत् रूप कभी नहीं बनते, न अपने में से जगत् को रचते हो, किन्तु अनन्त अपने सामर्थ्य से ही जगत् का रचन, धारण और लय यथाकाल में करते हो, इससे आपका सहाय हम लोगों को सदैव है॥ १५॥

१. जैसे कोई मद में मग्न होके रणभूमि में युद्ध करे, वैसे मेघ का भी दृष्टान्त जानना। (दयानन्द सरस्वती)

मूल प्रार्थना

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।
कृधी न ऊर्ध्वां चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः॥ १६॥

ऋ० १।३।१०।४॥

व्याख्यान—हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म आप ''**ऊर्ध्वः**'' सबसे उत्कृष्ट हो, हमको कृपा से उत्कृष्ट गुणवाले करो तथा ऊर्ध्वदेश में हमारी रक्षा करो। हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर! हमको ''**केतुना**'' विज्ञान, अर्थात् विविध विद्यादान देके ''**अंहसः**'' अविद्यादि महापाप से ''**निपाहि**''नितरां पाहि—सदैव अलग रक्खो तथा ''**विश्वम्**'' इस सकल संसार का भी नित्य पालन करो। हे सत्यमित्र न्यायकारिन्! जो कोई प्राणी ''**अत्रिणम्**'' हमसे शत्रुता करता है उसको और काम-क्रोधादि शत्रुओं को आप ''**सन्दह**'' सम्यक् भस्मीभूत करो (अच्छे प्रकार जलाओ), ''**कृधी न ऊर्ध्वान्**'' हे कृपानिधे! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम, चातुर्य, विविध धन, ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुख-सम्पादनादि गुणों में सब नरदेहधारियों से अधिक उत्तम करो तथा ''**चरथाय, जीवसे**'' सबसे अधिक आनन्द, भोग, सब देशों में अव्याहतगमन (इच्छानुकूल जाना-आना), आरोग्यदेह, शुद्ध मानसबल और विज्ञान इत्यादि के लिए हमको उत्तमता और अपनी पालनायुक्त करो, ''**विदा**'' विद्यादि उत्तमोत्तम धन ''**देवेषु**'' विद्वानों के बीच में प्राप्त करो, अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हमको रक्खो॥ १६॥

मूल स्तुति

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ १७॥

ऋ० १।६।१६।१०

व्याख्यान—हे त्रैकाल्याबाध्येश्वर! ''**अदितिर्द्यौः**'' आप सदैव विनाशरहित तथा स्वप्रकाशरूप हो। ''**अदितिरन्तरिक्षम्**'' अविकृत (विकार को न प्राप्त) और सबके अधिष्ठाता हो ''**अदितिर् माता**'' आप प्राप्त-मोक्ष जीवों को अविनश्वर (विनाश-रहित) सुख देने और अत्यन्त मान करनेवाले

हो, ''**स पिता**'' सो अविनाशीस्वरूप हम सब लोगों के पिता (जनक) और पालक हो और ''**स पुत्रः**'' सो ईश्वर आप मुमुक्षु, धर्मात्मा और विद्वानों को नरकादि दुःखों से पवित्र और त्राण (रक्षण) करनेवाले हो। ''**विश्वे देवाः अदितिः**'' सब देव दिव्यगुण—विश्व का धारण, रचन, मारण, पालन आदि कार्यों को करनेवाले अविनाशी परमात्मा आप ही हैं ''**पञ्चजना अदितिः**'' पाँच प्राण, जो जगत् के जीवनहेतु, वे भी आपके रचे और आपके नाम भी हैं ''**जातमदितिः**'' एक चेतन ब्रह्म आप सदा प्रादुर्भूत हैं, और सब कभी प्रादुर्भूत कभी अप्रादुर्भूत (विनाशभूत) भी हो जाते हैं ''**अदितिर्जनित्वम्**'' वे ही अविनाशीस्वरूप ईश्वर आप सब जगत् के ''**जनित्वम्**'' जन्म का हेतु हैं और कोई नहीं[१] ॥ १७ ॥

मूल प्रार्थना

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ १८ ॥ ऋ० १ । ६ । १७ । १

व्याख्यान—हे महाराजाधिराज परमेश्वर! आप हमको ''**ऋजुनीती**'' सरल (शुद्ध) कोमलत्वादिगुणविशिष्ट चक्रवर्ती राजाओं की नीति को ''**नयतु**'' कृपादृष्टि से प्राप्त करो। आप ''**वरुणः**'' सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो, सो हमको वरराज्य, वरविद्या, वरनीति देओ तथा [**मित्रः**] सबके मित्र शत्रुतारहित हो, हमको भी आप मित्रगुणयुक्त न्यायाधीश कीजिए तथा आप सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हो, हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिए तथा आप ''**अर्यमा**'' (यमराज) प्रियाप्रिय को छोड़के न्याय में वर्त्तमान हो, सब संसार के जीवों के पाप और पुण्यों की यथायोग्य व्यवस्था करनेवाले हो सो हमको भी आप तादृश करें, जिससे ''**देवैः**, **सजोषाः**'' आपकी कृपा से विद्वानों वा दिव्य गुणों के साथ उत्तम प्रीतियुक्त आपमें रमण और आपका सेवन करनेवाले हों! हे कृपासिन्धो भगवन्! हम पर सहाय करो जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े ॥ १८ ॥

१. ये सब नाम दिव आदि अन्य वस्तुओं के भी होते हैं परन्तु यहाँ ईश्वराभिप्रेत से ही अर्थ किया, सो प्रमाण जानना चाहिये। (दयानन्द सरस्वती)

मूल स्तुति

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा।
त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥ १९ ॥ ऋ० १ । ६ । १९ । ५

व्याख्यान—हे ''सोम'' राजन्! सत्पते! परमेश्वर! तुम 'सोम, सर्वसवनकर्त्ता (सबका सार निकालनेहारे), प्राप्यस्वरूप, शान्तात्मा हो तथा सत्पुरुषों का प्रतिपालन करनेवाले हो, तुम्हीं सबके राजा ''उत'' और ''**वृत्रहा**'' मेघ के रचक, धारक और मारक हो, भद्रस्वरूप, भद्र करनेवाले और ''**क्रतुः**'' सब जगत् के कर्त्ता आप ही हो ॥ १९ ॥

मूल प्रार्थना

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥ २० ॥ ऋ० १ । ६ । २० । ३

व्याख्यान—हे सोम! राजन्नीश्वर! तुम ''**अघायतः**'' जो कोई प्राणी हममें पापी और पाप करने की इच्छा करनेवाले हों ''**विश्वतः**'' उन सब प्राणियों से हमारी ''**रक्ष**'' रक्षा करो, जिसके आप सगे मित्र हो ''**न, रिष्येत्**'' वह कभी विनष्ट नहीं होता, किन्तु हमको आपके सहाय से तिलमात्र भी दुःख वा भय कभी नहीं होगा, जो आपका मित्र और जिसके आप मित्र हो, उसको दुःख क्योंकर हो ॥ २० ॥

मूल स्तुति

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २१ ॥ ऋ० १ । २ । ७ । २०

व्याख्यान—हे विद्वान् और मुमुक्षु जीवो! विष्णु का जो परम अत्यन्तोत्कृष्ट पद (पदनीय) सबके जानने योग्य, जिसको प्राप्त होके पूर्णानन्द में रहते हैं फिर वहाँ से कभी दुःख में नहीं गिरते, उस पद को ''**सूरयः**'' धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सबके हितकारक विद्वान् लोग यथावत् अच्छे विचार से देखते हैं, वह परमेश्वर का पद है। किस दृष्टान्त से कि जैसे आकाश में ''**चक्षुः**'' नेत्र की व्याप्ति वा सूर्य का प्रकाश सब ओर से व्याप्त है, वैसे ही ''**दिवीव**, **चक्षुराततम्**'' परब्रह्म सब जगह में परिपूर्ण, एकरस भर रहा है। वही परमपदस्वरूप परमात्मा परमपद है, इसी

की प्राप्ति होने से जीव सब दु:खों से छूटता है, अन्यथा जीव को कभी परमसुख नहीं मिलता। इससे सब प्रकार परमेश्वर की प्राप्ति में यथावत् प्रयत्न करना चाहिए॥ २१ ॥

मूल प्रार्थना

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ २२ ॥

ऋ० १।३।१८।२

व्याख्यान—(**परमेश्वरो हि सर्वजीवेभ्य आशीर्ददाति**) ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि, हे जीवो! ''**वः**'' (युष्माकम्) तुम्हारे **आयुध,** अर्थात् शतघ्नी (तोप), भुशुण्डी (बन्दूक), धनुष-बाण, असि (तलवार), शक्ति (बरछी) आदि शस्त्र **स्थिर** और ''**वीळू**'' दृढ़ हों। किस प्रयोजन के लिए? ''**पराणुदे**'' तुम्हारे शत्रुओं के पराजय के लिए, जिससे तुम्हारे कोई दुष्ट शत्रु लोग कभी दु:ख न दे सकें और ''**उत, प्रतिष्कभे**'' शत्रुओं के वेग को थामने के लिए ''**युष्माकमस्तु, तविषी पनीयसी**'' तुम्हारी बलरूप उत्तम सेना सब संसार में प्रशंसित हो, जिससे तुमसे लड़ने को शत्रु का कोई संकल्प भी न हो, परन्तु ''**मा मर्त्यस्य मायिनः**'' जो अन्यायकारी मनुष्य है, उसको हम आशीर्वाद नहीं देते। दुष्ट, पापी, ईश्वरभक्तिरहित मनुष्य का बल और राज्यैश्वर्यादि कभी मत बढ़ो, उसका पराजय ही सदा हो। हे बन्धुवर्गो! आओ, अपने सब मिलके सब दु:खों का विनाश और विजय के लिए ईश्वर को प्रसन्न करें, जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढ़ें॥ २२ ॥

मूल स्तुति

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ २३ ॥ ऋ० १।२।७।४

व्याख्यान—हे जीवो! ''**विष्णोः**'' व्यापकेश्वर के किये दिव्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि कर्मों को तुम देखो। (प्रश्न)—किस हेतु से हम लोग जानें कि ये व्यापक विष्णु के कर्म हैं? (उत्तर)—''**यतो व्रतानि पस्पशे**'' जिससे हम लोग ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा सत्य-भाषणादि व्रत और ईश्वर के नियमों का अनुष्ठान करने को सुशरीरधारी होके समर्थ

हुए हैं, यह काम उसी के सामर्थ्य से है, क्योंकि ''**इन्द्रस्य, युज्यः, सखा**'' इन्द्रियों के साथ वर्त्तमान कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता जो जीव इसका वही एक योग्य मित्र है, अन्य कोई नहीं, क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है, उससे परे जीव का हितकारी कोई और नहीं हो सकता, इससे परमात्मा से सदा मित्रता रखनी चाहिए॥ २३ ॥

मूल प्रार्थना

परा णुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम्॥ २४ ॥

ऋ० ५।३।२१।५

व्याख्यान—हे ''**मघवन्**'' परमैश्वर्यवन्! इन्द्र! परमात्मन्! ''**अमित्रान्**'' हमारे सब शत्रुओं को ''**पराणुदस्व**'' परास्त कर दो। हे दातः! ''**सुवेदा, नो, वसू, कृधि**'' ''**अस्माकं बोध्यविता**'' हमारे लिए सब पृथिवी के धन सुलभ (सुख से प्राप्त) कर। ''**महाधने**'' युद्ध में हमारे और हमारे मित्र तथा सेनादि के ''**अविता**'' रक्षक ''**वृधः**'' वर्धक ''**भव**'' आप ही हो तथा ''**बोधि**'' हमको अपने ही जानो। हे भगवन्! जब आप ही हमारे योद्धारक्षक होंगे तभी हमारा सर्वत्र विजय होगा, इसमें सन्देह नहीं॥ २४॥

मूल प्रार्थना

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥ २५ ॥

ऋ० ५।३।२८।२

व्याख्यान—हे ईश्वर! ''**भगः**'' आप और आपका दिया हुआ ऐश्वर्य ''**शं नः**'' हमारे लिए सुखकारक हो और ''**शमु, नः, शंसो अस्तु**'' आपकी कृपा से हमारी सुखकारक प्रशंसा सदैव हो। ''**पुरन्धिः, शमु, सन्तु, रायः**'' संसार के धारण करनेवाले आप तथा वायु, प्राण और सब धन आपकी कृपा से आनन्दायक हों। ''**शन्नः, सत्यस्य सुयमस्य शंसः**'' सत्य, यथार्थ धर्म, सुसंयम और जितेन्द्रियादिलक्षणयुक्त की जो प्रशंसा (पुण्यस्तुति) सब संसार में प्रसिद्ध है वह परमानन्द और शान्तियुक्त हमारे लिए हो। ''**शं नो, अर्यमा**'' न्यायकारी आप ''**पुरुजातः**''

अनन्तसामर्थ्ययुक्त हमारे कल्याणकारक होओ॥ २५॥

मूल स्तुति

त्वम॑सि प्र॒शस्यो॑ वि॒दथे॑षु सहन्त्य।

अग्ने॑ र॒थीर॑ध्व॒राणा॑म्॥ २६॥ ऋ० ५।८।३५।२

व्याख्यान—हे "**अग्ने**" सर्वज्ञ! तू ही सर्वत्र "**प्रशस्य:**" स्तुति करने के योग्य है, अन्य कोई नहीं। "**विदथेषु**" यज्ञ और युद्धों में आप ही स्तोतव्य हो। जो तुम्हारी स्तुति को छोड़के अन्य जड़ादि की स्तुति करता है उसके यज्ञ तथा युद्धों में विजय कभी सिद्ध नहीं होता है। "**सहन्त्य**" शत्रुओं के समूहों के आप ही घातक हो। "**रथीरध्वराणाम्**" अध्वरों, अर्थात् यज्ञ और युद्धों में आप ही रथी हो। हमारे शत्रुओं के योद्धाओं को जीतनेवाले हो, इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता॥ २६॥

मूल प्रार्थना

तन्न॒ इन्द्रो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॒ग्निराप॒ ओष॑धीर्व॒निनो॑ जुषन्त।

शर्म॑न्त्स्याम म॒रुता॑मु॒पस्थे॑ यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः॥ २७॥

ऋ० ५।३।२७।५

व्याख्यान—हे भगवन्! "**तन्न, इन्द्र:**" सूर्य, "**वरुण:**" चन्द्रमा, "**मित्र:**" वायु, "**अग्नि:**" अग्नि, "**आप:**" जल, "**ओषधी:**" वृक्षादि वनस्थ सब पदार्थ आपकी आज्ञा से सुखरूप होकर हमारा "**जुषन्त**" सेवन करें। हे रक्षक! "**मरुतामुपस्थे**" प्राणादि के सुसमीप बैठे हुए हम आपकी कृपा से "**शर्मन्त्स्याम**" सुखयुक्त सदा रहें, "**स्वस्तिभि:**" सब प्रकार के रक्षणों से "**यूयं पात**" (आदरार्थं बहुवचनम्) आप हमारी रक्षा करो, किसी प्रकार से हमारी हानि न हो॥ २७॥

मूल स्तुति

ऋषि॒र्हि पू॑र्व॒जा अस्येक॒ ईशा॑न॒ ओज॑सा।

इन्द्र॑ चोष्कू॒यसे॒ वसु॑॥ २८॥ ऋ० ५।८।१७।१

व्याख्यान—हे ईश्वर! "**ऋषि:**" सर्वज्ञ "**पूर्वजा:**" और सबके पूर्वजनक "**एक:**" एक, अद्वितीय "**ईशान:**" ईशन-कर्त्ता, (अर्थात्

ईश्वरता करनेहारे) तथा सबसे बड़े प्रलयोत्तरकाल में आप ही रहनेवाले "**ओजसा**" अनन्त-पराक्रम से युक्त हो। हे "**इन्द्र**" महाराजाधिराज! "**चोष्कूयसे वसु**" सब धन के दाता, शीघ्र कृपा का प्रवाह अपने सेवकों पर कर रहे हो। आप अत्यन्त आर्द्रस्वभाव हो॥ २८॥

मूल प्रार्थना

नेह भ॒द्रं र॑क्ष॒स्विने॒ नाव॒यै नोप॒या उ॒त।

गवे॑ च भ॒द्रं धे॒नवे॑ वी॒राय॑ च श्रवस्य॒तेऽने॒हसो॑ व ऊ॒तय॑:

सु ऊ॒तयो॑ व ऊ॒तय॑:॥ २९॥ ऋ० ६।४।९।२

व्याख्यान—हे भगवन्! "**रक्षस्विने भद्रं, नेह**" पापी, हिंसक, दुष्टात्मा को इस संसार में सुख मत देना। "**नावयै**" धर्म से विपरीत चलनेवाले को सुख कभी मत हो "**नोपया उत**" तथा अधर्मी के समीप रहनेवाले उसके सहायक को भी सुख नहीं हो। ऐसी प्रार्थना आपसे हमारी है कि दुष्ट को सुख कभी न होना चाहिए, नहीं तो कोई जन धर्म में रुचि ही न करेगा, किन्तु इस संसार में धर्मात्माओं को ही सुख सदा दीजिए तथा हमारी शमदमादियुक्त इन्द्रियाँ, दुग्ध देनेवाली गौ आदि, वीरपुत्र और शूरवीर भृत्य "**श्रवस्यते**" विद्या, विज्ञान और अन्नाद्यैश्वर्ययुक्त हमारे देश के राजा और धनाढ्यजन तथा इनके लिए "**अनेहस:**" निष्पाप, निरुपद्रव, स्थिर, दृढ़ सुख हो "**सु ऊतयो व ऊतय:**" (व: युष्माकं, बहुवचनमादरार्थम्) हे सर्वरक्षकेश्वर! आप सर्वरक्षण, अर्थात् पूर्वोक्त सब धर्मात्माओं के रक्षक हैं। जिन पर आप रक्षक हो उनको सदैव "**भद्रम्**" कल्याण, (परमसुख) प्राप्त होता है, अन्य को नहीं॥ २९॥

मूल स्तुति

वसु॒र्वसु॑पति॒र्हि क॒मस्य॑ग्ने वि॒भाव॑सुः।

स्याम॑ ते सुम॒ताव॑पि॥ ३०॥ ऋ० ६।३।४०।४

व्याख्यान—हे परमात्मन्! आप "**वसु:**" सबको अपने में बसानेवाले और सबमें आप बसनेवाले हो तथा "**वसुपति:**" पृथिव्यादि वासहेतुभूतों के पति हो। "**कमसि**" हे अग्ने! विज्ञानानन्दस्वप्रकाशस्वरूप! आप ही सबके सुखकारक और सुखस्वरूप हो तथा "**विभावसु:**" सत्यस्वप्रकाशकैधनमय हो। हे भगवन्! ऐसे जो आप, उन "**ते**" आपकी "**सुमतौ**"

अत्यन्तोत्कृष्ट ज्ञान और परस्पर प्रीति में हम लोग स्थिर हों॥३०॥

मूल प्रार्थना

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥३१॥

ऋ० १।७।६।१

व्याख्यान—हे मनुष्यो! जो हमारा तथा सब जगत् का राजा सब भुवनों का स्वामी ''**कम्**'' सबका सुखदाता और ''**अभिश्रीः**'' सबका निधि (शोभा-कारक) है। ''**वैश्वानरो यतते सूर्येण**'' संसारस्थ सब नरों का नेता (नायक) और सूर्य के साथ वही प्रकाशक है, अर्थात् सब प्रकाशक पदार्थ उसके रचे हैं। ''**इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे**'' इसी ईश्वर के सामर्थ्य से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, अर्थात् उसने रचा है। ''**वैश्वानरस्य सुमतौ, स्याम**'' उस वैश्वानर परमेश्वर की सुमति, अर्थात् सुशोभन (उत्कृष्ट) ज्ञान में हम निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञानवाले हों। हे महाराजाधिराजेश्वर! आप इस हमारी आशा को कृपा से पूरी करो॥३१॥

मूल स्तुति

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥३२॥

ऋ० १।७।१०।५

व्याख्यान—हे अनन्तबल! ''**न यस्य**'' जिस परमात्मा का और उसके बलादि सामर्थ्य का ''**देवाः**'' इन्द्रिय, ''**देवताः**'' विद्वान्, सूर्यादि तथा बुद्ध्यादि, ''**न मर्ताः**'' साधारण मनुष्य, ''**आपश्चन**'' आप, प्राण, वायु, समुद्र इत्यादि सब, ''**अन्तम्**'' पार कभी नहीं पा सकते, किन्तु ''**प्ररिक्वा**'' प्रकृष्टता से इनमें व्यापक होके अतिरिक्त (इनसे विलक्षण), भिन्न हो परिपूर्ण हो रहा है। सो ''**मरुत्वान्**'' अत्यन्त बलवान् ''**इन्द्रः**'' परमात्मा ''**त्वक्षसा**'' शत्रुओं के बल का छेदक, बल से ''**क्ष्मः**'' पृथिवी को ''**दिवश्च**'' स्वर्ग को धारण करता है, सो ''**इन्द्रः**'' परमात्मा ''**ऊती**'' हमारी रक्षा के लिए ''**भवतु**'' तत्पर हो॥३२॥

मूल प्रार्थना

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥३३॥

ऋ० १।७।७।१

व्याख्यान—हे ''**जातवेदः**'' परब्रह्मन्! आप जातवेद हो, उत्पन्नमात्र सब जगत् को जाननेवाले हो, सर्वत्र प्राप्त हो। जो विद्वानों से ज्ञात सबमें विद्यमान जात अर्थात् प्रादुर्भूत अनन्त धनवान् वा अनन्त ज्ञानवान् हो, इससे आपका नाम जातवेद है उन आपके लिए ''**वयम्, सोमं, सुनवाम**'' जितने सोम प्रिय-गुणविशिष्टादि हमारे पदार्थ हैं, वे सब आपके ही लिये हैं, सो आप हे कृपालो! ''**अरातीयतः**'' दुष्ट शत्रु जो हम धर्मात्माओं का विरोधी उसके ''**वेदः**'' धनैश्वर्यादि का ''**निदहाति**'' नित्य दहन करो, जिससे वह दुष्टता को छोड़के श्रेष्ठता को स्वीकार करे सो ''**नः**'' हमको ''**दुर्गाणि, विश्वा**'' सम्पूर्ण दुस्सह दुःखों से ''**पर्षदति**'' पार करके आप नित्य सुख को प्राप्त करो। ''**नावेव, सिन्धुम्**'' जैसे अति कठिन नदी वा समुद्र से पार होने के लिए नौका होती है ''**दुरितात्यग्निः**'' वैसे ही हमको सब पापजनित अत्यन्त पीड़ाओं से पृथक् (भिन्न) करके संसार में और मुक्ति में भी परमसुख को शीघ्र प्राप्त करो॥३३॥

मूल स्तुति

स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा।
चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥३४॥

ऋ० १।७।१०।२

व्याख्यान—हे दुष्टनाशक परमात्मन्! आप ''**वज्रभृत्**'' अच्छेद्य (दुष्टों के छेदक) सामर्थ्य से सर्वशिष्ट हितकारक, दुष्ट-विनाशक जो न्याय उसको धारण कर रहे हो, **प्राणो वै वज्रः** इत्यादि शतपथादि का प्रमाण है। अतएव ''**दस्युहा**'' दुष्ट, पापी लोगों का हनन करनेवाले हो। ''**भीमः**'' आपकी न्याय आज्ञा को छोड़नेवालों पर भयङ्कर भय देनेवाले हो। ''**सहस्रचेताः**'' सहस्रों विज्ञानादि गुणवाले आप ही हो। ''**शतनीथः**'' सैकड़ों=असंख्यात पदार्थों की प्राप्ति करानेवाले हो। ''**ऋभ्वा**'' अत्यन्त विज्ञानादि प्रकाशवाले हो और सबके प्रकाशक हो तथा महान् वा महाबलवाले हो। ''**न,**

चम्रीषः'' किसी की चमू (सेना) में वश को प्राप्त नहीं होते हो। ''**शवसा**'' स्वबल से आप ''**पाञ्चजन्यः**'' पाँच प्राणों के जनक हो। ''**मरुत्वान्**'' सब प्रकार के वायुओं के आधार तथा चालक हो, सो आप इन्द्र हमारी रक्षा के लिए प्रवृत्त हों, जिससे हमारा कोई काम बिगड़े नहीं॥ ३४॥

मूल प्रार्थना

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो।
स्तवाम त्वा स्वाध्यः॥ ३५॥ ऋ० १।१।३१।४

व्याख्यान—हे ''**शतक्रतो**'' अनन्तक्रियेश्वर! आप असंख्यात विज्ञानादि यज्ञों से प्राप्य हो तथा अनन्तक्रियाबलयुक्त हो, सो आप ''**गोभिरश्वैः**'' गाय, उत्तम इन्द्रिय, श्रेष्ठ पशु, सर्वोत्तम अश्वविद्या (विमानादियुक्त) तथा 'अश्व' अर्थात् श्रेष्ठ घोड़ादि पशुओं और चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य से ''**सेमं, नः, काममापृण**'' हमारे काम को परिपूर्ण करो। फिर हम भी ''**स्तवाम, त्वा, स्वाध्यः**'' सुबुद्धियुक्त होके उत्तम प्रकार से आपका स्तवन (स्तुति) करें। हमको दृढ़ निश्चय है कि आपके विना दूसरा कोई किसी का काम पूर्ण नहीं कर सकता। जो आपको छोड़के दूसरे का ध्यान वा याचना करते हैं, उनके सब काम नष्ट हो जाते हैं॥ ३५॥

मूल स्तुति

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः।
सुमृळीको न आ विश॥ ३६॥ ऋ० १।६।२१।१

व्याख्यान—हे ''**सोम**'' सर्वजगदुत्पादकेश्वर! आपको ''**वचोविदः**'' शास्त्रवित् हम लोग स्तुतिसमूह से ''**वर्धयामः**'' सर्वोपरि विराजमान मानते हैं। ''**सुमृळीकः, नः आविश**'', क्योंकि हमको सुष्ठु सुख देनेवाले आप ही हो, सो कृपा करके हमको आप आदेश करो, जिससे हम लोग अविद्यान्धकार से छूट और विद्या सूर्य को प्राप्त होके आनन्दित हों॥ ३६॥

मूल प्रार्थना

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्यइव स्व ओक्ये॥ ३७॥ ऋ० १।६।२१।३

व्याख्यान—हे ''**सोम**'' सोम्य! सौख्यप्रदेश्वर! आप कृपा करके

''**रारन्धि, नो हृदि**'' हमारे हृदय में यथावत् रमण करो। (दृष्टान्त)—जैसे सूर्य की किरण, विद्वानों का मन और गाय पशु अपने-अपने विषय और घासादि में रमण करते हैं* वा जैसे ''**मर्यः, इव, स्वे, ओक्ये**'' मनुष्य अपने घर में रमण करता है, वैसे ही आप सदा स्वप्रकाशयुक्त हमारे हृदय (आत्मा) में रमण कीजिए, जिससे हमको यथार्थ सर्वज्ञान और आनन्द हो॥ ३७॥

मूल स्तुति

गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव॥ ३८॥ ऋ० १।६।२१।२

व्याख्यान—हे परमात्मभक्त जीवो! अपना इष्ट जो परमेश्वर, सो ''**गयस्फानः**'' प्रजा, धन, जनपद और स्वराज्य का बढ़ानेवाला है, तथा ''**अमीवहा**'' शरीर, इन्द्रियजन्य और मानस रोगों का हनन (विनाश) करनेवाला है। ''**वसुवित्**'' सब पृथिव्यादि वसुओं का जाननेवाला है, अर्थात् सर्वज्ञ और विद्यादि धन का दाता है, ''**पुष्टिवर्धनः**'' अपने शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा की पुष्टि का बढ़ानेवाला है। ''**सुमित्रः, सोम, नः, भव**'' सुष्ठु, यथावत् सबका परममित्र वही है, सो अपने उससे यह माँगें कि हे सोम! सर्वजगदुत्पादक! आप ही कृपा करके हमारे सुमित्र हों और हम भी सब जीवों के मित्र हों तथा अत्यन्त मित्रता आपसे ही रक्खें॥ ३८॥

मूल प्रार्थना

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम्॥ ३९॥ ऋ० १।७।५।६

व्याख्यान—हे अग्ने परमात्मन्! ''**त्वं, हि**'' तू ही ''**विश्वतः परिभूरसि**'' सब जगत् सब ठिकानों में व्याप्त हो, अतएव आप विश्वतोमुख हो। हे सर्वतोमुख अग्ने! आप स्वमुख स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश नित्य ही कर रहे हो, वही आपका मुख है। हे कृपालो! ''**अप, नः शोशुचदघम्**'' आपकी इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट हो जाय, जिससे हम लोग निष्पाप होके आपकी भक्ति और आज्ञा-पालन में नित्य

* दृष्टान्त का एकदेश रमणमात्र लेना।

तत्पर रहें॥ ३९॥

मूल स्तुति

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम्।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ ४०॥

ऋ० १।७।३।३

व्याख्यान—हे मनुष्यो! ''**तमीळत**'' उस अग्नि की स्तुति करो। कैसा है वह अग्नि? जो ''**प्रथमम्**'' सब कार्यों से पहले वर्त्तमान और सबका आदिकारण है तथा ''**यज्ञसाधम्**'' सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक (सिद्ध करनेवाला), सबका जनक है। हे ''**विशः**'' मनुष्यो! उस को ही स्वामी मानकर ''**आरीः**'' प्राप्त होओ, जिसको अपने दीनता से पुकारते, और जिसको विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते और जानते हैं। ''**ऊर्जः पुत्रं भरतम्**'' पृथिव्यादि जगत् रूप अन्न का पुत्र, अर्थात् पालन करनेवाला तथा 'भरत', अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करनेवाला है। ''**सृप्रदानुम्**'' सब जगत् को चलने की शक्ति देनेवाला और ज्ञान का दाता है। उसी को ''**देवाः, अग्निं, धारयन् द्रविणोदाम्**'' देव (विद्वान् लोग) अग्नि कहते और धारण करते हैं। वही सब जगत् को 'द्रविण' अर्थात् निर्वाह के सब अन्न-जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देनेवाला है। उस अग्नि परमात्मा को छोड़के अन्य किसी की भक्ति वा याचना कभी किसी को न करनी चाहिए॥ ४०॥

मूल प्रार्थना

तमूतयो रणयञ्छूरसातौ तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम्।
स विश्वस्य करुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ४१॥

ऋ० १।७।९।२

व्याख्यान—हे मनुष्यो! ''**तमूतयः**'' उसी इन्द्र—परमात्मा की प्रार्थना तथा शरणागति से अपने को ''**ऊतयः**'' अनन्त रक्षण तथा बलादि गुण प्राप्त होंगे। वही ''**शूरसातौ**'' युद्ध में अपने को यथावत् ''**रणयन्**'' रमण और रणभूमि में शूरवीरों के गुण परस्पर प्रीत्यादि प्राप्त करावेगा ''**तं क्षेमस्य क्षितयः**'' हे शूरवीर मनुष्यो! उसी को क्षेम=कुशलता का ''**त्राम्**'' रक्षक ''**कृण्वत**'' करो, जिससे अपना पराजय कभी न हो, क्योंकि,

''**सः, विश्वस्य**'' सो करुणामय, सब जगत् पर करुणा करनेवाला ''**एकः**'' एक ही ''**ईशः**'' ईश है, अन्य कोई नहीं। सो परमात्मा ''**मरुत्वान्**'' प्राणवायु, बल, सेनायुक्त ''**नः ऊती** (ऊतये) सम्यक् हम लोगों पर कृपा से रक्षक हो, ईश्वर से रक्षित हम लोग कभी पराजय को न प्राप्त हों॥ ४१॥

मूल स्तुति

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ ४२॥

ऋ० १।७।३।२

व्याख्यान— हे मनुष्यो! सो ही ''**पूर्वया, निविदा**'' आदि, सनातन, सत्यता आदि गुणयुक्त अग्नि ही परमात्मा था, अन्य कोई नहीं था। तब सृष्टि के आदि में स्वप्रकाशस्वरूप एक ईश्वर प्रजा की उत्पत्ति की ईक्षणता (विचार) करता भया। ''**कव्यतायोः**'' सर्वज्ञतादिसामर्थ्य से ही सत्यविद्या-युक्त वेदों की तथा ''**मनूनाम्**'' मननशीलवाले मनुष्यों की तथा अन्य पशु-वृक्षादि की ''**प्रजाः**'' प्रजा को ''**अजनयत्**'' उत्पन्न किया—परस्पर मनुष्य और पशु आदि के व्यवहार चलने के लिए, परन्तु मननशीलवाले मनुष्यों को अवश्य स्तुति करने योग्य वही है। ''**विवस्वता चक्षसा**'' सूर्यादि तेजस्वी सब पदार्थों का प्रकाशनेवाला, बल से स्वर्ग (सुखविशेष), सब लोक ''**अपः**'' अन्तरिक्ष में पृथिव्यादि मध्यमलोक और निकृष्ट दुःखविशेष नरक और सब दृश्यमान तारे आदि लोक उसी ने रचे हैं। जो ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर देव है उसी ''**द्रविणोदाम्**'' विज्ञानादि धन देनेवाले को ही ''**देवाः**'' विद्वान् लोग ''**अग्निम्**'' अग्नि ''**धारयन्**'' जानते हैं। हम लोग उसी को ही भजें॥ ४२॥

मूल प्रार्थना

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज॥ ४३॥

ऋ० १।७।१४।४

व्याख्यान—हे इन्द्र—परमात्मन्! ''**त्वया युजा, वयं, जयेम**'' आपके साथ वर्त्तमान, आपके सहाय से हम लोग दुष्ट शत्रुओं को जीतें। कैसा वह शत्रु, कि ''**आवृतम्**'' हमारे बल से घिरा हुआ। हे महाराजाधिराजेश्वर!

''**भरे भरे अस्माकमंशमुदव**'' युद्ध-युद्ध (प्रत्येक युद्ध) में हमारे अंश (बल), सेना का ''**उदव**'', उत्कृष्ट रीति से कृपा करके रक्षण करो, जिससे किसी युद्ध में क्षीण होके हम पराजय को प्राप्त न हों, किन्तु जिनको आपका सहाय है, उनका सर्वत्र विजय ही होता है। हे ''**इन्द्र, मघवन्**'' महाधनेश्वर! ''**शत्रूणां, वृष्ण्या**'' हमारे शत्रुओं के (वीर्य) पराक्रमादि को ''**प्ररुज**'' प्रभग्न रुग्ण करके नष्ट कर दे। ''**अस्मभ्यं, वरिवः सुगं, कृधि**'' हमारे लिए चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को ''**सुगम्**'' सुख से प्राप्त कर, अर्थात् आपकी करुणा कटाक्ष से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को ही प्राप्त हो॥ ४३॥

मूल स्तुति

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥ ४४॥

ऋ० १।७।१२।५

व्याख्यान—हे मनुष्यो! जो सब जगत् (स्थावर), जड़, अप्राणी का और ''**प्राणतः**'' चेतनावाले जगत् का ''**पतिः**'' अधिष्ठाता और पालक है तथा जो सब जगत् के प्रथम सदा से है और ''**ब्रह्मणे, गाः, अविन्दत्**'' जिसने यही नियम किया है कि ब्रह्म, अर्थात् विद्वान् के ही लिये पृथिवी का लाभ और उसका राज्य है और जो ''**इन्द्रः**'' परमैश्वर्यवान् परमात्मा डाकुओं को ''**अधरान्**'' नीचे गिराता है तथा उनको मार ही डालता है। ''**मरुत्वन्तं, सख्याय, हवामहे**'' आओ मित्रो! भाई लोगो! अपने सब सम्प्रीति से मिलके मरुत्वान्, अर्थात् परमानन्त बलवाले इन्द्र परमात्मा को सखा होने के लिए अत्यन्त प्रार्थना से गद्गद होके पुकारें। वह शीघ्र ही कृपा करके अपने से सखित्व (परम मित्रता) करेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं॥ ४४॥

मूल प्रार्थना

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥ ४५॥

ऋ० १।८।५।२

व्याख्यान—हे दुष्टों को रुलानेहारे रुद्रेश्वर! ''**नः**'' हमको ''**मृळ**''

सुखी कर तथा ''**मयस्कृधि**'' हमको मय, अर्थात् अत्यन्त सुख का सम्पादन कर। ''**क्षयद्वीराय, नमसा, विधेम, ते**'' शत्रुओं के वीरों का क्षय करनेवाले आपको अत्यन्त नमस्कारादि से परिचर्या करनेवाले हम लोगों का रक्षण यथावत् कर। ''**यच्छम्**'' हे रुद्र! आप हमारे पिता (जनक) और पालक हो, हमारी सब प्रजा को सुखी कर, ''**योश्च**'' और प्रजा के रोगों का भी नाश कर। जैसे ''**मनुः**'' मान्यकारक पिता ''**आयेजे**'' स्वप्रजा को संगत और अनेकविध लाडन करता है, वैसे आप हमारा पालन करो। हे ''**रुद्र**'' भगवन्! ''**तव, प्रणीतिषु**'' आपकी आज्ञा का 'प्रणय', अर्थात् उत्तम न्याययुक्त नीतियों में प्रवृत्त होके ''**तदश्याम**'' वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रह से प्राप्त हों॥ ४५॥

मूल स्तुति

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥ ४६॥

ऋ० १।५।१९।३

व्याख्यान—हे प्रियबन्धु विद्वानो! ''**देवो न**'' ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्य की नाईं प्रकाश कर रहा है, ''**यः पृथिवीम्**'' जो पृथिव्यादि जगत् को रचके धारण कर रहा है और ''**विश्वधायाः उपक्षेति**'' विश्वधारक शक्ति का भी निवास देने और धारण करनेवाला है तथा जो सब जगत् का परममित्र, अर्थात् जैसे ''**हितमित्रो न राजा**'' प्रियमित्रवान् राजा अपनी प्रजा का यथावत् पालन करता है, वैसे ही हम लोगों का पालनकर्त्ता वही एक है, अन्य कोई भी नहीं। ''**पुरःसदः, शर्मसदो न वीराः**'' जो जन ईश्वर के पुरःसद हैं, (ईश्वराभिमुख ही हैं) वे ही **शर्मसदः**, अर्थात् सुख में सदा स्थिर रहते हैं। ''**न वीराः**'' जैसे पुत्रलोग अपने पिता के घर में आनन्दपूर्वक निवास करते हैं, वैसे ही जो परमात्मा के भक्त हैं वे सदा सुखी ही रहते हैं, परन्तु जो अनन्यचित्त होके निराकार, सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की सत्य श्रद्धा से भक्ति करते हैं, जैसेकि ''**अनवद्या, पतिजुष्टेव, नारी**'' अत्यन्तोत्तम गुणयुक्त, पति की सेवा में तत्पर, पतिव्रता नारी (स्त्री) रात-दिन तन, मन, धन से अत्यन्त प्रीतियुक्त होके अनुकूल ही रहती है, वैसे प्रेम-प्रीतियुक्त होके, आओ भाई लोगो! ईश्वर की भक्ति करें और अपने सब मिलके परमात्मा से परमसुख-लाभ उठावें॥ ४६॥

प्रार्थनाविषय

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः॥ ४७॥

ऋ० ७।८।१२।२

व्याख्यान—हे सर्वाभिरक्षकेश्वर! ''**सा मा सत्योक्तिः**'' आपकी सत्य-आज्ञा, जिसका हमने अनुष्ठान किया है, वह ''**विश्वतः, परिपातु**'' हमको सब संसार से सर्वथा पालित और सब दुष्ट कामों से सदा पृथक् रक्खे, कि कभी हमको अधर्म करने की इच्छा भी न हो ''**द्यावा च**'' दिव्य सुख से सदा युक्त करके यथावत् हमारी रक्षा करे। ''**यत्र**'' जिस दिव्य सृष्टि में ''**अहानि**'' सूर्यादिकों को दिवस आदि होने के निमित्त ''**ततनन्**'' आपने ही विस्तारे हैं, वहाँ भी हमारा सब उपद्रवों से रक्षण करो। ''**विश्वमन्यत्**'' आपसे अन्य (भिन्न) विश्व, अर्थात् सब जगत् जिस समय आपके सामर्थ्य से (प्रलय में) ''**निविशते**'' प्रवेश करता है (कार्य सब कारणात्मक होता है), उस समय में भी आप हमारी रक्षा करो। ''**यदेजति**'' जिस समय यह जगत् आपके सामर्थ्य से चलित होके उत्पन्न होता है, उस समय भी सब पीड़ाओं से आप हमारी रक्षा करें। ''**विश्वाहापो विश्वाहा**'' जो-जो विश्व का हन्ता (दुःख देनेवाला) उसको आप नष्ट कर देओ, क्योंकि आपके सामर्थ्य से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, आपके सामने कोई राक्षस (दुष्टजन) क्या कर सकता है, क्योंकि आप सब जगत् में उदित (प्रकाशमान) हो रहे हो। सूर्यवत् हमारे हृदय में कृपा करके प्रकाशित होओ, जिससे हमारी अविद्यान्धकारता सब नष्ट हो॥ ४७॥

मूल स्तुति

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ४८॥

ऋ० १।६।३२।३

व्याख्यान—हे मनुष्यो! वह परमात्मा कैसा है कि हम लोग उसकी स्तुति करें। हे अग्ने! परमेश्वर! आप ''**देवो देवानामसि**'' देवों (परम-विद्वानों) के भी देव (परमविद्वान्) हो तथा उनको परमानन्द देनेवाले हो तथा ''**अद्भुतः**'' अत्यन्त आश्चर्यरूप मित्र, सर्वसुखकारक, सबके सखा

हो, ''**वसुर्वसूनामसि**'' पृथिव्यादि वसुओं के भी वास करानेवाले हो तथा ''**अध्वरे**'' ज्ञानादि यज्ञ में ''**चारुः**'' अत्यन्त शोभायमान और शोभा के देनेवाले हो। हे परमात्मन्! ''**सप्रथस्तमे सख्ये, शर्मन् तव**'' आपके अतिविस्तीर्ण, आनन्दस्वरूप, सखाओं के कर्म में हम लोग स्थिर हों, जिससे हमको कभी दुःख प्राप्त न हो और आपके अनुग्रह से हम लोग परस्पर अप्रीतियुक्त कभी न हों॥ ४८॥

प्रार्थनाविषय

मा नो वधीरिन्द्र मा परा दा मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः।
आण्डा मा नो मघवञ्छक्र निर्भेन् मा नः पात्रा भेत्सहजानुषाणि॥ ४९॥

ऋ० १।७।१९।३

व्याख्यान—हे ''**इन्द्र**'' परमैश्वर्ययुक्तेश्वर! ''**मा नो वधीः**'' हमारा वध मत कर, अर्थात् अपने-से अलग हमको मत गिरावै। ''**मा परा दाः**'' हमसे अलग आप कभी मत हो ''**मा नः प्रिया०**'' हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चोरवावै, ''**आण्डा मा०**'' हमारे गर्भों का विदारण मत कर। हे ''**मघवन्**'' सर्वशक्तिमन्! ''**शक्र**'' समर्थ! हमारे पुत्रों का विदारण मत कर। ''**मा नः, पात्राः**'' हमारे भोजनाद्यर्थ सुवर्णादि पात्रों को हमसे अलग मत कर। ''**सहजानुषाणि**'' जो-जो हमारे सहज अनुषक्त, स्वभाव से अनुकूल मित्र हैं, उनको आप नष्ट मत करो, अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो॥ ४९॥

मूल प्रार्थना

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥ ५०॥

ऋ० १।८।६।२

व्याख्यान—हे ''**रुद्र**'' दुष्टविनाशकेश्वर! आप हमपर कृपा करो ''**मा नो महान्तम्**'' हमारे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध पिता इनको आप नष्ट मत करो तथा ''**मा नो अर्भकम्**'' छोटे बालक और ''**उक्षन्तम्**'' वीर्यसेचन-समर्थ जवान तथा जो गर्भ में वीर्य को सेचन किया है, उसको मत विनष्ट करो तथा हमारे पिता, माता और प्रिय तनुओं (शरीरों) का ''**मा, रीरिषः**'' हिंसन मत करो॥ ५०॥

मूल प्रार्थना

मा न॑स्तो॒के तन॑ये॒ मा न॒ आयौ॒ मा नो॒ गोषु॒ मा नो॒ अश्वे॑षु रीरिषः।
वी॒रान्मा नो॑ रुद्र भामि॒तो व॑धीर्ह॒विष्म॑न्त॒ः सद॒मित्त्वा॑ हवामहे॥ ५१ ॥

ऋ० १।८।६।३

व्याख्यान—''**मा, नः , तोके**'' कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ पुत्र, ''**आयौ**'' उमर, ''**गोषु**'' गाय आदि पशु, ''**अश्वेषु**'' घोड़ा आदि उत्तम यान, हमारी सेना के शूरों में ''**हविष्मन्तः**'' यज्ञ के करनेवाले—इनमें ''**भामितः**'' क्रोधित और ''**मा रीरिषः**'' रोषयुक्त होके कभी प्रवृत्त मत होओ। हम लोग आपको ''**सदमित्त्वा, हवामहे**'' सर्वदैव आह्वान करते हैं, हे भगवन्! रुद्र परमात्मन्! आपसे यही प्रार्थना है कि हमारी और हमारे पुत्र, धनैश्वर्यादि की रक्षा करो॥ ५१ ॥

मूल प्रार्थना

उ॒द्गा॒तेव॑ शकुने॒ साम॑ गायसि ब्रह्मपु॒त्रइ॑व॒ सव॑नेषु शंससि।
वृषे॑व वा॒जी शिशु॑मतीर॒पीत्या॑ स॒र्वतो॑ न॒ः शकुने भ॒द्रमा व॑द
वि॒श्वतो॑ न॒ः शकु॒ने पुण्य॒मा व॑द॥ ५२ ॥ ऋ० २।८।१२।२

आ॒वद॒ँस्त्वं श॑कुने भ॒द्रमा व॑द तू॒ष्णीमासी॑नः सुम॒तिं चि॑किद्धि नः।
य॒दु॒त्पत॒न् वद॑सि कर्क॒रिर्य॑था बृ॒हद्व॑देम वि॒दथे॑ सु॒वीरा॑ः॥ ५३ ॥

ऋ० २।८।१२।३

व्याख्यान—हे ''**शकुने**'' सर्वशक्तिमन्नीश्वर! आप साम को सदा गाते हो, वैसे ही हमारे हृदय में सब विद्या का प्रकाशित गान करो। जैसे यज्ञ में महापण्डित सामगान करता है, वैसे आप भी हम लोगों के बीच में सामादि विद्या का गान (प्रकाश) कीजिए। ''**ब्रह्मपुत्र इव**'' आप कृपा से **सवन** (पदार्थ-विद्याओं) की ''**शंससि**'' प्रशंसा करते हो, वैसे हमको भी यथावत् प्रशंसित करो। जैसे ''**ब्रह्मपुत्र इव**'' वेदों का वेत्ता विज्ञान से सब पदार्थों की प्रशंसा करता है, वैसे आप भी हमपर कृपा कीजिए। आप ''**वृषेव वाजी**'' सर्वशक्ति का सेचन करने और अन्नादि पदार्थों के दाता तथा महाबलवान् और वेगवान् होने से वाजी हो। जैसाकि वृषभ की नाईं आप उत्तम गुण और उत्तम पदार्थों की वृष्टि करनेवाले हो, वैसे हमपर उनकी वृष्टि करो। ''**शिशुमतीः**'' हम लोग आपकी कृपा से उत्तम-उत्तम

शिशु (सन्तानादि) को ''**अपीत्य**'' प्राप्त होके आपको ही भजें। ''**आ सर्वतो नः शकुने**'' हे शकुने! सर्वसामर्थ्यवान् ईश्वर! सब ठिकानों से हमारे लिए ''**भद्रम्**'' कल्याण को ''**आ वद**'' अच्छे प्रकार कहो, अर्थात् कल्याण की ही आज्ञा और कथन करो, जिससे अकल्याण की बात भी कभी हम न सुनें। ''**विश्वतो नः शकुने**'' हे सबको सुख देनेवाले ईश्वर! सब जगत् के लिए ''**पुण्यम्**'' धर्मात्मक कर्म करने का ''**आ वद**'' उपदेश कर, जिससे कोई मनुष्य अधर्म करने की इच्छा भी न करे और सब ठिकानों में सत्यधर्म की प्रवृत्ति हो॥

''**आवदंस्त्वं शकुने**'' हे शकुने! जगदीश्वर! आप सब ''**भद्रम्**'' कल्याण का भी कल्याण, अर्थात् व्यावहारिक सुख के भी ऊपर मोक्ष-सुख का निरन्तर उपदेश सब जीवों को कीजिए। ''**तूष्णीमासीनः**'' हे अन्तर्यामिन्! हमारे हृदय में सदा स्थिर हो मौनरूप से ही ''**सुमतिम्**'' सर्वोत्तम ज्ञान देओ। ''**चिकिद्धि नः**'' कृपा से हमको अपने रहने के लिए घर ही बनाओ और आपकी परमविद्या को हम प्राप्त हों। ''**यदुत्पतन्**'' उत्तम व्यवहार में पहुँचाते हुए आपका **यथा**=जिस प्रकार से ''**कर्करिर्वदसि**'' कर्त्तव्य कर्म, धर्म को ही अत्यन्त पुरुषार्थ से करो, अकर्त्तव्य दुष्ट कर्म मत करो, ऐसा उपदेश है कि पुरुषार्थ, अर्थात् यथायोग्य उद्यम को कभी कोई मत छोड़ो। जैसे ''**बृहद्वदेम विदथे**'' विज्ञानादि यज्ञ वा धर्मयुक्त युद्धों में ''**सुवीराः**'' अत्यन्त शूरवीर होके ''**बृहत्**'' (सबसे बड़े) आप जो परब्रह्म उन ''**वदेम**'' आपकी स्तुति, आपका उपदेश, आपकी प्रार्थना और उपासना तथा आपका यह बड़ा, अखण्ड साम्राज्य और सब मनुष्यों का हित सर्वदा कहें, सुनें और आपके अनुग्रह से परमानन्द को भोगें॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ओम् महाराजाधिराजाय परमात्मने नमो नमः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां महाविदुषां श्रीयुतविरजानन्द-
सरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचित
आर्याभिविनये प्रथमः प्रकाशः पूर्तिमागमत्।
समाप्तोऽयं प्रथमः प्रकाशः॥

॥ ओ३म् ॥

तत्सत्परमात्मने नमः

अथ द्वितीयः प्रकाशः

ओ३म् स॒ह ना॑ववतु स॒ह नौ॑ भुनक्तु। स॒ह वी॒र्य्यं॑ करवावहै।
ते॒ज॒स्वि ना॒वधी॑तमस्तु॒ मा वि॑द्विषा॒वहै॑।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ १॥

—तैत्तिरीयारण्यके ब्रह्मानन्दवल्ली प्रपा० १०। प्रथमानुवाकः १॥

व्याख्यान—हे सहनशीलेश्वर! आप और हम लोग परस्पर प्रसन्नता से रक्षक हों। आपकी कृपा से हम लोग सदैव आपकी ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें तथा आपको ही पिता, माता, बन्धु, राजा, स्वामी, सहायक, सुखद, सुहृद् परमगुर्वादि जानें, क्षणमात्र भी आपको भूलके न रहें। आपके तुल्य वा अधिक किसी को कभी न जानें। आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परमपुरुषार्थी हों, एक दूसरे का दु:ख न देख सकें। स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर, प्रीतिमान्, पाखण्डरहित करें "**सह, नौ, भुनक्तु**" तथा आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें।

हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें कि आप हमको अपने अनन्त परमानन्द के भागी करें, उस आनन्द से हम लोगों को क्षणमात्र भी अलग न रक्खें। "**सह, वीर्यं करवावहै**" आपके सहाय से परमवीर्य जो सत्य-विद्यादि, उसको परस्पर परमपुरुषार्थ से प्राप्त करें। "**तेजस्वि नावधीतमस्तु**" हे अनन्त विद्यामय भगवन्! आपकी कृपादृष्टि से हम लोगों का पठन-पाठन परम विद्या[युक्त] हो तथा संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों और अन्योन्य प्रीति से, परमवीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें। हममें सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों और आप हम लोगों पर अत्यन्त कृपा करें, जिससे कि हम लोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों को शीघ्र छोड़के एक सत्यसनातनमतस्थ हों, जिससे सब विद्वेष के मूल जो पाखण्ड-मत, वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों। "**मा, विद्विषावहै**" और हे जगदीश्वर!

आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष, 'विरोध', अर्थात् अप्रीति न रहै तथा हम लोग कभी परस्पर विद्वेष, विरोध न करें, किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सबके सुखोपकार में परमप्रीति से लगावें।

"**ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः**" हे भगवन्! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं—एक आध्यात्मिक (शारीरिक) जो ज्वरादि पीड़ा होने से होता है, दूसरा आधिभौतिक ताप जो शत्रु, सर्प, व्याघ्र, चौरादिकों से सन्ताप होता है और तीसरा जो मन, इन्द्रिय, अग्नि, वायु, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत, अत्युष्णता इत्यादि से होता है, सो आधिदैविक ताप है। हे कृपासागर! आप इन तीनों तापों की शीघ्र निवृत्ति करें, जिससे हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना में सदा रहैं।

हे विश्वगुरो! मुझको असत् (मिथ्या) और अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुड़ाके सत्य तथा नित्य पदार्थ और श्रेष्ठ व्यवहार में स्थिर कर। हे जगन्मङ्गलमय! **(सर्वदु:खेभ्यो मोचयित्वा सर्वसुखानि प्रापय)** सब दु:खों से मुझको छुड़ाके, सब सुखों को प्राप्त कर। **(हे प्रजापते! सुप्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन परमैश्वर्येण संयोजय)** हे प्रजापते! मुझको अच्छी प्रजा—पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुखकारक उसको शीघ्र प्राप्त कर। हे परमवैद्य! **(सर्वरोगात्पृथक् कृत्य नैरोग्यं देहि)** सर्वथा मुझको सब रोगों से छुड़ाके परम नैरोग्य दे। हे महाराजाधिराज! **(मनसा वाचा कर्मणा अज्ञानेन प्रमादेन वा यद्यत्पापं कृतं मया, तत्तत्सर्वं कृपया क्षमस्व ज्ञानपूर्वकपापकरणान्निवर्तयतु माम्)** मन से, वाणी से और कर्म से, अज्ञान वा प्रमाद से जो-जो पाप किया हो, किंवा करने का हो, उस-उस मेरे पाप को क्षमा कर, और ज्ञानपूर्वक पाप करने से भी मुझको रोक दे, जिससे मैं शुद्ध होके आपकी सेवा में स्थिर होऊँ। **हे न्यायाधीश! कुकामकुलोभकुमोहभयशोकालस्येर्ष्याद्वेषप्रमादविषयतृष्णानैष्ठुर्या-भिमानदुष्टभावाविद्याभ्यो निवारय, एतेभ्यो विरुद्धेषूत्तमेषु गुणेषु संस्थापय माम्)** हे ईश्वर! कुकाम, कुलोभादि पूर्वोक्त दुष्ट दोषों को स्वकृपा से छुड़ाके श्रेष्ठ काम आदि में यथावत् मुझको स्थिर कर। मैं अत्यन्त दीन होके यही माँगता हूँ कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ। हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणपित:, प्राणाधार, प्राणजीवन, स्वराज्यप्रद! मेरे प्राणपति आदि आप ही हो, मेरा सहायक

आपके सिवाय कोई नहीं। हे राजाधिराज! जैसा सत्य-न्याययुक्त, अखण्डित आपका राज्य है, वैसा न्यायराज्य हम लोगों का भी आपकी ओर से स्थिर हो। आपके राज्य के अधिकारी किङ्कर अपने कृपाकटाक्ष से हमको शीघ्र ही कर। हे न्यायप्रिय! हमको भी न्यायप्रिय यथावत् कर। हे धर्माधीश! हमको धर्म में स्थिर रख। हे करुणामय पिता! जैसे माता और पिता अपने सन्तानों का पालन करते हैं, वैसे ही आप हमारा पालन करो॥ १ ॥

मूल स्तुति

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥

यजुर्वेद अध्याय ४०। मन्त्र ८

व्याख्यान—''**सः, पर्यगात्**'' वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण (व्यापक) है।''**शुक्रम्**'' सब जगत् का करनेवाला वही है।''**अकायम्**'' और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता। वह अखण्ड, और अनन्त निर्विकार होने से देहधारण कभी नहीं करता। उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं है, इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता। ''**अव्रणम्**'' वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है, इससे अंशांशिभाव भी उसमें नहीं है, क्योंकि उसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता।''**अस्नाविरम्**'' नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नहीं हो सकता। अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता।''**शुद्धम्**'' वह परमात्मा सदैव निर्मल, अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृषादि दोषोपाधियों से रहित है। शुद्ध की उपासना करनेवाला शुद्ध ही होता है और मलिन का उपासक मलिन ही होता है''**अपापविद्धम्**'' परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता, क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है। ''**कविः**'' त्रैकालज्ञ (सर्ववित्), महाविद्वान्, जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले-सकता।''**मनीषी**'' सब जीवों के मन (विज्ञान) का साक्षी—सबके मन का दमन करनेवाला है।''**परिभूः**'' सब दिशाओं और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, सबके ऊपर विराजमान है। ''**स्वयम्भूः**'' जिसका आदिकारण माता-पिता, उत्पादक कोई नहीं, किन्तु वही सबका आदिकारणादि है। ''**याथातथ्यतोर्थान् व्यदधाच्छा-**

श्वतीभ्यः समाभ्यः'' उस ईश्वर ने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है। उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक, वेदविद्यारूप सूर्य प्रकशित किया है और सबका आदिकारण परमात्मा है, ऐसा अवश्य मानना चाहिए। एवं, विद्यापुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिए। विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है, क्योंकि हम लोगों के लिए उसने सब पदार्थों का दान किया है तो विद्यादान क्यों न करेगा? सर्वोत्कृष्टविद्या पदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है और वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में ईश्वरोक्त नहीं है। जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसे ही वेदपुस्तक भी हैं, अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत, वेदतुल्य वा अधिक नहीं है।

अधिक विचार इस विषय का ''सत्यार्थप्रकाश'' मेरे किये ग्रन्थ में देख लेना॥ २॥

मूल प्रार्थना

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ ३॥ यजु० ३६।१८

व्याख्यान—हे अनन्तबल महावीर ईश्वर!''**दृते**'' हे दुष्टस्वभावनाशक विदीर्णकर्म अर्थात् विज्ञानादि शुभ गुणों का नाश कर्म करनेवाला मुझको मत रक्खो (स्थिर मत करो), किन्तु उससे मेरे आत्मादि को उठाके विद्या, सत्य, धर्मादि शुभगुणों में सदैव स्वकृपासामर्थ्य ही से स्थित करो ''**दृंह मा**'' हे परमैश्वर्यवन् भगवन्! धर्मार्थकाममोक्षादि तथा विद्या-विज्ञानादि दान से अत्यन्त मुझको बढ़ा ''**मित्रस्येत्यादि०**'' हे सर्वसुहृदीश्वर, सर्वान्तर्यामिन्! सब भूत=प्राणिमात्र मित्र की दृष्टि से यथावत् मुझको देखें, सब मेरे मित्र हो जायें, कोई मुझसे किञ्चिन्मात्र भी वैर-दृष्टि न करे। ''**मित्रस्याहं चे**त्यादि'' हे परमात्मन्! आपकी कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब भूत प्राणी और अप्राणी चराचर जगत् को मित्र की दृष्टि से स्वात्म, स्वप्राणवत् प्रिय जानूँ, अर्थात् ''**मित्रस्य, चक्षुषे**त्यादि'' पक्षपात छोड़के सब जीव देहधारीमात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर वर्त्तमान करें। अन्याय से युक्त

होके किसी पर कभी हम लोग न वर्तें। यह परमधर्म का सब मनुष्यों के लिए परमात्मा ने उपदेश किया है, सबको यही मान्य होने योग्य है॥ ३॥

मूल स्तुति

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥ ४॥

यजुः० ३२। १

व्याख्यान—जो सब जगत् का कारण एक परमेश्वर है, उसी का नाम अग्नि है (**ब्रह्म ह्यग्निः**[१]—शतपथे)—सर्वोत्तम, ज्ञानस्वरूप और जानने के योग्य, प्रापणीयस्वरूप और पूज्यतमेत्यादि अग्नि शब्द के अर्थ हैं ''**आदित्यो वै ब्रह्म,**[२] **वायुर्वै ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म,**[३] **शुक्रं हि ब्रह्म, सर्वजगत्कर्तृ ब्रह्म, ब्रह्म वै बृहत्, आपो वै ब्रह्मे**[४]त्यादि'' शतपथ तथा ऐतरेयब्राह्मण के प्रमाण हैं। ''**तदादित्यः**'' जिसका कभी नाश न हो और स्वप्रकाशस्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम **आदित्य** है। ''**तद्वायुः**'' सब जगत् का धारण करनेवाला, अनन्त बलवान्, प्राणों से भी जो प्रियस्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम **वायु** है। पूर्वोक्त प्रमाण से ''**तदु चन्द्रमाः**'' जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देनेवाला है, इससे पूर्वोक्त प्रकार से **चन्द्रमा** परमात्मा को जानना। ''**तदेव, शुक्रम्**'' वही चेतनस्वरूप ब्रह्म सब जगत् का कर्त्ता है, ''**तद् ब्रह्म**'' सो अनन्त, चेतन, सबसे बड़ा है और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख, विद्यादि सद्गुणों से बढ़ानेवाला है। ''**ता आपः**'' उसी को सर्वज्ञ, चेतन, सर्वत्र व्याप्त होने से **आपः** नामक जानना। ''**सः प्रजापतिः**'' सो ही सब जगत् का पति (स्वामी) और पालन करनेवाला है, अन्य कोई नहीं, उसी को हम लोग इष्टदेव तथा पालक मानें, अन्य को नहीं॥ ४॥

मूल प्रार्थना

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये
चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ॥ ५॥

यजु० ३६। १

१. शतपथ १.५.१.११॥
२. जैमिनीयोपनिषद् ३.४.९॥
३. ऐतरेयब्राह्मण २.४१॥
४. आपो वै प्रजापतिः। शत० ८.२.३.१३॥

व्याख्यान—हे करुणाकर परमात्मन्! आपकी कृपा से मैं ऋग्वेदादि-ज्ञानयुक्त (श्रवणयुक्त) होके उसका वक्ता होऊँ तथा यजुर्वेदाभिप्रायार्थसहित सत्यार्थमननयुक्त मन को प्राप्त होऊँ। ऐसे ही सामवेदार्थनिश्चय निदिध्यासन-सहित प्राण को सदैव प्राप्त होऊँ। ''**वागोजः**'' वाग्बल, वक्तृत्वबल, मनो-विज्ञानबल मुझको आप देवें। अन्तर्यामी की कृपा से मैं यथावत् प्राप्त होऊँ। ''**सहौजः**'' शरीरबल, नैरोग्य, दृढ़त्वादि गुणयुक्त को मैं आपके अनुग्रह से सदैव प्राप्त होऊँ। ''**मयि, प्राणापानौ**'' हे सर्वजगज्जीवनाधार! प्राण (जिससे कि ऊर्ध्व चेष्टा होती है) और अपान (अर्थात् जिससे नीचे की चेष्टा होती है) ये दोनों मेरे शरीर में सब इन्द्रिय, सब धातुओं की शुद्धि करनेवाले तथा नैरोग्य, बल, पुष्टि, सरलगति करनेवाले, स्थिर आयुवर्धक मर्मरक्षक हों, उनके अनुकूल प्राणादि को प्राप्त होके आपकी कृपा से हे ईश्वर! सदैव सुखी होके आपकी आज्ञा और उपासना में तत्पर रहूँ॥ ५॥

मूल स्तुति

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ ६॥

यजु० ३२। १०

व्याख्यान—वह परमेश्वर हमारा ''**बन्धुः**'' दुःखनाशक और सहायक है तथा ''**जनिता**'' सब जगत् तथा हम लोगों का भी पालन करनेवाला पिता तथा हम लोगों के कामों की सिद्धि (पूर्ण कामों की सिद्धि करने वाला) वही है, ''**विधाता**'' सब जगत् का भी विधाता रचने और धारण करनेवाला एक परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं। ''**धामानि वेद भुवनानि विश्वा**'' सब 'धाम', अर्थात् अनेक लोक-लोकान्तरों को रचके अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है। वह कौन परमेश्वर है कि जिससे 'देव', अर्थात् विद्वान् लोग (**विद्वाꣳसो हि देवाः।** —शतपथब्रा०) अमृत, मरणादि दुःखरहित मोक्षपद में सब दुःखों से छूटके सर्वव्यापी, पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में सदैव रहते हैं। ''**तृतीये**'' एक स्थूल जगत् (पृथिव्यादि), दूसरा सूक्ष्म (आदिकारण), तीसरा जो सर्वदोषरहित अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्म उस धाम में ''**अध्यैरयन्त**'' धर्मात्मा, विद्वान् लोग स्वच्छन्द (स्वेच्छा) से वर्त्तते हैं। सब बाधाओं से छूटके विज्ञानवान् शुद्ध होके देश, काल, वस्तु के परिच्छेदरहित सर्वगत ''**धामन्**'' आधारस्वरूप

परमात्मा में सदा रहते हैं, उससे जन्म-मरणादि दु:खसागर में कभी नहीं गिरते॥ ६ ॥

मूल प्रार्थना

यतोयतः समीहसे ततो नोऽअभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥ ७॥

यजु० ३६।२२

व्याख्यान—हे परमेश्वर! दयालो! जिस-जिस देश से आप ''**समीहसे**'' सम्यक् चेष्टा करते हो उस-उस देश से हमको अभय करो, अर्थात् जहाँ-जहाँ से हमको भय प्राप्त होने लगे, वहाँ-वहाँ से सर्वथा हम लोगों को अभय (भयरहित) करो तथा प्रजा से हमको सुख करो, हमारी प्रजा सब दिन सुखी रहे, भय देनेवाली कभी न हो तथा पशुओं से भी हमको अभय करो, किंच किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को आपकी कृपा से कभी न हो, जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें और निरन्तर आपका राज्य तथा आपकी भक्ति करें॥ ७॥

मूल स्तुति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ८॥

यजु० ३१।१८

व्याख्यान—सहस्रशीर्षादि विशेषणोक्त पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण (**पूर्णत्वात्पुरिशयनाद्वा पुरुष** इति निरुक्तोक्तेः) है, उस पुरुष को मैं जानता हूँ, अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें, उसको कभी न भूलें, अन्य किसी को ईश्वर न जानें। वह कैसा है कि ''**महान्तम्**'' बड़ों से भी बड़ा, उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है। ''**आदित्यवर्णम्**'' आदित्यादि का रचक और प्रकाशक वही एक परमात्मा है तथा वह सदा स्वप्रकाशस्वरूप ही है, किंच ''**तमसः परस्तात्**'' तम जो अन्धकार, अविद्यादि दोष उससे रहित ही है तथा स्वभक्त, धर्मात्मा, सत्य-प्रेमी जनों को भी अविद्यादिदोषरहित सद्यः करनेवाला वही परमात्मा है। विद्वानों का ऐसा निश्चय है कि परब्रह्म के ज्ञान और उसकी कृपा के विना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता। ''**तमेव विदित्वे**त्यादि'' उस

परमात्मा को जानके ही जीव मृत्यु को उल्लङ्घन कर सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ''**नाऽन्यः, पन्था विद्यतेऽयनाय**'' विना परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है, ऐसी परमात्मा की दृढ़ आज्ञा है। सब मनुष्यों को इसमें ही वर्त्तना चाहिए और सब पाखण्ड और जञ्जाल अवश्य छोड़ देना चाहिए॥ ८॥

मूल प्रार्थना

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ ९॥

यजु० १९।९

व्याख्यान—हे स्वप्रकाश! अनन्ततेज! आप अविद्यान्धकार से रहित हो, किंच सत्यविज्ञान, तेजःस्वरूप हो, आप कृपादृष्टि से मुझमें वही तेज धारण करो, जिससे मैं निस्तेज, दीन और भीरु कहीं, कभी न होऊँ। हे अनन्तवीर्य परमात्मन्! आप वीर्यस्वरूप हो, बलयुक्त हो, ''**बलं मयि धेहि**'' आप भी सर्वोत्तम बल स्थिर मुझमें भी रक्खें। हे अनन्तपराक्रम! आप ''**ओजः**'' पराक्रमस्वरूप हो सो मुझमें भी उसी पराक्रम को सदैव धारण करो। हे दुष्टानामुपरि क्रोधकृत्! मुझमें भी दुष्टों पर क्रोध धारण कराओ। हे अनन्तसहनस्वरूप! मुझमें भी आप सहनसामर्थ्य धारण करो, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनके तेजादि गुण कभी मुझमें से दूर न हों, जिससे मैं आपकी भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करूँ और आपके अनुग्रह से संसार में भी सदा सुखी रहूँ॥ ९॥

मूल स्तुति

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ १०॥

यजु० ३२।११

व्याख्यान—सब भूत आकाश और प्रकृति से लेके पृथिवीपर्यन्त सब संसार में वह परमेश्वर व्याप्त होके पूर्ण भर रहा है तथा सब लोक, सब पूर्वादि दिशा और ऐशान्यादि उपदिशा, ऊपर-नीचे, अर्थात् एक कणका भी उनके विना रिक्त (खाली) नहीं है। ''**प्रथमजाम्**'' प्रथमोत्पन्न जीव सब

संसार को ही समझना, सो जीवादि अपने आत्मा से अत्यन्त सत्याचरण, विद्या, श्रद्धा, भक्ति से ''**ऋतस्य**'' यथार्थ, सत्यस्वरूप परमात्मा को ''**उपस्थाय**'' यथावत् जानके, उपस्थित (निकट प्राप्त) ''**अभिसंविवेश**'' अभिमुख होके उसमें प्रविष्ट, अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मा में प्रवेश करके, सब दु:खों से छूटके सदैव उसी परमानन्द में रहता है॥ १० ॥

मूल प्रार्थना

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ११ ॥

यजु० ३४। ३६

व्याख्यान—हे भगवन्! परमैश्वर्यवन्! ''**भग**'' ऐश्वर्य के दाता संसार वा परमार्थ में आप ही हो तथा ''**भग प्रणेतः**'' आपके ही स्वाधीन सकल ऐश्वर्य है, अन्य किसी के आधीन नहीं। आप जिसको चाहो उसको ऐश्वर्य देओ सो आप कृपा से हम लोगों का दारिद्र्य छेदन करके हमको परमैश्वर्यवाले करें, क्योंकि ऐश्वर्य के प्रेरक आप ही हो। हे ''**सत्यराधः**'' भगवन्! सत्यैश्वर्य की सिद्धि करनेवाले आप ही हो, सो आप नित्य ऐश्वर्य हमको दीजिए जो मोक्ष कहाता है उस सत्य ऐश्वर्य का दाता आपसे भिन्न कोई भी नहीं है। हे सत्यभग! पूर्ण ऐश्वर्य, सर्वोत्तम बुद्धि हमको आप दीजिए, जिससे हम लोग आप, आपके गुण और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान, ज्ञान, इनको यथावत् प्राप्त हों। सो हमको सत्यबुद्धि, सत्यकर्म और सत्यगुणों को ''**उदव**'' (उद्गमय प्रापय) प्राप्त कर, जिससे हम लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को यथावत् जानें ''**भग प्र नो जनय**'' हे सर्वैश्वर्योत्पादक! हमारे लिए ''**भगः**'' ऐश्वर्य को अच्छी प्रकार से उत्पन्न कर। सर्वोत्तम गाय, घोड़े और मनुष्य इनसे सहित अनुत्तम ऐश्वर्य हमको सदा के लिए दीजिए। हे सर्वशक्तिमन्! आपकी कृपाकटाक्ष से सब दिन हम लोग उत्तम-उत्तम पुरुष, स्त्री और सन्तान भृत्यवाले हों। आपसे हमारी अधिक यही प्रार्थना है कि कोई मनुष्य हममें दुष्ट और मूर्ख न रहे तथा न पैदा हो, जिससे हम लोगों की सर्वत्र सत्कीर्ति हो और निन्दा कभी न हो॥ ११ ॥

मूल स्तुति

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ १२ ॥

यजु० ४०। ५

व्याख्यान—''**तद् (ब्रह्म) एजति**'' वह परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा, परन्तु वह सबमें पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता, अतएव ''**तन्नैजति** (यह प्रमाण है), स्वत: वह परमात्मा कभी नहीं चलता, एकरस निश्चल होके भरा है। विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं ''**तद् दूरे**'' अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचारशून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वरभक्तिरहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है, अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्ष तक उसको नहीं प्राप्त होते, इससे वे तब तक जन्म-मरणादि दु:खसागर में इधर-उधर घूमते-फिरते हैं कि जब तक उसको नहीं जानते ''**तद्वन्तिके**'' सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विद्वान्, विचारशील पुरुषों के वह '**अन्तिके**' अत्यन्त निकट है, किंच वह सबके आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है, सो आत्मा का भी आत्मा है, क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य, अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके विना खाली नहीं है। वह अखण्डैकरस सबमें व्याप रहा है, उसी को जानने से ही सुख और मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं॥ १२ ॥

मूल स्तुति

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक्च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा॥ १३ ॥ यजु० १८। २१

व्याख्यान—(यज्ञो वै विष्णुः,[1] यज्ञो वै ब्रह्म,[2] इत्याद्यैतरेय-शतपथ-

१. शतपथ १.१.२.१३॥ २. ऐतरेयब्राह्मण ८.२२॥

ब्राह्मणश्रुतेः) यज्ञ—यजनीय जो सब मनुष्यों का पूज्य, इष्टदेव परमेश्वर, उसके हेतु (उसके अर्थ तथा उसके सङ्ग) अतिश्रद्धा से (यज्ञ जो परमात्मा उसके लिए) सब मनुष्य सर्वस्व समर्पण यथावत् करें, यही इस मन्त्र में उपदेश और प्रार्थना है कि

हे सर्वस्वामिन् ईश्वर! जो यह आपकी आज्ञा है कि सब लोग सब पदार्थ मेरे अर्पण करें, इस कारण हम लोग आयु (उमर), प्राण, चक्षु (आँख), कान, वाणी, मन, आत्मा-जीव, ब्रह्मा तथा वेदविद्या, और विद्वान् ज्योति (सूर्यादि लोक तथा अग्न्यादि पदार्थ) तथा स्वर्ग (सुखसाधन), पृष्ठ (पृथिव्यादि सब लोक आधार) तथा पुरुषार्थ, यज्ञ (जो-जो अच्छा काम हम लोग करते हैं), स्तोम=स्तुति, यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद, चकार से अथर्ववेद, बृहद्रथन्तर, महारथन्तर साम इत्यादि सब पदार्थ आपके समर्पण करते हैं। हम लोग तो केवल आपके ही शरण हैं। जैसे आपकी इच्छा हो वैसा हमारे लिए आप कीजिए, परन्तु हम लोग आपके सन्तान आपकी कृपा से ''**स्वरगन्म**'' उत्तम सुख को प्राप्त हों। जब तक जीवें तब तक सदा चक्रवर्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें और मरणानन्तर भी हम सुखी ही रहें। हे महादेवामृत! हम लोग **देव** (परमविद्वान्) हों तथा **अमृत** मोक्ष जो आपकी प्राप्ति उसको प्राप्त होके जन्म-मरणरहित अमृतस्वरूप सदैव रहें। ''**वेट् स्वाहा**'' आपकी आज्ञा पालन और आपकी प्राप्ति हो जिससे, उस क्रिया में सदा तत्पर रहें। तथा जो अन्तर्यामी आप हृदय में आज्ञा करो, अर्थात् जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो, वैसा ही सदा भाषण करें, इससे विपरीत कभी नहीं। हे कृपानिधे! हम लोगों का योगक्षेम (सब निर्वाह) आप ही सदा करो। आपके सहाय से सर्वत्र हमको विजय और सुख मिले॥ १३॥

मूल स्तुति

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स
षोडशी॥ १४॥ यजु० ८।३६

व्याख्यान—जिससे बड़ा, तुल्य वा श्रेष्ठ न हुआ, न है और न कोई कभी होगा, उसको परमात्मा कहना। जो ''**विश्वा भुवनानि**'' सब भुवन (लोक) सब पदार्थों के निवासस्थान असंख्यात लोकों को ''**आविवेश**''

प्रविष्ट होके पूर्ण हो रहा है, वही ईश्वर प्रजा का पति (स्वामी) है। सब प्रजा को रमा रहा और सब प्रजा में रम रहा है ''**त्रीणी**त्यादि'' तीन ज्योति अग्नि, वायु और सूर्य इनको जिसने रचा है, सब जगत् के व्यवहार और पदार्थविद्या की उत्पत्ति के लिए इन तीनों को मुख्य समझना। ''**सः षोडशी**'' सोलहकला जिसने उत्पन्न की हैं, इससे सोलह कलावान् ईश्वर कहाता है। वे सोलह कला ये हैं—ईक्षण (विचार) १, प्राण २, श्रद्धा ३, आकाश ४, वायु ५, अग्नि ६, जल ७, पृथिवी ८, इन्द्रिय ९, मन १०, अन्न ११, वीर्य (पराक्रम) १२, तप (धर्मानुष्ठान) १३, मन्त्र (वेदविद्या) १४, कर्म (चेष्टा) १५, लोक और लोकों में नाम १६—इतनी कलाओं के बीच में सब जगत् है और परमेश्वर में अनन्तकला हैं। उसकी उपासना छोड़के जो दूसरे की उपासना करता है वह सुख को प्राप्त कभी नहीं होता, किन्तु सदा दु:ख में ही पड़ा रहता है॥ १४॥

मूल स्तुति

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ १५॥ यजु० ३।२४

व्याख्यान—(**ब्रह्म ह्यग्निः** इत्यादि शतपथादिप्रामाण्याद् ब्रह्मैवात्राग्नि-ग्राह्यः) हे विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने! आप हमारे लिए ''**सूपायनः भव**'' सुख से प्राप्त, श्रेष्ठोपाय के प्रापक, अनुत्तम स्थान के दाता कृपा से सर्वदा हो तथा रक्षक भी हमारे आप ही हो। हे स्वस्तिदः परमात्मन्! सब दु:खों का नाश करके हमारे लिए सुख का वर्त्तमान सदैव कराओ, जिससे हमारा वर्त्तमान श्रेष्ठ ही हो। ''**स नः पितेव सूनवे**'' जैसे करुणामय पिता स्वपुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हमको सदा सुखी रक्खो, क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे तो उसकी शोभा आपको नहीं होना, किञ्च सन्तानों को सुधारने से ही पिता की बड़ाई होती है, अन्यथा नहीं॥ १५॥

मूल स्तुति

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥ १६॥
उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिः। अवस्यूरसि दुवस्वान्। शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः। सम्राडसि कृशानुः। परिषद्योऽसि पवमानः। नभोऽसि

प्रतक्वा। मृष्टोऽसि हव्यसूदनः। ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥ १७॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः। अजोऽस्येकपात्। अहिरसि बुध्न्यः। वाग-स्यैन्द्रमसि सदोऽसि। ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्। अध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्॥ १८॥

यजु० ५।३१।३२।३३॥

व्याख्यान—हे व्यापकेश्वर! आप विभु हो, सर्वत्र प्रकाशित वैभव ऐश्वर्ययुक्त आप ही हो और कोई नहीं। विभु होके सब जगत् के प्रवाहण (स्वस्व-नियमपूर्वक चलानेवाले) तथा सबके निवार्हकारक भी आप हो। हे स्वप्रकाशक सर्वरसवाहकेश्वर! आप वह्नि हैं। सब हव्य=उत्कृष्ट रसों के भेदक, आकर्षक तथा यथावत् स्थापक आप ही हो। हे आत्मन्! आप ''**श्वात्रः**'' शीघ्र व्यापनशील हो तथा प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप, प्रकृष्ट ज्ञान के देनेवाले हो। हे सर्ववित् आप ''**तुथ**'' और ''**विश्ववेदा**'' हो, ''**तुथो वै ब्रह्म**''[१] (यह शतपथ की श्रुति है) सब जगत् में विद्यमान, प्राप्त और लाभ करानेवाले हो॥ १६॥

हे सर्वप्रिय! आप ''**उशिक्**'' कमनीयस्वरूप, अर्थात् सब लोग जिसको चाहते हैं, क्योंकि आप ''**कविः**'' पूर्ण विद्वान् हो तथा आप ''**अङ्घारिः**'' हो अर्थात् स्वभक्तों का जो अघ (पाप) उसके अरि (शत्रु) हो, अर्थात् सर्वपापनाशक हो तथा ''**बम्भारिः**'' स्वभक्तों और सर्वजगत् के पालन तथा धारण करनेवाले हो, ''**अवस्यूरसि दुवस्वान्**'' अन्नादि पदार्थ स्वभक्त धर्मात्माओं को देने की इच्छा सदा करते हो तथा परिचरणीय विद्वानों से सेवनीयतम हो। ''**शुन्ध्यूरसि, मार्जालीयः**'' शुद्धस्वरूप और सब जगत् के शोधक तथा पापों को मार्जन (निवारण) करनेवाले आप ही हो, अन्य कोई नहीं। ''**सम्राडसि कृशानुः**'' सब राजाओं के महाराज तथा कृश=दीनजनों के प्राण के सुखदाता आप ही हो, ''**परिषद्योसि पवमानः**'' हे न्यायकारिन्! पवित्र सभास्वरूप, सभा के आज्ञापक, सभ्य, सभापति, सभाप्रिय, सभारक्षक सभा से ही सुखदायक आप ही हो तथा पवित्रस्वरूप, पवित्रकारक, पवित्रप्रिय आप ही हो। ''**नभोऽसि प्रतक्वा**'' हे निर्विकार! आकाशवत् आप क्षोभरहित, अतिसूक्ष्म होने से आपका नाम **नभ** है तथा ''**प्रतक्वा**'' सबके ज्ञाता, सत्यासत्यकारी जनों के कर्मों की

१. शतपथ ४.३.४.१५॥

साक्ष्य रखनेवाले कि जिसने जैसा पाप वा पुण्य किया हो, उसको वैसा फल मिले, अन्य का पुण्य वा पाप अन्य को कभी न मिले। ''**मृष्टोसि हव्यसूदनः**'' मृष्ट= शुद्धस्वरूप, सब पापों के मार्जक, शोधक तथा ''**हव्यसूदनः**'' मिष्ट, सुगन्ध, रोगनाशक, पुष्टिकारक इन द्रव्यों से वायु-वृष्टि की शुद्धि करने-करानेवाले हो, अतएव सब द्रव्यों के विभागकर्त्ता आप ही हो, इससे आपका नाम ''**हव्यसूदन**'' है। ''**ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः**'' हे भगवन्! आपका ही धाम, स्थान सर्वगत सत्य और यथार्थ स्वरूप है, यथार्थ (सत्य) व्यवहार में ही आप निवास करते हो, मिथ्या में नहीं। ''**स्वः**'' आप सुखस्वरूप और सुखकारक हो तथा '**ज्योतिः**' स्वप्रकाश और सबके प्रकाशक आप ही हो॥ १७॥

''**समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः**'' हे द्रवणीय-स्वरूप! सब भूतमात्र आप ही में द्रवै हैं, क्योंकि कार्य कारण में ही मिले हैं, आप सबके कारण हो तथा (व्याज)=सहज से सब जगत् को विस्तृत किया है, इससे आप ''**विश्वव्यचाः**'' हैं ''**अजोऽस्येकपात्**'' आपका जन्म कभी नहीं होता और यह सब जगत् आपके किञ्चिन्मात्र एक देश में है। आप अनन्त हो। ''**अहिरसि बुध्न्यः**'' आपकी हीनता कभी नहीं होती तथा सब जगत् के मूलकारण और अन्तरिक्ष में भी सदा आप ही पूर्ण रहते हो ''**वागस्यैन्द्रमसि सदोसि**'' सब शास्त्र के उपदेशक, अनन्तविद्यास्वरूप होने से आप ''**वाक्**'' हो, परमैश्वर्यस्वरूप सब विद्वानों में अत्यन्त शोभायमान होने से आप ''**ऐन्द्र**'' हो। सब संसार आपमें ठहर रहा है, इससे आप ''**सदः**'' (सभा-स्वरूप) हो ''**ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्**'' सत्यविद्या और धर्म ये दोनों मोक्षस्वरूप आपकी प्राप्ति के द्वार हैं, उनको सन्तापयुक्त हम लोगों के लिए कभी मत रक्खो, किन्तु सुखस्वरूप ही खुले रक्खो, जिससे हम लोग सहज से आपको प्राप्त हों ''**अध्वनामि**त्यादि'' हे अध्वपते! परमार्थ और व्यवहार मार्गों में मुझको कहीं क्लेश मत होने दे, किन्तु उन मार्गों में मुझको **स्वस्ति** (आनन्द) ही आपकी कृपा से रहे, किसी प्रकार का दुःख हमको न रहे॥ १८॥

मूल स्तुति

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस एनसो-

ऽवयजनमसि। यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसो-ऽवयजनमसि॥ १९॥ यजु० ८।१३

व्याख्यान—हे सर्वपापप्रणाशक! ''**देवकृत०**'' इन्द्रिय, विद्वान् और दिव्यगुणयुक्त जन के किये पापों के नाशक आप एक ही हो, अन्य कोई नहीं। एवं, मनुष्य (मध्यस्थजन), पितृ (परम-विद्यायुक्त जन) और ''**आत्मकृत०**'' जीव के पापों तथा ''**एनसः एनसः**'' पापों से भी बड़े पापों से आप ही '**अवयजन**' हो, अर्थात् सर्वपापरहित हो और हम सब मनुष्यों के भी पाप दूर रखनेवाले एक आप ही दयामय पिता हो। हे महानन्तविद्य! जो-जो मैंने विद्वान् वा अविद्वान् होके पाप किया हो, ''**सर्वस्यैनसः अवयजनमसि**'' उन सब पापों का छुड़ानेवाला आपके विना कोई भी इस संसार में हमारा शरण नहीं है, इससे हमारे अविद्यादि सब पाप छुड़ाके शीघ्र हमको शुद्ध करो॥ १९॥

मूल स्तुति

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २०॥
यजु० १३।४

व्याख्यान—जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ (जो सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्तिस्थान, उत्पादक) है सो ही प्रथम था, वह सब जगत् का सनातन, प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है, वही परमात्मा पृथिवी से लेके प्रकृतिपर्यन्त जगत् को रचके धारण करता है, ''**कस्मै**'' (प्रजापतये, कः प्रजापतिः, प्रजापतिर्वै कः[१] तस्मै देवाय।- शतपथे) प्रजापति जो परमात्मा उसकी पूजा आत्मादि पदार्थों के समर्पण से यथावत् करें, उससे भिन्न की उपासना लेशमात्र भी हम लोग न करें। जो परमात्मा को छोड़के वा उसके स्थान में दूसरे की पूजा करता है, उसकी और उस देशभर की दुर्दशा अत्यन्त होती है यह प्रसिद्ध है, इससे चेतो मनुष्यो! जो तुमको सुख की इच्छा हो तो एक निराकार परमात्मा की यथावत् भक्ति करो, अन्यथा तुमको कभी सुख न होगा॥ २०॥

१. शतपथ ६.२.२.५; ६.४.३.४; ७.३.१.२०॥

मूल प्रार्थना

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ २१॥
शं नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु॥ २२॥
अहानि शं भवन्तु नः शꣳरात्रीः प्रति धीयताम्।
शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः॥ २३॥
यजु० ३६।८।१०।११॥

व्याख्यान—हे इन्द्र! आप परमैश्वर्ययुक्त सब संसार के राजा हो, सर्वप्रकाशक हो। हे रक्षक! आप कृपा से ''**नः**'' हम लोगों के ''**द्विपदे**'' जो पुत्रादि, उनके लिए परमसुखदायक होओ तथा ''**चतुष्पदे**'' हस्ती, अश्व और गवादि पशुओं के लिए भी परमसुखकारक होओ, जिससे हम लोगों को सदा आनन्द ही रहे॥ २१॥

हे सर्वनियन्तः! हमारे लिए सुखकारक, सुगन्ध, शीतल और मन्द-मन्द वायु सदैव चले। एवं, सूर्य भी सुखकारक ही तपे। तथा मेघ भी सुख का शब्द लिये, अर्थात् गर्जनपूर्वक सदैव काल-काल में सुखकारक वर्षे, जिससे आपके कृपापात्र हम लोग सुखानन्द ही में सदा रहें॥ २२॥

हे क्षणादिकालपते! सब दिवस आपके नियम से सुखरूप ही हमको हों, हमारे लिए सर्वरात्रि भी आनन्द से बीतें। दिन और रात्रियों को हे भगवन्! सुखकारक ही आप धारण करो, जिससे सब समय में हम लोग सुखी ही रहें। हे सर्वस्वामिन्! ''**इन्द्राग्नी**'' सूर्य तथा अग्नि ये दोनों हमको आपके अनुग्रह से और नानाविध रक्षाओं से सुखकारक हों। ''**इन्द्रावरुणा रातहव्या**'' हे प्राणाधार! होम से शुद्धिगुणयुक्त हुए आपकी प्रेरणा से वायु और चन्द्र हम लोगों के लिए सुखरूप ही सदा हों। ''**इन्द्रापूषणा, वाजसातौ**'' हे प्राणपते! आपकी रक्षा से पूर्ण आयु और बलयुक्त प्राणवाले हम लोग अपने अत्यन्त पुरुषार्थयुक्त युद्ध में स्थिर रहें, जिससे शत्रुओं के सम्मुख हम निर्बल कभी न हों ''**इन्द्रासोमा सुविताय शंयोः**'' (प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी[१] इत्यादि शतपथे'') हे महाराज! आपके प्रबन्ध से राजा और

१. गोपथ उ० २.१॥

प्रजा परस्पर विद्यादि सत्यगुणयुक्त होके अपने ऐश्वर्य का उत्पादन करें। तथा आपकी कृपा से परस्पर प्रीतियुक्त हो [कर] अत्यन्त सुख-लाभों को प्राप्त हों। आप हम पुत्र लोगों को सुखी देखके अत्यन्त प्रसन्न हों और हम भी प्रसन्नता से आप और आपकी जो सत्य आज्ञा उसमें ही तत्पर हों॥ २३॥

मूल स्तुति

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम बिभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत्॥ २४॥

यजु० ३२।९

व्याख्यान—हे वेदादिशास्त्र और विद्वानों के प्रतिपादन करने योग्य जो अमृत (मरणादि दोषरहित) मुक्तों का **धाम** निवासस्थान, सर्वगत, सबका धारण और पोषण करनेवाला, सबकी बुद्धियों का साक्षी ब्रह्म है, उस आपका उपदेश तथा धारण जो विद्वान् जानता है, वह **गन्धर्व** कहाता है (गच्छतीति गं=ब्रह्म, तद्धरतीति स गन्धर्वः) सर्वगत ब्रह्म को जो धारण करनेवाला उसका नाम गन्धर्व है तथा परमात्मा के तीन **पद** हैं—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने का सामर्थ्य को तथा ईश्वर को जो स्वहृदय में जानता है, वह पिता का भी पिता है, अर्थात् विद्वानों में भी विद्वान् है॥ २४॥

मूल प्रार्थना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ २५॥ यजु० ३६।१७

व्याख्यान—हे सर्वदुःख की शान्ति करनेवाले! सब लोकों के ऊपर जो आकाश सो सर्वदा हम लोगों के लिए शान्त (निरुपद्रव) सुखकारक ही रहे, अन्तरिक्ष=मध्यस्थलोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवी, पृथिवीस्थ पदार्थ, जल, जलस्थ पदार्थ, ओषधि, तत्रस्थ गुण, वनस्पति, तत्रस्थ पदार्थ, विश्वेदेव जगत् के सब विद्वान् तथा विश्वद्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रिय, सूर्यादि, उनकी किरण, तत्रस्थ गुण, ब्रह्म=परमात्मा तथा वेदशास्त्र, स्थूल और सूक्ष्म चराचर जगत् ये सब पदार्थ हमारे लिए हे

सर्वशक्तिमन् परमात्मन्! आपकी कृपा से शान्त (निरुपद्रव) सदानुकूल सुखदायक हों। मुझको भी वह शान्ति प्राप्त हो, जिससे मैं भी आपकी कृपा से शान्त, दुष्टक्रोधादि उपद्रवरहित होऊँ तथा सब संसारस्थ जीव भी दुष्टक्रोधादि उपद्रवरहित ही हों॥ २५॥

मूल स्तुति

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥ २६॥

यजु० १६।४१

व्याख्यान—हे कल्याणस्वरूप, कल्याणकर! आप '**शंभव**' हो मोक्षसुखस्वरूप और मोक्ष-सुख के करनेवाले हो, आपको नमस्कार है, आप '**मयोभव**' हो, सांसारिक सुख के करनेवाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ, आप '**शङ्कर**' हो, आपसे ही जीवों का कल्याण होता है, अन्य से नहीं तथा '**मयस्कर**', अर्थात् मन, इन्द्रिय, प्राण और आत्मा को सुख करनेवाले आप ही हो, आप ''**शिव**'' मङ्गलमय हो तथा आप ''**शिवतर**'' अत्यन्त कल्याण-स्वरूप और कल्याणकारक हो, इससे आपको हम लोग वारम्वार ''**नमः**'' नमस्कार करते हैं (नमो नम इति यज्ञः-शतपथे)[१] श्रद्धा-भक्ति से जो जन ईश्वर को नमस्कारादि करता है, सो भी मङ्गलमय ही होता है॥ २६॥

मूल प्रार्थना

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ २७॥

यजु० २५।२१

व्याख्यान—हे देवेश्वर! ''**देवः**'' विद्वानो! हम लोग कानों से सदैव भद्र कल्याण को ही सुनें, अकल्याण की बात भी हम कभी न सुनें। हे यजनीयेश्वर! हे यज्ञकर्त्तारः! हम आँखों से कल्याण (मङ्गलसुख) को ही सदा देखे। हे जगदीश्वर! हे जनो! हमारे सब अङ्ग-उपाङ्ग (श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सेनादि उपाङ्ग) स्थिर (दृढ़) सदा रहें, जिससे हम लोग स्थिरता से आपकी स्तुति और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान सदा करें जिससे हम लोग

---

१. शतपथ २.४.२.२४॥

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और विद्वानों के हितकारक आयु को विविध सुखपूर्वक प्राप्त हों, अर्थात् सदा सुख में ही रहें॥ २७॥

मूल स्तुति

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः।
स बु॒ध्न्या॒ऽउप॒माऽअ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ विव॑ः॥ २८॥

यजु० १३।३

व्याख्यान—हे महीय परमेश्वर! आप बड़ों से भी बड़े हो, आपसे बड़ा वा आपके तुल्य कोई नहीं है "**जज्ञानम्**" सब जगत् में व्यापक (प्रादुर्भूत) हो, सब जगत् के प्रथम (आदिकारण) आप ही हो, सूर्यादि लोक "**सीमतः**" सीमा से युक्त (मर्यादासहित) "**सुरुचः**" आपसे प्रकाशित हैं, "**पुरस्तात्**" इनको पूर्व रचके आप ही धारण कर रहे हो, "**वि आवः**" इन सब लोकों को विविध नियमों से पृथक्-पृथक् यथायोग्य वर्त्ता रहे हो, "**वेनः**" आपके आनन्दस्वरूप होने से ऐसा कोई जन संसार में नहीं है जो आपकी कामना न करे, किन्तु सब ही आपको मिला चाहते हैं तथा आप अनन्त विद्यायुक्त हो, सब रीति से (आ समन्तात्) रक्षक आप ही हो। सो ही परमात्मा "**बुध्न्याः**" अन्तरिक्षान्तर्गत दिशादि पदार्थों को "**विवः**" विवृत=विभक्त करता है। वे अन्तरिक्षादि "**उपमा**" सब व्यवहारों में उपयुक्त होते हैं और वे इस विविध जगत् के निवासस्थान हैं। "**सत्**" विद्यमान स्थूलजगत् "**असत्**" अविद्यमान (अव्यक्त), चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर इस विविध जगत् की "**योनिः**"=आदिकारण आपको ही वेदशास्त्र और विद्वान् लोग कहते हैं, इससे इस जगत् के माता-पिता आप ही हैं, हम लोगों के भजनीय इष्टदेव हो॥ २८॥

मूल प्रार्थना

सु॒मि॒त्रि॒या न॒ऽआप॒ऽओष॑धयः सन्तु दु॒र्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु
यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः॥ २९॥ यजु० ३६।२३॥

व्याख्यान—हे सर्वमित्रसम्पादक! आपकी कृपा से प्राण और जल तथा विद्या और ओषधि "**सुमित्रियाः**" सुखदायक हम लोगों के लिए सदा हों, कभी प्रतिकूल न हों और जो हमसे द्वेष, अप्रीति, शत्रुता करता है तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं, हे न्यायकारिन्! उसके लिए "**दुर्मित्रियाः**" पूर्वोक्त प्राणादि प्रतिकूल, दुःखकारक ही हों, अर्थात् जो अधर्म करे उसको आपके रचे जगत् के पदार्थ दुःखदायक ही हों, जिससे वह हमको दुःख न दे सके, पुनः हम लोग सदा सुखी ही रहें॥ २९॥

मूल स्तुति

य ऽ इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒द् ऋषि॒र्होता॒ न्यसी॑दत् पि॒ता न॑ः।
स ऽ आ॒शिषा॒ द्रवि॑णमि॒च्छमा॑नः प्रथम॒च्छदव॑राँ२ ।।ऽआ वि॑वेश॥ ३०॥

यजु० १७।१७

व्याख्यान—"**होता**" उत्पत्ति समय में देने और प्रलय समय में सबको लेनेवाला परमात्मा ही है। "**ऋषिः**" सर्वज्ञ इन सब लोक-लोकान्तर भुवनों का अपने स्वसामर्थ्य कारण में होम (प्रलय करके) "**न्यसीदत्**" नित्य अवस्थित रहता है, सो ही हमारा पिता है, फिर जब "**द्रविणम्**" द्रव्यरूप जगत् को स्वेच्छा से उत्पन्न किया चाहता है, उस "**आशिषा**" सामर्थ्य से यथायोग्य विविध जगत् को सहज स्वभाव से रच देता है। इस चराचर "**प्रथमच्छत्**" विस्तीर्ण जगत् को रचके अनन्तस्वरूप से आच्छादित किया है और अन्तर्यामी साक्षीस्वरूप उसमें प्रविष्ट हो रहा है, अर्थात् बाहर और भीतर परिपूर्ण हो रहा है। वही हमारा निश्चित पिता है। उसकी सेवा छोड़के जो मनुष्य अन्य पाषणादि मूर्त्ति की सेवा करता है, वह कृतघ्नत्वादि महादोषयुक्त होके सदैव दुःखभागी होता है। और जो मनुष्य परमदयामय पिता की आज्ञा में रहता है, वह सर्वानन्द का सदैव भोग करता है॥ ३०॥

मूल प्रार्थना

इ॒षे पि॑न्वस्वो॒र्जे पि॑न्वस्व॒ ब्रह्म॑णे पिन्वस्व क्ष॒त्राय॑ पिन्वस्व॒
द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ पिन्वस्व॒। धर्मा॑सि सु॒धर्मामे॑न्य॒स्मे नृ॒म्णानि॑
धार॒य ब्रह्म॑ धारय क्ष॒त्रं धार॑य॒ विशं॑ धारय॥ ३१॥

यजु० ३८।१४

व्याख्यान—हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर! हमको "**इषे**" उत्तमान्न के लिए पुष्ट कर, अन्न के अपचन के रोगों से बचा तथा विना अन्न के दुःखी हम लोग कभी न हों। हे महाबल! "**ऊर्जे**" अत्यन्त पराक्रम के लिए हमको पुष्ट कर। हे वेदोत्पादक! "**ब्रह्मणे**" सत्य वेदविद्या के लिए बुद्ध्यादि बल से सदैव हमको पुष्ट और बलयुक्त कर। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन्!

''क्षत्राय'' अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए, शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। हे स्वर्गपृथिवीश! **''द्यावापृथिवीभ्याम्''** स्वर्ग (परमोत्कृष्ट मोक्षसुख) पृथिवी (संसारसुख) इन दोनों के लिए हमको समर्थ कर। हे सुष्ठु धर्मशील! तू धर्मकारी हो तथा धर्मस्वरूप ही हो। हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर। **''अमेनि''** तुम निर्वैर हो, हमको भी निर्वैर कर तथा स्वकृपादृष्टि से **''अस्मे''** (अस्मभ्यम्) हमारे लिए **''नृम्णानि''** विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादि रत्न, उत्कृष्ट राज्य, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर, जिससे हम लोग किसी पदार्थ के विना दुःखी न हों। हे सर्वाधिपते! ब्राह्मण=पूर्णविद्यादि सद्गुणयुक्त **क्षत्र**=बुद्धि, विद्या तथा शौर्यादि गुणयुक्त **विश**=वैश्य अनेक विद्योद्यम, बुद्धि, विद्या, धन और धान्यादि वस्तुयुक्त तथा शूद्रादि भी सेवादि गुणयुक्त ये सब स्वदेशभक्त उत्तम हमारे राज्य में हों। इन सबका धारण आप ही करो, जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बना रहे॥ ३१ ॥

मूल स्तुति

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ ३२ ॥

यजु० १७।१८

व्याख्यान—(प्रश्नोत्तरविद्या से—) इस संसार का अधिष्ठान क्या है? कारण तथा उत्पादक कौन है? किस प्रकार से है तथा रचना करनेवाले ईश्वर का अधिष्ठानादि क्या है तथा निमित्तकारण और साधन जगत् वा ईश्वर के क्या हैं? (उत्तर) **''यतः''** जिसका विश्व (जगत् कर्म) किया हुआ है, उस **विश्वकर्मा** परमात्मा ने अनन्त स्वसामर्थ्य से इस जगत् को रचा है। वही इस सब जगत् का अधिष्ठान, निमित्त और साधनादि है। उसने अपने अनन्त स्वसामर्थ्य से इस सब जीवादि जगत् को यथायोग्य रचा और भूमि से लेके **''द्याम्''** स्वर्गपर्यन्त रचके स्वमहिमा से **''और्णोत्''** आच्छादित कर रक्खा है और परमात्मा का अधिष्ठानादि परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं। सबका उत्पादन, रक्षण, धारणादि भी वही करता है तथा आनन्दमय है। वह ईश्वर कैसा है? कि **''विश्वचक्षाः''** सब संसार का

द्रष्टा है, उसको छोड़के अन्य का आश्रय जो करता है, वह दुःखसागर में क्यों न डूबेगा?॥ ३२ ॥

मूल प्रार्थना

तनूपाऽ अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽ अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
वर्चोदाऽ अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं
तन्मऽआपृण॥ ३३ ॥ यजु० ३।१७

व्याख्यान—हे सर्वरक्षकेश्वराग्ने! तू हमारे शरीर का रक्षक है। सो शरीर को कृपा से पालन कर, हे महावैद्य! आप आयु (उमर) बढ़ानेवाले तथा रक्षक हो, मुझको सुखरूप उत्तमायु दीजिए। हे अनन्त विद्यातेजः! आप **''वर्चः''** विद्यादि तेज (प्रकाश) अर्थात् यथार्थ विज्ञान देनेवाले हो, मुझको सर्वोत्कृष्ट विद्यादि तेज देओ। पूर्वोक्त शरीरादि की रक्षा से हमको सदा आनन्द में रक्खो और जो-जो कुछ भी शरीरादि में **''ऊनम्''** न्यून हो, उस-उस को कृपादृष्टि से सुख और ऐश्वर्य के साथ सब प्रकार से आप पूर्ण करो। किसी आनन्द वा श्रेष्ठ पदार्थ की न्यूनता हमको न रहे। आपके पुत्र हम लोग जब पूर्णानन्द में रहेंगे तभी आप पिता की शोभा है, क्योंकि लड़के-लोग छोटी वा बड़ी चीज़ अथवा सुख पिता-माता को छोड़ किससे माँगें? सो आप सर्वशक्तिमान् हमारे पिता, सब ऐश्वर्य तथा सुख देनेवालों में पूर्ण हो॥ ३३ ॥

मूल स्तुति

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥ ३४॥

यजु० १७।१९

व्याख्यान—विश्व (सब जगत् में) जिसका चक्षु (दृष्टि) है, जिससे अदृष्ट कोई वस्तु नहीं है तथा जिसके सर्वत्र मुख, बाहु, पग अन्य श्रोत्रादि हैं, अर्थात् सर्वदृक्, सर्ववक्ता, सर्वाधारक और सर्वगत, ईश्वर व्यापक है। उसी से जो डरेगा वही धर्मात्मा होगा, अन्यथा कभी नहीं। वही विश्वकर्मा परमात्मा एक ही अद्वितीय है। पृथिवी से लेके स्वर्गपर्यन्त जगत् का कर्त्ता है, जिस-जिसने जैसा पाप वा पुण्य किया है, उस-उसको न्यायकारी, दयालु जगत्पिता पक्षपात छोड़के अनन्त बल और पराक्रम इन दोनों बाहुओं

से सम्यक् **''पतत्रैः''** प्राप्त होनेवाले सुख-दु:ख फल दान से सब जीवों को **''धमति''** (धमन-कम्पन) यथायोग्य जन्म-मरणादि को प्राप्त करा रहा है। उसी निराकार, अज, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयामय, ईश्वर से अन्य को कभी न मानना चाहिए। वही याचनीय, पूजनीय, हमारा प्रभु और स्वामी इष्टदेव है, उसी से हमको सुख होगा, अन्य से कभी नहीं॥ ३४॥

मूल प्रार्थना

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि शᳬस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि॥ ३५॥

यजु० ३।३७

व्याख्यान—हे सर्वमङ्गलकारकेश्वर! आप **''भूः''** सदा वर्त्तमान हो **''भुवः''** वायु आदि पदार्थों के रचनेवाले **''स्वः''** सुखरूप लोक के रचनेवाले हो। हमको तीन लोक का सुख दीजिए। हे सर्वाध्यक्ष! आप कृपा करो, जिससे कि मैं पुत्र-पौत्रादि उत्तम गुणवाली प्रजा से श्रेष्ठ प्रजावाला होऊँ। सर्वोत्कृष्ट वीर योद्धाओं से युक्त **''सुवीरः''** युद्ध में सदा विजयी होऊँ। हे महापुष्टिप्रद! आपके अनुग्रह से अत्यन्त विद्यादि तथा सोम ओषधि, सुवर्णादि और नैरोग्यादि से सर्वपुष्टियुक्त होऊँ। हे **''नर्य''** नरों के हितकारक! मेरी प्रजा की रक्षा आप करो। हे **''शंस्य''** स्तुति करने योग्य ईश्वर! हस्त्यश्वादि पशुओं का आप पालन करो, हे **''अथर्य''** व्यापक ईश्वर! **''पितुम्''** मेरे अन्न की रक्षा करो। हे दयानिधे! हम लोगों को सब उत्तम पदार्थों से परिपूर्ण और सब दिन आप आनन्द में रक्खो॥ ३५॥

मूल स्तुति

किᳬ स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ ३६॥

यजु० १७।२०

व्याख्यान—(प्रश्न) विद्या क्या है? वन और वृक्ष किसको कहते हैं? (उत्तर) जिस सामर्थ्य से विश्वकर्मा ईश्वर ने जैसे तक्षा (बढ़ई) अनेकविध रचना से अनेक पदार्थ रचता है, वैसे ही स्वर्ग (सुखविशेष) और भूमि, मध्य सुखवाला लोक तथा नरक दु:खविशेष और सब लोकों को रचा है, उसी को वन और वृक्ष कहते हैं। हे **''मनीषिणः''** विद्वानो! जो सब भुवनों को धारण करके सब जगत् में और सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, उसके विषय में प्रश्न तथा उसका निश्चय तुम लोग करो। **''मनसा''** उसी के विज्ञान से जीवों का कल्याण होता है, अन्यथा नहीं॥ ३६॥

मूल प्रार्थना

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳬ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ ३७॥ यजु० ३६।२४

व्याख्यान—वह ब्रह्म, **''चक्षुः''** सर्वदृक् चेतन है तथा देव, अर्थात् विद्वानों के लिए वा मन आदि इन्द्रियों के लिए हितकारक मोक्षादि सुख का दाता है, **''पुरस्तात्''** सबका आदि प्रथम कारण वही है **''शुक्रम्''** सबका करनेवाला किंवा शुद्धस्वरूप है। **''उच्चरत्''** प्रलय के ऊर्ध्व वही रहता है, उसी की कृपा से हम लोग १०० वर्ष तक देखें, जीवें, सुनें, कहें, किसी के पराधीन न हों, अर्थात् ब्रह्मज्ञान, बुद्धि और पराक्रमसहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें। ऐसी कृपा आप करें कि कोई अङ्ग मेरा निर्बल (क्षीण) तथा रोगयुक्त न हो तथा सौ वर्ष से अधिक भी आप कृपा करें कि **(शत)** सौ वर्ष से उपरान्त भी हम देखें, जीवें, सुनें, कहें और स्वाधीन ही रहें॥ ३७॥

मूल स्तुति

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ३८॥

यजु० १७।२१

व्याख्यान—हे सर्वविधायक विश्वकर्मन्नीश्वर! जो तुम्हारे स्वरचित उत्तम, मध्यम, निकृष्ट त्रिविध धाम (लोक) हैं, उन सब लोकों की शिक्षा हम आपके सखाओं को करो, यथार्थविद्या होने से सब लोकों में सदा सुखी ही रहें तथा इन लोकों के **''हविषि''** दान और ग्रहण व्यवहार में हम लोग चतुर हों। हे **''स्वधावः''** स्वसामर्थ्यादि धारण करनेवाले! हमारे शरीरादि पदार्थों को आप ही बढ़ानेवाले हैं, हमारे लिए विद्वानों का सत्कार, सब सज्जनों के सुखादि की सङ्गति, विद्यादि गुणों का दान आप स्वयं करो। आप अपनी उदारता से ही हमको सब सुख दीजिए, किञ्च हम लोग तो

आपके प्रसन्न करने में कुछ भी समर्थ नहीं हैं। सर्वथा आपके अनुकूल वर्त्तमान नहीं कर सकते, परन्तु आप तो अधमोद्धारक हैं, इससे हमको स्वकृपाकटाक्ष से सुखी करें॥ ३८॥

मूल प्रार्थना

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ ३९॥ यजु० ३६।२

व्याख्यान—हे सर्वसन्धायकेश्वर! मेरे चक्षु (नेत्र), हृदय (प्राणात्मा), मन, बुद्धि, विज्ञान, विद्या और सब इन्द्रिय इनके छिद्र=निर्बलता, राग-द्वेष, चाञ्चल्य यद्वा मन्दत्वादि विकार, इनका निवारण (निर्दोष) करके सत्यधर्मादि में धारण आप ही करो, क्योंकि आप बृहस्पति=(सबसे बड़े) हो, सो अपनी बड़ाई की ओर देखके इस बड़े काम को आप अवश्य करें, जिससे हम लोग आप और आपकी आज्ञा के सेवन में यथार्थ तत्पर हों। मेरे सब छिद्रों को आप ही ढाँकें। आप सब भुवनों के पति हैं, इसलिए आपसे वारम्वार प्रार्थना हम लोग करते हैं कि सब दिन हम लोगों पर कृपादृष्टि से कल्याणकारक हों। हे परमात्मन्! आपके सिवाय हमारा कल्याणकारक कोई नहीं है, हमको आपका ही सब प्रकार का भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे॥ ३९॥

मूल स्तुति

विश्वकर्मा विमनाऽ आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऽऋषीन् परऽ एकमाहुः॥ ४०॥

यजु० १७।२६

व्याख्यान—हे सर्वज्ञ, सर्वरचक ईश्वर! आप ''**विश्व-कर्मा**'' विविध जगदुत्पादक हो तथा ''**विमनाः**'' विविध (अनन्त) विज्ञानवाले हो, तथा ''**आद्विहाया**'' सर्वव्यापक और आकाशवत् निर्विकार, अक्षोभ्य, सर्वाधिकरण हैं। वही सब जगत् का ''**धाता**'' धारणकर्त्ता है, ''**विधाता**'' विविध विचित्र जगत् के उत्पादक है तथा ''**परम उत**'' सर्वोत्कृष्ट हैं। ''**सन्दृक्**'' यथावत् सबके पाप और पुण्यों को देखनेवाला है। जो मनुष्य उसी की भक्ति, उसी में विश्वास और उसी का सत्कार (पूजा) करते हैं, उसको छोड़के अन्य किसी को लेशमात्र भी नहीं मानते, उन पुरुषों को ही सब

इष्ट-सुख मिलते हैं, औरों को नहीं। वह ईश्वर अपने भक्तों को सुख में ही रखता है और वे भक्त भी सम्यक् स्वेच्छापूर्वक ''**मदन्ति**'' परमानन्द में ही सदा रहते हैं, कभी दुःख को नहीं प्राप्त नहीं होते। वह परमात्मा एक, अद्वितीय है, जिस परमात्मा के सामर्थ्य में ''**सप्त ऋषीन्**' लोक, अर्थात् पञ्च प्राण, अन्तःकरण और जीव ये सब प्रलयविषयक कारणभूत ही रहते हैं। वही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में निर्विकार आनन्दस्वरूप ही रहता है। उसी की उपासना करने से हम लोगों को सदा सुख रहता है॥ ४०॥

मूल प्रार्थना

चतुः स्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः। अप द्वेषोऽअप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम॥ ४१॥

—यजुः० ३८।२०

व्याख्यान—हे महावैद्य! सर्वरोगनाशकेश्वर! चार कोनेवाली नाभि (मर्मस्थान) ''**ऋतस्य**'' ऋत [रस] की भरी, नैरोग्य और विज्ञान का घर ''**सप्रथाः**'' विस्तीर्ण सुखयुक्त आपकी कृपा से हो। तथा आपकी कृपा से ''**विश्वायुः**'' पूर्ण आयु हो। आप जैसे सर्वसामर्थ्य से विस्तीर्ण हो, वैसे ही विस्तृत सुखयुक्त विस्तारसहित सर्वायु हमको दीजिए। हे शान्तस्वरूप! हम द्वेषरहित आपकी कृपा से तथा ''**अपह्वरः**'' चलन-(कम्पन)-रहित हों, आपकी आज्ञा और आपसे भिन्न को लेशमात्र भी ईश्वर न मानें, यही हमारा व्रत है, इससे अन्य व्रत को कभी न मानें, किन्तु आपको ''**सश्चिम**'' सदा सेवें, यही हमारा परमनिश्चय है। इस परमनिश्चय की रक्षा आप ही कृपा से करें॥ ४१॥

मूल स्तुति

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ ४२॥

यजु० १७।२७

व्याख्यान—हे मनुष्यो! जो अपना ''**पिता**'' (नित्य पालन करनेवाला) ''**जनिता**'' (जनक) उत्पादक, ''**विधाता**'' सब मोक्षसुखादि कामों का विधायक (सिद्धिकर्त्ता) ''**विश्वा**'' सब भुवन, लोक-लोकान्तर की ''**धामानि**'' अर्थात् स्थिति के स्थानों को यथावत् जाननेवाला सब जातमात्र भूतों में

विद्यमान है, जो ''**देवानां नामधा**'' दिव्य सूर्यादिलोक तथा इन्द्रियादि और विद्वानों का नाम व्यवस्थादि करनेवाला ''**एकः, एव**'' अद्वितीय वही है, अन्य कोई नहीं। वही स्वामी और पितादि अपने लोगों का है, इसमें शंका नहीं रखनी, तथा उसी परमात्मा के सम्यक् प्रश्नोत्तर करने में विद्वान्, वेदादि शास्त्र और प्राणिमात्र प्राप्त हो रहे हैं, क्योंकि सब पुरुषार्थ यही है कि परमात्मा, उसकी आज्ञा और उसके रचे जगत् का यथार्थ से निश्चय (ज्ञान) करना। उस से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थ के फलों की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। इस हेतु से तन, मन, धन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के सहाय से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिए॥ ४२॥

मूल प्रार्थना

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४३॥

यजु० ३४। १

व्याख्यान—हे धर्म्यनिरुपद्रव परमात्मन्! मेरा मन सदा ''**शिव-संकल्पम्**'' धर्म-कल्याणसङ्कल्पकारी ही आपकी कृपा से हो, कभी अधर्मकारी न हो। वह मन कैसा है कि जागते हुए पुरुष का दूर-दूर आता-जाता है, दूर जाने का जिसका स्वभाव ही है। अग्नि, सूर्यादि, श्रोत्रादि इन्द्रिय इन ज्योतिप्रकाशकों का भी ज्योतिप्रकाशक है, अर्थात् मन के विना किसी पदार्थ का प्रकाश कभी नहीं होता। वह एक बड़ा चञ्चल, वेगवाला मन आपकी कृपा से ही स्थिर, शुद्ध, धर्मात्मा, विद्यायुक्त हो सकता है ''**दैवम्**'' देव (आत्मा) का मुख्यसाधक भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानकाल का ज्ञाता है, वह आपके वश में ही है, उसको आप हमारे वश में यथावत् करें, जिससे हम कुकर्म में कभी न फसें, सदैव विद्या, धर्म और आपकी सेवा में ही रहें॥ ४३॥

मूल स्तुति

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ ४४॥

यजु० १७। ३१

व्याख्यान—हे जीवो! जो परमात्मा इन सब भुवनों का बनानेवाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते हो, इसी हेतु से तुम ''**नीहारेण**'' अत्यन्त अविद्या से आवृत, मिथ्यावाद, नास्तिकत्व, बकवाद करते हो। इससे दुःख ही तुमको मिलेगा, सुख नहीं। तुम लोग ''**असुतृपः**'' केवल स्वार्थसाधक, प्राणपोषणमात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हो ''**उक्थशासश्चरन्ति**'' केवल विषय-भोगों के लिए ही अवैदिक कर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो और जिसने ये सब भुवन रचे हैं, उस सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परब्रह्म से उलटे चलते हो, अतएव उसको तुम नहीं जानते।

प्रश्न—वह ब्रह्म और हम जीवात्मा लोग—ये दोनों एक हैं वा नहीं?

उत्तर—''**अन्यत् युष्माकमन्तरं बभूव**'' ब्रह्म और जीव की एकता वेद और युक्ति से सिद्ध कभी नहीं हो सकती, क्योंकि जीव ब्रह्म का पूर्व से ही भेद है। जीव अविद्या आदि दोषयुक्त है, ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त कभी नहीं होता, इससे यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म एक न थे, न होंगे और न ही हैं, किंच व्याप्य-व्यापक, आधाराधेय, (सेव्यसेवकादि) जन्यजनकादि सम्बन्ध तो जीवादि के साथ ब्रह्म का है, इससे जीव ब्रह्म की एकता मानना किसी मनुष्य को योग्य नहीं॥ ४४॥

मूल प्रार्थना

भग एव भगवाँ२ ॥ऽ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह॥ ४५॥

यजुः ३४। ३८

व्याख्यान—हे सर्वाधिपते! महाराजेश्वर! आप ''**भगः**'' परमैश्वर्य-स्वरूप होने से भगवान् हो। हे ''**देवाः**'' विद्वानो! ''**तेन**'' (भगवतेश्वरेण प्रसन्नेन तत्सहायनैव) उस भगवान् प्रसन्न ईश्वर के सहाय से हम लोग परमैश्वर्ययुक्त हों। हे ''**भग**'' परमेश्वर! सर्वसंसार ''**तन्त्वा**'' उन आपको ही ग्रहण करने को अत्यन्त इच्छा करता है, क्योंकि कौन ऐसा भाग्यहीन मनुष्य है जो आपको प्राप्त होने की इच्छा न करे, सो आप हमको प्रथम से प्राप्त हों, फिर कभी हमसे आप और ऐश्वर्य अलग न हो। आप अपनी कृपा से इसी जन्म में परमैश्वर्य का यथावत् भोग हम लोगों को करावें और आपकी सेवा में हम नित्य तत्पर रहें॥ ४५॥

मूल स्तुति

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ ४६॥ यजु० २३।११

व्याख्यान—हे समूहाधिपते! आप मेरे गण=सब समूहों के पति होने से आपको 'गणपति' नाम से ग्रहण करता हूँ तथा मेरे प्रिय कर्मकारी, पदार्थ और जनों के ''पति'' पालक भी आप हैं, इससे आपको 'प्रियपति' मैं अवश्य जानूँ। एवं मेरी सब निधियों के पति होने से आपको मैं निश्चित निधिपति जानूँ। हे ''**वसो**'' सब जगत् जिस सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, उस ''गर्भ'' स्वसामर्थ्य का धारण और पोषण करनेवाला आपको ही मैं जानूँ। सो गर्भ सबका कारण आपका सामर्थ्य है, यही सब जगत् का धारण और पोषण करता है। यह जीवादि जगत् तो जन्मता और मरता है, परन्तु आप सदैव अजन्मा और अमृतस्वरूप हैं। आपकी कृपा से अधर्म, अविद्या, दुष्टभावादि को ''**अजानि**'' दूर फेंकूँ। तथा हम सब लोग आप ही की ''**हवामहे**'' अत्यन्त स्पर्धा (प्राप्ति की इच्छा) करते हैं। सो आप अब शीघ्र हमको प्राप्त होओ। जो प्राप्त होने में आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे तो हमारा कुछ भी कभी ठिकाना न लगेगा॥ ४६॥

मूल प्रार्थना

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ ४७॥ यजु० १।५

व्याख्यान—हे ''**अग्ने**'' सच्चिदानन्द, स्वप्रकाशरूप ईश्वराग्ने! ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सत्यव्रतों का आचरण मैं करूँगा, सो इस व्रत को आप कृपा से सम्यक् सिद्ध करें तथा मैं अनृत अनित्य देहादि पदार्थों से पृथक् होके इस यथार्थ सत्य जिसका कभी व्यभिचार विनाश नहीं होता, उस सत्याचरण, विद्यादि लक्षण धर्म को प्राप्त होता हूँ, इस मेरी इच्छा को आप पूरी करें, जिससे मैं सभ्य, विद्वान्, सत्याचरणी, आपकी भक्तियुक्त धर्मात्मा होऊँ॥ ४७॥

मूल स्तुति

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४८॥ यजु० २५।१३

व्याख्यान—हे मनुष्यो! जो परमात्मा अपने लोगों को ''**आत्मदाः**'' आत्मा का देनेवाला तथा आत्मज्ञानादि का दाता है, जीवप्राणदाता तथा ''**बलदाः**'' त्रिविध बल—**एक** मानस विज्ञानबल, **द्वितीय** इन्द्रियबल, अर्थात् श्रोत्रादि की स्वस्थता, तेजोवृद्धि, **तृतीय** शरीरबल नाम नैरोग्य, महापुष्टि, दृढ़ाङ्गता और वीर्यादि वृद्धि इन तीनों बलों का जो दाता है, जिसके ''**प्रशिषम्**'' अनुशासन (शिक्षा-मर्यादा) को यथावत् विद्वान् लोग मानते हैं, सब प्राणी-अप्राणी—जड़-चेतन, विद्वान् वा मूर्ख उस परमात्मा के नियमों का कोई कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, जैसेकि कान से सुनना, आँख से देखना, इसका उलटा कोई नहीं कर सकता है। जिसकी ''**छाया**'' आश्रय ही अमृत विज्ञानी लोगों का मोक्ष कहाता है। तथा जिसकी अछाया (अकृपा) दुष्टजनों के लिए वारम्वार मरण और जन्मरूप महाक्लेशदायक है। हे सज्जन मित्रो! वही एक परमसुखदायक पिता है। आओ अपने सब जने मिलके प्रेम, विश्वास और भक्ति करें, कभी उसको छोड़के अन्य को उपास्य न मानें। वह अपने को अत्यन्त सुख देगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं॥ ४८॥

मूल प्रार्थना

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथोऽअन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमाय वः शान्त्यै प्र पद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोःशंयोः॥ ४९॥ यजु० ३।४३

व्याख्यान—हे पश्वादिपते! महात्मन्! आपकी ही कृपा से उत्तम-उत्तम गाय, उपलक्षण से भैंस, घोड़े, हाथी, बकरी, भेड़ तथा अन्य सुखदायक सब पशु और अन्न, सर्वरोगनाशक ओषधियों का उत्कृष्ट रस ''**नः**'' हमारे घरों में नित्य स्थिर (प्राप्त) रख, जिससे किसी पदार्थ के विना हमको दुःख न हो। हे विद्वानो! ''**वः**'' (युष्माकम्) तुम्हारे सङ्ग और ईश्वर की कृपा से क्षेम, कुशलता और शान्ति तथा सर्वोपद्रव-विनाश के लिए ''**शिवम्**'' मोक्ष-सुख और इस संसार सुख को मैं प्राप्त होऊँ।

मोक्ष-सुख और प्रजा-सुख इन दोनों की कामना करनेवाला जो मैं हूँ, उन मेरी उक्त दोनों कामनाओं को आप यथावत् शीघ्र पूरी कीजिए, आपका यही स्वभाव है कि अपने भक्तों की कामना अवश्य पूरी करना॥ ४९ ॥

मूल स्तुति

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥ ५० ॥

यजु० २५।१८

व्याख्यान—हे सुख और मोक्ष की इच्छा करनेवाले जनो! उस परमात्मा को ही ''**हूमहे**'' हम लोग प्राप्त होने के लिए अत्यन्त स्पर्धा करते हैं कि उसको हम कब मिलेंगे। क्योंकि वह ''**ईशानम्**'' (सब जगत् का स्वामी) है और ईषण (उत्पादन) करने की इच्छा करनेवाला है। दो प्रकार का जगत् है—चर और अचर इन दोनों प्रकार के जगत् का पालन करनेवाला वही है, ''**धियञ्जिन्वम्**'' विज्ञानमय, विज्ञानप्रद और तृप्तिकारक ईश्वर से अन्य कोई नहीं है। उसको ''**अवसे**'' अपनी रक्षा के लिए हम स्पर्धा (इच्छा) से आह्वान करते हैं, जैसे वह ईश्वर ''**पूषा**'' हमारे लिए पोषणप्रद है, वैसे ही ''**वेदसाम्**'' धन और विज्ञानों की वृद्धि का ''**रक्षिता**'' रक्षक है तथा ''**स्वस्तये**'' निरुपद्रवता के लिए हमारा ''**पायुः**'' पालक वही है और ''**अदब्धः**'' हिंसारहित है। इसलिए ईश्वर जो निराकार, सर्वानन्दप्रद है, हे मनुष्यो! उसको मत भूलो, विना उसके कोई सुख का ठिकाना नहीं है॥ ५० ॥

मूल प्रार्थना

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः॥ ५१ ॥

यजु० २।१०

व्याख्यान—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् ईश्वर! ''**मयि**'' मुझमें विज्ञानादि शुद्ध इन्द्रिय ''**दधातु**'' धारण करो और ''**रायः**'' उत्तम धन को ''**मघवानः**'' परम धनवान् आप हमारे लिए ''**सचन्ताम्**'' सद्यः प्राप्त करो। हे सर्वकाम पूर्ण करनेवाले ईश्वर! आपकी कृपा से हमारी आशा सत्य ही होनी चाहिए, (पुनरुक्त अत्यन्त प्रेम और त्वरा द्योतनार्थ है)। हे भगवन्! हम

लोगों की इच्छा आप शीघ्र ही सत्य कीजिए, जिससे हमारी न्याययुक्त इच्छा के सिद्ध होने से हम लोग परमानन्द में सदा रहें॥ ५१ ॥

मूल प्रार्थना

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥ ५२ ॥ यजु० ३२।१३

व्याख्यान—हे सभापते! विद्यामय न्यायकारिन्! सभासद् सभाप्रिय! सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो, ऐसी इच्छावाले हमको आप कीजिए। किसी एक मनुष्य को हम लोग राजा कभी न बनावें, किन्तु आपको ही हम लोग सभापति, सभाध्यक्ष, राजा मानें। आप अद्भुत, आश्चर्य, विचित्र शक्तिमय हैं तथा प्रियस्वरूप ही हैं, इन्द्र जो जीव, उसके, कमनीय (कामना के योग्य) आप ही हैं। ''**सनिम्**'' सम्यक् भजनीय और सेव्य भी सब जीवों के आप ही हैं। ''**मेधाम्**'' विद्या, सत्यधर्मादि धारणावाली बुद्धि को हे भगवन्! मैं याचता हूँ, सो आप कृपा करके मुझको देओ। ''**स्वाहा**'' यही स्वकीय वाक् ''**आह**'' कहती है कि ईश्वर से भिन्न कोई जीवों को सेव्य नहीं है। ऐसी वेद में ईश्वराज्ञा है, सो सब मनुष्यों को अवश्य मानना योग्य है॥ ५२ ॥

मूल प्रार्थना

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ ५३ ॥ यजु० ३२।१४

व्याख्यान—हे सर्वज्ञाग्ने! परमात्मन्! जिस विज्ञानवती, यथार्थ धारणावाली बुद्धि को ''**देवगणाः**'' देवसमूह (विद्वानों के वृन्द) ''**उपासते**'' धारण करते हैं तथा यथार्थ पदार्थविज्ञानवाले पितर जिस बुद्धि के उपाश्रित होते हैं, उस बुद्धि के साथ इसी समय कृपा से मुझको मेधावी कर। ''**स्वाहा**'' इसको आप अनुग्रह और प्रीति से स्वीकार कीजिए, जिससे मेरी जड़ता सब दूर हो जाए॥ ५३ ॥

मूल प्रार्थना

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥ ५४॥

यजु० ३२।१५

व्याख्यान—हे सर्वोत्कृष्टेश्वर! आप "**वरुणः**" वर (वरणीय) आनन्दस्वरूप हो, स्वकृपा से मुझको "**मेधाम्**" सर्व-विद्यासम्पन्न बुद्धि दीजिए तथा "**अग्निः**" विज्ञानमय, विज्ञानप्रद "**प्रजापतिः**" सब संसार के अधिष्ठाता, पालक "**इन्द्रः**" परमैश्वर्यवान् "**वायुः**" विज्ञानवान्, अनन्तबल "**धाता**" तथा सब जगत् का धारण और पोषण करनेवाले आप मुझको अत्युत्तम मेधा (बुद्धि) दीजिए* "**स्वाहा**" इस प्रार्थना को आप प्रीति से स्वीकार कीजिए॥ ५४॥

मूल प्रार्थना

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥ ५५॥

यजु० ३२।१६

व्याख्यान—हे महाविद्य! महाराज! सर्वेश्वर! मेरा ब्रह्म (विद्वान्) और "**क्षत्रम्**" राजा महाचतुर, न्यायकारी शूरवीर राजादि क्षत्रिय ये दोनों आपकी अनन्त कृपा से यथावत् अनुकूल हों। "**श्रियम्**" सर्वोत्तम विद्यादिलक्षणयुक्त महाराज्यश्री को हम प्राप्त हों। हे "**देवाः**" विद्वानो! दिव्य ईश्वर-गुण, परमकृपा आदि उत्तम विद्यादिलक्षणसमन्वित श्री को मुझमें अचलता से धारण कराओ, उस को मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूँ और उस श्री को विद्यादि सद्गुण वा सर्वसंसार के हित के लिए तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिए व्यय करूँ॥ ५५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द-
सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्येण
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचित आर्याभिविनये
द्वितीयः प्रकाशः
सम्पूर्णः॥

---

* अनेक वार माँगना ईश्वर से अत्यन्त प्रीतिद्योतनार्थ और सद्यः दानार्थ है, बुद्धि से उत्तम पदार्थ कोई नहीं है, उसके होने से जीव को सब सुख होते हैं। इस हेतु से वारम्वार परमात्मा से बुद्धि की ही याचना करना श्रेष्ठ बात है।
(दयानन्द सरस्वती)

१०

आर्योद्देश्यरत्नमाला

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्म्मिता ॥

ईश्वरादितत्त्वलक्षणप्रकाशिका ॥

आर्यभाषाप्रकाशोज्ज्वला ॥

आर्यादिमनुष्यहितार्था ॥

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ में **महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक शब्दों** (आर्यों के मन्तव्यों) की परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं, जो वेदादि शास्त्रों पर आधारित हैं। इसमें १०० मन्तव्यों (नियमों) का संग्रह है। अर्थात् सौ नियमों रूपी रत्नों की माला गूँथी गई है। धर्म और व्यवहार में आने वाले इन शब्दों एवं नियमों का **सच्चा तथा वास्तविक अर्थ समझ कर व्यक्ति भटकने से बच जाए।** अतः सब मनुष्यों के हितार्थ लिखी गई।

यह ग्रन्थ **विक्रमी संवत् १९३४,** श्रावण मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी, बुधवार के दिन पूर्ण हुआ। (सम्पादक)

आर्योद्देश्यरत्नमाला

१. ईश्वर—जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुणवाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्व जीवों को पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है, उसको '**ईश्वर**' कहते हैं।

२. धर्म्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात-रहित न्याय, सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक धर्म्म मानना योग्य है, उसको '**धर्म**' कहते हैं।

३. अधर्म्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपातसहित अन्यायी होके विना परीक्षा कर के अपना ही हित करना है, जो अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेद-विद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, इससे यह '**अधर्म्म**' कहाता है।

४. पुण्य—जिस का स्वरूप विद्यादि शुभगुणों का दान और सत्यभाषणादि सत्याचार का करना है, उस को 'पुण्य' कहते हैं।

५. पाप—जो पुण्य से उलटा और मिथ्याभाषणादि करना है, उस को '**पाप**' कहते हैं।

६. सत्यभाषण—जैसा कुछ अपने आत्मा में हो और असम्भवादि दोषों से रहित कर के सदा वैसा सत्य ही बोले, उस को '**सत्यभाषण**' कहते हैं।

७. मिथ्याभाषण—जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है, उस को '**असत्यभाषण**' कहते हैं।

८. विश्वास—जिस का मूल अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो, उस का नाम '**विश्वास**' है।

९. अविश्वास—जो विश्वास से उलटा है, जिस का तत्त्व अर्थ न हो, वह '**अविश्वास**' है।

१०. परलोक—जिसमें सत्यविद्या करके परमेश्वर की प्राप्तिपूर्वक इस जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष में परमसुख प्राप्त होना है, उस को '**परलोक**' कहते हैं।

११. अपरलोक—जो परलोक से उलटा है, जिस में दुःखविशेष भोगना होता है, वह '**अपरलोक**' कहाता है।

१२. जन्म—जिस में किसी शरीर के साथ संयुक्त हो के जीव कर्म करने में समर्थ होता है, उस को '**जन्म**' कहते हैं।

१३. मरण—जिस शरीर को प्राप्त हो कर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है, उस को '**मरण**' कहते हैं।

१४. स्वर्ग—जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव प्राप्त होता है, वह '**स्वर्ग**' कहलाता है।

१५. नरक—जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उस को '**नरक**' कहते हैं।

१६. विद्या—जिस से ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर, उन से यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम '**विद्या**' है।

१७. अविद्या—जो विद्या से विपरीत है, भ्रम, अन्धकार और अज्ञानरूप है, इस को '**अविद्या**' कहते हैं।

१८. सत्पुरुष—जो सत्यप्रिय, धर्मात्मा, विद्वान् सब के हितकारी और महाशय होते हैं, वे '**सत्पुरुष**' कहाते हैं।

१९. सत्सङ्ग-कुसङ्ग—जिस करके झूठ से छूट के सत्य की ही प्राप्ति होती है, उसको '**सत्सङ्ग**' और जिस करके पापों में जीव फँसे, उस को '**कुसङ्ग**' कहते हैं।

२०. तीर्थ—जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का सङ्ग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब '**तीर्थ**' कहाते हैं, क्योंकि जिन करके जीव दुःखसागर से तर जा सकते हैं।

२१. स्तुति—जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुण-ज्ञान-कथन-

श्रवण और सत्यभाषण करना है, यह '**स्तुति**' कहाती है।

२२. स्तुति का फल—जो गुणज्ञान आदि के करने से गुणवाले पदार्थों में प्रीति होती है, यह '**स्तुति का फल**' कहाता है।

२३. निन्दा—जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याभाषण, झूठ में आग्रहादि क्रिया का नाम **निन्दा** है, जिस से गुण छोड़ कर उनके स्थान में अवगुण लगाना होता है।

२४. प्रार्थना—अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य के सहाय लेने को '**प्रार्थना**' कहते हैं।

२५. प्रार्थना का फल—अभिमान नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुणग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना '**प्रार्थना का फल**' है।

२६. उपासना—जिस करके ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उस को '**उपासना**' कहते हैं।

२७. निर्गुणोपासना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हल्का, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करनी है, उस को '**निर्गुणोपासना**' कहते हैं।

२८. सगुणोपासना—जिस को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचनेवाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जान के जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो '**सगुणोपासना**' कहाती है।

२९. मुक्ति—अर्थात् जिस से सब बुरे कामों और जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूट कर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना '**मुक्ति**' कहाती है।

३०. मुक्ति के साधन—अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की कृपा, स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना तथा धर्म का आचरण, पुण्य का करना, सत्सङ्ग, विश्वास, तीर्थ सेवन, सत्पुरुषों का सङ्ग, परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना और सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब '**मुक्ति के साधन**' कहाते हैं।

३१. कर्त्ता—जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करने वाला है, अर्थात् जिस के स्वाधीन सब साधन होते हैं, वह '**कर्त्ता**' कहाता है।

३२. कारण—जिसको ग्रहण करके ही करने वाला किसी कार्य चीज को बना सकता है अर्थात् जिस के विना कोई चीज बन ही नहीं सकती, वह '**कारण**' कहाता है। सो तीन प्रकार का है।

३३. उपादान कारण—जिसको ग्रहण कर के ही उत्पन्न होवे वा कुछ बनाया जाय, जैसा कि मट्टी से घड़ा बनता है, उस को '**उपादान कारण**' कहते हैं।

३४. निमित्त कारण—जो बनानेवाला है, जैसा कि कुम्भार घड़े को बनाता है। इस प्रकार के पदार्थों को '**निमित्त कारण**' कहते हैं।

३५. साधारण कारण—जैसे कि चाक, दण्ड आदि और दिशा, आकाश तथा प्रकाश हैं, इनको '**साधारण कारण**' कहते हैं।

३६. कार्य—जो किसी पदार्थ के संयोगविशेष से स्थूल होके काम में आता है। अर्थात् जो करने के योग्य है, वह उस कारण का '**कार्य**' कहाता है।

३७. सृष्टि—जो कर्त्ता की रचना करके कारण-द्रव्य किसी संयोगविशेष से अनेक प्रकार कार्य्यरूप होकर वर्त्तमान में व्यवहार करने के योग्य होती है, वह '**सृष्टि**' कहाती है।

३८. जाति—जो जन्म से लेके मरणपर्यन्त बनी रहे, जो अनेक व्यक्तियों में एकरूप से प्राप्त हो, जो ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं, वे '**जाति**' शब्दार्थ से लिये जाते हैं।

३९. मनुष्य—अर्थात् जो विचार के विना किसी काम को न करे, उस का नाम '**मनुष्य**' है।

४०. आर्य्य—जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्यादि गुणयुक्त और आर्य्यावर्त्त देश में सब दिन से रहने वाले हैं, उनको '**आर्य**' कहते हैं।

४१. आर्यावर्त्त देश—हिमालय, विन्ध्याचल, सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्रा नदी इन चारों के बीच में और जहाँ तक उनका विस्तार है, उनके मध्य में जो देश है, उसका नाम '**आर्यावर्त्त**' है।

४२. दस्यु—अनार्य अर्थात् जो अनाड़ी आर्यों के स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक कि जो दुष्ट मनुष्य है, वह 'दस्यु' कहाता है।

४३. वर्ण—जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह '**वर्ण**' शब्दार्थ से लिया जाता है।

४४. वर्ण के भेद—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं, वे '**वर्ण**' कहाते हैं।

४५. आश्रम—जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायं, उनको '**आश्रम**' कहते हैं।

४६. आश्रम के भेद—जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य, जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए गृहस्थाश्रम, जो विचार के लिए वानप्रस्थ और जो सर्वोपकार करने के लिए संन्यासाश्रम होता है, ये '**चार आश्रम**' कहाते हैं।

४७. यज्ञ—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्यन्त जो शिल्प-व्यवहार और जो पदार्थ-विज्ञान है जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको '**यज्ञ**' कहते हैं।

४८. कर्म—जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष करता है, वह '**कर्म**' कहलाता है। वह शुभ, अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है।

४९. क्रियमाण—जो वर्तमान में किया जाता है, सो '**क्रियमाण कर्म**' कहाता है।

५०. संचित—जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, उसको '**संचित**' कहते हैं।

५१. प्रारब्ध—जो पूर्व किये हुए कर्मों के सुख-दुःख रूप फल का भोग किया जाता है, उसको '**प्रारब्ध**' कहते हैं।

५२. अनादि पदार्थ—जो ईश्वर, जीव और सब जगत् का कारण है, ये तीन स्वरूप से '**अनादि**' हैं।

५३. प्रवाह से अनादि पदार्थ—जो कार्य जगत्, जीव के कर्म और जो इनका संयोग-वियोग है, ये तीन '**परम्परा से अनादि**' है।

५४. अनादि का स्वरूप—जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका

कारण कोई भी न होवे अर्थात् जो सदा से स्वयं-सिद्ध होके, सदा वर्तमान रहै, वह '**अनादि**' कहाता है।

५५. पुरुषार्थ—अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको '**पुरुषार्थ**' कहते हैं।

५६. पुरुषार्थ के भेद—जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी, प्राप्त को अच्छी प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुए पदार्थों का सत्य-विद्या की उन्नति में तथा सबके हित में खर्च करना है, इन चार प्रकार के कर्मों को '**पुरुषार्थ**' कहते हैं।

५७. परोपकार—अर्थात् अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिए जो तन, मन,धन से प्रयत्न करना है, वह '**परोपकार**' कहाता है।

५८. शिष्टाचार—जिसमें शुभ गुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है, वह '**शिष्टाचार**' कहाता है।

५९. सदाचार—जो सृष्टि से लेकर आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है, उसको '**सदाचार**' कहते हैं।

६०. विद्यापुस्तक—जो ईश्वरोक्त, सनातन, सत्यविद्यामय चार वेद हैं, उनको '**विद्यापुस्तक**' कहते हैं।

६१. आचार्य—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको '**आचार्य**' कहते हैं।

६२. गुरु—जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को '**गुरु**' कहते हैं, और जो अपने सत्योपदेश से हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे, उसको भी गुरु अर्थात् 'आचार्य' कहते हैं।

६३. अतिथि—जिसकी आने और जाने में कोई भी निश्चित तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तरों के उपदेश से सब जीवों का उपकार करता है, उसको '**अतिथि**' कहते हैं।

६४. पञ्चायतन-पूजा—जीते माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर को जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको '**पंचायतन पूजा**' कहते हैं।

६५. पूजा—जो ज्ञानादि गुणवाले का यथायोग्य सत्कार करना है, उसको '**पूजा**' कहते हैं।

६६. अपूजा—जो ज्ञानादि रहित जड़ पदार्थ और जो सत्कार के योग्य नहीं है, उसका जो सत्कार करना है वह '**अपूजा**' कहाती है।

६७. जड़—जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है, उसको '**जड़**' कहते हैं।

६८. चेतन—जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है, उसको '**चेतन**' कहते हैं।

६९. भावना—जो जैसी चीज हो उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रमरहित हो, अर्थात् जैसे को तैसा ही समझ लेना, उसको '**भावना**' कहते हैं।

७०. अभावना—जो भावना से उलटी हो अर्थात् जो मिथ्याज्ञान से अन्य में अन्य निश्चय मान लेना है, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेते हैं, उसको '**अभावना**' कहते हैं।

७१. पण्डित—जो सत्-असत् को विवेक से जाननेवाला, धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका हितकारी है, उसको '**पण्डित**' कहते हैं।

७२. मूर्ख—जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोष-सहित है, उसको '**मूर्ख**' कहते हैं।

७३. ज्येष्ठ-कनिष्ठ व्यवहार—जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है, उसको '**ज्येष्ठ-कनिष्ठ-व्यवहार**' कहते हैं।

७४. सर्वहित—जो तन, मन और धन से सबके सुख बढ़ाने में उद्योग करना है, उसको '**सर्वहित**' कहते हैं।

७५. चोरी त्याग—जो स्वामी की आज्ञा के विना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है, वह **चोरी** और उसका छोड़ना '**चोरी-त्याग**' कहाता है।

७६. व्यभिचार त्याग—जो अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के विना वीर्यदान देना तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना और युवावस्था के विना विवाह करना है, यह सब '**व्यभिचार**' कहाता है। उसको छोड़ देने

का नाम '**व्यभिचार त्याग**' है।

७७. जीव का स्वरूप—जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुणवाला तथा नित्य है, वह '**जीव**' कहाता है।

७८. स्वभाव—जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है, जैसे कि अग्नि में रूप और दाह, अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे, तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता, इसलिये इसको '**स्वभाव**' कहते हैं।

७९. प्रलय—जो कार्य जगत् का कारण रूप होना, अर्थात् जगत् का करनेवाला ईश्वर जिन-जिन कारणों से सृष्टि बनाता है, कि अनेक कार्यों को रच के यथावत् पालन करके, पुनः कारण रूप करके रखता है, उसका नाम '**प्रलय**' है।

८०. मायावी—जो छल, कपट, स्वार्थ में ही प्रसन्नता, दम्भ, अहंकार, शठतादि दोष हैं, इसको '**माया**' कहते हैं, और जो मनुष्य इससे युक्त हो, वह '**मायावी**' कहाता है।

८१. आप्त—जो छलादि दोष रहित, धर्म्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब प्रकार कृपादृष्टि से वर्तमान होकर, अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे, उसको '**आप्त**' कहते हैं।

८२. परीक्षा—जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचार के सत्यासत्य को ठीक-ठीक निश्चय करना है, उसको '**परीक्षा**' कहते हैं।

८३. आठ प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये '**आठ प्रमाण**' हैं। इन्हीं से सब सत्यासत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है।

८४. लक्षण—जिससे लक्ष्य जाना जाय, जो कि उसका स्वाभाविक गुण है, जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है, इसलिये इसको लक्षण कहते हैं।

८५. प्रमेय—जो प्रमाणों से जाना जाता है, जैसा कि आँख का प्रमेय रूप अर्थ है, जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको '**प्रमेय**' कहते हैं।

८६. प्रत्यक्ष—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है, उसको '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं।

८७. अनुमान—किसी पूर्वदृष्ट पदार्थ के एक अंग को प्रत्यक्ष देखके पश्चात् उसके अदृष्ट अंगों का, जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको '**अनुमान**' कहते हैं।

८८. उपमान—जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के समतुल्य नील गाय होती है, जो कि सादृश्य उपमा से ज्ञान होता है, उसको '**उपमान**' कहते हैं।

८९. शब्द—जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और पूर्वोक्त आप्त मनुष्य का उपदेश है, उसी को '**शब्द**' प्रमाण कहते हैं।

९०. ऐतिह्य—जो शब्द-प्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असम्भव और झूठा लेख न हो, उसी को '**ऐतिह्य**' (इतिहास) कहते हैं।

९१. अर्थापत्ति—जो एक बात के कहने से दूसरी बात विना कहे समझी जाय, उसको '**अर्थापत्ति**' कहते हैं।

९२. सम्भव—जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो, वह '**सम्भव**' कहाता है।

९३. अभाव—जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ, उसने वहाँ देखा कि यहाँ जल नहीं है, परन्तु जहाँ जल है वहाँ से ले आना चाहिए, इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान होता है, उस को '**अभाव**' प्रमाण कहते हैं।

९४. शास्त्र—जो सत्यविद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो, और जिस करके मनुष्यों को सत्य-सत्य शिक्षा हो, उसको '**शास्त्र**' कहते हैं।

९५. वेद—जो ईश्वरोक्त, सत्यविद्याओं से युक्त ऋक्संहितादि चार पुस्तक हैं कि जिनसे मनुष्यों को सत्य-सत्य ज्ञान होता है, उनको '**वेद**' कहते हैं।

९६. पुराण—जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि-मुनि कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और 'नाराशंसी' कहते हैं।

९७. उपवेद—जो आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शस्त्रास्त्रविद्या राजधर्म्म, जो गन्धर्ववेद गानशास्त्र और जो अर्थवेद शिल्पशास्त्र हैं, इन चारों को '**उपवेद**' कहते हैं।

९८. वेदाङ्ग—जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष

आर्ष सनातन शास्त्र हैं इनको '**वेदाङ्ग**' कहते हैं।

९९. उपाङ्ग—जो ऋषि-मुनिकृत मीमांसा, वैशेषिक न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं, इनको '**उपाङ्ग**' कहते हैं।

१००. नमस्ते—मैं तुम्हारा मान्य करता हूँ।

वेदरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।
नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम्॥

श्रीयुत महाराज विक्रमादित्य जी के १९३४ के संवत् में श्रावण महीने के शुक्लपक्ष ७ सप्तमी बुधवार के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने आर्य्यभाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह आर्य्योद्देश्यरत्नमाला पुस्तक प्रकाशित किया॥

इति आर्योद्देश्यरत्नमाला समाप्ता॥

११

भ्रान्ति-निवारण

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ के नाम की भाँति नाम वाले दूसरे ग्रन्थ '**भ्रमोच्छेदन**' में पण्डित विशुद्धानन्द जी और राजा शिवप्रसाद जी की नासमझी से अधिकांशत: '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' से सम्बन्धित कुछ प्रसंगों को स्पष्ट किया गया है, जबकि '**भ्रान्ति-निवारण**' में वेदभाष्य-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

महर्षि दयानन्द ने संसार के उपकार के लिए सभी विद्याओं के मूलभूत वेदों के अर्थ प्राचीन ऋषियों की व्याख्या, निरुक्त तथा अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर करने प्रारम्भ किये। ये अर्थ उस समय प्रचलित **सायण तथा विदेशियों आदि के द्वारा किये गये अर्थों से विरुद्ध थे** तथा पौराणिकों के मतों का खण्डन इनसे स्वत: होता था। अत: लोगों को वेदों के ये गौरवशाली अर्थ रास नहीं आ रहे थे। इस पुस्तक में प्रस्तुत उत्तर कलकत्ता के संस्कृत कालेज के ऑफिशियेटिंग **प्रिंसिपल पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न** द्वारा उठाई गई भ्रान्तियों के हैं।

स्वामी जी इस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं कि "**इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर. ग्रिफिथ साहब, सी.एच. टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं-कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी सो उनका उत्तर अच्छे प्रकार दे दिया गया था।**" वैसे महर्षि उस समय अपने बनाये वेदभाष्य के मासिक प्रकाशित अंकों में भी विद्वानों के समझने के लिए संकेत दे देते थे, जिससे उनको समझने में सुविधा हो और व्यक्तिगत रूप से बार-बार पूछने में महर्षि का अमूल्य समय बरबाद न हो।

महर्षि भी बार-बार इन कामों में अपना बहुमूल्य समय खर्च नहीं करना चाहते थे, परन्तु दो बातों को लक्ष्य में रखकर उन्होंने पुन: लिखना आवश्यक समझा। महर्षि के शब्दों में, १. "**एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्य विद्या पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है,** और २. **दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट हो जाये कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें।**" इस पुस्तक में **हिन्दी भाषा** में ही सब शंकाओं का उत्तर है। इस ग्रन्थ का समय **संवत् १९३४, कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया** (२) तिथि है। (सम्पादक)

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है, कि जो सब प्राचीन ऋषियों की की हुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है, जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्य्यन्त वर्त्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहाँ तहाँ लिख दिये हैं, कि देखने वालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शङ्का मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे, कि जिससे देशभर की हानि हो और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देख कर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देखकर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं, कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दु:ख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूँ मैं तो अपना तन-मन-धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझ को चक्रवर्त्ती राज्य के तुल्य है।

मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे, किन्तु मलीन मच्छी की नांई निर्मल जल को गँदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्वशक्तिमान् सत्यग्राहक और न्यायसम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रन्थ के विषय में जो शंका होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करने वालों को होंगी, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े और इतना न हुआ कि आँख खोलकर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने

पर हाँसी और दु:ख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है, नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है।

इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफिथ साहब, सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी, सो उनका उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते, में के संस्कृत कालेज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूँ। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्य विद्या पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट हो जाय कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शङ्का तो मेरे बनाए ग्रन्थों ही को ठीक-ठीक मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं, फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं?

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे-अच्छे पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूट कर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने-अपने हाथ से छाने की फिकर की, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आँखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर, अपनी अज्ञानता पर दुखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इस का परिणाम न जाने क्या होना है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है कि उन को जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रन्थों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दु:ख दिया। और जब से

अङ्गरेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार करके प्रजा को समान दृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ-कुछ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आज तक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक-ठीक होता, तो किसी को शङ्का, भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत-मतान्तर का न होता, जैसा कि पण्डित महेशचन्द्र का गुमान है। यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनकी भ्रान्ति निवारण विषय में कुछ लिखा जाता है।

—इति—

दयानन्दसरस्वती

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी ने विरुद्ध पण्डितों के साथ में अपनी राय दी है, तो उन्हीं के उत्तर में इन का भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्सन्देह प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता।

स्वामीजी—सम्मति देने वालों की निष्पक्षता और न्याय तो उन के कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे। क्योंकि पण्डितजी लिखते हैं कि 'स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं।' तो उन का यह कथन पूर्वापर विरोधी है, और इस में उन का हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है।

पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारी विद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थ विद्या वेदों से ही निकली है। इत्यादि बातें उन का काम मट्टी कर देती हैं।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूँ। जब पण्डितजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है तो उन को उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मन्त्र वेदों में से लिख कर यह बात सिद्ध करदें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है। क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके मन का अभिप्राय खुल गया, और उन की विद्या की थाह मिल गई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है, ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हलदी

की गाँठ के बल से लिखकर बैठ रहे, कि जिस में वृथा कीर्ति देश में हो जावे।

सो पण्डितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूँगा वह सब को मालूम होता जावेगा, और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा, परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निष्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और झाँपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिस को कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मप्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिन में कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उन को यही उचित है कि वेदों को भी एक तरफ डाल कर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं। और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो, नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है, कि जिस के अर्थ गुलाम वा काफिर आदि के हैं, और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलंकरूप नाम यवनादिक की ओर से है। और आर्य्य शब्द जिस के अर्थ श्रेष्ठ के हैं, वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं। सो कब हो सकता है ? और भूषण को दूषण करके मानते हैं, तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी।

आगे वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिन में कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया, और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्व मीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।

तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है, उस सब को मानता हूँ, उस से विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद, युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो संस्कार आदि मैं मानता हूँ वे सब मेरी बनाई हुई वेद भूमिका अङ्क ३ में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

और वे लिखते हैं कि 'वेदों को भी एक तरफ धर दें केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें' तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है, वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है, परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम 'वेदोत्पत्ति प्रकरण' में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहाँ भी मैं कहता हूँ कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति-प्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत मानते बराबर चले आये हैं। इस का ठीक ठीक विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं, हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वत: प्रमाण हैं कि उन में बहुधा होम बलिदान आदि का विधान है। तथा इस का प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिन को स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे

मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उन के भाष्य की परीक्षा करूँगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सब को प्रमाण और युक्ति सिद्ध होने के कारण मैं मानता हूँ, और सब को अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के 'यज्ञप्रकरण' में लिख दिया है। उस से विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है, यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पंडितजी का जो कथन है, सो केवल अप्रमाण है, और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी, परन्तु पंडितजी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्‌भुत नहीं है, किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पंडितों के आगे हँसी के कराने वाले हैं। तथा कई अशुद्धियाँ जो उनके परीक्षकों ने निकाली हैं, वे इस बात को साफ साफ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे '**उपचक्रे**' शब्द को पाणिनि के '**गन्धनावक्षे०**' सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि '**उपचक्रे**' में आत्मनेपद लाया गया है साफ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है, और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उस का भाषा में अर्थ करते हैं कि 'किया है'।

स्वामीजी—इन का उत्तर मैं पंडित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्कखंडन' के साथ दे चुका हूँ, और पंडितजी ने कुछ उन से विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के, जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूँ वा केवल विजय, अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

भाषार्थ में जो शब्द 'किया है' लाया गया तो इस का कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है, उन को विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं

हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और 'उप, कृञ्' धातु का अर्थ है 'उपकार और किया' ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक ठीक घट सकता है।

पं० महेश०—खैर ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी भारी दोषों पर आता हूँ। मन्त्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखंड में '**अग्निमीडे पुरोहितम्**' इस के भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जबकि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।

स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो जो शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं, उन में अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पक्ष में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—''**अग्निर्वै सर्वा देवताः॥** ऐ० १। पं० १॥'' जिस का यहाँ कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम. हाग साहब के टीका सहित लिखता हूँ।

स्वामीजी—अब पंडितजी की ऐसी पकड़ से मालूम हो गया कि उन को संस्कृत ग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है, और विद्वानों को चाहिये कि पंडितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे, और उन को ठीक ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं, उन को ठीक ठीक विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि 'अग्नि' शब्द से 'आग' और 'ईश्वर' दोनों का ग्रहण है। जैसे देखो कि—

१-'**इन्द्रं मित्रं वरुण०॥**' २-'**तदेवाग्निस्तदादित्य०॥**' ३-'**अग्निर्होता कविः०॥**' ४-'**ब्रह्म ह्यग्निः॥**' ५-'**आत्मा वा अग्निः॥**'

देखिये विद्यानेत्र से इन पाँच प्रमाणों में '**अग्नि**' शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। '**अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च॥**' और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार ''**संवत्सरोऽग्निः॥**'' इत्यादि प्रमाणों मे 'अग्नि' शब्द से ठीक ठीक परमेश्वर का ग्रहण होता है।

तथा '**अग्निर्वै सर्वा देवताः॥**' इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहाँ उपास्य उपासक प्रकरण में सर्व देवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इस में मनु का प्रमाण दिया है। क्योंकि—

'**यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः॥**'

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते तो उन को अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो '**अग्रणी**' इस शब्द से उत्तम परमेश्वर माना जाता है, इस में कुछ सन्देह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि '**इतात्**' इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि '**इण् गतौ**' इस धातु से यहाँ ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है। '**दग्धात्**' इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा, परमेश्वर नहीं। तथा '**अक्तात्**' और '**नीतात्**' इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि इण् धातु से ऋषि का प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता, तो '**अक्तात् दग्धात्, नीतात्**' ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते।

तथा जो 'अग्नि' शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता, तो पृथक् पृथक् धातुओं को नहीं गिनते। और '**अग्निर्वै सर्वा देवता इति निर्वचनाय**' इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिस को बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि एक अद्वितीय, सब से बड़ा, सब का आत्मा है, उसी को 'अग्नि' कहते हैं।

'**उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥**'

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान प्रकाशयुक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है, उस का, और जो विद्युत्‌रूप गुण वाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है, इन दोनों का

यथावत् ग्रहण होता है।

इसी प्रकार '**अग्निः पवित्रमुच्यते**॥' इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा '**प्रशासितारं०**' जो सब को शिक्षा करने वाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, प्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य पर पुरुष परमात्मा है, विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर '**एतमेके वदन्त्यग्निं०**' विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक ठीक घटते हैं, परन्तु जो पण्डितजी के घर से निराले ग्रन्थ हैं, उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उन में अग्नि शब्द नहीं आता, इस से मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर की वाची नहीं, तो समझना चाहिये कि जैसे—निघण्टु के अ० २। खं० २२। में जो '**राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वान्, इनः**' ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों वे ही माने जायं, औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते हैं? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं? यह पण्डितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के विना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्वपक्ष में जो कुछ अवश्य था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क ३ में विस्तारपूर्वक सिद्ध कर दी है, वहाँ देख लेना।

पंडितजी आर० ग्रिफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे पीछे चलते हैं। सो इस का कारण यह है कि पंडितजी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है। और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अंग्रेजी में देख लिये होंगे। उनसे क्या हो सकता है। जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें, तब तक वेद-मन्त्रों का अभिप्राय ठीक ठीक जान लेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पंडितजी का और कथन भी है, इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं—

'**अग्निर्वै सर्वा देवताः। देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः**' इत्यादि पर जो पंडितजी ने लिखा है, सो भी अयुक्त है। क्योंकि वेदमन्त्रादि प्रमाणों को छोड़ कर '**अग्निर्वै सर्वा०**' इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पंडितजी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पंडितजी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इस का अभिप्राय यह है कि सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होम क्रिया में अग्नि मन्त्र प्रथम और विष्णु मन्त्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहाँ कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहाँ भी अग्नि का प्रथम और विष्णु का अन्त में ग्रहण किया है। सो एतरेय ब्राह्मण के पं० १, अ० २, क० १० में लिखा है कि '**त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसवः**' इत्यादि।

तथा शतपथ ब्राह्मण में भी इसी बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१ में देवता शब्द से किस किस को किस किस गुण से ग्रहण करना लिखा है, वहाँ देख लेना। तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७ में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण कर दी है। इसलिये 'अग्निर्वै०' इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्व लिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण हो जायगी। तथा उक्त साहब लोगों और पंडितजी की यह भी शंका निवृत्त हो जावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है, किन्तु जिस जिस हेतु से जिस जिस पदार्थ का नाम देव धरा है, उस उस को वहाँ अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना।

और डाक्टर एम० [हाग] साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं, तो यह पंडितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़ कर इधर उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० [हाग] साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके, वह विना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं, कि जिन को हम सर्वोपरि मान निश्चय कर लें, और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें, जैसा कि पंडितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका में भी '**यज्ञस्यान्ते**' वचन में आदि में अग्निमन्त्र

और अन्त में विष्णुमन्त्र का प्रयोग किया जाता है, फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मन्त्र देवते गिने हैं, अग्नि को प्रथम [इस कारण माना है कि] जिन जिन द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है, वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य्य के आकर्षण से वायु द्वारा आकाश में चढ़ जाते हैं। फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतर कर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं, उन सभों को लाभ पहुँचाते हैं। इस अभिप्राय को पंडितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं, किन्तु निस्सन्देह देवता विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेंट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है, किन्तु उस में ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं—'**यत्रोपास्यत्वेन०**' अर्थात् जहाँ सब देवों का पूजन कहा है, वहाँ परमेश्वर को समझना चाहिए। फिर इस की पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं, '**आत्मैव देवताः सर्वाः०**' अर्थात् आत्मा सब देव है, और आत्मा ही में संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी के मन प्रसन्न प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकता है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आँख से देखने को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है, उस का उत्तर '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' के अङ्क ३ के 'देवता विधान प्रकरण' को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस जिस गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है, उस को देख लेना चाहिए। क्योंकि वहाँ यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दी है। परन्तु चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है। और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उन की दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में 'देवता' संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है।

और जो पंडितजी लिखते हैं—'अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं। इस का उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इसमें पंडितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा, उस के उलटे ज्ञान हो जाने का सम्भव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अङ्क ४ में ८८ के पृष्ठ से ९२ तक 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिए।

'**आत्मैव देवताः सर्वाः०**' इस का अभिप्राय पंडितजी ने ठीक ठीक नहीं समझा है। क्योंकि इस का मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन, पालन और विनाश करने वाला है। तथा '**अग्निर्देवताः०**' इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है। क्योंकि '**सर्वमात्मन्यवस्थितम्**' इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है, और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात तो सिद्ध है ही कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है। इस से मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश०—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं। क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं, जिन के द्वारा सब बीच वालों को भाग पहुँचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इस में स्वामीजी ऐतरेय ब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं, सो उन के कथन की पुष्टि तो नहीं करता किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वामीजी—अब जो पंडितजी '**अग्निर्वै सर्वा देवताः**' इस में भ्रान्त हुए हैं, सो ठीक नहीं। और जो '**अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः॥**' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है, इस का अर्थ ठीक ठीक पंडितजी नहीं समझे हैं। इस का अभिप्राय यह है कि '**अग्निर्वै सर्वा देवताः**' '**विष्णुः सर्वा देवताः**' इस का भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहाँ भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं, वहाँ पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्य-यज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उस से द्रव्यों के रस और जल आदि

के परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं। इस का नाम 'भाग' और 'बलिदान' है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति ऐतरेय ब्राह्मण में लिखी है, जिस को पंडितजी ने न जान कर मेरे लेख पर विरुद्ध सम्मति दी है।

पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी '**अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०**' इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं, कि जिस में अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं। और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं, और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है। और यह अर्थ '**अग्रणीः**' शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द '**अग्र-नी**' से मिल कर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्राह्मण जिस को स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं, लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पंडितजी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही सम्मति देता है, सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से 'परमेश्वर' और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है। तथा उस में अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिये उस में रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों का निरूपण मुख्य करके किया गया। जैसे कि '**इतात्, अक्तात्, दग्धात् वा नीतात्**' इन में '**इण्**' धातु गत्यर्थक, '**अञ्जू**' व्यक्ताद्यर्थ, '**दह**' भस्मीकरणार्थ, '**णीञ्**' प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि '**इण्**' और '**अञ्जू**' इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति, ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इन में ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।

और '**अग्रणी**' शब्द तथा '**अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति।**' इसके अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर और '**न क्नोपयति न स्नेहयति**' इस से भौतिक पदार्थ में लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है, मन्त्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक ठीक लिख दिया गया है। जो उस को पंडितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ का विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते, उन को उस के विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—'**प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०**' हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द का भौतिक का वाची ढूँढें, किन्तु मैं यह बताता हूँ कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वामीजी—पंडितजी का कथन है कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि भौतिक का वाची ढूँढें इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार से अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूँ, सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पंडितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है, उस का हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं, इसलिये वहीं तक उन की दौड़ है।

परन्तु मैं उन से मित्र भाव से कहता हूँ कि वेद, वेदाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी ऐसी तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हो। क्योंकि जो जो शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में धरे हैं, वे क्या शतपथ के नहीं हैं? जो शंका हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें।

और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है उस में मुख्य पाठ उन्होंने पहले ही उड़ा दिया। इस चालाकी को देखना चाहिये

कि—'**तद्यदेनं मुखादजनयत्तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति॥**' इस में 'अन्नाद' शब्द अग्नि का वाची है। '**अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः॥**' यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूँ। और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं, इस से यहाँ भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है।

और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है, उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि—

''**प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्-मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमग्निजनयत्तस्मात्स परमेश्वरोन्नादोऽग्नि-रर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चये नैवममुना प्रकारेणै-तमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति॥**''

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पंडितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक ठीक नहीं जानते। और जितना जानते हैं उस में भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पंडितजी को विदित हो कि यहाँ पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर लेख वा उन की परीक्षा नहीं है। इस से जो कुछ वे लिखें सो विचारपूर्वक होना चाहिये कि उनको किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो जो शतपथ के प्रमाण मैंने वहाँ वहाँ लिखे हैं, उस का अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उन को ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—'**अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः॥**' पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है!

स्वामीजी—फिर जो पंडितजी ने '**अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः**' इस में अपना अभिप्राय जाताया है कि क्या पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है, इस में पंडितजी से मैं पूछता हूँ कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्य्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते हैं, तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो

सकता।

और उन को विचारना चाहिए कि '**पृथिवीस्थानं यस्य सः परमेश्वरो ह्यग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम्।**' इस वचन के अर्थ पर उन का अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है, जब कि यहाँ पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है। तथा कार्य्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर इन का अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है, और न केवल चूल्हे वा वेदि में धरा हुआ।

तथा पृथिवी—स्थान शब्द के होने से अग्नि शब्द से ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसे—

''**यः पृथिव्यां तिष्ठन् अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरं पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः॥**''

वह वचन शत० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है, कि जिस में पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहाँ कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है, वहाँ एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। जैसे—''**स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः॥**'' अर्थात् गौतम ऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गोतमजी! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उस से पृथक् भी है, तथा जिस को पृथिवी नहीं जानती, जिस के शरीर के समान पृथिवी है; जो पृथिवी में व्यापक होकर उस को नियम में रखता है, वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है।

इतने ही से बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं?

पं० महेश०—तथा देवता विषय में उस का कैसा विचार था, आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं—''**यत्कामऋषिर्यस्यां०**'' जिस मन्त्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है, वही उस मन्त्र का देवता है। ''**माहाभाग्याद्देवतायाः०**'' अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उस में बहुत-सी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है, उस के सिवाय और और देव उस के अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न-भिन्न मन्त्रों के पृथक् पृथक् देवता विभाग करता है। और इस का प्रमाण

स्वामीजी ने माना है। देखो पृष्ठ १ पं० २ तथा पृ० २३ पं० १४ इसी विषय की।

परन्तु बात काट के उस के असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण मैत्र्युपनिषद् में लिखा है कि जिस को स्वामीजी भी मानते हैं। जैसे:—''**निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरप्रश्न-मनुब्रूहीति०** इत्यादि॥ ४। ५॥''

स्वामीजी—''**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति॥**'' इस का उत्तर भूमिका अङ्क ३ के देवता विषय में देख लेना। वहाँ अभिप्राय सहित लिख दिया है। अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है, पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न भिन्न देवता मानता है, सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मन्त्र का अग्निदेवता इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वहाँ केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं। वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिये जाते हैं। तथा सभी मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है। सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है, वहाँ देख लेना, कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किस लिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्रूप समझना, यह हिन्दुओं की बात होगी, आर्यों की नहीं। हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त अज अनादिस्वरूप को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध सनातन निर्विकार अज अनादिस्वरूप जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन पालन और विनाश करने वाला है। और हिन्दू उस को कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग के विरुद्ध चले। इस में पंडितजी ने जो मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण धरा है सो भी विना अर्थ जाने हुए लिखा है। क्योंकि वहाँ ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है। तद्यथा—

''**यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह। यः सुयुक्तोऽजस्त्रं चिन्तयति तस्माद्विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यत ब्रह्म। स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यपक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते॥**'' (मैत्र्युपनिषद् ४.४)

जो पंडितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक ठीक समझ लेते, तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं, ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहाँ भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्त स्थान ''शतपथ ब्राह्मण'' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर-शरीरी अर्थात् व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देख लेना।

उसी शतपथ में पाँचवें ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—''**अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि।**'' व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पूर्वोक्त अलङ्कार से यथावत् दिखला दिया है। इस से—

''**ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्**'' इस का अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनामात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'यह सुवर्ण खरा है', तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं। इसी प्रकार जैसे कार्य्यजगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है, वैसे ब्रह्म नहीं। किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है। यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि:—

''**या वास्याग्र्यास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चातस्ताभिः स हैवोपर्य्युपरि लोकेषु चात्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य॥**''

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उस की अर्च्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करता, इस के उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचों बीच रहता हुआ, अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है।

इस के आगे भी 'मैत्र्युपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी "**त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः**" इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इस से यह बात पाई गई कि यद्यपि पंडितजी प्रोफेसर ग्रिफिथ, टानी साहब के वकील भी हुए, तथापि मुकद्दमा में खारिज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

पं० महेश०—"**तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः॥**" जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं, वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् पृथक् होने से उन को कई नामों से बोलते हैं।

"**अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाः स्युरित्येके चेतनावद्व-वद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते॥**"

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे सिक्का, वनस्पति आदि।

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, जिन के गुणों की व्याख्या कर दी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुँचाता है। तथा उन को यज्ञ में बुलाता है, ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं।

"**अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः॥**"

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है, प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इस का अग्नि नाम क्यों हुआ, क्योंकि वह प्रथम ही आता है, देखो '**अग्निमीळे**' इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज नहीं समझा है। यह ब्राह्मण और निरुक्त से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं। श्रौत सूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है,

यद्यपि स्वामीजी ने उस का कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूँ—सू० २६। कण्डिका १। अ० तथा सू० ७। कं० १३। अ० ४ में देखने से साफ मालूम होता है कि '**अग्निमीळे०**' यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है।

स्वामीजी—इसके आगे पण्डितजी "**तिस्र एव देवता०**" इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इस का भी अर्थ ठीक ठीक नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं। अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता है। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ वीं से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ तक देखने से ठीक ठीक उत्तर मिल जायगा।

और इस के आकार चिन्तन से यह अभिप्राय है कि—जिस जिस पदार्थ में जो जो गुण होते हैं, उन का यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में "**एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथगिव स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि॥**" इस पंक्ति का अर्थ पंडितजी ने न विचारा होगा, नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते। क्योंकि देखो—

"**तासां माहाभाग्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति॥**"

इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई कई नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं। उन्हीं पृथक् पृथक् गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदों में सर्व सुखदायक स्वयं-प्रकाश सत्य-ज्ञान-प्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, केवल एक का नहीं। और—

"**तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्या-स्यामः॥**"

इस का अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन,

साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है—एक समवायसम्बन्ध, दूसरा संयोगसम्बन्ध। समवाय नित्य गुण गुणी आदि में होता है, और संयोग सम्बन्ध गुणी और अगुणियों का होता है। जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना, कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्य व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुँचाना है, तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुँचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त कर देना परमेश्वर का काम है।

''**अग्निः पृथिवीस्थान०**'' इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और ''**अग्निमीळे**'' इस की व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मंत्र के भाष्य में लिख दी है परन्तु वहाँ भी दो ही अग्नि लिये हैं। क्योंकि एक अध्येषणा कर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

तथा ''**अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभि०**'' इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

''**स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते॥**''

इसका अर्थ यह है कि—वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है, चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सब का प्रकाशक है तथा जो परमेश्वर का अग्नि शब्द से ग्रहण करना कहा है, एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है, जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं, मेरी बात की पुष्टि करते हैं वा नहीं। तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है वा नहीं?

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं, उसका भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहाँ तो केवल होमक्रिया करने का प्रसङ्ग है, और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि काम पृथक् पृथक् लिखे हैं, इसलिये वहाँ तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिस का काम है, उसको वही करे, यहाँ उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहाँ भी पण्डितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहाँ मन्त्र ही देवता हैं। और शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वहीं मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इस से सूत्र का लिखना पण्डितजी को योग्य नहीं था, क्योंकि वहाँ तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—'**अग्निमीळे**' इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये। परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धर के कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है, सो उन मन्त्रों की साधारण विचार परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उन से स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र '**इन्द्रं मित्रम्०**' वे उस को इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर, कुछ ही हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और-और देवताओं के नाम से लाते हैं उस के बल आदि गुण बताने के लिये। '**तदेवाग्नि०**' शुक्लयजुर्वेद से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है—देखो 'तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। प्र०।' इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—'जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है और रहेगा, जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिस के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है।

इसके बाद स्वामीजी मन्त्र का प्रमाण देते हैं, जैसे—'**तदेवाग्नि०**' अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे

अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते, सिवाय इसके जो **'तदेवाग्नि०'** पदभेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा जैसे कह दे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

'अग्निर्होता कविः क्रतुः०' स्वामीजी कवि शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाशरहित, परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है। और स्वामीजी भी जब मन्त्र को शास्त्र-सम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं। कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को 'अग्नि ईश्वर का नाम है' नहीं खोलता। क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं। क्योंकि मैंने **'अग्नि'** शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण मन्त्रभाष्य के आरम्भ में लिखे हैं। उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं। इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मन्त्रों का अर्थ मालूम नहीं। और विना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं? उन का यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता।

अब विद्वान् लोग पण्डितजी के लेख की परीक्षा करें। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि **'इन्द्र मित्रं०'** इस मन्त्र में **'उसको'** शब्द किस के लिये आया है इत्यादि। तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिए आया है इत्यादि। सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि विना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं। इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो बार है। एक—

'इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुः..... ।......अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं, अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्'

अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है, उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहाँ भी—

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥'

इस का यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा **'इममेवाग्निं०'** इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है।

इस मन्त्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था, तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते, और उन प्रमाण मन्त्रों के यथार्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहा कर वार वार यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं, वैसे ही **'तदेवाग्नि०'** जो इसमें तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक ठीक नहीं जाना। क्योंकि वहाँ परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एक रस रहता है, अर्थात् जब जब जगत् हुआ था, है और होगा तब तब वह—

'तदक्षरे परमे व्योमन्।'

सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि—

'येनावृतं खं च दिवं महीं च० इत्यादि'

जिसने आकाश सूर्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

'येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम्'

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

'अतः परं नान्यदणीयमस्ति।'

जिससे सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सब से परे एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषण युक्त है।

'तदेवावर्त्तत्तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।'

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है, वही सत्य, वही ब्रह्म तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट देवता है।

और **'तदेवाग्नि०'** अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

'सर्वे निमेषा जज्ञिर इत्यादि।'

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता, अर्थात् कोई उस को आँख से नहीं देख सकता किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पण्डितजी ने नाम लिखा है, उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उनकी समझ में ठीक ठीक नहीं आया। क्योंकि उन के मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं, किन्तु परमेश्वर ही जगत्रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा, गौ और खटमल आदि निकले हैं। इस से उन का अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् बन गया है।

यह भ्रान्ति उनको वेदादि शास्त्रों के ठीक ठीक न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो **'अद्वैत'** शब्द परमेश्वर का विशेषण है, कि जैसे एक एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है, वैसा परमेश्वर नहीं, किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ९० की पंक्ति २२ से मिलता है। जैसे—

'न द्वितीयो न तृतीयः॥' इत्यादि में देख लेना। तथा

''पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्॥''

इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका अङ्क ५ से ११८ पृष्ठ में **'सहस्त्रशीर्षा०'** इत्यादि की व्याख्या से लेकर अङ्क ६ से १३४ पृष्ठ की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा।

और—**'अग्निर्होता कविः क्रतुः०॥'** इसके अर्थ विषय में जो पंडितजी को शङ्का हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है। सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य के अङ्क १ पृष्ठ १६ में देख लेना—क्रतुः सब जगत् का करने वाला **सत्यश्चित्रश्रवस्तमः**—इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की आँख से मनुष्य देखता है, तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है। और जब इस प्रकार की ठीक ठीक विद्या ही नहीं तो उस को सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।

तथा निघं० अ० ३ खं १५ में 'मेधावी' का नाम कवि लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। म० ८—**'सपर्यगाच्छुक्र०।'** इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहाँ भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक ठीक सिद्ध करते हैं। तथा पंडितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—**'ब्रह्म ह्यग्निः'** जो कि आगे की संस्कृत में आता है जैसे—

'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति०॥' इसमें अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**—ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुँचाता है। शत० कां० १। अ० ४। ब्रा० ४। २ इसमें मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं, किन्तु ब्राह्मण और भारत, अग्नि में लगाये हैं।

'आत्मा वा अग्निः।' यह शत० कां० ७। अ० ३। ब्रा० ३। कं० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे—

'यदेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति। आत्मा वा अग्निः। प्राणः सोमः। आत्मानं ततः प्राणं मध्यतो दधाति।'

अर्थात् 'बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है क्योंकि आत्मा अग्नि है तथा प्राण नाम सोम का है, और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं। यहाँ आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है, तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलङ्कार रूप से है। इसीलिए सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं जिस में इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे किन्तु जहाँ से ये प्रमाण रक्खे हैं, वे बराबर होमादि का विधान करते हैं, और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं।

[अगले कुछ प्रमाण] ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पञ्चवायु आदि से तथा १३ में ईशान, शंभु भव, रुद्र आदि। ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके। सब वस्तु ब्रह्म है, इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय '**अग्निरिवाग्निना पिहितः**' ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो '**अग्निरिव**' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं, जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो जो प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं, उन को तो देखते विचारते नहीं परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवें। 'ब्रह्म ह्यग्निः' इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है तथा—

'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति।'

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं, क्योंकि वहाँ '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' यह नियम कहीं नहीं लिखा—

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येष हि देवभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति।'

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे।

क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर! आप महान्—सब से बड़े हैं और बड़े होने से 'भारत' कहाते हैं, और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं, इसलिए भी आपका नाम भारत है। इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि, भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं।

और जो '**आत्मा वा अग्निः**' इस में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है, इससे दोष नहीं आ सकता। यही मेरा अभिप्राय है, इसको पण्डितजी ठीक ठीक नहीं समझे।

और—'**तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः॥**' इसका यह अर्थ है कि—(अयम्) यह होम करनेवाला परमेश्वर का उपासक सबके बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है। क्योंकि सब के प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं। इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है, और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है। परन्तु '**स उ प्राणस्य प्राणः॥**' इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है। इससे यहाँ आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है।

और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं, किन्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध से है। क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही, अग्निनाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं। और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है। सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम सोम है। सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है और जहाँ जहाँ से प्रमाण लिखे हैं, वहाँ वहाँ सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है, यह केवल उनका आग्रह है, इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका।

और—'**प्राणो अग्निः परमात्मेति।**' यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण, अग्नि, परमात्मा, ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और 'सब वस्तु ब्रह्म है' इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूँ। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जान कर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना

विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि **'पञ्चवायु'** इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पाँच वायु स्थित हों सो **'पञ्चवायुः'** परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में 'विश्वभुक्' आदि शब्द भी हैं, इससे दोनों अर्थ वहाँ लिये जाते हैं।

''य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः। एको वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वाऽभयं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। ''

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है, जिसको सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं तथा सब प्राणियों को अभयदान दे के विषयों में इन्द्रियों को रोक के एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है, और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से वह वर्त्तमान, सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उस का पूजन करता है, वही मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार से—**'उपलभेतैनमिति।'** मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है, यह मैं भी जानता और मानता हूँ, परन्तु पंडितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा, यह बड़ा आश्चर्य्य है।

पं० महेश०—'अग्निः पवित्रमुच्यते' पवित्र शब्द की खराबी लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान

में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूँ कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उनकी चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता है, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं। कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई कोई उसको नित्य ब्रह्म कर के समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं, वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है—

'सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितम्। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।'

अब देखना चाहिये कि ये सब मन्त्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं, सो कैसे वृथा हैं।

स्वामीजी—'अग्निः पवित्रमुच्यते' इसका उत्तर हम दे चुके और मनु के प्रमाण के विषय में पंडितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्य्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पंडितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूँ। इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है, परन्तु पंडितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पंडितजी ने कुछ भी नहीं समझा। **'प्रशासितारं सर्वेषां०।'** इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति **'एतमेके वदन्त्यग्निम्०।'** इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—**'अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।'** इस वचन से भी ठीक ठीक निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है। उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पंडितजी ने नहीं समझा, यह बड़े आश्चर्य की बात है। और—

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नधर्मे कुरुते मनः॥ १॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्॥
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ २॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ ३॥

इन श्लोकों से पंडितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं, और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है। यह पंडितजी का जानना बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। '**समाहितः**' इस पद को अशुद्ध करके '**समाहितम्**' यह पंडितजी ने लिखा है, 'जो समाधान पुरुष असत्कारण और सत्यकार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्म युक्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है॥ १॥'

आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रचने वाला, और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्य देव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है॥ २॥

इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है, वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है॥ ३॥

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव! तुम इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूँ। तिस पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूँ जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे की नहीं। इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनको ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं।

अब '**अग्निमीळे०**' पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं—वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं जिस से आगे 'क्त' है, इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं।

'**पुरोहितः पुर एनन्दधाति०।**'

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस '**हित**' शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं, स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें, परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है, उस के प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं, वहाँ ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा '**पुरोहित**' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है, सो भी वहाँ देखने से ठीक-ठीक मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डित जी **पुरोहित** शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं यह उन का कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत अर्थात् किसी ने किसी से प्रयाग का मार्ग पूछा—उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है।

'**पुरोहित**' शब्द के साधुत्व में यहाँ व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

'**आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च॥** अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू० ७१॥' इस से आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेदद्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि कर्म है। इस के न होने से सत्यासत्य का विवेक और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के न होने से उसकी भक्ति होना, ये सब परस्पर असम्भव हैं।

निरुक्तकार ने भी '**पुरोहित**' शब्द में '**डुधाञ्**' धातु से कर्त्ता में '**क्त**' प्रत्यय मान कर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहाँ अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मान कर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

'**विश्वस्मा उग्रकर्मणे पुरोहितः॥** ऋ० मं० १। ५५। मं० ३॥' यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है।

और जो पण्डितजी—'**यद्देवापि:०**' इस मन्त्र में पुराण की झूंठी आख्यायिका कहते हैं, उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मन्त्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है, उसका तो ठीक ठीक अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने '**शन्तनु**' शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है, जो '**शन्तुन**' शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है, उस की खबर भी नहीं है—

'शन्तनुः शं तनोत्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा॥'

जिस का यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिस से वह परमेश्वर '**शन्तनु**' कहाता है। और शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है, इसलिये उस जीव का नाम भी '**शन्तनु**' है। इससे पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है।

अब '**यज्ञ**' शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिखा है, सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेख और यन्त्रालय का दोष है। '**यज्ञस्य**' यह शैषिकी षष्ठी है, **पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता** और **रत्नधातमं** ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिखा है, वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है, वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो '**गौ**' शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता क्योंकि प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है। और जो 'देव' शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहाँ से वा कैसे लिये हैं, इसका उत्तर यह है कि 'दिवु' का धात्वर्थ विजिगीषा भी है और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं, उन का जीतने वाला वही परमेश्वर है क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'**पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च**'॥ इस के अर्थ में पण्डितजी की बहुत भूल है क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या कर दी है और पंडितजी कहते हैं कि निरुक्तकार ने तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है, सो झूंठा है क्योंकि वहाँ अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है, सिद्धि कुछ भी नहीं और जो निघण्टु के अ० ३। खं० १७ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता, यह बात पण्डितजी की भ्रान्तियुक्त है क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है, इस के साथ उनको मिला कर देखो।

और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय के कहते हैं कि '**देव**' शब्द के अर्थ देने वाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देवशब्द विषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ पंक्ति से देख लेना चाहिये। निरुक्तकार—'**यो देवः सा देवता०**' इत्यादि जो पाँच अर्थ लेते हैं, उन को पण्डितजी ठीक ठीक नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। इस में पण्डितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी '**ऋत्विजम्**' '**होतारम्**' और '**रत्नधातमम्**' शब्दों के कई कई अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं परन्तु क्योंकि उनकी भूल '**यज्ञस्य**', '**देवं**' शब्दों से सिद्ध कर चुका हूँ। इसलिए विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी '**ऋत्विजं**' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब वस्तुओं में पूजा की जाय परन्तु सब के प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेंट करने वाले के हैं और न कि जिस को भेंट चढ़ाई जाय। यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिस का स्वामी जी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पंडितजी '**ऋत्विज्**' शब्द पर लेख करते हैं, सो भी ठीक-ठीक नहीं वे समझे।

'**कृल्ल्युटो बहुलम्।**' इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे, क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रयुक्त हों। इसलिए इस वेदभाष्य में जो इस का अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है परन्तु पंडितजी '**ऋत्विज्**' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०—स्वामीजी '**होतारं**' शब्द के जो कई अर्थ करते हैं, उन में एक '**आधातारं**' अर्थात् ग्रहण करने वाले के हैं, यह भिन्न पद

है कि जिन से अर्थ लिये जाते हैं। '**होतारं**' जो '**हु**' से बनता है, जिस के अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से '**अदन**' होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं। जैसे—'**हु दानादनयोरादाने चेत्येके।**' '**हु**' धातु के अर्थ दान अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना, अदन का अर्थ खाना और आदान का अर्थ ग्रहण करना है।

वेदान्त दर्शन का एक सूत्र है—

'**अत्ता चराचरग्रहणात्।**'

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उस में आया है, उसके अर्थ आदान के नहीं हो सकते किन्तु उस के अर्थ कुछ और ही हैं, नहीं तो उक्त नियम के अनुसार '**आदाने चेत्येके**' कैसे बन सकता। किसी के मत में ही धातु का अर्थ भी आदान होता है, इस से मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिस में स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध कर सकें कि अदन आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना, फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता तथा पंडितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्त सूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं, अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है, यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने '**हु**' धातु के अर्थ लेने की अनेक युक्तियाँ घूम घूम कीं, परन्तु न मालूम स्वामीजी '**होतारम्**' शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों हो गये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता।

अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिसको पढ़ने वाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब '**होता**' शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूँ। पंडितजी को यह शङ्का हुई कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे तब आदान व्यर्थ हो जायगा परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब **होता** शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शङ्का न होगी कि परमेश्वर भी **अत्ता** होने वाला होने से जगत् का भक्षणकारक होगा। इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हाँ, धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिए इस शङ्का का निवारण इस अर्थ के विना नहीं हो सकता।

और जो पंडितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है, सो भी पंडितजी की समझ उलटी है। क्योंकि जब 'हु' धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो, तब यह दोष '**देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः**' ऐसे वाक्य में 'अदन' शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने 'हु' धातु तीन अर्थों में लिखा है। '**आदाने चेत्येके**' इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातुपाठकार के मत में 'हु' धातु दान और आदान इन दोनों अर्थों में है और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों के लिये जावेंगे परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये आदान अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है। इससे जानलो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति में ठीक ठीक मेरा अभिप्राय मिलता और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है। पण्डितजी की नहीं।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है। पंडितजी की कुछ भी नहीं, क्योंकि 'अत्ता' शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है। 'आदान' शब्द के अर्थ के लिये नहीं क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के विना 'अत्ता' शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है, परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है?

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों की वेदार्थ विरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेजी में जो वेदों पर मूलार्थ विरुद्ध

उलटे तरजुमे हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है? नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हाँ मैं कह सकता हूँ कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं, वे ऐसे दृष्टान्त के योग्य होते हैं कि जो जिस के उत्तम गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला फूला फिरे, वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं। क्या इस पत्र को जो जो बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पंडिताई की खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे।

परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूँ कि ग्रीफिथ साहब आदि अंग्रेज, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी सम्मुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें, तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक ठीक नहीं आता। यह बात सब को विदित हो जावे। मैं चाहता हूँ कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक ठीक विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है, और कौन नहीं। क्योंकि—'**विद्यादम्भः क्षणस्थायी।**' सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता, परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात्॥
संवत् १९३४, कार्तिक शुक्ला २॥

१२

दयानन्द सरस्वती का

जन्मचरित्र

ऋषि दयानन्द की आत्मकथा : ऐतिहासिक विवरण

भारतीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सूत्रधार स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने युग के अद्वितीय महापुरुष थे। उनके विचारों का प्रभाव उनके जीवन काल में केवल स्वदेश तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु इंगलैण्ड, जर्मनी तथा अमेरिका तक उनकी ख्याति का प्रसार हुआ। ऐसे युग-प्रवर्तक महापुरुष का जीवन निश्चय ही समग्र मानव जाति के लिये प्रेरणादायी सिद्ध हो सकता है, यह अनुभव कर स्वामी जी के जीवन-काल में ही उनके जीवन-वृत्त को लेखबद्ध करने का प्रयास किया गया था। स्वामी जी ने स्वयं भी अपने एक व्याख्यान में आत्मकथन के रूप में स्व-जीवनवृत्त की कुछ चर्चा की थी। चैत्र शुक्ला पञ्चमी[१] १९३२ वि० तदनुसार १० अप्रैल १८७५ ई० को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना, करने के पश्चात् वे पूना गये। वहाँ न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानडे तथा अन्य महाराष्ट्रीय भक्तों के आग्रह पर उन्होंने बुधवार पैठ के भिड़े के बाड़े में एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की। इस व्याख्यानक्रम की अन्तिम वक्तृता ४ अगस्त १८७५ को हुई जिसमें श्री महाराज ने अपने जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया। कालान्तर में **उपदेशमञ्जरी** या **पूना प्रवचन** के नाम से जब स्वामी जी के ये १५ भाषण मराठी से हिन्दी भाषा में अनूदित होकर प्रकाशित हुये[२] तो काशी शास्त्रार्थ (१६ नवम्बर १८६९ ई०) तक का प्रामाणिक जीवन-वृत्त स्वयं स्वामी जी के श्रीमुख से कथन किया हुआ ही, संसार को उपलब्ध हो गया।

आत्म-कथन प्रस्तुत करने का एक अन्य अवसर उन्हें तब मिला जब

१. पुराने उपलब्ध प्रमाणों से आर्यसमाज की स्थापना तिथि पञ्चमी ही सिद्ध होती है। यद्यपि स्थापना चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को हो गई थी, परन्तु उस दिन सत्संग नहीं हो पाया था, अतः आगामी प्रथम शनिवार चैत्रशुक्ला पंचमी को आर्यसमाज का प्रथम सत्संग हुआ था। इसी की ओर ऋषि जी ने संकेत किया है। उसी पत्र के आधार पर पंचमी तिथि मान ली गई है।

२. हिन्दी अनुवाद पं० गणेश रामचन्द्र तथा महाशय श्री निवासराव ने पं० लेखराम की प्रेरणा से किया।

थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रवर्तकों में से एक कर्नल एच० एस० आल्काट ने अप्रैल १८७९ ई० में स्वामी जी से अपना आत्मकथन लेख-बद्ध कर थियोसोफिस्ट पत्र में प्रकाशनार्थ भेजने का आग्रह किया। कर्नल के इस अनुरोध को स्वीकार कर स्वामीजी ने अपने नर्मदा-तट भ्रमण तक का वृत्तान्त तीन किस्तों में लिख कर थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजा। मैडम एच० पी० ब्लैवेट्स्की इस पत्र की सम्पादिका थीं। अत: उन्हीं के द्वारा सम्पादित होकर यह आत्मकथन अंग्रेजी अनुवाद के रूप में थियोसोफिस्ट के तीन अंकों में प्रकाशित हुआ। पण्डित लेखरामजी के अनुसार यह सामग्री उक्त पत्र के नवम्बर व दिसम्बर १८८० के अंकों में छपी थी, परन्तु पण्डित भगवद्दत्त जी ने थियोसोफिस्ट के मूल अंकों को देखकर यह निश्चय किया कि यह आत्म-वृत्तान्त अक्टूबर १८७९, दिसम्बर १८७९ तथा नवम्बर १८८० के अंकों में प्रकाशित हुआ है।[१] इन अंकों में स्वामी जी का यह आत्मकथन निम्न प्रकार से छपा[२]—अक्टूबर १८७९ जन्म से लेकर ऋषिकेश यात्रा पर्यन्त (१९११ वि०) पृ० ९ से १२, दिसम्बर १८७९ टिहरी से लेकर जोशी मठ यात्रा पर्यन्त (१९१२ वि०) पृ० ६६, से ६८, नवम्बर १८८० बद्रीनारायण से नर्मदा-तट पर्यन्त (१९१६ वि०) पृ० २४ से २६।

जिस समय स्वामीजी ने आत्म-वृत्तान्त को प्रकाशन के लिये थियोसोफिस्ट में भेजा उसी समय उसकी दो प्रतिलिपियाँ दो आर्य पुरुषों ने करली थीं। एक प्रतिलिपि श्री मथुराप्रसाद जी मंत्री आर्यसमाज अजमेर[३] तथा दूसरी पंडित छगनलाल श्रीमाली भूतपूर्व कामदार मसूदा (जिला अजमेर) के पास थी। जब श्री महाराज की जीवनी के तथ्यों का संग्रह करते हुये पंडित लेखराम अजमेर आये थे तब उन्होंने उक्त दोनों प्रतियों को देखा था तथा उन्हीं के आधार पर स्वसंगृहीत महर्षि दयानन्द के उर्दू जीवन-चरित में इस सामग्री को स्थान दिया था।[४] थियोसोफिस्ट

१. पंडित महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। द्रष्टव्य-महर्षि जीवन दर्शक पृष्ठ ३।
२. थियोसोफिस्ट के ये अंक काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में हैं।
३. श्री मथुराप्रसाद भहड़ (माहेश्वरी) अजमेर की धर्मशीला आर्य महिला श्रीमती गुलाबदेवी (चाचीजी) के पति थे।
४. यह उर्दू जीवन-चरित १८९७ ई० में मुन्शी गुलाबसिंह के प्रेस में लाहौर से छपा।

के इन लेखों को विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने उद्धृत किया।[५] फर्रुखाबाद से प्रकाशित होने वाले भारत-सुदशाप्रवर्तक (अंक संख्या ६, ७, ८) आर्यसमाचार मेरठ, आर्य अखबार बम्बई, रीजेनेरेटर, दि आर्यावर्त लाहौर, पताका अखबार कलकत्ता आदि ने इस सामग्री को प्रकाशित किया। भारतसुदशाप्रवर्तक में प्रकाशित यह आत्म-वृत्तान्त 'श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिन-चर्या' के शीर्षक से पुस्तकाकार भी छपा। इसका सम्पादन पं० गणेशप्रसाद शर्मा ने किया था।

थियोसोफिस्ट की सामग्री को मास्टर दुर्गाप्रसाद ने अपने सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद के प्रारम्भ में भी प्रकाशित किया। सत्यार्थ-प्रकाश का यह आंग्लभाषानुवाद १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था तथा इस आत्मवृत्तान्त को मास्टर जी ने The Autobiography and Travels of Swami Dayanand Saraswati शीर्षक से उद्धृत किया। थियोसोफिकल प्रकाशन गृह अड्यार मद्रास ने Autobiography of Pandit Dayanad Saraswati शीर्षक से इस आत्मकथा को १९५२ ई० में प्रकाशित किया। इसके प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखा गया है कि पण्डित दयानन्द सरस्वती की यह आत्मकथा एक मात्र थियोसोफिस्ट पत्र के लिये ही उनके द्वारा लिखी गई थी जिसका सम्पादन उस समय एच० पी० ब्लैवैट्स्की करती थीं तथा यह आत्मवृत्तान्त हिन्दी से अनूदित किया गया है।[६] इस पुस्तक में श्री महाराज का जो इतिवृत्त दिया गया है वह जोशी मठ भ्रमण पर्यन्त ही है, इससे यह विदित होता है कि मद्रास संस्करण में मूल थियोसोफिस्ट में प्रकाशित इतिवृत्त की दो किस्तें ही समाविष्ट हो सकीं और नर्मदा तटवर्ती प्रांत भ्रमण तक का वृत्तान्त जो नवम्बर १८८० के अंक में छपा था इसमें समाविष्ट नहीं हो सका। परन्तु इस ग्रन्थ में स्वामी जी से सम्बन्धित कुछ अन्य सामग्री

५. श्री रतनचन्द बेरी द्वारा सम्पादित तथा लाहौर से प्रकाशित 'दि आर्य' नामक मासिक पत्र के जुलाई १८८२ के अंक में The Autobiography of Swami Dayanand शीर्षक से थियोसोफिस्ट में प्रकाशित इतिवृत्त का प्रारम्भिक भाग (विवाह की तैयारियाँ तक) उद्धृत किया गया है।
६. "This autobiography of Pandit Dayanand Saraswati was written by him expressly for the Theosophist, then by H.P. Blavatsky; translated from Hindi."

प्रकाशित हुई जिसका जीवनीकारों के लिये विशिष्ट उपयोग है।[१]

पंडित भगवद्दत्त जी ने स्वामी जी के स्वकथित (पूना प्रवचन में) तथा स्वलिखित (थियोसोफिस्ट में) आत्म-वृत्तान्त का एक स्वसम्पादित सुन्दर संशोधित संस्करण श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित किया। अब तक इसके सात संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम संस्करण कब छपा यह ज्ञात नहीं होता क्योंकि इस संस्करण की भूमिका के अन्त में सम्पादक ने तिथि का उल्लेख तो १५ चैत्र दयानन्दाब्द लिख कर किया परन्तु वर्ष का उल्लेख नहीं है द्वितीय संस्करण २० आषाढ़ दयानन्दाब्द ३४ (१९१७ ई०) को प्रकाशित हुआ। तृतीय संस्करण की भूमिका में पण्डित भगवद्दत्तजी ने आत्मकथन के एक अन्य हस्तलेख का उल्लेख किया है। पण्डितजी के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द जी के पास आत्मकथन की मूल प्रतिलिपि थी। संन्यास-ग्रहण के समय स्वामी जी ने इसे प्रो० रामदेव जी को सौंप दिया। १९७४ विक्रमी के गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर प्रो० रामदेव के सौजन्य से यह हस्तलेख पण्डित भगवद्दत्तजी को प्राप्त हुआ। इसमें हाथी छाप के ६ पृष्ठ थे। प्रथम पाँच पृष्ठों में प्रत्येक पर सत्ताइस पंक्तियाँ थीं। अन्तिम पृष्ठ पर चौदह पंक्तियाँ थीं। पण्डित भगवद्दत्त जी इस बात का निर्धारण नहीं कर सके कि हस्तलेख का लेखक कौन है? उनके अनुसार—

"लेख बड़ा स्पष्ट है और प्राय: अक्षर श्री स्वामी जी के अक्षरों से मिलते हैं। यद्यपि लेख उनका नहीं है, पर पूर्ण निश्चय नहीं हो सका कि लेखक कौन है? कारण कि ऋषि के दो लेखकों के अक्षर प्राय: उनके अक्षरों में मिलते हैं।"

प्रस्तुत संस्करण—परोपकारिणी सभा के पुराने कागजों में वैदिकयन्त्रालय के (स्वामी जी के समकालीन) प्रबन्धकर्त्ता मुन्शी समर्थदान के बस्तों में स्वामीजी के आत्मवृत्तान्त की मूल पाण्डुलिपि दो किस्तों में

१. आत्म-कथन के अतिरिक्त इस पुस्तक में (1) The Pupil of Swami Dayanand at the Congress of Orientalists (2) An "Honest" Enquiry into the aim of our Society. (3) Gleanings from the works of Svami Dayanand Saraswati. By IL PENSEROSO. (4) Swami Dayanand Saraswati and the Pandit of Lahore. (5) Is idolatory taught in the Yajurveda? शीर्षक ५ अन्य परिशिष्ट सामग्री छपी है। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य—वेदवाणी में प्रकाशित मेरा लेख 'ऋषि दयानन्द की आत्मकथा—एक ऐतिहासिक विश्लेषण' मई १९६९ ई०।

प्राप्त हुई। यह वही पाण्डुलिपि है जो श्री महाराज ने थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजी थी। तीसरी किस्त अनुपलब्ध है, परन्तु प्रस्तुत संस्करण में उसे पण्डित भगवद्दत्त जी के संस्करण के आधार पर उद्धृत किया जा रहा है। इसी पाण्डुलिपि के ६ पृष्ठ पण्डित भगवद्दत्त जी ने देखे होंगे क्योंकि यह हाथी छाप कागज पर लिखी गई है तथा प्रथम पाँच पृष्ठों में प्रत्येक पर २७ पंक्तियाँ हैं। हमें प्राप्त पाण्डुलिपि के अन्तिम पृष्ठ पर १७ पंक्तियाँ थीं। जब कि पंडित भगवद्दत्त जी द्वारा दृष्ट पाण्डुलिपि के अन्तिम पृष्ठ पर १४ पंक्तियाँ थीं। दोनों किस्तों पर श्री महाराज के हस्ताक्षर हैं तथा प्रथम पर यत्र तत्र उनके द्वारा किया हुआ संशोधन भी है। पाण्डुलिपि की दूसरी किस्त सम्पूर्णतया श्री महाराज की ही लिखी हुई है।[१]

प्रस्तुत संस्करण का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि अब तक स्वामी जी की आत्मकथा के जो संस्करण प्रकाशित हुये हैं वे या तो पंडित लेखराम द्वारा लिखित उर्दू जीवन-चरित से अनूदित होकर प्रकाशित हुये अथवा थियोसोफिस्ट के अंग्रेजी में अनूदित आत्म-वृत्तान्त का पुन: अनुवाद होकर हिन्दी में आये। हमारे इस संस्करण में जोशी मठ तक का वृत्तान्त उस मौलिक सामग्री का अंश है जो स्वयं श्री महाराज के हस्ताक्षरों से प्रमाणित होकर थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजी गई थी। अंग्रेजी अनुवाद मद्रास संस्करण (जोशी मठ तक का वृत्त) तथा पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा उद्धृत सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद की भूमिका में प्रकाशित (नर्मदा तट भ्रमण का वृत्त) सामग्री से लिया गया है।

अब हम पाठकों के ज्ञान के लिये स्वामीजी की आत्मकथा के विभिन्न संस्करणों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

हस्तलेखों का विवरण—

(१) मुन्शी समर्थदान के बस्ते में प्राप्त जीवनवृत्त की दो किस्तें। इन्हीं के आधार पर यह संस्करण तैयार किया गया है।

(२) श्री मथुराप्रसाद, मंत्री आर्यसमाज अजमेर की प्रति। इस संस्करण के सम्पादक को श्री मथुराप्रसाद की प्रतिलिपि भी प्राप्त हो गई है। यह

१. यह दूसरी किश्त मुंशीसमर्थदान जी के हाथ से लिखी हुई है, न कि महर्षि दयानन्द जी द्वारा। —विरजानन्द दैवकरणि

प्रति श्री मथुराप्रसाद जी की पत्नी एवं गुलाबदेवी के भतीजे स्वर्गीय केशवदेश कपूरिया के कागजों में उपलब्ध हुई।

(३) पण्डित छगनलाल श्रीमाली की प्रति।

(४) प्रो० रामदेवजी की प्रति (इसकी वर्तमान स्थिति अज्ञात है)

प्रकाशित हिन्दी संस्करण—

(१) श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिनचर्या—जिसको पण्डित गणेशप्रसाद लेखाध्यक्ष आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने प्रेमी जनों के आनन्द विनोदार्थ भारतसुदशाप्रवर्त्तक से उद्धृत की। कम्प फतेगढ़ मुन्शीचुन्नीलाल यन्त्रालय में पंडित जगन्नाथप्रसाद के प्रबन्ध से छापी गई। (इसका द्वितीय संस्करण १८८७ ई० में प्रकाशित हुआ।) एक दुर्लभ प्रति सम्पादक के पुस्तकालय में है।

(२) मुन्शी दयाराम तहसीलदार ने पंडित लेखराम रचित स्वामी जी के उर्दू जीवन-चरित्र में उद्धृत आत्म वृत्तान्त का हिन्दी में अनुवाद कर सर्वप्रथम १९०४ ई० में वजीरचन्द्र शर्मा के आर्य पुस्तकालय लाहौर से प्रकाशित कराया। इसका तृतीय संस्करण १९७९ वि० (जनवरी १९२३ ई० ४० दयानन्दाब्द) में प्रकाशित हुआ।

(३) श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा रचित 'दयानन्दचरित' की अवतरणिका में थियोसोफिस्ट से अनूदित आत्मवृत्त का हिन्दी अनुवाद पंडित घासीरामजी ने किया। भास्कर प्रेस मेरठ से १९१२ ई० में प्रकाशित दयानन्दचरित।

(४) ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित (लिखित वा कथित) जन्म चरित्र—पंडित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित। (श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित)

(५) ऋषि दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा—पंडित जगत्कुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित। गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली द्वारा प्रकाशित, दयानन्द ग्रन्थ संग्रह के अन्तर्गत तथा पृथक् रूप से प्रकाशित। (सं० २०१० वि०) इसमें भी पूना के व्याख्यान तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित लेखों का अनुवाद (पंडित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित दयानन्द चरित की अवतरणिका का अनुवाद जो पंडित घासीराम द्वारा किया गया) संकलित है। दयानन्द चरित का प्रकाशन गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता ने भी किया था। (तृतीय संस्करण १९४६ ई०)।

(६) महर्षि दयानन्द लिखित आत्मकथा (थियोसोफिस्ट से अनूदित) आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश द्वारा २०१० वि० में प्रकाशित।

प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण—

(१) मास्टर दुर्गाप्रसाद ने थियोसोफिस्ट में प्रकाशित सामग्री को A Triumph of Truth of a Short autobiography of the great Rishee Swami Dayanand Saraswati शीर्षक से पृथक् पुस्तक रूप में प्रकाशित किया तथा अपने सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी में अनुवाद की भूमिका में भी उद्धृत किया।

(२) Autobiography of Pandit Dayanand Saraswati थियोसोफिस्ट पब्लिशिंग हाउस अड्यार मद्रास से १९५२ ई० में प्रकाशित।

प्रकाशित उर्दू अनुवाद—

(१) पंडित लेखराम रचित (संकलित) 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित' में संगृहीत प्रथम संस्करण १८९७ ई० (हिन्दी अनुवाद पंडित रघुनन्दनसिंह निर्मल कृत तथा आर्यसमाज नयाबांस दिल्ली से २०२८ वि० में प्रकाशित)।

(२) उर्दू अनुवाद श्री दलपतराय विद्यार्थी एम-ए० कृत 'खुद नविश्त स्वानेह उमरी' १९४५ वि० में लाहौर से प्रकाशित।

अन्य भाषाओं में अनुवाद—

(१) पंडित देवन्द्रनाथ कृत बंगानुवाद—यह १८९४ ई० में प्रकाशित दयानन्द चरित की अवतरणिका में छपा। इसमें पूना प्रवचन तथा थियोसोफिस्ट की पूर्ण सामग्री बंगला में अनूदित की गई।

(२) पंडित देवेन्द्रनाथ लिखित तथा वैदिक मैगजीन के फरवरी १९१६ के अंक में प्रकाशित The birthplace and parentage of Swami Dayanand शीर्षक लेख से विदित होता है कि आत्मवृत्तान्त के बंगानुवाद के आधार पर उसका गुजराती भाषा में भी अनुवाद हुआ था।

(३) स्वर्गीय पंडित कालीचरण शर्मा मौलवी आलिम फाजिल ने 'स्वानेह उमरी आरिफ दयानन्द' शीर्षक से इसका फारसी भाषा में अनुवाद किया।

पुनश्च-मुन्शी इन्द्रमणि के शिष्य जगन्नाथदास ने 'दयानन्द जीवन चरित और समालोचना', शीर्षक पुस्तक में इस सामग्री को समग्रत: उद्धृत कर उस पर अपनी आलोचना लिखी है। प्रकाशन १९७२ वि०।

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेप से अपना जन्मचरित्र लिखता हूं।

संवत् १८८१ के वर्ष में मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त देश काठियावाड़ का मजोकठा देश मोर्वी का राज्य औदीच्य ब्राह्मण के घर में हुआ था, यहां **अपना पिता का निज निवास स्थान के प्रसिद्ध नाम इसलिये मैं नहीं लिखता कि जो माता-पिता आदि जीते हों मेरे पास आवें तो इस सुधार के काम में विघ्न हो क्योंकि मुझको उनकी सेवा करना उनके साथ घूमने में श्रम और धन आदि का व्यय कराना नहीं चाहता।**[१] मैंने पांचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने को आरम्भ किया था। और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता पिता आदि किया करते थे, बहुत से धर्मशास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादि भी कण्ठस्थ कराया करते थे। फिर आठवें वर्ष में मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री संध्या और उसकी क्रिया सिखा दी गई थी। और मुझको यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था, और मेरे कुल में शैव मत था, उसी की शिक्षा भी किया करते थे। और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात् मट्टी का लिङ्ग बनाके तूँ पूजा कर। और माता मने किया करती थी कि यह प्रात:काल भोजन कर लेता है, इससे पूजा नहीं हो सकेगी। पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिये क्योंकि कुल की रीति है। तथा कुछ-कुछ व्याकरण का विषय और वेदों का पाठ मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। पिताजी अपने साथ मुझको जहां तहां मन्दिर और मेल मिलापों में ले जाया करते और यह भी कहा करते थे कि शिव की उपासना सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार १४ चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था। और शब्द रूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे। पिताजी जहां जहां शिवपुराण आदि की कथा होती थी, वहां, मुझ को पास बैठा कर सुनाया करते थे।

१. यह संशोधन श्री महाराज ने स्वहस्त से हाशिये पर किया है।

और घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी किन्तु जिमीदारी और लेन-देन से जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिता ने माता के मने करने पर भी पार्थिव पूजन का आरम्भ करा दिया था। जब शिवरात्रि आई तब १३ त्रयोदशी के दिन कथा का माहात्म्य सुना के शिवरात्रि के व्रत करने का निश्चय करा दिया। परन्तु माता ने मने भी किया कि इससे व्रत नहीं रहा जायगा, तथापि पिताजी ने व्रत का आरम्भ करा दिया। और जब १४ चतुर्दशी की शाम हुई, तब बड़े-बड़े वस्ती के रईस अपने पुत्रों के सहित मंदिरों में जागरण करने को गये। वहां मैं भी अपने पिता के साथ गया और प्रथम प्रहर की पूजा भी करी। दूसरे प्रहर की पूजा करके पूजारि[२] लोग बाहर निकलके सो गये। मैंने प्रथम से सुन रक्खा था कि सोने से शिवरात्रि का फल नहीं होता है। इसलिये अपनी आंखों में जल के छींटे मार के जागता रहा और पिता भी सो गये तब मुझ को शंका हुई कि जिसकी मैंने कथा सुनी थी, वही यह महादेव है वा अन्य कोई, क्योंकि वह तो मनुष्य के माफक एक देवता है, वह बैल पर चढ़ता, चलता फिरता, खाता पीता, त्रिशूल हाथ में रखता, डमरू बजाता, वर और शाप देता और कैलाश का मालिक है इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था। तब पिताजी को जगा के मैंने पूछा कि यह कथा का महादेव है वा कोई दूसरा? तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है? तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है वह अपने ऊपर चूहों को क्यों चढ़ने देगा और इसके ऊपर तो चूहे फिरते हैं। तब पिताजी ने कहा कि कैलाश पर जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं। अब कलियुग में उस शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिए पाषाणादि की मूर्ति बना के उन महादेव की भावना रख कर पूजन करने से कैलाश का महादेव प्रसन्न हो जाता है। ऐसा सुन के मेरे मन में भ्रम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख भी बहुत लग रही थी, पिता से पूछा कि मैं घर को जाता हूँ। तब उन्होंने कहा कि सिपाही को साथ लेके चला जा, परन्तु भोजन कदाचित् मत करना। मैंने घर में जाकर माता से कहा कि मुझ को भूख लगी है। माता ने कुछ मिठाई आदि दिया, उसको खाकर १ एक बजे पर सो गया।

२. स्वामी जी मंन्दिर के पुजरियों को विनोद में पूजारि—पूजा+अरि पूजा का शत्रु कहा करते थे।

पिताजी प्रात:काल रात्रि के भोजन को सुनके बहुत गुस्से हुये कि तैने बहुत बुरा काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि यह कथा का महादेव नहीं है इसकी पूजा मैं क्यों करूं। मन में तो श्रद्धा नहीं रही, परन्तु ऊपर के मन पिताजी से कहा कि मुझको पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पूजा कर सकूं, तथा माता और चाचा आदि ने भी पिता को समझाया, इस कारण पिता भी शान्त हो गये कि अच्छी बात है, पढ़ने दो। फिर निघण्टु निरुक्त और पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरम्भ करके पढ़ता रहा और कर्मकाण्ड विषय भी पढ़ता रहा।

मुझसे छोटी १ बहन फिर उससे छोटा एक भाई फिर भी एक बहन और एक भाई अर्थात् दो बहन और दो भाई और हुए थे। तब तक मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई थी। पीछे मुझसे छोटी १४ वर्ष की जो बहन थी, उसको हैजा हुआ। एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था, नौकर ने खबर दी कि उसको हैजा हुआ है। तब सब जने वहां से तत्काल आए और वैद्य आदि बुलाये, औषधि भी की तथापि चार घण्टे में उस बहन का शरीर छूट गया। सब लोग रोने लगे, परन्तु मेरे हृदय में ऐसा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा, शोच विचार में पड़ गया। जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे यह दु:ख छूटे और मुक्ति हो अर्थात् इसी समय से मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ पड़ गई। परन्तु यह विचार अपने मन में ही रक्खा, किसी से कुछ भी न कहा।

इतने में १९ वर्ष की जब अवस्था हुई, तब जो मुझ से अति प्रेम करने वाले बड़े धर्मात्मा विद्वान् मेरे चाचा थे, उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं, परन्तु यह बात माता-पिता से तो नहीं कही किन्तु अपने मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहाश्रम करना नहीं चाहता। उन्होंने माता-पिता से कहा। माता-पिता ने विचारा कि इसका विवाह शीघ्र कर देना चाहिये। जब मुझको मालूम पड़ा कि ये २० बीसवें वर्ष में ही विवाह कर देंगे, तब मित्रों से कहा कि मेरे माता-पिता को समझा दो, अभी विवाह न करें। तब उन्होंने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका, तब तक २० बीसवां वर्ष पूरा हो गया। तब मैंने पिताजी से कहा कि मुझे काशी में भेज दीजिये कि मैं व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊँ। तब माता-पिता और कुटुम्ब के लोगों ने कहा कि हम

काशी को कभी न भेजेंगे जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढ़ो। और अगली साल में तेरा विवाह भी होगा क्योंकि लड़की वाला नहीं मानता। और हमको अधिक पढ़ा के क्या करना है जितना पढ़ा है वही बहुत है। फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़ कर आऊँ तब विवाह होना ठीक है, तब माता भी विपरीत हो गई कि हम कहीं नहीं भेजते और अभी विवाह करेंगे। तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। फिर ३ कोश ग्राम में अपनी जिमीदारी थी, वहां एक अच्छा पण्डित था। माता-पिता की आज्ञा लेके वहां जाकर उस पण्डित के पास मैं पढ़ने लगा। और वहां के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर माता-पिता ने मुझे बुला के विवाह की तैय्यारी कर दी। तब तक २१ इक्कीसवां वर्ष भी पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये विना कदाचित् न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप संवत् १९०३ के वर्ष घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा। चार कोश पर एक ग्राम था, वहां जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठ के १५ कोश चला, परन्तु प्रसिद्ध ग्राम, सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़ के बीच-बीच में नित्य चलने का प्रारम्भ किया। तीसरे दिन मैंने किसी राज पुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छोड़ कर चला गया उसको खोजने के लिये सवार और पैदल आदमी यहां तक आये थे। जो मेरे पास थोड़े से रुपैये और अंगूठी आदि भूषण था, वह सब पोपों ने ठग लिया। मुझसे कहा कि तुम पक्के वैराग्यवान् तब होगे कि जब अपने पास की चीज सब पुण्य कर दो। फिर उन लोगों के कहने से मैंने जो कुछ था सब दे दिया।

फिर लाला भगत की जगह जो कि सायले शहर में है वहाँ बहुत साधुओं को सुन कर चला गया। वहाँ एक ब्रह्मचारी मिला, उसने मुझसे कहा कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ। उसने मुझको ब्रह्मचारी की दीक्षा दी और शुद्ध चैतन्य मेरा नाम रक्खा तथा काषाय वस्त्र भी करा दिये। जब मैं वहां से अहमदाबाद के पास कौठ गांगड़ जोकि छोटा सा राज्य है वहां आया, तब मेरे गाम के पास का जान पहचान वाला एक वैरागी मिला। उसने पूछा कि तुम कहां से आये और कहां जाया चाहते हो। तब मैंने उससे कहा कि घर से आया और कुछ देश भ्रमण किया चाहता हूं। उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके क्या घर छोड़ दिया। मैंने कहा कि हां मैंने घर छोड़ दिया और कार्त्तिकी के मेले पर सिद्धपुर को

जाऊंगा। फिर मैं वहां से चल कर सिद्धपुर में आके नीलकण्ठ महादेव की जगह में ठहरा कि जहां दण्डी स्वामी और ब्रह्मचारी ठहर रहे थे। उनका सत्संग और जो-जो कोई महात्मा वा पण्डित मेले में सुन पड़ा, उन सबके पास गया और उनसे सत्संग किया।

जो मुझको कौठ गांगड़ में वैरागी मिला था, उसने फिर मेरे पिता के पास पत्र भेजा कि तुम्हारा पुत्र ब्रह्मचारी हुआ काषाय वस्त्र धारण किये मुझ को मिला और कार्त्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया। ऐसा सुन के सिपाहियों के सहित पिताजी सिद्धपुर में आकर मेले में खोज कर पता लगाके जहां पंडितों के बीच में मैं बैठा था वहां पहुंच कर मुझ से बोले कि तूँ हमारे कुल में कलंक लगाने वाला पैदा हुआ। जब मैंने पिताजी की ओर देख के उठके चरण स्पर्श किया, नमस्कार करके बोला कि आप क्रोधित मत हूजिये मैं किसी आदमी के बहकाने से चला आया और मैंने बहुत सा दु:ख पाया। अब मैं घर को आने वाला था। परन्तु अब आप आये, यह बहुत अच्छा हुआ कि अब मैं साथ-साथ घर को चलूंगा। तो भी क्रोध के मारे मेरे गेरु के रंगे वस्त्र और एक तूंबे को तोड़ फार के फेंक दिये और वहां भी बहुत कठिन-कठिन बातें कह कर बोले कि तूँ अपनी माता की हत्या लिया चाहता है। मैंने कहा कि मैं अब घर को चलूंगा तो भी मेरे साथ साथ सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इसको अकेला मत छोड़ो और इस पर रात्रि को भी पहरा रक्खो। परन्तु मैं भागने का उपाय देख रहा था।

सो जब तीसरी रात के तीन बजे के पीछे पहरे वाला बैठा-बैठा सो गया, उसी समय मैं लघुशंका का बहाना करके भागा। आध कोश पर एक मंदिर के शिखर की गुफा में एक वृक्ष के सहारे से चढ़ और जल का लोटा भर के छिप कर बैठ रहा, जब चार बजे का अमल हुआ तब मैंने उन्हीं सिपाहियों में से एक सिपाही मालियों से मुझ को पूछता सुना तब मैं और भी छिप गया। ऊपर बैठा सुनता रहा वे लोग ढूंड कर चले गये। मैं उसी मंदिर की शिखर में दिन भर रहा। जब अन्धेरा हुआ तब उस पर से उतर, सड़क को छोड़ के किसी से पूछ के दो कोश पर एक ग्राम था, उसमें ठहर के अहमदाबाद होता हुआ बड़ोदरे शहर में आकर ठहरा।

वहां चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारी और संन्यासियों से

वेदान्त विषय की बहुत बातें की। और मैं ब्रह्म हूं अर्थात् जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझको करा दिया। प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था, परन्तु वहां ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ। फिर वहीं बड़ोदे में एक बनारसी बाई वैरागी का स्थान सुनकर उसमें जाके एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट करके अनेक प्रकार की शास्त्र विषयक बातें हुई। फिर वहां सुना कि आजकल चाणोद कन्याली में बड़े-बड़े संन्यासी ब्रह्मचारी और विद्वान् ब्राह्मण रहते हैं। वहां जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर सम्भाषण हुआ। फिर एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार आर्य्या, हरिमीड़े, तोटक, वेदान्त परिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़े महीनों में विचार कर लिया। उस समय ब्रह्मचर्य्यावस्था में कभी-कभी अपने हाथ से रसोई बनाने पड़ती थी, इस कारण पढ़ने में विघ्न विचार के चाहा कि अब संन्यास ले लेना अच्छा है। फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा वहां जो दीक्षित स्वामी विद्वान् थे, उनको कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये। क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था क्योंकि घर का भय बड़ा था जोकि अब तक बना है। तब उन्होंने कहा कि उस की अवस्था कम है, इसलिए हम नहीं देते। इसके अनन्तर दो महीने के पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोश भर मकान जो कि जंगल में था उसमें ठहरे। उनको सुनकर एक दक्षिणी वेदान्तिपण्डित और मैं दोनों उनके पास जाके शास्त्र विषयक सम्भाषण करने से मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान् हैं। और शृंगीरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते थे। उनका नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। उनसे उस वेदान्ति के द्वारा कहलाया कि ये ब्रह्मचारी विद्या पढ़ना चाहते हैं। यह मैं ठीक जानता हूँ कि किसी प्रकार का अपगुण इनमें नहीं है, इनको आप संन्यास दे दीजिये संन्यास लेने का इनका प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें। तब उन्होंने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो क्योंकि हम तो महाराष्ट्र हैं। तब उनसे कहा कि दक्षिणी स्वामी गौड़ों को भी संन्यास देते हैं तो यह ब्रह्मचारी तो पंच द्राविड़ है इसमें क्या चिन्ता है। तब उन्होंने मान लिया और उसी ठिकाने तीसरे दिन संन्यास की दीक्षा दण्ड ग्रहण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम

रक्खा। परन्तु मैंने दण्ड का विसर्जन भी उन्हीं स्वामी जी के साम्हने कर दिया क्योंकि दण्ड की भी बहुत क्रिया है कि जिससे पढ़ने में विघ्न हो सकता था। फिर वे स्वामीजी द्वारिका की ओर चले गये। मैं कुछ दिन चाणोद कन्याली में रहके व्यासाश्रम में एक योगानन्द स्वामी को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं, उनके पास जाके योगाभ्यास की क्रिया सीख के एक कृष्ण शास्त्री छिनौर शहर के बाहर रहते थे, उनको सुनके व्याकरण पढ़ने के लिये उनके पास गया और कुछ व्याकरण का अभ्यास करके फिर चाणोद में आकर ठहरा वहाँ दो योगी मिले कि जिनका नाम ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्द गिरि था। उनसे भी योगाभ्यास की बातें हुई और उन्होंने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ वहां हम नदी के ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे। वहां आवोगे तो योगाभ्यास की रीति सिखलावेंगे। वहाँ से वे अहमदाबाद को चले गये। फिर एक महीने के पीछे मैं भी अहमदाबाद में जाके उनसे मिला और योगाभ्यास की रीति सीखी। फिर आबूराज पर्वत में योगियों को सुनके वहां जाके अर्वदा भवानी आदि स्थानों में भवानीगिरि आदि योगियों से मिल के कुछ और योगाभ्यास की रीति सीख के संवत् १९११ के वर्ष के अन्त में हरद्वार के कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा, तब तक चण्डी के पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हो चुका, तब हृषीकेश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा।

इसके आगे फिर लिखेंगे

दयानन्दसरस्वती

फिर वहां से एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मेरे साथ आये। हम सब जने टिहरी में आए, वहाँ बहुत साधु और राजपण्डितों से समागम हुआ। वहां एक पण्डित ने एक दिन मुझे और ब्रह्मचारी को अपने घर में भोजन करने के लिए निमन्त्रण दिया। समय पर उसका एक मनुष्य बुलाने को आया। तब मैं और ब्रह्मचारी उसके घर भोजन करने को गये। जब उसके घर के द्वार में घुस करके देखा तो एक ब्राह्मण मांस को काटता था। उसको देखकर जब भीतर गये, तब बहुत से पण्डितों को एक सिमियाने के भीतर बैठे देखे और वहाँ बकरे का मांस, चमड़ा और शिर

देख के पीछे लौटे। पण्डित देख के बोला कि आइये। तब मैंने उतर दिया कि आप अपना काम कीजिये। हम बाहर जाते हैं। ऐसा कह कर अपने स्थान पर चले आये। तब पण्डित भी हमको बुलाने आया। उनसे मैंने कहा कि तुम सूखा अन्न भेज दो। हमारा ब्रह्मचारी बना लेगा। पण्डित बोले कि आपके लिए तो सब पदार्थ बनाये हैं। मैंने उनसे कहा कि आपके घर में मुझ से भोजन कदापि न किया जावेगा, क्योंकि आप लोग मांसाहारी हैं। और मुझको देखने से घृणा आती है। फिर पण्डित ने अन्न भेज दिया। पीछे वहाँ कुच्छ दिन ठहर कर पण्डितों से पूछा कि इस पहाड़ देश में कौन-कौन शास्त्र के ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। मैं देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने कहा कि व्याकरण, काव्य, कोष, ज्योतिष, और तन्त्र ग्रन्थ बहुत मिलते हैं। तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं परन्तु तन्त्र ग्रन्थ देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने छोटे बड़े ग्रन्थ मुझको दिये। मैंने देखे तो बहुत भ्रष्टाचार की बातें उनमें देखीं कि माता, कन्या, भगिनी, चमारी, चांडाली आदि से संगम करना, नग्न करके पूजना। मद्य, मांस, मच्छी, मुद्रा अर्थात् ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्य्यन्त एकत्र भोजन करना और उक्त स्त्रियों से मैथुन करना इन पांच मकारों से मुक्ति का होना आदि लेख उनमें देख के चित्त को खेद हुआ कि जिनने ये ग्रन्थ बनाये हैं वे कैसे नष्टबुद्धि थे। फिर वहाँ से श्रीनगर को जाके केदार घाट पर मन्दिर में ठहरे और वहाँ भी तन्त्र ग्रन्थों का देखना और पण्डितों से इस विषय में संवाद होता रहा। इतने में एक गंगागिरि साधु जो कि पहाड़ में ही रहता था, उससे भेंट हुई और योग विषय में कुच्छ बातचीत होने से विदित हुआ कि यह साधु अच्छा है। कई वार उससे बातें हुई। मैंने उससे पूछा, उसने उत्तर दिया, उसने मुझसे पूछा, उसका उत्तर मैंने दिया। दोनों प्रसन्न होकर दो महीने तक वहाँ रहे। जब वर्षा ऋतु आई तब आगे रुद्र प्रयागादि देखता हुआ अगस्त मुनि के स्थान पर पहुंच कर उसके उत्तर पहाड़ पर एक शिवपुरी स्थान है वहाँ जाकर चार महीने निवास करके पीछे उन साधु और ब्रह्मचारी को वहाँ छोड़ के अकेला केदार की ओर चलता हुआ गुप्त काशी में पहुंचा। वहाँ कुच्छ दिन रह कर, वहाँ से आगे चल के त्रियुगीनारायण का स्थान और गौरीकुण्ड देखता हुआ भीम गुफा देखकर थोड़े ही दिनों में केदार में पहुंच कर निवास किया। वहाँ कई एक साधु पण्डे और केदार के पूजारी जङ्गम मत के थे उनसे समागम हुआ। तब तक पांच छः दिन

के पीछे वे साधु और ब्रह्मचारी भी वहाँ आ गये। वहाँ का सब चरित्र देखा। फिर इच्छा हुई कि इन बर्फ के पहाड़ों में भी कुच्छ घूम के देखें कि कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं, परन्तु मार्ग कठिन और उन पहाड़ों में अतिशीत भी है। वहाँ के निवासियों से भी पूछा कि इन पहाड़ों में कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं। उन्होंने कहा कि कोई नहीं। वहाँ २० बीस (दिन) रहकर पीछे को अकेला ही लौटा क्योंकि वह ब्रह्मचारी और साधु दो दिन रह कर शीत से घभरा के प्रथम ही चले गये थे। फिर मैं वहाँ से चल के तुङ्गनाथ के पहाड़ पर चढ़ गया। उसका मन्दिर, पूजारी, बहुत सी मूर्त्ति आदि की सब लीला को देख कर तीसरे पहर वहाँ से नीचे को उतरा। बीच में से दो मार्ग थे एक पश्चिम को और एक पश्चिम और दक्षिण के बीच को जाता था, जो जङ्गली मार्ग था मैं उसमें चढ़ गया। आगे दूर जाकर देखा तो जंगल पहाड़ और बहुत गहरा सूखा नाला है उसमें मार्ग बन्द हो रहा है। विचारा कि जो पहाड़ पर चढ़े तो रात हो जावेगी, पहाड़ का मार्ग कठिन है वहाँ पहुंच नहीं सकता। ऐसा विचार, उस नाले में बड़ी कठिनता से घास और वृक्षों को पकड़-पकड़ नीचे उतर कर नाले के किनारे पर चढ़ कर देखा तो पहाड़ और जङ्गल हैं कहीं भी मार्ग नहीं। तब तक सूर्य्य अस्त होने को आया। विचारा कि जो रात हो जावेगी तो यहाँ जल अग्नि कुच्छ भी नहीं है फिर क्या करेंगे। ऐसा विचार कर आगे को बढ़ा जङ्गल में चलते अनेक ठोकर और कांटे लगे, शरीर के वस्त्र भी फट गये, बड़ी कठिनता से पहाड़ के पार उतरा तब सड़क मिला। और अन्धेरा भी हो गया, फिर सड़क-सड़क चल के एक स्थान मिला, वहीं के लोगों से पूछा कि यह कहाँ की सड़क है कहा कि ओखी मठ की। फिर वहां रात्रि को रहकर क्रम से गुप्त काशी आया, वहाँ थोड़ा ठहर कर ओखी मठ में जाकर उसमें ठहर के देखा तो बड़ी भारी पोप लीला, बड़े भारी कारखाने। वहाँ के महान्त ने कहा कि तुम हमारे चेले हो जाओ यहाँ रहो, लाखों के कारखाने तुम्हारे हाथ हो जावेंगे मेरे पीछे तुम्ही महान्त होंगे। मैंने उनको उत्तर दिया कि सुनो ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता, पिता, बन्धु, कुटुम्ब, और घर आदि ही क्यों छोड़ता। क्या तुम्हारा स्थान और तुम उनसे भी अधिक हो सकते हो। मैंने जिस लिये सब छोड़े हैं वह तुम्हारे पास किंचिन्मात्र भी नहीं है। उनने पूछा कि कह क्या बात है। मैंने उत्तर दिया कि सत्य विद्या, योग, मुक्ति और अपने

आत्मा की पवित्रता आदि गुणों से धर्म्मात्मता पूर्वक उन्नति करना है। तब महान्त ने कहा कि अच्छा तुम कुच्छ दिन यहाँ रहो। मैंने उनको कुच्छ उत्तर न दिया और प्रातःकाल उठके मार्ग में चल के जोशी मठ को पहुंच के वहां के दक्षिणी शास्त्री और संन्यासी थे उनसे मिल कर वहाँ ठहरा॥

दयानन्दसरस्वती

और बहुत से योगियों और विद्वान् महन्तों और साधुओं से भेंट हुई और उनसे वार्तालाप में मुझको योग विद्या सम्बन्धी और बहुत नई बातें ज्ञात हुईं।

उनसे पृथक् होकर पुनः मैं बद्रीनारायण को गया। विद्वान् रावल जी उस समय उस मन्दिर का मुख्य महन्त था। और मैं उसके साथ कई दिन तक रहा। हम दोनों का परस्पर वेदों और दर्शनों पर बहुत वाद विवाद रहा। जब उनसे मैंने पूछा कि इस परिस्थिति में कोई विद्वान् और सच्चा योगी भी है वा नहीं, तो उसने यह जताने में बड़ा शोक प्रकट किया कि इस समय इस परिस्थिति में कोई ऐसा योगी नहीं है। परन्तु उसने बताया कि मैंने सुना है कि प्रायः ऐसे योगी इसी मन्दिर के देखने के लिये आया करते हैं। उस समय मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया, कि समस्त देशों में और विशेषतः पर्वतीय स्थलों में अवश्य ऐसे पुरुषों का अन्वेषण करूंगा।

एक दिन सूर्योदय के होते ही मैं अपनी यात्रा पर चल पड़ा और पर्वत की उपत्यका में होता हुआ अलखनन्दा नदी के तट पर जा पहुंचा। मेरे मन में उस नदी के पार करने की किंचित् इच्छा न थी। क्योंकि मैंने उस नदी के दूसरी ओर एक बड़ा ग्राम माना नामक देखा, अतः अभी उस पर्वत की उपत्यका में ही अपनी गति रख कर नदी के वेग के साथ साथ मैं जंगल की ओर हो लिया। पर्वत, मार्ग और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुये थे। और बहुत घनी हिम उनके ऊपर थी। अतः अलखनन्दा नदी के स्रोत तक पहुंचने में मुझको अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े। परन्तु जब मैं वहाँ गया तो अपने आपको सर्वथा अपरिचित और अजान जाना। और अपने चारों ओर ऊंची ऊंची पहाड़ियाँ देखीं तो मुझे आगे मार्ग बन्द दिखाई दिया। कुछ ही काल पश्चात् पथ सर्वथा लुप्त हो गया और उस मार्ग का मुझ को कोई पता न मिला। उस समय मैं सोच और चिंता में था कि क्या करना चाहिये। अन्ततः अपना मार्ग अन्वेषण करने के अर्थ

मैंने नदी को पार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मेरे पहने हुए वस्त्र बहुत हलके और थोड़े थे और शीत अत्यधिक था। कुछ ही काल पश्चात् शीत ऐसा अधिक हुआ कि उसका सहन करना असम्भव था। क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया तो मैंने एक हिम का टुकड़ा खाकर उसको बुझाने का विचार किया, परन्तु उससे किंचित् आराम वा संतुष्टि प्रतीत न हुई। पुन: मैं नदी में उतर उसे पार करने लगा।

कतिपय स्थानों पर नदी बहुत गम्भीर थी और कहीं पानी बहुत कम था। परन्तु एक हाथ या आध गज से कम गहरा कहीं न था। किन्तु विस्तार अर्थात् पार में दस हाथ तक था अर्थात् कहीं से चार गज और कहीं से पांच गज। नदी हिम के छोटे और तिरछे टुकड़ों से भरी हुई थी। उन्होंने मेरे पांव को अति घावयुक्त कर दिया सो मेरे नग्न पांव से रक्त बहने लगा। मेरे पांव शीत के कारण नितान्त सन्न हो गये थे। जिस कारण मैं बड़े-बड़े घावों से भी कुछ काल तक अचेत रहा। इस स्थान पर अतिशीत के कारण मुझ पर अचेतनता सी छाने लगी। यहां तक कि मैं अचेतन अवस्था में होकर हिम पर गिरने को था जब मुझे विदित हुआ कि यदि मैं यहाँ पर इसी प्रकार गिर गया तो पुन: यहां से उठना मेरे लिये अत्यन्त असम्भव और कठिन होगा। एवं दौड़ धूप करके जैसे हुआ मैं प्रबल प्रयत्न करके वहां से कुशल मंगल पूर्वक निकला और नदी के दूसरी ओर जा पहुंचा। वहां जाकर यद्यपि कुछ काल तक मेरी अवस्था ऐसी रही जो जीवित की अपेक्षा मृतवत् थी तथापि मैंने अपने शरीर के उपरिभाग को सर्वथा नंगा कर लिया और अपने समस्त वस्त्रों से जो मैंने पहने हुये थे जानु वा पांव तक जंघा को लपेट लिया। और वहां पर मैं सर्वथा शक्तिहीन और घबराया हुआ आगे को हिल सकने और चल सकने में अशक्त खड़ा हो गया। इस प्रकार प्रतीक्षा में था कि कोई सहायता मिले जिससे मैं आगे को चलूं। परन्तु इस बात की कोई आशा न थी कि वह आवेगी कहाँ से? सहायता की आशा में था, परन्तु सर्वथा विवश था और जानता था कि कोई सहायता का स्थान दिखाई नहीं देता। अन्त को पुन: एक वार मैंने अपने चारों ओर दृष्टि की और अपने सम्मुख दो पहाड़ी पुरुषों को आते हुये देखा जो मेरे समीप आये। अपने काश सम्भ से (?) मुझ को प्रणाम करके उन्होंने अपने साथ घर जाने के लिये मुझे बुलाया और कहा, ''आओ, हम तुमको वहां खाने को भी देवेंगे।'' जब उन्होंने मेरे क्लेशों को सुना

और मेरे वृत्त को श्रवण किया तो कहने लगे ''हम तुमको सिद्धपत पर भी जो एक तीर्थस्थान है, पहुँचा देवेंगे। परन्तु उनका मुझको यह सच कहना अच्छा प्रतीत न हुआ। मैंने अस्वीकार किया और कहा ''महाराज, शोक! मैं आपकी यह सब कृपा स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मुझ में चलने की किंचित् शक्ति नहीं है।'' यद्यपि उन्होंने मुझको बहुत आग्रह पूर्वक बुलाया और आने के लिये अत्यधिक अनुरोध किया, तथापि मैं वहीं अपने पांव जमाये खड़ा रहा और उनकी आज्ञा वा इच्छानुकूल मैं उनके पीछे चलने का साहस न कर सका। मैंने उनसे कह दिया कि यहां से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूँ। ऐसा कह कर मैंने उनकी बातों की ओर ध्यान करना भी बंद कर दिया अर्थात् पुन: उन्हें न सुना। उस समय मेरे मन में विचार आता था कि उत्तम होता यदि मैं लौट जाता और अपने पाठ को स्थिर रखता। इतने में वे दोनों सज्जन वहां से चले गये और कुछ ही काल में पर्वतों में लुप्त हो गये।

वहां जब मुझे शांति प्राप्त हुई तो मैं भी आगे को चला और कुछ काल वसुधारा (प्रसिद्ध तीर्थ व यात्रा स्थान) पर विश्राम करके माना ग्राम के निकटवर्ती प्रदेश में होता हुआ उसी सायं लगभग आठ बजे बद्रीनारायण जा पहुंचा। मुझे देख कर रावलजी और उनके साथी जो घबराये हुए थे, विस्मय प्रकाश पूर्वक पूछने लगे—''आज सारा दिन तुम कहाँ रहे?'' तब मैंने सब वृत्तान्त क्रमबद्ध सुनाया। उस रात्रि कुछ आहार करके जिससे मेरी शक्ति लौटती हुई जान पड़ी, मैं सो गया। दूसरे दिन प्रात: शीघ्र ही उठा और रावलजी से आगे जाने की आज्ञा मांगी। और अपनी यात्रा से लौटता हुआ रामपुर की ओर चल पड़ा। उस सायं चलता-चलता एक योगी के घर पहुंचा। वह बड़ा तपस्वी था। रात्रि उसी के घर काटी। वह पुरुष जीवित ऋषि और साधुओं में उच्च कोटि के ऋषि होने का गौरव रखता था। धार्मिक विषयों पर बहुत काल तक उसका मेरा वार्तालाप हुआ। अपने संकल्पों को पहले से अधिक दृढ़ करके मैं आगामी दिन प्रात: उठते ही आगे को चल दिया। कई वनों और पर्वतों से होता हुआ चिलका घाटी से उतर कर मैं अन्तत: रामपुर पहुंच गया। वहां पहुंच कर मैने प्रसिद्ध रामगिरि के स्थान पर निवास किया। यह पुरुष पवित्राचार और आध्यात्मिक जीवन के कारण अतिप्रसिद्ध था। मैंने उसको विचित्र प्रकृति का पुरुष पाया। अर्थात् वह सोता नहीं था, वरन् सारी-सारी रातें उच्चस्वर

से बातें करने में व्यतीत करता। वह बातें प्रकट में अपने साथ करता हुआ प्रतीत होता था। प्राय: हमने उच्च स्वर से चीख मारते हुये उसे सुना। पुन: कई वार रोते हुये और चीख मारते हुये सुना। पर वस्तुत: जब उठ कर देखा तो उसके कमरे में उसके अतिरिक्त और कोई पुरुष दिखाई न दिया। मैं ऐसी वार्ता से अत्यन्त विस्मित हुआ। जब मैंने उसके चेलों और शिष्यों से पूछा तो उन विचारों ने केवल यही उत्तर दिया कि ऐसी इनकी प्रकृति ही है।" पर मुझे यह कोई न बता सका कि इसका क्या रहस्य है। अन्त में स्वयं जब मैंने उस साधु से कई वार एकान्त में चर्चा की तो मुझे ज्ञात हो गया कि वह क्या बात थी। इस प्रकार मैं इस निश्चय करने के योग्य हो गया कि अभी वह जो कुछ करता है वह पूरी-पूरी योग विद्या का फल नहीं है, प्रत्युत पूरी में अभी उसे न्यूनता है और यह वह वस्तु नहीं कि जिसकी मुझे जिज्ञासा है। यह पूरा योगी नहीं यद्यपि योग में कुछ गति रखता है।

उससे चलकर मैं काशीपुर गया। वहां से द्रोणसागर जा पहुंचा। वहीं मैंने सारा शरद् ऋतु काटा। हिमालय पर्वत पर पहुंच कर देह त्याग करना चाहिये, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार आ गया कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् देह छोड़ना चाहिये। अत: वहां से मुरादाबाद होता हुआ सम्भल आ पहुँचा। वहां से गढ़मुक्तेश्वर से होते हुये पुन: मैं गंगा तट पर आ निकला। उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास निम्न लिखित पुस्तकें भी थीं। शिव संध्या, हठ योग प्रदीपिका, केशाराणि संगीत (?) प्राय: मैं इन्हीं पुस्तकों को यात्रा में पढ़ा करता था। उनमें से कई पुस्तकों का विषय नाड़ी चक्र था। पर उनमें इस विषय का ऐसा लम्बा चौड़ा विवरण था कि पुरुष पढ़ता-पढ़ता थक जाता। मैं उन्हें कभी भी पूर्णतया अपनी बुद्धि में न ला सका और न ही समझकर स्मरण कर सका। अत: मुझे विचार हुआ कि न जाने ये सत्य भी हैं वा नहीं। ऐसा संदेह होता ही गया, यद्यपि मैं अपने संशय मिटाने का यत्न करता रहा। परन्तु वह संदेह दूर न हुये और न ही उनके दूर करने का कोई अवसर प्राप्त हुआ।

एक दिन दैव संयोग से एक शव मुझे नदी में बहता हुआ मिला। तब समुचित अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी परीक्षा करता और अपने मन में उन पुस्तकों के सम्बन्ध में जो विचार उत्पन्न हो चुके थे, उनका

निर्णय करता। सो उन पुस्तकों को जो मेरे पास थीं, समीप ही एक ओर रख, वस्त्रों को ऊपर उठा मैं नदी के भीतर गया और शीघ्र वहां जा शव को पकड़ तट पर आया। मैंने तीक्ष्ण चाकू से जैसा हो सका उसे यथायोग्य काटना प्रारम्भ किया और हृदय को उसमें से निकाल लिया और ध्यानपूर्वक देख परीक्षा की। अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उससे तुलना करने लगा। ऐसे ही शिर और ग्रीवा के अंगों को काट कर सामने रक्खा। यह निश्चय करके कि दोनों अर्थात् पुस्तक और शव लेश मात्र भी परस्पर नहीं मिलते, मैंने पुस्तकों को फाड़कर उनके टुकड़े कर डाले और शव को फेंक साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी नदी में फेंक दिया। उसी समय से शनै: शनै: मैं यह परिणाम निकालता गया, कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल और सांख्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और विद्या पर लिखी गयीं मिथ्या और अशुद्ध हैं। ऐसे ही कुछ दिन और गंगा तीर पर विचरते हुये फर्रूखाबाद पहुंचा। और शृंगीराम पुर से होकर छावनी की पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर जाने वाला था, जब संवत् १९१२ विक्रम समाप्त हुआ।

१९१३ वि० अगले पांच मास में कानपुर वा प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे। भाद्रपद के प्रारम्भ में मिर्जापुर पहुंचा। वहां एक मास से अधिक विंध्याचल अशोलजी के मंदिर में निवास किया। असूज के आरम्भ में काशी पहुंचा। वहां जाके मैं उस गुफा में ठहरा जो वरणा और गंगा के संगम पर है। और जो उस समय भवानन्द सरस्वती के अधिकार में थी। वहां पर कई शास्त्रियों अर्थात् काकाराम, राजाराम आदि से मेरा परिचय हुआ परन्तु वहां केवल १२ ही दिन रहा।

तत्पश्चात् जिस वस्तु की खोज में था, उसके अर्थ आगे को चल दिया और असूज सुदि २ सं० १९१३ को दुर्गाकुण्ड के मंदिर पर जो चण्डालगढ़ में है, पहुंचा। वहां दस दिन व्यतीत किये। यहां मैंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिये और केवल दूध पर अपना निर्वाह करके दिन-रात योग विद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहा। दौर्भाग्यवश वहां मुझे एक बड़ा दोष लग गया, अर्थात् भांग पीने का स्वभाव हो गया। सो कई वार उसके प्रभाव से मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता। एक दिन मंदिर से निकल कर चण्डालगढ़ के निकटस्थ जो एक ग्राम आता था तो एक पुराना साथी मिला। ग्राम के दूसरी ओर कुछ ही दूर एक शिवालय था।

वहां जाकर मैंने रात काटी। रात्रि के समय भांग से उत्पन्न हुई मादकता के कारण जब मैं अचेत सोता था तो मैंने एक स्वप्न देखा। वह ऐसे था। मुझे विचार हुआ कि मैंने महादेव और उनकी स्त्री पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे और उनकी बातों का पात्र मैं था, अर्थात् मेरे ही सम्बन्ध में वे कह रहे थे। पार्वती महादेव से कहती थी ''उत्तम हो यदि दयानन्द सरस्वती का विवाह हो जावे'' परन्तु देवता इससे भेद प्रकट कर रहे थे और उनका संकेत भांग की ओर था। मैं जागा और स्वप्न पर विचार करने लगा। तब मुझे बड़ा दुःख और क्लेश हुआ। उस समय धारासार वर्षा हो रही थी। मैंने उस बरामदे में जो मंन्दिर के मुख्य द्वार के सन्मुख था, विश्राम किया। वहां नन्दी वृष-देवता की एक विशाल मूर्ति खड़ी थी। अपने वस्त्र पुस्तकादि उसकी पृष्ठ पर रखकर मैं उसके पीछे बैठ गया और निज विचार में निमग्न हुआ। सहसा नन्दी मूर्ति के भीतर दृष्टिपात करने पर मुझे विदित हुआ कि एक मनुष्य उसमें छिपा हुआ है। मैंने अपना हाथ उसकी ओर फैलाया। इससे वह अति भयभीत हुआ, क्योंकि मैंने देखा कि उसने तत्काल छलांग मारी और छलांग मारते ही वेग से ग्राम की ओर भागा। तब उसके जाने पर मैं उस ही मूर्ति के भीतर बैठ गया और अवशिष्ट रात्रि भर वहां सोता रहा। प्रातःकाल एक वृद्धा वहां आई। उसने वृष देवता की पूजा की, जिस अवस्था में कि मैं भी उसके अन्दर ही बैठा हुआ था। कुछ देर पीछे वह गुड़ और दही लेकर लौटी। मेरी पूजा करके और भ्रान्ति से मुझे ही देवता समझकर उसने कहा ''आप इसे ग्रहण कीजिये और इसमें से कुछ खाइये।'' मैंने क्षुधार्त्त होने के कारण वह सब खा लिया। दही क्योंकि बहुत खट्टा था, अतः भांग की मादकता के दूर करने में एक अच्छा निदान हो गया। उससे मादकता जाती रही ओर मुझे बहुत आराम प्रतीत हुआ।

चैत्र १९१४ वहां से आगे चला और वह मार्ग पकड़ा कि जिस ओर पर्वत थे और जहां से नर्मदा निकलती है, अर्थात् नर्मदा के स्रोत की ओर यात्रा आरम्भ की। मैंने कभी एक वार भी किसी से मार्ग नहीं पूछा, प्रत्युत दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चला गया। शीघ्र ही मैं एक ऐसे उजाड़, निर्जन स्थान पर पहुंच गया, जहां चारों ओर बहुत घने वन और जंगल थे। वहां जंगल में अनियमित दूरी पर विना क्रम झाड़ियों के मध्य में कई स्थानों पर मलिन और उजाड़ झोपड़ियां थीं। कहीं-कहीं पृथक्-पृथक् ठीक

झोंपड़ियां भी दृष्टिगोचर होती थीं। उन झोपड़ियों में से एक पर मैंने किञ्चित् दुग्धपान किया और आगे की ओर चल दिया। परन्तु इसके आगे लगभग पौन कोस चलकर मैं पुनः एक ऐसे ही स्थान पर पहुंचा जहां कोई प्रसिद्ध मार्ग आदि दिखाई न देता था। अब मेरे लिये यही उचित प्रतीत होता था कि उन छोटे-छोटे मार्गों में से (जिन्हें मैं न जानता था कि कहां जाते हैं।) कोई एक चुनूं और उस ओर चल दूं। सुतरां मैं शीघ्र ही एक निर्जन वन में प्रविष्ट हुआ। उस जंगल में बेरियों के बहुत वृक्ष थे। परन्तु घास इतना घना और लम्बा था कि मार्ग सर्वथा दृष्टिगोचर न होता था। वहां मेरा सामना एक बड़े काले रीछ से हुआ। वह पशु बड़े वेग और उच्च स्वर से चींखा। चिंघाड़ कर अपनी पिछली टाँगों पर खड़ा हो मुझे खाने के निमित्त उसने अपना मुख खोला। कुछ काल तक मैं निष्क्रिय स्तब्धवत् खड़ा रहा। पश्चात् शनैः शनैः मैंने अपने सोटे को उसकी ओर उठाया। उससे भयभीत हो वह उलटे पाँव लौट गया। उसकी चिंघाड़ वा गर्ज ऐसी बलपूर्ण थी कि ग्राम वाले जो मुझे अभी मिले थे, दूर से उसका शब्द सुन कर लठ ले शिकारी कुत्तों सहित मेरी रक्षार्थ वहां आये। उन्होंने मुझे यह समझाने का परिश्रम किया कि मैं उनके साथ चलूं। वे बोले ''इस जंगल में यदि तुम कुछ भी आगे बढ़ोगे तो तुम्हें संकटों का सामना करना पड़ेगा। पर्वत या वन में बहुत से भयानक क्रूर और हिंसक जंगली पशु अर्थात् रीछ, हाथी, शेर आदि तुमको मिलेंगे।'' मैंने उनसे निवेदन किया कि मैं कुशल मंगल और रक्षित हूँ। मेरे मन में तो यही सोच थी किसी प्रकार नर्मदा का स्रोत देखूं। अतः समस्त भय और कष्ट मुझे अपने संकल्प से न रोक सकते थे। जब उन्होंने देखा कि उनकी भयानक बातें मेरे लिये कोई भय उत्पन्न नहीं करतीं और मैं अपने संकल्प में पक्का हूँ तो उन्होंने मुझे एक दण्ड दिया जो मेरे सोटे से बड़ा था और जिससे मैं अपनी रक्षा करूं। परन्तु मैंने उस दण्ड को तुरन्त अपने हाथ से फेंक दिया।

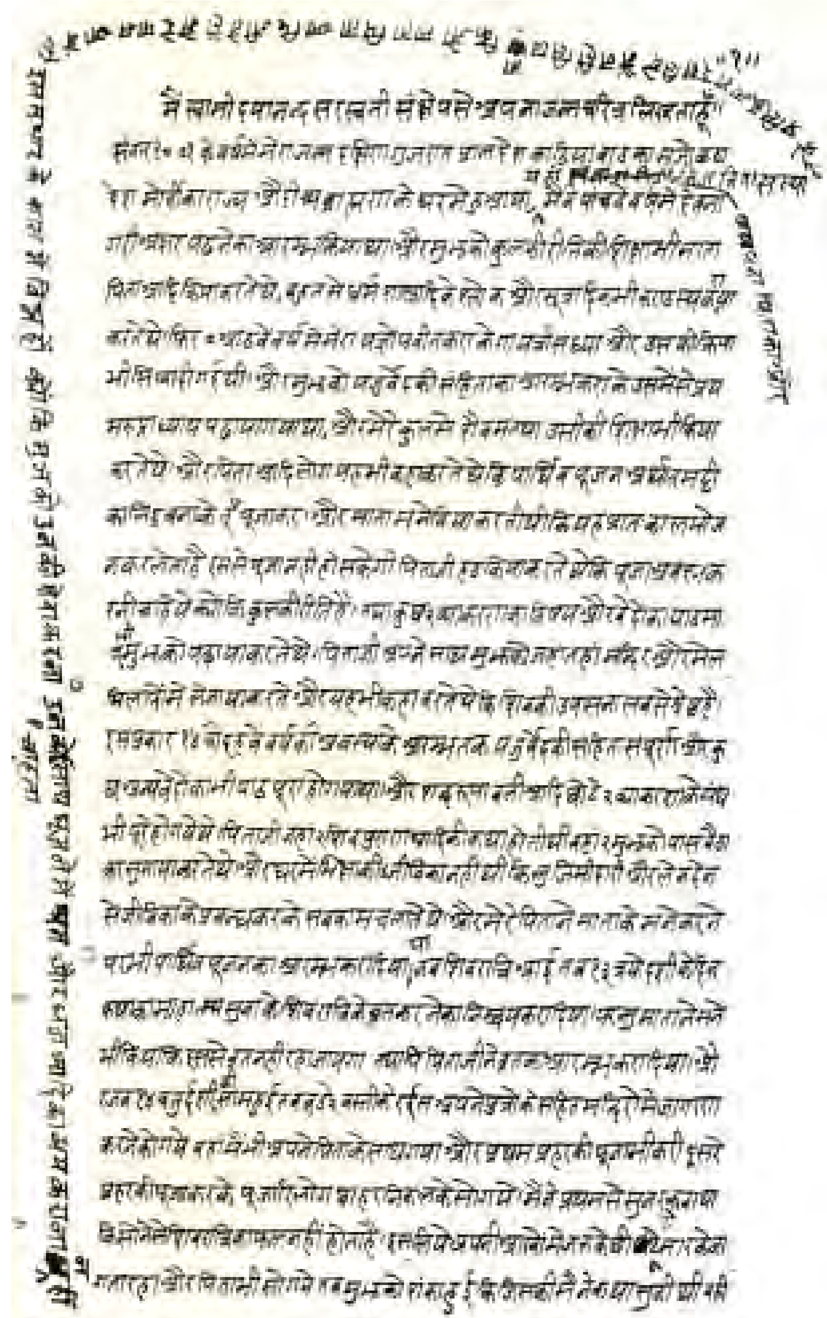
उस दिन जब तक कि संसार में चारों ओर अन्धकार न छाया मैं बराबर यात्रा करता हुआ चला गया। कई घण्टों तक मानव बस्ती का मुझे कोई चिह्न न मिला। दूर-दूर तक कोई ग्राम दिखाई न दिया। कोई झोपड़ी भी तो दृष्टिगोचर न होती थी और न ही कोई मनुष्य जाति मेरी आँखों के सामने आई। पर वह वस्तुएँ जो प्रायः मेरे मार्ग में आई, वृक्ष थे। उनमें

से अनेक टूटे पड़े थे कि जिनकी जड़ों को मस्त हस्तियों ने तोड़ और उखेड़ कर फेंक दिया था। इससे कुछ दूर आगे मुझे एक विशाल विकट वन दिखाई दिया। उसमें प्रवेश करना कठिन था अर्थात् बेर आदि कांटे वाले वृक्ष इतने घने लगे हुए थे कि उनके भीतर से निकल कर वन में पहुंचना अति दुस्तर प्रत्युत असम्भव प्रतीत होता था। प्रथम तो मुझे उसके भीतर से निकलना असम्भव दिखाई दिया, परन्तु पीछे पेट के बल और जानू के सहारे मैं शनैःशनैः सर्पवत् उन वृक्षों में से निकला। और इस प्रकार उस बाधा और कठिनाई पर विजय प्राप्त की। इस दिग्विजय के प्राप्त करने में मुझ को अपने शरीर के मांस को भी भेंट करना पड़ा। मैं इसमें से घायल और अधमरा होकर निकला। उस समय सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ था। तम के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर न होता था। यद्यपि मार्ग रुका हुआ था और दिखाई न देता था तो भी मैं आगे बढ़ने के विचार को तोड़ न सकता था। मैं इस आशा में था कि कोई मार्ग निकल ही आवेगा। अतएव निरन्तर आगे को चलता गया और बढ़ता रहा। अन्त को मैं एक ऐसे भयानक स्थान में पहुंचा कि जहां चारों ओर उच्च शैल और पर्वत थे कि जिन पर घनी औषधियाँ और वनस्पतियाँ उगी हुई थीं। पर इतना अवश्य था कि मनुष्यवास के वहां कुछ-कुछ चिह्न और संकेत पाये जाते थे। अस्तु। शीघ्र ही मुझे कई झोंपड़ियां और कुटियायें दिखाई पड़ीं। उनके चारों ओर गोबर के ढ़ेर लगे हुये थे। निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी सी नदी थी। उसके तीर पर बहुत सी बकरियां चर रही थीं। झोंपड़ियों और टूटे-फूटे घरों के द्वारों और छिद्रों में से टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई देता था जो जाते हुए पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता था। मैंने वहाँ एक विशाल वृक्ष के नीचे जो एक झोंपड़ी के ऊपर फैला हुआ था रात्रि व्यतीत की। प्रातः उठकर मैं अपने क्षत पांव, हाथ, और दण्ड को नदी जल से धोकर संध्या वा प्रार्थना के लिये बैठने को ही था कि किसी जंगली पशु की गर्ज मेरे कर्णगोचर हुई। वह ध्वनि 'टमटम' का उच्च स्वर था। कुछ काल पश्चात् मैंने एक बड़ी सवारी या जन समूह को आते हुये देखा। उसमें बहुत से स्त्री-पुरुष और बालक थे उनके पीछे बहुत सी गौऐं और बकरियाँ थीं। वे एक झोंपड़ी या घर से निकले। अनुमान है कि किसी धार्मिक त्यौहार की रस्में पूरी करने के लिये जो रात्रि को हुआ, आये थे। जब उन्होंने मेरी

ओर देखा और मुझे उस स्थान में एक अजान पुरुष जाना तो बहुत से मेरे चारों ओर एकत्र हुये। अन्ततः एक वृद्ध पुरुष ने आगे बढ़कर मुझ से पूछा तुम कहां से आये हो? मैंने उन सबसे कहा कि मैं काशी से आया हूँ और अब नर्मदा नदी के स्रोत की ओर यात्रा के लिये जा रहा हूँ। इतना पूछ कर वे सब मुझे अपनी उपासना करने में निमग्न छोड़ कर चले गये। उनके जाने के आधा घण्टा पश्चात् उनका एक अध्यक्ष दो पर्वतीय पुरुषों सहित मेरे पास आया और एक दिशा में बैठ गया। वह वस्तुतः उन सबकी ओर से प्रतिनिधि बन कर मुझे अपनी झोंपड़ी में बुलाने को आया था, परन्तु पूर्ववत् मैंने अब भी उनका निमन्त्रण अस्वीकार किया क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे। तब उसने अपने साथ वालों को मेरे समीप अग्नि प्रज्वलित करने का आदेश किया। और दो पुरुषों को स्थापित किया कि रात्रि भर मेरी रक्षा करते हुए जागते रहें। जब उसने मुझसे मेरे भोजन के सम्बन्ध में पूछा और मैंने उसे बताया कि मैं केवल दूध पीकर निर्वाह करता हूँ तो उस दयावान् अध्यक्ष एवं नेता ने मुझ से मेरा तूंबा मांगा। उसे लेकर वह अपनी कुटी को गया और वहां से उसे दूध से भर कर मेरे पास भेज दिया। मैंने उस रात्रि उसमें से थोड़ा सा दूध पिया। वह फिर मुझे उन दोनों पहरा देने वालों के ध्यान में छोड़ कर लौट गया। उस रात्रि मैं घोर निद्रा में सोया और सूर्योदय तक सोया रहा। तत्पश्चात् अपने संध्या आदि से अवकाश प्राप्त करके मैं उठा और यात्रा के लिये चला।

दयानन्द सरस्वती

जन्मचरित्र के नमूने के पृष्ठ

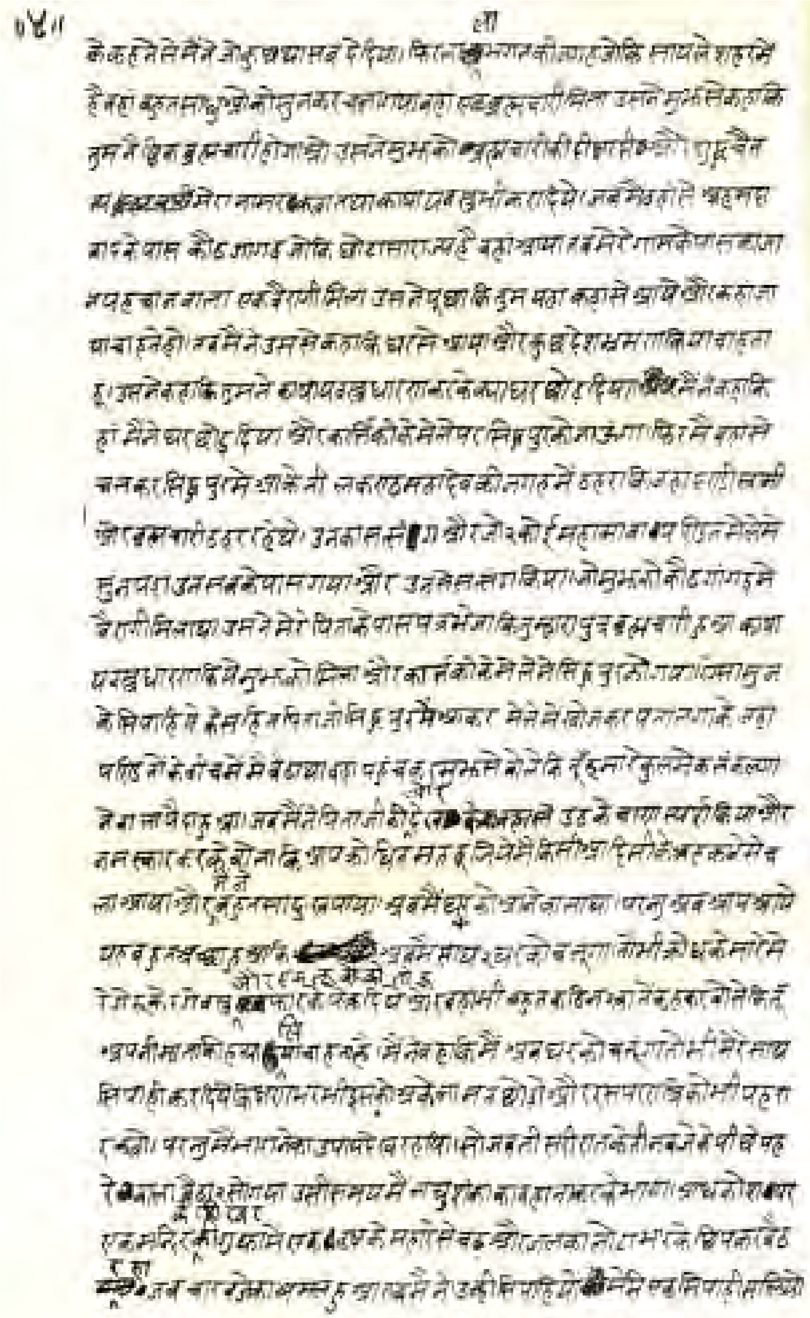

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेप से अपना जन्मचरित्र लिखता हूँ

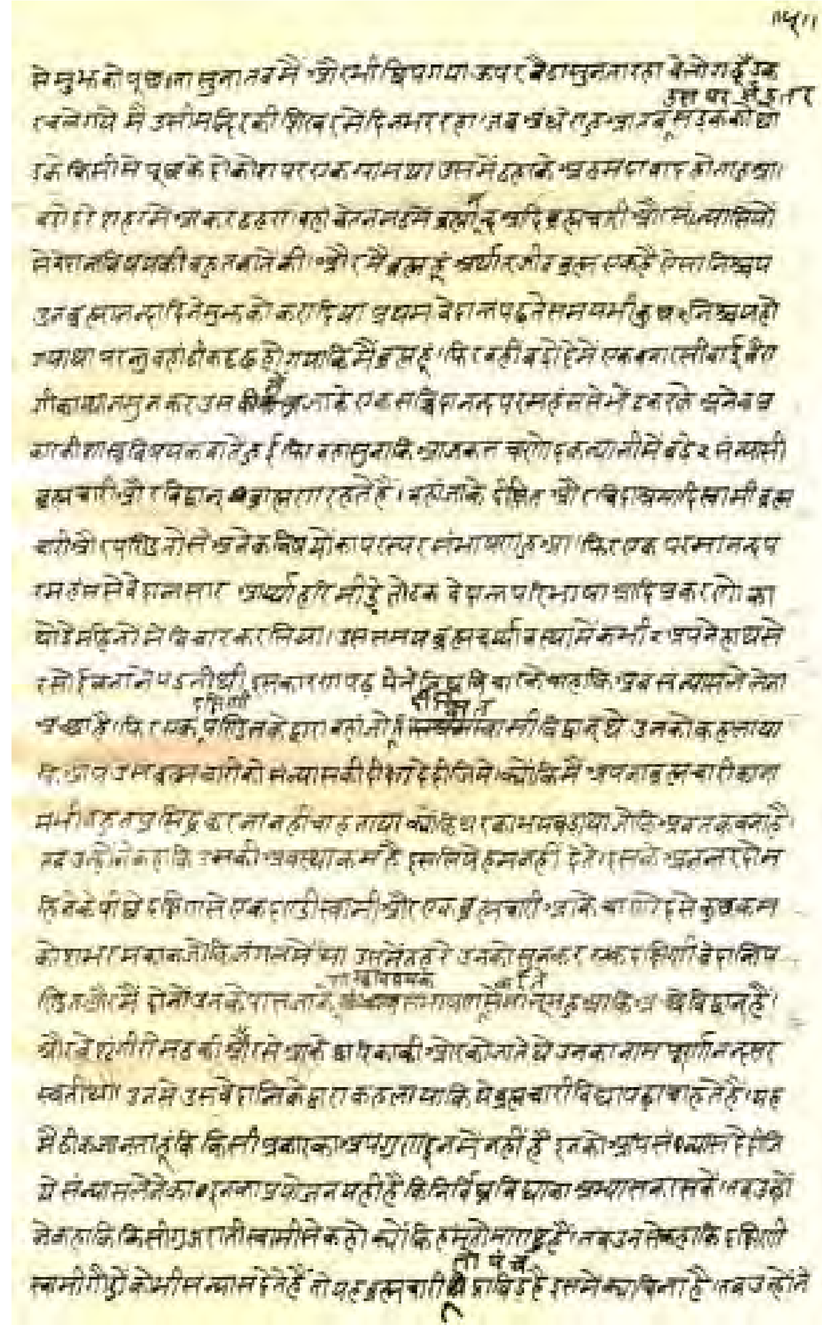
॥२॥

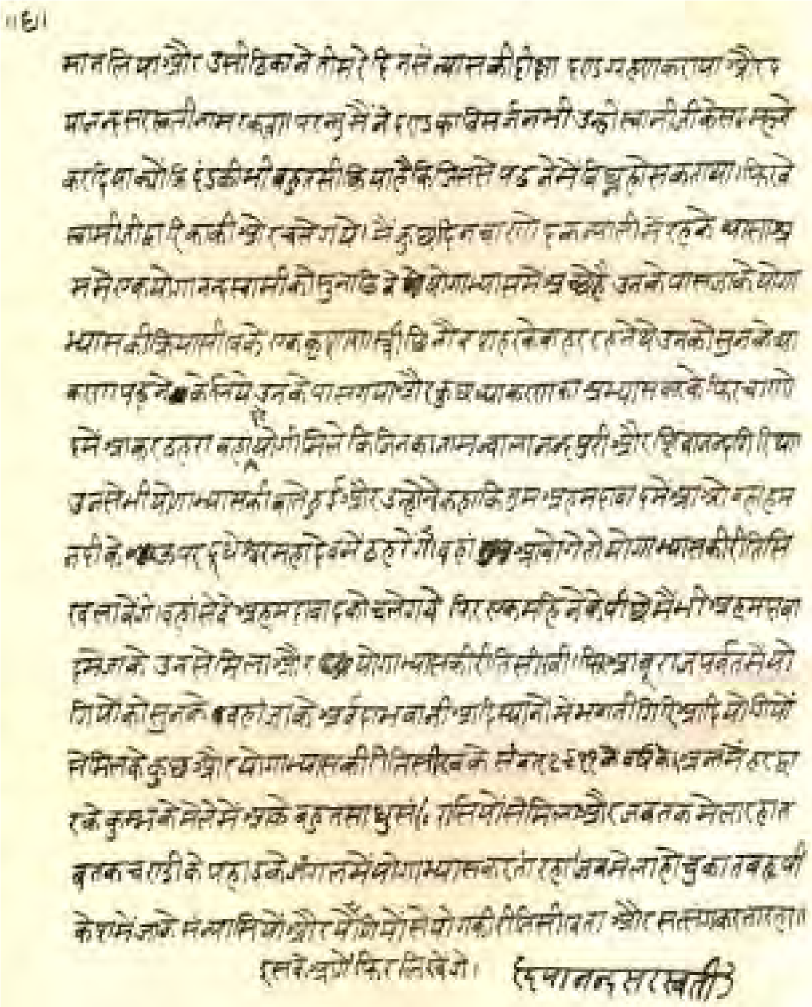
यह महादेव है या अन्य कोई, क्योंकि बहुत से मनुष्यों के साथ कथा में सुनता है कि वह बै
ल पर चढ़ता, चलता फिरता खाता पीता त्रिशूल हाथ में रखता डमरू बजाता वर और
शाप देता और कैलाश का मालिक है इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था, तब
पिताजी को जगा के मैंने पूछा कि यह कथा का महादेव है वा कोई दूसरा, तब पिता ने कहा कि
क्यों पूछता है? तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है वह अपने ऊपर चूहों को
क्यों चढ़ने देगा और इसके ऊपर तो चूहे फिरते हैं, तब पिताजी ने कहा कि कैलाश पर
जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं अब
कलियुग में उस शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता इसलिये पाषाणादि की मूर्ति बना
के उस महादेव की भावना रखकर पूजन करने से कैलाश का महादेव प्रसन्न हो जाता
है, ऐसा सुन के मेरे मन में भ्रम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है और भूख
भी बहुत लग रही थी पिता से पूछा कि मैं घर को जाता हूं। तब उन्होंने कहा कि सिपाही को
साथ लेके चला जा परन्तु भोजन कदापि मत करना। मैंने घर में जाकर माता से कहा
कि मुझको भूख लगी है। माता ने कुछ मिठाई आदि दिया उसको खाकर १ एक बजे पर
सो गया। पिताजी प्रातःकाल रात्रि में भोजन को सुन के बहुत गुस्से हुए कि तैंने बहुत बुरा
काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि यह कथा का महादेव नहीं है इसकी पूजा मैं क्यों
करूं। मन में तो श्रद्धा नहीं रही परन्तु ऊपर के मन से पिताजी से कहा कि मुझको पढ़ने
से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पूजा कर सकूं। तथा माता और चाचा आदि ने भी पिता को
समझाया इस कारण पिताजी भी शान्त हो गये कि अच्छी बात है पढ़ने दो। फिर निघण्टु
निरुक्त और पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके अभ्यास करके पढ़ता
रहा और कर्मकाण्ड विषय भी पढ़ता रहा। मुझ से छोटी १ एक बहिन थी उससे
छोटा एक भाई फिर भी एक बहिन और एक भाई अर्थात् दो बहिन और दो भाई और
हुए थे तब तक मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई थी। पश्चात् मुझ से छोटी १४ वर्ष की जो बहिन थी
उसको हैजा हुआ। एक रात्रि में जिस समय एक मित्र के यहां नाच हो रहा था। नौकर ने खबर दी कि उसको
हैजा हुआ है। तब सब जने वहां से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये औषधि भी की त
थापि चार घड़ी में उस बहिन का शरीर छूट गया तब सब लोग रोने लगे। परन्तु मेरे हृदय में ऐ
सा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा, सोच विचार में पड़ गया कि
जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी नहीं बचा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना

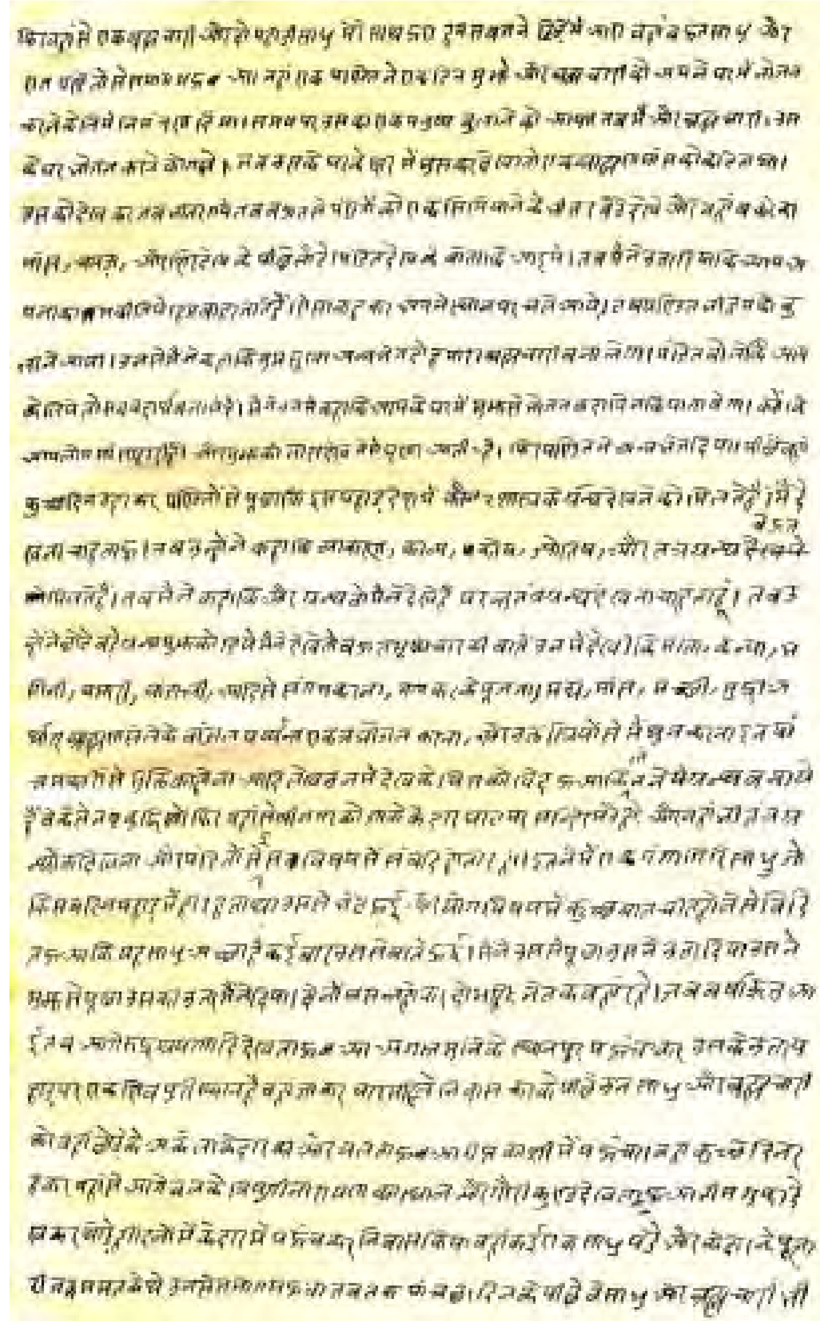
॥३॥

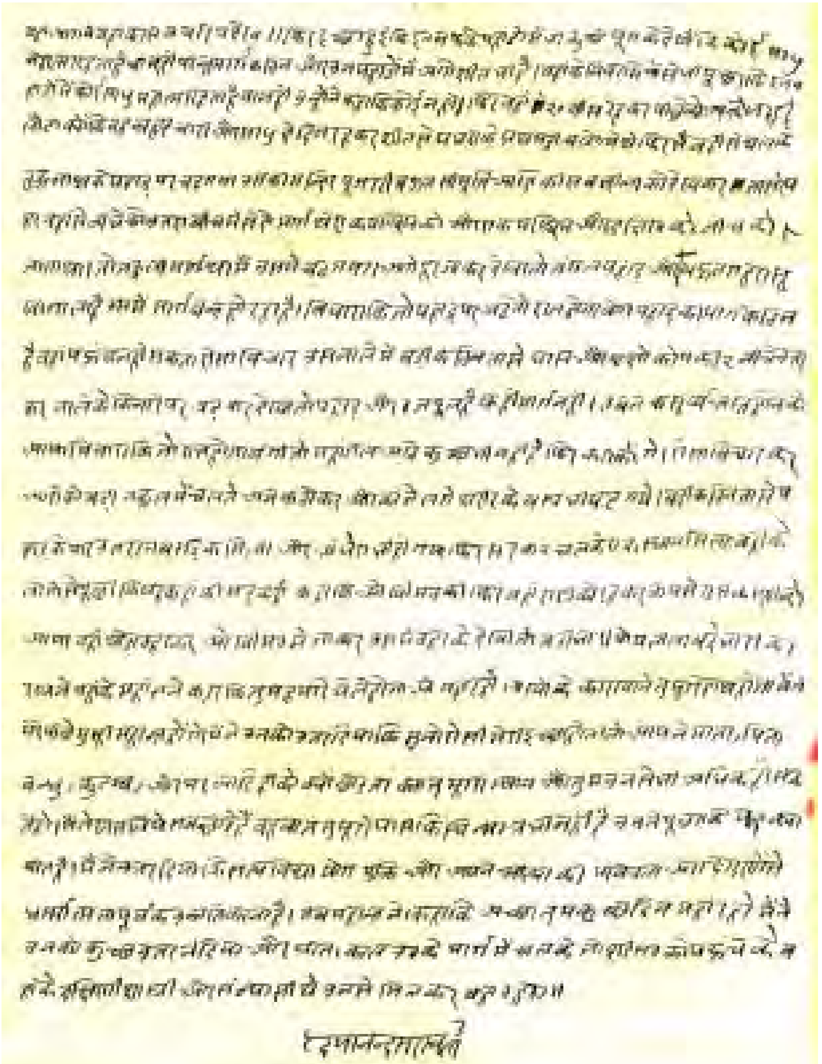
चाहिये कि जिससे यह दुःख छूटे और मुक्ति हो अर्थात् इसी समय से मेरे चित्त में वैरा
ग्य की जड़ पड़ गई परन्तु यह बात अपने मन में ही रक्खी किसी से कुछ भी न
कहा इतने में १९ वर्ष की जब अवस्था हुई तब जो मुझ से अति प्रेम करने वाले बड़े धर्मा
त्मा विद्वान् मेरे चाचा थे उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी नि
हीं परन्तु यह बात माता पिता से तो नहीं कही किन्तु अपने मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहा
श्रम करने का नहीं चाहता। उन्होंने माता पिता से कहा माता पिता ने विचारा कि इसका
विवाह शीघ्र कर देना चाहिये। जब मुझको मालूम पड़ा कि ये २० बीसवें वर्ष में ही वि
वाह कर देंगे तब मित्रों से कहा कि मेरे माता पिता को समझा दो अभी विवाह न करें।
तब उन्होंने समझा कर १ वर्ष तो विवाह रोका तब तक २० बीसवां वर्ष पूरा हो गया था।
तब मैंने पिताजी से कहा कि मुझे काशी भेज दीजिये कि मैं व्याकरण, ज्योतिष और वै
द्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊं। तब माता पिता और कुटुम्ब के लोगों ने कहा कि हम काशी को
कभी न भेजेंगे जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढ़ो और अगले साल में तेरा विवाह भी हो
गा क्योंकि लड़की वाला नहीं मानता और हमको अधिक पढ़ा के क्या करना है जितना प
ढ़ा है बहुत है। फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़ के आऊंगा तब विवाह होगा। तब
तब माता भी विपरीत हो गई कि हम कहीं नहीं भेजते और अभी विवाह करेंगे। तब मैंने
जाना कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। फिर तीन ३ कोश ग्राम में अपनी जिमींदारी
थी वहां एक अच्छा पण्डित तथा माता पिता की आज्ञा ले के वहां जाकर उस पण्डित के पास
मैं पढ़ने लगा और वहां के लोगों से मैंने कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर मा
ता पिता ने मुझे बुला के विवाह की तैयारी करदी तब तक २१ इक्कीसवां वर्ष भी पूरा हो
गया। तब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना कदापि न छोड़ेंगे। फिर
चुपके संवत् १९०३ के वर्ष में घर छोड़ के सन्ध्या के समय भाग उठा, चार कोश पर एक
ग्राम था वहां जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठ के १५ कोश चला प
रन्तु प्रसिद्ध ग्राम सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़ के बीच २ में निश्चय चलने का
प्रारम्भ किया। तीसरे दिन मैंने किसी राजपुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छो
ड़ कर चला गया उसको खोजने के लिये सवार और पैदल आदि भी यहां तक आये थे।
मेरे पास जो कुछ थोड़े से रुपये और अंगूठी आदि भूषण था वह सब पोपों ने ठग लिया कि तुम
पक्के वैराग्यवान् तब होगे कि जब अपने पास की चीज सब पुण्य कर दो फिर उन लोगों






इसके आगे फिर लिखेंगे। दयानन्द सरस्वती





संगठनसूक्त

ओं संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥

हे प्रभो! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें हैं कीजिए धन-वृष्टि को॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ २

प्रेम से मिलकर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भाँति तुम कर्त्तव्य के मानी बनो॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

हों विचार समान सबके चित्त-मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग्य पा सब नेक हों॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ४॥

हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा।
मन भरे हों प्रेम से जिससे बढ़े सुख-सम्पदा॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❑❑

आर्यसमाज के नियमोद्देश्य

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ-विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य-पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

॥ ओ३म् ॥

संस्कारविधिः

वेदानुकूलैर्गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तैः
षोडशसंस्कारैः समन्वितः
आर्यभाषया प्रकटीकृतः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण
श्रीमद्दयानन्दसरस्वती–स्वामिना निर्मितः

प्रकाशक
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

१७वाँ संस्करण, जनवरी २०१०

संस्कारविधिः

(वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-स्वामिना निर्मितः

प्रकाशक/विक्रय-केन्द्र

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

मुख्यालय :

४२७, नया बांस, दिल्ली-६

चलभाष कार्यालय : ९६५०५२२७७८, ९६५०६२२७७८

मूल्य : ३० रुपये

दयानन्दाब्द	:	१८७
विक्रमाब्द	:	२०६७
सृष्टि-संवत्	:	१,९६,०८,५३,१११
पूर्व प्रकाशित	:	१,०९,५००
प्रस्तुत १७वाँ संस्करण	:	१०,०००
कुल योग	:	१,१९,५००

शब्दयोजना :

वैदिक प्रेस, फोनः २२०८१६४६

मुद्रक :

व्रजवासी आर्ट प्रैस लि०

ए-८१, सैक्टर-५,

नोएडा-२०१३०१ (उ.प्र.)

संस्कारविधेर्विषयसूचीपत्रम्

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

संस्कारों का महत्त्व–

मानव–जीवन की उन्नति में संस्कारों का विशिष्ट महत्त्व है। मानव की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त भिन्न–भिन्न समय पर संस्कारों की व्यवस्था प्राचीन ऋषि–मुनियों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से की है । संस्कारों से ही मानव को द्विज बनने का अधिकार मिलता है । महर्षि मनु ने इस विषय में बहुत ही सत्य लिखा है–

(क) **वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।**
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

–मनु० २।२६

अर्थ–द्विजों के गर्भाधानादि संस्कार वैदिक पुण्य कर्मों के द्वारा सम्पन्न होने चाहिएँ । क्योंकि संस्कार इस लोक तथा परलोक में पवित्र करने वाले हैं ।

(ख) **गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।**
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

–मनु० २।२७

अर्थ–गर्भसम्बन्धी हवन (गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन–संस्कार) जातकर्म, चूडाकर्म और उपनयन संस्कारों के द्वारा द्विजों के गर्भ एवं वीर्य–सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं ।

इस प्रकार मनु जी का संस्कारों के विषय में स्पष्ट निर्देश है कि माता–पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों को गर्भाधानादि संस्कारों से दूर किया जाता है । अतः संस्कार शरीरादि की शुद्धि करते हैं । इससे अगले श्लोक (मनु० २।२८) में तो लिखा है कि यज्ञ, व्रतादि से मानवशरीर व आत्मा को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है ।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारों को परमोपयोगी समझकर ही प्राचीन ऋषि–मुनियों की पद्धति का अनुसरण करके संस्कारविधि की रचना की है। उस में महर्षि ने संस्कारों का महत्त्व इस प्रकार बताया है–

(क) 'जिन करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ,

काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।'

(संस्कारविधि भूमिका)

(ख) **संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।**
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ।।४।।
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्धनः ।।५।।

(संस्कारविधि, पृष्ठ १)

अर्थात् संस्कारों से संस्कृत को पवित्र तथा असंस्कृत को अपवित्र कहते हैं। अतः शिक्षा तथा ओषधियों से सुखवर्धक संस्कारों के करने में बुद्धिमानों को सदा उद्यम करना चाहिए ।

जीवात्मा अमर तथा नित्य है । जन्म-जन्मान्तरों में उस के साथ सूक्ष्मशरीर मुक्तिपर्यन्त रहता है। और यही सूक्ष्मशरीर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों या वासनाओं का वाहक होता है । ये संस्कार शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं । जब जीवात्मा दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, उस को नई परिस्थिति के भी बहुत से शुभाशुभ प्रभाव मिलते हैं । उनमें बुरे प्रभावों को अभिभूत करने तथा शुभ प्रभावों को उन्नत कराने के लिए संस्कारों तथा स्वच्छ वातावरण की परमावश्यकता है। इसलिए महर्षि दयानन्द ने माता-पिता को सचेत करते हुए लिखा है–

''माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपानादि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुण युक्त हों ।'' (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

अतः माता-पिता के शुद्धाहार व शुद्ध विचारों का बालक पर बहुत प्रभाव होता है । बालक के पूर्वजन्मस्थ अशुभ संस्कार पवित्र वातावरण को पाकर वैसे ही ओझल हो जाते हैं, अथवा दग्धबीजवत् प्रसवगुणरहित हो जाते हैं । जैसे पोदीना या धनिया के पौधे वर्षा की प्रतिकूल परिस्थिति को पाकर मुर्झा जाते हैं, और वर्षा के बाद अनुकूल परिस्थिति पाकर फिर से प्रस्फुटित तथा विकसित हो जाते हैं। संस्कारों में प्रथम तीन संस्कार तो बच्चे के जन्म से पूर्व ही किए जाते हैं, जिन

का पूर्ण उत्तरदायित्व माता–पिता पर ही है । यदि बच्चे के पूर्वजन्म के संस्कार भी उत्तम हों, गर्भावस्था में भी माता–पिता के उत्तम संस्कार पड़े हों और जन्म के बाद भी उत्तम वातावरण प्राप्त हो जाए तो ऐसे बच्चे महाभाग्यशाली होते हैं । महर्षि ने इन के विषय में ही लिखा है–'वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिस के माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों ।' (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

स्वयं संस्कार शब्द भी संस्कारों की महत्ता को बताता है। संस्कार शब्द में सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है । और पाणिनि के **'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे'** सूत्र से अलंकार अर्थ में सुडागम होता है । इसके अनुसार भी संस्कार शब्द का अर्थ है–जिस से शरीरादि सुभूषित हों, उन्हें संस्कार कहते हैं । अथवा भाव में 'घञ्' प्रत्यय करके–

'संस्करणं गुणान्तराधानं संस्कारः ।' अर्थात् अन्य गुणों के आधान को संस्कार कहते हैं । संस्कारों से मानव जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति तो होती ही है, साथ ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति से मानव अपने जीवन–लक्ष्य को प्राप्त करने में भी समर्थ हो जाता है । अतः आर्यों के जीवन में संस्कारों को विशेष महत्त्व दिया गया है ।

संस्कारविधि की आवश्यकता–महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि की आवश्यकता बताते हुए लिखा है–

कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थतत्परैः ।
वेद-विज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥

संस्कारविधि, पृ० १

प्रमाणैस्तान्यानादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥

संस्कारविधि, पृ० १

अर्थात् वेदादि शास्त्रों से अनभिज्ञ, स्वार्थी तथा मुग्ध मनुष्यों ने संस्कारों के सम्बन्ध में जो मिथ्याग्रन्थों की रचना की है, उन का वेदादि के प्रमाणों से खण्डन करके लोगों को सरलता से बोध कराने के लिए यह उत्तम संस्कारविधि की रचना की है । इस से स्पष्ट है कि आर्यजाति में वेदादि शास्त्रों में विहित संस्कारों में जो दूषित मान्यताएँ प्रविष्ट हो गई थीं, अथवा जिन शुद्ध परम्पराओं को लोग भूल गये थे, उन दोषों को दूर करके आर्यजाति के पुनरुत्थान के लिए इस अलौकिक

संस्कारविधि ग्रन्थ की महर्षि ने रचना की है ।

आजकल के नवीन वेदान्ती जो यह मिथ्याप्रचार करते रहते हैं कि कर्मकाण्ड तो जगत् में फंसाता है, अतः मुमुक्षु जनों को ज्ञानकाण्ड को तो अपनाना चाहिए और कर्मकाण्ड की उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसी मिथ्या भ्रान्तियों का खण्डन करते हुए महर्षि ने लिखा है–

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । –यजुः० ४०।१४

अर्थात् अविद्या=कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या=अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है । –(सत्यार्थ० नवम०)

इस वेदप्रमाण के अनुसार ज्ञानकाण्ड की आवश्यकता बता कर महर्षि ने खण्डन किया है । इसी प्रकार ईश्वर के सच्चे स्वरूप तथा उस की सच्ची उपासना-पद्धति बताने के साथ-साथ इस संस्कारविधि में संस्कारों का सच्चा स्वरूप बताकर संस्कारों के महत्त्व को अक्षुण्ण बनाया है। और भ्रान्तिपूर्ण अविद्याग्रस्त आर्य-सन्तति को संस्कारों की सत्य-पद्धति का सप्रमाण दर्शन कराकर एक अतीव प्रशस्त कार्य किया है ।

क्या स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रार्थ ईश्वर-परक ही हैं?–

संस्कारविधि के प्रारम्भ में स्वामी जी ने ईश्वरस्तुति प्रार्थना तथा उपासना के आठ मन्त्र लिखकर 'स्वस्तिवाचनम्' तथा 'शान्तिकरणम्' के मन्त्र लिखे हैं । इन दोनों प्रकरणों के मन्त्रों का अर्थ स्वामी जी ने संस्कारविधि में नहीं लिखा है । इनके ग्रन्थों के विषय में स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश किया है ।

''मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेद-भाष्य में लिखे ही हैं। जो देखना चाहें, वहां से देख लेवें ।'' (स०वि० भूमिका)

इन दोनों प्रकरणों के अर्थों के विषय में प्रायः यह भ्रान्ति बनी हुई है कि इन मन्त्रों में भी ईश्वर-स्तुति तथा उपासना का ही वर्णन किया है । इसके मन्त्रों के त्रिविध अर्थ मानकर विद्वान् या पुरोहित अर्थ करने की चेष्टा भी करते हैं । किन्तु उन की यह धारणा सत्य नहीं । यदि ये समस्त मन्त्र ईश्वर-स्तुत्यादि के ही होते तो तीन प्रकरण बनाने की क्या आवश्यकता थी ? और स्वामी जी के वेदभाष्य में इन के जो अर्थ उपलब्ध होते हैं, उन में स्वामी जी ने भी सब की ईश्वरपरक व्याख्या नहीं की है । 'स्वस्तिवाचन' तथा 'शान्तिकरण' जो इन मन्त्रों का नामकरण किया है, उस से भी यही स्पष्ट होता है कि **सु+अस्ति**=

स्वस्ति अर्थात् शुभ कर्म क्या है और अशुभ क्या है ? इसका वर्णन स्वस्तिवाचन में किया है । और शान्ति तीन प्रकार की मानी जाती है– १. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक, ३. आधिभौतिक । अतः शान्तिकरण में तीनों प्रकार के मन्त्रों का संग्रह किया गया है। और दोनों प्रकरणों के रखने का एक क्रम है । जब मनुष्य शुभ कर्म करता है तभी उसे सुख व शान्ति प्राप्त होती है ।

यथार्थ में त्रिविध–प्रक्रिया से मनुष्यों को बड़ी भ्रान्ति हुई है कि प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं, यह एक अवैदिक धारणा है । प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय देवता के रूप में ऋषियों ने निश्चित किया हुआ है । उसके अनुसार ही मन्त्रार्थ की सङ्गति उचित है । और प्रत्येक पदार्थ में सामान्य व विशेष धर्म होते हैं । विशेष–धर्मों से अर्थनिर्णय परक मन्त्रों का अर्थ ईश्वरपरक और ईश्वरपरक मन्त्रों का अर्थ प्रकृतिपरक कर दिया जाए । अतः जहां मन्त्र के अनेक अर्थ सम्भव हों, वहीं करने चाहिएँ, सर्वत्र नहीं । जिन विद्वानों ने त्रिविध प्रक्रिया को मानकर वेदार्थ करने का सङ्कल्प किया, वे सब अपनी मान्यता का पूर्णतया पालन करने में सर्वथा असफल रहे हैं । आचार्य श्री वैद्यनाथ जी शास्त्री का 'सामवेद–भाष्य' इस विषय का प्रबल प्रमाण है । वे अपनी इस प्रतिज्ञा का सर्वत्र निर्वाह नहीं कर सके कि सामवेद के मन्त्रों में उपासना प्रकरण ही है । श्री आचार्य जी को तो अपनी त्रिविध प्रक्रिया से ईश्वर–परक अर्थ करने ही चाहिएँ थे, परन्तु वैदिक नियमों तथा मन्त्रों की सङ्गति के आगे उन्हें नतमस्तक होना पड़ा और ईश्वर से भिन्न पदार्थों के वर्णन में ईश्वरपरक अर्थ वे नहीं कर सके।

स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रों का महर्षिकृत अर्थ इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कर देता है कि ये सब मन्त्र ईश्वर–स्तुत्यादि के ही नहीं हैं । महर्षिकृत कुछ मन्त्रों के विषय देखिये–

(१) **ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां० ॥** –ऋ० ७।३५।१५

इस मन्त्र के विषय में महर्षि लिखते हैं–मनुष्यों को किन से विद्याध्ययन और उपदेश सुनना चाहिए । इस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है ।

(२) **स्वस्तये वायुमुपब्रवामहै सोमम्०** –ऋ० ५।५१।१२

इस मन्त्र का विषय है–मनुष्य कैसे विद्यावृद्धि करें ?

(३) **विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये०** –ऋ० ५।५१।१३

इस मन्त्र का विषय है–विद्वान् क्या करें ?

(४) **स्वस्ति पन्थामनुचरेम०** —ऋ० ५।५१।१५
इस मन्त्र का विषय—मनुष्य विद्वानों के संग से धर्ममार्ग में चलें।
(५) **देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां०** —यजु:० २५।१५
विषय—मनुष्यों को किन की इच्छा करनी चाहिए ? विद्वांसो देवता: ।।
(६) **भद्रं कर्णेभि: श‍ृणुयाम देवा०** —यजु:० ३६।१०
विषय—मनुष्यों को क्या करना चाहिए ?
(७) **शन्नो वात: पवतां०** —यजु:० ३६।१०
विषय—मनुष्य क्या करें ? वातादयो देवता: ।।
शान्तिकरण के कुछ मन्त्रों के विषय महर्षि—भाष्य में देखिये—
(१) **शन्नो इन्द्राग्नी भवतामवोभि:०** —ऋ० ७।३५।१
विषय—मनुष्य सृष्टिपदार्थों से क्या-क्या ग्रहण करें ।
(२) **शं नो भग: शमु न: शंसो अस्तु०** —ऋ० ७।३५।२
विषय—मनुष्य वैसे कर्त्तव्य करें, जिन से ऐश्वर्य सुख करनेवाले हों।
(३) **शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु०** —ऋ० ७।३५।३
विषय—मनुष्यों को सृष्टि से कैसा उपकार लेना चाहिए ?
(४) **शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु०** —ऋ० ७।३५।३
विषय—मनुष्यों को क्या कर्त्तव्य है?

इस प्रकार शान्तिकरण के १-१३ मन्त्रों में से एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जिस का अर्थ महर्षि ने ईश्वरपरक किया हो ।

महर्षि द्वारा परिमार्जित—
सन्ध्या और अग्निहोत्र का विधान—

संस्कारविधि का **प्रामाणिक द्वितीय संस्करण सं० १९४१** विक्रमी में प्रकाशित हुआ । जिस के विषय में महर्षि लिखते हैं—

''विक्रमादित्य के संवत् १९३२, कार्तिक कृष्ण पक्ष ३०, शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था, उस में संस्कृत-पाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था । इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी । ''''''इसलिए'''''' सं० १९४०, आषाढ बदि १३, रविवार के दिन पुन: संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया ।''''''अब की वार **जो जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह-वह अधिक भी लिखा है ।''** (सं० वि० भूमिका)

इस से महर्षि के भावों का बहुत ही स्पष्टीकरण हो जाता है कि **महर्षि का यह संस्कारविधि सब से बाद का ग्रन्थ है । और यह निर्विवाद बात है कि लेखक की अन्तिम पुस्तक अधिक प्रामाणिक होती है । और महर्षि ने यह भी स्पष्ट लिखा है कि जो अधिक उपयोगी विषय है, वह इस में बढ़ाया गया है ।**

महर्षि के ग्रन्थों में सन्ध्या व हवन की विधियों में एकरूपता न देखकर प्रायः सन्देह ही बना रहता है कि किस विधि को प्रामाणिक माना जाए । हमारा विचार है कि संस्कारविधि की सन्ध्या तथा हवन की विधियाँ ही सर्वाधिक प्रामाणिक तथा पूर्ण हैं । हमारे इस पक्ष की पुष्टि निम्न तथ्यों से होती है–

(१) महर्षि की सन्ध्या–हवन कृतियों में यह संस्कारविधि अन्तिम कृति है । अन्तिम कृति में लेखक जो भी परिवर्धन करना चाहता है, कर सकता है और वह प्रामाणिक होता है ।

(२) संस्कारविधि से भिन्न सन्ध्या तथा हवन की पुस्तकों की विधियों में ऐसी पूर्णता नहीं है, जैसी इस में है । जैसे दैनिक अग्निहोत्र की १६ आहुतियाँ संस्कारविधि के आश्रय के विना पूर्ण नहीं होतीं।

(३) महर्षि ने भी अपने जीवन के अन्तिम समय में इसी की विधियों को मानने का आदेश दिया है–''**सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें ।** इन नित्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें ।'' (सं० वि० गृहाश्रम०)

(४) ऋषि ने जिन विधियों में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा, उन को संस्कारविधि में न लिखकर दूसरे ग्रन्थों में ही देखने को लिख दिया है । जैसे पितृयज्ञ व अतिथियज्ञ का विशेष उल्लेख संस्कारविधि में नहीं किया गया । इससे भी ऋषि का मन्तव्य स्पष्ट है कि सन्ध्या व हवन में उन्होंने संशोधन आवश्यक समझकर ही किया है ।

(५) जो विद्वान् यह मानते हैं कि पञ्चमहायज्ञों के लिए पञ्चमहायज्ञविधि ही प्रामाणिक पुस्तक है । उन से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे हमारी उपर्युक्त बातों पर पुनर्विचार करें । और **सन्ध्या तो पञ्चमहायज्ञविधि के अनुसार कर लेते हैं किन्तु हवन करने में संस्कारविधि का आश्रय क्यों लेते हैं ? क्या हवन की विधि पञ्चमहायज्ञविधि में पूर्ण है ?** अतः उन का पक्ष सत्य तथा महर्षि

के मन्तव्य से विपरीत ही है ।

(६) जो विद्वान् यह मानते हैं कि संस्कारविधि की सन्ध्या गृहस्थियों के लिए ही है तो उनसे हमारे दो प्रश्न हैं–(१) सन्ध्या की भाँति हवन भी तो संस्कारविधि में गृहस्थियों के लिए होगा ? आप हवन में संस्कारविधि का आश्रय क्यों करते हैं ? (२) सं० वि० के गृहाश्रम प्रकरण में प्रातःकालीन मन्त्र भी लिखे हैं । उन मन्त्रों को भी गृहस्थियों के लिए ही मानकर सन्ध्या-हवन की पुस्तकों में प्रकाशित क्यों करते हो ? क्या एक बात को मान लेना और दूसरी को छोड़ देना अर्धजरतीन्याय के तुल्य नहीं है ?

(७) संस्कारविधि व पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्या-हवन की विधियों में परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है । अपितु संस्कारविधि में कुछ विशेष विधियों का उल्लेख है । जो महर्षि ने परिवर्धन करके ही लिखी हैं । ऋषियों की यह शैली होती है कि जहां परस्पर विरोध न हो वहां विशेष वाला पाठ ही मान्य होता है ।

(८) संस्कारविधि से भिन्न पुस्तकों में ईश्वर-स्तुति, प्रार्थनोपासना, 'अयन्त इध्म०' मन्त्र से पांच आहुतियां, 'विश्वानि देव०' तथा 'अग्ने नय०' मन्त्रों से दैनिक अग्निहोत्र में आहुति देना नहीं लिखा । जो विद्वान् संस्कारविधि की सन्ध्या को प्रामाणिक नहीं मानते, वे संस्कारविधि की सन्ध्या की तरह हवन की विधि का परित्याग भी क्यों नहीं करते ?

(९) संस्कारविधि के वेदारम्भसंस्कार में महर्षि ने लिखा है कि **आचार्य बालक से वह सन्ध्यापद्धति करवाये जो गृहाश्रमप्रकरण में लिखी है ।** इस से भी यह सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों की सन्ध्यापद्धति एक ही है ।

अतः हमारा यह स्पष्ट तथा निश्चित अभिमत है कि संस्कारविधि की सन्ध्या व हवन की विधियाँ ही पूर्ण तथा प्रामाणिक हैं । हमारे दैनिक क्रियाकलापों में एकरूपता लाने के लिए इन विधियों को ही, अपनाना उचित है । हमें आश्चर्य तो तब होता है कि आर्यसमाज के पुरोहित विद्वान् अपनी तरफ से बढ़ाकर तो कुछ विधियाँ कराते हैं, किन्तु महर्षि की विधियों को अपनाने में पता नहीं क्यों संकोच करते हैं ? आर्यविद्वानों तथा सभा के अधिकारियों को इस विषय में निष्पक्ष विचार करना चाहिए ।

संस्कारविधि के प्रमाणभाग में पाठभेद क्यों ?

संस्कारविधि के प्रमाण भागों पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं । महर्षि ने प्रमाण भागों पर पते नहीं दिए हैं, केवल वेद-मन्त्रों के ही पते दिए हैं । आक्षेपकर्त्ता संस्कारविधि के प्रमाणभागों को वर्त्तमान में उपलब्ध पुस्तकों से मिलान करके आक्षेप किया करते हैं कि स्वामी जी ने ये पाठ कल्पित लिखे हैं । किन्तु उन्हें महर्षि-कालीन पुस्तकों में इन प्रमाणभागों की खोज करनी चाहिए अथवा महर्षि की शैली को समझकर निर्णय करना चाहिये । अन्यथा भ्रान्तियों का निराकरण सम्भव नहीं है । जैसे–

(१) संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण में 'ओम् अघोरचक्षु-पतिघ्न्येधि०' (ऋ० १०।८५।४४) मन्त्र में महर्षि ने 'देवृकामा' पद लिखा है किन्तु सायण तथा मैक्समूलरादि ने 'देवकामा' पाठ लिखा है, इस से सन्देह अवश्य होता है । किन्तु महर्षि लिखित पाठ ही ठीक प्रतीत होता है । विवाह-प्रकरण में देवृकामा=देवर की कामना करनेवाली पाठ युक्तियुक्त तथा सुसंगत भी है । और अथर्ववेद (१४।२।१७) में कुछ पाठभेद से यही मन्त्र पठित है, उस में भी 'देवृकामा' ही पाठ है । विदेशी विद्वान् 'ह्विटने' ने भी निजानुवाद में यही पाठ माना है। अजमेर वैदिक यन्त्रालय में छपे ऋग्वेद में भी यही पाठ छपा है । 'ह्विटने' ने यह भी अपनी टिप्पणी में लिखा है कि 'पिप्पलाद-शाखा' में 'देवृकामा' पद का ही पाठ है ।

(२) संस्कारविधि के गर्भाधान-प्रकरण में महर्षि ने गर्भाधान-विधायक पारस्करगृह्यसूत्र का निम्न सूत्र दिया है–

'अथ गर्भाधानं स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳस्नात्वा विरुजा-यास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति ।' महर्षि ने इस सूत्र को पारस्कर गृह्यसूत्र का लिखा है । परन्तु आजकल उपलब्ध गृह्यसूत्रों में यह पाठ नहीं मिलता । शास्त्रार्थादि के समय पौराणिक विद्वान् इस पर बहुधा आक्षेप किया करते हैं । किन्तु महर्षि झूठा क्यों लिखते ? इस पाठ का अभाव कैसे हुआ ? यह एक अन्वेषणीय तथ्य है, किन्तु यही पाठ पारस्करगृह्यसूत्र में विद्यमान है । वैदिक कानकौरडैंस (Vedic-concordance) वैदिक बृहत्कोष में इसी **'आदित्यं गर्भम्'** (यजुः० १३।४१) वाले मन्त्र का उद्धरण देकर पं० ब्लूमफील्ड ने पारस्करगृह्यसूत्र (अध्याय १ कण्डिका १३) का पता दिया है । गर्भाधान का प्रकरण

भी इसी कण्डिका में है । इस से स्पष्ट है कि ब्लूमफील्ड के पास पारस्करगृह्यसूत्र की जो पुस्तक या हस्तलेख था उस में यह पाठ अवश्य होगा । वैभव प्रेस मुम्बई से वि० १९७४ संवत् में ईडर प्रदेशान्तर्गत मुडेटि ग्राम निवासी पण्डित दुर्गाशङ्कर ने जो पारस्करगृह्यसूत्र छपवाया था, उसमें यही मन्त्र गर्भाधान-प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर छपा है । और ज्येष्ठराम मुकुन्द जी बम्बई वाले ने भी जो पारस्करगृह्यसूत्र छपवाया था, उस में भी यही पाठ गर्भाधान-प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर दिया है । स्वामी दयानन्द ने भी संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में कात्यायन पारस्करगृह्यसूत्र का वचन लिखा था और द्वितीय संस्करण में केवल पारस्कर का वचन लिखा है । आजकल उपलब्ध समस्त पारस्करगृह्यसूत्रों में कात्यायन परिशिष्ट भाग छोड़ दिया गया है । यह बहुत ही दु:खद बात है । इस रहस्य का उद्घाटन श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री ने 'संस्कारविधिमण्डनम्' में किया है । विद्वान् अनुसन्धान-कर्त्ताओं को इसकी खोज करनी चाहिए ।

(३) संस्कारविधि के सामान्यप्रकरण में पृष्ठ १५ पर स्थालीपाक बनाने के लिए महर्षि ने निम्नलिखित प्रमाण दिया है-

"ओं देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।"

इस समग्र पाठ को किसी एक मन्त्र में न देखकर प्राय: आक्षेप किया जाता है कि स्वामी जी का यह प्रमाण किसी वेद में नहीं है। आक्षेपकों को यह भ्रम स्वामी जी की शैली को न जानने तथा विरामचिह्न के अभाव में हुआ है । स्वामी जी की शैली यह भी रही कि अनेक मन्त्रों के अंशों को लेकर प्रमाणार्थ एकत्र लिख देते हैं। यथार्थ में **'देवस्त्वा सविता पुनातु'** यह पूर्व का अर्धभाग यजु:० १।३ का और उत्तर का आधा भाग 'अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि:' यजु:० १।३१ का है । संस्कारचन्द्रिका में केवल पूर्व अर्धभाग ही मूलपाठ में रखकर उत्तरभाग को हटा दिया है । किन्तु यह टीकाकारों ने अनधिकार चेष्टा की है । उन्हें मूलपाठ में घटत-बढ़त करने का कोई अधिकार नहीं है । सन्देहास्पद स्थलों की सङ्गति की अवश्य खोज करनी चाहिए । यह बात श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने ही स्पष्ट की है ।

(४) श्री रामगोपाल शास्त्री जी ने महर्षि के कुछ पाठों की सङ्गति लगाकर प्रशंसनीय कार्य किया है । किन्तु संस्कारविधि के कर्णवेध संस्कार के निम्न पाठ को अशुद्ध बताया है-

'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ।'

इस पाठ के विषय में शास्त्री जी ने लिखा है कि संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में उपर्युक्त प्रमाण के आरम्भ में 'अथ' शब्द छपा है, अतः 'अथ' शब्द होना चाहिए । और स्वामी जी ने इस प्रमाण को आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन लिखा है । शास्त्री जी ने इसे कात्यायन पारस्करगृह्यसूत्र का पाठ लिखा है । और यह भी लिखा है कि इस संस्कार में कर्ण के साथ नासिका का वेध भी छपा है, यह पाठ भी भूल से छपा है । इन तीनों बातों के विषय में भी विद्वानों को खोज करनी चाहिए । सम्भव है इस का भी उचित समाधान मिल जायेगा। नासिकावेध की बात भी सम्भव है, कन्याओं की दृष्टि से स्वामी जी ने लिखी हो । क्योंकि संस्कारों का अधिकार दोनों को ही है । विद्वानों को इस पर भी विचार करना चाहिए ।

श्री मीमांसक जी के प्रामाणिक–संस्करण पर विचार–

श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रामाणिक संस्करण में सीमन्तोन्नयन संस्कार में स्वामी जी ने जो–

''ओं राकामहं सुहवाम्०'' इत्यादि मन्त्र दिये हैं, उन के विषय में श्री मीमांसक जी ने लिखा है कि–'ये मन्त्र मन्त्रब्राह्मण से उद्धृत हैं । प्रतीत होता है कि हस्तलेख में लिखते समय पाठ आगे पीछे हो गया है । अतः संस्करण २।१७ तक पाठ निम्न प्रकार से अस्तव्यस्त छपा मिलता है ।''

इस स्थल पर श्री मीमांसक जी को तथा अन्य विद्वानों को पुनर्विचार करना चाहिए । किसी विषय की खोज किए विना सहसैव निर्णय देना उचित नहीं । हमारे विचार में महर्षि के दिए मन्त्र शुद्ध ही हैं । हस्तलेख में ऐसी त्रुटि सम्भव नहीं थी, क्योंकि महर्षि हस्तलेखों को अच्छी प्रकार देखा करते थे । स्वामी जी के समय के किसी गृह्यसूत्र में ही ऐसा पाठ हो सकता है, अथवा स्वामी जी ने इस पाठ को ऊहित करके लिखा हो, यह भी सम्भव है । कर्मकाण्ड में ऊहित–प्रक्रिया को तो सभी विद्वान् मानते हैं ।

श्री मीमांसक जी ने संस्कारविधि के इस संस्करण में वेद–पाठों में परिवर्तन, स्वरचिह्नों में परिवर्तन, ऊहित पाठों में परिवर्तन, ऋषि की भाषा में परिवर्तन, मनुस्मृति के पाठों में परिवर्तन तथा सैकड़ों टिप्पणियाँ दी हैं । जिन का खण्डन ट्रस्ट द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रथम

संस्करण में श्री पं० सुदर्शनदेव जी ने बहुत अच्छी तरह से किया है । जिन का मीमांसक जी ने आज तक कोई उत्तर नहीं दिया है । प्रतीत यही होता है कि उन्होंने शीघ्रता से यह कार्य किया है । यथार्थ में किसी मूल लेखक के ग्रन्थ में परिवर्तन करने का किसी को भी अधिकार नहीं । महर्षि के ग्रन्थों को अक्षुण्ण ही बनाए रखना चाहिए। क्योंकि अल्पज्ञ मनुष्य ऋषि की गम्भीरता को कैसे समझ सकते हैं? जहां कहीं ऋषिग्रन्थों में त्रुटि प्रतीत होवे, उस को पृथक् से दिखाना चाहिए । प्रायः यह देखा गया है कि जिसे हम आज अशुद्ध समझ रहे हैं, वह ही कालान्तर में किसी प्रकार से हमारी समझ में आ जाता है । प्रकाशकों का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी टिप्पणियों तथा मूल लेखक की टिप्पणियों में किसी प्रकार भेद अवश्य दिखाएं। जिस से पाठकों को यह स्पष्ट पता लग जाए कि यह टिप्पणी किस की है ? और अनावश्यक या भ्रान्तिजनक टिप्पणियाँ नहीं देनी चाहिएं।

श्री मीमांसक जी की कतिपय अनावश्यक टिप्पणियाँ—

(१) ऋषि के पाठ का सर्वथा खण्डन करते हुए पण्डित जी लिखते हैं—

'यहां आघाराहुति और आज्यभागाहुति के मन्त्र विपरीत छपे हैं।'
—(पृ० ३८ टि० ४)

यह बात मीमांसक जी ने विना प्रमाण के ही लिख दी है । स्वामी जी ने उत्तर व दक्षिण में जिन मन्त्रों से आहुति लिखी हैं, मीमांसक जी ने उन से विपरीत **'प्रजापतये स्वाहा ।' 'इन्द्राय स्वाहा ।'** मन्त्रों से आहुति लिखी हैं । क्या यह महर्षि से विरोध नहीं है ।

(२) श्री मीमांसक जी ने 'ओ३म्' 'स्वाहा' 'इदन्न मम' इन पदों को मन्त्र से बहिर्भूत दिखाने के लिए अनेक स्थानों पर टिप्पणियाँ दी हैं । शास्त्रों में मन्त्रारम्भ में 'ओ३म् का विधान' तथा 'स्वाहा' का आहुति के लिए विधान किया है । 'इदन्न मम' स्वत्व निवारण के लिए प्राचीन ऋषियों ने विधान किया है । ये पद मन्त्रांश न होते हुए भी अग्निहोत्र में आवश्यक हैं । अतः इन को बहिर्भूत बनाने के लिए टिप्पणियाँ अनावश्यक ही हैं ।

(३) संस्कारविधि में दिए हुए पात्रों का संस्कारविधि में प्रयोग नहीं होता अतः ये व्यर्थ हैं । और व्यर्थता से ज्ञापक निकाला है कि ऋषि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का विधान बनाना

चाहते थे । (पृष्ठ २४-२५ टिप्पणी) यह पण्डित जी की कल्पना मात्र ही है । यदि महर्षि का ऐसा भाव होता, तो कहीं पर (भूमिकादि में) अवश्य निर्देश करते ।

(४) संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में वामदेव्यगान के तीनों मन्त्रों के आरम्भ में 'भूर्भुवः स्वः' पर ऋषि ने ऋग्वेदानुसारी स्वरचिह्न दिए हैं ।

पण्डित जी ने पृष्ठ ४३ पर टिप्पणी दी है—हम ने उन के स्थान पर सामवेदानुसारी स्वरचिह्न दे दिए हैं । जब सामवेद में 'भूर्भुवः स्वः' व्याहृति का पाठ है ही नहीं, तो पण्डित जी ने स्वरचिह्न कहां से दिए? क्या इसे कोई बुद्धिमत्ता कह सकता है ?

(५) पण्डित जी ने ऋषि-लिखित वेद-पाठ में भी परिवर्तन करने का अनावश्यक प्रयास किया है । जैसे—**'यस्य च्छाया'** के स्थान पर **'यस्य छाया' 'योऽन्तरिक्षे'** के स्थान पर **'यो अन्तरिक्षे', 'स्वः स्तभितं०'** के स्थान पर **'स्व स्तभितम्', 'जुहुमस्तन्नोऽस्तु'** के स्थान पर **'जुहुमस्तन्नो अस्तु'** पाठ कर दिए हैं । सम्भव है पण्डित जी को कहीं ऐसे पाठ-भेद भी मिले हों, किन्तु ऋषि के पाठों को परिवर्तित करना अनधिकार चेष्टा ही कहा जायेगा । जबकि व्याकरणादि नियमों से भी ऋषि-लिखित पाठों में कोई दोष नहीं आता अथवा विकल्प से दोनों ही रूप ठीक हैं, तब परिवर्तन की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि टिप्पणियों या परिवर्तनों के होते हुए यह कहना कि हमारा संस्करण प्रामाणिक है, यह केवल मिथ्या गर्वोक्ति मात्र ही है ।

श्री मीमांसक जी द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के सम्पादकीय में लिखा है—'इन उपर्युक्त संशोधनों एवं परिवर्तनों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषि की उत्तराधिकारिणी सभा अपने उत्तरदायित्व का कहां तक पालन कर रही है । यह सब ऋषि-ग्रन्थों के प्रकाशन के एकाधिकार का खुल्लमखुल्ला दुरुपयोग है । ऋषि के साथ विश्वासघात नहीं है ? क्या यह ऋषि-ग्रन्थों में परिवर्तन की प्रवृत्ति अनधिकारचेष्टा नहीं है ?

श्री मीमांसक जी ने पर्याप्त संख्या में संस्कारविधि में मनुस्मृति के पाठ-भेदों को भी दिखाया है । उन में महर्षि-लिखित पाठ ही सुसंगत तथा शुद्ध हैं । मनुस्मृति के भिन्न-भिन्न प्रकाशनों में पाठ-भेद मिलते हैं । परन्तु महर्षि के समय जो प्रकाशन उन्हें उपलब्ध हुआ, महर्षि

के मनुस्मृति के पाठ उसी के अनुकूल ही सम्भव हैं । विभिन्न पाठ-भेदों में प्रकरण तथा श्लोकार्थ की संगति को भी देखना आवश्यक होता है । पण्डित जी ने महर्षि के शुद्ध पाठों को कहीं भी प्रामाणिक नहीं लिखा । यह उन की भ्रान्ति ही है । अन्यथा जहां-जहां पाठ-भेद उन्हें मिले हैं, उन की प्रामाणिकता का भी निर्णय करना चाहिए था। संस्कारविधि के दूसरे संस्करण को पण्डित जी ने प्रामाणिक स्वीकार किया है । किन्तु अपनी टीका-टिप्पणियों से पूर्ण पाठान्तरों से संशोधित संस्करण को भी प्रामाणिक लिखा है । ये दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं। यदि आप द्वितीय संस्करण को प्रामाणिक मानते हैं तो आप का संस्करण कैसे प्रामाणिक हो सकता है ? महर्षि के अनुयायियों को यह शोभा नहीं देता कि अपनी विद्वत्ता के बल से महर्षि के शुद्ध पाठों को भी सुसंगत एवं शुद्ध न कह सकें और असंगत पाठ-भेदों को दिखाकर पाठकों के मन में भ्रान्तियाँ उत्पन्न करें ।

ट्रस्ट ने पण्डित जी का ध्यान इन आवश्यक पाठ-भेदों की ओर दिलाया और पण्डित जी को वैदिक-यन्त्रालय में महर्षि-कालीन कुछ मनुस्मृति के कागज प्राप्त हुए । उन में महर्षि के पाठों की पुष्टि देखकर पण्डित जी को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने टिप्पणी युक्त कुछ पाठों में संशोधन भी कर दिया है । गुण-गृह्यों को ऐसा करना उचित भी है। किन्तु हमारा निवेदन है कि पण्डित जी जैसे विद्वानों को विवादास्पद या संशयास्पद स्थलों पर बहुत सोचकर लेखनी उठानी चाहिए।

पौराणिकों के मिथ्या आक्षेप—महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों पर ही पौराणिक-बन्धु आक्षेप करते रहे हैं, तब 'संस्कारविधि' कैसे पृथक् बच सकती थी ? पौराणिकों की छिद्रान्वेषण प्रवृत्ति कहें, या मत्सर-वृत्ति कहें, इस विवाद में न फंसकर हम संस्कारविधि से सम्बद्ध उन के लगाए मिथ्या आक्षेपों का उत्तर इसलिए देना उचित समझ रहे हैं कि जिस से आर्य-जन उन की वञ्चनावृत्ति के दूषित प्रभाव से बच सकें और उन के आक्षेपों की निस्सारता को समझा करें।

(१) क्योंकि आर्यसमाजी वेदों को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं, अतः उन्हें स्वामी जी की प्रत्येक बात वेद-मन्त्रों से ही दिखानी चाहिए। अन्यथा महर्षि के ग्रन्थ वैदिक नहीं कहला सकते । किन्तु ऐसे व्यक्ति शास्त्रीय चर्चा से जहां अनभिज्ञ हैं, वहां आर्यसमाज और उस के संस्थापक महर्षि दयानन्द के पक्ष को नहीं समझ सके हैं । महर्षि ने

अपनी मान्यता को बहुत ही स्पष्ट करके लिखा है—

(क) **वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।**
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥

—(संस्कारविधि, पृष्ठ ३)

अर्थात् वेदादिशास्त्रों का परमादर से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए (यद् यन्मेध्यमत्र तदुच्यते) जो-जो पवित्र बातें हैं उन्हें यहां कहा जाता है । इस से स्पष्ट है कि महर्षि ने संस्कारविधि में उन पवित्र बातों को कहा है, जो वेदादि शास्त्रों के अनुसार आर्यों में प्रचलित थीं ।

(ख) **वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ।**
अत्रोच्यते । सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः ॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ७१)

अर्थात् वेदों में सब विद्याएँ हैं, अथवा नहीं ? इस के उत्तर में महर्षि लिखते हैं—वेदों में सब विद्याएँ तो हैं—मूलोद्देश्य से । उद्देश्य शब्द शास्त्रीय है । जिस का अर्थ है—नामपूर्वक कथन । अर्थात् वेदों में सब विद्याओं का मूल-नामपूर्वक कहा गया है, उन का लक्षण व परीक्षादि विस्तार नहीं है । उस बीजरूप वेदविद्या का ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदाङ्ग, उपाङ्ग तथा गृह्यसूत्रादि में ऋषि-महर्षियों ने विस्तार से व्याख्यान किया है ।

(ग) 'कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां-जहां जो-जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहिएँ, उन का वर्णन यहां नहीं किया जायेगा । क्योंकि उन के अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है ।......इसलिए जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्ति प्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं ।'

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषयः

उपर्युक्त महर्षि-ग्रन्थों के उद्धरणों से महर्षि की मान्यता का स्पष्ट वर्णन है कि महर्षि वेद तथा वेदानुकूल उन सभी बातों को मानते हैं, जो युक्ति-प्रमाण-सिद्ध हैं । और वेदानुकूल बातें आर्यों में प्रचलित हैं । संस्कारविधि में भी महर्षि की यही मान्यता है । अतः प्रतिपक्षी पौराणिकों का यह आक्षेप भ्रान्तिपूर्ण तथा महर्षि की मान्यता के सर्वथा विरुद्ध है ।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के प्रारम्भ में लिखा है–

'गर्भाद्या मृत्युपर्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।'

–(संस्कारविधि, पृष्ठ ३)

'अर्थात् गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह संस्कार ही होते हैं । इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि महर्षि ने इस अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह अपने ग्रन्थ में नहीं किया है । क्योंकि संस्कारविधि में सोलह संस्कारों के अतिरिक्त 'गृहाश्रमसंस्कार' तथा 'शालादिसंस्कार' भी माने हैं, जिन्हें मिलाने से संस्कारों की संख्या अधिक हो जाती है । इस के उत्तर में हमारा निवेदन है कि महर्षि दयानन्द ने निम्नलिखित १६ संस्कार ही माने हैं–

१. गर्भाधानम् ।	९. कर्णवेधसंस्कारः ।
२. पुंसवनम् ।	१०. उपनयनसंस्कारः ।
३. सीमन्तोन्नयनम् ।	११. वेदारम्भसंस्कारः ।
४. जातकर्मसंस्कारः ।	१२. समावर्त्तनसंस्कारः ।
५. नामकरणम् ।	१३. विवाहसंस्कारः ।
६. निष्क्रमणसंस्कारः ।	१४. वानप्रस्थाश्रमसंस्कारः ।
७. चूडाकर्मसंस्कारः ।	१५. संन्यासाश्रमसंस्कारः ।
८. अन्नप्राशनसंस्कारः ।	१६. अन्त्येष्टिकर्मविधिः ।

इन संस्कारों से भिन्न 'गृहाश्रमसंस्कार' या 'शालासंस्कार' ये विवाहसंस्कार के अन्तर्गत ही हैं, उस से भिन्न नहीं । क्योंकि इन में गार्हस्थ्य जीवन के कर्त्तव्यों का ही उपदेश किया गया है । कई सज्जनों का यह कथन भी ठीक नहीं कि 'अन्त्येष्टि' को महर्षि ने संस्कार नहीं माना है । क्योंकि–महर्षि ने इसे 'अन्त्येष्टि-कर्म' लिखा है, संस्कार नहीं । उन्हें महर्षि के निम्न वचनों पर ध्यान देना चाहिए–

(क) 'अन्त्येष्टि-कर्म उस को कहते हैं कि शरीर के अन्त का संस्कार है, जिस के आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है ।' –(संस्कारविधि, पृष्ठ २१८)

(ख) **इति मृतकसंस्कारविधिः समाप्तः ।**

–(संस्कारविधि, पृष्ठ २२६)

यहां महर्षि ने 'अन्त्येष्टि' को स्पष्ट ही संस्कार माना है । यथार्थ में महर्षि को 'कर्म' शब्द भी संस्कार अर्थ में अभिप्रेत है ।

(३) संस्कारविधि में सीमन्तोन्नयनप्रकरण में महर्षि लिखते हैं–

'खिचड़ी में पुष्कल घृत डालकर गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे । इस समय पति पूछे–**'किं पश्यसि'** । स्त्री उत्तर देवे–**'प्रजां पश्यामि'** । इस पर कुछ सज्जन आक्षेप करते हैं कि यह स्वामी जी ने कल्पना करके ही विना प्रमाण के लिख दिया है । उन के संशय निवारणार्थ श्री पण्डित रामगोपाल जी शास्त्री ने 'संस्कारविधि-मण्डनम्' में निम्नलिखित प्रमाण दिखाया है, जो कि प्रशंसनीय तथा खोजपूर्ण है–

'कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृतस्तमेवेक्षयेत्–किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्, तं सा स्वयं भुञ्जीत ।''

–(गोभिल गृह्यसूत्र अ० २। खं० ७। सू० ९-११)

अर्थ–खिचड़ी पका उस में घृत डाल उसे देखे । (पति पत्नी से पूछे–'किं पश्यसि ?'=क्या देखती है ? पत्नी उत्तर दे कि 'प्रजाम्'= प्रजा को देखती हूं । यह कह कर–स्त्री उस घृत-मिश्रित खिचड़ी को स्वयं खाए । इस से स्पष्ट है कि महर्षि ने कहीं-कहीं विना प्रमाण के भी जो बातें लिखी हैं, वे भी कल्पित नहीं हैं । उन के प्रमाण भी शास्त्रों में खोजने से अवश्य मिल सकते हैं ।

(४) जातकर्मसंस्कार में पृष्ठ ५१ पर महर्षि लिखते हैं–''नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से ('शण्डामर्काभ्यामुपवीरः' इत्यादि मन्त्रों से) भात और सरसों मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियां देवें ।'' इस पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि भूत-प्रेत-पिशाच आदियों को न मानने वाले महर्षि ने यहां पर प्रसूता स्त्री की भूत-प्रेतादिकों से रक्षा करने के लिए गौर-सर्षप धुंआने का विधान क्यों किया ? इन मन्त्रों से भी यह संशय होता है कि शण्डा, मर्क, उपवीरादि असुरों को दूर करने के लिए ही इन में प्रार्थना की गई है । पौराणिकों की यही मान्यता है कि प्रसवागार में असुरों को दूर करने के लिए ही प्रसवकाल में स्त्रियाँ अपने सिर की ओर चाकू या अन्य लोहे की वस्तु रखती हैं । प्रसूता स्त्री को अकेली नहीं छोड़ा जाता । प्रसवगृह में २४ घण्टे अग्नि रक्खी जाती है और दीपक जलाया जाता है । इस विषय में स्त्रियाँ यही उत्तर देती हैं कि यह भूत-प्रेतादि से सुरक्षा के लिए ही किया जाता है ।

ये असुर कौन हैं ? क्या ये पुरुषाकार होते हैं, जिन के मुख पीछे और एड़ी आगे को होती है ? क्या वेदों में–

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरोमुखाः । (अथर्व०

८।६।१५) कह कर स्पष्ट वर्णन नहीं किया है कि असुरों के पैर पीछे और एड़ी आगे को होती है । क्या वेदों में भी ऐसे भूत-प्रेतादि का वर्णन है ? इत्यादि भ्रान्तियों का मूल अज्ञानता है । वेदादि-शास्त्रों में असुर उन क्रिमियों को कहा गया है, जो कि प्रसवागार में प्रवेश करके अपने विष के द्वारा नव जातक को हानि पहुंचाते हैं । ऐसे हानि पहुंचाने वाले कृमियों को प्रसवागार से दूर करने के लिए बालकादि की रक्षार्थ गौर सर्षपादि की आहुतियाँ दी जाती हैं । इन्हीं क्रिमियों का वर्णन वेदों में है–

(क) **त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिम् ॥**–अथर्व० ५।२३।९

अर्थ–तीन शिर और तीन ककुदों वाले क्रिमि को ।

(ख) **विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिम् ॥** –अथर्व० २।३२।२

अर्थ–बड़े रूप वाले व चार आंखों वाले क्रिमि को ।

(ग) **येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरोमुखाः ।**
खलजाः शकधूमजाः० ॥ –अथर्व० ८।६।१५

अर्थ–जिन क्रिमियों के पाँव पीछे की ओर और एड़ी आगे को है । जो खलियान और पुरीषादि मलों से उत्पन्न होते हैं ।

(घ) **ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ॥**
–अथर्व० ८।६।१९

अर्थ–जो उत्पन्न मात्र जातकों को नष्ट कर देते हैं और जो सूतिका स्थान में रहते हैं ।

इत्यादि प्रमाणों से इन असुर क्रिमियों का स्पष्टीकरण हो जाता है कि ये असुर पुरुषाकार भूत प्रेत नहीं हैं, किन्तु प्रसवगृहादि में मलमूत्रादि से उत्पन्न होने वाले विषैले कृमि ही हैं । जिन से सुरक्षा के लिए गौर सर्षपादि की आहुतियाँ तथा प्रकाशादि प्रसूतिगृह में परमावश्यक हैं । इस विषय में विस्तृत वर्णन के लिए श्री पण्डित रामगोपाल जी शास्त्री द्वारा लिखित 'संस्कारविधिमण्डनम्' पुस्तक को अवश्य देखना चाहिए । मान्य विद्वान् ने इस विषय में एक विशेष खोज करके जहां जनसाधारण की एक महाभ्रान्ति का निराकरण किया है, वहां यह भी स्पष्ट किया है कि अथर्ववेद में भूत-प्रेतादि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत बालकादि की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए विभिन्न क्रिमियों से सुरक्षा के उपाय बताए हैं । 'शण्डामर्काभ्याम्०' इत्यादि मन्त्रों में भी ऐसे क्रिमियों से ही सुरक्षा का वर्णन किया गया है । इन मन्त्रों में वर्णित पदार्थ देखिए–

(क) **शण्डाः**=(शडि रुजायाम्) रोगोत्पादक, **मर्काः**=शीघ्रगति वाला, **उपवीरः**=(अज गतौ क्षेपणे च) विषों को फेंकने वाला, **शौण्डिकेयः**=(शण गतौ) बड़े वेग से वायुमण्डल में उड़ने वाला, **ऊलूखलः**=ऊपर आकाश में उड़ता हुआ प्राणियों के प्राण ग्रहण करने वाला, **मलिम्लुचः**=मलादि से उत्पन्न होने त्यागने योग्य तथा स्वास्थ्य के चुराने वाला तस्कर, **द्रोणासः**=बड़ी नाक वाला, **च्यवनः**=वेगवान् **क्रिमीः नश्यताद् इतः**=यहां से नष्ट हो ।

(ख) **आलिखन्**=त्वचा को बिगाड़ने वाला, **अनिमिषः**=चक्षु-स्पन्दन रहित, **किंवदन्तः**=कुत्सित शब्दकर्त्ता, **उपश्रुतिः**=कानों के समीप उड़ने वाला, **हर्यक्षः**=भूरे नेत्र वाला, **कुम्भीशत्रुः**=जिस का शत्रु गुग्गुल है, **पात्रपाणिः**=हाथ ही जिस का विषैला पात्र है, **नृमणिः**=मनुष्यों में मन्=मन् शब्दानुकृति करने वाला, **हन्त्रीमुखः**=हिंसक मुख वाला, **सर्षपारुणः**=सरसों की भंति लाल, **च्यवनः**=शीघ्र वेग वाला कीड़ा, **नश्यताद् इतः**=यहां से (प्रसवगृह से) नष्ट होवे ।

मन्त्रोक्त सभी पदार्थों में कीट विशेषों का ही वर्णन स्पष्ट होता है, भूतादि का नहीं । महर्षि दयानन्द ने ऐसी आवश्यक तथा वैज्ञानिक संस्कार की क्रियाओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है । उस को न समझने से ही अज्ञानियों को भ्रान्तियाँ होती रहती हैं ।

(५) संस्कारविधि में नामकरण-संस्कार में महर्षि लिखते हैं कि—''जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ आहुति देना ।''

इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि तिथि व देवता का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या स्वामी जी ने नक्षत्रादि के देवताओं को मानकर पौराणिकता को स्वीकार नहीं किया है । इस से स्वामी जी ने बालक के जन्म के साथ नक्षत्रादि के प्रभाव को मानकर फलित ज्योतिष को माना है ।

किन्तु महर्षि का तिथि व नक्षत्र के नाम की आहुति का अभिप्राय केवल जन्मदिन के स्मरण के लिए ही है, किसी अन्य पौराणिक फलित प्रभाव से नहीं । तिथि व नक्षत्र के देवता उन के पर्यायवाची ही हैं। नक्षत्राहुति नाक्षत्रिक नाम परम्परा को बताती है । यह भी सम्भव है कि ज्योतिष के ग्रन्थों में इन देवताओं को पर्यायवाची किसी कारण

से भी बनाया हो । जैसे प्रथमा तिथि का देवता ब्रह्मा है। 'ब्रह्मा' एक ही है, अतः प्रथमा का देवता । अष्टमी तिथि का देवता वसु है। क्योंकि वसु भी आठ होते हैं । एकादशी का देवता 'रुद्र' है । क्योंकि रुद्र ११ होते हैं । अलङ्कार और छन्दःशास्त्र में भी इसी प्रकार एक दो आदि अङ्कों के ब्रह्म, नेत्र, राम, वेदादि नाम रक्खे गए हैं ।

यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि जन्म-दिन के लिए तो तिथि व नक्षत्र की आहुति ही पर्याप्त थी, देवताओं की आहुति की क्या आवश्यकता है ? लोक में देखा जाता है कि दो-दो बार भिन्न रूप में उसी एक बात को कहने से वह बात अच्छी तरह स्मरण रह जाती है, वैसे ही यहां भी जानना चाहिए । यह प्राचीन शास्त्रीय शैली है। जैसे—छन्दःशास्त्र में गायत्र्यादि छन्दों के अग्नि, सवितादि सात देवता माने गए हैं । और यह भी लिखा है—'देवतादितश्च' (छन्द० ३।६२) सन्देहास्पद छन्दों का निर्णय देवतादि से करें । छन्द जानने के लिए महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य में छन्दों के नाम के साथ-साथ षड्जादि स्वर भी लिखे हैं, जिस से संशयास्पद छन्द का निर्णय शीघ्र हो सके। इस प्रकार जैसे छन्दःशास्त्र में प्राचीनाचार्यों ने छन्दोज्ञान के लिए देवता, वर्ण, गोत्रादि लिखे हैं, वैसे ही नामकरण में जन्मदिन के स्मरणार्थ तिथि व नक्षत्र के साथ उन के देवता भी लिखे हैं ।

(६) संस्कारविधि में निष्क्रमणसंस्कार में महर्षि ने लिखा है ''बालक की माता दाहिनी ओर से लौटकर बाईं ओर अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके 'ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्०' इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे ।'' (संस्कारविधि, पृष्ठ ५४-५५) यहां पर भी पौराणिक बन्धुओं का आक्षेप है कि मूर्त्तिपूजा की जड़ पर कुठाराघात करने वाले और बहु-देवतापूजा के प्रबल विरोधी स्वामी दयानन्द ने चन्द्रमा के प्रति जल छुड़वाकर यहां जड़मूर्त्तिपूजा को स्वीकार किया है । यथार्थ में यहां महर्षि ने 'परमात्मा की स्तुति करके' लिखकर अपने भाव को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है । यहां किसी जड़-चन्द्र की पूजा को स्वामी जी ने कदापि स्वीकार नहीं किया । संस्कारों में प्रायः बाह्यविधियों के द्वारा किसी न किसी प्रकार की शिक्षा या रहस्य को समझाया जाता है। जैसे विवाह में स्त्री-पुरुषों के हृदयों को जोड़ने के लिए वस्त्रों की ग्रन्थि लगाई जाती है। ऐसे ही शिलारोहण, लाजाहोम, ध्रुव-अरुन्धती-

तारा प्रदर्शन तथा सूर्यावलोकनादि विधियाँ पतिव्रतधर्म में दृढ़ता के लिए ही किसी न किसी शिक्षा या रहस्य को समझाती हैं । वैसे ही निष्क्रमणसंस्कार में चन्द्र की ओर देखकर पृथिवी पर जल छोड़ कर परमात्मा के स्तवन से यह रहस्य समझाया गया है—हे परमेश्वर ! जैसे जल और चन्द्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । (शुक्लपक्ष में चाँद की चाँदनी में समुद्र के जल के उछलने से इस बात को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है ।) वैसे ही बालक का हमारे साथ भी सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहे ।' इस में किसी प्रकार का भी पौराणिक भाव या जड़पूजा का वर्णन कदापि नहीं है ।

(७) संस्कारविधि के चूड़ाकर्मसंस्कार में महर्षि ने लिखा है—
''तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबा के **'ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसि'** इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंसीः ॥

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने में लेवे ।''

यहां पौराणिक इन मन्त्रब्राह्मण के वाक्यों तथा प्रकरणों को न समझकर यह मिथ्यार्थ करके लोगों को बहकाते हैं—'हे छुरे ! तू विष्णु= ईश्वर की दाढ़ है ।' इस अर्थ से यह भी सिद्ध करते हैं—परमेश्वर को निराकार मानने वाले दयानन्द ने भी छुरे को विष्णु की दाढ़ मानकर नमस्ते कही है । अतः वे भी जड़-पूजा को यहां मान रहे हैं । किन्तु उन का यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध तथा शास्त्रविरुद्ध है । यह प्रकरण यज्ञ का है । विष्णु परमेश्वर का भी नाम है, किन्तु **'यज्ञो वै विष्णुः'** (श० १।१।२।१३) प्रमाण से यज्ञ का भी विष्णु नाम है । और 'दंष्ट्र' शब्द 'दंश दशने धातु से करण कारक में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने से बना है। जिस का अर्थ है—काटने का साधन । लोक में दाढ़ को भी 'दंष्ट्र' अन्नादि को काटने के कारण ही कहते हैं । चूड़ाकर्म में बाल काटने का साधन छुरा होता है । प्रकरणानुसार अर्थ इस प्रकार हुआ—

'हे छुरे ! तू विष्णु=यज्ञ का (यज्ञसम्बन्धी) दंष्ट्रः=काटने वाला शस्त्र है।' यहां कोई यह भी आशङ्का कर सकता है कि जड़ छुरे को सम्बोधित क्यों किया गया ? क्या छुरा हमारे वचनों को सुन सकता है ? इस का उत्तर यह है कि यह वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थों की प्राचीन शैली है, जिस को न समझने से विद्वान् भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं । इस शैली में प्रत्यक्ष स्तुति में जड़ पदार्थ में भी सम्बोधन और मध्यम

पुरुष का प्रयोग करते हैं, परन्तु अर्थ करते समय मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में व्यत्यय करना चाहिए । महर्षि दयानन्द ने इस वैदिक नियम को बहुत समझा कर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–

''वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है । इस से यह भी जानना आवश्यक है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उन से अनेक उपकार लेना जनाया है ।'' –(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २८१, २८२)

निरुक्त में (७।१।१, २) ऋचाओं के तीन भेद किए हैं–परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक । वेद जिस पदार्थ की प्रत्यक्षरूप में स्तुति करता है, चाहे वह स्तोतव्य पदार्थ जड़ हो या चेतन, उस का वर्णन मध्यम पुरुष में करता है । और व्याकरण अष्टाध्यायी का **'व्यत्ययो बहुलम्'** (३।१।८५) सूत्र व्यत्ययों का स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इस प्रकार के नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति ही शास्त्रों के मिथ्या अर्थ करके अनर्थ करते रहते हैं । इसी प्रकार चूड़ाकर्म के प्रकरण में **'ओषधे त्रायस्व एनं, मैनं हिंसीः'** इस वाक्य का भी वे अनर्थ ही करते हैं । किन्तु व्यत्यय के नियम को समझकर इस का युक्तियुक्त तथा सुसंगत अर्थ इस प्रकार है–**'ओषधे**=यह औषधि **त्रायस्व**=रक्षा करती है, **एनम्**=इस को **मा हिंसीः**=हिंसन नहीं करती है । इसी प्रकार पूर्वोद्धृत **'ओं शिवो नामासि०'** वाक्य का अर्थ भी गलत करते हैं और महर्षि दयानन्द पर यह आक्षेप करते हैं कि ये जड़ छुरे को भी तो नमस्ते करते हैं किन्तु मूर्त्ति के आगे सिर झुकाने से घबराते हैं । क्या छुरे के आगे सिर झुकाना जड़पूजा नहीं है । किन्तु पूर्वोक्त नियमों के जानने से ऐसे मिथ्यार्थों का समूल उन्मूलन हो जाता है । इस मन्त्र का सत्यार्थ इस प्रकार है–''**शिवः**=कल्याण करने वाला, **असि**=निश्चय से तू है । **स्वधितिः**=वज्र अर्थात् लोहा, **ते**=तेरा, **पिता**=उत्पत्ति स्थान है, **नमः**=सत्कार, **ते**=इस का, **मा**=मत, **मा**=मुझ को, **हिंसीः**=दुःख दे।''

यह छुरे का वर्णन है। छुरे की उत्पत्ति लोहे से बताई है और चूड़ाकर्म में छुरे का प्रयोग सत्कार पूर्वक अर्थात् बहुत ही सावधानी से करना चाहिए । बच्चे की त्वचा अत्यधिक कोमल है, इस को किसी प्रकार का कष्ट न हो । इस प्रकार इस मन्त्र में जड़पूजा की कहीं गन्ध भी नहीं है । पौराणिक बन्धुओं को नमः शब्द के 'नमस्कार'

'सत्कार' 'अन्न' तथा वज्रादि अर्थों को ध्यान देकर ही प्रकरणानुसार अर्थ करना चाहिए ।

इसी प्रकार समावर्त्तनसंस्कार के–**'ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्'** (संस्कारविधि, पृष्ठ ९४) अर्थ में भी पौराणिकों को महाभ्रान्ति है । इस का अर्थ वे इस प्रकार करते हैं–हे जूते ! तू मेरी सब तरह से रक्षा कर । किन्तु यह भ्रान्ति पूर्वोक्त नियमों की अनभिज्ञता के कारण ही है । महर्षि ने इस का अर्थ नहीं किया है । गृहस्थ में प्रवेश करने वाले पुरुष को उपानह, पादवेष्टन, पगरखादि इस मन्त्र से धारण करने के लिए स्वामी जी ने लिखा है । इस की भी पुरुष व्यत्यय से ही संगति लगानी तथा प्रकरण के अनुकूल अर्थ करना उचित है। क्योंकि मन्त्र में किसी वस्तु का नाम नहीं है । लोक में जो भी शरीर की सुरक्षा के बाह्य साधन हैं, वे 'प्रतिष्ठा' पद से गृहीत किए हैं। वे कण्टकादि व सर्दी–गर्मी से शरीर की रक्षा करते हैं । यदि कोई द्विवचनान्त का आग्रह करके 'जूता' ही अर्थ करने का दुराग्रह करे, तब भी पुरुष व्यत्यय से अर्थ की सङ्गति ठीक लगती है । यहां 'जूते' से प्रार्थना नहीं की गई है । ऐसे स्थलों पर भ्रान्ति का मूलकारण पूर्वोक्त वैदिक नियमों से अनभिज्ञता ही है ।

(८) कुछ लोगों का यह भी मिथ्याक्षेप है कि वेदों में वानप्रस्थ तथा संन्यास का कहीं विधान नहीं है । क्योंकि वेद में कहीं भी 'वानप्रस्थ' तथा 'संन्यास' शब्द नहीं है । अतः महर्षि दयानन्द के ये दोनों संस्कार ही अवैदिक हैं । किन्तु यह आक्षेप मिथ्या ही है । शास्त्रों में वानप्रस्थ के लिए 'मुनिः' तथा संन्यास के लिए 'यतिः' शब्द का प्रयोग आता है । जैसे मनुस्मृति के छठे अध्याय में वानप्रस्थ के लिए बहुधा 'मुनि' शब्द का प्रयोग है । उपनिषदों में 'वनी' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । वेद में भी वानप्रस्थ के लिए मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है । जैसे–ऋ० १०।१३६।५ में **'अथो देवेषितो मुनिः'** शास्त्रों में मिलता है । मनुस्मृति में **'भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्'** (६।५६) **'एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्'** (६।८६) इत्यादि स्थलों में 'यति' शब्द का प्रयोग 'संन्यासी' के लिए आया है । उपनिषदों में इसी 'यति' शब्द का प्रयोग मिलता है । जैसे–**(संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः !)** (मु० उ० ३।२।६) में स्पष्ट ही 'यति' शब्द 'संन्यासी' के लिए प्रयुक्त हुआ है । वेदों में भी 'यति' शब्द का बहुधा प्रयोग

हुआ है–

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत । –ऋ० १०।७२।७
य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः । –ऋ० ८।६।१८
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः । –ऋ० १।१५८।६

इत्यादि स्थलों पर 'यति' शब्द का प्रयोग 'संन्यासी' के लिए हुआ है । अतः वानप्रस्थ तथा संन्यास दोनों आश्रमों का मूल वेदों में होने से पौराणिकों के आक्षेपों का स्पष्ट रूप से खण्डन हो जाता है । और उन के मिथ्याक्षेपों से उन की ज्ञानलवविदग्धता ही प्रकट होती है ।

इसी प्रकार स्वामी जी पर उपनयन-संस्कार के 'यज्ञोपवीतं परमं०' मन्त्र को भी अवैदिक बताकर आक्षेप किया करते हैं । किन्तु स्वामी जी ने प्राचीन आर्यों की श्रेष्ठ परम्पराओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है। इस भाव से गृह्यसूत्रों के प्रमाण रखे हैं । उपनयन के लिए वेदों में बहुत प्रमाण मिलते हैं । जैसे कुछ निम्न हैं–

(क) **युवा सुवासाः परिवीत आगात् ।** –ऋ० ३।८।४
(ख) **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम्० ।** –अथर्व० ११।७।३
(ग) **नमो हरिकेशायोपवीतिने ।** –यजुः० १६।१७

इत्यादि वेद-मन्त्रों से उपनयन की प्रामाणिकता स्पष्ट है । गृह्यसूत्रों के उपनयन मन्त्र को महर्षि ने इसलिए भी संस्कारविधि में स्थान दिया है कि ऋषि-मुनियों ने इस में यज्ञोपवीत के लाभों का समावेश करके इस की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ा दी है । अतः महर्षि का कोई भी प्रकरण अवैदिक नहीं है। यह मिथ्या समझने वालों की भ्रान्ति ही है।

(९) संस्कारविधि में गर्भाधान-प्रकरण में जो 'गर्भाधान की विधि अर्थात् जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे इत्यादि' लिखी है, उस पर भी वेदों व शास्त्रों से अनभिज्ञ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि यह स्वामी जी ने कहां से और कैसे लिख दी ? स्वामी जी तो बाल ब्रह्मचारी थे । अतः उन के निष्कलंक चरित्र को भी दूषित करने का दुस्साहस तथा कुचेष्टा किया करते हैं । किन्तु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी ज्ञान अनुभव से ही नहीं सीखा जाता। वेदादि शास्त्रों को पढ़कर भी बहुत कुछ सीखा जाता है । इस विषय में श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने वेदादि शास्त्रों के निम्न प्रमाण दर्शाए हैं, जो इस विषय में बहुत ही प्रकाश डालते हैं–

(क) **ओम् मुखं तदस्य शिर इत्स तेन, जिह्वा पवित्रमश्विनासन्**

सरस्वती । चप्यं न पायुर्भिषगस्य बालो , वस्तीर्न शेपो हरसा तरस्वी॥
—यजु:० १६।८८

इस मन्त्र का महर्षिकृत भाष्य पाठकों को देखना चाहिए । जिस से महर्षि के लेख की स्पष्ट प्रामाणिकता मिल जाती है । महर्षि ने इस मन्त्र के भावार्थ में इस विधि की आवश्यकता तथा उपयोगिता बताते हुए लिखा है—'स्त्रीपुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर, मुख के साथ मुख, आंख के साथ आंख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसन्धान करके गर्भ का धारण करें । जिस से कुरूप वा वक्राङ्ग सन्तान न होवे ।'

(ख) **'अथ यामिच्छेत् गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखे मुखं सन्धायापान्याभिपराण्याद् इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ।'** —शत० १४।७।५।१०

यहां भी वेदोक्त विधियों की ही ऋषियों ने व्याख्या की है । इसी प्रकार की व्याख्या पारस्कर गृह्यसूत्र (१।११।५) में तथा चरक के शरीरस्थान (८।८) में मिलती है । स्वामी जी ने वेदादिशास्त्रों में ही पढ़कर इस विधि को लिखा है । अत: उन पर जो मिथ्याक्षेप किया जाता है, उस का कोई आधार नहीं है ।

(१०) पौराणिक पण्डित महर्षि के ग्रन्थों पर कैसे-कैसे मिथ्या दोष लगाते हैं, उन की छल-कपटपूर्ण हृदयस्थ कलङ्क कालिमा का एक नमूना देखिए—

महर्षि ने विवाह संस्कार से पूर्व लड़का व लड़की के अपने-अपने घरों पर ही कुछ क्रियाओं का विधान करते हुए लिखा है— ''इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठें ।'' —संस्कारविधि विवाहप्रकरणम्

इस लेख पर पौराणिकों का आक्षेप यह है कि विवाहसंस्कार से पूर्व लड़का व लड़की को एकान्त में स्नान करने के लिए कौन माता-पिता अनुमति देंगे ? यह महर्षि का व्यवहार-विरुद्ध तथा अप्रामाणिक लेख है । किन्तु यहां पौराणिकों को प्रकरणानभिज्ञता के कारण ही भ्रान्ति हुई । इस में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने से भ्रान्ति का निराकरण स्वत: ही हो जाता है—

(क) मन्त्रों का उच्चारण करके सुगन्धित जल से स्नान की विधि

लड़का व लड़की दोनों के लिए महर्षि ने लिखी है । किन्तु इस का अभिप्राय विवाह से पूर्व एकान्तवास में नहीं है । क्योंकि महर्षि की समस्त विधियाँ दोनों के लिए समान अधिकार की बोधक हैं। अतः यह स्नानविधि अपने-अपने घरों पर ही करने के लिए महर्षि ने लिखी है।

(ख) यदि महर्षि का अभिप्राय विवाह से पूर्व लड़का व लड़की के इकट्ठे स्नान से होता तो उसी स्थान पर महर्षि आगे ऐसा क्यों लिखते—"वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार करके...... वधू के घर जाने का ढंग करे ।" अतः पौराणिकों का आक्षेप पूर्वापर-प्रकरण से विरुद्ध शरारत पूर्ण ही है । उन्हें ऐसे आक्षेप करते समय लेशमात्र भी लज्जा व सङ्कोच क्यों नहीं होता ? यह पामरता की पराकाष्ठा ही है ।

संस्कारों की विधि—

महर्षि दयानन्द ने प्रत्येक संस्कार की उचित-स्थान पर सम्पूर्ण विधि लिखी है । और सब संस्कारों में सामान्य तथा उचित समय पर कर्त्तव्य विधियों का संग्रह 'सामान्य-प्रकरण' में किया है । **प्रायः यह देखने में आता है कि संस्कारों में शान्तिपाठ के 'ओम् द्यौः शान्तिः' और 'यज्ञरूप प्रभो' इत्यादि गीतों के गायनों का महर्षि ने कहीं विधान नहीं किया और न ही इन का कहीं गृह्यसूत्रादि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में विधान है । प्रत्येक संस्कार की समाप्ति सामवेदोक्त महावामदेव्य गान से करने का विधान महर्षि ने किया है ।** अतःआर्यों को महर्षि के लेख का आदर करके कर्त्तव्यकर्मों का ग्रहण और अकर्त्तव्यों को छोड़ देना चाहिए ।

प्रमाण भाग के पते क्यों नहीं—

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में भी अन्य ग्रन्थों की भांति प्रमाणभाग में बहुतों के पते नहीं दिये केवल ग्रन्थों के नाम ही दिए हैं। कुछ विद्वानों ने उन के पते खोजकर लिखने का प्रयत्न किया है । उन के विचार में इस से पाठकों को देखने तथा विचारने में सुविधा हो जाती है । परन्तु उन पतों से अनेक भ्रान्तियाँ भी पैदा हो गई हैं । जैसे—

(१) महर्षि द्वारा ऊहित-पाठों के पते कहां और कैसे मिल सकेंगे? और यदि मिलेंगे तो पाठ-भेद अवश्य होगा । क्या उस से सन्देह नहीं होगा कि कौन-कौन पाठ शुद्ध हैं ।

(२) महर्षि ने कहीं भिन्न-भिन्न मन्त्रों के भागों को भी एकत्र

दिखाया है । उन के पते न मिलने पर क्या उन्हें प्रामाणिक न माना जाए ? अथवा प्रत्येक भाग के मिलने पर दूसरे भाग को अशुद्ध माना जाए ?

(३) महर्षि के बाद के प्रकाशनों में बहुत से पाठ-भेद हुए हैं, उन ग्रन्थों से क्या महर्षि के पाठों की तुलना करना उचित है ? और कौन सा पाठ प्रामाणिक माना जाएगा ?

(४) अनेक ग्रन्थों में श्लोक ही बदल दिए हैं, अथवा सम्बद्ध परिशिष्ट भागों को ही पृथक् कर दिया गया है । उनके पते उन ग्रन्थों में कहां मिल सकेंगे ?

अतः महर्षि के ग्रन्थों में पते देना भ्रान्तियों को ही जन्म देना है । हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम महर्षि के ग्रन्थों को यथालिखित ही रहने दें । उस में कहीं भी कोई पते देने का प्रयत्न नहीं किया है।

सामान्य प्रकरण को न समझने से एक भ्रान्ति—महर्षि दयानन्द ने सामान्य प्रकरण के विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है—''इस से सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये, वह प्रथम सामान्य प्रकरण में लिख दिया है । और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्य प्रकरण की संस्कारों में लिखी है कि जिस को देखके सामान्यविधि की क्रिया वहां सुगमता से कर सके और सामान्य प्रकरण का विधि भी सामान्य प्रकरण में लिख दिया है, अर्थात् वहां का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्य-कर्म करे ।''

—संस्कारविधि, भूमिका

इस महर्षि के लेख को न समझ कर कुछ विद्वान् पुरोहित ऐसा भी करते हुए देखे गये हैं कि प्रथम सामान्य प्रकरण की सब विधियाँ कराकर फिर संस्कार की क्रियाएँ प्रारम्भ कर देते हैं । उन्हें उपर्युद्धृत महर्षि की रेखांकित पंक्तियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए । जिस में बहुत ही स्पष्ट है कि संस्कारों में सामान्य प्रकरण की जिन विधियों की आवश्यकता है, उन का महर्षि ने यथास्थान पृष्ठ तथा क्रिया का नाम देकर निर्देश किया है, अतः उचित स्थान व समय पर उन विधियों को करना चाहिए। अन्यथा संस्कारों में पृष्ठ तथा क्रियाओं के नाम लिखने की क्या आवश्यकता थी, यदि सामान्य प्रकरण की समस्त विधियाँ संस्कारों के प्रारम्भ में करनी ही होतीं ? सामान्य प्रकरण की समस्त विधियाँ समस्त संस्कारों के प्रारम्भ में करना महर्षि के लेख के सर्वथा विरुद्ध है । इस

भ्रान्ति का जन्म कतिपय नामकरण व अन्नप्राशन संस्कारों में महर्षि लिखित 'सम्पूर्ण विधि करके' शब्दों से भी हुई है । किन्तु यदि महर्षि का यह भाव होता तो उसी के आगे सामान्य प्रकरण की विधियों को पुनः न लिखते । अतः वहां 'सम्पूर्ण' शब्द सापेक्ष ही है । अतः विद्वान् पुरोहितों को संस्कारों में महर्षि द्वारा लिखित यथानिर्दिष्ट विधियों का ही अनुसरण करके एकरूपता अपनानी चाहिए ।

संस्कारों में उपदिष्ट कर्त्तव्य–

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में जहां संस्कारों का समय तथा संस्कारों की विधियाँ सप्रमाण लिखी हैं, वहां संस्कृत व्यक्तियों के लिए जो-जो कर्त्तव्य धर्म आवश्यक हैं, उन का भी सप्रमाण उपदेश दिया है । क्या यह कर्त्तव्योपदेश संस्कार के दिन तक ही निश्चित है ? ऐसा महर्षि का भाव नहीं है । कर्त्तव्य कर्मों में दो प्रकार के उपदेश महर्षि ने लिखे हैं–(१) सामान्य धर्म, (२) विशेष धर्म । सामान्य कर्त्तव्य तो सब मनुष्यों को सब अवस्थाओं में करने ही चाहिए। किन्तु जो विशेष-कर्त्तव्यों की शिक्षा दी है, उन का पालन तब तक अवश्य करना चाहिए, जब तक दूसरा संस्कार न हो । जैसे वेदारम्भ संस्कार में जो ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी को कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश दिया है, उस का पालन तब तक विधिवत् करना चाहिए, जब तक दूसरा संस्कार न हो । कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त संस्कार एक शृंखला की भांति परस्पर सम्बद्ध तथा किसी विशेषावस्था को छोड़कर क्रमबद्ध ही हैं । जिस से मानव स्वतः ही जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर प्रगति करता जाए । अतः स्पष्ट है कि संस्कारों में उपदिष्ट-धर्म दूसरे संस्कारों तक श्रद्धा से अवश्य करते रहना चाहिए ।

तिथि–फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदा विनीत–**राजवीर शास्त्री**
सं० २०३४ वि० २४।२।१९७८

ओ३म्

प्रकाशकीय

आर्ष साहित्य–प्रचार ट्रस्ट का उद्देश्य दयानन्दकृत साहित्य तथा आर्ष साहित्य का प्रचार–प्रसार करना है । इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ट्रस्ट साहित्य का प्रकाशन करके लागत मूल्यमात्र अथवा उस से भी कम मूल्य में जिज्ञासु पाठकों तक पहुंचाता है ।

महर्षि दयानन्दकृत साहित्य को ट्रस्ट विना किसी प्रक्षेप के मूल रूप में प्रकाशित करता है, जिस से महर्षि की अनुपम निधियों को अक्षुण्ण रखा जा सके ।

प्रस्तुत संस्करण से पूर्व ट्रस्ट संस्कारविधि के सोलह संस्करण प्रकाशित कर चुका है जो अत्यल्प मूल्य होने के कारण हाथों हाथ बिकते रहे हैं । पिछले कुछ समय से पाठकों के सुझाव आ रहे थे कि इस पुस्तक की कम्पोजिंग कम्प्यूटर से कराई जाये ।

पाठकों के सुझावों के अनुसार नये रूप में उत्तम कागज तथा बढ़िया जिल्द में यह सत्रहवाँ संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव हर्ष हो रहा है ।

यद्यपि प्रस्तुत संस्करण का मूल्य पूर्वापेक्षया कुछ अधिक है, तथापि इस संस्करण में कागज आदि की मूल्य वृद्धि को ध्यान में रखते हुए यह मूल्य भी अधिक नहीं है।

आशा है वैदिक धर्मानुरागी पाठकगण इस संस्करण से लाभान्वित होंगे ।

धर्मपाल आर्य
मन्त्री, आर्ष साहित्य–प्रचार ट्रस्ट

दिनांक
१३ अप्रैल २०१०

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्त्तिक कृष्णपक्ष ३०, शनिवार के दिन 'संस्कारविधि' का प्रथमारम्भ किया था । उस में संस्कृतपाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करनेवाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी । और जो १००० एक हजार पुस्तक छपे थे, उन में से अब तक एक भी नहीं रहा। इसलिये श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया ।

अब की वार जिस-जिस संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण-वचन और प्रयोजन है, वह-वह संस्कार के पूर्व लिखा जायेगा । तत्पश्चात् जो-जो संस्कार में कर्त्तव्य विधि है, उस-उस को क्रम से लिखकर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जो कि उस संस्कार से दूसरे संस्कार तक करना चाहिए, वह लिखा है । और **जो विषय प्रथम अधिक लिखा था, उस में से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है और अब की वार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह-वह अधिक भी लिखा है ।**

इस में यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था, और युक्त छूट गया था उस का संशोधन किया है, **किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था ।** उस में सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी, इसलिए अब सुगम कर दिया है । क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे, साधारण नहीं ।

इस में सामान्य विषय, जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिए, वह प्रथम सामान्यप्रकरण में लिख दिया है । और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है, उस के पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिस को देखके सामान्यविधि की क्रिया वहां सुगमता

से कर सकें और सामान्यप्रकरण का विधि भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है, अर्थात् वहां का विधि करके कर्तव्य संस्कार का कर्त्तव्य कर्म करे । और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है, वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक वार करना होगा । जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य है, वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में वारंवार न लिखना पड़ेगा ।

इस में प्रथम ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, पुनः स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ तदनन्तर सामान्यप्रकरण, पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टिपर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं और यहां सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इस में कर्मकाण्ड का विधान है । इसलिये विशेषकर क्रिया-विधान लिखा है । और जहां-जहां अर्थ करना आवश्यक है, वहां-वहां अर्थ भी कर दिया है । और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेद-भाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहां से देख लेवें । यहां तो केवल क्रिया करना ही मुख्य है । **जिन करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं । इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है ।**

॥ इति भूमिका ॥

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

ओ३म् नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय ।

अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—तैत्तिरीय आरण्यके, अष्टमप्रपाठके, प्रथमानुवाके

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नस्सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥१॥
गर्भाद्या मृत्युपर्य्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।
वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम् ॥२॥
वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥३॥
संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥४॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः ॥५॥
कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः ।
वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥६॥
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥७॥
बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ् मानवप्रियकारकैः ।
प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः ॥८॥
दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणाऽ-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥९॥
चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यान्तिमे दले ।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥१०॥

विन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले ।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम् ॥११॥

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगाके करे । और सब लोग उस में ध्यान लगाकर सुनें और विचारें—

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनामन्त्राः

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्नऽआ सुव ॥१॥ —यजुः अ० ३०। मं० ३॥

अर्थ—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, (देव) शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर ! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा सुव) दूर कर दीजिये । (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, (तत्) वह सब हम को (आ सुव) प्राप्त कीजिए ॥१॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

—यजुः अ० १३ । मं० ४॥

अर्थ—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्तमान था, (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है । हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ॥२॥

यऽ आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽ उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

—यजुः अ० २५। मं० १३॥

अर्थ—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता, (बलदाः)

शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा, (यस्य) जिस की (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं, और (यस्य) जिस का (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष, सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (यस्य) जिस का (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है, (यस्य) जिस का न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥३॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽ इद्राजा जगतो बभूव ।
यऽईशेऽ अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

—यजुः अ० २३। मं० ३

अर्थ—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एकः इत्) एक ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है, (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिये (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥४॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

—यजुः अ० ३२। मं० ६॥

अर्थ—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि को (दृढा) धारण, (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण, और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है, (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोकलोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥५॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

—ऋ० म० १०। सू० १२१। म० १०॥

अर्थ—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा ! (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परि बभूव) तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं । (यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें, (तत्) उस-उस की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे । जिस से (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ।।६।।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।।७।।

—यजु० अ० ३२। मं० १०।।

अर्थ—हे मनुष्यो! (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों का (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक, (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक, (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करनेहारा, (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम, स्थान, जन्मों को (वेद) जानता है । और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुखदुःख से रहित, नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्षस्वरूप, धारण करनेहारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु आचार्य राजा और न्यायाधीश है । अपने लोग मिलके सदा उस की भक्ति किया करें ।।७।।

अग्ने नय सुपथा रायेऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ।।८।।

—यजुः अ० ४०। मं० १६

अर्थ—हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करनेहारे, (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिस से (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये । और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये । इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमः उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें, और सर्वदा आनन्द में रहें ।।८।।

।। इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम् ।।

अथ स्वस्तिवाचनम्

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥२॥ —ऋ०म० १। सू० १। मं० १, ९।

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः ।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥३॥
स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः ।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥४॥
विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये ।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥५॥
स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति ।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥६॥
स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥७॥
—ऋ० मं० ५। सू० ५१।११-१५॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥
—ऋ० मं० ७। सू० ३५।६५॥

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये ॥९॥
नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥१०॥
सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥११॥
को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥१२॥

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥१३॥
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥१४॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥१५॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१६॥
विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥१७॥
अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥१८॥
अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥१९॥
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥२०॥
स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥२१॥
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥२२॥

—ऋ० मं० १०। सू० ६३॥ [मं० ३-१६]

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽ आप्यायध्वमघ्न्याऽ इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽ अयक्ष्मा मा व स्तेनऽ ईशत माघशꣳसो ध्रुवाऽ अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥२३॥ —यजु० अ० १। मं० १

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽ अपरीतासऽउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्वृधेऽ असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥२४॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳ रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२५॥

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥२६॥
स्वस्ति नऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽ अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥२७॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥२८॥
—यजु० अ० २५। मं० १४, १५, १८, १९, २१॥

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥२९॥
त्वमग्ने यज्ञानाꣳ होता विश्वेषाꣳ हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥३०॥ —साम० पूर्वा० प्रपा० १। मं० १, २॥
ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥३१॥
—अथर्व० कां० १। सू० १। मं० १॥

॥ इति स्वस्तिवाचनम् ॥

अथ शान्तिकरणम्

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥१॥
शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२॥
शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥३॥
शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषितो अभि वातु वातः ॥४॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥५॥
शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥
शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥७॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्त्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥८॥
शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥९॥
शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥१०॥
शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः॥११॥
शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१२॥
शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥१३॥
—ऋ०मं० ७। सू० ३५। मं० १-१३

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१४॥
शन्नो वातः पवताꣳ शन्नस्तपतु सूर्य्यः ।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु ॥१५॥
अहानि शम्भवन्तु नः शꣳ रात्रीः प्रति धीयताम् ।
शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्नऽइन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥१६॥
शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये । शंयोरभिस्त्रवन्तु नः॥१७॥
द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः
शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ
शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥१८॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१९॥

—यजुः० अ० ३६। मं० ८, १०–१२, १७, २४॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२०॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२१॥
यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२२॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२३॥
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२४
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२५॥

—यजुः० अ० ३४। मं० १–६॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शꣳ राजन्नोषधीभ्यः ॥२६॥ —साम० उत्तरा० प्रपा० १। मं० ३॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥२७॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥२८॥

—अथर्व० कां० १९।१५।५, ६

॥ इति शान्तिकरणम् ॥[1]

---

१. इस स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण की सर्वत्र जहाँ–जहाँ प्रतीक धरें, वहाँ–वहाँ करना होगा ।

अथ सामान्यप्रकरणम्

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करनी चाहिये । परन्तु जहां-कहीं विशेष होगा, वहां सूचना कर दी जायेगी कि यहां पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना, और इतना अधिक करना, स्थान-स्थान में जना दिया जायेगा ।

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र, अर्थात् जहां स्थल वायु शुद्ध हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो ।

यज्ञशाला—इसी को 'यज्ञमण्डप' भी कहते हैं । यह अधिक से अधिक १६ सोलह हाथ सम चौरस चौकोण, और न्यून से न्यून ८ आठ हाथ की हो । यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी, और जितनी गहरी वेदी बनानी हो, उतनी पृथिवी दो-दो हाथ खोद अशुद्ध मिट्टी निकालकर उस में शुद्ध मिट्टी भरें । यदि १६ सोलह हाथ की सम चौरस हो तो चारों ओर २० बीस खम्भे, और जो ८ आठ हाथ की हो तो १२ बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें ।

वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० दश हाथ ऊंची अवश्य होवे । और यज्ञशाला के चारों दिशा में ४ चार द्वार रखें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें । **नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुंकुम, हल्दी, मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें । मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गलकार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें ।** इसीलिए निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें ।

यज्ञकुण्ड का परिमाण

जो लक्ष आहुति करनी हों तो चार-चार हाथ का चारों ओर सम चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे, अर्थात् तले में १ एक हाथ चौकोण लम्बा-चौड़ा रहे । इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों, उतना ही गहिरा-चौड़ा कुण्ड बनाना, परन्तु अधिक आहुतियों में दो-दो हाथ अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छह हस्त परिमाण का चौड़ा और सम चौरस कुण्ड बनाना । और जो पचास हजार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे । अर्थात् तीन हाथ गहिरा-चौड़ा सम चौरस और पौन हाथ नीचे तथा पच्चीस हजार आहुति देनी हों तो दो हाथ

चौड़ा–गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे । दश हजार आहुति तक इतना ही, अर्थात् दो हाथ चौड़ा–गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे रखना । पांच हजार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा–गहिरा सम चौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे। यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है । यदि इसमें २५०० (ढाई हजार) आहुति मोहनभोग, खीर और २५०० (ढाई हजार) घृत की देवें तो दो ही हाथ का चौड़ा–गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रखें ।

चाहे घृत की हजार आहुति देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा–गहिरा सम चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावें । और इन कुण्डों में १५ पन्द्रह अंगुल की मेखला अर्थात् पांच–पांच अंगुल की ऊंची ३ तीन बनावें । और ये ३ तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी । प्रथम ५ पांच अंगुल ऊंची और ५ पांच अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें ।

यज्ञसमिधा

पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी–बड़ी कटवा लेवें, परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं, मलिन–देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों । अच्छे प्रकार देख लेवें । **और चारों ओर बराबर और बीच में चुनें ।**

होम के द्रव्य चार प्रकार

(प्रथम–**सुगन्धित**) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय–**पुष्टिकारक**) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, **चावल, गेहूं, उड़द** आदि । (तीसरे–**मिष्ट**) **शक्कर, सहत, छुवारे, दाख** आदि । (चौथे–**रोगनाशक**) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ ।

स्थालीपाक

नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावें । इस का प्रमाण–

ओं देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध कर लेना अवश्य चाहिये, अर्थात् सब को यथावत् शोध–छान, देख–भाल, सुधार कर करें । इन द्रव्यों को यथायोग्य मिलाके पाक करना । जैसे कि सेर घी के मोहनभोग में रत्तीभर कस्तूरी, मासेभर

केशर, दो मासे जायफल–जावित्री, सेरभर मीठा, सब डालकर मोहनभोग बनाना । इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खिचड़ी, मोदक आदि होम के लिये बनावें ।

चरु अर्थात् होम के लिये पाक बनाने की विधि–

'ओम् अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' अर्थात् जितनी आहुति देनी हों, प्रत्येक आहुति के लिये चार–चार मूठी चावल आदि ले के **(ओम् अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि)** अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवें । जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो, तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकालके यथावत् सुरक्षित रखें, और उस पर घृत सेचन करें ।

यज्ञपात्र

विशेषकर **चांदी, सोना अथवा काष्ठ** के पात्र होने चाहियें । निम्नलिखित प्रमाणे–

अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते

बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः, षडङ्गुलखातास्त्वग्बिला हंसमुख-प्रसेकाः, मूलदण्डाश्चतस्त्रः स्त्रुचो भवन्ति । तत्र पालाशी जुहूः, आश्वत्थ्युपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, अग्निहोत्रहवणी च ।

अरत्निमात्रः खादिरः स्त्रुवः, अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः, तथाविधो द्वितीयो वैकङ्कतः स्त्रुवः ।

वारणं बाहुमात्रं मकराकारम्, अग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम् ।

अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृति वज्रम् ।

वारणान्यहोमसंयुक्तानि । तत्रोलूखलं नाभिमात्रम् । मुसलं शिरोमात्रम् । अथवा मुसलोलूखले वार्क्षे सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः । तथा–

खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः ।
यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ ॥

शूर्पं वैणवमेव वा ऐषीकं नलमयं वाऽचर्मबद्धम् ।

प्रादेशमात्री वारणी शम्या ।

कृष्णाजिनमखण्डम् ।

दृषदुपले अश्ममये । वारणीं २४ हस्तमात्रीं, २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंगृहीतामिडापात्रीम् ।

अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि ।

मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम् ।
प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ।
प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरीणाहं तीक्ष्णाग्रं श‍ृतावदानम्।
आदर्शाकारे चतुरस्त्रे वा प्राशित्रहरणे । तयोरेकमीषत्खातमध्यम्।
षडङ्गुलं कङ्कतिकाकारमुभयतः खातं षडवत्तम् ।
द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम् ।
उपवेशोऽरत्निमात्रः ।
मुञ्जमयी रज्जुः ।
खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान् शङ्कून् ।
यजमानपूर्णपात्रं पुरुषचतुष्टयाहारपाकपर्याप्तम् ।
समिदिध्मार्थं पलाशशाखामयम् ।
कौशं बर्हिः ।
ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि ।
पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम् ।
अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ धेनुः । वरार्थं चतस्त्रो गावः ।

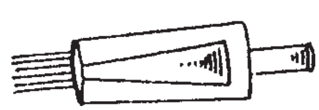
स्रुवः ४, अंगुल २४   शम्या प्रादेश १   अरणी ४



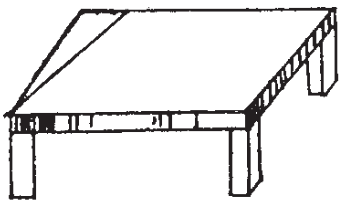
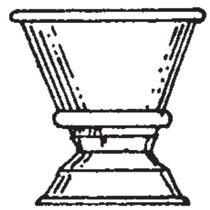


उपल   श‍ृतावदान प्रादेशमात्र   कूर्च बाहुमात्र १





पाटला ४, लम्बा २४ अंगुल उलूखल नाभिमात्र मुसल


पूर्णपात्र अ० १२, चौड़ा अंगुल ६ स्रुच सर्व ४, बाहुमात्र



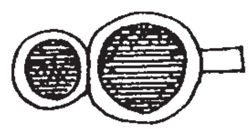

अभ्रि १, अं० २४ ओवली अं० १२ चात्र अं० १२



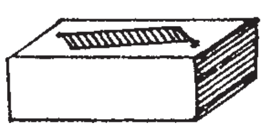


षडवत्त अं० २४ पुरोडाशपात्री इडा अंगुल २४





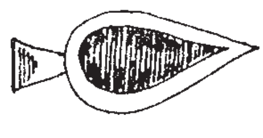
अंगुल ६ पोली अंगुल ४ ऊँची अधरारणी प्राशित्रहरणे दर्पणाकार पिष्टपात्री

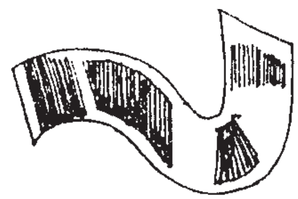




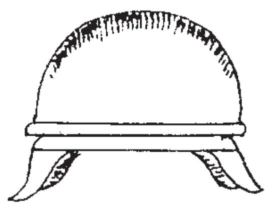
प्रणीता अं० १२ — प्रोक्षणी अं० १२ — अंगोछा २४ अं० लम्बा

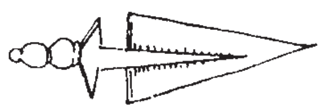


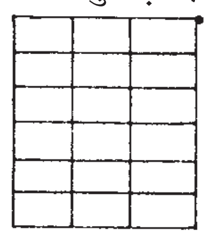




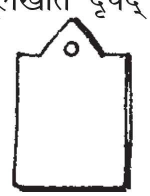
अन्तर्धान १, अं० १२ — खाँडा अंगुल २४ — उत्तरारणी टुकड़ा १८







मूलेखात दृषद् — उपवेश १, अं० २४ — शूर्प







समिध पलाश की १८ हस्त, ३ इध्म, परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र। सामिधेनी समित् प्रादेशमात्र । समीक्षण लेर ५ । शाटी १ । दृषदुपल १ दीर्घ अंगुल १२ । पृ० १५ उपल अंगुल ६ । नेतु व्याम=हाथ ४, त्रिवृत् तृण वा गोबाल का ।

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः–'ओमावसोः सदने सीद' ।

इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करे ।

ऋत्विगुक्तिः–'ओं सीदामि' ।

ऐसा कहके जो उस के लिये आसन बिछाया हो उस पर बैठे ।

यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकर्मकरणाय भवन्तं वृणे'। ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि' ।

ऋत्विजों के लक्षण—अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मत वाले, वेदवित् एक, दो, तीन अथवा चार का वरण करें ।

जो एक हो तो उस का पुरोहित, और जो दो हों तो ऋत्विक्, पुरोहित और ३ तीन हों तो ऋत्विक्, पुरोहित और अध्यक्ष, और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ।

इन का आसन वेदी के चारों ओर, अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिणमुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख, और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिए और **यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख, अथवा दक्षिण में आसन पर बैठके उत्तराभिमुख रहे** । इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना, और वे प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें । और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें ।

और अपने-अपने जलपात्र से सब जने, जो कि यज्ञ करने को बैठे हों, वे इन मन्त्रों से तीन-तीन आचमन करें, अर्थात् एक-एक से एक-एक वार आचमन करें । वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥ इस से एक ।

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥ इस से दूसरा ।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥ इस से तीसरा आचमन करके, तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके अङ्गों का स्पर्श करें—

ओं वाङ्म आस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख ।

नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र ।

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आँखें ।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥४॥ इस मन्त्र से दोनों कान ।

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥५॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु ।

ओम् ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु ॥६॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा और

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल-स्पर्श करके मार्जन करना । पूर्वोक्त

समिधाचयन वेदी में करें । पुनः—

ओं भूर्भुवः स्वः ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला, अथवा घृत का दीपक जला, उस से कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर, उस में छोटी-छोटी लकड़ी लगाके यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे । वह मन्त्र यह है—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥

—यजुः अ० ३। मं० ५॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर, उस पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर, अगला मन्त्र पढ़के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥

—यजुः अ० १५। मं० ५४॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे, तब चन्दन की अथवा ऊपरलिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा, उन में से एक-एक निकाल नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें । वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥१॥ —इस मन्त्र से एक

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये इदं न मम ॥२॥

—इस से, और

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥३॥

—इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों से दूसरी ।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदं न मम ॥४॥

—यजुः अ० ३। मं० १, २, ३॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें ।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य, जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चांदी, कांसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठ–पात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें । पश्चात् उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान, पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रखा हो, उसमें से कम से कम ६ मासा भर घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो, अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवें, यही आहुति का प्रमाण है ।

उस घृत में से चमसा कि जिस में छः मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भरके नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी–

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम ॥५॥

तत्पश्चात् वेदी के पूर्व दिशा आदि और अञ्जलि में जल लेके चारों ओर छिड़कावे । उसके ये मन्त्र हैं–

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व ।

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इस से पश्चिम ।

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ इस से उत्तर । और–

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥

–यजुः अ० ३०। मं० १

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे ।

इसके पश्चात् **सामान्यहोमाहुति** गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करें । **इस में मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती हैं,** उन में से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति, और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है, उस का नाम **''आघारावाज्याहुति''** कहते हैं । और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं, उन का नाम **''आज्यभागाहुति''** कहते हैं । सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा, मध्यमा, अनामिका से स्रुवा को पकड़के–

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में ।

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी । तत्पश्चात्—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी ।

उसके पश्चात्=चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके, जब **प्रधान होम अर्थात् जिस-जिस कर्म में जितना-जितना होम करना हो करके, पश्चात् भी पूर्णाहुति पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागा०) देवें ।**

पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भरके प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय इदन्न मम ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्नि-वाय्वादित्येभ्यः इदं न मम ॥

ये चार घी की आहुति देकर **स्विष्टकृत् होमाहुति एक ही है**, यह **घृत** की अथवा **भात** की देनी चाहिये । उस का मन्त्र—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्ट-त्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते इदं न मम ॥

इस से एक आहुति करके, **प्राजापत्याहुति** करें । नीचे लिखे मन्त्र की मन में बोलके देनी चाहिए—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदं न मम ॥

इस से मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवें । परन्तु जो नीचे लिखी आहुति **चौल, समावर्त्तन और विवाह में मुख्य हैं** । वे चार मन्त्र ये हैं—

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।
तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥२॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥३॥

—ऋ० मं० ९। सू० ६६। मं० १९-२१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥४॥ —ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १०॥

इन से घृत की ४ चार आहुति करके "**अष्टाज्याहुति**" के निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गल-कार्यों में ८ आठ आहुति देवें, परन्तु किस-किस संस्कार में कहां-कहां देनी चाहियें, यह विशेष बात उस-उस संस्कार में लिखेंगे । वे आठ आहुति-मन्त्र ये हैं—

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदं न मम ॥१॥

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदं न मम ॥२॥

—ऋ० मं० ४। सू० १। मं० ४, ५॥

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय ।
त्वामवस्युराचके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय इदं न मम ॥३॥

—ऋ० मं० १। सू० २५। मं० १९॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय इदं न मम ॥४॥ —ऋ० मं० १। सू० २४। मं० ११॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्क्काः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्क्केभ्यः इदं न मम ॥५॥

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयाऽसि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये अयसे इदं न मम ॥६॥

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा ॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायादितये च इदं न मम ॥७॥

—ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १५॥

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम् इदं न मम ॥८॥   —यजुः अ० ५। मं० ३॥

सब संस्कारों में **मधुर स्वर** से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे । **न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है, करे ।** यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे । यदि कोई कार्यकर्त्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है । अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करें, और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावें ।

पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करें । स्रुवा को घृत से भरके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से एक आहुति देवें । ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके, **जिस को दक्षिणा देनी हो देवें, वा जिस को जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सब को विदाकर स्त्रीपुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीमके पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें ।**

मङ्गलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास-संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें । वे मन्त्र ये हैं—

ओं भूर्भुवः स्वः । कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु ॥२॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम्। शतं भवास्यूतये ॥३॥

महावामदेव्यम्

काऽ५या । नश्चा३ यित्रा३ आभुवात् । ऊ । ती सदावृधः । स खा । औ३ होहायि । कया२३ शचायि । ष्ठयौहो३। हुम्मा२। वाऽ२र्तो३ऽ५हायि ॥ (१)॥

काऽ५स्त्वा । सत्यो३मा३दानाम् । मा । हिष्ठोमात्सादन्ध । सा औ३हो हायि । दृढा२३ चिदा । रुजौहो३। हुम्मा२ । वाऽ३सो ३ ऽ ५ हायि ॥ (२)॥

आऽ५भी। षुणा३ः सा३खीनाम् । आ । विता जरायि तॄ । णाम् । औ२३ हो हायि । शता२३म्भवा । सियौहो३ हुम्मा२ । ताऽ२ यो३ऽ५हायि ॥ (३)॥

—साम० उत्तरार्चिके । अध्याये १ । खं० ३ । मं० १, २, ३।।

यह महावामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्रीपुरुष कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोकप्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान् वा त्यागी पक्षपात रहित संन्यासी, जो सदा विद्या की वृद्धि और सब के कल्याणार्थ वर्तनेवाले हों उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें । पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों, उन को भी सत्कारपूर्वक विदा कर दें।

अथवा जो संस्कार-क्रिया को देखना चाहें, वे पृथक्-पृथक् मौन करके बैठे रहें, कोई बातचीत हल्ला-गुल्ला न करने पावें । सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें । विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति धीरज और विचारपूर्वक क्रम से कर्म करें और करावें ।

यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है ।।

।। इति सामान्यप्रकरणम् ।।

[१]

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

—मनुस्मृति-द्वितीयाध्याये, श्लोकः १६ ॥

अर्थ—मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि=मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त **१६ संस्कार** होते हैं ।

शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के **उत्तम संस्कार** करने होते हैं । उनमें से प्रथम गर्भाधान-संस्कार है ।

गर्भाधान उस को कहते हैं कि जो **''गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा, तद् गर्भाधानम् ।''** गर्भ का धारण, अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिस से होता है । उसी को गर्भाधान संस्कार कहते हैं ।

जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं । वैसे उत्तम, बलवान् स्त्री-पुरुषों से सन्तान भी उत्तम होते हैं। इस से पूर्ण युवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके, अर्थात् न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इस से अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है, क्योंकि विना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिये अवकाश और गर्भ के धारण-पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता और २५ पच्चीस वर्ष के विना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता । इस में यह प्रमाण है—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥१॥

—सुश्रुते सूत्रस्थाने, अ० ३५।१०॥

ऊनषोडशवर्षायाम् अप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥२॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥३॥

—सुश्रुते सूत्रस्थाने, अ० १०।४७-४८॥

ये सुश्रुत के श्लोक हैं । शरीर की उन्नति वा अवनति का विधि जैसा वैद्यकशास्त्र में है, वैसा अन्यत्र नहीं । उसका मूल विधान आगे वेदारम्भ में लिखा जायेगा, अर्थात् किस-किस वर्ष में कौन-कौन धातु किस-किस प्रकार का कच्चा वा पक्का, वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है, यह सब वैद्यकशास्त्र में विधान है, इसलिए गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिये ।

अब देखिये सुश्रुतकार परम वैद्य कि जिन का प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं, वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ सोलह वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य होवे, यह लिखते हैं ।

जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना ही सामर्थ्य १६ सोलहवें वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है। इसलिए वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्यवाले जानें ।।१।।

सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ पच्चीस वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ उदर में ही बिगड़ जाता है ।।२।।

और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे, अथवा कदाचित् जीवे भी तो उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों । इसलिये अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिए ।।३।।

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिराचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

अर्थ—सोलहवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का आरम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्ण पुष्टि, और उस से आगे किञ्चित्-किञ्चित् धातु वीर्य की हानि होती है, अर्थात् ४० चालीसवें वर्ष सब अवयव पूर्ण हो जाते हैं । पुनः खान-पान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है, वह कुछ-कुछ क्षीण होने लगता है ।

इस से यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें तो कन्या १६ वर्ष की और पुरुष २५ पच्चीस वर्ष का अवश्य होना चाहिये। मध्यम समय कन्या का २० वर्ष पर्यन्त और पुरुष का ४० चालीसवां

वर्ष, और उत्तम समय कन्या का २४ चौबीस वर्ष और पुरुष का ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का है ।

जो अपने कुल की उत्तमता, उत्तम सन्तान, दीर्घायु, सुशील, बुद्धिबल पराक्रमयुक्त, विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें, वे १६ सोलहवें वर्ष से पूर्व कन्या और २५ पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें । यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य, और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिस से उत्तम सन्तान होवें ।

ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतस्सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥१॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥२॥
तासामाद्याश्चतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥३॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥४॥
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥५॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥६॥

—मनुस्मृतौ अ० ३ ॥

अर्थ—मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि—

सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे, और अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रखे । वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़ के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे । जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है, जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो, तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के १६ सोलह दिनों में—**पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी** वा **अष्टमी** आवे, उस को छोड़ देवे । इन में स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें ॥१॥

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके १६ सोलहवें दिन तक ऋतुसमय है । उनमें से प्रथम की चार रात्रि अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से लेके चार दिन निन्दित हैं । प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे । अर्थात् **उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे । न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे ।** क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है । रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर, जैसा कि फोड़े में से पीव वा रुधिर निकलता है, वैसा है ।।२।।

और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं, वैसे **ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित हैं ।** और बाकी रहीं दश रात्रि, सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं ।।३।।

जिन को पुत्र की इच्छा हो, वे **छठी आठवीं दशवीं बारहवीं चौदहवीं और सोलहवीं ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें, परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं ।** और जिनको कन्या की इच्छा हो, वे पांचवीं सातवीं नववीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें* । **इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे** ।।४।।

पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री, क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिर जाना होता है ।।५।।

जो पूर्व निन्दित ८ आठ रात्रि कह आये हैं, उन में जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है ।।६।।

उपनिषदि गर्भलम्भनम् ॥

—यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है ।।

जैसा उपनिषद् में गर्भस्थापन-विधि लिखा है, वैसा करना चाहिए, अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसा कि १६ सोलहवें और २५ पच्चीसवें वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है, वही उपनिषत् का विधान है ।

अथ गर्भाधानꣳ स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳ स्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति ॥

—यह पारस्करगृह्यसूत्र का वचन है ।।

ऐसा ही गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी विधान है ।

* रात्रिगणना इसलिए की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है ।

इसके अनन्तर स्त्री जब रजस्वला होकर **चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रज-रोगरहित हो,** उसी दिन **(आदित्यं गर्भमिति)** इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन करने की इच्छा हो, उससे पूर्व दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित **पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देनी। यहां पत्नी पति के वाम-भाग में बैठे, और पति वेदी के पश्चिमाभिमुख पूर्व-दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे, और ऋत्विज भी चारों दिशाओं में यथामुख बैठें–**

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥२॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥३॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥५॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥६॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥७॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥८॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥९॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥१०॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥११॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥१२॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥१३॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥१४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥१५॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१६॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥१७॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥१८॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥१९॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥२०॥

इन बीस मन्त्रों से बीस आहुति देनी* । और बीस आहुति करने से यत्किञ्चित् घृत बचे, वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवे, इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिये यह विधि करना । अर्थात् एक चांदी वा **कांसे के पात्र में भात रखके उसमें घी दूध और शक्कर मिलाके कुछ** थोड़ी देर रखके जब घृत आदि भात में एकरस हो जायें, पश्चात् नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति अग्नि में देवे । और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे–

ओम् अग्नये पवमानाय स्वाहा ॥
इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥१॥
ओम् अग्नये पावकाय स्वाहा ॥
इदमग्नये पावकाय इदन्न मम ॥२॥
ओम् अग्नये शुचये स्वाहा ॥
इदमग्नये शुचये इदन्न मम ॥३॥
ओम् अदित्यै स्वाहा ॥ इदमदित्यै इदन्न मम ॥४॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥५॥

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥
इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्न मम ॥६॥

इन छः मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें । तत्पश्चात् पूर्व सामान्यप्रकरणोक्त २२-२३ पृष्ठलिखित आठ मन्त्रों से **अष्टाज्याहुति**

---

* ये बीस आहुति देते समय वधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे ।

देनी । उन ८ आठ मन्त्रों से ८ आठ तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें–

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा ॥१॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा ॥२॥
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना ।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥३॥

–ऋ० मं० १० । सू० १८४॥

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृतऽ उल्वं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽ-इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥४॥

यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा ॥५॥ –यजुर्वेदे ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥६॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥७॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥८॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥९॥

–अथर्व० कां० ६। सू० १७ ॥

इन ९ मन्त्रों से नव **आज्य** और मोहनभोग की आहुति देके, नीचे लिखे मन्त्रों से भी **चार घृताहुति** देवें–

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥२॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय इदन्न मम ॥३॥

ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा । इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः इदन्न मम ॥४॥

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की दो आहुति देनी—

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा ॥ इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः इदन्न मम ॥१॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥२॥

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं०)** इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवें ।

जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए काँसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गए हों, जब आहुति हो चुकें, **तब उन आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नानघर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिरपर्यन्त सब अंगों पर मर्दन करके स्नान करे । तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ, शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे । तब दोनों वधू-वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य का दर्शन करें** । उस समय—

ओम् आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् । परिवृङ्धि हरसा माभिमंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥१॥

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥२॥

जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति । पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥३॥

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः ॥४

चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः । सं चेदं वि च पश्येम ॥५

सुसंदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य । वि पश्येम नृचक्षसः ॥६॥

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके, वधू—

ओम् [1]अमुकगोत्रा शुभदा अमुक[2]दा अहं भो भवन्तमभिवादयामि ।

ऐसा वाक्य बोलके अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे।

---

१. इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे।

२. इस ठिकाने वधू अपना नाम उच्चारण करे ।

तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहां अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियां हों, उन को भी इसी प्रकार वन्दन करे ।

इस प्रमाणे वधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् वधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए, पश्चात् दोनों पति-पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठके वामदेव्यगान करें ।

तत्पश्चात् यथोक्त[1] भोजन दोनों जने करें । और पुरोहितादि सब मण्डली को सम्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर-सत्कारपूर्वक सब को विदा करें ।

---

१. उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त वधू वर के आहार पर निर्भर है । इसलिये पति-पत्नी अपने शरीर-आत्मा की पुष्टि के लिए बल और बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें । सर्वौषधि ये हैं—

दो खण्ड आँबाहलदी, दूसरी खाने की हल्दी, चन्दन, मुरा (यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), कुष्ठ, जटामांसी, मोरबेल (यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजित्, कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ ।

इन सब ओषिधियों का चूर्ण करके, सब समभाग लेके उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उन का दही जमा और उदुम्बर ही के लकड़े की मंथनी से मंथन करके उस में से मक्खन निकाल, उस को ताय, घृत करके उस में सुगन्धित द्रव्य केशर कस्तूरी, जायफल, इलायची, जावित्री मिलाके अर्थात् **सेर-भर दूध में छटांक भर पूर्वोक्त सर्वौषधि मिला सिद्धकर घी हुए** पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और एक-एक मासा जायफलादि भी मिलाके नित्य प्रातःकाल उस घी में से ३२ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ ३२ में लिखे हुए (विष्णुर्योनिं०) इत्यादि ७ सात मन्त्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण करके जिस रात्रि में गर्भस्थापन क्रिया करनी हो, उसके दिन में होम करके, **उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिलाके यथारुचि भोजन करें ।**

इस प्रकार गर्भस्थापन करें तो सुशील, विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और **नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे** और **यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत, गूलर के एक पात्र में जमाए हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुणयुक्त कन्या भी होवे,** क्योंकि—

''आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।''

—यह छान्दोग्य० का वचन है ।

अर्थात् शुद्ध आहार, जो कि मद्यमांसादिरहित घृत, दुग्धादि, चावल, गेहूं आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि, बल, पुरुषार्थ, आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है । इसलिए पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें तो सन्तान और कुल नित्यप्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जायें । जब रजस्वला होने के समय में १२-१३ दिन शेष रहें, तब **शुक्ल पक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिलाके इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें । और मिताहारी होकर**

इसके पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी । गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्रि के गये पश्चात् प्रहर रात्रि रहे तक है । जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे, तब दोनों स्थिरशरीर, प्रसन्नवदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि, सब सूधा शरीर रखें । वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे । जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो, उस समय अपना पायु मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थित करे। तत्पश्चात् थोड़ा ठहर के स्नान करे । यदि शीतकाल हो तो **प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची डाल गर्म कर रखे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके** पश्चात् पृथक्-पृथक् शयन करें। यदि स्त्रीपुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाये कि गर्भ स्थिर हो गया तो उसके दूसरे दिन, और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थित हो गया है ।

अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के आरम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें[१]—

ऋतु-समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें तो अत्युत्तम सन्तान होवे। जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है, वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है । इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें । क्योंकि इस के न होने से कुल की हानि, नीचता, और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है ।

१. यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायें अर्थात् दो वार दो महीनों में गर्भाधान क्रिया निष्फल हो जाय, गर्भस्थिति न होवे तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे, तब **पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे, तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो मासा और यव के दाणों को सेक के पीसके दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके, पत्नी के हाथ में देके** उस से पति पूछे—**''किं पिबसि'' ?** इस प्रकार तीन वार पूछे, और स्त्री भी अपने पति को **''पुंसवनम्''** इस वाक्य को तीन वार बोलके उत्तर देवे । और उस का प्राशन करे । इसी रीति से पुनः-पुनः तीन वार विधि करना। तत्पश्चात् **सङ्खाहूली व भटकटाई ओषधि को जल में महीन पीसके उस का रस कपड़े में छानके पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिञ्चन करे ।** और पति—

ओम् इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती ।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम् ॥

इस मन्त्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करें । यह सूत्रकार का मत है ।

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः ।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा ॥१॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा ॥२॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा ॥३॥

—ऋ० मं० ५। सू० ७८ । मं० ७-९ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽ एजति ।
एवायं दशमास्योऽ अस्त्रज्जरायुणा सह स्वाहा ॥१॥
यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी ।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा ॥२॥

—यजुः० अ० ८। मं० २८, २९ ॥

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥१॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताꣳस्वाहा ॥२॥

—सामवेदे ॥

इन मन्त्रों से आहुति देकर, पूर्वलिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति देके, पुनः २३ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवें । पुनः स्त्री के भोजन-छादन का सुनियम करे । कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई, रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण अधिक लालमिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे । किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि, चावल, मिष्ट दधि, गेहूं, उर्द, मूंग, तूअर आदि अन्न, और पुष्टिकारक शाक खावें। उस में ऋतु-ऋतु के मसाले—गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि, और सर्दी में केशर कस्तूरी आदि डालकर खाया करें । युक्ताहार विहार सदा किया करें । दूध में सुंठी और ब्राह्मी ओषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे, जिस से सन्तान अतिबुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण कर्म स्वभाववाला होवे ॥

॥ इति गर्भाधानविधिः समाप्तः ॥

[१]

अथ पुंसवनम्

'पुंसवन' संस्कार का समय गर्भस्थिति-ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है । उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिये, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे । यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें, तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे । भोजन-छादन शयन-जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे, जिस से वीर्य स्थिर रहे, और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे ।

अत्र प्रमाणानि

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥१॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम् ॥२॥

—सामवेदे ॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥३॥

—अथर्व० का० ६। सू० ११॥

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिये। इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकाया-मजीतामोषधीं नस्तः करोति ॥१॥

प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके ॥२॥

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट से सुंघावे । और कुछ अन्य

पुष्ट अर्थात् गुडूच जो गिलोय वा ब्राह्मी ओषधि खिलावे ।

ऐसा ही पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है–

अथ पुꣳसवनं पुरा स्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥

इस के अनन्तर 'पुंसवन' उस को कहते हैं, जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवन संस्कार किया जाता है। इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी लिखा है ।

अथ क्रियारम्भ—पृष्ठ ४ से ११वें पृष्ठ के शान्तिकरण पर्यन्त कहे प्रमाणे (विश्वानि देव०) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें । और जितने पुरुष वहां उपस्थित हों, वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें और पृष्ठ ७-९ में कहे प्रमाणे स्वस्तिवाचन तथा पृष्ठ ९-११ में लिखे प्रमाणे शान्तिकरण करके, पृष्ठ १२ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश, यज्ञशाला तथा पृष्ठ १२-१३ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य और स्थालीपाक आदि करके और पृष्ठ १८-२० में लिखे प्रमाणे **(अयन्त इध्म०)** इत्यादि, **(ओम् अदिते०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रोक्त कर्म और **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार तथा **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में **(ओं प्रजापतये स्वाहा)**, पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** दो आहुति देकर नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से २ दो आहुति घृत की देवें–

ओम् आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥१॥
ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों को बोलके दो आहुति किये पश्चात् एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धरके यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले–

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघं नियाम् ॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेद आर्चिक और महावामदेव्यगान गाके जो-जो पुरुष वा स्त्री संस्कार-समय पर आये हों, उन को विदा कर दे ।

पुनः **वटवृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बांट, कपड़े में छान, गर्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे।** तत्पश्चात्–

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

—यजुः० अ० १३ । मं० ४॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥२॥

—यजुः०अ० ३१। मं० १७॥

इन २ दो मन्त्रों को बोलके पति अपनी गर्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धरके यह मन्त्र बोले—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ।
स्तोमऽ आत्मा छन्दाᳪंस्यङ्गानि यजूᳪंषि नाम ।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत ॥

—यजुः० अ० १२ । मं० ४ ॥

इस के पश्चात् स्त्री सुनियम युक्ताहार—विहार करे । **विशेषकर गिलोय ब्राह्मी ओषधि और सुंठी को दूध के साथ थोड़ी-थोड़ी खाया करे** और **अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक हरड़े आदि न खावे,** सूक्ष्म आहार करे । क्रोध, द्वेष, लोभादि दोषों में न फंसे । चित्त को सदा प्रसन्न रखे—इत्यादि शुभाचरण करे ॥

॥ इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[३]

अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार 'सीमन्तोनयन' कहते हैं। जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट आरोग्य गर्भ स्थिर उत्कृष्ट होवे, और प्रतिदिन बढ़ता जावे। इस में आगे प्रमाण लिखते हैं—

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोनयनम् ॥१॥

आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ॥२॥

अथास्यै युग्मेन शलालुग्रप्सेन त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवः स्वरोमिति त्रिः चतुर्वा॥

—यह आश्वलायनगृह्यसूत्र ॥

पुंसवनवत् प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥

—यह पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है।

अर्थ—गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन **मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो,** उसी दिन सीमन्तोनयन संस्कार करें। और पुंसवन संस्कार के तुल्य **छठे आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोनयन संस्कार करें।**

अथ विधि—इस में प्रथम २० पृष्ठ तक का विधि करके (अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके—

ओं देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केत॑न्नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाच॑न्नः
स्वदतु स्वाहा॑ ॥ —य०अ० ३०। मं० ७॥

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल-सेचन करके आघारावाज्य-भागाहुति ४ चार, और व्याहृति आहुति ४ चार—दोनों मिलके ८ आठ आहुति पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥

अर्थात् **चावल, तिल, मूंग** इन तीनों को सम भाग लेके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

अर्थात् धोके इन की खिचड़ी बना, उस में पुष्कल घी डालके

निम्नलिखित मन्त्रों से ८ आठ आहुति देवें—

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् । वयं देवस्य धीमहि सुमतिं वाजिनीवती स्वाहा ॥ इदं धात्रे इदन्न मम ॥१॥

ओं धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान । धाता कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा ॥ इदं धात्रे इदन्न मम ॥२॥

ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना । सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं स्वाहा ॥ इदं राकायै इदन्न मम ॥३॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा स्वाहा ॥ इदं राकायै इदन्न मम ॥४॥ —ऋ०मं० २। सू० ३२ । मं० ४, ५॥

नेजमेष परा पत सुपुत्रः पुनरा पत ।
अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमा धेहि यः पुमान्त्स्वाहा ॥५॥
यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमा दधे ।
एवं त गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥६॥
विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
पुमांसं पुत्राना धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥७॥

इन ७ सात मन्त्रों से **खिचड़ी की सात आहुति** देके, पुनः **(भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्व०)** पृष्ठ २२ में लिखित इस से एक, सब मिलाके ८ आठ आहुति देवें। और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे **(ओं प्रजापतये०)** मन्त्र से एक भात की, और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति देवें। तत्पश्चात् **(ओं त्वन्नो अग्ने०)** पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे ८ आठ घृत की आहुति और **(ओं भूरग्नये०)** पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर पति और पत्नी एकान्त में जाके उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात्=पृष्ठ की ओर बैठ—

ओं सुमित्रिया नऽ आपऽ ओषधयः सन्तु ।
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥१॥
—य०अ० ६। मं० २२॥

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम् ।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२॥
—य०अ० ७। मं० २४ ॥
ओम् अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव ।
पर्णं वनस्पतेऽनु त्वाऽनु त्वा सूयताꣳ रयिः ॥३॥
ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय ।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥४॥
ओं राकामहꣳ सुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुक्थ्यम् ॥५॥
ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा ॥६॥
किं पश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥७॥

इन मन्त्रों को पढ़के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तेल डाल, कंघे से सुधार, हाथ में उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के कांटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर, पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बांधकर यज्ञशाला में आवें । उस समय वीणा आदि बाजे बजवावें । तत्पश्चात् पृष्ठ २३–२४ में लिखे प्रमाणे सामवेद का गान करें । पश्चात्—

ओं सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः ।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यम् असौ * ॥

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके, पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें।

तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डालके गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे। उस समय पति स्त्री से पूछे—**"किं पश्यसि"**? स्त्री उत्तर देवे—**"प्रजां पश्यामि"** ।

तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध कुलीन सौभाग्यवती पुत्रवती गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियां बैठें । प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें । और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे । और वे वृद्ध समीप बैठी हुईं उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें—

ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव ॥

ऐसे शुभ माङ्गलिक वचन बोलें । तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें ॥

॥ इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

* यहां किसी नदी का नामोच्चारण करें ।

[१]

अथ जातकर्मसंस्कारविधिः

इस का समय और प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति ॥

इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है ।

इसी प्रकार आश्वलायन, गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है ।

जब प्रसव होने का समय आवे, तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे–

ओम् एज॑तु दश॑मास्यो॒ गर्भो॑ ज॒रायु॑णा स॒ह ।
यथा॒यं वा॒युरेज॑ति॒ यथा॑ समु॒द्र एज॑ति ।
ए॒वायं दश॑मास्यो॒ अस्र॑ज्ज॒रायु॑णा स॒ह ॥१॥

–यजुः० अ० ८। मं० २८॥

इस से मार्जन करने के पश्चात्–

ओम् अवैतु पृश्निशेवलꣳ शुने जराय्वत्तवे ।
नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम् ॥

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे ।

कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्ययेन प्राशयेत् ॥

जब पुत्र का जन्म होवे, तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ, शुद्ध कर, पिता के गोद में बालक को देवें । पिता जहां वायु और शीत का प्रवेश न हो, वहां बैठके एक बीता भर नाड़ी को छोड़, ऊपर सूत से बांधके, उस बन्धन के ऊपर से नाड़ीछेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पोंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना जो प्रसूता–घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रखा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्वलिखित प्रमाणे चयन कर पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त पृष्ठ

१७–१९ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान करके, अग्नि को प्रदीप्त करके, सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रखके, हाथ–पग धोके, एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित* के लिये कुण्ड के दक्षिण भाग में रखे, वह उस पर उत्तराभिमुख बैठे और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा, उस पर उपवस्त्र ओढ़के पूर्वाभिमुख बैठे तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रखके पुरोहित पद के स्वीकार के लिये बोले–

ओम् आ वसोः सदने सीद ॥

तत्पश्चात् पुरोहित–**ओं सीदामि ॥**

बोलके आसन पर बैठके, पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **अयं त इध्म०** आदि चार मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और **व्याहृति आहुति** ४ चार दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति देनी । तत्पश्चात्–

ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम् । सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ इदं संराधिन्यै इदन्न मम ॥१॥

ओं विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत् । परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥ इदं धात्रे इदन्न मम ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों से २ दो आज्याहुति करके, पृष्ठ २३–२४ में लिखे प्रमाणे **वामदेव्य गान** करके, ४–११ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरोपासना** करें ।

तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बरोबर मिलाके, जो प्रथम सोने की शलाका कर रखी हो, उस से बालक की जीभ पर **''ओ३म्''** यह अक्षर लिखके उस के दक्षिण कान में **''वेदोऽसीति**'–'तेरा गुप्त नाम वेद है' ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को **नीचे लिखे मन्त्र से** थोड़ा–थोड़ा चटावे–

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्। आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥१॥

ओं भूस्त्वयि दधामि ॥२॥

ओं भुवस्त्वयि दधामि ॥३॥

---

* पुरोहित=धर्मात्मा शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा, विद्वान्, सद्धर्मी, कुलीन, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, पूजनीय, सर्वोपकारी गृहस्थ की 'पुरोहित' संज्ञा है ।

ओं स्वस्त्वयि दधामि ॥४॥

ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि ॥५॥

ओं सद॑सु॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म् ।
स॒निं मे॒धाम॑यासिष॒ꣳ स्वाहा॑ ॥६॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से **छह वार घृत-मधु प्राशन कराके** तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस, वस्त्र से छान, एक पात्र में रखके हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ा सा लेके–

ओम् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम् ॥

इस मन्त्र को बोलके बालक के मुख में एक विन्दु छोड़ देवे। यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है, सब का नहीं ।

पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगाके निम्नलिखित मन्त्र बोले–

ओं मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती ।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥१॥

ओम् अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन
त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥२॥

ओं सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्माँस्तेन० * **॥३॥**

ओं ब्रह्माऽऽयुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन० ॥४॥

ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० ॥५॥

ओम् ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० ॥६॥

ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० ॥७॥

ओं यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन० ॥८॥

ओं समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन
त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥९॥

इन नव मन्त्रों का जप करे । इसी प्रकार बांयें कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे ।

इस के पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझ न पड़े, धरके निम्नलिखित मन्त्र बोले–

ओम् इन्द्र श्रेष्ठा॑नि॒ द्रवि॑णानि धे॒हि॒ चित्ति॒ं दक्ष॑स्य सुभग॒त्वम॒स्मे।
पोष॑ꣳ रयी॒णामरि॑ष्टिं त॒नूनां॑ स्वा॒द्मानं॑ वा॒चः सु॑दिन॒त्वमह्ना॑म् ॥१॥

* यहां पूर्व मन्त्र का शेषभाग (त्वा) इत्यादि उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले ।

अ॒स्मे प्र य॑न्धि मघवन्नृजीषि॒न्निन्द्र॑ रा॒यो वि॒श्ववा॑रस्य॒ भूरेः॑ ।
अ॒स्मे श॒तं श॒रदो॑ जी॒वसे॑ धा अ॒स्मे वी॒राञ्छश्व॑त इन्द्र शिप्रिन् ॥२॥

ओम् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥३॥

इन तीन मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात्–

ओं त्र्या॒यु॒षं ज॒मद॑ग्नेः क॒श्यप॑स्य त्र्यायु॒षम् ।
यद्दे॒वेषु॑ त्र्यायु॒षं तन्नो॑ऽ अस्तु त्र्यायु॒षम् ॥

इस मन्त्र का तीन वार जप करे ।

तत्पश्चात् बालक के स्कन्धों पर से हाथ उठा ले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुआ हो वहां जाके–

ओं वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम् ॥१॥

इस मन्त्र का जप करे । तथा–

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥२॥
यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदामृतस्येह नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥३॥
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे[२] प्रजापती ।
यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि ॥४॥
यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् ।
तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥५॥

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे ।

कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि ।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥६॥

स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ ॥७॥

इन मन्त्रों को पढ़के बालक को आशीर्वाद देवे । पुनः–

अङ्गाद् अङ्गात् सꣳस्रवसि हृदयादधिजायसे ।
प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥८॥
अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥९॥
अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
आत्माऽसि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥१०॥
पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥११॥

इन मन्त्रों को पढ़के पुत्र के शिर का आघ्राण करे अर्थात् सूंघे। इसी प्रकार जब–जब परदेश से आवे वा जावे, तब–तब भी इस क्रिया को करे, जिस से पुत्र और पिता–माता में अति प्रेम बढ़े ।

ओम् इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः ।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत् ॥

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके, प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके, पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछके–

ओम् इ॒मꣳ स्तन॒मूर्ज॑स्वन्तं धया॒पां प्रपी॑नमग्ने सरि॒रस्य॒ मध्ये॑ ।
उत्स॑ जुषस्व॒ मधु॑मन्तमर्वन्त्समु॒द्रिय॒ꣳ सद॑न॒मा वि॑शस्व ॥

इस मन्त्र को पढ़के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे। इसके पश्चात्–

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥

इस मन्त्र को पढ़के वाम स्तन बालक के मुख में देवे । तत्पश्चात्–

ओम् आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ ।
एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जाग्रथ ॥

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भरके दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत–स्थान में दश दिन तक रहे । **वहां नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियाँ देवे–**

ओं शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥

इदं शण्डामर्काभ्यामुपवीराय शौण्डिकेयायोलूखलाय मलिम्लुचाय द्रोणेभ्यश्च्यवनाय इदन्न मम ॥१॥

ओम् आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥

इदमालिखतेऽनिमिषाय किंवदद्भ्य उपश्रुतये हर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय च्यवनाय इदन्न मम ॥२॥

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके पश्चात् अच्छे-अच्छे विद्वान् धार्मिक वैदिक मतवाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर **आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ** आनन्दित होके करें—

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥१॥

—अथर्व०का० ६। अनु० ४ । सू० ४१॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२॥

—अथर्व० का० १२। अनु० २। मं० २३॥

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥३॥

—अथर्व०का० १८। अनु० ३। मं० ६१॥

॥ इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[५]

अथ नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—नाम चास्मै दद्युः ॥१॥
घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥२॥
चतुरक्षरं वा ॥३॥
द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥४॥
युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥५॥ अयुजानि स्त्रीणाम् ॥६॥
अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामो-पनयनात् ॥७॥ —इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ॥

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति—द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्, अयुजाक्षरमाकारान्तꣳ स्त्रियै । शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है॥

नामकरण—अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे ।

नामकरण का काल—जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके **१० दिन छोड़ ग्यारहवें, वा एक सौ एकवें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे ।**

जिस दिन नाम धरना हो, उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट मित्र हितैषी लोगों को बुला, यथावत् सत्कार कर, क्रिया का आरम्भ यजमान बालक का पिता और ऋत्विज करें ।

पुनः पृष्ठ ४-२१ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** और सामान्यप्रकरणस्थ सम्पूर्ण विधि करके **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **(त्वन्नो अग्ने०)** इत्यादि आठ मन्त्रों से ८ आठ आहुति, अर्थात् सब मिलाके १६ घृताहुति करें ।

तत्पश्चात् बालक को शुद्ध स्नान करा, शुद्ध वस्त्र पहिनाके उस की माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से आ **दक्षिण भाग** में होकर, बालक का **मस्तक उत्तर दिशा में रखके,** बालक

के पिता के हाथ में देवे । **और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे ।** तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे । पश्चात् जो उसी संस्कार के लिए कर्त्तव्य हो, उस प्रथम प्रधान होम को करें । पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब शाकल्य सिद्ध कर रखें। उस में से प्रथम घी का चमसा भरके–

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥

इस मन्त्र से एक आहुति देकर, पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ चार आहुति देनी। अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र, और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से, अर्थात् तिथि नक्षत्र और उन के देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोलके ४ चार घी की आहुति देवे । जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तो–

ओं प्रतिपदे स्वाहा । ओं ब्रह्मणे स्वाहा । ओम् अश्विन्यै स्वाहा। ओम् अश्विभ्यां स्वाहा ॥*

तत्पश्चात् **पृष्ठ २१ में लिखी हुई स्विष्टकृत्-मन्त्र से एक आहुति और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति आहुति** दोनों मिलके ५ पांच आहुति देके, तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे । और पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके–

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ॥

---

* **तिथिदेवताः**–१. ब्रह्मन् । २. त्वष्टृ । ३. विष्णु । ४. यम । ५. सोम। ६. कुमार । ७. मुनि । ८. वसु । ९. शिव । १०. धर्म । ११. रुद्र । १२. वायु । १३. काम । १४. अनन्त । १५. विश्वेदेव। ३०. पितर ।

नक्षत्रदेवताः–अश्विनी–अश्वी । भरणी–यम । कृत्तिका–अग्नि। रोहिणी–प्रजापति । मृगशीर्ष–सोम । आर्द्रा–रुद्र। पुनर्वसु–अदिति । पुष्य–बृहस्पति। आश्लेषा–सर्प । मघा–पितृ। पूर्वाफाल्गुनी–भग । उत्तराफाल्गुनी–अर्यमन् । हस्त–सवितृ । चित्रा–त्वष्टृ । स्वाति–वायु । विशाखा–इन्द्राग्नी। अनुराधा–मित्र। ज्येष्ठा–इन्द्र । मूल–निर्ऋति । पूर्वाषाढा–अप् । उत्तराषाढा–विश्वेदेव । श्रवण–विष्णु । धनिष्ठा–वसु । शतभिषज्–वरुण । पूर्वाभाद्रपदा–अजैकपाद् । उत्तराभाद्रपदा–अहिर्बुध्न्य। रेवती–पूषन् ।

भूर्भुवः स्वः । सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥   —यजुः अ० ७। मं० २९॥

ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि ।

आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥

जो यह ''असौ'' पद है, इस के पीछे बालक का ठहराया हुआ नाम, अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पांचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़के तीसरा चौथा पांचवाँ और य र ल व—ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें* ।

जैसे—देव अथवा जयदेव। ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि । और जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पांच अक्षर का नाम रखे—श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि । नामों को प्रसिद्ध बोलके, पुनः **''असौ''** पद के स्थान में बालक का नाम धरके पुनः **(ओं कोऽसि०)** ऊपर लिखित मन्त्र बोलना ।

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ ॥

---

* ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म ये स्पर्श और य, र, ल, व ये चार अन्तःस्थ और ह एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहियें, और स्वरों में से कोई भी स्वर हो । जैसे—भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः इत्यादि । पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिये, तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रखे । अन्त्य में दीर्घ स्वर और तद्धितान्त भी होवे । जैसे—श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा इत्यादि । परन्तु स्त्रियों के जिस प्रकार के नाम कभी न रखे, उसमें प्रमाण—

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ मनुस्मृतौ

(ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि (नदी) गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि (अन्त्य) चाण्डाली इत्यादि (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि (अहि) सर्पिणी, नागी इत्यादि (प्रेष्य) दासी, किंकरी इत्यादि (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं ।

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं, वैसे आशीर्वाद देवें । इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुनाके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे **महावामदेव्य गान** करें ।

तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे । और सब लोग जाते समय **पृष्ठ ४-६ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—**

''हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः ।''

हे बालक ! [तू] आयुष्मान्, विद्यावान्, धर्मात्मा, यशस्वी, पुरुषार्थी, प्रतापी, परोपकारी, श्रीमान् हो ।।

।। इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः ।।

[६]

अथ निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'निष्क्रमण' संस्कार उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायुस्थान शुद्ध हो, वहां भ्रमण कराना होता है । उस का समय जब अच्छा देखें तभी बालक को बाहर घुमावें । अथवा **चौथे मास** में तो अवश्य भ्रमण करावें । इस में प्रमाण—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति—तच्चक्षुरिति ॥

—यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ।।

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम् ॥

—यह पारस्कर गृह्यसूत्र में भी है ।।

अर्थ—निष्क्रमण संस्कार के काल के **दो भेद हैं**—एक **बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया,** और दूसरा **चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो,** उस तिथि में यह संस्कार करे ।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा, शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे । पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले आके पति के दक्षिण पार्श्व में होकर, पति के सामने आकर, बालक का **मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रखके** पति के हाथ में देवे । पुनः पति के पीछे की ओर घूमके बांयें पार्श्व में पश्चिमाभिमुख **खड़ी रहे** ।

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥१॥
ओं यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥२॥
ओम् इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापती ।
यथायं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि ॥३॥

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ४-२३ में लिखे प्रमाणे **परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** आदि और **सामान्यप्रकरणोक्त समस्त विधि कर** और पुत्र को देखके इन

निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर को स्पर्श करे—

ओम् अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥१॥

ओं प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि ।
सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥२॥
गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि ।
सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥३॥

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपे—

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः ।
अस्मे शतꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥१॥
इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनाꣳ स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥२॥

इस मन्त्र को वाम कान में जपके **पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे** । और मौन करके स्त्री के शिर का स्पर्श करे । तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठके **बालक को सूर्य का दर्शन** करावे । और निम्नलिखित मन्त्र वहां बोले—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

इस मन्त्र को बोलके थोड़ा सा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में लावे । सब लोग—

"त्वं जीवं शरदः शतं वर्धमानः" ॥

इस वचन को बोलके आशीर्वाद देवें ।

तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें ।

तत्पश्चात् जब **रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो,** तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना **दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके** देवे । और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ, अञ्जलि में जल भरके चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके—

ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् ।
तदहं विद्वांꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे ।

तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सम्मुख आके, पति से पुत्र को लेके, पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रखके खड़ी रहे और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर **(ओं यददश्च०)** इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथ्वी पर छोड़के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें ॥

॥ इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[७]

अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

'अन्नप्राशन' संस्कार तभी करे, जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे । इस में आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥१॥

घृतौदनं तेजस्कामः॥२॥

दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥३॥

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है ॥

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे । जिस को **तेजस्वी बालक करना हो, वह घृतयुक्त भात अथवा दही सहत और घृत तीनों भात के साथ मिलाके निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे ।** अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ४-२४ में कहे हुए सम्पूर्ण विधि को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो, उसी दिन यह संस्कार करे । और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥१॥

ओम् अपानाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥२॥

ओं चक्षुषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥३॥

ओं श्रोत्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥४॥

ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥५॥

इन पांच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना।

जब अच्छे प्रकार पक जावें तब उतार थोड़े ठण्डे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥१॥

ओम् अपानाय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥२॥

ओं चक्षुषे त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥३॥

ओं श्रोत्राय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥४॥

ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥५॥

इन पांच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक्-पृथक् देके पृष्ठ १९-२० में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान,

समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार मिलके ८ आठ घृत की आहुति देके, पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा ॥
इदं वाचे इदन्न मम ॥१॥[४]

वाजो नोऽअद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँऽ ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयं स्वाहा ॥ इदं वाचे वाजाय इदन्न मम ॥२॥

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें । तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डालके—

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा ॥ इदं प्राणाय इदन्न मम ॥१॥
ओमपानेन गन्धानशीय स्वाहा ॥ इदमपानाय इदन्न मम ॥२॥
ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा ॥ इदं चक्षुषे इदन्न मम ॥३॥
ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ॥ इदं श्रोत्राय इदन्न मम ॥४॥

इन मन्त्रों से ४ चार आहुति देके, **(ओं यदस्य कर्मणो०)** पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत् आहुति एक देवे । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार, और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **(ओं त्वन्नो०)** इत्यादि से ८ आठ आज्याहुति मिलके १२ बारह आहुति देवे।

उस के पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही मधु और उस में घी यथायोग्य किञ्चित्-किञ्चित् मिलाके, और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े से मिलाके बालक के रुचि प्रमाणे—

ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्र दातारं तारिषऽ ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

इस मन्त्र को पढ़के थोड़ा-थोड़ा पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे। यथारुचि खिला, बालक का मुख धो और अपने हाथ धोके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके, जो बालक के माता-पिता और अन्य वृद्ध स्त्री-पुरुष आये हों, वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

''त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः ॥''

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके, पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सब को प्रसन्नतापूर्वक विदा करें ॥

॥ इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[८]

अथ चूडाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवाँ संस्कार 'चूडाकर्म' है, जिस को केशछेदन-संस्कार भी कहते हैं । इस में आश्वलायन गृह्यसूत्र का मत ऐसा है—

तृतीये वर्षे चौलम् ॥१॥

उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति॥२॥

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है—

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ॥

इसी प्रकार गोभिलीय गृह्यसूत्र का भी मत है ॥

यह चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म के तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना । उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्दमङ्गल हो, उस दिन यह संस्कार करे ।

विधि—आरम्भ में पृष्ठ ४-२४ में लिखित विधि करके चार शरावे ले । एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भरके वेदी के उत्तर में धर देवे । धरके पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **''ओम् अदितेऽनुमन्यस्व''** इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू, और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **'ओं देव सवितः प्रसुव०'** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटकाके, पूर्व पृष्ठ १९ में लिखित **अग्न्याधान समिदाधान** कर अग्नि को प्रदीप्त करके, जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष्य देकर पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे आठ **आज्याहुति,** सब मिलके १६ सोलह आहुति देके, पृष्ठ २१-२२ में लिखे प्रमाणे **''ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि०''** इत्यादि मन्त्रों से चार आज्याहुति प्रधान होम की देके, पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्** मन्त्र से एक आहुति मिलके पाँच घृत की आहुति देवें ।

इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देखके—

ओम् आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि । आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः॥

—अथर्व० कां० ६। सू० ६८॥

इस मन्त्र का जप करके, **पिता** बालक के पृष्ठ-भाग में बैठके किञ्चित् **उष्ण और किञ्चित् ठण्डा जल** दोनों पात्रों में लेके—

ओम् उष्णेन वाय उदकेनैधि ॥

इस मन्त्र को बोलके दोनों पात्र का जल **एक पात्र में मिला देवे।** पश्चात् थोड़ा **जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई लेके—**

ओम् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥१॥

—अथर्व०कां० ६। सू० ६८ ॥

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥२॥

इन मन्त्रों को **बोलके,** बालक के **शिर के बालों में तीन वार हाथ** फेरके केशों को **भिगोवे** । तत्पश्चात् कङ्घा लेके केशों को सुधार के इकट्ठा करे, अर्थात् बिखरे न रहें । तत्पश्चात्—

ओम् ओषधे त्रायस्वैनम् ॥[१]

इस मन्त्र को बोलके **तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के** समूह को हाथ से दबाके—

ओं विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि ॥

इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽ अस्तु मा मा हिंसीः॥

इस मन्त्र को बोलके **छुरे को दहिने हाथ में लेवे** । तत्पश्चात्—

ओं स्वधिते मैनं हिंसीः ॥१॥

ओं निर्वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥२॥

इन दो मन्त्रों को बोलके उस छुरे और उन कुशाओं को केशों के समीप ले जाके—

१—ओं येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥

—अथर्व० का० ६। सू० ६८ ॥

इस मन्त्र को बोलके **कुशासहित उन केशों को काटे*** और वे काटे हुए केश और **दर्भ शमीवृक्ष के पत्रसहित,** अर्थात् यहां शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहिएँ, उन सब को **लड़के का पिता** और **लड़के की मां एक शरावा में रक्खें** और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो, उस को **गोबर से उठाके शरावा में** अथवा उस के पास रखें। तत्पश्चात् इसी प्रकार—

२—ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् ।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से दूसरी वार केश का समूह **दूसरी ओर का काटके** उसी प्रकार शरावा में रखे । तत्पश्चात्—

३—ओं येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम् ।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से तीसरी वार उसी प्रकार केशसमूह को काटके उपरि उक्त तीन मन्त्रों—अर्थात् **(ओं येनावपत्०), (ओं येन धाता०), (ओं येन भूयश्च०),** और—

४—ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत् ।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे ॥

इस एक, इन चार मन्त्रों को बोलके **चौथी वार** इसी प्रकार केशों के **समूह को काटे** । अर्थात् **प्रथम दक्षिण बाजू के केश** काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् **बायीं ओर के केश काटने का विधि** करे। तत्पश्चात् **उस के पीछे आगे के केश काटे** ।

परन्तु चौथी वार काटने में **''येन पूषा०''** इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरिश्चरादिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

यह मन्त्र बोल **चौथी वार** छेदन करे । तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥

इस एक मन्त्र को बोलके शिर के पीछे के केश एक वार काटके इसी **(ओं त्र्यायुषं०)** मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ

---

* केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़ कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़के बीच में से केशों को छुरे से काटे। यदि छुरे के बदले कैंची से काटे तो भी ठीक है ।

से बालक के शिर पर हाथ फेरके मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके—

ओं यत् क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्ता वपसि केशान् ।
शुन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः ॥

इस मन्त्र को बोलके नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज कराके, नापित से बालक का पिता कहे कि—'इस शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिगो । सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर । कहीं छुरा न लगने पावे'। इतना कहके **कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को ले जा,** उसके सम्मुख **बालक को पूर्वाभिमुख** बैठाके, जितने केश रखने हों, उतने ही केश रखे । परन्तु **पांचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे,** अथवा **किसी एक ओर रखे। अथवा एक वार सब कटवा देवे, पश्चात् दूसरी वार के केश रखने अच्छे होते हैं ।**

जब क्षौर हो चुके, तब कुण्ड के पास पड़ा वा धरा हुआ देने के योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि **जिनमें प्रथम अन्न भरा था, नापित को देवे** और मुण्डन किये हुए सब केश दर्भ शमीपत्र और गोबर नाई को देवे । **यथायोग्य उस को धन वा वस्त्र भी देवे और नाई केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर को जङ्गल में ले जा, गढ़ा खोदके उस में सब डाल ऊपर से मिट्टी से दबा देवे ।** अथवा गोशाला, नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे। अथवा किसी को साथ भेज देवे, वह उस से उक्त प्रकार करवा लेवे ।

क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा, बालक के शिर पर लगाके स्नान करा, उत्तम वस्त्र पहिनाके, बालक को पिता अपने पास ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेद का महावामदेव्यगान करके, बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता-पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

''ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः'' ॥

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को पधारें। और बालक के माता-पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रक्खें।।

॥ इति चूडाकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[९]

अथ कर्णवेधसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—

कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥

—यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ॥

बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पांचवें वर्ष का उचित है ।

जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो, उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण कराके बालक की माता यज्ञशाला में लावे । पृष्ठ **४-२४ तक लिखा हुआ सब विधि करे** और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धरके—

ओं भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॑र्यजत्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाꣳस॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॑ ॥

इस मन्त्र को पढ़के चरक सुश्रुत वैद्यक-ग्रन्थों के जाननेवाले सद्वैद्य के हाथ से **कर्ण वा नासिका वेध** करावें कि जो नाड़ी आदि को बचाके वेध कर सके । पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान । और—

ओं व॒क्ष्यन्ती॒वेदा ग॑नीग॒न्ति कर्णं॑ प्रि॒यꣳ सखा॑यं परिषस्वजा॒ना ।
योषे॑व शिङ्क्ते॒ वित॒ताधि॒ धन्व॒ञ्ज्या इ॒यꣳ सम॑ने पा॒रय॑न्ती ॥

इस मन्त्र को पढ़के दूसरे वाम कर्ण का वेध करे ।

तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे कि जिस से छिद्र पूर न जावें । और ऐसी ओषधि उस पर लगावे, जिस से कान पकें नहीं और शीघ्र अच्छे हो जावें ॥

॥ इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१०]

अथोपनयन*–संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि–

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भाष्टमे वा ॥२॥
एकादशे क्षत्रियम् ॥३॥ द्वादशे वैश्यम् ॥४॥
आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥५॥
आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥६॥

–यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है ॥

इसी प्रकार पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है ॥

अर्थ–जिस दिन जन्म हुआ हो, अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उस से ८ आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें तथा ब्राह्मण के १६ सोलह, क्षत्रिय के २२ बाईस, और वैश्य के बालक का २४ चौबीसवें वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये। यदि पूर्वोक्त काल में इन का यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें।

श्लोक– **ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।**
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

–यह मनुस्मृति का वचन है।

जिस को शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।

परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे। उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक, श्रेष्ठबुद्धि और शीघ्रसमर्थ बढ़नेवाले होते हैं। जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें।

यज्ञोपवीत का समय–उत्तरायण सूर्य, और–

---

* उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना वा होना ॥

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् । ग्रीष्मे राजन्यम् ।
शरदि वैश्यम् । सर्वकालमेके ॥ —यह शतपथब्राह्मण का वचन है ॥

अर्थ—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें । अथवा सब ऋतुओं में उपनयन हो सकता है और इस का प्रातःकाल ही समय है ।

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः॥
—यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ॥

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो, उस से तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिये। उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एक वार वा अनेक वार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का 'यवागू' अर्थात् यव को मोटा दलके गुड़ के साथ पतली, जैसी कि कढ़ी होती है, वैसी बनाकर पिलावें । और 'आमिक्षा' अर्थात् जिस को श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं, वैसी जो दही चौगुना, दूध एक गुना तथा यथायोग्य खांड केसर डालके कपड़े में छानकर बनाया जाता है,उस को वैश्य का लड़का पीके व्रत करे, अर्थात् जब-जब लड़कों को भूख लगे, तब-तब तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें, अन्य पदार्थ कुछ न खावें-पीवें ।

विधि—अब जिस दिन उपनयन करना हो, उस के पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे । और उस दिन पृष्ठ ४-२४वें तक सब कुण्ड के समीप सामग्री धर, प्रातःकाल बालक का क्षौर करा, शुद्ध जल से स्नान करावे । उत्तम वस्त्र पहिना, यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को मिष्टान्नादि का भोजन कराके, वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे और बालक का पिता और पृष्ठ १७-१८ में लिखे प्रमाणे ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने-अपने आसन पर बैठ, यथावत् **आचमनादि** क्रिया करें।

पश्चात् कार्यकर्त्ता बालक के मुख से—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि ॥

ये वचन बुलवाके आचार्य*—

* 'आचार्य' उस को कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जाननेहारा, छल-कपट-रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन-मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे, और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे ॥

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥

इस मन्त्र को बोलके बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहिनावे। पश्चात् बालक आचार्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥१॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥२॥

इन मन्त्रों को बोलके आचार्य बायें स्कन्ध के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे । तत्पश्चात् बालक को अपने दहिने ओर साथ बैठाके ईश्वर की **स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन** और **शान्तिकरण** का पाठ करके **समिदाधान अग्न्याधान** कर **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०)** इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका, पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना ।

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष्य में धर, चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार, और **व्याहृति आहुति** ४ चार तथा पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे **आज्याहुति** ८ आठ, तीनों मिलके १६ सोलह घृत की आहुति देके, पश्चात् बालक के हाथ से प्रधानहोम, जो विशेष शाकल्य बनाया हो, उस की आहुतियाँ निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी—**(ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि०)** पृष्ठ २१–२२ में लिखे प्रमाणे ४ चार आज्याहुति देवें । तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम् ।
तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥
इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥
ओं वायो व्रतपते०* स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥२॥
ओं सूर्य व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥३॥
ओं चन्द्र व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥४॥
ओं व्रतानां व्रतपते० स्वाहा ॥
इदमिन्द्राय व्रतपतये इदन्न मम ॥५॥

इन ५ पांच मन्त्रों से ५ पांच आज्याहुति दिलानी । उस के पीछे पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे

* इसके आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिए ।

प्रमाणे स्विष्टकृत् आहुति १ एक और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे प्राजापत्याहुति १ एक, ये सब मिलके ६ छह घृत की आहुति देनी। सब मिलके १५ पन्द्रह आहुति बालक के हाथ से दिलानी ।

उसके पश्चात् आचार्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे । और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे। तत्पश्चात् आचार्य बालक की ओर देखके–

ओम् आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं युयोतन ।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥१॥

इस मन्त्र का जप करे ।

माणवकवाक्यम्–''ओं ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व'' ।
आचार्योक्तिः–''को नामासि[1] ?''
बालकोक्तिः–''एतन्नामास्मि[2] ।''

तत्पश्चात्–

ओम् आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ऽ ऊ॒र्जे द॑धातन ।
म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥१॥
यो व॑ः शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह न॑ः ।
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तर॑ः ॥२॥
तस्मा॒ऽ अर॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ ।
आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों को पढ़के बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी ।

तत्पश्चात् आचार्य अपनी हस्ताञ्जलि भरके–

ओं तत्स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम् ।
श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं॒ तुरं॒ भग॑स्य धीमहि ॥

इस मन्त्र को पढ़के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़के, बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठसहित पकड़के–

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ* ॥

---

१. तेरा नाम क्या है, ऐसा पूछना ।
२. मेरा यह नाम है ।
* 'असौ' इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिए ।

इस मन्त्र को पढ़के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना । इसी प्रकार दूसरी वार, अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर, बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भरके, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के दूसरी वार–

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ* ॥

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे । पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में जल भर, पुनः बालक की अञ्जलि में भर, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के–

ओम् अग्निराचार्यस्तव, असौ* ॥

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वाके, बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देखके आचार्य–

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय समामृत ॥

इस एक और पृष्ठ ५४ में लिखे प्रमाणे (**तच्चक्षुर्देवहितम्०**) इस दूसरे मन्त्र को पढ़के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालक सहित आचार्य सभामण्डप में आ, यज्ञकुण्ड की उत्तरबाजू की ओर बैठके–

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ॥

ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, असौ* ॥

इस मन्त्र को पढ़े । और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे। पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्ध पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श, और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके–

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्त्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम्* ॥१॥

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्–

ओम् अहुर इदं ते परिददामि, अमुम्* ॥२॥

इस मन्त्र से उदर पर । और–

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम्* ॥३॥

इस मन्त्र से हृदय ।

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ* ॥४॥

इस मन्त्र को बोलके दक्षिण स्कन्ध । और–

---

* 'असौ' और 'अमुम्' इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए ।

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥५॥

इस मन्त्र को बोलके वाम हाथ से बायें स्कन्धा पर स्पर्श करके, बालक के हृदय पर हाथ धरके—

ओं तं धीरा॑सः क॒वय॒ उन्न॑यन्ति स्वा॒ध्यो॒३॒॑ मन॑सा दे॒वयन्त॑ः ॥६॥

इस मन्त्र को बोलके आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखके—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

आचार्य इस प्रतिज्ञामन्त्र को बोले ।

अर्थात्—'हे शिष्य बालक ! तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं । तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे । और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर। और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे । यह प्रतिज्ञा करावे ।

इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि—हे आचार्य! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं । मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये । और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रखे ।

इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः—को नामाऽसि ?

तेरा नाम क्या है ?

बालकोक्तिः—[असौ] अहम्भोः ।

मेरा अमुक नाम है । ऐसा उत्तर देवे ।

आचार्यः—कस्य ब्रह्मचार्यसि ?

तू किस का ब्रह्मचारी है ?

बालकः—भवतः ।

आपका ।

आचार्य बालक की रक्षा के लिये—

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असौ* ॥

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात्—

* 'असौ' इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए।

ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥१॥

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि । देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि । द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि । सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥२॥

इन मन्त्रों को बोल बालक को शिक्षा करे कि—'तू प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो' ।

यह उपनयन संस्कार पूरे हुए पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो तो उसी दिन करना । और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता, और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे। और माता-पिता आचार्य सम्बन्धी इष्ट मित्र सब मिलके—

'ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान्, तेजस्वी, वर्चस्वी भूयाः॥'

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को सिधारें ॥

॥ इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[११]

अथ वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

'वेदारम्भ' उस को कहते हैं—'जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग[१] चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना।

समय—जो दिन उपनयन-संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है। यदि उस दिवस में न हो सके, अथवा करने की इच्छा न हो तो दूसरे दिन करे । यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे ।

विधि—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो, उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके, शुद्ध वस्त्र पहिना, पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता, यदि पिता न हो तो आचार्य बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठे ।

तत्पश्चात् पृष्ठ ४-११ तक **ईश्वरस्तुति,**[२] **प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** करके, पृष्ठ १८-१९ में **(भूर्भुवः स्वः०)** इस मन्त्र से अग्न्याधान, **(ओं अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिदाधान, पृष्ठ २० में **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर और **(ओं देव सवितः०)** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटकाके पृ० १९ में **(उद्बुध्यस्वाग्ने०)** इस मन्त्र से अग्नि को प्रदीप्त करके, प्रदीप्त समिधा पर, पृष्ठ २०-२१ में **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार, **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में **आज्याहुति** ८ आठ मिलके १६ सोलह आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान[३] होमाहुति दिलाके, पश्चात् पृष्ठ २१ में **व्याहृति आहुति** ४ चार और **स्विष्टकृद् आहुति** १ एक, तथा पृष्ठ २१ में **प्राजापत्याहुति**

---

१. **अङ्ग**—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष । **उपाङ्ग**—पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त । **उपवेद**—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र । **ब्राह्मण**—ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ । **वेद**—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन सब को क्रम से पढ़े ।

२. जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे, उस को पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करना आवश्यक नहीं ।

३. 'प्रधान होम' उस को कहते हैं, जो संस्कार में मुख्य करके किया जाता हो।

१ एक मिलकर छह आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी । तत्पश्चात्–

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मां कुरु । यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि । एवं माꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु । यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि । एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना ।

तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके, पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे (**अदितेऽनुमन्यस्व०**) इत्यादि ४ मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसिञ्चन करके, बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर, घृत में भिजोके एक समिधा हाथ में ले–

ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा ॥

समिधा वेदीस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े ।

पुनः ऊपर दिये प्रमाणे (**ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०**) इस मन्त्र से वेदीस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे (**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०**) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसेचन करके बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठके, वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ा सा तपाके हाथ में जल लगा–

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥१॥
ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ॥२॥
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥३॥
ओम् अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं तन्म आपृण ॥४॥
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु ॥५॥
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥६॥
ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ ॥७॥

इन सात मन्त्रों से सात वार किञ्चित् हथेली उष्ण कर, जल स्पर्श करके मुख स्पर्श करना । तत्पश्चात् बालक–

ओं वाक् च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से मुख ।

ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से नासिका द्वार ।

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र ।
ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों कान ।
ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥[३] इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे ।

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु ।
मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु ।
मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु ।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् ।
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् ।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥

इन मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके कुण्ड की उत्तरबाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेकके पूर्वाभिमुख बैठे। और आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभिमुख बैठे ।

बालकोक्तिः–अधीहि भूः सावित्रीम् भो अनुब्रूहि ॥

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि–'हे आचार्य ! प्रथम एक ओंकार, पश्चात् तीन महाव्याहृति, तत्पश्चात् सावित्री–ये त्रिक अर्थात् तीनों मिलके परमात्मा के वाचक मन्त्र को मुझे उपदेश कीजिये'।

तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रखके अपने हाथ से बालक के दोनों हाथों की अञ्जलि को पकड़के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार करके गायत्री मन्त्रोपदेश करे ।

प्रथम वार–

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।

इतना टुकड़ा एक–एक पद का शुद्ध उच्चारण बालक से कराके, दूसरी वार–

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

एक–एक पद से यथावत् धीरे–धीरे उच्चारण करवाके, तीसरी वार–

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

धीरे–धीरे इस मन्त्र को बुलवाके, संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिखे प्रमाणे आचार्य सुनावे–

अर्थ–(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब

दु:खों से छुड़ानेहारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है, (तत्) उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय करानेहारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करनेयोग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करनेहारा, पवित्र शुद्ध स्वरूप है, (तत्) उस को हम लोग (धीमहि) धारण करें । (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे ।

इसी प्रयोजन के लिए इस जगदीश्वर ही की स्तुतिप्रार्थनोपासना करना और इस से भिन्न किसी को उपास्य, इष्टदेव, उस के तुल्य वा उस से अधिक नहीं मानना चाहिए ।

इस प्रकार अर्थ सुनाये । पश्चात्–

ओं मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके–

ओम् इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् ॥

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर, चिकनी, प्रथम बनाके रखी हुई मेखला* को बालक की कटि में बांधके–

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥

इस मन्त्र को बोलके दो शुद्ध कोपीन, दो अंगोछे और एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देवे और उन में से एक कोपीन, एक कटिवस्त्र और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे । तत्पश्चात् आचार्य दण्ड[१] हाथ में लेके सामने खड़ा रहे और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़–

---

* ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुषसंज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिए ।

१. ब्राह्मण के बालक को खड़ा करके भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण है । और वे दण्ड चिकने सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुए न हों । और एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिए, एक-एक जलपात्र, एक-एक उपपात्र और एक-एक आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिए ।

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् ।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥

इस मन्त्र को बोलके बालक आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे। तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

ब्रह्मचार्यसि असौ[1] ॥१॥ अपोऽशान ॥२॥ कर्म कुरु ॥३॥
दिवा मा स्वाप्सीः ॥४॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व ॥५॥
द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर ॥६॥
आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥७॥

क्रोधानृते वर्जय ॥८॥ मैथुनं वर्जय ॥९॥ उपरि शय्यां वर्जय ॥१०॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥११॥ अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥१२॥ प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्त्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नान-सन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर ॥१३॥ क्षुरकृत्यं वर्जय ॥१४॥ मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥१५॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥१६॥ अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्र-धारणं वर्जय ॥१७॥ अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव॥१८॥ तैलाभ्यङ्ग-मर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥१९॥ नित्यं युक्ताहार-विहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥२०॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥२१॥[1] मेखलादण्डधारणभैक्ष्य-चर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादन-विद्यासञ्चयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥२२॥

अर्थ—तू आज से ब्रह्मचारी है ।।१।। **नित्य सन्ध्योपासन भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर** ।।२।। दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर ।।३।। दिन में शयन कभी मत कर ।।४।। आचार्य के आधीन रहके नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर ।।५।। एक-एक साङ्गोपाङ्ग वेद के लिये बारह-बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक वा जब तक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें, तब तक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर ।।६।। आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर । परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे,

---

१. 'असौ' इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे ।

उस को तू कभी मत मान, और उस का आचरण मत कर ।।७।। क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे ।।८।। आठ* प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ।।९।। भूमि में शयन करना, पलङ्ग आदि पर कभी न सोना ।।१०।। कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म, गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर ।।११।। अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर ।।१२।। रात्रि के चौथे पहर में जाग, आवश्यक शौचादि, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना, योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर ।।१३।। क्षौर मत करा ।।१४।। मांस, रूखा शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे ।।१५।। बैल, घोड़ा, हाथी, ऊंट आदि की सवारी मत कर ।।१६।। गाम में निवास, जूता और छत्र का धारण मत कर ।।१७।। लघुशङ्का के विना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्यस्खलन कभी न करके, वीर्य को शरीर में रखके निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे, इस प्रकार यत्न से वर्ता कर ।।१८।। तैलादि से अङ्गमर्दन, उबटना, अतिखट्टा इमली आदि, अतितीखा लालमिर्ची आदि, कसेला हरड़ें आदि, क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर ।।१९।। नित्य युक्ति से आहार-विहार करके विद्या ग्रहण में यत्नशील हो ।।२०।। सुशील, थोड़ा बोलनेवाला, सभा में बैठनेयोग्य गुण ग्रहण कर ।।२१।। मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना ये तेरे नित्य करने के कर्म, और जो निषेध किये वे नित्य न करने के हैं ।।२२।।

जब यह उपदेश पिता कर चुके, तब बालक पिता को नमस्कार कर, हाथ जोड़ के कहे कि–'जैसा आपने उपदेश किया, वैसा ही करूँगा ।'

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके, माता-पिता, भाई-बहिन, मामा, मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें, उन से भिक्षा** मांगे और जितनी

---

* स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है, जो इन को छोड़ देता है, वही ब्रह्मचारी होता है ।

** ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो ''भवान् भिक्षां ददातु'', और जो स्त्री से मांगे तो ''भवती भिक्षां ददातु'', और क्षत्रिय का बालक ''भिक्षां भवान् ददातु'' और स्त्री से ''भिक्षां भवती ददातु'', वैश्य का बालक ''भिक्षां ददातु भवान्'' और ''भिक्षां ददातु भवती'' ऐसा वाक्य बोले ।

भिक्षा मिले, उसे आचार्य के आगे धर देनी । तत्पश्चात् आचार्य उस में से कुछ थोड़ा सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे । और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिये रख छोड़े ।

तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठाके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान को करना । तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे । पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और **गृहाश्रम-संस्कार में लिखा सन्ध्योपासन आचार्य बालक के हाथ से करावे ।**

और पश्चात् ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे भात बना, उस में घी डाल पात्र में रख पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे समिदाधान कर, पुनः समिधा प्रदीप्त कर आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा होके पृष्ठ ७१ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अग्ने सुश्रवः)** इस मन्त्र से ३ तीन समिधा की आहुति देवे । तत्पश्चात् बालक बैठके यज्ञकुण्ड के अग्नि से अपना हाथ तपा, पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे पूर्ववत् मुख का स्पर्श करके अङ्गस्पर्श करना ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे बनाये हुए भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिए देवे । पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में लेके, उस में घी मिला–

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ इदं सदसस्पतये इदन्न मम ॥१॥
ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा ॥ इदं सवित्रे इदन्न मम ॥२॥
ओम् ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ इदम् ऋषिभ्यः इदन्न मम ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से तीन और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में **(ओं त्वन्नो०)** इन ८ आठ मन्त्रों से ८ आठ आज्याहुति मिलके १२ बारह आज्याहुति देके ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान आचार्य के साथ करके–

'अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये ॥'

ऐसा वाक्य बोलके आचार्य का वन्दन करे । और आचार्य–

'आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य ॥'

ऐसा आशीर्वाद देके, पश्चात् होम से बचे हुए हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक्-पृथक् बैठके करें ।

तत्पश्चात् हस्त मुख प्रक्षालन करके, संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों, उन्हें यथायोग्य भोजन करा, तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें और सब जने बालक को निम्नलिखित—

'हे बालक ! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवान् अरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ॥'

ऐसा आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को चले जायें ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ तीन दिन तक भूमि में शयन, प्रातः सायं पृष्ठ ७१ में लिखे प्रमाणे (**अग्ने सुश्रवः०**) इस मन्त्र से समिधा होम और पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे मुख आदि अङ्गस्पर्श आचार्य करावे तथा ३ तीन दिन तक (**सदसस्पति०**) इत्यादि पृष्ठ ७६ में लिखे प्रमाणे ४ चार स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे और ३ तीन दिन तक क्षार-लवणरहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे ।

तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे तथा आचार्य भी करे ।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥१॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति ॥२॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥३॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥४॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ॥५॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥६॥

—अथर्व० कां० ११। सू० ५॥

संक्षेप से भाषार्थः—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप

रखके **३ तीन रात्रिपर्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि** सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर, उस के आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उस को धारण कर और उस को पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है, तब उस को देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥१॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होम कर, ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके, विद्या पूर्ण करने को दृढोत्साही होता है, **वह जानो पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है ।** क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके, इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥२॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (दीर्घश्मश्रुः=)४० वर्ष तक दाढ़ी, मूंछ आदि पञ्च केशों का धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है। वह सब लोकों का संग्रह करके वारंवार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥३॥

वही राजा उत्तम होता है, जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित, सुशील, जितेन्द्रिय होकर राज्य का विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करे और आचार्य हो सकता है, जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥४॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़, पूर्ण जवान होके ही अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़, पूर्ण युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्थावाले पति को प्राप्त होवे ॥५॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी प्रकाशमान होता, उस में सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उस से मित्रता करते हैं । वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके, सब मनुष्यों के हित के लिए सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥६॥

ब्रह्मचर्यकालः

इस में छान्दोग्योपनिषत् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण—

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥१॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति ॥२॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥३॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्राः अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥४॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥५॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते॥६॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥७॥

अर्थ—जो बालक को ५ पांच वर्ष की आयु तक माता, ५ पांच से ८ आठ तक पिता, ८ आठ से ४८ अड़तालीस, ४४ चवालीस, ४० चालीस, ३६ छत्तीस, ३० तीस तक अथवा २५ पच्चीस वर्ष तक तथा कन्या को ८ आठ से २४ चौबीस, २२ बाईस, २० बीस, १८ अठारह, अथवा १६ सोलह वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो, तभी (पुरुष वा स्त्री) विद्यावान् होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं ॥१॥

यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार इस को आयु बल आदि से सम्पन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ चौबीस

वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण, जैसे २४ चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द होता है, वैसे करे, वह प्रातःसवन कहाता है । जिस से इस मनुष्य देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं, जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच वास कराते हैं ।।२।।

जो कोई इस २५ पच्चीस वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषयभोग करने का उपदेश करे, उस को वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—देख, यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ चवालीस वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है, उस को पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है। इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के संयोगरूप सब शुभ गुण, कर्म और स्वभाव के साधन करनेवाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं ? और सब आश्रमों के मूल, सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म, और सब के मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूं ? किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है । इसलिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ।।३।।

और जो ४४ चवालीस वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ चवालीस अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है, तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचारी रुद्ररूप प्राणों को प्राप्त होता है, कि जिस के आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती । और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ।।४।।

यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करनेवाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो, उस को ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता, **और विषय-सम्बन्धी भी अधिक आनन्द होता है, वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता ।** क्योंकि सांसारिक व्यवहार, विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं । इसलिए मैं इस सर्वोत्तम सुख-प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान्, बलवान्, आयुष्मान्, धर्मात्मा

होके सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊंगा । तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयम् और अपने कुल को नष्ट-भ्रष्ट कभी न करूंगा ।।५।।

अब ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त, जैसा कि ४८ अड़तालीस अक्षर का जगती छन्द होता है, वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या, पूर्ण बल, पूर्णप्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त, सूर्यवत् प्रकाशमान होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ।।६।।

यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे, उस को ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि–अरे छोकरों के छोकरे ! मुझ से दूर रहो। तुम्हारे दुर्गन्ध रूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं । मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा । इस को पूर्ण करके सर्व रोगों से रहित, सर्वविद्यादि शुभ गुण, कर्म, स्वभाव सहित होऊंगा । इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे । जिस से मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ाके विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूं ।।७।।

चतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् आ चत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ।।१।।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।।२।।

–यह धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ।।

अर्थ–इस मनुष्य देह की ४ चार अवस्था हैं–एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी सम्पूर्णता, चौथी किञ्चित् परिहाणि करनेहारी अवस्था है। इन में १६ सोलहवें वर्ष से आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष में पूर्ति वाली वृद्धि की अवस्था है । जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा, वह कुहाड़े से काटे वृक्ष वा दण्डे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा । पुनः उस के हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा । दूसरी जो युवावस्था उस का आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष से और पूर्ति ४० चालीसवें वर्ष में होती है । जो कोई इस को यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा, वह अपनी भाग्यशालीनता को नष्ट कर देवेगा। और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० चालीसवें वर्ष में होती है । जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी, परस्त्रीत्यागी, एकस्त्रीव्रत, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा, वह भी बना-बनाया धूल में मिल जाएगा और चौथी ४० चालीसवें वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो, तावत् किञ्चित्

हानिरूप अवस्था है । यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य की अधिक हानि करेगा, वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जाएगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा, वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा ।।१।।

अब इस में इतना विशेष समझना चाहिए कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एक-सा समय नहीं है, किन्तु जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है, उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ सोलहवें वर्ष में हो जाता है । यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं । इसलिए इस अवस्था में जो विवाह करना, वह अधम विवाह है ।।२।।

और जो १७ सत्रह वर्ष की स्त्री और ३० वर्ष का पुरुष, १८ अठारह वर्ष की स्त्री और ३६ वर्ष का पुरुष, १९ उन्नीस वर्ष की स्त्री और ३८ वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इस को मध्यम समय जानो ।

और जो २० बीस, २१ इक्कीस, २२ बाईस, २३ तेईस वा २४ चौबीस वर्ष की स्त्री और ४० चालीस, ४२ बयालीस, ४४ चवालीस, ४६ छयालीस और ४८ अड़तालीस वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे, वह सर्वोत्तम है।

हे ब्रह्मचारिन् ! इन बातों को तू ध्यान में रख, जो कि तुझ को आगे के आश्रमों में काम आवेंगी । जो मनुष्य अपने सन्तान, कुल, सम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें, वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें ।।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ।।१।।
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।।२।।
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ।।३।।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ।।४।।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।।५।।
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रभावदुष्टस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ।।६।।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥७॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥८॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥९॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१०॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३॥
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१४॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१५॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६॥
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१७॥
श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥१८॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥१९॥

—मनु०॥

अर्थ—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग) हाथ, पग, वाणी—ये १० इन्द्रियां इस शरीर में हैं ॥१॥

इनमें कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥२॥

ग्यारहवां इन्द्रिय मन है । **वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है, कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ।।३।।**

जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता, वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करनेवाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों को रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ।।४।।

ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी हो जाता है और उन पूर्वोक्त १० दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ।।५।।

जिस का ब्राह्मणपन (सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिस का विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण, कर्म) बिगड़े हैं, उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग (संन्यास) लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्य्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा-स्तुति और हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते । इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि अपने नियम-धर्मों का यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ।।६।।

ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर, और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित् किञ्चित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ।।७।।

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे, केवल नियमों का नहीं । क्योंकि यमों[१] को न करता हुआ और केवल नियमों[२] का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है । इसलिए यम सेवनपूर्वक नियमसेवन नित्य किया करे ।।८।।

अभिवादन करने का जिसका स्वभाव, और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है, उस की अवस्था विद्या, कीर्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है । इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि आचार्य, माता-पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ।।९।।

---

१. **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।** निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा—ये ५ पांच यम हैं ।

२. **शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।**
शौच, सन्तोष, तपः (हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहना), स्वाध्याय (वेद का पढ़ना), ईश्वरप्रणिधान (सर्वस्व ईश्वरार्पण)—ये ५ पांच नियम कहाते हैं ।

अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता, और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला, विद्या पढ़ा, विद्याविचार में निपुण है, वह पिता स्थानीय होता है । क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा, और मन्त्रद को पिता ही कहा है । इस से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान्, विद्यावान् अवश्य होना चाहिए ।।१०।।

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना । किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद–विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है । इस से ब्रह्मचर्याश्रम–सम्पन्न होकर विद्यावान् होना चाहिए । जिस से कि संसार में बड़प्पन, प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ।।११।।

उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिस से इस का शिर झूल जाय, केश पक जावें, किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है, उस को विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है । इस से ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ।।१२।।

जैसे काठ का कठपुतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो, वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है । उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं । इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम–सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिए ।।१३।।

ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे । अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ।।१४।।

द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे । जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है, इस से ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर अवश्य वेदविद्याध्ययन करे ।।१५।।

जो ब्राह्मण–क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, वह जीवता ही अपने वंश के साथ शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है। इस से ब्रह्मचर्याश्रम–सम्पन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ।।१६।।

जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है, वैसे गुरु की सेवा करनेवाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है, उस को प्राप्त होता है । इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम–सम्पन्न होकर गुरुजन की

सेवा कर उन से सुने और वेद पढ़े ॥१७॥

उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे । नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे । और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है । इस से गृहस्थाश्रम से पूर्व-पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे । और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे । क्योंकि ॥१८॥

विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम—सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहिएँ । इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर देश-देश पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥१९॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्॥१॥

—तैत्तिरी० प्रपा० ७ । अनु० ११॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्म भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥२॥

—तैत्तिरी० प्रपा० १० । अनु० ८॥

अर्थ—हे शिष्य ! जो आनन्दित, पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरण-रहित, न्याय धर्माचरणसहित कर्म हैं, उन्हीं का सेवन तू किया करना, इन से विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना । हे शिष्य ! जो तेरे माता-पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त उत्तम कर्म हैं, उन्हीं का आचरण तू कर । और जो हमारे दुष्ट कर्म हों, उनका आचरण कभी मत कर । हे ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं, उन्हीं के समीप बैठना, सङ्ग करना, और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥१॥

हे शिष्य ! तू जो यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्यशास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का सङ्ग कर । जितने भूमि, अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं, उन का यथाशक्ति ज्ञान कर । और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना कर । ये सब कर्म करना ही तप कहाता है ॥२॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्या० । दमश्च स्वाध्या० । शमश्च स्वाध्या० । अग्नयश्च स्वाध्या० । अग्निहोत्रं च स्वाध्या० । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥३॥

—तैत्तिरी० प्रपा० ७। अनु० ९ ॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर और सत्योपदेश करना कभी मत छोड़ । सदा सत्य बोल पढ़ और पढ़ाया कर । हर्ष–शोकादि छोड़, प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर । अपने इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर । अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और करा तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर । अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर । अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर । 'सत्यवादी होना तप'—**सत्यवचा राथीतर आचार्य;** 'न्यायाचरण में कष्ट सहना तप'—**तपोनित्य पौरुशिष्टि आचार्य;** 'और धर्म में चलके पढ़ना–पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है' यह नाक **मौद्गल्य** आचार्य का मत है । और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप, यही पूर्वोक्त तप है, ऐसा तू जान ॥३॥

इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे।

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावे । यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें । यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारणशिक्षा १ एक महीने के भीतर पढ़ा देवें । पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद अर्थसहित ८ आठ महीने में, अथवा १ एक वर्ष में पढ़ा कर, धातुपाठ और १० दश लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी । पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादि, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप छः ६ महीने के भीतर सधवा देवें । पुनः दूसरी वार अष्टाध्यायी पदार्थोक्ति समास शङ्का–समाधान उत्सर्ग अपवाद* अन्वयपूर्वक पढ़ावें । और संस्कृतभाषण

* जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो वह अपवाद कहाता है ।

का भी अभ्यास कराते जायें। ८ आठ महीने के भीतर इतना पढ़ना–पढ़ाना चाहिए ।

तत्पश्चात् पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य, जिस में वर्णोच्चारणशिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन ६ छः ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है, डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ अठारह महीने में इस को पढ़ना–पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरणशास्त्र को ३ तीन वर्ष ५ पांच महीने वा नौ महीने, अथवा ४ वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे ।

तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु, निरुक्त तथा कात्यायनादि मुनिकृत कोश १।। डेढ़ वर्ष के भीतर पढ़के, अव्ययार्थ आप्तमुनिकृत वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप *यौगिक, योगरूढ़ि और रूढ़ि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें । तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्यकृत पिङ्गलसूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ तीन महीने में पढ़ और ३ तीन महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखें । पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कारसूत्र, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ अन्वयसहित पढ़के, इसी के साथ मनुस्मृति, विदुरनीति और किसी प्रकरण में से १० सर्ग वाल्मीकीय रामायण के, ये सब १ एक वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें । तथा १ एक वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ एक सिद्धान्त से गणितविद्या, जिस में बीजगणित, रेखागणित और पाटीगणित, जिस को अङ्कगणित भी कहते हैं, पढ़ें और पढ़ावें । निघण्टु से लेके ज्योतिष पर्यन्त वेदाङ्गों को ४ चार वर्ष के भीतर पढ़ें ।

तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गौतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यसहित, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित गौतममुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र, व्यासमुनि कृतभाष्यसहित, पतञ्जलिमुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृत भाष्ययुक्त कपिलाचार्यकृत सूत्रस्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौद्धायन आदि मुनिकृत व्याख्यासहित व्यासमुनिकृत शारीरकसूत्र तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक १० दश उपनिषद्, व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र, इन ६ छः शास्त्रों को २ दो वर्ष के भीतर पढ़ लेवें ।

---

* यौगिक–जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे । जैसे पाचक याजकादि । योगरूढ़ि–जैसे पङ्कजादि । रूढ़ि–जैसे धन, वन इत्यादि ।

तत्पश्चात् बह्वृच् ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र* और कल्पसूत्र पदक्रम और व्याकरणादि के सहाय से छन्दः, स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थसहित ऋग्वेद का पठन ३ तीन वर्ष के भीतर करें । इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथब्राह्मण और पदादि के सहित २ दो वर्ष तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गान सहित सामवेद को २ दो वर्ष तथा गोपथ ब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद को २ दो वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें । सब मिलके ९ नौ वर्षों के भीतर ४ चारों वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिए ।

पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिस को वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिस में धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि मुनिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं, इन को ३ तीन वर्ष के भीतर पढ़ें । जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं, बनाकर शरीर के सब अवयवों को चीर के देखें तथा जो उस में शारीरिकादि विद्या लिखी है, साक्षात् करें ।

तत्पश्चात् यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, जिस को शस्त्रास्त्रविद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं, जो इस समय बहुधा नहीं मिलते, ३ तीन वर्ष में पढ़ें और पढ़ावें ।

पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद, जिस में नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं, उन को पढ़के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ तीन वर्ष के भीतर करें ।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद, जिस को शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिस में विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उन को ६ छः वर्ष के भीतर पढ़के विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें ।

ये शिक्षा से लेके आयुर्वेद तक १४ चौदह विद्याओं को **३१ इकत्तीस** वर्षों में पढ़के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें ।

॥ इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

* ब्राह्मण वा जो सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उस का प्रमाण न करना।

[१२]

अथ समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'समावर्त्तनसंस्कार' उस को कहते हैं कि जिस में ब्रह्मचर्यव्रत, साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तमशिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाह विधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़के घर की ओर आना । इस में प्रमाण—

वेदसमाप्तिं वाचयीत ॥

कल्याणैः सह सम्प्रयोगः ॥

स्नातकायोपस्थिताय । राज्ञे च । आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च । दधनि मध्वानीय । सर्पिर्वा मध्वलाभे । विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः ॥ —यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है ।

तथा पारस्करगृह्यसूत्र—

वेदꣳ समाप्य स्नायाद् । ब्रह्मचर्यं वाष्टाचत्वारिꣳशकम् ।

त्रय एव स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥

अर्थ—जब वेदों की समाप्ति हो, तब समावर्त्तनसंस्कार करे। सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रखे । राजा, आचार्य, श्वसुर, चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूरण करके ब्रह्मचारी घर को आवे, तब प्रथम पाद्यम्=पग धोने का जल, अर्घ्यम्=मुखप्रक्षालन के लिये जल, और आचमन के लिये जल देके शुभासन पर बैठा, दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिलाके, एक अच्छे पात्र में धर इन को मधुपर्क देना होता है और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक ये तीन* प्रकार के स्नातक होते हैं । इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ अड़तालीस

* जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक । जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है वह व्रतस्नातक । और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य-व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है।

वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रत स्नान करे ।

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे । स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥

—अथर्व०का० ११। प्रपा० २४। व० १६। मं० २६।।

अर्थ—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत—ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृ० ९२ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता, सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है, वही धन्यवाद के योग्य है ।

इस का समय—पृष्ठ ७९-८२ तक में लिखे प्रमाणे जानना, परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्यव्रत भी पूरा होवे, तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें । विवाह के स्थान दो हैं—एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर । दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने आगे विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करे। इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे ।

विधि—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे, उस दिन आचार्य के घर में पृष्ठ १२-१३ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड आदि बनाके सब शाकल्य और सामग्री संस्कारदिन से पूर्व दिन में जोड़ रखे । और स्थालीपाक* बनाके तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे । पुनः पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे यथावत् ४ चारों दिशाओं में आसन बिछा बैठ, पृष्ठ ४ से पृष्ठ ११ तक में **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** करे । और जितने वहां पुरुष आये हों, वे भी एकाग्रचित्त होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें । तत्पश्चात् पृष्ठ १८-१९ में लिखे **अग्न्याधान, समिदाधान** करके पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर उदक-सेचन करके आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठके पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्** आहुति १ एक और **प्राजापत्याहुति** १ एक—ये सब मिलके १८ अठारह आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् ब्रह्मचारी

---

* जो कि पूर्व पृष्ठ १४ में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रखना ।

पृ० ७१ में लिखे **(ओम् अग्ने सुश्रवः०)** इस मन्त्र से कुण्ड का अग्नि कुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे । तत्पश्चात् पृ० ७१ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अग्नये समिध०)** इस मन्त्र से कुण्ड में ३ तीन समिधा होमकर, पृ० ७१ में लिखे प्रमाणे **(ओं तनूपा०)** इत्यादि ७ सात मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जलि आगी पर थोड़ी सी तपा, उस जल से मुखस्पर्श, और तत्पश्चात् पृ० ७१-७२ में लिखे प्रमाणे **(ओं वाक् च म०)** इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्गस्पर्श करे । पुनः सुगन्धादि औषधयुक्त जल से भरे हुए ८ आठ घड़े वेदी के उत्तरभाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों, उन घड़ों में से–

ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदुषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि॥

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके, उस घड़े में से जल लेके–

ओं तेन मामभिसिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना । तत्पश्चात् उपरिकथित **(ओं ये अप्स्वन्तर०)** इस मन्त्र को बोलके दूसरे घड़े को ले, उस में से लोटे में जल लेके–

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताꣳ सुराम् ।
येनाक्ष्यावभ्यसिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः ॥

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना ।

तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के **(ओं ये अप्स्वन्तर०)** इसी मन्त्र का पाठ बोलके वेदी के उत्तर में रखे घड़ों में से ३ तीन घड़ों को लेके पृष्ठ ६६ में लिखे हुए **(ओम् आपो हि ष्ठा०)** इन ३ तीन मन्त्रों को बोलके, उन घड़ों के जल से स्नान करना । तत्पश्चात् ८ आठ घड़ों में से रहे हुए ३ तीन घड़ों को लेके **(ओम् आपो हि ष्ठा०)** इन्हीं ३ तीन मन्त्रों को बोलके स्नान करे । पुनः–

ओम् उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मꣳ श्र॑थाय ।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ऽ अदि॑तये स्याम॒ ॥

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी अपनी मेखला और दण्ड को छोड़े। तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सम्मुख खड़ा रहकर–

ओम् उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद् दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो

मरुद्भिरस्थाद् दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् सहस्त्रसनिरसि सहस्त्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ॥

इस मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके, तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके, जटा लोम और नख वपन अर्थात् छेदन कराके–

ओम् अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजायमागमत् ।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे । तत्पश्चात् सुगन्धि द्रव्य शरीर पर मलके शुद्ध जल से स्नान कर, शरीर को पोंछ, अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके, सुगन्ध युक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे । तत्पश्चात् चक्षु, मुख और नासिका के छिद्रों का–

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥

इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके–

ओं पितरः शुन्धध्वम् ॥

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़के, सव्य होके–

ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन ।
सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम् ॥

इस मन्त्र का जप करके–

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

इस मन्त्र से सुन्दर अति श्रेष्ठ वस्त्र धारण करके–

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विदद् यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके,

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय ।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ॥

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके–

ओं यद्यशोप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु ।
तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि ॥

इस मन्त्र से धारण करनी । पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ ६७ में लिखे प्रमाणे **(युवा सुवासाः०)** इस मन्त्र से धारण करे ।

उस के पश्चात् अलङ्कार लेके–

ओम् अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात् ॥

इस मन्त्र से धारण करे । और–

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥

इस मन्त्र से आँख में अञ्जन करना । तत्पश्चात्–

ओं रोचिष्णुरसि ॥

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे । तत्पश्चात्–

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहि ॥

इस मन्त्र से छत्र धारण करे । पुनः–

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम् ॥

इस मन्त्र से उपानह्=पादवेष्टन=पगरखा और जिस को जोड़ा भी कहते हैं, धारण करे । तत्पश्चात्–

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ॥

इस मन्त्र से बांस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता-पिता आदि, जब वह आचार्य कुल से अपना पुत्र घर को आवे, उस को बड़े मान्य प्रतिष्ठा उत्सव उत्साह से अपने घर पर ले आवें । घर पर लाके उसके पिता-माता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृ० ९० में लिखे प्रमाणे करें ।

पुनः उस संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्न-पानादि से सत्कारपूर्वक भोजन कराके, और वह ब्रह्मचारी और उस के पिता-मातादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा, पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर, सुन्दर पुष्पमाला, वस्त्र, गोदान, धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके, सब के सामने आचार्य के जो कि उत्तम गुण हों, उन की प्रशंसा कर और विद्यादान की कृतज्ञता सब को सुनावें–

'सुनो भद्रजनो ! इस महाशय आचार्य ने मेरे पर बड़ा उपकार किया है । जिस ने मुझ को पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है, उस का

प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता । इस के बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे, नमस्कार कर प्रार्थना करता हूं कि जैसे आपने मुझ को उत्तम शिक्षा और विद्यादान देके कृत-कृत्य किया, उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे । और जैसे आपने मुझ को विद्या देके आनन्दित किया है, वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूंगा, और आपके किये उपकार को कभी न भूलूंगा ।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप मुझ और सब पढ़ने-पढ़ानेहारे तथा सब संसार पर अपनी कृपा-दृष्टि से सब को सभ्य, विद्वान्, शरीर और आत्मा के बल से युक्त, और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने-कराने में चिरायु स्वस्थ पुरुषार्थी उत्साही करें कि जिस से इस परमात्मा की सृष्टि में उस के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभावों को करके धर्मार्थ काम और मोक्ष की सिद्धि कर-कराके सदा आनन्द में रहें ।।'

।। इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः ।।

[१३]

अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'विवाह' उसे कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत से विद्या बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है । इसमें प्रमाण—

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे* चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ॥१॥

सार्वकालमेके विवाहम् ॥२॥ यह आश्वलायन गृह्यसूत्र और—

आवसथ्याधानं दारकाले ॥३॥ इत्यादि पारस्कर और—

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥४॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥५॥ इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थ—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो, उस दिन विवाह करना चाहिये ॥१॥

और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिये ॥२॥

जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है, उस का 'आवसथ्य' नाम है ॥३॥

प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥४-५॥

इस का समय—पृष्ठ ७९-८२ तक में लिखे प्रमाणे जानना चाहिए। वधू और वर का आयु, कुल, वास्तव स्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों । स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे । परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये । इसमें प्रमाण—

---

* यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है, इस से प्रमाण नहीं ।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥१॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥२॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥३॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥४॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥५॥
नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥६॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥७॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥८॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥९॥
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥१०॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥११॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥१२॥
सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥१३॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवद् आसुरो धर्म उच्यते ॥१४॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥१५॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥१६॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥१७॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥१८॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥१९॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥२०॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥२१॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य से ४ चार, ३ तीन, २ दो अथवा १ एक वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम का धारण करे ॥१॥

यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर, गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे ॥२॥

जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वही द्विजों के लिए विवाह करने में उत्तम है ॥३॥

विवाह में नीचे लिखे हुए १० दश कुल, चाहे वे गाय आदि पशु, धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥४॥

वे १० दश कुल ये हैं । १ एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो । २ दूसरा—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो । ३ तीसरा—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो । ४ चौथा—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों । ५ पांचवां—जिस कुल में बवासीर हो । ६ छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो । ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो। ८ आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो । ९ नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ हो और १० दसवां—जिस कुल में गलितकुष्ठ आदि रोग हों—उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे ॥५॥

पीले वर्णवाली, अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती (रोगिणी), जिस के शरीर पर कुछ भी लोम न हों, और जिस के शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिस के पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों ॥६॥

तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती, रोहिणी इत्यादि, **(वृक्ष) चम्पा, चमेली आदि,** (नदी) जिस का गङ्गा, यमुना इत्यादि, **(अन्त्य) चाण्डाली आदि,** (पर्वत) जिस का विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर, अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो, उस से विवाह न करे ॥७॥

किन्तु जिस के सुन्दर अङ्ग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिस के सूक्ष्म लोम, सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों, जिस के सब अङ्ग कोमल हों, उस स्त्री से विवाह करे ॥८॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ॥९॥

१ पहला—**ब्राह्म**—कन्या के योग्य सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके, उत्तम पुरुष को बुला, अर्थात् जिस को कन्या ने प्रसन्न भी किया हो, उस को देना, वह **'ब्राह्म'** विवाह कहाता है ॥१०॥

२ दूसरा—**दैव**—विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को वरण कर, उस में कर्म करनेवाले विद्वान् को वस्त्र-आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना, वह **'दैव'** विवाह है ॥११॥

३ तीसरा—**आर्ष**—१ एक गाय, बैल का जोड़ा अथवा २ दो जोड़े* वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह **'आर्ष'** विवाह है ॥१२॥

और ४ चौथा—**प्राजापत्य**—कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो, ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना, वह **'प्राजापत्य'** विवाह कहाता है । ये ४ चार विवाह उत्तम हैं ॥१३॥

और ५ पांचवाँ—वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन

---

* यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है । इसलिये कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष' विवाह है ।

देकर होम आदि विधि कर कन्या देना, **'आसुर'** विवाह कहाता है ।।१४।।

६ छठा—वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं, यह काम से हुआ **'गान्धर्व'** विवाह कहाता है ।।१५।।

और ७ सातवाँ—हनन, छेदन अर्थात् कन्या के रोकनेवालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना, वह **'राक्षस'** विवाह है ।।१६।।

और [८ आठवाँ]—जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच महानीच, दुष्ट, अतिदुष्ट **'पैशाच'** विवाह है ।।१७।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के सम्मत, अत्युत्तम होते हैं ।।१८।।

वे पुत्र वा कन्या सुन्दर रूप, बल, पराक्रम, शुद्ध, बुद्ध्यादि, उत्तम गुणयुक्त, बहु धनयुक्त, पुण्यकीर्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० वर्ष तक जीते हैं ।।१९।।

इन ४ चार विवाहों से जो बाकी रहे ४ चार आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन ४ चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाववाले होते हैं ।।२०।।

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती हैं, उन का त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती हैं, उन को किया करें ।।२१।।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ।।१।।
काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ।।२।।
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ।।३।।

अर्थ—यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट शुभगुण, कर्म, स्वभाववाला, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त वर ही को, **चाहे वह कन्या-माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को कभी न देना कि जिस** से दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों

की उत्पत्ति करें ॥१॥

चाहे मरण–पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी भी रहे, परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर–कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ॥२॥

जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे, तब रजस्वला होने के दिन से ३ तीन वर्ष को छोड़के ४ चौथे वर्ष में विवाह करे॥३॥

प्रश्न–**'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।'** इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी ?

उत्तर–इन श्लोकों और इन के माननेवालों की दुर्गति, अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर–करा, उन को नष्ट–भ्रष्ट रोगी अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानो सत्यानाश कर रहे हैं । इसलिए यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ सोलह वर्ष से न्यून कन्या और २५ पच्चीस वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें–करावें । इस के आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे, उतना ही उन को आनन्द अधिक होगा ।

प्रश्न–विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये?

उत्तर–**'दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति ।'** यह निरुक्त का प्रमाण है कि–जितना दूरदेश में विवाह होगा, उतना ही उन्हें अधिक लाभ होगा ।

प्रश्न–अपने गोत्र वा भाई–बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ?

उत्तर–एक–दोष यह है कि इन के विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं और बाल्यावस्था के गुण–दोष भी विदित रहते हैं तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते । दूसरा–जब तक दूरस्थ एक–दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती । तीसरा–दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं ।

युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण–

तमस्मे॑रा यु॒वत॑यो॒ युवा॑नं मर्मृ॒ज्यमा॑ना॒: परि॑ य॒न्त्याप॑: ।
स शु॒क्रेभि॒: शिक्व॑भी रे॒वद॒स्मे दी॒दाया॑नि॒ध्मो घृ॒तनि॑र्णिग॒प्सु ॥१॥
अ॒स्मै ति॒स्रो अ॑व्य॒थ्याय॒ नारी॑र्दे॒वाय॑ दे॒वीर्दि॑धिष॒न्त्यन्न॑म् ।
कृता॑ इ॒वोप॒ हि प्र॑स॒र्स्रे अ॒प्सु स पी॒यूषं॑ धयति पूर्व॒सूना॑म् ॥२॥

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन् ।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥३॥

—ऋ०मं० २। सू० ३५ । मं० ४-६॥

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम् ।
आस्य श्रवस्याद् रथ आ च घोषात् पुरू सहस्रा परि वर्तयाते ॥४॥

—ऋ०मं० ५। सू० ३७ । मं० ३॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः ।
उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥५॥

—ऋ०मं० ५। सू० ४१ । मं० ७॥

अर्थ—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त (युवतयः) बीसवें वर्ष से चौबीसवें वर्षवाली हैं, वे कन्या लोग जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं, वैसे (अस्मेराः) हम को प्राप्त होनेवाली, अपने-अपने प्रसन्न, अपने-अपने से डेढ़े वा दूने आयुवाले, (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण, शुभलक्षणयुक्त (युवानम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिक्वभिः) वीर्यादि से युक्त होके (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को, और (दीदाय) अपने तुल्य युवती स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करनेहारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित विद्युत् अग्नि है, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री-पुरुष प्राप्त होवें ॥१॥

हे स्त्री-पुरुषो ! जैसे (तिस्रः) उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त, (देवीः नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं, (कृता इव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है, (सः हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है। जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पीके बढ़ता है, वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥२॥

जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने के अयोग्य, ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबलयुक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते, और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते, वैसे उत्तम स्त्री-पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते। किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है। इसलिये हे स्त्रि वा पुरुष ! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर। (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव (स्वः) सुख बढ़ता रहता है ॥३॥

हे मनुष्यो ! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षणयुक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई विद्या शुभ गुणरूप सुशीलतादियुक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी, हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है, और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई, (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है। वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या धन धान्य युक्त सब ओर से होवे। और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें। (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं। तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असङ्ख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥४॥

हे मनुष्यो ! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ, तो वे (वन्द्येभिः) कामना के योग्य (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जनानेहारे, (अर्कैः) सत्कार के योग्य, (शूषैः) शरीरात्मबलों से युक्त होके (वः) तुम्हारे लिये (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें। और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं, (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) सङ्गतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री-पुरुष पूर्ण कर सकते हैं। और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है। और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण, कर्म, स्वभाववाले स्त्री-पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं

को (उप प्र वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, अन्य नहीं ।।५।।

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके, जिस से जिस की विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उस का विवाह होना अत्युत्तम है । **जो कोई युवावस्था में विवाह न कराके बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर कन्या का विवाह करावेंगे, वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे ?** और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते-कराते हैं, **वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं ।**

प्रश्न—विवाह अपने-अपने वर्ण में होना चाहिये, वा अन्य वर्ण में भी ?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण में । परन्तु वर्णव्यवस्था गुण, कर्मों के अनुसार होनी चाहिये, जन्ममात्र से नहीं ।

जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे, इत्यादि उत्तम गुण जिस में हों, वह ब्राह्मण-ब्राह्मणी । विद्या, बल, शौर्य, न्यायकारित्वादि गुण जिस में हों, वह क्षत्रिय-क्षत्रिया और विद्वान् होके कृषि पशु-पालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरतादि गुण जिस में हों, वह वैश्य-वैश्या और जो विद्याहीन मूर्ख हो, वह शूद्र-शूद्रा कहावे । इसी क्रम से विवाह होना चाहिए, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या, और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं ।

इस वर्णव्यवस्था में प्रमाण—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।।१।।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।।२।।

—आपस्तम्बे ।।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।।३।। —मनुस्मृतौ।।

अर्थ—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है । और उस वर्ण में जो-जो कर्त्तव्य अधिकाररूप कर्म हैं, वे सब गुण, कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ।।१।। वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण नीचे-नीचे के वर्ण को प्राप्त होवें । और वे ही उस-उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ।।२।। उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है । वैसे ही नीच

कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय वैश्य शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र तथा वैश्य शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ।।३।।

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते, और उत्तम बनने में प्रयत्न करते । और उत्तम वर्ण भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं । इस से संसार की बड़ी उन्नति है । आर्यावर्त्त देश में जब तक ऐसी वर्णव्यवस्था, पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी । अब भी ऐसा ही होना चाहिये, जिस से आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे ।

अब वधू-वर एक-दूसरे के गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें–

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुरभाषण, कृतज्ञता, दयालुता, अहङ्कार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह; कपट, द्यूत, चोरी, मद्य-मांसाहारादि दोषों का त्याग, गृह कामों में अतिचतुरता हो ।

जब-जब प्रातःसायं वा परदेश से आकर मिलें, तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर, स्त्री पति के चरणस्पर्श, पादप्रक्षालन, आसनदान करे । तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्त्तकर आनन्द भोगें । वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्धे के तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये । तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री-पुरुष वचनादि-व्यवहारों से करें ।

ओम् ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् ।
यत्सत्यं तद् दृश्यताम् ।।

अर्थ–जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की, और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे। पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री-पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि–'हे स्त्री वा हे पुरुष ! **इस जगत् के पूर्व ऋत=यथार्थस्वरूप महत्तत्व उत्पन्न हुआ था** और उस महत्तत्व में सत्य, त्रिगुणात्मक, नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है । जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से विश्व उत्पन्न हुआ है, वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय दोनों विवाह

करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूँ । उस को यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए दृढोत्साही रहें ।।''

विधि—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस रात्रि में विवाह करने के लिए प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिए और पृष्ठ १२-१७ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है । पश्चात्* एक घण्टेमात्र रात्रि जाने पर—

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुꣳ सुरा ते अभवत्।
परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥१॥
ओम् इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतत् द्वितीयम्।
तेन पुंꣳसोभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञि स्वाहा ॥२॥
ओम् अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः।
तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा ॥३॥

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर, पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ४ से ११ तक लिखे प्रमाणे ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें । तत्पश्चात् पृष्ठ १८-१९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रखे । वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार [धारण] करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ४-११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे। तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सम्मान से वर को घर ले जावें । जिस समय वर वधू के घर में प्रवेश करे, उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार से आदर-सत्कार करें—

उस की रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रहके,

वधू और कार्यकर्त्ता—

---

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवें कि जिस से मध्य रात्रि तक विवाहविधि पूरा हो जावे ।

** विवाह में आये हुए भी स्त्रीपुरुष एकाग्रचित्त, ध्यानावस्थित होके इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें ।

ओं साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥

इस वाक्य को बोलें । उस पर **वर—**

ओम् अर्चय ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे ।

पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन सिद्ध कर रखा हो, उस को **वधू हाथ में ले** वर के आगे खड़ी रहके—

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥

यह उत्तम आसन है, आप ग्रहण कीजिये । वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके वधू के हाथ से आसन ले, बिछा उस पर सभामण्डप में पूर्वाभिमुख बैठके, वर—

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः ।
इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भरके कन्या के हाथ में देवे और **कन्या—**

ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के आगे धरे । पुनः **वर—**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से उदक ले पग-प्रक्षालन* करे और उस समय—

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे । पुनः **कन्या—**

ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के हाथ में देवे । और **वर—**

---

* यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके, यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां, और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हो तो प्रथम बायाँ पग धोवे, पश्चात् दाहिना ।

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से जलपात्र लेके, उस से मुखप्रक्षालन करे और उसी समय **वर** मुख धोके–

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि ॥

ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत ।

अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ॥

इन मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर, उस में आचमनी रख, कन्या के हाथ में देवे । और उस समय **कन्या–**

ओम् आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के सामने करे । और **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले सामने धर, उस में से दहिने हाथ में जल, जितना अंगुलियों के मूल तक पहुंचे उतना लेके, वर–

ओम् आ मागन् यशसा सꣳसृज वर्चसा ।

तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥

इस मन्त्र से एक आचमन । इसी प्रकार **दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़के दूसरा और तीसरा आचमन करे ।**

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मधुपर्क* का पात्र कन्या के हाथ में देवे और **कन्या–**

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥

ऐसी विनति वर से करे और **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से ले और उस समय–

ओं मि॒त्रस्य॑ त्वा॒ चक्षु॑षा॒ प्रती॑क्षे ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके मधुपर्क को **अपनी दृष्टि से देखे** और–

---

* मधुपर्क उस को कहते हैं–जो दही में घी वा शहद मिलाया जाता है । उस का परिमाण–१२ बारह तोले दही में ४ चार तोले शहद अथवा ४ चार तोले घी मिलाना चाहिए, और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है ।

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि ॥

इस मन्त्र को बोलके मधुपर्क के पात्र को **वाम हाथ में लेवे** और–

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२॥

ओं भूर्भुवः स्वः । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से **मधुपर्क की ओर अवलोकन करे ।**

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥

इस मन्त्र को पढ़, दहिने हाथ की **अनामिका और अङ्गुष्ठ** से मधुपर्क को **तीन वार बिलोवे** और उस मधुपर्क में से वर–

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **पूर्व दिशा** ।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **दक्षिण दिशा** ।

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **पश्चिम दिशा,** और

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **उत्तर दिशा** में थोड़ा-थोड़ा छोड़े, अर्थात् छींटे देवे।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके पात्र के मध्य भाग में से लेके **ऊपर की ओर तीन वार फेंकना** । तत्पश्चात् **उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर, भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रखे** । रखके–

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥

इस मन्त्र को एक-एक वार बोलके **एक-एक भाग में से वर थोड़ा-थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करे ।** जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो, वह किसी **अपने सेवक को देवे वा जल**

में डाल देवे । तत्पश्चात्—

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

इन **दो मन्त्रों से दो आचमन,** अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा **वर करे** । तत्पश्चात् **वर** पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे । पश्चात् **कन्या—**

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य से वर की विनति करके अपनी शक्ति के योग्य वर को **गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो, अर्पण करे** । और **वर—**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य से उस को ग्रहण करे । इस प्रकार मधुपर्क विधि यथावत् करके, वधू और कार्यकर्त्ता वर को **सभामण्डपस्थान* से घर में ले जाके शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठाके, वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे । और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठके—**

ओम् अमुक[1] गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीम्[2] अलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥

इस प्रकार बोलके **वर का हाथ चत्ता** अर्थात् हथेली ऊपर रखके, **उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना,** और **वर—**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ ऐसा बोलके—

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा।

शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

इस मन्त्र को बोलके **वधू को उत्तम वस्त्र** देवे । तत्पश्चात्—

ओं या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

इस मन्त्र को बोलके **वधू को वर उपवस्त्र** देवे और उन वस्त्रों को वधू ले के दूसरे घर में एकान्त में जा उन्हीं वस्त्रों को धारण कर और **उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे** ।

---

* यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उस से दूसरे घर में वर को ले जावे ।

१. अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उस का उच्चारण अर्थात् उस का नाम लेना ।

२. ''अमुकनाम्नीम्'' इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ।

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

इस मन्त्र को पढ़के **वर आप अधोवस्त्र धारण करे** । और–

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥

इस मन्त्र को पढ़के **द्विपट्टा (दुपट्टा) धारण करे** ।

इस प्रकार वधू वस्त्र–परिधान करके जब तक संभले, तब तक **कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई** यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे और आहुति के लिए सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर, कांसे के पात्र में रक्खे और स्रुवादि होम के पात्र तथा जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़कर रक्खे ।

और **वरपक्ष का एक पुरुष** शुद्ध वस्त्र धारण कर, शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को लेके **यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर** कुण्ड के **दक्षिण भाग में** उत्तराभिमुख हो **कलशस्थापन,** अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धरके, जब तक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाय, तब तक **उत्तराभिमुख बैठा रहे** ।

और उसी प्रकार **वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड लेके कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्य–समाप्ति पर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे ।**

और इसी प्रकार **सहोदर वधू का भाई** अथवा सहोदर न हो तो **चचेरा भाई, मामा का पुत्र** अथवा **मौसी का लड़का** हो, वह **चावल वा जुआर की धाणी** और **शमी वृक्ष के सूखे पत्ते** इन दोनों को मिला कर **शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ चार अञ्जलि** एक शुद्ध सूप में रखके, धाणीसहित सूप लेके **यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख** बैठा रहे ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता **एक सपाट शिला,** जो कि सुन्दर चिकनी हो उस को तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिए **दो कुशासन वा यज्ञिय तृणासन अथवा यज्ञिय वृक्ष की छाल के,** जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों, उन आसनों को रखवावे ।

तत्पश्चात् वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे और उस समय **वर और कन्या–**

ओं सम॑ञ्जन्तु विश्वे॑ दे॒वाः समापो॒ हृद॑यानि नौ ।
सं मा॑त॒रिश्वा॒ सं धा॒ता समु॒ देष्ट्री॑ दधातु नौ[१] ॥१॥

इस मन्त्र को बोलें । तत्पश्चात् **वर अपने दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़के–**

ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा ।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु असौ[२] ॥२॥

इस मन्त्र को बोलके, उस को लेके घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप **हाथ पकड़े हुए दोनों आवें और वधू तथा वर–**

ओं भूर्भुव॒ः स्व॒ः । अघो॑रचक्षु॒रप॑तिघ्न्येधि शि॒वा प॒शुभ्य॒ः सु॒मना॑ः सु॒वर्चा॑ः । वी॒र॒सूर्दे॒वृका॑मा स्यो॒ना शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे[३] ॥३॥

---

१. वर और कन्या बोलें कि (विश्वे देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो ! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि मैं अपनी प्रसन्नतापूर्वक इस वर वा इस वधू को गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिए एक-दूसरे का स्वीकार करते हैं कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हम को प्रिय है, वैसे (सम्) हम दोनों एक-दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे । जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सब में (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे को धारण करेंगे। जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है, वैसे (नौ) हमारे दोनों का आत्मा एक-दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे ॥१॥

२. (असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना है । हे वरानने वा वरानन ! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझ को जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णो वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करनेवाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोऽनु) दिशाओं को प्राप्त होता है, वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझ को प्राप्त होती वा होता है । उस (त्वा) तुझ को (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) करे और हे (वीर) जो आप मन से मुझ को (ऐषि) प्राप्त होते हो उस आप को जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे ॥२॥

३. हे वरानने ! (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिस के (ओम्) अर्थात् रक्षा करनेवाला, (भूः) प्राणदाता, (भुवः) सब दुःखों को दूर करेनहारा, (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं, उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि स्त्री (एधि) हो, (शिवा) मङ्गल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण, कर्म,

ओं भूर्भुवः स्वः । सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥

इन ४ चार मन्त्रों को वर बोलके, दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम भाग में वर बैठके, वधू–

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताᳬं शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १७–१८ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख **पुरोहित की स्थापना** करनी । तत्पश्चात् पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा)** इत्यादि तीन मन्त्रों से प्रत्येक मन्त्र से एक–एक आचमन, वैसे तीन आचमन वर–वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके, हस्त और मुख–प्रक्षालन एक शुद्धपात्र में करके दूर रखवा दें । हाथ और मुख पोंछके पृ० १९ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड में **(ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०)** इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० १९ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अयन्त इध्म०)** इत्यादि मन्त्रों से समिदा–धान, और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन ओर, और **(ओं देव सवितः प्रसुव०)** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके, कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे वधू–वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार घी की देवें । तत्पश्चात् पृ० २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार घी की और पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ, ये सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति देके प्रधान होम का प्रारम्भ करें ।

प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण

स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो । और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं को भी (शम्) सुख देनेहारी हो । वैसे मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूँ ।।३।।

स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० २१-२२ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से अर्थात् एक-एक से एक-एक मिलके ४ चार आज्याहुति क्रम से करें । और—

ओं भूर्भुवः स्वः। त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि । अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके ५ पांचवीं आज्याहुति देनी । तत्पश्चात्—

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृताषाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय इदन्न मम ॥१॥

ओम् ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः इदन्न मम ॥२॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं संहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥३॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः इदन्न मम ॥४॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय इदन्न मम ॥५॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः इदन्न मम ॥६॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥७॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्ज्जो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्योऽप्सरोभ्यऽऊर्ग्भ्यः इदन्न मम ॥८॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥९॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः इदन्न मम ॥१०॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय इदन्न मम ॥११॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः इदन्न मम ॥१२॥

इन १२ बारह मन्त्रों से १२ बारह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् जयाहोम करना—

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय इदन्न मम ॥१॥

ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै इदन्न मम ॥२॥

ओम् आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय इदन्न मम ॥३॥

ओं आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै इदन्न मम ॥४॥

ओं विज्ञातं च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय इदन्न मम ॥५॥

ओं विज्ञातिश्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै इदन्न मम ॥६॥

ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे इदन्न मम ॥७॥

ओं शक्वरीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्वरीभ्यः इदन्न मम ॥८॥

ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय इदन्न मम ॥९॥

ओं पौर्णमासं च स्वाहा ॥ इदं पौर्णमासाय इदन्न मम ॥१०॥

ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते इदन्न मम ॥११॥

ओं रथन्तरं च स्वाहा ॥ इदं रथन्तराय इदन्न मम ॥१२॥

ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय इदन्न मम ॥१३॥

इन मन्त्रों से प्रत्येक से एक-एक करके जयाहोम की १३ तेरह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् अभ्यातन होम करना । इसके मन्त्र ये हैं—

ओम् अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये इदन्न मम ॥२॥

ओं यमः पृथिव्याऽअधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये इदन्न मम ॥३॥

ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये इदन्न मम ॥४॥

ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽ-स्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये इदन्न मम ॥५॥

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये इदन्न मम ॥६॥

ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये इदन्न मम ॥७॥

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये इदन्न मम ॥८॥

ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽ-स्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये इदन्न मम ॥९॥

ओं समुद्रः स्त्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं समुद्राय स्त्रोत्यानामधिपतये इदन्न मम ॥१०॥

ओम् अन्नं साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्य-स्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये इदन्न मम ॥११॥

ओं सोमऽओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं सोमाय ओषधीनामधिपतये इदन्न मम ॥१२॥

ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये इदन्न मम ॥१३॥

ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये इदन्न मम ॥१४॥

ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये इदन्न मम ॥१५॥

ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये इदन्न मम ॥१६॥

ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः इदन्न मम ॥१७॥

ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्य-स्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च इदन्न मम ॥१८॥

इस प्रकार अभ्यातन होम की अठारह आज्याहुति दिये पीछे, पुनः—

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियं स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥२॥

ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां मयि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥३॥

ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्नऽआयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद् वैवस्वतो नोऽअभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय इदन्न मम ॥४॥

ओं परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यत्र नोऽअन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा॥ इदं मृत्यवे इदन्न मम ॥५॥

ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावासस: परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥६॥

ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्त्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु मा त्वꣳ रुदत्युरऽआवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥७॥

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वाऽअघम् । शीर्ष्णस्त्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥८॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक आहुति करके आठ आज्याहुति दीजिये।

तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति दीजिये ।

ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धरके ऊपर को उचाना । और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठासहित चत्ती ग्रहण करके, वर–

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः[1] ॥१॥

---

१. हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आपके हस्त को

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव[१] ॥२॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्[२] ॥३॥
त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया[३] ॥४॥

ग्रहण करती हूं । आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये । आप को मैं और मुझ को आप आज से पति-पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं । (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं । आज से मैं आप के हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं, कभी एक-दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥१॥

१. हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूं । तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूं । (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है, और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूं। अपने दोनों मिलके घर के कामों की सिद्धि करें। और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उस को कभी न करें । जिस से घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥२॥

२. हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् के पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है, (इदम्) यही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो । हे (प्रजावति !) तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त (शं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर । वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे–'हे भद्रवीर! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो । मेरे लिये आपके विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्टदेव कोई नहीं है। न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी । जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे, वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूंगी । आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये' ॥३॥

३. हे शुभानने ! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उस की तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दम्पती होते हैं, (त्वष्टा) जैसे बिजुली सब को व्याप्त हो रही है, वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र, और (शुभे) आभूषण तथा (कम्) मुझ से सुख को प्राप्त

**इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु[१] ॥५॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसा कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्[२] ॥६॥**

इन पाणिग्रहण के ६ छह मन्त्रों को बोलके, पश्चात् **वर वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के उठावे** और उस को साथ लेके जो कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था, उस को वही पुरुष जो कलश

हो । इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे । जैसे (सविता) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित शोभायुक्त करे, वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्याम् इव) सूर्य की किरण के समान तुझ को वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा । तथा हे प्रिय ! आप को मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ।।४।।

१. हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि, (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि, (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु, (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों, (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ, न्यायकारी, बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा, (मरुतः) सभ्य मनुष्य, (ब्रह्म) सब से बड़ा परमात्मा, और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधिगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा, वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी । जैसे ये दोनों मिलके प्रजा को बढ़ाया करते हैं, वैसे तू और मैं मिलके गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ।।५।।

२. हे कल्याणक्रोडे ! जैसे (मनसा) मन से (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इस में प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं, वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे । जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उद्मुच्ये) छोड़ देता हूं, और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूं, (स्वयम्) आप (श्रथ्नानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूं, वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे। इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि—मैं भी इसी प्रकार आप से वर्त्ता करूंगी ।।६।।

के पास बैठा था, वर-वधू के साथ उसी कलश को ले चले। **यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके—**

ओम् अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम् । सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै ॥ प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः॥ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्[1] ॥७॥

इन प्रतिज्ञा-मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके—

पश्चात् वर वधू के पीछे रहके, वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके, वधू की दक्षिणाञ्जलि अपनी दक्षिणाञ्जलि से पकड़के दोनों खड़े रहें । और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके वैसे बैठे । तत्पश्चात् **वधू की माता अथवा भाई** जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रखी थी, उस को बायें हाथ में लेके **दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवाके पत्थर की शिला पर चढ़वावे ।** और उस समय वर—

---

१. हे वधू ! जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूं, वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है । जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को (अमः) ग्रहण करता हूं, वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझ को भी ग्रहण करती है । (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूं । हे वधू ! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है, (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं । वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, (सह) साथ मिलके (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें । (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें, (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें । (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें, (संप्रियौ) अच्छे प्रकार [एक] दूसरे से प्रसन्न, (रोचिष्णू) एक-दूसरे में रुचियुक्त, (सुमनस्यमानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ [शरदः] शरद्ऋतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक-दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें ॥७॥

ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥१॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें और यहां वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जलि को वर की हस्ताञ्जलि पर रक्खे ।

तत्पश्चात् वधू की मां वा भाई, जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़के खड़ा रहा हो, वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके, जो वधू-वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जलि है, उस में प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके, पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हाथ की अञ्जलि से दो वार लेके वर-वधू की एकत्र की हुई अञ्जलि में धाणी डाले । पश्चात् उस अञ्जलिस्थ धाणी पर थोड़ा सा घी सिंचन करे । पश्चात् **वधू वर की** हस्ताञ्जलि सहित अपनी हस्ताञ्जलि को आगे से नमाके—

ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

इन ३ तीन मन्त्रों में एक-एक मन्त्र से एक-एक वार थोड़ी-थोड़ी धाणी की आहुति तीन वार प्रज्वलित ईंधन पर देके, **वर**—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति । यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतꣳ समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥१॥

इस मन्त्र को बोलके अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के, **वर**—

ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥
ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट ।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः ॥२॥

इन मन्त्रों को पढ़ **यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके,** यज्ञकुण्ड के

पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें ।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर, पुनः दो वार इसी प्रकार, अर्थात् सब मिलके ४ चार परिक्रमा करके, अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में थोड़ा खड़ा रहके, उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुए पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख वधू-वर खड़े रहें । पश्चात् वधू की मां अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उस में बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे । पश्चात् **वधू**–

ओं भगाय स्वाहा ॥ इदं भगाय इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे । पश्चात् **वर वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठके**–

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे ।

तत्पश्चात् एकान्त में जाके वधू के बंधे हुये केशों को वर–

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥१॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों को बोलके प्रथम **वधू के केशों को छोड़ना** ।

तत्पश्चात् सभामण्डप में आके 'सप्तपदी-विधि' का आरम्भ करे। इस समय **वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी, इसे 'जोड़ा' कहते हैं ।** वधू-वर दोनों जने आसन पर से उठके **वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जलि पकड़के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें ।** तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रखके दोनों समीप-समीप उत्तराभिमुख खड़े रहें । तत्पश्चात् **वर**–

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम ॥

ऐसा बोलके वधू को उस का दक्षिण पग उठवाके चलने के लिए आज्ञा देनी । और–

ओम् इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु

पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥

इस मन्त्र को बोलके वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग[१] चले और चलावे ।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव०[२] ॥ इस मन्त्र से दूसरा ।
ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा ।
ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा ।
ओं प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पांचवां ।
ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा । और–
ओं सखे सप्तपदी भव० ॥ इस मन्त्र से सातवां पगला चलना।

इस रीति से इन **७ सात मन्त्रों से ७ सात पग ईशान दिशा में चलाके वर-वधू दोनों गांठ बंधे हुए शुभासन पर बैठें ।**

तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को लेके यज्ञकुण्ड के दक्षिण की ओर में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्व-स्थापित जलकुम्भ को लेके वधू वर के समीप आवे । और उस में से थोड़ा सा जल लेके **वधू-वर के मस्तक पर छिटकावे** । और **वर**–

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥१॥ ओं यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥२॥ ओं तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥

ओम् आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥४॥

इन ४ चार मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् **वधू-वर वहां से उठके**–

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१॥

इस **मन्त्र को पढ़के सूर्य का अवलोकन करें ।**

---

१. इस पग धरने का विधि ऐसा है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठाके ईशानकोण की ओर बढ़ाके धरे । तत्पश्चात् दूसरे बायें पग को उठाके जमणे पग की पटली तक धरे । अर्थात् जमणे पग के थोड़ा सा पीछे बायां पग रक्खे । इसी को एक पगला गिणना । इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी । अर्थात् १-१ मन्त्र से १-१ पग ईशान दिशा की ओर धरना।

२. जो 'भव' के आगे मन्त्र में पाठ है, सो छः मन्त्रों के इस 'भव' पद के आगे पूरा बोलके पग धरने की क्रिया करनी ।

तत्पश्चात् **वर** वधू के **दक्षिण स्कन्धे पर अपना दक्षिण हाथ लेके** उस से **वधू का हृदय स्पर्श करके–**

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥[१]

इस मन्त्र को बोले और उसी प्रकार **वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके** इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले[२]।

तत्पश्चात् **वर वधू के मस्तक पर हाथ धरके–**

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं वि परेतन ॥

इस मन्त्र को बोलके कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना और इस समय सब लोग–

'ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥'

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें ।

तत्पश्चात् वधू–वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठके, पुनः पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे दोनों **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस **स्विष्टकृत्** मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से एक–एक से एक–एक आहुति करके ४ चार आज्याहुति देवें । और **इस प्रमाणे विवाह का विधि पूरा हुए पश्चात् दोनों जने आराम, अर्थात् विश्राम करें ।**

इस रीति से थोड़ा सा विश्राम करके विवाह का उत्तर–विधि करें।

---

१. हे वधू ! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूं । (मम) मेरे (चित्तमनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे । (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित्त से (जुषस्व) सेवन किया कर । (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करनेवाला परमात्मा (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मेरे लिये (नियुनक्तु) नियुक्त करे ।

२. वैसे ही हे प्रिय वीर स्वामिन् ! आपका हृदय, आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूं । मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे । आप एकाग्र होके मेरी वाणी का जो कुछ मैं आपसे कहूं, उसका सेवन सदा किया कीजिए, क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है जैसे मुझ को आपके आधीन किया है, अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिस से सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान्, पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार, अप्रियभाषणादि को छोड़के परस्पर प्रीतियुक्त रहें ।

यह उत्तर-विधि सब **वधू के घर की ईशान दिशा में,** विशेष करके एक घर प्रथम से बना रखा हो, वहां जाके करना ।

तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे [जब] आकाश में नक्षत्र दीखें, उस समय **वधू-वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें** और पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान **(ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०)** इस मन्त्र से करें । यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ, और प्रथम अग्न्याधान किया हो तो अग्न्याधान न करें । **(ओं अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिदाधान करके, जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार व्याहृति आहुति, ये सब मिलके **८ आठ आज्याहुति देवें** ।

तत्पश्चात् प्रधान-होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै इदन्न मम॥

ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत् । तानि०॥

ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि०॥

ओम् आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् । तानि०॥

ओम् ऊर्वोरुपस्थे जङ्घ्योः सन्धानेषु च यानि ते । तानि०॥

ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् ।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥
इदं कन्यायै इदन्न मम ॥

ये ६ छह मन्त्र हैं । इन में से एक-एक मन्त्र बोल, एक-एक से ६ छह आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार व्याहृति मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके—

वधू-वर वहां से उठके सभामण्डप के **बाहर उत्तर दिशा में जावें।** तत्पश्चात् **वर**—

ध्रुवं पश्य ॥

ऐसा बोलके **वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे**[१] और **वधू** वर से बोले कि मैं—

---

१. हे वधू वा वर ! जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है, इसी प्रकार आप और मैं एक-दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें ।

पश्यामि ॥ ध्रुव के तारे को देखती हूं ।

तत्पश्चात् वधू बोले–

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य[१] असौ)॥

इस मन्त्र को बोलके, तत्पश्चात्–

अरुन्धतीं पश्य ॥

ऐसा वाक्य बोलके **वर** वधू को **अरुन्धती का तारा दिखलावे।** और वधू–

पश्यामि ॥ ऐसा कहके–

ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य[२] असौ) ॥

इस मन्त्र को बोलके वर वधू की ओर देखके वधू के मस्तक पर हाथ धरके–

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्[३] ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम्[४] ॥

---

१. (अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठीविभक्त्यन्त पति का नाम बोलना । जैसे–शिवशर्मा पति का नाम हो, तो ''शिवशर्मणः'' ऐसा, और (असौ) इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमाविभक्त्यन्त बोलके इस मन्त्र को पूरा बोले । जैसे–''भूयासं सौभाग्यदाहं शिवशर्मणस्ते'' । इस प्रकार दोनों पद जोड़के बोले ।

२. (अमुष्य) इस पद के स्थान में **पति का नाम षष्ठ्यन्त,** और (असौ) इस के स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़कर बोले–हे स्वामिन् ! सौभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी (पतिकुले) आपके कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चयवाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं, वैसे मैं भी आप की स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊँ ।

३. हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल, जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर, जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाह स्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है । जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं, वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) (पतिकुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रह ।।

४. हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ सङ्कल्प करके स्थिर (असि) हैं या जैसे मैं (त्वा) आप को (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (पश्यामि) देखती हूं वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा । क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आप को (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका

इन दोनों मन्त्रों को बोले ।

पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होके कुण्ड के समीप बैठें । और पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आचमन करके तीन-तीन **आचमन** दोनों करें । पश्चात् पृष्ठ १९ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त करके, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें। पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से **समिधा होम** दोनों जने करके, पश्चात् पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार, दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति वर-वधू देवें।

तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन, अर्थात् भात, उस को एक पात्र में निकालके उस के ऊपर **स्रुवा से घृत सेचन करके,** घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा-थोड़ा भात **दोनों जने लेके**–

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥

इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥

ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये इदन्न मम ॥

इन में से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके ४ चार स्थालीपाक अर्थात् **भात की आहुति** देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस मन्त्र से १ एक **स्विष्टकृत् आहुति** देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ, दोनों मिलके १२ बारह आज्याहुति देनी ।

है । वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम् जीव) जीविये तथा हे वरानने पत्नी ! (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य (मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह । (मह्यम्) मुझ को अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है । तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर । वधू-वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिस से कभी उलटे विरोध में न चलें ॥

तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकालके उस पर घृत-सेचन और दक्षिण हाथ रखके-

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना ।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते[1] ॥१॥
ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम ।
यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव[2] ॥२॥
ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वा असौ[3] ॥३॥

इन तीनों मन्त्रों को मन से जपके **वर उस भात में से प्रथम थोड़ा सा भक्षण करके, जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे ।** और जब वधू उस को खा चुके, तब वधू-वर यज्ञ-मण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें और पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ४-११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** कर्म करके क्षार लवण रहित मिष्ट, दुग्ध, घृतादिसहित भोजन करें ।

तत्पश्चात् पृष्ठ २३, २४ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना ।

तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर-सत्कार करके विदा कर देवें ।

तत्पश्चात् दश घटिका रात जाय, तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रहकर शयन करें और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न

---

१. हे वधू वा वर ! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है, वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गांठ से (बध्नामि) बांधती वा बांधता हूं ॥१॥

२. हे वर ! हे स्वामिन् वा पत्नी ! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण है, (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो । और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है, (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥२॥

३. (असौ) हे यशोदे ! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करनेहारा (षड्विंशः) २६ छब्बीसवाँ तत्त्व (अन्नम्) अन्न है, (तेन) उससे (त्वा) तुझ को (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं ॥३॥

होवे । तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करे । यदि चौथे दिवस कोई अड़चन आवे तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ रह कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो, और पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो, उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें ।

तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वर पक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठाके बड़े सम्मान से अपने घर में लावें और जो वधू अपने माता-पिता के घर को छोड़ते समय आँख में अश्रु भर लावे तो-

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥

इस मन्त्र को वर बोले । और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे । उस समय में वर-

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥१॥
सुकिंशुकंशल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णंसुवृतंसुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥२॥

इन दो मन्त्रों को बोलके रथ को चलावे ।

यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोलके नौका पर बैठें-

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।

और नाव से उतरते समय-

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोलके नाव से उतरें ।

पुनः इसी प्रकार मार्ग में चार मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयङ्कर स्थान, ऊंचे-नीचे खाढ़ावाली पृथिवी, बड़े-बड़े वृक्षों का झुण्ड वा श्मशान भूमि आवे, तो-

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् वधू-वर जिस रथ में बैठके जाते हों, उस रथ का कोई अङ्ग टूट जाय, अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देखके निवास करना । और साथ रक्खे हुए

विवाहाग्नि को प्रकट करके उस में पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे ४ चार **व्याहृति आज्याहुति** देनी । पश्चात् पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना ।

पश्चात् जब वधू-वर का रथ वर के घर के आगे आ पहुँचे, तब **कुलीन, पुत्रवती, सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री** आगे-सामने आकर वधू का हाथ पकड़के वर के साथ रथ से नीचे उतारे और वर के साथ सभामण्डप में ले जावे । सभामण्डप द्वारे आते ही **वर** वहां कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके-

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याऽथास्तं वि परेतन ॥

इस मन्त्र को बोले । और आये हुए लोग-

ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देवें । तत्पश्चात् वर-

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥

इस मन्त्र को बोलके वधू को सभामण्डप में ले जावे ।

तत्पश्चात् वधू-वर पूर्व-स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें । उस समय **वर**-

ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदतु ॥

इस मन्त्र को बोलके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे (ओम् अमृतोपस्तरणमसि) इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके तीन-तीन आचमन करें । तत्पश्चात् पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधा-चयन, अग्न्याधान करें । जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो, तब उस पर घृत सिद्ध करके पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुए अग्नि में पृष्ठ २१-२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, अष्टाज्याहुति ८ आठ, सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति वधू-वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें-

ओम् इह धृतिः स्वाहा ॥ इदमिह धृत्यै इदन्न मम ॥

ओम् इह स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदमिह स्वधृत्यै इदन्न मम ॥
ओम् इह रन्तिः स्वाहा ॥ इदमिह रन्त्यै इदन्न मम ॥
ओम् इह रमस्व स्वाहा ॥ इदमिह रमाय इदन्न मम ॥
ओम् मयि धृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि धृत्यै इदन्न मम ॥
ओम् मयि स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि स्वधृत्यै इदन्न मम॥
ओम् मयि रमः स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय इदन्न मम ॥
ओम् मयि रमस्व स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय इदन्न मम ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके ८ आठ आज्याहुति देके—

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[1] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥१॥

ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[2] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥२॥

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा[3] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥३॥

---

१. हे वधू ! (अर्यमा) न्यायकारी दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था-पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे, (समनक्तु) उस से उत्तम सुख को प्राप्त करे, और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्रीलोग सब कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें, उन में से एक तू हे वरानने ! (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो । (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिए (शम्) सुखकारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्त्ता (भव) हो ॥१॥

२. इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ ११२ में लिखे प्रमाणे जानना ॥२॥

३. ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वीर्य-सेचन करनेहारे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन् ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर । (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आधेहि) उत्पन्न कर, अधिक नहीं । और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर, किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर । यदि इस से आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे

ओं सुम्राज्ञी श्वशुरे भव सुम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि सुम्राज्ञी भव सुम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा[१] **॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥४॥**

इन ४ चार मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके ४ चार **आज्याहुति** देके, पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्** होमाहुति १ एक, **व्याहृति** आज्याहुति ४ चार और **प्राजापत्याहुति** १ एक, ये सब मिलके ६ छह आज्याहुति देकर—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ[२] **॥**

इस मन्त्र को बोलके दोनों **दधिप्राशन** करें ।

तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि[३] **॥**

इस वाक्य को बोलके दोनों वधू-वर, वर की माता-पिता आदि

तो तुम्हारे दुष्ट अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे । और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे । इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना ।।

तथा (पतिमेकादशं कृधि) इस पाद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा—अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा की है, वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे । वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह, और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है । जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे, वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ।।३।।

१. हे वरानने ! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है, उस में प्रीति करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़के प्रवृत्त (भव) हो । (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जो कि तेरी सासु है, उस में प्रेमयुक्त होके उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर । (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है, उस में भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं, उन में भी (सम्राज्ञी) प्रीति से प्रकाशमान (अधि भव) अधिकारयुक्त हो, अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर ।।४।।

२. इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ ११२ में लिखे प्रमाणे समझ लेना ।।

३. इस से उत्तम 'नमस्ते' यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिए नित्यप्रति स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य आदि के लिए है। प्रातः सायम् अपूर्व समागम में जब-जब मिलें, तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ।।

वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें ।

पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके, **उसी समय पृष्ठ ४-६ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी** । उस समय कार्यार्थ आये हुए सब स्त्री-पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें ।

तथा वधू-वर, पिता, आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि-

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें ।

तत्पश्चात् पिता, आचार्य, पुरोहित जो विद्वान् हों, अथवा उन के अभाव में यदि वधू-वर विद्वान् वेदवित् हों तो वे ही दोनों पृ० ७-११ में लिखे प्रमाणे **स्वस्तिवाचन का पाठ** बड़े प्रेम से करें ।

पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आये हुए स्त्री-पुरुष सब-

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें ।

तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान-संस्कार न हो सके तो वधू-वर क्षार-आहार और विषय-तृष्णारहित व्रतस्थ होके पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें । अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो, तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिए आया हो तो वह जहाँ जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो, उसी स्थान में गर्भाधान करे ।

पुनः अपने घर आके पति, सासु, स्वशुर, ननन्द, देवर देवराणी, ज्येष्ठ-जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा, अर्थात् सत्कार करें। सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें और मधुरवाणी, वस्त्र, आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें तथा वधू भी सब को प्रसन्न रक्खे और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल-चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे तथा वर भी स्त्री की सेवा-प्रसन्नता में तत्पर रहे ॥

॥ इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१३]

अथ गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'गृहाश्रम-संस्कार' उस को कहते हैं कि जो **ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी ।**

अत्र प्रमाणानि—

सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ता द॑दात् ॥१॥
इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम् ।
क्रीड॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ स्वस्त॒कौ ॥२॥

अर्थः—(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त, (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण, कर्म, स्वभाववाले (आस्ताम्) होवें । ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त, (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण-कीर्त्तन करनेवाली वधू है उस को पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है, अर्थात् **बड़े भाग्य से दोनों स्त्री-पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण, कर्म, स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है ॥१॥**

हे स्त्रि और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिस को तुम दोनों ने स्वीकार किया है, (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो, (मा वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ । (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु, जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है, उस को प्राप्त होओ और पूर्वोक्त धर्मरीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृहवाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥२॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥३॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥४॥
या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।
वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥५॥
आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥६॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी, (गृहाणाम्) गृह-कार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और श्वश्र्वै) सासु के लिए (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥३॥

हे वधू ! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता, (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता, और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो । और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद, और (एषाम्) इन के (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥४॥

(याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) जवान स्त्रियां, (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी=वृद्ध दुष्ट स्त्रियां हों, वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं दत्त) देवें । (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने-अपने घरों को (विपरेतन) चली जावें, और फिर इस के पास कभी न आवें ॥५॥

हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित्त होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़के शयन कर । और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर । (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के समान तू (उषसः) उषःकाल से (अग्रा) पहली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति जागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥६॥

देवा अग्रे न्यपिद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥७॥
सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥८॥
तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥९॥

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे (नारि) तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं, और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं, वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी, (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होके (सूर्येव) सूर्य की कान्ति के समान (पत्या) अपने स्वामी के साथ मिलके (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (सम्भव) अच्छे प्रकार हो ॥७॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतुसमय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो । (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे (भवाथः) हूजिये। हे पुरुष ! (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य इव) प्राप्त होनेवाले पति के समान (अधि रोहय) सन्तानों से बढ़ा । और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिलके (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो । (पुष्यतम्) पालन-पोषण करो, और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ ॥८॥

हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष ! (यस्याम्) जिस में (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेषकर आश्रय करती है, (यस्याम्) जिस में (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं, (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥९॥

स्योनाद् योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥१०
इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥११॥

जुनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः ।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥१२॥

अर्थः—हे स्त्रि और पुरुष ! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभात वेला को प्राप्त होता है, वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे, सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त, (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए, (सुगू) उत्तम चाल चलने से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे, (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रवाले, (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥१०॥

हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् राजन् ! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्रीपुरुषों को समय पर विवाह करने को आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिस से कोई स्त्री-पुरुष पृष्ठ ७९-८२ में लिखे प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (सं नुद) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिए जिस से ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा चकवी के समान एक-दूसरे से प्रेमबद्ध रहें। और गर्भाधानसंस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उन्नत हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त होके (विश्वम्) **सम्पूर्ण १०० सौ वर्षपर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें** ॥११॥

हे मनुष्यो ! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री-पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति करते और (पुत्रीयन्ति) पुत्र की कामना करते हैं, वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें । तथा (अरिष्टासू) बल, प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिए (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें, जिस से हमारे सन्तान भी उत्तम होवें ॥१२॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥१३॥
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१४॥

अर्थः—हे पत्नी ! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिए (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त, (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर

के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकाल-पर्यन्त (आयुः) जीवन (आसः) होवे, वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान । इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे । जिस से तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ।।१३।।

हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुम को जैसी आज्ञा देता हूं, वैसा ही वर्तमान करो, जिस से तुम को अक्षय सुख हो । अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिए सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो, वैसे माता-पिता सन्तान स्त्री-पुरुष भृत्य मित्र पाड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो । (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता, और (अविद्वेषम्) वैर-विरोधादिरहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं । तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है, वैसे (अन्यो अन्यम्) एक-दूसरे से (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो ।।१४।।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ।।१५।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।१६।।

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मनवाला, (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त, (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेमवाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्त्ता करो । जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्यगुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे, वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ।।१५।।

हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे । (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे । तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो, किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण, कर्म, स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ (वाचम् सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ।।१६।।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥१७॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न वियन्ति) पृथक् भाववाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं । (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥१७॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥१८

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादि-गुणयुक्त, (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान, (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते, और (संराधयन्तः) परस्पर मिलके धन-धान्य राज्यसमृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक्-पृथक् भाव मत करो। (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक-दूसरे को (एत) प्राप्त होओ । इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक-दूसरे के सहायक, (संमनसः) ऐकमत्यवाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं, अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं, इस को आलस्य छोड़कर किया करो ॥१८॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥१९॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥२०॥

—अथर्व० कां० ३। सू० ३० । मन्त्र १-७॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एक सा हो । (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान-पान (सह) साथ हुआ करे । (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों । और तुम को मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं । जैसे (आराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं, अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिलके (अग्निम्) अग्नि

आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं, वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिलके धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) एक-दूसरे का हित सिद्ध किया करो ।।१९।।

हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुम को (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान, (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी, (एकश्रुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होनेवाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक-दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं । तुम (देवा इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो। ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ।।२०।।

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः ।।२१।।
सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ।।२२।।
स्वधया परिहिताः श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता
यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ।।२३।।

अर्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त, (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में, और (ऋते) यथार्थ पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ।।२१।।

(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त, (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त, (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ।।२२।।

(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो । और इन्हीं कर्मों से (निधनं लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्युपर्यन्त सदा आनन्द में रहो ।।२३।।

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ।।२४।।

अर्थः—हे मनुष्यो ! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इस की सामग्री, (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इस की सामग्री, (सहः) स्तुति-निन्दा हानि-लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इस के साधन, (बलं च) बल और इस के साधन, (वाक् च) सत्य प्रिय वाणी और इस के अनुकूल व्यवहार, (इन्द्रियं च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता, (श्रीश्च) लक्ष्मी सम्पत्ति और इस की प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग, (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं, उन को तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ।।२४।।

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ।।२५।।

आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑ च ।।२६।।

पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चान्नाद्यं॑ च ऋ॒तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च ।।२७।।

—अथर्व० कां० १२। अ० ५। वर्ग १-२।।

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुणयुक्त मनुष्य और सब के उपकारक शम, दमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल, (क्षत्रं च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल (राष्ट्रं च) राज्य और उस का न्याय से पालन, (विशश्च) उत्तम प्रजा और उस की उन्नति, (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान, और इस की उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इस के साधनों को प्राप्त हुआ करो । (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उस का नित्य पढ़ना,(द्रविणं च) द्रव्योपार्जन उस की रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ।।२५।।

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो । (रूपं च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो, (नाम च) नामकरण के पृष्ठ ४९-५२ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञाधारण और उसके नियमों को भी (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण, और गुणों में दोषारोपण रूप निन्दा को छोड़ दो । (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण और

उस के युक्ताहार विहारादि साधन, (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उस की सामग्री, (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान उपमान, (श्रोत्रं च) शब्दप्रमाण और उस की सामग्री को धारण किया करो ।।२६।।

हे गृहस्थ लोगो ! (पयश्च) उत्तम जल दूध और इस का शोधन और युक्ति से सेवन, (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इस का युक्ति से आहार-विहार, (अन्नं च) उत्तम चावल आदि अन्न और उस के उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यं च) खाने योग्य पदार्थ और उस के साथ उत्तम दाल, शाक, कढ़ी आदि, (ऋतं च) सत्य मानना और सत्य मनवाना, (सत्यं च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टं च) यज्ञ करना और कराना, (पूर्त्तं च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आरामवाटिका आदि का बनाना और बनवाना, (प्रजा च) प्रजा की उत्पत्ति पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी, (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ।।२७।।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।१।।

—य० अ० ४० । मन्त्र २ ।।

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिए आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होके (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं समाः) १०० सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे। (एवम्) इसी प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटा पापरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता, और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ । इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता । इसलिये तुम स्त्रीपुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ।।१।।

पुनः स्त्रीपुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें । वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शꣳस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ।।२।।
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽ एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ।।३।।

—यजु० अ० ३ । मन्त्र ३७, ४१ ।।

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरा वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त होके (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम्) होऊं । (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊँ । (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊँ । हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन् ! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये । हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् ! आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये । हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन् ! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये । वैसे हे नारी ! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ।।२।।

हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ । (ऊर्ज्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन-स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो । इस लिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है । हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त मुझ को, और हे मेरे पूजनीयतम पिता अदि लोगो ! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान् गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होके वर्ता करो ।।३।।

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॑न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ।।४।।
उप॑हूताऽ इ॒ह गाव॒ऽ उप॑हूता अजा॒वयः॑ ।
अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ।
क्षेमा॑य वः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ श॒ंयोः श॒ंयोः ।।५।।

—यजु० अध्याय ३। मं० ४२, ४३ ।।

अर्थ—हे गृहस्थो ! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिन का (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है, उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उपह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीपस्थ बुलाते हैं । (ते)

वे गृहस्थ लोग (जानतः) उन को जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें। वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिलके पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें॥४॥

हे गृहस्थो! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, (अथो) इस के अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवे, हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें। हे गृहस्थो! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं। मैं और आप लोग प्रीति से मिलके (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें॥५॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥१॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते॥२॥ —मनु०॥

अर्थ—हे गृहस्थो! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है॥१॥

यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न होके सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं॥२॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥३॥ —मनु०॥

अर्थ—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुलभर अप्रसन्न=शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है॥३॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥४॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥५॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥६॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥७॥ —मनु०॥

अर्थ—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें, जिन को कल्याण की इच्छा हो, वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥४॥

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहां जानो उन की सब क्रिया निष्फल हैं ॥५॥

जिस कुल में स्त्री लोग अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है । और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥६॥

जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रीलोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को नाश कर देवें, वैसे चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं॥७॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥८॥ —मनु० ॥

अर्थ—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण वस्त्र खान-पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ॥८॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥९॥ —मनु० ॥

अर्थ—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे, उस के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥९॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥१०॥

अर्थ—यदि स्त्रियाँ दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं और होंगी भी । इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियाँ श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं । इस से प्रथम मनुष्यों को उत्तम होके अपनी

स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए ।।१०।।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥११॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥१२॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥१३॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥१४॥

—मनु०।।

अर्थ—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी घरों में स्त्रियां हैं, वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं । क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ।।११।।

हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति, जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है, उस का निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ।।१२।।

सन्तानोत्पत्ति, धर्म-कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री ही के आधीन होता है ।।१३।।

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है ।।१४।।

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥१५॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥१६॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥१७॥

अर्थ—जिस से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न, वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ।।१५।।

हे स्त्रीपुरुषो ! जो तुम अक्षय* मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ।।१६।।

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ।।१७।।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।।१८।।
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ।।१९।।
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ।।२०।।
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।।२१।।

अर्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ।।१८।।

यदि गृहस्थ होके पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं । क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ।।१९।।

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन, निवास, शय्या, पश्चाद् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा, अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे । ऐसा न हो कि इसे कभी न समझें ।।२०।।

किन्तु जो पाखण्डी वेदनिन्दक नास्तिक ईश्वर वेद और धर्म को न मानें, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और वकवृत्ति, अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथिवेशधारी बनके आवें, उन का वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ।।२१।।

---

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है, उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता।

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥२२॥
न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥२३॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवाऽऽरमेत् सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२४॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२५॥ —मनु० ॥

अर्थ—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार, गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी, मद्य को निकाल कर बेचनेहारे, दश ध्वज के समान वेष अर्थात् वेश्या, भड़ुआ भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाणमूर्तियों के पूजक (=पूजारी) आदि और दश वेष के समान जो अन्यायकारी राजा होता है, उन के अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें ॥२२॥

गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते । किन्तु जिस में किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो, उस वेदोक्त कर्म-सम्बन्धी जीविका को करे ॥२३॥

सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच=पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभरहित, हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ॥२४॥

यदि बहुत सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें । और वेदविरुद्ध धर्माभास जिस के करने से उत्तरकाल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो, वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ॥२५॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥२६॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥२७॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥२८॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥२९॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥३०॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥३१॥ —मनु० ॥

अर्थ—जो धर्म ही से पदार्थों का सञ्चय करना है, वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वही पवित्र है । किन्तु जल-मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ।।२६।।

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्सङ्ग और विद्यादि शुभ गुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ।।२७।।

किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं ।।२८।।

गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (=नैयायिक), तर्ककर्त्ता, नैरुक्त (=निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों, अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (=ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें ।।२९।।

और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है । चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते ।।३०।।

उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि जो सत्यवादी, विचार करके ही कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ।।३१।।

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३२॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥३३॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महद् आप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥३४॥

अर्थ—जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़, लोभी, जिस ने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, जो विषयों में फंसा हुआ है, उस से वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ।।३२।।

इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का सङ्गी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है ।।३३।।

जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता, और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ।।३४।।

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥३५॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥३६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥३७॥

अर्थ—जिस राजा में शिकार खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिए भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हंसी ठट्ठा, मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना, नाचना वा इन का देखना और वृथा इधर-उधर घूमते फिरना, ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ।।३५।।

और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देखके हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करडा दण्ड देना, ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं । ये १८ अठारह दुर्गुण हैं, इन को राजा अवश्य छोड़ देवे ।।३६।।

और जो इन कामज और क्रोधज १८ अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं, उस को प्रयत्न से राजा जीते,

क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ अठारह और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं । इसलिए हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो, परन्तु ऐसे दोषवाले मनुष्य को राजा कभी न करना । यदि भूल से हुआ हो तो उस को राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को, जो कि राजा के कुल का हो, राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द-मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ।।३७।।

सैन्यापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।३८।।
मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।।३९।।
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄन् अमात्यान् सुपरीक्षितान् ।।४०।।

अर्थ—जो वेदशास्त्रवित् धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे, उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ।।३८।।

और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे शूरवीर, जिन का विचार निष्फल न होवे, कुलीन धर्मात्मा स्वराज्यभक्त हों, उन ७ सात वा ८ आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे और इन्हीं की सभा में आठवाँ वा नववाँ राजा हो । ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें ।।३९।।

इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी, जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके, उतने ही पवित्र धार्मिक विद्वान् चतुर स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्य-सामग्री के वर्धक नियत करे ।।४०।।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ।।४१।।
अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ।।४२।। —मनु०।।

अर्थ—जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के सङ्केत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देशकाल को जाननेहारा, सुन्दर जिस का स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और पर-राज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे ।।४१।।

तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा, और सुपात्रों के द्वारा सत्य विद्या और सत्य धर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें ।।४२।।

विधि—सदा स्त्रीपुरुष १० दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस से परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इस के लिए निम्नलिखित मन्त्र हैं—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम[१] ।।१।।
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह[२]।।२।।

---

१. हे स्त्रीपुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त, (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान्, (प्रातः) (अश्विना) सूर्य चन्द्र को जिस ने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं, और (प्रातः) (भगम्) भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त, (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता, (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे, (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामि प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति-प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में तुम लोग भी किया करो ।।१।।

२. (प्रातः) पांच घड़ी रात्रि रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता, (उग्रम्) तेजस्वी, (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्ररूप सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे, और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्ता, (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा, (तुरश्चित्) दुष्टों को भी दण्डदाता, और (राजा) सब का प्रकाशक है, (यम्) जिस (भगम्) भजनीयस्वरूप को

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम[१] ॥३॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम[२] ॥४॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह[३] ॥५॥

—ऋ० मं० ७ । सू० ४१ ॥

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी ॥

(चित्) भी (भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूं, और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को (आह) उपदेश करता है कि तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूं, उस=मेरी उपासना किया करो, और मेरी आज्ञा में चला करो, इस से (वयम्) हम लोग उस की (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥२॥

१. हे (भग) भजनीयस्वरूप, (प्रणेतः) सब के उत्पादक, सत्याचार में प्रेरक, (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे, (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर ! (नः) हम को (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिये, और उस के दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिये । हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिये, हे (भग) आप की कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र स्याम) अच्छे प्रकार होवें ॥३॥

२. हे भगवन् ! आप की कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता=उत्तमता की प्राप्ति में (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें, (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे ! (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप्त लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥४॥

३. हे (भग) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर ! जिस से (तम्) उस (त्वा) आप की (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं, (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुर एता) अग्रगामी और आगे-आगे सत्यकर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिए; और जिस से (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता होने से आप ही हमारे **(भगवान्) पूजनीय देव** (अस्तु) हूजिए, (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसम्पन्न होके सब संसार के उपकार में तन, मन, धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥५॥

तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय-पर्यन्त अथवा घड़ी, आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके, सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। **इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें।** प्रथम शरीरशुद्धि, अर्थात् स्नान-पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें।

आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके-

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों में से एक-एक से एक-एक आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आँख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर, जिधर की ओर का वायु हो, उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके हृदय के वायु को बल से बाहर निकालके यथाशक्ति रोके। पश्चात् धीरे-धीरे भीतर लेके भीतर थोड़ा सा रोके। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना हृदय में करके-

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ —यजुः अ० ३६।

इस मन्त्र को एक वार पढ़के तीन आचमन करे। पश्चात् पात्र में से मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जलस्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम अङ्गों का निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे-

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व।
ओं प्राणः प्राणः ॥ इस से दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।
ओं चक्षुश्चक्षुः ॥ इस से दक्षिण और वाम नेत्र
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥ इस से दक्षिण और वाम श्रोत्र।
ओं नाभिः ॥ इस से नाभि।
ओं हृदयम् ॥ इस से हृदय।
ओं कण्ठः ॥ इस से कण्ठ।
ओं शिरः ॥ इस से मस्तक।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥ इस से दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध, और—

ओं करतलकरपृष्ठे ॥ इस से दोनों हाथों के ऊपर–तले स्पर्श करके, मार्जन करे—

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥ इस मन्त्र से शिर पर ।
ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ।
ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर ।
ओं महः पुनातु हृदये ॥ इस मन्त्र से हृदय पर ।
ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ इस से नाभि पर ।
ओं तपः पुनातु पादयोः ॥ इस से दोनों पगों पर ।
ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥ इस से पुनः मस्तक पर ।
ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥ इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे।

पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे, और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाय—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम् ॥

इसी रीति से कम से कम ३ तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करे ।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मानके पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्तमान रक्खे—

ओम् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

—ऋ० मं० १०। सू० १९०।।

इन मन्त्रों को पढ़के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से ३ तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति—

प्रार्थना करे—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

—अथर्व० का० ३। सू० २७। मं० १-६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना, और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जान कर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना।

तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान, अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥१॥

—ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥

—यजुः अ० १३। मं० ४६॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥२॥ —यजुः अ० ३३। मन्त्र ३१॥
उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽ उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥
—यजुः अ० ३५। मन्त्र १४॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥ —यजुः अ० ३६। मं० २४॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके, पुनः (शन्नो देवी०) इस से ३ तीन आचमन करके, पृष्ठ **७२–७३ में लिखे प्रमाणे,** अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे प्रमाणे **गायत्रीमन्त्र का अर्थ**–विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना करे । पुनः–

''हे परमेश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें ।'' पुनः–

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥
—यजुः अ० १६। मं० ४१॥

इस से परमात्मा को नमस्कार करके, **(शन्नो देवी०) इस मन्त्र से** ३ तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे ॥

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः ॥१॥

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री–पुरुष* अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **अग्न्याधान समिदाधान,** और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल–प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपाके पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार देके, नीचे

* किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक–एक मन्त्र को दो–दो बार पढ़के दो–दो आहुति करे ।

लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥[3]

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातःसायं आहुति देनी चाहिए ।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये प्राणाय इदं न मम ॥१॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय इदं न मम॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय व्यानाय इदं न मम ॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः इदं न मम ॥४॥

ओम् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥६॥ —यजुः अ० ३२। मं० १४॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रन्तन्नऽ आ सुव स्वाहा ॥७॥ —यजुः० अ० ३०। मं० ३॥

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥८॥ —यजुः अ० ४०। मं० १६॥

इन ८ आठ मन्त्रों से एक–एक मन्त्र करके एक–एक आहुति

देनी, ऐसे ८ आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णँ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से ३ तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक-एक वार पढ़के एक-एक करके ३ तीन आहुति देवे ॥

॥ इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥२॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे, अर्थात् जीते हुए माता-पिता आदि की यथावत् सेवा करनी 'पितृयज्ञ' कहाता है ॥३॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥
ओं सोमाय स्वाहा ॥२॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥३॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥४॥
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥५॥
ओं कुह्वै स्वाहा ॥६॥
ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥७॥
ओं प्रजापतये स्वाहा॥८॥
ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥९॥
ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥१०॥

इन १० दश मन्त्रों से **घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़के जो कुछ पाक में बना हो,** उसी की १० दश आहुति करे ।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलि दान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥१॥	इस से पूर्व ।
ओं सानुगाय यमाय नमः ॥२॥	इस से दक्षिण ।
ओं सानुगाय वरुणाय नमः॥३॥	इस से पश्चिम ।
ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥४॥	इस से उत्तर ।
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥५॥	इस से द्वार ।
ओं अद्भ्यो नमः ॥६॥	इस से जल ।
ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥७॥	इस से मूसल और ऊखल ।

ओं श्रियै नमः ॥८॥ इस से ईशान ।
ओं भद्रकाल्यै नमः ॥९॥ इस से नैर्ऋत्य ।
ओं ब्रह्मपतये नमः॥१०॥
ओं वास्तुपतये नमः॥११॥ इन से मध्य ।
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥१२॥
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः॥१३॥
ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः॥४॥ इन से ऊपर ।
ओं सर्वात्मभूतये नमः॥१५॥ इस से पृष्ठ ।
ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः॥१६॥ इस से दक्षिण ।

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना । यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना । तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके–

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥

अर्थ–कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि–इन ६ छह नामों से ६ छह भाग पृथिवी में धरे और वे ६ छह भाग जिस-जिस के नाम हैं, उस-उस को देना चाहिए ॥४॥

अथातिथियज्ञः

पांचवाँ–जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपात रहित शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा, उन से प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना **'अतिथियज्ञ'** कहाता है, उस को नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञों को स्त्री-पुरुष प्रतिदिन करते रहें ॥५॥

इस के पश्चात् पक्षयज्ञ अर्थात् **पौर्णमासी** और **अमावस्या** के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे **स्थालीपाक** बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें–

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥२॥
ओं विष्णवे स्वाहा ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की ३ तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आज्याहुति** ४ चार देनी, परन्तु इस

में इतना भेद है कि अमावास्या के दिन–

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ इस मन्त्र के बदले–

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

इस मन्त्र को बोलके स्थालीपाक की आहुति देवे ।

इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिस के घर में **अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो** तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १२–१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप; पृष्ठ १८–१९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान; पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति; और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलसेचन करके, पृष्ठ ४–११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** भी यथायोग्य करें ।

और जब–जब नवान्न आवे, तब–तब नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें, अर्थात् जब–जब नवीन अन्न आवे, तब–तब शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करे ।

नवशस्येष्टि और **संवत्सरेष्टि** करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने । ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके पृष्ठ ४–२४ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार तथा अष्टाज्याहुति ८ आठ, ये १६ सोलह आज्याहुति करके, कार्यकर्त्ता–

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः ।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥१॥

ओं यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् ।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥२॥

ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥३॥

ओं यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् ।
इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै इदन्न मम ॥४॥

ओम् अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳसा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै इदन्न मम ॥५॥

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ पांच आज्याहुति करके–

ओं सीतायै स्वाहा ॥१॥
ओं प्रजायै स्वाहा ॥२॥
ओं शमायै स्वाहा ॥३॥
ओं भूत्यै स्वाहा ॥४॥

इन चार मन्त्रों से चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(यदस्य०)** मन्त्र से **स्विष्टकृत्** होमाहुति १ एक, ऐसे ५ पांच **स्थालीपाक** की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति,** पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार, ऐसे १२ बारह आज्याहुति देके, पृष्ठ २३-२४, ४-११ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन** और **शान्तिकरण** करके यज्ञ की समाप्ति करें ॥

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

'शाला' उस को कहते हैं–जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं। इस के दो विषय हैं–एक प्रमाण और दूसरा विधि । उस में से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे ।

अत्र प्रमाणानि–

उपमितां प्रतिमितामथो परिमिताम् उत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥१॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥२॥

अर्थ–मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावें तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिस को देखके विद्वान् लोग सराहना करें। (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों । (अथो) इस के अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर की परिमाण से समचौरस हो । (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों । (नद्धानि) उस के बन्धन और चिनाई दृढ़ हों । हे मनुष्यो ! ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं, वैसे तुम भी करो ॥१॥

उस घर में **एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान, (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्)** रहने का (सदः) स्थान, और **(देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के** रहने–बैठने, मेल–मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा **स्नान, भोजन, ध्यान आदि** का भी पृथक्–पृथक् एक–एक घर बनावे । इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है ॥२॥

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः। तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥३॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निर्मिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ।।४।।

अर्थः—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न-भिन्न (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों । (च) और (द्याम्) जिस में सूर्य का प्रतिभास आवे, वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे। (च) और (यत्) जो (व्यचः) उस की व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्रि! (ते) तेरे लिये है, (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूं, तू इस में निवास कर, और मैं भी निवास के लिये इस को (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं । (यत्) जो उस के बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान-परिमाणयुक्त **लम्बी ऊंची छत,** और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे, (तत्) उस को (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूं। (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं ।।३।।

जो (शाले) शाला (ऊर्जस्वती) बहुत बलारोग्य पराक्रम को बढ़ानेवाली, और धन-धान्य से पूरित सम्बन्धवाली, (पयस्वती) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त (निमिता) निर्मित की हुई (विश्वान्नम्) सम्पूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा हिंसीः) पीड़ित न करे, वैसा घर बनाना चाहिये ।।४।।

ब्रह्मणा शालां निर्मितां कविभिर्निर्मितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ।।५।।

अर्थः—(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक, (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को, और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों को (रक्षताम्) रक्षा करें । अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे, और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय, वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध को स्थापन करे। वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है । उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ।।५।।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये ॥६॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर, अथवा (चतुष्पक्षा) जिस के पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला, और इन के मध्य में पांचवीं बड़ी शाला, वा (षट्पक्षा) एक बीच में बड़ी शाला और दो-दो पूर्व-पश्चिम तथा एक-एक उत्तर-दक्षिण में शाला हों, (या) जो ऐसी शाला (निमीयते) बनाई जाती है, वह उत्तम होती है । और इस से भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो-दो शाला और उन के बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिस के मध्य में दो शाला और उन के चारों दिशाओं में दो-दो शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है, वैसे सब शालाओं के द्वार दो-दो हाथ पर सूधे बराबर हों ।।

और जिस की चारों ओर की शालाओं का परिमाण **तीन-तीन गज** और मध्य की शालाओं का **छह-छह गज से परिमाण न्यून न हो और चार-चार गज चारों दिशाओं की,** और **आठ-आठ गज मध्य की शालाओं** का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का **दश-दश गज** अर्थात् **बीस-बीस हाथ से विस्तार अधिक न हो,** बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिए। यदि वह सभा का स्थान हो, तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल-गोल स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिए कि जिस के कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे। और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिए अवकाश तथा वृक्ष फल और पुष्करणी कुण्ड भी होने चाहियें, वैसे घरों में सब लोग रहें ।।६।।

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्य१न्तरापश्च ऋतस्य प्रथमा द्वाः ॥७॥

अर्थः—जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वारयुक्त, (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित, अर्थात् पश्चिम द्वार के सम्मुख पूर्व द्वार, जिस में (हि) निश्चय कर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार है, मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूं ।।७।।

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ॥८॥

—अथर्व० कां० ९ । अ० २। वर्ग ३ ॥

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा प्रतिमुचः) कभी न छोड़े, जिस में (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे, वैसी बनाओ । (त्वा) उस शाला को (यत्र कामम्) जहां जैसी कामना हो वहां वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं, वैसे तुम भी ग्रहण करो ।।८।।

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके, तब प्रवेश करते समय क्या-क्या विधि करना, सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

अथ विधिः—जब घर बन चुके, तब उस की शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में ४ चार वेदी, और एक वेदी घर के मध्य बनावे, अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिस से सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम हो जावे सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ १३-१४ में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को लेके शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे । जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे, उसी शुभ दिन में गृहप्रतिष्ठा करे ।

वहां ऋत्विज् होता अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे, जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों । वे सब वेदी से पश्चिम दिशा में बैठें । उन में से होता का आसन और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का उत्तर में उस पर दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर वह पश्चिमाभिमुख और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख । इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे, और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे । ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे ।

पश्चात् निष्क्रम्यद्वार, जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे, अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा ॥

इस से एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिस में ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर ४ चार ध्वजा खड़ी करे तथा कार्यकर्त्ता गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उस के मूल में जल से सेचन करे, जिससे वह दृढ़ रहे ।

पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जलसेचन करे—

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्द्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुच्छ्रयमाणा ॥१॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे ।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।
आ त्वा शिशुराक्रन्दन् त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ॥२॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार ।

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह । आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरुप । क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् ॥३॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार ।

अश्वावद् गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव ।
अभि नः पूर्यताꣳ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ॥४॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे । तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदली-स्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन् ! प्रविशामीति । ऐसा वाक्य बोले । और ब्रह्मा—

वरं भवान् प्रविशतु ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे । और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओम् ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये ॥

इस वाक्य को बोलके भीतर प्रवेश करे और जो घृत गरम कर, छान, सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो, उस को पात्र में लेके जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे, उसी द्वार से प्रवेश करके, पृष्ठ १८-२० में लिखे प्रमाणे आचमन करके **अग्न्याधान, समिदाधान, जलप्रोक्षण** पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, नवमी स्विष्टकृत् आज्याहुति एक, अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में **अग्न्याधान से लेके स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके,** पश्चात् पूर्वदिशा द्वारस्थ कुण्ड में—

ओं प्राच्या॑ दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ॥१॥
ओं दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्येभ्यः॑ स्वाहा॑ ॥२॥

इन दो मन्त्रों से **पूर्व** द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षि॑णाया दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन दो मन्त्रों से **दक्षिण** द्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो आज्याहुति और–

ओं प्रतीच्यां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति **पश्चिम**दिशाद्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओम् उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से **उत्तर दिशास्थ वेदी** में दो आज्याहुति देवे । पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व-स्व दिशा में बैठके–

ओं ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से **मध्य** वेदी में दो आज्याहुति ।

ओम् ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से भी दो आहुति **मध्यवेदी** में । और–

ओं दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्व दिशास्थ द्वारस्थ वेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके वेदी के दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के **उत्तर भाग** में एक **कलश स्थापन** कर, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके, पृथक् निष्क्रम्यद्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादिसहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा, स्वयं पूर्वाभिमुख बैठके संस्कृत घी अर्थात् जो गरम कर छान, जिस में कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में लेके **सब के सामने एक-एक पात्र भरके रक्खे** । और चमसा में लेके–

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ॥१॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति तन्नो जुषस्व स्वाहा ॥२

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥३॥
—ऋ० मं० ७। सू० ५४॥

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥४॥ —ऋ० मं० ७। सू० ५५। मं० १॥

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके, जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो, उस को दूसरे कांसे के पात्र में लेके, उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने-अपने सामने रक्खे और पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा लेकर—

ओम् अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये ।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥१॥
सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम् ।
वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥२॥
पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह ।
प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥३॥
ओं कर्तारञ्च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥४
धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳसह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥५॥
स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती ।
सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥६॥

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छह मन्त्रों से छह आहुति देकर कांस्यपात्र में उदुम्बर=**गूलर, पलाश के पत्ते, शाड्वल=तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव** को लेके उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥१॥
इस मन्त्र से **पूर्व द्वार** ।
यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपयेताम् ॥२॥
इस से **दक्षिण द्वार** ।
अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥३॥
इस से **पश्चिम द्वार** ।

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥४॥

इस से **उत्तर द्वार** के समीप उन को **बखेरे, और जलप्रोक्षण** भी करे।

केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥१॥

इस से पूर्व दिशा में **परमात्मा का उपस्थान** करके दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥२॥

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख होके—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥३॥

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रहके—

अस्वप्नश्च माऽनवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेताम् ॥४॥

धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीसूर्यामहोरात्रे द्वारफलके । इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखा यः साधुसंमतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥५॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को उत्तम भोजन कराके, यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें । और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को

'सर्वे भवन्तोऽत्राऽऽनन्दिताः सदा भूयासुः ॥'

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को जावें ।

इसी प्रकार **आराम आदि की भी प्रतिष्ठा करें** । इस में इतना

ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे, उसी ओर होम करे कि जिस का सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे । यदि उस में घर बना हो तो शाला के समान उस की भी प्रतिष्ठा करे ।।

।। इति शालादिसंस्कारविधिः ।।

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो-जो अपने अपने वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं, उन-उन को यथावत् करें ।

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।१।। —मनु० ।।
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।२।। —गीता ।।

अर्थ—१ एक—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें । २ दो—पूर्ण विद्या पढ़ें । ३ तीन—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें । ४ चौथा—यज्ञ करावें । ५ पांच—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें । ६ छठा—न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी ।

इन में से ३ तीन कर्म—पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म* में और तीन कर्म—पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं । परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ।। —मनु०

जो दान लेना है वह नीच कर्म है, किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है ।।१।।

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे । (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रखके धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे । (तपः) ब्रह्मचर्य विद्या योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति, क्षुधा-तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना । (शौचम्) **राग, द्वेष, मोहादि से मन**

* धर्म नाम **न्यायाचरण । न्याय नाम पक्षपात छोड़के वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रह कर, हिंसा-द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना,** सब मनुष्यों का यही एक धर्म है । किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक्-पृथक् आते हैं, इसी से चार वर्ण पृथक्-पृथक् गिने जाते हैं।

और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना। (क्षान्तिः) क्षमा, अर्थात् कोई निन्दा–स्तुति आदि से सतावें तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना। (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना। (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़के, विचार कर उन के शब्दार्थ–सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना। (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर–पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना, कराना। (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये **नव कर्म और गुण धर्म में समझना**। सब से उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करना। ये गुण, कर्म, जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण, कर्म, स्वभावों को मिला ही के करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे ॥२॥

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥१॥ —मनु० ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥२॥ —गीता ॥

अर्थ—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादिशास्त्रों को यथावत् पढ़ना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में, और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है। (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना। लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना ॥१॥

(शौर्यम्) शस्त्र–संग्राम मृत्यु और शस्त्र प्रहारादि से न डरना। (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना। (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत्–विपत् क्लेश–दुःख प्राप्त

हो, तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना, (दाक्ष्यम्) संग्राम वाग्युद्ध दूतत्व न्याय विचार आदि सब में अतिचतुर बुद्धिमान् होना , (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना, (दानम्) इस का अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया, **(ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुखदुःखरूप फल देता, और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे-बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सर्व प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे-बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना**। रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना। और सब प्रकार से **अपने शरीर को रोगरहित बलिष्ठ दृढ़ तेजस्वी दीर्घायु रखके आत्मा** को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण, कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो, वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे ।

इन का भी इन्हीं गुण-कर्मों के मेल से विवाह करना । और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे, वैसे ही राजा पुरुषों, राणी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे । जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ।।२।।

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।। —मनु० ।।

अर्थ—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण हैं **और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उन के दुग्धादि का बेचना, (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना, (कुसीदम्) ब्याज का लेना*,**

* सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे । जितना न्यून ब्याज लेवेगा, उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे ।

(कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना-बोना आदि व्यवहार का जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुण-कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य-वैश्या और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ।।

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषाम् अनसूयया ॥ —मनु०।।

अर्थ—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिस को पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इन का विवाह और इन को अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिए ।।

इन गुणकर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्यसमुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिन का जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण, कर्म, स्वभाव हों तो अतिविशेष है ।

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने-अपने कर्मों में निम्नलिखित रीति से बर्तें—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ।।१।।
नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ।।२।।

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़के नित्य किया करें। उस को अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।।१।।

गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसङ्ग से द्रव्यसञ्चय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रखके, दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तदपि अधर्म से द्रव्य-सञ्चय कभी न करे ।।२।।

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत् ।।३।।

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥४॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे ॥३॥

जो स्वाध्याय और धर्म-विरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सब को छोड़ देवे । जिस-किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ॥४॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥५॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥६॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥७॥
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः प्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥८॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥९॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! तुम जो धर्म धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं उन को और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ॥५॥

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उस के यथार्थ भाव को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे अधिक-अधिक जानता जाता है और इस की प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥६॥

सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उन के, न चाण्डाल, न कञ्जर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥७॥

गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जायें, उस से अपने आत्मा का अवमान न करें कि 'हाय हम निर्धनी हो गये' इत्यादि विलाप भी न करें, किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥८॥

मनुष्य सदैव सत्य बोलें, और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें। काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उन के सम्मुख

कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उस को भी न बोलें, यह सनातन धर्म है ।।९।।

अभिवादयेद् वृद्धाँश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ।।१०।।
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ।।११।।
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।१२।।
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।।१३।।
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ।।१४।।

अर्थ—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते' अर्थात् उन का मान्य किया करे । जब वे अपने समीप आवें, तब उठकर मान्यपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे । और हाथ जोड़के आप समीप बैठे पूछे, वे उत्तर देवें । और जब जाने लगें, तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर 'नमस्ते' कर विदा किया करे । और वृद्ध लोग हर वार निकम्मे जहां-तहां न जाया करें ।।१०।।

गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध, और धर्म का मूल सदाचार, अर्थात् सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का जो आचरण है, उस का सेवन सदा किया करें ।।११।।

धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ।।१२।।

और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है, वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है ।।१३।।

जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त, सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ।।१४।।

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद् यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ।।१५।।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥१७॥

अर्थ—मनुष्य जो-जो पराधीन कर्म हो, उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े और जो-जो स्वाधीन कर्म हो, उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥१५॥

क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है । यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ॥१६॥

जो अधार्मिक मनुष्य है और जिस का अधर्म से सञ्चित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है, वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥१७॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१८॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥१९॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्याँश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२०॥

अर्थ—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता । किन्तु धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है । पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥१८॥

यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों, और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है । किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥१९॥

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी, बाहू, उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रखके शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥२०॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२१॥
धर्मं शनैस्सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२२॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमाँस्त्यजेत् ॥२३॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२४॥
स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२५॥

—मनु० ॥

अर्थ—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों, उन को सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे । और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं, और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं, उन से भी दूर रहे ॥२१॥

जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती हैं, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे किया करे ॥२२॥

जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥२३॥

जिस वाणी में सब व्यवहार निश्चित, वाणी ही जिन का मूल और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, **जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है ।** इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥२४॥

मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्री-प्रणवादि का अर्थविचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना, ज्ञान-विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें ॥२५॥

अथ सभास्वरूपलक्षणम्—जो-जो विशेष बड़े-बड़े काम हों

जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें । इसमें प्रमाण—

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥

—अथर्व० कां० १५ । सू० ९ । मं० २॥

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥

—अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ६॥

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि॥३॥

—ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६॥

अर्थ—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है, उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार सञ्चित करे ॥१॥

हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर । (ये च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं, वे भी सभा की योजना रक्षा और उस से सब की उन्नति किया करें ॥२॥

जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा, अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें । इन्हीं से संसार की सब प्रकार उन्नति करें ॥३॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥२॥

अर्थः—हे गृहस्थ लोगो ! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उन में शंका होवे तो तुम जिस को शिष्ट आप्त विद्वान् कहें, उसी को शङ्कारहित कर्तव्य धर्म मानो ॥१॥

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते, किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों, वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥२॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥३॥

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥४॥
ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥५॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥६॥

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० दश पुरुषों की सभा होवे, अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है । जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उन का भी आचरण सब लोग करें ॥३॥

उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—३ तीन वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की=न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ—इन महात्माओं की सभा होवे ॥४॥

तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिए और जितने सभा में अधिक पुरुष हों, उतनी ही उत्तमता है ॥५॥

द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्म-व्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्तव्य परम धर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोडह पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिए किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है।॥६॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी । और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी। जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिए ।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥७॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥८॥ —मनु० ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उस से विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ॥७॥

धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना । इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं (अहिंसा) किसी से वैर-बुद्धि करके उस के अनिष्ट करने में कभी न वर्तना। (धृतिः) सुख-दुःख हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना । (क्षमा) निन्दा-स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना । (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना । (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) राग-द्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म ही में चलाना । (धीः) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्सङ्ग करने और कुसङ्ग दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना । (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वरपर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना । (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना । (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इस का ग्रहण और अन्याय पक्षपात-सहित आचरण अधर्म, जो कि हिंसा=वैर-बुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसङ्ग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उस में फंसना, असत्य मानना असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं । इन से सदा दूर रहना चाहिए ।।८।।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ।।९।।

—महाभारते० ।।

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी ।।१०।।
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।।११।।
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ।।१२।।

अर्थ—वह सभा नहीं है, जिस में वृद्ध पुरुष न होवें । वे वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म ही की बात नहीं बोलते । वह धर्म नहीं है, जिस में सत्य नहीं और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ।।९।।

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे । यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले । यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे, अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अतिपापी है ।।१०।।

अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे, उस के घाव को यदि सभासद् न पूर देवें, तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं ।।११।।

जिस को सत्पुरुष राग-द्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ।।१२।।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।१३।।
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ।।१४।।

अर्थः—जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उस की धर्म भी रक्षा करता है । इसलिए मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए ।।१३।।

जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उस का जो लोप करता है, उस को विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ।।१४।।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।१५
—महाभारते ।।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।।१६।। —मनु० ।।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।१७।। —भर्तृहरिः ।।

अर्थ—मनुष्यों को योग्य है कि काम से, अर्थात् झूठ से कामना सिद्ध

होने के कारण से, वा निन्दा, स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से। चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। चाहे भोजन-छादन जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं तथा सुख-दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है, वह भी अनित्य है। धन्य वे मनुष्य हैं, जो अनित्य शरीर और सुख-दुःखादि के व्यवहार में वर्त्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ॥१५॥

जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे से ही हैं ॥१६॥

सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिए कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते, वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥१७॥

सं ग॑च्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम् ।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ सं जाना॒ना उ॒पास॑ते ॥१॥

—ऋ० म० १० । सू० १९१ । मं० २॥

दृ॒ष्ट्वा रू॒पे व्याक॑रोत् सत्यानृ॒ते प्र॒जाप॑तिः ।
अश्र॑द्धा॒मनृ॑तेऽद॑धाच्छ्र॒द्धाꣳ स॒त्ये प्र॒जाप॑तिः ॥२॥

—यजु० अ० १९। मं० ७७॥

स॒ह ना॑ववतु स॒ह नौ॑ भुनक्तु स॒ह वी॒र्यं॑ करवावहै ।
ते॒ज॒स्वि ना॒वधी॑तमस्तु॒ मा वि॑द्विषा॒वहै॑ ॥
ओं शा॒न्ति॒श्शा॒न्ति॒श्शान्तिः॑ ॥३॥

—तै० आर० अष्टमप्रपाठकः । प्रथमानुवाकः ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीतविद्यायोगाभ्यासी, (सं जानानाः) सम्यक् जाननेवाले, (देवाः) विद्वान् लोग मिलके (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके, असत्य को छोड़, सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे (सं जानताम्) आत्मा से धर्माऽधर्म, प्रियाऽप्रिय को सम्यक्

जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक-दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म में सम्मत होवें। और तुम उसी धर्म को (सं गच्छध्वम्) सम्यक् मिलके प्राप्त होओ, जिस में तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक-दूसरे की उन्नति किया करो ॥१॥

(प्रजापतिः) सकल सृष्टि की उत्पत्ति और पालन करनेहारा सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले धर्म-अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देखके (व्याकरोत्) भिन्न-भिन्न निश्चित करता है। (अनृते) मिथ्याभाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति को और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादिलक्षणयुक्त न्याय पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है, वैसा ही तुम करो ॥२॥

हम स्त्री-पुरुष सेवक-स्वामी मित्र-मित्र पिता-पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक-दूसरे की रक्षा किया करें और (सह) प्रीति से मिलके एक-दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें। (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा-पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान (अस्तु) होवे और हम एक-दूसरे से (मा विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें, किन्तु सदा मित्र-भाव और एक-दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें। जिस परमात्मा का यह 'ओम्' नाम है, उस की कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे **शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख, जो कि अपने और दूसरे से होता है,** नष्ट हो जावे और हम लोग प्रीति से एक-दूसरे के साथ वर्तके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयम् आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खें ॥३॥

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१४]

अथ वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'वानप्रस्थसंस्कार' उस को कहते हैं, जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे, और पुत्र का भी एक सन्तान हो जाय । अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे ।

अत्र प्रमाणानि—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥१॥ —शतपथब्राह्मणे ॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥२॥

—यजु० अ० १९। मं० ३०॥

अर्थः—मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें । गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥१॥

जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत, अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है । (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम-पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है । (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य-धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (श्रद्धया) सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्य विज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है । **इसलिए श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये** ॥२॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽ अहम् ॥३॥

—यजु० अ० २०। मं० २४ ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥४॥

—अथर्व का० ९ । सू० ५। मं० १॥

अर्थः—हे (व्रतपते अग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उस की सामग्री, (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उस के उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं। इसीलिए अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूं, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं और वैसे ही (त्वा) तुझ को अपने आत्मा से धारण करता, और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूं ।।३।।

हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर । (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला । (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो । (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर-अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःख-रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो ।।४।।

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ।।५।।

—अथर्व० का० १९। सू० ४१ । मं० १।।

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्ट यत्तपः ।
शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ।।६।।

—अथर्व० का० १९ । सू० ४०। मं० ३।।

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होने वाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उप निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त होके (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं, (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को (उप सं नमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ।।५।।

सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत करे । (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा)

मत । और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उस को भी (मा) मत नाश करे । (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिए सब प्रजा (शिवाः) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें। जैसे हमारी (मातरः) माता पितामही प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें ।।६।।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।७।।

—मुण्डकोपनि० मुं० १ । ख० २ । मं० ११।।

अर्थ—हे मनुष्यो ! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जंगल में (शान्त्या) शान्ति के साथ (तपःश्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं, और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षाचरण को (चरन्तः) करते हुए जंगल में निवास करते हैं, (ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष निष्पाप निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहां (सः) सो (अमृतः) मरण-जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है, (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं । इसलिए वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है ।।७।।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः ।।१।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।२।।
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।।३।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज=ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम करके वन में वसे ।।१।।

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें, और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब वन का आश्रय लेवें ।।२।।

जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें, तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ।।३।।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।।४।।

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके ग्राम से निकल जङ्गल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ।।४।।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।।५।।
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ।।६।।
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ।।७।।

—मनु० अ० ६।।

अर्थ—वहां जंगल में वेदादिशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्वस्त्री भी समीप हो तथापि उस से सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे । सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा, और किसी से कुछ भी न लेवे । सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा=कृपा रखनेहारा होवे ।।५।।

जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उन के घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ।।६।।

और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे । इसी प्रकार जब तक संन्यास करने की इच्छा न हो, तब तक वानप्रस्थ ही रहे ।।७।।

अथ विधि—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तैयारी करे । यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इस की सेवा यथावत् किया करना । और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिए शिक्षा करती रहना ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १२-१३ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे । पृष्ठ १३-१४ में लिखे घृत आदि सब सामग्री जोड़के पृष्ठ १८-१९ में लिखे प्रमाणे (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से अग्न्याधान, और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके, पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों

ओर जलप्रोक्षण करके, पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आज्याहुति ४ चार करके, पृष्ठ ७-११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके, स्थालीपाक बनाकर और उस पर घृत सेचन कर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे–

ओम् काय स्वाहा। कस्मै स्वाहा। कतमस्मै स्वाहा। स्वाहाऽऽधिमाधीताय स्वाहा। मनः प्रजापतये स्वाहा। चित्तं विज्ञाताय आदित्यै स्वाहा। अदित्यै मह्यै स्वाहा। अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा। सरस्वत्यै स्वाहा। सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा। सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा। पूष्णे स्वाहा। पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा। पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा। त्वष्ट्रे स्वाहा। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा। त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा॥ –यजु० अ० २२। मं० २० ॥

भुवनस्य पतये स्वाहा। अधिपतये स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा॥

–यजु० अ० २२। मं० ३२ ॥

ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। अपानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। उदानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। समानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। वाग्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। मनो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा ॥

–यजु० अ० २२। मं० ३३ ॥

एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा ।
एकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥

–यजु० अ० २२। मं० ३४ ॥

इन मन्त्रों से एक-एक करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार देकर, पृ० २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामगान करके, सब इष्ट-मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जङ्गल में जाकर एकान्त में निवासकर योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का सङ्ग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ॥

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१५]

अथ संन्याससंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'संन्यास संस्कार' उस को कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे । अर्थात्–

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्यकर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स 'संन्यासः' । संन्यासो विद्यते यस्य स 'संन्यासी' ।

काल–प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे। यह क्रम संन्यास, अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता-करता वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को **'क्रम संन्यास'** कहते हैं ।

द्वितीय प्रकार–'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा ।' यह ब्राह्मणग्रन्थ का वाक्य है ।

अर्थ–जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे । क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है ।

तृतीय प्रकार–'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ।।

यह भी ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है ।

यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे, और जिस को दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरण-पर्यन्त यथावत् संन्यास-धर्म का निर्वाह कर सकूंगा तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ।

अत्र वेदप्रमाणानि–

श॒र्य॒णाव॑ति॒ सोम॒मिन्द्रः॑ पिबतु वृत्र॒हा । बल॒ं दधा॑न आ॒त्मनि॑ करि॒ष्यन् वी॒र्यं॑ म॒हद् इन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव ।।१।।

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥२॥

अर्थ—मैं ईश्वर संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करनेहारा (इन्द्रः) सूर्य (शर्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है, वैसे संन्यास लेनेवाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को (पिबतु) पीवे और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूंगा, ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए, हे (इन्दो) चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वान् तू संन्यास लेके सब पर (परि स्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥१॥

हे (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न (मीढ्वः) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचनेहारे, (दिशां पते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करनेहारे, (इन्दो) शमादिगुणयुक्त संन्यासिन् ! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने, (सत्येन) सत्यभाषण करने से, (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से, (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ, तू अपने शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि को (आ पवस्व) पवित्र कर। (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिए (परिस्रव) सब ओर से गमन कर ॥२॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥३॥

अर्थ—हे (ऋतद्युम्न) सत्यधन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर ! (ऋतं वदन्) पक्षपात छोड़के यथार्थ बोलता हुआ, हे (सत्यकर्मन्) सत्य वेदोक्त कर्मवाले संन्यासिन् ! (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुआ, (श्रद्धाम्) सत्यधारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ, (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न, (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मावाले, (सोम) योगैश्वर्ययुक्त (इन्दो) सब को आनन्ददायक संन्यासिन् ! तू (धात्रा) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृतः) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिए (परिस्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥३॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन्। ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन् इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥४॥

अर्थ—हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रतायुक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्)

कहते हुए (सोमेन) विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिए आनन्द को (जनयन्) प्रकट करते हुए, (इन्दो) आनन्दप्रद, (पवमान) पवित्रात्मन्, पवित्र करनेहारे संन्यासिन्! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् (महीयते) महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है। जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययुक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त करा ।।४।।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।५।।

अर्थ—हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे, पवित्रस्वरूप, (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जहां तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है, (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म-मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझ को (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिए और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से (परिस्रव) आनन्द की वर्षा कीजिए ।।५।।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः । यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।६।।

अर्थ—हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस तुझ में (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है, (यत्र) जिस आप में (दिवः) बिजुली अथवा बुरी कामना की (अवरोधनम्) रुकावट है, (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारणरूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्षप्राप्त (कृधि) कीजिए। (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए (परिस्रव) आदर भाव से आप मुझ को प्राप्त हूजिये ।।६।।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।७।।

अर्थ—हे (इन्दो परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विहरना है, (यत्र) जिस (त्रिनाके) त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक दुःख से रहित, (त्रिदिवे) तीन सूर्य, विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित

सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करनेयोग्य शुद्ध कामनावाले, (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त, (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्षप्राप्त (कृधि) कीजिये । और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परिस्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ।।७।।

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।८।।

अर्थ—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती हैं, (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख, (च) और (यत्र) जिस आप में, (स्वधा) अपना ही धारण, (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त-मुक्तिवाला (कृधि) कीजिये तथा (इन्द्राय) सब दुःख-विदारण के लिए आप मुझ पर (परिस्रव) करुणावृत्ति कीजिए ।।८।।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।९।।

—ऋ० म० ९ । सू० ११३।।

अर्थ—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि, (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष, (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता, (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं, (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं, (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझ को (अमृतम्) जन्म-मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तियुक्त कि जिस से मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता, उस मुक्ति की प्राप्तिवाला (कृधि) कीजिए और इसी प्रकार सब जीवों को (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिए ।।९।।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्त्तन ।।१०।।

—ऋ० म० १० । सू० ७२ । मं० ७।।

अर्थ—हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो ! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूढम्) गुप्त (आ सूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, उस को (आ

अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उन को सदा (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परम धर्म है ॥१०॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥११॥

—अथर्व० का० १९ । सू० ४१ । मं० १॥

अर्थ—हे विद्वानो ! जो (ऋषयः) वेदार्थविद्या को प्राप्त, (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त, (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए, (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें, उन का (देवाः) विद्वान् लोग (उपसंनमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें। (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे, (तत्) उस से (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें ॥११॥

अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥१॥
अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत् ॥२॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥३॥
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥४॥
आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥५॥
अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥६॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥७॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ९॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥१०॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥११॥
दूषितोऽपि चरेद् धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥१२॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥१३॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥१४॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥१५॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१६॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥१७॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥१८॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥१९॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥२०॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥२१॥
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्यम् इदमानन्त्यमिच्छताम् ॥२२॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ।।२३।।

अर्थ—इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक २५ पच्चीस वर्ष, अथवा न्यून से न्यून १२ बारह वर्ष तक विहार करके, आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० सत्तर वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे ।।१।।

विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़, गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ।।२।।

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिस में यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके, ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ।।३।।

जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है, उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय=ज्ञान से प्रकाशमय हो जाते हैं ।।४।।

जब सब कामों को जीत लेवे, और उन की अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे, तभी गृहाश्रम से निकलकर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे । अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ।।५।।

वह संन्यासी (अनग्निः*) आहवनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे । और अन्न-वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे । बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि, मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ।।६।।

न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने। किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है, वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ।।७।।

चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे । सदा वस्त्र से छानकर

* इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते, और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते । यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया । यहां आहवनीयादिसंज्ञक अग्नियों को छोड़ना है स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है ।

जल पीवे । सब से सत्य वाणी बोले, अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे। जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे ।।८।।

इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस, मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सब को सत्योपदेश करता रहे ।।९।।

सब शिर के बाल दाढ़ी मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे । पात्री दण्डी और कुसुम्भ के रंगे हुए* वस्त्रों को धारण किया करे । सब भूत=प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढात्मा होकर नित्य विचरा करे ।।१०।।

जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय, और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ।।११।।

यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें, तथापि धर्म ही का आचरण करे । ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है । सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रक्खे । इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिये संन्यासाश्रम का विधि है । किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ।।१२।।

यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करनेवाला है, तथापि उस के नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता, किन्तु उस को ले, पीस, जल में डालने से ही उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है। वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता, किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं ।।१३।।

इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधि-वत् **योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके,** जैसा कि पृष्ठ १५६ में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उस को मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है ।।१४।।

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं, वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ।।१५।।

इसलिए संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को, प्रत्याहार से सङ्ग से हुए दोषों और ध्यान से अविद्या, पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ाके, पक्षपातरहित

* अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने ।

आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर, सब दोषों को भस्म कर देवे ।।१६।।

बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में जो **अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है,** उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे ।।१७।।

जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षट्दर्शनों से युक्त है, वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता। और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग, धर्मानुष्ठान, वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है, वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होता है और ऐसे मूर्ख अधर्मी को संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने योग्य है ।।१८।।

और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं। उन का संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है ।।१९।।

जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है, तभी इस लोक इस जन्म, और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर* सुख को प्राप्त होता है ।।२०।।

इस विधि से धीरे-धीरे सब सङ्ग से हुए दोषों को छोड़के, सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके, विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ।।२१।।

और जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का सङ्ग, योगाभ्यास और ओङ्कार का जप और उस के अर्थ=परमेश्वर का विचार भी किया करे। यही अज्ञानियों का शरण, अर्थात् गौण संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का, और यही सुख का खोज करनेहारे, और यही अनन्त** सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है ।।२२।।

इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संन्यास ग्रहण करता है, वह इस संसार और शरीर में सब पापों को छोड़-छुड़ाके परब्रह्म को प्राप्त होता है ।।२३।।

---

* निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता ।

** अनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में अन्त अर्थात् जिस का नाश न होवे ।

विधि—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो, उसी दिन नियम और व्रत, अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्तदेश में ओङ्कार का जप किया करे और पृष्ठ १२-१४ में लिखे प्रमाणे सभामण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि शाकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी । पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो, प्रहर रात्रि से उठकर शौच, स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम, ध्यान और प्रणव का जप करता रहे । सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे वरण कर, पृष्ठ १९-२० में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, घृतप्रतपन और स्थालीपाक करके पृ० ७-११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन-शान्तिकरण का पाठ कर, पृ० २० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, तथा—

ओं भुवनपतये स्वाहा ॥१॥

ओं भूतानां पतये स्वाहा ॥२॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥३॥

इन में से एक-एक मन्त्र से एक-एक करके ११ ग्यारह आज्याहुति देके, जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उस में घृत-सेचन करके, यजमान जो कि संन्यास का लेनेवाला है, और दो ऋत्विज् निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम और शेष दो ऋत्विज् भी साथ-साथ घृताहुति करते जावें—

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः स्वाहा ॥१॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता । ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा ॥२॥

अंहोमुचे प्र भरे मनीषा मा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः । इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहा ॥३॥

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् । अपां नपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा ॥४॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे । अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥५॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे। वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥६॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥७॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥८॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय इदन्न मम ॥९॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥१०॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोपतिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यः इदन्न मम ॥११॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ इदं ब्रह्मणे इदन्न मम ॥१२॥

—अथर्व० कां० १९। सू० ४२, ४३॥

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१॥

वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिसङ्कल्पा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥२॥

शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूदरजङ्घा शिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥३॥

त्वक्चर्ममाꣳसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥४॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥५॥

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥६॥

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥७॥

विविष्ट्यै स्वाहा ॥८॥

कषोत्काय स्वाहा ॥९॥

उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि। देहि देहि ददापयिता मे शुध्यताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१०॥

ओं स्वाहा मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥११॥

अव्यक्तभावैरहङ्कारैर्ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१२॥

आत्मा मे शुध्यताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१३॥

अन्तरात्मा मे शुध्यताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१४॥

परमात्मा मे शुध्यताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा* ॥१५॥

इन १५ मन्त्रों में से एक-एक करके भात की आहुति देनी। पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें—

ओमग्नये स्वाहा ॥१६॥ **ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥१७॥**
ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥१८॥ **ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥१९॥**
ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥२०॥ **ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥२१॥**
ओं धर्माय स्वाहा ॥२२॥ **ओमधर्माय स्वाहा ॥२३॥**
ओमद्भ्यः स्वाहा ॥२४॥ **ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥२५॥**
ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा॥२६॥ **ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥२७॥**
ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥२८॥ **ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥२९॥**
ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥३०॥ **ओं कामाय स्वाहा ॥३१॥**

---

* (प्राणापान) इत्यादि से लेके (परमात्मा में शुध्यताम्)इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिये उपदेश है, अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे, वह धर्माचरण सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्या-विज्ञानादि शुभ गुण, कर्म, स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मान कर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चलाके, पक्षपात, कपट, अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष पढ़ाने और उपदेश से छुड़ा कर, स्वयम् आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुंचाता रहे।

ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥३२॥ ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥३३॥
ओं दिवे स्वाहा ॥३४॥ ओं सूर्याय स्वाहा ॥३५॥
ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥३६॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥३७॥
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥३८॥ ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥३९॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥४०॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥४१॥
ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥४२॥ ओं परमेष्ठिने स्वाहा ॥४३॥
ओं तद् ब्रह्म ॥४४॥ ओं तद्वायुः ॥४५॥
ओं तदात्मा ॥४६॥ ओं तत्सत्यम् ॥४७॥
ओं तत्सर्वम् ॥४८॥ ओं तत्पुरोर्नमः ॥४९॥

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वꣳ विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः । त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों स्वाहा* ॥५०॥

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति देके तदनन्तर जो संन्यास लेनेवाला है, वह पांच वा छः केशों को छोड़कर पृष्ठ ५९-६१ में लिखे प्रमाणे डाढ़ी मूंछ केश लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर कराके यथावत् स्नान करे। तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष अपने शिर पर पुरुषसूक्त के मन्त्रों से १०८ एक सौ आठ बार अभिषेक करे । पुनः पृष्ठ १५५-१५६ में लिखे प्रमाणे आचमन और प्राणायाम करके, हाथ जोड़, वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर मन से—

ओं ब्रह्मणे नमः ॥१॥ ओमिन्द्राय नमः ॥४॥
ओं सूर्याय नमः ॥२॥ ओं सोमाय नमः ॥५॥
ओमात्मने नमः ॥३॥ ओमन्तरात्मने नमः ॥६॥

इन छह मन्त्रों को जपके—

ओमात्मने स्वाहा ॥१॥ ओमन्तरात्मने स्वाहा ॥२॥
ओं परमात्मने स्वाहा ॥३॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥४॥

इन चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता—संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष पृष्ठ १०८-१०९ में लिखे प्रमाणे मधुपर्क की क्रिया करे । तदनन्तर प्राणायाम करके—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१॥

---

* ये सब प्राणापानव्यान० आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०॥ ६६। ६७। ६८ के हैं ।

ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥२॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥३॥
ओं भूर्भुवः स्वः। सावित्रीं प्रविशामि । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥४॥

इन मन्त्रों को मन से जपे ।

ओमग्नये स्वाहा ॥१॥
ओं भूः प्रजापतये स्वाहा ॥२॥
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥३॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥४॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥५॥
ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥६॥
ओं प्राणाय स्वाहा ॥७॥
ओमपानाय स्वाहा ॥८॥
ओं व्यानाय स्वाहा ॥९॥
ओमुदानाय स्वाहा ॥१०॥
ओं समानाय स्वाहा ॥११॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति देके—

ओं भूः स्वाहा ॥१॥

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्त्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति* ॥ —श० कां० १४॥

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा* ॥

इस वाक्य को बोलके सब के सामने जल को भूमि में छोड़ देवे। पीछे नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

---

* पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं, वे ही सब को सत्योपदेश से अभयदान देते हैं, अर्थात् दहने हाथ में जल लेके मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया, और मुझ से सब भूत प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे, यह मेरी सत्य वाणी है ।

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसेऽसावदोम् ॥

इस का मन से जप करके प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समग्र कण्डिका को बोलके प्रेष्य मन्त्रोच्चारण करे ।

ओं भूः संन्यस्तं मया । ओं भुवः संन्यस्तं मया ।
ओं स्वः संन्यस्तं मया ॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण करे । तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर पूर्वाभिमुख होकर संन्यास लेनेवाला—

ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जलि को पूर्व दिशा में छोड़ देवे।

येना॑ स॒हस्र॒ं वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे* ॥

—अथर्व० का० ९। सू० ५। मं० १७॥

और इस पर स्मृति है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥

इस श्लोक का अर्थ पहले लिख दिया है ।

इस के पश्चात् मौन करके शिखा के लिये जो पांच वा सात केश रक्खे थे, उन को एक-एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतारकर हाथ में ले जल की अञ्जलि भर—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥
ओं भूः स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि

---

* हे (अग्ने) विद्वन् ! (येन) जिस से (सहस्रम्) सब संसार को अग्नि धारण करता है, और (येन) जिस से तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थ पदार्थमोह यज्ञोपवीत और शिखा आदि को (वहसि) धारण करता है, उन को छोड़। (तेन) उस त्याग से (नः) हम को (इमम्) इस संन्यासरूप (स्वाहा) सुख देनेहारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्तवे) जाने को (वह) प्राप्त हो ।

को जल में होम कर देवे ।

उस के पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकालके काषाय वस्त्र की कोपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अंगोछा, प्रीतिपूर्वक देवे । और शिष्य पृष्ठ ७४ में लिखे प्रमाणे (यो मे दण्ड:०) इस मन्त्र से दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे ।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्[१] ॥१॥
सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः[२] ॥२॥
यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते[३] ॥३॥
यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्रणयति[४] ॥४॥
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः[५] ॥५॥

---

१. (यः) **जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को (विद्यात्) जाने,** (यस्य) जिस के (परूंषि) कठोर स्वभाव आदि, (सम्भाराः) होम करने के साकल्य और (यस्य) जिस के (ऋचः) यथार्थ सत्यभाषण, सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन हैं, वही संन्यास ग्रहण करे ॥१॥

२. (यस्य) जिस के (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान, (यजुः) यजुर्वेद जिस के (हृदयम्) हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है, (परिस्तरणम्) जो सब ओर से शास्त्र, आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य के समान है, वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है ॥२॥

३. (वा) वा (यत्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करने हारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है, वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजनम्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है ॥३॥

४. और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है, वह जानो (दीक्षाम्) दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है, (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है, वह जानो (अपः) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है ॥४॥

५. (यज्ञे) यज्ञ में (याः एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है (ता एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया हैं ॥५॥

यदावसथान् कल्पयन्ति सदो हविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति[१] ॥६॥

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत्[२] ॥७॥

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति[३] ॥८॥

स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण[४] ॥९॥

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः[५] ॥१०॥

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति[६] ॥११॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति[७] ॥१२॥

---

१. संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास स्थान (कल्पयन्ति) कल्पना करते हैं, वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र (तत्) वे कल्पयन्ति समर्थित करते हैं ॥६॥[१] द० स०

२. और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणन्ति) बिछौने आदि करते हैं, (बर्हिरेव तत्) वह कुशपिञ्जूली के समान है ॥७॥

३. और जो (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ (अतिथिः) जिस की कोई नियत तिथि न हो, वह भोजनादि करता है, वह (आत्मन्) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियां देता है ॥८॥

४. और जो संन्यासी (हस्तेन) हाथ से खाता है, वह जानो (स्रुचा) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है । जैसा (यूपे) स्थम्भे में अनेक प्रकार के पशु आदि को बांधते हैं, वैसे वह संन्यासी (स्रुक्कारेण) स्रुचा के समान (वषट्कारेण) होमक्रिया के तुल्य (प्राणे) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है ॥९॥

५. (एते वै) ये ही (ऋत्विजः) समय-समय में प्राप्त होनेवाले (प्रियाः च अप्रियाः च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण (अतिथयः) अतिथिरूप हैं, इस से गृहस्थ को (स्वर्गं लोकम्) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं ॥१०॥

६. (एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रमधर्मानुष्ठान रूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म (विततः) व्यापक है, अर्थात् (यः) जो इस को सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है, (वै) वही संन्यासी होता है ॥११॥

७. (यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापतेः) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों की (अनुविक्रमते) अनुकूलता से क्रिया करता है, (वै) वही सब शुभगुणों को (उपहरति) स्वीकार करता है ॥१२॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः[१] ॥१३॥

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति[२] ॥१४॥ —अथर्व० का० ९। सू० ६॥

***तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता**

---

१. (यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का संग है, (सः) वह संन्यासी के लिए (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिस में ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है, और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में अर्थात् स्थान में निवास है, (सः) वह उस के लिए (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है, और संन्यासी का (यस्मिन्) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है, इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे ॥१३॥

२. (यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है, (एषः) यह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और उस की सामग्री, (पूर्त्तम्) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उस के साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण अर्थात् नाश करता है । इसलिए जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे उस को पूर्व जिमाकर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥१४॥

* इस के आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं—(एवम्) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रमरूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का (यजमानः) पति (आत्मा) स्वस्वरूप है, और जो ईश्वर, वेद और सत्यधर्माचरण, परोपकार में (श्रद्धा) सत्य का धारणरूप दृढ़ प्रीति है, वह उस की (पत्नी) स्त्री है, और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है, वह (इध्मम्) यज्ञ के लिए इन्धन है, और जो उस का (उरः) वक्षःस्थल है, वह (वेदिः) कुण्ड, और जो उस के शरीर पर (लोमानि) रोम हैं, वे (बर्हिः) कुशा हैं, और जो (वेदः) वेद और उन का शब्दार्थ-सम्बन्ध जानकर आचरण करना है, वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है, और जो संन्यासी का (हृदयम्) हृदय है, वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इस के शरीर में (कामः) काम है, वह (आज्यम्) ज्ञान अग्नि में होम करने का पदार्थ है, और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है, वह (पशुः) निवृत्त करने अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है, और जो संन्यासी (तपः) सत्यधर्मानुष्ठान प्राणायामादि योगाभ्यास करता है, वह (अग्निः) जानो वेदी का अग्नि है, जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोकके धर्माचरण में स्थिर रखके चलाता है, वह (शमयिता)

चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्म श्रोत्रमग्नीत्। यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानम्। यद्रमते तदुपसदो यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखम् तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च तानि सवनानि । ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथः । एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रं य एवं

जानो दुष्टों को दण्ड देनेवाला सभ्य है, और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिए वाणी है वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) अभयदान देना है । जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण है, वह (होता) होता के समान, जो (चक्षुः) चक्षु है, वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य, जो (मनः) मन है वह (अध्वर्युः) अध्वर्यु के समान, जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र है, वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लानेवाले के तुल्य, (यावत् ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है, (सा) वह (दीक्षा) दीक्षाग्रहण, और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान, (यत् पिबति) और जो वह जल, दुग्धादि पीता है, (तदस्य सोमपानम्) वह इस का सोमपान है, और (यद्रमते) वह जो इधर-उधर भ्रमण करता है, (तदुपसदः) वह उपसद उपसामग्री, (यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च) जो वह गमन करता, बैठता और उठता है (स प्रवर्ग्यः) यह इस का प्रवर्ग्य है, (यन्मुखम्) जो इस का मुख है (तदाहवनीयः) वह संन्यासी की आहवनीय अग्नि के समान, (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्) जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इस का विज्ञान आहुतिरूप है (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है, (यत्सायं प्रातरत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है (तत्समिधम्) वे समिधा हैं, (यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च) जो संन्यासी प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है (तानि सवनानि) वे तीन सवन, (ये अहोरात्रे) जो दिन और रात्रि हैं (ते दर्शपौर्णमासौ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि हैं, (येऽर्धमासाश्च, मासाश्च) जो कृष्ण शुक्लपक्ष और महीने हैं (ते चातुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं, (य ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् पशुओं का बांधना रखना है, (ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो संवत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं (तेऽहर्गणाः) वे संन्यासी के अहर्गण-दो रात्रि वा तीन रात्रि आदि के व्रत हैं, जो (सर्ववेदसं वै) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रम चिह्नों का त्याग करना है, (एतत्सत्रम्) यह सब से बड़ा यज्ञ है, (यन्मरणम्) जो संन्यासी का मृत्यु है (तदवभृथः) वह यज्ञान्तस्नान है, (एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रम्) यही जरावस्था और

विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥ —तैत्ति० आ० प्रपा १० । अनु० ६४॥

अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि—

*** न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम् । ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः प्रजापतिः संवत्सर इति । संवत्सरोऽसावादित्यो यऽ एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधि-वनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिꣳ स्मृत्या स्मारꣳ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानाम् । प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो**

मृत्युपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन है तावत् सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्ररूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है। (य एवं विद्वानुदगयने०) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान, योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के सङ्ग को प्राप्त होता है, और जो योग-विज्ञान से रहित है सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है। वह पुनः पुनः माता-पिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है वह उस से परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय-पर्यन्त मोक्ष-सुख को भोगता है ।

* (न्यास इत्याहुर्मनीषिणः०) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है इसलिए भावार्थ कहते हैं । न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये, उस रीति से जो संन्यासी होता है वह परमात्मा का उपासक है । वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है कि जिस के प्रताप से सूर्य तपता है । उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी वनस्पति की उत्पत्ति, उन से अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उस से श्रद्धा—सत्यधारण में प्रीति, उस से बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उस से ज्ञान, ज्ञान से शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान, उस से विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी, जानता और जनाता है । इसलिए अन्नदान श्रेष्ठ जिस से प्राण, बल, विज्ञानादि होते हैं । जो प्राणों का आत्मा,

ब्रह्मयोनिः । स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳ स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वांस्तमसो वरिष्ठात् । ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो मृत्युमुपयाहि विद्वान् । तस्मात् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः । वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मंस्त्वमसि विश्वसृत् तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महसे । ओमित्यात्मानं युञ्जीत । एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् । य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥ —तैत्ति० आ० प्रपा० १०। अनु० ६३।।

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥१॥ —यजु० अ० ३६। मं० १८।।

अर्थ—हे (दृते) सर्वदुःखविदारक परमात्मन् ! तू (मा) मुझ को संन्यासमार्ग में (दृंह) बढ़ा । हे सर्वमित्र ! तू (मित्रस्य) सर्वसुहृद् आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझ को सब का मित्र बना । जिस से (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से (समीक्षन्ताम्) देखें, और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि) सब जीवों को (समीक्षे) देखूं । इस प्रकार

जिस से यह सर्व जगत् ओतप्रोत व्याप्त हो रहा है । वह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है । उस के जानने की इच्छा से उस को जानकर हे संन्यासिन् ! तू पुनः-पुनः मृत्यु को प्राप्त मत हो, किन्तु मुक्ति के पूर्ण सुख को प्राप्त हो । इसलिए सब तपों का तप, सब से पृथक् उत्तम संन्यास को कहते हैं । हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सब का सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा, धर्त्ता, सूर्यादि को तेजदाता है । तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है । वह सब से बड़ा पूजनीय देव है । (ओम्) इस मन्त्र का मन से उच्चारण करके परमात्मा में आत्मा को युक्त करे । जो इस विद्वानों की ग्राह्य महोत्तम विद्या को उक्त प्रकार से जानता है, वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है ।

ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा ॥२॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥३॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽ एकत्वमनुपश्यतः ॥४॥

—यजु० अ० ४० । मं० १६, ६, ७ ॥

आप की कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक-दूसरे को (मित्रस्य चक्षुषा) सुहृद्भाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें ॥१॥

हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के दाहक, (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग के विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिए (सुपथा) वेदोक्त धर्ममार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित (एनः) अपराध पाप कर्म को (युयोधि) दूर रखिये और इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिये । इसीलिए (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नमउक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ॥२॥

(यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा में अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता है, (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण प्राणी अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है, (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वसाक्षी जानके अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणीमात्र को हानि-लाभ सुख-दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यास-धर्म को प्राप्त होता है ॥३॥

(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणीमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना, अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है, उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है, (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एकभाव को देखनेवाले संन्यासी को (को मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक होता

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥५॥

—यजु० अ० ३२ । मं० ११ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥६॥

—ऋ० म० १। सूक्त १६४ । मं० ३९॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥७॥

—कठवल्ली ॥

है ? अर्थात् न उस को किसी से कभी मोह और न शोक होता है। इसलिए संन्यासी मोह-शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब का उपकार करता रहे ॥४॥

इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके, जो (भूतानि) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो, और (सर्वाः) सब (प्रदिशो दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है, (ऋतस्य) सत्यकारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थित होकर उस में (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे ॥५॥

हे संन्यासी लोगो ! (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं, (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं करिष्यति) क्या सुख वा लाभ कर लेगा ? अर्थात् विद्या के विना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता । और विद्या पढ़के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उस की आज्ञा में चलता है, वह मनुष्य-शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं। (ते इमे इत्) वे ये ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं ॥६॥

(समाधिनिर्धूतमलस्य) समाधियोग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये

हुए जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे, वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम् न शक्यते) कहा नहीं जा सकता । क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तःकरणेन) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्ण रीति से कभी नहीं आ सकता । इसलिए संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उस की आज्ञा अर्थात् पक्षपात-रहित न्याय-धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश, सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाते रहें ।।७।।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ।।१।।
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।।२।।

अर्थ—संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है । इसलिए चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बांधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो, इत्यादि सब का सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने । परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे । न वेदविरुद्ध कुछ माने । परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने। आप सदा परमेश्वर को अपना स्वामी माने, और आप सेवक बना रहे। वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो, वा माता, पिता पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पाड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े, उस-उस का उपदेश करे ।

जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबल, कुरान, पुराण, मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिन के पढ़ने-सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सब का निषेध करता रहे । विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्तियों को न माने, न मनवावे । वैसे ही गृहस्थों

को माता पिता आचार्य अतिथि, स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्ति से भिन्न किसी की मूर्ति को पूज्य न समझावे, किन्तु वैदिक मत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे ।

वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया कराया करे । आप शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होकर सब को इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं, उन-उन अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे। खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े । आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म माननेवालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे । परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे । इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयम् आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे।

सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरिता, (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य करना, (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय करके पर-पदार्थ का ग्रहण न करना चाहिये, न किसी को करने का उपदेश करे । (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रखके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सब का उपकार करता रहे। (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोष रहित, किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फंसे । इन पांच यमों का सेवन सदा किया करे और इन के साथ ५ पांच नियम अर्थात् (शौच) बाहर-भीतर से पवित्र रहना, (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि-लाभ में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना । (तपः) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना । (स्वाध्याय) **सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उस के अर्थ=ईश्वर का विचार करते रहना।** (ईश्वर-प्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं ।

हे जगदीश्वर ! सर्वशक्तिमन्, सर्वान्तर्यामिन्, दयालो, न्यायकारिन्, सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अजर, अमर, पवित्र, परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रखके परममुक्ति-सुख को प्राप्त कराते रहिए ।।

।। इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः ।।

[१६]

अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

'**अन्त्येष्टि**' कर्म उस को कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिस के आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं ।

भस्मान्तꣳ शरीरम् । —यजुः अ० ४० । मं० १५।।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥ —मनु०

अर्थ—इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है ।।१।।

शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है ।।२।।

(प्रश्न) गरुडपुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी कर्म, मासिक, वार्षिक, गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं, क्या ये सब असत्य हैं ?

(उत्तर) हाँ, अवश्य मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है । इसलिए अकर्त्तव्य हैं और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता, और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का । वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है ।

(प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहाँ जाता है ?

(उत्तर) यमालय को ।

(प्रश्न) यमालय किस को कहते हैं ?

(उत्तर) वाय्वालय को ।

(प्रश्न) वाय्वालय किस को कहते हैं ?

(उत्तर) अन्तरिक्ष को, जो कि यह पोल है ।

(प्रश्न) क्या गरुडपुराण आदि में यमलोक लिखा है वह झूठा है ?

(उत्तर) अवश्य मिथ्या है ।

(प्रश्न) पुनः संसार क्यों मानता है ?

(उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से । जो यम की कथा लिख रक्खी है, वह सब मिथ्या है, क्योंकि '**यम**' इतने पदार्थों

का नाम है—

षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति ॥१॥

—ऋ० म० १। सू० १६४ । मं० १५॥

शकेम वाजिनो यमम् ॥२॥ —ऋ० म० २। सू० ५ । मं० १॥

यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥३॥

—ऋ० म० १०। सू० १४ । मं० १३॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥४॥

—यजु० अ० ८। मं० ५७॥

वाजिनं यमम् ॥५॥ —ऋ० म० ८। सू० २४ । मं० २२॥

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥६॥ —ऋ० म० १। सू० १६४ । मं० ४६॥

अर्थ—यहां ऋतुओं का यम नाम ॥१॥

यहां परमेश्वर का नाम ॥२॥

यहां अग्नि का नाम ॥३॥

यहां वायु, विद्युत्, सूर्य के यम नाम हैं ॥४॥

यहां भी वेगवाला होने से वायु का नाम यम है ॥५॥

यहां परमेश्वर का नाम यम है ॥६॥

इत्यादि पदार्थों का नाम **'यम'** है । इसलिए पुराण आदि की सब कल्पना झूठी है ।

विधि—

संस्थिते भूमिभागं खानयेद् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा ॥१॥

दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवणमित्येके ॥२॥

यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामम् ॥३॥

व्याममात्रं तिर्यक् ॥४॥

वितस्त्यर्वाक् ॥५॥

केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात् ॥६॥

द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥७॥

दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥८॥

अथैतां दिशमग्नीन् नयन्ति यज्ञपात्राणि च ॥९॥

अर्थ—जब कोई मर जावे तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो

तो स्त्रियां उस को स्नान करावें । चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें । जितना उस के शरीर का भार हो उतना घृत यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवें और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिस के पास कुछ भी नहीं है, उसे कोई श्रीमान् वा पञ्च बनके आध मन से कम घी न देवें, और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तोलके चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक-एक मन घी के साथ सेर-सेर भर अगर-तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल कपूर, पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ, शरीर के भार से दूनी सामग्री श्मशान में पहुंचावें । तत्पश्चात् मृतक को वहां श्मशान में ले जायें ।

यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे। वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय अथवा नैर्ऋत्य कोण में हो, वहां भूमि को खोदे । मृतक के पग दक्षिण, नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहें । शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में रहे ।।१।।

मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊंचा रहे ।।२।।

उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और दोनों हाथों को लम्बे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो, अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ ऊपर से चौड़ी होवे, और छाती के बराबर गहरी होवे ।।३।।

और नीचे आध हाथ अर्थात् एक बीता भर रहे [।।४।।]

उस वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिटकावे । यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करदे । उस में नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियाँ चिने, जैसे कि भित्ती में ईंटे चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियाँ धरे । लकड़ियों के बीच में थोड़ा-थोड़ा कपूर थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्खे । उस के ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे, अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे । और पश्चात् चारों ओर और ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने । वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियाँ चिने ।

जब तक यह क्रिया होवे, तब तक अलग चूल्हा बना अग्नि जला घी तपा और छानकर पात्रों में रक्खे । उसमें कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे । लम्बी-लम्बी लकड़ियों में चार चमसों को, चाहे वे लकड़ी के हों वा चांदी सोने के अथवा लोहे के हों, जिस चमसा में एक छटांकभर से अधिक और आधी छटांक भर से न्यून घृत न आवे, खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बांधे । पश्चात् घृत का दीपक करके कपूर में लगाकर शिर से आरम्भ कर पादपर्यन्त मध्य-मध्य में अग्नि-

प्रवेश करावे । अग्नि-प्रवेश कराके-

ओमग्नये स्वाहा ॥१॥
ओं सोमाय स्वाहा ॥२॥
ओं लोकाय स्वाहा ॥३॥
ओमनुमतये स्वाहा ॥४॥
ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥५॥

इन ५ पांच मन्त्रों से आहुतियां देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे। तत्पश्चात् ४ चार मनुष्य पृथक्-पृथक् खड़े रहकर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जायें जहां 'स्वाहा' आवे वहां आहुति छोड़ देवें ।

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१॥
अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा ॥२॥
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥३॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व संप्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥४॥
यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥५॥

—ऋ० म० १० । सू० १६ । मं० ३-५, ७, १३ ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥६॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः स्वाहा ॥७॥
मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥८॥
इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा ॥९॥

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा ॥१०॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा ॥११॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥१२॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा ॥१३॥
यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः स्वाहा ॥१४॥
यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
सं नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे स्वाहा ॥१५॥
यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा ॥१६॥

—ऋ० मं० १० । सू० १४ । मं० १–५, ७–९, १३–१५॥

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् ।
हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥१७॥

—ऋ० म० १० । सू० २० । मं० ९॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने सत्रह–सत्रह आज्याहुति देकर, निम्नलिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें—

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥१॥

पृथिव्यै स्वाहा ॥२॥ **अग्नये स्वाहा ॥३॥**
अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥४॥ **वायवे स्वाहा ॥५॥**
दिवे स्वाहा ॥६॥ **सूर्याय स्वाहा ॥७॥**
दिग्भ्यः स्वाहा ॥८॥ **चन्द्राय स्वाहा ॥९॥**
नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥१०॥ **अद्भ्यः स्वाहा ॥११॥**
वरुणाय स्वाहा ॥१२॥ **नाभ्यै स्वाहा ॥१३॥**
पूताय स्वाहा ॥१४॥ **वाचे स्वाहा ॥१५॥**
प्राणाय स्वाहा ॥१६॥ **प्राणाय स्वाहा ॥१७॥**
चक्षुषे स्वाहा ॥१८॥ **चक्षुषे स्वाहा ॥१९॥**

श्रोत्राय स्वाहा ॥२०॥ श्रोत्राय स्वाहा ॥२१॥
लोमभ्यः स्वाहा ॥२२॥ लोमभ्यः स्वाहा ॥२३॥
त्वचे स्वाहा ॥२४॥ त्वचे स्वाहा ॥२५॥
लोहिताय स्वाहा ॥२६॥ लोहिताय स्वाहा ॥२७॥
मेदोभ्यः स्वाहा ॥२८॥ मेदोभ्यः स्वाहा ॥२९॥
माᳬंसेभ्यः स्वाहा ॥३०॥ माᳬंसेभ्यः स्वाहा ॥३१॥
स्नावभ्यः स्वाहा ॥३२॥ स्नावभ्यः स्वाहा ॥३३॥
अस्थभ्यः स्वाहा ॥३४॥ अस्थभ्यः स्वाहा ॥३५॥
मज्जभ्यः स्वाहा ॥३६॥ मज्जभ्यः स्वाहा ॥३७॥
रेतसे स्वाहा ॥३८॥ पायवे स्वाहा ॥३९॥
आयासाय स्वाहा ॥४०॥ प्रायासाय स्वाहा ॥४१॥
संयासाय स्वाहा ॥४२॥ वियासाय स्वाहा ॥४३॥
उद्यासाय स्वाहा ॥४४॥ शुचे स्वाहा ॥४५॥
शोचते स्वाहा ॥४६॥ शोचमानाय स्वाहा ॥४७॥
शोकाय स्वाहा ॥४८॥ तपसे स्वाहा ॥४९॥
तप्यते स्वाहा ॥५०॥ तप्यमानाय स्वाहा ॥५१॥
तप्ताय स्वाहा ॥५२॥ घर्माय स्वाहा ॥५३॥
निष्कृत्यै स्वाहा ॥५४॥ प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥५५॥
भेषजाय स्वाहा ॥५६॥ यमाय स्वाहा ॥५७॥
अन्तकाय स्वाहा ॥५८॥ मृत्यवे स्वाहा ॥५९॥
ब्रह्मणे स्वाहा ॥६०॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥६१॥
विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥६२॥
द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा ॥६३॥ —यजुः० अ० ३९ ॥

इन ६३ तिरसठ मन्त्रों से ६३ तिरसठ आहुति पृथक्-पृथक् देके, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें—

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१॥

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥२॥
ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषींस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥३॥

तप॑सा॒ ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा॒ ये स्व॑र्य॒युः ।
तपो॒ ये च॑क्रि॒रे मह॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छता॒त् स्वाहा॑ ॥४॥
ये युध्य॑न्ते प्र॒धने॑षु॒ शूरा॑सो॒ ये त॑नू॒त्यजः॑ ।
ये वा॑ स॒हस्र॑दक्षिणा॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छता॒त् स्वाहा॑ ॥५॥
स्यो॒नास्मै॑ भव पृथिव्यनृक्ष॒रा नि॒वेश॑नी ।
यच्छा॑स्मै॒ शर्म॑ स॒प्रथाः॒ स्वाहा॑ ॥६॥
अपे॒मं जी॒वा अ॑रुधन् गृ॒हेभ्य॒स्तं निर्व॑हत॒ परि॒ ग्रामा॑दि॒तः ।
मृ॒त्युर्य॒मस्या॑सीद्दू॒तः प्रचे॑ता॒ असू॑न् पि॒तृभ्यो॑ गम॒यां च॑का॒र स्वाहा॑ ॥७॥
य॒मः परोऽव॑रो वि॒वस्वा॑ंस्तत॒ः परं नाति॑ पश्यामि॒ किं॑ च॒न ।
य॒मे अ॑ध्व॒रो अधि॑ मे॒ निवि॑ष्टो॒ भुवो॑ वि॒वस्वा॑न॒न्वात॑तान॒ स्वाहा॑ ॥८॥
अपा॑गूहन्न॒मृतां॒ मर्त्ये॑भ्यः कृ॒त्वा सव॑र्णामदधु॒र्विव॑स्वते ।
उ॒ताश्विना॑वभर॒द्यत्तदासी॒दज॑हादु॒ द्वा मि॑थु॒ना स॑र॒ण्यूः स्वाहा॑ ॥९॥
इ॒मौ यु॑नज्मि ते॒ वह्नी॒ असु॑नीताय॒ वोढ॑वे ।
ताभ्यां॑ य॒मस्य॒ साद॑नं॒ समि॑ती॒श्चाव॑ गच्छता॒त् स्वाहा॑ ॥१०॥

—अथर्व० का० १८ । सू० २॥

इन दश मन्त्रों से दश आहुति देकर—

अग्नये रयिमते स्वाहा ॥१॥
पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे ।
यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा ॥२॥
य एतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥३॥
य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥४॥
य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥५॥
ख्यात्रे स्वाहा ॥६॥
अपाख्यात्रे स्वाहा ॥७॥
अभिलालपते स्वाहा ॥८॥
अपलालपते स्वाहा ॥९॥
अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥१०॥
यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥११॥
अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥१२॥

आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता।
आसीदताꣳसुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥१३॥
योऽस्य कौष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी ।
यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥१४॥
यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः ।
येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥१५॥
हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् ।
अश्वाननः शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥१६॥
यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् ।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥१७॥
यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदशर्षयः ।
यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥१८॥
त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
गायत्री त्रिष्टुप् छन्दाꣳसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥१९॥
अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत् ।
वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा॥२०॥
वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः ।
ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥२१॥
ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप ।
देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणांश्चापचित्यति स्वाहा ॥२२॥
यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥२३॥
उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोक निदधन्मो अहꣳरिषम्।
एताꣳ स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात् ते मिनोतु स्वाहा॥२४
यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः ।
यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूꣳषि कल्पयैषाꣳ स्वाहा ॥२५॥
न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव ।
अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥२६॥

—तैत्ति० प्रपा० ६। अनु० १।१०॥

इन २६ छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब **(ओम् अग्नये स्वाहा) इस मन्त्र से लेके (मृत्यवे स्वाहा) तक १२१ एक सौ इक्कीस आहुति** हुई, अर्थात् ४ चार जनों की मिलके ४८४ चार सौ चौरासी और जो दो जने आहुति देवें तो २४२ दो सौ बयालीस । यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं १२१ एक सौ इक्कीस मन्त्रों से आहुति देते जायें, यावत् शरीर भस्म न हो जाय तावत् देवें ।

जब शरीर भस्म हो जावे, पुनः सब जने **वस्त्र प्रक्षालन स्नान करके जिस के घर में मृत्यु हुआ हो उस के घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि करके, पृष्ठ ७-११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ और पृष्ठ ४-६ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से, जहां अङ्क, अर्थात् मन्त्र पूरा हो, वहां 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें** कि जिस से मृतक का वायु घर से निकल जाय और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहे । **यदि उस दिन रात्रि हो जाये तो थोड़ी सी [आहुति] देकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देवें ।**

तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर चिता से अस्थि उठाके उस श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देवे । **बस, इसके आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्तव्य नहीं है,** क्योंकि पूर्व **(भस्मान्तꣳ शरीरम्)** यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थिसञ्चयन से पृथक् मृतक के लिए दूसरा कोई भी कर्म-कर्त्तव्य नहीं है । हां, यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते जी, वा मरे पीछे उस के सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त धर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिए चाहे जितना धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है ॥

इति मृतक-संस्कारविधिः समाप्तः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द-सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचारधर्म-निरूपकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतौ संस्कारविधिर्ग्रन्थः पूर्तिमगात् ॥१॥

❑❑❑

१४

संस्कृतवाक्यप्रबोधः

संस्कृतवाक्यप्रबोधः

भूमिका

मैंने इस ''**संस्कृतवाक्यप्रबोध**'' पुस्तक को बनाना अवश्य इसलिये समझा है कि शिक्षा को पढ़ के कुछ-कुछ संस्कृत भाषण का आना विद्यार्थियों को उत्साह का कारण है। जब वे व्याकरण के सन्धिविषयादि पुस्तकों को पढ़ लेंगे, तब तो उनको स्वतः ही संस्कृत बोलने का बोध हो जायगा, परन्तु यह जो संस्कृत बोलने का अभ्यास प्रथम किया जाता है, वह भी आगे-आगे संस्कृत पढ़ने में बहुत सहाय करेगा। जो कोई व्याकरणादि ग्रन्थ पढ़े विना भी संस्कृत बोलने में उत्साह करते हैं, वे भी इसको पढ़के व्यवहारसम्बन्धी संस्कृत भाषा को बोल और दूसरे का सुनके भी कुछ-कुछ समझ सकेंगे। जब बाल्यावस्था से संस्कृत बोलने का अभ्यास होगा तो उसको आगे-आगे संस्कृत बोलने का अभ्यास अधिक अधिक ही होता जायगा। और जब बालक भी आपस में संस्कृत भाषण करेंगे तो उनको देख कर जवान और वृद्ध मनुष्य भी संस्कृत बोलने में रुचि अवश्य करेंगे। जहां कहीं संस्कृत के नहीं जानने वाले मनुष्यों के सामने दूसरे को अपना गुप्त अभिप्राय समझाना चाहें तो वहां भी संस्कृत भाषण काम आता है।

जब इसके पढ़ाने वाले विद्यार्थियों को ग्रन्थस्थ वाक्यों को पढ़ावें उस समय दूसरे वैसे ही नवीन वाक्य बना कर सुनाते जावें, जिससे पढ़ने वालों की बुद्धि बाहर के वाक्यों में भी फैल जाय। और पढ़ने वाले भी एक वाक्य को पढ़के उसके सदृश अन्य वाक्यों की रचना भी करें कि जिससे बहुत शीघ्र बोध हो जाय, परन्तु वाक्य के बोलने में स्पष्ट अक्षर, शुद्धोच्चारण, सार्थकता, देश और काल वस्तु के अनुकूल जो पद जहां बोलना उचित हो वहीं बोलना और दूसरे के वाक्यों पर ध्यान देकर सुनके समझना। प्रसन्नमुख, धैर्य, निरभिमान और गम्भीरतादि गुणों को धारण करके क्रोध, चपलता, अभिमान और तुच्छतादि दोषों से दूर रहकर अपने वा किसी के सत्य वाक्य का खण्डन और अपने अथवा किसी के असत्य का मण्डन

कभी न करें और सर्वदा सत्य का ग्रहण करते रहें।

इस ग्रन्थ में संस्कृत वाक्य प्रथम और उसके सामने भाषार्थ इसलिये लिखा है कि पढ़ने वालों को सुगमता हो और संस्कृत की भाषा और भाषा का संस्कृत भी यथायोग्य बना सकें।

फाल्गुण शुक्ला ११ **दयानन्द सरस्वती**
[१९३६ वि०]
काशी

अथ विषयसूचीपत्रम्

ओ३म्

परमगुरवे परमात्मने नमः

अथ संस्कृतवाक्यप्रबोधः

१. गुरुशिष्यवार्तालापप्रकरणम्

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ भोः शिष्य! उत्तिष्ठ, प्रातःकालो जातः।	हे शिष्य! उठ सवेरा हुआ।
२ उत्तिष्ठामि।	उठता हूँ।
३ अन्ये सर्वे विद्यार्थिन उत्थिता न वा?	और भी सब विद्यार्थी उठे वा नहीं?
४ अधुना तु नोत्थिताः खलु।	अभी तो वे नहीं उठे हैं।
५ तानपि सर्वानुत्थापय।	उन सबको भी उठा दे।
६ सर्व उत्थापिताः।	सब उठा दिये।
७ सम्प्रत्यस्माभिः किं कर्त्तव्यम्?	इस समय हमको क्या करना चाहिए?
८ शौचादिकं कृत्वा सन्ध्यामुपासीध्वम्।	शरीरशुद्धि करके ईश्वर ज्ञान के लिये सन्ध्योपासन करो।
९ आवश्यकं कृत्वा सन्ध्योपासिताऽतः परं किं करणीयम्?	आवश्यक कर्म करके सन्ध्योपासन कर लिया, इसके आगे हम क्या करें?
१० अग्निहोत्रं विधाय पठत।	अग्निहोत्र करके पढ़ो।
११ पूर्वं किं पठनीयम्?	पहिले क्या पढ़ना चाहिये?
१२ वर्णोच्चारणशिक्षामधीध्वम्।	वर्णोच्चारणरीति को सीखो।
१३ अग्रे किमध्येतव्यम्।	आगे क्या पढ़ना चाहिये?
१४ किञ्चित्संस्कृतोक्तिबोधः क्रियताम्।	कुछ संस्कृत बोलने का ज्ञान करो।
१५ पुनः किमभ्यसनीयम्?	फिर किसका अभ्यास करें?
१६ यथायोग्यव्यवहारानुष्ठानाय प्रयतध्वम्।	यथोचित व्यवहार करने के लिये प्रयत्न करो।
१७ कुतोऽनुचितव्यवहारकर्तुर्विद्यैव न जायते।	क्योंकि उलटे व्यवहार करनेहारे को विद्या ही नहीं होती।
१८ को विद्वान् भवितुमर्हति?	कौन मनुष्य विद्वान् होने के योग्य

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
	होता है?
१९ **यः सदाचारी प्राज्ञः पुरुषार्थी भवेत्।**	जो सत्याचरणशील, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी होता है।
२० **कीदृशादाचार्यादधीत्य पण्डितो भवितुं शक्यते?**	कैसे आचार्य से पढ़ के पण्डित हो सकता है?
२१ **अनूचानतः।**	पूर्णविद्या वाले से।
२२ **अथ किमध्यापयिष्यते भवता?**	आप इसके अनन्तर हमको क्या पढ़ावेंगे?
२३ **अष्टाध्यायीमहाभाष्यम्।**	अष्टाध्यायी और महाभाष्य को।
२४ **किमनेन पठितेन भविष्यति?**	इसके पढ़ने से क्या होगा?
२५ **शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानम्।**	शब्द, अर्थ और [उनके]सम्बन्धों का यथार्थ बोध।
२६ **पुनः क्रमेण किं किमध्येतव्यम्?**	फिर क्रम से क्या क्या पढ़ना चाहिये?
२७ **शिक्षाकल्पनिघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषाणि वेदानामङ्गानि।**	शिक्षा, कल्प, निघण्टु-निरुक्त, छन्द और ज्योतिष वेदों के अङ्ग।
२८ **मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदान्तान्युपाङ्गान्यायुर्धनुर्गान्धर्वार्थोपवेदानैतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणान्यधीत्य ऋग्यजुस्सामाऽथर्ववेदान् पठन्तु।**	मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त उपाङ्ग, आयुर्वेद, धुनर्वेद गान्धर्ववेद और अर्थवेद उपवेद, ऐतेरय शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को पढ़ो।
२९ **एतत्सर्वं विदित्वा किं कार्य्यम्?**	ये सब जान के फिर क्या करना चाहिये?
३० **धर्मजिज्ञासाऽनुष्ठाने एतेषामेवाऽध्यापनं च।**	धर्म जानने की इच्छा, इसी का आचरण और इन्हीं को सर्वदा पढ़ाया करो।

२. नामनिवासस्थानप्रकरणम्

१ **तव किं नामास्ति?**	तेरा क्या नाम है?
२ **देवदत्तः।**	देवदत्त।
३ **क्वाऽभिजनो युवयोर्वर्त्तते?**	तुम दोनों की जन्मभूमि कहां है?

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
४ **कुरुक्षेत्रे।**	कुरुक्षेत्र देश में।
५ **युष्माकं जन्मदेशः को विद्यते?**	तुम्हारा जन्मदेश कौन सा है?
६ **पञ्चालाः।**	पञ्चाल[1]।
७ **भवन्तः कुत्रत्याः?**	आप कहां के हो?
८ **वयं दाक्षिणात्याः स्मः।**	हम दक्षिणी हैं।
९ **तत्र का पूर्वः?**	वहां आपके निवास का कौन नगर है?
१० **मुम्बापुरी।**	मुम्बई।
११ **इमे क्व निवसन्ति?**	ये लोग कहां रहते हैं?
१२ **नेपाले।**	नेपाल में।
१३ **अयं किमधीते?**	यह क्या पढ़ता है?
१४ **व्याकरणम्।**	व्याकरण को।
१५ **त्वया किमधीतम्?**	तूने क्या पढ़ा है?
१६ **न्यायशास्त्रम्।**	न्यायशास्त्र।
१७ **भवता किं पठितमस्ति?**[2]	आपने क्या पढ़ा है?[2]
१८ **पूर्वमीमांसाशास्त्रम्।**[2]	पूर्व मीमांसा शास्त्र।[2]
१९ **अयं भवदीयश्छात्रः किं प्रचर्च्चयति?**	यह आपका विद्यार्थी क्या पढ़ता है?
२० **ऋग्वेदम्।**	ऋग्वेद को।
२१ **त्वं कुत्र गच्छसि?**	तू कहां जाता है?
२२ **पाठाय व्रजामि।**	पढ़ने के लिये जाता हूँ।
२३ **कस्मादधीषे?**	किससे पढ़ता है?
२४ **यज्ञदत्तादध्यापकात्।**	यज्ञदत्त अध्यापक से।
२५ **इमे कुतोऽभ्यस्यन्ति?**	ये किससे पढ़ते हैं?
२६ **विष्णुमित्रात्।**	विष्णुमित्र से।
२७ **तवाध्ययने कियन्तः संवत्सरा व्यतीताः?**	तुझको पढ़ते हुए कितने वर्ष बीते?

१. मूल में पंचाल का भाषानुवाद पंजाब लिखा है। वस्तुतः उत्तरप्रदेश के बरेली मण्डल से फर्रुखाबाद तक का क्षेत्र उत्तरदक्षिण पंचाल कहाता है।

२. यह वाक्य मूल में है, प्रथम संस्करण में नहीं है।

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
२८	**पञ्च।**	पांच।
२९	**भवान् कतिवार्षिकः?**	आप कितने वर्ष के हुए?
३०	**त्रयोदशवार्षिकः।**	तेरह वर्ष का।
३१	**त्वया पठनारम्भः कदा कृतः?**	तूने पढ़ने का आरम्भ कब किया था?
३२	**यदाहमष्टवार्षिकोऽभूवम्।**	जब मैं आठ वर्ष का था।
३३	**तव मातापितरौ जीवतो न वा?**	तेरे माता पिता जीते हैं वा नहीं?
३४	**जीवतः।**	जीते हैं।
३५	**तव कति भ्रातरो भगिन्यश्च?**	तेरे कितने भाई और बहिन हैं?
३६	**त्रयो भ्रातरश्चैका भगिन्यस्ति।**	तीन भाई और एक बहिन है।
३७	**त्वं ज्येष्ठस्ते सा वा?**	तू ज्येष्ठ वा तेरे भाई अथवा बहिन?
३८	**अहमेवाग्रजोऽस्मि।**	मैं ही सबसे पहिले जन्मा हूँ।
३९	**तव पितरौ विद्वांसौ न वा?**	तेरे माता-पिता विद्या पढ़े हैं वा नहीं?
४०	**महाविद्वांसौ स्तः।**	बड़े विद्वान् हैं।
४१	**तर्हि त्वया पित्रोः सकाशात्कुतो न विद्या गृहीता?**	तो माता-पिता से तूने विद्या ग्रहण क्यों न की?
४२	**अष्टमवर्षपर्य्यन्तं कृता।**	आठ वर्ष पर्यन्त की थी।
४३	**अत ऊर्ध्वं कुतो न कृता?**	इससे आगे क्यों न की?
४४	**मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेदेति शास्त्रविधेः।**	माता-पिता से आठवें वर्ष पर्य्यन्त, इसके आगे आचार्य से पढ़ने का शास्त्र में विधान है, इससे।
४५	**अन्यच्च गृहे कार्यबाहुल्येन निरन्तरमध्ययनमेव न जायतेऽतः।**	और भी घर में बहुत काम होने से निरन्तर पढ़ना ही नहीं हो सकता इसलिये भी।
४६	**अतः परं कियद्वर्षपर्यन्तमध्येष्यसे?**	इसके आगे कितने वर्ष पर्यन्त पढ़ेगा?
४७	**पञ्चत्रिंशद्वर्षाणि।**	पैंतीस वर्ष तक।

३. गृहाश्रमप्रकरणम्

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१	**पुनस्ते का चिकीर्षास्ति?**	फिर तुझको क्या करने की इच्छा है?
२	**गृहाश्रमस्य।**	गृहस्थाश्रम की।
३	**किं च भोः पूर्णविद्यस्य जितेन्द्रियस्य परोपकारकरणाय संन्यासाश्रमग्रहणं शास्त्रोक्तमस्ति तत् किं न करिष्यसि?**	क्यों! जिसको पूर्ण विद्या और जो जितेद्रिय है उसको परोपकार करने के लिये संन्यासाश्रम का ग्रहण करना शास्त्रोक्त है, क्या इसको न करोगे?
४	**किं गृहाश्रमे परोपकारो न भवति?**	क्या गृहाश्रम में परोपकार नहीं हो सकता?
५	**यादृशः संन्यासाश्रमिणा कर्तुं शक्यते न तादृशो गृहाश्रमिणाऽनेककार्यैः प्रतिबन्धकत्वेन भ्रमणाशक्यत्वात्।**	जैसा संन्यासाश्रमी से मनुष्यों का उपकार हो सकता है वैसा गृहाश्रमी से नहीं हो सकता, क्योंकि इसको अनेक कामों की रुकावट से सर्वत्र भ्रमण ही नहीं हो सकता।

४. भोजनप्रकरणम्

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१	**नित्यः स्वाध्यायो जातो भोजनसमय आगतो गन्तव्यम्।**	[१]आज का पढ़ना-पढ़ाना हो गया, भोजन समय आया, चलना चाहिये।
२	**तव पाकशालायां प्रत्यहं भोजनाय किं किं पच्यते?**	तुम्हारी पाकशाला में प्रतिदिन भोजन के लिये क्या क्या पकाया जाता है?
३	**शाकसूपौदश्वित्कौदनरोटिकादयः।**	शाक, दाल, कढ़ी, भात, रोटी, चटनी आदि।
४	**किं वः पायसादिमधुरेषु रुचिर्नास्ति?**	क्या आप लोगों की खीर आदि मीठे भोजन में रुचि नहीं है?
५	**अस्ति खलु परन्तवेतानि कदाचित् कदाचिद् भवन्ति।**	है, परन्तु ये चीजें कभी कभी बनती हैं।
६	**कदाचिच्छष्कुलीश्रीखण्डादयोऽपि भवन्ति न वा?**	कभी पूरी, कचोरी, श्रीखण्डादि भी होते हैं वा नहीं?
७	**भवन्ति, परन्तु यथर्त्तुयोगम्।**	होते हैं, परन्तु जैसा ॠतु होता है वैसे ही भोजन बनते हैं।
८	**सत्यमस्माकमपि भोजनादिकमेवमेव निष्पद्यते।**	ठीक है, हमारे भी भोजन ऐसे ही बनते हैं।
९	**त्वं भोजनं करिष्यसि न वा?**	तू भोजन करेगा वा नहीं?

१. मूल में 'आज का' ही पाठ है, अतः हमने 'नित्य का' न रखकर 'आज का' ही रखना उपयुक्त समझा है। सम्पादक

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१० अद्य न करोम्यजीर्णतास्ति।	आज नहीं करता अजीर्णता है।
११ अधिकभोजनस्येदमेव फलम्।	अधिक भोजन का यही फल है।
१२ बुद्धिमता तु यावज्जीर्यते तावदेव भुज्यते।	बुद्धिमान् पुरुष तो जितना पचे, उतना ही खाता है।
१३ अतिस्वल्पे भुक्ते शरीबलं ह्रसत्यधिके चातः सर्वदा मिताहारी भवेत्।	बहुत कम और अत्यधिक भोजन करने से शरीर का बल घट जाता है, इससे सब दिन मिताहारी होवे।
१४ योऽन्यथाहारव्यवहारौ करोति स कथं न दुःखी जायेत?	जो उलट-पलट आहार और व्यवहार करता है, वह क्यों न दुःखी होवे?
१५ येन शरीराच्छ्रमो न क्रियते स नैव शरीरसुखमाप्नोति।	जो शरीर से परिश्रम नहीं करता वह शरीर के सुख को प्राप्त नहीं होता।
१६ येनात्मना पुरुषार्थो न विधीयते तस्यात्मनो बलमपि न जायते।	जो आत्मा से पुरुषार्थ नहीं करता उसका आत्मा का बल भी नहीं बढ़ता।
१७ तस्मात्सर्वैर्मनुष्यैर्यथाशक्ति सत्क्रिया नित्यं साधनीया।	इससे सब मनुष्यों को उचित है कि शरीर और आत्मा से उत्तम कर्मों की साधना नित्य करें।
१८ भो देवदत्त! त्वामहं निमन्त्रये।	हे देवदत्त! तुझ को मैं भोजन के लिये निमन्त्रित करता हूँ।
१९ मन्येऽहं कदा खल्वागच्छेयम्?	मैं मानता हूँ, परन्तु किस समय आऊँ?
२० श्वो द्वितीयप्रहरमध्ये आगन्तासि।	कल दोपहर दिन चढ़े आना।
२१ आगच्छ भो आसनमध्यास्व त्वया ममोपरि महती कृपा कृता।	आप आइये, आसन पर बैठिये, तुमने मुझ पर बड़ी कृपा की।

५. देशदेशान्तरप्रकरणम्

१ भवानेतान् जानातीमे महाविद्वांसः सन्ति।	आप इनको जानते हैं? ये बड़े विद्वान् हैं।
२ किन्नामान एते कुत्रत्याः खलु?	इनके क्या क्या नाम और ये कहां-कहां के रहने वाले हैं?
३ अयं यज्ञदत्तः काशीनिवासी।	यह यज्ञदत्त काशी में निवास करता है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
४ विष्णुमित्रोऽयं कुरुक्षेत्रवास्तव्यः।	यह विष्णुमित्र कुरुक्षेत्र में बसता है।
५ सोमदत्तोऽयं माथुरः।	यह सोमदत्त मथुरा में रहता है।
६ अयं सुशर्मा पर्वतीयः।	यह सुशर्मा पर्वत में रहता है।
७ अयमाश्वलायनो दाक्षिणात्योऽस्ति।	यह आश्वलायन दक्षिणी है।
८ अयं जयदेवः पाश्चात्यो वर्तते।	यह जयदेव पश्चिमदेशवासी है।
९ अयं कुमारभट्टो बाङ्गो विद्यते।	यह कुमारभट्ट बंगाली है।
१०. अयं कापिलेयः पाताले निवसति।	यह कापिलेय पाताल अर्थात् अमेरिका में रहता है।
११ अयं चित्रभानुर्हरिवर्षस्थः।	यह चित्रभानु हिमालय से उत्तर हरिवर्ष अर्थात् यूरोप में रहता है।
१२ इमौ सुकामसुभद्रौ चीननिकायौ।	ये सुकाम और सुभद्र चीन के वासी हैं।
१३ अयं सुमित्रो गन्धारस्थायी।	यह सुमित्र गन्धार अर्थात् काबुल कन्धार का रहनेवाला है।
१४ अयं सुभटो लङ्काजः।	यह सुभट लंका में जन्मा है।
१५ इमे पंच सुवीरातिबलसुकर्मसुधर्मशतधन्वानो मत्स्याः।	सुवीर, अतिबल, सुकर्मा, सुधर्मा और शतधन्वा ये पांच मारवाड़ के रहनेवाले हैं।
१६ एते मयाऽऽमन्त्रिताः स्वस्वस्थानादागताः।	ये सब मेरे बुलाने पर अपने अपने घर से आये हैं।
१७ इमे शिवकृष्णगोपालमाधवसुचन्द्रप्रक्रमभूदेवचित्रसेनमहारथा नवात्रत्याः।	शिव, कृष्ण, गोपाल, माधव, सुचन्द्र, प्रक्रम, भूदेव, चित्रसेन और महारथ ये नव इस मध्य देश के रहनेवाले हैं।
१८ अहोभाग्यं मेऽस्ति त्वत्कृपयैतेषामपि समागमो जातः।	मेरा बड़ा भाग्य है कि आप की कृपा से इन सत्पुरुषों का भी मिलाप हुआ।
१९ अहमपि सभवतः सर्वानेतान्निमन्त्रयितुमिच्छामि।	मैं भी आपके समेत इन सब का निमन्त्रण करना चाहता हूँ।
२० अस्माभिर्भवन्निमन्त्रणमूरीकृतम्।	हमने आपका निमन्त्रण स्वीकार किया।
२१ सत्कृतोऽस्मि, परन्तु भवद्भोजनार्थं किं किं पक्तव्यम्? यद्यद्भोक्तुमिच्छास्ति तत्तदनुज्ञापयन्तु।	आपके निमन्त्रण मानने से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ परन्तु [आपके भोजन के लिये क्या-क्या पकाया जाय?] जिस जिस पदार्थ

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
	के जीमने की इच्छा हो, उस-उस की मुझको आज्ञा कीजिये।
२२ भवान् देशकालज्ञः कथनेन किम्? यथायोग्यं पक्तव्यम्।	आप देशकाल को जानते ही हैं, कहने से क्या। मूल?
२३ सत्यमेवमेव करिष्यामि।	ठीक है, ऐसा ही करूंगा।
२४ उत्तिष्ठत भोजनसमय आगतः पाकः सिद्धो वर्तते।	उठिये, भोजन-समय हुआ, पाक तैयार हुआ है।
२५ भो भृत्य! पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं जलं देहि।	हे नौकर! इनको पग, हाथ, मुख धोने के लिये जल दे।
२६ इदमानीतं जलं गृह्यताम्।	यह लाया जल लीजिये।
२७ भोः पाचकाः! सर्वान् पदार्थान् क्रमेण परिवेविष्ट।	हे पाचक लोगो! सब पदार्थों को क्रम से परोसो।
२८ भुञ्जीध्वम्।	भोजन कीजिये।
२९ भोजनस्य सर्वे पदार्थाः श्रेष्ठा जाता न वा?	भोजन के सब पदार्थ अच्छे हुए हैं वा नहीं?
३० अत्युत्तमाः सम्पन्नाः किं कथनीयम्।	क्या कहना है, बड़े उत्तम हुए हैं।
३१ भवता किञ्चित् पायसं ग्राह्यं वा यस्येच्छाऽस्ति।	आप थोड़ी सी खीर लीजिये वा जिसकी इच्छा हो।
३२ प्रभूतं भुक्तं तृप्ताः स्मः।	बहुत रुचि से भोजन किया, तृप्त हो गये।
३३ तर्ह्युत्तिष्ठत।	तो उठिये।
३४ जलं देहि।	जल दे।
३५ गृह्यताम्।	लीजिये।
३६ ताम्बूलादीन्यानीयन्ताम्।	पान बीड़े, इलायची आदि लाओ।
३७ इमानि सन्ति गृह्णन्तु।	ये हैं, लीजिये।

६. सभाप्रकरणम्।

१ इदानीं सभायां काचिच्चर्चा विधेया।	अब सभा में कुछ वार्तालाप करना चाहिये।
२ धर्म्मः किं लक्षणोऽस्तीति पृच्छामि?	मैं पूछता हूँ कि धर्म्म का क्या लक्षण है?

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
३ [यो] वेदप्रतिपाद्यो न्याय्यः पक्षपातरहितो वर्तते। यश्च परोपकार सत्याचरणलक्षणो धर्मोऽस्तीत्युत्तरम्।	जो वेदोक्त, न्यायानुकूल, पक्षपातरहित है। और जो पराया उपकार तथा सत्याचरण युक्त है उसी को धर्म जानना चाहिये।
४ ईश्वरः कोऽस्तीति ब्रूहि?	ईश्वर किसको कहते हैं, आप कहिये।
५ यस्सच्चिदानन्दस्वरूपः सत्यगुणकर्मस्वभावः।	जो सत् चित् आनन्दस्वरूप और जिसके गुण, कर्म, स्वभाव सत्य ही हैं, वह ईश्वर है।
६ मनुष्यैः परस्परं कथं कथं वर्त्तितव्यम्?	मनुष्यों को एक दूसरे के साथ कैसे-कैसे वर्त्तना चाहिये?
७ धर्मसुशीलतापरोपकारैः सह यथायोग्यम्।	धर्म, श्रेष्ठ स्वभाव और परोपकार के साथ जिनसे जैसा व्यवहार करना योग्य हो वैसा ही सबको वर्त्तना चाहिये।

७. आर्य्यावर्त्तचक्रवर्त्तिराजप्रकरणम्

१ अस्मिन्नार्यावर्त्ते पुरा के के चक्रवर्त्तिराजा अभूवन्?	इस आर्य्यावर्त्त देश में कौन-कौन चक्रवर्ती राजा हुए हैं?
२ स्वायम्भुवाद्या युधिष्ठिरपर्यन्ताः।	स्वायम्भुव से लेके युधिष्ठिर पर्य्यन्त।
३ चक्रवर्त्तिशब्दस्य कः पदार्थः?	चक्रवर्ती शब्द का क्या अर्थ है?
४ य एकस्मिन् भूगोले स्वकीयामाज्ञां प्रवर्त्तयितुं समर्थाः।	जो एक भूगोल भर में अपनी राजनीतिरूप आज्ञा को चलाने में समर्थ हो।
५ ते कीदृशीमाज्ञां प्राचीचरन्?	वे कैसी आज्ञा का प्रचार करते थे?
६ यया धार्मिकाणां पालनं दुष्टानां ताडनं च भवेत्।	जिससे धर्मिकों का पालन और दुष्टों को दण्ड होवे वैसी आज्ञा को।

८. राजप्रजालक्षणराजनीत्यनीतिप्रकरणम्

१ राजा को भवितुं शक्नोति?	राजा कौन हो सकता है?
२ यो धार्मिकाणां सभाया अधिपतित्वे योग्यो भवेत्।	जो धर्मात्माओं की सभा का स्वामी होने को योग्य होवे।
३ यदि प्रजां पीडयित्वा स्वार्थं साधयेत् स राजा भवितुमर्होऽस्ति न वा?	जो प्रजा को दुःख देकर अपना मतलब साधे, वह राजा हो सकता है वा नहीं?

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
४	**नहि नहि नहि, स तु दस्युः खलु।**	नहीं नहीं नहीं, वह तो डाकू ही है।
५	**या राजद्रोहिणी सा तु न प्रजा किन्तु स्तेनेन तुल्या मन्तव्या।**	जो राजव्यवहार में विरोध करे, वह प्रजा तो नहीं, किन्तु उसको चोर के समान जानना चाहिये।
६	**कथंभूता जनाः प्रजा भवितुमर्हाः?**	कैसे मनुष्य प्रजा होने को योग्य हैं?
७	**ये धार्मिकाः सततं राजप्रियकारिणः।**	जो निरन्तर धर्मात्मा और राजसम्बन्ध में प्रेम रक्खें।
८	**राजपुरुषैरप्येवमेव प्रजाप्रियकारिभिः सदा भवितव्यम्।**	राजसम्बन्धी पुरुषों को भी वैसे ही प्रजा के हित करने में सदा रहना चाहिये।

९. शत्रुवशकरणप्रकरणम्

१	**एते शत्रुभिः सह कथं वर्तेरन्?**	ये लोग शत्रु के साथ कैसे वर्तें?
२	**राजप्रजोत्तमपुरुषैररयः सामदानभेद-दण्डैर्वशमानेयाः।**	राजा और प्रजा के श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि अरियों को (साम) मिलाप, (दान) कुछ देना, (भेद) आपस में उनकी फूट कराके और (दण्ड) उनको दण्ड करके वश में करने चाहियें।
३	**सदा स्वराज्यप्रजासेनाकोषधर्मविद्या-सुशिक्षा वर्द्धनीयाः।**	सब दिन अपना राज्य, प्रजा, सेना, कोष, धर्म्म, विद्या और श्रेष्ठशिक्षा बढ़ाते रहना चाहिये।
४	**यथाऽधर्माविद्यादुष्टशिक्षादस्युचोरादयो न वर्द्धेरँस्तथा सततमनुष्ठेयम्।**	जिस प्रकार से अधर्म, अविद्या, बुरी शिक्षा, डाकू और चोर आदि न बढ़ें, वैसा निरन्तर पुरुषार्थ करना चाहिये।
५	**धार्मिकैः सह कदाचिन्नैव योद्धव्यम्।**	धर्मात्माओं के साथ कभी भी लड़ाई न करनी चाहिये।
६	**निर्जिता अपि दुष्टा विनयेन सत्कर्त्तव्याः।**	पराजित शत्रुओं का भी विनय के साथ मान्य करना चाहिये।
७	**राजप्रजे अन्तःप्राणवत् परस्परं सम्पोष्ये नैव कर्षणीये।**	राजा और प्रजा एक दूसरे की पुष्टि करके सदा सुखी रहें। किन्तु एक दूसरे को निर्बल न करें।

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
८	**कर्षिते क्षयरोगवदुभे विनश्यतः।**	एक दूसरे को निर्बल करने से दमा (क्षय) रोग के समान दोनों निर्बल होकर नष्ट हो जाते हैं।
९	**सदा ब्रह्मचर्यविद्याभ्यां शरीरात्म-बलमेधनीयम्।**	सब काल में ब्रह्मचर्य और विद्या से शरीर और आत्मा का बल बढ़ाते रहना चाहिये।
१०	**यथादेशकालं पुरुषार्थेन यथावत् कर्माणि कृत्वा सर्वथा सुखयितव्यम्।**	देश काल के अनुकूल उद्यम से ठीक-ठीक कर्म करके सब प्रकार सुखी रहना चाहिये।

१०. वैश्यव्यवहारप्रकरणम्

१	**वैश्याः कथं वर्त्तेरन्?**	बनिये लोग कैसे वर्तें?
२	**सर्वा देशभाषा विज्ञाय पशुपालनक्रयविक्रयादि-व्यापारकुसीदवृत्तिकृषिकर्माणि धर्मेण कुर्युः।**	वैश्य लोग सब देशभाषा और हिसाब को ठीक-ठीक जानकर पशुओं की रक्षा, लेन-देन आदि व्यवहार, ब्याजवृत्ति और खेती आदि कर्म धर्म से किया करें।

११. कुसीदग्रहणप्रकरणम्

१	**यद्येकवारं दद्याद् गृह्णीयाच्च तर्हि कुसीदवृद्धेर्द्वैगुण्ये धर्मोऽधिकेऽधर्म इति वेदितव्यम्।**	जो एक वार दें लें तो ब्याजवृद्धि सहित मूलधन द्विगुणा तक लेके आसामी को अनृण करने में धर्म और अधिक लेने में अधर्म होता है, ऐसा जानना चाहिये।
२	**प्रतिमासं प्रतिवर्षं वा यदि कुसीदं गृह्णीयाद्यदा समूलं द्विगुणं धन-मागच्छेत्तदा मूलमपि त्याज्यम्।**	जो महीने-महीने अथवा वर्ष वर्ष में ब्याज लेता जाय तो भी जब दूना धन आ जाय फिर आगे आसामी से कुछ भी न लेना चाहिये।

१२. नौकाविमानादिचालनप्रकरणम्

१	**त्वं नौकाश्चालयसि न वा?**	तू नावें चलाता है वा नहीं?
२	**चालयामि।**	चलाता हूँ।
३	**नदीषु वा समुद्रे?**	नदियों अथवा समुद्र में?
४	**उभयत्र चलन्ति।**	दोनों में चलती हैं।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
५ कस्यां दिशि कस्मिन्देशे गच्छन्ति?	किस दिशा और किस देश में जाती हैं?
६ सर्वासु दिक्षु पातालदेशपर्य्यन्तम्।	सब दिशाओं में पातालदेश अर्थात् अमेरिका देश पर्य्यन्त।
७ ताः कीदृश्यः सन्ति केन चलन्ति?	वे नौका कैसी हैं और किससे चलती हैं?
८ कैवर्त्तवाय्वग्निजलकलावाष्पादिभिः।	मल्लाह, वायु, अग्नि, जल, कला यन्त्र और भाफ [भाप] आदि से।
९ याः पुरुषाश्चालयन्ति ता ह्रस्वा या महत्यस्ता वाय्वादिभिस्ता अश्वतरी-श्यामकर्णाश्वायुक्ताख्याः सन्ति।	जिनको मनुष्य चलाते हैं वे छोटी छोटी नौका और जो बड़ी होती हैं वे वायु आदि से चलाई जाती हैं, उनके अश्वतरी और श्यामकर्णाश्वा आदि नाम हैं।
१० विमानादिभिरपि सर्वत्र गच्छाम आगच्छामश्च।	और विमान आदि से भी सर्वत्र जाया-आया करते हैं।

१३. क्रयविक्रयप्रकरणम्

१ अस्य किं मूल्यम्?	इसका क्या मूल्य है?
२ पञ्च रूप्याणि।	पांच रुपये।
३ गृहाणेदं वस्त्रं देहि।	लीजिये पांच रुपये, यह वस्त्र दीजिये।
४ अद्य श्वो घृतस्य कोऽर्घः?	आजकल घी का क्या भाव है?
५ मुद्रैकया सापदप्रस्थं विक्रीणते।	एक रुपये का सवा सेर बेचते हैं।
६ गुडस्य को भावः?	गुड़ का क्या भाव है?
७ द्वाभ्यामानाभ्यामेकसेटकमात्रं ददति।	दो आने का एक सेर भर देते हैं।
८ भो आपणं गच्छ, एला आनय।	तू बाजार को जा, इलायची ले आ।
९ आनीताः, गृहाण।	लाई, लीजिए।
१० कस्य हट्टे दधिदुग्धे अच्छे प्राप्नुतः?	किसकी दुकान पर अच्छे दूध और दही मिलते हैं?
११ धनपालस्य।	धनपाल की।
१२ स सत्येनैव क्रयविक्रयौ करोति।	वह सत्य से ही लेन-देन करता है।
१३ श्रीपतिर्वणिक्कीदृशोऽस्ति?	श्रीपति बनियां कैसा है?
१४ स मिथ्याकारी।	वह झूठा है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१५ अस्मिन्संवत्सरे कियान् लाभो व्ययश्च जातः।	इस वर्ष में कितना लाभ और खर्च हुआ?
१६ पञ्च लक्षाणि लाभो लक्षद्वयस्य व्ययश्च।	पांच लाख रुपये लाभ और दो लाख खर्च हुए।
१७ मम खल्वस्मिन् वर्षे लक्षद्वयस्य हानिर्जाता।	मेरी तो इस वर्ष में दो लाख की हानि हो गई।
१८ कस्तूरी कस्मादानीयते?	कस्तूरी कहां से लाते हो?
१९ नेपालात्।	नेपाल से।
२० द्विशालाः कुत आगच्छन्ति?	दुशाले कहां से लाते हैं?
२१ कश्मीरात्।	कश्मीर से।

१४. गमनागमनप्रकरणम् [१]

१ कुत्र गच्छसि?	कहां जाता है?
२ पाटलिपुत्रकम्।	पटना को।
३ कदाऽऽगमिष्यसि?	कब आओगे?
४ एकमासे।	एक महीने में।
५ स क्व गतः?	वह कहाँ गया?
६ शाकमानयनाय।	शाक लाने के लिये।

१५. क्षेत्रवपनप्रकरणम्

१ क्षेत्राणि कर्षन्तु।	खेत जोतो।
२ बीजान्युप्तानि न वा?	बीज बोये वा नहीं?
३ उप्तानि।	बो दिये।
४ अस्मिन् क्षेत्रे किमुप्तम्?	इस खेत में क्या बोया है?
५ व्रीहयः।[१]	धान[२]।
६ एतस्मिन्?	इसमें?
७ गोधूमाः।	गेहूँ।

१. मूलपाण्डुलिपि और प्रथमसंस्करण में तण्डुलाः पाठ है।
२. मूलपाण्डुलिपि और प्रथमसंस्करण में चावल पाठ है।

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
८	**अस्मिन् किं वपन्ति?**	इस खेत में क्या बोते हैं?
९	**तिलमुद्गमाषाढकीः।**	तिल, मूंग, उदड़ और अरहर।
१०	**एतस्मिन् किमुप्यते?**	इसमें क्या बोया जाता है?
११	**यवाः।**[१]	जौ।

१६. शस्यच्छेदनप्रकरणम्

१	**सम्प्रति केदाराः पक्वाः।**	इस समय खेत पक गये हैं।
२	**यदि पक्वाः स्युस्तर्हि लुनन्तु।**	जो खेत पक गये हों तो काटो।
३	**इदानीं कृषीवला अन्योऽन्यं केदारान् व्यतिलुनन्ति।**	खेती करने वाले आपस में एक दूसरे का पारापारी खेत काटते हैं।
४	**ऐषमः धान्यानि प्रभूतानि जातानि।**	इस साल में धान्य बहुत हुए हैं।
५	**अत एवैकस्या मुद्राया गोधूमाः खारी-प्रमिता अन्यानि तण्डुलादीन्यपि किञ्चिदधिकन्यूनानि लभन्ते।**	इसी से एक रुपये के गेहूँ एक मन और चावल आदि अन्न भी मन से कुछ अधिक न्यून मिलते हैं।

१७. गवादिदोहनपरिमाणप्रकरणम्

१	**इयं गौर्दुग्धं ददाति न वा?**	यह गाय दूध देती है वा नहीं?
२	**ददाति।**	देती है।
३	**इयं महिषी कियद्दुग्धं ददाति?**	यह भैंस कितना दूध देती है?
४	**दशप्रस्थम्।**	दश सेर।
५	**तव अजादयस्सन्ति न वा?**	तेरे भेड़ बकरी हैं वा नहीं?
६	**सन्ति।**	हैं।
७	**प्रतिदिनं ते कियद् दुग्धं जायते?**	हर रोज तेरे कितना दूध होता है?
८	**पञ्च खार्यः।**	पांच मन।
९	**नित्यं किंपरिमाणे घृतनवनीते भवतः?**	रोज कितना घी और मक्खन होता है?
१०	**सार्द्धद्वादशप्रस्थे।**	साढ़े बारह सेर।
११	**प्रत्यहं कियद् भुज्यते कियच्च विक्रीयते?**	हर रोज कितना खाया जाता और कितना बिकता है?

---

१. मूलपाण्डुलिपि और प्रथम संस्करण में 'यवान्' पाठ है।

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१२	**सार्धद्विप्रस्थं भुज्यते दशप्रस्थं च विक्रीयते।**	अढ़ाई सेर खाया जाता और दश सेर बिकता है।

१८. क्रयविक्रयार्घप्रकरणम्

१	**एतद् रूप्यैकेन कियन् मिलति?**	ये घी और मक्खन एक रुपये का कितना मिलता है?
२	**प्रस्थत्रयं प्रस्थत्रयम्।**	तीन-तीन सेर।
३	**तैलस्य कियच्छुल्कम्?**	तैल का क्या भाव है?
४	**मुद्राचतुर्थांशेन सेटकद्वयं प्राप्यते।**	चार आने का दो सेर मिलता है।
५	**अस्मिन्नगरे कति हट्टास्सन्ति?**	इस नगर में कितनी दुकानें हैं?
६	**पञ्चसहस्राणि।**	पाँच हजार।

१९. कुसीदप्रकरणम्

१	**शतं मुद्रा देहि।**	सौ रुपये दीजिये।
२	**ददामि, परन्तु कियत् कुसीदं दास्यसि?**	देता हूँ, परन्तु कितना ब्याज देगा?
३	**प्रतिमासं मुद्रार्द्धम्।**	हर महीने में आठ आने।

२०. उत्तमर्णाधमर्णप्रकरणम्

१	**भो अधमर्ण! यावद्धनं त्वया पूर्वं गृहीतं तदिदानीं दीयताम्।**	हे करजदार! जो धन तूने पहिले लिया था, वह इसी घड़ी दे।
२	**मम साम्प्रतं तु दातुं सामर्थ्यं नास्ति।**	मेरा इस समय तो देने का सामर्थ्य नहीं है।
३	**कदा दास्यसि?**	कब देगा?
४	**मासद्वयाऽनन्तरम्।**	दो महीने के पश्चात्।
५	**यद्येतावति समये न दास्यसि चेत्तर्हि राजनियमान्निग्राह्य ग्रहीष्यामि।**	जो तू इतने समय में न देगा तो राजप्रबन्ध से पकड़ा के लूंगा।
६	**यद्येवं कुर्य्यां तर्हि तथैव ग्रहीतव्यम्**	जो ऐसा करूं तो वैसे ही लेना।

२१. राजप्रजासम्बन्धप्रकरणम्

१	**भो राजन्! मह्यमयमृणं न ददाति।**	हे राजन्! मेरा यह करज नहीं देता।
२	**यदा तेन गृहीतं तदानीन्तनः कश्चित्**	जब उसने लिया था उस समय का कोई

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
साक्षी वर्त्तते न वा?	गवाह है वा नहीं?
३ वर्त्तते।	है।
४ तर्ह्यानीयताम्।	तो लाओ।
५ आनीतोऽयमस्ति।	लाया, यह है।

२२. साक्षिप्रकरणम्

१ भोः साक्षिन्! त्वमत्र किमपि जानासि न वा?	हे गवाह! तू इस विषय में कुछ जानता है वा नहीं?
२ जानामि।	जानता हूँ।
३ यादृशं जानासि तादृशं सत्यं वद।	जैसा जानता है वैसा सच कह।
४ सत्यं वदामि।	सच कहता हूँ।
५ अस्मादनेन मत्समक्षे सहस्रं मुद्रा गृहीताः।	इससे इसने मेरे सामने हजार रुपये लिये थे।
६ ओ भृत्य! तं शीघ्रमानय।	ओ नौकर! उसको जल्दी ले आ।
७ आनयामि।	लाता हूँ।
८ गच्छ राजसभायां राज्ञा त्वमाहूतोऽसि।	चल राजसभा में राजा ने तुझको बुलाया है।
९ चलामि।	चलता हूँ।
१० भो राजन्! उपस्थितः सः।	हे राजन्! वह यहां आया है।
११ त्वयाऽस्यर्णं कुतो न दीयते?	तू इसका ऋण क्यों नहीं देता?
१२ अस्मिन् समये तु मम सामर्थ्यं नास्ति षण्मासानन्तरं दास्यामि।	इस समय तो मेरा सामर्थ्य नहीं है, परन्तु छः महीनों के पीछे दूंगा।
१३ पुनर्विलम्बन्तु न करिष्यसि?	फिर देर तो न करेगा?
१४ महाराज! कदापि न करिष्यामि।	महाराज! कभी न करूंगा।
१५ अच्छगच्छ धनपाल! यदि सप्तमे मास्ययं न दास्यति तर्ह्येनं निगृह्य दापयिष्यामि।	अच्छा जाओ धनपाल! जो यह सातवें महीने में न देगा तो इसको पकड़ के दिला दूंगा।
१६ अनेन मम शतं मुद्रा गृहीता अधुना न ददाति।	इसने मेरे सौ रुपैये लिये, अब नहीं देता।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१७ किं च भो! यदयं वदति तत् सत्यं न वा?	क्योंजी! जो यह कहता है वह सच है वा नहीं?
१८ मिथ्यैवाऽस्ति।	झूठ ही है।
१९ अहं तु जानाम्यपि नाऽस्य मुद्रा मया कदा स्वीकृताः।	मैं तो जानता भी नहीं कि इसके रुपये मैंने कब लिये थे।
२० उभयोस्साक्षिणः सन्ति न वा?	दोनों के गवाह लोग हैं वा नहीं हैं?
२१ सन्ति।	हैं।
२२ कुत्र वर्त्तन्ते?	कहां हैं?
२३ इम उपतिष्ठन्ते।	ये खड़े हैं।
२४ अनेन युष्माकं समक्षे शतं मुद्रा दत्ता न वा?	इसने तुम्हारे सामने सौ रुपये दिये वा नहीं?
२५ दत्तास्तु खलु।	निश्चित दिये तो हैं।
२६ अनेन शतं मुद्रा गृहीता न वा?	इसने सौ रुपये लिये वा नहीं?
२७ वयं न जानीमः।	हम नहीं जानते।
२८ प्राड्विवाकेनोक्तम्—	वकील ने कहा—
२९ ''अयमस्य च साक्षिणः सर्वे मिथ्यावादिनः सन्ति।	''यह और इसके गवाह लोग सब झूठ बोलने वाले हैं।
३० कुत इदमेतेषां परस्परं विरुद्धं वचोऽस्ति।	क्योंकि यह इन लोगों का वचन पूर्वापर विरुद्ध है।
३१ यतस्त्वया मिथ्याप्रलपितमतएव तवैकसंवत्सरपर्य्यन्तं कारागृहे बन्धः क्रियते।	जिससे तूने झूठ बोला इसी कारण तेरा एक वर्ष तक कैदीखाने में बन्ध किया जाता है।
३२ अयमुत्तमर्णस्त्वदीयान् पदार्थान् गृहीत्वा विक्रीय वा स्वर्णं ग्रहीष्यति।	यह सेठ तेरे पदार्थों को लेकर अथवा बेच के अपने ऋण को ले लेगा।
३३ अयं मदीयानि पञ्चशतानि रूप्याणि धृत्वा न ददाति।	यह मेरे पांच सौ रुपये लेकर नहीं देता।
३४ कुतो न ददासि?	क्यों नहीं देता?
३५ मया नैव गृहीतानि, कथं दद्याम्?	मैंने लिये ही नहीं, कैसे दूं?

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
३६ अयम्मम लेखोऽस्ति पश्यैतम्[1]।	यह मेरा लिखा है, देखो इसे।
३७ आनय।	लाओ।
३८ गृह्यताम्।	लीजिये।
३९ अयं लेखो मिथ्या प्रतिभाति।	यह लिखा हुआ झूठ मालूम पड़ता है।
४० तस्मात् त्वं षण्मासान् कारागृहे वस तवेमे साक्षिणश्च द्वौ द्वौ मासौ च तत्रैव गच्छेयुः।	इससे तू छः महीने कैदखाने में रह और ये तेरे गवाह भी दो दो महीने के लिये वहीं जायें।

२३. सेव्यसेवकप्रकरणम्।

१ भो मङ्गलदास! सेवार्थं कैङ्कर्यं करिष्यसि?	हे मंगलदास! सेवा के लिये नौकरी करेगा?
२ करिष्यामि।	करूंगा।
३ किं प्रतिमासं मासिकं ग्रहीतुमिच्छसि?	प्रति महीने कितना मासिक लेने को चाहता है?
४ पञ्च रूप्याणि।	पांच रुपये।
५ मयैतावद्दास्यते परन्तु यदि यथायोग्या परिचर्य्या विधेया।	मैं इतना दूंगा, परन्तु जो तू ठीक-ठीक सेवा करेगा।
६ यदाहं भवन्तं सेविष्ये तदा भवानपि प्रसन्न एव भविष्यति।	जब मैं आपकी सेवा करूंगा तब आप भी प्रसन्न होंगे।
७ मार्जनं कुरु।[2]	झाड़ू दे।[2]
८ दन्तधावनमानय।	दातून ले आ।
९ स्नानार्थं जलमानय।	नहाने के लिये जल ला।
१० उपवस्त्रं देहि।	अंगोछा दे।
११ आसनं स्थापय।	आसन रख।
१२ पाकं कुरु।	रसोई कर।
१३ हे सूद! त्वयाऽन्नं व्यञ्जनं च सुष्ठु सम्पादनीयम्।	हे रसोइये! तू अन्न और शाक आदि उत्तम बना।

१. यहाँ "पश्य तम्" के स्थान पर 'पश्यैतम्' पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है।
२. यह वाक्य मूल पुस्तक में है, प्रथम संस्करण में नहीं है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१४ अद्य किं किं कुर्याम्?	आज क्या क्या करूं?
१५ पायसमोदकौदनसूपरोटिकाशाकान्युपव्यञ्जनानि चापि।	खीर, लड्डू, भात, दाल, रोटी, शाक और चटनी आदि भी।

२४. मिश्रितप्रकरणम् [१]

१ नित्यप्रति किं वेतनं दास्यते?	नित्य प्रति क्या नौकरी दोगे?
२ प्रत्यहं द्वादश पणाः।	प्रतिदिन बारह पैसे।
३ वस्त्राणि श्लक्ष्णे पट्टे प्रक्षालनीयानि।	कपड़े चिकने साफ पत्थर की पटिया पर धोना।
४ गा वने चारय।	गायें वन में चरा।
५ पुष्पवाटिकायां गन्तव्यमस्ति।	फूलों की बगीची में जाना है।
६ आम्रफलानि पक्वानि न वा?	आम पके वा नहीं?
७ पक्वानि सन्ति।	पके हैं।
८ उपानहावानीयताम्	जूते लाओ।

२५. गमनागमनप्रकरणम् [२]

१ अयं रक्तोष्णीषः क्व गच्छति?	यह लाल पगड़ीवाला कहां जाता है?
२ स्वगृहम्।	अपने घर को।
३ अस्य कदा जन्माऽभूत्?	इसका कब जन्म हुआ था?
४ पञ्च संवत्सरा अतीताः।	पांच वर्ष बीते।
५ परेद्युर्ग्रामे गन्तव्यम्।	कल गांव पर जाना चाहिये।
६ गन्ताऽहम्।	मैं जाऊंगा।
७ भवान् पूर्वेद्युः क्व गतः?	आप कल कहां गये थे?
८ अयोध्याम्।	अयोध्या को।
९ तत्र किं कार्यमासीत्?	वहां क्या काम था?
१० मित्रैः सह मेलनं कर्त्तव्यमासीत्।	मित्रों के साथ मिलना था।
११ कदागतोऽसि?	कब आया है?
१२ अद्यैवाऽऽगच्छामि।	आज ही आया हूं।

२६. रोगप्रकरणम्

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ **अस्य कीदृशो रोगो वर्त्तते?**	इसको किस प्रकार का रोग है?
२ **जीर्णज्वरोऽस्ति।**	जीर्णज्वर (पुराना बुखार) वा ताप है।
३ **औषधं देहि।**	दवा दीजिये।
४ **ददामि।**	देता हूँ।
५ **परन्तु पथ्यं सदा कर्त्तव्यम्, कुतः? नहि पथ्येन विना रोगो निवर्त्तते।**	परन्तु पथ्य (परहेज) सदा करना चाहिये क्योंकि पथ्य के विना रोग निवृत्त नहीं होता।
६ **अयं कुपथ्यकारित्वात् सदा रुग्णो वर्त्तते।**	यह कुपथ्य (बदपरहेज) करने से सदा रोगी रहता है।
७ **अस्य पित्तकोपो वर्त्तते।**	इसको पित्त का कोप है।
८ **मम कफो वर्द्धत औषधं देहि।**	मुझ को कफ़ बढ़ता जाता है, दवा दीजिये।
९ **निदानं कृत्वा दास्यामि।**	रोग की परीक्षा करके दूंगा।
१० **अस्य महान् कासश्वासोऽस्ति।**	इसको बड़ा कासश्वास अर्थात् दमा है।
११ **मम शरीरे तु वातव्याधिर्वर्त्तते।**	मेरे शरीर में तो वात की व्याधि है।
१२ **सङ्ग्रहणी निवृत्ता न वा?**	संग्रहणी छूटी वा नहीं?
१३ **अद्यपर्यन्तं तु न निवृत्ता खलु।**	आज तक तो नहीं छूटी।
१४ **औषधं संसेव्य पथ्यं करोषि न वा?**	दवा का सेवन करके पथ्य करते हो वा नहीं?
१५ **क्रियते, परन्तु सुवैद्यो न मिलति कश्चिद्, यः सम्यक् परीक्ष्यौषधं दद्यात्।**	करता तो हूँ, परन्तु अच्छा वैद्य नहीं मिलता कि जो अच्छे प्रकार परीक्षा करके दवा देवे।
१६ **तृषाऽस्ति चेज्जलं पिब।**	प्यास हो तो जल पी।

२७. मिश्रितप्रकरणम् [२]

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ **इदानीं शीतं निवृत्तम्, उष्णसमय आगतः।**	अब तो शीत की निवृत्ति होकर गरमी का समय आया।
२ **हेमन्ते क्व स्थितः?**	जाड़े में कहां रहा था?

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
[३ **वंगेषु**[1]।	बङ्गाल में।][1]
४ **पश्य! मेघोन्नतिं कथं गर्जति विद्योतते च।**	देखो! मेघ की बढ़ती, कैसा गर्जता और चमकता है।
५ **अद्य महती वृष्टिर्जाता यया तडागा नद्यश्च पूरिताः।**	आज बड़ी वर्षा हुई जिससे तलाब और नदियां भर गईं।
६ **शृणु, मयूराः सुशब्दयन्ति।**	सुनो, मोर अच्छा शब्द करते हैं।
७ **कस्मात् स्थानादागतः?**	किस स्थान से आया?
८ **जङ्गलात्।**	जङ्गल से।
९ **तत्र त्वया कदापि सिंहो दृष्टो न वा?**	वहां तूने कभी सिंह देखा था वा नहीं?
१० **बहुवारं दृष्टः।**	कई वार देखा।
११ **नदी पूर्णा वर्त्तते कथमागतः?**	नदी भरी है, कैसे आया?
१२ **नौकया।**	नाव से।
१३ **आरोहत हस्तिनं गच्छेम।**	चढ़ो हाथी पर, चलें जायें।
१४ **अहं तु रथेनागच्छामि।**	मैं तो रथ से आऊंगा।
१५ **अहमश्वोपरि स्थित्वा गच्छेयं शिविकायां वा।**	मैं घोड़े पर सवार होके जाऊं अथवा पालकी पर।
१६ **पश्य! शारदं नभः कथं निर्मलं वर्त्तते।**	देखो! शरद् ऋतु का आकाश कैसा निर्मल है।
१७ **चन्द्र उदितो न वा?**	चन्द्रमा उगा वा नहीं?
१८ **इदानीन्तु नोदितः खलु।**	इस समय तो नहीं उगा है।
१९ **कीदृश्यस्तारकाः प्रकाशन्ते।**	किस प्रकार तारे प्रकाशमान हो रहे हैं।
२० **सूर्योदयाच्चलन्नागच्छामि।**	सूर्योदय से चला हुआ आता हूँ।
२१ **क्वापि भोजन कृतं न वा?**	कहीं भोजन किया वा नहीं?
२२ **कृतम्मध्याह्नात् प्राक्।**	किया था मध्याह्न से पूर्व।
२३ **अधुनाऽत्र कर्त्तव्यम्।**	अब यहां कीजिये।
२४ **करिष्यामि।**	करूंगा।

१. यह पाठ मूल और प्रथम संस्करण में नहीं है, बाद के संस्करणों में बढ़ाया है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ

२८. विवाहस्त्रीपुरुषालापप्रकरणम्

१	**त्वया कीदृशो विवाहः कृतः?**	तूने किस प्रकार का विवाह किया था?
२	**स्वयंवरः।**	स्वयंवर।
३	**स्त्र्यनुकूलाऽस्ति न वा?**	स्त्री अनुकूल है वा नहीं?
४	**सर्वथाऽनुकूला।**	सब प्रकार से अनुकूल है।
५	**कत्यपत्यानि जातानि सन्ति?**	कितने लड़के हुए हैं?
६	**चत्वारः पुत्रा द्वे कन्यके च।**	चार पुत्र और दो कन्या।
७	**भो स्वामिन्! नमस्ते।**	स्वामीजी! नमस्ते अर्थात् मैं आपका सत्कार करती हूं।
८	**नमस्ते प्रिये!**	नमस्ते प्रिया!
९	**काञ्चित्सेवामनुज्ञापय।**	कुछ सेवा की आज्ञा करिये।
१०	**सर्वथैव सेवयसि पुनराज्ञापनस्य काऽऽवश्यकतास्ति।**	सब प्रकार की सेवा करती ही हो फिर आज्ञा करने की क्या आवश्यकता है।
११	**अधुना भवाञ्छ्रमं कृतवानत उष्णेन जलेन स्नातव्यम्।**	आज आपने श्रम किया है, इस लिये गरम जल से स्नान करना चाहिये।
१२	**गृहाणेदं जलमासनं च।**	लीजिये यह जल और आसन।
१३	**इदानीं भ्रमणाय गन्तव्यम्।**	इस घड़ी घूमने के लिये जाना चाहिये।
१४	**क्व गच्छेव?**	कहा जायें?
१५	**उद्यानेषु।**	बगीचों में।

२९. स्त्रीश्वश्रूश्वशुरादिसेव्यसेवकप्रकरणम्

१	**हे श्वश्रु! सेवामाज्ञापय किं कुर्याम्?**	हे सास! सेवा की आज्ञा कीजिये क्या करूं?
२	**सुभगे! जलं देहि।**	सुभगे! जल दे।
३	**गृहाणेदमस्ति।**	लीजिये यह है।
४	**हे श्वशुर! भवान् किमिच्छत्याज्ञापयतु।**	हे श्वसुर! आपकी क्या इच्छा है, आज्ञा दीजिये।
५	**हे वशंवदे! त्वत्सेवयाऽहमतीव तुष्टोऽस्मि।**	हे वंशवदे तेरी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हूं।

३०. ननन्दृभ्रातृजायासंवादप्रकरणम्

	संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१	**हे ननन्दरिहागच्छ वार्त्तालापं कुर्याव।**	हे ननन्द! यहां आओ, बातचीत करें।
२	**वद भ्रातृजाये! किमिच्छसि?**	कहो भौजाई! क्या इच्छा है?
३	**तव पतिः कीदृशोऽस्ति?**	तेरा पति कैसा है?
४	**अतीव सुखप्रदो यथा तव।**	अत्यन्त सुख देने वाला है, जैसा तेरा।
५	**मया त्वीदृशः पतिः सुभाग्येन लब्धोऽस्ति।**	मैंने तो इस प्रकार का पति अच्छे भाग्य से पाया है।
६	**कदाचित्किञ्चिदप्रियं तु न करोति?**	कभी कोई बुराई तो नहीं करता?
७	**कदापि नहि, किन्तु सर्वदा प्रीतिं वर्द्धयति।**	कभी नहीं, किन्तु सब दिन प्रीति ही बढ़ाता जाता है।
८	**पश्याभ्यां बाल्यावस्थायां विवाहः कृतोऽतः सदा दुःखितौ वर्त्तेते।**	देखो! इन दोनों ने बाल्यावस्था में विवाह किया है, इससे सदा दुःखी रहते हैं।
९	**यान्यपत्यानि जातानि तान्यपि रुग्णानि, अग्रेऽपत्यस्याऽऽशैव नास्ति निर्बलत्वात्।**	जो लड़के हुए वे रोगी, आगे लड़के होने की आशा ही नहीं है निर्बलता से।
१०	**पश्य! तव मम च कीदृशानि पुष्टान्य-पत्यानि द्विवर्षानन्तरं जायन्ते।**	देखो! तेरे और मेरे कैसे पुष्ट तैयार लड़के दो वर्ष के बाद होते जाते हैं।
११	**सर्वदा प्रसन्नानि सन्ति वर्द्धन्ते च सुशीलत्वात्।**	सब काल में प्रसन्न बढ़ते जाते हैं सुशीलता से।
१२	**नह्यस्मिन् संसारेऽनुकूलस्त्रीपति-जन्यसदृशं सुखं किमपि विद्यते।**	इस संसार में अनुकूल स्त्री और पुरुष के सदृश सुख दूसरा कोई नहीं है।
१४	**इदानीं वृद्धाऽवस्था प्राप्ता, यौवनं गतम्, केशाः श्वेता जाताः, प्रतिदिनं बलं ह्रसति च।**	इस समय वृद्धावस्था आई, जवानी गई, बाल सफेद हुए और नित्य बल घटता है।
१५	**सोऽद्य गमनागमनमपि कर्तुमशक्तो जातः।**	वह इस समय आने-जाने में भी असमर्थ हो गया है।
१६	**बुद्धेर्विपर्यासत्वाद्विपरीतं भाषते।**	बुद्धि के विपरीत होने से उलटा बोलता है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१७ अद्याऽस्य मरणसमय आगत ऊर्ध्वश्वासत्वात्।	आज इसके मरने का समय आया, ऊपर को श्वास के चलने से।
१८ सोऽद्य मृतः।	वह आज मर गया।
१९ नीयतां श्मशानं वेदमन्त्रैर्घृतादिभिर्दह्यताम्।	ले चलो श्मशान को, वेदमन्त्रों करके घी आदि सुगन्ध से दहन करो।
२० शरीरं भस्मीभूतं जातमतस्तृतीयेऽहनि सभस्मास्थिसञ्चयनं कार्यमेतत् कृत्वा पुनस्तन्निमित्तं शोकादिकं किञ्चिदपि नैव कार्यम्।	शरीर भस्म हो गया, आज से तीसरे दिन राख सहित हाड़ों को वेदी से अलग करके फिर उसके निमित्त शोकादि कुछ भी न करना चाहिये।
२१ त्वं मातापित्रोः सेवां न करोष्यतः कृतघ्नी वर्त्तसेऽतो मातापितृसेवा केनापि नैव त्याज्या।	तू माता पिता की सेवा नहीं करता है इस कारण कृतघ्नी है, इससे माता-पिता की सेवा का त्याग किसी को कभी न करना चाहिये।

३१ सायंकालकृत्यप्रकरणम्

१ इदानीन्तु सन्ध्यासमय आगतः सायंसन्ध्यामुपास्य भोजनं कृत्वा भ्रमणं कुरुत।	अब तो सन्ध्या समय आया, सन्ध्योपासन और भोजन करके घूमना-घामना करो।
२ अद्य त्वया कियत् कार्यं कृतम्?	आज तूने कितना काम किया?
३ एतावत्कृतमेतावदवशिष्टमस्ति।	इतना किया और इतना बाकी है।
४ अद्य कियान् लाभो व्ययश्च जातः?	आज कितना लाभ और खर्च हुआ है?
५ पञ्चशतानि मुद्रा लाभः, सार्द्धद्वे शते व्ययश्च।	पांच सौ रुपये लाभ और ढाई सौ खर्च हुए।
६ इदानीं सामगानं क्रियताम्।	इस समय सामवेद का गान कीजिये।
७ वीणादीनि वादित्राण्यानीयताम्।	वीणादिक बाजे लाइये।
८ आनीतानि।	लाये।
९ वाद्यताम्।	बजाइये।
१० गीयताम्।	गाइये।
११ कस्य रागस्य समयो वर्त्तते?	किस राग का काल है?

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१२ षड्जस्य।	षड्ज का।
१३ इदानीं दशघटिकाप्रमिता रात्रिर्गता शयीरन्।	इस समय दश घड़ी रात बीती, सोइये।
१४ गम्यतां स्वस्वस्थानम्।	जाओ अपने अपने जगह को।
१५ स्वस्वशय्यायां शयनं कर्त्तव्यम्।	अपने अपने बिछौने पर सोइये।
१६ सत्यमेवमेतदीश्वरकृपया सुखेन रात्रिर्गच्छेत् प्रभातमागच्छेत्।	सत्य है, ऐसे ही ईश्वर की कृपा से सुख से रात बीते और सवेरा हो।

३२. शरीराऽवयवप्रकरणम्

१ अस्य शिरः स्थूलं वर्त्तते।	इसका शिर बड़ा है।
२ देवदत्तस्य मूर्द्धनि केशाः कृष्णा वर्त्तन्ते।	देवदत्त के शिर के बाल काले हैं।
३ मम तु खलु श्वेता जाताः।	मेरे तो सफेद हो गये।
४ तवापि केशा अर्द्धश्वेताः।	तेरे भी बाल आधे सफेद हैं।
५ अस्य ललाटं सुन्दरमस्ति।	इसका माथा सुन्दर है।
६ अयं शिरसा खल्वाटः।	इसके शिर में बाल नहीं हैं।
७ तस्योत्तमभ्रुवौ स्तः।	उसके अच्छी भौहें हैं।
८ श्रोत्रेण शृणोषि न वा?	कान से सुनता है वा नहीं?
९ शृणोमि।	सुनता हूँ।
१० अनया स्त्रिया कर्णयोः प्रशस्तान्याभूषणानि धृतानि।	इस स्त्री ने कानों में अच्छे सुन्दर गहने पहिने हैं।
११ किमयं कर्णाभ्यां बधिरोऽस्ति?	क्या यह कानों से बहिरा है?
१२ बधिरस्तु न परन्तु श्रवणाय ध्यानं न ददाति।	बहिरा तो नहीं है किन्तु सुनने के लिए ध्यान नहीं देता वा ख्याल नहीं करता।
१३ अयं विशालाक्षः।	यह बड़े नेत्रवाला है।
१४ त्वं चक्षुषा पश्यसि न वा?	तू आंख से देखता है वा नहीं?
१५ पश्यामि तु परन्त्विदानीं मन्ददृष्टिर्जातोऽहमस्मि।	देखता तो हूँ, परन्तु इस समय मन्ददृष्टि अर्थात् थोड़ी दृष्टिवाला हो गया हूँ।
१६ इदानीन्ते रक्ते अक्षिणी कथं वर्त्तेते?	इस समय तेरी आँखें लाल क्यों हैं?

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१७ **यतोऽहं शयनादुत्थितः।**	जिससे सोके उठा हूँ इस कारण से।
१८ **स काणो धूर्तोऽस्ति।**	वह काना बदमाश है।
१९ **द्रष्टव्यमयमन्धः सचक्षुष्कवत् कथं गच्छति।**	देखो! यह अन्धा आँखवाले के समान कैसे जाता है।
२० **तवाऽक्षिणी कदा नष्टे?**	तेरी आँखें कब नष्ट हुईं?
२१ **यदाऽहं पञ्चवर्षोऽभूवम्।**	जब मैं पांच वर्ष का था।
२२ **इदानीम्मन्नेत्रे रोगोऽस्ति स कथं निवर्त्स्यते?**	इस समय मेरे नेत्र में रोग है, वह कैसे निवृत्त होगा?
२३ **अञ्जनादीन्यौषधान्युषित्वा निवर्त्तिष्यते।**	अञ्जनादिक औषध के सेवन से निवृत्त होगा।
२४ **तस्य नासिकोत्तमास्ति।**	उसकी नाक अति सुन्दर है।
२५ **भवानपि शुकनासिकः।**	आप भी सुग्गे के सी नाकवाले हैं।
२६ **घ्राणेन गन्धं जिघ्रसि न वा?**	नाक से गन्ध को सूंघते हो वा नहीं?
२७ **श्लेष्मकफत्वान्मया नासिकया गन्धो न प्रतीयते।**	सरदी कफ होने से मुझको नासिका से गन्ध की प्रतीति नहीं होती।
२८ **अयं पुरुषः सुकपोलोऽस्ति।**	यह पुरुष अच्छे गाल वाला है।
२९ **अतिस्थूलत्वादस्य नाभिर्गभीरा।**	बहुत मोटा होने से इसकी नाभि गहरी है।
३० **त्वमद्य प्रसन्नमुखो दृश्यसे किमत्र कारणम्?**	तू आज प्रसन्नमुख दिखाई देता है इसका क्या कारण है?
३१ **अयं सदैवाह्लादितवदनो विद्यते।**	यह सब दिन प्रसन्नमुख बना रहता है।
३२ **अस्यौष्ठौ श्रेष्ठौ वर्त्तेते।**	इसके ओष्ठ बहुत अच्छे हैं।
३३ **अयं लम्बौष्ठत्वाद् भयङ्करोऽस्ति।**	यह लम्बे ओष्ठवाला है इससे भयङ्कर दिखाई देता है।
३४ **सर्वैर्जिह्वया स्वादो गृह्यते।**	सब लोग जीभ से स्वाद का ग्रहण किया करते हैं।
३५ **वाचा च सत्यं प्रियं मधुरं सदैव वाच्यम्।**	वाणी से सत्य, प्रिय और मधुर सदैव बोलना चाहिये।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
३६ **नैव केनचित्खल्वनृतादिकं वक्तव्यम्।**	कभी किसी को झूठ बोलना न चाहिये।
३७ **अयं सुदन् वर्त्तते।**	यह अच्छे सुन्दर दांतवाला है।
३८ **तव दन्ता दृढास्सन्ति वा चलिताः?**	तेरे दांत दृढ़ हैं वा चलते हैं?
३९ **मम तु दृढा अस्य तु त्रुटिताः सन्ति।**	मेरे तो दृढ़ हैं अर्थात् निश्चल हैं और इसके तो टूट भी गये हैं।
४० **मन्मुख एकोऽपि दन्तो नास्त्यतः कष्टेन भोजनादिकं करोमि।**	मेरे मुख में एक भी दांत नहीं है इससे क्लेश से भोजन करता हूँ।
४१ **अस्य श्मश्रूणि लम्बीभूतानि सन्ति।**	इसकी मूंछें लम्बी हैं।
४२ **तव चिबुकस्योपरि केशा न्यूनाः सन्ति।**	तेरी ठोड़ी के ऊपर बाल थोड़े हैं।
४३ **अस्य हनुर्महान् वर्त्तते।**[1]	इसकी ठोड़ी बड़ी है।[1]
४४ **त्वया कण्ठ इदं किमर्थं बद्धमस्ति?**	तूने गले में यह किसलिये बांधा है?
४५ **अस्योरो विस्तीर्णमस्ति।**	इसकी छाती बड़ी है।
४६ **त्वया हृदये किं लिप्तम्?**	तूने छाती में क्या लगाया है?
४७ **इदानीं हेमन्तोऽस्त्यतः केशरकस्तूर्यौ लिप्ते।**	इस समय शीतकाल है, इसलिये केसर और कस्तूरी लगाई है।
४८ **तथा हृच्छूलनिवारणायौषधम्।**	वैसे ही हृदयशूल निवारण के लिये औषध=दवाई।
४९ **माणवकः स्तनाद् दुग्धं पिबति।**	बालक स्तन से दूध पीता है।
५० **पश्य! देवदत्तायं लम्बोदरो वर्त्तते।**	देख देवदत्त! यह बड़ा पेटवाला अर्थात् तोंदवाला है।
५१ **अयं तु खलु क्षामोदरः।**	यह तो छोटे पेटवाला है।
५२ **तव पृष्ठे किं लग्नमस्ति?**	तेरी पीठ में क्या लगा है?
५३ **किं स्कन्धाभ्यां भारं वहसि?**	क्या कन्धों पर बोझा ढोता है?
५४ **पश्याऽस्य क्षत्रियस्य बाह्वोर्बलं येन स्वभुजबलप्रतापेन राज्यं वर्द्धितम्।**	देख! इस क्षत्रिय का बाहुबल अर्थात् बांह का जोर जिसने अपने बाहुबल के प्रताप से राज्य को बढ़ाया है।
५५ **मनुष्येण हस्ताभ्यामुत्तमानि धर्म्म-**	मनुष्य हाथों से उत्तम धर्मयुक्त कर्म करै,

१. यह वाक्य मूल में है, प्रथम संस्करण में नहीं है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
कार्याणि सेव्यानि नैव कदाचिदधमानि।	न कभी अधर्म कर्मों को।
५६ **अस्य करपृष्ठे करतले च घृतं लग्नमस्ति**	इसके हाथ की पीठ और तले में घी लगा है।
५७ **मुष्टिबन्धने एकत्राङ्गुष्ठ एकत्र चतुरङ्गुलयो भविन्त।**	मूंठी बांधने में एक ओर अंगूठा और एक ओर चार अंगुली होती हैं।
५८ **शरीरस्य मध्यभागो नाभिः पुरतः, पश्चिमतः कटिः कथ्यते।**	शरीर के आगे बीच भाग को नाभि और पीछे के भाग को पीठ कहते हैं।
५९ **अयं मल्लः स्थूलोरुः।**	यह पहलवान मोटी जंघावाला है।
६० **माणवको जानुभ्यां गच्छति।**	लड़का घुटनों के बल से चलता है।
६१ **अद्यातिगमनेन जङ्घे पीडिते स्तः।**	आज बहुत चलने से जांघें दूखती हैं।
६२ **अहं पद्भ्यां ह्यो ग्राममगमम्।**	मैं पैदल कल गाम को गया था।
६३ **अस्य शरीरे दीर्घाणि लोमानि सन्ति तव शरीरे च न्यूनानि सन्ति।**	इसके शरीर में बड़े रोम हैं, तेरे शरीर में थोड़े रोएं हैं।
६४ **अस्य शरीरचर्म श्लक्ष्णं वर्त्तते।**	इसके शरीर का चमड़ा चिकना है।
६५ **पश्यास्य नखा आरक्ताः सन्ति।**	देख! इसके नख कुछ कुछ लाल हैं।
६६ **अयं दक्षिणेन हस्तेन भोजनं वामेन जलं च पिबति।**	यह दहिने हाथ से भोजन और बायें से जल पीता है।
६७ **इदानीं त्वया श्रमः कृतोऽस्ति यतो धमनिः शीघ्रं चलति।**	इस समय तूने श्रम किया है, इससे नाड़ी शीघ्र चलती है।
६८ **अधुना तु ममान्तस्त्वग् दह्यतेऽस्थिषु पीडापि वर्त्तते।**	इस समय मेरे भीतर की त्वचा जलती है और हाड़ों में पीड़ा भी है।

३३. राजसभाप्रकरणम्

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ **तिष्ठ भो देवदत्ताहं! त्वया सह राजसभां गच्छामि।**	ठहर देवदत्त! तेरे साथ मैं भी राजा की सभा को चलता हूँ।
२ **सभाशब्दस्य कः पदार्थः?**	सभा शब्द का क्या अर्थ है?
३ **या सत्यासत्यनिर्णयाय प्रकाशयुक्ता वर्त्तेत।**	जो सच-झूठ के निर्णय करने के लिये प्रकाश से सहित हो।
४ **तत्र कति सभासदः सन्ति?**	वहां कितने सभासद् हैं?

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
५ **सहस्रम्।**	हजार।
६ **या मम ग्रामे सभास्ति तत्र खलु पञ्चाशत् सभासदस्सन्ति।**	जो मेरे गाम में सभा है उसमें तो पचास सभासद् हैं।
७ **इदानीं सभायां कस्य विषयस्योपरि विचारो विधातव्यः?**	इस समय सभा में किस विषय पर विचार करना चाहिये?
८ **युद्धस्य।**	युद्ध का अर्थात् लड़ाई का।
९ **तेन सह युद्धं कर्त्तव्यं न वा? यदि कर्त्तव्यं तर्हि कथम्?**	उसके साथ युद्ध करना चाहिये वा नहीं? यदि करना चाहिए, तो कैसे?
१० **यदि स धर्मात्मा तदा तु न कर्त्तव्यम्।**	जो वह धर्मात्मा हो तब तो उससे युद्ध करना योग्य नहीं।
११ **पापिष्ठश्चेत्तर्हि तेन सह योद्धव्यमेव।**	और जो वह पापी हो तो उससे युद्ध करना ही चाहिये।
१२ **सोऽन्यायेन प्रजां सततं पीडयत्यतो महापापिष्ठः।**	वह अन्याय से प्रजा को निरन्तर पीड़ा देता है, इस कारण से वह बड़ा पापी है।
१३ **एवं चेत्तर्हि शस्त्रास्त्रप्रक्षेपयुद्धकुशला बलिष्ठा कोशधान्यादिसामग्रीसहिता सेना युद्धाय प्रेषणीया।**	यदि ऐसा है तो शस्त्र अस्त्र फेंकने वा चलाने और युद्ध में कुशल, बड़ी लड़ने वाली, खजाना और अन्नादि सामग्री सहित सेना युद्ध के लिये भेजनी चाहिये।
१४ **सत्यमेवात्र वयं सर्वे सम्मतिं दद्मः।**	सच ही है, इसमें हम सब लोग सम्मति वा सलाह देते हैं।
१५ **इदानीं कस्यां दिशि कैः सह युद्धं वर्त्तते?**	इस समय किस दिशा में किन के साथ युद्ध होता है?
१६ **पश्चिमायां दिशि यवनैः सह हरिवर्षस्थानाम्।**[1]	पश्चिम दिशा में मुसलमानों के साथ हरिवर्षस्थ अर्थात् यूरोपियन अंग्रेज लोगों का।

१ जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी उस समय अफगानों के साथ अंग्रेजों का युद्ध हो रहा था। अफगानों के साथ दूसरी लड़ाई सन् १८७८-७९ में तथा तीसरी १८७९-८१ तक हुई थी। सम्भवतः यहाँ अफगानों की तीसरी लड़ाई

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१७ पराजिता[1] अपि यवना अद्याप्युपद्रवं न त्यजन्ति।	हारे हुए भी मुसलमान लोग अब उपद्रव भी धूमधाम नहीं छोड़ते।
१८ अयं खलु पशुपक्षिणामपि स्वभावोऽस्ति यदा कश्चित्तद्गृहादिकं ग्रहीतुमिच्छेत् तदा यथाशक्ति युध्यन्त एव।[2]	यह तो पशु-पक्षियों का भी स्वभाव है कि जब कोई उनके घर आदि को छीन लेने की इच्छा करता है तब यथाशक्ति युद्ध करते अर्थात् लड़ते ही हैं।

३४. ग्राम्यपशुप्रकरणम्

१ भो गोपाल! गा वने चारय।	हे अहीर! गौओं को वन में चरा।
२ तत्र या धेनवस्ताभ्योऽर्द्धं दुग्धं त्वया दुग्ध्वा स्वामिभ्यो देयमर्द्धं च वत्सेभ्यः पाययितव्यम्।	वहाँ जो गौएं हैं उनसे आधा दूध दुहकर तू मालिक को ग्रहण करा अर्थात् दो और आधा बछड़ों को पिला।
३ एतौ वृषभौ रथे योजयितुं योग्यौ स्तः, इमौ हले खलु।	ये दोनों बैल गाड़ी में वा रथ में जोतने के योग्य हैं, और ये दोनों हल ही में।
४ पश्येमाः स्थूला महिष्यो वने चरन्ति।	देख! ये मोटी भैंसें वन में चरती हैं।
५ आगच्छ भो! द्रष्टव्यम्महिषाणां युद्धं परस्परं कीदृशं भवति।	आओ जी! देखने योग्य भैसों का युद्ध किस प्रकार परस्पर आपस में हो रहा है।
६ अस्य राज्ञो बहव उत्तमा अश्वाः सन्ति।	इस राजा के यहाँ बहुत से उत्तम घोड़े हैं।
७ किमियं राज्ञः सतुरङ्गा सेना गच्छति?	क्या यह राजा की घोड़ों सहित सेना जाती है?

की ओर संकेत है क्योंकि यह पुस्तक सन् १८८० के फरवरी वा मार्च में लिखी गई थी। —युधिष्ठिर मीमांसक

१ सन् १८७८-७९ के युद्ध में अफगान पराजित हो गये थे, परन्तु उन्होंने कुछ समय पीछे ही अफगानिस्तान में स्थित अंग्रेज रेजिडेण्ट Louis Cavagnari को मार डाला था। इस पर तीसरी लड़ाई आरम्भ हुई।

२ ऋषि दयानन्द ने यहाँ परोक्ष रूप से गहरी राजनीर्ति का परिचय दिया है। और अफगानों की दूसरी लड़ाई में अफगानों से बलात् छीने गये क्वेटा और बिलोचिस्तान की ओर संकेत करके भारत के प्रथम स्वातन्त्र्ययुद्ध (संवत् १९१४, सन् १८५७) को युक्त बताया है और आगे भी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहने का संकेत किया है। —युधिष्ठिर मीमांसक

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
८ श्रोतव्यं! हरयः कीदृशं ह्रेषन्ते।	सुनिये! घोड़े किस प्रकार हिनहिनाते हैं
९ यथा हस्तिनः स्थूलाः सन्ति तथा हस्तिन्योऽपि।	जैसे हाथी मोटे हैं वैसी हथिनी भी हैं।
१० नागाः समं गच्छन्ति।	हाथी बराबर चाल से चलते हैं।
११ शृणु! करिणः कीदृशं शब्दयन्ति।	सुन! हाथी कैसा शब्द करते हैं।
१२ पश्येमे गजोपरि स्थित्वा गच्छन्ति।	देख! ये हाथी पर बैठ कर जाते हैं।
१३ अस्य राज्ञः कतीभास्सन्ति?	इस राजा के यहाँ कितने हाथी हैं?
१४ पञ्च सहस्राणि।	पांच हजार।
१५ रात्रौ श्वानः प्रबुक्कन्ति।	रात में कुत्ते भौंकते हैं।
१६ प्रातः कुक्कुटाः सम्प्रवदन्ति।[1]	सवेरे मुरगे बोलते हैं।
१७ मार्जारो मूषकानत्ति।	बिल्ला मूसों को खाता है।
१८ कुलालस्य गर्द्दभा अतिस्थूलाः सन्ति।	कुम्भार के गदहे अत्यन्त मोटे हैं।
१९ शृणु! लम्बकर्णा रेकन्ते।	सुन! लम्बे कानों वाले गदहे रेंकते हैं।
२० ग्राम्यशूकराः पुरीषं भक्षित्वा भूमिं शुन्धन्ति।	गाँव के सुअर मैला खाके भूमि को शुद्ध करते हैं।
२१ उष्ट्रा भारं वहन्ति।	ऊंट बोझा ढोते हैं।
२२ अजाविपालोऽजा अवीर्दोग्धि।	गड़रिया बकरी और भेड़ी को दुहता है।
२३ पशवोऽपुर्नद्यां जलम्।	पशुओं ने नदी में जल पिया।
२४ रक्तमुखो वानरोऽतिदुष्टो भवति कृष्णास्तु श्रेष्ठः खलु।	लाल मुख का बन्दर बड़ा दुष्ट और काले मुंह का लंगूर अच्छा होता है।
२५ वानरी मृतमपि बालकं न त्यजति।	बन्दरी मरे हुए भी बच्चे को नहीं छोड़ती।
२६ गोपालेन गावो दुग्धा न वा?	ग्वाले ने गौ दुही वा नहीं?
२७ कपिलाया गोर्मधुरं पयो भवति।	कपिला गौ का दूध मीठा होता है।
२८ अयं वृषभः कियता मूल्येन क्रीतः?	यह बैल कितने मोल से खरीदा है?
२९ शतेन रूप्यैः।	सौ रुपयों से।
३० कतिभिः कार्षापणैः प्रस्थं पयो मिलति।	कितने पैसों से सेर दूध मिलता है?
३१ द्वाभ्यां पणाभ्याम्।	दो पैसों से।

१. यह वाक्य ग्राम्यस्थपक्षिप्रकरण में होना चाहिये। सम्पादक

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
३२ पश्य देवदत्त! वानराः कथं प्लवन्ते।	देख देवदत्त! बन्दर कैसे कूदते हैं।
३३ अयं महाहनुत्वाद्धनुमान्वर्त्तते।	यह बन्दर बड़ी (ठोड़ी) वाला होने से हनुमान् है।

३५. ग्रामस्थपक्षिप्रकरणम्

१ एताभ्यां चटकाभ्यां प्रासादे नीडं रचितम्।	इन चिड़ियों ने अटारी पर घोसला बनाया है।
२ अत्राण्डानि धृतानि।	यहां अण्डे धरे हैं।
३ इदानीं तु चाटकैरा अपि जाताः।	अब तो इनके बच्चे भी हो गये हैं।
४ पश्य विष्णुमित्र! कुक्कुटयोर्युद्धम्।	देख विष्णुमित्र! मुरगों की लड़ाई।
५ कुक्कुटी स्वानण्डान् सेवते।	मुरगी अपने अण्डों को सेवती है।
६ पश्य! शुकानां समूहश्शब्दयन्नुड्डीयते।	देख! सुग्गों के झुण्ड शब्द करते उड़े जाते हैं।
७ रात्रौ काका न वाश्यन्ते।	रात में कौवे नहीं बोलते हैं।
८ भो भृत्य! ताडय ध्वांक्षमनेन मे पेयजल-पात्रे चञ्चुर्निक्षिप्य [जलं] विनाशितम्।	अरे नौकर! कौवे को उड़ादे, इसने मेरे पीने के जल के बरतन में चोंच डाल कर [जल] दूषित कर दिया।
९ वायसेन बालकहस्ताद्रोटिका हृता।	कौवे ने लड़के के हाथ से रोटी छीन ली।
१० पश्य! कीदृशं काकोलूकं युद्धं प्रवर्त्तते।	देख! किस प्रकार की कौवे और उल्लुओं की लड़ाई हो रही है।
११ अनेन शुकहंसतित्तिरिकपोताः पालिताः।	इसने सुग्गा, हंस, तीतर और कबूतर पाले हैं।

३६. वन्यपशुप्रकरणम्

१ वने रात्रौ सिंहाः गर्जन्ति।	वन में रात के समय सिंह गर्जते हैं।
२ शार्दूलं दृष्ट्वा सिंहाः निलीयन्ते।	शार्दूल को देखकर सिंह छिप जाते हैं।
३ ह्यः सिंहेन गौर्हता।	कल सिंह ने गौ को मार डाला।
४ परश्वो विक्रमवर्मणा सिंहो हतः।	परसों विक्रम क्षत्रिय ने सिंह को मारा।
५ द्रष्टव्यं! हस्तिसिंहयो रणम्।	देखिये! हाथी और सिंह की लड़ाई।
६ जङ्गले हस्तिसमुदाया विचरन्ति।	जंगल में हाथियों के झुण्ड घूमते हैं।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
७ इदानीमेव वृकेण मृगो गृहीतः।	अभी भेड़िया ने हिरन को पकड़ लिया।
८ अयं कुक्कुरो बलवाननेन सिंहेन सहाप्याजिः कृता।	यह कुत्ता बड़ा बलवान् है, इसने सिंह के साथ भी लड़ाई की।
९ पश्य! सिंहवराहयोः संग्रामम्।	देख! सिंह और सूवर का युद्ध।
१० शूकरा इक्षुक्षेत्राणि भक्षित्वा विनाशयन्ति।	शूकर ऊख के खेतों को खाकर नष्ट कर देते हैं।
११ पश्य! वेगेन धावतो मृगान्।	देख! वेग से दौड़ते हुए हिरनों को।
१२ अयं रुरुर्वृषभवत्स्थूलोऽस्ति।	यह काला रोझ बैल के समान मोटा है।
१३ यो निलीयोत्प्लुत्य धावति स शशस्त्वया दृष्टो न वा?	जो छिप कर कूद के दौड़ता है, वह शशा तूने देखा है वा नहीं?
१४ बहून् दृष्टवान्।	बहुतों को देखा है।
१५ कदाचिद्भालवोऽपि दृष्टा न वा?	कभी भालुओं को भी देखा है वा नहीं?
१६ एकदर्क्षेन साकं मम युद्धं जातम्।	एक समय रीछ के साथ मेरी लड़ाई हुई थी।
१७ रात्रौ शृगाला क्रोशन्ति।	रात में सियार रोते हैं।
१८ कदाचित्खड्गोऽपि दृष्टो न वा?	कभी गैंडा भी देखा वा नहीं?
१९ य आरण्या महिषा बलवन्तो भवन्ति तान्कदाचिद् दृष्टवान्न वा?	जो बनैले भैंसे बड़े बलवान् होते हैं, उनको देखा वा नहीं?

३७. वनस्थपक्षिप्रकरणम्

१ अयं देवदत्तो हंसगत्या गच्छति।	यह देवदत्त हंस के समान चलता है।
२ कदाचित् सारसावपि उड्डीयमानौ क्रीडन्तौ महाशब्दं कुरुतः।	कभी सारस पक्षी भी उड़ते और क्रीडते हुए बड़े शब्द करते हैं।
३ श्येनेनातिवेगेन वर्तिका हता।	बाज ने बड़े वेग से बटेर को मारा।
४ शृणु! तित्तिरयः कीदृशं मधुरं वदन्ति।	सुन! तीतर किस प्रकार मधुर बोलते हैं।
५ वसन्ते पिकाः प्रियं शब्दयन्ति।	वसन्त ऋतु में कोयल प्रियशब्द करती है।
६ काककोकिलवद् दुर्वचाः सुवाक् च मनुष्यो भवति।	कौवे और कोयल के सदृश, दुष्ट और अच्छा बोलनेवाला मनुष्य होता है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
७ **पश्येमे मयूरा नृत्यन्ति।**	देखिये! ये मोर नाचते हैं।
८ **उलूका रात्रौ प्रचरन्ति।**	उल्लू रात को विचरते हैं।
९ **पश्य! बकः सरस्सु पाखण्डिजनवन्मत्स्यघाताय कथं ध्यायति।**	देख! बगुला तलाबों में पाखण्डी मनुष्य के तुल्य मछली मारने के लिये किस प्रकार ध्यान करता है?
१० **बलाका अप्येवमेव जलजन्तून् घ्नन्ति।**	बलाका भी इसी प्रकार जलजन्तुओं को मारती हैं।
११ **पश्य! कथञ्चकोरा धावन्ति?**	देख! किस प्रकार चकोर दौड़ते हैं।
१२ **येऽत्यूर्ध्वमाकाशे गत्वा मांसाय निपतन्ति ते गृध्रास्त्वया दृष्टा न वा?**	जो बहुत ऊपर आकाश में जाकर मांस के लिये गिरते हैं उन गीधों को तूने देखा वा नहीं?
१३ **मेनका मनुष्यवद्वदन्ति।**	मैना मनुष्य के समान बोलती हैं।
१४ **चिल्लिकार्माणवकहस्ताद्रोटिकां छित्त्वोड्डीयते।**	चील्ह लड़के के हाथ से रोटी छीन कर उड़ जाती है।

३८. तिर्यग्जन्तुप्रकरणम्

१ **सर्पाः शीघ्रं सर्प्पन्ति।**	सर्प शीघ्र चलते हैं।
२ **अयं कृष्णः फणी महाविषधारी।**	यह काला सांप बड़ा विषवाला है।
३ **भवता कदाचिदजगरोऽपि दृष्टो न वा?**	आपने कभी अजगर भी देखा है वा नहीं?
४ **पश्याहिनकुलयोः संग्रामो वर्त्तते।**	देख! सांप और नेउले का युद्ध होता है।
५ **स वृश्चिकेन दष्टो रोदिति।**	वह बिच्छू ने काटा, रोता है।
६ **इयं गोधा स्थूलास्ति।**	यह गोह मोटी है।
७ **मूषका बिले शेरते।**	मूसे बिल में सोते हैं।
८ **मक्षिकां भक्षित्वा वमनं प्रजायते।**	मक्खी खाकर वमन हो जाता है।
९ **अत्र वासोऽभिधेयो यन्निर्मक्षिकं वर्त्तते।**	यहां वास करना चाहिये, जिससे मक्खी एक भी नहीं है।
१० **मधुमक्षिकादंशेन शोथः प्रजायते।**	मधु मक्खियों के काटने से सूज जाता है।
११ **भ्रमरा रुत्वाः पुष्पेभ्यो गन्धं गृह्णन्ति।**	भौंरे गूंजते हुए, फूलों से सुगन्धि ग्रहण करते हैं।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ

३९. जलजन्तुप्रकरणम्

१ **तिमिङ्गिला मत्स्याः समुद्रे भवन्ति।**	तिमिङ्गिल मछलियाँ समुद्र में होती हैं।
२ **रोहूखड्गसिंहतुण्डराजीवलोचनाश्च कुण्डपुष्करिणीनदीतडागसमुद्रेषु निवसन्ति।**	रोहू, खड्ग, सिंह, तुंड और राजीवलोचन इन नामों की मछलियाँ, कुण्ड, बावली, नदी, तलाब और समुद्र में वास करती हैं।
३ **ग्राहः पशूनपि गृहीत्वा निगलति।**	मगर पशुओं को भी पकड़ कर लील जाता है।
४ **नक्रा अपि महान्तो भवन्ति।**	घरियार (नाके) भी बड़े होते हैं।
५ **कूर्माः स्वाङ्गानि सङ्कोच्य प्रसारयन्ति।**	कछुए अपने शरीर के अङ्गों को समेट कर फैलाते हैं।
६ **वर्षासु मण्डूकाः शब्दयन्ति।**	वर्षा काल में मेंढक शब्द करते हैं।
७ **जलमनुष्या अप्सु निमज्य तट आसते।**	जल के मनुष्य पानी में डूबकर तीर पर बैठते हैं।

४०. वृक्षवनस्पतिप्रकरणम्

१ **पिप्पलाः फलिता न वा?**	पीपल फले हैं वा नहीं?
२ **इमे वटाः सुच्छायास्सन्ति।**	ये बड़ अच्छी छायावाले हैं।
३ **पश्येम उदुम्बराः सफला वर्त्तन्ते।**	देख! ये गूलर फलयुक्त हो रहे हैं।
४ **इमे बिल्वाः स्थूलफलास्सन्ति।**	ये बेल बड़े फलवाले हैं।
५ **ममोद्यान आम्राः पुष्पिताः फलिताः सन्ति। इदानीं पक्वफला अपि वर्त्तन्ते।**	मेरे बगीचे में आम फूले-फले हैं। इस काल में पके फल वाले भी हैं।
६ **अस्याऽऽम्रस्य मधुराणि रसवन्ति च फलानि भवन्ति।**	इस आम के मीठे और रसवाले फल होते हैं।
७ **तस्य त्वम्लानि भवन्ति।**	उसके तो खट्टे हैं।
८ **पनसस्य महान्ति फलानि भवन्ति।**	कटहल के बड़े फल होते हैं।
९ **शिंशपायाः काष्ठानि दृढानि सन्ति शालस्य दीर्घाणि च।**	शीशम की लकड़ी दृढ़ होती और सुखवे की लम्बी होती हैं।
१० **अस्य किङ्किरोः कण्टकास्तीक्ष्णा भवन्ति।**	इस बबूल के कांटे तीखे होते हैं।

संस्कृतपाठः	**भाषार्थ**
११ बदरीणां तु मधुराम्लानि फलानि, कण्टकाश्च कुटिला भवन्ति।	बेरियों के फल तो मीठे खट्टे और इनके कांटे टेढ़े होते हैं।
१२ कटुको निम्बो ज्वरं निहन्ति।	कडुआ नीम ज्वर का नाश कर देता है।
१३ निम्बूफलरसं सूपे निक्षिप्य भोक्तव्यम्।	नींबू का रस दाल में डालके खाने योग्य है।
१४ मम वाटिकायां दाडिमफलान्युत्तमानि जायन्ते।	मेरे बगीचे में अनार बहुत अच्छे होते हैं।
१५ नवरङ्गीफलान्यानय।	नारंगी के फलों को ला।
१६ वसन्ते पलाशाः पुष्प्यन्ति।	वसन्त ऋतु में ढाक फूलते हैं।
१७ उष्ट्राः शमीवृक्षपत्रफलानि भुञ्जते।	ऊंट शमी अर्थात् खीजड़े के पत्ते और फलों को खाते हैं।

४१. औषधिप्रकरणम्

१ कदलीफलानि पक्वानि न वा?	केले के फल पके वा नहीं?
२ तण्डुलादयस्तु वैश्यप्रकरणे लिखितास्तत्र द्रष्टव्याः।	चावल इत्यादिक तो बनिये के प्रकरण में लिखे हैं वहां देख लेना।
३ विषनिवारणायाऽपामार्गमानय।	विष निवारण के लिये चिचिड़ा लाओ।
४ निर्गुण्ड्याः पत्राण्यानेयानि।	निर्गुण्डी के पत्ते लाने चाहियें।
५ लज्जावत्याः किं जायते।	लज्जावन्ती का क्या होता है?
६ गुडुची ज्वरं निवारयति।	गुडुच ज्वर को शान्त कर देती है।
७ शंखावलीं दुग्धे पक्त्वा पिबेत्।	शंखावली को दूध में पका के पिये।
८ यथर्त्तुयोगं हरीतकी सेविता सर्वान् रोगान्निवारयति।	जिस प्रकार से ऋतु ऋतु में हरड़े का सेवन करना योग्य है वैसे सेवी हुई सब रोगों को छुड़ा देती है।
९ शुण्ठीमरीचपिप्पलीभिः कफवातरोगा निहन्तव्याः।	सोंठ, मिर्च और पीपल से कफ़ और वात रोगों का नाश करना चाहिये।
१० योऽश्वगन्धां दुग्धे पाचयित्वा पिबति स पुष्टो जायते।	जो असगन्ध दूध में पका के पीता है, वह पुष्ट होता है।

संस्कृतपाठः	**भाषार्थ**
११ इमानि कन्दानि भोक्तुमर्हाणि वर्त्तन्ते।	ये कन्द खाने के योग्य हैं।
१२ एतेषां तु शाकमपि श्रेष्ठं जायते।	इन कन्दों का शाक भी अच्छा होता है।
१३ अस्यां वाटिकायां गुल्मगुच्छलताः प्रशंसनीयाः सन्ति।	इस बगीचे में गुच्छा गुलाब और बेलें प्रशंसा के योग्य अर्थात् अच्छी हैं।

४२. आत्मीयप्रकरणम्

१ तव ज्येष्ठो बन्धुर्भगिनी च काऽस्ति?	तेरा बड़ा भाई और बहिन कौन हैं?
२ देवदत्तस्सुशीला च।	देवदत्त और सुशीला।
३ भो बन्धो! अहं पाठाय व्रजामि।	हे भाई! मैं पढ़ने के लिये जाता हूँ।
४ अत्युत्तमा वार्त्ता प्रिय! याहि समभ्यस्य पूर्णा विद्याः पठित्वैवागन्तव्यम्।[1]	हे प्रिय भाई! तूने बहुत उत्तम बात विचारी जा! अच्छे प्रकार अभ्यास से पूर्ण विद्या पढ़ ही के आना।[1]
[गच्छ प्रिय! पूर्णां विद्यां कृत्वा-गन्तव्यम्।[1]]	[जा प्यारे! पूरी विद्या को करके आना[1]]
५ भवतः कन्या अद्यश्वः किं पठन्ति?	आपकी बेटियाँ आजकल क्या पढ़ती हैं?
६ वर्णोच्चारणशिक्षादिकं पठित्वेदानीं दर्शनशास्त्राण्यधीत्य धर्मपाकशिल्प-गणितविद्या अधीयते।	वर्णोच्चारण शिक्षादि और न्याय शास्त्रादि पढ़कर अब धर्म, पाक, शिल्प और गणित विद्या पढ़ती हैं।
७ भवज्ज्येष्ठया भगिन्या किं किमधीत्येदानीं किं क्रियते?	आपकी बड़ी बहन क्या-क्या पढ़के, अब क्या करती है?
८ वर्णज्ञानमारभ्य वेदपर्यन्ताः सर्वा विद्या विदित्वेदानीं बालिकाः पाठयति।	अक्षराभ्यास से लेके वेद तक सब पूरी विद्या पढ़ के अब कन्याओं को पढ़ाया करती है।
९ तया विवाहः कृतो न वा?	उसने विवाह किया वा नहीं?
१० इदानीं तु न कृतः परन्तु वरं परीक्ष्य स्वयंवरं कर्तुमिच्छति।	अभी तक तो नहीं किया, परन्तु वर की परीक्षा करके स्वयंवर करने की इच्छा

१. संख्या ४ का पाठ मूल पाण्डुलिपि में है तथा कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम संस्करण में है —सम्पादक

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
	करती है।
११ **यदा कश्चित् स्वतुल्यः पुरुषो मिलिष्यति तदा विवाहं करिष्यति।**	जब कोई अपने सदृश पुरुष मिलेगा तब विवाह करेगी।
१२ **तव मित्रैरधीतं न वा?**	तेरे मित्रों ने पढ़ा है वा नहीं?
१३ **सर्व एव विद्वांसो वर्त्तन्ते यथाऽहं तथैव तेऽपि, कुतः, समानस्वभावेषु मैत्र्यास्सम्भवात्।**	सब ही विद्वान् पण्डित हैं, जैसा मैं हूँ वैसे वे भी हैं, क्योंकि तुल्य स्वभाववालों में मित्रता का सम्भव है।
१४ **तव पितृव्यः किं करोति?**	तेरा चाचा क्या करता है?
१५ **राज्यव्यवस्थाम्।**	राज्य का कारबार।
१६ **अयं तव मातुलोऽस्ति किम्?**	यह तेरा मामा है क्या?
१७ **अयं मातुल इयं पितृष्वसेयं मातृष्वसेयं गुरुपत्न्ययं च गुरुः।**	यह मेरा मामा, यह बाप की बहिन (बुवा), यह माता की बहिन (मौसी), यह गुरु की स्त्री और यह मेरा गुरु है।
१८ **इदानीमेते कस्मै प्रयोजनायैकत्र मिलिताः?**	इस समय ये सब किसलिये मिलकर इकट्ठे हुए हैं?
२९ **मया सत्कारायाऽऽहूताः सन्त आगताः।**	मैंने सत्कार पूर्वक बुलाये हैं, सो ये सब आये हैं।
२० **इमे मम पितृश्वश्रूश्वशुरश्यालादयः सन्ति।**	ये सब मेरे पिता की सास, ससुर और साले आदि हैं।
११ **इमे मम मित्रस्य स्त्रीभगिनीदुहितृ-जामातरः सन्ति।**	ये मेरे मित्र की स्त्री, बहिन, लड़की और जमाई हैं।
२२ **इमौ मम पितृव्यस्य श्यालदौहित्रौ स्तः।**	ये मेरे चाचा का साला और दौहित्र हैं।

४३ सामन्तप्रकरणम्

१ **त्वद्गृहनिकटे के वसन्ति?**	तेरे घर के पास कौन रहते हैं?
२ **ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः।**	ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लोग।
३ **इमे राजसनीडनिवासिनः।**	ये राजा के पास रहनेवाले हैं।

४४. कारुप्रकरणम्

१ **भोस्तक्षन्! त्वया नौविमानरथ-**	हे बढ़ई! तू नावें, विमान, रथ, गाड़ी और

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
शकटहलादीनि निर्माय तत्र प्रशस्तानि कलायन्त्रकौशलानि रचनीयानि।	हल आदि रचके उनमें अत्युत्तम कला और यन्त्र आदि बना।
२ **इदं काष्ठं छित्त्वा पर्य्यङ्कं रचय।**	इस लकड़ी को काट के पलंग बना।
३ **अस्मात्कपाटाः सम्पादनीयाः।**	इससे किवाड़ों को बना।
४ **इमं वृक्षं किमर्थं छिनत्सि?**	इस वृक्ष को किसलिये काटता है?
५ **मुसलोलूखलनिर्माणाय।**	मूसल और ओखली बनाने के लिये।

४५. अयस्कारप्रकरणम्

१ **भो अयस्कार! त्वयाऽस्मादयसः बाणा-सिशक्तितोमरमुग्दरशतघ्नीभुशण्ड्यो निर्मातव्याः।**	हे लोहार! तू इस लोहे के बाण, तलवार बरछी, तोमर, मुग्दर, बंदूक और तोप बना दे।
२ **एतस्मात् क्षुरादीनि च।**	इससे छुरे आदि।
३ **इमौ कलशकटाहौ त्वया विक्रीयेते न वा?**	यह घड़ा और कड़ाही को तू बेचता है वा नहीं?
४ **विक्रीणामि।**	बेचता हूँ।
५ **एतान् कीलकण्टकान् किमर्थान् रचयसि?**	इन कील-कांटों को किसलिये बनाता है?
६ **विक्रयणाय।**	बेचने के लिये।

४६. सुवर्णकारप्रकरणम्

१ **त्वया सुवर्णादिकं नैव चोर्यम्।**	तू सोना आदि मत चोरना।
२ **आभूषणान्युत्तमानि निर्मिमीष्व।**	गहने अच्छे सुन्दर बना।
३ **अस्य हारस्य कियन्मूल्यमस्ति?**	इस हार का कितना मोल है?
४ **पञ्च सहस्राणि राजत्यो मुद्राः।**	पांच हजार रुपये।
५ **इमौ कुण्डलौ त्वया श्रेष्ठौ रचितौ वलयौ तु न प्रशस्तौ।**	ये कुण्डल तो तूने अच्छे बनाये, परन्तु कड़े तो बिगाड़ दिये।
६ **एतान्यङ्गुलीयकानि मुक्ताप्रवाल-हीरकनीलमणिजटितानि सम्पादय।**	ये अंगूठियाँ मोती, मूंगा, हीरा और नीलमणि से जड़ी हुई बना।
७ **एतेनालङ्कारा अत्युत्तमा रच्यन्ते।**	यह गहने बहुत अच्छे बनाता है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
८ नासिकाभूषणं सद्यो निष्पादय।	नथिआ (नथुनी) अभी बना दे।
९ इदं मुकुटं केन रचितम्?	यह मुकुट किसने बनाया?
१० शिवप्रतापेन।	शिवप्रताप ने।
११ अस्य सुवर्णस्य कटककङ्कण-नूपुरान् निर्माय सद्यो देहि।	इस सोने के कड़ा, कंकनी वा कंगना और पजेब बनाके अभी दे।

४७. कुलालप्रकरणम्

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ भो कुलाल! कुम्भशरावमृद्गवकान् निर्मिमीष्व।	अरे कुम्भार! घड़ा, सकोरा और मिट्टी की गौओं को बना।
२ घटं देह्यनेन जलमानेष्यामि।	घड़ा दे, जल लाऊँगा।

४८. तन्तुवायप्रकरणम्

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ भो तन्तुवाय! अस्य सूत्रस्य पटशाट्-युष्णीषाणि वय।	ओ जुलाहे! इस सूत का पटका, साड़ी और पगड़ियाँ बुन।

४९. सूचीकारप्रकरणम्

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ भो! सूच्या किं सीव्यसि?	ओ! सूई से क्या सीता है?
२ शिरोङ्गरक्षणाधोवस्त्राणि सीव्यामि।	टोपी, अंगरखा और पाजामा सीता हूँ।

५०. मिश्रितप्रकरणम् [३]

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ भो कारुक! कटं वय।	अरे चटाईवाले! चटाई बुन।
२ इमे व्याधा मृगादीन्पशून् हन्ति।	ये बहेलिये हरिन आदि पशुओं को मारते हैं।
३ किराता वने निवसन्ति।	किरात अर्थात् भील लोग वन में रहते हैं।
४ सकमलानि सरांसि कुत्र सन्ति?	कमल के सहित वा कमलवाले तलाब कहां हैं?
५ इमे तडागा ग्रीष्मे शुष्यन्ति।	ये सब तलाब गरमी में सूख जाते हैं।
६ कूपाज्जलमानय।	तू कुएं से जल ला।
७ अद्य वाप्यां स्नातव्यम्।	आज बावड़ी में नहाना चाहिये।
८ रञ्जकेन शतघ्नीभुशुण्ड्यादयश्-चलन्ति।	बारूद से बंदूक और तोपें आदि चलती हैं।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
९ अयं कम्बलस्त्वया कस्माद् गृहीतः कस्मै प्रयोजनाय च?	यह कम्बल तूने किससे लिया और किस प्रयोजन के लिये?
१० कश्मीराच्छीतनिवारणाय।	कश्मीर से, जाड़ा छुड़ाने के लिये।
११ पश्य! माणवकाः क्रीडन्ति।	देख! लड़के खेलते हैं।
१२ अस्मिन् गृहे स्त्रस्तराणि श्रेष्ठानि सन्ति।	इस घर में बिछौने अच्छे हैं।
१३ इमे चोराः पलायन्ते।	ये चोर लोग भागे जाते हैं।
१४ तत्र दस्युभिरागत्य सर्वं धनं हृतम्।	वहां डाकूओं ने आकर सब धन हर लिया।
१५ द्वापरान्ते युधिष्ठिरादयो बभूवुः।	द्वापर के अन्त में युधिष्ठिरादिक हुए थे।
१६ मम पादे कण्टकः प्रविष्ट एनमुद्धर।	मेरे पैर में कांटा घुस गया, इसको निकाल।
१७ केशान् संवय।	बालों को संभाल।
१८ भो नापित! नखाञ्छिन्धि मुण्डय शिरः श्मश्रूणि च।	ओ नाऊ! नखों को काट, शिर मूण्ड और मूंछ भी काट डाल।
१९ अयं शिल्पी प्रासादमत्युत्तमं रचयति।	यह राज अटारी बहुत अच्छी बनाता है
२० अयं कोटपालो न्यायकारी वर्त्तते।	यह कोतवाल न्यायकारी वा इंसाफी है।
२१ स तु धर्मात्मा नैवास्त्यन्यायकारित्वात्।	वह कोटवाल तो धर्मात्मा नहीं है, अन्यायकारी होने से।
२२ एते राजमन्त्रिणः कुत्र गच्छन्ति?	ये राजा के मन्त्री लोग कहां जाते हैं?
२३ राजसभां न्यायकरणाय यान्ति।[1]	राजसभा को न्याय करने के लिये।[1]
२४ भोस्ताम्बूलानि देहि।	ओ! पान दे।
२५ ददामि।[2]	देता हूँ।[2]
२६ भोस्तैलकार! तिलेभ्यस्तैलं निस्सार्य देहि।	अरे तेली! तिलों से तैल निकाल कर दे।
२७ दास्यामि।[3]	दूंगा।[3]
२८ भो रजक! वस्त्राणि प्रक्षाल्य सद्यो देयानि।	अरे धोबी! कपड़ों को धोकर अभी दे।

१-३. ये वाक्य पाण्डुलिपि में नहीं है, प्रथम संस्करण में हैं।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
२९ **कपाटान् बधान।**	किवाड़ें बन्द कर।
३० **इदानीं प्रातःकालो जातः कपाटानुद्घाटय।**	इस समय सवेरा हुआ किवाड़ें खोलो।
३१ **सर्वे युद्धाय सज्जा भवन्तु।**	सब सिपाही लोग लड़ाई के लिये तैयार हों।
३२ **अर्थिप्रत्यर्थिनौ राजगृहे युध्येते।**	मुद्दई और मुद्दालेह कचहरी में लड़ते हैं।
३३ **किमियं गोधूमान् पिनष्टि?**	क्या यह गेहुओं को पीसती है?
३४ **कुतोऽद्य दुर्गे शतघ्न्यश्चलन्ति?**	क्यों आज किले में तोपें छूटती हैं?
३५ **तेन भुशुण्ड्या सिंहो हतः।**	उसने बन्दूक से सिंह को मारा।
३६ **तेनाऽसिना तस्य शिरश्छिन्नम्।**	उसने तलवार से उसका शिर काट डाला।
३७ **अञ्जनं किमर्थमनक्षि?**	अञ्जन किसलिये लगाता है?
३८ **दृष्टिवृद्धये।**[१]	[दृष्टि बढ़ाने के लिये।[१]]
३९ **उपानहौ धृत्वा क्व गच्छसि?**	जूते पहिन कर कहां जाता है?
४० **जङ्गलम्।**	जङ्गल को।
४१ **किं स्थाल्यामोदनं पचसि सूपं वा?**	क्या बटुवे में भात पकाता है, वा दाल?
४२ **कटाहे शाकं पच।**	कड़ाही में तरकारी पका।
४३ **विरुद्धं वदिष्यसि चेत्तर्हि ते दन्तांस्त्रोटयिष्यामि।**	विरुद्ध बोलेगा तो तेरे दाँत तोड़ डालूँगा।
४४ **तव पितुस्तु सामर्थ्यं नाभूत् तव तु का कथा।**	तेरे बाप का तो सामर्थ्य न हुआ, अब तेरी तो क्या बात है।
४५ **येन प्रजा पाल्यते स कथन्न स्वर्गं गच्छेत्।**	जिसने प्रजा का पालन किया, वह स्वर्ग को क्यों न जाय?
४६ **यो राज्यं पीडयेत्स कुतो न नरके मज्जेत्?**	जो राज्य को दुःख देवे, वह नरक को क्यों न जाय?
४७ **येनेश्वर उपास्यते तस्य विज्ञानं कुतो न वर्द्धेत।**	जो ईश्वर की उपासना करे, उसका विज्ञान क्यों न बढ़े।
४८ **यः परोपकारी स सततं कथं न सुखी**	जो परोपकारी है वह सर्वदा सुखी क्यों

१. मूल में यह भाषार्थ नहीं है। —सम्पादक

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
भवेत्।	न होवे?
४९ **अस्यां मञ्जूषायां किमस्ति?**	इस संदूक में क्या है?
५० **वस्त्रधने।**	कपड़ा और धन।
५१ **इदानीमपि कुम्भ्यां धान्यं वर्त्तते न वा?**	अब कोठी में अन्न है वा नहीं?
५२ **स्वल्पमस्ति।**	थोड़ा सा है।
५३ **त्वमालसी तिष्ठसि कुतो नोद्योगं करोषि?**	तू आलसी रहता है, उद्योग क्यों नहीं करता?
५४ **उभयत्र प्रकाशाय देहल्यां दीपं निधेहि।**	दोनों ओर उजियाला होने के लिये दरवाजे पर दिया धर।
५५ **तेन चर्मासिभ्यां शतेन सह युद्धं कृतम्।**	उसने ढाल और तलवार से सौ पुरुषों के साथ युद्ध किया।
५६ **अतिथीन् सेवयसि न वा?**	अतिथि=संन्यासियों की सेवा करता है वा नहीं?
५७ **प्रेक्षासमाजं मा गच्छ।**	कभी मेले-तमाशे में मत जा।
५८ **द्यूतसमाह्वयौ नैव सेवनीयौ।**	जो अप्राणी=जड़ पदार्थों को दाव पर धर के खेलना वह द्यूत, और प्राणी=चेतन पदार्थों को दाव पर धरके खेलना समाह्वय कहाता है। उनको कभी न करना चाहिये।
५९ **यो मद्यपोऽस्ति तस्य बुद्धिः कुतो न ह्रसेत्?**	जो मद्य पीनेवाला है, उसकी बुद्धि क्यों न कमती होवे।
६० **यो व्यभिचरेत् स रुग्णः कथं न जायेत।**	जो व्यभिचार करे वह रोगी क्यों न होवे।
६१ **यो जितेन्द्रियस्स सर्वं कर्त्तुं कुतो न शक्नुयात्?**	जो जितेन्द्रिय है वह सब उत्तम काम क्यों न कर सके?
६२ **योगाभ्यासः कृतो येन ज्ञानदीप्तिर्भवेन्नरः।**	जिसने योग का अभ्यास किया है वह ज्ञानप्रकाश से युक्त होता है।
६३ **वस्त्रपूतं जलं पेयं मनः पूतं समाचरेत्।**	जो कपड़े से छान कर जल पीता और मन जिसमें प्रसन्न रहे उसी कर्म को करता

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
[स भ्रान्तौ कदापि न पतेत् ?][१]	है, वह भ्रमजाल में कभी नहीं गिरता।[२]
६४ अयं वाचालोऽस्त्यतो बरबरायते।	यह बोलने में वाचाल है इसी कारण बड़बड़ाता है।
६५ भूमितले किमस्ति ?	भूमि के नीचे क्या है ?
६६ मनुष्यादयः।	मनुष्यादि।
६७ यः पद्भ्यां भ्रमति तस्यारोग्यं जायते।	जो पग से चलता है उसको आरोग्य रहता है।
६८ व्यजनेन वायुं कुरु।	पंखा से हवा कर।
६९ किं घर्मादागतो यत् स्वेदो जातोऽस्ति[१]।	क्या घाम से आया है जो पसीना हो रहा है ?[१]
७० स्वस्थे शरीरे नित्यं स्नात्वा मितं भोक्तव्यम्।	अच्छे शरीर में रोज नहा के थोड़ा-सा खाना चाहिये कि जितना पच जाये।
७१ जलवायू शुद्धौ सेवनीयौ।	पवित्र जल और वायु का सेवन करना चाहिये।
७२ सर्वर्तुके शुद्धे गृहे निवसनीयम्।	जो सब ऋतुओं में सुख देनेहारा घर हो उसी में रहना चाहिये।
७३ नैव केनचिन्मलिनानि वस्त्राणि धार्याणि।	किसी को भी मैला कपड़ा पहिनना न चाहिये।
७४ तव का चिकीर्षास्ति ?	तेरी क्या करने की इच्छा है ?
७५ गृहं गत्वा भोक्तुम्।	घर पर जाके खाने की।
७६ त्वं सक्तून् भुङ्क्षे न वा ?	तू सत्तू खाता है वा नहीं ?
७७ घृतदुग्धमिष्टैः सहाऽद्मि।[३]	घी, दूध और मीठा के साथ खाता हूँ।[३]
७८ त्वयाम्रफलानि चूषितानि न वा ?	तूने आम के फलों को चूसा वा नहीं ?
७९ उर्वारुकफलान्यत्र मधुराणि जायन्ते।	खरबूजे के फल यहां मीठे होते हैं।

१. यह वाक्य मूल और प्रथम संस्करण में नहीं है बाद के संस्करणों में बढ़ाया है।
२. यह वाक्य प्रथम संस्करण में है।
३. यह वाक्य मूल में नहीं है, प्रथम संस्करण में है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
८० इक्षुभ्यो गुडादिकं निष्पद्यते।	ऊख से गुड़ इत्यादि बनता है।
८१ इदानीमाकण्ठं दुग्धं पीतं मया।	इस समय गले तक मैंने दूध पिया।
८२ तक्रं देहि।	मट्ठा दे।
८३ दुग्धं पिब[१]।	दूध पी।[१]
८४ अत्र श्वेता शर्करा वर्तते।	यहां सफेद चीनी है।
८५ अयं रुच्या दध्नौदनं भुङ्क्ते।	यह प्रीति से दही के साथ भात खाता है।
८६ अद्य मोदका भुक्ता न वा ?	आज लड्डू खाये वा नहीं ?
८७ त्वया कदाचित्कृशराऽपि भुक्ता न वा ?	तूने कभी खिचड़ी भी खाई है वा नहीं ?
८८ मयाऽपूपा भक्षिताः।	मैंने मालपूये खाये हैं।
८९ सशर्करं दुग्धं पेयम्।	शक्कर के सहित दूध पीना चाहिये।
९० येन धर्मः सेव्यते स एव सुखी जायते।	जो धर्म्म का सेवन करता है वही सुखी रहता है।

५१. लेख्यलेखकप्रकरणम्

१ मनुष्यो लेखाभ्यासं सम्यक् कुर्यात्।	मनुष्य लिखने का अभ्यास अच्छे प्रकार करे।
२ अयमनुत्तममक्षरविन्यासं करोति।	यह अत्युत्तम अक्षर लिखता है।
३ लेखनीं सम्पादय।	कलम बना।
४ मसीपात्रमानय।	दवात ला।
५ पुस्तकं लिख।	पोथी लिख।
६ तत्र पत्रं लिखित्वा प्रेषितं न वा ?	वहां चिट्ठी लिखकर भेजी वा नहीं ?
७ प्रेषितं पञ्च दिनानि व्यतीतानि तस्य प्रत्युत्तरमप्यागतम्।	भेजी, पांच दिन बीते, उसका जवाब भी आ गया।
८ सुवर्णाक्षराणि लिखितुं जानासि न वा ?	सुनहरी अक्षर लिखने जानता है वा नहीं ?
९ जानामि तु परन्तु सामग्रीसम्पादने लेखे च विलम्बो भवति।	जानता तो हूँ परन्तु चीज इकट्ठी करने और लिखने में देर होती है।
१० यद्यंगुष्ठतर्जनीभ्यां लेखनीं गृहीत्वा	जो अंगूठा तर्जनी अंगुली से कलम को

१. यह वाक्य मूल में है, प्रथम संस्करण में नहीं है।

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
मध्यमोपरि संस्थाप्य लिखेत्तर्हि प्रशस्तो लेखो जायेत।	पकड़कर बीचली अंगुली पर रख कर लिखे तो बहुत अच्छा लेख होवे।
११ अयमतीव शीघ्रं लिखति।	यह अत्यन्त जलदी लिखता है।
१२ एतस्य लेखनी मन्दा चलति।	इसकी कलम धीरे चलती है।
१३ यदि त्वमेकाहं सततं लिखेस्तर्हि कियतः श्लोकांल्लिखितुं शक्नुयाः?	यदि तू एक दिन निरन्तर लिखे तो कितने श्लोक लिख सके?
१४ पञ्चशतानि।	पांच सौ।
१५ यदि शिक्षां गृहीत्वा शनैः शनैर्लिखितुमभ्यस्येत्तर्ह्यक्षराणां सुन्दरं स्वरूपं स्पष्टता च जायते।	यदि शिक्षा ग्रहण कर के धीरे-धीरे लिखने का अभ्यास करे तो अक्षरों का दिव्यस्वरूप और स्पष्टता होवे।
१६ अस्मिंल्लाक्षारसे कज्जलं सम्मिलितं न वा?	इस लाख के रस में कज्जल मिला है वा नहीं?
१७ मिलितं तु न्यूनं खलु वर्त्तते।	मिला तो है परन्तु थोड़ा है।
१८ मनुष्यैर्यादृशः पठनाभ्यासः क्रियेत तादृश एव लेखनाभ्यासोऽपि कर्त्तव्यः।	मनुष्य लोग जैसा पढ़ने का अभ्यास करें वैसा ही लिखने का भी अभ्यास करना चाहिये।
१९ मया वेदपुस्तकं लेखयितव्यमस्त्येकेन रूप्येण कियतः श्लोकान् दास्यसि?	मुझे वेद का पुस्तक लिखाना है, एक रुपैया से कितने श्लोक देगा?
२० अत्युत्तमानि ग्रहीष्यसि चेत्तर्हि शतत्रयं मध्यमानि चेच्छतपञ्चकम्, साधारणानि चेत्सहस्रं श्लोकान् दास्यामि।	जो बहुत अच्छे लोगे तो तीन सौ और मध्यम लोगे तो पांच सौ। यदि बहुत साधारण वा घटिया लोगे तो हजार श्लोक दूंगा।
२१ शतत्रयमेव ग्रहीष्यामि परन्त्वत्युत्तमं लिखित्वा दास्यसि चेत्।	तीन सौ ही लूंगा परन्तु बहुत अच्छा लिख कर देगा तो।
२२ वरमेवमेव करिष्यामि।	अच्छा, ऐसा ही करूंगा।

५२. मन्तव्यामन्तव्यप्रकरणम्[1]

संस्कृतपाठः	भाषार्थ
१ त्वं जगत्स्रष्टारं सच्चिदानन्दस्वरूपं परमेश्वरं मन्यसे न वा?	तू इस संसार के बनानेवाले सत्, चित् और आनन्दस्वरूप परमेश्वर को मानता है वा नहीं?
२ अयं नास्तिकत्वात् स्वभावात् सृष्ट्युत्पत्तिं मत्वेश्वरं न स्वीकरोति।	यह मनुष्य नास्तिक होने से स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति को मानकर ईश्वर को नहीं मानता।
३ यद्ययं कर्तृकार्यरचकरचनाविशेषान् संसारे निश्चिनुयात्तर्ह्यवश्यं परमात्मानं मन्येत।	जो यह नास्तिक कर्त्ता क्रिया बनानेहारा और बनावट को इस जगत् में निश्चय करे तो अवश्य ईश्वर को माने।
४ अत्र सृष्टौ रचितरचनादर्शनाज्जीवकार्य्यवत् [सृष्टेः] स्रष्टारं कुतो न मन्येत?	जो इस सृष्टि में बने हुए पदार्थ और इनमें बनावट को प्रत्यक्ष देखता है वह जैसा कारीगरी को देख के कारीगर का निश्चय करते हैं वैसे जगत् के बनानेवाले परमात्मा को क्यों न माने?
५ यत्रोत्तमा धार्मिका आस्तिका विद्वांसोऽध्यापका उपदेष्टारः स्युस्तत्र कोऽपि कदाचिन्नास्तिको भवितुं नैवार्हेत्।	जहां श्रेष्ठ, धर्मात्मा, आस्तिक, विद्वान् लोग पढ़ानेवाले और उपदेशक हों, वहां कोई भी मनुष्य नास्तिक होने को प्रवृत्त कभी नहीं होता।
६ कैः कर्मभिर्मुक्तिर्भवति तदा क्व वसन्ति तत्र किं भुञ्जते?	किन कर्मों से मुक्ति होती है, उस समय कहां वास करते हैं और वहां क्या भोगते हैं?
७ धर्म्यैः कर्मोपासनाविज्ञानैर्मुक्तिर्जायते, तदानीं ब्रह्मणि निवसन्ति परमानन्दं च सेवन्ते।	धर्मयुक्त कर्म, उपासना और विज्ञान से मोक्ष होता है, उस समय ब्रह्म में मुक्त जीव रहते और परम आनन्द का सेवन करते हैं।
८ मोक्षं प्राप्य तत्र सदा वसन्त्याहोस्वित्	जो जीव मुक्ति को प्राप्त होते हैं वे वहाँ

१. यह प्रकरण मूलपाण्डुलिपि में नहीं है, प्रथम संस्करण में है।

कदापि ततो निवृत्य पुनर्जन्ममरणे प्राप्नुवन्ति?

सदा रहते हैं अथवा वहां से निवृत्त होकर पुनः जन्म और मरण को प्राप्त होते हैं?

९ **प्राप्तमोक्षा जीवास्तत्र सर्वदा न वसन्ति, किन्तु महाकल्पपर्यन्तमर्थाद् ब्राह्ममायुर्यावत्तावत्तत्रोषित्वाऽऽनन्दं भुक्त्वा पुनर्जन्ममरणे प्राप्नुवन्त्येव।**

जो जीव मुक्त होते हैं वे सर्वदा वहां नहीं रहते, किन्तु जितना ब्राह्म कल्प का परिमाण है उतने समय तक ब्रह्म में वास कर आनन्द भोग के फिर जन्म और मरण को अवश्य प्राप्त होते हैं।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितः
संस्कृतवाक्यप्रबोधनामको निबन्धः समाप्तः॥

प्रथम परिशिष्ट

[संस्कृतवाक्यप्रबोध के सम्बन्ध में श्री पं० अम्बिकादत्त व्यास ने अबोधनिवारण पुस्तक की रचना की थी। उसमें संस्कृतवाक्यप्रबोध पर आक्षेप किया था, जिसका उत्तर ऋषि दयानन्द ने लिखवाकर एक पण्डित के नाम से आर्यदर्पण मई १८८० के पृष्ठ १२० पर प्रकाशित कराया था। वह समाधान नीचे दिया जा रहा है।]

१—येन शरीराच्छ्रमो न क्रियते स नैव शरीरसुखमवाप्नोति।

पृ० ७। पं० १॥

यहां पण्डित अम्बिकादत्तजी लिखते हैं कि (शरीरात्) इस पद में पञ्चमी विभक्ति अशुद्ध है किन्तु (शरीरेण) ऐसा चाहिये। सो यह सन्देह कारक-व्यवस्था को ठीक-ठीक नहीं विचारने से हुआ है। देखो श्रम कहते हैं पुरुषार्थ करने को। उसका कर्त्ता जीवात्मा और शरीर आश्रय रहता है। क्योंकि **चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।** चेष्टा अर्थात् क्रिया का जो आश्रय है उसको शरीर कहते हैं। सो यहां **पञ्चमी विधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्।** अ० २।३।२८॥ इस वार्तिक से (आश्रित्य) इस ल्यबन्त क्रिया के लोप में पञ्मी विभक्ति हुई है। देखो, ऐसा वाक्यार्थ होगा। **येन पुरुषेण शरीरमाश्रित्य श्रमो न क्रियते**-इत्यादि। जो कहो कि ऐसा अर्थ भाषा में क्यों न किया तो संस्कृत के एक वाक्य का व्याख्यान भाषा में कई प्रकार से कर सकते हैं इसमें कुछ विवाद नहीं है। परन्तु यहां तो प्रयोजन यही है कि भाषा सुगम और थोड़ी हो ऐसा उल्था करना चाहिये। अब पण्डितजी के कहने से तो **प्रासादात्प्रेक्षते** इत्यादि महाभाष्यकार के प्रयोगों में भी पञ्चमी विभक्ति नहीं होनी चाहिये। और भी पण्डितजी क्या लिखते हैं कि **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्।** अ० २।३।२५॥ भला इसका यहाँ क्या प्रसंग था? सो जब स्वामीजी के मुख्य अभिप्राय को पण्डितजी न समझे तो जो सूत्र सामने आया लिख बैठे। भला शरीर शब्द को कोई थोड़ी विद्यावाला भी गुणवाचक कह सकता है कि जिससे गुणवाची मान के पञ्चमी विभक्ति हो जावे। और कारक विषय में ऐसा भी नियम है कि-**कारकं चेद्विजानीयाद्यां यां मन्येत सा भवेत्।** महाभाष्य १।४।५१॥ अर्थात् यह शब्द क्रिया के किस अंश को सिद्ध करता है ऐसे क्रियासाधक

कारक को जान के जिस-जिस विभक्ति से वह अर्थ प्रतीत हो सके वह विभक्ति हो जाती है। इन गूढ़ बातों को समझना सबका काम नहीं है ॥१ ॥

२—चक्रवर्तिशब्दस्य कः पदार्थः ? पृ० ११ पं० ५ ॥

यहां पण्डितजी लिखते हैं कि चक्रवर्ति शब्द का क्या अर्थ है इसकी संस्कृत यही होगी। इनको भाषा का भी बोध है जैसा विदित हो गया। भला संस्कृत शब्द को स्त्रीलिंग पण्डितजी ने किस व्याकरण से किया। यह संस्कृत प्राचीन ऋषि-मुनियों के अनुकूल है, इसमें कुछ दोष नहीं। देखो, महाभाष्य में लिखा है कि **अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः ?** अ० १। पाद ११। आह्निक १॥ इसका क्या यह अर्थ नहीं है कि सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है? बड़े आश्चर्य की बात है कि प्राचीन ग्रन्थों को विना देखे दोष देने लगते हैं। अब पण्डितजी का लगाया दोष कुछ स्वामीजी को ही लगा हो सो नहीं किन्तु इन्होंने तो सब ऋषि-मुनियों को दोष लगा दिया और **सापेक्षमसमर्थं भवतीति।** महाभाष्य २।१।१॥ यह दोष यहाँ कभी नहीं आता क्योंकि यहां एक देश के साथ अन्वय नहीं है। और इसी प्रकार **सभा शब्दस्य कः पदार्थः**? इसको शुद्ध समझ लेना ॥२॥

३—अस्मिन् समये तु मम सामर्थ्यं नास्ति षण्मासानन्तरं दास्यामि।

(महा० २।१।१) पृ० १९। २४॥

यहां 'षण्मास' शब्द में पण्डितजी को सन्देह हुआ है कि यहाँ **द्विगोः।** अष्टा० ४।१।२१॥ इस सूत्र से ङीप् होके षण्मासी शुद्ध होता है। इस भ्रम का मूल यही है कि उनको व्याकरण के सब सूत्र विदित नहीं हैं। पण्डितजी के कथनानुसार यदि स्वामीजी का लेख अशुद्ध भी माना जावे तो फिर पाणिनि मुनि का सूत्र भी अशुद्ध मानना चाहिये। सू० **षण्मासाण्यच्च।** अ० ५।१।८३॥ यहां पण्डितजी के मतानुसार षण्मास्याण्यच्च इस प्रकार का सूत्र होना चाहिये। अब देखिये पाणिनीय सूत्र को यदि पण्डितजी जानते होते तो स्वामीजी के लेख को मिथ्या दोष क्यों लगाते और छोटे-छोटे बालक कि जो अष्टाध्यायी के सूत्र भी घोखते हैं वे भी जानते हैं कि यह सूत्र ऐसा है। इस प्रकार के बहुत से प्रयोग व्याकरण आदि शिष्ट जनों के ग्रन्थों में आते हैं तो क्या सब अशुद्ध हैं? अब रहा कि ङीप् क्यों नहीं होता तो **पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः।** महा० २/४/१७॥ यह वार्तिक इसीलिये है। पात्रादि आकृतिगण है। इसका परिगणन कहीं नहीं किया कि इतने ही पात्रादि शब्द हैं। महाभाष्यकार

ने तो इस वार्तिक पर उदाहरण मात्र दिया है। अब इसी प्रकार '**द्विवर्षानन्तरम्**' इसको भी शुद्ध समझ लेना चाहिये। पाणिनिजी महाराज ने अपने सूत्र में '**षण्मास**' शब्द को पढ़ा है। इससे यह भी उनका उपदेश प्रसिद्ध विदित होता है कि '**षण्मास**' आदि शब्दों में ङीप् कदापि नहीं होता और कोई किया चाहे तो अशुद्ध ही है॥३॥

४—संस्कृतवाक्यप्रबोध में रही एक अशुद्धि का संशोधन अशुद्धि के निर्देशक श्री बारहट किशनजी के पत्र के उत्तर में महर्षि दयानन्द द्वारा लिखे गये चैत्र कृष्ण १० सोमवार संवत् १९३९ के पत्र में इस प्रकार लिखा है—

बारहट श्री कृशनजी आनन्दित रहो।

विदित हो कि पत्र आपका आया समाचार विदित हुए। संस्कृत वाक्य प्रबोध के विषय में जो तुमने लिखा सो छापे वालों की भूल में छप गया है। वहाँ **(एकत्रैकाङ्गुष्ठ एकत्र चतुरङ्गुलयः)** ऐसा चाहिये, सो सुधार लीजिये।

पत्र व्यवहार पृष्ठ ४०१

संस्कृत वाक्य प्रबोध में रही अशुद्धियों के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द द्वारा मुंशी बखतावर सिंह जो श्रा० शु० १३ बुध सं० १९३७ (सन् १८ अगस्त १८८०) को लिखे गये पत्र का निम्नलिखित अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है—

"जो संस्कतवाक्यप्रबोध पर पुस्तक छपाया है सो बहुत ठिकानों में उनका लेख अशुद्ध है। और कै एक ठिकानों में संस्कृत वाक्य प्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के कारण तीन हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन के आधीन शोधने का होना और मेरा न देखना न प्रूफ को शोधना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना, लैंपों की न्यूनता होना। इसके उत्तर में जो-जो उनकी सच्ची बात है सो-सो शोधक और छापा का दोष रहेगा। इसके खंडन पर भीमसेन का नाम मत लिखना, किन्तु पंडित ज्वालादत्त के नाम से छापना। इस पर आगे के आर्य्यदर्पण में छापने के लिये पं० ज्वा० भी लिखेगा। भीमसेन भी लिखो, परन्तु उसका नाम उसपर छपवाने से उसके पढ़ने में वहाँ के लोग बहुत विरोध करेंगे।"

द्वितीय परिशिष्ट

अबोधनिवारण के अवशिष्ट आक्षेपों का उत्तर

लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक

पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा ''अबोध निवारण'' में उपस्थापित सभी आपेक्षों का क्रमश: उत्तर दिया जाता है—

१—(आक्षेप) पृष्ठ १५ पंक्ति २[१]—

(शाकमानयनाय) प्रश्न तो यह है कि ''स क्व गत:'' और उत्तर **शाकमानयनाय**—भला यह भी क्या छापे वाले की ही अशुद्धि है? कदाचित् स्वामी जी ने शाकमानेतुम् लिखा हो और उसी को उसने बढ़ा के **शाकमानयनाय** बना लिया हो क्या इसका कोई भी विश्वास करेगा? यहां ''**कर्तृकर्मणो: कृति**'' २.३.६५ इस सूत्र से '**शाकस्यानयनाय**' होना चाहिए॥

समाधान—इस विषय में प्रथम हम निरुक्तकार का ऐसा पाठ उद्‌धृत करते हैं, जिसमें **शाकमानयनाय** के समान ही प्रयोग किया है—

ततो वय: प्रपतान् पूरुषाद:......ततो वय: प्रपतन्ति पुरुषान् अदनाय।

निरुक्त २.६॥

यहां भी **अदनाय** ल्युडन्त कृदन्त के योग में षष्ठी का प्रयोग न करके द्वितीया का प्रयोग किया है। जो कि **शाकमानयनाय** के ठीक अनुरूप है। यदि महर्षि दयानन्द का प्रयोग अशुद्ध है तो निरुक्तकार यास्काचार्य का भी **पुरुषान् अदनाय** प्रयोग अशुद्ध मानना होगा।

स्वयं सूत्रकार पाणिनि ने भी **तद् अर्हम्** (५.१.११७) सूत्र में **अर्हम्** कृत् के योग में **तद्** द्वितीयान्त पद का ही निर्देश किया है। यदि सूत्रकार का प्रयोग भी अशुद्ध माना जाए तो **घोटकारूढस्य घोटकविस्मृति:** न्याय सूत्रकार के विषय में चरितार्थ होगा। सूत्रकार दूसरों को तो साधु प्रयोग का ज्ञान कराने के लिये शास्त्र बनावे और स्वयं अशुद्ध प्रयोग करे, ऐसी कल्पना भला कौन सचेतस्क पुरुष कर सकता है।

१. पृष्ठ और पङ्क्ति की संख्या का का निर्देश प्रथम संस्करण के अनुसार है। इस संस्करण में पृष्ठ २५९ पर गमनागमनप्रकरण १ की संख्या ६ पर यह पाठ है।

अब हम व्याकरण शास्त्र के अनुसार **शाकमानयनाय, पुरुषान् अदनाय** प्रयोगों का साधुत्व दर्शाते हैं—

वैयाकरणों का मत है कि **षष्ठी शेषे** (अ० २.३.५०) सूत्रस्थ शेष की अनुवृत्ति आपादपरिसमाप्ति जाती है। इस अनुवृत्ति से जब **कर्तृकर्मणो: कृति** (अ० २.३.६५) सूत्र में कर्तृ-कर्म के शेषत्व की विवक्षा होगी तभी कर्तृ-कर्म में षष्ठी होगी। शेषत्व की विवक्षा न होने से कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होगा।

दुर्घटवृत्तिकार ने भी **रक्षोगणक्षिप्नुमबिक्षतात्मा** तथा **धायैरामोद-मुत्तमम्** प्रयोगों में कृत् योग में कर्म में प्रयुक्त द्वितीया की उपपत्ति के लिये **तदर्हम्** (अ० ५.२.११७) के ज्ञापक के **कर्तृकर्मणो: कृति** (अ० २.३.६५) के नियम की अनित्यता ज्ञापित की है। द्रष्टव्य दुर्घटवृत्ति (अ० २.३.६५)॥

इस विवेचना से स्पष्ट है कि अम्बिकादत्त व्यास को न प्राचीन शिष्ट प्रयोगों का ज्ञान है और न आधुनिक काव्य ग्रन्थों का। व्याकरण ज्ञान में तो वह सर्वथा शून्य है यह ऋषि दयानन्द सरस्वती के द्वारा समाहित षण्मास शब्द के समाधान तथा हमारी इस विवेचना से अत्यन्त स्पष्ट है। ऐसा ही अपने अवैयाकरणत्व अथवा वैयाकरणखसूचीत्व का प्रदर्शन सर्वत्र किया है।

२—(आक्षेप) पृ० १८ पंक्ति २[२]—**(अस्मिन् समये तु मम सामर्थ्यं नास्ति षण्मासानन्तरं दास्यामि)** इस वाक्य में ''**षण्मासानन्तरं**'' के स्थान में **षण्मास्यनन्तरं** होना चाहिए क्योंकि ''**द्विगो:**'' सूत्र से **षण्मासी** सिद्ध होगा न कि **षण्मास।** और **पात्रादि गण** में **षण्मास** शब्द का पाठ ही नहीं है जिसमें पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम् इत्यादि की तरह से सिद्ध हो॥

समाधान—इस आक्षेप का यथोचित उत्तर ऋषि दयानन्द ने **षण्मासाण्ण्यच्च** (अ० ५.३.८३) के पाणिनीय सूत्र का निर्देश करके दे दिया है। उससे स्पष्ट है कि पाणिनि के मत में **षण्मासी** प्रयोग जैसा कि पं० अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा है, नहीं बनता।

अब हम **षण्मास** शब्द, जिसे पं० अम्बिकादत्त व्यास व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग मानते हैं, के साधुत्व प्रदर्शन के लिए प्राचीन आर्षग्रन्थों से कुछ प्रयोग उपस्थित करते हैं—

२. इस संस्करण में पृष्ठ २६२ पर साक्षिप्रकरण में संख्या १२ पर।

षण्मासाः—बौधायन धर्म सूत्र ३.१०.१६॥

षण्मासान्—बौधायन धर्म सूत्र २.४.८; ३.९.१७॥

षण्मासान्नित्ययुक्तस्य—महाभारत शान्ति पर्व २४०.३२॥

षण्मासे षण्मासे...। पञ्चतन्त्र, काकोलूकीय कथा ६, पं० गुरुप्रसाद संम्पादित काशी संस्करण पृष्ठ ६५७।

यद्यहं षण्मासाभ्यन्तर एव तव पुत्रान् नीतिशास्त्रं प्रत्यनन्यसदृशान् करोमि....। तन्त्राख्यायिका, पृष्ठ २।

इसी प्रकार महाभारत में अन्यत्र भी बहुत स्थानों पर पुंल्लिङ्ग **षण्मास** शब्द का प्रयोग मिलता है। हमें प्राचीन आर्ष वाङ्मय में कहीं **षण्मासी** शब्द का प्रयोग नहीं मिला। इसलिए **पात्रादि** गण में चाहे षण्मास शब्द का पाठ न हो पुनरपि सूत्रकार पाणिनि के एवं प्राचीन शिष्ट प्रयोगों से स्पष्ट है कि **षण्मास** प्रयोग ही साधु है। पं० अम्बिकादत्त व्यास का दर्शाया **षण्मासी** प्रयोग साधु नहीं है। वैयाकरण सम्प्रदाय में **पात्रादि** गण **आकृतिगण** माना जाता है। अतः साक्षात् पाठ न होने पर भी शिष्ट प्रयोगों के अनुसार **षण्मास** का प्रयोग उस में मानना चाहिए।

बौधायन धर्म सूत्र में २.९.७ में प्रयुक्त **षण्मुखम्** प्रयोग भी यहां द्रष्टव्य है।

३. (आक्षेप) पृष्ठ २१ पं० ८[३]—**(भवान् परेद्युः क्व गन्तासि)** यहां तो स्वामी जी ने बड़ा आनन्द दिखलाया क्या बात है इधर **भवान्** उधर **गन्तासि** यहां **''भवान् परेद्युः क्व गन्ता''** लिखना था।

समाधान—यह साधारण अशुद्धि है इस जैसे अशुद्ध प्रयोगों के सम्बन्ध में हमें ऋषि दयानन्द का वह पत्र ध्यान से पढ़ना चाहिए, जिसमें उन्होंने आश्विन शुक्ला १३ बुधवार सं० १९३७ के दिन प्रेस के तात्कालिक मैनेजर बख्तावरसिंह को पत्र लिखा था—

**जो संस्कृतवाक्यप्रबोध पर [काशी के पण्डितों ने] पुस्तक छपवाया है सो बहुत ठिकानों उनका लेख अशुद्ध है और कै एक ठिकानों में संस्कृतवाक्य-प्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि

३. यह पाठ इस संस्करण में पृष्ठ २६५ पर गमनागमनप्रकरण २ की संख्या ७ के स्थान पर अभी तक छपता आ रहा था। परन्तु मूल में वह पाठ है जो हमने इस संस्करण में छापा है।

के कारण** तीन **हैं,** एक—**शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना,** दूसरा—**भीमसेन के आधीन शोधन का होना और मेरा न देखना न प्रूफ को शोधना,** तीसरा—**छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना, लैम्पों की न्यूनता होनी। इसके उत्तर में जो-जो उनकी सच्ची बात है सो-सो शोधक और छापा का दोष रहेगा।**

पत्रव्यवहार पृ० २२३[४]

इस पत्र से ऋषि दयानन्द की सत्यप्रियता एवं भूल-स्वीकृति का विद्वज्जनोचित उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। इसके अनुसार यथोचित संशोधन अगले संस्करण में कर दिया गया है।

हम दुर्जनसन्तोष न्याय से महाभारत से इस प्रकार कुछ उदाहरण भी नीचे प्रस्तुत करते हैं, जिन में संस्कृतवाक्यप्रबोध के समान ही पुरुष भेद मिलता है। यथा—

यूयं.........अपराध्येयुः। महाभारत वनपर्व २३९.१०॥

वयं.........प्रतिपेदिरे। महाभारत शान्तिपर्व ३३६.३१॥

ददृशिरे वयम्। महाभारत शान्तिपर्व ३३६.३५॥

हमारा अपना तो यही मत है कि इस प्रकार के पुरुषभेद के प्रयोग भी संस्कृत भाषा एवं व्याकरण शास्त्र के अनुसार ठीक हैं, परन्तु ऋषि ने जब इन्हें अशुद्ध मान लिया या प्रारम्भिक जनों के शिक्षण के लिए इन्हें ठीक न माना, तो इस प्रकार के शब्दों का साधुत्व दर्शाना ऋषि के प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता। अतः हमने व्याकरण शास्त्र की रीति से इस के साधुत्व दर्शाने की चेष्टा नहीं की।

४. (आक्षेप) पृष्ठ २२ पं० ९[५]—(इदानीं शीतं **निवृत्योष्णसमय** आगतः)—इस वाक्य में **निवृत्य** की जगह **निवर्त्य** होना चाहिये। यदि यह कहो कि हम णिजन्त न रख के **निवृत्य** ही बनावेंगे तो अर्थाशुद्धि होगी। पाणिनि महर्षि कहते हैं कि **'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा'** (३.४.२१) इसलिए पूर्वोक्त वाक्य में निवृत्ति का कर्त्ता तो भया शीत, और आगमन का उष्ण इसमें यहां क्रिया की एक कर्तृकता नहीं है इसी कारण दूषित है।

४. यह पृष्ठ संख्या पत्र व्यवहार के प्रथम संस्करण की है।

५. इस संस्करण में पृष्ठ २६६ पर मिश्रितप्रकरण (२) की संख्या १ पर।

समाधान—यहां **शीतं निवृत्तम्** यह अभिप्राय इष्ट है, जैसा कि भाषानुवाद से स्पष्ट है। यह संशोधन भी अगले संस्करण में यथोचित कर दिया गया है। यदि पण्डित जी का कथन माना जाये तो **निवृत्य** प्रयोग भी **निवर्त्य** के स्थान में व्याकरणानुसार शुद्ध है। क्योंकि ग्रन्थकार का ऐसा भाव नहीं है। वैयाकरण सम्प्रदाय में **अन्तर्भावित ण्यर्थ** मान कर विना णिच् के भी ण्यर्थ-विशिष्ट अर्थ बहुत स्वीकार किया जाता है। वैयाकरण सम्प्रदाय में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

वान्ति पर्णशुषो वाता वान्ति पर्णमुचोऽपरे।
ततः पर्णरुहो वान्ति ततो देवः प्रवर्षति॥

उज्ज्वलदत्तकृता उणादि टीका[६] पृष्ठ ६९।

यहां **पर्णशुष्, पर्णमुच् पर्णरुह्** शब्दों में अन्तर्भावित ण्यर्थ ही है अथवा यहां अविहित **णि** का लुक् है। इस विषय में महाभाष्य ७.४.६५ तथा उसकी टीकाएं भी द्रष्टव्य हैं। **णि** का अविहित लोप मानने की अपेक्षा अन्तर्णीत ण्यर्थ मानना अधिक सरल एवं युक्ततर है।

५. (आक्षेप) पृष्ठ २५ पं० ६[७]—**(पश्य तव मम च कीदृशानि पुष्टान्यपत्यानि द्विवर्षानन्तरं जायन्ते)** इस वाक्य में भी ''**द्विगोः**'' सूत्र से **द्विवर्षी** सिद्ध होगा।

समाधान—इस पद का साधुत्व पूर्व प्रदर्शित **षण्मास** शब्द के समान जानना चाहिये।

६. (आक्षेप) पृष्ठ २८ पं० १३[८]—**(त्वमद्य प्रसन्नमुखो दृश्यते किमत्र कारणम्)** क्या प्रसन्नमुख हो के स्वामी जी ने लिखा है, भला हम उनसे पूछते हैं कि **त्वम्** के संग में **दृश्यते** का प्रयोग कैसे हुआ? मेरे ज्ञान में तो प्रथम जो **गन्तासि** की अशुद्धि हो गई है उसी की यहां स्वामी जी ने **दृश्यते** से पूर्त्ति करी॥

समाधान—यहां लेखक अथवा मुद्रक प्रमाद ही है। पूर्व संख्या ३ के सम्बन्ध में ऋषि का पत्र जो उद्धृत किया है उसके अनुसार यहां भी पाठ शोधन अगले संस्करण में कर दिया गया है। इसके साथ ही संख्या ३ के प्रकरण में निर्दिष्ट महाभारत के वचनों से भी तुलना करनी चाहिये।

७. (आक्षेप) पृष्ठ ३२ पं० २[९]—**तत्र या धेनवस्ताभ्योऽर्धं दुग्धं त्वया दोहित्वा स्वामिभ्यो देयमर्धं च वत्सेभ्यः पाययितव्यम्)**। वाह जी स्वामी जी बालकों की शिक्षा के लिए तो पुस्तक बनाया सो ऐसी शिक्षा दी कि **दुग्ध्वा** का **दोहित्वा** सिखाया। यदि **णिजन्त** रखिये तो भी **दोहयित्वा** होगा तथापि अर्थ संगत न होगा।

समाधान—साधारण जनों की दृष्टि से इस अशुद्धि का भी अगले संस्करण में संशोधन कर दिया गया है। वस्तुतः यह प्रयोग भी **आगमशास्त्रमनित्यम्** (परिभाषेन्दुशेखर ९४) **अनित्यमागमशासनम्** (सीरदेव परिभाषावृत्ति पृष्ठ १०१) नियम के अनुसार **इट्** सम्बन्धी विधि वा निषेध को अनित्य मानने से सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही अनिट् धातुओं के सेट् प्रयोग अन्यत्र भी मिलते हैं। यथा—**आकर्षितस्य** (यजुर्वेद भाष्य २.१ के पदार्थ में) **आकर्षितम्** (यजुर्वेदभाष्य २.१६ के भावार्थ में), **प्रक्षेपितुम्** (यजुर्वेदभाष्य २.१ के पदार्थ में) **भजितुम्** (यजुर्वेदभाष्य २.२० के पदार्थ) आदि में मिलते हैं।

क्रियारत्नसमुच्चय (हैम धातु व्याख्या) में लिखा है—**सर्वधातूनां बहुलं वेड् इत्यन्ये** (पृ० ६६)। महाभारत शल्यपर्व ४.४९ का वचन है—

नातिक्रमिष्यते कृष्णो वचनं कौरवस्य तु।

यहां **स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते** (अष्टाध्यायी ७.२.३६) से इट् का निषेध प्राप्त है परन्तु सेट् का प्रयोग किया है।

पत्लृ धातु में **भरज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणाम्** (वार्तिक ७.२.४९) से इट् के विकल्प का विधान होने से **क्त** में **यस्य विभाषा** (अ० ७.२.१५) सूत्र से नित्य इट् का निषेध प्राप्त होने पर भी पाणिनि ने **द्वितीया श्रितातीतपतित०** (अ० २.१.२४) में पतित में इडागम का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि इट् के निषेध की विधि अनित्य है।

८. (आक्षेप) पृष्ठ ३२ पं० १४[१०]—**(श्रोतव्यं हरयः कीदृशं हर्षन्ति)**

६. यह दशपादी उणादि वृत्ति पृष्ठ ३१२ पर भी उद्धृत है वहां द्वितीय चरण में 'वान्ति' के स्थान में 'ततः' पाठ है।

७. इस संस्करण के पृष्ठ २६९ पर ननन्दृभ्रातृ० प्रकरण में संख्या १० पर।

८. इस संस्करण के पृष्ठ २७२ पर शरीरावयवप्रकरण में संख्या ३०। मूलपाण्डुलिपि में पृष्ठ २६ पर 'दृश्यसे' ही पाठ है। अतः प्रथम संस्करण में मुद्रण की भूल है। —सम्पादक

९. इस संस्करण के पृष्ठ २७६ पर ग्राम्यपशुप्रकरण में संख्या २।

१०. इस संस्करण के पृष्ठ २७७ पर ग्राम्यपशुप्रकरण में संख्या ८।

वाह क्या बात है स्वामी जी जैसा आपका पद ज्ञान है वैसा ही आपका अर्थ ज्ञान है। **ह्रेष अव्यक्ते शब्दे** धातु का घोड़े के हिनहिनाने के अर्थ में **ह्रेषन्ते** का प्रयोग होता है सो आपने **हर्षन्ति** लिखा।

समाधान—यहां मुद्रण दोष है। अगले संस्करण में **ह्रेषन्ते** ठीक कर दिया गया है।

९. (आक्षेप) पृष्ठ ३४ पं० १८[११]—**(द्रष्टव्यं हस्तिसिंहयो रणम्)** इस वाक्य में "**येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः**" २.४.९ इस सूत्र से नित्य एकवद्भाव होना चाहिए। अतएव **हस्तिसिंहस्य** हुआ। इसी पृष्ठ की २३ वीं पंक्ति में भी वही दशा है, **सिंहवराहयोः** लिखा है वहां भी **सिंहवराहस्य** होगा।

समाधान—येषां च विरोधः शाश्वतिकः (अ० २.४.९) में **येषाम्** बहुत्व का निर्देश होने से जहां परस्पर विरोधी बहुत प्राणियों का जातिगत विरोध द्योत्य होता है वहीं एकवद्भाव होता है, न कि व्यक्ति विशेष का विरोध द्योत्य होने पर। यद्यपि उपर्युक्त **हस्तिसिंहयोः** में निर्दिष्ट हस्ती और सिंह का स्वाभाविक वैर है, तथापि ऋषि दयानन्द के **हस्तिसिंहयोः** वचन में एक विशेष हस्ती और एक विशेष सिंह, जिनकी ओर संकेत कर के कहा जा रहा है, उन दो पशुओं के रण=युद्ध की ओर संकेत होने से यहां **हस्तिसिंहयोः** में एकवद्भाव प्राप्त ही नहीं है। अतः ग्रन्थकार का द्विवचन का निर्देश सर्वथा साधु है। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने पाणिनि के उक्त सूत्र का रहस्य समझा ही नहीं। प्रतीत होता है पण्डित जी की गति केवल साहित्य में ही विशेष थी, उन्हें व्याकरण का विशेष ज्ञान नहीं था; अन्यथा वे ऐसा भ्रमपूर्ण आक्षेप न करते।

इसके लिये हम महाभाष्य का एक पाठ उद्धृत करते हैं। महाभाष्य १.२.३२ में लिखा है—**क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते कियत् क्षीरं कियदुदकम् इति।** इस पर कैयट लिखता है—**नियतव्यक्ति-विवक्षायां जातिपरत्वाभावाद् एकवद्भावो न कृतः।** यही समाधान **सिंहवराहयोः हस्तिसिंहयोः** में जानना चाहिये।

१०. (आक्षेप) पृष्ठ ३४ पं० २४[१२]—**(शूकरा इक्षुक्षेत्राणि भक्षित्वा**

११. इस संस्करण में पृष्ठ २७८ पर वन्यपशुप्रकरण की संख्या ५।

१२. इस संस्करण में पृष्ठ २७९ पर वन्यपशुप्रकरण की संख्या १०।

विनाशयन्ति) क्या भक्ष धातु को भी आधृषीय समझ लिया, कभी लिखते हो **भक्षित्वा** और कभी **भक्षयित्वा** वाह इसी का नाम तो पाण्डित्य है। इतना भी बोध नहीं है कि सदैव ही **भक्षयित्वा** होता है अहा हा!!!

समाधान—श्री स्वामी दयानन्द ने तो **भक्ष** को आधृषीय नहीं समझा उन्होंने तो **भ्वादिगण** में पठित भक्ष का प्रयोग लिखा है। परन्तु पण्डित जी ही अपनी पढ़ी सिद्धान्त कौमुदी को भूल गये। यदि कौमुदी स्मरण होती तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि वहां **भ्लक्ष** धातु के प्रसङ्ग में **भक्ष इति मैत्रेयः** भी लिखा है।

यदि कहो कि कौमुदीकार ने तो भक्ष को मैत्रेय के नाम से पाठान्तर रूप में उद्धृत किया है तो भी उन्हें जानना चाहिए कि पाठान्तर में पठित सभी धातुओं को कौमुदीकार प्रमाण मानता है। यदि प्रमाण न मानता तो उसका खण्डन करता।

इतना ही नहीं **भक्ष** धातु का भ्वादिगण में पाठ मैत्रेय के अतिरिक्त चान्द्र कातन्त्र, शाकटायन, हैम प्रभृति अनेक व्याकरणों में माना गया है। वैदिक वाङ्मय में भक्ष धातु के भ्वादिगणानुसारी बहुत से प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार अनेक वैयाकरणों एवं वैदिक वाङ्मय के प्रवक्ताओं के मत में भक्ष का भ्वादिगण में निर्बाध पाठ माना गया है। अतः ऋषि दयानन्द ने भक्ष को न **आधृषीय** माना है और न उससे णिच् विकल्प किया है। ऋषि दयानन्द के **भक्षित्वा** और **भक्षयित्वा** प्रयोग क्रमशः भ्वादिगण एवं चुरादिगण पठित धातुओं के हैं। दोनों ही शुद्ध हैं।

११. (आक्षेप) पृष्ठ ३५ पंक्ति २[१३]—**(अयं रुरुर्वृषभवत् स्थूलोऽस्ति)** यहां वृषभवत् का अन्वय स्थूल संग है और ऐसे अर्थ में पाणिनीय के अनुसार कदापि **वति** प्रत्यय न होगा क्योंकि ऐसा सूत्र है कि "**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः**" ५.१.११५ जिससे क्रिया योग में **वति** प्रत्यय होता है जैसे **ब्राह्मणवदधीते** और गुण योग में नहीं होता जैसे यह कहना सर्वथा अशुद्ध है कि **पितृवत् स्थूलः॥**

समाधान—नीति शास्त्रकारों का वचन है **प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेत्।** यहां भी मित्र द्रव्य है न कि क्रिया। न्यासकार ने

१३. इस संस्करण में पृष्ठ २७९ पर वन्यपशुप्रकरण की संख्या १२।

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (अ० १.१.५६) की व्याख्या में वही प्रयोग किया है जिसके विषय में पण्डित जी लिखते हैं—"जैसा यह कहना अशुद्ध है कि **पितृवत् स्थूलः**"। न्यासकार का पाठ है—यथा **पितृवत् स्थूल इत्युक्ते अन्तरेणापि अत्र पुत्रग्रहणं सम्बन्धिशब्दत्वात् पुत्र इति गम्यते** (पृ० १०३, राजशाही संस्करण)। न्यासकार के इस प्रयोग में जैसे **वति** प्रत्यय होता है वैसे ही ऋषि दयानन्द के **रुरुर्वृषभवत् स्थूलः** में समझना चाहिये।

दुर्घटवृत्तिकार ने **पितृवत् स्थूलः पुत्रः** की व्याख्या में लिखा है—**स्थूलशब्दोऽयं धर्मप्राधान्यात् स्थौल्यवृत्तिः। एवं च 'तत्र तस्येव'** (अ० ५.१.११६) इति **वतिः।......पितरि यत्स्थौल्यं तत् पुत्र इत्यर्थः। यद्वा स्थूल इति विशेषणेन हेतुनिर्देशः। स्थौल्याद्धेतोर्गमनादिना पित्रा तुल्य इति।** अ० ५.१.११५॥

अर्थात् **पितृवत् स्थूलः पुत्रः** में स्थूल शब्द धर्म (स्थूलता) प्रधान स्थौल्यार्थक है अतः यहां **तत्र तस्येव** (पा० ५.१.११६) से **वति** होता है। पिता में जो स्थौल्य है वही पुत्र में है यह वाक्यार्थ है। अथवा स्थूल यह विशेषण रूप से हेतु निर्देशक है। स्थौल्य के हेतु से जैसा पिता का गमनादि होता है वैसा ही पुत्र का है।

यही दोनों वाक्यार्थ ऋषि दयानन्द के वाक्य में भी अभिप्रेत हैं। एक अभिप्राय होगा—जैसे वृषभ में स्थूलता है वैसी ही **रुरु** में भी है। दूसरा अभिप्राय होगा—जैसे स्थूलताहेतुक **वृषभ** की गमनादि क्रिया होती है वैसी ही **रुरु** की भी है।

ऊपर के प्रमाण से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द का **अयं रुरुर्वृषभवत् स्थूलः** सर्वथा शुद्ध है। वाक्यार्थ बोध न होने से अथवा संस्कृत वाक्य विन्यास की शिष्ट शैली का ज्ञान न होने से पण्डित जी को भ्रान्ति हुई है।

१२. (आक्षेप) पृष्ठ ३६ पं० १५[१४]—"**पश्याहिनकुलयोः संग्रामो वर्तते**" यह वैसी ही अशुद्धि है जैसी हम पहिले ३४ पृष्ठ की १८ पंक्ति में लिख चुके हैं।

समाधान—इसी प्रकार के प्रयोग का उत्तर हम आक्षेप ९ के उत्तर में दे चुके हैं।

---

१४. इस संस्करण में पृष्ठ २८० पर तिर्यग्जन्तुप्रकरण की संख्या ४।

१३. (आक्षेप) पृष्ठ ३६ पं० १९[१५]—"**मक्षिकां भक्षित्वा वमनं प्रजायते**" पुनः वही अशुद्धि है जो ३४ पृष्ठ में है। इससे निश्चय होता हे कि यह छापे की भूल नहीं है परन्तु स्वामी जी का ज्ञान ही ऐसा है।

समाधान—यही आक्षेप संख्या १० में भी किया है अतः इसका समाधान भी उसी के समान है।

१४. (आक्षेप) पृष्ठ ३८ पं० १३[१६]—"**भोस्तक्षन्.....रचित्वा दीयन्ताम्**" भला **रचित्वा** कैसे हुआ? क्या **आधृषीय** में इसका पाठ है? न होगा तो चिन्ता क्या है, स्वामी जी कह देंगे कि तुम क्या जानों।

समाधान—इसे अगले संस्करण में ठीक कर दिया गया है।

१५. (आक्षेप) पृष्ठ ४१ पं० २२[१७]—"**विक्रीणामि**" वाह वाह अलौकिक पाण्डित्य है। स्वामी जी ने **क्री** धातु को **ञित्** समझ के धड़ाके से **विक्रीणामि** लिख मारा। ये तो "विद्वान्" हैं इनको किस बात का डर है। "**परिव्यवेभ्यः क्रियः**" १.३.१८। पाणिनि जी के इस सूत्रानुसार **विक्रीणे** होना चाहिए और कदापि परस्मैपद न होगा।

समाधान—स्वामी जी तो विद्वान् न सही, परन्तु पण्डित जी तो अपने आप को विद्वान् मानते हैं, फिर भी पण्डित जी अपने अज्ञान को नहीं देखते पाणिनि का सूत्र है—**परिव्यवेभ्यः क्रियः** (अ० १.३.१८) यहां **परि-वि-अव** उपसर्गों का द्वन्द्व समास है। **अल्पाच्तरम्** (अ० २.२.३८) के नियम से '**वि**' का पूर्व प्रयोग होना चाहिए। क्या पाणिनि भी यहां उक्त नियम को भूल गया? परन्तु बात ऐसी नहीं है। पाणिनि ने पूर्वनिपात नियम का व्यभिचार करके ज्ञापन किया है कि प्रकृत प्रकरणस्थ आत्मनेपद विधान अनित्य है (वैयाकरण अन्य स्थानों पर पूर्वनिपात नियम के व्यभिचार को ज्ञापक मानते हैं) अतः **विक्रीणामि** प्रयोग भी साधु है। क्रयविक्रयप्रकरण में **विक्रीणीते** प्रयोग भी मिलता है।

१६. (आक्षेप) पृष्ठ ४४ पं० १५[१८]—**(कपाटान् बध्नीहि**) ठीक है ठीक है, बहुत शुद्ध बोलें, किस व्याकरण से **बध्नीहि** साधा?॥ इतनी भी बुद्धि नहीं और शंकराचार्य बनने चले, दूसरों को कहते हैं कि अज्ञ

---

१५. इस संस्करण में पृष्ठ २८० पर तिर्यग्जन्तुप्रकरण संख्या ८।
१६. इस संस्करण में पृष्ठ २८४ पर कारुप्रकरण संख्या १।
१७. इस संस्करण में पृष्ठ २८५ पर अयस्कारप्रकरण संख्या ४।
१८. इस संस्करण में पृष्ठ २८८ पर मिश्रितप्रकरण (३) की संख्या २९।

है और बोध नहीं है, आप ही को तो बड़ा बोध है॥ इसी विद्या और पाण्डित्य पर राजा शिवप्रसाद जी की निन्दा करते हो। आप को तो "**हलः श्नः शानज्झौ**" ३.१.८३ भी याद नहीं, बालकपन में क्या करते रहे? धातुरूपावली पढ़ी? यदि पढ़ते तो स्पष्ट ज्ञान होता कि **बधान** रूप होता है। कोई वैदिक प्रयोग तो नहीं याद पड़ा जो इस झोंक में ऐसा लिख गये?

समाधान—अगले संस्करण में इसे शुद्ध कर दिया है। वैसे '**बध्नीहि गां तात**' इत्यादि प्रयोगों में क्वचित् **शानच्** का अभाव देखा जाता है। **व्यत्ययो बहुलम्** (अ० ३.१.८५) का **बहुलम्** योगविभाग करके समस्त विकरण प्रत्ययों का व्यतिगमन होता है। इस कारण आर्ष प्रयोगों में बहुधा दृष्टविकरण प्रत्यय साधु माना जाता है।

रही राजा शिवप्रसाद ही की बात, उसके लिए राजा जी के निवेदन का समुचित उत्तर ऋषि दयानन्द ने **भ्रमोच्छेदन** ग्रन्थ में दिया है। अबोध निवारण के कर्त्ता ने राजा जी की प्रशंसा की है और राजा जी ने द्वितीय निवेदन के अन्त में (पृष्ठ १०) पर अबोध निवारण के प्रकाशक बाबू राम कृष्ण जी की।

उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः।
परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः।

यह उक्ति ही यहां चरितार्थ होती है।

१७. (आक्षेप) पृष्ठ ४४ पं० १९[१९]—**अर्थिप्रत्यर्थिनो राजगृहे युध्यतः** बड़ा आश्चर्य है कि आप इसके उलथे में लिखते हैं कि मुद्दई और मुद्दाले कचहरी में लड़ते हैं इस अभिप्राय से तो संस्कृत में **युध्येते** होना चाहिए (युध्यतः) तो भाव क्विबन्त युध शब्द से '**सुप आत्मनः क्यच्**' ३.१.८ इस सूत्र से **(आत्मनो युद्धमिच्छतीति) इच्छार्थे क्यच्** करने से कथञ्चित् सिद्ध हो सकता है, परन्तु यह तो अनुवादानुसार आपका अभिप्राय ही नहीं झलकता और यदि आप **अनुदात्तेत्लक्षण आत्मनेपद को अनित्य** समझ कर इसे सिद्ध करेंगे तो आप **एधति एधतः** भी लिख सकते हैं॥

समाधान—यह पाठ भी अगले संस्करण में यथोचित बना दिया है। परन्तु ग्रन्थकार का **युध्यतः** पाठ अशुद्ध नहीं है। **चक्षिङ्** के ङित्करण

१९. इस संस्करण में पृष्ठ २८८ पर मिश्रितप्रकरण (३) की संख्या ३२।

से अनुदात्तेत् लक्षण आत्मनेपद का जो अनित्यत्व ज्ञापित किया है, उसके व्यापकत्व को न समझ कर ही लेखक ने आक्षेप किया है। युध धातु के परस्मैपद के प्रयोग आर्ष वाङ्मय में बहुधा उपलब्ध होते हैं यथा—**युध्यति**—महाभारत शान्तिपर्व ९७.१७ (निदर्शनार्थ एक स्थान का ही निर्देश किया है) आपने हंसी में जो लिखा है कि 'अनुदात्तत्व लक्षण आत्मनेपद के अनित्यत्व से तो **एधति एधतः** भी लिख सकते हैं।' यह भी लेखक का अज्ञान है। **एध** के परस्मैपद के प्रयोग महाभारत में मिलते हैं। यथा—**एधन्ति**—महाभारत वनपर्व २४६.२२॥

अतः **युध्यतः** को अपशब्द बताना अबोधनिवारण के कर्त्ता का अपना अबोध प्रकट करना है।

परस्मैपदी धातु में आत्मनेपद के और आत्मनेपदी के परस्मैपद में बहुधा शिष्ट प्रयोग मिलते हैं। इसके लिये हमारा "ऋषि दयानन्द की पद प्रयोग शैली" ग्रन्थ पृष्ठ २६-२८ देखना चाहिये।

१८. (आक्षेप) पृष्ठ ४५ पं० २६[२०]—**(तेन चर्मासिभ्यां शतेन सह युद्धं कृतम्)** भला कहिए तो यहां कभी **चर्मासिभ्यां** हो सकता है? निस्सन्देह यह **द्वन्द्वे घि** इस सूत्र पर हरताल लगा दी जाए तो **चर्मासिभ्यां शशकपिभ्याम्** इत्यादि बहुत से नये शब्द सिद्ध हो जायं। ठीक ही है स्वामी जी ऐसे भारी प्रसिद्ध विद्वान् हैं। ये कोई भी प्रकरण ऐसा क्यों रहने देंगे जिसकी अशुद्धि का उदाहरण इनके ग्रन्थ में न मिले॥

समाधान—**चर्मासिभ्याम्** में **द्वन्द्वे घि** (अ० २.२.३२) के नियम का व्यत्यास दिखाया है। पर लेखक को पाणिनि का **इको गुणवृद्धी** (१.१.३) सूत्र ही स्मरण नहीं रहा। यदि स्मरण रहता तो वे **चर्मासिभ्याम्** को अशुद्ध न बताते या फिर पाणिनि से ही पूछते महाराज आपने हमें आदेश दिया कि द्वन्द्व समास में घि-संज्ञक का पूर्व प्रयोग किया जाये फिर अपने स्वयं उसका उल्लंघन क्यों किया। वस्तुतः सारा पूर्वनिपात प्रकरण प्रायिक है। पाणिनि ने स्वयं पचासों सूत्रों में इस प्रकरण के विपरीत प्रयोग किया है अतः **गुणवृद्धी** के समान **चर्मासिभ्याम्** प्रयोग साधु है।

१९. (आक्षेप) पृष्ठ ४६ पं० १[२१]—**(अतिथीन् सेवयसि न वा)**

२०. इस संस्करण में पृष्ठ २८९ पर मिश्रितप्रकरण (३) की संख्या ५५।
२१. इस संस्करण में पृष्ठ २८९ पर मिश्रितप्रकरण (३) की संख्या ५६।

मेरी तो अब लिखते लिखते लेखनी थक गई। इतने ही में समझ जाइये कि यदि सेवा करता है इस अनुवादाऽनुसार आपका अभिप्राय है तो **सेवसे** लिखना चाहिए। हां यदि सेवा कराता है यह अभिप्राय हो तो शुद्ध हो सकता है परन्तु आपके हिन्दी लेख के अनुसार यह अभिप्राय ही नहीं झलकता।

समाधान—**सेवयसि** में स्वार्थ में णिच् प्रत्यय है न कि हेतुमान् में। यथा **रामो राज्यमचीकरत्** (रामायण) में। धातुपाठ के नौ गणों में पठित सभी धातुओं से स्वार्थ में भी णिच् होता है इसमें सभी वैयाकरण समानरूप से सहमत हैं।

२०. (आक्षेप) पृष्ठ ४४ पं० ५[२२]—(**जलवायू शुद्धौ सेवनीयौ**) यहां भी **द्वन्द्वे घि** इस सूत्र के अनुसार (**वायुजले शुद्धे सेवनीये**) लिखना चाहिए इसको कै बेर चितावें॥

समाधान—इसका समाधान भी **चर्मासिभ्याम्** (आक्षेप १८) के समाधान में जो लिखा है उससे ही समझ लेना चाहिए।

२१. (आक्षेप) पृष्ठ ४७ पं० ९[२३]—**(ते का चिकीर्षाऽस्ति)** वाह! वाह!! वाह!!! इस वाक्य से तो दयानन्द जी की सभी कलई खुल गई। क्योंकि इनको यह भी नहीं मालूम कि सूत्रानुसार युष्मदस्मद् को कैसे स्थल में **ते मे** आदि-आदि आदेश होते हैं। देखिए अष्टाध्यायी में अ० ८ पा० १ सूत्र में **''पदात्'' एतदधिकारीय** अ० ८ पा० १। २२ **''तेमयावेकवचनस्य''** सूत्र से किसी पद से परे जो **तव** या **मम** उसी को **ते** और **मे** हो सकते हैं, स्वामी जी ने तो वाक्य के आरम्भ में ही झोंक दिया। अब यही समाधान बाकी रह गये हैं कि ये वैदिक शब्द हैं या **उपसर्ग विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपक निपात** हैं इत्यादि। उचित ही है स्वामी जी इन दिनों के वैदिक हैं, जो चाहें सो कहें।

समाधान—**ते का चिकीर्षाऽस्ति** वाक्य में वाक्यादि में प्रयुक्त **ते** पद विभक्तिप्रतिरूपक निपात है। जब आक्षेप्ता को स्वयं ज्ञात है कि चादिगण (१.४.५७) में **उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः** गणसूत्र पठित है तब हंसी उड़ाने का उन्हें क्या अधिकार है। यदि वे कहें

२२. इस संस्करण में पृष्ठ २९० पर मिश्रितप्रकरण (३) की संख्या ७१।

२३. इस संस्करण में पृष्ठ २९० पर मिश्रितप्रकरण (३) की संख्या ७४।

कि इस सूत्र के द्वारा उन्हीं विभक्तिप्रतिरूप (विभक्त्यन्तसदृश) शब्दों की निपात संज्ञा होती है जो व्यवहार में आते हैं तो इस विषय में हमारा कहना है कि **ते मे** विभक्तिप्रतिरूपक निपात वैयाकरणों द्वारा साक्षात् स्वीकृत हैं। इसके दो साक्षात् प्रमाण उपस्थित करते हैं—

हैम व्याकरण का सूत्र है—**विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः** (१.१.३३) इसकी बृहद्वृत्ति में लिखा है—**ते मे चिराय अह्नाय....एते प्रथमादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः।** इसके बृहन्न्यास में हेमचन्द्राचार्य ने स्पष्ट लिखा है **ते प्रभृतयश्चत्वारश्चतुर्थ्यन्तप्रतिरूपकाः।** (बृहद्वृत्ति-बृहन्न्यास-लघुन्यास संवलिता, भाग १ पृष्ठ ५६)

धाराधीश भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण का सूत्र है—**अहं शुभं कृतं पर्याप्तं येन तेन चिरेणान्तरेण ते मे चिराय अह्नाय... सुप्प्रतिरूपाः।** १.१.१२४॥

इस सूत्र की दण्डनाथकृत हृदयहारिणी टीका में लिखा है—**ते इति त्वयार्थे....श्रुतं ते राज शार्दूल। मे मयार्थे—श्रुतं मे भरतर्षभ!** भाग १ पृष्ठ ३८॥

व्याकरण के उपर्युक्त दो प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध है कि **ते मे** विभक्तिप्रतिरूपक निपात हैं। हेमचन्द्र ने चतुर्थ्यर्थ में कहा है और दण्डनारायण ने तृतीयार्थ के उदाहरण दिये हैं। ठीक इसी प्रकार यहां **ते** निपात **तव** इस षष्ठ्यर्थ में प्रयुक्त है अतः यहां आक्षेप्ता ने जो दोष दिया है वह उपस्थित ही नहीं होता पुनरपि सुकुमारमति बालकों की दृष्टि से दूसरे संस्करण में **ते** के स्थान में **तव** सुगम पाठ बना दिया है।

२२. (आक्षेप) पृष्ठ १९ पं० १७[२४]—**(अयं मम लेखोऽस्ति पश्यताम्**) हां हां देखते हैं आप का ही लेख है तभी तो इतना शुद्ध है— आगे भी देखते आये हैं और यहां भी देखते हैं। आप तो **पश्यतु** अथवा **दृश्यताम्** के धोखे में लिख गए। पर भला कुछ लोट पोट कर रफू बना निकल जाइएगा, पर वह अभिप्राय आप के अनुवाद से खुलता ही नहीं।

२४. इस संस्करण में पृष्ठ २६४ पर साक्षिप्रकरण की संख्या ३६। मीमांसक जी के समाधान की अपेक्षा वर्तमान प्रकाशित पाठ उचित प्रतीत होता है। श्रोता लेखक ने **पश्यैतम्** को पश्यताम् सुन लिया होगा। क्योंकि यह ग्रन्थ बोलकर लिखवाया हुआ है। सम्पादक

कह दीजिये कि प्रथम पुरुष के द्विवचन का रूप है।

समाधान—इस आक्षेप में **पश्य तम्** इन दो पदों के स्थान पर मुद्रण वा लेखन प्रमाद से **पश्यतम्** एक शब्द बन कर **पश्यताम्** बन गया है। ऐसी भूलें लेखन वा मुद्रण में प्रायः हो जाती हैं यह सम्पादनकलाप्रवीण भले प्रकार जानते हैं। यहां मुद्रणकर्त्ता द्वारा **पश्य तम्** में दो पदों का मिलाना और **त** के आगे **आ** की मात्रा '**ा**' का जोड़ा जाना साधारण सा दोष है। पर आक्षेप्ता का तो **घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्** उक्ति के अनुसार सुगम प्रसिद्धि प्राप्त करनी थी, तब भला वह इसमें क्यों चूके।

२३. (आक्षेप) पृष्ठ ६ पं० २०[२५]—(**येन शरीराच्छ्रमो न क्रियते स नैव शरीरसुखमाप्नोति)** यहां **शरीरेण श्रमो न क्रियते** ऐसा होना चाहिए क्योंकि ''**विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्**'' २.३.२५ इस अनुशासन से गुणवाचक शब्द ही से पञ्चमी होती है। यदि कोई यह कहे कि विभाषा के योग विभाग से जैसा **धूमादग्निमान्** होता है वैसे ही हम भी कहेंगे तो यह बात तो वैसी ही भई जैसे कि किसी ने पूछा दयानन्द जी वेद नाम किसका तो आप बोले कि संहिता मात्र का। तब उसने कहा कि कात्यायन महर्षि तो ''**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**'' ऐसा बोलते हैं। तब आप बोले यह तो कृत्रिम है। तब उसने कहा कि समस्त भारतवर्ष के प्रतिज्ञा-सूत्र के पुस्तक में यह पाठ मिलता है। तब तो आप बोले वे सब पुस्तक अशुद्ध हैं, बस तो उन्हीं का कहना प्रमाण हो तो **शरीराच्छ्रमो** सिद्ध हो जायेगा।

समाधान—संस्कृतवाक्यप्रबोध के उक्त वाक्य पर किये आक्षेप का उत्तर परिशिष्ट १ में प्रकाशित लेख में भली भांति दे दिया गया है।

प्रकृत प्रकरण के अनन्तर वेदसंज्ञा जो लेख है वह राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के पत्र एवं उनके छापे निवेदन तथा ऋषि दयानन्द द्वारा दिये गये पत्रोत्तर एवं निवेदन के उत्तर में लिखे गये **भ्रान्तिनिवारण** ग्रन्थ से सम्बन्ध रखता है। इस विषय में पाठक ऋषि दयानन्द द्वारा लिखित **पत्र** एवं **भ्रान्तिनिवारण** ग्रन्थ देखें। यथार्थता विदित हो जायेगी। अब रहा कात्यायन के **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र की बात। उसके विषय में

२५. इस संस्करण में पृष्ठ २५२ पर भोजनप्रकरण की संख्या १५।

ऋषि दयानन्द कृत **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** का **वेदसंज्ञा प्रकरण** का आरम्भिक भाग देखना चाहिये।

२४. (आक्षेप) पृष्ठ ९ पं० २२[२६]—''**ईश्वरः कोऽस्तीति ब्रूहि**'' इस वाक्य का अर्थ स्वामीजी लिखते हैं कि ''ईश्वर किसको कहते हैं आप कहिए''। '**न वेति विभाषा**' १.१.४४ पाणिनि जी के इस सूत्र की व्याख्या जानने वाले लोगों की दृष्टि से यह बात सिद्ध हे कि ''**इति शब्दोऽर्थविपर्यासकृत्**'' तब तो **ईश्वरः कोऽस्तीति** वाक्य से कदापि यह अर्थ न होगा कि ईश्वर किसको कहते हैं आप कहिए, किन्तु यह अर्थ होगा कि तुम ''**ईश्वरः कोऽस्ति**'' इस वाक्य को कहो।

समाधान—'इति' शब्द का वाक्यार्थ-बोधन में भी प्रयोग होता है यह आक्षेप्ता को ज्ञात ही नहीं। आप्टेकृत संस्कृत इंगलिश कोश (हिन्दी-संस्करण) में लिखा है—

इति....(वाक्यार्थ द्योतक)-ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणांक इति शि० १.२३॥ (यहां ग्रन्थ का पता अशुद्ध छपा है)।

२५. (आक्षेप) पृष्ठ १० पं० ९[२७]—''**चक्रवर्त्तिशब्दस्य कः पदार्थः**'' भला आर्थिक लोगों को तनिक दृष्टि देनी चाहिए कि ''चक्रवर्त्तिशब्द का क्या अर्थ है इसकी संस्कृत यही होगी? माना कि कदाचित् स्वामी जी यह कहें कि हमारा यह तात्पर्य है कि चक्रवर्त्ती इस पद का पदार्थ क्या है, तो ऐसे समास में एकदेशान्वय कभी होता ही नहीं फिर यह कैसे शुद्ध ठहरा*।

*ऐसी अशुद्धि का स्वामी जी को अभ्यास है क्योंकि पृष्ठ ३० के १७ पंक्ति में लिखा है कि (सभाशब्दस्य कः पदार्थः)**। (अबोध निवारण में छपा नोट)

समाधान—इस का समाधान पूर्व परिशिष्ट संख्या १ में बहुत सुन्दर रूप दे दिया गया है।

२६. (आक्षेप) पृष्ठ १३ पं० २२[२८]—''**मुद्रैकया सपादप्रस्थं विक्रीणते**''। **मुद्रैकया** प्रयोग तो स्वामी जी ने न मालूम किस व्याकरण

२६. इस संस्करण में पृष्ठ २५५ पर सभाप्रकरण की संख्या ४।
२७. इस संस्करण में पृष्ठ २५५ पर आर्यावर्त्तचक्रवर्तिराजप्रकरण की संख्या ३।
** मूलपाण्डुलिपि में 'सभाशब्दस्य कोऽर्थः' यह पाठ है। सम्पादक
२८. इस संस्करण में पृष्ठ २५८ पर क्रयविक्रयप्रकरण की संख्या ५।

से सिद्ध किया। पाणिनीय से तो कदापि सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उसमें यह लिखा है कि **''विशेषणं विशेष्येण बहुलम्''** २.१.५७ इस सूत्र के अनुसार **एकमुद्रया** ऐसा होना चाहिए और व्यास में **एकया मुद्रया, मुद्रया एकया** चाहे जैसा कर लो।

समाधान—**मुद्रैकया** में एक शब्द का साक्षात् परनिपातबोधक सूत्र नहीं है, परन्तु **राजदन्तादिषु परम्** (अ० २.१.३१) के आकृतिगण होने से अथवा **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (अ० २.१.५७) इस समास विधायक सूत्र में पठित 'बहुल' पद से परनिपात होगा। एक का ऐसे स्थानों में पर प्रयोग देखा जाता है। अथवा एक शब्द पूर्णता का वाचक है। लोक में इस अर्थ में जनसाधारण में आज भी बोला जाता है। किसी वस्तु का मूल्य पूछने पर बेचने वाला **'एक रुपया'** के स्थान पर बोलता है **'पूरा रुपया'** से न कम न अधिक। इस अर्थ में **मुद्राया एकम् मुद्रैकम्** षष्ठी समास होगा **मुद्रैकया** का अर्थ होगा पूरे एक रुपये से।

२७. (आक्षेप) पृष्ठ १५ पं० १३[२९]—**'एतस्मिन् किमुप्यते'** इसका उत्तर जो स्वामी जी ने दिया भी तो क्या उत्तम दिया **''यवान्''** अर्थात् यवों को। ह! ह!! ह!!! भला स्वामी जी तो बड़े भारी वैयाकरण हैं उनके संसर्ग से ऐसा ज्ञात होता है कि छापेखाने वाले भी विद्वान् हो गए, कि स्वामी जी ने **यवाः** लिखा और उन्होंने **यवान्** बना लिया। **उप्यते** यह **''डुवप बीजसन्ताने''** धातु से कर्मणि प्रत्यय है और इसी कारण उत्तर में **यवाः** होना चाहिए।

समाधान—यद्यपि यह सामान्य दृष्टि से दीखने वाली भूल ठीक कर दी गई है तथापि यह कोई राजशासन अथवा वैयाकरणों का शासन नहीं है कि कर्म में प्रयुक्त वाक्य का उत्तर कर्म में ही हो। **किं पचसि;** का उत्तर प्रायः **ओदनं पच्यते** इस प्रकार दिया जाता है कोई भी उसे अशुद्ध नहीं कहता। इसी प्रकार **किं पच्यते** का उत्तर भी **तण्डुलान् पचे** में दिया जाता है। इसी लौकिक वाग्व्यवहार के अनुसार **किमुप्यते** का उत्तर **यवान् वपामि** सर्वथा ठीक है। पदों में पदैकदेश का और वाक्यों में वाक्यैकदेश का प्रयोग होता है। यथा **फलं गृहाण** के स्थान पर **गृहाण=लीजिये** इतना ही बोलते हैं। इसी प्रकार यहां भी **यवान् वपामि** के स्थान पर यदि **यवान्**

२९. इस संस्करण में पृष्ठ २६० पर क्षेत्रवपनप्रकरण की संख्या ११।

मात्र बोला जाता है, तो सर्वथा ठीक है। भाषा का व्यवहार लोकव्यवहार से जाना जाता है व्याकरण से नहीं, यह शास्त्र सिद्धान्त है।

२८. (आक्षेप) पृष्ठ १६ पं० १४[३०]—**(एतद्रूप्यैकेन कियन्मिलति)** अहा हा! एकदम से स्वामी जी ने तो ''एक'' शब्द को विशेष्यवाचक समझ लिया है। भला यदि मनोरमा पढ़े होते और उसका प्रमाण मानते तो यही कह देते कि **''पाचकपाठकादिषु विशेष्यविशेषणभावे कामचारः''** परन्तु इन्होंने तो इसका प्रमाण मानना ही नहीं है। अब महाभाष्य के पन्ने उलटने ही रह गये हैं। भला यदि कहीं महाभाष्य में इसका प्रमाण मिल जाएगा तो हम देख लेंगे।

समाधान—इसका समाधान पूर्व २६वें आक्षेप के समाधान से ही समझ लें।

२९. (आक्षेप) पृष्ठ १७ पं० ७[३१]—**(यद्येतावति समये न दास्यसि चेत्तर्हि राजनियमन्निग्राह्य गृहीष्यामि**) क्यों न हो **''ग्रहिज्यावयिव्यधि-वष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च''** ६.१.१६॥ बस यह सूत्र स्वामी जी को कहीं याद आ गया और सम्प्रसारण कर मारा। भला यदि यह कहो कि यहां हस्तदोष है, तो अगले वाक्य में कैसे हस्तदोष हुआ जहां लिखा है **(यद्येवं कुर्यान्तर्हि तथैव गृहीतव्यम्)** इन स्थानों पर क्रम से **ग्रहीष्यामि** और **ग्रहीतव्यम्** होना चाहिये।

समाधान—यहां निस्सन्देह लेखन वा मुद्रण प्रमाद से **ग्रहीष्यामि** के स्थान पर **गृहीष्यामि, ग्रहीतव्यम्** के स्थान पर **गृहीतव्यम्** छपा है। अतएव इसे अगले संस्करण में ठीक कर दिया गया है।

व्याकरणशास्त्र की गम्भीरतम उपपादन शैली के अनुसार प्रकृति में (धातु प्रतिपादिक) में लोप-आगम-वर्णविकार=संप्रसारण आदि करके जो रूप निष्पन्न किया जाता है वह स्वतन्त्र लुप्त प्रकृति का संकेत है। इस विषय में हमने **'ऋषि दयानन्द की पदप्रयोगशैली'** एवं **'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्'** लेख में विस्तार से विवेचन किया है। तदनुसार ग्रह समानार्थक **गृह** और **गृभ** स्वतन्त्र धातुएं हैं। इन में भी इट् आगम को दीर्घ होता है। तदनुसार प्रथम संस्करण

३०. इस संस्करण में पृष्ठ २६१ क्रयविक्रयार्घप्रकरण की संख्या १।

३१. इस संस्करण में पृष्ठ २६१ पर उत्तमर्णाधमर्णप्रकरण संख्या ५। मूलपाण्डुलिपि में ग्रहीष्यामि ऐसा पाठ है। प्रथम संस्करण में गृहीष्यामि छपा है। सम्पादक

का पाठ भी युक्त है।

३०. (आक्षेप) पृष्ठ १७ पं० १७[३२]—(**भोस्साक्षिन् त्वमत्र किञ्चिज्जानासि न वा**) इस वाक्य में **साक्षिंस्त्वमत्र** ऐसा उचित था, यदि कहो कि ''**संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।**
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते''
तब तो यह वाक्य शुद्ध हो सकता है। इसी कारण से ऐसी छोटी-छोटी बातों पर इस पुस्तक में हमने दृष्टि दिया ही नहीं है क्योंकि दयानन्द जी तो साधु ठहरे। यह सन्धि विग्रह के मर्म को क्या जानें।

समाधान—आक्षेप्ता के लेख से स्वयं स्पष्ट है कि **भोस्साक्षिन् त्वमत्र** में संहिताभाव पक्ष में सत्वाभाव ठीक है, फिर भी कुछ-न-कुछ लिखना था, सो लिख डाला। अतः इस पर कुछ भी लिखना व्यर्थ है।

३१. (आक्षेप) पृष्ठ २६ पं० २६[३३]—(**सत्यमेवमेतदीश्वरकृपया सुखेन रात्रिर्गच्छेत् प्रभात आगच्छेत्**) यहां **प्रभातः** के स्थान में **प्रभातम्** चाहिए। और क्या कहें बस इतना ही कहते हैं कि ''**दयानन्दस्तु लिङ्गमपि न जानाति कोषं पश्यतु**''।

समाधान—यहां पर सुगमता के लिए वाक्यरचना का संशोधन अगले संस्करण में कर दिया है। पुनरपि **प्रभात आगच्छेत्** वाक्य अशुद्ध नहीं है। पण्डित जी को शास्त्ररहस्य विदित ही नहीं है। लिङ्ग लोकाश्रय होते हैं—**लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** (महाभाष्य)। शिष्ट प्रयोगों में इसी कारण लिङ्गानुशासन के सामान्य नियमों का बाध देखा जाता है। प्रभात शब्द के विषय में क्या कहें, यदि पण्डित जी ने कालिदास का 'शाकुन्तल' नाटक भी पढ़ा होता तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि प्रभात शब्द नित्य नपुंसक नहीं है। शाकुन्तल ४ में लिखा है **ननु प्रभाता रजनी।** यदि कहो कि रजनी के कारण **प्रभाता** स्त्रीलिङ्ग में हो गया तो यहां भी **रात्रिर्गच्छेत् प्रभात आगच्छेत्** में रात्रि की प्रतिद्वन्द्विता में अध्याह्रियमाण **दिवस** को निमित्त मानकर **प्रभातः** क्यों न बनेगा।

३२. (आक्षेप) पृष्ठ ७ पं० १२[३४]—(**विष्णुमित्रोऽयं कुरुक्षेत्र-**

३२. इस संस्करण में पृष्ठ २६२ पर साक्षिप्रकरण संख्या १।
३३. इस संस्करण में पृष्ठ २७१ पर सायंकालकृत्यप्रकरण संख्या १६।
३४. इस संस्करण में पृष्ठ २५३ पर देशदेशान्तरप्रकरण संख्या ४।

वास्तव्यः) यहां **कुरुक्षेत्रस्य वास्तव्यः** चाहिए क्योंकि ''**वसेस्तव्य**'' करने से कर्त्रर्थ में **वास्तव्यः** प्रयोग होता है और तव्य के संग में तो ''**पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन**'' सूत्र से षष्ठी समास का निषेध है। यदि तव्यत् कहो तो **ओमिति ब्रूमः**।

समाधान—'**पूरणगुण**'० (अ० २.२.११) आदि षष्ठी समास के प्रतिषेध का प्रकरण प्रायिक है। स्वयं सूत्रकार ने ऐसे प्रयोग किये हैं जहां उसी के अनुसार समास का अभाव प्राप्त होता है। यथा इसी (२.२.११) सूत्र में अव्यय का षष्ठी के साथ समास का निषेध किया है परन्तु **अनुर्यत्समया** (अ० २.१.१५) में **समया अव्यय** का **यस्य** के साथ भी समास करके निर्देश किया है। इसी सूत्र में गुणवाचक के साथ भी समास का निषेध किया है परन्तु **अधिकरणैतावत्त्वे च** (च० २.४.१५) में समस्त निर्देश किया है। पाणिनि ने कर्ता में विहित तृच् और अक् प्रत्ययान्त का षष्ठी के साथ **कर्तरि च** (अ० २.२.१६) सूत्र द्वारा निषेध किया परन्तु **जनिकर्तुः प्रकृतिः** (अ० १.४.३०), **तत्प्रयोजको हेतुश्च** (अ० १.४.५५) में स्वयं समास का निर्देश किया है।

समास के नियमों की प्रायिकता के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु इतने से ही ज्ञान हो जायेगा कि सूत्रकार स्वयं अपने नियमों को प्रायिक मानता है।

आक्षेप्ता पाणिनीय सूत्रों को बार-बार उद्धृत करके यह बताना चाहता है कि स्वामी दयानन्द को व्याकरण आता ही नहीं। परन्तु यहां तो स्वयं पण्डित जी सपाट मैदान में मुंह के बल गिरे हैं। उन्हें ज्ञात ही नहीं कि **वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च** (३.१.९६) वार्त्तिक में **तव्यत्** को णिद्वत् कहा है, **तव्य** को नहीं (तव्य तव्यत् दो स्वतन्त्र प्रत्यय हैं, **तव्यत्तव्यानीयरः** ३.१.९६)। पण्डित जी तव्य को णिद्वद्भाव समझ बैठे हैं। **पूरणगुण-सुहितार्थ**० (अ० २.१.११) में **तव्य** प्रत्यय का ग्रहण है अतः इस सूत्र से **तव्यत्** प्रत्ययान्त के समास का निषेध होता ही नहीं, फिर अशुद्धि कैसे?

३३. (आक्षेप) पृष्ठ ३३ पं० ५[३५]—(**शिंसपस्य काष्ठानि दृढानि सन्ति शालस्य दीर्घाणि च**) इस स्थान पर तो स्वामी जी ने वही बात

३५. इस संस्करण में पृष्ठ २८१ पर वृक्षवनस्पतिप्रकरण संख्या ९।

करी कि किसी समय एक अध्यापक ने अपने शिष्य से पूछा कि गङ्गाजलम् और **गुरुभक्तिः** पदों का विग्रह कहो, तो शिष्य ने उत्तर दिया कि महाराज कुछ कठिन बात पूछिये यह तो बहुत सहज है, **गङ्गास्य जलम्=गङ्गाजलम्** और **गुरुस्य भक्तिः=गुरुभक्तिः** वाह! वाह!! वाह!!! भला स्वामी जी ने कौन सा कोष देखा जो **शिंशिपायाः** का '**शिंसपस्य**' लिखा॥

समाधान—इस भूल का संशोधन अगले संस्करण में कर दिया है।

३४. (आक्षेप) पृष्ठ ३२ पंक्ति २३[३६]—**(प्रातः कुक्कुटा ब्रुवन्ति**) स्वामी जी को क्या सूझा हम नहीं जानते, **ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि** का प्रयोग तो व्यक्त वाणी अर्थात् अक्षरात्मक वाणी में होता है न कि कुक्कुटादिकों के शब्दों में।

समाधान—महाभाष्य में **व्यक्तवाचां समुच्चारणे** (अ० १.३.४८) सूत्र पर लिखा है—**कुक्कुटेनोदिते उच्यते-कुक्कुटो वदतीति।** यहां पतञ्जलि ने **वद** धातु का प्रयोग किया है और पाणिनि ने **वद व्यक्तायां वाचि** कहा है। अतः यदि व्यक्तवाक् पठित वद धातु का प्रयोग कुक्कुट के लिए हो सकता है, तो **ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि** का नहीं हो सकता इसमें क्या प्रमाण है? पुनरपि उदारमना ग्रन्थकार ने आशयानुसार द्वितीय संस्करण में **सम्प्रवदन्ति** प्रयोग कर दिया है।

३५. (आक्षेप) पृष्ठ ३४ पंक्ति ४[३७]—**(रात्रौ काका न जल्पन्ति**) क्या स्वामी जी ने काकवाणी और निजवाणी के लिए एक ही धातु रक्खा? भला कुछ तो भेद रखते। जल्प धातु का वह अर्थ है जो उक्ति-प्रत्युक्ति रूप में होता है और न कि काकादिकों के बोलने में॥

समाधान—अगले संस्करणों में इस के स्थान पर **वाश्यन्ते** बना दिया है।

३६. (आक्षेप) पृष्ठ ३२ पं० २२[३८]—**(रात्रौ श्वानः प्रक्कन्ति)** इस वाक्य में **प्रक्कन्ति** के स्थान में **बुक्कन्ति** लिखना चाहिए क्योंकि **बुक्क भषणे** इस भौवादिक धातु से कुक्कुर के शब्द में **बुक्कन्ति** होता

३६. इस संस्करण में पृष्ठ २७७ पर ग्राम्यपशुप्रकरण संख्या १६।

३७. इस संस्करण में पृष्ठ २७८ पर ग्रामस्थपक्षिप्रकरण संख्या ७।

३८. इस संस्करण में पृष्ठ २७७ पर संख्या १५। मूल हस्तलेख में प्रबुक्कन्ति पाठ है, यहाँ मुद्रण की भूल हुई है। सम्पादक

है। इसीलिए **प्रक्कन्ति** प्रामादिक लेख है।

समाधान—प्रक्कन्ति यह स्पष्ट मुद्रण दोष है। **बुक्कन्ति** का **बु** ही मुद्रण दोष से **प्र** बन गया है। इस साधारण से मुद्रण प्रमाद को उपस्थित करना लेखक की ईर्ष्या को द्योतित करता है।

३७. (आक्षेप) पृष्ठ ३५ पंक्ति १३[३९]—**(अयं देवदत्तो हंसगतिं गच्छति)** यहां **हंसगतिं गच्छति** बड़ा ही अशुद्ध है जैसे कि **पाकं पचति, घटो घटः, दण्डवान् दण्डवान्** इत्यादि वाक्य आकाङ्क्षाशून्यतया अशुद्ध होते हैं।

समाधान—अगले संस्करणों में स्पष्टतार्थ **हंसगत्या** ऐसा परिवर्तन कर दिया है। आक्षेप्ता ने इसे **पाकं पचति** आदि के समान आकांक्षाशून्यतया अशुद्ध कहा है, परन्तु संसार का कोई भी वैयाकरण **पाकं पचति** आदि प्रयोगों को अशुद्ध नहीं कह सकता। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर पद के स्थान में पदैकदेश और वाक्य के स्थान में वाक्यैकदेश के प्रयोग की चर्चा की है। यथा **सत्यभामा** के स्थान में **सत्या** या **भामा, प्रविश गृहम्** के स्थान में **प्रविश** मात्र, **भक्षय पिण्डीम्** के स्थान में **पिण्डीम्** आदि का।

३८. (आक्षेप) पृष्ठ ४२ पंक्ति २[४०]—**(आभूषणान्युत्तमानि निर्मिमीस्व**) **निर्मिमीस्व** के स्थान में **निर्मिमीष्व** होना उचित है। **आदेशप्रत्यययोः** सूत्र से षत्व होता है, यह छापेखाने की अशुद्धि नहीं हो सकती क्योंकि कई बार ऐसा ही लिखा है॥

समाधान—यह भूल लेखक की नहीं है अपितु आप के देश के अशुद्ध उच्चारण की कृपा का फल है। आज भी काशी के अनेक लब्धप्रतिष्ठ पण्डित **श ष** के स्थान में **स** का उच्चारण और लेखन करते हैं। यह ग्रन्थ काशी में बना तथा वहीं छपा। किसी काशीस्थ पण्डितम्मन्य जो लिपिक एवं संशोधक रहा होगा, उसने अशुद्ध लिखा वा छपवाया है।

३९. (आक्षेप) पृष्ठ ४६ पं० १३[४१]—**(अस्मिन् गृहे विस्तराणि श्रेष्ठानि सन्ति)** कुछ और भी रङ्ग खुले, क्या बिछौने की संस्कृत स्वामी

३९. इस संस्करण में पृष्ठ २७९ पर वन्यपक्षिप्रकरण पर संख्या १।

४०. इस संस्करण में पृष्ठ २८५ पर सुवर्णकारप्रकरण संख्या २।

४१. इस संस्करण में पृष्ठ २८७ पर संख्या १२। मूल ग्रन्थ के पृष्ठ ३६ में स्रस्तराणि पाठ है। छपते समय किसी ने बदला है।

जी को कहीं न मिली जो घबरा के **विस्तराणि** लिख दिया। क्या मनु जी का यह वाक्य नहीं स्मरण है—

"गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनीषु च"।

जिसमें स्वच्छतया स्त्रस्तर नाम बिछौने का है। हमको समझ पड़ता है कि स्वामी जी को **"प्रथने वावशब्दे"** सूत्र स्मरण आ गया और तभी बिछौने की संस्कृत **विस्तर** लिखी। पर यह न समझे कि इस सूत्र से **विस्तार:** होता है। यदि यह कहें कि **विस्तर:** भी तो होता है तो **ग्रन्थविस्तर:** तो पुल्लिंग शब्द है, नपुंसक कहां से आया॥

समाधान—आक्षेप्ता ने **विस्तराणि** को अशुद्ध कहा है, परन्तु यह बिछौने अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके लिए आप्टे संस्कृत इंगलिश कोश देखा जा सकता है। विष्टर शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। रही लिङ्गदोष की बात, सो लिङ्गानुशासनस्थ नियमों का लोक और शास्त्र में प्राय: अतिक्रमण देखा जाता है। अतएव महाभाष्यकार कहते हैं— **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य। सम्बन्धमनुवर्तिष्यते** (महा० १.१.३) में पुंल्लिग का क्रमश: पतञ्जलि और पाणिनि ने प्रयोग किया है। क्या ये सब मूर्ख थे? **विस्तर** और आपका सुझाया **स्त्रस्तर** दोनों अप् प्रत्यान्त होने पर भी बिछौने अर्थ में नपुंसक में ही प्रयुक्त होते हैं।

४०. (आक्षेप) पृष्ठ ४२ पं० १८,२०,२४[४२]—इत्यादि।

(१) **भो कुलाल** (२) **भो तन्तुवाय** (३) **भो सूच्या** (४) **भो कारुक** इन वाक्यों में कहिए **भो:** के विसर्ग का लोप किस सूत्रानुसार किया? इनको क्या? इनकी तो जिह्वा पर सरस्वती है क्योंकि नाम ही दयानन्द सरस्वती है॥

समाधान—भोस् समानार्थक **भो** एक स्वतन्त्र ओकारान्त निपात है उसका इन स्थलों पर प्रयोग जानना चाहिए। इसी प्रकार **भगोस् अघोस्** समानार्थक **भगो अघो** स्वतन्त्र निपात भी हैं। इसी अर्थ को ध्वनित करने के लिए **सरस्वतीकण्ठाभरण** १.१.१२० सूत्र **अथोमथोनोभोभगोअघो-हंहोहोअहो** में ओकारान्त **अथो नो हंहो हो अहो** के मध्य में **भो भगो**

४२. इस संस्करण में पृष्ठ २८६ पर कुलालप्रकरण संख्या १, तन्तुवायप्रकरण संख्या १, सूचीकारप्रकरण संख्या १।

अघो का पाठ किया है। अन्यथा ओकारान्तों के मध्य में न पढ़ कर उनके आदि वा अन्त में पढ़ते। ग्रन्थकार ने अन्यत्र सकारान्त **भोस्** का प्रयोग भी किया है। अत: उभयथा प्रयोगों से वे इस के उभयथा रूपों से परिचित थे, यह स्पष्ट है।

४१. (आक्षेप) पृष्ठ ३० पं० ४[४३]—**(अहं पद्भ्यां ह्यो ग्राममगमिष्यम्)** यहां **अगमम्** के स्थान पर स्वामी जी ने **अगमिष्यम्** का प्रयोग अपने लकारार्थ के परम पाण्डित्य दिखलाने के लिए किया है, क्या कहें इस अवस्था पर भी लकार का प्रयोग न आया तो कब आएगा?॥

समाधान—यह लेखन वा मुद्रण सम्बन्धी दोष अगले संस्करण में ठीक कर दिया गया है। **आगम्** में लुङ् लकार है। वह भूतसामान्य में होता है अत: उसका **ह्य:** के साथ सम्बन्ध हो जायगा। वैसे **ह्य:** के योग में **अगच्छम्** प्रयोग युक्ततर है।

द्वितीय प्रकरण

प्रथम प्रकरण में तो व्याकरण की अशुद्धियां दिखा दी गईं। अब इस प्रकरण में अर्थाशुद्धियां और अनुवाद की अशुद्धियां कुछ थोड़ी सी दिखा दी जाती हैं।.....कतिपय अशुद्धियों को देखकर ग्रन्थभर का वृत्तान्त सब कोई जान लेवें। देखिये—

४२. (आक्षेप) पृष्ठ १ पं० ८[४४]—(शरीर की शुद्धि करके ईश्वर ज्ञान के लिये सन्ध्योपासना करो) इस की संस्कृत स्वामी जी लिखते हैं कि **(शौचादिकं कृत्वा सन्ध्यामुपासीरन्)** हा! बड़ा अनर्थ है देखिये तो '**ईश्वर ज्ञान के लिये**' इसकी संस्कृत क्या लिखी है? कुछ नहीं। दूसरे आप ही लोग कहिए पाठकगण "उपासना करो" इसकी संस्कृत क्या यही है कि '**उपासीरन्**'। ऐसे विषय के ऐसे स्पष्ट करने में लेखनी को बहुत परिश्रम देना व्यर्थ है, इतने में ही समझ जाइए कि जिस ने लघुकौमुदी भी पढ़ी होगी उसको भी इस का पूर्णतया विवेक होगा॥

समाधान—लेखक ने यहां छल से काम लिया है। ग्रन्थकार (ऋषि दयानन्द) ने हिन्दी का संस्कृत में अनुवाद नहीं किया। यदि हिन्दी का संस्कृत में अनुवाद होता तो यह दोष कथंचित् दिया जा सकता था।

४३. इस संस्करण में पृष्ठ २७४ शरीरावयवप्रकरण की संख्या ६२।
४४. इस संस्करण में पृष्ठ २४७ गुरुशिष्यवार्तालापप्रकरण की संख्या ८।

ग्रन्थकार ने तो संस्कृत का हिन्दी में भावार्थ लिखा है इसी प्रकार अगले आक्षेपों में भी समझें। भावार्थ में अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए अर्थात् सन्ध्या किस लिए करो, इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए 'ईश्वर ज्ञान के लिए' ये पद हिन्दी में अधिक रखे हैं अतः इन पदों में तो भाव स्पष्ट करना ग्रन्थकार को इष्ट था न कि शाब्दिक अनुवाद देना।

उपासीरन् के स्थान पर **उपासीध्वम्** पाठ होना चाहिए था। वैसे **उपासीरन्** पाठ में भी **युष्मद्** के स्थान पर प्रकरण पठित **विद्यार्थिनः** का सम्बन्ध जोड़ने पर कोई अशुद्धि नहीं रहती, क्योंकि **युष्मद्** का भी साक्षात् निर्देश नहीं है। वैसे महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों में इस प्रकार का पुरुष विन्यास का प्रयोग बहुधा मिलता है। यथा—

वयं.......प्रतिपेदिरे। महा० शान्ति ३३६।३१॥

यूयं.......अपराध्येयुः। महा० वन २३९।१०॥

ददृशिरे वयम्। महा० शान्ति ३३६।३५॥

४३. (आक्षेप) पृ० ५ पं० १६[४५]—(आज का) इसकी संस्कृत (नित्यः) लिखी है।

समाधान—यहां भी पूर्ववत् समझें। संस्कृत में "**नित्यः**" पद होने पर भी प्रकरण के अनुसार यहां "**आज का**" स्वाध्याय ही अभीष्ट है। अतः हिन्दी भावार्थ में "**आज का**" लिखना कुछ भी अनुचित नहीं। फिर भी अगले संस्करण में "**आज का**" के स्थान पर "**नित्य का**" पाठ कर दिया गया है।

४४. (आक्षेप) पृष्ठ ६ पं० २[४६]—(शाक, दाल, कढ़ी, भात, रोटी, चटनी आदि)। इसका उल्था लिखा है कि **(शाकसूपौदश्वित्कौदनरोटिकादयः)** भला और जो गड़बड़ है सो तो हुई है, चटनी कहां से निकली? हां यदि स्वामी जी ने **आदयः** को **आदी** की चटनी समझा हो तो आश्चर्य नहीं॥

समाधान—बलिहारी है आक्षेप्ता की बुद्धि की जो उसने इतना भी नहीं समझा कि संस्कृत में पढ़े गये **आदि** पद से चटनी आदि अन्य भोज्य

४५. इस संस्करण में पृष्ठ २५१ पर भोजनप्रकरण संख्या १। मूल में आज का ही पाठ है।

४६. इस संस्करण में पृष्ठ २५१ पर भोजनप्रकरण संख्या ३।

पदार्थों का संग्रह हो सकता है। **आदयः** से **आदी (=अदरक)** की चटनी समझना तो आक्षेप्ता की बुद्धि की ही उपज हो सकती है। आक्षेप्ता ने '**हिन्दी का संस्कृत अनुवाद किया गया है**' ऐसा मिथ्या आग्रह करके ये उपर्युक्त तीन दोष दिये है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि **संस्कृत का सर्वत्र भावप्रधान अनुवाद दिया गया है।** आक्षेप्ता या तो सर्वथा निर्बुद्धि है जो वह इतनी साधारण सी बात न समझ सका, अथवा मत्सरदोष से ग्रस्त होने से उसने समझते बूझते हुए भी अपना पाण्डित्य दर्शाने अथवा मूर्खों के मनस्तोष के लिए मिथ्या आक्षेप किये हैं।

४५. (आक्षेप) पृष्ठ १४ पं० १०[४७]—(गुड़ का क्या भाव है) इसकी संस्कृत **(गुडस्य को भावः)** लिखी है। वाह क्या उत्तम संस्कृत है। यदि मुझ से पूछें कि '**गुडस्य को भावः**' तो मैं कहूंगा कि **गुडत्वम्।**

समाधान—आक्षेप्ता ने यहां हिन्दी में क्रय विक्रय व्यवहार में प्रयुक्त **भाव** शब्द को सम्भव है शब्द की प्रवृत्ति का निमित्तरूप भाव **(यस्य सद्भावात् द्रव्ये तत्तच्छब्दप्रवृत्तिः**, '**तस्य भावस्त्वतलौ**' अ० ५.१.११८ सूत्रस्थ भाव) समझा है। यदि कहा जाये कि हिन्दी में क्रय विक्रय में प्रयुक्त भाव को संस्कृत में '**भाव**' शब्द के रूप में रखना दोष है क्योंकि वह **भू सत्तायाम्** धातु से शब्दप्रवृत्तिनिमित्तसत्ता को व्यक्त करता है तो यह उनकी भूल है। क्रय विक्रय व्यवहार में हिन्दी में प्रयुक्त भाव शब्द भी इसी अर्थ में शुद्ध संस्कृत शब्द है। यह भाव शब्द **भू सत्तायाम्** धातु से निष्पन्न नहीं है। इसका मूल है चुरादिगण की **भू प्राप्तौ आत्मनेपदी** धातु। **भाव्यते=प्राप्यतेऽनेन पदार्थजातमिति भावः।** जिस हिसाब से कोई द्रव्य प्राप्त किया जाता है या प्राप्त किया जा सकता है वह भाव यहां अभिप्रेत है। यदि आक्षेप्ता को चुरादिगणस्थ **भू प्राप्तौ** धातु स्मरण होती तो यह आक्षेप ही नहीं करता। हमें तो प्रतीत होता है कि आक्षेप्ता केवल लघुकौमुदी तक ही व्याकरण पढ़ा था, क्योंकि लघुकौमुदी में चुरादिगण की **भू प्राप्तौ** धातु व्याख्यात ही नहीं। वहां केवल **चुर कथ गण** तीन का उल्लेख है। और सम्भवतः आक्षेप्ता बारबार **लघुकौमुदी** का नाम भी इसी लिये लेता है। यथा—आक्षेप ४२ में।

इसी प्रकार के मूलतः संस्कृत के अनेक ऐसे शब्द हैं जो वर्तमान

४७. इस संस्करण में पृष्ठ २५८ पर क्रयविक्रय प्रकरण संख्या ६।

में पारसी आदि भाषाओं के माने जाते हैं। यथा पवित्र-वाचक **पाक** शब्द तथा युद्ध पर्याय **जङ्ग** शब्द।

४६. (आक्षेप) पृष्ठ १४ पं० २[४८]—**आने** की संस्कृत **आना** लिखते हैं। वाह इसी प्रकार से **लोटे** की संस्कृत **लोण्टा** बना डालिये।

समाधान—संस्कृत भाषा का व्यवहार में लोप हो जाने के पीछे जो नाप तोल व सिक्के प्रचलित हुए उनके नामों को संस्कृत भाषा के **यदृच्छा** शब्दों के अन्तर्गत रूढ मानकर प्रयोग करना व्याकरण के अनुसार सर्वथा शुद्ध है। महाभाष्यकार ने कहा है—**चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः** (**ऋलृक्** सूत्र के भाष्य में)। इसके आगे यदृच्छा शब्दों के अनुकरणात्मक शब्दों को साधु शब्द मान कर सूत्र में लृकार का प्रयोजन बताया गया है।

इस प्रकार यदृच्छा शब्द के रूप में पूर्वकाल में भी अनेक अपभ्रंश (देशी विदेशी) भाषाओं के शब्द अपने अपने समय में संस्कृत में स्थान पा चुके हैं। अतः रुपये के सोलहवें अंश **आना** के लिये संस्कृत में भी **आना** शब्द को लेना शास्त्रीय नियमसम्मत है।

४७. (आक्षेप) पृष्ठ २५ पं० १९[४९]—(ऊर्ध्वश्वास चलने से) इसकी संस्कृत लिखते हैं कि **(ऊर्ध्वश्वासत्वात्)** अहा! हा!! हा!!! कोई कैसी भी चिन्ता में बैठा हो इस उल्था के सुनते ही हंस पड़ेगा। मैं अब क्या लिखूं मेरी लेखनी तो इस समय हास्य रस में डूब रही है। समझ जाइये **''किमज्ञातं सुबुद्धीनाम्''।**

समाधान—जैसे कि हम इस प्रकरण के आरम्भ में ही लिख चुके हैं कि ग्रन्थकार ने हिन्दी का उल्था=अनुवाद संस्कृत में नहीं किया अपितु संस्कृत वाक्य का भाव हिन्दी में बताया है।

अब पहले विचारिये कि **ऊर्ध्वश्वासत्वात्** प्रयोग ठीक है या अशुद्ध। **अद्याऽस्य मरणसमय आगतः** यह हेतुमत् है और **ऊर्ध्वश्वासत्वात्** यह हेतु है। हेतु हेतुमत् का संस्कृत भाषा में कोई प्रयोग नियम नहीं है। आप **ऊर्ध्वश्वासत्वात्** के आगे वाक्यपूर्त्यर्थ **ज्ञायते** क्रिया का अध्याहार करके पढ़िये, वाक्य सर्वथा निर्दोष प्रतीत होगा। **ऊर्ध्वश्वासत्वात् ज्ञायते अद्यस्य मरणसमय आगतः।** जब वाक्य अध्याह्रियमाण क्रिया से शुद्ध है तब उसे अशुद्ध कहना आक्षेप्ता का अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करना मात्र ही है।

४८. इस संस्करण में पृष्ठ २५८ पर क्रयविक्रयप्रकरण की संख्या ७।
४९. इस संस्करण में पृष्ठ २७० पर ननन्दृभ्रातृ०प्रकरण की संख्या १७।

जैसे संस्कृत में **ज्ञायते** क्रिया का अध्याहार आवश्यक है वैसे ही हिन्दी में भी **ऊपर को श्वास चलने से** इस वाक्य में **''जाना जाता है''** क्रिया का अध्याहार जानना चाहिये। यदि आक्षेप्ता का यहां 'संस्कृतपदान्तर्गत 'त्व' प्रत्ययपरक अनुवाद न होना दोषावह है' अभिप्राय हो तो उसे समझना चाहिये कि भाषा का पदशः अनुवाद नहीं है प्रत्युत भावानुवाद रूप है।

आक्षेप्ता का यदि आक्षेप **ऊर्ध्वश्वासत्वात्** में **''त्व''** प्रत्यय पर हो तो उसे जानना चाहिये कि ऊर्ध्व और श्वास का यहां कर्मधारय समास नहीं है बहुव्रीहि समास है—**ऊर्ध्वाः श्वासा यस्य स ऊर्ध्वश्वासः तस्य भावः ऊर्ध्वश्वासत्वम् तस्मात्।** इस प्रकार यह वाक्य सर्वथा निर्दोष बन जाता है।

४८. (आक्षेप) पृष्ठ ३४ पं० ६[५०]—**(जले पात्रे चक्षुर्निक्षिप्य विनाशितम्)** इस को पाठक गण शुद्ध कर लेवें।

समाधान—यहां आक्षेप्ता महाशय को क्या आक्षेप है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। यहां सम्भव है **चक्षुः** या **विनाशितम्** पद पर आक्षेप होगा। यदि **चक्षुः** पद पर आक्षेप हो तो यह व्यर्थ है। मूल पाठ **चञ्चुः** है जो ठीक है। यदि आक्षेप्ता ने **चक्षुः** जान बूझ कर अपपाठ नहीं बनाया तो उनका आक्षेप **विनाशितम्** पद पर होगा। उस अवस्था में वे समझते होंगे कि यहां **दूषितम्** पाठ होना चाहिये। परन्तु यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि विनाश शब्द का प्रयोग स्वस्वरूप की हानि में होता है। घट विनष्ट हो गया का अर्थ टूट गया अर्थात् घट घटरूप में नहीं रहा। इसी प्रकार पेयजल को कौवे की चोंच डुबोने से अपेय हो जाना भी पेय जल का विनाश होना ही है। यहां यद्यपि जल की स्वरूप हानि नहीं है पुनरपि उस के पेयत्वधर्म की हानि तो है ही। अतः यहां **विनाशितम्** पद का प्रयोग भी ठीक है।

मूल में **'पेयजले पात्रे चञ्चु०'** मुद्रणदोष है वहां **'पेयजले चञ्चु०'** या **'पेयजलपात्रे चञ्चु०'** पाठ होना चाहिये।

५०. इस संस्करण में पृष्ठ २७८ ग्रामस्थपक्षिप्रकरण की संख्या ८।

यहां तक आक्षेप्ता ने ४८ आक्षेप करके जिन हेतुओं से किन्हीं योगों का साधुत्व विदित होता है उन को भी अप्रमाण कोटि में रखने का प्रयास किया है। यह प्रयास भी उनके अवैयाकरणत्व का द्योतक है।

इस प्रकार हमने इस प्रकरण में ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित संस्कृतवाक्यप्रबोध पर किये गये आक्षेपों में से उन तीन आक्षेपों को, जिनका उत्तर ऋषिदयानन्द ने स्वयं लिख या लिखवा कर **एक पण्डित** के नाम से प्रकाशित किया था, छोड़ कर उन सभी आक्षेपों का समाधान व्याकरणशास्त्र एवं शिष्ट प्रयोग के आधार पर करने का प्रयत्न किया है जो वास्तव में साधु या शुद्ध प्रयोग थे। जो लिपिपरक एवं मुद्रण दोष से दूषित थे उन को हमने उसी रूप में शुद्ध मान लिया है जिस रूप में अगले संस्करण में वे शुद्ध किये गये हैं।

तृतीय परिशिष्ट

आर्यदर्पण पत्र मई सन् १८८० ई० के पृष्ठ ११३-११९ तक अबोधनिवारण के सम्बन्ध में लिखा गया लेख

अबोधनिवारण[५१]

घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा कृत्वा रासभरोहणम्।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्॥

यह पुस्तक ''ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा'' के पण्डितों की ओर से स्वामी जी के 'संस्कृतवाक्यप्रबोध'' की अशुद्धियां प्रकाश करने हेतु बनाया गया है।

प्रथम हम इस सभा के कर्त्तव्य के विषय में ''भारतमित्र'' पत्र से निम्न लेख संग्रह करते हैं। इस सभा के एक हितकारी लिखते हैं कि—

''इस सभा के कई बड़े दोष देख पड़े हैं कि जो उसके गुणों को नष्ट कर देते हैं। पहिले मुझे आशा थी कि ये दोष सुधर जायेंगे पर अब देखता हूँ कि स्वाभाविक हो गये हैं।

१. इस सभा के मैनेजर इस प्रकार हैं कि ९ वा १० महीने हुए समाचार पत्रों में विज्ञात कर चुके हैं कि ''पीयूष शीकर प्रकाश होगा'' पर न जाने यह पत्र कब निकलेगा?

२. सभा का नियम है कि ''जब कोई बोल रहा हो तो दूसरा न बोले'' पर इस पर कोई भी दृष्टि नहीं देता प्रायः हुल्लड़ मच जाता है।

३. अब हाल में मेरे पास ''वाक्यपञ्चाशिका'' और ''खगोल दर्पण'' दो पुस्तक आये हैं।

महाशय! मैं इन पुस्तकों की समालोचना क्या करूं ग्रह को नक्षत्र और नक्षत्र को ग्रह लिखा है, बस इतने ही में समझ जाइए।

४. गत शनिवार की सभा में पण्डित युगलकिशोर जी ने ऐसी असभ्य और अनुचित बातें कहीं कि मैं उसे यहां नहीं लिख सकता, इस सब पर जब बाबू नारायणसिंह आदि ने उनको रोका तो लड़ने को तैयार हुए। इस पर बड़ा हुल्लड़ हुआ और मारपीट की नौबत भी आ गई थी, ईश्वर ने

५१. यह लेख श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय अजमेर के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। युधिष्ठिर मीमांसक

कृपा की।

ऊपर जिस बात को असभ्य लिखा है वह इस प्रकार है कि जब स्वामी जी चले गये तो पण्डित युगलकिशोर ने विचारा होगा कि अब कोई विचित्र मिथ्या बात लोगों के मन प्रसन्न करने और अपनी बड़ाई के लिए अवश्य उड़ानी चाहिए। प्राय: उन्होंने यह विज्ञापन भाषा और अंगरेजी में छपवाकर प्रकाशित किया—

"अभाग्य वश से मूर्ख जन की प्रसिद्धि के अनुसार हम लोगों ने दयानन्द सरस्वती के पास आके वेदार्थ जानने की इच्छा की थी परन्तु जब स्वामीजी के मुख से नाना प्रकार की वेद विरुद्ध शिष्टाचार के बाहर बात सुन पड़ी तब तो हमने काशीस्थ ब्रह्मामृत-वर्षिणी सभा के सभ्य विद्वानों से अपने सन्देह दूर करने की इच्छा की और जब हम लोग अपनी बुद्ध्यनुसार समस्त शंका से रहित भये तब उक्त सभा के मेम्बर पंडित युगलकिशोर पाठक जी (जो कि हमारे वैदिक गुरु हैं) के उपदेश से निजचित्तग्लानिवृत्तिपूर्वक कुसंगजनित पापनिवृत्त्यर्थ मणिकर्णिका तीर्थ पर यथाविधि प्रायश्चित्त और श्री विश्वेश्वरादि देवों का दर्शन करके अपने सन्मति के अनुसार वेदाभ्यास की इच्छा प्रकट करते हैं। और यह प्रतिज्ञा करते हैं के हम लोग निज गुरु निर्दिष्ट मार्ग से दूर न होंगे।

प्रायश्चित्त करने वालों का नाम—

सीताराम, बबुवानन्द पाण्डे, कृष्णारात शुक्ल, रामप्रसाद दुबे, इस पत्र के प्रकाशकर्त्ता वेदशास्त्र सम्पन्न

पण्डित युगलकिशोर पाठक॥"

जब यह विज्ञापन सभा में पढ़ा गया तब बहुत से लोगों की इच्छा हुई कि जिन चार पुरुषों के इसमें नाम हैं उनके दर्शन भी करने चाहिएं। इस पर बाबू नारायणसिंह (सभासद् आर्यसमाज) ने पंडित युगलकिशोर से पूछा कि वे ४ पुरुष कहां हैं? पंडित जी ने (क्रोध में लाल होकर) उत्तर दिया कि उन को हम अपनी अगली सभा में लेते आवेंगे।

पण्डित जी ने तो इस विज्ञापन में झूठमूठ इन ४ पुरुषों के नाम मनमाने लिखकर एक उपहास का काम किया था, इन चारों को लावें कहां से!

अब तो पण्डित जी घबड़ाए और लगे इधर उधर लड़कों को सिखलाने कि तुम हमारे साथ चलकर ऐसा ऐसा कह देना, परन्तु ऐसे बुरे काम में

कौन पण्डित जी की सुनता है! प्रायश्चित्त का नाम ही सुनकर श्वासा बन्द होते हैं, क्योंकि इससे अत्यन्त निन्दा और बुराई विदित होती है।

परन्तु यूं तू करके पण्डित जी एक लड़के को ले ही गये, जब उसका नाम पूछा तो उसने रामकृष्ण दुबे बता दिया (पण्डित जी ने सिखाया होगा कि रामप्रसाद दुबे कहना, परन्तु बनावटी नाम कब तक याद रह सकता है वह भूल गया) फिर पूछा गया कि तुम स्वामी जी के पास गए थे? उसने कहा कि कभी नहीं। (!!!)

जब यह बात हुई तब तो पण्डित जी का यह गुप्त व्यवहार प्रकाशित हो गया, फिर लोगों ने कहा कि आपने यह मिथ्या विज्ञापन क्यों मुद्रित कराया? इस पर पण्डित जी क्रोध में लाल होकर लगे गड़बड़ हांकने, तब उनके मुखारविन्द से यह बात निकली कि "जिसने दयानन्द का मुख देखा वह हिन्दू के बीज का नहीं" इस बात को कहने पर बाबू नारायणसिंह ने कहा कि सं० १९२६ के शास्त्रार्थ में श्रीयुत महाराजा काशी नरेश और स्वामी विशुद्धानन्द और बालशास्त्री आदि हजारों हिन्दू थे, तो आपने इन सबको दुर्वचन कहा! इस पर पण्डित जी को सभा से निकाल दिया, तब तो उन्होंने बड़ा हुल्लड़ मचाया, मारपीट की नौबत आ गई थी, ईश्वर ने कृपा कर दी। अब पाठक विचारें कि यह कैसी लपोड़संखी सभा है! धन्य है इस सभा की!! और धन्य है इसके पण्डितों की!!!

अब इस पुस्तक के विषय में देखिए—इसके टाइटिल पेज पर लिखा है कि "काशी के पण्डित अम्बिकादत्त व्यास और बाबूराम वर्मा ने श्रीयुत*[५२] की आज्ञा अनुसार प्रकाशित किया॥"

यहां पहिले हम यह ही पूछते हैं कि पुस्तक के बनाने वाले का नाम सत्य सत्य क्यों नहीं लिखा गया? (कि जो पं० राममिश्र शास्त्री हैं) दूसरे श्रीयुत पं० के आगे शून्य जगह क्यों छोड़ी गई? क्या लोगों को धोखा देने के लिए! देखिए हमने जो दो पुस्तक मोल लिये तो उन पर "चतुर्भुज जी" लिखा पाया और जो हमने और लोगों के पास इन्हीं को देखा तो और ही नाम लिखा पाया,[५३] क्या प्रकाश करने वालों का मुख्य तात्पर्य

५२. यहां शून्य (खाली) जगह एक नाम लिखने के लिए छोड़ दी गई है।

५३. हमारे पास जो पुस्तक अबोधनिवारण की है उस पर हाथ से "सूर्यनारायण" लिखा है। युधिष्ठिर मीमांसक

लोगों को धोखा देकर टट्टी की आड़ में शिकार करने का है ? फिर देखिये इसकी भूमिका में रामकृष्ण ने लिखा है कि यह पुस्तक हमारे मित्र पं० अम्बिकादत्त व्यास ने बनाई और आगे चलके पुस्तक के पहिले पेज पर लिखा है कि "**रामकृष्णवर्माविरचितम्**" अब पाठकगण विचारें कि इन मिथ्या बातों और पूर्वापर विरोध से क्या विदित होता है!

अब यहां एक और विचित्र बात सुनिये कि जब यह पुस्तक बनाया गया तब बहुत से पण्डितों के पास हस्ताक्षर के हेतु ले गये, परन्तु किसी बड़े पण्डित ने अपने हस्ताक्षर न किये, तब पण्डित चतुर्भुज जी से भी कहा गया (यहां तो मानों मुख खोले ही बैठे थे) उन्होंने कह दिया हां हमारे नाम से छपवा दो, फिर न जाने किस कारण उनका नाम न छापा गया, तब तो पण्डित जी बड़े क्रोधित हुए।

अब हमने सुना है आजकल यहां के पण्डित लोग एक पुस्तक इस "**अबोधनिवारण" के खण्डन में** बना रहे हैं जिसमें स्वामीजी कृत "**संस्कृतवाक्यप्रबोध**" का मण्डन और "**अबोधनिवारण**" का खण्डन होगा।

फिर इसी भूमिका में स्वामीजी को लिखा है कि "यदि कुछ विद्या रखते हैं तो इसका प्रत्युत्तर देकर लेख को शुद्ध ठहराइए, अब आपको अधिक क्या समझावें।"

हम नहीं जानते कि ये लोग सोच समझकर क्यों नहीं लिखते! महाशय!! आपको लिखने का तो बोध है ही नहीं, पहिले लिखना तो सीखिये, तब ही मुख फैलाइये।

क्या आपने स्वामीजी का विज्ञापन नहीं देखा है? क्या आपने भ्रमोच्छेदन को विचारकर नहीं देखा है? जो ऐसा लिखते हो। स्वामीजी ने अपने विज्ञापन तथा भ्रमोच्छेदन में स्पष्ट लिख दिया है कि काशी में आजकल स्वामी विशुद्धानन्द और पण्डित बालशास्त्री ये दो ही प्रसिद्ध हैं, जो ये चाहें तो भले ही शास्त्रार्थ मन खोलकर पत्र द्वारा अथवा सन्मुख समझ कर के करें, नहीं तो काशी में और किसी तीसरे के लेख का उत्तर हम कदाचित् न देंगे।[५४]

५४. जब यहां के असभ्य लोग अण्ड बण्ड विज्ञापन स्वामी जी के विषय में लगाने लगे तब अन्त में स्वामी जी को इन लोगों के मुख बन्द करने की यह प्रतिज्ञा अवश्य करनी पड़ी।

इसलिए जो आप स्वामीजी से अपने पुस्तक का उत्तर ही लेना चाहते थे, तो क्या इन दोनों में से किसी एक के हस्ताक्षर न करवा लिये होते?

हमने सुना है कि इस बात की चर्चा भी सभा में हुई थी तिस पर पण्डित राममिश्र जी ने कहा कि क्या ये दोनों हम से भी बढ़ गये, हमने बालशास्त्री की सैकड़ों अशुद्धियाँ निकाली हैं।

अब कहां है स्वामी विशुद्धानन्द जी को जगद्‌गुरु लिखने वाले? यहां तो वे जगत् क्या केवल एक काशी के भी गुरु न निकले।

और आपने जो लिखा कि स्वामीजी को कहां तक समझावें—सो ठीक है, स्वामी जी जैसे विद्वान् आप की मिथ्या स्वार्थिक और अनुचित बातों को कैसे समझ सकते हैं।

क्योंकि विद्वान् विद्वान् ही की बातों को विचार कर समझा करते हैं। फिर आपने लिखा कि "पं० अम्बिकादत्त को धन्यवाद दें कि उन्होंने स्वामीजी के पुस्तक का यह शुद्धि पत्र बनाया था।"

वाह! वाह!! यह एक ही रही, भला जो आप डूब रहा है वह दूसरे को क्या बचा सकता है!!! फिर अन्त में लिखा कि "स्वामीजी पं० राममिश्र जी के साथ शास्त्रार्थ करें।"

हम कहते हैं कि स्वामी जी तो रहे अलग, पहिले आपके पण्डित जी स्वामी जी के विद्यार्थियों से ही शास्त्रार्थ कर लेवें।

सबसे पहले हमारे ही इस प्रश्न का उत्तर दें कि यदि पाषाणादि मूर्तिपूजन को आप लोग सत्य मानते हैं तो इसका प्रमाण वेद संहिताओं में कहीं से दीजिए?

बताइये कि वेद के कौन कौन से मन्त्रों में ये नीचे लिखी तीन वार्त्ता, जो आप लोग करते हैं लिखी हैं?

१. पूजा और उपासना के लिए काठ, पत्थर, पीतल आदि की मूर्तियां बनाई जावें।

२. उन मूर्तियों में ईश्वर की स्थापना की जावे।

३. उन मूर्तियों पर चन्दन, पानी, दूध, बताशा, भंग, धतूरा, बकरी, बकरा, पूरी, कचौरी आदि चढ़ाये जावें। मन्दिरों में जाकर घण्टा, झांझ, गाल कर्ताल बजाये जावें और पुजारियों को माल दिये जावें।

इनमें केवल वेद संहिताओं ही के प्रमाण माने जायेंगे।

अब क्या तो आप या आपके पण्डितजी हमारा उत्तर दें, नहीं तो लिखें कि यह मिथ्या पाखण्ड ही है? स्वामी जी से तो जैसा शास्त्रार्थ करेंगे विदित है। शोक है कि आपको शास्त्रार्थ का नाम लेते भी लज्जा नहीं आती। स्वामी जी यहां ५॥ साढ़े पांच मास रहे—शास्त्रार्थ का विज्ञापन दिये, उस समय कोई भी उद्यत न हुआ। क्या उस समय आप और आप के पण्डित जी गहरी नींद में सन्नाटे भर रहे थे? किसी ने शास्त्रार्थ का नाम भी न लिया, अब आपके व्यर्थ गाल बजाने से क्या होता है।

हमारे इस लेख से आप यह न समझें कि आप के पुस्तक का खण्डन न किया जावेगा। नहीं, आप के पुस्तक का खण्डन लिखा जा रहा है।[५५]

हम स्वीकार करते हैं कि इस पुस्तक में नवीन यन्त्रालय होने, और स्वामी जी के उसी समय पधारने, और पूर्ण विद्वान् शोधक के न होने से बहुधा अशुद्धियां हो गई हैं, परन्तु आपने जो व्यर्थ एक बात का बतकड़ा बनाकर पक्षपात की सामग्री से एक झूठा मीनार बनाया है, इसको देखिये हम कैसे सत्य के झोंके से उड़ाकर तितर बितर कर डालते हैं। यहां भी दो तीन बातें आप को खण्डन कर के दिखलाते हैं[५६]—

[ये खण्डनात्मक बातें इसी ग्रन्थ के प्रथम परिशिष्ट में प्रकाशित की जा चुकी है।]

---

५५. यह खण्डन क्यों नहीं छपा, इसका कारण हमें ज्ञात नहीं। सम्भव है ऋषि दयानन्द ने व्यर्थ समझ कर मना कर दिया हो, पुनरपि खण्डन अवश्य प्रकाशित होना चाहिए था। अन्यथा जनता में भ्रम फैलता है जैसा कि मुन्नालाल मिश्र के २१.१०.१८८२ के पत्र से ज्ञात होता है।

ऋषि दयानन्द कृत **भागवत खण्डन** का जो खण्डन उन्हीं के समय में देहली के एक विद्वान् ने प्रकाशित किया था, उसका भी उत्तर आज तक किसी ने नहीं दिया। —युधिष्ठिर मीमांसक

५६. इस पुस्तक पर कविवचनसुधा १६ अगस्त में आपे से बाहर होकर अंड बंड लिखा गया है, उसका उत्तर हम बकवाद समझकर कुछ नहीं देते। शोक है ऐसे एडीटर ही एडीटरी पर बट्टा लगाते हैं क्या ये एक्ट ९ को भूल गये। इस मटिया फूस पत्र में एक भी बात उत्तर देने योग्य नहीं है।

१५

व्यवहारभानु

ग्रन्थ परिचय

जैसाकि ग्रन्थ के नाम से विदित होता है—**व्यवहार का सूर्य** या **व्यवहार रूपी सूर्य।** जैसे सूर्य के प्रकाश में अन्धकार समाप्त होकर सब कार्य भली प्रकार सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार जो व्यक्ति व्यवहार में कुशल होता है, वह जीवन में सुख एवं सफलता प्राप्त करता है। अत: महर्षि ने सबको, विशेषकर बालकों को, यथायोग्य व्यवहार की शिक्षा देने के लिए इस ग्रन्थ को रचा। महर्षि के अपने शब्दों में, **''व्यवहारभानु ग्रन्थ को बनाकर प्रसिद्ध करता हूँ कि जिसको देख-दिखा, पढ़-पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने-अपने संतान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।''**

व्यवहार के अतिरिक्त **विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्य-असत्य, मूर्ख-अमूर्ख, पण्डित-अपण्डित, न्याय-अन्याय** आदि अनेक विषयों का परिचय और ज्ञान प्रश्न-उत्तर के माध्यम से कराया गया है। इसके अतिरिक्त, शिक्षा प्रदान करने की विधि, ब्रह्मचर्य, राजा आदि अनेक विषयों को भी लिया गया है।

इस ग्रन्थ में माता-पिता तथा सन्तान के आपस में व्यवहार के अतिरिक्त बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त मनुष्यों के सुधार के लिए **आचार्य, विद्यार्थी, राजा-प्रजा, धार्मिक, अधार्मिक, मूर्ख, बुद्धिमान्, पति-पत्नी** इन सबको आपसी व्यवहार में कुशलता प्राप्त करने की शिक्षा प्रदान की गई है।

यह ग्रन्थ **सरल आर्यभाषा (हिन्दी)** में लिखा गया है, जिससे सभी इसे सुखपूर्वक समझकर अपना व्यवहार और स्वभाव सुधार कर उत्तम कार्य कर सकें। बीच-बीच में संस्कृत भाषा में प्रमाण भी दिये गये हैं। अनेक मनोरंजक दृष्टान्त देकर अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। इससे ग्रन्थ बहुत अधिक सरल एवं रुचिकर बन गया है।

इस ग्रन्थ का रचना काल **संवत् १९३६, फाल्गुन मास, शुक्ल पक्ष की १५वीं तिथि है।** इसे महर्षि ने **काशी** में लिखा था। (सम्पादक)

भूमिका

मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक ठीक वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दु:खी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक 'नमस्ते' आदि करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान निरभिमानी होकर युक्त प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्डबण्ड बकता है उसका तिरस्कार करते हैं।

जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। इससे जो थोड़ी विद्या वाला भी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है उसका कोई भी कार्य्य नहीं बिगड़ता।

इसलिये मैं मनुष्यों की उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादिशास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीतियुक्त इस 'व्यवहारभानु' ग्रन्थ को बनाकर प्रसिद्ध करता हूं कि जिसको देख दिखा, पढ़ पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने अपने संतान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।

इस ग्रन्थ में कहीं कहीं प्रमाण के लिए संस्कृत और सुगम भाषा लिखी और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना अपना स्वभाव सुधार के सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें॥

सं० १९३६ **दयानन्द सरस्वती**
फाल्गुन शुक्ला १५ काशी

ओ३म्

सर्वान्तर्यामिणेऽखिलगुरवे विश्वम्भराय नमः

अथ व्यवहारभानुः

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखों को सिद्ध करनेवाले व्यवहारों को छोड़कर उलटा आचरण करने में प्रसन्न होता हो। क्या यथायोग्य व्यवहार किये विना किसी को सर्वसुख हो सकता है? क्या कोई मनुष्य अपनी और पुत्रादि सम्बन्धियों की उन्नति न चाहता हो? क्या कोई मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्मार्थ, काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता? और इसके विना पशु के समान होकर दुःखी नहीं रहता है? इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि श्रेष्ठ शिक्षा और धर्मयुक्त व्यवहारों से वर्त्तकर सुखी होके दुःखों का विनाश करे। इसलिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेके वृद्धपर्य्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार-सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है। इसलिये यहां वेदादि शास्त्रों के प्रमाण भी कहीं-कहीं दीखेंगे। क्योंकि उनके अर्थों को समझने का ठीक-ठीक सामर्थ्य बालक आदि का नहीं रहता। जो विद्वान् प्रमाण देखना चाहे तो वेदादि अथवा मेरे बनाये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में देख लेवे।

प्रश्न—कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहियें?

उत्तर—पढ़ानेवालों के लक्षण—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥

जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुखदुःखादि का सहन, धर्म का नित्य सेवन करने वाला, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ा कर अधर्म की ओर न खेंच सके, वह '**पण्डित**' कहाता है॥ १॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम्॥ २॥

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों का करने और निन्दित अधर्मयुक्त कर्मों को कभी न सेवनेहारा; जो न कदापि ईश्वर, वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा, सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है, वही मनुष्य '**पण्डित**' के लक्षणयुक्त होता है॥ २॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासंपृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥ ३॥

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्य्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनके, ठीक-ठीक समझ, निरभिमानी शान्त होकर, दूसरों से प्रत्युत्तर करने; परमेश्वर से लेके पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों को जान के उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्टगुणों से पृथक् वर्तमान; किसी के पूछने वा दोनों के संवाद में विना प्रसङ्ग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करने वाला मनुष्य है, यही **पण्डित** का प्रथम बुद्धिमत्ता का लक्षण है॥ ३॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥ ४॥

जो मनुष्य प्राप्ति होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते; अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते, और बड़े-बड़े दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं, वे मनुष्य **पण्डितों** की बुद्धि से युक्त कहाते हैं॥ ४॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥ ५॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलने वाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथाओं को करने, विना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने-जनाने, सुनी-विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ाने वाला मनुष्य है, वही **पण्डित** कहाता है॥ ५॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असंभिन्नार्य्यमर्य्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः॥ ६॥

जिसकी सुनी हुई, और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल

और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार, जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक, और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है, वही पण्डित नाम धराने के योग्य होता है॥६॥

जहाँ ऐसे-ऐसे सत्पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान् पढ़नेवाले होते हैं वहां विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने-पढ़ानेहारे होते हैं, वहां अविद्या और अधर्म्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है।

प्रश्न—कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करनेवाले न होने चाहियें?

मूर्ख के लक्षण

उत्तर—अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥ १॥

जो किसी विद्या को न पढ़, और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमंडी, दरिद्र होकर बड़े-बड़े कामों की इच्छा करनेहारा और विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग मूर्ख कहते हैं॥ १॥

दृष्टान्त

जैसे—एक कोई दरिद्र शेखसेली नामक किसी ग्राम में था। वहां किसी नगर का बनिया दश रुपैये उधार लेकर घी लेने आया था। वह घी लेकर, घड़ा में भर, किसी मजूर के खोज में था। वहां शेखसेली आ निकला। उससे पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर ले जाने की क्या मजूरी लेगा। उसने कहा कि आठ आना। बनिये ने कहा कि चार आना लेना हो तो ले। उसने कहा—अच्छा। शेखसेली घड़ा उठा आगे चला और बनिया पीछे-पीछे चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपैयों के इस घी के ग्यारह रुपैये आवेंगे। दश रुपैये सेठ को दूँगा, और एक रुपैया घर की पूंजी रहेगी। वैसे ही दश फेरे में दश रुपैये हो जायंगे। इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़। फिर करोड़ से सब जगह कोठियां करूंगा, और सब राजा लोग मेरे कर्जदार हो जायंगे। इत्यादि बड़े-बड़े मनोरथ करने लगा।

और शेखसेली ने विचारा कि चार आने की रुई ले सूत कात कर बेचूंगा, आठ आना मिलेगा। फिर आठ आना से एक रुपैया हो जायगा,

फिर वैसे ही एक से दो रुपैये होंगे। उनसे एक बकरी लूँगा। जब उसके कच्चे-बच्चे होंगे तब उनको बेच एक गाय लूँगा। उसके कच्चे-बच्चे बेच, एक भैंस लूँगा। उसके कच्चे-बच्चे बेच एक घोड़ी लूँगा। उसके कच्चे-बच्चे बेच एक हथिनी लूँगा और उसके कच्चे-बच्चे बेच दो बीबियां ब्याहूँगा। एक का नाम प्यारी और दूसरी का नाम बेप्यारी रक्खूंगा। जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आवेंगे तब कहूँगा—बच्चे! आओ बैठो, और जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें, तब कहूँगा—ऊँ हूं ऊँ हूं ऊँ हूं, नहीं, नहीं। ऐसा कहकर शिर हिला दिया। घड़ा गिर पड़ा, फूट गया और घी भूमि पर फैल के धूर में मिल गया। बनिया रोने लगा, और शेखसेली भी रोने लगा। बनिया ने शेखसेली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया, और रोता क्यों है? तेरा क्या नुकसान हुआ?

(शेखसेली) तेरा क्या बिगाड़ हुआ? तू क्यों रोता है?

(बनिया) मैंने दश रुपैये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था, उस पर बड़े-बड़े लाभ का विचार किया था। वह मेरा सब बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊं!

(शेखसेली) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई, मेरा तो घर ही बना बनाया बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊं?

(बनिया) क्या तेरे रोने से मेरा घी आ जायगा?

(शेखसेली) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर भी न बन जायेगा। तू बड़ा मूर्ख है।

(बनिया) तू मूर्ख, तेरा बाप।

दोनों आपस में एक दूसरे को मारने लगे। फिर मारपीट कर शेखसेली अपने घर की ओर भाग गया, और उस बनिये ने धूर मिले हुए घी को ठीकरे में उठाकर, अपने घर की राह ली। ऐसे ही स्वसामर्थ्य के विना अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है और जो विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग मूर्ख कहते हैं॥ १॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ २॥

(महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर, अ० ३२)

जो विना बुलाये जहां-तहां सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार और उच्चासन को चाहे, वा ऐसे रीति से बैठे, कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, विना पूछे बहुत अण्डबण्ड बके और अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुखों की हानि कर लेवे, वही मनुष्य **मूढ़बुद्धि** और मनुष्यों में नीच कहाता है॥ २॥

जहाँ ऐसे-ऐसे मूढ़ मनुष्य पठन-पाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं, वहाँ सुखों का तो दर्शन कहां? किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे-ऐसे मूढ़ों का प्रसंग वा इनके साथ पठन-पाठनक्रिया को व्यर्थ समझकर, पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसङ्ग, और उन ही से विद्या का अभ्यास किया करें और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें।

ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षण-विधायक श्लोक विदुरप्रजागर के अध्याय ३२ में एक ही ठिकाने लिखे हैं।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥

आलस्य, नशा करना—मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर-उधर की अण्डबण्ड बातें करना, जड़ता—कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ-लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं। क्योंकि जिसको सुख-चैन करने की इच्छा है, उसको विद्या कहां, और जिसका चित्त विद्या ग्रहण करने-कराने में लगा है उसको विषयसम्बन्धी सुख-चैन कहां? इसलिये विषयसुखार्थी विद्या को छोड़े, और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहें। नहीं तो परमधर्म्म रूप विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा॥ ३-४॥

ये साढे तीन श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अध्याय ३९ में लिखे हैं।

प्रश्न—कैसे-कैसे मनुष्य सब विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं?

उत्तर— ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप।
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह॥ १॥
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप।
बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत॥ २॥
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम्॥ ३॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि—हे राजन्! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन। जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेके मरणपर्य्यन्त ब्रह्मचारी होता है॥ १॥

उसको कोई शुभगुण अप्राप्त नहीं रहता, ऐसा तू जान कि जिसके प्रताप से अनेक करोड़ों ऋषि और मनुष्य ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं॥ २॥

जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुण-स्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमयुक्त शरीर, ब्रह्मचर्य्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्म्मादि हैं, वे सब बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्म्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति करानेहारे होते और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं॥ ३॥

प्रश्न—विद्या पढ़ने और पढ़ाने वालों के विरोधी व्यवहार कौन-कौन हैं?

उत्तर—अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः॥ ४॥

जो विद्या और विद्वानों की सेवा न करना, अतिशीघ्रता और अपनी वा अन्य पुरुषों की प्रशंसा में प्रवृत्त होना है, ये तीन विद्या के शत्रु हैं? इनको पढ़ने और पढ़ानेहारे जो हैं, वे छोड़ दें।

प्रश्न—'शूरवीर' किनको कहते हैं?

(उ०) वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययने रताः।
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे॥ १॥
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे।
अरण्ये गृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने॥ २॥

जो कोई मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर अर्थात् दृढ़ोत्साही उद्योगी, जो निष्कपट, परोपकारक, अध्यापकों की सेवा करके शूरवीर, जो अपने जनक की सेवा करके शूरवीर॥ १ ॥

जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अतिथिरूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने के लिये भिक्षावृत्ति में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म्म और जो गृहाश्रम के व्यवहारों में शूर होते हैं, वे ही सब सुखों के लाभ करने-कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के पात्र होते हैं, कि जो अपना तन, मन, धन, विद्या और धर्मादि शुभ ग्रहण में सदा उपयुक्त करते हैं॥२ ॥

प्रश्न—शिक्षा किसको कहते हैं?

उत्तर—जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सकें, वह शिक्षा कहाती है।

प्रश्न—विद्या और अविद्या किसको कहते हैं?

उत्तर—जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर, उससे उपकार लेके, अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या; और जिससे पदार्थों के स्वरूप को अन्यथा (उलटा) जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवे, वह **अविद्या** कहाती है

प्रश्न—मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या-क्या कर्म करना चाहिये?

उत्तर—वर्णोच्चारण से लेके वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

प्रश्न—ब्रह्मचारी किसको कहते हैं?

उत्तर—जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये आचार्य-कुल में जाकर विद्याग्रहण के लिये प्रयत्न करे। वह **ब्रह्मचारी** कहाता है।

प्रश्न—आचार्य किसको कहते हैं?

उत्तर—जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से विद्या और धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा पूर्वक विद्या होने के लिये तन, मन और धन से प्रयत्न करे। उसको '**आचार्य**' कहते हैं।

प्रश्न—अपने सन्तानों के लिये माता-पिता और आचार्य क्या-क्या शिक्षा करें?

उत्तर—मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद। शतपथब्राह्मण॥

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता-पिता और आचार्य के सम्बन्ध में हो। क्योंकि इन तीनों ही की शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्रधारणे, माता-पिता आदि का मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें, और जैसा-जैसा उसका सामर्थ्य बढ़ता जाय, वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायं। इसी प्रकार लड़के और लड़कियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता-पिता की और इसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये।

प्रश्न—क्या माता-पिता जैसी चाहें वैसी शिक्षा करें?

उत्तर—नहीं, जो अपने पुत्र-पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे-बिटियां और विद्यार्थी! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी डाढ़ी-मूंछ पकड़ ले, इसकी जटा पकड़ ले, इसका जूड़ा पकड़ के ओढ़नी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपड़ा छीन ले, पगड़ी वा टोपी फेंक दे, खेल, कूद, हँस, रो, तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते हैं, उनको माता-पिता और आचार्य न समझने चाहियें, किन्तु सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं। क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दंड देते हैं, वे क्योंकर माता, पिता और आचार्य हो सकते हैं। और जो अपने सामने यथा-तथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर, विद्या आदि शुभगुणों के लिए उपदेश कर तन, मन, धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता, पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र हैं।

फिर वे अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण, और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा, और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेदशास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति भी जना देवें कि जिससे विद्या प्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही **माता, पिता** और **आचार्य** कहाते हैं।

प्रश्न—विद्या किस-किस प्रकार और कर्मों से होती है?॥

उत्तर—

चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति॥

महा० अ० १।१।१। आ० १

विद्या चार प्रकार में काम आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल। **आगमकाल** उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर, ध्यान देके, विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें। **स्वाध्याय-काल** उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक-ठीक हृदय में दृढ़ कर सकें। **प्रवचनकाल** उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना। **व्यवहारकाल** उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है, तब यह करना, यह न करना है, वह ठीक-ठीक सिद्ध हो के वैसा ही आचरण करना हो सके। ये चार प्रयोजन हैं।

तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं—**श्रवण, मनन, निदिध्यासन** और **साक्षात्कार।**

'**श्रवण**' उसको कहते हैं कि आत्मा मन के, और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो-जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करनेहारे शब्द निकलें, उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना।

'**मनन**' उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ, कौन अर्थ किस शब्द के साथ और कौन सम्बन्ध किस-किस शब्द और अर्थ के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या-क्या हानि होती है इत्यादि।

और '**निदिध्यासन**' उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध सुने, विचारे हैं वे ठीक-ठीक हैं वा नहीं? इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना।

और '**साक्षात्कार**' उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने, विचारे और निश्चय किये हैं, उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं।

प्रश्न—आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा-कैसा वर्तमान करें, और कैसा-कैसा न करें?

उत्तर—सत्य बोलें, मिथ्या न बोलें, सरल रहें, अभिमान न करें, आज्ञापालन करें, आज्ञा भंग न करें, स्तुति करें, निन्दा न करें, नीचे आसन पर बैठें, ऊंचे न बैठें, शान्त रहे, चपलता न करें, आचार्य्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें, जब कुछ पूछे, हाथ जोड़ के नम्र होकर उत्तर देवें, घमण्ड से न बोलें, जब वे शिक्षा करें चित्त देकर सुनें, ठट्ठे में न उड़ावें।

शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें, मैले न रक्खें। जो कुछ प्रतिज्ञा करें उसको पूरी करें। जितेन्द्रिय होवें, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें। उत्तमों का सदा मान्य करें, अपमान कभी न करें। उपकार मान के कृतज्ञ होवें, किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें। पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न हों, जिस-जिस कर्म से विद्याप्राप्ति हो उस-उस को करते जायं। जो-जो बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि विद्याविरोधी हों, उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें, बुरे कामों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक सदा करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और जितेन्द्रिय हो वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से शरीर का बल सदा बढ़ाते जायं।

प्रश्न—आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्त्तें?

उत्तर—जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमान, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा, प्रजा आदि के प्रियकारी हों। जब कभी किसी से बातचीत करें तब जो-जो उसके मुख से अक्षर, पद, वाक्य निकलें उनको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें। जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलीनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने-उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई, बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्यादोष लगाना,

चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर-उधर अट्ट-सट्ट मारना, विषयसेवन वा बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के सङ्ग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसको यथाऽपराध कठिन दण्ड देवें। इसमें प्रमाण—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥ १॥

महाभाष्य अ० ८। पा० १। सू०८। आ० १॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिए प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं, क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है उतना ही उनके लिए बिगाड़, और जितनी ताड़ना करनी है, उतना उनके लिये सुधार है, परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अंगभंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी लोग व्यथा को प्राप्त हो जायं॥ १॥

प्रश्न—क्यों जी!

पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं, [न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं], दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्?

हुड़दङ्गोवाच—हुड़दङ्गा कहता है कि जो पढ़ता है वह भी मरता है, और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है, फिर पढ़ने-पढ़ाने में दाँत कटाकट क्यों करना?

(उत्तर) न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम्।
अतो धर्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत्॥ १॥

सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दंगे! जो तू जानता है सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म-मरण, आंख से देखना, कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा हो जायं, किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने-कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना **विद्या का फल** है। क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता। क्या भया कि किसी को क्षण भर सुख हुआ, न हुआ-सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर सके। इसलिये सब को उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करें॥ १॥

हुड़दंगा—हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख मांगते तथा विना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं।

सज्जन—सुनो प्रिय! सुख-दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है। जहाँ विद्यारूप सूर्य्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है, वहाँ दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या ही कथा कहना है! और जहाँ विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है।

हुड़दंगा शिर धुनकर चुप हो गया।

प्रश्न—आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें?

उत्तर—आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर, उत्साह ही बढ़ता जाय। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें।

दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायं। अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस-जिस प्रकार से संसार में विद्या धर्माचरण की बढ़ती, और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा का कारण न हो जायं, कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त गिना जाऊं। ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव से मेरे गुण, कर्म, स्वभाव विरुद्ध होने से मुझ को महादुःख भोगना पड़े। धन्य वे मनुष्य हैं, कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते, इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायं।

विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय, वैसे कर्म करें, जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें। रात-दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक-दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को बढ़ाते जावें। जहाँ विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो, वहाँ कभी खड़े भी न रहें। जहाँ-जहाँ विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो, वहाँ से अलग कभी

न रहें। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े। जो-जो बुद्धि के नाश करनेहारे नशा के पदार्थ हों उनको ग्रहण कभी न करें, किन्तु जो-जो ज्ञान बढ़ाने और रोग-नाश करनेहारे पदार्थ हों, उन का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो-जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों उनको छोड़कर पूर्ण विद्या की प्राप्ति करें, ये दोनों के गुण कर्म हैं।

प्रश्न—सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है? क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है, उसके निर्णय करने में क्या-क्या निश्चित साधन हैं?

उत्तर—पांच हैं—

उनमें से प्रथम—ईश्वर, उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या।

दूसरा—सृष्टिक्रम।

तीसरा—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण।

चौथा—आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त।

और पांचवाँ—अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान।

१ ईश्वरादि से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो ईश्वर, ईश्वर के न्याय आदि गुण पक्षपातरहित, सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारिता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म; और जो-जो असत्य और अधर्म ठहरे, वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि विना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है, सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर और उसके गुण कर्म स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं।

२ सृष्टिक्रम उसको कहते हैं कि जो-जो सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और अनुकूल हो वह सत्य कहाता है। जैसे कहे कि विना मा-बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है। ऐसी-ऐसी बातें सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या और माता-पिता से सन्तान, कान से सुनना और

आंख से देखना, आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं।

३ प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक-ठीक ठहरे, वह सत्य और जो-जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है? दूसरे ने कहा कि पृथिवी, यह **प्रत्यक्ष**। इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना यह **अनुमान**। जैसे विना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता, वैसा ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त **उपमान**। सत्योपदेष्टाओं का उपदेश **शब्द**। भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा **ऐतिह्य**। एक बात सुनकर दूसरी बात को विना सुने-कहे, प्रसङ्ग से जान लेना यह **अर्थापत्ति**। कारण से कार्य होना आदि को **सम्भव**। और आठवां अभाव अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ। उसने वहाँ जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहाँ जल है वहाँ से ले आके देना चाहिए, यह **अभाव** प्रमाण कहाता है। इन आठ प्रमाणों से जो-जो विपरीत न हो, वह-वह सत्य और जो-जो उलटा हो वह-वह मिथ्या है।

४ आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित, सब के हितैषी, विद्वान् सब के सुख के लिए प्रयत्न करें वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। जो-जो उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से युक्त हो वह-वह सत्य और जो-जो विपरीत हो वह-वह असत्य है।

५ आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो-जो अपना आत्मा अपने लिए चाहे, सो सब के लिए चाहना और जो-जो न चाहे, सो-सो किसी के लिए न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को, जानने जनाने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखके सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये।

इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ाने और पढ़नेहारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें॥

प्रश्न—धर्म और अधर्म किसको कहते हैं?

उत्तर—जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा का पालन, परोपकार

करना रूप **धर्म,** और जो इससे विपरीत वह **अधर्म** कहाता है। क्योंकि जो सब के अविरुद्ध वह **धर्म** और जो परस्पर विरुद्धाचरण, सो **अधर्म** क्योंकर न कहावेगा? देखो! किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है? उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूँ। उससे उसने पूछा कि जो वह मानता है वा जो मैं मानता हूँ वह क्या है? उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म का स्वरूप है। और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है, इसी का नाम धर्म जानो। परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है॥

प्रश्न—जब-जब सभा आदि व्यवहारों में जायं, तब-तब कैसे-कैसे वर्त्तें?

उत्तर—जब सभा में जावे, तब दृढ़ निश्चय कर लेवे कि मैं सत्य को जिता और असत्य को हराऊंगा। अभिमान न करे। अपने को बड़ा न माने। अपनी बात का कोई खण्डन करे, उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो। जो कोई कहे उसके वचन को ध्यान देकर सुन के जो उसमें कुछ असत्य भान हो तो उस अंश का खण्डन अवश्य करे और जो सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे। बड़ाई-छोटाई न गिने। व्यर्थ बकवाद न करे। कभी मिथ्या का पक्ष न करे और सत्य को कदापि न छोड़े। ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर दृष्टि रक्खे। जिससे सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो, उसको करें। सज्जनों का संग करे और दुष्टों से अलग रहे। जो-जो प्रतिज्ञा करें वह-वह सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करें। इत्यादि कर्म सब सभा आदि व्यवहारों में करे।

प्रश्न—जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसको कहते हैं?

उत्तर—जो आप तो समझ ही न सके परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे, वह **जड़बुद्धि** और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े से समझाने से बहुत समझ जावे, वह **तीव्रबुद्धि** कहाता है।

यहाँ महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो। कहीं एक रामदास वैरागी का चेला गोपालदास पाठ करता-करता कुएँ पर पानी भरने को गया। वहाँ एक पण्डित बैठा था। उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि तू

''**स्त्री गनेसाजनम**'' ऐसा घोखता है सो शुद्ध नहीं है, किन्तु ''**श्रीगणेशाय नमः**'' ऐसा शुद्ध पाठ कर। तब वह बोला कि मेरे महन्त जी बड़े पण्डित हैं। उनने जैसा मुझको सुनाया है वैसा ही घोखूंगा। वह पानी भरकर अपने गुरु के पास जाके कहा कि महाराज जी! एक बम्मन् मेरे पाठ को असुद्ध बतलाता है। तब खाखी जी ने चेलों से कहा कि उस बम्मन् को यहां बुला लाओ। वह गुरु की लण्डी मेरे चेले को क्यों बहकाता और सुद्ध का असुद्ध क्यों बतलाता है? चेला गया, पण्डितजी को बुला लाया। पण्डित से महन्त बोले कि इसके कितने प्रकार के पाठ तू जानता है? पण्डित ने कहा कि एक प्रकार का।

महन्त जी ने कहा कि तू कुछ भी नहीं जानता। देख, मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूँ। **स्त्री गनेसाजनम। स्त्री गनेशापनम। स्त्री गनेसायनम।**

पण्डित—महन्तजी! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम श का स। ण का न। शा का सा। य का ज-प बोलना; और विसर्जनीय का न बोलना पांच अशुद्ध हैं।

महन्तजी बोले—चल बे, गुरु के बड़े घर में सब सुद्ध है। पण्डित चुपकर चले आये, क्योंकि ''**सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्**'' सबका औषध शास्त्र में कहा है परन्तु शठ मनुष्यों का ओषध कोई भी नहीं। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहें; परन्तु जो वे सुधरा चाहें तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें।

प्रश्न—जो माता, पिता, आचार्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें तो मानना चाहिए वा नहीं?

उत्तर—कदापि नहीं। कुमाता, कुपिता सन्तानों को बुरे उपदेश करते हैं कि बेटा! बिटिया! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे, किसी की चीज पावे, उठा लाना। कोई एक गाली दे तो उसको तू पचास गाली देना। लड़ाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस, अफीम खाना-पीना आदि कर्म्म करने में कुछ भी दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरम्परा है। सुनो प्रमाण—''**कुलधर्मः सनातनः**'' जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है, उसके करने में कुछ भी दोष नहीं।

सुसन्तान बोले—जो-जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म्म कहे, वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं, श्रेष्ठों के नहीं। किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवा

अवस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना, किसी की करोड़ों की चीज जंगल में भी पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने की मन में भी इच्छा न करना, आदि कर्म्म किया करते हैं। जो-जो तुम्हारे उत्तम कर्म्म और उपदेश हैं, उन-उनको तो हम ग्रहण करते हैं अन्य को नहीं। परन्तु तुम कैसे ही हो। हमको तन, मन, धन से तुम्हारी सेवा करना परमधर्म्म है, क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें?

कुसन्तान आह—श्रेष्ठ माता, पिता, आचार्य, अतिथियों से अभागिये सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे, तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर-उधर लीला करें हीगें। बाग में जाके नाच-तमाशे करेंगे वा भाग जायंगे वा वैरागी हो जायंगे। पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है, हमको पढ़के क्या करना है। क्योंकि हमारी सेवा करने वाले तुम तो बने ही हो। हमको सैल-सपट्टा, सवारी, शिकारी, नाच, तमाशे, खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने के लिये खूब दिया करो, नहीं तो जब हम जवान होंगे तब तुमको समझ लेंगे। **''दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, युद्धमेव भविष्यत्यन्यत्किम्''।** ऐसे-ऐसे सन्तान दुष्ट कहाते हैं।

उत्तम माता आदि कहते हैं कि सुनो लड़को! अभी तुम्हारी पढ़ने, गुणने, सत्संग करने, अच्छी-अच्छी बात सीखने, वीर्य-निग्रहण करने; आचार्य आदि की सेवा कर विद्वान् होने, शरीर और आत्मा की पूर्ण युवा अवस्था आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है। जो चूकोगे तो फिर पछतावोगे। पुनः ऐसा समय तुमको मिलना अति कठिन है, क्योंकि जब तक हम घर का और तुम्हारे खाने-पीने आदि का प्रबन्ध करने वाले हैं, तब तक तुम सुशिक्षाग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्या रूपी धन को संचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता और जितना दान करो उतना ही अधिक-अधिक बढ़ता जाता है। इससे युक्त होकर जहाँ रहोगे वहाँ सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्म्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे। हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठगुणों से अलंकृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे तो हम अपना भी अभाग्य समझ

लेंगे। क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हमको दुष्ट सन्तान मिले। क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य धन प्राप्त भी है परन्तु वे विद्या और उत्तम शिक्षा से विना नष्ट-भ्रष्ट हो जाते और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। तुमको चाहिये कि—

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥ १॥

तैत्तिरीयारण्यके प्रपाठके ७। अनुवाके ११

जो-जो हमारे उत्तम चरित्र हैं सो-सो करो और जो कभी हम भी बुरे काम करें, उनको कभी मत करो। इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और कराने हारे माता, पिता और आचार्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।

प्रश्न—राजा, प्रजा और इष्ट मित्र आदि के साथ कैसा-कैसा व्यवहार करें?

उत्तर—राजपुरुष प्रजा के लिए सुमाता और सुपिता के समान, और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र, मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिए आत्मा के समान प्रीति से वर्त्तें, परन्तु अधर्म्म के लिए नहीं। पड़ौसी पड़ौसी के साथ ऐसा वर्त्तमान करें कि जैसा अपने शरीर के लिए करते हैं। वैसे ही मित्रादि के लिए भी कर्म किया करें। स्वामी सेवक के साथ ऐसे वर्त्तें कि जैसा अपने हस्तपादादि अंगों की रक्षा के लिये वर्त्तते हैं। सेवक स्वामियों के लिये ऐसे वर्त्तें कि जैसे अन्न, जल, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिए होते हैं।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य का क्या-क्या नियम है?

उत्तर—कम से कम पच्चीस २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये और अड़तालीसवें वर्ष से अधिक पुरुष और चौबीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य का सेवन न करें किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है॥

प्रश्न—प्रमादी ब्रूते—पागल मनुष्य कहता है कि सुनो जी! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं, क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी तो मूर्ख पति का अपमान कर इधर-उधर पत्र भेजकर, अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के व्यभिचार किया करेंगी।

उत्तर—सज्जनः समाधत्ते—श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है। सुनो जी! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये,

क्योंकि वह भी पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाकगाड़ी चलाकर इधर-उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल-सपाटा किया करेगा।

प्रश्न—प्रमादी—हां। पुरुष भी न पढ़ें तो अच्छी बात है, क्योंकि पढ़े भए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर, अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं।

उत्तर—सज्जन—सुनो जी! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं, किन्तु आप जैसे मनुष्यों के सङ्ग का दोष है, और जो पढ़ना-पढ़ाना धर्म और ईश्वर की विद्या से रहित है, सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता और जो पढ़ना-पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है, वह तो सबके सुख और उपकार ही के लिये होता है।

प्रश्न—कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहां है?

उत्तर—सुनो प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥

—अथर्ववेद कां० ११। अ०३। सू० ५। मं १८

अर्थ—जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्यन्त शास्त्रों को पढ़कर, प्रसन्न करके, स्वेच्छा से पूर्ण युवा अवस्थावाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करें।

क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा चाहे? और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना अकल्याण किया चाहे?

प्रश्न—विद्या को किस-किस कर्म से प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—शुद्ध वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषयकथाप्रसङ्ग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर, उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस-जिस विद्या के लिये जो-जो साधनरूप सत्यग्रन्थ हैं, उन को पढ़कर वेदादि साध्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं।

प्रश्न—विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी?

उत्तर—दो। एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रखता परन्तु वह धर्माचरण

किया चाहे तो विद्वानों के सङ्ग और अपने आत्मा की पवित्रता और अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है। क्योंकि सब मनुष्यों को विद्वान् होने का तो सम्भव ही नहीं, परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है क्योंकि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य के होने, अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये? जब किसी की कोई चोरी वा किसी से झूठा जाल लगाता है तो क्या उसको अच्छा लगता है अर्थात् जिस-जिस कर्म के करने में अपने आत्मा को शङ्का, लज्जा और भय नहीं होता, वह-वह धर्म और जिस-जिस कर्म में शंकादि होते हैं, वह-वह अधर्म किसी को विदित क्या नहीं होता? क्या जो कोई आत्म-विरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और, वाणी में कुछ भिन्न, और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी, और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी, और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है, वह धर्मात्मा नहीं है? प्रमाण—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ १॥

यजुर्वेद अ० ४०। मं० ३॥

अर्थ—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करनेहारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य, राक्षस नामवाले मनुष्य हैं वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभि-गच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं, वे सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरणे के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—विद्या और अविद्या किसको कहते हैं?

उत्तर—जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह **विद्या,** और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं, वह **अविद्या** कहाती है।

प्रश्न—न्याय और अन्याय किसको कहते हैं?

उत्तर—जो पक्षपात रहित सत्याचरण करना है, वह **न्याय** और जो

पक्षपात से मिथ्याचरण करना है, वह **अन्याय** कहाता है।

प्रश्न—धर्म और अधर्म किसको कहते हैं?

उत्तर—जो न्यायाचरण है उसको **धर्म,** और जो अन्यायाचरण करना है, उसको **अधर्म** जानो॥

महामूर्ख का लक्षण

एक प्रियादास का चेला भगवान्दास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा। एक दिन उनसे पूछा कि महाराज! मुझको सस्ंकृत बोलना नहीं आया। गुरु बोले—सुन बे! पढ़ने-पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आ जाती है। जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है, तब जैसे कुंजियों से ताला खोल कर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते हैं, वे ऐसी युक्ति बतला देते हैं, कि हृदय के कपाट खुल जाकर सब पदार्थ-विद्या तत्क्षण आ जाती है। सुन! संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है।

वह क्या है महाराज जी?

संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों, उन पर एक-एक बिन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं।

अच्छा तो महाराज जी! लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर बिन्दु धर के कैसे संस्कृत हो जाते हैं?

देखो! लोंटां। जंलं। रोंटीं। दांलं। शांकं।

वाह-वाह गुरु के विना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है? भगवान्दास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया—

बांपं आंजां नंमंस्कृंत्यं पंरं पांजं तंथैंवं चं।

मंयां भंगंवांन् दांसेंनं गींतां टींकां कंरोंम्यंहं।

जब उसने प्रातःकाल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया, तब तो प्रियादास जी भी बहुत प्रसन्न हुए कि चेले हों तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी और जो गुरु हो तो मेरे सदृश हो।

ऐसे मनुष्यों का क्या औषध है, विना अलग रहने के?

प्रश्न—विद्या पढ़ते समय वा पढ़के किसी को पढ़ावें वा नहीं?

उत्तर—बराबर पढ़ाता जाय, क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढ़के आप अकेला विद्वान् रहता है, पढ़ाने से दूसरा

भी हो जाता है। उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है वह मनुष्य परोपकारी, धार्मिक मनुष्य अवश्य होता है। क्योंकि जैसे अन्धा कुएँ में गिर पड़ता है; वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता, और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं।

प्रश्न (क्षुद्रबुद्धिरुवाच) सभी विद्वान् हो जावेंगे तो हमको कौन पूछेंगे? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे, पूजापाठ में भी न बुलावेंगे। विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के पढ़ाने में है, क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है।

किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये।

(अल्पबुद्धि पोप)—तू कौन है, क्या काम करता है और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है?

उत्तर—मैं तो महाराज आपका दास शूद्र हूँ। कुछ जिमीदारी-खेतीबाड़ी भी होती और घर में कुछ लेन-देन का भी व्यवहार है।

(नष्टमति पोप) छी! छी! छी! तुझको सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है। जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म्म करेगा तो क्या नरक में न पड़ेगा? हां, तुझको वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार है। जब तेरी सुनने की इच्छा हो तब हमको बुला लेना; सुना देंगे। परन्तु आप से आप मत बांच लेना, नहीं तो अधर्मी हो जावेगा। जो कुछ भेट पूजा लाया हो सो धरके चला जा, और सुन! हमारे वचन को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी। खूब कमा और हमारी सेवा किया कर। इसी में तेरा कल्याण, और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा।

(दास) महाराज! मुझको तो पढ़ने की बहुत इच्छा है, क्या विद्या का पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लग जाय?

(बकवृत्ति पोप) बस-बस तुझको किसी ने बहका दिया है, जो हमारे सामने उत्तर-प्रत्युत्तर करता है। हाय! क्या करें, कलियुग आ गया। विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते। बिगड़ गये।

(दास) क्या महाराज! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई कर दी, कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है।

(स्वार्थी पोप) हां-हां, जो सतयुग होता तो तू हमारे सामने, ऐसा

बर-बर कर सकता?

(दास) अच्छा तो महाराज जी! आप नहीं पढ़ाते तो हम को जो कोई पढ़ावेगा, उसके चेले हो जावेंगे।

(अन्धकारी पोप) सुन-सुन! कलियुग में और क्या होना है।

(दास) आपकी हम सेवा करें, उसके बदले आप हमको क्या देंगे?

(मार्जारलिङ्गी पोप) आशीर्वाद।

(दास) उस आशीर्वाद से क्या होगा?

(धूर्त पोप) तुम्हारा कल्याण।

(दास) जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है?

(पोप उवाच) अब क्या तू हम से शास्त्रार्थ करता है?

प्रश्न—पोप का क्या अर्थ है?

उत्तर—यह शब्द अन्य देश की भाषा का है। वहां तो इसका अर्थ पिता और बड़े का है, परन्तु यहां जो केवल धूर्तता करके अपने मतलब सिद्ध करनेहारा हो उसी का नाम है।

प्रश्न—जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो तो उसको विद्या का फल होगा वा नहीं?

उत्तर—कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया, और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता है और साहूकारी को अच्छी जानके भी नहीं करता, वैसा ही जो पढ़ के भी अधर्म्म को नहीं छोड़ता और धर्म्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है।

प्रश्न—जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता है, परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता, और अच्छे काम को नहीं कर सकता, तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है अथवा नहीं?

उत्तर—दोष ही होता है क्योंकि जो उसने अधर्म्म कर लिया उसका फल अवश्य होगा और जानकर भी धर्म्म को न किया उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा। जैसे कोई मनुष्य कुए में गिरना बुरा जानके भी गिरे, क्या उसको दु:ख न, और अच्छे मार्ग में चलना उत्तम जानकर भी

न चले, उसको सुख कभी होगा? इसलिये—

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा कृति-
स्सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति॥

वही **सत्पुरुष** का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन, और जैसा वचन वैसा ही कर्म्म करना। और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म्म करना है, वही **असत्पुरुष** का लक्षण है।

इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक होना चाहिए।

प्रश्न—पुरुषार्थ किसको कहते और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर—उद्योग का नाम **पुरुषार्थ** और उसके चार भेद हैं। एक—अप्राप्त की इच्छा। दूसरा—प्राप्त की यथावत् रक्षा। तीसरा—रक्षित की वृद्धि और चौथा—बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना पुरुषार्थ के भेद हैं। जो-जो न्याय, धर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना। उसी प्रकार उसकी सब प्रकार से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। उसको धर्म्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना, और बढ़े हुए पदार्थों को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना; ये **चार भेद** हैं।

प्रश्न—किस-किस प्रकार से किस-किस व्यवहार में तन, मन, धन लगाना चाहिए?

उत्तर—निम्नलिखित चारों में—**विद्या की वृद्धि; परोपकार, अनाथों का पालन और अपने सम्बन्धियों की रक्षा।** विद्या के लिए शरीर को आरोग्य और उससे यथायोग्य क्रिया करनी, मन से अत्यन्त विचार करना-कराना और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्यादान करना-कराना चाहिए। परोपकार के लिये शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म्म करके अपना-अपना जीवन सुख से [व्यतीत] किया करें। **अनाथ** उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो, जैसे कि बालक, वृद्ध, रोगी, अङ्ग-भङ्ग आदि हैं, उनको भी तन, मन, धन लगाकर सुखी रख के जिस-जिससे जो-जो काम बन सके, उस-उस से वह-वह कार्य सिद्ध कराना चाहिये, कि जिससे कोई आलसी होके

नष्टबुद्धि न हो, और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान-पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन, मन, धन लगाया जाय, उतना थोड़ा है। परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना, और न रखना चाहिये।

प्रश्न—विवाह करके स्त्री पुरुष आपस में कैसे-कैसे वर्त्तें?

उत्तर—कभी कोई किसी का अप्रियाचरण, अर्थात् जिस-जिस व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट हो वैसा व्यवहार कभी न करें, जैसे कि व्यभिचार आदि। एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, एक दूसरे की सेवा करें। पुरुष भोजन (खान-पान), वस्त्र, आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रक्खे और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे। स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन, खान-पान, प्रेमभाव आदि से उसको सदा प्रसन्न रक्खे।

प्रश्न—ऐसा न करें तो क्या बिगाड़ है?

उत्तर—सर्वस्वनाश, क्योंकि परस्पर प्रीति के विना न गृहाश्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है। सुनो! मनु जी क्या कहते हैं—

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

मनु० अ० ३। ६०

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है, उसी में निश्चित कल्याण की स्थिति रहती है। परन्तु यह बात कब होगी कि जब ब्रह्मचर्य से विद्या, शिक्षा ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके, प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करेंगे। जितनी हानि विद्या, उत्तम प्रजा और सुख की बाल्यावस्था में विवाह और व्यभिचार से होती है, उतना ही सुखलाभ ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवा अवस्था में परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है। जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं, उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होता है कि जिनमें बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म्म, सुशीलता आदि शुभगुण पूर्ण होते हैं कि जो महाभाग्यशाली कहाके, अपने कुल को अति प्रशंसित कर देते हैं।

प्रश्न—मनुष्यपन किसको कहते हैं?

उत्तर—इस मनुष्य जाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता।

प्रश्न—वह कौन-सा है?

उत्तर—जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं, उनमें दो प्रकार का स्वभाव है—बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा देकर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना। देखने में आता है जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है, उसको भी इन्हीं जातियों में गिणना उचित है। परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शंका न करके, इनको परपीड़ा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन, मन, धन से सदा करना ही मनुष्य जाति का निज गुण है। क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय, शंका नहीं करते, वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।

प्रश्न—क्यों जी! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो! व्यापार में सत्य बात कह दें तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो। हार-जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी न खड़े करें तो हार हो जाये। इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं?

उत्तर—यह बात महामूर्खता की है। जैसे किसी ग्राम में एक लालबुझक्कड़ रहता था, कि जिसको पांच सौ ग्राम वाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे। एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था। उसके पग के चिह्न जहां-तहां मार्ग में बन रहे थे। उनको देख के खेती करनेहारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाई! यह किस का खोज है? सबने कहा कि हम नहीं जानते, हम नहीं जानते। फिर सब की सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुलाके पूछा कि तुम्हारे विना कोई भी दूसरा मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता। कहो यह किसके पग का चिह्न है? जब वह रोया और रोकर हंसा, तब सब ने पूछा कि तुम क्यों रोये और हँसे? तब वह बोला कि जब मैं मर जाऊंगा, तब ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर विना मेरे कौन दे सकेगा, और हंसा इसलिए कि इसका उत्तर तो सहज है। सुनो—

लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय।
पग में चक्की बांध के हिरना कूदा होय॥

जो जंगल में हिरण होता है, वह किसी जंगली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांध के कूदता चला गया है। तब सुनकर सब लोगों ने वाह-वाह बोलकर उसको धन्यवाद दिया, और बोले कि तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई भी पण्डित नहीं है, कि ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर दे सके।

जब वह लालबुझक्कड़ ग्राम की ओर आता ही था, इतनें में एक ग्रामीण की स्त्री ने जंगल से बेर लाके, जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड़ के खड़ा था, उसको कहा कि बेटा! बेर ले। तब उसने हाथों की अंजली बांध के बेरों को ले लिया। परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक नहीं पहुँचा, तब लड़का रोने लगा। लड़के को रोते देखकर उसकी मा भी रोने लगी कि हाय रे मेरे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे! तब उसका बाप सुनकर आया, वह भी रोने लगा कि हाय रे! थूणी ने मेरे लड़के को सचमुच पकड़ लिया। तब उसको सुनके अड़ौसी-पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दैया! इसके लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है। तब किसी ने कहा कि लालबुझक्कड़ को बुलाओ। उसके विना कोई भी लड़के को नहीं छुड़ा सकेगा। तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया। फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है? तब वह वैसे ही हंस और रो के स्वमुख से अपनी बड़ाई करके बोला कि सुनो लोगो! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है, एक तो यह है कि कुहाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो, अभी छूट जायगा और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठा के नीचे धरो, फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ। तब लड़के का बाप बोला, कि हम दरिद्र मनुष्य हैं, हमारा छप्पर टूट जायेगा तो फिर छावना कठिन है। तब लालबुझक्कड़ बोला कि लाओ कुहाड़ा, फिर क्या देख रहे हो। कुहाड़ा लाके जब तक हाथ काटने को तैय्यार हुए तब तक दूसरे ग्राम से एक कुछ बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहां पहुँच कर, देख के बोली कि इसका हाथ मत काटो। देखो! मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूँ। तब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अंजलि के नीचे अपनी अंजलि करके बोली कि बेटा! मेरे हाथ में बेर

छोड़ दे। जब वह बेर छोड़के अलग हो गया, फिर उसको बेर दे दिये; खाने लगा। तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि यह लड़का छः महीने के बीच मर जायगा। क्योंकि जैसा मैंने कहा था वैसा ही करते तो न मरता। तब तो उसके मा-बाप घबरा के बोले कि अब क्या करना चाहिये? तब उस स्त्री ने समझाये कि यह बात झूठ है, और हाथ के काटने से तो अभी यह मर जाता तो तुम क्या करते? मरण से बचने का कोई औषध नहीं। तब उनका घबराहट छूट गया।

वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठा समझ ले तो उसकी प्रतिष्ठा, प्रतीति और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट होते जाते, और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही करते हैं, उनको लाभ ही लाभ होते हैं, हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम **धर्म्म** और विपरीत का **अधर्म** है। क्या धर्म का सुख के लाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता? **प्रमाण**—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ १॥ यजु०। अ० १। मं० ५॥

सत्यमेव जयति नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा ह्यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ २॥
मुण्ड० ३। खं० १। मं० ६॥

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्॥ ३॥ इत्यादि

अर्थ—मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों का ग्रहण सदा करे॥ १॥

क्योंकि—सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है। इसलिए जिस सत्य से चलके धार्मिक ऋषि लोग जहाँ सत्य की निधि परमात्मा है, उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें॥ २॥

यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है॥ ३॥

इससे धन्य मनुष्य वे हैं जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते है।

दृष्टान्त—एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बज़ाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कै आने गज देगा?

वह बोला कि सोलह आने।

तुम भी कुछ कहो।

बज़ाज और ग्राहक दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है, परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते।

ग्राहक—छः आने गज दो, और सच-सच लेने देने की बात करो।

बज़ाज—अच्छा तो तुम को दो आने छोड़ देते हैं, चौदह आने दो।

ग्राहक—है तो टोटा, परन्तु सात आने ले लो।

बज़ाज—अच्छा तो सच-सच कहें।

ग्राहक—हां, हां।

बज़ाज—चलो एक आना टोटा भी सही, तेरह आने दो, तुमको लेना हो तो लो।

ग्राहक—मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा।

बज़ाज—तुमको लेना हो तो लो, न लेना हो मत लो, परमेश्वर की सौगन्द, बारह आने गज तो मुझको पड़ा है, तुम को भला मनुष्य जानकर मैं दे देता हूँ।

ग्राहक—धर्म की सौगन्द, मैं सच कहता हूँ, तुझको देना हो तो दे, पीछे पछतावेगा। मैं तो दूसरे की दुकान से ले लूंगा, क्या तुम्हारी एक ही दुकान है? नव आने गज दे दो, नहीं तो मैं जाता हूँ।

बज़ाज—तुमने ऐसा कभी खरीदा भी है? नव आने गज लाओ, मैं सौ रुपये का लेता हूँ।

ग्राहक धीरे-धीरे चला कि मुझको यह बुलाता है वा नहीं। बज़ाज तिरछी नजर से देखता रहा कि देखें यह लौटता है वा नहीं। जब न लौटा तब बोला, सुनो! सुनो! इधर आओ।

ग्राहक—क्या कहते हो, नव आने पर दोगे?

बज़ाज—ए लो धर्म से कहता हूँ, कि ग्यारह आने भी दोगे?

ग्राहक—मैं भी धर्म से कहता हूँ। साढ़े नव आने लो, कह कर कुछ आगे चला। बज़ाज ने समझा कि गया हाथ से, अजी इधर आओ-आओ।

ग्राहक—क्यों तुम देर लगाते हो, व्यर्थ काल जाता है।

बज़ाज—मेरे बेटे की सौगन्द, तुम इसको न लोगे तो पछताओगे, अब मैं सत्य ही कहता हूँ, साढ़े दश आने दे दो, नहीं तो तुम्हारी राजी।

ग्राहक—मेरी सौगन्द, तुमने दो आने अधिक लिए हैं। अच्छा दश आने देता हूँ, इतने का है तो नहीं।

बज़ाज—अच्छा सवा दश आने भी दोगे?

ग्राहक—नहीं-नहीं।

बज़ाज—अच्छा आओ बैठो, कै गज लोगे?

ग्राहक—सवा गज।

बज़ाज—अजी, कुछ अधिक लो।

ग्राहक—अच्छा, नमूना ले जाते हैं। अब तो तुम्हारी दुकान देख ली, फिर कभी आवेंगे तो बहुत लेंगे।

बज़ाज ने नापने में कुछ सरकाया।

ग्राहक—अजी देखें तो तुमने कैसा नापा?

बज़ाज—क्या विश्वास नहीं करते हो, हम साहूकार हैं वा ठट्ठा हैं। हम कभी झूठ कहते और करते हैं?

ग्राहक—हां जी, तुम बड़े सच्चे हो। एक रुपैया कहकर दश आने तक आये, छः आना घट गये, अनेक सौगन्दें खाईं।

बज़ाज—वाह जी वाह! तुम भी बड़े सच्चे हो, छः आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो। अनेक सौगन्दें खा-खा कर आये, सौदा झूठ के विना कभी नहीं हो सकता।

ग्राहक—तू तो बड़ा झूठा है।

बज़ाज—क्या तू नहीं है? क्योंकि एक गज कपड़े के लिये कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है।

ग्राहक—तू झूठा, तेरा बाप, हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है?

बज़ाज—तू झूठा, तेरी सात पीढ़ी भी झूठी।

ग्राहक ने ले जूता, एक मार दिया। बज़ाज ने गज चट मारा। आड़ोसी-पाड़ोसी दुकानदारों ने जैसे-तैसे छुड़ाया।

बज़ाज—चल-चल, जा, तेरे जैसे लाखों देखे हैं।

ग्राहक—चल बे, तेरे जैसे जुबांचोर, टटपूंजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं।

आड़ोसी-पाड़ोसी—अजी झूठ के विना कभी सौदा भी होता है? जाओ जी तुम अपनी दुकान पर बैठो, और जाओ तुम अपने घर को।

बज़ाज—यह बड़ा दुष्ट मनुष्य है।

ग्राहक—अबे, मुख सम्भाल के बोल।

बज़ाज—तू क्या कर लेगा?

ग्राहक—जो मैंने किया सो तैने देख लिया, और कुछ देखना हो तो दिखला दूँ?

बज़ाज—क्या तू गज से न पीटा जायगा?

फिर दोनों लड़ने को दौड़े। जैसे-तैसे लोगों ने अलग-अलग कर दिये। ऐसे ही सर्वत्र झूठे लोगों की दुर्दशा होती है।

धार्मिकों का दृष्टान्त

ग्राहक—इस दुशाले का क्या मूल्य है?

बज़ाज—पांच सौ रुपये।

ग्राहक—अच्छा, लीजिये।

बज़ाज—लो दुशाला।

सच्चे दुकान वाले के पास कोई झूठा ग्राहक गया। इस दुशाले का क्या लोगे?

बज़ाज—अढ़ाई सौ रुपये।

ग्राहक—दो सौ लो।

सेठ—जाओ, यहाँ तुम्हारे लिये सौदा नहीं है।

ग्राहक—अजी, कुछ तो कम लो।

साहूकार—यहाँ झूठ का व्यवहार नहीं है, बहुत मत बोलो, लेना हो तो लो, नहीं तो चले जाओ।

ग्राहक दूसरी बहुत दुकानों में माल देख, मूल्य करके, फिर वहीं आके, अढ़ाई सौ रुपये देकर दुशाला ले गया।

सच्चा ग्राहक झूठे दुकानदार के पास जाकर बोला कि इस पीताम्बर

का क्या लोगे?

बज़ाज—पच्चीस रुपये।

ग्राहक—बारह रुपये का है, देना हो तो दो, कहकर चलने लगा।

बज़ाज—अजी, अठारह दो।

ग्राहक—नहीं।

बज़ाज—सोलह दो।

ग्राहक—नहीं।

बज़ाज—चौदह दो।

ग्राहक—नहीं।

बज़ाज—तेरह दो।

ग्राहक—नहीं।

बज़ाज—अच्छा तो साढ़े बारह ही दो।

ग्राहक—नहीं।

बज़ाज—सवा बारह दो।

ग्राहक—नहीं।

बज़ाज—अच्छा बारह का ही ले जाओ।

ग्राहक—लाओ, लो रुपये।

ऐसे धार्मिकों को सदा लाभ ही लाभ होता है, और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है, कि सर्वथा झूठ को छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें। जिससे धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें॥

प्रश्न—मनुष्य का आत्मा सदा धर्म्म और अधर्म्मयुक्त किस-किस कर्म से होता है?

उत्तर—सर्वान्तर्य्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्व-व्यापक, सर्वकर्मों के साक्षी परमात्मा से डरने से अर्थात् कोई कर्म्म ऐसा नहीं है कि जिसको वह न जानता हो। सत्यविद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का सङ्ग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों के होने, और लाभ के अनुसार व्यय करने से मनुष्य धर्मात्मा होता है, और जो इससे विपरीत है वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से भय करता, और

परमेश्वर से भय नहीं करता वह क्योंकर धर्मात्मा हो सकता है? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता है, परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता, क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करने हारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है; मनुष्य नहीं। और वे जहाँ एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते वहाँ तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शंका नहीं करते।

दृष्टान्त—जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिए दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा, कि आप हमको पढ़ाइये।

विद्वान्—अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे, परन्तु हम कहें सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक-एक लड़के को एकान्त में ले जाके, जहाँ कोई भी न देखता हो, वहां इसका कान पकड़ कर, दो चार वार शीघ्र उठा-बैठा के, धीरे से एक चपेटिका मार देना। दोनों दोनों को ले के चले। एक ने तो चारों ओर देखा कि यहाँ कोई नहीं देखता। उक्त काम करके झट चला आया। दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा, कि मुझको लड़का, और मैं लड़के को भी देखता ही हूँ, फिर वह काम कैसे कर सकता हूँ? पण्डित के पास आया। तब जो प्रथम आया था उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया? उस ने कहा-हां। दूसरे को पूछा कि तू भी कर आया वा नहीं? उसने कहा—नहीं, क्योंकि आपने मुझको ऐसा कहा था कि जहाँ कोई न देखता हो, वहाँ यह काम करना, सो ऐसा स्थान मुझको कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को, और लड़का मुझको देखता ही था। पण्डित ने कहा कि तू बुद्धिमान् और धार्मिक है, मुझसे पढ़। दूसरे से कहा कि तू पढ़ने के योग्य नहीं है; यहाँ से चला जा।

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो। जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं, वे ही **धर्मात्मा** कहाते हैं।

प्रश्न—सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का सम्भव है वा नहीं?

उत्तर—विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते, और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं, और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है, परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता, क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुए में कभी नहीं गिरता, परन्तु अन्धे के तो गिरने का सम्भव है। वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उस में निश्चित रह सकते, और अविद्वान् ठीक-ठीक स्थिर नहीं रह सकते।

दृष्टान्त—जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था। उसके राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री ने कहा कि आजकल भोजन भी नहीं मिलता, बहुत कष्ट है। तुम पहले दानाध्यक्ष के पास जाना। वह राजा के पास लेजा के कुछ जप-अनुष्ठान लगवा देगा। उसने वैसा ही किया। जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका करा दीजिये।

दानाभक्ष—मुझको क्या देगा?

अर्थी—जो तुम कहो।

दानाभक्ष—**''अर्द्धमर्द्धं स्वाहा''**।

अर्थी—महाराज! मैं नहीं समझा तुमने क्या कहा?

दानाभक्ष—जो तू आधा हमको दे, और आधा तू ले, तो तेरी जीविका लगादें।

स्वार्थी—जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।

अच्छा तो चल राजा के पास।

स्वार्थी—चलो।

खुशामिदियों से सभा भरी थी, वहाँ दोनों पहुँचे। दानाभक्ष ने कहा कि यह गोब्राह्मण है। इस की कुछ जीविका कर दीजिये। यह आपका जप, अनुष्ठान किया करेगा।

राजा—अच्छा जो आप कहें।

दानाभक्ष—दश रुपैये मासिक होने चाहियें।

राजा—बहुत अच्छा।

दानाभक्ष—छः महीने का प्रथम मिल जाना चाहिये।

राजा—अच्छा कोषाध्यक्ष! इसको छः महीने का जोड़ कर दे दो।

कोषाध्यक्ष—जो आज्ञा! जब स्वार्थी गया रुपैये लेने को, तब कोषाभक्ष बोले, मुझ को क्या देगा?

स्वार्थी—आप भी एक-दो ले लीजिये।

कोषाभक्ष—छी छी!! दश से कम हम नहीं लेंगे। नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे। फिर आना।

जब तक दानाभक्ष ने एक नौकर भेज दिया, कि उस को हमारे पास ले आओ। तब तक कोषाभक्ष जी ने भी दश रुपैये उड़ा लिये। स्वार्थी पचास रुपैये लेके चला। मार्ग में नौकर—कुछ मुझे भी दे।

स्वार्थी—अच्छा भाई, तू भी एक रुपया लेले।

नौकर—लाओ। जब दरवाजे पर आया तब सिपाहियों ने रोका। कौन हो तुम, क्या ले जाते हो?

नौकर—मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूँ।

सिपाही—यह कौन है?

नौकर—जपानुष्ठानी!

सिपाही—कुछ मिला?

नौकर—यही जाने!

सिपाही—कहो भाई क्या मिला?

स्वार्थी—जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुँचे, सो ही मिला।

सिपाही—हम को भी कुछ देता जा।

स्वार्थी—लो ॥) आठ आने।

सिपाही—लाओ।

जब तक दानाभक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया। दूसरे नौकर से बोले देखो तो वह कहाँ गया? तब तक वे स्वार्थी आदि आ पहुँचे।

दानाभक्ष—लाओ, रुपये कहाँ हैं?

स्वार्थी—ये हैं अड़तालीस।

दानाभक्ष—वाह-वाह? बारह रुपये कहाँ गये! स्वार्थी ने जैसा हुआ था वैसा कह दिया।

दानाभक्ष—अच्छा तो चार मेरे गये और आठ तेरे।

स्वार्थी—अच्छा जैसी आपकी इच्छा हो।

तब छब्बीस लिये दानाभक्ष ने और बाईस स्वार्थी ने ले के कहा कि मैं घर हो आऊँ, कल आ जाऊंगा।

वह दूसरे दिन आया। उससे दानाभक्ष ने कहा कि तू गंगाजी पर जाकर राजा का जप कर, और ले यह धोती, अंगोछा, पंचपात्र, माला और गोमुखी। वह लेके गंगा पर गया। वहाँ स्नान कर माला लेके जप करने बैठा। विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है, ऐसा वह मूर्ख समझ गया। **''सरप माला खटक मणका, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं''** जपने लगा।

तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लग गया तो मेरा भी लग जायगा। चलो। वह गया। वैसा ही हुआ। चलते समय दानाभक्ष बोले कि तू जा, जैसा वह करता है वैसा करना। वह गया। वैसे ही आसन पर बैठ कर पहले वाले का मन्त्र सुनकर जपने लगा कि **''तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं''।**

वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ कर-करा लाया। चलते समय दानाभक्ष ने कहा कि जब तक निर्वाह होता दीखे तब तक करना। वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझ के वहाँ जाकर जप करने को बैठ के जपने लगा कि **''ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक''। ऐसा निभेगा कब तक।**

वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर-कराके गंगा पर जाने लगा, तब दानाभक्ष ने कहा कि जब तक निभे तब तक निभाना। वह भी इसको मन्त्र ही समझ के गंगा पर जाके जप करने को बैठ के उन तीनों का मन्त्र सुना कि एक कहता है—**''मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं''**। दूसरा—**''तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं''** तीसरा—**''ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक''!** और चौथा जपने लगा कि **''जब तक निभे तब तक, जब तक निभे तब तक''।**

ध्यान में रक्खो कि सब अधर्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती है, कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्याय रूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं। अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का, कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्म्मान्धकार में गिरके कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते।

यहां एक किसी धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो—

कोई एक विद्वान् धर्मात्मा राजा था। उसके दानाध्यक्ष के पास किसी ऐसे ही धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करा दो।

दानाध्यक्ष—तुमने कौन-कौन शास्त्र पढ़ा और क्या-क्या काम करते हो?

अर्थी—मैं कुछ भी नहीं पढ़ा हूँ। बीस वर्ष तक खेलता-कूदता गाय, भैंस चराता और खेतों में डोलता और माता-पिता के सामने आनन्द करता था। अब सब घर का बोझ पड़ गया है। आपके पास आया हूँ, कुछ करा दीजिये।

दानाध्यक्ष—नौकरी-चाकरी करो तो करा देंगे।

अर्थी—मैं ब्राह्मण साधु और जहाँ-तहाँ बाजारों में उपदेश करने वाला हूँ। मुझ से ऐसा परिश्रम कहाँ बन सकता है?

दानाध्यक्ष—तू विद्या के विना ब्राह्मण, परोपकार के विना साधु और विज्ञान के विना उपदेश कैसे कर सकता होगा? इसलिये नौकरी-चाकरी करना हो तो कर, नहीं तो चला जा।

वह मूर्ख वहाँ से निराश हो कर चला, कि यहाँ मेरी दाल न गलेगी, चलो राजा से कहें। जब राजा के पास जाके वैसे ही कहा। तब राजा ने वैसा ही जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्ष जी ने कहा है वैसा करना हो तो कर नहीं तो चला जा। वह वहाँ से चला गया।

इसके पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिल के बातचीत की तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है। जाके राजा से मिलाके कहा कि इन पण्डित जी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये। वैसा ही किया। तब राजा ने परीक्षा करके जाना कि यह अति श्रेष्ठ विद्वान् है, ऐसा जान कर उनसे कहा कि आप को हजार रुपैये मासिक मिलेंगे। आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये। वैसा ही हुआ।

धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं, कि जिनके हृदय में विद्या, परमात्मा और धर्म रूप सूर्य प्रकाशित होता है।

प्रश्न—दानाभक्ष और दानाध्यक्ष किसको कहते हैं?

उत्तर—जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय, वह **दानाभक्ष** और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर उनसे विद्या और धर्म की उन्नति कराता जाय, वह **दानाध्यक्ष** कहाता है।

प्रश्न—राजा किसको कहते हैं?

उत्तर—जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य्य, धैर्य्य आदि गुणों से युक्त होकर अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराके, आनन्दित रहता और सबको सुख से युक्त करता है, वह **राजा** कहाता है।

प्रश्न—प्रजा किसको कहते हैं?

उत्तर—जैसे पुत्रादि तन, मन, धन से अपने माता-पितादि की सेवा करके उनको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं, वैसे प्रजा अनेक प्रकार के धर्म्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध करके, राजसभा को कर देकर, उनको सदा प्रसन्न रक्खे, वह **प्रजा** कहाती है और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे, वह न राजा और अपना हित और राजा का अहित चाहे वह प्रजा भी नहीं है, किन्तु उनको एक-दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिये। क्योंकि दोनों धार्मिक होके एक-दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्त्तमान हों, तभी उनकी राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं। जैसे—

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त प्रजापालनादि उचित समय में ठीक-ठीक करता था। उसकी नगरी का नाम, '**प्रकाशवती**', राजा का नाम '**धर्मपाल**' और व्यवस्था का नाम '**यथायोग्य करनेहारी**' था। वह तो मर गया। पश्चात् उसका लड़का जो महा अधर्मी मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठ के सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने, वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहाँ से निकाला जाय। तब बड़े-बड़े धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्त्तते थे, वैसे आपको भी वर्त्तना चाहिये।

राजा—उनका काम उनके साथ गया, अब मेरी जैसी इच्छा होगी, वैसा करूंगा।

सभा—जो आप सभा का कहा न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जावेगा।

राजा—मेरा तो जब होगा तब होगा परन्तु तुम यहाँ से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूंगा।

सभासदों ने कहा कि "**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**" जिसका शीघ्र नाश होना होता है, उसकी बुद्धि पहले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये! यहाँ अपना निर्वाह न होगा। वे चले गये और महामूर्ख धूर्त खुशामदी लोगों की मण्डली उसके साथ हो गई। राजा ने कहा कि—**आज से मेरा नाम** "गवर्गण्ड", **नगरी का नाम** "अन्धेर" **और जो जो मेरा पिता और सभा करती थी, उससे सब काम मैं उलटा ही करूंगा।** जैसे मेरा पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्यकार्य्य करते थे। हम लोग दिन में सोवें, और रात में राज्यकार्य करेंगे। उनके सामने उनके राज्य में सब चीज अपने-अपने भाव पर बिकती थी, हमारे राज्य में केशर-कस्तूरी से लेके मट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेगी।

जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशान्तरों में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते, पांच-पांच सेर खाते और बड़े मोटे थे। चेले ने गुरु से कहा कि चलिये अन्धेर नगरी में वहाँ दश (१०) टकों से दश (१०) सेर मलाई आदि माल चाब के खूब तैयार होंगे। गुरु ने कहा कि वहाँ गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये क्योंकि किसी दिन खाया-पिया सब निकल जावेगा वरन् प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह से, साथ चला गया। वहाँ जाके अन्धेर नगरी के समीप बगीचे में निवास किया और खूब माल चाबते और कुश्ती करते रहते थे। इतने में कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपैयों की थैली लेके किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपैयों की थैली छीन कर भागे। उसने जब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है? उसने कहा कि अभी उचक्के मुझसे रुपैयों को छीनकर इधर जाते हैं। सिपाही धीरे-धीरे चलके किसी भले आदमी को पकड़ लिया कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूँ; चलो पूछ लो।

सिपाही—हम नहीं पूंछते, चल राजा के पास। पकड़ कर राजा के पास ले जा के कहा कि इसने हजार रुपैयों की थैली चोर ली है। गवर्गण्ड और आस-पास वालों में से किसी ने कुछ भी न पूछा, न गाछा। वह पुकारता ही रहा, किसी ने न सुना। हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो। शूली लोहे की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती

है। उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर, नाभि में उसकी अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब में मर जाता है। गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यों न हों? क्योंकि "**समानव्यसनेषु मैत्री**" जिनका स्वभाव एक सा होता है उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है। जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों की दुष्टों और व्यभिचारियों की व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है। न कभी धर्मात्मादि का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है।

गर्वगण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली तो मोटी और मनुष्य है पतला; अब क्या करना चाहिये। तब राजा के पास जाके सब बात कही। उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इसको छोड़ दो और जो कोई शूली के सदृश मोटा आदमी हो उसको पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो। तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचे वाले गुरु चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले कि ठीक-ठीक तो उसका चेला ही है। जब बहुत से सिपाहियों ने बगीची में जाके उसके चेले से कहा कि तुझको महाराज का हुक्म है, शूली पर चढ़ने के लिये चल। तब तो वह घबरा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया है।

सिपाही—अपराध तो नहीं किया, परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है; हम क्या करें?

साधु—क्या दूसरा कोई नहीं है?

सिपाही—नहीं! बहुत बर-बर मत कर, चल। महाराज का हुक्म है।

तब चेला गुरु से बोला कि महाराज! अब क्या करना चाहिये?

गुरु—हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो; तूने नहीं माना। अब हम क्या करें? जैसे हो वैसा भोग। देख! अब सब खाया पिया निकल जावेगा।

चेला—अब किसी प्रकार बचाओ तो यहाँ से दूसरे राज्य में चले जावें।

गुरु—एक युक्ति है बचने की, सो करो तो बचने का सम्भव है कि शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हठा; मैं तुझको हठाऊं। इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा।

चेला—अच्छा तो चलिये।

ये सब बातें दूसरे देश की भाषा में की। इससे सिपाही कुछ भी न समझे।

सिपाहियों ने कहा—चलो, देर मत लगाओ, नहीं तो बांध के ले जायंगे। साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नता पूर्वक चलते हैं; तुम क्यों बांधो?

सिपाही—अच्छा तो चलो।

जब शूली के पास पहुँचे तब दोनों लंगोट बाँध के मट्टी लगा के खूब लड़ने लगे। गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढूंगा।

चेला—चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े।

गुरु—मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाय। हां! मुझको मार कर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना। क्यों बकता है? चुप रह। समय चला जाता है।

ऐसा कह कर शूली पर चढ़ने लगा। तब चेले ने गुरु को पकड़ कर धक्का देकर अलग किया। आप चढ़ने लगा। फिर गुरु ने भी वैसा ही किया। तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिए क्यों लड़ते हो?

तब दोनों साधु बोले कि हम से इस बात को मत पूछो। चढ़ने दो। क्योंकि हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है।

यह बात तो यहां ऐसी ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी। आप वहाँ से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सब से बोला कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है। सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है महाराज की बुद्धि को। बैंगन के शाक को चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा कर ली। सुनिये महाराज! जब बैंगन अच्छा है, तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलंगी, ऊपर वर्ण घनश्याम और भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है। ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हँसे। जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया। ड्यौढ़ी बन्द हुई। तब खुशामदी लोगों ने चौकी पहरे वालों से कहा कि जब तक प्रात:काल हम न आवें, तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना। उनने कहा कि अच्छा, आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई।

खुशामदी—आज न हुई कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा से निकाल कर अपने घर में पहुँचे वही अपना है। जब राजा को नशा और रंडीबाजी खेल में सब लोग मिलकर लगा देंगे, तभी अपना गहरा होगा। और सब खजाना अपना ही है, आपस में मिले रहो; फूटना न चाहिये। सब ने कहा, हां जी हां, हां! ठीक है।

वे तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने को गया, तब गर्म मसाले पड़े हुए बैंगन के शाक ने गर्मी की, और जंगल की हाजत हुई। ले लोटा जाजरू में गया, रात भर खूब जुलाब लगा। घड़ी-घड़ी में कोई तीस ३० दस्त हुए। रात्रि भर नींद न आई। बड़ा व्याकुल रहा। उसी समय वैद्यों को बुलाया। वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे, ऊटपटांग ओषधियां दीं। उनने और भी बिगाड़ किया। क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्यों कर ठहर सकते हैं?

जब प्रात:काल हुआ तब खुशामदियों की मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि महाराज क्या करते हैं?

दासी—आज रात भर जुलाब लगा, और व्याकुल रहे।

खुशामदी—क्या कोई रात्रि में महाराज के पास आया भी था?

दासी—दश बारह जने आये थे।

खुशामदी—कौन-कौन आये थे? उनके नाम भी जानती हो?

दासी—हां तीन के नाम जानती हूँ; अन्य के नहीं।

तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न कर दी हो, इसलिये आज से हम में से एक-दो पुरुषों को रात में ढ्यौढ़ी में अवश्य रहना चाहिये। सब ने कहा बहुत ठीक है। इतने में जब आठ बजे के समय, मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा। तब खुशामदियों ने भी उससे सौगुणा मुख बिगाड़ कर, शोकाकृति मुख होकर, ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई।

गवर्गण्ड—बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है, परन्तु बादी करता है। उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दु:ख हुआ।

खुशामदी—वाह-वाह जी वाह महाराज! आपके सदृश न कोई राजा हुआ, न होगा, और न कोई इस समय है क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा और रात्रि भर में दोष भी जान लिये। देखिये महाराज! जब बैंगन दुष्ट है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों

ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान और भीतर का रंग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है।

गवर्गण्ड—क्यों जी! कल रात को तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलंकार और इस समय उन्हीं को निन्दा में खूंटी आदि की उपमा दे दी? हम किसको सच्ची मानें?

खुशामदी घबरा के बोले कि धन्य, धन्य, धन्य है, आपकी विशालबुद्धि को! क्योंकि कल सन्ध्या की बात अब तक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज! हमको साले बैंगन से क्या लेना देना था। हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता, और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें; सो सभी ठीक है।

गवर्गण्ड—हां-हां नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी की किसी बात में प्रत्युत्तर न दें, किन्तु हां जी हां जी, ही करते जांय।

खुशामदी—ठीक है! राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें। रात दिन अपने सुख में मगन रहें। नौकर-चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रक्खें। बनिये बक्काल के समान हिसाब-किताब कभी न देखें। जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें सो ही ठीक रक्खें। जिस दरख्त को लगावें, उसको कभी न काटें। जिसको ग्रहण किया, उसको कभी न छोड़ें, चाहे कितना ही अपराध करें, क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से यदि परिश्रम किया तो जानो उनका कर्म फूट गया और जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है; राजा नहीं।

गवर्गण्ड—क्यों जी! कोई मेरे समान राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए होंगे और आगे कोई होंगे वा नहीं?

खुशामदी—नहीं-नहीं-नहीं कदापि नहीं। न हुआ, न होगा और न है।

गवर्गण्ड—सत्य है। क्या ईश्वर भी हम से अधिक उत्तम होगा?

खुशामदी—कभी नहीं हो सकता। क्योंकि उसको किसने देखा है। आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं, क्योंकि आप की कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य से योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य से अयोग्य तत्काल ही हो सकता है।

इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सोने को सब लोग गये। जब सायंकाल हुआ तब जागे और फिर सभा लगी।

इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभासहित वहाँ जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो?

साधु—तुम हम से मत पूछो। चढ़ने दो। समय चला जाता है। ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिला है।

गवर्गण्ड—इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा?

साधु—हम नहीं कहते। जो चढ़ेगा वह फल देख लेगा। हमको चढ़ने दो।

गवर्गण्ड—नहीं-नहीं, जो फल होता हो, सो कहो। सिपाहियो! इनको इधर पकड़ लाओ।

पकड़ लाये।

साधु—हमको क्यों नहीं चढ़ने देते? झगड़ा क्यों करते हो?

गवर्गण्ड—जब तक तुम इसका फल न कहोगे तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे।

साधु—दूसरे को कहने की तो बात नहीं है, परन्तु तुम हठ करते हो तो सुनो। जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण को छोड़ेगा, वह चतुर्भुज होकर, विमान में बैठ के, आनन्दरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा।

गवर्गण्ड—अहो! ऐसी बात है तो मैं ही चढ़ता हूँ। तुमको न चढ़ने दूंगा।

ऐसा कहकर झट आप शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये। साधु अपने आसन पर आये। चेले ने कहा कि महाराज चलिये; यहाँ अब रहना न चाहिये। गुरु ने कहा कि अब कुछ चिन्ता नहीं; जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था वह मर गया। अब धर्म का राज्य होगा। क्या चिन्ता है? यहीं रहो।

उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान्, पिता के सदृश धार्मिक, और जो उसके पिता के सामने धार्मिक सभासद् और प्रजा में से सत्पुरुष जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे, वे सब आके सुनीत नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके, उसके मुरदे

को शूली पर से उतार के जलवा दिया और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड देके कुछ कैद कर दिये और बहुतों को नौका में बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्धीखाने में डालकर अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्य धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे। और पुनः '**प्रकाशवती**' नगरी का प्रकाश हुआ, और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे।

जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्योदय होता है तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करनेहारा राजा, धनाढ्य और खुशामदियों की सभा और उनके समतुल्य अधर्मी, उपद्रवी, राजविद्रोही प्रजा भी होती है। और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्योदय होने वाला होता है, तब सुनीत के समान धार्मिक, विद्वान् , पुत्रवत् प्रजा का पालन करने वाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राजसम्बन्ध में प्रीतियुक्त, मंगलकारिणी प्रजा होती है। जहाँ अभाग्योदय, वहाँ विपरीतबुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादिस्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं, और जहां सौभाग्योदय, वहाँ परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं। वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं।

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक होके खाने, पीने, बोलने, सुनने, बैठने, उठने, लेने, देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता, और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं, कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के, लड़की, इष्ट मित्र, आड़ोसी-पाड़ोसी और स्वामी, भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीरचितो
व्यवहारभानुः समाप्तः॥

१६

भ्रमोच्छेदन

ग्रन्थ परिचय

'**भ्रमोच्छेदन**' नामक ग्रन्थ महर्षि दयानन्द द्वारा लिखा गया है। महर्षि ने यह ग्रन्थ **संवत् १९३७, ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तिथि गुरुवार** को पूर्ण किया। यह ग्रन्थ **हिन्दी भाषा** में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द जी के अपने शब्दों में ही, **''अब जो राजा शिवप्रसाद जी ने स्वामी विशुद्धानन्द जी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में, निवेदन पत्र छपवा के प्रसिद्ध किया है, उसी के उत्तर में यह पुस्तक है।''**

राजा शिवप्रसाद एक विद्वान् भी हैं महर्षि दयानन्द जी की पहले यही धारणा थी और वे उनसे मिलना भी चाहते थे, परन्तु एक बार संवत् १९२६ कार्तिक सुदी १४, गुरुवार के दिन अचानक कुछ समय के लिए स्वामी जी की उनसे बात हुई तो उनकी धारणा बदली। उनके शब्दों में, **''परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजा जी पर था वैसा उनको न पाया। राजा जी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी है।''** वस्तुत: स्वामी जी इसके माध्यम से **स्वामी विशुद्धानन्द जी को चेताना चाहते थे।** उनके अनुसार, राजा जी तो संस्कृत विद्या पढ़े ही नहीं तो उनके सामने यह लेख तो ऐसा ही है जैसे बहरे के सामने अत्यन्त निपुण गाने वाले का वीणा आदि बजाना। (सम्पादक)

॥ ओ३म्॥

भ्रमोच्छेदन[१]

(अविद्वानों का)[२]

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन कर चित्त में चाहा कि कभी उन से समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं?

देखना चाहिये कि जैसा उन को मैं सुनता हूं, वैसा ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पांच वार काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उन से ऐसा समागम न हुआ[३] कि कुछ वार्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९२६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग़ में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल ऑलकाट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेष्टकी को मिलने के लिये आनन्दबाग़ में आये, उन्होंने मुझ से मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिलना चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब की सूचना कराई और जब-तक उक्त साहब के साथ

---

१ इस पुस्तक में जहां जहां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठों के प्रमाण दिये हैं, वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम संस्करण सन् १८७६ के अनुसार हैं।

२ जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूँ सो सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे।

३ एक बार सय्यद अहमदखां सदरसदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था, पर वार्तालाप नहीं हुआ था।

राजाजी न उठ गये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं उनसे बातें हुईं, परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया।[४] मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि—'स्वामीजी की बात सुन मैं भ्रम में पड़ गया'।

यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है, और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं?[५] जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं,[६] किन्तु इस में प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है।

देखो, मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये? जब मेरी यात्रा सुनी, तभी पत्र भेजके प्रत्युत्तर क्यों चाहे? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवा चार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां तहां भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित करना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है।[७] भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे?

४. राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।
५. कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो, परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें विना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता, 'न वह विना पढ़े' समझ सकता है।
६. हाथी के खाने के दांत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं।
७. जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी, तभी उनसे पत्र व्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा।

ऐसे कपट छल से व्यवहार न करने में मनुजी की साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥ १॥

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो, उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे, और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे, और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से[८] (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधिगच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं॥ १॥

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये[९] तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूँ? हाँ, मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म, उन सबों के समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं जब तक वह अपनी अयोग्यता को छोड़ कर नहीं पूछता और न कहता है तब तक उससे सत्याऽसत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां, जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं अर्थात् जब जब अयोग्य पुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूं, तब तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित हो जाता है[१०]॥

८. जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे वह 'छली' कहाता है।
९. जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता, वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता।
१०. कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता, तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये हैं, उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है।

अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में 'निवेदनपत्र' छपवाके प्रसिद्ध किया है, उसी के उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहां जहां (रा०) चिह्न आवे, वहाँ वहां राजा शिवप्रसादजी का और जहां जहां (स्वा०) आवें वहां वहां मेरा लेख जानना चाहिए॥

रा०—जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा। महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगाके पृष्ठ १ से ८८ तक देखा, विचित्र लीला दिखाई दी। आधे आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध को जो प्रतिकूल पाये परित्याग[११]। उन आधे अनुकूल में जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे,उनके अर्थ पलट दिये, मनमाने लगा लिये[१२] परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा? क्या इसलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है?

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है, उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है? और यह भी सच है कि जब जब अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रन्थ को देखने लगता है, तब तब काच के मन्दिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस-भूंस सुख के बदले दु:ख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता

११. देखिये राजाजी की अद्‌भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ अनुकूल लिखा है उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है।

१२. जैसी राजाजी की समझ है, वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती क्योंकि जो व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है उस उस को वे उलटा समझते हैं और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं, यह उन की समझ का दोष है।

हो, उतना ही लिखना उचित होता है, न अधिक न न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है, इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था, उतना ही लिखा है। जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती, तो वहां उस उस भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरण विरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं[१३]।

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रन्थों ही के साथ सम्बन्ध होता है। जब ऐसा है, तब राजाजी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रन्थों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है[१४] कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी सम्पूर्ण का लिखना उचित समझते हैं, सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़ कर गिराती रहती है, अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं, उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहां जो को मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं, वही आप के **''अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धा:''** इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली[१५] तो ऐसी है—

''अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना: स्वयं धीरा: पण्डितम्मन्यमाना:।
जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:॥''

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा? तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायँगे, क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो, किन्तु वाक्यावली लिखना योग्य

१३. चेत करना चाहिये यह उल्टी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना।

१४. ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है, और न हाथ से लिखा जा सकता है।

१५. जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग और जूते शिर पर धरता है, वैसे काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता।

समझते हैं।[१६]

जो ऐसा न समझे तो—''**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टगं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥**'' इस वाक्य समुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा, यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें, उन्होंने न कभी किसी से वाक्य का लक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो '**एवं वा०**' इससे ले के '**निःश्वसितानि**' इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते[१७]।

देखिये! यह **महाभाष्य** में वाक्य का लक्षण लिखा है—'**एकतिङ् वाक्यम्।**' जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो, वह 'वाक्य' कहाता है। जैसे—'**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति**' एक और '**पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति**' दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कण्डिका में २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य '**त्वं विद्धि**' इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो, उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो, उनको प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है[१८]? इसीलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है, सो बहुत ठीक है

१६. मेरी प्रतिज्ञा तो यह कि है जहां जितना लिखना योग्य हो, वहां उतना ही लिखना॥

१७. जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते, तो उनके मुख से ऐसी असम्भव बात कभी न निकलती।

१८. राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूं। हां '**अन्धानां मध्ये काणो राजा**' यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे।

१९. ईश्वरोक्त चार वेद स्वतः प्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी

कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्या-पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है[१९]। इसलिये उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ।

क्या अब जिस को थोड़ीसी बुद्धि होगी, वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थ ज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है? यहां '**चोर कोटवाल को दण्डे**' यह कहानी चरितार्थ होती है कि जो ''**अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः**'' के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और उपदेश को माननेहारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट पलट नहीं है?

इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित करता हूं कि जो अपना कल्याण चाहें, वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्य जन्म के धर्मार्थ काम मोक्ष फलों से रहित होकर दुःखदुर्गन्धसागर रूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है, सो करनी चाहिये—

रा०—श्रीमत्पण्डितवर[२०] बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं, परमपूजनीय जगद्गुरु[२१] श्री स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच, जो पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे[२२] और पिछले उत्तर पर जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धानन्दजी का

आर्ष पुस्तक पढ़ना बाक़ी नहीं रहता कि जिसका परतःप्रमाण ग्रहण न हो सके क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुए हैं और पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया है इसलिये जो राजाजी ने नोट में ''स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा'' लिखा है, सो भ्रम से ही है।

२०. काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं, भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं।

२१. जगत् में जो जो उनके शिष्यवर्ग में हैं, उन उनके परमपूजनीय और गुरु होंगे, सब के क्यों कर हो सकते हैं?

२२. जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते, तो हास करके अयोग्य पत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते?

लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो, उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों? क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित् अव्युत्पन्न व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर विना सोचे समझे सम्मति लिख देवें, और इससे 'सजातीय प्रवाहपतन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यत्व की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूं कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें।[२३] भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आपने जिसलिये वेदादिविद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है, जो आप को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझ कर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि-विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसीलिये उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूंगा।

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते, तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते[२४]। न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूं कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीन टीकानुसार दश उपनिषद्, शारीरक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है। परन्तु वे भी नशा से[२५] विस्मृत हो गये होंगे, तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिये वे संस्कृत पदवाक्य प्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं। परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी।

२३. जो कोई विना बिचारे कर बैठता है, उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते।

२४. यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है।

२५. सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं, वे सब बुद्धिनाशक होते हैं। इससे सब को योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें।

अस्तु, जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर का प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे, वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे, जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये ये तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों का विचार शुद्ध लिखकर मुन्शी बख्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मुन्शीजी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं, इस निश्चय के लिये पत्र द्वारा आप से सम्मतिपत्र मंगवाके मेरे पास भेज दिया करेंगे और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्र सहित उनके पास भेज दिया करेंगे।

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे, तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे? क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें, वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों, तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते?

और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते[२६]? जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आने पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उन्होंने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई, वैसे जो वे मुझसे शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये विना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे?

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इस पर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी

२६. उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढ़ोत्साहयुक्त होके निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें।

के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजाजी! आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच कर पत्र दिखा सम्मति लिखा पुस्तक छपाकर इधर उधर भेजने से भी न बच सके, आपके जाट, खाट और कोल्हू लौट कर आप ही के शिर पर चढ़े वा नहीं? अब इस बोझ के उतारने के लिये आपको योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिये और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक् अर्थात् वारिस्टर करना भी मत छोड़िये।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें, किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो, जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़, सत्यमत ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे, वह संशय में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे?

अब मैं सूचना करता हूँ कि बुद्धिमान् आर्य लोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यपद लेख को देख उस पर विश्वास कर इस **'क्वास्ताः क्व निपतिताः'** महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश होकर धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते, सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है, वैसे मैंने नहीं कहा था किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

रा०—आपका मत क्या है?

स्वा०—वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं?

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते?

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते?

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है, जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०—वादी कहता है[२७] जो संहिता ईश्वर प्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वर प्रणीत हैं।

स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को, जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मणग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं, तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है, तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये[२८]।

२७. क्या विद्या और सुशिक्षा रहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है? जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं, तो वादी क्योंकर बन सकते हैं?

२८. जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता।

स्वा०—देखिये, राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं, वैसी ही प्रतिध्वनि सुनने में आती है, विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले, विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्ध पक्ष प्रतिपादन नहीं करता, तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआ में से प्रतिध्वनि सुनी जाती है, क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होती है?

रा०—आपने लिखा वेदसंहिता स्वत:प्रमाण और ब्राह्मण परत:प्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वत:प्रमाण हैं, आपका संहिता परत:प्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है? जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वत:प्रकाशमान हैं तो घटपटादि भी स्वत:प्रकाशमान हैं।

रा०—आप ने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव ९ पृष्ठ से लेके ८८ अट्ठासी के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेदसंज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये, निश्चय होगा। सो महाराज! निश्चय के पलटे में तो और भी भ्रांति में पड़ गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा, उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान करे, वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़ कर दु:ख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वत:प्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परत:प्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के इसी पृष्ठ में आगे लिखे हैं। क्या बांचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंख अन्धकारावृत्त हो गये थे?

परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वत:प्रमाण और ब्राह्मण परत:प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०—'**तस्माद्यज्ञात्---अजायत**' अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए। पृष्ठ ९ पङ्क्ति १ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ और विष्णु परमेश्वर है।

स्वा०—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते, तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि 'तच्छब्द' सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने '**सहस्रशीर्षा पुरुषः**' यहां से लेके '**ग्राम्याश्च ये**' यहां तक जो छ: मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्त कारण परमात्मा पूर्वोक्त है, उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ९ पंक्ति ९—''**(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।**''

यहां 'सर्वहुत' और 'यज्ञ' विशेषण पूर्णपुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है, उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं। इत्यादि से यहां वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वत:प्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है, तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है, वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये '**यज्ञो वै विष्णुः**' यह वचन लिखा है और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता।

जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थ सम्बन्धों के जानने में तन मन धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते[२९]।

[रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है। आप पृष्ठ ८१ पंक्ति २ में लिखते हैं—कात्यायन ऋषि ने कहा

२९. प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते।

है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं और फिर ५३ में लिखते हैं चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आपके निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे?][३०] ॥

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ से लेके पृष्ठ ८८ अट्ठासी तक में लिख रखा है, जो चाहे सो देख लेवे। और जो वहां '**एवं तेनानुक्तत्वात्**' इस वचन का यही अभिप्राय है कि '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता[३१]? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते? जो कभी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते?

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे, तो ऐसा नहीं हो सकता। क्यों आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो? और जो उन को भी आप्त मानते हो, तो मन्त्रसंहिता ही वेद हैं उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद-संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते और जो सैंकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

रा०—आप लिखते हैं कि—ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं, सो देहधारी हैं, अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और काश्यप का अर्थ प्राण है, अतएव वह वेद है।

३०. वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया, वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था।

३१. हज़ारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है, मूर्ख दो का भी एकमत होना कठिन है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहां जहां ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहां वहां जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती, वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते तो वेद आदि और सब से प्राचीन नहीं हो सकते? क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जब कि वेदों में '**त्र्यायुषं जमदग्ने०**' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थ विद्यायुक्त होनी ही उचित है, इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है, वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते, तो भ्रमजाल में फँसकर दु:खित न होते।

रा०—उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है? अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उसका संज्ञी वा संज्ञा है?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि एक '**ईशावास्य**' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है, और 'केन' से लेके 'बृहदारण्यक' पर्यन्त ९ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहासादि संज्ञा '**ब्राह्मणानीतिहासान्०**' इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे '**एवं वा अरे०**' इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञी-सम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो '**मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी**' ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते[३२]।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने के प्रमाण के योग्य तो हैं। यदि आप इतना और मानलें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है।

३२. विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती। क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने के प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे।

इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वत: प्रमाण, और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हो तो अप्रमाण और अनुकूल हो तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परत:प्रमाण हैं क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर धरके पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है। इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है।

रा०—आप लिखते हैं—'**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**' इसका अर्थ सीधा सीधा यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है। अपना फिरावट का वा अर्थाभास छोड़ दें। किमधिकमित्यलम्।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटाङ्गलेख है, उस को कौन शुद्ध कर सकता है क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पंक्ति ३ में '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' इस उपनिषद् के वचन ने आप के सीधे सीधे अर्थ को टेढ़ा टेढ़ा कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ से करता हूँ, तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में परा विद्या क्यों नहीं?

देखो—**तमीशानं,** इत्यादि मन्त्र, **ऋग्वेद। परीत्य भूतानि**' इत्यादि और '**ईशावास्य**' इत्यारभ्य, '**ओं खं ब्रह्म**' पर्यन्त मन्त्र युक्त ४० चालीसवां अध्यायस्थ मन्त्र, यजुर्वेद। '**दधन्वे वा यदीमनुवोचद् ब्रह्मेति वेरुत्तत्।**' इत्यादि मन्त्र सामवेद। '**महद्यक्षं** इत्यादि मन्त्र **अथर्ववेद**' में हैं। जब वेदों में हज़ारों मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, जिनमें से थोड़े से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका पृष्ठ ४३ पंक्ति २२ से लेके २६ पंक्ति की समाप्ति तक लिख रक्खा है। जिसको देखना हो देख लेवे।

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में परा विद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहां से आती? '**मूलं नास्ति कुतः शाखाः?**' क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था? क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे, तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है, तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने '**यया तदक्षरमधिगम्यते सा पराविद्यास्ति**' इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है? और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है, उसको कोई विपरीत भी कर सकता है? कभी नहीं।

इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हीं में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे समझे सम्मति करदी है, वैसे साहस न करना चाहिये। किन्तु उस विद्या में योग्य होके किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये।

प्रश्न—आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित जानता हूँ।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को क्योंकि राजाजी तो विचारे

संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं। उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है।

प्रश्न—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे करते हो, सो यह न्याय की बात नहीं है?

उत्तर—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़ कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे। न राजाजी के योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़े और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें[३३]।

प्रश्न—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा?

उत्तर—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूँ कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूँ कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे। जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता?

प्रश्न—वे हैं बहुत और आप अकेले हो, कैसे संवाद कर सकोगे?

उत्तर—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायेंगे और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन उनमें से इष्ट को ले मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा इन दो बातों में से जिस में उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूँ। परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूँ, वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्र द्वारा?

३३. यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें, उसे छोड़ कर विश्वासघात कर बैठें।

उत्तर—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है अर्थात् एक महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है और दूर दूर रह कर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों, उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ।

प्रश्न—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा?

उत्तर—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सब को परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या मत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दु:खों का न छूटना फल है।

प्रश्न—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है?

उत्तर—शास्त्रार्थ से पूर्व मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उस के छोड़ने और जिसका सत्य हो उसके स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के काग़ज़ पर लेख होकर रजिस्टरी कराकर एक दूसरे को अपने अपने पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना अपना हठ छोड़ देवें क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्रश्न—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है?

उत्तर—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और इसको सत्य समझ लूंगा, तब जहां हूंगा वहां से चल के काशी में उचित समय पर पहुँचूंगा कि जिससे उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा, क्या यह छोटा लाभ है?

प्रश्न—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ

को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उनको यह निश्चय होता कि हमारा वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो शास्त्रार्थ किये विना कभी नहीं रहते अथवा जो और कुछ कारण हो तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं?

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा। हां सन्मुख आ के तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हां ऐसा निश्चय करना ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता संन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष परिहारार्थ इन दोनों को सम्मुख आर्यावर्त्तीय पण्डितों में माने हैं। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशात्रीजी को निर्भय निःशङ्क करे कि जिससे वे मुझ से सम्मुख वा पत्र द्वारा पाषाणादि मूर्त्तिपूजादिमण्डन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढ़ोत्साहित हों जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढ़ोत्साहित हूँ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितो
आर्यभाषाविभूषितो भ्रमोच्छेदनोऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिमगमत्॥

१७

अनुभ्रमोच्छेदन

ग्रन्थ परिचय

जैसा कि **'भ्रमोच्छेदन'** ग्रन्थ के परिचय में बताया गया है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के **'निवेदन पत्र'** के उत्तर में **'भ्रमोच्छेदन'** ग्रन्थ की रचना की थी। अब इसके उत्तर में राजा शिवप्रसाद जी ने पुन: **'द्वितीय निवेदन'** नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसके उत्तर में यह **'अनुभ्रमोच्छेदन'** नामक ग्रन्थ लिखा गया।

इस ग्रन्थ की रचना **संवत् १९३७, फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की तिथि ४, बृहस्पतिवार** के दिन की गई। ग्रन्थ की रचना शैली एवं ऋषि दयानन्द के २१ अक्तूबर १८८० के पत्र से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ स्वयं महर्षि ने ही लिखवाया था। इसका हस्तलेख भी परोपकारिणी सभा, अजमेर में सुरक्षित है, जिस पर अनेक स्थानों पर ऋषि के हाथों से संशोधन किये गये हैं। कुछ अपरिहार्य कारणों से ऋषि के नाम का उल्लेख नहीं हो सका। (सम्पादक)

॥ ओ३म् ॥

अनुभ्रमोच्छेदन

[श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीजी के शिष्य भीमसेन शर्म्मा ने राजा शिवप्रसादजी के द्वितीय निवेदन के उत्तर में बनाया]

यस्या नरो बिभ्यति वेदबाह्यास्तया हि युक्तं जनसेनया यत्।
तन्नाम यस्यास्ति महोत्सवं स त्वनुभ्रमोच्छेदनमातनोति॥ २॥

भूमिका

मैंने विचारा था कि राजाजी और स्वामीजी ने एक-एक बार लिखा है, आगे इसका प्रपञ्च न बढ़ेगा परन्तु वैसा न हुआ और उनके अनुगामी लोगों ने समाचारपत्रों को भी गर्जाया और बहुत योग्यायोग्य वाच्यावाच्य भी लिखना न छोड़ा। और मैंने यह जान भी लिया कि स्वामीजी अपने नाम से इस पर कुछ भी न लिखेंगे और न छपवावेंगे क्योंकि इस पर श्रीयुत स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती और बालशास्त्रीजी की सम्मति नहीं लिखी तथा अन्य किसी आर्य्य ने भी इसके प्रत्युत्तर में न लिखा। यह बात ठीक है कि स्वामीजी को तो इस पर लिखना योग्य ही नहीं क्योंकि वे अपनी पूर्व प्रतिज्ञा से विरुद्ध क्यों करें? जब ऐसा हुआ तब मैं यथामति इस पर लिखने में प्रवृत्त हुआ। यद्यपि इन महाशयों के सन्मुख मेरा लेख न्यूनास्पद है तथापि अन्त:करण से पक्षपात छोड़कर देखने से कुछ इससे भी तत्त्व निकलेगा और जो कुछ इसमें भूल-चूक रहेगी उसको सज्जन महात्मा लोग सुधार लेंगे। अब जो राजा शिवप्रदसादजी की यह प्रतिज्ञा है कि अब आगे इस विषय में कुछ न लिखा जायगा तो मुझको भी आगे लिखना अवश्य न होगा। जो राजाजी ने भ्रमोच्छेदन पर दूसरा भाग छपवाया है, उसमें स्वामीजी के लेख पर निरर्थक आदि दोष दिये हैं, उन और इन दोनों पुस्तकों के लेख को जब बुद्धिमान् लोग पक्षपात-रहित हो कर देखेंगे तब अवश्य निश्चय कर लेंगे कि कौन सत्य और कौन असत्य है।

इति भूमिका

देखिये, राजाजी के प्रिय और सुन्दर लेख को—**निवेदन पहिला** पृष्ठ १ पंक्ति ११ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगा के पृष्ठ ९ से ८८ तक देखा। विचित्र लीला दिखाई दी। आधे-आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये, ग्रहण किये हैं और शेषार्द्ध का, जो प्रतिकूल पाये, परित्याग। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उन के अर्थ पलट दिये। पृष्ठ ४ पंक्ति ७—ऐसा न हो कि ''**अन्धेनेव नीयमाना यथाऽन्धाः**'' के सदृश केवल दयानन्दजी के भाष्य और भूमिका ही की लाठी थांभे किसी अथाह गढ़े वा घोर नरककुण्ड में जा गिरें। नि० २, पृष्ठ २१, पंक्ति २४—खेद की बात है, क्यों वृथा इतना कागज बिगाड़ा। पृष्ठ ५ पंक्ति २५—निदान जब मैंने गौतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा; डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम अथवा साहब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका अथवा किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।

इत्यादि वचन जो ये राजा शिवप्रसादजी ने अपने दोनों निवेदनों में लिखे हैं, क्या इनको कुवचन, गालीप्रदान, कागज बिगाड़ना आदि कोई भी मनुष्य न समझेगा?

मैंने राजा शिवप्रसादजी के दोनों निवेदनों और स्वामीजी के भ्रमोच्छेदन को भी देखा। प्रथम निवेदन में जो-जो प्रश्न राजाजी के थे, उस-उस का उत्तर भ्रमोच्छेदन में यथायोग्य है, ऐसा मैं अपनी छोटी विद्या और बुद्धि से निश्चित जानता हूँ। राजाजी और उनके साथियों की विशालबुद्धि है इसलिये उनके योग्य ठीक-ठीक उत्तर न हुए होंगे, इसमें क्या अद्भुत है। अब मैं अपनी अल्पविद्या और बुद्धि के अनुसार द्वितीय निवेदन के उत्तर में थोड़ासा लिखता हूँ।

निवेदन दूसरा—पृष्ठ ४ पङ्क्ति ११—भला सूर्य्य और घड़े की उपमा संहिता और ब्राह्मण में क्योंकर घट सकेगी। उधर सूर्य्य के सामने कोई आधा घण्टा भी आंख खोल के देखता रहे, अन्धा नहीं तो चक्षुरोग से अवश्य पीड़ित होवे।

इस दृष्टान्त से राजाजी का यह अभिप्राय झलकता है कि वेद को दिनभर भी आंख खोल के देखा करे तो न अन्धा और न नेत्ररोग से युक्त होता है। यहां उनका ऐसा अभिप्राय विदित होता है कि यह दृष्टान्त

स्वामीजी का यहां घट नहीं सकता। जहां तक विचार के देखते हैं तो यही निश्चय होता है कि दृष्टान्त का साधर्म्य वा वैधर्म्य गुण ही दार्ष्टान्त में घटता है, सब गुण कर्म स्वभाव कभी नहीं।

''**(जैसे साध्यसार्धर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्)**'' न्या० अ १। आ० १। सू० ३६। **(तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम्)** न्या० अ० १। सू० ३७। **शब्दोऽनित्य इति प्रतिज्ञा उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतुः। उत्पत्तिधर्मकस्थाल्यादिद्रव्यमनित्यमिति दृष्टान्त उदाहरणम्।**

यह शान्तवृत्ति से देखने की बात है कि शब्द में अनित्यत्व धर्म साध्य है क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला होने से जो-जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे-वे सब अनित्य हैं। जैसे स्थाल्यादि-द्रव्य उत्पत्ति धर्मवाले होने से अनित्य हैं वैसे कार्य्य शब्द भी अनित्य हैं। यहां केवल स्थाल्यादि पदार्थों का उत्पत्ति धर्म ही कार्य शब्द में दृष्टान्त के लिये घटा के कार्य शब्दों को अनित्य ठहराया है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि घट-पटादि पदार्थों में चक्षु से दीखना स्थूल कठोर और अन्धेरे में दीपक की अपेक्षा रहना आदि विरुद्ध धर्म हैं इसलिये उनका दृष्टान्त शब्द में नहीं घटेगा वा शब्द में भी वे धर्म हों कि दीपक जला के शब्द देखा जावे। राजाजी को अन्धेरे में दीपक से शब्द देखना, उससे पानी आदि लाना चाहिये वा इस दृष्टान्त ही को न माने तो ऐसा दृष्टान्त कोई न मिलेगा कि जिसमें दार्ष्टान्त के सब धर्म बराबर मिल जावें। और जो कोई पदार्थ ऐसे भी हों कि जिनके सब धर्म बराबर मिलें तो उनका परस्पर अभेदान्वय होने से उनमें दृष्टान्त दार्ष्टान्त तथा उपमान उपमेयभाव कुछ भी न बन सकेगा।

अब यहां प्रकृत में यह आया कि वेद को सूर्य्य का दृष्टांत दिया है तो सूर्य अपने प्रकाश में किसी की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे वेदों में भी जो अर्थ प्रकाशित होते हैं, उनमें ग्रन्थान्तर की अपेक्षा नहीं है। स्वयं प्रकाशत्व धर्म दोनों का समान है। और जैसे उत्पत्ति धर्मवाले न होने से आत्मादि द्रव्य नित्य हैं वैसे शब्द नहीं क्योंकि शब्द उत्पत्ति धर्मवाला है। यहां केवल वैधर्म्य अर्थात् कार्य्य शब्द से अनित्यत्व धर्म से विरुद्ध आत्मा का नित्यत्व धर्म ही दृष्टान्त के लिये घटाया है किन्तु जो आत्मा और शब्द के प्रमेयत्व आदि साधर्म्य हैं, वे विवक्षित नहीं। जैसा राजाजी का दृष्टान्त विषयक मत है, वैसा किसी विद्वान् का नहीं कि दार्ष्टान्त के सब धर्म दृष्टान्त में घट सकते हों।

निवे० २—पृष्ठ ५। पं० १६—राजाजी स्वामीजी से पूछते हैं कि ''स्वामीजी महाराज यह बतलावें कि पाणिनि आदि ऋषियों ने कहां ऐसा लिखा है कि मंत्रसंहिता ही वेद हैं, ब्राह्मण वेद नहीं है''

इसका उत्तर—अब यह ब्राह्मण शब्द लौकिक है वा वैदिक? इसके वैदिक होने में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता लौकिक होने में प्रमाण देखो—

तत्र लौकिकास्तावत्। गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि। शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्न आयाहि वीतय इति।

अब यहां अन्तःस्थ नेत्रों से देखना चाहिये कि वैदिक शब्द में केवल ४ मंत्र संहिताओं के उदाहरण दिये हैं। जो ब्राह्मण भी वेद होते तो वैदिक शब्दों में उनका उदाहरण क्यों न देते? अब कोई यह कहे कि लौकिक शब्दों में जिस ब्राह्मण शब्द का उदाहरण दिया है, वह नपुंसकलिंग न होने से ग्रन्थवाची शब्द नहीं है किन्तु पुँल्लिङ्ग होने से मनुष्यों में जातिविशेष का नाम है, जो उससे पूछना चाहिये कि नपुंसकलिङ्ग ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द का वैदिक शब्दों में पाठ क्यों न किया? हां, प्रकरण से अर्थ की संगति होती है, सो यहां किसी का प्रकरण नहीं है। यहां पतञ्जलिजी महाराज के प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मंत्रसंहिता ही वेद हैं, ब्राह्मण नहीं। अब स्वामीजी पर जो प्रश्न था उसका तो उत्तर पतञ्जलि ऋषि के प्रमाण से हुआ, परन्तु वही प्रश्न राजाजी के ऊपर गिरता है कि राजाजी यह बतलावें कि पाणिनि आदि महर्षियों ने ऐसा कहां लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मणभाग दोनों वेद हैं। अस्तु, तावत्।

निवे० २—पृष्ठ ५। पं० १८ पाणिनि ने तो जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा स्पष्ट '**छन्दसि**' कहा अर्थात् वेद में अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में, और जहां केवल मन्त्र वा ब्राह्मण का प्रयोजन देखा '**मंत्रे**' वा '**ब्राह्मणे**' कहा, और जहां मन्त्र और ब्राह्मण अर्थात् वेद के सिवाय देखा वहां '**भाषायाम्**' कहा।

राजाजी को यह लिखना तो सुगम हुआ परन्तु निम्नलिखित प्रमाण पाणिनिसूत्र और वेदमंत्र आदि का अर्थ करके अपने पक्ष में घटाना सुगम क्योंकर हो सकेगा। अब देखिये—**छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि।** अ० ४। पा० २। सू० ६६। इस सूत्र में प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण की अध्येतृ वेदितृ विषयता विधान की है अर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण का अध्येतृ वेदितृ अभिधेय में ही प्रयोग हो, स्वतन्त्र न हो। अब राजाजी के इस लेखानुसार कि ''जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा, स्पष्ट ''छन्दसि'' कहा—इससे पाणिनि के इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण व्यर्थ होता है। क्योंकि जो छन्द के कहने से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण हो जाता तो फिर यहां ब्राह्मण का पृथक् ग्रहण क्यों किया, इससे स्पष्ट ज्ञापक होता है कि छन्द से ब्राह्मण पृथक् है।

निवे० २—पृष्ठ ५। पं० २२ ''भला जैमिनि महर्षि के पूर्वमीमांसा को तो स्वामीजी महाराज मानते हैं, उसमें इन सूत्रों का अर्थ क्योंकर लगावेंगे'' **तच्चोदकेषु मंत्राख्या**। अ० १। पा० २। सू० ३२। **शेषे ब्राह्मणशब्दः**। अ० २। पाद १। सू० ३३। इसका अर्थ बहुत स्पष्ट है। वेद का मन्त्रों से अवशिष्ट जो भाग सो ब्राह्मण।

यह अनुभवार्थ राजाजी ने शबर स्वामी की टीका में से सुना होगा परन्तु यहां यह भी विचार करना उनको योग्य था कि इन सूत्रों के सम्बन्ध में कहीं वेदसंज्ञा निर्वचनाधिकरण है वा नहीं, किन्तु यहां तो केवल मंत्रनिर्वचनाधिकरण और ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरण है, इससे फिर मंत्र और ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा है, यह अभिप्राय कहां से सिद्ध हो सकता है। जो इस प्रकरण में ऐसा होता कि ''**अथ वेदनिर्वचनाधिकरणम्**'' तो राजाजी का अभिप्राय अवश्य सिद्ध हो जाता। परमात्मा ने वेदस्थ वाक्यों से सर्वविद्याभिधान कर दिया है, अब इनमें शेष अर्थात् बाकी पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, व्याख्या करनी-करानी आदि है और थी भी। जो थी सो ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनिपर्यन्त महर्षि महाशय लोगों ने कर दी है, जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान हैं, इसी से इनका नाम ब्राह्मण रक्खा है अर्थात् ''**ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि अर्थात् शेषभूतानि सन्तीति**''। परन्तु जहां से इन सूत्रों के अर्थ में राजाजी आदि को भ्रम हुआ है सो शबर स्वामीजी की इसी सूत्र पर यह व्याख्या है ''**अथ किंल्लक्षणं ब्राह्मणम्**'' ''**मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः**''। विचार योग्य बात है कि न जाने शबर स्वामी ने इन दो सूत्रों में वेद शब्द कहां से लिया और इनकी अद्‌भुत कथा को देखिये कि—

(प्रश्न)—ब्राह्मण का क्या लक्षण है?

(उत्तर)—मंत्र और ब्राह्मण वेद है।

विद्वान् लोग विचार लेंगे—कि जैसा प्रश्न किया था वैसा ही उत्तर शबर स्वामी ने दिया है वा नहीं? यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु ''**आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे**'' इस न्याय के तुल्य यह व्याख्या है।

ऐसा ही **निवे० २** पृष्ठ ५। पं० २५। निदान जब मैंने गौतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामी जी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा, डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम वा साहब से कोई नया तर्क और न्याय, रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।

स्वामीजी ने जो भूमिका में गौतम न्याय का प्रमाण वेद ब्राह्मण विषय में लिखा है, उसको वही पुरुष समझ सकता है कि जिसने उन ग्रन्थों की शैली देखी हो। विना पढ़े सब विद्या किसी को नहीं आ सकती। और जिन्होंने उन शास्त्रों में अभ्यास ही नहीं किया, वे ही ऐसा अनर्गल लिख सकते हैं कि गौतम और कणाद के तर्क न्याय से अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर न पाया इत्यादि। अब राजाजी को शास्त्रों में अभ्यास करना अवश्य हुआ क्योंकि उनके प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। और स्वामीजी महाराज जो किसी दूसरी विलायत का तर्क न्याय सीख भी लेते तो क्या आश्चर्य और कौनसा यह बुरा काम था और जो सीख लेते तो अपने ग्रन्थों में भी प्रमाण के लिये अवश्य लिखते वा लिखवा लेते। इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजाजी ने ही उन विलायतियों से तर्क न्याय कुछ पढ़ा, नहीं तो इसका प्रसंग ही क्या था। ठीक है। ''**यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी।**'' इनके प्रश्नों का उत्तर जब ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों से भी न हुआ तो सब ऋषियों से बढ़ के राजाजी हो गये, इससे स्पष्ट सब महात्मा ऋषि लोगों की निन्दा आ जाती है।

निवे० २—पृष्ठ ६। पं० ४ फरिङ्गस्तान के विद्वज्जनमण्डलीभूषण काशीराजस्थापित पाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबो साहब बहादुर को दिखलाया। बहुत अचरज में आये और कहने लगे कि हम तो स्वामीजी महाराज को बड़ा पण्डित जानते थे पर अब उनके मनुष्य होने में भी सन्देह होता है

तब तो भ्रमोच्छेदन को भ्रमोत्पादन कहना चाहिये।

बस अब तो राजाजी का पक्ष दृढ़तर सिद्ध हो गया होगा क्योंकि जब उक्त महाशय साहब ने स्वामीजी के मनुष्य होने में सन्देह और भ्रमोच्छेदन का भ्रमोत्पादन नाम होने की साक्षी दी है फिर क्या चाहिये क्योंकि महाशयों की साक्षी भी गम्भीर आशययुक्त होती है। क्या ऐसी साक्षी को कोई भी मनुष्य मानेगा कि स्वामीजी के मनुष्य होने में भी सन्देह है।

निवे० २—पृष्ठ ७। पं० २० डाक्टर टीबो साहब की साक्षी का परामर्श यह देखिये चित्त धर के ''दयानन्द सरस्वती सिवाय एक उपनिषद् के, ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों को छोड़ देते हैं और केवल संहिताओं को प्रमाण मानते हैं'' इसका उत्तर तो भ्रमोच्छेदन के पृष्ठ ११। पं० २० में यह स्पष्ट लिखा है ''परन्तु जो-जो वेदाऽनुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं'' तो उक्त साहब ध्यान देकर देखते तो सिवाय एक उपनिषद् के इत्यादि विरुद्ध साक्षी क्यों देते।

निवे० २—पृष्ठ ७ इसी उत्तर और इसी विषय के आगे जो-जो उक्त साहब ने लिखा है उस-उस का उत्तर उसी उत्तर के आगे भ्रमोच्छेदन में लिखा है।

निवे० २—पृष्ठ ८। पं० १८ ''नि:संदेह दयानंद सरस्वतीजी को अधिकार नहीं कि कात्यायन के उस वचन को प्रक्षिप्त बतावें जिसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद सिद्ध होता है, ऐसे तो जो जिस किसी वचन को चाहे अपने अविवेक कल्पित मत से विरुद्ध पाकर प्रक्षिप्त कहदें''।

मुझ को अपनी अल्पबुद्धि से आज तक यह निश्चय था कि सत्याऽसत्य विचार करने का अधिकार सब विद्वानों को है, जो यह राजाज्ञावत् डाक्टर टीबो साहब की सम्मति सत्य हो तो ऐसा हो जाय किन्तु जो केवल एक डाक्टर टीबो साहब ने ही ठेका लिया हो कि अन्य सब को अधिकार है केवल स्वामीजी को नहीं कि कौन प्रक्षिप्त और कौन नहीं ऐसा विचार करें जो ऐसा है तो डाक्टर टीबो साहब को सम्मति देने और खण्डन-मण्डन का अधिकार किसने दिया है? हम भी पूछ सकते हैं। अहो आश्चर्य्य इस सृष्टि में कैसी-कैसी अद्भुत लीला देखने में आती हैं।

निवे० २—पृ० ९। पं०, ५ ''सो मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि यदि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जमदग्नि आदि का अर्थ यों ही माना जावे

तो संहिता के समान ब्राह्मणों को भी वेदभाग अथवा माननीय मानने में उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों की युक्तियां क्यों न मानी जावें''।

जो इस बात का प्रमाण किया जावे तो यास्कमुनिकृत निघण्टु, निरुक्त, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, पतञ्जलि महामुनिकृत महाभाष्य और पिङ्गलाचार्य्यकृत पिङ्गलसूत्र वेदों के भाष्य वा टीका आदि को भी वेद क्यों न माना जावे। क्योंकि जैसे शतपथादि ग्रन्थों से वेदस्थ जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ चक्षु आदि माने जाते हैं, वैसे ही निघण्टु और निरुक्त आदि से भी वैदिक शब्दों के संज्ञा और निर्वचन व्याकरण से शब्द, अर्थ और सम्बन्ध, और पिङ्गलसूत्र से गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि स्वर आदि की व्याख्या वेदों से अविरुद्ध मानी जाती है तो इनकी वेद-संज्ञा कौन कर सकेगा।

निवे० २—पृष्ठ ९। पं० १० ''सो यहाँ भी मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि वेद के नाम से मन्त्रभाग अर्थात् संहिता और ब्राह्मणों को मान कर जहां वेदों को अपरा कहा जाय वहां मन्त्र और ब्राह्मणों को कर्मकाण्ड और जहाँ वेदों को परा कहा जाय, वहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों को ज्ञानकाण्ड मानना चाहिये''।

निवे० १—पृष्ठ ११। पं० १० ''इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छओं अङ्ग **''अपरा''** हैं, **''परा''** उससे अक्षर में अधिगमन होता है, अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें।

निवे० १—पृष्ठ १२। पं० २० (नोट—कि चारों वेदसंहिता और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं, परा उनके सिवाय अर्थात् उपनिषद् हैं)।

मुझ को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहां क्यों राजाजी ने अपने पूर्व लेख से अपर लेख को विरुद्ध लिखा। देखो पहिले निवेदन में चारों वेद और छओं अङ्गों को अपरा और उपनिषदों को परा विद्या मानीं थी और दूसरे निवेदन में चारों वेदों के कर्मकाण्ड को अपरा और उन के ज्ञानकाण्ड को परा विद्या मानी। और दोनों निवेदनों का अभिप्राय यही है कि मन्त्रभागसंहिता और ब्राह्मणभाग को वेदसंज्ञा मानें, इसलिए इतना परिश्रम उठाया और नोट में चारों वेद संहिता अर्थात् मन्त्र-संहिताओं ही को वेद मान कर ब्राह्मणों को वेदसंज्ञा में लिखना भूल गये। दृष्टि कीजिये **''तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः''** राजाजी के इस लेख ने उन्हीं के अभिप्राय

का निराकरण कर दिया। इसको न लिखते तो अच्छा था क्योंकि इस लेख में ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चार शब्द वाच्य मन्त्रभागसंहिताओं ही के साथ चार वार वेद शब्द का पाठ है। ऐतरेय, शतपथ, छान्दोग्य, ताण्ड्य आदि और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों की उस वचन में न परा, न अपरा में गणना और न ऐतरेय आदि शब्दों के साथ वेद नाम का पाठ है, इसलिए यह पूर्वापर विरुद्ध लेख है।

निवे० २—पृष्ठ ९। पं० १४ ''ऐसा ही आज तक वैदिक हिन्दू परम्परा से मानते चले आये हैं''।

यहां भी मैं राजाजी से पूछता हूं कि परम्परा और आज तक इस वाक्यावली का अभिप्राय सृष्ट्युत्पत्ति से लेकर आज तक का समय लिया जाये वा जैसा कि चार-पांच पीढ़ियों में परम्परा हो जाती है वैसी ग्रहण की जाय। जो प्रथम पक्ष है तो वैदिक के साथ आर्य्य शब्द लिखना उचित था अर्थात् वैदिक आर्य्य और जो चार पांच पीढ़ी की परम्परा अभिप्रेत है तो लोकाचार से भी वैदिक हिन्दू लिखना ठीक नहीं। क्योंकि भारतवर्षवासी मनुष्यों की हिन्दू-संज्ञा सिवाय यवनग्रन्थ और यवनाचार्य्यों की पाठशाला में पठन-पाठनसंसर्ग के विना राजाजी को कहीं नहीं मिलेगी। और प्राचीन वैदिक वाङ्मय से लेकर पूर्वमीमांसापर्य्यन्त संस्कृतग्रन्थों में तो एतद्देश का नाम आर्य्यावर्त्त और इसमें रहनेवाले मनुष्यों का नाम आर्य्य वा ब्राह्मण आदि संज्ञा ही मिलेंगी। परन्तु यह राजाजी को स्वात्मानुभव वा इस देशियों पर द्वेष अथवा आर्य्यावर्त्त देश से भिन्न देशस्थ विलायतियों से शिक्षा पाकर बोध हुआ होगा। यह साधारण बात नहीं किन्तु जो यह वैदिक शब्दों के साथ हिन्दू शब्द का परम्परा में आज तक पढ़ देना सो राजाजी को विदेशियों की विद्या और शिक्षा का अनुपम फल है।

निवे० २—पृष्ठ १०। पं० ९ ''भला आपके (शिवप्रसाद के) एक सहज से प्रश्न का तो उत्तर स्वामीजी दयानन्द सरस्वतीजी से बना ही नहीं, उत्तर के बदले दुर्वचनों की वृष्टि की, यदि काशीजी के पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने को उद्यत भी हों तो उत्तर के स्थान में उन्हें वैसे ही दुर्वचन पुष्पाञ्जलि का लाभ होगा, इससे अतिरिक्त उसमें से कुछ भी सार नहीं निकलेगा।''

इस पर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार इतना ही लिखता हूं कि ''जो श्रीयुत बालशास्त्रीजी श्रीमान् पंडितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्कर

विशेषणयुक्त ऐसा कहते हैं और ऐसा निश्चय हो कि स्वामीजी से उनके बड़े-बड़े गम्भीराशय प्रश्नों के उत्तर कभी न बन सकेंगे'' फिर इससे मेरी और अन्य लाखों किंवा करोड़ों मनुष्यों की यह इच्छा है कि जो कोई विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के पक्ष को वेदादि शस्त्रों द्वारा निरस्त कर दे तो उनको क्या ही लाभ न हो, पुन: उक्त महाशय इस में क्यों विलम्ब कर रहे हैं और दुर्वचन पुष्पाञ्जलि विषय में इतना ही मैं लिखता हूं कि काशीस्थ लोगों ने दूषणमालिका, दयानन्दपराभूति, चर्मकार भी स्वामीजी से उत्तम, गाली सहस्र नाम आदि पुस्तक और दण्डनीय, आदि विज्ञापन समाचारों में छपवाया तथा ताली शब्द आदि और जैसा असभ्य अनर्थ लेख स्वामीजी पर किया है। और स्वामीजी ने संवत् १९२६ के शास्त्रार्थ में किसको गाली प्रदान वा दुर्वचन पुष्पाञ्जलि की थी और जैसे पक्षपात, क्रोधरहित होने के लिये स्वामीजी को लिखते हैं तो राजा जी ने पक्षपात और क्रोधयुक्त स्वामी जी को कब देखा था! भला क्या पूर्वोक्त तो सुवचन पुष्पाञ्जलि है और स्वामीजी का लेख दुर्वचन पुष्पाञ्जलि कहा जा सकता है। डाक्टर टीबो साहब बहादुर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के मनुष्य होने में भी सन्देह लिखते हैं। क्या डाक्टर टीबो साहब को अपने सहीस आदि नौकरों के तो मनुष्य होने में कुछ भी संदेह नहीं किन्तु केवल स्वामीजी के मनुष्य होने में संदेह करते हैं। क्या यह बात अद्भुत गंभीराशय और असङ्गत नहीं है? अहो क्या ऐसे-ऐसे लेख को भी बुद्धिमान् लोग अच्छा समझेंगे, धन्य हैं! श्रीयुत शिवप्रसादजी वादी और धन्य हैं! उनके साक्षी अर्थात् श्रीमज्जगत् पूज्यस्वामी विशुद्धानन्दसरस्वतीजी श्रीमत् पण्डितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्कर बालशास्त्रीजी महाराज आर्यजन और विद्वज्जनमण्डलीभूषण काशीराजस्थापितपाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबोसाहब बहादुर योरुपियन् कि जिन्होंने परस्पर मिलकर अपना अभीष्ट मत प्रकाशित किया है—क्या भला ऐसे-ऐसे महाशयों के सामने मेरा लेख हास्यास्पद न होगा और क्या ऐसे-ऐसे महात्माओं की साक्षी होने पर राजाजी के विजय होने में किसी को सन्देह भी रहा होगा। वाह! वाह!! वाह!!! जो कोई परपक्षनिषेध और स्वपक्ष सिद्ध करे तो ऐसी ही बुद्धिमत्ता से करे। क्या सहायक अनुमतिदायक भी ऐसे होने योग्य हैं। जहां अर्थी ही साक्षी और न्यायाधीश हों वहां जीत क्यों न होवे? क्यों न हो? क्या यही सत्पुरुषों का काम है कि जहां तक बने दूसरे की निन्दा, अपनी स्तुति

करनी अपना सुकर्म समझना। हां, मैं भी तो राजा शिवप्रसादजी और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजी वा बालशास्त्रीजी और डाक्टर टीबोसाहब बहादुर साक्षी आदि महाशयों के सामने स्वामीजी की मनमानी निन्दा और अप्रतिष्ठा करने में तत्पर होता और यदि उनके प्रशंसनीय गुणकर्मस्वभाव न जानता होता तो उनकी निन्दा और अपमान करने में कमती कभी करता? परन्तु वाल्मीकि मुनि ने कहा है कि ''**सहवासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनाम्**'' विना किसी के सङ्ग किये उसके गुण-दोष विदित नहीं हो सकते। संवत् १९२८ से १९३७ के वर्ष पर्यन्त मेरा और स्वामीजी का समागम रहा है। जितने वर्ष वा महीने स्वामीजी का सत्सङ्ग मैंने किया है और यथाबुद्धि थोड़े से वेद भी देखे हैं, उतने दिन और उतने मुहूर्त भी उनका समागम राजाजी आदि ने न किया होगा, नहीं तो इतना अटाटूट विरोध कभी न करते। देखिये, कई एक बड़े-बड़े सेठ साहूकार, रईस, बुद्धिमान्, पण्डित, सज्जन लोग, राजे, महाराजे स्वामीजी को अत्यन्त मानते, श्रद्धा करते और उपदेश को भी स्वीकार करते हैं और बहुतेरे विरुद्ध भी हैं तथापि कभी किसी का पक्षपात, किसी से लोभ, किसी का भय, किसी की खुशामद, किसी से छल वा किसी से धन हरने का उपाय वा किसी से स्वप्रतिष्ठा की चेष्टा आदि अशिष्ट पुरुषों के कर्म करते इन को मैंने कभी नहीं देखा। और क्या जैसी सब की सत्य बात माननी और असत्य न माननी स्वामीजी की रीति है वैसे ही राजाजी आदि को मानने योग्य नहीं है! परन्तु इतने पर भी मैं बड़े आश्चर्य में हूं कि राजाजी आदि महाशय निष्कारण ईर्ष्या और परोत्कर्षासहनरूप यानारूढ़ होकर स्वामीजी की बुराई करने में बढ़ते ही चले जाते हैं। न जाने कब और कहां तक बढ़ेंगे क्या इसका फल आर्य्यावर्त्तादि देशों की अनुन्नति का कारण न होगा? क्यों न यह घर की फूटरूपी रसास्वादन का प्रवाह दुर्योधनरूप हलाहल सागर से बहता चला आता हुआ आर्य्यावर्त्तस्थ मनुष्यों के अभाग्योदयकारक प्रलय को प्राप्त अब तक न हुआ? क्यों इसको परमेश्वर अपने कृपाकटाक्ष से अब भी नहीं रोक देता कि जिससे हम सब सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप प्रेमसागरामृतोदधि में स्नान कर त्रिविध ताप से छूटकर परमानन्द को प्राप्त हों। जैसे द्वीपद्वीपान्तर के वासी मुसलमान, जैन, ईसाई आदि मनुष्य अपने स्वदेशी और स्वमतस्थों को आनन्दित कर रहे हैं क्या ऐसे हम लोगों को न होना चाहिये, प्रत्युत सब देशस्थ समग्र मनुष्यादि प्राणिमात्र

के लिये परस्पर उपकार, विद्या, शुभाचरण और पुरुषार्थ कर अपने पूर्वज कि जिन महाशय आर्यों के हम सन्तान हैं उनका दृष्टान्त अर्थात् उपमेय न हों और जैसी उनकी कीर्त्ति और प्रतापरूप मार्त्तण्ड भूगोल में प्रकाशित हो रहा था उनका अनुकरण क्यों न करें और इसमें आश्चर्य कोई क्यों न मानें कि राजाजी और उनके अनुयायी साक्षी स्वामीजी को अविद्वान्, पशु, अन्धे आदि यथेष्ट शब्दों में निन्दा करते हैं।

मैं निश्चित कहता हूं कि स्वामीजी की निन्दा, अप्रतिष्ठा और विरोधता किसने नहीं की? काशी में संवत् १९२६ वें वर्ष उन पर हल्ला किया, संखिया मिलाकर पानबीड़ा दिया, बुरी-बुरी निन्दा के पुस्तक और विज्ञापन दिये, कई ठिकाने मारने को आये, ऊपर पत्थर और धूल फैंकी, जिले बुलन्दशहर करणवास के समीप जहां स्वामीजी रहते थे वहीं किसी ने रात के १ बजे के समय १० आदमी तलवार और लट्ठ लेकर मारने को भेजे, कई नास्तिक कहते, कई क्रश्चीन बतलाते, कई क्रोधी और कई पशुवत् नीच विशेषण देते, कई उनका मुख देखने में पाप बतलाते और पास जाने को अच्छा नहीं कहते, कोई कलि का अवतार, कोई कल मरते आज ही मर जाय तो अच्छा, कई मजिस्ट्रेटों के कान भर व्याख्यान बन्द करा देने में प्रयत्न कर चुके और अपने बाग-बगीचों में उनका रहना भी स्वीकार नहीं करते। कई वेश्या मुख देखने, सङ्ग करने, पुंसि मैथुनाचरण करने में भी अपना धन्यजन्म मानते और औरों को उत्साहित करते हैं और स्वामीजी के दर्शन और सङ्ग उससे भी बुरा बतलाते हैं, कई स्वामीजी और स्वामीजी के उपदेश माननेवालों को महानरक में गिरना चितलाते हैं। आप गौतम और कणादादि महाशयों से अधिक अपने को बुद्धिसागर ठहराते और स्वामीजी को निर्बुद्धि, सहज प्रश्नों के उत्तर के अदाता कहते और कई चमार चाण्डाल आदि में विद्वत्ता और मनुष्य होने की शङ्का नहीं करते और स्वामीजी में विद्वत्ता के होने और मनुष्यपन में भी शङ्का बतलाते हैं, कोई रेल का भाड़ा भी नहीं लगता, ऐसा कहते हैं। अब कहां तक इस लम्बी गाथा को कहूं। मैं ऐसी बातें सुनता और लिखता हुआ थकित हो गया। क्या ये पूर्वोक्त बातें आर्य्यावर्त्त के दौर्भाग्य के कारण नहीं हो रही हैं। तथापि धन्य है स्वामीजी को; इतने हुए पर भी सनातन वेदोक्त आर्य्योन्नति के यत्नों से विरक्त न होकर परोपकार से अपना जन्म सफल कर रहे हैं। भला जो धर्म्म और परमात्मा की कृपा न होती और परमत

द्वेषी स्वमतानुरागी क्षुद्राशय लोगों का राज्य होता तो स्वामीजी का आज तक शरीर बचना भी दुस्तर न हो जाता? क्या जो आर्य्य लोग भी मुसलमान आदि के तुल्य होते तो अब तक स्वामीजी का मुख और हस्त वेदभाष्यादि पुस्तक लिखने [-लिखाने] के लिये आज तक कुशल रह सकते? और जो स्वामीजी में पक्षपातराहित्य, सत्यता, विद्वत्ता, शान्ति, निन्दास्तुति में हर्ष-शोक रहितता न होती और विमलविद्या प्रगल्भता, धार्मिकता, आप्तत्वादि शुभ गुण न होते तो ऐसे-ऐसे सनातन वेदोक्त सत्य धर्मोपदेशादि प्रशंसनीय आर्य्योन्नति के दृढ़ कारण प्रकाशित और सुस्थिर कभी न कर सकते, क्योंकि देखो आर्य्यावर्त्त में प्रशंसनीय महाशय विद्वानों के विद्यमान रहते भी आर्य्यावर्त्तीय मनुष्यों की वेदोक्त धर्माढ्यता प्राचीन अभ्युदयोदय प्रच्छन्न क्यों रह जाता। क्या प्रत्यक्ष में भी भ्रम है कि देखिये जो हम आर्यों को विना आसमानी किताबवाले, बुत्परस्त, नालायक इन के मत का कुछ भी ठिकाना नहीं आदि आक्षेपों से जैन, मुसलमान और ईसाई लाखह-क्रोड़ह बहका के अपने मत में मिलाते और कहते थे कि आओ हमसे वादविवाद करो, हमारा मजहब सच्चा और तुम्हारा झूंठा है, वे ही अब स्वामीजी के सामने वेदादि शास्त्रों और तदुक्त आर्य्यधर्म का खण्डन तो दूर रहा परन्तु वाद करना भी असह्य समझते और कहते हैं कि आप हम पर प्रश्न मत कीजिये। डरते हैं। स्वामीजी के सन्मुख तो ऐसा है परन्तु जिन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थ देखे और उनका समागम यथावत् किया है उनके भी सामने वे विजयवन्त नहीं हो सकते इत्यादि। जो राजाजी आदि स्वामीजी के स्तुत्य गुण कर्म स्वभाव जानते तो उनके साथ ऐसा विरुद्ध वर्त्तमान कभी न करते। सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता जगदीश्वर सब आर्य्यों के आत्माओं में परस्पर प्रीति गुण स्वीकार, दोषपरिहार, वेदविद्योन्नतिरूप कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को सुस्थिर करे जिससे सब आर्य्य भाई उसको परस्पर प्रेम और उपकाररूप सुन्दर जल से सींचकर उसके आश्रय से प्राचीन आर्य्य पदवी को पाकर आनन्द में सदा रहें और सब को रक्खें।

राजाजी का बनाया इतिहास मैंने देखा तो अद्भुत बातें दिखाती हैं, इनसे यह भी प्रसिद्ध है कि जो स्वश्लाघा और अभिमान करेगा तो इतना ही करेगा। निम्न लेख से यह बात सब को विदित हो जायेगी क्योंकि इङ्गित चेष्टित से मनुष्य का अभिप्राय गुप्त नहीं रह सकता। राजाजी का

कुछ भी ऐसा वर्त्तमान है सो नहीं किन्तु **''स्वभावो नान्यथा भवेत्''** जैसा स्वभाव मनुष्य का होता है वह छूटना दुस्तर है, जो उन्होंने इतिहास-तिमिरनाशक ग्रन्थ बनाया है उसको कोई विद्वान् पक्षपातरहित सज्जन पुरुष ध्यान देकर देखे तो राजाजी की मानसपरीक्षा और सौजन्य विदित अवश्य हो जावे कि इनका क्या अभीष्ट है। उसमें अप्रमाण वेदादिशास्त्राभिप्रायशून्य बहुत बातें हैं और कुछ अच्छी भी हैं, जो अच्छी हैं उनका स्वीकार और जो अन्यथा हैं उनके संक्षेप में दोष भी प्रकाशित करता हूं, जैसे मुझ को विदित होता है।

इतिहासतिमिरनाशक पृष्ठ १। पंक्ति ११ ''बाप, दादा और पुरखा तो क्या हम इस ग्रन्थ में उस समय से लेकर जिससे आगे किसी को कुछ मालूम नहीं आज पर्य्यन्त अपने देश की अवस्था लिखने का मंसूबा रखते हैं''।

राजाजी थोड़ासा भी सोचते तो इतना अपना गौरव अपने हाथ से लिखने में अवश्य कम्प जाकर रुक के यथार्थ बात को समझ सकते। क्या अपने पुरखों से स्वयं उत्तम और सब आर्य्यावर्त्तवासियों को इतिहासज्ञान विषय में निकृष्ट अज्ञानी कर स्वश्लाघी स्वयं नहीं बने हैं? क्या कोई भी पूर्ण विद्वान् स्वमुख से अपनी कीर्ति को कह सकता है। यह सच है कि जितना-जितना विद्याविनय मनुष्य को अधिक होता है उतना-उतना सुशील, निरभिमानी महाशय और जितना-जितना वह कम होता है, उतनी-उतनी उसको कुशीलता अभिमान और स्वल्पाशयता होती है।

इति० पृष्ठ १—१९ ''पुराना हाल जैसा इस देश का बेठौर ठिकाने देखने में आता है विरले दूसरे देश का मिलेगा''

वाह-वाह वाह!!! न जाने किस देश की पाठशाला में इतिहासों को पढ़ के राजाजी को अपूर्वविज्ञान हुआ? क्या यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका आदि देशों के पूर्व इतिहासों से भी आर्य्यावर्त्त देश का प्राचीन इतिहास बुरा है, यह भी इनका लेख आर्य्य लोगों को ध्यान में रखना चाहिये।

इति० पृष्ठ ३ पङ्क्ति २—''आगे संस्कृत श्लोक बनाते थे अब भाषा में छन्द और कवित्त बनाते हैं क्योंकि गद्य का कण्ठस्थ रखना सहज है, निदान ये भाट इसी में बड़ाई समझते हैं''।

क्या ही शोक की बात है कि मनु, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति ऋषि-महर्षि महात्मा महाशय ब्राह्मण लोगों को राजाजी भाट ठहराते हैं और आप महात्माओं के निन्दक और उपहासकर्त्ता होकर नकली की पदवी को धारण करते हैं, विदित होता है कि आर्य्यावर्त्तीय धार्मिक आप्त पुरुषों की निन्दा और विदेशियों की अत्युक्ति सदृश स्तुति ही से राजाजी प्रसन्न बनते हैं।

इतिहास, पृष्ठ ४। पं० ३०—''हाय हमारे देश में इतना भी कोई समझनेवाला नहीं''।

सिवाय आपके ऐसी-ऐसी गूढ़ बातों के मर्म को कौन समझ सकता है तब ही तो आप बड़ा मंसूबा बांध कर इतिहास लिखने का प्रवृत्त हुए।

इतिहास, पृ० १० ''बहुतेरे हिंदू यह भी कहेंगे कि जो बात पोथी में लिखी गई और परम्परा से सब हिन्दू मानते चले आये भला अब वह क्योंकर झूठ ठहर सकती है''।

भला यहां तो हिन्दुओं की परम्परा का तिरस्कार राजाजी कर चुके और दोनों निवेदनों में ब्राह्मण पुस्तकों को वेद मानने के लिये स्वीकार किया है, ठीक है मतलब सिंधु ऐसी ही चतुराई से पूरा करना होता है।

इतिहास, पृष्ठ १२। पं० १ से लेकर पृष्ठ १४ पं० ११ तक बौद्ध जैन हिंदुओं के मतविषयक बातें लिखी हैं इससे विदित होता है कि राजाजी का मत बौद्ध जैनी ही है। इसलिए अपने मत की प्रशंसा वैदिकमत की निन्दा मनमानी की है। यह इन को अच्छा समय मिला कि कोई जाने नहीं और वैदिक मत की जड़ उखाड़ने पर सदा इनकी चेष्टा है। पुनः स्वामीजी जो सनातन रीति से वेदों का निर्दोष सत्य अर्थ ठीक-ठीक प्रकाशित कर रहे हैं इन को अच्छा कब लग सकता है? इसलिये निवेदनों में भी अपनी सदा की चाल पर राजाजी चलते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है!

इतिहास, पृष्ठ १५। पं० १—''हिन्दुओं की प्राचीन अवस्था''।

यह बड़ा अनर्थ राजाजी का है कि आर्यों को हिन्दू और पारस देश से आये हैं [कहते हैं]। पहली बात तो इन की निर्मूल है क्योंकि वेद से ले के महाभारत तक किसी ग्रन्थ में आर्यों को हिन्दू नहीं लिखा। कौन जाने राजाजी के पुरुखे पारस देश से ही इस देश में आये हों और उनका परम्परा से स्वदेश पारस का संस्कार अब तक चला हो। क्या यह बात असम्भव है कि इस आर्य्यावर्त्त ही से कोई मनुष्य पारस देश में जा रहे हों, क्योंकि पारस देश में उत्पन्न हुई माद्री पाण्डु राजा से विवाही थी, उसी

समय वा आगे-पीछे वहां से यहां और यहां से वहां आ-जा रहने का सम्भव हो सकता है और क्या जो पारस देश से आकर ही वसे होते तो पारसी लोगों वा ईरानवालों के प्राचीन इतिहासों में स्पष्ट न लिखते?।

इतिहास, पृ० १५। पं० ५—"असुर को अहुर" नोट। पं० १३—यहां भी ऋग्वेद के आरम्भ में असुर का अर्थ सुर लिया है और उसे सूरज का नाम माना है। "**असुरः प्राणदाता। असुरः सर्वेषां प्राणदः।** असुर राक्षस के लिये तभी से ठहराया गया जब से सुर, देव, देवता के लिये ठहरा इत्यादि"। धन्य है "**मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी**" इस में तो कुछ दोष नहीं कि असुर को वे पारसी लोग अहुर कहें परन्तु जो बातें ऋग्वेद के नाम से राजाजी ने लिखी हैं सब निर्मूल हैं, क्योंकि ऋग्वेद के आरम्भ में तो "**असुरः प्राणदाता**" "**असुरः सर्वेषां प्राणदः**" ये नहीं है किन्तु ऐसा पाठ ऋग्वेद भर में कहीं नहीं है। क्या आश्चर्य है कि ईरानवाले जिद्द से देव को राक्षस कहते हों।

इतिहास, पृ० १५। पं० ७—"हिन्दू अपने तंई दूसरी जाति के लोगों से जुदा रहने के निमित्त आर्य पुकारते थे और इन्हीं के बसने से यह देश हिमालय से विन्ध्य तक आर्य्यावर्त्त कहलाया। पारस देश-वाले भी आर्य्य थे वरन् इसी कारण को अब भी ईरान कहते हैं"।

क्या अद्भुत लीला है! ईरानवाले तो अब तक ईरानी, पारसवाले पारसी ही बने रहे, आर्य्य नामवाले क्यों न हुए। कैसा झूंठ लिखा है कि अपने जुदा रहने के लिये आर्य्य पुकारते थे। जो ऋग्वेद का कथन भी राजाजी ने सुना होता तो "**विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः**" "**उत शूद्रे उतार्य्ये**" इन का अर्थ यही है "आर्य्य" श्रेष्ठ और "दस्युः" दुष्ट, "आर्य्य" द्विज और "शूद्र" अनार्य को कहते हैं। इसको जानते तो ऐसा अनर्थ क्यों लिख मारते। जो ईरान से आर्य्य हो जाता है तो "आरा" और "अरि" आदि शब्दों से आर्य्य सिद्ध करने में किसी को राजाजी न अटका सकेंगे। ऐसे बहुत पुरुष अपनी प्रशंसा के लिये विदेशियों की झूंठी खुशामद किया ही करते हैं।

इतिहास, १५। पं० २८—"ईरान की पुरानी पारसी भाषा में एक प्रकार की संस्कृत थी अर्थात् उसी जड़ से निकली थी, जिससे संस्कृत निकली है"।

भला पारसी पढ़े विना ऐसी-ऐसी गुप्त जड़ों की खोज राजाजी न होते

तो कौन करता? जो थोड़ासा भी विचार करते तो श्रेष्ठ गुणों से आर्य्य, और एक किसी मनुष्य का नाम है आर्य्य और उस देशवालों से क्या सम्बन्ध हो सकता है, जितने दृष्टान्त संस्कृत पुरानी पारसी के उदाहरण दिये हैं, ये सब संस्कृत से पुरानी पारसी बनी है, यह ठीक हैं, क्योंकि पारस देश का नाम-निशान भी न था तब से आर्य्य और आर्य्यावर्त्त देश है। जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया था, तब यवन देश के सब राजा आये थे। उसी ईरान का राजा शल्य भी महाभारतयुद्ध में आया ही था, इसलिये राजाजी का ऐसा अनुभव केवल पारसी भाषा पढ़ने से हुआ है, संस्कृत से नहीं।

इतिहास, पृष्ठ १६। पं० २—"ये आर्य्य उस समय सूर्य्य के उपासक थे। वेद में सूर्य्य की बड़ी महिमा गायी है। हिन्दुओं का मूलमन्त्र गायत्री इसी सूर्य्य की वन्दना है। विष्णु इसी सूर्य्य का नाम है"।

राजाजी का स्वभाव सब से विलक्षण है, कोई कहता हो दिन तो वह रात कहें। यद्यपि वेदों में सूर्य्य के शब्द से परमेश्वर आदि कई अर्थ प्रकरण से भिन्न कहे हैं, परन्तु उपासना में सूर्य्य शब्द से जिसको गायत्री मन्त्र कहता और जो व्यापकता से विष्णु है वहां परमेश्वर ही लिया है, अन्यत्र भौतिक।

इतिहास, पृष्ठ १८। पं० १—"आकाश को इन्द्र ठहराया"।

वेदों में इन्द्र शब्द से आकाश का ग्रहण कहीं नहीं किया है। हां राजाजी ने अपनी कल्पना से समझा होगा।

इतिहास, पृष्ठ १८। पं० ३ "गाय, बैल, घोड़ा, भेड़ और बकरी इत्यादि का बलि देते थे और उनका मांस भून-भून और उबाल-उबाल कर खाते थे। नोट—"ऋग्वेद में एक अश्वमेध का हाल यों लिखा है, घोड़े के आगे रङ्ग-बिरङ्ग की बकरियां रख कर उस से अग्नि की परिक्रमा दिलाई और फिर खम्भे से बाँध कर और फरसे से काट कर उस का गोश्त सींक पर भूना और उबाला और गोले बना कर खा गये"।

हाय! ऐसे अनर्थ लेख से वेद और आर्य्यों की निन्दा कर राजाजी ने संतुष्टि क्यों की। गाय आदि पशुओं का मारना वेदों में कहीं नहीं लिखा। न शराब का पीना और अश्वमेध का हाल कहीं भी नहीं लिखा। राजाजी ने वाममार्गियों के सङ्ग से ऐसी बात कि जिससे वेदों की निन्दा हांसी हो लिखी होगी।

इतिहास, पृष्ठ १९। पं० १२—''वर्णभेद शुरू में दो ही रहा होगा अर्थात् गोरा और काला। वर्ण का अर्थ रंग है''।

वाह क्या चतुराई की लटा झलिक रही है। क्या गोरे और काले के बीच में कोई भी रंग नहीं होता और **''वर्णं बाहुः पूर्वसूत्रे''** वर्ण नाम अक्षर, वर्ण नाम स्वीकार-अर्थ का क्या नहीं होते **''स्वार्थी दोषन्न पश्यति''** हाँ यह हो तो कि विना गोरों की प्रशंसा के स्वार्थसिद्ध क्योंकर होता।''

इतिहास, पृष्ठ २० से ले के अङ्गरेज के पैर पकड़ने अर्थात् ग्रन्थ की समाप्तिपर्य्यन्त राजाजी ऐसी चाल-चलन से चले हैं कि जिससे इस देश की बहुत बुराई और कुछ अन्य देशों की भी, वेदादिशास्त्रों की निन्दा जैनमत की इंगित से प्रशंसा और अङ्गरेजों की प्रशंसा में जानों सब भाटों के प्रपितामह ही बन रहे हैं। क्या ही शोक की बात है कि इतिहासतिमिरनाशक के तीसरे खण्ड में कितने बड़े वेद आदि शास्त्रों और आर्य्य तथा आर्य्यावर्त्त देश की निन्दा लिख कर छपवाई है तो भी राजाजी के चरित्र पर किसी आर्य्य विद्वान् ने विचारकर प्रत्युत्तर नहीं किया। मैंने अल्पसामर्थ्य से ''स्थालीपुलाकन्याय'' के समान थोड़ासा नमूना राजाजी का दिखलाया है। इतने ही से सब बुद्धिमान् राजाजी के और मेरे गुण-दोषों का विचार यथावत् कर ही लेंगे। जिन्होंने वेद और आर्य्यावर्त्त की गर्हा करनी ही अपनी बड़ाई समझ ली है तो वे लोग स्वामीजी की निन्दा करें इस में क्या आश्चर्य है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा परमदयालु सब पर कृपा रक्खे कि कोई किसी की निन्दा न करे, सत्य को माने और झूंठ को छोड़ दे। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी की व्यर्थ निन्दा करूं वा मिथ्या स्तुति। हाँ इतना कहता हूं कि जितनी जिसकी समझ है उतना ही कह और लिख सकता है। मेरी धार्मिक विद्वानों से प्रार्थना है कि जो कुछ मुझ से अन्यथा लेख हुआ हो तो क्षमा करें और अपनी प्रशंसनीय विद्यायुक्त प्रज्ञा से उसको शुद्ध कर लेंवे। इस पर सत्य-सत्य परामर्श का प्रकाश कर आर्य्यों को सुभूषित करें॥

ऋषिकालाङ्कभूवर्षे तपस्याऽसिते दले।
दिक्तिथौ वाक्पतौ ग्रन्थो भ्रमच्छेत्तुमकार्य्यलम्॥
इति भीमसेनशर्म्मकृतोऽनुभ्रमोच्छेदनो
ग्रन्थः पूर्णः॥

१८

गोकरुणानिधिः

ग्रन्थ परिचय

महर्षि दयानन्द ने सभी पशुओं की हिंसा रोककर उनकी रक्षा करने के उद्देश्य से '**गोकरुणानिधि**' नामक पुस्तक लिखी है। चूँकि गौओं के दूध और बैलों से सबसे अधिक हित होता है, अतः उन्होंने गौ की रक्षा पर अधिक बल दिया है। वैसे सभी पशुओं की सुरक्षा के लिए लिखा है।

इससे मुख्य रूप से महर्षि दो प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति चाहते हैं—

१. सर्वशक्तिमान् ईश्वर की तरह सब मनुष्य अपने अन्दर **दया और न्याय के भाव उत्पन्न करके स्वार्थपन से कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें।** उनकी दृष्टि में वे लोग तिरस्करणीय हैं, जो अपने लाभ के पीछे सबके सुखों का नाश करते हैं।

२. गाय आदि पशुओं को जहाँ तक सामर्थ्य हो बचाया जाय, जिससे दूध, घी और खेती बढ़ने से सबको सुख बढ़ता रहे।

यह बहुत छोटा-सा ग्रन्थ है। इसका मुख्य रूप से उस समय के ब्रिटिश राज्य की सम्राज्ञी श्रीमती राजराजेश्वरी विक्टोरिया महाराणी को दृष्टि में रखकर ही विनय की गई है कि वे पशुओं की हिंसा न होने दें।

हिन्दी भाषा में ही पुस्तक का विषय प्रस्तुत किया गया है। इसमें पशुओं से मिलने वाले दूध एवं उनकी सन्तानों से होने वाले लाभों का औसत रूप से **मूल्यांकन एवं गणना की गई है कि एक पशु अपने जीवन में कितने मनुष्यों के लिए हितकारी है।**

महर्षि ने बड़े मार्मिक शब्दों में ऐसे गौ आदि की तुलना वृद्ध माता-पिता के साथ करते हुए उन्हें भी संरक्ष्य माना है। जीवन में प्रदान किये गये दुग्ध आदि लाभों के कारण वे अहिंस्य हैं, ऐसा कहा है। यह पुस्तक निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें प्रकरण नाम दिया गया है—१. समीक्षा प्रकरण, २. नियम प्रकरण, और ३. उपनियम प्रकरण। मुख्य विषय समीक्षा प्रकरण में है।

महर्षि ने समीक्षा प्रकरण के प्रारम्भ में '**गोकृष्यादिरक्षिणी सभा**' नामक सभा के निर्माण का उल्लेख किया है। इसका उद्देश्य गौ आदि पशुओं और कृषि आदि कर्मों की रक्षा करना था। इस सभा के जो अधिकारी और सदस्य बनना चाहते थे, उनके लिए अगले दो प्रकरणों में नियम तथा उपनियमों का उल्लेख किया है। (सम्पादक)

ओ३म् नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय॥

भूमिका

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥

य० अ० ३६। मं० ८॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमम्बलं गवादिरक्षं विविधं दयेरितः।
अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः सहायकारी विदधातु गोहितम्॥ १॥
ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरास्ते धर्म्मजं सौख्यमथाददन्ते।
क्रूरा नराः पापरता न यन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत्॥ २॥

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं, जो ईश्वर के गुण, कर्म्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टि-क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुँचाते हैं। और शोक है उन पर जो कि इनसे विरुद्ध स्वार्थी दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिए वर्त्तमान हैं। पूजनीय जन वे हैं जो अपनी हानि होती हो तो भी सबके हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते हैं।

ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा जो सुख और दुःख को स्वयं न मानता हो? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे वा रक्षा करे, वह दुःख और सुख को अनुभव न करे? जब सबको लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है तो विना अपराध किसी प्राणी का प्राणवियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे? सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें और स्वार्थपन से पक्षपातयुक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें।

इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो उसको

बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनुकूल कर लेवें। धार्मिक विद्वानों की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है कि जिससे गौ आदि पशु जहां तक सामर्थ्य हो बचाये जावें और उनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सबको सुख बढ़ता रहे। परमात्मा कृपा करे कि यह अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं—एक समीक्षा, दूसरा नियम और तीसरा उपनियम। इनको ध्यान दे पक्षपात छोड़ विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें कि जिससे दोनों के लिए सुख बढ़ता ही रहे।

॥ इति भूमिका ॥

हस्ताक्षर—दयानन्द सरस्वती

॥ ओ३म् ॥

अथ गोकरुणानिधिः

अथ समीक्षा-प्रकरणम्

गोकृष्यादिरक्षिणीसभा

इस सभा का नाम 'गोकृष्यादिरक्षिणी' इसलिये रक्खा है जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं और इसके विना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो-जो पदार्थ बनाये हैं, वे निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु एक-एक वस्तु अनेक-अनेक प्रयोजन के लिए रची है। इसलिए उन से वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है। देखिये जिसलिये यह नेत्र बनाया है, इससे वही कार्य लेना सबको उचित होता है, न कि उससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन-जिन प्रयोजनों के लिए परमात्मा ने जो-जो पदार्थ बनाये हैं, उन-उन से वे-वे प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है? पक्षपात छोड़कर देखिये, गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं? जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो-जो विषय जाने जाते हैं वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते।

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो, और दूसरी बीस सेर तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कोई शंका नहीं। इस हिसाब से एक मास में ८।ऽ सवा आठ मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने, और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ऽ निन्नानवे मन होता है। इतने दूध को औटाकर प्रति सेर में छटांक चावल और डेढ़ छटांक चीनी डालकर

खीर बनाकर खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिए दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है, अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खायगा और कोई न्यून। इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० एक हजार नवसौ अस्सी मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ बार ब्याती है, इसका मध्यभाग तेरह वार आया तो २५७४० पच्चीस हजार सात सौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूधमात्र से एक वार तृप्त हो सकते हैं।

इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियाँ और सात बछड़े हुए। इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओं के दूध मात्र से उक्त प्रकार १५४४४० एक लाख चौवन हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल, सो दोनों साख में एक जोड़ी से २००ऽ दो सौ मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६००ऽ छः सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं। और उनके कार्य का मध्यभाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से ४८००ऽ चार हजार आठ सौ मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की है। ४८००ऽ इतने मन अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें तो २५६००० दो लाख छप्पन हजार मनुष्यों का एक वार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० चार लाख दश हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन एक वार के भोजन से होता है। अब छः गाय की पीढ़ी परपीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते हैं। देखो! तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं?

यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ न्यून लाभ पहुँचाता है, तदपि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं। क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों में होते हैं, उतने भैंस के दूध और भैंसे आदि में नहीं हो सकते। इसलिये आर्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।

और ऊंटनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है तो भी इनका दूध गाय के सदृश नहीं। ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुँचाने के लिए प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी कम से कम एक और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है, इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और वह न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुए। वह एक मास में २।ऽ सवा दो मन और चार मास में ९ऽ नव मन होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से १८० एक सौ अस्सी मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो वार ब्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष में एक बकरी के दूध के एक वार भोजन से ३६० तीन सौ साठ मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ वर्ष तक ब्याती है, इसका मध्यभाग ६ छः वर्ष हुआ तो जन्मभर के दूध से २१६० दो हजार एक सौ साठ मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है।

अब उसके बच्चा-बच्ची मध्यभाग से २४ चौबीस हुए, क्योंकि कोई न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से ब्याती है। उनमें से दो का अल्पमृत्यु समझो, रहे २२ बाईस, उनमें से १२ बकरियों के दूध से २५९२० पच्चीस हजार नव सौ बीस मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी का हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं, और बकरा-बकरी और भेड़ा-भेड़ी के ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े-बड़े सुख लाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है। तथापि बकरी के दूध से उसके दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं।

जैसे ऊँट ऊँटनी से लाभ होते हैं, वैसे ही घोड़े-घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा-मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं, परन्तु सबका पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्तमान में

परोपकारक गौ की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है—एक अन्नपान, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

देखिये, जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल-फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाड़ी में चलके अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ा के नीरोगता करें, पुत्र-पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधें वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहां से हटावें वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें अपनी रक्षा के लिए पालन करनेवाले के समीप दौड़कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा। जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जङ्गल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिए दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिए तन मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिए है, इत्यादि शुभगुणयुक्त, सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो मनुष्य अपना पेट भर, सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापीजन होंगे?

इसीलिये यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में परमात्मा की आज्ञा है कि **'अघ्न्या यजमानस्य पशून् पाहि'** हे पुरुष! तू इन पशुओं को कभी मत मार, और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसीलिये ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे, और अब भी समझते हैं। और इनकी रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता, क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खानपान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है, दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।

इससे यह ठीक है कि गौ आदि पशुओं के नाश होने से राजा और

प्रजा का भी नाश हो जाता है, क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो, इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० सात सौ वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि ७०० सात सौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारने वाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ मांस तक भी नहीं छोड़ते तो **'नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्'** जब कारण का नाश कर दे तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे? हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों न इन पशुओं पर जोकि विना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है? क्या इनके लिये तेरी न्यायसभा बन्ध हो गई है? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता, और उनकी पुकार नहीं सुनता। क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता? जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

अथ समीक्षायां हिंसक-रक्षक-संवादः

हिंसक—ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्यों के लिये रची है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक—भाई! सुनो, तुम्हारे शरीर को जिस ईश्वर ने बनाया है, क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं? जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुम को उसने रचा है, क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है, वैसे ही सिंह, गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस खाने पर चलता है तो उनके लिए तुम क्यों नहीं?

हिंसक—देखो! ईश्वर ने पुरुषों के दांत कैसे पैने मांसाहारी पशुओं के समान बनाये हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

रक्षक—जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टान्त से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो, क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो? देखो, तुम्हारी

मनुष्य जाति उनकी पशु जाति, तुम्हारे दो पग और उनके चार, तुम विद्या पढ़कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नहीं, क्योंकि जो दांत का दृष्टान्त लेते हो तो बंदर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नहीं लेते? देखो! बन्दरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान हैं और वे मांस नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुत-सी मिलती है, जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं, वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं, वैसे तुम भी किया करो। जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है, वैसा अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ देवें।

हिंसक—देखो! जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं वे निर्बल होते हैं, इससे मांस खाना चाहिये।

रक्षक—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो! सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं खाता, परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे तो एक वा दो को मारता और एक दो गोली वा तलवार के प्रहार से मर भी जाता है और जब जंगली सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणिसमुदाय में गिरता है, तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता और अनेक गोली बरछी तथा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं गिरता, और सिंह उनसे डरके अलग सटक जाता है और वह सिंह से नहीं डरता।

और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो तो एक मांसाहारी का, एक दूध घी और अन्नाहारी मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी कि किस-किस के खाने से बल न्यून और अधिक होता है। भला, तनिक विचार करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है उसके खाने से? मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है, इसको जो युक्तिपूर्वक खावे तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय अधर्म और दुष्ट कर्म क्यों नहीं?

हिंसक—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां वा आपात्काल में अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता।

रक्षक—यह आपका कहना व्यर्थ है, क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं, वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है वहां खेती वा फल-फूल आदि होते हैं, और जहां कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है, मिष्ट जल और फूल फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं, जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं और विना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है, इसीलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

हिंसक—जो कोई भी मांस न खावे तो पशु इतने बढ़ जायें कि पृथिवी पर भी न समावें और इसलिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है तो मांस क्यों न खाना चाहिये?

रक्षक—वाह! वाह! वाह! यह बुद्धि का विपर्यास आपको मांसाहार ही से हुआ होगा। देखो, मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता, पुनः क्यों न बढ़ गये। और इनकी अधिक उत्पत्ति इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

हिंसक—ये जितने उत्तर दिये, वे सब व्यवहार सम्बन्धी हैं, परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म तो नहीं होता और होता है तो तुमको होता होगा, क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है। इसलिये तुम मत खाओ और हम खावें, क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म नहीं है।

रक्षक—हम तुमसे पूछते हैं कि धर्म और अधर्म व्यवहार ही में होते हैं वा अन्यत्र? तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्माधर्म होते हैं। जिस-जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो वह-वह **'अधर्म'**, और जिस-जिस व्यवहार से उपकार हो, वह-वह **'धर्म'** कहाता है। तो लाखों के सुखलाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुँचाना धर्म क्यों नहीं मानते? देखो, चोरी जारी आदि कर्म इसलिये अधर्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो जो-जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं, वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं। इसलिये यह निश्चित है कि जो-जो कर्म जगत् में हानिकारक हैं वे-वे **'अधर्म'** और जो-जो परोपकारक हैं वे-वे

'**धर्म**' कहाते हैं।

जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म पाप में गिनते हो तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नहीं? देखो, मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं, किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा रहते हैं। जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है, तभी उसकी इच्छा होती है कि इसमें मांस अधिक है, मारकर खाऊँ तो अच्छा हो। और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है। जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते, किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

हिंसक—अच्छा तो यही बात है तो जब तक पशु काम में आवें तब तक उनका मांस न खाना चाहिये, जब बूढ़े हो जावें वा मर जावें तब खाने में कुछ भी दोष नहीं।

रक्षक—जैसे दोष उपकार करनेवाले माता-पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में है, वैसे उन पशुओं की सेवा न कर मार के मांस खाने में है। और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

हिंसक—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहनेवालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस खाना चाहिये वा नहीं?

रक्षक—न खाना चाहिये, क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो, १०० सौ भङ्गी जितनी शुद्धि करते हैं, उनसे अधिक पवित्रता एक सुअर व मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और अनेक उपकार करते हैं। और जैसे मनुष्यों का खान-पान दूसरे के खाने-पीने से उनका जितना अनुपकार होता है, वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध

होना चाहिये।

भला, जिनके दूध आदि खाने-पीने में आते हैं, वे माता-पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें? ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्यों के खाने-पीने के पदार्थों से भी पशु-पक्षियों के खाने-पीने के पदार्थ घास, वृक्ष, फूल, फलादि अधिक रचे हैं, और वे विना जोते, बोए, सींचे, पृथ्वी पर स्वयं उत्पन्न होते हैं। और वहाँ वृष्टि भी करता है, इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नहीं किन्तु रक्षा ही करने में है।

हिंसक—जो मनुष्य पशु को मार के मांस खावें उनको पाप होता है, और जो बिकता मांस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा, जखैया अथवा वाममार्ग अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावें तो उनको पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

रक्षक—जो कोई मांस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार में बहकावट, लाभ और बिक्री न हो तो प्राणियों का मारना बन्द ही हो जावे। इसमें प्रमाण भी है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातका:॥

मनु० अ० ५। श्लोक ५१॥

अर्थ—अनुमति=मारने की सलाह देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिए लेने और बेचने, मांस के पकाने, परसने और खाने वाले ८ आठ मनुष्य घातक हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं।

और भैरव आदि निमित्त से भी मांस खाना मारना वा मरवाना महापापकर्म है। इसलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी।

मद्य भी मांस खाने का ही कारण है, इसलिये यहां संक्षेप से लिखते हैं—

प्रमत्त—कहो जी! मांस तो छूटा सो छूटा परन्तु मद्य पीने में तो कोई भी दोष नहीं है?

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं जैसे कि मांस खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता और कर्तव्य को छोड़ देता है, न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है। और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है, और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है, इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं। और जो मद्य पीता है, वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर उन दोषों में फँसकर अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड़ पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्मों में प्रवृत्त होकर अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है। इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन कभी न करना चाहिये।

जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं, इसलिये इनका भी सेवन कभी न करें, क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं। इसीलिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध ही है।

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते? हाय!! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय, बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देखके राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं—कि देखो! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं, और मारे जाना नहीं चाहते। देखो! हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है, और हम इसलिये पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें, हम तुम्हारी भाषा में अपना दु:ख नहीं समझा सकते, और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते, नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फाँसी पर न चढ़वा देते? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता। और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं। अस्तु, वे स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो, क्योंकि **'स्वार्थी दोषं न पश्यति'** जो स्वार्थ साधने में तत्पर हैं, वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों को हानि हो तो हो, मुझको सुख होना चाहिये, परन्तु जो उपकारी हैं, वे इनके बचाने में

अत्यन्त पुरुषार्थ करें, जैसा कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये हैं वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है।

धन्य है आर्यावर्त देशवासी आर्य लोगों को कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन, मन, धन लगाया और लगाते हैं, इसीलिये आर्यावर्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों, जिनके खाने-पीने से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि सद्‌गुण बढ़ें। और वृक्षों के अधिक हाने से वर्षा, जल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है। पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात भी अधिक होता है। परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवाकर रोगों की वृद्धि करके संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उलटे हैं।

'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्' सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना। इसी प्रकार गाय आदि का मांस विषवत् महारोगकारी को छोड़कर उनसे उत्पन्न हुए दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं उनको लेना। अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सबको होना चाहिये। सुनो बन्धुवर्गो! तुम्हारा तन, मन, धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है? देखो, परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के लिये रच रक्खे हैं, वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन परोपकार ही के अर्पण करो।

बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्यायपुस्तक में व्यस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी हों उनको कष्ट न दिया जावे और जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें उतना ही उन पर धरा जावे। श्रीमती राजराजेश्वरी श्री विक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणी पशुओं को जो-जो दु:ख दिया जाता है, वह-वह न दिया जावे। तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दु:ख होता है? क्या फांसी से अधिक दु:ख बन्धीगृह में होता है? जिस

किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी चढ़ने में प्रसन्न है वा बन्धीघर के रहने में? तो वह स्पष्ट कहेगा कि फांसी में नहीं, किन्तु बन्दीघर के रहने में।

और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो उसके आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जावें और उसको वहाँ से दूर किया जावे तो क्या वह सुख मानेगा? ऐसे ही आजकल के समय में कोई गाय आदि पशु सरकारी जंगल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ हैं विना महसूल दिये खावें तो बेचारे उन पशुओं और उनके स्वामियों की दुर्दशा होती है। जंगल में आग लग जावे तो कुछ चिन्ता नहीं, किन्तु वे पशु न खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा व राजपुरुष के सामने आये चावल आदि वा डबलरोटी आदि छीनकर न खाने देवें और उनकी दुर्दशा की जावे तो इनको दुःख विदित न होगा क्या? क्या वैसा ही उन पशु पक्षियों और उनके स्वामियों को न होता होगा?

ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है, वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट हो जाता है, इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे, न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उनका नाश किया जावे। इसलिये आज तक जो हुआ सो हुआ, आगे आँखें खोलकर सबके हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये। हां, हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों को जता देवें, और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को सुन मत डालना किन्तु सुन रखना, इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना।

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर! जो इनको कोई न बचावे तो आप इनकी रक्षा करने और हम से कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये॥

॥ इति समीक्षा-प्रकरणम्॥

इस सभा के नियम

१. सब विश्व को विविध सुख पहुँचाना इस सभा का मुख्य उद्देश्य है, किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।

२. जो-जो पदार्थ सृष्टिक्रमानुकूल जिस-जिस प्रकार से अधिक उपकार में आवे, उस-उस से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित सिद्ध करना इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

३. जिस-जिस कर्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो, उस-उस को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती।

४. जो जो मनुष्य इस परमहितकारी कार्य में तन, मन, धन से प्रयत्न और सहायता करे, वह वह इस सभा में प्रतिष्ठा के योग्य होवे।

५. जो कि यह कार्य सर्वहितकारी है, इसलिये यह सभा भूगोलस्थ मनुष्य जाति से सहायता की पूरी आशा रखती है।

६. जो जो सभा देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में परोपकार ही करना अभीष्ट रखती है, वह वह इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है।

७. जो जो जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध, स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म करे, वह-वह इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे।

उपनियम

नाम

१. इस सभा का नाम 'गोकृष्यादिरक्षिणी' है।

उद्देश्य

२. इस सभा के उद्देश्य वे ही हैं जो कि इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

३. जो लोग इस सभा में नाम लिखाना चाहें[१] और इसके उद्देश्यानुकूल

---

१. इस सभा में नाम लिखाने के लिये मन्त्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि—'मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देश्यानुकूल, जो कि नियमों में

आचरण करना चाहें वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं, परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो। जो लोग इस सभा में प्रविष्ट हों वे 'गोरक्षकसभासद्' कहलावेंगे।

४. जिनका नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो और वे अपने आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दें, वे 'गोरक्षकसभासद्' हो सकते हैं और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदों ही को होगा।

(अ) गोरक्षकसभासद् बनने के लिये गोकृष्यादिरक्षिणी सभा में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरंगसभा शिथिल भी कर सकती है। इस सभा में वर्ष भर रहकर गोरक्षकसभासद् बनने का नियम गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के दूसरे वर्ष से काम आवेगा।

(ब) राजा, सरदार बड़े-बड़े साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश ही देना आवश्यक नहीं, वे एक वार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं।

(स) अन्तरंगसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देनेवाले पुरुष को भी गोरक्षकसभासद् बना सकती है।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं में उन सभासदों की भी, जो गोरक्षकसभासद् नहीं बने, सम्मति ली जा सकती है—

(१) जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करना हो।

(२) जब कि विशेष अवस्था में अन्तरंगसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे।

५. जो इस सभा के उद्देश्य के विरुद्ध कर्म करेगा वह न तो गोरक्षक और न गोरकक्षसभासद् गिना जावेगा।

६. गोरक्षकसभासद् दो प्रकार के होंगे—एक साधारण और दूसरे माननीय। माननीय गोरक्षकसभासद् वे होंगे जो शतांश वा १० रु० मासिक वा इससे अधिक देवें, अथवा एक वार २५० रु० दें, वा जिनको

वर्णन किये हैं, आचरण स्वीकार करता हूँ। मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये।' परन्तु अन्तरंगसभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे।

अन्तरंगसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे।

७. यह सभा दो प्रकार की होगी—एक साधारण, दूसरी अन्तरंग।

८. साधारण सभा तीन प्रकार की होवे—

(१) मासिक, (२) षाण्मासिक और (३) नैमित्तिक।

९. मासिकसभा—प्रतिमास एक वार हुआ करेगी, उसमें महीने भर का आय-व्यय और सभा के कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे जो कि कथन योग्य हो।

१०. षाण्मासिक सभा—कार्तिक और वैशाख के अन्त में हुआ करे, उसमें आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य, प्रत्येक प्रकार का आय-व्यय समझना और समझाना होवे।

११. नैमित्तिक सभा—जब कभी मन्त्री, प्रधान और अन्तरंगसभा आवश्यक कार्य जाने उसी समय यह सभा हो और उसमें विशेष कार्यों का प्रबन्ध होवे।

१२. अन्तरंगसभा—सभा के सब कार्यप्रबन्ध के लिये एक अन्तरंग सभा नियत की जावे और इसमें तीन प्रकार के सभासद् हों—एक प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित और तीसरे अधिकारी।

१३. प्रतिनिधि सभासद् अपने-अपने समुदायों के प्रतिनिधि होंगे, और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे। कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है।

१४. प्रतिनिधि सभासदों के विशेष कार्य ये होंगे—

(अ) अपने-अपने समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना।

(ब) अपने-अपने समुदायों को अन्तरंगसभा के कार्य, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना।

(ज) अपने-अपने समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१५. प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक, नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें, प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरंग सभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१६. प्रति वैशाख की सभा में अन्तरंगसभा के प्रतिष्ठित अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावें, और कोई पुराना

प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१७. जब वर्ष के पहले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो, अन्तरंगसभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१८. अन्तरंगसभा कार्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१९. अन्तरंगसभा किसी विशेष कार्य के करने और सोचने के लिये अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखनेवाले सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

२०. अन्तरंगसभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे, और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावे। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंगसभा के पांच सभासद् सम्मति दें, वह आवश्यक निवेदन करना ही पड़े।

२१. दो सप्ताह के पीछे अन्तरंगसभा अवश्य हुआ करे, और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरंगसभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें तो भी हो सकती है।

२२. अधिकारी छः प्रकार के होंगे—(१) प्रधान, (२) उपप्रधान, (३) मन्त्री, (४) उपमन्त्री, (५) कोषाध्यक्ष, (६) पुस्तकाध्यक्ष।
मन्त्री, कोषाध्यक्ष, पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक पुरुष भी नियत हो सकते हैं। और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक पुरुष नियत हों तो अन्तरंगसभा उन्हें कार्य बांट देवे।

२३. **प्रधान**—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम होवें—
(१) प्रधान-अन्तरंगसभा आदि सब सभाओं का सभापति समझा जावे।
(२) सदा सभा के सब कार्यों के यथावत् प्रबन्ध और सर्वथा उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे। सभा के प्रत्येक कार्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चले।
(३) यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो तो उसका यथोचित्त प्रबन्ध तत्काल करे, और उसकी हानि में वही उत्तर देवे।
(४) प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें अन्तरंगसभा संस्थापन करे, सभासद् हो सकता है।

२४. **उपप्रधान**—इसके ये कार्य कर्त्तव्य हैं—
प्रधान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि होवे। यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे, परन्तु सभा के सब कार्यों में प्रधान को सहायता देनी उसका मुख्य कार्य है।

२५. **मन्त्री**—मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं—
(१) अन्तरंगसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सबके साथ पत्र-व्यवहार रखना।
(२) सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहले ही पूर्व वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवाना।
(३) मासिक अन्तरंगसभाओं में उन गोरक्षकों वा गोरक्षक-सभासदों के नाम सुनाना जो कि पिछली मासिकसभा के पीछे सभा में प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुए हों।
(४) सामान्य प्रकार से भृत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना और सभा के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।
(५) इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक गोरक्षक-सभासद् किसी न किसी समुदाय में हो, और इसका भी कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरंगसभा में प्रतिनिधि दिया होवे।
(६) पहले विज्ञापन दिये पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठाना।
(७) प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

२६. **कोषाध्यक्ष**—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं—
(१) सभा के सब आयधन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना।
(२) किसी को अन्तरंगसभा की आज्ञा के विना रुपया न देना, किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे जितना अन्तरंगसभा ने उनके लिए नियत किया हो, अधिक न देना। और उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिसके द्वारा वह व्यय हुआ

हो, उत्तरदाता होवे।

(३) सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बहीखाता रखना और प्रतिमास अन्तरंगसभा में हिसाब को बहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना।

२७. **पुस्तकाध्यक्ष**—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये होवें—

(१) जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तक हों उन सबों की रक्षा करे और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी रक्खे और पुस्तकों के लेने-देने का कार्य भी करे।

मिश्रित नियम

२८. सब गोरक्षक-सभासदों की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में ली जावे—

(१) अन्तरंगसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारण-सभा के सिद्धान्त पर निश्चय न करना चाहिये, किन्तु गोरक्षक-सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

(२) सब गोरक्षक सभासदों का पांचवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे।

(३) जब बहुत से व्यय-सम्बन्धी वा प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम अथवा व्यवस्था-सम्बन्धी कोई मुख्य विचारादि करना हो। अथवा जब अन्तरंगसभा सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति जाननी चाहे।

२९. जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो तो उस समय के लिये किसी योग्यपुरुष को अन्तरंगसभा नियत कर सकती है।

३०. यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे तो जब तक उसके स्थान पर नियत न किया जाय, वही अधिकारी अपना काम करता रहे।

३१. सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे और उसको सब गोरक्षक-सभासद् देख सकते हैं।

३२. सब सभाओं का कार्य तब आरम्भ हो, जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों।

३३. सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों।

३४. आय का दशांश समुदाय में रक्खा जावे।

३५. सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादि विद्या जाननी और जनानी चाहिये।

३६. सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रक्खें।

३७. सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि शोक और दु:ख के समय में परस्पर सहायता करें और आनन्दोत्सव में निमन्त्रण पर सहायक हों, छोटाई बड़ाई न गिनें।

३८. कोई गोरक्षक भाई किसी हेतु से अनाथ वा किसी की स्त्री विधवा अथवा सन्तान अनाथ हो जावे अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो, और यदि गोकृष्यादिरक्षिणी सभा उनको निश्चित जान ले तो यह सभा उनकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे।

३९. यदि गोरक्षक-सभासदों में किन्हीं का परस्पर झगड़ा हो तो उनको उचित है कि वे आपस में समझ लेवें, वा गोरक्षक सभासदों की न्याय उपसभा द्वारा उसका न्याय करालें। परन्तु अशक्यावस्था में राजनीति द्वारा भी न्याय करा लेवें।

४०. इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के व्यवहार में जितना-जितना लाभ हो वह-वह सर्वहितकारी काम में लगाया जावे, किन्तु यह महाधन तुच्छ कार्य में व्यय न किया जावे। और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो धन है उसको चोरी से अपहरण करेगा, वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक और परलोक में महादु:खभागी अवश्य होगा।

४१. सम्प्रति इस सभा के धन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने, जंगल और घास के क्रय करने, उनकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाब, कूप, बावड़ी अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे। पुन: अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्य में भी व्यय किया जावे।

४२. सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक धन आदि समुदाय पर स्वार्थ-दृष्टि से हानि करना कभी मन में भी न विचारें, किन्तु यथाशक्ति इस व्यवहार की उन्नति में तन, मन, धन से सदा परम प्रयत्न किया ही करें।

४३. इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये कि जब गवादि पशु रक्षित होके बहुत बढ़ेंगे, तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर सब मनुष्यादि को विविध सुख लाभ अवश्य होगा। इसके विना सबका हित सिद्ध होना सम्भव नहीं।

४४. देखिये, पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुंचाना, और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है, ऐसे निकृष्ट कर्म के करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४५. इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे उस-उस का दूध एक मास तक उसके बछड़े को पिलाना और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ खिला देना चाहिये, और दूसरे मास में तीन स्तनों का दूध बछड़े को देना और एक भाग लेना चाहिये, तीसरे मास के आरम्भ से आधा दुह लेना और बछड़े को तब तक दिया करें कि जब तक गौ दूध देवे।

४६. सब सभासदों को उचित है कि जब-जब किसी को स्वरक्षित पशु देवे तब-तब न्यायनियमपूर्वक व्यवस्थापत्र ले और देकर जब वह पशु असमर्थ हो जाय, उसके काम का न रहे और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो तो अन्य किसी को न दे सके, किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४७. इस सभा की अन्तरंगसभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुकूल उपकार लेना, अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इसमें स्वाधीनता कभी न देवे।

४८. जो कि यह बहुत उपकारी कार्य है इसलिये इसका करनेवाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है।

४९. कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देश्यों को किये विना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता।

५०. क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख दुःखवत् दूसरे प्राणियों का सुख-दुःख अपने आत्मा में न समझता हो।

५१. ये नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे व घटाये बढ़ाये जा सकते हैं।

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

धेनुः परा दयापूर्वा यस्यानन्दाद्विराजते।
आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः॥ १॥
मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले।
दशम्यां गुरुवारेऽलङ्कृतोऽयं कामधेनुपः॥ २॥

इति गोकरुणानिधिः॥

११

काशीशास्त्रार्थः

ग्रन्थ परिचय

'काशी-शास्त्रार्थ:' **काशी,** जो कि पौराणिकों का गढ़ था, में **संवत् १९२६ मि. कार्तिक सुदी १२, मंगलवार** के दिन हुआ था। शास्त्रार्थ **स्वामी दयानन्द सरस्वती** तथा काशी निवासी **स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती** तथा **बालशास्त्री** आदि पण्डितों के बीच हुआ था।

शास्त्रार्थ का विषय **मूर्तिपूजा** था। इसमें स्वामी जी का पक्ष पाषाण मूर्तिपूजन आदि का खण्डन करना तथा काशी के पण्डितों द्वारा मूर्तिपूजा का मण्डन **वेद प्रमाण के आधार पर** करना निश्चित हुआ था।

काशी के पण्डित कोई भी ऐसा वैदिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये जिससे मूर्ति की पूजा करना सत्य सिद्ध हो सके। यहाँ तक कि वे **'प्रतिमा' शब्द से** अपने पक्ष को सिद्ध करना चाहते थे, वे भी नहीं कर पाये। अत: बाद में मूल विषय को छोड़कर वे विषयान्तर में आ गये और 'पुराण' शब्द के 'विशेषण' और 'विशेष्य' विषय पर संवाद प्रारम्भ हो गया। इसमें भी काशीस्थ पण्डित **'पुराण' शब्द** को **'विशेष्यवाची'** (जो उनका पक्ष था) **सिद्ध नहीं कर पाये,** लेकिन स्वामी दयानन्द जी ने विशेषणवाची सिद्ध कर दिया। बाद में अपनी पराजय होती देख काशीस्थ पण्डितों ने दो पृष्ठ स्वामी जी के समक्ष पटककर, वहां लिखित 'पुराण' शब्द को विशेषण सिद्ध करने के लिए कहा। स्वामी जी अभी उनको पढ़ ही रहे थे कि वे बीच में उठकर ही शोर मचाने लगे और कहा कि शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। वास्तव: में, काशी के लोग असभ्य व्यवहार करके, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दयानन्द जी को पराजित घोषित करके तालियां आदि भी पीटने लगे। यह एकदम सभ्यता विरुद्ध व्यवहार था। बाद में काशीराज के छापेखाने से पुस्तक छापकर भी उन्हें बदनाम करने की कोशिश की गई।

इतना होने पर भी संवत् १९३७ तक स्वामी जी, काशी में छह बार आकर विज्ञापन लगाते रहे कि कोई वैदिक प्रमाण एवं युक्ति के आधार पर मूर्तिपूजा को सत्य सिद्ध करना चाहे तो सभ्यता पूर्वक विचार किया जा सकता है, परन्तु कोई भी सामने न आया। **वैदिक यन्त्रालय से संवत् १९३७ में** यह शास्त्रार्थ प्रकाशित किया गया था। यह **संस्कृत और हिन्दी** दोनों ही भाषाओं में लिखा गया है। (सम्पादक)

भूमिका

हम पाठकों को इस काशी के शास्त्रार्थ का (जो कि संवत् १९२६ मि० कार्तिक सुदि १२ मङ्गलवार के दिन "स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी" का काशीस्थ 'स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती' तथा 'बालशास्त्री' आदि पण्डितों के साथ हुआ था) तात्पर्य सहज में प्रकाशित होने के लिये विदित करते हैं।

इस संवाद में स्वामीजी का पक्ष पाषाणमूर्तिपूजादिखण्डनविषय और काशीवासी पण्डितजनों का मण्डन विषय था, उनको वेदप्रमाण से मण्डन करना उचित था, सो कुछ भी न कर सके क्योंकि जो कोई भी पाषाणादि-मूर्तिपूजनादि में वैदिक प्रमाण होता तो क्यों न कहते और स्वपक्ष को वैदिक प्रमाणों से सिद्ध किये विना वेदों को छोड़ कर अन्य मनुस्मृति आदि ग्रन्थ वेदों के अनुकूल हैं वा नहीं, इस प्रकरणान्तर में क्यों जा गिरते? क्योंकि जो पूर्व प्रतिज्ञा को छोड़ के प्रकरणान्तर में जाना है वही पराजय का स्थान है, ऐसे हुए पश्चात् भी जिस-जिस ग्रन्थान्तर में से जो-जो पुराण आदि शब्दों से ब्रह्मवैवर्त्तादि ग्रन्थों को सिद्ध करने लगे थे, सो भी सिद्ध न कर सके, पश्चात् प्रतिमा शब्द से मूर्त्तिपूजा को सिद्ध करना चाहा था, वह भी न हो सका, पुन: पुराण शब्द विशेष्य वा विशेषणवाची है, इसमें स्वामीजी का पक्ष विशेषणवाची और काशीस्थ पण्डितों का पक्ष विशेष्यवाची सिद्ध करना था, इसमें बहुत इधर-उधर के वचन बोले परन्तु सर्वत्र स्वामीजी ने विशेषणवाची, पुराण शब्द को सिद्ध कर दिया और काशीस्थ पण्डित लोग विशेष्यवाची सिद्ध नहीं कर सके। सो आप लोग देखिये कि शास्त्रार्थ की इन बातों से क्या ठीक-ठीक विदित होता है?

और भी देखने की बात है कि जब माधवाचार्य्य दो पत्र निकाल के सबके सामने पटक के बोले थे कि यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है, उस पर स्वामीजी ने उसको विशेषणवाची सिद्ध कर दिया परन्तु काशी निवासी पण्डितों से कुछ भी न बन पड़ा। एक बड़ी शोचनीय यह बात उन्होंने की, जो किसी सभ्य मनुष्य के करने योग्य न थी कि ये लोग सभा में काशीराज महाराज और काशीस्थ विद्वानों के सन्मुख असभ्यता का

वचन बोले। क्या स्वामीजी के कहने पर भी काशीराज आदि चुप होके बैठे रहें और बुरे वचन बोलनेवालों को न रोकें? क्या स्वामीजी का पांच मिनिट दो पत्रों के देखने में लगा के प्रत्युत्तर देना विद्वानों की बात नहीं थी? और क्या सबसे बुरी बात यह नहीं थी कि सब सभा के बीच ताली शब्द लड़कों सदृश किया और ऐसे महा असभ्यता के व्यवहार करने में कोई भी उनको रोकनेवाला न हुआ। और क्या एक दम उठ के चुप होके बगीचे से बाहर निकल जाना और क्या सभा में वा अन्यत्र झूठा हल्ला करना धार्मिक और विद्वानों के आचरण से विरुद्ध नहीं था?

यह तो हुआ सो हुआ परन्तु एक महा खोटा काम उन्होंने और किया जो सभा के व्यवहार से अत्यन्त विरुद्ध है कि एक पुस्तक स्वामीजी की झूठी निन्दा के लिये काशीराज के छापेखाने में छपाकर प्रसिद्ध किया और चाहा कि उनकी बदनामी करें और करावें परन्तु इतनी झूठी चेष्टा किये पर भी स्वामीजी उनके कर्मों पर ध्यान न देकर वा उपेक्षा करके पुनरपि उनको वेदोक्त उपदेश प्रीति से आज तक बराबर करते ही जाते हैं और उक्त १९२६ के संवत् के लेके अब संवत् १९३७ तक छठी वार काशीजी में आके सदा विज्ञापन लगाते जाते हैं कि पुनरपि जो कुछ आप लोगों ने वैदिक प्रमाण वा कोई युक्ति पाषाणादिमूर्त्तिपूजा आदि के सिद्ध करने के लिए पाई हो तो सभ्यतापूर्वक सभा करके फिर भी कुछ कहो वा सुनो, इस पर भी कुछ नहीं करते, यह भी कितने निश्चय करने की बात है। परन्तु ठीक है कि जो कोई दृढ़ प्रमाण वा युक्ति काशीस्थ पण्डित लोग पाते अथवा कहीं वेदशास्त्र में प्रमाण होता तो क्या सन्मुख होके अपने पक्ष को सिद्ध करने न लगते और स्वामीजी के सामने न होते?

इससे यही निश्चित सिद्धान्त जानना चाहिए कि जो इस विषय में स्वामीजी की बात है, वही ठीक है। और देखो स्वामीजी की यह बात संवत् १९३६ के विज्ञापन से भी कि जिसमें सभा के होने के अत्युत्तम नियम छपवा के प्रसिद्ध किये थे—सत्य ठहरती है।

उस पर पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य ने अनर्थयुक्त विज्ञापन छपवा के प्रसिद्ध किया था, उस पर स्वामीजी के अभिप्राय से युक्त दूसरा विज्ञापन उसके उत्तर में पण्डित भीमसेन शर्मा ने छपवा कर कि जिसमें स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजी और बालशास्त्रीजी से शास्त्रार्थ होने की सूचना थी प्रसिद्ध किया था, उस पर दोनों में से कोई एक भी शास्त्रार्थ

करने में प्रवृत्त न हुआ, क्या अब भी किसी को शङ्का रह सकती है कि जो-जो स्वामी जी कहते हैं, वह-वह सत्य है वा नहीं? किन्तु निश्चय करके जानना चाहिए कि स्वामीजी की सब बातें वेद और युक्ति के अनुकूल होने से सर्वथा सत्य ही हैं। और जहाँ छान्दोग्य उपनिषद् आदि को स्वामीजी ने वेद नाम से कहा है, वहाँ-वहाँ उन पण्डितों के मत के अनुसार कहा है किन्तु ऐसा स्वामीजी का मत नहीं, स्वामीजी मन्त्रसंहिताओं ही को वेद मानते हैं क्योंकि जो मन्त्रसंहिता हैं, वे ईश्वरोक्त होने से निर्भ्रान्त सत्यार्थयुक्त हैं और 'ब्राह्मणग्रन्थ' जीवोक्त अर्थात् ऋषि मुनि आदि विद्वानों के कहे हैं वे भी प्रमाण तो हैं, परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और विरुद्धार्थ होने से अप्रमाण हो भी सकते हैं और मन्त्रसंहिता तो किसी के विरुद्धार्थ होने से अप्रमाण कभी नहीं हो सकती, क्योंकि वे तो स्वत:प्रमाण हैं॥

संवत् १९३७ — प्रबन्धकर्ता, वैदिक यन्त्रालय,
सन् १८८० — काशी

अथ काशी-शास्त्रार्थः

धर्माधर्मयोर्मध्ये शास्त्रार्थविचारो विदितो भवतु। एको दिगम्बर-स्सत्यशास्त्रार्थविद्दयानन्दसरस्वती स्वामी गङ्गातटे विहरति। स ऋग्वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो निश्चयं कृत्वैवं वदति—''वेदेषु पाषाणादि-मूर्त्तिपूजनविधानं शैवशाक्तगाणपतवैष्णवादिसम्प्रदाया रुद्राक्षत्रिपुंड्रादि-धारणं च नास्त्येव तस्मादेतत् सर्वं मिथ्यैवास्ति, नाचरणीयं कदाचित्। कुतः ? एतद् वेदविरुद्धाप्रसिद्धाचरणे महत्पापं भवतीतीयं वेदादिषु मर्यादा लिखितास्ति।''

एक दयानन्द सरस्वती नामक संन्यासी दिगम्बर गङ्गा के तीर विचरते रहते हैं, जो सत्पुरुष और सत्यशास्त्रों के वेत्ता हैं। उन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदादि का विचार किया है, सो ऐसा सत्यशास्त्रों को देख निश्चय करके कहते हैं कि ''पाषाणादि मूर्त्तिपजन, शैव, शाक्त, गाणपत और वैष्णव आदि सम्प्रदायों और रुद्राक्ष, तुलसी माला, त्रिपुण्ड्रादि धारण का विधान कहीं भी वेदों में नहीं है, इससे ये सब मिथ्या ही हैं, कदापि इनका आचरण न करना चाहिए। क्योंकि वेदविरुद्ध और वेदों में अप्रसिद्ध के आचरण से बड़ा पाप होता है, ऐसी मर्यादा वेदों में लिखी है।''

एवं हरद्वारमारभ्य गङ्गातटे अन्यत्रापि यत्र-कुत्रचिद् दयानन्द-सरस्वती स्वामी खण्डनं कुर्वन् सन् काशीमागत्य दुर्गाकुण्डसमीप आनन्दारामे यदा स्थितिं कृतवान् तदा काशीनगरे महान् कोलाहलो जातः। बहुभिः पण्डितैर्वेदादिपुस्तकानां मध्ये विचारः कृतः, क्वापि पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादि विधानं न लब्धम्।

इस हेतु से उक्त स्वामीजी हरद्वार से लेकर सर्वत्र इसका खण्डन करते हुए काशी में आके दुर्गाकुण्ड के समीप आनन्दबाग में स्थित हुए। उनके आने की धूम मची, बहुत से पण्डितों ने वेदों के पुस्तकों में विचार करना आरम्भ किया, परन्तु पाषाणादि मूर्त्तिपूजा का विधान कहीं भी किसी को न मिला।

प्रायेण बहूनां पाषाणपूजनादिष्वाग्रहो महानस्ति, अतः काशीराज-महाराजेन बहून् पण्डितानाहूय पृष्टं किं कर्त्तव्यमिति ? तदा सर्वैर्जनै-

र्निश्चयः कृतो येन केन प्रकारेण दयानन्दस्वामिना सह शास्त्रार्थं कृत्वा बहुकालात् प्रवृत्तस्याचारस्य स्थापनं भवेत् तथा कर्त्तव्यमेवेति।

बहुधा करके इसके पूजन में आग्रह बहुतों को है। इससे काशीराज महाराज ने बहुत से पण्डितों को बुलाकर पूछा कि इस विषय में क्या करना चाहिये ? तब सब ने ऐसा निश्चय करके कहा कि किसी प्रकार से दयानन्द सरस्वती स्वामी के साथ शास्त्रार्थ करके बहुकाल से प्रवृत्त आचार को जैसे स्थापन हो सके, करना चाहिये।

पुनः कार्त्तिकशुक्लद्वादश्यामेकोनविंशतिशतषड्विंशतितमे संवत्सरे (१९२६) मङ्गलवासरे महाराजः काशीनरेशो बहुभिः पण्डितैः सह शास्त्रार्थकरणार्थमानन्दारामं यत्र दयानन्दस्वामिना निवासः कृतः तत्रागतः।

तदा दयानन्दस्वामिना महाराजं प्रत्युक्तम्—वेदानां पुस्तकान्या-नीतानि न वा ?

निदान कार्तिक सुदी १२ सं० १९२६ मङ्गलवार को महाराज काशीनरेश बहुत से पण्डितों को साथ लेकर जब स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के हेतु आए तब दयानन्द स्वामीजी ने महाराज से पूछा कि आप वेदों की पुस्तक ले आए हैं वा नहीं ?

तदा महाराजेनोक्तम्—वेदाः पण्डितानां कण्ठस्थाः सन्ति किं प्रयोजनं पुस्तकानामिति।

महाराज ने कहा कि वेद सम्पूर्ण पण्डितों को कण्ठस्थ हैं, पुस्तकों का क्या प्रयोजन है ?

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—पुस्तकैर्विना, पूर्वापरप्रकरणस्य यथावद्विचारस्तु न भवति।

अस्तु तावत् पुस्तकानि नानीतानि।

तब दयानन्द सरस्वतीजी ने कहा कि पुस्तकों के विना पूर्वापर प्रकरण का विचार ठीक-ठीक नहीं हो सकता, भला पुस्तक नहीं लाए तो नहीं सही परन्तु किस विषय पर विचार होगा ?

पण्डितों ने कहा कि तुम मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हो, हम लोग उसका मण्डन करेंगे।

पुनः स्वामीजी ने कहा कि जो कोई आप लोगों में मुख्य हो, वही

एक पण्डित मुझसे संवाद करे।

तदा पण्डितरघुनाथप्रसादकोटपालेन नियमः कृतो दयानन्दस्वामिना सहैकैकः पण्डितो वदतु न तु युगपदिति।

पण्डित रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने यह नियम किया कि स्वामीजी से एक-एक पण्डित विचार करे।

तदादौ ताराचरणनैयायिको विचारार्थमुद्यतः, तं प्रति स्वामिदयानन्देनोक्तम्—युष्माकं वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमस्ति न वेति?

पुनः सब से पहिले ताराचरण नैयायिक स्वामीजी से विचार के हेतु सम्मुख प्रवृत्त हुए।

स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आप वेदों का प्रमाण मानते हैं वा नहीं?

तदा ताराचरणेनोक्तम्—सर्वेषां वर्णाश्रमस्थानां वेदेषु प्रामाण्यस्वीकारोऽस्तीति।

उन्होंने उत्तर दिया कि जो वर्णाश्रम में स्थित हैं, उन सबको वेदों का प्रमाण ही है[१]।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—वेदे पाषाणादिमूर्तिपूजनस्य यत्र प्रमाणं भवेत्तद्दर्शनीयम्, नास्ति चेद्वद नास्तीति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि कहीं वेदों में पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजन का प्रमाण है वा नहीं? यदि हो तो दिखाइये, और जो नहीं तो कहिये कि नहीं है।

तदा ताराचरणभट्टाचार्येणोक्तम्—वेदेषु प्रमाणमस्ति वा नास्ति परन्तु वेदानामेव प्रामाण्यं नान्येषामिति यो ब्रूयात्तं प्रति किं वदेत्?

पण्डित ताराचरण ने कहा कि वेदों में प्रमाण है वा नहीं परन्तु जो एक वेदों ही का प्रमाण मानता है और का नहीं, उसके प्रति क्या कहना चाहिये?

तदा स्वामिनोक्तम्—अन्यो विचारस्तु पश्चात् भविष्यति वेदविचार एव मुख्योऽस्ति तस्मात् स एवादौ कर्त्तव्यः, कुतो वेदोक्तकर्मैव मुख्यमस्त्यतः। मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति।

१. इससे यह समझना कि स्वामीजी भी वर्णाश्रमस्थ हैं, वेदों को मानते हैं।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि औरों का विचार पीछे होगा, वेदों का विचार मुख्य है, इस निमित्त से इसका विचार पहिले ही करना चाहिये, क्योंकि वेदोक्त ही कर्म्म मुख्य है। और मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं, इससे इनका भी प्रमाण है, क्योंकि जो-जो वेदविरुद्ध और वेदों में अप्रसिद्ध है, उनका प्रमाण नहीं होता।

तदा ताराचरणभट्टाचार्येणोक्तम्—मनुस्मृतेः क्वास्ति वेदमूलमिति?

पण्डित ताराचरण ने कहा कि मनुस्मृति का वेदों में कहाँ मूल है?

स्वामिनोक्तम्—'यद्वै किंचन मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजताया' इति सामवेदे[१]।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि जो-जो मनुजी ने कहा है, सो-सो औषधों का भी औषध है, ऐसा सामवेद के ब्राह्मण में कहा है[२]।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमित्यस्य व्याससूत्रस्य किं मूलमस्तीति?

विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि रचना की अनुपपत्ति होने से अनुमान-प्रतिपाद्य प्रधान, जगत् का कारण नहीं, व्यासजी के इस सूत्र का वेदों में क्या मूल है?

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्य प्रकरणस्योपरि विचारो न कर्त्तव्य इति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह प्रकरण से भिन्न बात है, इस पर विचार करना न चाहिये।

पुनर्विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—वदैव त्वं यदि जानासीति।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि यदि तुम जानते हो तो अवश्य कहो।

तदा दयानन्दस्वामिना प्रकरणान्तरे गमनम्भविष्यतीति मत्वा नेदमुक्तम्। कदाचित् कण्ठस्थं यस्य न भवेत् स पुस्तकं दृष्ट्वा वदेदिति।

इस पर स्वामीजी ने यह समझ कर कि प्रकरणान्तर में वार्त्ता जा

१. पण्डितानामेव मतमङ्गीकृत्योक्तमतो नेदं स्वामिनो मतमिति वेद्यम्।

२. यह कहना उन पण्डितों के मत के अनुसार ठीक है, परन्तु स्वामीजी तो ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते किन्तु मन्त्रभाग ही को वेद मानते हैं।

रहेगी, इससे न कहा, जो कदाचित् किसी को कण्ठ न हो तो पुस्तक देखकर कहा जा सकता है।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कण्ठस्थं नास्ति चेच्छास्त्रार्थं कर्तुं कथमुद्यतः काशीनगरे चेति।

तब विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो कण्ठस्थ नहीं है तो काशी नगर में शास्त्रार्थ करने को क्यों उद्यत हुए?

तदा स्वामिनोक्तम्—भवतः सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि क्या आपको सब कण्ठाग्र है?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—मम सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि हाँ हमको सब कण्ठस्थ है।

तदा स्वामिनोक्तम्—धर्मस्य किं स्वरूपमिति?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि कहिये धर्म्म का क्या स्वरूप है?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो वेदप्रतिपाद्य फलसहित अर्थ है, वही धर्म कहलाता है।

स्वामिनोक्तम्—इदन्तु तव संस्कृतं नास्त्यस्य प्रामाण्यं कण्ठस्थां श्रुतिं स्मृतिं वा वदेति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह आपका संस्कृत है इसका क्या प्रमाण, श्रुति स्मृति कहिये।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—''चोदनालक्षणार्थो धर्मः'' इति जैमिनिसूत्रमिति[१]।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो ''चोदनालक्षण अर्थ है, सो धर्म कहलाता है।'' यह जैमिनि का सूत्र है।

तदा स्वामिनोक्तम्—चोदना का चोदना नाम प्रेरणा तत्रापि श्रुतिर्वा स्मृतिर्वक्तव्या यत्र प्रेरणा भवेत्।

स्वामीजी ने कहा कि यह सूत्र है, यहां श्रुति वा स्मृति को कण्ठ

१. इदन्तु सूत्रमस्ति, नेयं श्रुतिर्वा स्मृतिः, सर्वं मम कण्ठस्थमस्तीति प्रतिज्ञायेदानीं कण्ठस्थं नोच्यत इति प्रतिज्ञाहानेस्तस्य कुतो न पराजय इति बोध्यम्।

से क्यों नहीं कहते? और चोदना नाम प्रेरणा का है, वहाँ भी श्रुति वा स्मृति कहना चाहिये, जहाँ प्रेरणा होती है।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना किमपि नोक्तम्।

तब इसमें विशुद्धानन्द स्वामी ने कुछ भी न कहा।

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्तु तावद्धर्मस्वरूपप्रतिपादिका श्रुतिर्वा स्मृतिस्तु नोक्ता किं च धर्मस्य कति लक्षणानि भवन्ति वदतु भवानीति?

तब स्वामीजी ने कहा कि अच्छा आपने धर्म का स्वरूप तो न कहा परन्तु धर्म के कितने लक्षण हैं, कहिये?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—एकमेव लक्षणं धर्मस्येति।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि धर्म का एक ही लक्षण है।

तदा स्वामिनोक्तम्—किं च तदिति?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि वह कैसा है?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना किमपि नोक्तम्।

तब विशुद्धानन्द स्वामी ने कुछ भी न कहा।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—धर्मस्य तु दश लक्षणानि सन्ति भवता कथमुक्तमेकमेवेति?

तब स्वामीजी ने कहा कि धर्म्म के तो दश लक्षण हैं, आप एक ही क्यों कहते हैं?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कानि तानि लक्षणानीति?

तदा स्वामिनोक्तम्—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

इति मनुस्मृतेः श्लोकोऽस्ति[१]।

तब विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि वे कौन से दश लक्षण हैं?

इस पर स्वामीजी ने मनुस्मृति का यह वचन कहा कि—धैर्य्य १, क्षमा २, दम ३, चोरी का त्याग ४, शौच ५, इन्द्रियों का निग्रह ६, बुद्धि ७, विद्या का बढ़ाना ८, सत्य ९, और अक्रोध अर्थात् क्रोध का त्याग १०, ये दश धर्म के लक्षण हैं, फिर आप कैसे एक ही लक्षण कहते हैं?

१. अत्रापि तस्य प्रतिज्ञाहानेर्निग्रहस्थानं बोध्यम्।

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—अहं सर्वं धर्म्मशास्त्रं पठितवानिति।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—त्वमधर्म्मस्य लक्षणानि वदेति।

तब बालशास्त्री ने कहा कि हाँ, हमने सब धर्मशास्त्र देखा है।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि आप अधर्म का लक्षण कहिये?

तदा बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तम्।

तब बालशास्त्रीजी ने कुछ भी उत्तर न दिया।

तदा बहुभिर्युगपत् पृष्टम्—प्रतिमा शब्दो वेदे नास्ति किमिति?

फिर बहुत से पण्डितों ने इकट्ठे हल्ला करके पूछा कि वेद में प्रतिमा शब्द है वा नहीं?

तदा स्वामिनोक्तम्—प्रतिमाशब्दस्त्वस्तीति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि प्रतिमा शब्द तो है।

तदा तैरुक्तम्—क्वास्तीति?

फिर उन लोगों ने कहा कि कहाँ पर है?

तदा स्वामिनोक्तम्—सामवेदस्य ब्राह्मणे चेति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि सामवेद के ब्राह्मण में है।

तदा तैरुक्तम्—किं च तद्वचनमिति?

फिर उन लोगों ने कहा कि वह कौन-सा वचन है?

तदा स्वामिनोक्म्—देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्तीत्यादीनि।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह है—''देवता के स्थान कम्पायमान और प्रतिमा हँसती है इत्यादि[१]।''

तदा तैरुक्तम्—प्रतिमाशब्दस्तु वेदे[२] वर्तते भवान् कथं खण्डनं करोति?

फिर उन लोगों ने कहा कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में भी है, फिर आप कैसे खण्डन करते हैं।

तदा स्वामिनोक्तम्—प्रतिमाशब्देनैव पाषाणपूजनादेः प्रामाण्यं

१. यह वेदवचन नहीं किन्तु सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण का है परन्तु वहाँ भी यह प्रक्षिप्त है क्योंकि वेदों से विरुद्ध है।

२. अत्रापि तेषामवेदे ब्राह्मणग्रन्थे वेदबुद्धित्वाद् भ्रान्तिरेवास्तीति वेद्यम्।

न भवति, प्रतिमा शब्दस्यार्थः कर्त्तव्य इति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि प्रतिमा शब्द से पाषाणादि मूर्त्तिपूजनादि का प्रमाण नहीं हो सकता है, इसलिये प्रतिमा शब्द का अर्थ करना चाहिए, इसका क्या अर्थ है?

तदा तैरुक्तम्—यस्मिन् प्रकरणेऽयं मन्त्रोऽस्ति तस्य कोऽर्थ इति?

तब उन लोगों ने कहा कि जिस प्रकरण में यह मन्त्र है, उस प्रकरण का क्या अर्थ है?

तदा स्वामिनोक्तम्—अथातोद्भुतशान्तिं व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य त्रातारमिन्द्रमित्यादयस्तत्रैव सर्वे मूलमन्त्रा लिखिताः, एतेषां मध्यात् प्रतिमन्त्रेण त्रित्रिसहस्राण्याहुतयः कार्यास्ततो व्याहृतिभिः पञ्चपञ्चाहुतयश्चेति लिखित्वा सामगानं च लिखितम्। अनेनैव कर्म्मणाद्भुतशान्तिर्विहिता। यस्मिन्मन्त्रे प्रतिमाशब्दोऽस्ति स मन्त्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपि तु ब्रह्मलोकविषय एव तद्यथा—''स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेति'' प्राच्या दिशोद्भुतदर्शनशान्तिमुक्त्वा ततो दक्षिणस्या दिशः शान्तिं कथयित्वा उत्तरस्या दिशः शान्तिरुक्ता, ततो भूमेश्चेति मर्त्यलोकस्य प्रकरणं समाप्यान्तरिक्षस्य शान्तिरुक्ता, ततो दिवश्च शान्तिविधानमुक्तम्, ततः परस्य स्वर्गस्य च नाम ब्रह्मलोकस्यैवेति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह अर्थ है—अब अद्भुत शान्ति की व्याख्या करते हैं ऐसा प्रारम्भ करके फिर रक्षा करने के लिये, इन्द्र [त्रातारमिन्द्र] इत्यादि सब मूलमन्त्र वहीं सामवेद के ब्राह्मण में लिखे हैं, इनमें से प्रति मन्त्र करके तीन हजार आहुति करनी चाहियें, इसके अनन्तर व्याहृति करके पांच-पांच आहुति करनी चाहियें, ऐसा लिख के सामगान भी करना लिखा है। इस क्रम करके अद्भुत शान्ति का विधान किया है। जिस मन्त्र में प्रतिमा शब्द है, सो मन्त्र मृत्युलोक विषयक नहीं किन्तु ब्रह्मलोक विषयक है, सो ऐसा है कि 'जब विघ्नकर्त्ता देवता पूर्व दिशा में वर्त्तमान होवे' इत्यादि मन्त्रों से अद्भुतदर्शन की शान्ति कहकर फिर दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, और उत्तर दिशा, इसके अनन्तर भूमि की शान्ति कहकर मृत्युलोक का प्रकरण समाप्त कर अन्तरिक्ष की शान्ति कहके, इसके अनन्तर स्वर्गलोक फिर परमस्वर्ग अर्थात् ब्रह्मलोक की शान्ति कही है।

इस पर सब चुप रहे।

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—यस्यां यस्यां दिशि या या देवता तस्यास्तस्या देवतायाः शान्तिकरणेन दृष्टविघ्नोपशान्तिर्भवतीति।

फिर बालशास्त्री ने कहा कि जिस-जिस दिशा में जो-जो देवता है, उस-उसकी शान्ति करने से अद्‌भुत देखनेवालों के विघ्न की शान्ति होती है।

तदा स्वामिनोक्तम्—इदं तु सत्यं परन्तु विघ्नदर्शयिता कोऽस्तीति?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह सत्य है परन्तु इस प्रकरण में विघ्न दिखाने वाला कौन है?

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—इन्द्रियाणि दर्शयितृणीति।

तब बालशास्त्री ने कहा कि इन्द्रियां दिखाने वाली हैं।

तदा स्वामिनोक्तम्—इन्द्रियाणि तु द्रष्टॄणि भवन्ति, न तु दर्शयितॄणि परन्तु स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेत्यत्र स शब्दवाच्यः कोऽस्तीति?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि इन्द्रियां तो देखने वाली हैं, दिखाने वाली नहीं परन्तु "**स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेत्यत्र**" इत्यादि मन्त्रों में '**स**' शब्द का वाच्यार्थ क्या है?

तदा बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तम्।

तब बालशास्त्रीजी ने कुछ न कहा।

तदा शिवसहायेन प्रयागस्थेनोक्तम्—अन्तरिक्षादिगमनं शान्तिकरणस्य फलमनेनोच्यते चेति।

फिर पण्डित शिवसहायजी ने कहा कि अन्तरिक्ष आदि गमन, शान्ति करने से फल इस मन्त्र करके कहा जाता है।

तदा स्वामिनोक्तम्—भवता तत्प्रकरणं दृष्टं किम्? दृष्टं चेत्तर्हि कस्यापि मन्त्रार्थं वदेति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि आपने वह प्रकरण देखा है तो किसी मन्त्र का अर्थ तो कहिये?

तदा शिवसहायेन मौनं कृतम्।

तब शिवसहायजी चुप हो रहे।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—वेदाः कस्माज्जाता इति?

फिर विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि वेद किससे उत्पन्न हुए हैं?

तदा स्वामिनोक्तम्—वेदा ईश्वराज्जाता इति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कस्मादीश्वराज्जाताः?

किं न्यायाशास्त्रोक्ताद्वा योगशास्त्रोक्ताद्वा वेदान्तशास्त्रोक्ताद्वेति।

फिर विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि किस ईश्वर से?

क्या न्यायशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से वा योगशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से अथवा वेदान्तशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से? इत्यादि।

तदा स्वामिनोक्तम्—ईश्वरा बहवो भवन्ति किमिति?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि क्या ईश्वर बहुत से हैं?

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—ईश्वरस्त्वेक एव परन्तु वेदाः कीदृग्लक्षणादीश्वराज्जाता इति?

तब विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि ईश्वर तो एक ही है परन्तु वेद कौन से लक्षण वाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं?

तदा स्वामिनोक्तम्—सच्चिदानन्दलक्षणादीश्वराद्वेदा जाता इति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि सच्चिदानन्द लक्षण वाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कोस्ति सम्बन्धः? किं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो वा जन्यजनकभावो वा समवायसम्बन्धो वा स्वस्वामिभाव इति तादात्म्यभावो वेति?

फिर विशुद्धानन्द स्वामी जी ने कहा कि ईश्वर और वेदों से क्या सम्बन्ध है? क्या प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव वा जन्यजनकभाव अथवा समवायसम्बन्ध वा स्वस्वामिभाव अथवा तादात्म्य सम्बन्ध है? इत्यादि।

तदा स्वामिनोक्तम्—कार्यकारणभावः सम्बन्धश्चेति।

इस स्वामीजी ने कहा कि कार्य्यकारणभाव सम्बन्ध है।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेति यथा प्रतीकोपासनमुक्तं तथा शालिग्रामपूजनमपि ग्राह्यमिति।

फिर विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि जैसे मन में ब्रह्मबुद्धि और सूर्य में ब्रह्मबुद्धि करके प्रतीक उपासना कही हैं, वैसे ही शालिग्राम के पूजन का ग्रहण करना चाहिये।

तदा स्वामिनोक्तम्—यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादिवचनं वेदेषु[१] दृश्यते तथा पाषाणादिब्रह्मेत्युपासीतेति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते, पुनः कथं ग्राह्यम्भवेदिति?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि जैसे ''मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत'' इत्यादि वचन वेदों[२] में देखने में आते हैं, वैसे ''पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीत'' इत्यादि वचन वेदादि में नहीं देख पड़ता, फिर क्योंकर इसका ग्रहण हो सकता है?

तदा माधवाचार्येणोक्तम्—'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳ सृजेथामयं च' इति मन्त्रस्थेन पूर्त्तशब्देन कस्य ग्रहणमिति?

तब माधवाचार्य्य ने कहा कि किं ''उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते स'' इति, इस मन्त्र में पूर्त्त शब्द से किसका ग्रहण है?

तदा स्वामिनोक्तम्—वापीकूपतडागारामाणामेव नान्यस्येति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि वापी, कूप, तड़ाग और आराम का ग्रहण है।

तदा माधवाचार्य्येणोक्तम्—पाषाणादिमूर्त्तिपूजनमत्र कथं न गृह्यते चेति।

माधवाचार्य्य ने कहा कि इससे पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का ग्रहण क्यों नहीं होता है?

तदा स्वामिनोक्तम्—पूर्त्तशब्दस्तु पूर्त्तिवाची वर्त्तते तस्मान्न कदाचित् पाषाणादिमूर्त्तिपूजनग्रहणं सम्भवति। यदि शङ्कास्ति तर्हि निरुक्तमस्य मन्त्रस्य पश्य ब्राह्मणं चेति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि पूर्त्त शब्द पूर्त्ति का वाचक है इससे कदाचित् पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का ग्रहण नहीं हो सकता, यदि शङ्का हो तो इस मन्त्र का निरुक्त और ब्राह्मण देखिये।

ततो माधवाचार्य्येणोक्तम्—पुराणशब्दो वेदेष्वस्ति न वेति?

तब माध्वाचार्य्य ने कहा कि पुराण शब्द वेदों में है वा नहीं?

तदा स्वामिनोक्तम्—पुराणशब्दस्तु बहुषु स्थलेषु वेदेषु दृश्यते

१. इदमपि पण्डितमतानुसारेणोक्तम्, नेदं स्वामिनो मतमिति वेद्यम्।

२. यह भी उन्हीं पण्डितों का मत है, स्वामीजी का नहीं क्योंकि स्वामीजी तो ब्राह्मण पुस्तकों को ईश्वरकृत नहीं मानते।

परन्तु पुराणशब्देन कदाचित् ब्रह्मवैवर्त्तादिग्रन्थानां ग्रहणं न भवति, कुतः? पुराणशब्दस्तु भूतकालवाच्यस्ति सर्वत्र द्रव्यविशेषणं चेति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि पुराण शब्द तो बहुत सी जगह वेदों में है, परन्तु पुराण शब्द से ब्रह्मवैवर्त्तादिक ग्रन्थों का कदाचित् ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि पुराण शब्द भूतकालवाची है और सर्वत्र द्रव्य का विशेषण ही होता है।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—''एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोका व्याख्यानान्यनुव्याख्यानानि'' इत्यत्र बृहदारण्यकोपनिषदि पठितस्य सर्वस्य प्रामाण्यं वर्त्तते न वेति?

फिर विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि बृहदारण्यक उपनिषद् के इस मन्त्र में कि ''एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोका व्याख्यानान्यनुव्याख्यानानीति'' यह सब तो पठित है इसका प्रमाण है वा नहीं।

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्त्येव प्रामाण्यमिति।

इस पर स्वामीजी ने कहा—हाँ प्रमाण है।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—श्लोकस्यापि प्रामाण्यं चेत्तदा सर्वेषां प्रामाण्यमागतमिति।

फिर विशुद्धानन्द जी ने कहा कि यदि श्लोक का भी प्रमाण है तो सबका प्रमाण आया।

तदा स्वामिनोक्तम्—सत्यानामेव श्लोकानां प्रामाण्यं नान्येषामिति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि सत्य श्लोकों का ही प्रमाण होता है, औरों का नहीं।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमिति?

तब विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है?

तदा स्वामिनोक्तम्—पुस्तकमानय पश्चाद्विचारः कर्त्तव्य इति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि पुस्तक लाइये तब इसका विचार हो।

तदा माधवाचार्य्येण वेदस्य[१] द्वे पत्रे निस्सारिते, अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमित्युक्त्वेति।

माधवाचार्य ने वेदों के दो पत्रे[२] निकाले, और कहा कि यहां पुराण शब्द किस का विशेषण है?

तदा स्वामिनोक्तम्—कीदृशमस्ति वचनं पठ्यतामिति।

स्वामीजी ने कहा कि कैसा वचन है पढ़िये।

तदा माधावचार्य्येण पाठः कृतस्तत्रेदं वचनमस्ति ''ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति''।

तब माध्वाचार्य्य ने यह पढ़ा 'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानीति'।

तदा स्वामिनोक्तम्—पुराणानि नाम सनातनानीति विशेषणमिति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यहां पुराण शब्द ब्राह्मण का विशेषण है अर्थात् पुराने नाम सनातन ब्राह्मण हैं।

तदा बालशास्त्र्यादिभिरुक्तम्—ब्राह्मणानि नवीनानि भवन्ति किमिति।

तब बालशास्त्रीजी आदि ने कहा कि ब्राह्मण कोई नवीन भी होते हैं?

तदा स्वामिनोक्तम्—नवीनानि ब्राह्मणानीति कस्यचिच्छङ्कापि माभूदिति विशेषणार्थः।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि नवीन ब्राह्मण नहीं हैं, परन्तु ऐसी शङ्का भी किसी को न हो इसलिये यहां यह विशेषण कहा है।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—इतिहासशब्दव्यवधानेन कथं विशेषणं भवेदिति?

तब विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि यहां इतिहास शब्द से व्यवधान होने से कैसे विशेषण होगा?

तदा स्वामिनोक्तम्—अयं नियमोऽस्ति किं व्यवधानाद्विशेषणयोगो न भवेत्सन्निधानादेव भवेदिति?

''अजो नित्यश्शाश्वतोऽयम्पुराणो न' इति दूरस्थस्य देहिनो

१. इदमपि पण्डितानां मतम्, नैव स्वामिन इति वेद्यम्।

२. यह भी उन्हीं का मत है, स्वामीजी का नहीं क्योंकि ये गृह्यसूत्र के पत्रे थे।

विशेषणानि गीतायां कथम्भवन्ति? व्याकरणेऽपि नियमो नास्ति समीपस्थमेव विशेषणं भवेन्न दूरस्थमिति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि क्या ऐसा नियम है कि व्यवधान से विशेषण नहीं होता और अव्यवधान ही में होता है, क्योंकि [गीता के] ''अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'' इस श्लोक में दूरस्थ देही का भी क्या विशेषण नहीं है? और कहीं व्याकरणादि में भी यह नियम नहीं किया है कि समीपस्थ ही विशेषण होते हैं, दूरस्थ नहीं।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—इतिहासस्यात्र पुराणशब्दो विशेषणं नास्ति तस्मादितिहासो नवीनो ग्राह्यः किमिति?

तब विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि यहां इतिहास का तो पुराण शब्द विशेषण नहीं है, इससे क्या इतिहास नवीन ग्रहण करना चाहिये।

तदा स्वामिनोक्तम्—अन्यत्रास्तीतिहासस्य पुराणशब्दो विशेषणं तद्यथा—'इतिहासः पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' इत्युक्तम्।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि और जगह पर इतिहास का विशेषण पुराण शब्द है—सुनिये ''इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः[१]'' इत्यादि में कहा है।

तदा वामनाचार्यादिभिरयं पाठ एव वेदे नास्तीत्युक्तम्।

तब वामनाचार्य आदिकों ने कहा कि वेदों में यह पाठ ही कहीं भी नहीं है।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—यदि वेदेष्वयम्पाठो[२] न भवेच्चेन्मम पराजयो यद्यम्पाठो वेदे यथावद्भवेत्तदा भवताम्पराजयश्चेयम्प्रतिज्ञा लेख्येत्युक्तन्तदा सर्वैर्मौनं कृतमिति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यदि वेद[३] में यह पाठ न होवे तो हमारा पराजय हो और जो हो तो तुम्हारा पराजय हो यह प्रतिज्ञा लिखो, तब सब चुप हो रहे।

१. [छा० उ० प्रपा० ७ ख० १ प्रवाक् ४ में ऐसा पाठ है] सं०।

२. इदमपि तन्मतमनुसृत्योक्तं नेदं स्वामिनो मतमिति वेदितव्यम्।

३. यह उन्हीं पण्डितों के मतानुसार कहा है किन्तु स्वामीजी तो छान्दोग्य उपनिषद् को वेद नहीं मानते।

तदा स्वामिनोक्तम्—इदानीं व्याकरणे कल्मसंज्ञा क्वापि लिखिता न वेति ?

इस स्वामीजी ने कहा कि व्याकरण जाननेवाले इस पर कहें कि व्याकरण में कहीं कल्मसंज्ञा करी है वा नहीं।

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—एकस्मिन् सूत्रे संज्ञा तु न कृता परन्तु महाभाष्यकारेणोपहासः कृत इति।

तब बालशास्त्रीजी ने कहा कि संज्ञा तो नहीं की है परन्तु एक सूत्र में भाष्यकार ने उपहास किया है।

तदा स्वामिनोक्तम्—कस्य सूत्रस्य महाभाष्ये संज्ञा तु न कृतोपहासश्चेत्युदाहरणप्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं वदेति।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि किस सूत्र के महाभाष्य में संज्ञा तो नहीं की और उपहास किया है, यदि जानते हो तो इसके उदाहरण [प्रत्युदाहरण] पूर्वक समाधान कहो ?

बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तमन्येनापि चेति।

तब बालशास्त्री और औरों ने कुछ भी न कहा।

तदा माधवाचार्येण द्वे पत्रे वेदस्य[१] निस्सार्य्य सर्वेषां पण्डिता-नाम्मध्ये प्रक्षिप्ते, अत्र यज्ञसमाप्तौ सत्यां दशमे दिवसे पुराणानां पाठं शृणुयादिति लिखितमत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमित्युक्तम्।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना दयानन्दस्वामिनो हस्ते पत्रे दत्ते।

माधवाचार्य ने दो पत्रे वेदों[२] के निकाल कर सब पण्डितों के बीच में रख दिये और कहा कि यहाँ 'यज्ञ के समाप्त होने पर यजमान दशवें दिन पुराणों का पाठ सुने' ऐसा लिखा है। यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है ?

स्वामीजी ने कहा कि पढ़ो इसमें किस प्रकार का पाठ है ? जब किसी ने पाठ न किया तब विशुद्धानन्दजी ने पत्रे उठा के स्वामीजी की ओर करके कहा कि तुम ही पढ़ो।

स्वामीजी ने कहा कि आप ही इसका पाठ कीजिये।

१. एते पत्रे तु गृह्यसूत्रस्य भवेतामिति।

२. पत्रे गृह्यसूत्र के पाठ के थे, वेदों के नहीं।

तब विशुद्धानन्दजी ने कहा कि मैं ऐनक के विना पाठ नहीं कर सकता, ऐसा कहके वे पत्रे उठाकर विशुद्धानन्दजी ने दयानन्द स्वामीजी के हाथ में दिये।

तदा स्वामी पत्रे द्वे गृहीत्वा पञ्चक्षणमात्रं विचारं कृतवान्। तत्रेदं वचनं वर्तते—''दशमे दिवसे यज्ञान्ते पुराणविद्यावेदः, इत्यस्य श्रवणं यजमानः कुर्य्यादिति''।

इस पर स्वामीजी ने दोनों पत्रे लेकर विचार करने लगे। [वहां पर इस प्रकार पाठ था ''यज्ञ समाप्ति पर दशवें दिन यजमान पुराणविद्यावेद का श्रवण करे''] इसमें अनुमान है कि ५ पल व्यतीत हुए होंगे कि—

अस्यायमर्थः—पुराणी चासौ विद्या च पुराणविद्या पुराणविद्यैव वेदः पुराणविद्यावेद इति नाम ब्रह्मविद्यैव ग्राह्या, कुतः ? एतदन्यत्रर्ग्वेदादीनां श्रवणमुक्तं न चोपनिषदाम्। तस्मादुपनिषदामेव ग्रहणं नान्येषाम्। पुराणविद्यावेदोऽपि ब्रह्मविद्यैव भवितुमर्हति नान्ये नवीना ब्रह्मवैवर्त्तादयो ग्रन्थाश्चेति। यदि ह्येवं पाठो भवेद् ब्रह्मवैवर्त्ताद-योऽष्टादश ग्रन्थाः पुराणानि चेति, क्वाप्येवं वेदेषु[१] पाठो नास्त्येव तस्मात्कदाचित्तेषां ग्रहणं न भवेदेवेत्यर्थकथनस्येच्छा कृता।

''पुरानी जो विद्या है उसे पुराणविद्या कहते हैं और जो पुराणविद्या वेद है वही पुराणविद्या वेद कहाता है, इत्यादि से यहां ब्रह्मविद्या ही का ग्रहण है क्योंकि पूर्व प्रकरण में ऋग्वेदादि चारों वेद आदि का तो श्रवण कहा है परन्तु उपनिषदों का नहीं कहा इसलिये यहां उपनिषदों का ही ग्रहण है, औरों का नहीं। पुरानी विद्या वेदों ही की ब्रह्मविद्या है, इससे ब्रह्मवैवर्त्तादि नवीन ग्रन्थों का ग्रहण कभी नहीं कर सकते, क्योंकि जो यहाँ ऐसा पाठ होता कि ब्रह्मवैवर्त्तादि १८ (अठारह) ग्रन्थ पुराण हैं सो तो वेद में[२] कहीं ऐसा पाठ नहीं है इसलिये कदाचित् अठारहों का ग्रहण नहीं हो सकता'' ज्यों ही यह उत्तर कहना चाहते थे कि—

तदा विशुद्धानन्दस्वामी मम विलम्बो भवतीदानीं गच्छामीत्युक्त्वा गमनायोत्थितोऽभूत्। ततः सर्वे पण्डिता उत्थाय कोलाहलं कृत्वा गताः। एवं च तेषां कोलाहलमात्रेण सर्वेषां निश्चयो भविष्यति दयानन्द-

१. इदमपि तन्मतमेवास्ति न स्वामिन इति।

२. यह पण्डितों के मतानुसार कहा है, यह स्वामीजी का मत नहीं है।

स्वामिनः पराजयो जात इति।

अथात्र बुद्धिमद्भिर्विचारः कर्त्तव्यः कस्य जयो जातः कस्य पराजयश्चेति।

दयानन्दस्वामिनश्चत्वारः पूर्वोक्ताः पूर्वपक्षास्सन्ति। तेषां चतुर्णां प्रामाण्यं नैव वेदेषु निःसृतं पुनस्तस्य पराजयः कथं भवेत्? पाषाणादि-मूर्तिपूजनरचनादिविधायकं वेदवाक्यं सभायामेतैः सर्वैर्नोक्तम्।

येषां वेदविरुद्धेषु वेदाप्रसिद्धेषु च पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिषु शैवशाक्तवैष्णवादिसम्प्रदायादिषु रुद्राक्षतुलसीकाष्ठमालाधारणादिषु त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरचनादिषु नवीनेषु ब्रह्मवैवर्त्तादिग्रन्थेषु च महाना-ग्रहोऽस्ति तेषामेव पराजयो जात इति तथ्यमेवेति।

विशुद्धानन्द स्वामी उठ खड़े हुए और कहा कि हमको विलम्ब होता है हम जाते हैं।

तब सब के सब उठ खड़े हुए और कोलाहल करते हुए चले गये, इस अभिप्राय से कि लोगों पर विदित हो कि दयानन्द स्वामी का पराजय[१] हुआ। परन्तु जो दयानन्द स्वामीजी के ४ पूर्वोक्त प्रश्न हैं उनका वेद में तो प्रमाण ही न निकला, फिर क्योंकर उनका पराजय हुआ!!

॥ इति ॥

---

१. क्या किसी का भी इस शास्त्रार्थ से ऐसा निश्चय हो सकता है कि स्वामीजी का पराजय और काशीस्थ पण्डितों का विजय हुआ? किन्तु इस शास्त्रार्थ से यह तो ठीक निश्चय होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का विजय हुआ और काशीस्थों का नहीं क्योंकि स्वामीजी का तो वेदोक्त सत्यमत है उसका विजय क्योंकर न होवे? काशीस्थ पण्डितों का पुराण और तन्त्रोक्तमत जो पाषाणदि मूर्त्तिपूजादि है उनका पराजय होना कौन रोक सकता है? यह निश्चय है कि असत्य पक्षवालों का पराजय और सत्यवालों का सर्वदा विजय होता है॥

२०

हुगली-शास्त्रार्थ

ग्रन्थ परिचय

'हुगली शास्त्रार्थ' **स्वामी दयानन्द सरस्वती** और **पं० ताराचन्द तर्करत्न** (काशी नरेश की राजसभा के प्रतिष्ठित पण्डित) के बीच हुआ था।

कलकत्ता के पास **हुगली** नामक स्थान पर यह शास्त्रार्थ **संवत् १९३०, चैत्र शुक्ला ११, मंगलवार के दिन (८ अप्रैल १८७३ ई०)** को हुआ था। संपूर्ण शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा में हुआ।

इस शास्त्रार्थ का प्रथम प्रकाशन **संवत् १९३० में आर्यभाषा व बंगला भाषा** में अनूदित 'लाइट प्रेस बनारस' से हुआ। यह शास्त्रार्थ **'प्रतिमा पूजन विचार'** नाम से प्रकाशित हुआ था। (सम्पादक)

हुगली-शास्त्रार्थ

एक पण्डित ताराचरण तर्करत्न नामक भाटपाड़ा ग्राम के निवासी हैं। जो कि ग्राम हुगली के पास है। उस ग्राम में उन की जन्मभूमि है। परन्तु आजकल श्रीयुत काशीराज महाराज के पास रहते हैं। सम्वत् १९२९ में वे अपनी जन्मभूमि में गये थे और किसी स्थान में ठहरे थे।

जिन के स्थान में मैं ठहरा था, उनका नाम श्रीयुत राजा ज्योतीन्द्र मोहन ठाकुर तथा श्रीयतु राजा शौरिन्द्र मोहन ठाकुर है। उनके पास तीन वार जा-जा कर के ताराचरण ने प्रतिज्ञा की थी कि हम आज अवश्य शास्त्रार्थ करने को चलेंगे। ऐसे ही बुद्धिमान् लोगों ने उनकी बात झूठी ही जान ली।

मैं कलिकाता से हुगली में आया। और श्रीयुत वृन्दावन चन्द्र मण्डलजी के बाग में ठहरा था। सो एक दिन उन्होंने अपने स्थान में सभा की। उस में मैं भी वक्तृत्व करने के लिए गया था तथा बहुत पुरुष सुनने को आये थे। उन से मैं अपना अभिप्राय कहता था, वे सब लोग सुनते थे। उसी समय में ताराचरण पण्डितजी भी वहाँ आये। तब उन से वृन्दावनचन्द्रादिकों ने कहा कि आप सभा में आइये। जो इच्छा हो, सो कहिये। परन्तु सभा के बीच में पण्डित ताराचरण नहीं आये। किन्तु ऊपर जाकर दूर से गर्जते थे।

वहाँ भी उन्होंने जान लिया कि पण्डितजी कहते तो हैं, परन्तु समीप क्यों नहीं जाते। इस से जैसे वे ताराचरणजी थे, वैसे ही उन्होंने जान लिये। फिर जब नव घण्टा बज गया, तब लोगों ने मेरे से कहा कि अब समय दश घण्टा का है। उठना चाहिए। बहुत रात आ गई।

फिर मैं और सब सभास्थ लोग उठे। उठके अपने-अपने स्थान में चले गये, फिर मैं बाग में चला आया। उसके दूसरे दिन वृन्दावनचन्द्र मण्डलजी ने मेरे से कहा कि उस वक्त ताराचरण भी आये थे। तब मैंने उनसे कहा कि सभा में क्यों नहीं आये?

उन्होंने कहा कि वे तो बड़ा अभिमान करते हैं। तब मैंने उनसे कहा—जो अभिमान करता है, सो पण्डित नहीं होता। किन्तु वह काम

मूर्ख का ही है। और जो पण्डित होता है सो तो कभी अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करता। जो ताराचरण पण्डितजी अभिमान में डूबे जावें, तब तो उनको मेरे पास एक वार ले आइये। फिर वे अभिमान समुद्र में डूबने से बच जायें तो अच्छा हो।

तब वृन्दावनचन्द्रादिकों ने कहा कि आप बाग में चलिये। और जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा शास्त्रार्थ कीजिये। पण्डितजी की कुछ इच्छा न देखो, तब वृन्दावनचन्द्र से मैंने कहा कि आप उनसे कहें कि कुछ चिन्ता आप न करें। स्वामीजी ने हम से कह दिया है कि पण्डित जी प्रसन्नता से आवें। मैं किसी से विरोध नहीं रखता। तब तो पण्डितजी ने कहा हम चलेंगे।

सो मंगलवार की सन्ध्या समय में बहुत लोग नगर से शास्त्रार्थ सुनने को आये।[१]

वृन्दावनचन्द्र भी बहुत लोगों के साथ आये। तथा पाठशालाओं के अध्यक्ष श्री भूदेव मुकुर्ज्या आये। तथा श्री हरिहर तर्क सिद्धान्त पण्डित भी आये। उसके पीछे पण्डित ताराचरणजी सशिष्य तथा अपने ग्राम निवासियों के साथ आये, जो कि उनके पक्षपाती थे।

ये सब लोग आ के सभा के स्थान में इकट्ठे हो गये। तब मैं भी उस स्थान में आया। फिर सब यथायोग्य बैठे। तब ताराचरणजी ने प्रतिज्ञा की कि हम प्रतिमा का स्थापन पक्ष लेते हैं। फिर मैंने कहा कि जो आपकी इच्छा हो सो लीजिये। मैं तो इस बात का खण्डन ही करूँगा।

तब उन ने मुझसे कहा कि इस सम्वाद में वाद होना ठीक है, वा जल्प अथवा वितण्डा। उन से मैंने कहा कि वाद ही होना उचित है। क्योंकि जल्प और वितण्डा सज्जनों को करना कभी उचित नहीं। वाद गोतमोक्त लेना। तब उन्होंने भी स्वीकार किया।

फिर दूसरी यह प्रतिज्ञा उस समय में की गई कि चार वेद तथा चार उपवेद, छः वेदों के अंग और छः दर्शन मुनियों के किये तथा मुनि और ऋषियों के किये छः शास्त्रों के व्याख्यान, उन्हीं के वचन प्रमाण से ही कहना। अन्य कोई का प्रमाण नहीं। तब उनने भी स्वीकार किया। मैंने भी।

१. चैत्र सु० ११ संवत् १९३०। ८ एप्रिल १८७३।

[१]तर्करत्न—पातञ्जल सूत्रम्—

चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगो वितर्कः।

इति व्यासवचनम्।

तर्करत्न के हाथ में पुस्तक भी थी। उसको देखा। तब भी मिथ्या ही उनने लिखा। क्योंकि योग शास्त्र पढ़ा होय, तब उस शास्त्र को जान सकता है। तर्करत्न ने पढ़ा तो था नहीं। इससे उनने अशुद्ध लिखा। जो पढ़ा भया होता है, सो ऐसा भ्रष्ट कभी नहीं लिखता। देखना चाहिये कि ऐसा पातञ्जल-शास्त्र में सूत्र ही नहीं है। किन्तु ऐसा सूत्र तो है—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी, इति।

सो इस सूत्र के व्याख्यान में ''नासिकाग्रे धारयत'' इत्यादिक वहां लिखा है। यह तो उनने जाना भी नहीं। इससे उनका लिखना भ्रष्ट है। फिर लिखते हैं कि—

इति व्यासवचनम्।

इस प्रकार का वचन व्यासजी ने कहीं योग शास्त्र की व्याख्या में नहीं लिखा। इससे यह भी उनका वचन भ्रष्ट ही है। फिर यह लिखा कि—

स्वरूपे साक्षाद्वती प्रज्ञा आभोगः स च स्थूलविषयत्वात् स्थूल इत्यादि।

यह भी उनका लिखना अशुद्ध ही है। क्योंकि प्रतिज्ञा तो ऐसी पूर्व की गई थी कि वेदादिक शास्त्र वचनों से ही प्रतिमा पूजन का स्थापन हम करेंगे। और वचन फिर लिखा वाचस्पति का। इससे तर्करत्न की प्रतिज्ञा हानि हो गई। प्रतिज्ञा की हानि होने से उनका पराजय हो गया। क्योंकि—प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरमित्यादिक निग्रह स्थान होते हैं। यद्यपि हमको जय तथा पराजय की इच्छा कभी नहीं है, तथापि गोतम मुनिजी ने छब्बीस निग्रह स्थान लिखे हैं।

निग्रह स्थान सब पराजय के स्थान ही होते हैं। और, पहिले प्रतिज्ञा की थी कि जल्प और वितण्डा न करेंगे। फिर जाति-साधन से प्रतिमा का

१. जहाँ-जहाँ तर्करत्न शब्द आवे, वहाँ-वहाँ ताराचरण पण्डितजी को जान लेना। और जहाँ-जहाँ स्वामी शब्द आये, वहाँ-वहाँ दयानन्द सरस्वती स्वामीजी को जान लेना।

स्थापन करने लगे। क्योंकि प्रतिमा भी स्थूल साधर्म्य से आती है।

स्वामी—

यावान् जागरितावस्थाविषयः तावान् सर्वः स्थूलः कुतः, इत्यादि।

मैंने उनको ज्ञापन से जना दिया कि ये गृहस्थ हैं। उनकी अप्रतिष्ठा न हो जाय। तदपि उनने कुछ भी नहीं जाना। जानें तो जब, तब कुछ शास्त्र पढ़ा हो। अथवा बुद्धि शुद्ध हो।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षेत्यादिक चौबीस प्रकार का शास्त्रार्थ जाति के विषय में गोतम मुनिजी ने लिखा है। इसके नहीं जानने से जल्प और वितण्डा तर्करत्न ने किये। क्योंकि—

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भे जल्पः॥

जैसा कि इन सूत्रों का अभिप्राय है, वैसा ही तर्करत्नजी ने प्रतिमा-पूजन का स्थापन करने में जल्प और वितण्डा ही किया।

इससे दूसरे बेर प्रतिज्ञा हानि उनने की। द्वितीय पराजय उनका हुआ।

यदुक्तं भवता तेनैव प्रतिमा पूजनमेव सिद्ध्यत्येव तस्या स्थूलत्वात्।

इसमें तीन बेर 'एव' शब्द लिखने से यह जाना गया कि ताराचरणजी को संस्कृत का यथावत् बोध भी नहीं है। इससे तर्करत्न जी अभिमान में डूबे जाते हैं। क्योंकि 'हम बड़े पण्डित हैं'। इस प्रकार का जो स्वमुख से कहना है, सोई विद्याहीनता को जनाता है। फिर लोकान्तरस्थ शब्द से मैंने उनको जनाया कि जो चतुर्भुज को आप लेते हो, सो तो वैकुण्ठ में सुने जाते हैं। ''उप'' अर्थात् समीप ''आसना'' अर्थात् स्थिति सो मनुष्य लोक में रहने वाला कैसे कर सकेगा? कभी नहीं। और, जो पाषाणादिक की मूर्त्ति शिल्पी की रची भई; सो तो विष्णु है नहीं। तब भी पण्डित जी कुछ नहीं समझे। क्योंकि जो कुछ विद्या पढ़ी होती, अथवा सत्पुरुषों का संग किया होता, तो समझ जाते। सो तो कभी किया नहीं। इससे ताराचरण जी उस बात को न समझ सके। फिर एक कहीं से सुनी सुनाई ब्राह्मण की श्रुति विना प्रसंग से पढ़ी। सो यह है :—

अथ स यदा पितॄनावाहयति पितृलोकेन तेन सम्पन्नो महीयते।

इस श्रुति से लोकान्तरस्थ की भी उपासना आती है। इस अभिप्राय

से देखना चाहिये। इस श्रुति में उपासना लेशमात्र नहीं आती। क्योंकि यह श्रुति जिस योगी को अणिमादिक सिद्धि हो गई है, वह सिद्ध जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, उस-उस लोक को उसी समय प्राप्त होता है। सो जब पितृलोक में जाने की इच्छा करता है, पितृलोक को प्राप्त होके आनन्द करता है। क्योंकि—

तेन पितृलोकेन महीयते।

इत्युक्तत्वात्। ऐसे इच्छा मात्र से ही ब्रह्मलोकादिक में विहार करता है। इससे इस श्रुति में मरकर उस लोक में जाता है, अथवा पितरों की उपासना इस लोक में करता है, इस अभिप्राय के नहीं होने से, ताराचरण जी का कहना मिथ्या ही है। इससे क्या आया कि अर्थान्तर का जो कहना है, सो निग्रह स्थान ही है। निग्रह स्थान के होने से पराजय हो गया।

स्वामी—

सर्वः स्थूल इत्यनेनेत्यादि देहान्तरगतस्य प्राप्तित्वादिति दिव्य-योगदेहप्राप्तित्वाद्योगिनो न तु प्राकृतदेहस्य माहात्म्यमिदमित्यर्थस्य जागरूकत्वात् देहान्तरे।

अर्थात् जो दिव्य योग सिद्धियों से प्राप्त होता है, उस देह से यह बात होती है। और जो अयोगी का देह नाम शरीर, उससे कभी यह बात नहीं होती।

तर्करत्नः—

प्रथमतः अस्माभिरित्यादि०

दूषण अथवा भूषण का ज्ञान तो, विद्या होने से होता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि दूषण तो आपके वचनों में है, परन्तु आपने नहीं जाने। यह आपकी बुद्धि का दोष है? जो आपने प्रत्यक्ष दिखाये, दूषणों को भी नहीं जाना। ऐसे दूषणों को तो बालक भी जान सकता है।

तन्मध्ये प्रतिमापि वर्तते इत्येवेत्यादि०

आप देख लीजिये कि हम वाद ही करेंगे, जल्प और वितण्डा कभी नहीं।

[स्वामीः—] फिर वार-वार स्थूलत्व साधर्म्य से ही प्रतिमा पूजन स्थापन किया चाहते हो। सो अपनी प्रतिज्ञा को आप ही नाश करते हैं।

और फिर चाहते हो कि हमारा विजय होवे। सो कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि विजय तो पूर्ण विद्या और सत्य भाषण करने से होता है। सो आप में एक भी नहीं। इससे आप विजय की इच्छा कभी मत करो। किन्तु आपको अपने पराजय की इच्छा करनी उचित है। किंच जो आप लोगों की इच्छा होवे, तो वेदादिक सत्यशास्त्रों को अर्थ ज्ञान सहित पढ़ेंगे, तथा पढ़ावेंगे, तब फिर आप लोगों का पराजय कभी न होगा। किन्तु सर्वत्र विजय ही होगा। अन्यथा नहीं।

दृष्टान्तत्वेनेत्यादि० छान्दोग्य

दहर विद्यायामित्यादि० चेति।

उस श्रुति का एक अंश दार्ष्टान्त में नहीं मिलने से, वह आपका कहना मिथ्या है। सो मैंने कह दिया। पहिले उससे जान लेना।

यह किसने कहा कि जीवता पुरुष को उपासना का अधिकार नहीं है। सो यह आपका कहना मिथ्या ही है। क्योंकि ब्रह्मविद्या का और पाषाणादिक मूर्ति पूजन का क्या प्रसंग है? कुछ भी नहीं। इससे यह भी अर्थान्तर है। अर्थान्तर के होने से निग्रहस्थान अर्थात् पराजय स्थान आपका है। सो आप यथावत् विचार करके जान लेवें।

[तर्करत्न:—]

प्रथमत: अस्माभि: यत् भवत्पक्ष इत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते इत्येवेति।

आप जान लेवें कि साधर्म्य हेतु प्रमाण से ही बोलते हैं। इससे आपके कहे जितने दूषण हैं, वे सब आपके ऊपर ही आ गये। क्योंकि आप अपनी प्रतिज्ञा अर्थात् वाद ही हम करेंगे, ऐसी प्रथमत: कह चुके हैं। फिर जल्प और वितण्डा ही वारम्वार करते हैं। इससे अपना पराजय आप ही कर चुके। क्योंकि आपको जो विद्या और बुद्धि होती, तो कभी ऐसी भ्रष्ट बात न करते। और, निग्रहस्थान में वारम्वार न आते। आपको संस्कृत भाषण करने का भी यथावत् ज्ञान नहीं है। क्योंकि—

प्रथमत: अस्माभि: यत्

ऐसा भ्रष्ट असम्बद्ध भाषण कभी न करते। किंच—

प्रथमतोऽस्माभिर्यत्

ऐसा श्रेष्ठ और सम्बद्ध संस्कृत ही कहते।

दृष्टान्ते सर्वविषयाणां साम्यप्रयोजनं नास्तीति।

यह भी आपका कहना भ्रष्ट ही है। क्योंकि मैंने कब ऐसा कहा था कि सब प्रकार से दृष्टान्त मिलता है। वह श्रुति एक अंश से आपके अभिप्राय से मिलती नहीं। इसमें मैंने कहा कि इस श्रुति का पढ़ना आपका मिथ्या ही है। ऐसा ही आपका कहना सब भ्रष्ट है।

स्वामी:—

तच्चेत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते०।

यह आपका जो कहना है, सो प्रतिज्ञान्तर ही है। क्योंकि स्थूलत्व तुल्य जो प्रतिमा में और गर्दभादिकों में है। इस हेतु से ही प्रतिमा पूजन का स्थापन करा चाहते हो। सो फिर भी जल्प और वितण्डा ही आती है, वाद नहीं। इससे वारम्वार आपका पराजय होता गया। फिर भी आपको बुद्धि वा लज्जा न आई। यह बड़ा आश्चर्य जानना चाहिये कि अभिमान तो पण्डितता का करे; और काम करें अपण्डित का।

तर्करत्न:—

प्रतिमापि वर्त्तते इत्यादि, अयं तु प्रकृत विषयस्य साधक: न तु प्रतिज्ञान्तरं इत्यादि।

स्वामी:—प्रकृत विषय यही है कि प्रतिमा पूजन का स्थापन, सो स्थापन वाद से, और वेदादिक सत्यशास्त्रों के प्रमाण से ही करना। फिर उस प्रतिज्ञा को छोड़ के जल्प तथा वितण्डा और मिथ्या कल्पित वचन ये वाचस्पत्यादिकों के, उनसे स्थापन करने में लग गये। अहो इत्याश्चर्य कि ताराचरणजी की बुद्धि विद्या के विना बहुत छोटी है। जो प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही भूल जाती है। यह आपका दोष नहीं; किन्तु आपकी बुद्धि का दोष है। तर्करत्न जी! यह आप देख लीजिये कि कितने बड़े-बड़े दोष आप में हैं।

प्रथम तो प्रतिमा पूजन का स्थापन पक्ष लेके फिर जब कुछ भी स्थापन न हो सका—

उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।

अपने आप ही खण्डन प्रतिमा-पूजन का करने लगे कि भ्रममूल अर्थात् प्रतिमा-पूजन मिथ्या ही है। इससे आपके पक्ष का आपने ही खण्डन कर दिया। फिर मिथ्या ग्रन्थ, जो पंचदशी, उसके प्रमाण देने लग

गये। और जो प्रथम 'वेदादिक जो बीस सनातन ऋषि मुनियों के किये मूल और व्याख्यान तथा परमेश्वर के किये चार वेद इनके प्रमाण से बोलेंगे,' सो आपकी प्रतिज्ञा मिथ्या हो गई। प्रतिज्ञा के मिथ्या होने से आपका पराजय भी हो गया। फिर—

भ्रान्तिरस्माकं न दूषणीया।

वह भी पहिले आपका कहना है। सो कोई भी पण्डित न कहेगा कि भ्रान्ति भूषण होता है। यह तो आपकी भ्रान्त बुद्धि का ही वैभव है। और जो सज्जन लोग हैं, वे तो भ्रान्ति को दूषण ही जानते हैं। तथा—

भ्रमः खलु द्विविधः। इत्यादि०

यह पंचदशी का वचन है। यह भी प्रतिज्ञा से विरुद्ध ही है। क्योंकि वेदादि शास्त्रों में इसकी गणना नहीं है।

पाषाणादि की रचित मूर्त्ति में देव बुद्धि का जो कर्त्ता है, सो दीपप्रभा में मणिभ्रम की नांई ही है। क्योंकि दीप तो कभी मणि न होगा। और, मणि तो सदा मणि ही रहेगा। सो आपने मुख से तो कहा, परन्तु हृदय में शून्यता के होने से कुछ भी नहीं जाना। ऐसा ही आपका सब कथन भ्रष्ट है। आपको जो कुछ भी ज्ञान होय, तब तो जान सकते, अन्यथा नहीं।

तर्करत्नजी ने आगे-आगे जो कुछ कहा है, सो-सो भ्रष्ट ही है। बुद्धिमान् लोग विचार लेवें। ताराचरणजी इस प्रकार के मनुष्य हैं कि कोई बुद्धिमान् के सामने जैसा बालक। और भाषण वा श्रवण करने के योग्य भी नहीं। क्योंकि जिसको बुद्धि और विद्या होती है, सोई कहने वा श्रवण में समर्थ होता है। सो तर्करत्नजी में न बुद्धि है, और न कुछ विद्या है। इससे न कहने, न सुनने में समर्थ हो सकते हैं। इनका नाम जो तर्करत्न कोई ने रखा है, सो अयोग्य ही रखा है। क्योंकि—

अविज्ञाते तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क्कः।

यह गोतम मुनिजी का सूत्र है। इसका यह अभिप्राय है कि जिस पदार्थ का तत्त्वज्ञान अर्थात् हेतु और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उत्पत्ति अर्थात् यथावत् युक्ति से ऊह नाम वितर्क अर्थात् विविध विचार और युक्तिपूर्वक विविध वाक्य कहना, विनयपूर्वक श्रेष्ठों से, उसे तर्क कहते हैं। तर्क सो इसका लेशमात्र सम्बन्ध भी ताराचरणजी में नहीं होने से, तर्करत्न तो नाम अनर्थक है।

किन्तु इनके कथन में थोड़े से दोष मैंने दिखाये हैं। जैसा कि समुद्र के आगे एक बिन्दु। किन्तु उनके भाषण में केवल दोष ही हैं, गुण एक भी नहीं। सो विद्वान् लोग विचार कर लेवें।

वे ही ये ताराचरणजी हैं कि जब काशी नगर के पण्डितों से आनन्द बाग में सभा भई थी, उसमें बहुत विशुद्धानन्द स्वामी तथा बालशास्त्री इत्यादिक पण्डित आये थे। उनके सामने डेढ़ पहर तक एक बात में मौन करके बैठे रहे थे। दूसरी बात भी मुख से नहीं निकली थी। और जो उनका कुछ भी सामर्थ्य होता, तो अन्य पण्डित लोग क्यों शास्त्रार्थ करते। जब उनने—

उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।

कहा, तब उसी वक्त श्री भूदेव मुखर्ज्या आदिक श्रेष्ठ लोग उठ गये कि पण्डित आये तो प्रतिमा पूजन का स्थापन करने को, किन्तु वह अपना आप खण्डन कर चुके। ये पण्डित कुछ भी नहीं जानते हैं। ऐसा कह के, उठ के चले गये। फिर अन्य पुरुषों से उनने कहा कि पण्डित हार गया।

श्रीमत्कथनेनैव प्रतिमापूजनविघातो जात एवेति शिष्टा विचारयन्तु।

ताराचरणजी से मैंने कहा कि आपके कहने से ही प्रतिमा पूजन का विघात अर्थात् खण्डन हो गया और मैं तो खण्डन करता ही हूँ।

फिर पण्डितजी चुप होके ऊपर के स्थान में चले गये। उसके पीछे मैं भी ऊपर जाने को चला। तब पण्डित सीढ़ी में मिले। मैंने उनका हाथ पकड़ लिया। और कहा कि ऊपर आओ। फिर ऊपर जाके सब वृन्दावनचन्द्रादिकों के सामने उन पण्डित ताराचरण से मैंने कहा कि आप ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं?

तब वे बोले कि मैं तो काक-भाषा का खण्डन करता हूं। और सत्य-शास्त्र पढ़ने तथा पढ़ाने का उपदेश भी करता हूं। और पाषाणादिक मूर्त्तिपूजन भी मिथ्या ही जानता हूं। परन्तु मैं जो सत्य-सत्य कहूँ, तो मेरी आजीविका नष्ट हो जाये। तथा काशीराज महाराज जो सुनें तो मुझको निकाल बाहर कर देवें। इससे मैं सत्य-सत्य नहीं कह सकता हूँ। जैसे कि आप सत्य-सत्य कहते हैं।

देखना चाहिये कि इस प्रकार के मनुष्यों से जगत् का उपकार तो

कुछ नहीं बनता; किन्तु अनुपकार ही सदा बनता है। विना सत्य उपदेश के उपकार कभी नहीं हो सकता। इतना मुझको अवकाश नहीं है कि मिथ्यावादी पुरुषों के साथ सम्भाषण किया करें। जो-जो मैंने लिखा है, इसमें इसी से सज्जन लोग जान लेवें।

❑❑

प्रतिमा पूजन विचार

इसके आगे जिन शब्दों के अर्थ के नहीं जानने से, टीकाकारों को भ्रम हो गया है, तथा नवीन ग्रन्थ बनाने वाले और कहने वाले तथा सुनने वाले को भी भ्रम होता है, उन शब्दों का शास्त्र रीति तथा प्रमाण और युक्ति से, जो ठीक-ठीक अर्थ है, उन्हों का प्रकाश संक्षेप से लिखा जाता है। प्रथम तो एक प्रतिमा शब्द है।

प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा।

अर्थात् प्रतिमानम् जिससे प्रमाण अर्थात् परिमाण किया जाय, उसको कहना प्रतिमा, जैसे कि छटाँक, आधपाव, पावसेर, सेर, पंसेरी इत्यादिक और यज्ञ के चमसादिक पात्र। क्योंकि इन से पदार्थों के परिमाण किये जाते हैं। इससे इन्हों का ही नाम है प्रतिमा। यही अर्थ मनु भगवान् ने मनुस्मृति में लिखा है—

तुलामानं प्रतिमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥ [८.४०३]

पक्ष-पक्ष में, वा मास-मास में, अथवा छटवें-छटवें मास तुला की राजा परीक्षा करे। क्योंकि तराजू की दण्डी में भीतर छिद्र करके, पारा उसमें डाल देते हैं। जब कोई पदार्थ को तौल के लेने लगते हैं, तब दण्डी को पीछे नमा देते हैं। फिर पारा पीछे जाने से चीज अधिक आती है। और, जब देने के समय में दंडी आगे नमा देते हैं उससे चीज़ थोड़ी जाती है। इससे तुला की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा अवश्य करे। राजा जिससे कि अधिक न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हों का ही नाम प्रतिमा। इसी वास्ते प्रतिमा के भेदक अर्थात् घाट बाढ़ तौलने वाले के ऊपर दण्ड लिखा है—

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पंच दद्याच्छतानि च॥ [९.२८५]

यह मनुजी का श्लोक है। इसका अभिप्राय यह है कि संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि, जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है, और प्रतिमा छटांक आदिक बटखरे, इन तीनों को जो तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे, उनको उससे राजा बनवा लेवे। और, जैसा जिसका ऐश्वर्य, उसके योग्य दण्ड करे। जो दरिद्र होवे, तो उससे पाँच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे। जो कुछ धनाढ्य होवे, तो पांच सौ रुपये उससे दण्ड लेवे। और, जो बहुत धनाढ्य होवे, उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे। इससे सज्जन लोग बटखरा तथा चमसादिक यज्ञ के पात्र उन्हों को ही प्रतिमा शब्द से निश्चित जानें।

दूसरा पुराण शब्द है—

पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः।

जो पुराण पदार्थ होवे, उसको कहते हैं पुराणा। जो सदा विशेषण वाची ही रहता है। तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदिक शब्द सब हैं। तथा उनों के विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं। जो विशेषणवाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्तक होते हैं। जैसे कि यह चीज पुरानी है। तथा, यह चीज नवीन है। पुराण शब्द जो है, सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है। यह पदार्थ पुराना है, अर्थात् नया नहीं। और, यह पदार्थ नया है, अर्थात् पुराना नहीं। जहां-जहां वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं, वहां-वहां इन अर्थों के वाचक ही आते हैं, अन्यथा नहीं। ऐसा ही अर्थ गोतम मुनि जी के किये सूत्रों के ऊपर जो वात्स्यायन मुनि का किया भाष्य, उसमें लिखा है।

वहां ब्राह्मण पुस्तक जो शतपथादिक, उनों का ही नाम पुराण है। तथा, शंकराचार्य जी ने भी शारीरक भाष्य में, और उपनिषद् भाष्य में, ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही पुराण शब्द से ग्रहण किया है। जो देखना चाहे, सो उन शास्त्रों में देख लेवे। वह इस प्रकार से कहा है कि जहां-जहां प्रश्न और उत्तर पूर्वक कथा होवे, उसका नाम इतिहास है। और, जहां-जहां वंश-कथा होवे ब्राह्मण पुस्तकों में, उसका नाम पुराण है। और ऐसे जो कहते हैं कि अठारह ग्रन्थों का नाम पुराण है, यह बात तो अत्यन्त

अयुक्त है। क्योंकि उस बात का वेदादिक सत्यशास्त्रों में प्रमाण कहीं नहीं है। और, कथा भी इनों में अयुक्त ही है। इनों का नाम कोई पुराण रक्खें, तो इनों से पूछना चाहिये कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं? सब ग्रन्थों से वेद ही पुराने हैं। और, यह बात कहते हैं कि अश्वमेध की जो पूर्ति हो जाय, उसके दसवें दिन पुराण की कथा यजमान सुने। सो तो ठीक-ठीक है कि ब्राह्मण पुस्तक की कथा सुने और, जो ऐसा कहे कि ब्रह्मवैवर्तादिकों की क्यों नहीं सुने? उससे पूछना चाहिये कि सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जब-जब अश्वमेध भये थे, तब-तब किस की कथा सुनी थी। क्योंकि उस वक्त व्यास जी का जन्म भी नहीं भया था। तब पुराण कहां थे। और जो ऐसा कहे कि व्यास जी युग-युग में थे, यह बात भी उसकी मिथ्या है। क्योंकि अब तक युधिष्ठिरादिकों का निशान दिल्ली आदिकों में देख पड़ता है। उसी वक्त व्यास जी और व्यास जी की माता आदिक वर्तमान थे। इससे यह भी उनका कहना मिथ्या ही है। पुराण जितने हैं, ब्रह्मवैवर्त्तादिक वे सब सम्प्रदायी लोगों ने अपने-अपने मतलब के वास्ते बना लिये हैं। व्यास जी का वा अन्य ऋषि-मुनियों का किया एक भी पुराण नहीं है। क्योंकि वे बड़े विद्वान् थे और धर्मात्मा। उनका वचन सत्य ही है। तथा छः दर्शनों में उनों के सत्य वचन देखने में आते हैं। मिथ्या एक नहीं। और पुराणों में मिथ्या कथा तथा परस्पर विरोध ही है। और, जैसे वे सम्प्रदायी लोग हैं, वैसे ही उनके बनाये पुराण भी सब भ्रष्ट हैं। सो सज्जनों को ऐसा ही जानना उचित है, अन्यथा नहीं।

तीसरा देवालय, और चौथा देवपूजा, शब्द है। देवालय, देवायतन देवागार तथा देवमन्दिर, इत्यादिक सब नाम यज्ञशालाओं के ही हैं। क्योंकि जिस स्थान में देवपूजा होवे, उसके नाम हैं, देवालयादिक। और देव संज्ञा है परमेश्वर की। तथा परमेश्वर की आज्ञा जो वेद उसके मन्त्रों की भी देव संज्ञा है। देव जो होता है, सोई देवता है। यह बात पूर्वमीमांसा शास्त्र में विस्तार से लिखी है। जिसको देखने की इच्छा हो, वह उस शास्त्र में देख ले। जो कि शास्त्र कर्मकांड के ऊपर है। वे जैमिनि मुनि के किये सूत्र हैं। यहां तक उसमें लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादिक देव जो देवलोक में रहते हैं, उसका भी पूजन कभी न करना चाहिये, एक परमेश्वर के विना। सो वेद में इस प्रकार से निषेध किया है कि:—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।

यह यजुर्वेद की श्रुति है। ब्रह्मादिक जो देव, वे जब यज्ञ करते हैं, तब उनों से अन्य कौन देव हैं, जो कि उनके यज्ञों में आके भाग लेवें। सो उनों से आगे कोई देव नहीं है। और, जो कोई मानेगा तो उसके मत में अनवस्था दोष आवेगा। इससे परमेश्वर और वेदों के मन्त्र उनों को ही देव और देवता मानना उचित है। अन्य कोई नहीं।

अग्निर्देवतेत्यादिक जो यजुर्वेद में लिखा है, सो अग्नि आदिक सब नाम परमेश्वर ही के हैं। क्योंकि देवता शब्द के विशेषण देने से इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है:—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषा कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ १ ॥ [१२.११९]
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ २ ॥ [१२.१२२]
एतमग्निं वदन्त्येके, मनुमेके प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ ३ ॥ [१२.१२३]

इन श्लोकों से आत्मा, जो परमेश्वर, उसी का देवता नाम है। और, अग्न्यादिक जितने नाम हैं, वे भी परमेश्वर के ही हैं। परन्तु जहाँ जहाँ ऐसा प्रकरण हो कि उपासना, स्तुति, प्रार्थना, तथा इस प्रकार के विशेषण, वहां-वहां परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्यत्र नहीं। किन्तु 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्' सिवाय परमेश्वर के कोई में सब जगत् नहीं ठहर सकता। और 'प्रशासितारं सर्वेषमित्यादिक' विशेषणों से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। क्योंकि सब का शासन करने वाला विना परमेश्वर से कोई नहीं। तथा सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म और पर पुरुष परमेश्वर से भिन्न, ऐसा कोई नहीं हो सकता। निरुक्त में भी यह लिखा है कि:—

यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रः।

जहां-जहां देवता शब्द आवे, तहां-तहां उस नाम वाले मन्त्र को ही लेना। जैसा कि 'अग्निर्देवता' इनमें अग्नि शब्द आया, सो जिस मन्त्र में अग्नि शब्द होवे, उस मन्त्र का ही ग्रहण करना। 'अग्निमीडे पुरोहितमिति' यह मन्त्र ही देवता है। अन्य कोई नहीं। इससे क्या आया कि परमेश्वर

और वेदों के मन्त्र तो देव और देवता हैं। जिस स्थान में होम, परमेश्वर का विचार, ध्यान और समाधि करें, उसके नाम हैं देवालयादिक। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण भी है:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिसेवनम्॥ १॥ [३.७०]

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।

पितॄन् श्राद्धैर्नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ २॥ [३.८१]

इन श्लोकों से क्या आया कि होम जो है, सोई देवपूजा है, अन्य कोई नहीं। और होम स्थान जितने हैं, वे ही देवालयादिक शब्दों से लिये जाते हैं।

पूजा नाम सत्कार। क्योंकि 'अतिथिपूजनम्' 'होमैर्देवानर्चयेत्।' अतिथियों का पूजन नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर और मन्त्र इन्हों का सत्कार इसका नाम है पूजा, अन्य का नहीं। और पाषाणादि मूर्ति स्थान देवालयादिक शब्दों से कभी नहीं लेना। तथा घण्टानादादि पूजा शब्द से कभी नहीं लेना। देवल और देवलक शब्द का यह अर्थ है कि:—

यद्वित्तं यज्ञशीलानां, देवस्वं तद्विदुर्बुधाः।

अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं प्रचक्षते॥ १॥ [११.२०]

यह मनु का श्लोक है। इसका यह अभिप्राय है कि जिन्हों का यज्ञ करने का शील अर्थात् स्वभाव होवे, उसका सब धन यज्ञ के वास्ते ही होता है। अर्थात् देवार्थ धन है।

यद्दैवं तदेव देवस्वम्।

अर्थात् होम के लिये जो धन होवे, उसका नाम देवस्व है। सो भिक्षा अथवा प्रतिग्रह करके यज्ञ के नाम से धन लेके, यज्ञ तो करें नहीं, और उस धन से अपना व्यवहार करे, इसका नाम है देवल। सो इसकी शास्त्र में निन्दा लिखी है। देवपितृकार्य में उसको निमन्त्रण कभी न करना चाहिये। ऐसा उसका निषेध लिखा है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह होता है देवलक।

कुत्सितो देवलो देवलकः कुत्सिते [अष्टाध्यायी ५.३.७४] **इत्यनेन अप् प्रत्ययः।**

देवलक तो अत्यन्त निन्दित है।

एक यह अन्धकार लोगों का देखना चाहिये कि—

विद्वान् भोजनीयः सत्कर्तव्यश्चेति।

विद्वान् को भोजन कराना चाहिये और उसका सत्कार भी करना चाहिये। इससे कोई की ऐसी बुद्धि न होगी कि पाषाणादिक मूर्ति को भोजन कराना, वा उसका सत्कार करना चाहिये। वह भी बात ऐसी ही है।

एक बात वे लोग कहते हैं कि पाषाणादिक तो देव नहीं हैं, परन्तु भाव से वे देव हो जाते हैं। उनसे पूछना चाहिये कि भाव सत्य होता है, वा मिथ्या? जो वे कहें कि भाव सत्य होता है, फिर उन से पूछना चाहिये कि कोई भी मनुष्य दुःख का भाव नहीं करता, फिर उसको क्यों दुःख होता है? और सुख का भाव सब मनुष्य सदा चाहते हैं, फिर उनको सुख सदा क्यों नहीं होता? फिर वे कहते हैं कि यह बात तो कर्म से होती है। अच्छा तो आपका भाव कुछ भी नहीं ठहरा, अर्थात् मिथ्या ही हुआ है। सत्य नहीं हुआ। आप से मैं पूछता हूं कि अग्नि में जल का भाव करके हाथ डाले, तो क्या वह न जल जायेगा? किन्तु जल ही जायेगा। इससे क्या आया पाषाण को पाषाण ही मानना और देव को देव मानना चाहिये, अन्यथा नहीं। इससे जो जैसा पदार्थ है, वैसा ही उसको सज्जन लोग मानें।

काश्यादिक स्थान, गंगादिक तीर्थ, एकादशी आदिक व्रत, राम, शिव, कृष्णादिक नाम स्मरण, तथा तोबा शब्द वा यीसू के विश्वास से पापों का छूटना और मुक्ति का होना, तिलक, छाप, माला धारण तथा शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव, क्रिश्चन और मुहम्मदी और नानक, कबीर आदिक सम्प्रदाय इन्हीं से सब पाप छूट जाते हैं और मुक्ति भी हो जाती है। यह अन्यथा बुद्धि ही है। क्योंकि इस प्रकार के सुनने और मिथ्या निश्चय के होने से सब लोग पापों में प्रवृत्त हो जाते हैं। कोई न भी होगा। कभी कोई मनुष्य पाप करने में भय नहीं करते हैं। जैसे—

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, काशीक्षेत्रे विनश्यति।

काशीक्षेत्रे कृतं पापं पंचक्रोश्यां विनश्यति॥ १॥

पंचक्रोश्यां कृतं पापमन्तर्गृह्यां विनश्यति।

अन्तर्गृह्यां कृतं पापमविमुक्ते विनश्यति॥ २॥

अविमुक्ते कृतं पापं स्मरणादेव नश्यति।
काश्यां तु मरणान्मुक्तिर्नात्र कार्या विचारणा॥ ३॥

इत्यादिक श्लोक काशीखण्डादिकों में लिखे हैं। **काश्यां मरणान्मुक्तिः** कोई पुरुष इसको श्रुति कहता है। सो यह वचन उसका मिथ्या ही है। क्योंकि चारों वेदों के बीच में कहीं नहीं हैं। कोई ने मिथ्या जाबालोपनिषद् रच लिया है। किन्तु अथर्ववेद के संहिता में तथा कोई वेद के ब्राह्मण में इस प्रकार की श्रुति है नहीं। इससे यह श्रुति तो कभी नहीं हो सकती। किन्तु कोई ने मिथ्या कल्पना करली है। जैसे कि 'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं' इत्यादि श्लोक मिथ्या बना लिये हैं। इस प्रकार के श्लोकों को सुनने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट होने से, सदा पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे सब सज्जन लोगों को निश्चित जानना चाहिये कि जितने-जितने इस प्रकार के माहात्म्य लिखे हैं वे सब मिथ्या ही हैं। इनों से मनुष्यों का बड़ा अनुपकार होता है। जो कोई धर्मात्मा बुद्धिमान् राजा होवें, तो इन पुस्तकों का पठन-पाठन, सुनना-सुनाना, बन्द कर दें और वेदादि सत्य शास्त्रों की यथावत् प्रवृत्ति करा देवे। तब इस उपद्रव की यथावत् शांति होने से सब मनुष्य शिष्ट हो जायें, अन्यथा नहीं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।

योगदर्शन समाधिपाद ३५।

इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—

एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्येति।

इससे प्रतिमा पूजन कभी नहीं आ सकता। क्योंकि इन्हों में देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और, बाह्यमुख जो वृत्ति, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना, योगी लोग को नहीं लिखा। क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं, उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। और, जो होवे, तो मूर्तिमान् धन, पुत्र दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है। परन्तु चित्त की स्थिरता कोई की भी नहीं होती। इस वास्ते यह सूत्र लिखा—

विशोका वा ज्योतिष्मती। [योगदर्शन समाधिपाद ३६]

इसका यह भाष्य है—

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो बुद्धिसंवित् बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पन्तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथास्मितायां समापन्नं चितं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्—तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत् संप्रजानीत इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

इसमें यह देखना चाहिये कि हृदय में धारणा चित्त की लिखी। इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु आकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से, बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि इन्हों की, जैसी प्रभा, वैसे ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है।

तथा अस्मिता मात्र अर्थात् यही मेरा स्वरूप है, ऐसा साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान बुद्धि को जब होता है, तब चित्त निस्तरंग, अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नाईं एक रस व्यापक होता है। तथा शान्त, निरुपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे, यही मेरा स्वरूप है, अर्थात् मेरा आत्मा है, सो विगत अर्थात् शोक रहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते हैं। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है।

सूत्रम्—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥ [योगदर्शन समाधिपाद ३८]

भाष्यम्—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

जैसे स्वप्नावस्था में चित्त ज्ञानस्वरूप होके पूर्वानुभूत संस्कारों को यथावत् देखता है, तथा निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में आनन्दस्वरूप ज्ञानवान् चित्त होता है, ऐसा ही जागरितावस्था में, जब योगी ध्यान करता है, इस प्रकार आलम्ब से तब योगी का चित स्थिर हो जाता है।

सूत्रम्—यथाभिमतध्यानाद्वा॥ [योगदर्शन समाधिपाद ३९]

भाष्यम्—यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति।

नासिकाग्रे धारयतो या गन्धसंवित्।

इससे लेके '**निद्राज्ञानालम्बनं वा**' यहाँ तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे हैं, इन्हों में से कोई स्थान में योगी चित्त को धारण करे।

जिस स्थान में अपनी अभिमति, उनमें चित्त को ठहराये।

सूत्रम्—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। [योगदर्शन विभूतिपाद १]

भाष्यम्—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति। बन्धो धारणा नाभिहृदयमूर्द्धाज्योतिः।

अर्थात् नेत्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, इत्यादिक देशों के बीच में चित्त को योगी धारण करे। तथा बाह्य विषय जैसा कि ओङ्कार वा गायत्री मन्त्र, इनमें चित्त लगावे, हृदय से। क्योंकि:—

तज्जपस्तदर्थभावनम्। [योगदर्शन समाधिपाद २८]

यह सूत्र है योग का। इसका योगी जप, अर्थात् चित्त से पुनः पुनः आवृत्ति करे। और, इसका अर्थ जो ईश्वर, उसको हृदय में विचारे।

सूत्रम्—तस्य वाचकः प्रणवः। [योगदर्शन समाधिपाद २७]

ओङ्कार का वाच्य ईश्वर है। और, उस का वाचक ओङ्कार है। बाह्य विषय से इनको ही लेना, और कोई को नहीं। क्योंकि अन्य का प्रमाण कहीं नहीं।

सूत्रम्—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। [योगदर्शन विभूतिपाद २]

भाष्यम्—**तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्येकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तेरणापरामृष्टो ध्यानम्।**

तीन देशों में, अर्थात् नाभि आदिकों में, ध्येय जो आत्मा, उस आलम्बन की, और चित्त की एकतानता, अर्थात् परस्पर दोनों की एकता, चित्त आत्मा से भिन्न न रहे, तथा आत्मा चित्त से पृथक् न रहे, उसका नाम है, सदृशप्रवाह। जब चित्त प्रत्यक् चेतन से ही युक्त रहे, अन्य प्रत्यय

कोई पदार्थान्तर का स्मरण न रहे, तब जानना कि ध्यान ठीक हुआ।

सूत्रम्—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

[योगदर्शन विभूतिपाद ३]

जब ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों का पृथक् भाव न रहे, तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गई।

सूत्रम्—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। [योगदर्शन विभूतिपाद ६]

यमादिक पाँच अंगों से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरङ्ग हैं। और यमादिक बहिरङ्ग हैं।

सूत्रम्—भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ [विभूतिपाद २६]

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥ २७॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ २८॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥ २९॥

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥३ २॥

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३३॥

इत्यादिक सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है, कि धारणादिक तीन अङ्ग आभ्यन्तर के हैं। सो हृदय में ही योगी परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग ज्ञान से ही जानता है। बाहर के पदार्थों से किंचिन्मात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नहीं रखता किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है, और से नहीं। इस विषय में जो कोई अन्यथा कहे, सो उसका कहना सब सज्जन लोग मिथ्या ही जानें। क्योकि:—

सूत्रम्—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ [समाधिपाद २]

तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्॥ [समाधिपाद ३]

जब योगी चित्तवृत्तियों को निरोध करता है, बाहर और भीतर से उसी वक्त द्रष्टा, जो आत्मा उस चेतन स्वरूप में ही स्थित हो जाता है, अन्यत्र नहीं।

सूत्रम्—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

[योगदर्शन समाधिपाद ८]

विपरीत ज्ञान जो होता है, उसी को मिथ्या ज्ञान कहते हैं। उसको तो योगी छोड़ के ही होता है, अन्यथा कभी नहीं। इससे क्या आया कि

कोई योगशास्त्र से पाषाणादिक मूर्त्ति का पूजन कहे, सो मिथ्या ही कहता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

श्लोक

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यवचना।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिशरणा,
सको दान्तः शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः।

॥ श्रीदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितमिदमिति विज्ञेयम् ॥

२१

सत्यधर्म्मविचारः

ग्रन्थ परिचय

'सत्यधर्मविचार:' वास्तव में एक धर्म चर्चा है, जो मेला चाँदापुर में बड़े-बड़े विद्वानों के बीच **सत्य के निर्णय के लिए** हुई थी। इसी चर्चा को बाद में मुद्रित किया गया, जिससे सब लोग पढ़ सकें और पक्षपात रहित होकर सत्य-असत्य को जानकर जीवन में सत्य को धारण करें। यह धर्म चर्चा 'ब्रह्मविचार, मेला चाँदापुर' में प्रतिवर्ष मुन्शी प्यारेलाल की ओर से हुआ करती थी।

इस धर्म चर्चा में आर्यों की ओर से **स्वामी दयानन्द सरस्वती और मुन्शी इन्द्रमणि जी**, ईसाइयों की ओर से **पादरी स्काट साहब, पादरी नोविल साहब** आदि पांच, और मुसलमानों की ओर से **मौलवी मोहम्मद कासम साहब, सैयद अब्दुल मंसूर साहब** आदि पाँच विद्वान् थे। यह मेला दो दिन रहा और धर्मचर्चा भी दो दिन तक चली। स्वामी जी तो चाहते थे कि कम से कम पाँच दिन और अधिक से अधिक आठ दिन तक मेला रहना चाहिए और चर्चा होनी चाहिए। इससे सभी मतों के विचारों को अच्छी तरह से जाना जा सकता है, परन्तु पादरी लोग दो दिन से अधिक ठहरने के लिए तैयार न हुए। इस धर्म चर्चा करने का उद्देश्य था कि सब लोगों के सामने अलग-अलग मतों के विचार प्रकट होने से **पक्षपात रहित होकर सभी सत्य और असत्य का निर्णय कर सकते हैं।** इस धर्म चर्चा के लिए निम्न पाँच प्रश्न चुने गये थे—

१. **सृष्टि** को परमेश्वर ने किस **वस्तु से, किस समय** और **किसलिए** बनाया? २. **ईश्वर सबमें व्यापक है या नहीं?** ३. **ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है?** ४. **वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है?** ५. **मुक्ति क्या है** और किस प्रकार मिल सकती है? इनमें से **प्रथम और अन्तिम प्रश्नों पर** ही चर्चा हो सकी। वह भी मौलवी जी के नमाज पढ़ने चले जाने के कारण अधूरी रह गई।

महर्षि ने ही इसे ग्रन्थबद्ध करके **विक्रम संवत् १९३७, श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी, मंगलवार** के दिन हिन्दी भाषा में पूर्ण किया। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण वैदिक यन्त्रालय, काशी से संवत् १९३७, भाद्रपद सुदी ६, शुक्रवार (१० सितम्बर १८८०) से पूर्व 'मेला चांदापुर' नाम से छपकर प्रकाशित हुआ था। (सम्पादक)

॥ ओ३म् खम्ब्रह्म ॥

अथ सत्यधर्मविचार:

मेला चांदापुर

धर्मचर्चा ब्रह्मविचार मेला चांदापुर[१] कि जिसमें बड़े-बड़े विद्वान्[२] आर्य्यों, ईसाइयों और मुसलमानों की ओर से एक सत्य के निर्णय के लिये इकट्ठे हुए थे, सज्जन पाठकगणों के हितार्थ मुद्रित किया जाता है कि जिससे प्रत्येक मतों का अभिप्राय सब पर प्रकाशित हो जावे। सब सज्जनों को, किसी मत के क्यों न हों, उचित है कि पक्षपातरहित होकर इसको सुहृद्भाव से देखें।

विदित हो कि यह मेला दो दिन रहा। मेले के आरम्भ से पूर्व कई लोगों ने स्वामीजी के समीप जाकर कहा कि आर्य और मुसलमान मिल के ईसाइयों का खण्डन करें तो अच्छा है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह मेला सत्य और असत्य के निर्णय के लिये किया गया है, इसीलिये हम तीनों को उचित है कि पक्षपात छोड़ कर प्रीतिपूर्वक सत्य का निश्चय करें, किसी से विरोध करना कदापि योग्य नहीं।

इसके पश्चात् विचार का समय नियत किया गया। पादरियों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं ठहर सकते और यही विज्ञापन में भी छापा गया था। इस पर स्वामीजी ने कहा कि हम इस प्रतिज्ञा पर आये थे कि मेला कम से कम पांच और अधिक से अधिक आठ दिन तक

१. यहाँ यह मेला मुन्शी प्यारेलाल साहब की ओर से प्रतिवर्ष हुआ करता है।
२. इस धर्मचर्चा में आर्य्यों की ओर से स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी और मुन्शी इन्द्रमणिजी; ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट साहबण पादरी नोबिल साहब, पादरी पार्कर साहब और पादरी जान्सन साहब और मुसलमानों की ओर से मोलवी मोहम्मद कासम साहब, सैयद अब्दुल मंसूर साहब विचार के लिये आये थे।

रहेगा। क्योंकि इतने दिनों में सब मतों का अभिप्राय अच्छे प्रकार ज्ञात हो सकता है। जब इस पर वे लोग प्रसन्न न हुए तब मुन्शी इन्द्रमणिजी ने कहा कि स्वामीजी! आप निश्चिन्त रहें, सच्चा मत एक दिन में प्रकट हो जावेगा। फिर निम्नलिखित पांच प्रश्नों पर विचार करना सबने स्वीकार किया—

पहिले दिन की सभा

मुन्शी प्यारेलाल साहब ने खड़े होकर सबसे पहिले कहा—

''प्रथम ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिये कि जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। हम लोगों के बड़े भाग्य हैं कि हम सबको ऐसे राजप्रबन्ध समय में उत्पन्न किया कि जिसमें सब लोग निर्विघ्नता से निर्भय होकर मतमतान्तरों का विचार कर सकते हैं। धन्य है इस आज के दिन को, और बड़े भाग्य हैं इस भूमि के, कि ऐसे सज्जन पुरुष और ऐसे-ऐसे विद्वान् मतमतान्तरों के जाननेवाले यहां सुशोभित हुए हैं, आशा है कि सब विद्वान् अपने-अपने मतों की वार्ताओं को कोमल वाणी से कहेंगे कि जिनसे सत्य और असत्य का निर्णय होकर मनुष्यों की सत्य मार्ग में प्रवृत्ति हो जावेगी।''

इसके पश्चात् जब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से पांच-पांच मनुष्य और आर्य्यों की ओर से स्वामीजी और मुन्शी इन्द्रमणिजी दो ही विचार के लिये नियत किये गये, तब मौलवियों और पादरियों ने हठ किया कि आर्य्यों की ओर से भी पाँच मनुष्य होने चाहियें। इस पर स्वामीजी ने कहा कि आर्य्यों की ओर से हम दो ही बहुत हैं। मौलवियों ने पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी का नाम अपने ही आप पादरियों से लिखवाना चाहा। तब स्वामीजी ने उनसे तो यह कहा कि आप लोगों को अपनी-अपनी ओर से मनुष्यों को लिखवाने का अधिकार है, हमारी ओर का कुछ नहीं। और पण्डितजी से यह कहा कि आप नहीं जानते, ये लोग हमारे और तुम्हारे बीच विरोध करा के आप तमाशा देखना चाहते हैं। इस बात के कहने पर एक मौलवी ने पण्डितजी का हाथ पकड़ के उनसे कहा कि तुम भी अपना नाम लिखवा दो, इनके कहने का क्या होता है। तिस पर स्वामीजी ने कहा कि अच्छा जो सब आर्य्य लोगों की सम्मति हो तो इनका भी नाम लिखवा दो, नहीं तो केवल आप लोगों के कहने से इनका नाम नहीं लिखा जावेगा। फिर एक मौलवी साहब उठकर बोले कि सब हिन्दुओं

से पूछा जावे कि इन दोनों के नाम लिखाने में सबकी सम्मति है वा नहीं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि जैसे आपको सिवाय फ़िर्के सुन्नत जमात के अहलेशिया आदि फ़िर्कों ने सम्मति करके नहीं बिठलाया, और जैसे कि पादरी साहब को रोमन कैथोलिक फ़िर्कों ने नियत नहीं किया, ऐसे ही आर्य्य लोगों में भी बहुतों की हमारे बिठलाने में सम्मति और बहुतों की असम्मति होगी, परन्तु आप लोगों को हमारे बीच गड़बड़ मचाने का कुछ अधिकार नहीं है। मुन्शी इन्द्रमणिजी ने कहा कि हम सब आर्य्य लोग वेदादि शास्त्रों को मानते हैं और पण्डितजी भी इन्हीं को मानते हैं, जो किसी का मत आर्य्य लोगों में वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध हो तो चौथा पन्थ नियत करके भले ही बिठला दीजियेगा।

इन बातों से मौलवियों का यह अभिप्राय था कि ये लोग आपस में झगड़ें तो हम तमाशा देखें। पण्डितजी का नाम लिखना आर्य्य लोगों ने योग्य न समझा। फिर मौलवी लोग नमाज़ पढ़ने को चले गये और जब लौट कर आये तब उनमें से मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब ने कहा कि प्रथम मैं एक घण्टे तक उन प्रश्नों के सिवाय और कुछ अपने मत के अनुसार कहना चाहता हूँ, उसमें जो किसी की कुछ शंका होगी तो उसका मैं समाधान करूँगा। इसको सबने स्वीकार किया। मौलवी साहब के कथन का तात्पर्य यह है—

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् यह कहा कि जिस-जिस समय में जो-जो हाकिम हो उसी की सेवा करनी उचित है, जैसे कि इस समय जो गवर्नर है, उसी की सेवा करते और उसकी आज्ञा मानते हैं, और जिसकी कि आज्ञापालन का समय व्यतीत हो गया, न कोई उसकी सेवा करता है और न उसकी आज्ञा को मानता है और जैसे जब कोई कानून व्यर्थ हो जाता है तो उसके अनुसार कोई नहीं चलता परन्तु जो कानून उसकी जगह नियत किया जाता है, उसी के अनुसार सबको चलना होता है तो इन्हीं दृष्टान्तों के समान जो-जो अवतार और पैगम्बर पूर्व समय में थे और जो-जो पुस्तकें तौरेत, ज़बूर, बाइबिल उनके समय में उतरी थीं, अब उनके अनुसार न चलना चाहिये। इस समय के सबसे पिछले पैगम्बर हज़रत मुहम्मद साहब हैं, इसलिये उनको पैगम्बर मानना चाहिये। और जो 'ईश्वरवाक्य' अर्थात् कुरान उनके समय उतरा है, उस पर विश्वास करना चाहिये। और हम श्रीराम और

श्रीकृष्ण आदि और ईसामसीह की निन्दा नहीं करते क्योंकि वे अपने-अपने समय में अवतार और पैगम्बर थे परन्तु इस समय तो हजरत मुहम्मद साहब का ही हुक्म चलता है, दूसरे का नहीं। जो कोई हमारे मज़हब वा कुरान शरीफ़ वा हज़रत मुहम्मद साहब को बुरा कहेगा, वह मारे जाने के योग्य है।

पादरी नोबिल साहब—मुहम्मद साहब के पैगम्बर और कुरान के ईश्वरीय वाक्य होने में सन्देह है क्योंकि क़ुरान में जो-जो बातें लिखी हैं, सो-सो बाइबिल की हैं। इसलिये क़ुरान अलग आसमानी पुस्तक नहीं हो सकता। और हजरत ईसामसीह के अवतार होने में कुछ सन्देह नहीं क्योंकि उसके व्याख्यान से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सत्यमार्ग बतलानेवाला था। केवल उसके व्याख्यान से ही मनुष्य मुक्ति पा सकता है, और उसने चमत्कार भी दिखलाये थे।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—हम हज़रत ईसा को अवतार तो मानते हैं और बाइबिल को आसमानी पुस्तक भी मानते हैं परन्तु ईसाइयों ने उसमें बहुत कुछ घटत-बढ़त कर दी है, इसलिये यह वही मूल नहीं है और जोकि उसका कुरान ने खण्डन भी कर दिया है, इसलिये वह विश्वास के योग्य नहीं रही। और हमारे हजरत पैगम्बर साहब का अवतार सबसे पिछला है, इसलिये हमारा मत सच्चा है।

फिर और मौलवियों ने बाइबिल में एक आयत पादरी साहब को दिखलाई और कहा कि देखिये आप ही लोगों ने लिखा है कि आयत का पता नहीं लगता।

पादरी नोबिल साहब—जिस मनुष्य ने यह लिखा है, वह सत्यवादी था। जो उसने लेखक-भूल को प्रसिद्ध कर दिया तो कुछ बुरा नहीं किया। और हम लोग सत्य को चाहते हैं, असत्य को नहीं इसलिये हमारा मत सत्य है।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—यह तो ठीक है कि कुछ बुरा नहीं किया परन्तु जब कि किसी पुस्तक में वा दस्तावेज में एक भी बात झूठ लिखी हुई विदित हो जावे तो वह पुस्तक कदाचित् माननीय नहीं रहता और न वह दस्तावेज ही अदालत में स्वीकार हो सकता है।

पादरी नोबिल साहब—क्या कुरान में लेखकदोष नहीं हो सकता? इस बात पर हठ करना अच्छा नहीं। और जो हम सत्य ही को मानते

हैं और सत्य ही की खोज करते हैं, इस कारण उस लेखक-भूल को हमने स्वीकार कर लिया। और तुम्हारे कुरान में बहुत घटत-बढ़त हुई, जिनके प्रमाण में एक मौलवी ईसाई ने अरबी भाषा में बहुत कहा और सूरतों के प्रमाण दिये।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—आप बड़े सत्य के खोजी हैं! (मुख बनाकर) जो आप सत्य ही को स्वीकार करते हैं तो तीन ईश्वर क्यों मानते हो?

पादरी नोबिल साहब—हम तीन ईश्वर नहीं मानते, वे तीनों एक ही हैं अर्थात् केवल एक ईश्वर से ही प्रयोजन है। ईसामसीह में मनुष्यता और ईश्वरता दोनों थीं, इस कारण वह दोनों व्यवहारों को करता है अर्थात् मनुष्य के आत्मा से मनुष्यों का व्यवहार और ईश्वर के आत्मा से ईश्वर का व्यवहार अर्थात् चमत्कार दिखलाना।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—वाह-वाह! एक मियान में दो तलवार क्योंकर रह सकती हैं? यह कहना पादरी साहब का अत्यन्त मिथ्या है। उसने तो कहीं नहीं कहा कि "मैं ईश्वर हूँ"। तुम हठ से उसको ईश्वर बनाते हो।

पादरी नोबिल साहब—एक आयत अंजील की पढ़ी और कहा कि यह एक आयत है जिसमें मसीह ने अपने आपको ईश्वर कहा है और कई एक चमत्कार भी दिखलाये हैं। इससे उसके ईश्वर होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—जो वह ईश्वर था तो अपने आपको फांसी से क्यों न बचा सका?

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—कुरान में कई एक आयतों का परस्पर विरोध दिखलाया और कहा कि हुकुम का खण्डन हो सकता है, समाचार का नहीं हो सकता, सो आपके कुरान में समाचारों का खण्डन है। पहले वैतूलमुकद्दस की ओर शिर नमाते थे, फिर काबे की ओर नमाने लगे और कई आयतों का अर्थ भी सुनाया और कहा कि ईसामसीह पर विश्वास लाये विना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। और तुम्हारे कुरान में बाइबिल का और ईसामसीह का मानना लिखा है, तुम लोग क्यों नहीं मानते हो।

ऐसी ही बातों के होते-होते सन्ध्या हो गई।

दूसरे दिन की सभा

प्रात:काल के साढ़े सात बजे सब लोग आये और वे पाँच प्रश्न कि जो स्वीकार हो चुके थे, पढ़े गये।

पाँच प्रश्न ये हैं—

१—सृष्टि को परमेश्वर ने किस चीज से किस समय और किसलिये बनाया?

२—ईश्वर सब में व्यापक है वा नहीं?

३—ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है?

४—वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है?

५—मुक्ति क्या है, और किस प्रकार मिल सकती है?

इसके पश्चात् कुछ देर तक यह बात आपस में होती रही कि एक दूसरे को कहता था कि पहिले वर्णन करे। तदनन्तर पादरी स्काट साहब ने पहले प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ किया और भी कहा कि यद्यपि यह प्रश्न किसी काम का नहीं, मेरी समझ में ऐसे प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ है परन्तु जबकि सबकी सम्मति है तो मैं उसका उत्तर देता हूँ—

पादरी स्काट साहब—यद्यपि हम नहीं जानते कि ईश्वर ने यह संसार किस चीज़ से बनाया है परन्तु इतना हम जान सकते हैं कि अभाव से भाव लाया है। क्योंकि पहले सिवाय ईश्वर के दूसरा पदार्थ कुछ न था, उसने अपने हुकुम से सृष्टि को रचा है। यद्यपि यह भी हम नहीं जान सकते कि उसने कब इस संसार को रचा परन्तु उसका आदि तो है। वर्षों की गणना हमको नहीं जान पड़ती और न सिवाय ईश्वर के कोई जान सकता है, इसलिये इस बात पर अधिक कहना ठीक नहीं।

ईश्वर ने किसलिये इस जगत् को रचा, यद्यपि इसका भी उत्तर हम लोग ठीक-ठीक नहीं जान सकते परन्तु इतना हम जानते हैं कि संसार के सुख के लिये ईश्वर ने यह सृष्टि की है कि जिसमें हम लोग सुख पावें और सब प्रकार के आनन्द करें।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—उसने अपने शरीर से 'प्रकट' अर्थात् उत्पन्न किया उससे हम अलग नहीं, जो अलग होते तो उसकी

प्रभुता में न होते। कब से यह संसार बना, यह कहना व्यर्थ है क्योंकि हमको रोटी खाने से काम है, न कि रोटी कब बनी है। यह जगत् सृष्टि के लिये रचा गया है क्योंकि सब पदार्थ मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचे हैं। और हमको अपनी भक्ति के लिए ईश्वर ने रचा है। देखो! पृथिवी हमारे लिये है, हम पृथिवी के लिये नहीं क्योंकि जो हम न हों तो पृथिवी की कुछ हानि नहीं परन्तु पृथिवी के न होने से हमारी बड़ी हानि होती है। ऐसे ही जल, वायु, अग्नि सब पदार्थ मनुष्य के लिये रचे गये हैं। मनुष्य सब सृष्टि में श्रेष्ठ है, उसकी बुद्धि भी इसी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये दी है अर्थात् मनुष्य को अपनी भक्ति के लिये और इस जगत् को मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—पहिले मेरी सब मुसलमानों और ईसाइयों और सुननेवालों से यह प्रार्थना है कि यह मेला केवल सत्य के निर्णय के लिए किया गया है। और यह ही मेला करनेवालों का प्रयोजन है कि देखें सब मतों में कौनसा मत सत्य है। जिसको सत्य समझें, उसी को अंगीकार करें, इसलिये यहाँ हार और जीत की अभिलाषा किसी को न करनी चाहिये क्योंकि सज्जनों का यह ही मत होना चाहिये कि सत्य की सर्वदा जीत और असत्य की सर्वदा हार होती रहे। परन्तु जैसे मौलवी लोग कहते हैं कि पादरी साहब ने यह बात झूठ कही, ऐसे ही ईसाई कहते हैं कि मौलवी साहब ने यह बात झूठ कही, ऐसी वार्ता करना उचित नहीं। विद्वानों के बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने-अपने ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का ग्रहण करें। एक-दूसरे की निन्दा करना, बुरे-बुरे वचनों से बोलना, द्वेष से कहना कि वह हारा और मैं जीता, ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिये। सब प्रकार पक्षपात छोड़कर सत्यभाषण करना सबको उचित है। मेरे इस कहने का यह प्रयोजन है कि कोई इस मेले में अथवा कहीं कठोर वचन का भाषण न करें।

अब मैं इस पहले प्रश्न का उत्तर कि ''ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से और किस समय और किसलिये रचा है,'' अपनी छोटी सी बुद्धि और विद्या के अनुसार देता हूँ—

परमात्मा ने सब संसार को प्रकृति से अर्थात् जिसको अव्यक्त,

अव्याकृत और परमाणु नामों से कहते हैं, रचा है, सो यह ही जगत् का उपादान कारण है, जिसका वेदादि शास्त्रों में नित्य करके निर्णय किया है और यह सनातन है। जैसे ईश्वर अनादि है, वैसे ही सब जगत् का कारण भी अनादि है। जैसे ईश्वर का आदि और अन्त नहीं, वैसे ही इस जगत् के कारण का भी आदि और अन्त नहीं है। जितने इस जगत् में पदार्थ दीखते हैं, उनके कारण से एक परमाणु भी अधिक वा न्यून कभी नहीं होता। जब ईश्वर इस जगत् को रचता है, तब कारण से कार्य रचता है, सो जैसा कि यह कार्य जगत् दीखता है, वैसे ही इसका कारण है। सूक्ष्म द्रव्यों को मिलाकर स्थूल द्रव्यों को रचता है, तब स्थूल द्रव्य होकर देखने और व्यवहार के योग्य होते हैं। और यह जो अनेक प्रकार का जगत् दीखता है, उसको उसी कारण से ईश्वर ने रचा है। जब प्रलय करता है, तब इस स्थूल जगत् के पदार्थों के परमाणुओं को पृथक्-पृथक् कर देता है, क्योंकि जो-जो स्थूल से सूक्ष्म होता है, वह आँखों से दीखने में नहीं आता, तब बालबुद्धि लोग ऐसा समझते हैं कि वह द्रव्य नहीं रहा, परन्तु वह सूक्ष्म होकर आकाश में ही रहता है क्योंकि कारण का नाश कभी नहीं होता और नाश अदर्शन को कहते हैं, अर्थात् वह देखने में न आवे। जब एक-एक परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं तब उनका दर्शन[१] नहीं होता, फिर जब वे ही परमाणु मिलकर स्थूल द्रव्य होते हैं तब दृष्टि में आते हैं। यह नाश और उत्पत्ति की व्यवस्था ईश्वर सदा से करता आया है और ऐसे ही सदा करता जायगा, इसकी संख्या नहीं कितनी वार कर

१. जब कोई वस्तु अत्यन्त छोटी हो जाती है तो फिर उसे और छोटा करना असम्भव है। जो किसी वस्तु के टुकड़े करते-करते उसको इतना छोटा करदे कि फिर उसके टुकड़े होना असम्भव हो जावे तो उसको 'परमाणु' कहते हैं, जितनी वस्तुएँ संसार में हैं, वे सब परमाणु से बनती हैं। जब किसी पत्थर को तोड़ डालते हैं और उसके अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों को पृथक्-पृथक् कर देते हैं, तो वे परमाणु कि जिनके इकट्ठे होने से फिर पत्थर बनता है, सदा किसी न किसी स्वरूप से बने रहते हैं। एक परमाणु का भी इस संसार में से अभाव नहीं होता, केवल स्वरूप और गुणों में भेद हुआ करता है। जब मोम की बत्ती को जलाते हैं तो देखने में यह जान पड़ता है कि थोड़ी देर में सब बत्ती नहीं रहती, न जाने कि क्या हो गई परन्तु वे परमाणु जितने बत्ती के थे और ही रूप में वायु के सदृश हो जाते हैं, उनमें से एक परमाणु का भी अभाव कदाचित् नहीं होता।

सकेगा। इस बात को कोई नहीं कह सकता।

अब इस विषय को जानना चाहिये कि जो लोग 'नास्ति' अर्थात् अभाव से 'अस्ति' अर्थात् भाव मानते हैं, और शब्द से जगत् की उत्पत्ति जानते हैं, उनका कहना किसी प्रकार से ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव से भाव का होना सर्वथा असम्भव है। जैसे कोई कहे कि 'वन्ध्या के पुत्र वा विवाह मैंने आँखों से देखा' तो जो इसके पुत्र होता तो वन्ध्या क्यों कहलाती? फिर उसके पुत्र का अभाव होने से उसके पुत्र का विवाह कब हो सकता है? और जैसे कोई कहे कि मैं किसी स्थान में नहीं था और यहाँ आया हूँ, अथवा सर्प बिल में न था और निकल भी आया, तो ऐसे वार्ता विद्वानों की नहीं होती, इसमें कोई प्रमाण नहीं क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं फिर वह क्योंकर हो सकती है, जैसे हम लोग अपने-अपने स्थानों में न होते तो चांदापुर में कभी न आ सकते। देखो शास्त्र में लिखा है कि—**''नासत आत्मलाभः। न सत आत्महानम्''** अर्थात् जो नहीं है, वह कभी नहीं हो सकता और जो है, सो आगे को होता है, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विना भाव के भाव कभी नहीं हो सकता क्योंकि इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका कारण कोई नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'भाव' से भाव अर्थात् अस्ति से अस्ति होती है। नास्ति से अस्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। यह **वदतो व्याघातः** अर्थात् अपनी बात को आप ही काटने के सदृश बात है। पहिले किसी वस्तु का अन्यथाभाव कहकर फिर यह कहना कि उसका भाव हो गया, पूर्वापर विरोध है। इसको कोई विद्वान् नहीं मान सकता और न किसी प्रमाण से ही सिद्ध कर सकता है कि विना कारण के कोई कार्य हो सके। इसलिये अभाव से भाव अर्थात् नास्ति से वा हुकुम से जगत् की उत्पत्ति का होना सर्वथा असम्भव है। इससे यह ही जानना चाहिये कि ईश्वर ने जगत् के अनादि उपादान कारण से ही सब संसार को रचा है, अन्यथा नहीं।

यहाँ दो प्रकार का विचार स्थित होता है। एक—यह कि जो जगत् का कारण ईश्वर हो तो ईश्वर ही सारे जगत् का रूप हुआ तो ज्ञान, सुख, दुःख, जन्म, मरण, हानि, लाभ, नरक, स्वर्ग, क्षुधा, तृषा, ज्वर आदि रोग, बन्ध और मोक्ष सब ईश्वर में ही घटते हैं; फिर कुत्ता, बिल्ली, चोर, दुष्ट आदि सब ईश्वर ही बन गया। दूसरा—यह कि जो सामग्री मानें तो ईश्वर

कारीगर के समान होता है।

तो उत्तर यह है कि कारण तीन प्रकार का होता है।

एक **उपादान** कि जिसको ग्रहण करके पदार्थ को बनावें। जैसे मट्टी लेकर घड़ा और सोना लेकर गहना और रुई लेकर कपड़ा बनाया जाय।

दूसरा **निमित्त** जैसे कुम्हार अपनी विद्या और सामर्थ्य के साथ घड़े को बनाता है।

तीसरा **साधारण** जैसे चाक आदि साधन और दिशा, काल इत्यादि।

अब जो ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानें तो ईश्वर ही जगत् रूप बनता है, क्योंकि मट्टी से घड़ा अलग नहीं हो सकता। और जो निमित्त मानें तो जैसे कुम्हार [और] मट्टी के विना घड़ा नहीं बन सकता[१] और जो साधारण मानें जैसे मट्टी से[२] अपने आप विना कुम्हार घड़ा नहीं बन सकता[३] इन दोनों व्यवस्थाओं में वह पराधीन एवं जड़ ठहरता है, इसलिये जो यह कहते हैं कि ईश्वर जगत् रूप बन गया है तो उनके कहने से चोर आदि होने का दोष ईश्वर में आता है। इससे ऐसी व्यवस्था माननी चाहिये कि जगत् का[४] कारण अनादि है और नाना प्रकार के जगत् को बनानेवाला परमात्मा है। और इसी प्रकार जीव भी अपने स्वरूप से अनादि हैं और स्थूल कार्य जगत् तथा जीवों के[५] कर्म नित्यप्रवाह से अनादि हैं। ऐसे माने विना किसी प्रकार से निर्वाह नहीं हो सकता।

अब यह कि ईश्वर ने किस समय जगत् को बनाया है अर्थात् संसार को बने हुए कितने वर्ष हो गये? इसका उत्तर दिया जाता है—

सुनो भाइयो! इस प्रश्न का हम लोग तो उत्तर दे सकते हैं, आप लोग नहीं दे सकते। क्योंकि जब आप लोगों के मतों में से कोई अठारहसौ वर्ष से, कोई तेरहसौ वर्ष से और कोई पांचसौ वर्ष से उत्पत्ति कहता है तो फिर आप लोगों के मत में जगत् के इतिहास के वर्षों का लेख किसी प्रकार नहीं हो सकता। और हम आर्य लोग सदा से जब से यह सृष्टि हुई

१. वैसे परमेश्वर भी प्रकृति के विना जगत् नहीं बना सकेगा। सम्पादक

२. चाक आदि साधारण कारण रहते हुए भी। सम्पादक

३. वैसे परमेश्वर के रहते हुए भी जगत् नहीं बन सकेगा। सम्पादक

४. उपादान। सम्पादक

५. साधारण कारणरूपी। सम्पादक

बराबर विद्वान् होते चले आये हैं। देखो! इस देश से और सब देशों में विद्या गई है, इस बात में सब देशवालों के इतिहासों का प्रमाण है कि आर्यावर्त्त देश से मिस्र देश में और वहाँ से यूनान और यूनान से योरोप आदि में विद्या फैली है, इसलिये इसका इतिहास किसी दूसरे मत में नहीं हो सकता।

देखो! हम आर्य लोग संसार की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में वेद आदि शास्त्रों की रीति से सदा से जानते हैं कि हज़ार चतुर्युगियों का एक ब्राह्म-दिन और इतने ही युगों की एक ब्राह्म-रात्रि होती है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति होके जब तक कि वर्तमान होता है, उसका नाम ब्राह्म-दिन है। और प्रलय होके जबतक हज़ार चतुर्युगी पर्य्यन्त उत्पत्ति नहीं होती उसका नाम ब्राह्म-रात्रि है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते और एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगियों का होता है, सो इस समय सातवां वैवस्वत मन्वन्तर वर्त्तमान हो रहा है, और इससे पहिले ये छः मन्वन्तर बीत चुके हैं—

स्वायम्भव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुष। अर्थात् १९६०८५२९७६ वर्षों का भोग हो चुका है और अब २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं, सो हमारे देश के इतिहासों में यथार्थ क्रम से सब बातें लिखी हैं। और ज्योतिषशास्त्र में भी मितीवार प्रति संवत् घटाते-बढ़ाते रहे हैं। और ज्योतिष की रीति से जो वर्ष-पत्र बनता है उसमें भी यथावत् सबको क्रम से लिखते चले आते हैं अर्थात् एक-एक वर्ष घटाते और एक-एक वर्ष भोगने में आज तक बढ़ाते आये हैं। इस बात में सब आर्य्यावर्त्त देश के इतिहास एक हैं, किसी में कुछ विरोध नहीं।

फिर जब कि जैन मतवाले और मुसलमान इस देश के इतिहासों को नष्ट करने लगे, तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के इतिहास को कण्ठ कर लिया, सो बालक से लेके वृद्ध तक नित्यप्रति उच्चारण करते हैं कि जिसको संकल्प कहते हैं और वह यह है—

ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वतन्तरेऽष्टा-विंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्य्यावर्त्तान्तरैकदेशेऽमुक-नगरेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कार्यं कृतं क्रियते वा॥

जो इसको ही विचार लें तो इससे सृष्टि के वर्षों की गणना बराबर

जान पड़ती है।

जो कोई यह कहे कि हम इस बात को नहीं मान सकते, तो उसका उत्तर यह है कि जो परम्परा से मिती, वार, दिन चढ़ाते चले आते हैं और जबकि इतिहासों और ज्योतिष शास्त्रों में भी इस प्रकार लिखा है तो फिर इसको मिथ्या कोई नहीं कह सकता, जैसे कि बहीखाते में प्रतिदिन मिती, वार लिखते हैं और उसको कोई झूठ नहीं कह सकता और जो यह कहता है उससे पूछना चाहिये कि तुम्हारे मत में सृष्टि की उत्पत्ति को कितने वर्ष हुए हैं? तब वह या तो छ: हजार या सात हजार या आठ हजार वर्ष बतलावेगा तो वह भी अपने पुस्तकों के अनुसार कहता है तो इसी प्रकार उसको भी कोई नहीं मानेगा क्योंकि यह पुस्तक की बात है।

और देखो, भूभर्गविद्या से जो देखा जाता है तो उससे भी यह ही गणना ठीक-ठीक आती है, इसलिये हम लोगों के मत में तो जगत् के वर्षों की गिनती बन सकती है और किसी के मत में कदाचित् नहीं, इसलिये यह व्यवस्था सृष्टि की उत्पत्ति के वर्षों की सबको ठीक माननी उचित है।

अब यह कि ईश्वर ने किसलिये सृष्टि को उत्पन्न किया, इसका उत्तर दिया जाता है—

जीव और जगत् का कारण स्वरूप से अनादि और जीव के कर्म तथा कार्य-जगत् नित्यप्रवाह से अनादि हैं। जब प्रलय होता है तब जीवों के कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, तो उनके भोग कराने के लिए और फल देने के लिये ईश्वर सृष्टि को रचता है और अपने पक्षपातरहित न्याय को प्रकाशित करता है। ईश्वर में जो ज्ञान, बल, दया आदि और रचने की अत्यन्त शक्ति है, उनके सफल करने के लिये उसने सृष्टि रची है। जैसे आँख देखने के लिये और कान सुनने के लिये हैं, वैसे ही रचनाशक्ति रचने के लिये है, सो अपनी सामर्थ्य की सफलता करने के लिये ईश्वर ने इस जगत् को रचा है कि सब लोग सब पदार्थों से सुख पावें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये जीवों के नेत्र आदि साधन भी रचे हैं। इसी प्रकार सृष्टि के रचने में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि जो समय कम रहने से अब नहीं कहे जा सकते, विद्वान् लोग आप जान लेंगे।

पादरी स्काट साहब—जिसकी सीमा होती है, वह अनादि नहीं हो सकता। जगत् की सीमा का निरूपण है, इसलिये वह अनादि नहीं हो सकता। कोई पदार्थ अपने आपको नहीं रच सकता परन्तु ईश्वर ने जगत्

को अपने सामर्थ्य से रचा है। कोई नहीं जानता कि ईश्वर ने किस पदार्थ से रचा है और पण्डितजी ने भी नहीं बताया कि किस पदार्थ से जगत् को रचा।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—जब कि सब पदार्थ सदा से हैं, तो ईश्वर को मानना व्यर्थ है। कोई उत्पत्ति का समय नहीं कह सकता।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में)—पादरी साहब मेरे कहने को नहीं समझे। मैं तो केवल जगत् के कारण को ही अनादि कहता हूँ, और जो कार्य है सो अनादि नहीं होता। जैसे मेरा शरीर साढ़े तीन हाथ का है सो उत्पन्न होने से पहिले ऐसा न था और न नाश होने के पश्चात् ही ऐसा रहेगा, पर इसमें जितने परमाणु हैं वे नष्ट नहीं होते। इस शरीर के परमाणु पृथक्-पृथक् होकर आकाश में बने रहते हैं और उन परमाणुओं में जो संयोग और वियोग[१] की शक्ति है, सो वह सदा उनमें रहती है। जैसा मिट्टी से घड़ा बनाया जो कि बनाने के पहले नहीं

१. सब लोग देखते हैं कि अग्नि में बहुत से पदार्थ जल जाते हैं। अब विचार करना चाहिये कि जब कोई पदार्थ जल जाता है तो क्या हो जाता है? देखने में आता है कि लकड़ी जल कर थोड़ी सी राख रहती है तो अब यह विचारना चाहिये कि जलने से वह पदार्थ ही नष्ट हो जाता है वा उसका स्वरूप ही बदल जाता है? जब मोमबत्ती जलाते हैं तो देखने में वह मोम नहीं रहता, यह नहीं जान पड़ता कि कहां गया परन्तु उस मोम का स्वरूप बदलकर वायु के सदृश हो जाता है और इसी कारण वायु में मिल जाने से दृष्टि में नहीं आता।

इसकी परीक्षा के लिये एक बोतल के भीतर मोमबत्ती जलाओ और उसका मुख बन्द कर दो तो उस बत्ती का जितना भाग वायु के सदृश हो जावेगा वह बोतल के बाहर नहीं जा सकेगा, पर थोड़ी देर के पीछे यह दिखलाई देगा कि वह बत्ती बुझ गई।

अब यह सोचना चाहिये कि बत्ती क्यों बुझ गई, और बोतल के वायु में अब कुछ भेद हुआ वा नहीं?

इस बात की परीक्षा इस प्रकार होगी कि थोड़ा सा चूने का पानी उस बोतल में और एक बोतल में कि जिसमें केवल वायु भरा हुआ हो और उसमें कोई बत्ती न जली हो, डालो, तो यह दिखलाई देगा कि जिस बोतल में जली है, उसमें चूने का रंग दूध सा हो जावेगा और दूसरी बोतल का जैसे का तैसा रहेगा। वह एक वस्तु वायु के सृदश है जो कि दृष्टि में नहीं आता। अब देखना चाहिये कि मोमबत्ती का कोई परमाणु नष्ट नहीं होता, पर जिन पदार्थों से यह बत्ती बनी है, उनका स्वरूप भिन्न हो जाता है।

था और नाश होने पश्चात् भी नहीं रहेगा परन्तु उसमें जो मिट्टी है, वह नष्ट नहीं होती और जो 'गुण' अर्थात् चिकनापन उसमें है कि जिससे वह पिण्डाकार होता है, वह भी मट्टी में सदा से है, वैसे ही संयोग और वियोग होने की योग्यता परमाणुओं में सदा से है। इससे यह समझना चाहिये कि जिन परमाणु द्रव्यों से यह जगत् बना है, वे द्रव्य अनादि हैं, कार्य्य-द्रव्य नहीं। और मैंने कब कहा था कि जगत् के पदार्थ स्वयं अपने को बना सकते हैं, मेरा कहना तो यह था कि ईश्वर ने उस कारण से जगत् को रचा है।

और जो पादरी साहब ने कहा कि शक्ति से जगत् को रचा है तो मैं पूछता हूँ कि शक्ति कोई वस्तु है वा नहीं? जो कहे कि है तो वह अनादि हुई और जो कहो कि नहीं तो उससे आगे को कोई वस्तु भी नहीं बन सकती। और जो पादरी साहब ने यह कहा कि पण्डितजी ने यह नहीं बताया कि किससे यह जगत् बना है, कदाचित् पादरी साहब ने नहीं सुना होगा। मैंने तो जिससे यह कार्य जगत् बना है, उसको प्रकृति आदि नामों से, कि जिसको परमाणु भी कहते हैं, कहा था।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—सब पदार्थों का कारण अनादि है तो भी ईश्वर को मानना अवश्य है क्योंकि मिट्टी में यह सामर्थ्य नहीं कि आपसे आप घड़ा बन जाय। जो कारण होता है, वह आप कार्य्यरूप नहीं बन सकता क्योंकि उसमें बनने का ज्ञान नहीं होता और कोई जीव भी उसको नहीं बना सकता। आजतक किसी ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई। जैसा कि मेरा रोम है, ऐसी वस्तु कोई नहीं बना सकता। और आजतक ऐसा कोई मनुष्य नहीं हुआ और न है कि जो परमाणुओं को पकड़ के किसी युक्ति से उनसे ऐसी वस्तु बना सके। कोई दो त्रसरेणुओं का भी संयोग नहीं कर सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल उस परमेश्वर की ही यह सामर्थ्य है कि सब जगत् को रचे।

देखो, एक आँख की रचना में ही कितनी विद्या का दृष्टान्त है। आजतक बड़े-बड़े वैद्य अपनी बुद्धि लगाते चले आते हैं तो भी आँख की विद्या अधूरी ही है, कोई नहीं जानता कि किस-किस प्रकार और क्या-क्या गुण ईश्वर ने उसमें रक्खे हैं इसलिये सूर्य, चाँद आदि जगत् का रचना और धारण करना ईश्वर का ही काम है तथा जीवों के कर्मों के फल का पहुंचाना, यह भी परमात्मा ही का काम है, किसी दूसरे का नहीं। इससे ईश्वर को मानना अवश्य है।

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—जब दो वस्तु हैं, एक कार्य दूसरा कारण तो दोनों अनादि नहीं हो सकते। इसमें ईश्वर ने नास्ति से अस्ति अपनी सामर्थ्य से की है।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—गुण दो प्रकार के होते हैं एक अन्त:स्थ, दूसरे बाह्य। अन्त:स्थ तो अपने में होते हैं और बाह्य दूसरे से अपने में आते हैं। और अन्त:स्थ गुण दूसरे में जाकर वैसे ही बन जाते हैं परन्तु जिसके गुण होते हैं, वह उससे पृथक् होता है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस बर्तन में पड़ता है, वैसे ही बन जाता है परन्तु सूर्य नहीं हो जाता, वैसे ही ईश्वर ने हमको अपनी इच्छा से बनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(ईसाई साहब के उत्तर में)—आप दोनों के अनादि होने में क्यों शंका करते हैं? क्योंकि जितने पदार्थ इस जगत् में बने हैं, उन सबका 'कारण' अर्थात् परमाणु आदि सब अनादि हैं। और जीव भी अनादि हैं कि जिनकी संख्या कोई नहीं बता सकता। और नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती, सो मैं पहिले कह चुका हूँ। परन्तु आप जो कहते हैं कि शक्ति से बनाया तो बतलाओ शक्ति क्या वस्तु है? जो कहो कि कोई वस्तु है तो फिर वही कारण ठहरने से अनादि हुई। और ईश्वर के नाम, गुण, कर्म सब अनादि हैं, कोई अब नहीं बने।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—आप जो यह कहो कि[१] भीतर के गुणों से जगत् बना है तो भी नहीं बन सकता क्योंकि गुण द्रव्य के विना अलग नहीं रह सकते और गुण द्रव्य से बन भी नहीं सकता। जब भीतर के गुणों से जगत् बना है तो जगत् भी ईश्वर हुआ। जो यह कहो कि बाहर के गुणों से जगत् बना तो ईश्वर के सिवाय आपको भी वे गुण और द्रव्य अनादि मानने पड़ेंगे। और जो कहो कि इच्छा से हम लोग बन गये तो मेरा यह प्रश्न है कि इच्छा कोई वस्तु है वा गुण है? जो वस्तु कहोगे तो वह अनादि ठहर जायगी और जो गुण मानोगे तो जैसे केवल इच्छा से घड़ा नहीं बन सकता परन्तु मिट्टी से बनता है तो वैसे ही इच्छा से हम लोग नहीं बन सकते।

पादरी स्काट साहब—हम लोग इतना जानते हैं कि नास्ति से अस्ति को ईश्वर ने बनाया। यह हम नहीं जानते कि किस पदार्थ से और किस

१. ईश्वर के। सम्पादक

प्रकार यह जगत् बनाया। इसको ईश्वर ही जानता है, मनुष्य कोई नहीं जान सकता।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—ईश्वर ने अपने प्रकाश से जगत् बनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—(पादरी साहब के उत्तर में) कार्य को देखकर कारण को देखना चाहिये, कि जो वस्तु कार्य है, वैसा ही उसका कारण होता है। जैसे घड़े को देखकर उसका कारण मट्टी जान लिया जाता है कि जो वस्तु घड़ा है, वही वस्तु मट्टी है। आप कहते हैं कि अपनी शक्ति से जगत् को रचा, सो मेरा यह प्रश्न कि वह शक्ति अनादि है वा पीछे से बनी है? जो अनादि है तो द्रव्यरूप उसको मान लो, तो उसी को जगत् का अनादि कारण मानना चाहिए।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—नूर कहते हैं प्रकाश को, उस प्रकाश से कोई दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता परन्तु वह नूर मूर्त्तिमान् द्रव्य को प्रसिद्ध दिखला सकता है और वह प्रकाश करनेवाले पदार्थ के विना अलग नहीं रह सकता। इससे जगत् का जो कारण प्रकृति अनादि है, उसको माने विना किसी प्रकार से किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। और हम लोग भी कार्य को अनादि नहीं मानते परन्तु जिससे कार्य बना है, उस कारण को अनादि मानते हैं।

एक हिन्दुस्तानी ईसाई साहब—जो ईश्वर ने अपनी प्रकृति से सब संसार को रचा तो उसकी प्रकृति में सब संसार सनातन था और वह उसकी प्रकृति में अनादि था तो ईश्वर की सीमा हो गई।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—जब कि ईश्वर की प्रकृति में सब जगत् था तब ही तो वह अनादि हुआ और वही अनादि वस्तु रचने से सीमा में आई। अर्थात् लम्बा-चौड़ा, बड़ा-छोटा आदि सब प्रकार का ईश्वर ने उसमें से बनाया। इसलिये रचे जाने से केवल जगत् ही की सीमा हुई, ईश्वर की नहीं।

अब देखिये मैंने जो पहिले कहा था कि नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती किन्तु भाव से ही भाव होता है, सो आप लोगों के कहने से भी वह बात सिद्ध हो गई कि जगत् का कारण अनादि है।

ईसाई साहब—सुनो भाई मौलवी साहबो! कि पण्डितजी इसका उत्तर हज़ार प्रकार से दे सकते हैं। हम और तुम हजारों मिल कर भी इनसे

बात करें तो भी पण्डितजी बराबर उत्तर दे सकते हैं। इसलिये इस विषय में अधिक कहना उचित नहीं।

ग्यारह बजे तक यह वार्त्ता सिद्ध हुई, फिर सब लोग अपने-अपने डेरों को चले गये। और सब जगह मेले में यही बात-चीत होती थी कि जैसा पण्डितजी को सुनते थे, उससे सहस्र गुणा पाया।

दोपहर के पश्चात् की सभा

फिर एक बजे सब लोग आये और इस पर विचार किया कि अब समय बहुत थोड़ा और बातें बहुत बाकी हैं, इसलिये केवल मुक्ति विषय पर विचार करना उचित है। प्रथम थोड़ी देर तक ये बातें होती रहीं कि पहिले कौन वर्णन करे, एक दूसरे पर टालता था। तब स्वामीजी ने कहा कि उसी क्रम से भाषण होना चाहिए। अर्थात् पहिले पादरी साहब फिर मौलवी साहब और फिर मैं। परन्तु जब पादरी साहब और मौलवी साहब दोनों ने कहा कि हम पहिले न बोलेंगे, तब स्वामी जी ने ही पहिले कहना स्वीकार किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—'मुक्ति' कहते हैं छूट जाने को अर्थात् जितने दु:ख हैं, उनसे सब छूटकर एक सच्चिदानन्दरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहना और फिर जन्म-मरण आदि दु:खसागर में नहीं गिरना। इसी का नाम 'मुक्ति' है। वह किस प्रकार से होती है? इसका पहिला साधन सत्य का आचरण है और वह सत्य आत्मा और परमात्मा की साक्षी से निश्चय करना चाहिये, अर्थात् जिसमें आत्मा और परमात्मा की साक्षी न हो वह असत्य है। जैसे किसी ने चोरी की, जब वह पकड़ा गया, उससे राजपुरुष ने पूछा कि तूने चोरी की या नहीं? तब तक वह कहता है कि मैंने चोरी नहीं की, परन्तु उसका आत्मा भीतर से कह रहा है कि मैंने चोरी की है। तथा जब कोई झूठ की इच्छा करता है तब अन्तर्यामी परमेश्वर उसको जता देता है कि यह बुरी बात है, इसको तू मत कर और लज्जा, शङ्का और भय आदि उसके आत्मा में उत्पन्न कर देता है। और जब सत्य की इच्छा करता है तब उसके आत्मा में आनन्द कर देता है और प्रेरणा करता है कि यह काम तू कर। अपना आत्मा जैसे सत्य काम करने में निर्भय और प्रसन्न होता है, वैसे झूठ में नहीं होता। जब परमात्मा की आज्ञा को तोड़कर बुरा काम कर लेता है, तब उसकी मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। और उसी को असुर, दुष्ट, दैत्य और

नीच कहते हैं। इसमें वेद का प्रमाण है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

यजु० अध्याय ४०। मन्त्र ३॥

आत्मा का हिंसन करनेवाला अर्थात् जो परमेश्वर की आज्ञा को तोड़ता है और अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध बोलता, करता और मानता है उसी का नाम असुर, राक्षस, दुष्ट, पापी, नीच आदि होता है।

मुक्ति के मिलने के साधन ये हैं—

१—सत्य का आचरण।

२—सत्यविद्या अर्थात् ईश्वरकृत वेदविद्या को यथावत् पढ़कर ज्ञान की उन्नति और सत्य का पालन यथावत् करना।

३—सत्पुरुष ज्ञानियों का सङ्ग करना।

४—योगाभ्यास करके अपने मन, इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से हटाकर सत्य में स्थिर करना और ज्ञान को बढ़ाना।

५—परमेश्वर की स्तुति करना अर्थात् उसके गुणों की कथा सुनना और विचारना।

६—प्रार्थना कि जो इस प्रकार होती है कि—हे जगदीश्वर! हे कृपानिधे! हे अस्मत्पित:! असत्य से हम लोगों को छुड़ा के सत्य में स्थिर कर। और हे भगवन्! हमको अन्धकार अर्थात् अज्ञान और अधर्म आदि दुष्ट कामों से अलग करके विद्या और धर्म आदि श्रेष्ठ कामों में सदा के लिए स्थापन कर। और हे ब्रह्म! हमको जन्म-मरणरूप संसार के दुःखों से छुड़ाकर अपनी कृपाकटाक्ष से 'अमृत' अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर।

जब सत्य मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से परमेश्वर को जीव भजता है तब वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता-पिता के पास नीचे आना चाहता है वा नीचे से ऊपर जाना चाहता है तब हज़ारों आवश्यकता के कामों को भी माता-पिता छोड़कर और दौड़कर अपने लड़के को उठाकर गोद में लेते हैं कि हमारा लड़का कहीं गिर पड़ेगा तो उसको चोट लगने से उसको दुःख होगा। और जैसे माता-पिता अपने बच्चों को सदा सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा

करते रहते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मा के भाव से चलता है तब वह अनन्तशक्तिरूप हाथों से उस जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिये रखता है, फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता है और वह सदा आनन्द में रहता है।

पक्षपात को छोड़कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करके अर्थ को सिद्ध करना चाहिये। देखो, सब अन्याय; अधर्म और पक्षपात से होता है, जैसे कि यह मौलवी साहब का वस्त्र बहुत अच्छा है, मुझको मिले तो मैं उसको ओढ़कर सुख पाऊँ, इसमें अपने सुख का पक्षपात किया और मौलवी साहब के सुख-दुःख का कुछ विचार न किया। इसी प्रकार पक्षपात से ही नित्य अधर्म होता है। अधर्म से काम को सिद्ध करना इसी को अनर्थ कहते हैं। और धर्म और अर्थ से 'कामना' अर्थात् अपने सुख की सिद्धि करना इसको काम कहते हैं। और 'अधर्म' अर्थात् अनर्थ से काम को सिद्ध करना इसको 'कुकाम' कहते हैं। इसलिये इन तीनों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से मोक्ष को सिद्ध करना उचित है। इसमें यह बात है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करना इसको धर्म, और इसकी आज्ञा को तोड़ना इसको अधर्म कहते हैं, सो धर्म आदि ही मुक्ति के साधन हैं और कोई नहीं। और मुक्ति सत्य पुरुषार्थ से सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं।

पादरी स्काट साहब—पण्डितजी ने कहा कि सब दुःखों से छूटने का नाम मुक्ति है परन्तु मैं कहता हूँ कि सब पापों से बचने और स्वर्ग में पहुँचने का नाम मुक्ति है। कारण यह है कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था, परन्तु शैतान ने उसको बहका के उससे पाप करा दिया, इससे उसकी सब सन्तान भी पापी है। जैसे घड़ी बनानेवाले ने उसकी चाल स्वतन्त्र रक्खी है और वह आप ही चलती है, ऐसे ही मनुष्य भी अपनी इच्छा से पाप करते हैं तो फिर अपने ऐश्वर्य से मुक्ति नहीं पा सकते और न पापों से बच सकते हैं। इसलिये प्रभु ईसामसीह पर विश्वास किये विना मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे हिन्दू लोग कहते हैं कि कलियुग मनुष्यों को पाप कराके बिगाड़ता है, इससे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु ईसामसीह पर विश्वास करने से वे भी बच सकते हैं।

प्रभु ईसामसीह जिस-जिस देश में गये, अर्थात् उसकी शिक्षा जहां-जहां गई है, वहां-वहां मनुष्य पापों से बचते जाते हैं। देखो, इस समय सिवाय ईसाइयों के और किसी के मत में भलाई और अच्छे गुणों की

उन्नति है? मैं एक दृष्टान्त देता हूँ कि जैसे पण्डित जी बलवान् हैं, ऐसे ही इङ्गलिस्तान में एक मनुष्य बलवान् था, परन्तु वह मद्यपान, चोरी, व्यभिचार आदि बुरे काम करता था, जब वह ईसामसीह पर विश्वास लाया तब सब बुराइयों से छूट गया। और मैंने भी जब मसीह पर विश्वास किया तब मुक्ति को पाया और बुरे कामों से बच गया। सो ईसामसीह की आज्ञा के विरुद्ध आचरण से मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये सबको ईसामसीह पर विश्वास लाना चाहिये। उसी से मुक्ति हो सकती है, और किसी प्रकार नहीं।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—हम लोग यह नहीं कह सकते कि पण्डितजी ने जो मुक्ति के साधन कहे केवल उनसे ही मुक्ति हो सकती है क्योंकि ईश्वर की इच्छा है जिसको चाहे उसको मुक्ति दे और जिसको न चाहे न दे। जैसे समय का हाकिम जिस अपराधी से प्रसन्न हो उसको छोड़ दे और जिससे अप्रसन्न हो उसको कैद में डाल दे। उसकी इच्छा है जो चाहे सो करे, उस पर हमारा ऐश्वर्य नहीं है, न जाने ईश्वर क्या करेगा। पर समय के हाकिम पर विश्वास रखना चाहिये। इस समय का हाकिम हमारा पैगम्बर है, उस पर विश्वास लाने से मुक्ति होती है। हाँ! यह बात अवश्य है कि विद्या से अच्छे काम हो सकते हैं, परन्तु मुक्ति तो केवल उसी के हाथ में है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में)—आपने जो यह कहा कि दु:खों से छूटना मुक्ति नहीं, पापों से छूटने का नाम मुक्ति है, सो मेरे अभिप्राय को न समझ कर यह बात कही है। क्योंकि मैं तो पहिले साधन में ही सब पापों अर्थात् असत्य कामों से बचना कह चुका हूँ। और बुरे कामों का फल भी दु:ख कहाता है अर्थात् जब पाप करेगा तो दु:ख से नहीं बच सकता। इसके अनन्तर और साधनों में भी स्पष्ट कहा है कि अधर्म छोड़ कर धर्म का आचरण करना मुक्ति का साधन है। जो पादरी साहब इन बातों को समझते तो कदाचित् ऐसी बात न कहते।

दूसरा जो आप यह कहते हैं कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था परन्तु शैतान ने बहकाकर पाप करा दिया तो उसकी सन्तान भी इसी कारण से पापी हो गई, सो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि आप लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते ही हैं, सो जब कि ईश्वर के पवित्र बनाये आदम को शैतान ने बिगाड़ दिया और ईश्वर के राज्य में विघ्न करके ईश्वर की

व्यवस्था को तोड़ डाला तो इससे ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं रह सकता, और ईश्वर की बनाई हुई वस्तु को कोई नहीं बिगाड़ सकता है।

और एक आदम ने पाप किया तो उसकी सारी सन्तान पापी हो गई, यह सर्वथा असम्भव और मिथ्या है। जो पाप करता है वही दु:ख पाता है, दूसरा कोई नहीं पा सकता। और ऐसी बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। और देखो, एक आदम और हव्वा से किसी प्रकार इस जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि बहन और भाई का विवाह होना बड़े दोष की बात है। इसलिये ऐसी व्यवस्था मानना चाहिये कि सृष्टि के आदि में बहुत से पुरुष और स्त्री परमेश्वर ने रचे।

और जो यह कहा कि शैतान बहकाता है, तो मेरा यह प्रश्न है कि जब शैतान ने सबको बहकाया, तो फिर शैतान को किसने बहकाया? जो कहो कि शैतान आप से आप ही बहक गया, तो सभी जीव भी आप से आप ही बहक गये होंगे, फिर शैतान को बहकानेवाला मानना व्यर्थ है। जो कहो कि शैतान को भी किसी ने बहकाया है तो सिवाय ईश्वर के दूसरा कोई बहकानेवाला शैतान को नहीं है, तो फिर जब ईश्वर ने ही सबको बहकाया तब मुक्ति देनेवाला कोई भी आप लोगों के मत में न रहा और न मुक्ति पानेवाला। क्योंकि जब परमात्मा ही बहकानेवाला ठहरा, तो बचानेवाला कोई भी नहीं हो सकता और यह बात परमात्मा के स्वभाव से भी विरुद्ध है क्योंकि वह न्यायकारी और सत्य कामों का ही कर्त्ता है, तथ अच्छे कामों में ही प्रसन्न होता है। वह किसी को दु:ख देनेवाला और बहकानेवाला नहीं।

और देखो, कैसे आश्चर्य की बात कि यदि शैतान ईश्वर के राज्य में इतना गड़बड़ करता है, फिर भी ईश्वर उसको न दण्ड देता है, न मारता है, न कारागृह में डालता है, इससे स्पष्ट परमात्मा की निर्बलता पाई जाती है और विदित होता है कि परमात्मा ही को बहकाने की इच्छा है इससे यह बात ठीक नहीं। और न शैतान कोई मनुष्य है। जब तक शैतान माननेवाले शैतान का मानना न छोड़ेंगे, तब तक पाप करने से नहीं बच सकते क्योंकि वे समझते हैं कि हम तो पापी ही नहीं, जैसा शैतान ने आदम को और उसकी सन्तान को बहका के पापी किया, वैसा ही परमात्मा ने आदम की सन्तान के पाप के बदले में अपने एकलौते बेटे को शूली पर चढ़ा दिया, फिर हमको क्या डर है। और जो हमसे कुछ

पाप भी होता है तो हमारा विश्वास ईसामसीह पर है, वह आप क्षमा करा देगा, क्योंकि उसने हमारे पापों के बदले में जान दी है। इसलिये ऐसी व्यवस्था माननेवाले पापों से नहीं बच सकते।

और जो घड़ी का दृष्टान्त दिया था सो ठीक है क्योंकि सब अपने-अपने काम करने में स्वतन्त्र हैं परन्तु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कामों के लिये है, बुरे के लिये नहीं। और जो आपने यह कहा कि स्वर्ग में पहुँचना मुक्ति है, शैतान के बहकाने के कारण मनुष्यों में शक्ति नहीं कि पापों से छूटकर मुक्ति पा सकें, यह बात भी ठीक नहीं। क्योंकि जब मनुष्य स्वतन्त्र हैं और शैतान कोई मनुष्य नहीं; तो आप दोषों से बचकर परमात्मा की कृपा से मुक्ति को पा सकते हैं। और स्वर्ग से आदम गेहूँ खाने के कारण निकाला गया और यह ही आदम को पाप हुआ कि गेहूँ खाया, तो मैं आप से पूछता हूँ कि आदम ने तो गेहूँ खाया और पापी हो गया और स्वर्ग से निकाला गया, आप लोग जो उस स्वर्ग की इच्छा करते हैं तो क्या आप लोग वहाँ सब पदार्थ खावेंगे? तो क्या पाप नहीं होगा? और वहाँ से निकाले नहीं जाओगे? इससे यह बात भी ठीक नहीं हो सकती।

और आप लोगों ने ईश्वर को मनुष्य के सदृश माना होगा अर्थात् जैसे मनुष्य सर्वज्ञ नहीं, वैसे ही आपने परमात्मा को भी माना होगा कि जिससे आप वहाँ गवाही और वकील की आवश्यकता बतलाते हैं। परन्तु आपके ऐसे कहने से ईश्वर की ईश्वरता नष्ट हो जाती है। वह सब कुछ जानता है, उसको गवाही और वकील की कुछ आवश्यकता नहीं है। और उसको किसी की सिफारिश की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि सिफारिश न जाननेवाले से की जाती है। और देखिये, आपके कहने से परमात्मा पराधीन ठहरता है क्योंकि विना ईसामसीह की गवाही वा सिफारिश के वह किसी को मुक्ति नहीं दे सकता और कुछ भी नहीं जानता, इससे परमात्मा में अल्पज्ञता आती है कि जिससे वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ किसी प्रकार नहीं हो सकता। और देखो, जबकि वह न्यायकारी है तो किसी की सिफारिश और मिथ्या प्रशंसा से न्याय के विरुद्ध कदाचित् नहीं कर सकता, जो विरुद्ध करता है तो न्यायकारी नहीं ठहर सकता।

इसी प्रकार जो आप मनुष्य हाकिम के सदृश ईश्वर के दरबार में भी फरिश्तों का होना मानोगे, तो और बहुत से दोष ईश्वर में आवेंगे। इससे ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता क्योंकि जो सर्वव्यापक है तो शरीरवाला

न होना चाहिये। और जो सर्वव्यापक नहीं है तो अवश्य है कि शरीरवाला हो। और शरीरवाला होने से उसकी शक्ति सब पर घेरनीवाली न हुई। और शरीरवाला जितना दूर का ज्ञान रखता है पर उसको पकड़ और मार नहीं सकता। और जो शरीरवाला होगा उसका जन्म और मरण भी अवश्य होगा, इसलिये ईश्वर को किसी एक जगह पर और फरिश्तों का उसके दरबार में होना, ऐसी बातें मानना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता, नहीं तो ईश्वर की सीमा हो जायगी।

देखो, हम आर्य्य-लोगों के शास्त्रों को यथावत् पढ़े विना लोगों को उलटा निश्चय हो जाता है अर्थात् कुछ का कुछ मान लिया जाता है। जो पादरी साहब ने कलियुग के विषय में कहा सो ठीक नहीं क्योंकि हम आर्य्य लोग युगों की व्यवस्था इस प्रकार से नहीं मानते। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—

कलिश्शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

ऐत० पञ्जिका ७। कण्ठिका १७॥

अर्थात् जो पुरुष सर्वथा अधर्म करता है और नाममात्र धर्म करता है, उसको कलि; और जो आधा अधर्म और आधा धर्म करते हैं, उसको द्वापर; और एक हिस्सा अधर्म और तीन हिस्से धर्म करता है, उसको त्रेता और जो सर्वथा धर्म करता है उसको सतयुग कहते हैं।

इसके जाने विना कोई बात कह देना ठीक नहीं हो सकती। इससे जो कोई बुरा काम करता है, वह दुःख पाने से कदाचित् नहीं बच सकता और जो कोई अच्छा काम करता है, वह दुःख पाने से बच जाता है, किसी ही देश में चाहे क्यों न हो।

क्या ईसामसीह के विना ईश्वर अपने सामर्थ्य से अपने भक्तों को नहीं बचा सकता है? वह अपने भक्तों को सब प्रकार से बचा सकता है, उसको किसी पैगम्बर की आवश्यकता नहीं। हां! यह सच है कि जब जिस-जिस देश में शिक्षा करनेवाले धर्मात्मा उत्तम पुरुष होते हैं, उस-उस देश के मनुष्य पापों से बच जाते हैं और उन्हीं देशों में सुख और गुणों की वृद्धि होती है। यह भी सब लोगों के लिये सुधार है, इसका कुछ मत से प्रयोजन नहीं। देखों, आर्य लोगों में पूर्व उपदेश की व्यवस्था अच्छी थी, इससे उस समय में वे सुधरे हुए थे। इस समय में अनेक कारणों से

सत्य उपदेश कम होने से जो किसी बात का बिगाड़ हो तो इससे आर्य लोगों के सनातन मत में कोई दोष नहीं आ सकता क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति के समय से लेके आज तक आर्यों ही का मत चला आता है, वह कुछ बहुत नहीं बिगड़ा।

देखो, जितने १८०० वा १३०० वर्षों के भीतर ईसाइयों और मुसलमानों के मतों के आपस के विरोध से फिरके हो गये हैं, उनके सामने जो १९६०८५२९७६ वर्षों के भीतर आर्यों के मत में बिगाड़ हुआ तो वह बहुत ही कम है और आप लोगों में जितना सुधार है, सो मत के कारण नहीं, किन्तु पार्लियामेंट आदि के उत्तम प्रबन्ध से है, जो ये न रहें, मत से कुछ भी सुधार न हो, और पादरी साहब ने जो इङ्गलिस्तान के दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त मेरे साथ मिलाकर दिया, सो इस प्रकार कहना उनको योग्य न था परन्तु न जाने किस प्रकार से यह बात भूल से उनके मुख से निकली।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—ईश्वर चाहे सो करे, ऐसा ठीक नहीं क्योकि वह पूर्ण विद्या और ठीक-ठीक न्याय पर सदा रहता है, किसी का पक्षपात नहीं करता। इस कहने से कि जो चाहे सो करे, यह भी आता है कि ईश्वर ही बुराई भी करता होगा और उसी की इच्छा से बुराई होती है, यह कहना ईश्वर में नहीं बनता। ईश्वर जो कोई मुक्ति का काम करता है, उसी को मुक्ति देता है। मुक्ति के काम के विना किसी को मुक्ति नहीं देता क्योंकि वह अन्याय कभी नहीं करता। जो विना पाप-पुण्य के देखे जिसको चाहे दु:ख देवे और जिसको चाहे सुख, तो ईश्वर में अन्याय आदि प्रमाद लगता है, सो वह ऐसा कभी नहीं करता। जैसे अग्नि का स्वभाव प्रकाश और जलाने का है, इनके विरुद्ध नहीं कर सकता, वैसे ही परमात्मा भी अपने न्याय के स्वभाव से विरुद्ध पक्षपात से कोई व्यवस्था नहीं कर सकता।

सब समय का हाकिम मुक्ति के लिये परमेश्वर ही है, दूसरा कोई नहीं। और जो कोई दूसरे को माने, उसका मानना व्यर्थ है, मुक्ति दूसरे पर विश्वास करने से कभी नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर जो मुक्ति देने में दूसरे के आधीन है, वा दूसरे के कहने से दे सकता है तो मुक्ति देने में ईश्वर अपराधी है तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। वह किसी का सहाय अपने काम में नहीं लेता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। मैं जानता हूँ कि सब विद्वान् ऐसा ही मानते होंगे। जो पक्षपात से औरों के दिखाने को न मानते हों, तो दूसरी बात है।

इसमें मुझको बड़ा आश्चर्य है कि परमात्मा को 'लाशरीक' भी मानते हैं और फिर पैगम्बरों को भी मुक्ति देने में उसके साथ मिला देते हैं! यह बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर धर्मात्मा मनुष्यों को मुक्ति के काम करने से मुक्ति स्वतन्त्रता से दे सकता है, किसी की सहायता के अधीन नहीं। मनुष्य को ही आपस में सहायता की आवश्यकता है, ईश्वर को नहीं। न वह मिथ्या प्रसन्न होनेवाला है, जो मिथ्या प्रसन्न होकर अन्याय करे। वह तो अपने सत्य धर्म और न्याय से सदा युक्त है, और अपने सत्य-प्रेम से भरे हुए भक्तों को यथावत् मुक्ति देकर और सब दु:खों से बचाकर सदा के लिये आनन्द में रखता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इतने में चार बज गये। स्वामीजी ने कहा कि हमारा व्याख्यान बाकी है। मौलवी साहब ने कहा कि हमारे नमाज़ का समय आ गया। पादरी स्काट साहब ने स्वामीजी से कहा कि हमको आपसे एकान्त में कुछ कहना है, सो वे दोनों तो उधर गये, इधर एक ओर तो एक मौलवी मेज पर जूता पहने हुए खड़े होकर और दूसरी ओर पादरी अपने मत का व्याख्यान देने लगा।

और कितने ही लोगों ने यह उड़ा दिया कि मेला हो चुका! तब स्वामीजी ने पादरी और आर्य लोगों से पूछा कि यह क्या गड़बड़ हो रहा है? मौलवी लोग नमाज़ पढ़कर आये वा नहीं। उन्होंने उत्तर दिया कि मेला तो हो चुका। इस पर स्वामीजी बोले कि ऐसे झटपट मेला किसने समाप्त कर दिया? न किसी की सम्मति ली गई, न किसी से पूछा गया। अब आगे कुछ बातचीत होगी वा नहीं?

जब वहां बहुत गड़बड़ देखी और संवाद की कोई व्यवस्था न जान पड़ी, तो लोगों ने स्वामीजी से कहा कि आप भी चलिये, मेला तो पूरा हो ही गया। इस पर स्वामीजी ने कहा कि हमारी इच्छा तो यह थी कि कम से कम पांच दिन मेला रहता। इसके उत्तर में पादरी साहबों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं रह सकते। फिर स्वामीजी आकर अपने डेरे पर धर्मसंवाद करने लगे। उस दिन रात को पादरी स्काट साहब दो और पादरियों के साथ स्वामीजी के डेरे पर आये। स्वामीजी ने कुरसियां बिछवाकर आदरपूर्वक उनको बिठलाया और आप भी बैठ गये। फिर

आपस में बातचीत होने लगी—

पादरी साहबों ने पूछा कि—आवागमन सत्य है वा असत्य? और इसका क्या प्रमाण है?

स्वामीजी ने कहा कि—आवागमन सत्य है, और जो जैसे कर्म करता है, वैसा ही शरीर पाता है। जो अच्छा काम करता है तो मनुष्य का, और जो बुरे करता है तो पक्षी आदि का शरीर पाता है। और जो बहुत उत्तम काम करता है, वह 'देवता' अर्थात् विद्वान् और बुद्धिमान् होता है। देखो, जब बालक उत्पन्न होता है तब उसी समय अपनी माता का दूध पीने लगता है, कारण यही है कि उसको पहिले जन्म का अभ्यास बना रहता है, यह भी एक प्रमाण है। और धनाढ्य, कङ्गाल, सुखी, दुःखी अनेक प्रकार के ऊंच-नीच देखने से विदित होता है कि कर्मों का फल है। कर्म से देह और देह से आवागमन सिद्ध है। जीव अनादि हैं कि जिनका आदि और अन्त नहीं। जिस योनि में जीव जन्म लेता है, उसका कुछ स्वभाव भी बना रहता है, इसी कारण मनुष्य आदि विचित्र स्वभाव और प्रकृति आदि के होते हैं, इससे भी आवागमन सिद्ध होता है।

इसी प्रकार और बहुत से प्रमाण आवागमन के हैं। परन्तु जीव का एक वार उत्पन्न होना और फिर कभी न होना, इसका कुछ प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि जो मैंने कहा उसके विरुद्ध होना चाहिये था, सो ऐसा होना असम्भव है। और फिर यह बात कि मरा और हवालात हुई, अर्थात् जब कयामत होगी तब उसका हिसाब-किताब होगा, तब तक बेचारा हवालात में रहा मानना अच्छा नहीं।

फिर पादरी साहब चले गये। मौलवियों ने शाहजहांपुर जाकर मुन्शी इन्द्रमणिजी को लिखा कि जो आप यहां आवें तो हम आपसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं परन्तु जब स्वामीजी और मुन्शीजी वहां पहुँचे तो किसी ने शास्त्रार्थ का नाम तक भी न लिया।

ऋषिकालाङ्कब्रह्माब्दे नभश्शुक्ले दले तिथौ।
द्वादश्यां मङ्गले वारे[१] ग्रन्थोऽयं पूरितो मया॥

॥ इति ॥

---

१. अर्थात् श्रावण शुक्ला द्वादशी मङ्गलवार, वि० सं० १९३७॥ सम्पादक

२२

शास्त्रार्थ-जालन्धर

शास्त्रार्थ-जालन्धर

पं० सुन्दरलाल जी के नाम ऋषि दयानन्द के द्वारा लिखे गये १३ मई १८८२ ई० पत्र से ज्ञात होता है कि **'जालन्धर की बहस'** शीर्षक से कोई पुस्तक प्रकाशित हुई थी। निश्चय ही उसमें उस शास्त्रार्थ का उल्लेख था, जो २४ सितम्बर १८७७ ई० (आश्विन कृष्ण २, सं० १९३४ वि० सोमवार) को प्रातः ७ बजे जालन्धर में मौलवी अहमद हुसैन से हुआ था। शास्त्रार्थ का विषय था **'पुनर्जन्म और चमत्कार'**। पंडित लेखराम द्वारा संगृहीत ऋषि के उर्दू जीवन चरित में इस शास्त्रार्थ के विषय में निम्न उल्लेख पाया जाता है—

''यह शास्त्रार्थ पहली बार दिसम्बर १८७७ में पंजाबी प्रेस, लाहौर में छपा था, दूसरी बार जुलाई १८७८ के 'आर्य दर्पण' में छपा, तीसरी बार मिर्जा महोदय ने अपने वजीर प्रेस, स्यालकोट में छपवाया, चौथी बार लाहौर और पांचवी बार आर्यसमाज अमृतसर ने १८८६ ई० में छपवाया। खुद मुसलमानों का फैसला है कि मौलवी साहब कामयाब नहीं हुये और करामात सिद्ध नहीं कर सके।''

पं० गोपाल शास्त्री शर्मा लिखित 'श्रीमद्दयानन्द दिग्विजयार्क' के प्रथम खण्ड पञ्चम मयूख में फकीर मोहम्मद मीर जामू (मिर्जा?) जालन्धरी द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त शास्त्रार्थ की भूमिका छपी है। इसे हम पाठकों के लिए उपयोगी समझकर उद्धृत कर रहे हैं भूमिका की भाषा उर्दू है। कठिन उर्दू फारसी शब्दों का अर्थ पाठकों की सुविधा के लिये टिप्पणी में दिया गया है।

''फकीर मोहम्मद मीर जामू (मिर्जा?) जालन्धरी सभ्यगणों को इस रिसाले[१] के तैयार होने के कारणों से आगाह[२] करता है कि ता० १३ सितम्बर सन् १८७७ को दयानन्द सरस्वतीजी साहब जालन्धर में भी बतौर दौरे[३] के तशरीफ लाये, और जनाब फैजमाब[४] सरदार बावकार विक्रमसिंह

१. पुस्तक। २. परिचित करना
३. भ्रमण करते हुए। ४. परोपकारमूर्ति।

साहब अहलूवालिया की कोठी में करोकश[५] होकर वेद के मुताबिक जिसको वह कलाम इलाही[६] तसव्वुर[७] करते हैं, कथा सुनाने लगे कि फकीर ने सरदार साहब ममदह की खिदमत आलिया[८] में दरख्वास्त[९] की कि स्वामी साहब और मौलवी अहमद हुसैन की गुफ्तगू[१०] भी किसी माकूली मसले[११] में सुननी चाहिये। जनाब ममदह ने पसन्द किया और स्वामीजी ने भी कुबूल करके २४ सितम्बर के ७ बजे सुबह का करार दिया, मौलवी साहब वक्त मुअय्यनह[१२] पर खास व आम हिन्दू व मुसलमान शहर के आ गये। मुबाहसा अर्थात् शास्त्रार्थ हस्त ख्वाहिश[१३] मौलवी साहब मसले तनासुख [१४] और स्वामी जी की मर्जी के मुताबिक मसले करामात[१५] मुकरर हुआ। यानी स्वामीजी तनासुख (पुनर्जन्म) को साबित करें, और मौलवी साहब उनकी तरदीद साबित करें और स्वामी साहिब उसकी तरदीद (खण्डन) करें।

गुफ्तगू शुरू होने से यह बात भी करार पायी कि तुर्फेन (दोनों तर्फ) से कोई शख्स खिलाफ तहजीब (सभ्यता) गुफ्तगू न करेगा और स्वामीजी की तरफ से यह भी प्रकाशित हुआ कि कोई साहब इस गुफ्तगू खत्म होने पर हार जीत तसव्वुर[१६] न करें। अगर करेगा तो मुतअस्सिब (पक्षपाती) और जाहिल[१७] समझा जायेगा, क्योंकि यह मसाइल[१८] ऐसे नहीं हैं कि दो तीन दिन की गुफ्तगू में तसफिया[१९] हो जाय, या हार जीत सतस्वूर हो। मगर हां, जब रिसाला गुफ्तगू बाहमी तबै[२०] होगा (छपेगा) तो खुद हाथ के कंकन को आरसी का मसला होगा और आकिला खुद मेदान्द का जहर।[२१] जो सवाल जवाब होंगे वह बाद दस्तखत लाला अमीचन्द साहब और मुन्शी मोहम्मद हुसैन महमूद तब होंगे (छापेंगे)। बाद खतम

५. विराजमान होकर। ६. ईश्वरीय ज्ञान।
७. मानते हैं। ८. शुभ सेवा में।
९. निवेदन किया। १०. वार्तालाप।
११ उचित विषय। १२. निश्चित समय।
१३. इच्छानुसार। १४. पुनर्जन्म।
१५. चमत्कार। १६. ख्याल न करें।
१७. मूर्ख। १८. विषय।
१९. निर्णय। २०. प्रकाशित होगा।
२१. बुद्धिमान् स्वयं इसको पढ़कर निर्णय कर सकेंगे।

होने गुफ्तगू के मौलवी साहब की तरफ से खिलाफ अम्ल आलमा सरजद[२२] हुआ, और वह यह कि बाद तमाम होने गुफ्तगू के मौलवी साहब इमाम नासिरुद्दीन के दरवाजे पर गये और कुछ फखरिया बाज सुनाकर[२३] मुसलमान हाजरीन से अपने नमूद के बेवजूद की शुहरत के तलबगार हुये[२४]। अर्थात् मुसलमानों से कहा कि आप लोग अभी कोई ऐसी तजवीज[२५] करें कि जिसमें मैं जीता नहीं तो भी मेरी ही जीत प्रसिद्ध हो जाय। अगर्चि अहलै इल्म[२६] और बजादार[२७] मुसलमान इस शुहरत (मिथ्या-प्रसिद्धि) की ख्वाहिश को जाहिलों का खेल समझकर किनाराकश[२८] हो गये, मगर जुलाहे आदि वे लोग जो मुर्ग, लाल और बटेर और अमन वगैरह की लड़ाई के आदी और हारजीत के शुहरत के शायक हैं,[२९] उन्होंने मौलवी साहिब को बाजीयफता[३०] करार दिया, और घोड़े पर चढ़ा कर शहर के गलीकूचों में खूब फिराया और जीत हार का गुल मचाया। मगर खास वजादार और मुअज्जिज[३१] आदमियों ने इसे बहुत नापसन्द किया।''

इस[३२] मुबाहिसे की 'सवाल जवाब' नाम की एक किताब है, उसकी दीवाचा अर्थात् भूमिका की यह नकल है, जो ऊपर लिखी है। चूंकि इसके देखने ही से असल हाल खुल जाता है, इसलिये अगाड़ी से सवाल जवाब नहीं लिखे गये। उक्त किताब के अन्त में बड़े दो प्रतिष्ठित रईसों ने यह इबारत लिख दस्खत किए हैं कि हमारे रौबरू जो मरातिब गुफ्तगू मुअय्यन हुए थे, वह वाकई यही थे जो दीबाचा में दर्ज हैं।

द० लाला अमीचन्द साहब **द० मोहम्मद हुसैन महमूद**

दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह (संगृहीता-कविराज रघुनन्दन सिंह निर्मल) के पृष्ठ ११४-१२३ के अनुसार इस शास्त्रार्थ का पाठ, जो पं० लेखराम द्वारा संगृहीत उर्दू जीवन चरित पर आधृत है, यहां आगे 'शास्त्रार्थ-जालन्धर' शीर्षक से दिया जा रहा है।

२२. विद्वानों को परिपाटी के विरुद्ध जो कार्य हुआ।
२३. प्रशंसात्मक उपदेश देकर।
२४. प्रशंसा के इच्छुक हुये। २५. व्यवस्था।
२६. विद्वान्। २७. समझदार।
२८. पृथक् हो गये। २९. ख्याति के इच्छुक।
३०. विजयी। ३१. प्रतिष्ठित।
३२. यहाँ से अगली पंक्तियां पं० गोपालदास की हैं।

शास्त्रार्थ-जालन्धर

[चमत्कार के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और मौलवी अहमद हुसैन साहब के मध्य होने वाले प्रश्नोत्तर]

स्वामी—चमत्कार आप किसको कहते हैं?

मौलवी—मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध जो अद्भुत कार्य मनुष्य से सम्पन्न हो।

स्वामी—स्वभाव आप किसको मानते हैं?

मौलवी—मनुष्य की प्राकृतिक इच्छा को स्वभाव कहते हैं।

स्वामी—जो मनुष्य की शक्ति से बाहर है, वह किस प्रकार उससे हुआ?

मौलवी—मनुष्य से होने वाले कार्य दो प्रकार के हैं—एक तो वह कि मनुष्य को जिनका प्रकट करने वाला कहा जाता है; और दूसरे वह कि मनुष्य स्वयं जिनका कर्त्ता होता है। पहली प्रकार के कार्यों में मनुष्य को वास्तविक कर्त्ता नहीं समझा जाता। उदाहरणार्थ जैसे कठपुतली का नाच। ऐसे कार्य खुदा की ओर से मनुष्य के द्वारा प्रकट होते हैं।

स्वामी—सब मनुष्यों में यह दोनों प्रकार के कार्य हैं, अथवा किसी एक में?

मौलवी—प्रत्येक में नहीं, कुछ में होते हैं।

स्वामी—ईश्वर उल्टे काम कर और करा सकता है वा नहीं?

मौलवी—मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध करा सकता है, परन्तु वह काम ईश्वर के स्वभाव के विरुद्ध नहीं होता, और स्वयं अपने विरुद्ध नहीं होता।

स्वामी—ईश्वर के काम उल्टे होते हैं वा नहीं?

मौलवी—खुदा के कार्य कभी उसके स्वभाव के विरुद्ध नहीं होते, यद्यपि मनुष्यों के स्वभाव की अपेक्षा वह विरुद्ध समझे जा सकते हैं।

स्वामी—चमत्कार सृष्टि के स्वभाव के अनुसार होता है वा नहीं अर्थात् प्रकृति की इच्छा के विरुद्ध?

मौलवी—चमत्कार में यह आवश्यक नहीं कि समस्त सृष्टि के स्वभाव के विरुद्ध हो, यद्यपि यह सम्भव है कि किसी नबी (पैगम्बर) या वली (ईश्वर को प्राप्त करने वाला) से कोई ऐसा कार्य हो कि जो समस्त सृष्टि के अनुकूल न हो।

स्वामी—चमत्कार किसी ने दिखाया अथवा दिखावेगा, इसका क्या प्रमाण है?

मौलवी—यह प्रश्न ऐसा है जैसा कहा जावे कि किसी मुख पर जो दाढ़ी आई है, उसके आने का क्या प्रमाण है? जब चमत्कार के विषय में यह कह दिया गया कि वह कार्य जो मनुष्य से मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध हो। उसका कार्य मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध होता है, यही चमत्कार का प्रमाण है। बहुत से मनुष्यों ने, जो दयालु ईश्वर की सृष्टि में सम्मानित और प्रतिष्ठित हैं और ईश्वर ने जिन को सृष्टि के उपकार के लिए भेजा है, पूर्वकाल में चमत्कार दिखाये और भविष्य में भी दिखायेंगे। जैसा कि अल्लाह के रसूल हजरत मोहम्मद साहब ने भी बहुत से चमत्कार करके दिखाये, और ऐसे ही उनसे पूर्व हजरत ईसा ने भी बहुत से चमत्कार करके दिखाये। सिद्धि इस बात की दो प्रकार से होती है—एक तो सच्चे समाचार-दाताओं के द्वारा और दूसरे स्वयं देखने से। जैसा कि ऊपर दोनों महापुरुषों का वर्णन किया। जो लोग उनके समय में विद्यमान थे, उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा, और हम लोग जो इस समय के हैं, उनको इसका ज्ञान सच्चे समाचारदाताओं के वचनों और लेखों से हुआ।

स्वामी—यह ठीक-ठीक युक्ति से सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि सुनना कहना और लिखना दो प्रकार से होता है—सच्चा और झूठा। अब यह चमत्कार की बात सच्ची है, इसका क्या प्रमाण है? जैसे कार्य को देख के कारण की पहचान होती है, अर्थात् नदी के प्रवाह को देखकर विदित होता है कि ऊपर वर्षा हुई है; इसी प्रकार चमत्कार हुआ, इसकी सिद्धि में इस समय क्या युक्ति है? कदाचित् वह झूठा ही लिखा कहा अथवा सुना हो, क्योंकि जैसे अब कोई स्वार्थी मनुष्य झूठी बातों से बहका सुना कर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है (वैसे ही यह भी हो) जैसे इस समय में भी दो चार चमत्कारिक अवतार हुये हैं। आगरे में शिवदयाल और रामसिंह कूका, जो काले पानी चले गये हैं। एक अकलकोट का स्वामी

दक्षिण में विद्यमान है, और एक देव मामलादार ने सात दिन वैकुंठ में रहकर फिर आकर सुनाया कि मैं नारायण से बात करके आया हूँ, और जो-जो आज्ञा हुई वह तुमको सुनाता हूं। अब लाखों मनुष्य उनके चरणों में इतना नमस्कार करते हैं कि उसका पैर सूज गया है। जैसे यह बात अब झूठ इन्द्रजालवत् है, ऐसी पहले भी होगी। अब इस समय इतने मनुष्यों के बीच में कोई चमत्कार दिखाने वाला विद्यमान हो तो दिखलाइये, और जो अब नहीं तो पहले भी नहीं था, और आगे भी नहीं होवेगा। क्योंकि कार्य को देखे विना कारण की सिद्धि नहीं होती अथवा कारण के देखे विना कार्य की।

मौलवी—जब यह सिद्ध हो चुका कि चमत्कार पवित्र ईश्वर का एक कर्म है, यद्यपि मनुष्य की अपेक्षा से वह असम्भव होता है, तथापि परमात्मा की अपेक्षा से वह असम्भव नहीं, क्योंकि यदि खुदा की अपेक्षा से वह असम्भव हो जाये तो उड़ना पक्षी का कभी न पाया जाये। इसके अतिरिक्त स्वभाव के विरुद्ध समस्त कर्म यद्यपि मनुष्य की अपेक्षा से असम्भव दिखाई देते हैं, परन्तु परमात्मा की अपेक्षा से असम्भव नहीं है। जब खुदा एक के बारे में वह अवसर उत्पन्न करता है, तो दूसरे शरीर के बारे में भी उत्पन्न कर सकता है। इसका अस्वीकार करना मानो परमात्मा की शक्ति का अस्वीकार करना है। यदि समाचार प्रत्येक चीज का झूठ हो तो हमको चाहिए कि कलकत्ता, लंदन अथवा कोई नगर—जिसको हमने अपनी आंखों से नहीं देखा है—उसका विश्वास न करें। इसलिए सिद्धि चमत्कार की इसी प्रकार से है, जिस प्रकार आप वेद को सिद्ध करते हैं, अर्थात् जिससे आप यह कह सकते हैं कि वेद वही पुस्तक है जो ईश्वर की ओर से आई थी, अथवा उस पर कोई मुहर खुदा की लगी हुई नहीं है, जिससे कहा जावे कि यह वेद वही पुस्तक है। वेद सिद्धि में जो युक्तियां आप देंगे, वही चमत्कार के विषय में भी होंगी।

स्वामी—मैंने यह पूछा था कि ईश्वर ने अमुक-अमुक व्यक्ति के द्वारा चमत्कार दिखाये—इसका क्या प्रमाण है? चमत्कार परमेश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता, इसका दृष्टान्त सब सृष्टि का रचना, धारण करना, प्रलय करना आदि है। वह न्याय, दया तथा अनन्त विद्या वाला है—कभी अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता। इसका उदाहरण समस्त सृष्टि है। जैसे इस समय मनुष्य का पुत्र मनुष्य ही होता है, पशु नहीं होता। इसी प्रकार परमेश्वर के काम में कभी भूल नहीं रहती। इसीलिए परमेश्वर की शक्ति मानना चमत्कार पर अवलम्बित नहीं। और जो कोई चमत्कार मानता है, वह वर्त्तमान समय में किसी चमत्कार दिखाने वाले का उदाहरण दे और परमेश्वर की शक्ति की भी कुछ न कुछ सीमा है, जैसे ईश्वर मर नहीं सकता, अज्ञानी नहीं हो सकता, बुरा काम नहीं कर सकता, क्योंकि वह न्यायकारी और अविनाशी है। यह उदाहरण चमत्कार पर लागू नहीं हो सकता, क्योंकि कोई कहे कि बम्बई नहीं, तो वह बराबर बम्बई को दिखा सकता है। ऐसे ही जो वह उदाहरण सच्चा हो तो बम्बई के समान चमत्कार को भी दिखा दे।

वेद का ईश्वरकृत होना असम्भव नहीं, क्योंकि वह अन्तर्यामी और पूर्ण विद्वान् दयालु और न्यायकारी है। वह बराबर जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से अपना प्रकाश कर सकता है, जैसे इस समय भी बराबर अन्यायकारी की आत्मा में भय और लज्जा और न्यायकारी की आत्मा में हर्ष तथा उत्साह का प्रकाश करता है। इसलिए वेद का उदाहरण चमत्कार से सम्बन्धित नहीं। और मेरा अभिप्राय इस विषय के बारे में कि यह पुस्तक ईश्वरकृत है—यह है कि जैसा ईश्वर का स्वभाव, जैसा सृष्टि का क्रम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, और अनन्त विद्या का प्रकाश निर्दोषता आदि है, ईश्वर की रचना सिद्ध करने में सब मुहरें हैं। और जो आप कहें कि और प्रकार की मुहर चाहिए तो पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और मनुष्य पर ईश्वरकृत होने की मुहर क्या है? जब मुहर से ईश्वर की रचना सिद्ध करनी है, तो कहीं मुहर दिखाई नहीं देती। ईश्वर का स्वभाव क्या है? जो ईश्वर मनुष्य के स्वभाव से उल्टा करा सकता है, तो किसी मनुष्य को पांव से खिलाया और पिलाया है, और मुख से पांव का काम लिया है या लिवाया है? मुझको ऐसा विदित होता है कि सब सम्प्रदाय वालों ने यह चमत्कार तथा भविष्यवाणी जैसे कि रसायन आदि का लोभ दिखा के बहुत लोगों को फंसाया है। परमेश्वर कृपा करे, सबके आत्मा में विद्या का प्रकाश हो कि मनुष्य ऐसे जाल-फन्दों से छूट कर सत्य को मानें और झूठ से अलग रहें।

मौलवी—हम पहले कह चुके हैं कि चमत्कार का कार्य मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध कराना असम्भव बात नहीं है, जिससे कहा जावे कि परमात्मा की शक्ति से बाहर है। यदि किसी को सन्देह हो तो मक्का नगर

अथवा स्याम देश में जाकर उन चालीस मनुष्यों को देख ले कि जो चमत्कार के दिखाने वाले हैं। वेद के अतिरिक्त ऐसी बहुत सी पुस्तकें हैं, जिनको कह सकते हैं कि मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध हैं। जैसे शिक्षा के विषय में 'गुलिस्तां'[१] और 'बोस्तां' इत्यादि। किन्तु यह कहना कि इसमें सब विद्यायें हैं—यह दावा युक्तिशून्य है, क्योंकि इसमें इल्मे इजतराब (उद्विजन-विद्या) कहां हैं? अनोखी बातों का ज्ञान और निर्मित पदार्थों के ईश्वरकृत होने का प्रमाण यह है कि वह निर्माण किये हुए हैं, और यह निर्माण ही मानो खुदा की मुहर है। यह पुस्तक तौरेत के काल से निस्सन्देह पहले की है। इसमें वह समाचार है जो आज के दिन प्राप्त होता है। पुस्तक दानियाल अध्याय ११ पाठ १० से १९ तक भी प्रमाण है कि वह भविष्यवाणी सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखी गई थी, अब पूरी हुई। दूसरे कुरान शरीफ के बारे में मुसलमानों का तेरह सौ वर्ष से सारे सम्प्रदायों के विरुद्ध यह दावा है कि इस कुरान शरीफ के समान एक पंक्ति भी बना कर कोई मनुष्य दिखावे। जैसा कि—

''फातू बिसूरतिम् मिम्मिस्लिहि''

तो इसकी सी एक सूरत ले आओ। अब तक किसी से बना नहीं, न बनेगा। यदि पंडित साहब को यह चमत्कार स्वीकार नहीं तो इसके समान एक पंक्ति बनाकर दिखायें। चमत्कार का प्रदर्शन मानों हमने इस सभा में कर दिया। अब हम पवित्र परमात्मा से यह प्रार्थना करते हैं कि वह समस्त सृष्टि को दृढ़ मार्ग पर लावे, और उनकी दृष्टि से पक्षपात को दूर करें।

पुनर्जन्म के विषय में प्रश्नोत्तर

मौलवी—वर्त्तमान आकार के विना सत्ता का होना सम्भव नहीं। जब आकार की सत्ता विनाशी है, तो अवश्य प्रकृति भी नाशवान् होनी चाहिये, क्योंकि प्रकृति को सत्ता आकार के द्वारा प्राप्त हुई। द्रव्य की अपेक्षा द्रव्य का कारण प्रधान होता तो पुनर्जन्म मानने वालों के लिये जगत् का विनाशी मानना आवश्यक हो जाता है, परन्तु उन्होंने ऐसा माना था कि वह सनातन है।

१. गुस्लितां और बोस्तां शेखसादी द्वारा रचित फारसी भाषा की दो प्रख्यात पुस्तकें हैं।

स्वामी—आकृति दो प्रकार की होती है—एक ज्ञान से ग्रहण होती है, और एक चक्षु आदि इन्द्रियों से। कारण में ही आकृति की स्थिति है, परन्तु वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होती। क्योंकि जो सूक्ष्म वस्तु होती है, जब वह स्वयं ही नहीं दिखाई देती, तो उसका आकार क्या दिखाई देगा? और जो कारण में आकृति न हो तो कार्य में नहीं आ सकती, क्योंकि जो कारण के गुण हैं, वही कार्य में आते हैं। जैसे एक तिल के दाने में तैल होता है, वह करोड़ों दानों में भी बराबर होता है। लोहे के एक अणु में तैल नहीं होता, तो वह मन भर में भी नहीं होता। जो वस्तु नित्य है उसके गुण भी नित्य हैं। कारण का होना न होना नहीं कहा जाता—वह तो सनातन है। और जो वस्तु सनातन है उसकी आकृति भी कारणावस्था में सनातन है। आकृति विना द्रव्य के पृथक् नहीं रह सकती। वह आकृति उसी द्रव्य की है, इससे सिद्ध है कि कारण सनातन है।

मौलवी—यह नहीं कि जो चीज सिवाय किसी चीज के न पाई जाये, तो वह उसका रूप ही हो। उदाहरणार्थ जैसे चेष्टा हाथ और चाबी की। चेष्टा चाबी की विना हाथ की चेष्टा के नहीं पाई जाती, प्रत्युत जब चेष्टा चाबी की होगी तो चेष्टा हाथ की होगी, और जब चेष्टा हाथ की होगी तो चेष्टा चाबी की होगी, अर्थात् इन दोनों चेष्टाओं में कोई काल किसी का किसी से पहले या पीछे नहीं निकलता। और निस्सन्देह उत्कृष्ट बुद्धि जानती है कि कुंजी की चेष्टा विना हाथ के नहीं, अर्थात् चेष्टा कुंजी की हाथ की चेष्टा पर निर्भर है, यद्यपि वर्तमान समय में इकट्ठी है। ऐसे ही प्रकृति और उसका रूप हे। यद्यपि काल में एकता है, परन्तु बुद्धि इस बात को जानती है कि प्रकृति के आकार की अपेक्षा प्रकृति सनातन है। क्योंकि गुणी और माननेवाला गुण और माने हुये की अपेक्षा सनातन होता है। प्रकृति की सत्ता अर्थात् उसका अनुभव होना और दिखाई देना किसी चीज के लगने से होता है। या तो आकृति के लगने से होता या किसी और चीज के लगने से। प्रत्येक अवस्था में वह पदार्थ जिसके लगने से वह आकृति संसार में इस प्रकार स्थित हुई कि अनुभव हो और दिखाई दे, वह किसी ऐसे कारण से हुई जो पीछे से आकर प्रकृति को लगा।

और जो उत्तर में यह लिखा गया कि कारण का होना अथवा न होना नहीं कहा जाता, तो यह चीज अद्‌भुत है जिसका उपादान कारण में होना या न होना नहीं कह सकते। वह वस्तु जिसका उपादान कारण ऐसा हो,

उसका होना किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् वर्त्तमान वस्तु अभाव से नहीं बन सकती। और यदि उसके सनातन होने से कोई मनुष्य यह कहे कि वह विद्यमान भी होगा, तो यह गलत है,इसलिए कि अभाव से भाव का होना। उदारणार्थ जैसे कोई कहे कि ''जैद'' के तत्वों को एक विशेष आकार प्राप्त हुआ है, जिसके कारण उसका ''जैद'' नाम रखा गया, तो वह विशेष आकार इस आकार से पहले कभी विद्यमान न था, इसलिये उसको अर्थात् उसके अभाव को सनातन कहा जावेगा। रूप के जो दो प्रकार कहे—एक वह कि जिसको आकृति कहते हैं, और एक उसके अतिरिक्त, इससे विदित हुआ कि आकार प्रकृति रहित है।

स्वामी—स्वाभाविक गुण रूप आदि वस्तु के पीछे कभी नहीं होते, और जो पीछे हो उसको स्वाभाविक नहीं कहते। जैसे लड़के का होना और अग्नि के परमाणुओं का स्वाभाविक अतीन्द्रिय रूप अर्थात् आंख से अनुभव न होना स्वाभाविक सब काल उसके साथ है। निमित्त कारण से संयोग पर परमाणुओं का संयोग करने से स्थूल कार्य होने से उसका इन्द्रिय-ग्राह्य रूप प्रकट होता है। जैसे जल के परमाणु आकाश में उड़कर ठहरते हैं, और जब तक बादल नहीं बनते तब तक नहीं दीख पड़ते।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि वह प्रकृति नहीं है या प्रकृति का स्वाभाविक गुण नहीं है। उदाहरणार्थ जैसे लड़के का न होना। जैसा कार्य में यह होना या न होना गुण है, वैसा कारण में नहीं है। जो कारण और कारण के स्वाभाविक गुण हैं वह अनादि हैं। कार्य वह है कि जो संयोग से हो, और वियोग से पीछे न रहे। वह जो एक संयोगजन्य आकृति है, वह कार्य की आकृति कहलाती है। उसका प्रवाह से अनादिपन है, स्वरूप से नहीं। और ईश्वर जो कि सर्वज्ञ है उसका निमित्त कारण अर्थात् बनाने वाला है। उसके ज्ञान में सदा है और रहेगा। (अन्तिम वाक्य का उत्तर ऊपर आ गया)।

मौलवी—पदोत्कर्ष अर्थात् पहले होना दो प्रकार का होता है—एक निजी और एक सामयिक। निजी जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि चेष्टा हाथ की और चाबी की, और ऐसा ही उत्कर्ष गुणी का अपने समवायी गुणों पर उदाहरणार्थ उत्कर्ष पानी का अपने बहने पर। उत्कृष्ट बुद्धि जानती है कि बहने की स्थिति पानी के साथ है। इस उत्कर्ष को निजी उत्कर्ष कहा जावेगा। कहने का अभिप्राय यह कि उत्कर्ष गुणी का

उन गुणों पर जो उसके अपने गुण हैं, निजी उत्कर्ष कहलाता है। क्योंकि गुणी अपने गुणों से अवश्य उत्कृष्ट होता है। और सन्देह तब उत्पन्न होते हैं, जब उत्कर्ष सामयिक हो। दूसरा सामयिक उत्कर्ष वह है—जैसा कि बाप का अपने बेटे पर होता है। गुणी का गुणों से रिक्त होना तब आवश्यक होता है जब उत्कर्ष सामयिक हो। तात्पर्य यह है कि अपने आकार पर जो उत्कर्ष प्रकृति का है वह निजी उत्कर्ष है, क्योंकि गुणी गुणों से उत्कृष्ट होना चाहिये।

स्वामी—द्रव्य उसको कहते हैं कि जिसमें गुण, क्रिया, संयोग, वियोग होने का स्वभाव पाया जावे, परन्तु जो द्रव्य परिच्छिन्न अर्थात् पृथक्-पृथक् हैं, उनका यह लक्षण है। जो विभु व्यापक द्रव्य है वह संयोग वियोग के स्वभाव से पृथक् होता है। किसी व्यापक में गुण ही प्रधान होते हैं, क्रिया नहीं। जैसे कि परमेश्वर उसमें संयोग वियोग नहीं होता परन्तु क्रिया और गुण हैं, और आकाश, दिशा, काल यह व्यापक हैं परन्तु इनमें क्रिया नहीं, केवल गुण हैं।

मौलवी—यह उत्तर पहले प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। क्योंकि इस उत्तर में निजी और सामयिक भेद नहीं किया गया। ज्ञानस्थ आकृति की अपेक्षा से 'जैद' का विशेष आकार का अभाव अर्थात् उसके नियत शरीर का एक नियत काल से जो सम्बन्ध था, उस शरीर की उत्पत्ति के पूर्व उसका पूर्ण अभाव था। और यह विचार जो प्रकट किया गया कि पूर्ण अभाव उस शरीर विशेष का नहीं है—उसकी आकृति ईश्वर के ज्ञान में विद्यमान है, यह बिल्कुल गलत है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में यह शरीर विशेष तो विद्यमान नहीं, जो तीन हाथ का है। किसी वस्तु के अनादि होने से किसी वस्तु की उत्पत्ति तो सिद्ध नहीं होती। ज्ञानस्थ आकृति के बारे में बात यह है कि ईश्वर का ज्ञान ज्ञानस्थ आकृति के साथ नहीं है, क्योंकि ज्ञानस्थ आकृति वह होती है जो बाहरी वस्तु के देखने से प्राप्त होती है। जब आकार विशेष को अनादि नहीं माना जाता, तो ईश्वर के ज्ञान में वह ज्ञानस्थ आकृति कहां से प्राप्त हुई? यदि कोई वस्तु अनादि थी, तो आपके मन्तव्य के अनुसार प्रकृति अनादि थी, और जिस वस्तु का साधनों द्वारा अनुभव न किया जा सके जैसे कि आप प्रकृति और आकार को मानते हैं कि प्रथम अवस्था में अनुभव के योग्य न था, तो उसका ज्ञान किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

क्योंकि किसी पदार्थ को जानने की विधि यही है कि किसी की चेष्टा के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय में उसका आकार प्राप्त हो, उसी को ज्ञानस्थ आकृति कहा जाता है। और जहां तक जल के परमाणुओं का सूक्ष्म होकर वाष्प बन जाने का प्रश्न है, तो यद्यपि वह दृष्टिगोचर नहीं होता, फिर भी किसी न किसी चेष्टा के द्वारा वह जानने के योग्य है। प्रत्येक अवस्था में जो आकार इस प्रकार का माना गया है कि जिसका ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता, तो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब अनादित्व ही गलत सिद्ध हुआ तो पुनर्जन्म कहां रह गया? यदि यूं कहा जाता है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने का कारण उसके वे कर्म हैं जो प्रथम शरीर में किये थे, तो यह प्रकट है कि कर्म चेष्टा द्वारा होते हैं और चेष्टा काल पर निर्भर है, और काल का आदि अन्त और मध्य इकट्ठा नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त कर्म जो किसी समय के द्वारा किये गये वह नष्ट हो गये। अथवा दूसरे शरीर से सम्बन्ध किसी उत्कर्षक की ओर से न होगा। जब आत्मा का शरीरों से समान सम्बन्ध है, तो विशेष सम्बन्ध होने से उत्कर्षता विना उत्कर्षक के बाधक होगी, इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध से बहुत सी हानियां उत्पन्न होंगी, क्योंकि विशेषतायें जो प्रथम शरीर में प्राप्त की थी वह दूर हो गई। और उदाहरणतया यदि दूसरा सम्बन्ध कुत्ते अथवा गधे से हो तो उस कुत्ते और गधे के शरीर में वह विशेषतायें प्राप्त नहीं कर सकता जो मनुष्य के शरीर में प्राप्त कर सकता था। अब आपको उचित है कि प्रथम विद्याओं के प्राप्त करने की विधि निश्चित कीजिये, फिर उसके पश्चात् सम्बन्ध का कारण निश्चित किया जावे, तब उस पर आक्षेप किया जा सकता है।

स्वामी—दश इन्द्रियों के विषय में मौलवी साहब का कहना ठीक नहीं, जैसा कि जीवात्मा किसी इन्द्रिय से नहीं देखा जाता? परन्तु अस्तित्व उसका है। जो मौलवी साहब ने कहा कि अनादि वस्तु झूठी है—यह किसने कहा है? क्या यह बात आपने अपने दिल से जोड़ ली है? क्योंकि जब मैं लिखवा चुका कि परमेश्वर, जीव और जगत् का कारण यह तीनों सनातन हैं, इससे अनादित्व सिद्ध है। और अभाव से भाव कभी नहीं होता, यदि कोई कहता है तो उसका प्रमाण नहीं है। गधे और कुत्ते के शरीर में मनुष्य का जीव जाने से मौलवी साहब कहते हैं कि बड़ी हानि होती है, क्योंकि सब कमाई की हुई चली जाती है। यदि मौलवी साहब ऐसा मानते हैं, तो मौलवी साहब को कभी सोना न चाहिये, क्योंकि निद्रा में जाग्रत् की कमाई सब भूल जाती है। यदि मौलवी साहब कहें कि फिर जागने से यह ज्ञान आ जाता है, तो कुत्ते गधे के शरीर में भी आ जायेगा। और ज्ञान फिर प्राप्त कर सकता है जैसे कि मनुष्य निद्रा से जाग कर करता है। इसलिये मैं जानता हूं कि मौलवी साहिब के भाषण और मेरे भाषण को बुद्धिमान् लोग स्वयं ही देख लेंगे। और एक जन्म इन बातों से सिद्ध नहीं होता, परन्तु पुनर्जन्म सिद्ध है।

हस्ताक्षर अंग्रेजी

ला० अमीचन्द

हमारे समक्ष जो बातचीत के विषय निश्चित हुये, वह वास्तव में यही थे, जो इस भूमिका में लिखे हैं।

हस्ताक्षर—**मौहम्मद हुसैन महमूद**

२३

सत्यासत्य-विवेक
शास्त्रार्थ-बरेली

ग्रन्थ परिचय

सत्यासत्य विवेक (लिखित)

प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ : पादरी टी.जी. स्काट

स्थान : बरेली, राजकीय पुस्तकालय

समय : संवत् १९३६, भादों सुदी ७-९ (२५-२७ अगस्त, सन् १८७९)

विषय : **पहले दिन**— आवागमन

दूसरे दिन— ईश्वर कभी देह धारण करता है या नहीं?

तीसरे दिन—ईश्वर अपराध क्षमा करता है या नहीं?

पुस्तक का नाम : सत्यासत्य विवेक

प्रकाशन : प्रथम संस्करण

१. आर्यभूषण प्रेस, शाहजहाँपुर (मूल्य चार आना) उर्दू भाषा में, सितम्बर १८७९।

२. श्रीमद्दयानन्द ग्रन्थ संग्रह में, आर्यभाषा में, श्री जगत्कुमार शास्त्री द्वारा।

३. गोविन्दराम हासानन्द द्वारा पृथक् पुस्तक के आकार में।

४. 'दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह।'

५. 'ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन' (संवत् २०३९)।

सत्यासत्य-विवेक-शास्त्रार्थ-बरेली

स्वामी दयानन्दजी का एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ बरेली के पादरी टी०जी०स्काट के साथ भाद्रपद शुक्ला ७,८,९ सं० १९३६ तदनुसार २५,२६,२७ अगस्त सन् १८७९ ई० को हुआ।

प्रथम दिन—आवागमन विषय।

द्वितीय दिन—क्या ईश्वर देह धारण करता है, वा नहीं?

तृतीय दिन—ईश्वर अपराध क्षमा करता है, वा नहीं?

बरेली के लाला लक्ष्मीनारायण खजान्ची शास्त्रार्थ-सभा के सध्यस्थ थे। शास्त्रार्थ लिखित हुआ, तथा तीन लेखकों ने क्रमश: स्वामीजी, पादरी साहब, तथा सभापति की ओर बैठकर सम्पूर्ण शास्त्रार्थ को अक्षरक्ष: लेख-बद्ध किया। इस प्रकार तीन प्रतियां तैयार हुई, एक-एक प्रति स्वामीजी, पादरी महाशय और तथा सभापति के पास रहीं।

पं० लेखरामकृत स्वामीजी के जीवनचरित के अनुसार—''स्वामीजी तथा पादरी महाशय की दस्तखती असली तहरीर की अक्षरश: प्रतिलिपि छपाई जाती है। पाठक अपनी बुद्धि से विचार कर अन्तिम निर्णय निकाल लें''

'सत्यासत्य-विवेक' के विभिन्न संस्करण—यह शास्त्रार्थ असली लिखित प्रति के अनुसार 'सत्यासत्य-विवेक' के नाम से उर्दू में 'आर्यभूषण प्रेस' शाहजहांपुर से प्रकाशित हुआ। इस प्रथम संस्करण का प्रकाशन-काल सितम्बर १८७९ ई० था। द्वितीय वार यह पुस्तक 'आर्यदर्पण प्रेस' शाहजहांपुर से छपी। चतुर्थ और पंचम वार उर्दू जीवन चरित में संगृहीत किया था। वहाँ से लेकर पं० जगत्कुमार शास्त्री ने स्वसम्पादित ''श्रीमद्दयानन्द ग्रन्थ-संग्रह'' में स्थान दिया। गोविन्दराम हासानन्द के द्वारा यह पृथक् पुस्तकाकार भी छपा था। 'सत्यासत्य-विवेक' का विज्ञापन ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य के आश्विन सं० १९३६ के ११ वें अंक में छपा था। विज्ञापन इस प्रकार था—

सत्यासत्य-विवेक (विज्ञापन)

'इस पुस्तक में सविस्तर वृत्तान्त तीनों दिन के शास्त्रार्थ का, कि जो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और पादरी टी०जी०स्काट साहब का राजकीय पुस्तकालय बरेली[१] में, इस प्रकार कि प्रथम दिन अनेक जन्म के विषय में, दूसरे दिन अवतार अर्थात् ईश्वर देह धारण कर सकता है, इस विषय में और तीसरे दिन 'ईश्वर पाप क्षमा करता है वा नहीं, इस विषय में हुआ था। बहुत उत्तम फारसी लिपि और उर्दू भाषा में मुद्रित हुआ था। इस शास्त्रार्थ में प्रत्येक विषय पर उत्तम प्रकार से खण्डन मण्डन हुआ है, कि जिसके देखने से सत्यप्रेमी जनों को सत्य और असत्य प्रकट होता है। जो विद्यार्थी मिशन स्कूलों में पढ़ते हैं और बहुत करके गुमराह होते हैं, उनको यह पुस्तक गुमराही से बचाती है। डाक महसूल सहित।) ॥ मूल्य भेज कर मंगवावें।'

'दयानन्द-दिग्विजयार्क' खण्ड १ मयूख ६ में भी इस शास्त्रार्थ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। श्री पं० लेखराम कृत उर्दू जीवन-चरित में शास्त्रार्थ-बरेली के विषय में निम्न उपयोगी विवरण दिया गया है—

[आरम्भिक निवेदन]

''विदित हो कि यह लिखित शास्त्रार्थ बड़े आनन्द के साथ, जैसा कि प्राय: सुसभ्य, सुयोग्य और विद्वान् पुरुषों में हुआ करता है और जैसा कि वास्तव में होना भी चाहिये, स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी और पादरी टी०जी०स्काट साहेब के मध्य राजकीय पुस्तकालय बरेली में तीन दिन तक ता० २५, २६ और २७ अगस्त सन् १८७९ ई० को लाला लक्ष्मीनारायण साहेब खजांची रईस बरेली की अध्यक्षता में हुआ।''

अन्य नियमों के साथ ही इस शास्त्रार्थ के मुख्य नियम इस प्रकार थे—

''शास्त्रार्थ लिखित होगा। तीन लेखक—एक स्वामीजी की तरफ, दूसरा पादरी साहेब की तरफ, और तीसरा अध्यक्ष महोदय की तरफ बैठकर शास्त्रार्थ के प्रत्येक शब्द को सावधानी के साथ ज्यों का त्यों लिखते जायेंगे। जिस समय एक विद्वान् निश्चित समय के अन्दर कथन

१. यह स्थान कुतुबख़ाना के नाम से आज भी जाना जाता है।

समाप्त कर चुके, तो उसका लिखा हुआ वक्तव्य सभा में उपस्थित पुरुषों को सुना दिया जावे, और तीनों प्रतियों पर उसके हस्ताक्षर कराये जावें। और जब शास्त्रार्थ समाप्त हो, तो उस पर अध्यक्ष महोदय के हस्ताक्षर भी कराये जावें। इन तीन प्रतियों में से एक स्वामीजी के पास, दूसरी पादरी साहेब के पास, और तीसरी अध्यक्ष महोदय के पास प्रमाण स्वरूप रहे, जिससे कि बाद में भी उन में किसी प्रकार की घटा-बढ़ी न हो सके।''

इसके बाद फिर प्रार्थना के रूप में लेख है—

''हम इस शास्त्रार्थ को अक्षरशः मूल के, कि जिस पर स्वामीजी और पादरी साहेब के हस्ताक्षर हैं, अनुसार करके और स्वामीजी के आदेशानुसार तैयार करके, इसको छापेखाने में छपवाते हैं। इसमें किसी अक्षर का भी परिवर्तन नहीं किया है। इसको शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिये यहां तक सावधानता रखी गई है कि जहां जिस विद्वान् के हस्ताक्षर थे, वहां हस्ताक्षर का शब्द लिखकर उसी का नाम लिख दिया है। पाठक दोनों विद्वानों के लेखों अथवा वक्तव्यों को सत्यासत्य-विवेचक दृष्टि से देखें, और किसी प्रकार के पक्षपात को पास न आने दें, जिससे कि सत्य और असत्य का प्रकाश भली प्रकार हो जावे। कुछ सज्जनों का कथन है कि इन शास्त्रार्थों के अन्त में निर्णय भी निकाल देना चाहिए। परन्तु हमने अपनी सम्मति प्रकाशित करना उचित नहीं समझा। निर्णय करने का काम पाठकों की सत्यता-प्रेमी बुद्धि पर ही छोड़ा जाता है।''

इस भूमिका और प्रार्थना आदि की शब्द रचना से ज्ञात होता है कि यह लेख श्री लाला लक्ष्मीनारायणजी, जो कि अध्यक्ष थे, की ओर से ही है और उन्होंने ही इस विवरण को सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। इस पुस्तक के विषय में धर्मवीर श्री लेखरामजी आर्य मुसाफिर कृत महर्षि उर्दू जीवन-चरित में पृष्ठ ७९८ (हिन्दी संस्करण पृष्ठ ८२८) पर लिखा है—

''बड़ी सावधानी के साथ प्रथमवार मास सितम्बर सन् १८८७ ई० में 'आर्य भूषण यन्त्रालय' शाहजहांपुर में मुद्रित हुआ और दोबारा 'आर्य दर्पण प्रेस' शाहजहांपुर में, और चौथी और पांचवीं बार उर्दू व हिन्दी में लाहौर में मुद्रित हुआ है।''

॥ ओ३म् ॥

शास्त्रार्थ-बरेली

(सत्यासत्यविवेक)

ता० २५ अगस्त, सन् १८७९ ई०

विषय—पुनर्जन्म

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

जीव, जीव के स्वाभाविक गुण कर्म और स्वभाव अनादि हैं। और परमेश्वर के न्याय करना आदि गुण भी अनादि हैं। जो कोई ऐसा मानता है कि जीव की, और उसके गुण आदि की उत्पत्ति होती है, उसको उसका नाश मानना भी अवश्य होगा। और तिस के कारण आदि का भी निश्चय करना और कराना होगा। क्योंकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। जो-जो जीव के पाप और पुण्य आदि कर्म प्रवाह से अनादि चले आते हैं, उनका ठीक-ठीक फल पहुँचाना ईश्वर का काम है। और जीवों का विना स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर के सुख-दु:ख का भोग करना असम्भव है। जब यह बात हुई, तब वारम्वार शरीर का धारण करना भी जीव को अवश्य है। क्योंकि क्रियमाण कर्म नये-नये करता जाता है। उनका संचित और प्रारब्ध भी नया-नया होता चला जाता है। जब इस सृष्टि में विद्या की आंख से मनुष्य देखे, तो सृष्टिक्रम और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक सिद्ध होता है, कि देखो जो आज सोमवार है, वही फिर भी आता है। महीना, रात, दिन आदि भी पुन: पुन: आते हैं। और गेहूँ का बीज बोने से फिर वही गेहूँ आता है।

—हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

इस आवागमन के विषय में केवल सत्य के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। हार-जीत की इसमें कोई बात नहीं है। यह सिद्धान्त पुराना तो है, परन्तु संसार में से मिटा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जितने जीवात्मा हैं, वे सदैव जन्म लेते रहते हैं। कभी मनुष्य की योनि में, कभी

बैल की योनि में, कभी बन्दर की और कभी कीड़े मकोड़े की योनि में उत्पन्न होते हैं परन्तु यह ऐसा सिद्धान्त है कि सुशिक्षित और उन्नत जातियां इसको छोड़ती जाती हैं। प्राचीन मिस्री लोगों ने पहिले इसे माना हुआ था, फिर छोड़ दिया। इसी प्रकार यूनानियों ने और रूमियों ने और अंग्रेजों ने भी छोड़ दिया। हमारे पुराने द्रविड़ लोग भी, जो कि हमारे गुरु थे, यही सिखलाते थे। और हम लोग सब के सब मानते थे। परन्तु रोशनी के फैलने से और विद्या प्राप्त करने से, इस पुराने और निराधार सिद्धान्त को छोड़ दिया। सो हमारा सवाल पण्डित जी से यह है कि इस सिद्धान्त को मानने के लिये कौन सी युक्तियाँ हैं? जब कोई विशेष प्रमाण दिया जायेगा तो हम उस का खण्डन करने के लिये आक्षेप करेंगे। फिर भी दो चार प्रश्न यहां पर हैं—

ईश्वर की आत्मा के अतिरिक्त और आत्मायें भी अनादि काल से अर्थात् अजल से हैं कि नहीं?

इस जन्म लेने से कभी छुटकारा मिलेगा, या नहीं?

आपका यह कथन है कि सब दु:ख जो संसार में होते हैं, दण्ड देने के लिये ही हैं, सो पुनर्जन्म केवल दण्ड के लिये है, या इस का कोई और कारण है?

यह भी एक प्रश्न है कि परमेश्वर हर समय सगुण है, या कभी निर्गुण भी होता है?

यह जन्म लेना उसी की खास कुदरत से हर समय होता रहता है, या किसी कुदरती कानून से होता है, जैसे कि बीज का उगना, फल का पकना, पानी का बरसना। इत्यादि।

—हस्ताक्षर टी०जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

तीन पदार्थ अनादि हैं। एक ईश्वर, एक कारण और सब जीव। जीव जन्म से कभी छुटकारा न पायेंगे। पुनर्जन्म दण्ड और पुरस्कार दोनों के लिये है। परमेश्वर सगुण भी है और निर्गुण भी और यह सदैव रहता है। कुदरती नियम उस का यही है कि जैसा जिसने पाप वा पुण्य किया है, उसको वैसा ही अपने सत्य न्याय से फल देता है। अब पादरी साहेब ने जो कहा था कि पुनर्जन्म का प्राचीन सिद्धान्त हमारे बीच में भी था। इससे

सिद्ध हुआ कि सब देशों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रचलित था। और जो यह कहा कि जो जातियां सुधरती जाती हैं, वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं—अब, इस पर एक सवाल है कि प्राचीन सभी बातें झूठी हैं, या उनमें से कुछ सत्य भी हैं, और नये सिद्धान्त सभी सत्य हैं, अथवा उनमें कुछ मिथ्या भी हैं। यदि पादरी साहेब कहें कि प्राचीन बातें और सिद्धान्त अब मानने के योग्य नहीं है। तब तो तौरेत और जबूर इत्यादि ग्रन्थ और बाइबिल वा इंजील की शिक्षायें आजकल की अपेक्षा से बहुत पुरानी हैं। वे भी अब न माननी चाहियें। यह कोई मानने योग्य प्रमाण की बात नहीं है कि पहिले मानते थे और अब नहीं मानते, इसलिये सच्ची या झूठी हैं। वा पहिले नहीं मानते थे, अब मानते हैं, इसलिये झूठी वा सच्ची हैं।

अब, पादरी साहेब ने कहा कि कुछ प्रमाण दें, तो हम उस पर आक्षेप करें। प्रमाण के लिये मैंने पहिले ही लिख दिया है, कि इस जीव के कर्म इत्यादि अनादि हैं। और, ईश्वर का न्याय करना इत्यादि भी अनादि हैं। जो कर्म का सिद्धान्त न माना जाये, तो सृष्टि में बुद्धिमान्, निर्बुद्धि और दरिद्र, राजा और कंगाल की अवस्था ईश्वर किस प्रकार कर सकें। क्योंकि इसमें तरफदारी आती है। और, पक्षपात से उसका न्याय ही नष्ट हो जाता है। जब कर्म के फल हैं, तो परमेश्वर पूर्ण न्यायकारी बनता है, अन्यथा नहीं। और ईश्वर अन्याय कभी नहीं करता।

—हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

पादरी स्काट साहेब

पण्डित जी के कहने से तमाम जीव अनादि हैं। अर्थात् अजल से हैं। तो इस हिसाब से हमारी और ईश्वर की अनादिता में कोई भेद नहीं। अर्थात् दो वस्तुएं अनादि काल से हैं। एक प्रकार से दो ईश्वर हुए। मेरा प्रश्न यह है कि ऐसा मानना—तौरेत, जबूर और इंजील के सर्वथा विरुद्ध है। मैं पूछता हूं कि कौनसा सिद्धान्त अधिक सन्तोषजनक है। अर्थात् एक यह कि हमारे जीवात्मा सदैव आवागमन के चक्कर में भागते फिरते रहेंगे और कभी बैल के शरीर में जायेंगे और कभी बन्दर के। कभी कीड़े मकोड़े के और कभी किसी अच्छे शरीर में। इस अनादिकाल से चल रहे चक्कर में अधिक सन्तोष है कि तौरेत, जबूर और इंजील के सिद्धान्त में कि अन्ततोगत्वा जो लोग नेकी करते और नेक बनते हैं, वे एक ऐसे सुखपूर्ण

स्थान में पहुँचेंगे कि उन्हें फिर कभी भी जन्म न लेना होगा। न ही उन्हें किसी प्रकार का कष्ट होगा। विचार कीजिये कि किस ग्रन्थ की शिक्षा अधिक सन्तोषजनक है। इसके अतिरिक्त ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार का कैसे हो सकता है? अर्थात् वह विशेषणों वाला भी है और विशेषणों से रहित भी है वह कौनसी वस्तु है कि जो विशेषणों से रहित है? बताइये—यदि उसमें न्याय करने का गुण न हो, तो न्याय क्योंकर करे, और पुनर्जन्म के रूप में लोगों को दण्ड किस प्रकार देवे? ऐसे ही निराधार विचारों पर आधारित होने के कारण सुशिक्षित जातियां इस सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं। इसके अतिरिक्त यदि यह पुनर्जन्म दण्डस्वरूप है, तो इसमें दण्ड क्या हुआ? उदाहरण के लिये जब बन्दर यह जानता ही नहीं कि मैंने क्या अपराध किया है। या कोई पादरी साहेब, या पण्डित साहेब अत्यन्त तुच्छ कीड़े के शरीर में उत्पन्न हुआ, तो उनको दण्ड कैसा हुआ। वे तो जानते ही नहीं कि हमने क्या-क्या अपराध किये हैं? क्या कभी किसी को याद आया है, या आता है कि मैं अमुक काल में बन्दर था, अथवा मैं किसी समय गीदड़ था। और, जब कुछ दुनिया में किसी को भी याद नहीं है तो फिर ऐसे पुनर्जन्म में किसी के लिये क्या दण्ड की बात रह जाती है। हम तो यह मानते हैं कि दु:ख कभी-कभी दण्ड स्वरूप होता है, और कभी नहीं भी।

—हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती

दोनों अनादि होने से बराबर नहीं होते, जब तक कि उनके सब गुण बराबर न हों। परमेश्वर अनन्त है और जीव सान्त। परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ। परमेश्वर सदा पवित्र और मुक्त तथा जीव कभी पवित्र, कभी बन्ध और कभी मुक्त। इसलिये दोनों बराबर नहीं हो सकते।

तौरेत, जबूर और इंजील के विरुद्ध होने से ही कोई बात सच्ची और झूठी नहीं हो सकती। क्योंकि तौरेत आदि में भ्रम से सच को झूठ और झूठ को सच बहुत जगह लिखा है। सच्ची तो उस किताब की बात हो सकती है कि जिस में आरम्भ से अन्त तक एक भी बात झूठ न हो। ऐसी किताब वेदों के अतिरिक्त भूगोल में ईश्वरकृत और कोई नहीं। क्योंकि ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव से अनुकूल वेद ही पुस्तक है, दूसरी नहीं। सिवाय वेद के उपदेश के किसी भी किताब में ठीक-ठीक

सब बातों का निश्चय नहीं नजर आता है। इसलिये सबसे उत्तम वेद की ही शिक्षा है, दूसरे की नहीं।

परमेश्वर अपने गुणों से सगुण है अर्थात् सर्वज्ञ आदि गुणों से, और निर्गुण—कारण के जड़ आदि गुण तथा जीव के अज्ञान, जन्म-मरण, भ्रम आदि गुणों से रहित होने से परमात्मा निर्गुण है। इस लिये यह निश्चय जानना चाहिये कि कोई पदार्थ भी इस रीति से सगुणता और निर्गुणता से रहित नहीं है।

जब जीव का पाप अधिक और पुण्य कम होता है, तब उसे बन्दर आदि का शरीर धारण करना पड़ता है। और, जब पाप-पुण्य बराबर होते हैं, तब [सामान्य] मनुष्य का। और, जब पाप कम और पुण्य अधिक होता है, तब विद्वान् इत्यादि का।

—हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

पादरी स्काट साहेब

सब पुराने सिद्धान्त मिथ्या नहीं हैं। और, न ही सब नये सिद्धान्त सत्य हैं। परन्तु जब सुशिक्षित जातियां भली प्रकार विचार विमर्श करके किसी सिद्धान्त को मिथ्या उद्घोषित करती हैं, तो यह दृढ़ प्रमाण है कि वह सिद्धान्त मिथ्या है। और एक ही बार के जन्म लेने के विषय में सोच लीजिये।

तौरेत नई नहीं है। यह भी बहुत पुरानी है। तौरेत किसी प्रकार भी वेद से नई नहीं है उसमें पुनर्जन्म का कुछ भी उल्लेख नहीं है। तौरेत और इंजील सत्य हैं वा मिथ्या यह आज का विषय नहीं है। इस विषय को व्यर्थ ही खण्डित करना कि ये मिथ्या नहीं, अथवा वेद के विषय में, कुछ नहीं कहना है। क्योंकि यह भी आज का विषय नहीं। परन्तु इस बात पर ध्यान दीजिये कि सुशिक्षित और उन्नत जातियां तौरेत और इंजील की शिक्षाओं पर दृढ़ रहती हैं। इसके प्रतिकूल हिन्दू लोग ज्यों-ज्यों उन्नत और सुशिक्षित होते जाते हैं वेद को छोड़ते जाते हैं। आवश्यकता हो, तो मैं सैकड़ों प्रमाण दे सकता हूं। और यह कहना कि कर्म अनादि काल से है, इसलिये पुनर्जन्म होता है। तब तो परमेश्वर को भी जन्म लेना चाहिये। और यदि कोई कहे कि उसके सब कर्म अच्छे हैं, तो क्या कठिन है कि उस की दया और कृपा से हम लोग भी ऐसे दृढ़ और उत्तम हो जावें कि हमें बन्दर या गीदड़ बनना न पड़े। जैसा कि हमारे पवित्र धर्मग्रन्थ में लिखा है—''एक बार मनुष्य के लिये मरना है। बाद इसके न्याय।''

निर्गुण और सगुण के विषय में स्वामीजी के अर्थ को मैं नहीं मानता। निर्गुण का यह अर्थ नहीं है कि कोई गुण न हो। जब उसमें गुण नहीं है, तब तो वह सगुण भी नहीं हो सकता। फिर इस समय जन्म-मरण का प्रबन्ध कौन करता है? अब फिर मैं पूछता हूं कि यदि दण्ड-भोग के लिये जन्म लेता है, तो यह चाहिये कि दण्ड भोगने वाला यह जाने कि मुझे दण्ड क्यों भोगना पड़ा है। अन्यथा दण्ड भोग की सब बात ही व्यर्थ हो जाती है। मैं फिर पूछता हूं कि किसी को याद क्यों नहीं रहता? कि तुम बन्दर या गीदड़ पिछले जन्म में थे।

—हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पहले प्रश्न के विषय में उत्तर—जीव अल्पज्ञ है, इसलिये पूर्व जन्म की बात को याद नहीं रख सकता। पादरी साहब को विचार करना चाहिये कि ऐसी बात क्यों पूछते हैं। क्योंकि इसी जन्म में जन्म के पांच वर्ष तक की बातें भी क्यों नहीं याद रहती? और सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में जब सो जाता है, तब जागरित अवस्था की बात एक भी याद नहीं रहती। और कार्य-कारण के अनुमान से अर्थात् कार्य का निश्चय कर लिया। सब विद्वान् लोग मानते हैं कि जब पाप पुण्य का फल दुःख सुख, नीच-ऊंच जगत् में दीखता है, तो कारण जो पूर्वजन्म का कर्म है, सो क्यों नहीं? पुरानी और नई शिक्षा वा सिद्धान्त की बात दृष्टान्त के लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि वह सर्वथा सत्य नहीं। और जिनको आप सुशिक्षित कहते हैं, उन जातियों में से कोई मनुष्य अर्थात् दार्शनिक वा विचारक बन्दर से मनुष्य का होना मानता है। यह सर्वथा मिथ्या है।

ये वेद की ही बातें हैं कि वेदी का बनाना। इब्राहीम को ईश्वर ने कहा कि इससे मैं प्रसन्न होता हूँ। तुम यज्ञ किया करो। इत्यादि वेदों की बातें बाईबिल में मौजूद हैं। और ईसा ने साक्षी दी है कि इसका एक बिन्दु भी झूठ नहीं है।

इसलिये और भी एक प्रमाण देता हूँ कि आज कल मोक्षमूलर अपने ग्रन्थों में लिखते हैं कि ऋग्वेद से पहिले की कोई भी पुस्तक संसार में नहीं है। अब मैं सैकड़ों साक्षियाँ दे सकता हूँ कि बाइबिल इन इण्डिया

के बनाने वाले इत्यादि और आजकल के सैकड़ों विचारकों की वाणी से मैंने सुना है कि बाइबिल वा इंजील को नहीं मानते। और कर्नल अल्काट इत्यादि ने भी बाइबिल की शिक्षा को सर्वथा त्याग दिया है। और हमारे आर्य लोग—एफ० ए०, बी० ए०, एल० डी०, लाखों लोग बाइबिल को सर्वथा नहीं मानते और वे सभी सुशिक्षित हैं। अस्तु; पादरी साहब का यह कथन पर्याप्त नहीं है। परमेश्वर का पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि वह अनन्त और सर्वव्यापक है। वह शरीर में नहीं आ सकता। वह तो नित्य मुक्त है। बन्धन का काम कभी नहीं करता।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी स्काट साहेब

पण्डित जी का पक्ष, बालक के उदाहरण से कि वह किसी बात को याद नहीं रखता, जो कि बचपन में हुई हो, मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिये कि बच्चे कुछ न कुछ तो याद रख ही लेते हैं। और फिर यह भी प्रश्न होता है कि जब हमारे आत्मा अनादि काल से हैं, तब तो हम भी बच्चे की अपेक्षा से कुछ बढ़ गये हैं। हमें कुछ न कुछ तो वृत्तान्त ज्ञात होने ही चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस युक्ति पर विचार कीजिये।

यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि हम अनादिकाल से चले आ रहे हैं। और, जन्म ग्रहण करके यदि सब बातें भूल गये हैं, तब तो जन्म धारण करने का दण्ड ग्रहण करने का भी कुछ अर्थ न निकला। और नींद का जो वर्णन किया गया, सो इस उत्तर से सिद्ध होता है कि नींद की बात भी याद रहती है। कतिपय तो नींद के समय बड़े उत्तमोत्तम विचार प्रकट करते हैं। यहाँ पर मैं एक पुष्ट प्रश्न और करना चाहता हूँ। वह यह कि इस शिक्षा से संसार में पाप को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। क्योंकि लोग कहते हैं कि जो चाहें सो करें, भोगेंगे तो फिर कभी किसी अन्य योनि में ही। अच्छा जन्म भी कभी होगा। यह भी कहते हैं कि यह परम्परा सदैव चलती रहेगी। क्या करें, हम मानते हैं कि संसार में जो दुःख हैं, उनका कोई न कोई कारण अवश्य है। कभी बुरों को दण्ड के लिये और कभी अच्छों को कि उनको अनेक प्रकार की शिक्षा मिली है।

कहानी है कि बादशाह का लड़का था। पण्डित के पास पढ़ने के लिये भेजा गया। पण्डित ने उसको सब प्रकार से सुशिक्षित करके योग्य

बनाया। फिर बादशाह के पास लाया। और, उस से कहा कि केवल एक ही काम बाकी है। उसने पूछा कि इस ने कोई अपराध किया। कहा कि नहीं। तब कहा कि मुझे चाबुक देना। और खुद सवार होकर लड़के से कहा कि दौड़ो। और उसको खूब मारता गया। फिर बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने कहा कि ऐसा क्यों किया? पण्डित ने कहा इसलिये कि दूसरों पर दया करना सीखे और दयालु व कृपालु बन जाये। सो यह सम्भावना है कि अच्छे मनुष्यों को भी कष्ट भोगना पड़े, किसी अच्छे उद्देश्य के लिये। यह कुछ आवश्यक नहीं है कि पुराने जन्म के कारण से। डारविन साहेब पुनर्जन्म को नहीं मानते। वे केवल यही कहते हैं कि संसार में विकास क्रम से नीची योनियों के प्राणी ऊँची योनियों को प्राप्त हो गये हैं। उनका यह अभिप्राय नहीं है कि कोई प्राणी जो जब है, वह पहिले भी था। कर्नल अल्काट साहेब की जो चर्चा चली है, सो उसका जो पक्ष है, वह सुन लीजिये। तब मालूम होगा कि वे कैसे आदमी हैं?

—हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

लड़के के उदाहरण से मेरा यह अभिप्राय है कि वह जो कुछ सुख दुःख भोगता है, उसकी स्मृति उसे स्वयमेव नहीं होती, कहीं किसी के कहने से होती है। और जीव का स्वाभाविक गुण एक-सा रहता है। परन्तु नैमित्तिक गुण घटते बढ़ते रहते हैं। इसलिये जीव एक से हैं। परन्तु उसके ज्ञान की सामग्री पाँच वर्ष के पश्चात् बढ़ जाती है। अब यदि पादरी साहेब को या मुझको कोई पूछे कि दस वर्ष से पहिले किसी से एक दिन भर बात-चीत क्या की? क्या वह सम्पूर्ण पदों और अक्षरों सहित याद है? तो यही कहना पड़ेगा कि ठीक-ठीक याद नहीं है। जब सदा से जीव नहीं आते, तो फिर कहाँ से हुए? जेलखाने के कैदियों को यद्यपि सब लोग ठीक-ठीक नहीं जानते, तथापि अनुमान करते हैं कि किसी अपराध के करने से जेलखाने में पड़े हैं। इससे हम कभी भी अपराध न करें। अन्यथा हमारा भी यही हाल होगा। पादरी साहेब मेरे अभिप्राय को नहीं समझे। वह स्वप्न की बात नहीं, सुषुप्ति की बात है कि जिस नींद में कुछ भी स्मरण नहीं रख सकता। जो पुनर्जन्म को नहीं मानते, उनकी शिक्षा से संसार में पापों की वृद्धि होती है। क्योंकि फिर आगे जन्म लेने की बात तो वे मानते ही नहीं हैं। जो मन में आवे, वही करते हैं और मरने पर

व्यर्थ ही हवालाती के समान पड़े रहते हैं। आज मरे, कियामत तक हवालात में रहें। कचहरी के द्वार बन्द हैं, और खुदा बेकार बैठा है। जो दोजख़ में गया, वह वहाँ का हो गया। जो जन्नत में गया, वह वहाँ का हो गया। और, कर्म तो ससीम किये जाते हैं, परन्तु उसका फल असीम प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर बड़ा अन्यायी ठहरता है। और आशावादिता के विना मनुष्य सुधर नहीं सकते। केवल रंज में दुःख का कारण क्या है? और यदि शिक्षण के लिये उसको कष्ट दिया जाता है, वह सुधार के लिये है। परन्तु उसका फल तो विद्या आदि है। और पादरी साहेब ने कहा था कि एक स्थान में सदैव सुख दुःख भोगेंगे वह स्थान कौन-सा है।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

कर्नल अल्काट साहेब का एक कागज मेरे पास है कि जिसमें ईसाइयों की, और पादरियों की ईसाई दीन की व्यर्थ ही कठोर भाषा में बहुत बुराई लिखी है। वह इतनी अधिक कठोर है कि मैं किसी बाजारी व बदमाश के लिये भी न बकता। कहते हैं कि ये कठोर और निर्दयी हैं। यह ईसाई दीन संसार में सारी बुराई और खराबी की जड़ हैं। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार से कठोर भाषा का प्रयोग किया गया है। जरा विचार कीजिये कि इस व्यक्ति का हृदय और उसकी बुद्धि किस प्रकार की होगी।

यह बात सिद्ध नहीं होती कि वेद तौरेत की अपेक्षा अधिक पुराना है। इस वास्ते कि तौरेत में यज्ञ का वर्णन है और हम दावे से कह सकते हैं कि सर्वप्रथम तौरेत में ही यज्ञ का वर्णन हुआ और वेद वालों ने वहाँ से ले लिया। दोनों बातों का दोनों में ही वर्णन है। निश्चित से कोई नहीं कह सकता कि किस ने किस से ले लिया। और यह कहना कि कुछ गुण स्थायी हैं और कुछ अस्थायी, इसलिये इस जन्म की बातें हमें याद नहीं रहती। कुछ गुण तो स्थायी हैं ही। अतः यह अवश्य ही होना चाहिये कि पिछले जन्म की कोई बात तो याद हो। यदि हमारी और पण्डित जी की बातचीत इस वर्ष कहीं हुई हो, तो कुछ बातें तो अवश्य ही याद रहती हैं।

निद्रा का उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि कभी कभी नींद में बात याद नहीं रहती और कभी-कभी याद रहती भी है। जेलखाने का उदाहरण भी पूरा ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें दण्ड का केवल एक ही अभिप्राय

प्रकट होता है। दण्ड के दो अभिप्राय हैं। एक तो दण्डित व्यक्ति का सुधार और दूसरे देखने वालों को शिक्षा। परन्तु इस पुनर्जन्म में तो केवल देखने वालों की शिक्षा की ही कुछ व्यवस्था मानी जा सकती है। यह नहीं कि उसे यह दण्ड क्यों मिला है?

रहा यह प्रश्न कि आत्मायें कहां से आईं? शिक्षित जातियों में आजकल यह सिद्धान्त है कि जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होते हैं, और कोई भी यह नहीं कहता कि पहिले वृक्ष हुआ, अथवा पहिले बीज हुआ है। इसी प्रकार रूह से शरीर और शरीर से रूह उत्पन्न होते हैं। तथापि यह बात हमारे लिये बुद्धिगम्य नहीं है कि ऐसा किस प्रकार होता है? परन्तु ऐसा नहीं है कि जो रूह अब मौजूद है, वह पहिले किसी अन्य शरीर में थी। वह अभी पैदा हुई है और जब यहां से जावेगी, तो उसका यथोचित न्याय होगा, कर्मानुसार। इससे परमेश्वर अन्यायी नहीं है। अपितु इससे भी परमेश्वर का न्याय सिद्ध होता है। यह कहना कि रूह सदा कहां रहती है? हम यह नहीं कहते कि हम परोक्ष की बातें जानने वाले हैं कि सुख वा दुःख के स्थान बतावें। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह रूह को सभी स्थानों पर सुख अथवा दुःख दे सकता है। हमारा जानना या न जानना क्या हुआ। **—हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

जो कर्नल अल्काट साहेब के विषय में पादरी साहेब ने कहा कि वह अच्छा मनुष्य नहीं है, सो मैं ठीक नहीं मान सकता। क्योंकि जिनका जिनसे विरोध होता है, वे उनके विषय में उलटा सूधा कहा ही करते हैं। वेद तौरेत की अपेक्षा बहुत पुराना है। और जिसकी बात पूरी से अधूरी दूसरी में लिखी हो, तो दूसरी ही पुस्तक बाद की होती है। बालकपन में नैमित्तिक गुण कम थे और स्वाभाविक गुण एक से हर समय रहते हैं। इस बात को पादरी साहेब ठीक-ठीक नहीं समझे। जो कि आग के संयोग से जल में उष्णता आती है, वह नैमित्तिक और जो आग में उष्णता आती वा दाहकता है, वह स्वाभाविक है। जो-जो जीव के स्वाभाविक गुण हैं, वे न्यूनाधिक कभी नहीं होते।

और, पादरी साहेब ने कहा कि जेलखाने के कैदियों को देखकर देखने वालों को भय होता है कि मैं ऐसा कर्म न करूँ। परन्तु जिसको दण्ड पूर्व जन्म के कर्मों का मिलता है, उसको याद ही नहीं। जैसे और

लोग कार्य-कारण को जानते हैं, क्या वे न जानेंगे कि दण्ड अवश्य ही कर्मों का होता है।

एक वैद्य को ज्वर आया और एक मूढ़-गंवार को भी। वैद्य ने अपनी विद्या के प्रभाव से ज्वर के कारण को जान लिया कि अमुक कारण है। परन्तु उस गंवार ने न जाना। फिर भी ज्वर का कष्ट तो दोनों ही अनुभव करते हैं। फिर भी गंवार इतना अवश्य ही जानता है कि कोई न कोई बदपरहेजी हुई है और इसीलिये यह ज्वर आया है। इससे उसे दण्ड द्वारा सुधारने का फल प्राप्त होता है कि जो मैं बुरा काम करूँगा तो बुरा फल जैसा कि उसको है, मुझे भी प्राप्त होगा।

जब जीव से शरीर और शरीर से जीव पैदा होते हैं, तो आपका बनाने वाला परमेश्वर नहीं। इससे आपका कथन ठीक नहीं रहा। और आपके कथनानुसार जो जीव प्रथम-प्रथम उत्पन्न हुए, वे किन शरीरों से हुए? जो कहें परमेश्वर से तो परमेश्वर भी आदमी, घोड़े और वृक्ष तथा पत्थर के समान हुआ। क्योंकि जिसका कार्य जैसा होता है, उसका कारण भी वैसा ही होता है। और जीवों को मध्य में हवालातियों के समान दौरासुपुर्द करना—बहुत दिन तक कि जो दण्ड से भी भारी है, फिर उसको स्वर्ग मान के किन कर्मों से मिल सकता है? कोई भी नहीं। जब आप सर्वज्ञ नहीं हैं, तो फिर ऐसा क्यों कहते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होता। इससे आपका एक जन्म सिद्ध नहीं हुआ और पुनर्जन्म सिद्ध हो गया।

—हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

ता० २६ अगस्त, सन् १८७९

विषय—ईश्वर देह धारण करता है

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

आज का सवाल यह है कि परमेश्वर देह धारण करता है, अर्थात् साकार हो सकता है या नहीं। उचित यह है कि इस विषय में अत्यन्त सावधानी से और गम्भीरता पूर्वक विचार-विमर्श और प्रश्नोत्तर किया जावे। जब उस सर्वेश्वर के विषय में वार्तालाप हो, तो मनुष्य को चाहिये कि बहुत सोच समझ कर और गम्भीरता के साथ बोले। इस विषय में अहंकार और अभिमान की कुछ भी गुञ्जाइश नहीं है। किसी को भी ऐसा

घमण्ड नहीं करना चाहिये कि हम ईश्वर के विषय में सब कुछ जानते हैं। कवि का कथन है—

अर्श से ले फर्श तक, जिसका कि यह सामान है।
हिम्द उस की गर लिखा, चाहूँ तो क्या अमकान है॥[१]
जब पेगम्बर ने कहा हो, मैंने पहिचाना नहीं।
फिर कोई दावा करे, उसका बड़ा नादान है॥

विचार कीजिये कि ईश्वर की अनादिता के विषय में हम क्या जानते हैं? सो, इसी प्रकार हम सर्वशक्तिमान् के विषय में क्या जानते हैं? वह सर्वव्यापक अर्थात् प्रत्येक स्थान पर मौजूद है, उसके विषय में हम क्या जानते हैं? हाँ, इन शब्दों के कुछ-कुछ अर्थ हम जानते हैं। परन्तु यह कथन तो मूर्खों का ही है कि ईश्वर के विषय में हम सब कुछ जानते हैं। आज के वार्तालाप में दो प्रश्न ये हैं—कि क्या ईश्वर देह धारण कर सकता है? दूसरे यह कि ऐसा कभी हुआ है, कि नहीं। विशेष रूप से पहली बात का ही विचार इस समय है। पहले प्रश्न का भाव यह है कि क्या यह सम्भव है कि ईश्वर अपने आपको कभी सदेह रूप में प्रकट करे? ध्यान दीजिये। यह भाव कदापि नहीं है कि ईश्वर सदेह बन जाये। प्रथम पक्ष यह है कि देह धारण करने की सम्भावना है। आत्मा और परमात्मा बहुत-सी बातों में समान हैं। अपितु यह कहना चाहिये कि दोनों की एक ही जाति है। क्योंकि ईश्वर की वाणी में लिखा है कि—'खुदा ने इन्सान को अपनी सूरत पर बनाया।' यह नहीं कि शारीरिक रूप में अपने जैसा बनाया, अपितु भाव यह है कि आध्यात्मिक रूप में। अर्थात् बहुत-से गुण कर्म और स्वभाव, जो ईश्वर में हैं, वे ही मनुष्य में भी हैं। अर्थात् दया, न्याय तथा और भी अनेक प्रकार की धार्मिक विशेषतायें। इस कारण ईश्वर के साथ मनुष्य मेल कर सकता है। ऐसी अवस्था में हम लोग जो कि स्वयं सशरीर हैं, क्यों अहंकार करें कि ईश्वर साकार न हो। यदि उसकी इच्छा हो कि वह सदेह रूप में प्रकट हो तो क्या

---

१. आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह नाना प्रकार का जड़-जंगम-स्वरूप संसार, जिसका है, मैं यदि उसकी महिमा का गान करना भी चाहूं तो कैसे करूं। उसके गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ तो अनन्त हैं। और मेरी सामर्थ्य बहुत ही अल्प है।

बाधा है? —**हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

जो पादरी साहेब ने कहा, उसकी परीक्षा हम नहीं कर सकते। इस पर सवाल यह है कि सर्वथा नहीं कर सकते, या कुछ-कुछ कर सकते हैं। वैसे सर्वव्यापक के विषय में कुछ जानते हैं, या नहीं? और जो कुछ जानते हैं, तो कितना? जो किसी का कहना हो कि मैं ईश्वर को जानता हूं, तो वह मूर्ख है और जो यह पादरी साहेब का कहना है, तो कुछ उसके जानने में वश नहीं रहा। और पादरी साहेब अपने पहले कथन के विरुद्ध बोले हैं। वह यह है कि ईश्वर देह धारण करता है। कर सकता है, या नहीं ऐसा नहीं। लेकिन देह धारण करता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि उसको क्या आवश्यकता देह धारण करने की है? दूसरे उसकी इच्छा में कोई बन्धन है, या नहीं? तीसरे, वह निराकार है या साकार? चौथे, वह सर्वव्यापक है, या एकदेशी?

जीव और ईश्वर के गुण दया आदि क्या ठीक-ठीक मिलते हैं, या नहीं? बहुत से जीवों में भी दया देखने में आती है।

प्रश्न—वे दोनों एक हैं, तो दोनों ही खुदा हैं। इसका क्या उत्तर है?

आध्यात्मिक पक्ष में जो परमेश्वर देहधारी होता है, जब वह सम्पूर्ण ही देह में आ जाता है, या टुकड़े-टुकड़े होकर आता है? यदि टुकड़े-टुकड़े होकर आता है, तो नाश वाला हुआ। और जो वह सम्पूर्ण आ जाता है, तो शरीर से छोटा हुआ। फिर तो ईश्वर ही नहीं हो सकता। जीव तथा ईश्वर में कुछ भी भेद नहीं आ सकता है।

और यदि वह एकदेशी है, तो एक स्थान पर रहता है या घूमता फिरता है। यदि कहो कि एक स्थान पर रहता है, तो उसको सब स्थानों की खबर रहना असम्भव है। और जो घूमता फिरता है, तो कहीं अटक भी जाता होगा। और धक्का और शस्त्र भी लगता होगा। जब परमेश्वर सृष्टि करता है, तब निराकार स्वरूप से या साकार से? जो कहो निराकार स्वरूप से, तो ठीक है। और जो कहो कि देहधारी होकर, तो उसका सृष्टि रचना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि त्रसरेणु आदि पदार्थ सृष्टि का कारण रूप उसके वश में कभी नहीं आ सकते हैं।

—**हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती**

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

हम नहीं कहते हैं कि ईश्वर को सर्वथा जान ही नहीं सकते। लेकिन तो भी बहुत बातें हैं, जो हम सर्वथा नहीं जान सकते। सर्वव्यापक के विषय में यह सिद्धान्त है कि वह ऐसा है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि इसका पूर्ण अभिप्राय हम को मालूम है। यह तो कह सकते हैं कि ईश्वर ने देह धारण किया। परन्तु उसका अपने आप का देह में धारण करना एक रहस्य है। अपितु हमारे आत्मा का विषय भी शरीर के साथ रहस्यमय है। रहा यह प्रश्न कि ईश्वर की इच्छा में बंधन है, या नहीं। पण्डित जी इस बात को कुछ और स्पष्ट करने की कृपा करें। मैं कहता हूं कि परमात्मा अर्थात् खुदा की रूह और इन्सान की रूह सर्वथा एक जैसी ही नहीं है। एक ससीम है और दूसरी असीम। इसलिये दो खुदा नहीं हैं। इनमें एक रचने वाला है दूसरा रचा गया है। परन्तु ईश्वर की इच्छा हुई और उसने इन्सान को अपने जैसा ही बनाया है।

रहा यह प्रश्न कि ईश्वर सम्पूर्ण देह में आ जाता है, हां आ जाता है। मगर तो भी बाहिर भी रहा। वह सर्वव्यापक है, तो उस देह के अन्दर क्यों नहीं है? हम यह नहीं कहते कि केवल शरीर में ही है, और कहीं नहीं है। विचार कीजिये कि इस कमरे के अन्दर वह सर्वशक्तिमान् इस समय मौजूद है। वह अनादि परमेश्वर इस समय मौजूद है। अर्थात् ईश्वर अपने सब गुणों सहित इस समय इस कमरे में मौजूद है। इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। तो इसमें क्या कठिनाई है? यदि उस की इच्छा यूं ही हुई तो अपने आप को एक शरीर में प्रकट करे। यह असम्भव नहीं है। उसकी इच्छा है। जब भी आवश्यकता हो अपनी लाचारी से नहीं करता; अपितु हम लोगों के लिये। क्योंकि हमारी बुद्धि यदि बहकाना जानती है, तो आगे चल कर हम देख लेंगे कि कोई उचित कारण है अथवा नहीं कि परमेश्वर देह धारण करे। यदि कोई कहे कि देह धारण करना, उसकी महिमा के विरुद्ध है, तो यह भ्रांतिपूर्ण है। यह किस बात में उसकी महिमा के प्रतिकूल है? देह में कुछ त्रुटि है, या कुछ अपवित्र है? अथवा कोई अशुद्ध वस्तु है कि ईश्वर उससे घृणा करे। देह को किसने बनाया है? क्या वह अब सर्वव्यापक नहीं है? अर्थात् क्या वह अब भी प्रत्येक देह में वर्तमान नहीं है?

—**हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी साहेब ने मेरे प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिये। जब वह सर्वव्यापक है, तो एक देह में आना या एक से निकलना सर्वथा असम्भव है। ईश्वर ने देह धारण किया, इसकी क्या आवश्यकता है, और इसका भी कुछ जवाब नहीं दिया कि ईश्वर और जीव आध्यात्मिक रूप में सर्वथा समान हैं अथवा उनमें भिन्नता है। पादरी साहेब पहिले कह चुके हैं कि इन्सान की देह अपने शरीर से बनाई। इसके विरुद्ध पीछे कहा कि वे पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं। मुझसे पूछा कि पण्डितजी इसका स्पष्टीकरण करें। मैं पादरी साहेब के अभिप्राय का स्पष्टीकरण क्यों करूं? यह तो वे ही स्वयं बतावें। यह मैं भी जानता हूँ कि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस कारण से वह अवतार धारण नहीं कर सकता। क्योंकि क्या पहिले वह उसमें न था? या उसमें एक था? अब दूसरा, तीसरा इस से उसमें हजारों घुस गये? जब वह असीम है, तो ससीम शरीर में देह धारण करना सर्वथा झूठ। और जो पादरी साहेब ने कहा कि उसने मनुष्य की रूह अपने स्वरूप में बनाई, तो मैं पूछता हूँ कि बन्दर किसके स्वरूप में बनाये? क्या बन्दरों का खुदा कोई दूसरा है? इस प्रकार से तो हाथी, घोड़े, आदि सब के ही खुदा जुदा-जुदा हो जायेंगे।

जब सर्व व्यापक है, तो उसने देह धारण नहीं किया। अपितु उसने तो संसार का अणु-अणु धारण कर रखा है। पादरी साहेब का यह कहना कि वह देह धारण करता है सर्वथा मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। क्या वह पहिले धारण नहीं करता था? क्या सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी इच्छा से देह धारण करता है? यदि हाँ, तो मैं पूछता हूँ कि वह अपनी इच्छा से देह छोड़ भी देता होगा। क्योंकि जो कोई पकड़ेगा, वह कभी न कभी अवश्य ही छोड़ेगा। और वह कभी अपने आपको मारने की भी शक्ति रखता है, वा नहीं? तब तो वह आपके कथनानुसार सर्वशक्तिमान् भी न रहेगा। जैसे अविद्या आदि और अन्याय करने आदि का उसका स्वभाव ही नहीं है, सो यह ही उसके जन्म और मरण में भी प्रतिबन्धक है। क्योंकि वह अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य चरितार्थ नहीं कर सकता।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

मेरा प्रश्न यह ही है कि क्या पंडितजी का यह अभिप्राय है कि अब परमेश्वर देहधारी है? क्योंकि उनकी युक्ति से प्रतीत होता है। वह यह दावा करता है कि परमेश्वर अब देह में हैं। और जब जो ये सूरतें सब दृष्टिगोचर होती हैं, सब उसका देह ही हैं। यदि ऐसा है, तब तो मेरा दावा सिद्ध ही हो गया। अब उसमें बाकी ही क्या रहा? देह धारण करने का क्या अर्थ है? इस वार्तालाप में, मैंने, जो देह पशु, पत्थर इत्यादि हैं, अनादि काल से परमेश्वर सर्वव्यापक तो हैं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार से देहधारी है। जैसे जब कोई कहे कि अमुक व्यक्ति परमेश्वर का अवतार है, तो पण्डितजी इसमें झगड़ा क्यों करते हैं? देह धारण करने का अर्थ कौन नहीं जानता? और यह कहना कि इस विशेष अर्थ में ईश्वर के देहधारी होकर आने जाने का कुछ कथन नहीं है। अपितु केवल यही अर्थ है वह हमारे लिये शरीर में प्रकट हुआ। जब वह शरीर लुप्त हो जाता है, तब भी ईश्वर यहाँ वर्तमान रहता है। परन्तु वह ईश्वर की आत्मा उस समय भी उस शरीर में हैवानी आत्मा नहीं है। अभी रूह इस शरीर में प्रकट हुई। यह कोई आने या जाने का मामला ही नहीं है। मैंने साफ-साफ कहा है कि मनुष्य का आत्मा ईश्वर के आत्मा के समान है, परन्तु है सर्वथा भिन्न। बन्दर की स्थिति और है। उसका चर्चा करने की यहां क्या आवश्यकता है? रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने बन्दर को किसके स्वरूप पर बनाया। सो जैसी उसकी इच्छा हुई, वैसा उसने बनाया। अर्थात् बन्दर की सूरत, और गीदड़ की सूरत और बैल की सूरत और इन्सान को अपनी सूरत में। तब इसमें आक्षेप की क्या बात है?

अब रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने क्यों देह धारण की? इसका उत्तर देता हूँ। उसकी सम्भावना का होना तो कुछ सम्भव नहीं है। मकान के उदाहरण को स्मरण कीजिये। और यह भी कि देह धारण करने का अर्थ यह है कि अपने आप को एक देह में प्रकट करना। यदि इस घटना अथवा गति को आप समझ सकें, तो समझिये। हम डरते नहीं कि यह कहने लगें कि ईश्वर के गुण तो गति करते ही नहीं हैं। तो क्या वह जड़ पत्थर है? अथवा निर्गुण है? उसका आना जाना कुछ न हुआ। जीना मरना कुछ न हुआ। केवल मनुष्य की अल्प सामर्थ्य के कारण अवतार होना अर्थात् देह धारण करना। देह धारण करने में लाभ यह है कि मनुष्य के लिये

किसी पूर्ण गुरु, पथ-प्रदर्शक और आदर्श की जरूरत है। जब गुरु पूर्ण और आदर्श भी सर्वथा दोष रहित हो, तभी मनुष्य उन्नति करता है। अन्यथा जैसी चाहिये, वैसी उन्नति नहीं करता। क्योंकि उन्नति का साधन वा माध्यम अच्छा नहीं होता।

—हस्ताक्षर पादरी जी० टी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

जो पादरी साहेब ने कहा कि पण्डितजी के दावे ने मेरे दावे को साबित किया, यह बात गलत है। क्योंकि देह धारण करता है, इसका अर्थ यह है कि पहले वह देह में नहीं था। इस कथन ने तो पादरी साहेब के दावे को ही खारिज किया है, न कि साबित।

जो कि सर्वव्यापक है, वह देह धारण करता है, या करे, या छोड़े, यह कहना सर्वथा असम्भव है। और जब वह सर्वव्यापक है, तब देह धारण करने को कहाँ से आया? क्या ऊपर या नीचे से, अथवा बाहिर या बगल से। जो कहें कि किसी तरफ से आया, तो फिर तो वह सर्वव्यापक न हुआ। और जो कहें कि सर्वव्यापक है तो कहीं से आना साबित नहीं हो सकता। जाहिर होने में मैं पादरी साहेब से पूछता हूँ कि क्या पहले गुम था कि आँख से नहीं दीखा। जाहिर होने में दीख पड़ा। क्या रूह आँख से देखने का विषय है? जो कहें नहीं, तो फिर जाहिर होने का क्या अर्थ है? जैसे साँप बिल में से निकलकर, जाहिर होकर, फिर गुम हो जावे?

वैसे ही मैंने पूछा था कि बन्दर को किसकी सूरत में बनाया? उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। क्या बन्दर और आदमी आदि का बनाने वाला एक ही खुदा है? अथवा दो जुदा-जुदा हैं।

जब उसके देह धारण करने में पादरी साहेब कुछ विशेष मामला नहीं दिखला सकते, तो बस, पादरी साहेब का तो मामला ही खारिज हो गया। जो पादरी साहेब ने कहा कि परमेश्वर के गुण गति करते हैं, यह सर्वथा झूठी बात है। क्योंकि गुण है, द्रव्य नहीं। गतिशील द्रव्य होता है, गुण नहीं।

जो पादरी साहेब कहें कि देह धारण करता जरूर है, तब तो उसकी जरूरत की बात भी ठीक-ठीक अवश्य ही बतलावें। और जो यह कहा कि मनुष्य की उन्नति के लिये देह धारण करता है, तब तो पहले कहे हुए सभी दोष पादरी साहेब के कथन में आते हैं। और मैं पूछता हूँ कि यह सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक क्या अपनी सामर्थ्य से जीवों की उन्नति नहीं करा सकता? जो कहें कि नहीं करा सकता, तो सर्वशक्तिमान् न रहा। और जो मैंने दोष दिये थे कि पादरी साहेब के कथनानुसार देह धारण करने पर तो परमाणु आदि को अपनी पकड़ में लाने का सामर्थ्य ही उसमें नहीं हो सकता। इतने दोष मौजूद रहे।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

प्रत्येक बात में यह कहना कि यह झूठ है, सो शिष्टाचार के कुछ प्रतिकूल प्रतीत होता है। क्योंकि झूठ बेईमानी और फरेब है। और भी बहुत सी मिथ्या बातें हैं, जिनको कि झूठ कहना जरा शिष्टाचार विरुद्ध प्रतीत होता है। ईश्वर तो बन्दर की देह में सर्वव्यापक के रूप में है। परन्तु भले ही कोई उसको बन्दर बतादे, वैसे ही कोई उसको गीदड़ बता दे। परन्तु हाँ, अद्वैतवादी ऐसा ही कहेंगे। परन्तु, पण्डितजी तो द्वैतवादी हैं। यह मैं पूछता हूँ पण्डितजी से कि परमेश्वर के अतिरिक्त और भी कोई पदार्थ है संसार में वा नहीं? परन्तु जब ईश्वर का कोई खास अवतार हो, तो उस देह में वह सर्वव्यापक है। और परमेश्वर के सिवा और कोई जीव उसमें नहीं होता। उसको अवतार कहते हैं। इसमें कुछ आने जाने का यह मामला नहीं है। कोई स्याही ऐसी होती है कि जब उससे लिखते हैं, तो कुछ नजर नहीं आता। परन्तु वह लिखाई मौजूद होती है या नहीं। स्याही मौजूद है, अक्षर भी मौजूद हैं, उनको जरा आग के सामने दिखाओ, तो कुल लिखाई नजर आती है। पहले भी मौजूद तो थी, परन्तु नजर नहीं आती थी। इसी प्रकार परमेश्वर का नजर न आना, कुछ आने जाने का मामला नहीं है। उसने अपने आपको केवल हमारी कमजोरी के वास्ते इस शरीर में प्रकट किया है। वह कहीं गुम नहीं था। कहीं से आया नहीं। फिर इस विषय में मैं यह कथन करूंगा कि गुण का गति करना, यह है कि वह कार्य का रूप धारण करे, उपयोग में आवे। जैसे कि प्रेम और दया का रखना और न्याय करना।

और यह कहना कि देह धारण करने से परमेश्वर की लाचारी मालूम होती है, भ्रान्तिपूर्ण है। पण्डितजी का सिद्धान्त यह है कि जन्म लेने से

मनुष्य सुधर जाता है। तो इसमें भी परमेश्वर लाचार है, या उसकी इच्छा है। यदि वह सर्वशक्तिमान् है, तब तो ऐसा नहीं करना चाहिये कि लाचार है, पण्डितजी के कथनानुसार। और यदि उसकी इच्छा है, तो अपनी इच्छा से वह जानता है कि मनुष्य के विषय में कौनसा उपाय उत्तम है। परन्तु कुछ कुछ बातों के विषय में हम मानते हैं कि परमेश्वर लाचार है।

ध्यान दीजिये—यदि वह सर्वशक्तिमान् है, तो वह एकदम ही रूह को पवित्र क्यों नहीं कर देता? क्यों मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देता है। विचार करना चाहिये कि मनुष्य कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। और खुदा उसके विषय में बलात्कार नहीं करता है। खुदा चाहता है कि वह सुधर जावे, परन्तु उसका सुधरना केवल खुदा के वश में नहीं है। खुदा ने इन्सान को ऐसा ही बनाया है और कर्म करने में स्वतन्त्र होना यह मनुष्य के महत्त्व का सूचक है। तो, इससे वह अपनी बहुत बड़ी हानि भी कर सकता है। ईश्वर ने उचित यही समझा कि मनुष्य को सुधारने के लिये पूर्ण आदर्श नमूने के तौर पर उसको दिखावे। खुदा के गुम होने से नहीं, अपितु इन्सान के गुम होने से। और बातों को छोड़कर, आगे चलकर अधिक निवेदन करूंगा।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

जो पादरी साहेब ने शिष्टाचार विषय में कहा, सो ठीक है। परन्तु सत्य के कहने में अशिष्टता कभी नहीं हो सकती। अशिष्टता तो झूठ के कहने में होती है। और जो पादरी साहेब ने मुझे द्वैतवादी बताया, सो ठीक नहीं है। मैं अद्वैतवादी हूँ, क्योंकि मैं ईश्वर को एक मानता हूँ। जो पादरी साहेब ने कहा कि बन्दर और गीदड़ आदि के शरीर में ईश्वर के सर्वव्यापक होने से बन्दर और गीदड़ नहीं कहा जा सकता, तो आदमी के शरीर में व्यापक होने से आदमी भी उसे नहीं कहना चाहिये। और कहा कि शरीर में ईश्वर ने अवतार लिया। उसमें दूसरा जीव नहीं था, तो मैं पूछता हूँ कि उसके पहिले ईश्वर था कि नहीं? जो कहें कि था, तो उसका आना जाना असम्भव है। और, जो कहें कि नहीं था, तो उसका सर्वव्यापक होना नहीं हो सकता।

जो मैंने जाहिर होने के विषय में पूछा था, उसका ठीक-ठीक उत्तर पादरी साहब ने नहीं दिया। गोलाकार कर गये। जो ईश्वर दृश्य नहीं, तो

उसको जाहिर होना कहना व्यर्थ है। और जो कहें कि दृश्य है, तो सर्वव्यापक नहीं। और जो पादरी साहेब ने कहा कि हमारी कमजोरी के कारण वह अवतार लेता है, तो हमारी कमजोरी के कारण ही क्या वह सर्वव्यापक हमारा पूरा काम नहीं कर सकता? जो कहें कि नहीं कर सकता, तो इसमें क्या युक्ति है? और फिर वह सर्वशक्तिमान् भी नहीं रहता। और जो कहें कि कर सकता है, तो जन्म धारण करना ही व्यर्थ हो जाता है।

और जो कहा कि प्रीति का रखना, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां प्रीति गुण और प्रीति करने वाला चेतन द्रव्य है। इसलिये पादरी साहेब का कहना ठीक नहीं है। परमेश्वर अपने स्वाभाविक गुण के अनुकूल काम करने में लाचार कभी नहीं है। परन्तु अवतार के धारण करने में तो लाचार ही मानना होगा। जैसे कि पादरी साहेब ने कहा कि वह आदमी को नहीं सुधार सकता। अब मैं पूछता हूँ कि सर्वशक्तिमान् का क्या अर्थ है? पादरी साहेब क्या चाहते हैं? जैसे पादरी साहेब ने कहा कि कुछ बातों में लाचार है, वैसे ही अवतार लेने में भी लाचार है। क्योंकि सर्वव्यापक का आना-जाना प्रकट करना सर्वथा असम्भव है। जब वह दुःख नाश नहीं करता, तो पादरी साहेब के कहने से ही पादरी साहेब की बात कट जाती है। जो कि कहते हैं कि अवतार लेकर मनुष्यों का दुःख काटता है। और जो कहा कि दुःख क्यों देता है? इसका उत्तर यह है कि वह न्यायाधीश है। जीवों के जैसे पाप-पुण्य होते हैं, वैसा ही उनका फल देना अवश्य है। क्योंकि वह सच्चा न्यायकारी है।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहब

द्वैतवादी वे होते हैं, जो कि दो पदार्थ मानते हैं। एक तो ईश्वर और दूसरे, ईश्वर से भिन्न यह कार्य जगत्। अद्वैतवादी वे होते हैं जो कि एक ही पदार्थ ईश्वर को मानते हैं और कुछ नहीं। सो ज्ञात नहीं कि पण्डित जी एक ही पदार्थ मानते हैं, वा दो। ईश्वर अनदेखा तो है, परन्तु जब अपने आपको प्रकट करना चाहता है, तो प्रकट कर देता है। शारीरिक अर्थात् शरीर में तो आत्मा से हम आपके शरीर को देखते हैं, आत्मा को नहीं। परन्तु उस प्रकार से होने से ईश्वर का हाल बहुत अधिक जानते हैं। क्योंकि एक नमूना पवित्र और पूर्ण हमारी दृष्टि में होता है। इसलिये

ईश्वर का अवतार होता है। ईश्वर ने देख लिया है कि मनुष्य के लिये उचित यही है, इसलिये ऐसा ही हुआ और होता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् तो है, परन्तु तब भी इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई बात उसके वश से बाहर नहीं। वह अधर्माचरण नहीं कर सकता। झूठ नहीं बोल सकता। दो और दो को वह पांच नहीं मान सकता। इससे यह नहीं हो सकता कि एक वस्तु हो भी और न भी हो। अर्थात् एक अर्थ से उसकी शक्ति की भी सीमा है।

मैंने यह कहा कि यदि मनुष्य की इच्छा नहीं है, तो ईश्वर उसे सुधार नहीं सकता। सुधार का सर्वोत्तम उपाय यही है कि देह धारण करे और एक पूर्ण आदर्श मनुष्य के सामने प्रस्तुत करे। मनुष्य तो आदर्श को चाहता ही है। संसार में सर्वश्रेष्ठ और पवित्र गुरु कोई नहीं है, कि जिसने कभी भी पापाचरण न किया हो। कोई गुरु ऐसा नहीं है, जो सब बातों में पूर्ण हो। केवल ईश्वर ही देह धारण करके मनुष्य के सामने ऐसा नमूना पेश कर सकता है। जिससे ठीक-ठीक धर्म का मार्ग प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो सके और वह हर बात में नेकी और पुण्य को जान सके कौन नहीं जानता कि मनुष्य अनुकरणप्रिय है। नमूने को देखकर उसके अनुसार कार्य करता है। पाठशालाओं और सेनाओं में देखो और घर में भी देखो, जब नमूना अच्छा है, गुरु पूर्ण है, तब उन्नति भी बहुत अच्छी होती है। क्या यह बात उत्तम और रहस्यमयी नहीं है? कि ईश्वर देह धारण करके इन्सान के लिये एक पूर्ण और पर्याप्त नमूना दिखावे कि जिससे मनुष्य अपनी मोक्ष प्राप्ति में समर्थ हो सके।

ईश्वर की इच्छा यूँ है और यही मेरा भी अभिप्राय है कि खुला करके कह देना कोई अच्छी बात नहीं है। उसमें सावधानता होनी ही चाहिये। यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा से ऐसा किया, क्योंकि उसको यही उत्तम प्रतीत हुआ, तो फिर हम इसके विरुद्ध क्यों बोलें?

अब शब्द प्रमाण को लीजिये। इंजील में लिखा है—"आरम्भ में शब्द था। और शब्द खुदा के साथ था। और शब्द खुदा था। और शब्द साकार हुआ।" अर्थात् वही खुदा शरीर धारण करके प्रकट हुआ। यह लिखा है। और जिस किताब में यह लिखा है, ऐसी उत्तम किताब है। और वह अपना प्रमाण कि वह ईश्वर की ओर से है। और जो कुछ कि उसमें लिखा है, वह बुद्धिपूर्वक, तर्क-संगत और प्रमाण युक्त है। और यह

कहा कि बहुत से लोग इसको झूठ समझ कर छोड़ देते हैं, जैसा कि वेद को। क्योंकि वह सर्वथा मिथ्या है और उसके समर्थन में कोई भी युक्ति वा प्रमाण नहीं है। **—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब**

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

अद्वैत विशेषण परमेश्वर का है, किसी दूसरे का नहीं। इसके कहने से यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर एक है। जीव अनेक हैं। और जगत् का कारण अनेक प्रकार का है। और जो पादरी साहेब कहें कि ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा और कोई न था, तो फिर जीव और यह जगत् कहां से आया? जो कहें कि ईश्वर से, तो जीव ईश्वर हुआ। जो कहें कि कारण से, तो पादरी साहेब को भी कारण मानना पड़ेगा। और यदि जीव की उत्पत्ति मानी जाये, तब तो उसका नाश भी अवश्य ही मानना होगा। यह बात कई वार चली, परन्तु अभी तक ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया गया कि उसको देह धारण करने की आवश्यकता ही क्या है? और इसके विना ही वह अपना काम क्यों नहीं कर सकता? इसका कुछ जवाब नहीं हुआ। जब उसकी शक्ति की सीमा है, तो फिर ईश्वर की भी सीमा क्यों नहीं है? जो कहें ईश्वर की भी सीमा है, तो वह सर्वव्यापक नहीं। और यह बात पादरी साहेब के पहले कथन के भी विरुद्ध होगी। जब परमेश्वर की सब बातों को नहीं जानते तो फिर पादरी साहब ने ऐसा क्यों कहा था कि ईश्वर अवतार लेता है। और वे अब इस बात में जिद क्यों करते हैं? और जब अवतार लेने से पहिले उसे कोई जान ही नहीं सकता, तो उसी ने अवतार लिया यह कहना भी व्यर्थ ही है। क्योंकि वही पुरुष या पादरी साहेब आज भी हैं, जो कल के शास्त्रार्थ में थे। जब कि अवतार होने से पहिले कभी देखा या जाना ही नहीं, तो फिर उसी ने अवतार लिया है, यह कहना भी तो अनुचित है और अयुक्त ही है।

क्या पादरी साहेब ने कभी इस बात पर विचार नहीं किया कि पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, मनुष्य शरीर आदि भी तो ईश्वरीय शक्ति के ही नमूने हैं और एक साढ़े तीन हाथ के शरीर में आकर, खा, पी, बढ़ घटकर मर जाना भी क्या कोई बड़ा नमूना है।

और जो इञ्जील के लेख की बात कही कि वह शब्द अवतार हुआ। यह कथन सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि शब्द गुण होता है और द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। ऐसी मिथ्या बात जिस इंजील में लिखी है, वह सत्य

कभी नहीं हो सकती। और, न ही कभी उत्तम हो सकती है। पादरी साहेब की इञ्जील में योहन्ना के स्वप्न के प्रकाशित वाक्य की कथा सर्वथा असम्भव है कि जो पोथी के एक बंधने के खोलने पर उसमें से एक सवार घोड़े सहित निकला। क्या ऐसा कभी हो सकता है। ऐसी-ऐसी कई झूठ बातें हैं। क्या पादरी साहेब ने ये कभी भी नहीं देखी होंगी? फिर भी ऐसी किताब के सत्य होने का दावा करते हैं, सो जिद करने के सिवा और कुछ नहीं है।

इसलिये पादरी साहेब और सब सज्जन पुरुषों को चाहिये कि सब सर्वथा सत्य, ईश्वरकृत वेदों की शरण लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि अवश्य करें।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

योहन्ना के विषय में 'मकाशफत की पुस्तक' में लिखा है। उसके विषय में यदि पण्डितजी की बुद्धि ऐसी ही है, तो मैं क्या उत्तर दे सकता हूँ? ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य से इस सम्पूर्ण सृष्टि को अभाव से भाव रूप में रचा है। उचित यही है कि वह जब भी चाहे इसका नाश कर दे। जब तक यह सृष्टि स्थिर है, तब तक ईश्वर इसमें सर्वव्यापक नहीं है। वह तो इससे पृथक् है। और मैंने बार-बार यह कहा है कि उसने जो अवतार लिया, इसका कारण था। सो आप फिर से पहले लेख को देख लीजिये।

ईश्वर की शक्ति की सीमा यही है कि वह अपने विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। हम दावा करते हैं कि हम सबके शरीर में भी उसका प्रकाश होता है। और सब कर्मों के लिये उसने एक पूर्ण नमूना भी हमें दिया है। मनुष्य के लिये उसकी महिमा चांद, सूर्य, सितारे से अधिक है।

शब्द का भाव यह है कि वह ईश्वर को प्रकाशित करने वाला हो। जैसे कि शब्द ही मनुष्य के अर्थ को भी प्रकट करता है, उसी प्रकार मसीह जैसे अवतार ईश्वर की महिमा और अर्थ को प्रकट करते हैं।

अब देखिये कि लोग बाइबिल के विषय में कितने पुरुषार्थी और सावधान हैं और इस पुस्तक को कैसी दृढ़ता के साथ पकड़े हुए हैं। पच्चीस सोसाइटियाँ हैं, जो कि इसकी छपाई में संलग्न हैं। दो सौ भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। उदाहरण के रूप में दो सोसाइटियों के कार्य

को लें। एक वर्ष में इङ्गलिस्तान में एक ने बाईस लाख, छियानवे हजार, एक सौ तीस प्रतियां छपवाईं। और बतलाइये। अमेरिका में एक सोसायटी में सत्तर बड़ी-बड़ी मशीनें छापने के लिये हैं। चार सौ कार्यकर्त्ता हैं। उसमें बीस हजार पाँच सौ प्रतियाँ एक ही दिन में तैयार की जाती हैं। कौन कह सकता है कि इस किताब को नहीं मानते। सो मैंने सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की देह धारण करने की पूर्ण सम्भावना है। ऐसा होना बुद्धि से परे की बात नहीं; अपितु यह युक्तिसंगत और उचित है। उसका बहुत आवश्यक कारण भी मैंने बता दिया और इस पुस्तक का वचन सत्य प्रमाणित होता है। **—हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब**

ता० २७ अगस्त, सन् १८७९ ई०

विषय-ईश्वर पाप को क्षमा भी करता है

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

मेरा दावा नहीं है कि ईश्वर दण्ड नहीं देता। दण्ड भी वह अवश्य ही देता है। परन्तु मेरा निवेदन यह है कि वह समय-समय पर, जब भी और जैसा भी उसको उचित प्रतीत होता है, मनुष्य के कल्याण के लिये पाप क्षमा कर सकता है। जब कोई ईश्वर है, वह सर्वगुण सम्पन्न है और चेतन भी है। और भी उस में अनेक प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव विद्यमान हैं, तो यह भी अवश्य ही समझना चाहिये कि वह हम को देखता है। हमारे लिये चिन्तन करता है। हमारा कल्याण चाहता है। और हमको सुधारना चाहता है। सो यह दावा कोई अनुचित नहीं है।

बहुत-सी बातों में हमारी ईश्वर में समानता है। अर्थात् हम धर्म की बातें जैसे कि न्याय और अन्याय इत्यादि जानते हैं। ईश्वर में अनेक प्रकार की विशेषतायें हैं। जैसा कि न्याय, प्रेम, दया, इत्यादि। सो ये मनुष्य में भी पाई जाती हैं। जब हम इस बात पर विचार करें कि बहुत-सी बातों में हम और ईश्वर एक ही हैं, तब हम ईश्वर की सत्ता को कुछ-कुछ जान सकते हैं। हमें यह भी समझना चाहिये कि ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध ऐसा है, जैसा कि हम आपस में रखते हैं। अर्थात् ईश्वर हमारा शासक है। वह हम पर शासन करता है। वह हमारा पिता है। उस ने हम को उत्पन्न किया है। वही हमारा पालन और संरक्षण करता है।

जब हम इन बातों पर विचार करते हैं, तब हम ईश्वर के विषय

में अधिकाधिक बोध प्राप्त करते हैं। और वेदों में तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी पिता तथा शासक आदि के रूप में ईश्वर का उल्लेख किया गया है। अब विचारना चाहिये कि जब सभी धर्म-ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है, तो इसमें कुछ न कुछ बात हमारे समझने-समझाने की भी है। हमें यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार उसके साथ हमारा शासक वा पिता के रूप में सम्बन्ध है, उसी प्रकार वह पिता और शासक के कर्तव्य कर्मों का पालन भी अवश्य ही करता है। अब विचारिये कि पिता और शासक का काम क्या-क्या होता है? इस में कुछ भी सन्देह नहीं है कि ये दण्ड देने वाले भी होते ही हैं। दण्ड देने का भी एक उत्तम उद्देश्य होता है और वह यह कि दण्ड देकर अपराधी सन्तान वा प्रजा को सुधारा जाये। और इस प्रकार दूसरों को भी शिक्षा मिले। हम और आप यह भी कहते ही हैं कि बदले की भावना से दण्ड न दिया जावे। दण्ड उतना ही दिया जावे, जितना कि आवश्यक हो और शिक्षादायक हो। फिर भी यदि पिता वा शासक चाहें तो क्षमा कर दें। और इसीलिये क्षमा होती है।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी साहेब का पक्ष यह था कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। क्षमा कर सकता है, ऐसा पक्ष नहीं। फिर पादरी साहेब ने दूसरी प्रकार से क्यों कहा? और यह कहा कि दण्ड भी अवश्य देता है। यह तो परस्पर विरोधी कथन है। क्या आधा दण्ड देता है? और आधा क्षमा कर देता है? या कुछ कम-अधिक करता है? जैसे ईश्वर सब बातें जानता है, क्या जीव लोग भी वैसे ही जानते हैं? अथवा कम-अधिक जानते हैं। जैसे हमारे बीच में न्यायाधीश न्यायकारी होता है और अन्यायकारी भी होता है, क्या ईश्वर भी वैसा ही है? अथवा ईश्वर केवल न्यायकारी है? जो न्यायकारी है, तो फिर क्षमा करना कहाँ रहा? क्योंकि न्याय उसका नाम है, जिसने जितना, जैसा काम किया, उसको उतना, वैसा ही फल देना।

जो ईश्वर को थोड़ा बहुत, कुछ न कुछ जानते हैं, तो मैं पूछता हूँ कि ईश्वर की सब बातों में ऐसी ही रीति है, या कुछ कम-अधिक है? यह मैं भी मानता हूँ कि ईश्वर के साथ हमारा राजा और पिता का सा सम्बन्ध है। परन्तु यह सम्बन्ध क्या अन्याय करने के लिये है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। वेद आदि पुस्तकों में क्षमा करना कहीं नहीं लिखा है।

ईश्वर के न्याय करने का क्या अर्थ है? न्यायाधीश और सभा आदि के दण्ड और पुरस्कार आदि सुधार आदि के लिये होते हैं अथवा इनका कुछ और अर्थ है? और जो क्षमा करता है, तो किस-किस काम पर क्षमा करता है और किस-किस पर नहीं? जब क्षमा करता है, तब तो ईश्वर पाप का बढ़ाने वाला होता है। क्योंकि वह जीवों को पाप करने में उत्साहित करता है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है, तो उसके न्याय आदि गुण और कर्म भी भूल और भ्रान्ति आदि सब दोषों से रहित हैं। इसलिये जब ईश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य कभी कर ही नहीं सकता, तो फिर न्याय के प्रतिकूल क्षमा वह कैसे कर सकता है? और ईश्वर जो दयालु है, तो दया का भी वही अर्थ है, जो कि न्याय का है। क्षमा करना दया नहीं है। जैसे कि एक डाकू पर कोई दया करे अर्थात् क्षमा करे, तो क्या वह दयालु गिना जा सकता है? कभी नहीं। क्योंकि हजारों जीवों को उसने दु:ख दिया है। जब डाकू क्षमा कर दिया जावेगा, तब तो वह बड़े साहस के साथ और भी खूब डाके मारेगा। इसलिये दया का मतलब भी और ही है, जो पादरी साहेब जानते हैं, वह नहीं।

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

पण्डितजी जल्दी न करें। मेरा मतलब बेईमानी पर कमर बांधने का नहीं है। जब ईश्वर क्षमा करता है तो उसमें 'सकता या नहीं सकता' का उल्लेख आरम्भ में इसलिये किया गया है कि इस प्रकार की सम्भावना प्रतीत होती है। नि:सन्देह आज का विषय तो यही है कि वह क्षमा करता है। हम यह नहीं कह सकते कि वह कहां तक दण्ड देता है और कहां तक क्षमा करता है। यह उसका काम है, हमारा नहीं। परन्तु जब वह सर्वज्ञ है और हम लोगों के समान भूल भी कभी नहीं करता। हम लोग तो अपने कामों में भूल किया ही करते हैं। ईश्वर अपनी अच्छी बातों में, और उसकी सभी बातें अच्छी हैं, भूल कभी नहीं करता, ईश्वर तो सब कुछ जानता है। हम वास्तव में कुछ भी नहीं जानते। उसके क्षमा करने में भी अवश्य ही कोई भेद है। क्योंकि क्षमा करना सदा ही एक सूक्ष्म विवेक का कार्य होता है। ईसाई लोग दृढ़तापूर्वक कहा करते हैं कि वह विना किसी सिफारिश के और विना किसी न्याय के क्षमा किया करता है। परन्तु जब वह दयालु है और न्यायकारी भी है, तो वह सर्वथा एक ही बात

है। अर्थात् दया और न्याय एक ही बात है।

परन्तु जरा न्यायकारी बन कर सोचिये। दया में कुछ न कुछ मतलब ऐसा भी जरूर होगा जो कि न्याय में नहीं है। वेद में यह जरूर लिखा है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

अब मैं यहां पर एक पुस्तक म्यूर साहेब की कि जिसमें लिखा है—"अदिति पाप को क्षमा करती है," का प्रमाण देता हूँ। पण्डितजी कहेंगे कि यह अर्थ गलत है। अब अंग्रेजी जानने वालों का यह काम है कि वे म्यूर साहेब की पुस्तक देख कर न्याय करें। मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या क्षमा शब्द का विचार वेद वालों को कभी भी नहीं सूझा। क्या वे क्षमा का अर्थ नहीं जानते थे। और, क्या क्षमा करना भूल है?

मैं यह सिद्ध करूंगा कि समय-समय पर क्षमा करना बहुत ही श्रेष्ठ कार्य है। यदि इसे संसार में से हटा दिया जाये, तो संसार की अवस्था बहुत ही बिगड़ जायेगी। और यह तो अनुमान से प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि क्षमा से संसार में बहुत अच्छे-अच्छे परिणाम होते हैं। कौन जानता है कि माता-पिता के बीच में और बेटा-बेटी के बीच में क्या वास्ता है और परस्पर एक का दूसरे से तथा मित्र का मित्र से क्या संबंध है? यदि इन सबके बीच में क्षमा करने का भाव कभी भी, सर्वथा न आवे तो ये सम्बन्ध जरा भी न चलें।

और यह कहना कि क्षमा करने से पाप बढ़ जाता है, तो यह ठीक है। यदि क्षमा सदा ही क्षमा हो, और वह कभी किसी भी रूप में दण्ड न हो। और यह भी ठीक है कि कुछ अवस्थायें ऐसी भी होती हैं कि जिनमें किसी को कभी भी क्षमा नहीं करना चाहिये जैसा कि डाकुओं के विषय में। संसार में सभी बातें इस प्रकार की नहीं हैं कि हम क्षमा को संसार से सदा के लिये सर्वथा दूर कर दें। जो अनादि और न्यायकारी है, वह यह भी जानता है कि कब और किस पर क्षमा और दया आदि का व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये। आगे चल कर मैं यह भी बताऊंगा कि क्षमा करने से पापवासना का अन्त हो जाता है। और साथ ही यह भी कि दण्ड देने से पाप की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। और इस प्रकार मनुष्य और भी अधिक निडर तथा बड़ा शैतान बन जाता है।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

जो शास्त्रार्थ का विषय है और जिसको सिद्ध करने की प्रतिज्ञा प्रथम पादरी साहेब ने की थी, उससे दूसरा कथन करना न्याय-शास्त्र के अनुसार पराजय का सूचक है। इस प्रकार की पराजय को दार्शनिक भाषा में प्रतिज्ञान्तर कहा जाता है। पादरी साहेब ने कहा कि असल विषय वही है कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ऐसे अवसर पर पादरी साहेब को अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये विशेष बल देना चाहिये था। जब पूर्ण निश्चय से नहीं जानते, तो फिर उसका प्रतिपादन या समर्थन कैसा? मैं पूछता हूँ कि जितने अंश में क्षमा करना पादरी साहेब मानते हैं, उसको भी ठीक-ठीक जानते हैं वा नहीं? क्या आप के मत में ईश्वर डाकू आदि को क्षमा नहीं करता? आप डाकू आदि को क्षमा करने का उपदेश नहीं करते? और, यदि ईश्वर किसी के वसीले से क्षमा करता है तब तो वह पराधीन ठहरता है। और यह भी बतायें कि ईश्वर किसके वसीले से क्षमा करता है? वह वसीला आपका है, या किसी दूसरे का? यदि कहो कि अपने आप का वसीला है, तो झूठ है। और, यदि कहो कि किसी दूसरे का है, तो फिर ईश्वर स्वतन्त्र नहीं रहा।

और, जो पादरी साहेब ने कहा कि अदिति माता क्षमा करती है, यह वेद में लिखा है। तो मैं पूछता हूँ कि अदिति किसका नाम है? और क्षमा करना तो चारों वेदों में कहीं भी नहीं लिखा। जब क्षमा करना है ही व्यर्थ, तो फिर ऐसी मिथ्या बातों का उपदेश वेदों में क्योंकर हो सकता है?

यह बड़े आश्चर्य की बात है, कि अंग्रेजी जानने वाले वेदों के सिद्धान्तों का निर्णय करें। यह बात तो ऐसी ही है, जैसे कि कोई संस्कृत पढ़कर, अंग्रेजी के सिद्धान्तों का निर्णय करे।

और जो माता-पिता क्षमा करते हैं, ऐसा पादरी साहेब का कथन है, सो वे पूर्णतया क्षमा करते हैं, या कुछ-कुछ। जो कहें कि कुछ-कुछ, तब भी ठीक नहीं है। क्योंकि पाप करने से क्या माता-पिता अपने अन्तरात्मा में अपने सन्तान के प्रति प्रसन्न होते हैं? यदि हाँ तो फिर वे बालकों की ताड़ना क्यों करते हैं? यही तो दण्ड है। जब बालक कुछ समर्थ हो जाते हैं और पाँच वर्ष से बड़े हो जाते हैं, तब माता-पिता बालकों के साधारण पाप वा अपराध भी कभी क्षमा नहीं किया करते। और जो क्षमा करते

हैं, तो कभी -कभी माता-पिता और संतान में वैर विरोध क्यों होता है? इससे पादरी साहेब का दृष्टान्त ग़लत ठहरता है। हाँ, यदि सब माता-पिता क्षमा करते, तब तो पादरी साहेब का दृष्टान्त भी ठीक होता और कथन भी। आप के मत के अनुसार—शैतान ने बहुत से अपराध किये हैं। परन्तु; ईश्वर ने उसको आज तक कोई दण्ड दिया कि नहीं? और भविष्य में भी उसको कोई दण्ड देगा वा नहीं। जब शैतान को बनाया, तब तो वह पवित्र था। फिर जब उसने पाप किया ईश्वर ने उसे क्षमा क्यों नहीं किया? और आगे भी क्षमा करेगा, वा नहीं?

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

हमारे सुयोग्य विद्वान् और प्रिय मित्र स्वामी दयानन्द जी घबरायें नहीं। मैं विषय से बचकर न चलूँगा। परन्तु यह मुझे अधिकार है कि मैं जिस प्रकार भी उचित समझूँ, उसी प्रकार अपनी युक्ति का आधार स्थिर करूँ। पहिले मैं बुद्धि से यह सिद्ध कर रहा हूँ कि क्षमा की सम्भावना है। फिर आगे चलकर देख लेना, मैं शास्त्रीय प्रमाणों से भी यह सिद्ध करूंगा कि ईश्वर पाप क्षमा करता है। अर्थात् आज का विषय कि ईश्वर पाप क्षमा भी करता है, वह बुद्धिपूर्वक है कि नहीं? और फिर इसका विशेष कथन न करूंगा।

मेरी युक्ति तीन प्रकार की है। बुद्धिपूर्वक है, शास्त्र-सिद्ध है और अनुभव से भी पुष्ट है। वह डाकू का उदाहरण इस प्रकार से है कि अनुशासन को स्थिर रखने के लिये डाकू को क्षमा करना अच्छा नहीं है। परन्तु कौन नहीं जानता कि कभी-कभी डाकुओं को क्षमा करने के भी बड़े उत्तम-उत्तम परिणाम निकलते हैं। एक उदाहरण है—

योहन्ना रसूल ने एक आदमी को ईसाई धर्म में दीक्षित किया। वह डाकू था। बाद में वह धर्म से बहिष्कृत किया गया और जंगल में भाग गया तथा बड़े-बड़े डाकुओं का काम करने लगा। योहन्ना उसकी खोज करने जंगल में गया। पहिले तो डाकू ने उसे मार डालना चाहा, परन्तु योहन्ना बूढ़ा था। वह उससे न डरा और पास जाकर बोला कि मैं तो बूढ़ा आदमी हूँ, मुझे क्यों मारते हो? डाकू का हृदय परिवर्तन हो गया। उसने डाकुओं का साथ छोड़ दिया और योहन्ना के साथ चला आया। फिर वही डाकू बहुत उत्साही प्रचारक और साधु पुरुष बन गया। उसने फिर कभी कोई अपराध नहीं किया और अपना जीवन बहुत पवित्रता से व्यतीत किया। डाकुओं आदि के विषय में जब कि मनुष्य भी क्षमापूर्ण व्यवहार करते ही हैं, तब यह भी सम्भावना है कि ईश्वर भी क्षमा कर देता है और यह पूर्णतया सम्भव है। ईश्वर तो मनोगत बातों को भी जानने वाला है।

ईसाइयों का सिद्धान्त यह है कि यह वसीला, जिस से क्षमा प्राप्त होती है, निष्कलंक अवतार ईसा मसीह का इस संसार में पैदा होना है।

मैं पण्डितजी से पूछता हूँ कि अदिति का क्या अर्थ है? म्यूर साहेब की पुस्तक का जो जिकर मैंने किया है, सो स्वामीजी जल्दी में किसी बात को उलटी न समझें। मैं कोई मूर्ख नहीं हूँ। म्यूर साहेब की पुस्तक अंग्रेजी में, परन्तु उसमें साथ ही संस्कृत श्लोक भी वेद के भरे हुए हैं। अंग्रेजी जानने वाले सज्जन म्यूर साहेब के प्रमाणों और युक्तियों को अंग्रेजी में भी देख सकते हैं और अपनी संस्कृत में भी समझ सकते हैं।

शैतान का जो हाल है, सो हम नहीं जानते। शायद उसको बीस बार क्षमा मिल चुकी है और अब उसे क्षमा मिलने की कोई आशा नहीं है। फिर भी कौन जानता है? हाँ, इतना हम जानते हैं कि आज शैतान का विषय नहीं है। मैं पण्डितजी से यह पूछता हूँ कि क्या क्षमा कभी भी नहीं होनी चाहिये? क्या मनुष्य के हृदय में क्षमा करने वा क्षमा चाहने का कुछ भी विचार कभी नहीं होता? क्या क्षमा शब्द का संसार में कुछ भी काम नहीं है? पण्डितजी इस बात पर विचार करें।

—हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

मैं क्या घबराया हूँ जो आपने कहा कि घबरायें नहीं। जब पहिले कहा कि ईश्वर पापों को माफ भी करता है और अब कहा कि कर सकता है, तो क्या ये दोनों परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं और क्या इस प्रकार आप प्रतिज्ञा-हानि नहीं कर रहे? तर्क शास्त्र प्रमाण और अनुभव आप्त पुरुषों का ही सत्य होता है। प्रत्येक जनसाधारण का नहीं। जब डाकू का कहीं-कहीं क्षमा करना अच्छा है, तो आजकल की सरकार को भी चाहिये कि किसी अवसर पर डाकुओं को क्षमा करे।

योहन्ना के क्षमा करने से क्या प्रत्येक अपराध क्षमा के योग्य हुआ?

उसने भयवश, या किसी स्वार्थवश क्षमा किया होगा। तो क्या उसने यह कोई अच्छा काम किया? और जब तक उसने डाका मारना न छोड़ा था, तब तक अपने साथ क्यों न रखा? और जो कहा कि क्षमा करने से लिया तो यह बात सत्य नहीं है। क्योंकि जब उसने डाके का काम छोड़ दिया और अच्छे काम करके, अच्छा आदमी बना, तब साथ रखा। भले और बुरे दोनों प्रकार के कामों का फल ईश्वर यथायोग्य देता है। जब पादरी साहेब का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है, फिर उसके विरुद्ध पादरी साहेब ने कथन किया कि जब कभी हम क्षमा करते हैं, तो ईश्वर क्षमा नहीं करता। और जब हम क्षमा नहीं करते, तो ईश्वर क्षमा करता है।

पादरी साहेब ने मुझ से अदिति का अर्थ पूछा है। सो पृथिवी, अन्तरिक्ष, माता, पिता और ईश्वर आदि अर्थ हैं। जैसे किसी हल जोतने वाले के सामने वा और विद्या वाले के सामने रत्नों की वा और-और विद्याओं की बात करें, तो क्या वह व्यर्थ नहीं है? जो शैतान का पाप क्षमा न किया जायेगा, तब तो शैतान के विषय में आपका सिद्धान्त अटक गया। क्षमा शब्द किसी और मुहावरे के लिये है। दण्ड तो दिया जाता है, परन्तु समर्थ को जैसा दण्ड दिया जाता है, वैसा असमर्थ को नहीं। जैसे कि पागलों को पागलखाने में भेजा जाता है। यदि ईश्वर ईसा के वसीले से क्षमा करता है, तो क्या वह खुशामदी नहीं है? क्या आप ईश्वर के सामने भी वकील आदि की आवश्यकता समझते हैं? क्या आप उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् नहीं मानते? और यदि आप ईसा के वसीले से पापों को क्षमा होना मानते हैं, तो ईसा ने जो पाप किये, उनको क्षमा करने का वसीला क्या है?

—हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

अब यहां पर कुछ विचार करना उचित है। क्षमा करना और बात है तथा दिल को पवित्र करना और बात है। इसलिये मनुष्य की क्षमा और ईश्वर की क्षमा में बहुत भेद है। जब मनुष्य तोबा करे और उस नियम पर चले जो कि उसके लिये नियत और विहित है, तब ईश्वर उसको क्षमा कर देता है। और उसके हृदय को भी पवित्र कर देता है। और मेरा भाव यह है कि ईश्वर ने किसी को क्षमा किया और उसके हृदय को भी

पवित्र किया, इसकी पूर्ण सम्भावना है, परन्तु फिर भी मनुष्य की स्वतन्त्रता और धर्मशास्त्र के कारण नियम के अनुसार वह क्षमा नहीं होता। यही मेरा अभिप्राय है।

और, क्षमा का लाभ इसमें प्रतीत होता है कि बीसियों विचारवान् युक्ति-तर्क-विशेषज्ञ भली प्रकार जानते हैं कि क्षमा का परिणाम बहुत उत्तम निकलता है। कोई हठ वा दुराग्रहवश इस सिद्धान्त से इनकार करे, तो करे। पण्डितजी का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर किसी को भी विना दण्ड दिये छोड़ता नहीं। परन्तु योहन्ना ने इस डाकू को दण्ड नहीं दिलाया, क्षमा कर दिया। और हमारा यह सिद्धान्त है कि ईश्वर जब भी उसे उचित प्रतीत होता है, क्षमा कर देता है। जैसा कि धर्म-शास्त्र में लिखा है।

पण्डितजी ने अदिति के अर्थ परमेश्वर भी लिखे हैं। और म्यूर साहेब का दावा है कि अदिति वेद के प्रमाण से पापों को क्षमा भी कर देती है। यदि शैतान अभी तक माफ नहीं किया गया, तो यह किसी प्रकार भी मेरे दावे के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि आज के विषय में एक शब्द ''भी'' मौजूद है और यह ''भी'' अवस्था और परिस्थिति के अनुसार कभी दण्ड और कभी क्षमा इन दोनों को बताता है। पण्डितजी का दावा है कि ईश्वर कभी भी क्षमा नहीं करता, अत: ''क्षमा'' शब्द को ही संसार से हटा दो। इसके प्रतिकूल यदि ईश्वर कभी किसी एक पाप को भी क्षमा करता है, तो केवल उसी से मेरा पक्ष सिद्ध हो जाता है। मेरा पक्ष यह नहीं है कि ईश्वर क्षमा ही करता है; अपितु यह मेरा पक्ष है कि ईश्वर क्षमा भी करता है। इस ''भी'' पर विशेष ध्यान दीजिये।

ईसा के वसीले का विषय आज नहीं है। इसलिये इस विषय में मैं आज कुछ नहीं कहता। हमारे लिये आज यह जान लेना ही बहुत है कि किस वसीले से पाप क्षमा होता है। उदाहरण के लिये देखिये—दवाई से दर्द हट जाता है। हम दवाई के विषय में विशेष कुछ नहीं जानते, परन्तु न जानने से क्या भेद पड़ता है? दर्द तो दूर हो ही जाता है। इसी प्रकार क्षमा होने की भी एक शर्त तो है।

अब शास्त्रीय प्रमाण आरम्भ होता है। इस में मैं अधिक कुछ नहीं लिखता। जो लोग इस विषय में कुछ विशेष जानना चाहें, और प्रमाण पूछें, वे कल की लिखित पर विचार करें, तथा तौरेत में, खरूज की किताब, अध्याय चौंतीस, आयत आठ और गिनती की किताब, अध्याय

चौदह, आयत अट्ठारह को पढ़ें एवं विचार करें।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

क्षमा करना, पवित्र होना है वा नहीं? क्या क्षमा करना पवित्र होने के लिये है? जो कहें कि पवित्र होने के लिये, तो ठीक नहीं। क्योंकि क्षमा करने से पाप की निवृत्ति, संसार में देखने में नहीं आती। और जो अशुद्ध होने के लिये क्षमा होना कहा जाये, तब तो क्षमा करना ही सर्वथा व्यर्थ हो जाये। जब हमारे क्षमा करने, और ईश्वर के क्षमा करने में भेद है, तो आपने पहिले क्यों कहा था कि हम भी दयालु हैं और ईश्वर तुल्य हैं। और ईश्वर के सामने क्षमा कराने वाला योहन्ना मौजूद है, तब तो ईश्वर भी खुशामद को पसन्द करने वाला तथा बेसमझ सिद्ध होता है। क्या योहन्ना मनुष्य नहीं था कि जिसने क्षमा किया? क्या योहन्ना कोई राजा था? वह राजा या ईश्वर नहीं था, यह मैं जानता हूँ।

न्याय दण्ड देने से छोड़ता नहीं है और छोड़ता भी है। यह बात परस्पर विरुद्ध है। जो पादरी साहेब ने यहां मनुष्यों के राज के विषय में यह कहा कि कानून की पाबन्दी करनी आवश्यक है, अतः डाकुओं को क्षमा नहीं किया जा सकता, तो मैं पूछता हूँ कि क्या ईश्वर के घर में कानून की पाबन्दी नहीं है? क्या कोई कह सकता है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है? यदि नहीं तो फिर योहन्ना के कहने, फुसलाने और खुशामद करने से वह क्षमा करने को राजी क्यों हो गया? ऐसी बातों से तो ईश्वर की सर्वज्ञता नष्ट होती है।

और जो पादरी साहेब ने कहा कि ईश्वर कभी दण्ड देता है और कभी क्षमा भी करता है। यह बात ऐसी ही मिथ्या है, जैसे कि अग्नि कभी गर्म होती है और कभी ठण्डी हो जाती है। और जो यह बात कही कि आज ईसा मसीह का विषय नहीं है। सो आपने ही आज ईसा का विषय बीच में छेड़ा है। क्योंकि आपने कहा कि ईश्वर ईसा के वसीले से पापों को क्षमा करता है। यहां मैं यह पूछता हूँ कि ईसा जीव था या ईश्वर? जो कहें कि जीव था, तो सभी आदमी जीव हैं। सभी ईश्वर के सामने क्षमा कराने वाले हुए। फिर आप एकमात्र ईसा का नाम ही क्यों लेते हैं? और जो कहो कि ईसा ईश्वर था, तो अपने आप ही वह वसीला अथवा

साक्षी कभी नहीं बन सकता। जो कहें कि उसमें जीवात्मा और परमात्मा दोनों थे, तो दोनों के क्या-क्या काम थे? और दोनों साथ-साथ थे या पृथक्-पृथक्?

जो कहें कि पृथक् थे, तो व्याप्य-व्यापकता न रही। जो कहें कि व्याप्य-व्यापकता है, तो ईसा में और इन सब जीवों में क्या भेद है? जो कहें कि विद्या पढ़े थे। सो भी ठीक नहीं। क्योंकि इंजील के लेख से मालूम होता है कि वह विद्वान् नहीं था। परन्तु एक साधु पुरुष था।

जो लोग ईसा को मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार जब यहूदियों ने ईसा को फांसी पर चढ़ाया, तो उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि—हे ईश्वर! तूने मुझे क्यों छोड़ दिया? ऐसी बातों से उसमें केवल साधारण जीव ही गति करता था, ईश्वर नहीं। किन्तु ईश्वर तो जैसे सब में व्यापक है वैसे ही उस में था। जो कहें कि उसने मुरदों को जीवित किया, अन्धों को आँखें दीं और कोढ़ियों को चंगा किया, भूत निकाले, इसलिये वह ईश्वर था। यहां मैं कहता हूं कि ये बातें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों और सृष्टिक्रम आदि से विरुद्ध होने से विद्वानों के मानने योग्य न कभी थी, न हैं और न कभी होंगी। हां, ये बातें पौराणिकों के अनुसार हैं।

पक्षी बोला, पशु हाथी आदि आदम की बोली में बोले। जैसा कि तौरेत में लिखा है कि गदहे आदमी की बोली बोले। क्या इन बातों को कोई विद्वान् कभी मान सकता है? अथवा किसी विद्वान् से इन बातों को मनवा सकता है?

और जो यह कहा कि दवा खाने से रोग छूट जाते हैं, वैसा ही वह पापों को क्षमा करना भी है। तो क्या दवा का नियम से सेवन करना, परहेज करना, वैद्य के कहने के अनुसार चलना, अपनी मर्जी से न चलना, यह सब दण्ड नहीं है?

अब तीन दिन से मुझ से और पादरी साहेब से जो वार्तालाप हुआ है, उसके विषय में मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यह समझता हूँ कि मैंने पुनर्जन्म का सिद्धान्त सिद्ध कर दिया। पादरी साहेब उसका खण्डन नहीं कर सके। और पादरी साहेब अपने सिद्धान्तों के मण्डन करने में तथा उसके विषय में मेरे प्रश्नों के युक्ति और प्रमाण से उत्तर देने में भी समर्थ नहीं हुए।

—हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहेब

अब विचार करने वाले भाई विचार करें। क्योंकि इस लिखाई के बीच में शास्त्रार्थ के नियमों के विरुद्ध बहुत सी बातें कही गई हैं और वे लिखी नहीं गईं। इसका परिणाम वही हुआ है कि जिसके ऊपर झगड़ा हुआ। अर्थात् केवल अर्थ मिलाने के लिये मैं एक वाक्य सुनाना चाहता था। परन्तु मैंने यह आवश्यक न समझा कि लिखने वाले से उसे लिखने के लिये भी कहूँ। अब मैं केवल उस प्रमाण का ही उल्लेख करता हूँ। भाषा के शब्दों का विचार मैं न करूँगा। जो चाहें वे पुस्तक में उस स्थल को निकाल कर देख लें। हां, यह मैं लिखवा दूंगा कि मैं प्रमाण किस उद्देश्य से देता हूँ। पण्डित जी का यह कहना कि मेरी दलील पक्की नहीं है, और मैंने यूँ सिद्ध किया है, इत्यादि। इसमें कुछ भी सार नहीं है। मैं भी इस प्रकार कह सकता हूँ। अब यह सुनने वालों का काम है कि वे विचार करके, स्वयमेव निर्णय करें। और यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मैं यह नहीं चाहता कि इस विषय में किसी प्रकार का पक्षपात किया जाये।

पण्डितजी ने इस बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया कि "क्षमा" शब्द को संसार से बहिष्कृत क्यों नहीं कर दिया जाता। यह एक व्यर्थ और हानिकारक शब्द है। इससे सदा सबकी हानि ही होती है। यदि पण्डितजी के कथनानुसार यही बात है, तो बहिष्कार जरूरी है। मैं तो नि:सन्देह यह कहता हूँ कि क्षमा करने से भगवान् की महिमा का प्रकाश होता है। ईश्वर की बड़ाई इसी में है कि वह मनुष्य को क्षमा करे। क्योंकि मैंने कहा कि वह सब गुप्त भेदों को भी यथावत् जानता है। और क्षमा करने के देश, काल तथा पात्र को भी भली प्रकार जानता है। और क्षमा करने के कारणों को भी पूर्णतया जानता है। ईश्वर के घर में न तो कुछ कमी है और न ही किसी प्रकार की भूल वा भ्रान्ति की कोई सम्भावना है। ये कमियां और त्रुटियां इस संसार में ही हैं।

देखो, संसार में कितना पाप, अन्याय, घमण्ड और रक्तपात तथा और भी अनेकविध अनाचार दृष्टिगोचर हो रहा है। पण्डित जी इसे स्वीकार नहीं करेंगे; परन्तु प्रत्यक्ष ही संसार में भारी कमी और त्रुटि देखने में आ रही है। जैसा कि अंग्रेजी सरकार ने इसका यथोचित प्रबन्ध किया है, ईश्वर भी इसका प्रबन्ध करेगा।

मैं नि:सन्देह मसीह के विषय में कोई वार्ता न चलाऊंगा। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि इस पवित्र धर्म-ग्रन्थ में जिस को क्षमा करने का उल्लेख है, वह उसी वसीले से है। यह दर्द का जिक्र तो है, परन्तु दर्द का विवरण यह नहीं है कि कहां-कहां, कैसे-कैसे है? जब कभी इस विषय पर वार्ता चलेगी; तब आप इसे यथार्थ रूप में देख लेंगे। युक्ति और प्रमाण के आधार पर मेरा निवेदन यही है कि क्षमा होती है।

और तोबा के सिद्धान्त से भी यही प्रमाणित होता है कि क्षमा होती है। उपाय को खूब जानना और ईश्वरीय पुस्तक के विषय में इस प्रकार से हंसी-ठट्ठा करना यदि पण्डितजी को उचित प्रतीत होता है और वे प्रत्येक बात को उलटे रूप में ही समझना चाहते हैं, तो वे जानें। वेद की अनेकानेक बातें हैं; परन्तु यहां उनके विषय में मैं विशेष कुछ कहना नहीं चाहता। अब आप मेरे इन उत्तरों को कृपया देख लीजिये—

गिनती की पुस्तक अध्याय १४ आयत १८ का अर्थ इस प्रकार है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

लूका की इंजील अध्याय ९, आयत ४ तथा अध्याय १५ और आयत १०, इसी प्रकार योहन्ना का पहिला पत्र अध्याय १ आयत ९ इन का अर्थ यह है कि पापों को क्षमा किया जाता है। फिर मसीह ने अपने चेलों को समझाया कि अपनी प्रार्थना में इस प्रकार से बोलो—"हे ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर।"

अब अनुभवसिद्ध प्रमाणों पर भी विचार कीजिये। अनुभव के आधार पर सत्य को जानना बहुत बड़ी बात है और अपना अनुभव सत्यासत्य का निर्णय करने की सब से बड़ी कसौटी है। मनुष्य कह सकता है कि मेरा पाप क्षमा किया जाये। और इसके साथ ही ऐसा कथन निराधार है। क्योंकि जैसे पंडित जी ने स्वयं भी एक उदाहरण में बताया कि प्रत्येक पापी को दण्ड अवश्य ही मिलेगा। वह पाप भी है। फिर जब तोबा-तोबा कहा, तब भी वही पाप मौजूद है। फिर खुदा के बेटे का नाम लिया, तब भी पाप वर्तमान है। मैं यह मान लेता हूँ कि मनुष्य मिथ्या-कथन करे।

कल्पना करो कि वे सच्ची तोबा करके सन्मार्ग पर आ जावेंगे और प्रत्यक्ष देख भी लेवें कि अब वह पहिले जैसी बात नहीं है। अब मन में सन्तोष है और शांति है। प्रकाश ही प्रकाश है। न कोई सन्देह है, न चिन्ता

है और न ही कोई आशंका है। अब देख लीजिये कि ऐसे हजारों आदमी संसार में हैं कि जिनका यही अनुभव है। और उन्होंने अपने अनुभव से यह भली प्रकार जान लिया है कि ईश्वर ने मेरे पापों को क्षमा कर दिया है। वे अब पूर्णतया सन्तुष्ट हैं। उनके हृदय पर न तो पाप की छाप शेष है और न ही पाप का कोई भार है। पापाचरण की किसी प्रकार की इच्छा वा कल्पना भी नहीं है। एक क्षणमात्र में हृदय परिवर्तन हो गया है।

मेरी ओर से इंजील के अनुसार प्रमाण मिल चुका है। यह कहना बहुत ही आसान है कि यह मिथ्या है। ऐसा है, और ऐसा नहीं। परन्तु जानने वाले जानते हैं। जिसका दर्द सर्वथा चला गया है, वह जानता है, परन्तु मेरे धर्म के मानने वाले इकतालीस करोड़ ईसाई संसार में हैं। उनमें से बहुत से तो झूठे ही हैं, यह मैं स्वीकार करता हूँ, उनका कथन भी झूठ ही है। परन्तु सच्चे आदमी भी बहुत हैं और उनका कथन भी पूर्णतया यथार्थ है, सत्य है। उनकी जीवनचर्या से यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि उनके सब पाप सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। उनके पापों को क्षमा किया गया है। हां, इसको जानने और समझने के लिये अपना अनुभव होना भी आवश्यक है। यह कार्य अभ्यास से होगा।

मैं फिर कहता हूँ कि वह अपने अनुभव का प्रमाण, सब से बढ़कर और पक्का प्रमाण है। युक्ति और तर्क की पुष्टि से भी बढ़कर यह पुष्टि है कि जिसको अपने अनुभव के आधार पर अपना अन्तरात्मा भी पुष्ट करता है। बात यह नहीं है कि हम केवल मौखिक कथनमात्र ही करते हैं, ऐसा कथन तो मिथ्या भी हो सकता है परन्तु जिसके पाप तोबा करने के बाद अपना अस्तित्व सर्वथा खो चुके हैं, वह नहीं जानता कि जैसे कि कोई पिता अपने पुत्र से क्षमा का वचन कहे, तो क्या वह पुत्र यह नहीं समझता कि पिता ने उसे क्षमा कर दिया है, और अब चिन्ताओं की कोई आवश्यकता नहीं है। मानव-हृदय की भी इसी प्रकार अवस्था है।

मैंने तर्क युक्तियों और शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा तथा मनुष्यों के अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर, यह सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

—हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

२४

शास्त्रार्थ उदयपुर

शास्त्रार्थ उदयपुर

महर्षि दयानन्द के उदयपुर निवास के समय मौलवी अब्दुल रहमान सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस तथा जज अदालत उदयपुर के साथ स्वामीजी का यह शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ लिखित रूप में हुआ था। **शास्त्रार्थ के विषय तथा तिथियां निम्नलिखित थीं—**

११ सितम्बर १८८२, सोमवार। विषय—इलहामी पुस्तक कौन-सी है? संसार के सब मनुष्य एक ही जाति के हैं वा कई जातियों के? मनुष्य की उत्पत्ति कब से है और अन्त कब होगा?

१३ सितम्बर, १८८२, बुधवार। विषय—वेद किसकी रचना है? पुराण, मत की पुस्तक हैं या विद्या की?

१७ सिम्बर १८८२, रविवार। विषय—वेद में अन्य धर्मों की पुस्तकों से क्या विशेषता है?

उपर्युक्त शास्त्रार्थ का उल्लेख ऋषि के भाद्रपद शुदि (?) सं० १९३९ के पत्र में भी मिलता है। पत्र में लिखा है—''यहां श्री महाराणा जी प्रतिदिन मिलते हैं और समागम करते हैं। और एक मौलवी से प्रश्नोत्तर प्रतिदिन होते हैं, और वे लिखे भी जाते हैं, सो तुम्हारे पास भेजेंगे''।

यह शास्त्रार्थ पं० लेखराम द्वारा संगृहीत ऋषि के जीवन-चरित में अक्षरश: प्रकाशित हुआ है। उसके प्रारम्भ में लेखराम जी ने निम्न टिप्पणी लिखी है—

[''मुबाहिसा स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी और मौलवी अब्दुल रहमान सुपरिण्टेण्डेण्ट व जज अदालत उदयपुर, मुल्क मेवाड़।'']

पं० ब्रजनाथ जी हाकिम सायर, मुल्क मेवाड़ (जो उस वक्त इस मुबाहिसा के लिखने वाले थे) ने बयान किया कि मैं उस वक्त स्वामी जी के दरमियान मुतर्जब (अनुवादक) भी था। अरबी के दकीक (क्लिष्ट) अल्फाजों का तर्जुमा स्वामीजी को और संस्कृत के दकीक अल्फाज का तर्जुमा मौलवीजी को बता दिया करता था। यह मुबाहिसा मैंने उस वक्त अपने हाथ से लिखा, जिसकी दो असल कापी मेरे पास पेंसिल से लिखी हुई अभी तक मौजूद हैं।

''तीन आदमी इस मुबाहिसा के लिखने वाले थे। एक पं० ब्रजनाथ जी हाकिम सायर, दूसरे मिर्जा मोहम्मद खां वकील, हाल मेम्बर कौंसिल टोंक, तीसरे मुंशी रामनारायण जी सरिश्तेदार बागे कलां सरकारी, जिनमें से पहले और तीसरे साहिबान की असल कापियां हमको मिली हैं, और जिनकी मौलवी साहब ने भी तस्दीक की। मगर उनकी दानाई और ईमानदारी पर अफसोस है। उस वक्त तो कोई माकूल जवाब न बन आया और न बाजे अजां० दिसम्बर १८८१ में बेबुनियाद और झूठे हवाले से कुछ का कुछ असल तहरीर के खिलाफ शाया करके अपनी दीन दारी का शवोफां दिखलाया। इस मुबाहिसा के रोज सामईन हिन्दू मुसलमान खास आम की बहुत कसरत थी। यहां तक कि श्री दरबार वैकुण्ठवासी महाराज सज्जनसिंह जी भी मुबाहिसा समाअत फर्माने को तशरीफ फर्मा हुये थे।''

इस टिप्पणी के पश्चात् पं० लेखराम संगृहीत जीवन-चरित में शास्त्रार्थ का पाठ प्रकाशित हुआ है, और अन्त में एक नोट इस प्रकार पुन: लिखा गया है—

''पण्ड्या मोहनलालजी ने कहा कि मौलवी साहब के मुबाहिसा के अव्वल रोज तो राणासाहब नहीं आये थे, मगर उन्होंने मुबाहिसा तहरीरी होना मंजूर फरमाया था। आखिर रोज श्री हजूर तशरीफ लाये थे, और मौलवी साहब की जिद्द देखकर दरबार ने इर्शाद फरमाया कि जो कुछ स्वामीजी ने कहा है वह बेशक ठीक है। फिर मुबाहिसा नहीं हुआ। कविराज श्यामलदासजी ने भी इसकी ताईद की।''

पं० लेखराम संगृहीत जीवन-चरित में उद्धृत होने के अतिरिक्त यह शास्त्रार्थ अभी तक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुआ है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्वसंगृहीत जीवन-चरित में इसका संक्षेप में उल्लेख किया है। यहां कविराज रघुनन्दन सिंह निर्मल द्वारा सम्पादित 'दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह' से यह शास्त्रार्थ-उदयपुर उद्धृत किया जाता है।

शास्त्रार्थ-उदयपुर

[स्वामी दयानन्दजी महाराज और मौलवी अब्दुर्रहमान साहब सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस तथा न्यायाधीश न्यायालय उदयपुर, मेवाड़ देश के मध्य में होने वाला शास्त्रार्थ]

११ सितम्बर १८८२, भादों बदी चौदस, सं० १९३९ सोमवार।

प्रथम प्रश्न

मौलवी साहब—ऐसा कौन सा मत है, जिसकी मूल पुस्तक सब मनुष्यों की बोलचाल और समस्त प्राकृतिक बातों को सिद्ध करने में पूर्ण हो? जब बड़े बड़े मतों पर विचार किया जाता है, जैसे भारतीय वेद, पुराण, या चीन वाले चीनी, जापानी, बर्मी बौद्ध वाले, फार्सी जिन्द [अवेस्ता] वाले, यहूदी तौरेत वाले, नसरानी इन्जील वाले, मौहम्मदी कुरान वाले, तो प्रकट होता है कि उनके धार्मिक नियम और मूल विशेष एक देश में एक भाषा के द्वारा एक प्रकार से ऐसे बनाये गये हैं, जो एक दूसरे से नहीं मिलते। और इन मतों में से प्रत्येक मत के समस्त गुण और विशेष चमत्कार उसी देश तक सीमित हैं, जहां वह बना है। जिनमें से कोई एक लक्षण तथा चिह्न उसी देश के अतिरिक्त दूसरे देश में नहीं पाया जाता, प्रत्युत दूसरे देश वाले अनभिज्ञता के कारण उसे बुरा जानकर उसके प्रति मानवी व्यवहार तो क्या उसका मुख तक देखना नहीं चाहते। ऐसी दशा में सब मतों में से कौन-सा मत सत्य समझना चाहिये?

स्वामीजी—मतों की पुस्तकों में से विश्वास के योग्य एक भी नहीं, क्योंकि [वे सब] पक्षपात से पूर्ण हैं। जो विद्या की पुस्तक पक्षपात से रहित है, वह मेरे विचार में सत्य है। और ऐसी पुस्तक का साधारण प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध न होना भी आवश्यक है। मैंने जो खोज की है, उसके अनुसार वेदों के अतिरिक्त कोई पुस्तक नहीं है जो विश्वास के योग्य हो। क्योंकि समस्त पुस्तकें किसी न किसी देश विशेष की भाषा में हैं, और वेद की भाषा किसी देश की विशेष भाषा नहीं, केवल विद्या की भाषा है। क्योंकि यह विद्या की पुस्तक है, इसी कारण से किसी मत विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। यही पुस्तक समस्त देशीय भाषाओं का मूल कारण है[१], और पूर्ण होने से प्रसिद्ध भलाइयों तथा निषिद्ध बुराइयों

१. यही बात सत्यार्थप्रकाश के सप्तमसमुल्लास और पूना प्रवचन में भी कही है।

की परिचायक है, और समस्त प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है।

मौलवी—क्या वेद मत की पुस्तक नहीं है?

स्वामी—वेद मत की पुस्तक नहीं है, प्रत्युत विद्या की पुस्तक है।

मौलवी—मत का आप क्या अर्थ करते हैं?

स्वामी—पक्षपात सहित को मत कहते हैं, इसी कारण से मत की पुस्तक सर्वथा मान्य नहीं हो सकती।

मौलवी—हमारे पूछने का अभिप्राय यह है कि समस्त मनुष्यों की भाषाओं पर तथा समस्त मनुष्यों के आचार पर, और समस्त प्राकृतिक नियमों पर कौन-सी पुस्तक पूर्ण है? सो आपने वेद निश्चित किया। सो वेद इस योग्य है वा नहीं।

स्वामी—हां है।

मौलवी—आपने कहा कि वेद किसी देश की भाषा में नहीं। जो किसी देश की भाषा नहीं होती, उसके अन्तर्गत समस्त भाषायें कैसे हो सकती हैं?

स्वामी—जो किसी देश विशेष की भाषा होती है, वह किसी दूसरी देश-भाषा में व्यापक नहीं हो सकती। क्योंकि उसी में बद्ध (सीमित) है।

मौलवी—जब एक देश की भाषा होने से वह दूसरे देश में नहीं मिलती, तो जब वह किसी देश की है ही नहीं, तो सब में व्यापक कैसे हो सकती है?

स्वामी—जो एक देश की भाषा है, उसका व्यापक कहना सर्वथा विरुद्ध है। और जो किसी देश विशेष की भाषा नहीं वह सब भाषाओं में व्यापक है, जैसे आकाश किसी देश विशेष का नहीं है, इसी से सब देशों में व्यापक है। ऐसे ही वेद की भाषा भी किसी देश विशेष से सम्बन्ध न रखने से व्यापक है।

मौलवी—यह भाषा किसकी है?

स्वामी—विद्या की।

मौलवी—बोलने वाला इसका कौन है?

स्वामी—इसका बोलने वाला सर्वदेशी है।

मौलवी—तो वह कौन है?

स्वामी—वह परब्रह्म है।

मौलवी—यह किसको सम्बोधन की गई है?

स्वामी—आदि सृष्टि में इसके सुनने वाले चार ऋषि थे, जिनका नाम अग्नि, वायु, आदित्य [और] अंगिरा था। इन चारों ने ईश्वर से शिक्षा प्राप्त करके दूसरों को सुनाया।

मौलवी—इन चारों को ही विशेष रूप से क्यों सुनाया?

स्वामी—यह चार ही सब में पुण्यात्मा और उत्तम थे।

मौलवी—क्या इस बोली को वह जानते थे?

स्वामी—उस जानने वाले ने उसी समय उनको भाषा भी जना दी थी, अर्थात् उस शिक्षक ने उसी समय उनको भाषा का ज्ञान दे दिया।

मौलवी—इसको आप किन युक्तियों से सिद्ध कर सकते हैं?

स्वामी—विना कारण के कार्य कोई नहीं हो सकता।

मौलवी—विना कारण के कार्य होता है या नहीं?

स्वामी—नहीं।

मौलवी—इस बात की क्या साक्षी है?

स्वामी—ब्रह्मादिक अनेक ऋषियों की साक्षी है, और उनके ग्रन्थ भी विद्यमान हैं।

मौलवी—यह साक्षी सन्देहात्मक और बुद्धि-विरुद्ध है। कारण कथन कीजिये।

स्वामी—वेद की साक्षी स्वयं वेद से प्रकट है।

मौलवी—इसी प्रकार सब मतवाले भी अपनी-अपनी पुस्तकों में कहते हैं।

स्वामी—ऐसी बात दूसरे मतवालों की पुस्तकों में नहीं हैं, और न वह सिद्ध कर सकते हैं।

मौलवी—पुस्तक वाले सभी सिद्ध कर सकते हैं।

स्वामी—मैं पहले से कह चुका हूँ कि मतवाले ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते, और यदि कर सकते हैं तो बताइये कि मोहम्मद साहब के पास कुरान कैसे पहुंचा?

मौलवी—जैसे चारों ऋषियों के पास आया।

[**नोट**—खेद है कि मौलवी साहब ने विना सोचे समझे ऐसा कह

दिया। यह किसी प्रकार ठीक नहीं। न तो कुरान आदि सृष्टि में मोहम्मद साहब की आत्मा में प्रकाशित हुआ और न उसमें वर्णित कहानियाँ ही ऐसी हैं, जो आदि सृष्टि से सम्बन्धित हों, और न उसकी भाषा ही ऐसी है। मोहम्मद साहब और खुदा के मध्य में तीसरा जिबराइल और असंख्य फरिश्तों की चौकीदारी और पहरा और आकाश से उतरना आदि समस्त बातें ऐसी हैं जिनसे कोई मौहम्मदी भाई इन्कार नहीं कर सकता। इसलिये कुरान किसी प्रकार भी इस विशेषण का पात्र नहीं हो सकता, और उस्मान और कुरानों के बदलने की कहानी इसके अतिरिक्त है।]

दूसरा प्रश्न—

मौलवी—समस्त संसार के मनुष्य एक जाति के हैं, अथवा कई जातियों के?

स्वामी—जुदी-जुदी जातियों के हैं।

मौलवी—किस युक्ति से?

स्वामी—सृष्टि के आदि में ईश्वरीय सृष्टि में उतने जीव मनुष्य-शरीर धारण करते हैं कि जितने गर्भ सृष्टि में शरीर धारण करने के योग्य होते हैं, और वह जीव असंख्य होने से अनेक हैं।

मौलवी—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है?

स्वामी—अब भी सब ही अनेक मां-बाप के पुत्र हैं।

मौलवी—इसके विश्वसनीय प्रमाण कहिए।

स्वामी—प्रत्यक्षादि आठों प्रमाण।

मौलवी—वह कौन से हैं?

स्वामी—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, अभाव।

मौलवी—इन आठों में से एक-एक का उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए।

[इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। कारण अज्ञात है।]

मौलवी—यह जो आकार मनुष्यों के हैं, इनके शरीर एक प्रकार के बने अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के बने?

स्वामी—मुख आदियों में एक से हैं, रंगों में कुछ भेद हैं।

मौलवी—किस-किस के रंग में क्या-क्या भेद है?

स्वामी—छोटाई-बड़ाई में किंचिन्मात्र अन्तर है।

मौलवी—यह अन्तर एक देश अथवा एक जाति में एक ही प्रकार के हैं, अथवा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं?

स्वामी—एक-एक देश में अनेक हैं। जैसे एक मां-बाप के पुत्रों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

मौलवी—हम सब संसार की अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं, तो आपके कथनानुसार नहीं पाते। एक ही देश में कई जातियां जैसे हिन्दी, हब्शी, चीनी इत्यादि देखने में पृथक्-पृथक् विदित होती हैं—अर्थात् चीन वाले दाढ़ी नहीं रखते और तिकौने मुंह के होते हैं। हब्शी, मलन्गाई, चीनी तीनों की आकृतियां परस्पर नहीं मिलती। एक ही देश में यह भेद क्योंकर है?

स्वामी—उनमें भी अन्तर है।

मौलवी—दाढ़ी न निकलने का क्या कारण है?

स्वामी—देश काल और मां बाप आदि के शरीरों में कुछ-कुछ भेद हैं। समस्त शरीर रज वीर्य्य के अनुसार बनते हैं। वात, पित्त, कफ आदि धातुओं के संयोग वियोग से भी कुछ-कुछ भेद होते हैं।

मौलवी—हम समस्त संसार में तीन प्रकार के मनुष्य देखते हैं। जिनका विभाजन इस प्रकार है—दाढ़ी वाले, विना दाढ़ी के, घूंघरू बाल वाले। दाढ़ी वाले भारतीय, फिरंगी, अर्बी, मिश्री आदि। बेदाढ़ी वाले चीनी, जापानी, कैमिस्टको के। घूंघरू बाल वाले हब्शी। इन तीनों की बनावट और प्रकार में बहुत सा भेद है। एक दूसरे से नहीं मिलता। और यह भेद आपके कथन अनुसार ऊपर वाले कारणों से है। यदि एक देश में रहने वाले यह तीनों प्रकार के मनुष्य दूसरे देश में जाकर रहें तो कभी भेद नहीं होता, जाति समान है। इस अवस्था में संसार के मूलरूप आपके कथनानुसार तीन हुये—अधिक नहीं।

स्वामी—भोटियों को किसमें मिलाते हैं। वह किसी से नहीं मिलते। इस प्रकार तीन से अधिक जाति विदित होती हैं।

मौलवी—जैसा भेद इन तीनों में है वैसा दूसरे में नहीं। तीनों जातियों का परस्पर मिल जाना इस थोड़े भेद का कारण है परन्तु इन तीनों की आकृति एक दूसरे से नहीं मिलती।

तीसरा प्रश्न—

मौलवी—मनुष्य की उत्पत्ति कब से है, और अन्त कब होगा?

स्वामी—एक अरब छियानवे करोड़ और कितने लाख वर्ष उत्पत्ति को हुये, और दो अरब वर्ष से कुछ ऊपर तक रहेगी।

मौलवी—इसका क्या कारण और प्रमाण है?

स्वामी—इसका हिसाब विद्या और ज्योतिष शास्त्र से है।

मौलवी—वह हिसाब बतलाइये?

स्वामी—भूमिका[१] के पहले अंक में लिखा है, और हमारे ज्योतिष-शास्त्र से सिद्ध हैं, देख लो।

[१३ सितम्बर १८८२, बुधवार, भादों सुदी एकम १९३९]

चौथा प्रश्न—

मौलवी—आप धर्म के नेता हैं या विद्या के अर्थात् आप किसी धर्म के मानने वाले हैं या नहीं?

स्वामी—जो धर्म विद्या से सिद्ध होता है, उसको मानते हैं।

मौलवी—आपने किस प्रकार जाना कि ब्रह्म ने चारों ऋषियों को वेद पढ़ाया?

स्वामी—प्रदान किये गये वेदों के पढ़ने से और विश्वसनीय विद्वानों की साक्षी से।

मौलवी—यह साक्षी आप तक किस प्रकार पहुंची?

स्वामी—शब्दानुक्रम से और उनके ग्रन्थों से।

मौलवी—प्रश्नों से पूर्व परसों यह निश्चित हुआ था कि उत्तर बुद्धि के आधार पर दिए जायेंगे, पुस्तकों के आधार पर नहीं। अब आप उसके विरुद्ध ग्रन्थों की साक्षी देते हैं।

स्वामी—बुद्धि के अनुकूल वह है जो विद्या से सिद्ध हो, चाहे वह लिखित हो अथवा वाणी द्वारा कहा जावे। समस्त बुद्धिमान् इसको मानते हैं, और आप भी।

मौलवी—इस कथन के अनुसार ब्रह्म का चारों ऋषियों को वेद की शिक्षा देना, विद्या अथवा बुद्धि द्वारा किस प्रकार सिद्ध होता है?

स्वामी—विना कारण के कार्य नहीं हो सकता, इसलिये विद्या का

१. अर्थात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अङ्क में। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण मासिक अंकों के रूप में सन् १८७६ ई० में छपा था।

भी कोई कारण चाहिये? और विद्या का कारण वह है कि जो सनातन हो। यह सनातन विद्या परमेश्वर में उसकी कारीगरी को देखने से सिद्ध होती है। जिस प्रकार वह समस्त सृष्टि का निमित्त कारण है, उसी प्रकार उसकी विद्या भी समस्त मनुष्यों की विद्या का कारण है। यदि वह उन ऋषियों को शिक्षा न देता, तो सृष्टि नियम के अनुकूल यह जो विद्या की पुस्तक है—इसका क्रम ही न चलता।

मौलवी—ब्रह्म ने वेद चारों ऋषियों को पृथक्-पृथक् पढ़ाया अथवा एक साथ क्रमशः शिक्षा दी अथवा एक काल में पढ़ाया?

स्वामी—ब्रह्म व्यापक होने के कारण चारों को पृथक्-पृथक् और क्रमशः पढ़ाता गया, क्योंकि वह चारों परिमित बुद्धि वाले होने के कारण कभी चारों एक समय में और कभी पृथक्-पृथक् समझ कर एक साथ पढ़ते रहे। जिस प्रकार चारों वेद पृथक्-पृथक् हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को एक-एक वेद पढ़ाया।

मौलवी—शिक्षा देने में कितना समय लगा?

स्वामी—जितना समय उनकी बुद्धि की दृढ़ता के लिये आवश्यक था।[१]

मौलवी—पढ़ाना मानसिक प्रेरणा के द्वारा था अथवा शब्द अक्षर आदि के द्वारा, जो वेद में लिखे हुए हैं, अर्थात् क्या शब्द सम्बन्ध सहित पढ़ाया?

स्वामी—वही अक्षर जो वेद में लिखे हुए हैं, शब्दार्थ सम्बन्ध सहित पढ़ाए गये।

मौलवी—शब्द को बोलने के लिए मुख, जिह्वादि साधनों की अपेक्षा है। शिक्षा देने वाले में यह साधन हैं या नहीं?

स्वामी—उसमें यह साधन नहीं है, क्योंकि वह निराकार है। शिक्षा देने के लिये परमेश्वर अवयवों तथा बोलने के साधनादि से रहित है।

मौलवी—शब्द कैसे बोला गया?

स्वामी—जैसे आत्मा और मन में बोला, सुना और समझा जाता है।

मौलवी—भाषा को जाने विना शब्द किस प्रकार उनके मन में आये?

स्वामी—ईश्वर के डालने से, क्योंकि वह सर्वव्यापक है।

मौलवी—इस सारे वार्तालाप में दो बातें बुद्धि के विरुद्ध हैं। प्रथम

१. पूना प्रवचन में पांच वर्ष का संकेत है।

यह कि ब्रह्म ने केवल चार ही मनुष्यों को उस भाषा में वेद की शिक्षा दी, जो किसी देश अथवा जाति की भाषा नहीं। दूसरे यह कि उच्चारित शब्द जो पहले से जाने हुए न थे—दिल में डाले गए और उन्होंने ठीक समझे। यदि यह स्वीकार किया जावे, तो फिर समस्त बुद्धि विरुद्ध बातें जैसे चमत्कार आदि सब मतों के सत्य स्वीकार करने चाहियें।

स्वामी—यह दोनों बातें बुद्धिविरुद्ध नहीं, क्योंकि यह दोनों ही सच्ची हैं। जो कुछ जिह्वा से अथवा आत्मा से बताया जावे, वह शब्दों के विना नहीं हो सकता। उसने जब शब्द बतलाये तो उनमें ग्रहण करने की शक्ति थी। उसके द्वारा उन्होंने परमेश्वर के ग्रहण कराने से अपनी योग्यतानुसार ग्रहण किया। और बोलने के साधनों की आवश्यकता बोलने और सुनने वाले के अलग अलग होने पर होती है, क्योंकि जो वक्ता मुख से न कहे और श्रोता के कान न हों, तो न कोई शिक्षा कर सकता है और न कोई श्रवण। परमेश्वर चूंकि सर्वव्यापक है, इसलिए उनके आत्मा में भी विद्यमान था, पृथक् न था।

परमेश्वर ने अपनी सनातन विद्या के शब्दों को उनके अर्थात् चारों के आत्माओं में प्रकट किया और सिखाया। जैसे किसी अन्य देश की भाषा का ज्ञाता किसी अन्य देश के अनभिज्ञ मनुष्य को जिसने उस भाषा का कोई शब्द नहीं सुना—सिखा देता है, उसी प्रकार परमेश्वर ने जिसकी विद्या व्यापक है, और जो उस विद्या की भाषा को भी जानता था—उनको सिखा दिया। यह बातें बुद्धिविरुद्ध नहीं। जो इनको बुद्धिविरुद्ध कहे वह अपने दावे को युक्तियों द्वारा सिद्ध करे।

मौलवी—पुराण मत की पुस्तकें हैं या विद्या की?

स्वामी—वह प्राचीन पुस्तकें अर्थात् चारों ब्राह्मण विद्या की और पिछली भागवतादि पुराण मत की पुस्तकें हैं जैसे कि अन्य मत के ग्रन्थ। पुराण जो पुरानी पुस्तकें हैं अर्थात् वेद के चार ब्राह्मण हैं—वह वहीं तक सत्य है जहाँ तक वेद के विरुद्ध न हों। और जो अठारह पुराण नवीन हैं जैसे भागवत, पद्मपुराणादि वह प्राकृतिक नियमों और विद्या के विरुद्ध होने से सत्य नहीं, नितान्त झूठे हैं।

मौलवी—जब वेद विद्या की पुस्तक है और पुराण मत की पुस्तकें हैं, और आपके कथनानुसार असत्य हैं, तो आर्यों का धर्म क्या है?

स्वामी—धर्म वह है जिसमें निष्पक्षता, न्याय और सत्य का स्वीकार

और असत्य का अस्वीकार हो। वेदों में भी उसी का वर्णन है, और वही आर्यों का प्रचीन धर्म है। और पुराण केवल पक्षपातपूर्ण सम्प्रदायों अर्थात् शैव, वैष्णवादि से सम्बन्धित हैं, जैसे कि अन्य मत के ग्रन्थ।

मौलवी—पक्षपात आप किसको कहते हैं?

स्वामी—जो अविद्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, कुसंग से किसी अपने स्वार्थ के लिए न्याय और सत्य को छोड़कर असत्य और अन्याय को धारण करना है—वह 'पक्षपात' कहलाता है।

मौलवी—यदि कोई इन गुणों से रहित हो, आर्य न हो, तो आर्य्य लोग उसके साथ भोजन और विवाहादि व्यवहार करेंगे या नहीं?

स्वामी—विद्वान् पुरुष भोजन तथा विवाह को धर्म अथवा धर्म से सम्बन्धित नहीं मानते, प्रत्युत इसका सम्बन्ध विशेष रीतियों, देश तथा समीपस्थ वर्गों से है। इसके ग्रहण अथवा त्याग से धर्म की उन्नति अथवा हानि नहीं होती, परन्तु किसी देश अथवा वर्ग में रहकर किसी अन्य मत वाले के साथ इन दोनों कार्यों में सम्मिलित होना हानिकारक है, इसलिए करना अनुचित है।

जो लोग भोजन तथा विवाहादि पर ही धर्म अथवा अधर्म का आधार समझते हैं, उनका सुधार करना विद्वानों को आवश्यक है। और यदि कोई विद्वान् उनसे पृथक् हो जावे, तो वर्ग को उससे घृणा होगी और यह घृणा उसको शिक्षा का लाभ उठाने से वंचित रखेगी। सब विद्याओं का निष्कर्ष यह है कि दूसरों को लाभ पहुंचाना। और दूसरों को हानि पहुंचाना उचित नहीं।

(रविवार १७ सितम्बर १८८२; भादों सुदी पंचमी सं० १९३९)।

पांचवां प्रश्न—

मौलवी—समस्त धर्म वाले अपनी धार्मिक पुस्तकों को सबसे उत्तम और उनकी भाषा को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, और उसको उस कारण का कार्य भी कहते हैं। जिस प्रकार की बौद्धिक युक्तियां वह देते हैं, उसी प्रकार आपने भी वेद के विषय में कहा। कोई प्रमाण प्रकट न किया, फिर वेद में क्या विशेषता है?

स्वामी—पहले भी इसका उत्तर दे दिया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध विषय जिन पुस्तकों में होंगे, वह

सर्वज्ञ की बनाई हुईं नहीं हो सकतीं। और कार्य का होना कारण के विना असम्भव है। चार मत जो कि समस्त मतों का मूल हैं, अर्थात् पुराणी, जैनी, इंजील तौरेत वाले किरानी, कुरानी—इनकी पुस्तकें मैंने कुछ देखी हैं और इस समय भी मेरे पास हैं। और मैं इनके बारे में कुछ कह भी सकता हूं, और पुस्तक भी दिखा सकता हूं। उदाहरणार्थ—पुराण वाले एक शरीर से सृष्टि का आरम्भ मानते हैं—यह अशुद्ध है, क्योंकि शरीर संयोगज है, इसलिए वह कार्य है, उसके लिए कर्ता की अपेक्षा है।

जिन्होंने इस कार्य को इस प्रकार सनातन माना है कि कोई इसका रचयिता नहीं, वह भी अशुद्ध है, क्योंकि संयोगज पदार्थ स्वयं नहीं बनता। इंजील और कुरान में अभाव से भाव माना है। यह चारों बातें उदाहरणार्थ विद्या के नियमों के विरुद्ध हैं, इसलिए इनकी वेद से समता नहीं कर सकते। वेदों में कारण से कार्य को माना है, और कारण को अनादि कहा है। कार्य को प्रवाह से अनादि और संयोगज होने के कारण सान्त बताया है। इसको समस्त बुद्धिमान् मानते हैं। मैं सत्य और असत्य वचनों के कारण वेद की सत्यता और मतस्थ पुस्तकों की असत्यता कथन करता हूँ।

यदि कोई सज्जन इसको प्रकट रूप में देखना चाहें तो, किसी दिन तीन घंटे के भीतर उन मतों की पुस्तकों को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध सिद्ध करके दिखा सकता हूँ। यदि कोई नास्तिक वेद में से प्राकृतिक निमयों के विरुद्ध कोई बात दिखायेगा, तो उसको विचार करने के पश्चात् केवल अपनी अज्ञानता ही स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिए वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं, न कि किसी मत विशेष की।

छठा प्रश्न—

मौलवी—क्या प्रकृति अनादि है।

स्वामी—उपादान कारण अनादि है।

मौलवी—अनादि आप कितने पदार्थों को मानते हैं?

स्वामी—तीन—परमात्मा, जीव और सृष्टि का कारण यह तीनों स्वभाव से अनादि हैं। इनका संयोग, वियोग, कर्म तथा उन का फल भोग प्रवाह से अनादि है। कारण का उदाहरण—जैसे घड़ा कार्य, उसका उपादान कारण मिट्टी, बनाने वाला अर्थात् निमित्त कारण कुम्हार, चक्र दंडादि साधारण कारण, काल तथा आकाश समवाय कारण।

मौलवी—वह वस्तु जिसको हमारी बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, हम उसको अनादि क्यों कर मान सकते हैं?

स्वामी—जो वस्तु नहीं है, वह कभी नहीं हो सकती, और जो है वही होती है। जैसे इस सभा के मनुष्य जो थे तो यहां आये। यहां हैं तो फिर कहीं होंगे। विना कारण के कार्य का मानना ऐसा है, जैसे वन्ध्या के पुत्र उत्पन्न होने की बात कहना। कार्य वस्तु से चारों कारण, जिनका ऊपर वर्णन किया है, पहले मानने पड़ेंगे। संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं जिसके पूर्वकथित चार कारण न हों।

मौलवी—सम्भव है कि जगत् का कारण, जिसे आप अनादि कहते हैं, कदाचित् वह भी अन्य वस्तु का कार्य हो। जैसे कि बिजली के बनने में कई साधारण वस्तुएं मिलकर ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती हैं जो अत्यन्त महान् है। इस वार्तालाप के परिणाम से प्रकट है कि प्रत्येक वस्तु के लिये कोई कारण चाहिए। तो कारण के लिए भी कोई कारण अवश्य होगा।

स्वामी—अनादि कारण उसका नाम है, जो किसी का कार्य न हो। जो किसी का कार्य हो उसको अनादि अथवा सनातन कारण नहीं कह सकते, किन्तु वह परम्परा और पूर्वापर सम्बन्ध से कार्य कारण नाम वाला होता है। यह बात सब विद्वानों को जो पदार्थ विद्या को यथावत् जानते हैं, स्वीकरणीय है। किसी वस्तु को चाहे जहां तक अवस्थान्तर में विभक्त करते चले जावें, चाहे वे सूक्ष्म हों चाहे स्थूल, जो उसकी अन्तिम अवस्था होगी—उसको कारण कहते हैं। और यह जो बिजली का दृष्टान्त दिया वह भी निश्चित कारणों से होता है, जो उसके लिए आवश्यक हैं। अन्य कारणों से वह नहीं हो सकती।

सातवां प्रश्न—

मौलवी—यदि वेद ईश्वर का बनाया होता, तो अन्य प्राकृतिक पदार्थों सूर्य, जल तथा वायु के समान संसार के समस्त साधारण मनुष्यों को उसका लाभ पहुंचना चाहिए था?

स्वामी—सूर्यादि सृष्टि के समान ही वेदों से सब को लाभ पहुंचता है, क्योंकि सब मतों और विद्या की पुस्तकों का आदि कारण वेद ही है। और [अन्य मतवालों के] इन पुस्तकों में विद्या के विरुद्ध जो बातें हैं, वे अविद्या के सम्बन्ध से हैं। क्योंकि ये सब पुस्तकें वेद के पीछे बनी हैं। वेद के अनादि होने का प्रमाण यह है कि अन्य प्रत्येक मत की पुस्तक में वेद की

बात गौण अथवा प्रत्यक्ष रूप से पाई जाती है, और वेदों में किसी का खण्डन मण्डन नहीं। जैसे सृष्टि विद्या वाले सूर्यादि से अधिक उपकार लेते हैं, वैसे ही वेद के पढ़ने वाले भी वेद से अधिक उपकार लेते हैं, और नहीं पढ़ने वाले कम।

मौलवी—कोई इस दावे को स्वीकार नहीं करता कि किसी काल में वेद को समस्त मनुष्यों ने माना हो। और न किसी मत की पुस्तक में प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से वेदों का खण्डन-मण्डन पाया जाता है।

स्वामी—वेद का खण्डन-मण्डन पुस्तकों में है, जैसे कुरान में बेकिताब वाले और एक उसी ईश्वर के मानने वाले, जैसे बाइबिल में पिता पुत्र और पवित्रात्मा, होम की भेंट, ईश्वर को प्रिय, याजक, महायाजक, यज्ञ, महायज्ञ आदि शब्द आते हैं। जितने मतों के पुस्तक बने हुए हैं, बीच के काल के हैं। उस समय के इतिहास से सिद्ध है कि मुसलमान, ईसाई आदि जंगली थे, तो जंगलियों को विद्या से क्या काम?

पूर्व के विद्वान् पुरुष वेदों को मानते थे, और वर्तमान समय में शब्द विद्या (फिलालोजी) के परीक्षक मोक्षमूलर आदि विद्वान् भी संस्कृत भाषा तथा ऋग्वेदादि को सब भाषाओं का मूल निश्चित करते हैं।[१] जब बाइबिल, कुरान नहीं बने थे, तब वेद के अतिरिक्त दूसरी मानने योग्य पुस्तक कोई भी नहीं थी। मनुष्य की उत्पत्ति का आदि काल ही ऋषियों की वेदप्राप्ति का समय है, जिसको १९६०८५२९८२ वर्ष हुए। इससे प्राचीन कोई पुस्तक नहीं है।

पांडे मोहनलालजी ने कहा कि मौलवी साहब के शास्त्रार्थ के प्रथम दिन तो राणा साहब नहीं आए थे, परन्तु उन्होंने शास्त्रार्थ लिखित होना स्वीकार किया था। अन्तिम दिन श्री महाराज पधारे और मौलवी साहब की हठ देखकर श्री दर्बार साहब ने कहा कि जो कुछ स्वामीजी ने कहा है वह निस्सन्देह ठीक है। फिर शास्त्रार्थ नहीं हुआ। कविराज श्यामलदासजी ने भी इसका समर्थन किया।

---

१. योरोप में जब संस्कृत भाषा पहुंची, तब प्रारम्भ में अनेक विद्वानों ने यही मत प्रकट किया, परन्तु कुछ काल पीछे यहूदी ईसाई मत के पक्षपात और राजनीति कारणों से योरोपियन भाषा-वैज्ञानिकों ने संस्कृत से पूर्व एक काल्पनिक भाषा की सत्ता स्वीकार करके संस्कृत और लैटिन आदि भाषा को बराबर का दर्जा दे दिया।

२५

शास्त्रार्थ-अजमेर

ग्रन्थ परिचय

स्थान	:	अजमेर
समय	:	संवत् १९३५, मार्गशीर्ष सुदी ५, (२८ नवम्बर १८७८; सोमवार)
प्रकाशन	:	'दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह' (रामलाल कपूर ट्रस्ट) 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन'
सम्पादक	:	डॉ० भवानीलाल भारतीय

(सम्पादक)

सम्पादकीय

अजमेर में ऋषि दयानन्द का पादरी ग्रे के साथ शास्त्रार्थ हुआ। इसका विवरण पं० लेखराम द्वारा संगृहीत स्वामीजी के उर्दू जीवन चरित्र में पृष्ठ ७१४ से ७१९ (हिन्दी सं० पृ० ७३७-७४४) तक दिया गया है। 'दयानन्द-दिग्विजयार्क' भाग १ मयूख ६ में भी 'किरानी-मत-खण्डनं' शीर्षक के अन्तर्गत इस शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित हुआ है। मुन्शी बख्तावरसिंह द्वारा सम्पादित 'आर्य-दर्पण' मासिक के जून १८८० के अंक में पृष्ठ १३६ से १४९ पर्यन्त यही विवरण हिन्दी तथा उर्दू में समानान्तर कालमों में प्रकाशित हुआ। इस विवरण के लेखक ऋषि दयानन्द के अनन्यभक्त एवं ऋषि के अन्तिम वर्षों में 'वैदिक यन्त्रालय' के प्रबन्धक मुन्शी समर्थदान थे। जैसा कि नीचे उद्धृत सम्पादक 'आर्यदर्पण' के नाम लिखित मुन्शी समर्थदान के पत्र से ज्ञात होता है। इस शास्त्रार्थ का 'आर्य-दर्पण' में प्रकाशित विवरण यहां दिया जा रहा है।

'मुन्शी समर्थदान' का पत्र सम्पादक 'आर्यदर्पण' के नाम

नमस्ते—मैं आपके पास यह शास्त्रार्थ भेजता हूँ। कृपा करके अपने बहुमूल्य पत्र में इसको स्थान दीजिये। इसमें जितने प्रश्नोत्तर हैं, वे सब उसी समय के लिखे हुये हैं, क्योंकि उस समय तीन लेखक इसी कार्यार्थ बिठलाये थे, उन्होंने बराबर अक्षर-अक्षर करके लिखा। उसकी एक प्रति पादरी साहब ने ली और दो स्वामी जी महाराज ने। इन दोनों प्रति पर सरदार बहादुर मुन्शी अमीचन्द साहब और पण्डित भागराम जी के हस्ताक्षर भी हैं। मैं वहां शास्त्रार्थ में उपस्थित था, इसलिये स्वामीजी महाराज ने दोनों प्रति मुझे दे दी थीं और आज्ञा की थी कि इनके अनुसार छपवा देना और सब वृत्तान्त भी लिख देना। महाराज की आज्ञानुसार मैंने सब वृत्तान्त लिखा, सो भेजता हूँ। मैंने कितने ही स्थानों पर पादरी साहब का पूर्वापर विरुद्ध भाषण प्रकट होने के लिये नोट भी कर दिये हैं।

—समर्थदान

शास्त्रार्थ-अजमेर

[जो स्वामीजी और पादरी ग्रे साहब के बीच १८७८ ई० में हुआ।]

[पूर्व-पीठिका]

विदित हो कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कार्तिक सुदी १३ सं० १९३५ के दिन अजमेर में आये थे। थोड़े दिनों के पीछे वेदादि सत्य शास्त्रोक्त धर्म-विषय में व्याख्यान था। उस दिन अजमेर के बड़े पादरी ग्रे साहब और डाक्टर हसबैण्ड साहब भी आये थे। उसमें स्वामीजी ने शास्त्र और युक्ति से यह सिद्ध किया कि ईश्वरकृत पुस्तक केवल चार वेद ही हैं, अन्य कोई नहीं। इसके पीछे एक बड़ा सूचीपत्र तौरेत, इंजील और कुरान की अशुद्धता का पढ़ कर सुनाया, और कहा कि—

''मैंने यह सूचीपत्र किसी को चिढ़ाने के लिये नहीं सुनाया है, किन्तु इसलिये कि सब लोग पक्षपात-रहित होकर विचारें कि जिन पुस्तकों में ऐसी-ऐसी बातें लिखी हों, वे ईश्वरकृत हो सकते हैं वा नहीं?''

इस बात पर पादरी ग्रे साहब ने कहा कि—आपने जो तौरेत और इंजील की बातें सुनाई, उनमें प्रश्न लिखकर आप मेरे पास भेजें, मैं इनका उत्तर दूंगा। स्वामीजी ने कहा कि—मैं तो यही चाहता हूं और सदैव मेरी यही इच्छा रहा करती है कि आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष मिल के सत्यासत्य का निर्णय करें।

पादरी साहब ने कहा कि—सत्य का निर्णय जब होगा कि आप मेरे पास प्रश्न भेजेंगे और मैं उत्तर दूंगा। फिर स्वामीजी ने कहा कि—लिखकर दोनों ओर से प्रश्नोत्तर भेजने में काल बहुत लगता है, और मनुष्यों को भी इससे लाभ नहीं पहुंचता। इसलिये यही बात अच्छी है, कि आप भी यहां आवें और मैं प्रश्न करूंगा और आप उत्तर दें। तब पादरी साहब ने कहा कि—आप प्रश्न मेरे पास भेज देवें, जब मैं दो चार दिन में उनको विचार लूंगा, तब पीछे आपको उत्तर यहाँ आकर दूंगा। स्वामीजी ने कहा कि—प्रश्न तो मैं नहीं भेजूंगा, परन्तु मुझको जहां-जहा इंजील और तौरेत में शंका है, उनमें से थोड़े से वाक्य लिखकर भेज दूंगा। उनको जब आप विचार लेंगे, तो उन्हीं में मैं प्रश्न करूंगा, आप उत्तर देना। फिर इतनी बात होने के पीछे पादरी साहब चले गये।

उसके दूसरे दिन स्वामीजी ने तौरेत और इंजील के साठ वाक्य लिखकर पण्डित भागराम साहब एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर के द्वारा पादरी साहब के पास भेज दिये।[1] फिर नौ दस दिन पीछे जब पादरी साहब ने उनको विचार लिया और व्याख्यान हो चुके, तब एक दिन प्रश्नोत्तर के लिये नियत हुआ। उस दिन नोटिस दे दिया था, इस कारण से बहुत लोग आये। सरदार मुन्शी अमीचन्द साहब जज, पण्डित भागराम साहब एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर, सरदार भगतसिंह साहब इंजीनियर इत्यादि प्रतिष्ठित पुरुष आये थे। जब समय हुआ तब स्वामीजी चारों वेदों के पुस्तक लेकर आये और पादरी साहब भी बहुत सी पुस्तकें लेकर आये। पादरी साहब के साथ डाक्टर हसबैण्ड साहब भी आये। प्रथम स्वामीजी ने कहा कि—मैंने कितनी ही जगह पादरी लोगों से बातचीत की है, कभी किसी प्रकार का कुछ गड़बड़ नहीं हुआ। आज भी मैं जानता हूं कि पादरी साहब से वार्तालाप निर्विघ्नता से पूरा होगा। फिर पादरी साहब ने भी निर्विघ्नता से बातचीत होने की आशा प्रकट की, और कहा कि—स्वामीजी ने जो वाक्य लिखकर हमारे पास भेजे हैं वे बहुत हैं, और समय केवल दो अढ़ाई घण्टे का है। इसलिये प्रत्येक वाक्य पर दो बार ही प्रश्नोत्तर होना ठीक है। इसके पश्चात् प्रश्नोत्तर होने लगे। और तीन लेखक[2] भी बिठला लिये। इन तीनों को स्वामीजी और पादरी साहब बोलते समय अक्षर-अक्षर लिखवाते जाते थे।

[स्वामी जी और पादरी ग्रे के मध्य प्रश्नोत्तर]

स्वामीजी—तौरेत उत्पत्ति की पुस्तक पर्व १ आयत २ में लिखा है कि—'पृथ्वी बेडोल थी।' अब देखना चाहिये कि परमेश्वर सर्वज्ञ है, सब विद्या उसमें पूरी हैं। उसकी विद्या के काम में बेडोलता कभी नहीं हो सकती, क्योंकि उसके सब काम बेभूल हैं। बेडोलता मनुष्यों के काम में हो सकती है, क्योंकि उनकी पूरी विद्या और सर्वज्ञता नहीं है। इससे जीव

---

१. इन वाक्यों के साथ वेद-भाष्य भी भेजा था, क्योंकि पादरी साहब ने कहा था कि आप बाइबिल में प्रश्न करें, मैं उत्तर दूंगा, और मैं वेदों में कितनी ही बातों पर प्रश्न करूंगा, आप उत्तर देना। पादरी साहब ने वेद-भाष्य देखा होगा, परन्तु प्रश्न नहीं किये।

२. बाबू रामनाथ हैडमास्टर राजपूत स्कूल जयपुर, बाबू चंदूलाल वकील गुड़गावां; हाफिज मौहम्मद हुसैन, दरोगा चुंगी, अजमेर। —समर्थदान

के काम में बेडोलता रह सकती है, ईश्वर के काम में नहीं।

पादरी—यहां अभिप्राय 'बेडोल' से नहीं है किन्तु उजाड़ से है। आयूब की किताब बाब २ आयत २४ में है कि—'बिना मार्ग जंगल में उन्हें भ्रमना है', यहां जिस शब्द का अर्थ है, [बिना मार्ग जंगल] उसी का अर्थ यहां बेडोल है।

स्वामी—इससे पहली आयत में यह बात आती है कि—"आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा और पृथिवी बेडोल सूनी था। गहराव पर अंधियारा था", इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उजाड़ का अर्थ उजाड़ के होते तो 'सूनी थी' इस शब्द की कुछ आवश्यकता नहीं थी। और जब कि ईश्वर ने ही पृथिवी को रचा है, सो प्रथम ही अपने ज्ञान से डोलवाली क्या नहीं रच सकता था?

पादरी—दो शब्द एक ही अर्थ के सब भाषाओं में एक दूसरे के पीछे बहुधा आते हैं। जैसे इबरानी में 'तोहूबोहू' फारसी में 'बूदोवाश' ये सब एक अर्थ के वाची हैं। इसी प्रकार उर्दू में यह अर्थ ठीक है कि 'जमीन बेरान और सुनसान थी।'

स्वामीजी इस बात पर और प्रश्न करना चाहते थे। इतने में पादरी साहब ने कहा कि—एक-एक वाक्य पर दो-दो प्रश्न और दो-दो उत्तर होने चाहियें। क्योंकि वाक्य बहुत हैं, नहीं तो सब प्रश्न आज न हो सकेंगे। स्वामी जी ने कहा कि—यह अवश्य नहीं है कि आज ही सब वाक्यों पर प्रश्नोत्तर हो जायं, कुछ आज होंगे। फिर इसी प्रकार दो चार दिन अथवा जब तक ये वाक्य पूरे न हों, तब तक प्रश्नोत्तर होते रहेंगे। जब पादरी साहब ने इस बात को स्वीकार नहीं किया, तब स्वामीजी ने कहा कि—यदि अधिक न हों तो एक वाक्य पर दश वार प्रश्न होने चाहियें। पादरी साहब ने यह भी स्वीकार न किया। स्वामीजी ने कहा कि—प्रत्येक वाक्य पर कम से कम तीन वार प्रश्नोत्तर तो होने ही चाहियें। इस पर भी पादरी साहब ने कहा कि हमको दो बार से अधिक प्रश्नोत्तर करना कदाचित् स्वीकार नहीं है। तब स्वामीजी ने कहा कि हमको इसमें कुछ हठ नहीं है, सभा की जैसी सम्मति हो वैसा किया जाय। स्वामीजी की इस बात पर कोई कुछ न बोला। परन्तु डा० हसबैण्ड साहब ने कहा कि यदि सभा से प्रत्येक विषय में पूछेंगे, तो चार सौ मनुष्य हैं उसमें से किस-किस से पूछा जायेगा? स्वामीजी ने कहा कि यदि पादरी साहब को तीन

प्रश्न करना स्वीकार नहीं है, तो जाने दो, हम दो करेंगे, क्योंकि इतने मनुष्य विज्ञापन देखकर इकट्ठे हुये हैं, जो यहां कुछ बात न हुई तो अच्छा नहीं। फिर स्वामीजी ने दूसरे वाक्य पर प्रश्न किया।[१]

स्वामी—वही पर्व और वही आयत—'**और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था।**' पहली आयत से विदित होता है कि ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को रचा, यहां जल की उत्पत्ति नहीं कही, तो जल कहां से हो गया? ईश्वर आत्म-स्वरूप है वा जैसे कि हम शरीर वाले हैं वैसा? जो शरीर वाला है तो उसका सामर्थ्य आकाश और पृथिवी बनाने का नहीं हो सकता। क्योंकि शरीरवाले के शरीर के अवयवों से परमाणु आदि को ग्रहण करके रचना में लाना असम्भव है, और वह व्यापक भी नहीं हो सकता। जब उसका आत्मा जल पर डोलता था, तब उसका शरीर कहां था?

पादरी—जब पृथिवी को सृजा तो पृथिवी में जल भी आ गया। और दूसरी बात का उत्तर यह है कि परमेश्वर आत्मस्वरूप है। तौरेत के आरम्भ से इंजील के अन्त तक परमेश्वर आत्म-स्वरूप कहलाया।

स्वामी—ईश्वर का वर्णन तौरेत से लेकर इंजील पर्यन्त में बहुत ठिकानों में ऐसा है कि—वह किसी प्रकार के शरीर भी रखता है, क्योंकि आदम की बाड़ी को बनाना, वहां आना, फिर से ऊपर चढ़ जाना, सनाई पर्वत पर जाना, मूसा, इबराहीम और उनकी स्त्री सरी से बातचीत करना, डेरे में जाना, याकूब से मल्लयुद्ध करना, इत्यादि बातों में पाया जाता है कि अवश्य किसी प्रकार का शरीर वह रखता है, वा उसी दम अपना शरीर बना लेता है।

पादरी—ये सब बातें इस आयत से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती हैं, केवल अंजानेपन से कही जाती हैं। इस का यह ही उत्तर है कि यहूदी, ईसाई और मुसलमान जो तौरेत को मानते हैं, इस पर एक सम्मत हैं कि खुदा रूह है।[२]

---

१. देखो यह सभा सत्य के निर्णय के लिये की गई थी, और सत्य का निर्णय तब ही होता है कि जब एक वाक्य पर अच्छी प्रकार प्रश्नोत्तर हो जायं, किन्तु पादरी साहब ने ऐसा न करके दो प्रश्न और दो उत्तर करने की ही हठ की परन्तु फिर भी अपना बचाव न कर सके, कलई खुल गई। —समर्थदान

२. पाठको! पहले उत्तर में तो पादरी साहब कहते हैं कि "तौरैत के आरम्भ में इंजील के अन्त तक परमेश्वर आत्मस्वरूप कहलाया।" जब स्वामीजी ने उसी

स्वामी—पर्व वही आयत २६—''तब ईश्वर ने कहा कि हम आदम को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें।'' इससे स्पष्ट पाया जाता है कि ईश्वर भी आदम के स्वरूप जैसा था। जैसा कि आदम आत्मा और शरीर युक्त था, ईश्वर को भी इस आयत से वैसा ही समझना चाहिये। जब वह शरीर जैसा स्वरूप नहीं रखता, तो अपने स्वरूप में आदम को कैसे बना सका?

पादरी—इस आयत में शरीर का कुछ कथन नहीं, परमेश्वर ने आदम को पवित्र ज्ञानवान् और आनन्दित रचा। वह सच्चिदानन्द ईश्वर है, और आदम को अपने स्वरूप में बनाया। जब आदम ने पाप किया तो परमेश्वर के स्वरूप से पतित हो गया। जैसे पहले प्रश्नोत्तर के २४ और ३० प्रश्न से विदित होता है। कोल्लोस्सियों की पत्री, तीसरा पर्व, ९ और १० आयत—''एक दूसरे से झूठ मत बोलो, क्योंकि तुमने पुराने मनुष्यता को उसके कार्यों समेत उतार फैंका है और नये मनुष्यता को जो ज्ञान में अपने सृजनहारे के स्वरूप के समान नये बन रहे हैं, पहना है।'' इससे विदित होता है कि ज्ञान और पवित्रता में परमेश्वर के समान बनाया गया, और नये सिरे से हम लोगों को बनाया। कोरंतियों का तीसरा पर्व, १७ और १९ आयत—''और प्रभु ही आत्मा है, और जहां कहीं प्रभु का आत्मा है वहीं निर्विघ्नता है, और हम सब विना परदा प्रभु के तेज को दर्पण में देख-देख प्रभु के आत्मा के द्वारा तेज से तेज लों उसके स्वरूप में बदलते जाते हैं।'' इससे ज्ञात होता है कि विश्वासी लोग बदल के फिर परमेश्वर के स्वरूप में बन जाते हैं, अर्थात् ज्ञान, पवित्रता और आनन्द में, क्योंकि धर्मी होने से मनुष्य का शरीर का रूप नहीं बदलता है।

स्वामी—परमात्मा के सदृश आदम के बनने से सिद्ध होता है कि ईश्वर भी शरीर वाला होना चाहिये। जो परमेश्वर ने आदम को पवित्र और आनन्दित रचा था, तो उसने ईश्वर की आज्ञा क्यों तोड़ी? और जो आज्ञा तोड़ी तो विदित होता है कि वह ज्ञानवान् नहीं था। और —''जब

पुस्तक में दिखला दिया कि ईश्वर का शरीर वाला होना सिद्ध है, तब पादरी साहब कहते हैं कि ये सब बातें इस आयत से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती। और फिर पुस्तक के वर्णन को छोड़ यहूदी, ईसाई और मुसलमानों के मत पर दौड़ जाते हैं। यहां यह प्रश्न होता है कि उक्त लिखे तीनों मत वाले खुदा को रूह मानते हैं, तो क्या बाइबिल के विरुद्ध नहीं हैं, कि जिससे ईश्वर का शरीर वाला होना सिद्ध होता है? —समर्थदान

उसने ज्ञान के पेड़ का फल खाया तब उसकी आँख खुल गई''—इससे जाना जाता है वह ज्ञानवान् पीछे से हुआ। जो पहले ही से ज्ञानवान् था, तो फल के खाने के पीछे ज्ञान हुआ, यह बात नहीं बन सकती। और प्रथम परमेश्वर ने उसको आशीर्वाद दिया था कि तुम फलो फूलो आनन्दित रहो, और फिर जब उसने ईश्वर की आज्ञा के विना उस पेड़ का फल खाया, तब उसकी आँखें खुलने से उसको ज्ञान हुआ कि हम नंगे हैं, गूलर के पत्ते अपने शरीर पर पहने।

अब देखना चाहिये—जो वह ईश्वर के समान ज्ञान में और पवित्रता में होता, तो उसको नंगा और ढका रहना क्यों नहीं जान पड़ता? क्या उसको इतनी भी सुध नहीं थी? जब परमेश्वर के समान वह ज्ञानी, पवित्र और आनन्दित था, तो उसको सर्वज्ञ और नित्य शुद्ध और आनन्दित रहना चाहिए, और उसके पास दु:ख कुछ भी कभी न आना चाहिये। क्योंकि वह परमेश्वर के समान इन ऊपर लिखी तीनों बातों में है, तो वह पतित किसी प्रकार से नहीं हो सकता, और जो पतित हुआ तो परमेश्वर के समान नहीं हुआ, क्योंकि परमेश्वर ज्ञानादि गुणों से पतित कभी नहीं होता। फिर बतलाइये कि जैसे आदम प्रथम ज्ञान आदि तीनों गुणों में परमेश्वर के समान होके फिर उनसे पतित हो गया, वैसे ही विश्वासी लोग ज्ञानी, पवित्र और आनन्दित होंगे वा अधिक कम? जो वैसे ही होंगे, तो फिर जैसे आदम पतित हो गया, वैसे ही विश्वासी भी हो जावेंगे, क्योंकि वह तीनों बातों में परमात्मा के समान होकर पतित हो गया।

पादरी—बहुधा बातों में पहला उत्तर बहुत है। अब रहा यह कि—यदि आदम पवित्र था तो आज्ञा क्यों तोड़ी? उत्तर यह है कि वह पहले पवित्र था तो आज्ञा तोड़ के पापी हुआ।[१] फिर यह कहा कि—ज्ञानवान् पीछे से हुआ, यह बात नहीं है। जब भले बुरे के ज्ञान के पेड़ का फल खाया[२] तब बुराई जान पड़ी, पहले न जानता था। 'आँखें खुल गईं और उसको जान पड़ा कि मैं नंगा हूँ'—इसका उत्तर यह है कि पापी होके उसको लज्जा आने लगी। फिर यह कि यदि परमात्मा के समान होता तो

१. देखिये, क्या विचित्र उत्तर है। —समर्थदान

२. यहां यह प्रश्न होता है कि वह परमेश्वर के समान ज्ञानी था, तो भले बुरे के ज्ञान के पेड़ को क्यों नहीं जानता था? जो यह कहो कि पहले नहीं जानता था, तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि ज्ञानी नहीं था। —समर्थदान

पतित न होता, इसका उत्तर यह है कि वह परमात्मा के समान बनाया गया, न कि उसके तुल्य। यदि परमात्मा के तुल्य होता तो पाप में न गिरता। अन्त में जो पूछा कि—विश्वासी लोग आदम से अधिक पवित्र हो जायेंगे, इसका उत्तर यह है कि—अधिक और कम पवित्र होने में प्रश्न नहीं है, किन्तु स्वरूप के विषय में है कि परमेश्वर का रूप शारीरिक था वा नहीं? यदि वह स्वरूप जिसका कथन होता है, शारीरिक होता तो धर्मी लोग जब परमेश्वर के स्वरूप में नये शिरे से बन जाते हैं, अपने शरीर को बदल डालते हैं।

स्वामी—तौरेत का पर्व २, आयत ३—''उसने सातवें दिन अपने सब कार्य करके विश्राम किया, और ईश्वर ने सातवें दिन को आशीर्वाद दिया, और उसे पवित्र ठहाराया।'' ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप होने से परिश्रम जगत् के रचने में कुछ भी नहीं हो सकता, फिर सातवें दिन विश्राम करने की क्या आवश्यकता थी? और विश्राम किया तो छः दिन तक बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा? और सातवें दिन को आशीर्वाद दिया तो छः दिनों को क्या दिया? हम नहीं कह सकते कि परमेश्वर को एक क्षण भी जगत् के रचने में लगे वा कुछ भी परिश्रम हो।

जब स्वामीजी ने यह प्रश्न किया, तब पादरी साहब ने कहा कि—अब समय हो चुका, इससे अधिक हम नहीं ठहर सकते, और बोलते समय लिखाना पड़ता है, इससे देर बहुत लगती है, इसलिये हम कल भी नहीं करना चाहते। जो बोलते समय लिखा न जाय, तो हम कर सकते हैं। यदि स्वामीजी को लिख कर प्रश्नोत्तर करना है, तो हमारे पास प्रश्न लिखकर भेज दें, हम लिख कर उत्तर देंगे। इस पर डाक्टर हसबैंड साहब के कहने से सरदार बहादुर अमीचन्द साहब ने कहा कि—मेरी भी यही सम्मति है कि प्रश्नोत्तर लिख कर पत्र द्वारा किया करें। आज की नाईं किये जायेंगे, तो छः महीने तक भी पूरे न होंगे।

स्वामीजी ने कहा कि—प्रश्नोत्तर के लिखे विना बहुत हानि है, जैसे अभी थोड़ी देर के पश्चात् अपने में से कोई हुई बात के लिये कह सकता है कि मैंने यह बात नहीं कही। दूसरे बातचीत हुये पीछे और लोगों के हितार्थ छपा कर भी प्रकट नहीं कर सकते जो यदि कोई छपावे भी तो उसके जी में जो आवे सो छपवा सकता है। और जो मकान पर प्रश्नोत्तर लिख-लिख कर किया करें, तो इसमें काल बहुत लगेगा। और जो कहा जाय कि इस प्रकार छः महीने में पूरा न होगा, सो मैं कहता हूं कि इसमें छः मास का कुछ काम नहीं है। हां, जो मकान पर पत्र द्वारा करेंगे, तो तीन वर्ष में भी पूरा न होगा, और जो मनुष्य सभी सामने सुन रहे हैं, ये नहीं सुन सकेंगे। इसलिये यही अच्छा है कि सब के सामने प्रश्नोत्तर किये जायें और लिखाया भी जाय।

पादरी साहब ने कहा कि—यहां प्रश्नोत्तर करने में लोगों के सुनने का लाभ बतलाया, परन्तु मैं जानता हूँ कि आज की वार्ता में यहाँ इतने लोग बैठे हैं, इनमें से थोड़े ही समझे होंगे। पादरी साहब की इस बात को सुनकर एक साहब मुसलमान कि जो प्रश्नोत्तर लिखने को बैठे थे और दो मुसलमान लोग कहने लगे कि हम कुछ भी नहीं समझे।[१] इस बात पर पादरी साहब ने कहा कि देखिये लिखने वाला ही नहीं समझा, तो और कौन समझ सकता था? फिर स्वामीजी ने जो दो दूसरे लिखने वाले थे, उनसे पूछा कि तुम समझे वा नहीं? उन्होंने कहा कि हां हम बराबर समझे। हमने जो कुछ लिखा है उसको अच्छी प्रकार कह सकते हैं। तब स्वामीजी ने कहा कि दो लिखने वाले तो समझे और एक नहीं समझा। अन्त में पादरी साहब ने दूसरे दिन प्रश्नोत्तर का लिखा जाना स्वीकार नहीं किया।

स्वामीजी ने पादरी साहब से कहा कि आज के प्रश्नोत्तर की तीन प्रति लिखी गई हैं। इन पर आप इस्ताक्षर कर दीजिये और मैं भी करे देता हूं, और प्रधान सभा से भी कराकर एक प्रति आपके पास, एक मेरे पास, और एक प्रधान के पास रहेगी। पादरी साहब ने कहा कि हम ऐसी बातों पर हस्ताक्षर करना नहीं चाहते।[२] इतनी वार्ता के पश्चात् सभा उठ खड़ी हुई और सब लोग अपने-अपने मकानों को चले गये। परन्तु स्वामीजी महाराज, सरदार भगतसिंह जी के मकान पर कि जो सभा के मकान के

१. मुसलमान लोग भी लिखने के प्रबन्ध को नहीं चाहते थे, क्योंकि उनका भी यह अभिप्राय था कि यदि यह प्रतिज्ञा न रहे तो किसी मौलवी को लाकर हम भी वादानुवाद करावें, और पीछे जो जी चाहे वैसा उल्टा सुलटा छपवा देवें। इस समय पोप लोग भी गड़बड़ करते थे कि हम भी शास्त्रार्थ करेंगे, परन्तु मौलवी साहब और पोप जी कोई भी न आया। जियाफत वा ब्रह्मभोज का काम होता तो सभी आते। यहां तो शास्त्रार्थ का काम था, कि लिखवाये पीछे पलट भी न सकते। —समर्थदान

१. क्या इसीलिये लिखवाने से भय करते थे? —समर्थदान

पास था, ठहरे। उस समय प्रश्नोत्तर की दो प्रतियों पर, कि जो स्वामी जी के पास रही थीं, उक्त दोनों साहबों के हस्ताक्षर भी करा लिये, और कुछ वार्तालाप करके वह साहब अपने-अपने मकानों को पधारे।

दूसरे दिन पादरी साहब ने स्वामीजी के पास पत्र लिख कर भेजा कि आज आप प्रश्नोत्तर करेंगे वा नहीं? यदि करना हो तो किया जाय, परन्तु लिखा न जाय, और लिखना हो तो पत्र द्वारा किये जावें। स्वामी जी ने उसके उत्तर में लिख भेजा कि प्रश्नोत्तर सबके सामने-सामने किये जावें, और लिखे भी जावें। इस प्रकार हमको स्वीकार है अन्यथा नहीं। क्योंकि दूसरी प्रकार करने में बहुत हानि है, जो कि हम पहले कह चुके हैं। अब यदि आपको लिखा कर प्रश्नोत्तर करने हों, तो मुझको लिखिये, मैं जब तक आप कहें यहां रहूं और प्रश्नोत्तर करूं। और यदि आपको इस प्रकार न करना हो, तो सरदार भगतसिंह जी को लिख भेजो कि अब प्रश्नोत्तर न होंगे, क्योंकि सभा के लिये जो उन्होंने प्रबन्ध कर रक्खा है, उठवा दें। पादरी साहब ने सरदार भगतसिंह जी को इसी प्रकार कहला भेजा, तब उन्होंने सब प्रबन्ध उठवा दिया। इसके पश्चात् स्वामीजी तीन चार दिन अजमेर में और रहे। मसूदा और नसीराबाद थोड़े दिन रह कर जयपुर पधारे।

जब स्वामीजी अजमेर से चले गये, उस के दूसरे दिन पादरी साहब ने मिशन स्कूल में कितने शहर के लोगों और मिशन स्कूल के विद्यार्थियों को इकट्ठा करके, स्वामीजी ने जो वाक्य लिखकर तौरेत और इंजील के भेजे थे, उनके उत्तर सुनाये कि जिससे ईसाई मत का कच्चापन किसी पर प्रकट न हो। इसके पीछे पादरी साहब को बाजार में वाज (उपदेश) करते समय कितने ही आदमियों ने कहा कि साहब! आप यहां हम मूर्ख लोगों के साथ प्रतिदिन घंटों तक सिर दुखाया करते हैं, परन्तु जब आप स्वामी दयानन्द सरस्वती जी से प्रश्नोत्तर करते थे, तब तो आप ने यह कहा था कि हमको इतना समय नहीं कि प्रश्नोत्तर करते समय लिखाते जाएं। यदि आप स्वामीजी को अपने मत की कोई भी बात स्वीकार करा देते, तो उनके पीछे हजारों आपकी बात को स्वीकार करते। अब आपके व्यर्थ कहने से क्या होता है?

२६

शास्त्रार्थ मसूदा

शास्त्रार्थ मसूदा

ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज-विषयक पुरातन सामग्री की शोध के प्रसंग में आर्यसमाज अजमेर द्वारा प्रकाशित **''देशहितैषी''** मासिक पत्र की संचिकायें देखने का अवसर मिला। यह पत्र **वैशाख** १९३९ वि० में प्रकाशित होना आरम्भ हुआ था। 'देश-हितैषी' के कतिपय अंकों में महर्षि दयानन्द के मसूदा (जिला अजमेर) ग्राम में निवास का विस्तृत विवरण उपलब्ध हुआ। मसूदा के अधिपति स्व० राव बहादुरसिंह जी, स्वामी दयानन्द के निष्ठावान् अनुयायी तथा भक्त थे। उन्हीं के आमन्त्रण पर स्वामीजी एकाधिक बार मसूदा गये थे। यद्यपि स्वामीजी के मसूदा पधारने तथा वहां जैन साधु सिद्धकरण से शास्त्रार्थ करने का विवरण पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित तथा पं० घासीरामजी द्वारा लिखित श्री महाराज के जीवन-चरित्र में भी उपलब्ध होता है, परन्तु यह अत्यन्त संक्षिप्त है। 'देश-हितैषी' के निम्न अंकों में यह विवरण धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ था—ज्येष्ठ १९३९ (अंक २ खण्ड १), श्रावण १९३९ (अंक ४ खण्ड १), भाद्रपद १९३९ (अंक ५ खण्ड १), आश्विन १९३९ (अंक ६ खण्ड १), कार्तिक १९३९ अंक (अंक ७ खण्ड १), मार्गशीर्ष १९३९ (अंक ८ खण्ड १), अर्थात् उक्त ६ अंकों में मसूदा के शास्त्रार्थों का वृत्तान्त प्रकाशित हुआ था। इस वृत्तान्त के प्रेषक पं० वृद्धिचन्द्र श्रीमाली नाम के एक श्रीमाली ब्राह्मण थे।

'मसूदा के मंगल-समाचार' शीर्षक से प्रकाशित इस विवरण में तीन शास्त्रार्थों का उल्लेख हुआ है। **प्रथम** शास्त्रार्थ जैन साधु सिद्धकरण तथा स्वामीजी के मध्य, **द्वितीय** राव बहादुरसिंहजी तथा ब्यावर निवासी पादरी बिहारीलाल के बीच, तथा **तृतीय** स्वामीजी एवं एक कबीर-पंथी साधु के बीच हुआ था। जैन साधु सिद्धकरण श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की स्थानकवासी शाखा के अनुयायी थे। इस शाखा के साधु मुख पर श्वेत पट्टी बांधते हैं। राजस्थान में इन्हें '११ टोला' भी कहा जाता है। शास्त्रार्थ-विवरण के अतिरिक्त भी मसूदा के इस इतिवृत्त से ऋषि दयानन्द विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों का परिज्ञान होता है। यथा—मसूदा में स्वामीजी

ने धर्म, राजनीति, पुनर्विवाह, सत्यशास्त्रादि विषयों पर १६ व्याख्यान तो अपने प्रथम बार के निवास के समय ही दिये थे। क्या ही अच्छा होता, यदि इन व्याख्यानों का विवरण उपलब्ध हो सकता। पादरी 'शूलब्रेड' तथा पादरी बिहारीलाल के समक्ष भी उनका व्याख्यान 'राजनीति' पर ही हुआ था। स्वामीजी के राजनैतिक विचार और भी स्पष्ट हो जाते, यदि हमें इन व्याख्यानों का विवरण उपलब्ध होता।

पं० वृद्धिचन्द-लिखित विवरण की भाषा को यथासाध्य उसी रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। जिसमें वह आज से १२९ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। उस समय खड़ी बोली का गद्य पूर्णतया परिष्कृत नहीं था। शब्दों के स्वरूप तथा वर्तनी का निर्धारण भी नहीं हुआ था, और न विराम-चिह्नों का ही प्रयोग किया जाता था, तथा यत्र-तत्र विराम-चिह्न भी लगा दिए हैं, तथापि भाषा के पुराने रूप को देखा जा सकता है। यत्र तत्र आवश्यक पाद-टिप्पणियां भी दे दी गई हैं।

मसूदा रावसाहब के पुराने 'इतिवृत्त-संग्रह' में महर्षि-विषयक और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होने की पूर्ण सम्भावना है। मसूदा के सैकड़ों निवासी स्वामीजी के अमृतमय उपदेशों को सुनकर वैदिक-धर्म में दीक्षित हो गये थे। ऐसे लोगों में जैन मतावलम्बी कोठारी परिवार के लोगों की संख्या यथेष्ट थी। अतः इस विवरण में उल्लिखित उन लोगों के नामों की सूची भी महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने श्रीमहाराज के करकमलों से यज्ञोपवीत दीक्षा धारण की थी। हमारा प्रयास मसूदा-विषयक शेष सामग्री को भी प्रकाश में लाने का है। जिसके लिए आर्यसमाज के अनुसंधानप्रिय पाठकों को प्रतीक्षा करनी होगी।

शास्त्रार्थ-मसूदा (१)

यह शास्त्रार्थ जैन साधु सिद्धकरण के साथ हुआ था।

[पूर्व-पीठिका]

विदित होय के श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के अजमेर में पदार्पण करने के समाचार राव बहादुरसिंहजी मसूदा के कर्णगत हुए। तत्काल ही उक्त रावसाहब ने श्री स्वामीजी महाराज को निमन्त्रण पत्र सहित श्री पण्डित वृद्धिचन्द्रजी को अजमेर भेजा। उक्त पण्डितजी ने रावसाहब का निमन्त्रण पत्र स्वामीजी को दे सर्वव्यवस्था कह सुनाई। तब स्वामीजी ने मसूदा की ओर पधारना स्वीकार किया। इसके पश्चात् जब अजमेर में स्वामीजी के व्याख्यानादि समाप्त हो चुके, तब उक्त महाराज ने अत्यन्त कृपा करके अपने प्रण के अनुसार आषाढ़ वदी १२, सं० १९३८ विक्रमी, बृहस्पतिवार को ९ बजे दिन के अजमेर स्टेशन से मसूदा की ओर प्रस्थान कर, नसीराबाद स्टेशन पर उतर, रथ पर चढ़ ९ बजे रात्रि को मसूदा में जा विराजे।

फिर आषाढ़ वदी ३०, सं० १९३८ विक्रमी से उक्त महाराजजी के व्याख्यान महलों में होने आरम्भ हुए। तात्पर्य यह कि १६ व्याख्यान अर्थात् प्रथम धर्म विषय, फिर राजनीति, पुनर्विवाह, सत्यशास्त्रादि और मोक्ष विषय में होकर फिर दो तीन दिवस इसी प्रकार बाहर बाग में आनन्द मंगल होते रहे। इसके पश्चात् अर्थात् आषाढ़ सुदी २ मंगलवार को पादरी शूलब्रेड और बाबू बिहारीलाल ईसाई नये शहर[१] (ब्यावर) से स्वामीजी से मिलने को आये। उक्त महाराज ने उक्त पादरी साहब और बाबूजी को आदर सहित बिठाया, फिर वार्तालाप होने लगा। फिर स्वामीजी ने प्रसंगानुकूल पादरी साहब से उनके धर्म विषय में प्रश्न किए, जिनका कुछ उत्तर न देकर कहने लगे कि स्वामीजी! मैं आपसे शास्त्रार्थ करने नहीं आया हूँ, वरंच आपके मुखारविंद से कुछ व्याख्यान सुनने की अभिलाषा है।

स्वामीजी ने कहा—बहुत अच्छा—मैं व्याख्यान देता हूँ, आप श्रवण

---

१. वर्तमान ब्यावर नगर को नया शहर भी कहा जाता है।

कीजिए। पादरी साहब बोले—मैं २० मिनट से अधिक नहीं ठहरूंगा, व्याख्यान दीजिए। फिर स्वामीजी ने राजनीति पर व्याख्यान दिया। इसके पश्चात् पादरी साहब ने स्वामीजी से पूछा कि वेदों में तो [नरमेध] और अश्वमेध लिखा है? स्वामीजी ने कहा—कि नहीं, वैसी बात वेदों में कहीं नहीं लिखी है। हमारे पास चारों वेदों के पुस्तक हैं, आप उनमें बतलाइये। पादरी साहब ने कहा मेरी पुस्तकें तो नये शहर (ब्यावर) में है। स्वामीजी ने कहा—किसी मनुष्य को भेज दो, ले आवेगा। पादरी साहब—इस समय नहीं मंगवा सकता, कारण अवकाश नहीं है। इतना कह नए शहर (ब्यावर) को चल दिए।

फिर स्वामीजी और रावसाहब ने जैनियों से, जो उस समय वहां उपस्थित थे, कहा—कि तुम लोग अपने किसी विद्वान् पण्डित वा मतावलम्बी को बुलाओ, उससे शास्त्रार्थ होगा। तब जैनियों ने कहा कि हम अपने साधु सिद्धकरण को बुलाते हैं, वे आप से शास्त्रार्थ करेंगे। फिर जैनियों ने उक्त साधु को आषाढ़ सुदी १०, सं० १९३८ वि० को पत्र भेजा, सो दूसरे दिन मसूदा में आ गया।

एक दिन अर्थात् आषाढ़ सुदी १३ को, जब स्वामीजी महाराज अपने नियमानुसार भ्रमण को गये, तो सिद्धकरण साधु से भी, जो शौचादि से निवृत्त होकर आये थे, मार्ग में भेंट हो गई। साधु ने स्वामीजी के निकट आकर कहा कि—आपका क्या नाम और कहां से पधारना हुआ? स्वामीजी ने उत्तर दिया—मेरा नाम दयानन्द सरस्वती है, और अजमेर से आया हूँ। फिर स्वामीजी ने कहा—आपका क्या नाम है, और कहां से आना हुआ? साधुजी ने कहा—मेरा नाम सिद्धकरण है, और सरवाड़ से आया हूँ। चार मास यहीं रहूंगा। स्वामीजी—यहां पर आप कहां ठहरे हैं? साधु ने कहा—एक उपासरे[1] में; स्वामीजी—क्या आप ही को जैनियों ने बुलाया है? साधु—हां, मुझ ही को। और स्वामीजी से कहा कि—आपका पेट तो बड़ा मोटा है, क्या इसमें ज्ञान भरा है? आप लोहे का तवा बांध लीजिए, नहीं तो फट जायेगा। स्वामीजी ने इसका उस समय उत्तर देना अनुचित समझ साधु से यह प्रश्न किया कि—आप लोग मुख पर पट्टी क्यों बांधते और गरम जल क्यों पीते हो? साधुजी ने कहा—जो आप भी मुख पर पट्टी बांधें, तो मैं इसका उत्तर दूं, अब इनमें परस्पर वादानुवाद

१. स्थानक वासी जैन साधुओं के ठहरने का स्थान उपासरा (उपाश्रय) कहलाता है।

हो ही रहा था कि रावसाहब ने जो बहुधा अपने महलों पर छत पर बैठे प्रातःकाल दूरवीक्षण द्वारा स्वामीजी को भ्रमण करते देखा करते थे, देखा कि किसी से स्वामीजी वार्ता कर रहे हैं। तत्काल ही रावसाहब अश्वारोहण हो स्वामीजी के निकट आ उपस्थित हुए। रावसाहब को देख साधु चलने लगा। तब रावसाहब ने साधुजी से कहा कि—ठहरो, प्रश्न करो, क्यों जाते हो? अन्त को रावसाहब के आते ही साधुजी चले ही गये, और स्वामीजी महाराज वा[1] राव बहादुरसिंहजी मार्ग में परस्पर वार्ता करते हुए निज स्थान को पधारे।

जैन साधु सिद्धकरण और स्वामीजी के प्रश्नोत्तर

फिर स्वामीजी ने श्रावण २ सं० १९३८ वि० को निम्नलिखित प्रश्न, पं० छगनलाल कामदार वा जोशी जगन्नाथ और सरदार वा (और) पण्डित लोगों के हस्ते सिद्धकरण साधु के पास भेजे। प्रश्न यह हैं—

१—जैन मतान्तर्गत तुम लोग ढूंढ़िये, जो मुख पर पट्टी बांधना अच्छा जानते हो, यह तुम्हारी बात विद्या और प्रत्यक्षादि प्रमाणादि की रीति से सिद्ध नहीं है। इसमें जो तुम ऐसा मानते हो कि—मुख की वायु से जीव मरते हैं। तो भी ठीक नहीं। क्योंकि जीव अजर-अमर है, ''और तुम भी ऐसा ही मानते होगे'' जो तुम कहो कि—जीव तो नहीं मरता, परन्तु जो उनको पीड़ा अर्थात् दुःख देवे वे पाप-भागी होते हैं। सो भी सर्वथा ठीक नहीं क्योंकि पीड़ा दिए विना किसी का निर्वाह नहीं हो सकता।

इसमें जो तुम कहते हो कि—जहां तक बन सके तहां तक जीवों की रक्षा करनी चाहिए, कारण सर्व वायु आदि पदार्थ जीवों से भरे हैं, इसलिए हम लोग मुख पर कपड़ा बांधते हैं कि मुख से उष्ण वायु निकलने से बहुत जीवों को दुःख और बांधने से थोड़े जीवों को कष्ट पहुंचता है। सो यह भी कहना आप लोगों का अयुक्त है, क्योंकि कपड़ा बांधने से जीवों को बहुत दुःख पहुंचता है। कारण यह है कि मुख पर कपड़ा बांधने से गरमी रुकने से उष्णता अधिक होती है। जैसे किसी मकान का दरवाजा बंद हो वा परदा डाला जाय, तो उसमें गर्मी अधिक होती है, और खुला रहने से कम होती है। इससे विदित होता है कि मुख पर कपड़ा बांधने से जीवों को अधिक पीड़ा होती है। इसलिए जो कोई मुख पर कपड़ा

१. 'वा' का प्रयोग सर्वत्र 'और' के अर्थ में हुआ है 'अथवा' के अर्थ में नहीं।

बांधते हैं, वे जीवों को अधिक पीड़ा पहुंचाने से अधिक पापी होते हैं। जो नहीं बांधते, वे उन बांधने वालों से अच्छे हैं।

किन्तु जब तुम मुख पर कपड़ा बांधते हो, तो मुख द्वारा वायु रुक कर नाक के छिद्र से अधिक वेग से जो बाहर निकलती है, वह जीवों के लिए अधिक दुःखदाई होती है। जैसे कोई मुख से अग्नि फूंके और कोई नली से, तो नली से वायु चारों ओर से रुक, अधिक बलवान् हो अग्नि में लगती है। इसी प्रकार नाक का वायु जीवों को अधिक पीड़ा पहुंचाता है। इससे तुम अधिक हिंसक हो।

जो तुम कहो कि—हम नाक और मुंह पर एक कपड़ा बांधेंगे। तो पूर्वोक्त रीति से मुख और नासिका दोनों की गरमी बढ़ कर द्विगुण हिंसा होगी। उससे मुख वा नासिका पर कपड़ा बांधना कदापि योग्य नहीं। दूसरे, कपड़ा बांधने से बोला भी ठीक-ठीक नहीं जाता। निरनुनासिक शब्दों को सानुनासिक[१] कर देना दोष है, उधर दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है, क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध है। शरीर से जितना वायु निकलता है, वह दुर्गन्धयुक्त ही है। जब वह रोका जाये तो अधिक दुर्गन्ध बढ़ता है, जैसा कि बंद जाजरूर[२]।

इसी प्रकार मुखादि का प्रक्षालन न करने और मुख पर कपड़ा बांधने से अधिक दुर्गन्ध होकर अधिक रोग उत्पन्न करता है, जैसा कि मेला आदि में। और न्यून दुर्गन्ध से विशेष रोग नहीं होता, यह बात प्रत्यक्ष है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने वाला अधिक अपराधी होता है। जैसा कि आप लोग दन्तधावन और स्नानादिक न करने से दुर्गन्ध बढ़ाते हो, जिस से रोगोत्पत्ति कर बुद्धि और पुरुषार्थ को नष्ट करके धर्मानुष्ठान में बाधक होते हो। जैसा कि जाजरूर के शुद्ध करने वालों की दुर्गन्ध के संग से न्यून बुद्धि होती है, वैसे ही आप लोगों की क्यों नहीं होती होगी? जब दुर्गन्ध-युक्त पुरुष की बुद्धि अति मन्द [हो जाती है] तो उसके संगियों की क्यों नहीं होती होगी?

२—जो तुम लोग कच्चा जल पीने आदि में दोष गिनते और उष्ण

१. मुख पर पट्टी बांधने वाले जैन साधुओं का उच्चारण अधिकांश में सानुनासिक हो जाता है।

२. इस शब्द का प्रयोग ''शौचालय'' के अर्थ में होता है।

में नहीं, यह भी तुम को अत्यन्त भ्रम हुआ है। क्योंकि ठण्डे-जल के जीव उष्ण जल करने में अधिक दुःख पाते हैं, और उनके शरीर रंध जल में घुट जाते हैं, जैसे सौंफ का अर्क। सिद्ध हुआ कि उक्त जल के पीने वाले मानो मांस का जल पीते हैं। और जो ठंडा जल पान करते हैं वे (उन जीवों को) गर्म जल पीनेवालों की अपेक्षा थोड़ा दुःख देते हैं। दूसरे वे जीव जठराग्नि में प्राप्त होकर भी बहुत से प्राण वायु के साथ बाहर भी निकल जाते हैं। इससे ठंडा जल पीने वाले तुमसे बहुत कम जीवों को दुःख देने वाले ठहरते हैं।

जो तुम कहो कि—न हम जल गर्म करते और न हम किसी को अपने लिये शिक्षा उष्ण करने की करते हैं। तो भी तुम इस अपराध से नहीं छूट सकते, क्योंकि जो तुम गर्म जल न लेते, न पीते और न उष्ण करने की शिक्षा करते तो, वे अधिक जल क्यों गर्म करते? जो ऐसा कहो कि—पाप करने वालों को दोष लगता है, अन्य को नहीं। यह भी कथन ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि चोरी करने वाला तो आप ही चोरी करता है परन्तु शिक्षा करने वाले बहुतों को चोर बना देते हैं, इसलिये तुम ही अधिक पापी हुए। फिर जल के गर्म करने में अग्नि जलाने और उस जल से भाप ऊपर उड़ने से भी जीवों को बहुत दुःख पहुंचता है, इस कारण यह भी तुम्हारा कथन व्यर्थ हुआ।

३—तुम्हारे मत में ऐसी-ऐसी बहुत-सी बातें अयुक्त हैं, जैसे—एक छोटे से अर्थात् पैसे भर के कंद में अनन्त जीवों का रहना। इसमें जो कोई तुम से प्रश्न करे कि जिसमें जीव रहते हैं जब उसका अन्त है, तो उसमें रहने वालों का अन्त क्यों नहीं? फिर तुमसे इसके उत्तर में केवल चुप वा हठ के और कुछ न बन पड़ेगा। यह थोड़ा-सा अर्थात् समुद्र में से बिन्दुवत् तुम्हारे मत में दोष दिखलाया है। जो तुम सन्मुख बैठ कर चर्चा करो, तो तुमको और तुम्हारे साथियों को तुम्हारे मत के दोष भली-भांति विदित हो जायं।

परन्तु जब कोई विद्वान् तुम्हारे सन्मुख तुम्हारे मत के खण्डन विषय में चर्चा करना चाहें, तो भी तुम कभी न चाहोगे। क्योंकि जो तुम्हारा मत निर्दोष होता, तो दूसरे मत वालों से संवाद करने में कभी न डरते। इसका दृष्टान्त यह है कि तुम अपनी पुस्तकों को बहुत गुप्त रखते और अपने मत वालों के सिवाय दूसरों को देखने के लिये नहीं देते। यह तुम्हारा सिद्धान्त

पुस्तक और तुम्हारे सिद्धान्तों को तुम्हारी ही बातें झूंठ कर देती हैं। जिसका चांदी का रुपया है, वह सर्राफ वा सुनारादि के दिखलाने में क्यों डरेगा? देखो, हमारा वेद मत सच्चा है, इससे हमको किसी के साथ चर्चा करने में डर नहीं होता। जैसा तुम डर के कारण हठ करते हो कि मुख पर कपड़ा बांधे विना तुम से बात नहीं करते, यह तुम्हारा केवल छल है, क्योंकि नाच न आवे आंगन टेढ़ा। **ह०—दयानन्द सरस्वती**

जब पूर्वोक्त पुरुष उक्त प्रश्नों को लेकर साधुजी के स्थान पर पहुंचे, तो क्या देखते हैं कि साधुजी बहुत-सी स्त्री और पुरुषों के मध्य में बखान[१] कर रहे हैं। तब यह लोग वहां जा बैठे। जब बखान पूर्ण हुआ, तब पण्डित छगनलालजी मन्त्री राव मसूदा ने, जो उक्त प्रश्न ले गये थे, सब लोगों के सन्मुख पढ़ कर सुना दिये। और कहा कि इनका उत्तर देना आपको योग्य है। इस पर साधुजी ने कहा कि—जो तुम लोग मुख पर पट्टी बांधो तो मैं उत्तर दूं। तब इन लोगों ने कहा कि—हम मुख पर पट्टी बांधना पाप गिनते हैं। प्रथम आप इन प्रश्नों का उत्तर दें। पट्टी का बांधना सिद्ध कर देंगे, तब हम प्रसन्नतापूर्वक यही क्या जैसा आप हम से कहेंगे, स्वीकार करेंगे। ये सुन साधु ने कहा कि—तो मैं उत्तर नहीं दे सकता, और उठकर भीतर की ओर चले गये। फिर यह लोग अपने गृह की ओर चले आये, और सब वृत्तान्त स्वामीजी वा राव साहब को सुनाय अपने-अपने निज स्थान को पधारे।

[साधु सिद्धकरण के द्वारा स्वामीजी के प्रश्नों का उत्तर]

फिर साधुजी ने तीसरे दिन सुजानमल कोठारी के हस्ते स्वामीजी के प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित भेजा—

प्रश्न—[२]'मुंह बांधने में क्या धर्म है।' हमको तो पाप मालूम होता है, इत्यादि।

उत्तर—जब कि मकान में अग्नि की ज्वाला निकलती है, उस मकान के दरवाजे में होकर हवा भीतर जाती है, तो हवा के जीव सब मर जाते

१. जैन साधुओं के धर्मोपदेश को राजस्थान में 'बखाण' (व्याख्यान का अपभ्रंश) कहते हैं।

२. यह जैसे के तैसे लिख दिये हैं, (जिससे जैन मत के साधुओं की विद्या भी पाठकों पर भली भांति प्रकट हो जाय।)

हैं, और बाहर उस ज्वाला का तेज कपड़े की ओट से ठंडा होकर जाता है। जैसा कि ऊना[१] (गर्म) जल की भाप बाहर एक ऊनी करी हुई चीज की भाप के निकलते समय कपड़ा की ओट दो, तो फिर ओट से बच कर भाप जावेगी, वह फिर वैसी गर्म कभी न रहेगी। वा आडा हाथ देकर देखो, तो पहला हाथ देगा उसका जलेगा वही जल की भाप निकलेगी तो दूसरी तरह जो आजू बाजू हाथ रहेगा, कभी वैसा नहीं जल सकता, यह तो प्रत्यक्ष पड़ता है और जीव-अजर-अमर हैं लेकिन वायु के जीव का शरीर है, विना शरीर के जीव नहीं रह सकता।

दूसरे खुले मुख रहने से प्रत्यक्ष दोष भी है, कि उसको सब कोई समझ सकता है, क्योंकि जो कोई बड़े आदमी के निकट बात करे तो मुंह के पल्ला लगा लेता है, क्योंकि जिससे थूक न उछले, वा अपनी दुर्गन्धता का स्वास उनके द्वारा न पहुंचे। तो आप सरीखे बुद्धिमान् होकर यह क्या सवाल पूछा? आप को भी यह तो ख्याल चाहिये कि वेद की पुस्तकों को खुले मुंह बांचना, क्या पुस्तक के ऊपर थूक वा दुर्गंध स्वास नहीं पहुंचती होगी? इस वास्ते जरूर आपको उगाड़े (खुले) मुंह रहना लाजिम नहीं। और हम तो साधु हैं, हम बेफायदा झोड़[२] नहीं करते क्योंकि यह बात पक्षपात कहलाती है। सिवाय धर्म के साधु को कुछ वास्ता नहीं। कोई हमारे निकट आवे और सुनना चाहे तो सुने, जाने आने का कुछ प्रयोजन नहीं। हां, यह पक्की दीखे कि कुछ धर्म की बात मानेंगे, तो जा सकते हैं। **—ह० सिद्धकरण**

[स्वामीजी के द्वारा साधु सिद्धकरण के प्रश्नों का उत्तर]

स्वामीजी ने इन पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर दूसरे दिन, पं० वृद्धिचन्द्रजी जगन्नाथ जोशी, व्यास रामनारायण और बाबू बिहारी लाल और अन्य सरदार लोगों के हस्ते निम्नलिखित भेजा—

उत्तर—जब कि मकान में अग्नि की ज्वाला निकलती है, इत्यादि। यह तुम्हारा मुख की पट्टी बांधने का उत्तर अविद्यारूप है, क्योंकि बाहर की वायु ही सब प्राणियों का जीवन-हेतु है। विना इसके संयोग के कोई भी प्राणी नहीं जी सकता, और उनके सम्बन्ध के विना अग्नि भी नहीं

१. 'उष्ण' को मारवाड़ी में 'ऊना' कहते हैं।

२. 'झोड़' विवाद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

जल सकता। जैसे किसी प्राणी वा जलते अग्नि को बाहर के वायु से वियुक्त करें, तो वह उसी समय मर जाता और दीपादि अग्नि भी बुझ जाता है। इससे उसको जिलाने और जलाने आदि का कारण बाहर का वायु ही है। न मानो तो बंद कर देख लो। इसलिये यह तुम्हारा अविद्या-रूपी ही उत्तर सिद्ध होता है। यद्यपि ऐसी अन्यथा बातों पर लिखना व्यर्थ है, क्योंकि जो किसी से हो ही नहीं सकता।

देखो! जो मकान के दरवाजे और छिद्र बिल्कुल बंद कर दिए जायें तो अग्नि कभी न जले। और एक ओर से ओट किया जाए, तो दूसरी ओर से जहां कि मार्ग पाता है, वहां अति वेग से चलकर वही वायु के जीवों को उसका सम्बन्ध होता है। और कपड़े की ओट से भी वह कभी ठंडा नहीं हो सकता, किन्तु वह एक ओर रुककर दूसरी ओर गर्म हो जाता है। ज्वाला की जितनी गर्मी है वह जब तक बाहर के वायु से सम्बन्ध वा संघात छूट एक-एक परमाणु पृथक् पृथक् होकर न मिल जायें, तब तक अग्नि ठंडा कैसे हो सकता है? और सर्वत्र वायु में विद्युत् रूप अग्नि भी (कि जहां वायु के शरीर वाले जीव हैं) व्याप्त हो रहा है, फिर वायुस्थ जीव क्यों नहीं मर जाते?

जब एक ओर कपड़े आदि से आडा[१] किया जाए, तो दूसरी ओर गर्म वायु अधिक इकट्ठा फैलने और पटकने आदि से शीघ्र ठंडा नहीं होता, किन्तु जो चारों ओर से खुला रहे तो शीघ्र ठंडा हो जाता है, जैसा कि मैदान की अग्नि। जब अग्नि की ओर आडा हाथ दिया जाए, तो हाथ की आड़ से दूसरी ओर गर्मी फैलेगी। आड़े हाथ करने से गर्मी कुछ भी कम नहीं हो सकती। इससे यह अविद्वानों की बात है।

देखो! कोई सूर्य की ओर हाथ करे, तो क्या सूर्य की गर्मी घट जाती है? और क्या जिस बर्तन में गर्म जल किया जाता है, उसका मुख खुला रखने से अधिक गर्मी और आधा वा तीन-भाग बन्द करने से अर्थात् आधे वा चौथे भाग से भाप अधिक और जोर से निकल कर बाहर के वायु में नहीं फैलती? और जो उसका मुख सर्वथा बन्द किया जाए, तो क्या बर्तन टूट फूट वा न उड़ जायेगा?

क्या जिसने अग्नि की ज्वाला के सामने आड़ की, तो उसकी ओर गर्मी कम होने से अग्नि के दूसरी ओर जिस किसी का हाथ वा कोई वस्तु

१. 'आडा' करने का अर्थ ओट करने से है।

हो, तो वह अधिक तप्त नहीं होती? और जब चारों ओर से आड़ कर अग्नि रोका जाये, तो गोलाकार होकर ऊपर को क्यों नहीं चढ़ेगा? और भाप के दूसरे बाजू हाथ जैसा कि इधर का जलता है वैसा उधर का न जलेगा? और हाथ की आड़ से हाथ में गर्मी इसलिए अधिक नहीं लगती कि वह गर्मी अगल बगल होके उड़ जाती है।

देखो! तुम्हारी अत्यन्त भूल है, क्योंकि जो वायु के शरीर-वाले जीव गर्म वायु से मर जाते, तो वैशाख और ज्येष्ठ मास में जब कि वायु अत्यन्त तप्त होय लू चलता है, तब वे क्या सब मर जाते हैं? और गर्म वायु के जीव जब कि पौष मास में अति शीत पड़ता है, तब वे क्या सब मर जाते हैं? इससे यह बात सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या ही है। क्योंकि जो ऐसा होता, तो ईश्वर इस सृष्टि में अग्नि और सूर्यादि को क्यों रचता? इससे जो तुम सत्यासत्य बातों का निश्चय करना चाहो, तो वेदादि सत्य शास्त्र पढ़ो और सुनो। जिससे यथार्थ ज्ञान पाके, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी फल को प्राप्त हो सको, ऐसा न करके अपने मत के ग्रन्थों के विश्वास में रहोगे, तो यह उत्तम मनुष्य जन्म व्यर्थ ही नष्ट करोगे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि, जीवों को अजर अमर मान कर फिर उनका मरण भी मानते हो। जो तुम खुला मुख रखने में प्रत्यक्ष दोष लिखते हो, तो प्रतीत होता है कि आप प्रत्यक्ष के लक्षणादि विद्या को ही नहीं जानते। इसी से किसी बड़े आदमी से बातें करने में पल्ला लगाना अच्छा समझते हो। जो ऐसा है, तो फिर वैसा क्यों नहीं करते? क्यों छोटे आदमी के सन्मुख हर वक्त मुख को बांधे रहते हो? क्या बड़े आदमी का थूंका छोटे आदमी के लग जाना अच्छा समझते हो? क्या बड़े आदमी के मुख में कस्तूरी घुली होती है, और छोटे के नहीं? यदि बड़े छोटों का विचार है, तो अपने चेलों के सन्मुख मुख क्यों बांधते हो? क्योंकि जब किसी बड़े आदमी से बोला करो, तो बांध लिया करो, सदैव ये व्यर्थ बातें क्यों किया करते हो?

देखो, इस बात को तुम नहीं जानते। बड़े आदमियों से सम्भाषण करते समय पल्ला लगाने से यह प्रयोजन है कि सभा में कभी-कभी गुप्त वार्ता करनी पड़ती है। यदि मुख खुला रखा जाये अर्थात् कपड़ा न लगावें तो अन्य मनुष्य जो निकट बैठे होयं, अवश्य सुन लें। जहां कोई तीसरा मनुष्य नहीं होता वहां बातें करने में पल्ला नहीं लगाते। और क्या पल्ला

लगाने से दुर्गन्ध रुक सकता है? इसमें इतना ही प्रयोजन है कि जो वायु को रोक के न बातें करें, तो उसके फैलने के साथ ही शब्द भी फैल जाये और कान में वायु लगने से ठीक-ठीक सुना भी न जाए। जैसा कि वायु के वेग से चलने में ठीक-ठीक सुना नहीं जाता।

देखो, कैसे अंधेर की बात है, क्या दुर्गन्ध को कान ग्रहण कर सकता है? किन्तु सुगन्ध दुर्गन्ध का ग्रहण नासिका ही से होता है। इस बात का आपने प्रयोजन ही नहीं समझा है, जैसे गान विद्या न जानने वाला ध्रुपद को समझ नहीं सकता, क्योंकि जो तो विद्या की बातें हैं, उनको विद्या से ही समझ सकता है, अविद्वान् नहीं। हम शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को वेद समझते हैं, कागज स्याही को नहीं। और कागज स्याही को (जड़ होने से) सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान वा सम्बन्ध नहीं होता। क्या जो तुम्हारे जैनी लोगों के ग्रन्थ वा पुस्तकों के कागज वा लाख आदि हैं, उनको बनाने और लाने वालों ने मुख बन्द कर बनाया और लिखा होगा?

हम खुले मुख में वेदों का पाठ करना अत्युत्तम समझते हैं, क्योंकि मुख बांधने से स्पष्ट यथार्थ उच्चारण नहीं होता, जैसा कि तुम्हारा सब अक्षरों का नासिका से अशुद्ध उच्चारण होता है। उसका उत्तर हमने पहिले ही लिख दिया था कि निरनुनासिक को मुख बांधकर सदैव सानुनासिक बोलना शुद्ध नहीं, परन्तु इसके समझने को तो विद्या चाहिये। और जो आप साधु बनते हो, तो साधु के लक्षण क्या हैं? और आप स्वार्थी हो वा परमार्थी? जो परमार्थी हो तो स्वार्थ की इच्छा अर्थात् बेफायदा हम नहीं बोलते, ऐसा क्यों कहते? और जो स्वार्थी हो तो साधु क्यों बनते हो?

जो आपको पक्षपात नहीं होता, तो मुख पर पट्टी बांधने का झूठा आग्रह क्यों करते? कि विना मुख पर पट्टी बांधने के हम नहीं बोलते। यदि ऐसा नियम था, तो प्रथम ही प्रथम (जंगल में भ्रमण करते समय) हमसे क्यों बोले थे, कि आपका नाम क्या है? इत्यादि खुले मुख बोले। और अन्य जनों से भी बातें क्यों किया करते हो? और भोजन समय में (स्वप्रयोजन के लिये) क्यों मुख खोलते हो? क्या तुम अपने शरीर-पोषण, भोजन-छादन, मल-विसर्गादि कर्म भी मौन सिवाय नहीं समझते होंगे? यह बात मिथ्या है, क्योंकि जब हम सुनना चाहते थे, तब तो तुम सुनाने को खड़े भी न हुये। और जो तुम कहीं आते जाते नहीं, तो यहां कहां से आ गये? क्या एक ही ठौर शिलावत् स्थित रहते हो? भला जिसका रुपया

चांदी का है, उसको कच्चेपन का क्या भय है? क्या सबके सामने दिखलाने से ताम्र का हो जाता है?

क्या तुम वहीं जाते हो जहां तुम्हारी बातें विना समझे बूझे मान लेवें? हां ठीक है, तुम तो उन्हीं गोबर-गणेशों को सुना सकते हो, जो सुनते ही सत्यार्थ और प्रमाण शब्दों को सुनते ही हल्ला करके तुम को सन्तुष्ट किया करें। चाहे सत्य कहो वा असत्य, मान ही लें, जैसे दिल्ली की मिठाई। न पूछें न शंका करें न झूठ का खण्डन करें। ठीक समझ लिया, जैसे तुम और तुम्हारे सिद्धान्त हैं, मानो बालकों का खेल। जो यह मुख की पट्टी बांधने का सहज उत्तर तुम नहीं दे सकते, तो छोटे से कंद में अनन्त जीवों के होने आदि का उत्तर तुम क्या दोगे? किन्तु तुम्हारे तीर्थंकरों ने भी इन विद्या की बातों को नहीं समझा था। जो समझते होते, तो ऐसी असम्भव बातें क्यों लिख जाते?

सत्य है, जब से तुम लोगों ने वेद-विरोधी होके तदुक्त सत्य मत को छोड़ के कपोल-कल्पित असत्य मत को ग्रहण किया है, तभी से विद्यारूप प्रकाश से पृथक् होकर अविद्यारूप अंधकार में प्रविष्ट हो गये हो। इसी से ईश्वर, जीव और पृथिवी आदि तत्त्वों को यथावत् नहीं जान सकते हो। आओ, अब भी क्यों झूठे पक्षपात करके वेदोक्त सत्य मत को स्वीकार नहीं करते? और मुख पर पट्टी बांधने आदि विद्या-विरुद्ध कपोल-कल्पित बातों को क्यों नहीं छोड़ते? और अन्यथा आग्रह करते जाते हो। सत्य है कि, जो तुम लोगों के आत्माओं में वेद विद्या का थोड़ा भी प्रकाश होता, तो ऐसी निर्मूल झूठी बातों को लिखने में लेखनी कभी नहीं चलती।

और जो तुम्हारे सिद्धान्त सत्य होते, तो चर्चा करने में ऐसे झूठे हीले बहाने क्यों पकड़ते? और ऐसे अशुद्ध लेख में व्यर्थ परिश्रम क्यों करते वा कराते? अब भी जो सच्चे हो तो सन्मुख आकार थोड़े काल में सत्यासत्य का यथार्थ निश्चय क्यों नहीं कर लेते? क्योंकि **'वादिप्रतिवादिभ्यां निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः'**—जो वाद-प्रतिवाद से बात सिद्ध होती है, वही मानने योग्य है। जिस किसी ने मतमतान्तर वालों से पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक वादानुवाद नहीं किया, वह सत्यासत्य को ठीक-ठीक कभी नहीं जान सकता। इसी लिए तुम भी ऐसा क्यों नहीं करते? परन्तु क्या करो, 'नाच न जाने आंगन टेढ़ा'। **ह०—दयानन्द सरस्वती**

यह उक्त पत्र पूर्वोक्त पुरुष जब लेकर चले, तो अनुमान २००

आदमियों के और एकत्र हो गये थे। उन्होंने पहुंचते ही साधु जी को उक्त पत्र पढ़ सुनाया, और निवेदन किया कि अब आप इसका फिर उत्तर दीजिये। परन्तु पाठकगण! उत्तर देने को तो विद्या चाहिये। न जाने पहले किसकी सहायता से उत्तर लिखा था? विशेष क्या लिखूं। साधुजी के छक्के छूट गये। अन्त को बहुत इन लोगों ने कहा सुना, तो यही मुख से निकला कि—म्हारे से तो कोई नहीं बने, आपां तो साधु हां।[1] जब लोगों ने देखा कि जब साधु ही ने अपने मुख से हार मान ली, तो अब विशेष कहना उचित नहीं। यह समझ कर 'नमस्ते' कह के चले आये और सर्व वृत्तान्त रावसाहब और स्वामीजी से निवेदन कर अपने अपने निज स्थानों को चले गये।

ह०—पं० वृद्धिचन्द श्रीमाली, मसूदा

शास्त्रार्थ-मूसदा (२)

[यह शास्त्रार्थ बाबू बिहारीलाल ईसाई के साथ राव साहब बहादुरसिंह जी मसूदा का श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती की मध्यस्थता में सम्पन्न हुआ।]

इसके पश्चात् सावन सुदी ४ सं० १९३८ को फिर बाबू बिहारी लाल ईसाई नये शहर (ब्यावर) से स्वामीजी से मिलने को आया। थोड़ी देर के पश्चात् बातों ही बातों में धर्म-विषय की चर्चा होने लगी। तिस पर श्रीयुत रावसाहब ने बाबू बिहारीलाल से कहा कि—आइये, मेरी और आपकी परस्पर वार्ता होनी उचित है। क्योंकि यदि आप के पादरी साहब आते, तो उनसे स्वामीजी वार्तालाप करते। सो अब न्याययुक्त उचित यही है कि आप पादरी साहब के शिष्य और मैं स्वामीजी का। इसलिये मुझसे और आपसे ही वार्ता होनी अत्युत्तम है, और स्वामीजी हम दोनों के मध्यस्थ रहेंगे। यह बात रावसाहब की बाबू बिहारीलाल ने स्वीकार कर स्वामीजी को मध्यस्थ किया, और इस प्रकार से प्रश्नोत्तर होने लगे—

रावसाहब बहादुरसिंहजी—तुम्हारा ईमान पूरा है वा नहीं?

बाबू बिहारीलाल—हमारा विश्वास प्रभु परमेश्वर पर है।

रा०[2]—तुम्हारा विश्वास पूरा है, वा अधूरा?

१. यह वाक्य मारवाड़ी भाषा का है।

२. बा० से बाबू बिहारीलाल (देशी पादरी) तथा रा० से राव साहब बहादुरसिंह जी मसूदा अभिप्रेत हैं।

बा०—हमारा विश्वास पूरा है।

रा०—'जो तुम्हारा पूरा विश्वास है, तो इस पहाड़ को यहां से हटा दो, क्योंकि आप लोगों के नये नियम के पर्व १० आयत २० में मसीह उपदेश करते हैं कि—'अगर तुम लोगों में राई बराबर विश्वास होय तो, इस पहाड़ को उठाय दूर ले जा सकते हो'।

बा०—विश्वास दो तरह का है, उनमें से आप कौनसा पूछते हो?

रा०—वे दो विश्वास कौन-कौन से हैं?

बा०—पहला विश्वास यह है कि—ईश्वर को अपना सरजनहार समझना। दूसरा यह कि—किसी की बड़ाई की तरफ झुक कर विश्वास करना। जैसे एक आदमी ने 'कोसालस' के पास आकर कुछ रुपये नज़र किये, और कहा कि—मुझे भी यही ताकत मिले। उसने कहा कि—ताकत ईश्वर की रुपये-पैसे से नहीं मिलती।

रा०—आप चाहे जौन से विश्वास व ईमान से पहाड़ को हटा हो। यदि नहीं हटा सकते, तो आप में राई बराबर भी विश्वास नहीं।

बा०—इस प्रश्न का तात्पर्य हर एक ईसाई पर नहीं लग सकता। इसलिए कि उस वक्त मसीह के शागिर्दगान अपना बड़प्पन पाने के लिये यह अरज की, ताहम भी उनका विश्वास प्रभु पर था। और यह बात उनके बड़प्पन पर थी, और मसीह ने भी उस बड़प्पन पर जवाब दिया। अब मेरा विश्वास, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, प्रभु परमेश्वर पर पूरा है कि—वह हमारा पैदा करने वाला और मुक्तिदाता है। और इस बात की अभिलाषा हम नहीं रखते कि हम करामाती हो जायें।

रा०—हर एक ईसाई का विश्वास माननीय एक सा है वा भिन्न-भिन्न? जो एक सा है, तो सब ईसाइयों में उस विश्वास के राई भर अंश का फल कहने मात्र से पहाड़ का हट जाना क्यों नहीं? और परमेश्वर पर आपका पूर्ण विश्वास है, तो क्या उस विश्वास में वह सामर्थ्य नहीं है? और ईसाइमसीह जिस विश्वास के बल से आश्चर्य कर्म करते थे, वह विश्वास यही आपका है जिसको आप मानते हैं, वा दूसरा? यदि दूसरा अर्थात् भिन्न है, तो ईसामसीह ने आप लोगों से कपट रक्खा, कि किसी को अपना विश्वास न बताया और जो बताया तो उनमें और आप लोगों में उस विश्वास का फल इस वक्त क्यों नहीं दृष्टि पड़ता? मुझको तो यह निश्चय होता है कि ईसामसीह में किसी का वह विश्वास पूरा

प्राप्त कराने का सामर्थ्य नहीं है। जो होता तो उनके साथ बारह शिष्य प्रत्यक्ष थे। जब उनको ही विश्वास पूरा न करा सका, तो अब आप लोगों का विश्वास पूरा क्यों कर हो सकता है, वा करा सकता है।

जब ऐसा है, तो तुम लोगों को ईसामसीह मुक्ति आदि भी नहीं दे सकता। जो आप उसके पैदा किये हुए हैं, तो मर भी जायेंगे। क्योंकि जो पैदा होता है, उसका नाश भी अवश्य होता है। जब नाश हुआ तो जिस पर आप विश्वास कर रहे हैं कि हम को मुक्ति मिलेगी, वह व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि मुक्ति को भोगना नाशधर्म वाला है, तो नित्य-सुख जो आपके मतानुसार है, उसको कौन भोगेगा? जो आप कहें कि—उत्पत्ति तो होती ही है, नाश नहीं होता। यह बात सृष्टिक्रम और विद्या के विरुद्ध है कि जिसकी उत्पत्ति तो होय और नाश न हो।

प्रभु के पूरे विश्वास से बड़प्पन और करामात प्राप्त होती है, वा नहीं? जो होती, तो आपको इस पहाड़ का हटा देना अवश्य होगा, और जो नहीं तो परमश्वेर-विश्वास में वैसा बड़प्पन नहीं रहा। तो अब आप बतलाइए कि वह फिर दूसरा विश्वास कौनसा है, कि जिससे बड़प्पन और करामात प्राप्त होती है? क्या परमेश्वर के विश्वास से भी किसी अन्य का विश्वास बड़ा है? और क्या परमेश्वर से भी कोई वस्तु उत्तम है? वा परमेश्वर में करामात है वा नहीं? जो है तो अपने ही विश्वास से वा अन्य के? और उसके विश्वासियों में भी वैसा ही उचित होता है वा अन्य?

जब खुद ईसामसीह ने उनसे कहा कि जो तुम में राई भर ईमान होता, तो इस पहाड़ से कहते कि यहां से चला जा, तो चला जाता। इससे सिद्ध होता है कि उनमें राई भर भी ईमान न था। तो ईमानरहितों की एकत्र की वा बनाई वा लिखी हुई अंजील भी विश्वास के योग्य कैसे हो सकती है? जो कहो कि—ईसामसीह के मरने के पश्चात् (१२ शागिर्दों का) ईमान दुरुस्त हो गया था, पश्चात् अंजील बनाई। यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि जो उसके सामने अर्थात् जिनको ईसामसीह ईमानदार बनाना चाहता और परिश्रम करता था, तो भी नहीं बन सके, तो पश्चात् कैसे बन सकते हैं?

बा०—स्वामी जी महाराज! मैं इसका उत्तर अभी नहीं दे सकता। अब मैं अपने गृह नये शहर (ब्यावर) को जाता हूँ। पादरी साहब[१] से पूछ कर उत्तर दूंगा।

१. यूरोपीयन पादरी शूलब्रेड से अभिप्राय है।

इतना कह बाबू बिहारीलाल ईसाई थोड़ी देर पश्चात् अपने गृह की ओर पधारे, परन्तु उक्त लेख का उत्तर फिर आकर अर्थात् आज की तारीख तक न दिया। **ह०—पं० वृद्धिचन्द श्रीमाली मसूदा**

[एक कबीरपन्थी साधु से प्रश्नोत्तर]

एक साधु कबीरपन्थी नये शहर (ब्यावर) से स्वामीजी के पास आया, और परस्पर प्रश्नोत्तर होने लगे। प्रथम स्वामीजी ने कहा कि—आपके मत के कितने ग्रन्थ हैं? साधुजी ने कहा—१४ करोड़ पुस्तक हैं। स्वामीजी ने कहा—यह बात मिथ्या है। कारण इतने ग्रन्थों की संख्या और रखने को कितनी जगह चाहिये? फिर स्वामीजी ने पूछा कि—तुम्हारे कबीर कौन थे? और जब तुम कबीर-मत में होते हो, तब तुम उनकी प्रसादी और गुरु का उच्छिष्ट भी खाते हो कि नहीं? साधु—उच्छिष्ट खाते हैं। कबीर का जन्म नहीं है, अजन्मा है, मां बाप भी नहीं। स्वामीजी—कबीरजी काशी में कुकर्म से पैदा हुये थे[१] इस कारण उसकी मां ने उसे बाहर फेंक दिया था। उसी समय वहां पर (जहां कबीर पड़ा था) एक जुलाहा, जो जाति से मुसलमान था, आ निकला और कबीर को उठाय घर में ले आया और निज पुत्र सा जान उसको पाला, और उसको समर्थवान् किया। अब देखिये कि उसका जन्म भी हुआ और मां बाप भी ठहरे। उस बात को सुन साधु चुप हो रहा और कुछ उत्तर न दिया।

फिर श्रावण सुदी १५ सं० १९३८ को रावसाहब की ओर से सोमनगरी पर बड़ी धूमधाम और उत्साह सहित हवन हुआ, जिसमें ५०० आदमियों के लगभग एकत्र थे। हवन के पश्चात् ब्रह्मभोज भी सत्कार-पूर्वक कराया गया। फिर निम्नलिखित पुरुषों ने प्रणपूर्वक सबके सन्मुख वेदधर्म को स्वीकार किया। फिर उसी समय स्वामीजी से उचित पुरुषों ने यज्ञोपवीत लेने की अभिलाषा प्रकट की। इस कारण श्री स्वामीजी महाराज ने योग्यपुरुषों को यज्ञोपवीत भी दिया। यज्ञोपवीत लेने वाले महानुभावों में निम्नलिखित के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—

ठाकुर—१. प्रतापसिंह केलू के २. अखेसिंह जी वेगलियावास के

१. कबीर के बारे में यह बात प्रसिद्ध है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी की जारज सन्तान थे।

३. चैनसिंह जी आसीन ४. प्रतापसिंहजी वरवाड़े ५. माधोसिंहजी वेगलियावास ६. अदूलसिंहजी किपाय ७. प्रतापसिंहजी मेरता ८. नाहरसिंह जी जामोड़ा ९. उगमसिंहजी किशनगढ़ १०. चतुर सिंह जी गहलोत मसूदा ११. हरि सिंहजी मेरता १२. लेखसिंहजी किपाय १३. गम्भीर जी थावड़ा १४. नामदेव जी जगपुरा १५. बलवन्तसिंह जी किपाय १६. महताब जी थाबड़ा वाला।

जैनी—१. राजमल्लजी कोठारी २. किशनजी कोठारी ३. अनन्तजी कोठारी ४. श्योदानजी कोठारी ५. हीरालालजी तातेड़ ६. कजोड़जी चोरड़िया ७. छगनजी बोहरा ८. पानजी कोठारी ९. अमरसिंह जी कोठारी १०. बल्लभजी ११. राजजी मेहता १२. ऋषभदासजी वापना १३. हंसराजजी कोठारी १४. बालकिशनजी मेहता १५. किशनजी कोठारी १६. श्योदानजी मेहता १७. श्योबागजी कोठारी १८. रामचन्द्रजी अग्रवाल १९. ओनाडजी पिरोहित २०. लालजी पिरोहित लोढ़ाने का २१. बालकिशनजी मेहता २२. औतारजी सोकला २३. कल्याणसिंहजी कोठारी २४. जसवन्तसिंहजी कोठारी २५. किसनाजी २६. छगनजी कोठारी २७. कजोड़ीमल्लजी नार २८. गोपालजी धूत।

अन्य—१. चंपालालजी कायस्थ २. छुट्टनलालजी कायस्थ ३. कल्लूजी चारण ४. रामदयालजी ब्राह्मण ५. श्योबख्शजी आदि।

उपसंहार—इसी प्रकार यहां आनन्द मंगल होते रहे। इसी अवसर में रायपुर के ठाकुर का निमंत्रणपत्र स्वामीजी के पास आया। इस कारण श्रीमद् आर्यकुलभूषण दिग्विजयी श्री स्वामीजी महाराज ने रायपुर जाने का विचार ठाना। जब श्री रावसाहबजी ने श्री स्वामीजी से निवेदन किया कि महाराज! आप का एक व्याख्यान महलों में हो जाए, तो अति उत्तम है। इस बात को श्रीस्वामीजी ने स्वीकार किया और भाद्र वदी ८ को महाराज का व्याख्यान राजनीति विषय पर महलों में हुआ। तहां बड़ा आनन्द रहा। व्याख्यान के पश्चात् श्री रावसाहब ने ५०० रु० वेद-भाष्य की सहायता में स्वामीजी की भेंट किये।

ह०—पं० वृद्धिचन्द श्रीमाली

मसूदा संवत् १९३८ वि०

२७

कलकत्ता-शास्त्रार्थ

कलकत्ता-शास्त्रार्थ

२२ जनवरी, १८८१ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में पौराणिक विद्वानों द्वारा किये गये प्रश्नों का महर्षि दयानन्द द्वारा अन्य से लिखवाया गया उत्तर

उर्दू से अनूदित एवं सम्पादक :

प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

इस लिखित शास्त्रार्थ की खोज व प्राप्ति

[भूमिका]

वीर शिरोमणि पं० लेखराम जी के साहित्य में इस शास्त्रार्थ (रसाला एक आर्य) की चर्चा जब जब भी पढ़ता था तो इसे देखने व पढ़ने के लिए मैं मचल उठता था। उसकी खोज के लिए अथक प्रयास कर करके भी मैं न थका, परन्तु इसकी प्राप्ति न होने पर व्याकुल अवश्य हो जाता था।

कुछ वर्ष पूर्व मुरादाबाद के आर्यसमाज ने कथा के लिए बुलाया। एक दिन प्रात:काल सेवक ताला लगाकर विना बताये कहीं बाहर चला गया। मैं सीढ़ियों से नीचे उतरता व ऊपर चढ़ता रहा। यह व्यायाम कर रहा था। अकस्मात् मेरी दृष्टि समाज की गैलरी में पड़ी अलमारियों पर जा पड़ी। सोचा इन्हें देखना चाहिए। गैलरी में घुसने का मार्ग भी खोज लिया।

अलमारियों से पुस्तकें निकाल-निकालकर देखने लगा। धूल-मिट्टी झाड़-झाड़कर एक-एक काग़ज़ देखता गया। धूल-मिट्टी झाड़-झाड़कर हिम्मत न हारी। सोचा, कुछ तो आज मिलेगा ही। मेरे हर्ष की कोई सीमा न रही जब यह 'रसाला एक आर्य' वहाँ मेरे हाथ लग गई। पुस्तक पाकर मेरी मन:स्थिति क्या थी? इसे भक्तराज अमींचन्द जी की इस पंक्ति से ही कुछ प्रकट कर सकता हूँ—

गूँगे की रसना के सदृश अमींचन्द,
क्योंकर बतायें कि क्या रस उड़ाया।

इसे पाकर मुझे तत्काल रक्तसाक्षी पं० लेखराम जी व श्रद्धेय पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का स्मरण हो आया। देर से इसे प्रकाशित करवाने की धुन में लगा रहा और यह प्रकाशित भी हो गया।

यह सभा—यह शास्त्रार्थ

'आर्य-सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा'—कोलकाता का आयोजन विश्व-इतिहास की एक निराली घटना है। इसका आयोजन कोलकाता

विश्वविद्यालय के सीनेट हॉल में २२ जनवरी, सन् १८८१ को सायं समय किया गया था। ऋषि दयानन्द के विरोध में देश भर के मूर्धन्य पौराणिक विद्वान् वहाँ बुलाये गये। बुलाये गये की अपेक्षा '**लाये गये**' कहना अधिक उपयुक्त है। कारण यह कि स्वत: प्रेरणा से तो एक भी पण्डित नहीं आया था। सबको दक्षिणा का लोभ खींच लाया था। मथुरा के सेठ नारायणदास ने इसके लिये धन का व्यय किया था।

यह सभा कोलकाता में क्यों आयोजित की गई ? इस प्रश्न का उत्तर खोजना आज कठिन है। कोलकाता हिन्दुओं का कोई धार्मिक केन्द्र अथवा तीर्थ स्थल नहीं। यदि काशी, पुरी, मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका, रामेश्वरम् में सभा आयोजित की जाती तो कुछ समझ में आने वाली बात बनती। लगता है कि भारत की तत्कालीन राजधानी होने के कारण कोलकाता नगरी में इसका आयोजन लाभप्रद समझा गया। इससे इसका पत्रों में प्रचार आसानी से होगा, सरकार भी ऋषि के विरुद्ध थी, उसका भी कुछ सहयोग आयोजकों को प्राप्त रहा होगा।

संसार में सब विचारकों, सुधारकों का अपने-अपने काल में उनके देश-बन्धुओं ने विरोध तो किया, परन्तु सब भागों के विद्वानों ने ऐसी सभा करके किसी भी सुधारक, विचारक का विरोध किया हो, ऐसा इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता। महर्षि दयाननद सरस्वती का व्यक्तित्व व कर्तृत्व इस दृष्टि से विलक्षण है कि उनके विरोधियों को राष्ट्रीय स्तर पर एक समारोह करके उनके विरुद्ध एक सर्वसम्मत व्यवस्था देकर उनकी महत्ता को स्वीकार करना पड़ा।

इस सभा की एक विशेषता यह रही कि इस सभा को ऋषि दयानन्द को बुलाकर उनका पक्ष सुनने का साहस ही न हुआ। सभा के समस्त निर्णय थे तो सर्वम्मत परन्तु ये निर्णय ऋषि दयानन्द की बात सुने विना ही उनकी अनुपस्थिति में लिये गये। पौराणिक दल का कैसा विचित्र न्याय है कि जिसे अपराधी घोषित किया गया उसे अपनी बात कहने का अवसर ही प्रदान नहीं किया गया।

यूरोप में भी एक ऐसी घटना घटी, परन्तु दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। ईसाई सुधारक मार्टिन लूथर पर पोप के विद्वान् शिष्यों ने वर्मज़ (जर्मनी) में अभियोग चलाकर उसके विरुद्ध व्यवस्था दी थी। परन्तु दोनों घटनाओं में सादृश्यता होते हुए भी एक विशेष भेद था। "At worms

Martin Luther was called by warrant to clear his position before the learned judges of Christiandom."[1] वर्मज़ में मार्टिन लूथर को सम्मन जारी करके ईसाइयत के विद्वान् न्यायाधीशों के सम्मुख अपना स्पष्टीकरण देने के लिये बुलाया गया।

विद्वान् पण्डित सर्वसम्मत व्यवस्था देकर बड़े गद्‌गद् हुए होंगे। उन्होंने समझ लिया कि वे जीत गये हैं और दयानन्द पराजित हो गया है, परन्तु ऋषि दयानन्द पर तो इस घटना का किञ्चित् मात्र भी प्रभाव न पड़ा। उन तक भी इस सभा के सब समाचार पहुँचे या पहुँचाये गये, परन्तु वे इससे घबराये, डगमगाये नहीं। वे सब-कुछ सुनकर भी यथापूर्व अकम्प रहे। वेदवेत्ता ऋषि अथर्व रहा—अडोल रहा।

भक्तों में से एक स्वामी कृपाराम जी ने उन्हें इसके बारे में सूचना देते हुए इसका उत्तर देने की विनति की। श्री स्वामी कृपाराम जी व उनके साथियों का ऋषि के नाम लिखा पत्र तो मिलता नहीं, परन्तु उनके पत्र के उत्तर में ऋषि दयानन्द द्वारा लिखा गया पत्र मिलता है। यह पत्र ऋषि के अटल ईश्वर विश्वास व आत्मबल का एक ज्वलन्त प्रमाण है। इसमें ऋषि लिखते हैं—"**कलकत्ते की सभा आदि के साथ हमको लिखने छपवाने का अवकाश नहीं, वेदभाष्य का काम बहुत है। तुम को अवकाश हो लिखो छपवाओ।**"[२]

श्रीयुत पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इस पत्र के नीचे अपनी पाद टिप्पणियों में लिखा है—"इन उत्तरों का प्रत्युत्तर आर्यसमाज कलकत्ता की ओर से दिया गया। **प्रत्युत्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह उत्तर किस विद्वान् ने दिये हमें ज्ञात न हो सका।** इस सभा की कार्यवाही और आर्यसमाज की ओर से दिये गये प्रत्युत्तर पं० लेखराम कृत जीवन चरित में (हिन्दी सं०) पृष्ठ ६७०-३९६ तक छपे हैं।"

इसमें तो दो मत नहीं हो सकते कि कोलकाता की सभा में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर जो श्रीराम सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने दिये उनका जो प्रत्युत्तर आर्यसमाज की ओर से दिया गया वह एक ऐतिहासिक महत्त्व

1. द्रष्टव्य 'Philosophy of Dayananda' by Pt. Gangaprasad Upadhyaya, para. 18.
२. द्रष्टव्य 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' सम्पादक पं० भगवद्दत्त जी, द्वितीय भाग, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४९३।

की ज्ञानराशि है। यह प्रत्युत्तर उर्दू में '**रसाला एक आर्य**' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक थे लाहौर आर्यसमाज के नेता श्री लाला साईंदास जी।

पं० लेखराम कृत ऋषि जीवन में ये प्रत्युत्तर तो छपे हैं, परन्तु पूज्य पण्डित जी ने उत्तर-प्रत्युत्तर का क्रम मूल पुस्तक से भिन्न रखा है। श्रीयुत कर्मवीर मास्टर लक्ष्मण जी ने भी अपने द्वारा सम्पादित बृहत् ऋषि-जीवन (उर्दू) में धर्मवीर पं० लेखराम जी वाला क्रम रखा है।

हमने सन् १८८४ के आसपास के 'आर्यसमाचार' मेरठ के अङ्कों में इस प्रत्युत्तर की चर्चा पढ़कर इसकी सघन खोज आरम्भ की। श्री पं० लेखराम जी के ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। पुराने आर्य लेखकों के उर्दू साहित्य में भी इसकी चर्चा कहीं-कहीं है।

श्रद्धेय पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक की अन्तिम वेला में हम उनका पता करने बहालगढ़ गये। तब अन्य बातों के अतिरिक्त श्री पण्डित जी ने हमें भाव-भरित हृदय से कहा—"पण्डित जी मेरी एक इच्छा तो पूरी कर दें।"

हमने कहा—"आदेश करें।"

आपने कहा—"मैं रसाला एक आर्य को देखना चाहता हूँ। उर्दू नहीं जानता, परन्तु पुस्तक दिखा दें। मुझे इसी से सन्तोष हो जायेगा।" हमने कहा वर्षों से उसकी खोज में लगा हूँ। अभी तक तो मिला नहीं। जब मिल जायेगा तो पहले आप ही को उसके दर्शन करवाऊँगा।

इस पर ठण्डी सांस भरकर आपने कहा—"तो फिर मैं क्या देख पाऊँगा। अब तो शरीर किसी भी समय छूट सकता है। इस जन्म में देख लेता तो अच्छा ही होता।"

अब मेरे कहने के लिये कुछ शेष नहीं था, परन्तु हुआ वही जो तब पण्डित जी ने कहा था। उनके शरीर छोड़ने के कुछ ही मास के पश्चात् यह दुर्लभ पुस्तक हमें अनायास ही और धक्के से प्राप्त हो गई।

उस अन्तिम भेंट में श्रद्धेय मीमांसक जी ने बहुत गम्भीर मुद्रा में कहा—"पण्डित जी, प्रत्युत्तर पढ़कर ऐसा लगता है कि ये उत्तर लाला साईंदास जी द्वारा नहीं हो सकते। ला० साईंदास ने सम्पादन कर दिया। ये उत्तर अत्यन्त पाण्डित्य पूर्ण हैं। ऋषि जी से पूछकर ही उत्तर दिये गये

लगते हैं।"

पुस्तक में प्रकाशक का तो क्या लेखक का भी नाम कहीं नहीं दे रखा। हमारे पास पूरी पुस्तक है तथापि सम्भव है कि टाईटल पृष्ठ संख्या १ व २ (जो पुस्तक के साथ नहीं और होना चाहिये था) पर कहीं मुद्रणालय व प्रकाशक का नाम व पता होता। इतना तो निश्चित है कि पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं छपा था।

पुस्तक पढ़ने से भी यही लगता है कि किसी प्रकार ऋषि जी से सम्पर्क करके कोलकाता की सभा की व्यवस्था के प्रत्युत्तर दिये गये। इस दृष्टि से यह शास्त्रार्थ ऋषि दयानन्द व पण्डितों के मध्य हुआ। ऋषि जी ने विरोधियों के आक्षेपों को फूँकों से उड़ा दिया।

१८६९ ई० में ऋषि ने काशी शास्त्रार्थ किया था। और यह सभा १८८१ ई० में हुई। ऋषि ने काशी में चुनौती दी थी कि प्रतिमा-पूजन के पक्ष में श्रुति का प्रमाण तो लाओ। उसके १२ वर्ष पश्चात् भी **देश भर के पण्डित कोलकाता में पाषाण-पूजा के पक्ष में श्रुति का एक भी प्रमाण प्रस्तुत न कर सके।**

यह ऋषि दयानन्द की अद्‌भुत दिग्विजय है। कोई भी व्यक्ति पूर्वाग्रह मुक्त होकर इस शास्त्रार्थ '**रसाला एक आर्य**' को पढ़कर हमारी बात की पुष्टि करने पर विवश होगा। यह भी पता चलता है कि ये बड़े-बड़े पण्डित वेद से कोसों दूर थे। वेदों में क्या है? इसका इन्हें ज्ञान ही नहीं था। ये लोग कर्मकाण्ड के, दर्शनों के व व्याकरण के जानने वाले भले ही हों। वेद का इन्हें नाम मात्र का ही ज्ञान था।

मेहता राधाकिशन ने लाहौर में ऋषि के उपदेशामृत का पान किया। आपने भी उर्दू में एक विस्तृत ऋषि-जीवन चरित लिखा था। उसमें इस सभा की चर्चा करते हुए लिखा है—"यह समारोह धूमधाम से हुआ। इसमें जो एक-पक्षीय कार्यवाही हो सकती थी, की गई। सभा के आक्षेपों के उत्तर एक रसाला "**एक आर्य**" में दिये गये हैं। यह रसाला पंजाब के आर्यसमाजों के प्राण लाला साईंदास जी प्रधान आर्यसमाज लाहौर की लेखनी से लिखित है और **एक प्रकार से वह आर्यसन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा और एक आर्य के मध्य शास्त्रार्थ है।**"[१]

१. द्रष्टव्य—ला० राधाकिशन लिखित ऋषि-जीवन चरित उर्दू, पृ० ३३५-३३६।

आर्यसमाज के आरम्भिक काल के एक और सुयोग्य लेखक बावा छज्जूसिंह जी द्वारा लिखित व सन् १९०३ ई० में प्रकाशित Life and Teachings of Swami Dayananda पुस्तक की भी एतद्विषयक कुछ पंक्तियाँ यहाँ देना उपयोगी रहेगा। विद्वान् लेखक ने लिखा है—

"While Swami Dayananda was at Agra, a Sabha called the Arya Sanmarg Darshini Sabha, was established at Calcutta, with the object of having it decided and settled, once for all, by the most distinguished representatives of orthodoxy in the land (that could be got hold of for the purpose of course) that Dayanand's views on Shradha, Tiraths, Idol-Worship, etc. were entirely unorthodox and unjustifiable. Sanskrit scholars and rises to the number of three hundred responded to the call of the Sabha, and a grand meeting composed of the local men and of the outsiders, came off in the Senate Hall on 22nd January, 1881. It is significant that not one of the numerous distinguished Pandits present thought of suggesting or moving that the man upon whom the Sabha was going to sit in judgement, should also, in fairness, be summoned before the august tribunal, to be condemned or acquitted after he had been fully heard. It may be urged that the Sabha was not in a humour to acquit Dayanand under any circumstances, but still he should have been permitted to have his say before he was condemned. Surely, one man could be dealt with very well by an assemblage so illustrious and so erudite. But the Pandits and their admirers were wise in their generation. Dayanand, **though one, had proved too many for still a more learned and august gathering at Benares."**[1]

इसका सारांश यह है कि जब कोलकाता में यह सभा हुई तब दयानन्द आगरा में थे। देश के शिरोमणि विद्वानों द्वारा दयानन्द के श्राद्ध, तीर्थ, मूर्ति-पूजा विषयक विचारों को सदा-सदा के लिये रूढ़ि-विरुद्ध व अनुचित घोषित करवाने के उद्देश्य से यह सभा आयोजित की गई थी। बड़े-बड़े पण्डित व सेठ, कुछ स्थानीय व बाहर के व्यक्ति भी वहाँ आये। यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वहाँ पधारे पण्डितों में से एक

1. Life and Teachings of Swami Dayanand, Page. 39, Part-II

ने भी यह न कहा कि जिस एक व्यक्ति के विरुद्ध यह सभा बुलाई गई है, न्याय की माँग है कि उसे भी यहाँ बुलाकर सुना जाय। **परन्तु पण्डितगण बड़े बुद्धिमान् थे। वे जानते थे कि दयानन्द तो काशी की इससे भी बड़ी सभा पर अकेला ही भारी पड़ा था।** प्रकाश की एक किरण अन्धेरे पर छा जाती है।

इस पुस्तक में एक अध्याय की समाप्ति पर पाद टिप्पणी में 'रसाला एक आर्य' का लेखक लाला साईंदास जी को बताया गया है।

विनीत

राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

वेद सदन, अबोहर (पंजाब)-१५२११६

प्राक्कथन

—एक आर्य

जिस युग में किसी जाति में कोई सुधारक जन्म लेता है और जातीय सुधार का कार्य आरम्भ होता है और नवीन व प्राचीन विचार परस्पर टकराते हैं तो लोगों में एक प्रकार का टकराव, उलझाव (कशमकश) पैदा होता है। इस झगड़े से कई पक्ष बन जाते हैं। एक पक्ष तो वह है जो सुधार का समर्थक व सहायक होता है। दूसरा वह जो निजी लाभ अथवा स्वभाव के वशीभूत पुराने विचार से बन्धा रहना चाहता है। वह सुधार का विरोधी होता है। तीसरा समूह दोनों से पृथक् और दोनों में सम्मिलित रहता है। इस प्रकार प्रथम समूह का संख्या-बल आरम्भ में अति न्यून होता है और वह दूसरे पक्ष के हाथों बहुत कष्ट उठाता है। यह दु:ख=कष्ट उसको आध्यात्मिक व मानसिक लुप्त-गुप्त शक्तियों के प्रकटीकरण (अभिव्यक्ति) के लिये एक अभ्यास होता है। इस व्यायाम से वे शक्तियाँ विकसित होकर सुदृढ़ हो जाती हैं। यह एक परीक्षा की घड़ी होती है। इसमें यदि वह अविचलित और अडिग रहता है तो कष्टों की आँच से कुन्दन बन जाता है तथा अपने व्यक्तित्व में श्रेष्ठता व सौम्यता का एक ऐसा प्रभावशाली व आकर्षक उदाहरण प्रस्तुत करता है जिससे अन्ततोगत्वा दूसरे पक्ष को भी सुधार की ओर ध्यान देना पड़ता है।

यह जातीय सुधार का प्रथम चरण है। यदि यह सुधार सुदृढ़ जातीय व ईश्वरीय सिद्धान्त पर आधारित है और धीरज व कर्मठता के साथ निरन्तर आगे चलाया जाता है तो वह धीरे-धीरे समस्त जाति में फैल जाता है जिससे कुछ समय के पश्चात् लोगों के विचारों, आचार व सभ्यता में बहुत बड़ी क्रान्ति आ जाती है। एक प्रकार से जाति को सामूहिक रूप से एक नया जन्म प्राप्त होता है, परन्तु प्रथम पक्ष यदि सुधार के मार्ग में बाधक रुकावटों से बुद्धिमत्तापूर्वक सावधान नहीं होता और अपने चाल-चलन में प्रेम, पवित्रता व शान्ति का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता तो सुधार की सकल योजनायें धरी-धराई रह जाती हैं। इस प्रकार से सुधार-आन्दोलन की प्रगति आरम्भिक काल में सुधार के पोषकों, समर्थकों के व्यक्तिगत त्याग-तपस्या, नि:स्वार्थ यत्नों, सुनीति व सदाचरण पर निर्भर करती है।

यद्यपि आरम्भ के उनके लेख व वक्तव्य जन साधारण की रुचि के अनुरूप नहीं होते, क्योंकि उनको प्राय: ऐसे रहस्यों व तथ्यों के वर्णन करने में—उन पर बल देना पड़ता है, जिनसे लोग न्यून अथवा अधिक अपरिचित होते हैं और ऐसे विचारों व मान्यताओं का प्रतिवाद करना पड़ता है जो बार-बार के अभ्यास से उनके स्वभाव का अभिन्न अंग बन गये होते हैं। यद्यपि इनसे निजी भड़ास का निकालना व किसी की भावनाओं को दु:खाना अभिप्रेत नहीं होता प्रत्युत जो कुछ कहा जाता है अथवा लिखा जाता है वह पूर्णतया सहानुभूति के जोश व सत्य का प्रकाश करने के उद्देश्य से ही होता है। यह सम्भव नहीं कि इस प्रकार अन्तत: सफलता प्राप्त न हो। यह सर्वमान्य है कि **'सत्यमेव जयते'**। ईश्वरीय सहायता सदैव सत्य के पक्षधरों को प्राप्त होती है। यह सब कुछ आज हमारी आँखों के सामने प्रकट हो रहा है। सुधार आन्दोलन के जन्मदाता व प्रेरक जाति को सुधार की ओर उभार रहे हैं। वे सत्यनिष्ठा, सद्धर्म का उपदेश तथा वेदादि सत्यशास्त्रों के सिद्धान्तों का प्रचार तथा जड़-पदार्थों, पशु-पक्षी व मनुष्य-पूजा एवं मिथ्या मान्यताओं का खण्डन करते हुए कुरीतियों तथा बुरे रीति-रिवाजों को जड़ से उखाड़ रहे हैं।

उनके सत्प्रयासों तथा ओजस्वी व्याख्यानों का परिणाम यह निकला है कि एक बहुत बड़ी जनसंख्या पवित्र सुधार कार्य से लाभान्वित हुई है। अज्ञान अविद्या की काली घटायें छिन्न-भिन्न हो गई हैं। सद्ज्ञान का सूर्य उदित हुआ है। सब ओर आर्यसमाजें स्थापित हुई हैं और हो रही हैं। इन समाजों में प्रमुख, प्रतिष्ठित व सुशिक्षित लोग प्रविष्ट हैं। दूसरी ओर प्रतिपक्ष में जैसा कि ऐसी अवस्था में हुआ करता है, बहुत कुछ खोज-पड़ताल व जोड़-तोड़ काम कर रहा है। विरोध करने में कोई कमी छोड़ी ही नहीं। यहाँ-वहाँ सभायें (आयोजित) की गईं। पुस्तकें लिखी गईं। भाषण दिये गये। पत्रों के अंक काले किये गये और किये जाते हैं। सुधार के जन्मदाता के सम्बन्ध में कई प्रकार का दोषारोपण किया गया। किराणी की उपाधि भी दी गई। पादरियों का वेतन-भोगी बताया गया। **कहीं टाँग तोड़ दी गई। कहीं मृत्यु का समाचार फैलाया गया।** कहीं अधर्मी नास्तिक होने की व्यवस्था दी गई। कहीं अभियोग का भय दिखाया गया। कहीं सुधार समर्थकों की जात बिरादरियों को उभारा गया। निष्कासित करने की धमकियाँ दी गईं। कई प्रकार की शरारतें की गईं। सारांश यह

कि सुधार की लहर को रोकने के लिये सब प्रकार के षड्यन्त्र रचे गये। परन्तु इस प्रकार से सुधार कहाँ रुकता है। **विरोध, शत्रुता तो सुधार के सगे-सम्बन्धी या सखा-सखी हैं।** इनसे सुधार योजनाओं की पूर्ति में पूरी-पूरी सहायता मिलती है। यह विरोध न हो तो सुधार की गति मन्द व बन्द हो जाय।

वैर-विरोध के कारण उसको अपनी उन्नति व उत्थान पर गौरव है। अतः सुधार के राजकीय विद्रोह को रोकने का निश्चय करना सर्वथा भूल व भ्रम है, परन्तु यह तभी है जब सुधार समर्थकों की भावनायें शुद्ध हों, प्रेममय व्यवहार हो और उद्देश्य जन कल्याण हो। अब तक सुधार की लहर को रोकने के लिये इसके विरुद्ध जो कुचालें चली गई हैं इनसे इसकी गति में कुछ भी अन्तर नहीं आया प्रत्युत वह निरन्तर आगे ही आगे बढ़ती चली गई है। अभी इन दिनों भारत की राजधानी कलकत्ता में **आर्य सन्मार्ग सन्दर्शनी** नाम से एक भव्य सभा का आयोजन किया गया। **इसके आयोजन से तो उसका गौरव और वैभव और भी बढ़ गया।** विरोध में की गई प्रत्येक कार्यवाही के प्रत्येक बिन्दु पर विचार करना तो एक निरर्थक कार्य है। स्पष्ट ही है कि उससे कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है, परन्तु यह तर्क **आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा** की कार्यवाही पर चरितार्थ नहीं होता क्योंकि वह कार्यवाही कुछ सामान्य प्रकार की कार्यवाही नहीं समझी जा सकती।

यह सभा जिसमें भारत के विभिन्न भागों के लगभग ३०० तीन सौ प्रकाण्ड पण्डितों के अतिरिक्त अनेक प्रतिष्ठित सेठ भी सम्मिलित हुए थे। एक प्रकार से यह हिन्दुओं के धार्मिक वकीलों की एक अखिल भारतीय पञ्चायत थी और इसके अतिरिक्त उस कार्यवाही में सब विवादस्पद विषयों पर किया गया वादविवाद अंकित है। ऐसी बृहत् सभा की ऐसी कार्यवाही के बारे में विचार-विमर्श करना लाभरहित नहीं है। यही कारण है कि हमें लेखनी उठाने की आवश्यकता अनुभव हुई और इस रसाला (पुस्तक) के लिखने की प्रेरणा हुई। वह कार्यवाही '**आर्य दर्पण**' पत्रिका से अक्षरशः आगे दी जाती है और उसके पश्चात् उसका उत्तर लिखा जायेगा। क्योंकि इस पुस्तक का लेखक एक आर्य—एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का मानने वाला है, इसलिये इस पुस्तक का नाम भी '**एक आर्य**' रखा गया है।

आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा कलकत्ता और

स्वामी दयानन्द सरस्वती का सिद्धान्त

सबको ज्ञात हो कि २२ जनवरी सन् १८८१ ई० को रविवार के दिन सायंकाल सेन्ट हाल कलकत्ता में वहाँ के श्रीमन्त बड़े-बड़े लोगों और प्रसिद्ध पण्डितों ने एकत्र होकर यह सभा दयानन्द सरस्वती जी की कार्यवाहियों पर विचार करने के उद्देश्य से आयोजित की थी। इस सभा का विस्तृत वृत्तान्त हम '**सार सुधा निधि**' पत्रिका से नीचे अंकित करते हैं। इस सभा के व्यवस्थापक पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जी कालेज के प्रिंसिपल थे। इस सभा में पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर बी०ए० और नवदीप के पण्डित भुवनचन्द्र विद्यारत्न आदि बंगाल के लगभग तीन सौ पण्डित और कानपुर के पण्डित बाँके बिहारी वाजपेयी और यमुना नारायण तिवारी और वृन्दावन के सुदर्शनाचार्य जी और तञ्जौर (मद्रास प्रैज़ीडैन्सी) के पण्डित राम सुब्रह्मण्य शास्त्री जिनको सूबा शास्त्री भी कहते हैं पधारे थे। इनके अतिरिक्त श्रीमन्त लोगों में वहाँ के सुप्रसिद्ध भूपति आनरेबल राजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर सी०एस०आई०, महाराज कमल कृष्ण बहादुर, राजा सुरेन्द्र मोहन ठाकुर सी०एस०आई०, राजा राजेन्द्रलाल मलिक, बाबू जयकिशन मुखोपाध्याय, कुमार देवेन्द्र मलिक, बाबू रामचन्द्र मलिक, आनरेबल बाबू कृष्णदास पाल, लाला नारायणदास मथुरा निवासी, राय बद्रीदास लखीम बहादुर, सेठ जुगलकिशोर जी, सेठ नाहरमल, सेठ हंसराज इत्यादि कलकत्ता निवासी सेठ उपस्थित थे। यद्यपि पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर व बाबू राजेन्द्रलाल मित्र एल०एल०डी० ये दोनों महानुभाव पधार नहीं सके थे तथापि इन महानुभावों ने सभा की कार्यवाही को जी-जान से स्वीकार किया। जिस समय कि ये सब सज्जन सेन्ट हाल में एकत्र हुए तब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने इस सभा के आयोजन करने का विशेष प्रयोजन बता करके निम्नलिखित प्रश्न प्रस्तुत किये—

प्रश्न १—पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने पहला प्रश्न यह किया कि वेद का संहिता भाग जैसा प्रामाणिक है ब्राह्मण भाग भी वैसा ही

प्रामाणिक है अथवा नहीं? और मनुस्मृति धर्मशास्त्र के समान अन्य स्मृतियाँ मानने योग्य हैं अथवा नहीं?

इसका उत्तर पं० राम सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने यह दिया कि यजुर्वेद संहिता में लिखा है—

''यत्किंचिन्मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः''।

अर्थात् जो कुछ मनु ने कहा है, सब मानने योग्य है। इस वेद-वचन से सारी मनुस्मृति प्रामाणिक है और यदि मनुस्मृति का कोई एक भाग माना जाय तो इस मन्त्र में जो शब्द 'किञ्चित्' जिसका अर्थ 'जो कुछ' किये हैं निरर्थक हो जाता है अतः सारी मनुस्मृति को स्वीकार करना अनिवार्य है। कल्पना करो कि यदि मनुस्मृति को प्रामाणिक न माना जाय तो वह वेद भी जिसमें मनुस्मृति को मानना अनिवार्य बताया गया है, प्रामाणिक नहीं रहता। इसलिये वेद की संहिता मानने वाले को मनुस्मृति का न मानना संहिता के मानने के विपरीत पड़ता है। दयानन्द सरस्वती ने भी मनु को प्रामाणिक मानकर अपनी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ३ पर ये शब्द लिखे हैं—

''प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि''। [मनु० १२.१२२]

मनुस्मृति के अध्याय ६ में लिखा है—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतिः॥ २९॥

इस श्लोक के अनुसार ब्राह्मण भाग के अतिरिक्त उपनिषद् भाग को भी वेद के समान प्रामाणिक होना सिद्ध है। यजुर्वेद आरण्यक के प्रथम अध्याय के दूसरे भाग में लिखा है—

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते॥

इस वचन के अनुसार श्रुति के समान सब स्मृतियाँ भी मानने योग्य सिद्ध होती हैं। क्योंकि शब्द **''विधास्यते''** के अर्थ **'प्रमीयते'** के हैं अर्थात् जिससे कि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो और भाष्यकार ने भी यही अर्थ लिखे हैं। और पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति ने भी ऐसा ही लिखा है। **''वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्''** अर्थात् वेद धर्म की जड़ हैं और स्मृतियाँ भी वैसी ही हैं। मनु [२.६] के इस वचन के अनुसार

भी सब स्मृतियाँ प्रामाणिक सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार बहुत-सी युक्तियों से यह बात सिद्ध होती है कि संहिता के समान ब्राह्मण भाग तथा मनुस्मृति के समान विष्णु, याज्ञवल्क्य आदि समस्त स्मृतियाँ मानने योग्य हैं तथा यही सब पण्डितों का सर्वसम्मत मत है।

प्रश्न २—पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने दूसरा प्रश्न यह किया कि शिव, विष्णु, दुर्गा आदि देवताओं की मूर्त्तियों की पूजा और मरणोपरान्त पितरों का श्राद्ध आदि और गंगा, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों व क्षेत्रों में स्नान तथा वास, शास्त्र के अनुसार उचित हैं अथवा अनुचित?

उत्तर—इसका उत्तर पं० राम सुब्रह्मण्यम शास्त्री जी ने यह दिया कि ये सब शास्त्र के अनुसार उचित हैं। इसकी पुष्टि के लिये ऋग्वेद [५.३.३] में यह लिखा है—

''तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्''।

इसके अनुसार शिव-लिङ्ग की मूर्त्ति की पूजा स्थापना आदि से पूजन का फल होता है। इसका भाष्य यह है—

''हे रुद्र! यत् यस्मात् तव जनिं जन्म चारु मनोज्ञं चित्रं च कर्माधीनत्वेन जीवजनिविलक्षणमित्यर्थः। अभिषेचनमस्य लिंगादिरूप-प्रतिमायामेव सम्भवात् लिंगस्य प्रतिषिद्धिः।''

अर्थात् हे रुद्र! जब आपका जन्म आपकी इच्छा पर निर्भर है तब आपका जन्म और जीवों के जन्म से विलक्षण प्रकार का है अर्थात् आप कर्मों के वश नहीं; इसलिये देवता अपने कल्याण के लिये आपके लिङ्ग की स्थापना करके उसका पूजन करते हैं। स्थापना करना विना लिङ्गादि रूपों के असम्भव है। इसलिये लिङ्गादि की मूर्त्ति का पूजना स्वयं सिद्ध हुआ और रामतापनी उपनिषद् में भी स्पष्ट लिखा है कि—

''अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये।
अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु।
क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद् भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव!
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।''

अर्थात् रामचन्द्र जी शिवजी से कहते हैं कि हम तुम्हारे क्षेत्र अर्थात् काशी में सबकी मुक्ति के लिये पत्थर की मूर्त्ति में विद्यमान हैं। जो हमारी पूजा पत्थर की मूर्त्तियों में करते हैं, उनको ब्रह्म-हत्या आदि पापों से मुक्त

कर देते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह न समझो।

बृहज्जाबाल उपनिषद् के इस वाक्य से भी कि—**शिवलिङ्ग-ससन्ध्यमभ्यर्चयेदिति।** शिवलिङ्ग की पूजा स्पष्ट सिद्ध होती है।

और मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में भी लिखा है कि—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ [१७६]

और देवल स्मृति में भी लिखा है—

अस्नात्वा नैव भुञ्जीत ह्यतप्ताग्निमपूज्य च।
शालिग्रामं हरे चिह्नं प्रत्यहं पूजयेद् द्विजः॥
भास्करं गणपञ्चास्मिं शंखञ्चैव सरस्वतीम्।
महालक्ष्मीं महादुर्गां नित्यं विप्राणामर्चयेत्॥
शालिग्रामशिलातीर्थे पिबेद्यो मनुजोत्तमः।
तस्य पापानि नश्यन्ति ब्रह्महत्यादिकानि च॥

और ऋग्वेद के गृह्य परिशिष्ट में भी लिखा है कि—"**गौरी वा गौरीपतिर्वा श्रियः पतिर्वा स्कन्दो वा विनायको वा न्यस्ता समस्ता वा ईज्यन्ते।**"

और बोधायन सूत्र में भी लिखा है—"**महादेवं महापुरुषं वार्चयेत्।**" इत्यादि।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी पुस्तकों से सिद्ध होता है कि शिव, विष्णु, दुर्गा आदि की पूजा उचित है। और पूजा न करने से पाप होता है जैसा कि नीचे धर्मशास्त्र से प्रमाणित है—

यदि विप्रः सनत्स्ये हे वतार्चनाजादरात्।
स याति नरकं घोरं यावदाचन्द्रतारकम्।
सकाशादिविप्रथे प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।
ब्रह्मकृच्छ्रं चरेदेव दिने कस्मिन् द्विजोत्तमः।
पर्णकृच्छ्रं तथा कुर्याद् वर्षत्यागे उदुम्बरम्।
शालिग्रामशिला नास्ति यत्र चैवामृतोद्भवा।
श्मशानसदृशं गेहं स विप्रः पङ्क्तिदूषकः॥

यह गौतम स्मृति के श्लोक हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि जो मूर्त्ति-पूजन न करेगा उसको जब तक कि सूर्य्य, चन्द्र व तारे स्थित हैं तब तक नरक में रहना पड़ेगा। इसका प्रायश्चित्त यह है कि यदि एक दिन पूजन न करे तो 'ब्रह्मकृच्छ्र' प्रायश्चित करे और यदि वर्ष भर न करे तो 'पर्णकृच्छ्र' प्रायश्चित करे। जिस घर में शालिग्राम की मूर्त्ति और शंख नहीं है वह घर श्मशान के समान है। जो पूजन नहीं करता वह अधर्मी (नास्तिक) हो जाता है।

इनके अतिरिक्त शास्त्री जी ने और भी बहुत-से प्रमाण प्रस्तुत किये जो पर्याप्त स्थान न होने के कारण छोड़ दिये जाते हैं। फिर यह कहा गया कि यदि स्वामी जी रामतापनी और बृहज्जाबाल उपनिषद् को कि जिनमें मूर्त्ति-पूजन का वर्णन है, इस उपनिषदों में गणना न किये जाने के कारण स्वीकार न करें तो देखो स्वामी जी ने अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिये अपनी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश में कैवल्योपनिषद् का प्रमाण दिया है। वह भी इन उपनिषदों से बाहर है। उदाहरण के लिये सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ३ पर लिखा है—"**स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः।**" कैवल्योपनिषद् को—जोकि इस उपनिषदों से बाहर है—स्वीकार कर लिया तो फिर उनको शेष अन्य उपनिषदें भी अवश्य माननी पड़ेंगी। अतः रामतापनी और बृहज्जाबाल आदि सभी उपनिषदें समान हैं। और यदि कहो कि श्रुति और स्मृति में तो मूर्त्ति-पूजन का उल्लेख है ही नहीं फिर मूर्त्ति-पूजन क्योंकर उचित हो सकता है तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि सामवेद के ब्राह्मण के पाँचवें अनुवाक के दसवें खण्ड में स्पष्ट यह लिखा है—"**स परन्दिवमन्वावर्तते अथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते देवप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्तीत्यादि।**"

इनसे देवताओं का मन्दिर और उनमें देवताओं की मूर्त्ति सिद्ध है परन्तु दयानन्द सरस्वती जी इस वचन के विषय में कहते हैं कि यहाँ देवताओं के मन्दिर और देवताओं की मूर्त्ति से अभिप्राय ब्रह्मलोक से है। स्वामी जी के यह कहने से स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने इस श्रुति के अर्थ लगाने में प्रसंग पर विचार नहीं किया। इस श्रुति में जो शब्द 'परन्दिव' है यदि उसके अर्थ ब्रह्मलोक लगावें तो 'अन्वेति' शब्द जिसके अर्थ 'देखकर' हैं किस प्रकार से उपयुक्त हो सकता है? क्योंकि जब दोनों

शब्दों के अर्थ मिलकर 'ब्रह्मलोक' देखकर के[१] हवन आदि शान्ति करना हुआ तब यह किस प्रकार हो सकता है क्योंकि हम इस लोक के रहने वाले ब्राह्मलोक को किसी प्रकार से नहीं देख सकते। तब हम नहीं जानते कि स्वामी जी इस श्रुति का अर्थ ब्रह्मलोक की प्रतिमा क्योंकर लगाते हैं। 'परन्दिव' शब्द का अर्थ ब्रह्मलोक कदापि नहीं है। इससे भूलोक के रहने वाले वैष्णव आदि से ही अभिप्राय है और यही अर्थ यहाँ उपयुक्त है। देखो सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में यही अर्थ लगाये हैं—''**सः वक्ष्यमाणाद्भुत वामधिकारी परंदिव उत्कृष्टां वैष्णवीं विशं अकीर्णं होमार्थं वर्तते प्रवर्ततदगति।**''

इस खण्ड में ''**खननात् दहनात् इत्यादि भूमिशुद्धयतेत्यंत।**'' इस लेख से पृथिवी का खोदना आदि पाया जाता है। दयानन्द स्वामी जी यह कहते हैं कि इसी अनुवाक के सातवें खण्ड में ''**स पृथिवीं अन्वावर्तते**'' यह लिखा है। इस में पृथिवी शब्द दिखलाई देता है और इससे पहले पृथिवी कहीं नहीं पाया जाता। पृथिवी शब्द का प्रयोग यहीं समाप्त हो गया। उनका यह कथन ठीक नहीं क्योंकि दसवें खण्ड में भी शब्द भूमि आया है। मनुस्मृति में भी लिखा है—

सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च।[२]
संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतीमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥[३]

इन श्लोकों के अनुसार दो ग्रामों के मध्य एक देवता का मन्दिर बनाना उचित है और जो कोई पाषाण प्रतिमा उसमें न रखे उसे पाँच सौ रुपया का दण्ड अनिवार्य रूप में दिया जाय। इस विषय में स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि—''**प्रतिमीयते अनेनेति व्युत्पत्त्या।**'' प्रतिमा शब्द के अर्थ भार—तोलने के हैं अर्थात् भार तोलने के बाटों का नाम '**प्रतिमा**' है। स्वामी जी के इस कहने से स्पष्ट प्रकट है कि उन्होंने मीमांसा शास्त्र नहीं देखा है। देखिये पूर्वमीमांसा में रथ के बनाने वाले के सम्बन्ध में लिखा है—

'**वचनाद्रथकारस्य इत्यादि वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीतेति।**'

१. यह अर्थ कदापि नहीं। २. मनुस्मृति ८।२४८
३. मनुस्मृति ९।२८५

वेद के इस वचन में जो रथकार शब्द है उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'**रथं करोतीति रथकारः।**' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके इसके अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं, यह नहीं समझना चाहिये क्योंकि ऐसा समझने से उसके अर्थ केवल यौगिक अर्थ हो जायेंगे। इस शब्द के अर्थ शब्दकोश के अुनसार एक छोटी जाति का व्यक्ति अभिप्रेत है। यदि उसको छोड़ करके इसके यौगिक अर्थ अर्थात् रथ का बनाने वाले लिये जायें तो चारों वर्णों के लोगों से अभिप्राय हो जाता है। इसलिये पूर्व मीमांसा के कर्त्ता जैमिनि ने भी यह निर्णय दिया है कि जहाँ कोष के अर्थ होते हों तो वहाँ यौगिक अर्थ न लिये जायें। अतः '**प्रतिमा**' शब्द के शब्दकोष में दिये गये अर्थ—पाषाण मूर्त्तियों के अतिरिक्त और कोई यौगिक अर्थ नहीं होंगे। कोष के अर्थ छोड़कर यदि यौगिक अर्थ लें तो—'**अग्निर्नष्टः अग्निरुत्पन्नः**' इत्यादि इन वाक्यों में शब्द अग्निमयति की व्याख्या से अग्नि शब्द के विशेष अर्थ जलाने को छोड़कर इन्द्र इत्यादि देवताओं के भी समझे जायेंगे। क्योंकि (यौगिक तो) यही अर्थ हो सकते हैं। अतः देवताओं की मूर्त्ति और उनकी पूजा करना सब श्रुतियों व स्मृतियों के अनुसार उचित है।

यजुर्वेद में श्राद्ध—यजुर्वेद संहिता में श्राद्ध के विषय में यह लिखा है कि—''**निवीतम्मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणाम्**'' इससे प्राचीनावीत अर्थात् यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे पर करके पितृकर्म करना प्रकट होता है। इसमें जो ''**पितॄणां**'' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है उससे मरे हुए माता-पिता का श्राद्ध पाया जाता है। जब एक व्यक्ति जीवित है तो उस समय उसका केवल एक पिता होता है परन्तु मरणोपरान्त पिता के समान पितामह, प्रपितामिह को भी शास्त्रानुसार '**पितॄणां**' कह सकते हैं। अतः इस वेद-वचन में जो '**पितॄणां**' शब्द आया है उससे मृतकों का श्राद्ध ही अभिप्रेत है। देखो, ''**मृतांस्तु समतिक्रम्य चाण्डालः कोटिजन्मसु**'' स्मृतियों में भी इसका यह अर्थ है कि जो मृतकों का मरने के दिन श्राद्ध नहीं करता है वह सहस्रों पीढ़ियों तक चाण्डाल की योनि में उत्पन्न होता है। उपरोक्त वचन देवल स्मृति का है। मनु भी लिखते हैं—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥ [३.१२२]

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अमावस्या के दिन अपने पिता इत्यादि का श्राद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। और ''**न निवर्त्तयति यः श्राद्धं**

प्रमोतपितृको द्विजः। इन्दुक्षये मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः॥'' जो ऐसा नहीं करता वह ऐतरेय स्मृति के इस वचन के अनुसार पापी होता है। अतः यह बात सुस्पष्ट होकर निर्णीत हो गई कि मृतकों का श्राद्ध श्रुति व स्मृति दोनों के अनुसार विहित है। ऋग्वेद संहिता में तीर्थ के विषय में लिखा है—

''सितासिते सरितौ यत्र संगते तत्र प्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वा विसृजन्ति धीराः ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते।'' यत्र गंगा च यमुना च यत्र प्राची सरस्वती। इमम्मे गंगे यमुने [ऋ० १०.७५.५] इत्यादि।

इसमें यमुने-गङ्गे इत्यादि शब्दों से स्पष्ट होता है कि गंगा इत्यादि तीर्थों पर स्नान से स्वर्ग प्राप्त होना और पाप से छूटना अभिप्रेत है।

मनुस्मृति में लिखा है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गंगां मा कुरून् गमः॥[1]

इसका अर्थ यह है कि झूठ बोलने के पाप से छुटकारा पाने के लिये गंगा स्नान व कुरुक्षेत्र में वास करना चाहिये।

तीर्थ क्षेत्रों के बारे में रामायण, महाभारत इत्यादि में और बहुत-से प्रमाण हैं। अतः गंगा आदि का स्नान और कुरुक्षेत्र आदि का वास श्रुति व स्मृति दोनों से सिद्ध है।

इसके पश्चात् श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति ने मूर्त्तिपूजन को उपनिषदों के अनुसार सिद्ध करना आरम्भ किया। उनका व्याख्यान बहुत बढ़ने लगा और उधर सायं समय भी होता जाता था। इस कारण से महेशचन्द्र न्यायरत्न ने तारानाथ जी को एक चिट्ठी लिखकर दिया कि यद्यपि इस विषय पर कई दिन तक बोल सकते हैं परन्तु आज समय बहुत थोड़ा और कार्य अत्यधिक है। यद्यपि तारानाथ जी ने बहुत कुछ कहना था परन्तु महेशचन्द्र जी के कहने से अपना व्याख्यान समाप्त करके कहने लगे कि अभी मुझे इस विषय पर बहुत कुछ कहना शेष है।

तीसरा प्रश्न

पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने तीसरा प्रश्न यह किया कि **अग्निमीळे**

१. मनुस्मृति ८।९२

इत्यादि मन्त्र में **''अग्नि''** शब्द से परमात्मा अभिप्रेत है अथवा आग?

उत्तर—इसके उत्तर में पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने कहा कि इस मन्त्र में जो **''अग्नि''** शब्द आया है उससे जलाने वाली आग अभिप्रेत है। यदि इसके यौगिक अर्थ करें तो पूर्व मीमांसा के **''रथकाराधिकरणवत्''**— इस सूत्र के विरुद्ध हो जाता है। अतः इस मन्त्र में अग्नि शब्द का अर्थ (जलाने वाली) आग ही है।

चौथा प्रश्न

पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने चौथा प्रश्न यह किया कि अग्निहोत्र इत्यादि यज्ञ के करने का प्रयोजन (उद्देश्य) जल-वायु की शुद्धि है अथवा स्वर्ग की प्राप्ति?

उत्तर—इसका उत्तर पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने यह दिया—

'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।' आदि यजुर्वेद के मन्त्रों से अग्निहोत्र आदि यज्ञ स्वर्गसाधक हैं।

पाँचवाँ प्रश्न

पं० महेशचन्द्र जी ने पाँचवाँ प्रश्न यह किया कि वेद के ब्राह्मण भाग का निरादर करने से पाप होता है अथवा नहीं?

उत्तर—इसका उत्तर देते हुए पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने कहा कि यह तो हम प्रथम प्रश्न के उत्तर में कह चुके हैं कि ब्राह्मण भाग भी वेद ही है फिर ब्राह्मण भाग का अपमान करने से मानो वेद का ही अपमान हुआ। मनु ने वेद के अपमान के बारे में लिखा है—

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कोटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥[1]

अर्थात् सुरापान करने वाले को जो पाप होता है, वही पाप वेद की निन्दा करने वाले को होता है।

इसके पश्चात् राम सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने **'दयानन्द कण्टकोद्धारक'**[2] पुस्तक जो इन्होंने लिखी है सबको सुनाई और उसके पश्चात् पण्डितों

१. मनुस्मृति, ११-५६
२. 'आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा' के आयोजन के समय तक यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। पाण्डुलिपि ही पढ़कर सुनाई गई थी। —'जिज्ञासु'

की सम्मति लेनी आरम्भ हुई। निम्नलिखित पण्डितों ने सर्वसम्मति से हस्ताक्षर कर दिये।

(स्थान अभाव से यहाँ नाम नहीं लिखे गये)[१]

यह सारा वृत्तान्त 'आर्य दर्पण' पत्रिका से लेकर यहाँ दिया गया है। केवल सम्पादक की सम्मति छोड़ दी गई है। अब इसके आगे इसका क्रमवार उत्तर दिया जाता है।

आर्य का प्रथम उत्तर

प्रथम हमारी सत्यान्वेषिणी सभा में यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया—

''यत्किंचिन्मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः।''

यद्यपि जो बात इस वचन से सिद्ध होती है उस पर हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु इसे जो यजुर्वेद संहिता का वचन बताया गया है यह सर्वथा असत्य है। यह वचन यजुर्वेद संहिता के चालीसों अध्यायों में कहीं भी नहीं है। सम्भवतः यही कारण है कि इसका अता-पता कोई भी नहीं दिया गया। मनुस्मृति में जो वेदों का वार-वार वर्णन आया है और उनके पठन-पाठन का निर्देश किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि वेद मनुजी के काल से पहले ही विद्यमान थे फिर समझ में नहीं आया कि किस विचार और किस प्रयोजन से उपर्युक्त वचन को यजुर्वेद का बताया गया है। वेदों में मनुस्मृति का उल्लेख होने की क्या आवश्यकता थी? क्या वेद अपने आप में अधूरे (दोषयुक्त) थे कि उनकी पूर्ति मनुजी पर छोड़ी गई थी? आश्चर्य तो इस बात पर है कि आर्यसन्मार्गसन्दर्शिनी सभा में से किसी ने चूँ तक नहीं की और पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री जी मद्रासी का कथन विना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया गया।

हमारी यह भोली सभा सम्भवतः इससे अपरिचित है कि ऐसे मिथ्या कथन से स्वामी दयानन्द के उपदेशों का खण्डन नहीं होता प्रत्युत उनको और बल प्राप्त होता है। वास्तव में उपर्युक्त वचन साम ब्राह्मण का है जिसमें यह जताया है कि कर्मकाण्ड के विषय में जो कुछ मनुजी ने कहा है वही औषधि की भी औषधि है। भला यदि उसे ब्राह्मण का ही प्रमाण कहा जाता तो इसमें क्या बुराई थी? तर्क का तर्क और सत्य का सत्य। वास्तव में मनुजी ने जो कुछ कहा है उसको तो हम स्वीकार करते हैं

१. मूल पुस्तक में ही यह वाक्य छपा है।

परन्तु जो बातें उसमें मनुजी के पश्चात् स्वार्थी लोगों द्वारा मिला दी गई हैं उन्हें स्वीकार करने में हमें आपत्ति है। जो व्यक्ति मनुस्मृति को ध्यानपूर्वक पढ़ेगा उसे निश्चय हो जायेगा कि उसमें बहुत-सी ऐसी बातें पाई जाती हैं। कुछ स्थानों पर तो परस्पर विरोध की-सी स्थिति उत्पन्न हो गई है। उनकी कुछ चर्चा आगे यथा-स्थान की जायेगी।

वेद का संहिता भाग जैसा माना जाता है ब्राह्मण भाग भी वैसा ही मानने योग्य है अथवा नहीं?

यह प्रश्न अशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें एक दार्शनिक भूल है जिससे शास्त्रार्थ का वास्तविक विचारणीय प्रयोजन सर्वथा नष्ट हो जाता है अथवा कोई शास्त्रार्थ का विषय निश्चित ही नहीं होता है। यदि ब्राह्मण वेद का भाग है तो कोई कारण नहीं कि वह संहिता के समान प्रामाणिक न माना जाय। दोनों पक्षों में विवाद का विषय तो यह है कि जैसे संहिता वेद मानी जाती है वैसे ही ब्राह्मण ग्रन्थ भी मानने योग्य हैं अथवा नहीं? अतः अच्छा होता यदि यह प्रश्न इन शब्दों में प्रस्तुत किया जाता कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी संहिता भाग के समान ही वेद हैं अथवा नहीं, या जैसी संहिता (स्वतः प्रमाण) मानी जाती है वैसे ही ब्राह्मण ग्रन्थ भी (स्वतः प्रमाण) स्वीकार करने योग्य हैं या नहीं? यह प्रश्न अत्यावश्यक है और इसके विषय में आजकल बहुत कुछ चर्चा हो रही है। इधर तो स्वामी दयानन्द जी ब्राह्मणों को वेद का भाग नहीं मानते। उधर राजा शिवप्रसाद जी सितारेहिन्द ने स्वामीजी के खण्डन में एक पुस्तिका लिख मारी है। हमारे देश के पण्डित कुछ और ही गीत गा रहे हैं। कुछ लोग न संहिता को मानें न ब्राह्मणों को। यूँ ही विवादास्पद विषय में टाँग अड़ा रहे हैं।

और राजा शिवप्रसाद भी इसी सभा में समझे जायें—कुछ एक ने तो स्वामी जी की निन्दा करना ही अपना ध्येय बना रखा है कि कदाचित् इसी से परलोक सुधर जाय। हमारी सम्मति में इस प्रश्न के निर्णय से वेदमत के मानने वालों के बहुत-से विवाद दूर हो सकते हैं। अच्छा तो यह है कि राजा शिवप्रसाद जी को भी आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा के पण्डितों अथवा उस सभा के सेठों की शाखा में सम्मिलित समझा जाय और फिर सबका उत्तर सामूहिक रूप से दिया जाय। राजा शिवप्रसाद जी ने इस बात को सिद्ध करने के लिये कि ब्राह्मण वेद का भाग हैं, पूर्व

मीमांसा के दो सूत्र उपस्थित किये हैं और उनकी पुष्टि पण्डित विशुद्धानन्दजी काशी निवासी व डॉक्टर टीबू ने की है। इसलिये यह आवश्यक है कि इस विषय पर विस्तार से विचार किया जाय। प्रथम हम इस विचार-विमर्श को उन्हीं सूत्रों से आरम्भ करते हैं। वे सूत्र ये हैं—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। शेषे ब्राह्मणशब्दः। इनका अर्थ यह बताया गया है कि वेद-मन्त्रों से जो शेष भाग है, वह ब्राह्मण है। परन्तु खेद इस बात पर है कि राजा जी ने पहले व पीछे के सूत्र सर्वथा छोड़ दिये हैं, बीच में से दो सूत्र ले लिये हैं। प्रतीत होता है कि उनका प्रयोजन स्पष्टरूप से एक व्यक्ति का खण्डन था, कुछ सत्यान्वेषण करना अभीष्ट नहीं था। यदि पूर्वापर के पूरे प्रसंग को देखकर शास्त्रार्थ के रूप में विचार करते तो कुछ बात भी बनती और उससे विहंगम दृष्टि से पढ़ने वाले पर भी कुछ सच्चाई प्रकट हो सकती थी। वास्तव में इन दो सूत्रों से राजा जी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि इनमें वेद शब्द अथवा उनका पर्याय कोई अन्य शब्द नहीं आया है, प्रत्युत यदि वह आगे-पीछे के सूत्रों को ध्यानपूर्वक देखते तो इन दो सूत्रों का प्रमाण देने का कदापि दुस्साहस न करते। हम जैमिनि जी के पूर्वमीमांसा के दूसरे अध्याय के प्रथम पाद के ३० से लेकर ३७ सूत्रों तक (और इन्हीं में वे दो सूत्र हैं) नीचे देकर उनकी व्याख्या करते हैं जिससे स्पष्ट सिद्ध हो जायेगा कि आपका ब्राह्मण भाग वेद का भाग नहीं। वे सूत्र ये हैं—

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्॥ ३०॥
अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्॥ ३१॥
तच्चोदकेषु मन्त्राख्या॥ ३२॥
शेषे ब्राह्मणशब्दः॥ ३३॥
अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः॥ ३४॥
तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था॥ ३५॥
गीतिषु सामाख्या॥ ३६॥
शेष यजुः शब्दः॥ ३७॥

पहले सूत्र संख्या ३० का भाव यह है कि दो ही अर्थात् ब्राह्मण व मन्त्र अर्थात् संहिता इन दोनों का एक ही अर्थ है। क्योंकि दोनों में एक ही प्रकार के शब्द आते हैं मानो कि इन दोनों में कुछ भेद नहीं। यह कथन आक्षेप कर्त्ता का है। दूसरे सूत्र में (३१ में) जैमिनि जी इसका उत्तर देते

हैं कि ऐसा नहीं है (अर्थात् मन्त्र व विधि एक नहीं), अपितु मन्त्र प्रयोग शक्ति से निरपेक्ष का वर्णन करता है और इससे अगले सूत्र संख्या ३२ में मन्त्र की परिभाषा व्याख्या के रूप में लिखी है अर्थात् मन्त्र वह है जो मानव हृदय में किसी वस्तु अथवा कार्य का निरपेक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है। फिर आगे चौथे सूत्र में (३३) **''शेषे ब्राह्मणशब्दः''** में 'ब्राह्मण' (ग्रन्थ) की परिभाषा लिखी है और यह प्रथम सूत्र (३०) के आगे है, जिसमें विधि शब्द आया है। इन सूत्रों में यद्यपि अब तक वेद शब्द नहीं आया है परन्तु विषय तथा शब्दों ये यह सिद्ध होता है कि क्योंकि मन्त्रों अर्थात् संहिता में निरपेक्ष और सृष्टि की अवस्था का शुद्ध वर्णन है इसलिये संहिता ही वेद है और वेद का अर्थ भी निरपेक्ष ज्ञान है।

विधि का अर्थ ब्राह्मण है—शेष रहा विधि शब्द, सो यह ब्राह्मणों पर चरितार्थ होता है और इनमें मन्त्रों के अर्थ और विधि निषेध की व्याख्या, ऐतिहासिक घटनायें टीका के रूप में लिखी हैं। यह बात उनकी रचना, क्रम व विषयों से स्पष्ट है। जब ब्राह्मण शब्द की वास्तविकता पर विचार किया जाता है तो भी वही परिणाम निकलता है अर्थात् ब्राह्मण शब्द ब्रह्म का बताने वाला है और ब्रह्म के अर्थ वेद (वा परमात्मा इत्यादि) के हैं और जो ब्रह्म अर्थात् वेद को जानता है अथवा जिससे वेद जाना जाता है अथवा जिसमें वेद के सिद्धान्तों की व्याख्या है उसको ब्राह्मण कहते हैं। वेद के आदि भाष्यकार ब्रह्मवादी कहलाते थे तथा उनके नाम पर उनके भाष्यों का नाम ब्राह्मण रखा गया और यह नाम वास्तव में उचित है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मणों का समूह भी है। पहले यह परम्परा थी कि जब कोई धार्मिक अथवा विधि-विधान की पुस्तक लिखी जाती थी अथवा कोई विशेष भाष्य रचा जाता था अथवा उसमें कोई संशोधन परिवर्तन किया जाता था तो किसी विद्वत् परिषद् में विचार-विमर्श के पश्चात् उसकी स्वीकृति होती थी और यह परम्परा अब भी प्रचलित है यथा श्री महाराज जी जम्मू-कश्मीर ने जो धर्मशास्त्र निर्मित करवाया है वह बहुत-से पण्डितों की सम्मति लेने के उपरान्त ही प्रकाशित किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ कैसे बने?

इसी प्रकार इसमें आश्चर्य नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी अधिकारी

ब्राह्मणों की सभा अथवा परिषद् में स्वीकृत होकर प्रकाशित किये गये हों और ब्राह्मणों के नाम से प्रसिद्ध हुए। और प्रकट रूप में यह भी एक कारण है कि वे आज तक प्रामाणिक माने जाते हैं और इनका आदर मान न केवल वेदों के समान होता है प्रत्युत जनसाधारण में वेद का भाग समझे जाते हैं। अन्यथा अनुमान नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म (वेद) का एक भाग संहिता (ब्रह्म) और दूसरा ब्राह्मण (ब्रह्म) हो। ऐसा विभाजन शाब्दिक दृष्टि से व अर्थों की दृष्टि से अनुचित व निरर्थक प्रतीत होता है। अतः ऐसी अवस्था में कोश में दिये गये ब्राह्मण शब्द के समुचित अर्थों को तजकर, उसको जो वेद के भाग पर लागू किया जाता है—इसके लिये कोई अत्यन्त सुदृढ़ कारण होना चाहिये और वह कोई है नहीं।

अब आगे चलिये। **''अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः''** सूत्र संख्या ३७ अर्थात् जो कुछ वैदिक नहीं वह मन्त्र नहीं, क्योंकि जो कुछ वैदिक है उसमें विभाग है। इस सूत्र में दो शब्द व्याख्या योग्य हैं, **आम्नातेषु,** जो एक दूसरे शब्द **'आम्नाय'** से बनाया गया है। आम्नाय का अर्थ वेद है। दूसरा शब्द है **विभागः।** इसका अर्थ विभाजन है। अब यदि सूत्र के प्रथम भाग में जो निषेधात्मक शब्द दो बार आया है, उसे यदि हटा दिया जाय तो शेष यही बचता है कि जो कुछ वैदिक है, वह मन्त्र है अर्थात् मन्त्र ही वेद है और यदि यह वाक्य में जो **'आम्नातेषु'** शब्द आया है उसका अभिप्राय उन शब्दों से लिया जाय जो यज्ञ करवाने वाले ब्राह्मण यज्ञ के अवसर पर समय के अनुसार बढ़ाते, परिवर्तित करते अथवा हटाते हैं तथापि हमारा भाव नष्ट नहीं होता।

दूसरा वाक्य जो युक्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है स्पष्टरूप से हमारे भाव की पुष्टि करता है। प्रथम वाक्य में कहा है कि जो कुछ वैदिक नहीं है, वह मन्त्र नहीं। दूसरे में इसका कारण बताया गया है कि जो कुछ वैदिक है उसमें विभाग है अर्थात् वैदिक ग्रन्थों का क्रम व विभाग नियत व सर्वमान्य है। उसमें दूसरे (बाह्य) शब्दों के लिये स्थान ही नहीं और इस विभाग को अगले सूत्रों में सविस्तार बताया गया है। यदि आक्षेपक यह कहे कि इस विभाग से वेदों का मन्त्र भाग व ब्राह्मण भाग अभिप्रेत है तो हम पूछते हैं कि सूत्र में ब्राह्मण शब्द अथवा उसका समानार्थक कोई अन्य शब्द कहाँ है ? प्रत्युत ब्राह्मण आदि के जो शब्द यज्ञ के अवसर पर बोले जाते हैं उनको अवैदिक घोषित किया गया है। इसके अतिरिक्त

यदि इस तर्क को मान लिया जाय तो इस सूत्र का विषय यहीं पर समाप्त हो जाता है और इससे आगे के सूत्र व्यर्थ व निरर्थक हो जाते हैं। वास्तविकता यह है कि अगले सूत्र इसी विभाग की विस्तृत व्याख्या करते हैं। **''तेषामृग्यत्रार्थवेशन पादव्यवस्था''** इसका अर्थ यह है, इनमें से एक ऋग् जो अर्थ योजना के अनुसार छन्दों की व्यवस्था रखता है (और मन्त्र भी है)। इस सूत्र में जो तेषां (उनमें) सर्वनाम बहुवचन में आया है वह **'आम्नातेषु'** शब्द की ओर संकेत करता है जो पहले सूत्र में लुप्त बहुवचन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कोई और शब्द ऐसा नहीं जिससे **'तेषां'** सर्वनाम का सम्बन्ध जोड़ा जा सके। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि प्रथम सूत्र के दूसरे वाक्य में जो वेदों के विभाग का उल्लेख है उससे यही विभाग अभिप्रेत है जो विचाराधीन सूत्र और आगे के सूत्रों में किया गया है। ब्राह्मण शब्द का इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद की जो परिभाषा यहाँ की गई है वह किसी भी प्रकार से ब्राह्मण ग्रन्थों पर चरितार्थ नहीं होती क्योंकि **वे न तो सामूहिक रूप से छन्दोबद्ध हैं और न मन्त्र हैं।**

अगले सूत्र में सामवेद की परिभाषा दी है **'गीतिषु सामाख्या'** अर्थात् जो उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गाया भी जाता है। **''शेषे यजुः शब्दः''** अर्थात् ऋग् और साम के अतिरिक्त यजुर्वेद है। इससे आगे कई सूत्रों तक निगदों पर विचार किया गया है जिनको आक्षेपकर्त्ता चौथा वेद कहता है। वह विचार हमारे वास्तविक प्रयोजन से सम्बन्ध नहीं रखता, अतः उसको छोड़ा जाता है। इसके बारे में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उससे भी यही सिद्ध होता है कि इन समस्त सूत्रों में वेदों के वास्तविक स्वरूप पर विचार किया गया है। अतः उपर्युक्त वर्णन, लेखनशैली और स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों के विषयों से सुस्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं प्रत्युत संहिता ही वेद है। यद्यपि इस विषय में असंख्य प्रमाण हैं परन्तु ढेर में से एक मुट्ठी नमूना अर्थात् जैमिनि जी के सूत्रों पर ही सन्तोष किया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर और प्रमाण फिर प्रस्तुत किये जायेंगे। इन सूत्रों का प्रमाण विशेषतया इसलिये दिया गया है कि राजा शिवप्रसाद जी सितारे हिन्द ने जो इस विवाद के मानो अग्रणी हुए हैं इन्हीं में से दो सूत्रों को अपने पक्ष का आधार बनाया था तथा उनके लेख पर बहुत से अपरिचित जन अब तक गर्व कर रहे हैं। अभी कुछ समय पहले एक पौराणिक

पण्डित श्री चतुर्भुज जी ने मैडेम ब्लेवेटेस्की की 'थियासोफ़िस्ट' पत्रिका में एक नोटिस प्रकाशित करवाया है जिसमें आपने राजा शिवप्रसाद महोदय के लेख का प्रमाण देते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के वेदभाष्य को क्रय करने का निषेध किया है। वाह! इस महात्मा को कितनी दूर की सूझी! धन्य हो। धन्य हो आप ने वेदों को छुपाते-लुकाते वह अवस्था ला दी कि ईश्वर ही बचाये और अब जब दूसरा व्यक्ति वेद के प्रकाशन व प्रसार के लिये कटिबद्ध हुआ है तो ऐसा विरोध। **इस प्रकार का विज्ञापन भी आज पर्यन्त किसी पत्र-पत्रिका में देखने में नहीं आया था।**

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों को समझने के लिये—अन्त में पूर्व मीमांसा के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र ३१ से लेकर सूत्र संख्या ५३ तक भी विचारणीय हैं। इनमें आक्षेपकर्त्ता ने वेदों अर्थात् संहिता के बारे में कई आक्षेप किये हैं और जैमिनि जी ने उनके उत्तर दिये हैं। इन आक्षेपों में एक यह भी है कि क्योंकि मन्त्रों के अर्थ समझ में नहीं आ सकते इसलिये वे निरर्थक व व्यर्थ हैं। इसका एक उत्तर जैमिनि जी यह देते हैं कि **क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध हैं अतः उनके अर्थ भली-भाँति समझे जा सकते हैं।** देखिये सूत्र ५३ '**विधिशब्दाश्च**'। सारांश यह है कि सभी आक्षेपों व उत्तरों के क्रम से यह निश्चित होता है कि संहिता भाग ही ईश्वरीय ग्रन्थ है और ब्राह्मण ग्रन्थ उसकी व्याख्या हैं। हाँ! इतनी बात अवश्य है कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी मान्य व आदर योग्य हैं परन्तु वहीं तक जहाँ तक उनका मन्त्रों से विरोध न हो। इसका निर्णय भी जैमिनि जी ने ही कर दिया है, "**मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः।**" (पूर्वमीमांसा अध्याय ५, पाद १, सूत्र १६)

इसका अर्थ यह है कि विरोध की अवस्था में मन्त्र प्रधान है, क्योंकि मन्त्र स्वतः प्रमाण है और उसी से कर्म की पूर्णता होती है। अतः वह अर्थात् 'ब्राह्मण' कर्म का आरम्भ कर्त्ता है। इससे सुस्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र को 'ब्राह्मण' पर वरीयता प्राप्त है। मन्त्र मुख्य और ब्राह्मण गौण और मन्त्र विना कर्म प्रयोग रूप सिद्धि नहीं होती। इससे हमारे आचार्यों ने मन्त्र को अन्तरंग और ब्राह्मण को बहिरंग कहा है। जैसे कि एक जान है और दूसरा हृदय। एक स्वतः प्रमाण और दूसरा परतः प्रमाण।

और जो हमारी योग्य सभा ने मनुस्मृति के निम्न श्लोक का प्रमाण

देकर उससे यह सिद्ध करना चाहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का उपनिषद् भाग वेद समान है इसमें वह सफल नहीं हुई।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसद्धिये श्रुतिः॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि वन में रहकर इस दीक्षा और अन्य दीक्षा का सेवन करे और आत्मशुद्धि व मन की पवित्रता के लिये उपनिषदों में जो श्रुति अर्थात् वेद के मन्त्र हैं अथवा जो ब्रह्म विद्या से सम्बन्धित हैं उनका सेवन करे अर्थात् उनका स्वाध्याय करे और विचारे। ये श्लोक वानप्रस्थ आश्रम के सम्बन्ध में हैं। इसमें उपनिषद् शब्द विशेषण है और श्रुति शब्द विशेष्य अर्थात् जो श्रुतियाँ (वेद-मन्त्र) उपनिषदों में आते हैं। क्योंकि वानप्रस्थ आश्रम आत्मा की शुद्धि और मोक्ष के लिये धारण किया जाता है और उपनिषदों में इसी आशय के चुने हुए मन्त्र लिखे हैं, इसलिये मनुजी ने उन मन्त्रों की ओर विशेष ध्यान दिलाया है।

मनुस्मृति के समान अन्य स्मृतियाँ भी माननीय हैं अथवा नहीं?

इस विषय में हमारी मान्य सभा में दो वचन प्रमाण के रूप में स्वीकार किये गये और उनमें ये एक यह है—

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते॥

ऐ मेरी प्यारी सभा! इसमें कहाँ लिखा है कि सब स्मृतियाँ अथवा अमुक स्मृति मानने के योग्य है। इस वचन में जो स्मृति शब्द आया है इसके अर्थ तो स्मरणशक्ति के हैं और इसको स्मृति ग्रन्थों पर कदापि लागू नहीं किया जा सकता। इस वचन के अर्थ स्पष्ट हैं अर्थात् स्मृति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (इतिहास इत्यादि), अनुमान इन चारों से आदित्य मण्डल के भेद जाने जाते हैं। यदि यहाँ स्मृति शब्द का अर्थ समस्त स्मृति ग्रन्थ किया जाय तो यह वचन सब स्मृतियों के पीछे का बना हुआ ठहरता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

दूसरा वचन मनुस्मृति का है और वह यह है—

"वेदोखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।"[1]

---

१. मनु २।६

ऐ मेरी अन्वेषिणी सभा! मनुस्मृति तो आदि स्मृति गिनी जाती है भला उसमें पीछे की बनी हुई स्मृतियों का उल्लेख क्योंकर आ सकता था? मनुजी ने तो एक सार्वजनिक निर्देश के रूप में एक सर्वमान्य नियम का वर्णन किया है कि वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है और जो वेद को जानते हैं उनकी कथनी करणी जो वेद के आदेश पर आधारित है, वह वेद जो सत्यधर्म का मूल है। अभिप्राय यह है कि समस्त धर्म का आदिस्रोत वेद ही है और जो वेदों को जानकर उसकी आज्ञाओं के पालन से अपने मन व मस्तिष्क को उज्ज्वल करते हैं और ज्ञान व आचरण का एक ज्वलन्त उदाहरण हैं—उनकी शिक्षा (उपदेश) व वाणी एवं स्वभाव व आचार भी धर्म का स्रोत है। जो लोग स्वयं वेद नहीं जान सकते वे ऐसे लोगों के उपदेश व संगति से लाभान्वित हों।

अब हम दो-एक प्रमाण उदाहरण के रूप में अपनी ओर से प्रस्तुत करते हैं ताकि वास्तविक स्थिति और भी अधिक सुस्पष्ट हो जाय। प्रथम देखिये पूर्वमीमांसा अध्याय पहला, पाद ३, सूत्र ३—"**विरोधे त्वनेपक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।**" इसका अर्थ यह है कि श्रुति के विपरीत जो स्मृति हो वह त्याज्य है और जो अनुकूल हो वह मानी जा सकती है। वास्तव में समस्त स्मृतियों को पूरा-पूरा मानने का कोई मनुष्य दावा नहीं कर सकता क्योंकि इनमें इतने मत-वैभिन्य पाये जाते हैं कि उनका समाधान व व्याख्या कठिन है। ऐसी स्थिति में यही हो सकता है कि या तो वे पूर्णतया अस्वीकृत की जायें अथवा जैमिनि जी के इस सर्वमान्य सिद्धान्त पर आचरण किया जाय कि जो कुछ वेद व सद्बुद्धि के अनुकूल हो वह मान्य और शेष अमाननीय घोषित किया जाय। फिर देखिये मनुजी क्या कहते हैं—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥[१]
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यमतानि च॥[२]

इस का अर्थ है कि जो स्मृतियाँ वेद के विरुद्ध हैं और जो-जो नवीन व नास्तिक मत हैं—वे सब निकम्मे व तमोगुण से भरे हैं क्योंकि वेद के बाहर जो वचन है वह मनुष्यकृत है और नाशवान् है अतः प्रामाणिक व मानने योग्य नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि सब स्मृतियाँ पूर्णतया माननीय नहीं हो सकतीं। हाँ, जिस-जिस वचन का आधार वेद पर हो और जो बुद्धियुक्त हो उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

१. मनुस्मृति, १२। ९५ २. मनुस्मृति, १२। ९६

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणन्तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

अर्थ—जहाँ वेद और स्मृति और पुराण इन तीनों में विरोध हो वहाँ वेद ही प्रमाण माना जाता है और स्मृति और पुराण के विरोध की अवस्था में स्मृति की विशेषता है।

आर्य का दूसरा उत्तर

ब्राह्मणों व स्मृतियों के विवाद के पश्चात् अब हम दूसरे प्रश्न की ओर आते हैं कि क्या शिव, विष्णु, दुर्गा इत्यादि देवताओं की मूर्त्तियों और शिवलिङ्ग की पूजा और मरणोपरान्त पितरों का श्राद्ध इत्यादि उचित है अथवा नहीं? और गंगा व कुरुक्षेत्र इत्यादि तीर्थों के स्नान तथा वास में पाप की निवृत्ति और मुक्ति होती है अथवा नहीं?

यद्यपि इस विषय पर इससे पूर्व भी पर्याप्त वाद-विवाद हो चुके हैं और कोई भी व्यक्ति युक्तियों व शास्त्रीय प्रमाणों से किसी ऐसे दावे को सिद्ध नहीं कर सका परन्तु क्योंकि अब इन विषयों पर विवाद एक ऐसी विद्वानों की सभा में हुआ है जिसका दूसरा उदाहरण भारतीय इतिहास में नहीं मिलता। इसलिये यह उचित नहीं कि इस जमघट के निर्णय की समीक्षा किये विना इसे ऐसे ही छोड़ दिया जाय। इस पर विचार करने से पूर्व इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती—जिनके वचनों के प्रतिवाद के लिये इस सभा का आयोजन किया गया, वे इसके सम्बन्ध में क्या कहते हैं।

विदित हो कि वे अपने शास्त्रार्थों का आधार वेद आदि सत्य शास्त्रों पर रखते हैं और उन सत्य शास्त्रों को हमारी विद्वानों की यह परिषद् भी मान्य मानती है तथा स्वामी जी के लेखों में स्थान-स्थान पर इनके प्रमाण मिलते हैं। स्वामी जी कहते हैं कि सत्य शास्त्रों में मूर्ति-पूजन आदि नहीं लिखा। ऐसी अवस्था में उचित तो यह था कि उन्हीं शास्त्रों के प्रमाणों से स्वामी जी के वचनों का खण्डन किया जाता परन्तु इसके स्थान पर

इधर-उधर के प्रमाण दिये गये हैं। और यदि कहीं किसी शास्त्र का प्रमाण दिया भी है तो उससे कुछ सिद्ध नहीं होता। अब हम उत्तर आरम्भ करते हैं।

शिवलिङ्ग व मूर्त्ति-पूजन

''**तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्**''—इस वचन से हमारी उच्च मस्तिष्क वाली सभा शिवलिङ्ग की पूजा सिद्ध करती है तथा इसका भाष्य भी प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करती है परन्तु हमारी समझ में नहीं आता कि शिवलिङ्ग की पूजा कहाँ से निकलती है और उसको सिद्ध करने के लिये सीधे-साधे अर्थ को छोड़कर क्यों इतने कष्ट उठाये गये हैं। शब्दों के अर्थ तो स्पष्टरूप से ये हैं कि ऐ रुद्र! तेरी सृष्टि अथवा प्रकाश विचित्र चित्ताकर्षक तथा चकित कर देने वाला है। अतः देवता लोग तेरी महिमा के लिये उसको पवित्र कर रहे हैं (अथवा तेरी स्तुति व गुणगान के जयकारे लगा रहे हैं)। भला अब बताइये कि आपके भाष्यकार ने मर्ज्जयन्त शब्द पर टिप्पणियाँ की हैं, उनको कौन स्वीकार कर सकता है? क्या देवताओं का हित इसी में है कि परमात्मा की सच्ची पूजा छोड़कर लिङ्ग आदि स्थापित करके उसका पूजन गंगा आदि तीर्थों के जल से करें। वास्तव में उपर्युक्त मृजू शब्द अथवा मार्ज्ज शब्द ''मृज्'' धातु से बना है जिसका अर्थ है शुद्ध, पवित्र करना, शब्द करना व सजाना। देवता व लिङ्ग की पूजा भला कब सम्भव है? कल्पना कीजिये कि यदि हमारे अर्थ आपकी दृष्टि में ठीक नहीं तो आपको कोई और अच्छे अर्थ खोजने पड़ेंगे अथवा इस प्रमाण को ही तजना पड़ेगा। क्योंकि आजकल के देवता आपके शिवलिङ्ग की पूजा से घृणा करने लगे हैं और प्राचीन ऋषियों-मुनियों की विधि से केवल सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही की पूजा को अपनी मुक्ति का कारण मानते हैं। हाँ यदि शिवलिङ्ग से कल्याण अथवा कल्याण स्वरूप परमात्मा का अनुमान करवाने वाला, गायत्री आदि मन्त्र अथवा कोई अन्य साधन जो वेद व बुद्धि के अनुसार हो—अपनाया जाय तो उसका सेवन तीन काल क्या यदि दिन भर भी करो तो कुछ भी हानि नहीं। परन्तु यह नहीं कि जिस वस्तु का नाम लेने से सभ्य लोगों को घृणा होती हो उसका चिह्न बनाकर व्यापार के लिये उसकी पूजा की जाय।

अप्रामाणिक ग्रन्थों में भी प्रतिमा-पूजन का खण्डन है—मूर्त्ति-पूजा के विषय में अप्रामाणिक उपनिषदों व स्मृतियों आदि के जो प्रमाण

दिये गये हैं उनके बारे में विचार करना व्यर्थ है क्योंकि जब हम इन मूल पुस्तकों को ही प्रामाणिक नहीं मानते तो इनके प्रमाणों को कब मान सकते हैं। अतः ऐसे प्रमाणों को उपस्थित करना ही व्यर्थ था। इसके अतिरिक्त इन पुस्तकों में (भी) मूर्त्ति-पूजा इत्यादि के खण्डन में बहुत से प्रमाण मिलते हैं जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। हम जैमिनि जी व मनुजी के वचनों से ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि स्मृतियों आदि के जो वचन वेदानुकूल नहीं वे स्वीकार करने योग्य नहीं। जिस देश में और जिस घर में विद्या का प्रकाश नहीं वह निःसन्देह दीपक विहीन है। जब देह से आत्मा निकल जाता है तो वह जलाने या गाड़ने के योग्य हो जाता है। जिस आत्मा में परमात्मा का प्यार तथा सत्य की ज्योति प्रकाशित नहीं होती, वह अविद्या, अन्धकार और कष्ट में फँसी रहती है। परन्तु सद्बुद्धि इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि जिस घर में शालिग्राम अथवा शिवलिङ्ग नहीं वह श्मशान के समान है।

हमारी विदुषी सभा यह भी कहती है कि स्वामी जी ने अपनी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये 'कैवल्योपनिषद्' का प्रमाण दिया है और यह दश उपनिषदों से बाहर है। अतः जब उन्होंने कैवल्योपनिषद् को स्वीकार कर लिया तो फिर उनको शेष उपनिषदें भी स्वीकार करनी पड़ती हैं। यह एक विचित्र प्रकार का तर्क है। भला! यदि हम पुराणों से मूर्ति-पूजा के खण्डन में कोई प्रमाण दें, जैसा कि हम देंगे ही तो क्या इससे यह आवश्यक हो जाता है कि हमने सब पुराणों को स्वीकार कर लिया? किसी विशेष विषय की पुष्टि अथवा सिद्धि के लिये किसी पुस्तक के किसी वचन विशेष का प्रमाण देने से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि प्रमाण देने वाले ने उस पुस्तक को और अन्य बीसियों पुस्तकों को भी सामूहिक रूप से स्वीकार कर लिया है।

''**गौरी वा गौरीपतिर्वा श्रियःपतिर्वा स्कन्दो वा विनायको वा न्यस्ता समस्ता वा इज्यन्ते।**'' यह वचन भी (यदि इसके वही अर्थ लिये जायें जो हमारी प्रतिष्ठित सभा के मस्तिष्क में हैं) वैसा ही वेद की शिक्षा के विरुद्ध है जैसे कि अन्य अप्रामाणिक प्रमाण है, जिन को तर्क के रूप में दिया गया है। हमारी समझ में नहीं आता कि इतने बड़े ऋग्वेद को छोड़कर परिशिष्टों तथा टिप्पणियों की ओर क्यों ध्यान दिया गया है। यदि ऋग्वेद जिसका पाठ (अर्थात् जिसकी मन्त्र संख्या) दस सहस्र के लगभग

है और जो सृष्टि की वास्तविकता और उसकी व्यवस्था व क्रमबद्धता के सिद्धान्त की एक प्रतिलिपि है, आपके दावे का समर्थन नहीं करता तो इधर-उधर भागदौड़ करने से क्या हो सकता है? जो बोधायन सूत्र का प्रमाण दिया गया है—उसके शब्दों से तो महादेव महारुपुष अर्थात् परमात्मा की पूजा प्रकट होती है। उसमें शिवलिङ्ग आदि का कुछ वर्णन नहीं।

''स परन्दिवमन्वावर्तते अथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते देवप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्तीत्यादि।'' इस वचन से मूर्त्ति-पूजन कदापि कदापि सिद्ध नहीं होता और न इसमें पूजा की कुछ चर्चा है। हमको ज्ञात नहीं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इसका क्या अर्थ करते हैं परन्तु यदि आक्षेपकर्त्ता के कथनानुसार वह इस वचन को ब्रह्मलोक से जोड़ते हैं (यद्यपि उनके ग्रन्थों व लेखों में ऐसा नहीं देखा गया) तो कुछ पाप नहीं करते। वचन के प्रसंग को देखकर यह भाव निकलता है कि वे सत्य पर हैं। यदि आपको यह अर्थ नहीं जँचते तो भला बताइये कि आप और आपके भाष्यकार ने **''परन्दिव''** शब्द के अर्थ इस भूलोक के निवासी वैष्णव आदि लिखे हैं वह क्योंकर स्वीकार किये जा सकते हैं? जब कि कोष में या व्युत्पत्ति द्वारा भी इस शब्द के ये अर्थ ही नहीं हैं, फिर समझ में नहीं आता कि वह वैष्णव आदि मत से क्यों जोड़ा गया? यदि हमारी प्यारी सभा इच्छा अथवा अनिच्छा से इन्हीं अर्थों पर दृढ़ रहना चाहती है तो अन्य मत वालों को अर्थात् यथा शिवशक्ति, गणपति, भैरव इत्यादि के उपासकों और उस सत्य वक्ता कबीर तथा ईशोपासक नानक के अनुयायियों को भी यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे उपर्युक्त शब्द को अपने-अपने मत से जोड़ें क्योंकि सब अपने-अपने मत को उत्तम और सर्वोपरि जानते हैं। वास्तव में परन्दिव शब्द के यहाँ वे अर्थ उपयुक्त नहीं जो हमारी विदुषी सभा स्थापित करना चाहती है।

अब रही यह बात कि इस वचन में देवताओं के मकान व देवताओं की मूर्ति का वर्णन है—सो विदित हो कि इन शब्दों से देवता की मूर्त्ति का पूजन सिद्ध नहीं होता। यदि लेखक को प्रतिमा-पूजन का औचित्य सिद्ध करना अभीष्ट होता तो इस वचन में दो-एक शब्द और बढ़ाकर अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने में क्या कष्ट था? इस प्रकार के शब्द तो उन लोगों की पुस्तकों में भी पाये जाते हैं, जो मूर्त्ति-पूजन को महापाप और

परमात्मा का निरादर मानते हैं। यथा जबराईल फ़रिश्ता और उसका मकान बेरी का वृक्ष इत्यादि। इसके सम्बन्ध में कुछ आगे भी लिखा जायेगा।

''खननात् दहनात् इत्यादि भूमिः शुद्ध्यतीत्यंतम्'' इस वचन की भी यही स्थिति है जो ऊपर के वचन की वर्णन की गई है। इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। पृथिवी आदि खोदना मूर्त्ति-पूजन का कुछ प्रमाण नहीं हो सकता। अब रहा मनुस्मृति का प्रमाण—

सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च।
संक्रमध्वज-यष्टीनां प्रतीमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥

इन तीनों श्लोकों में से प्रथम पंक्ति **मनुस्मृति के आठवें अध्याय के श्लोक संख्या २४८ की दूसरी पंक्ति है** जिसका अर्थ यह है कि (ग्रामों के) मिलने के स्थान पर देवस्थान बनवाने चाहियें। यहाँ कई श्लोकों में सीमाओं पर निशान लगाना व सीमा विवादों का निर्णय व सीमाओं की पहचान के चिह्न का वर्णन है। अतः उक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति में तालाब, कूप, बावली और झरने के समानार्थक संस्कृत शब्द विद्यमान हैं जो उसी अभिप्राय से प्रयुक्त हुए हैं जिससे देवस्थान हुआ है। वास्तव में देवस्थान से अभिप्राय किसी पवित्र गृह यथा पाठशाला अथवा यज्ञशाला अथवा धर्मशाला आदि से है जिससे लोग सीमा भंग से डरते रहेंगे। और इस शब्द को मूर्ति-पूजन का प्रमाण मानना मात्र महर्षि मनु का अपमान ही तो है। ईश्वर की शरण। कहाँ सीमाबन्दी और कहाँ प्रतिमा-पूजन?

अन्तिम दो पंक्तियां मनुस्मृति के नवें अध्याय के श्लोक संख्या २८५ की हैं। इनका अर्थ इस प्रकार से है कि जो व्यक्ति पुल, ध्वज व जल के ऊपर आने-जाने के साधनों और बाटों या नापने के साधनों को हानि पहुँचाये वह पाँच सौ रुपया जुर्माना दे और उस हानि को पूरा करे। इसमें विचारणीय शब्द केवल 'प्रतिमा' है। औचित्य तो यह चाहता है कि इसके अर्थ बाट इत्यादि के हों। (इस प्रकार अगले दो श्लोकों में मिलावट करने और उनको बिगाड़ने और समान मूल्य देने वालों में से एक को अच्छी और दूसरे की बुरी वस्तु देने तथा मूल्य में हेर-फेर करने वाले आदि के लिये दण्ड निर्धारित किया गया है) परन्तु हमारी प्यारी सभा यह कहती

है कि इस शब्द के प्रसिद्ध अर्थ मूर्ति के हैं और प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर यौगिक अर्थ लेने अनुचित हैं। और इस दावा की पुष्टि के लिये जैमिनि मुनि का एक वचन भी उपस्थित किया गया है। यह युक्ति प्रकटतया कुछ महत्त्व रखती है परन्तु जो लोग किसी भाषा के साहित्य से परिचित हैं वे इसको सर्वमान्य नियम के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। अनेक स्थान ऐसे होते हैं जहाँ प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर यौगिक अर्थ लिये जाते हैं। हाँ, जहाँ प्रसिद्ध अर्थों से काम चलता हो वहाँ इच्छा अनिच्छा से यौगिक अर्थों को लेना व्यर्थ है। यही अभिप्राय जैमिनि जी का है, अन्यथा वह वचन समस्त यौगिक व व्यावहारिक अर्थ को निरस्त करने वाला होता है। हमारी भोली सभा ने जो रथकार शब्द आदि का उदाहरण देकर अपना मीमांसा का ज्ञान दर्शाया है उससे कोई निर्णायक (दृढ़) निष्कर्ष नहीं निकलता। यद्यपि रथकार शब्द के भी यौगिक अर्थ लिये जा सकते हैं परन्तु शब्द 'प्रतिमा' के यौगिक अर्थ लेने से यह आवश्यक नहीं कि इन शब्दों अथवा समस्त भाषा के शब्दों के अवश्यमेव यौगिक अर्थ ही लिये जायें। प्रत्येक स्थान पर अवसर व प्रसंग को देखा जाता है। विचारणीय वचन में औचित्य व आगे के प्रसंग से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्ति नहीं। यदि इसका अर्थ मूर्ति ही ले लिया जाय तो भी मूर्ति-पूजन सिद्ध नहीं होता। मूर्ति शब्द आ जाने की अवस्था में भी यह नहीं पाया जाता कि मूर्ति-पूजन का निर्देश दिया गया है। प्रत्युत उससे एक विचित्र अवस्था का पता चलता है जो प्राचीन आर्यों की महत्ता और उनके विचारों की व्यापकता व समानता की भावना को सिद्ध करती है। वह यह कि धर्मात्मा तथा न्याय प्रिय राजा व शासक लोग इस बात को उचित नहीं समझते थे कि अपने धार्मिक विश्वास को प्रजा अथवा प्रजा के किसी भाग पर बलपूर्वक लादें। प्रत्युत उनको सदा इस बात का ध्यान रहता था कि प्रत्येक जाति व प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी धार्मिक आस्था के अनुसार धार्मिक कृत्यों, रीति-रिवाजों का स्वतन्त्रता व शान्ति के साथ पालन करे और कोई उसमें बाधक न हो और इस उद्देश्य के लिये कानून बनाया जाता है। इसी बात का उदाहरण अंग्रेज़ सरकार के शुभ शासन में जो भारत के लिये एक बहुत बड़ा वरदान और अप्रत्याशित देन सिद्ध हुआ है।[1]

१. मुग़ल काल की मतांधता की तुलना में धार्मिक स्वतन्त्रता के कारण अंग्रेज़ी राज अच्छा था, यहां यह अभिप्राय है। —'जिज्ञासु'

चारों ओर स्वतन्त्रता का लाभ प्राप्त हो रहा है। धार्मिक शास्त्रार्थ व वादविवाद होते हैं। कानून एकेश्वरवादियों और मूर्ति-पूजकों का समानरूप से समर्थन करता है।

मूर्ति-पूजा बौद्धकाल से—यह तो सबको अधिकार है कि मूर्ति-पूजा को अधर्म समझें और अधर्म घोषित करें, परन्तु यह किसी को साहस नहीं कि मूर्ति को तोड़े और यदि कोई करे तो उसको दण्ड दिया जाता है। यदि विधान में मूर्ति-भञ्जन के लिये कोई दण्ड निर्धारित किया गया है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मूर्ति-पूजा का निर्देश दिया गया है अथवा विधान निमार्ताओं अथवा प्रशासकों अथवा उनकी जाति या प्रजा मूर्ति-पूजक है। यही स्थिति महर्षि मनु के काल पर लागू हो सकती है। यदि उस समय कुछ स्वार्थी नेताओं ने अपने अज्ञानी अनुयायियों को अपने फन्दे में फँसाये रखने के उद्देश्य से मूर्ति-पूजा का कुछ प्रचार किया हो और मनुजी ने देश की परिस्थिति को देखते हुए कानून विधान निर्माताओं के रूप में मूर्ति तोड़ने के लिये दण्ड निर्धारित कर दिया हो तो इससे मूर्ति-पूजा का औचित्य सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता तो पवित्र वेद व सत्य-शास्त्रों तथा प्राचीन ऋषियों के ग्रन्थों में उसका स्पष्टरूप से वर्णन अवश्य होता परन्तु ऐसा नहीं है। **भला जब तीन सौ विद्वान् पण्डितों की सभा मूर्ति-पूजन के पक्ष में सत्य-शास्त्रों से कोई प्रमाण नहीं दे सकी तो अब और क्या आशा की जा सकती है। वास्तव में इसका प्रचलन बौद्धकाल से हुआ है।**

मूर्ति-पूजा के निषेध में प्रमाण—अतः उपर्युक्त युक्तियों से यह तो भली-भाँति निश्चित हो गया कि मूर्ति-पूजा उचित नहीं और अब उसके खण्डन में वेदों तथा उपनिषदों के कुछ प्रमाण देकर इस विषय को समाप्त करते हैं—

''न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।''[१]

अर्थ—उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं, उसका नाम अत्यन्त तेजस्वी है।

''स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।''[२]

१. यजुर्वेद ३२।३ २. यजुर्वेद ४०।८

अर्थ—वह परमात्मा सर्वव्यापक सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, शरीररहित, पूर्ण, नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, शुद्ध है तथा पापों से पृथक् है।

अधन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥[१]

अर्थ—जो लोग प्रकृति आदि जड़-पदार्थों की पूजा करते हैं वे नरक में जाते हैं तथा जो उत्पन्न की हुई वस्तुओं की पूजा करते हैं वे इससे भी अधिक अन्धकारमय नरक में जाते हैं।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुख शाश्वतं नेतरेषाम्।

जो बुद्धिमान् उसे आत्मा में स्थित देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है औरों को नहीं।

ततो तदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यान्ति ॥

जो सृष्टि व सृष्टि के उपादान कारण से उत्कृष्ट है, वह निराकार व दोषरहित है। जो उसको जानते हैं उनको अमर जीवन प्राप्त होता है और दूसरे लोग केवल दुःख में फँसे रहते हैं।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थ—उसी के ज्ञान से मृत्यु के पंजा से छुटकारा होता है और कोई मार्ग ध्येयधाम का नहीं है।

किसी देवता की उपासना भी उचित नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में जहाँ तैंतीस देवताओं की व्याख्या की है (और उन्हीं तैंतीस के तैंतीस करोड़ बन गये हैं और उस सूची के पूरा होने के पश्चात् जो उसमें और गुगा पीर जैसे समय-समय पर सम्मिलित होते रहे हैं, वे इनसे अतिरिक्त हैं) वहाँ भी परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की पूजा विहित नहीं रखी; प्रत्युत उसका खण्डन किया है।

आत्मेत्येवोपासीत। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियं रोत्स्यतीश्वरो ह तथैव स्यात्। योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद। तथा

१. यजुर्वेद ४०।९

पशुरेव स देवानाम्। —शतपथ ब्रा० का० १४, अ० ४

परमेश्वर जो सबका आत्मा है, उसकी उपासना करनी चाहिये जो परमेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को प्यारा अर्थात् उपास्य समझता है उसे जो कहे कि तू प्रिय के विरह में दुःख में पड़ेगा, वह सत्य पर है। जो और देवता की उपासना करता है वह वास्तविकता को नहीं जानता। वह निश्चित रूप से बुद्धिमानों में पशु सदृश है।

इन प्रमाणों की उपेक्षा करने वाली यह सभा!

हाय, खेद! इन प्रामाणिक वचनों तथा ऐसे सैकड़ों अन्य प्रमाणों की उपेक्षा करके हमारी प्यारी सभा प्रकृति पूजा को स्थापित करना चाहती है और बड़ी धूमधाम के साथ यह प्रकट करती है कि जो व्यक्ति शिवलिङ्ग व शालिग्राम की पूजा नहीं करता वह सीधा नरक को जाता है। हे मेरी महान् सभा! तेरी महत्ता व विद्वत्ता में तो किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु मैं इस बात पर दंग हूँ कि तेरी कार्यवाही ऐसी क्यों निकली कि उसके खण्डन करने के लिये एक साधारण व्यक्ति लेखनी उठाने को उद्यत हुआ है।

आपका भागवत क्या कहता है?

अब देखो आपका प्यारा श्रीमद् भागवत क्या कहता है—

''मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्तादीश्वरबुद्धयः।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्तिं न यान्ति ते।''

अर्थ—मिट्टी, पत्थर, धातु, लकड़ी इत्यादि की मूर्ति में जो ईश्वर की कल्पना करते हैं ऐसे मूढ़जन तप से केवल कष्ट भोगते हैं और वास्तविक शान्ति को प्राप्त नहीं करते।

''यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः यस्तीर्थं बुधिः सलिलेन कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।''

अर्थ—जो व्यक्ति तीन धातुओं से बने शरीर को आत्मा समझता है और स्त्री तथा पुत्र आदि को अपना समझता है और मिट्टी की मूर्ति को उपासना के योग्य मानता है और जो बुद्धिमान् मनुष्यों को तो नहीं; जल को तीर्थ मानता है, वह निश्चितरूप से गधा है।

कुछ युक्तियाँ

हमारे विचार में मूर्तिपूजा के खण्डन में जो शास्त्रीय प्रमाण ऊपर दिये गये हैं, वे पर्याप्त हैं। इससे अधिक लिखना व्यर्थ बोलना ही समझा जायेगा। अब एक-आध तर्क-सम्मत युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

जैसा उपास्य वैसा ही उपासक

जैसा उपास्य होता है वैसा ही उपासक होता है, यह एक सूक्ष्म बात है जिसकी व्याख्या से विचारणीय समस्या का समाधान हो सकता है। स्पष्ट ही है कि जो गुण उपास्य में माने जाते हैं उनका प्रभाव न्यूनाधिक उपासक के व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ता है अथवा शिक्षा-दीक्षा के कारण जैसा उपासक होता है, वैसा ही अपने उपास्य की कल्पना कर लेता है। इन बातों में कल्पना का विशेष महत्त्व होता है। यदि हमारा उपास्य क्रोधी व अन्यायी है तो उसका क्रोध व जोश और यदि स्वाभिमानी है तो उसका स्वाभिमान और यदि दयालु है तो उसकी दया का प्रतिबिम्ब हमारे आत्मा पर पड़ता है और यह प्रभाव हमारी समस्त नैतिक व मानसिक शक्तियों पर पड़ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब हम यह मानते हैं कि हमारा उपास्य सत्, ज्ञानस्वरूप, आनन्दघन, शुद्ध पवित्र, सत्यस्वरूप, तेजःस्वरूप, परमस्नेही, प्राज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वोत्कृष्ट, अनादि व अनन्त है—जैसा कि वेदों में लिखा है तो हमारे आत्मा की भीतरी शक्तियों का विकास व प्रकटीकरण होकर उसमें एक प्रकार की महत्ता, तेजस्विता, विस्तार व पवित्रता उत्पन्न होती है, जिससे हमारा समस्त आत्मिक व नैतिक जीवन आलोकित हो जाता है और जिसका फल शाश्वत आनन्द है।

यदि हम ऐसे उपास्य को पत्थर व धातु इत्यादि की मूर्ति अथवा किसी अन्य सीमित वस्तु में कल्पित करके उसको नमन करना स्वीकार करते हैं, तो परिणाम इसके विपरीत ही निकलता है। यह भी एक प्रत्यक्ष बात है कि समस्त धार्मिक व सांसारिक बातों में बुद्धि हमारी सबसे बड़ी मार्गदर्शक है। **यही कारण है कि हमारी गायत्री जो बीज मन्त्र गिनी जाती है, उसमें बुद्धि के प्रकाश के लिये ही प्रार्थना की गई है।** जिन साधनों से बुद्धि की उन्नति व सुधार हो उनको व्यवहार में लाना अत्यन्त पुण्य का कार्य है और जिस बात से बुद्धि में निर्बलता व अन्धकार उत्पन्न हो उसको अपनाना (करना) आत्महत्या में सम्मिलित है। सच्ची ईशोपासना और सच्ची शिक्षा तथा बुद्धिमानों की संगत से बुद्धि स्वच्छ व निर्मल होती है और इसके विपरीत जड़ वस्तुओं की पूजा तथा कुशिक्षा तथा अज्ञानियों के संग से बुद्धि निर्बल व अन्धकारयुक्त होती है। अतः जड़-पदार्थों में सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कल्पना करके उनको नमन (पूजा) के योग्य बताना मानो बुद्धि को विकृत करना है। बुद्धि को बिगाड़ना आत्मघात है और आत्मघात पाप है, इसलिये सिद्ध हुआ कि मूर्ति-पूजन पाप है। सुरापान व व्यभिचार इसी कारण पाप हैं कि इनसे बुद्धि नष्ट और आत्मा अपवित्र होती है तथा दूसरे के अधिकार का हनन एवं ईश्वराज्ञा का उल्लंघन होता है फिर यदि मूर्ति-पूजन से बुद्धि का विनाश, आत्मा का पतन व ईश्वर का निरादर होता है, तो बताइये कि मूर्ति-पूजन पाप नहीं तो और क्या है? जो वस्तु जैसी हो उसको वैसा ही समझना सच्चा ज्ञान है और जड़-पदार्थों में ईश्वर-भावना करनी या करानी अथवा किसी कल्पित देवता का ध्यान करना या कराना पथभ्रष्टता और भ्रान्ति है।

मरणोपरान्त पितरों का श्राद्ध आदि

हमारी प्यारी सभा ने श्राद्ध के विषय में यह वचन प्रमाण स्वरूप उपस्थित किया है—

''निवीतम्मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणाम्।''

इस वचन में न तो मरे हुए माता-पिता का कुछ उल्लेख है और न श्राद्ध का शब्द आया है, फिर पता नहीं कि इससे मृतकों का श्राद्ध क्योंकर सिद्ध होता है। केवल यज्ञोपवीत का इधर-उधर करना श्राद्ध का प्रमाण नहीं हो सकता। श्राद्ध व तर्पण से जो वास्तविक अभिप्राय है—उसे हम अस्वीकार नहीं करते। हमारा आक्षेप तो यह है कि मृतकों के लिये श्राद्ध व तर्पण करना और उनके नाम से किसी वर्ग-विशेष के लोगों को विना पात्रता की परीक्षा किये अच्छे-अच्छे प्रकार का भोजन कराना व चाँदी-सोना कर के रूप में देना बुद्धि व शास्त्र के अनुसार कैसे मान्य हो सकता है? हाँ, मृतकों की स्मृति में यदि कोई परोपकार का कार्य इस प्रयोजन से किया जाय कि हमको मृत्यु का स्मरण रहे तो इसमें कुछ हानि नहीं।

हमारी सूक्ष्म विषयों पर विचार करने वाली सभा ने जो यह वर्णन किया है कि ''पितॄणाम्'' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है इसलिये उससे

मृतक का श्राद्ध सिद्ध होता है, यह युक्ति ठीक नहीं जँचती। यह शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रतीत होता है कि किसी समय में वह सम्मान व उपाधि देने और उनकी योग्यता व विशेषता का वर्ग निश्चित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता था और फिर समय व परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ वह प्रयोग लुप्त हो गया और उसके स्थान पर और-और शब्द प्रयुक्त होने लगे। अंग्रेज़ी भाषा का शब्द Father (फ़ादर) इस शब्द से एक विचित्र सादृश्यता रखता है, जिसका वर्णन रोचकता से रहित नहीं होगा। '**फ़ादर**' शब्द ''पितृ'' शब्द से निकला है और वह प्राय: उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है जिनमें पितृ शब्द का प्रयोग होता है या होता था। प्रथम शताब्दी की ईसाई मत की पुस्तकों के लेखक और रोम की सेनेट के सदस्य ''**फादर**'' कहलाते थे और उस समय के ईसाई मत के नेता अर्थात् पादरी लोगों तथा पहले तथा पिछले पूर्व-पुरुषों के लिये भी यही शब्द प्रयुक्त किया जाता है। यह इस बात की पुष्टि का प्रमाण है कि ''**पितॄणाम्**'' शब्द से अभिप्राय उच्चकोटि के गुण-सम्पन्न विद्वान् और बुद्धिमान् आदि हैं। शतपथब्राह्मण में उनके आठ प्रकार लिखे हैं। वे इस प्रकार से हैं—

सोमसदः। अग्निष्वात्ताः। बर्हिषदः। सोमपाः। हविर्भुजः। आज्यपाः। सुकालिनः। यमराजाश्चेति।

१. चित्त की एकाग्रता और ज्ञान की वास्तविकता के इच्छुक **सोमसद्** कहलाते हैं।

२. अग्नि—जो समस्त पदार्थों में सर्वाधिक क्रियाशील है उसकी अवस्थाओं और गुणों का ज्ञान प्राप्त करके जो उससे अच्छी प्रकार से काम ले सकते हैं, उनको **अग्निष्वात्ताः** कहते हैं।

३. जो ज्ञान व आचरण से अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके गुणों व कलाओं में दक्षता प्राप्त करते हैं वे **बर्हिषदः** कहलाते हैं।

४. जो औषधियों के लाभ और गुणों के ज्ञान में योग्यता प्राप्त करते हैं, वे **सोमपाः** कहलाते हैं।

५. जो अग्निहोत्र आदि यज्ञों में प्रवीणता रखते हैं, वे **हर्विभुजः** कहलाते हैं।

६. जो उचित साधनों से शरीर व आत्मा की रक्षा करते हैं, उन्हें **आज्यपाः** कहते हैं।

७. जो अपना बहुमूल्य समय सदा अध्यात्म व आत्मशुद्धि इत्यादि की शिक्षा व उपदेश करने में व्यतीत करते हैं, उनको **सुकालिनः** कहते हैं।

८. जो सूझबूझ व न्यायकारिता आदि में अद्वितीय हैं, वे **यमराज** कहलाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त होना उचित था। यदि इन शब्दों से अभिप्राय सृष्टि के पूर्व-पुरुषों से है तो भी ''**पितॄणाम्**'' शब्द का सम्बन्ध मृत माता-पिता से नहीं जोड़ा जा सकता, प्रत्युत यह पाया जाता है कि विचारणीय वचन में मनुष्यों व पितरों के कर्मों में एक प्रकार का भेद किया गया है। इसी प्रकार का भेद शतपथब्राह्मण में मनुष्यों व देवताओं में किया गया है जैसा कि—''**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।**''

अर्थात् स्वभाव तथा गुणों की दृष्टि से मनुष्य के दो भेद हैं—देव तथा मनुष्य। जो सत्यवादी व सन्मार्ग पर हैं वे **देव** कहलाते हैं और जो झूठे व छलिये हैं, उनको **मनुष्य** कहते हैं।

पितृयज्ञ की व्याख्या—यहाँ पर यदि पितृयज्ञ की थोड़ी व्याख्या की जाय तो इससे विचारणीय विषय भली प्रकार से स्पष्ट हो जायेगा।

विदित रहे कि पितृयज्ञ के दो भेद हैं—**श्राद्ध** व **तर्पण**। श्राद्ध वह काम है जो श्रद्धापूर्वक किया जाय, अर्थात् देव, ऋषि व पितरों की सेवा। **तर्पण** से अभिप्राय है उनको प्रसन्न करना और प्रसन्न रखना तथा उनको सुख पहुँचाना। जो लोग विद्या, सुशीलता और सज्जनता में पूर्णता प्राप्त करके अपने पुण्यकर्मों से संसार में एक उदाहरण स्थापित करते हैं—वे **देव** कहलाते हैं। **ऋषि** वे हैं जो बड़प्पन व गुणों में पूर्ण योग्यता प्राप्त करके पठन-पाठन का कार्य चालू रखते हैं। **पितृ** वे हैं जो किसी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके, उस वस्तु में ही खो जाने का पद प्राप्त कर लेते हैं। इस विषय में मनुस्मृति का एक श्लोक जिसे हम विना व्याख्या के ही छोड़ आये हैं, नीचे देते हैं—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥[१]

१. मनुस्मृति २।१७६

यह श्लोक ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में है और इसमें उन सब बातों का वर्णन है जो ब्रह्मचारी को गुरु की सेवा में रहकर अपनी उन्नति के लिये करनी चाहिये और जिनका आगे के श्लोकों में भी सविस्तार वर्णन किया है। प्रथम अभिवादन व आदर सत्कार व सच्ची शिक्षा की वास्तविकता साधारण रूप से बताई गई है, अर्थात् प्रतिदिन स्नान करके शुद्ध-पवित्र होकर देव, ऋषि और पितृ अर्थात् गुणवान् व्यक्तियों की सेवा करे और उनके गुणों व दक्षता का चिन्तन-मनन करे जिससे उसके मन में उसी प्रकार के गुणों व प्रवीणता को प्राप्त करने की उमङ्ग उत्पन्न हो। शास्त्रों का सवेन अर्थात् स्वाध्याय करे और इन्द्रियों को वश में करे और यज्ञ करे।

मूर्ति-पूजन के खण्डन में हम बहुत कुछ लिख आये हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस श्लोक से हमारी प्यारी सभा का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। हमारी प्यारी सभा ने श्राद्ध के बारे में एक प्रमाण मनुस्मृति का दिया है। वह यह है—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥[१]

अर्थात् पितृयज्ञ से निवृत्त होकर अग्निहोत्री ब्राह्मण प्रत्येक मास की अमावस्या में पितरों का श्राद्ध करे। यह श्लोक स्पष्टतया मनुजी का कहा हुआ नहीं, परन्तु फिर भी इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। यदि प्रत्येक मास में इस प्रकार का श्राद्ध—जिसका ऊपर वर्णन किया गया है—होम की भाँति विशेषता के साथ किया जाय तो कुछ हानि भी नहीं। हम किसी ऐसे कार्य के विरुद्ध नहीं जो एक उत्तम आदर्श स्थापित करने के उद्देश्य से ऐसे पूर्वजों की स्मृति में किया जाय जिनके महान् व्यक्तित्व से परमात्मा की प्रजा को धार्मिक व सांसारिक विषयों में लाभ पहुँचा हो अथवा पहुँचता हो। अन्यथा देश की धन-सम्पदा को ऐसे ही नष्ट करना तथा किसी विशेष जाति व सम्प्रदाय को किसी प्रकार का धार्मिक अथवा सांसारिक कार्य किये विना तथाकथित दान के रूप में निःशुल्क खिलाना-पिलाना तथा **धन लगाकर आलसी व प्रमादी बनाना राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बहुत बड़ा अपराध है।**

१. मनुस्मृति ३। १२२

शेष एक-आध प्रमाण जो मनुस्मृति से और उद्धृत किया गया है उसके बारे में निब घिसाना व्यर्थ है, क्योंकि हम उसको प्रामाणिक नहीं मानते। वर्ष भर में जो पन्द्रह दिन श्राद्ध किये जाते हैं उनका कुछ वर्णन हमारी प्यारी सभा ने नहीं किया। अतः उनके सम्बन्ध में भी विचार करना व्यर्थ है। अब हम अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के चौथे अध्याय के तीन श्लोक नीचे उद्धृत करके इस विषय को समाप्त करते हैं और अपनी प्यारी जाति से अत्यन्त विनम्रता के साथ न्याय चाहते हैं—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥[१]

परलोक में माता, पिता, पुत्र, स्त्री व भाई-बन्धु इनमें से कोई भी सहायता नहीं कर सकता। केवल धर्म ही सहायक होता है (क्योंकि) मनुष्य अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल को भोगता है। लकड़ी व मिट्टी के ढेले के समान मृत शरीर को धरती पर छोड़कर भाई-बन्धु पृथक् हो जाते हैं। केवल धर्म ही उसके संग जाता है।

इससे स्पष्ट है कि मरणोपरान्त मानव के स्वशुभ कर्म ही उसके सहायक होते हैं, किसी अन्य के किये हुए श्राद्ध इत्यादि से उसको कुछ भी लाभ नहीं होता। **सृष्टि में ऐसा कोई भी नियम नहीं पाया जाता कि एक के खाने से दूसरे की तृप्ति हो जाय। जो यहाँ कुछ नहीं करता, उस को आगे भी कुछ नहीं मिलता। अपना किया हुआ ही काम आता है।**

गंगा इत्यादि तीर्थों में स्नान और वास—गंगा आदि तीर्थों में स्नान व वास करने से पाप की निवृत्ति होती है अथवा नहीं? हमारी प्यारी सभा ने तीर्थ विषय में एक यह प्रमाण दिया है—

''सितासिते सरितौ यत्र संगते तत्र प्लुतासो दिवमुत् पतन्ति। ये

१. मनुस्मृति ४। २३९-२४१

वै तन्वा विसृजन्ति धीराः ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते। यत्र गंगा च यमुना च यत्र प्राची सरस्वती, इमम्मे गंगे यमुने इत्यादि। ''

इस वचन में जो गंगा आदि शब्द आये हैं उनको हमारी प्रिय सभा प्रसिद्ध नदियों के नाम से तीर्थ बताती है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि शब्द सित व असित (श्वेत व काला) जो आरम्भ में विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं—वही हमारी इस प्रतिष्ठित सभा के कल्पित तीर्थों को झुठलाते हैं। वास्तव में गंगा आदि से अभिप्राय श्वास यन्त्र हैं; इनको इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा भी कहते हैं। ये योगसाधन की नाड़ियाँ हैं जिन्हें योगाभ्यासी जिज्ञासु प्राणायाम व ध्यान आदि द्वारा बीच की सीढ़ियों को पार करके मन की स्वच्छता प्राप्त करते हैं और समाधिस्थ होकर परमेश्वर का साक्षात् करते हैं। विचाराधीन वचन का अभिप्राय यह है कि जहाँ दो श्वेत व काली नदियों (इडा व पिङ्गला) का मेल होता है अर्थात् अन्धकार (विषयवासना के साम्राज्य) की सीमा समाप्त होकर ज्ञान का प्रकाश आरम्भ होता है, वहाँ अद्वैत की लहरों में डुबकी लगाकर योगी लोग ब्रह्मलोक में भ्रमण करते हैं और पवित्र योगमार्ग पर चलने वाले जो अभ्यासी सांसारिक विषयों का परित्याग करते हैं, वे शाश्वत आनन्द को प्राप्त करते हैं। वास्तव में ये बड़े तीर्थ हैं जो मनुष्यों की आत्माओं को पापों से विशुद्ध करके अनन्त आनन्द प्रदान करते हैं।

लब पे बन्दो चश्म बन्दो गोश बन्द।
गर न बीनी नूरे हक बर मन बख़न्द॥[१]

तीर्थ का अर्थ है तैराने वाला यन्त्र। नदियाँ तैराने का उपकरण नहीं मानी जा सकतीं प्रत्युत यदि डुबाने वाला कहो तो उचित ही है। सत्य शास्त्रों में तीर्थ से अभिप्राय परमेश्वर, गुरु, विचार, सत्य शास्त्र, भक्ति उपासना, योग इत्यादि हैं। और वास्तव में ये ही मुक्ति के साधन हैं। फिर यदि गंगा आदि शब्दों के यौगिक अर्थों की ओर ध्यान दिया जाये तो उनसे भी हमारे विचार की पुष्टि होती है। आश्चर्य तो यह है कि उनके समानार्थक इडा, पिङ्गला, सुषम्णा के यौगिक अर्थ भी क्रमशः लगभग

१. यह किसी सूफ़ी कवि का प्रसिद्ध फ़ारसी पद्य है। इसका अर्थ यह है कि हे भक्त! तू मुख को, आँखों को, कान को बन्द करके प्रभु का ध्यान कर यदि फिर भी ज्योतिस्वरूप का तुझे साक्षात्कार न हो तो मुझ पर हँसना। 'जिज्ञासु'

वैसे ही पाये जाते हैं। यही दशा रेचक, पूरक, कुम्भक आदि शब्दों की है जो योगदर्शन में प्रयुक्त हुए हैं। उनकी व्याख्या का यहाँ कोई लाभ नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति शब्दकोशों को देखकर अपनी सन्तुष्टि कर सकता है। यह बात भी वर्णन करने योग्य है कि पुराणों के अनुसार गंगा भागीरथ के समय से चली है। भागीरथ राजा सगर की तीसरी पीढ़ी में हुआ है और वह इसे अपने पितरों की मुक्ति के लिये स्वर्ग से लाया था और अपने निश्चय में सफल हुआ। यदि इस गाथा को सच माना जाय तो दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। **एक यह कि जो लोग भागीरथ के काल से करोड़ों वर्ष पूर्व इधर-उधर मर चुके थे, उनकी क्या गति हुई? और यदि भागीरथ उसे अपने ही पितरों की मुक्ति के लिये लाया था तो उससे हमारा क्या सम्बन्ध है?**

इन मौलिक प्रश्नों का कोई उत्तर है?

दूसरा यह कि वेद जो सनातन माना जाता है उसमें गंगा शब्द उन अर्थों में जो उस पर चरितार्थ किये जाते हैं—क्योंकर प्रयुक्त हुए? सच्च बात यह है कि ये सब ढकोसले वेद-विरुद्ध हैं।

यह भी विदित हो कि विचाराधीन वचन **ऋग्वेद संहिता का है ही नहीं प्रत्युत उसके एक व्याख्यान का है।** सम्भवतः यही कारण है कि उसका अता-पता नहीं बताया गया।

हमारी प्यारी सभा ने तीर्थों के विषय में मनुस्मृति का यह श्लोक प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥[१]

हमें आश्चर्य होता है कि हमारी विदुषी सभा ने क्या समझकर इस श्लोक को तीर्थों का प्रमाण निश्चित किया है। यहाँ तो इसके विपरीत खण्डन पाया जाता है कि गंगा और कुरुक्षेत्र मत जाओ। यह वचन मनुस्मृति के आठवें अध्याय के उस स्थान का है जहाँ साक्षी के अतिरिक्त शपथ लेने व झूठ बोलने के दण्ड आदि का वर्णन है। इस श्लोक और इससे ऊपर के श्लोक में अगले पिछले श्लोकों के प्रसंग में साधारण

१. मनुस्मृति ८।८२

रूप में असत्य से बचने की प्रेरणा दी गई है। दोनों का अर्थ यह है—यदि तुम समझते हो कि मैं अकेला हूँ तो ऐसा नहीं है, क्योंकि तुम्हारे भीतर पाप व पुण्य को देखने वाला मुनीश्वर सदा विद्यमान रहता है। ऐसा जो पवित्र तेज:स्वरूप मूवक्कल [ईश्वर] तुम्हारे भीतर विद्यमान है, उसके साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं तो गंगा और कुरुक्षेत्र मत जाओ [अर्थात् उसके उपदेशानुसार चलो और झूठ न बोलो। यही मूल की बात है और गंगा आदि जाने से कुछ भी लाभ नहीं होता]।

इन बातों का धर्म से क्या सम्बन्ध है ?—वास्तव में मुख्य अभिप्राय पहले ही श्लोक में आ जाता है और फिर उसी बात को दूसरे श्लोक में दोहराना व्यर्थ था। इससे प्रतीत होता है कि यह श्लोक मनुजी का कहा हुआ नहीं प्रत्युत उस काल का प्रक्षेप है जब कि स्वार्थ अथवा भ्रान्ति से कल्पित तीर्थों व मूर्ति-पूजन आदि को प्रचलित किया गया था। यह भी विदित रहे कि इस स्थान के अतिरिक्त सम्पूर्ण मनुस्मृति में कहीं भी गंगा का नाम नहीं आया है। भला जिस अवस्था में मनुजी ने छोटी-छोटी बातों के वर्णन में श्लोक के श्लोक लिख मारे हैं तो यह कल्पित तीर्थ-यात्रा और मूर्ति-पूजन [जिसका वर्तमान में इतना प्रचार है और जिसके कारण वास्तविक धर्म हम से विदा हो गया है] उसकी दृष्टि में विहित होता अथवा उस काल में इसका प्रचलन होता तो उसके सम्बन्ध में दो-चार श्लोक लिख देना कौन-सी बड़ी बात थी? वास्तव में मनुजी ने धर्म व मोक्ष के जो सिद्धान्त लिखे हैं, उनका ऐसी बातों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

भागवत में भी इनका खण्डन—इन कल्पित तीर्थों का तो भागवत जैसे ग्रन्थ में भी खण्डन पाया जाता है, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर आये हैं, अर्थात् **जो व्यक्ति जल को तीर्थ समझता है और ज्ञानियों को नहीं वह गधा है**। फिर देखो—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मुक्तिर्वरानने॥

अर्थात् यह तीर्थ है, वह तीर्थ है—अज्ञानी व तमोगुणी लोग ऐसा कहते फिरते हैं। वे आत्मा के तीर्थ को नहीं जानते। उनकी मुक्ति क्योंकर हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।

इस विषय में अब और अधिक लिखना व्यर्थ है। केवल मनुजी का एक वचन, एक सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में नीचे लिखा जाता है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥[1]

अर्थ—जल से शरीर के अंग शुद्ध होते हैं। मन की शुद्धि सत्य से होती है। विद्या व उपासना से आत्मा पवित्र होती है। ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

यह श्लोक व्याख्या की आवश्यकता नहीं रखता। यदि गंगा-स्नान से पाप छूट सकते हैं और स्वर्ग मिल सकता है, तो उपासना आदि का कष्ट सहन करने की क्या आवश्यकता है? इधर हत्या की, चोरी की, व्यभिचार किया, उधर गंगा-स्नान किया, पवित्र हो गये और स्वर्ग में वास हो गया। पापों से छूटना तो क्या है, ऐसे विश्वास से तो उलटा पाप-कर्म करने के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। पापों का फल तो अवश्य भोगना ही पड़ता है।

आर्य का तृतीय उत्तर

अग्नि का अर्थ परमेश्वर भी है—**अग्निमीळे** इत्यादि।

हमारी प्यारी सभा कहती है कि इस मन्त्र में जो अग्नि शब्द आया है उससे जलाने वाली आग अभिप्रेत है, ईश्वर नहीं, पन्तु इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया गया कि यह शब्द कहीं भी परमेश्वर के अर्थों में नहीं आया है। यहाँ भी वही रथकार वाली युक्ति दी गई है, जिसका ऊपर खण्डन किया जा चुका है। हमारी समझ में तो जैसा प्रसंग होता है, वैसा ही अर्थ लिया जाता है। कोई निश्चित नियम लागू नहीं किया जा सकता कि सर्वत्र रूढ़ि अर्थ लिये जायें। अथवा सब स्थानों पर यौगिक अर्थ ही लिये जायें प्रत्युत व्याकरण में प्राय: उन अर्थों को प्राथमिकता दी जाती है जो व्याकरण के नियमों के अनुसार हों। अग्नि शब्द के रुढ़ि व यौगिक दोनों अर्थ लिये जाते हैं। इस शब्द के विषय में स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने अपने पुस्तक भ्रान्ति-निवारण और अन्य पुस्तकों में इतने विस्तार के साथ विवेचन किया है कि उससे सचाई का भली-भाँति प्रकाश हो जाता है। उस विवेचन को यहाँ दोहराना व्यर्थ है क्योंकि हमारी सभा ने

१. मनुस्मृति ५।१०९

उसका खण्डन नहीं किया। केवल एक-दो प्रमाण लिख देना ही पर्याप्त होगा—

अग्निर्द्रविणोदा-अश्वो-वायुः श्येनोऽश्विनौ षट् इति।[१]

अर्थात् अग्नि आदि छह शब्द ब्रह्म के पर्याय हैं।

ब्रह्म ह्यग्निः[२], **आत्मा वाग्निः।**[३]

आर्य का चौथा उत्तर

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः ज्यातिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।

इस वचन से हमारी प्यारी सभा यह सिद्ध करना चाहती है कि अग्निहोत्र आदि होम कर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है। यहाँ यदि स्वर्ग से अभिप्राय सुख-प्राप्ति है जैसा कि कोश में इस शब्द के अर्थ हैं तो हमें भी यह मान्य है, परन्तु यदि इससे कोई कहे कि यहाँ पौराणिक कल्पित विश्राम-स्थली अभिप्रेत है जहाँ अप्सरायें व सुन्दर लड़के (हूरें व ग़िल्मां) निवास करते हैं और जो विषय-वासना की तृप्ति का केन्द्र है तो इसको हम स्वीकार नहीं कर सकते। होम आदि से एकदम मुक्ति नहीं हो सकती। हाँ, यदि यह कहो कि होम से वायु और जल की शुद्धि और इस शुद्धि से नीरोगता और नीरोगता से सुख उत्पन्न होता है अथवा वेद-मन्त्र होम के अवसर पर बोले जाते हैं उनसे उपासना और प्रार्थना तथा प्रार्थना व उपासना से ईश्वर-प्राप्ति होती है तो निःसन्देह क्रमशः यह मुक्ति का कारण हो सकता है अथवा आत्मिक होम—अर्थात् इन्द्रियों का होम मन में और मन का आत्मा में और आत्मा का परमात्मा में जैसा कि सत्यशास्त्रों का मत है।

आर्य का पञ्चम उत्तर

वेद-निन्दक कौन?

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कोटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥[४]

अर्थात् पढ़े हुए वेद का भूल जाना, वेद की निन्दा करना, झूठी साक्षी

१. निघण्टु अध्याय ५। २. शतपथ० १।२।११।
३. शतपथ० २।३।२ ४. मनुस्मृति ११।५६

देना, मित्र को पीड़ा पहुँचाना, निन्दित व अभक्ष्य पदार्थों का खाना, सुरापान—ये छह समान पातक हैं। हमारी सत्यान्वेषिणी सभा कहती है कि जो पाप मद्यपान करने वाले को होता है, वही पाप वेद-निन्दक को होता है। यह मान लिया—यह बुद्धि के अनुकूल बात है, परन्तु पता तो इस बात का करना है कि **वह वेद का अपमान करने वाला है कौन?** क्या स्वामी दयानन्द सरस्वती अथवा उनके विरोधियों का जमघट? इस बात का निर्णय करने के लिये यह आवश्यक है कि दोनों पक्षों के कुछ वचनों का यथार्थ रूप में उल्लेख किया जाय।

दोनों वेद को प्रामाणिक मानते हैं—विदित हो कि दोनों पक्ष वेद को प्रामाणिक व ईश्वरीय वाणी मानते हैं। विवाद तो यह है कि स्वामी दयानन्द केवल संहिता को वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों को उनके व्याख्यान कहते हैं। हमारी प्यारी सभा दोनों को सामूहिक रूप में वेद मानती है। स्वामी जी कहते हैं कि वेद में मूर्ति-पूजन, और परमेश्वर के अवतारों तथा मृतकों के श्राद्ध एवं गंगा आदि तीर्थों का कुछ उल्लेख नहीं है, प्रत्युत उनका प्रतिवाद पाया जाता है। हमारी प्रिय सभा इन बातों को वेदोपदेश से जोड़ती है तथा **शिवलिङ्ग, शालिग्राम आदि की पूजा को एक सिद्धान्त बताती है।**

ऋषि दयानन्द क्या सिखाते हैं?—स्वामी जी वेद के सिद्धान्त के अनुसार ईशोपासना सिखाते हैं और हमारी प्रिय सभा प्रकृति पूजा की शिक्षा देती है। स्वामी जी वेद को स्वतः प्रमाण व अन्य ग्रन्थों को परतः प्रमाण मानते हैं और हमारी प्रिय सभा समस्त शास्त्रों व अन्य ग्रन्थों को वेद सरीखा (वेद के समान) मानती है। स्वामी जी समस्त धार्मिक व सामाजिक विषयों में बुद्धि का हस्तक्षेप समुचित मानते हैं और हमारी प्यारी सभा बुद्धि के पाँवों में शास्त्राज्ञा की बन्धन रूपी कड़ियाँ डाले रखना चाहती है। स्वामी जी कहते हैं कि वेद के पठन-पाठन का समस्त मानव जाति को समान अधिकार है और हमारी प्रिय सभा इसे अपनी निजी पैतृक सम्पदा समझती है। इन सब बातों पर ऊपर सविस्तार विचार हो चुका है और यहाँ उसको दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अब हम इस बात का निर्णय कि वेद का अपमान करने का दोषी कौन ठहरता है, अपने न्यायप्रिय पाठकों पर ही छोड़ते हैं और इस विषय को इस प्रार्थना के साथ समाप्त करते हैं कि हे परमात्मन्! तू अपनी महती

कृपा से समस्त मानवजाति को तथा विशेष रूप से भारतवर्ष को **बुद्धि की वह ज्योति प्रदान कर जिसके लिये तेरे वेद के बीज-मन्त्र गायत्री में प्रार्थना की गई है ताकि अज्ञानता व अनेकेश्वरवाद का अन्धेरा दूर होकर तेरे ईश्वरत्व व एकेश्वरवाद का प्रकाश प्रस्फुटित हो** तथा उलझे हुए विचारों और कल्पित भ्रमों के स्थान पर एकता व सचाई की तरंगें मन में उठें। ओ३म् शम्—**सीन०**[१]

एक सामान्य निष्कर्ष

इस सभा के आयोजन का समाचार सुनकर हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी। हमें आशा थी कि वह यथा नाम तथा गुण सिद्ध होगी। दूध का दूध और पानी का पानी कर दिखायेगी। वेदशास्त्रों के अतिसूक्ष्म प्रश्नों का समाधान करेगी, जिसका परिणाम इस रोगग्रस्त देश की दयनीय दशा के लिये स्वास्थ्यप्रद व रोगनिवारक सिद्ध होगा। यही विचार था कि आर्यधर्म की उन्नति व दृढ़ता के लिये कोई बुद्धियुक्त सुझाव देगी जिससे हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों की कीर्त्ति व प्रसिद्धि का नगाड़ा फिर से बजेगा और उनके निष्प्राण वंशजों में पुनः नवजीवन का सञ्चार होगा। हमारी ये आशायें व धारणायें कुछ भी अनुचित नहीं थीं, क्योंकि यह कब अनुमान लगाया जा सकता था कि इतनी बड़ी सभा केवल **एक व्यक्ति के वचनों के खण्डन के लिये ही बुलाई गई है तथा उसमें सच्चे धर्म तथा जातीय सुधार पर विचार-विमर्श तक नहीं होगा।**

सब आशायें मिट्टी में मिल गईं—परन्तु हाय रे भारत की दुर्दशा! हम तो कुछ समझे थे, वह सब ग़लत सिद्ध हुआ। सभा की कार्यवाही देखकर हमारी सब आशायें टूट गईं। पहले-पहले तो हम कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इस सभा की कार्यवाही के कुछ समाचार पढ़ते रहे, परन्तु कोई विशेष सम्मति बनाने के लिये सामग्री नहीं मिली। वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिये हमारी उत्सुकता पूर्ववत् बनी रही कि इतने में अकस्मात् 'आर्य-दर्पण' मासिक शाहजहाँपुर हमारी दृष्टि से निकला। उसमें हमारी सत्यान्वेषणी सभा की सारी कार्यवाही का निष्कर्ष प्रकाशित हुआ है। हम गद्गद् हो गये। बड़े ध्यान से इसे पढ़ा। हम आश्चर्यचकित

१. पुस्तक में कहीं भी लेखक तो अपना नाम नहीं दिया। उर्दू के इस सीन अक्षर (स) से लेखक का नाम साईंदास अभिप्रेत है। —'जिज्ञासु'

रह गये कि तीन सौ प्रकाण्ड पण्डितों की सभा और यह कार्यवाही! उलट-पुलट कर देखा तो कुछ ऐसे विद्वानों द्वारा पुष्टि पाई गई जिनके पाण्डित्य का एक ज़माना कायल है और जिनके बारे में हम भी कुछ-कुछ जानते हैं, फिर तो और भी दंग रह गये। एक प्रकार से हम स्तब्ध से रह गये। **अन्ततः कुछ सम्भले, बुद्धि ने समझाया कि विद्वत्ता और बात है, और सच्चाई की पहचान और बात है। प्रसिद्धि और बात है, और सत्यनिष्ठा और ही बात है।** भारत में किसी प्रस्ताव अथवा व्यवस्था पर हस्ताक्षर करवा लेना कुछ बड़ी बात नहीं और विशेषरूप से ऐसी सभा के प्रस्तावों पर जिसमें जाति के नेताओं की इतनी बड़ी संख्या सम्मिलित हो। वास्तव में किसी निर्णय अथवा प्रस्ताव को उसकी वास्तविकता व सारी कार्यवाही पर विना विचार किये केवल बड़े-बड़ों के हस्ताक्षर देखकर स्वीकार कर लेना सर्वथा भूल (पाप) है। ठीक-ठीक निष्कर्ष तो तभी निकल सकता है जब कि उसके सच, झूठ और गुण-दोषों के विषय में सब पहलुओं पर विचार करके अपनी सम्मति दी जाय।

इस सभा की आवश्यकता ही क्या थी?

सभा की कार्यवाही देखकर इस अभागे देश के भविष्य के सम्बन्ध में कई प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और जिन देश-भक्तों को अपने देश व जाति की भलाई की कुछ भी चिन्ता है वे निःसन्देह हमारे साथ सहमत होंगे कि केवल एक व्यक्ति के विचारों के प्रतिवाद के लिये **पुष्कल धन व्यय करके तीन सौ पण्डितों की सभा का आयोजन करने की क्या आवश्यकता थी?** क्या प्रतिमा-पूजन कहीं भाग चला था कि उसके लिये इतनी भाग-दौड़ की गई? वह कहाँ भाग सकता था? उसके लिये भारत से बाहर स्थान भी कहाँ है? वह (मूर्त्ति-पूजा) तो भारत की हड्डियों में रच गई है। यदि उसकी चिन्ता थी तो वह तो घर पर बैठे भी हो सकती थी जैसे कि अन्य लोग कर रहे हैं।

देश जाति के लिये क्या किया?

हम पूछते हैं कि देश व जाति की भलाई व सुधार के लिये इस सभा ने क्या कार्य किया? और यदि इतनी बृहत् सभा ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया तो इस अभागे देश की दुर्दशा पर अश्रुपात करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। ऐ वृद्ध भारत माता! जब तेरे पुत्रों की इतनी बड़ी

विद्वत् सभा ने तेरे कल्याण के लिये कोई उपाय नहीं सोचा और तेरे बुढ़ापे पर दया नहीं की तो अब तेरे लिये क्या आशा शेष बची रही? हे भारत माता! किसी समय तू बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों की माँ थी जिनके लिये जगत् पिता की आज्ञा का पालन व तेरा हितचिन्तन ही दृष्टिगत रहता था। हाय! वे तेरे प्यारे बच्चे कहाँ गये? जो तेरी पीड़ा को तनिक भी सहन नहीं कर सकते थे और जिन पर तू आज पर्यन्त अभिमान कर रही है? वह युग कहाँ गया जब तेरे सत्यनिष्ठ व पवित्र पुत्र ब्रह्म विद्या की सूक्ष्म बातों, ब्रह्माण्ड के रहस्यों व मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या करने व समझाने, बताने में अपना अमूल्य समय लगाया करते थे तथा एक सच्चिदानन्द सर्वशक्तिमान् परमात्मा के अतिरिक्त किसी और के सामने शीश नहीं झुकाते थे। क्या तू अब आर्यावर्त्त नहीं रही? कुछ और बन गई है? प्रकट रूप में तो अवस्था के परिवर्तन के कोई लक्षण नहीं दीख रहे फिर क्या समझा जाय? यह मौत-सी क्यों छा गई है।

ब्रह्मविद्या का स्थान मूर्त्तिविद्या ने ले लिया।

ब्रह्मविद्या के स्थान पर यह मूर्त्तिविद्या कहाँ से आ गई? वेद के स्थान पर इन झूठे किस्से-कहानियों का प्रचलन क्योंकर हो गया? योग-सागर की तरङ्गों के स्थान पर ये नदियों की धारें क्योंकर नाजी (मुक्तिदाता) बन गईं? जीवित पितरों की आज्ञा का पालन व सेवा-शुश्रूषा तजकर यह मृतकों का पूजन कहाँ से निकल आया? हाय प्यारे आर्यावर्त्त! इसमें तेरा कोई दोष नहीं। तू तो वही है जो पहले था। यह सारा दोष तेरे कृतघ्न, अवज्ञाकारी पुत्रों का है जो तेरी ईश्वरीय देनों, प्राकृतिक उपहारों तथा ईश्वरप्रदत महिमा पर अभिमान के कारण मार्ग भ्रष्ट हो गये तथा कला कौशल एवं सद्धर्म को तजकर व्यर्थ की बातों में पड़ गये। यह सारी गड़बड़ ईश्वरीय देन से विमुख होने का ही परिणाम है। फिर अब क्या होगा? क्या यह तेरा बुढ़ापा रोने-धोने में ही व्यतीत होगा? नहीं, निराश मत हो। करुणासागर की करुणा कष्ट के पश्चात् अवश्य बरसती है। बिगाड़ के पश्चात् सुधार भी होता है। शुद्ध-पवित्र पालक प्रभु ने तेरे बुढ़ापे पर—निर्बलता पर दया करके तेरे प्राचीन वैभव व कीर्ति की पुन: स्थापना के लिये तेरी सन्तान में से एक योगी महर्षि जन उत्पन कर दिया है और यह तेरा वह सौभाग्यशाली सुपूत इस बात के लिये समर्पित है कि यदि

आवश्यकता पड़ी तो ब्रह्मलोक से अमृत की गंगा लाने को भी तत्पर है। यद्यपि उसके मार्ग में कई रुकावटें हैं, परन्तु वह नर-नाहर घबराने वाला नहीं। इसके अतिरिक्त वर्तमान सरकार का शासनकाल भी तेरे लिये एक ईश्वरीय कृपा का उदाहरण सिद्ध हुआ है जिसने तेरी मरुभूमि में शान्ति व स्वतन्त्रता की नदी प्रवाहित कर दी है[१], परन्तु स्मरण रहे कि अन्तत: इन सब बातों से लाभान्वित होना तेरी सन्तान का ही काम है।

ऋषि दयानन्द का दोष है तो बस यह—मैं चकित हूँ कि तेरे बच्चे दयानन्द से क्यों घबराते हैं? और काल की चाल को क्यों नहीं समझते। समय तो गिरगिट के समान रंग बदलता है और काल की गति के साथ अपनी गति भी न बदली जाय तो तिरस्कार विनाश के अतिरिक्त और क्या परिणाम हो सकता है? शिक्षा ने विश्वास-मान्यतायें बदल दी हैं। लोग प्रचलित धर्म से दूर हो गये हैं और इसे छोड़ते जा रहे हैं और वेद-शास्त्र का परित्याग कर रहे हैं। ऐसे समय में यदि दयानन्द का कोई दोष है तो बस यह कि वह उनको पुन: सनातन वेदोक्त धर्म की ओर लाया है और ला रहा है। क्या यह अपराध ऐसा है कि इस कारण से उसके विरुद्ध अधर्मी होने की व्यवस्था दी जाय?

सृष्टि-नियम अटल—ये नहीं बदलेंगे—ऐ आर्यावर्त्त के पुत्रो! आओ तुम सृष्टि के नियमों व मर्यादा को समझो। सृष्टि का विधि-विधान व व्यवस्था तो बदल नहीं सकते और न तुम्हारे लिये यह बदला जा सकता है। जिस नींव पर (जिन कारणों से) तुम्हारा पतन हुआ है, उसी नींव पर (उन कारणों व दोषों के रहते हुए) तुम्हारा फिर से उत्थान नहीं हो सकता। वह नींव तो खोखली हो चुकी है। उससे तो तुम्हारा सङ्कट बना ही रहेगा। आओ! समझो! उस नींव को जड़ से उखाड़कर उसके स्थान पर नई नींव पर निर्माण करो और फिर उस पर एक भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है। वह नई नींव है सद्धर्म। इसी सद्धर्म पर आत्मिक शक्तियों का विकास सम्भव है और आत्मिक शक्तियों की उन्नति के विना कोई भी राष्ट्र व जाति हरे-भरे नहीं हो सकते। सृष्टि-नियन्ता ने (परमेश्वर ने) आत्मा को प्रकृति पर प्रभुत्व प्रदान कर रखा है। आत्मा शासक है

१. यहाँ अंग्रेज़ी राज में—मुसलमानी शासन की तुलना में धार्मिक स्वतन्त्रता को वरदान व शुभ अवसर बताया गया है। —'जिज्ञासु'

और प्रकृति शासित (जड़ होने से)। शासक व शासित में परस्पर का एक विशेष सम्बन्ध होता है। जब इस सम्बन्ध में परस्पर का व्यवहार अच्छा नहीं होता तो व्यवस्था में गड़बड़ होती है तथा यह विघ्न विनाश व पतन का कारण है। जहाँ आत्मा शासक बनने की बजाय शासित (प्रजा) बनी हुई है, वहाँ तनिक दृष्टि डालकर तो देखो कि क्या-क्या बिगाड़ हो रहे हैं। स्मरण रखिये कि प्रकृति की पूजा से आत्मा में कदापि राजकीय शान्ति उत्पन्न नहीं हो सकती प्रत्युत वह तो दीनहीन, विना मीत-बन्धु व सहायक, पंखविहीन डोलती फिरती रहती है।

देव-असुर संग्राम चलता रहता है—देव-असुर संग्राम, अर्थात् विद्या और अविद्या का संघर्ष सदा से चला आता है। जहाँ विद्या की प्रमुखता है, वहाँ स्वतन्त्रता व समृद्धि है। जहाँ अविद्या का हस्तक्षेप है, वहाँ बिगाड़ व दुर्दशा है। भारत में अविद्या अधिक है, और इस कारण दु:ख अधिक है। आजकल अविद्या व विद्या में बहुत संग्राम हो रहा है। लम्बे समय से विद्या परास्त होकर अविद्या की दासी बन गई थी अब उसने कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त कर फिर से सिर उठाया है। यद्यपि अविद्या अपने पुराने दास को (अधीनस्थ को) अपने नियन्त्रण में रखने के लिये बहुत कुछ हाथ-पाँव मार रही है, परन्तु विद्या प्रबल हो रही है, उसको प्रबल समर्थन प्राप्त है। अब वह उसके वश में नहीं रही। विद्या प्रत्येक कार्य में सन्तुलन चाहती है तथा संयत रहना नीति का एक स्वर्णिम सिद्धान्त है। यह लौकिक व पारलौकिक बरकतों (वरों) की खान है। अज्ञानता का आधिक्य व ज्ञान का अभाव हैं और ये दोनों बुरे हैं—अभिशाप हैं। यद्यपि कई बार जोश से भी महान् कार्य सिद्ध होते हैं, परन्तु उत्तेजना की यह विशेषता है कि वह दूध के उबाल के समान प्राय: चुपके-सा बैठ जाया करता है और उसमें भय भी होता है। कभी-कभी प्रतिपक्षी को जोश के कारण अनुचित उत्तेजना होती है, जिससे कई बार सुधार कार्य की बहुत क्षति होती है। बड़े-बड़े कार्य अधूरे रह जाते हैं अथवा उनके सम्पन्न होने में वर्षों का विलम्ब हो जाता है। कभी-कभी यह होता है कि जैसे नदी की बाढ़ दूर-दूर तक खेतों को सींच कर उसमें शक्तिवर्द्धक तत्त्व छोड़ जाती है, वैसे ही जोश जाति में नवजीवन का सञ्चार कर जाता है तथापि जातीय जोश हो अथवा धार्मिक उत्तेजना—ये सब बुद्धि द्वारा संयत होने चाहियें। प्रत्येक कार्य में अनुचित व्यवहार

दु:ख का अग्रगामी होता है। यदि पुण्य भी अनुमान से बाहर निकल जाय और अनुचित ढंग से असामयिक होगा तो बिगाड़ ही पैदा करता है।

दान की दुर्गति से पाप ही बढ़ा—हम दान के विरोधी नहीं, परन्तु जिस प्रकार से हमारे देश में दान-पुण्य किया जाता है, वह बहुत कुछ दान का अनुचित व्यवहार है। देश के करोड़ों रुपये आपत्तिजनक कार्यों व ऐसे लोगों के पालन में व्यय किये जाते हैं जिनके जीवन से देश को किञ्चित् भी लाभ नहीं पहुँचता। यदि वही धन विद्या, कला-कौशल व लोकोपकार के कार्यों में व्यय किया जाय तो देश की शोभा भी हो और दान-पुण्य का प्रयोजन भी सिद्ध हो। आम के आम गुठली के दाम।

सत्याचरण से उत्थान—सत्यभाषण—सदाचार जाति का उत्थान करता है। कुटिलता पतन के गर्त में डालती है। भारत में सत्याचरण थोड़ा है, इसलिये देश की दुर्दशा है। छल-कपट व झूठ से आत्मा अपवित्र होती है और मलिन आत्मा देश पर एक धब्बा है और उससे शरारत व गड़बड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। जो स्वयं अपवित्र हैं, वे औरों को श्रेष्ठ व पवित्र नहीं बना सकते। भलाई वे ही कर सकते हैं, जिनके हृदय ज्योतित हैं। अविद्या की धाँधलियों पर वे ही विजय प्राप्त कर सकते हैं, जिनमें धीरज है। घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। स्नेह से घृणा दूर होती है। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है और इस नियम के अनुसार यद्यपि भारत की अवस्था इस समय अत्यन्त शोचनीय है, परन्तु अभी अन्तिम श्वास शेष बचे हैं और उसके मुख से धीरे-धीरे यह अवाज़ आ रही है, "पुत्रो! रोगी माता की सुधि लो। अभी वह जीवित है। उसके प्रयोग के लिये प्रेम व सत्याचरण का सुखदायक च्यवनप्राश तैयार करो ताकि उसके सेवन से स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करके तुम्हें आशीर्वाद दे।" प्रेम व सत्याचरण निश्चय से धर्म व नैतिकता की जान है और उसके विना कभी भी किसी जाति को सच्चा बड़प्पन व सच्चा जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग छोटी-छोटी बातों पर रुष्ट अथवा तुष्ट हो जाते हैं, प्रतिक्षण रंग बदलते रहते हैं, पेट के हल्के हैं, किसी बात को पचा नहीं पाते, थोड़ी-सी निन्दा या कष्ट मिलने पर झट उछल पड़ते हैं—उनसे क्या आशा की जा सकती है। और वे सुधार की बात कह ही क्या सकते हैं। महान् कार्य महान् साहसी आत्माओं के भाग्य में ही होते हैं। झट से क्रोधित हो जाना, चित्त की चञ्चलता, साहस का अभाव तो बच्चों, बूढ़ों, रोगियों व निर्बलों के

लक्षण हैं।

सुधार व बिगाड़ की दो शक्तियाँ—धर्म, नैतिकता व सामाजिक दृष्टि से भारत की अवस्था डाँवाडोल है। ऐसी स्थिति में सुधार और बिगाड़ दोनों की सम्भावना है। इस समय परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों की दो प्रबल शक्तियाँ आगे बढ़ रही हैं और अपना-अपना प्रभुत्व जमा रही हैं। इधर तो सुधार की धूमधाम है और उधर बिगाड़ ने शोर मचा रखा है। सुधार सच्चे विश्वास व सच्ची सभ्यता का सन्देश दे रहा है। बिगाड़ मतान्धता, पूर्वाग्रह व झूठे विश्वास के चक्कर में रखना चाहता है। सुधार-आन्दोलन के कारण सतीत्व, शुद्धाचरण, संयत जीवन की सत्प्रेरणा हो रही है। बिगाड़ की छत्रछाया में दुराचार, दुष्कर्म, सुरापान एक भयानक गति से बढ़ते जा रहे हैं। इधर विद्या-ज्ञान से मन व मस्तिष्क आलोकित हो रहा है, उधर भंग, चरस, गाँजा, चण्डू इत्यादि के सेवन से आत्मिक शक्तियाँ भीतर ही भीतर सड़ती चली जाती हैं। इधर निर्दयता, कृतघ्नता, छल-कपट, अहंकार, विश्वासघात, दुर्भावना, उपेक्षा, दिल दुखाने आदि दुर्गुणों का प्रभुत्व हो रहा है, तो उधर करुणा, सत्यनिष्ठा, सच्चाई, सरलता, विश्वसनीयता, सद्भावना, सहानुभूति, सहृदयता की नन्हीं-नन्हीं और मीठी-मीठी तान सुनाई दे रही है। सुधार संघर्ष पर आश्रित है। बिगाड़ का यह स्वभाव है कि स्वयं ही बढ़ता चला जाता है। यह एक विचित्र उधेड़बुन तथा भय एवं आशा की स्थिति है, जिसमें जाति डाँवाडोल हो रही है।

२८

उपदेश मञ्जरी

[स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा ४ जुलाई १८७५ से ४ अगस्त १८७५ तक पूना में दिये गये व्याख्यानों में से पन्द्रह व्याख्यानों का संग्रह]

ग्रन्थ परिचय

महर्षि दयानन्द ने पूना में १५ व्याख्यान दिये थे, जिन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक का नाम **'उपदेश मंजरी'** है। बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना करने के पश्चात् महर्षि पूना गये, जहाँ उन्होंने **२० जून से ५ सितम्बर १८७५ तक** निवास किया था। इसी दौरान उन्होंने ये **१५ व्याख्यान** दिये थे।

विभिन्न शोधों के आधार पर ज्ञात होता है कि महर्षि ने इस दौरान **कुल ५४ व्याख्यान** दिये थे, परन्तु संकलन केवल **१५ व्याख्यानों** का ही हो पाया था। प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक महर्षि संस्कृत में बोलते रहे थे, परन्तु बाद में उन्होंने हिन्दी भाषा में बोलने का अभ्यास कर लिया था। इन दिनों भी उनका हिन्दी में बोलने का अभ्यास हो चुका था। अतः ये व्याख्यान हिन्दी में होने से पुस्तक भी हिन्दी भाषा में है।

महर्षि ने जब ये व्याख्यान दिये, तब उनकी रिपोर्ट प्रतिदिन स्थानीय **मराठी समाचार-पत्रों में छपती थी।** बाद में, मराठी भाषा से ही इनका **हिन्दी में रूपान्तरण** करके पुस्तक के रूप में छापा गया था। एक सूचना के अनुसार इनका मराठी भाषा में अनुवाद पूना हाई स्कूल के सहायक **मुख्याध्यापक श्री गणेश जनार्दन आगाशे** ने किया था। तत्पश्चात् इनका संग्रह और सम्पादन **श्री महादेव गोविन्द रानाडे** जैसे विद्वान् ने किया। इसके पश्चात् एक महाराष्ट्र ब्राह्मण **श्री पं० गणेश रामचन्द्र** ने भी इनका हिन्दी भाषा में अनुवाद किया था। इन व्याख्यानों का सर्वप्रथम प्रकाशन **आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने** करवाया था। वैसे इससे पहले महर्षि के जीवनकाल में ही **दिसम्बर, सन् १८८१ से पूर्व, गुजराती भाषा में 'स्वामी दयानन्द सरस्वती नु भाषण'** नाम से उपर्युक्त **मराठी संस्करण** का प्रकाशन हो गया था।

महर्षि ने ये व्याख्यान भिन्न-भिन्न विषयों पर दिये थे। इनकी सूची इस प्रकार है—

१. ईश्वर सिद्धि—दिनाँक ४ जुलाई, सन् १८७५ ई०, रविवार (आषाढ़ सुदी प्रतिपदा, विक्रमी संवत् १९३२)।

२. ईश्वर सिद्धि का वाद-विवाद—६ जुलाई, सन् १८७५ ई०, मंगलवार (आषाढ़ सुदी ४ विक्रमी संवत् १९३२)।

३. धर्माधर्म—८ जुलाई, सन् १८७५ ई०, बृहस्पतिवार (आषाढ़ सुदी ६, विक्रमी संवत् १९३२)।

४. धर्माधर्म विजय पर शंका-समाधान—१० जुलाई, सन् १८७५ ई० शनिवार (आषाढ़ सुदी ८ विक्रमी संवत् १९३२)।

५. वेद—१३ जुलाई, सन् १८७५ ई०, मंगलवार (आषाढ़ सुदी १०, विक्रमी संवत् १९३२)।

६. पुनर्जन्म—१७ जुलाई, सन् १८७५ ई०, शनिवार (आषाढ़ सुदी १४, विक्रमी संवत् १९३२)।

७. यज्ञ और संस्कार—२० जुलाई, सन् १८७५ ई०, मंगलवार (श्रावण बदी २, विक्रमी संवत् १९३२)।

८-१३. इतिहास—क्रमशः २४, २५, २७, २९ व ३१ जुलाई एवं २ अगस्त, १८७५ ई०।

१४. नित्य कर्म और मुक्ति—३ अगस्त, सन् १८७५ ई०।

१५. स्वयं कथित जीवनचरित—४ अगस्त, १८७५ ई०।

यहाँ इतिहास शब्द से सामान्य अर्थ से भिन्न अर्थ लिया गया है। महर्षि के अनुसार, **'इतिहासो नाम वृत्तम्'** इतिवृत्त अर्थात् अतीत के वर्णन को इतिहास कहा जाता है। इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आज के समय तक चला आता है। इस अर्थ के आधार पर महर्षि ने **'जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया ?'** जैसे दार्शनिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन सांख्यदर्शन, वेद-मन्त्रों एवं उपनिषदों के आधार पर स्पष्ट एवं बहुत सुन्दर प्रकार से किया है। (सम्पादक)

विस्तृत-विषय-सूची

क्रम सं० विवरण पृष्ठ सं०

ओ३म्

उपदेश मञ्जरी

प्रथम उपदेश

(ईश्वर-सिद्धि-विषयक)

[स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पूना बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में तारीख ४ जौलाई सन् १८७५* के दिन रात्रि समय में जो व्याख्यान दिया था, उसका सारांश निम्नलिखित है—]

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥[१]

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। [ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥][२]

[इत्यादि[३] पाठ स्वामीजी ने प्रथम कहा—]

'ओ३म्' यह ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम है, क्योंकि इसमें उसके सब गुणों का समावेश होता है।

प्रथम हमें ईश्वर की सिद्धि करनी चाहिए, उसके पश्चात् धर्म-प्रबन्ध का वर्णन करना योग्य है, क्योंकि ''**सति कुड्ये चित्रम्**'' इस न्याय से जब तक ईश्वर की सिद्धि नहीं होती तब तक धर्म-व्याख्यान करने का अवकाश नहीं है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥[४]

---

* आषाढ़ शुक्ला १, रविवार वि० सं० १९३२।

१. ऋग्वेद १। ९०। ९॥ २. तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षावल्ली १। १॥

३. आदि पद से सूचित शेष मन्त्र पाठ कोष्ठक में दे दिया गया है।

४. यजुः० ४०। ८॥

न तस्य कार्यं करणं च [विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।] परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च[१] ॥

[ये वाक्य कहकर स्वामीजी ने इनकी व्याख्या की।]

मूर्त्त देवताओं में ये गुण नहीं लगते। इसलिए मूर्त्ति-पूजा निषिद्ध है। इस पर कोई ऐसी शङ्का करते हैं कि रावणादिकों के सदृश दुष्टों का पराभव करने के लिए, भक्तों को मुक्ति देने के अर्थ [ईश्वर को] अवतार लेना चाहिए; परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् है; इससे अवतार की आवश्यकता दूर होती है, क्योंकि इच्छा मात्र से वह रावण [जैसों] का नाश तो कर सकता था। इसी प्रकार भक्तों को उपासना करने के लिए ईश्वर का कुछ आकार होना चाहिए, ऐसा भी बहुत से लोग कहते हैं; परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि शरीर-स्थित जो जीव है, वह भी आकार-रहित है, यह सब कोई मानते हैं अर्थात् वैसा आकार न होते भी हम परस्पर एक दूसरे को पहिचानते हैं, और प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्यबुद्धि [अदृष्ट] मनुष्य के विषय में रखते हैं। उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं हो सकता, यह कहना ठीक नहीं है। इसके सिवाय मन का आकार नहीं है, मन द्वारा परमेश्वर ग्राह्य है, उसे जड़ेन्द्रिय-ग्राह्यता लगाना यह अप्रयोजक है।

श्रीकृष्णजी एक भद्र पुरुष थे। उनका महाभारत में उत्तम वर्णन किया हुआ है, परन्तु भागवत में उन्हें सब प्रकार के दोष लगाकार उनके दुर्गुणों का ढिंढोरा पीटा है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इस शक्तिमान् का अर्थ क्या है? ''**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**'' ऐसी शक्ति से तात्पर्य नहीं है; किन्तु सर्वशक्तिमान् का अर्थ न्याय न छोड़ते हुए काम करने की शक्ति रखना, यही सर्वशक्तिमान् से तात्पर्य है। कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर ने अपना बेटा पाप-मोचनार्थ जगत् में भेजा, कोई कहते हैं कि पैगम्बर को उपदेशार्थ भेजा, सो यह सब कुछ करने की परमेश्वर को कुछ भी आवश्यकता न थी; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है।

बल, ज्ञान और क्रिया ये सब शक्ति के प्रकार हैं। बल, ज्ञान और क्रिया अनन्त होकर स्वाभाविक भी हैं। ईश्वर का आदि कारण नहीं है।

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ६। ८॥

आदि कारण मानने पर अनवस्था-प्रसंग आता है। निरीश्वरवाद की उत्पत्ति सांख्यशास्त्र से हुई प्रतीत होती है, परन्तु सांख्य-शास्त्रकार कपिल मुनि निरीश्वरवादी न थे। उनके सूत्रों का आधार लेकर कपिल निरीश्वरवादी थे, ऐसा कोई कहते हैं; परन्तु उन के सूत्रों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं किया जाता। वे सूत्र निम्नलिखित हैं—

ईश्वरासिद्धेः। मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।

उभयथाप्यसत्करत्वम्। मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासादिसिद्धस्य वा।[१] इत्यादि।

परन्तु सूत्रसाहयर्च से विचार करने पर ईश्वर एक ही है, दूसरा ईश्वर नहीं है, ऐसा भगवान् कपिल मानते थे, क्योंकि '**पुरुष है**' ऐसा उनका सिद्धान्त था। वही पुरुष सहस्र-शीर्षादि सूक्तों[२] में वर्णन किया हुआ है। उसी के सम्बन्ध से **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्**[३] इत्यादि कहा हुआ है।

प्रमाण बहुत प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इत्यादि। भिन्न-भिन्न शास्त्रकार प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या मानते हैं।

मीमांसा-शास्त्रकार जैमिनिजी दो प्रमाण मानते हैं। गौतम न्याय-शास्त्रकार आठ, कोई-कोई अन्य न्याय-शास्त्रकार चार, पतञ्जलि योग-शास्त्रकार तीन प्रमाण, सांख्य-शास्त्रकार तीन, वेदान्त ने तो छः प्रमाण स्वीकार किए हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न संख्या मानना, यह उस-उस शास्त्रकार के विषयानुरूप है। सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव करके तीन प्रमाण अवशिष्ट रहते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

इन तीन प्रमाणों को लापिका[४] कर ईश्वरसिद्धि-विषयक प्रयत्न करते समय प्रत्यक्ष की लापिका करने से पूर्व अनुमान की लापिका करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष का ज्ञान बहुत ही संकुचित और क्षुद्र है। एक व्यक्ति के इन्द्रिय द्वारा कितना ज्ञान हो सकता है? अर्थात् बहुत ही थोड़ा हो सकता है। इससे प्रत्यक्ष को एक ओर रख-कर शास्त्रीय विषयों में अनुमान प्रमाण ही विशेष गिना गया है। व्यवहार के लिए अनुमान

१. सांख्य १। ९२, ९३, ९४, ९५,॥
२. सहस्रशीर्षा सूक्त० ऋग्० १०। ९०, यजुः ३१॥
३. यजुः ३१। १८॥
४. 'लापिका' मराठी शब्द है, इसका अर्थ है—आलाप=विचार।

आवश्यक है। अनुमान के विना भविष्य के व्यवहारों के विषय में हमारा जो दृढ़ निश्चय रहा है, वह निरर्थक होगा। कल सूर्य उदय होगा, यह प्रत्यक्ष नहीं तथापि इस विषय में किसी के मन में तिलमात्र की भी शङ्का नहीं होती। अब [इस] अनुमान के तीन प्रकार हैं—शेषवत्, पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्टम्। पूर्ववत् अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान, शेषवत् अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान, सामान्यतोदृष्टम् अर्थात् संसार में जिस प्रकार की व्यवस्था दिखाई देती है उस पर से जो अनुमान होता है, वह।

इन तीनों अनुमानों की लापिका करने से ईश्वर=परम पुरुष=सनातनब्रह्म सब पदार्थों का बीज [है] ऐसा सिद्ध होता है। रचनारूपी कार्य दीखता है, इस पर से अनुमान होता है कि इस [सृष्टि] का रचने वाला अवश्य कोई है। पञ्चभूतों की सृष्टि से आप ही आप रची हुई नहीं है, क्योंकि व्यवहार में घर का सामान विद्यमान होने ही से केवल घर नहीं बन जाता, यह हमारा, देखा हुआ अनुभव सर्वत्र है। साथ ही साथ [पञ्चभूतों का] 'मिश्रण' नियमित प्रमाण से विशिष्ट कार्य उत्पन्न होने की ही सुगमता के लिए कभी भी आप स्वयं घटित नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि की व्यवस्था जो हम देखते हैं, उसका उत्पादक और नियन्ता ऐसा कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होना चाहिए।

अब किसी को यह अपेक्षा लगे कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष ही प्रमाण होना चाहिए, तो उसका विचार यूं है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण का ज्ञान होता है। गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी गुण का ज्ञान चेतन और अचेतन सृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इसी पर से ईश्वर-सम्बन्धी गुण का अधिकरण जो ईश्वर है, उसका ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिए।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥[१]

हिरण्यगर्भ का अर्थ शालिग्राम की बटिया नहीं है, किन्तु हिरण्य अर्थात् ''ज्योति जिस के उदर में है, वह ज्योतिरूप परमात्मा'' ऐसा अर्थ है। मूर्तिपूजा का पागलपन लोगों में फैला हुआ है। इसका क्या उपाय करना चाहिए? यह एक प्रकार की जबरदस्ती है। मूर्ति का आडम्बर

१. ऋग्वेद १०। १२१। १॥

जैनियों से हिन्दू लोगों ने लिया है।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा[१] परमात्मा[२]॥

वह अमृत है और वही सब के उपासना करने योग्य है। उससे जो भिन्न है वह सब झूठा है, वह अपना आधार (मान्य) नहीं है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

१. छान्दोग्य उपनिषद् ७। २४। १॥
२. 'परमात्मा' पद व्याख्यानरूप अथवा अध्याहृत है।

द्वितीय उपदेश

[ईश्वर-सिद्धि पर शंका-समाधान]

[मंगलवार ६ जौलाई १८७५* के दिन, श्री १०८ दयानन्द सरस्वतीजी के ईश्वर-विषयक व्याख्यान पर हुए वाद-विवाद का सारांश]

१ प्रश्न—कार्य और कारण भिन्न-भिन्न हैं या और किस प्रकार के?

उत्तर—कहीं-कहीं अभिन्न हैं और कहीं-कहीं भिन्न भी हैं। उदाहरण—मृत्तिका से बना हुआ घट मृत्तिका ही रहता है, परन्तु मांस-शोणित से नख उत्पन्न होते हैं तथापि मांस और शोणित ये नख नहीं है। इसी प्रकार मकड़ी के पेट से जाला उत्पन्न होता है, परन्तु इससे मकड़ी जाला नहीं होती।

गोमयाज्जायते वृश्चिकः।

[अर्थात्—गोबर से बिच्छू उत्पन्न होता है।] तो भी गोबर और बिच्छू क्या कभी एक हो सकते हैं? सर्वशक्तिमत्त्व चैतन्य में [और] चैतन्य पर सर्वशक्तित्व है अर्थात् सामर्थ्य के योग से चैतन्य निमित्त कारण होता है। इस स्थल पर जड़-पदार्थ जो विश्व का उपादान कारण है वह और निमित्त कारण चैतन्य एक नहीं है। अब—

एकमेवाद्वितीयम्[१]

ऐसी श्रुति है। उसका अर्थ करने में इस उपर्युक्त व्यवस्था से कुछ आपत्ति नहीं आती। कारण, [इसका अर्थ] अद्वितीय अर्थात् ईश्वर ही उपादान हुआ ऐसा नहीं है। कारण, भेद तीन प्रकार का होता है। कभी-कभी स्वजातीय भेद रहता है तो कभी-कभी विजातीय और कभी स्वगत भेद होता है। अब '**अद्वितीय**' है अर्थात् '**सब जो कुछ है वह ईश्वर ही है**' ऐसा अर्थ आधुनिक वेदान्त में लेते हैं। परन्तु यह उपयोगी (=ठीक) नहीं, किन्तु अद्वितीय का अर्थ दूसरा ईश्वर नहीं, अर्थात् एक ही ईश्वर

* आषाढ़, शुक्ला ४, विक्रम संवत् १९३२। सोमवार को द्वितीया-तृतीया सम्मिलित थीं।

१. छान्दोग्य उपनिषद् ६। २। १॥

है और संयुक्त नहीं है, यही अर्थ है। अब—

ईश्वरः सर्वसृष्टिं प्राविशत्।

ऐसे अर्थ की श्रुति है[१], तो अब उसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिए? अथवा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।[२]

इस वाक्य का अर्थ कैसे करें? आधुनिक वेदान्ती '**इदं विश्वं**' ऐसा मानकर उस शब्द का अन्वय '**सर्व**' इसकी ओर करते हैं, परन्तु साहचर्य अर्थात् ग्रन्थ के पिछले अभिप्राय की ओर दृष्टि देने से '**इदं**' शब्द का अन्वय '**ब्रह्म**' शब्द की ओर करना पड़ता है [जैसे] ''**इदं सर्वं घृतम्**'' अर्थात् यह बिल्कुल घी है, तेल मिश्रित नहीं, ऐसा सर्व शब्द का अर्थ है। ऐसा अर्थ करने से ऊपर के हमारे कहे अनुसार श्रुति का अर्थ होने से [कोई] कठिनाई नहीं रहती।

''**नाना वस्तु ब्रह्मणि**'' अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में ''**य आत्मनि तिष्ठन् आ [त्मनोऽन्तरो यमा] त्मा न वेद**''[३] अथवा ''**यस्य आत्मा शरीरम्**''[४] इस वाक्य के अर्थ के विषय में आपत्ति आयेगी, इसका विचार करना चाहिए। एक ही शरीर के स्थान में व्यापक और व्याप्य इन दोनों धर्मों की योजना नहीं करते बनती। गृह आकाश में स्थित है और आकाश यह व्यापक है गृह व्याप्य है। इसलिए आकाश और गृह ये एक ही हैं वा अभिन्न हैं, ऐसा अनुमान निकालते नहीं आता। इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये अभिन्न हैं ऐसा कहने का अवकाश नहीं रहता।

अहं ब्रह्मास्मि।[५]

इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो यह अत्यन्त प्रीति का [द्योतक] उदाहरण है, यही लौकिक दृष्टान्त पर से स्पष्ट होता है। जैसे '**मेरा मित्र मैं ही हूँ**' ऐसा कहते हैं, परन्तु मैं और मेरा मित्र, इन दोनों की सर्वथैव अभिन्नता है ऐसा फलितार्थ नहीं होता।

१. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तैत्तिरीय उपनिषद् २। ६)।

२. छा० उ० ३। १४। १॥

३. शतपथ माध्यन्दिन पाठ १४। ६। ७। ३०॥

४. श० मा० १४। ६। ७। ३०॥

५. बृ० उ० १४। १०॥

समाधिस्थ होते समय '**तत्त्वमसि**[१]' ऐसा मुनि लोग कह गए, परन्तु साहचर्य की ओर ध्यान देने से मुनियों का यह भाषण 'जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न है' इस मत का पोषक नहीं होता, क्योंकि इसी वचन के पूर्व भाग में इस सारे स्थूल और सूक्ष्म जगत् में कारण सम्बन्ध से परमात्मा का ऐतदात्म्य [कथित] है। परमात्मा का आत्मा दूसरा नहीं, '**स आत्मा**'[२] वही आत्मा है '**तदन्तर्यामि त्वमसि**' जो सब जगत् का आत्मा वह तेरा ही है। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा इनके बीच परस्पर सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक, आधाराधेय ये सम्बन्ध ठीक जमते हैं। ऐतरेयोपनिषद् में—

प्रज्ञानं ब्रह्म[३]

ऐसा वाक्य है। उसके महावाक्य-विवरण में—

प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म[४]

ऐसा विस्तार किया हुआ है, फिर भी परमेश्वर ही सृष्टि बना, ऐसा अर्थ ''**तत् सृष्टिं प्राविशत्**''[५] इस वाक्य पर से करने पर कार्य कारण की अभिन्नता होती है। यदि ईश्वर ज्ञानी है तो अविद्या माया आदिकों के अधीन होकर सृष्ट्युत्पत्ति का कारण हुआ, ऐसा कहने में 'उसको भ्रान्ति हुई' ऐसा प्रतिपादन करना पड़ता है। [जहां] देश, काल, वस्तु [का] परिच्छेद है वहां भ्रान्ति है, यही भ्रान्ति ब्रह्म को हुई, यह मानने से ब्रह्म का ज्ञान अनित्य ठहरता है। [अत:] यह विचारणीय वार्ता है।

इसी तरह 'जीव-भावना' भ्रान्ति का परिणाम है। भ्रान्ति दूर होने से जीव ब्रह्म होता है, ऐसी समझ ठीक नहीं, क्योंकि भ्रान्ति परमात्मा में सम्भव नहीं। आधुनिक वेदान्त के अनुसार मुक्ति को स्वीकार करने पर ब्रह्म को अनिर्मोक्ष-प्रसंग आता है। और जीव ब्रह्म को यदि एक कहें तो जीव में ब्रह्म के गुण नहीं हैं, जीव को अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्य नहीं। यदि हम ब्रह्म बन जावें तो हम जगत् भी रच लेवें। इस से पुनः इस बार

१. छा० उ० ६।८, ९, १० खण्डों में।
२. छा० उ० ६।८, ९, १०॥
३. ऐ० उ० ५।३॥
४. द्र० मठाम्ना० उप० ४।
५. तुलना करो—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' तै० उ० २।६॥

ऐसा कहना आवश्यक हुआ कि विश्व जड़, ब्रह्म चेतन है और इनका आधाराधेय, सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

''**सुखमस्वाप्सम्**'' इस अनुभव की योजना करते बनती है क्योंकि चैतन्य यह नित्य ज्ञानी है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय कोश के अवयव वर्णन किए हुए हैं।

सारांश—जीव ब्रह्म नहीं, जगत् ब्रह्म नहीं। इस स्थल पर कार्य कारण भिन्न-भिन्न हैं। यही प्रकार सत्य है, परन्तु अखिल सजीव और निर्जीव पदार्थ ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से निर्माण किए। वह सामर्थ्य उसी के पास सदा रहता है, इस तात्पर्य से भेद नहीं आता।

२ प्रश्न—तुम कहते हो कि अवतार नहीं हुए, तो ईश्वर को सगुण वा निर्गुण क्यों मानते हो?

उत्तर—प्राकृत जनों में सगुण अर्थात् अवतार और निर्गुण अर्थात् परब्रह्म ऐसा अर्थ करके इस सम्बन्ध से वाद चलता है, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। ''**स पर्यगात्**''[२] श्रुति पर से अवतार का होना बिल्कुल ही नहीं सम्भव होता। ''**कविः, मनीषी**''[३] ''**एको देवः**[४]**-निर्गुणश्च**'' ऐसे-ऐसे श्रुति वाक्य हैं, इन से ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है। ज्ञान, शक्ति, आनन्द इन गुणों के सहित होने से वह सगुण है, परन्तु जड़ के गुण उसमें नहीं हैं। इन गुणों के सम्बन्ध [अभाव] से वह निर्गुण है। प्रथम जो मैंने श्रुति कही उसके साहचर्य की ओर ध्यान देने से यह अर्थ निकलता है।

३ प्रश्न—प्रार्थना क्यों करनी चाहिए, ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् भी है तो उसे हमारे मन की बात विदित है और उसने हमें इस प्रकार कैसे उत्पन्न किया कि हम पाप करें, फिर इस प्रकार की पाप-विषयिणी प्रवृत्ति हम में रखकर भी हमारे पाप का दण्ड देता है, तो ईश्वर न्यायी कैसा?

उत्तर—हमारे माता-पिता ईश्वर के बनाए हुए पदार्थ लेकर हमें पालते हैं तो भी वे हम पर बड़े उपकार करते हैं। इन उपकारों का स्मरण

३. यजु० ४०।८॥
४. पूरा पाठ इस प्रकार है—एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ श्वेता० उ० ६।११॥

करना हमारा धर्म है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं। फिर जब ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की तो उसके असंख्य उपकारों को हमें अवश्य स्मरण करना चाहिए। **द्वितीय**—कृतज्ञता दिखलाने वालों का मन स्वतः प्रसन्न और शान्त होता है। **तृतीय**—परमेश्वर की शरण जाने से आत्मा निर्मल होता है। **चतुर्थ**—प्रार्थना से पश्चात्ताप होता है और आगे को पाप-वासना का बल घटता जाता है। **पञ्चम**-सत्यता और प्रेम हम में दृढ़ होते जाते हैं। **षष्ठ**-स्तुति अर्थात् यथार्थ वर्णन, ईश्वरस्तुति करने से अपनी प्रीति बढ़ती है क्योंकि ज्यों-ज्यों उसके गुण समझ में आते जाते हैं, त्यों-त्यों प्रीति अधिक दृढ़ होती जाती है।

फिर भी यह है कि उपासना के द्वारा आत्मा में सुख का प्रादुर्भाव होता है। इस उपाय को छोड़ पापनाशन करने के लिए अन्य उपाय नहीं है। काशी जाने से हमारे पाप दूर होंगे यह समझ, अथवा तोबा करने से पाप छूटना, किंवा हमारे पाप का भार अमुक भद्र पुरुष लेकर सूली चढ़ गया इत्यादि अन्य लोगों की सारी समझ अप्रशस्त है अर्थात् भूल पर है। उपासना के द्वारा विवेक उत्पन्न होता है, विवेकी होने से क्षणिक (नाशवान्) वस्तुओं से शोक और आनन्द ये दोनों नहीं होते। अब ईश्वर ने जीव स्वतन्त्र किया, इसलिए उससे पाप भी होता है, यदि उसे परतन्त्र किया जाता तो वह केवल जड़ पदार्थवत् बना रहता। जीव के स्वातन्त्र्य से ब्रह्म की सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। बच्चे को खुला छोड़ा जाय तो वह चोट लगा लेवेगा, यह सोच माता बालक को बांधे नहीं रखती। तो भी बालक दंगा, धूम, फसाद अवश्य करेगा, यह ज्ञान माता को रहता ही है। इस लौकिक उदाहरण पर से ब्रह्म की सर्वज्ञता से जीव के स्वातन्त्र्य में कुछ भी आपत्ति नहीं आती। ज्ञान के विषय में स्वतन्त्रता उसकी है, उसी तरह आचरण के विषय में उससे दिए हुए सामर्थ्य की मर्यादा में स्वतन्त्रता मनुष्य की है। यदि ऐसी स्वतन्त्रता न होती तो जो सुखोपभोग आज हो रहा है वह न होता और जीव-सृष्टि की उत्पत्ति व्यर्थ हुई होती।

तृतीय उपदेश

[धर्माधर्म-विषयक]

[गुरुवार ता० ८ जुलाई १८७५* स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकूल बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० ८ माह जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे व्याख्यान दिया, उसका सरांश।]

ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः[१] ॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

[यह स्वामीजी ने प्रथम ऋचा पढ़ी, फिर धर्माधर्म इस विषय पर व्याख्यान प्रारम्भ किया—]

परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म निषेध यह अधर्म, न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म, सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म, निष्पक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म।

[**व्रतेन दीक्षामाप्नोति**[२] इस प्रतीक का शुक्ल यजुःसंहिता में का मन्त्र कहा और उसका अर्थ किया।]

अब सत्यमूलक यदि धर्म है तो सत्य क्या है? **प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्**[३] इस न्याय से जो अर्थ सत्य ठहरे वही सत्य है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास।

अहिंसा परमो धर्मः।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्[४] ॥

---

* आषाढ़ शुक्ला ६ वि० सं० १९३२।

१. 'ऋक् संहिता मण्डल १। अनुवाक १४। सूक्त ८९। मन्त्र ८॥

२. यजुः; ९।३०॥

३. न्यायभाष्य १।११॥ ४. मनुस्मृति ६।६२॥

धर्म और अधर्म ये अनेक हैं, परन्तु उनमें से विशेष रीति से ग्यारह धर्म और ग्यारह अधर्म हैं। उनका स्वामीजी ने विशेष विवरण किया।

इस प्रकार ग्यारह धर्म सनातन उपदिष्ट हैं—

प्रथम अहिंसा का लक्षण—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥[1]

अहिंसा—इसका केवल 'पश्वादि न मारना' ऐसा संकुचित अर्थ करते हैं परन्तु व्यास जी ने ऐसा अर्थ किया है कि—

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः अहिंसा ज्ञेया॥[2]

अर्थात् वैर-त्याग करना।

(२) धृति—अर्थात् धैर्य। राज्य जाये तो भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिए, धैर्य छोड़ने से धर्म का पालन नहीं होता।

(३) क्षमा—अर्थात् सहनता, बड़े ने कोई अपकृत्य छोटे मनुष्य के लिये किया तो उसे छोटे ने सहन कर लिया, यह क्षमा नहीं है। इसे असामर्थ्य कहते हैं, किन्तु शरीर में सामर्थ्य होकर बुरे का प्रतिकार न करना यही क्षमा है।

(४) दमनाम मनसो वृत्तिनिग्रहः—मन की वृत्तियों का निग्रह करना इसी का नाम दम है, वैराग्य ऐसा अर्थ नहीं है।

(५) अस्तेय—अन्याय से धनादि ग्रहण करना, [वा] आज्ञा विना परपदार्थ उठा लेना स्तेय है और स्तेय-त्याग अस्तेय कहलाता है।

(६) शौच—दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। उत्कृष्ट रीति से स्नानादिक विधि का आचरण करना, यह शारीरिक शौच है। किसी भी दुष्ट वृत्ति को मन में आश्रय न देना, यह मानसिक शौच है। शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते तथा मानसिक प्रसन्नता भी रहती है।

(७) इन्द्रियनिग्रह—अर्थात् सारी इन्द्रियों को न्यायपूर्वक वश में रखना। इन्द्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिए। इन्द्रियों का आकर्षण परस्पर सम्बन्ध से होता है। मनु ने कहा है कि—

१. योगदर्शन ३।३०॥

२. योगदर्शन २।३० के व्यासभाष्य में।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥[1]

इस वाक्य का अर्थ—इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहिनों के साथ एकान्त रहने में भी सावधान रहना चाहिए।

(८) धी—अर्थात् बुद्धि। सब प्रकार बुद्धि को बल प्राप्त हो वैसे ही आचरण करने चाहियें, शरीर-बल के विना बुद्धि-बल का क्या लाभ? इसलिये शरीर-बल सम्पादन करने के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए बहुत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(९) विद्या—योग-सूत्र में अविद्या का लक्षण किया हुआ है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।[2]
तस्य हेतुरविद्या।[3]

अविद्या अर्थात् विषयासक्ति, ऐश्वर्यभ्रम, अभिमान यह है। बड़े-बड़े पाठान्तर[4] करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं होती। पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा। यथार्थ दर्शन ही विद्या है। यथाविहित ज्ञान विद्या है। प्रमा[5] के विरुद्ध भ्रम है, विद्या में भ्रम नहीं होता। **'अनात्मनि आत्मबुद्धिः' 'अशुचिपदार्थे शुचिबुद्धिः'** यह भ्रम है। यही अविद्या का लक्षण है और इसके विरुद्ध जो लक्षण हैं वे विद्या के हैं।

जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि में धनाढ्य हूँ वा मैं बड़ा राजा हूँ, उसे अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना, यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या सम्पदान करने के विषय में प्रयत्न करते रहना चाहिए। हमारे देश में छोटी अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या-सम्पादन करने में अड़चन आती है। अपवित्र पदार्थ में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान, यह पूर्ण विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में इस विद्या का ह्रास (न्यूनता) होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।

१. मनुस्मृति २।२१५॥ २. योगदर्शन २।५॥

३. योगदर्शन २।४॥

४. 'पाठान्तर' मराठी शब्द है। इसका अर्थ है—'कई ग्रन्थों के वाक्यों को कण्ठस्थ करना।'

५. प्रमा=यथार्थ ज्ञान।

(१०) सत्य—तीन प्रकार का है, सत्य-भाव, सत्य-वचन, सत्यक्रिया। सत्य-भावना होनी चाहिए, सत्य भाषण करना चाहिए और सत्य आचरण तो करना ही चाहिए। किसी प्रकार का विकल्प मन में न होना चाहिये। असत्य का त्याग करना चाहिये।

विकल्प का लक्षण योग-सूत्र में किया है कि—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।[1]

सम्भव कौन सा और असम्भव कौन सा, इसका विचार करना चाहिए। कुम्भकर्ण के विषय में तुलसीदासजी का एक दोहा है कि—

जोजन एक मूंछ रही ठाढ़ी, योजन चार नासिका बाढ़ी।

दक्षिण में देवमामलेदार[1] की कोई बात बताते हैं कि उसने अपने वचन से पुरुष को स्त्री बना दिया था। ऐसी असम्भाव्य बातें हमारे देश में बहुत सी फैल गई हैं। इसलिए प्रमाणों के सहाय से अर्थ विवेचन करके देखने से विचार के अन्त में निश्चय होता है कि झूठ बात कौन-सी और सच्ची बात कौन-सी है।

(११) अक्रोध—बड़ा भारी जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। स्वाभाविक क्रोध कभी नहीं जा सकता, परन्तु उसे भी रोकना, मनुष्य का धर्म है। क्रोधाधीन होने से बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं।

इस प्रकार का एकादशलक्षणी सनातन धर्म है। [जो मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है।]

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥[3]

व्यवहार धर्म की ओर भी ध्यान देना चाहिए। सारी दुनिया में इसी आर्यावर्त से विद्या गयी। इस आर्यावर्त देश के आर्य पुरुषों के वैभव का वर्णन जितना ही किया जाय थोड़ा है। समुद्र पर चलने वाले जहाजों पर कर लेने की आज्ञा मनु ने अष्टमाध्याय में लिखी है—

१. योगदर्शन १।९॥
२. देव मामलैदारकर नाम का एक साधु दक्षिण में हुआ था। उसके विषय में दन्त-कथा प्रसिद्ध है।
३. मनुस्मृति २।२०॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥[1]

इससे स्पष्ट है कि समुद्र-यानादिक पहले हमारे लोग बनाया करते थे।

अधर्म—अर्थात् अन्याय, इसका विचार करना चाहिए। मनु ने ऐसा लिखा है कि—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥[2]

मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं। [**परद्रव्येष्वभिध्यानम्** अर्थात्] परद्रव्यहरण अथवा चोरी; **मनसानिष्टचिन्तनम्** अर्थात् लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष करना, ईर्ष्या करना; **वितथाभिनिवेश** अर्थात् मिथ्या निश्चय करना।

वाचिक अधर्म चार हैं—**पारुष्य** अर्थात् कठोर भाषण। सब समय सब ठौर मृदु भाषण करना यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'आ अन्धे' ऐसा कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है, परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। **अनृत भाषण** अर्थात् झूठ बोलना। **पैशुन्य** अर्थात् चुगली करना। **असम्बद्धप्रलाप** अर्थात् जान बूझ कर बात को उड़ाना।

शारीरिक अधर्म तीन हैं—**अदत्तानामुपादानम्** अर्थात् चोरी। **हिंसा** अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म। **परदारोपसेवा** अर्थात् रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना। किसी मनुष्य ने अपने खेत में की जमीन में न बोकर अपना बीज लेकर दूसरे की जमीन में बोया तो उसे हम क्या कहेंगे? क्या उसे हम मूर्ख न कहेंगे? अपने वीर्य को अगम्यागमन करके खर्च करनेहारा तो महामूर्ख है। कोई ऐसा कहने लग जाते हैं कि हम नकद पैसा देकर बाजार का माल मोल लेते हैं, इसमें व्यभिचार वा पाप क्या होगा? परन्तु वे मूर्ख नहीं सोचते कि पल्ले का रुपया खर्च करके अपने

१. मनुस्मृति ८।१५७॥ २. मनुस्मृति १२।५, ६, ७॥

अमूल्य वीर्य को खर्च करना यह व्यापार किस प्रकार का है? ऐसा व्यापार करने वाला क्या महामूर्ख नहीं है? अवश्य मूर्ख है।

धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान।[१]

यज्ञ—अर्थात् होम। यज्ञ करने से वायुशुद्धि होकर देश में बहुत ही वृष्टि होती है। मीमांसा और ब्राह्मणादि ग्रन्थों से मन्त्रमयी देवता तो मानी है और विग्रहवती देवता कहीं भी नहीं मानी[२]। इस व्यवस्था के द्वारा शास्त्रकारों ने बहुत सा झगड़ा मिटा दिया, परन्तु—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।[३]

इस पुरुषसूक्त में की ऋचा की व्यवस्था का लगाना जरा अच्छा ही कठिन पड़ता है।

अध्ययन—अध्ययन अर्थात् लड़कों को पढ़ाना, वैसे ही लड़कियों को पढ़ाना यह है।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिष्क्रिया।[४]

इसमें '**गुरौ वासः**' अर्थात् [गुरु के समीप अध्ययन के लिए रहना। परन्तु] कुल्लूक भट्ट ने 'पति के घर में वास करना' ऐसा अर्थ कर अर्थ का घोटाला (=अनर्थ) कर दिया।

पूर्व काल में आर्य लोगों की स्त्रियाँ उत्कृष्ट रीति से पढ़ती थीं। आर्य लोगों के इतिहास की ओर देखो—स्त्रियां आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रहती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे। यह सबको विदित ही है।

गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि बड़ी-बड़ी सुशिक्षित स्त्रियां होकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की शंकाओं का समाधान करती थीं, फिर [न मालूम] कुल्लूक भट्ट ने 'पतिसेवैव गुरौ वासः' ऐसा अर्थ कहां से किया? आथर्वण संहिता में—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।[५]

१. त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनदानमिति। छान्दोग्योपनिषद् २।२३।१॥

२. मीमांसा ९।१।९ के भाष्य में देवता को मन्त्रमयी कहा है और विग्रहवती देवता का खण्डन किया है।

३. ऋग्वेद सं० १०।९०।१६॥ ४. मनुस्मृति २।६७॥

५. अथर्ववेद ११।५।१८॥

ऐसा स्पष्ट वाक्य है। इस वाक्य को एक ओर रख कर कुल्लूक भट्ट के अर्थ को ग्रहण करना बहुत कठिन होगा। सुशिक्षित स्त्रियां कुटुम्बी गृहस्थों को सब प्रकार सहाय करने वाली होती हैं। संगति का बल कितना बढ़कर है, इसका विचार करो। विद्वान् को अविदुषी स्त्री से संग पड़े तो उसका परिणाम कैसे लगे? फिर स्त्रियां ही केवल पढ़ें इतना ही नहीं; किन्तु सब जातियां वेदाभ्यास करने का अधिकार रखती हैं, देखो—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥[१]
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च॥[२]

'शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है' इस मनु-वाक्य का भी विचार करना चाहिए।

अध्ययन करना अर्थात् ब्रह्मचर्य निभाना यह बड़ा भारी धर्म है। ब्रह्मचर्य के कारण शरीर-बल और बुद्धि-बल प्राप्त होता है। आजकल लड़के-लड़कियों के शीघ्र विवाह करने की बुरी रस्म पड़ गई है। काशीनाथ ने 'शीघ्रबोध' नामक एक ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है, उसमें ऐसा कहा है कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥

लड़की शीघ्र गौरी होती है, रोहिणी होती है, रजस्वला होती है, ऐसी बहुत कुछ बकवास की है। इस को बने अभी १०० वर्ष भी नहीं हुए होंगे।

स्वयंवर के विषय में मनु का कथन है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्॥[३]

१. यजुर्वेद २६।२॥ ३. मनुस्मृति १०।६५॥

३. मनुस्मृति ९।९०। वहां द्वितीय चरण का पाठ 'कुमार्यृतुमती सती' है।

इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो। यथा—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥[१]

पुरातन सुश्रुत चरकादि वैद्यक के ग्रन्थों में आयु के चार भाग कल्पित किये हैं—(१) वृद्धि (२) यौवन (३) सम्पूर्णता और (४) हानि। इनकी व्यवस्था इस श्लोक[२] में दी है सो देखो—

चतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धिः, आपञ्चविंशतेर्यौवनं, आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति॥

पुरुषों की योग्य अवस्था प्राप्त होने के लिए कम से कम चालीस वर्ष वय [आयु] होनी चाहिए, निकृष्ट पक्ष में भी लड़के की पच्चीस वर्ष की वय होनी चाहिए और लड़की की सोलह वर्ष की वय होनी चाहिए, ऐसा सुश्रुत का कहना है।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्[३] **॥**

छान्दोग्य उपनिषद्[४] में प्रात:सवन चौबीस वर्ष तक वर्णन किया हुआ है। यह पुरुषों की कुमार अवस्था है। चवालीस वर्ष तक मध्यसवन कहा है। यही यौवन-अवस्था है और अड़तालीस वर्ष तक सायंसवन वर्णन किया है, जो सम्पूर्णता की अवस्था है। इसके पश्चात् जो समय आता है वही उत्कृष्ट समय विवाहादि के लिए माना गया है। विवाह होने के पूर्व वेदाध्ययन अवश्य करना चाहिए। इन दिनों ब्राह्मण लोगों ने वेदाध्ययन स्वार्थवश नष्ट कर दिया है। सो प्रारम्भ होना चाहिए।

अथर्ववेद में अल्लोपनिषद् करके घुसेड़ दिया है। मतलबी पण्डित लोगों ने नये-नये श्लोक बनवाकर लोगों के मनों में भ्रम डाल दिया है, यह बड़े ही दु:ख की बात है। इसलिए ऐसा हो कि स्थान-स्थान पर वेदशालायें हों, उनमें वेदाध्ययन कराया जावे, परीक्षायें लिवायी जावें अर्थात्

---

१. मनुस्मृति ९।८९॥ २. सूत्र॥
३. सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।१३॥ ४. ३।१६।१-६॥

वेदाध्ययन को हर प्रकार से उत्तेजना मिले, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

दान—दान शब्द का आजकल जो अर्थ लेते हैं वह नहीं है। पेटभरू ब्राह्मण कहते हैं—

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः।

विवेचनामूलक दान सदा होता रहा है। इन दिनों लोगों ने **''पीत्वा पीत्वा**[१] **ब्रह्मापि मृतः''** ऐसे-ऐसे वाक्यों को कहकर दान का मिथ्या ही अर्थ किया है। विद्यावृद्धि के लिए द्रव्य खर्च हो, कला-कौशल की उन्नति के लिए धन लगाया जाय, दीन, अपाहिज, रोगी, कुष्ठी, अनाथादिकों को सहाय करना सच्चा दान है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन पूर्व ही हो चुका है।

गृहस्थ आश्रम में परस्पर प्रीति बढ़कर सामाजिक कल्याण बढ़े, यही मुख्य धर्म है। इस प्रकार की सामाजिक प्रीति बढ़ने के लिए मूर्त्तिपूजादिक पाखण्ड दूर होना चाहिए।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भार्या भर्त्रा तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥[२]

उपर्युक्त श्लोक में कहे अनुसार गृहस्थों को आनन्द करते हुए निर्वाह करना चाहिए, यह उनका मुख्य धर्म है।

वानप्रस्थ—इस आश्रम में विचार करना चाहिए। तप अर्थात् विद्या को सम्पादन करना उचित है।

संन्यासी—संन्यासी को उचित है कि सारे जगत् में घूमे और सदुपदेश करे, यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथार्थ उपदेश के विषय में मनु कहते हैं—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥[३]

पंचशिख और शङ्कराचार्य इनका इतिहास देखना चाहिए कि उन्होंने सदा सत्य और सदुपदेश ही किये, उसी प्रकार संन्यासीमात्र को सदुपदेश

---

१. यहां पाठ भ्रष्ट हो गया प्रतीत होता है, 'दत्त्वा दत्त्वा' पाठ होना चाहिए; क्योंकि प्रकरण दान का है, पान (=पीने) का नहीं है।
२. मनुस्मृति ३।६०॥ ३. मनुस्मृति ६।४६॥

करना चाहिए।

[इसके अनन्तर स्वामीजी महाराज ने]

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥[१]

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

[यह कहकर व्याख्यान समाप्त किया।]

१. तैत्तिरीय आरण्यक ८। १॥

चतुर्थ उपदेश

(धर्माधर्मविषयक)

[शनिवार ता० १० जुलाई १८७५*, धर्माधर्म इस विषय पर दयानन्द सरस्वती ने व्याख्यान दिया[१] उस पर हुए प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—क्या वेदों में मन्त्रमयी देवताओं का अथवा विग्रहवती देवताओं का प्रतिपादन है? सावयव देवताओं के विना जड़मति लोग पूजा किस प्रकार कर सकेंगे और धर्म-व्यवहार में उनका निर्वाह कैसे होगा?

उत्तर—वेदों के तीन काण्ड हैं—उपासना, कर्म और ज्ञान। परन्तु उपासना-काण्ड में केवल एक उपासना ही का प्रतिपादन हो यही नहीं अथवा ज्ञान-काण्ड में ज्ञान ही का प्रतिपादन हो वा कर्मकाण्ड में कर्म ही का प्रतिपादन हो, यह नहीं। उपासनाकाण्ड में उपासना प्रधान है, परन्तु उसमें ज्ञान और कर्म का निरूपण भी मिलता है। इसी प्रकार सर्वत्र है।

मीमांसा का प्रारम्भ ''**अथातो धर्मजिज्ञासा**'' ऐसा है। इसमें कर्म विचार है। इसमें अथ और अत: इन दो शब्दों के अर्थ के विषय में बड़ी ही मेहनत की है और उस पर से भिन्न-भिन्न काण्ड की बिलकुल भिन्न-भिन्न व्यवस्था प्रतीत होती है ऐसा कोई कहते हैं, परन्तु वैसा कहना अप्रशस्त है। आश्वलायन ने जो व्यवस्था की है वह कुछ-कुछ ठीक है, उसे देखना चाहिए। इन दिनों कर्म वेद-मन्त्रों के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि जैमिनि ऋषि ने कर्म-काण्ड में मन्त्रमयी देवता मानी है[२] और कर्म का अधिकार स्नातक और योग्यता को प्राप्त हुए पुरुषों को है। इस पर से यह स्पष्ट होगा कि कर्म विषय में जड़बुद्धि पुरुष की योग्यता नहीं है, ऐसा [सिद्ध] होता है। कर्मकाण्ड में मन्त्रमयी देवता हो तो मूर्त देवताओं को उसमें घुसने का स्थान नहीं है।

* आषाढ़ शुक्ला ७ वि० सं० १९३२।

१. देखो प्रवचन संख्या ३, यह व्याख्यान ८ जुलाई बृहस्पतिवार को हुआ था।

२. मन्त्रमयी देवता का वर्णन पूर्वमीमांसा अध्याय ९ पाद ३ में है।

उपासनादिकों को योगशास्त्र का आधार है, जैसे कर्म-काण्ड को मीमांसा का है, परन्तु योगशास्त्र में मूर्त्ति-पूजा के विषय में कहीं भी वर्णन नहीं है, ज्ञान-काण्ड में मूर्त्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती, ऐसी सर्व-सम्मति है। इस पर जैमिनि के मत में व्यास जी के मत में और पतञ्जलि के मत में मूर्त्ति-पूजा गृहीत नहीं होती अर्थात् पूर्व-मीमांसा-शास्त्र, योग-शास्त्र, उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त-शास्त्र इनमें तो मूर्त्ति-पूजा का कहीं भी अवकाश नहीं है।

अब कोई ऐसा कहे कि स्मृति-ग्रन्थों में मूर्त्ति-पूजा है और स्मृति का अनुमान से श्रुति-मूलकत्व है[1]। उपलब्ध श्रुति में मूर्ति की पूजा का उपदेश न हो तो भी लुप्त श्रुति में मूर्ति-पूजा का विधान है, ऐसा मानकर मूर्ति-पूजा करनी चाहिए। ऐसा श्रुति स्मृति का सम्बन्ध मानकर अनुपस्थित श्रुति का अवलम्बन करके उपस्थित ग्रन्थों के आधार में जो विचार करना अथवा उसमें गड़बड़ मचाना, यह हमें प्रशस्त नहीं दीखता। इन दिनों चार वेद और प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखाएँ भी उपलब्ध हैं। शाखा-भेद फिर कई प्रकार का होता है। जो कुछ मूल बीजरूप वेदों में [है] वैसा उलपब्ध शाखाओं में तो न हो, किन्तु लुप्त शाखाओं में होगा, यह कल्पना सयुक्तिक नहीं। आश्वलायन, कात्यायनादि श्रौत-सूत्रकारों को नष्ट शाखाओं में के मन्त्र लेते नहीं बना, इसलिए अमुक मन्त्र नहीं लिए, ऐसे कहीं भी कहते नहीं सुना और शास्त्रव्यवस्था के लिए स्मृत्यवलम्बन करना चाहिए, ऐसा भी उनका कहना नहीं था। हमारा भी यही कहना है कि पूर्वमीमांसा, योग, और उत्तर मीमांसा इन शास्त्रों को कृपा कर लगाओ, विचार कर देखो। इसी प्रकार शतपथादि ग्रन्थों में, निरुक्त में, पातञ्जल महाभाष्य में नष्ट शाखाओं का गौण प्रकार से भी कहीं सूचक लिङ्ग नहीं है। इससे 'स्मृति का श्रुतिमूलकत्व है', इस मत के द्वारा आधुनिक अशुद्ध व्यवहार के आवश्यकीय उतने ज्ञापकों को निकालना यह बहुत ही अप्रशस्त है। अस्तु, वेदों में तथा शास्त्रों में मूर्ति-पूजा का कहीं भी विधान नहीं, इसका विचार हो चुका है।

अब रहा यह कि मूढ़ और अज्ञानी लोग सावयव देवताओं के विना

१. स्मृतियों के श्रुतिमूलकत्व अनुमान का प्रतिपादन भगवान् जैमिनि ने 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम्' (अ० १ पा० ३ सूत्र ३) में किया है। परन्तु श्रुति से विरोध होने पर स्मृति प्रमाणार्ह नहीं, यह मुख्य सिद्धान्त है।

अपना निर्वाह कैसे करें? इस प्रश्न पर विचार करें। हमारे विचार से तो मूर्खों को भी मूर्त्ति-पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मूर्ख अर्थात् प्रथम ही जड़-बुद्धि और फिर उसके पीछे लगाई जाय जड़ पदार्थों की पूजा, तो क्या उसकी बुद्धि और अधिक जड़ न होगी? जड़मूर्त्ति की पूजा से तो जड़बुद्धि में जड़त्व ही जमेगा, इससे उन्नति तो कभी भी न होगी, किन्तु अधोगति तो अवश्य होगी।

अब यह देखें कि पूजा शब्द का अर्थ क्या है? पूजा शब्द का अर्थ 'सत्कार करना' ऐसा है, न कि षोडशोपचार पूजा। देखो—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।
आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥[1]

इस स्थल पर माता-पिता, आचार्य और अतिथि इनका पूजन अर्थात् सत्कार करना ही है। उसी प्रकार मनु में भी स्त्री पूजनीय है अर्थात् भूषण, वस्त्र, प्रियवचन इत्यादिकों द्वारा सत्करणीय है [देखो मनु जी क्या कहते हैं—]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥[2]

जड़ पदार्थों की सत्कार अर्थ वाली पूजा करते नहीं बनती। सचेतन का, सजीव का ही केवल सत्कार करते बनता है। सजीव का अर्थात् भद्र मनुष्यादिकों का सत्कार करने से बहुत लाभ होते हैं—

मनुष्यों को सत्संग होने से उनकी बुद्धियों की परिपक्वता होकर वे वैशद्य को पहुँचते हैं और उनमें मन्दबुद्धि पुरुषों का कल्याण भी होता है। दूसरा यह कि मनुष्यों में स्वभाव ही से ऐसी इच्छा होती है कि लोग हमें अच्छा कहें, हमारी सुकीर्ति हो, आस-पास के लोग भला कहें, हमारे आचरण को ठीक कहें इत्यादि। तो इस इच्छा से उनके मन की सदाचरण की इच्छा दृढ़ होती है; पर यह कैसे हो जब कि उसे सत् मनुष्यों की संगति हो, तब ही हो सकता है, अन्यथा कभी सम्भव नहीं।

हमें स्पष्ट विदित है कि जड़ मूर्त्तियों के सम्मुख मन्दिरों में कैसे-कैसे दुराचरण होते हैं वैसे दुराचरण ५ वर्ष के बच्चे के सम्मुख भी करने की

१. तैत्तिरीय आरण्यक ७।४।२॥ ३. मनुस्मृति ३।५५॥

मनुष्य की हिम्मत नहीं होती जैसी कि जड़ मूर्त्ति के सम्मुख करने में लज्जा तनिक भी नहीं आती। इस पर से स्पष्ट है कि मनुष्य से मनुष्य जितना डरता है, उतना जड़ मूर्तियों से नहीं डरता, किन्तु यह तो होता है कि लाख मूर्त्तियों में भी यदि मनुष्य खड़ा किया जावे, उसका चित्त भ्रष्ट और चञ्चल होवे तो वह दुराचरण की प्रवृत्ति आप स्वयं दिखाता है। जड़ पदार्थ के सत्कार से कभी भी मनुष्य के मन की उन्नति नहीं होती; परन्तु सद्विचार महाविचारों में मन लगाने से बुद्धि की उन्नति होती है। सत्संगति से, दूसरे का सत्कार करने से आत्मा प्रसन्न होकर प्रीति सदृश उत्तम गुण उनमें उत्पन्न होते हैं। यह इतना पूजन अर्थात् सत्कार इस अर्थ से मूर्तिपूजा के विषय में विचार हुआ।

अब मूर्ति के षोडशोपचार पूजा के विषय पर विचार करना चाहिए। जड़ मूर्ति की केवल जड़ पदार्थ के नाते से पूजा नहीं होती, इसलिए प्रथम उसमें उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा यह सिर्फ भावना ही है। भावना का अर्थ विचारणा यह होता है।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जैसी-जैसी भावना वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है—ऐसा कोई-कोई कहने लग जाते हैं। परन्तु यह उनका मिथ्या प्रलाप है, क्योंकि सब मनुष्यों को सदा सुख प्राप्ति की दृढ़ भावना रहती है फिर उनको सर्वदा सुख प्राप्ति क्यों नहीं होती? उसी तरह पर्वत के बीच सुवर्ण की दृढ़ भावना की जाय तो पर्वत सोने का कभी नहीं बन सकता। हमारी भावना के कारण जड़ मूर्ति में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता और प्राण-प्रतिष्ठा करने के पश्चात् मूर्ति सचेतन नहीं होती, आँखों से देखे ऐसा नहीं होता, यह हम सबों को अच्छी तरह मालूम ही है। अस्तु, परमेश्वर का अखण्ड निश्चय इस सब जगत् भर में चल रहा है। उसमें हमारी कृति से कोई परिवर्तन नहीं होगा। जो जड़ है वह जड़ ही रहेगा, और सचेतन वह सचेतन ही समझा जावेगा।

अब रहा प्राण-प्रतिष्ठा के कारण जड़ मूर्तिपूजा के अर्थ मानने का क्या आधार है—उसे देखो, न तो चारों वेदों में, अथवा गृह्य, श्रौत सूत्रों में न षड्दर्शनों में कहीं भी प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र दिये हैं तो फिर **प्राणेभ्यो नमः** इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र कहां से निकले, इसका विचार हम हिन्दुओं को, नहीं मैं भूला, हम आर्यों को करना चाहिए। हिन्दू शब्द का

उच्चारण मैंने भूल से किया; क्योंकि हिन्दू यह नाम हमें मुसलमानों ने दिया है, जिसका अर्थ काला, काफिर, चोर इत्यादि है, सो मैंने मूर्खता से उस शब्द को स्वीकार किया था। आर्य अर्थात् श्रेष्ठ यह हमारा असली नाम है—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥[1]

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः॥[2]

भाइयो! दस्यु सदृश अव्रतचारी लोगों के साथ लड़ने वाले हम व्रतचारी आर्य हैं, सो स्मरण रहे, अस्तु।

प्रतिष्ठामयूखादि अथवा लिङ्गार्चन-चिन्तामणि इत्यादि तन्त्र ग्रन्थों में के मन्त्र लेकर हम जड़मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। यदि कोई ऐसा कहे तो [हम] उन तन्त्र ग्रन्थों का कुछ नमूना दिखाते हैं और पूछते हैं कि ये ग्रन्थ माननीय हो सकते हैं वा नहीं?

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

भला ऐसे-ऐसे तान्त्रिक मन्त्रों के बीच वैदिक मन्त्रों का सामर्थ्य कहां से आ सके? इसीलिए जड़मूर्ति में कभी भी चेष्टा नहीं उत्पन्न होती। मन्त्र से स्वाभाविक जड़ पदार्थ में प्राण डालना तो दूर रहा परन्तु स्वाभाविक जीव रहने वाले सावयव मृत शरीर में जिसमें प्राण आना चाहिए और मुर्दा जिन्दा हो जाय, परन्तु उसमें वैसा भी नहीं होता, तो फिर व्यर्थ ही इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के पाखण्ड में क्या रखा है। अर्थात् कुछ भी ऐसे पाखण्ड से नहीं निकलता।

प्रश्न—भिन्न-भिन्न वर्ण तो आप नहीं मानते, फिर वर्णाश्रमीय धर्म की व्यवस्था आप कैसे करोगे अर्थात् ब्राह्मण कौन? वैश्य कौन? क्षत्रिय कौन? शूद्र कौन हो सकता है?

उत्तर—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास। सुसंगति, अध्ययनादिकों का अधिकार मनुष्यमात्र को है। फिर जिस-जिस प्रकार का जिस-जिस पर संस्कार होगा उसी-उसी प्रकार उसकी योग्यता मनुष्य मात्र में बढ़ेगी। हमारे देश में कोई बड़ी धर्म-सभा नहीं, जिसके

---

१. ऋग्वेद १।५१।८॥ २. अष्टाध्यायी ६।२।५८॥

कारण आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था कुछ की कुछ ही हो गई। भला आदमी दुःख उठाता है, [जितने] चाहिए उतने मजदूर हर ठौर नहीं मिल सकते, क्योंकि देश भर में साधुओं की टोलियाँ की-टोलियाँ फिरती हैं। आधुनिक सम्प्रदायों के अनुकूल जो साधु बनते हैं, बतलाओ कि उनकी गणना किस आश्रम में की जाए? क्योंकि शास्त्र का आधार छोड़ लोग मनमाने रहने लगे हैं, यह एक प्रकार की जबरदस्ती है। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण यह व्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव से की जा सकती है और प्राचीन आर्य लोगों की व्यवस्था इसी प्रकार थी। वे जन्म से ब्राह्मणादि वर्ण नहीं मानते थे। जानश्रुति [और] जाबाल ये नीच कुल के थे।[१] जाबाल ऋषि की कथा छान्दोग्योपनिषद् में कही हुई है।[२] उसकी माता व्यभिचारिणी थी, परन्तु गुरु के पास जाकर जाबाल सत्य बोला, इतने ही कथन से गुरु प्रसन्न होकर उससे कहने लगा कि 'जाबाल! तुम सत्य भाषण के कारण ब्राह्मण हो।'[३] ऐसा कहकर उसे ब्राह्मणत्व दिया।

अब पुरुष सूक्त में भी एक श्रुति है, उसका भी अर्थ करना चाहिए।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥[४]

पुरुष सूक्त के बीच में '**सहस्रशीर्षा**' यह पद बहुव्रीहि है, तत्पुरुष नहीं है। जिस प्रकार '**गङ्गायां घोषः**' इसका अर्थ लक्षणा से करना पड़ता है। इसी प्रकार [की] पद्धति रखकर ऊपर के वाक्य का अर्थ करना चाहिए।

पूर्णत्वात् पुरिशयनाद् वा पुरुषः। [यह निरुक्त का प्रमाण है][५]

उस पुरुष का मुख अर्थात् मुख्य स्थान अर्थात् विद्वान्—ज्ञानवान् जो हैं वे ब्राह्मण हैं। शतपथ ब्राह्मण में 'बाहु' अर्थात् ''वीर्य'' ऐसा अर्थ दिया है।[६] इससे स्पष्ट है कि जो वीर्यवान् वह क्षत्रिय जानना चाहिए ऐसी

१. जानश्रुति को छान्दोग्योपनिषद् ४।२।३ में शूद्र कहा है। २. ४।४।१-५
३. छा० उप० ४।४।४-५॥ ४. ऋग्वेद १०।९०।१२॥
५. निरुक्त के नाम से उद्धृत पाठ अर्थतः अनुवाद है। निरुक्त का मूल पाठ इस प्रकार है—'पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तपुरुष-मभिप्रेत्य।२।३॥
६. 'बाहुर्वै वीर्यम्'।

व्यवस्था होती है। व्यावहारिक विद्या में जो चतुर हैं वे वैश्य। अब '**पद्भ्यां शूद्रो अजायत**' इस स्थल पर '**पद**' इसका अर्थ नीच मानकर मूर्खत्वादि गुणों से शूद्र होते हैं ऐसा **[मानकर उन्हें नीच]** कहना किस प्रकार चल सकेगा? '**यानि तीर्थानि सागरे तानि ब्राह्मणस्य दक्षिणे पदे**' इस स्थल पर पद की कितनी भारी योग्यता है, यह तुम्हें विदित ही है। इस विचार से शूद्र अर्थात् मूर्ख ऐसा ही अर्थ होता है और तब ही मनु जी के वाक्य का अर्थ सम्यक् प्रकार लग जाता है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च॥[१]

सब वर्णों के अध्ययन का जो समय है वह ब्रह्मचर्य है, और संसार को एक ओर रखकर अध्ययन, उपदेश और लोक-कल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे वह संन्यास है। गृहस्थियों को समय इन सब कार्यों के करने को नहीं मिलता और संन्यासियों को अवकाश बहुत मिलता है बस यही मुख्य भेद है।

अब यदि कहा जाये कि जन्म ही से ब्राह्मण होता है तो जब कोई ब्राह्मण अपने सदाचरण को छोड़ यवनादिकों के समान आचरण करने लग जाता है तो उसका ब्राह्मणत्व क्यों नष्ट होता है? इससे सिद्ध हुआ कि केवल जन्मसिद्ध ही ब्राह्मणत्व नहीं, किन्तु आचार-सिद्ध है। यह तुम्हारे ही कामों से सिद्ध होता है। जिस समय इस आर्यावर्त में अखण्ड राज्य, अखण्ड ऐश्वर्य था, उस समय वर्णाश्रम की ऐसी ही व्यवस्था थी। यदि कोई कहे कि गृहस्थाश्रम का अनुभव लिए विना संन्यास न लेना चाहिए, तो यह कहना अप्रशस्त है। क्योंकि यदि रोग हो तो औषध देना बुद्धिमानी है। उसी प्रकार जिस पुरुष को विषयासक्ति की इच्छा नहीं, भोगेच्छा भी नहीं, तो उसे नया संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु वह तो स्वयं बना बनाया संन्यासी ही है।

गार्गी ने कभी भी संसार-सुख का अनुभव नहीं लिया, वह सदा ब्रह्मचारिणी थी। संन्यासियों से बड़े-बड़े लाभ होते हैं। संन्यासियों को शरीर-सम्बन्ध तो केवल होता है, शेष व्यवसाय उन्हें नहीं होते। उपदेश करना वा अधर्म की निवृत्ति करना, यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म

१. मनुस्मृति १०।५६॥

है। अब यदि कोई पूछे कि पुत्रोत्पत्ति विना जन्म कैसे सफल होगा तो उन्हें यह उत्तर है कि पुत्र दो प्रकार के होते हैं—विद्या और योनि से। इन दो ही सम्बन्धों से पुत्र प्राप्ति होती है। "**गरीयान् ब्रह्मदः पिता**"[१]। मूढ़ लोग जनपद में दुराचार कर-कर किसी आपत्ति में पड़ेंगे सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना, यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है।

परन्तु इन दिनों संन्यासियों पर बड़े-बड़े जुल्म अत्याचार हो रहे हैं अर्थात् संन्यासियों को वन में रहना चाहिए। एक ही बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहें, इत्यादि-इत्यादि प्रतिबन्ध हैं। यदि इन्हें माना जाए, तो भाई! बताओ कि वह फिर किस प्रकार और किसे उपदेश करे? क्या वह एक गाँव से दूसरे गाँव दौड़ता फिरे? संन्यासियों को आग को न छूना चाहिए ऐसा भी कहते हैं, परन्तु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ सकेंगे अर्थात् वह तो उनमें बना ही रहेगा। आधुनिक 'विश्वेश्वरपद्धति' नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला है।

फिर आधुनिक साधुओं को तन मन धन का समर्पण करे, [यह] क्या है? भाई मन का समर्पण कैसे होगा? और तन का समर्पण करने में क्या मल, मूत्रादिकों का भी समर्पण होगा? आधुनिक साधुओं ने कुछ विलक्षण ही व्यवस्था बनाई है। उन्हें वेद-शास्त्रों से क्या काम?

विचारे संन्यासीमात्र को अलबत्ता कष्ट होते हैं। मुझे कुछ धन चाहिए, इसलिए ऐसा कहता हूँ, यह बात नहीं। किन्तु मेरी मनोवृत्ति का साक्षी ईश्वर है। तुम उल्टा मत समझना।

प्रश्न—मूर्त पदार्थों के विना ध्यान कैसे करते बनेगा?

उत्तर—शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं? जीव का आकार नहीं तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं? ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये नष्ट होते ही जीव निकल जाता है, यह किसान भी समझता है। ध्यान यह ऐसा ही पदार्थ है। योग आदि शास्त्र में ध्यान का लक्षण किया—

रागोपहतिर्ध्यानम्॥[२]

ध्यानं निर्विषयं मनः॥[३]

१. मनुस्मृति २।१४६॥ २. सांख्य० ३।३०॥ ३. सांख्य० ६।२५॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥[१]

साकार का ध्यान कैसे करोगे? साकार के गुणों का ज्ञानाकार होने तक ध्यान नहीं बनता अर्थात् सम्भव नहीं होता कि ज्ञान के पहले ध्यान हो जाय। देखो एक सूक्ष्म परमाणु के भी अधम, उत्तम और मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञान-बल से कल्पना में आते हैं। अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है तो विदित होने तक ढकी हुई मुट्ठी की ओर देखने ही से केवल उस पदार्थ को जानने के लिए और भी दृढ़तर सबल उपाय हैं। देखो! अनुमान; उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ये आठ[२] उपाय हैं। अनुमान ज्ञान के सम्मुख प्रत्यक्ष की क्या प्रतिष्ठा है। अब यह विचारणीय है, अस्तु।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

१. योग० ३।२॥
२. यहां 'पूर्व निर्दिष्ट प्रत्यक्ष की गणना करके 'आठ' संख्या लिखी है।

पञ्चम उपदेश

[वेद-विषय]

[मंगलवार ता० १३ जुलाई १८७५* स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० १३ जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे दिये वेद-विषयक व्याख्यान का सारांश।]

ओ३म् दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥[1]

आज के व्याख्यान का विषय 'वेद' है। तीन प्रकार से इस विषय का विचार करना चाहिए—

(१) वेद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई?

(२) वेद का कर्त्ता कौन है?

(३) वेदों का प्रयोजन क्या है?

परमेश्वर वेदों का कर्त्ता है। वेद अर्थात् ज्ञान, वेद अर्थात् विद्या। ज्ञान वा विद्या ये सम्पूर्ण सृष्टि-पदार्थों के बीच उत्तम है। ज्ञान सुख का कारण है, ज्ञान के विना सुखकारक पदार्थ भी दु:खकारक होता है, क्योंकि ज्ञान के विना पदार्थ की योग्य योजना करते नहीं बनती। अनन्त ज्ञान ईश्वर का है इसीलिए ''**अनन्ता वै वेदा:**''[2] ऐसा वचन है। अनन्त यह उसकी संज्ञा है। अनन्त ज्ञान-सम्पन्न परमेश्वर मनुष्य की योग्यता बढ़ाने के लिए और उसे ऊँचे दरजे को पहुँचाने के लिए सहज सदा प्रवृत्त है और इसी हेतु को सफल करने के लिए विद्या का प्रकाश करता है, सो वही प्रकाश 'वेद' है। मनुष्य इस अनन्त ज्ञान के लिए अर्थात् वेद-ज्ञान के अर्थ योग्य अधिकारी है। इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य से नहीं है।

* आषाढ़ शुक्ला १० वि० सं० १९३२।

१. यजुर्वेद ३६। १८॥ २. तैत्तिरीयब्राह्मण ३। १०। ११॥

अब यदि ईश्वर साकार नहीं, तो उसने वेद का प्रकाश कैसे किया? ऐसा प्रश्न उद्भव (=उत्पन्न) होता है। तालु, जिह्वा, ओष्ठ आदि जिस अधिकरण में नहीं हैं तो वहां से शब्दोच्चारण कैसे बनेगा?

इसका उत्तर देना सरल है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो फिर सहज ही में यह सोच सकते हैं कि उसे मुखादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती। शब्दोच्चारण के संयोगादि कारण अल्प-शक्ति वालों को अपेक्षित होते हैं। किञ्च—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥[1]

आप सब यह स्वीकार करते हैं कि हाथ के विना ईश्वर ने सब सृष्टि की रचना की। फिर भला मुँह विना वेद की रचना क्यों न हो सकेगी?

कोई यदि ऐसी शङ्का करे कि वेद-रूपी पुस्तकों की रचना तो शक्य काम है इसके लिए ईश्वर की साक्षात् कृति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता? परन्तु इस स्थल पर जरा विचार करना चाहिए। विद्या और जड़ सृष्टि-रचना में महत् अन्तर है। जड़-रचना ही केवल परमेश्वर ने कर दी तो इससे उसका बड़ा माहात्म्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विद्या के सम्मुख जड़ सृष्टि-रचना कुछ भी नहीं है। इसलिए विद्या का कारण भी ईश्वर ही है, ऐसा मानना चाहिए। अन्य क्षुद्र पदार्थ निर्माण करके विद्यारूपी वेद ईश्वर उत्पन्न न करे, यह कैसे [सम्भव] हो सकेगा?

अब वेद-विद्या ईश्वर से उत्पन्न हुई तो इसका तात्पर्य क्या है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। तो उसका उत्तर यह है कि आदि विद्या अर्थात् सब विद्याओं का मूल तत्त्वमात्र ईश्वर द्वारा प्रकाशित हुआ। उसका विशेष प्रभाव मनुष्यों के हाथों से अभ्यास द्वारा होता है।

अब यह आदि-विद्या अर्थात् वेद ईश्वर ने प्रकाशित किए हैं, उसके प्रमाण—

(१) प्रथम प्रमाण यह कि वेद में पक्षपात नहीं। ईश्वर सब जगत् पर [समान रूप से] अनुग्रह करने वाला है। इसलिये तत्प्रणीत जो वेद, उसमें पक्षपात का रहना कैसे सम्भव होगा? इसी तरह ईश्वर न्यायकारी है, इसलिये उसमें पक्षपात की सम्भावना नहीं हो सकती। जिसमें पक्षपात

१. तुलना करो—श्वेताश्वतर उपनिषद ३। १९॥

हो वह विद्या ईश्वर-प्रणीत नहीं है। इसका उदाहरण—वेद की भाषा क्या [है]? संस्कृत ही ना? संस्कृत भाषा वेदों की है क्या यह पक्षपात नहीं है, ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। [क्योंकि] संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है। अंग्रेजी सदृश भाषायें उसमें परम्परा से उत्पन्न हुई हैं एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है। 'वयम्' इस संस्कृत शब्द में के 'यम्' को सम्प्रसारण होकर 'वी' यह शब्द उत्पन्न हुआ—उसी तरह 'पितर' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयम्' से 'यू' और 'आदिम' से 'आदम' इत्यादि। ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार से भी होते हैं। इसके विषय में बुद्धिमानों को कहने की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं। ईश्वर में जैसा अनन्त आनन्द है उसी तरह संस्कृत-भाषा में भी अनन्तानन्द है। इस भाषा के सदृश, मृदु, मधुर और व्यापक सर्व भाषाओं की माता, ऐसी दूसरी कौन सी भाषा है? अर्थात् कोई भी दूसरी नहीं।

अब यदि कोई कहे कि यह भाषा एक ही देश की क्यों होनी चाहिए? तो देखो, संस्कृत-भाषा एक ही देश की नहीं है। सर्व भाषाओं का मूल संस्कृत में है। इसलिए सर्वज्ञान का मूल जो वेद, वे भी संस्कृत में हैं। जिस-जिस देश में संस्कृत भाषा पहुँची, उस-उस देश के विद्वान् लोगों के मन का आकर्षण करती जाती है और यह दूसरी भाषाओं के मातृ-स्थान में है, ऐसी योग्यता प्राप्त करती जाती है।

फिर देखो कि वेद ही में की कुछ-कुछ मुख्य-मुख्य बातों का प्रचार जगत् के सारे देशों में चल रहा है। यहूदी लोग सदा वेदी रचते और यज्ञ करते थे, यह ज्ञान उन्हें कहां से प्राप्त हुआ था? उन्हें होता, उद्गाता, ब्रह्मा इनकी व्यवस्था के साथ यज्ञ करना विदित नहीं। परन्तु इसमें कुछ विशेष भेद नहीं। हम आर्यों की रीति की उन्हें भूल हुई। इसी तरह पारसी लोग भी अग्यारी में अग्नि पूजा करते हैं। क्या यह आचार वेद-मूलक नहीं है?

वेद में पक्षपात नहीं, यह स्पष्ट है। यहूदी लोग अन्य लोगों से द्वेष करना सीखे थे, मुसलमान लोग दूसरों को 'काफिर' कहते हैं और उनके धर्म-पुस्तकों में ऐसा करने की प्रेरणा की गई है, परन्तु इस प्रकार के अभिमान के लिए वेदों में उत्तेजन नहीं है। इसलिए वेद ईश्वर प्रणीत है ऐसा [सिद्ध] होता है।

२—द्वितीय प्रमाण—वेद यह सुलभ ग्रन्थ है। अर्वाचीन पण्डित

अवच्छेदक-अवच्छिन्न पदों को घुसेड़ कर बड़े लम्बे-चौड़े परिष्कार करते हैं। परन्तु उन परिष्कारों में केवल शब्द-जाल मात्र रहता है, विशेष अर्थ-गाम्भीर्य नहीं होता। इस प्रकार के वेद ग्रन्थ नहीं हैं।

जब कोई कहे कि दुर्बोध के कारण परिष्कार में काठिन्य पाण्डित्यसूचक है, तो आप जानते हैं कि जब कौवे आपस में लड़ते हैं तब उनकी भाषा का अर्थ किसी को भी नहीं समझ पड़ता, तो क्या दुर्बोध के कारण काक-भाषा में पाण्डित्य की सम्भावना होगी? कभी नहीं। अस्तु, वाक् सुलभता और अर्थ-गाम्भीर्य्य, यही सामर्थ्य का प्रमाण है। ज्ञानप्राप्ति क्लेश विना होना यह ईश्वर-कृति का दर्शक है। यों ही "**शक्यतावच्छेदक शक्यतावच्छिन्न**" कहने की जगह सुलभ शब्दों से जो भगवान् वात्स्यायनजी ने प्रतिपादन किया है, उसे देखो—

प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानीति शक्यप्राप्तिः।[१]

इसी सुलभता के कारण वात्स्यायन महापण्डित क्या आधुनिक शास्त्रियों की अपेक्षा गंवार ठहराया जा सकता है? नहीं-नहीं। फिर वात्स्यायन की भाषा की अपेक्षा तो वेदों की भाषा लाख-दरजा सरल है।

(३) तृतीय प्रमाण—वेदों से अनेक विद्या और शास्त्र सिद्ध होते हैं। जैसे—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोचीर्दशोर्ध्वाः।
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु
ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥[२]

मनुष्यों के बनाए हुए पुस्तकों में एक ही विषय का प्रतिपादन रहता है। जैमिनिजी के सारे मत का प्रवाह एक धर्म और धर्मी इस विषय में विचार करते-करते पूर्ण हुआ। भगवान् कणाद के मन का ओघ[३] षट् पदार्थों के विवेचन के विचार ही में समाप्त हुआ। इसी तरह वैद्यक ग्रन्थ, व्याकरण-भाष्य और योग-शास्त्र की व्यवस्था लगाने में भगवान् पतञ्जलिजी की सारी आयु बीती। परन्तु वेद ये अनन्त विद्या के अधिकरण हैं, इसलिए

१. न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य १।१।३२॥ २. यजुर्वेद १६।६४॥
३. "ओघ" मराठी शब्द है इस का अर्थ प्रवाह है।

वेद मनुष्य-कृत नहीं है, किन्तु ईश्वर प्रणीत ही हैं। अब सारी विद्याओं के अधिकरण वेद हैं अर्थात् वेद में सारी विद्याओं के मूलतत्त्वों का दिग्दर्शन मात्र है। उदाहरणार्थ देखें—

वाराह्योपानहोपनह्यामि०[१]

सहस्त्रारित्रां शतारित्रां नावमित्यादि०[२]

एका च मे तिस्त्रश्च मे पञ्च च मे० ॥[३]

प्रथम उद्धरण में रचना विशेष[३] का निरूपण किया हुआ है, दूसरे में नौका-शास्त्र का निरूपण किया है और तीसरे में गणित-शास्त्र का निरूपण बतलाया है।

अब यदि कोई पूछे कि ईश्वर ने सब विद्याओं के मूल तत्त्व ही क्यों प्रकाशित किए और साद्यन्त विद्या और कला का क्यों विवरण नहीं किया? तो उसमें मेरा यह कहना है कि जैसे ईश्वर ने मनुष्यमात्र के बुद्धि व्यापार का, उसी तरह बुद्ध्युन्नति का भी अवकाश रखा।

(४) चतुर्थ—कोई-कोई ऐसी शंका भी करते हैं कि वेद अनेक पुरुष घटित हैं, तो इसका यह उत्तर है कि यदि अनेक पुरुष घटित वेद होते तो वेदों में [जो] एकवाक्यतादि गुण हैं, उनकी व्यवस्था कैसी लगाओगे?

पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्यायें भरत-खण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं। जैसे विमान-विद्या, अस्त्र-विद्या इत्यादि। विद्याओं के पुस्तक नष्ट होने से वे विद्यायें भी नष्ट हो गईं। मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया। जैनियों ने भी ऐसा ही अनर्थ किया। सन् १८५७ के साल के लगभग जब दंगा-फसाद हुआ था, उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवे के भारी पुस्तकालय में आग लगा दी थी—ऐसी दन्त-कथा है। इस पर विचार करो कि कितनी विद्या नष्ट होती आई है।

उपरिचर नामक राजा था। वह सदा भूमि को स्पर्श न करता हुआ हवा ही में फिरा करता था। पहले के जो लोग लड़ाइयाँ लड़ते थे, उन्हें

१. उपानह्=जूते की रचना।

२. 'शतारित्रां नावम्' इत्यादि पाठ ऋग्वेद १।११६।५ में मिलता है।

३. यजु० १८।२४॥

विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी। मैंने भी एक विमान-रचना का पुस्तक देखा है। भाई! उस समय दरिद्रों के घर में भी विमान थे। भला सोचो कि उस व्यवस्था के सम्मुख रेलगाड़ी की प्रतिष्ठा क्या हो सकती है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

(५) पञ्चम—वेद सनातन सत्य हैं, इससे उनका सामर्थ्य भी बहुत बड़ा है। देखो शार्मण्य (जर्मन) देशों के लोग वेदों का अवलोकन कर उनकी कीर्ति और गुणानुवाद गा रहे हैं। इसी तरह सब देशों के विद्वानों के मन का आकर्षण वेद के सत्य के सामर्थ्य से हो रहा है, सारांश यह है कि सत्यता, एकवाक्यता; सुगम रचना, भाषा-लावण्य, निष्पक्षपातता, सर्व विद्यामूलकत्व, ये गुण वेदों ही में केवल सम्भावित होते हैं। इसी से वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। इन दिनों हमारे अंग्रेजी पढ़े हुए लोग अंग्रेजी ग्रन्थों की खटपट देखकर वही सच है, ऐसा मानते हैं, सो यह ठीक नहीं है। [उधर] हमारे बड़े भाई शास्त्री लोग जो परम्परा न छोड़ने के विषय में हठ करके बैठे हैं, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रेल में प्रवास करते समय उनकी परम्परा का हठ किधर जा घुसता है? क्या बाप अन्धा हो तो पुत्र को भी अपनी आँखें फोड़ लेनी चाहियें? मतलब [यह है कि] इतनी परम्परा को पकड़ रखने से धर्म प्रबन्ध में बड़ी गड़बड़ मच गई है। इस गड़बड़ को विचारने से कलेजा धड़कने लग जाता है।

देखो! चारों ओर जाति-विभाग होकर हम निर्बल हो गए हैं। पहले आर्य लोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुंडी अर्थात् बन्दूकें भी थीं। यह सब हमारा बल किधर चला गया? आग्नेय अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ? आजकल के पण्डित लोग ऐसा कहते हैं कि पहले केवल मन्त्रोच्चारण के सामर्थ्य से आग्नेयास्त्रादि निर्माण होते थे; परन्तु ऐसा नहीं है। मन्त्रों के कारण आग उत्पन्न होती थी, यदि ऐसा मानें तो मन्त्र बोलने वाला स्वयं कैसे नहीं जलता था? तो भाई ऐसा नहीं है। मन्त्र अर्थात् विशेष अक्षर आनुपूर्विक अर्थात् शब्दों में और अर्थों में संकेत-मात्र सम्बन्ध है और [दाहक] सामर्थ्य नहीं। जैसे अग्नि शब्द में दाहकत्व नहीं है, तद्वत् मन्त्र जपने में कोरा समय खोना है। व्रतबन्ध (जनेऊ) के समय लड़के का अल्प सामर्थ्य रहने से एक ही मन्त्र उसे वार-वार रटना पड़ता है। इससे यह मन्त्र का एक सच्चा विनियोग नहीं है। मन्त्र का अर्थ है विचार। राजमन्त्री कहने से विचार करने वाला, यही सत्य अर्थ होगा। यदि यह

अर्थ न मानो तो राजमन्त्री वा अमात्य का, राजा का माला लेकर जप करने वाला ऐसा अर्थ करना पड़ेगा, तो मन्त्री शब्द का अर्थ जप करने वाला नहीं, किन्तु विचार करने वाला ही होता है। तो वेद-मन्त्र का सच्चा विनियोग करना अर्थात् बुद्धि-वैशद्य, बुद्ध्युन्नति, बुद्धि-प्रकाश, बुद्धि-सामर्थ्य को बढ़ाना यह है। इस प्रकार का सामर्थ्य पहले आर्यों में था। वे एक ही मन्त्र को लेकर जपने नहीं बैठते थे, परन्तु अनेक मन्त्रों की मीमांसा करते थे। इसीलिए वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्रादि उन्हें विदित थे अर्थात् पदार्थों के गुणों को जान उनकी विशेष योजना वे करते थे। विशल्यौषधि नामक उन्हें एक औषधि विदित थी जिससे कैसा ही जख्म क्यों न हो इस औषधि से झट से भर आता था। पहले बंगाल में आर्य लोगों की वैद्यक विद्या की लोग हंसी उड़ाते थे। परन्तु डाक्टर महेन्द्रनाथ सरकार सदृश विद्वान् पण्डित ने चरक सुश्रुत सदृश ग्रन्थों का उज्जीवन किया, जिससे अंग्रेजी सीखे हुए लोगों का भ्रम दूर हुआ। महेन्द्रनाथ ने प्राचीन आर्यग्रन्थों का उज्जीवन करने के लिए बहुत-सा धन इकट्ठा करने का प्रयत्न चलाया है, सो यह उनका भूषण है।

पदार्थ-ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी क्षमता है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥[1]

सृष्ट पदार्थों के विवेचन करने के लिए, उसी तरह ईश्वर के ज्ञानप्राप्त्यर्थ बुद्धि-सामर्थ्य को सम्पादन करना, यह वेदाध्ययन का प्रयोजन है। वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई और व्यासजी ने संग्रह अर्थात् संहिता बनाई, ऐसा आजकल के पण्डित लोग कहते हैं, परन्तु भाई! इसमें उनकी भूल है; क्योंकि मनु ने लिखा है कि ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियों से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया। ब्रह्माजी का चतुर्मुख ऐसा नाम है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सचमुच उनके चार ही मुख होंगे। यदि सत्य में ऐसे चार मुख होते तो बेचारे ब्रह्माजी को बड़ा दु:ख हुआ होता और फिर बेचारे सुख से कैसे सोते? तो ऐसा नहीं है, किन्तु **'चत्वारो वेदा मुखे यस्य इति चतुर्मुखः'** ऐसा समास करना चाहिए। प्रथमारम्भ में ईश्वर-ज्ञान से इन चार ऋषियों के ज्ञान में वेद

१. मनुस्मृति १।२३॥

प्रकाशित हुए और उनसे ब्रह्माजी ने सीखे और पश्चात् उन्होंने सारी दुनिया भर में फैलाये, और उनसे मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ। इसलिए उनका 'वेद' ऐसा नाम है, और पहले ऋषि लोग एक दूसरे से सुनते आए, 'श्रुति' ऐसा वेदों का नाम है।

अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इन चार ऋषियों को वेद प्रथम प्राप्त हुए। इस पर कोई कहेगा कि ये आदि में चार ही ऋषि क्यों थे, एक या अधिक क्यों न थे, तो ये शंकायें पाँच या तीन भी होते, तब भी बनी रहतीं। यह अशोकवनिका न्याय[1] होगा।

अब कोई कहे कि वेद आधुनिक हैं, नित्य नहीं हैं; क्योंकि ब्रह्मदेव के मन में ज्ञान-लहर उत्पन्न हुई, और उसी समय से वेद की परम्परा चल सकी है, फिर नित्य कैसे? सो भाई! इस प्रकार नहीं है। देखो ईश्वर का अपूर्व ज्ञान है, और ज्ञान-रचना नित्य है, सृष्टि का तथा वेदों का आविर्भाव तिरोभाव ही केवल [होता] है, क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।[2]

इत्यादि वचन ईश्वरीय नित्य ज्ञान के प्रमाण हैं।

ब्रह्माजी के पीछे विराट् उत्पन्न हुआ, फिर वशिष्ठ, नारद, दक्ष, प्रजापति, स्वायंभुव मनु आदि हुए। इन ऋषियों के मन में ईश्वर ने प्रकाश किया।

अब यह व्याख्यान पूर्ण करने के पूर्व वेद-विषय में साधारण विचार करना चाहिए।

कोई-कोई कहते हैं कि चांद, सूरज आदि भूतों की पूजा वेदों में उपदिष्ट है; परन्तु यह कहना बिल्कुल सम्भव नहीं।

१. अशोकवनिका न्याय का भाव यह है कि रावण ने सीता को अशोकवन= अशोकवाटिका में नजरबन्द रखा, उस पर कोई कहे कि अशोकवन में ही क्यों रखा, अन्यत्र क्यों नहीं रखा? यह प्रश्न अशोकवन से अन्यत्र भी सीता को रक्खा जाता, तब भी उत्पन्न होता। यही स्थिति प्रकृत प्रसंग में है, यह वक्ता का अभिप्राय है।

२. ऋग्वेद १०।१९०।३॥

३. यजुर्वेद ३२।१॥

(शुक्ल यजुर्वेद)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥[१]

तथा—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति [अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः]॥[२]

अग्नि, इन्द्र, वायु ये सब परमेश्वर ही के नाम हैं। इसलिए अनेक देवताओं का वाद बिल्कुल सम्भव नहीं।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥[३]

परिच्छेद, प्रकार, विकार इत्यादि सम्बन्ध से एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न नाम हो सकते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि वेदों में बीभत्स कथा भरी हुई है। '**माता च ते पिता च ते**'[३] इस वचन पर महीधर ने भाष्य कर बड़ा ही बीभत्स रस उत्पन्न किया है। 'गभे' के स्थान पर वर्ण विपर्यास कर 'भगे' यह शब्द निकाला है, परन्तु इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण को देखो—

वृक्षो राज्यं भगः श्रीः स्पर्शो राष्ट्रं श्रीर्वा वृक्षस्याग्रम्।[४]

इस प्रकार राष्ट्र के स्थान पर इस वचन की योजना करने से बीभत्सपन नहीं रहता।

इसी तरह पुराणों में काश्यपीय प्रजा का वर्णन है। मरीचि का पुत्र कश्यप है, दक्ष की साठ कन्याओं में से तेरह कन्याओं के साथ कश्यप का विवाह हुआ; इस प्रकार का वर्णन किया हुआ है। इस कथा के लिए वेदों में कहीं भी आधार नहीं है। कश्यप अर्थात् आद्यन्त के विपर्यास से 'पश्यकः' परमात्मा का नाम तो हो सकता है।

---

१. यजु० २३।२४॥ २. ऋग्वेद १।१६४।४६॥
३. मनुस्मृति १२।१२२, १२३॥ ४. शतपथ० १३।२।९.७॥

पश्यकः सर्वदृक् परमात्मा गृहीतः।[१]

इसी प्रकार किसी ने कोई कथा करने के लिए 'ब्रह्मोवाच' लगाकर कुछ कथा बना अनेक पुराणों का पाखण्ड रचा है। इस प्रकार का दुष्ट उद्योग आधुनिक सम्प्रदायी लोगों ने तो बहुत ही किया है।

ब्रह्मोवाच

टका धर्मष्टका कर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते॥

इस सम्प्रदाय का बाजार आजकल खूब गरम है। इसके कारण जो दुकानदारी प्रारम्भ हुई है उसे सम्प्रदायी लोग क्यों कर छोड़ेंगे। यजमान की चाहे तीन जन्म तक की हानि हो तो उनका क्या मतलब? इसलिए जब सब स्त्री-पुरुष सर्वत्र वेदों का अवलोकन करेंगे, तब इन सम्प्रदायियों की लूट बन्द होगी, तब ही कण्ठी द्वारा वैकुण्ठ मिलने का सुगम मार्ग बन्द होगा। भाई! सोचो जो एक ही कण्ठी से वैकुण्ठ मिल जाय तो विसाती को कुल कण्ठियों की पेटियां गले में लटकाने से संसार में क्यों सुख नहीं होता? चन्दन, तिलक और छापों से यदि स्वर्ग, मिल जाय तो सारे मुंह पर चन्दन लीपने से क्यों न सुख मिले? इसलिए भाई! सोचो चन्दन, तिलक, कण्ठी ये सब पाखण्ड सम्प्रदायी लोगों का द्रव्य-हरण करने के लिए हैं। ये सच्चे तीर्थ नहीं हैं। सच्चे तीर्थ कौन से हैं सो इनके विषय में वचन है—

अहिंसन् सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्यः[२]**। सतीर्थ्यः सब्रह्मचारी**[३] **विद्याव्रतस्नातः**[४]**।**

ब्रह्मचारी पुरुष विद्यास्नात, व्रतस्नात होते थे, इससे वेदविद्या ही मुख्य तीर्थ है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

---

१. कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्। तैत्तिरीयारण्यक १।८॥
२. छान्दोग्योपनिषद् ८।१५।१॥
३. ये दोनों पद 'तीर्थे ये, चरणे ब्रह्मचारिणि (अष्टा० ६।३।८७, ८६ पाणिनीय सूत्रों के क्रमशः उदाहरण हैं।
४. पारस्कर गृह्यसूत्र २।५।३२॥

षष्ठ उपदेश

जन्म-विषयक

[शनिवार ता० १७ जुलाई १८७५* को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० १७ जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे दिए जन्मविषयक व्याख्यान का सारांश—]

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरै रङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥[१]

[स्वामी जी ने प्रथम यह ऋचा कही।]

आज के व्याख्यान का विषय 'जन्म' यह है। अब जन्म का अर्थ क्या है इसका लक्षण प्रथम करना चाहिए। शरीर के व्यापार और क्रिया करने योग्य परमाणुओं का संघात जब होता है तब जन्म होता है, अर्थात् सब साधनों से युक्त होकर क्रिया-योग्य जब शरीर होता है, तब जन्म होता है। सारांश यह है कि इन्द्रिय और (प्राण) अन्त:करण ये शरीर के मध्य जब उपयुक्त होते हैं तब जन्म होता है, जन्म अर्थात् शरीर और जीवात्मा इनका संयोग। इससे स्पष्ट है कि शरीर और जीवात्मा इनका वियोग मरण कहलाता है।

अब इस जन्मान्तर के विषय में अनेक मत हैं। कोई कहते हैं कि मनुष्य का एक ही जन्म है अर्थात् मरने के पश्चात् फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कोई कहते हैं कि जन्म अनेक हैं अर्थात् मनुष्य को मरने पर फिर दूसरे जन्म [प्राप्त होते] हैं।

हमारा सिद्धान्त—मनुष्य का पुनर्जन्म है अर्थात् जन्म अनेक हैं—ऐसा है।

एकजन्मवादियों के और अनेक जन्मवादियों के कथन में बहुत सी युक्तिप्रत्युक्तियों का आधार है। अब उन युक्ति-प्रत्युक्तियों का विचार करें।

* आषाढ़ शुक्ला १४ वि० सं० १९३२॥

१. यजुर्वेद २५।२१॥ ऋग्वेद मं० १ अनु० १४ सू० ८९ मं० ८॥

'गतानुगतिको लोकः' इस न्याय से परम्परागत ज्ञान का स्वीकार करना यह विद्वानों को उचित नहीं। तर्क-वितर्क करके निर्णय करना, यह विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है।

एकजन्मवादी ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं कि इस जन्म के पूर्व दूसरा जन्म होता तो उस जन्म का हाल कुछ भी तो स्मरण रहना चाहिए था और जब कि पूर्व जन्म का कोई स्मरण नहीं है तो इससे पूर्व जन्म न था, यही कहना ठीक है।

इस पूर्वपक्ष का समाधान हम यों करते हैं कि जीव का ज्ञान दो प्रकार का है—स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक है। स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है और नैमित्तिक ज्ञान की घटती-बढ़ती, न्यूनाधिक और हानि-लाभ आदि ये सब प्रसंग आते रहते हैं। इसका दृष्टान्त—जैसे अग्नि में 'दाह करना' यह स्वाभाविक धर्म है अर्थात् यह धर्म तो अग्नि के परमाणुओं में भी रहता है। यह उसका निज धर्म उसे कभी भी नहीं छोड़ता। इसलिए अग्नि की दाहक-शक्ति का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान होता है। अब जीव को—''मैं हूँ'' अर्थात् अपने अस्तित्व का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान समझना चाहिए। फिर भी देखो कि [अग्नि के] संयोग के कारण जल में उष्णता धर्म उत्पन्न होता है; और वियोग होने से वह उष्णता धर्म नहीं रहता। इसलिए जल के उष्णता विषय का जो ज्ञान है वह नैमित्तिक ज्ञान है। जल में शीतलता विषय का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान है; परन्तु चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; वह आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है—देश, काल और वस्तु। इन तीनों का जैसा जैसा कर्मेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है वैसे-वैसे संस्कार आत्मा पर होते हैं। अब जैसे-जैसे ये निमित्त निकल जाते हैं वैसे-वैसे इस नैमित्तिक ज्ञान का नाश होता है, अर्थात् पूर्व जन्म का देश, काल, शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता। इसको छोड़ इस विचार में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि ज्ञान का ही स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपत् क्रम से होता है अर्थात् एक ही समयावच्छेद करके आत्मा के बीच दो तीन ज्ञान एकदम स्फुरित हो सकते नहीं। इस नियम की लापिका से पूर्वजन्म के विस्मरण का समाधान भली-भांति हो जाता है। इस जन्म में 'मैं हूं' अर्थात् अपनी स्थिति का ज्ञान आत्मा को ठीक-ठीक रहता है, इसलिए, पूर्वजन्म के ज्ञान

का स्फुरण आत्मा को नहीं होता।

फिर इसी जन्म ही में कैसी-कैसी व्यवस्था होती है इसका ही विचार करें। मैं ही जो इतना भाषण कर चुका हूँ, उस भाषण का उसी तरह उस सम्बन्ध के मनोव्यापार का, सब परम्पराओं का मुझे स्मरण कहां रहा है? हां भाषण के स्थूलावयव का तो अवश्य स्मरण है; परन्तु बोलते-ही-बोलते सूक्ष्म अवयवों का विस्मरण हो गया है। इससे यह नहीं मानते बनता कि मैंने भाषण नहीं किया, फिर देखो बाल्यावस्था में जो बातें हुईं उनका अब विस्मरण हुआ है। इससे बाल्यावस्था थी ही नहीं—ऐसा मानते नहीं बनता। पुनरपि जागरित अवस्था में जिन-जिन बातों का स्मरण रहता है, उन-उन बातों का निद्रा में सर्वथैव विस्मरण होता है। इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म का स्मरण नहीं होता, इतने ही से पूर्वजन्म की असम्भवता सिद्ध नहीं होती। दो जन्म के बीच मृत्यु आ फंसी है और मृत्यु होना अर्थात् महाव्यावृत अन्धकार के बीच में गिरना है।

फिर देखो—मन का धर्म कैसा है, इसका विचार करो। मन का स्वभाव ऐसा है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय में राग द्वेष उत्पन्न करता है। सान्निध्य छूटने से उसको विस्मरण होता है। फिर अर्थापन्न ही पूर्व जन्मावस्था में दूरगत पदार्थ-विषयक यदि आत्मा को विस्मरण होता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अर्थात् इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

मैं एक दृष्टान्त देता हूं। पाठशाला में कुछ विद्यार्थी विद्याध्ययन करते रहते हैं। उनमें से कुछ लड़कों को अपने विषयों की समझ झट उत्पन्न हो जाती है, दूसरों को समझने में कुछ विलम्ब लगता है और तीसरे को तो उसी विषय को उपस्थित करने में बड़ी ही कठिनता पड़ती है। इस प्रकार यहीं-के-यहीं ही उत्तम बुद्धि, मध्यम बुद्धि और अधम बुद्धि ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार दीखते हैं, तो फिर भला मरने के पीछे पूर्व जन्म के ज्ञान की उपस्थिति के विषय [में] कितनी दिक्कत होती होगी, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। इससे जन्म एक ही है, ऐसा प्रमाण मानना, यह बिल्कुल युक्तिविरुद्ध है।

ज्ञान यह आठ प्रकार का होता है। **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव** और **अभाव**—ऐसे आठ प्रकार हैं। इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान यह तो बिल्कुल ही क्षुद्र है। अव्यभिचारी, अव्यपदेशी और निश्चित ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से कभी भी

नहीं होता।

इससे दूसरे ज्ञानसाधन का अवलम्बन करना चाहिए। दृष्टान्त कि कोई वैद्य नहीं है, ऐसे पुरुष को यदि रोग हो जाय तो मुझे किस कारण से यह रोग हुआ, यह नहीं जान सकता। तो फिर उस विचारे को रोग के निदान का ज्ञान कहां से हो सकता है? जिस रोगी को ऐसा ज्ञान नहीं है तो इससे उसे रोग ही नहीं है, यह कहते नहीं बनता। क्योंकि कारण विना कार्य नहीं होता। इसलिए इस रोग का भी कुछ-न-कुछ कारण होना ही चाहिए—ऐसा अनुमान होता है। रोगी को कारण का ही केवल ज्ञान नहीं, इससे रोग का कारण नहीं, ऐसा भी क्या कभी किसी ने माना है? कभी नहीं। आगे रोग देखकर और उसका निदान और चिकित्सा करके अमुक-अमुक कारण से यह रोग उत्पन्न हुआ है, ऐसा अनुमान प्रमाण के बल से वैद्य ठहराता है और वह बात हमें भी स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी योग्यता अनुमान प्रमाण की है, अस्तु।

परमात्मा न्यायकारी और निष्पक्ष है, यह बात भी सब स्वीकार करते हैं। ऐसे न्यायकारी परमात्मा द्वारा निर्मित संसार के लोगों की स्थिति के बीच और सुख लाभ में बड़ा ही भेद दीखता है; यह भी निर्विवाद है। इसके विषय में एक दृष्टान्त देना चाहिए। देखो एक ही मां-बाप के दो पुत्र हुए और उन्हें एक ही गुरु के पास अध्ययन के लिए रखा और उनके खाने-पीने की व्यवस्था भी एक ही सी रखी। ऐसा होते हुए भी एक लड़के की धारणाशक्ति उत्तम होने से वह बड़ा विद्वान् और नीतिमान् होता है और दूसरा भूलने वाला मूर्ख, ऐसा ही रहता है। सो बतलाओ इसका कारण क्या है? इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म में तो कुछ भी नहीं है और भेद तो प्रतीत होता है। ऐसा निरर्थक भेद ईश्वर ने किया, ऐसा कहें तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है। ईश्वर ने नहीं किया, ऐसा कहें तो भेद की उत्पत्ति होती नहीं। इससे पूर्व जन्म है, ऐसा ही मानना अवश्य होता है। पूर्व जन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह व्यवस्था होती है, ऐसा माने विना दूसरी कोई भी कल्पना जमती भी नहीं, अस्तु।

एक-जन्मवादी ऐसा कहेंगे कि ईश्वर स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी है। जैसे कोई माली अपने बगीचे में जैसे चाहे वैसे वृक्ष लगाता और उन वृक्षों में खाद डाल उन्हें बढ़ाता है, उसी तरह जगत् में ईश्वर की लीला है। इस प्रकार का स्वातन्त्र्य ईश्वर में मानने से ईश्वर के न्यायकारित्व की

हानि होती है और उन्मत्ता प्रसंग ईश्वर पर आता है। परन्तु सब प्रकार सृष्टि-क्रम के और वेद के अवलोकन से परमेश्वर न्यायी है, ऐसा सिद्ध होता है। तब इस विरोध का निराकरण करने के लिए पूर्वजन्म था, ऐसा मानना ही चाहिए। यदि ऐसा न मानें तो स्थिति-भेद कैसे उत्पन्न होता है, इसका सम्यक् (ठीक-ठीक) उत्तर मिलता नहीं। संग-प्रसंग भेद से यह स्थिति भेद हुआ ऐसा भी कहते नहीं बनता; क्योंकि संग-प्रसङ्ग भेद की कल्पना जहाँ नहीं है, ऐसी जो माता के उदर की स्थिति है, वह भी सबों के लिए कहां समान रहती है। पेट में होते हुए एक जीव के लिए सुख होता है तो दूसरों को वहीं क्लेश होते हैं। एक धर्मात्मा के पेट से जन्मता है और दूसरा पाप-स्थान में जन्म लेता है। तो बताओ यह भेद कहां से और क्योंकर हुआ? पूर्व-जन्म न मानने से इस भेद के कारण ईश्वर पर कितना भारी दोष आता है, इसका कुछ विचार करो।

पूर्व-जन्म विषयक उपर्युक्त अनुमान के सिवाय एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जीव की शरीर-चेष्टा होने से पूर्व प्रथम हमें प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर संस्कार होता है, फिर स्मृति होती है और पश्चात् किसी कार्य के विषय में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, यह प्रकार सर्वत्र प्रतीत होता है। अब देखो कि शरीर-योनि में से बच्चा बाहर पड़ने के पूर्व पेट में था, बाहर गिरते ही श्वास लेने वा रोने लगता है, तो यह प्रवृत्ति उसे पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगी? माता का स्तन खींचकर दूध पीने लग जाता है, यह प्रवृत्ति कहाँ से हुई? दूध के विषय में तृप्त होने पर निवृत्त होता है, तो यह निवृत्ति भी किस प्रकार की है? माता ने कुछ धमकी दी, तो झट बच्चा समझता है, तो यह पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगा? इस से निश्चयपूर्वक पूर्वजन्म था, यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है।

पुनरपि, सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का क्रम यदि देखा जाय तो उस समय सादृश्य से जीव सृष्टि का भी पूर्व-जन्म था। यह हमारा मध्यम जन्म है और मोक्ष होने तक अभी भी जन्म होने वाले हैं। इस परम्परा से इस मध्य-जन्म की सम्भावना तभी हुई जब कि पूर्व-जन्म पहले था, क्योंकि यदि कुयें में जल न हो तो डोल में पानी कहां से आवे? इस दृष्टान्त की योजना इस स्थल पर ठीक होती है।

अब कोई यह कहे परमेश्वर तो सदा व्यवस्था करते हुए बैठा है

और यह व्यवस्था कभी तो बिगड़ती है और कभी सध भी जाती है। जैसे ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में कहा है कि ईश्वर ने एक सुन्दर बगीचा बनाया और उसमें एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा रख उसमें एक ज्ञानवल्ली भी लगा रखी और परमेश्वर ने दोनों स्त्री-पुरुष को आज्ञा दी कि तुम ज्ञान के पेड़ के फल मत खाना अर्थात् तुम अज्ञानी रहो, तब सहज ही उन स्त्री-पुरुषों ने ईश्वरीय आज्ञा को तोड़ा तो परमेश्वर को बड़ा गुस्सा आया, फिर तो ईश्वर ने उन्हें वहां से निकाल दिया। परन्तु अब सोचो कि यदि ईश्वर की व्यवस्था इस प्रकार बिगड़ गई तो वह सर्वज्ञ कैसे रहा? इसलिए ऐसी-ऐसी व्यवस्था ठीक नहीं। इसलिए एक-जन्मवाद भी नहीं जमता। ईश्वर सब जगत् का धारणमात्र करता है; परन्तु उसने कृति एक ही वार कर रखी है, ऐसा जानना चाहिए। कोई ऐसा न समझे कि उसने सात दिन श्रम किया और आठवें दिन आराम किया अर्थात् विश्राम लिया। यह कहना सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के विषय में किसी प्रकार सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार बगीचे के बीच जो व्यवस्था की, उसे एक समय भूला और फिर उसे ठीक करूं, यह ईश्वर के मन में आया; इसलिये उसने लोगों के पाप-निवारणार्थ यह व्यवस्था की, यह कहना भी ठीक-ठीक सम्भव नहीं होता। मनुष्य को स्वमत के विषय में सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है, यह मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु सुज्ञ पुरुषों को उचित है कि दुराग्रह को [परे] फेंक सत्य की परीक्षा करें, यही उनका भूषण है।

अब कोई ऐसा पूर्व पक्ष कहते हैं कि राजा पालकी में बैठता है और कहार पालकी ले जाता है। इसमें एक को सुख अधिक और दूसरे को दुःख अधिक है, ऐसा कहना, यह भ्रम है। राजा के मन में परचक्र की अथवा राज्यव्यवस्था की चिन्ता दुःख का पहाड़ उत्पन्न करती रहती है, इसलिए बाहर से जितना राजा को सुख होता है उतना ही अन्दर से दुःख रहता है। रात्रि को नींद आने में भी हाय बाँय मचती है। इधर देखो तो इसके बिलकुल विरुद्ध कहारों को बाहर से तो बड़ा क्लेश होता है, पालकी वहना (ले जाना) पड़ता है और रूखी-सूखी रोटी उसे मिलती है तो भी कम्बल डालकर लेटते ही गाढ़ निद्रा में सोता है अर्थात् उसे नींद स्वस्थता से आती है। इससे दोनों स्थितियों में सुख-दुःख समान ही हैं। इसलिए एक जन्म ही मानना ठीक है।

इस पूर्व पक्ष का समाधान सहज ही में किया जा सकता है—

श्रीमानों और दरिद्रियों को, सशक्तों और अशक्तों को सुख-दु:ख समान ही है, यह कहना सारे अनुभवों के विरुद्ध है। राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और भंगी के भी एक पुत्र हुआ। राजपुत्र को गर्भ समय में सुख, जन्मते समय सुख, आगे लड़कपन में भी सुख, खान-पीने के और दूसरे सब प्रकार के पदार्थ हाथ में ले सेवक लोग तैयार खड़े रहते हैं। इसके विरुद्ध भंगी के लड़के को गर्भ समय में दु:ख, जन्मते समय किसी पाषाण के सदृश पेट में से बाहर आ पड़ता है, बाल्यावस्था से खाने-पीने में भी रोना पीटना मचा रहता है, वस्त्र का तो नाम तक निकालते नहीं बनता, अन्न-जल के लिए कई वार रो-रो कर जी घबराना पड़ता है। सारांश-इस प्रकार के अनेक कार्य दृष्टिगत होते हैं तो बतलाओ! यह सुख-दु:ख का भेद कहां से आया? फिर देखो! सब मनुष्यों की 'सम्पत्ति मिले और अपने से श्रेष्ठ लोगों की सी स्थिति प्राप्त हो' यह स्वाभाविक इच्छा रहती ही है, यह भी तुम देखते ही हो। इस इच्छा के कारण सब संसार का क्रम चल रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि सुख-दु:ख का भेद वास्तविक है अर्थात् भ्रम नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। अब यदि सुख-दु:ख का भेद है और जन्म भी एक ही है, तो ईश्वर इससे अन्यायी ठहरता है। ईश्वर में अन्याय का आरोपण करना, यह हमारे प्रथम सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसलिए जन्म अनेक हैं, यही कहना योग्य है, अर्थात् ईश्वर न्यायकारी और जन्मान्तर के अपराधानुरूप जीवों को वह दण्ड देता है, अर्थात् जितना ही तीव्र पाप जीव करता है उतना ही उसे दु:ख भोगना पड़ता है, ऐसा सिद्ध होता है।

कोई-कोई ऐसा पूर्वपक्ष करते [हैं] कि मनुष्य [योनि में] पाप करने के कारण वह पशु योनि में गया, ऐसा कुछ काल के लिए मान भी लें; परन्तु पशु होकर "मैंने पाप किया इसलिए पशु-जन्म मुझे प्राप्त हुआ है" ऐसा यदि उसको ज्ञान नहीं है तो ज्ञान विना दण्ड भोगना, यह व्यवस्था किस प्रकार की है!

इसका समाधान—इस जन्म में भी ऐसी ही व्यवस्था दीखती है। दु:ख भोगते हुए भी दु:ख के कारण का ज्ञान कभी नहीं रहता। अघोरी बन बहुत सा खा लिया और फिर उसके कारण किसी रोग ने शरीर को जकड़ लिया, तो उस समय जो दु:ख होता है, उस दु:ख के कारण-उसके असल सबब का स्मरण होता हो, ऐसा कभी भी देखने में नहीं आता।

इसी तरह अन्यत्र बहुत सी व्यवस्था इस संसार में प्रतीत होंगी अर्थात् वैसी व्यवस्था मिल सकेंगी।

अस्तु, इस संसार में सुख-दु:ख के जो भेद दीखते हैं उनका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। कारण के विना ये कार्य नहीं हो सकेंगे। इन सुख-दु:ख के भेदों के कारण पूर्व जन्म के कर्म हैं। इसलिए शेषवत् अनुमान से सुख-दु:खादि के भेदों की व्यवस्था ठीक-ठीक लग जाती है। अब कर्मों के विषय में कहा जाय तो वे भी विचित्र हैं। नाना प्रकार के आत्मा पर जो संस्कार होते हैं उनके कारण नाना प्रकार के मानस कर्म उत्पन्न होते हैं। ईश्वर की ऐसी व्यवस्था है कि उन-उन कर्मों के योग से पाप-पुण्य उत्पन्न होने चाहियें। इस प्रकार पाप-पुण्य का हिस्सा विना भोगे छुटकारा नहीं होता, पापों को भोगना ही पड़ता है, वे कभी भी नहीं छूटते।

अब कोई ऐसा कहे कि ईश्वर की भक्ति, प्रार्थना आदि करने से उसे दया आती है और फिर वह पाप का दण्ड नहीं देता, सो इस पूर्वपक्ष का समाधान सरल है कि ईश्वर की भक्ति वा प्रार्थना से पूर्वकृत पापों का दण्ड नहीं चुकता; किन्तु यह तो सम्भव है कि आगे के होने वाले पापों से ही केवल निवृत्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो पाप करने के लिए यत्किञ्चित् भी भीति किसी को भी न होती।

अब इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी चाहिए। कोई-कोई ऐसी शंका करते हैं कि ईश्वर-सर्वज्ञ है, उसे हमारे मन के सारे भाव विदित ही हैं अर्थात् जैसे पतिव्रता की सी भक्ति किस की है और वेश्याओं के सदृश भक्ति किसकी है, यह उसे विदित है। हम मनुष्यों को तो प्रसंगवशात् ही केवल लोगों के मनोभाव विदित होते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उसे सदैव सब लोगों के मनोभाव, पाप-पुण्य, वासना और परमेश्वर-भक्ति-भावना ये सब प्रत्यक्ष हैं। यदि पूर्वकृत पापों को अवश्य भोगना पड़े और ईश्वर की भक्ति करने से वह दया कर पाप-दण्ड से न छुड़ावें तो फिर मुक्ति किस प्रकार होगी? ऐसी शंका है। इसलिए मुक्ति किसको कहते हैं इसका ही प्रथम विचार करें।

मुक्ति अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति, ईश्वर की ओर जीव का आकर्षण होकर उसके परमानन्द में तल्लीन हो जाना, यही मुक्ति का लक्षण है। इस प्रकार तल्लीन होने से सहज ही में हर्ष और शोक दूर होकर सदानन्द स्थिति प्राप्त होती है। शोक से चित्त बिगड़ता है यह तो ठीक ही है, परन्तु हर्ष से भी

चित्त बिगड़ जाता है, इसे दिखलाने के लिय दृष्टान्त देना चाहिए। किसी गरीब आदमी को लाख रुपया एक दम मिलने से उस हर्ष के कारण उसे पागलपन आ घेरता है। सब को यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ईश्वर को छोड़कर चाहे कितने ही दूसरे कर्म किए जायें, परन्तु उनसे आत्मा मुक्त नहीं होती। मुक्त होने के लिए जो कुछ है वह एक ईश्वर प्राप्ति ही कारण है।

अब कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे कि जब हम सृष्टि को अनादि नहीं मानते तो अवश्य सृष्टि का कहीं-न-कहीं प्रारम्भ होना ही चाहिए और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ, उस समय योनि-भेद था। यदि ऐसा कहा जाय तो ईश्वर अन्यायी ठहरेगा क्योंकि कुछ आत्मा पशु आदिकों की नीच योनि में जायँ और कुछ एक मनुष्य की योनि में जायँ, यह कैसे?

इस पूर्वपक्ष का समाधान ऐसा है। कोई ऐसा कहते हैं कि पहले परमेश्वर ने एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा उत्पन्न किया, फिर स्त्री ने सर्प के कहने से ज्ञानवल्ली का फल खाया, तब स्त्री के अपराध के कारण स्त्री-पुरुष पतित हुए। इसलिए जगत् में पाप और पुण्य घुसा। तो ऐसी-ऐसी गपोड़ कहानियों को कहकर हम अपना समाधान नहीं करते, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? और इस विषय में आर्य लोगों ने शास्त्र द्वारा सूक्ष्म रीति से क्या विचार किया है? उसे देखें। जिस स्थिति में आजकल सृष्टि है, उसी स्थिति में प्रारम्भ में सृष्टि नहीं थी। इसलिए वर्त्तमान सृष्टि को उत्तर-सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूँ और पूर्व सृष्टि को आदि-सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूँ जिससे झट समझ में आ जाय।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः॥ इत्यादि॥[1]

आदि सृष्टि में ईश्वर ने बहुत से मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न किए ''**ततो मनुष्या अजायन्त**'' इत्यादि यजुः संहिता[2] में है, परन्तु उनमें अब जैसा ज्ञान के कारण और कृति (कर्म) के कारण भेद न था। उन सबों को केवल आहर-विहार और मैथुन इतना ही विदित था और इन विषयों

१. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली १॥

२. यजुर्वेदसंहिता अध्याय ३१ में 'साध्या ऋषयश्च ये' पाठ है। ऊपर उद्धृत पाठ शतपथ १४।४।२।५ में मिलता है।

में भी सब प्राणी एक ही से और एक रस थे। सब शरीर सब जीवों के भोग के लिये हैं अर्थात् एक ही जीव के लिये नहीं हैं, ये सब जीव-जन्तु परमेश्वर से उत्पन्न हुए।

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।[1]

तथाक्षरात् सोम्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते, इत्यादि॥ (छान्दोग्यो०)

जैसे छोटे बच्चों को अब भी यहां पर स्थित रहते हुए और उसी तरह आगे मरने पर किसी प्रकार का दण्ड नहीं मिलता, उसी तरह इस आदि-सृष्टि में सब मनुष्य बाल्यावस्था में थे। उनकी अशिष्टाप्रतिषिद्ध चेष्टा थी अर्थात् उन्हें शासन या प्रतिषेध नहीं लगाए थे, नेत्रों से अपना काम करें अर्थात् रूप को देखें, श्रोत्रों से अपना काम करें अर्थात् शब्द सुनें, पाँव से अपना काम करें अर्थात् इधर-उधर फिरें, बस इससे और विशेष व्यापार आदि-सृष्टि में नहीं था। ऐसी व्यवस्था आदि-सृष्टि में पांच वर्ष चलती रही, फिर परमात्मा ने मनुष्यों को वेद-ज्ञान दिया।

ओ३म् खम्ब्रह्म।[2]

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।[3] (य० सं०)

अब वेद-ज्ञान से पाप-पुण्य का ज्ञान हुआ और वैसा-वैसा आचरण भेद होता गया, फिर प्रत्यक्ष ही है पाप-पुण्य की व्यवस्था के अनुसार सहज ही कार्य उत्पन्न होने लगे। मनुष्य पाप के कारण पशु जन्म को गए और पाप छूटने पर फिर भी मनुष्य जन्म में आए। आदि-सृष्टि में पशुओं को एक दफे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। फिर तो आचार-भेद के अनुकूल पाप-पुण्यानुसार वे भी जन्मान्तर के चक्कर में आ फंसे।

अब कोई-कोई ऐसी भी शंका करें कि मनुष्य को पाप-वासना ही क्यों हुई? तो उसका इतना ही समाधान है कि परमात्मा ने मनुष्यों को स्वतन्त्रता दी है और उस स्वतन्त्रता के जो-जो परिणाम होवेंगे, उन्हें भी स्वीकार करने चाहिएं। सुख के सब सामान होने पर भी यदि स्वतन्त्रता नहीं है तो वह स्थिति दुःखमिश्रित स्वतन्त्रता होकर अतिदुःखसह होती है। तब पाप-वासना होती है यह अपनी स्वतन्त्रता का विकार है इसके लिए ईश्वर पर दोष नहीं लगा सकते। कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि दुःख-

१. तुलना—छान्दोग्योपनिषद् ६।८।४॥

२. यजुर्वेद ४०।१७॥

३. यजुर्वेद ४१।८॥

विशेष देश नरक है और सुख-विशेष देश स्वर्ग है और इस उभय प्रकार के प्रदेशों में मनुष्य की पाप-पुण्य के अनुकूल एक समय [अर्थात्] जगत्-प्रलय के समय में न्याय कर अनन्तकाल तक सुख वा दुःख में ईश्वर रखेगा। ऐसा प्रतिपादन करने से ईश्वर अन्यायी ठहरेगा। ईश्वर के न्याय का ऐसा अटकाव नहीं है। प्रत्येक क्षण में ईश्वर के न्याय की व्यवस्था जारी है और अपने-अपने पाप-पुण्य के अनुसार हमें बुरा-भला जन्म मिला करता है।

पाप-पुण्य मनुष्य जन्म ही में केवल होते हैं। पश्वादिकों के जन्म में भोग होता है, नये पाप-सम्पादन नहीं होते।

कोई-कोई शंका करते हैं कि मनुष्य-जन्म एक ही समय मिलता है अथवा अनेक वार? तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य जन्म बारम्बार प्राप्त होता है। अब पहले कह ही चुके हैं कि—

मृत्यु अर्थात् जीव का और शरीर का वियोग होना है तो वह कैसे आती है? इस विषय में कोई-कोई कहते हैं कि गरुड़-पुराण में कहे अनुसार मनुष्य का प्राण-हरण करने के लिए यमदूत आते हैं। इन यमदूतों के मुख दरवाजे इतने बड़े होते हैं और शरीर पर्वत के सदृश होते हैं, यह वर्णन सर्वथैव अतिशयोक्ति का है। निरुक्त में अन्तरिक्ष काण्ड है, उसमें वायु के यमराज धर्मराज ये नाम दिए हैं—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैव हृदि स्थितः।

इससे जीव यम की ओर जाता है अर्थात् वायु में, वायु के द्वारा अन्य योनि के बीच उसका प्रवेश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

मरने पर जीव वायु में मिलता है, ऐसे-ऐसे उपदेश से अज्ञानी लोगों की हानि होगी, विद्वानों की क्या हानि हो सकती है? अर्थात् विद्वानों की कुछ भी हानि नहीं है। हां! अवश्य धूर्त्तों की हानि हो तो हम निरुपाय हैं।

कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'जीव (=प्राण) ले; परन्तु जीविका न ले'। हमारे भाषण से वा लेख से गरुड़ पुराणादिक ग्रन्थों के विषय में लोगों की अश्रद्धा उत्पन्न होने से सहज ही कट्टहाओं की जीविका डूबेगी तो उससे हमें पाप लगेगा, सो भाई हमें इसका भय नहीं है। कारण, राजा दुष्ट लोगों को दण्ड देता है। [उससे उसे पाप नहीं लगता] उसी तरह

हमारे वचनों से दुष्टों की जीविका डूबेगी तो उसमें हमें पाप किस बात का लगेगा? ब्राह्मणों को अर्थात् विद्वान् आर्यों को अध्यापन, याजन करने का अधिकार है। उन्हें मतलब सिन्धु साधने के लिए कट्टहापन का धन्धा करना वा जन्म-पत्रिका बनाना या आप ही शनि बन लोगों को लग जाना और दुष्ट उपायों से उपजीविका करना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि ये सब पाप आजकल के उन ब्राह्मणों के सिर चढ़ते हैं। जरा विचार तो करो कि कहीं भी सारे महाभारत भर में जन्म-पत्रिका का वर्णन आया है? कहीं भी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्य-विद्या में नहीं है, यह स्पष्ट है।

मृत्यु-समय में यमदूत जीव को ले जाता है इससे यह आशय समझें कि वायु जीव का हरण करता है। अस्तु, वायु मनुष्य का हरण करता है और फिर आगे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर-नियम की व्यवस्था से यह सब सहज ही में बन जाता है। इसमें वैतरणी नदी और गोपुच्छादि सदृश पाखण्ड मत को अवकाश कहां से हो सकता है? अर्थात् इन सारे प्रलापों का आधार वेदादि सत् शास्त्रों में कहीं भी नहीं।

चौरासी लाख योनियां हैं अथवा न्यूनाधिक हैं, इन गपोड़ कथाओं का वर्णन करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। जगत् में कितनी योनियां हैं इसका शोध लगा, गिनकर हमारे शास्त्री लोग बतावें।

विद्वांसो हि देवाः।[१]

शतं ते मनुष्याणामानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यादि०॥[२] (तैत्तिरीय उपनिषद्)

जिनके पाप-पुण्य सम होते हैं, वे मनुष्य जन्म पाते हैं। जिनकी मानसिक स्थिति सात्त्विक होती है वे देवता, पापातिशय के कारण तिर्यग् योनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हो अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो तो इन्हें भोगकर जब ही पाप-पुण्य सम हुआ कि मानो मनुष्य जन्म प्राप्त होता ही है। इस प्रकार पाप-पुण्य पर सारी व्यवस्था ईश्वर ने नियत कर रखी है और यही व्यवस्था यथार्थ है। इस प्रकार आदि सृष्टि का वर्णन हुआ।

---

१. शतपथ ३।७।३।१०॥

२. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ८॥

अब कोई ऐसी शंका निकाले कि पूर्व कृत पापों का दण्ड जीव को विना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी लाभ नहीं है क्या? उसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पाप-क्षय नहीं होता; परन्तु आगे पाप करना बन्द हो सकता है।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥[१]

चाहे कितना भी पश्चात्ताप किया जावे तो भी कृत पापों को तो भोगना ही होगा। इसका दृष्टान्त—जैसे कोई कुये में गिरा और उसके हाथ-पांव टूट गए, तो अब चाहे जितना पश्चात्ताप करें, तो भी उसके हाथ-पांव टूटे सो तो टूट ही चुके, वह तो कुछ भी किए नहीं छूट सकता। हां, आगे के लिए कुये में न गिरेगा, इतना ही केवल होगा।

अब पाप का फल शोक है और पुण्य का फल हर्ष है, तो पाप-पुण्य भोगने के लिए देश, काल, वस्तु ये साधन भी अवश्य चाहिएं। इन निमित्तों के विना भोग कैसे होगा? जब कि भोग न भोगा जावेगा, तो फिर आनन्द भी कैसे प्राप्त होगा? अब इस पर कोई ऐसा कहेगा कि मुक्त समय में शरीर न होने पर जीव को सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होकर वह परमेश्वर को ही प्राप्त होता है, फिर एक परमेश्वर ही उसका आधार रहा और फिर ऐसे परमानन्द समय में शरीर का प्रयोजन नहीं है। तो जानना चाहिए कि शरीर अर्थात् भोगायतन, वह इस जगत् में पाप-पुण्य भोगने का साधन है, इसका सम्बन्ध मुक्तावस्था में नहीं है।

अब पुनरपि मुक्त जीव का ज्ञान कैसा है? इसका विचार करें।

कोई ऐसी शंका करता है कि इस जन्म में पूर्व-जन्म का विस्मरण होता है तो सर्वदैव जीव को पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं होगा। जिस ज्ञान का निमित्त छूटता है तो उस ज्ञान का भी विस्मरण हो जाता है।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।[२] (गौतम सूत्र)

ये सब आपत्तियाँ अमुक्त आत्मा को लगती हैं, परन्तु धनञ्जय वायु का जिसे ज्ञान हुआ है और जिसका आत्मा उसमें सञ्चार कर सकता है

१. मनुस्मृति अ० ११ श्लोक २३०॥
२. न्यायदर्शन १।१।१६॥

और जिनके आत्मा से पूर्वजन्म संस्कार निकल चुके हैं वह और जिसके आत्मा में शान्ति उत्पन्न हुई है, जिसके आत्मा को अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, ज्ञानोन्नति की पहचान हो चुकी है और जिसकी दृष्टि को और मनोवृत्ति को ज्ञान सुख के विना अन्य सुख विदित नहीं है, ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है। ऐसे मुक्त पुरुषों को देश, काल, वस्तु परिच्छेद का ज्ञान होता है, उन्हें युगपत् ज्ञान की अटक नहीं है इसका दृष्टान्त—जैसे एक कण शक्कर का यदि चींटी को मिले तो वह उसे ले जाना चाहती है; परन्तु उसे कण शक्कर का गोला मिल जाय तो उसी शक्कर के गोले को वहीं पर चींटी लिपट जाती हैं; इसी तरह योगियों की आत्मा की स्थिति परमानन्द प्राप्त होने पर होती है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

सप्तम उपदेश

यज्ञ और संस्कार-विषयक

[मङ्गलवार ता० २० जुलाई सन् १८७५ ई०*]

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति-रोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥[1] यजुर्वेदसंहिता

[यह ऋचा बोलकर स्वामी जी ने व्याख्यान का आरम्भ किया।]

यज्ञ और संस्कार क्या है? इसका विचार आज कर्त्तव्य है।

प्रथम यज्ञ का विचार करें—यज्ञ का अर्थ क्या है? यज्ञ के साधन कौन-कौन से हैं। उसकी कृति कैसी है? और उनके फल कौन-कौन से हैं? ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इनके उत्तर अब हम यथाक्रम देते हैं—

'यज्ञ' शब्द के तीन अर्थ हैं—प्रथम देवपूजा, दूसरा सङ्गतिकरण और तीसरा अर्थ दान है।

अब प्रथम देव-पूजा के विषय में विचार करें। केवल देव पद का मूल अर्थ द्योतक अर्थात् प्रकाशस्वरूप है, और वेदमन्त्रों की भी देव संज्ञा है, क्योंकि उनके कारण विद्याओं का द्योतन अर्थात् प्रकाश होता है। यह यज्ञ कर्मकाण्ड का विषय है। यज्ञ में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त का समावेश होता है। देव शब्द का अर्थ परमात्मा भी है, क्योंकि उसने वेद का अर्थात् ज्ञान का और सूर्यादि जड़ों का प्रकाश किया है। देव अर्थात् विद्वान् ऐसा भी अर्थ होता है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में **'विद्वाꣳसो हि देवाः'**[2] ऐसा वर्णन किया है। पूजा शब्द का अर्थ सत्कार है।

'पितृभिर्भ्रा०[3]**। पूजितोऽतिथिः। पूजितो गुरुः, इत्यादि।'**

अब देव की पूजा कहने से परमात्मा का सत्कार करना, यह अर्थ

* श्रावण कृष्ण २ वि०सं० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में आषाढ़ कृष्णा २)

१. यजुर्वेद ३६।१७॥ २. शतपथ ३।७।३।१०॥

३. मनुस्मृति ३।५५॥

होता है। चेतन पदार्थों का केवल सत्कार सम्भावित है, जड़ पदार्थों का अर्थात् मूर्तियों का सत्कार नहीं सम्भव होता। मुख्यतत्त्व से वेदमन्त्र के पठन से ईश्वर का सत्कार होता है। इसलिए प्राचीन आर्य लोगों ने होम के स्थल में मन्त्रों की योजना की है। इसी तरह यज्ञशाला को देवायतन अथवा देवालय कहा है।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्। महाभारत।[1]

इसीलिए ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन भी पांच महायज्ञों में से एक है।

स्वाध्यायेनार्च्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।[2] (मनु०)

इस कथन से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को कोई न समझे, देवालय का अर्थ तो यज्ञशाला ही है।

अब दूसरा अर्थ—संगतिकरण—अर्थात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक, प्रेमपूर्वक, देवता का ध्यान, देवता का विचार तथा सत्पुरुषों का सङ्ग करना, इसे भी यज्ञ ही कहते हैं।

अब तीसरा अर्थ दान है—विद्यादान को छोड़ दूसरे दान, दान नहीं हैं। केवल विद्या का दान ही दान है, अन्न-वस्त्रादिकों के दान विद्यादान की सहायता करते हैं, इसलिए उन्हें भी दान कहना उचित है। विद्यादान अक्षय दान है।

अब यज्ञ से क्या-क्या फल होते हैं, इसका विचार करें। यज्ञ का रूढ्यर्थ वेदों में काष्ठ घृतादिकों का दहन करना है, तो इसमें ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि व्यर्थ ही काष्ठादि तथा घृतादि द्रव्यों को अग्नि में क्यों जलावें? इसका समाधान यह है कि—

शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

जनतायै यज्ञो भवतीति।[3] (शतपथ ब्राह्मण)

पुष्टि, वर्धन, सुगन्ध प्रसार और नैरोग्य ये चार उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं। ये लाभ उपदिष्ट रीति से होम होने पर ही होते हैं। कहा है कि—

१. गीता ३।१५॥ गीता महाभारत के अन्तर्गत ही है।

२. मनु० ३।८१॥

३. तुलना करो—यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति। ऐ० ब्रा० १।२॥

संस्कृतं हविः होतव्यमिति। (शतपथ ब्राह्मण)

योग्य रीति से यथाविधि होम करना चाहिए। एकदम मन भर घी जला दिया वा चम्मच-चम्मच करके मन भर घृत को वर्ष भर जलाते रहे, तो भी होम नहीं होगा। फिर कोई-कोई कहते हैं कि होम अर्थात् दैवतोद्देशक त्याग है। देवता लोग यजनदेश में आकर सुगन्ध लेते हैं। इसलिए होम करना चाहिए, तो यह कहना अप्रशस्त है।

क्या देव-लोक में सुगन्धि की न्यूनता है, जो वे हमारे क्षुद्र हविर्द्रव्य की अपेक्षा करते हैं?

इसी तरह कोई-कोई कहते है कि श्राद्ध आदिकों में पितृ लोग आते हैं और यदि उन्हें श्राद्धान्न और तर्पण का जल न मिले तो वे [क्षुधार्त और] तृषार्त्त रहते हैं। तो क्या वे [भूखे] प्यासे रहकर भूखों मरेंगे? और पितृलोक में सब दरिद्रता ही दरिद्रता है? सारांश यह है कि [यह] सब समझ और विचार ठीक नहीं है। क्योंकि देव-लोक में वा पितृ-लोक में कुछ न्यूनता नहीं है। होम हवन उनके उद्देश्य से कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु, सुवृष्टि और वायु-शुद्धि होम-हवनादि से होती है, इसलिए होम करना चाहिए। क्योंकि सब प्रकार के नैरोग्य और बुद्धि-वैशद्य तो वायु और जल का ही आधार है। इसमें दृष्टान्त सुनो कि इन दिनों पंढरपुर[१] में बड़ा हैजा (विषूचिका) जारी है तो वहां का जलवायु ही बिगाड़ का कारण हुआ। हरद्वार में एक समय मेला हुआ था,[२] वहां पर वायु बिगड़ने से हजारों मनुष्य कालवश हुए अर्थात् मर गए। ब्रह्माण्ड में संचार करने वाला जो वायु है, वही जीवन का हेतु है। अन्तर वायु द्वारा ठीक-ठीक व्यापार होवें, इसलिए बाहर का ब्रह्माण्ड-वायु शुद्ध रहना चाहिए। ब्रह्माण्ड वायु शुद्ध करने के लिए यज्ञकुण्ड में घृत [आदि] पुष्टि-कारक, कस्तूरी केशरादि सुगन्धित द्रव्यों का हवन करना चाहिए। सुगन्धित द्रव्यों के दहन (जलाने) से ब्रह्माण्ड वायु की दुर्गन्धि का नाश होता है। इस हवन के कारण जो सुगन्ध उत्पन्न होता है उस सुगन्ध के सम्मुख वायु के सब दुष्ट दोष दूर होकर नैरोग्य उत्पन्न होता है।

अब कोई-कोई अर्वाचीन लोग ऐसी शंका करें कि पदार्थों का दहन

१. एक तीर्थ स्थान है।
२. वि०सं० १९२४ में, उस समय ऋषि दयानन्द भी वहाँ गये हुए थे।

होने से उनका पृथक्करण होकर उनके गुण नष्ट हो जाते हैं, तब फिर हवन से नैरोग्य कैसे उत्पन्न होगा? इस विषय में हमारा प्रथम उत्तर यह है कि सब द्रव्यों में स्वाभाविक और संयोगजन्य दो प्रकार के गुण हैं। उनमें स्वाभाविक गुणों का नाश कभी नहीं होता, संयोगजन्य गुणों का वियोग से ह्रास (घटती) होता है। यदि स्वाभाविक गुण पदार्थों में न माने जायं तो समुदाय में गुण कहां से आवेगा?

दृष्टान्त—एक तिल्ली के दाने से थोड़ा ही तैल निकलता है, इसलिये समुदाय स्थित बहुत से तिलों का तैल बहुत निकलता है। एक जल परमाणु में शीतलता है इस लिये परमाणु समुदायरूप जल का शीतलता स्वाभाविक धर्म है। सुगन्धित पदार्थों का सुगन्धि स्वाभाविक गुण है, वह दहन से फैलता है, उसका नाश नहीं होता।

द्वितीय—सुगन्धि जलाने से दुर्गन्धि का नाश होता है, यह प्रत्यक्ष है।

तृतीय—जब हम अर्क निकालते हैं तब जैसा द्रव्य होता है वैसा तद्‌गुणविशिष्ट अर्क निकलता है। अर्क अर्थात् आसव, सत्त्व, अतर आदि द्रव्य।

अग्नि-परमाणु में जो गुण हैं, वे अग्नि के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होकर मेघ-मण्डल तक विस्तीर्ण होते हैं और उससे वायु-शुद्धि परिणाम होता है।

अब कोई ऐसी शंका करे कि होम एक छोटी सी कृति है, इससे ब्रह्माण्ड वायु कैसे शुद्ध होगा, समुद्र में एक चम्मच भर कस्तूरी डालने से क्या सारा समुद्र सुगन्धित और शुद्ध होगा?

इसका समाधान यह है कि सौ घड़े रायते में थोड़ी-सी हींग के बघार से रुचि आ जाती है, यह प्रत्यक्ष है। इसकी जैसी उत्पत्ति समझी जाती है तद्वत् ही यह प्रकार भी है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि होम तो यहाँ करो और अमेरिका में उसका परिणाम कैसे होगा?

इसका समाधान यह है कि वायु द्वारा शुद्धि सर्वत्र फैले, यह वायु का धर्म है। [इसके] सिवाय—यदि सब लोग अपन-अपने घर में आर्यसम्मत रीति से हवन करें तो यह शंका ही नहीं सम्भव होती। पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक निमय था कि प्रत्येक पुरुष प्रात:काल स्नान कर बारह आहुति देता था, क्योंकि प्रात:काल में जो मल-मूत्रादिकों की दुर्गन्धि उत्पन्न

होती थी, वह इस प्रात:काल के हवन से दूर होती थी। इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमी हुई जो दुर्गन्धि उसका नाश होकर रात भर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी। प्राचीन आर्य लोग बड़े ही बुद्धिमान् थे, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। फिर अमावस्या और पौर्णमासी के दिन समस्त भरतखण्ड में होम होता था। उससे भरतखण्ड में वायु शुद्धि के कितने साधन उत्पन्न होते थे? इसका विचार करने से यह छोटा ही सा प्रकार है, ऐसा किसी को भी प्रतीत न होगा। अब वायु शुद्ध रहने से वृष्टि का जल भी शुद्ध रहता है। वृष्टि और वायु का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और सब देश का जल वृष्टि से उत्पन्न होता है।

जल स्वच्छ और वायु के भी स्वच्छ रहने से वृक्षों के फल, पुष्प, रस ये बड़े ही शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसी तरह अन्नादि सब द्रव्य शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसलिए शरीर को सुख होकर अन्न से बल उत्पन्न होता है। प्राचीन आर्य लोगों के शौर्य का वर्णन इस प्रसंग में करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वायु और जल की दुर्गन्धि नष्ट होकर उनमें शुद्धि और पुष्टि वर्धनादि गुण बढ़ने से सब चराचरों को सुख होता है, इसीलिए कहा है कि—

स्वर्गकामो यजेत, सुखकाम इति शेषः॥

(ऐतरेय, शतपथब्राह्मण)

होम—हवन से परमेश्वर की सेवा कैसे होती है, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे विचार करना चाहिए कि सेवा का अर्थ प्रिय आचरण है। परमेश्वर की सेवा अर्थात् उसको जो प्रिय है वह आचरण करने से वह न्यायकारी होने के कारण उसके द्वारा योग्य प्रत्युपकार होता है, ऐसा एक नियम ही है। अब स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष अथवा विद्या और नरक अर्थात् दु:ख विशेष अथवा अविद्या है। विद्या स्वर्गप्राप्ति का तथा बुद्धि-वर्धन का कारण है। बुद्धि-वर्धन को शारीरिक दृढ़ता अवश्य चाहिए और शुद्ध वायु, शुद्ध जल और शुद्धान्न के विना शरीर-दृढ़ता कैसे प्राप्त होगी? होम-हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है। उससे शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती है, विद्या प्राप्त होती है अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति, सुख-प्राप्ति होती है।

कोई-कोई ऐसी भी शंका करें कि वायु शुद्ध्यर्थ यदि हवन है तो उसमें वेद-मन्त्रों के पठन की क्या आवश्यकता है और होम करने में

अमुक ही रीति की ईंट रखकर अमुक ही प्रकार की वेदी बनावे, ऐसी विशेष योजना किस वास्ते चाहिये?

इस शंका का समाधान यह है कि विशेष योजना के अनुकूल कोई भी बात किए विना उससे विशेष कार्य नियमित समय पर प्राप्त नहीं होता। इसी तरह कच्ची ईंटों की चार अंगुल गहरी और सोलह अंगुली ऊंची गणित प्रमाण से वेदी बनाकर उसमें नियमित प्रमाण का ही मसाला लेकर प्रमाण से घृतादिक का हवन करने से, अल्प व्यय में अतिशय उष्णता उत्पन्न होती है और उष्णता के कारण वायु शुद्ध होकर जल परमाणु वायु में उड़ जाते हैं और इस उष्णता के कारण वायु का घर्षण होकर विद्युत् उत्पन्न होती है और मेघ-मण्डल में गड़गड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है, इस प्रकार हवन की विशेष योजना के कारण विशेष उष्णता उत्पन्न होकर विशेष वृष्टि उत्पन्न होती है।

अब गड़गड़ाहट अर्थात् इन्द्र-वज्र-संघातजन्य शब्द वर्णन किया हुआ है। इसका सच्चा अर्थ यह है कि इन्द्र अर्थात् सूर्य और सूर्य की उष्णता के कारण विद्युत् और मेघ गर्जनादि कार्य होते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्र अपने वज्र से बलि को मारता है सो यह बात बिलकुल झूठ है। बलि राजा पाताल में राज्य करता है और पाताल अमेरिका देश है, सो अब उस अमेरिका में बलिराजा कहाँ पर है? इसी तरह वेदी की एक आध ईंट यदि टेढ़ी बैठी कि मानो यजमान मरता है इत्यादि कहना भी अप्रशस्त और निर्मूल है। यह सब लीला अर्वाचीन लोगों के मतलब-सिद्धि की है। वे कहते हैं कि हम जो कहें उसे बछिया के बाबा की नाईं सुनो, शंका मत करो, शंका करते ही तुम नास्तिक बन जाओगे, इत्यादि धमकियां धूर्त लोग देते रहते हैं।

अब होम समय में वेद पठन किस लिए है यह पूछा था, सो इसका उत्तर यह है कि दो काम यदि एक ही समय में हो सकते हों तो उन्हें करना चाहिए, ऐसा उद्देश्य कर प्राचीन आर्य लोगों ने जब हाथों को होमादिक द्रव्यों की व्यवस्था करने में लगाया, तब मुंह खाली न रहे, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना मुंह से होती रहे, इसलिए पहले के ऋषि लोग वेद-मन्त्र बोलते थे। इसके लिए ब्राह्मण लोगों ने वेद कण्ठस्थ आज तक किया, इसीलिए वेद-विद्या भी अबलों बनी रही है। फिर यह भी था कि वेदपाठ करने से परमेश्वर की भक्ति होती थी, जिससे विचार-शक्ति भी

उत्पन्न होती थी।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे।[१] (ऋ०सं०)

दूसरा ऐसा भी विचार है कि जो हाथों से प्रयोग होता है उसके जो मन्त्र उस समय कहे जाते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इससे मन्त्रोच्चार कर्म के उद्देश्य से नहीं होता, किन्तु परमेश्वर की स्तुति मुंह से होती रहे, यही प्रधान उद्देश्य है और कोई-कोई मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें होम के लाभ कहे गए हैं। सारांश यह कि वेद-मन्त्रों को कहने से वेद की रक्षा ही मुख्य प्रयोजन है। इस प्रकार कर्मकाण्ड बिलकुल निष्फल नहीं है। अस्तु,

कोई-कोई ऐसी शंका करेंगे कि वेदों में बीभत्स कथायें क्यों हैं?

उत्तर—वेदों में तो बीभत्स कथायें कहीं भी नहीं हैं। ऐसी-ऐसी कथायें अर्वाचीन महीधरादि भाष्यकार दिखलाते हैं, सो यह दोष वेद पर नहीं लग सकता। यह केवल भाष्यकार की बीभत्स बुद्धि का दोष है। **दृष्टान्त**—जैसे किसी सुवासिनी (=सौभाग्यवती) स्त्री ने किसी विधवा को नमन किया तो विधवा क्या कहती है अर्थात् आशीर्वाद देती है कि 'आओ बहिन मुझसी हो!' बस, इसी प्रकर मतलबी लोगों ने मन-माना अर्थ वेदों में निकाला है। शतपथ ब्राह्मण को देखो—

श्रीर्वा राज्यस्याग्रमित्यादि०।[२] (शतपथ ब्राह्मण)

जब कोई ऐसा कहे कि अश्वमेध में घोड़े के शिश्न का संस्कार यजमान की स्त्री के सम्बन्ध से कहा है। इससे ऐसा प्रकार वेदों में बिलकुल ही उपदिष्ट नहीं है, सो ठीक है; परन्तु इसके सम्बन्ध में जो-जो बीभत्स कथायें लिखी हैं उन्हें पढ़ते हुए मानों उलटी आती है तथापि ऐसा बीभत्सपना कभी भी प्रचार में न आया हो, तो यह कहते नहीं बनता, क्योंकि पद्धति-निरूपक ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट मिलती है।

पच्चीस सौ वर्ष के पूर्व बौद्ध लोगों ने जो-जो ग्रन्थ बनाये उनमें ऐसी-ऐसी बातों का उद्देश्य कर ब्राह्मणों की निन्दा की है।

अब कोई ऐसी शंकाएं करें कि अस्तु जो हो, परन्तु बीभत्स कथायें तो भी उनमें हैं वा नहीं? अश्व को फेरते थे और सार्वभौम राजा लोग

१. ऋग्वेद ६।४७।११॥
२. शतपथ ब्राह्मण १३।२।९।७ में 'श्रीर्वै वृक्षस्याग्रम्' पाठ मिलता है।

इसमें क्या शत्रुता उत्पन्न करते थे?

इनमें हमारा समाधान यह है कि शतपथ में लिखा है कि—

अग्निर्वा अश्वः[१]**। आज्यं मेधः॥**[२] (शतपथ ब्राह्मण)

अश्वमेध अर्थात् अग्नि में घी डालना—इतना ही अर्थ है। उसी तरह ग्रन्थ-साहचर्य की ओर ध्यान देने से हरिश्चन्द्र, शुनःशेप[३] इत्यादि वार्ताओं का निर्वाह होता है।

अब केनोपनिषद् में एक यक्ष की वार्ता है। यक्ष ने अग्नि के सम्मुख तृण डाला और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला दे। अग्नि से वह तिनका न जल सका। फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा ले जा। वायु से भी वह तिनका न उड़ सका, ऐसा कहकर जो हैमवती नामक ब्रह्मविद्या है, उसका माहात्म्य दर्शाया।

यज्ञ में मांस आदि खाना यह गपोड़ अर्वाचीन पण्डितों ने निकाला है।

कोई-कोई व्यभिचार के विषय में भी ऐसी ही कोटियां निकालते हैं। कहते हैं कि क्या इन्द्र के पास मेनकादि अप्सरायें नहीं हैं? हम नकद रुपया दे बाजार में कोई माल मोल लेवें तो इसमें दोष क्या है? तो भाई सोचो कि ये बातें कहना क्या तुम्हें प्रशस्त दीखती हैं? कभी नहीं।

अस्तु, पुरुषमेध का अब थोड़ा सा विचार करें। यजुर्वेद के इस मन्त्र को देखो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव॥[४]

(यजुर्वेदसंहिता)

होम तो देवताओं का हो और मांस पशुओं का तथा मनुष्यों का रखें तो कहो यह व्यवस्था कैसे ठीक है? ऐसी व्यवस्था परमेश्वर बनावेगा, यह हमें तो निश्चय नहीं होता, अर्थात् ऐसी व्यवस्था को अन्याय के सिवाय क्या कह सकते हैं।

परमेश्वर की व्यवस्था में ऐसा अन्याय नहीं है और ऐसी निष्कारण हानि का बर्ताव भी नहीं है। देखो, गौ सदृश परोपकारी गरीब पशु को

१. शतपथ ३।६।२।५॥
२. तैत्तिरीयब्राह्मण ३।९।१२।१—मेधो वा आज्यम्।
३. हरिशचन्द्र शनुःशेप की कथा ऐतरेय ब्राह्मण (७।१३-१८) में मिलती है।
४. यजुर्वेद ३०।३॥

खाने के लिए वा यज्ञ के लिए मारने से कितनी हानि होती है। एक गाय चार सेर दूध देती है। इस दूध को औटाकर खीर (क्षीर) पकाने से न्यून-से-न्यून निदान चार मनुष्यों के लिए भी तो पौष्टिक अन्न होता है, अर्थात् प्रात:काल सायंकाल दोनों समय का दूध मिलाकर आठ मनुष्यों का पोषण होता है। यदि उस गाय ने दस महीने दूध दिया तो समझ लो कि चौबीस सौ (२४००) मनुष्यों का पालन उस गाय के एक बेत में होगा। इस प्रकार आठ औलाद औसत पकड़े तो (१९२००) उन्नीस हजार दो सौ लोगों का पालन होगा। वही गाय कोई यदि मारकर खा जाय तो पच्चीस-तीस मनुष्यों का पालन एक टंक[१] का होता है। इस प्रकार की युक्ति की रीति से भी मांस-भक्षण ठीक नहीं है।

अस्तु, इन दिनों मांसाहारियों ने राज्य-बल के आधार से इतना जबर हाथ फेरना प्रारम्भ किया है कि चौपाये बिल्कुल न्यून होते जाते हैं। पांच रुपये के बैल के आजकल पच्चीस रुपये लगने लगे हैं और गरीब लोगों को दूध-घृत मिलने में बड़ी ही कठिनाई होती जाती है। जिस देश में बिल्कुल मांस नहीं खाते, उस देश में दूध घी की खूब ही बहुतायत हो रही है अर्थात् वहां पर खूब समृद्धि रहती है।

अस्तु, अब लों तो पशु-वध होम में न करने के लिए युक्तियों तथा शास्त्र का विचार किया। अब इस शंका का विचार करें कि कभी होम में पशु को मारते थे वा नहीं?

होम दो प्रकार के हैं—एक राज-धर्म सम्बन्धी और दूसरा सामाजिक। इतने समय तक सामाजिक होम का निरूपण किया। अब राज-धर्म सम्बन्धी जो होम है उसकी सब की व्यवस्था भिन्न है। उसमें पशु मारने की तो क्या ही बात है; परन्तु कभी-कभी मनुष्यों को भी मारना पड़ता है। युद्ध-प्रसङ्ग में हजारों मनुष्यों का प्राण लेना, यह राज-धर्म विहित है। भयंकर श्वापदादि जो खेती को उजाड़ते हैं या मनुष्यादि को हानि पहुँचाते हैं, उनको मारना ठीक ही है; क्योंकि जङ्गली पशुओं का विध्वंस करना अति आवश्यक है, परन्तु सब ही होमों में मांसाहार लाना यह सर्वथैव अयोग्य है। किसी प्राणी को पीड़ा देना, कहो यह धर्म-विहित कैसे होगा और इतने पर भी बेचारों को मुंह बांधकर घूंसे मार-मार कर उनका जीव

१. एक समय की तृप्ति।

लेना तो ईश्वर-प्रणीत व्यवहार कभी भी न होगा।

अब यज्ञ के विषय में किसका अधिकार है ऐसी कोई शंका करें तो जानना चाहिए कि कर्म-काण्ड में जिनकी प्रवृत्ति है, उन्हीं को केवल अधिकार है। कर्म से विचार-शक्ति थोड़ी-थोड़ी जागरित होती है। उपासना से विचार में निर्मलता उत्पन्न होती है। फिर ज्ञान में विचार-दृढ़ता और पक्वता आकर फिर वह ज्ञान-मार्ग का अधिकारी होता है।

अब हम होम के विषय में छोटी-छोटी शंकाओं का विचार करते हैं—

कोई-कोई कहते हैं कि जब राज-नियम से इन दिनों ग्राम स्वच्छ रहता है, तो फिर होम किस लिए करें? उनके प्रति यह उत्तर है कि हमारे घर स्वच्छ बनाये विना ग्राम कैसे स्वच्छ रहेगा और ग्राम के बाहर की दुर्गन्धि कैसे दूर होगी?

दूसरी शंका यह करते हैं कि जब आग गाड़ी में (रेल के इञ्जन में) और रसोई के घर में धुआं (धूम) बहुत उत्पन्न होता है फिर वृष्टि भी बहुत होनी ही चाहिए, तो फिर होम किस वास्ते करना चाहिए?

इस पर हमारा यह कहना है कि यह धूम दुर्गन्ध और दूषित रहता है, इससे वायु शुद्ध नहीं होती।

इन दिनों होम के न्यून होने से बारम्बार वायु बिगड़ रही है, सदा विलक्षण रोग उत्पन्न होते जाते हैं।

अब तक यज्ञ का विचार हुआ, अब थोड़ा संस्कारों का भी विचार करें।

दूसरा भाग—संस्कार

संस्कार किसे कहते हैं? इस प्रश्न का प्रथम विचार करना चाहिए।

किसी द्रव्य को उत्तम स्थिति में लाना, इसका नाम संस्कार है। इस प्रकार स्थित्यन्तर मानवीय प्राणियों पर होवे, एतदर्थ आर्य लोगों ने सोलह संस्कारों की योजना की है, परन्तु उन प्राचीन आर्यों को इससे यह इच्छा न थी कि संस्कारों के कारण पेटार्थू पत्रा-पांडे हमारा माल उड़ावें और आलसी बनें, क्योंकि वे आचार्य आर्य महाजन (श्रेष्ठ-जन) थे, तो फिर वे अनार्य अर्थात् अनाड़ियों की समझ में क्योंकर मदद देते।

१. निषेक—अर्थात् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥[१]

ऐसा मनु में वाक्य है। पिता ही को सब उपदेश और संस्कार करने चाहिएं। पुत्रेष्टि का वर्णन छान्दोग्य[२] उपनिषद् में किया है। उस स्थल पर गर्भ-धारण करने वाली स्त्रियों को क्या-क्या पदार्थ खाने चाहिएं, जिससे पुत्र के शरीर और बुद्धि में दृढ़ता आती है, यह मुख्यकर विचार किया है। प्राचीनकाल के आर्य लोग अमोघ-वीर्य थे और स्त्रियों में भी पूर्ण वय होने के कारण वीर्याकर्षता रहती थी। पुत्रेष्टि यह गृहस्थाश्रम का प्रथम धर्म है।

२. **पुंसवन**—इस संस्कार का प्रयोजन वीर्य को पुनः किस प्रकार जमावे इस योजना के सम्बन्ध से है। वीर्य में सदा स्थिरता, दृढ़ता और नैरोग्य गुण रहने चाहिएं, अन्यथा विकृत वीर्य से संतति में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। एतदर्थ सूत्र-कारों ने औषधियां बतलाई हैं। वीर्यवृद्ध्यर्थ और शान्त्यर्थ वर्ष भर (साल भर तक) पुरुषों को ब्रह्मचर्य रखना चाहिए, ऐसा भी निर्बन्ध कहा हुआ है।

३. **सीमन्तोन्नयन**—स्त्रियों के अकाल में गर्भपात होने की बड़ी भीति रहती है, सो वह न हो और नीरोगी पुष्ट पदार्थों के सेवन से और मन के उत्साह रहने से गर्भ की स्थिति उत्तम रहे, एतदर्थ इस संस्कार की योजना है।

४. **जातकर्म**—इस संस्कार के विषय में विशेष होम करना है। कारण यह कि सूतिका गृह का (जच्चा के घर)अमंगलपना दूर करने के लिए सुगन्धिवर्धक होम करना योग्य है। बच्चे की नाभि को काटने से दुःख न हो, जच्चा सुखी रहे, इस प्रकार का इस संस्कार का उद्देश्य है।

५. **नामकरण**—नाम रखने में भी कोई भूल न करे, यहां तक तो प्राचीन आर्य लोगों की बारीक दृष्टि थी। नाम का सुख से उच्चारण हो, उसमें मधुरता रहे, इसलिए दो अक्षर वाला या चार अक्षर वाला नाम होवे ऐसा कहा है, यों ही व्यर्थ लम्बा-चौड़ा नाम न होवे। नहीं तो कभी-कभी इन दिनों लोग मथुरादास, गोपवृन्द, सेवकदास ऐसे लम्बे-चौड़े नाम रखकर

१. मनुस्मृति २।१४२॥ २. बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ६, ब्राह्मण ३, ४ में गर्भाधान का विस्तार से वर्णन मिलता है।

गड़बड़ मचाते हैं, कभी-कभी कौड़ीमल, भिखारीमल, घोंड्या, पथर्या आदि विलक्षण नाम रखते हैं। इन दिनों सब प्रकार का पागलपना फैल रहा है, फिर नाम रखने में दोष हो तो आश्चर्य क्या है? दोष देने में कुछ भी उपयोग नहीं। स्त्रियों के नामों में मधुरता होनी चाहिए जैसे भामा, अनसूया, सीता, लोपामुद्रा, यशोदा, सुखदा ऐसे-ऐसे प्राचीन आर्य लोगों की स्त्रियों के नाम होते थे।

६. **निष्क्रमण**—कोमल शरीर के बच्चों को बाहर हवा खाने के लिए ले जाना, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।

७. **अन्नप्राशन**—योग्य समय में बच्चे को अन्नप्राशनादि यदि प्रारम्भ न करे तो बड़ा ही दुःख होता है। इसलिए इस संस्कार की योजना है।

८. **चूडाकर्म**—मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण वायु में पसीने आदि के करण जो मैल जमता है वह दूर होवे, इसलिए इस संस्कार की योजना की है।

९. **व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत)**—पुरुषों को विद्यारम्भ के समय उत्साह हो, इस उद्देश्य से व्रतबन्ध विषय में विशेष नियम ठहराये हैं अर्थात बनाए हैं। स्त्रियों को भी विद्या-सम्पादन का अधिकार पहले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध संस्कार पूर्व में करते थे। विद्वान् अर्थात् ब्राह्मण लोग आर्यकुलोत्पन्न बालक को विद्यारम्भ के समय कार्पास का (रुई का) यज्ञोपवीत विशेष चिह्न ज्ञान-धारण करने को देते थे। इसके धारण करने में बड़ी ही जवाबदारी रहती थी। क्षत्रिय वैश्यादिकों के बालकों को कार्पास का तो नहीं; किन्तु दूसरे पदार्थों का यज्ञोपवीत धारण करने के लिए देते थे। यदि ठीक-ठीक विद्यासम्पादन न हुई तो चाहे ब्राह्मण के ही कुल में उत्पन्न हुआ हो तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता और उसकी अप्रतिष्ठा होती थी। उसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्यासम्पादन कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे। इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्य लोगों ने कर रखी थी। इस कारण सब जाति के पुरुषों को और स्त्रियों को विद्यासम्पादन करने के विषय में उत्साह बढ़ता रहा था। विद्या के अधिकारानुसार उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, ऐसे यज्ञोपवीत के भूषण सबों को धारण करने को मिलते रहते थे।

१०-११ तदनन्तर दसवां **वेदारम्भ** और ग्यारहवां वेदाध्ययन-समाप्ति अर्थात् **समावर्त्तन** ऐसे दो संस्कार हैं।

१२. विवाह—इस संस्कार का आगे जब इतिहास विषय में व्याख्यान देंगे, उस समय विचार करेंगे। इन दिनों मुहूर्त्तादिक के विषय में जो आडम्बर मचा रखा है यह केवल बलात्कार (जबरदस्ती) है।

व्यर्थ ही कालक्षेप न हो और नियमित समय पर सब वार्त्ता हो, इसलिए कालनियम में ध्यान अत्यावश्यक है, परन्तु उसी के शास्त्रार्थ में व्यर्थ टांय-टांय करना अनुचित है। इसी प्रकार आर्य लोग स्वयंवर करते थे। एक नाड़ी[१] आई, और मनुष्यगण आ घुसा और अमुक ग्रह नहीं मिला और फलानी राशि टेढ़ी हुई इत्यादि गपोड़े उन दिनों में नहीं थे।

१३. गार्हपत्य—गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ करने पड़ते हैं इसका विचार भी आगे इतिहास विषय में व्याख्यान देते समय करेंगे।

१४. वानप्रस्थ—पुत्र का बेटा होते ही गृहस्थाश्रम में वास करने वाला गृहस्थी वानप्रस्थाश्रम धारण करे, ऐसी योजना थी। वानप्रस्थाश्रम में धर्माधर्म और सत्यासत्य के विषय में निर्णय होता रहता था, क्योंकि विचार के लिए समय मिले और गुण-दोष का निर्णय करने में आवे, इसलिए वानप्रस्थाश्रम की योजना की है।

१५. संन्यास—धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जनहित करने में आवे, इसलिए यह आश्रम है।

१६. अन्त्येष्टि—आश्वलायन सूत्र में इस संस्कार का वर्णन किया है। आजकल हमारे देश में अन्त्येष्टि के तीन प्रकार जारी हैं। कोई तो जलाते हैं वा कोई जंगल में डाल आते हैं और तीसरे जल समाधि देते हैं।

प्राचीन आर्य लोगों में अन्त्येष्टि यज्ञ है। उसमें दहन प्रकार मुख्य है। अब मुर्दे को गाड़ने वाले ऐसी शंका करें कि जलाना बड़ी निष्ठुरता है, परन्तु मुसलमान आदिकों को विचार करना चाहिए कि मुर्दे को जमीन में गाड़ने से रोग की उत्पत्ति होती है।

कोई-कोई ऐसी शंका करेगा कि जल में देह डालने से मच्छियां उसे खाती हैं, तो क्या यह परोपकार नहीं है। परन्तु जल बिगड़ता है इसका भी तो विचार करना चाहिए। गंगा सदृश महान् नदियों में प्रेतों को डालने से जल में विकार उत्पन्न होता है, तो फिर छोटी-मोटी नदियों की तो कथा

१. घड़ी

ही क्या है। अब गंगा में हड्डियां ले जाकर बहुत से लोग डालते हैं, तो बतलाओ यह कितना भारी भोलापन है? मरे हुए प्राणी की देह मृत्तिका है। उसे गङ्गा में डालने से क्या लाभ होगा? वन में फेंकने से भी दुर्गन्धि उत्पन्न होकर रोग उत्पन्न होता है, इसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इससे प्राचीन आर्य लोगों ने दहन-विधि ही को मुख्य माना था और ठीक यही है। वे श्मशानभूमि में एक वेदी बनाया करते थे और उसे पक्की ईंटों से बांधते थे और फिर उसमें मृत देह को जलाते समय बीस सेर घृत डालकर चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ भी डालते थे। शुक्ल यजुर्वेद ३९ वें अध्याय में इसका वर्णन किया है।

आजकल अन्त्येष्टि संस्कार यथाविधि नहीं होता, नाम-मात्र होता है। अलबत्ता कट्टहाओं की चैन उड़ती है, सो यह जबरदस्ती है। सबों को उचित है कि फिर संस्कारों के विषय का सुधार करें, जिससे कल्याण हो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अष्टम उपदेश

इतिहास-विषयक

[शनिवार ता० २४ जुलाई १८७५*। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकूल बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २४ मास जुलाई के दिन रात्रि के आठ बजे इतिहास विषय पर व्याख्यान दिया, उसका सारांश]

ओम् यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयन्नः पशुभ्यः[१]॥

'इतिहास'—यह आज के व्याख्यान का विषय है—

क्रम से यह व्याख्यान होना चाहिए। इतिहास अर्थात् **''इतिहासो नाम वृत्तम्''** इतिवृत्त अर्थात् अतीतवर्णन को इतिहास कहते हैं। इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आज के समय तक चला आता है। जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध से दो एक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है। जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया?

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीद् गहनं गभीरम्॥[२]

मूल में प्रकृति भी नहीं थी और न कार्य ही था। उत्पत्ति, स्थिति, लयादि को कार्य कहते हैं। सत् अर्थात् प्रकृति, इसका वर्णन सांख्यशास्त्र में किया है। उस शास्त्र में सत्त्व, रज, तमोगुण की जो समावस्था है वही प्रकृति है, ऐसा माना है। सांख्यसूत्र देखो—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।[३]

प्रकृति से आगे उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में सांख्यशास्त्र का सूत्र नीचे लिखे अनुसार है—

प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं

* श्रावण कृष्ण ६ वि० सं० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में—आषाढ़ कृष्णा ६)

१. यजु० ३६।२२॥

२. ऋ० १०।१२९।१॥

३. सांख्य १।६१॥

पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः[१]

मूल में प्रकृति नहीं थी, तब सृष्टि का कार्य कैसे हुआ, इस विषय में यदि कोई संशय करे तो उसके लिए एक दृष्टान्त है—

भूमि पर ओस पड़कर घास और वृक्ष की पत्तियों पर उसके बिन्दु बन जाते हैं, इससे यह ओस पृथ्वी का आवरण नहीं होता। इसी तरह पहले किसी प्रकार का भी आवरण नहीं था।

ईश्वर की इच्छा होकर उसने सृष्टि उत्पन्न की, ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं और उसमें निम्न वचन का प्रमाण देते हैं—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति[२]।

(तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ६)

परन्तु इस वचन से इच्छा के प्रकार का बोध नहीं होता। क्योंकि 'ईक्ष' शब्द का उपयोग किया है। इस धातु का अर्थ दर्शन और अंकन है; परन्तु इच्छा अर्थ नहीं है। ईश्वर को इच्छा हुई, यह बात सम्भव नहीं होती। इच्छा होने के लिए किसी भी वार्त्ता की अप्राप्ति होनी चाहिए, सो ईश्वर को सृष्टि में कौन-सी वस्तु अप्राप्त है? अर्थात् कोई भी अप्राप्त नहीं। फिर इच्छा करने वाले को देश, काल, वस्तु परिच्छेद होते हैं, यह बात भी ईश्वर में नहीं सम्भव होती। इसलिए ईश्वर की इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई, ऐसा कहना अयोग्य है।

मूल में प्रकृति हुई और प्रकृति से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥[३]

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः,

१. सांख्य १।६१॥ २. छा० उप० ६।२।३॥

३. ऋ० १०।१९०।१-३॥

ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ (तै० आ० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १)

आकाश विभु होने से सब पदार्थों का अधिकरण है और उससे भी विभु और अति सूक्ष्म परमात्मा है। आकाश को ईश्वर ने उत्पन्न किया।

आकाशस्तल्लिङ्गात्।[1] (व्याससूत्रम्)

ओं खं ब्रह्म।[2] (य० सं०)

आकाश और परमात्मा का आधाराधेय सम्बन्ध है। अव्यक्त प्रकृति की जो अव्यक्त स्थिति [होती है] उसी को आकाश कहना चाहिए।

अब कोई ऐसी शङ्का करे कि ईश्वर को जगत् उत्पन्न करने का क्या प्रयोजन था?

इस शङ्का का विचार करते समय प्रथम प्रयोजन शब्द का सच्चा अर्थ क्या है, यह देखना चाहिए। जिस प्रकार की इच्छा जगत् में दिखाई देती है, उस प्रकार की इच्छा ईश्वर में सम्भव नहीं होती, इसलिए—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्॥[3] (गौतमसूत्रम्)

यह प्रयोजन शब्द का अर्थ यहां सम्भव नहीं होता। क्षुधानिवृत्ति के लिए पाक-सिद्धि करनी पड़ती है। इसमें क्षुधा-निवृत्ति यही प्रयोजन है। अब ईश्वर से कोई भी पदार्थ बड़ा नहीं है और न ईश्वर को प्रवृत्त करने वाला ही कोई पदार्थ है। इसलिए ईश्वर के काम में उपर्युक्त अर्थ वाला प्रयोजन नहीं सम्भव होता। दूसरा एक ऐसा भी विचार है कि ऊपर लिखे अनुसार जो शंका करे, उस शंका करने वाले से हम पूछते हैं कि भाई! सृष्टि न उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? यदि तुम से सृष्टि उत्पन्न न करने का प्रयोजन नहीं कहते बनता, तो हम भी सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयोजन नहीं कहते, फिर तुम्हारी हमारी बराबरी तो अवश्य ही हुई। परन्तु ऐसा नहीं है। सृष्टि उत्पन्न करने का कारण ऐसा है कि ईश्वर का सामर्थ्य निष्फल न जावे, ईश्वर की शक्ति प्रकट न हुई अर्थात् यदि उसने जगत् उत्पन्न न किया तो फिर ईश्वर के बीच वह शक्ति रहने पर उसका क्या उपयोग वा लाभ है? ईश्वर का सर्वशक्तिमत्त्व निष्फल होगा। सर्वशक्ति

१. वेदान्तदर्शन १।१।२२॥ २. यजुर्वेद ४०।१७॥
३. न्यायदर्शन १।१।२४॥

इस शब्द में रचना, धारणा, दया इत्यादि गुणों का समावेश होता है, इसलिए सृष्टि उत्पत्ति विषय में शक्तिसाफल्य होना यही प्रयोजन है।

कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर ने यह जगत् लीला से उत्पन्न किया। उसमें जगदुत्पत्ति का प्रयोजन लीला है, परन्तु यह कहना सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि ईश्वर यदि प्रसन्न अर्थात् सुखानुभव लेनेवाला होगा, तो उसमें अप्रसन्नता अर्थात् दुःख की भी सम्भावना होगी। इसलिए सृष्टि-उत्पत्ति का कारण ईश्वर-लीला है, ऐसा जो लोग कहते हैं वह कहना त्याज्य है।

कोई-कोई ऐसी भी शंका करते हैं कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ या वृक्ष पैदा हुआ? सो इसका उत्तर सुनो—

यदि ऐसा कहें कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ तो वृक्ष के विना बीज कहां से आ पड़ा? इस प्रकार का झगड़ा आ पड़ता है, भला—प्रथम वृक्ष उत्पन्न हुआ ऐसा कहें तो भी बीज के विना वृक्ष कैसे हुआ? इस प्रकार "**उभयतः पाशा रज्जुः**" प्रसंग न आवे, इसलिए हम ऐसा कहते हैं कि प्रथम बीज ही आया, क्योंकि सब जगत् का बीज ईश्वर ही है। वहां से सब उत्पन्न हुए। अस्तु, पतिव्रता का एक बड़ा हास्यजनक दृष्टान्त है। अपने उपास्य देवता के पास किसी पतिव्रता ने यह वरदान मांगा कि मेरा जो पति अभी है वही अगले जन्म में फिर मेरा पति होवे, तब उस देवता ने उसको वैसा ही वर दिया। फिर आगे वह पति मुक्त हो गया अर्थात् जन्म-मरण से छूट गया, तो बताओ अब ऐसे प्रसङ्ग में देवता के वरदान की सफलता कैसे होनी चाहिए? इस प्रकार की शंका कर नाना प्रकार के तर्क लोग करते हैं। उनके प्रति इतना ही उत्तर है कि मुक्त जो पुण्यात्मा पति उसके संत्सङ्ग से उसकी पतिव्रता स्त्री मुक्त होगी। फिर देवता आदि के वरदान होने का बिलकुल ही प्रयोजन शेष नहीं रहेगा। सारांश ऐसे उलटे-सीधे दृष्टान्त में या भाषण में न पड़कर शान्त रीति से विचार करना, यह हमारा धर्म है। अस्तु।

अव्यक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई, यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई। आठ परमाणु का एक अणुक होता है, दो अणुक का एक द्व्यणुक होता है। तीन द्व्यगुणक का एक त्रसरेणु होता है, त्रसरेणु का लक्षण ऐसा किया है—

जालान्तर्गतो भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ मनुः।[१]

यह उत्पत्तिकाल की व्यवस्था हुई। आगे प्रलय काल में त्रसरेणु का द्व्यणुक होता है। द्व्यणुक के अणु होते हैं अणु के और परमाणु होते हैं। यह प्रलय-व्यवस्था है।

अब ईश्वर सामर्थ्य ही प्रकृति है, उत्पत्ति की सामग्री है और यही जगत् का उपादान कारण है। यह [सामर्थ्य] ईश्वर के पास सनातन सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व से है।

यह सामर्थ्य प्रकट हुआ तब ही सृष्टि हुई और ईश्वर में इसका लय होने में प्रलय होता है। अत्यन्त प्रलय अब तक नहीं हुआ। वायु तक भी प्रलय नहीं हुआ। जल प्रलय हुए हैं। अग्नि तक प्रलय हुआ है।

तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत् तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत्॥
तदैक्षत तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत्॥ (ऐतरेय उप०)

पञ्च महाभूत अनन्त परमाणु का संचय होकर उत्पन्न हुए। उसी प्रकार उद्भिज-सृष्टि और जीव-सृष्टि के असंख्य बीज हैं। यह भी ईश्वर शक्ति है। उसी तरह एक-जातीय विजातीय परमाणु है। एक बीज में अनन्त बीज उत्पन्न करने की शक्ति है। औषधि से अन्न होता है, अन्न से रेत उत्पन्न होता है और रेत से शरीर उत्पन्न होता है। अब कोई ऐसी शंका करे कि रेत किसलिए चाहिए। सब पदार्थ एकमात्र अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो, उसमें क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि जीव-सृष्टि में मैथुनी सृष्टि का भाग है तो उसमें केवल अन्नग्रहण से ही नई उत्पत्ति नहीं होती, रेत-सिंचन की भी आवश्यकता होती है।

तपसोऽध्यजायत।[२]

धाता ने सृष्टि कैसे उत्पन्न की इस विषय में वर्णन है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥[३] (ऋ० सं०)

'यथापूर्व' कहने से कल्प-कल्पान्तर में सृष्टिभेद है ऐसा कहना

१. मनुस्मृति ८।१३३॥ २. ऋग्वेद १०।१९०।१॥
३. ऋग्वेद १०।१९०।३॥

बिल्कुल अयोग्य है और 'यथापूर्व' शब्द से जैसा उसके ज्ञान में था, वैसा ही उसने यह विश्व रचा, ऐसा भी बोध होता है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि॥

अर्थात् उसके अनेक सामर्थ्य के कारण सृष्टि उत्पन्न हुई।

ततो रात्र्यजायत।[१]

इन सब बातों का विचार सत्यार्थप्रकाश और पञ्चमहायज्ञ आदि पुस्तकों में भलीभांति किया गया है।

यदि ईश्वर ने यथापूर्व जगत् उत्पन्न नहीं किया, ऐसा कहें तो क्या नवीन जगत् उत्पन्न करते समय उसने पुरानी भूलों को सुधारा है? अथवा जो उसे [पूर्व] विदित न थीं, क्या ऐसी बातों को उसमें डाला है? कभी नहीं। इस स्थल पर तर्क का अप्रतिष्ठान उत्पन्न होता है और अनवस्था प्रसंग भी आता है और फिर ईश्वर की सर्वज्ञता में दोष आकर पूर्वानवस्था उत्तरानवस्था का प्रसंग आता है।

सबों के पश्चात् मनुष्य प्राणी उत्पन्न किया गया, वे मनुष्य बहुत से थे। अन्यान्य मतों में तो दो ही मनुष्य [उत्पन्न किये] थे ऐसा मानते हैं सो ठीक नहीं है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास हो चुका।

अब मनुष्य-सृष्टि होने पर मनुष्य-जाति का इतिहास प्रारम्भ करना चाहिए।

कहीं ठग लोगों की पुस्तकों में यह कहा हो कि मनुष्यों को मारकर चोरी करना चाहिए, तो क्या वह ग्रन्थ प्राचीन है इसलिए उसकी सब बातें मानना चाहिए? कभी नहीं। व्यर्थ ही पुरानी पुस्तकों का नाम रखकर दाम्भिक मत का माहात्म्य बढ़ाने जैसे उद्योग को क्या कहना चाहिए?

अब "**असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे**[२]" इस न्याय के अनुकूल अनेक दूसरे देशों का इतिहास छोड़कर अपने ही देश का इतिहास कहना योग्य है।

प्रथम मनुष्य-जाति हिमालय के किसी प्रान्त में उत्पन्न हुई—ऐसा मानने से प्राचीन आर्य-ग्रन्थों की परदेशस्थ लोगों के ग्रन्थों के मतों के साथ एकवाक्यता होती है और प्राचीन आर्य लोगों के ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहा है—

१. ऋ० १०।१९०।१॥ २. पारिभाषिक ४३।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥[१]

इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है। उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो।

अब भिन्न-भिन्न भाषायें कैसे उत्पन्न हुईं। इसका विचार करना अति आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यहूदी लोगों में एक ऐसी कहानी है कि उनके पूर्वज स्वर्ग इतना ऊँचा एक बुर्ज बना रहे थे। इससे ईश्वर उन पर अप्रसन्न हुआ और उसने उनकी बोली में गड़बड़ मचा दी।[२] बस इसी से जगत् में अनेक भाषायें उत्पन्न हुई, सो यह कल्पना बिलकुल अप्रशस्त है।

देश, काल भेद, आलस्य, प्रमाद के कारण एक मूलभाषा से व्यवहार में भेद बढ़कर भिन्न-भिन्न भाषायें उत्पन्न हुई।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो [वै] वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०।[३]

वेदाध्ययन और अध्यापन, इन दोनों कामों में ब्रह्मा आदि ब्राह्मण, आदि आचार्य और आदि गुरु हैं। उसका पुत्र विराट् और उसमें परम्परा से स्वायम्भुव मनु तक वेद का उपदेश किस प्रकार हुआ, यह सब व्यवस्था मनुस्मृति में कही हुई है।

मनुष्य-सृष्टि उत्पन्न होने पर एक मनुष्य जाति ही थी। पश्चात् आर्य और दस्यु ये भेद हुए।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो०।[४] (ऋग्वेदसंहिता)

अर्थात् ऊपर कहे हुए आर्य और दस्यु। आर्य अर्थात् विद्वान् लोग और दस्यु अर्थात् दुष्ट। फिर आर्यों में गुणकर्मानुसार चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मण अर्थात् पूर्ण विद्वान्, क्षत्रिय अर्थात् मध्यम विद्याधिकारी, वैश्य अर्थात् कनिष्ठ विद्याधिकारी और शूद्र अर्थात् अविद्या का स्थान ही समझना चाहिए।

ब्राह्मणादिकों का याजन अध्यापनादि मुख्य धर्म है, वैश्यों का कृषि

१. मनुस्मृति १। २१॥ २. बाइबल उत्पत्ति की पुस्तक अ० ११।
३. श्वेता० उप० ६।१८॥ ४. ऋग्वेद १।५१।८॥

कर्म व्यापारादि, शूद्रों का सेवादि कर्म है, उसी तरह राजधर्म युद्धधर्म ये क्षत्रियों के मुख्य धर्म हैं। इस प्रकार चार वर्ण हुए। इसके आगे चार आश्रम हुए। इन चारों आश्रमों का विचार अन्य प्रसंग में हो चुका है।

अब मनुजी का धर्मशास्त्र कौन सी स्थिति में है इसका विचार करना चाहिए। जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वाले को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानव-धर्मशास्त्र की अवस्था हुई है। उसमें बहुत से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुतः भगवान् मनु के नहीं हैं। यदि कोई कहे कि यह कैसे? तो इसका प्रमाण यह है कि एकन्दर इन श्लोकों को मनुस्मृति की पद्धति से मिलाकर देखने से वे श्लोक सर्वथैव अयुक्त दीखते हैं। मनु सदृश श्रेष्ठ पुरुष के ग्रन्थ में अपने स्वार्थसाधन के लिए चाहे जैसे वचनों को डालना बिलकुल नीचता दिखलाना है। अनुभूति स्वामी नाम का कोई महान् पण्डित था। उसके मुंह में से **'पुंसु'** इस प्रयोग के स्थान में **'पुंक्षु'** ऐसा अशुद्ध प्रयोग निकला। अब उसी की उत्पत्ति कर पण्डित लोग दिखाते हैं कि वह शुद्ध ही है। मूढ़ लोगों की रीति कुछ-कुछ कौवों के सदृश है। कौवे को किसी जानवर के व्रण झट दिखाई देते हैं; परन्तु उन्हीं जानवरों के अच्छे शुद्ध (व्रणरहित सुन्दर) भाग नहीं दीखते। अशुद्धियां झट दिखाई देने लगती हैं। हमारे पण्डित भाइयों का स्वभाव इन दिनों बहुत बिगड़ गया है।

आग्रहेणारम्भं कुर्याच्छेषं कोपेन पूरयेत्।

किसी ने ''शास्त्र'' शब्द का उपयोग किया तो झट प्रथम ही पूछने लग जाते हैं कि **''शास्त्रस्य कोऽर्थः''** ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछकर वितण्डावाद करने की उनको बड़ी ही हवस होती है, परन्तु वितण्डावादी को कोई वितण्डावादी ही मिले तो वह सहज ही प्रश्न करेगा कि **''शकारस्य कोऽर्थः'' ''स्त्रकारस्य कोऽर्थः''** और इस प्रकार फिर वही वितण्डा होगा इत्यादि। सो भाई वितण्डावाद छोड़ करके शान्तवृत्ति धारण कर वाद करें, यह हमें योग्य है। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है कि जो दौड़ेगा सो गिरेगा, इसमें कुछ दोष नहीं—

'धावतः स्खलनं न दोषाय भवति'

इस वचन के आधार से हमारे बोलने में कुछ प्रमाद अथवा अशुद्ध प्रयोग निकल आवे तो पण्डितों को उसका विषाद न मानना चाहिए। हम

सर्वज्ञ नहीं, और सब बातें हमें उपस्थित भी नहीं। हमारे बोलने में अनन्त दोष होते होंगे। इसका हमें ज्ञान भी नहीं है। दोष बतलाने पर हम स्वीकार करेंगे। सत्य की छानबीन होनी चाहिए, वितण्डा नहीं होनी चाहिए, यही हमारी बुद्धि में आता है। थोड़ा-सा गुण पर भी ध्यान देना चाहिए और दोष को क्षमा करना चाहिए। शान्तता अर्थात् शम, दम, तप, ये ब्राह्मणों के मुख्य गुण हैं, और जिनमें ये गुण हों निस्सन्देह वे ही ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों का काम अध्यापन है, उसी तरह उनकी जीविका अध्यापन, याजनादि कार्यों की दक्षिणा से होती है, व्यर्थ प्रतिग्रह लेना अप्रशस्त ही है।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥[१] (मनु०)

शम—अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन, दम—जितेन्द्रियत्व, तप विद्यानुष्ठान, दोनों प्रकार का शौच—शारीरिक और मानसिक शान्ति, सरलता अर्थात् अनाग्रह, ये धर्म जब ब्राह्मणों में होते हैं, तब उनमें गाम्भीर्य रहता है, और कच्चे ब्राह्मण अर्थात् अब्राह्मणों में ब्राह्मण्य का बड़ा ही घमण्ड रहता है, सो ठीक नहीं है। किसी धनिक को दरिद्री कहने से उसे क्रोध नहीं आता; परन्तु दरिद्री को दरिद्री कहने से बहुत क्रोध आता है। अपनी-अपनी अन्तःकरण की वृत्तियों के अनुकूल मनुष्यों की बोलने की रीति होती है।

आजकल के साम्प्रदायिक साधु परमेश्वर का नामोच्चारण करते समय अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुकूल उस नाम में जोड़ लगाते हैं। उदाहरणार्थ जैसे ब्राह्मण साधु हो तो यह कहता है कि—

राम नाम लडुवा गोपाल नाम घी।

क्षत्रिय साधु हो तो वह यह कहता है कि—

राम नाम की ढाल बनाकर कृष्ण कटारा बांध लिया।

यदि साधु जी कोई बनिये हुए, तो यों कहते हैं कि—

राम मेरा बानियां समज करे व्योपार।

शूद्र साधु हो तो, वह यों कहने लग जाता है कि—

हरि को भजे सो हरि का होय, जात पांत पूछे ना कोय।

१. मनुस्मृति ३।१०४॥

अनार्य्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
[पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥
पित्र्यं वा लभते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।]
न कथंचिद् दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥[१] (मनु०)

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म सब ग्रन्थों में ज्ञान-प्राप्ति करना ही कहा है। ज्ञान अर्थात् निर्णय, ज्ञान से विज्ञान प्राप्त करना, यही ब्राह्मणों का श्रेष्ठ धर्म है, विज्ञान दृढ़ निश्चय को कहते हैं। अस्तु, ये गुण जब हम ब्राह्मणों में उत्पन्न होंगे तब ही यह देश सहज ही में वैभव को प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है। मनु के प्रथम अध्याय को देखो, उसमें ब्राह्मणों के धर्म का वर्णन किया हुआ है।

अब क्षत्रियों का धर्म—शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में जय, दान, ईश्वरभाव (=स्वामित्व) अर्थात् आज्ञा देना और प्रजा की ओर से यथार्थ अनुवर्त्तन करवाना है। यथार्थ प्रजा का रक्षण करने से देश में इज्या, अध्ययन, दान ये कर्म अच्छे प्रकार होते हैं।

बनियों का धर्म पशुओं का पालन, दान, इज्या देना-लेना और खेती करना है।

इस प्रकार की मनुष्यों में गुण-कर्मानुरूप व्यवस्था स्वायम्भुव मनु के समय तक पूर्णतया चलती रही।

मनु के दस पुत्र हुए—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥
एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन् भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥[२]

स्वायंभुव मनु का पुत्र मरीचि यह प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ। इसके पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय राजाओं की परम्परा हुई। अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करने लगा। कला-कौशल की व्यवस्था करने वाला विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नाम है और शिल्पकार का भी था। अस्तु, विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली।

१. मनुस्मृति १०।५९, ६०॥ २. मनुस्मृति १।३५, ३६॥

फिर इस विमान में बैठकर आर्य लोग इधर-उधर भ्रमण करने लगे। ब्रह्मदेव का पुत्र विराट् उसका पुत्र विष्णु, सोमसद् थे और अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव था। ये ही विष्णु और महादेव आगे जाकर ब्रह्मा के साथ त्रिमूर्त्ति में मुख्य देवता करके प्रसिद्ध हुए। मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु जहाँ चल रही है, रमणीय वनस्पतियाँ जहाँ उगी हैं और जहां यह स्फटिक के सदृश निर्मल झर्झरोदक बह रहा है, ऐसे हिमालय की ऊँची चोटी पर विष्णु वास करने लगा। उसी को वैकुण्ठ भी कहते थे। फिर दूसरे हिमाच्छादित भयंकर ऊंचे प्रदेश में महादेव वास करने लगा, उसे कैलाश कहते थे। इसके आगे विष्णु और महादेव, ये कुलों के नाम पड़ गए। ऊपर लिखे हुए विष्णु और महादेव आज तिथि तक जीते हैं कहना ठीक नहीं, किन्तु अत्यन्त भोलापन है। इसमें दृष्टान्त इतना ही है कि मिथिला देश के जनकपुर के राजा को अभी तक जनक ही कहते हैं। इससे सीता जी का पिता जनक राजा अब तक जिन्दा है, यह कहना बिलकुल अप्रशस्त है। यही प्रकार ब्रह्माजी के विषय में भी लागू होता है। आर्यावर्त्त में लोकसंख्या बहुत हो गई, उसे न्यून करनी चाहिए, इसलिए आर्य लोग अपने साथ मूर्ख शूद्रादि अनार्य लोगों को लेकर विमान उड़ाते फिरते, जहां कहीं सुन्दर प्रदेश देखा कि झट वहीं पर बस जाते। इस प्रकार सब जगत् के प्रत्येक देश में मनुष्य फैले।

इसी समय में राजा इक्ष्वाकु ने विद्वान् लोगों को अपने साथ लेकर इस भरत-खण्ड में प्रथम वसाहत की। आर्यावर्त देश कहने से पश्चिम में सरस्वती अर्थात् सिन्धु नदी और पूर्व में ब्रह्मपुत्र अथवा दृषद्वती, उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याद्रि, इनके बीच का जो प्रदेश है उसी को आर्यावर्त कहते हैं।[१] यह आर्यावर्त कितना सुन्दर है, कितना सुपीक (जरखेज) है, और जलवायु भी यहां का कितना उत्कृष्ट है। इसमें छहों ऋतु क्रम से आते रहते हैं।

देव का अर्थ विद्वान् है। उन्हीं के कारण देवनदी ऐसी संज्ञा उत्पन्न हुई। इसलिए **''देवनद्योर्यदन्तरम्''**[२] ऐसा कहा है। प्रथम गंगा का नाम

१. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्॥
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ मनु० २।१७, २२॥

२. मनु० २।१७॥

पद्मा था, फिर उस नदी की नहर भगीरथ ने निकाली, इसलिये उसका नाम भागीरथी पड़ा।

उस समय ब्रह्मचारी और ब्राह्मण इनका नाम आर्य था, उसका सूत्र है कि—

''आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः''[१] (पाणिनि-सूत्रम्)

ऐसी व्यवस्था होते हुए हमारे देश का नाम 'आर्यस्थान अथवा आर्य खण्ड' होना चाहिए, सो उसे छोड़ न जाने 'हिन्दुस्तान' यह नाम कहां से निकला? भाई श्रोतागण! 'हिन्दु' शब्द का अर्थ तो काला, काफिर, चोर इत्यादि है और हिन्दुस्थान कहने से काले, काफिर, चोर लोगों की जगह अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है तो भाई! इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो? और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ अथवा अभिज्ञात इत्यादि और आवर्त्त कहने से ऐसों का देश, ऐसा अर्थ होता है। सो भाई ऐसे श्रेष्ठ नाम को तुम क्यों स्वीकार नहीं करते? क्यों तुम अपना मूल का नाम भूल गए? हाँ! हम लोगों की यह स्थिति देखकर किस के हृदय को क्लेश न होगा? सब ही को होगा अस्तु, सज्जन जन! आज से 'हिन्दू' नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त इन नामों का अभिमान धरो। गुणभ्रष्ट हम लोग हुए तो हुए, परन्तु नामभ्रष्ट तो हमें न होना चाहिए। ऐसी आप सबों से मेरी प्रार्थना है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

१. अष्टाध्यायी ६।३।५८॥

नवम उपदेश

इतिहास-विषयक

[रविवार ता० २५ जुलाई १८७५*। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २५ मास जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे व्याख्यान दिया, उसका सारांश]

'इक्ष्वाकु' यह आर्यावर्त्त का प्रथम राजा हुआ। इक्ष्वाकु की ब्रह्मा से छठी पीढ़ी है। पीढ़ी शब्द का अर्थ बाप से बेटा यही न समझें, किन्तु एक अधिकारी से दूसरा अधिकारी ऐसा जानें, पहला अधिकारी स्वायम्भुव [मनु] था। इक्ष्वाकु के समय में लोग अक्षर स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिलकुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ-कुछ बन्द होने लगी। जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी ऐसा है, कारण देव अर्थात् विद्वान् इनका जो नगर ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ-संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का प्रचार प्रारम्भ किया।

ब्रह्मा की उत्पत्ति तक दिव्य सृष्टि थी, पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई। उससे विराट् हुआ, और विराट् के पीछे मनु हुआ। मनु ने धर्म-व्यवस्था बनाई। मनु के दस पुत्र थे, उनमें स्वायम्भुव के समय में राजकीय और सामाजिक व्यवस्थाएं प्रारम्भ हुई।

इक्ष्वाकु राजा हुआ तो वह इससे नहीं कि राजकुल में वह उत्पन्न हुआ था, अथवा उसने बलात्कार से राज्य उत्पन्न किया हो, किन्तु सारे लोगों ने उसे उसकी योग्यतानुकूल राजसभा में अध्यक्ष स्थान पर बैठाया। उस समय सारे लोग वैदिक व्यवस्थानुकूल चलते थे। भृगुजी ने अपनी संहिता में यह सब व्यवस्था प्रकट की है और यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है। इससे श्लोक बनाने का प्रारम्भ वाल्मीकिजी ने किया, यह कहना कितना युक्तिक है, सो देखो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध से मनु के सातवें, आठवें वा नवें अध्यायों में जो राज्यों की व्यवस्था बतलाई है उसे देखो। केवल

* श्रावण कृष्ण ७ सं० १९३२ वि० (दाक्षिणात्यमत में आषाढ़ कृष्णा ७)।

अकेले राजा ही के हाथ में किसी प्रकार का हुकम चलाने की शक्ति न थी, वह तो केवल राजसभा में अध्यक्ष का अधिकार चलाता रहता था।

राज्य की व्यवस्था कैसी होती थी, उसे संक्षेप में इस स्थल पर कहता हूँ—ग्राम, महाग्राम, नगर, पुर, ऐसे-ऐसे देश विभाग रहते थे। ग्रामों में सौ-सौ घर, महाग्रामों में हजार, नगर में दश हजार और पुर में इससे भी अधिक घरों की संख्या रहती थी। दश ग्राम पर एक दशेश नाम का अधिकारी होता था, सौ ग्रामों पर शतेश नाम का अधिकारी रहता था, और सहस्र ग्रामों पर सहस्रेश नाम का अधिकारी होता था। दश सहस्रों पर महासुशील नीतिमान् ऐसा ही एक अधिकारी रहता था। लिखने-पढ़ने के कामों में अनुभवशील ऐसे सब देशों में गुप्त दूत बातनियां (खबरें) पहुँचाने के लिए तथा अधिकारी लोग कैसा अधिकार चलाते हैं, इसका शोध रखने के लिए चारों ओर फिरते रहते थे, और यह दूतों का काम पुरुष या स्त्रियां करती थीं।

राज्य में चार प्रकार के अधिकारी होते थे—राज्याधिकारी, सेनाधिकारी, न्यायाधिकारी और कोषाधिकारी। ऐसे चार महकमे के चार अधिकारी रहते थे। इक्ष्वाकु राजसभा का प्रथम अध्यक्ष था। यदि सभा के विचार में दो पक्ष आ पड़ते तो उस स्थल पर निर्णय करने का काम अध्यक्ष का था। देश में भिन्न-भिन्न जाति [प्रकार] की सभायें थीं। उनमें राजार्य्य सभा ही मुख्य थी और धर्मसभायें अर्थात् परिषद् भी स्थल-स्थल पर थीं। दश विद्वान् विराजे विना परिषद् सभा नहीं होती थी और न्यून से न्यून तीन विद्वानों के आये विना तो सभा का काम चलता ही नहीं था। धर्म-सभा की ओर से किसी प्रकार का अधिकार न था, किन्तु उसमें धर्माधर्म का विवेचन और उपदेश ही होता था। परीक्षा और शिल्पोन्नति की ओर भी इस सभा का ध्यान रहता था, न्यूनाधिक के विषय में राजार्य सभा को विदित करके राजार्य सभा की ओर से दण्डादिक की व्यवस्था होती थी। महाभारतान्तर्गत सभापर्व में भिन्न-भिन्न सभाओं का वर्णन किया हुआ है, उसे देखो। सेना के सिपाही लोगों को आज्ञा मानना ही मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, ऐसा बतलाकर उन्हें धनुर्वेद सिखाते थे। आर्य लोगों को 'कवायद क्या है' यह विदित न था, ऐसा बहुत से अंग्रेजी पढ़े हुए लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना पागलपने का है। क्योंकि मकरव्यूह, बकव्यूह, बलाकाव्यूह, सूचीव्यहू, शूकरव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह इत्यादि कवायद के नाना

प्रकार प्राचीन काल में आर्य लोगों को विदित थे और सैन्य में भी भिन्न-भिन्न टोलियों पर दशेश, शतेश, सहस्रेश ऐसे अधिकारी रहते थे और उस समय के उनके हथियार अर्थात् शक्ति, असि, शतघ्नी, भुशुण्डी आदि होते थे। अंग्रेज लोगों में अब तक व्यूह रचना का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है अर्थात् वे नहीं जानते कि व्यूह-रचना किसे कहते हैं। थोड़ी बहुत कवायद करते हैं, उतने ही से वे प्राचीन आर्य लोगों की अपेक्षा कुशल हैं, ऐसा तुम्हें प्रतीत होने लगा है। सारांश '**निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते**' यह कहावत सत्य है।

इससे अंग्रेजों में हमारी अपेक्षा विशेष गुण नहीं हैं, ऐसा मेरा कहना नहीं है; किन्तु उनमें भी बहुत से अच्छे गुण हैं सो उनके गुणों को हम स्वीकार करें, यहीं हमें योग्य है। पहले समय में जो कोई युद्ध में मरता तो उसके लड़के-बालों को वेतन मिला करता था और युद्धप्रसंग में जो लूट मिलती तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बांट दिया करते थे। सैन्य की योग्य व्यवस्था के सम्बन्ध से उस समय बहुतेरे कार्यों की ओर ध्यान दिया करते और समस्त ऐश्वर्य की मूल कारण सेना है यह जानकर सेना में लोगों को कोई प्रकार की चिन्ता वा कष्ट नहीं होने देते थे, इस विषय में अधिकारी लोग उस समय बहुत ही दक्ष होते थे। यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उसकी विशेष चिन्ता की जाती थी अर्थात् उत्तम रक्षा होती थी।

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥[१]

श्रेष्ठ पुरुषों को और राजा को गरीबों की अपेक्षा शतपथ (सौगुना) दण्ड अधिक दिया जाता और राजा लोग मुनि लोगों के साथ धर्मवाद करने में समय लगाते थे, इस विषय में पिप्पलाद मुनि की कथा देखो[२]। इस प्रकार इक्ष्वाकु के समय में राज्य-व्यवस्था थी। इक्ष्वाकु राजा इस प्रकार का सुशील, नीतिमान्, सुज्ञ, जितेन्द्रिय, विद्वान् और गुणसम्पन्न राजा था।

बहुत सी पीढ़ियों के पश्चात् सगर राजा राज्य करने लगा। उस समय राजा लोग यदि मूर्ख होते तो उन्हें अधिकार से दूर कर देते थे अथवा अधिकार ही न देते थे।

१. मनुस्मृति ८।३६६॥ २. यह कथा प्रश्नोपनिषद् में है।

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों की चाण्डाल-चौकड़ी ने घेरा है। इस कारण सहज ही राजाओं में सारे दुर्गुण वास करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है? बस सारांश इतना ही है कि यह हमारे आर्यावर्त्त का दुर्दैव है।

बहवः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥[१] (महाभारते)

सगर राजा सुशील और नीतिमान् था। इस राजा का मूर्ख और दुष्ट ऐसा असमंजस नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने एक गरीब के बालक को पानी में फेंक दिया। इसकी प्रार्थना का न्याय राजार्य सभा के सम्मुख होने पर राजा ने उसे शासन किया और उसे एक महाभयंकर जंगल के बीच कैद कर रखा, इसी का नाम न्याय है। नहीं तो आजकल के राजा लोग और उनके न्याय का क्या पूछना है, कहते हैं कि—

समरथ को नहीं दोष गुसाई। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥[२]

बस इस प्रकार की शिक्षा ने भारत को तबाह कर दिया। प्यारे आर्यगण! समर्थों को मूर्खों की अपेक्षा अधिक दोष लगता है। क्योंकि उसे समझ देखकर समर्थ किया है। वह भला बुरा पाप-पुण्य सब जान सकता है। तात्पर्य है कि ऐसे-ऐसे गपोड़ों को न मानकर अपने धर्मानुरागी पूर्वजों की धर्म शिक्षानुकूल बर्त्ताव रखें, इसी में कल्याण है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

१. महाभारत उद्योगपर्व ३७।१५।
२. तुलसीदास की रामायण का यह वचन है।

दशम उपदेश

इतिहास-विषयक

गत व्याख्यान में कहे हुए सगर राजा के समय जिस दुष्ट राजपुत्र को दण्ड मिला था, उसको राज्य का अधिकार न मिला। इसी सगर राजा के सम्बन्ध में बहुत सी अलाउद्दीन की तरह कहानियां मनुष्यों में प्रसिद्ध हैं, परन्तु इस प्रकार की अनुचित कहानियों पर कौन विश्वास कर सकता है कि एक ही समय में राजा सगर के साठ हजार पुत्र पैदा हुए, और उन्होंने समुद्र को खोद डाला। इनके हाथ बड़े-बड़े थे और शरीर भी अतिपुष्ट थे।' कोई-कोई मनुष्य इस बात की उपपत्ति इस रीति पर करते हैं कि यह सब वरदान का प्रभाव था। वरदान अर्थात् आशीर्वाद में केवल वाणी से शब्द बोले जाते हैं परन्तु केवल शब्द में तो कर्त्तव्य शक्ति नहीं है। जैसे 'अग्नि' बोलने से जलन या दीप्ति पैदा नहीं होती। शब्द में केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। अत: यह सब मिथ्या बड़बड़ाहट है। इसमें मूल्य और समय खोना अतीव निर्बुद्धिता है।

इस सगर के अनन्तर उपरिचर राजा हुआ। वह गुब्बारह की विद्या में निपुण था। कौषीतकीय ब्राह्मण ग्रन्थ में बहुत सम्राट् राजाओं का वर्णन किया है।

अयोध्या में ऋतुपर्ण नामी राजा राज्य करता था। इधर दक्षिण में राजा नल राज्य करता था, नल की रानी दमयन्ती का अपने पति से वियोग हो गया उस समय का वर्णन किया गया है कि उसने अपने ही स्वयंवर के विषय में दो श्लोक स्वयं बनाये थे [और उसने अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के पास भेजे थे]। राजा नल को अश्वविद्या अर्थात् अग्निविद्या विदित थी।

अग्निर्वै अश्वः। देवा एतं वज्रं ददृशुः। अग्निर्वै वज्रः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याऽभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत। तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यादश्वमानेतवै ब्रूयात् स पूर्वेणोपतिष्ठते। वज्रमेवैत-दुच्छ्रयति। (शतपथ)[१]

१. शतपथ २।१।४।६॥

अग्नि का नाम ही अश्व है विद्वानों ने इसे वज्र को दिखाया। वज्र नाम है अग्नि का; जो अग्नि है इसको आगे से दिखाया गया है। इस जगह जहां कि अग्नि का भय नहीं है अर्थात् जहां कि हवा न हो, अग्नि प्रसिद्ध हुआ है। इस कारण से जहाँ अग्नि का मन्थन होता है अर्थात् अग्नि की अनेक प्रकार की सुन्दरता होती है वहाँ अग्नि का बल निश्चय कहा जाता है कि सम्पूर्ण संसार इसी के बल से स्थित है। यह वज्र अर्थात् अग्नि है। इस संसार को उन्नति देती है।

उस समय राजा नल अयोध्या पुरी के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ नौकर था। वहां से दमयन्ती के स्वयंवर में नल की विद्या-शक्ति से एक ही दिन में राजा ऋतुपर्ण विदर्भ पहुँच गया था; इस कारण से नल की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इसके साथ दुर्बल श्यामकर्ण घोड़ों की मनुष्य ऊटपटांग बातें करते हैं। इनमें कुछ भी सच्चाई नहीं है।

इसके अनन्तर भरत-कुल में अनेक राजा होते रहे। इसी कारण उस समय से आर्यावर्त्त का नाम भारतवर्ष भी हो गया। तदन्तर राजा रघु हुआ, वह भी बड़ा महात्मा था। राम राजा से रघु राजा बड़ा था। रघु पीछे राजा राम हुए। इनका रावण से युद्ध हुआ। इनका इतिहास रामायण में वर्णन किया गया है। ऐसे-ऐसे वीर पराक्रमी, बुद्धिमान्, विद्वान्, वैद्य और न्यायकारी राजा लोग आर्यावर्त्त में हुए हैं। उस समय आर्यावर्त में प्रत्येक स्थान पर बड़ी भारी उन्नति थी। कौषीतकीय ब्राह्मण में लिखा है कि सब पुत्र वा पुत्रियां पाँच वर्ष की अवस्था में पाठशाला को भेजे जाते थे। यह एक सामाजिक नियम था। परन्तु माता-पिता इस सामाजिक नियम को तोड़ते तो राज-सभा से उनको दण्ड मिलता था। इस तरह की उन्नति का समय व्यतीत होते हुए राजा शन्तनु का समय आ पहुँचा। इस समय आर्यावर्त्त का ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया था। इस ऐश्वर्य के नशे के कारण सहज ही इस आर्यावर्त्त की दशा बहुत बिगड़नी प्रारम्भ हुई। जिसके पास द्रव्य बहुत था वह नशे में मस्त था। इस कारण से एकाएक देश में सामाजिक नियमों में विरुद्धता उत्पन्न हो गई।

राजा शन्तनु को ऐश्वर्य का बड़ा भारी अभिमान उत्पन्न हुआ और देश में व्यभिचार बढ़ गया। निष्कण्टक राज्य होने के कारण से शन्तनु और भी विशेष अभिमानसंयुक्त हुआ। मनु जी ने कहा है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥[१]

जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद है।

इसके अनन्तर शन्तनु विषयों में अत्यन्त आसक्त हो गया। सत्यवती के प्रति इसकी चालाकी का समाचार आप सब लोग जानते हैं; परन्तु शन्तनु राजा होकर भी सत्यवती के पिता पर बल प्रयोग न कर सका। सत्यवती के पिता ने उसको डांटा था। जब तक भीष्म ने अपना कुल हक सत्यवती के पुत्रों को देने का निश्चय नहीं किया, तब तक सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा की आज्ञा स्वीकार नहीं की। भीष्म पितामह के इस निश्चय पर कि इसने अपना कुल हक सत्यवती के पुत्रों को दे दिया, सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा का कहना स्वीकार किया। इससे ही प्रकट हो सकता है कि प्राचीन आर्य मनुष्यों में कितनी स्वाधीनता थी और राजा लोग भी सामाजिक प्रबन्ध में किस प्रकार प्रबन्धकर्त्ता हुए थे। इस आर्यावर्त्त के राजाओं की नेकी वा नेकनामी संसार में फैल रही थी। योरुप और अमेरिका के कुछ राजा लोग इनकी सेवकाई में तत्पर होकर कर देते थे। अब सोचिए कि वर्त्तमान समय में देश की दशा कितनी गिर गई है। ये सब बातें महाभारत के राजसूय और अश्वमेध पर्वों में वर्णित हैं। निदान शन्तनु राजा के समय में पाप बढ़ने लगा और राज्य का प्रबन्ध बिगड़ चला। यह ही पाप अन्त में बढ़ते-बढ़ते कौरवों व पाण्डवों के बड़े भारी संग्राम पर समाप्त हुआ और उसी समय से इस देश की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई। अब इस जगह राजा लोगों का इतिहास समाप्त किया जाता है।

अब आगे देवता, विद्या और ऋषि आदि के इतिहास का प्रारम्भ करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि देवता विद्वानों को कहते हैं।[२] इन विद्वानों के तीन प्रकार थे—प्रथम देव, द्वितीय ऋषि, तृतीय पितृ। इन तीन प्रकार के पृथक् ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तेंतीस देवता वर्णन किए गए हैं[३] और तेंतीस करोड़ का मानना जो नवीन पुरुषों ने किया है वह बहुत अनुचित है; क्योंकि कोटि का अर्थ 'प्रकार' है और इनको पुस्तक रचयिता

१. मनु० २।१२॥ २. विद्वाᳬसो हि देवाः। शत० ३।७।३।१०॥
३. शत० १४।६।९।३॥

लोगों ने 'करोड़' का अर्थ करके ऐसी गलती खाई है। आदित्य, रुद्र, वसु आदि इस तरह के तेंतीस देवता शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद्[१] में वर्णन किए गए हैं। वहां देख लेना चाहिए। इन तेंतीस देवताओं में, बारह आदित्य अर्थात् महीने, ग्यारह रुद्र अर्थात् १० प्राण और एक जीवात्मा। रुद्र शब्द का अर्थ है कि इस शरीर में से प्राणों के निकल जाने पर लोग रोया करते हैं। इसलिए प्राणों को रुद्र कहते हैं। इसलिए दश प्राण और जीवात्मा मिलकर ग्यारह रुद्र समझने चाहियें; क्योंकि इनके शरीर से अलग होने पर ही सम्बन्धी रोते हैं। आठ वसु, जो निम्न रीति पर वर्णित हैं—१. पृथिवी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. द्यौ, ७. चन्द्रमा, ८. सूर्य ये सब मिलकर आठ वसु हुए। बत्तीसवें प्रजापति, तेंतीसवें इन्द्र।

विष्णु वैकुण्ठ में रहने वाले थे और वही उनकी राजधानी का नगर था। **महादेव कैलाश के रहने वाले थे। कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदारखण्ड में वर्णन किया गया है।** हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं। जिस पहाड़ पर कि पुरानी अलकापुरी थी उस पर भी मैं इस विचार से गया था कि एक वार ही अपना शरीर बर्फ में गलाकर संसार के धंधों से निवृत्त हो जाऊं, परन्तु वहां पहुँचकर विचार में आया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है, अपितु ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना ही पुरुषार्थ है। इस विश्वास के बदलने पर लौट आया था। अब तो विदित होता है कि जीवात्मा की मृत्यु ही नहीं होती है।

काश्मीर से लेकर नैपाल तक हिमालय की जो ऊंची-ऊंची चोटियां हैं वहाँ देवता अर्थात् विद्वान् पुरुष रहते हैं। गत समय में इस समय की तरह प्रायः बर्फ नहीं पड़ती थी, ऐसा विचार होता है क्योंकि यदि उस समय भी वहां बर्फ पड़ती होती तो देव अर्थात् विद्वानों का इस स्थान पर निवास कैसे होता? इस देव लोक में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे। इस समय भी भरतखण्ड में हमारे कथन का प्रमाण मिलता है। देहली में इन्द्रप्रस्थ नामी स्थान था। वहां इन्द्र का राज्य था। पुष्कर और ब्रह्मावर्त्त में ब्रह्मा ने राज्य किया। काशी, उज्जैन और हरद्वार

१. शतपथ १४।६।९।३॥ शतपथ का यह अंश बृहदारण्यक उपनिषद् कहाता है।

आदि में महादेवजी का राज्य था। इन विद्वानों अर्थात् आर्यों के वैरी अनार्य भील आदि थे। इनके साथ बराबर आर्यों को युद्ध करना पड़ता था। विमानों में बैठकर भी युद्ध करते थे। केवल यही नहीं; किन्तु जहाँ कहीं स्वयंवर रचा गया और बुलाया गया कि उन्हीं विमानों पर चढ़कर शीघ्र ही उस स्थान पर पहुंच जाते थे। इन देवताओं में बड़े देवता लोग अत्यन्त वीर थे। इनकी स्त्रियां मर्दाना जोश से अपने पतियों के साथ युद्ध में जाया करती थीं। इन पहाड़ के रहने वाले देवताओं के राज्य के व्यवहार आज तक के राजपूत लोगों से अब तक मिलते हैं। प्राचीन समय के राजा लोग युद्ध के समय रथों में बैठे भोजन किया करते थे। इस समय राजपूतों में ठाकुर लोग अवसर आने पर ऐसा ही करते हैं। राजपूत लोग जिस स्थान पर जी चाहे खाते हैं। इसी सम्बन्ध में मैं एक रिवायत सुनाता हूं जो कि शहर जयपुर में कुछ समय पहले से प्रसिद्ध है। जयपुर के राजा लोग ब्राह्मण को रसोईदार बनाकर नहीं रखते। इसका कारण इस रीति से वर्णन करते हैं कि चार पुस्तों से पहले रसोई का काम ब्राह्मण नहीं करते थे। ब्राह्मण वा क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के घर में शूद्र रसोईदार रहते थे और यह आचार मनुस्मृति में भी मिलता है। वर्त्तमान में वही राजपूतों के रसोईदार हैं। ब्राह्मणों को रसोई के काम के लिए न रखने का कारण यहां वर्णन करते हैं कि गत समय में एक वार ब्राह्मण ने राजा के भोजन में विष डाल दिया था।

प्राचीन समय में जिसको त्रिविष्टप देश कहते थे उसको वर्त्तमान में मुल्क तिब्बत कहते हैं। कोई-कोई हमसे प्रश्न करते हैं कि विष्णु, महादेव, इन्द्र आदि देवता आजकल हमें क्यों दिखाई नहीं देते। उनके लिए हमारा उत्तर यह है कि नेक और पराक्रमी विद्वान् जो थे, वे सब-के-सब मर गए। कोई-कोई पूछते हैं कि हिमालय में राज्य करने वाले लोग कहां चले गए। कोई-कोई कहते हैं कि देव अमर हैं, परन्तु हम पापी लोगों को दिखाई नहीं देते। भला देवता लोग तो अमर होने के कारण न देख पड़े, उनके नौकर-चाकर भंगी आदि क्यों नहीं दिखाई देते। ठीक बात तो यह है कि जो उत्पन्न हुआ है वह दिखलाई देता है और वह अवश्य एक दिन मरने वाला है। इस तर्कणा से देव भी मर गए। **यद्दृष्टं तन्नष्टम्।**

देव मर गए इससे यह अभिप्राय है कि इस पृथिवी पर से उनका शरीर जाता रहा, परन्तु देवता और मनुष्य की आत्मा अमर है। इस प्रकार

जाति के विचार से देवजाति अर्थात् विद्वानों का समूह अमर है अर्थात् सदैव कुछ न कुछ विद्वान् पुरुष रहते हैं। इस कारण से कहा है कि— **विद्वाꣳसो वै देवाः।**[१] इसलिए देवजाति तो अमर है।

अब प्रश्न है कि हमारे देश के इतिहास में ऐसा गड़बड़ क्यों हो गया और इसका क्या कारण है कि किसी स्थान अथवा लेख के दिन आदि का ठीक पता नहीं लगता है। इस विषय में जानना चाहिये कि मतलबी लोगों ने पुस्तकों में तारीखें छिपा दीं और जैनियों वा मुसलमानों ने वे ग्रन्थ जला दिये। यह संक्षेप से देवताओं का इतिहास वर्णन किया गया।

विद्या का इतिहास

अब संक्षेप रीति से विद्या का इतिहास कहा जाता है कि सबसे पहला विद्वान् देव ब्रह्मा हुआ। इसने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा चार ऋषियों के पास वेद पढ़ा। इस ब्रह्मा का पुत्र विराट्, उसका पुत्र मनु, मनु के दश मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि थे। इस समय में पढ़ने-पढ़ाने की रीति क्या थी, यह सरलता से विदित हो सकता है। ऋग्वेद की इक्कीस शाखा, यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा, सामवेद की एक हजार शाखा और अथर्ववेद की नव शाखा थीं। इसी तरह ग्यारह सौ इकत्तीस शाखा पढ़ने-पढ़ाने के लिए थीं। चारों वेदों को अर्थ सहित जानने वाला जो यज्ञ का करने वाला होता था उसको ब्रह्मा कहते थे। ब्राह्मणों के बनाये हुए जो वेदों के व्याख्यान थे उनको ब्राह्मण पुस्तक कहा जाता था। ऐसे ब्राह्मण और अनुब्राह्मण रूप बहुत-सी पुस्तकें हैं। साफ पानी और हवा जिन एकान्त स्थानों की होती थी, ऐसे एकान्त स्थानों पर जाकर रहने वाले ऋषि मन्त्रद्रष्टा, श्रवण वा मनन करने वाले वा पदार्थ विवेचन करने वाले, ब्रह्म-विचार करने के वास्ते वा सिद्धान्तों के निश्चय करने के लिए नैमिषारण्य आदि स्थानों में सभा करते थे।

एक महर्षि पाणिनि की बनाई हुई अष्टाध्यायी में ही देखो कितने नाम ऋषियों के आये हैं। आजकल के स्वेच्छाधारी वैरागियों के समूह को देखकर कृपापूर्वक प्राचीन ऋषियों का अनुमान कदापि न कीजिए। सब तैयार की हुई पुस्तकों के आधार पर सिद्धान्तों की एक पुस्तक तैयार करते थे। फिर उस पर ऋषियों की सभा में विचार होता था।

---

१. शतपथ ३।७।३।१०॥

राज-सभा के विषय में मनुजी कहते हैं कि—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्ष्यान् कुलोद्‌गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
अपि यत् सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥[१]
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः[२]**॥**

अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुए वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कवि, गृहस्थ, अनुभवकर्त्ता सात अथवा आठ धार्मिक बुद्धिमान् मन्त्री राजा को रखना चाहिए; क्योंकि सहायता विना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमानी नहीं है। निदान महाराज को उचित है कि मन्त्रियों समेत छः बातों पर विचार करें—१. मित्र और २. शत्रु में चतुरता, ३. अपनी उन्नति, ४. अपना स्थान, ५. शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, ६. विजय किए हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना।

इन श्लोकों से राज-सभा का वर्णन यथार्थ विदित होता है। पुराने राजा युद्ध करने वाले सिपाहियों की रक्षा अपने पुत्र की तरह करते थे, इसलिए उन सिपाहियों को युद्ध करने में बड़ा भारी उत्साह होता था। इन विचारों पर सब राजा लोग चलते थे और सब सामान एवं देश की रक्षा करते थे और उनके लिए खजाना जमा करने में लगे रहते थे। मनुजी ने युद्ध में जय के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और उसी (में) युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए सिपाहियों के हक भी बतलाये हैं और क्षत्रिय का धर्म पूर्णतया वर्णन किया है। केवल यही नहीं; किन्तु मनुजी ने विद्या

१. मनुस्मृति ७।५४-५६॥ २. मनुस्मृति ७।५७॥

की रक्षा और विद्वानों के सत्कार आदि के लिए नियम भी बतलाये हैं।

महाभाष्य में लिखा है कि ब्राह्मण को छः अङ्गों समेत वेदों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति।**[१]

इन छः अंगों में व्याकरण मुख्य है। और पाणिनि बड़े विद्वान् वैयाकरण हो गए हैं, इनकी जितनी प्रशंसा की जावे उतनी ही कम है। इस महामुनि ने पांच पुस्तकें बनाई हैं—१. शिक्षा, २. उणादिगण, ३. धातुपाठ, ४. प्रातिपदिक-गण, ५. अष्टाध्यायी। यह बात निश्चय करने के लिए कि पाणिनि कब हुए, अनेक प्रकार की तर्कणायें प्रस्तुत की जाती हैं; परन्तु इस विवाद से कुछ लाभ नहीं हो सकता। यह बात तो ठीक है कि पाणिनि बहुत पुराने ग्रन्थकर्त्ता हैं।

प्राचीन समय में चौदह विद्याओं के पढ़ने की रीति हमारे देश में थी। चार वेदों के नाम तो सभी जानते हैं। चार उपवेद और छः अंग मिलकर चौदह होते है। चार उपवेद और छः अंग कौन होते हैं उनका विचार करेंगे।

चार उपवेद जो हैं उनमें से पहला **आयुर्वेद** है। इस पर जो ग्रन्थ चरक और सुश्रुत मिलते हैं उनके बनाने वाले [अग्निवेश और] धन्वन्तरि ऋषि हैं। इस विषय का वर्णन हमारे सत्यार्थप्रकाश में तीसरे समुल्लास में किया गया है।

दूसरा **धनुर्वेद** है जिसमें अस्त्र-शस्त्र विद्या का विचार है। इस उपवेद में ब्रह्मास्त्र, पाशुपत-अस्त्र, नारायण अस्त्र, वरुण अस्त्र, मोहन अस्त्र, वायव्यास्त्र आदि की व्यवस्था लिखी है। ये सब अस्त्र वेदार्थ का विचार कर और वस्तुओं के गुण और दोष जानकर तैयार किये जाते थे। क्षत्रिय लोगों को यह धनुर्वेद बड़े परिश्रम से पढ़ना पड़ता था। यह कहना दिवानापन है कि केवल मन्त्रों के उच्चारण से शस्त्र और अस्त्र तैयार हो जाते थे।

तीसरा **गन्धर्ववेद** है, जिसमें विद्वानों ने गान-विद्या का वर्णन किया है। उस समय नये वेश की कविता अर्थात् पद, ध्रुवपद, ख्याल, लावनी आदि नहीं गाते थे। प्राचीन आर्य लोग वेदमन्त्रों का रसीला गायन करते थे।

१. महा० अ० १ पा० १ आ० १॥

चौथा **अर्थवेद** अर्थात् शिल्पशास्त्र। इसका विचार मयसंहिता, वाराहसंहिता, विश्वकर्मसंहिता आदि पुस्तकों में बहुत तरह पर किया है।

एक अपूर्व बात इस समय स्मरण हुई है, वह आपको सुनाता हूं— एक अंग्रेजी विद्वान् डाक्टर हमको मिला। उसने मुझसे कहा कि हमारे प्राचीन आर्य लोगों में डाक्टरी औजार का कुछ भी प्रचार न था और उन्हें विदित न था। तब मैंने सुश्रुत का 'नेत्र-अध्याय' जिसमें कि बारीक-से-बारीक औजार का वर्णन है, निकालकर उसे दिखाया। तब उसको ज्ञात हुआ कि आर्य लोग चिकित्सा में बड़े चतुर थे और उन्हें औजारों की विद्या भी उत्तम ज्ञात थी।

छः वेदाङ्ग हैं—१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्द, ६. ज्योतिष—ये सब मिलकर चौदह विद्यायें हुईं। इन सब पुस्तकों का अवलोकन करने में बारह वर्ष लगते हैं और इन ग्रन्थों का दृढ़ अभ्यास करने से बुद्धि में उत्तमता पैदा होती थी। इस समय कुछ ऐसा अनुचित शिक्षा-प्रबन्ध का प्रचार हुआ कि इनमें से एक भी विद्या अत्यन्त परिश्रम करने पर चौबीस वर्ष में भी नहीं आती है। इसका कारण यह है कि केवल तोता-पाठ का घोषाघोष चलता है। इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली बन्द करनी चाहिए। प्राचीन ऋषियों ने विद्या-स्नातक होने को ब्रह्मचारी के लिए केवल बारह वर्षों की हद रखी है। उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने ये सब विद्यायें बारह वर्षों में सीखी थीं, ऐसा लेख मिलता है और यदि प्राचीन रीति के अनुसार इस समय भी शिक्षा दी जावे तो बारह वर्ष से विशेष समय इस काम में नहीं लगेगा।

अब कुछ थोड़ा-सा विचार **छः दर्शनों** का किया जाता है—

पहला दर्शन **जैमिनि** जी का बनाया **मीमांसाशास्त्र** है। इसमें धर्म और धर्मी का विचार किया है और प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों को माना है। धर्म का लक्षण करते हुए इन्होंने वर्णन किया है कि [वेद की] आज्ञा ही धर्म का लक्षण है।

दूसरा **कणाद मुनि** का बनाया **वैशेषिक दर्शन** है। इसमें द्रव्य को धर्मी मानकर गुण आदि को धर्म स्थापन करके विचार किया है। इन्होंने भी दो ही प्रमाण माने हैं और छः पदार्थों का निरूपण किया है।

तीसरा **गौतम** का बनाया **न्याय-शास्त्र** है। इसमें यह विचार प्रारम्भ करके धर्मी का धर्म और धर्म का धर्मी क्यों नहीं होता; इस विचार से वाद आरम्भ करके प्रमाण और प्रमेय का सम्बन्ध बतलाया है और सोलह पदार्थ माने हैं।

इस पर कोई-कोई यह कहते हैं कि इन शास्त्रों में परस्पर विरोध है। इसलिए पहले विरोध शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए। यदि एक विषय में अवगुण संयुक्त विचार का प्रवेश हो तो उसको विरोध कहते हैं; परन्तु यदि अनेक विषयों के विचार से अनेक विचारों का वर्णन हो तो उसको विरोध नहीं कहते हैं। ये छहों दर्शन अपने-अपने लेखों पर चलने वाले हैं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

एकादश उपदेश

इतिहास-विषयक

गौतम ने निम्न रीति पर सोलह पदार्थों का वर्णन किया है—

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति और १६. निग्रहस्थान। इसके अनन्तर आठ प्रमाण स्थापित करके इनकी जांच की है और अन्त में चार ही प्रमाणों के अन्तरंग आठों को ठहरा दिया है। इन प्रमाणों के मेल से अर्थ की जांच होकर सत्य और असत्य का विचार होता है। ये आठ प्रमाण हैं—**१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. ऐतिह्य, ६. अर्थापत्ति, ७. सम्भव, ८. अभाव।** इनमें से पांचवां तो चौथे में मिल जाता है और छठा, सातवां, आठवां में मिल जाते हैं।

प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति। इनका लक्षण यह है कि जिससे अर्थ का निश्चय हो उसको **प्रमाण** कहते हैं और जिससे कि ठीक अर्थ प्राप्त हो वह **प्रमेय** है। निश्चय करने वाला जो है उसे **प्रमाता** कहते हैं। अर्थ का विज्ञान जो उत्पन्न होता है उसको **प्रमिति** कहते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान की सहायता की बहुत बड़ी आवश्यकता रहती है। जैसे एक वस्तु का पहला (=सामने का) भाग देखें तो हमको उस वस्तु का पूर्ण आकार समझ [नहीं] पड़ता है। वास्तव में यह विदित होता है कि उस वस्तु और उसके पिछले अवशिष्ट भाग का ज्ञान नहीं है। परन्तु विना अनुमान के यह नहीं हो सकता। फिर भी अगले भाग का एक देशी ज्ञान रहते हुए सम्पूर्ण भागों का ज्ञान अनुमान से हो जाता है।

कोई-कोई यह शंका किया करते हैं कि प्रमाण पहले या प्रमेय पहले? उत्तर यह है कि दोनों एक समय में होते हैं। इस पर यदि यह तर्कणा उठाई जावे कि दो वस्तुओं का ज्ञान एक वार जिसमें पैदा न हो यह ही मन की पहचान है[1]। फिर इसमें एक ही समय प्रमाण और प्रमेय

१. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय० १।१।१६॥

का ज्ञान क्यों कर हो सकता है। तो इसका उत्तर यह है कि तर्कणा प्रमाण और प्रमेय पर नहीं हो सकती है, क्योंकि दूसरे के ज्ञान के लिए जो प्रमाण होता है [वह अपने ज्ञान की दृष्टि से प्रमेय भी होता है] इस तरह प्रमेय और प्रमाण का ज्ञान एक ही समय में हो जाता है। जैसे दीपक की तरफ देखो, तो वह दूसरी वस्तु का प्रमाण अर्थात् दिखाने वाला और स्वयं वह प्रमेय है; परन्तु दोनों बातें एक ही समय में हैं। सूर्य से प्रकाश होता है; परन्तु ऐसा नहीं होता कि सब वस्तुएं पहले ही से दिखाई देने लग जाएं और प्रमेय जो सूर्य है वह पीछे दिखाई देवे। दोनों एक वार ही दिखाई देते हैं।

अब गौतम के विचार के अनुसार एक सत्य ही धर्म है। गौतम ऋषि ने शास्त्रों पर विचार करने वाले हम नये लोगों का बड़ा उपकार किया है कि इस समय एक प्रकार का वाक्छल (धोखा) मच रहा है। इस वाक्छल की तारीफ (=लक्षण) गौतम ने भलीभांति की है—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्[1]॥

अपना प्रयोजन प्राप्त करने के लिए बोलने वाले के प्रयोजन के विरुद्ध अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है। इसका उदाहरण किसी ने इस प्रकार कहा है—

नवकम्बलोऽयं माणवकः।

इस वाक्य में जो शब्द 'नव' है इसके दो अर्थ हैं—एक नया और दूसरा नववां है। अपने अर्थ के अनुसार बोलने वाले के अर्थ के विरुद्ध जो अर्थ लिया जावे वह वाक्छल कहलावेगा। साधारण रीति पर नव शब्द का अर्थ नया होता है, इसलिए ९ अंक (=संख्या) का अर्थ सम्भव नहीं है। गौतम ऋषि ने जाति वा व्यक्ति और आकृति इन्हीं का भली-भांति विचार किया है। जाति का लक्षण यह है कि—

समानप्रसवात्मिका जातिः[2]।

इस सूत्र के अनुसार जाति शब्द का उच्चारण इस प्रकार होना चाहिए कि मनुष्य जाति, पशु जाति आदि। और जो जाति का अर्थ 'प्रकार' या 'भेद' करके एक ही वस्तु के भेद का किया जाता है उसको गौतम के सूत्र से कोई सहायता नहीं मिलती।

१. न्यायदर्शन १।१।५३॥ २. न्यायदर्शन १।१।५९॥

श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विचार योगशास्त्र में किया है।

मीमांसाशास्त्र में धर्म और धर्मी के लक्षण कहे हैं।

कणाद ऋषि के वैशेषिकशास्त्र में द्रव्य और गुण का यथार्थ विचार किया है।

गौतम के शास्त्र में यह वर्णन किया है कि प्रमाण और प्रमेय पर क्योंकर विचार करना चाहिए।

इन तीनों मीमांसा, वैशेषिक और न्यायशास्त्रों ने मानो श्रवण, मनन के साधन का ही द्वार बताया है। अब श्रवण, मनन के आगे एक ही सीढ़ी है अर्थात् साक्षात्कार करना। इस विषय पर योगशास्त्र में वर्णन किया गया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करने से और अविद्या की निवृत्ति से ज्ञान बढ़ता है। परन्तु यह निवृत्ति किस प्रकार की होनी चाहिए, इस पर विचार होते हुए विदित होता है कि सब बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होते हुए भी मन बाहर खिंचा हुआ न रहे। बाहरी ज्ञान वर्तमान होते हुए अन्तर्मुख स्थिर रहना इसी का नाम निवृत्ति है। जैसे कोई एक नदी का बहाव बन्द कर देवे तो पानी पूर्णरूप से भर जाता है। इसी प्रकार बाहरी विषयों से चित्त को हटाने में स्वयं दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है कि—बाहरी विषयों में आसक्त न रहे। इसके लिए एकान्त स्थान में बैठकर समाधि लगाना चाहिए। कारण यह है कि एकान्त में बैठने से चित्त निवृत्त होता है। परन्तु नित्य प्रति एकान्त में ही रहना अच्छा नहीं है, क्योंकि मुख्य कर एकान्त में रहने से भी ज्ञान नहीं होता। सत्संग से ही ज्ञान प्राप्त होता है। योगशास्त्र का उपाय ईश्वर के साक्षात् करने पर है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[१]।

इसमें द्रष्टा से अभिप्राय ईश्वर है। योगी विभूति को शुद्ध करता है यह योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा आदि विभूतियां हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, वह ठीक नहीं है। अणिमा का अर्थ यह है कि [योगी का चित्त] छोटी से छोटी वस्तु का विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषतर बड़ा होकर योगी का मन

१. योगदर्शन १।३॥

घेर लेता है, उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है। इस तरह पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार हो जाने से निस्सन्देह स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं कि—

तत्र ध्यानजं ज्ञानमनाशयम्[१]। तत्र ऋतंभरो प्रज्ञः।[२]

अब योग के आठ अंग कहे गये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि। यम पांच हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। इनका और नियमों का वर्णन पहले ही भली-भांति किया है।

स्थिरसुखमासनम्।[३]

यह आसन का लक्षण कहा है। आसन वही है कि जिसमें सुख से बैठकर ईश्वर से योग हो सके, तो फिर नये लोगों का यह कहना कि यह चौरासी आसनों वाला भानमती का तमाशा ठीक है, कैसे मान लिया जावे। इसी तरह पर प्राणायाम के विषय में तमाशा बन रहा है। प्राणायाम की यथार्थ प्रशंसा प्रथम ही वर्णन कर चुके हैं। नासिका और मुख बांधकर प्राणों की रुकावट करने से कुम्भक होता है, तो जो लोग फांसी पर चढ़ते हैं, उन्हीं को कुम्भक का ठीक साधक समझना चाहिए। यथार्थ स्वरूप कुम्भक का यह है कि वायु बाहर की बाहर रोक रखना। बाहर निकालने में विशेष उपाय करने से रेचक होता है। भीतर-के-भीतर प्राणों को रखने से पूरक होता है। यह प्राणायाम का विधान है।

अब हठ-योग का विधान वर्णन किया जाता है। हठ-योग में 'बस्ति' उसे कहते हैं कि गुदा के रास्ते से पानी चढ़ाकर सफाई करना। टकटकी लगाकर इस तरह देखने को कि जिसमें पलक न झपके 'त्राटक' कहते हैं। नासिका में सूत्र डाल कर मुख से निकालने को 'नेति' कहते हैं। मलमल का चार अंगुल चौड़ा १६ से लेकर ८० हाथ तक लम्बा कपड़ा मुख के रास्ते पेट में डालकर फिर बाहर निकालने को 'धोती' कहते हैं। यह बाजीगरी का खेल है। इनसे कब निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते

१. तत्र ध्यानजमनाशयम्। योगदर्शन ४।६॥
२. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योगदर्शन १।४८॥
२. योगदर्शन २।४६॥

होंगे? यह हठवाले ही जानें। इन कामों से बीमारियाँ पैदा होती हैं।

अब **प्राणायाम** का विचार किया जाता है। **प्राण** अर्थात् श्वास और **आयाम** अर्थात् लम्बाई—तात्पर्य श्वास की लम्बाई को **प्राणायाम** कहते हैं। प्राणायाम का प्रयोजन है कि बहुत देर तक श्वास रोका जावे। बहुत समय तक प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र हो जाता है। प्राणायाम का मुख्य काम यह है कि यदि योगशास्त्र के अनुकूल श्वास भीतर बाहर छोड़े तो शरीर की नीरोगता की उन्नति होती है।

ईश्वर में लौ लगाने को **प्रत्याहार** कहते हैं।

मुख्य-मुख्य स्थानों में चित्त को स्थिर करने का नाम **धारणा** है।

आत्मा, मन और इन्द्रियों को किसी वस्तु में लगाकर उस वस्तु पर मनन करने का नाम **ध्यान** है।

ईश्वर में लय होने का नाम **समाधि** है।

जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एकत्र हो जावें, तो उसे **संयम** कहते हैं।

इसी प्रकार पतञ्जलि मुनि ने उपासना की युक्ति बतलाई है और मुक्ति के अनेक साधनों का यथार्थ वर्णन किया है। परमेश्वर में चित्त लगाने की शिक्षा करते हुए कहीं भी यह नहीं बतलाया गया कि मूर्तिपूजा भी कोई साधन है। इसलिए उपासना के वर्णन में कहीं भी मूर्तिपूजा का सहारा नहीं मिलता है।

अब यह देखना है कि सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति कैसे हुई। सांख्यशास्त्र का मूल मुख्यकर पदार्थों की गिनती करने के वास्ते है। सांख्य के कर्त्ता कपिलदेवजी कहते हैं—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।[१]

मैं वैशेषिक आदि के अनुसार छः पदार्थों को मानने वाला नहीं हूं और फिर बहुत से विवाद के पीछे यह निश्चय करते हैं कि अवस्तु के अभाव से विवेक होता है। अब इस पर यह उत्तर ठहरता है कि इस सांख्यशास्त्र व अन्य शास्त्रों के साथ विरुद्ध नहीं तो क्या है? परन्तु यह विरुद्धता केवल बाह्यदृष्टि से ही विदित होती है किन्तु अन्त में सांख्यकर्ता उसी निर्णय को पहुँचता है जो कि अन्य शास्त्रकारों का सिद्धान्त है;

१. सांख्य० १।२५॥

क्योंकि सांख्यकर्ता अविवेक का चित्र खींचता है और अज्ञान, अविद्या भ्रम और अविवेक सब एक ही अर्थ में आते हैं।

अन्य देशों के नवीन विद्वान् लोग तत्त्व शब्द की तारीफ यह करते हैं कि जो मुफरद[१] हो अर्थात् आर्य शास्त्रकारों को पञ्चभूत (अग्नि, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) मानने पर निषेध करते हैं; परन्तु यह दोष कदापि नहीं आ सकता; क्योंकि रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द इन पांचों सिफ्तों[२] के मौसूफो[३] को जुदे जुदे नाम दिये गए हैं और वे ही पञ्चभूत कहलाते हैं। सांख्यशास्त्र में २५ पदार्थों का निरूपण किया गया है, जो कि इस शास्त्र के अवलोकन से विदित हो सकता है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥

यास्काचार्य ने अलंकार शास्त्र बनाया है, जिस पर कि भाष्य भी हुए हैं अर्थात् विस्तार से लिखा है। इस आर्ष ग्रन्थ में गन्दे अधर्म की रीतियों पर रुचि को बढ़ाने वाले रस कुछ भी नहीं हैं। इसका मुकाबला नवीन अलंकार ग्रन्थों के साथ कीजिये, जिनमें गन्दापन, झूठ और शृंगार रस भरे पड़े हैं।

नालिङ्गिता प्रेमभरेण नारी वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्।

अर्थात् जिस पुरुष ने प्रेम में मस्त होकर स्त्री को गले में नहीं लिपटाया उसका जन्म निष्फल हो गया और फिर इस तरह के बेढंगे अलंकार हैं जैसे—हे स्त्री! तेरा मुख चन्द्रमा के समान है इत्यादि। ऐसे दीवानापन के अलंकार में मग्न होकर क्या हो सकता है। किन्तु एक पत्नीव्रत करके जो पुरुष गृहस्थाश्रमी रहेंगे, वही ब्रह्मचर्य धारण करने के योग्य होंगे।

छठा दर्शन वेदान्त ''**उत्तरमीमांसा**'' है जिसके कर्त्ता व्यासजी हैं। उन्होंने ब्रह्म को कारण बतलाकर जगत् को कार्य कहा है और कार्य, कारण इन दोनों पदार्थों की जांच की है। व्यासजी ने पहले सृष्टि का वर्णन किया है। अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार के प्रलय वर्णन किये गये हैं

१. व्यस्त, अमिश्रित, एकाकी। २. अर्थात् गुण।
३. अर्थात् गुणी।

अर्थात् वैशेषिक में अप्रमेय मण्डल तक, गौतम ने परमाणुओं तक और सांख्यकर्त्ता ने प्रकृति तक वर्णन किए हैं। परन्तु वेदान्त में महाप्रलय का वर्णन किया है। इस महाप्रलय में परमात्मा और उसकी सामर्थ्य ही स्थित रहती है। इस तरह इस दूरदृष्टि बुद्धि से देखा जावे तो छहों शास्त्र अपनी रीति पर वर्णन करते हैं। इनमें विरुद्धता किसी तरह की भी नहीं है।

अब मूर्त्तिपूजा (बुतपरस्ती) पर फिर किसी प्रकार विचार किया जाता है।

पारस्कर और आश्वलायन गृह्यसूत्रों में मूर्तिपूजा का नाम भी नहीं है और कल्पसूत्रों में भी मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं है। इन ग्रन्थों पर परिशिष्ट रचे गए हैं। उनमें चाहे मूर्तिपूजा होवे। परिशिष्ट का स्पष्टार्थ क्या है? यह सब विद्वान् लोग जानते हैं। शास्त्रों की दृष्टि से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती है।

अब फिर इतिहास का कुछ वर्णन किया जाता है। राजा शन्तनु ने सत्यवती से विवाह किया, उससे दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् भीष्मपितामह काशी के राजा से तीन कन्यायें लाया। उनमें से अम्बा का विवाह शाल्व से हुआ। अम्बिका और अम्बालिका दोनों ने विचित्रवीर्य के साथ विवाह किया। तब व्यास के साथ नियोग होने से पाण्डु, धृतराष्ट्र और दासी के पुत्र विदुर पैदा हुए। पांडु ने दो स्त्रियों के साथ विवाह किया, उनके नाम कुन्ती और माद्री थे। माद्री ईरान के राजा की पुत्री थी। धृतराष्ट्र की स्त्री गान्धारी कंधार की रहने वाली थी। उसका भाई शकुनि कन्धार का राजा था, दुर्योधन के साथ हस्तिनापुर में रहता था। कुन्ती और माद्री दोनों ने पुत्र के लिए नियोग किया था। उनमें धर्म [वायु और इन्द्र से नियोग करने पर युधिष्ठिर] भीम और अर्जुन उत्पन्न हुवे और इसी प्रकार अश्विनीकुमार से नियोग करने पर नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। इनमें [धर्म] इन्द्र, वायु से नाम समझना चाहिए। स्पष्ट विदित है कि वायु के संसर्ग से पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। धृतराष्ट्र के यहां कहा जाता है कि एक ही गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए।

इन सब प्राचीन आर्य लोगों में स्वयंवर होता था अर्थात् कन्या स्वयं अपना वर पसन्द कर लेती थी। किन्तु इस समय के अनुसार विवाह नहीं होता था। मारवाड़ी लोगों ने इस पर और विशेषता की है कि वे पुत्र और पुत्री का उसी समय नाता कर देते हैं जबकि वे दोनों गर्भ में ही होते हैं।

यह कैसी फजीहती की बात है। विवाह के समय पर धर्म, अर्थ और काम के परस्पर निर्वाह के लिए निर्णय होता है। वह निर्णय विना पुत्र और पुत्री वर्त्तमान हुए कैसे हो सकता है? प्राचीन आर्यों में यह दृढ़ रीति थी कि प्रत्येक मनुष्य विद्याभ्यास करे। जब तक कि विद्या के भूषण से भूषित नहीं होते थे तब तक पुरुष-स्त्री को विवाह करने की आज्ञा राजसभा से नहीं मिलती थी।

जनमेजय के राज्य तक चारों वर्णों का परस्पर में वर्ताव होता था और वे सामाजिक नियम, राज-सभा, धर्म-सभा, विद्या-सभा के प्रबन्ध में रीत्यनुसार चलते थे। यह बात कि चारों वर्णों का परस्पर में वर्ताव कैसा था, आप लोगों को महाभारत के राजसूय पर्व और अश्वमेध पर्व के देखने से विदित हो जावेगा। मनुजी ने कहा है प्राचीन समय में स्त्रियों और पुरुषों के हक बराबर थे। इस समय में तो सब प्रबन्ध ही उलटा हो गया है। अब घास का तिनका तोड़ने में देर लगती है, परन्तु हमारे धर्म टूटने में देर नहीं लगती है। चोटी में गांठ न देंगे, तो धर्म गया। अंगरखा लम्बा पहना गया, तो धर्म गया। खाने-पीने में तो बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा हो गया है। इन खाने-पीने की वस्तुओं ने तो वीरों को कायर कर दिया और चौका लगाकर बैठे-बैठे अपनी सारी बड़ाई पर चौका लग गया। प्राचीन समय में सब क्षत्रिय-राजा और ब्राह्मण ऋषि आदि एक ही सभा में भोजन किया करते थे। इस समय इस प्रकार की रीति सिक्खों में रणजीतसिंह के समय तक थी। कुरीतियों से कभी भी जन्म का फल पूरा नहीं होता है। ब्राह्मण लोग छूत-छात का ढोंग मचाते हैं। परन्तु वह ढोंग हींग, शक्कर आदि पदार्थ सेवन करते समय कहां जाता है। यदि यह कहो कि केवल दृष्ट का ही दोष होता है तो जो वस्तु दिखलाई न दे क्या उसका दोष नहीं है। क्या भूल से यदि भांग खा ली जावे तो नशा न करेगी?

बड़ी-बड़ी बिरादरियों के अन्दर बहुत-सी फिर्काबन्दियों के कारण बिरादरियों के सम्बन्ध में खर्च बहुत बढ़ता जाता है, चाहे कोई मरे, चाहे किसी का विवाह हो, गुजरात देश में दोनों मौकों पर बिरादरी को खिलाना पड़ता है। ऐसा खर्च किस काम आवेगा? एक का मरना और भूषंडों का पेट भरना, मरे हुए पुरुष के सम्बन्धी पुत्रादिकों को कर्ज में डुबाना, इससे बढ़कर दीवानापन और क्या हो सकता है? इन बिरादरियों के झगड़ों और अनेक कारणों से युद्ध में कैसी कैसी रुकावटें होती हैं। एक बात कहता

हूँ सुनने के योग्य है। पंजाब के राजा रणजीतसिंह का हरिसिंह (नलवा) नामी एक सरदार था। उसने काबुल कन्धार पर चढ़ाई की और इन पर विजय पाकर निवास किया। मुसलमानों ने यह समझकर कि हिन्दू बैरी है इनका सामान जो आ रहा था, उसको रास्ते में रोक दिया। दोपहर के समय तक जब कुछ न मिला तो हरिसिंह ने सिपाहियों को आज्ञा दे दी कि मुसलमानों का कुल खाना इकट्ठा करो। यह आज्ञा पाकर सिक्खों की सेना ने धावा कर दिया और जो खाना कि मुसलमान लोगों ने अपने लिए तैयार किया था, वह सब लूट लाये और उसको हरिसिंह के पास ढेर लगा दिया और फिर हरिसिंह ने कहा कि सूवर का एक दांत ले आओ। वे दाँत ले आए। वह सूवर का दांत हरिसिंह ने उस भोजन के ढेर के चारों तरफ फेर दिया और सिपाहियों से कहा कि अब यह सारा अन्न शुद्ध हो गया। अब इसके खाने में हिन्दुओं को कुछ भी दोष नहीं है। ऐसा कहकर आपने भोजन किया, फिर सिपाहियों ने पेट भरकर अपने कष्ट को दूर किया। ऐ सुनने वालो! क्या चौके के बखेड़े में तुम अपना धर्म स्थिर रख सकते हो, इस पर विचार करो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

द्वादश उपदेश

इतिहास

पूर्व व्याख्यानों से आर्य लोगों का इतिहास चित्रांगद और विचित्रवीर्य तक पहुंचाया गया था। प्राचीन आर्य लोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे, बाल-विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था; क्योंकि आर्य इतिहासों में प्रायः स्वयंवर का ही वर्णन आता है। विधवा-विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था। द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में नियोग का प्रचार था। विधवा-विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है। पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं; क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे? प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आज कल उनकी संतान अनार्य हो गई। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियां कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं? क्या यह अधर्म नहीं?

प्राचीन आर्य लोगों में गार्गी, मैत्रेयी आदि कैसी-कैसी विदुषी स्त्रियां हो गई हैं। आजकल स्त्री को विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं, वह शूद्र के समान है। यदि स्त्रियां पढ़ी-लिखी होतीं, तो इन पण्डितों की बड़बड़ाहट का खण्डन करके एक घड़ी में इनका मुंह बन्द कर देतीं। यदि इस समय हम लोगों में बाल-विवाह प्रचलित न होता तो विधवाओं की संख्या कभी इतनी न होती और न इतने गर्भपात और भ्रूण-हत्याएं होतीं और न इतनी रोगों की अधिकता होती। प्राचीन समय में यदि कोई धनाढ्य पुरुष निःसन्तान होता, तो आर्यसभा की व्यवस्था से उसका दायाद वारिस नियत होता था। विधवा स्त्री होती, तो उसको नियोग की आज्ञा दी जाती थी और प्रायः विधवायें ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में प्रायः नियोग से निर्वाह होता था। यहाँ कोई यह प्रश्न करेंगे कि नियोग और पुनर्विवाह में क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि

पुनर्विवाह से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध जन्म भर के लिए होता है और जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे द्वितीय पति की समझी जाती हैं। विपरीत इसके नियोग का सम्बन्ध एक या दो सन्तान उत्पन्न होने तक रहता है, इसके बाद स्त्री-पुरुषों का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। वे एक या दो सन्तान पूर्व-पति के ही समझे जाते हैं और उसी का नाम चलाते हैं। आर्य लोगों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा है। क्योंकि यदि विधवा-विवाह की आज्ञा मिल जावे, तो स्त्रियां अपने पतियों को विष देकर मारना आरम्भ कर दें और यदि पहले पति की जायदाद लेकर विधवा स्त्री दूसरा पति कर लेगी तो उसमें और उसके पूर्व पति के सम्बन्धियों में बहुत-से बखेड़े उठेंगे। जिस विधवा का विवाह होता था, वह शूद्रों में गिनी जाती थी।

विवाह में परस्पर स्त्री-पुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन-चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे। बचपन में विवाह होने से भला लड़का-लड़की इन बातों को क्या जान सकते हैं और इन मन्त्रों का अर्थ करके कोई समझाता भी नहीं है। पण्डित लोग कहते हैं कि केवल मन्त्र के सुनने से पुण्य होता है, चाहे मन्त्र बोलने वाला उसका अर्थ समझे या न समझे। ब्राह्मण को दक्षिणा दे दी कि सब विधान ठीक-ठीक हो गया। वाह रे! तुम्हारा सामाजिक प्रबन्ध। इस अन्ध परम्परा को देखकर तो मानना पड़ता है कि इससे विधवा-विवाह सब प्रकार अच्छा है।

यह बात कि ''पहले तीन वर्णों में नियोग और शूद्रों में विधवा-विवाह'' प्राचीन आर्य लोगों के विरुद्ध नहीं है। इसकी पुष्टि में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ४० का मन्त्र २ देखने योग्य है।

प्राचीन समय में गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों को अपने साथ रखा करते थे। यही विषय इस मन्त्र में वर्णन किया गया है। कोई-कोई पण्डित उस मन्त्र में ''देवर'' शब्द के अर्थ पति के छोटे भाई से करते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि निरुक्त में दूसरे पति का नाम देवर बतलाया है[१]। इसी सम्बन्ध में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १८ का मन्त्र ८ भी द्रष्टव्य है[२]। इसी

१. देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। निरुक्त ३।१५॥
२. उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्ताग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥१॥

प्रसंग में एक बात और विज्ञापनीय है। वह यह है कि किन्हीं विशेष दशाओं में पति के जीते जी भी नियोग की आज्ञा मिलती थी।[१] नियोग १० वार [तक] करने की आज्ञा थी इसमें ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५ के मन्त्र ४५ का प्रमाण है।[२] ऋग्वेद के इसी मण्डल के इसी सूक्त के मन्त्र ४५ का अर्थ भी आजकल के पण्डित मनमाना करते हैं जो कि मानने योग्य नहीं।

महाभारत में लिखा है कि व्यासजी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा-स्त्रियों से नियोग किया था। मनुजी ने भी नियोग की आज्ञा दी है। प्राचीन आर्यलोगों में पति के जीते भी नियोग होता था, इसकी पुष्टि में महाभारत में लिखे हुए बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। व्यासजी बड़े पण्डित और धर्मात्मा थे, उन्होंने विचित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग किया और इनमें से एक के गर्भ से धृतराष्ट्र और दूसरी की कुक्षि से पाण्डु उत्पन्न हुए और यह पहले ही वर्णन हो चुका है कि पाण्डु की विद्यमानता में ही उसकी स्त्री ने दूसरे पुरुषों के साथ नियोग किया था। इस प्रकार नियोग का उस समय प्रचार था। पुनर्विवाह की अधिक आवश्यकता ही नहीं होती थी। अब इस समय के नियोग और पुनर्विवाह दोनों के बन्द होने से आजकल के आर्य लोगों में जो-जो भ्रष्टचार फैला हुआ है, वह आप लोग देख ही रहे हैं। हजारों गर्भ गिराये जाते हैं, भ्रूणहत्याएँ होती हैं। एक गर्भ गिराने से एक ब्रह्म-हत्या का पाप होता है। सोचो कि इस देश में कितनी ब्रह्महत्यायें प्रतिदिन होती हैं? क्या कोई उनकी गणना कर सकता है? इन सब पापों का बोझ हमारे सिर पर है।

देखो! प्राचीन सामाजिक प्रबन्ध के बिगड़ने से हमारे देश की दुर्दशा हो रही है। वेद-मार्ग को एक तरफ ढकेलकर पुष्टि-मार्ग चमक रहा है। महन्तों और साधुओं के राजसी ठाठ लगे हुए हैं। देवालयों, मठों और मन्दिरों में पाप की भरमार हो रही है। न जाने कितने गर्भ गिराये जाते होंगे। यह पाप, दुराचार और अनर्थ का समय बन रहा है। जब तक स्वार्थी और लम्पट लोग लोकाचार की लीक बनते रहेंगे और साधारण लोग अन्धपरम्परा से उस पर चलते रहेंगे, तब तक देश का कल्याण नहीं हो

१. अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। ऋ० १०।१०।१०॥
२. दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥

सकता। धर्म के विषय में लोग परम्परा की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं, परन्तु क्या सांसारिक विषयों में भी ऐसा ही है? क्या यदि बाप दरिद्र हो, तो परम्परा के अभिमान से बेटा भी दरिद्र होगा? यदि बाप अन्धा हो तो क्या बेटे को भी परम्परा के लिए आँखें फोड़ लेनी चाहिएँ।

वेदबाह्य रीतियों को हमें परम्परा की पदवी कभी नहीं देनी चाहिए। सदुपदेशपूर्ण वेदों और आर्ष ग्रन्थों में जिस सच्ची परम्परा का विधान किया गया है, उसका पालन करना चाहिए। अस्तु, अब फिर इतिहास का वर्णन किया जाता है।

राजा धृतराष्ट्र स्वभाव से ही कपटी था और पाण्डु धर्मात्मा था। पाण्डु की एक रानी माद्री सती हो गई थी। सती होने के लिए वेद की आज्ञा नहीं है; किन्तु सती होने की कुरीति पहले-पहल पाण्डु राजा के समय से चली। कौरव और पाण्डवों ने उत्तम शिक्षा प्राप्त की। धृतराष्ट्र ने अपने और पाण्डु के पुत्रों को द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के सुपुर्द कर दिया। उस समय ब्राह्मण लोग युद्ध-विद्या में भी आचार्य होते थे। अर्जुन ने धनुर्वेद में सबसे अधिक अभ्यास किया। इसलिए युद्ध-विद्या में उसकी बड़ी ख्याति हो गई। अर्जुन का समकक्ष कौरवों में केवल कर्ण ही था। पर कर्ण सूतपुत्र अर्थात् सारथि का बेटा था। इसलिए अर्जुन ने कर्ण की अवज्ञा की थी, परन्तु इस अवज्ञा से लाभ उठाने के लिए दुर्योधन ने कर्ण को बंगाल का राज्य देकर उसे क्षत्रिय वर्ण का अधिकार दे दिया था। इस प्रकार अनुचित अभिमान से इस राजकुल में द्वेष से आग भड़की। इसी द्वेष से अपने आर्यावर्त्त की सारी दुर्दशा हुई। यह वर्णन करने के योग्य नहीं।

उस समय धृतराष्ट्र के पास एक नीच, छिछोरा, कामुक कनक नाम एक शास्त्री रहता था। उसने पाण्डवों के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहकर धृतराष्ट्र का मन उनसे फेर दिया। फिर इसी दुष्ट शास्त्री की सलाह से पाण्डवों को भस्म करने के लिए एक 'लाख' का घर बनाया गया। राज-सभा का प्रबन्ध तो पहले ही बिगड़ चुका था। उस पर शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन और कनक शास्त्री की चाण्डाल-चौकड़ी जम गई। इस चाण्डाल-चौकड़ी की करतूत से राज्य की जैसी दुर्दशा हुई और उसका जैसा भयानक परिणाम हुआ, उसका सविस्तार वृत्तान्त महाभारत में विद्यमान है।

विदुर को दुर्योधन की चाण्डाल-चौकड़ी के मनसूबे मालूम थे। 'लाख' के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को बर्बर देश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा धर्मराज (युधिष्ठिर) को आती थी, जिसके कारण पाण्डव 'लाख' के घर में जलने से बच गए थे।

देखो विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं के जानने वाले थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाओं को बोल सकते थे। आजकल के शास्त्री महाराजों से यदि कहो कि यावनी और म्लेच्छ भाषा सीखने में कोई दोष नहीं, तो वे कहने लगते हैं—

न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

यदि प्राण गले तक आ जायें अर्थात् मृत्यु-का समय तक क्यों न आ जावे; परन्तु यावनी भाषा को नहीं बोलना चाहिए और मत्त हाथी भी सामने से आता हो, तो जैनमन्दिर में कदापि आश्रय न लेवे।

अर्जुन की मत्स्यवेध विद्या में बड़ी प्रशंसा की जाती है, परन्तु यह बात मत समझो कि हमारे देश में अब ऐसे योग्य शूर पुरुष रहे ही नहीं। हमने स्वयं राजपूत लोगों को मत्स्यवेध से अधिकतर कठिन काम करते हुए देखा है।

कर्ण का जो पाण्डवों ने अपमान किया था, इसलिए वह द्रौपदी से छल करने पर उद्यत हुआ—यह कथा सब जानते हैं। राज-सभा ने यह निर्णय किया कि राजा युधिष्ठिर होना चाहिए, परन्तु धृतराष्ट्र ने अत्याचार से [अधिकार] छीन लिया था। इसके पश्चात् जो-जो कष्ट पाण्डवों को झेलने पड़े, उनको सब जानते हैं। फिर जब पाण्डवों का भाग्योदय हुआ, तब उन्होंने राजसूय यज्ञ रचा। मय नामक एक बड़ा शिल्पी था, उसने एक विचित्र सभा बनाई। (प्राचीन आर्य लोगों की शिल्प-विद्या का इतिहास सुनने योग्य है) इस राजसूय यज्ञ में सहस्रों मनुष्य आये थे। मय ने ऐसी रचना चातुरी की थी कि स्थल में जल का सन्देह होता था। दुर्योधन ने इसे सचमुच जल समझ कर अपने कपड़े उठाकर समेट लिए। यह देखकर भीमसेन मुस्कराया और अक्खड़पन से कह दिया कि अन्धे[१] के अन्धा ही पैदा हुआ। दुर्योधन खिसियाना हुआ और कनक शास्त्री ने बात का

१. दुर्योधन का पिता धृतराष्ट्र अन्धा था।

बतंगड़ बनाकर उसे और भी भड़का दिया। उस समय अर्जुन और कृष्ण ने दुर्योधन को समझा-बुझा दिया। तदनन्तर एक बड़ा भोज हुआ, जिसमें ऋषि-मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबने एक पंक्ति में बैठकर भोजन किया।

इसके बाद छल से द्यूतक्रीड़ा में युधिष्ठिर आदि को फंसाकर वनवास और अज्ञातवास दिया गया। विराट् राजा के नगर में रहते हुये अर्जुन ने विराट् राजा की कन्या उत्तरा नाम्नी को नृत्यकला की शिक्षा दी थी। इससे प्रकट है कि प्राचीन समय में राजकुमारियां भी गान-विद्या और नृत्य-कला सीखती थीं। चक्रवर्ती राज्य का नाश उस समय तक नहीं होता, जब तक कि आपस में फूट न हो। कुरु-वंश में फूट पैदा हो गई और स्वार्थ और विद्रोह बुद्धि ने लोगों को अन्धा बना दिया। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है। भीष्म जैसे विद्वान् और धर्मवादी पुरुष पक्षपात के रोग से ग्रस्त हो गए। उनको उचित तो यह था कि वे मध्यस्थ होकर दोनों पक्षों का न्याय करते और अपराधियों और अन्यायियों को दण्ड दिलाते। ऐसा न करके उन्होंने अन्यायियों का पक्ष करके कुरु-वंश का नाश होने दिया। देखिए भीष्म क्या कहता है—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति मत्वा महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

''धन का मनुष्य दास है, धन किसी का दास नहीं। ऐसा मानकर मैं स्वार्थ में बंधा हुआ कौरवों के पक्ष में हूँ।''

इस प्रकार बुद्धि भ्रष्ट होने से और द्वेष बढ़ने से भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि कौरव एक तरफ हुए और पाण्डव दूसरी तरफ हुए और बड़ा भारी युद्ध हुआ। इस युद्ध में तीन मनुष्य कौरवों की ओर के अर्थात् १. कृपाचार्य, २. कृतवर्मा, ३. अश्वत्थामा और ६ पाण्डवों की ओर से अर्थात् ५ पाण्डव और छठे कृष्ण जीवित रहे थे, शेष सबका नाश हो गया। इस युद्ध से प्राचीन आर्य लोगों का वैभव सदा के लिए अस्त हो गया।

इस सब अनर्थ का कारण केवल यह था कि सम्मति देने का काम नीच और क्षुद्र लोगों को सौंपा गया था। ऐसे अयोग्य जन नेता परामर्श देने वाले बन गए। जहां शकुनि जैसे संकीर्ण हृदय और क्षुद्रमनस्क जन

की सम्मति से राज्य-कार्य चलने लगे; कनक शास्त्री महाराज धर्माधर्म का निर्णय करने लगे; वहां यदि घर में फूट उत्पन्न होकर घरवालों का विनाश हो, तो आश्चर्य ही क्या है!

इसी प्रकार जिस देश में केवल सचाई के अभिमान से मार्टिन लूथर जैसे उदारचेता पुरुषों ने सामयिक लोगों के विरुद्ध होते हुए भी पोप के अत्याचार के विरुद्ध उपदेश देना आरम्भ कर दिया और अपने प्राण तक न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो गए; उस देश में यदि ऐश्वर्य और अभ्युदय का डंका बजा, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इसी रीति पर कुरु-कुल का तो नाश हो गया। अब कृष्णजी द्वारिका में राज्य करते थे, वहां उस समय यादवों ने बड़ी उन्नति की थी। दुर्भाग्य से इनमें भी प्रमाद और विषयासक्ति के कारण आपस में फूट पड़ गई, जिससे सब लड़-मरकर अल्प काल में ही यादव कुल का नाश हो गया।

श्रोताओ! प्रमाद का फल देखिये, बलदेव मद्य पीने लगा और डूबकर मर गया। सात्यकि सांप से लड़ा। ऐसे मूर्खता के काम जहां होने लगें वहां श्रीकृष्ण जैसे सत्पुरुषों की बात कौन सुनें? इन प्राचीन आर्यों के युद्ध के पश्चात् केवल इनकी स्त्रियां ही शेष रह गई थीं।

इनमें अभिमन्यु का पुत्र एक परिक्षित भी बचा था, वह कुछ विक्षिप्त-सा था, उसके समझ में आर्ष ग्रन्थ नहीं आते थे। इसी कारण उसके समय में कुछ-कुछ पुराणों का प्रचार हो चला था। उसका पुत्र जनमेजय हुआ और उसके पीछे वज्रनाथ ने राज्य किया। इतने समय में सम्पूर्ण वैभव का नाश हो गया। राज-सभा, धर्मसभा और विद्यासभा तीनों डूब गईं। केवल एक राजा की इच्छानुसार सब राज्य-कार्य होने लगा। विद्वान् और सच्चरित्रों को, जो विधि-निषेध की मीमांसा और व्यवस्था करने का अधिकार था, वह दूर हो गया। व्यास, जैमिनि और वैशम्पायन आदि महर्षि न रहे। चक्रवर्ती राज्य नष्ट होकर यत्र-तत्र माण्डलिक राज्य स्थापित हो गए। ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया।

ब्रह्मवाक्यं प्रमाणम्। ब्राह्मणास्तु भूदेवाः।

इस प्रकार की उलटी समझ लोगों में फैल गई, जिससे मनुष्य अन्धपरम्परा के दास बन गए और भी देखिये, ब्राह्मणों की लीला—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि सर्वाणि सागरे।
सागरे यानि तीर्थानि पदे विप्रस्य दक्षिणे॥

पृथिवी में जितने तीर्थ हैं, वे सब समुद्र में आ जाते हैं और समुद्र में जितने तीर्थ हैं, वे सब ब्राह्मण के दाहिने पैर में हैं।

ऐसे लोगों के जाल में भोले-भाले लोग फंस गए। जब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते हैं; तब इन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्तिपूजा आदि वेद-विरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके। सर्वसाधारण ब्राह्मणों से विमुख न हो जावें, इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गए।

अविद्वाँश्चैव विद्वाँश्च ब्राह्मणं दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशाने ष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते॥[१]

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख वह साक्षात् देवता है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनायें करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिए। यथा—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥[२]

यदि दुष्टाचारण वाले ब्राह्मण की कोई निन्दा करता, तो उसको ब्रह्मविरोधी कहकर उसकी हड्डी-हड्डी निकाल लेते थे। निदान ब्राह्मणों को सब प्रकार के दण्ड और शासन से मुक्त कर देने के कारण सारी बुराइयां इन्हीं में घर कर गईं। सदाचार विलुप्त हो गया। धूर्त्तता और अत्याचार बढ़ गया। मूर्खता ने देश में अपना डेरा-डण्डा जमा दिया। जब देश की ऐसी दुर्दशा हुई, तब गाजीपुर नगर में एक राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ (जो पीछे जाकर बुद्ध बना) उसने वेदों की निन्दा करके ब्राह्मणों के अत्याचार से दूसरे लोगों को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। इसके उपदेश से लाखों

१. मनु० ९।३१७, ३१८॥ २. मनु० ९।३१९॥

मनुष्य बौद्ध-धर्मानुयायी हो गए। बुद्ध और उसके पश्चात् जैनमत के फैल जाने से और निरीश्वरवाद बढ़ गया। ईश्वर की पूजा के स्थान में मूर्त्तिपूजा प्रचलित हुई। बौद्ध और जैनमत में ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु वे उन सिद्धों और तीर्थंकरों की भक्ति वा उपासना करना सिखलाते हैं, जो उनकी दृष्टि में महात्मा वा सत्पुरुष हुए हैं। यही कारण है कि बौद्ध वा जैन लोग अपने तीर्थंकरों की मूर्तियां बनाकर रखते हैं। पहले पारसनाथ आदि तीर्थंकरों की मूर्तियां बनाकर जैनों ने उनका पूजन आरम्भ किया, फिर उनको देखा-देखी पौराणिक लोग भी अपने इष्ट देवों की मूर्तियाँ बनाने लगे। इस प्रकार वेदों का आत्मवाद और एक ईश्वर की पूजा इस देश से उठ गई। लोग मन्दिरों में जाकर मूर्तियों की उपासना करने और इसी को धर्म का मुख्य अंग मानने लगे। जैनी लोगों में कुछ सहिष्णुता पाई जाती है, परन्तु इन्होंने वेद-मार्ग को विध्वंस करने के लिए कोई उपाय उठा न रखा। वेदों पर बड़े-बड़े आक्षेप किए। ''वेद में अश्लील गाथायें हैं, वेद में हिंसा है, वेद में बहुदेववाद है और वेद में अधिकतर ब्राह्मणों का और कुछ-कुछ क्षत्रिय, वैश्यों का पक्षपात किया गया है।'' इत्यादि आक्षेप किए। इनके विरोध और खण्डन से वर्णाश्रम व्यवस्था को बहुत कुछ हानि पहुँची। यहीं तक सन्तोष नहीं किया, किन्तु जैनियों ने बहुत-से वैदिक ग्रन्थ जलाकर भस्मसात् कर दिए।

इनके पश्चात् श्रीयुत गौड़पादाचार्य के प्रसिद्ध शिष्य स्वामी शंकराचार्यजी प्रादुर्भूत हुए। शंकर स्वामी वेद-मार्ग और वर्णाश्रम धर्म के मानने वाले थे। उनकी योग्यता कैसी उच्च कक्षा की थी, यह उनके बनाये शारीरक भाष्य से विदित होता है। शंकर स्वामी के समय में जो अनेक पाखण्ड मत चले थे और जिनका कि उन्होंने खण्डन किया है, वह शंकर-दिग्विजय के निम्नलिखित श्लोक से प्रकट होते हैं—

शाक्तैः पशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
रन्यैरप्यखिलैः खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम्॥

इससे अनुमान किया जा सकता है कि श्रीमान् स्वामी शंकराचार्य ने वेद-विरुद्ध मतों के खण्डन में कितना उद्योग किया है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

त्रयोदश उपदेश

इतिहास

सुधन्वा राजा के साथ जो बौद्धमत का अनुयायी था, शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें प्रतिज्ञा यह हुई थी कि यदि शंकराचार्य पराजित हुए, तो उन्हें बौद्धमत स्वीकार करना होगा। बौद्ध पण्डित वेदों की निन्दा करते हुए कहते हैं कि वेदों के बनाने वाले भाण्ड, धूर्त और राक्षस हैं। [इस प्रकार के] झूठे दोष वेदों पर लगाते हैं। यदि महीधर की तरह वेदों का अर्थ किया जावे, तो बौद्धों के आक्षेपों को अवकाश मिलता है। 'गभ' शब्द को 'भग' से बदल कर महीधर ने अर्थ का अनर्थ कर दिया है। शतपथ ब्राह्मण में इसके अर्थ प्रजा, राष्ट्र या श्री के किए हैं। शोक है कि आजकल के शास्त्री लोग भी महीधर के अर्थों को मानते हैं। अश्व शब्द के अर्थ शतपथ के प्रमाण से यदि 'अग्नि' के किए जावें जिसको कि महीधर ने गन्देपन में घसीटा है, तो बौद्धों के आक्षेप वेदों पर से दूर हो जाते हैं और यदि हठ से महीधर जैसे अनार्य टीकाकार का पक्ष किया जावे तो बौद्ध लोगों के आक्षेप कैसे दूर हो सकते हैं? बुद्धिमानों को इस पर विचार करना चाहिए क्योंकि महीधर के जैसे मनमाने अर्थ करने के कारण वेद [और] ईश्वर से विमुख तीर्थंकर और केवल स्वभाव को मानने वाले मत पैदा हो गए।

सुधन्वा राजा शास्त्रार्थ में हार गया और उसने वेद-मत को स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् शंकराचार्य बुद्ध गया* में गए, वहां का राजा कट्टर बौद्ध था, वर्णाश्रम व्यवस्था को यह राजा नहीं मानता था। इस राजा को भी जीतकर शंकराचार्य ने वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया। बौद्धमत का अब ह्रास होने लगा। अब इसका कुछ आकार बदलकर जैनमत का प्रारम्भ हुआ। जैन लोग केवल युक्तिवादी थे और कृमि-कीटों के रक्षक

* **गया** [बिहार] जो कि आजकल हिन्दुओं का तीर्थ है, वास्तव में बौद्ध लोगों का एक पवित्र स्थान था। अब तक भी बहुत सी मूर्त्तियां, जिनको हिन्दू लोग पूजते हैं, वहां बौद्धों की हैं।

होने के कारण मनुष्यों पर वे अधिक दया का प्रयोग नहीं करते थे। बुद्ध और जैन मतों के फैलने से क्षात्रधर्म को बहुत हानि पहुँची।

अतः पश्चात् विक्रम, भर्तृहरि, शालिवाहन और भोज आदि बहुत से राजा हुए। इसी समय में कालिदास पण्डित हुआ। ग्वालियर में भिंड नामी नगर में मिश्र लोग रहते हैं, उनके पास संजीवनी नामक एक पुस्तक है, उसमें महाभारत के विषय में ऐसा लिखा है कि व्यास ने पहले एक हजार श्लोक बनाए, फिर उसके बाद व्यास के शिष्यों ने एक हजार के ६ हजार कर दिए। इसके बाद फिर भरती पर भरती होती चली गई। जिस समय जैन मत उन्नति पर था, उस समय केवल ब्रह्मवैवर्त्त और वायु पुराण आदि दो तीन पुराण मालूम थे। आजकल कहने को तो केवल १८ ही पुराण हैं, किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि वास्तव में कितने पुराण हैं और इनमें क्या-क्या धर-घसीटा है। यावनी भाषा न बोले, जैन मन्दिर में न जावे इस प्रकर कट्टरपन के सैंकड़ों श्लोक बन गए हैं। हवन या उपासना करने के स्थान, जिनका नाम देवालय या देवस्थान था, अब मूर्तियों के स्थान बन गए। लोग ईश्वर के स्थान में मन्दिरों में रखी मूर्तियों की पूजा करने लगे। जैनियों के मन्दिरों की मूर्तियों को भी देवता समझकर पूजने लगे और जैनियों के देवालयों में मूर्तियां बिठाकर गपोड़े हांकने लगे और भांति-भांति के हथकण्डों से लोगों को मूर्तियों का चमत्कार दिखाने लगे। लोग भी आजकल की भांति चतुर न थे, इसलिए पुजारियों के फन्दे में फंसने लगे।

जब पुजारी, वैरागी और गोसाई आदि का जोर बढ़ चला, तब यह कहने लगे कि १८ पुराण सत्यवती-सुत व्यास ने बनाए हैं। इस प्रकार अनार्ष ग्रन्थों का प्रचार और आर्ष ग्रन्थों का लोप होता गया। जड़ मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा करने लगे और प्रतिष्ठामयूख और प्रतिष्ठाभास्कर आदि ग्रन्थ बना डाले, जिनमें प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्रों के नमूने देखिए—

"प्राणा इहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु,
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु"

इस प्राण-प्रतिष्ठा के गपोड़े को आर्य शास्त्रों से सहारा कहां मिल सकता है? चारों वेदों की संहिता में कहीं एक मन्त्र भी प्राणप्रतिष्ठा का नहीं मिलता। इस प्रकार के कल्पित ग्रन्थ पौराणिक समय में लोगां ने गढ़

लिए और कहने लगे कि प्राण-प्रतिष्ठा से मूर्ति में पूजा का अधिकार पैदा हो जाता है। मालूम होता है कि यह मूर्ति-पूजा जैन मत वालों से हममें घुस गई है और इसको सहारा देने के लिए पुराणों में इसका वर्णन किया गया है।

अवतारों का वर्णन भी पुराणों में ही मिलता है। हरिवंश में नृसिंहावतार की कथा है। अवतारों की कथाओं और मूर्ति-पूजा के प्रचार से लोगों की मननशक्ति दूर होकर मन का झुकाव कर्म-मार्ग की तरफ हो गया। मनमाने व्रत, उपवास, उद्यापन आदि लोग करते हैं। ऐसे कामों से शारीरिक स्वास्थ्य की हानि और रोगों की वृद्धि होती है; इसके अतिरिक्त इन बखेड़ों से शैव, वैष्णव, बल्लभाचारी और रामानुजी आदि अनेक प्रकार के सम्प्रदाय उत्पन्न होकर आपस में विरोध बढ़ता गया और जड़ मूर्तियों के आगे बाल-भोग रखने, उन्हें सुलाने और रामलीला करने आदि बालक्रीड़ाओं से वैदिक धर्म की निन्दा होती है और देश के प्रत्येक प्रान्त में पाप की वृद्धि होती है। ऐसी और भी बहुत-सी हानियां मूर्तिपूजा से होती हैं। मन्दिरों में पुजारी लोग वैसा ही प्रसाद देते हैं, जैसी कि उनको दक्षिणा मिलती है। इसलिए मन्दिर क्या हैं मानो सेठ लोगों की दुकानें हैं। पुजारी लोग अपने स्वार्थ के लिए आलस्य और मूर्खता को बढ़ाने वाले बहुत-से नये वाक्य बनाकर लोगों को फंसाते हैं। बहुत-से वाक्यों को अपनी इच्छा के अनुसार जोड़-मेल कर दिया है। कहते हैं कि—

पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यम्। दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्॥
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा सर्वं पापं विनश्यति॥

(१) पढ़कर भी जब मर जाना है तो दांत कटाकट करने की क्या आवश्यकता है?

(२) यदि प्रातःकाल उठकर शिवलिंग का दर्शन करे तो सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

वाह! क्या पुरुषार्थ है। ज्ञान के विना भोग, पुरुषार्थ और आनन्द नहीं है; परन्तु जहां ऊपर कही हुई भांति पुरुषार्थ की समझ है तो वहां भागवत जैसे पुराणों का जोर क्यों न होगा। यथार्थ विद्याओं के पठन पाठन को एक तरफ हटाकर पुराणों के केवल सुनने में सारे माहात्म्य लाकर धर दिए हैं। प्रत्येक पुराण की समाप्ति पर उसके सुनने से क्या-क्या लाभ होंगे,

इसके मनमाने फल वर्णन किये हैं।

इस प्रकार धर्मबुद्धि बिगड़ जाने से लोग निर्बल और कायर हो गए। तभी तो ऐसी भ्रान्ति में फंस गए कि नवग्रहों से हमारी हानि होगी। इसी आधार पर फलित ज्योतिष का आडम्बर फैलाकर तदनुसार नव ग्रहों के जप के मन्त्र बनाए गए। इन मन्त्रों के अर्थों का इन कामों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं, जिनके करते समय कि उनका प्रयोग किया जाता है, इस विषय पर कभी किसी ने विचार नहीं किया। उदाहरण के लिये एक ही '**शन्नो देवी**' मन्त्र को देखिए। इसको शनैश्चर देवता का मन्त्र ठहराया है और ज्योतिषी जी महाराज ने अपना खेत पकाया है। इसी प्रकार सम्प्रदायी लोगों ने तन-मन-धन गोसाई जी के अर्पण कर ऐसे-ऐसे उपदेशों से भोले-भाले लोगों के मन भ्रष्ट कर दिए।

श्रोताओ! यहां भली-भांति विचार कीजिए कि प्रमाज्ञान क्या है और भ्रांतिज्ञान क्या है? देखिए जा वस्तु जैसी हो, उसका वैसा ही ज्ञान होना प्रमाज्ञान कहलाता है—

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।[१]

प्रमाणों से अर्थों की परीक्षा करना न्याय कहलाता है। इस वाक्य को कसौटी पर लगाकर सच-झूठ की परीक्षा कीजिए।

हमारे भाई शास्त्री लोग हठ करते हैं, यह हम सबका दुर्भाग्य है। हमारे भरत-खण्ड देश से वेदों का बहुत-सा धर्म लुप्त हो गया है और रहा-सहा हम लोगों के प्रमाद से नष्ट होता जा रहा है और उसकी जगह पाखण्ड, अनाचार और दम्भ बढ़ता जा रहा है। सदाचार और सच्चाई से हम लोग दूर होते जा रहे हैं, तभी तो हम सबकी दुर्दशा हो रही है, इसमें आश्चर्य ही क्या है? सनातन आर्ष ग्रन्थ वेदादि को छोड़कर पुराणों में लिपट रहे हैं और उनकी कल्पित और असम्भव गाथाओं को अपना धर्म समझ रहे हैं। यदि मुझसे कोई पूछे कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है। वेद और ६ दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का

१. न्याय, वात्स्यायनभाष्य १।१।१॥

ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए और पढ़े लिखे विद्वान् लोगों को सच्चे धर्म का उपदेश करने की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए। और गांव-गांव में आर्यसमाज स्थापना करके तथा मूर्तिपूजादि अनाचारों को दूर करके एवं ब्रह्मचर्य से तप का सामर्थ्य बढ़ाकर सब वर्णों और आश्रमों के लोगों को चाहिए कि शारीरिक और आत्मिक बल को बढ़ावें तो सुगमता से शीघ्र लोगों की आंखें खुल जावेंगी और दुर्दशा दूर होकर सुदशा प्राप्त होगी। मेरे जैसे एक निर्बल मनुष्य के करने ये यह काम कैसे हो सकेगा, इसलिए आप सब बुद्धिमान् लोगों से आशा रखता हूँ कि आप मुझे इस शुभ कार्य में सहयोग देंगे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

चतुर्दश उपदेश

नित्यकर्म और मुक्ति

प्रत्येक स्त्री और पुरुष के जो प्रतिदिन के कर्त्तव्य हैं, उनको आह्निक कर्म कहते हैं। धर्म-सम्बन्धी जो कर्त्तव्य हैं वे नित्यकर्म हैं। वे कर्म किसको, किस प्रकार और कहां तक करने चाहिए और किसको न करने चाहिए, इस विषय पर विचार किया जाता है। बालक मूर्ख और छोटा होने के कारण माता-पिता के अधीन रहता है। ८ वर्ष की अवस्था तक उसमें धर्म-सम्बन्धी काम करने की योग्यता नहीं होती। इसलिए हमारे धर्मशास्त्रों ने व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) होने से पहले बालकों के लिए नित्यकर्म का विधान नहीं किया है। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, विद्या, आयु और शारीरिक बल इत्यादि के अनुसार शास्त्रों ने नित्यकर्म की व्यवस्था की है। धर्मानुष्ठान के सम्बन्ध में नित्यकर्म निम्नलिखित हैं—

१. ब्रह्मयज्ञ—जो वेदों के पाठन-पाठन द्वारा होता है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ विद्या, वेद और परमात्मा तीनों के हैं। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ विचार है। इसलिए 'ब्रह्मयज्ञ' का अर्थ वेदों का विचार या परमात्मा का विचार हुआ। ब्रह्मयज्ञ के ठीक अर्थों को मन में जगह देकर यह स्पष्ट मालूम होता है कि आजकल जिस रीति पर ब्रह्मयज्ञ किया जाता है, वह निष्फल है। और फिर यह आक्षेप मन में कभी स्थान न पावेगा कि आधुनिक ब्रह्मयज्ञ शास्त्र के अनुसार नहीं है।

२. देवयज्ञ—"**यदग्नौ हूयते स देवयज्ञः**" जो अग्नि में होम किया जाता है, वह देवयज्ञ है। कोई लोग देवयज्ञ का अभिप्राय देवताओं की पूजा समझते हैं, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों और मनुस्मृति के देखने से मालूम होता है कि इस देवयज्ञ का ठीक अभिप्राय होम अर्थात् अग्निहोत्र है। अग्नि दो प्रकार की है, एक जठराग्नि और दूसरी भौतिकाग्नि। कोई लोग कहते हैं—

'**होमैर्देवान् यथाविधि अर्चयेत्।**' (द्र० मनु ३।८१) होम से विद्वानों का यथाविधि सत्कार करना चाहिए।

होम शब्द के पारिभाषिक अर्थ कभी-कभी दान और आदान के भी

हो जाते हैं। फिर भी कोई मनुष्य किसी प्रकार मूर्ति-पूजा को देवयज्ञ में शामिल नहीं कर सकता।

३. पितृयज्ञ—"[यस्मिन्] **पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञः।**" जिसमें पितरों को दिया जावे अर्थात् उनकी सेवा की जावे, उसे पितृयज्ञ कहते हैं। यहाँ पर पितृ शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥[१]

सुनीति, धर्म, सचाई और सच्चरित्रता आदि गुणों से युक्त अत्यन्त सहिष्णु, महात्मा जो प्राचीन ऋषि हुए हैं उन्हीं को अपने तपोबल के प्रभाव से वसु, रुद्र और आदित्य आदि की पदवियां मिला करती थीं। ऐसे ऋषि सच्चे पितर होते थे और उनका आदर-सत्कार करना पितृयज्ञ कहलाता था। २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वाला वसु, ३६ वर्ष तक रुद्र और ४८ वर्ष तक रहने वाला आदित्य कहलाता था। छान्दोग्य-उपनिषद् में प्रातः, मध्याह्न और सांयकाल के लिए ३ सवन बतलाये गये हैं, जो तीनों प्रकार के ब्रह्मचारियों से सम्बन्ध रखते हैं। इन सबके तात्पर्य पर विचार करने से मालूम होता है कि विद्या के द्वारा आत्मिक जन्म देने वाला ही पिता कहलाता है और ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं।

आजकल पितृयज्ञ कहने से जो मृतकों का श्राद्ध, और तर्पण समझा जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि मनुजी ने भी कहा है कि श्रद्धा से जो काम किया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं और तृप्ति का नाम तर्पण है। इन सब अर्थों और प्रयोगों पर विचार करने से मालूम होता है कि आजकल देवयज्ञ और पितृयज्ञ की जो व्याख्या की जाती है, वह कवियों की अत्युक्ति ही है। भला सोचिए कि कवियों की अत्युक्ति से यथार्थ तत्त्व कैसे जाना जा सकता है? विद्या-सत्कार अर्थात् ऋषि-सत्कार और पितृ-सत्कार अर्थात् विद्वानों के सत्कार को पितृयज्ञ मानना चाहिए। श्रद्धा के विना जो किया जाता है वह धर्म-कर्म अर्थात् श्राद्ध नहीं होता। मनुजी ने कहा—

१. मनुस्मृति २।१५६, १५४॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥[१]

पाखण्डी, वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले, विडालवृत्ति वाले, हठी, बकवादी और बगुलाभक्त मनुष्यों का वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।

वेदविहित पितरों की सेवा-शुश्रूषा छोड़कर समुद्र, पहाड़, नदी और वृक्षों का तर्पण करना और इसे श्राद्ध मानना, भला पाखण्ड नहीं तो और क्या है? प्राचीन पद्धति ही यदि लेनी थी, तो ऋषियों की पद्धति स्वीकार करते।

४. भूतयज्ञ—"**यो भूतेभ्यः क्रियते स भूतयज्ञः।**" जो प्राणियों को भाग दिया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, साधारण प्राणियों का पालन करना भूतयज्ञ है।

५. अतिथि यज्ञ—मनुजी लिखते हैं—

अनित्या हि स्थितिर्यस्य सोऽतिथिः सद्भिरुच्यते।[२]

जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिसकी अनियत हो, वह अतिथि कहलाता है। अतिथियज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका आना, जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो [उसकी सेवा करना] यह एक श्रेष्ठ कर्म है।

अब पुनः ब्रह्मयज्ञ पर विचार करना चाहिए। इस यज्ञ के सम्बन्ध में सन्ध्योपासना अवश्य करनी चाहिए। इसके विषय में एक **सन्ध्योपनिषद्** है, इस पुस्तक में विशेष व्याख्या की गई है। इस उपासना का अधिकार यदि योग्य अवस्था हो तो लड़के-लड़कियों को बराबर है। दिन और रात की सन्धि के समय में यह उपासना अवश्य करनी चाहिए। ऐसा सन्धि समय सायं प्रातः दो समय आता है, तीन वार नहीं होता। इसलिए दोपहर की सन्ध्या कदापि नहीं हो सकती। सामब्राह्मण और यजुर्वेद का ब्राह्मण देख लीजिए—

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे संन्ध्यामुपासीत।[३]

१. मनु० ४।३०॥
२. द्र० मनु० ३।१०२—अनित्यो हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते।
३. षड्विंशब्राह्मण ४।५॥ यह सामवेद का ब्राह्मण है।

दिन और रात की सन्धि के समय सन्ध्योपासना करनी चाहिए।

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायेत्।[१]

सूर्य के उदय और अस्त होने पर संध्या करनी चाहिए। इन प्रमाणों से केवल दो संध्या ही सिद्ध होती हैं। संध्योपासना में गायत्री महामन्त्र के अर्थ पर [विचार] करना चाहिए। इस मन्त्र में सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है। दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सचाई नहीं है। ईसाई लोगों की प्रार्थना के मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि—"हे परमेश्वर! हमको प्रतिदिन रोटी खाने को दे।" इसकी अपेक्षा इस आर्यों के महामन्त्र का अर्थ कैसा गम्भीर है। आधुनिक समय में जो-जो मत निकले हैं, उनकी प्रार्थना के मन्त्र इस महामन्त्र के सामने कैसे तुच्छ हैं। इस पर प्रत्येक बुद्धिमान् को विचार करना चाहिए। संध्योपासना सदा सायं-प्रातः इन दो कालों में ही करनी चाहिए। इन दोनों कालों में मनोवृत्ति की स्थिरता में प्राकृतिक सहायता मिलती है। सूतक* में सन्ध्या अवश्य करनी चाहिए, अनध्याय नहीं करना चाहिए। इस विषय में मनुजी लिखते हैं—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
न निरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥[२]

वेद-पाठ, नित्यकर्म और होम मन्त्रों में अनध्याय नहीं है।

नित्यकर्म का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे, इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म का या इसके फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूँ। यहां तक नित्यकर्म का विधान हुआ।

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक २।२।२॥

* हिन्दुओं में जब किसी के घर सन्तानोत्पत्ति होती है, तो उसके सम्बन्धियों के यहां दश दिन तक या तीन दिन तक सूतक माना जाता है। इस प्रकार मृत्यु में भी। इन दिनों में पूजा-पाठ आदि वर्जित रहते हैं। महर्षि इसका स्पष्ट खण्डन करते हैं।

२. मनुस्मृति २।१०५॥

[मुक्ति-विषय]

अब आगे मुक्ति के विषय में थोड़ा-सा विचार किया जाता है। मुक्ति शब्द का अर्थ छूटना है। यहां प्रश्न होता है, किससे छूटना? उत्तर स्पष्ट है कि दुःख अर्थात् बन्धन से छूटना मुक्ति है। जहां बन्धन नहीं वहां मुक्ति भी नहीं। जीवात्मा बद्ध है, इसलिए इसको मुक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् बन्धन से पृथक् है, इसलिए उसको मुक्त-स्वभाव कहते हैं। मुक्ति का अधिकारी होना बड़ा ही कठिन काम है। मुक्ति की दशा में नित्य सुख का अनुभव होता है। आजकल तो लोग यह समझते हैं कि सस्ती भाजी की तरह मनमाने कामों से मुक्ति मिलती है, परन्तु यह मूर्खतापन की समझ है। मुक्ति के मनमाने चार भेद जो लोग बतलाते हैं वे ये हैं—सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य और सालोक्य। ये सब कल्पित है। वेदादि शास्त्रों में मुक्ति के ये भेद कहीं नहीं लिखे। प्रत्युत उनमें एक ही प्रकार की मुक्ति बतलाई है। यजुर्वेद में लिखा है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।[१]

"उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु को जीत सकते हैं, दूसरा और कोई मार्ग नहीं है।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मुक्ति का मार्ग एक है और वह केवल परमेश्वर का ज्ञान है। इस पर प्रश्न होगा कि वह परमेश्वर कैसा है?

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।[२]

"उस परमात्मा की कोई प्रतिमा (मूर्ति या पैमाना) नहीं है, जिसका कि यश बड़ा है।" फिर तवल्कार और बृहदारण्यक उपनिषद् को भी देखना चाहिए, जिनमें बतलाया है कि जीवात्मा के भीतर भी वह परमात्मा व्यापक है तथा उसे वाणी-मन, आँख, कान और प्राणों को भी अपने-अपने कामों में लगाने वाला माना है और उसे एक तथा अद्वितीय माना है। इन सब प्रमाणों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि परमेश्वर के ज्ञान के विना मुक्ति पाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। वह परमेश्वर अरूप, अनादि तथा अनन्त है। वही ब्रह्म सबसे बड़ा और सबका सहारा है। आजकल की मुक्ति तो यह समझी जाती है कि जीव और परमात्मा एक

---

१. यजुर्वेद ३१।१८॥ २. यजुर्वेद ३१।२॥

ही है, बस यह ज्ञान होना ही मुक्ति है। यह आजकल के वेदान्तियों का मत है; किन्तु यह सच्चा वेदान्त नहीं है और न वेदों का सिद्धान्त है। इस बात की पड़ताल करने पर कि षट् दर्शनों के प्रणेताओं की मुक्ति के विषय में क्या सम्मति है—इसका तत्त्व मालूम हो जायगा। पहले जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा में यह कहा है कि धर्म अर्थात् यज्ञ से मुक्ति मिलती है और वहां "**यज्ञो वै विष्णुः**"[१] इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण भी दिए हैं। इस पर विचार कीजिए।

फिर कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में कहा है कि तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।[२] न्यायदर्शन के रचयिता गौतम ने अत्यन्त दुःख-निवृत्ति को मुक्ति माना है।[३] मिथ्याज्ञान के दूर होने से बुद्धि, वाक् और शरीर शुद्ध होते और इनकी शुद्धि से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही मुक्ति की अवस्था है। योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मानते हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध करने से शान्ति और ज्ञान प्राप्त होते हैं और इससे कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सांख्यशास्त्र के प्रणेता महामुनि कपिल कहते हैं कि तीन प्रकार के दुःखों की [अत्यन्त] निवृत्ति होनी ही परम पुरुषार्थ (मुक्ति) है।[४] अब देखिए कि उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्तदर्शन के रचयिता वादरायण (व्यास) क्या कहते हैं—

अविभागेन दृष्टत्वात्॥[५]
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः॥[६]
अभावं बादरिराह ह्येवम्॥[७]
[भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥[८]
द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः॥[९] **]**

व्यास के मत से मुक्ति की दशा में अभाव और भाव दोनों रहते हैं।

१. शत० १।१।२।१३॥
२. तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्॥ १।१।२॥
३. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ १।१।२२॥
४. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥ १।१॥
५. वेदान्त ४।४।४॥ ६. वेदान्त ४।४।६॥
७. वेदान्त ४।४।१०॥ ८. वेदान्त ४।४।११॥
९. वेदान्त ४।४।१२॥

मुक्त जीवात्मा का परमेश्वर के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रहता है। दोनों एक अर्थात् जीवात्मा का अभाव कभी नहीं होता।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च॥[१]

परमेश्वर के ज्ञान, सामर्थ्य और कुछ आनन्द जीवात्मा को प्राप्त होते हैं।

ईश्वर का आनन्द असीम है वैसा आनन्द मुक्त-जीवात्मा को हो ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म में अभेद मानने से धर्मानुष्ठान के सब साधन योग, तप और उपासना आदि सब निष्फल हो जायेंगे, इसलिए परमात्मा और जीवात्मा को एक मानना ठीक नहीं है। व्यापक और व्याप्य, सेव्य और सेवक आदि सम्बन्ध ईश्वर और जीव में वर्त्तमान रहता है और यही सम्बन्ध जीवात्मा के जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारे का कारण होता है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

१. वेदान्त ४।४।२१॥

पञ्चदश उपदेश

स्वयं कथित जीवन-चरित्र

[४ अगस्त सन् १८७५]

हमसे बहुत-से लोग पूछते हैं कि हम कैसे जानें कि आप ब्राह्मण हैं और कहते हैं कि आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की चिट्ठियां मंगा दें या आपको जो पहचानता हो, उसको बतलावें। इसलिए मैं अपना कुछ वृत्तान्त कहता हूं। दूसरे देशों की अपेक्षा गुजरात में कुछ मोह अधिक है, यदि मैं अपने पूर्व मित्रों तथा सम्बन्धियों को अपना पता दूं या पत्र-व्यवहार करूँ तो मेरे पीछे एक ऐसी व्याधि लग जावेगी, जिससे कि मैं छूट चुका हूं। इस भय से कि कहीं वह बला मेरे पीछे न लग जावे, पत्रादि मंगा देने की चेष्टा नहीं करता। धराङ्गधरा नाम का एक राज्य गुजरात देश में है। इसकी सीमा पर एक मौरवी नगर है, वहां मेरा जन्म हुआ था। मैं उदीच्य ब्राह्मण हूँ। उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं, परन्तु मैंने बड़ी कठिनता से यजुर्वेद पढ़ा था। मेरे घर में अच्छी जमींदारी है। इस समय मेरी अवस्था ५० वर्ष की होगी।

आठवें वर्ष मेरे बाद एक बहन पैदा हुई थी। मेरा एक चचेरा दादा था वह मुझसे बहुत-ही प्यार करता था। मेरे कुटुम्बियों के इस समय १५ घर होंगे। मुझको लड़कपन में ही रुद्राध्याय सिखलाकर शुक्ल यजुर्वेद का पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। मेरे पिता ने मुझको शिव की पूजा में लगा दिया। दसवें वर्ष से पार्थिव (मिट्टी के महादेव) की पूजा करने लग गया।

मुझे पिता ने शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा था, परन्तु मैंने शिवरात्रि का व्रत न किया। तब शिवरात्रि की कथा मुझे सुनाई, वह कथा मेरे मन को बहुत मीठी लगी और मैंने उपवास रखने का पक्का निश्चय कर लिया। मेरी मां कहती थी कि उपवास मत कर, मैंने माता का कहना न मानकर उपवास किया। मेरे यहां नगर के बाहर एक बड़ा देवल है। वहां शिवरात्रि के दिन रात के समय बहुत लोग एकत्रित होते हैं और पूजा

करते हैं। मेरा पिता, मैं और बहुत मनुष्य इकट्ठे थे। पहले पहर की पूजा कर ली, दूसरे पहर की पूजा भी हो गई। अब बारह बज गए और धीरे-धीरे आलस्य के कारण लोग जहां-के-तहां झुकने लगे। मेरे पिता को भी निद्रा आ गई। इतने में पुजारी बाहर गया। मैं इस भय से न सोया कि कहीं मेरा उपवास निष्फल न हो जाय। इतने में यह चमत्कार हुआ कि मन्दिर में बिल से चूहे बाहर निकले और महादेव की पिण्डी के चारों तरफ फिरने लगे। पिण्डी पर जो चावल चढ़ाये हुए थे, उन्हें ऊपर चढ़कर खाने भी लगे। मैं जागता था, इसलिए यह सब कौतुक देख रहा था। इससे एक दिन पहले शिवरात्रि की कथा मैं सुन ही चुका था। उसमें शिव के भयानक गणों, उसके पाशुपत अस्त्र, बैल की सवारी और उसके आश्चर्यमय सामर्थ्य के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। इसलिए चूहों के इस खेल को देखकर मेरी लड़कपन बुद्धि आश्चर्य में पड़ गई और मैंने सोचा कि जो शिव अपने पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े दैत्यों को मारता है, क्या वह ऐसे तुच्छ चूहों को भी अपने ऊपर से नहीं हटा सकता। इस प्रकार की बहुत-सी शंकायें मेरे मन में उठने लगीं? मैंने पिताजी को जगाकर पूछा कि ये महादेव इस छोटे चूहे को क्यों नहीं हटा देते। पिता ने कहा कि तेरी बुद्धि बड़ी भ्रष्ट है, यह तो केवल देवता की मूर्ति है। तब मैंने निश्चय किया कि जब मैं इसी त्रिशूलधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा, तब ही पूजा करूंगा, अन्यथा नहीं। ऐसा निश्चय करके मैं घर को गया, भूख लगी, माता से खाने को मांगा। माता कहने लगी, ''मैं तुझसे पहले ही कहती थी कि तुझसे भूखा नहीं रहा जायगा। तूने हठ करके उपवास किया।'' मां ने फिर मुझे खाना दिया और कहा कि दो-तीन दिन तू उनके अर्थात् पिता के पास मत जाइयो और न उनसे बोलियो, नहीं तो मार खायगा, खाना खाकर मैं सो गया। दूसरे दिन आठ बजे उठा, मैंने सारी कथा अपने चाचा से कह दी। मेरे चाचा ने बुद्धिमत्ता से मेरे पिता को समझा दिया कि इसको आगे विद्या पढ़नी है, इसलिए व्रत उपवास आदि इससे कुछ न कराया करो। इस समय मैं इनसे यजुर्वेद पढ़ता था और दूसरे एक पण्डित मुझे व्याकरण पढ़ाते थे। सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में यजुर्वेद समाप्त हुआ। इसके बाद मैं अपनी जमींदारी के गांव में पढ़ने के लिए गया। वहां हमारे घर में एक दिन नाच होता था, उस समय मेरी छोटी बहन मरणासन्न थी, कण्ठ बन्द हो गया था। मैं वहां गया और उसके बिस्तरे के पास खड़ा

हुआ। सबसे पहले मैंने मौत वहीं देखी। जब मेरी बहन मर गई, तो मुझे बड़ा भय हुआ। मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सबको इसी प्रकार मरना है। सब लोग रोते थे, पर मेरी छाती भय से धड़क रही थी। इसलिए मेरी आँखों से एक आंसू भी न गिरा। मेरी यह दशा देखकर पिता ने मुझको पाषाण हृदय कहा।

मेरी माता मुझे बहुत प्यार करती थी, किन्तु उसने भी ऐसा ही कहा। मुझे सोने के लिए कहते थे। पर मुझे कभी अच्छी तरह नींद न आती थी; किन्तु मैं हर घड़ी चौंक-चौंक उठता था और मन में भांति-भांति के विचार उठते थे। बहन के मरने के पश्चात् लोक-रीति के अनुसार पांच-छः वार रोना होने पर भी जब मुझे रोना नहीं आया तो सब लोग मुझे धिक्कारने लगे।

उन्नीसवें वर्ष में मुझसे अत्यन्त स्नेह रखने वाले मेरे चाचा को भी मृत्यु ने आन दबाया। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं उनके पास बैठा था, मुझे देखकर उनके टप-टप आंसू गिरने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, मैंने रो-रो कर आंखें सुजा लीं। ऐसा रोना मुझे कभी नहीं आया। इस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि चाचा की तरह मैं भी मर जाऊंगा। ऐसा विश्वास हो जाने पर अपने मित्रों और पण्डितों से अमर होने का उपाय पूछने लगा। जब उन्होंने योगाभ्यास की ओर संकेत किया, तो मेरे मन में यही सूझी कि घर छोड़कर चला जाऊं। इस समय मेरी आयु २० वर्ष की थी।

मेरी बढ़ी हुई उदासीनता देखकर पिता ने जमींदारी का काम करने को कहा, परन्तु मैंने न किया। फिर पिताजी ने निश्चय किया कि मेरा विवाह कर दें ताकि मैं बिगड़ न जाऊं। यह विचार घर में होने लगा, यह मालूम करके मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि विवाह कभी न करूंगा। यह भेद मैंने एक मित्र से प्रकट किया तो उसने मना किया और विवाह करने के लिए जोर देने लगा। मेरा विचार घर छोड़कर चले जाने का था, पर किसी ने सलाह न दी। जो कहते, विवाह करने को ही कहते। एक महीने के भीतर विवाह की तैयारी हो गई। यह देखकर मैं एक दिन शौच के मिस (बहाने) से एक धोती साथ लेकर घर से निकल पड़ा और एक सिपाही द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूं। मैं एक पास के गांव में गया। इधर घर में मेरी प्रतीक्षा दस बजे रात तक होती रही। इसी

रात को चार घड़ी के तड़के मैं गांव से निकलकर आगे चल दिया और अपने गाँव से दस कोस के अन्तर पर एक गाँव के हनुमान् के मन्दिर में ठहरा। वहां से चलकर सायला योगी के पास गया, परन्तु वहां पर मुझे शांति नहीं मिली और लोगों से सुना कि लालाभक्त नामी एक योगी है। तब उनकी ओर चल पड़ा। मार्ग में एक वैरागी एक मूर्ति रखकर बैठा हुआ था। बात-चीत होने पर वह बोला कि अंगुली में सोने का छल्ला डालकर वैराग्य की सिद्धि कैसे होगी? मुझे इस प्रकार खिजाकर मेरे तीनों छल्ले मूर्ति की भेंट चढ़वा लिए। लालाभक्त के पास जाकर मैं योगसाधन करने लगा। रात को एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, तो वृक्ष के ऊपर घूघू बोलने लगा। उसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं मठ के भीतर घुस गया। फिर वहां से अहमदाबाद के समीप कोट कांगड़े नामी गांव में आया, वहां बहुत से वैरागी रहते थे। एक कहीं की रानी वैरागी के फन्दे में आ गई थी। इस रानी ने मेरे साथ ठट्ठा किया, परन्तु मैं जाल से छूट गया, इस स्थान पर मैं तीन महीने रहा था। यहां पर वैरागी मुझ पर हंसी उड़ाने लगे, इसलिए जो रेशमी किनारेदार धोती मैं पहनता था, वह मैंने फेंक दी। मेरे पास केवल ३) रुपये रह गए थे, इनसे सादी धोती खरीद कर पहन ली और तब से अपना ब्रह्मचारी नाम रख लिया। उन्हीं दिनों मैंने सुना कि कार्तिक के महीने में सिद्धपुर के स्थान पर एक मेला होता है। यह सोचकर कि वहां शायद मुझे कोई योगी मिल जावे और अमर होने का मार्ग बता दे, मैंने सिद्धपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में मुझे अपने गांव का आदमी मिला, उसने जाकर मेरे बाप को बतला दिया कि मैं सिद्धपुर की ओर चला गया हूं। मेरे पिता और घर के लोग बराबर मेरी खोज में ही थे। इस आदमी की जबानी मेरा पता सुनकर मेरे पिता चार सिपाहियों सहित सिद्धपुर को आये। मैं एक मन्दिर में बैठा हुआ था कि एकाएक मेरे पिता सामने आकर खड़े हो गए। देखते ही मेरा कलेजा धड़कने लगा इस भय से कि पिता मुझ को मारेंगे, मैंने उठकर उनके पांव पकड़ लिए। वे मुझ पर बहुत-ही क्रुद्ध हुए, मैंने उनसे कहा कि एक धूर्त्त बहका कर मुझे यहां लाया है, मैं घर जाने को तैयार ही था कि आप आ गए। उन्होंने मेरा तूंबा तोड़ डाला और मेरी छाई फाड़ डाली और कुछ कपड़े मुझे दिए। मेरे पीछे दो सिपाही सदा के लिए कर दिए, रात को जहां मैं सोता था, एक सिपाही रात को मेरे सिराहने बैठा जागता रहता

था। मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊं और इसलिए मैं यह जानने के लिए कि सिपाही रात को सोता है या नहीं, खुद भी जागता रहता। सिपाही को तो यह निश्चय हो जाता कि मैं सो रहा हूँ और इसलिए मैं नाक से खुर्राटे भरने लगता था। इस प्रकार तीन रातें जागना पड़ा, चौथी रात सिपाही को नींद आ गई, तब एक लोटा हाथ में लेकर बाहर निकला। यदि कोई देख पावे तो झट कह दूंगा कि शौच को जाता हूँ। वहां से निकलकर गांव के बाहर एक बाग में चला गया। प्रात:काल होते ही एक वृक्ष पर चढ़कर बैठ गया। इस भांति एक दिन भर इस वृक्ष के ऊपर बैठा रहा। रात को अँधेरा हो गया, सात बजे नीचे उतरकर चल दिया। अपने गांव और घर के मनुष्यों से यह अन्तिम भेंट थी। इसके पश्चात् एक बार प्रयाग (इलाहाबाद) में मेरे गांव के बहुत-से लोग मुझ को मिले; परन्तु मैंने उनको अपना पता नहीं दिया, तब से आज तक कोई नहीं मिला।

सिद्धपुर से बड़ोदे को आया, वहां से नर्मदा नदी के तट पर विचरने लगा। इस समय नर्मदा के तट पर योगानन्द स्वामी रहते थे। यहां एक दक्षिणी ब्राह्मण कृष्ण शास्त्री भी रहते थे, इनके पास मैं कुछ-कुछ पढ़ता रहा। तत्पश्चात् राजगुरु के पास वेदों को पढ़ा। २३ या २४ वर्ष की अवस्था में मुझे चाणूदकनाली में एक संन्यासी मिला। मुझे पढ़ने में बहुत ही अनुराग था और संन्यास आश्रम में पढ़ने का बहुत सुभीता होता है। इसलिये उसके उपदेश से मैंने श्राद्ध आदि करके संन्यास ले लिया, तब से ही दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया। मैंने दण्ड गुरु के पास धर दिया। चाणूद में दो गोसांई आये जो राजयोग करते थे, मैं भी उनके साथ अहमदाबाद तक गया। वहां पर एक ब्रह्मचारी मिला। पर कुछ दिनों बाद मैंने उसका साथ छोड़ दिया। वहाँ से मैं जाते-जाते हरद्वार पहुँचा, वहां कुम्भ का मेला था। वहां से हिमालय पहाड़ पर उस जगह पहुंचा, जहां से अलकनन्दा नदी निकलती है। बर्फ बहुत पड़ी हुई थी और पानी भी बहुत ठण्डा था। वहां बर्फ लगने से पैर में कुछ तकलीफ हुई। हिमालय पर्वत पर पहुँच कर विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूं। फिर मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिए। यह निश्चय करके मैं मथुरा में आया। वहां मुझे एक धर्मात्मा संन्यासी गुरु मिले। उनका नाम स्वामी विरजानन्द था, वे पहले अलवर में रहते थे। इस समय

उनकी अवस्था ८१ वर्ष की हो चुकी थी। उन्हें अभी तक वेद, शास्त्र आदि आर्ष ग्रन्थों में बहुत रुचि थी। ये महात्मा दोनों आंखों से अन्धे थे, और इनके पेट में शूल रोग था। ये कौमुदी और शेखर आदि नवीनग्रन्थों को अच्छा नहीं समझते थे और भागवत आदि पुराणों का भी खण्डन करते थे। सब आर्ष ग्रन्थों के बड़े भक्त थे। उनसे भेंट होने पर उन्होंने कहा कि तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है। मैंने उनके पास पढ़ने का पक्का निश्चय कर लिया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नामक थे, उन्होंने मेरे पढ़ने के समय में जो-जो उपकार मेरे साथ किए, मैं उनको भूल नहीं सकता। पुस्तकों और खाने-पीने का प्रबन्ध सब उन्होंने बड़ी उत्तमता से कर दिया था। जिस दिन उन्हें कहीं बाहर खाने के लिए जाना होता, तो वे पहले मेरे लिए भोजन बनाकर और मुझे खिलाकर बाहर जाते थे। सौभाग्य से ये उदारचेता महाशय मुझे मिल गए थे। विद्या समाप्त होने पर मैं आगरे में दो वर्ष तक रहा, परन्तु पत्रव्यवहार के द्वारा या कभी-कभी स्वयं गुरु की सेवा में उपस्थित होकर अपने सन्देह निवृत्त कर लेता था। आगरे से मैं ग्वालियर को गया, वहां कुछ-कुछ वैष्णव मत का खण्डन आरम्भ किया, वहां से भी स्वामी जी को पत्रादि भेजा करता था। वहां माध्वमत के एक आचार्य हनुमन्त नामी रहते थे। वे काकन का स्वाँग भरकर शास्त्रार्थ सुनने बैठा करते थे। एक-आध वार जब मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला, तो उन्होंने अशुद्धि पकड़ ली। मैंने कई वार उनसे पूछा कि आप कौन हैं, परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं एक काकन हूँ, सुनने-सुनाने से कुछ बोध प्राप्त हुआ है। एक दिन इस विषय पर वार्त्तालाप हुआ कि वैष्णव लोग जो माथे पर खड़ी रेखा लगाते हैं, वह ठीक है या नहीं। मैंने कहा यदि रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है, तो सारा मुंह काला करने से स्वर्ग से भी कोई बड़ी पदवी मिलती होगी। यह सुनकर उनको बड़ा क्रोध आया और वे उठ गए। तब लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही उस मत के आचार्य हैं।

ग्वालियर से मैं रियासत करौली को गया। वहां पर एक कबीरपन्थी मिला, उसने एक वार वीर के अर्थ कबीर किये थे और कहने लगा कि एक कबीर उपनिषद् भी है। वहां से फिर मैं जयपुर को गया, वहां हरिश्चन्द्र नामी एक बड़े विद्वान् पण्डित थे। वहां पहले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत स्थापन किया। जयपुर के महाराजा सवाई

रामसिंह भी शैवमत की दीक्षा ले चुके थे। शैवमत के फैलने पर हजारों रुद्राक्ष की मालायें मैंने अपने हाथों से लोगों को पहनाई। वहां शैवमत का इतना प्रचार हुआ कि हाथी-घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की माल पहनाई गई।

जयपुर से मैं पुष्कर को गया, वहां से अजमेर आया। अजमेर पहुंचकर शैवमत का भी खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच में जयपुर के महाराज साहब लाट साहब से मिलने के लिए आगरे जाने वाले थे। इस आशंका से कि कहीं वृन्दावन निवासी प्रसिद्ध रंगाचार्य से शास्त्रार्थ न हो जावें, राजा रामसिंह ने मुझे बुलाया और मैं भी जयपुर पहुंच गया; परन्तु यह मालूम होने पर कि मैंने शैवमत का खण्डन आरम्भ कर दिया है, राजा साहब अप्रसन्न हुए। इसलिए मैं भी जयपुर छोड़कर मथुरा में स्वामीजी के पास गया और शंका-समाधान किया। वहां से मैं फिर हरद्वार को गया, वहां अपने मठ पर **पाखण्ड-मर्दन** लिखकर झण्डा खड़ा किया। वहाँ वाद-विवाद बहुत-सा हुआ। फिर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सारे जगत् से विरुद्ध होकर भी गृहस्थों से बढ़कर पुस्तक आदि का जंजाल रखना ठीक नहीं है। इसलिए मैंने सब कुछ छोड़कर केवल एक कौपीन (लंगोट) लगा लिया और मौन धारण किया। इस समय जो शरीर में राख लगाना शुरू किया था, वह गत वर्ष बम्बई में आकर छोड़ा। वहां तक लगाता रहा था। जब से रेल में बैठना पड़ा, तब से कपड़े पहनने लगा। जो मैंने मौन धारण किया था, वह बहुत दिन सध न सका, क्योंकि बहुत से लोग मुझे पहचानते थे।

एक दिन मेरी कुटी के द्वार पर एक मनुष्य यह कहने लगा— "**निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्**" अर्थात् भागवत से बढ़कर और कुछ नहीं है, वेद भी भागवत से नीचे हैं।

तब मुझ से यह सहन न हो सका, तब मौन-व्रत को छोड़कर मैंने भागवत का खण्डन प्रारम्भ किया। फिर यह सोचा कि ईश्वर की कृपा से जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान अपने को हुआ है, वह सब लोगों पर प्रकट करना चाहिए। इस विचार को मन में रखकर मैं फर्रुखाबाद को गया, वहां से रामगढ़ को गया। रामगढ़ में शास्त्रार्थ शुरू किया। वहाँ पर जब दो-चार पण्डित बोलते थे, तब मैं कोलाहल शब्द कहा करता था, इसलिए

आज तक वहां के लोग मुझको कोलाहल स्वामी कहा करते हैं। वहां पर चक्राङ्कितों के चेले दश आदमी मुझे मारने को आए थे, बड़ी कठिनता से उनसे बचा। वहां से मैं फर्रुखाबाद होकर कानपुर आया। कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मारने वाले मुझे मारने को आए थे, पर एक माधवप्रसाद नामी धर्मात्मा पुरुष था, उसने मुझे बचा दिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत ग्रहण करने को तैयार था; उसने इन सब पण्डितों को नोटिस दे रखा था कि यदि आप अपने आर्यधर्म में तीन महीने के भीतर मेरा विश्वास न करा देंगे तो मैं ईसाई धर्म को स्वीकार कर लूँगा। मेरे आर्य-धर्म पर निश्चय दिला देने से वह ईसाई न हुआ। प्रयाग से मैं राम-नगर को गया। वहां के राजा की इच्छानुसार काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में यह विषय प्रविष्ट था कि वेदों में मूर्तिपूजा है वा नहीं? मैंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में मिलता है; परन्तु उसके अर्थ तोल, नाप आदि के हैं। वह शास्त्रार्थ अलग छपकर प्रकाशित हुआ है; जिसको सज्जन पुरुष अवलोकन करेंगे।

इतिहास शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थ ही समझने चाहिएं इस पर भी शास्त्रार्थ हुआ था। गत वर्ष भाद्रपद में मैं काशी में था, आज तक चार वार काशी में जा चुका हूं। जब-जब काशी में जाता हूँ, तब-तब विज्ञापन देता हूँ कि यदि किसी को वेद में मूर्ति-पूजा का प्रमाण मिला हो, तो मेरे पास लेकर आवे, परन्तु अब तक कोई भी प्रमाण नहीं निकाल सका।

इस प्रकार भारत के समस्त प्रान्तों में मैंने भ्रमण किया है। दो वर्ष हुए कि कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जयपुर आदि नगरों में मैंने बहुत से लोगों को धर्मोपदेश दिया है। काशी, फर्रुखाबाद आदि नगरों में चार पाठशालायें आर्य-विद्या पढ़ाने के लिए स्थापित की हैं। उनमें अध्यापकों की उच्छृङ्खलता से जैसा कि लाभ पहुंचना चाहिए था, नहीं पहुंचा। गत वर्ष बम्बई आया। यहां मैंने गुसाई महाराज के चरित्रों की बहुत कुछ छानबीन की। बम्बई में आर्यसमाज स्थापित हो गया। बम्बई, अहमदाबाद, राजकोट आदि प्रान्तों में कुछ दिन धर्म्मोपदेश किया, अब तुम्हारे इस नगर में दो महीनों से आया हुआ हूँ।

यह मेरा पिछला इतिहास है, आर्य्य-धर्म की उन्नति के लिए मुझे जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिएं। ऐसा काम अकेला आदमी

भली प्रकार नहीं कर सकता, फिर भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार जो कुछ दीक्षा ली है उसे चलाऊंगा।

अब अन्त में ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूं कि सर्वत्र आर्यसमाज कायम होकर मूर्ति-पूजादि दुराचार दूर हो जावें, वेद-शास्त्रों का सच्चा अर्थ सब की समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जावे। पूरी आशा है कि आप सज्जनों की सहायता से मेरी यह इच्छा पूर्ण होगी।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

२१

आर्यसमाज के नियम
(बम्बई)

आर्यसमाज के नियम (बम्बई)

चैत्र शुक्ला ५ शनिवार संवत् १९३२ एवं १० अप्रैल सन् १८७५ एवं (३ रवाउल् अव्वल सन् १२९२ हिजरी, एवं शाके शालिवाहन १७९७, फली सन् १२८३, एवं खुदोद सन् १२८४ पारसी) को गिरगाम रोड में प्रार्थना-समाज के मन्दिर के निकट डाक्टर माणिक जी की बागबाड़ी में सायंकाल के साढे पांच बजे एक सभा की गई। जिसमें आर्यसमाज स्थापित किया गया और निम्नलिखित नियम स्वीकार किये गये—

१. आर्यसमाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।

२. इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों का ही माना जायेगा। साक्षी के लिए वेदों के ज्ञान के लिये तथा आर्य इतिहास के लिये शतपथादि चार ब्राह्मण, छः वेदांग, चार उपवेद, छः दर्शन, ग्यारह सौ सत्ताईस वेदों की शाखा वेदव्याख्यान आर्ष सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायेगा।

३. इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा प्रशाखा होंगे।

४. अन्य सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल रहेगी।

५. प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्य भाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश के पुस्तक होंगे और आर्य-प्रकाश पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जायेंगे।

६. हर एक समाज में प्रधान पुरुष और दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री सभासद् होंगे।

७. प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था पालन करेगा और मन्त्री सबके पत्रों का उत्तर और सबके नाम व्यवस्था लेख करेगा।

८. इस समाज में सत्पुरुष, सत्यनीति, सत्याचरणी, हितकारक समाजस्थ लिये जायेंगे।

९. जो गृहस्थ गृहकृत्य से अवकाश प्राप्त हो, तो जैसा घरके कार्यों में

पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिये करे और विरक्त तो नित्य ही इस समाज की उन्नति करे, अन्यथा नहीं।

१०. हर आठवें दिन प्रधान, मन्त्री और सभासद् समाज-स्थान में इकट्ठे हों और सब कामों में इस काम को मुख्य जानें।

११. इकट्ठे होकर सर्वथा स्थिर चित्त हो, परस्पर प्रीति से पक्षपात छोड़कर प्रश्नोत्तर करें, फिर सामवेदादि गान, परमेश्वर, सत्य-धर्म सत्यनीति, तथा सत्योपदेश के सम्बन्ध में बाजा आदि के साथ हो। और इसी विषय पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान और फिर गान हो, इत्यादि।

१२. हर एक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे, उसमें से आर्यसमाज, आर्य विद्यालय और आर्य-प्रकाश पत्र के प्रचार और उन्नति के लिये, आर्यसमाज के धन कोष में एक प्रतिशत प्रीति पूर्वक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का इन ही विषयों में व्यय होवे, और जगह नहीं।

१३. जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिये, जितना प्रबल यत्न करे, उसका उत्साह के लिये यथायोग्य सत्कार होना चाहिये।

१४. इस समाज में वेदोक्त प्रकार से हर एक स्तुति-प्रार्थना और उपासना अद्वितीय परमेश्वर की ही करने में आयेगी। अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगन्माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्द आदि लक्षण युक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्तसुखप्रद, धर्मार्थकाममोक्षप्रद, इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका कीर्त्तन, प्रार्थना उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में सहाय चाहना, उपासना उसके आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना। सो पूर्वोक्त निराकारादि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उसके सिवाय और की कभी नहीं करनी।

१५. इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टि पर्य्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जायेंगे।

१६. आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष-ग्रन्थों का पठन-पाठन कराया

जायेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुष और स्त्री के सुधार की होगी।

१७. इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिये प्रयत्न किया जायेगा। एक परमार्थ दूसरी लोक व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जायेगी।

१८. इस समाज में न्याय वही माना जायेगा, जो पक्षपात रहित अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित सत्य-धर्म वेदोक्त होगा। इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जायेगा।

१९. इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् सर्वत्र सदुपदेश करने के लिये समयानुकूल भेजे जायेंगे।

२०. स्त्री और पुरुष दोनों के विद्याभ्यास के लिये स्थान हर एक स्थान में यथाशक्ति अलग-अलग बनाये जायेंगे। स्त्रियों के लिये अध्यापन और सेवा प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जायेगा और पुरुष पाठशालाओं का पुरुषों द्वारा, इसके विरुद्ध नहीं।

२१. उन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जायेगी।

२२. इस समाज में प्रधान आदि सभासद् परस्पर प्रीति के लिये अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोधादि सब दुर्गुण छोड़कर उपकार, सुहृदयता से सब से सब को निर्वैर होकर स्वात्मवत् प्रीति करनी होगी।

२३. विचार समय सब व्यवहारों में न्याय युक्त सर्वहित की जो सत्य बात भले प्रकार विचार से ठहरे, वही सब सभासदों को प्रकट करके मानी जाये। इसके विरुद्ध न मानी जाये। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

२४. जो पुरुष इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला धर्मात्मा सद्‌गुणी हो, उसको उत्तम समाज में प्रविष्ट करना, उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना, और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना, परन्तु वह काम पक्षपात से नहीं करना, बल्कि यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के ही विचार से की जायें, अन्य प्रकार नहीं।

२५. आर्यसमाज, आर्य विद्यालय, 'आर्य-प्रकाश' पत्र और आर्यसमाज का अर्थ, धन, कोष इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन, मन और धन से सदा करें।

२६. जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले, तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रखें, वे दोनों स्वामी सेवक भाव से यथावत् वरतें।

२७. जब विवाह, पुत्र-जन्म, महालाभ, वा मरण वा कोई समय दान वा धन व्यय करने का हो, तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है, इस निश्चय को जानकर इसको कभी न भूलें।

२८. इन नियमों में कोई नियम नया लिखा जायेगा वा कोई निकाला जायेगा वा न्यूनाधिक किया जायेगा, सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचार रीति से श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

इसके पश्चात् आर्यसमाज के पदाधिकारी नियत किये गये और प्रति शनिवार को सायंकाल आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन होने निश्चित हुए परन्तु पीछे शनिवार का दिन सभासदों के अनुकूल न पड़ा, अतः आदित्यवार निश्चित किया गया।

३०

आर्यसमाज के नियमोपनियम

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज के नियमोपनियम

लाहौर, ज्येष्ठ शुक्ला १३ संवत् १९३४ वि० तदनुसार २४ जून सन् १८७७

आर्यसमाज के नियमोद्देश्य

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ-विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य-पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

आर्यसमाज के उपनियम

नाम

१. इस समाज का नाम आर्य्यसमाज होगा।

उद्देश्य

२. इस समाज के उद्देश्य वही हैं जो इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

आर्य्य

३. जो लोग आर्य्यसमाज में नाम लिखाना चाहें और समाज के उद्देश्य के अनुकूल आचरण स्वीकार करें, वे आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हो सकते हैं। परन्तु उनकी अठारह वर्ष से न्यून आयु न हो।

आर्य्यसभासद्

४. **क**—जिनका नाम आर्य्यसमाज में सदाचार से एक वर्ष रहा हो और वे अपने आय का शतांश वा अधिक, मासिक वा वार्षिक आर्य्यसमाज को दें वे आर्य्यसभासद् हो सकते हैं।

ख—सम्मति देने का अधिकार केवल आर्य्यसभासदों को होगा।

५. जो आर्य्यसमाज के उद्देश्य के विरुद्ध काम करेगा, वह न तो आर्य्य और न आर्य्यसभासद् गिना जावेगा।

६. आर्य्यसभासद् दो प्रकार के होंगे। एक साधारण आर्य्यसभासद् और दूसरे माननीय आर्य्यसभासद्।

माननीय आर्य्यसभासद् वे होंगे, जो शतांश, दश रुपये मासिक, वा इससे अधिक दें; वा एक वार २५०) रुपये दें, वा जिन को अन्तरंगसभा विद्यादि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे।

साधारण सभा

७. साधारण सभा तीन प्रकार की होगी—

१. साप्ताहिक, २. वार्षिक, ३. नैमित्तिक।

साप्ताहिक साधारण सभा

८. **क**—यह सभा प्रत्येक सप्ताह में एक वार हुआ करेगी।

ख—उसमें वेदमन्त्रों का पाठ, उपासना, भजन, कीर्तन और व्याख्यान हुआ करेंगे।

ग— जो कोई समाजसम्बन्धी मुख्य बात सभा के जानने योग्य हो, वह भी उस सभा में कही जायेगी।

वार्षिक साधारण सभा

९. **क**—यह सभा प्रतिवर्ष एक ही वार नीचे लिखे प्रयोजनों के लिए हुआ करेगी—

१. समाज के वार्षिक उत्सव करने के लिये।

२. अन्तरंग सभा के प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारियों के नियुक्त करने के लिये।

३. समाज के पिछले वर्ष का वृत्तान्त सुनने के लिये।

ख—इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन एक महीना पहिले दिया जायेगा।

नैमित्तिक साधारण सभा

१०. **क**—यह सभा जब कभी आवश्यकता हो, किसी विशेष काम के लिये नीचे लिखी हुई दशाओं में की जायेगी—

१. जब प्रधान और मन्त्री चाहें।

२. जब अन्तरंग सभा चाहे।

३. जब आर्य्यसभासदों का बीसवां अंश इस निमित्त मन्त्री के पास लिखकर पत्र भेजे।

ख—इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन समयानुकूल पहिले दिया जायेगा।

अन्तरङ्ग सभा

११. समाज के सब कार्य्यों के प्रबन्ध के लिये एक अन्तरंग सभा नियुक्त की जायेगी। और इसमें तीन प्रकार के सभासद् होंगे अर्थात् (१) प्रतिनिधि (२) प्रतिष्ठित (३) अधिकारी।

१२. प्रतिनिधि सभासद् अपने-अपने समुदायों के प्रतिनिधि होंगे और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे। कोई समुदाय जब चाहे, अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है।

१३. सभासदों के विशेष काम ये होंगे—

क—अपने-अपने समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना।

ख—अपने-अपने समुदायों को अन्तरंगसभा के काम, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना।

ग—अपने-अपने समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१४. प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्राय: वार्षिक या नैमित्तिक साधारण सभा में नियत किये जायेंगे, प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरंग सभा में एक तिहाई से अधिक न होंगे।

१५. वर्ष के पीछे अन्तरंग सभा के प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जायेंगे। और कोई पुराना प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी पुनर्वार नियत हो सकेगा।

१६. जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् वा अधिकारी का स्थान रिक्त (खाली) हो, तो अन्तरंग सभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकेगी।

१७. अन्तरंग सभा कार्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह आर्यसमाज के नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१८. अन्तरंग सभा किसी विशेष काम के करने और सोचने के लिये, अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखने वाले और सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

१९. अन्तरंग सभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह पहले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे और वह (विषय) प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावेगा। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंग सभा के पांच सभासद् सम्मति दें, वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा।

२०. दो सप्ताह के पीछे अन्तरंग सभा एक वार अवश्य हुआ करेगी, और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से, वा जब अन्तरंग सभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें तो भी हो सकती है।

अधिकारी

२१. अधिकारी पांच प्रकार के होंगे—

(१) प्रधान, (२) उपप्रधान, (३) मन्त्री, (४) कोषाध्यक्ष, (५) पुस्तकाध्यक्ष।

२२. मन्त्री, कोषाध्यक्ष और पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक पुरुष भी नियत हो सकते हैं, और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक पुरुष नियत हों, तो अन्तरंगसभा उन्हें काम बांट देगी।

प्रधान

२३. प्रधान के नीचे लिखे अधिकार और काम होंगे—

१. प्रधान अन्तरंग सभा और समाज का और सब सभाओं का सभापति समझा जावेगा।

२. सदा समाज के सब कामों के यथावत् प्रबन्ध करने में सर्वथा समाज की उन्नति और रक्षा के लिये तत्पर रहेगा, समाज के प्रत्येक कामों को देखेगा कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चलेगा।

३. यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो, तो उसका यथोचित प्रबन्ध उसी समय करेगा। और उसके बिगड़ने में उत्तरदाता वही होगा।

४. प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें कि अन्तरंग सभा संस्थापन करे, सभासद् होगा।

उपप्रधान

२४. उपप्रधान, प्रधान के अनुपस्थित होने पर उसका प्रतिनिधि होगा। यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों, तो सभा की सम्मति अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावेगा। परन्तु समाज के सब कामों में प्रधान को सहायता देनी, उसका मुख्य काम होगा।

मन्त्री

२५. मन्त्री के नीचे लिखे गये अधिकार और काम होंगे—

१. अन्तरंग सभा की आज्ञानुसार समाज की ओर से सबके साथ पत्रव्यवहार रखना और समाजसम्बन्धी चिट्ठी और सब प्रकार के विशिष्ट पत्रों को सम्भालकर रखना।

२. समाज की सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहिले ही उसको वृत्तान्त-पुस्तक में लिखना वा लिखवा देना।

३. मासिक अन्तरंग सभाओं में उन आर्यों वा आर्यसभासदों के नाम सुनाया करना, जो पिछली मासिक सभा के पीछे आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हुए हों या उससे पृथक् हुए हों।

४. सामान्य प्रकार से समाज के भृत्यों के काम पर दृष्टि रखना, और समाज के नियम उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

५. पाठशाला की उपसभा के आज्ञानुसार पाठशाला का सामान्य प्रकार से प्रबन्ध करना।

६. इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक आर्य सभासद् किसी न किसी समुदाय में से हो, और इसका कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरंग सभा में प्रतिनिधि दिया हो।

७. पहिले विज्ञापन दिये जाने पर माननीय पुरुषों को सभा में सत्कारपूर्वक बैठाना।

८. प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

कोषाध्यक्ष

२६. कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और काम होंगे—

१. समाज के सब आय धन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना।

२. किसी को अन्तरंग सभा की आज्ञा विना रुपया न देना, वरन् मन्त्री और प्रधान को भी उस परिमाण से जितना कि अन्तरंग सभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना। और उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो उत्तरदाता होगा।

३. सब धन के आय-व्यय का रीति पूर्वक बहीखाता, और प्रतिमास अन्तरंग सभा में हिसाब को बहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना।

पुस्तकाध्यक्ष

२७. पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और काम ये होंगे।

पुस्तकालय में जो समाज की स्थिर पुस्तक और विक्रय पुस्तक हों उन सबकी रक्षा करे, और पुस्तकालयसम्बन्धी हिसाब किताब रक्खे, और पुस्तकों के लेने, देने, मंगवाने और बेचने का काम भी करे।

मिश्रित

२८. सब आर्य्य सभासदों की सम्मति पत्र द्वारा निम्नलिखित दशाओं में ली जायगी।

१. जब अन्तरंग सभा का यह निश्चय हो कि समाज की भलाई के लिये किसी साधारण सभा के सिद्धान्त पर निर्भर न करना चाहिये, वरन् सब आर्य्यसभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

२. जब सब आर्य्य सभासदों का बीसवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिखकर भेजे।

३. जब बहुत से व्ययसम्बधी या प्रबन्ध-सम्बन्धी, वा नियम वा व्यवस्थासम्बन्धी कोई मुख्य प्रस्ताव करना हो; अथवा जब अन्तरंगसभा सब आर्यसभासदों की सम्मति चाहे।

२९. जब किसी सभा में वा थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो, तो उसके स्थान में उस समय के लिये किसी योग्य पुरुष को अन्तरंग सभा नियत कर सकती है।

३०. किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में जब तक कोई पुरुष नियत न किया जावे, तो तब तक वही अधिकारी अपना काम करता रहेगा।

३१. सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करेगा और उसको सब आर्य्यसभासद् देख सकेंगे।

३२. सब सभाओं का और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे।

३३. आय का दशांश समुदाय धन में रक्खा जायेगा।

३४. सब आर्य्य और आर्य्यसभासदों को संस्कृत वा आर्य्य भाषा (हिन्दी)

जाननी चाहिये।

३५. सब आर्य्य और आर्य्यसभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द के समय समाज पर भी दृष्टि रक्खें।

३६. सब आर्य्य और आर्यसभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनन्द उत्सव में निमन्त्रण पर सहायक हों और छोटाई-बड़ाई न गिनें।

३७. कोई आर्य्य भाई किसी हेतु से अनाथ हो जाये वा किसी की स्त्री विधवा वा सन्तान अनाथ हो जावे अर्थात् उसका किसी प्रकार जीवन न हो सकता हो और यदि आर्यसमाज इसको निश्चित जान ले, तो आर्यसमाज उसकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे।

३८. यदि आर्य्यसमाज में किसी का आपस में झगड़ा हो तो उनको योग्य होगा कि वे उसको आपस में समझ लें वा आर्य्यसमाज की न्याय-उपसभा द्वारा उसका न्याय करा लें।

३९. यह उपनियम वर्ष पीछे यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे या बढ़ाये-घटाये जा सकते हैं।

३१

स्वीकारपत्र

॥ श्रीरामजी ॥

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृत

स्वीकारपत्र की प्रति

राजकीय मुद्रा

आज्ञा (राज्ये श्रीमहद्राजसभा) संख्या २९०

आज यह स्वीकारपत्र श्रीमान् श्री १०८ श्रीजी धीरवीर चिरप्रतापी विराजमानराज्ये श्रीमहद्राजसभा के सम्मुख स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी ने सर्वरीत्या अङ्गीकार किया, अत एव—

आज्ञा हुई—

कि प्रथम प्रति तो इस स्वीकारपत्र की स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी को राज्ये श्री महद्राजसभा हस्ताक्षरी और मुद्राङ्कित दी जावे और दूसरी प्रति उक्त सभा के पत्रालय में रहे और एक-एक प्रति इसकी राजयन्त्रालय में मुद्रित होकर इस स्वीकारपत्र में लिखे सब सभासदों के पास उनके ज्ञानार्थ और इसके नियमानुसार वर्तने के लिये भेजी जावे। संवत् १९३९ फाल्गुन शुक्ला ५ मङ्गलवार तदनुसार ता० २७ फेब्रुएरी सन् १८८३ ई०।

हस्ताक्षर महाराणा सज्जनसिंहस्य

(श्रीमेदपाटेश्वर और राज्ये श्रीमहद्राजसभापति)

राज्ये श्रीमहद्राजसभा के सभासदों के हस्ताक्षर

१. राव तख्तसिंह बेदले
२. राव रत्नसिंह पारसोली
३. द० महाराज गजसिंह का
४. द० महाराज रायसिंह का
५. हस्ताक्षर मामा बख्तावरसिंहस्य
६. द० राणावत उदयसिंह
७. हस्ताक्षर ठाकुर मनोहरसिंह
८. हस्ताक्षर कविराज श्यामलदासस्य
९. हस्ताक्षर सहीवाला अर्जुनसिंह का
१०. द० स० पन्नालाल
११. ह० पुरोहित पद्मनाथस्य
१२. जा० मुकुन्दलाल
१३. ह० मोहनलाल पण्ड्या

स्वीकारपत्र

मैं स्वामी दयानन्दसरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार त्रयोविंशति सज्जन आर्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ और उसको परोकार सुकार्य में लगाने के लिए अधिष्ठाता करके यह पत्र लिखे देता हूँ कि समय पर कार्यकारी हो। जो यह एक सभा कि जिसका नाम **परोपकारिणी सभा** है, उसके निम्नलिखित त्रयोविंशति, सज्जन पुरुष सभासद् हैं, उनमें से इस सभा के सभापति—

१. श्रीमन्महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यावदार्य्यकुलदिवाकर महाराणाजी श्री १०८ श्री सज्जनसिंहजी वर्म्मा धीरवीर जी०सी०एस०आई० उदयपुराधीश हैं, उदयपुर राज मेवाड़।

२. उपसभापति लाला मूलराज एम०ए० एक्स्ट्रा एसिस्टेण्ट कमिश्नर, प्रधान आर्य्यसमाज लाहौर, जन्मस्थान लुधियाना।

३. मन्त्री श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी, उदयपुर राज मेवाड़।

४. मन्त्री लाला रामशरणदास रईस, उपप्रधान आर्य्यसमाज मेरठ।

५. उपमन्त्री पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी, निवास उदयपुर, जन्मभूमि मथुरा।

सभासद्

नाम और स्थान

१. श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा, शाहपुरा राज मेवाड़

२. श्रीमत् राव तख्तसिंह जी वर्म्मा, बेदला राज मेवाड़

३. श्रीमत् राज्य राणा श्रीफतहसिंहजी वर्म्मा, देलवाड़ा राज मेवाड़

४. श्रीमत् रावत अर्जुनसिंह जी वर्मा, आसींद राज मेवाड़

५. श्रीमत् महाराज श्री गजसिंह जी वर्म्मा, उदयपुर मेवाड़

६. श्रीमत् राव श्री बहादुरसिंहजी वर्म्मा, मसूदा जिले अजमेर

७. रावबहादुर पं० सुन्दरलाल, सुपरिंटेंडेंट वर्कशाप और प्रेस अलीगढ़ आगरा

८. राजा जयकृष्णदास सी०एस०आई० डिपुटी कलक्टर, बिजनौर, मुरादाबाद

९. बाबू दुर्गाप्रसाद, कोषाध्यक्ष आर्यसमाज व रईस, फर्रुखाबाद

१०. लाला जगन्नाथप्रसाद, रईस फर्रुखाबाद

११. सेठ निर्भयराम, प्रधान आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद बिसाऊ राजपूताना

१२. लाला कालीचरण रामचरण, मन्त्री आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद

१३. बाबू छेदीलाल, गुमाश्ते कमसर्यट छावनी मुरार कानपुर

१४. लाला साईंदास, मन्त्री आर्य्यसमाज लाहौर

१५. बाबू माधवदास, मन्त्री आर्य्यसमाज दानापुर

१६. रावबहादुर रा०रा० पंडित गोपालरावहरि देशमुख, मेम्बर कौन्सिल गवर्नर बम्बई और प्रधान आर्य्यसमाज बम्बई पूना

१७. रावबहादुर रा०रा० महादेव गोविन्द रानडे जज्ज, पूना

१८. पं० श्यामजीकृष्ण वर्म्मा, प्रोफेसर संस्कृत यूनिवर्सिटी आक्सफोर्ड लंडन बम्बई

नियम

१. उक्त सभा जैसे कि वर्त्तमानकाल वा आपत्काल में नियमानुसार मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके सर्वहितकारी कार्य में लगाती है, वैसे मेरे पश्चात् अर्थात् मेरे मृत्यु के पीछे भी लगाया करे—

प्रथम—वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि में।

द्वितीय—वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशकमंडली नियत करके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग कराने आदि में।

तृतीय—आर्यावर्त्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के संरक्षण, पोषण और सुशिक्षा में व्यय करे और करावे।

२. जैसे मेरी विद्यमानता में यह सभा सब प्रबन्ध करती है, वैसे मेरे पश्चात् भी तीसरे वा छठे महीने किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब-किताब समझने और पड़तालने के लिए भेजा करे और वह सभासद् जाकर समस्त आय-व्यय और संचय आदि की जांच

पड़ताल करे और उनके तले अपने हस्ताक्षर लिखदे और उस विषय का एक-एक पत्र प्रति सभासद् के पास भेजे और उसके प्रम्बन्ध में कुछ हानि लाभ देखे, उसकी सूचना अपने भी परामर्श सहित प्रत्येक सभासद् के पास लिख भेजे, पश्चात् प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी-अपनी सम्मति सभापति के पास लिख कर भेजदे और सभापति सबकी सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे और कोई सभासद् इस विषय में आलस्य अथवा अन्यथा व्यवहार न करे।

३. इस सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि जैसा यह परमधर्म और परमार्थ का कार्य है, उसको वैसा ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे।

४. मेरे पीछे उक्त त्रयोविंशति आर्यजनों की सभा सर्वथा मेरे स्थानापन्न समझी जाय अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व का है वही अधिकार सभा को है और रहे, यदि उक्त सभासदों में से कोई इन नियमों से विरुद्ध स्वार्थ के वश होकर वा कोई अन्य जन अपना अधिकार जतावे तो वह सर्वथा मिथ्या समझा जाय।

५. जैसे इस सभा को अपने सामर्थ्य के अनुसार वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है, वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार करने-कराने का भी अधिकार है अर्थात् जब मेरा देह छूटे तो न उसको गाड़ने, न जल में बहाने, न जङ्गल में फेंकने दे, केवल चन्दन की चिता बनावे और जो यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पाँच सेर कपूर, ढाई सेर अगर-तगर और दश मन काष्ठ लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कारविधि में लिखा है वेदी बनाकर, तदुक्त वेदमन्त्रों से होम करके भस्म करे, इससे भिन्न कुछ भी वेदविरुद्ध क्रिया न करे। और जो सभाजन उपस्थित न हों तो जो कोई समय पर उपस्थित हो, वही पूर्वोक्त क्रिया कर दे और जितना धन उसमें लगे उतना सभा से ले ले और सभा उसको दे दे।

६. अपनी विद्यमानता में और मेरे पश्चात् यह सभा चाहे जिस सभासद् को पृथक् करके उसका प्रतिनिधि किसी अन्य योग्य सामाजिक आर्यपुरुष को नियत कर सकती है परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जाय, जब तक उसके कार्य में अन्यथा व्यवहार न पाया जाय।

७. मेरे सदृश यह सभा सदैव स्वीकारपत्र की व्याख्या वा उसके नियम और प्रतिज्ञाओं के पालन वा किसी सभासद् के पृथक् और उसके स्थान में अन्य सभासद् के नियत करने वा मेरे विपत् और आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में वह उद्योग करे जो समस्त सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय पाया वा पावे। और जो सम्मति में परस्पर विरोध हो तो बहुपक्षानुसार प्रबन्ध करे और सभापति की सम्मति को सदैव द्विगुण जाने।

८. किसी समय भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों की अपराध की परीक्षा कर पृथक् न कर सके, जब तक पहिले तीन के प्रतिनिधि नियत न करले।

९. यदि सभा में से कोई पुरुष मर जाय या पूर्वोक्त नियमों और वेदोक्त धर्मों को त्यागकर विरुद्ध चलने लगे, तो इस सभा के सभापति को उचित है कि सब सभासदों की सम्मति से पृथक् करके उसके स्थान में किसी अन्य योग्य वेदोक्त धर्मयुक्त आर्य पुरुष को नियत करदे परन्तु जब तक नित्यकार्य के अनन्तर नवीन कार्य का आरम्भ न हो।

१०. इस सभा को सर्वथा प्रबन्ध करने और नवीन युक्ति निकालने का अधिकार है परन्तु जो सभा को अपने परामर्श और विचार पर पूरा-पूरा निश्चय और विश्वास न हो, पत्र द्वारा समय नियत करके सम्पूर्ण आर्यसमाजों से सम्मति ले ले और बहुपक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे।

११. प्रबन्ध न्यूनाधिक करना वा स्वीकार वा अस्वीकार करना वा किसी सभासद् को पृथक् वा नियत करना वा आय-व्यय और संचय की जांच पड़ताल करना आदि लाभ हानि सब सभासदों को वार्षिक वा षाण्मासिक पत्र द्वारा सभापति छपवा कर विदित करे।

१२. इस स्वीकारपत्र सम्बन्धी कोई झगड़ा, टंटा सामयिक राज्याधिकारियों की कचहरी में निवेदन न किया जाय। यह सभा अपने आप न्यायव्यवस्था करले परन्तु जो अपनी सामर्थ्य से बाहर हो तो राजगृह में निवेदन करके अपना कार्य सिद्ध करले।

१३. यदि मैं अपनी जीते जी किसी योग्य आर्य्यजन को पारितोषिक अर्थात्

पेन्शन देना चाहूं और उसकी लिखत-पढ़त करा के रजिस्टरी करा दूं तो सभा को उचित है कि उसको माने और दे।

१४. किसी विशेष लाभ, उन्नति, परोपकार और सर्वहितकारी कार्य के वश मुझे और मेरे पीछे सभा को पूर्वोक्त नियमों के न्यूनाधिक करने का सर्वथा सदैव अधिकार है।

ह० दयानन्दसरस्वती